कल्याण

वर्ष १२

* कार्तिक १९९४ *

अंक ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥

रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ३५५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≤)
विदेशमें ६।≈)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥

जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय॥

जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≤)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये ।

श्रीसंत-अङ्क

श्रीसन्त-अङ्ककी बहुत थोड़ी प्रतियाँ शेष बची हैं अतः जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे जरा जल्दी करेंगे तो उन्हें श्रीसन्त-अङ्क अभी मिल जायगा । नहीं तो दुबारा छपनेतककी राह देखनी पड़ेगी ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

कल्याण कार्तिक संवत् १९९४ की

भूल-सुधार

'संत-अंक' में प्रकाशित जीवनियोंके सम्बन्धमें कई महानुभावोंने कुछ संशोधन लिख भेजे हैं, उन महानुभावोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम उनका सार यहाँ छापते हैं—

१—संत-अंक पृष्ठ ८२७ लेख शार्षक श्रीकोतनीस महाराज— (क) 'ये ऋग्वेदी गौड़ सारस्वत ब्राह्मण थे' ऐसा छपा है, इसकी जगह 'ये ऋग्वेदी देशस्थ वैष्णव ब्राह्मण थे', ऐसा पढ़ना चाहिये।

(ख) 'चिमड़के श्रीभाऊ महाराज यरगट्टीकरसे इन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी' की जगह 'चिमड़के श्रीरामचन्द्रराव महाराज यरगट्टीकरसे इन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी' ऐसा पढ़ना चाहिये।

२—संत-अंक पृष्ठ ८२६ 'श्रीरामचन्द्र महाराज टक्की' शीर्षक लेखमें—(क) 'टक्की'की जगह 'टाकी' पढ़ना चाहिये।(ख) आपने सन् १९११ में पेंशन ली थी, सन् १९१९ में नहीं। (ग) आपका देहावसान सन् १९३५ में हुआ था, १९३६ में नहीं।

३—संत-अंक पृष्ठ ७०१ 'स्वामी केशवानन्दजी' शीर्षक लेखमें—

(क) श्रीकेशवदिग्विजय नामक ग्रन्थ स्वामीजीके शिष्य विद्वद्वर स्वामी श्रीप्रकाशानन्दजीने रचा था, स्वयं स्वामीजीने नहीं। (ख) श्रीस्वामीजी महाराज 'उदासीन-सम्प्रदाय' के अपूर्व विद्वद्रत्न थे, अतः 'संन्यास' के स्थानमें 'औदास्य' शब्द पढ़ना चाहिये। संन्यास शब्द केवल दशनामी संन्यासियोंमें ही लोकप्रसिद्ध है।

४—संत-अंक पृष्ठ—५७० 'अष्टछापके संत' शीर्षक लेखमें महात्मा 'सूरदासजी' के सम्बन्धमें छपा है कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। इसके विरुद्ध एक महानुभाव लिखते हैं कि वे ब्रह्मभट्ट (ब्रह्मराव) कुलके थे। दोनों ही बातें लोग मानते हैं। 'कल्याण' को इसमें कोई विवाद नहीं करना है, 'कल्याण' तो उन्हें भक्तके नाते पूजता है, फिर वे चाहे सारस्वत ब्राह्मण रहे हों या ब्रह्मभट्ट।

५—पृष्ठ ८०२ के सामने स्वामी श्रीगुप्तानन्दजीके नामसे एक चित्र छपा है इसमें 'स्वामी' की जगह 'अवधूत' पढ़ना चाहिये।

६—संत-अंक तृतीय खण्ड पृष्ठ ७५७ में 'संत महात्मा श्रीरामचन्द्रजी' शीर्षक लेखके अन्तमें छपा है 'आजकल आपके अनुयायियोंका मुख्य केन्द्र रामाश्रम सत्संग, एटा है।' इसपर हमारे पास कई पत्र आये हैं उनमें लिखा है कि 'प्रधान केन्द्र एटा नहीं, फतेहगढ़ है। वहीं आपका जीवन बीता, वहीं समाधि है, और ईस्टरकी छुट्टीमें प्रतिवर्ष वहीं भण्डारा होता है। सत्संगियोंकी सुविधाके लिये सत्संगकी शाखाएँ—कानपुर, फतेपुर, जैपुर, शाहजहाँपुर, सिकन्दराबाद, कमालगंज, एटा, उरई, राजगढ़ (अलवर), चाटसू, रखटी आदिमें हैं, परन्तु मुख्य स्थान फतेहगढ़ ही है जहाँ आपके सुयोग्य पुत्र श्रीजगमोहननारायणजी सत्संग-आश्रमका सञ्चालन करते हैं।' पाठकगण भूल सुधार लें।

—सम्पादक

नयी पुस्तकें गोस्वामी तुलसीदासजीविरचित नयी पुस्तकें

कवितावली

हिन्दी-अनुवादसहित

(अनुवादक-इन्द्रदेवनारायणजी)

साइज सुपररायल सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २४०, चार सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य केवल ॥=)

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीगोस्वामीजी महाराजने रामायणकी तरह ही सात काण्डोंमें श्रीरामलीलाका वर्णन कवित्तमें किया है। बालकाण्डमें बालरूपकी झाँकी, बाललीला, धनुर्यज्ञ, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, अयोध्याकाण्डमें वन-गमन, गुहका पादप्रक्षालन, वनके मार्गमें, वनमें, अरण्यकाण्डमें मारीचानुधावन, किष्किन्धामें समुद्रोल्लंघन, सुन्दरकाण्डमें अशोकवन, लंकादहन, सीताजीसे विदाई, भगवान् रामकी उदारता, लंकाकाण्डमें राक्षसोंकी चिन्ता, त्रिजटाका आश्वासन, समुद्रोत्तरण, अङ्गदजीका दूतत्व, रावण और मन्दोदरी, राक्षस-वानर-संग्राम, लक्ष्मण-मूर्छा, युद्धका अन्त, उत्तरकाण्डमें रामकी कृपालुता, केवल रामहीसे माँगो, रामप्रेमकी प्रधानता, गोपियोंका अनन्य प्रेम आदि विषयोंका वर्णन है।

भक्त नरसिंह मेहता

(लेखक-मंगल)

साइज डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १८०, गोलोकमें नरसी मेहताका सुन्दर कलापूर्ण चित्र, मूल्य ।=)

गुजरातके भक्तशिरोमणि श्रीनरसिंह मेहताके इस चरित्रचित्रणमें उनके जीवनकी अनेक अद्भुत घटनाओंका वर्णन हैं। पुस्तक २० अध्यायोंमें विभक्त की गयी है। जो इस प्रकार है—महात्माकी कृपा, कुटुम्ब-विस्तार, शिवका अनुग्रह, रासदर्शन, अनन्याश्रम, कुँवरबाईका दहेज, पुत्रकी सगाई, शामलदासका विवाह, पुत्रकी मृत्यु, पिताका श्राद्ध, भजनका प्रभाव, शामलशाहपर हुंडी, कुँवरबाईका संसारचित्र, भक्त-सुताका सीमन्त, द्वेषका प्रतीकार, भक्तराजकी कसौटी, भक्तराज दरबारमें, हारप्रदान, भक्त और भगवान् और अन्तिम अवस्था।

पुस्तकके अन्तमें श्रीनरसिंह मेहताके कुछ प्रसिद्ध गुजराती भजन, हिन्दी-अनुवादसहित दिये गये हैं।

श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश

श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके 'कल्याण'में प्रकाशित उपदेशोंको पुस्तकाकार कर दिया गया है। उपासनाखण्डमें भजनके विषयमें, साधकके लिये, गुरु-महिमा, भक्तिरहस्य, सत्संग, नामजप और संकीर्तन, ईश्वरत्व, भगवल्लीला, प्रेमी और प्रेम आदि विषय हैं। ज्ञानखण्डमें उपयोगी साधन, वैराग्यके विषयमें, विरक्तके लिये, ज्ञान और भक्ति, ज्ञानी और ज्ञाननिष्ठा, दैवी सम्पत्ति आदिका वर्णन है। डबल क्राउन सोलहपेजी पृष्ठ २१८, श्रीभगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी और सदाशिवके दो सुन्दर चित्र, मूल्य ।=) मात्र।

प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा (गुटका)

२२×२९.–३२ पेजी साइज पृष्ठ ४००, दो सुन्दर तिरंगे चित्र, मू० ।) सजिल्द ।=)

इसमें पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें १७५ अध्यायसे १९२ अध्यायतक वर्णित गीता-माहात्म्यके आधारपर गीताके प्रत्येक अध्यायका अलग-अलग माहात्म्य उस-उस अध्यायके हिन्दी अर्थसहित दिया गया है। माहात्म्यका अनुवाद पाण्डेय रामनारायणदत्तजी शास्त्रीने एवं सम्पूर्ण पुस्तकका सम्पादन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने किया है।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर।**

छप गयी

गीताडायरी सन् १९३८ की

नयी पुस्तकें

सम्पूर्ण पञ्चाङ्गसहित, मूल्य साधारण जिल्द ।), कपड़ेकी जिल्द ।-)

पिछले कई वर्षोंमें डायरीके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकालने पड़े और इसपर भी अन्तमें कई सज्जनोंको निराश होना पड़ा, यही इसकी उपयोगिताका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं। गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है। आरम्भके ४८ पेजोंमें अति उपयोगी विषय दिये गये हैं। इसमें सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग भी दिया गया है। अन्तमें याददाश्तके सादे पन्ने हैं। यह सबके लिये एक उपयोगी सुन्दर डायरी है। अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। केवल १७२५० छापी गयी है, जिन्हें आवश्यकता हो, आर्डर देनेकी कृपा करें।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ॥) और एक सजिल्दके लिये ॥-) तथा दो अजिल्दके लिये ॥।-) और दो सजिल्दके लिये ॥।=) भेजना चाहिये। तीन अजिल्दका १) छः अजिल्दका १॥।-) और तीन सजिल्दका १=) और छः सजिल्दका २=) होगा। बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

विशेष सूचना—मँगवानेसे पहले अपने बुकसेलरोंसे पूछिये। थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंसे बेचा करते हैं। बुकसेलरोंसे लेनेमें आपको सुभीता होगा। भारी डाकखर्चकी बचत होगी, क्योंकि हमारी पुस्तकोंका प्रायः मूल्य कम और वजन अधिक होता है।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता डायरीपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा। इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी। कमीशन तो २५% सबको ही दिया जाता है।

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित दो नयी पुस्तकें

नवधा भक्ति

डबल क्राउन सोलहपेजी ७० पृष्ठ, नवधाभक्तिका सुन्दर तिरंगा चित्र, मू० =) नवधाभक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आदि अङ्गोंपर उपसंहारसहित सुन्दर उपदेशप्रद वर्णन है।

ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

डबल क्राउन सोलहपेजी ४८ पृष्ठ, श्रीविष्णुका एक तिरंगा सुन्दर चित्र, मूल्य -)॥ मात्र। साधकोंके बड़े कामकी चीज है।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (सचित्र)

सम्पूर्ण (पाँचों खण्ड) दो जिल्दोंमें लेनेसे ॥=) कम लगता है।

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी सविस्तार जीवनी अभीतक हिन्दीमें कहीं नहीं छपी। भगवान् और उनके भक्तोंके गुणगानसे भरी हुई इस जीवनीको पढ़कर सभी सज्जन लाभ उठावें। मूल्य इस प्रकार है—

खण्ड	पृष्ठ	चित्र	मूल्य		सजिल्द
प्रथम खण्ड,	पृष्ठ २९२	चित्र ६	मूल्य ॥।=)	सजिल्द	१=)
दूसरा खण्ड,	पृष्ठ ४५०	चित्र ९	मूल्य १=)	,, ...	१।=)
तीसरा खण्ड,	पृष्ठ ३८४	चित्र ११	मूल्य १)	,, ...	१।)
चौथा खण्ड,	पृष्ठ २२४	चित्र १४	मूल्य ॥=)	,, ...	॥।=)
पाँचवाँ खण्ड,	पृष्ठ २८०	चित्र १०	मूल्य ॥।)	,, ...	१)
	१६३०	५०	४।=)		५॥=)

पाँचों भाग सजिल्द (दो जिल्दोंमें) ५)

बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये। पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर।**

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं ।

सुनहरी नेट दाम प्रत्येकका -)॥

१ युगलछबि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका -)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ श्रीवृन्दावनविहारी
१६ श्रीविश्वविमोहन
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ श्रीविष्णुभगवान्
२८ श्रीलक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ श्रीविश्वनाथजी
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिव-बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका संकीर्तनदल
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर

१२ चित्रोंतक मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है । सोचकर मँगाना चाहिये । अधिक मँगानेमें ही डाकखर्चका सुभीता है ।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं ।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछबि
१०२ तन्मयता

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।$\frac{1}{2}$ प्रतिचित्र

१११ कौसल्या-नारायण
११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११४ वृन्दावनविहारी
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
११८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
११९ व्रज-नव-युवराज
१२० कौरव-सभामें विराट्रूप
१२१ श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु
१२२ श्रीश्रीमहालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
१२३ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
१२४ श्रीविष्णु भगवान्
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२७ देवदेव भगवान् महादेव
१२८ शिवजीकी विचित्र बारात
१२९ शिव-परिछन
१३० शिव-परिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३३ गौरीशंकर
१३४ जगज्जननी उमा
१३५ देवी कात्यायनी
१३६ पवन-कुमार
१३७ ध्रुव-नारायण
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
१३९ श्रीगायत्रीके तीन रूप

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।$\frac{1}{2}$ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछबि
२०४ कंसका कोप
२०५ बधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकंदका आँगनमें खेल

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरु-सेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मण-का कोप
२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वन-गमनाभिलाषिणी सीता
२६५ रामकी कौसल्यासे विदाई
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया-सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंद्वारा श्रीरामस्तुति
२७६ बालिवध और ताराविलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण-युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान्-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ़ श्रीराम
२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति अङ्क)
२९० श्रीसीताराम (मर्यादायोग)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
२९४ माँका प्यार
२९५ प्यारका बन्दी
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनीशक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
३०४ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
३०५ बाँकेविहारी
३०६ श्रीश्यामसुन्दर
३०७ मुरलीमनोहर
३०८ भक्तमनचोर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवकीजी
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरासे गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी योगधारणा
३२२ श्याममयी संसार
३२३ माखन-प्रेमी बालकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धन-मुक्तकारी श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्यश्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ समदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त (भीष्म)-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण-पूजन नं० २
३४५ नृग-उद्धार
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्निसे सती-दाह
३५५ मदन-दहन
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर
३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदान
३६५ श्रीहरि-हरकी जल-क्रीडा
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णुको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ श्रीब्रह्माजी
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेव-की गोदमें भक्त प्रह्लाद
३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मारूपमें
३९१ ब्रह्मा-सावित्री
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ महाकाली
३९९ महासरस्वती

४०० महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
४०२ नारीशक्ति
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
४०६ देवी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ षोडश माता
४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिका तारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्य महाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका सङ्कीर्तन-दल
४२३ प्रेमी भक्त सूरदासजी
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई (जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ बाँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जडयोग
४३४ सप्तज्ञानभूमिका
४३५ मानस सरोवर
४३६ सावन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजाराम पतित-पावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदिप्रवर्तक भगवान् शङ्कर
४५० कालिय उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्णद्वारा माता-पिताकी बन्धन-मुक्ति
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवको सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम ब्रह्म
४६० भगवान् राम और सनकादिमुनि
४६१ जरासंधसे युद्धभिक्षा

फुटकर एवं 'कल्याण'के बचे हुए कुछ चित्र

माताका हृदय
सुमित्राका त्याग
आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता, 'द' 'द' 'द'
The Offering.
श्रवण-भक्त राजा परीक्षित एवं कीर्तन-भक्त परमहंस शुकदेव मुनि
उमा और इन्द्र, वरुण और भृगु

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
अहल्योद्धार
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेबिहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुज-रूपका दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं

१०५० गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी —)॥	१०×१५, सुनहरी)॥	७॥×१०, सुनहरी)।½	७॥×१०, सादा १) सै०
१५×२०, रंगीन —)	१०×१५, रंगीन)।½	७॥×१०, रंगीन)।	५×७॥, रंगीन १) सै०

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन ४९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३।)॥ पैकिङ्ग —)॥ डाकखर्च ॥।≡) कुल लागत ४।—) लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥≡)॥।½ पैकिङ्ग —)॥।½ डाकखर्च ॥—)। कुल १।≡) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १०, रंगीन २१६ और सादे ३ कुल २२९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥=)। पैकिङ्ग —)॥ डाकखर्च १—)। कुल ४॥।—) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≡)॥ पैकिङ्ग —)। डाकखर्च ।≠)। कुल १≡) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ८।=)½ पैकिङ्ग —)॥।½ डाकखर्च २≡) कुल १०॥≡) लिये जायँगे।

रेल पार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ८।=)½ चित्रका मूल्य पैकिंग =)॥।½ रजिस्ट्री ।) कुल ८॥।—) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवे स्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम

(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। शीघ्रताके कारण सवारी गाड़ीसे मँगानेपर केवल आधा रेलभाड़ा दिया जायगा। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (३) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण'के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते। (६) चित्रोंकी एजेन्सी देने अथवा एजेन्ट नियुक्तिका नियम नहीं है।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≡) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

☞ चित्र विक्रेताओंके पते आदि जाननेके लिये बड़ी चित्रसूची मुफ्त मँगाइये। पता-**गीताप्रेस, गोरखपुर**

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
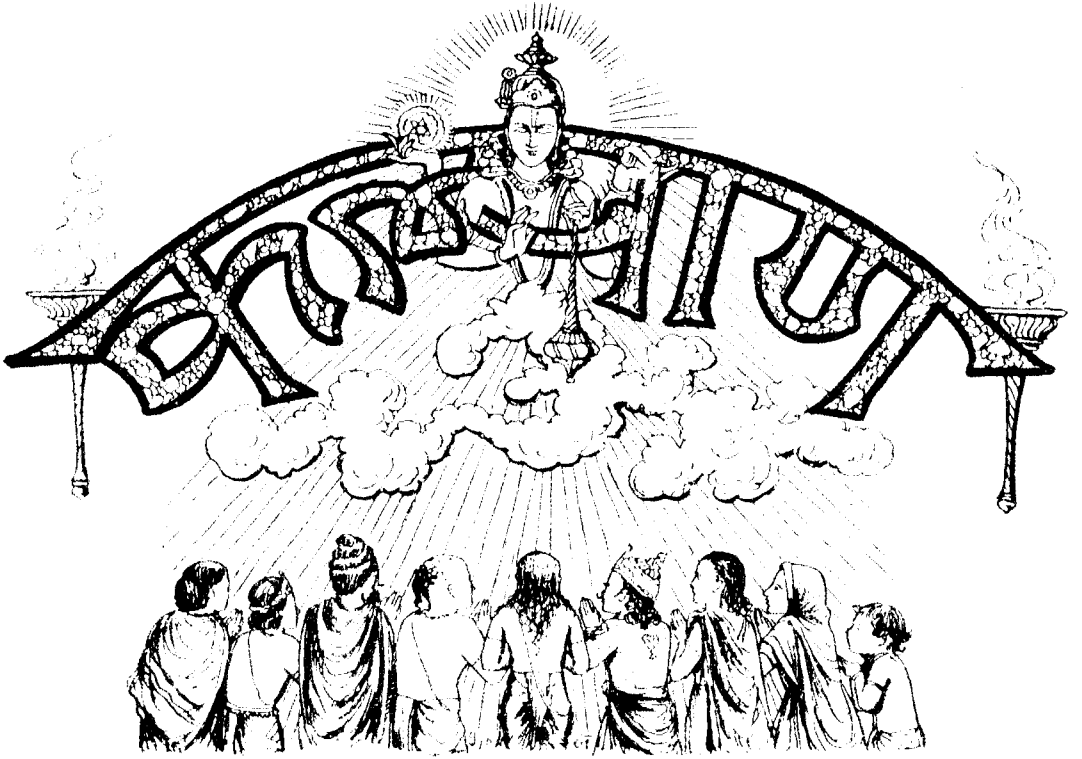
ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, कार्तिक १९९४, नवम्बर १९३७ { संख्या ४
पूर्ण संख्या १३६

श्रीकृष्ण-उद्धव

उद्धव बेगही ब्रज जाहु ।
सुरति सँदेस सुनाय मेटो बल्लविनको दाहु ॥
काम पावक तूलमें तन बिरह स्वाँस समीर ।
भसम नाहिन होन पावत लोचननिके नीर ॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वैहै कछुक सजग सरीर ।
एतेहु बिनु समाधाने क्यों धरै तिय धीर ॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन ।
सूर सुमति बिचारिये क्यों जिये जल बिनु मीन ॥

—सूरदासजी

सत्कर्म करो परन्तु अभिमान न करो

मनुष्यके लिये उत्तम लोकोंमें जानेके सात बड़े भारी सुन्दर दरवाजे सत्पुरुषोंने बतलाये हैं, वे ये हैं—

१ अपने धर्मपालनके लिये सुखपूर्वक नाना प्रकारके कष्टोंको स्वीकार करना । यह तप है ।

२ देश, काल और पात्रको देखकर सत्कारपूर्वक निष्कामभावसे अपनी वस्तु दूसरेको देना । यह दान है ।

३ विषाद, कठोरता, चञ्चलता, व्यर्थचिन्तन, राग-द्वेष, और मोह-वैर आदि कुविचारोंको चित्तसे हटाकर उसे परमात्मामें लगाना । यह शम है ।

४ विषयोंके समीप होनेपर भी इन्द्रियोंको उनकी ओर जानेसे रोक रखना । यह दम है ।

५ तन, मन, वचनसे बुरे कर्म करनेमें सङ्कोच होना । यह लज्जा है ।

६ मनमें छल, कपट या दम्भका अभाव होना । यह सरलता है ।

७ बिना किसी भेदभावसे प्राणिमात्रके दुःखको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये चेष्टा करना । यह दया है ।

इन सातोंके करनेवाला पुरुष यदि इनके कारण अभिमान करता है, तो उसके ये तप आदि गुण मानरूपी तमसे निष्फल होकर नष्ट हो जाते हैं ।

जो मनुष्य श्रेष्ठ विद्या पढ़कर अपनेको ही पण्डित मानता है और अपनी विद्यासे दूसरेके यशको घटाता है, उसको उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती । और उसकी पढ़ी हुई वह उत्तम विद्या उसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कराती ।

अध्ययन, मौन, अग्निहोत्र और यज्ञ ये चार कर्म मनुष्यको भवभयसे छुड़ानेवाले हैं परन्तु यदि वही अभिमानके साथ या मानकी प्राप्तिके लिये किये जायँ तो उलटे भय देनेवाले होते हैं ।

इसलिये कहीं सम्मान मिले तो फूल नहीं जाना चाहिये, और अपमान हो तो संताप नहीं मानना चाहिये । क्योंकि संतलोग सदा संतोंको पूजते ही हैं और असंतोंमें संतबुद्धि आती नहीं ।

'मैंने दान दिया है, मैंने इतने यज्ञ किये हैं, मैंने इतना पढ़ा है, मैंने ऐसे-ऐसे व्रत किये हैं' इस प्रकार जो अभिमानभरी डींगें मारता हुआ ये कर्म करता है उसको यही कर्म शुभ फल न देकर उलटा भय देनेवाले हो जाते हैं । इसलिये अभिमानका बिल्कुल त्याग करना चाहिये ।

(महाभारत)

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[वर्ष ११ पृष्ठ १४७५ से आगे]

[मणि १० बृहदारण्यक]

अभयदानकी उत्कृष्टता

हे जनक ! कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणकालमें कोई पुरुष सुवर्णादि पदार्थोंसे पूर्ण संपूर्ण पृथिवीको ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक दान कर दे, उस दानसे भी स्थावर-जंगम प्राणियोंमें किसी एक प्राणीको भी अभयकी प्राप्ति करानी कहीं अधिक दान है । तात्पर्य यह है कि स्थावर-जंगम प्राणियोंमेंसे किसी एक प्राणीको भी जो पुरुष अभयदान देता है उस अभयदानसे भी जब कोई पुण्य अधिक नहीं है, तो जो पुरुष सर्वकाल, सर्वदेशमें सर्वप्राणियोंको अभयदान दे, तो उससे अधिक कोई पुण्य नहीं है, इसमें कहना ही क्या है । इसलिये जो संन्यासी सबको अभय-दान देकर आत्मसाक्षात्कारके लिये यत्न करता है, वह इस शरीरमें अथवा अन्य शरीरमें द्वैत-दर्शनजन्य भयको प्राप्त नहीं होता किन्तु सर्व-भयसे रहित अद्वैत ब्रह्मको ही प्राप्त होता है । इसलिये अभयदानसे अधिक अन्य दान नहीं है ।

अहिंसाकी उत्कृष्टता—हे जनक ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके जीवोंको शरीर, मन, वाणीसे दुःख न पहुँचाना, इसका नाम अहिंसा है । इस अहिंसामें ही सत्य, दया, तप, दान—इन चार पादवाला धर्म सर्वथा निवास करता है । हे जनक ! हिंसा तीन प्रकारकी होती है—शरीरकृत, वाणीकृत और मनकृत । जरायुजादि चार प्रकारके जीवोंके शरीरमें शस्त्रादिसे प्रहार करना, मन्त्र-ओषधि आदिसे रोगकी उत्पत्ति करना, उनके स्त्री, धन, अन्नादिका हरण करना, इत्यादि जीवोंके मरणके अनेक उपायोंका नाम शरीरकृत हिंसा है । किसीके किसी दोषको द्वेषभावसे राजा तथा राजाके भृत्योंके समीप कथन करना, अन्य प्राणियोंकी निन्दा करना और गुणवानोंमें दोष कथन करना इत्यादि वाणीकृत हिंसा है । अन्यके कीर्ति आदि गुणोंको सहन न करना, अन्यके धनादि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय सोचना, तथा दूसरोंके मरणका उपाय करना, इत्यादि मनमें दुःख-चिन्तनका नाम मनकृत हिंसा है ।

हे जनक ! किसी देवदत्त नामक पुरुषका यज्ञदत्त नामका शत्रु है, उस यज्ञदत्त शत्रुको जो पुरुष देवदत्त नामक पुरुषको मारनेकी बुद्धि और धनादि पदार्थ दे, इसका नाम उपायहिंसा है, यह उपायहिंसा कई प्रकारकी होती है । इस लोक तथा परलोकमें अपने या अन्य प्राणियोंको दुःख देनेवाला मिथ्या वचन भी हिंसा ही है । यज्ञ-दानादिमें प्रवृत्त हुए पुरुषको अनेक प्रकारके कुतर्कोंसे उस शुभकर्मसे निवृत्त करना और आप भी शुभकर्म न करना, इसका नाम नास्तिकपना है, यह भी हिंसा है । शास्त्रविहित सन्ध्या-गायत्री आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग देना और शास्त्रनिषिद्ध परस्त्रीगमनादि पापकर्म करना, ये दोनों करनेवालेको, उसके कुलको और देशको अनर्थकी प्राप्ति करते हैं, इसलिये ये दोनों भी हिंसा हैं । जो पुरुष इस भारतखण्डमें अधिकारी मनुष्यशरीर पाकर निद्रा-तन्द्रादि तामस वृत्तियोंमें अपनी उम्र व्यर्थ खो देते हैं उनको इस लोक और परलोकमें दुःखकी प्राप्ति होती है, इसलिये निद्रा-तन्द्रादि भी

हिंसा है। हे जनक! इस प्रकार हिंसाओंके नाना स्वरूप शास्त्रमें कहे हैं। इन हिंसाओंसे विपरीत और शास्त्रविहित कर्मका नाम धर्म है। सम्पूर्ण धर्म अहिंसाके अन्तर्भूत हैं, इसलिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंमें अहिंसाको परम धर्म कहा है। जिस धर्मसे कोई धर्म अधिक न हो, इसका नाम परम धर्म है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको अहिंसाधर्म अवश्य सम्पादन करना चाहिये। हे जनक! जो पुरुष अहिंसाधर्मका सम्पादन करता है उसके हाथमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों प्रकारका पुरुषार्थ स्थित है। इसलिये अहिंसाधर्म ही सर्व फलकी प्राप्ति करनेवाला है, इसीलिये पतञ्जलि भगवान्‌ने पाँचों यमोंमें अहिंसाको सर्वप्रथम कहा है। चारों यमोंका अहिंसामें ही अन्तर्भाव है। हे जनक! ब्रह्मचर्यसे रहित कामी पुरुषको स्त्री-सम्भोगके पीछे परम दुःखकी प्राप्ति होती है, क्योंकि यौवनावस्थामें स्त्रीके सम्भोगसे स्त्रीमें गर्भकी उत्पत्ति होती है, गर्भकी उत्पत्तिसे गर्भिणी और गर्भको मरणके समान दुःखकी प्राप्ति होती है और कभी-कभी दोनों मर भी जाते हैं। इसलिये स्त्रीका सम्भोग हिंसारूप है। अथवा कामी पुरुष जब स्त्री-सम्भोग करता है, तभी कामीका सप्तम धातुरूप वीर्य स्त्रीके उदरमें जीवोंके शरीरकी उत्पत्ति करता है, उस शरीरके सम्बन्धसे जीवोंको अध्यात्म, अधिदैव अधिभूत तीनों प्रकारके दुःख होते हैं। इससे कामी पुरुषको पापकी प्राप्ति होती है और पापसे कामी पुरुष इस लोक और परलोकमें दुःखको प्राप्त होता है। इसलिये स्त्री-सम्भोग स्त्री, बालक, पुरुष तीनोंके दुःखका कारण होनेसे हिंसारूप है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवालेको यह हिंसा प्राप्त नहीं होती इसलिये ब्रह्मचर्य अहिंसामें अन्तर्भूत है। हे जनक! शरीर, मन, वाणीसे जो पुरुष किसीकी हिंसा नहीं करता, वह असत्य भी नहीं बोलता और अन्यके धनादि पदार्थोंकी चोरी भी नहीं करता और पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता, इसलिये सत्य, अस्तेय, अपरिग्रहका भी अहिंसामें अन्तर्भाव है। अतएव पाँचों यमोंमें अहिंसा चारों यमोंकी जननी है। अहिंसाधर्मसे युक्त पुरुष सब पुरुषोंसे उत्तम है, इसलिये अहिंसारूप अभयदान संन्यासीको सर्वदा करना चाहिये और ब्रह्मचारी आदिको भी करना योग्य है। तो भी गृहस्थादिसे सर्वथा हिंसाका परित्याग नहीं हो सकता और संन्यासियोंका तो संन्यासाश्रमका ग्रहण अहिंसाके लिये ही है। इसलिये संन्यासीको विशेष करके अहिंसारूप अभयदान ही देना चाहिये।

तपका स्वरूप—हे जनक! चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके जो-जो धर्म शास्त्रने विधान किये हैं, उन अपने-अपने धर्मोंको श्रद्धापूर्वक सम्पादन करनेका नाम तप है।

अनशनका स्वरूप—हे जनक! शास्त्रमें नहीं निषेध किये हुए विषयोंका भी यथाशक्ति परित्याग करनेका नाम अनशन है। यह अनशन-धर्म संन्यासियोंके अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्ण-आश्रमके पुरुषोंको करने योग्य है और संन्यासियोंको तो इस प्रकारका अनशन करना चाहिये कि इस लोक तथा परलोकमें विद्यमान विषयजन्य सुख तथा उनके साधन स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छामात्र भी न हो और प्रारब्ध कर्मके योगसे प्राप्त हुए भिक्षाके अन्न-वस्त्रसे शरीरका निर्वाह हो।

हे जनक! इस प्रकार श्रुतिविहित यज्ञ, दान, तप, अनशन चार प्रकारके पुण्य-कर्मरूप अदृष्ट कारणोंसे तथा गुरु, शास्त्र, अधिकारी शरीरादि दृष्ट कारणोंसे इस अधिकारीको जब आनन्द-स्वरूप अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होता है तभी ब्रह्मसाक्षात्कारमें आप ही इच्छा होती है। भाव यह है कि यज्ञादि शुभ कर्म करनेसे पुण्यरूप अदृष्टकी उत्पत्ति होनेसे इस पुरुषको गुरु, शास्त्र,

अधिकारी शरीर, शुद्ध बुद्धि आदि कारणोंकी प्राप्ति होती है, फिर आत्माका परोक्षज्ञान होता है, परोक्षज्ञानके पीछे अपरोक्षज्ञानकी इच्छा होती है, इच्छाके बाद आनन्दस्वरूप आत्मामें चित्तकी एकाग्रता होती है। इस प्रकार परम्परासे यज्ञदानादि आत्मसाक्षात्कारमें कारण हैं, इसलिये अधिकारीको यज्ञदानादि पुण्य कर्म अवश्य सम्पादन करनेयोग्य हैं।

शंका–हे भगवन् ! इन पुण्यकर्मोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी, फिर आत्मज्ञानका क्या प्रयोजन है ?

समाधान–हे जनक ! आत्मज्ञानके विना केवल कर्मोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि एकाग्रचित्तमें ही संशय-विपर्यय-रहित महावाक्यजन्य आत्मसाक्षात्कार होता है। पश्चात् अधिकारी जीवन्मुक्तिरूप मुनिभावको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पुण्यकर्मोंसे जब अधिकारीको आत्माके जाननेकी दृढ़ इच्छा होती है, तब ही गुरु-उपदेशसे आत्माका साक्षात्कार करके वह मुनिभावको प्राप्त होता है।

विविदिषा संन्यास

हे जनक ! संन्यासियोंसे जाननेयोग्य, मन-वाणीके अविषय आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारकी इच्छा करते हुए विरक्त अधिकारी यज्ञादि सर्व कर्मोंका परित्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण करते हैं।

शंका–हे भगवन् ! विरक्त पुरुष यज्ञादिका परित्याग करके संन्यास-आश्रम क्यों ग्रहण करते हैं ?

समाधान–हे जनक ! कर्ममें आसक्त पुरुषकी आत्मसाक्षात्कारमें निष्ठा होनी अत्यन्त दुर्लभ है इसलिये आत्मज्ञानमें निष्ठा करनेके लिये अधिकारीको कर्मोंका त्याग अवश्य करना चाहिये।

शंका–हे भगवन् ! संन्यास-आश्रमके विना ही सर्व कर्मोंका परित्याग करनेसे आत्मनिष्ठा हो सकती है, इसलिये संन्यास-आश्रमके ग्रहणका कुछ प्रयोजन नहीं है।

समाधान–हे जनक ! संन्यास-आश्रमको छोड़ अन्य किसी आश्रममें सर्व कर्मोंका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि निषिद्ध, काम्य, नित्य, नैमित्तिक ये चार प्रकारके कर्म शास्त्रमें कहे हैं। उनमें ब्रह्महत्यादि पापकर्म निषिद्ध हैं, स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले ज्योतिष्टोमादि याग काम्य हैं, सन्ध्या, अग्निहोत्रादि नित्य हैं, और सूर्यग्रहणमें स्नानादिका नाम नैमित्तिक कर्म है। बहिर्मुख पुरुष तो इन चारोंमेंसे निषिद्ध और काम्य कर्मोंको ही नहीं त्याग सकते क्योंकि ये कर्म भोगके अनुकूल हैं। शास्त्रविचारसे युक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ यद्यपि शास्त्रविचारसे निषिद्ध और काम्य कर्म त्याग सकते हैं, तो भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग संन्यास-आश्रमके सिवा अन्य आश्रमोंमें नहीं हो सकता। यदि किसी आश्रमके ग्रहण बिना ही प्रमादसे अथवा आलस्यसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग कर दें तो उनको पापकी प्राप्ति होती है, इसलिये तीनों आश्रमोंमें रहकर जो नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हैं, उनका चित्त अन्तरात्मामें एकाग्र नहीं होता और जो आश्रमोंमें रहकर नित्य-नैमित्तिक कर्म न करें, उन्हें पापकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार उनको दोनों प्रकारसे बन्धनकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष शास्त्रोक्त रीतिसे संन्यास ग्रहण करके कर्मोंका परित्याग करता है उसको पापकर्मकी प्राप्ति नहीं होती, उलटे आनन्दकी प्राप्ति होती है। संन्यास ग्रहण किये बिना कर्म त्यागनेसे पाप होता है और पापसे अनेक प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है। गीतामें कहा है—

'मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।'

जो पुरुष मोह अथवा आलस्यसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका परित्याग करता है, उसका त्याग तामस त्याग है, इससे उसको कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं होती, उलटे पापकी प्राप्ति होती है।

कर्म तथा संन्यासके अधिकारी

हे जनक! स्रक्, चन्दन, स्त्री, धन, पुत्रादि विषयोंमें अत्यन्त आसक्त रागी पुरुषको आत्म-साक्षात्कार नहीं होता, इसलिये विषयासक्त पुरुषको नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करने चाहिये। जिसका चित्त विषयोंसे विरक्त हो, उसे कर्मरूप भार नहीं उठाना चाहिये। किन्तु सर्व कर्मोंको त्यागकर संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि स्वर्गादि फलकी प्राप्तिकी इच्छावालेको ही वेद भगवान् यज्ञादि कर्म करनेका विधान करते हैं। निष्कामके लिये नहीं करते, इसलिये विषयोंमें रागवान् पुरुष ही कर्मोंका अधिकारी है, रागरहित निष्काम पुरुष कर्मोंका अधिकारी नहीं है किन्तु संन्यासका अधिकारी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जबतक चित्त शुद्ध न हो तबतक पुरुष नित्य-नैमित्तिक कर्म अवश्य करे और जब उनके करनेसे चित्त शुद्ध हो जाय तब उनके करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। इसलिये अधिकारी पुरुष कर्मोंको त्यागकर संन्यास लेकर निरन्तर वेदान्त-शास्त्रका विचार करे। यह बात अन्य शास्त्रमें भी कही है।

प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्था न्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव॥

जैसे वर्षाकालमें मेघ वृष्टिरूप प्रयोजन सिद्ध करके अन्तमें आप ही लय हो जाते हैं, इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्म चित्तकी शुद्धिद्वारा बुद्धिको आत्मपरायण करके आप ही लय हो जाते हैं।

शंका—हे भगवन्! अन्तरात्माके विचारमें तत्पर पुरुषकी नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे क्या हानि होती है?

समाधान—हे जनक! आत्मविचारमें तत्पर बुद्धिको जैसे विषय बहिर्मुख करते हैं, इसी प्रकार कर्म करते हैं, इसलिये चित्तशुद्धिपर्यन्त ही कर्मोंका उपयोग है, पश्चात् वे प्रतिबन्धक हैं, इसलिये उनका त्याग करना ही उचित है।

शंका—हे भगवन्! संन्यासी भी भिक्षाटनादि कर्म करते हैं। जैसे भिक्षाटनादिसे उनकी बुद्धि बहिर्मुख नहीं होती, इसी प्रकार अग्निहोत्रादिसे हमारी बुद्धि भी बहिर्मुख नहीं होगी, फिर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्याग करनेका क्या प्रयोजन है?

समाधान—हे जनक! अग्निहोत्रादिमें तत्पर पुरुष ही अग्निहोत्रादि कर सकता है, चित्तकी तत्परता बिना नहीं कर सकता, इसलिये अग्निहोत्रादिके समान भिक्षाटनादि संन्यासीकी बुद्धिको बहिर्मुख नहीं करते; क्योंकि जैसे भोजनकालमें अन्य पदार्थोंका चिन्तन करता हुआ भी चित्तकी तत्परता बिना ही हाथमें ग्रास लेकर मुखमें डाल लेता है, इसी प्रकार मनसे आत्माका चिन्तन करता हुआ संन्यासी चित्तकी तत्परता बिना ही भिक्षाटनादि कर्म करता है, इसलिये संन्यासीकी बुद्धि बहिर्मुख नहीं होती अथवा अग्निहोत्रादि न करनेसे जैसे गृहस्थको पाप लगता है, इस प्रकार भिक्षाटनादि न करनेसे संन्यासीको पाप नहीं होता, इसलिये संन्यासीका कर्म अग्निहोत्रादिसे विलक्षण है। इसीलिये हे जनक! कर्मोंको विक्षेप मानकर पूर्व अधिकारी आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये विविदिषा संन्यास ग्रहण करके निरन्तर वेदान्तशास्त्रका श्रवण करते रहे हैं, इसी प्रकार अब भी करना चाहिये।

विद्वत्-संन्यास

हे जनक! पूर्वमें संन्यासाश्रमके ग्रहण बिना ही जिनको पुण्यके प्रभावसे गृहस्थाश्रममें अथवा अन्य आश्रममें आत्मसाक्षात्कार हो गया है, उनको

यद्यपि ग्रहण-त्यागसे कुछ हानि-लाभ नहीं है, तो भी उन्होंने कर्मोंको विक्षेप और अनावश्यक मानकर संन्यासका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने अद्वितीय आनन्दस्वरूप आत्माका करामलक-समान साक्षात्कार किया है, वे भी जब विषयोंके समान कर्मोंको विक्षेप मानकर जीवन्मुक्तिके लिये संन्यास ग्रहण करते हैं तो आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिकी इच्छावाले मुमुक्षु कर्मोंको त्यागकर विविदिषा संन्यास ग्रहण करें, इसमें क्या आश्चर्य है? एक बार एक विद्वान् संन्यासीका एक गृहस्थसे यह संवाद हुआ।

गृहस्थ–हे यती! सुखका कारण प्रजा है, प्रजाका कारण स्त्री है, उस स्त्रीका संग्रह आपने क्यों नहीं किया?

संन्यासी–हे गृहस्थ! आत्मस्वरूप नित्यसुखसे अधिक लोकमें कोई सुख नहीं है, उस सुखका हम विद्वानोंने अपरोक्ष किया है, अतः विषयजन्य अनित्य सुखकी हमको इच्छा नहीं है। हे गृहस्थ! इस लोक अथवा परलोकमें पुत्रादि प्रजासे जो सुख उत्पन्न होता है, उस जन्यसुखका ही परम्परासम्बन्धसे स्त्री कारण है। जन्यसुखकी हमको इच्छा नहीं है, हम तो स्वयं ही सुखरूप हैं। पुत्रादि हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे?

शंका-हे भगवन्!—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।

पुत्ररहित पुरुषकी गति नहीं होती और पुत्ररहितको स्वर्गकी भी प्राप्ति नहीं होती। इस शास्त्रमें पुत्रादि प्रजाको ही पिताके मोक्ष और स्वर्गका कारण कहा है, यह असंगत हो जायगा!

समाधान–भाई! यह वचन विषयासक्त रागी पुरुषके अभिप्रायको कथन करता है, इसलिये अनुवादरूप अर्थवाद है। इस वचनसे पुत्रादि प्रजामें मोक्षकी कारणता सिद्ध नहीं होती। यदि पुत्रादि प्रजासे मोक्ष होता हो, तो सूकरादिका भी मोक्ष होना चाहिये। पुत्रादि प्रजासे पिताको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उलटा पालन-पोषण करनेमें पिता पापकर्म करता है, पापकर्मसे नरक प्राप्त होता है। भाई! जिस निरतिशय ब्रह्मानन्दरूप समुद्रके लेश-मात्रको ग्रहण करके ब्रह्मादि लोक भी आनन्दको प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्मानन्द हम विद्वानोंके आत्मासे अभिन्न है, इसलिये हमको विषयजन्य सुखकी इच्छा नहीं है।

हे जनक! इस प्रकार वचन कहते हुए विद्वानोंने संन्यासाश्रमको ग्रहण करके केवल भिक्षावृत्तिसे शरीरका निर्वाह किया है। उनमेंसे किसीने तो पूर्व गृहस्थाश्रम करके पीछे संन्यासाश्रम ग्रहण किया है, किसी विद्वानने गृहस्थाश्रम ग्रहण किये बिना ही ब्रह्मचर्याश्रमसे संन्यासाश्रम ग्रहण किया है और लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा इन तीनों एषणाओंको त्यागकर केवल आत्मारूप नित्यसुखसे वे विद्वान् तृप्त रहे हैं।

आत्माका स्वरूप

हे जनक! पूर्व ग्रन्थमें परमात्मादेव स्वयं-ज्योतिरूप तथा आनन्दरूप मैंने तुझसे कहा था, उसी परमात्मादेवको विद्वान् अपने आत्मारूपसे साक्षात्कार करते हैं। परमात्मादेव मूर्त-अमूर्त, भाव-अभावरूप सम्पूर्ण जगत्‌से रहित है, स्वयं-ज्योतिरूप है, इसलिये वागादि इन्द्रियोंसे तथा सूर्यादि बाह्य प्रकाशोंसे ग्रहण नहीं किया जाता। हे जनक! इस लोकमें पदार्थोंका प्रकाश-रूप ग्रहण कर्त्ता, करण, कर्म, फल, सम्बन्ध इन पाँचों भेदोंकी अपेक्षासे होता है। कर्ता आदिके भेद बिना पदार्थोंका ग्रहण सिद्ध नहीं होता। जैसे घटादि पदार्थोंका यह पुरुष चक्षु-इन्द्रियसे ग्रहण करता है। इनमें पुरुष ही

कर्ता है, चक्षु-इन्द्रिय करण है, घट कर्म है और घटनिष्ठ ज्ञातता फल है और चक्षुका घटके साथ संयोग सम्बन्ध है । इन पाँचोंकी अपेक्षासे घटका ग्रहण होता है, उनके भेद बिना किसी पदार्थका ग्रहण नहीं होता । यह आत्मादेव सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदोंसे रहित है, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माका वागादि इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं और सूर्यादि प्रकाश नहीं कर सकते, इसलिये श्रुति स्वयं-ज्योति आत्माको अगृह्य कहती है । हे जनक ! आनन्दस्वरूप आत्मा सर्वभेदसे रहित है, इसलिये जैसे वस्त्रादि पदार्थ काल पाकर परिणामरूप शीर्णभावको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार आत्मा शीर्णभावको प्राप्त नहीं होता, इसलिये श्रुति आत्माको अशीर्य कहती है । आत्मा भेदरहित होनेसे भेदवाले अन्तर-बाहर पदार्थोंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये असंगवान् आत्माको संगवान् रागी पुरुष जान नहीं सकते, किन्तु महात्मा विरक्त संन्यासी ही आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं ।

अज्ञानका फल

हे जनक ! पुण्य-पापरूप कर्म करनेवाले और न करनेवाले अज्ञानीको सर्वदा दुःखकी प्राप्ति करते हैं, आरम्भकालमें पापकर्मोंसे परम क्लेशकी प्राप्ति होती है, इसलिये अज्ञानीके दुःखके हेतु हैं। और अन्तमें दुःखरूप फलकी प्राप्ति करते हैं, तब भी अज्ञानीको परम दुःख होता है, इसी प्रकार पुण्यकर्मसे आरम्भमें दुःख होता है, और अन्तमें पुण्य क्षीण होनेपर भी दुःख होता है, इसलिये पुण्यकर्म आरम्भकालमें और अन्तमें कर्ता पुरुषके दुःखका कारण होते हैं । हे जनक ! अज्ञानी पाप न करे तो दूसरे पापी जीवोंको पाप करते देखकर अपनेको उत्कृष्ट मानकर गर्व करता है, इसलिये पाप न करना अज्ञानीके ताप-का कारण है । इसी प्रकार अज्ञानी पुण्य न करे तो दयावान् अज्ञानी पुरुष उसको निर्धन देखकर कृपा करके परम दुःखको प्राप्त होते हैं । यह बात अन्य शास्त्रमें भी कही है—

> ईर्ष्या घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधिनो नित्यशङ्कितः ।
> परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिनः ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणावान्, संतोषसे रहित, क्रोधी, संशयवान्, परधनजीवी, ये छः पुरुष सर्वदा दुखी रहते हैं । अथवा जो पुरुष पुण्य नहीं करता, उसको सुखकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये पुण्यकर्म अकर्ता अज्ञानीके तापका कारण है, अथवा इस लोक और परलोकमें पुण्यकर्म महान् सुखकी प्राप्ति करता है, जो अज्ञानी पुण्यकर्म नहीं करता, वह दूसरोंका सुख देखकर ईर्ष्या करके परम दुखी होता है । अथवा मरणकालमें अज्ञानी पुरुष पुण्य न करने और पाप करनेका पश्चात्ताप करके परम दुखी होता है । हे जनक ! इस प्रकार पुण्य-पापरूप कर्म करने और न करनेवाले अज्ञानी जीवोंको सर्वथा तापकी प्राप्ति करता है । और उन पुरुषोंको गुरु-शास्त्रके उपदेशसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उन विद्वान् पुरुषोंको किये हुए अथवा न किये हुए पुण्य-पापरूप कर्म उन्हें तपायमान नहीं करते किन्तु मारुतिके समान वे पुण्य-पाप-कर्मरूप समुद्रको बिना यत्न ही तर जाते हैं । आत्मज्ञानके प्रभावसे पुण्य-पापका अस्पर्श ही उनका तरना है । हे जनक ! विद्वानको पुण्य-पाप नहीं तपाते, इसका यह कारण है कि अज्ञानी पुरुष ऐसे संकल्प किया करते हैं कि ज्योतिष्टोम यज्ञसे मुझे स्वर्गलोकको प्राप्ति होगी, ब्रह्महत्यादि पापसे नरककी प्राप्ति होगी, पुत्रेष्टियज्ञसे मुझे पुत्रकी प्राप्ति होगी, अश्वमेधका फल दूसरे जन्ममें होगा, ब्राह्मणादिके धनका हरण करने-वाले मुझको शीघ्र ही कुष्ठ आदि रोगोंकी प्राप्ति

होगी, इस लोकमें मेरी अपकीर्ति होगी, इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प करके अज्ञानी जीव तपते रहते हैं और विद्वान् ऐसे संकल्प नहीं करते, इसलिये पाप-पुण्य कर्म उसको तपायमान नहीं करते ।

हे जनक ! वेदके मन्त्र कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका अभेदज्ञान जिस पुरुषको होता है, उस विद्वान्की स्वरूपभूत महिमा तीन कालमें अन्यथा भावको प्राप्त नहीं होती, इसलिये विद्वान्की महिमा नित्य है । जैसे अज्ञानी जीव पुण्यसे वृद्धिको और पापसे लघुताको प्राप्त होता है, इस प्रकार विद्वान् वृद्धि अथवा लघुताको प्राप्त नहीं होता, इसलिये विद्वान्की महिमा अद्भुत है । हे जनक ! जैसे पूर्वमें अधिकारी पुरुष अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारसे नित्य महिमाको प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार आजकल भी अस्ति, भाति, प्रियरूपसे जो पुरुष अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करते हैं, वे भी उसी महिमाको प्राप्त होते हैं । आत्मसाक्षात्कार विना ऐसी महिमा प्राप्त नहीं होती, इसलिये अधिकारियोंको आत्म-साक्षात्कार अवश्य सम्पादन करना चाहिये ।

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[वर्ष ११ पृष्ठ १४८० के बाद]

इस वृन्दारण्यधाममें ही उडुराज परमानन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रका अभ्युदय होता है । इनके अभ्युदयसे ही 'चर्षणीनाम्'—गोपाङ्गनाओंका शोकमार्जन 'प्राच्याः'—पूज्यतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीका मुखविलिम्पन होता है । चर्षणी एक ओषधि भी है । जिस प्रकार चन्द्रकी अमृतमयी शीतल किरणोंसे उसकी शरत्कालीन सूर्य ताप जनित म्लानिका निराकरण होता है उसी प्रकार ओषधिके समान परम सुकोमल स्वभाव व्रजाङ्गनाओंका विरहजनित सन्ताप भगवान्के करस्पर्शोंसे निवृत्त हो जाता है ।

अतः इसे इस प्रकार भी कहा सकते हैं 'चर्षणीनां शन्तमैः करैः शुचो मृजन्' तथा 'अरुणेन प्राच्या मुखं विलिम्पन् ।' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णरूप उडुराज अपने अत्यन्त सौख्यावह कल्याणमय करस्पर्शोंसे चर्षणी यानी सुकुमारी गोपाङ्गनाओंका शोक—विरहजनित ताप शान्त करते हुए तथा अरुण यानी कुंकुमसे श्रीराधिकाजीका मुखलेपन करते हुए उदित हुए । यहाँ 'दीर्घदर्शनः' यह 'प्रियः' का विशेषण है । इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—'दीर्घे कमलपत्रवदायते दर्शने नेत्रे यस्य' अर्थात् जिसके नेत्र कमलपत्रके समान विशाल हैं । इससे प्रियतमकी प्रेमातिशयता और निर्निमेषता सूचित होती है; अर्थात् वह प्रियतमाके दर्शनमें इतना आसक्त है कि उसका निमेषोन्मेष भी नहीं होता ।

यदि आध्यात्मिक पक्षमें देखें तो इसका तात्पर्य इस प्रकार होगा—

यदा यस्मिन्नेव काले भगवान् भक्तानां हृदयारण्ये रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजः मोहनैशतमोव्याप्तान्तःकरणारण्याकाशे किञ्चित्प्रकाशनशीलशमदमादिरूपेषु उडुषु यः आह्लाद-प्रकाशात्मिकया भक्तिप्रभया राजते स भजनानन्दचन्द्रः उदगात् ।

अर्थात् जिस समय भगवान्‌ने भक्तोंके हृदयरूप वनमें विहार करनेकी इच्छा की उसी समय उडुराज—जो मोह-रूप घोर अन्धकारसे व्याप्त अन्तःकरणरूप आकाशमें कुछ-कुछ प्रकाशित होनेवाले शमदमादिरूप उडुओं (नक्षत्रों) में आह्लाद एवं प्रकाशात्मिका भक्तिरूप प्रभासे सुशोभित है वह भजनानन्दरूप चन्द्र उदित हुआ । इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भगवान् अपने भक्तके हृदयमें रमण करनेकी इच्छा करते हैं तभी यह भजनानन्द चन्द्र उदित हो जाता है । वह क्या करता हुआ उदित हुआ ?—

१. दृश्यते ईक्ष्यते अनेन इति दर्शने लोचने ।

चर्षणीनां गतिभक्षणशीलानां कर्मतत्फलव्यासक्तमनसां जनानां शुचः आर्त्तीः स्वात्मभूतपरप्रेमास्पदभगवद्विप्रयोगवेदनाः ताः मृजन् ।

अर्थात् वह चर्षणी यानी कर्म और कर्मफलभोगमें आसक्तचित्त पुरुषोंके शोक—अपने आत्मभूत परप्रेमास्पद भगवान्‌के वियोगसे होनेवाली वेदनाका मार्जन करता हुआ उदित हुआ । अथवा कर्म और कर्मफलभोगजनित श्रान्ति ही आर्ति है या जितनी भी वेदनाएँ सम्भव हैं वे सभी आर्ति हैं, उन सभीका मार्जन करते हुए भगवान् उदित हुए । यहाँ 'शुचः' में बहुवचन है; इसलिये यह शोकोपलक्षित समस्त संसारका भी उपलक्षण है । किसके द्वारा शोक मार्जन करता हुआ उदित हुआ ?—

शन्तमैः करैः—स्वयं शन्तमाः परमसुखरूपाः अन्येषु कराः कं सुखं रान्ति समर्पयन्तीति कराः तैः भगवदीयगुणगणगाननानवितानादिभिः ।

शन्तम करोंसे अर्थात् जो स्वयं परम सुखरूप हैं और दूसरोंको सुख प्रदान करनेवाले हैं उन भगवद्गुणगानादिसे भक्तोंका शोक निवृत्त करता हुआ उदित हुआ । इस प्रकार यह भजनानन्दरूप चन्द्रका उदय समस्त शोकोंकी निवृत्ति करनेवाला है, क्योंकि जिस समय जीव भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता है उसी समय उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं ।

मन-करि बिषय-अनल बन जरई । होइ सुखी जौं एहिं सर परई ॥

यह मनरूप मत्तगयन्द संसारानलमें जल रहा है; जिस समय यह भगवद्भजनमें लगता है उसी समय मानो शीतल गंगाजलमें अवगाहन करने लगता है ।

अब यह विचार करना चाहिये कि ये जो भजनानन्दचन्द्र, भक्तिरूपा प्रभा और गुणगानवितानादिरूप शन्तम कर हैं इनमें भेद क्या है ? क्योंकि बिना भेदके कोई व्यवहार नहीं हो सकता । वस्तुतः भगवद्भक्तिरूपा प्रभा और भगवदीय गुणगणगानतानादि भजनानन्दचन्द्रके अन्तर्गत ही हैं । इनका भेद 'राहोः शिरः' के समान केवल व्यवहारके लिये है । यद्यपि राहुका शिर राहुसे कोई पृथक् पदार्थ हो ऐसी बात नहीं है; तथापि लोकमें इसका इस प्रकार सम्बन्ध ग्रहणपूर्वक व्यवहार अवश्य होता है । जैसे 'देवदत्त हाथोंसे वृक्ष काटता है' इस वाक्यमें 'देवदत्त' कर्ता है और 'हाथ' करण हैं । इसलिये इन दोनोंमें भेद होना चाहिये । परन्तु वस्तुतः देवदत्त क्या है ? वह हाथ, पाँव, शिर आदिका संघात ही तो है । वह अवयवी है और हाथ-पाँव आदि उसके अवयव हैं । नैयायिकोंके मतानुसार अवयव कारण होता है और अवयवी उसका कार्य होता है । लोकमें कार्य अपने कारणके द्वारा ही सारे व्यापार किया करता है । इसलिये अवयवीमें मुख्यताका व्यपदेश होता है और अवयवमें गौणताका । इसी प्रकार भक्तिरूपा प्रभा और भगवद्गुणगानरूप किरणें अवयव हैं तथा भजनानन्दचन्द्र अवयवी है । अतः भजनानन्द कार्य है और भक्ति तथा भगवद्गुणगानादि उसके कारण हैं । यह भजनानन्दचन्द्र हृदयारण्यको सुशोभित भी करता है; क्योंकि जहाँ चन्द्रालोकका विस्तार नहीं होता वह स्थल रमणके योग्य भी नहीं होता । इसी प्रकार जिस हृदयमें भजनानन्दचन्द्रकी भक्तिरूपा प्रभाका विस्तार नहीं हुआ है वह भगवान्‌का रमणस्थल होनेयोग्य भी नहीं है ।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र और क्या करते हुए उदित हुआ ?—

प्राच्याः—प्राचि भवा प्राची तस्याः प्राग्भवायाः बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं प्रधानं भागं अरुणेन कुङ्कुमेनेव रागेण विलिम्पन् ।

अर्थात् वह प्राची यानी अपनेसे पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धिके सत्त्वमय प्रधान भागको, अरुण कुंकुमद्वारा मुखलेपनके समान, अनुरक्त करता हुआ उदित हुआ । यही भजनानन्दचन्द्रका कार्य है । जिस प्रकार अग्निसे पिघले हुए लाखमें रंग भर देनेपर वह उसी रंगका हो जाता है उसी प्रकार यह बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको द्रवीभूत करके उसमें भगवत्स्वरूपरूपी रंग भर देता है । इससे वह बुद्धिसत्त्व भगवन्मय हो जाता है और फिर किसी समय उसे भगवान्‌की विस्मृति नहीं होती ।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र है कैसा ?—

ककुभः—कं सुखं तद्रूपतया कुषु कुत्सितेष्वपि भाति शोभत इति ककुभः ।

—क सुखको कहते हैं वह सुखरूपसे कुत्सितोंमें भी भासमान है इसलिये ककुभ है । उस भजनानन्दचन्द्रका आलोक पड़नेपर तो चाण्डाल भी कृतकृत्य हो सकता है, यथा—

> **अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्**
> **यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।**

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

अर्थात् हे प्रभो ! जिसकी जिह्वापर आपका नाम विराजमान है वह श्वपच भी इन (भक्तिहीन द्विजों) की अपेक्षा श्रेष्ठ है । जो आपका नामोच्चारण करते हैं उन महानुभावोंने तो सब प्रकारके तप, होम, स्नान और वेदपाठ कर लिये । यही नहीं, आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा कभी आपको प्रणाम या स्मरण कर लेनेसे चाण्डाल भी शीघ्र ही सवनकर्मका अधिकारी हो सकता है; फिर हे भगवन् ! जिन्हें साक्षात् आपका दर्शन हुआ हो उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तना-
द्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥

सवनकर्मका अधिकार केवल द्विजोंको ही है । अतः इस श्लोकमें जो 'सद्यः' शब्द है उसका 'तत्काल' अर्थ करके कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि भगवत्स्मरणके प्रभावसे चाण्डाल भी उसी जन्ममें सवनाधिकारी यानी द्विज हो सकता है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । 'सद्यः' का अर्थ शीघ्र है और शीघ्रता सापेक्ष हुआ करती है । शास्त्रसिद्धान्त तो ऐसा है कि पशु एवं तिर्यक् योनियोंको भोग चुकनेपर जब जीवको मनुष्यशरीर प्राप्त होता है तो सबसे पहले उसे पुल्कसयोनि मिलती है । उससे उत्तरोत्तर कई जन्मोंमें स्वधर्मपालन करते-करते वह वैश्य होता है; और तभी उसे द्विजोचित कृत्योंका अधिकार प्राप्त होता है । अतः यहाँ 'सद्यः' शब्दसे यही तात्पर्य है कि यदि कोई चाण्डाल स्वधर्मनिष्ठ रहकर भगवच्चिन्तन करेगा तो उसे एक-दो जन्मके पश्चात् ही द्विजत्वकी प्राप्ति हो जायगी; अनेकों जन्मोंमें नहीं भटकना पड़ेगा । यह क्रम स्वधर्मनिष्ठोंके ही लिये है । स्वधर्मका आचरण न करनेपर तो शूद्रको भी पुनः चाण्डाल-योनि प्राप्त होती है । जैसे कहा है—

कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनादपि ।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतामियात् ॥

अर्थात् कपिला गौका दूध पीनेसे, ब्राह्मणीके साथ मैथुन करनेसे और वेदाक्षरका विचार करनेसे शूद्र भी चाण्डालत्वको प्राप्त हो जाता है । और यदि शूद्र स्वधर्ममें तत्पर रहे तो उसी जन्ममें देहपातके अनन्तर स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

स्वधर्मे संस्थितः नित्यं शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते ।

अतः स्वधर्मका अतिक्रमण कभी न करना चाहिये ।

यदि कहो कि तत्क्षण ही क्यों न माना जाय ? तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि जाति नित्य है, वह नामस्मरणमात्रसे परिवर्तित नहीं हो सकती । यदि नामस्मरणमात्रसे जातिपरिवर्तन हो सकता तो गर्दभीको भी नाम सुनाकर कामधेनु बनाया जा सकता था । परन्तु ऐसा नहीं होता । जाति जन्मसे होती है, अतः उसका परिवर्तन जन्मान्तरमें ही हो सकता है । जिस प्रकार गौ एवं गर्दभादि योनियाँ हैं उसी प्रकार ब्राह्मण और चाण्डालादि भी योनियाँ हैं । श्रुति कहती है—'ब्राह्मणयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।'

तात्पर्य यह है कि चाहे जातिपरिवर्तन हो या न हो परन्तु नामस्मरणसे चाण्डाल भी परम पवित्र तो अवश्य हो सकता है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी अस्पृश्यता निवृत्त हो जाती है । पवित्रता दो प्रकारकी है; जातिनिमित्तक और कर्मनिमित्तक । कर्मनिमित्तक पातित्य पुण्य-कर्मसे निवृत्त हो सकता है, किन्तु जातिनिमित्तक पातित्य कर्मसे निवृत्त नहीं हो सकता । चाण्डालका पातित्य जातिनिमित्तक है । अतः चाण्डालशरीर रहते हुए उसकी अव्यवहार्यताका प्रयोजक पातित्य निवृत्त नहीं हो सकता । किन्तु भगवत्स्मरणसे वह कर्मजनित पातित्यसे मुक्त होकर शुद्धान्तःकरण हो जाता है और उसके द्वारा वह भगवत्प्राप्ति भी कर सकता है; उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे परलोकमें वह गति प्राप्त होती है जो भक्तिहीन ब्राह्मणके लिये भी दुर्लभ है । इसीसे भगवान्‌ने भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अतः सिद्ध हुआ कि वह भजनानन्दचन्द्र, कुत्सितोंको भी सुख प्रदान करता है इसलिये ककुभ है ।

'प्रियः' भी उस भजनानन्दचन्द्रका ही विशेषण है । वह भजनानन्दचन्द्र मानो विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी प्राणियोंके परम प्रेमका आस्पद है । वह लोकमनोऽभिराम होनेके कारण विषयी पुरुषोंको और भवौषध होनेके कारण मुमुक्षुओंको प्रिय है । तथा जीवन्मुक्तोंको भी वह अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसीके कारण उन्हें भगवत्सान्निध्यरूप परमोत्कृष्ट वैभव प्राप्त हुआ है । इसीसे श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस बिचारि जे संत सयाने । मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥

अतः बहुत-से अद्वैतनिष्ठ तत्त्वज्ञजन भी कल्पित भेदको स्वीकारकर निश्छलभावसे अति तत्परतापूर्वक भगवान्‌की भक्ति किया करते हैं; जैसा कि कहा है—

.... ।

यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥

अर्थात् जो पूर्ण अद्वैतपद सुभक्तोंद्वारा फलाभिसन्धिरूप कैतव (कपट) से रहित होकर उपासित होता है, क्योंकि जो लोग लौकिक या पारलौकिक अभिलाषाओंसे पूर्ण होंगे उनकी उपासना कैतवशून्य नहीं हो सकती । हाँ, जो मुक्त हो गया है उसे अवश्य किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रहती; अतः वही निष्कपट उपासना भी कर सकता है ।

इससे निश्चय हुआ कि सुभक्त जो ज्ञानीलोग हैं उनके द्वारा वह अद्वयतत्त्व अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उपासित होता है । जिन लोगोंने समस्त प्रपञ्चका मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है वे ही किसी पदार्थमें आसक्ति और प्रातव्य बुद्धि न होनेके कारण अद्वयभावसे उसकी अकैतव उपासना कर सकते हैं । परन्तु यहाँ शंका होती है कि यदि उन जीवन्मुक्तोंका कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो वे भजनमें प्रवृत्त ही क्यों होंगे ? इस सम्बन्धमें हमारा कथन है कि यद्यपि जीवन्मुक्त महात्माओंपर शास्त्रका शासन नहीं होता, क्योंकि वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जैसा कि कहा है—

गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥

अर्थात् प्रथम कोटिमें साधक यथाविधि वैदिक और स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करके उपासनाद्वारा चित्तके दोषोंको निवृत्त करता है; फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनद्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार करनेपर गुणातीत, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है । इस क्रमसे कर्म और उपासनामें पूर्वमीमांसा, श्रवणमें उत्तरमीमांसा, मननमें न्याय और वैशेषिक तथा निदिध्यासनमें सांख्य और योगदर्शनका कार्य समाप्त हो जाता है । इस प्रकार कृतकृत्य हो जानेके कारण फिर अपना कोई प्रयोजन न रहनेके कारण शास्त्र उस महापुरुषसे निवृत्त हो जाता है । तथापि अपने पूर्वाभ्यासके कारण उससे कर्म और उपासना स्वभावतः होते रहते हैं । श्रीमधुसूदनस्वामी कहते हैं —

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ।

अर्थात् जिस प्रकार उनमें स्वभावसे ही अद्वेष्टृत्वादि गुण रहते हैं उसी प्रकार भगवान्‌का भजन करना भी उनका स्वभाव ही है ।

यहाँ एक शंका यह भी होती है कि भक्ति तो भेदमें होती है और तत्त्वज्ञोंकी अभेददृष्टि रहा करती है, फिर वे भक्तिभावमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? इसपर कहते हैं 'विभेदभावमाहृत्य' अर्थात् वे भेदभावका अध्याहार करके भगवान्‌का भजन करते हैं । इस प्रकारका काल्पनिक भेद सब प्रकार मंगलमय ही है । इसीसे कहा है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु ज्ञानशताधिका ॥

अर्थात् द्वैत तभीतक मोहजनक होता है जबतक ज्ञान नहीं होता; जिस समय विचारद्वारा बोधकी प्राप्ति हो जाती है उस समय तो भक्तिके लिये कल्पना किया हुआ द्वैत अद्वैतकी भी अपेक्षा सुन्दर है । यदि पारमार्थिक अद्वैतबुद्धि रहते हुए भजनके लिये द्वैतबुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति तो सैकड़ों मुक्तियोंसे भी बढ़कर है । भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजीकी भक्ति भी ऐसी ही थी; इसीसे वे कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् हे नाथ ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं ही आपका हूँ आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरंगका कभी नहीं होता ।

इसी विषयमें किसी भावुकका कथन है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम् ।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात् ॥

अर्थात् प्रियतमा चाहे तो प्रणयविधिसे प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करे और चाहे उसके चरणयुगलकी परिचर्यामें लगी रहे—एक ही बात है । इसी प्रकार जिसे परमार्थबोध प्राप्त हो गया है वह चाहे तो निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे और चाहे भगवान्‌के भजन-पूजनमें लगा रहे—कोई भेद

नहीं है । जो लोग विचारशून्य हैं उन्हींकी दृष्टिमें भगवान्‌का आत्मत्वेन साक्षात्कार उनका अपमान है । यदि विचार कर देखा जाय तो इस प्रकारका अभेद तो प्रेमातिशयकी रीति ही है । प्रेमका अतिरेक होनेपर तो भेदभावकी तिलाञ्जलि हो जाती है । जो अरसिक हैं, उत्कृष्ट प्रेमातिशयके रहस्यको जाननेवाले नहीं हैं उनकी दृष्टिमें प्रियतमाका प्रियतमके वक्षःस्थलमें विहार करना अयुक्त हो सकता है, किन्तु रसिकजन तो जानते हैं कि प्रेमातिरेकमें ऐसा ही हुआ करता है । अतः अभेदरूपसे स्वरूपसाक्षात्कार हो जानेपर भी काल्पनिक भेद स्वीकार करके निष्कपटभावसे भक्ति हो ही सकती है । तत्त्वज्ञोंके यहाँ ऐसी ही भक्तिका स्वीकार है । इस प्रकार यह भजनानन्दचन्द्र विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभीके लिये प्रिय है ।

इसके सिवा और भी यह भजनानन्दचन्द्र कैसा है ?— 'अबाधदर्शनः—अनपबाध्यं दर्शनं यस्य' अर्थात् जिसका दर्शन—ज्ञान किसीसे बाधित नहीं होता । जो ज्ञान भ्रमात्मक होता है वह तो ज्ञानान्तरसे बाधित हो जाता है, किन्तु यह भजनानन्दचन्द्र ज्ञानान्तरसे बाधित होनेवाला नहीं है, यह ज्ञानान्तराबाध्य भजनानन्दचन्द्र चर्षणियोंके शोकका मार्जन करता तथा प्रागभवा तमोव्याप्ता बुद्धिके सत्त्वात्मक प्रधान भागको अनुरागात्मक कुंकुमसे लेपन करता हुआ उदित हुआ, जिस प्रकार कोई चिरप्रोषित प्रियतम प्रवाससे लौटकर अपनी प्रियतमाके शोकाश्रुओंका मार्जन करते हुए करधृत कुंकुमसे उसके मुखका लेपन करता है । (क्रमशः)

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्र०—राम-कृष्णादिमें भगवद्भाव किया जाता है या वे स्वयं भगवान् थे ?

उ०—वे भगवान् ही थे । इसमें शास्त्र, युक्ति और अनुभव सभी प्रमाण हैं । जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह भाव नहीं हो सकती ।

प्र०—यदि भगवान् प्रत्यक्ष हैं तो साधन क्यों किया जाता है ?

उ०—भजन-साधन अनुरागके लिये किया जाता है । भगवान् तो प्रत्यक्ष ही हैं; किन्तु अनुराग प्रत्यक्ष नहीं है । इसलिये उसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये । संसारबन्धनसे छुड़ानेवाली वस्तु अनुराग ही है । संसारकी कारण अहंता और ममता हैं । इनका नाश अनुरागसे ही हो सकता है । देखो, यह देखा जाता है कि कोई-कोई लोग हमसे प्रसाद पानेपर उसे स्वयं न खाकर अपने बच्चोंके लिये ले जाते हैं । उन्हें प्रसाद खाना अप्रिय नहीं होता; परन्तु अपने बालकोंमें विशेष अनुराग होनेके कारण वे उसे स्वयं न खाकर उन्हें खिलाते हैं । इसी प्रकार जो भगवदनुरागी है वह अपनी सारी ममता भगवान्‌को समर्पण कर देता है । ममताका समर्पण ही सर्वस्व समर्पण है और वही मुक्ति है ।

प्र०—ईश्वर प्रत्यक्ष कैसे है ?

उ०—ईश्वर प्रत्यक्ष है इसमें शंका नहीं करनी चाहिये । इसमें शास्त्रप्रमाण भी है । संसारमें जो-जो वस्तु सुन्दर दिखायी देती है उसमें ईश्वरकी ही छटा है —

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥*

(गीता १० । ४१)

प्रत्येक वस्तुमें जो भी आकर्षण करनेवाली चीज है वही ईश्वर है, वस्तुमें जो सौन्दर्य है वही ईश्वर है । लोग शुद्ध सौन्दर्यको ग्रहण नहीं करते वे उसे किसी

* संसारमें जो-जो वस्तु ऐश्वर्यसम्पन्न, सौन्दर्यमय और उन्नतिशील है उसे मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जानो ।

वस्तु या क्रियाके साथ मिलाकर देखते हैं; इसीलिये उनका वस्तुओंके प्रति राग-द्वेष होता है। यदि शुद्ध सौन्दर्यको ग्रहण किया जाय तो राग-द्वेष हो ही नहीं सकता। किन्तु उसे संसारी पुरुष ग्रहण नहीं कर सकते, उसे तो प्रेमी ही ग्रहण कर सकता है।

प्र०—अनुराग कैसे हो ?

उ०—निरन्तर चिन्तनसे। यदि तुम्हारा चित्त भगवान् श्रीकृष्णकी ओर आकर्षित होता है तो तुम निरन्तर उन्हींका चिन्तन करो। ऐसा करते-करते अनुरागकी उत्पत्ति होगी और संसारबन्धन छूट जायगा।

प्र०—वेदान्त ग्रन्थोंमें आता है कि उपासक प्रतिमामें विष्णु आदिका तथा नाममें भगवद्बुद्धिका आरोप करता है; किन्तु उपासक तो उसे आरोप नहीं समझता; फिर यह कथन किसकी दृष्टिसे है ?

उ०—उपासक और तत्त्ववेत्ता दोनोंकी ही दृष्टिमें इसे आरोप नहीं कहा जा सकता। यह कथन केवल जिज्ञासुकी दृष्टिसे है, जो जड और चेतन दोनोंकी सत्ता स्वीकारकर उनका विवेक करता है। भक्तकी दृष्टिमें भगवद्विग्रह और भगवन्नाम जड नहीं हैं, वे चिन्मय हैं; और बोधवान्‌की दृष्टिमें तो जो कुछ है वह सभी सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसके लिये तो एक अखण्ड चिद्घन सत्तासे भिन्न और किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है।

प्र०—यदि भक्तको भगवद्विग्रह भगवान् ही जान पड़ता है और तत्त्वतः भी वह भगवान् ही है तो फिर उसे उपासना करनेकी क्या आवश्यकता है ? उपासनाका उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही है और भगवान् उसे प्राप्त हो हैं।

उ०—भगवद्विग्रह साक्षात्सच्चिदानन्दस्वरूप ही है—इसमें सन्देह नहीं; परन्तु ऐसा दृढ़ भाव सब उपासकोंको नहीं होता। अतः उन्हें निश्चल भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये उपासना करनी ही चाहिये। उपासनाका मुख्य उद्देश्य भी भगवत्प्राप्ति नहीं बल्कि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति है। जीवके कल्याणके लिये वस्तुतः भावकी हो प्रधानता है। उपासकोंको जाने दो, देखा जाय तो व्यवहारमें भी बिना भावके कोई आनन्द नहीं है। विवेकदृष्टिसे विचार किया जाय तो माता-पिता ही क्या हैं ? उनके शरीर केवल अस्थि, मांस और चर्मादिके पिण्ड ही तो हैं। फिर भी उनके प्रति जो पूज्यबुद्धि होती है वह सब प्रकार कल्याणकारिणी ही है। स्त्रीके शरीरमें क्या सुन्दरता है ? उसमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं जिसे रमणीय या पवित्र कहा जा सके। परन्तु उसमें रमणीयताका आरोप करके मनुष्य ऐसा आसक्त हो जाता है कि उसे धर्माधर्मका भी ज्ञान नहीं रहता। अपने शरीरकी ओर देखो तो वह भी कुछ कम गंदा नहीं है। परन्तु उसके मोहमें फँसकर लोग कितना अनाचार करते हैं। इस प्रकार जब व्यवहारमें भी भावकी इतनी प्रधानता है तो प्रतिमामें जो भगवद्भाव किया जाता है वह किस प्रकार व्यर्थ हो सकता है। भगवान् तो सबमें हैं, सबसे परे हैं, सब हैं और सर्वासर्वरूप भी हैं; अतः प्रतिमामें जो भगवद्भाव किया जाता है वह अन्यमें अन्य बुद्धि नहीं है। उसे जो आरोप कहा है वह केवल जिज्ञासुकी दृष्टि है।
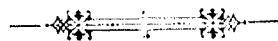
मोर-मुकुट

(लेखक—एक भावुक)

स्वप्न और जाग्रत्की प्रशान्त सन्धिमें बाँसुरीकी स्वरलहरीके साथ ठुमक-ठुमककर पादविन्यास करते हुए उन्होंने प्रवेश किया। स्थितिमें गति, एकतामें अनेकता एवं शान्तिमें एक मधुर क्रान्तिका सञ्चार हो गया। वह अनन्त शान्ति, वह रहस्यरस और वह एकरस ज्ञानका अनन्त पारावार न जाने कहाँ अन्तर्हित—अन्तर्दृष्टिके एकान्तमें विलीन हो गया? न जाने कहाँ? नहीं नहीं, यह तो भूल थी। वह प्रत्यक्ष आँखोंके सामने अमूर्त्तसे मूर्त्त होकर, निराकारसे साकार होकर और निर्गुणसे अनन्त दिव्य-गुण-सम्पन्न होकर अपनी रसभरी चितवनसे मुझे अपने साथ रमण करने—खेलनेका प्रणयाह्वान करने लगा।

अब मैंने देखा। हमारी चार आँखें हुईं। परन्तु यह क्या? एक क्षणमें ही मेरी आँखें लज्जासे अवनत क्यों हो गयीं? बात ऐसी ही थी। मैं अपराधी था। सचमुच जब प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करनेयोग्य वस्तुके भेदसे रहित उस विचित्र वस्तुकी प्राप्ति इस प्रकार स्वयं ही प्राप्त हो गयी, तब मैं चकित-सा रह गया। यकायक विश्वास न कर सका। एक हल्की-सी अवहेलना हो ही गयी। परन्तु दूसरे ही क्षण सँभल गया। ऐसा सँभला, ऐसा सँभला, मानो ज्ञानवान् होनेके पश्चात् 'वासुदेवः सर्वमिति' की ही तत्त्वतः अनुभूति हो गयी हो। एक महान् प्रकाश फैल गया और मानो उसने कहा भी—'अब उनके साथ रमण होगा। अबतक आनन्दका उपभोग तुम कर रहे थे, भले ही वह भोक्तृत्वहीन रहा हो। परन्तु अब? अब तो तुम्हारा उपभोग होगा। अब रासक्रीडा होगी।' मैंने भाष्य कर लिया—'वास्तवमें प्रेम या आनन्द भोग अथवा भोक्तृत्वहीन भोग (मोक्ष) में नहीं है वह तो उनका भोग्य हो जानेमें ही है। इसीको तो प्रेमभक्ति कहते हैं।'

उस प्रकाशमें मैंने क्या देखा? हाँ, अवश्य कुछ देखा तो था। हाँ, वहाँ मेरे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हुए ठुमक रहे थे। चरणोंकी किंकिणी 'रुनझुन' की उल्लासपूर्ण ध्वनिसे चिदाकाशको मुखरित कर रही थी। पीताम्बर फहरा रहा था। परन्तु उसका मुँह पीछेकी ओर था। सुन्दर अलकावलीसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी परन्तु उनमेंसे एक भी मेरी ओर नहीं आ रहा था। ऐसा क्यों? वे स्वयं मेरी ओर आ रहे थे। मैं सहमकर एक बार उस अनूपरूपराशिको सर्वांग देखना चाहा, परन्तु देख न सका। बीचमें ही मुस्कराकर उन्होंने आँखोंको विवश कर दिया। वे एकटक वहीं लग गयीं। न आगे बढ़ीं, न पीछे हटीं। न चढ़ीं और न उतरीं। न जाने कितना समय बीत गया। गजबकी मुस्कराहट थी! अजब जादू था!!

अब मुझे ध्यान आया। भगवान् स्वयं मेरे सामने खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। अरे! अबतक मैंने कुछ स्वागत-सत्कार नहीं किया। अर्घ्य-पाद्यतक न दिया। हाँ, हुआ तो ऐसा ही। परन्तु यह क्या? उन्होंने स्वयं अपने हाथों स्वागत-सत्कारका आयोजन कर लिया है? ऐसा ही जान पड़ता है। प्रकृतिके आत्यन्तिक लयके पश्चात् यह नूतन प्रकृति कहाँसे आयी? हाँ, हाँ, यही इनकी दिव्य प्रकृति है। यह चिन्मय है, इनकी लीलाकी सहकारिणी है। हाँ,

इसमें तो सजीव स्फूर्ति है, नवीन ही जागृति है और भरा हुआ है दिव्यजीवन। इसका स्वागत भी अपूर्व है।

अब मैंने उस ओर दृष्टि डाली। हाँ, तो पैरोंके तले हरे-हरे दिव्य दूर्वादलके कालीन बिछे हुए हैं। तारामण्डित गगनका बड़ा-सा वितान तना हुआ है। सफेद चाँदनीकी ठंडी और उजली रोशनीसे पत्ते-पत्तेमें जगमग ज्योति झिलमिला रही है। अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर हवा पंखा झल रही है। वृक्षोंने अपने रसभरे फलोंसे झुकी हुई डालियाँ सामने कर दी हैं। परन्तु वे, वे तो बस पूर्ववत् बाँसुरीके रसीले रन्ध्रोंसे राग-अनुरागके समुद्र उँड़ेलनेमें लगे हैं। मैं चकित-स्तम्भित होकर केवल देख रहा था।

मैंने स्तुति करनेकी ठानी। परन्तु मेरे 'ठानने' का क्या महत्त्व? भ्रमरोंने अपनी गुंजारको उनके वेणुनादसे मिलाकर गुनगुनाना प्रारम्भ किया। कोयलोंने अपने 'कुहू-कुहू' की मञ्जुल ध्वनि निछावर कर दी। थोड़े-से साँवले-साँवले बादलोंने तबलोंकी तरह मन्द-मन्द ताल भरनेकी चेष्टा की, परन्तु दो-चार क्षणमें ही वे कुछ नन्हीं-नन्हीं सफेद बूँदोंके रूपमें 'रस' बनकर चरण पखारने आ गये। अबतक झुंड-के-झुंड मयूर आकर थिरकने लगे थे।

अब वे घिर गये। चारों ओर मयूरोंका दल अपने पिच्छ फैलाकर नाच रहा था और बीचमें श्यामसुन्दर अबाधगतिसे पैंजनीसे स्वरसाम्य रखते हुए बाँसुरी बजानेमें तल्लीन थे। मैं अनुभव कर रहा था—उनके लाल-लाल अधरोंसे निकलकर अणु-अणु, परमाणु-परमाणुमें मस्ती भर देनेवाले मोहन-मन्त्र-का! हाँ, तो सब मुग्ध थे, सब-के-सब उस अनुरागभरे रागकी धारामें बह गये थे। किसीको तन-बदनकी सुध नहीं थी। सुध रखनेवाला मन ही नहीं था। हाँ, वे, बस वे, सबकी ओर देखते हुए भी मुझे ही देख रहे थे। बिना जतनके ही मेरे रोम-रोमसे वही वेणुके आरोह-अवरोह क्रमसे मूर्च्छित स्वरलहरी प्रवाहित हो रही थी। शरीर, प्राण, हृदय और आत्मा सब-के-सब उस रागके अनुरागमें रँगकर किसी अनिर्वचनीय रसमें डूब गये थे। सबकी आँखें मोहनके मुखकमलपर निर्निमेष लग रही थीं। बहुत समय बीत गया होगा। परन्तु वहाँ समय था ही कहाँ?

अच्छा, यकायक मुरलीध्वनि बंद हो गयी। ऐं, ऐसा क्यों हुआ? परन्तु हुआ ऐसा ही। जबतक सबकी आँखें खुलें, होश सँभले, तबतक उन्होंने झपटकर एक मयूरके गिरे हुए पिच्छको अपने कर-कमलोंसे उठाकर सिरपर लगा लिया। सबकी आँखों-में आँसू आ गये, सभीका हृदय पिघल गया। सब-के हृदयने एक स्वरसे कहा—

'प्रियतम! तुम्हारा प्रेम अनन्त है। तुम्हारी रसिकता अनिर्वचनीय है। आजसे तुम मोर-मुकुट-धारी हुए।' उन्होंने मुस्कुराकर आँखोंके इशारेसे स्वीकृति दी।

उसी समय उनके पास कई ग्वालबाल आते हुए दीख पड़े और वे उनमें मिलकर खेलते-कूदते दूसरी ओर निकल गये।

अब मुझे मालूम हुआ कि वास्तवमें यह जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धि वृन्दावन है और इसमें वे लीला करते हैं।

नादानुसंधान

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।
भवत्प्रसादात्पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

अकारादि वर्णोंकी उत्पत्ति जिस वर्णरहित ध्वनिसे हुई है, उस ध्वनिको नाद और उसमें मनोवृत्ति लगानेकी क्रियाको नादानुसंधान कहते हैं। उत्पत्तिभेदसे यह नाद दो प्रकारका होता है—जीवोंद्वारा इच्छापूर्वक किया हुआ नाद और जड पदार्थोंसे उत्पन्न नाद—ये दोनों प्रकार भी अवान्तर भेदसे अनन्तविध हैं। अतः शास्त्रोंमें 'नादकोटिसहस्राणि' कहा गया है।

इन अनन्तविध नादोंमेंसे जो नाद अविच्छिन्न, धाराप्रवाह नित्य-निरन्तर या निश्चित समयतक अवस्थित रह सकें, जो कर्कश न हों, उनका उपयोग साधनरूपसे मनके बन्धनार्थ किया जा सकता है। किन्तु जो नाद अविच्छिन्न न रह सकें, रूपान्तरित हो जायें या मनको व्यग्र करनेवाले हों, उनका उपयोग नादानुसंधानके अभ्यासार्थ नहीं हो सकता। जैसे गंगाजी या अन्य नदियोंके अनेक स्थानोंपर जल-प्रवाहके कारण एक प्रकारका शान्त मधुर घोष निरन्तर होता रहता है, उसमें अभ्यासीजन अपनी वृत्तियोंको लगानेका तो अभ्यास कर सकते हैं परन्तु बादलोंका गर्जन अथवा अन्य विविध प्राणिजन्य ध्वनियाँ जो अस्थिर और रूपान्तरित होती रहती हैं, इस प्रकारके अभ्यासयोग्य नहीं हो सकतीं।

किन्तु नदियोंसे उत्पन्न नाद या इतर सुमधुर स्थिर नाद साधन नहीं हैं, क्योंकि उनमें अभ्यास करनेवालोंको बाह्य-साधनोंकी प्राप्ति नहीं होती। अतः इस हेतुसे तथा बाह्य-साधनोंकी अपेक्षा आन्तर साधन विशेष उपकारक होते हैं, इस दृष्टिसे हमारे शास्त्रकारोंने समस्त मानव देव अथवा यों कहें कि प्राणिमात्रके शरीरमें रक्ताभिसरण-क्रियासे उत्पन्न होनेवाले अविच्छिन्न धाराप्रवाह अनाहतनाद (आन्तरनाद) का आश्रय लेनेका विधान किया है।

मनुष्यका मन स्वच्छन्द और अतिचंचल होता है, मनकी स्वेच्छाचारितासे ही समस्त जीव-समुदाय बारम्बार विपत्तियोंका शिकार होता रहता है तथा मनका परब्रह्ममें लय न होनेके कारण ही जीवोंको भय और दुःखसे रहित शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इस बातको सभी विवेकी संतजन भलीभाँति जानते हैं। और मनको परब्रह्ममें लय करानेके लिये नादानुसंधान निर्भय तथा उत्तम साधन है, यह बात भी शास्त्रप्रसिद्ध है। अतः नादानुसंधानका अभ्यास करना संत-महात्माओंने अति आदरणीय माना है।

आन्तरनादका शास्त्रोक्त पद्धतिके अनुसार नित्य-नियमित-रूपसे अनुसंधान करते रहनेसे वासनाक्षय और मनोवृत्तिका लय हो जाता है। मनका लय करानेके सम्बन्धमें शास्त्रमें अधिकारी, रुचि और देशकालके भेदसे अनेक साधन बतलाये गये हैं। परन्तु उन सबमें आन्तरनादको ही मुख्य माना गया है—

'नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसन्धेः परा पूजा नहि तृप्तेः परं सुखम् ॥'

(योगशिखोपनिषत्)

'सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥'

(योगतारावली)

'न नादसदृशो लयः ।'

(हठयोगप्रदीपिका)

इन सबका तात्पर्य यह है कि नादसे परे कोई मन्त्र नहीं है। अनाहत नादके आन्तरमें विराजमान आत्मासे परे कोई देव नहीं है। इसके अनुसंधानसे परे कोई पूजा नहीं है और उससे जो सुख मिलता है, उससे परे कोई आनन्द नहीं है। भगवान् सदाशिवने इस विश्वमें प्राणिमात्रके कल्याणार्थ सवा-लाख साधनोंका निरूपण किया है, परन्तु उन सबमें नादानुसंधान ही सर्वोत्तम है। नादानुसंधानके समान मनका लय करानेके लिये अन्य कोई प्रबल साधन है ही नहीं।

इसी प्रकार संत-शिरोमणि श्रीचरणदासजीने भी अपने ग्रन्थमें नादकी महिमा गायी है—

अनहदके सम और ना, फल बरन्यो नहिं जाय ।
पटतर कछू न दे सकूँ, सब कुछ है वा माय ॥

पाँच थके आनँद बढ़े, अरु मन ही बस होय।
शुकदेव कही चरनदाससे, आप अपन जाय खोय॥
नाडिनमें सुषुम्ना बड़ी, सो अनहदकी मात।
कुंभकमें केवल बड़ा, वह वाहीका तात॥
मुद्रा बड़ी जो खेचरी, बाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं, और न या सम ध्यान॥
सेवकसे स्वामी होवे, सुने जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होय जाय हैं, पावै अपनी आद॥
खिड़की खोली नादकी, मिले ब्रह्ममें जाय।
दसों नादके लाभकी, महिमा कही न जाय॥

जैसे पथको छोड़कर मनमानी राहपर चलनेवाले उन्मत्त गजेन्द्रको वशमें करनेके लिये अङ्कुशकी सहायता लेनी पड़ती है, वैसे ही पारमार्थिक कल्याणको छोड़कर विषयोंके पीछे भटकनेवाले मनरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्रको काबूमें लानेके लिये आन्तरनादरूपी अङ्कुशकी सहायता ली जाती है। अथवा जिस तरह किसी वृक्षकी शाखामें डोरी बाँधकर, यदि डोरीका दूसरा सिरा किसी पक्षीके पैरमें बाँध दिया जाय तो पक्षी बार-बार उड़नेका प्रयत्न करनेपर भी अन्तमें परवश होकर उसी शाखापर विश्रान्ति लेता है, उसी तरह यदि परब्रह्मरूपी अचल आधारसे सम्बन्ध रखनेवाले नादरूपी डोरीका सिरा मनरूपी पक्षीके वृत्तिरूपी पैरमें बाँध दिया जाय तो मन विषयोंके वनमें चाहे जितना दौड़नेका प्रयत्न करे, अन्तमें थककर वह उसी चिदाकाशरूप आधारकी शरण ग्रहण करता है।

इस आन्तरनादके अनुसन्धानका अभ्यास करनेके लिये अधिकारी बननेकी और नियम पालन करनेकी बड़ी आवश्यकता है। पुरुष, स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इन सबमेंसे जिन्होंने प्राणायाम, मुद्रा, आसन, त्राटकादि षट्कर्म, अजपा (श्वासोच्छ्वासपर लक्ष्य रखना), मन्त्र, ध्यान, देव-सेवा, ओषधि-कल्प-सेवन आदि शास्त्रवर्णित साधनोंमेंसे किसी एक या अधिक साधनोंद्वारा अपनी नाडियोंके सञ्चित मलका शोधन किया है, उन्हींको नादानुसन्धानका अधिकारी माना गया है। इन अधिकारियोंमेंसे भी जो नित्य नियमित समयपर केवल एक बार सात्त्विक पथ्य (लघु भोजन) ग्रहण करता है, जो ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, सदाचार, क्षमा, अद्रोह, इन्द्रियदमन, विषय-सेवनमें उदासीनता, अस्तेय, एकान्तवास, ईश्वर-परायणता, पवित्रता आदि नियमोंका पालन करता हुआ अभ्यासके लिये श्रद्धा तथा उत्साहपूर्वक प्रयत्न, ब्राह्ममुहूर्तादि शान्त वातावरणके समयपर सप्रेम अभ्यास एवं व्यावहारिक और शारीरिक अधिक प्रवृत्तियोंका सङ्कोच करता है, उसके शरीरमें रक्ताभिसरण-क्रियासे उत्पन्न नाद क्रमशः अनुभवमें आते जाते हैं। किन्तु जिन व्यक्तियोंने नाडीस्थ मलदोषका शोधन न किया हो और जो आहार-विहारादि उपर्युक्त नियमोंका पालन न करते हों; उन्हें इस योग-मार्गमें प्रवेश ही नहीं करना चाहिये।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, नादानुसन्धानका अभ्यास सूर्योदयसे पूर्व, पवित्र, एकान्त, निर्जन स्थानमें बैठ करके ही करना चाहिये। क्योंकि प्रातःकालमें वायुमण्डल शीतल होनेके कारण नादका भान स्पष्टरूपसे होता है, उस समय वृत्ति अधिक कालतक नादमें स्थिर रह सकती है, शरीर और मनमें थकावट या उपरामता नहीं आती, बाहरसे विघ्न उपस्थित होनेकी सम्भावना कम रहती है और व्यावहारिक वासनाका उद्भव भी प्रायः नहीं होता है। दिनके उष्ण वातावरणमें इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति रहती है। वायु-मण्डल अनेक प्रकारकी ध्वनियोंसे क्षुब्ध रहता है। उष्णताके कारण रक्ताभिसरणक्रिया मन्द पड़ जाती है। नादका श्रवण तैलधारावत् अविच्छिन्न नहीं होता। मनमें तरह-तरहकी सांसारिक वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वृत्तियाँ चञ्चल हो उठती हैं। तन और मन दोनों अल्पकालमें ही थक जाते हैं। बाहरसे विघ्नोंकी भी कमी नहीं रहती। इन सब बातोंके अतिरिक्त पेटमें अपक्व आहार-रस रहनेके कारण नाद मन्द पड़ जाता है और आलस्य भी आने लगता है। अतः किसी भी अशान्तकालमें तथा भोजन पच जानेके पूर्व साधकोंको नादानुसन्धानका अभ्यास नहीं करना चाहिये।

ऋतुओंमें भी ग्रीष्मादि उष्ण ऋतुओंकी अपेक्षा शिशिरादि शीतल ऋतुओंमें नाद अधिक वेगके साथ उठता है। और नाड़ियोंके मलका शोधन भी अन्य ऋतुओंकी अपेक्षा वसन्त और शरत्कालमें ही अधिक सरलतासे तथा जल्दी होता है। लेकिन वसन्तके बाद ग्रीष्म ऋतु आ जाती है और शरत्के बाद हेमन्त तथा शिशिर—ये शीतल ऋतुएँ आती हैं। अतः नादानुसन्धानमें प्रवेशकी इच्छा रखनेवालोंको शरद्-ऋतुमें मलशोधनकी क्रियाका आरम्भ करना विशेष लाभदायक है।

यद्यपि किसी उष्ण-उत्तेजक ओषधिका सेवन करनेसे रक्ताभिसरण-क्रिया अधिक बलवती बनती है और उसके

कारण नाद जोरसे उठता है परन्तु उष्णताका शमन होनेपर अथवा हृदय-यन्त्र और नाडियोंके थक जानेपर पुनः स्वल्पकालमें ही नाद अति शिथिल हो जाता है एवं नाडियोंमें कफ-मलकी उत्पत्ति भी अधिक मात्रामें होने लगती है, इसलिये नाद उठानेके लिये किसी उत्तेजक ओषधिकी सहायता लेना, लाभकी अपेक्षा बहुत हानिकारक है।

प्राणिमात्रके आत्यन्तिक कल्याणकी भावना करनेवाले जो संतजन नादानुसन्धानके अभ्यासी होते हैं, उनका शरीर यदि कहीं वृद्धावस्था अथवा दुष्ट प्रारब्धजनित दोषके प्रकोपसे व्याधिग्रस्त हो जाता है, तो भी उन्हें नादानुसन्धान सहज स्वभावसिद्ध हो जानेके कारण क्लेश नहीं होता—वे आनन्दित ही बने रहते हैं। यदि कहीं ज्वरदोषसे उनके शरीरमें उष्णताकी वृद्धि हो जाती है तो उनकी रक्ताभिसरण-क्रिया नैसर्गिक नियमानुसार वेगपूर्वक होने लगती है, जिससे नाड़ियोंका संगृहीत मल जलने लगता है। फिर नाद जोरसे उठता है। ऐसी पीड़ाके प्रसंगमें भी सन्तमहात्माओंकी वृत्ति आन्तर नादमें एकाग्र या लयभावको सत्वर प्राप्त हो जाती है। उन्हें शारीरिक कष्ट सर्वथा भूल जाता है; परन्तु अन्य सांसारिक लोग जो नादानुसन्धानका अभ्यास नहीं रखते ऐसी व्यथाके समय वेदनासे बेचैन होकर 'हाय-हाय' मचाने लगते हैं। यहाँतक कि उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाले सम्बन्धी-सहायकोंका भी उनके मारे नाकों दम हो जाता है। ऐसे ही व्याधिकालमें सन्त और संसार-लोलुप अज्ञानीजनोंके धैर्यमें भेद विदित होता है।

नादानुसन्धानके अभ्यासियोंको अभ्यासके प्रारम्भ तथा अन्तमें प्राचीन परम्पराके अनुसार नित्यप्रति निम्नलिखित श्लोक ध्यान और भावनाके साथ बोलकर अन्तर्यामीको प्रणाम करना चाहिये—

गमागमस्थं गमनादिशून्यं
चिद्रूपदीपं तिमिरान्धनाशम्।
पश्यामि तं सर्वजनान्तरस्थं
नमामि हंसं परमात्मरूपम्॥

इसके पश्चात् अपनी सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताओंको छोड़कर तथा पूरी सावधानीके साथ लक्ष्य रखकर अभ्यास करना चाहिये। यह बात वराहोपनिषद्में इस प्रकार समझायी गयी है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयेक्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
सङ्गीतताललयवाद्यवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

अर्थात् जैसे नटी सिरपर जलके कई घड़ोंको एक साथ रखकर नाच-गान करती रहती है; उसके नृत्यकी मर्यादा, स्वर, राग, भाव, ताल इत्यादि दर्शकोंको आनन्दित करते रहते हैं और साथ-ही-साथ वह अपने जलपात्रोंको भी सम्हालती रहती है, वैसे ही योग-साम्राज्यकी इच्छावाले नादानुसन्धानके अभ्यासीको सांसारिक कार्य करते हुए भी अपनी वृत्तियाँ नादमें लगाते रहना चाहिये तथा नादमें ब्रह्मभावना करते रहना चाहिये। आसन लगाकर अभ्यास करनेके समय जप, नेत्रवृत्तिद्वारा ध्यान, इधर-उधर देखना-सुनना, संकल्प-विकल्प, स्मरण, विचारादि सब प्रकारकी मानसिक चेष्टाओं और क्रियाओंका परित्याग करके सावधान चित्तसे केवल नादरूप ब्रह्मका अनुसंधान करते रहना चाहिये।

नादानुसंधानके अभ्यासको नटकी नटबाजीके समान केवल शारीरिक क्रिया नहीं मानना चाहिये, वरं उसे ब्रह्मभावनापूर्वक करना चाहिये। बिना ऐसी भावना किये शास्त्रकथित फलकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। शास्त्रोंमें इस प्रकार कहा गया है—

'मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टिरग्निरुदाहृतः।
बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णुब्रह्मेशदेवताः॥'

(योगशिखोपनिषत्)

"ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।"

(नादबिन्दूपनिषत्)

"अथो नादमाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशं स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते॥"

(हंसोपनिषत्)

"अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते॥"

(योगशिखोपनिषत्)

इस रीतिसे और भी अनेक मन्त्रोंमें नादानुसंधानादि सब योगक्रियाओंको ब्रह्मभावना तथा देवभावनापूर्वक करनेका विधान किया गया है।

नादानुसंधानका अभ्यास सिद्धासनसे बैठकर और शाम्भवी मुद्राका आश्रय लेकर करनेसे सत्वर फलदायी होता है। नादबिन्दूपनिषत्में कहा गया है—

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥

योगीको सिद्धासनसे बैठकर वैष्णवी और शाम्भवी मुद्राओंका * अनुसंधान करके अर्थात् बाह्यवृत्तिको आन्तरमें प्रवेश कराके सुषुम्णाके आन्तर प्रदेशसे उठनेवाले नादको दक्षिण कर्णमें सर्वदा सुनते रहना चाहिये ।

सर्वदा नादानुसंधानका अभ्यास करते रहनेसे वासनाका क्षय हो जाता है, जिससे मनकी बाह्य विषयोंमें भटकनेकी इच्छा स्वयमेव कम हो जाती है । और मन शीघ्र ही प्राणके साथ मिलकर परब्रह्ममें विलीन हो जाता है ।†

नादानुसंधानके प्रारम्भिक अभ्यासकालमें साधकोंकी कर्णनालीमें मल-संचय होता रहता है । उससे नादका श्रवण सम्यक्‌रूपसे नहीं होने पाता । इसके लिये निम्नलिखित ओषधियोंकी कर्णमुद्रा बनाकर दोनों कानोंमें धारण करनी चाहिये । यह रिवाज वृद्धपरम्परानुगत है—

कस्तूरी १ रत्ती, जायफल २ रत्ती, जावित्री ३ रत्ती और लौंग ६ रत्ती ।

इन ओषधियोंके प्रमाणमें साधक चाहे तो देशकालानुसार कमी-बेशी भी कर सकता है । इन ओषधियोंको मिलाकर खरलमें इनका बारीक चूर्ण बना देना चाहिये फिर १ रत्तीसे ३ रत्ती तकके चूर्णको नवीन लाल सूती या रेशमी वस्त्रके टुकड़ेमें डालकर अंगूर अथवा जामुनकी आकृतिके सदृश छोटी-सी गुण्डी बना लेना चाहिये और उसे एक डोरेसे मज़बूतीके साथ बाँध देना चाहिये । गुण्डीपर डोरा बाँधनेके स्थानसे वस्त्रका भाग लगभग चौथाई इञ्चके बराबर शेष लम्बा रहने देना चाहिये, ताकि मुद्रा उस भागको पकड़कर इच्छानुसार कानमें धारण कर सके और जब चाहे बाहर निकाल सके ।

मुद्रा कानके छिद्रानुरूप छोटी-बड़ी बनायी जाती है । प्रारम्भमें छोटी ही बनानी चाहिये ताकि वह सरलतापूर्वक कानमें जा सके तथा उसे निरन्तर धारण करनेपर भी दुःखका भान न हो । इस प्रकार स्नानकालके अतिरिक्त शेष सब समयोंमें यदि मुद्रा धारण की जाय तो थोड़े ही दिनोंमें कानकी मैल दूर हो जाती है और नादश्रवण स्पष्ट होने लगता है ।

कर्णमुद्राको धारण करनेके बाद कर्णनाडीमेंसे मल निकलकर बराबर मुद्रामें लगता रहता है । इसलिये कर्णमुद्राको दिनमें दो-चार या अधिक बार निकालकर पोंछ लेना चाहिये और फिर उसे तुरन्त ही धारण कर लेना चाहिये । ऐसा करनेसे थोड़े ही दिनोंमें कर्णनाडी शुद्ध हो जाती है तथा स्पष्टरूपसे नादका श्रवण होने लगता है । यदि अभ्यासके प्रारम्भकालमें कर्णमुद्रा कुछ बड़ी होनेके कारण कानको पीड़ा पहुँचाने लगे तो उसे दो-चार दिनके लिये बिल्कुल निकाल देना चाहिये । फिर जब वेदना शान्त हो जाय तब पहलेकी अपेक्षा छोटी मुद्रा बनाकर थोड़े-थोड़े समयतक धारण करना चाहिये और धीरे-धीरे समय बढ़ाते रहना चाहिये । इस प्रकार जब कानोंको पूरी तरह अभ्यास हो जाय तब फिर बड़ी मुद्रा बनाकर धारण करना चाहिये ।

कर्णमुद्रा धारण करनेसे कानकी मैल तो निकलती ही है इसके अलावा मनोवृत्तिको बारम्बार नादमें लगानेकी स्मृति भी हो जाती है । और बाह्य ध्वनियोंमें जो वृत्ति कम दौड़ती है सो तो है ही । इन लाभोंकी दृष्टिसे कर्णमुद्रा बनाकर वर्षोंतक धारण किया जाय तो उससे वृत्तिको लय करनेमें सहायता ही मिलती है । हानि कदापि नहीं होती । कतिपय योगाभ्यासीजन उपर्युक्त मुद्राके स्थानमें तुलसीकी शाखा या अकलकराके मूलको घिसकर और उसकी मुद्रा बनाकर धारण करते हैं, किन्तु इससे उतना लाभ नहीं होता । और नाजुक प्रकृतिवालोंसे यह सहन भी नहीं होता । कुछ संत महात्मा मोम, सरसोंका तेल और रूईको मिलाकर एक कटोरीमें डाल उसे अग्निपर पिघलाते हैं । तत्पश्चात् उसमें थोड़ी-सी कस्तूरी मिलाकर उसकी मुद्रा बना लेते हैं । यह मुद्रा मुलायम रहती है और इसको वे केवल अभ्यास करनेके समय धारण करते हैं । यह मुद्रा कानोंमें शीशीपर डाटकी भाँति सुदृढ़ लग जाती और उससे बाहरके शब्द बिलकुल सुनायी नहीं देते । परन्तु इस मुद्राका उपयोग अभ्यासरहित कालमें नहीं हो सकता, क्योंकि यह नरम रहती है तथा इसके द्वारा अन्तरस्थ मलका आकर्षण नहीं होता ।

साधकोंको समझानेके लिये हंसोपनिषत्‌में नाडियोंके शोधनभेदसे आन्तरनादके १० भेद किये गये हैं । किसी ग्रन्थकारने भ्रमर, वेणु, घण्ट और समुद्रनाद—ये चार भेद

* अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
(शाण्डिल्योपनिषत्)

† सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् ।
निरञ्जने विलीयेत मरुन्मनसि पद्मज ॥
(योगशिखोपनिषत्)

तथा किसी ग्रन्थकारने आठ भेद भी किये हैं । किन्तु हंसोपनिषत् कथित दस भेद ही साधकोंको उनकी मानसिक प्रगति बतलानेके लिये विशेष हितावह है; ऐसा मानकर यहाँ उन्हीं भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

चिणीति प्रथमः । चिञ्चिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो मृदङ्गनादः । नवमो भेरीनादः । दशमो मेघनादः ।

इन नादोंमेंसे प्रथम नादका अनुभव अन्य नादोंकी अपेक्षा पहले होता है । सन्ध्याके समय छोटे-छोटे जीव-जन्तुओंद्वारा की हुई 'चीं-चीं' की आवाजको पहला नाद कहा जाता है । इस नादके श्रवणके पश्चात् ही क्रमशः द्वितीय-तृतीय नादोंका अनुभव होता है । ऐसा भी होता है कि कहीं-कहीं किसी साधकको चतुर्थ, पञ्चम या सप्तमादि नादोंमेंसे किसी एक या अधिकका अनुभव नहीं होता और जल्दी ही नाड़ीका अधिकांशमें शोधन होकर पञ्चम षष्ठ या अष्टमादि नादोंका अनुभव हो जाता है । जैसे किसी साधकको पञ्चम तन्त्रीनादका अनुभव तो नहीं होता किन्तु आगेका तालनाद या वेणुनाद खुल जाता है । इसी प्रकार किसी-किसी कनिष्ठ अधिकारीको पञ्चमादि नादोंका अनुभव हो जानेके बाद भी प्रारब्धदोषसे या भूल-प्रमादवश नाड़ियोंमें मल सञ्चित हो जानेके कारण पुनः उनका लोप हो जाता है । और उलटे चतुर्थ, तृतीय या प्रथम नादका श्रवण होने लगता है ।

इससे यह विदित हुआ कि साधकोंको आग्रहपूर्वक नाड़ी-शुद्धिपर ध्यान रखना चाहिये । प्राणायाम साधनोंके अभ्यासद्वारा जैसे-जैसे अधिकाधिक नाड़ी-शुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे ही प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि नाद भी क्रमशः खुलते जायँगे । और जब नाड़ियोंकी शुद्धि पूर्णांशमें हो जायेगी, तब दशम मेघनाद या समुद्रध्वनिके सदृश नादका प्रत्यक्ष हो जायेगा । इस दसवें नादकी उत्पत्ति हो जानेपर वृत्तिका लय शीघ्र ही होने लगता है । दशम नादके श्रवणके पश्चात् भी प्रायः नित्य-प्रति थोड़े-थोड़े समयतक अन्य नादोंका श्रवण होता रहता है । किन्तु उनके बाद दशम नाद तो अभ्यासकी समाप्तितक या वृत्तिलय होनेतक श्रवणगोचर होता रहता है ।

जो साधक प्राणायामका अभ्यास न करते हुए सोऽहं (अजपा गायत्री) प्रणव या अपान तत्त्वको शीघ्र ऊपर उठानेवाले अन्य मन्त्रोंका जप करके नादानुसंधानमें प्रवेश करते हैं, उनको प्रथमादि नाद जैसे-जैसे श्रवणगत होते जाते हैं, वैसे-वैसे शरीर तथा मनपर भिन्न-भिन्न प्रकारके असर होते जाते हैं । यह बात हंसोपनिषत्‌में अत्यन्त स्पष्टरूपमें लिखी गयी है—

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् ।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥
पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥

अर्थात् पहला नाद खुलनेपर सारे शरीरमें खाज आने लगती है और ऐसा मालूम होता है, मानो शरीरपर चीटियाँ चल रही हों ! द्वितीय नादका श्रवण होनेपर हाथ-पैर फड़कते हैं तथा उनकी नाड़ियाँ खींचने लगती हैं । तृतीय नादका प्रकाश होनेपर सिरमें भारीपन आ जाता है, जिससे दुःखका भान होता है । चतुर्थ शंखनादके प्रारम्भकालमें सिर काँपने लगता है । पंचम नादका अनुभव होनेके समय मस्तिष्कमेंसे स्वादरहित रस निकलकर तालुद्वारा मुँहमें आता रहता है । षष्ठनाद—तालनादकी उत्पत्ति होनेपर मस्तिष्कमेंसे टपकनेवाला रस स्वादु बन जाता है । और उस रसका पान करते रहनेसे शरीरको अमृतके समान पोषण मिलता रहता है । सप्तम नादमें वृत्ति लगनेपर मन एकाग्रभावको प्राप्त हो जाता है, जिससे आन्तर विज्ञानका प्रकाश होने लगता है । अष्टम मृदङ्ग नादमें एकाग्रता अधिक कालतक रहकर परा वाचाका ज्ञान होता है । उससे सूक्ष्म संस्कार तथा अन्य व्यक्तिके हृद्गत विचारोंका अनुभव हो सकता है । नवम नादका परिचय होनेपर नाड़ियोंका मलदोष शमन हो जाता है, वृत्ति निरुद्ध होने लगती है तथा दिव्य चक्षुकी प्राप्ति हो जाती है । फलतः दूर देश और दूर कालकी क्रिया तथा वस्तुतकका साक्षात्कार हो सकता है इस नवम नादके श्रवणसे शरीरका भान नहीं रह जाता है । इन नवों नादोंके अन्तमें, जब मस्तिष्क-देशमें चक्कर-सा आकर अन्तिम दशम नादका प्रादुर्भाव हो जाता है तब थोड़े ही समयमें वृत्तिका विलय होने लगता है । उस समय द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, ध्याता-ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि त्रिपुटियाँ विलीन हो जाती हैं और जीव शिवभावको प्राप्त हो जाता है ।

किन्तु जो साधक त्राटक, षट्चक्रभेदन और प्राणायामादि साधनोंका अभ्यास करके अपान तत्त्वको प्राणतत्त्वमें मिलाकर उसको अधिक वेगपूर्वक उर्ध्वभागमें चढ़ाता है, उसको सप्तम नाद सुननेके पश्चात् भ्रूमें (कहीं-कहीं हृदयमें) ज्योति-दर्शन प्राणापान तत्त्वका दर्शन होता रहता है। यह प्रकाश कभी-कभी तो जल्दी ही विलीन हो जाता है और कभी-कभी दीर्घकालतक स्थिर रहता है। जब प्रकाशकी उत्पत्ति होती है, तब नेत्रवृत्ति सहज ही उस ओर आकर्षित हो जाती है। और जो श्रवणवृत्ति नादमें लगी थी, उसमें थोड़ा विक्षेप हो जाता है। अनेक साधकोंकी वृत्ति समानभावसे दोनों ओर भी रह सकती है और अनेककी नहीं। वृत्ति केवल नादमें रहे या स्थिर प्रकाश होनेपर केवल प्रकाशमें रहे अथवा नाद और ज्योति दोनोंमें रहे; इस बातमें कोई आग्रह नहीं है। हाँ, यदि वह नादमेंसे हटकर केवल ज्योतिमें ही लगी रहेगी तो निरुद्धावस्थाकी प्राप्तिमें थोड़ी देर हो जायगी। फिर भी साधकोंको ऐसे समयपर संकल्प-विकल्प या बलात्कार नहीं करना चाहिये। वृत्ति थोड़े समयके पश्चात् स्वयमेव नादमें लगकर निरुद्ध होने लगेगी। साधकोंको चाहिये कि वे अपने चित्तको साक्षी भावसे स्थिर रक्खें। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें मन प्राणसहित ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

जैसे दूध और जलका मिश्रण होनेपर उनका एक ही रूप बन जाता है, वैसे ही नाद और मन एकीभूत होकर चिदाकाशमें लय हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार भ्रमर पुष्पके मकरन्दका पान करते समय उसके सुगन्धकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार मनरूपी भ्रमर नादरूपी पुष्पमें स्थित रहनेवाले स्वस्वरूपानन्दरूपी मकरन्दका पान करते समय विषयानन्दकी आकाङ्क्षा नहीं रखता। अथवा जिस तरह एक मणिधर सर्पकी वृत्ति मनोहर ललित स्वरमें लग जानेपर वह अचञ्चल होकर मूर्तिवत् स्थिर हो जाता है, उसी तरह मनरूपी अन्तरङ्ग भुजंगेन्द्रकी वृत्ति दिव्य आन्तर नादमें मिल जानेके कारण अपनी चपलता खोकर लयभावको प्राप्त हो जाता है।

दशम नादकी प्राप्तिके पश्चात् सर्वदा नादानुसंधानका अभ्यास करते रहनेसे वृत्तिलय दृढ़ हो जाता है तथा अवसर पड़नेपर शारीरिक वेदनासे अथवा सिंह, व्याघ्र या दुन्दुभि आदिकी आवाज़से भी वृत्तिभङ्ग नहीं होता। वृत्तिलय हो जानेपर शरीर काष्ठके समान निश्चेष्ट बन जाता है। और उन्मनी अवस्था—तुर्यावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् शीतोष्णादिजनित सुख-दुःख या मानापमानादिका असर मनपर होता ही नहीं। इस रीतिसे नादानुसंधानद्वारा संतजन जाग्रदादि अवस्थात्रयसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। ऐसे संतजनोंकी स्थिति नादविन्दूपनिषत्के अन्तिम मन्त्रमें इस प्रकार गायी गयी है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः॥

हरिः ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
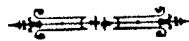
संत-सूरमा

बेर-बेर पावकमें कंचन तपाय तऊ,
रंचक ना रंग निज अंगको मिटावै है।
चन्दन सिलानपर घिसत अमित तऊ,
सुंदर सुगंध चारों ओर सरसावै है॥
पेरत हैं कोल्हू माँहि ऊखकों अधिक तऊ,
मंजुल मधुरताई नेकु न नसावै है।
गोविंद कहत तैसे कष्ट पाय काय तऊ,
सुजन सुभाव नाहिं आप बदलावै है॥

—गोविन्दगिल्ला

संतशिरोमणि श्रीप्राणनाथजी

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीकृष्णप्रियाचार्यजी)

इस रत्नगर्भा वसुन्धरामें यों तो साधनाकी चरम सीमापर पहुँचे हुए अनेकों तरणतारण संत-महात्मा अवतीर्ण हुए हैं तथापि सद्गुरु स्वामी श्रीप्राणनाथजी महाराजमें बहुत-सी लोकोत्तर विशेषताएँ पायी गयी हैं। आपका जन्म नवानगर-निवासी श्रीकेशवरायजीके घरमें उनकी हरिभक्तिपरायणा धर्मपत्नी श्रीधन्यावतीदेवीके गर्भसे हुआ था। आपके जन्मकी विलक्षण कथा इस प्रकार है। संवत् १६७४ की अगहन बदी तेरसको आपकी माता प्रातःकाल नहा-धोकर भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार कर रही थीं। इतनेमें उन्होंने देखा कि सूर्यमण्डलसे उसका अनति-उष्ण बिम्ब सम्मुख आ रहा है! थोड़ी देरमें वह बिम्ब मुखद्वारा उनके उदरमें प्रवेश कर गया और वे मूर्छित हो गयीं। जब होश आया तब उन्होंने सारा वृत्तान्त अपने पतिदेवसे कहा। वे भी बड़े भगवद्भक्त थे। उन्होंने कहा 'यह श्रीभगवान्‌की अलौकिक लीला है!' तदनन्तर वह बिम्ब गर्भरूपमें परिणत हो गया और संवत् १६७५ की आश्विन कृष्णा चौदस रविवारको जब कि श्रीधन्यावतीदेवी नित्य नियमानुसार अपने इष्टदेवका पूजन-अर्चन करके ध्यानमें बैठी थीं, उनके आगे एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बालक आविर्भूत हो गया! उधर उन्होंने अपने उदरपर हाथ फेरा तो वह फूलके समान हलका मालूम हुआ! बस, वे इस दैवी लीलाको समझ गयीं तथा यह संवाद बड़े वेगके साथ घर-घर फैल गया! सबके आनन्दका ठिकाना न रहा। इसीसे कुछ लोग इन्हें सूर्यका अवतार कहते हैं। तत्पश्चात् समय आनेपर माता-पिताने इस अलौकिक बालकका नाम श्रीमिहिरराज रक्खा। यही श्रीमिहिरराज आगे चलकर 'श्रीप्राणनाथ प्रभु', 'श्रीजी साहब', 'मरु', 'श्रीइन्द्रावती' और 'इन्दिरा' आदि नामोंसे सुविख्यात हुए।

श्रीप्राणनाथजी महाराज जब बारह वर्षके हुए तभीसे आपने परम तप करना आरम्भ कर दिया। उसे हम कसनी कहते हैं। विद्याएँ तो सब पहलेसे ही आपकी चेरी थीं, फिर भी लोकलीलाके संरक्षणार्थ आपने शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया। तत्पश्चात् जब जगदुद्धारका अवसर आया तब आप चालीस वर्षकी अवस्थामें मध्यभारतके अनेक स्थानोंमें घूम-घूमकर सदुपदेश देने लगे। सं० १७२१ में आप सूरत पधारे, जहाँपर वैष्णव वेदान्तियों तथा अन्य प्रसिद्ध पण्डितोंके साथ वेदान्त और श्रीकृष्णके निजस्वरूपपर आपका बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। अन्तमें लोकोत्तर प्रतिभाके कारण विजय आपकी रही और वहाँके सभी विद्वानोंने आपको भद्रासनपर बैठाकर अभिषेक किया—आरती उतारी। तदनन्तर सर्वसम्मतिसे आपका नाम श्रीमहामति रक्खा गया। उसी समयसे आप निजानन्दीय नादशाखाके प्रवर्तक होकर उसके आचार्य माने जाने लगे। आपके सम्प्रदायमें जो मुख्य आचार्य होता है, वह इसी स्थानपर बैठाया जाता है तथा इस स्थलको इस मतके लोग तीर्थ मानकर इसे 'मंगलपुरी' नामसे पुकारते हैं।

सं० १७४० में सूरतसे चलकर आप पन्ना नगरीमें पहुँचे तथा वहाँकी किलकिलानदीके अमराईघाटपर उतरे। आपके साथ उस समय १७०० के लगभग साधु-साध्वी थे। वहाँ पहुँचते ही किलकिलानदी-तटके निवासियोंने आपसे प्रार्थना की कि 'महाराज! इस नदीका पानी बड़ा विषैला है। इसे पीनेपर मनुष्यकी कौन कहे—पशु-पक्षी भी नहीं बचते हैं।' यह सुनकर संत-मण्डलीके कुछ लोगोंने श्रीप्राणनाथ प्रभुके चरणकमलोंको धोकर उस चरणोदकको नदीमें डाल दिया। फिर सब लोग सहसा कूदकर उस नदीमें जल-क्रीडा करने लगे। श्रीप्राणनाथ प्रभु भी खूब नहलाये गये। तबसे उस नदीका जल सबके पीनेयोग्य हो गया!

इस घटनाकी खबर छत्रसाल-नरेशको लगी। उन्होंने अपने एक सम्मानित व्यक्तिको भेजकर पत्रद्वारा यह प्रार्थना की कि 'मुझको अफगान खाँके तीन हजार सैनिकोंने घेर रक्खा है, इसलिये मेरा तो वहाँ आना अशक्य है, कृपापूर्वक आप ही अपनी थोड़ी-बहुत संत-मण्डलीके साथ मेरे यहाँ पधारिये।' श्रीप्राणनाथ महाराजने छत्रसाल नरेशकी इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और आप मऊ पधारे। राजाने आपसे उपदेश-दीक्षा ले ली। इसके बाद आपने राजाको संकटमें पड़ा देखकर अपने हाथोंसे उनके सिरपर पगड़ी बाँधी और हाथमें तलवार देकर कहा—'जाइये, आपकी फतह होगी।' राजाके पास केवल बाईस घुड़सवार थे किन्तु वे उन्हींको साथ लेकर पडवारी नामक स्थानमें पड़ी हुई शत्रु-सेनापर सिंहकी भाँति टूट पड़े। फिर कौन इनका सामना करता है। श्रीप्राणनाथ प्रभुके आशीर्वाद-बलसे

राजाने सबको मार भगाया। इसके अतिरिक्त और भी कई सूबोंपर राजाकी विजय हो गयी तथा अपने सौभाग्यवश उन्होंने श्रीप्राणनाथ प्रभुके अन्य अनेक चमत्कार देखे, जिनका स्थानाभावके कारण यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता।

श्रीप्राणनाथ प्रभु जब ७०-७१ वर्षके थे, तब आप एक बार बुन्देलखण्डके बिजावर नगरमें पधारे थे। वहाँ आपने अपने योगबलसे सुन्दर दिव्य किशोर स्वरूप धारणकर, दिव्य किरीट-कुण्डल-अंगदादि आभूषण-वस्त्र पहन, नित्य वृन्दावनकी तरह शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रासलीला की और उसके दर्शनद्वारा अपने रसिक भक्तोंका रञ्जन किया था! इसी प्रकार और भी अनेकों दिव्य स्वरूप धारण करके आपने समय-समयपर अपने भक्तोंको दर्शन दिये। आपके भक्तोंमें अनेक सम्प्रदायोंके लोग थे। अतः जो भक्त जिस सम्प्रदायका होता था, उसकी इच्छाके अनुसार आप उसको उसी सम्प्रदायके आचार्यरूपमें दर्शन देते थे। किसी सम्प्रदायसे आपका विरोध नहीं था। यहाँतक कि आपने अनेक बार ईसा, मूसा, दाऊद, मुहम्मद इत्यादि आचार्योंके रूपमें भी अपने तत्तत्सम्प्रदायानुगामी भक्तोंको दर्शन दिये थे।

आपका हृदय नवनीतके समान कोमल था। आपके समयमें जो गरीब आर्यप्रजापर अथवा सती देवियोंपर विधर्मियोंका असह्य आक्रमण होता था, उसको देख-सुनकर, आप अत्यन्त आनन्दमय होते हुए भी दुःखसागरमें डूबे रहते थे। एक बार भगवान् श्रीकृष्णके आवेशने आपके हृदयमें ऐसा जोश पैदा कर दिया कि आप बिना देखे-पढ़े कुरानके तीसों सिपारोंके गुह्यार्थोंको सरल चौपाइयोंमें गाने लगे। उन्हें सुनते ही भक्तोंने लिखना शुरू कर दिया। जब वह ग्रन्थ तैयार हो गया और कुरानके अर्थोंसे उसका मिलान कराया गया तो वह ठीक-ठीक अनुवाद निकला! उस ग्रन्थका नाम 'सनंध' रक्खा गया और उसके प्रतापसे आपके कितने ही भक्तोंने स्थान-स्थानपर विधर्मियोंको पराजित किया। एक समय प्रभुने स्वयं भी अपने १२ भक्तोंको साथ लेकर तत्कालीन यवन-सम्राट् औरंगजेबसे टक्कर ली! आपने कुरानके जो अर्थ किये उसपर औरंगजेब कायल भी हुआ किन्तु जब आपकी भक्तमण्डलीने मुसलमानोंको यह उपदेश दिया कि 'तुम लोग कुरानके अर्थको हमसे समझकर मांसभक्षण तथा गोहत्याका परित्याग कर दो और साधु-ब्राह्मण आदिको कष्ट न दो।' तब औरंगजेबके काजियोंको यह बुरा लगा। उन्होंने श्रीप्राणनाथ महाप्रभुके १२ शिष्योंको कारागारमें डालनेकी आज्ञा दे दी। किन्तु प्रभुने अपने योगबलसे ऐसा नहीं होने दिया तथा विधर्मियोंको तख्तसे उलटवा दिया! आप स्वयं लिखते हैं कि—

'तख्त बैठ शाह कहावते, देखो क्यों डारे उलटाय।'

इस प्रकार अनेकों चमत्कार दिखलाकर श्रीप्राणनाथ प्रभुने लोकोद्धारका कार्य किया। सं० १७५० से ५१ तक आप केवल प्रतिदिन एक मुट्ठी चना चबाकर रहे। उस समय आपकी विचित्र दशा थी—रातदिन आप भगवान् श्रीकृष्णको अपने अनन्य प्रेमास्पदके रूपमें याद करके रोया करते थे। सोते तो आप कभी थे ही नहीं। कहा जाता है कि भगवान् भी आपकी चुनी हुई भक्त-मण्डलीके साथ समय-समयपर खेला करते थे। श्रीप्राणनाथ प्रभु पूर्णानन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साक्षात्कारजन्य प्रेमावेशमें मग्न रहते हुए जो-जो शब्दोच्चार करते थे, भक्तजन उन्हें लिपिबद्ध करते जाते थे। उस शब्दसमूहको आज हमलोग 'महावाणी' अथवा 'श्रीमुखवाणी' कहकर पूजते हैं। श्रीकृष्ण-साक्षात्कारके फलस्वरूप श्रीप्राणनाथ प्रभुके हृदयमें जो प्रेम-सागर उमड़ा था, उसको आपने 'प्रेम', 'इश्क', 'शराब', 'तारतमज्ञान', 'भक्ति' इत्यादि नामोंसे पुकारा है। आपने श्रीकृष्णलीलाके व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी, वास्तवी—ये तीन भेद मानकर क्रमशः इनकी श्रेष्ठता बतायी है। नित्य-व्रज-लीला और नित्य-रासलीलाको आप क्रमशः व्यावहारिकी तथा प्रातिभासिकी लीला बतलाते थे एवं दिव्य ब्रह्मपुरकी वास्तवी लीलाको ब्रह्मानन्द मानकर उसकी उपासना करते थे। श्रीस्यामाजू ठकुराइन (श्रीरासेश्वरी राधाजी) पर आपका अनन्य प्रेम था।

संवत् १७५१ में परमहंस श्रीप्राणनाथ प्रभु नित्यधामको पधार गये। कुछ लोग तो आपको पूर्णानन्द अक्षरातीतका अवतार मानते हैं और कुछ लोग भगवान् श्रीसूर्यनारायणका।

आप पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी प्रमोदाशक्तिके स्वरूप गिने जाते हैं। स्वामी श्रीप्राणनाथजी परमहंसोंकी उच्च स्थितिको प्राप्त थे तथापि आपने वर्णाश्रमधर्मका जीवनभर पालन किया। आपने अपने शिष्योंको श्रीकृष्णकी परा भक्ति करनेको कहा परन्तु वर्णव्यवस्था तोड़नेकी सख्त मनाई की। हाँ, श्रीकृष्णके प्रेममें पागल हुए पुरुषोंकी तो बात दूसरी है। आपके सम्प्रदायको 'निजानन्दीय', 'मिहिरराजपंथी', 'श्रीकृष्ण-

प्रणामी' इत्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इसके मुख्य दो ही स्थान हैं—एक पन्नामें, दूसरा सूरतमें। प्रभुके परमधाम पधारनेपर इसकी एक शाखा नवानगरमें स्थापित हुई थी परन्तु आजकल वह भिन्नतापर है। वह प्रायः श्रीप्राणनाथजी-के गुरुको मानती है जिनका नाम श्रीदेवचन्द्रजी है। ये मारवाड़में अमरकोट स्थानमें मत्तू नामक एक पुष्करणा ब्राह्मणके घर श्रीकुँअरबाईके उदरसे संवत् १६३८ आश्विन शुक्ल १४ सोमवारको प्रकट हुए थे। आप हरिव्यासी श्रीस्वामी हरिदाससम्प्रदायके शिष्य थे। आप चालीस वर्षकी उम्रतक श्री[illegible]बिहारीजीके किरीट तथा मुरलीकी सेवा करते थे। पश्चात् आपको श्रीनित्यवृन्दावनविहारी सर्वेश्वर रासेश्वर प्रभु-ने साक्षात् दर्शन दिये तब इन्होंने निजानन्द नामक सम्प्रदायकी स्थापना की। इस सम्प्रदायमें स्वलीलाद्वैत माना जाता है। श्रीश्यामाश्यामजी—युगलमूर्तिकी उपासना है।*

चेतावनी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शास्त्र और महापुरुष डंकेकी चोट चेतावनी देते आये हैं और दे रहे हैं। इसपर भी हमारे भाइयोंकी आँखें नहीं खुलतीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। मनुष्यका शरीर सम्पूर्ण शरीरोंसे उत्तम और मुक्तिदायक होनेके कारण अमूल्य माना गया है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यकी योनि, सारी पृथ्वीमें भारतभूमि, और सारे धर्मोंमें वैदिक सनातन-धर्मको सर्वोत्तम बतलाते हैं। मनुष्यसे बढ़कर कोई भी योनि देखनेमें नहीं आती, अध्यात्मविषयकी शिक्षा सारी पृथ्वीपर भारतसे ही गयी है यानी दुनियामें जितने प्रधान-प्रधान धर्म-प्रचारक हुए हैं, उन्होंने अध्यात्मविषयक धार्मिक शिक्षा प्रायः भारतसे ही पायी है। तथा यह वैदिक धर्म अनादि और सनातन है, सारे मत-मतान्तर एवं धर्मोंकी उत्पत्ति इसके बाद और इसके आधारपर ही हुई है। विधर्मी लोग भी इस वैदिक सनातन-धर्मको अनादि न माननेपर भी सबसे पहलेका तो मानते ही हैं। अतएव युक्तिसे भी इन सबकी सबसे श्रेष्ठता सिद्ध होती है। ऐसे उत्तम देश, जाति और धर्मको पाकर भी जो लोग नहीं चेतते हैं, उनको बहुत ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावहीं, सिर धुनि-धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय॥

वे लोग मृत्युकाल नजदीक आनेपर सिरको धुन-धुनकर दुःखित-हृदयसे पश्चात्ताप करेंगे और कहेंगे कि 'कलिकालरूप समयके प्रभावके कारण मैं कल्याणके लिये कुछ भी नहीं कर पाया, मेरे प्रारब्धमें ऐसा ही लिखा था; ईश्वरकी ऐसी ही मर्जी थी।' किन्तु यह सब कहना उनकी भूल है क्योंकि यह कलिकाल पापोंका खजाना होनेपर भी आत्मोद्धारके लिये परम सहायक है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही आसक्तिरहित होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल भगवान्‌के पवित्र गुणगान करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है। आत्मोद्धारके

* संत-अंकमें प्रकाशित श्रीप्राणनाथजीके चरितमें कुछ भूलें देखकर श्रीनिजानन्द सम्प्रदायके आचार्य स्वामीजी श्रीगोपाल-दासजीकी आज्ञासे ब्रह्मचारीजीने यह लेख लिखकर भेजा है। इसके लिये श्रीआचार्यजी और ब्रह्मचारीजीको धन्यवाद।

—सम्पादक

लिये साधन करनेमें प्रारब्ध भी बाधक नहीं है। इसलिये प्रारब्धको दोष देना व्यर्थ है और ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है—

आकर चारि लाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अविनासी॥
फिरत सदा मायाके प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुण घेरे॥
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिनु हेतु सनेही॥

इसपर भी ईश्वरको दोष लगाना मूर्खता नहीं है तो और क्या है? आज यदि हम अपने कर्मोंके अनुसार बन्दर होते तो इधर-उधर वृक्षोंपर उछलते फिरते, पक्षी होते तो वनमें, शूकर-कूकर होते तो गाँवोंमें भटकते फिरते। इसके सिवा और क्या कर सकते थे? कुछ सोच-विचारकर देखिये—परम दयालु ईश्वरकी कितनी भारी दया है, ईश्वरने यह मनुष्यका शरीर देकर हमें बहुत विलक्षण मौका दिया है, ऐसे अवसरको पाकर हमलोगोंको नहीं चूकना चाहिये। पूर्वमें भी ईश्वरने हमलोगोंको ऐसा मौका कई बार दिया था किन्तु हमलोग चेते नहीं, इसपर भी यह पुनः मौका दिया है। ऐसा मौका पाकर हमें सचेत होना चाहिये क्योंकि महान् ऐश्वर्यशाली मान्धाता और युधिष्ठिर-सरीखे धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा; दीर्घ आयुवाले हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण-जैसे बली और प्रतापी दैत्य; वरुण, कुबेर और यमराज-जैसे लोकपाल और इन्द्र-जैसे देवताओंके भी राजा संसारमें उत्पन्न हो-होकर इस शरीर और ऐश्वर्यको यहीं त्यागकर चले गये; किसीके साथ एक कौड़ी भी नहीं गयी। फिर विचार करना चाहिये कि इन तन, धन, कुटुम्ब और ऐश्वर्य आदिके साथ अल्प आयुवाले हमलोगोंका तो सम्बन्ध ही कितना है।

फिर आपलोग मदिरा पीये हुए उन्मत्तकी भाँति इन सब बातोंको भुलाकर दुःखरूप संसारके अनित्य विषयभोगोंमें एवं उनके साधनरूप धनसंग्रहमें तथा कुटुम्ब और शरीरके पालनमें ही केवल अपने इस अमूल्य मनुष्यजीवनको किसलिये धूलमें मिला रहे हैं? इन सबसे न तो आपका पूर्वमें सम्बन्ध था और न भविष्यमें रहनेवाला है, फिर इन क्षणस्थायी वस्तुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठा आप क्यों मानने लगे हैं? यह जीवन अल्प है और मृत्यु हमारी बाट देख रही है; बिना खबर दिये ही अचानक पहुँचनेवाली है। अतएव जबतक इस देहमें प्राण हैं, वृद्धावस्था दूर है, आपका इसपर अधिकार है, तबतक ही जिस कामके लिये आये हैं, उस अपने कर्तव्यका शीघ्रातिशीघ्र पालन कर लेना चाहिये। भर्तृहरिने भी कहा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयुका भी (विशेष) क्षय नहीं हुआ है, तभीतक विद्वान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?

अतएव—

काल भजंता आज भज, आज भजंता अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि भजेगा कब॥

यही परम कर्तव्य है, जिसका सम्पादन आजतक कभी नहीं किया गया। यदि इस कर्तव्यका पालन पूर्वमें किया जाता तो आज हमलोगोंकी यह दशा नहीं होती। दुनियामें ऐसी कोई भी योनि नहीं होगी जो हमलोगोंको न मिली हो। चींटीसे लेकर देवराज इन्द्रकी योनितकको हमलोग भोग चुके हैं किन्तु साधन न करनेके कारण हमलोग भटक रहे हैं और जबतक तत्पर होकर कल्याणके लिये साधन

नहीं करेंगे तबतक भटकते ही रहेंगे। हजारों-लाखों ब्रह्मा हो-होकर चले गये, और करोड़ों इन्द्र हो-होकर चले गये, और हमलोगोंके इतने अनन्त जन्म हो चुके कि पृथ्वीके कणोंकी संख्या गिनी जा सकती है, किन्तु जन्मोंकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। और भी चाहे लाखों, करोड़ों कल्प बीत जायँ, बिना साधनके परमात्माकी प्राप्ति होती नहीं, और बिना परमात्माकी प्राप्तिके भटकना मिट नहीं सकता। इसलिये उस सर्वव्यापी परम दयालु परमात्माके नाम और रूपका सदा-सर्वदा स्मरण और उसीकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। इसीसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र और सुलभ है। (गीता ८। १४; १२। ६-७) इन साधनोंके लिये उन महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये, जिन पुरुषोंको सच्चे सुखकी प्राप्ति हो चुकी है। उन पुरुषोंके संग, सेवा और दयासे ही भगवान्के गुण और प्रभावको जानकर भगवान्में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति होती है। और जिन पुरुषोंपर प्रभुकी दया होती है, उन्हींपर महापुरुषोंकी दया होती है, क्योंकि—

जापर कृपा रामकी होई। तापर कृपा करें सब कोई॥

प्रभुकी दयासे ही महापुरुषोंका संग और सेवा करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि प्रभुकी दया सबके ऊपर ही अपार है, किन्तु हमलोग इस बातको अज्ञानके कारण समझते नहीं हैं, विषय-सुखमें भूले हुए हैं। इसलिये उस दयासे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। जैसे किसीके घरमें पारस पड़ा है, पर वह उसके गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण दरिद्रताके दुःखको भोगता है, उसी प्रकार हमलोग भगवान् और भगवान्की दयाके रहस्य, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको न जाननेके कारण दुखी हो रहे हैं।

अतएव इन सबको जाननेके लिये महापुरुषोंका संग, सेवा तथा प्रभुके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका ग्रन्थोंमें अध्ययन करके उनका कीर्तन और मनन करना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि कोई भी पदार्थ हो, उसके गुण और प्रभाव जाननेसे उसमें श्रद्धा-प्रेम, और अवगुण जाननेसे घृणा होती है। और यह बात प्रसिद्ध है कि परमेश्वरके समान संसारमें न कोई गुणी है और न कोई प्रभावशाली। जिसके सङ्कल्प करनेसे तथा नेत्रोंके खोलने और मूँदनेसे क्षणमें संसारकी उत्पत्ति और विनाश हो जाता है, जिसके प्रभावसे क्षणमें मच्छरके तुल्य जीव भी इन्द्रके समान और इन्द्रके तुल्य जीव मच्छरके समान हो जाते हैं, इतना ही क्यों, वह असम्भवको सम्भव और सम्भवको भी असम्भव कर सकता है; ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसके प्रभावसे न हो सके। ऐसा प्रभावशाली होनेपर भी वह भजनेवालेकी उपेक्षा नहीं करता, बल्कि भजनेवालेको स्वयं भी वैसे ही भजता है, इस रहस्यको किञ्चित् भी जाननेवाला पुरुष एक क्षणके लिये भी ऐसे प्रभुका वियोग कैसे सह सकता है?

जो परमेश्वर महापामर दीन दुःखी अनाथको याचना करनेपर उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर खयाल न करके बच्चेको माताकी भाँति गले लगा लेता है, ऐसे उस परम दयालु सच्चे हितैषी परम-पुरुषकी इस दयाके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष पवित्र होनेके लिये आर्तनाद करनेमें क्या विलम्ब कर सकता है?

उस परमात्मामें धैर्य, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, निर्भयता, वत्सलता, सरलता, कोमलता, मधुरता, सुहृदता आदि गुणोंका पार नहीं है, और परमात्माके ये सब गुण उसको भजनेवालेमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं—इस बातके मर्मको जाननेवाला पुरुष उसको छोड़कर एक क्षण भी दूसरेको नहीं भज सकता।

जो प्रेमका तत्त्व जानता है—साक्षात् प्रेमस्वरूप है जो महान् होकर भी अपने प्रेमी भक्त और सखाओंके साथ उनका अनुगमन करता है, ऐसे उस निरभिमानी, प्रेमी, दयालु भगवान्के तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है?

इन सब भगवान्के गुण और प्रभावको जान लेनेपर तो बात ही क्या है, किन्तु ऐसे गुण और प्रभावशाली प्रभुके होनेमें विश्वास (श्रद्धा) होनेपर भी मनुष्यके द्वारा पापाचार तो हो ही नहीं सकता, बल्कि उसके प्रभाव और गुणोंको स्मरण कर-कर मनुष्यमें स्वाभाविक ही निर्भयता, प्रसन्नता और शान्ति आ जाती है। और पद-पदपर उसे आश्रय मिलता रहता है, जिससे उसके उत्साह और साधनकी वृद्धि होकर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि ऐसा विश्वास न हो सके तो भी उसको अपने चित्तसे एक क्षण भुलाना तो नहीं चाहिये। नहीं तो भारी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शास्त्र और महात्माओंने कहा है और यह युक्तिसंगत भी है। सोते समय मनुष्य जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ सोता है, स्वप्नमें भी प्रायः वही वस्तु उसे प्रत्यक्ष-सी दिखलायी देती है, इसी प्रकार मरणकालमें भी जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ मनुष्य मरता है, आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है अर्थात् जो भगवान्को चिन्तन करता हुआ जाता है, वह भगवान्को प्राप्त होता है और जो संसारको चिन्तन करता हुआ जाता है, वह संसारको प्राप्त होता है। यदि कहें कि अन्तकालमें ही भगवान्का चिन्तन कर लेंगे—तो ऐसा मानना भूल है। अन्तकालमें इन्द्रियाँ और मन कमजोर और व्याकुल हो जाते हैं, उस समय प्रायः पूर्वका अभ्यास ही काम आता है। इसलिये मनुष्यजन्मको पाकर यह जोखिम तो अपने सिरसे उतार ही देनी चाहिये, यानी और कुछ साधन न बन पड़े तो गुण और प्रभावके सहित नित्य-निरन्तर परमेश्वरका स्मरण तो करना ही चाहिये। इसमें न तो कुछ खर्च लगता है और न कुछ परिश्रम ही है, बल्कि यह साधन प्रत्यक्ष आनन्द और शान्तिदायक है तथा करनेमें भी बहुत सुगम है। केवल विश्वास (श्रद्धा) की ही आवश्यकता है। फिर तो अपने-आप सहज ही सब काम हो सकता है। परमात्मामें विश्वास होनेके लिये परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, प्रेम और चरित्रकी बात महापुरुषोंसे श्रवण करके उसका मनन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उन महापुरुष और परमात्माकी दयासे परमेश्वरमें विश्वास और परम प्रेम होकर उसकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है। परन्तु शोककी बात है कि ईश्वर और परलोकपर विश्वास न रहनेके कारण हमलोग इस ओर खयाल न करके अपने अमूल्य जीवनको अपने आत्मोद्धाररूप ऊँचे-से-ऊँचे काममें बिताना तो दूर रहा, नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक विषय-भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें जो क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, वास्तवमें वह सुख नहीं है, धोखा है। यह बात विचार करनेसे समझमें आ सकती है। ईश्वरने हमलोगोंको बुद्धि और ज्ञान विवेकपूर्वक समय बितानेके लिये ही दिया है, अतएव जो भाई अपने जीवनको बिना विचारे बिताता है, वह अपनी अज्ञताका परिचय देता है। हर एक मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? यह संसार क्या है? इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिये?

संसारके सारे प्राणी सुख चाहते हैं, वह सुख भी सदा-सर्वदा अपार चाहते हैं और दुःखको कोई

किञ्चित् मात्र भी कभी नहीं चाहता। किन्तु ऐसा होता नहीं, बल्कि उसकी इच्छाके विपरीत ही होता है। क्योंकि यह अपने समयको मूर्खताके कारण जैसा बिताना चाहिये वैसा नहीं बिताता।

संसारमें जो बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते हैं, वे भी भौतिक यानी सांसारिक सुखको ही सुख मानकर उसकी प्राप्तिके लिये मोहके वशीभूत होकर टूट पड़ते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना ही उन्नति मानते हैं। बहुत-से लोग सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके साधनरूप रुपयोंको ही सर्वोपरि मानकर धनसञ्चय करना ही अपनी उन्नति मानते हैं और कितने ही लोकमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये अपनी ख्याति करना ही उन्नति मानते हैं। किन्तु यह सब मूर्खता है क्योंकि ये सारी बातें अनित्य होनेके कारण इनमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाला क्षणिक सुख भी अनित्य ही है। अनित्य होनेके कारण ही शास्त्रकारोंने इसे असत्य बतलाया है। शास्त्र और महापुरुषोंका यह सिद्धान्त है एवं युक्ति-संगत भी है। कोई भी पदार्थ हो जो सत् होगा, उसका किसी भी प्रकार कभी विनाश नहीं होगा। उसपर कितनी ही चोटें लगें, वह सदा-सर्वदा अटल ही रहेगा। जो असत् पदार्थ है, उसके लिये आप कितना ही प्रयत्न करें, वह कभी रहनेका नहीं। इन सब बातोंका समझकर क्षणभङ्गुर—नाशवान् सुखसे अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको हटाना चाहिये और वास्तवमें जो सच्चा सुख है उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो जाना ही असली उन्नति है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि सच्चा सुख क्या है और किसमें है? तथा मिथ्या सुख क्या है और किसमें है? सर्वशक्तिमान् विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही नित्य वस्तु है, अतएव उस परमात्माके सम्बन्धसे होनेवाला सुख ही सत्य और नित्य सुख है। जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य है। अब यह विचार करें कि सांसारिक पदार्थ और उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य कैसे है? देखिये, जैसे प्रातःकाल गायका दूध दुहकर तुरन्त पान किया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रूप दूसरा ही होता है। और सायंकालतक पड़े रहनेपर कुछ दूसरा ही हो जाता है यानी प्रातःकाल-जैसा स्वाद और गुण उसमें नहीं रहता तथा रूप भी कुछ गाढ़ा हो जाता है। दूसरे और तीसरे दिन तो स्वाद, गुण और रूपको तो बात ही क्या है, उसका नाम भी बदल जाता है अर्थात् कुछ क्रिया न करनेपर भी दूधका दही हो जाता है तथा मीठेका खट्टा, पित्त और वायुनाशककी जगह पित्त और वायुवर्धक, एवं पतलेका अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। और दस दिनके बाद तो पड़ा-पड़ा स्वाभाविक ही विषके तुल्य स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर हो जाता है। विचार करके देखिये, कुछ क्रिया न करनेपर भी अमृतके तुल्य दूध-जैसे पदार्थमें क्षणपरिणामी होनेके कारण पहिलेवाले स्वाद, गुण, रूप और नामका अत्यन्त अभाव हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो उसका परिवर्तन और विनाश नहीं होता। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। अतएव इन सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। यदि प्रतीत होनेवाले क्षणिक सुखको सुख माना जाय तो उससे बढ़कर उनमें दुःख भी है, इसलिये वे त्याज्य हैं। एक पुरुष रमणीके साथ रमण करता है, उस समय उसको क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है, पर आगे चलकर उससे रोगोंकी वृद्धि, तथा बल, बुद्धि, तेज और आयुका क्षय होता है एवं वह महान्

दुःखी होकर शीघ्र ही कालका ग्रास बन जाता है। उपर्युक्त कार्य धर्मसे विरुद्ध करनेपर तो इस लोकमें अपकीर्ति और मरनेपर नरककी भी प्राप्ति होती है। अब विचार करके देखिये कि क्षणिक सुखके बदलेमें कितने समयतक कितना दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके भोगमें भी समझना चाहिये क्योंकि विषयोंके भोगमात्रसे शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं और अन्तःकरण दूषित, दुर्बल और चञ्चल हो जाता है; पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और पापोंकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, धीर और वीर पुरुष भी विलासी बन जाते हैं तथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकते। कोई आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं तो भी उनको सफलता शीघ्र नहीं होती।

इसलिये इन पदार्थोंके भोगनेके उद्देश्यसे अर्थ (धन) को इकट्ठा करना भी भूल ही है—क्योंकि प्रथम तो इस अर्थ (धन) के उपार्जन करनेमें बहुत परिश्रम होता है। इतना ही नहीं, घोर नरकदायक पाप यानी अनेकों अनर्थ करने पड़ते हैं। फिर इसकी रक्षा करनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो इसकी रक्षा करनेमें प्राणोंपर नौबत आ जाती है। इसके खर्च और दान करनेमें भी कम दुःख नहीं होता। लोग कहते हैं कि देना और मरना समान है। इसके नाश और वियोगमें बड़ा दुःख होता है। जब मनुष्य इसको छोड़कर परलोकमें जाता है, उस समय तो दुःखका पार ही नहीं है। अतएव क्षणिक सुखकी प्राप्तिके लिये महान् दुःखका सामना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? फिर उस अर्थ (धन)के द्वारा प्राप्त होनेवाला विषयसुख भी इसकी इच्छानुसार इसको नहीं मिल सकता। संसारमें बड़े-बड़े जो व्यावहारिक दृष्टिसे विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते थे, वे सब इस धनको छोड़ सिर धुन-धुनकर पछताते हुए चले गये। बड़े-बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, बलवान् पुरुष भी इसे साथ नहीं ले जा सके, फिर हमलोगोंकी तो बात ही क्या है। संसारमें यह भी देखा जाता है कि धन इकट्ठा कोई करता है और उसका उपभोग प्रायः दूसरा ही करता है जो कि कहीं-कहीं तो उसके उद्देश्यसे बिल्कुल ही विपरीत होता है। जैसे शहदकी मक्खी शहद इकट्ठा करती है पर उसका उपभोग प्रायः दूसरे लोग ही करते हैं। यह उसकी मूर्खताका परिचय है। मक्खियाँ तो साधारण कीट हैं किन्तु मनुष्य होकर भी जो इस विषयपर विचार नहीं करता, वह उन कीटोंसे भी बढ़कर है।

एक भाई रोज हजार रुपये कमाता है और आज हजार रुपयोंकी थैली उसके घरपर आ गयी, तो कलके लिये दो हजारकी चेष्टा करता है, पर थोड़ी देरके लिये समझ लीजिये कि कल उसकी मृत्यु होनेवाली है और यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु होनेके बाद उसका इस धनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता और मृत्यु बिना खबर दिये ही अचानक आती है और सम्पूर्ण धनको खर्च कर देने तथा लाख प्रयत्न करनेपर भी किसी भी प्रकार मृत्युसे वह छूट नहीं सकता। उसकी मृत्यु अवश्यमेव है। ऐसी हालतमें जिन पढ़े-लिखे तथा प्रतिष्ठित टाइटल पाये हुए मनुष्योंका धन-सञ्चय करना ही ध्येय है उनकी शहद इकट्ठा करनेवाली मक्खियोंसे भी बढ़कर अज्ञता कही जाय तो इसमें क्या अत्युक्ति है?

जो नाम-ख्यातिके लिये तन, मन, धनको लगाते हैं, वे भी बुद्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि नाम-ख्याति सच्चे सुखमें बाधक है और मरनेके बाद भी उस नाम-ख्यातिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव उन धनी-मानी विषयासक्त भाइयोंसे सविनय निवेदन है

कि आपका एक परमेश्वर और उसकी आज्ञापालन-रूप धर्मके सिवा इस लोक और परलोकमें कहीं भी कोई साथी तथा सहायक नहीं है। इसलिये यदि नाम-ख्यातिकी ही इच्छा हो तो भी भगवत्प्राप्तिकी ही चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि जब उस ब्रह्मको अभेदरूपसे प्राप्त हो जावेंगे यानी जब आप परमात्मा ही बन जावेंगे, तब वेद और शास्त्रोंमें जो विज्ञान-आनन्द-घन ब्रह्मकी महिमा गायी है और भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी जो ख्याति है, वह सब तुम्हारी ही हो जायगी। इतना ही नहीं, दुनियामें जितनी भी ख्याति हो रही है और होगी, वह सब तुम्हारी ही है। क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह सबका आत्मा ही हो जाता है। इसलिये सबकी ख्याति ही उसकी ख्याति है। और सबकी ख्याति भी उसके एक अंशमात्रमें ही स्थित है। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा भी है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्ति-युक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान।'

अब विचार करना चाहिये कि फिर तुच्छ लौकिक ख्यातिकी इच्छा करना और उसके लिये अपना तन, मन, धन नष्ट करना कितनी मूर्खता है। वास्तवमें भगवान्की प्राप्ति अपनी ख्यातिके लिये नहीं करनी है, वह तो हमारा परम ध्येय और आश्रय होना चाहिये क्योंकि उस पदको प्राप्त होनेपर और कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। इसीको मुक्ति, परमपद और सच्चे सुखकी प्राप्ति कहते हैं। जुगनूका जैसे सूर्यके साथ तथा बूँदका जैसे समुद्रके साथ मुकाबला सम्भव नहीं, उसी प्रकार सारी दुनियाका सम्पूर्ण सुख मिलाकर भी उस विज्ञान-आनन्दघनकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके साथ उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
(२।४६)

'सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें (मनुष्यका) जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणका (भी) सब वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है। अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके लिये वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती।'

जैसे स्वप्नमें प्राप्त हुए त्रिलोकीके राज्य-सुखका थोड़े-से भी जाग्रत्के सुखके साथ मुकाबला नहीं किया जा सकता तथा यदि उस स्वप्नके राज्यको कोई बेचना चाहे तो एक पैसा भी उसका मूल्य नहीं मिलता क्योंकि जागनेके बाद उस स्वप्नके राज्यका कोई नाम-निशान ही नहीं है, वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद इस संसार और सांसारिक सुखका नाम-निशान भी नहीं रहता। अतएव ऐसे अनन्त सुखको छोड़कर जो क्षणभङ्गुर, नाशवान् मिथ्या सुखके लिये चेष्टा करता है, उससे बढ़कर कौन मूर्ख है?

दूसरा जो प्रेममें मुग्ध होकर भेदरूपसे भगवान्की उपासना करता है उसकी तो और भी अद्भुत लीला है। वह स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उनके सुखमें सुखी रहता है। स्वामीमें अनन्य प्रेम, नित्य संयोग और उनकी प्रसन्नताके लिये ही उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। अपने प्रेमास्पद सगुण

ब्रह्मपर तन, मन, धनको और अपने-आपको न्यौछावर करके वह प्रेम और आनन्दमें मुग्ध हो जाता है। केवल एकमात्र भगवान् ही उसके परम आश्रय, जीवन, प्राण, धन और आत्मा हैं। इसलिये वह भक्त उनके वियोगको एक क्षण भी नहीं सह सकता। उस प्यारे प्रेमीके नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करता हुआ नित्य-निरन्तर उसमें रमण करता है।

इस आनन्दमें वह इतना मुग्ध हो जाता है कि ऊपरमें अभेदरूपसे बतलायी हुई परमगति यानी मुक्तिरूप सुखकी भी वह परवा नहीं करता। मछली जैसे जलके वियोगको नहीं सह सकती वैसे ही भगवान्‌का वियोग उसको अत्यन्त असह्य हो जाता है। इतना ही नहीं, भगवान्‌के मिलनेपर भगवान् जब उसको हृदयसे लगाते हैं, तब वस्त्रादिका व्यवधान भी उसको विघ्नरूप-सा प्रतीत होने लगता है। वह अव्यवधानरूपसे नित्य-निरन्तर मिलना ही पसंद करता है और एक क्षण भी भगवान्‌से अलग होना नहीं चाहता। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दमें जो मग्न है, उसके गुणोंका वर्णन वाणीद्वारा शेष, महेश, गणेश आदि भी नहीं कर सकते, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है? ऋषि, मुनि, महात्मा और सारे वेद जिन परमेश्वरकी महिमाका गान कर रहे हैं, वे परमेश्वर स्वयं उस भक्तकी महिमा गाते हैं और उसके प्रेममें बिक जाते हैं। तथा उस भक्तके भावके अनुसार भावित हुए उसकी इच्छानुसार प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसके साथ रसमय क्रीड़ा करने लग जाते हैं यानी जिस प्रकारसे भक्तको प्रसन्नता हो, वैसी ही लीला करने लगते हैं।

यदि कहा जाय कि भेद और अभेदरूपसे होनेवाली परमात्माकी प्राप्तिमें क्या अन्तर है तो इसका उत्तर यह है कि अभेदरूपसे परमात्माकी उपासना करनेवाला पुरुष तो स्वयं ही सच्चा सुख यानी विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही हो जाता है, और भेदरूपसे उपासना करनेवाला भक्त भिन्नरूपसे उस रसमय परमात्माके स्वरूपका दिव्य रस पान करता है यानी उस अमृतमय सगुण-स्वरूप परमात्माके मिलनके आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँतक तो वाणीकी पहुँच है। इसके बाद दोनों प्रकारके भक्तोंकी एक ही फलस्वरूपा अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसे वेद-शास्त्र, शिव-सनकादि, शारदा एवं साधु-महात्मा तथा इस स्थितिको प्राप्त होनेवाले भी कोई पुरुष किसी प्रकार नहीं बतला सकते। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उस सबसे यह अत्यन्त परेकी बात है। क्योंकि यहाँ वाणीकी तो बात ही क्या है, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं है।

इसलिये दुःख और विघ्नरूप समझते हुए नाशवान्, क्षणभङ्गुर, तुच्छ भौतिक सुखको लात मारकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके लिये ही कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेवाले पुरुषको परमेश्वरकी दयासे उसकी प्राप्ति होनी सहज है।

जीवन्मुक्त संत मथुरादासजी

(लेखक—श्रीमहानन्दजी)

संत मथुरादासजी हरद्वारकी समीपतामें विशेषकर रहा करते थे। कनखल, चण्डीपर्वत या गंगाका तट—प्रायः इसकी समीपतामें उनका रहना, उन्हींकी बातचीतसे पता चलता था। स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने जब सबसे पूर्व सं० १९२३ विक्रमी कुम्भके मेलेपर अपना प्रचारकार्य किया था, और उसके बाद जब-जब हरद्वार आये, तब-तब संतजीका और स्वामीजीका समागम हुआ, यह संतजी कहते थे। स्वामी दयानन्दजीके सम्बन्धमें संतजीने 'बड़ा बहादुर था, बड़ा वीर था, लंगोटका पक्का था' ये शब्द कई बार कहे, पर धार्मिक विचारोंके सम्बन्धमें मेरे सामने कोई चर्चा न आयी। इसीसे विज्ञ महानुभाव इसका अनुमान भली प्रकार कर सकेंगे कि वे स्वामी दयानन्दजीके समकालीन थे।

मुझे उनके दर्शनोंका सौभाग्य सबसे प्रथम सन् १९२७ ई० के लगभग हुआ था। उनका रंग साँवला था, सिरपरके कुछ बाल उड़ गये थे, कुछ रह गये थे, मूँछोंके साथ दाढ़ी छातीतक थी, धूसर वर्णके कुछ श्वेत और अधिकतर काले बालोंका सम्मिश्रण था। उस समय उनकी आयु ११६ वर्षकी थी। पैदल ही बिना प्रयासके चला-फिरा करते थे। आँखोंमें और चेहरेमें एक विशेष माधुर्य था, रोबका अभाव था, शान्तगम्भीर-स्वस्थता और शान्तचित्तताका अद्भुत सम्मिश्रण था। बहुत प्रश्न पूछते रहनेपर भी जिसका चाहते थे सूत्ररूपसे दृष्टान्तद्वारा उत्तर दिया करते और फिर मौन हो जाते थे। उनके दृष्टान्त इतने स्वाभाविक और अर्थगम्भीर होते थे कि जैसे वेदमन्त्र। भाषा उनकी पंजाबी थी, पंजाबीमें ही बातचीत करते थे। कई वर्षोंतक उनके सत्संगमें, जब कभी आनेसे, जो कुछ पता चला है, वही 'कल्याण' के पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर रहा हूँ।

आपका जन्म लगभग सन् १८११ ईस्वीमें पंजाबमें जिला हुशियारपुरमें हुआ था, जब विवाह होने लगा तो घरसे निकलकर चल दिये। जो-जो वस्त्र फट गये, फिर दुबारा नहीं बनवाये, अन्तमें सिर्फ एक कौपीन ही उनकी वेषभूषारूपमें विद्यमान रही। जब वे बस्तीमें आते तो बाँध लेते थे, बस्तीके बाहर निर्जन वनमें होनेपर उसे भी उतारकर डाल देते थे। बस्तीमें नग्न रहना मर्यादाके प्रतिकूल समझते थे।

आश्रममर्यादापालन

गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ीके शिक्षापटलका अधिवेशन वर्षाऋतु होनेके कारण मायापुर-वाटिकामें रक्खा गया था, जिससे बाहरके आगन्तुक सदस्योंको गंगाकी उत्तुंग और वेगवाहिनी धाराको आरपार करनेमें अधिक समय न लगे। शिक्षापटलके मन्त्री (प्रस्तोता या रजिस्ट्रार) की हैसियतसे मैं काँगड़ीसे मायापुर-वाटिकाके लिये चला जा रहा था, कनखलमें संतजीके दर्शन किये, और उनसे अनुरोध किया कि आप मायापुर-वाटिका पधारिये, चूँकि वे स्वयं ही मायापुर-वाटिकाकी तरफ जा रहे थे, उन्होंने अनुरोध स्वीकार कर लिया। वाटिकामें पहुँचकर मुझे आज्ञा दी कि 'पानी पिला'। आज्ञाके उत्तरमें मैंने दूधका एक गिलास उपस्थित कर दिया। दूध देखते ही अप्रसन्न हुए और चलनेके लिये तैयार हो गये। मैंने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए प्रार्थना की कि आप किस कारण इतने अप्रसन्न हुए कि चलनेका इरादा कर लिया। इसपर उन्होंने कहा कि—'दूधका

और यतिका क्या सम्बन्ध ? साधुका और स्त्रीका क्या सम्बन्ध ? फिर पानी न लाकर दूध क्यों लाये ?' मैंने तुरंत ही भुने चने और जल उपस्थित कर दिया, तब उन्होंने चने खाकर पानी पिया और फिर प्रसन्न होकर चल दिये !

आप जब बस्तीके समीप होते थे तब आपका भोजनसम्बन्धी नियम यह था कि ग्यारह-बारह बजेके बीचमें मध्याह्नके समय भिक्षाके लिये चार घरोंमें क्रमशः 'नारायण हरिः' कहकर बारह मिनट प्रतीक्षा करते थे और यदि उस समयके अंदर किसीने भिक्षा दी तो अपने हाथमें ही रोटी लेकर खाकर फिर अगले घर उसी प्रकार भिक्षा माँगी-खायी, और आगे चल दिये। खा करके ओकसे ही जल पीते थे, और हाथ-मुख धो लिये तो धो लिये अन्यथा बाँहोंपर मुँह फेर लिया और हाथ नितम्बपर फेर लिये। एक दिन इसी अवस्थामें उनके दर्शन हुए कि टिक्कड़ खानेके बाद अपने हाथ नितम्बपर फेरकर पोंछ लिये। मैंने पूछा संतजी ! आप कभी स्नान भी करते हैं या नहीं। संतजीने कहा 'स्नानकी जरूरत क्या है ?' मैंने कहा कि 'शरीरका मल दूर होकर दुर्गन्ध नहीं रहती।' इसपर उन्होंने बगले और गुदमार्गको सूँघकर परीक्षा करनेको कहा। मैंने गुदद्वार तो नहीं पर बगलोंको अच्छी प्रकार सूँघा, जरा भी बदबू न थी, यह अवसर गर्मीकी ऋतुका था, यह एक प्रसंगोपात्त घटनाका उल्लेख हो गया है। अपना भोजनसम्बन्धी नियम-पालन इस प्रकार रखते थे कि यदि कभी कोई चुपड़ी रोटीकी भिक्षा लाता तो इनकार कर देते थे और फिर उसके घर भिक्षा लेने कभी न जाते थे।

खानपानमें ११६ वर्षके होनेपर भी दूध-घीका पूर्ण परित्याग किये हुए थे, और इस परित्यागरूप नियममें कभी अतिक्रमण नहीं होने पाया। रूखे-सूखे टिक्कड़ खाते थे और वे भी अधिक-से-अधिक चार।

भिक्षासे सम्बद्ध एक बातका और उल्लेख कर देता हूँ। मैंने पूछा संतजी ! कभी आपने मांस खाया या नहीं—चूँकि आपको जो भिक्षामें आ गया सो पा लिया—आपको क्या पता कि क्या परोसा है, शाक है या मांस ?

इसपर उन्होंने सिन्धमें और सम्भवतः शिकारपुरमें घटी एक घटना सुनायी, जिसका सारांश यह है कि—वहाँ एक माईने टिक्कड़पर भाजीरूपमें मांस परोस दिया, मैं खाने ही लगा था कि इतनेमें उसका मालिक जो दूकानसे घरको जा रहा था मिला, उसने रोटी मेरे हाथसे ले ली और घर जाकर अपनी औरतको खूब फटकारा, तब दूसरी भिक्षा लाया और कहा कि यह औरत बड़ी हरामजादी है, इसने आप-को भिक्षामें मांसकी भाजी दे दी थी। इसपर मैंने पूछा कि आपने उसे क्या समझा था ? तो उत्तर दिया कि मैंने तो बैंगनका साग समझा था। तात्पर्य यह है कि भगवत्-कृपासे एक ही ऐसा मौका आया और वह उपर्युक्त प्रकारसे टल गया।

शारीरिक तपस्या

जैसा ऊपर लिखा है सर्दी-गर्मी-वर्षा प्रत्येक ऋतुमें वे नग्न ही रहते थे, केवल कौपीनका साथ रहा करता था। एक बार वे क्वेटा पहुँच गये। वहाँका वर्णन करते थे कि—वहाँ आर्योंका जोर था, मैं रातको क्वेटा पहुँचा तो हवालातमें बंद कर दिया गया। अगले दिन सब जगह खबर हुई कि एक नंगा फकीर जो कि अवारागर्द है और रातको आया है हवालातमें बंद है। इससे कई आदमी वहाँ आये, उनमेंसे एक आदमीने मुझे पहचान लिया और कहा कि यह तो हरद्वारका संत मथुरादास हैं। इतना पता लगते ही मैं छोड़ दिया गया। और मेरे लिये एक खास आर्डर जारी किया कि यह आदमी चाहे जिस

जगह और चाहे जिस समय (दिनरातके बिना लिहाजके) जहाँ जाना चाहे जा सकता है। इसके लिये किसी किस्मकी रोक-टोक न होगी। यह आर्डर सम्भवतः सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस क्वेटा (ला० गणेशदासजी आर्य) के द्वारा दिया गया। फिर तो मेरे सत्कारके लिये आर्योंका मुहल्ला लालायित रहता, देवियाँ थाल भर-भरकर अपने दरवाजोंपर इंतजार करतीं, और मेरे वहाँ पहुँचनेपर आग्रह करतीं कि संतजी अंगूर खायें, यह खायें, वह खायें, सारा भोजन स्वीकार करें। मैं एक घरसे एक मुट्ठी भोजन स्वीकार करता। एक दिन बातचीतमें किसीने कहा कि क्वेटेसे कुछ दूर एक नाला है, उसमें एक घास पैदा होती है, जिसमेंसे दूध-सा सफेद रस निकलता है। यह सुननेपर मैं उधर गया तो वहाँ घास तोड़-तोड़कर देखी तो एकमेंसे दूध निकला, उसे पी लिया। भिक्षाके लिये बस्तीमें नहीं गया। इधर लोग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ आ पहुँचे और कहा कि संतजी, यह हरद्वार नहीं है, यहाँ रातको प्रायः दो फीट बर्फ पड़ता है, कभी-कभी तो तीन और चार फीटतक भी पड़ जाता है। आप यहाँ नालेपर हरगिज न ठहरें, नहीं तो न्यूमोनिया हो जायगा, हमारे घरोंमें चलें वहाँ ओढ़नेको रजाई, कम्बल मिलेंगे और हर समय अंगीठियाँ दहकती रहेंगी। इसपर संतजीने कहा कि मैं तो यहाँ ही रहूँगा—मैं बस्तीमें नहीं जाऊँगा, वे सारी सर्दी लगभग दो-तीन मास वहाँ ही रहे। नालेके पास पड़े रहनेके कारण ३-४ फीट बर्फ शरीरपर पड़ जाता, उसे सुबह उठकर झाड़ डालते थे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

मैंने पूछा कि 'संतजी, आप चण्डीकी पर्वतमालामें पड़े रहते हैं, वहाँपर शेर, चीते, गुलदार हाथी आदि बहुत-से हिंस्र जन्तु रहते हैं। कभी आपको मुकाबिला तो नहीं करना पड़ा?' इसके उत्तरमें कहा कि एक बार बड़े दिनोंकी छुट्टियोंमें बिजनौर और सहारनपुरके कलेक्टर यहाँ आये हुए थे, उन्होंने एक दिन एक शेरका शिकार किया। रातको शेरनी गर्जती, तर्जती, डकराती अग्निरूप हुई दहाड़ती हुई चली आयी। (संतजी पहाड़के नीचे जमीनपर पड़े थे) संतजीने फिर कहा कि मेरे मनमें यह विचार उठा कि आज यह क्यों इतनी दहाड़ रही है। फिर यह विचार आया कि 'यह मेरी तरफ क्यों आ रही है? इसके साथ ही यह विचार आया कि मैंने तो इसका कुछ बिगाड़ा नहीं है, आती है तो आ जाय।' जैसे ही वह पास आयी मैं उसी तरह टाँगपर टाँग रक्खे पड़ा रहा। शेरनी पैरोंके बिलकुल समीप आकर झुकी, सूँघा और कुछ समयतक वह बैठी रही, फिर उठकर चली गयी।

भिक्षोपथं भुज्यताम

मेरे यह पूछनेपर कि 'संतजी, आप जब बस्तीमें भिक्षार्थ नहीं आते, तो क्या खाते हैं, वनमें क्या पदार्थ मिल जाते हैं?' इसके उत्तरमें प्रसन्नतासे उनके नेत्र खिल गये। कहने लगे—बेर, हींस, मकोय, बेल आदि जंगली मेवा बहुत रहती हैं। खट्टे बेर और हींस मकोयसे कैसे पेट भरता होगा।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः और जीवन्मुक्तावस्था

एक बार संतजी भिक्षाके लिये कनखलमें यथाकाल कई दिनोंतक जब नहीं आये, तो उनके लिये खोज शुरू हुई। सब स्थान छानते-छानते पर्वत, खोह, वन ढूँढ़ते-ढूँढ़ते और ग्वालों-गड़रियों और जंगलातके आदमियोंसे पूछते-पूछते उन्नीसवें दिन एक खड्डमें पड़े आप पाये गये। चेहरेपर वही सदाकी स्थायी मुसक्यान विराजमान थी। बड़ी मुश्किलसे पहाड़परसे उतरकर खड्डतक गये। वहाँ जाकर जब जङ्घाओंको देखा तो बड़ी भारी सूजन थी, संतजी उठकर बैठ नहीं सकते थे। आदमी भेजकर डोली मँगा-

कर उसमें संतजीको लिटाकर लोग उन्हें कनखलमें 'रामकृष्णसेवाश्रम मिशन'में लाये। वहाँके योग्यतम डाक्टरने जब जाँघ-पेड़ूकी परीक्षा की तो उसमें मवाद भरा हुआ पाया। उसकी चीरफाड़के लिये 'क्लोरोफार्म' सुँघानेके लिये उपकरण लाकर नाकके पास रक्खा। संतजीने पूछा कि 'यह क्या है, और किसलिये लाये हैं?' तो डाक्टर साहबने कहा कि 'यह क्लोरोफार्म है। इसके सूँघनेसे आपको पीड़ा न होगी। इसलिये आप सूँघिये, तब फिर चीरा लगायेंगे।' संतजीने कहा कि 'अच्छा इसे उठाकर रख दो—और जो काम करना हो सो करो।'

डाक्टर साहबने सशंक होकर चीरा लगानेका तेज चाकू उठाकर जाँघमें घुसा दिया—पर वहाँ वही स्थायी मुसक्यान थी। उसे देखकर चाकू आगे बढ़ाया, लगभग एक फुट लंबा चीरा लगा दिया। चूँकि मवाद अधिक था, इसलिये लगभग उतना ही बड़ा दूसरा चीरा और लगाया (× इस प्रकारका चीरा लगाना पड़ा) पर उनकी मुसक्यानमें कोई अन्तर न पड़ा। लगभग एक बालटी भरकर मवाद निकला। जब पट्टी बाँध दी, तो संतजी उठकर जानेको उद्यत हुए। उन्हें खड़ा देखकर हमलोगोंने हाथ पकड़कर प्रार्थना की कि 'संतजी, आप अभी यहाँ ही रहेंगे।' कहने लगे कि 'पट्टी तो बँध गयी अब और क्या काम बाकी है?' डाक्टर साहबने कहा कि 'जबतक आपका जख्म भर नहीं जाता, तबतक यहाँ ही रहियेगा।' संतजीने कहा कि 'कोई जरूरत नहीं है जाने दें।' इसपर हँसीमें हमने कहा कि 'संतजी, यदि आप अब उठकर भागेंगे तो चारपाईसे बाँध दिये जायँगे।' वे उसी प्रकार स्मितवदन चारपाईपर बैठ गये, और कहा कि 'अच्छा, पलंगकी जगह तख़्त बिछा दो।' तख़्तपर लेट गये, सूक्ष्म और स्थूल शरीरपर कितना आधिपत्य था, यह पाठक स्वयं विचारें।

संतोंका अभूतपूर्व मिलन

इस घटनाको कुछ समय बीत चुका था। गुरुकुलके मुख्याधिष्ठाता पूज्य पण्डित श्रीविश्वम्भरनाथजीके अनुरोधसे पूज्य श्रीअच्युतमुनिजी (भूतपूर्व पण्डित श्रीदौलतरामजी) हरद्वार पधारे और गुरुकुल-मायापुर-वाटिकामें स्थान और ब्रह्मचारियोंको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। मैंने पूज्य स्वामी (अच्युतमुनि) जीसे संतजीका जिक्र किया, और उपर्युक्त चीरफाड़की घटना सुनायी। इसे सुनकर स्वामीजीने आज्ञा दी कि 'जैसे भी हो, हमें संतजीसे जरूर मिलाओ, हमारा हरद्वार आना शायद इसी बहाने हुआ होगा।' मैंने डांडीमें श्रीस्वामीजीको बिठाकर संतजीका पता लगाया, और वहाँपर ले गया। मेरे मनमें यह लालसा थी कि देखें संत कैसे मिलते हैं। संतजीके पास पहुँचकर श्रीस्वामीजी डांडीपरसे उतरकर नीचे आये और संतजीकी ओर जरा बढ़कर एकदम त्राटक (निर्निमेष दृष्टिसे कुछ समयतक देखते रहे) किया। दोनोंने बादमें अत्यन्त उत्फुल्ल नयनोंसे हँसते हुए एक दूसरेकी तरफ देखा।—शायद 'हृदयमेव विजानाति हृदयस्य विचेष्टितम्'। तब श्रीस्वामीजीने पूछा—'संतजी! समाधिकालमें हमें भी कोई कष्ट नहीं होता, चाहे कोई अंगभंग कितना ही कर ले, पर व्युत्थानकालमें तो शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदितकके भी कष्ट अनुभव होते हैं, फिर आपको कष्टका अनुभव क्यों नहीं हुआ?' (चीरफाड़के समयको ध्यानमें रखते हुए प्रश्न था) संतजीने उत्तर दिया कि—'जे हरवेले ओही हालत रहे तद' अर्थात् यदि हर समय वही हालत (समाधि लगी) रहे तब? इस उत्तरसे श्रीपूज्य स्वामीजीको संतोष हो गया। चूँकि स्वामीजीकी गाड़ी-

का समय बहुत तंग हो गया था, इसलिये वहाँसे उठ आये। मार्गमें संतजीके सम्बन्धमें जब बातचीत चली तो कहा कि इनका कोई संस्कार शेष रह गया था, जिससे इन्हें यह शरीर धारण करना पड़ा। बाकी इन्होंने कोई वेदशास्त्रादि नहीं पढ़े हैं, इसलिये ये अपनी स्वाभाविक समाधि आदिका उपदेश नहीं कर सकेंगे, तभी श्रुति है—

'समित्पाणिं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ये ब्रह्मनिष्ठ हैं पर श्रोत्रिय नहीं !

संतजीका अन्तिम शरीर

जिन दिनों संतजीका यह आपरेशन हुआ था, तब एक दूसरे संत स्वामी श्रीसियारामजी महाराज भी वहाँ विराजमान थे। वे संतजीसे बोले कि—'भोग तो भोगना ही पड़ता है, देखिये आप किसीको निन्दा-स्तुतिमें नहीं, सबसे पृथक् हैं, फिर भी यह भोग भोगना ही पड़ा।' इसके उत्तरमें संतजी बोले कि—'बात यह है कि जब दूकान बंद होने लगती है तो पैसे-पैसेका भी तकाजा होता है। देखो जैसे कोई अमृतसरका रहनेवाला हरद्वारमें आकर दूकान करे, और खरीद-फरोख्तके लिये बाहर जाता-आता रहे, दूकान चाहे कुछ दिनोंके लिये भले बंद रहे, हजारों-लाखों रुकका तकाजा कोई नहीं करता, क्योंकि हजारोंका लेना-देना फैला रहता है। पर यदि यह मालूम हो जाय कि यह दूकानदार अब लौटकर दूकानपर नहीं आवेगा तो पैसे-पैसेका भी कड़ा तकाजा होने लगता है।' यह कहकर चुप हो गये। मैंने बहुत पूछा पर कुछ उत्तर न दिया चूँकि उत्तर बिलकुल स्पष्ट था कि यह दूकान सदाके लिये बंद करके दूकानदार संत अब जा रहा है। जन्म-जन्मान्तरका बचा-खुचा तकाजा अब खतम हो गया।

संतोंकी नोकझोक

जहाँतक मुझे स्मरण है इन्हीं दिनोंमें या इससे एक वर्ष पूर्व एक बार संतजी स्वामी श्रीसियारामजीसे बोले कि 'अबकी कहाँ जाना है?' स्वामीजीने कहा कि 'उत्तराखण्डका विचार है, अब गर्मी विशेष पड़ने लगी है।' तो संतजी बोले—'तू तो बड़ा प्राणायाम करता है, समाधि लगाता है, तुझे सर्दी-गर्मी कैसी।'

इसपर स्वामीजीने उत्तर दिया कि—'यह शरीरका भोग है।' अच्छा संतजी, आपके हाथमें वह क्या है? (उसमें शायद खानेकी तमाखू या अफीममेंसे कोई वस्तु थी मुझे ठीक स्मरण नहीं है) संतजीने दिखाकर कहा 'यह है' तब स्वामीजीने कहा कि 'संतजी, आपको इसकी क्या जरूरत?' संतजीने कहा 'मुझे तो कोई जरूरत नहीं, किसीने दे दी सो ले ली।' स्वामीजीने इतना फिर कहा कि 'संतजी, हमें कोई क्यों नहीं दे देता?' दोनों चुप होकर अधिक स्मितवदन हो गये।

मनुष्य विषयोंमें कैसे फँसता है

वार्तालापमें संतजीने एक दिन कहा—एक ऊँट एक जंगलमें लेटा हुआ था, उसकी जीभ बाहरको निकली हुई थी। दूरसे एक लोमड़ीने देखा कि 'बड़ा सुन्दर, मुलायम और ताजा यह मांस खाकर कितना आनन्द आयेगा। इसे जरूर खाना चाहिये' यह सोचकर दबे पैरों आयी और लपककर उसने ऊँटकी जीभ पकड़ ली। ऊँट भी जीभ अंदर खींचकर, उठकर खड़ा हो गया, और दाँतोंसे लोमड़ीका सिर दबा दिया।

संतजी दृष्टान्तके बाद कभी दार्ष्टान्त नहीं दिया करते थे। बहुत आग्रह करनेपर भी उन्होंने दार्ष्टान्त नहीं दिया—चूँकि दृष्टान्त इतना स्पष्ट और व्यापी था कि स्पष्टीकरणकी जरूरत न थी। मनुष्यकी जिह्वा

और उपस्थका यदि संयम हो जाय तो बहुत बड़ा संयम हो सकता है। दूसरा, मनुष्य सुन्दर और आनन्दप्रदकी कल्पनाका मुलम्मा चढ़ाकर जिस विषयके पीछे भागता है उसमें वह लोमड़ीके समान लटका रह जाता है।

विषयनिवृत्तिका उपाय

संतजीने एक दिन फरमाया कि—एक साधु था, उसका चित्त जलेबी खानेको इतना लालायित हुआ कि परेशान हो गया, तो वह हलवाईकी दूकानपर जाकर बोला,—'ले खा ले—भरपेट खा ले, फिर दिक न करना।' कहकर चुप हो गये।

दार्ष्टान्त स्पष्ट है कि मनुष्य अपने मन-शरीर और आत्माके पृथक्-पृथक् होनेका विवेक रक्खे—उसमें तादात्म्यभाव पैदा न होने दे तो मन स्वयं ढीला हो जायगा।

जीवनकी एक अन्य घटना

एक बार एक सिंधी सन्तानार्थी सज्जन संत मथुरादासजीकी तलाशमें फिरते-फिरते आये और गंगातटपर विराजमान संतजीको आखिर ढूँढ़ ही लिया—और बोले कि 'आपहीका नाम संत मथुरादास है?' संतजीने कहा 'मेरा नाम मौलाबक्स है।' इसपर वह सिंधी फिर उसी व्यक्तिके पास गया जिसने संतजीका पता दिया था। वह व्यक्ति भी आया और कहा 'ये ही तो संत मथुरादासजी हैं।' इसपर वह सिंधी उनको चिपक गया और अशर्फियोंकी थैली सामने रख सन्तानप्राप्त्यर्थ आग्रह करने लगा। संतजीने कहा कि 'मेरे पास कहाँ बच्चे रक्खे हैं—मैं क्या बच्चे बाँटता फिरता हूँ।' वह जब किसी प्रकार भी नहीं माना तो संतजीने पूछा कि 'अच्छा एक बातका उत्तर दो कि यदि तुम्हारी लड़कीकी शादी हो, बारात दरवाजेपर पहुँचनेवाली हो, उस समय यदि कोई तुम्हारी रसोईमें, जिसको कि लीप-पोतकर साफ करके रक्खी हो, अंदर चूल्हेमें जाकर टट्टी कर दे तो तुम क्या करोगे?' वह सिंधी बोला कि 'संतजी! मार-मार डंडे हड्डी-पसलियें तोड़ दूँगा और यदि बस चलेगा तो खाल खिंचवा लूँगा।'

संतजीने कहा कि इसी प्रकार हम सब चीजोंको छोड़कर निर्जन एकान्त गंगातटपर आये हैं, परमेश्वरकी पूजाके लिये चौका लगाकर बैठे हैं, तू यह अशर्फियोंकी थैलीरूप उसमें टट्टी करता है। कुछ शरम नहीं आती? तब वह समझ गया और उसने संतजीका पिण्ड छोड़ा।

जीवनलीलासमाप्ति

मैं उन दिनों रियासत ग्वालियरमें था, जब कि मैंने सुना संतजीका शरीर शान्त हो गया। संतजी यावदायुष् अन्य किसी भी रोगसे पीड़ित नहीं हुए जिसको साक्षी चिकित्सकचूडामणि पं० श्रीयागेश्वरजी कनखलनिवासीका वे उल्लेख किया करते थे। पर शरीरान्त शायद न्यूमोनियासे हुआ। वे तो शरीरको सदासे छोड़े बैठे थे पर शरीर ही उन्हें नहीं छोड़ता था, भगवान्की इच्छासे इन विदेह संतका लगभग एक सौ पचीस वर्षकी अवस्थामें इस प्रकार यह शरीर सदाके लिये छूट गया। इस सम्बन्धमें विशेष पता पं० श्रीयागेश्वरजीसे चल सकता है। उन्हींके यहाँ स्वामी श्रीसियारामजी महाराज ठहरा करते थे, और संतजीका भी विशेषरूपसे कनखल-हरद्वार रहना हुआ करता था। शायद सन् १९२६ या १९२७ ईस्वीमें शरीर शान्त हुआ।

हीरेकी खराद

(लेखक—श्रीकेशवनारायणजी अग्रवाल)

हीरा भूमिपर पड़ा है—प्रकृति माताकी गोदसे निकला, धूलमें लिपटा, भद्दे बेडौल अङ्गोंवाला हीरा भूमिपर पड़ा है। समीपसे निकलनेवालोंसे तिरस्कृत, बालकोंसे ठुकराया हुआ, उड़ती हुई धूलका आश्रय-दाता हीरा आश्रयविहीन भूमिपर पड़ा है।

हीरोंकी खोजमें विचरते हुए हीरेन्द्र उधरसे निकलते हैं। हीरेका एक नन्हा-सा किनारा जो दैवयोगसे धूलसे सुरक्षित बचा था सूर्यदेवकी किरण-के स्पर्शसे चमक उठता है—साथ ही हीरेन्द्रके नेत्र आनन्दसे चमक उठते हैं। हीरेन्द्र हीरेको हाथमें उठा लेते हैं।

'तुम तो हीरक हो—यहाँ कैसे पड़े हो?'

'आह! तुमने मुझे पहिचान लिया?'

'राजाके मुकुटपर चढ़ोगे?'

'वहाँ कौन पहुँचावेगा मुझे?'

'मैं—परन्तु क्या तुम अपना हृदय खोलने दोगे?'

'कैसे?'

'खरादपर चढ़ाकर।'

'क्या होगा?'

'तुम्हारी धूल-मिट्टी खरोंचकर फेंक दूँगा।'

'तब तो मैं स्वच्छ हो जाऊँगा।'

'तुम्हारे विकृत बेडौल अङ्ग काटकर गिरा दूँगा।'

'ओह! बड़ी पीड़ा होगी।'

'अभी तुम्हारा हृदय एक द्वारसे प्रकाश उगलता है—'

'फिर?'

'फिर हजार द्वारसे प्रभा छिटकावेगा।'

'ओह! तब तो मैं प्रकाशपुञ्ज हो जाऊँगा।'

'वह तो तुम्हारा प्रकृतिदत्त अधिकार है।'

'बहुत पीड़ा तो न होगी?'

'राजाके मुकुटपर चढ़ना सहज नहीं है।'

'अच्छा तो ले चलो।'

'सब सहनेको प्रस्तुत हो?'

'हाँ—चलो।'

खरादपर हीरा चढ़ता है। खराद धीरे-धीरे चलती है, धूल-मिट्टी झड़कर गिरने लगती है। हीरा सुख अनुभव करता है। हीरा नग्न रूपमें हीरेन्द्रके सामने प्रकट होता है। हीरेन्द्र एक दृष्टिमें हीरेकी नोंकें और भद्दापन देख लेते हैं।

खराद तेजीसे चल उठती है। खरादकी रगड़से चिनगारियाँ उठती हैं। हीरा सिहर उठता है। हीरा खराद रोकनेको कहता है परन्तु खराद नहीं रुकती। पहलू बदल-बदलकर रगड़ें लगती हैं। हीरा गिड़गिड़ाता है—चिरौरी करता है। खराद रुकती है और हीरा कोमल स्पर्शका अनुभव करता है। खरादपरसे उतरकर हीरा हीरेन्द्रके हाथपर आ बैठता है।

'अब तो मैं पहलेसे बहुत चमकदार हूँ।'

'हाँ'

'तो चलिये राजदरबार।'

'अभी वह घर बहुत दूर है।'

'फिर क्या करना है?'

'अभी तो अङ्ग सुडौल बनाना है।'

'क्या फिर खरादपर चढ़ाओगे?'

'हाँ'

'मैं हाथ जोड़ता हूँ—'

हीरा फिरसे खरादपर चढ़ा दिया जाता है और खराद तीव्र गतिसे चलने लगती है। इस बार खरादमें छाँटनेवाला यन्त्र लगा दिया जाता है—हीरेके अङ्ग कट-कटकर गिरने लगते हैं—हीरा चीखता है, चिल्लाता

है परन्तु खराद नहीं रुकती। प्रार्थना, चिरौरी सब बेकाम होनेपर हीरा गालियाँ देता है—परन्तु कोई असर नहीं होता, खराद तो समयपर ही, हीरेन्द्रकी आज्ञासे ही रुकती है। फिरसे वही कोमल स्पर्शका अनुभव होता है और हीरा हीरेन्द्रकी हथेलीपर आ बैठता है।

'आह! अब तो मैं बड़ा सुन्दर हूँ।'

'हाँ'

'फिर चलो न राजदरबार ?'

'अभी वह घर बहुत दूर है।'

'तो क्या करोगे ?'

'उसी खरादपर चढ़ाऊँगा।'

'क्यों ?'

'तुम्हें राजदरबारमें चलनेयोग्य बनानेके लिये।'

'यह कबतक होगा ?'

'अभी सैकड़ों बार यों ही चढ़ो-उतरोगे।'

'हाय-हाय'—

हीरा फिर खरादपर रख दिया जाता है—फिर वही सब क्रम चलता है। सैकड़ों बार चढ़ना और उतरना—अन्तमें सुडौल रूपमें हीरा हीरेन्द्रके हाथमें आता है।

'अब तो मैं एकदम सुडौल हूँ।'

'हाँ, हो तो'

'फिर अब देर काहेकी है ?'

'अभी तो तुम एक द्वारसे ही प्रकाश उगलते हो।'

'सो कैसे ?'

'जो हाथमें लेता है वही तुम्हारी चमक देखता है।'

'फिर क्या चाहते हो ?'

'हजार द्वारसे तुम्हें चमक दिखानी होगी।'

'कैसे ?'

'मैं तुम्हारे हजार पहलू बनाऊँगा।'

'क्यों ?'

'ऊपर-नीचे, अगल-बगल सभी ओर तुम एक-से चमको।'

'कारण ?'

'राजाके मुकुटके हीरे सभी ओर एक-सा प्रकाश डालते हैं।'

'कैसे होगा।'

'वही, खरादपर चढ़नेसे।'

इस बार हीरा मौन रहा।

खरादपर हीरा फिर चढ़ाया गया—परन्तु इस बार चीख-चिल्लाहट न थी। मौन वेदनाके साथ राजदरबारमें शीघ्र पहुँचनेका आनन्द सम्मिलित था। फिर भी अनेकों बार चढ़ना-उतरना हुआ। अन्तमें खरादका कार्य पूरा हुआ—हीरेन्द्रने घोषित किया—'अब खरादपर फिरसे चढ़नेकी आवश्यकता नहीं है।'

हीरा हीरेन्द्रकी हथेलीपर बैठा है। प्रकाशपुञ्ज चतुर्दिक् छिटक रहा है। हीरा मौन है।

'हीरे! अब नहीं पूछते कुछ ?'

'क्या पूछूँ प्रभो!—सभी तो प्रत्यक्ष है।'

'राजदरबारमें चलो न ?'

'मुझे बड़ी लज्जा आती है।'

'काहेकी ?'

'नाथ! तुम्हें मैंने कितनी गालियाँ दी हैं—'

'सो क्या हुआ ?'

'और आप सदा प्रकाश ही देते रहे।'

'यही नियम है—अच्छा तो चलो न ?'

'नाथ! क्यों लजाते हो—तुम्हीं तो राजा हो।'

'क्या पहचान गये ?'

हीरा चरणपर खिसक पड़ता है—हीरेन्द्र उसे उठाकर अपने मुकुटपर चढ़ा लेते हैं।

संतभावदर्शन

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

जो महापुरुष भगवत्स्वरूपमें स्थित हैं। दैवीसम्पत्ति जिनसे एक क्षणके लिये भी कभी अलग नहीं होती। जो स्वयं मंगलस्वरूप हैं। जिनके शरीर, प्राण, अन्तःकरण और जो कुछ वे स्वयं हैं, उससे आनन्द, शान्ति, प्रेम और ज्ञानकी अखण्ड धारा प्रवाहित होकर सारे संसारको आप्लावित, आप्यायित करती रहती है उन संत-महात्माओंके चरणकमलोंमें कोटि-कोटि साष्टांग प्रणिपातके पश्चात् उनके अनिर्वचनीय अनन्त भावोंके सम्बन्धमें निर्वचन करनेकी अनधिकार चेष्टा की जाती है। इस बालसुलभ चपलताको देख-देखकर हम अबोध अथच नन्हें-नन्हें शिशुओंके स्वतः-सिद्ध दयामय मा-बाप संत-महात्मा प्रसन्न ही होंगे, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

निष्कामकर्मकी परानिष्ठा कहें अथवा परमप्रेमकी उपलब्धि, ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति कहें अथवा महानिर्वाणकी प्राप्ति, चाहे जिस शब्दके द्वारा संतोंकी स्थितिका वर्णन किया जाय वह है एक ही, और उसमें नित्य शान्ति, नित्य तृप्ति और नित्यानन्दकी स्थिति समानरूपसे है। वह मत, पन्थ, सम्प्रदाय एवं विभिन्न साधनों तथा साध्यके नामोंके भेदसे न विभिन्न होती है न हो सकती है। सांसारिकोंका मोह, अज्ञान, भ्रम, आसक्ति, विकार एवं दुःख, शोक, क्षोभ आदिके भाव न उनमें रहते हैं न रह सकते हैं। वे भगवान्‌से एक हैं, भगवान्‌के हैं, उनका भगवत्सम्बन्ध अखण्ड है। वह कभी टूट नहीं सकता। संतोंका मुख्य लक्षण भगवत्स्वरूपमें स्थिति है। दैवीसम्पत्तियोंका प्रकाश भी संतोंका लक्षण है। परन्तु वह भगवत्सम्बन्ध सापेक्ष है। किसी भी दशामें बिना भगवान्‌के दैवीसम्पत्तियोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यथाकथञ्चित् यदा-कदा, यत्-किञ्चित् दैवीसम्पत्तियोंका यदि भगवान्‌के बिना दर्शन होता है तो वह क्षणिक है, अस्थायी है और एक-न-एक दिन उसका नाश हो जायगा। संतभावका अर्थ है दैवी-सम्पत्तियोंकी अविचल प्रतिष्ठा और वह तभी हो सकती है, जब भगवान्‌के साथ अविचल सम्बन्ध हो। अतः संतोंकी परिभाषामें मुख्य स्थान भगवत्सम्बन्धका है और उसके पश्चात् दैवीसम्पत्तियोंका। भगवत्सम्बन्ध होनेपर दैवी-सम्पत्तियाँ आती ही हैं, बिना आये रह नहीं सकतीं। चाहे वे किसी सम्प्रदायके संत हों, इस मूल लक्षणमें अन्तर नहीं होता। हाँ, उनकी भगवान्‌के स्वरूप और सम्बन्धके विषयमें विभिन्न मान्यताएँ हो सकती हैं।

जीवन्मुक्ति अथवा इससे भी विलक्षण अवस्थाओंके भेद-विभेदमें अधिकांश तो शब्दजाल ही कारण हुआ करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं वस्तु-स्थितिके एक होनेपर भी साधनोंके भेदसे सिद्धावस्थाके भी विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। साधन करते समय वस्तु-स्थितिका पता न हो (और वास्तवमें नहीं रहता) तो भी वस्तुस्थितितक पहुँचनेमें बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि वह साधना साधकको क्रमशः साधनसोपान-पर आरूढ़ करके गन्तव्य स्थानतक पहुँचा देती है। 'पूर्व-भूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्' अतः साध्यके सम्बन्धमें पूर्ण कल्पना न होनेपर भी अपनी कल्पनाके अनुसार भावना करते-करते जब हम उस कल्पनाके अनुरूप पदपर पहुँच जाते हैं तब आगेका मार्ग स्पष्ट दीखने लगता है और फिर आगे बढ़नेमें किसी प्रकारके सन्देहका अवसर नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि साधनाकी दृष्टिसे अभ्यासवश सिद्धदशामें विभेद दीखनेपर भी वास्तवमें भेद होता नहीं, सब भेदोंका मिट जाना ही वास्तविक संतभाव है। संतमात्र ही इस पदपर आरूढ़ होते हैं।

संतोंके अन्तस्तलका आनन्द उनके अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, शरीर और आस-पासके प्रदेशोंको परिपूर्ण किये रहता है। अतः उनके दर्शनमात्रसे महान् आनन्दका सञ्चार होता है और बहुत-से पारखी उनकी बाह्य आकृति देखकर भी उनके आन्तरिक आनन्दका अनुमान लगा लेते हैं। उनके हाथ, सिर एवं नेत्रादिपर ऐसे चिह्न भी आ जाते हैं जिन्हें देखकर इस चिह्नविद्याका विद्वान् संतोंको पहचान सकता है। इसी अर्थमें कबीरके—

'संतको देखिय आँख रु माथा'

—इस वचनकी सार्थकता है। परन्तु ये सब लक्षण अपूर्ण हैं। वास्तवमें सत् तत्त्वसे एक होनेके कारण संत अनिर्वचनीय है और इसीमें उसकी महिमाका मूल्यायन है।

संत भगवत्प्रेमी होता है। परन्तु उसका प्रेम सांसारिक लोगोंकी भाँति नहीं होता। उसका प्रेम अप्राकृत होता है अर्थात् जैसे साधारण प्राणी प्रेम करते हैं तो उनमें प्रेमी,

प्रियतम और दोनोंका सम्बन्ध यह तीन वस्तुएँ होती हैं। परन्तु वहाँ तीन न होनेपर भी प्रेम है, एकत्व है और यह एकत्व या प्रेम ही प्रेमी और प्रियतमके रूपमें तीन भी है। यह एक, दो और तीनका पचड़ा वहाँ न होनेपर भी है और होनेपर भी नहीं है। यह बिरुद्ध धर्माश्रयता ही संतके प्रेमकी अप्राकृतिकता है। उनकी दृष्टिमें आत्मा और अनात्माका भेद नहीं है अर्थात् आत्माकी अपेक्षा रखनेवाले अनात्माका एवं अनात्माकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माका अभाव बोध होकर, इन दोनोंसे रहित जो एक शुद्ध वस्तुतत्त्व प्रेम एवं ज्ञानस्वरूप है, वही रहता है। अतः वहाँ दूसरोंकी दृष्टिमें जो सब कुछ है वह उसका अपना आपा है और अपने आपकी यह स्थिति ही संत-स्थिति है। यही उसका सर्वात्मभाव है। यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंकी अपेक्षा तुरीय अवश्य है परन्तु वास्तवमें निरपेक्ष होनेके कारण तुरीयातीत भी है। अवस्थाओंके सम्बन्धमें जितने भेद हैं, वे सब अवस्थाओंकी अपेक्षासे ही हैं और संत तो इन अवस्थाओंको अपने अंदर आत्मस्वरूपसे अपनाये हुए हैं।

कतिपय उपनिषदों एवं योगवाशिष्ठादि ग्रन्थोंमें सात भूमिकाओंका वर्णन आता है। यद्यपि उनमें सामान्यतः दो ही विभाग किये जा सकते हैं, एक साधनभूमिका और दूसरी सिद्धभूमिका, तथापि शास्त्रोंमें और योगवाशिष्ठमें ही विभिन्न प्रकारसे उनके वर्णन हुए हैं। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि पहलेकी तीन भूमिकाएँ (शुभेच्छा, विचारणा एवं तनुमानसा) साधन हैं। इनमें क्रमशः वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा, अभ्यासपूर्वक ऊहापोह और उन दोनोंके बलपर विषयोंमें अनासक्ति तथा वासनाओंकी कमी होती है। चौथीसे लेकर सातवींतक सिद्धभूमिकाएँ हैं। इनमें क्रमशः सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थोंकी अभावना और एकमात्र वस्तु-स्थितिमें ही स्थित रहना अथवा चौथी भूमिकामें बोध और पाँचवींसे लेकर सातवींतकमें स्वरूपसमाधिके अवान्तर-भेदोंका अनुभव होता है। जैसे कि पाँचवींमें समाधिसे स्वतः व्युत्थान, छठीमें परतः व्युत्थान और सातवींमें अव्युत्थान सर्वदा एकरस सहज स्थिति हो जाती है। इन्हीं चार सिद्ध-भूमिकाओंमें स्थित पुरुषको क्रमशः विद्वान्, विद्वद्वर, विद्वद्वरीयान् एवं विद्वद्वरिष्ठ भी कहते हैं। इन्हीं अवस्थाओंके अवान्तरभेदोंमें ब्रह्मनिर्वाण, शून्यनिर्वाण, परिनिर्वाण एवं महापरिनिर्वाण भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। अवस्थाओंके ये भेद-विभेद शरीरकी स्थितितक ही रहते हैं। शरीरपात होनेके पश्चात् इन सभी सिद्धोंकी एक-सी ही स्थिति होती है।

यदि संत चाहें तो भगवान्‌के लीलालोकोंमें उनका सामीप्य, सारूप्य आदि प्राप्त कर सकते हैं और संतोंके न चाहनेपर भी अनेकोंपर कृपा करके भगवान् अपने लोकमें, पार्षदोंमें अपना ही रूप देकर अथवा और किसी रूपमें बुला लेते हैं। जबतक उनकी इच्छा होती है अपने परिकरोंमें रखते हैं अथवा नित्यपरिकर बना लेते हैं। कभी-कभी अपने ही जैसा ऐश्वर्य दान करके जगत्‌की रक्षा-दीक्षामें लगा देते हैं और कभी-कभी अपनेमें मिला लेते हैं। परन्तु संत यह सब कुछ चाहता नहीं। वह भगवान्‌का नित्यकिंकर रहता है अर्थात् उसके शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण सब-के-सब भगवान्‌की प्रेरणासे ही हिलते-डोलते एवं सोचते-विचारते हैं। इस प्रकार वह अपने वास्तविक आत्मस्वरूप प्रभुकी सेवामें ही संलग्न रहता है और इसके सामने कैवल्यतककी अभिलाषा नहीं करता। भक्तियोगी संतोंकी ऐसी मान्यता है कि भगवान् मुक्ति तो बड़े सस्ते दे देते हैं, परन्तु भक्तियोग अर्थात् अपनी सेवाका अवसर बड़ी ही कठिनतासे देते हैं। जिन्होंने भगवत्-तत्त्वकी उपलब्धि कर ली है, जो भगवान्‌के अपने सगे-सम्बन्धी हो गये हैं उनके लिये मुक्तिकी अभिलाषाका न होना स्वतःसिद्ध ही है।

जब संत भगवान्‌से एक हैं अथवा भगवान्‌की सधर्मता प्राप्त कर चुके हैं, तब संसारके सारे कार्य, और कार्य ही क्यों सारे पदार्थ उनके लिये भगवत्स्वरूप हैं अथवा भगवान्‌की लीलामात्र हैं। जब उनके प्रियतम आत्मदेव ही विविध रूपोंमें लीला कर रहे हैं, यह सब कुछ उन्हींका प्रकाश है, तब भला संत इन लीलाओंके अन्तस्तलमें और बाहर भी भगवान्‌की अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करके क्यों न आनन्दित होंगे ? वे तो आनन्दस्वरूप ही हैं फिर भी आनन्दमयकी आनन्दमयी लीलाओंके साथ लीलामय प्रभुका दर्शन करके वे अपनी आनन्दमयताको प्रतिपल अनन्तगुणा बढ़ाते रहते हैं। उनके शरीर, इन्द्रियाँ एवं प्राण भगवान्‌की बाह्यलीलामें लगे रहते हैं तो उनके मन, बुद्धि एवं आत्मा भगवान्‌की अप्रकट किन्तु नित्य होनेवाली लीलामें लगे रहते हैं और यही कारण है कि उनके शरीरके पिण्डके रूपमें रहनेपर भी और ब्रह्माण्डके अन्तर्गत होनेपर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्डके अंदर बँधे नहीं रहते बल्कि इनसे ऊपर

बहुत ऊपर भगवान्के नित्य दिव्य परमधाममें विहार करते रहते हैं एवं शून्य, महाशून्य तथा अतिशून्यसे ऊपर उठकर प्रभुके विज्ञानानन्दघनधाम, लीला, नाम एवं रूपोंमें ही रमते रहते हैं। वे स्वयं विज्ञानानन्दघन होते हैं। उनका शरीर अप्राकृत एवं चिन्मय होता है और वे सम्पूर्ण लोकोंमें एवं सम्पूर्ण वस्तुओंके मूलमें पहुँचे हुए ही होते हैं एवं स्फुरणा होते ही पहुँच जाते हैं। चतुर्दशलोक और त्रिभुवनकी तो बात ही क्या प्रकृति और प्रकृतिसे परे जहाँ देश और काल-की स्थिति नहीं है ऐसी कोई वस्तु या भाव नहीं जो संतका अपना ही रूप न हो और जहाँ वह न पहुँच सके। किसी प्रकारके द्वन्द्व उसकी वृत्तिकी आश्रयपरायणतामें विघ्न नहीं डाल सकते। वह सर्वदा भगवत्परायण होता है। सारे लोक उसीकी कृपाके बलपर टिके हुए हैं—संतोंने ही सम्पूर्ण सृष्टिको धारण कर रक्खा है।

साधनाके समय जब संतलोग विभिन्न प्रकारके साधनोंसे अपनी वृत्तियोंको मोड़कर अन्तर्मुख होते हैं तब उनके सामने अनेकों प्रकारके दृश्य नदी, समुद्र, वन, पर्वत एवं अनेकों देवी-देवताओंके लोक आते हैं। कहीं ब्रह्मा, कहीं विष्णु, कहीं मुरलीमनोहर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। कहीं कङ्कणके, कहीं किङ्किणीके, कहीं बाँसुरीके, तो कहीं वीणाके एवं कहीं-कहीं पखावज तथा मेघकी गम्भीर एवं बड़ी ही मधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है। कहीं भौंरोंकी मधुर गुञ्जार, तो कहीं प्रेमके बादलोंकी गर्जना, कहीं उनके प्रेमरसकी बूँदोंका टपकना, अनेकों प्रकारकी बातें सामने आती हैं। इस अवस्थाका अनुभव करके संतोंने बड़ी मस्तीके साथ गाया है—'रस गगन गुफामें अजिर झरै' और उन नादों एवं दृश्यों तथा आनन्दके तारतम्यानुसार उनका नाम-करण भी किया है। किसीका नाम बंकनाली है तो किसीका नाम भ्रमरगुहा है। इन बातोंका विशेष वर्णन संत-साहित्यमें मिलता है।

संतोंके व्यावहारिक जीवनकी बात बहुत ही निराली है। युगोंकी स्थिति, लोगोंकी प्रवृत्ति, अपना पूर्वाभ्यास, प्रारब्ध, लोकदृष्टिसे बचनेकी भावना एवं और भी अन्यान्य कारणोंसे संतोंके व्यावहारिक जीवनमें अनेकों प्रकारके भेद दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी तो वे अपनेको बालक, जड़, उन्मत्त और पिशाचोंकी भाँति बना लेते हैं और ऋषभदेव, दत्तात्रेय आदिकी भाँति विचरण करते रहते हैं और अपनेको संसारियोंकी दृष्टिसे बचाकर भी अपने संकल्पसे सारे जगत्का कल्याण करते रहते हैं। और कभी-कभी आचार्य आदिके रूपमें प्रकट होकर सर्वथा लोगोंके अनुकरण करनेयोग्य आचरण एवं उपदेश करके सबको सन्मार्गपर चलाते हैं। ऐसी स्थितिमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि साधारण जनता किसके चरित्रोंका अनुकरण करे और किसके उपदेशोंके अनुसार चले। इस विषयमें सम्पूर्ण संतोंकी यही आज्ञा है और यही बात युक्तियुक्त भी है कि जिनके आचरण और उपदेश शास्त्रानुकूल हों उन्हींके ग्रहण किये जायँ। उनके आचरण एवं उपदेश शास्त्रविरुद्ध होते नहीं परन्तु अधि-कारभेदके कारण सबके लिये वे कर्त्तव्य नहीं हुआ करते। जिस भूमिकामें पहुँचकर संत जडवत्, उन्मत्तवत् विचरते हैं उस भूमिकामें वही शास्त्रीय है। परन्तु हमारा वर्तमान जीवन जिस स्थितिमें है उसमें वह उपयोगी नहीं। अतः जिनके जीवनमें भगवत्सम्बन्धके साथ-साथ दैवीसम्पत्तियोंका विकास एवं पूर्णता हुई है हमें उन्हींकी शरण ग्रहण करके अपना गन्तव्य मार्ग निर्धारित करना चाहिये।

संतोंके जीवनमें वैराग्य, त्याग, सार्वजनीन प्रेम, सेवा, सरलता, निर्भयता, स्वार्थका अभाव, परार्थदृष्टि एवं स्व-परके भेदसे ऊँची समदृष्टि और अपने शरीरमें पीड़ा होनेपर उसके निवारणके लिये संसारियोंकी जैसी इच्छा होती है वैसी ही सबकी पीड़ाका निवारण करनेके लिये स्वाभाविक करुणाका होना अनिवार्य है। पूर्णप्रज्ञा और अपरिमित करुणाका नित्य सम्बन्ध है। जहाँ सर्वज्ञता है, हमारे हृदयके एक-एक भावोंका सम्पूर्ण बोध है, वहाँ हमारे पतन, हमारी स्वार्थपरता और हमारे दुःख बरबस करुणाका सञ्चार कर देते हैं। जो हमारे हृदयकी बात नहीं जानते वे भी हमारे बाह्य क्रन्दनको सुनकर द्रवित हो उठते हैं। संत तो हमारे हृदयकी सच्ची अवस्था जानते हैं। वे हमारी व्यथा, हमारी पीड़ाको अपनी ही समझकर उसे दूर करनेके लिये व्याकुल रहते हैं और वास्तवमें वे इस करुणाके कारण ही संसारमें हैं भी, अन्यथा वे क्योंकर इस विषम संसारपर दृष्टि डालते।

यद्यपि संत विधि-निषेधके परे होते हैं और यह अवस्था ज्ञानकी परिपूर्णता तथा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। भागवतमें कहा है—

> यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
> प्रजहाति तदा लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

अर्थात् आत्मरूपसे भावना करते-करते जब भगवान्‌का परिपूर्ण अनुग्रह प्राप्त होता है, उनके सर्वत्र विस्तृत अनन्त अनुग्रहका अनुभव होता है, तब लोकनिष्ठा एवं वेदनिष्ठा दोनोंका ही परित्याग हो जाता है। उनके लिये एक ही विधि है आत्मदेव भगवान्‌की नित्य स्मृति, और एक ही निषेध है उनके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थोंकी स्मृति, जब वेद भगवान्‌के रूपमें नहीं, उनसे पृथक् होकर सामने आते हैं और जब लोक भगवान्‌के रूपमें नहीं, लोकके रूपमें सामने आते हैं तब संत उनपर या उनकी बातोंपर दृष्टि न डालकर उनसे निरपेक्ष रहते हैं। तथापि लोगोंके कल्याणके लिये वे शास्त्रोंकी रक्षा करते हैं और वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं। संतोंके ढूँढ़नेके समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंमें रहकर संत उन वर्ण और आश्रमोंके धर्मका उलंघन नहीं करता। जैसे वह ब्राह्मण वर्णमें है तो सन्ध्या आदि नित्य नियमोंका उलंघन नहीं करता और संन्यास आश्रममें है तो रुपयेका स्पर्श, स्त्रीका दर्शन, महलोंमें रहना या बनवाना आदि जो शास्त्रविरुद्ध कार्य हैं उन्हें नहीं करता। यदि वर्णाश्रममें रहकर ऐसा करता है तो जिज्ञासु मुमुक्षुओंको उससे बचना चाहिये और उसके फन्देमें फँसकर अपने लोक-परलोकको नष्ट नहीं करना चाहिये।

संतोंके जीवनमें नाना प्रकारकी सिद्धियां और चमत्कारोंके लिये प्रधान स्थान नहीं होता। यद्यपि परमात्मपथपर अग्रसर होनेके पश्चात् अनेकों प्रकारके चमत्कार और सिद्धियाँ प्रायः आ जाती हैं, परन्तु भगवत्कृपाके आश्रित होनेसे संत उनकी उपेक्षा कर देता है। कभी उन्हें अपनाता नहीं। इतना सब होनेपर भी कई बार उनके संकल्प पूरे हो जाते हैं, उनकी कही हुई बात सच उतर जाती है, इसलिये दुनियाँदारलोग इसे चमत्कार मान लेते हैं। अबतक जितने संत हुए हैं उनके जीवनमें इन चमत्कारोंका आरोप किया गया है। आज भी किया जाता है और आगे भी किये जानेकी सम्भावना है। संतोंकी दृष्टिमें इसका कोई महत्त्व नहीं है। उन्होंने बार-बार चमत्कारोंकी, सिद्धिप्रदर्शनकी निन्दा की है।

संतोंके कारण ही इस सृष्टिकी सफलता है, उन्हींके जन्मसे कुल, जननी और जन्मभूमि कृतार्थ होती हैं। उनका जीवन श्रद्धा और ज्ञानसे परिपूर्ण होता है। वे ऐसे किसी बुद्धिवाद, तर्क-वितर्कका आश्रय नहीं देते जो आत्मसाक्षात्कारकी ओर दृष्टि न रखता हो। वास्तवमें बात यह है कि बड़ी-बड़ी युक्तियों, शास्त्रोंके बड़े-बड़े उद्धरणोंका तबतक कोई महत्त्व नहीं है जबतक वे बहिर्मुखताको हटाकर अन्तर्मुखताकी ओर नहीं ले जाते। उनका महत्त्व इसीमें है कि वे आत्मसाक्षात्कारकी ओर ले जायँ। अतः संतोंका उपदेश है कि कोरे तर्कोंसे बचो और सम्पूर्ण युक्तियोंके मूलमें अन्तर्दृष्टिको ढूँढो।

उपासनाका जहाँतक सम्बन्ध है वहाँतक शक्ति-ही-शक्ति है। कोई भी शक्तिहीनकी उपासना नहीं करता अतः संसारके सम्पूर्ण उपासक सम्प्रदायोंके संत शक्तिका सम्मान करते हैं और उसकी उपासना करते हैं। हाँ, यह सम्भव है और ऐसा ही है कि शक्तिके प्रकारमें भेद हो। विद्या, श्री, सीता, राधा, महाकाली एवं सरस्वती आदि अनेक रूपोंमें शक्तिका स्वीकार किया गया है अतः यह कहा जा सकता है कि सभी संतोंको संतभावकी साधनामें किसी-न-किसी रूपमें शक्तिका आश्रय लेना पड़ा है। इस आदि-शक्तिकी आराधनासे ही अथवा शक्तिविशिष्ट प्रभुकी आराधनासे ही सभीको संतभावकी उपलब्धि हुई है।

सम्पूर्ण जगत् और जगत्‌के सम्पूर्ण भेद राजनीति, समाज, साहित्य, काव्य आदिपर संतोंकी छाप पड़ी हुई है और यहाँकी ऐसी एक भी वस्तु नहीं जो संतोंकी कृपामयी दृष्टिसुधासे सराबोर न हो। वे अनेकों रूपमें निवृत्तिमार्गी, प्रवृत्तिमार्गी, राजा, योगी, गृहस्थ, संन्यासी एवं स्त्री-बालक तथा निम्नकोटिकी जातियोंमें रहकर जगत्‌का कल्याण विधान करते रहे हैं और करते रहेंगे। उनके पवित्र स्मरणसे ही जीवोंका कल्याण साधन होता है।

संतभावकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें और संतोंकी वाणियों-में दो प्रकार प्राप्त होते हैं, एक तो पुरुषार्थका मार्ग और दूसरा अनुग्रहका मार्ग। पुरुषार्थके मार्गमें अनेकों प्रकारके उपाय करके लोग भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करते हैं और संतभावकी उपलब्धि करते हैं। इस मार्गमें अष्टाङ्ग, षड़ंग एवं हठ, लय, मन्त्र आदि योगोंका अनुष्ठान करके अथवा निष्कामकर्मयोगका आश्रय ले करके साधन-राज्यमें अग्रसर होते हैं अथवा तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि पातञ्जलयोग एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि ज्ञानयोगका अनुष्ठान करके अथवा वैधी, रागात्मिका, परा, अपरा आदि विभिन्न प्रकारकी भक्तियोंका आश्रय लेकर अपने लक्ष्यतक पहुँचते हैं। बहुत-से लोग इन सब साधनोंमें अपनेको असमर्थ पाकर अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण

कर देते हैं और जब-जब ममता, अहंकार आदिका उदय होता है तब-तब बार-बार प्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो ! अनादिकालसे संसारमें भटकते-भटकते अत्यन्त पीड़ित एवं व्यथित हो गया हूँ, अब संसारमें कहीं सुख-शान्तिके दर्शन न पाकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ: अब अबतक मेरे अपने माने हुए शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं अन्तःकरण तथा आत्माको अपना बना लो, मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ और स्वयं समर्पित हो जाता हूँ । मेरा जो कुछ है, मैं जो कुछ था, हूँ और होऊँ वह सब तुम्हारे चरणोंमें ही समर्पित है ।' इस प्रकारके आत्मनिवेदनके द्वारा अथवा भगवन्नामका आश्रय लेकर नामापराध और नामाभासोंसे बचते हुए लोग भगवान्की स्मृतिमें तल्लीन हो जाते हैं और संतभावकी उपलब्धि करते हैं । दूसरा मार्ग है भगवान्के अनुग्रहका । भगवान् कब, किसपर, किस प्रकार अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं, इसका पता साधारण जीवोंको नहीं चलता । परन्तु सच्ची बात यह है कि भगवान्की अनन्त कृपाधाराकी अमृतमयी अनन्त वर्षा निरन्तर हो रही है । हम उनकी कृपासे सराबोर हैं । ऐसा होनेपर भी जबतक हमें अपने बल, पौरुष, शक्तिका घमण्ड है, हम अपने व्यक्तित्वके बलपर हाथ-पैर पीटनेमें लगे हुए हैं तबतक वह अनन्त अनुग्रह हमारे अनुभवमें नहीं आता । चाहे जितनी साधना की जाय पर जबतक हम अपने व्यक्तित्वको सुरक्षित रखते हैं, जबतक हमारा हृदय अहंकारसे रिक्त नहीं है तबतक परमात्माके अनुपम अनुकम्पारसका आस्वादन नहीं कर सकता । हमें एक-न-एक दिन ऐसा होना ही होगा । इस मार्गपर आये बिना कल्याण नहीं । तब सम्पूर्ण साधनोंका उपयोग यही है कि हमारा यह कर्तृत्वाभिमान, अहंकार नष्ट हो जाय और इसके नष्ट होते ही भगवान्का अनुग्रह प्रकट हो जाता है । यही इन दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध तथा समन्वय है । और यहीं पहुँचकर वास्तविक संतभावकी उपलब्धि होती है । भगवत्प्रेम, भगवत्कृपा, भगवत्-तत्त्वज्ञान ये सब कृतिसाध्य नहीं हैं । स्वतःसिद्ध हैं, केवल अविश्वास एवं अज्ञानके आवरणभंगकी ही अपेक्षा है ।

इस मार्गमें पाँव रखनेवालेके लिये संत सद्गुरुकी महान् आवश्यकता है । परन्तु इस घोर कलिकालमें व्यासजीके कथनानुसार—

न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः ।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मताङ्गतम् ॥

आज सिद्धसंतोंके दर्शन हम कलियुगी जीवोंको दुर्लभ ही हैं । हम तो केवल भगवान्के चरणोंका आश्रय लेकर उन्हींको संत, सद्गुरु, इष्टदेव, साधन, साध्य सम्पूर्ण अपेक्षित रूपोंमें वरण करके अपने कल्याणका साधन कर सकते हैं । भगवान् हमें अपने चरणोंके पास पहुँचनेकी शक्ति दें, आवश्यक समझें तो हमारे पास संत सद्गुरुको भेजें या उनके रूपमें स्वयं आवें । आकर अपनी पहचान बतावें और सर्वदाके लिये अपना लें । हम अल्पशक्ति, अल्पज्ञ और भूले हुए जीव इससे अधिक और कर ही क्या सकते हैं ?

अन्तमें भगवान् और उनकी गुप्त एवं प्रकट लीलामें सम्मिलित गुप्त एवं प्रकट संतोंके चरणकमलोंमें कोटि-कोटि नमस्कार करके अपनी इस अनधिकार चेष्टाके लिये उनकी सहज दयालुताका ही भरोसा करके इस निबन्धको समाप्त किया जाता है ।
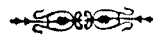
एक लालसा

एक लालसा मनमहँ धारौं ।
बंसीबट, कालिंदी-तट, नट-नागर नित्य निहारौं ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि-सुनि तन-सुधि सकल बिसारौं ।
पल-पल निरखि झलक अँग अंगनि पुलकित तन मन वारौं ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ गाइ गुन गुंज-माल गर डारौं ।
परमानंद भूलि जग सगरौ स्यामहिं स्याम पुकारौं ॥

—अकिञ्चन

मूलगोसाईंचरितकी प्रामाणिकता

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०)

१—माननेवाले और विरोधी

अबतककी प्रकाशित पुस्तकोंमें सबसे पहले वेनीमाधव-दासके ग्रन्थ गोसाईंचरितकी चर्चा श्रीशिवसिंह सेंगरने 'शिवसिंहसरोज' में की है और उनके लिखनेसे जान पड़ता है कि उन्होंने उस पुस्तकको देखा अवश्य था। नवलकिशोर प्रेसमें निरपवादरूपसे प्रकाशनके समय सभी पोथियोंका संशोधन होता था और संशोधकके कलमसे निश्चय ही सरोज भी बच नहीं सका होगा। इसलिये सरोजकारने कई बातें जो इस तथ्यसे असंगत दी है, उनपर हमें आश्चर्य न होना चाहिये। जैसे, गोस्वामीजीकी जन्मतिथि जो सरोजकारने दी उससे ऐसा भ्रम होता है कि या तो उन्होंने मूल गोसाईंचरित देखा ही न था या जिस पोथीको उन्होंने देखा था, उसमें १५५४ संवत् नहीं था।

सरोजके बाद गोस्वामीजीके अनेक जीवनचरित निकल चुके परन्तु किसीमें उनका जन्म-संवत् १५५४ नहीं दिया गया। फिर भी संवत् १९५७ में प्रकाशित शिवलाल पाठकरचित मानसमयंकमें छपा है—

मन ऊपर शर जानिये शरपर दीन्हें एक।
तुलसी प्रकटे रामवत राम जनमकी टेक ॥१३५॥

—जिससे पाठकजीके अनुसार जन्म-संवत् १५५४ ठहरता है। मानसमयंकमें जीवनी नहीं दी है बल्कि मानसके एक चौपाईके अर्थके प्रसंगमें गोस्वामीजीका जन्म-संवत् दे दिया है और यह भी दिखाया है कि गोस्वामीजीने जब राम-चरितमानस लिखा तब वह ७८ वर्षके थे।

संवत् १९६९ के ज्येष्ठकी 'मर्यादा' में उसी मानसमयंकके टीकाकार श्रीइन्द्रदेवनारायणसिंहने गोस्वामीजीके जीवन-चरितपर लिखते हुए इस दोहेपर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट किया था। परन्तु साथ ही उन्होंने रघुवरदासजीकी लिखी तुलसीचरित नामकी बड़ी भारी पोथीकी चर्चा की थी। जिसमें दी हुई गोस्वामीजीकी जीवनी सबसे विलक्षण है।

संवत् १९८२ में नवलकिशोरप्रेसमें उन्नावके वकील पं० रामकिशोर शुक्लद्वारा सम्पादित रामचरितमानस छपा। इस ग्रन्थके आरम्भमें वेनीमाधवदासजीका मूलगोसाईंचरित और महात्मा बालकराम विनायकजीकी टीका दी हुई है। श्रीकाशी-नागरी-प्रचारिणी-सभाने इसी मूलगोसाईंचरितको रामचरितमानससे लेकर स्वयं प्रकाशित किया और पत्रिकाद्वारा हिन्दीसंसारका ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया। स्वर्गीय पण्डित श्रीधर पाठकने और मिश्रबन्धुओंने इसकी प्रामाणिकतापर सन्देह किया। परन्तु श्रद्धेय रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजीने इसकी दी हुई तिथियोंकी जाँच की और अपना यह निश्चय प्रकट किया कि मूलगोसाईंचरित सर्वथा प्रामाणिक है। कई वर्ष बाद सन् १९३१ में गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रन्थमें, जिसे हिन्दुस्तानी आकेडेमीने प्रकाशित किया, उन्होंने बहुत विस्तारसे उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की।

इस प्रकाशनके बाद 'हिन्दुस्तानी' पत्रिकामें जौनपुरके एडवोकेट श्रीमाताप्रसादजी एम० ए०, एल-एल० बी० के कई लेख निकले जिसमें मूलगोसाईंचरितके कई वर्णनोंकी ऐतिहासिक असंगति दिखलायी गयी और प्रकारान्तरसे मूलगोसाईंचरित अप्रामाणिक ठहराया गया।

इधर हालमें पं० रामनरेशजी त्रिपाठीने संवत् १९९२ में रामचरितमानसकी टीका प्रकाशित की। उसकी भूमिकामें त्रिपाठीजीने लगभग बारह बड़े पृष्ठोंमें मूलगोसाईंचरितके तथोक्त असंगत कथनोंको दिखलाकर अन्तमें यों लिखा है—

'इस प्रकार मूलगोसाईंचरित हमें भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा मिलता है। हम उसे तुलसीदासके जीवनचरितके लिये बिलकुल ही विश्वासके योग्य नहीं मानते। वह किसी अनधिकारी व्यक्तिका लिखा हुआ जान पड़ता है। सम्भव है, उसका उत्पत्तिस्थान कनकभवन (अयोध्या) ही हो।'

मूलगोसाईंचरितके विरुद्ध इससे अधिक किसीने नहीं कहा है। त्रिपाठीजीका इशारा है कि उसकी रचना कनक-भवन अयोध्यामें हुई होगी।

२—मेरी आस्थाका कारण

जिस समय नवलकिशोरप्रेस लखनऊमें मूलगोसाईं-चरितवाला रामचरितमानसका संस्करण छप रहा था, लगभग उसी समय मेरी रामचरितमानसकी भूमिका छप रही थी। भूमिकावालोंसे मूलगोसाईंचरितवालोंका कोई सम्बन्ध न

था। भूमिकाके छपनेके कई साल पहले मेरे मित्र स्व० श्रीजगन्मोहन वर्माने मुझे सूचना दी थी कि स्थानीय सरस्वती-भवनमें गोस्वामीजीके हाथकी लिखी वाल्मीकीय रामायणकी पोथी है। मैंने जाकर उसे देखा और उसके कई पृष्ठोंकी फोटो ली। मेरी भूमिकामें ही पहले-पहल उन पृष्ठोंके चित्र छपे। उसके बाद कई पोथियोंमें उसकी नकलें छपी हैं। परन्तु मेरी भूमिकाके पहले, जहाँतक मुझे ज्ञात है, हिन्दी संसारको उसका पता न था।

उस ग्रन्थकी पुष्पिकामें लिखा है '।।संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि ७ रवौ लि० तुलसीदासेन' ।। इसके साथ ही दूसरे कलमसे लिखा है —

श्रीमत्रेदिलशाहभूमिपसभासभ्येन्दुभूमीसुर-
श्रेणीमण्डनमण्डलीधुरिदयादानादिसाजिप्रभुः ।
वाल्मीकेः कृतिमुत्तमां पुररिपोः पुर्य्यां पुरोगः कृती
दत्तात्रेयसमाह्वयो लिपिकृतेः कस्मिंश्चमाचीकरत् ॥

इसे देखकर मैंने तरह-तरहके अनुमान उक्त भूमिकामें प्रकट किये थे, परन्तु कोई बात बैठती न थी। जब मैंने सभाद्वारा प्रकाशित मूलगोसाईंचरित पढ़ा तो गुत्थी सुलझ गयी। उसमें पचपनवाँ दोहा इस प्रकार था—

लिखे वालमीकी बहुरि इकतालिसके माहिं।
मगसिर सित सतमी रवौ पाठ करन हित ताहिं ॥५५॥

उसके बाद २६ पंक्तियोंके बाद अट्ठावनवें और उनसठवें दोहेमें लिखा है—

आदिलसाही राजके भाजक दान बनेत।
दत्तात्रेय सुविप्रवर आये कृपय निकेत ॥५८॥
करि पूजा आसिष लहे मांगि पुन्य प्रसाद।
लिखित बालमीकी स्वकर दिये सहित अह्लाद ॥५९॥

इन दोहोंसे सरस्वतीभवनवाली पोथीकी पुष्पिकामें दिये हुए अन्तके संस्कृत पद्यका रहस्य खुल जाता है। इन दोहों-को देखकर मुझे मूलगोसाईंचरितकी प्रामाणिकतापर विश्वास हो गया। कई साहित्यरसिकोंने यहाँतक कह डाला था कि यह पुस्तक जाली है और अयोध्याजीमें कई महात्मा कवि हैं, उन्हींकी रचना है। परन्तु ऐसा जाल बनानेमें बहुत दक्ष ज्योतिषी और बड़े अच्छे कविकी ही आवश्यकता नहीं थी बल्कि ऐसे मर्मज्ञ और कल्पनाकुशल चूल-में-चूल भिड़ाने-वाले धूर्तकी आवश्यकता थी, जो प्रबन्धको ठीक रच सके। एक ही दिमागमें इन तीनोंका संयोग मेरी कल्पनामें अब भी नहीं आता और यदि तीनोंका मिला-जुला षड्यन्त्र होता भी तो वह अबतक रहस्यके परदेमें छिपा न रह सकता।

३—और भी जाँच

मूलगोसाईंचरितमें तिथिवारके साथ अनेक घटनाएँ दी हुई हैं। इनकी भी जाँच की गयी। दो-तीनको छोड़ सभी तिथियाँ ठीक उतरती हैं। जहाँ कुछ अन्तर दीखता भी है, वहाँ करणग्रन्थोंके भेदसे अन्तर सम्भव है। इसीलिये हमारे मतसे उनकी तिथियाँ भी ठीक ही हैं। दो-तीन तिथियाँ जो ठीक-ठीक नहीं मिलतीं, इस बातका प्रमाण हैं कि पुस्तक जाली नहीं है। यदि कोई दक्ष ज्योतिषी कल्पित तिथियाँ देता तो किसी एक सारिणीके अनुसार ही देता। ऐसी दशामें जाँचनेपर सभी तिथियाँ ठीक उतरतीं। दो-तीन तिथियोंमें जो दिनोंका अन्तर पड़ता है वह कदापि न पड़ता। आजकल तो मकरन्द और ग्रहलाघवकी चाल है। परन्तु कौन कह सकता है कि साढ़े तीन सौ बरस पहले बनारसमें अथवा अवधके जिलोंमें किस करणग्रन्थके अनुसार पञ्चाङ्ग बनते थे, अथवा बेनीमाधवदासने जो तिथियाँ दी हैं वे किस सारिणीके अनुसार हैं। परन्तु ये दो-तीन तिथियोंके अन्तर स्वयं इस बातके प्रमाण हैं कि मूलगोसाईंचरित जाली नहीं है।

४—मूलगोसाईंचरितकी पुरानी हस्तलिखित पोथी

नवलकिशोरप्रेसने मूलगोसाईंचरितका जो पाठ छापा है वह महात्मा बालकराम विनायककी प्रतिसे लिया गया। श्रीबालकराम विनायकजी उन दिनों कनकभवनमें रहते थे। पण्डित रामनरेश त्रिपाठीका शायद यह अनुमान है कि मूलगोसाईंचरितकी रचना या जालसाजी वहीं कनकभवनमें हुई है। सौभाग्यवश वह पोथी जिसकी नकल उक्त महात्माने कर ली थी अभी मौजूद है।

पण्डित रामधारी पाण्डेय श्रीसाकेतबिहारीशरणजी भरूव नामके एक गाँवमें रहते हैं। यह गाँव परगना मनोरा, औरंगाबाद सबडिविज़न, जिला गयामें है और इसका डाकखाना चन्दा है। मानसपीयूषकार पण्डित शीतलासहायजीके अनुरोधसे श्रीरामधारी पाण्डेयजी अपनी पोथीसमेत संवत् १९८९ की श्रीरामनवमीके अवसरपर मेरे यहाँ कृपाकर पधारे। वह मूलगोसाईंचरितकी पोथीकी पूजा एवं पाठ नित्य करते हैं। अतः पोथी साथ ही लाये थे। मैंने पोथीके अच्छी तरह दर्शन किये। पूरी परीक्षा की। मेरे यहाँ स्वयं डेढ़ दो सौ बरसकी हाथकी लिखी पोथियाँ हैं। उनके कागज, लिखाई और रोशनाई आदिकी परखके अनुसार मैं

पूर्ण निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि पोथी जाली नहीं हो सकती। एक विशेष छपी कापीको लेकर उससे सारा पाठ मिलाया गया। मालूम हुआ कि महात्मा बालकराम विनायकके पाठमें कई जगह लेखप्रमाद था। पूरा संशोधन कर लिया गया। उस पोथीके चार पृष्ठोंका फोटो चित्र लिया गया। उससे हमने ब्लाक बनवा लिये हैं, जो इस लेखके साथ हम देते हैं।

इस पोथीका कागज पुराना मजबूत अरवली है। लिपि सुन्दर और शुद्ध है। पोथी पत्रानुमा है। एक-एक पन्ना साढ़े नव इंच लंबा और साढ़े पाँच इंच चौड़ा है। इसके दो पन्ने खुलते उसी तरह हैं जैसे जिल्द बँधी पुस्तकें। पढ़नेके लिये दोनों पन्ने दहने-बायें खुले हों तो उन्नीस इंच लंबाई और साढ़े पाँच इंच चौड़ाई होती है। लिखे हुए अंशकी लंबाई साढ़े सात इंच और चौड़ाई पौने चार इंच है। पन्नोंकी संख्या २७+१=२८ है, परन्तु पृष्ठोंकी संख्या कुल ५४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ से १४ तक पंक्तियाँ हैं। २७ पन्नोंमें विषय है। एक पन्नेमें पुस्तकका नाममात्र 'मूलगोसाईंचरित' लिखा है। पुस्तककी पुष्पिकामें लिखा है कि संवत् १८४८ में विजयादशमीको लिखी गयी। उस दिन शुक्रवार था। हिसाबसे भी शुक्रवार ही आता है। पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्रीवेणीमाधवदासकृत मूलगोसाईंचरित समाप्तम्। श्रीशाण्डिल्यगोत्रोद्भवपंक्तिपावन त्रिपाठी रामरक्षमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजयादशमी संवत् १८४८ भृगुवासरे।'

लेखक रामरक्षमणि रामदास त्रिपाठी पण्डित थे और पंक्तिपावनताका उन्हें गर्व था। उन्होंने तथा उनके पुत्रने लिखा। और सचमुच बहुत शुद्ध लिखा। उनके अक्षर भी सुन्दर हैं। इनके स्थानका निर्देश नहीं है कि कहाँके थे, या कहाँ लिखा। परन्तु सरयूपारीण थे और सम्भवतः गोरखपुरके थे। पण्डित रामधारी पाण्डेयके पूज्य पिता पण्डित श्रीकृष्ण पाण्डेयजी अपने लड़कपनसे ही जब पाँच ही बरसके थे तबसे अन्त समयतक वृत्तिके कारण गोरखपुरमें ही रहे। यह पोथी उनके पास थी। वह पाठ भी करते थे और इस पोथीकी पूजा भी करते थे। पण्डित श्रीकृष्ण पाण्डेयजी पचहत्तर बरसकी अवस्थामें, कोई बीस बरस हुए गोरखपुरमें ही वैकुण्ठवासी हुए। मृत्युके पहले उन्होंने अपने पुत्र पण्डित रामधारी पाण्डेयको यह पोथी सौंप दी। तभीसे श्रीरामधारीजी भी उसी तरह पूजा-पाठ करते हैं और सदा अपने पास रखते हैं।

५—किसी अनधिकारी व्यक्तिका लिखा नहीं है

जिस पोथीके चार पृष्ठोंके चित्र हम यहाँ देते हैं वह तो कनकभवनमें उत्पन्न नहीं हुई है। कम-से-कम आजसे डेढ़ सौ बरसोंके भीतरकी रचना भी नहीं है। बेनीमाधवदासकी ही कोई और रचना हमारे सामने नहीं है जिसके मुकाबलेमें इस प्रस्तुत गोसाईंचरितकी परीक्षा इष्ट हो। अतः मूलगोसाईंचरितको जाली ठहराने और कनकभवनमें रचे हुए ग्रन्थ बतानेका दुःसाहस जो त्रिपाठीजीने किया है उसके लिये मेरे निकट कोई हेतु नहीं मिलता।

पोथी जाली नहीं है। इतना ही नहीं, वह किसी अनधिकारी व्यक्तिकी रचना भी नहीं है। उसकी पुष्पिकासे प्रकट है कि वह बेनीमाधवदासकी लिखी हुई है। शिवसिंह सेंगरने लिखा है कि बेनीमाधवदास पसका गाँवके रहनेवाले थे। उन्होंने गोसाईंचरित नामसे गोसाईंजीका एक बड़ा जीवनचरित पद्यबद्ध लिखा था जो अब अप्राप्य है। मूलगोसाईंचरित इसी बड़े ग्रन्थका संक्षिप्त संस्करण है जो पाठ करनेके लिये स्वयं बेनीमाधवदासने रचा था। इस मूलगोसाईंचरितसे इस बातका संकेत मिलता है कि गोसाईंजीसे बेनीमाधवदासकी पहली भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीचमें हुई थी। सम्भव है इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए हों। गोसाईंजी संवत् १६८० में साकेतवासी हुए। अतः बेनीमाधवदास उन्हें ६०-७० बरससे जानते थे। इतने लंबे कालतक जिस लेखकका अपने चरितनायकसे सम्बन्ध रहा, उससे बड़ा अधिकारी लेखक कौन हो सकता है। तुलसीदासजीके जीवनचरितकी सामग्री मूलगोसाईंचरितसे अधिक विश्वसनीय और हो ही नहीं सकती। त्रिपाठीजीके निकट तो वह विश्वासयोग्य नहीं है, परन्तु उनकी या हमारी या अन्य लेखकोंकी अनुमानमूलक कल्पनाएँ क्या मूलगोसाईंचरितसे अधिक विश्वासयोग्य हो सकती हैं! श्रद्धेय रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—

'यदि यह मूलचरित प्रामाणिक न हो तो आश्चर्यकी बात होगी।

गोसाईंचरितमें तुलसीदासके जीवनकी जितनी तिथियाँ मिलती हैं सब गणितके अनुसार ठीक उतरती हैं। जिन तिथियोंकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृ० ३९५—९८ और ४०१—४०२ में सन्देह प्रकट किया गया था, वे भी पण्डित गोरेलाल तिवारीकी गणनाके अनुसार

प्राकृत के सब पावन दे। फिरि जे भट के सब लोमु लिकै। भिंन तुच्छ ना
आपुहते सुनिकै॥ सब सेवक डेरनु गे कहि कै। हौं भेटिहौं काल्हि बिन
य गहि कैं॥ घन स्याम रे ब्रह्मासितराम रहे। कल मद्द रे सिलाम रहे॥
रघिनाम सुचंद्रिका राति हिये। गुरे केसव नू कसि पाति हिये॥ सतते
ज आनी प्रसंग मचौ। हेउ प्राकृत दिव्य विभूति बची। सिटि केसव
को संकोच भगायो। इर भीतर प्रीतिकी रीति रयो॥ दो० आदिल
साहि राजके भाजक दान बनेत। दत्तात्रेय सु विप्रवर आये शिवय बि
केतपुर॥ करि पूजा आसिष लहै मांगे पुन्य प्रसाद। लिखित बाल
मीकि स्वकर दिये सहित अह्लाद॥ ५६॥ अमरनाथ जोगी निपार
रि बैरागी लीन। ता ते कोउ विनि नहिं रहित कंठी माला कीन॥ मच्यो
कोलाहल साधु सब आये मुनिवर पास। फेरि मिल्यो सो आगमन
विषय कृपा घनवास॥ ६१॥ आगो सिद्ध अघोरिया अलख जगा ठ

मू० गो० च० २६

[illegible] विस्वास धरि दीन्ह दास भगवंत॥ ११५॥ अंत समय हनुमन
दिये तत्त्व ग्यानको बोध। रामनाम ही बीज है सहि गुरुकुल नय
सोध॥ ११६॥ परम स्थान की सुभ घड़ी आयो निकट बिचा
रि। कहेउ प्रचारि मुनी सतन आपनि दसा निहारि॥ ११७॥ रा
मचंद्र अस जानि के भयो चहत अब मौन। तुलसी के मुख दीजि
ये अब ही तुलसी सोन॥ ११८॥ संवत सोरह सै असी [illegible]
सी गंग के तीर। सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तज्यो सरी
र॥ ११९॥ मूल गोसाई चरित नित पाठ करै जो कोय। सो रि
झवनु मन कृपा राम चरन पद होय॥ १२०॥ सोरह सै सत्तासि सि
त नवमी कातिक मासु। बिरच्यो यहि निज पाठ हित बेनी माध
व दास॥ १२१॥ इति श्री बेनी माधव दास कृत मूल गोसाईं
चरित समाप्तम्॥ श्री शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन

त्रिपाठी रामरत्नमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्।
मिति विजयादशमी संवत १९५२॥ भृगुवासरे॥

ठीक उतरती हैं। (ना० प्र० प० भाग ८ पृ० ६०—६९।) ......गोसाईंजीने अपने विषयमें विनयपत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ग्रन्थोंमें जो-जो बातें लिखी हैं, मूलचरितमें दी हुई घटनाओंसे उनकी भी संगति ठीक बैठ जाती है।'

६—क्या भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा है ?

मूलगोसाईंचरितमें वह सभी बातें मौजूद हैं जिनका अन्तःसाक्ष्य गोस्वामीजीकी रचनाओंसे मिलता है। उन बातोंको यहाँ दोहरानेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जाता है। उन विषयोंपर सुभीतेसे और लेख लिखे जा सकते हैं। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि जो बातें अप्राकृतिक मालूम होती हैं, उनके समान बातें भक्तोंकी कथाओंमें संसारकी सभी देशोंके साहित्यमें पायी जाती हैं। जो बातें घटनासम्बन्धी असंगति लिये हुए जान पड़ती हैं, उनकी सत्यताकी परख उन कसौटियोंपर नहीं की जा सकती जिनको अभी इतिहास स्वयं विश्वासयोग्य नहीं ठहरा पाया है। लिखा है कि गोसाईंजीसे चित्सुखाचार्य मिले थे, परन्तु चित्सुखाचार्य कब जन्मे, कहाँ जन्मे इसका ही निश्चय नहीं है। मूलगोसाईं-चरितसे उनके समयका कुछ पता लग जाता है। मीराबाईके देहान्तवर्षके सम्बन्धमें स्वयं झगड़ा है, तो गोस्वामीजीसे उनके पत्रव्यवहारकी बात क्यों सन्दिग्ध मानी जाय ? उसीको क्यों न प्रमाण मानकर यह सिद्ध किया जाय कि मीराबाईकी मृत्यु १६२० के लगभग हुई जिससे कि उदयपुरदरबार और भारतेन्दुजीकी बातकी भी पुष्टि होती है ? मीराकी ससुरालवालोंके निकट तो मीरा तभी मर गयीं जब उन्होंने गृहस्थी छोड़ वैराग्य लिया। इस प्रकार बेनीमाधवदास जो अपने समयकी बात लिखते हैं, क्यों न स्वयं प्रमाणकी तरह ग्रहण किये जायँ ?

बजाय इसके कि हम मूलगोसाईंचरितकी बातोंको इतिहासकी सन्दिग्ध सामग्रीसे परखें, क्यों न हम उस सन्दिग्ध सामग्रीकी ही मूलगोसाईंचरितसे जाँच करें ?

श्रीमाताप्रसादजीने बड़े परिश्रमसे मूलगोसाईंचरितकी ऐतिहासिक असंगतियाँ दिखायी हैं, परन्तु जिस-जिस अबतकके उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणोंसे काम लिया है उनकी प्रामाणिकता स्वयं विचारणीय है। ऐसी दशामें त्रिपाठीजीका यह लिखना कि मूलगोसाईंचरित भ्रमपूर्ण और असत्य बातोंसे भरा है, ऐतिहासिक आलोचनाकी विगर्हणा है।

७—बेनीमाधवदासकी सम्भाव्य भूलें

बेनीमाधवदासजी गोसाईंजीके शिष्य थे और श्रद्धालु भक्त थे। सम्भव है कि गुरुके सम्बन्धमें अपने विश्वासके अनुसार कुछ सुनी-सुनायी बातें भी लिखी हों। अच्छे-से-अच्छा लेखक अनेक बातोंमें अपनी स्मृति और धारणापर अत्यधिक विश्वास करके नेकनीयतीके साथ ऐतिहासिक भूलें कर सकता है। मूलगोसाईंचरितमें तिथियोंके देनेमें जो सावधानी बेनीमाधवदासजीने बरती है, उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बेनीमाधवदासजीने और घटनाओंके लिखनेमें भी साधारणतया सावधानी बरती होगी। उनके वर्णनका मेल यदि किसी और लेखकसे न मिले तो हमें बेनीमाधवदासपर अविश्वास करनेकी उतावली न करनी चाहिये बल्कि सत्यान्वेषणमें और अधिक प्रवृत्त होना चाहिये।

संत-सूरमा

सूर संग्रामको देखि भागै नहीं, देखि भागै सोई सूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभसे जूझना, मँडा घमसान तहँ खेत माहीं ॥
सील औ साँच संतोष साही भये नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहै कबीर कोई जूझिहैं सूरमा, कायरा भीड़ तज तुरत भाजै ॥

—कबीर

कविके प्रति !

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पाँड्या)

कवे ! तेरे शब्दोंमें शक्ति है और तेरे हृदयमें अन्तर्दृष्टि।

कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग नारीजातिके चाम-मांसकी सुन्दरताका वर्णन करके उसे अपमानित करने और भोगकी वस्तु बनानेमें मत करना, वरना तेरी दृष्टि एकांगी और मिथ्या होगी और तू जनताके प्रेमको कलुषित, संकुचित और भ्रमित करनेवाला, सौन्दर्यकी झूठी, आधारहीन और कृत्रिम कल्पना देकर परिणामतः प्रेमको उसीतक सीमित कर देनेवाला होगा !

माता, बहिन, पुत्रीके सम्बन्धमें, यहाँतक कि अपनी स्त्रीके भी सम्बन्धमें जिस वर्णनको करने और सुननेमें साधारण व्यक्तिको भी संकोच होता है उसी वर्णनको, हे कवे ! क्या तू खुले-आम करता फिरेगा और सो भी साहित्य-जैसी पवित्र और हित-भाव-संयुक्त वस्तुके नामपर ?

वसन्त सुन्दर है, मन्द-सुगन्ध मलय-समीर सुखद है, प्रकृतिकी लीलाएँ और उसके दृश्य मनोहर हैं, परन्तु कवे ! इनकी शोभाका वर्णन करते हुए तू इन्हें कलुषित भावोंका उत्तेजक बताकर इनको कलुषित मत कर डालना। लोगोंकी चित्तवृत्ति और उनकी दृष्टि पहलेसे ही काफी कलुषित हो रही है, इसके लिये तेरे उत्तेजनकी आवश्यकता नहीं है। तेरी शक्ति तो इस कालिमाको धोनेमें ही लगनी चाहिये !

कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग नारीजातिके मातृत्व, भगिनीत्व और सहधर्मिणीत्वके गौरवको प्रदर्शित करनेमें करना, जिससे समाजधारण और दिव्यस्वरूप-की अभिव्यक्तिके सहायक सद्गुणोंका विकास होकर पुरुष-जाति भी उच्च होगी, नारीजाति भी उच्च होगी और तू भी उच्च होगा।

कवे ! तू अपनी शक्तिका उपयोग जगत्से वैर, भय, ईर्ष्या, हिंसा, स्वार्थ, असत्य, पशुबलि, विषयासक्ति आदिको मिटानेमें, दुःखितों और अपमानितोंको सुखी करनेमें और पतितोंको उच्चतर बनानेमें करना।

कवे ! तू अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुके बाह्य स्वरूपको भेदकर उसके भीतरके सत्य और सौन्दर्यको देखना।

प्रसन्नता, सच्चरित्रता, सेवार्थ किया जानेवाला परिश्रम, सरलता, सुहृद्भाव आदि स्वयं कितने सुन्दर हैं और चित्तको कितना सुन्दर बनानेवाले हैं ? गार्हस्थ्य धर्म-के लिये किये गये शारीरिक परिश्रमसे उत्पन्न ललना-करोंकी कठोरता भी क्या कम सुन्दर है ? विमलात्मा मुनिके शरीरकी मलिनता भी अहिंसा, दैहिक निस्पृहता और आत्मलीनताकी द्योतक होनेपर कितनी सुन्दर होती है ?

कवे ! तू प्रकृति और विकृतिके स्वरूपोंके भेदको पहचान लेना। प्रशंसा करते समय बाह्य स्वरूपसे मोहित होकर उस अन्तरंग सौन्दर्यको अवहेलना मत कर बैठना, जो कि बाह्य सौन्दर्यका कारण है, उसकी शोभा है और जिसको जाननेको दुनियाको ज्यादा जरूरत है। मिट्टी मिले हुए स्वर्णमें कौन-सा अंश स्वर्ण है—मिट्टीमें जो चमक है वह मिट्टीकी है या स्वर्णकी—इसे न भूल जाना। तभी तू अन्तर्दृष्टिवाला कहा जा सकेगा।

कवे ! जब तू अच्छी तरह जान जायगा कि जो सत्य है वही शिव और सुन्दर है, जो शिव है वही सत्य और सुन्दर है और जो सत्य और शिवसे पृथक् है वह कभी सुन्दर हो नहीं सकता, तभी तेरी अन्त-र्दृष्टि ठीक कही जा सकेगी।

कवे ! जब तू समझ लेगा कि प्रत्येक वस्तु सत्य, शिव और सुन्दरस्वरूप है और यह जानना और जतलाना, अनुभव करना और कराना ही जीवनका आनन्द है, तभी यह कहा जा सकेगा कि तुझे अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, कि जिससे तू कवि बननेयोग्य है ।

कवे ! जब तू अपनी सच्ची अन्तर्दृष्टिके अनुसार अपना जीवन ढालनेके लिये हार्दिक प्रयत्न करेगा, जब तू सब पदार्थोंसे, यहाँतक कि जगमें कहे जानेवाले कुरूपों, पतितों, कोढ़ियों, नीचों, दुखितों और दुःखप्रदोंसे भी निश्छल प्रेमका बर्ताव करने लगेगा तभी तेरी अन्तर्दृष्टि वास्तविक और विश्वासके योग्य होगी । तभी तेरा जीवन कविका जीवन होगा, तभी तू सच्चा कवि होगा । फिर तू चाहे गद्यमें लिखे या पद्यमें या कुछ भी न लिखे न बोले ।

कवे ! यह याद रख कि प्रत्येक बाह्यरूपका यहाँतक कि प्रत्येक भावनाका वर्णन करना कवित्व नहीं है क्योंकि मानवताके लक्षणरूप विवेकका उपयोग हिताहितके लिये प्रत्येक पदार्थके सम्बन्धमें करना होगा । और कवि होनेके लिये देव नहीं तो कम-से-कम मानव होना तो पहले जरूरी है ही । श्रेय और प्रेय कभी-कभी एक-दूसरेसे भिन्न और विपरीत भी होते हैं, इसका खयाल रखना ।

क्या तू यह कहता है कि तू 'स्वान्तःसुखाय' रचना करता है ? तो फिर तू अपनी रचनाको औरोंके सामने क्यों प्रकट करता फिरता है ? और क्या 'स्वान्तःसुखाय' रचना हिताहितके विचारसे शून्य होती है ? एकान्त बंद कोठरीमें बैठकर अपने खुदके लिये कर्म करते हुए भी यहाँतक कि अपने हृदयमें विचार करते हुए भी, क्या विवेकको काममें लाना तेरा मानवोचित कर्तव्य नहीं है ? तेरे विचार निरे विचाररूपमें हानिकर न माने जावें तो भी कार्यमें परिणत होकर क्या वे दूसरोंके प्रति तेरे सम्बन्धोंपर असर न करेंगे ? क्या तेरा अपने खुदके प्रति ही कोई कर्तव्य नहीं है ? क्या 'स्वान्तःसुखाय' में 'स्वान्तःहिताय' की आवश्यकता नहीं है ?

कवे ! तेरा उद्देश्य सत्यको प्रकट करना है, उसकी छाप हृदयपर जमा देना है, इसलिये ऐसी भाषाका प्रयोग करना अच्छा ही है जो आह्लादजनक हो, चित्ताकर्षक हो, अनुप्राणित करनेवाली हो परन्तु यदि ऐसी भाषाका प्रयोग न करे तो इसकी चिन्ता मत कर, क्योंकि सत्य स्वयं सुन्दर है । परन्तु इसका ध्यान अवश्य रख कि तेरी भाषा स्पष्ट हो, दुर्बोध और संशयजनक न हो, सत्यको गूढ़ करनेवाली न हो, उसे छिपा देनेवाली न हो । अलंकारोंका भले ही प्रयोग कर, परन्तु वे सत्यको सुस्पष्ट और सरल करनेवाले हों । ऐसी भाषा जिसके विविध वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय अर्थ निकल सकते हों उससे भरसक बच, क्योंकि ऐसी भाषा सत्यको संशयजनक और दुर्बोध बना देनेवाली होती है और उससे जगत्‌की बहुत हानि होती है । तू यह कैसे विश्वास कर सकता है कि तेरी रचनाको योग्य व्यक्ति ही पढ़ेंगे और उसका वाञ्छित ही अर्थ ग्रहण करेंगे ? इसलिये साधारणजनोंको दृष्टिमें रखकर ही लिख, और असलमें उन्हींको तेरी रचनाकी विशेष जरूरत भी है । स्पष्ट भाषाका प्रयोग सलामतीका, वीरताका और निष्कपटताका भी मार्ग है ।

कवे ! तू कीर्तिका दान कर सकता है—उस कीर्तिका जिसके लिये सारा संसार लालायित है और जिसके लिये ही सांसारिक प्राणियोंकी अधिकांश प्रवृत्तियाँ प्रेरित होती हैं । तुझसे प्रशंसित पदार्थों और गुणोंकी ओर संसार सहसा आकृष्ट हो जाता है । अतः अपनी शक्तिकी महत्ता—उसके प्रभाव और परिणामको समझ ।

कवे ! पूर्ण निष्कलंक तो ब्रह्म ही है । उसकी स्तुतिसे सर्व गुणों और सर्व गुणियोंकी स्तुति हो जाती है, क्योंकि वह सर्व गुणोंका शुद्ध और पूर्णरूप है । अतः उसीकी स्तुति कर। परन्तु यदि सांसारिक गुणोंकी भी स्तुति करना चाहे तो लोक-हितका खयाल करके उन्हीं गुणोंकी प्रशंसा कर जिनका लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप हो अथवा जो ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये साधनरूप हों ।

सुनीतियुक्त ही वीरता, सच्चारित्र्ययुक्त ही ज्ञान, परोपकारसहित ही शक्ति, सेवा-भाव और उन्नायक प्रेमसहित ही गार्हस्थ्य-जीवन और सद्दानसहित और न्यायोपार्जित ही सम्पत्तिको तू कीर्ति-दान देना, वरना तू अनीति, क्रूरता, आडम्बर, वासना, धनलुब्धता आदिको फैलानेका अपराधी बनेगा ।

कवे ! संक्षेपमें ब्रह्म भी कवि है और तू भी कवि है । अपनी पद-मर्यादाको मत भूलना । जगत्के कल्याणमें, और प्रत्येक प्राणीमें जो दिव्यात्मा है उसे सुविदित, प्रस्फुटित और व्यक्त करानेमें अपनी शक्तियोंका उपयोग करना । तभी तू 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की दृष्टिमें कवि कहलायेगा, वरना काल तुझे खा जायगा क्योंकि काल असत्का, अशिवका और असुन्दरका वैरी है !

और कवे ! एक बात और कहूँ; बस, तू स्वयं भी सत्यं शिवं सुन्दरं बन जा—स्वयं भी ब्रह्मस्वरूप हो जा; यही सच्चा काव्य है और इसकी साधना ही सच्ची काव्य-रचना है ।

इसी प्रकार, जो कविता और कविके लिये कहा गया है वही अन्य सब कलाओं और कलाकारोंके लिये भी है ।

संत-सूरमा

सतगुरु साचा सूरमा, नखसिख मारा पूर ।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर ॥

सूली ऊपर घर करै, विषका करै अहार ।
ताको काल कहा करै जो आठ पहर हुसियार ॥

मरिये तो मरि जाइये छूटि परै जंजार ।
ऐसा मरना को मरै दिनमें सौ सौ वार ॥

साध सती औ सूरमा ज्ञानी औ गजदंत ।
एते निकसि न बहुरई जो जुग जाहि अनंत ॥

सिर राखे सिर जात है सिर काटे सिर होय ।
जैसे बाती दीपकी कटि उँजियारा होय ॥

सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखे पाँव ।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥

—कबीर
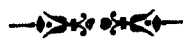
पाश्चात्य-योगिमण्डल

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)

जिस समय महात्मा ईसामसीहका जन्म हुआ था उस समय रोमसाम्राज्यका सूर्य प्रखरतासे देश-देशान्तरोंमें चमक रहा था। परन्तु राजनैतिक उन्नतिके साथ पारमार्थिक अधोगतिका समावेश हो गया था। विलासिताका प्रचण्ड राज्य फैल रहा था और धनियोंका जीवन पाश्चात्य जगत्‌में ऐसा नारकीय हो गया था कि उसका उल्लेख करनेमें लेखनी काँपती है। मदान्ध रोमन शासक मनुष्य-जीवनका मूल्य बिल्कुल भूल गये थे और ईसाके अनुयायियोंके प्रति बड़ा ही कठोर व्यवहार करने लगे थे। उस समय साम्राज्यकी राजधानी रोम नगरीमें अनेकानेक हिंसक जन्तु इसलिये बंद करके रक्खे जाते थे कि ईसाके मतको माननेवाले उनके द्वारा सार्वजनिक तमाशेके रूपमें टुकड़े-टुकड़े किये जायँ। इस लेखके साथ दिये हुए दो चित्रोंसे इस नृशंस पाशविकताका कुछ अनुमान हो सकेगा, पर बड़े गौरवका विषय है कि इस भयानक परिस्थितिमें भी इगनैटियस इत्यादि वीर संतोंने अपने धर्मके सामने अपने प्राणोंकी चिन्ता न की। यही कारण था कि कालान्तरमें ईसाई मतकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। रोमनगरमें नगरके आस-पास पृथ्वीके नीचे बड़ी लंबी-लंबी सुरंगें मिलती हैं। इन सुरंगोंको (Catacombs) कहते हैं। अभीतक छः सौ मीलतक लंबाईमें व्याप्त सुरंगें मिली हैं। इनके भीतरका एक दृश्य इस लेखके साथ दिये हुए एक चित्रमें दिया जाता है। इन गुफाओंके भीतर बहुत-से मुर्दे भी गड़े हुए मिले हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि उपर्युक्त रोमनराज्यके अत्याचारसे बचनेके लिये ईसाईलोगोंने इन गुफाओंका निर्माण किया, परन्तु यह विचार कुछ अधिक जँचता नहीं। सम्भव है कि त्रस्त ईसाईलोगोंने इन गुफाओंमें शरण ली हो, परन्तु इसमें बड़ा सन्देह है कि यह गुफाएँ उनके द्वारा बनायी गयीं।

प्रत्येक देशमें अत्यन्त प्राचीन कालसे रहस्यवाद-का अर्थात् गोप्य आत्मवादका प्रचार पाया जाता है। यह बात निर्विवाद है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें ग्रीस तथा रोम देशोंमें भी इस आत्मज्ञानरूपी रहस्यवादका प्रचार था। यह विषय बड़ा ही रहस्य-पूर्ण, गम्भीर तथा विस्तृत है। इसका विवरण इस छोटे-से लेखमें नहीं हो सकता। इन स्थानोंपर अनेकानेक चमत्कारपूर्ण बातें होती थीं और भविष्योद्घाटन भी किया जाता था, इसी प्रकार रोम-की इन गुफाओंके भीतर भी रहस्यवादी क्रियाओंका प्रचार होना माना गया है।

ईसाई-धर्मके प्रचारके साथ-साथ इस रहस्यवाद-के लोपकी गति दीखने लगती है। अर्वाचीन ईसाइयोंमें बाह्य रूढ़ियोंका इतना प्राधान्य हो गया कि रहस्यवाद एक प्रकारसे उठ ही नहीं गया किन्तु दण्डनीय बन गया। धीरे-धीरे असहिष्णुता बढ़ने लगी और तेरहवीं शताब्दीमें तो यहाँतक अवस्था हो गयी कि केवल रूढ़ियोंहीको न माननेवाले ईसाई-को मृत्युदण्ड दिया जाने लगा। इस प्रकार दण्ड देनेके लिये (Inquisition) नामक संस्थाका जन्म हुआ। इसके द्वारा कठोर-से-कठोर यन्त्रणाएँ देकर बहुत-से ईसाई मौतके घाट उतारे गये। इनमेंसे अधिकांश तो जीवित भस्म कर दिये गये और शेष बहुत बुरी तरह मारे गये।

रोमराज्यमें ईसाके मतके माननेवालोंको भीषण प्राणदण्ड । कई दिनका भूखा शेर अभी पिंजड़ेसे छोड़ा गया है । तीनों बलिपशु मनुष्य हैं !

महात्मा इगनैटियसको प्राणदण्ड । इनका जन्म ईसाकी पहली सदीमें हुआ था । इनका अपराध यह था कि इन्होंने राजाज्ञा होनेपर भी धर्मको नहीं छोड़ा । जघन्य दर्शक ऊपर बैठे हैं । वृद्ध साधु परम शान्तियुक्त है । वह हाथ उठाकर यही कहता है 'प्रभो ! इन्होंने जो अज्ञानवश मेरे साथ क्रूरता की है उसके लिये इन्हें क्षमा करना और इन्हें सुबुद्धि देना ।

रोमनगरके पास धरातलसे बहुत नीचे ६०० मील विस्तारमें फैली हुई प्राचीन गुफाओंके भीतर-का एक दृश्य । कितना विस्तृत स्थान रक्खा गया है और कितनी सुदृढ़ बनावट है !

इन्हीं परिस्थितियोंके कारण रहस्यवाद बिल्कुल लुप्त-सा हो गया । यह केवल यूरोपकी बात कही जाती है । विद्वानोंका मत है कि यथार्थमें रहस्यवादका लोप नहीं हुआ । देशकालकी विषम परिस्थितिके कारण रहस्यवादी महात्मागण जनसाधारण-से अलग छद्मरूपमें रहने लगे । यूरोपके इस प्रकारके मध्ययुगीन रहस्यवादी एक संस्थाका नाम Rosicrucian Society है । कहा जाता है कि इस सम्प्रदायमें गुलाबी रंगके क्रास (जो यथार्थमें अपने प्रणवरूपी स्वस्तिकका ही रूपान्तर है) का ध्यान किया जाता है । इस ध्यानके सम्बन्धमें विशिष्ट रात्रियोंमें जागरणकी तथा विशिष्ट व्रतोंकी व्यवस्था सुनी जाती है । कहा जाता है कि इस सम्प्रदायके महात्मागण अनेक देशोंमें विद्यमान हैं और सामूहिकरूपमें लोगोंको सद्बुद्धि देकर सन्मार्ग-में लगाना ही उनका काम है । यह विचार चाहे यथार्थतः सत्य हों अथवा किसी अंशमें भ्रमपूर्ण हों, किन्तु इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि जगत्‌में ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो निरन्तर अनाचार तथा दुष्प्रवृत्तियोंसे जगत्‌की रक्षा अदृश्यरूपमें करती रहती हैं । थियोसाफिकल सोसाइटीके मतमें भी कुछ लोग इस संस्थाके सदस्य हैं । इस संस्थामें पारद इत्यादिके प्रयोग तथा विद्युत्‌शक्तिके सामर्थ्यकी बातें कही जाती हैं, जिनका सम्बन्ध मध्य-युगीन यूरोपीय कीमियागिरीसे है । "कल्याण" के एक पिछले अंकमें यह बात दिखलायी गयी है कि इस कीमियागिरीका मूलस्रोत भारत ही है । जर्मनीमें भी इस विषयपर बहुत कुछ लिखा गया है । इस लेखकका अनुमान है कि Bulwer Lytton बुलवर लिटन नामक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासलेखक भी इस संस्थाके सदस्य थे । इनके कई उपन्यास[1] बड़े ही गम्भीर हैं और अत्यन्त रहस्यपूर्ण बातोंको उपन्यासरूपमें समझाते हैं । मेरी समझमें लिटनके इन उपन्यासोंमें इस पाश्चात्य योगिमण्डलके सिद्धान्तों-का बड़ी सरलता तथा दक्षतासे निदर्शन किया गया है । इन बातोंका निष्पक्ष तथा गम्भीर मनन अपने आर्यधर्मकी महान् गम्भीरताका परिचय दिलावेगा और हृदयमें अपने सनातनधर्मके प्रति अत्यधिक आस्तिकताका जन्म देगा ।

१. बुलवर लिटनके निम्नलिखित उपन्यास विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं:—

1 Arasmanes, or the Seeker.
2 The Coming Race.
3 A Dream of the Dead.
4 The Haunted and the Haunters.
5 The Last Days of Pompeii.
6 The Pilgrims of the Rhine.
7 A Strange Story.
8 The Tale of Kosem Kesamim, the Magician.
9 Zanoni.
10 Zicci.

सुखी जीवन

(लेखिका—बहिन श्रीमैत्रीदेवीजी)

सुमति—बहिन ! मैं कैसे अपनेको आनन्दरूप जानूँ ? आप ही कोई युक्ति बताओ ।

शान्तिदेवी—हे बहिन ! जिन चीजोंकी तुम्हारे चित्तमें चाह होती है, उनके स्वरूपको जानकर उनसे अपनेको बचाये रक्खो, तुमको भूलसे ही उनमें सुन्दरता और सुख भासते हैं । असलमें यह विषयोंकी इच्छा ही जीवकी शत्रु है । पहले कामना होती है, काम पूरा नहीं होता तो क्रोध आता है । कामनाकी पूर्ति होती है तो लोभ और मोह बढ़ जाते हैं । बस, ये काम, क्रोध, लोभ और मोह ही जीवके प्रबल शत्रु हैं, इन्हींके वशमें होनेके कारण अपना आनन्द-रूप नज़र नहीं आता । तुम पहले इन शत्रुओंको जीतनेकी कोशिश करो ।

सुनो ! संसारमें जितने प्राणी हैं, सब सुख ही चाहते हैं । सुख मिल जाय, इसलिये ज्यादा-से-ज्यादा सुखकी वस्तुएँ इकट्ठी करते हैं । जितना ही बाहरी वस्तुओंमें सुख दीखता है, उतना ही मनुष्यका लालच बढ़ता जाता है, जितना लालच बढ़ता है, उतनी ही परेशानी बढ़ती जाती है, मौजूदा सुख उसे सुखी नहीं बनाते बल्कि उलटे दुखी करते रहते हैं और अन्तमें पहले सुखोंसे भी उसे हाथ धोने पड़ते हैं । असल बात यह है कि परमात्माको या आत्माको छोड़कर बाहरकी वस्तुओंमें जो सुख प्रतीत हो रहा है वह सुख उन वस्तुओंमें नहीं है, वह तो तुम्हारे आत्म-सुखकी ही परछाईं मात्र है । उनमें सुख देखना ही गलती है । इसी गलतीके कारण जीव बार-बार दुखी होता है । हे बहिन ! तुम्हीं बताओ, जैसी दुःखदायी दुनिया तुम्हें इस समय जान पड़ती है, क्या विवाहके समय भी ऐसी जान पड़ती थी ?

सुमति—नहीं बहिन ! उस समय तो जान पड़ता था कि संसार सुखसे परिपूर्ण है, किन्तु मेरा वह सुखका सपना बहुत जल्दी भङ्ग हो गया !

शान्तिदेवी—ठीक है जबतक मनुष्योंकी सांसारिक इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं तबतक उनको सुख प्रतीत होता है । किन्तु है यह भूल ! इच्छापूर्तिकी वस्तुओंमें सुख है ही नहीं, सुख तो उस इच्छापूर्तिके समय स्थिरचित्तमें भासित होनेवाले अपने आत्मामें है । तुम यदि सच्चा आनन्द और सदा रहनेवाला सुख चाहती हो तो थोड़ी-बहुत साधना किया करो !

देखो बहिन ! सत्-चेतन-आनन्दघनका प्रति-बिम्ब अन्तःकरणपर पड़ता है, वह अन्तःकरणरूपी शीशा मैला हो रहा है । हे सुमति ! जैसे शीशा मैला होनेपर उसमें मुँह नहीं दीखता, वैसे ही अन्तः-करणके मलिन होनेसे निज आनन्दका भी अनुभव नहीं होता । जिसे संसारमें सुख नज़र न आता हो, और दुनियाके भोगोंमें वैराग्य-सा हो गया हो, वह भाग्यवान् ही है । उसे चाहिये, अपने चित्तको फिर विषय-भोगोंकी ओर जाने ही न दे । चित्तको निरन्तर ईश्वर-चिन्तन और भगवान्‌के नामजपमें लगाये रक्खे । इस प्रकार जो रात-दिन अभ्यास करता है, दुनियाको असत् और शरीरको नाशवान् जानता है तथा आत्माको सदा रहनेवाला और अविनाशी समझता है वह एक दिन निज आनन्दका अनुभव जरूर कर लेता है ।

सुमति—बहिन ! मैं जानती हूँ कि शरीर नाशवान् है और इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले भोग विनाशी हैं

और सदा सुख देनेवाले नहीं हैं; परन्तु मन तो सदा उन्हीं भोगोंके लिये लालायित रहता है। क्या करूँ?

शान्तिदेवी—'ठीक है। इन्द्रियोंका स्वभाव विषयोंकी ओर जाना ही है, किन्तु परमात्माने इन इन्द्रियोंसे ऊपर मन और उससे भी ऊपर हमें बुद्धि दी है। तुम शुद्ध बुद्धिसे अवश्य ही इन्द्रियोंको जीत सकोगी। बुद्धिको शुद्ध और चित्तको निर्मल बनानेके लिये नित्य ईश्वरसे प्रार्थना किया करो। वह सर्वान्तर्यामी सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।'

इतना सुनते ही सुमतिकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह रोती हुई कातरस्वरसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—

हे मेरे भगवन् ! अपनी दयासे,
अपनाके अब तो अपनी बना लो।
करके दया हे समुन्दर दयाके !
हस्तीमें अपनी मुझको मिला लो ॥ टेक ॥
विपतोंसे प्रभुजी ! मुझको उबारो,
अज्ञानके इस सागरसे तारो।
ममतासे जगकी मुझको बचाकर,
अपनी ही प्रेमिन प्रियतम ! बना लो ॥ १ ॥
इच्छा विषयकी मनसे मिटा दो,
हृदयसे परदा तमका हटा दो।
बस, ज्योती अपनी जगमग जगाकर,
जीवनको मेरे उज्ज्वल बना लो ॥ २ ॥
हरि ! तत्त्व अपना मुझको बता दो,
सब ज्ञान भगवन् ! अपना जता दो।
मुरली सुनाकर मुखड़ा दिखाकर,
चरणोंकी अपनी चेरी बना लो ॥ ३ ॥
बल निजी कृपाका मुझको दिला दो,
भक्तोंसे अपने मुझको मिला दो।
सुमिरनमें 'दासी' का मन लगाकर,
आवागमनसे जल्दी छुड़ा लो ॥ ४ ॥

यह प्रार्थना सुमतिने ऐसे करुणाभरे शब्दोंमें गायी कि शान्तिदेवीके भी रोम खड़े हो गये। उसने दोनों हाथोंसे पकड़कर सुमतिको अपने हृदयसे चिपटा लिया—अपना कोमल और शीतल हाथ सुमतिके सिरपर धर वह इस प्रकार मधुर वचन बोली—

हे बहिन ! दयामय भगवान् सच्चिदानन्दसे इसी प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। साथ ही भगवान्‌को दी हुई शक्तिसे स्वयं भी मनकी निगरानी करते रहना चाहिये। मन बन्दरकी तरह महान् चञ्चल है। एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। जैसे बन्दर कभी इस डालपर कभी उस डालपर छलाँग मारता फिरता है इसी प्रकार मन भी पल-पलमें कभी किसी विषयकी ओर तो कभी किसी ओर दौड़ता फिरता है। और जिसका मन विषयोंमें फँसा है बस वही दुखी है, इस मनको विषयोंकी ओरसे रोका करो और इसे आनन्दस्वरूपके चिन्तनमें लगाया करो।

सुमति—इस मनको विषयोंसे किस प्रकार रोकूँ? मनको रोकना मैं तो अत्यन्त कठिन समझती हूँ। आपके उपदेशसे मैंने यह समझ तो लिया कि इस मनने ही मुझे आनन्दपदसे हटाकर दूर-से-दूर ला पटका है और यह मन लोभ-मोहका जाल बिछाकर विषय-कामनाओंमें फँसा नाना प्रकारके दुःख भुगता रहा है। वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोषकी ओर मन दृढ़ होकर नहीं लगता। सदा विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहता है, कुत्तेकी तरह सदा भटका करता है। विषयोंको सुखरूप जानकर भोगने जाता है, परन्तु कभी-कभी सुख थोड़ा और दुःख बहुत जानकर उनकी ओर फिर न जानेकी प्रतिज्ञा भी करता है, किन्तु तनिक-सी देरमें ही प्रतिज्ञा भूलकर फिर उन्हींमें रम जाता है। जब देखो तभी यह विषयोंमें ही सुख पाता है। हे बहिन ! मनकी इस इच्छाने ही मुझे बड़ा दुखी बना रक्खा है, कब मैं इस इच्छाको जीतकर स्वतन्त्र हो सकूँगी?

शान्तिदेवी—जिस विषयको मनुष्य चाहता है उसके मिलनेपर एक बार तो सुख और शान्ति-सी

दिखलायी देती है परन्तु वह ठहरती नहीं, तुरंत ही नष्ट हो जाती है और फिर शान्तिके बजाय तृष्णा और भी बढ़ जाती है। इसलिये भोगोंकी प्राप्तिमें कभी सुख-शान्ति हो ही नहीं सकती, बुद्धिमान् मनुष्यको तो भोगोंकी इच्छासे ही चित्तको हटानेकी कोशिश करनी चाहिये।

हे बहिन! खूब जान लो, यह मन जिस तरफ लग जाता है उसीका रूप बन जाता है। मनुष्य जब क्षण-क्षणमें बदलनेवाली, नाशवान् संसारी चीज़ोंका चिन्तन करता है तब वैसा ही बनकर दुखी-सुखी अपनेको मानता है, और जब यही मन आत्मचिन्तन करता है तब नित्य अखण्ड आनन्दरूप आत्माकार बनकर सुख-दुःखसे रहित केवल अनिर्वचनीय आनन्दका ही अनुभव करता है, इसलिये तुम भी अब अपने चित्तको विषयचिन्तनसे हटाकर केवल आत्मचिन्तनमें लगानेका अभ्यास करो। इससे सुखी हो जाओगी।

सुमति—क्या ऐसा हो सकता है कि हमारा मन संसारसे उपराम होकर आत्मामें ही स्थित हो जाय?

शान्तिदेवी—हाँ-हाँ! हो तो सकता ही है। जब हमें मनुष्यजीवन मिला तभी इसके साथ संकल्प-शक्ति भी मिली थी, अब यह अपने ही हाथकी बात है कि उस शक्तिको बढ़ाकर हम आत्माकी ओर लगा दें या दबाकर उसे विषयोंके गड्ढेमें गिरा दें। जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'संसारी काम जरूरी हैं, यहाँके भोग भोगनेको ही हम इस संसारमें आये हैं, इसीलिये हमारा जन्म हुआ है, ईश्वर-भजन, ईश्वर-चिन्तन तो जब बूढ़े होंगे तब कर लेंगे' वे अज्ञानमें हैं, मायाके चक्करमें फँसे हैं। भला देखो बहिन! किसीको क्या खबर कि किस समय शरीर छूट जाय। शरीर छूटनेके वक्त जहाँ मन होता है वैसा ही आगेका जन्म होता है और शरीर छूटनेके वक्त मनमें वही संकल्प और इच्छाएँ होती हैं, जिनके अनुसार हमने जीवन-भर काम किया है इसलिये बुढ़ापेकी बाट न देखकर शुरूसे ही, जबसे यह बात समझमें आ जाय, तभीसे ईश्वर-चिन्तन करने लगना चाहिये। इसीमें मनुष्यकी अक़्लमन्दी है।

आजकल बहुत-से नास्तिक जीव कहा करते हैं, 'संसारमें आकर संसारके काम किये बिना, विषयोंको भोगे बिना अथवा व्यभिचारादि पाप कर्म किये बिना काम ही नहीं चल सकता।' इस मोहसे पैदा होनेवाले पापके संकल्पने ही जीवोंके चित्तको मलिन और धर्मसे विमुख कर दिया है। बड़े शोककी बात है, पशुधर्म ही नहीं, पशुओंके भी अयोग्य बुरे कर्मोंको आजकलके मोहमें फँसे हुए मनुष्य कर्त्तव्य बतलाने लगे हैं। हे सुमति! तुम इस भ्रममें भूलकर भी कभी मत पड़ जाना। तुम्हारे अंदर बेशकीमती जवाहिरातोंसे भी बहुत बढ़कर ज़्यादा कीमती जौहर मौजूद है, तुम उस शक्तिको जानो और अपने विचारोंको उत्तम बनाकर पवित्र जीवन बिताओ। जो मनुष्य अपने जीवनको ब्रह्मचर्यमें बिताता है, वह पुरुषार्थसे विचारवान् और महान् सहनशक्तिवाला बन जाता है। हे सुमति! तुम भी सदा ब्रह्ममें मन रखनेका अभ्यास करो और अपने पाप-तापसे रहित शुद्ध रूपको पहचाननेके लिये विचार और जतन किया करो। ऐसा करोगी तो तुम भी पारस बन जाओगी। पुण्यकर्मसे मिले हुए इस दुर्लभ मनुष्यजीवनको—जो अनमोल रत्न है—दुःख देनेवाली और कल्याणसे हटानेवाली संसारी इच्छाओंमें मत गँवाओ। चेतो! चेतो!! हे सुमति! समय गुज़रा जाता है। कालको तो तुम सर्वथा ही भूल बैठी हो। सोचो तो, भला क्या सदा तुम्हें इसी संसारमें ही रहना है या यहाँसे जाना भी है?

सुमति—बहिन ! जो पैदा हुआ है वह तो अवश्य मरेगा ही, यह तो मुझे निश्चय है ।

शान्तिदेवी—बस, तो फिर संसारको मृत्युके मुखमें पड़ा देखकर यहाँके भोगोंसे चित्तको हटा लो, परमात्माका सुमिरन करो, मनको सदा शुद्ध संकल्पोंसे भरनेकी चेष्टा करो, जैसे संकल्प जीवनमें बनाये रक्खोगी, वैसा ही परिणाम भी देखोगी। देखो—

अन्धे, कोढ़ी, लँगड़े, अपाहिज, गरीब और दीन जो यहाँ तुम्हें दीखते हैं, उनकी यह दशा उनके अपने ही पहले किये हुए कर्मोंका परिणाम है । हम जैसा कार्य करते हैं वैसा ही फल पाते हैं । दूसरी तरफ़ देखो— अमीर, वज़ीर, राजा, साहूकार, जो नाना प्रकारके भोग भोग रहे हैं यह भी इन्हींके शुभ कर्मोंका नतीजा है । परन्तु यह भी नाशवान् ही है । मनुष्यजीवनका फल तो उस आनन्दको पाना है जो अखण्ड है, नित्य है, पूर्ण है, अविनाशी है । उसीके लिये चेष्टा करो ।

शुभ संकल्प और शुभ विचार ही शुभ कर्म करवाकर हमें महान् बना देते हैं । जो अशुभ संकल्प करते हैं उनके काम भी अशुभ होने लगते हैं, इन्हीं अशुभ कर्मोंके परिणाममें मनुष्ययोनि छोड़कर जीव पशु आदि योनियोंको जाते हैं । हे सुमति ! अपनी शुद्ध और निश्चयरूपा संकल्पशक्तिसे ही उस परमतत्त्वको तुम पा सकोगी जिस आत्मतत्त्वको मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ । जब तुम विषयोंके संकल्प छोड़कर एकमात्र आत्मतत्त्वका ही विचार करने लगोगी तब तुम्हारे अंदर वह पूर्ण शक्ति जागृत हो जायगी, फिर कोई भी शक्ति तुम्हारे लक्ष्यको न हटा सकेगी । अतएव अब तुम अपनी चारों तरफ़ बिखरी हुई वृत्तियोंको समेटकर केवल आत्मचिन्तनमें ही लगा दो ।

बहिन सुमति ! विषयभोग तो सभी योनियोंमें मिलते रहे हैं परन्तु आत्मचिन्तन तो सिवा मनुष्य-जीवनके और किसी भी जीवनमें न कर सकोगी । इस बातको समझकर अबसे तुम किसी विषयका चिन्तन मत किया करो । स्वाभाविक प्रारब्धकर्मानुसार आनेवाले भोगोंको बिना रागके भोगा करो, ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब काम किया करो, कर्म भी ऐसे हों, जिससे दूसरोंका उपकार हुआ करे । ऐसा करनेसे धीरे-धीरे अहंकारका नाश हो जायगा और तुम परम शान्तिको पा सकोगी । देखो गुरु नानकदेव क्या कहते हैं ।

नानक दुखिया सब संसारा । सुखिया सो जो नाम-अधारा ॥

प्रेम-भक्ति-सहित जो प्रभुके नामका जाप करता है वह सारे दुःखोंसे छूट जाता है । जिस समय मनुष्यके चित्तमें सच्ची भक्ति जाग्रत हो जाती है उस समय उसके सब काम निष्काम होने लगते हैं और उसे कोई दुःख-परेशानी नहीं रहती । वह मनुष्य हर एक कामको ईश्वरकी आज्ञा मानकर ईश्वरार्थ करता है और परमात्माको सर्वव्यापक जानता है, इस कारण वह जीवमात्रकी सेवाको ईश्वर-सेवा ही मानता है । इस प्रकार जगत्भरमें ईश्वरको परिपूर्ण देखकर जो संसारमें सेवाके भावसे कर्म करता है उसका जीवन सुखमय हो जाता है । तुम्हें एक कहानी सुनाती हूँ मन लगाकर सुनो—

(शेष आगे)

तुलसीकृत रामायणमें करुण-रस

[चैत्र १९९३ (अप्रैल ३७) से आगे]

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०)

भरतकी महानताका मापदण्ड

हम देख चुके हैं कि भरतके ननिहालसे लौटनेपर राज-सभाका जो अधिवेशन हुआ और जिसमें राज्य-स्वीकृतिका प्रस्ताव पेश हुआ था, उसमें भरतके भाव एवं वक्तृत्व-शक्ति दोनोंकी ही विजय हुई थी। क्या महाराज वशिष्ठ, क्या मन्त्रीगण, क्या पुरवासी और क्या माता कौसल्या, सभी भरतके कोमल तथा सकरुण आघातोंसे पराजित हो गये थे। भरतके तीव्र मस्तिष्क और सूक्ष्म एवं शुद्ध भावोंने उन्हें उपर्युक्त सभी व्यक्तियोंसे ऊपर उठा दिया था।

अब हम इस बातपर विचार करेंगे कि चित्रकूटकी सभाओंपर भरतका क्या प्रभाव पड़ा और साथ ही यह भी देखेंगे कि भरतके प्रति उनके समकालीन महानुभावोंके क्या विचार थे। हैमलेटके चरित्रका ठीक अध्ययन करनेके लिये बड़े-बड़े साहित्यमर्मज्ञोंने इस शैलीको स्वीकार किया है कि हम इस बातपर विचार करें कि हैमलेटके प्रति अन्य नाटकीय पात्रोंके भाव और विचार क्या थे। आज हम भरतके चरित्र-अध्ययनमें भी उसी शैलीका अनुकरण करने जा रहे हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वह निषाद जो पहले भरतसे सशंक हो लड़नेके लिये तैयार था, भरतके शुद्ध राम-प्रेमके कारण उनका मित्र और भक्त बन गया। जब लक्ष्मणने चित्रकूटमें यह सुना कि भरत अपनी चतुरंगिनी सेनाके साथ आ रहे हैं तो उनका वीर और नीतिनिपुण हृदय क्रोधसे क्षुब्ध हो उठा। राजनैतिक दृष्टिकोणसे लक्ष्मणका यह तर्क ठीक ही था कि रामके वनवासकी अवस्थामें होते हुए यदि भरतके विचार शुद्ध होते तो 'केहि सुहात रथबाजिगजाली'? अपने माखको न्याय्य प्रमाणित करनेके लिये लक्ष्मणने ठीक ही कहा था कि 'लातहु मारे चढ़त सिर नीच को धूरि समान'। उनकी सारी वक्तृता ऐसी ओजस्विनी है कि उसे सर्वथा सराहते ही बनता है। नीतिसे माखकी अवस्थामें पहुँचना और माखका रोषमें परिणत होना कविने बड़ी ही सुन्दरतासे दिखाया है और जैसा मैं बहुधा कह चुका हूँ कि तुलसी-दास स्वयं ही अपने सर्वोत्तम आलोचक हैं, उन्होंने उस भावपरिवर्तनके चढ़ावको प्रकट करते हुए यह कहा है कि लक्ष्मणको 'नीतिरस' भूल गया और उनके 'रन-रस-बिटप फूल जिमि फूला'। लक्ष्मणके रोषकी पराकाष्ठा उनकी वक्तृताके लगभग अन्तमें इन शब्दोंसे प्रकट होती है—

> आजु राम-सेवक फल लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
> जौं सहाय करु संकर आई। तदपि हतौं रन रामदुहाई॥

धरा काँपने लगती है और हमारे सामने गृहकलहकी सम्भावनाका भयानक चित्र आ जाता है। इसीलिये मेरी धारणा है कि भरतकी महानताकी सबसे बड़ी माप यही है कि उन्होंने परिस्थितिको एक पूरे युगके लिये सुधार दिया। नहीं तो महाभारतका युद्ध कुरुक्षेत्रके बजाय चित्रकूटमें होता या अयोध्यामें। अब हमें पहले-पहल यह पता लगता है कि राजनैतिक दृष्टिकोणसे भी भरतका चित्रकूट-गमन जनता, निषाद और लक्ष्मणकी शङ्काओंके समाधानके लिये कितना आवश्यक था। इस दृष्टिकोणसे देखते हुए जब हम महाराज वशिष्ठके इस प्रस्तावकी, कि भरत राज स्वीकार करें और चौदह वर्ष पश्चात् रामके लौटनेपर उन्हें वापस कर दें, तुलना भरतके इस संशोधनसे करते हैं कि तुरत ही चित्रकूट चलकर रामाज्ञाके अनुसार ही काम किया जाय, तो हमें भरतकी महानताका सम्यक् अनुभव होता है। चौदह वर्षोंमें तो न जाने कितने कुतर्क उत्पन्न होते और निषादोंकी क्रान्ति-जैसे न जाने कितने विरोधी आन्दोलन उठते। और क्या तअज्जुब कि चौदह वर्षोंके राज्य-भोगके पश्चात् स्वयं भरतके विचार भी कुछ और ही होते। ऐसी ही सम्भावनाओंको प्रतीत करते हुए भरतजी गुरु वशिष्ठके प्रस्तावका विरोध करते हैं और राज्यको अपने लिये वारुणी बताते हुए कहते हैं कि—

> ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
> तेहि पियाइअ बारुनी कहौ कवन उपचार॥

कुछ ऐसी ही सम्भावनाओंका संकेत मन्त्रि-मण्डलके उस दुभाषीपनमें भी मिलता है कि उसने गुरु वशिष्ठके प्रस्तावके उस अंशको तो स्वीकृत किया जिसमें भरतसे राज्य-स्वीकृति-का अनुरोध था पर चौदह वर्ष बाद राज्यके लौटानेवाले अंशको यह कहकर टाल दिया कि उस समय जैसा उचित होगा किया जायगा। भरत इन सब बातोंको पहले ही

ताड़ चुके थे और इसीलिये उन्होंने भगवान् रामसे अवलम्बनरूपमें चरण-पादुका माँग लीं थीं। राम स्वयं न लौटे परन्तु उनकी चरण-पादुकाओंकी स्थापनासे प्रतीकरूपमें तो राम-राज्य प्रस्थापित हो ही गया। प्रलोभनसे इस तरह बचनेके लिये भरत तपस्वी बनकर नन्दिग्राममें रहते हुए केवल प्रतिनिधिरूपमें शासन करते रहे। इसी कारण गुरु वशिष्ठने भरतके इस कामकी तारीफ बड़े जोरोंके साथ की है और हमें भी भरतके इस तपस्वी आचरणमें उनके आदर्शवाद और उनकी स्वाभाविक धर्मपरायणताकी पराकाष्ठा दिखायी देती है। यहीं एक बात और, महाकवि शेक्सपियरने भी हैमलेटमें उसके चचाके पश्चात्तापका एक छोटा-सा दृश्य दिखाया है और वहाँपर एक बड़े मर्मकी बात कही है। हैमलेटका चचा पश्चात्तापसे पापके प्रायश्चित्तकी सम्भावनाका अनुभव करता है परन्तु बड़े शोकके साथ इस बातको मानता है कि पापसे मिली हुई सम्पत्तिके त्याग बिना पश्चात्तापकी सफलता असम्भव है। इस घटनासे भरतके तप एवं त्यागपूर्ण आचरणपर कितना सुन्दर प्रकाश पड़ता है और यह प्रमाणित होता है कि भरतका वह आचरण ही आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रेयस्कर था। लक्ष्मणके उपरिलिखित कठोर शब्दोंका विरोध करते हुए रामने जिस ज़ोरके साथ भरतके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है, उससे भी भरतकी असीम महानताका प्रकटीकरण होता है—

> भरतहि होइ न राजमदु बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
> कबहुँ कि काँजीसीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

देवगण भी भगवान् रामके विचारोंकी पुष्टि ही करते हैं—

> सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरतपर हेतु।
> लगे सराहन सहसमुख प्रभु को कृपानिकेतु॥

> जौं न होत जग जनम भरतको। सकल धरम-धुर धरनि धरत को॥
> कबि-कुल-अगम भरत-गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥

माता कौसल्या तो अयोध्यामें ही भरतको निर्दोष ठहरा चुकी हैं—

> भये ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू॥
> मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥

माता कौसल्याके प्रेमकी दशाका वर्णन जिन शब्दोंमें है उनके जोड़के शब्दोंका मिलना संसारके किसी भी साहित्यमें सम्भव नहीं। शब्द कितने सरल हैं और चित्र कितना भावपूर्ण है—

> अस कहि मातु भरतु हिय लाये। थन पै स्रवहिं नयन जल छाये॥

चित्रकूटमें रानी सुनैनासे बातचीत करते हुए कौसल्याजीने महाराज दशरथकी उस धारणाका जिक्र किया है जिसमें स्वर्गीय राजा भरतको ही 'कुलदीप' बताया करते थे। यथार्थ तो यह है कि आर्यसभ्यताके लिये भी भरतजी 'कुलदीप' ही रूप हैं। संसारमें आदर्शवादकी सफलताका चित्र उन्हींकी बदौलत जीवित है। माता कौसल्या भरतके चरित्रके समस्त मर्मोंको जानती थीं और उनके आदर्शपूर्ण गूढ़ स्नेहका अनुभव उन्हें इस कदर था कि उनके हृदयमें रामके वनवासका इतना खयाल न था जितना रामके वियोगमें भरतके हृदयकी दशाका—

. . . .

> गहबर हिय कह कौसिला मोहिं भरत कर सोच।

इसी कारण कौसल्याजीने रानी सुनैनाद्वारा जो विनय जनकसे की है उसमें रामके लौटानेपर इतना ज़ोर नहीं, जितना इस बातपर कि भरत भी रामके साथ जायँ। क्योंकि वह समझती थीं कि भरतका प्रेम इतना अगाध है कि वह वियोगदुःख सहन न कर सकेंगे और इसीलिये उन्होंने कहा है कि—

> रहे नीक मोहिं लागत नाहीं।

परन्तु जब महाराज जनकसे यह सन्देश कहा गया कि वह भरतपर अपना प्रभाव डालें और वनवासकी गूढ़ समस्याओंके सुलझानेका प्रयत्न करें तो उन्होंने भरतकी महानताका इकरार जिन शब्दोंमें किया है वे विचारणीय हैं—

> धर्म राजनय ब्रह्मबिचारू। यहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
> सो मति मोर भरत महिमाहीं। कहहि काह छल छुवत न छाहीं॥

हम जानते हैं कि महाराज जनक ऐसे प्रतिष्ठित कर्मयोगी थे कि जिनका उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें दिया है और जिन्होंने संसारमें भोग और योगका एकीकरण अनुपम रीतिपर कर दिखाया था। उधर महाराज वशिष्ठ भी योगवाशिष्ठके निर्माता और कर्मयोगके भाण्डार ही थे। जब इन दोनों महान् व्यक्तियोंने भरतकी महिमा स्वीकार कर ली तो फिर किसी औरका कहना ही क्या? हम भरतके 'धर्म' और 'राजनय' को उनकी अनेक वक्तृताओंमें देख चुके हैं परन्तु यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें महाराज जनक भरतकी महिमाको 'ब्रह्मविचार'से भी ऊपर बताते हैं। कारण बड़ा ही सूक्ष्म एवं सुन्दर है। ब्रह्म सत्य है और जहाँ असत्यका कुछ भी लेश

हो वह स्थान उससे नीचे ही है । हम देख चुके हैं कि सत्य और असत्यके मार्मिक अन्तरकी पहचानमें भरत गुरु वशिष्ठसे आगे बढ़ गये हैं और आगे हम यह भी देखेंगे कि चित्रकूटके प्रस्तावोंमें भरतके हृदयस्थ महिमाकी थाह वशिष्ठ और जनक दोनों ही न पा सके । इस दृष्टिकोणसे ब्रह्म (सत्य) विचारमें भी भरतकी महिमा अतुलनीय है--चाहे उसमें तार्किक वाद-विवाद न हो । चित्रकूटमें जिस समय वशिष्ठजीने भरतके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि—

सकुचहुँ तात कहत इक बाता । अर्ध तजहिं बुध सरबस जाता ॥
तुम कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिय लखन सीय रघुराई ॥

तो भरतका प्रेम इस कसौटीपर भी खरा उतरता है । उनके आनन्दकी सीमा नहीं रहती; जिसके वर्णनमें तुलसीदासजी कहते हैं—

·········हरषे दोउ भ्राता । भे प्रमोद परिपूरण गाता ॥

और भरतजी बोल उठते हैं—

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हें । फल जगजीवन अभिमत दीन्हें ॥

भरतके शब्दोंमें कितनी स्वाभाविकता है मानो उनके आदर्शवादरूपी दिशासूचक यन्त्रकी सुई अपने लक्ष्यपर पहुँच गयी । इसीलिये तो वह गुरु वशिष्ठके प्रस्तावमें 'जगजीवन' का फल देखते हैं ! गुरुजीपर इस स्वीकृतिका जो असर हुआ वह अकथनीय है । वह न समझे थे कि भरतका प्रेम इतना अगाध है और इसी कारण उन्हें प्रस्ताव रखते समय सङ्कोच था । पर भरतने उसे ऐसे उत्साहके साथ स्वीकार किया कि गुरुजी भी चकित रह गये । इसीलिये तुलसीदासजी भरतकी मतिकी उपमा जलराशिसे देते हुए गुरु वशिष्ठकी मतिको तटपर खड़ी हुई एक अबला बताते हैं—

मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी ।

बहरहाल अब गुरुजीको भरतके प्रेमका इतना विश्वास हो गया और उन्हें इतनी जानकारी हो गयी कि भरत राम और धर्मके लिये क्या कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें स्वार्थका लेश भी नहीं । तभी तो उन्होंने जनकसे अपील की है कि वह बीचमें पड़कर समस्याओंको इस प्रकार सुलझा दें कि—

सबकर धरमसहित हित होई ।

'सब' शब्द समस्याकी जटिलताका द्योतक है । भरतका हित तो हम ऊपर देख चुके परन्तु भरत-वन-वास बहुतोंके लिये उतना ही दुःखदायी था जितना रामका, इसीलिये तो भरत-वन-गमनके प्रस्तावपर रानियाँ रोने लगीं—

सम दुख सुख सब रोवहिं रानी ।

महाराज जनक बड़े ही गम्भीर कर्मयोगी थे और उन्होंने स्वयं 'धर्म' 'राजनय' और 'ब्रह्मविचार'में अपनी यथामति पहुँच बतायी है । इसीलिये उनकी दृष्टि समस्याके सब अङ्गों-पर थी । उनकी अपील भरतसे यह थी—

राम सत्यब्रत धर्मरत सब कर सील सनेहु ।
संकट सहत सकोचबस कहिय सु आयसु देहु ॥

आह ! बेचारे भरतपर कितना भार है । समस्याकी कुंजी उसीके हाथमें है । जनकके इन शब्दोंने भरतपर एक विचित्र प्रभाव डाला । भरतके मस्तिष्कमें विचारोंका ज्वार-भाटा-सा आ गया । क्या वह एक सेवककी अवस्थामें होते हुए रामको इस 'सकोच-संकट'में देख सकते हैं ? कदापि नहीं ! ऐसे सेवककी 'मति'को भरतजी 'पोची' समझते हैं जो 'साहिबहिं सकोची' हो । महाराज जनकने समस्याको खूब समझा और 'संकट' और 'सकोच' शब्दोंसे रामकी करुणाजनक अवस्थाका वर्णन उनसे बढ़कर किसीने नहीं किया । पर तुलसीदासजीने रामको 'दीनदयालु' बताया है और उसकी परिभाषा बड़े सुन्दर शब्दोंमें यों की है—

परदुख दुखी सु दीनदयाला ॥

और इसीलिये तो सकोच और संकट था कि ऐसे दीन-दयालुके हृदयमें सत्यव्रत और धर्म एक ओर, शील और सनेह दूसरी ओर खींचातानी कर रहे थे । यह कसौटी भरतके लिये गुरु वशिष्ठकी कसौटीसे भी अधिक कठिन थी । वशिष्ठकी कसौटीकी परख तो भरतके वन-गमनसे पूरी हो सकती थी पर रामके संकट और सकोचकी मात्रा उससे और अधिक बढ़ जाती जो रामके लिये असहनीय होती । समस्या-की गहनता भरत भी समझते हैं और उनका मस्तिष्क भी एक बार तो चकरा ही जाता है । परन्तु उनके सेवा-धर्मने विजय पायी और यद्यपि शुरूमें वह अपने लिये यह कहते हैं—

मन मलीन मैं बोलत बाहर,

परन्तु उनके निर्णयमें दृढ़ता है और यों कहते हैं—

छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता । छमब तात लखि बाम बिधाता ॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवाधरम कठिन जगु जाना ॥
स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू । बधिर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू ॥

राखि राम रुख धरम-व्रत पराधीन मोहि जानि ।
सबके सम्मत सर्वहित करिय प्रेम पहिचानि ॥

सेवाधर्मकी कितनी पराकाष्ठा है कि भरत अपनेको नितान्त पराधीन बताते हैं । सच है, सेवाधर्म और स्वार्थ एक साथ चल ही नहीं सकते और इसीलिये यद्यपि भरत उस धर्मकी कठिनाईका अनुभव करते हैं फिर भी महाराज जनकके प्रस्तावको पूर्णतः स्वीकार करते हुए तुरंत कह देते हैं कि रामका 'रुख' और उन्हींका धर्मव्रत निभाते हुए काम किया जाय । सेवक अपने अस्तित्वको बिलकुल मिटा देता है और स्वामीकी ही सन्तुष्टतामें सन्तोष मानता है । आह ! परिस्थिति कितनी कठिन है और सेवाधर्म कितना कठोर, कि जिस हेतुसे भरत अयोध्यासे आये थे वही हाथसे जाता हुआ दिखायी देता है । परन्तु धन्य है, आदर्शवादी भरतको और उनके पवित्र ध्येयको कि अन्ततः विजय भरतहीकी होती है, परिस्थितिकी नहीं । ऐसा त्याग स्वतन्त्रताका मूल है क्योंकि वह विवशतासे नहीं स्वेच्छासे ही किया गया है । तुलसीदासजी भरतको मन्थराके छुड़ाते समय 'दयानिधि' कह चुके हैं और वही दयाभाव यहाँ पुनः प्रकटरूपसे विद्यमान है । भरत निजी स्वार्थके त्यागमें तनिक नहीं हिचकते परन्तु महाराज जनकसे यह अपील जरूर करते हैं कि सर्वहितको छोड़ा न जाय और सर्वसम्मतिसे ही काम किया जाय । भरतकी उपर्युक्त वक्तृता इतनी सुन्दर है और उसमें धर्मके इतने गूढ़ और आवश्यक विषय मौजूद हैं कि उसकी आलोचना करते हुए तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी । गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ॥

हम यह देख चुके हैं कि स्वयं भगवती सरस्वतीने देवताओंके उस प्रस्तावको स्वीकृत नहीं किया जिसमें उनसे भरतकी मति फेरनेका अनुरोध था और साफ कह दिया कि वैसा करनेमें मैं असमर्थ हूँ । इतना ही नहीं बल्कि वह कहती हैं—

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी । सोउ न भरत मति सकइ निहारी ॥

माया असत्य है और भरत सत्य एवं शीलके आदर्श, फिर भला दोनोंको साथ ही कैसे निभाया जा सकता है ? तुलसीदासजी कहते हैं—

तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ।

सरस्वतीका अपनी निर्बलताका यह प्रकटीकरण कितना सत्य और हमारे लिये कितना आशाजनक है । शेक्सपियरके दुःखान्त नाटकोंके अध्ययनके पश्चात् हमारे ऊपर निराशाका राज्य होता है और मनुष्य दैवी शक्तियोंके हाथका खिलौना ही प्रतीत होने लगता है जिसे वे जब चाहें चकनाचूर कर दें । मानो हमारी आत्मामें पूर्ण विकासकी शक्ति ही नहीं । परन्तु रामायणकी करुणाजनक घटनाएँ पढ़नेके पश्चात् भी आत्मा निराश नहीं होती और हमें यह ज्ञात होता है कि अगर हमारी आत्मा सत्यपर दृढ़ रहे तो दैवी शक्तियोंपर भी विजय पा सकती है । कहीं-कहीं शेक्सपियरके किसी-किसी आलोचकने इस बातकी ओर कुछ इशारे किये हैं पर हमें तो वे इशारे खींचतानहीसे जान पड़ते हैं । अस्तु, जो कुछ भी हो, परन्तु सत्यप्रिय आत्माकी ऐसी विजय तो कहीं भी नहीं दीखती । क्या अब भी भरतकी महानताका अनुभव सभ्य जगत् न करेगा और क्या आदर्शवाद एक मखौलकी वस्तु ही रहेगा ?

अन्तमें वशिष्ठजी स्वयं भगवान् रामसे अपील करते हैं और वह अपने स्वाभाविक औदार्य और भ्रातृप्रेमके कारण वशिष्ठ, जनक तथा भरतकी बात मान लेनेको तैयार हो जाते हैं । यहाँ पुनः सारा भार भरतके ही सिरपर है परन्तु वह सेवाधर्मके सत्यव्रती हैं और इस समय भी सारी परिस्थितियोंको अपने स्वामी रामजीके ही दृष्टिकोणसे देखते हैं । भरतकी सारी वक्तृता बड़ी मार्मिक है परन्तु हम उसमेंकी थोड़ी ही पंक्तियाँ देते हैं—

प्रभु-पितु-बचन मोहबस पेली । आयेहु इहाँ समाज सकेली ॥
... ...
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥

कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूषन भे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर ॥

आह, सेवाधर्मके आदर्शने सारा नक्शा ही पलट दिया । भ्रातृस्नेह अब 'मोह' दिखायी देता है और समाजके साथ आना 'ढिठाई' । धन्य है भरतका सेवाधर्म, परन्तु स्वामी भी तो राम-जैसा ही हो, कि इन सब बातोंको 'सनेह सेवकाई' ही माने । आध्यात्मिक अवस्थामें भक्तिमार्गकी यही तो उत्तमता है कि भक्तके 'दूषण' भी 'भूषण' हो जाते हैं । वह वक्तृता इतनी करुणाजनक है और साथ ही इतनी शान्तिप्रद भी कि हृदयके भीतर करुणा और शान्तिकी लहरें चढ़ने-उतरने लगती हैं ।

भौतिक राजनीतिक विज्ञानके पुजारी वर्तमान कालको अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सोंको तनिक चित्रकूटकी कान्फ्रेन्ससे मिलावें और विचार करें कि वर्तमान कान्फ्रेन्सोंकी असफलताका मुख्य कारण क्या है । चित्रकूटमें

भी अनेक दृष्टिकोण थे। वहाँ भी अनेक स्वार्थोंका संघर्षण विद्यमान था। परन्तु सत्य और स्नेहका ऐसा राज्य था कि स्थूल स्वार्थको ठुकरानेके लिये सभी तैयार थे। और आज सत्यका कोसों पता नहीं और स्नेह केवल जिह्वासे कहनेकी वस्तु रह गया। जब हर तरफ ठोस स्वार्थका ही भाव हो तो पहले किसी बातका तै होना ही कठिन, और फिर अगर कोई बात तै भी हुई तो स्थायी नहीं होती। सहयोगका मूल-मन्त्र स्नेह और सेवा है और जहाँ वैसे भाव होते हैं तो गुत्थियाँ स्वयं ही सुलझती जाती हैं, क्योंकि भरतकी भाँति हम स्व ही परिस्थितियोंको औरोंके दृष्टिकोणसे देखने लगते हैं। भारतकी अध्यात्मविद्याके शब्दोंमें हम वर्तमान कूटनीतिको मायाका परिवार ही कहेंगे और माया कभी टिकाऊ नहीं होती। जब सत्य और स्नेहकी मात्रा बढ़ेगी तभी राष्ट्रसंघ (League of Nations) सफल होगा और तभी संसारमें आर्थिक सहयोग और सच्चा निःशस्त्रीकरण हो सकेगा। इसीलिये तो तुलसीदासजीने रामराज्यके झंडेके लिये कहा है—

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।

आह, अभी तो 'सत्याग्रह' भी सफल नहीं हुआ तो फिर 'सत्यशील-आग्रह' की कौन कहे? अब हमें अवश्य ही यह ज्ञात हो गया होगा कि भरतका नामकरण करते समय गुरु वशिष्ठने उस नामकी व्याख्या इन शब्दोंमें यों की थी कि—

बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

क्या विश्वका भरण-पोषण किसी और भावके होते हुए भी हो सकता है? कदापि नहीं! जो अपस्वार्थी होगा और स्नेह एवं सेवाके भावोंसे शून्य, वह विश्व तो दूर, एक घरानेका भरण-पोषण भी नहीं कर सकता। इसीसे तो रामायणके दूसरे निःस्वार्थी सेवक हनूमान्‌से भगवान् रामने स्वयं इस आदर्शका मूल-मन्त्र भाषा-श्रुतिमें यों कहा है—

सोइ अनन्य जाके अस मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

इन सिद्धान्तोंके विचारके बाद अब यह दिखने लगा है कि कठिनाइयोंका अन्त होने ही वाला है और चित्रकूटकी कान्फ़रेन्सोंकी सफलता संसार-साहित्यमें स्वर्णके सदृश सदा ही चमकेगी। यहींपर हमें नाटकीय कलाकी भी एक बात कह देना आवश्यक है। तुलसीदासजीने देवताओं, अयोध्या-वासियों, भरत इत्यादि, राम तथा लक्ष्मणके दृष्टिकोणोंके संघर्षणको ऐसी पूर्णतासे चित्रित किया है कि करुणरस बराबर छलकता रहता है और आखिर-आखिरतक हमारे हृदयकी अस्थिरता एवं उत्सुकता बराबर बनी रहती है और जबतक रामका अन्तिम निर्णयात्मक भाषण नहीं होता तबतक आशाकी पूरी झलक नहीं दिखती।

किसी विषयपर अनेक दृष्टिकोणोंसे विचार करनेकी आदत और अपनी ही आलोचनाका अभ्यास होना ऐसे आदर्शवादीके लक्षण ही हैं जिसे स्वाभाविक महिमाके अतिरिक्त मानसिक संस्कृतिकी प्राप्तिका भी यथेष्ट अवसर मिला हो। यहींपर हैमलेटकी अपेक्षा भरतकी महानताका दर्शन होता है। कारण हैमलेटके आदर्शवादमें वह परिपक्वता न थी जो भरतमें स्थान-स्थानपर दिखती है। बेचारे हैमलेटका मस्तिष्क चारों ओरके विचारोंके झकोरोंमें चकरा जाता है और उसकी निर्णायक शक्ति काम नहीं देती। परिणाम यह कि उसकी धारणा यह हो जाती है कि 'अन्तरात्मा हम सबको कायर बना देता है।' * उसकी दूसरी धारणा यह भी होती है कि 'कोई चीज़ भली या बुरी नहीं है बल्कि हमारे विचार ही उसे भली या बुरी बना देते हैं।' † आह! बेचारे हैमलेटके पतन और उसके जीवनकी निष्फलताके मुख्य कारण यही सिद्धान्त हैं। इसीलिये वह अपने विचार-प्रवाहको कठोरताके साथ रोकता है और नतीजा यह होता है कि वह अन्धविश्वासी एवं भाग्यवादी बन जाता है और चारों ओरके अन्धकारमें उसे इस सिद्धान्तकी सिर्फ धुँधली झलक दिखायी देती है कि कोई ऐसी आध्यात्मिक शक्ति परदेकी ओटमें है जो हमारे कर्मोंके परिणामोंका सुधार देती है चाहे हम उन्हें कितना ही अनगढ़ा बनावें। भरत विवेक और विचारको कभी हानिकर नहीं समझते, यद्यपि उनकी दशा भी विचारों और परिस्थितियोंके झकोरोंमें, हैमलेटसे कम करुणाजनक नहीं है। उन्हें भी 'भूख न बासर नींद न राती' की चिन्ताजनक अवस्थाका सामना करना पड़ता है, और हम देख ही चुके हैं कि चित्रकूटमें उनके मस्तिष्कमें ऐसा विचार-संघर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसे कविने 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' द्वारा व्यक्त किया है। परन्तु ऐसी परिस्थितियोंमें भी भरतजी विवेक एवं विचारको हाथसे नहीं जाने देते क्योंकि सत्यकी खोजमें वही दोनों पथप्रदर्शक हैं। यह सच है कि भरतको भी स्वयं

* Conscience makes cowards of us all.

† Nothing is good or bad but thinking makes it so.

कोई युक्ति नहीं सूझती पर उनमें इतना विवेक अवश्य बाकी है कि जब रामजी गहन परिस्थितियोंको सुलझानेवाला प्रस्ताव अपनी ओरसे पेश करते हैं तो भरत उसे सहर्ष मान लेनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते। तुलसीदासजी भरतकी तुलना हंससे करते हैं जिसमें नीर-क्षीर-विवेक-शक्ति विद्यमान है। रामको भरतकी इस विवेक-शक्तिपर इतना विश्वास है कि वह भरी सभामें भरतको 'धर्मधुरंधर' जानकर बिना किसी सोच-विचारके यह कह देते हैं कि—'भरत कहहिं सो किए भलाई।' उस सभाकी वक्तृताएँ इतनी सुन्दर और विचारपूर्ण हैं कि मैं पाठकोंसे उन सबोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेकी प्रार्थना अवश्य करूँगा। भरोसेसे भरोसा पैदा होता है और इसीलिये भगवान् रामके इस भाषणका भरतपर बहुत बड़ा असर पड़ा। स्वयं भरत भी परिस्थितिके सारे अङ्गोंपर विचार कर चुके हैं और महाराज जनकके पूर्वकथित अपीलकी सहायतासे उन्हें अपने सेवाधर्मके निर्णयमें अब कुछ भी कठिनाई बाकी नहीं रही। जब रामने सब कुछ भरतहीपर छोड़ दिया तो सारी सभा चकित हो गयी और भरतहीका मुँह ताकने लगी। तुलसीदासजीने उस अवस्थाका चित्रण यों किया है—

रामसपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकहिं भरत-मुख बनै न उत्तर देत॥

कितनी चिन्ता और अस्थिरता है। सबकी आँखें भरतपर हैं और कविने उनकी धीरताका चित्र अपने शब्दोंमें यों खींचा है—

सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबन्धु धरि धीरज भारी॥
कुसमउ देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिन्ध्य जिमि घटज निवारा॥

कितना महान् धैर्य और आत्मसंयम है! उपमा कितनी विशाल और महाकाव्यके लिये कितनी उपयुक्त है। अँगरेजी भाषामें ऐसी उपमाएँ मिल्टन और स्पेन्सरके काव्योंसे बाहर मिलनी मुश्किल हैं। सच है, सनेह भी धर्मके लिये होता है, न कि धर्म सनेहके लिये। इसीलिये महाकवि तुलसीदास भी 'सत्य'-शब्दको 'शील' के पहले ही रक्खा करते हैं जैसा हम अभी रामकी ध्वजा-पताकावाले अवतरणमें देख चुके हैं। भरतजी खड़े होकर अपनी वक्तृता शुरू करते हैं। कवि कहता है—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरी। राम राउ गुरु साधु निहोरी॥

वक्तृताकी आलोचना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि वह विनय, विवेक, धर्म और नयकी खानि है। कुछ शब्दोंके उपरान्त 'प्रभु पितु-बचन मोहबस पेली' इत्यादि-वाला अवतरण आता है जो हम ऊपर दे चुके हैं और यह भी कह चुके हैं कि भरतने परिस्थितिको रामजीके दृष्टिकोणसे देखना प्रारम्भ कर दिया। रामके स्वामित्वकी विशेषताका वर्णन भरतजी पुनः इन शब्दोंमें करते हैं—

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहिं नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी॥

यह है स्वामीपर भरोसा और संकल्पकी दृढ़ता। इसीलिये भरत आगे कहते हैं—

आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा॥

इसके बादका सारा दृश्य इतना सकरुण है कि उसे बिना अश्रुपातके पढ़ना कठिन है। वह कविके शब्दोंमें संक्षिप्ततः यों वर्णित है। करुणाके साथ माधुर्यका सम्मिश्रण अपना अद्भुत चमत्कार दिखाये बिना नहीं रहता—

प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समय सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरतबिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥

रघुराउ सिथिल सनेहु साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप भगतिकी महिमा घनी॥
भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिनसे।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

रामका उत्तर भी वैसा ही सुन्दर है और भरतके प्रति अन्तिम अपील तो अनुपम ही है। राम कहते हैं—

सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल-पालक होहू॥
साधन एक सकलसिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी॥

दृष्टिकोण कितना बदल जाता है। रामका मुख्य विचार और उनकी अपीलका आधार अपना कुल-धर्म और प्रजा-पालन है। फिर चाहे तदर्थ कितना ही त्याग करना पड़े और कितना ही संकट सहना पड़े। रामको भरतके चरित्रका कितना मार्मिक ज्ञान है। वह जानते हैं कि भरतका विवेक हंसरूप है और वह आदर्शवादी हैं। यदि उच्च आदर्श उनके आगे रक्खा जायगा तो ऐसा कोई सांसारिक संकट नहीं है जिसे वह सहन करनेको तैयार न हों। भगवान्के हृदयकी कोमलता भी स्पष्ट ही है। वह किसी बातको आज्ञारूपमें

नहीं रखते बल्कि प्रत्येक विषयको मनोहर अपीलके साँचेमें ढाल देते हैं। भ्रातृ-प्रेमकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधिभर बड़ि कठिनाई ॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥
होहिं कुठाउँ सुबन्धु सहाये। ओडियहि हाथ असनिहुँके घाये ॥

हृदयस्पर्शी अनुरोधकी पराकाष्ठा है। भरत-जैसे आदर्शवादी भाई और सेवकके प्रति किस कोमलतासे अपील की गयी है।

सभी पुनः स्तम्भित हो जाते हैं—'सिथिल समाज सनेह समाधी।' आध्यात्मिक विषयके ज्ञाता 'सनेह' से उत्पन्न होनेवाली इस समाधि-अवस्थापर विचार करें। भरतकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। जिस राजको वे रामके प्रति अन्याय होनेके कारण विष समझते थे उसीका सञ्चालन रामाज्ञारूप होकर 'सनेहमयी सेवा' बन जाता है, मानो इस 'कुठाउँ' पर भगवान् रामके लिये वह 'ओडियहि हाथ असनिहुँके घाये' का प्रतिरूप ही बन जाते हैं और स्वयं अपने शब्दोंमें उनका सेवाधर्मसम्बन्धी आदर्शवाद इस प्रकार पूर्ति पा जाता है—'आज्ञा सम नहिं साहिब-सेवा।' तुलसीदासजी इसका वर्णन यों करते हैं—

मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू ॥
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानिपंकरुह जोरी ॥
नाथ भयउ सुखु साथ गयेको। लहेउँ लाभ जग जनम भयेको ॥
अब कृपालु जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई ॥
सो अवलम्ब देहु मोहिं देवा। अवधि पार पावहुँ जेहि सेवा ॥

'गूँगहिं गिरा प्रसादू' की उपमा कितनी उत्तम है! भरतकी विवेकशक्तिको मूकता हम 'एकहु युक्ति न मन ठहरानी' में पहले ही देख चुके हैं। इस मूकताको भगवान् रामके सिवा और कौन दूर कर सकता है? उन्हींकी कृपासे—

मूक होहिं बाचाल पंगु चढ़हिं गिरवर गहन।

—जैसी घटना हो सकती है। आह! करुणरस अब भी स्थिर है। भरतको 'अवधि' पार करना कठिन जान पड़ता है और इसीलिये तो अवलम्बकी प्रार्थना है। ऐसी सूक्ष्मताका प्रदर्शन तुलसीदासजीका ही काम है। राम 'अवलम्ब' रूपमें अपनी चरणपादुका देते हैं जो भरतके लिये राम-राजकी प्रतीक बन जाती हैं। इसीलिये तो भरतने अवध पहुँचकर—

मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभुपादुका बैठारे निरुपाधि ॥

अब भरतका हर्ष इतना विकास पा जाता है कि वह चित्रकूट-भ्रमणकी आज्ञा इन शब्दोंमें माँगनेका साहस करते हैं—

चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्झर गिरिगन ॥
प्रभुपद अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ तो आवहुँ देखी ॥

बाल्यकालके वर्णनमें हमने चारों राजकुमारोंको वनमें 'मृगया' करनेके हेतु जाते देखा है, परन्तु आज भरत हर्षके होते हुए भी करुण एवं प्रेमरसके पुटके कारण यात्राभावसे ही वन-भ्रमणार्थ जा रहे हैं। इसीलिये इस भ्रमणमें कविने स्नान, मज्जन, दरश और ध्यानकी ही प्रधानता दिखायी है। परन्तु भरतके उपर्युक्त यात्राभावमें प्रेम एवं हर्षका भी इतना समावेश है कि वह वन-अभिरामका आस्वादन कर सकते हैं। इसी कारण तुलसीदासजीने भी इस यात्राका वर्णन यों शुरू किया है—

सहित समाज साज सब सादे। चले राम-वन-अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥
कुस कंटक काँकरी कुराई। कटुक कठोर कुवस्तु दुराई ॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हें। बहत समीर त्रिविध सुख लीन्हें ॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूलि फल तृन मृदुताहीं॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी ॥

सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्यको महाकविने सजीवता और भावुकतासे भर दिया है, मानो कविके काव्यसंसारमें निर्जीवताका पता ही नहीं। आंग्ल-साहित्यके मर्मज्ञ, बाइरनके इस वाक्यकी कि 'जलने अपने स्वामीको पहचाना और लज्जा एवं प्रेमसे लाल हो गया *' बड़ी प्रशंसा करते हैं जो ठीक ही है। परन्तु उन्हें तुलसीदासजीके उस जैसे अगणित वाक्योंकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। पृथिवी, वायु, खग, मृग सभी तो रामप्रिय भरतकी सेवा कर रहे हैं। भरतके जीवनमें तपके साथ मधुरता एवं कोमलता अवश्य स्थायित्व धारण करेंगी। महात्माओंके लिये आपत्तियाँ लाभदायक होती हैं†।

ऊपरकी तुलनात्मक व्याख्यासे हमें स्पष्ट प्रतीत हो गया कि भरतकी महानता गुरु वशिष्ठ और जनकसे भी बढ़कर

* The water recognized its Master and blushed.—Byron.

† Sweet are the uses of adversity.
—Shakespeare.

है। केवल राम ही उनसे बड़े हैं और वही भरतको कठिनाईके समय सहारा दे सकते हैं। हमारे सामने आदर्शवाद और सामञ्जस्यपूर्ण कलाप्रियताकी सजीव प्रतिमा भरतके रूपमें मौजूद है जिनमें विवेक और दृढ़ताकी इतनी मात्रा अवश्य है कि परिस्थितियोंपर विजय हो सकती है।

भरतके चरित्रका अध्ययन कितने ही वर्षोंतक मेरा लक्ष्य रहा है और इधर नवम्बर सन् ३१ से तुलनात्मक व्याख्याके लिये आवश्यक सामग्री एकत्रित करना मेरा काम। आज ज्यों-त्यों करके इस पवित्र कार्यकी पूर्ति हो रही है। जब तुलसीदासजीने भरतकी प्रशंसा करते हुए यह कहा है—

तुलसीसे सठहिं हठि राम सनमुख करत को।

तो मुझ-जैसे तुच्छ बीसवीं शताब्दिके भौतिक वातावरणवाले व्यक्तिके लिये पर्याप्त प्रशंसा करना नितान्त असम्भव ही है। इस लेखमालाके इस अंशको समाप्त करनेसे पूर्व यह अनुचित न होगा कि कुछ साहित्यमर्मज्ञोंके वे विचार भी रख दिये जायँ जिनमें हैमलेटसे उपदेश लिये गये हैं और यह भी दिखाया जाय कि उनसे भरतके चरित्र तथा अयोध्याकाण्डके अध्ययनमें क्या सहायता मिलती है।

कुछ साहित्यमर्मज्ञोंका हैमलेटसे उपदेश-ग्रहण और उससे भरत और अयोध्याकाण्डके अध्ययनपर पड़नेवाला प्रकाश।

इंग्लैण्डके राजकवि जान मेसफ़ील्ड कहते हैं—'प्रतिहिंसा और संयोग दोनों ही जीवनको उसके मार्गपर पुनः प्रवाहित करते हैं और इसके निमित्त वे ऐसे जीवनोंका जिनमें अधिक पशुत्व या आतुरता या मूर्खता या अति विज्ञता है, नाश करते हैं, क्योंकि वे सभी एक समयमें एक साथ पृथिवीपर रह नहीं सकते*।'

कितनी दुःखजनक बात है और इसी कारण इंग्लैण्डमें 'साधारणता' की ही कद्र है और आदर्शवाद एक मखौलकी वस्तु है। क्या यह इस बातका परिणाम नहीं है कि महाकवि शेक्सपियरने अपने व्यक्तित्वको बिल्कुल छिपाये रक्खा ? यूरोप, हैमलेटके अध्ययनसे यह नतीजा निकालता है कि आदर्शवाद निष्फल और दुःखान्तक ही है। पर हैमलेटके वास्तविक अध्ययनसे यह साफ पता चलता है कि महाकवि शेक्सपियरका आशय संसारको इस बातकी चेतावनी देना था कि पाशविक भौतिकवाद आदर्शवादको चकनाचूर भले ही कर दे परन्तु खुद भी मिटकर ही रहेगा। उसने आदर्शवादके प्रति हमारे दयाभावको उत्तेजित किया है और पाशविक भौतिकवादके ही प्रति घृणा उत्पन्न करायी है। क्या अच्छा होता यदि शेक्सपियर अपने नाटकीय आदर्शोंके साथ, जिनमें कला प्रकृतिका मुकुर बन जाती है, अपने व्यक्तित्वको तुलसीदासजीकी तरह आलोचक एवं उपदेशकरूपमें हमारे सामने रखता जिसमें मनमाने नतीजे निकालनेकी गुंजाइश न रहती। यह याद रहे कि तुलसीदासजीने भी प्रकृतिका चित्र ज्यों-का-त्यों खींचा है और तब आलोचना की है। कुछ भी हो, पाश्चात्य सभ्यताको तो महाकवि शेक्सपियरकी चेतावनीसे सतर्क हो जाना चाहिये कि यदि वह आदर्शवादके मिटानेपर तुली रहेगी तो स्वयं भी मिट जायगी।

कविवर मेसफ़ील्डके शब्द बता रहे हैं कि पाश्चात्य जगत् जीवन-प्रवाहको ठीक मार्गपर ले आनेका साधन केवल विनाशमें ही देखता है जिसमें 'अधिक बुद्धिमान्' की भी दुर्गति है। उन्हें पता नहीं कि अहिंसात्मक साधनसे भी काम चल सकता है। उपर्युक्त व्याख्यासे पता लग चुका है कि राम और भरतने अपने अहिंसात्मक साधनोंसे ही जिनमें त्याग एवं तप मुख्य हैं, अयोध्याके जीवनप्रवाहको सीधे रास्तेपर ला रक्खा था और दशरथके सिवा जिन्हें कविवर मेसफ़ील्डके शब्दोंमें 'अति आतुर' कहा जा सकता है और किसीके मरनेकी नौबत न आयी थी। हाँ, लंकामें अवश्य पाशविक भौतिकवादका विनाश हुआ पर वहाँ भी विभीषण-जैसे आदर्शवादीको बचा ही लिया गया था।

वे लोग जो शेक्सपियरके इस सिद्धान्तके प्रशंसक हैं कि कलाका अभिप्राय 'केवल प्रकृतिका मुकुर' होना है, कविवरके शब्दोंमें यह भूल जाते हैं कि जब हम किसी मुकुरमें गौरसे देखते हैं तो बहुधा हमें अपनी ही छाया दिखायी देती है और इसी कारण कविवर लिखते हैं कि हैमलेटमें चित्रित हुई दुनिया वह असली दुनिया नहीं है

* Revenge and chance together restore life to her course by the destruction of lives too beastly and the lives too hasty and the lives too foolish and the lives too wise to be all together on the earth at the same time—Masefield.

जो हमें ऐतिहासिक नाटकोंमें मिलती है। वह तो दुनियाका ऐसा प्रतिबिम्ब है जो कवि हमारे मस्तिष्कीय अनुभवके लिये सामने रखता है*। यह आलोचना बड़ी मार्मिक और सत्य ही है। कलाके केवल मुकुररूप होनेकी बात ही कहाँ रही? और जब यह ठीक है तो फिर हम संसारका अधिक भयावना चित्र क्यों खींचें? तब तो हमें गो० तुलसीदासजीका ही यह सिद्धान्त ठीक जँचता है कि ब्रह्माने संसारमें भलाई और बुराईको दूध और पानीके सदृश मिश्रितरूपमें ही रचा है। और जहाँ ब्रह्माकी सृष्टिमें बक और काक हैं वहाँ भरत-जैसे हंस भी मौजूद हैं जो नीर एवं क्षीरको पृथक्-पृथक् कर देते हैं। हमारे सामने आशा रहती है परन्तु इस प्रकार, कि हम सांसारिक कठिनाइयोंको भूल न जायँ। तुलसीदासजीके चित्रित विश्वमें आदर्शवादी जीवोंके लिये कठिनाइयोंके रूपमें कसौटियाँ मौजूद हैं जिनकी जाँच-पड़ताल दैवी शक्तियाँ खूब ही करती हैं। परन्तु जब कोई महान् आत्मा जाँचमें खरा उतरता है तो सारी शक्तियाँ उसकी सहायक ही बन जाती हैं। किसी अंगरेज़ आलोचकने ठीक ही कहा है कि हैमलेटके अध्ययनसे हमारी यही धारणा होती है कि अमानुषिक शक्तियाँ जो भलाई या बुराईके बीज हममें बोती हैं, उनका उगना या न उगना हमारे आत्मारूपी सूर्यके प्रभावपर ही निर्भर है†। जब यह सिद्धान्त ठीक है तो क्या यह स्पष्ट नहीं कि जहाँ एक ओर भरतपर दैवी शक्तियोंकी बुराईका असर ही न पड़ सका वहाँ हैमलेट सांसारिक कठिनाइयोंकी ठोकरोंसे चकनाचूर ही होनेके लिये रह गया? रामायणमें वे शक्तियाँ जो कैकेयी और मन्थराको प्रभावित कर सकीं, भरतके सामने नितान्त असमर्थ ही रहीं। वशिष्ठजीने योगवाशिष्ठमें राजकुमारोंको जिस सिद्धान्तका उपदेश दिया था कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका निर्माता है, उसे उनके शिष्यवरों—राम और भरतने चरितार्थ करके ही दिखा दिया।

डा० मिलरने जो भारतवर्षमें एक कालेजके प्रिंसिपल रहे हैं, स्वयं पादरी होनेके कारण और भारतके आध्यात्मिक वातावरणसे प्रभावित होनेके कारण, शेक्सपियरके नाटकोंसे तरह-तरहके उद्देश्योंके निकालनेकी चेष्टा की है। उन्होंने भी लिखा है कि हैमलेटमें कर्तव्यपरायणताका अभाव था। कर्तव्यपरायणताकी व्याख्या मिलर महोदयने बड़े मार्मिक शब्दोंमें की है। कहते हैं कि कर्तव्यपरायणता हमारी वह स्वाभाविक शक्ति है जो हमें यथोचित कर्मोंके निमित्त अन्तर्प्रेरणा देती है, न कि केवल सत्यका दार्शनिक एवं हार्दिक अनुभव‡। हमारा मस्तिष्क पवित्र गर्वसे ऊँचा हो जाता है जब हम देखते हैं कि ये शब्द अक्षरशः भरतपर सत्य उतरते हैं और उनकी कर्तव्यपरायणता कड़ी-से-कड़ी कसौटियोंपर भी खरी उतरती है। मिलर महोदय यह भी कहते हैं कि, 'हैमलेटमें कर्तव्यपरायणताका अभाव कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। मनुष्यकी शक्तियां तथा हृदयकी गतियोंके आध्यात्मिक विवेचनके अतिरिक्त भी सबकी सम्मति है। कर्तव्यपरायणताकी शक्ति या ऐसी ही अन्य शक्तियां वा गतियोंके लिये यह आवश्यक है कि उदाहरण, सहानुभूति एवं संयम मौजूद हों। तभी उसमें ऐसी पर्याप्त शक्ति हो सकती है कि वह प्रकट हो सके या अपना कार्य कर सके §।' यह ईश्वरकी कृपा ही थी कि संसारमें हमारे ही महाकवि तुलसीदासजीको इस बातका पूर्ण गौरव मिला कि वह आदर्शवादकी आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका चित्रण कर सकें। रामका सर्वोत्तम उदाहरण मौजूद ही था, और अयोध्याका समूचा

* It is not an image of the world in little like the world of late historical plays. It is an image of the world as intellect is made to feel it.

† The seed scattered in us by beings outside life comes to good or evil according to the Sun in us.

‡ That instinctive which impels one to act rightly and not only a philosophical perception of what is right or emotionally feeling for it.

§ It is not wonderful that he wants it, apart from metaphysical discussions concerning the origin of the impulses of powers of human nature, it is agreed on all hands that this and very similar power and impulse needs example and sympathy and training, if it is to be strong enough to show its presence or to do its work.

वातावरण भी तुलसीदासजीने ऐसा बाँधा कि भरतकी ओर कैकेयी और मन्थराके सिवा सभीकी सहानुभूति है। साहित्यमर्मज्ञोंको वाल्मीकि और तुलसीकी रामायणोंमें तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि वाल्मीकिने अपने तुलसीरूपी नवीन अवतारमें अयोध्याके वातावरणका जो चित्रण किया है उसमें माता कौसल्या आदिकी सतर्कता और कटुताको भी स्थान नहीं दिया। अब संयमके लिये तो हम पहलेसे ही सभी राजकुमारोंको उन गुरु वशिष्ठके चरणोंमें बैठते हुए देख चुके हैं जो योगवाशिष्ठके रचयिता हैं। आह! बेचारे हैमलेटके सामने कोई उदाहरण न था और वातावरण सारा-का-सारा दूषित ही था जिसे शेक्सपियरने इस प्रकार चित्रित किया है कि डेन्मार्ककी व्यवस्थामें कुछ सड़न है*। हैमलेटकी शिक्षा और दीक्षामें भी आदर्शवादके विकासका काफ़ी अवकाश नहीं दीखता।

अवतरण कहाँतक दिये जायँ, क्योंकि उनसे तो साहित्यभाण्डार ही भरा पड़ा है। पर एक अवतरण दिये बिना रहा नहीं जा सकता। जिसका प्रो० इनकी आलोचनामें समावेश है। प्रोफ़ेसर महोदय म्योर सेन्ट्रल कालिज प्रयागके हालहीमें सञ्चालक रह चुके हैं अतः उनकी समालोचना नवीनतम कही जा सकती है। उनका कथन है—'जो धर्म हैमलेटके ज़िम्मे था और जिसका भार उसपर अति अधिक था वह अन्ततः पूरा हुआ। परन्तु उसकी पूर्ति उन अनेक साधनोंसे नहीं हुई जो हैमलेटके चञ्चल एवं शिथिल मस्तिष्कमें चक्कर लगा रहे थे और जो एक-एक करके त्यागे जा चुके थे। बल्कि उसकी पूर्ति हुई उन क्रमिक एवं आकस्मिक घटनाओंसे, जिन्हें साधारण लोग केवल संयोग समझते हैं परन्तु जिनमें विचारपूर्ण मस्तिष्क दैवी-शक्तिका सञ्चालन देखता है। समस्याकी पूर्ति हो गयी और दुष्टको दण्ड मिल गया, परन्तु आह, कितना सौजन्य व्यर्थ गया और निर्दोष सौजन्यको कितना दुःख मिला। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? महाकवि शेक्सपियर इसका कोई उत्तर नहीं देता और महाकविकी रायमें यही दुःखान्त घटनाका कारण है। कवि हमारे सामने सौजन्यको सौजन्यके रूपमें और बुराईको बुराईके रूपमें रख देता है। फिर संसारमें उनपर चाहे कुछ भी बीते। इसके अतिरिक्त तो मौन-ही-मौन है†।

हम इस लेखमालाके शुरूमें ही यह दिखला चुके हैं कि संयोगका स्थान वनवासकी दुःखान्त घटनाओंमें क्या है। हम यह भी बता चुके हैं कि तुलसीदासजी रहस्यके भावको किस प्रकार बराबर बनाये रखते हैं, और इसीलिये हमने उचित स्थानपर महाराज दशरथके इन वाक्योंकी विवेचना भी की है—

> और करे अपराध कोउ और पाव फलभोग।
> अति बिचित्र भगवंत गति कोउ नहिं जानन जोग॥

हमने यह भी देखा है कि कालके दो पाटोंके बीच बुरेके साथ भला भी गेहूँके घुनकी तरह पिस गया। यहाँतक तो महाकवि तुलसी और महाकवि शेक्सपियरके सिद्धान्तोंकी समानता है परन्तु तुलसीकी व्यवस्थामें मनुष्य परिस्थितियोंका सञ्चालक होता है, न कि संयोगके हाथोंका खिलौना! पर इसका यह आशय नहीं कि तुलसीदासजी कर्तव्यपरायणता या आदर्शवादको फूलोंकी सेज बना देते हैं। कर्तव्य-मार्ग कठिनाइयोंसे भरपूर है और आदर्शवादका मार्ग भी कण्टकाकीर्ण। इसीसे करुणरस बराबर आदिसे अन्ततक क़ायम है। महाकवि तुलसीदासजीका सिद्धान्त लगभग वही है जो कविवर टेनीसनके इन शब्दोंसे प्रकट है कि 'कर्तव्य-मार्ग कीर्तिकी मंज़िलपर पहुँचा देता है'‡। महाकवि शेक्सपियरकी शैलीमें अँधेरा भाग्यवाद ही मिलता है जिसमें हिंसा और प्रतिहिंसाका ही साम्राज्य है। हमारे महाकविकी शैली

---

* There is something rotten in the state of Denmark.

† The task committed to Hamlet, heavy as it bore upon him, has at last been accomplished, not in any often many ways which he had turned over and over in his restless wearied mind and rejected one by one, but by a series of those inscrutable accidents which to most men seem mere chance, in which however to the reflective mind "heaven is ordinant". The problem is solved, the retribution has been exacted from the guilty, but at what waste, at what suffering of the innocent and noble! Why should this be? There lies the tragedy as shakespeare sees it and he gives no answer; he only shows us that the noble is noble and evil is evil, however they fare in this world, "the rest is silence".

‡ Path of duty leads the way to glory.
—*Tennyson.*

बिल्कुल दूसरी ही है। मन्थरा स्वार्थपूर्ण भौतिकवादकी दासी है जो उसकी निम्न श्रेणीके देखते हुए स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थूल भावनाओंवाली स्त्रीके लिये कुछ शारीरिक ताड़ना उचित थी जो शत्रुघ्नके हाथों उसे मिल गयी थी। परन्तु भरतको दया आयी ही गयी और उन्होंने उसे छुड़ा दिया। कैकेयी राजमहिषी और माता थी अतः उसे भरतके कटु शब्दोंके साथ साधारण अपकीर्तिमें ही दण्ड मिला। जब भरत राज्यको स्वीकार नहीं करते और जब कैकेयी माता कौसल्याका प्रेम भरतके प्रति देखती है तो उसकी आँखें खुलने लगती हैं। पहले उसका पश्चात्ताप गौणरूप धारण करता है और वह भी सबके साथ वनयात्राके लिये तैयार हो जाती है जिसका उद्देश्य रामको वापस लाना था। सुधारकी यह प्रथम श्रेणी है और अब कैकेयीमें वह हठ बाकी नहीं। पश्चात्ताप शनैः-शनैः चित्रकूट पहुँचनेपर बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये तुलसीदासजी वहाँपर लिखते हैं—

गरै गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषन देई॥

महाकविकी व्यवस्थामें इसी पश्चात्तापके कारण कैकेयीकी आत्मा शुद्ध हो जाती है। भरतके शब्द भले ही कठोर रहे हों परन्तु राम और कौसल्याने कैकेयीके प्रति शील एवं स्नेहका ही बर्ताव। इसीलिये कैकेयीके सुधारमें किसी प्रकारकी भी शारीरिक ताड़नाकी आवश्यकता नहीं हुई। हम उस व्यवस्थामें सत्य और शीलका ही राज्य पाते हैं और त्याग एवं वैराग्यकी ही प्रधानता। जहाँ महाकवि शेक्सपियर मूक रह जाता है वहाँ महाकवि तुलसीदासजी संसारके रहस्योद्घाटनमें हमें बहुत कुछ सहायता देते हैं। इसी कारण इस महाकविका करुणरस रसरूप आस्वादनका विषय बना रहता है और वह घोर एवं रौद्ररूप धारण नहीं करता जो हैमलेटमें मिलता है। इसीलिये अयोध्याकाण्डके अन्तमें आशाकी झलक मौजूद है और हैमलेटके अन्तमें विनाशका आरक्तिम दृश्य!

भरतजीके चरित्रविषयक तुलसीदासजीका अन्तिम निर्णय यों है—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरतको।
मुनि-मन-अगम यम नियम शम दम बिषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दम्भ दूषन सुजस मिसु अपहरत को।
कलिकाल तुलसीसे सठहिं हठि राम सनमुख करत को॥

व्याख्या कितनी व्यापक एवं संक्षिप्त है। इसीसे तो मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी आलोचना इतनी विस्तृत होती हुई भी कम है! मैंने विशेषतः साहित्यिक अंगपर ही विचार किया है और कहीं-कहीं नैतिक दृष्टिकोणको भी सामने रक्खा है। परन्तु भरतजीके नाम-करणके समय गुरु वशिष्ठने उनको 'विश्वभरणपोषण' करनेवाला भगवान्का अवतार ही कहा है, जिससे स्पष्ट है कि अभी उनके चरित्रका एक बहुत बड़ा अंश शेष है। वह अंश आध्यात्मिक है और इस लेखमालाके उद्देश्यसे बाहर। वस्तुतः भरतजी दिशा-सूचक यन्त्रकी सुईके समान हैं जिसका लक्ष्य हमें रामरूपी ध्रुवके सम्मुख करना है। तुलसीदासजीकी व्यवस्थामें रामजी 'सकल लोकदायक विश्राम' ही हैं जहाँ शान्तिका वह भाण्डार है जिसमें जाकर मन एवं भावोंकी चञ्चलता विलीन हो जाती है। उसी भाण्डारमें भरतको भी शान्ति मिली थी।

लेखमालाके इस अंशको समाप्त करनेके पूर्व मुझे दो शब्द और पाठकोंसे कहना है। मैंने तुलनात्मक व्याख्या अवश्य की है और महाकवि तुलसीको शेक्सपियरसे बढ़ा-चढ़ा दिखाया है। परन्तु मेरा आशय न कभी रहा और न है कि शेक्सपियरकी महानताको पाठकगण भूल जायँ। मुझे हैमलेटके पढ़नेका सौभाग्य पहले-पहल सन् १९१४ ई० में मिला था जब मैं उसे निजी रीतिपर एक बी० ए० के छात्रको पढ़ा रहा था। उस समय उसका जो प्रभाव मेरे हृदयपर पड़ा था वह अकथनीय है। सच तो यह है कि हैमलेटके अध्ययनने ही मुझे अयोध्याकाण्डके अध्ययनकी ओर प्रेरित किया और मेरा ध्यान भरतके चरित्रकी ओर गया। इसके पहले भी शेक्सपियरकृत 'ओथेलो' के अध्ययनसे ही मुझे मन्थरा-कैकेयीके चरित्र-संघर्षणके समझनेमें सहायता मिली थी और तत्पश्चात् 'मैकबेथ' तथा 'किंग लियर' के पढ़नेपर ही कैकेयी तथा दशरथके चरित्रोंको मैं समझ सका था। रामायणके बाद मैंने किसी साहित्यिक पुस्तकका अध्ययन इतने बार नहीं किया जितना 'हैमलेट' का। और आज भी जब उसे पुनः उठाकर पढ़ता हूँ तो कुछ-न-कुछ नयी सामग्री ही मिलती है। यदि पाठकगण तुलनाका पूर्ण आनन्द उठाना चाहें तो अयोध्याकाण्डके साथ चारों उपर्युक्त दुःखान्त नाटकोंका या कम-से-कम 'हैमलेट' का अध्ययन अवश्य करें—चाहे वह अनुवादरूपमें ही हो।

व्याख्या इतनी सूक्ष्म और तुलना इतनी गहन थी कि मैं त्रुटियोंके होनेकी सम्भावनाका स्वयं अनुभव करता हूँ और तदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

साधकोंसे

संसारमें अधिक लोग तो ऐसे हैं जिनका भगवान्के भजनसे कोई सरोकार नहीं है, वे ईश्वरको मानते तो हैं परन्तु उनका वह मानना प्रायः न मानने-जैसा ही है। वे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मान, यश आदिमें ही परम सुख मानकर दिन-रात उन्हींकी चिन्तामें लगे रहते हैं। उनके चित्तको क्षणभरके लिये भी भगवच्चिन्तनकी आवश्यकताका विचार करनेके लिये भी अवसर नहीं मिलता। इन लोगोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो इन सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और रक्षाके लिये भी यथार्थरूपसे उत्साहसहित निर्दोष चेष्टा न करके या तो शरीरके आराम, प्रमाद और इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगे रहते हैं, या भाँति-भाँतिके दुराचरण और पाप करके जीवनको और भी कलुषित, अशान्त और दुःखमय बना लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो तर्क और प्रत्यक्षवादका आश्रय लेकर मोहसे ढकी हुई बुद्धिके अभिमानमें ईश्वरका विरोध करते हैं, ये जब ईश्वरके अस्तित्वको ही नहीं मानते, तब उसके भजनकी आवश्यकता तो क्यों समझने लगे?

कुछ लोग ऐसे हैं जो भगवान्के भजन करनेमें स्वयं तो कोई दिलचस्पी नहीं रखते; और न भजन या परमार्थपथमें लगना ही चाहते हैं; पर सांसारिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये भोले लोगोंको ठगनेके उद्देश्य-से भक्त, ज्ञानी, साधु, महात्मा या सिद्ध पुरुषका-सा स्वाँग धारण किये रहते हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो बड़े ही चालाक होते हैं, जो जीवनभर दम्भको निभा देते हैं। ये वस्तुतः अत्यन्त ही निकृष्ट जीव हैं और बड़े ही मूर्ख हैं। दुनियाको ठगने जाकर स्वयं ही ठगे जाते हैं और मनुष्यजीवनको व्यर्थ ही नहीं खोते, वरं बहुत बड़ा पापका बोझा बाँधकर ले जाते हैं। दम्भी लोग ईश्वरसे नहीं डरते, वे स्वेच्छाचारी होते हैं और दुनियाको ठगनेके लिये निरंकुश होकर नाना प्रकारके समयानुकूल भेष धारण करते हैं। ऐसे लोग असली ईश्वर-भजनकी जरूरत समझते ही नहीं। ये नास्तिकोंसे भी गये-बीते होते हैं। ईश्वरको न माननेवाले ईमानदार नास्तिक तो समझमें आनेपर ईश्वरको स्वीकार भी कर सकते हैं, क्योंकि वे सच्चे होते हैं, परन्तु दम्भी मनुष्यके लिये समझनेका और स्वीकार करनेका कोई प्रश्न ही नहीं है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विषयोंके साथ ही भगवान्में भी कुछ प्रेम रखते हैं, वे समय और सुभीता मिलनेपर सत्संग, सेवा, दान, पुण्य, नित्य-कर्म, स्वाध्याय, भजन आदि भी करते हैं परन्तु भगवान्का महत्त्व बहुत कम समझनेके कारण इनकी विषयासक्ति कम नहीं होती, इससे इनके द्वारा न तो भजन ही बढ़ता है और न उसमें शुद्ध निष्कामभाव और अनन्यभाव ही आता है; अवश्य ही ये ईश्वर और पापसे डरते हैं और यथासाध्य पापसे बचनेकी कोशिश करते हैं, ऐसे पुण्यकर्मा विषयासक्त लोग विपरीत करनेवाले या कुछ भी न करनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छे हैं।

थोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जागती है और वे उसके लिये साधनामें लगते हैं, परन्तु इनमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे होते हैं जो ध्येयकी प्राप्तितक साधनामें भलीभाँति लगे रहकर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हैं। इसीसे भगवान्ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई विरला ही मुझको तत्त्वसे जानता है।'

इसका कारण यही है कि साधनामें प्रवृत्त होनेके समय प्रायः मनमें जैसी शुद्ध भावना, उत्साहकी वृत्ति, तत्परता और प्रीति देखी जाती है, वैसी आगे चलकर रहती नहीं। मूलमें ही बहुत मन्द मुमुक्षा होनेके कारण आगे चलकर भिन्न-भिन्न हेतुओंसे साधनामें शिथिलता आ जाती है, भावना दूषित हो जाती है, उत्साह घट जाता है, तत्परता नहीं रहती और प्रीति बहुत कम हो जाती है। साधना भार-सा माल्रम होने लगती है, उसमें कोई रस नहीं आता। इससे कुछ लोग तो साधनाको छोड़ बैठते हैं, और कुछके हृदयमें दम्भ आ जाता है। थोड़े ही ऐसे बचते हैं जो साधनामें लगे रहते हैं, परन्तु उनमें भी बहुत-से ऐसे होते हैं जो थोड़ी-सी सिद्धिमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर साधना छोड़ देते हैं और भगवान्‌की तत्त्वतः प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। इसलिये साधकोंको कुछ ऐसी बातोंपर खयाल रखना चाहिये जिनसे उनकी साधनामें शिथिलता न आने पावे, और अन्त-तक साधना छूटे नहीं। इसी विचारसे यहाँ साधकोंके लिये कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं—

१—भगवत्प्राप्ति ही जीवनका एक मात्र उद्देश्य है, इस बातका बहुत ही दृढ़रूपसे निश्चय कर लें। इस लक्ष्यसे कभी भी डिगें नहीं। संसारके सुख-दुःख, हानि-लाभ, नाना प्रकारके प्रलोभन किसी तरह भी मनको इस लक्ष्यसे च्युत न कर सकें, इस तरहका निश्चित लक्ष्य बना लें। और केवल उसी ओर दृष्टि रखते हुए—मार्गके विघ्नोंको वीरता, धीरतापूर्वक हटाते हुए तेज चालसे आगे बढ़ते रहें।

२—लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधना स्थिर करें। साधना सबके लिये एक-सी नहीं होती। लक्ष्य वह स्थान है जहाँ सबको पहुँचना है और साधना उसके मार्ग हैं। यदि सब लोग यह कहें कि हम तो एक ही रास्तेसे और एक ही चालसे वहाँ जायँगे तो उनका यह कहना भ्रमयुक्त है; भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न स्थितियोंके मनुष्योंका एक रास्ते और एक चालसे चलना सम्भव नहीं है? आसाम, कराची, मद्रास और बद्रिकाश्रम, इन चार स्थानोंके चार पुरुष काशी जाना चाहते हैं। परन्तु वे यदि कहें कि हम एक ही मार्गसे और एक ही चालसे जायँगे तो यह उनकी भूल है। क्योंकि वे चार भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हैं, उनको अपने-अपने रास्तोंसे ही जाना पड़ेगा, और उन चारों स्थानोंकी दूरीमें, रास्तेकी बनावट-में और सवारियोंमें भी भेद है, ऐसी हालतमें वे एक चालसे भी नहीं चल सकते। हाँ, समीप पहुँचनेपर वे एक रास्तेपर आ सकते हैं। बस, यही बात साधनक्षेत्रमें है। जो लोग सबको एक मार्ग और एक चालसे चलाना चाहते हैं वे स्वयं न तो पहुँचे हुए हैं और न मार्गका ही उन्हें अनुभव है। अतएव अपने उपयुक्त साधनाकी जानकारीके लिये किसी जानकारकी शरण लेनी चाहिये। अपनी दृष्टिमें जो सबसे बढ़कर ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महात्मा, त्यागी, दैवीसम्पत्तिवान् और भगव-त्प्राप्त पुरुष दीख पड़ें, श्रद्धाभक्तिसहित जिज्ञासुके भावसे उनकी शरण लें (शरण होनेके पहले आजकलके जमाने-में इतना अवश्य देख लेना चाहिये कि वे 'कामिनी-काञ्चनके फन्देमें तो नहीं फँसे हैं।' चाहे कामिनी-काञ्चनका संसर्ग दिखावटी ही हो परन्तु उस दिखावट-का आप निश्चय नहीं कर सकते, इसलिये आपको तो वहाँसे डरना ही चाहिये।) और अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर नम्रता और सेवासे उन्हें प्रसन्न करके अपने अधिकारके उपयुक्त साधना उनसे पूछें। तथा वे जो कुछ साधना बतला दें उसे श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयमके साथ करने लगें। उनकी बतलायी

हुई साधना चाहे देखनेमें बहुत ऊँची न हो, चाहे दूसरे साधकोंकी साधनाओंसे वह नीचे दर्जेकी समझी जाती हो, चाहे उसमें प्रत्यक्ष लाभ न दीखता हो, और चाहे कुछ दिनोंके अभ्याससे कोई शान्ति भी नहीं मिली दीखती हो, तथापि उसे छोड़ें नहीं और इसके परिणाममें अवश्य ही कल्याण होगा, ऐसा निश्चय करके उनकी आज्ञानुसार साधना करते ही रहें। याद रखना चाहिये, कि एक दवा जो बहुत मूल्यवान् है और बहुत ही कठिनतासे मिलती है, परन्तु वह हमारे रोगकी निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं है, और दूसरी कौड़ियोंकी है तथा सहज ही मिलती है परन्तु वह हमारे रोगके लिये लाभदायक है तो वही हमारे कामकी है और उसीसे हमारा रोग-नाश हो सकता है। सद्गुरु महात्मा पुरुष हमारी स्थितिको पहचानकर हमारे लिये जिस साधनाका विधान कर देंगे, वही हमारे लिये हितकर है यह विश्वास रखना चाहिये। रोगका निदान निपुण वैद्य ही कर सकता है, रोगी नहीं। जो रोगी अनुभवी निपुण वैद्यके निदानको न मानकर मनमानी करता है, वह तो मरता ही है। फिर महात्माओंकी वाणीमें भी तो बल होता है; सत्यकाम जाबालको सिद्ध सद्गुरुने कहा कि 'इन चार सौ पशुओंको जंगलमें ले जाओ, इनकी सेवा करो, ये जब पूरे एक हजार हो जायँ तब लौट आना।' श्रद्धालु शिष्यने यह नहीं विचार किया कि 'मैं आया था ब्रह्मज्ञानकी साधना पूछने, और ये मुझको पशुओंके पीछे क्यों भेज रहे हैं?' वह आज्ञानुसार गोसेवामें लग गया, और हजार गौओंको लेकर लौटते समय राहमें ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी!

३—अपने लिये जो साधना स्थिर हो, उसके करनेमें जी-जानसे अपनेको लगा दें। आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सन्देह, दोषदृष्टि, कुतर्क, अश्रद्धा, अनियमितता आदि दोषोंसे सर्वथा बचकर नियमित साधना करें। जबतक उस साधनाका पूरा परिणाम सामने न आ जाय, तबतक उसे बदलें नहीं। पहलेका रास्ता तै होनेपर ही दूसरा रास्ता पकड़ा जाता है; जो पहले ही रास्तेको बार-बार बदलता रहता है वह तो आगे बढ़ ही नहीं सकता; उसका सारा समय राह बदलनेमें ही बीत जाता है।

४—यह कभी न सोचें कि सिद्धि प्राप्त करनेके बाद साधनाको छोड़ ही देना है। बल्कि यह निश्चय करें कि जिस साधनासे सिद्धि मिली, वह तो हमारे लिये परम प्रिय वस्तु है, उसे कभी छोड़ना ही नहीं है। काकभुशुण्डिने कहा था कि 'मैं इसी-लिये कौवेका शरीर नहीं छोड़ता कि मुझे इसीमें श्रीरामका प्रेम प्राप्त हुआ और श्रीरामके दर्शन मिले थे। अतः यह शरीर मुझे बहुत प्यारा है।

> ताते यह तनु मोहिं प्रिय, भयउ रामपद-नेह।
> निज प्रभु दरसन पाएउ, गयउ सकल संदेह॥

दूसरी बात यह है कि साधना छोड़नेकी कल्पना होनेसे मनुष्यको आगे चलकर वह साधना भार-सा प्रतीत होने लगती है। वह सोचता है, 'इतने दिन हो गये इस साधनाको करते, अब इसे कबतक करता रहूँगा। इससे कुछ होता तो दिखायी देता नहीं, छोड़ दूँ इस बखेड़ेको।' इस प्रकारके विचारसे साधक साधनाको छोड़ बैठता है और वह उसी पथिककी भाँति, जो अपने गाँवसे गंगा नहानेको चलकर अस्सी कोस चला आया परन्तु फिर यह सोचकर कि 'इतना चला अभी तो गंगाजी आयी ही नहीं, पता नहीं कब आवेगी, चलो लौट चलें।' बीस ही कोस और चलनेसे असमर्थ होकर गंगास्नानसे वञ्चित रह जाता है; थोड़ी-सी साधनाके अभावसे बहुत दूरतक जाकर भी लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं कर पाता।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि साधनाके मार्गमें ही कई बार साधक अपनेमें दोषोंका अभाव देखकर भ्रमसे यह मान बैठता है कि मैं लक्ष्यपर पहुँचकर कृतकृत्य हो गया हूँ; ऐसी स्थितिमें जिसका पहलेसे साधना छोड़नेका निश्चय होता है वह साधना छोड़कर निश्चिन्त-सा हो जाता है। परन्तु साधन-रहित अवस्थामें कुसंग पाकर दबे हुए या दुर्बल हुए दोष पुनः जाग उठते हैं और बलवान् हो जाते हैं, और साधकको साधनाके मार्गसे गिरा देते हैं, किन्तु जिसका किसी भी अवस्थामें साधन न छोड़नेका निश्चय होता है वह साधना करता ही रहता है, इससे दबे दोषोंको सिर उठानेका अवसर ही नहीं मिलता और क्षीण होते-होते अन्तमें वे मर ही जाते हैं। यह सत्य है कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद कोई साधना करनी नहीं पड़ती। उसकी स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति होती है, उसमें स्वाभाविक ही ऐसे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है कि उसका संग करके, उसको देखकर, यहाँतक कि उसके गुण सुनकर ही दुराचारी पुरुष भी साधनमें लग जाते हैं। वह कुछ भी करनेकी इच्छा नहीं करता, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, तथापि उस महापुरुषसे सम्बन्धित शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ भी होता है सब पवित्र और लोककल्याणकारी ही होता है, इसीलिये मुक्त पुरुषोंके लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी बात कही गयी है।

वस्तुतः भगवत्प्राप्तिके बाद क्या होता है और क्या होना चाहिये, इसकी यथार्थ मीमांसा भगवत्प्राप्तिसे पूर्व कोई कर नहीं सकता, और भगवत्प्राप्तिके बाद इसकी आवश्यकता रहती नहीं। परन्तु साधकका तो यही निश्चय होना चाहिये कि अपने तो साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनोंमें ही साधनाको पकड़े रखना है। पहले प्राप्तिके लिये, और प्राप्त होनेपर पूर्व अभ्यासके कारण अथवा लोकसंग्रहार्थ। उनका इसीमें कल्याण है। अतएव किसी भी अवस्थामें साधनाको छोड़ देना साधकके लिये हानिकारक है।

५—साधक तीन चीजोंकी बड़ी सावधानीसे प्राप्ति और रक्षा करते रहें—

(१) उच्चभाव—भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त मनमें और कोई भी कामना कभी न उठने पावे। भगवत्-प्राप्तिकी भी कामना न रहकर केवल भजनकी ही कामना हो तो और भी उत्तम है। भगवत्प्राप्ति या मोक्षकी कामना यद्यपि समस्त कामनाओंका सर्वथा नाश करनेवाली होनेसे कामना नहीं है, तथापि विशुद्ध प्रेम, अनन्य शरणागति अथवा तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी उच्चता देखते तो कोई भी कामना—भले ही वह कितनी ही विशुद्ध अथवा उच्च हो, नहीं होनी चाहिये। परन्तु ऐसा न हो तो भी आपत्ति नहीं है। हाँ, भोग-कामना तो सर्वथा त्यागनी ही चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, शरीरका आराम, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके किसी भी दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले पदार्थके लिये मनमें कामनाकी गन्ध भी कल्पनासे भी न रहने पावे। यही उच्च भाव है।

(२) दैवी सम्पत्ति—भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तभी समझी जाती है, जब कि संसारके सारे भोगोंकी इच्छा सर्वथा नष्ट होकर एक भगवान्‌को पानेकी ही अमिट और अति उत्कट लालसा हृदयमें जाग उठे। इस महान् विशुद्ध इच्छाकी जागृति तभी होती है जब आसुरी सम्पदाका नाश होकर चित्त दैवी सम्पदाका अटूट भण्डार बन जाता है। जबतक एक भी आसुरी सम्पदाकी वस्तु हमारे मनमें है तबतक मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी कामना त्याग करनेकी बात तो दूर रही, मोक्षकी यथार्थ इच्छा ही नहीं हुई है; साधकको बड़ी ही सावधानीसे आसुरी सम्पदाको खोज-खोजकर उसका नाश कर देना चाहिये।

यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारेद्वारा जो कुछ दुष्कर्म बनते हैं, या हमारे हृदयमें जो भी दुर्भाव रहते हैं उसमें भूलसे हो, प्रमादसे हो या कमज़ोरीसे हो, हमारी आत्माकी अनुमति अवश्य रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक मनसे कह दे कि 'तुम आजसे एक भी पापवृत्तिको अपनेमें नहीं रख सकते।' और पापवृत्तियोंको ललकारकर कह दे कि, 'जाओ निकल जाओ, यहाँसे तुरन्त, यहाँ रहे तो समूल नष्ट हो जाओगे।' तो मनकी हिम्मत नहीं कि एक भी दोषको अपनेमें स्थान दे सके, और पापवृत्तियोंकी शक्ति नहीं कि क्षणभर भी वे हमारे अंदर ठहर सकें। आत्माके समान बलवान् और कोई भी नहीं है। आत्माके ही बलको पाकर सब बलवान् हैं। आत्माकी शक्तिसे ही सबमें शक्ति है। शक्तिका मूल उद्गमस्थान और पूर्ण केन्द्र तो आत्मा ही है। यही सबका सचेतन शक्तिधाम है। भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३।४३)

'इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे भी परम शक्तिमान् और श्रेष्ठ जानकर अपनेद्वारा इन सबको (बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरादिको) वशमें करके हे महाबाहो! इस (ज्ञानियोंके नित्य वैरी और सब पापोंके मूल) दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।'

भगवान्‌की इस वाणीसे यह निश्चय होता है, और सन्तोंका ऐसा अनुभव भी है कि आसुरी सम्पदा और उसके प्रधान आधार काम, क्रोध, लोभादिका नाश करके दैवी सम्पदाका अर्जन करना भगवत्कृपासे हमारे लिये कोई बड़ी बात नहीं है। बस, आत्मामें बलवती आज्ञाशक्तिका प्रकाश हो जाना चाहिये, जो उसका स्वरूप है; फिर आसुरी सम्पत्तिका विनाश और दैवी सम्पत्तिका विकास होते देर नहीं लगती। आत्माकी जागृति होते ही आसुरी सम्पदाएँ भागने लगती हैं और दैवी सम्पदाओंका प्रवाह चारों ओरसे आने लगता है।

(३) अन्तर्मुखी वृत्ति—इन्द्रियोंकी और मनकी दृष्टि सदा बाहरकी ओर ही होती है। इसीसे स्वाभाविक ही चित्तवृत्ति भी बहिर्मुखी रहती है। साधक यदि विशेषरूपसे सावधान न रहें तो उनकी साधनाका लक्ष्य विचार-बुद्धिसे भगवान् होनेपर भी क्रियारूपमें विषय-भोग ही बना रह जाता है। वे अपनी प्रत्येक साधनाको बाहरी शक्तिसे शक्तिसम्पन्न बनाने और बाहर ही उसका विकास देखनेकी इच्छा करते हैं। सारी शक्ति भगवान्से, जो नित्य हमारे अंदर आत्मारूपसे भी विराजित हैं,—आती है और सारी शक्तियोंसे उन्हींकी हमें पूजा करनी है। इस बातको साधक प्रायः भूल जाते हैं, इससे उनका चित्त बाहर-ही-बाहर भटकता है और इसी हेतुसे वे साधनाके फलस्वरूप अवश्य प्राप्त होनेवाली यथार्थ शान्तिको नहीं पाते। वृत्तिको बाहरसे हटाकर अंदर लगानेके लिये—विषयरूप संसारसे हटाकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जोड़नेके लिये यथावश्यक एकान्तवास, जप, स्वाध्याय आदि उपाय करने चाहिये। किसी भी तरहसे हो, चित्त आठों पहर भगवान्में ही लगा रहे, ऐसा प्रयत्न किये बिना साधकको सहज ही सफलता नहीं मिलती!

६—साधनाको निरुपद्रव और सफल बनानेके लिये शरीर, वाणी और मन तीनोंके ही संयमकी आवश्यकता है। शरीरसे चोरी, मैथुन, हिंसा, दूसरेका अपमान, टेढ़ापन या ऐंठ, आरामतलबी, अपवित्रता, व्यर्थ क्रिया, और कुसंगतिमें बैठना आदिका त्याग करे। वाणीसे असत्य, अप्रिय,

अहितकर, चुगली, निन्दा, अधर्मयुक्त परचर्चा और व्यर्थ वचनोंका त्याग करे। मौन रहनेसे भी वाणीके बहुत दोषोंका नाश हो सकता है। मनसे शोक, निर्दयता, द्वेष, वैर, हिंसा, अशुद्ध विचार, भोगकामना, परदोषचिन्तन और व्यर्थ चिन्तनका त्याग करना चाहिये। इस विषयमें विवेक-युक्त होकर विशेष सावधानी रखनी चाहिये। एक मनुष्य स्त्रियोंमें नहीं बैठता, परन्तु स्त्रियोंका चित्र देखता है, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है, तो वह स्त्रीसंग करता ही है। एक मनुष्य कुसंगमें नहीं जाता परन्तु बुरे-बुरे चित्र देखता है और लिखी गन्दी बातें पढ़ता है, वह भी कुसंग ही करता है। बल्कि मनमें स्त्रीचिन्तन और कुविचार जबतक हैं तबतक यही समझना चाहिये कि इनका यथार्थ त्याग हुआ ही नहीं। परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस दोषका जिस किसी प्रकारसे जितने भी अंशमें त्याग हो, उतना ही लाभकारी है। मनमें संयम नहीं होनेपर भी वाणी और शरीरका संयम तो करना ही चाहिये। वह मनके संयममें बहुत सहायक होता है।

साधक यह न समझें कि हम साधन करते ही हैं, फिर इस संयमकी हमें क्या आवश्यकता है; उन्हें याद रखना चाहिये कि जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होती, तबतक हमारे अंदर रहनेवाले अज्ञानजनित दोषों और विकारोंका सर्वथा नाश नहीं होता, वे संयम, सत्संग और साधनाके कारण छिपते हैं, दबते हैं, और क्षीणबल होते हैं; यदि संयमयुक्त सत्संग और साधना चलती रहे तो क्षीण होते-होते वे भगवत्प्राप्ति होनेके साथ ही नष्ट हो जाते हैं परन्तु यदि संयम न रहे तो अनुकूल वातावरण पाकर वे उसी तरह बलवान् हो जाते हैं, और हमारी साधन-सम्पत्तिको लूट लेते हैं जैसे घरके भीतर छिपे हुए डाकू, बाहर डाकुओंका दल देखकर बलवान् हो जाते हैं। उनका साहस बढ़ जाता है और वे हमला करनेकी तैयारी करने लगते हैं। और यदि दोनों ओरसे आक्रमण होता है तो गृहस्थको प्रायः लुटना ही पड़ता है। इस प्रकार बाहरके दोषोंका सहारा पानेसे अंदरके दोष बढ़कर हमारी सारी साधनाको नष्ट कर देते हैं। इसलिये मन, वाणी और शरीरके अटूट संयमके बलसे अंदरके दोषोंको सदा दबाते और मारते रहना चाहिये तथा बाहरके नये दोषोंको जरा भी आने नहीं देना चाहिये। साधकको निरन्तर आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये, और जरा-से भी दोषको देखते ही उसे मारना चाहिये।

७—साधकको उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य, और पञ्च आदि नहीं बनना चाहिये। संसारमें अपने-अपने क्षेत्रों-में इन सभीकी आवश्यकता और उपादेयता है। परन्तु ये सभी साधन संसारसे बाहरकी चीजें हैं। या तो विषयी पुरुष आसक्तिवश इनमें रहते हैं, या निःसंग और निष्काम मुक्तपुरुष जलमें कमलके पत्तेकी तरह निर्लेप रहकर ('पद्मपत्रमिवाम्भसा') लोक-संग्रहार्थ ये कार्य करते हैं। साधकोंके लिये तो इन्हें अपने मार्गके प्रधान विघ्न समझकर इनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

पहले-पहले तो अच्छे साधक पुरुष निःस्वार्थ दया या लोकहितके उद्देश्यसे ही इन कामोंमें पड़ते हैं, परन्तु पीछे जब इनका विस्तार होता है और रागद्वेष-मय जगत्से रात-दिनका सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है तब बहुत बुरी दशा होती है। जिस मोहको छोड़नेके लिये साधना आरम्भ की थी, वही दूसरे रूपमें उसे आ घेरता है। मोहकी प्रबलतासे सारी साधना छूट जाती है और वह (विरक्त साधुको भी साधुके वेशमें ही) पूरा प्रपञ्ची बना देता है।

इसके सिवा एक बात और भी है। भगवत्प्राप्त पुरुष तो आलोचनासे परे हैं, परन्तु साधारण साधक

जब उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य या पञ्च बन जाता है तो वह अपनेको, अपने लक्ष्यको और अपनी स्थितिको प्रायः भूल-सा जाता है । वह जो कुछ कहता है और करता है, सो दूसरोंके लिये ही कहता है। परिणाम यह होता है कि जिन दोषों और बुराइयोंसे बचनेका वह दूसरोंको उपदेश करता है, स्वयं उन्हींको आवश्यक और अनिवार्य समझकर अपनाये रखता है । उसका जीवन बहुत ही बाह्य बन जाता है । इसीके साथ-साथ उसमें पूजा-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाईकी इच्छा प्रबलरूपसे जागृत और विस्तृत होती है जो उसे साधन-पथसे सर्वथा गिरा देती है ।

साथ ही साधकको बहुधंधी भी नहीं होना चाहिये । इतना कार्य अपने पीछे कभी नहीं लगा रखना चाहिये जिसमें उसे भजन और ध्यान आदि आवश्यक साधनांगोंकी पूर्तिके लिये अवकाश ही न मिले । शास्त्रार्थ या विवादमें पड़ना भी साधकके लिये बहुत हानिकर है।

इसलिये मान-सम्मान, अभिमान-गर्व, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे तथा उपर्युक्त दोषोंसे बचनेके लिये साधकको जहाँतक हो सके, प्रसिद्धिके कार्योंसे सर्वथा अलग ही रहना चाहिये ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वरकी दृष्टिमें जो उत्तम है, वही उत्तम है; क्योंकि उन्हींकी दृष्टि निर्दोष एवं सत्य है । मनुष्यके द्वारा उत्तम कहलानेसे कुछ भी नहीं बनता । भीतरकी न जाननेवाली जनता तो दम्भीकी भी तारीफ कर सकती है ।

८—साधकको यह दृढ़ और अटूट विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्के शरणागत, साधनमें लगे हुए सच्चे पुरुषके लिये भगवत्कृपाके बलसे लक्ष्यको प्राप्त करना जरा भी कठिन नहीं है । निराशाकी तो बात ही नहीं, उन्हें कठिनता भी नहीं होती । भगवान्पर विश्वास करना सब सफलताओंकी एक कुंजी है । भगवान् या आत्माकी शक्ति अप्रतिहत और अमोघ है । जो इस शक्तिका आश्रय लेता है वह सभी क्षेत्रोंमें निश्चय ही सफल होता है । कोई भी विघ्न ऐसा नहीं जो इस शक्तिके सामने ठहर सके और कोई भी कार्य ऐसा नहीं कि जो इसके लिये असम्भव हो ।

हाँ, साधकको यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि भ्रमसे, प्रमादसे और असावधानीसे कहीं वे भगवान्की इस अमोघ शक्तिके बदले शरीर और विषय-जन्य आसुरी शक्तिका तो आश्रय नहीं ले रहे हैं । उनका मन उन्हें धोखेमें रखकर कहीं दुनियावी पदार्थों, मनुष्यों, साधनों और विचारोंका तो अवलम्बन नहीं पकड़ रहा है।

(शेष आगे)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण

अन्धे बन जाओ—परमात्माको छोड़कर और किसीको देखनेमें—दूसरा कुछ देखो ही मत । ऐसा न हो सके—जगत् दीखे तो कम-से-कम दूसरोंके दोषोंको, परायी स्त्रीको, लुभी दृष्टिसे भोगोंको, पराये पापोंको और जगत्की नित्यताको तो देखो ही मत ।

× × ×

गूँगे बन जाओ—भगवान् और भगवान्के सम्बन्धकी बातोंको छोड़कर अन्य कुछ भी बोलनेमें । जो कुछ बोलो—भगवान्के नाम और गुणोंकी ही चर्चा करो । ऐसा न हो सके—बिना बोले न रहा जाय तो कम-से-कम असत्य, कपटपूर्ण, दूसरोंका अहित करनेवाले, परनिन्दाके, अपनी प्रशंसाके, व्यर्थ बकवादके और भगवान्में प्रीति न उपजानेवाले वचन तो बोलो ही मत ।

× × ×

बहरे बन जाओ—भगवान् और भगवान्के सम्बन्धकी मधुर चर्चा, कीर्तन, गान आदिको छोड़कर और कुछ भी सुननेमें। जो कुछ सुनो—भगवन्नाम और भगवान्के तत्त्व और लीला-चरित्र ही सुनो। ऐसा न हो सके—और भी कुछ सुनना पड़े तो कम-से-कम ईश्वरनिन्दा, साधुनिन्दा, परनिन्दा, स्त्रीचर्चा, पराये अहितकी चर्चा, अपनी प्रशंसा, व्यर्थ बकवाद और चित्तको परमात्माके चिन्तनसे हटानेवाले शब्द तो सुनो ही मत।

× × ×

लूले-लँगड़े बन जाओ—भगवान्के और भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंको छोड़कर और कहीं भी जानेमें—जहाँ भी जाओ भगवान्के प्रेमके लिये, उनकी सेवाके लिये उनके मन्दिरोंमें ही जाओ, चाहे उन मन्दिरोंमें मूर्ति हों, या वे साधारण घर हों। ऐसा न हो सके—दूसरी जगह जाना ही पड़े तो कम-से-कम—वेश्यालयमें, शराबखानेमें, जुवारियोंमें, कसाइयोंमें, पर-पीड़कोंमें, जहाँ भगवान्की, संतोंकी, धर्मकी, सदाचारकी निन्दा या इनके विरोधमें क्रिया होती हो ऐसे स्थानोंमें, जहाँ परनिन्दा और अपनी प्रशंसा हो, ऐसी जगहोंमें तो जाओ ही मत।

'शिव'

हमारे दो प्रेमी

पिछले दिनों दो ऐसे महानुभावोंका शरीरवियोग हुआ है, जो अंगरेजी शिक्षित होनेपर भी शास्त्रमें विश्वास करनेवाले परम आस्तिक और सच्चे भक्त थे। इनमें एक लखनऊके प्रो० देशराजजी लूंबा, और दूसरे काशीके श्रीरामदासजी गौड़।

लूंबाजीकी भगवद्भक्तिने उनके सारे परिवारमें ही नहीं, लखनऊके बहुत-से नर-नारियोंमें भगवान्के प्रति प्रीति जागृत कर दी थी। जहाँ कहीं कीर्तन-कथा होती—लूंबाजी उसमें पहुँचते। लोगोंको ले जाते। उत्साह दिलाते। साधु-महात्माओंकी बड़ी श्रद्धाके साथ सेवा करते। आप बड़े ही नम्र, मधुभाषी, साधनापरायण पुरुष थे। पिछले दिनों वृन्दावनमें थे। आपके घरमें नित्य भगवान्की प्रेमपूर्वक पूजा होती है। इस दृष्टिसे आप धन्यजीवन थे और आपके शरीरत्यागसे सारे परिवारको और मित्रोंको वियोगका कठिन कष्ट होनेपर भी आपकी सच्ची निष्ठा देखते यह विश्वास होता है कि आप इस समय भगवान्के और भी विशेष समीप और विशेष सुखकी स्थितिमें होंगे।

श्रीरामदासजी विज्ञानके पण्डित थे, त्यागी थे, सिद्धान्तके पीछे आपने अच्छी आयके गौरवयुक्त पदोंको छोड़ दिया था। बस, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी पूजा और पूजाके भावसे ही घरके निर्वाहके लिये साहित्यके द्वारा कुछ अर्थोपार्जनका कार्य करते थे। आप सनातनधर्मके बहुत अच्छे पण्डित, शास्त्रविश्वासी, भगवान् श्रीरामजीके सेवक, रामायणके मर्मज्ञ विद्वान् और साधु स्वभावके पुरुष थे। आपके इस शरीरमें न रहनेसे हिन्दी-जगत्का एक विशेष श्रेणीका भक्त और वैज्ञानिक लेखक उठ गया। आपके स्थानकी पूर्ति दूसरे किसीके द्वारा भी होनी बहुत ही कठिन है। श्रीगौड़जीकी भक्तिनिष्ठा उनको सद्गति देनेमें समर्थ होगी। उनकी धर्मपत्नी और बच्चोंके प्रति हिन्दी-संसारका जो कर्त्तव्य है, उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा सबको करनी चाहिये।

दोनों ही सज्जन हमारे बड़े प्रेमी थे। इनके वियोगसे व्यावहारिक दृष्टिसे हमें बड़ा दुःख है! परन्तु ईश्वरकी दयाका रहस्य हम जान नहीं सकते!

Regd. No. A. 1724.

मोक्ष कौन पा सकता है ?

जो पुरुष क्रोध, लोभ, मोह और भूख-प्यास आदिको जीत लेता है; जो मोहवश जुआ खेलने, शराब पीने, स्त्री-संग करने और शिकार खेलनेकी लतमें नहीं फँसता; और जिसका मन जवान स्त्रियोंको देखकर नहीं बिगड़ता, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो जन्म, मरण और जीवनके क्लेशोंको भलीभाँति जानता है; जो अपने खानेभरका ही अन्न लेता है; जो महल और झोंपड़ेको समान समझता है, और जो सब प्राणियोंको बीमारी और मानस पीड़ित तथा जीविकाके लिये दुखी देखता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो थोड़े ही लाभमें सन्तुष्ट होता; जगतके सुख-दुःखमें स्वयं आसक्त नहीं होता; पलंग और पृथ्वीपर सोनेको, बढ़िया या घटिया भोजनको, रेशमी अथवा वल्कल वस्त्रोंको और कम्बल अथवा टाटको समान समझता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो सब प्राणियोंको पञ्चभूतोंसे उत्पन्न जानकर स्वतन्त्र विचरता है; जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय और भय और उद्वेगको समान समझता है; जो खून-मांस और मल-मूत्रसे भरे शरीरको दोषोंकी खान, बीमारी और बुढ़ापेके दुःखों और दुर्बलता, इन्द्रियहीनता आदि दोषोंको जानता है, वही मोक्ष पा सकता है ।

जो देवता, ऋषि और असुरोंका भी परलोकगमन देखकर समस्त संसारको अनित्य समझता है; जो इस लोकमें विषयकी प्राप्तिको कठिन और दुःखकी प्राप्तिको सहज समझता है; जो सब प्रकारके व्यवहारोंको देखकर सब पदार्थोंको असार समझता है और परमार्थके लिये ही उद्योग करता है, वही मोक्ष पा सकता है । (महाभारत)

कल्याण

वर्ष १२

मार्गशीर्ष १९९४
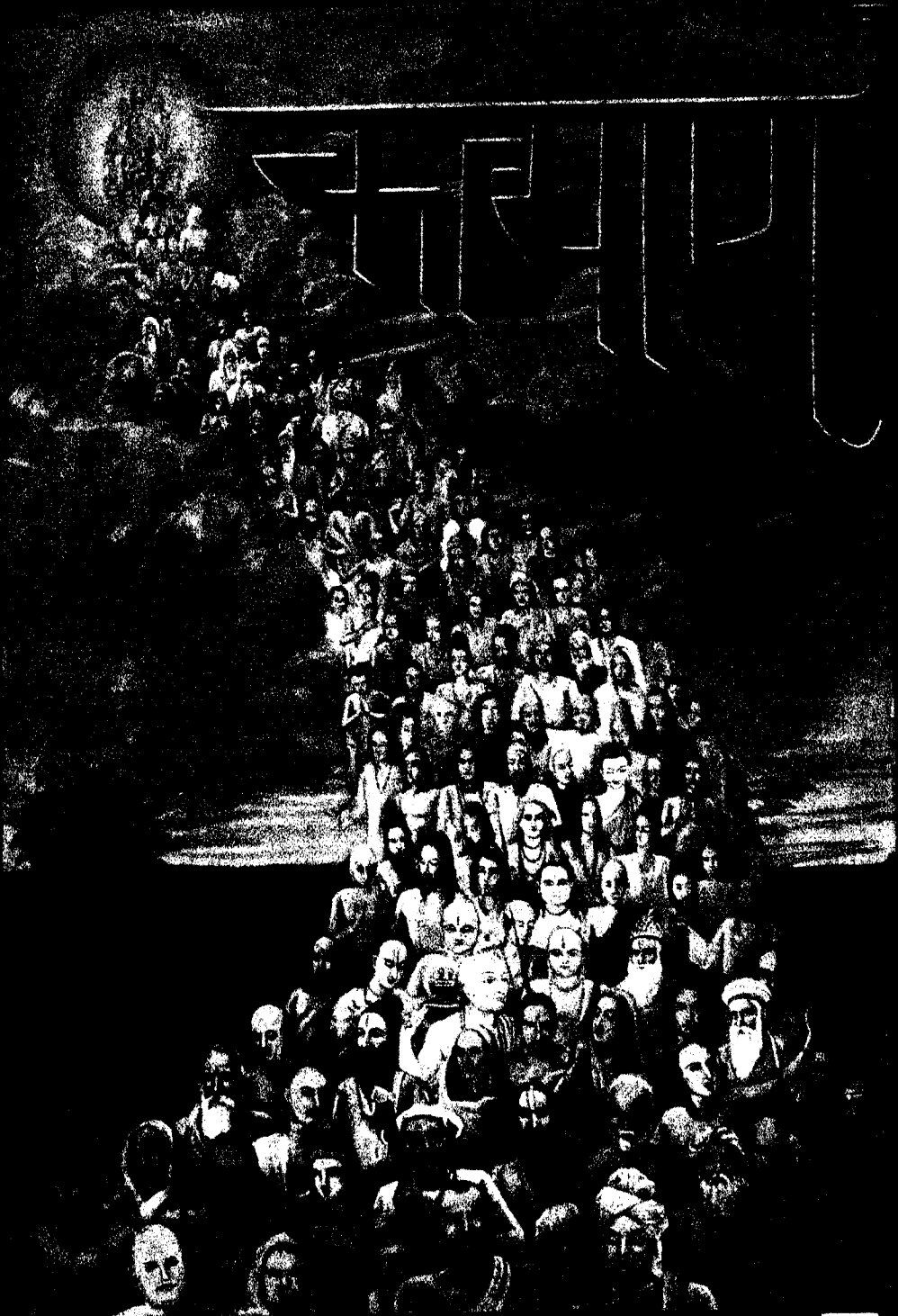
अंक ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥

रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३७६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कल्याण मार्गशीर्ष संवत् १९९४ को

विषय-सूची

ग्राहकोंको सूचना

हमारे यहाँकी सभी पुस्तकें, चित्र एवं कल्याणके अङ्क हमारे गोविन्दभवन कार्यालय, नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्तामें भी मिलते हैं। कम-से-कम १०) रुपयेकी केवल पुस्तकें लेनेवालोंको २५) सैकड़ा कमीशन भी वहाँसे मिलता है। वी. पी. मँगानेवाले सज्जन गोरखपुरसे ही मँगावें।

मैनेजर

गीताप्रेस, गोरखपुर

❁ गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें ❁

१-श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २।।) कपड़ेकी जि० २।।।)

२-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५७०, ६६००० छप चुकी, ४ चित्र मू० १।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५६०, सजिल्द, मूल्य ... १।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५७०, सजिल्द, मूल्य ... १।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-(श्रीकृष्ण-विज्ञान) अर्थात् गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृ० २७५, मू० ।।।) सजिल्द १)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृ० ४६८, मू० ।।≈) स० ।।।=)

७-श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, प्रायः सभी विषय हिन्दी गीता ।।≈) वालीकी तरह, पृ० ५३५, मू० ... ।।।)

८-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, नं० ९ की तरह, मोटे टाइप, साधारण भाषा-टीकासहित, पृ० ३१६, मू० ।।) स० ... ।।≈)

९-गीता-साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, (४८०००० छप चुकी) पृ० ३५२, मू० =)।। स० ≈)।।

१०-गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, (२५००० छप चुकी) पृ० १०६, मूल्य ।-) सजिल्द ... ।≈)

११-गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ... ।=)

१२-गीता-भाषा, गुटका, प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, २ चित्र, पृ० ४०० मू० ।) सजिल्द ... ।-)

१३-गीता-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृ० ३२८, सजिल्द, मूल्य ... ... ।)

१४-गीता-मूल ताबीजी, साइज २×२।। इञ्च (७५००० छप चुकी है) पृ० २९६, सजिल्द, मूल्य ... =)

१५-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, ११९९०० छप चुकी है, पृ० १३०, मूल्य -)।।

१६-गीता-७।।×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ... ... -)

१७-गीता-डायरी पञ्चाङ्गसहित सन् १९३८, गत वर्षोंमें लाखों बिक चुकी, पृ० ४४६, मूल्य ।) सजिल्द ।-)

१८-ईशावास्योपनिषद्-हिन्दी-अनुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ... ≈)

१९-केनोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ... ... ।।)

२०-कठोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ... ... ।।-)

२१-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ... ।≈)

२२-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ... ... ।≈)

उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ... २।-)

२३-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ... १)

२४-तैत्तिरीयोपनिषद् ,, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ... ... ।।।-)

२५-ऐतरेयोपनिषद् ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ... ... ।=)

उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ... २।=)

२६-छान्दोग्योपनिषद्-सानुवाद शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ-संख्या ९८४, सजिल्द ... ३।।।)

२७-श्रीविष्णुपुराण-हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २।।) कपड़ेकी जिल्द २।।।)

२८-अध्यात्मरामायण-सातों काण्ड, सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृ० ४००, मूल्य १।।।) सजिल्द २)

२९-प्रेमयोग-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, ११००० छप चुकी, मोटा एण्टिक कागज, पृ० ४२०, मू० १।) स० १।।)

३०-श्रीतुकाराम-चरित्र-पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≈) सजिल्द ... ... १।।)

३१-भक्तियोग-'भक्ति' का सविस्तर वर्णन, ले०-चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादजी, सचित्र, पृ० ७०८, मूल्य १=)

३२-भागवतरत्न प्रह्लाद-३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, पृष्ठ ३४०, मूल्य १) सजिल्द १।)

३३-विनय-पत्रिका-गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनु०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, ६ चित्र, मू० १), स० १।)

३४-गीतावली- ,, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, अनु०-श्रीमुनिलालजी, ८ चित्र, पृ० ४६०, मू० १) स० १।)

३५-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)-ले० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ २९२ मू० ।।।=) स० १=)

३६- ,, ,, (खण्ड २)-९ चित्र, ४५० पृष्ठ । पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ । मूल्य १=) सजिल्द १।=)

३७- ,, ,, (खण्ड ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ... ... १।)

३८- ,, ,, (खण्ड ४)-१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ।।=) सजिल्द ... ... ।।।=)

३९–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५)–१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ।।।) सजिल्द ... ... १)
उपरोक्त पाँचों खण्ड सजिल्द (दो जिल्दोंमें) मूल्य ... ... ५)
४०–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, एण्टिक कागज, मू० ।।=) स० ।।।–)
४१– ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४८, गुटका, प्रचारार्थ मू० ।–) स० ।=)
४२– ,, भाग २– ,, ,, ,, ,, ६३२, एण्टिक कागज, मू० ।।।=) स० १=)
४३– ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ७५०, गुटका, प्रचारार्थ मू० ।=) स० ।।)
४४–मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषाटीकासहित, अनु०–श्रीमुनिलालजी पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।–) सजिल्द ... १–)
४५–श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संतकी जीवनी और उपदेश, सचित्र, पृ० ३५६, मू० ... ।।।–)
४६–पूजाके फूल–श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, सचित्र पृ० ४१४, मू० ... ।।।–)
४७–एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित, यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है, पृ०४२०, मू० ।।।) स० १)
४८–श्रीविष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृ० २७५, मूल्य ... ।।=)

४९–देवर्षि नारद–५ चित्र, पृष्ठ २४०, मू० ।।।) स० १)
५०–शरणागतिरहस्य–सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।≈)
५१–शतपञ्च चौपाई–सानुवाद, सचित्र, पृ० ३४०, मू० ।।=)
५२–सूक्तिसुधाकर–सानुवाद सचित्र, पृ० २७६, मू० ।।=)
५३–आनन्दमार्ग–सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।–)
५४–कवितावली–गो० तुलसीदासजीकृत, सटीक, ४ चित्र, ।।–)
५५–स्तोत्ररत्नावली–अनुवाद-सहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ... ।।)
५६–श्रुति-रत्नावली–सचित्र, संपा०–श्रीभोलेबाबाजी, मू० ।।)
५७–नैवेद्य–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मू० ।।) सजिल्द ... ।।≈)
५८–तुलसीदल–सचित्र, पृ० २९२, मू० ।।) स० ।।≈)
५९–श्रीएकनाथ-चरित्र–सचित्र, पृ० २४०, मू० ।।)
६०–दिनचर्या–सचित्र, पृ० २२२, मू० ।।)
६१–श्रीरामकृष्ण परमहंस–५ चित्र, पृ० २५०, मू० ।≈)
६२–धूपदीप–लेखक–श्री 'माधव' जी, पृ० २४०, मू० ।≈)
६३–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृ० १००, चित्र १०, मू० ।=)
६४–प्रेमदर्शन–(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) ।–)
६५–गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला, कर्मकाण्ड पृ० १८२, ।–)
६६–लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृ० ३५० ।=)
६७–श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश, सचित्र, पृष्ठ २१८ ।=)
६८–तत्त्वविचार–सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ।=)
६९–भक्त नरसिंह मेहता–सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य ।=)
७०–भक्त-भारती–(७चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र ।≈)
७१–भक्त बालक–५ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, ।–)
७२–भक्त नारी–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, ।–)
७३–भक्त-पञ्चरत्न–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९८, ।–)
७४–भक्त-चन्द्रिका–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९२, ।–)
७५–आदर्श भक्त–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ११२, ।–)
७६–भक्त-सप्तरत्न–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०६, ।–)
७७–भक्त-कुसुम–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९१, ।–)

७८–प्रेमी भक्त–९ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०४, ।–)
७९–यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित, पृ०९२, ।)
८०–विवेक-चूडामणि–सचित्र, सटीक, पृष्ठ २२४, मू० ।–)
८१–गीतामें भक्तियोग–सचित्र, ले०–श्रीवियोगी हरिजी ।–)
८२–व्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मू० ।)
८३–श्रीबदरी-केदारकी झाँकी–सचित्र, मूल्य ।)
८४–परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह, पृ० १४४, ।)
८५–ज्ञानयोग–इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है, पृ० १२५, ।)
८६–कल्याणकुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)
८७–प्रबोध-सुधाकर–सचित्र, सटीक, पृ० ८०, ≈)।।
८८–मानवधर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ११३, ≈)
८९–साधन-पथ–ले०– ,, (सचित्र) =)।।
९०–प्रयाग-माहात्म्य–(१६चित्र), पृ० ६४, मूल्य =)।।
९१–माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य–सचित्र पृ० ९४, मू० =)।।
९२–गीता-निबन्धावली–ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका =)।।
९३–अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित, पृ०४८, =)।।
९४–मनन-माला–सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है, मू० =)।।
९५–भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०–श्रीवियोगी हरिजी =)
९६– ,, दूसरा भाग ,, =)
९७– ,, तीसरा भाग ,, =)
९८– ,, चौथा भाग ,, =)
९९– ,, पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) लेखक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)
१००–शतश्लोकी–हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य =)
१०१–नवधा भक्ति–ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य =)
१०२–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–ले० ,, मूल्य –)।।
१०३–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्शशिक्षा ले० ,, मूल्य –)।
१०४–नारीधर्म (नयी पुस्तक)–ले० ,, मूल्य –)।।
१०५–मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित, मूल्य –)।।

१०६–चित्रकूटकी झाँकी–(२२ चित्र), मूल्य -)॥
१०७–हनुमानबाहुक–सचित्र, सटीक, मूल्य -)॥
१०८–गोपी-प्रेम–(सचित्र) पृष्ठ ५०, मूल्य -)॥
१०९–स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–(सचित्र), पृ० ५६, मूल्य -)॥
११०–मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, मूल्य -)।
१११–मूल गोसाईं-चरित–मूल्य -)।
११२–मूल रामायण–१ चित्र, मूल्य -)।
११३–ईश्वर–लेखक–पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, मू० -)।
११४–गीताका सूक्ष्म विषय–पाकेट-साइज, पृ० ७०, -)।
११५–श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश–सचित्र, मूल्य -)
११६–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–मूल्य -)
११७–आनन्दकी लहरें–(सचित्र), मूल्य -)
११८–ब्रह्मचर्य–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य -)
११९–समाज-सुधार–मूल्य -)
१२०–वर्तमान शिक्षा–पृ० ४५, मूल्य -)
१२१–सत-महाव्रत–ले०—श्रीगांधीजी, मूल्य -)
१२२–आचार्यके सदुपदेश–मूल्य -)
१२३–एक संतका अनुभव–मूल्य -)
१२४–गोविन्ददामोदरस्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ ३७, मूल्य -)
१२५–श्रीरामगीता–मूल, अर्थसहित (पाकेट-साइज), मूल्य)॥।
१२६–शारीरकमीमांसादर्शन मूल, पृ० ५४,)॥।
१२७–विष्णुसहस्रनाम–मूल, मोटा टाइप)॥। सजिल्द -)॥
१२८–हरेरामभजन–२ माला, मूल्य)॥।
१२९–सीतारामभजन–(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१३०–सेवाके मन्त्र–(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१३१–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृ० ३५, मूल्य)॥
१३२–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, गुटका, मूल्य)॥
१३३–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग ,,)॥
१३४–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, गुटका, मूल्य)॥
१३५–भगवान् क्या हैं ? मूल्य)॥
१३६–सन्ध्या–(हिन्दी-विधि-सहित), मूल्य)॥
१३७–बलिवैश्वदेव-विधि–मूल्य)॥
१३८–प्रश्नोत्तरी–श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित), मूल्य)॥
१३९–पातञ्जलयोगदर्शन–(मूल), गुटका, मूल्य)।
१४०–नारद-भक्ति-सूत्र–(सार्थ गुटका), मूल्य)।
१४१–गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज, मूल्य)।
१४२–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–मूल्य)।
१४३–धर्म क्या है ?–५०००० छप चुका, मूल्य)।
१४४–महात्मा किसे कहते हैं ?–पृष्ठ २०, गुटका, मूल्य)।
१४५–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है–पृष्ठ २०, गुटका, मू०)।
१४६–प्रेमका सच्चा स्वरूप–पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१४७–हमारा कर्तव्य–पृष्ठ २२, गुटका, मूल्य)।
१४८–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है, पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१४९–दिव्य सन्देश–मूल्य)।
१५०–कल्याण-भावना ले०–श्रीताराचन्द्रजी पांड्या, गुटका)।
१५१–श्रीहरिसंकीर्तनधुन–मूल्य)।
१५२–लोभमें पाप–(गुटका), मूल्य आधा पैसा
१५३–गजलगीता–(,,), मूल्य आधा पैसा
१५४–सप्तश्लोकी गीता–(,,), मूल्य आधा पैसा

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर।

Books in English

1. The Story of Mira Bai.
   (By Bankey Behari) 32 Songs of Mira with English translation and one illustration added to the previous edition -/13/-
2. At the touch of the Philosopher's Stone.
   (A Drama in five acts) ... ... -/9/-
3. Mind: Its Mysteries & Control.
   (By Swami Sivananda) ... ... -/8/-
4. Way to God-Realization.
   (By Hanumanprasad Poddar) ... ... -/4/-
5. Our Present-Day Education.
   (By Hanumanprasad Poddar) ... ... -/3/-
6. The Immanence of God.
   (By Malaviyaji) ... ... -/2/-
7. The Divine Message.
   (By Hanumanprasad Poddar) ... ... -/-/9

MANAGER—THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

नोट—विशेष जाननेके लिये पुस्तकोंका एवं चित्रोंका बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।
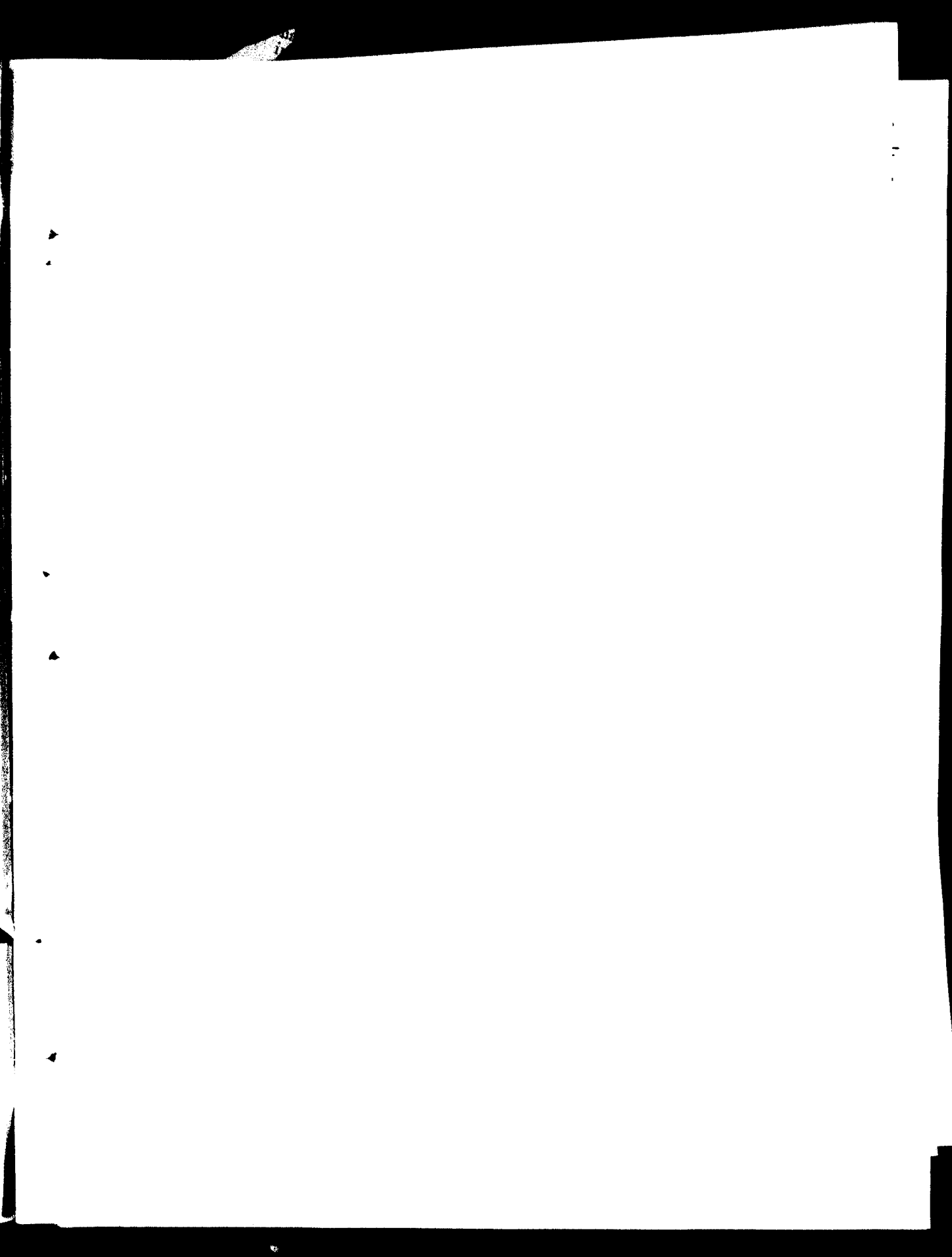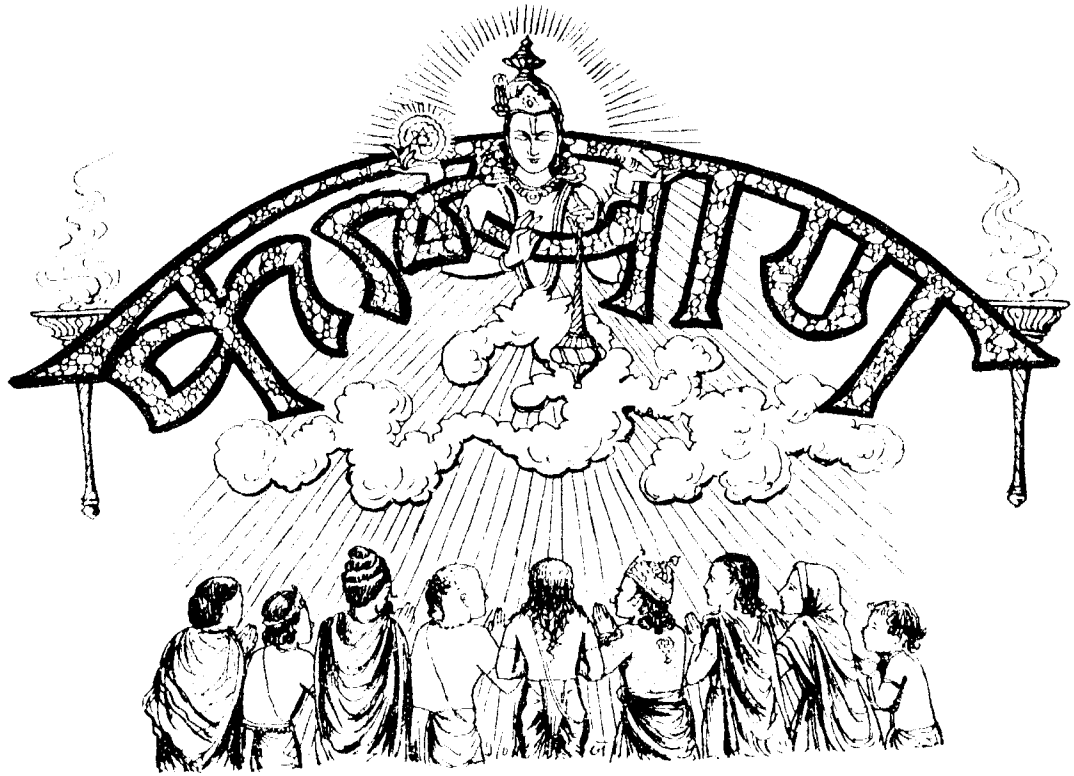
आनन्द और प्रेम

विहरत कुंजनि श्यामा-श्याम ।

नोट—विशेष जानने के लिये पुस्तक ...

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, मार्गशीर्ष १९९४, दिसम्बर १९३७ { संख्या ५ पूर्ण संख्या १३७

भली समझ

और कोऊ समुझै सो समुझै हमकूँ इतनी समझ भली ।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे ठकुराइन बृषभान-लली ॥
श्रीदामादिक सखा स्यामके स्यामासँग ललितादि अली ।
ब्रजपुर बास सैल-बन बिहरन कुंजन कुंजन रंगरली ॥
इनके लाड चहूँ सुख सेवा भाव-बेलि रसफलनि फली ।
कह भगवान हित रामराय प्रभु सबतें इनकी कृपा भली ॥

सब शिव-ही-शिव है

एक शिव ही नाना रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं । 'यह जगत् ईश्वरसे अलग है' ऐसी बुद्धि अज्ञानमूलक है । सभी ब्रह्म है; ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; अज्ञानसे ही नानात्व-बुद्धि हो रही है । जीव, मायाके वश होकर आत्माको परमात्मासे अलग समझता है । श्रवण-मननादि साधनोंसे जब वह मायासे छूट जाता है, तब उसी क्षण शिवस्वरूप हो जाता है । शिव सर्वव्यापी हैं, सभी प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं । जैसे अग्नि सभी लकड़ियोंमें है, जहाँ संघर्षण होता है वहीं प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार जो व्यक्ति शिवभक्ति और श्रवण-मननादि साधनोंका अवलम्बन करता है वह सर्वत्र समभावसे विरा-जित शिवके दर्शन सहज ही कर सकता है । स्थावर-जङ्गम सभी शिवस्वरूप हैं, सभी शिव हैं; शिव ही सब है । इस संसारमें शिवके सिवा और कुछ है ही नहीं ।

जीव जब अज्ञानसे छूटकर उत्तम ज्ञानी होता है, तब उसी क्षण अहंकारसे मुक्त होकर शिवतादात्म्यरूप मुक्तिको प्राप्त करता है । जैसे दर्पणमें अपना ही स्वरूप देखा जाता है, वैसे ही ज्ञानके द्वारा शिवको भी सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखा जा सकता है । ऐसा पुरुष पहले जीवन्मुक्त होता है और देहत्याग होनेपर शिवरूपी निर्गुण ब्रह्ममें समा जाता है ।

ज्ञानी पुरुष शुभकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, अशुभको पाकर कोप नहीं करता । जिसका सुख-दुःखमें समभाव है वही ज्ञानी है । मुक्त होते ही सब बन्धन टूट जाते हैं, उसके बाद फिर कभी बन्धन नहीं होता ।

शिवतत्त्वका ज्ञान शिवभक्तिसे होता है, भक्ति भगवान्में प्रीति होनेसे होती है, प्रीति गुणरहस्यादिके श्रवणसे होती है, श्रवण सत्संगसे प्राप्त होता है, सत्संगका मूल सद्गुरु है । इसलिये सद्गुरुके द्वारा शिवतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य निश्चय ही मुक्त हो जाता है । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको शिवकी भक्ति करते हुए सदा उनका भजन करना चाहिये, ऐसा करनेपर निश्चय ही शिवकी प्राप्ति होगी ।

यदि किसी प्रकार भक्तिमें विघ्न हो गया तो भी भक्तिके प्रभावसे दूसरे जन्ममें उसका संस्कार रहेगा और उस संस्कारके प्रभावसे दूसरे जन्ममें भक्तिके द्वारा शिवका भजन करके जीव अन्तमें शिवस्वरूप हो ही जायगा । इसमें जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिये ।

जिसको सच्ची शिवभक्ति प्राप्त हो गयी है, वही भक्त है, और वही जीवन्मुक्त है ।

(शिवपुराण)
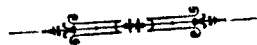
परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[गतांकसे आगे]

[मणि १०]

आत्मसाक्षात्कारके अंतरंग साधन

हे जनक ! पूर्वमें अधिकारी पुरुष आत्म-साक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये शम-दमादि साधन-सम्पन्न होकर संन्यासाश्रम ग्रहण कर चुके हैं, इसी प्रकार आजकल भी करना चाहिये। बालकके समान मनको राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित करनेका नाम शम है। वागादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रहित करनेका नाम दम है। प्रारब्धयोगसे प्राप्त हुए पदार्थसे शरीरका निर्वाह करना, प्रिय-अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक न करना, इस प्रकारके सन्तोषका नाम उपरति है। इस प्रकार शम, दम और उपरतिको अधिकारी धारण करे। क्षमा और तितिक्षा ऐसा विचारकर करे कि शरीर, मन और वाणीसे दी हुई दुष्टोंकी पीड़ा मेरे स्वरूपमें तीन कालमें नहीं है किन्तु शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणमें है, मैं शरीरादिसे असंग हूँ। ऐसा विचारकर अधिकारी दुष्टजनोंपर क्रोध न करे। और अपनी निन्दा सुनकर निन्दकोंपर इस प्रकार विचारकर क्षमा करे कि मेरी निन्दा करनेवाले ये निन्दक मेरे शत्रु नहीं हैं किन्तु परम मित्र हैं, क्योंकि उपकार करनेवाला मित्र कहलाता है। मित्रका यह लक्षण निन्दकोंमें घटता है क्योंकि दुःखरूप फल देनेवाले मेरे पापकर्मोंको ये ले जा रहे हैं, इससे बढ़कर और कोई उपकार है नहीं। ऐसे उपकार करनेवाले ये निन्दक मेरे परम मित्र हैं। अथवा यद्यपि लोग निन्दकोंको शत्रु कहते हैं किन्तु ये मेरे तो मित्र ही हैं क्योंकि मेरे दोषोंका चिन्तन करनेसे अपने मन-वाणीको परिश्रम देते हैं और मेरे पापोंको लेकर उनका दुःखरूप फल भोगते हैं। इसलिये जैसे समुद्रके मथनेसे उत्पन्न हुए हलाहल विषसे सब जीवोंको जलता हुआ देखकर कृपालु महादेवने उसे पी लिया था, इसी प्रकार मुझे दुःखकी प्राप्ति करानेवाले पापकर्मोंको ये अपनेमें धारण कर रहे हैं। आश्चर्य यह है कि महादेवको लोग सज्जन कहते हैं और इनको दुर्जन कहते हैं। हे जनक ! ऐसा विचारकर अधिकारी पुरुष निन्दकोंपर क्षमा करते हैं। यदि कोई उनको हनन करता है, तो भी वे क्षमा करते हैं, और उसका अनिष्ट नहीं चाहते। क्योंकि वे विचारते हैं कि यदि अपने दाँत अपनी जीभको काट खाते हैं, तो कोई भी अपने दाँतोंपर क्रोध नहीं करता, इसलिये मुझे इनपर क्रोध करना उचित नहीं है। अथवा ये ताड़न करनेवाले मुझे दुःख नहीं देते किन्तु मेरे पूर्वके किये हुए पाप ही दुःख दे रहे हैं। अथवा जैसे मेरा शरीर मुझ आत्माका है, इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर मुझ आत्माके हैं, इसलिये जैसा दुःख ताडनकालमें मुझे होता है, ऐसा इनको न हो किन्तु सब जीव सर्वदा सुखी रहें और सब रोगसे रहित हों। हे जनक ! इस प्रकार विचारकर अधिकारी पुरुष ताडन करनेवालोंपर क्षमा करते हैं, इसका नाम तितिक्षा है। हे जनक ! चित्तकी सावधानताका नाम समाधान है और गुरु-शास्त्रके उपदेशमें विश्वासका नाम श्रद्धा है। इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा इन छः साधनोंसे युक्त अधिकारी गुरुमुखसे वेदान्तशास्त्रका श्रवण करे, श्रवणके बाद श्रुति अनुकूल युक्तियोंसे श्रवण किये हुएका मनन करे और पश्चात् उसीका चित्तकी वृत्तियोंका

निरन्तर प्रवाहरूप निदिध्यासन करे, पश्चात् गुरु-उपदिष्ट महावाक्यरूप प्रमाणसे सहकृत शुद्ध मनसे स्वयंज्योति आत्माका साक्षात्कार करे।

शंका—हे भगवन् ! आत्मसाक्षात्कारसे अधिकारीको किस फलकी प्राप्ति होती है ?

समाधान—'हे जनक ! मैं अद्वितीय ब्रह्मरूप हूँ इस प्रकारका अभेद ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसकी अविद्यारूप माया निवृत्त हो जाती है। एक बार नाशको प्राप्त हुई यह अविद्या फिर उत्पन्न नहीं होती। अविद्यासे आत्मामें परिच्छिन्न-पना प्रतीत होता है, अविद्याके नष्ट होनेसे विद्वान् अपने आत्माको सब जीवोंका आत्मारूप देखता है, इसलिये अविद्याकी निवृत्तिपूर्वक सर्वात्मभाव-की प्राप्ति ही आत्मसाक्षात्कारका फल है। ऐसे असंग विद्वान्को पुण्यपापरूप कर्म तपायमान नहीं करता। जैसे जहाज समुद्रको तर जाता है और जैसे अग्नि तूलादिको जला देता है, इसी प्रकार आत्मसाक्षात्कारके प्रभावसे यह विद्वान् पुण्यपापरूप कर्मोंको तर जाता है और उनको जला देता है। हे जनक ! आनन्दस्वरूप आत्मा पुण्यपापसे, मायारूप अविद्यासे और संशयसे रहित है, ऐसे आत्माको जो अधिकारी जानता है, वह शरीर रहते हुए भी ब्रह्मरूप ही हो जाता है। श्रुतिः—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मको अपना आत्मा जाननेवाला ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ब्रह्म ही हो जाता है।' हे जनक ! पूर्व मैंने सुषुप्ति अवस्था-में सब जीवोंको प्राप्त होनेयोग्य आत्मा कहा, उसी आत्माको बुद्धि आदिका साक्षीरूप कहा। यह परमात्मादेव तेरे, मेरे और सबके हृदयमें आकाशके समान परिपूर्ण है, सूर्यादि ज्योतियोंका ज्योतिरूप है। यह स्वयंज्योति आत्मा वास्तविक सम्पूर्ण संसारधर्मसे रहित है, अविद्याके सम्बन्ध-से जन्म, मरण, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदिमें भ्रमण करता हुआ भी वस्तुतः सब अवस्थाओंसे रहित है। हे जनक ! जिस ब्रह्मका अभयरूपसे मैंने कथन किया था, उसी अभयरूप ब्रह्मको अब मैंने तुझसे कहा। इस अद्वितीय ब्रह्मसे भिन्न कोई भी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ सिद्ध नहीं होता। इस अधिष्ठान ब्रह्मकी सत्ता पाकर कल्पित जगत् प्रतीत होता है। हे जनक ! नाना प्रकारके साधनों-सहित आत्मसाक्षात्कारको बोधन करनेवाली जो ब्रह्मविद्या सूर्य भगवान्ने मुझे उपदेश की थी, वह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या मैंने तुझे उपदेश की है। उस ब्रह्मविद्याको सुनकर अब तुझको संशय-विपर्ययसे रहित आत्मसाक्षात्कार प्राप्त हुआ है, इसलिये अब तू जन्म-मरणादि संसारके भयका परित्याग करके अपने चित्तमें प्रसन्न हो जा !' यह वचन सुनकर जनक राजा प्रसन्न होकर अपनी ब्रह्मविद्याकी पूर्णता दिखलानेके लिये इस प्रकार कहने लगा—

जनक—हे भगवन् ! इस विदेह देशसे आदि लेकर जितनी मेरी राज्य-सम्पदा है, वह सम्पूर्ण राज्य-सम्पदा पूर्वमें मैं आपको दे चुका हूँ। उस सम्पूर्ण राज्य-सम्पदा तथा पुत्रादि कुटुम्ब-सहित मैं जनक दासके समान आपके सम्मुख स्थित हूँ। इसलिये हे भगवन् ! मुझ जनकको और मेरे पुत्रादिक कुटुम्बको आप अपना दास जानकर अपनी सेवामें ग्रहण करके जिस स्थानमें आपकी इच्छा हो, उस स्थानमें मुझे अपने साथ ले जाइये अथवा इसी मिथिलापुरीमें आप निवास कीजिये। हे भगवन् ! आपके विना एक क्षणमात्र भी मैं नहीं रहूँगा, यह मेरी प्रार्थना आप स्वीकार कीजिये।

देवी—हे डोरूशंकर ! जब इस प्रकार जनक राजाने याज्ञवल्क्य मुनिके आगे अत्यन्त दीनतापूर्वक प्रार्थना की तो याज्ञवल्क्य मुनि राजा-की अत्यन्त प्रीति देखकर कृपायुक्त हुए मिथिलापुरीके समीप वनमें स्थान बनाकर निवास

करने लगे और फिर बहुत कालके बाद याज्ञवल्क्य मुनि अपनी स्त्रीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करके संन्यासाश्रम ग्रहण कर राजा जनकके साथ विदेह मोक्षको प्राप्त हुए। हे प्रियदर्शन ! इस ग्रन्थमें वर्णन किये हुये आत्माके सगुण और निर्गुण दो स्वरूप हैं।

सगुण आत्माके ज्ञानका फल

हे सौम्य ! पूर्वमें वर्णन किया हुआ जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित आत्मा मायाके सम्बन्धसे सगुण रूपको प्राप्त होकर सम्पूर्ण शरीररूप उपाधियोंमें स्थित होकर नाना प्रकारके अन्नोंको भक्षण करता है, इसलिये श्रुति आत्माको अन्नाद कहती है। और यह आत्मा दान करनेवाले पुरुषोंको कर्मके फलकी प्राप्ति करता है। इसलिये श्रुति आत्माको वसुदान कहती है, जो अधिकारी पुरुष अन्नाद, वसुदानरूपसे सगुण आत्माकी उपासना करता है, वह उपासक पुरुष नाना प्रकारके धनादि पदार्थोंके लोकोंको प्राप्त होता है।

निर्गुण आत्माके ज्ञानका फल

हे प्रियदर्शन ! जिस विज्ञान आनन्दरूप आत्माका याज्ञवल्क्य मुनिने जनकको अभय ब्रह्मरूपसे उपदेश किया है, वह निर्गुण आत्मा जरा-अवस्थासे रहित तेजसे अजर है और मरण-अवस्थासे रहित होनेसे अमर है। अजर-अमर होनेसे आत्मादेव अभय है क्योंकि जो पुरुष जरा-अवस्थासे मरणको प्राप्त होता है, वह जन्म-मरणके दुःखोंको और दुःखोंसे भयको प्राप्त होता है। यह आत्मा अजर-अमर होनेसे भयको नहीं प्राप्त होता। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंसे रहित आकाशके समान सर्वत्र व्यापक अभय ब्रह्मको जो पुरुष अपना आत्मा जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता विद्वान् अभयरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्रियदर्शन ! याज्ञवल्क्य मुनिने जो ब्रह्मविद्या जनक राजासे कही थी, वह सब ब्रह्मविद्या मैंने तुझसे कही, अब तुझे जो सुननेकी इच्छा हो वह मुझसे पूछ ! इति चतुर्थ अध्याय।

अध्याय ५

याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको ब्रह्मोपदेश

डोरूशंकर—हे देवि ! याज्ञवल्क्यने अपनी स्त्रीको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था, उसको सुननेकी मेरी इच्छा है, इसलिये कृपया उस ब्रह्मविद्याका मुझे उपदेश कीजिये।

याज्ञवल्क्यका तप

देवी—हे प्रियदर्शन ! याज्ञवल्क्य मुनिको बाल्यावस्थासे वृद्धावस्थातक किसी प्रकारकी विषयवाञ्छा नहीं थी। लोगोंको बाहरसे ऐसा जान पड़ता था कि वे विषय-कामनावाले हैं परन्तु उनका मन सब विकारोंसे रहित था। विद्याध्ययन करनेको बाल्यावस्थासे ही उनको उग्र तप करते हुआ देखकर इन्द्रने अनेकों अप्सराएँ उनका चित्त चलानेको भेजी थीं परन्तु वे तपसे चलायमान न हुए। वर्षाकालमें छत्र लिये विना वे वृक्षके नीचे अथवा पर्वतपर बैठते और वर्षाकी धारा अपने शरीरपर झेलते थे, ग्रीष्मऋतुमें दोपहरको तपी हुई शिलापर बैठ चारों दिशामें अग्नि सुलगाते और जाड़ोंमें पहरोंतक हिमसे ठिरे हुए जलमें बैठे रहते और आदित्यमण्डलमें स्थित श्रीसूर्यनारायणका एकाग्रचित्तसे ध्यान करते थे। प्राणकी रक्षाके लिये वृक्षोंके पत्र, फल, मूलादिका आहार करते थे। कभी-कभी तीन-तीन दिनतक, कभी-कभी छः-छः दिनतक और कभी-कभी बारह-बारह दिनतक पत्ते खाकर भी रहते थे। इस प्रकार शरीरको अत्यन्त कष्ट देकर गायत्रीमन्त्रसे सूर्यनारायणका ध्यान करते थे। इनके तपश्चरणसे अन्तमें सूर्यनारायण प्रसन्न हुए और पुरुषका रूप धारण करके इनके सम्मुख आकर खड़े हुए। मुनिने

उनको देखकर साष्टांग प्रणाम किया और सूर्य-नारायणकी स्तुति की। सूर्यभगवान् उनके सिरपर हाथ रखकर कहने लगे—

सूर्य–हे पुत्र ! तूने महान् तप करके अत्यन्त कष्ट सहन किया है। तेरे तपके प्रभावसे मैं तुझसे बहुत ही संतुष्ट हूँ, तेरे मनमें जो इच्छा हो, वरदान माँग, मैं देनेको तैयार हूँ।

याज्ञवल्क्य–हे आदित्य भगवन् ! आप समस्त जगत्के प्राण हैं, सब शुभाशुभ कर्मके साक्षी हैं, आपसे कोई बात गुप्त नहीं है, तो भी मैं बालक आपके सामने अपना वृत्तान्त कहता हूँ। व्यास-भगवान्के शिष्य वैशम्पायन नामके ऋषिसे मैंने ब्रह्मविद्या सीखी थी। मन, वाणी तथा शरीरसे गुरुकी अत्यन्त सेवा की। एक समय सब ऋषियोंने संकेत किया कि महामेरुपरिषद्पर जो ऋषि न आवे, उसको सात रात्रिमें ब्रह्महत्याका दोष लगेगा। वैशम्पायन इस प्रकार न कर सके इसलिये उनको ब्रह्महत्याका महान् दोष लगा। गुरुने खिन्न मुखसे सब शिष्योंको प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दी। मैंने उस समय सब ब्रह्मचारियोंपर अनुग्रह करके कहा—'हे गुरुजी ! आपका शरीर जरा अवस्थाके कारण प्रायश्चित्त करने योग्य नहीं है, और ये सब शिष्य बाल्यावस्थावाले हैं, इसलिये प्रायश्चित्त करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसलिये आपकी ब्रह्महत्याकी निवृत्तिके लिये मैं सम्पूर्ण प्रायश्चित्त करनेको तैयार हूँ।' मेरा वचन सुनकर ब्रह्म-हत्या लगी होनेसे गुरु क्रोधित होकर बोले—'हे ब्राह्मणोंमें अधम याज्ञवल्क्य ! तूने मुझसे जो विद्या सीखी है, उस सब विद्याको मुझे शीघ्र लौटा दे !' गुरुको क्रोधित देखकर अपराध क्षमा करानेको मैंने मन, वाणी और शरीरसे नमस्कार किया। परन्तु ज्यों-ज्यों मैंने क्षमा माँगी त्यों-ही-त्यों वे अधिक क्रोध करने लगे और कहने लगे—'हे अधम ! यदि तू मुझे प्रसन्न करनेका यत्न करेगा तो मैं तेरे शरीर और प्राणका नाश कर दूँगा और तुझे ऐसा शाप दूँगा कि तू परलोकमें अत्यन्त दुःखी होगा। यदि तू लोक-परलोकमें सुख चाहता हो, तो मुझे प्रसन्न करनेका प्रयास छोड़ दे। और मेरी दी हुई विद्या लौटा दे, नहीं तो मैं तुझे जलाकर भस्म कर दूँगा।' इतना सुनकर मैंने इनके प्रसन्न करनेका प्रयास छोड़ दिया और उनकी दी हुई सब विद्या वमन करके फेंक दी। मनुष्य-गुरुसे विद्या अध्ययन करके मैंने महान् कष्ट पाया है, इसलिये मनुष्य गुरुसे विद्या न पढ़ूँ, इस निश्चयसे विद्याकी प्राप्तिके लिये मैं आप ईश्वरके शरण आया हूँ।

पश्चात् प्रसन्न हुए सूर्यभगवान्ने याज्ञवल्क्यको अपने रथपर बैठा लिया और व्याकरणादि छः अङ्गों-सहित वेदोंका अध्ययन कराया। जैसे अम्भिणी नामका देवता सूर्यका शिष्य हुआ, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी उनके शिष्य हुए। याज्ञवल्क्यको विरक्त हुआ जानकर सूर्यभगवान् इस प्रकार कहने लगे—

सूर्य–हे याज्ञवल्क्य ! गुरुसे विद्या पढ़कर गुरुको दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये। मैंने तुझे विद्या दी है, इसलिये तुझको मुझे गुरुदक्षिणा देनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य–हे भगवन् ! जो गुरुदक्षिणा आप कहें, मैं देनेको तैयार हूँ।

सूर्यनारायण–हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुझसे इतनी ही गुरुदक्षिणा माँगता हूँ कि तू संन्यासाश्रम ग्रहण न करके ब्रह्मचर्याश्रमके पीछे गृहस्थाश्रम ग्रहण कर और मैंने तुझे जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया है, उस ब्रह्मविद्याका तू ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अधिकारियोंको उपदेश कर। इस प्रकार मेरी दी हुई विद्याका प्रचार कर और गृहस्थाश्रम भोगकर समयपर संन्यास ले।

सूर्यभगवान्की इस आज्ञाको याज्ञवल्क्यने माथेपर चढ़ा लिया और उनको दण्डनमस्कार

करके वे अपने आश्रममें आये। पृथिवीपर आकर उन्होंने गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेको पितासे आज्ञा ली और जनक राजासे धन लेकर दो स्त्रियोंके साथ विवाह किया। एक कात्यायन ऋषिकी पुत्री कात्यायनी और दूसरी मित्रयु ऋषिकी पुत्री मैत्रेयी थी। ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करके याज्ञवल्क्य जैसे ऋषियोंके ऋणसे मुक्त हुए थे, इसी प्रकार अब गृहस्थाश्रमका पालन करते हुए देवता और पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका उपाय करने लगे।

वर्णाश्रमका क्रम

डोरूशंकर–हे देवि! प्रथम आपने कहा कि याज्ञवल्क्य विरक्त थे और अब कहती हैं कि वे देव और पितरोंका ऋण चुकाने लगे, यह कैसे बन सकता है? जो पुरुष विरक्त हो, उसपर ऋण नहीं हो सकता और ऋणवाला पुरुष विरक्त नहीं कहा जा सकता।

देवी–हे वत्स! मुनि विरक्त थे तो भी उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रमका पालन किया, इसलिये उनको ऋणकी प्राप्ति हुई। श्रुतिमें कहा है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते।

जिस ब्राह्मणके उपनयनादि संस्कार होते हैं, वह ब्राह्मण ऋषि, देव और पितरोंके ऋणसे युक्त होता है। जैसे ब्रह्मचारीपर ऋषियोंका ऋण होता है, इसी प्रकार गृहस्थपर देव और पितरोंका ऋण होता है। जो पुरुष तीव्र वैराग्यसे संन्यासाश्रम धारण करता है, उसपर किसी प्रकारका ऋण नहीं होता। ऋषि, देव और पितरोंका संन्यासीपर ऋण सम्भव नहीं है, इसलिये विद्वान्को संन्यास ग्रहण करनेसे पहले ही तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाना चाहिये। जैसे पुत्रेष्टि आदि काम्यकर्म पुत्रप्राप्तिके निमित्त हैं इसी प्रकार ऋषि, देव और पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम निमित्तकारण हैं, इन तीनोंसे मुक्त होनेके लिये विद्वानोंको वर्णाश्रमोंको क्रमसे वर्तना चाहिये।

डोरूशङ्कर–हे देवि! जब विद्वान्को भी ब्रह्मचर्यादि पालनेसे ऋणकी प्राप्ति होती है, तो दोनों आश्रमोंको छोड़कर एकदम वानप्रस्थ क्यों न ग्रहण किया जाय?

देवी–हे वत्स! ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम पाले बिना एकदम वानप्रस्थ धारण करना योग्य नहीं है। स्मृतिमें कहा है—'अनाश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विजः।' ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक क्षण भी आश्रमरहित न रहे, चारोंमेंका एक आश्रम अवश्य ग्रहण करे, नहीं तो उसको पाप लगता है। वानप्रस्थाश्रम पहले नहीं ले सकते क्योंकि शास्त्रमें वानप्रस्थाश्रम लेनेका प्रौढ़ वय दिखलाया है। शास्त्रमें कहा है कि जब गृहस्थाश्रमी पुरुषके गात्र जरासे शिथिल हो गये हों, केश श्वेत हो गये हों, पुत्र-पुत्री आदि उत्पन्न हुए हों, तब वह वानप्रस्थ ग्रहण करे। वानप्रस्थ प्रथम लेनेसे इस शास्त्रके वचनका बाध होता है।

डोरूशङ्कर–हे देवि! जैसे ब्रह्मचर्याश्रम पालनेके बाद गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रम ले सकते हैं, इसी प्रकार गृहस्थाश्रम पाले बिना ही ब्रह्मचर्याश्रमके बाद वानप्रस्थाश्रम ले लिया जाय, तो इसमें क्या बाधा है?

देवी–हे वत्स! तीव्र वैराग्य होनेपर ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रम छोड़कर एकदम संन्यास लेनेको श्रुतिमें कहा है, वानप्रस्थ लेनेको नहीं कहा। 'ब्रह्मचर्यं परिचरेदाशरीरविमोचनात्' अधिकारी पुरुष स्थूल शरीरका नाश होनेतक ब्रह्मचर्य पाले। यह वसिष्ठने कहा है, परन्तु इससे आश्रमोंके उपर्युक्त क्रममें किसी प्रकारका फेर-फार नहीं होता किन्तु उसकी पुष्टि होती है। रागसे

अमुक आश्रमके ग्रहण करनेसे जो पाप लगता है, वह पाप दृढ़ सङ्कल्प करके एक आश्रमके सेवन करनेवालेको नहीं लगता।

डोरूशङ्कर–हे देवि ! यदि ब्रह्मचारीको गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेकी इच्छा न हो और वह वनमें जाकर वानप्रस्थ ग्रहण करे तो उसे गृहस्थाश्रम छोड़ देनेका दोष लगेगा या नहीं ?

देवी–हे वत्स ! यदि कोई पुरुष आपत्तिकालमें वनमें जाकर निवास करे, भिक्षाटन करे और गेरुआ वस्त्र धारण कर ले तो ऐसा करनेसे वह वानप्रस्थाश्रमी नहीं हो सकता, इसी प्रकार गृहस्थाश्रमी हो और भिक्षा माँगकर अपनी आजीविका चलाता हो, तो वह भी संन्यासी नहीं कहलाता। और यदि ब्रह्मचारी वनमें रहे तो वह भी वानप्रस्थाश्रमी नहीं कहलाता। जैसे गृहस्थ देव तथा पितरोंका ऋणी है, वैसे ब्रह्मचारी भी ऋषियोंका ऋणी है, इसलिये तीनों ऋण चुकाये बिना वानप्रस्थाश्रम नहीं ले सकता। जैसे एक अधिकारी प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम पालकर पीछे गृहस्थाश्रम पाल सकता है, इसी प्रकार गृहस्थाश्रम पालकर ही वानप्रस्थ हो सकता है, गृहस्थाश्रम पाले बिना नहीं हो सकता। श्रुति-स्मृतिमें कहा है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों आश्रम उत्तरोत्तर ग्रहण करने चाहिये।

त्रयाणामानुलोम्यं स्यात्प्रातिलोम्यं न विद्यते।
प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात्पापकृत्तमः॥

अनुलोम यानी प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, फिर गृहस्थाश्रम, पीछे वानप्रस्थाश्रम इस प्रकार अनुक्रमसे आश्रमोंका पालन करनेसे परमसुखकी प्राप्ति होती है और जो कोई प्रतिलोम यानी उलट-पुलट आश्रम ग्रहण करता है, उससे अधिक कोई पापी नहीं है। जैसे ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमोंके पालनेमें श्रुति-स्मृतियोंने क्रम कहा है, इस प्रकार संन्यासाश्रमके लिये नहीं कहा है किन्तु ऐसा कहा है कि जब तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो, तभी संन्यासाश्रम ग्रहण करे।

श्रुति—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा।

ब्रह्मचारी, गृहस्थाश्रमी और वानप्रस्थाश्रमी जिस किसीको भी तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो उसको एकदम संन्यास ग्रहण करना चाहिये।

स्मृति—

यदैव चास्य वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत्॥

जिसको जिस समय वैराग्य हो, उसी समय संन्यास लेवे। पूर्ण वैराग्य बिना संन्यास लेनेवाला पतित होता है।

डोरूशंकर–हे देवि ! जैसे पहले तीन आश्रमोंका क्रम कहा है, इसी प्रकार संन्यासका भी कई श्रुति-स्मृतियोंमें क्रम कहा है। जैसे श्रुति—

ब्रह्मचर्याद् गृही भवेद् गृहाद्वनी भवेद्वनात्प्रव्रजेत्।

स्मृति—

ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतिः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्॥

'ऋषि, देव और पितरोंका ऋण चुकानेके बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ममता तथा अहंकाररहित होकर संन्यास ग्रहण करे।' इसलिये चाहे जब संन्यास ले सकता है और तीनों आश्रमोंमें रहकर ले सकता है, इन दोनों वचनोंमें विरोध है।

देवी–हे वत्स ! जिस पुरुषको विषय-भोगसे उपराम न हुआ हो और मन्द वैराग्य उत्पन्न हुआ हो, उसको वानप्रस्थाश्रम अंगीकार करके विषयभोगके निवृत्त होनेके बाद चौथा आश्रम ग्रहण करना चाहिये, ऐसा श्रुति-स्मृतिका तात्पर्य है। परन्तु जिसको ब्रह्मचर्यसे ही विषयोंमें वैराग्य हो

जाय; उसको दूसरे आश्रम पालनेकी आवश्यकता नहीं है श्रुति–'न्यासो हि ब्रह्म' संन्यास ब्रह्मरूप है। 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपर' ब्रह्मका पहला-पिछला भाव नहीं है। इसलिये ब्रह्मरूप संन्यासमें पूर्व, उत्तर आदि भाव सम्भव नहीं है। जैसे ब्रह्मचर्यके पीछे गृहस्थाश्रम कहा है और गृहस्थाश्रमके पीछे वानप्रस्थ कहा है, इस प्रकार संन्यासाश्रमके पीछे कोई आश्रम नहीं कहा है। शारीरकभाष्यके तीसरे अध्यायके चौथे पादमें कहा है कि—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः।

संन्यासाश्रमके पीछे श्रुति-स्मृति दूसरा कोई भी आश्रम प्रतिपादन नहीं करती, इसलिये पुरुष चौथा आश्रम मरणपर्यन्त पाले। जैसे चौथे आश्रमके पीछे कोई आश्रम नहीं है, इसी प्रकार द्विज किसी आश्रम विना न रहे, यह भी श्रुति-स्मृतिसे सिद्ध है। 'अनाश्रमी' इस स्मृतिसे सिद्ध होता है कि पुरुषको वर्षपर्यन्त भी अनाश्रमी न रहना चाहिये। यदि रहे तो प्रायश्चित्त लगता है। जबतक गृहस्थाश्रमीकी स्त्री जीवे तबतक उसको गृहस्थाश्रम पालना चाहिये और स्त्रीके मरणके बाद या तो एक वर्षके भीतर दूसरी स्त्रीके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रम पालना चाहिये अथवा वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण करना चाहिये। अनाश्रमी न रहना चाहिये। जैसे ब्रह्मचारी देव तथा पितृऋणसे रहित है और गृहस्थाश्रमी ऋषिऋणसे रहित है, इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रमी तीनों प्रकारके ऋणोंसे रहित है और संन्यासी तो लौकिक, वैदिक सब प्रकारके ऋणोंसे रहित है।

हे वत्स ! इस प्रकारकी सब व्यवस्था जानकर और मनसे सब ऋणोंसे मुक्त होनेपर भी याज्ञवल्क्य ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रमके सम्बन्धसे तीन प्रकारके ऋणवाले हुए। उन्होंने विचार किया कि ब्रह्मचर्यमें वेदोंका अध्ययन करके मैं ऋषि-ऋणसे और गृहस्थाश्रम पालन करनेसे देव-ऋण और पितृ-ऋणसे मुक्त होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करूँगा। जैसे ऋषि-ऋण चुकाया है, इसी प्रकार यदि देव-ऋण और पितृ-ऋण नहीं चुकाऊँगा तो पंक्तिभेद होगा इसलिये गुरु-आज्ञा पालन करके पीछे संन्यास लेना उचित है।

संत-सूरमा

समझ-बूझ रन चढ़ना साधो खूब लड़ाई लड़ना है॥
दम-दम कदम परै आगेको पीछे नाहिं पछड़ना है॥
तिल-तिल घाव लगै जो तनमें खेत सेती क्या टरना है॥
सबद खैंचि समसेर जेर करि उन पाँचोंको धरना है॥
काम क्रोध मद लोभ कैद करि मनकर ठौरै मरना है॥
खड़ा रहै मैदानके ऊपर उनकी चोट सँभरना है॥
आठ पहर असवार सुरतपर गाफ़िल नाहीं परना है॥
सीस दिया साहिबके ऊपर किसके डर अब डरना है॥
'पलटू' बाना रुंडके ऊपर अब क्या दूसर करना है॥

—पलटू

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्र०—यदि आत्मा अप्रमेय है तो उसकी प्रमा कैसे होती है ?

उ०—आत्माकी प्रमा नहीं होती; वह प्रमाका विषय नहीं है। ऐसा जानना ही उसका बोध है—

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात्सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥*

ईश्वर भी अप्रमेय ही है, क्योंकि उसके अनन्त-शक्तित्वादि किसी प्रमाणके विषय नहीं हैं। प्रमाणका विषय तो असत् हुआ करता है। जो वस्तु अनन्त और अनादि होती है वह प्रमेय नहीं होती। भक्तों-को भगवान्के दर्शन होनेपर भी उनकी शक्ति तो अप्रत्यक्ष ही रहती है; वह तो अप्रमेय ही है।

प्र०—सुना गया है कि राग-द्वेष तो मनके धर्म हैं, उनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञानीके राग-द्वेष निवृत्त हो ही जायँ।

उ०—'रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन' इस श्लोकका तात्पर्य यही है कि मन तुमसे अलग है। यदि उसका ठीक-ठीक पृथक्त्व अनुभव होगा तो मन तो निःसत्त्व हो जायगा। फिर उसमें राग-द्वेष होंगे कैसे ? राग-द्वेष तो अविवेकसे ही होते हैं; जब विवेक होनेपर मन निःसत्त्व और जड हो गया तो उसमें राग-द्वेष कैसे होंगे ? राग-द्वेष तो न भक्तको हो सकते हैं और न ज्ञानीको, क्योंकि भक्त प्रत्येक विधानमें भगवान्का आदेश देखता है और ज्ञानी प्रारब्धभोग। इसलिये दोनोंमेंही राग-द्वेषकी सत्ता नहीं रहती।

प्र०—भगवन्, द्वेषकी अपेक्षा भी रागका छूटना कठिन जान पड़ता है।

उ०—रागकी निवृत्ति केवल विवेकसे नहीं होती, विवेकसे तो राग-द्वेषकी निवृत्तिकी कुंजी मिल जाती है। इसकी पूर्ण निवृत्ति तो भगवत्प्रेम या आत्मप्रेमसे ही होती है। भगवान् या आत्मामें राग होनेसे लौकिक राग निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार लोहेके शस्त्र बिना लोहा नहीं कटता उसी प्रकार रागके शस्त्र बिना राग नहीं कटता।

प्र०—शास्त्रका सिद्धान्त है कि जब निष्काम कर्म और उपासनाके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है तभी आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा होती है; परन्तु आजकल देखा जाता है कि कर्म और उपासनामें प्रवृत्ति हुए बिना भी बहुत-से लोगोंको जिज्ञासा हो जाती है और उन्हें आत्मज्ञान भी हो जाता है। इसका क्या कारण है ?

उ०—आजकल तो किसीको जिज्ञासा होती ही नहीं। जिसे तुम जिज्ञासा कहते हो वह तो सुन-सुनाकर होनेवाला कुतूहलमात्र है। जबसे पुस्तकें सुलभ हो गयी हैं और महात्माओंमें वेदान्तचर्चाकी विशेष प्रवृत्ति हुई है तबसे उन बातोंको सुन और पढ़कर लोगोंको एक प्रकारका कुतूहल-सा हो जाता है। पूर्वकालमें वेदान्तविचारकी प्रधानता नहीं थी। यह तो वनवासियोंकी विद्या है। बिना वैराग्य हुए इसकी प्राप्ति नहीं होती। पहले तो कर्म और उपासनाकी ही प्रधानता थी। उपासनाका परिपाक होनेपर जो साक्षात्कार होता था उसमें तत्काल पूर्ण निष्ठा हो जाती थी।

* अर्थात् जिसकी कृपासे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय तीनोंकी सिद्धि होती है उसकी सिद्धिके लिये किस प्रमाणादिकी अपेक्षा हो सकती है ?

प्र०—इससे तो यह सिद्ध हुआ कि इस समय कोई ज्ञानका अधिकारी ही नहीं है; ऐसी अवस्थामें किसीको उस ओर लगाना कहाँतक उचित है?

उ०—वेदान्त ग्रन्थोंमें ऐसी बात भी आती है कि जिसे उपासनाकी पूर्णता न होनेपर भी किसी प्रकार तत्त्वजिज्ञासा हो गयी है उसे तत्त्वविवेकका अभ्यास करते-करते ही कालान्तरमें सुदृढ़ बोध हो जाता है।

वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण

[रस और रासके अधीश्वर]

(लेखक—दीवानबहादुर श्री० के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

धर्म आत्माका भोजन है; इसलिये हमारी आत्माके लिये जो परम आवश्यक वस्तु है, जो उसका आहार एवं आधार है, जो हमारे जीवनका सारतत्त्व है उसके सम्बन्धमें हमें अधिक-से-अधिक सावधान, अधिक-से-अधिक प्रयत्नशील होना चाहिये। मैथ्यू ऑरनाल्डने धर्मकी बड़ी सरल और सुन्दर साथ ही बहुत ओजपूर्ण व्याख्या की है। भावके साथ सदाचारको ही वह 'धर्म' बतलाते हैं। धर्म इतना ही नहीं है। इससे कहीं अधिक व्यापक धर्मका क्षेत्र है। हमारा जो आत्मस्वरूप शुद्ध सच्चिदानन्द है उसकी सम्यक् अनुभूति ही धर्म है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्मके मुख्य अंग सदाचार और भाव ही हैं। जो धर्म सदाचारका आधार लेकर नहीं चला है वह 'प्रकाश' खो बैठता है; और यदि उसमें भावका सहयोग नहीं हुआ तो उसका 'तेज' नष्ट हो जाता है। केवल बाह्य सदाचार या तत्त्वका शास्त्रीय ज्ञान अथवा कलाको ही धर्मका सारतत्त्व माना नहीं जा सकता—ये तो उसके अंगस्वरूप हैं। पवित्रता केवल बाह्य शुद्धाचारका नाम नहीं है। पवित्रताका तो अर्थ है सदाचारका दिव्यत्व। अतएव धर्मके अन्तर्गत सदाचार, कला, दर्शन सभी आ जाते हैं और धर्म इन्हें पार करता हुआ आगे बढ़ जाता है।

प्रायः धर्मको ईश्वरवादका और दर्शनको परात्पर ब्रह्मका बोधक समझा जाता है। परात्परता, सन्निकटता और घनिष्ठता—ये ही धर्मके सार माने जाते हैं। परात्पर ब्रह्मको निर्विशेष मानना भूल है। परात्परका अर्थ है परमात्मा; वह परमात्मा जिसे हम संसारके सारे सम्बन्धोंसे परे हटाकर देखते हैं। गीताके दो श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने बहुत स्पष्टरूपमें समझा दिया है कि 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा तथा सनातन धर्मका आधार हूँ; ऐकान्तिक आनन्दका एक मात्र आश्रय हूँ और साथ ही सभी यज्ञों और तपोंका भोक्ता भी हूँ और सभी जीवोंका परम आत्मीय सुहृद् हूँ'—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५। २९)

धर्मका अर्थ है ईश्वरानुभूति। प्रकृतिके परम उत्कर्ष अथवा मनुष्यताके चरम दिव्य विकाससे हमारी आत्माको तोष नहीं हो पाता। यदि हम ईश्वरको केवल मानवके रूपमें अथवा केवल अतिमानवके रूपमें भी समझें तो उससे हमारी आत्माकी भूख-प्यास ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। वह प्रभु जो एक ही साथ शील, सौन्दर्य और प्रेमका अधीश्वर है, जो हमारे सामने मनुष्यरूपमें प्रकट होते हुए भी सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न है, हमें अनायास, बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और सहसा हमारी सारी आध्यात्मिक भूख-प्यासको शान्त कर देता है, वह संसारका नियामक और शासक है और साथ ही समस्त सत्ताका एक मात्र आधार भी है।

इतना तो स्पष्ट है कि अद्वैतवाद और एकेश्वरवादमें

कोई भी भेद नहीं है, ये परस्परविरोधी नहीं हैं और कहना तो यह चाहिये कि एक ही सर्वोच्च धर्मके ये दो पहलू हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे ईश्वरको जगत्से हटाकर परात्पर ब्रह्म कहते हैं और उसीको संसारसे सम्बन्धित होनेके कारण भगवान् कहते हैं । श्रीमद्भागवतका—

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'—

—वही ईश्वर ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नामसे कहा जाता है—कितना स्पष्ट और सुन्दर है ! ब्रह्मकी व्याख्या उपनिषदोंने 'आनन्द' या 'रस' के रूपमें की है—

'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात् ।'
'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।'

पुराण और इतिहास 'उसे' सौन्दर्य, शील और प्रेमके रूपमें प्रकट करते हैं ।

श्रीकृष्णकी महिमा इस बातमें है कि वह सभी हृदयोंको एक-न-एक प्रकारसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । भागवत उन्हें साक्षात् भगवान् कहती है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' और उन्हें ही सच्चिदानन्द ब्रह्म कहकर गुणगान करती है । श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य तथा अपना गौरव हर स्थानमें प्रकट किया परन्तु वृन्दावनमें, गोपालरूपमें वे एक प्रेमी और सखा-रूपमें ही प्रकट हैं ।

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

'व्रजवासियोंके, ग्वाल-बालोंके भाग्यका क्या कहना; जिनके मित्र पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं !'

रसरूपमें भगवान्की चर्चाका संकेत हम ऊपर कर आये हैं । श्रीकृष्णमें हम सभी रस परिपूर्णावस्थामें पाते हैं । गीताके ग्यारहवें अध्यायमें जहाँ भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखलाया था उसमें वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स-रस पूर्णरूपमें है । गीता और भागवतमें हास्यका पुट है ही । परन्तु अन्य सभी रसोंकी अपेक्षा श्रीकृष्णमें शृंगार, करुणा, भक्ति और शान्तिके रस स्वभावतः मुख्यतया पाये जाते हैं । निम्नलिखित श्लोकपर भाष्य लिखते हुए श्रीधरने नवों रसोंका परिपाक श्रीकृष्णचरित्रमें दिखलाया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

बलदेवजीके साथ जब भगवान् श्रीकृष्णने रंगभूमिमें प्रवेश किया तो वे मल्लोंको वज्र-ऐसे, मनुष्योंको पुरुषश्रेष्ठ, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपगणोंको स्वजन, दुष्ट राजाओं-को कठोर शासक, अपने माता-पिताको एक सरल सुकुमार शिशु, कंसको साक्षात् मृत्यु, अज्ञानियोंको जड़रूप, योगियों-को परम तत्त्व, परम ब्रह्म और यादवोंको परम देवताके रूपमें दीख पड़े ।

रूप गोस्वामीने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामका एक ग्रन्थ लिखा है, इसमें मधुर रसको ही—जो भक्तिका सर्वोच्च भाव-रस है, जो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य सभीसे आगे है, उज्ज्वल रस, सर्वोत्तम रस बतलाया है । इस रसकी निष्पत्तिके लिये कृष्ण-रति ही स्थायी भाव है । 'भगवद्भक्तिचन्द्रिकामृतरसोल्लास' में आया है—'परा भक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वादनचणैः' जिसका भाव यह है कि रसिकोंने परा भक्तिको 'रस' माना है । आरम्भमें रस आठ ही माने गये थे, शान्त रस पीछेसे जोड़ा गया । भक्तिको भी इसमें जोड़ लेना चाहिये—सभी रसोंमें मुख्य और सर्वश्रेष्ठ रूपमें । इसके आलम्बन विभाव हैं भगवान्, अनन्त सुन्दर और चिर प्रियतम । उनकी विभूतियाँ ही हैं उद्दीपन विभाव; आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं और परम आनन्द ही इसका व्यभिचारी भाव है । श्रीमद्भागवत-में आया है ।

तस्माद्गोविन्दमाहात्म्यमानन्दरससुन्दरम् ।
शृणुयात् कीर्तयेन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः ॥
(७ । १ । २)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो भगवान् श्रीगोविन्दके आनन्दरसपूर्ण परम सुन्दर माहात्म्यको गाता है, सुनता है, कीर्तन करता है वह अवश्यमेव कृतार्थ है, धन्य है ।

इस श्लोकमें 'आनन्दरस' का वर्णन आया है और यह कहा है कि इस रसके कारण ही भगवान्की महिमा सुन्दर है । 'आनन्द' सुखसे सर्वथा भिन्न वस्तु है । इन्द्रियजन्य निम्नस्तरके सुखको 'सुख' कहते हैं और भावजन्य उच्चस्तरके सुखको आनन्द कहते हैं । सुख जितना ही अधिक इन्द्रिय-जन्य और स्थूल है उतना ही निम्न श्रेणीका है और आनन्द जितना ही अधिक भावजन्य और सूक्ष्म है उतना ही वह

ऊँची श्रेणीका है। रामायणके सुन्दरकाण्डमें दिये हुए रावणके अन्तःपुरका जो वर्णन है वह विषय-सुखका जीवित चित्र है। कालिदासके मेघदूतके दूसरे भागमें यक्षके गृहका जो चित्र है वह इन्द्रियोपभोगका उदाहरण है। दोनों दृष्टान्तोंमें यह तो स्पष्ट है कि मनको इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य पदार्थोंमें सुखानुभूति होती है। परन्तु 'आनन्द' के सम्बन्धमें यह बात नहीं है। वहाँ मनकी चञ्चलता मिट जाती है और आत्मा 'स्वस्थ' हो जाती है। वहाँ आत्माकी वास्तविक स्थिति अबाधितरूपमें प्रकट होती है। आत्माका प्रच्छन्न आनन्द जब नाम और रूपसे परे अपने अनन्त, असीम रूपमें खिल उठता है तो हमें निर्गुण ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। और जब यह सगुण साकार अनन्त परमेश्वरमें भक्तिके द्वारा उदय होता है तो इसे सगुण ब्रह्मानन्द कहते हैं। प्रकृतिके भिन्न-भिन्न दृश्यों तथा सजीव वस्तुओंके सौन्दर्य-आनन्द और उल्लासमें जब परमात्माके सौन्दर्य-माधुर्यका हमें दर्शन हो तो उसे हम साहित्य और कलाका आनन्द कहते हैं। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' में साहित्यके आनन्दको 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा है। सुन्दर वस्तुका उपभोग जब हम उसे भगवान्‌से हटाकर करते हैं तो उसकी 'सुख' संज्ञा हो जाती है। जब उसे भगवान्‌की विभूतिके रूपमें वरण करते हैं तो वही 'आनन्द' हो जाता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण 'आनन्दरस'—परम रसके अधीश्वर हैं। शृंगारके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया जाय तो कह सकते हैं कि अनन्त सगुण साकार परमात्मा ही इस आनन्दरसका 'आलम्बनविभाव' है। अल्पमें, सीमामें सुख है नहीं—

भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

इस रसका उद्दीपन-विभाव है भगवान्‌का अप्रतिम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम और शील। इसमें श्याममुन्दरकी श्यामल नील आभा मात्र ही नहीं है अपि तु उनकी समस्त सुन्दर तेजोमय, पुनीत और सनातन सत्ता—विभूतियाँ भी सम्मिलित हैं। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥

'तेजःपुञ्ज उस नन्दके लाड़ले लालके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, जो मनुष्यरूपमें परम तत्त्व है, जो समस्त सौन्दर्यका सारसर्वस्व है और जो अपने भक्तोंके सभी बन्धनोंको छिन्न-भिन्न कर डालता है।'

मधुसूदनजीने तो निर्गुण ब्रह्मकी अखण्ड सच्चिदानन्दानुभूतिसे भी बढ़कर श्रीकृष्णके अनन्त, शाश्वत सौन्दर्य, प्रेम और शील-शोभाको माना है। वे कहते हैं—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥

'योगीलोग ध्यानके अभ्याससे मनको वशीभूत करके निर्गुण, निष्क्रिय ज्योतिको देखते हों तो देखें। अपने लिये तो यमुनाके किनारे दौड़ती हुई वह नील आभा सदा देखनेको मिलती रहे यही परम सौभाग्यकी बात है।'

इसी प्रकार इस प्रख्यात अद्वैतीका एक यह श्लोक भी है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

'जिनके करकमलोंमें मनोहर मुरलिका विराजमान है, और जिनके शरीरकी आभा नूतन मेघके समान श्याम है, जो पुनीत पीताम्बरको धारण किये हुए हैं, जिनका मुख शरद्‌के पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, नेत्र कमलके समान कमनीय हैं, तथा अधर बिम्बाफलके समान लाल हैं, ऐसे श्रीकृष्णको छोड़कर मैं कोई दूसरा परतत्त्व नहीं जानता। अर्थात् सर्वस्व तो ये ही वृन्दावनविहारी मुरलीमनोहर हैं।'

इस आनन्दरसके अनुभाव हैं मुखमण्डलकी स्निग्ध आभा, दिव्य अङ्गकी मनोहर शोभा, आनन्दाश्रु, सबका प्रेम इत्यादि-इत्यादि। 'उस'की मधुर लीलाओंको देख-देखकर आनन्दपुलक और रोमाञ्च तथा नवधा भक्ति इसके व्यभिचारी भाव हैं। रासका रहस्य तथा महत्त्व हम तभी समझ सकते हैं जब हम यह जान लें कि वह प्रणय, संगीत तथा नृत्यके रूपमें, आकाश और पृथ्वीके बीच लीला-विलासके रूपमें इस परम आनन्दरसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। इस परम आनन्दरससे ही वह महारास व्यक्त हुआ है, स्फुट हुआ है।

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । ३४)

'शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी अनुरञ्जित किरणोंसे स्वच्छ रात्रियोंमें रास रचकर व्रजमण्डलके वामाओंको अलंकृत करके सुन्दर गान गाते हुए रमण किया ।'

श्रीकृष्णचरित्रका अनुशीलन महाभारत, हरिवंश, भागवत, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण और कूर्मपुराणके द्वारा सम्यक् प्रकारसे हो सकता है । स्कन्द, वामन तथा कूर्मपुराणोंमें तो उनके जीवनकी घटनाएँ तथा उपदेशोंका संकलन बहुत कम मिलता है परन्तु उपर्युक्त शेष ग्रन्थोंमें अच्छी सामग्री उपलब्ध है । महाभारतमें उनके जीवनके वे वृत्तान्त हैं जो पाण्डवों और कौरवोंके सम्पर्कमें आनेपर हुए । आरम्भिक जीवनकी बातें तो हरिवंशमें और बादके जीवनकी बातें श्रीमद्भागवतमें मिलती हैं । और वे बहुत ही सुन्दर ढंगसे वर्णित हैं । श्रीराधाचरित्रका पूर्ण सविस्तर परिचय ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलता है ।

हमारे आलोचक और विरोधी प्रायः ऐसा कहते सुने जाते हैं कि रासके प्रसंगमें कामवासनाका अंश है । श्रीकृष्णके श्रद्धालुओंमें भी बहुत ऐसे हैं जो इस बातको दबा देना चाहते हैं अथवा इसके लिये दोष स्वीकार करते हुए क्षमायाचना कर लेते हैं । एक भक्तने यहाँतक कहा है कि श्रीकृष्णका चरित्र श्रीरामकी तरह निष्कलंक और निर्दोष नहीं था परन्तु उनका युवावस्थाका प्रेम एक उत्कट लीलाविलास मात्र था । हमें यह तो नहीं भूल जाना चाहिये कि श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय केवल ग्यारह वर्षकी थी । क्रोधावेशमें शिशुपाल जब श्रीकृष्णको गालियाँ बकने लगता है और गोकुलकी भिन्न-भिन्न घटनाओंका संकेत करने लगता है परन्तु फिर भी वह श्रीकृष्णको लम्पट या दुश्चरित्र नहीं कहता । रासका एक मात्र स्थूल अभिप्राय है—वृत्ताकार नृत्य । लीलाशुक इसका यों वर्णन करते हैं—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना ।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः
सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

'दो-दो व्रजांगनाओंके बीच एक-एक माधव, और दो-दो माधवके बीच एक-एक व्रजांगना । इस प्रकार नृत्य-मण्डल बनाकर बीचमें खड़े होकर श्रीकृष्णने वेणु बजाया ।'

जयदेवने गीतगोविन्दमें इसका वर्णन यों किया है—

'रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे ।'

हरिवंशमें 'रास'के स्थानमें 'हल्लीश' शब्द आया है । 'ललितात्रिशती'में देवीका वर्णन 'हल्लीशलास्यसन्तुष्टा'—हल्लीश लास्यसे सन्तुष्ट—ऐसा आया है । रासके नृत्यमें किसी प्रकारकी कामुकताका आरोप करनेका हमें क्या अधिकार है ? स्वामी विवेकानन्दने कितना सुन्दर कहा है—'कैसा अद्भुत था यह प्रेम ! गोपीप्रेमको समझना बहुत कठिन है । ऐसे मूर्खोंकी कमी नहीं है जो उस परम दिव्य वार्ताको कामुकताका रंग चढ़ाये बिना समझ ही नहीं सकते । उनसे मुझे केवल इतना ही कहना है कि पहले अपनेको पवित्र बनाओ; यह न भूलो कि गोपीप्रेमका गीत गानेवाले अवधूत शुकदेव हैं । गोपीप्रेमकी दिव्य गाथा सुनानेवाले कोई 'ऐरे-गैरे पँचकल्याणी' नहीं हैं—वे तो स्वयं व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी महाराज हैं जो सदा ही परम पवित्र हैं । ये कामिनी-काञ्चन और कीर्तिके भूखे सांसारिक जन्तु, विषय-पामर प्राणी गोपीप्रेमके रहस्यको समझ सकेंगे कैसे, हृदयंगम कर कैसे सकेंगे ? और ये ही महानुभाव चले हैं रासकी आलोचना करने ! श्रीकृष्णावतारका मूल माधुर्य है यह रासलीला । और इस अंशमें गीताका समग्र दर्शन भी इस उन्मद माधुरीकी समानता नहीं कर सकता—क्योंकि गीतामें भगवान्ने अपने प्रिय शिष्यको धीरे-धीरे बचा-बचाकर लक्ष्यकी ओर बढ़नेका उपदेश किया है परन्तु यहाँ तो आनन्दका वह उन्माद, प्रेमकी वह तन्मयता है जहाँ शिष्य, गुरु, उपदेश, ग्रन्थ—ये सभी कुछ एक हो गये हैं—भव, भगवान् और स्वर्ग सभी उस 'एक'में जाकर लय हो गये हैं । सारा आवरण हट गया है, सारे बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये हैं और जो कुछ बच रहा है वह है शुद्ध दिव्य प्रेमका उन्माद । यह सर्वात्मविस्मृतिकी एक अद्भुत अवस्था है जिसमें प्रेमी सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण देखता है, जब कि संसारकी सभी वस्तुएँ श्रीकृष्णरूपमें ही दीख रही हैं; प्रेमी स्वयं अपनेको भी कृष्णरूपमें ही पाता है, उसकी आत्मा कृष्ण-रंगमें रँग गयी है !! श्रीकृष्णकी आकर्षणशक्ति और प्रभविष्णुता ऐसी है !'

राजा परीक्षितके हृदयमें भी यह शङ्का उठी थी और

उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे पूछा भी कि भगवान् श्रीकृष्णने परायी स्त्रियोंके साथ विहार क्यों किया ? शुकदेवजीने परीक्षितको समझाया कि जब कोई अवतारी पुरुष कोई ऐसा कर्म करे जो हमारी विषय-मलिन दृष्टिमें आपत्तिजनक प्रतीत हो तो यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उन्होंने वैसा किया ही और उन्हें उस प्रकारके किसी कर्मका भागी भी नहीं होना पड़ता । उनके ऐसे कर्मोंका हमें अनुकरण नहीं करना चाहिये । हम किसी भी महापुरुषमें अपने मनसे दोष ढूँढ़ लेते हैं और कहने लगते हैं कि जब ऐसे महान् पुरुष ऐसा करते हैं तब हमें करनेमें क्या हर्ज है ? हमारी इस प्रकारकी मनोवृत्तिको दबानेके लिये ही शुकदेवजीने राजा परीक्षितको वैसे समझाया । इसके अनन्तर श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण तो निरहंकारी और आप्तकाम हैं और इस प्रकारकी लीलाओंसे वह कभी प्रभावित होनेवाले नहीं थे । दूसरे स्थलपर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

बिभ्रद्वपुः　　सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ॥

(११ । १ । १०)

रेमे　　रमेशो　　व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः　　स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥

(१० । ३३ । १७)

'सब प्रकारकी सुन्दरतासे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवन-मोहन मनोहर रूप धारण करनेवाले और परम ऐश्वर्यसे पूर्णकाम एवं अपने मङ्गलकारी आचरणोंसे पृथ्वीतलमें उदार यशको फैलाया ।'

'जैसे कोई बालक अपने ही प्रतिबिम्बके साथ खेले वैसे ही भगवान् लक्ष्मीपतिने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया ।'

व्रजसुन्दरियोंके हृदयमें भोग-लालसा रहनेकी कल्पना की जा सकती है परन्तु भगवान्का स्पर्श इतना दिव्य और पावन था कि ऐसी वासनाएँ भी उनके स्पर्शमें आकर मङ्गलमयी, शुभ एवं पवित्र बन गयीं । गीतामें स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

'महान् दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये क्योंकि वह निश्चित बुद्धिका हो चुका है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरे भक्तोंका कभी नाश नहीं होता ।'

साथ ही गीतामें भगवान्ने यह भी कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

'हे अर्जुन ! मैं धर्मसम्मत काम हूँ ।'

उद्धवसे कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥

'मेरा भक्त जो विषयोंमें बँधा हुआ है और अजितेन्द्रिय है, मुझमें दृढ़ भक्ति रखनेके कारण इन विषयोंसे परास्त नहीं होता, उनके वशमें नहीं जाता ।'

जैमिनिके वचन हैं—

हृदि भावयतां भक्त्या भगवन्तमधोक्षजम् ।
यः कोऽपि दैहिको दोषो जातमात्रो विनश्यति ॥

'जो भगवान्को भक्तिभावसे स्मरण करते हैं उनके चित्तमें यदि किसी प्रकारका दैहिक दोष रह गया हो तो वह प्रकट होते ही नष्ट हो जाता है ।'

भीष्मपितामहने कहा है—

कृष्ण कृष्णेति जपतां न भवो नाशुभा मतिः ।
प्रयान्ति मानवास्ते तु तत्पदं तमसः परम् ॥

'जो 'कृष्ण' नामका जप करते हैं वे जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, बुरे विचार उनकी बुद्धिको स्पर्शतक नहीं करते । अन्धकारसे परेका जो तेजोमय लोक है उसे वे प्राप्त होते हैं ।'

श्रीविष्णुसहस्रनाममें भीष्मपितामहके ही वचन हैं—

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥

'जो भगवान् पुरुषोत्तमकी उपासना करता है वह कितना भाग्यवान् है ! वह क्रोध, मत्सर और लोभसे ग्रस्त नहीं होता ।'

अतएव कुछ क्षणोंके लिये ऐसा मान भी लें कि यदि कुछ व्रजबालाएँ कामसे पीड़ित होकर ही भगवान्के

समीप आयीं, (यद्यपि ऐसी बात थी नहीं) पर उनका 'काम' भगवान्के दर्शन-स्पर्शन मात्रसे 'भक्ति' के रूपमें परिवर्तित हो गया ! श्रीशुकदेवजी इसके आगे कहते हैं कि जब भगवान्के भक्त ही सारे बन्धनोंसे मुक्त हैं तो स्वयं श्रीभगवान्को ही रासक्रीड़ामें बँधे हुए क्यों माना जाय ? मनुष्यका रूप धारणकर मनुष्यकी तरह ही भगवान्ने सारी लीलाएँ कीं—इसलिये कि वासना और आसक्तिवाले जीव भी उनकी ओर सदाके लिये आकृष्ट हो सकें । श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके तैंतीसवें अध्यायके तीसवें श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

शृङ्गाररसाकृष्टचेतसोऽतिबहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्तुं तादृशीः क्रीडा बभाज ।

'भगवान्ने रासकी क्रीड़ा इसलिये की कि शृङ्गाररससे आकृष्ट हृदयवाले जीव जो अत्यन्त बहिर्मुख हैं—वे भी भगवान्की ओर आकृष्ट हो सकें ।' शुकदेवजी फिर कहते हैं कि वे भगवान् श्रीकृष्णके रासमें सम्मिलित होनेवाली व्रज-बालाओंके पतियोंने रातमें अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोती हुई देखा—व्रजबालाएँ तो दूसरे दिन प्रातःकाल घर लौटी थीं । उनके पतियोंने श्रीकृष्णको कभी किसी प्रकारका दोष नहीं बतलाया । और अन्ततोगत्वा श्रीशुकदेव-जी कहते हैं कि परमात्मा सदा और सर्वत्र हमारे सन्निकट हैं । वही हमारे स्वामी तथा प्राणपति प्रियतम हैं ।

इतना ही नहीं । परमपवित्र शुकदेवजीने रासकी स्तुति मानवहृदयको निर्मल बनानेके सर्वोत्तम साधनके रूपमें की है, उन्होंने यहाँतक कहा है कि जो रासलीलाका वर्णन करेंगे या सुनेंगे वे भगवान्के चरणोंमें परा भक्ति प्राप्त करेंगे और समस्त हृद्रोग (कामवासना) से मुक्त होकर शीघ्र जितेन्द्रिय हो जायँगे—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

श्रीधर स्वामीने 'धीर' का अर्थ 'जितेन्द्रिय' किया है । इसकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि संसारके सबसे महान् धीर और जितेन्द्रिय महापुरुष भीष्मपितामहने रासलीलाके सम्बन्धमें अपने भाव इस प्रकार प्रकट किये हैं—

ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥
(१ । ९ । ४०)

'अपनी ललित गति, विलास, मनोहर हास, प्रेममय निरीक्षण आदिसे गोपियोंके मान करनेपर जब श्रीकृष्णजी अन्तर्हित हो गये, तब विरहसे व्याकुल गोपियाँ भी जिनकी लीलाका अनुकरण करके तन्मय हो गयीं, ऐसे भक्तिसे सहज ही मिलने योग्य श्रीकृष्णमें मेरी दृढ़ भक्ति हो ।' ये वचन भीष्मपितामहके अन्तिम समयके हैं ।

ऊपरके श्लोकमें आये हुए 'अनुकरण' और 'प्राकृत'—इन दो शब्दोंसे इतना तो स्पष्ट है कि भक्त भगवान्में स्थित होकर ही अनुभव करता है, बोलता है या अन्य कार्य करता है । इतना ही नहीं, देवर्षि नारदने अपने 'भक्तिसूत्र' में परा भक्तिके सर्वोत्कृष्ट उदाहरणके रूपमें गोपियोंको ही लिया है—

'यथा व्रजगोपिकानाम्'

गोपी-लीलाने असंख्य शताब्दियोंसे असंख्य पीढ़ियोंके हृदयमें भक्ति और प्रेमके भाव भरे हैं । और यह हमारी महती मूर्खता होगी यदि हम इसके वास्तविक मर्मको न समझकर इसे दूषित बतलायें और इसकी निन्दा करें ।

आचार्य श्रीधर कहते हैं—

तस्माद्रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम् । शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं रासपञ्चाध्यायी ।

'अतएव भगवान्ने रासलीलाका अभिनय वस्तुतः इस-लिये किया कि संसार देखे तो सही कि कामवासनापर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाती है । रासलीलाके पाँच अध्याय शृङ्गार-कथाके बहाने हमें निवृत्तिकी ओर ले जाते हैं ।'

रासक्रीड़ाका तात्त्विक रहस्य भागवतके तीन श्लोकोंमें जाकर खुला है । वंशीका आवाहन सुनकर भी जो गोपियाँ रासमें न जा सकीं भगवान्के ध्यानमें डूबकर उन्होंने परम कल्याणपदको प्राप्त किया । पहले तो ध्यानमें अपने परम प्रियतमकी तीव्र विरहवेदनामें उनके पाप जल गये और पीछे उनके प्रगाढ़ मधुर आलिङ्गनमें पुण्य जल गये । इस प्रकार पाप-पुण्यके बन्धनोंसे मुक्त होकर उन गोपबालाओंने परमपदको पाया—

दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥

रासमें सम्मिलित होनेकी लालसासे यमुनातटपर आयी हुई गोपियोंके मनमें जब अपने सौभाग्यपर गर्व हुआ, भगवान् वहाँसे अन्तर्धान हो गये इसलिये कि गोपियोंका गर्व दूर हो, उनका चित्त स्थिर और शान्त—स्वस्थ हो।

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

गोपियाँ यह जानती थीं कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्‌के अवतार हैं,—लक्ष्मीपति हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

× × ×

करसरोरुहं कान्तकामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।

तुम केवल यशोदाके दुलारे लाल नहीं हो, तुम तो सभी प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हो। जगत्‌की रक्षाके लिये ब्रह्माकी प्रार्थनापर तुमने यदुकुलमें जन्म ग्रहण किया है। ऐ प्राणवल्लभ! अपने कोमल करोंको हमारे मस्तकपर रखकर हमें अपनाओ। तुम्हारे इन हाथोंसे संसारका समस्त कल्याण बरसता है, इन्हीं हाथोंसे तुमने भगवती लक्ष्मीका पाणिग्रहण किया है।

यह बात भूलनेकी नहीं है कि श्रीकृष्ण पुनः गोकुल लौटकर गये नहीं। उन्होंने उद्धवको परम महान् साथ ही अत्यन्त करुण सन्देश देकर भेजा।

इतना ही नहीं, ऊपर हम एक स्थानपर इस बातका उल्लेख कर आये हैं कि कुछ गोपियाँ वासनायुक्त होकर श्रीकृष्णके समीप पहुँची थीं। गोपियोंमें कुछ ही ऐसी थीं। इस सम्बन्धमें कृष्णोपनिषद्‌का पहला ही मन्त्र देखना चाहिये—

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः ।

रामायणके अरण्यकाण्डमें भी इसी भावके श्लोक हैं—

रूपं संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥

दण्डकारण्यके वनवासी भगवान् रामचन्द्रजीके सुमनोहर रूप, अपूर्व लावण्य, मादक दृष्टि-निक्षेप, सुकुमार वेश देखकर विस्मित हो गये।

कृष्णोपनिषद्‌में यह बात आती है कि वे वनवासी ऋषि-मुनि भगवान् रामके रूपपर मुग्ध हो गये और उनकी हार्दिक कामना यह थी कि वे उनके संगमें रहकर उनके सामीप्यका सुख लूटें। भगवान् रामचन्द्रने इन ऋषियोंको, देवताओंको और वेदोंको यह आदेश किया कि कृष्णावतारमें वे गोप और गोपी होकर जन्म लें। इसके सिवा व्रजस्त्रियोंमें जो वृद्धा थीं वे कृष्णको गजके उद्धार करनेवालेके रूपमें, युवतियाँ लक्ष्मीकान्तके रूपमें और बालाएँ सुन्दर सुकुमार युवाके रूपमें देखती थीं—

गजत्रातेति वृद्धाभिः श्रीकान्त इति यौवनैः ।
यथास्थितश्च बालाभिर्दृष्टः शौरिः सकौतुकम् ॥

इसके साथ ही भागवतमें यह वर्णन भी मिलता है कि अविवाहित कन्याएँ जब स्नानके लिये यमुनाजी जातीं तो वे गौरी देवीसे यह प्रार्थना किया करतीं कि हमें नन्दके गोपाल पतिरूपमें प्राप्त हों—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥

इस अवस्थामें हमें यह आरोप करनेका क्या अधिकार है कि जो गोपललनाएँ रासक्रीडामें सम्मिलित हुईं वे दूसरेकी स्त्रियाँ थीं और उनके हृदयमें कामवासना थी?

अब कुछ स्फुट बातोंका उल्लेख करना है। कुछ विद्वानोंका साहसपूर्ण कथन है कि रासलीलाकी बात सत्य नहीं है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि महाभारतमें शिशुपाल जब श्रीकृष्णको गालियाँ देने लगता है तो सब कुछ कह जाता है परन्तु उन्हें लम्पट या व्यभिचारी नहीं कहता। यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि शिशुपाल वहाँ सबके सामने श्रीकृष्णकी प्रायः सभी बातोंका उल्लेख कर रहा था। निम्नलिखित श्लोकोंसे स्पष्ट है कि वह श्रीकृष्णके सम्पूर्ण गोकुल-चरित्रपर आक्षेप कर रहा था—

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥
यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥

पूतनावधसे लेकर इनके सभी चरित्रोंका वर्णन करके हे भीष्मपितामह ! आपने हमलोगोंके चित्तको बहुत कष्ट पहुँचाया है । आश्चर्यकी बात है कि ऐसे नादान ग्वालेके छोकरेकी जिसकी निन्दा मूर्खोंतकको करनी चाहिये—आप-जैसे वृद्ध, विज्ञ पुरुष प्रशंसा कर रहे हैं । उसी सभापर्वमें भीष्मपितामह कहते हैं—

काकपक्षधरः श्रीमान् श्यामपद्मनिभेक्षणः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥
रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा ।
श्वेतगन्धानुलिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥
राजता बर्हपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना ।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन् ॥
गोपवेणुं सुमधुरं गायंस्तदपि वादयन् ।
प्रह्लादनार्थं च युवा क्वचिद्वनगतो युवा ॥

भगवान्‌के काले-काले कुञ्चित घुँघराले बाल कपोलोंको चूम रहे थे । बड़ी-बड़ी आँखें नीले कमलके समान सुशोभित हो रही थीं । छातीपर श्रीवत्स ऐसा लगता था जैसा चन्द्रमाके बीचका काला चिह्न । यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे और पीताम्बर फहरा रहा था । श्वेत गन्ध द्रव्यसे शरीरको उबटे हुए थे और शिरके नील कुञ्चित केश मनको मुग्ध कर रहे थे । सिरपर मोर-पङ्खकी कलँगी जरा-सी मन्द हवाके झोंकेमें भी फहराने लगती । कभी वह गाते, कभी नाना प्रकारकी क्रीडा करते, कभी नाचने लगते और कभी हँसते ही रहते । और कभी किसी वनमें जाकर अपने भक्तोंको विमुग्ध करनेके लिये वेणु बजा-बजाकर सुमधुर गीत गाते ।

हमारे कुछ आलोचक महाभारतको भागवतसे ऊँचा सिद्ध करनेमें ही अपनी सारी शक्तिका अपव्यय कर रहे हैं । वे प्रमाण भी अपने पक्षमें कैसे निराले-निराले उपस्थित करते हैं ! उनका कहना है कि महाभारत तो इतिहास है और 'पञ्चम वेद' माना जाता है और भागवत तो कपोलकल्पित एक पुराण-गाथा मात्र है । परन्तु यह भूल न जाना चाहिये कि इतिहास और पुराणमें पूर्वापरका कोई भेद नहीं है । दोनों ही वेदोंकी व्याख्याका विस्तार करते हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।'

कुछ लोग तो यहाँतक कह डालनेका उत्साह करते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराणोंमें है ही नहीं । श्रीधराचार्यने इस मतका बड़े जोरसे खण्डन किया है, उसे यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं ।

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार धर्मके अभ्युत्थान और अधर्मके उच्छेदनके लिये ही हुआ था अतएव आलोचकोंका यह कहना कि रासक्रीडाके द्वारा भगवान्‌ने धर्मके सिद्धान्तों-का उल्लंघन किया—कोई अर्थ नहीं रखता । रासलीलामें धर्मविरोधी कोई बात है ही नहीं । रासको एक आध्यात्मिक तत्त्वका रूपक माननेका भी कोई कारण नहीं । रासकी क्रीडा तो हुई और ठीक उसी रूपमें हुई जिस रूपमें हम समझते हैं । कुछ लोगोंका कहना है कि रास—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'

'सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा' की व्यावहारिक व्याख्या है । कुछ लोग इसे अर्थवाद मात्र मानते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि रासकी लीला 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' की बड़ी सुन्दर व्याख्या है—परन्तु वह आत्मार्पणकी एक व्याख्या मात्र नहीं है । उसकी व्याख्या तो मीराके जीवन-चरित्रसे भी हो जाती है । रासक्रीड़ा तो भगवान्‌के परम दिव्य आनन्दरसकी स्फुट अभिव्यक्ति है । गोपबालाएँ श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्तियाँ थीं; उन्हें अपने किसी सांसारिक सम्बन्ध कुल, परिवार, गृह, कुटुम्ब या स्वयं अपने आपका भान भी न था ।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

श्रीकृष्णमें ही उनका मन लगा हुआ था, श्रीकृष्णका ही आलाप वे कर रही थीं, सारी चेष्टाएँ उसी प्रियतमके लिये थीं, अपनी आत्माको उसी प्राणाराममें डुबा दिया था, एक कर दिया था । उन्हींके गुण गाती हुई वे अपने आप, अपने गृह-कुटुम्ब सब कुछ भूल बैठीं ।

'गोपिकागीत' में गोपियोंने गाया है कि तुम्हारे चरणोंके स्पर्श मात्रसे सारे पाप धुल जायँगे और बड़े ही

आतुर शब्दोंमें उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि आप अपने कोमल चरणोंको हमारे कठिन उरोजोंपर रखनेकी कृपा करें—वे चरण जो इतने कोमल होते हुए भी कालियके फनपर नाचे थे ।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥

यदि कोई कामना उनके मनमें रह भी गयी हो तो उन पावन चरणोंके स्पर्शसे वह कामना विशुद्ध परा भक्तिके रूपमें परिवर्तित हो गयी; उस भक्तिके द्वारा उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई ।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । १५)

कामसे, क्रोधसे, भयसे, स्नेहसे, किसी सम्बन्धसे या भक्तिसे किसी भी प्रकार जिनका चित्त अच्युतमें लवलीन है वे अवश्य तन्मय हो जाते हैं ।

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६)

हे कृष्ण ! लोग जबतक पूर्णतया आपके जन नहीं होते तभीतक उनको राग आदि चोरोंका खटका रहता है; उनके लिये घर कारागार होता है, मोह बेड़ी-सा बना रहता है ।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥
(श्रीमद्भा० १० । २२ । २६)

जिस प्रकार भुने हुए दानेसे पौधा नहीं उगता ठीक उसी प्रकार जिसने मुझमें अपना चित्त लगा दिया है उनके 'काम' कामके रूपमें नहीं उगते ।

देवर्षि नारदने युधिष्ठिरसे यों कहा है—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १ । ३०)

राजन् ! कामसे गोपियाँ, भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपाल आदि नरपति, सम्बन्धसे वृष्णिवंशी (यादवगण), स्नेहसे तुम लोग और भक्तिसे हमलोग उन हरिको प्राप्त हुए हैं ।

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥
(श्रीमद्भागवत)

प्रातःकाल गौओंको लेकर व्रजसे जब वह बाहर जाते तथा सायंकालको लौटते हुए वेणु बजाते, पुण्यवती, भाग्यशालिनी व्रजबालाएँ मधुर स्वरको सुनते ही तुरंत अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलकर उसके हँसते हुए दयापूर्ण मुखमण्डलको देखकर अतीव प्रसन्न होतीं

आश्चर्य तथा कुतूहलकी बात है कि रासके गूढ़तम रहस्यका उद्घाटन हिन्दुओंकी अपेक्षा कुमारी रैहाना तैय्यबजीके 'गोपीहृदय' (The Heart of A Gopi) में विशेषरूपसे हुआ है । यह तो प्रभुकी अनुकम्पा और इच्छाका प्रसाद है । मेरी समझमें जैसे ऋषिपत्नियोंके मिलनेके समय सदाचारके नियमोंका भङ्ग नहीं हुआ था, वैसे ही रासलीलाके समय भी नहीं हुआ । बल्कि प्रेमका वास्तविक रहस्य वहीं खुला है—

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥

श्रीकृष्णसे बढ़कर हमारा अपना 'प्रिय' कौन है, जिसके संसर्गमें आनेके कारण हमारा जीवन, प्राण, बुद्धि, मन, आत्मा, अपनी स्त्रियाँ, धन आदि हमारे प्रिय हो गये ।

श्रीकृष्णमें प्रीति होनेके कारण ही गोपियाँ अपने पतियोंसे अधिक प्रेम कर सकती थीं क्योंकि श्रीकृष्णचरणोंमें जो उनकी अनुरक्ति, भक्ति और प्रीति थी उसके कारण उनके पारिवारिक प्रेममें किसी प्रकारकी स्वार्थवासना अथवा आसक्ति नहीं थी और उस भक्तिके कारण ही उनका पारिवारिक प्रेम भी विशुद्ध तथा दिव्य हो गया था ।

इस छोटे-से लेखमें रासलीलाका अधिक विस्तार सम्भव नहीं । इतना तो कह देना है ही कि लीलाशुककृत कृष्णकर्णामृतमें इसका बड़ा ही मनोमुग्धकारी वर्णन मिलता है । इस ग्रन्थमें काव्य, दर्शन, धर्म, आध्यात्मिक अनुभूतिका

बहुत ही सुन्दर संयोग हुआ है। पहले जो एक श्लोक आ चुका है (अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो—इत्यादि) उससे इतना तो स्पष्ट है कि रासमण्डलके बीचमें श्रीकृष्णके साथ कोई गोपी नहीं थी। वहाँ तो परिधिके केन्द्रमें खड़े होकर श्रीकृष्ण अकेले ही वेणु बजा-बजाकर गा रहे थे।

श्रीजयदेवका 'गीतगोविन्द' भी इस सम्बन्धमें कम प्रख्यात नहीं है। 'राधा' शब्दका अर्थ है आराधना। गीत-गोविन्दमें आत्मा-परमात्माके मधुर मिलनके गीत हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें रासकी एक और बात हमारे सम्मुख आयी है। श्रीकृष्णजन्मखण्डके प्रसङ्गमें गोलोकका जहाँ श्रीराधारानी और भगवान् श्रीकृष्णका नित्य विहार होता है—वर्णन बड़ी ही मोहक शैलीमें मिलता है। श्रीकृष्णके पहले राधाके नामका क्यों उच्चारण करना चाहिये इसी पुराणमें यह बात बतलायी गयी है। अट्ठाईसवें अध्यायमें राधा श्रीकृष्णसे प्रार्थना करती है—

त्वत्पादाब्जे मन्मनोऽलिः सततं भ्रमतु प्रभो।
पातु भक्तिरसं पद्मे मधुपश्च यथा मधु॥
मदीयः प्राणनाथस्त्वं भव जन्मनि जन्मनि।
त्वदीयचरणाम्भोजे देहि भक्तिं सुदुर्लभाम्॥

हे प्रभो! तुम्हारे चरणकमलोंमें मेरा मनरूपी भ्रमर सदा-सर्वदा भ्रमण करता रहे और उनसे झरते हुए भक्तिरूपी मकरन्दका पान करता रहे। मेरे जन्म-जन्ममें तुम ही मेरे प्राणनाथ होओ और यही वरदान चाहती हूँ कि तुम्हारे चरणकमलोंमें मेरी अखण्ड भक्ति बनी रहे।

ब्रह्मवैवर्तके विवरणोंमें एक ऐसी शक्ति, एक ऐसी चेतना भरी हुई है जिसका भागवतमें अभाव-सा है। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक और प्रसिद्ध ग्रन्थ है नारायणतीर्थका 'श्रीकृष्णलीलातरंगिणी'। इसमें लिखा है कि रासलीलामें श्रीकृष्ण जैसे-जैसे वंशी बजा-बजाकर गाते थे वैसे-वैसे उसी स्वरमें स्वर मिलाकर गोपियाँ नाचती थीं। इस प्रकार स्वरकी एकतानतामें उन्होंने श्रीकृष्णके उपदेशका सारतत्त्व प्राप्त किया—

नृत्यन्तस्तेन तद्गीतं गायन्त्यो रासमण्डले।
तेनोपदिष्टमद्वैतमनुकुर्वन्ति मानतः॥

दक्षिण भारतके अलवार-संतोंने भी रासलीलाके बड़े सुन्दर-सुन्दर पद गाये हैं। इन पदोंको 'तिरुवाय मोझी' कहते हैं। नायक-नायिकाभाव तथा रासक्रीडाके सबसे सुन्दर और मनोहर पद हैं नम्मालवारके गीत और आण्डालके 'तिरुपवाई'। इनके पदोंमें आनन्द और लीला-विलासके इतने सुन्दर भाव हैं कि कहीं-कहीं संस्कृत ग्रन्थोंकी अपेक्षा भी उनकी भावाभिव्यक्ति सुन्दर हुई है। हाँ, दार्शनिक सिद्धान्त और आध्यात्मिक गहराईके लिये तो संस्कृत ग्रन्थोंकी ही प्रामाणिकता सिद्ध है।

संक्षेपमें पूरी बात एक साथ कही जाय तो कहना यह चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनलीलाको समझनेके लिये 'आनन्दरस' का रहस्य समझना अत्यावश्यक है क्योंकि रासकी लीला आनन्दरसकी चरम अभिव्यक्ति है। यहाँ एक बहुत ही सुन्दर श्लोकको उद्धृत करनेका लोभ संवरण करना मेरे लिये कठिन है—उस श्लोकमें यह दिखलाया गया है कि श्रीकृष्णका घनश्याम रंग इसलिये है कि गोपियोंने उन्हें अपनी आँखोंमें छिपा रक्खा है। यहाँ श्रीकृष्ण अपने परात्पर तेजोमय दीप्तिमें प्रकट न होकर नील आभासे युक्त हो गये हैं और इसका कारण है उनका गोपियोंकी आँखोंमें बन्दी होना। गोपियोंने अपनी आँखोंको श्रीकृष्णमें एक कर दिया और उनका मन एकतार होकर भगवान्के पीताम्बरपर जा टिका और इसीलिये गोपियोंका शरीर सोनेकी-सी कान्तिवाला हो गया—

श्यामः कटाक्षनिक्षेपाद् गोपीनां नूनमच्युतः।
गोप्यः पीताम्बरध्यानात्पीतिमानं परं ययुः॥

बाल-शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मित्रोंकी प्रेरणासे आज बालकोंके हितार्थ उनके कर्तव्यके विषयमें कुछ लिखा जाता है। यह खयाल रखना चाहिये, कि जबतक माता, पिता, आचार्य जीवित हैं, या कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है तबतक अवस्थामें बड़े होनेपर भी सब बालक ही हैं। बालक-अवस्थामें विद्या पढ़नेपर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि बड़ी अवस्था होनेपर विद्याका अभ्यास होना बहुत ही कठिन है। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता है, उसको आगे जाकर सदाके लिये पछताना पड़ता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिये, बालकोंके लिये लौकिक विद्याके साथ-साथ धार्मिक शिक्षाकी भी बहुत ही आवश्यकता है, धार्मिक शिक्षाके बिना मनुष्यका जीवन पशुके समान है। धर्मज्ञानशून्य होनेके कारण आजकलके बालक प्रायः बहुत ही स्वेच्छाचारी होने लगे हैं। वे निरंकुशता, उच्छृङ्खलता, दुर्व्यसन, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, आलस्य, प्रमाद आदि अनेकों दोष और दुर्गुणोंके शिकार हो चले हैं जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो रहे हैं।

उन्हें पाश्चात्य भाषा, वेष, सभ्यता अच्छे लगते हैं और ऋषियोंके त्यागपूर्ण चरित्र, धर्म एवं ईश्वरमें उनकी ग्लानि होने लगी है। यह सब पश्चिमीय शिक्षा और सभ्यताका प्रभाव है।

मेरा यह कहना नहीं कि पाश्चात्य शिक्षा न दी जाय किन्तु पहिले धार्मिक शिक्षा प्राप्त करके, फिर पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराना चाहिये। ऐसा न हो सके तो धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराया जाय। यद्यपि विषका सेवन करना मृत्युको बुलाना है, किन्तु जैसे वही विष ओषधिके साथ अथवा ओषधियोंसे संशोधन करके खाया जाय तो वह अमृतका फल देता है। वैसे ही हमलोगोंको भी धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ या धर्मके द्वारा संशोधन करके पाश्चात्य विद्याका भी अभ्यास करना चाहिये।

क्योंकि धर्म ही मनुष्यका जीवन, प्राण और इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ मदद नहीं कर सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य निरन्तर धर्मका सञ्चय करना चाहिये। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि वह धारण करनेयोग्य धर्म क्या वस्तु है।

ऋषियोंने सद्गुण और सदाचारके नामसे ही धर्मकी व्याख्या की है। भगवान्ने गीता अ० १६ में जो दैवीसम्पत्तिके नामसे तथा अ० १७ में तपके नामसे जो कुछ कहा है सो धर्मकी ही व्याख्या है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके दूसरे पादमें इसी धर्मकी व्याख्या सूत्ररूपसे यम-नियमके नामसे की है। और मनुजीने भी संक्षेपमें ६। ९२ में धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। इन सबको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सद्गुण और सदाचारका नाम ही धर्म है।

जो आचरण अपने और सारे संसारके लिये हितकर हैं यानी मन, वाणी और शरीरद्वारा की हुई जो उत्तम क्रिया है वही सदाचार है और अन्तःकरणमें जो पवित्र भाव हैं उन्हींका नाम सद्गुण है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसे धर्मकी प्राप्ति कैसे हो? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सत्पुरुषोंके संगसे ही इस धर्मकी प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि

वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है। मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
> (मनु० २ । १२)

सत्संगसे ही इन सबकी एकता हो सकती है। इनके परस्पर विरोध होनेपर यथार्थ निर्णय भी सत्संगसे ही होता है अतएव महापुरुषोंका संग करना चाहिये । याद रहे कि इतिहास और पुराणोंमें भी श्रुति-स्मृतिमें बतलाये हुए धर्मकी ही व्याख्या है इसलिये उनमें दी हुई शिक्षा भी धर्म है।

अतएव मनुष्यको उचित है प्राण भी जाय, तब भी धर्मका त्याग न करे क्योंकि धर्मके लिये मरनेवाला उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये ही प्राण देकर अचल कीर्ति और उत्तम गति प्राप्त की। मनुने भी कहा है—

> श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
> इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥
> (२ । ९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है वह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको पाता है।'

इसलिये हे बालको ! तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर जो उपयोगी बातें हैं, उसपर तुमलोगोंको विशेष ध्यान देना चाहिये । यों तो बहुत-सी बातें हैं, किन्तु नीचे लिखी हुई छः बातोंको तो जीवन और प्राणके समान समझकर इनके पालन करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

वे बातें हैं—

सदाचार, संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याभ्यास, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा और ईश्वरकी भक्ति।

सदाचार

शास्त्रानुकूल सम्पूर्ण विहित कर्मोंका नाम सदाचार है। इस न्यायसे संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याका अभ्यास, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा एवं ईश्वरकी भक्ति इत्यादि सभी शास्त्रविहित होनेके कारण सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु ये सब प्रधान-प्रधान बातें हैं इसलिये बालकोंके हितार्थ इनका कुछ विस्तारसे अलग-अलग विचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें बालकोंके लिये उपयोगी हैं जिनमेंसे यहाँ सदाचारके नामसे कुछ बतलायी जाती हैं।

बालकोंको प्रथम आचारकी ओर ध्यान देना चाहिये क्योंकि आचारसे ही सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है । महाभारत अनुशासनपर्व अ० १४९ में भीष्मजीने कहा है—

> सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते ।
> आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

'सब शास्त्रोंमें सबसे पहले आचारकी ही कल्पना की जाती है, आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है और धर्मके प्रभु श्रीअच्युत भगवान् हैं।'

इस आचारके मुख्य दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको तथा भोजन, वस्त्र, घर और बर्तन आदिको शास्त्रानुकूल साफ रखना शौचाचार है।

सबके साथ यथायोग्य व्यवहार एवं शास्त्रोक्त उत्तम कर्मोंका आचरण करना सदाचार है। इससे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर बाहर और भीतरकी पवित्रता होती है तथा सद्गुणोंका आविर्भाव होता है।

प्रथम प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर शौच*-स्नान करना चाहिये। फिर नित्यकर्म करके बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना चाहिये। इसके बाद शरीरकी आरोग्यता एवं बलकी वृद्धिके लिये पश्चिमोत्तान, शीर्षासन, विपरीतकरणी आदि आसन एवं व्यायाम करना चाहिये। फिर दुग्ध-पान करके विद्याका अभ्यास करें। आसन और व्यायाम सायंकाल करनेकी इच्छा हो तो बिना दुग्धपान किये ही विद्याभ्यास करें।

विद्या पढ़नेके बाद दिनके दूसरे पहरमें ठीक समयपर आचमन करके सावधानीके साथ पवित्र और सात्त्विक भोजन करें।

यह खयाल रखना चाहिये कि भूखसे अधिक भोजन कभी न किया जाय। मनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥
(२ । ५३)

'द्विजको चाहिये कि सदा आचमन करके ही सावधान हो अन्नका भोजन करे और भोजनके अनन्तर भी अच्छी प्रकार आचमन करे और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान और नेत्रोंका) जलसे स्पर्श करे।'

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनिन्देच्च सर्वशः ॥
(२ । ५४)

'भोजनका नित्य आदर करे और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे, उसे देख हर्षित होकर प्रसन्नता प्रकट करे। और सब प्रकारसे उसका अभिनन्दन करे।'

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥
(२ । ५५)

'क्योंकि नित्य आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और वीर्यको देता है और अनादरसे खाया हुआ अन्न उन दोनोंका नाश करता है।'

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
(२ । ५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक है और लोकनिन्दित है इसलिये उसे त्याग दे।'

भोजन करनेके बाद दिनमें सोना और मार्ग चलना नहीं चाहिये। विद्याका अभ्यास भी एक घंटे ठहरकर ही करना चाहिये। विद्याके अभ्यास करनेके बाद सायंकालके समय पुनः शौच-स्नान करके नित्यकर्म करना चाहिये। फिर रात्रिमें भोजन करके कुछ देर बाद रात्रिके दूसरे पहरके आरम्भ होनेपर शयन करना चाहिये। कम-से-कम बालकोंको सात घंटे सोना चाहिये। यदि सोते-सोते सूर्योदय हो जाय तो दिनभर गायत्रीका जप करते हुए उपवास करना चाहिये। मनुजीने कहा है—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥
(२ । २२०)

'इच्छापूर्वक सोते हुए ब्रह्मचारीको यदि सूर्य उदय हो जाय या इसी तरह भूलसे अस्त हो जाय तो गायत्रीको जपता हुआ दिनभर व्रत करे।'

*मलत्याग करके तीन बार मृत्तिकासहित जलसे गुदा धोवे फिर जबतक दुर्गन्ध एवं चिकनाई रहे तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रके त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मल त्यागनेके बाद मृत्तिका लेकर दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। जलसे मृत्तिकासहित पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके उपरान्त मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥
(२ । २२१)

'जिस ब्रह्मचारीके सोते रहते हुए सूर्य अस्त या उदय हो जाय वह यदि प्रायश्चित्त न करे तो उसे बड़ा भारी पाप लगता है।'

नित्यकर्ममें भगवान्के नामका जप और ध्यान तथा कम-से-कम गीताके एक अध्यायका पाठ अवश्य ही करना चाहिये। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो तो हवन, सन्ध्या, गायत्री-जप, स्वाध्याय, देवपूजा और तर्पण भी करना चाहिये। इनमें भी सन्ध्या और गायत्री-जप तो अवश्य ही करना चाहिये। न करनेसे वह प्रायश्चित्तका भागी एवं पतित समझा जाता है। ब्रह्मचारीके लिये तो सूतक कभी है ही नहीं, किन्तु नित्यकर्म करनेके लिये किसीको भी आपत्ति नहीं है।*

अतएव नित्यकर्म तो सदा ही करें— मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥
(२ । १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि नित्य स्नान करके और शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
(२ । १०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
(२ । १०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

श्रुति और स्मृतियोंमें गायत्रीजपका बड़ा माहात्म्य बतलाया है। गायत्रीका जप स्नान करके पवित्र होकर ही करना चाहिये—चलते-फिरते नहीं। गायत्रीका नित्य एक सहस्र जप करनेसे मनुष्य एक महीनेमें पापोंसे छूट जाता है। तीन वर्षतक करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा मनुने कहा है—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
(२ । ७८)

'इस (ओम्) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यफलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
(२ । ७९)

'ब्राह्मण इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे।'

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
(२ । ८१)

'जिनके पहले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः) तीन महाव्याहृति और तीन पद-वाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
(२ । ८२)

* जन्म और मृत्युके सूतकमें सन्ध्या, गायत्री-जप आदि वैदिक नित्यक्रिया बिना जलके मनसे मन्त्रोंका उच्चारण करके करनी चाहिये। केवल सूर्यभगवान्को जलसे अर्घ्य देना चाहिये।

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर नित्यप्रति तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह पवन-रूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

किन्तु खयाल रखना चाहिये—क्षत्रिय और वैश्यकी तो बात ही क्या है जबतक यज्ञोपवीत न हो, तबतक वेदका अभ्यास, वेदोक्त हवन और सन्ध्या-गायत्री-जप आदि वेदोक्त क्रियाएँ ब्राह्मणको भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि बिना यज्ञोपवीतके उनको भी करनेका अधिकार नहीं है। करें तो प्रायश्चित्तके भागी होते हैं। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको यज्ञोपवीत अवश्य लेना चाहिये।

यदि व्रात्य*(पतित) संज्ञा हो गयी हो तो भी शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त कराकर यज्ञोपवीत लेना चाहिये। उपनयनका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
(२।३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥
(२।३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

द्विजातियोंके लिये यज्ञोपवीतका कर्म और काल बतलाकर अब सभी बालकोंके लिये आचरण करनेयोग्य बातें बतलायी जाती हैं।

हे बालको! संसारमें सबसे बढ़कर प्रेम है, प्रेम साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, इसलिये जहाँ प्रेम है वहाँ सुख और शान्तिका साम्राज्य है। वह प्रेम स्वार्थत्यागपूर्वक दूसरोंकी आत्माको सुख पहुँचानेसे होता है। इसलिये माता, पिता, गुरुजन और सहपाठियोंकी तो बात ही क्या है, सभीके साथ सदा-सर्वदा सच्चे, हितकर विनययुक्त वचन बोलकर एवं मनसे, वाणीसे, शरीरसे जिस किसी प्रकारसे दूसरोंका हित हो ऐसा प्रयत्न तुमलोगोंको करना चाहिये।

दूसरोंकी वस्तुको चुराना-छीनना तो दूर रहा किन्तु वे खुशीसे तुम्हें दें तो भी अपने स्वार्थके लिये न लेकर विनय और प्रिय वचनसे उन्हें सन्तोष कराना चाहिये, यदि न लेनेपर उन्हें कष्ट होता हो एवं प्रेममें बाधा आती हो तो आवश्यकतानुसार ले भी ले तो कोई आपत्ति नहीं।

दूसरेके अवगुणोंकी तरफ खयाल न करके उनके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये। किसीकी भी निन्दा, चुगली तो करनी ही नहीं, इससे उसका या अपना किसीका भी हित नहीं है। आवश्यकता हो तो सच्ची प्रशंसा कर सकते हो।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं, किन्तु अपने-आप प्राप्त होनेपर भी कल्याणमें बाधक होनेके कारण मनसे स्वीकार न करके मनमें दुःख या संकोच करना चाहिये।

परेच्छा या दैवेच्छासे मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी ईश्वरका भेजा

* अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥
(२।३९)

यदि ऊपर बताये हुए समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनन्तर ये तीनों सावित्रीसे पतित होनेके कारण शिष्टजनोंसे निन्दित और व्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं।

हुआ पुरस्कार मानकर आनन्दित होना चाहिये । ऐसा न हो सके तो अपने पापका फल समझकर ही सहन करना उचित है ।

बड़ोंकी सभी आज्ञा पालनीय है किन्तु जिसके पालनसे उन्हींका या और किसीका अनिष्ट हो या जिसके कारण ईश्वरकी भक्तिमें विशेष बाधा आती हो वहाँ उपराम हो सकते हैं ।

गुरुजनोंकी तो बात ही क्या है, वृथा तर्क और विवाद तो किसीके साथमें भी कभी न करें ।

कितनी भी आपत्ति आ जाय, पर धैर्य और निर्भयताके साथ सबको सहन करना चाहिये क्योंकि भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी निर्भयताके साथ उसे सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है । ऐसा समझकर तुमलोगोंको आपत्तिमें भी धैर्य और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये ।

कोई भी उत्तम कर्म करके मनमें अभिमान या अहंकार नहीं लाना चाहिये किन्तु धन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदिके प्राप्त होनेपर स्वाभाविक ही चित्तमें जो दर्प, अहंकार और अभिमान आता है उसको मृत्युके समान समझकर सबके साथ विनययुक्त, दीनतासे बर्ताव करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे वे दुर्गुण नहीं आ सकते ।

गीता-रामायणादि धार्मिक ग्रन्थोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेके लिये भी अवश्य कुछ समय निकालना चाहिये ।

उपर्युक्त सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यके सारे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश हो जाता है । तथा उसमें स्वाभाविक ही क्षमा, दया, शान्ति, तेज, संतोष, समता, ज्ञान, श्रद्धा, प्रेम, विनय, पवित्रता, शीतलता, शम, दम आदि बहुत-से गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है । क्योंकि यह नियम है कि बीज और वृक्षकी तरह सद्गुणसे सदाचारकी एवं सदाचारसे सद्गुणोंकी वृद्धि होती है और दुर्गुण एवं दुराचारोंका नाश होता है ।*

इसलिये बालकोंको उचित है कि सद्गुणोंकी वृद्धि एवं सदाचारके पालनके लिये तत्परताके साथ चेष्टा करें । इस प्रकार करनेसे इस लोक और परलोकमें सुख और शान्ति मिल सकती है ।

संयम

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके संयमकी बहुत ही आवश्यकता है, क्योंकि बिना संयम किये हुए ये मनुष्यका पतन कर ही डालते हैं । भगवान्ने भी कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

(गीता २ । ६०)

'हे अर्जुन ! जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं ।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

(गीता २ । ६७)

'जैसे जलमें वायु नावको हर लेता है वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके बीचमें जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है वह (एक ही इन्द्रिय) इस (अयुक्त) पुरुषकी बुद्धिको हरण कर लेती है ।'

मनुजीने भी कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥

(२ । ९९)

* यहाँ सद्गुणोंको बीज और सदाचारको वृक्षस्थानीय समझना चाहिये ।

'सब इन्द्रियोंमेंसे जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है उसीसे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे एक भी छिद्र हो जानेसे बर्तनका समस्त जल निकल जाता है।'

अन्तःकरणके संयमका नाम शम, और इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है, इनको प्रायः स्मृतिकारोंने धर्मका अंग माना है। गीतामें शम और दमको ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म और वेदान्तमें इनको साधनके अंग माना है।

वशमें किये हुए मन-इन्द्रिय मित्र, और नहीं वशमें किये हुए शत्रुके समान हैं; मुक्ति और बन्धनमें भी प्रधान हेतु यही हैं। क्योंकि वशमें करनेपर ये मुक्तिके देनेवाले, नहीं वशमें किये हुए दुःखदायी बन्धनके हेतु होते हैं। जल जैसे स्वभावसे नीचेकी ओर जाता है वैसे ही इन्द्रियगण आसक्तिके कारण स्वभावसे विषयोंकी ओर जाते हैं। विषयोंके संसर्गसे दुराचार और दुर्गुणोंकी वृद्धि होकर मनुष्यका पतन हो जाता है। मनुजी भी कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(२।९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसन्देह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संसर्ग ही सारे अनर्थोंका मूल है। इसलिये हे बालको! इन सब विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझकर यथाशक्ति त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

बहुत-से भाई कहते हैं कि विषयोंके भोगते-भोगते इच्छाकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि मनुजीने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(२।९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

कितने ही लोग विषयोंके भोगनेमें ही सुख और शान्ति मानते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है, जैसे पतंगोंको प्रज्वलित दीपक आदिमें सुख और शान्ति प्रतीत होती है, पर वास्तवमें वह दीपक उनका नाशक है। इसी प्रकार संसारके विषय-भोगोंमें मोहवश मनुष्यको क्षणिक शान्ति और सुख प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें विषयोंका संसर्ग उसका नाशक यानी पतन करनेवाला है। इसलिये विवेक, विचार, भय या हठसे किसी भी प्रकार हो मन-इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर वशमें करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। मनुने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्॥
(२।८८)

'पण्डितको चाहिये कि मनको हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ोंके रोकनेमें सारथी करता है।'

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम्॥
(२।१००)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रियसमूहको वशमें करके, तथा मनको रोककर योगसे शरीरको पीड़ा न देते हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करे।'

इसलिये हे बालको! प्रथम वाणी आदि इन्द्रियोंका, फिर मनका संयम करना चाहिये। (गीता अ० २ श्लोक ४१-४३)।

जो मनुष्य अपनी निन्दा करे या गाली दे उसके बदलेमें शान्तिदायक सत्य, प्रिय और हितकर कोमल वचन कहना चाहिये। क्योंकि यदि वह अपनी सच्ची निन्दा करता है तो उससे तुम्हारी कोई हानि नहीं है बल्कि तुम्हारे गुणोंको ढकता है यह उपकार ही है। यदि कोई तुम्हारे साथ मार-पीट करे या तुम्हारी कोई चीज चुरा ले या जबरदस्ती छीन ले अथवा किसी भी प्रकारसे तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार करे तो तुम्हें उसे भी सहन करना चाहिये। अपने पूर्वके किये हुए अपराधके फलस्वरूप भगवान्का ही किया हुआ विधान समझकर चित्तमें प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि बिना अपराध किये और बिना भगवान्की प्रेरणाके कोई भी प्राणी किसीका अनिष्ट नहीं कर सकता।

सहन करनेसे धीरता, वीरता, गम्भीरता और आत्मबलकी वृद्धि भी होती है। अवश्य ही क्षमा-बुद्धिसे सहन होना चाहिये। कायरता या डरसे नहीं। आत्मरक्षाके लिये या अन्यायका विरोध करनेके लिये आवश्यकतानुसार उचित प्रतीकार करना भी दोषकी बात नहीं है। किन्तु इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहीं किसी-का अनिष्ट न हो जाय। मनुने कहा है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥
(२।१६१)

'मनुष्यको चाहिये कि दूसरेके द्वारा दुःख दिये जानेपर या दैवयोगसे कोई दुःख प्राप्त हो जानेपर भी मनमें दुःखी न हो तथा दूसरेसे द्रोह करनेमें कभी मन न लगावे। अपनी जिस वाणीसे किसीको दुःख हो ऐसी लोकविरुद्ध वाणी कभी न बोले।'

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥
(२।१६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥
(२।१६३)

'अपमान सह लेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है, परन्तु दूसरोंका अपमान करनेवाला नष्ट हो जाता है।'

इसलिये किसीका अनिष्ट करना, किसीके साथ वैर करना या किसीमें द्वेष या घृणा करना, अपने आपका पतन करना है।

बालकका जबतक विवाह नहीं होता तबतक वह गुरुके पास या माता-पिताके पास कहीं रहे वह ब्रह्मचारी ही है।

ब्रह्मचारीको लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा आदि घृणित एवं मादक पदार्थोंका सेवन करना तो दूर रहा इनका तो स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

अतर, फुलेल, तैल, पुष्पोंकी माला, आँखोंका अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना, बजाना, स्त्रियोंका दर्शन-भाषण-स्पर्श एवं सिनेमा-थियेटर आदि खेल-तमाशोंका देखना इन सबको सारे अनर्थोंका मूल कामोद्दीपन करनेवाला वीर्यनाशक समझकर त्याग कर देना चाहिये।

झूठ, कपट, छल, छिद्र, जुआ, झगड़ा, विवाद, निन्दा, चुगली, हिंसा, चोरी, जारी आदिको महा-पाप समझकर इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्षा, वैर, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और घृणा आदि

दुर्गुणोंको सारे पाप और दुःखोंका मूलकारण समझकर हृदयसे हटानेके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

बालक एवं ब्रह्मचारियोंके लिये मनुजी कहते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
(२ । १७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा इन सबको त्याग दें ।'

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
(२ । १७९)

'जुआ, गाली-गलौज, निन्दा तथा झूठ एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना' (इन सबका भी ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये ।)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
(२ । १७८)

'उबटन लगाना, आँखोंका आँजना, जूते और छत्र धारण करना, एवं काम, क्रोध, लोभ और नाचना, गाना, बजाना इन सबको भी त्याग दें ।'

सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, होटलका भोजन आदि भी उच्छिष्ट एवं महान् अपवित्र हैं * इसलिये धर्ममें बाधक समझकर इनका त्याग करना चाहिये । ऐसे भोजनको भगवान्ने तामसी बतलाया है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(गीता १७ । १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्ध-युक्त एवं बासी, (और) उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र है वह (भोजन) तामस पुरुषको प्रिय होता है ।'

उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचारोंको न त्यागनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान, तप, नियम आदि उत्तम कर्म सफल नहीं होते बल्कि दुखी होते हैं। मनुजी कहते हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥
(२ । ९७)

'दुष्टस्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप ये सब कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् इन सबका उत्तम फल उसे नहीं मिलता ।'

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(मनु० ४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित, दुःख भोगनेवाला, रोगी और अल्पायु होता है ।'

अतएव दुर्गुण और दुराचारोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको विषय-भोगोंसे हटाकर अपने स्वाधीन करना चाहिये । मन और इन्द्रियोंका संयम होनेसे राग-द्वेष, हर्ष-विषादका नाश सहजमें ही हो सकता है । जब प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता तथा मन और इन्द्रियोंके साथ इन्द्रियोंका संसर्ग होनेपर भी चित्तमें किसी प्रकार-का विकार उत्पन्न नहीं होता तब समझना चाहिये कि सच्चा जितेन्द्रिय 'संयमी' पुरुष है । मनुजी भी कहते हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥
(२ । ९८)

'जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर, और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये ।'

मन और इन्द्रियोंके वशमें होनेके बाद राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंका संसर्ग किया

* प्रायः सोडावाटर और बर्फ उच्छिष्ट, बिस्कुटमें मुर्गी-का अण्डा, डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण, होटलके भोजनमें मद्य-मांसादिका संसर्ग यह सब ही महान् अपवित्र हैं ।

जाना ही लाभदायक है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(२ । ६४)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला (पुरुष) रागद्वेषसे रहित, अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छताको प्राप्त होता है ।'

ब्रह्मचर्य

जिसने सब प्रकारसे मैथुनका त्याग कर दिया है * वही ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध है । क्योंकि सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्यका पालन ब्रह्म (परमात्मा) की प्राप्तिमें मुख्य हेतु है। ऊपर बतलाये हुए व्रतका आचरण करनेवाला चाहे गुरुके गृहमें वास करो या अपने माता-पिताके घरपर रहो वह ब्रह्मचारी ही है। हे बालको ! ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना भी तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर मुख्य कर्तव्य है । इसीसे बल, बुद्धि, तेज, सद्गुण और सदाचारकी वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

इसलिये तुमलोगोंको स्त्रियोंके संगसे बहुत सावधान रहना चाहिये । स्त्रियोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनकी तो बात ही क्या है उनकी मूर्ति एवं चित्र भी ब्रह्मचारीको नहीं देखने चाहिये । यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़ जाय तो नीची दृष्टिसे अपने चरणोंकी तरफ या जमीनको देखते हुए उनको अपनी माँ और बहिनके समान समझकर बातचीत करे । किन्तु एकान्तमें तो माता और बहिनके साथमें भी न रहे । क्योंकि स्त्रियोंका संसर्ग पाकर बुद्धिमान् पुरुषकी भी बुद्धि भ्रष्ट होकर इन्द्रियाँ विचलित हो जाती हैं । मनुने भी कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥
(२ । २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, अतः वह पण्डितको भी अपनी ओर खींच लेता है ।'

महावीर हनुमान्‌का नाम ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें प्रसिद्ध है । रामायणके पाठक उनकी जीवनीसे भी परिचित हैं । हनुमान् एक अलौकिक वीर पुरुष थे । हनुमान्ने समुद्रको लाँघ, रावण-पुत्र अक्षयकुमारको मार, लङ्काको जला, श्रीजानकीजीका समाचार श्रीरामके पास पहुँचाया । और लक्ष्मणके शक्तिबाण लगनेपर सुषेण वैद्यकी बतलायी हुई बूटीको न पहचाननेके कारण बूटी-सहित पहाड़को उखाड़कर सूर्योदयके पूर्व ही लङ्कामें ला उपस्थित किया । किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डको देखनेसे मालूम होता है कि हनुमान् केवल वीर ही नहीं, सदाचारी, विद्वान्, ऋद्धि-सिद्धिके ज्ञाता और भगवान्के महान् भक्त थे । जिनकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान्ने कहा है कि हे हनुमान् ! तुमने जो हमारी सेवा की है, उसका प्रत्युपकार न करनेके कारण मैं लज्जित हूँ ।

प्रत्युपकार करौं का तोरा । सन्मुख होइ न सकत मन मोरा ॥

भारतवासी आज भी उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानकर पूजते हैं, भक्तगण स्तुति गाते हैं, व्यायाम करनेवाले अपने दलका नाम 'महावीरदल' रखकर बल बढ़ाना चाहते हैं । वास्तवमें मनुष्य महावीर हनुमान्‌के जिस गुणका स्मरण करता है आंशिक-रूपसे उसमें उस गुणका आविर्भाव-सा हो जाता है ।

राजकुमार वीर श्रीलक्ष्मणजीके विषयमें तो कहना ही क्या है, वे तो साक्षात् भगवान्के सेवक एवं शेषजीके अवतार थे । उन्होंने तो श्रीरामजीके साथ अवतार लेकर लोगोंके हितार्थ लोक-मर्यादा-

---

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥

स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका संकल्प करना, चेष्टा करना, और स्त्रीसंग करना ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं ।

के लिये आदर्श व्यवहार किया। वे सदाचारी, गुणों-की खान, भगवान्‌के अनन्यभक्त, एक महान् वीर पुरुषके नामसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने जिसको इन्द्र भी न जीत सका था उस वीर मेघनादको भी मार डाला। काम पड़नेपर कालसे भी नहीं डरते थे। यह सब ब्रह्मचर्यव्रतका ही प्रभाव बतलाया गया।

गङ्गापुत्र पितामह भीष्मका नाम आपलोगोंने सुना ही होगा, वे बड़े तेजस्वी, शीलवान, अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, ईश्वरके भक्त और बड़े धर्मात्मा वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने पिताकी सेवाके लिये क्षणमात्रमें कञ्चन और कामिनीका सदाके लिये त्याग कर दिया और उसके प्रतापसे उन्होंने कालको भी जीत लिया। एक समय देव-व्रत (पितामह भीष्म) ने अपने पिता शान्तनुको शोकाकुल देखकर उनसे शोकका कारण पूछा, उन्होंने पुत्रवृद्धिके लिये विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। इस प्रकार अपने पिताके शोकका कारण जानकर बुद्धिमान् देवव्रतने अपने पिताके वृद्ध मन्त्रीके पास जाकर उनसे भी अपने पिताके शोकका कारण पूछा—तब मन्त्रीने धीवरराजकी (पालिता) कन्याके सम्बन्धके विषयकी सब बातें कहीं और धीवरराजकी इच्छाका वृत्तान्त भी सुनाया। तब देवव्रत बहुत-से क्षत्रियोंको साथ लेकर उस धीवरराजके पास गये और अपने पिताके लिये उस धीवरराजसे कन्या माँगी। धीवरराजने देवव्रतका विधिपूर्वक सत्कार किया और इस प्रकार कहा—हे देवव्रत! अपने पिताके आप बड़े पुत्र हैं और आप राजा होनेके योग्य हैं किन्तु मैं कन्याका पिता हूँ, इसलिये आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, बात यह है कि इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही राजगद्दीपर बैठे। इस शर्तपर मैं अपनी कन्याका विवाह आपके पिताके साथ कर सकता हूँ, नहीं तो नहीं। उस दासराज (धीवरराज) के वचनको सुनकर गङ्गापुत्र देव-व्रतने सब राजाओंके सामने यह उत्तर दिया कि हे दासराज! तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा। यह मेरा सत्य वचन है, इसे तुम निश्चय ही मानो। इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा होगा। तब धीवरराजने कहा—'हे सत्यधर्मपरायण! आपने मेरी कन्या सत्यवतीके लिये सब राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके योग्य ही है, आप इस प्रतिज्ञाका पालन करेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु आपके जो पुत्र होंगे—उनसे मुझे बड़ा सन्देह है—वे इस कन्याके पुत्रसे राज्य ले सकते हैं।' तदनन्तर गङ्गापुत्र देवव्रतने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे दूसरी प्रतिज्ञा की, देवव्रत बोले—'हे दासराज! अपने पिताके लिये इन सब राजाओंके सामने मैं जो वचन कहता हूँ, उसको सुनो। (मैं राज्यको तो पहले त्याग ही चुका हूँ) आजसे मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा अर्थात् विवाह न करके आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा।' राजकुमार देवव्रतके ऐसे वचनोंको सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे धीवरराज बोले—'हे देवव्रत! मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अर्पण करता हूँ।' उस समय देवता और ऋषिगण बोले—'यह भयानक कर्म करनेवाला है इसलिये यह भीष्म है।' ऐसा कहते हुए आकाश-से फूलोंकी वर्षा करने लगे। (तबसे गङ्गापुत्र देवव्रतका नाम भीष्म विख्यात हुआ)। उसके बाद भीष्मने अपने पिताके लिये उस धीवरराजकी यशस्विनी कन्या सत्यवतीसे कहा—'मातः! इस रथपर चढ़िये, हमलोग घर चलेंगे।' ऐसा कह उस कन्याको अपने रथमें बैठाकर हस्तिनापुर आये, और उस कन्याको पिताके अर्पण कर दिया। उनके इस दुष्कर कर्मको देखकर सब राजा लोग उनकी प्रशंसा करने लगे और यह कहने लगे—इसने बड़ा भयङ्कर कर्म किया है। इस कारण हम सब इसका 'भीष्म' नाम रखते हैं। जब राजा शान्तनुने सुना कि देवव्रत ऐसा दुस्तर कार्य किया है तो उन्होंने प्रसन्न होकर महात्मा भीष्मको अपने तपके बलसे स्वच्छन्द मरणका वर दिया। वे बोले 'हे निष्पाप! तुम जबतक जीवित रहना चाहोगे तबतक मृत्युका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव न होगा, तुम्हारी आज्ञा होनेपर ही तुम्हें मृत्यु मार सकेगी।' (महाभारत आदि० अ० १००)

आजीवन ब्रह्मचर्यके प्रभावसे अकेले भीष्म

काशीमें समस्त राजाओंको परास्त करके अपने भाई विचित्रवीर्यके साथ विवाह करनेके लिये बलपूर्वक स्वयंवरसे काशिराजकी अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामवाली तीनों कन्याओंको ले आये। उन तीनों कन्याओंमें शाल्वराजकी इच्छा करनेवाली अम्बा नामवाली कन्याका त्याग कर दिया, और उस अम्बाके पक्षको लेकर आये हुए जमदग्निपुत्र परशुरामके साथ बहुत दिनोंतक घोर युद्ध करके अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

महाभारतको देखनेसे ज्ञात होता है कि भीष्म केवल शूरवीर ही थे इतनी बात नहीं, वे बड़े भारी सदाचारी, सद्गुणसम्पन्न, शास्त्रके ज्ञाताओंमें सूर्यरूप एवं भक्तोंमें शिरोमणि थे। भीष्मने भगवान् श्रीकृष्णजीके कहनेसे राजा युधिष्ठिरको भक्ति, ज्ञान, सदाचार आदि धर्मके विषयमें अलौकिक उपदेश दिया था जिससे शान्ति और अनुशासन-पर्व भरा पड़ा है। आजीवन ब्रह्मचर्यके पालनके प्रभावसे वे अचल कीर्ति और इच्छामृत्युको प्राप्त करके सर्वोत्तम परमगतिको प्राप्त हो गये।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बतलाते हुए भगवान्ने गीतामें कहा है—

> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
> तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।
> (८।११)

'जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

प्रायः इसी प्रकारका वर्णन कठोपनिषद्में भी आता है।

> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
> तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।
> (१।२।१५)

'जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहता हूँ। वह पद यह 'ॐ' है।'

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
> (क० उ० १।२।१६)

'यह ॐकार अक्षर ही ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, यही परब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको जानकर मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

> एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
> एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
> (क० उ० १।२।१७)

'यह सबसे उत्तम आलम्बन है, यह ही सबसे ऊँचा आलम्बन है। जो मनुष्य इस आलम्बनको जान जाता है वह ब्रह्मलोकमें महिमावाला होता है।' यानी ब्रह्मलोकनिवासी भी उसकी महिमा गाते हैं।

अतएव बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो शास्त्रकी आज्ञानुसार चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्यका पालन करें, यदि इतना भी न हो सके तो, कम-से-कम आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन तो अवश्य ही करना चाहिये, इससे पूर्व ब्रह्मचर्यका नाश करनेवाले बालकको सदाके लिये पश्चात्ताप एवं रोगोंका शिकार होकर असमयमें मृत्युका शिकार बनना पड़ता है। विषय-भोगोंके अधिक भोगनेसे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, ज्ञान, स्मृतिका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसलिये गृहस्थी भाइयोंसे भी नम्र निवेदन है कि महीनेमें एक बार ऋतुकालके अतिरिक्त स्त्री-सहवास न करें। क्योंकि उपर्युक्त नियमपूर्वक सहवास करनेवाला गृहस्थी भी यति और ब्रह्मचारीके सदृश माना गया है। (क्रमशः)

नैया पार लगा दो खेवनहार

(प्रार्थना)

(लेखक—श्रीजमीयतरामजी)

हे भगवन् ! जगत्‌में जिस ओर नज़र जाती है, मनुष्य दुःखके दरियामें डूबे हुए ही दिखायी देते है। संसारमें कोई भी सुखी नज़र नहीं आता। तुम दयासागर हो ! तुम भी दया नहीं करोगे ? क्या दया-सागर सूख गया है ? हाँ—ज़रूर सूख गया है। सचमुच तुमसे दया जाँचनेका हमें अधिकार भी तो क्या है ? तुम दया भी क्यों दिखाने लगे ? जब हम तुमको ही भूलते हैं, मायाके आवरणमें जब सत्यको त्यागकर झूठको ही सत्य मानते हैं, तो तुम्हारे पास दया कैसे माँग सकते हैं ? अवश्य नहीं। न हम दयाकी याचना ही कर सकते हैं न तुम ही हम पापियोंपर दया कर सकते हो। तुम्हारी दया और कृपाके पात्र होनेके लिये हमारी योग्यता ही कहाँ है ? वस्तुतः हम ही ऐसे हैं कि जब हमारे पास लक्ष्मी हो, जब हम सुख-चैनमें पड़े हों, तब हम तुम्हें भूल जाते हैं, और जब हमारे शरीरपर संकटके बादल छा रहे हों, तब हम तुमको पुकारते हैं। यह पुकार भी हमारी सच्चे दिलसे नहीं होती, फिर भी प्रभो ! तुम उस समय आओगे जब हमारा संसारमें कोई नहीं होगा, तुम उस समय अवश्य आओगे जब हमारे पास कुछ भी नहीं होगा—ठहरनेको जगह भी नहीं होगी। प्रभो ! इसीलिये तुम दीन और अनाथोंके नाथ कहलाते हो, किन्तु हम दीन कहाँ हैं कि तुम हमारे लिये आओगे। दीन तो वह है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरका सम्पूर्ण त्याग कर चुका है, दीन वह है, जो शत्रु और मित्रको समान समझता है, दीन वह है जो जन्म और मृत्युमें भेद नहीं मानता, दीन वह है जिसका अलौकिक त्याग है, दीन वह है जो सुख-दुःखको समान समझता है और सब अवस्थामें स्थिर रहता है।

तुम आओगे मेरे भगवन् तुम ही आओगे। मुझे विश्वास है, तुम मुझे नहीं भूलोगे। मैं तुम्हें भूल जाऊँगा, मैं तुम्हारा स्मरण भी नहीं करूँगा, पर तुम मुझे कभी नहीं भूल सकोगे और आओगे। क्योंकि तुम दयालु हो, घट-घटव्यापी अन्तर्यामी हो, तुम ही आकर मेरी बाँह पकड़ोगे। तुम ही आये थे न, जब गजेन्द्रने तुमको याद किया ? तुम ही गये थे न, जब पाञ्चालीने तुमको पुकारा ? तुम ही तो दौड़ते-दौड़ते चले गये थे न, जब ध्रुव अरण्यमें बैठा था ? क्यों तुम ही थे न, जिन्होंने मीराका विषका कटोरा अमृतसे भर दिया और फणिधरकी जगह कृष्णकी मूर्ति बना दी ? पहाड़से प्रह्लाद फेंक दिया गया तब भी तो तुम ही गये थे, सुधन्वाको जब तेलकी कढ़ाईमें तैरना था, तब वहाँ भी तो तुम ही पहुँचे थे ! तुम जाते तो हो, पर जब उनकी आवाज़ तुम्हारे कानपर आती है तब। इन सबकी आवाज़ तुम्हारे कानपर पहुँची; क्योंकि यह आवाज़ अन्तरकी थी। अन्तरसे निकल रही थी और थी तुमको ही सुनानेके लिये।

पर यह आवाज़ कैसे निकलेगी प्रभो ! यह आवाज़ आसानीसे नहीं निकलती। यह आवाज़ निकलती है, जब कण्ठ रुक जाता है, गद्गद हो जाता है, जब रोमावली खड़ी हो जाती है, जब प्रस्वेदसे मनुष्य नहाया-सा हो जाता है, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है और जब मनुष्य देहका भान भूल जाता है। यह अन्तर्नाद तब होता

है जब उसे यह विचार भी नहीं रहता कि वह तुझे पुकार रहा है ।

हे नाथ ! ऐसा समय कब आयेगा जब मैं भी ऐसी आवाज़ कर सकूँगा ? हे कृपासिन्धो ! मैं जब तुम्हारा स्मरण करता हूँ तो निमेष मात्रके लिये भी चित्त स्थिर नहीं रहता । मन कहीं फिरता है और मैं आवाज़ क्या करता हूँ ! ऐसी स्थितिमें हे परमात्मन् ! ऐसा अन्तर्नाद मैं कैसे कर सकूँगा ? इतनी आर्जवताको मैं कैसे प्राप्त कर सकूँगा ?

हाँ—होगा, अवश्य होगा, जब मैं, मेरा भूल जाऊँगा, जब मैं तन, मन, धन सर्वस्व तुम्हारे चरणों-पर न्योछावर कर दूँगा, जब मैं दीन बनूँगा, जब मैं यह समझूँगा कि तुम ही एक मेरे हो, मेरा दूसरा कोई नहीं । प्रभो ! मैं इसी क्षणकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ । पीछे तो मैं मैं नहीं, तुम तुम नहीं, मैं ही तुम हो जाऊँगा ।
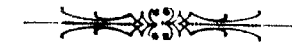
एक भक्तके उद्गार

(अनु०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)

मानसिक प्रकाशके लिये एक प्रार्थना

१—हे करुणामय ईश्वर ! शुभ्र उज्ज्वल आन्तरिक आलोकसे तू मुझे प्रकाशित कर दे और मेरे हृदय-सदनसे समस्त अन्धकारको दूर कर दे ।

मेरे विविध भ्रान्त विचारोंको दबा दे और मुझपर कठोर आघात करनेवाले प्रलोभनोंको टुकड़े-टुकड़े कर दे ।

तू मेरे लिये पापी पशुओंसे—अर्थात् शरीरकी आकर्षक वासनाओंसे—वीरताके साथ युद्ध कर, उन्हें पराजित कर दे, जिसमें तेरी शक्तिद्वारा शान्ति प्राप्त हो और तेरे पवित्र न्यायालयमें अर्थात् शुद्ध अन्तः-करणमें तेरी विपुल प्रशंसा गूँज उठे ।

२—अपने प्रकाश एवं सत्यको भेज, जिसमें वे पृथ्वीपर चमक उठें । चूँकि जबतक मुझे तू प्रकाशित नहीं करता, मैं मृत्पिण्डकी तरह रूपहीन और शून्य हूँ ।

ऊपरसे अपने प्रसादकी वर्षा कर, मेरे हृदयको दिव्य ओसकणसे सींच दे, पृथ्वीके मुखमण्डलको आप्लावित करनेके लिये भक्तिकी नवीन धाराएँ भेज जिसमें अच्छे और सुन्दर फल उत्पन्न हों ।

पापभाराक्रान्त मेरे मनको अपनी ओर उठा, मेरी सम्पूर्ण कामनाओंको स्वर्गीय पदार्थोंकी ओर खींच ताकि दिव्य आनन्दकी मधुरता चखनेपर मुझे लौकिक वस्तुओंका चिन्तन भी अरुचिकर प्रतीत हो ।

जीवोंके समस्त क्षणिक सन्तोषोंसे तू मेरी रक्षाकर दूर खींच ले, चूँकि किसी भी विषय-पदार्थसे मेरी कामनाओंको पूर्ण सुख और विश्राम नहीं मिल सकता ।

संसारसे घृणा और ईश्वरसेवा मधुर जीवन है

हे प्रभो ! तेरा उपकार कितना महान् है !

हे प्रेमके अबाध निर्झर ! तेरे बारेमें मैं क्या कहूँ ?

१—मैं तुझे कैसे भूल सकता हूँ जिसने मेरे पथभ्रष्ट और नष्ट होनेपर भी स्मरण रखनेका वचन दिया ?

तूने अपने दासपर आशासे भी अधिक दया और पात्रतासे भी अधिक कृपा और प्रेमपूर्ण करुणा प्रदर्शित की है ।

इस प्रसादके लिये मैं तुझे क्या बदला दूँ ? सबके भाग्यमें सर्वस्व-त्याग, संसारका परित्याग और धार्मिक संन्यास नहीं लिखा है ।

जिसकी सेवाको सारी सृष्टि बाध्य है, उसकी सेवा यदि मैं करूँ तो क्या यह बड़ी बात होगी ?

तेरी सेवा मेरे लिये बड़ी बात न होनी चाहिये। किन्तु यही बड़े अचरजकी बात होनी चाहिये कि तूने मुझ-से रंक और अयोग्य व्यक्तिको अङ्गीकारकर अपने भक्तोंके समान बना लिया ।

२—देख, जो कुछ मेरे पास है और जिससे मैं तेरी सेवा करता हूँ, वह सब कुछ तेरा ही है ।

और इसके विपरीत, मैं तेरी सेवा नहीं करता बल्कि तू ही मेरी सेवा करता है ।

देख, यह आकाश और पृथिवी जिसे तूने मानवकी सेवाके लिये सिरजा है, नित्य तेरा आदेश-पालन करते हैं ।

यह तो थोड़ा ही है, इसके अतिरिक्त तूने मानवकी सहायताके लिये देवताओंको भी नियुक्त किया है ।

पर इन सबसे बढ़कर बात यह है कि तूने स्वयं मानवकी सेवा करने और अपनेको सौंप देनेका वचन दिया है ।

३—इन हज़ारों उपकारोंके बदले मैं तुझे क्या दूँ ? इच्छा है कि आजीवन तेरी सेवामें लगा रहूँ ।

काश, एक दिन भी मैं तेरी कोई योग्य सेवा कर सकता !

सत्य ही तू सम्पूर्ण सेवा, प्रतिष्ठा और प्रशंसाके योग्य है ।

सचमुच तू मेरा स्वामी और मैं तेरा ग़रीब सेवक हूँ, जो अपनी सारी शक्तिसे तेरी सेवा करनेको बाध्य हूँ । मुझे तेरी प्रशंसा करनेमें कभी न थकना चाहिये ।

यही मेरी इच्छा है, और यही आकांक्षा है । जो कुछ मेरेमें कमी हो, उसे तू पूरा कर दे, यही मेरी विनय है ।

४—तेरी सेवा करना और सब वस्तुओंसे घृणा करना बहुत बड़ा मान और गौरव है ।

जो तेरी परम पवित्र सेवामें स्वेच्छासे अपनेको सौंप देंगे उन्हें महत्प्रसाद प्राप्त होगा ।

जो तेरे प्रेमके लिये सारे पाशविक आनन्दोंका परित्याग करेंगे, उन्हें मधुर शान्ति प्राप्त होगी ।

जो तेरे नामके पीछे सांसारिक चिन्ता त्यागकर संकीर्ण मार्गमें प्रवेश करेंगे उन्हें महती मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।

५—अहा ! वह प्रभु-सेवा मधुर और आनन्दपूर्ण है, जिससे मानव वास्तवमें स्वतन्त्र और पवित्र होता है ।

अहा ! वह सेवा चिरवाञ्छनीय है जिसमें हम परममंगल वस्तुद्वारा पुरस्कृत होते और अक्षय आनन्द प्राप्त करते हैं ।

मनोयोग

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र एम० ए०, 'माधव')

मनो हि जगतां कर्त्ता मनो हि पुरुषः स्मृतः ।
मनःकृतं कृतं राम न शरीरकृतं कृतम् ॥

(योगवासिष्ठ)

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके स्वस्वरूपमें दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाना ही पूर्ण मनोयोग है । चित्तकी वृत्तियाँ स्वभावतः बहिर्मुखी हैं । अज्ञानके योगसे जगत्में जो रमणीयता प्रतीत होती है उसीके पीछे मन बराबर दौड़ा करता है । मन अनात्मके अनुसंधानमें संलग्न है । प्रत्येक क्षण मनमें असंख्य लहरें उठ-उठकर विषय-प्रपञ्चकी ओर तीव्रातितीव्र गतिसे जा रही हैं । परन्तु मृग-जलसे किसकी प्यास बुझी ? मनके वशमें होकर कौन शान्ति पा सका ?

मन और इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके, सब प्रकार अनात्मसे हटाकर आत्मामें उसे जोड़ देना और आत्माके अनुशासनमें ही उसे रक्खे रहना मनोयोगके अभ्यासका मूलतत्त्व है । मनको मिटाना तो केवल बात-ही-बात है । मन मर नहीं सकता, निःशेष हो नहीं सकता; करना तो बस इतना ही है कि उसे जगत्के प्रपञ्चसे हटाकर हरिके चरणोंमें जोड़ दिया जाय । वहाँ इसका भटकना और भागना रुक जायगा । जगत्के पदार्थोंमें जो रसाभास है उसे ही पीनेके लिये मन पागल होकर भागता है; वह बार-बार ठोकर खाता है, बीच-बीचमें उसे अनुभव भी होता रहता है कि विषयोंमें सुख नहीं; परन्तु तुरंत ही मनका आवरण घिर आता है और मनपर पर्दा पड़ जाता है और पुनः यह श्वान-शूकरके समान भटकता फिरता है !

इस दुर्दमनीय मनको वशमें लाकर प्रभुके चरणोंमें जोड़नेकी अनेकों विधियाँ हमारे शास्त्रोंने बतलायी हैं । वास्तवमें देखा जाय तो हमारे शास्त्रों तथा ऋषि-महर्षियोंने यदि सबसे अधिक किसी एक बातपर जोर दिया है तो वह यही है कि मनको जगत्से हटाकर जगदीश्वरमें लगाओ । शास्त्र और ऋषि-महर्षि केवल यह आज्ञा देकर ही नहीं रह गये, अपितु उन्होंने बहुत विस्तारसे इसे समझाया भी है और युक्तियाँ भी सुझायी हैं जिनके द्वारा हम मनको अपने अधीन करके प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर सकते हैं, क्योंकि भगवान्के चरणोंमें चढ़ाने योग्य यदि कोई वस्तु है तो वह शुद्ध मन ही है ।

तो फिर मनकी शुद्धि कैसे हो ? सबसे पहले तो मनको शुद्ध करके ही आगे बढ़ा जा सकता है, क्योंकि जबतक मनकी संशुद्धि नहीं होती तबतक उसका परमात्मासे योग कैसे होगा ? अनुभवी सन्त-महात्माओं तथा शास्त्रोंने इसके लिये दो ही उपाय बतलाये हैं;—(१) वैराग्यके द्वारा बराबर विषयोंको फेंकता जाय, जगत्से मनको हटाता जाय और (२) अभ्यासके द्वारा बराबर मनको भगवान्में लगाता जाय । भगवत्कृपाका आश्रय तो प्रधान है ही क्योंकि उसकी कृपाके बिना इस पथमें एक डग भी आगे बढ़ना अत्यन्त कठिन है । मनकी स्वाभाविक गति निरन्तर बहिर्जगत्की ओर है, अतएव आरम्भमें उसे उसके प्रिय भोगोंसे हटानेमें कठिनाई अवश्य प्रतीत होगी और ईश्वरमें लाख लगानेपर भी वह नहीं लगेगा; इतना ही नहीं वह बार-बार अड़ेगा, पगहा तुड़ाकर भागेगा, भगवान्में उसे लगानेकी हम जितनी ही अधिक चेष्टा करेंगे उतने ही तीव्र वेगसे वह विषयोंकी ओर भागेगा । कभी-कभी वह हमें बुरी तरह धोखा भी देगा,—हम बैठे रहेंगे आँख मूँदकर मनको हरिमें लगानेके लिये परन्तु वह हमारी आँखोंमें धूल झोंककर लगा रहेगा विषयोंमें । मनकी गति बड़ी ही सूक्ष्म, बड़ी ही बाँकी है; अतएव बड़ी सतर्कता और सावधानीसे इसे पकड़नेकी चेष्टा करनी होगी ।

मन तो एक अज्ञ बालकके समान है जिसपर कड़ी निगाह रखनेसे ही काम चलेगा । उसे आवश्यकतानुसार तमाचा भी लगावे और मिठाई भी दे । राहसे जहाँ बेराह मन हुआ कि तमाचा जड़नेमें संकोच न करे, नहीं तो किसी खाई-खन्दकमें वह हमें ले दबोचेगा । खूब सतर्क होकर, पूरी चौकसी और जागरूकताके साथ मनकी गति-विधिका निरीक्षण करता रहे और उसे सत्पथपर चलनेके लिये बराबर 'सूचना' (Suggestion) देता रहे, प्रोत्साहन देता रहे, शाबासी देता रहे और जबतक पथपर वह ठीक-ठीक चलता रहे तबतक उसपर खूब प्रेम और लाड़-प्यार बरसावे—खूब बढ़ावा दे और उससे कहता रहे—शाबास ! चले चलो, हरिका मन्दिर पास ही है, बढ़े चलो, बढ़े चलो ! तुम्हारे-जैसा वीर-बाँकुरा कौन है ? तुमने संसारको जीत लिया है । संसारके कोई प्रलोभन तुम्हें आकृष्ट नहीं कर सकते, संसारका कोई आकर्षण तुम्हें पथभ्रष्ट नहीं कर सकता, तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध शिवस्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप हो, तुम्हें संसार स्पर्श नहीं कर सकता ! तुम्हें संसारके तुच्छ विषयभोगोंसे क्या करना है— बढ़े चलो, हरिके चरणोंमें बढ़े चलो ! मन इस शाबासी-

पर खूब प्रसन्न होगा और अधिकाधिक वेगसे सत्पथपर चलता रहेगा। उसे बल प्राप्त होगा और भगवान्‌के आश्रय-का बोध भी उसे होगा। उसमें बलके साथ पवित्रता, स्फूर्त्ति और तेज आवेगा और वह चिर नवीन उत्साहसे निर्दिष्ट पथपर चलता चलेगा, थकनेका कभी नाम भी न लेगा। मनरूपी बालकको मिठाई देना यही है।

परन्तु मनको ठीक रास्तेपर चलते देखकर 'सवार' गाफ़िल न हो जाय। हाथकी चाबुक बराबर तनी रहे और पथका विस्मरण एक क्षणके लिये भी न हो। यदि सवार ही सो जाय, हाथकी चाबुक गिर पड़े, लगाम ढीली हो जाय तो घोड़े राहपर कै छन टिकेंगे—उनका तो स्वभाव ही है राहसे कुराहकी ओर भागना। तात्पर्य यह कि चौकसी बराबर अविच्छिन्नरूपसे रहे—लगाम कसी रहे और गन्तव्य स्थानका स्मरण अहर्निश बना रहे। मन ज़रा-सा भी दायें-बायें झुके कि बिना मुरौव्वत कसकर चाबुक लगा दी जाय—वह छटपटाकर रह जाय और कभी भी उसे यह न भूले कि 'मालिक' की आज्ञाका उसने ज़रा भी उल्लङ्घन किया कि उसकी खैर नहीं। उसे जबतक चाबुककी मार याद रहेगी तबतक वह ठीक रास्तेपर चलता रहेगा। चाबुककी छोर उसके कानतक बराबर लटकती रहे जिससे बीच-बीचमें भी उसे यह स्मरण होता रहे कि चाबुक दूर नहीं है और सवार बेख़बर सो नहीं गया है!

उपनिषदोंमें इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथी, आत्माको रथी और भगवत्प्राप्तिको गन्तव्य स्थान माना है। इसपर ज़रा गहराईसे विचार किया जाय तो मनको वशमें करनेकी विधिपर बहुत अधिक प्रकाश पड़ सकता है क्योंकि घोड़ोंका ठीक रास्ते-पर चलना-न-चलना लगामकी चुस्ती और ढीलेपनपर ही निर्भर है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

जैसे पाँवमें जूता पहननेसे सब जमीन 'चर्मास्तृत'—अर्थात् चमड़ेसे मढ़ी हुई मालूम होती है वैसे ही जिसका मन पूर्णतः अधीनस्थ है उसके लिये समस्त संसार अधीनस्थ है। देवीभागवतमें 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' जो वचन है उसकी सत्यताको अनुभव करते हुए भी यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि हम मनको अपने बन्धन—बार-बार जन्म-मरणके बन्धनका कारण बना लेते हैं! यही मन हमें मुक्ति दिला सकता है और इसीसे नरककी यन्त्रणा भी मिलती है। स्वर्ग और नरक—दोनोंका द्वार हमारे सामने खुला हुआ है। जीता हुआ मन हमें स्वर्गमें पहुँचा देगा, और पराधीन विषयलोलुप मन हमें नरककी खाईमें ले दबोचेगा।

प्रतारणा और प्रेम—दोनों युक्तियोंसे मनको हरि-चरणोंमें युक्त किया जाय। इसके लिये संत-महात्माओंने बतलाया है कि एक ओरसे वैराग्यकी धूनी रमाकर चित्त-से विषयोंका त्याग करना और दूसरी ओरसे हरि-चिन्तन-का आनन्द लेना, उसे हरिस्मरणका चसका लगाना और हरि-भजनमें डुबोये रहना और क्रमशः उसे हरिस्वरूपमें मिलाकर एक कर देना, मनको मनकी तरह रहने ही न देना—यही तो मनोजय है! श्रीएकनाथजी महाराजने कहा है—'जैसे हीरेसे हीरा चीरा जाता है उसी प्रकार मनको मनसे ही धरना होता है। इस मनकी एक उत्तम गति है। यदि यह कहीं परमार्थमें लग गया तो चारों मुक्तियोंको दासियाँ बना छोड़ता है और परब्रह्मको बाँधकर हाथमें ला देता है। नित्य जागकर इस मनको सँभालना पड़ता है, मदोन्मत्त हाथी जैसे अंकुशके बिना नहीं सँभलता वैसे ही चञ्चल मन अखण्ड सावधान रहे बिना ठिकाने नहीं रहता। प्रतारणा और प्रेमके साथ-साथ मनको बार-बार समझावे भी—

'रे मन! अब भगवान्‌के चरणोंमें लीन हो जा। इन्द्रियोंके पीछे मत दौड़। वहाँ सब सुख एक साथ हैं और वे कभी कल्पान्तमें भी नष्ट होनेवाले नहीं। जाना-आना, दौड़ना-भटकना, चक्करमें पड़ना यह सब वहाँ छूट जाता है, वहाँ पर्वतोंपर चढ़नेका कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। अब मुझे तुझसे इतना ही कहना है कि तू कनक-कामिनीको विषतुल्य मान। तू चाहे तो हम तुम भवसिन्धुके पार उतर सकते हैं।'

इस प्रकार समझाने-बुझाने और पुचकारनेसे कुछ देरके लिये मन मान जायगा। उस समय जब उसकी प्रवृत्ति परमार्थकी ओर हो, जब वह आत्मानन्दका रस पीनेके लिये ललचे-तड़पे तो उसे श्रवण, मनन और निदिध्यासनका भोजन और स्मरण-चिन्तन और भजनका अमृत-पान देना चाहिये। उसे स्वयं धीरे-धीरे चसका लग जायगा और वह

बार-बार यही खोजेगा। इस प्रकार मनकी सच्ची भूख-प्यास बढ़ना परम शुभ लक्षण है। भूख भीतरसे जागे, परमात्माको पानेके लिये मन ललके, इससे बढ़कर और क्या चाहिये? मनका घुमाव जगत्‌की ओरसे हटकर परमात्माकी ओर हो गया तो फिर क्या पूछना?

"There is nothing but Mind; we are expressions of the One Mind; body is only a mortal belief; as a man thinketh so is he."

'मन ही है जो कुछ है, और तो कुछ है नहीं; हम सब क्या हैं उसी मनके सिवा कुछ है ही नहीं। एक मनकी अभिव्यक्ति हैं। शरीर तो एक ऐसी चीज है जो होकर भी फिर कुछ नहीं है; मनुष्य यथार्थमें जैसा सोचता है वैसा ही होता है।'

मनको धीरे-धीरे प्रभुचरणोंमें लीन करता जाय और संसारका निरसन करता जाय। आगे चलकर सर्वत्र और सर्वदा प्रभु-ही-प्रभु रह जायँगे और मन जिधर भी जायगा उधर ही त्रिभुवनसुन्दर मनमोहन खड़े दीखेंगे।

जेहि मन मनमोहन बस्यो सब अँग रह्यो समाय।
तेहि मन ठैर न औरको, आइ देखि फिरि जाय॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनी हू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को, कासों, केहि बिधि, कहा, कहै हृदयकी बात।
हरि हेरत, हिय हार गयो, हरि सर्वत्र लखात॥

भगवान्‌के प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य पीनेकी चाट मनको लग गयी तो फिर वह संसारमें क्या सुख पायेगा; वह संसारमें सुखके लिये अटकेगा ही क्यों? वह तो सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करेगा, सर्वत्र हरिका ही आस्वादन करेगा। मन जहाँ हरिसे जुड़ा कि समस्त जगत् मनमोहनमय हो जायगा और उस स्थितिमें क्या घर क्या बाहर मन तो श्रीहरिमें ही स्थिर और दृढ़ होकर रमता रहेगा। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता ट्राइन (R. W. Trine) ने इस स्थितिका उल्लेख बड़ी ही ओजस्विनी भाषामें किया है—

"The time will come when in the busy office or on the noisy street you can enter into the silence by simply drawing the mantle of your own thoughts about you and realizing that there and everywhere the Spirit of Infinite Life, Love, Wisdom, Peace, Power, and Plenty is guiding, keeping, protecting, leading you. This is the Spirit of continual prayer."

'वह समय आवेगा कि जब कामकाजके बीचमें या यह कहिये कि बाजार-हाट और शहरकी सड़कोंपर होनेवाले कोलाहलमें भी तुम एकान्त कर सकोगे, और कुछ न करना होगा—अपने मनमें अपने ही विचारोंका जो कोलाहल मचा है उसे मनसे सरका देना होगा और यह ध्यान करना होगा कि यहाँ वहाँ और सर्वत्र वही अनाद्यनन्त प्रेममय ज्ञानस्वरूप सुखशान्तिसमृद्धिसागर करुणाकर भगवान् हमें रास्ता दिखानेवाले, हमें टिकानेवाले, हमारी रक्षा करनेवाले और हमें लिवा ले जानेवाले हैं। सतत प्रार्थना भगवान्‌की यही हुआ करती है।'

गीताजीमें भगवान्‌ने बार-बार 'मय्येव मन आधत्स्व,' 'मन्मना भव' 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' कहा है और बार-बार इसपर ज़ोर दिया है कि मनको मुझमें लगाओ, मुझमें मन बसाओ—इसका परिणाम यह होगा कि सदाके लिये तुम मुझमें बस जाओगे और शाश्वत शान्ति पाओगे। मनको भगवदाकार कर देनेके लिये सन्तोंने यही बतलाया है कि मन सर्वथा निर्मल और भगवान्‌के सम्मुख रहे। भगवान्‌का पूरा-पूरा चित्र मनपर उतर आवे, इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि मनका स्थान-स्थानपर भटकना रोककर सर्वभावेन भगवान्‌के चरणोंमें सदाके लिये बाँध दिया जाय। लाहमें जब कोई रंग देना होता है तो उसे आँचपर तपाते हैं और उसके आर्द्र होनेपर उसमें रंग डालते हैं। परिणाम यह होता है कि सूखनेपर भी, कड़ा होनेपर भी वह रंग उसमें बना ही रहता है। इसी प्रकार मनको भक्ति, ज्ञान और वैराग्यद्वारा पूर्णतः आर्द्र करके भगवान्‌की रूप-आभासे रँग लें। एक बार भी यदि मन कृष्णप्रेममें पूर्णतः रँग गया तो फिर किसी भी अवस्थामें वह उस प्रेमकी दिव्य माधुरीसे एक क्षणके लिये भी हटना न चाहेगा। सेन्ट टेरेसा (Saint Teresa) ने इस स्थितिका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

'In the orison of Union the Soul is fully awake as regards God, but wholly asleep as regards things of this world and in respect of herself. During the short

time of the Union, she is deprived of every feeling and even if she would, she could not think of any Single thing. In short, she is utterly dead to the things of the world and lives solely in God.'

'मनकी उस मिलनावस्थामें मन भगवान्‌के सम्बन्धमें तो जागता रहता है पर अपने और संसारके सम्बन्धमें बिल्कुल सोया रहता है। मिलनके उस अल्प समयमें उसमें कोई भावचिन्तन या संकल्प-विकल्प कुछ भी नहीं होता और वह चाहे तो भी किसी बातका चिन्तन नहीं कर सकता। तात्पर्य, संसारके पदार्थोंके लिये वह सर्वथा मर जाता है और अकेले ईश्वरमें ही रहता है।'

मन सर्वथा निर्मल, निर्दोष होकर, सर्वभावेन संसारसे मुख मोड़कर प्रभुके चरणोंमें लग जाय और सर्वत्र हरिकी झाँकीमें छका रहे—उसे ही देखे, उसे ही सुने, उसे ही स्पर्श करे, उसे ही आँखोंसे पीता रहे, हृदयसे आलिङ्गन करता रहे—उसी अनन्त प्रेमार्णवमें डूब जाय, अपनी तुच्छ सत्ता उस विराट्‌में लय कर दे—एक हो जाय, तद्रूप हो जाय, श्रीकृष्णमय हो जाय, स्वयं हरि हो जाय तो फिर रह ही क्या गया; आर यही तो सच्चा और पू मनोयोग है!

—⊱⊰—
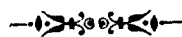
सुखी जीवन

(लेखिका—बहिन श्रीमैत्रीदेवीजी)

[गताङ्कसे आगे]

प्रेममें परमात्मा

किसी गाँवमें किसनू नामका बनिया रहता था। छोटी अवस्थासे ही वह ईश्वरभक्त था। रोज मन्दिरमें जाता; एकादशी, पूर्णमासी आदिका व्रत भी करता था और कीर्तनका बड़ा प्रेमी था।

सड़कके किनारे उसकी दूकान थी। वहाँ रहते उसे बहुत काल बीत चुका था। उस गाँवके निवासी उसे अच्छी तरह जानते थे, और वह भी सबको जानता था। वह बनिया बड़ा ही सदाचारी, सत्यवक्ता, व्यवहारकुशल, धर्मात्मा और सुशील था। जो बात कहता उसे जरूर पूरा करता। कभी कम न तौलता और किसी प्रकार कभी किसीको धोका न देता!

उसके कई बच्चे तो पहले ही मर चुके थे, अब एक शिशु बालक छोड़कर उसकी स्त्री भी मर गयी। पहले तो किसनूने सोचा बालकको अपनी बहिनके पास भेज दूँ। पर इस बालकसे उसे बड़ा मोह हो गया था। स्वयं ही उसे पालने लगा। दिन-रात उसीके काममें लगा रहता।

समय बदलता रहता है। जब बालक युवा-अवस्थाको प्राप्त हुआ तो किसनू उसके विवाहकी चिन्तामें लगा और बड़ी खुशीसे विवाहकी तैयारी करने लगा। मनुष्यकी इच्छाएँ तो अनन्त हैं, पर उन इच्छाओंका पूरा होना कठिन है। किसनूके भाग्यमें संसारी सुख नहीं लिखा था, अचानक काल भगवान्‌ने लड़केको अपनी गोदमें उठा लिया।

अब तो किसनूके शोककी सीमा न रही। उसके मनमें तो ईश्वरपर बड़ा विश्वास था परन्तु शोकमें व्याकुल होकर वह परमात्माकी निन्दा करने लगा। कहता, 'परमात्मा निर्दयी है, बड़ा अन्यायी है। मारना मुझ बूढ़ेको था। हाय! मार डाला जवान लड़केको!' रात-दिन रोता। मन्दिरमें जाना भी कम हो गया! कहता, 'मैंने इतने व्रत-उपवास किये पर मेरी सहायता भगवान्‌ने न की।' एक दिन उसका मित्र मिलने आया, वह भक्त और आत्मज्ञानी था।

किसनू बोला—भाई ! देखो सर्वनाश हो गया, हाय ! अब तो मेरा जीना भी फ़जूल है, मैं रात-दिन मनाता हूँ मुझे मौत नहीं आती !

मित्र—ऐसा मत कहो। परमात्माकी लीलाको हम नहीं जान सकते। वह जो करता है, ठीक करता है। पुत्रका मरना और तुम्हारा जीवित रहना विधाताके हाथ है। और कोई इसमें क्या कर सकता है ? तुम्हारे शोकका मूल कारण यह है कि तुम अपने सुखमें सुख मानते हो। पराये सुखसे सुखी नहीं होते।

किसनू—भाई ! क्या करूँ ? मैं बड़ा दुखी हूँ। मुझे शान्तिकी राह दिखाओ।

मित्र—भगवान्की निष्काम भक्ति करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। जब तुम सब काम ईश्वरके अर्पण करने लगोगे और निःस्वार्थभावसे जीवमात्रकी सेवा भेदभाव छोड़कर करने लगोगे तब तुम्हें परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

किसनू—चित्त स्थिर करनेका उपाय तो बताओ।

मित्र—श्रीगीताजीका पाठ किया करो और श्रद्धासहित भक्तमाल पढ़ा करो। और पढ़कर अथवा सुनकर याद रक्खा करो। इन सत्-शास्त्रोंके पढ़ने-सुननेसे और सत्कर्म करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो भी चाहो प्राप्त कर सकते हो। ये चारों ही फलके देनेवाले हैं। इनका पढ़ना आरम्भ कर दो और सत्संग करो। चित्तको बड़ी शान्ति मिलेगी।

किसनूने फिर इन ग्रन्थोंका पढ़ना शुरू किया। थोड़े ही कालमें उसे इन ग्रन्थोंसे बड़ा प्रेम हो गया। रातको भी श्रीगीताजी पढ़ने लगता और विचार करता। वह सदा परमात्मामें लवलीन रहकर आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताने लगा। शुरूमें तो अपने छोटे लड़केको याद करके रोता था, पर अब उसे इसकी याद भी न आती थी। पहले इधर-उधर बैठकर कभी-कभी हँसी-ठट्ठा कर लेता और मित्र आदिके साथ तास-शतरंज भी खेल लेता था। पर अब वह एक क्षणका भी समय व्यर्थ नहीं खोता था। एक दिन उसे पढ़ते-पढ़ते गीताजीमें यह श्लोक मिला—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

'सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरण आ जा। मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा। तू शोच मत कर।' अहा ! कैसे प्यारे वचन हैं। परमात्मा कैसे दयालु हैं। पापी-अधर्मी कोई भी क्यों न हो, शरण जानेपर प्रभु अपना ही बना लेते हैं, प्रभु प्राणी मात्रपर दया करते हैं, जात-पाँतका भी विचार नहीं करते। सब जीवोंपर समान दया करते हैं। तब क्या मुझे सबसे प्रेम नहीं करना चाहिये ? इसके बाद भीलनी और प्रह्लादकी कथा याद आते ही वह विचार करने लगा। कब मुझे भगवान् दर्शन देंगे ? वह प्रभुदर्शनकी उमंगमें बैठा था। आवाज़ आयी किसनू ! वह चौंककर उठ बैठा, चारों तरफ देखा, कोई न दीखा। इतनेमें फिर बाहरसे आवाज आयी, 'किसनू ! मैं तुझे दर्शन दूँगा।' अब तो किसनू उठा, बाहर आकर देखा, कोई न दीखा। सोचने लगा 'क्या यह स्वप्न था ? नहीं-नहीं मैं जाग रहा हूँ।' फिर अंदर आकर लेट रहा। पर आज दर्शनकी इच्छा लग रही थी। 'मैं तुझे दर्शन दूँगा' यह आवाज उसके कानोंमें गूँज रही थी, आज नींद कैसी ?

दूसरे दिन नित-नेम पूजा-पाठ आदिसे निपटकर किसनू दूकानपर आ बैठा, रातकी बात उसे याद थी। 'मैं तुझे दर्शन दूँगा' आहा ! कब प्रभु दर्शन देंगे, क्या प्रभु मुझे सचमुच दर्शन देंगे ?

रातको पाला पड़नेके कारण सड़कपर बर्फके ढेर लग रहे थे, किसनू अपनी धुनमें लगा था, इतनेमें

कोई बर्फ हटाने आया। किसनूने समझा, भगवान् आनन्दकन्द आ गये। आँखें खोलकर देखा तो काल्लू बर्फ हटा रहा था! हँसकर कहने लगा। आया काल्लू, मैं समझा मेरे भगवान् आ गये। वाह री अक्ल! काल्लू बर्फ हटाने लगा। काल्लू बूढ़ा आदमी था, सर्दीके कारण उसके हाथ-पाँव अकड़ने लगे, शरीर काँपने लगा। उससे काम नहीं किया जाता था, वह थककर बैठ गया। उसी समय किसनूने काल्लूको बुलाया, बड़े स्नेहसे कहा—'आओ भैया काल्लू! आगसे हाथ ताप लो।'

काल्लूने धन्यवाद दिया और वह आगसे हाथ सेंकने लगा। काल्लूने कहा—'कैसे काम करूँ? मुझे तो जाड़ा सता रहा है।'

किसनू—'तुम फिकर मत करो। बर्फ मैं हटा दूँगा, तुम हाथ सेंक लो।' काल्लूने कहा—'क्या तुम किसीका इन्तज़ार कर रहे थे?'

किसनू—क्या कहूँ! कहते लज्जा आती है। रातको मैंने आवाज़ सुनी। बाहरसे कोई कहता था 'किसनू! मैं तुझे दर्शन दूँगा' बाहर जाकर देखा तो वहाँ कोई न था। मुझे विश्वास है कि दयालु प्रभु जरूर दर्शन देंगे। बस, मैं उन्हींका इन्तज़ार कर रहा था।

काल्लू—यदि तुम्हें भगवान्से प्रेम है तो वह अवश्य दर्शन देंगे। अगर तुम मुझे आग न देते तो मैं तो मर ही जाता।

किसनू—'वाह भाई! यह बात ही क्या है। इस दूकानको अपना घर समझो।'

काल्लू धन्यवाद करके चला गया। कुछ देरके बाद एक स्त्री आयी। यह एक फटा-चिथड़ा लपेटे थी, गोदमें बच्चा था, उसके भी बदनपर कपड़ा नहीं था। दोनों ही जाड़ेके मारे काँप रहे थे।

किसनूने बड़ी विनयके साथ अपनपा दिखाते हुए कहा—'माँजी! तुम कौन हो? इतने जाड़ेमें बाहर क्यों निकली हो? तुम और बच्चा दोनों ही जाड़ेसे काँप रहे हो। क्या कोई गरम कपड़ा नहीं है? आओ, आगसे हाथ सेंक लो।' स्त्रीने धन्यवाद किया और हाथ सेंकती हुई बोली—'मैं एक गरीब स्त्री हूँ, नौकरीकी तलाशमें भटक रही हूँ। इधर एक सेठानीके घर जाती हूँ, अगर नौकर रख लेगी तो काम चल जायगा।'

किसनूने उसे एक कम्बल ओढ़नेको दिया और कुछ मिठाई खानेको दी।

स्त्री बोली—'भगवान् तुम्हारा भला करे, तुमने बड़ी दया की। बालक जाड़ेसे मरा जाता था।'

किसनू—'मैंने कुछ दया नहीं की, मेरे भगवान्की ऐसी ही इच्छा थी।' इस स्त्रीसे भी किसनूने रातवाली बात कही।

स्त्री—'क्या अचरज है? भगवान्के दर्शन होना कोई बड़ी बात नहीं है। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। भक्तकी इच्छानुसार जरूर ही दर्शन देते हैं।' कुछ देरके बाद यह स्त्री भी चली गयी।

सारा दिन बीत गया—रात हुई। किसनू खा-पीकर फ़ारग हुआ। गीता पढ़ने लगा—पढ़ते-पढ़ते आँख झपकी। देखा! भगवान् सच्चिदानन्द खड़े हैं। आवाज़ आयी—

'किसनू, मैं हूँ' देखा तो काल्लू खड़ा था। थोड़ी देरमें देखा, काल्लू तो गायब हो गया और वही स्त्री बच्चेको गोदमें लिये खड़ी थी। थोड़ी देरमें वह भी गायब हो गयी। अब केवल सुदर्शनचक्र ही घूमता दिखायी दिया और एक महान् प्रकाश! अब आवाज़ आयी, देख! 'मैं सबमें हूँ।'

किसनूको विश्वास हो गया कि सारा जगत् विष्णुमय है। जीव मात्रकी सेवा करना जीवोंपर दया करना

ईश्वरकी सेवा करना है, यह मनुष्यमात्रका धर्म है। फिर आवाज आयी, बड़ी गम्भीर आकाशवाणी हुई। हे सुमति ! उस आकाशवाणीको ध्यानसे सुनो।

आकाशवाणी

हे जीवो ! मैं केवल प्रेम हूँ। प्रेम ही मेरा स्वरूप है। जो लोग संसारमें केवल आत्मभावसे प्रेम करते हैं, उन भक्तोंके हृदयमें मेरा निवास समझो। मैं उनके शुद्ध हृदयमें निवास करता हूँ।

वैरभावको बिल्कुल छोड़कर, परहितके लिये ही सब काम करो। इस प्रकार काम करनेसे चित्तमें बड़ी प्रसन्नता होगी। उस समय जिस विलक्षण आनन्दका अनुभव होगा, वह आनन्द परमात्माका है। हे जीवो ! किसीसे किसी प्रकार लड़ाई-झगड़ा मत ठानो। पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन और साथी-सम्बन्धी सब प्रेमपूर्वक रहो। निराकार-निर्गुणको पिता और साकार-सगुणको माता मानो। एक ही माता-पिताकी संतान हो। इसलिये सबसे प्रेम करो, सबमें प्रेम करो। जिसकी ऐसी उत्तम प्रेममयी गृहस्थी हो, वहाँ तुम मेरा निवास समझो। जो किसीको ऊँच किसीको नीच नहीं समझते, तन मन और धनसे सब प्राणियोंकी सेवा करते हैं, वहाँ तुम मेरा निवास समझो।

अरे जीवो ! तुम सच मानो। जहाँ प्रेम है वहीं मैं हूँ, जहाँ करुणा है वहीं मैं हूँ, जहाँ मैत्री है वहीं मैं हूँ। चेतन और जड़में मैं हूँ। पुरुष और प्रकृति मैं हूँ। जलचर, थलचर, नभचर सबमें मैं व्यापक हूँ। पहाड़, सागर, वृक्ष और पत्थरमें मैं हूँ। यहाँतक कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भी मेरी ही सत्तासे सत्तावान् हैं। मैं उन सबमें व्यापक हूँ। विष्णुमय जगत् है। हे जीवो ! द्वेष छोड़कर सबमें प्रेम करो, प्रेम करो, प्रेम करो ! फिर किसनूको भगवान्‌के दर्शन हुए, वह निहाल हो गया !

सुमति बोली—हे बहिन ! यदि सब संसार विष्णुमय है तब तो सबको आनन्दका ही अनुभव होना चाहिये था। भगवान् प्रेमरूप हैं तब यहाँ भी केवल प्रेम-ही-प्रेम होना चाहिये था ! राग-द्वेषका भाव ही न होना चाहिये था।

शान्तिदेवीने कहा—तुम अभी नीचेकी भूमिकासे बात कर रही हो। जब तुम ऊपर चढ़ जाओगी तब समानता आ जायेगी। जैसे हम कुतुबमीनारपर जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही नीचेकी वस्तुएँ समान नजर आने लगती हैं। तुम कभी कुतुबमीनारपर चढ़ी हो ?

सुमतिने कहा—चढ़ी तो हूँ। पर कभी इसका विचार ही नहीं किया।

शान्तिदेवीने कहा—अच्छा अब कभी चढ़कर देखना। जबतक नीचे खड़ी हो तबतक कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई मित्र, कोई शत्रु, ऊँच-नीच भी जान पड़ता है। किन्तु जैसे-ही-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, भेद-भ्रम मिटता जाता है। हे सुमति ! याद रक्खो। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। भेदभ्रम मिटा कि विष्णुमय जगत् दीखने लगेगा। कुतुबकी तो चार मंजिलें हैं परन्तु ज्ञानकी सात हैं। ज्ञानकी चार भूमिकाएँ भी चढ़ जायँ तो फिर दुःख और परेशानीका नाम भी नहीं रहता।

सुमति बोली—अहा ! धन्य हो बहिन ! कैसे सुन्दर आपके वचन हैं। अहा ! वह समय कब आयेगा जब मुझे भी विष्णुमय जगत् दीखेगा ? सारा भेद-भ्रम मिट जायेगा। चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द दृष्टिगोचर होगा।

इतनेमें एक दासी आयी और उसने सुमतिसे कहा—बीबी साहबा ! दूध कितना लेना है ?

सुमतिने कहा—दो सेर ले लो।

दासी बोली—आज डिप्टीकमिश्नरके चाय है, आप सब वहाँ जायँगी ?

सुमतिने कहा—अरे ! मैं तो बिल्कुल भूल गयी। अच्छा दूध एक सेर ले लो। इतना सुन दासी चली गयी और रसोइया आया और बोला—बीबी साहबा! रसोई क्या बनेगी ?

सुमति बोली—भाई ! आज किसी औरसे पूछ लो, हमें छोड़ो।

शान्तिदेवीने कहा—अब तुम अपना गृहकार्य करो, मैं भी अपने घर जाती हूँ। आज तो ऐसी बातोंमें बैठ गयी कि घरको बिल्कुल ही भूल गयी। घरपर सब काम करना है। हे सुमति ! तुम भी उठो, और काम करो, मैं भी जाती हूँ।

सुमति बोली—अभी तो आप ऐसी उत्तम चर्चा कर रही थीं, परन्तु फिर वही जंजाल सामने आ गया।

शान्तिदेवीने कहा—इन कामोंसे घबराओ मत और गीताके इस वचनको याद रक्खो। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें क्या कहा है—

'हे अर्जुन ! तू इन्द्रियोंके अधीन न होकर, मन और शरीरको वशमें करके भगवत्-प्रीत्यर्थ अपना कर्त्तव्य-कर्म कर। इस प्रकार निष्काम भावसे भगवान्-के लिये कर्म करनेवाला पुरुष सहज ही परमात्मातक पहुँच जाता है।'

हे सुमति ! जनक, भगीरथ आदि ज्ञानीजन कर्म करते-करते ही परमपद पा गये हैं। इसलिये तुम्हें भी संसारकी भलाईपर नजर रखकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये सब काम सुचारुरूपसे करने चाहियें। कर्ममें आसक्ति और फलकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये। कर्म बुरा नहीं है, बुरी है आसक्ति और कामना। आसक्ति और कामना छोड़कर कर्म करते-करते बन्धन कट जाते हैं। जो कर्तव्य-कर्म करनेसे जी चुराता है, भागकर जंगलमें जाना चाहता है, वह वीर नहीं गिना जाता। जो धैर्यपूर्वक गृहकार्य करते हुए अपने मनको विषयोंकी ओरसे रोके रहता है, वही धैर्य-निष्ठ योगी है। हर-एक गृहस्थीको अपना-अपना कर्त्तव्य-कर्म धर्मपूर्वक करना ही चाहिये। हे बहिन ! तुम उठो, मैं भी उठती हूँ, अबकी जब मिलना होगा तब तुम्हें मनुष्यके धर्म सुनाऊँगी।

इतना कहकर शान्ति चली गयी और सुमति अपने घरके काममें लगी। रातको सुमति प्रभुकी वन्दना करने लगी—

हाथ जोड़ बन्दन करूँ, धरूँ चरनपर सीस।
ज्ञान-भक्ति मोहिं दीजिये, परमपुरुष जगदीस॥
दया-दृष्टि मुझपर करो, हे करुणामय राम।
निसिदिन सुमिरन ही करूँ, राम राम श्रीराम॥
नाम तिहारो हे प्रभो ! अति सुखको स्थान।
ज्ञान-नयन मोहिं दीजिये, दीनबन्धु भगवान॥
चित चेतन मेरा करो, चंचलता मिट जाय।
अपने ब्रह्मस्वरूपमें, लेओ मोहिं मिलाय॥
प्रेम अमीरसका मधुर, पान करूँ दिन-रात।
पतित उधारण हो हरी ! पकड़ो मेरा हाथ॥
अन्तर निर्मल कीजिये, हे करुणाकर राम।
शीतल छाया बैठ कर, करूँ सदा विसराम॥
मगन रहूँ मैं रात-दिन, पी नामामृत सार।
शब्द श्रवण करती रहूँ, ओम् ओम् ॐकार॥
बादल-गरज मृदंग ढप, सारंगी व सितार।
बंसी हो श्रीकृष्णकी, बीणा मधुर झँकार॥
शिव सनकादिक आदि सब, जहाँ करें गुणगान।
पुष्पांजलि अर्पण करूँ, वहाँ रक्खो मम मान॥
मन-मन्दिरमें हे प्रभो ! ज्ञान-दीप जग जाय।
आत्मरूप निरखूँ सदा, द्वैत भरम मिट जाय॥
भेद-भरम मेटो सभी, मैं तू नहीं लखाय।
'मैत्री' करुणा प्रेम सब, चितमें देहु बसाय॥
ज्ञान-भक्ति वरदान मैं, माँगूँ बारम्बार।
सीस झुका बन्दन करूँ, करो प्रभू स्वीकार॥

[शेष फिर]

जीवनकी असारता

आदिहीसे अपने सरपै सदा ढो रहा अन्तका भार ये जीवन!
हाथसे विश्व-विधायकके मिला मौतको है उपहार ये जीवन!
आया कभी कल जो इस पार तो आज चला उस पार ये जीवन!
भूलसे भी न भरोसा भला इसका अरे ऐसा असार ये जीवन!

जलती जहाँ भीषण आग वहाँ उसमें हरा बाग दिखाता है ये।
मृग-सा निरी माया-मरीचिकामें युगोंकी लगी प्यास बुझाता है ये॥
वशका किसीके नहीं आपसका बस दो दिनके लिये नाता है ये।
पुतला बना जीवन धूलहीका फिर धूलहीमें मिल जाता है ये॥

सुखकी अभिलाषा लिये उरमें दुखके जप ही जपना यहाँ है।
जिसका कहीं कोई ठिकाना नहीं उस खोजहीमें खपना यहाँ है॥
फिरता सबकी नजरोंमें सदा बस स्वार्थहीका सपना यहाँ है।
भरा पोलसे विश्वका जीवन ये कब कोई कहाँ अपना यहाँ है?

डूबनेका डर है जिसमें उसे कूल किनारा कहा करता है।
भेद-भरी भ्रम-भावनाकी भ्रमरीमें विलीन रहा करता है॥
लोभसे लोलुप लालसाकी लहरोंके थपेड़े सहा करता है।
जीवन ये तिनका-सा सदा भव-सिन्धुमें यों ही बहा करता है॥

कुछ भी कहीं भीतर तत्त्व नहीं बस ऊपर शून्य-सा छाया है ये।
सपनाके प्रपंच-सा जागृतिके जँचता अपना न पराया है ये॥
इसकी कथा काया विनश्वर है यही देखनेमें सदा आया है ये।
पहचान चुका इसको शत बार असार है मोह है माया है ये॥

पूर्णतासे इस जीवनकी सदा सूनी सदीकी सदी रह जायगी।
मोदमयी मुसुकानपै आँसुओंकी बहती-सी नदी रह जायगी॥
व्यर्थ ही वृत्ति ये अन्तरकी बस कामनाओंसे लदी रह जायगी।
कोई नहीं कुछ भी नहीं अन्तमें निष्फल नेकी-बदी रह जायगी॥

देकर हीरक-राशि कभी कम कीमती काँच कबूलो नहीं।
झूलो न मोहके झूलनेमें क्षणकी फबितापर फूलो नहीं॥
घातक शक्ति है विद्युतकी भरी भूलसे भी इसे छू लो नहीं।
हे मन! जीवनकी जगकी इस भूल-भुलैयामें भूलो नहीं॥

'अपने-पर' के इन झंझटोंसे झगड़ोंसे सदा उदासीन रहो।
मदमोहकी हीन उपासनासे बुरी वासनासे भी विहीन रहो॥
सुख-शान्तिकी सत्यकी साधनासे भरे सिन्धुका चाहक मीन रहो।
पद-कंजमें मंजु अनाथके नाथके प्रेमी मिलिन्द-सा लीन रहो॥

—श्रीरामाधार त्रिपाठी 'जीवन'

परमार्थके पथपर

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

(१)

शरद्की पूर्णिमा। नीरव निशीथ। चारों ओर सन्नाटा। भगवती भागीरथीकी धवल धारा अपनी 'हर-हर' ध्वनिके साथ बह रही है। हिमालयकी एक छोटी-सी उपत्यकापर बैठा हुआ सुरेन्द्र मानो माँ गंगाकी लहरियोंसे कुछ बात कर रहा है। शरीर निश्चेष्ट। श्वासका पता नहीं। नेत्र निर्निमेष। परन्तु उसकी मूक भाषा कुछ संकेत कर रही है।

माँ गंगे! तुम इतनी चञ्चल क्यों हो? तुम इतनी उत्सुकता—इतनी आतुरता लेकर किसके पास जा रही हो? क्या जिनके चरणकमलोंसे तुम निकली हो उन्हीं क्षीराब्धिशायी श्रीविष्णु भगवान्के चरणकमलोंमें समाने जा रही हो? अथवा जिन्होंने तुम्हें प्रेमोन्मत्त होकर अपने सिरपर धारण किया है, उन्हीं कैलासपति आनन्दवनविहारी श्रीकाशीविश्वनाथके पाँव पखारनेके लिये इतनी आकुलतासे पधार रही हो?

माँ, तुम अपने पिता हिमाचल, हिमाचलके पुत्र वृक्ष-वनस्पति आदि भाई-बन्धुओं, अपने ही जीवनसे सिक्त वात्सल्यभाजन एवं आश्रितों और हिमकी अपार धनराशिको छोड़कर कहाँ—किस उद्देश्यसे जा रही हो? एक बार मुड़कर पीछे देखतीतक नहीं हो, तनिक ठहरकर किसीकी बात सुनतीतक नहीं हो, मार्गमें पड़नेवाले महान् बाधा-विघ्नों—बड़े-बड़े पर्वतों—चट्टानोंकी जरा भी परवा नहीं करती हो, कहाँ, क्यों जा रही हो? मेरी करुणामयी माँ, एक बार बोलो तो सही। हाँ, क्या कहा? क्या कह रही हो? हरि-हरि, हरि-हरि, अथवा हर-हर, हर-हर, बात तो ठीक है, अबतक मैं समझ नहीं रहा था। दोनोंका एक ही अर्थ है।

अच्छा, मेरी दयामयी माँ! यह तो बताओ, मैं क्या करूँ? मेरा जीवन किधर जा रहा है? क्या मैं सचमुच तुम्हारी ही भाँति अपने लक्ष्यकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ रहा हूँ? अभी तो मुझे अपने जीवनका स्वरूप ही अज्ञात है। क्या तुम अपने जीवनकी चञ्चलता प्रत्यक्ष करके मुझे उसकी सीख दे रही हो? प्यारी अम्मा! सच्ची बात है, तुम मुझे सीख दे रही हो। जीवन चञ्चल है, गतिशील है, अस्थिर है। यह प्रतिपल बदल रहा है, परन्तु एक-सा ही मालूम पड़ता है। अभी-अभी जो तरंगें चन्द्रमाकी सुधाधवल किरणोंसे किलोल कर रही थीं, क्षणभरके संस्पर्शसे स्फटिककी भाँति चमककर इठला रही थीं, वे कहाँ गयीं? पता नहीं, वे कितनी दूर निकल गयी होंगी। उनके स्थानपर फिर दूसरी तरंगें अठखेलियाँ कर रही हैं, अगले क्षणमें ये भी लापता हो जायँगी। तब क्या जीवनका यही स्वरूप है?

माँ, मेरी प्यारी माँ, वास्तवमें जीवनका यही स्वरूप है। आश्चर्य तो यह कि ध्यानसे—गम्भीरतासे देखा न जाय तो सब कुछ आँखोंके सामने होनेपर भी कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे तो इस चञ्चलताके अतल गर्भमें स्थिर रहकर तुम बड़ी गम्भीरतासे निरन्तर इस चञ्चलताका निरीक्षण किया करती हो। देवि! मुझे तो गम्भीर दृष्टि प्राप्त नहीं, कैसे निरीक्षण करूँ?

सचमुच जीवन एक खेल है। इसमें इतने प्रकारके दृश्य सामने आते हैं कि उन्हें स्मरण रखना असम्भव है। जीवनभरकी तो क्या बात, एक दिनकी घटनावली भी पूर्णतः और क्रमशः स्मरण रखना कठिन है। चाहे जितनी सावधानीके साथ डायरीके पृष्ठ भरे जायँ, कुछ-न-कुछ अपूर्णता रहेगी ही। जीवनमें लाखोंसे मिलते हैं, हजारोंसे सम्बन्ध करते हैं, सैकड़ोंसे उपकृत होते हैं और दस-पाँचके उपकारकी पाग अपने सिरपर भी बाँध ही लेते हैं। अगणित वस्तुओंके वर्णन सुने हैं, उनके दर्शन किये हैं, उनके संग्रह किये हैं और यथासम्भव लाभ भी उठाये हैं। परन्तु क्या उनका स्मरण है? जीवनकी अबाध बहनेवाली अगाध धारामें वे न जाने कहाँ बह-बिला गये। कुछका स्मरण भी है तो छायामात्र। वह भी केवल उन्हींका जिन्होंने हृदयपर कोई ठेस लगा दी या महान् उपकारके भारसे लाद दिया। केवल राग-द्वेषके चिह्न ही अवशेष हैं। उनकी स्मृति ही वर्तमान जीवन है। मन उन्हींके संस्कार-सागरमें गोते लगा रहा है। देखता हूँ, बार-बार देखता हूँ कि मन वर्तमान क्षणमें नहीं रहता। वह अतीतकी स्मृतियोंसे उलझा रहता है, अथवा उन्हींके आधारपर भविष्यका चित्र बनाकर उसीकी उधेड़बुनमें मस्त रहता है। तब क्या यही जीवन है, जिसे अपनी ही सुध नहीं, भूला-सा भटका-सा अनजाने मार्गपर निरुद्देश्य—निराश और न जाने क्या-क्या हो रहा है?

मन-ही-मन यही सब सोचते-सोचते उसकी आँखें कब बंद हो गयीं, इस बातका पता सुरेन्द्रको न चला । वह अपनी विचारधारामें इस प्रकार डूब गया, मानो बाह्य जगत् हो ही नहीं । वह संलग्न था, जीवनकी तहमें छिपे हुए रहस्योंके ढूँढ़ निकालनेमें । चन्द्रमाने अपनी अमृतमयी किरणोंसे उसका सम्मान किया, वायुदेवने धीरे-धीरे उसकी थकान मिटानेके लिये पंखा झलना जारी रक्खा । परन्तु उसे इन बातोंका पता न था । सम्भव है, मालूम होनेपर उसके विचारोंमें बाधा ही पड़ती । परन्तु वह तल्लीन था ।

(२)

सुरेन्द्र अभी पचीस वर्षकी अवस्थाका एक युवक था । विद्यार्थी-जीवन समाप्त होते ही पिताकी मृत्यु हो जानेके कारण उसे व्यावहारिक जीवनमें आना पड़ा था । यहाँ आकर उसने देखा और खूब विचारसे देखा धर्मके नामपर अधर्म, सत्यके नामपर असत्य, सदाचारके नामपर कदाचार और परमार्थके नामपर स्वार्थ ! भगवान्‌की ओरसे यह अमूल्य जीवन प्राप्त हुआ है, उनकी आज्ञासे न्याय एवं सदाचार-पूर्वक व्यवहार चलाते हुए उनकी ओर बढ़नेके लिये परन्तु आजकलके व्यवहारकी क्या दशा है ? क्या वह भगवान्‌की ओर ले जानेमें सहायक है ?

उसने बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुषोंसे मिलकर उनसे शुद्ध सात्त्विक व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेकी चेष्टा की, परन्तु उसे अधिकांश अभिमान, दम्भ एवं परमार्थके स्थानपर स्वार्थके ही दर्शन हुए । जहाँ-कहीं कुछ भलाईकी बात मिली भी वहाँ सम्मान, प्रतिष्ठा और कीर्तिकी लिप्साका साम्राज्य मिला। अवश्य उसे दो-चार सज्जन भी मिले, परन्तु या तो उसने भ्रमवश उन्हें पहले लोगोंकी भाँति दम्भी आदि मान लिया या उन्होंने उसके सुधारकी ओर दृष्टि ही नहीं डाली ।

सुरेन्द्रको बड़ी निराशा हुई । वह सोचने लगा क्या ये बातें केवल किताबोंमें लिखनेकी अथवा व्याख्यान या उपदेशके समय लच्छेदार भाषामें कहनेकी ही हैं, इनके अनुसार आचरण करनेवाला कोई नहीं है ? निष्कामकर्मयोग, अनासक्ति, भगवत्सेवा, परोपकार एवं सेवा आदि क्या केवल, 'आदर्श' हैं ? ये कभी जीवनमें नहीं उतरते ? यदि जीवनमें ये उतरते हैं तो क्या इनके साथ काम, क्रोध, अभिमान आदि भी रह सकते हैं ?

इन बातोंकी चिन्तासे, इन उलझनोंके न सुलझनेसे सुरेन्द्रका जीवन निराश हो गया । उसकी उदासीनता प्रतिदिन बढ़ती ही गयी । घरके काम-काजमें मन न लगता । मिलनेवालोंको देखकर बड़ी झुँझलाहट होती । वह जी चुराकर इधर-उधर लुक-छिपकर अपना विषादमय समय काट देता । दिन-का-दिन बीत जाता, आधीरात हो जाती, भोजनकी याद न आती, पानीतक नहीं पीता ।

उसकी यह दशा देखकर एक महात्माको बड़ी दया आयी । सुरेन्द्रकी मानसिक स्थितिका उन्हें पूरा पता था । वे एक दिन एकान्तमें सुरेन्द्रके पास आये और उसे समझानेकी चेष्टा की। उन्होंने कहा—'भाई ! तुम इतने चिन्तित क्यों हो ? इस प्रकार अपना अमूल्य समय नष्ट करना क्या उचित समझते हो ? तुम आदर्श पुरुष ढूँढ़ते हो ? ठीक है, वैसे पुरुषकी संसारमें बड़ी आवश्यकता है । परन्तु केवल इसी बातके लिये अपने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको तो नहीं भूल जाना चाहिये । आदर्श पुरुषके ढूँढ़ने या उसकी चिन्ता करनेमें तुम जितनी शक्ति एवं समय लगा रहे हो, यदि उन्हींका सदुपयोग करो तो तुम स्वयं आदर्श पुरुष बन सकते हो । हाथ-पर-हाथ धरके बैठनेसे कोई लाभ नहीं, उत्साहके साथ उठो और आगे बढ़ो । तुम एक मन्त्र याद रक्खो—बचो और आगे बढ़ो । इस संसारमें अनेकों बाधा-विघ्न हैं, ये तुम्हें स्थिर नहीं रहने देंगे । यदि पूरी शक्ति लगाकर आगे न बढ़ोगे तो प्रमाद, आलस्य आदिके शिकार बन जाओगे । महापुरुष ही स्थिर रह सकते हैं क्योंकि उन्हें स्थिर आलम्बन मिल गया है । जिनका आलम्बन स्थिर नहीं अर्थात् जिन्हें नित्य सत्य भगवान्‌का सम्बन्ध प्राप्त नहीं, वे कहीं स्थिर नहीं रह सकते । उन्हें आगे बढ़ना होगा या विवश होकर पीछे—पतनकी ओर हटना पड़ेगा । सम्हल जाओ, आगे बढ़ो, यह विषाद तमोगुण है । यह आगे बढ़नेके लिये आवश्यक होनेपर भी सर्वदाके लिये या अधिक समयके लिये वाञ्छनीय नहीं है ।'

सुरेन्द्र उनकी बात बड़े ध्यानसे सुन रहा था । उसे ये बातें बड़ी अच्छी मालूम हुईं । उसने सोचा अब इन्हींको आत्मसमर्पण कर दूँ, इन्हींकी आज्ञापर चलूँ, ये आदर्श पुरुष जान पड़ते हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण उसका हृदय एक प्रकारकी आशंकासे भर गया । उसने विचारा—ये भी पहलेके लोगोंके समान ही हुए तो ? यह प्रश्न उठते ही काँप उठा । उसका मनोभाव महात्मासे छिपा न रहा । उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—'भाई ! मैं कब कहता हूँ कि—तुम मुझपर या किसी व्यक्तिपर विश्वास करो । तुम केवल

भगवान्‌की आज्ञापर विश्वास करो, उसीके अनुसार चलो। परन्तु चलो अवश्य। इस प्रमाद-आलस्यमय जीवनका परित्याग कर दो।'

सुरेन्द्रने आँखें नीचे करके कहा—'आखिर क्या करूँ? भगवान्‌की आज्ञा कैसे प्राप्त हो? सभी तो अपने-अपने मतको भगवान्‌की ही आज्ञा बताते हैं।'

महात्माजी—'भाई! तुम्हें इन उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। इन्हें सुलझानेके लिये तो विशाल अध्ययन, निर्मल बुद्धि, गुरुकृपा और लम्बे समयकी आवश्यकता है। क्या तुम गीतापर विश्वास रखते हो? मैं आशा करता हूँ कि तुम पूर्ण विश्वास करते हो। विश्वास होनेपर भी अपनी मानसिक कमज़ोरीके कारण उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते अथवा भाष्यों और टीकाओंके मतभेदोंसे भयभीत हो गये हो। यह तुम्हारे मनकी निर्बलता है। उसे अभी छोड़ दो। गीता-माताकी शरण लो। वह अपने भूले हुए भोले बच्चेको अवश्य मार्ग दिखायेगी। गीताका स्वाध्याय करो, गीताका पाठ करो, गीताके एक-एक मन्त्र अपने दिल-दिमागमें भर लो।'

महात्माकी इस आदेशपूर्ण बातको सुनकर सुरेन्द्रको बड़ा ढाढ़स हुआ। उसने जिज्ञासाकी दृष्टिसे महात्माजीकी ओर देखा। उन्होंने कहा—'भैया! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। देखो, तुम्हारा कितना समय बेकार जाता है। तुम दस मिनट मेरे कहनेसे और बेकार बिता दो, अधिक नहीं केवल सात दिनोंके लिये मेरी बात मान लो। आजसे सोनेके पूर्व पवित्रताके साथ आर्त्त हृदयसे 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता २।७) वाली अर्जुनकी प्रार्थना सचाईसे करो। सात दिनोंमें ही तुम्हें भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी।'

'सात दिनोंमें ही भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी' यह सुनकर सुरेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उन वृद्ध महात्माके प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। वे महात्मा मन-ही-मन उसकी कल्याण-कामना करते हुए चले गये।

अब सुरेन्द्रको बड़ी उत्सुकता रहने लगी। सोते-जागते निरन्तर ही उसे प्रतीक्षा रहने लगी कि देखें भगवान्‌की क्या आज्ञा होती है। चलते-फिरते जान-अनजानमें कई बार उसके मुँहसे निकल पड़ता कि—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' दिनभरमें संपुट लगाकर गीताके दो-तीन पाठ भी कर लेता। भगवान्‌के नामका जप भी कुछ हो जाता। सात दिनोंमें ही उसके उद्वेग-अशान्ति और विक्षेप बहुत कुछ कम हो गये। उसकी श्रद्धा और बढ़ी। सातवीं रातको वह बड़ी एकाग्रतासे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रभुकी प्रार्थना करने लगा। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहते-कहते उसके मुँहसे प्रार्थनाकी झड़ी लग गयी। वह न जाने क्या-क्या कबतक कहता रहा। भगवान्‌के सामने—आर्तभावसे—सच्चे हृदयसे पुकारते-पुकारते उसकी आँखें बंद हो गयीं। कुछ देरके लिये झपकी-सी लग गयी। उसे हम नींद नहीं कह सकते क्योंकि उस समय वह सत्त्वगुणके साम्राज्यमें था। वहाँ नींद कैसे पहुँच सकती है। तमोगुण वहाँ जा ही नहीं सकता जहाँ प्रभुकी प्रार्थना रहती है। नींदके माँ-बाप तो आलस्य और प्रमाद हैं। अस्तु, वह जाग्रत भी नहीं था, क्योंकि उसे बाह्यज्ञान बिल्कुल न था।

उसी समय उसने देखा कि वह एक दूसरे लोकमें चला आया है। यहाँके दृश्य तो सब मनुष्यलोकसे मिलते-जुलते-से ही हैं परन्तु वहाँकी अपेक्षा यह स्थान अधिक निरापद अधिक प्रसाद एवं पुष्टिजनक है। उसे अपनेमें बलका अनुभव हुआ। इतनेमें ही एक वयोवृद्ध पुरुष इसके सामने उपस्थित हुए। उनके चेहरेसे महत्ता, प्रभाव, दया आदिकी प्रकाशमयी किरणें निकल रही थीं।

उन्हें देखते ही सुरेन्द्रका सिर उनके चरणोंपर बरबस झुक गया। उन्होंने अपने हाथों उठाकर सुरेन्द्रको बैठाया और उसके सम्हल जानेपर कहना शुरू किया—'बेटा! दुखी मत हो। सचमुच संसारका बन्धन बड़ा भयङ्कर है। इसमें बँधे हुए न जाने कितने अभागे जन्म-जन्मसे भटक रहे हैं। परन्तु इसके बनानेका उद्देश्य तो इसमें बाँधना न था, यह तो मुक्तिके लिये बनाया गया था। बड़े दुःखकी बात है—परिणाम उलटा हुआ। मुक्तिके स्थानपर बन्धन!! उफ़्, इसीको तो माया कहते हैं, यही तो मोहका चक्कर है। इसमें आदर्श पुरुष बहुत-से हुए हैं, हैं और होंगे। उनका लक्षण यही है कि वे संसारमें रहते हुए भी इससे बँधते नहीं। वे भवसागरमें डुबकी लगाते हैं परन्तु भगवत्प्रेमकी रस्सी पकड़े रखते हैं। वे व्यवहार करते हैं परन्तु उनकी आँखें और उनकी वृत्तियाँ भगवान्‌में लगी रहती हैं। वे कर्त्ता-भोक्ता रहते हुए भी अकर्त्ता-अभोक्ता रहते हैं। उनका आधार मज़बूत है। उन्हें ऐसा करनेके लिये भगवदाज्ञा है। परन्तु सब तो ऐसा नहीं कर सकते। इसके लिये बड़ी साधना, बड़ी तपस्याकी ज़रूरत है। दस-पाँच दिन सत्संग सुन

लिया, दो-चार किताबें पढ़ लीं और निष्कामकर्मी—अनासक्त योगी हो गये यह कोरा भ्रम है। इसके लिये त्यागकी, वैराग्यकी, भगवत्कृपाके अनुभवकी अपरिहार्य्य आवश्यकता है। अभी तुम युवक हो, आशावान् हो, शक्तिमान् हो, उठो, जागो, साधनामें लग जाओ। इस संसारको छोड़ो मत, इसे अपने काबूमें कर लो।'

सुरेन्द्रने अञ्जलि बाँधकर कहा—'भगवन्! क्या साधना करूँ? मुझसे जो हो सके प्राणपणसे करनेको तैयार हूँ। आप कृपया उपदेश कीजिये।'

महात्माजीने कहा—'वत्स! यह कलियुग है। आजकलके लोग अल्पायु, अल्पशक्ति और अल्पमति हैं। ज्ञान-ध्यान-योग और भक्ति यह सब इनसे सधनेके नहीं। इसीसे भगवान्ने इसको नामयुग कहा है। तुम भगवान्के नाम-जपमें लग जाओ। नामका जप, नामका कीर्तन, नामका पाठ, नामका ही अर्थानुसन्धान और नामका ही ध्यान करो। वेद, उपनिषद्, महाभारत, भागवत, रामायण आदि ये सब नामके ही भाष्य हैं। तुम सबके मूलका ही आश्रय लो।'

'परन्तु सम्भव है कि निरन्तर नाम रटनेमें ही पहले-पहल तुम्हारा मन न लगे। इसलिये तुम्हें एक कार्यक्रम बता देता हूँ। तीन महीनेतक इसके अनुसार काम करना, आगेकी आज्ञा फिर प्राप्त होगी।'

कार्यक्रम बताकर महात्माजी अन्तर्धान हो गये तब सुरेन्द्रकी आँखें खुलीं। उसने देखा कि प्रार्थना करते-ही-करते एक झपकी आ गयी और यह सब हो गया। बस, उसी दिनसे वह महात्माजीकी बतायी साधनामें जुट गया। रात-दिन एक ही धुन, एक ही लगन, राम-राम-राम-राम-राम-राम। दूसरा शब्द मुँहसे निकलता ही न था। लोग कहते—सुरेन्द्र तो पागल हो गया। सचमुच वह पागल था, अवश्य पागल था, परन्तु उस अर्थमें नहीं जिसमें लोग कहते थे।

बात-की-बातमें तीन महीने बीत गये। चिन्तितके लिये एक दिन भी युग-सा हो जाता है। परन्तु जो काममें लगा है उसके लिये कई वर्ष भी कलकी बात-सरीखे हैं। आज उसे स्वप्नमें आज्ञा हुई। 'सुरेन्द्र! तुम्हारी लगन सच्ची है। तुम्हारा अधिकार ऊँचा है। तुम्हें आध्यात्मिक विचारकी आवश्यकता है। तुम आदर्श चाहते हो न? चलो—हिमालयमें, गङ्गातटपर। तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसी आज्ञाके अनुसार सुरेन्द्र आज गङ्गातटपर आया हुआ है और माँ गंगासे न जाने क्या-क्या कहता हुआ तल्लीन हो रहा है, जान पड़ता है आज उसकी जिज्ञासा जग पड़ी है।

(३)

सिंहकी भयानक गर्जनासे सुरेन्द्रकी तल्लीनता भंग हुई। आँखें खोलकर देखा तो सामनेसे एक सिंह मन्थरगतिसे इधर ही चला आ रहा है। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो स्वयं मृत्यु ही मूर्तिमान् होकर आ रही है। उसके सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी। वह सोचने लगा, क्या जीवनका यही अन्तिम क्षण है? क्या अगले क्षणमें यह शरीर सिंहके मुँहमें होगा? परन्तु यहाँ आनेमें तो स्वप्नवाणीने मेरा कल्याण बताया था न? तो क्या मृत्यु ही कल्याण है? क्या मरनेके लिये ही यह जीवन प्राप्त हुआ है? अभी तो मैं भावी सुखकी आशासे यहाँ बैठा हुआ था, बीचमें ही मृत्युकी बात कैसी? क्या प्रत्येक क्षणमें मृत्यु सम्भव है? अरे, क्षणका तो अर्थ ही है मृत्यु। अच्छा, यह जीवन क्षणमय है। और क्षण मृत्युमय है। तब मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु जीवनमय है? यह कैसे सम्भव है? यदि जीवन और मृत्युमें कोई भेद न होता तो लोग मृत्युसे इतना डरते क्यों? परन्तु विचारसे कोई भेद नहीं जान पड़ता। बुद्धि तो यही कहती है कि जीवन ही मृत्यु और मृत्यु ही जीवन है।

सिंह कुछ ठिठका हुआ-सा दूर खड़ा था। सुरेन्द्र जीवन-मृत्युकी मीमांसा कर रहा था। इस समय न उसे भूतकी चिन्ता थी और न तो भविष्यकी कल्पना। बचनेका न मौका था, न उपाय था और न चेष्टा थी। वह जीवन और मृत्युकी सन्धिमें स्थित होकर दोनोंका ही अन्तस्तल देख रहा था। उसने देखा—परिवर्तनका एक महान् चक्र, गतिका एक अनादि अपार भँवर। उसी चक्रपर, उसी भँवरमें सब नाच रहे हैं। अणु, परमाणु, प्रकृति, वन, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, ज्ञात, अज्ञात, सिंह और स्वयं उसका जीवन सब कुछ प्रतिपल बदल रहे हैं, डूब-उतरा रहे हैं। डूबना प्रलय है, उतराना सृष्टि है। डूबना मृत्यु है, उतराना ही जीवन है। यह क्रम न जाने कबसे चालू है, एक हो दूसरा न हो ऐसा सम्भव नहीं।

अच्छा तो इसमें कौन अच्छा है, कौन बुरा है? एक-से ही हैं। अच्छे हैं तो दोनों, बुरे हैं तो दोनों। तब? तब दोनोंको समानरूपसे ग्रहण किया जाय या दोनोंका समान

रूपसे त्याग किया जाय। परन्तु एक बात बड़े आश्चर्यकी है। इन दोनोंको समानरूपसे ग्रहण या त्याग करनेवाला मैं कौन हूँ ? मैं स्पष्ट इनसे पृथक् अपनेको अनुभव कर रहा हूँ। तब क्या मैं जीवन-मृत्युसे परे हूँ ? परन्तु परे होनेपर भी तो लोग जीवनसे सुखी और मृत्युसे दुखी होते हैं। इसका कोई कारण तो नहीं दीखता।

सिंहके पैरकी आवाज़ पास जान पड़ी। एक बार शरीर काँप उठा। पर अब उसका मानसिक बल बढ़ गया था। सुरेन्द्रको एक भक्तकी बात याद आ गयी, जो काले नागसे डसे जानेपर उसे अपने प्रियतमका दूत कहकर प्यार करने लगा था। एक ज्ञानीकी स्मृति हो आयी जो बाघके मुँहमें भी उल्लासके साथ शिवोऽहम्, शिवोऽहम् की गर्जना कर रहा था। उसने अपनी आँखें खोल दीं। देखकर आश्चर्यचकित हो गया, अरे यह क्या ? यह तो एक महात्मा थे।

सिंहके वेषमें सुरेन्द्रकी गतिविधिका निरीक्षण कर लेनेपर उन्होंने अपनेको उसके सामने मानव वेषमें प्रकट किया। बोले—'सुरेन्द्र ! देखो प्रातःकाल होनेपर आया। चन्द्रदेव पश्चिमसमुद्रके पास पहुँच गये। तुम मेरे साथ चलो—मैं तुम्हें 'बोधाश्रम'पर ले चलूँगा।

सुरेन्द्र पीछे-पीछे चलने लगा।' (अपूर्ण)

श्राद्ध-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा)

श्राद्ध क्या है ? किसका होता है ? जीवितोंका या मृतकोंका ? करना चाहिये या नहीं ? इत्यादि अनेक शङ्का-समाधान इसके विषयमें प्राचीन कालसे ही होते चले आ रहे हैं। श्राद्ध पितरोंकी तृप्तिके निमित्त अवश्य करना चाहिये यह सिद्धान्त है, इसकी कुछ चर्चा नवयुवकोंके लाभार्थ यहाँ की जाती है।

श्राद्ध किसे कहते हैं ? इस विषयमें महर्षि पराशरका मत है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

उपर्युक्त देश, काल, पात्रके विचारसे हविष्य आदिके द्वारा विधिपूर्वक, श्रद्धाके साथ तिल, कुश और मन्त्रोंकी सहायतासे जो कृत्य (पितरोंकी तृप्तिके निमित्त) किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं। इसी प्रकार महर्षि मरीचि भी कहते हैं—

प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

प्रेत तथा पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन जिस कर्ममें श्रद्धाके साथ दिया जाता है वह श्राद्ध कहलाता है। महाराज मनुजीका भी ऐसा ही मत है—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक्श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥

(मनुष्य) श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक पितरोंके लिये जो जो (भोजनादि) देता है उससे परलोकमें पितरोंकी बहुत तृप्ति होती है।

हेमाद्रिके मतमें श्राद्ध शब्दका वाच्य वह कर्म है जिसमें हवन, पिण्डदान और ब्राह्मण-भोजन कराया जाय। यथा—

होमश्च पिण्डदानं च तथा ब्राह्मणभोजनम्।
श्राद्धशब्दाभिधेयं स्यात्.................॥

इत्यादि

श्राद्धके भेद—इसके भेद अनेक हैं, कुछ ये हैं—

१ एकोद्दिष्ट—यह एक पितरके उद्देश्यसे किया जाता है।

२ पार्वण—पिता, पितामह, प्रपितामह। मात्रादि तीन और सपत्नीक मातामहादि तीनके निमित्त किया जाता है।

३ इष्टि-श्राद्ध—यज्ञके आरम्भमें होता है।

४ अष्टका श्राद्ध–यह पौष, माघ, फाल्गुन मास कृष्णपक्षकी अष्टमीको होता है।

५ महालय–यह कन्यागत सूर्यमें आश्विन कृष्ण-पक्षमें होता है।

महर्षि विश्वामित्र बारह श्राद्ध मानते हैं—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम् ॥
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम् ।
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम् ॥

१ नित्यश्राद्ध–यह नित्य किया जाता है, इसमें विश्वेदेवा नहीं होते।

२ नैमित्तिक–यह एकोद्दिष्ट होता है, इसमें एक तीन आदि अयुग्म ब्राह्मण भोजन कराया जाता है। यह भी विश्वेदेवारहित होता है।

३ काम्य–यह श्राद्ध किसी पुत्र–धनादिकी कामनासे किया जाता है।

४ वृद्धि–पुत्रजन्मादि संस्कारोंमें पितरोंकी (नान्दीमुखी) प्रसन्नताके निमित्त किया जाता है।

५ सपिण्डन–यह श्राद्ध गन्ध, जल, तिल आदिसे किया जाता है। इसमें चार पात्र होते हैं, प्रेतका पितरोंके साथ सम्मेलन होता है।

६ पार्वण–यह ८, १४, १५, ३० के दिन अथवा संक्रान्ति आदि पर्वके दिन होता है।

७ गोष्ठीश्राद्ध–गोष्ठीमें अनेक लोग प्रसन्नता-पूर्वक स्वेच्छासे सामग्री एकत्रकर इसे करते हैं।

८ शुद्धिश्राद्ध–इसमें किसी शुद्धिके निमित्त ब्राह्मणभोजन कराया जाता है।

९ कर्माङ्गश्राद्ध–गर्भाधान, पुंसवन आदि दूसरे संस्कारकर्मोंका अंगभूत होनेसे यह कर्मांग कहलाता है।

१० दैविक–यह श्राद्ध देवताओंके निमित्त होता है।

११ यात्रा–यह देशाटनको जाते समय या प्रवेशके समय किया जाता है।

१२ पुष्टि–शरीरको स्वास्थ्यलाभ होनेपर अथवा धनादिके लाभ होनेपर किया जाता है। तीर्थश्राद्ध, गयाश्राद्ध आदि और भी भेद हैं।

श्राद्धके उपयुक्त देश–गंगा-यमुनादिका तीर, कुरुक्षेत्र, प्रभासक्षेत्र, गया, प्रयाग, गयाशीर्ष, पुष्कर, अमरकण्टक, तुलसीवन आदि अनेक हैं, किन्तु श्राद्धके लिये सर्वोत्तम स्थान अपना घर माना गया है जो तीर्थसे अठगुना फलदायक है। घर एकान्त और गोबरसे लिपा-पुता होना चाहिये।

शुचिदेशं विविक्तं तु गोमयेनोपलेपयेत् ।
तीर्थादष्टगुणं पुण्यं स्वगृहे ददतः शुभे ॥

उपयुक्त काल–यज्ञोपवीत-विवाह आदि संस्कार, संक्रान्ति, युगादि तिथियाँ, ग्रहण, देवप्रतिष्ठा, गृह-प्रतिष्ठा, कूपारामादि अथवा जब कर्ताकी इच्छा हो या जब उपयुक्त सामग्री आदिका लाभ हो जाय।

श्राद्ध-ब्राह्मण–विद्वान्, वेदज्ञ, सदाचारी, अपनी शाखाका गुणी, धेवता, भानजा, अभ्यागत आदि होने चाहियें।

नियम-पालन–श्राद्धकर्ता और भोक्ता अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच, स्वाध्याय, ईश्वर-चिन्तन आदि यम-नियमसे रहें।

श्राद्धोपयोगी अन्नादि–गेहूँ, जौ, चावल, तिल, उड़द, मूँग, समा, पसाई, चना, सरसोंका तेल, गौका दूध, दही, घी, भैंसका दही-मट्ठा, केला, गन्ना, सिंघाड़ा, ककड़ी, खरबूजा, इमली, आमला, सेब, सन्तरा, अनार, सेंद, बेर, बेल, भसींडा, नीबू, अंगूर, अदरख, मूली, खिरनी, जम्भीरी, मुनक्का, नारियल, लौकी, आलू, अरवी, जमीकन्द, शकरकन्द, तोरई, काशीफल, बथुआ, खील, गुड़, शक्कर, चीनी, जीरा, धनिया, सोंठ, हींग, मिर्च, सेंधा-नमक, इलायची, पान, सुपारी, तुलसी, कपूर,

शहद, अन्य उत्तम ऋतुफल और शाक। मध्याह्न और अपराह्न, ताम्रपात्र, नेपाल-कम्बल, चाँदी, दाभ, तिल, गौ, दौहित्र ये आठ वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं।

पात्र—श्राद्धमें रत्न, सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, काँसी, मट्टी, ढाकके पत्ते, रत्नपात्र अच्छे हैं। भोजनमें लोहका पात्र निषिद्ध है। इसी प्रकार शुद्ध जल, सफेद चन्दन, पुष्प, वस्त्र, धूप, दीप, अक्षत, यज्ञोपवीत आदि पदार्थ श्राद्धमें ग्राह्य हैं।

श्राद्धमें शास्त्रका उपयोग—पुरुषसूक्त आदि वेदके अन्य सूक्तोंके स्वाध्यायसे, कठोपनिषदादि उपनिषदोंके विशिष्ट भागका प्रवचन करनेसे, धर्मशास्त्रका पाठ करनेसे एवं पुराणेतिहासोंके पुण्यस्थलोंके कथोपकथनसे पितरोंका विशेष लाभ होता है।

यह श्राद्धका ऊपरी दिग्दर्शनमात्र है। यथोचित अभीष्ट कृत्य विद्वान्‌के द्वारा करना चाहिये।

शंका-समाधान

१ प्र०—श्राद्ध करनेसे क्या लाभ होता है?

उ०—श्राद्धसे अनेक लाभ हैं। प्रथम तो उन पितरोंकी तृप्ति होती है जिनके निमित्त यह किया जाता है जैसा कि ऊपर लिखे वचनोंसे सिद्ध है। किन्तु इससे भी अधिक लाभ होता है, जैसा कि विष्णुपुराणसे सिद्ध है—

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥
सरीसृपानृषिगणान्यच्चान्यद् भूतसंज्ञितम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितं कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥

श्रद्धासहित श्राद्धकर्म करनेसे मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, वसु, मरुद्गण, विश्वेदेवा, पितृगण, पक्षी, मनुष्य, पशु, सरीसृप (सर्पादि), ऋषिगण, भूतगण आदि सम्पूर्ण जगत्‌को तृप्त कर देता है। दूसरे भोजन करनेवाले सदाचारसम्पन्न, योग्य, वेद-शास्त्रज्ञ, ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार और उनकी सहायता होती है। जिसके बदलेमें वे लोग अपना सत्कर्मांश देकर श्राद्धदाताका कल्याण करते हैं। तीसरे, श्राद्धकर्ताको जो फल मिलता है उसका वर्णन इस प्रकार है—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

पितरलोग श्राद्धमें तृप्त होकर श्राद्धकर्ताको दीर्घ आयु, धन, सन्तान, विद्या, अनेक प्रकारके सांसारिक सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्षतक देते हैं। महर्षि सुमन्तुके मतमें तो श्राद्धसे बढ़कर कल्याणकारी कोई दूसरा सत्कर्म है ही नहीं। जैसा कि—

न हि श्राद्धात्परं किञ्चिच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।

२ प्र०—श्राद्ध न किया जाय तो क्या हानि है?

उ०—श्राद्ध अवश्य करना चाहिये, प्रकृति स्वयं इसके करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको प्रेरणा करती है, इसलिये संसारका मनुष्यमात्र इसे किसी-न-किसी रूपमें मन, वाणी, कर्मद्वारा अवश्य करता भी है। कोई अपने प्रियजनकी सद्गतिके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना करता है, अन्य उसके उद्धारके लिये धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय करता है, कोई पितरके निमित्त अनेक दान-दक्षिणा देता एवं अनेक परोपकारके कार्य करता है; अपर उसके लिये समाधि बनवाकर उसपर पुष्पादि चढ़ाता है। अनेक लोग पितरोंकी सद्गतिके लिये मासिक-वार्षिक श्राद्ध करते हैं, दूसरे लोग तीसरे, दसवें आदि दिनोंमें दान, पुण्य, संगीत कर-करा पितरोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। ठीक है, जिस दयालु भगवान्‌ने जीवके सुखके लिये वायु, जल, अग्नि, वृक्ष आदि अनेक लाभकारी पदार्थ उत्पन्न किये हैं; और जिन माता, पिता, गुरु आदि सुहृद्‌जनोंने अपने जीवनकालमें इस मनुष्यके लिये अनेक कष्ट सहकर

उसको सब प्रकारसे सुख पहुँचाया, विद्या पढ़ाकर अज्ञानान्धकार दूरकर ज्ञानका प्रकाश दिया, और मोक्षमार्ग सुझाया; उस परमेश्वरका स्मरण, भजन, नामसंकीर्तन करना एवं उन सुहृज्जनोंको इस लोकमें वस्त्रभोजनादिका सुख और परलोकगत उनकी तृप्ति और सद्गतिके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना और स्वोपार्जित धनादिद्वारा परोपकार करना सर्वथा उचित, अवश्य-कर्तव्य और अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके हेतु परमधर्म है। इसके विपरीत प्रकृतिका अनादर करनेवाले जो लोग बुद्धिको तिलाञ्जलि देकर जगत्‌की रचना करनेवाले श्रीभगवान्‌को वोटोंद्वारा सिद्ध करना चाहते हैं, एवं यह समझ और कहकर कि पितृलोक नहीं है पितरोंका श्राद्ध नहीं करते, उनकी क्या गति होती है इसको भगवान् ही जानें। शास्त्र तो उनको अनिष्टकी प्राप्ति ही बतलाते हैं। यथा—

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

३ प्र०—श्राद्ध (सेवा-सत्कार) जीवित पितरोंका ही होना चाहिये—मृतोंका नहीं। इससे क्या लाभ ?

उ०—लाभ तो ऊपर बताया गया। 'एवं प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य' इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है कि श्राद्ध मृतोंका ही होता है, जीवितोंका नहीं। और वेदसे भी यही प्रमाणित होता है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्नेऽआवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
(अथर्व०)

हे सर्वज्ञ अग्निदेव! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्निमें जला दिये गये और जो फेंक दिये गये उन सबको हवि-भोजनके लिये यहाँ लाओ, जीवितोंके लिये ऐसे आवाहनादिकी आवश्यकता नहीं।

४ प्र०—देहात्मवादियोंका कहना है कि शरीरसे भिन्न आत्मा दूसरा पदार्थ नहीं है, शरीरका नाश हो जानेपर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, जीव सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार नास्तिकशिरोमणि चार्वाक कहता है कि 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' शरीरके भस्मीभूत हो जानेपर उसका आना-जाना कहाँ ? इसका भी यही मत है कि देह ही आत्मा है और इसके नष्ट होनेपर कुछ रहता ही नहीं। इस दशामें तो पितरोंकी सत्ता ही नहीं फिर उनके लिये श्राद्ध कैसा ?

उ०—देहात्मवादियोंका यह मत सत्य नहीं क्योंकि देहके साथ आत्माका नाश नहीं, जीवात्मा सर्वथा शरीरसे भिन्न है। भगवद्गीताके अनुसार वह अज (अजन्मा) है। भूत, भविष्य, वर्तमानमें सदा एकरस रहता है, सदासे चला आ रहा है, शरीरके मरने और मारे जानेपर वह नहीं मरता और मारा जाता। जीवात्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता। कहा है—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

और भी—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहन लेता है वैसे ही यह जीवात्मा जीर्ण-शीर्ण शरीरोंको त्यागकर नये-नये शरीर धारण करता रहता है। ऐसे ही अनेक शास्त्रीय

वचनोंसे सिद्ध है कि शरीर और आत्मा एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं, एवं जीवात्मा मृतशरीरको छोड़कर पितरादिके रूपसे अन्य लोकोंमें जाता है। यह तो हुई शास्त्रीय सिद्धान्तकी बात। इसमें लौकिक प्रमाणोंकी भी कमी नहीं है। पुनर्जन्मकी चमत्कारी कथाएँ आजकल पारस्परिक कथोपकथनमें सुनी जाती हैं और पत्रोंमें भी छपती रहती हैं। विदेशी Spiritualist पितृ-विद्यामें बड़ी उन्नति कर रहे हैं। पिछले सालकी देहलीकी घटना है। पं० लक्ष्मीधर शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० देहली विश्व-विद्यालयीय संस्कृत विभागके अध्यक्ष तथा सेंट-स्टीफेंस कालेजमें संस्कृतके प्रोफेसर हैं। उनके पुत्र पं० चन्द्रशेखर कल्लाका २४ वर्षकी आयुमें २१ मई सन् १९३६ को स्वर्गवास हो गया। प्रोफेसर साहबको बहुत शोक हुआ। इनके एक मित्र उसी कालेजके प्रोफेसर मि० रिचर्डसन सितम्बर सन् १९३६ को लन्दन गये, उन्होंने मृत पं० चन्द्रशेखरकी एक नेकटाई जो अपने साथ ले गये थे Frank Leah, Gratian Hall, Wigmore street Landan W. को दी। ली साहब पितरोंसे भेंट करानेमें संकल्पसिद्ध प्रसिद्ध हैं। नेकटाईको स्पर्श कर, ली साहब ध्यानावस्थित हुए और उन्होंने मृत चन्द्रशेखरजीका यह सन्देश उच्चारण किया—

'No one to worry about me. Very happy (how gone absolutely cold). It was time for me to go. No doctors could save me. Do not worry about doctor's mistakes. It is natural to grieve, but if one grieves unnaturally, it grieves those for whom one grieves. Hindu Professors dealing in dead languages.' अर्थात् 'मेरी कोई चिन्ता न करो, मैं बहुत खुश और अच्छी तरह हूँ। मेरा यह काल नियत था। डाक्टर नहीं बचा सकते थे। उनकी गलतियोंकी चिन्ता न करो। तुम्हारे अधिक शोक करनेसे मुझे शोक होता है। यह सन्देश हिन्दू प्रोफेसरके लिये है जो मुर्दा ज़ुबानोंको पढ़ाते हैं।' मृतके पिता प्रोफेसर साहबका कहना है कि ऐसी बातें पं० चन्द्रशेखर अपनी मृत्युसे कुछ दिन पहले कहा करते थे। मुर्दा ज़ुबानोंका मजाक पहले भी किया करते थे। ली साहबको जो शकल मृतककी दिखायी दी उसका चित्र उन्होंने खींचा जो सन्देशके साथ है यह असलीसे मिलता है।

५ प्र०—क्या एक पितृलोक ही है अथवा और भी लोक हैं, जहाँ जीवात्मा मर्त्यलोकसे जाकर बसते हैं। यह पितृलोक कहाँ है ?

उ०—लोक अनेक हैं; देवलोक, पितृलोक, गन्धर्वलोकादि, परन्तु श्राद्धका सम्बन्ध पितृ-लोकसे है, इसलिये इसकी स्थिति बतायी जाती है। पितृलोक पितरोंका निवासस्थान है जो चन्द्र-लोकके ऊर्ध्वभागमें स्थित है, जैसा कि 'विधूर्ध्व-लोके पितरो वसन्ति' श्रीमद्भागवतके अनुसार—

'उपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय चन्द्रलोकके ऊर्ध्वदेशमें अग्निष्वात्ता आदि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके अनुसार—

'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमती मध्यमा तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।'

आकाशकी पहली कक्षा जलवाली नीची है, मध्यमा कक्षा परमाणुवाली है, तीसरी प्रकाश-वाली कक्षा उत्तमा है जिसमें पितर निवास करते हैं। ये पितर दो प्रकारके हैं नित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक पितर वे हैं जो पाञ्चभौतिक शरीर छोड़कर वायवीय स्थूल शरीरमें लिपटे सूक्ष्म शरीरको धारण किये हुए पितृलोकमें होते हुए कर्मवश मनुष्यादि योनियोंमें चले जाते हैं, परन्तु

नित्य पितर स्थायीभावसे पितृलोकमें निवास करते हैं। पितृलोकके अधिष्ठाता यमराज हैं जो पितृपति और परेतराट् कहलाते हैं। इनके अधीनस्थ अनेक कार्यालय हैं, जिनमें प्रत्येक प्राणीके शुभाशुभ कर्मोंका खाता रहता है। ईश्वरीय नियमके अनुसार नित्य पितर ही नैमित्तिक पितरोंको श्राद्धान्न पहुँचाते हैं, जब वे कर्मवश अन्य योनियोंमें रहते हैं। यही महोदय धर्मराजरूपसे धर्मात्माओंको स्वर्गमें भेजते हैं।

६ प्र०—श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति होती है, यह बात तबतक सम्भव है जबतक पितरोंका निवास पितृलोकमें रहे। और यदि उनका जन्म मनुष्य, पश्वादि योनियोंमें हो गया तो श्राद्ध निष्फल रहा। दूसरी बात यह है—मान लो श्राद्धकर्ताके माता-पिताका जन्म चेंटा-चेंटीकी योनिमें हुआ और यहाँ उनके पुत्रने एक लोटा जलसे तर्पण किया और एक सेर मिठाईसे श्राद्ध, तो इतने अधिक अन्न-जलके बोझसे तो वे क्षुद्र जन्तु मर मिटेंगे, श्राद्ध तो उनके लिये भाररूप दुःखदायी हुआ न कि तृप्तिकारक? इसी प्रकार यदि उनका जन्म हाथी-हथिनीकी योनिमें माना जाय और यहाँ श्रद्धालु धनहीन पुत्रने उससे भी कम अन्न दिया तो यह थोड़ी-सी मात्रा उसके लिये अकिञ्चित्कर होगी। एक बात और भी है। संसारके असंख्य, अनन्त जीवोंमें एक विशेष व्यक्तिका पता लगाना नितान्त असम्भव है कि कौन किस योनिमें है। इसके लिये कोई साधन नहीं। इससे श्राद्ध व्यर्थ है।

उ०—सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने प्रजा और यज्ञ दोनोंको एक साथ उत्पन्न किया और आज्ञा दी 'हे प्रजाजनो! मनुष्यो! देव-पितर आदिको! तुम सब आपसमें एक दूसरेका उपकार करते रहो। मनुष्य यज्ञ करें, देव-पितर आदिको सन्तुष्ट करें, और देव-पितर आदि वर्षा धन-धान्यादि पदार्थ दानकर मनुष्योंको प्रसन्न रक्खें। यों परस्पर उपकार करते हुए परमकल्याणको प्राप्त होओगे।'

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

....

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

(गीता)

इसी नियमके अनुसार श्राद्धकर्ता पितृलोकस्थायी पितरोंके द्वारा अपने पिता-माता आदि सम्बन्धियोंको श्राद्धान्न-जल पहुँचाता है, जिससे उनको सुखकी प्राप्ति होती है। वह साक्षात् चेंटा-चेंटी आदिके ऊपर जलका लोटा नहीं लुढ़का देता, जिससे वे पैरे-पैरे फिरें और दुःख भोगें। लोकमें भी देखा जाता है—एक मनुष्य परदेशस्थ अपने सम्बन्धीको मनिआर्डरसे १००) रु० भेजनेके लिये डाकघरमें जाता है, क्लार्कको चाँदीके एक सौ सिक्के देता, क्लार्क उनको अपने पास रख लेता और मनिआर्डर-फार्म दूसरे डाकखानेको भेज देता है, जहाँसे पानेवालेको सौ रुपयेके मूल्यका दूसरा सिक्का (सुवर्णका, चाँदीका, निकलका, ताँबेका, या नोटरूपमें) देकर भरपाये करा लेता है। अब रही साधनकी बात कि किसके बलसे या किस शक्तिके द्वारा एक मनुष्यके किये कर्मका फल दूसरोंको पहुँचता है, इसका समाधान यह है कि शास्त्रमें मनकी शक्तिकी प्रधानता मानी गयी है।

'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः'—योग०

परमाणुसे लेकर परम महत्पदार्थ इसके वशमें हो सकते हैं। उपनिषद्का वचन है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयासक्त मनसे बन्धन होता है और निर्विषय मनसे मोक्षकी सिद्धि। योगशास्त्रमें मनकी

शक्तिका बड़ा प्रभाव वर्णित है। वशीकृत मनके बल-से आकाशगमन, कठिन रोगोंकी चिकित्सा, पर-चित्तज्ञान, परकाय-प्रवेश, अन्तर्धान, अणिमा-महिमादि अष्टसिद्धियोंकी प्राप्ति, देवदर्शन, सृष्टि-रचना-योग्यता, कैवल्य एवं श्रीभगवान्‌के चिन्मय विग्रहका दर्शन, सब कुछ प्राप्त हो सकता है। पूर्ण मनोबल प्राप्त करना तो योगीका ही काम है। यहाँ तो सर्वसाधारणजनकी बात कहनी है। श्राद्धकर्त्ता जब मन लगाकर (श्रद्धाके साथ) श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! अपनी कृपासे इस श्राद्धकृत्यको सफल कीजिये जो मैंने अमुक पितरादिके निमित्त सम्पादित किया है, श्रीभगवान् उसकी प्रार्थनाको सुनते हैं और उनकी बाँधी हुई (पितृ-लोक-स्थापनादि) मर्यादाके अनुसार भक्तके श्राद्धका फल यथारीति उस जीव-को प्राप्त होता है, चाहे वह चौरासी लक्ष योनियों-मेंसे अपने कर्मवश किसी योनिमें विद्यमान हो। इस विषयमें हेमाद्रि प्रमाण हैं—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मानुषत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत्।

श्राद्धकर्त्ताका पिता यदि शुभ कर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त हुआ है तो उसके निमित्त दिया हुआ श्राद्ध-अन्न-जल आदि अमृतरूप होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें विविध भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें मांसरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें अनेक प्रकारके भक्ष्य-भोज्य-चोष्य-लेह्य-पेय-चर्व्यरूपसे श्राद्धान्न जीवको पहुँचता है। यों जीवको उसके पूर्वजन्मके पुत्रादि-से संकल्पके द्वारा दिये हुए श्राद्धान्नका फल मिलता है जिससे उसको सुखकी प्राप्ति होती है।

७ प्र०—एक बड़ी भारी शंका यह की जाती है कि जब श्राद्धका फल मृत जीवात्माको अन्य योनियोंमें मिल सकता है तो जीवितोंके नाम किये हुए श्राद्धका फल भी श्राद्धकर्त्ताके जीवित पिताको जो तीर्थयात्राको गया है अथवा कोठेपर बैठा है मिलना चाहिये जिससे उसको भूख-प्यासकी बाधा न हो।

उ०—श्राद्धका सम्बन्ध मृत पितरोंसे है जीवितोंसे नहीं। जैसा कि श्राद्धके लक्षण 'प्रेतान्पितॄंश्च निर्दिश्य' इत्यादिसे सिद्ध है। कारण यह है कि पितरोंका सूक्ष्म-शरीर (astral body, etheric double) जो बुद्धि, मन, पञ्च तन्मात्रा (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण), पञ्च कर्मेन्द्रिय (वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ) इन सत्रह तत्त्वोंका बना होता है। और इसका आधारभूत स्थूल शरीर भी जो पञ्च महाभूत (पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश) घटित इन पितरोंको मिलता है वह भी (पञ्ची-करण नियमसे) वायुमय ही होता है, इसीलिये पितृगण सुगमतासे सर्वत्र आ-जा सकते हैं। और मनुष्यके मनोनिग्रहपूर्वक आवाहन करनेपर सूक्ष्म-शरीरसम्पन्न पितरलोग पास आकर सम्भाषण भी करते हैं। इसका अनुभव प्रत्यक्ष भी टेबल-टर्निङ्*, स्पिरिचुएलिज्म† (हिप्नोटिज्म और टेलीपैथीद्वारा भी) हो रहा है। जीवित मनुष्योंके विषयमें ऐसा नहीं; क्योंकि उसका चित्त अन्यत्र व्याप्त रहता है। दाता और प्रतिग्रहीता दोनोंके चित्त सम्मुख नहीं होते, जो फलप्राप्तिमें कारण है।

*-†इस विषयमें विशेष जानकारी The Society for Psychical Research, 31 Tavistock Square, Bloomsbury, London, W. C. 1. से हो सकती है।

श्राद्धमें मनःशक्तिके अतिरिक्त मन्त्रशक्तिका भी उपयोग होता है। वेदमन्त्रोंद्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः अस्मिन्यज्ञे स्वधया मादयन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् । (यजुर्वेद)

हमारे अग्निदग्ध पितर, देवताके गमनयोग्य मार्गसे आवें, इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें और हमारी रक्षा करें। दूसरा मन्त्र कहता है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यांश्च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः। स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ।

जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं, जिनको हम नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्निदेव! तुम उन सबको जानते हो, जो-जो जहाँ है सो आप पितरोंके अन्ननिमित्त इस यज्ञका सेवन करो।

सूक्ष्मशरीरधारी पितर सामने बैठे हुए भी साधारण जनोंको स्थूलदृष्टिसे दिखायी नहीं देते। किन्तु शुद्धात्मा पुरुष उनका दर्शन कर लेते हैं। श्राद्धमें वायुशरीरधारी पितर ब्राह्मणोंके साथ भोजन करते हैं। पद्मपुराणसे जाना जाता है—एक बार जब श्रीरामचन्द्र पिताका श्राद्ध कर ब्राह्मण-भोजन करा रहे थे तब सीताजी अपने स्वर्गीय श्वशुर महाराज दशरथको ब्राह्मणोंके साथ भोजन करते देख लज्जित हो हट गयीं, और रामचन्द्रजीसे बोलीं 'श्रीमहाराज, मैंने आपके पिताजीको ब्राह्मणोंके अंगोंमें देखा है।'

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव ! ।

मनकी महिमा अपार है। योगी इसके बलसे असाध्यको साध्य कर लेता है।

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'—योग०

यह निर्धनको धन देता है, पापीको पुण्यात्मा, मूर्खको विद्वान्, दुखीको सुखी, मृतको जीवित कर देता है। हस्तिनापुरवासिनी द्रौपदीने मनसे स्मरण किया, द्वारकास्थ भगवान् श्रीकृष्णने चीर बढ़ाकर उसकी रक्षा की। भूलोकके गजराजने विपत्तिमें त्रिलोकीश विष्णुजीका स्मरण किया, श्रीभगवान्ने वैकुण्ठसे आकर ग्राहसे उसका पिण्ड छुड़ाया। भगवान् श्रीकृष्णने सान्दीपनि गुरुके मृत पुत्रोंको सशरीर ला दिया था। यह तो हुई योगेश्वर भगवान् और देव-पितरोंकी बात, किन्तु भगवद्भक्तों और तपस्वियोंमें भी अद्भुत सामर्थ्य होती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी एक मृतकको जिलाया था। महर्षि दुर्वासाके कहनेसे गोपियोंकी प्रार्थनानुसार अतुल प्रवाहसे बहती हुई यमुनाजीने गोपियोंको पार जानेके लिये मार्ग दे दिया था। महर्षि व्यासने राजा धृतराष्ट्रादिको युद्धमें मृत कौरव-पाण्डवोंके दर्शन कराये थे। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि सिद्ध पुरुषोंके स्मरण करते ही उनके मृत सम्बन्धी आकर उनको दर्शन देते हैं। विदेशोंमें भी ऐसे महात्मा हो गये हैं। ईसामसीह जलपर चल सकते थे, उन्होंने एक बार मृतक भी जिलाया था। ये सब पहलेकी बातें हैं। पर आजकल भी इस मनोबलके ही द्वारा फोनोग्राफ़, रेडियो आदि अनेक चमत्कारी यन्त्रोंका आविष्कार हो रहा है। कुछ वर्ष हुए 'योगी' नामक पत्रमें एक प्रतिष्ठित सज्जनका लेख छपा था, उसने एक घटना लिखी थी, जिसका सार यह है।

दिव्यमूर्त्ति, शान्तस्वभाव एक साधु स्टेशनसे बिना टिकट लिये रेलमें बैठ गये, बीचमें चेकरने टिकट माँगी; न देनेपर वे अगले स्टेशनपर उतारकर सिपाहीके पहरेमें एक ओर खड़े कर दिये गये। स्टेशनका कार्य समाप्त होनेपर कर्मचारियोंने रेलको चलानेका भरसक प्रयत्न किया, परन्तु

जब वह न चली तो वे हारकर साधुजीके पास गये। उन्होंने देखा कि वह इंजनपर त्राटकदृष्टि लगाये एकाग्रभावसे खड़े हैं, उनकी आँखोंसे ज्योति निकलकर इंजनपर पड़ रही है जिसके आकर्षणसे इंजन रुका खड़ा है। सबने सविनय प्रार्थनापूर्वक साधुजीको रेलमें बैठाया तब कहीं रेल चली। एक और घटना है। विलायतसे प्रकाशित होनेवाले प्रेडिक्शन (Prediction) के १९३७ ई० के सितम्बरके अंकमें एक अंग्रेज महोदयने बड़ी सुन्दर भाषामें एक ऐसे भारतीय महात्माका आँखों-देखा वर्णन किया है, जिन्होंने अपने शापद्वारा एक अशिष्ट टिकट-चैकरको उसके पुत्र न होनेतक मूक कर दिया था। वास्तवमें पुत्रके होते ही शापकी भी अवधि समाप्त हो गयी थी। कहनेका आशय यह है कि ये सब उच्चकोटि और असामान्य साधकोंकी बातें हैं। सर्वसाधारण ऐसा नहीं कर सकते। उनका मनोबल इतना तीव्र नहीं होता, और प्रस्तुत विषय श्राद्धमें इसकी आवश्यकता भी नहीं। यहाँ तो प्रत्येक जन पण्डित वा मूर्ख थोड़ा-सा मन लगाकर प्रार्थनापूर्वक पितरोंका आवाहन करता है, सूक्ष्मशरीरधारी पितर आते हैं, श्राद्धकर्त्ताके दिये हुए कव्यसे तृप्त होते हैं और कर्त्ताको उसका यथोचित फल प्रदान करते हैं। जीवित मनुष्यके बारेमें यह बात लागू नहीं हो सकती क्योंकि उसका चित्त स्थूलशरीरकी उपाधिके कारण अन्यत्र व्याप्त रहता है। श्राद्धके विषयमें और भी अनेक शंका-समाधान हो सकते हैं। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

शिव-दर्शन

(रचयिता—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी, एम० ए०, एल-एल० बी०)

(१)

एहो ! भोलानाथ ! जाय सोये गिरि-शृंगनपै,
कौन पाप-ताप हा ! हमारे आजु टारैगो।
कौन मझधारमें सम्हारैगो हमारी नाव,
बिन पतवार कौन पार हमें पारैगो॥
केहिके सहारे आस जीवनकी लाये रहें,
कौन दुख-द्वन्द्वनिसों हमकों उबारैगो।
कौन अपनाय कै सनाथ कै अनाथनिकों,
कौन अब मारग पुनीत निरधारैगो॥

(२)

आपु तौ सदा ही बने औघड़ रहे हो नाथ !
औघड़पनेसे काज कौन आजु सरिहै।
आक औ धतूरौ चाबि रहत प्रसन्न आप,
आक औ धतूरनपै कौन तोष करिहै॥
दीन-हीन भारत-महीमें देवदेव ! बिन—
रावरी कृपाके दीनताको कौन दरिहै।
जौ पै नन्दीराजपै सवार ह्वै न ऐहो शीघ्र,
साहिबी तिहारीकी हुँकारी कौन भरिहै॥

(३)

गंगकी तरंग जटाजूटपै तरंगित ह्वै,
आधि-व्याधि सकल दुरूह निरवारे देत।
चन्दकी छटा त्यौं छहराय मंजु आननपै,
ज्ञानकौ प्रकाश लोक-लोकन पसारे देत॥
सब दुख-दारिद बिलात एक दृष्टिहीसौं,
दूजी दृष्टिहीसौं जाल द्वन्द्वनके टारे देत !
बिघन-समूह भयभीत ह्वै सकाने रहैं,
पापनके पुंज एक नादहीसौं जारे देत॥

(४)

भानुकी प्रभाको निदरति तेज-पुंज जिमि,
आनन अमंद-दुति दिव्य दरसावै है।
अंग-अंग अमित उमंगकी तरंग उठै,
भंगकी तरंग तामैं औरै रंग लावै है॥
देव बरदायककी दान देइबेकी बानि,
हुलसि-हुलसि उमहूँकौ उमगावै है।
शंकर-कृपाकी कानि बिनहिं बुलाए त्यौं ही,
हमकौ नेवाजिबेकौ हहरति आवै है॥

(५)

आवत निहारि इमि शंकर-कृपाकौ बेगि,
जाल दुख-द्वन्द्वनिके आपै आपु गोए जात।
त्यौं ही पाप-पुंजकी कलंक-कालिमा हूँ सबै,
बिनहिं प्रयास एकै बार आजु धोये जात॥
औचक चकित-से सकाने चित्रगुप्त रहे,
भाग्यवान कौनके अभाग्य इमि खोए जात।
हुमसि-हुमसि गति आपनी कृपाकी लखि,
मुदित महेश हू सँकोचन समोए जात॥

(६)

डह-डह डमरू बजाय एक करहीसौं,
दूजे लै त्रिशूल शम्भु आनँद उमंगमैं।
पुलकि पसीजि मुलकाय अति आतुर ह्वै,
बेगि उठि धाये शैलजाको लिए संगमैं॥
मुण्डमाल खसकि न जानैं कहाँ जाय परयो
आय गयो औरै ओज शंकरके ढंगमैं।
फहर-फहर फहरान जटाजूट लाग्यौ,
ज्वार-सी उठन लागी गंगकी तरंगमैं॥

(७)

उमा, उमापतिको बिलोकि एक संग ठाढ़े,
अंग अंग आनँद-तरंग उमगै लगी।
त्यौं ही मन्द-मन्द मुसुकानि अवलोकि, हौंस
हुलसि-हुलसि, भूरि भावन पगै लगी॥
दोउनके रूपकी अनूप दुति देखि-देखि,
नैननमैं, दोउनकी आभा-सी जगै लगी।
बार-बार पुलकि-पुलकि रोम-रोम उठे,
कण्ठलौं उमगि आय बानी बिलगै लगी॥

(८)

देखि-देखि आपने हठीले लाड़िलेकी गति,
चितै-चितै उमा ओर, शंभु मुसुकात हैं।
त्यौं ही गिरिजाके नैन, नेह-सने सैनहीसौं,
हमकौं सनाथिबेकौ आतुर लखात हैं॥
जाकी महिमाको शेष, शारदादि गायौ करैं,
जाके ध्यानहीसौं विष्णु, विष्णु कहे जात हैं।
ताको यौं अचानक सदेह सामने ही देखि,
मानी प्रान, मान सोचि, सकुचि सकात हैं॥

(९)

कण्ठ भरि आयौ, नैन नीर झरि लायो, गात–
थहरि-थहरि, बार-बार कंटकित होत।
अमित अनन्दके प्रवाहमैं प्रवाहित ह्वै,
मन, प्राण चौंकि, चकि, चकित, चकित होत॥
जन-मन-रंजनकौ, दीन-दुख-भंजनकौ,
शिव औ शिवाको लखि, वाणी संकुचित होत।
पाँयन पलोटि, पलकन पद-रज झारि,
संज्ञा-हीन ह्वैकै, गति देहकी थकित होत॥

(१०)

जागि उठी चेतना, प्रसुप्त ज्ञान-तंतुनमैं,
फेरत ही कंज-कर गौरी महारानीके।
जानि परयौ बरसि सुधाकी कहूँ धार परी,
पाय कै परस मातु गिरिजा महानीके॥
ऊँचो कै त्रिशूल, हर हर महादेव हँसे,
बंदत प्रथम लखि चरण भवानीके।
वत्स उठु, माँगु बर, माँगु बर, माँगु बर,
कानन सुनान लाग्यौ बोल बरदानीके॥

(११)

चाहत न नैंकु धन-धाम, ज्ञान, मान कछू,
चाहत अराम नहीं रुचिर सुपासको।
चाहत न त्राण पाप-ताप दुख-दारिदसौं,
चाहत न रिद्धि, सिद्धि, सुखमा विलासको॥
जोग नहिं चाहत, सँजोग नहिं चाहत हैं,
चाहत न देवदेव! देवलोक-वासको।
एहो देवराज! हम चाहत हैं एकै बर,
माने रहौ नाथ! दास दासन मैं दासको॥
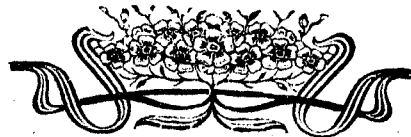
साधकोंसे

(गतांकसे आगे)

९—साधनामें सफलता प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन नियमित समयपर सर्वशक्तिमान् परम दयामय भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना अपनी भाषामें अपने भावोंके अनुसार की जा सकती है। प्रार्थनाका कैसा रूप होना चाहिये, इस विषयमें नमूनेके तौरपर पाठक-पाठिकाएँ नीचे लिखी पंक्तियोंको ध्यानमें रख सकते हैं—

हे प्रभो ! मैं सब कुछ भूलकर केवल तुम्हें याद रख सकूँ, सब कुछ खोकर केवल तुम्हें पानेका प्रयत्न करूँ, मुझे ऐसा मन और ऐसी बुद्धि दो ! हे अन्तर्यामी ! मेरे मनसमुद्रमें जो-जो तरंगें उठती हैं, तुमसे एक भी छिपी नहीं है; प्रभो ! इन सारी तरंगोंको मिटाकर इसे शान्त कर दो, इस समुद्रको क्षीरसागर बनाकर तुम स्वयं मेरी माता श्रीलक्ष्मीजी-सहित इसमें विराजो, अथवा इसको बिल्कुल सुखा ही दो।

हे महामहिम ! मैं बड़ा ही मूढ़ हूँ, इसीसे तुम्हारे चरणोंकी ओर न झुककर, तुम्हारी अलौकिक अनूप रूपसुधाके लिये न तरसकर बुद्धिमान् और अनुभवी पुरुष जिन भोगोंको दुःखप्रद, अशान्तिप्रद और नरकप्रद बतलाते हैं, उन्हींके पीछे पागल हो रहा हूँ। इसका कारण यही है कि मैं मूर्ख तुम्हारी महान् महिमाको, तुम्हारे अनन्त गुणोंको, तुम्हारे परम तत्त्वको, तुम्हारे गूढ़तम रहस्यको नहीं जानता; जानूँ भी कैसे ? मैं तो मूढ़ हूँ ही, बड़े-बड़े विद्वान् और तपस्वी, ज्ञानी और योगी भी तुम्हारे यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानते; तुम्हें वही पहचान सकते हैं, वही जान सकते हैं, जिनको कृपापूर्वक तुम अपनी पहचान बता देते हो, अपनी जानकारी करा देते हो; तो प्रभो ! मुझपर भी कृपा करके अपनी पहचान मुझे करा दो न ? तुम्हारी महान् महिमासे मेरी मूढ़ताको मिटते क्या देर लगेगी ?

सुना है तुम्हारी ओर आकर्षित हुए बिना, तुम्हें चाह बिना तुम कृपा नहीं करते; तो क्या तुम्हारी कृपामें भी विषमता है ? नहीं, नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता। तुम तो समताकी मूर्ति हो, तुम्हारे लिये अपना-पराया कोई नहीं; फिर क्या बात है जो मैं तुम्हारी कृपासे वञ्चित हूँ ? महात्मा लोग कहते हैं, प्रभुकी तो सभी जीवोंपर अपार कृपा है परन्तु उस कृपाका लाभ उन्हींको होता है, जो उसे पहचानते हैं, उसका अनुभव करते हैं; ठीक है यही बात होगी, पर मैं मूढ़ तुम्हारी उस अनन्त असीम सर्वत्रव्यापिनी कृपाको कैसे पहचानूँ, कैसे अनुभव करूँ ? इसके लिये भी तुम्हींको कृपा करनी पड़ेगी, तुम्हीं अपनी इस महान् कृपाके मुझे दर्शन करा दो; नहीं तो ऐसे अपने भक्त संतोंकी कृपा मुझे दिला दो, जो तुम्हारी परम कृपाको पहचान-जानकर उससे लाभ उठा रहे हैं। प्रभो ! मेरी नीचताकी ओर न देखकर अपने बिरुदकी ओर देखो !

पर मैं मूढ़ संतोंको पाऊँ कहाँ ? उन्हें पहचानूँ कैसे ? यह काम भी तुम्हारी कृपाको ही करना पड़ेगा। मुझे सच्चे संतसे मिला दो और उसका परिचय भी करा दो, जिसके अनुग्रहसे मैं तुम्हारी कृपाको पहचान सकूँ, जिसके संगसे मेरे हृदयसे अज्ञानका परदा दूर हो जाय, जिसके सेवनसे मेरी मोहकी गाँठें टूट जायँ और जिसका हाथ पकड़कर मैं तुम्हारे चरणोंतक पहुँचकर तुम्हारी पावन चरण-धूलि प्राप्तकर अपनेको धन्य कर सकूँ ?

दयामय ! मेरे नीच जीवनकी प्रत्येक बातका तुम्हें पता है, तुमसे क्योंकर छिपाऊँ, क्यों छिपाऊँ

और क्या छिपाऊँ ? लोग मुझे अच्छा समझते हैं, परन्तु मैं कैसा हूँ, इसको तुम तो भलीभाँति जानते हो ! यह दम्भ तुम्हारे मिटाये ही मिटेगा । और तुम्हीं इस नीच जीवनको पवित्र और दिव्य जीवन बना सकोगे । मैं नीच दम्भी होनेपर भी जब तुम्हारा कहाने लगा हूँ, तब तुम कृपा करके मेरे दम्भ-पाखण्ड और काम-क्रोधको सर्वथा मिटाकर अपना क्यों नहीं बना लेते मेरे नाथ ? सदा न सही, कभी-कभी तो मेरा हृदय सचमुच ही तुम्हें चाहता है, तुम्हारा ही बनना चाहता है, फिर तुम क्यों नहीं मुझे अपनाते ? सम्भव है मेरी इस चाहमें भी सचाई न हो, पूर्णता न हो, मन धोखा देता हो, पर इसके लिये मैं क्या करूँ मेरे स्वामी ! चाहको भी तुम्हीं अपनी सहज कृपासे सच्ची, पूर्ण और अनन्य बना लो!

मनमोहन ! मेरे मनको अपनी माधुरीसे मोह लो ! मेरे मनमें जो मान, यश और विषयसुखकी इच्छारूपी आग जल रही है, इसे तुम्हीं अपने कृपावारिसे बुझा दो । प्रभो ! मैं केवल तुम्हींको चाहूँ, तुम्हींको केवल अपना सर्वस्व समझूँ, तुम्हीं मेरे प्राणाधार और प्राण हो—तुम्हीं मेरे आत्मा और परमात्मा हो, इस बातको जानकर मैं केवल तुम्हींसे प्रेम करूँ, तुम्हारे इस प्रेम-प्रवाहमें मेरा अपना माना हुआ धन-जन, मान-मोह सब बह जाय । तुम्हारे प्रेमसागरमें सब कुछ डूब जाय । मैं केवल तुम्हारी ही झाँकी करता रहूँ, ऐसा सौभाग्य दे दो मेरे प्रियतम !

फिर सारे जगत्‌में मुझको तुम्हीं दिखायी पड़ने लगो, सारा जगत् तुम्हीं हो जाओ। मैं सबमें, सब ओर, सदा-सर्वदा तुम्हींको देखूँ, सब तुम्हारे ही स्वरूपमें परिणत हो जायँ ! अहा ! वह दिन कैसा सुदिन होगा, वह घड़ी कैसी शुभ घड़ी होगी, वह क्षण कैसा मधुर क्षण होगा और वह स्थिति कैसी आनन्दमयी होगी, जब ऐसा हो जायगा; तब इस जगत्‌में मेरे कोई पराया नहीं रहेगा, तब मेरे मनके राग-द्वेष, वैर-विरोध, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व मिट जायँगे; और मुझे सब ओर विशुद्ध प्रेम, सब ओर अपार आनन्द, सब ओर अनन्त शान्ति और सब ओर सौन्दर्य-माधुर्यभरी तुम्हारी मनमोहिनी मूर्ति दिखायी देगी; मेरी साधना सफल हो जायगी, मैं निहाल हो जाऊँगा, क्योंकि उस समय मैं और तुम—बस हम दो ही रह जायँगे । मैं तुम्हारी मनमानी सेवा करूँगा, और तुम उस सेवाको स्वीकारकर मेरी सेवा करोगे ! सभी बातें मेरे मनकी होंगी । नहीं, तब मेरा मन भी तो मेरा नहीं रहेगा, वह तो तुम्हारे ही मनकी छाया बन जायगा, अतः सब तुम्हारे ही मनकी होंगी, तुम जबतक अपने महान् संकल्पसे मुझे यों अलग रखकर मुझसे खेलोगे, तबतक मैं परम धन्य और परम सुखी बना तुम्हारे साथ तुम्हारी रुचिके अनुसार खेलता रहूँगा, और तुम जिस क्षण अपने संकल्पको छोड़कर अपने उस खेलको समेटकर मुझे आलिङ्गन करना चाहोगे, उसी क्षण मैं तुम्हारे विशाल हृदयमें समा जाऊँगा ! यह खेल भी कैसा मधुर होगा मेरे मधुरिमामय मोहन ? मेरा यह सुख-स्वप्न सच्चा कर दो मेरे सनातन स्वामी !

जबतक ऐसा न हो तबतक इतना तो हो ही जाय—

(१) मैं एक क्षण भी तुम्हारे पवित्र स्वरूप और मधुर नामको न भूलूँ ।

(२) जगत्‌में किसी भी प्राणीका मेरेद्वारा किसी भी रूपमें अहित न हो, मैं सभीका हित चाहूँ और हित करूँ ।

(३) विषय-सुख, धन-सम्पत्ति, मान-यशकी इच्छा कभी मनमें न पैदा हो ।

(४) जीवनका प्रत्येक क्षण तुम्हारे स्मरण-सहित तुम्हारी सेवामें बीते, जगत्के सभी जीवोंकी मैं तुम्हारे नाते सदा विनम्र भावसे सेवा करता रहूँ ।

(५) मेरा तन-मन सदा पवित्र रहे, एक भी बुरा कार्य शरीरसे न हो, एक भी बुरा विचार मनमें न आने पावे ।

(६) जीवनका लक्ष्य केवल तुम्हींको पाना हो ।

(७) तुम्हारे प्रत्येक विधानमें मुझे सन्तोष रहे और सांसारिक दृष्टिमें मैं भयानक-से-भयानक दुःख-मयी स्थितिमें भी कृतज्ञ हृदयसे तुम्हारा स्मरण करूँ और अपार आनन्दका अनुभव करूँ ।

(८) तुम्हारे लिये मैं बड़े ही सुखसे—अपार उल्लाससे मान और प्राणोंका त्याग करनेको तैयार रहूँ और करूँ ।

(९) इन्द्रियाँ और मन पूर्णरूपसे संयत रहें और उनसे सदा तुम्हारी सेवा होती रहे ।

(१०) मेरी अपनी वासना, कामना-इच्छा कुछ भी न रहे । मोक्षकी भी नहीं । मैं तो बस, तुम खिलाड़ीके हाथका खिलौना बना रहूँ । यन्त्रकी पुतलीकी भाँति तुम्हारे नचाये नाचूँ, उठाये उठूँ, बैठाये बैठूँ, सुलाये सोऊँ, रुलाये रोऊँ, हँसाये हँसूँ, जिलाये जीऊँ और मराये मर जाऊँ । मैं अपने मनसे कुछ भी न करूँ, मेरा अपना मन ही न रहे । तुम जो कुछ कराना चाहो, वही मेरेद्वारा बिना बाधा और बिना सङ्कोच होता दिखलायी दे । मेरे लिये सुख-दुःख, मानापमान, हानि-लाभ सब समान हो जायँ ।

(११) परन्तु हे मेरे परम सुहृद् ! मैं जो प्रार्थना करके तुमसे कुछ चाहता हूँ, यह भी तो मेरी मूढ़ता ही है । तुम तो सब जानते ही हो और परम सुहृद होनेके कारण मेरे बिना ही कहे तुम सदा मेरा अशेष कल्याण ही करते हो । मेरे कल्याणकी जितनी चिन्ता तुमको है, उतनी मुझको तो कभी हो ही नहीं सकती । मैं इस बातको यथार्थतः जान लेता तो फिर क्यों तुमसे कुछ माँगकर अपना अविश्वास प्रकट करता ? फिर तो मैं तुम्हारा प्रेमपूर्वक अनन्यचिन्तन ही करता; तुम कल्याणमय जो कुछ भी करते, उसमें मेरा परम कल्याण ही तो होता । अनुभवी भक्त कहा करते हैं कि तुम्हारी अपार अहैतुकी नित्य दयाका रहस्य न जाननेके कारण ही मनुष्य तुमसे दयाकी भीख माँगता है—तुम्हारे सहज कल्याणकारी परम सुहृद-स्वरूपपर विश्वास न होनेके कारण वह तुमसे भोग-सुख और मुक्तिके आनन्दकी कामना करता है । तुम्हारे प्रति पूरा भरोसा न होनेके कारण ही साधक अपनी पारमार्थिक माँग तुम्हारे सामने रखता है । हे प्रभो ! मेरे इस अज्ञान और अविश्वासका, मेरी इस अश्रद्धा और अनास्थाका नाश कर दो । जिससे मैं केवल तुम्हारे चिन्तनपरायण ही हो रहूँ । तुम्हारे चिन्तनको छोड़कर मुझे अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता ही न हो—स्मृति ही न हो !

इन भावोंकी प्रार्थना साधकको सच्चे हृदयसे श्रद्धा-विश्वासके साथ प्रतिदिन एकान्तमें करनी चाहिये ।

१०—साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये । चित्तमें बुरे और अपवित्र विचारोंका अभाव और विषयचिन्तनमें क्रमशः कमी होने लगे, भगवान्में अहैतुकी प्रीति, निष्कामभाव, शान्ति, एकाग्रता, आनन्द, सन्तोष, समता, प्रेम आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगे तो समझना चाहिये कि उन्नति हो रही है । जबतक ऐसा न हो तबतक यही मानना चाहिये कि अभी यथार्थ साधनाके सत्य पथपर चलना आरम्भ नहीं हुआ है । यह याद रखना चाहिये कि असत् विचार ही पारमार्थिक अवनतिका—और सत् विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है । पुराने असत् विचार नष्ट हों, नये न पैदा हों इसके लिये सावधानी-

के साथ असत्-संगका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, और सत् विचारोंकी जागृति, उत्पत्ति और वृद्धिके लिये सत्संग, सत्-ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सत्-चर्चा, सदाचारका पालन, सत्-कर्म आदि उपाय करने चाहिये । असत् विचारोंके और असत् कर्मोंके बढ़नेमें प्रधान कारण विषयचिन्तन है । अतएव जहाँ-तक बन सके विषयचिन्तनको चित्तसे हटानेकी साधकको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये । चित्त जितना-जितना ही विषयचिन्तनसे रहित होगा, और भगवच्चिन्तनमें लगेगा, उतना-उतना ही साधक परमार्थके पावन पथपर अग्रसर होता रहेगा ।

११—चित्तको प्रशान्त और भगवदभिमुखो बनानेके लिये प्रतिदिन कुछ समयतक नियमपूर्वक भगवान्का ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

पहले ध्येय वस्तुका स्वरूप निश्चय कर लें, इसीको धारणा कहते हैं, फिर उस ध्येयस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके उसीमें चित्त-निरोध करनेको चेष्टा करें । ध्येयस्वरूप अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके हो सकते हैं । यहाँ ध्यानकी सुगमताके लिये कुछ ध्येयस्वरूप लिखे जाते हैं । वस्तुतः सभी ध्येयस्वरूप सभी एक ही परमात्माके हैं । एक ही परमात्माके अनेकों लीलास्वरूप हैं । इनमें छोटे-बड़े या शुद्ध-अशुद्धकी कल्पना करना अपराध है । अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जिनका मन जिस स्वरूपमें लगे उनको उसी स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ।

(१) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही समस्त विश्वमें व्याप्त हैं, यह सारा विश्व भी उन्हींमें है, यह निश्चय करके विचारके द्वारा अपने 'अहं'को इस व्यष्टि शरीरसे अलग करके विश्वात्मा समष्टिमें उसकी स्थापना कर दे । और फिर विचारके द्वारा समष्टिकी व्यापक दृष्टिसे देखे कि समस्त विश्व एक मुझमें ही बसा हुआ है, जितने भी जड-चेतन जीव हैं सब मुझमें हैं और मैं समानरूपसे उन सबमें व्याप्त हूँ । जगत् मुझमें कल्पित है, केवल यह द्रष्टा आत्मा ही सत्य है । कल्पना कीजिये कि जैसे एक छोटे कमरेका आकाश जब सर्वव्यापी महान् आकाशके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है तो उसे यह मालूम होता है कि सब कमरे ही नहीं, समस्त देश एक मुझमें ही बसे हुए हैं और सब कमरोंमें—छोटी-से-छोटी कोठरीमें भी मैं ही व्याप्त हूँ । वैसे ही समस्त जगत्में एकमात्र अपने आत्माका ही विस्तार देखे । यद्यपि आकाशका उदाहरण सच्चिदानन्दघन परमात्माके लिये ठीक बैठता नहीं क्योंकि आकाश पञ्च महाभूतोंमें एक भूत है, वह प्रकृतिका कार्य है, परिच्छिन्न है, सीमित है, जड है और विनाशी है । परमात्मा सभी बातोंमें आकाशसे अत्यन्त विलक्षण हैं । परन्तु पाञ्चभौतिक सृष्टिमें सबकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और महान् आकाश ही है, अतएव समझनेके लिये आकाशका ही उदाहरण ठीक माना जाता है ।

फिर, द्रष्टारूप इस समष्टि आत्मामें दीखनेवाले इस जगद्रूप कल्पित दृश्यका भी अभाव कर दे । एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; जगत् नहीं, जगत्के विषय करनेवाली इन्द्रियाँ नहीं, मन नहीं, चित्त नहीं, बुद्धि नहीं, अहंकार नहीं, बस, एकमात्र परमात्मा ही हैं । उन परमात्माका बोध भी परमात्माको ही है । वह परमात्मा सत्स्वरूप हैं, चेतनस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं । वह सत् चित् और आनन्द अभिन्न हैं और उनकी इतनी घनता है कि अन्य किसीके लिये वहाँ तनिक भी गुंजाइश ही नहीं है । इस प्रकार विचार करते-करते मन, बुद्धि आदि सहित समस्त दृश्योंको, और दृश्योंके साथ ही इन दृश्योंके देखनेवाले द्रष्टाकी कल्पनाको भी छोड़ दे । क्योंकि द्रष्टापुरुषकी सिद्धि वहीं होती है, जहाँ अभावरूप या भावरूप कोई दृश्य होता

है। जहाँ दृश्यका सर्वथा अभाव है वहाँ पुरुष द्रष्टा नहीं है। वहाँ जो कुछ है, सो अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार जबतक वृत्ति इस सच्चिदानन्दघन अचिन्त्य ब्रह्ममें (शून्यमें नहीं) तदाकार हुई रहे, तबतक अचिन्त्यका ध्यान करे, जब इससे वृत्ति हटे तो फिर द्रष्टा—समष्टि सच्चिदानन्दघन बन जाय। इस प्रकार निराकार व्यापक परमात्माका और अचिन्त्य ब्रह्मका ध्यान किया जा सकता है।

(२) सारा संसार परमात्मासे भरा है, यहाँ जो कुछ भी दीखता है, सब परमात्माका ही विस्तार है, इस प्रकारकी भावना इस जगत्के तीनों लोकोंके पदार्थोंमें करे। जो कुछ भी वस्तु देखने-सुननेमें आती है, वह परमात्माका स्वाँग है, परमात्मा ही उन वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित हैं। जैसे एक ही स्वर्ण भिन्न-भिन्न गहनोंके रूपमें प्रकट है, जैसे एक ही मिट्टी नाना प्रकारके बर्तनोंके रूपमें व्यक्त हो रही है वैसे ही सारा संसार एक ही परमात्मासे पूर्ण है। सोना और मिट्टी तो केवल उपादानकारण हैं, उनके गहने और बर्तन बनानेवाले सुनार और कुम्हाररूप निमित्तकारण दूसरे हैं, परन्तु परमात्मा तो जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। स्वयं ही बने हैं और अपने-आपसे ही बने हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'हे धनञ्जय! मेरे सिवा जगत्में और कुछ भी नहीं है, यह सारा जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सब भूतोंकी उत्पत्तिका मूल कारण (बीज) भी मैं ही हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है जो मेरे बिनाका हो! तात्पर्य यह है कि सब मेरा ही स्वरूप है।'

योगीश्वर महात्मा कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'वे (प्रेमी भक्तगण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, चराचर जीव, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र, यहाँतक कि प्राणीमात्रको भगवान् हरिका शरीर समझकर सबको प्रणाम करते हैं। वे श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं देखते।'

इस प्रकार समस्त चराचरमें भगवान्को देखे। जिधर जिस वस्तुमें मन जाय वहीं वह वस्तु भगवान् ही हैं, ऐसी निश्चित दृढ़ धारणासे विश्वरूप भगवान्का ध्यान किया जा सकता है।

(सगुण साकार ध्येय भगवत्स्वरूपोंका कुछ वर्णन अगले अङ्कमें देखें।)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सत् पदार्थ क्या है ?

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम० ए०, बी० टी०)

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।'

कुछ समय पहलेकी बात है, मैं अपने कालेजके एक छात्रके साथ बालकोंके उपयुक्त कथा-कहानियोंपर विचार कर रहा था। एक छात्रने कहा कि 'बालकोंसे ऐसी कोई बात कदापि नहीं करनी चाहिये, जो उनके हृदय-पटपर अंकित होकर उनका जीवन क्लेशमय बना दे अथवा उनके मनमें ऐसा कोई संशय उत्पन्न कर दे, जो किसी प्रकार हटाये न हट सके।' छात्रने अपने जीवनकी एक घटना भी सुनायी, जिसके कारण वे आजतक व्यथित हैं। जब वे छोटे बालक थे और चौथी कक्षामें पढ़ते थे तब एक मास्टरने उनसे कहा कि, 'इस संसारको किसीने बनाया नहीं है। संसारके सारे पदार्थ संघातसे पैदा हुए हैं। जब इनके स्वरूप विनष्ट हो जाते हैं तब ये प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। पदार्थोंका वास्तविक नाश नहीं होता, इनका स्वरूप बदल जाता है। ये अपने-आप पैदा होते और नष्ट हो जाते हैं।'

मास्टर साहबके इस कथनने बालक छात्रके हृदयमें ईश्वरके अस्तित्वके प्रति एक सन्देह उत्पन्न कर दिया, जो उन्हें आजतक दुःख दे रहा है। अपने इस सन्देहको वे जिस ढंगसे स्पष्ट कर रहे थे, उससे ज्ञात हुआ कि उनका चित्त व्यथित है। उन्होंने अपने चित्तकी अवस्था इस प्रकार बतायी—'आप देखते हैं कि मैं बड़ा सीधा-सादा आदमी हूँ। मैं महात्मा गान्धीका भक्त हूँ, क्योंकि खद्दर ही पहनता हूँ। लोग मुझको बड़ा सदाचारी और साधु भी समझते हैं, पर यह सब ऊपरकी बातें हैं। असलमें मैं नास्तिक हूँ और ईश्वरमें विश्वास नहीं करता।'

छात्रके मुँहसे ये वाक्य सुनकर मुझे चिन्तित हो जाना पड़ा। मेरे मनमें प्रश्न उठा, वास्तवमें सत्य क्या है! सारे संसारका नियन्त्रण करनेवाला कोई ईश्वर-जैसा पदार्थ है या नहीं? यदि है तो उस ईश्वरका स्वरूप क्या है? ये प्रश्न किताबी प्रश्न नहीं, हमारे जीवनके प्रतिदिनके प्रश्न हैं। जो मनुष्य अपने जीवनको मानव-जीवनकी तरह व्यतीत करता है, उसके सामने ये प्रश्न क्षण-क्षणपर ही नहीं आते अपितु उसके जीवन-के समस्त कार्य-कलाप इन प्रश्नोंके उत्तरपर ही निर्भर रहते हैं। यदि संसारमें जड प्रकृति ही एकमात्र पदार्थ है, जो अनेक रूपोंमें परिणत हुआ करती है तो फिर पुण्य और पाप—भले और बुरेकी कसौटी क्या रहेगी? तब हम क्यों दूसरे मनुष्यकी भलाई करें? उसे दुःख पहुँचाकर अपना स्वार्थ-साधन ही क्यों न करें?

जडवादी कहते हैं कि 'बिना किसी नीतिका अवलम्बन किये समाज-संघटन अथवा सामाजिक जीवन सम्भव नहीं हो सकता। हम इसलिये दूसरोंको दुःख नहीं पहुँचाते कि यदि दूसरोंको दुःख पहुँचाना ही प्रत्येक व्यक्तिके जीवनका नियम हो जाय तो समाज तुरन्त ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। दूसरी बात यह है कि यदि किसी मनुष्यको दूसरोंको दुःख पहुँचानेकी आदत पड़ जाय तो दूसरे लोग भी उससे बदला अवश्य लेंगे। अतएव अपनी स्वार्थ-रक्षाके लिये दूसरोंको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये। पुण्य-पाप कोई वस्तु नहीं है। यह संसार स्वार्थसे ही सञ्चालित है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थकी रक्षा करे तो समष्टिके स्वार्थकी रक्षा अपने-आप हो जायगी।'

इस विषयपर प्रोफेसर निक्सन (साधु श्रीकृष्णप्रेम भिखारी) से लेखककी बातचीत हुई थी। उन महात्माने इस सिद्धान्तका दोष दिखाते हुए जो बातें बतलायी थीं, वे मुझे आजतक याद हैं। उन्होंने कहा था कि 'इस मतका अनुयायी व्यक्ति अवसर मिलनेपर दूसरोंका अहित करके अपना स्वार्थसाधन करनेमें कभी नहीं हिचकिचायेगा। रास्तेमें जाते हुए अकेले राहगीरसे रुपया छीननेमें उसे कोई अनुचित कार्य नहीं मालूम होगा। रही समाज-संघटनकी बात, सो उसको क्या मतलब? प्रत्येक व्यक्तिका यही धर्म होगा कि वह दूसरोंको भलीभाँति ठगनेका उपाय करता रहे और किसीको अपनी ठगीका पता न चलने दे। वास्तवमें जिन्हें सर्वव्यापी सत्ताके अस्तित्वका विचार नहीं रहता, वे ऐसा ही करने लग जाते हैं। मनुष्य अपनेको पाप-कर्मसे इसलिये बचाता है कि उसके प्रत्येक कर्मको सब भावोंका जाननेवाला, सबका हितचिन्तक, सर्वव्यापी एक अदृश्य आत्मा देख रहा है।' अस्तु, संसारका एक नियन्ता माने बिना न तो समाज ही रक्षित रह सकता है और न व्यक्तिगत नैतिक जीवन ही।

पर अब यह प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्यमात्र समाज संचालित करनेके लिये एक नियन्ता मान भी लें तो इससे उसका अस्तित्व तो सिद्ध नहीं होता और न यही कहा जा

सकता है कि वही एक सत् पदार्थ है ! विलियम जेम्स तथा बरट्रेण्ड रसलका कहना है कि अपनी मानसिक आवश्यकताओंके कारण ही लोग ईश्वरपर विश्वास करते हैं। ईश्वर है या नहीं, यह कोई नहीं कह सकता परन्तु ईश्वरके प्रति विश्वासका भाव लोगोंकी रागात्मिका वृत्तियों (emotional needs) को तृप्त करता है और उनकी अनेक शंकाओंका समाधान कर देता है। विलियम जेम्स कहते हैं कि किसी वस्तुका अस्तित्व अथवा उसकी सत्ता हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिपर निर्भर करती है। हमारी आवश्यकताओंको पूरी करनेकी क्षमता ही किसी वस्तुके अस्तित्वका प्रमाण है। जैसे पानीके अस्तित्वका प्रमाण यह है कि उससे हम अपनी प्यास बुझाते हैं, अग्निके अस्तित्वका प्रमाण यह है कि वह हमें ताप पहुँचाती है। इसी प्रकार ईश्वरके अस्तित्वका प्रमाण यह है कि वह हमारी रागात्मिका वृत्तियोंका आश्रय है। इसके अतिरिक्त उसके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये और कोई प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं।

विलियम जेम्सकी इस विचार-प्रणालीके अनुसार सत् और असत्‌का वास्तविक भेद ही लुप्त हो जाता है। सत् वह वस्तु है जो कालकी गतिसे परे हो और सदा-सर्वदा जैसा-का-तैसा ही रहे। असत् वह है, जो परिवर्तनशील है। सत्‌का प्रमाण 'अबाध' है, जो दूसरे अनुभवसे प्रतिकूल सिद्ध न हो। अर्थात् जैसे-का-तैसा रहना ही सत्‌का प्रमाण है।

क्या ईश्वर इस प्रकारका सत् पदार्थ है ? क्या उसका इस प्रकारका अस्तित्व है ? है तो उसका स्वरूप क्या है ? वह कौन-सी वस्तु है जो त्रिकालमें एक-सी रहती है—जड है अथवा चेतन ? उस वस्तुके स्वरूपकी भावनाएँ हमारे मनपर ही अवलम्बित हैं या उनका कोई स्वतन्त्र स्वरूप भी है ?

ये प्रश्न बड़े जटिल हैं। जिज्ञासुओंने इन प्रश्नोंको बार-बार पूछा है और ज्ञानियोंने विधिवत् उत्तर दिया है परन्तु आज भी ये प्रश्न ज्यों-के-त्यों संसारके सामने उपस्थित हैं। वास्तवमें ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनका यदि सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त भी हो जाय तो वह उसी व्यक्तिको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ होता है, जिसने इन प्रश्नोंको उठाया है। जब दूसरा व्यक्ति फिर इन प्रश्नोंको उठाता है, तब उसे नवीन उत्तरकी ही खोज करनी पड़ती है। एकका किया परिश्रम दूसरेके बहुत ही कम काम आता है। इन प्रश्नोंको श्रीरामचन्द्रने वशिष्ठजीसे पूछा, नचिकेताने यमसे पूछा और अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा। उन्हें उत्तर भी मिले, पर वे उत्तर उन्हींके लिये थे। हमें तो फिरसे अपनी जीवनग्रन्थि सुलझानेके लिये इन प्रश्नोंको हल करना पड़ता है। हाँ, इतना अवश्य है कि हमारे पूर्वज अपने परिश्रमद्वारा जो मार्ग बना गये हैं, उनपर चलनेसे हम अपने लक्ष्यतक अधिक आसानीसे पहुँच सकते हैं।

अब यदि हम इन प्रश्नोंको हल करनेका प्रयत्न करें तो पहले हमें उस मानसिक परिस्थितिपर विचार करना पड़ेगा, जिसमें ये प्रश्न उठे। वह परिस्थिति ऐसी है, जिसमें कुछ अभाव जान पड़ता है। अन्तर्भावना (अव्यक्तकी प्रेरणा) और समझमें विरोध दिखायी देता है। मनुष्यका चित्त भ्रान्त रहता है। उसको जान पड़ता है कि जो होना चाहिये, वह नहीं हो रहा है !

जडवादी वास्तवमें दो प्रकारके होते हैं—एक जिज्ञासु और दूसरे भोगलिप्त। भोगलिप्त जडवादी मनुष्य तो मदान्ध होनेके कारण विचार ही नहीं करते कि क्या सत् है और क्या असत् ? उन्हें इन सब व्यर्थ विचारोंके लिये फुरसत कहाँ है ? वे समझते हैं, संसारमें कोई दूसरा काम नहीं है क्या ? ऐसे व्यक्ति यदि ईश्वरके उपासक भी होते हैं तो उसे अपना टहलुआ बनानेकी ही कोशिश करते हैं। अर्थात् ईश्वरके नामपर दूसरोंका धन अपहरण करते हैं।

दूसरे जडवादी वे हैं, जो सत्‌के जिज्ञासु हैं, जिन्हें खोज करनेपर भी सत् नहीं मिला है, जो एक प्रकारकी निराशामें रहते हैं। वे अपनेको जडवादी कहते हैं परन्तु इस स्थितिसे वास्तवमें सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्हें ईश्वरमें, जगत्‌में, नैतिकतामें, पाप-पुण्यमें, सब बातोंमें संशय रहता है। सचमुच कोई भी विचारवान् व्यक्ति वास्तविक तत्त्वको पहचाने बिना किसी दूसरी स्थितिसे कैसे सन्तुष्ट रह सकता है ? ऐसे ही व्यक्तिका मन भ्रान्त होकर दुःखमें भटकता रहता है। वह ज्ञानको ही सर्वोच्च पदार्थ मानता है अतएव उसके न मिलनेके कारण दुःखी रहता है।

यदि ऐसे जिज्ञासुकी मानसिक स्थितिकी परीक्षा की जाय तो उसमें दो बातें ज्ञात होंगी। एक तो सत्‌का भान और दूसरी उसपर अविश्वास। उसे यह अवश्य प्रतीत होता है कि कुछ सत् है, पर उसका स्वरूप निश्चित नहीं। अतएव वह उस सत्‌की सत्तापर भी अविश्वास करने लगता है। हमारा मन इतना मान लेनेसे ही सन्तुष्ट नहीं होता कि जड प्रकृति ही सत् है। क्योंकि हम जो अपने-आपमें अव्यक्तरूपसे सत्‌के लक्षण पाते हैं वे प्रकृतिमें नहीं हैं। यदि जड प्रकृति ही सत् है,

तो जो चेतन है, वह असत् हो गया। और हमारा अव्यक्त मन इस बुद्धिके परिणामको माननेके लिये तैयार नहीं होता। अतएव एक अन्तर्व्याधि पैदा हो जाती है। अपने-आपको खो देना सबको बुरा लगता है। जगत्‌के सारे पदार्थ, ज्ञान और बुद्धिके सब परिणाम अपने ही लिये हैं। वे आत्माके आनन्दकी सामग्री हैं। यदि उनमेंसे कोई आत्माको दुःख देनेका कारण बनता है तो आत्मा उसे कभी ठहरने न देगी। कुछ कालतक भले ही वह भ्रमका कारण बन जाय पर आत्मा ऐसी दुःख-दायी वस्तुका विनाश अवश्य कर देगी। अतएव बुद्धिका यह निष्कर्ष कि जड पदार्थ सत् है, आत्माको कभी ग्राह्य नहीं होता। आत्मा बुद्धिके इस सिद्धान्तको बार-बार नष्ट करनेका यत्न करता है।

सत् पदार्थ वही हो सकता है, जो आत्मा-जैसा हो। ऐसा सत् ही आत्माको ग्राह्य हो सकता है। क्योंकि आत्मा अपना विनाश त्रिकालमें नहीं चाहती। यदि सत्‌का स्वरूप आत्मा-जैसा है, तो उस सत् वस्तुके अस्तित्वमें आत्माका भी अस्तित्व बना ही रहेगा। किन्तु यदि आत्मा-जैसा उसका स्वरूप नहीं है तब उसका अस्तित्व होनेपर भी आत्माको उससे कोई लाभ नहीं। अतः सत्‌का वह स्वरूप जो आत्माके स्वरूपसे प्रतिकूल हो, आत्माको कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता।

यदि किसी जड पदार्थको सत् मान भी लें, जिससे आत्माका कुछ भी ऐक्य नहीं तो उसे आत्मा पहचानेगा कैसे? जो आत्मासे सर्वथा भिन्न है, वह आत्माद्वारा जाना भी नहीं जा सकता। या तो कोई सत् पदार्थ है ही नहीं—न प्रकृति सत् है, न चेतन; और यदि कुछ सत् है तो उसमें आत्माके गुण अवश्य होने चाहिये। इन्हींके द्वारा बाह्य पदार्थोंकी सत्ताकी परख की जा सकती है। जो व्यक्ति यह कहता है कि आत्मा असत् है और जड जगत् सत् है, वह मानो यह कह रहा है कि 'मेरे मुँहमें जीभ ही नहीं है।' सत्‌की परखका साधन अपने पास हुए बिना कोई कैसे कह सकता है कि जड जगत् सत् है। सत्‌का पैमाना उसे कहाँसे मिला? यदि बाह्य जगत्‌में ही पूरी सत्ता होती तो सत्-असत्‌का प्रश्न आत्माको क्यों होता? वह तो बाह्य जड जगत्‌को ही होना चाहिये था!

इन बातोंसे हम इसी निष्कर्षपर आते हैं कि सत् पदार्थ वही कहा जा सकता है जो आत्मा (अपने-आप)-जैसा है, जिसका आत्मासे कोई पार्थक्य नहीं और जिसमें वे ही गुण हैं, जो आत्मामें हैं। आत्माके स्वरूपका निश्चय अपने-अपने ज्ञानपर ही निर्भर करता है। ऐसा तो कोई भी व्यक्ति नहीं, जो आत्माको लकड़ी-लोहा-जैसा मानता हो। कोई उसे दुःख-सुखका भोक्ता मानते हैं, कोई नहीं। कोई उसे जन्म-मरणवाला मानते हैं, कोई नहीं।

अब यदि कोई सत् पदार्थ है और वह आत्मा-जैसा है तो मनुष्यकी जैसी कल्पना आत्माके सम्बन्धमें है, वैसी ही कल्पना उस बृहत् सत्‌के सम्बन्धमें भी होगी। यदि आत्मा कर्म करनेवाला है, दूसरोंका नियन्त्रण-कर्ता है, सुख-दुःखका भोगी है तो यही बातें उसमें भी होंगी। यदि आत्मा अपने-आपमें शासन करनेका भाव रखता है तो 'ईश्वर' अथवा समष्टिके शासककी भावना मनुष्यमें अवश्य उठेगी। मतलब यह कि जो व्यक्ति अपने-आपको जैसा मानता है, वैसी ही भावना उसको ईश्वरके प्रति होगी। सबसे प्रेम करनेवाला मनुष्य ईश्वरको कृष्णरूपमें भजेगा, दूसरेपर शासनकी उत्कण्ठा रखनेवाला आदमी उसे 'अल्लाह' या शक्तिके रूपमें मानेगा। अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरका निर्माण किया करता है। अर्थात् वह जो सत् वस्तु है, उसकी कल्पना मनुष्यके अपने-अपने अनुभवके अनुसार होती है।

इस प्रकारकी जितनी कल्पनाएँ हैं, उन सबमें एक तथ्य है। प्रत्येक कल्पनाका मूल स्रोत आत्माको अपने-आपका बृहत् स्वरूप देखनेकी अव्यक्त भावनामें है। आत्मा जडसे प्रतिबोधित सत्‌की स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं, वह इस अवच्छिन्न अवस्थामें नहीं रहना चाहती। हम नित्य स्थिति, नित्य सुख, नित्य ऐश्वर्यको प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु इस स्थितिको हम अपने-आपमें प्रत्यक्ष नहीं पाते; अतएव इसकी कल्पना किसी दूसरेमें करके फिर उससे अपना नाता जोड़ते हैं। कोई उस सत् वस्तुको अपना मालिक कहता है, कोई पिता; कोई सखा कहता है, कोई गुरु; और कोई अन्तर्यामी आदि कहता है। परन्तु सब प्रकारसे हम उसे अपनाना ही चाहते हैं। उसमें और अपनेमें भेद मिटा देना चाहते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

> ब्रह्म तू, हौं जीव हौं, तू ठाकुर हौं चेरो।
> तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हित मेरो॥
> तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
> ज्यों त्यों 'तुलसी' कृपालु चरन सरन पावे॥

यहाँपर भक्तद्वारा परमात्मासे आत्मीयता स्थापन करनेके प्रयत्नके अतिरिक्त और क्या है? दूसरे शब्दोंमें यह कह

सकते हैं कि आत्मा परमात्मासे नाता जोड़कर अपने-आपका बृहत् स्वरूप देखना चाहता है। उसकी महान् सत्तासे अपनी सत्ताका ऐक्य स्थापित करना चाहता है।

मनुष्यकी ईश्वरोपासना ईश्वरके अस्तित्व या अनस्तित्वपर कुछ नहीं कहती। परन्तु इससे यह जान पड़ता है कि आत्मा अपनी जडसे सनी हुई स्थितिसे असन्तुष्ट है। वह जडको सत् माननेके लिये तैयार नहीं। सत् पदार्थ चेतन है, अर्थात् उसमें आत्मा-जैसा ज्ञान रखनेकी शक्ति है और वह आनन्दरूप है। जडमें यह गुण नहीं। अतएव जब कभी आत्माको इस निश्चयपर आना पड़ता है कि 'जड प्रकृति ही सत् है, संसारके सब पदार्थ प्रकृतिकी सदा परिवर्तनशीलताके ही प्रतिफल हैं, इनका निर्माता कोई चेतन नहीं' तब उसे आन्तरिक दुःख और निराशा होती है। क्योंकि इस निश्चयद्वारा उसकी अपने-आपकी सत्ता खो जाती है। आत्मा तो, जो सत्ता उसे ज्ञात है, उससे भी बड़ी सत्ता प्राप्त करनेके लिये उत्सुक है। फिर किसी निष्कर्षद्वारा यदि उसकी जानी हुई सत्ताके विषयमें भ्रम उपस्थित हो जाय तो यह उसके लिये वस्तुतः कितने खेदकी बात होगी? वह तो मानो अपने-आपके लिये प्राणदण्डकी आज्ञा सुना देनेके बराबर होगा! आत्माका अव्यक्त निश्चय इसके प्रतिकूल है, अतएव वह इसे वास्तवमें स्वीकार नहीं करती। यदि मनुष्य दुराग्रह करके इस निश्चयको आत्मासे स्वीकार कराना चाहे तो वह विक्षिप्त हो जायगा। जो बुद्धि आत्माके काम नहीं आयी, उससे विक्षिप्तता ही भली है।

अतएव आत्मानुभवसे, जो एकमात्र सत्-असत्की सच्ची कसौटी है, यह ज्ञात होता है कि सत् पदार्थ आत्मस्वरूप ही है। जिन बातोंमें हम आत्माको अपूर्ण देखते हैं, वह उन सब बातोंमें पूर्ण है। अस्तु, यह जड जगत् सत् नहीं, क्योंकि यह आत्मा-जैसा नहीं, परमात्मा सत् है, क्योंकि उसका आर आत्माका स्वरूप एक है।

रमैया बाबा

(लेखक—पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

[अपनी पुरानी डायरीके आधारपर]

पुराणमितिहासश्च तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥
(महाभारत)

संत-महात्माओंके चरित पढ़ने-सुननेसे आत्मोन्नतिके साधनोंका ज्ञान तो होता ही है, साथ ही अधोगतिसे बचनेका अवसर भी अनायास प्राप्त होता है। इसीलिये भगवान् व्यासने महाभारतमें लिखा है कि पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओंके चरित नित्य सुनने चाहिये। जिन महात्माओंके चरित सुननेसे जीवका कल्याण होता है, उनका दर्शन यदि मिले तो कहना ही क्या है। किन्तु इस विषयमें मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह है कि प्रयत्न करनेसे महात्मा महापुरुषोंके दर्शन होने कठिन हैं। भगवान् जब कृपालु होते हैं, तब महात्माओंका दर्शन अनायास ही प्राप्त हो जाता है। मैं उन लोगोंको 'महात्मा' नहीं मानता जो विषयोंकी इच्छा रहनेपर भी ऊपरसे साधु-से बने रहते हैं, और मान-प्रतिष्ठाकी चाहमें घूमते हैं, अथवा पक्के महलोंको 'कुटिया' या 'आश्रम' बता, उनमें वास करते हैं और 'महात्मा' कहलानेकी दुर्वासनाको अपने हृदयमें पाला-पोसा करते हैं। महात्मापदवाच्य वे ही महापुरुष हैं, जो साधनाके उच्च शिखरपर पहुँचे हुए हैं, जो अपने महत्त्वको छिपाते, स्वयं सचमुच महात्मा और सिद्ध पुरुष होनेपर भी, अपनेको 'तृणादपि सुनीच' समझते और मानाभिलाषियोंको मान देकर भी स्वयं मान और प्रतिष्ठाको शूकरीविष्ठा मान, उससे कोसों दूर रहते हैं। मुझे अपने जीवनमें कई बार सच्चे महात्माओंके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन कईमेंसे एक रमैया बाबा भी हैं, जिनका अति संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है। साथ ही अति संक्षेपमें उनके दर्शन प्राप्त होनेका वृत्तान्त भी बतलाया जाता है।

सन् १८९९ ई०के मार्च मासकी बात है । उन दिनों मैं महोबेमें आई० एम० आर० के लोको स्कूलका स्कूलमास्टर था । महोबेमें किरतुआ तालाब या कीर्तिसागर नामक एक सरोवर है, जो स्टेशनसे बहुत दूर नहीं है । इसी सागरके तटपर ईसाइयोंका एक मिशन हाउस है । उन दिनों इसी मिशन हाउसमें मिस आर. एल. आक्सर एम.डी. ताजी अमेरिकासे आयी हुई थीं और मैं उन्हें हिन्दी पढ़ाया करता था । सरोवरमें मिशनकी एक डोंगी पड़ी रहती थी । एक दिन शामको डाक्टर आक्सर और लोको-फोरमैन मिस्टर जूंसके साथ मैं डोंगीमें बैठ, सरोवरकी सैर कर रहा था । डोंगी सरोवरके पल्लेपार जब पहुँची, तब हमलोगोंने देखा कि सरोवरसे आधे फरलाँगके फासलेपर, सुनसान स्थानपर एक वृक्षके नीचे कोई व्यक्ति ध्यानमग्न बैठा हुआ है । कुतूहला-क्रान्त हो मैं डोंगीसे उतरकर उस वृक्षकी ओर अकेला ही चल दिया । डोंगीके अन्य लोग सैरकर लौट आये । सरोवरके उस तटसे भी स्टेशनको रास्ता था, पर चक्करदार था । अतः मैंने पैदल उसी चक्करदार रास्तेसे स्टेशन लौटनेका विचारकर डोंगी छोड़ दी थी । मैं उस वृक्षके निकट पहुँचनेहीको था कि मैंने देखा कि दो काले कुत्ते मुझे आते देख गुर्रा रहे हैं । मैं रुक गया और वहींसे कहा—'क्या मैं आ सकता हूँ ।' इसपर तरुतलवासी व्यक्तिने आँखें उठा मेरी ओर देखा । उसके मेरी ओर देखते ही कुत्तोंका गुर्राना बंद हुआ और मैं उस व्यक्तिके सामने जा खड़ा हुआ और भक्तिभावसे प्रणाम किया । उत्तर मिला 'राम रमैया, राम रमैया, राम रमैया ।' कुछ क्षणों बाद ही बाबाजी गुनगुनाने लगे और गाने लगे—

रमैयाकी दुलहिन लूटै बजार ।
रमैयाकी दुलहिन लूटै बजार ।

बस, अब इसीकी धुन लग गयी । मैं वहाँ लगभग एक घंटेतक खड़ा था, किन्तु सिवा 'रमैयाकी दुलहिन लूटै बजार' के उन साधुने न और कुछ कहा और न मुझे उनके भजनमें कुछ पूँछ-ताँछकर बाधा डालनेका साहस हुआ । सायंकालीन अन्धकार बढ़ते देख मैं वहाँसे चल पड़ा, किन्तु एक चमत्कार मैंने वहाँ अवश्य देखा । वह यह कि अन्धकार चारों ओर तो छा रहा था, किन्तु उन साधुके चारों ओर अस्त-कालीन सूर्यकी लालिमा-जैसी रोशनी देख पड़ती थी । मैं अपने क्वार्टरमें लौट आया और अपने मिलने-वालोंसे उन संतकी कथा कही । मेरे मिलनेवालोंमेंसे कुछ सज्जन इन संतके पास कई बार आये-गये थे । उनसे मालूम हुआ कि साधूबाबा 'राम रमैया' कहते हैं, इसीसे लोगोंने उनका नाम रमैया बाबा रख छोड़ा है । उनके शरीरपर जाड़े-गर्मी सदा एक कौपीन ही रहती है । भिक्षाके लिये कहीं जाते किसीने कभी उन्हें देखा नहीं । अयाचितवृत्तिसे यदि कुछ आ गया तो खा लिया, नहीं तो कुछ परवा नहीं । अन्य आधुनिक साधुओंकी तरह न तो उनके सामने धूनीके नामसे सुलफा-गाँजाकी चिलम कभी किसीने देखी और न कोई अन्य प्रकारका साज-सामान । निर्जन स्थानमें किसी वृक्षके नीचे पद्मासनसे ध्यान-मग्न रहनेका इनका स्वभाव है । जब कोई आदमी उनके पास जाता है तो सिवा 'राम रमैया' के और कुछ नहीं कहते । यदि अधिक प्रसन्न हुए तो 'रमैयाकी दुलहिन लूटै बजार' मस्त हो गाने लगते हैं । यदि किसीपर अनुग्रह कर कुछ कह दिया तो वह पत्थरकी लीकके समान अमिट होता है ।

उन संतके ये गुण सुन उनके प्रति मेरी भक्ति बहुत बढ़ गयी । अगले दिन उनके पास पुनः दर्शनार्थ जानेका सङ्कल्प कर मैं सो गया । मेरा स्थूल शरीर तो अवश्य ही चारपाईपर अचेत पड़ा था, किन्तु मेरे मनोराज्यमें रातभर अजीब चहल-पहल

रही। ऐसे विचित्र स्वप्न देखे, जैसे आजतक कभी नहीं देखे थे। तीन बजे रातको उठनेकी आदत मेरी बहुत पुरानी है। सो तीन बजेके लगभग मैंने स्वप्नमें देखा कि वे साधु अत्यन्त प्रसन्न हैं और मेरी ओर देखते हुए मुसकरा रहे हैं। यह स्वप्न देखते ही आँख खुल गयी। दोपहरके समय जब मैं डाक्टर आक्सरके पास पहुँचा, तब उसने उस साधुके सम्बन्धमें मुझसे अनेक प्रश्न किये; क्योंकि उसने उन साधुके बारेमें अपने नौकरोंसे अनेक चमत्कारोंकी बातें सुनी हुई थीं, किन्तु उनपर उसे विश्वास न था। मैंने जब उससे उन महात्माके विषयमें अपना व्यक्तिगत अनुभव और मित्रोंसे सुनी हुई बातें कहीं, तब तो उसके मनमें भी साधु-दर्शनकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई और उसी क्षण चल दी। मैं उसके साथ था। रमैया बाबाके पास उस समय लोगोंका मेला-सा लगा था। किन्तु रमैया बाबा अपना वही पुराना राग गुनगुना रहे थे। उनके सामने कुछ फल रखे हुए थे और अनेक लोग हाथ जोड़े हुए बड़े भक्तिभावसे बैठे थे। हम दोनों भी उनके सामने जा खड़े हुए और प्रणाम किया। उत्तर कुछ भी न मिला। खड़े-खड़े जब आध घंटा हो गया, तब आँख ऊपरकर रमैया बाबाने हमलोगोंकी ओर देखा; किन्तु उनकी दृष्टि मेरे माथेके ऊर्ध्वपुण्ड्र-पर कुछ देरतक स्थिर रही। जिस समय वे इस प्रकार दृष्टि गड़ाकर मेरे माथेकी ओर देख रहे थे, उस समय मेरे मनुआ-रामकी विचित्र दशा थी। डाक्टर आक्सरने बहुत चाहा कि रमैया बाबा उससे कुछ बातचीत करें पर रमैया बाबा अपनी धुनमें मस्त थे। पूरे तीन घंटे हमलोग रमैया बाबाके पास रहे, पर उनका गुन-गुनाना एक क्षणको भी बंद न हुआ। जब प्रणाम-कर हम चलने लगे, तब बोले—'महोबा छोड़ दे, महोबा छोड़ दे, महोबा छोड़ दे।' उनके इस वाक्य-का अभिप्राय मेरी समझमें नहीं आया और हम दोनों रास्तेभर रमैया बाबाके सम्बन्धहीमें बातें कहते-सुनते अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँचे। इस घटनाके ठीक दस दिवस बाद मुझे लखनऊसे इन्सपेक्टर जनरल आफ सिविल हास्पिटेल्सका एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि हमारी नियुक्ति प्रयागके सिविलसर्जनके दफ्तर-में की गयी। मैंने १ अप्रैल सन् १८९९ ई० को प्रयाग पहुँच अपना नया काम सम्हाला। प्रयाग पहुँच मेरे मनोराज्यमें उथल-पुथल मची और भगवान्‌की चर्चा छोड़ मेरे मनमें भारतके आदिकालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरलके जीवनचरित लिखनेकी कुप्रवृत्तिने घर बनाया। पाँच-छः वर्षोंतक मेरा अधिक समय इसी कार्यमें व्यतीत हुआ। भगवान्‌की ओरसे मनीराम उदासीन-से रहे।

इस बीचमें न तो मैंने कभी रमैया बाबाका स्मरण किया और न कभी उनकी चर्चा ही। सन् १९१० ई० में एक दिन सरस्वतीकुण्डपर अचानक रमैया बाबाके दर्शन हुए। मैंने उनके चरण पकड़ लिये। किन्तु उन्होंने नेत्र बन्दकर श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक गुनगुनाना आरम्भ किया—

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥

मैंने कई बार यह जाननेका प्रयत्न किया कि प्रयागमें रमैया बाबा कहाँ ठहरे हैं; किन्तु न जान पाया। जबतक मैं रमैया बाबाके निकट रहा तबतक वे उस श्लोकको ही गुनगुनाते रहे। मैं उनके इस व्यवहारसे मनमें कुछ-कुछ दुखी भी हुआ पर उनका वास्तविक अभिप्राय मैंने पीछे समझा। रमैया बाबाके दर्शन होनेके अगले ही दिन, प्रयागके सिविलसर्जनने मेरे हाथमें लोकल गवर्नमेण्टका वह आर्डर दिया जिसमें लिखा था कि 'वारिन हेस्टिंगज़' की जीवनी लिखनेके लिये मैं नौकरीसे बरखास्त किया गया। इस आर्डर-को पढ़ रमैया बाबाद्वारा गुनगुनाये गये श्रीमद्भागवत-

के उक्त श्लोकका अभिप्राय समझनेमें मुझे विलम्ब न लगा। अपना बरखास्त किया जाना मुझे भगवान्‌का अपने ऊपर परम अनुग्रह ही जान पड़ा। सो भी रमैया बाबाकी पुरुषकारतासे। लोग कहते थे कि रमैया बाबा जो कह देते हैं वह सोलहों आने सत्य होता है सो दोनों बार मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। तबसे आजतक फिर रमैया बाबाके दर्शनका सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इटावेमें लोगोंके मुखसे सुना कि रमैया बाबा इटावेमें भी रहे थे। नहीं कह सकता, इटावेवाले रमैया बाबा वही थे जिनके दर्शन मुझे महोबेमें और प्रयागमें हुए थे अथवा अन्य कोई। बाँदा-निवासी मेरे एक मित्रने कुछ वर्षों पूर्व मुझसे यह भी कहा था कि कालिंजरके पास बृहस्पति कुण्डके तट-पर रमैया बाबाने मानवीलीला संवरण की।

धूलिमें

(लेखक—'सुदर्शन')

रज-राशिके मध्य नन्हा-सा कोमल कन्हैया—दिगम्बर शिशु—कटिमें सुन्दर स्वर्णकी मणिजटित मेखला, वक्षपर नन्हीं-नन्हीं मुक्ताओंकी माला, कुटिल अलकोंसे घिरा चाँद-जैसा मुख, भालपर वह कज्जल-बिन्दु—लाल-लाल हथेली खोलकर फैली हुई अँगुलियोंसे—धूलमें टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओंके द्वारा—जाने क्या लिख रहा है! पता नहीं कौन-सी सृष्टि कर रहा है। अरे चञ्चल! कन्धे और पेटपर भी धूलि डालकर········

नन्हें-नन्हें चरण फेंककर, हाथ पटककर, अपनी बनायी रेखाओंमेंसे किसीको मिटाकर खिलखिलाना········

ओहो! अब उस मिटी रेखाकी पुनः रचना।

हँसना ही सीखा है—बनाकर हँसता है, मिटाते भी हँसता है।

देखो मेरे घरौंदे भी मिटा रहे हो! मैं भी तुम्हारे मिटा दूँगा हाँ! दूसरेके मिटाकर हँसते हो, पर अपने तो दूसरेको छूने भी नहीं देते! झटपट स्वयं ही मिटा डालते हो। अलकें धूलिसे सनी—मुखपर धूलिकण—अरुण मृदुल नन्हें कर-चरण तो जैसे धूलिमें खेल ही रहे हैं। धूलिमें सनी यह घनश्यामकी अपूर्व छटा—अच्छा लाओ इस धूलिसे ही तुम्हारी पूजा कर दूँ।

उँह! छोटी-सी हथेलीपर धूलि उठाकर मुझे दे रहे हो? अच्छा लाओ इसे सिरपर डाल दो। ठहर भी—भाग मत। मुझे धूलि नहीं चाहिये। धूलिमें खेलनेवालेके साथ ही खेलना चाहता हूँ।

धूलि देते हो? तो दो न—तुम्हारी धूलिभरी नन्हीं हथेलीकी धूलि भला कौन न चाहेगा?

हाँ—मुझपर धूलि फेंककर हँसकर भागे तो—धूलिमें भली प्रकार सराबोर किये बिना नहीं छोड़नेका।

अच्छा तो है—हम दोनों इसी धूलिमें खेलें। न तुम मेरे घरौंदे बिगाड़ो, न मैं तुम्हारे।

उँह—जी चाहे सो करना—आओ खेलें तो सही!

सबपर दया करो, सबके दुःखोंको अपना दुःख समझो, सबके सुखी होनेमें ही सुखका अनुभव करो परन्तु ममता और अहंकारसे सदा बचे रहो।

× × ×

शरीरके किसी भी अंगमें सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर जैसे उसका समान भावसे अनुभव होता है, वैसे ही प्राणीमात्रके सुख-दुःखकी प्राप्तिमें समता रक्खो, अपनेको समष्टिमें मिला दो।

× × ×

अपने इस शरीरमें पर-भावना (दूसरेका है ऐसी भावना) करो, और दूसरोंमें आत्मभावना करो; तभी तुम दूसरोंके सुख-दुःखमें सुखी-दुःखी हो सकोगे, और तभी तुम उनके लिये अपना सर्वस्व त्याग सकोगे!

× × ×

जैसे विषयी पुरुष अपनी आत्माके लिये (वह देहको ही आत्मा मानता है इसलिये कहा जा सकता है कि शरीर-सुखके लिये) माता, पिता, बन्धु, स्त्री, पुत्र, धर्म और ईश्वरतकका त्याग कर देता है, वैसे ही तुम विश्वरूप ईश्वर और विश्वात्माकी सेवारूप धर्मके लिये आनन्दसे अपने शरीर तथा शरीर-सम्बन्धी समस्त सुखोंका सुखपूर्वक त्याग कर दो। विश्वात्माको ही अपनी आत्मा और विश्वको ही अपना देह समझो, परन्तु सावधान! ममता और अहंकार यहाँ भी न आने पावे। तुम जो कुछ करो सच्चे प्रेमसे करो और वह प्रेम स्वार्थ-प्रेरित न होकर हेतुरहित हो, परमात्मासे प्रेरित हो। परमात्मासे प्रेरित विश्वप्रेम ही तुम्हारा एकमात्र स्वार्थ बन जाय।

× × ×

सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करो, किसीके द्वारा अपना बुरा हो जानेपर भी उसका बुरा मत चाहो। दाँतोंसे कभी जीभ कट जाय, या अपने ही दाहिने पैरके जूतेकी ठोकर बायें पैरमें लगकर खून आने लगे तो क्या कोई बदलेमें दाँतोंको और पैरको कुछ भी चोट पहुँचाना चाहता है या उनपर नाराज होता है? वह जानता है कि जीभ और दाँत अथवा दाहिना-बायाँ दोनों पैर मेरे ही हैं। जीभ और बायें पैरको कष्ट हुआ सो तो हुआ ही, अब दाँत और दाहिने पैरको कोई दण्ड देकर कष्ट क्यों पहुँचाया जाय? क्योंकि वस्तुतः कष्ट तो सब मुझको ही होता है चाहे वह किसी भी अंगमें हो; इसी प्रकार तुम जब सबमें अपने ही आत्माको देखोगे, तब किसी भी प्राणीका—जो तुम्हारे साथ बुरा बर्ताव करता है उसका भी बुरा तुमसे नहीं हो सकेगा। हाँ, जैसे दाँतोंसे एक बार जीभके कटनेपर या दाहिने पैरसे बायें पैरमें ठोकर लगनेपर, उन्हें कुछ भी बदलेमें कष्ट न देकर फिर ऐसा न हो इसके लिये मनुष्य सावधानीके साथ ऐसा प्रयत्न करता है कि जिसमें पुनः दाँतोंसे जीभको और पैरसे दूसरे पैरको चोट न पहुँचे, इसी प्रकार अपना बुरा करनेवाले दूसरोंको कुछ भी नुकसान न पहुँचानेकी तनिक भी भावना न कर उन्हें शुद्ध व्यवहारके द्वारा सावधान जरूर करते रहो, जिससे पुनः वैसा न होने पावे।

× × ×

याद रक्खो, बदला लेनेकी भावना परायेमें ही होती है, अपनेमें नहीं होती। जब तुम सारे विश्वमें आत्मभावना कर लोगे, तब तुम्हारे अन्दर बदला लेनेकी भावना रहेगी ही नहीं। हाँ, जब किसी अंगमें कोई रोग होकर उसमें सड़न पैदा हो जाती है, और जब

उसके द्वारा सारे शरीरमें जहर फैलनेकी सम्भावना होती है तब जैसे उसके अन्दरका दूषित मवाद निकालकर उसे शुद्ध नीरोग और स्वस्थ बनानेके लिये ऑपरेशनकी जरूरत पड़ती है, वैसे ही कभी-कभी तुम्हें भी विश्वकी विशुद्ध हित-कामनासे उसके किसी अंगमें ऑपरेशन करनेकी जरूरत पड़ सकती है । परन्तु इस ऑपरेशनमें तुम्हारा वही भाव हो जो अपने अंगको कटानेमें होता है । अवश्य ही शुद्ध व्यवहार होनेपर वैसी जरूरत भी बहुत कम ही हुआ करती है !

'शिव'

गीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० १४ दिसम्बरको श्रीगीता-जयन्तीका महोत्सव है । विगत १३ वर्षोंसे यह महोत्सव भारतके बहुतेरे स्थानोंमें मनाया जाता है । 'गीताधर्ममण्डल' पूनाके श्रीयुत जे० एस० करन्दीकरने बड़ी गवेषणाके बाद गीता-जयन्तीका दिन मार्गशीर्ष शु० ११ निश्चय किया था । उसीके अनुसार इस दिन जयन्ती मनायी जाती है । श्रीयुत चिन्तामणि विनायकराव वैद्य महोदय मार्गशीर्ष शु० १३ मानते हैं । केवल दो दिनका भेद है । किन्तु जब समस्त देश मा० शु० ११ को मनाने लगा है, तब इसमें परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । कोई चाहें तो एकादशीसे त्रयोदशीतक तीन दिन उत्सव मना सकते हैं । ऐसा हो तो और भी अच्छी बात है ।

गीता-जयन्तीके उत्सवमें नीचे लिखे कार्य होने चाहिये—

१ **गीता-ग्रन्थकी पूजा ।**

२ **गीताके वक्ता पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णकी और गीताको महाभारतमें संयोजित करनेवाले भगवान् व्यासदेवकी पूजा ।**

३ **गीताका यथासाध्य पारायण ।**

४ **गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-तत्त्व तथा गीताके महत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान ।**

५ **पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान और गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण ।**

६ **प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्का विशेष पूजन ।**

७ **गीताजीकी सवारीका जुलूस ।**

८ **लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें ।**

सबसे आवश्यक बात है गीताके अनुसार जीवन बनानेका निश्चय करना और गीतोक्त साधनामें लग जाना । गीताका यह एक श्लोक ध्यानमें रहे और इसके अनुसार कार्य किया जाय तो बड़ा कल्याण होगा । भगवान्के वचन हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(१२।८)

'मुझमें मन लगाओ, मुझमें बुद्धिको प्रवेश करा दो, फिर तुम ऊँचे उठकर मुझमें ही निवास करोगे इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'
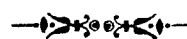
महासंहारकी तैयारी और हमारा कर्तव्य

यह जगत् लीलामय भगवान्की नाट्यशाला है, भगवान् इसमें नाना प्रकारके खेल खेलते हैं। किसी वस्तुको बनाना, उसे नये ढंगसे सँवारना, सजाना और फिर उसे जीर्ण-शीर्ण बनाकर अदृश्य कर देना, उनकी यह क्रीडा प्रतिक्षण चल रही है। इसमें प्रति-पल सृजन, पालन और संहारकी लीला हो रही है। भगवान्की इस नित्यलीलामें एक अटल नियमसे सारे काम होते हैं और वह नियम सत्य, आनन्द तथा सौन्दर्यसे भरा है। इसीलिये ब्रह्मा (सृजन-कर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और रुद्र (संहार-कर्ता) इन तीन रूपोंसे भिन्न-भिन्न लीलाएँ होती हैं। जन्म और मृत्युका यह चक्र अनवरत ही चल रहा है। परन्तु जब किसी समय इस अखण्ड नियमकी प्रेरणासे ही अनन्त जीवोंसे भरे इस जगत्के संहारकी लीला एक साथ होती है, तब हम उसे प्रलय कहते हैं। और जब वैसे ही सृजनकी लीला होती है, तब उसे सृष्टि कहते हैं। इसी प्रकार जब इस जगत्में बहुत-से मनुष्योंका किसी एक साधनसे—हैजा प्लेग आदि बीमारियाँ, दुर्भिक्ष और युद्धादिसे संहार हो जाता है, तब हम उसको एक विशेष घटना मानकर उसका विशेष नाम रख देते हैं। होता है, सभी कुछ उस एक ही सनातन नियमके अनुसार जगत्का नियन्त्रण और निर्भ्रान्त न्यायकारिणी और सबका हित करनेवाली चेतन शक्तिकी ही प्रेरणासे, लीला-विहारी भगवान्के ही सङ्केतसे; और जो कुछ होता है, चाहे वह हमारी कल्पनामें, हमारे देखने-सुननेमें कितना ही भयानक हो, सो सब जगत्के—हमारे परम कल्याणके लिये ही। शरीरके किसी अङ्गमें मवाद पैदा हो जानेपर जैसे ऑपरेशन कराके उस मवादको निकालनेकी आवश्यकता होती है, वैसे ही जब इस विश्व-शरीरके किसी अङ्गमें सड़न पैदा हो जाती है तब उसका ऑपरेशन आवश्यक होता है और भगवान्की लीलासे किसी-न-किसी निमित्तके द्वारा, जो अखण्ड नियमके अनुसार ही बनता है, वह ऑपरेशन बहुत ही सुचारुरूपसे सम्पन्न भी होता है।

जिस जगत्में इस समय हमलोग हैं, उसके शरीरमें बड़ी सड़न पैदा हो गयी है। चारों ओर स्वार्थ छा गया है, सारी विद्या और सारा विज्ञान अधिक-से-अधिक जीवोंको कम-से-कम समयमें नष्ट करनेकी वस्तुओंके आविष्कारमें लग रहा है, सब एक दूसरेकी उन्नतिसे जल रहे हैं, दूसरेके विनाशमें अपना मङ्गल समझना आजकी सभ्यताका एक प्रधान अङ्ग हो गया है। गरीबोंके घर उजाड़कर अपने बड़े-बड़े महल बनाना, दीनोंके मुँहसे रोटीके टुकड़ोंको छीन-कर अपने माल उड़ाना आज मनुष्यकी बुद्धिमत्ता, दक्षता मानी जाती है। (शब्दोंसे चाहे न हो पर कार्यसे तो ऐसा ही है) असङ्गठित, दुर्बल और संहारके नवीन साधनोंसे रहित देशोंको उजाड़कर, उनके निरीह निवासियोंपर निर्दयतासे बम बरसाकर राज्य-विस्तार करना आजके राष्ट्रोंकी राष्ट्रनीति हो रही है। (चीनमें जापान यही कर रहा है और अबीसीनियामें इटलीने यही किया था) पड़ोसी देशको नष्ट करना ही आजकी देशभक्ति है और गरीब देशोंको छलनेके लिये गुट बनाकर अपने स्वार्थकी रक्षा करनेका प्रपञ्च रचना ही आजके राष्ट्रोंकी नीतिज्ञता है। ('राष्ट्रसंघ' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है)। ईश्वरको न मानना, धर्मसे जगत्की हानि समझना और मनमाने उच्छृङ्खल आचरण करना आज जगत्में कर्तव्य-सा हो गया है। इस सड़नको निकालनेके लिये इस जगत्-शरीरका ऑपरेशन होना अनिवार्यरूपसे आवश्यक हो गया है और सम्भव है कि इस काट-छाँटकी लीला शीघ्र ही आरम्भ हो जाय। स्पेनके

गृह-युद्ध, और विशाल पर दुर्बल चीनके ऊपर बलवान् और चालाक जापानके आक्रमणको इस संहार-नाटकके सूत्रधारकी प्रस्तावनाका प्रथम दृश्य समझना चाहिये।

हमारे इस संसारके शक्तिशाली और समर्थ स्वाधीन देशोंमें आज अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस, जर्मनी, इटली, फ्रांस और जापानके नाम प्रधानतासे लिये जा सकते हैं। इनमेंसे जापान तो युद्धमें उतर ही गया है और बड़े मौकेसे अपना स्वार्थसाधन करना चाहता है। वह जानता है कि इंगलैण्ड सचमुच ही इस समय युद्धको बचाना चाहता है, इसका प्रधान कारण तो यही है कि युद्धमें इंगलैण्डके ही अधिक हानि उठानेकी सम्भावना है। इंगलैण्डके पास बहुत-से उपनिवेश हैं, जिसके पास धन होता है, उसीका जाता है। दूसरे, यूरोपमें आज एकता नहीं है। स्वार्थवश सभी एक दूसरेको नष्ट करनेकी तैयारीमें लगे हैं। अभी गत २६ सितम्बर सन् १९३७ के 'सण्डे हेरल्ड' नामक पत्रमें छपा है कि 'संसारके प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र विषैली गैसोंके द्वारा समरकी तैयारियाँ जोर-शोरसे कर रहे हैं। इस प्रकारकी तैयारियाँ किस हदतक पहुँच गयी हैं,इसका पता मि० हिन्ज लिपमैन (Heinz Liepmann) की लिखी 'आकाशसे मृत्यु' (Death from the skies) नामकी एक प्रामाणिक पुस्तकसे चलता है। मि० लिपमैनका कथन है कि गत दस वर्षोंमें समर-कलामें विषैली गैसोंके प्रयोगके सम्बन्धमें जो कुछ अनुसन्धान हुआ है, उससे पाँच लाख किस्मकी गैसोंका आविष्कार हो चुका है और इनमेंसे केवल पाँचको ही विशेषज्ञोंने 'अति प्रभावशाली' रूपमें स्वीकार किया है।

'ऐसे घातक अनुसन्धान और प्रयोगोंमें जर्मनी सबसे बढ़ा-चढ़ा है। सभी बड़े-बड़े राष्ट्र मिलकर जितनी विषैली गैसें तैयार करते हैं, उससे कहीं अधिक अकेले जर्मनी तैयार करता है। यह बात अटकलसे नहीं कही जा रही है। इसके लिये हमारे पास पर्याप्त प्रमाण और आँकड़े हैं। संसारभरमें संखियाकी खपत २५ हजार टन है और इसमें केवल जर्मनीमें १५ हजार टनकी खपत है। परन्तु जर्मनीकी समर-लालसा इतनेसे ही तुष्ट नहीं हुई है। वह पचास हजार टन (लगभग १३॥ लाख मन) संखिया और बाहरसे मँगा रहा है, जिससे १ लाख ३९ हजार टन (लगभग ३८॥ लाख मन) जहरीली गैस तैयार हो सकेगी जिससे सारा यूरोप श्मशानके रूपमें परिणत किया जा सकेगा। उस समय कोई मनुष्य तो बचेगा ही नहीं, पशु-पक्षी और पेड़-पत्ते भी खाक हो जायँगे।'*

* Extensive preparations for poison gas warfare are now being made by almost all great Powers. The extent to which it is carried and the results achieved are now revealed for the first time in an authoritative book "Death from the skies," by Heinz Liepmann.

The author estimates that researches for the last ten years have yielded at least about half a million different poison gases. But of these only about five have been chosen by experts as most effective.

The leading country in these experiments and preparations is Germany. She produces more poison gas than the total of all other great Powers put together.

And this conclusion is borne out by available statistics. The normal total demand for arsenic throughout the world, author states, is about 25,000 tons of which Germany was utilising about 15,000 tons. But now Germany is importing 50,000 tons of arsenic which will suffice to make 139,000 tons of adamsite, an incredibly large quantity which could transform the whole of Europe into a mortuary where neither man nor beast nor plant would be left alive. *"Sunday Herald"*

पता नहीं यह बात कहाँतक सत्य है। परन्तु इतना तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि संहारकी तैयारी चाहे वह आत्मरक्षाके ही नामसे हो, सभी समर्थ राष्ट्र अपनी पूरी शक्ति लगाकर कर रहे हैं। अवश्य ही इंगलैण्ड जापानकी विजय नहीं चाहता, क्योंकि जापानके विजयमें उसकी हानि है। इधर जापानमें शक्ति है, जनबल है, विज्ञानबल है, देशभक्ति (चाहे वह पड़ोसियोंका अहित करनेवाली ही हो, परन्तु आजकलकी सभ्य भाषामें वह देशभक्ति ही है) की भावना है, किन्तु उसके पास पर्याप्त भूमि नहीं है, इसलिये बहुत दिनोंसे उसकी गीधकी-सी आँखें चीनके विस्तृत भूभागपर एवं अंग्रेजोंके उपनिवेश आस्ट्रेलिया आदिपर लगी हैं। कभी-कभी वह भूखे पर बँधे बाघकी तरह भारतकी ओर भी ललचायी नजरसे देखता है। अतएव यदि जापान विजयी हो जायगा तो उसकी शक्ति बढ़ेगी और इससे इंगलैण्ड-की हानिकी सम्भावना और भी अधिक हो जायेगी इसीलिये इंगलैण्ड हृदयसे जापानकी विजय नहीं चाहता परन्तु इस समय वह चीनको बचानेके लिये जापानसे लड़ना भी नहीं चाहता। चीनसे आज जो सहानुभूति प्रकट की जा रही है, वह तो दिखाऊ है। चीन या अबीसीनियाकी स्वतन्त्रता छिन जानेमें इंगलैण्ड या अन्य किसीको कोई चिन्ता नहीं है, चिन्ता तो सबको अपने स्वार्थकी है, यदि अपने उस स्वार्थकी रक्षा चीनसे सहानुभूति प्रदर्शन करनेमें होती दीखती है तो वह किया जाता है और विरोध दिखलानेमें या चुप रहनेमें स्वार्थकी रक्षा होती दीखेगी तो विरोध किया जायेगा या चुप रहा जायेगा। इंगलैण्ड चाहता है कि चीनपर जापानका जुल्म दिखलाया जाय, जापानके विरुद्ध आन्दोलन किया जाय और कोई दूसरी शक्ति जापानसे भिड़ जाय तथा अपनेको जरा-सी आँच लगे बिना दूर-दूर ही फैसला हो जाय तो बड़ा अच्छा है—'हर्र न लगे फिटकिरी रंग चोखा आवे' परन्तु ऐसा होता दिखायी नहीं देता। दूसरे देश भी ऐसे मूर्ख नहीं हैं, जो इंगलैण्डको अछूता छोड़कर अपना विनाश करानेको तैयार हों। जर्मनी तो मौका ही ढूँढ़ता है, दूसरोंको लड़ाकर उससे लाभ उठानेका; इसीसे आज हिटलर जापानकी पीठ ठोंक रहे हैं। मुसोलिनीके इशारे-पर चलनेवाला इटली भी स्वार्थवश आज जर्मनी-की प्रत्येक बातका समर्थन करता है। रूस जरा-सा मौका पाते ही जापानपर आक्रमण करनेको तैयार है। यदि रूसने ऐसा किया तो जर्मनीको रूसपर हमला करनेका सुअवसर मिल जायगा। फ्रांस इंगलैंडका मित्र है और जर्मनीका शत्रु, इससे जर्मनी चाहेगा कि फ्रांसपर इटली आक्रमण करे। अमेरिका-का स्वार्थ जापानकी हारमें है अतएव यदि उपर्युक्त यूरोपीय राष्ट्रोंमें युद्ध छिड़ जायगा तो उसको भी लड़ाईमें उतरना ही पड़ेगा। इस महायुद्धमें जो कुछ देर हो रही है, सो इंगलैंडके कारण ही हो रही है। क्योंकि जगद्व्यापी युद्ध न होनेमें ही उसका स्वार्थ रहनेके कारण वह युद्धके प्रत्यक्ष हेतुओंको भी टाल रहा है। सुना जाता है कि चीनमें अभी जो ब्रिटिश राजदूतपर बम गिरा था उसे जापानियोंने गिराया था, इतनेपर भी इंगलैंडने जापानके साथ विशेष कड़ाईका बर्ताव न करके यों ही हलके-से शब्दोंमें उसका विरोध करके अवसरको टाल दिया। इसका कारण यह है कि यद्यपि इंगलैंड जापानकी विजय नहीं चाहता परन्तु सोवियट रूसकी राजनीतिसे इंगलैंडकी साम्राज्यवादी भावना सर्वथा विरुद्ध होनेके कारण वह रूसकी बढ़ती भी नहीं देखना चाहता। सच्ची बात तो यह है कि इंगलैंडकी गति इस समय साँप-छछूँदरकी-सी हो रही है। वह Democracy नीतिको पकड़े रहनेके कारण

न तो जर्मनी, इटली और जापानके अपनेसे मिलते-जुलते साम्राज्यवादी मतका विरोध ही करना चाहता है, और न अपनी नीतिसे सर्वथा विरोधी रूसकी शासनप्रणालीका ही विस्तार देखना चाहता है। परन्तु परिस्थिति ऐसी है कि दोनों ओर उपनिवेशोंके लोभके कारण न तो जर्मनी, इटली और जापानकी ब्रिटेनके साथ मित्रता ही अभी सम्भव है, और न रूससे ही उसका मेल खा सकता है। वह किस पक्षमें जाय, यही कठिन समस्या सामने आ रही है। इसीसे वह युद्धको टालना चाहता है।

दूसरी बात यह भी है कि अबतकके प्राप्त समाचारोंके अधारपर यह कहा जा सकता है कि जापानके मुहानेपर सिंगापुरमें अभी इंगलैंड अपनी पूरी तैयारी भी नहीं कर पाया है, इससे भी वह अभी युद्धमें उतरना नहीं चाहता। इतना होनेपर भी दिनोंदिन परिस्थिति जैसी बिगड़ती जा रही है उसे देखते अब युद्धमें विशेष बिलम्ब होता नहीं दीखता। इकट्ठी की हुई बारूदपर जरा-सी चिनगारी पड़ते ही आग भड़क उठेगी और इंगलैंड उससे बच नहीं सकेगा। साथ ही यह बात भी है कि यद्यपि इंगलैंड शान्ति चाहता है, वह युद्ध नहीं चाहता परन्तु इंगलैण्डकी युद्धकी तैयारी भी किसीसे कम नहीं है। अतः अनिवार्य अवसर आनेपर वह हटेगा भी नहीं। साथ ही जर्मनी वगैरहका स्वार्थ इंगलैण्डको लड़ाईमें उतारनेमें है, वे चुपचाप उसका शक्ति बढ़ाते रहना नहीं देख सकते। इससे उनकी ओरसे भी छेड़खानी होती रहेगी।

इन सब कारणोंसे, खासकर सभी समर्थ राष्ट्रोंकी अग्नि जैसी कहीं पूरी न होनेवाली दुष्पूरणीय कामना, स्वार्थपरता, द्वेषपरायणता, परोत्कर्ष-असहिष्णुता तथा विनाशी साधनोंकी प्रचुरता देखते यह निश्चय होता है कि हमारे इस जगत्‌में एक महान् ऑपरेशन होगा। एक विश्वव्यापी महासमर होगा, जिसमें यूरोपका तो बहुत कुछ ध्वंस होना अनिवार्य-सा ही है, अन्य देश भी शायद ही कोई अछूते बच सकेंगे। यह महासंहार अवश्यम्भावी है, क्योंकि इसीमें जगत्‌का वास्तविक कल्याण निहित है। बिना महासंहारके जगत्‌की यह सड़न अब निकल नहीं सकती। वर्तमान स्पेनका गृह-युद्ध और स्वार्थी राष्ट्रोंकी दोनों ओर छिपी सहायता देना तो इस सड़नका प्रमाण है ही, जापानने चीनपर आक्रमण करके, निरीह स्त्री-बच्चोंकी बमोंकी वर्षासे हत्या करके तथा इंगलैण्डने जापानका दिखाऊ विरोध करके तथा जर्मनी-इटलीने चीनमें हिस्सा पानेकी सम्भावनासे जापानकी सहायता करनेका गुप्त वचन देकर एवं जापानके साथ रूसके विरुद्ध पैक्ट करके इसका और भी प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर दिया है। विगत यूरोपीय महासमरके बहुत पहले जब रूसने जापानपर आक्रमण किया था, तब तो जापानकी युद्ध-सज्जा देशभक्तिपूर्ण थी और जापानका शौर्य सराहनीय था परन्तु इस समय चीनपर स्वार्थपूर्ण आक्रमण करके तो जापानने अपनी नरभक्षिणी क्रूर प्रकृतिका ही परिचय दिया है! स्वार्थान्ध होनेपर मनुष्य क्या नहीं करता! इसीलिये आज अच्छे पुरुषोंकी स्वाभाविक ही चीनके साथ सहानुभूति है। अस्तु,

कहनेका तात्पर्य यह है कि महासंहार बहुत ही समीप है और इस महासंहारके अवसरपर परमार्थ-पथके पथिकोंका क्या कर्तव्य है, इसपर विचार करना अत्यावश्यक है। यों तो मृत्युको सदा ही सिरपर सवार समझना चाहिये, परन्तु इस महासंहारमें तो मनुष्यकी मृत्यु और भी बहुत ही सहज हो जायगी। किसी भी क्षण घरमें बैठा मनुष्य बमकी आगसे या जहरीली गैसके जहरसे क्षणभरमें प्राणत्याग कर सकता है। ऐसी स्थितिमें रणक्षेत्रमें अर्जुनके प्रति कहे हुए भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंका खूब स्मरण करना चाहिये—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

भगवान् कहते हैं—'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पित करनेवाला तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

और श्रीभगवान्‌के इन्हीं पवित्र वाक्योंके अनुसार भगवान्‌का नित्य-निरन्तर अखण्डरूपसे स्मरण करते हुए तथा यथायोग्य कर्तव्य-पालनरूप युद्ध करते हुए शान्तिपूर्वक मरकर निश्चितरूपसे भगवान्‌को पानेके लिये प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिये। इस प्रसङ्गपर गीताके इस श्लोककी व्याख्या अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबको कर लेनी चाहिये।

जो लोग सुखपूर्वक जगत्‌में जीना चाहते हैं उनके लिये भी इस समय भगवान्‌का चिन्तन और भगवत्-प्रार्थना ही प्रधान साधन है !

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याणकारी स्वप्न

(लेखिका—श्रीरत्नकुमारी देवी)

महानुभाव पाठकगण ! मैं यहाँ जो कुछ लिख रही हूँ वह अक्षरशः सत्य है; मेरी बड़ी बहिनकी शादी ········स्टेटके राजकुमारके साथ कुछ ही दिन पहले हुई है, पहिले मैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका पूजन बड़े ही प्रेमसे करती थी, मनमें यह आशा थी कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर मुझ-जैसी अपवित्र-आत्मा लड़कीको एक बार अवश्य दर्शन देंगे, और अनन्य मनसे उनका नाम-जप करती थी। कुछ दिन हुए मैं अपनी बड़ी बहिनकी ससुराल गयी, वहाँ रहते करीब दो महीने हो गये; एक दिन रातको मैं अपने ग्रामकी याद करती हुई सो गयी।

स्वप्नमें क्या देखती हूँ कि—मैं एक रमणीय सुरम्य नदीतटपर खड़ी हूँ, सहसा वंशीकी मन-मोहिनी तान मेरे कानोंमें आयी, वैसी ही मुरली थी जैसी द्वापरमें बजी थी, जिसकी ध्वनि सुनकर पशु-पक्षी चित्र-लिखितसे खड़े रह जाते, यमुनाका प्रवाह रुक जाता, गोपियोंके हृदयमें उथल-पुथल मच जाती, मुनियोंकी समाधियाँ टूट जातीं। भला उस विश्वमोहिनी मुरलीध्वनिकी मधुरताका क्या कहना है ? हाँ तो, मैं उस मधुर तानको सुनकर बेसुध-सी होने लगी, पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ आनन्दकन्द वृन्दावनविहारी मधुर हँसी हँसते हुए वंशी बजा रहे हैं। मैं एकटक उस दिव्य ज्योतिर्मय माधुरीका दर्शन करने लगी, न तो मैंने दण्डवत् की न कोई प्रार्थना की। मेरी यह दशा देखकर भगवान् हँसते हुए बोले—'देवि ! क्या अब यहीं रही आओगी। चलो, अब········चलो, हमको वहाँ तुम्हारे बगैर खराब लगता है।'

मैं इन स्नेहसने मधुर वचनोंको सुनकर अपने-आपको भूल गयी और अगाध प्रेमसे दौड़कर उनके चरणोंमें गिर पड़ी; एक विनय जो मुझे याद थी, मैं करने लगी, मेरी आँखोंसे प्रेमाश्रु लगातार बह रहे थे !—

तुम ही सब कुछ नाथ हमारो।
अगम उदधिके भँवर बीच मैं नहिं कछु नाथ सहारो ॥
तुमही मात पिता गुरु स्वामी तुमही सखा हमारो।
जगके सब धन-धाम असत नित देत महादुख भारो ॥
हेतुरहित अनुराग भगतिकी लगी चाह है प्यारो।
पावन पतित नाम सुनि आई नहिं तुम राम बिसारो ॥

अहा ! भगवान्‌को अपने भक्त कितने प्यारे होते हैं; फिर मुझको कुछ चेत नहीं रहा और मैं

भगवान्‌के उन्हीं चरणोंको, जो श्रीनीलकण्ठ शिवजीके हृदयमें सदा विराजते हैं, पकड़े रही।

जब मैंने आँखें खोलीं तो देखती हूँ, कि चारों ओर अपार जलराशि है, उसमें असंख्य प्राणी बह रहे हैं। छटपटाते हैं, चिल्लाते हैं। मैंने देखा उसमें धनी-निर्धन, राजा-रंक, सेठ-साहूकार, पढ़-अपढ़, ज्ञानी-ध्यानी, यहाँतक कि माला-छापा-तिलकधारी-जटाधारी साधु-महात्मा भी हाथ-पैर पटकते हुए असहाय बह रहे हैं।

यह भयानक दृश्य देखकर मैं काँप उठी और गद्‌गद कण्ठसे मैंने प्रभुसे कहा—'भगवन्! इस लीलाका क्या अर्थ है? मुझ-जैसे पामर प्राणियोंका इस संसार-सागरसे कैसे उद्धार होगा?'

भगवान् बोले—'यह लीला नहीं, यह इन्हींके कर्मोंका फल है जिसने इन्हें भवसागरमें डुबो दिया है। मैंने इनके जीवनमें सुधारके कई अवसर दिये, पर इन्होंने उनको विषय-भोगोंमें ही गँवा दिया, उसीका फल ये आज पा रहे हैं।

'जो भक्त अपनी कहानेवाली कोई चीज भी अपनी नहीं समझता, यहाँतक कि जो अपने शरीर-को भी अपना नहीं समझता, ऐसे भक्तसे मैं कभी अलग नहीं होता। मैं केवल प्रेमका भूखा हूँ। न कि बाह्याडम्बरका। ऐसे भक्तको संसार-सागरसे पार करना मेरे बायें हाथका खेल है········।'

बस, इसी समय मेरी सुखदायिनी निद्रा भंग हो गयी। मैं अवाक् हो पंखहीन पखेरूकी तरह पड़ी-पड़ी लगी छटपटाने और फूट-फूटकर रोने। हा! वह साँवला विहारी कहाँ चला गया! वंशीकी मधुर तान अब भी मेरे हृदयमें बज रही थी। मैं मन-ही-मन कहने लगी—कन्हैया, कन्हैया! तुमने मेरी आखें खोल दीं, अब मैं क्या करूँ? अच्छा भगवन्, तुम मुझे·······बुला रहे हो, शीघ्र आऊँगी, अहा! उस आनन्ददायिनी मेरी जन्मभूमिमें भगवन्! तुम भी रहते हो, नहीं नहीं, तुम तो विश्वव्यापक हो, पर फिर भी मैं समझती हूँ कि तुमको·······कहीं अधिक प्रिय है, नहीं तो, मुझे···क्यों बुलाते! हे प्रभो! तुम विशेषरूपसे वहाँ वास करते हो, मेरे अहोभाग्य। भगवन्! तुमको मुझ-जैसी हतभागिनीका इतना खयाल है! ओह कन्हैया! मेरे प्राणोंमें जो मुरली बजा रहे हो उसका क्या वर्णन करूँ···। अच्छा अब शीघ्र·······जाऊँगी।

फिर तो मैं शीघ्र ही·······चली आयी, हमारे यहाँ घरमें नित्य ही भगवान्‌की मूर्तिका पूजन सुबह-शाम होता है, और कथा-पुराण भी नित्य होते हैं। उस समयसे मैं और भी प्रेमसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌का पूजन करने लगी। यह स्वप्न हर समय मेरे नेत्रोंमें झूलता है। कभी-कभी प्रेमसे जी होता है कि ऐसी निद्रा समस्त आयु रहती तो कितना अच्छा होता। मैं तो प्रत्येक भाई-बहिनसे यही कहूँगी कि वे दुनियाके लोभ, काम, क्रोध और मानको तृणवत् समझकर एक नन्दनन्दन आनन्दकंद व्रजविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें ही अनन्य मनसे सब कुछ अर्पणकर खुद उसीपर निसार हो जावें। भगवान् कितने दयालु, दीनबन्धु, करुणासागर हैं। जो मनुष्य ऐसे हरिको छोड़कर दुनियामें फँसते हैं, निःसन्देह वे बिना पूँछके पशु हैं!

प्रेम

(लेखक—श्रीयुत लालचन्दजी)

प्रेम और आनन्दका परस्पर सम्बन्ध है। प्रेमीको दुःख नहीं होता। प्रेम एक अद्भुत रसायन है। प्रेमीका हृदय विशाल और चित्त साहसी होता है। प्रेमी कभी निन्दा नहीं करते। प्रेमी आत्मपरीक्षक होते हैं।

प्रेममें सत्य है, पवित्रता है, लगन है, व्याकुलता है। प्रेमका अन्त नहीं। प्रेमकी सीमा नहीं। प्रेम मौज है। प्रेमीका बन्धन मोक्षके निमित्त है।

प्रेमी प्रेम-बन्धनमें जो आनन्द अनुभव करता है, वह एक त्यागी त्यागमें नहीं कर सकता। प्रेममें ही त्याग है। प्रेम स्वार्थहीन है। प्रेममें स्वार्थत्याग है। स्वार्थी प्रेमी नहीं हो सकता। प्रेम-बन्धन त्यागसे कहीं ऊँचा है। प्रेमीके लिये स्वार्थत्याग आवश्यक है किन्तु केवल त्यागी प्रेमी नहीं हो सकता।

प्रेम-बन्धन लगाव नहीं, फँसाव नहीं। वह एक आत्माका दूसरी आत्मासे मेल है।

प्रेममें एकता है, सरलता है, सरसता है। सहृदय ही प्रेमी हो सकता है। प्रेममें संकीर्णता नहीं, विकास है। प्रेममें सदैव स्थिरता है, उच्चता है। नित्य नव-जीवन है। प्रेममें मंगल है। प्रेमका मार्ग सुगम है। सीधा है। पर उसे स्वार्थ, कुटिलता और मोहने दुर्गम बना रक्खा है।

संसार मोहको प्रेम मान बैठा है। ममताको प्रेम कहा जाता है। किन्तु सत्य तो यह है कि मोह प्रेय है प्रेम श्रेय (हितकर) है। यही प्रेय और श्रेयका भेद है। प्रेमसे जीवनकी वृद्धि होती है मोहसे जीवनका ह्रास होता है। प्रेमसे तेज बढ़ता है, ज्ञानकी वृद्धि होती है। मोहसे बुद्धि चञ्चल होती है और ज्ञानकी कमी होती है।

जिस समय मैं किसीसे ममता करता हूँ, तो मैं अपने पात्रसे स्वार्थवश प्रीति करता हूँ। मैं उसे अपनाता हूँ अपने लिये। ममतामें ममत्वभाव स्पष्ट है। प्रेममें त्यागभावका विकास है। ममता मनुष्यके हृदयको सिकोड़ती है, प्रेमसे हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है।

जिन्हें प्रेममें आनन्द आने लगता है, उनके लिये विश्व दुःखधाम न रहकर आनन्दधाम हो जाता है।

जब मनुष्य सबको अपने समान या उससे भी अधिक सबको अपना ही रूप देखता है, तो फिर मोह और शोक नहीं रहता!

जो मनुष्यको उच्च नहीं बनाता, वह प्रेम नहीं है। दो प्रेमियोंके सच्चे प्रेमकी परख यह है कि परस्परके प्रेमसे वे दोनों उच्च हो रहे हैं या नहीं? परस्परके मिलनेसे दोनोंका चरित्र निर्मल हो रहा है, या नहीं? उनकी कर्तव्यपरायणता बढ़ रही है, या नहीं?

प्रेम मनुष्यको देवता बनाकर दिव्यधामके योग्य बनाता है। यदि मनुष्य प्रेमी कहाता हुआ भी कायर है, आलसी है और विषयी है, तो तत्काल जान लो कि वह मोहसे पीड़ित है, ममताका मारा हुआ है, उस-पर तरस करो।

प्रेमी तेजस्वी, वर्चस्वी और शक्तिसम्पन्न होता है। प्रेमीका जीवन मधुमय होता है। उसके जीवनमें सार्थकता, नित्यता और सरलता होती है।

प्रेमीके सहवाससे हृदय शुद्ध होता है! प्रेमीके भावमें समता है, विषमताकी वहाँ गन्ध भी नहीं। प्रेमीका चिन्तन, प्रेमीका मनन और प्रेमीका कर्म सभी प्रेमरसमें सने रहते हैं। प्रेमीका दृष्टिकोण

विलक्षण होता है। संसार उसके लिये आनन्दधाम, स्वर्गधाम होता है।

प्रेमी स्वयं प्रेम करता है, बदलेकी इच्छा नहीं रखता। प्रेमी ही परम योगी है। प्रेमी ही अनन्य भक्त हो सकता है।

प्रेमी अपने प्रेमपात्रके शरीरका अस्तित्व भुलाकर आत्मासे मिलापका आनन्द अनुभव करता है। प्रेमीको भय नहीं सताता। प्रेमीको मृत्यु त्रास नहीं देती। यह सामर्थ्य प्रेमीमें ही है कि जिस मृत्युको देखकर संसारी लोग रोते हैं वह उसे आराध्यदेवसे मिलनका एक साधन समझता है।

प्रेमीको जीवनमें तृप्ति है और मरणमें आनन्द है।

भगवान् महावीर स्वामीके चित्रके सम्बन्धमें मतभेद

संत-अंकमें भगवान् श्रीमहावीर स्वामीका एक चित्र छपा था। चित्र किन्हीं एक जैन महानुभावने ही भेजा था। इसपर जैनसत्यप्रकाशके सम्पादक महोदयने तथा और भी दो-तीन सज्जनोंने यह लिखा कि यह चित्र जैनियोंकी मान्यताके अनुसार महावीर स्वामीका नहीं है, इससे जैन-समाजको बड़ा दुःख हुआ है। आप इस भूलका संशोधन कर दें। 'कल्याण' महावीर स्वामीको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है परन्तु उसको यह मालूम नहीं कि महावीर स्वामीका स्वरूप और वेशभूषा कैसा था। और न कल्याण किन्हीं सज्जनोंको दुःख ही पहुँचाना चाहता है अतएव जैनसत्यप्रकाशके सम्पादकको लिख दिया गया कि अगले अंकमें इस विषयपर लिख दिया जायगा। उन्होंने हमारे पत्रको छाप दिया, इससे दूसरे पक्षके लोगोंके और संस्थाओंके भी हमारे पास कई पत्र आये हैं जिनमें लिखा है कि महावीर स्वामीका जो चित्र छपा है, वही ठीक है। जो कुछ भी हो, कल्याणको न तो इस विवादमें पड़ना है और न किसीका जी ही दुखाना है। महावीर स्वामीका यह चित्र तो छप ही गया, दूसरा चित्र दूसरे सज्जनोंकी मान्यताका—जो उन्होंने भेजा है—संत-अंकके दूसरे संस्करणमें छाप देनेका विचार है। इससे आशा है दोनों दल सन्तुष्ट हो जायँगे। हमें पता नहीं था कि जैन-सम्प्रदायमें महावीर स्वामीके वेशभूषाको लेकर इतना अधिक विरोध है। हमारे कारण जिन महानुभावोंको दुःख पहुँचा है या पहुँचनेकी सम्भावना है, उन सबसे हम विनयपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

—सम्पादक

तीन महानुभावोंका शरीरत्याग

गतांकमें दो महानुभावोंके शरीरत्यागके प्रसंगपर कुछ लिखना पड़ा था। इस बार पुनः तीन महानुभावोंके शरीरत्यागपर कुछ लिखना पड़ रहा है। तीनों ही बड़े आदरणीय और आदर्श पुरुषरत्न थे। इनमें प्रथम उरणके महात्मा श्रीजीवन्मुक्तजी, द्वितीय, व्या० वा० पं० दीनदयालजी शर्मा और तृतीय, बाबू यशोदानन्दनजी अखौरी हैं।

उरणके महात्मा श्रीजीवन्मुक्तजी महाराजकी जीवनीके सम्बन्धमें किसी अगले अंकमें कुछ लिखनेका विचार है। आप बहुत ही उच्च श्रेणीके महात्मा थे।

व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालजीने जीवनभर सनातनधर्मकी सेवा की; सैकड़ों शिक्षा-संस्थाओंके निर्माणमें आप कारण थे। भारतके कई सनातनधर्मकी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ, बड़े-बड़े कालेज और विद्यालय पण्डितजीके ही अध्यवसायका फल है। सदाचार, वर्णाश्रमधर्म और भगवद्भक्तिके प्रचारमें आपने बड़ा ही काम किया। आपके व्याख्यानोंने बहुत काम किया। इन पंक्तियोंके लेखकने पण्डितजीके व्याख्यानसे प्रभावित होकर ही 'सन्ध्या' करना आरम्भ किया था। इसपर वे सदा ही कृपा रखते थे। अबसे कुछ ही दिनों पूर्व आपका हस्तलिखित कृपापत्र मिला था। इधर बहुत दिनोंसे आप प्रायः रुग्ण रहते थे और सदा श्रीहरिनामका जाप किया करते थे। इनके चले जानेसे सनातनधर्मके एक बड़े नेताका अभाव हो गया। जीवनभर इन्होंने जो धर्मसेवा और भगवत्सेवा की है उसके फलस्वरूप इनपर तो भगवान्की बड़ी ही कृपा हुई होगी।

बाबू यशोदानन्दनजी अखौरी बिहारके पुराने साहित्यसेवी महानुभाव थे। पक्के श्रीवैष्णव, सच्चे भगवद्भक्त और बड़ी ही सरल प्रकृतिके साधु पुरुष थे। इनकी प्रपत्तिनिष्ठा सराहनीय थी। भगवन्नामके बड़े प्रेमी थे। इनपर भगवान्की कृपा होनी ही चाहिये।

* * * कल्याणके नियम * * *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≤) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≤) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है, अतः ग्राहक श्रावणसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु श्रावण-अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते: छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेके आरम्भ होते ही कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) श्रावणसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला श्रावण-अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही श्रावणका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर आषाढ़तक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। कल्याणके सातवें वर्षसे भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया जा रहा है।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद [illegible]ा जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'**के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

मनकी साध

कब बृंदाबन-भूमिमैं, चरन परेंगे जाय ।
लोटि धूरि धरि सीस पै, कछु मुखहूमैं पाय ॥ १ ॥

पिक, केकी, कोकिल-कुहुक, बंदरबृंद अपार ।
ऐसे तरु लखि निकट कब मिलिहौं बाँह पसार ॥ २ ॥

कबै झुकत मो ओरकौं, ऐहैं मदगज-चाल ।
गर-बाहीं दीन्हें दोऊ प्रिया नवल नँदलाल ॥ ३ ॥

कब दुखदायी होयगो मोकों बिरह अपार ।
रोय-रोय उठि धाइहौं कहि कहि नंदकुमार ॥ ४ ॥

नैन द्रवैं, जल-धार बह, छिन-छिन लेत उसाँस ।
रैनि अँधेरी डोलिहौं गावत रास-बिलास ॥ ५ ॥

चरन छिदत काँटन तें, स्रवत रुधिर, सुधि नाहिं ।
पूँछत हौं फिरिहौं तहाँ, खग मृग तरु बन माहिं ॥ ६ ॥

हेरत टेरत डोलिहौं कहि कहि स्याम-सुजान ।
फिरत गिरत बन सघनमैं यों ही छुटिहैं प्रान ॥ ७ ॥

श्रीनागरीदासजी
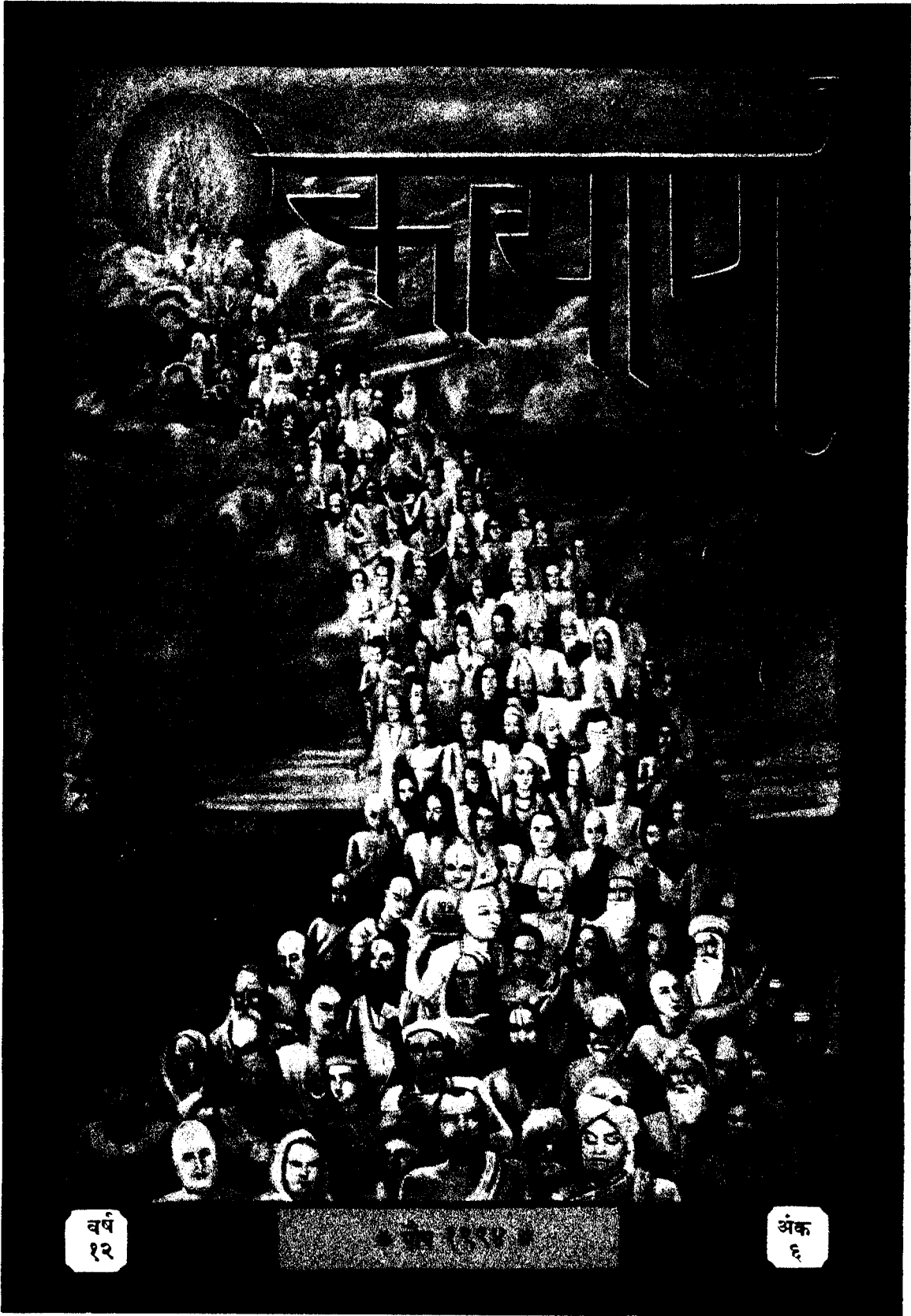
वर्ष
१२

अंक
६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २१६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६।≡)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

प्रथम संस्करणकी अब ५०० से भी कम प्रतियाँ शेष हैं

श्रीसन्त-अङ्क

श्रीसन्त-अङ्कका प्रथम संस्करण ३५५०० छापा गया था। प्रेमी ग्राहकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इतने बड़े संस्करणमेंसे अब ५०० से भी कम प्रतियाँ बची हैं। ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

ग्राहकोंकी बढ़ती हुई माँगको देखकर केवल प्रचारदृष्टिसे खर्चका खयाल छोड़कर इतने बड़े विशेषाङ्कका २५०० प्रतियोंका द्वितीय संस्करण छापनेका आयोजन किया गया है।

व्यवस्थापक-**कल्याण, गोरखपुर**

कल्याण पौष संवत् १९९४ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

नयी पुस्तक **नयी पुस्तक**

हमारी १।) वाली बड़ी गीताकी

ठीक नकल

श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका)

पदच्छेद, अन्वय और साधारणभाषाटीकासहित, साइज २२×२९—३२ पेजी, पृष्ठ ५८०, तीन सुन्दर तिरंगे चित्र, हाथकर्घेके कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ॥) मात्र।

इसमें गीतामाहात्म्यके कुछ श्लोक, श्रीगीताजीकी महिमा, प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका, सूक्ष्म विषय, पदच्छेद, अन्वय और साधारणभाषाटीकासहित पूरी गीता, कठिन स्थलोंपर टिप्पणियाँ, त्यागसे भगवत्प्राप्ति नामक निबन्ध और अन्तमें गीताकी श्लोकसूची दी गयी है।

एक पृष्ठका नमूना देखिये ☛

श्रीमद्भगवद्गीता

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मयि, च, अनन्ययोगेन, भक्तिः, अव्यभिचारिणी,
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिः, जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्,
एतत्, ज्ञानम्, इति, प्रोक्तम्, अज्ञानम्, यत्, अतः, अन्यथा ॥

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावके सहित परम प्रेमसे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है।

इसके बड़े संस्करणकी ७६००० प्रतियाँ छप चुकी हैं, यही इसकी उपयोगिताका सुन्दर प्रमाण है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं ।

सुनहरी नेट दाम प्रत्येकका ~)॥

१ युगलछवि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका ~)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनाम-संकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जड़योग
४४ भगवान् अग्निरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर

१२ चित्रोंतक मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है । सोचकर मँगाना चाहिये । अधिक मँगानेमें ही डाकखर्चका सुभीता है ।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं ।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछवि
१०२ तन्मयता

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।ऽ प्रतिचित्र

१११ कौसल्या-नारायण
११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११४ वृन्दावनविहारी
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
११८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
११९ व्रज-नव-युवराज
१२० कौरव-सभामें विराट्रूप
१२१ भगवान् शेषशायी
१२२ श्रीमहालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
१२३ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
१२४ श्रीविष्णु भगवान्
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२७ देवदेव महादेव
१२८ शिवजीकी विचित्र बरात
१२९ शिव-परिछन
१३० शिव-परिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३३ गौरीशंकर
१३४ जगज्जननी उमा
१३५ देवी कात्यायनी
१३६ पवन-कुमार
१३७ ध्रुव-नारायण
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
१३९ श्रीरामजीके तीन रूप

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।ऽ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछवि
२०४ कंसका कोप
२०५ बंसी नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकंदका आँगनमें खेल

बहुरंगे चित्र, मेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरुसेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मण-का कोप
२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वन-गमनाभिलाषिणी सीता]
२६५ श्रीराम और कौशल्या
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंके द्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति
२७६ बालिवध और ताराविलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ भगवान् श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ श्रीराम
२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति-अङ्क)
२९० श्रीसीताराम (मर्यादायोग)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिपी
२९४ वात्सल्य (माँका प्यार)
२९५ परब्रह्म प्रेमके बन्धनमें
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनीशक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी
३०४ विश्वविमोहन मोहन
३०५ बाँकेबिहारी
३०६ श्रीश्यामसुन्दर
३०७ मुरलीमनोहर
३०८ माखनचोर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवताओंद्वारा गर्भस्तुति
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरामें गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी गोचारणा
३२२ श्यामकी संभार
३२३ माखनप्रेमी श्रीकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें राम-श्याम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धनमुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ रागदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त (भीष्म)-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण-पूजन नं० २
३४५ नृग-उद्धार
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका योगधारणासे परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्नि
३५५ मदन-दहन
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर
३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदान
३६५ श्रीहरि-हरकी जल-क्रीडा
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णुको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णरूपसे श्रीशिव-रूपकी स्तुति और वरदानलाभ
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ भगवान् शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ कैलासप्रदाताके आचार्य श्रीब्रह्माजी
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मारूपमें
३९१ श्रीसावित्री-ब्रह्मा
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ महाकाली

३९९ महासरस्वती
४०० महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
४०२ सावित्रीकी यमराजपर विजय
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
४०६ देवी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ श्रीबहुचराम्बिकामन्दिर मोरबीसे ग्राम
४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिका तारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्य महाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका हरिनाम-सङ्कीर्तन
४२३ प्रेमी भक्त सूरदासजी
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई (जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आंखु मैं देखो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ परम वैराग्यवान् भक्त दम्पति राँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जड़योग
४३४ सप्तज्ञानभूमिका
४३५ मानस सरोवर
४३६ स्तवन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजाराम पतित-पावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदिप्रवर्तक भगवान् शङ्कर
४५० कालिय-उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्ण अपने पिता-माता वसुदेव-देवकीकी हथकड़ी-बेड़ी काट रहे हैं
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवका सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम सखा
४६० भगवान् राम और सनकादिमुनि
४६१ जरासंधसे युद्धभिक्षा

फुटकर एवं 'कल्याण'के बचे हुए कुछ चित्र

माताका हृदय
आत्मज्ञानका अधिकारी
नचिकेता; 'द' 'द' 'द'
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
अनन्य भक्त राजा परीक्षित एवं
कीर्तन भक्त परमहंस
शुकदेव मुनि
जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य
अङ्गिरस् और शौनकका
संवाद, पिप्पलादके
आश्रममें सुकेशादि मुनि
दयामूर्ति आचार्य श्रीमध्व
उमा और इन्द्र, वरुण और मनु
जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य
इन्द्र और विरोचनको उपदेश
भगवान्के दश अवतार
जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य
याज्ञवल्क्य और गार्गी

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

अहल्योद्धार
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेबिहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ गजानन
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुज-रूपका दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्की गोदमें भक्त नाविक भील
१०४५ शङ्करके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं

१०५० गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी -)॥	१०×१५, सुनहरी)॥	७॥×१०, सुनहरी)।½	७॥×१०, सादा १) सै०
१५×२०, रंगीन -)	१०×१५, रंगीन)।½	७॥×१०, रंगीन)।	५×७॥, रंगीन १) सै०

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन ४९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३।)॥ पैकिङ्ग -) डाकखर्च ॥।≡)॥ कुल लागत ४।-) लिये जायँगे, १०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥≈)॥।½ पैकिङ्ग -)॥।½ डाकखर्च ॥-)। कुल १।≡) लिये जायँगे, ७॥×१० साइजके सुनहरे १०, रंगीन २२३ और सादे ३ कुल २३६ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥।) पैकिङ्ग -)॥। डाकखर्च १-)। कुल ४॥≡) लिये जायँगे, ५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≈)॥ पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ।=)। कुल १≡) लिये जायँगे, १५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ८।≡)॥।½ पैकिङ्ग =)½ डाकखर्च २≡) कुल १०॥।-) लिये जायँगे, रेल पार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ८।≡)॥।½ चित्रका मूल्य पैकिंग ≡)½ रजिस्ट्री ।) कुल ८॥।≡) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवे स्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम

(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। शीघ्रताके कारण सवारी गाड़ीसे मँगानेपर केवल आधा रेलभाड़ा दिया जायगा। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (३) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते। (६) चित्रोंकी एजेन्सी देने अथवा एजेन्ट नियुक्तिका नियम नहीं है।

ता० १ दिसम्बर सन् १९३७ से थोक खरीदारोंको विशेष सुविधा

(१) कम-से-कम १००) की पुस्तकें एक साथ लेनेवाले सज्जनको २५) प्रतिशत कमीशन देकर नेट कीमतपर २॥) प्रतिशत अधिक दिया जायगा।

(२) कम-से-कम १००) का चित्र एक साथ लेनेवालेको २॥) प्रतिशत रिआयत दी जायगी।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती हैं। जिल्दका दाम १५×२० का ॥।), १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≈) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

☞ चित्र विक्रेताओंके पते आदि जाननेके लिये बड़ी चित्रसूची मुफ्त मँगाइये। पता-गीताप्रेस, गोरखपुर
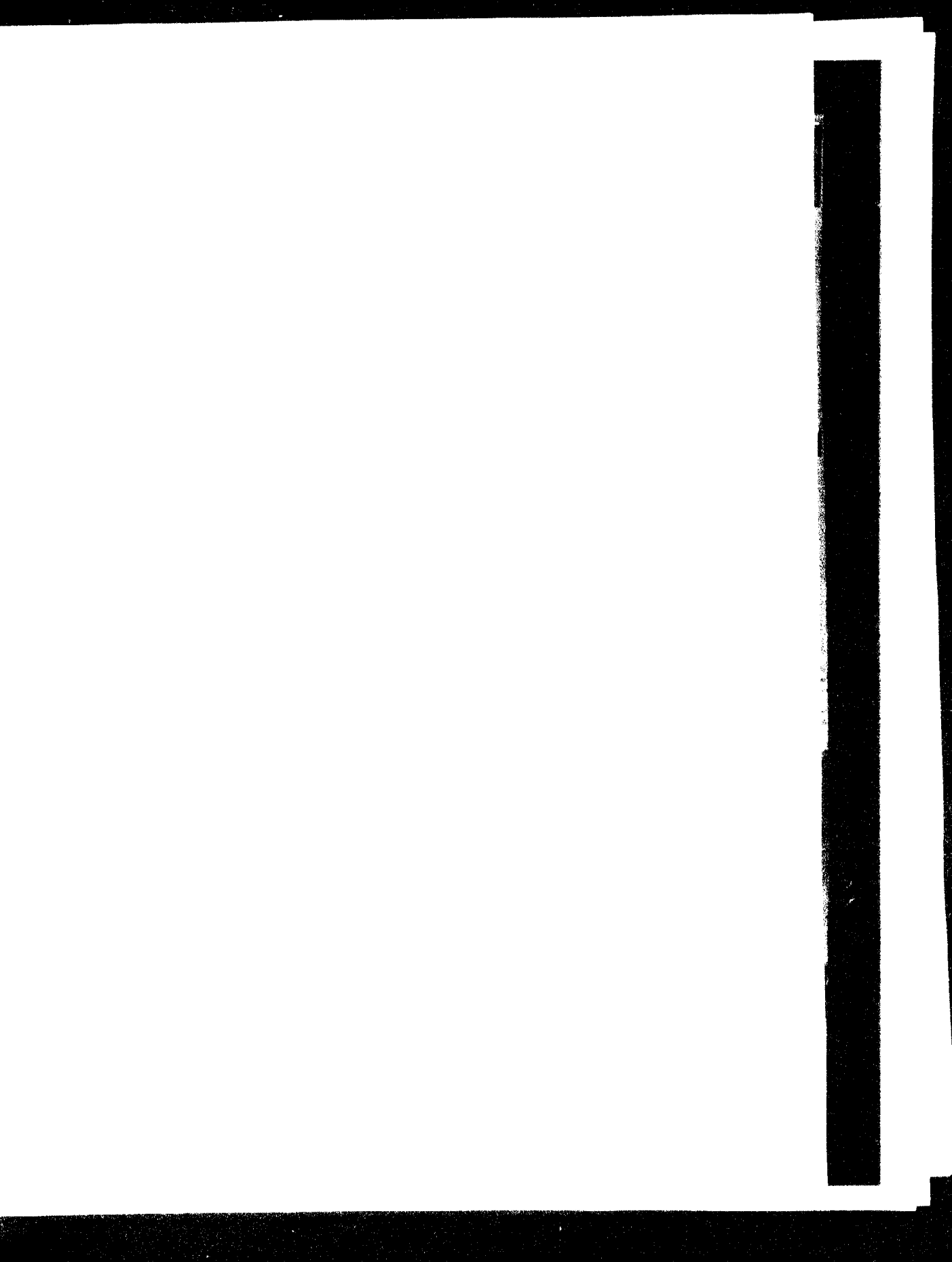
लक्ष्मणको सुमित्राका उपदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
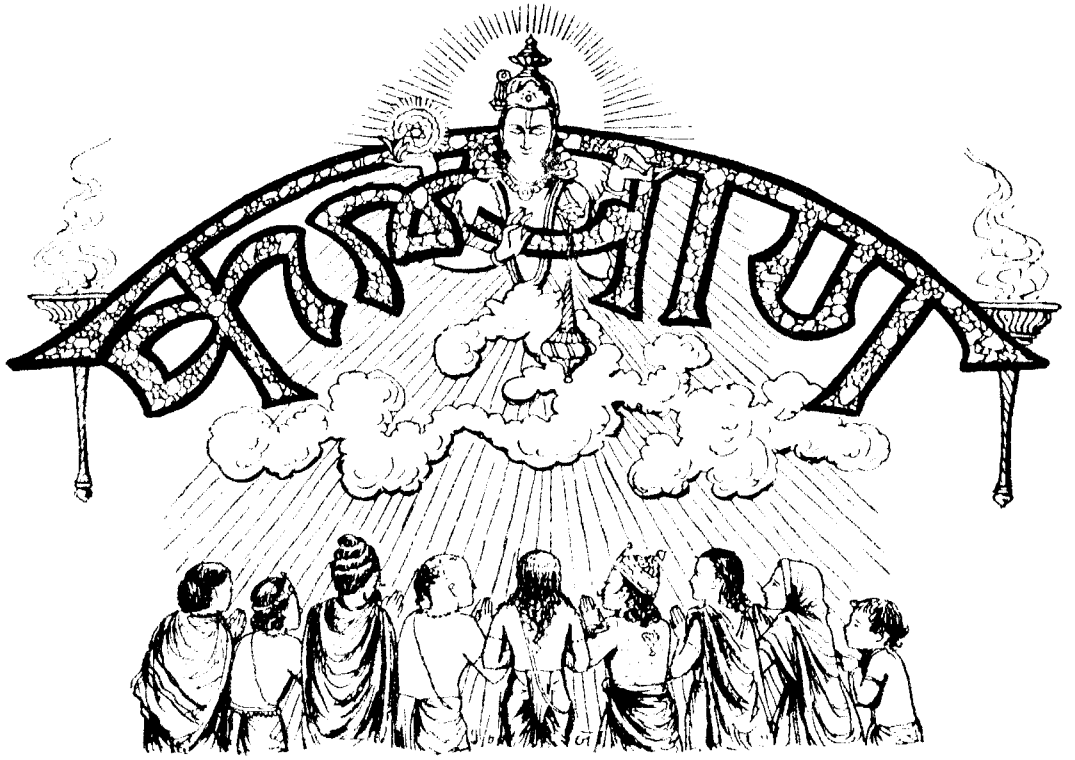
ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ | गोरखपुर, पौष १९९४, जनवरी १९३८ | संख्या ६ पूर्ण संख्या १३८

लक्ष्मणको सुमित्राका उपदेश

भूरि भाग भाजन भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ ॥

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । रामबिमुख-सुततें बड़ि हानी ॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं । दूसर हेतु तात ! कछु नाहीं ॥
सकल सुकृतकर बड़ फल एहू । राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥
राग-रोष इरिखा मद मोहू । जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन-क्रम-बचन करेहु सेवकाई ॥
तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू । सँग पितु मातु रामसिय जासू ॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥

Regd. No. A. 1724.

व

भगवान्‌का उपदेश

गृहस्थको चाहिये कि वह अपने कुटुम्बकी चिन्तामें ही आसक्त न रहे और कुटुम्बी होकर भी ईश्वरके भजनको न भूले; मुझपर (भगवान्‌पर) पूर्ण श्रद्धा-विश्वास करे। इस प्रत्यक्ष संसारकी भाँति अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदिको भी अनित्य और विनाशी समझे। जैसे पथिकलोग किसी जलाशयपर जल पीनेके लिये आ-आकर थोड़ी देरके लिये एकत्र हो जाते हैं और जल पीकर अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं, इस संसारमें पुत्र, स्त्री, परिवार और बन्धु-बान्धवोंके समागमको भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये। जैसे नींद लगनेपर स्वप्न दीख पड़ता है, और नींद उचट जानेपर नहीं दीखता, वैसे ही शरीर मिलनेपर स्त्री-पुत्रादिका समागम होता है और शरीर छूटनेपर वियोग हो जाता है। मेरी (भगवान्‌की) भक्ति करता हुआ मनुष्य अपने कर्तव्योंके पालनद्वारा मेरी आराधनामें लगा रहे, फिर चाहे वह गृहस्थमें रहे या बुढ़ापेमें वानप्रस्थी होकर वनमें चला जाय, अथवा पुत्र हो तो घर छोड़कर संन्यासी हो जाय। परन्तु जिसकी बुद्धि केवल कुटुम्ब-परिवारमें ही फँसी है, जो पुत्र और धनके लिये ही व्याकुल है, जो स्त्री-संगमें लिप्त और मन्दबुद्धि है वह मूर्ख मनुष्य 'यह मैं हूँ,' 'यह मेरा है' इस प्रकार भ्रमजालमें पड़कर अनेकों जन्मोंतक जन्म-मरणके कठिन कष्टको भोगता रहता है। जिसका मन इस प्रकार केवल विषयोंकी चिन्तामें ही डूबा रहता है, वह मूढ़मति कभी तृप्त नहीं होता, और चिन्तामें डूबा हुआ एक दिन अतृप्त ही मर जाता है और फिर नीच तामसी योनिमें जन्म लेता है।

(भगवान् श्रीकृष्ण)
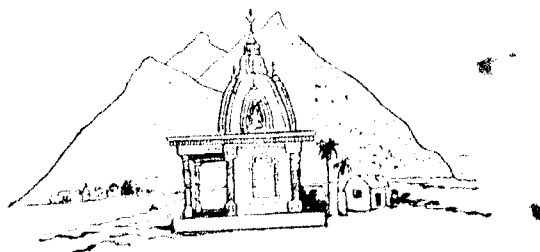
परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १० बृहदारण्यक]

याज्ञवल्क्यका गृहस्थाश्रम

इस प्रकार विचारकर याज्ञवल्क्यने सूर्य-भगवान्‌का वचन पालनेको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये यज्ञादिरूप प्रवृत्तिमार्ग और मोक्षके लिये आत्मज्ञानरूप निवृत्तिमार्ग अवलम्बन करनेका निश्चय किया और देव तथा पितरोंको प्रसन्न करनेके लिये वे नाना प्रकारके दान करने लगे। सब लोकोंके उपकारक याज्ञवल्क्यमुनिका गृहस्थाश्रम देखकर सबको बड़ा आश्चर्य होता था। मुनि एक आश्रममें अपनी मैत्रेयी तथा कात्यायनी नामकी स्त्रियों और आज्ञाकारी पुत्रोंसहित यज्ञ-यागादि कर्म करके इन्द्रादि देवताओंका यजन करने लगे। वेदके पाठसे ऋषियोंका स्तवन करते, पुत्रोत्पत्ति करके और पिण्डदानादि देकर पितरोंका तर्पण करते और नाना प्रकारके अन्न, वस्त्र तथा सुवर्णादि दान देकर अर्थियोंका पालन करते थे। गौ-अश्वादि पशुओंका तृणादिसे पालन करते थे। बलिदानादिसे श्वान-कीटादि जन्तुओंका पालन करते थे। वेदवाणीरूप गौका स्वाहा, वषट्, स्वधा और हंत चार स्तनरूपी शब्दोंसे घरमें देवताओंका आवाहन करते थे अर्थात् स्वाहा तथा वषट्से देवताओंका आवाहन करते थे, स्वधा शब्दसे पितरोंका आवाहन करते थे और हर्षसूचक हंत शब्दसे अर्थियोंको बुलाते थे।

कात्यायनीकी गृहव्यवस्था

देवी कात्यायनी गृहकार्यमें अत्यन्त ही कुशल थी। घरकी दीवारें, भूमि, द्वार तथा यज्ञशाला आदि झाड़-बुहारकर स्वच्छ रखती थी, घरकी शोभा बढ़ानेको घरकी दीवारोंको सिंदूरादि रंगोंसे कहीं लाल, कहीं पीली चित्रविचित्र रँगती थी। भोजनके पात्र, जलके पात्र, कमण्डलु तथा ढकन आदिको राखसे माँजकर शुद्ध चमकदार रखती थी। जैसे भीम, नलादि पाकशास्त्रमें कुशल थे उसी प्रकार कात्यायनी सूर्य तथा अग्निके अनुग्रहसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य आदि चार प्रकारके अन्न बनानेमें अत्यन्त निपुण थी। प्रातःकाल ही उठकर स्नान करके प्रथम पतिका पूजन करती थी, पीछे ससुर, सास, ज्येष्ठ, देवर, ननद आदिका योग्यरीतिसे पूजन करती। सर्वदा प्रसन्नवदन रहती, आलस्य कभी न करती, खाली कभी नहीं बैठती थी, कुछ-न-कुछ किया ही करती थी, कभी खिन्न न होती। सारांश यह कि कात्यायनीके समान गृहकार्यमें कुशल कोई भी स्त्री नहीं थी।

मैत्रेयीका तत्त्वचिन्तन

मैत्रेयी इस संसारके जन्म-मरणादि दुःख देखकर सर्वदा उन्मत्तके समान रहती थी, जैसे बछड़ा मर जानेसे गाय सर्वदा शोकातुर रहती है, उसी प्रकार मैत्रेयी सर्वदा शोकातुर रहती थी। प्रायः इस प्रकार विचार किया करती थी—

मैत्रेयीका विचार—मैं कौन हूँ? देहादिका समूह हूँ अथवा उससे भिन्न हूँ? यदि देहादिसे भिन्न हूँ, तो जड हूँ अथवा चेतन हूँ? मैं इस संसारमें क्यों आयी हूँ? इस शरीरके उत्पन्न होनेके पूर्व मैं किस स्थानपर थी? अब मैं किस स्थानपर हूँ? मरनेके बाद मैं कहाँ जाऊँगी? मेरे पतिका क्या स्वरूप है? मेरे पुत्रों तथा पुत्रियोंका क्या स्वरूप है? प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध स्थूल शरीर ही पति-

पुत्रादि हैं अथवा स्थूल शरीरसे भिन्न हैं ? भिन्न हैं तो चेतन हैं या जड़ हैं। ये सब मैं जानना चाहती हूँ, मुझको जो दुःख होता है, उसका क्या स्वरूप है? विषयोंमें जो सुख होता है, उसका क्या स्वरूप है? जिन चक्षु आदि इन्द्रियोंसे मैं देखती-भालती हूँ, उनका क्या और चक्षु आदिसे जिन स्थावर-जंगम वस्तुओंको मैं देखती हूँ, उन वस्तुओंका क्या स्वरूप है?

इस प्रकार मनन करते रहनेसे मैत्रेयी सर्वदा चिन्ताग्रस्त रहती थी। याज्ञवल्क्य मैत्रेयीके मनका उद्देश्य जानते थे परन्तु अपने गृहस्थाश्रमकी सिद्धि करनेके लिये उसको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करते थे, किन्तु गृहस्थाश्रममें उसकी योजना करते रहते थे। इस प्रकार याज्ञवल्क्यमुनिको गृहस्थाश्रममें रहते-रहते बहुत समय व्यतीत हो गया। एक दिन वे एकान्त स्थानमें बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे—

याज्ञवल्क्यका विचार—सब देहधारियोंको प्राण धारण करना परम दुःखप्रद है तो भी प्राण धारण करना सबको अत्यन्त प्रिय लगता है, यह महान् आश्चर्य है! प्राण धारण करनेका यह शरीर बन्धनगृह है। और यह शरीर त्वक्, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य इन सात धातुओंसे पूर्ण है; वात, पित्त, कफादि दोषोंसे भरपूर है। इसलिये यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धिवाला और नाना प्रकारके भय उत्पन्न करनेवाला है। सिवा इसके यह शरीर आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकारके दुःखोंका घर है। सिरकी पीड़ा, आँखका रोग, अतिसार, प्लीहा, गुल्म आदि नाना प्रकारकी व्याधियाँ तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादिसे उत्पन्न होनेवाले दुःख आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। सिंह, सर्प, बिच्छू, शत्रु आदि प्राणियोंसे होनेवाले नाना प्रकारके दुःख आधिभौतिक कहलाते हैं। गरमी, सर्दी, वायु, वर्षा, अग्नि तथा जल आदि देवोंसे होनेवाले दुःख आधिदैविक दुःख कहलाते हैं। बाल, यौवन, वृद्धादि अवस्थाओंमें इस शरीरको राग, द्वेष, मोह, शोक तथा अशक्ति आदि विकारोंसे नाना प्रकारका दुःख प्राप्त होता है, शरीरमें आत्माके प्रवेश और निर्गमनसे प्राणीमात्रको अत्यन्त भय होता है। इस प्रकार अनेक प्रकारके दुःख इस लोक और परलोकमें इस देहके सम्बन्धसे जीवोंको होते हैं। इसलिये शरीरका सम्बन्ध सारे दुःखोंका कारण है। अरण्यमें निवास करनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान् पुरुषको भी शरीरके सम्बन्धसे दुःखकी प्राप्ति होती है, तो मुझ-सरीखे संसारासक्तको इस शरीरसे दुःखकी प्राप्ति हो तो कोई नयी बात नहीं है, होनी ही चाहिये। इस शरीरमें मेरा, तेरा, इस प्रकारके अभिमानसे अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न होते हैं, तो शरीरसम्बन्धी स्त्री-पुत्रादि बान्धवोंमें 'मेरा-तेरा' अभिमान करनेसे दुःख उत्पन्न हुए बिना कैसे रह सकता है? यद्यपि आत्मा सर्वसंगसे रहित तथा निर्गुण है तो भी अविद्यासे उत्पन्न दोषोंसे आत्माको नाना प्रकारके दुःख होते हैं, इसलिये संग ही सब जीवोंके अनर्थका कारण है। जैसे जलका स्वभावसे शीतलता गुण है, तो भी अग्नि आदिके सम्बन्धसे जलमें उष्णता आ जाती है, इसी प्रकार वृक्षादि छेदनभावसे रहित हैं तो भी कुल्हाड़ेका संग होनेसे वृक्षोंको छेदनभाव प्राप्त होता है, इसी प्रकार यह शरीर छेदन आदि गुणोंसे रहित है तो भी शस्त्रादिका आघात होनेसे शरीरमें छेदनभाव उत्पन्न होता है। मन यद्यपि अन्तर्मुख-जीवात्माको जाननेवाला है तो भी विषयोंका संग होनेसे बहिर्मुख हो जाता है। पूर्वके पापकर्मवाला पापी पुरुष दुष्ट पुरुषोंके संगसे पापके दुःखरूप फलका अनुभव करता है और धर्मात्मा स्वभावसे दुःखरहित होनेपर भी पापी पुरुषोंके संगसे अनेक प्रकारके दुःख भोगता है। जैसे कामदोषसे रहित पुरुषको कामीके संगसे कामदोष प्राप्त होता है,

चोरी आदि विकारोंसे रहित पुरुष चोरका संग करनेसे चोरी आदि विकारोंको प्राप्त होता है, खट्टे रसवाले नीबू आदि पदार्थोंके दर्शनसे पुरुषके मुखमें पानी भर आता है और लोह आदि जड वस्तुओंमें चुम्बक आदि पाषाणके संगसे गति उत्पन्न हो आती है, इसी प्रकार इस चेतन जीवको स्त्री-पुत्रादि चेतन पदार्थोंके संगसे नाना प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं। इसलिये मेरा-तेरा आदि अभिमानके संगवाला शरीर ही जीवके सब दुःखोंका कारण है।

संग ही महान् उपाधि है

पहले जब मैं ब्रह्मचर्यस्थितिमें था तब सब विकारोंसे रहित था, किसी प्रकारका भी मुझे विक्षेप नहीं था किन्तु अब मैंने स्त्री-पुत्रादिका संग किया है, इसलिये नाना प्रकारके विक्षेप हुआ करते हैं, अतएव स्त्री-संग ही सब दुःखोंका कारण है। ब्रह्मचर्य-अवस्थामें मैं शरीरको विष्ठा-समान मलिन जानकर परम वैरागी था और महान् धैर्य धारण करके वनमें तप करता था। अप्सराएँ भी उस समय मेरे धैर्यको चलायमान न कर सकीं। कामरूपी भारसे मन्दगतिवाली, केतकी तथा चम्पक पुष्पकी सुगन्धसे अत्यन्त सुवासित शरीरवाली, पूर्णिमाके चन्द्र-समान मुखवाली तथा उज्ज्वल वस्त्रवाली अप्सराएँ भी मेरे धैर्यको डिगानेमें समर्थ न हो सकीं। वे अप्सराएँ मधुर और अत्यन्त कोमल वचनवाली, कामी पुरुषोंके मनको हरनेवाली, घीके समान कामरूप अग्निको प्रज्वलित करनेवाली, मधुर स्वरवाली और नूपुरादि भूषणोंवाली थीं, वायुसे तथा चलनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे वे विह्वल जाननेमें आती थीं। उनके नेत्रोंमें अञ्जन और माथेपर कुंकुमका टीका था और गलेमें सुगन्धित पुष्पोंकी माला थी। ये अप्सराएँ जिस स्थानपर मुझे देखने आयी थीं, वह स्थान भी अत्यन्त रमणीय था। कोकिलाके मधुर शब्द वहाँ हुआ करते थे। ऐसे रमणीय स्थानमें युवावस्थामें भी जो मेरा धैर्य नहीं डिगा था, वह धैर्य इस वृद्ध-अवस्थामें भ्रान्तिके कारण नष्ट हो गया। जिन स्त्रियोंके संगसे मेरा धैर्य जाता रहा है उन स्त्रियोंके शरीर किञ्चिन्मात्र भी मेरे शरीरसे विलक्षण नहीं हैं। जैसा मेरा शरीर रक्त, मांस, पस, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी तथा मेद आदिसे पूर्ण है, इसी प्रकार उन स्त्रियोंका शरीर भी मलिन पदार्थोंसे युक्त है तो भी उन मलिन वस्तुओंके समूहरूप स्त्रियोंको मैं सुखका साधन मानता हूँ, यह केवल भ्रान्तिसे ही है। मैं जिस प्रकार मृत्तिका तथा जल आदिसे शरीरको धोकर शुद्ध करता हूँ, उस प्रकार भी वे नहीं करतीं, तो उनका शरीर कैसे शुद्ध हो? ऐसे अशुद्ध शरीरको मैं जो सुखका साधन मानता हूँ, वह केवल भ्रान्ति ही है, जो विद्वान् पुरुष संसार-विषयसे विरक्त होता है, वह अपने और स्त्रियोंके शरीरको अशुद्ध मानता है। कहा है—

> स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
> कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

जो शरीर माताके उदररूप स्थानमें रहा है, पिता-माताके शुक्र-शोणितरूप बीजसे उत्पन्न हुआ है, नव द्वारोंसे युक्त है, अशुद्धिका कारण है तथा मूलसे ही जो अशुद्ध माना जाता है, उसको विवेकी पुरुष अशुद्ध ही मानते हैं। ऐसे अशुद्ध शरीरको भी मैं सुखका साधन मानता हूँ, यह भ्रान्ति ही है। स्त्री और पुरुषका शरीर एक-सा ही है, फिर भी मैं उसे रमणीय मानता हूँ, यह भ्रान्ति ही है। जैसे कोई पुरुष रज्जुको सर्प अथवा सीपको चाँदी मान ले, इसी प्रकारकी यह भ्रान्ति है। अविवेकी पामर पुरुष भी अन्यके सामने अपनी स्त्रीके साथ सम्भोग नहीं करता किन्तु मैं स्त्रियोंके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी आत्मारूप पुरुषके समक्ष निर्लज्ज होकर स्त्रीके साथ सम्भोग करता हूँ, इसलिये अज्ञानी पुरुषोंसे भी मैं अधिक अधम

Regd. No. A. 1724.

हूँ। स्त्री तथा पुरुषका परस्परका सम्बन्ध विषय-सुखका कारण नहीं है किन्तु स्त्री-पुरुषकी मनोभावना ही विषय-सुखका कारण है। यदि स्त्री-पुरुषका संयोगसम्बन्ध ही विषयसुखका कारण हो, तो युवा पुरुष स्नेहसे अपनी मातासे मिले तथा माता पुत्रसे मिले अथवा युवती पुत्री अपने पितासे मिले, स्नेहसे भाई अपनी बहिनसे मिले अथवा परस्परद्वेषी स्त्री-पुरुष अकस्मात् एक-दूसरेसे मिलें तो इनमेंसे किसीको विषय-सुखकी प्राप्ति नहीं होती, इससे सिद्ध होता है कि एक-दूसरे शरीरके सम्मेलन होनेसे विषय-सुख उत्पन्न नहीं होता। जो आनन्दसमुद्र स्वयंज्योति आत्मा ब्रह्मादिकोंको भी आनन्दकी प्राप्ति करनेवाला है, वह मेरे हृदयमें स्थित है, उस आनन्दस्वरूप आत्माकी उपेक्षा करके मैं नारीरूपी नरकभूमिमें बन्दरके समान नाच रहा हूँ, यह मेरी मूर्खता ही है। लोकोक्ति है कि जो पुरुष उत्तम पदार्थको छोड़कर बुरे पदार्थको अंगीकार करता है, वह मूर्ख ही है। महान् पुरुषोंका भी अवज्ञाके कारण इस लोकमें नाश होता है। मैंने तो विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये सूर्य-चन्द्रको चलानेवाले आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी महान् आत्माकी उपेक्षा करके जो अवज्ञा की है, वही मेरे नाशका कारण है। आत्महत्यारेके समान कोई दूसरा पापी नहीं होता, मैंने अपने आत्माका नाश करके अत्यन्त हत्या की है। पामर पुरुष आत्माको नहीं जानते, इसलिये स्त्री, पुत्र, धनादिमें आसक्ति करके वे आत्मसुखसे बहिर्मुख होते हैं और मैं तो गुरुसे शास्त्र पढ़कर आत्माको जानता हूँ, तो भी स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति करके बहिर्मुख हो गया हूँ, इसलिये मैं पामर पुरुषोंसे भी अधम हूँ, पामर पुरुष भी अपनी स्त्रीको वृद्ध देखकर उसके साथ सम्भोगकी इच्छा नहीं करता, मैं तो वृद्ध हूँ, और मेरी स्त्रियाँ भी वृद्ध हैं, तो भी मैं इनमें फँसे रहनेकी इच्छा रखता हूँ, इसलिये मैं पामरोंसे भी अधम हूँ, यह कितना बड़ा आश्चर्य है। सूर्य भगवान्‌ने मुझे प्रथम गृहस्थाश्रम करनेकी जो आज्ञा दी थी, वह आज्ञा पुत्रोत्पत्ति और लोकमें वेद-विद्या फैलानेके लिये थी। सूर्य भगवान्‌की आज्ञा पूर्ण करनेके बाद भी आसक्तिके कारण अब भी मैं उसी आश्रममें पड़ा हूँ। इतने कालतक इस आश्रममें रहनेकी सूर्य भगवान्‌की आज्ञा नहीं थी। वेद-विद्या प्रवृत्त करनेको ही उन्होंने आज्ञा दी थी, वह आज्ञा पूर्ण हो गयी क्योंकि चारों वेदोंको जाननेवाले मेरे बहुत-से शिष्य हैं, शिष्य ही नहीं, उन मेरे शिष्योंके भी शिष्य और प्रशिष्य हैं। इस प्रकार मेरे हजारों शिष्य हैं। सूर्य भगवान्‌की आज्ञा पूर्ण होनेपर भी मैं आश्रमको नहीं छोड़ता, इसका कारण आसक्ति ही है। मुझमें अत्यन्त स्नेह रखनेवाली कात्यायनी और मैत्रेयी दो स्त्रियाँ हैं, यदि मैं उन्हें अकेली वनमें छोड़कर संन्यासाश्रम लूँगा, तो वे परम दुःखको प्राप्त होंगी, इनको संसार-सुखकी प्राप्ति करानेके बाद मैं संन्यासाश्रम ग्रहण करूँ, इस विचारसे मैं कुछ कालतक गृहस्थाश्रममें रहा। फिर मैंने सोचा कि इनको संसार-सुखकी प्राप्ति तो हुई परन्तु पुत्रोत्पत्ति नहीं हुई, यदि मैं इनका त्याग करूँगा तो मेरे वियोगसे दुःखी होंगी, इसलिये पुत्र उत्पन्न होनेके पश्चात् संन्यास लेना उत्तम है, इस प्रकार कुछ काल चला गया। पुत्रादि होनेके बाद मुझे यह विचार आया कि पुत्र तो हुए परन्तु उनके जातकर्मादि संस्कार कराने चाहिये क्योंकि यदि यह बिना किये संन्यास ले लूँगा, तो बालक बहुत दुःख पावेंगे। इस प्रकार जातकर्मादि संस्कार करनेमें कुछ काल चला गया। पीछे मैंने विचारा कि इन पुत्रोंको विद्या प्राप्त न कराऊँ तो ये विद्यारहित होनेसे दुःखी होंगे, इसलिये उनको सम्पूर्ण विद्या पढ़ाकर संन्यास लूँगा। इसमें कुछ समय चला गया। पीछे विचार आया कि उनको विद्या तो प्राप्त हुई है परन्तु वे स्त्री बिना रहेंगे तो दुःखी

होंगे, इसलिये इनका विवाह करना चाहिये। पुत्रोंके विवाहके बाद ऐसा हुआ कि पुत्र-पुत्रियोंके सन्तान होनेपर संन्यास लूँगा। ऐसा करते हुए पौत्र हो गये। पीछे उनके विवाहमें कितना ही समय गवाँ दिया। इसी प्रकार आशा-ही-आशामें मैं जीर्ण अवस्थाको प्राप्त हो गया। परन्तु मेरा मन संसारसे विरागको न प्राप्त हुआ। अबतक मेरा मन संसारमें दौड़नेसे मुझे निश्चय हो गया है कि स्त्री, पुत्र और धनादिका संग ही जीवोंके अनर्थका कारण है। यह संग अन्य आश्रमोंसे चौथे आश्रमवालोंका अत्यन्त अनर्थ-कारी है। सच कहा है—

> निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
> सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
> आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
> सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

स्त्री, पुत्र तथा धनादिका परित्याग करना ही संन्यासियोंके लिये मोक्षका मार्ग है। स्त्री आदिका संग योगारूढको भी भ्रष्ट कर देता है। फिर योगकी इच्छावाले योगीको योगसे विमुख करे, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? विद्या तथा गुणोंसे युक्त मैं याज्ञवल्क्य अन्य स्त्री, पुत्र तथा धनादिके संगसे ऐसी अधमताको प्राप्त हुआ तो अल्प विचारवाले अन्य जीव स्त्री आदिके संगसे दुर्दशाको प्राप्त हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

विद्वान्को स्त्री आदिका संग कभी न करना चाहिये। इन सब पदार्थोंमेंसे स्त्रीका संग तो करना ही न चाहिये। पापी पुरुष मरणके बाद जिस नरकमें पड़ता है, वह नरक तो स्थावर है, और भोगनेके बाद छूट जाता है और स्त्रीरूप दो पैरवाला नरक तो ऐसा है कि उसका त्याग करनेपर भी फिर लौट आता है। उस स्त्रीरूपी बलवान् नरकमें पड़े हुए विद्वान् उसमेंसे निकलनेको समर्थ नहीं होते। इस सम्बन्धमें मैं याज्ञवल्क्य ही दृष्टान्तरूप हूँ। शास्त्र-में कहा है कि नरकमें पड़कर योगी भी निकल नहीं सकता यह बात ठीक ही है। जैसे ग्राम या बाहरमें जानेको मार्ग होता है, इसी प्रकार नरकमें जानेको स्त्रीका शरीररूप मार्ग है, इसलिये जिसको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले आत्म-ज्ञानरूप मार्गमें जानेकी इच्छा हो, उसको स्त्री-रूप नरकका मार्ग अवश्य त्यागना चाहिये। अधिकारी संन्यासीको जितना स्त्रीका भय रहता है, उतना भय सिंह, सर्प, चोर, राजा, जल, अग्नि, विष, आधि, व्याधि, देव तथा भूतोंका भी नहीं है, इसका कारण यह है कि बहिर्मुख पुरुषोंको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता और स्त्रीके संगसे जितनी बहिर्मुखता होती है, उतनी किसी दूसरे पदार्थके संगसे नहीं होती क्योंकि स्त्रीका मनमें स्मरण करने-से ही कामकी उत्पत्ति होती है, फिर स्त्रीके दर्शन, वचन तथा स्पर्शसे कामकी उत्पत्ति हो तो उसमें कहना ही क्या है? इसलिये आत्मसाक्षा-त्कारकी प्राप्तिके लिये जिसको संन्यास ग्रहण करना हो, उसको शरीर, मन, वाणी तथा इन्द्रियादिसे कभी भी स्त्रीका संग न करना चाहिये, यदि संन्यास धारण करनेके बाद स्त्री-का संग करे, तो अग्निसे जैसे घी पिघल जाता है, इसी प्रकार उस पुरुषका समस्त धैर्य नष्ट हो जाता है और वह पुरुष मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होता है। इस लोकमें सर्पका विष उतारनेके अनेक उपाय शास्त्रमें कहे हैं परन्तु स्त्रीरूपी सर्पका विष उतारनेको कोई उपाय नहीं कहा, इसलिये पुरुषको स्त्रीका स्पर्श करना उचित नहीं है और मन-वाणी आदिसे भी स्त्रीके साथ नहीं बोलना चाहिये। यह उपाय गृहस्थाश्रमीसे नहीं बन सकता, इसलिये अब मुझे स्त्री, पुत्र, धनादिको त्यागकर संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिये।

यदि मैं स्त्री-पुत्रादिके संगका त्याग न करूँ तो दूसरे जन्ममें भी मुझे उनकी प्राप्ति होगी। जैसे जाग्रदवस्थामें जिस पुरुषकी जिस पदार्थपर दृढ़ वासना होती है, वही वस्तु उसे स्वप्नमें दिखायी देती है। इसी प्रकार वासनासे जीवको जन्मकी प्राप्ति होती है, मरणके समय जिस प्रकार-की दृढ़ वासना होती है, उसीके अनुसार उसे दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। दूसरे शरीरमें पूर्वके काम, क्रोध, लोभ, मोहादि संस्काररूप वासनाओंसे फिर प्राप्त होते हैं और काम, क्रोधादि वासनाओंसे जीवको जन्मकी प्राप्ति होती है। जीव स्त्री आदिके संगसे अनेक प्रकार-के जन्मोंको प्राप्त होता है क्योंकि स्त्री आदिके संगसे पुरुषके चित्तमें काम, क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं। विकारोंसे चित्त अशुद्ध हो जाता है और अशुद्ध चित्त होनेसे पूर्व उत्पन्न हुआ आत्मज्ञान भी शिथिल हो जाता है, अशुद्ध चित्तमें नये ज्ञानकी आशा तो होती कहाँसे? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंके संगसे काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं और विकारोंके कारण पुरुष ब्रह्मोपासना और कर्मोपासना दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट होता है और उसे बारंबार कीट, पतं-गादि शरीरकी प्राप्तिरूप तीसरे मार्ग नरककी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जीव करोड़ों कल्पों-तक नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता रहता है। कामादि विकारोंके कारण जैसे पुरुष अनेक जन्मोंमें दुःख पाता है, उसी प्रकार विषयासक्त कामी पुरुषके संगसे मनुष्यको अनेक प्रकार-का दुःख होता है क्योंकि कामी पुरुष सर्वदा स्त्री-सम्बन्धी कामका वर्णन करता है, उस कामी पुरुषके वचनसे उस पुरुषका चित्त स्त्रीरूप अग्निके स्मरणसे दग्ध होता है। दग्ध चित्तमें आत्मसम्बन्धी विचार हो नहीं सकता। इसलिये मोक्षकी इच्छावाले पुरुषको जैसे स्त्रीसंगका त्याग उचित है, इसी प्रकार विषयासक्त कामी पुरुषका भी त्याग उचित है। जैसे जोरकी हवामें रक्खा हुआ दीपक मार्गका प्रकाश नहीं करता, इसी प्रकार गुरुका उपदेश किया हुआ ब्रह्मज्ञान भी स्त्री-पुत्रादि अन्तराय पड़नेसे अज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकता।

इस प्रकार विचार करके याज्ञवल्क्यमुनिने स्त्री-पुत्रादिका संग त्याग करनेके लिये संन्यास ग्रहण करनेका दृढ़ निश्चय किया। मुनिने विचार किया कि शास्त्रमें कहा है कि इस लोकमें जिसके साथ सात पद चले हों तो वह मित्र बन जाता है, मैंने तो स्त्रियोंके साथ चिरकालपर्यन्त सह-वास किया है, इसलिये शास्त्रकी रीतिसे ये स्त्रियाँ मेरा मित्र हो चुकी हैं। मित्रपर अवश्य उपकार करना चाहिये। इसलिये मुझे इनपर उपकार करना उचित है। इन दोनों स्त्रियोंमें कात्यायनी तो केवल गृहकार्यमें ही कुशल है, बन्ध तथा मोक्षके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानती, इसलिये ब्रह्मविद्याकी अधिकारिणी नहीं है। दूसरी स्त्री मैत्रेयी संसारके जन्म-मरणादि दुःख-कर सर्वदा शोकातुर रहती है और मोक्षकी इच्छा करती है। इसको यौवनावस्थामें भी कामादि विकार उत्पन्न नहीं होते थे। इसको अपने शरीरमें स्नेह नहीं है तो पति-पुत्रादिके शरीरपर तो स्नेह होता ही कैसे? कामभाव-से यह मेरी सेवा नहीं करती थी किन्तु स्त्रीको पतिकी सेवा करनी चाहिये, यह शास्त्रका नियम है; इसमें बाधा न आवे, इसलिये यह पति-सेवा करती थी। इसलिये मैत्रेयी ब्रह्मविद्या-की अधिकारिणी है। यदि मैं उसको बोध किये बिना संन्यासाश्रम ग्रहण करूँगा, तो कात्यायनी-के समान वह सुखी न होगी किन्तु दुःखी होगी। इसलिये संन्यास लेनेसे पहले मुझे इसको ब्रह्म-विद्याका उपदेश करना चाहिये।

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[पृष्ठ ८८७ से आगे]

अथवा यों समझो कि जिस समय भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की उसी समय प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनीका मुख विलेपन करते हुए उडुराज (श्रीकृष्णचन्द्र) उस विहारस्थलमें उदित हो गये। यहाँ 'उडुराज' शब्दमें उपमालङ्कार है अर्थात् श्रीकृष्णरूप चन्द्र जो कि चन्द्रमाके समान चन्द्रमा हैं वे प्रियतमा श्रीराधिकाजीका मुखविलिम्पन करते हुए उस विहारस्थलमें इसी प्रकार प्रकट हुए जैसे चन्द्रमा प्राची दिशाको अनुरञ्जित करते हुए उदित होते हैं। उडुराज जिस प्रकार प्राची दिशाके मुख यानी प्रधान भागको करों (किरणों) से अनुरञ्जित करते हैं उसी प्रकार यहाँ क्रीडाभूमिमें श्रीकृष्णचन्द्र करकमलोंमें ली हुई होलिका-गोलिका (होलीके गुलाल) से श्रीराधिकाजीका मुखमण्डल अनुरञ्जित करते हैं। जिस प्रकार उदयकालीन चन्द्रमा उदयरागसे प्राची दिशा और समस्त आकाशको अरुण कर देता है ठीक उसी प्रकार भगवान् कृष्णने प्रकट होकर अपने शन्तम कर अर्थात् मङ्गलमय करव्यापारोंसे समस्त व्रजाङ्गनाओंके मुखमण्डलको अरुण कर दिया। यहाँ 'शन्तमैः करैः' यह भगवान्‌के समस्त मङ्गलमय अङ्गोंका उपलक्षण है। वे अङ्ग मङ्गलमय हैं और मङ्गलकारक भी हैं, क्योंकि भगवान् 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' तथा—

> नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दमूर्त्तये।
> सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ॥

आदि वाक्योंके अनुसार शुद्ध सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र तत्त्व हैं; तथा 'एष ह्येवानन्दयाति' इस श्रुतिके अनुसार वे ही सब प्राणियोंको आनन्दित भी करते हैं, अतः वे आनन्दप्रद भी हैं। उन्होंने नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनीके समान अन्य व्रजाङ्गनाओंके मुखमण्डलको भी सुखमय और सुखावह करव्यापारोंसे अरुण किया तथा उनके कर्णरन्ध्रावच्छिन्न आकाशोंको वेणुरागसे और हृदयाकाशोंको प्रेमरागसे रञ्जित कर दिया। इस प्रकार वे उदित हुए। यहाँ 'करैः' में जो बहुवचन है वह स्वरूपोंकी बहुलताके अभिप्रायसे भी हो सकता है, क्योंकि यहाँ रासलीलामें भगवान्‌का अनेक रूपसे आविर्भूत होना है। अतः भगवान्‌के अनेक रूपोंकी अपेक्षासे बहुवचनका प्रयोग उचित ही है।

तथा व्रजाङ्गनाओंको जो भगवान्‌के साथ विहारावसर प्राप्त न होनेका शोक था उसे भी अपने शन्तम कर यानी सुखप्रद लीलामय विहारविशेषोंसे ही निवृत्त करते हुए भगवान् प्रकट हुए। यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस सूत्रके अनुसार 'मृजन्' में भविष्यार्थमें वर्तमानका प्रयोग हुआ है। अर्थात् भगवान्, अपने साथ विहार करनेका सुअवसर न मिलनेके कारण जो गोपाङ्गनाओंको शोक था, उसकी निवृत्ति करेंगे इसीलिये उदित हुए हैं। यहाँ—

> रलयोर्डलयोश्चैव मपयोर्बवयोस्तथा।
> वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः ॥*

इस वचनके अनुसार 'उडुराजः' की जगह 'उरुराजः' भी समझा जाता है। अर्थात् जिस समय भगवान् वृन्दारण्यमें पधारे उस समय श्रीयशोदा और नन्दबाबाको विकलता होनेकी सम्भावना हुई, क्योंकि जिस प्रकार फणी मणिको नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार वे भगवान्‌से विलग नहीं रह सकते थे। अतः भगवान् अनेक रूपसे प्रकट हुए। अर्थात् वृन्दारण्यमें प्रकट होनेपर भी वे एक रूपसे श्रीयशोदाजीके शयनागारमें भी रहे। इसीसे उन्हें 'उरुधा बहुधा राजते यः स उरुराजः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उरुराज—अनेक रूपसे सुशोभित होनेवाले कहा है।

यहाँ 'प्रियः' यह उडुराजका विशेषण है। जिस प्रकार रसिक और भक्त पुरुष दोनोंहीको चन्द्रमा प्रिय है उसी प्रकार भगवान् भी सबके परमप्रेमास्पद हैं। चन्द्रमा तो रसिकोंका प्रेम तो शृङ्गाररसका उद्दीपनविभाव होनेके कारण है; किन्तु साथ ही वह भक्तोंको भी अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि उसके मध्यमें जो श्यामता है वह उन्हें हृदयाकाशमें स्थित श्यामाभिव्यक्त भगवत्स्वरूपका स्मरण दिलाती है। तथा उसके दर्शनमात्रसे भी अपने प्रियतमके प्रति प्रेमियोंके अनुरागकी वृद्धि होती है। देखो, चन्द्रमा अत्यन्त दूर देशमें है तो भी वह समुद्रकी अभिवृद्धिका हेतु होता है। मानो समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गोंद्वारा चन्द्रमासे मिलना चाहता है। इससे यह

---

* अर्थात् अलङ्काररहस्यज्ञ महानुभाव र और ल, ड और ल, स और ष तथा ब और व इनकी सवर्णता बतलाते हैं।

सूचित होता है कि प्रिय वस्तु चाहे कितनी ही दूर रहे उसके प्रति अनुरागकी वृद्धि ही होती है। इसीसे जब-जब पूर्णचन्द्रका उदय होता है तभी-तभी वह अत्यन्त उत्सुकतासे उससे मिलनेके लिये उत्ताल तरङ्गोंमें उछलने लगता है। यह सब देखकर प्रेमियोंकी ऐसी भावना हो जाती है कि जिस प्रकार यह समुद्र अपने प्रियतमतक पहुँचनेके प्रयत्नमें बारम्बार असफल रहनेपर भी हताश नहीं होता उसी प्रकार हमें भी अपने प्रियतमसे निराश या निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। इस प्रकार प्रेमियोंको प्रेमरीति सिखानेवाला, भगवान् कृष्णमें रमणेच्छा उत्पन्न करनेवाला तथा समस्त जीवोंको आनन्दित करनेवाला होनेके कारण चन्द्रमा सब प्रकार प्रेमास्पद ही है। इसी प्रकार सर्वान्तरात्मा श्रीभगवान् भी सभीके परमप्रेमास्पद हैं, क्योंकि कोई पुरुष कैसा ही नास्तिक या देहाभिमानी हो उसे भी अपने आत्मामें ही निरतिशय प्रेम होता है।

यह चन्द्रमा कैसा है? 'दीर्घदर्शनः'—दीर्घकालानन्तरे अनेकरात्र्यवसाने दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियोंके पीछे होता है, क्योंकि पूर्णचन्द्र एक मासके अनन्तर ही उदित होता है। और यदि इसे भगवान्का विशेषण माना जाय तो इस प्रकार अर्थ होगा—'दीर्घमबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिनका दर्शन दीर्घ यानी अबाध्य है, क्योंकि 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस सूत्रके अनुसार सर्वसाक्षी भगवान्की दर्शनशक्तिका लोप कभी नहीं होता। भगवान् कृष्ण प्रत्यगात्मा होनेके कारण ही प्रियः—परप्रेमास्पद हैं तथा सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा होनेके कारण ही सर्वद्रष्टा हैं। जो सर्वद्रष्टा है वह किसीका दृश्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह जिसका दृश्य होगा उसका द्रष्टा नहीं हो सकता और ऐसा होनेपर उसका सर्वद्रष्टृत्व बाधित हो जायगा। अतः सर्वद्रष्टा श्रीभगवान्की दर्शनशक्तिका किसी समय लोप नहीं होता।

दर्शन दो प्रकारका है—बौद्धदर्शन और पौरुषेयदर्शन। भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा अन्तःकरणका उन इन्द्रियोंके विषयोंसे संश्लिष्ट होकर तदाकार हो जाना बौद्धदर्शन है। यह बुद्धिका परिणाम है। यहाँ बुद्धि ही इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको व्याप्तकर उनके आकारमें परिणत हो जाती है।

इसीको कहीं-कहीं पौरुषेयदर्शन भी कहा है। बुद्धिमें जो पुरुषत्वका आरोप होता है उसीके कारण बुद्धिनिष्ठ दर्शन पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमें जो विवेकज्ञान और शब्दादि ज्ञान है इनका पुरुषमें आरोप करके यह पुरुष अहं विवेकवान् और 'अहम्' शब्द ज्ञानवान् प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः तो यह आरोप भी बुद्धिमें ही है। पुरुषसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि यह आरोप बुद्धिनिष्ठ है तो इसकी पुरुषनिष्ठता प्रतीत नहीं होनी चाहिये, बुद्धिनिष्ठता ही अनुभव होनी चाहिये। किन्तु बुद्धि प्रकृतिका विकार होनेके कारण जड है, अतः यह आरोप अनुभवका विषय (दृश्य) ही होना चाहिये, अनुभवरूप नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं; इसलिये इसे बुद्धिनिष्ठ ही क्यों माना जाय?

उत्तर—इसका कारण यह है कि यह बुद्धिनिष्ठ आरोप बुद्धिमें पुरुषत्वकी भ्रान्ति करानेके कारण बुद्धिनिष्ठ होनेपर भी पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है; इसीसे वस्तुतः अनुभवका विषय होनेपर भी अनुभवरूप-सा प्रतीत होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ततः यही निश्चय हुआ कि बौद्धबोध ही पौरुषेयबोध-सा प्रतीत होता है। पौरुषेयबोध बुद्धिबोधसे भिन्न नहीं है। इसीसे कहा है—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'। यहाँ तत्तदाकारवृत्ति ही 'ख्याति' कही गयी है। व्युत्थान-अवस्थामें पुरुष ख्यात्याकार हो जाता है। 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'। वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढभेदसे तीन प्रकारकी हैं; अतः व्युत्थानावस्थामें पुरुष भी शान्त, घोर और मूढरूप हो जाता है।

यह कथन लोकव्यवहारोपयुक्त दर्शनकी दृष्टिसे है। वास्तवमें तो इस बौद्धबोधसे व्यतिरिक्त पुरुषका स्वभावभूत चैतन्य ही पौरुषेय दर्शन है। यदि बौद्धबोधको ही पुरुषका स्वभाव माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि समाधि-अवस्थामें समस्त चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर पुरुषका क्या स्वभाव रहता है? तात्पर्य यह है कि यदि उसका स्वभाव बौद्धबोध ही है तो उस अवस्थामें समस्त बुद्धिवृत्तियोंका निरोध हो जानेके कारण वह स्वभावशून्य होकर कैसे रहेगा। कारण, ऐसा कोई समय नहीं है जब कि पुरुष शब्दादि वृत्तियोंमेंसे किसीके साथ तादात्म्यापन्न न हो। समस्त वृत्तियाँ पाँच विभागोंमें विभक्त की गयी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; इनमेंसे किसी-न-किसीके साथ पुरुषका सारूप्य रहता ही है। जिस प्रकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वशून्य नहीं रहता उसी प्रकार पुरुष शान्त, घोर या मूढवृत्तियोंसे शून्य कभी नहीं रहता। अतः

ये उसके स्वभाव ही हैं । यदि कहें कि समाधिकालमें वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर भी वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरणका ही भोक्ता रहता है तो ठीक नहीं क्योंकि निर्वृत्तिक अन्तःकरण भोगोपयोगी नहीं है, क्योंकि भोग और सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिरूप पुरुषार्थ सम्पादन करनेवाली अन्तःकरणरूपमें परिणत हुई ही प्रकृति पुरुषकी भोग्य हो सकती है । निर्वृत्तिक चित्तमें तो ये दोनों ही बात नहीं हैं । अतः समाधि-अवस्थामें पुरुषका कोई स्वभाव ही नहीं रहता । कोई भी भावरूप पदार्थ अपने स्वभावको छोड़कर नहीं रह सकता । पुरुष भावरूप है, अतः समाधि-अवस्थामें भी उसका सद्भाव रहनेके कारण क्या हो सकते हैं ?

इसपर सिद्धान्ती कहता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् समस्त वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है । तात्पर्य यह है कि भावके दो रूप हैं—औपाधिक और अनौपाधिक । बौद्धबोध पुरुषका औपाधिक रूप है, अतः समाधिमें उसका अभाव हो जानेपर भी पुरुषका निरुपाधिक यानी स्वाभाविक स्वरूप तो रहता ही है । यही मुख्य पौरुषेयबोध है । यह पुरुषका स्वाभाविक चैतन्य ही वास्तविक दर्शन है । दृष्टि दो हैं-नित्या और अनित्या । ख्याति अनित्या दृष्टि है, यह उदयास्तमयशालिनी है । इसकी साक्षीभूता जो नित्या दृष्टि है उसीके विषयमें श्रुति कहती है—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' अर्थात् द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी नहीं होता । यही दीर्घा दृष्टि है और यही मुख्य भी है । इसीसे भगवान्को अविलुप्तदृक् कहा है । यह दृष्टि समस्त अनित्य दृष्टियोंकी दृष्टि (साक्षिणी) है; अर्थात् अनित्य दृष्टियोंकी दृष्टि और उनका द्रष्टा एक ही बात हैं । यहाँ 'द्रष्टुः दृष्टिः' यह कथन ऐसा ही है जैसे 'राहोः शिरः' अर्थात् जिस प्रकार शिर राहुसे तनिक भी भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह दृष्टि भी द्रष्टासे भिन्न नहीं है,अतः 'द्रष्टुः' इस पदमें जो षष्ठी है वह सामानाधिकरण्यमें है; अर्थात् जो दृष्टि द्रष्टासे अभिन्न है वही द्रष्टाकी दृष्टि है । और यदि व्यधिकरण षष्ठी मानकर अर्थ किया जाय तो इसके दो तात्पर्य होंगे—द्रष्टृजन्या दृष्टि या द्रष्टृप्रकाशिका अर्थात् द्रष्टृविषयिणी दृष्टि । इनमें पहली द्रष्टाके आश्रित है और दूसरी द्रष्टाका आश्रय है तथा पहली अनित्या है और दूसरी नित्या । इससे सिद्ध हुआ कि घटादि दर्शनका आश्रय तो द्रष्टा है तथा उस द्रष्टाका जो दर्शन है, जिस दर्शनका विषय वह द्रष्टा है वही शुद्ध आत्मा है । वह दृष्टि क्या है ? वह द्रष्टाकी स्वरूपभूता है । यहाँ 'द्रष्टा' शब्दसे काल्पनिक द्रष्टा अभिप्रेत है । उस (काल्पनिक द्रष्टा) का आश्रय ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है, जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्पका रज्जु । वह दृष्टि कौन-सी है ? इसका परिचय श्रुति इस प्रकार देती है—

'सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति' इत्यादि ।

इस प्रकार जिसके द्वारा स्वाप्निक पदार्थोंकी प्रतीति होती है वह दृष्टि आत्मस्वरूपा ही है । यहाँ शंका होती है कि उसके भी तो उत्पत्ति और नाश देखे जाते हैं; अतः वह भी अनित्या ही है । इसपर हमारा कथन यह है कि ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो अज्ञानमें लीन हो जाती हैं और अन्तःकरण विषयरूप हो जाता है । जाग्रदवस्थाके हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मोंका क्षय तथा स्वप्नावस्थाके हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मोंका उदय होनेपर, जाग्रदवस्थामें अपने-अपने अधिष्ठातृ-देवतासे अनुगृहीत भिन्न-भिन्न इन्द्रियद्वारा उत्पन्न हुए जो भिन्न-भिन्न ज्ञान उनके संस्कारोंसे संस्कृत हुआ अन्तःकरण ही स्वाप्निक पदार्थोंके रूपमें परिणत हो जाता है, जिस प्रकार लोकमें अनेक प्रकारके चित्रोंसे चित्रित पट ही विशेष प्रकारके प्रकाश और काँचसे संयुक्त होकर नाना प्रकारकी गतियाँ करता प्रतीत होता है ।

किन्तु उस समय इन सबका दर्शन किसके द्वारा होता है ? यदि कहो कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूपादि उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार अनिर्वचनीय दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय पदार्थ सदा ज्ञातसत्ताक ही होते हैं । उनका सर्वदा अपरोक्ष ज्ञान हुआ करता है । किन्तु इन्द्रियाँ अज्ञातसत्ताक भी होती हैं, क्योंकि वे स्वयं अज्ञात रहकर भी वस्तुका प्रकाशन करनेमें समर्थ हैं । अतः अज्ञातसत्ताक होनेके कारण उनका आरोप नहीं हो सकता; अतः स्वाप्निक रूपकी दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि स्वाप्निक रूपकी दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है तो उसमें दृष्टि श्रुति विज्ञाति आदि भेद नहीं हो सकते, क्योंकि वह तो निर्विशेष अर्थात् सामान्यरूप है । उसमें यह नामरूपात्मक भेद कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि ये अनिर्वचनीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका अनिर्वचनीय सम्बन्ध स्वप्रकाश आत्मामें अनिर्वचनीय श्रुति, अनिर्वचनीय मति एवं अनिर्वचनीय विज्ञाति आदि उत्पन्न कर देता है, जिस प्रकार एकरस प्रकाश भी नील, पीत, हरित काँचोंके साथ संश्लिष्ट होनेपर तत्तद्रूप प्रतीत होता है । किन्हीं-किन्हीं लम्पोंमें देखा जाता है

Regd. No. A. 1724.

कि उसके भिन्न-भिन्न पार्श्वोंमें भिन्न-भिन्न वर्णके काँच लगे रहते हैं। उनके कारण उसकी दीपशिखा एक रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न ओरसे विभिन्न वर्णकी जान पड़ती है। इसी प्रकार एक ही शुद्धब्रह्म विविध उपाधियोंके कारण विविध रूप प्रतीत होता है। यहाँ दृष्टान्तमें दीपशिखाके सन्निहित होनेवाले नील, पीत, हरित काँच समान सत्तावाले हैं, अर्थात् उन सभीकी व्यावहारिक सत्ता है; इसलिये उसका वैवर्ण्य पारमार्थिक भी कहा जा सकता है। परन्तु आत्मासे संश्लिष्ट ये शब्दादि तो अतात्त्विक हैं; अतः अतात्त्विक शब्दादिके सम्बन्धसे होनेवाला तात्त्विक आत्माका भेद भी अतात्त्विक ही है।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये। वह यह कि चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकाराकारित वृत्तिरूप जो दृष्टि आदि हैं उनके संस्कारोंसे संस्कृत अन्तःकरण ही शब्दादिरूपसे परिणत होता है। अतः दर्शन-श्रवण आदिके संस्कारोंसे संस्कृत जो अन्तःकरण है उसके सम्बन्धसे ही शुद्ध चैतन्यमें दृष्टि श्रुति आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं; जिस प्रकार सुषुप्तिमें यद्यपि अहंकार नहीं रहता तथापि जागनेपर यही अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस प्रकारकी स्मृतिसे उस समय भी अहंकारकी सत्ता सिद्ध होती है। परन्तु वस्तुतः उस समय अहंकार नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्थामें इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि अहंकारके धर्म नहीं देखे जाते और धर्मके बिना धर्मीकी स्थिति सम्भावित नहीं है; तथापि अहंकार न रहनेपर भी अहंसंस्कारसंस्कृत अज्ञान तो रहता ही है; इसीसे जागृतिमें उसका परामर्श होता है।

भजनका महत्त्व

(लेखक—परमहंस स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

भगवान्‌की पूजा ही भजन है। भजन और पूजनमें कोई भेद नहीं। भगवान् सत्यस्वरूप हैं। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं। भगवान् ज्योतिस्वरूप हैं। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं। भगवान् प्रेम, शान्ति, सत्य, ज्ञान, आनन्द और सत्—सभी पर्यायवाची शब्द ही हैं। अथवा संक्षेपमें हम यह भी कह सकते हैं कि वह अद्वितीय परम तत्त्व जो अन्तर्यामीरूपसे आपकी हृदयगुहामें सदा विराजमान हैं, जो आदि, मध्य और अन्तरहित हैं, जो सबमें व्याप्त हैं, जो नित्य एकरस हैं, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत्‌में सदा विद्यमान हैं, जो स्वयम्भू हैं, स्वतन्त्र हैं, और स्वयंप्रकाश हैं, वही भगवान् हैं। उन भगवान्‌का ध्यान, चिन्तन, स्मरण या अनुशीलन ही भजन है! भजन ही उपासना है! अथवा यों कहिये कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' के नाते जितनी भी युक्तियाँ या उपाय भक्तको भगवान्‌के पास ले जानेके साधनरूपसे हैं या हो सकते हैं वे सभी भजन कहे जाते हैं। भगवन्नाम-जप, नाम-स्मरण अथवा हरि-कीर्तन, भगवान्‌के नाम, गुण या लीला आदिका कीर्तन व्यष्टि या समष्टिरूपसे एकाकी या बहुत-से लोग मिलकर सम्मिलित प्रार्थना अथवा संकीर्तनरूपसे करना या कराना भजन ही है।

किसी भी रूपमें क्यों न हो, भगवान्‌का भजन अवश्य करना चाहिये। 'बड़े भाग मानुष तन पावा' भगवान्‌के भजन बिना मनुष्यका जीवन फीका, नीरस, निरर्थक, व्यर्थ और निकम्मा है! भगवान्‌की पूजा बिना मनुष्य-जीवन शून्य और अति भीषण है। भगवद्भजनशून्य जीवन पृथिवीपर भारस्वरूप है। जिस प्रकार बिना अंकका शून्य '०' शून्य ही है और 'अंक लगे दसगून' उसी प्रकार मनुष्यका जीवन बिना भजन 'सर्वशून्य' है। आप अखिल भूसम्पत्तिके मालिक, धन्नासेठ या अर्थपति कुबेर ही क्यों न हों, भगवद्भजन बिना निरे रंक-के-रंक ही रह जायँगे! यह जगत् दीर्घ स्वप्न है, 'संसार अनित्य है' संकटों और दुःखोंकी खानि है! इस असार संसारमें सार वस्तु एकमात्र भगवान् या भगवान्‌का भजन ही है।

भगवद्भजनकी सर्वसुगम और सुलभ विधि भगवान्‌की नवधा भक्ति है ।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

आत्मनिवेदनके बाद ही भक्ति पराभक्तिका रूप धारण करती है । यह आत्मनिवेदन ही अन्तमें भक्ति-रसका माधुर्यभाव ग्रहण करता है । यही वेदान्तियों-का आत्मसाक्षात्कार, स्वस्वरूप या ब्रह्मसंस्थकी ब्राह्मी स्थितिरूप ब्रह्ममें लीन हो जाना अथवा ब्रह्मात्मैक्यकी अद्वैत स्थिति अथवा ऐक्य है । यही माधुर्यभावकी प्रेमरति या विरहासक्ति है ! इसी भगवद्भक्ति, भजन या ईश्वरप्रेमके सहारे नवविधा भक्तिके श्रवणभावकी उपासनासे परीक्षितने; कीर्तनसे भगवान् वेदव्यासके स्वनामधन्य अवधूत पुत्र शुकदेवने; भगवद्भक्त असुर-बालक प्रह्लादने भगवान्‌के नाम-स्मरणरूप भजनसे; विष्णुप्रिया लक्ष्मीने पादसेवनरूप भजनसे; राजा पृथुने अर्चनरूप भजन या पूजनसे; अभिवन्दन या वन्दन-रूप भक्तिसे अक्रूरने; दास्यभावसे वानराधिपति हनूमान्-ने; सखारूपसे अर्जुनने और सर्वस्व आत्मनिवेदनरूप भजनसे बलिने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया था । यह परम्परा है श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी नवधा भक्तिकी !

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेवं परा ॥

भगवद्भजन या पूजनकी षोडशोपचार आदि विधि या उपचार भक्तिमार्गके ब्रह्माभ्यासियों अथवा जिज्ञासु-रूप साधकोंके लिये ही हैं । साधक ज्यों-ज्यों अपनी साधनामें अग्रसर होता हुआ सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है, अर्थात् जब उसकी चित्तवृत्तियाँ सम्पूर्णरूपसे भगवद्भजनके सारभूत द्रव्य या वस्तुतत्त्वरूप अपने इष्टदेव वा उपास्य भगवान्‌के ही ध्यान या चिन्तनमें लीन हो जाती हैं, उस समय उसके लिये आरती-धूप-दीप-नैवेद्य, आचमन-स्नान-अर्घ्य-पाद्य, घड़ी-घण्टा या शङ्खादि वाद्यों अथवा किसी भी बाह्य उपचारकी आवश्यकता नहीं रह जाती । उसके लिये तो अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड ही श्रीवृन्दावनधामका रूप धारण कर लेता है । उसका शुद्ध मन या मानसरोवररूप अपनी हृदयगुहा ही सेवाकुञ्ज बन जाती है, जहाँ वह जीवात्मारूप और आत्मस्वरूप आत्माराम श्रीकृष्णके साथ नित्य विहार किया करता है । यह भक्तिरसकी आत्यन्तिक मधुरिमा वा माधुर्यरसका आत्यन्तिक और ऐकान्तिक रसास्वादन है ! भक्त परम प्रेमरूपा पराभक्तिकी प्रेमसमाधि या विरहासक्तिकी प्रेमरतिमें चिर निमग्न हो जाता है । ऐसे सौभाग्यशाली आत्यन्तिक और अनन्य स्वयंसिद्ध भगवद्भक्तोंके लिये विधि-निषेध वा और बाह्य उपचार भगवद्भक्तिकी प्रेमरतिमें ही विलीन-से हो जाते हैं । पर साधकोंके लिये भगवद्भक्तिकी प्राप्ति-के नाते ये षोडशोपचार आदि विधिरूप बाह्योपचार वा विधि-विधानरूप विधि-निषेध परम श्रेष्ठ साधन, सहायक और बन्धुका ही काम कर दिखाते हैं । साधकोंके लिये इन श्रेष्ठ साधनोंका किसी भी रूपमें परित्याग या तिरस्कार करना सर्वथा अनुचित और अहितकर है ।

ऐसा कोई भी पन्थ, सम्प्रदाय या मत नहीं है जिसके अनुयायी अपने उपास्य या इष्टदेवका भजन अपने किसी-न-किसी रूपमें नहीं करते । पर सभीका उद्देश्य, लक्ष्य वा गन्तव्य स्थान एक ही है ! हाँ, पन्थ विभिन्न और अनेक हैं ! सिद्धान्त वा भजनका तत्त्व सबका एक-सा ही है, भेद इनके विधि-विधान और बाह्य उपचारोंमें है । सङ्कुचित हृदयवाले मूढ़ अज्ञानी अपने लक्ष्य या इसके आन्तरिक और सच्चे स्वरूप-का तिरस्कार ही करते हैं और अपने इन्हीं बाह्य उपचारोंपर मरने-मारनेके लिये तैयार हो जाते हैं,

व्यर्थ ही लड़ते-झगड़ते, एक दूसरोंको गालियाँ देते, निन्दा करते, लट्ठमलट्ठा करते और सिर फुटौवल भी कर लेते हैं। ये धर्मके शुद्ध और सत्यस्वरूपकी अवहेलना करते और इसके बाह्य अङ्गरूप ढाँचेपर ही कुर्बान हो जाते हैं।

किन्तु यदि आप पके हुए मीठे आमका मधुर रस चखना चाहते हों तो प्रेमपूर्वक आमोंको चूसिये। पेड़ गिनने वा पेड़की पत्तियोंसे क्या काम? भला बताओ तो सही—क्या कोई ऐसा भी पन्थ, सम्प्रदाय या मत है कि जिसमें धर्मपालक वा 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के नाते सभी पन्थ, मत या सम्प्रदायके भिन्न-भिन्न और मतावलम्बियों, अनुयायियोंके लिये आत्मशुद्धि, हृदयकी पवित्रता, सच्चरित्रता, उदारता, दयाशीलता, जीवमात्रके प्रति दया, सहानुभूति, और करुणाभरे विश्वप्रेमकी भ्रातृवत्सलता, सुहृदता, सत्यता, क्षमा-प्रियता और आत्मसाक्षात्कारकी सच्ची चाहकी नितान्त आवश्यकता न हो? और तो क्या पृथ्वी, जल, पवन, नभ, वृक्ष, पक्षी आदिमें पायी जानेवाली परम रुचिरा ज्योतियाँ उसीकी हैं। पेड़, पौधे, गुल्म और लताएँ, झरने, नदी, नाले और समुद्र, पवन, वायु और सुगन्ध-भरे प्रातःकालीन मन्द समीर, चन्द्र, सूर्य और तारे, कीड़े, मकोड़े, कीट, पतङ्ग, पशु और पक्षी—सभी उस आदिदेव भगवान्के ही भजनमें लीन हैं। अपने धीमे और मन्द स्वरसे सभी भगवान्का ही नाम-स्मरण, ध्यान या भजन कर रहे हैं। यदि एक ओर झरने और नदी-नाले अपने मधुर रवसे कलकल नाद कर रहे हैं, तो दूसरी ओर उनचास पवन भी अपने परिमल और सुगन्धभरे मन्द समीरके अत्यन्त मृदुल और अनन्त प्रवाहमें उसीका हो आलाप कर रहे हैं। इधर विशाल-काय सुदीर्घ और असीम समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गोंसे समस्त गगनमण्डलको ही उसीकी मधुर ध्वनिसे प्रति-ध्वनित कर रहा है तो उधर विविध नाम, रूप और रंगके छोटे-बड़े सभी सुन्दर और मनोहर पक्षी अपने-अपने नीड़ोंमें उसी पावन हरिनामके मधुर गुञ्जारसे मानो पवन, नदी-नाले और सागरका ही अनुमोदन कर रहे हैं। ये आधिभौतिक जड़वादके ही समर्थन करनेवाले रेलवे इञ्जिन, धूम्रयान और वायुयान आदि वाष्पयन्त्र भी वही मधुर जयध्वनि कर रहे हैं। आप इनकी मन्द या तीव्र गतिसे उत्पन्न होनेवाली विविध ध्वनियोंका ध्यानपूर्वक अनुशीलन करें, आप देखेंगे कि ये सभी भगवान्के हो किसी-न-किसी नामका जप, कीर्तन वा भजन कर रहे हैं।

भगवद्भजनका मुख्य उद्देश्य क्या है? भजनका उपयोग उस एकरस अखण्ड आनन्द, परम तृप्ति और शान्ति, नित्यसुख और अमृतत्व तथा इस दृश्य जगत्के आवागमनरूप चक्र तथा इसीसे समुद्भूत सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंसे तथा इनसे उत्पन्न हुए पञ्चक्लेश, षड्विकार और सभी तापोंसे छुटकारा पानेके लिये ही किया जाता है। इस दृश्य जगत् और इसके विविध प्रपञ्चभरे विषयानन्दमें उस आनन्द ब्रह्मके सच्चे ब्रह्मानन्द, नित्यानन्द या प्रेमानन्दका आभास लेश-मात्र भी नहीं है। इस बहिर्मुख दृश्य जगत्के विषया-नन्दमें जो सुख प्रतीत होता है वह भ्रान्तिसुख है, मृगतृष्णावत् मायावी जादूगरके इन्द्रजालका पेड़सहित पका हुआ आम है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका मिथ्या प्रसार अथवा इन्द्रियसमूहके इन्द्रजाल या नाडीजालका मायाजाल है। इन्द्रियोंकी खुजलाहट है। कामलिप्सा या इन्द्रियोंकी वासनामात्र है। यह अन्तःकरणरूप मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कारकी जलती हुई भट्ठी है। इन सब रोगोंकी एकमात्र अचूक ओषधि भगवान्का भजन ही है। भगवान्का भजन ही सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण सभी कर्मों और आधिभौतिकादि तीन तापोंका, ब्रह्मग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि और विष्णुग्रन्थि तीन ग्रन्थियोंका, पञ्चक्लेश, षडूर्मि और मल-

विक्षेप तथा आवरणरूप तीन दोषोंका आत्यन्तिक नाश करता है। भगवान्का भजन ही भक्तको भगवान्के 'तद्धाम परमं मम' परमधामको पहुँचाता है जहाँ भक्त भी भगवान्के सभी दिव्य ऐश्वर्योंका भोग करता हुआ भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। वहाँ भक्त उस परम प्रेमरूपा भक्तिके मधुर अमृतरसका रसास्वादन करता है और अन्तमें न्योछावरस्वरूप दी हुई भगवान्की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तिका अधिकारी बनता है।

अतएव भगवद्भक्ति प्राप्त करनेके लिये सच्चे धीर शूरवीर और दृढ़ व्रतवाले बन जाओ। उस अनन्त नामवाले भगवान्के किसी भी नामका नित्य स्मरण, कीर्तन या भजन करो! भूल न जाओ भगवान्के हरिः ॐ, राम, कृष्ण, सीताराम वा राधेश्याम नामको। भजन करो उसके किसी भी नामका; उसे सर्वत्र, सबमें और सब समय सदा विराजमान देखो! वह कहाँ नहीं है?

'जहँ न होय तहँ देहु कहि, तुमहिं देखावऊँ ठाउँ।'

जो कुछ है, वह सब नारायणका ही नाम और रूप है। स्वयं नारायण ही सभी नाम और रूपोंमें विद्यमान है। उसे देखो! इस ब्रह्मदर्शनका अभ्यास करो और स्वयं भी ब्रह्म बन जाओ।

भृङ्गी भय ते भृङ्ग होय, वह कीट महा जड़।
कृष्ण प्रेम ते कृष्ण होय, नाहीं अचरज बड़॥

उस अनन्तको देखना और प्राप्त करना ही तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है, यही एकमात्र धर्म है। इस मनुष्य-जन्मको सार्थक कर लो। यह अवसर बार-बार नहीं आता। एकमात्र उस भगवान्का ही नामस्मरण, ध्यान, भजन, कीर्तन और चिन्तन किया करो!

'भजहु राम सब काम बिहाई।' निष्कामभावसे सबमें नारायणका ही ध्यानकर अखिल विश्वकी अहैतुकी सेवा करना ही सच्चा भगवद्भजन है। विश्व-प्रेम ही सच्ची उपासना है। अतएव संसारमें ऐसा कोई भी न हो, जिससे तुम प्रेम न करो। विश्वमें ऐसा कोई भी स्थावर या जङ्गम, चर या अचर प्राणी न हो जिसके प्रति तुम्हारी सहानुभूति, प्रीति या दयाका भाव न हो।

दया धर्मका मूल है, नरकमूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिये जब लगि घटमें प्रान॥

जितेन्द्रिय बनो। सदा चञ्चल रहनेवाली इन्द्रियों और नित्य अतृप्त ही रहनेवाली चित्तवृत्तियोंको रोको। सच बोलो, धर्मका आचरण करो, 'सत्यं वद। धर्मं चर'—दया, नम्रता, क्षमा, धैर्य, सेवा और स्वार्थ-त्यागपूर्वक सद्भाव अपने हृदयमें धारण करो। वीर्यकी रक्षा करो, सच्चे ब्रह्मचारी बनो! 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।' सत्य ही नारायण है। असत्य भाषण भूलकर भी न करो।

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप॥

क्रोधको दयासे जीतो। हिंसापर अहिंसा और प्रेमसे, तथा कामपर त्याग और अभ्याससे विजय प्राप्त कर लो।

छमा बड़नको चाहिये, छोटेनको उतपात।
कहा कृष्णको घटि गयो, जौ भृगु मारी लात॥

भगवान् कहीं दूर नहीं हैं वे तुम्हारे पास ही हैं। तुम्हारे हृदयमें ही विराजमान हैं। वे तुम्हारा सप्रेम स्वागत—अभिनन्दन करनेके लिये और तुम्हारा प्रेमपूर्वक गाढालिङ्गन करनेके लिये बाँह पसारे सदा तैयार हैं। उत्तिष्ठत! जाग्रत!! प्राप्य वरान्निबोधत!!!

डूब जाओ, उसके अनन्त प्रेमसिन्धुकी उत्ताल तरङ्गोंमें, नहीं तो याद रक्खो—

'मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ।'

चिरकालके लिये बैठे ही रह जाओगे। लगाओ गोते उस ब्रह्मानन्द, आनन्दसिंधुके प्रेमसागरमें! उस आनन्दब्रह्मके आनन्दसागरमें और आनन्दब्रह्ममें ही आनन्दमय बन जाओ, अनादि और अनन्तकालके

लिये । यही सुमधुर परिणाम है भगवान्‌के अव्यावृत तैलधारावत् अविरल और अखण्ड भजनका । पी लो, मधुर रसभरा अमृतरसका यह प्रेम-प्याला । चिर रमण करो, निमग्न और तल्लीन हो जाओ—आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी उस रूपमाधुरीमें। उसके नामको अपने कण्ठका चन्द्रहार बना लो । उसके अनन्त मधुर नामकी यह मणिमाला सदा अपने हृदयकी अन्तरतम गुहामें ही चिरकालके लिये धारण कर रक्खो । उसका नाम-कीर्तन, गुण-कीर्तन या लीला-कीर्तन प्रतिश्वासपर ही करते रहो । 'श्वास श्वासपर नाम रट ।' अपने इस भगवन्नामको शरीरकी जोंक बना लो, जो छुड़ाये भी न छूटे । हाँ, एक बार अपनी हृदयतन्त्रियोंको भलीभाँति पूर्णरूपसे झङ्कारते हुए, अत्यन्त प्रेमभरे हृदय और करुणापूर्ण स्वरसे उन्मत्त होकर सच्चे और निष्काम भावसे कहो—

'बोल हरि बोल, बोल हरि बोल ।
केशव माधव गोविन्द बोल ॥'

यह सारद्रव्य तत्त्व है भगवद्भजनका । नहीं-नहीं परम प्रेमरूपा भगवद्भक्तिका 'दुग्धं गीतामृतं महत् ।' अमृतगीत सङ्कीर्तनरूप दूधका परम पावन और मधुर रसभरा माखन है । उस माखनचोर, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्रजचन्द्रका । इसे ले लो, लूट लो, प्रेमपूर्वक पी लो । पी लो और पिला लो सभी भगवत्-प्रेमियोंको । 'तस्माद्योगी भवार्जुन' भूल न जाओ, भगवान्‌के इस मधुर महत्त्वपूर्ण उपदेशको । किसी भी पूर्ण युक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त कर लो । यही उद्योग होना चाहिये इस मनुष्य-जीवनका । हृदयके अन्तरतममें और अखिल विश्वमें ही वह परम तृप्तिरूप चिरशान्ति सदा विराजमान और विद्यमान है ।

(अनुवादक—श्रीरामेश्वरपुरीजी)

मेरा स्वप्न

(लेखिका—श्रीरत्नकुमारी देवी माथुर)

दिनभर तपित हो तापसे, जब तरणि पहुँचा ह्रासको ।
तब चन्द्रने आकर किया, शोभित मही-आकाशको ॥
परिश्रान्त श्रमजीवी सभी, विश्राम अब करने लगे ।
यह देखकर उडुगण गगनमें, मुदित हो हँसने लगे ॥
निद्रा पलकपर आ बिराजी, बेखबर मैं सो रही ।
अब स्वप्नमें क्या देखती हूँ, कुसुम-हार पिरो रही ॥
सुनसान चारों ओर था, मैं ही अकेली थी खड़ी ।
श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसा, मेरे हृदयमें थी अड़ी ॥
इस बीचमें क्या देखती हूँ, श्रीकृष्ण प्यारे आ रहे ।
वनमाल हियपर सोहती, वे मन्द थे मुसका रहे ॥
माथे मुकुट था मोरका, मुखपर अलक थी सोहती ।
वह चाल मान मरालसे, बढ़कर हृदयको मोहती ॥
मैं देख उस अनुपम छटाको, भूल तन-मन-धन गई ।
श्रीकृष्णकी वह मूर्ति मञ्जुल, और आगे आ गई ॥
मैं मुग्ध उस छबिपर हुई, वे लीन मुझमें हो गए ।
हा हन्त ! मम लोचन-युगल, तज नींद तत्क्षण खुल गए ॥
करके कृपा दर्शन दिये प्रभु, 'स्वप्न' क्यों यह कर दिया ?
करुणायतन ! क्यों वस्तुतः, मम उर न अपना घर किया ?

योगके साधन

(लेखक—श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)

मनुष्यमात्र सुख चाहते हैं तथा पद-पदपर प्राप्त होनेवाले जगज्जालके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये मायिक पुरुषार्थ भी करते हैं परन्तु मायिक पदार्थोंसे दुःख मिटते नहीं, मिटें कैसे ? संसारके सब दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति तो केवल दृढ़ ब्रह्मज्ञानसे ही होती है। इसी बातकी पुष्टि कठोपनिषद्में की गयी है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

अर्थात् उस एक सर्वज्ञ ईश्वरने सारे चराचरको अपने वशमें कर रक्खा है, सम्पूर्ण भूतोंका वही अन्तरात्मा है, एक होते हुए भी वह अपनी मायाके द्वारा आभासरूपसे अनेकों रूपोंको धारण करता है। उसी सत्य वस्तुको जो धैर्यवान् साधक ज्ञान-दृष्टिसे देखता है और उसीको अपना स्वरूप समझता है, वही सब प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा पाकर परमानन्दकी प्राप्ति करता है। पर जो उस ब्रह्मज्ञानसे रहित है उसके दुःख नहीं मिटते हैं।

अब ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो, यह प्रश्न है। इसके दो साधन हैं, एक तो विचारके बलसे आत्मा-अनात्माकी पहचान करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाता है, दूसरे योगाभ्यासद्वारा। यही बात श्रीविद्यारण्यजी महाराजने पञ्चदशीमें कही है—

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनाञ्च विवेकिनाम्॥

अर्थात् किसी-किसीके लिये योगका साधन कठिन और ज्ञानका निश्चय सुगम होता है तो किसी-किसीके लिये ज्ञानका निश्चय क्लिष्ट और योगका साधन सुगम होता है। ऐसा विचार करके परमेश्वरने ब्रह्मज्ञानके लिये दो मार्ग बतलाये, एक ज्ञान और दूसरा योगाभ्यास।

यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कही है कि जो ब्रह्मरूपी स्थान सांख्यरूपी विचारके बलसे प्राप्त होता है, वही योगसे भी मिलता है। अतएव ज्ञान अथवा योग किसी एकको परिपक्व बनाना चाहिये। इन दोनोंका फल ब्रह्म-पद-प्राप्ति समान ही है।

पतञ्जलिजीने अपने योगशास्त्रमें योगके आठ अंग बतलाये हैं। जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमेंसे जो-जो साधन सुगम और सुख देनेवाले हैं, उन्हींका यहाँपर कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी पाँच हैं—सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, शौच और तप। यम और नियमके परिपक्व हुए बिना योगाभ्यास कदापि नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई धनाढ्य व्यक्ति सात मंजिलकी इमारत बनवाना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे छः-सात हाथतक गहरी नीव जमीनमें खोदवानी पड़ती है और तभी उस इमारतके गिरनेका कोई भय नहीं रहता, उसी प्रकार योगाभ्यासमें यम-नियमकी परिपक्वताकी आवश्यकता है। यमके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचता है तथा साधककी वृत्तियोंका किञ्चित् निरोध होता है। और नियमसे साधकको

तुरंत ही सुखकी अनुभूति होने लगती है तथा योगकी प्रथमावस्था आरम्भ हो जाती है ।

यम-नियमके पश्चात् आसनसे लेकर शेष रहे छः अंग, सो उनके लाभ निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रकट होते हैं—

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥

अर्थात् आसनोंसे रोगोंका नाश होता है, प्राणायामसे पाप नष्ट होते हैं, प्रत्याहारसे मनके विकार (काम-क्रोधादि) शान्त होते हैं, धारणासे धैर्य बढ़ता है, ध्यानसे सत्-स्वरूप ब्रह्मात्माका दृढ़ बोध होता है और समाधिसे मनके संकल्पोंका नाश होकर मोक्षरूपी ब्रह्ममें स्थिति होती है ।

आसन कुल चौरासी हैं, जिनमें बयासी आसन तो विशेषतः रोगोंके नाशार्थ ही हैं । बाकी पद्मासन और सिद्धासन ये दो आसन साधारण रोगनाशक होते हुए योगसाधक हैं । अब प्राणायामका विशेष फल नीचेके श्लोकोंमें पढ़िये—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥
अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ॥
तदा संक्षीयते प्राणो मानसश्च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वञ्च समाधिः सोऽभिधीयते ॥

अर्थात् गुरुकी बतायी हुई विधिके अनुसार प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट हो जाते हैं । परन्तु मनमाना अथवा पुस्तकोंको देखकर जो अयुक्त अभ्यास करता है उसको बहुत-से रोग हो जानेकी भी सम्भावना है । अग्निमें तपानेसे जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओंका मल नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणोंका निरोध करके प्राणायाम करनेसे सब इन्द्रियोंके विकार नष्ट हो जाते हैं और वे शुद्ध हो जाती हैं । कालके भयसे ब्रह्माजी भी प्राणायाम करते हैं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एवं योगी भी प्राणायाम-परायण होते हैं अतएव साधकोंको प्राणायामका अवश्य अभ्यास करना चाहिये । ज्यों-ज्यों प्राण वशमें होगा, त्यों-त्यों मन भी वशमें होगा । मनके अमन होनेमें मुक्ति है, यह सिद्धान्तपक्ष है । परन्तु यह ब्रह्मज्ञानके सहित हो तब, अन्यथा सुषुप्तिकी भाँति मनका अमन होना मोक्षका दाता नहीं होगा । प्राणायाम करते समय पूरकमें मूलबन्ध, कुम्भकमें जालन्धरबन्ध और रेचकमें उड्डियानबन्ध लगाने ही चाहिये । इनसे बहुत लाभ होता है । नीचेके श्लोकोंमें देखिये—

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥
बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥

अर्थात् जिस साधकने मूलबन्धके दृढ़ अभ्याससे अधः अपानको प्राणमें मिला दिया, उसकी जठराग्नि प्रबल हो जाती है और उससे उसके मल-मूत्र तो अल्प होते ही हैं, वह यदि वृद्ध हो तो जवान हो जाता है । जिसने मूलबन्धका दृढ़ अभ्यास किया है, उसके सभी विघ्न मिट जाते हैं तथा वह शिवजीके समान अजर-अमर हो जाता है । और भी सुनिये—

मूलबन्ध गुन ऐसा होई । वायु अधोगति जाय न कोई ॥
ऊर्ध्वरेता यासों सधे । दिन-दिन आयु सवाई बढ़े ॥
यासों कारज सब बनि आवै । रोग रक्तको सभी नसावै ॥
योगी पहले यह आराधै । अपान वायुको नीके साधै ॥
योग माँहि यह है परधान । बूढ़ी देह पलट होय जवान ॥
जठराग्नि बाढ़ै अधिकाय । जो चाहै तो बहुतै खाय ॥

अपान वायुको ऊपर लावै । प्राणवायु नीचे ले जावै ॥
जो पै यह साधन बनि आवै । योगी बूढ़ा होन न पावै ॥

हिन्दीमें होनेके कारण इन पदोंका अर्थ सभी समझ सकते हैं । अब यह श्लोक देखें—

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं पवनं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ॥

तात्पर्य यह कि जो साधक अपने दोनों होठोंके बीचमें रक्खो हुई जीभके द्वारा गुरुकी बतायी हुई विधिके अनुसार प्राणमें अपानको मिलाकर शीतल-शीतल पवन पोता है, वह वृद्धतासे रहित हो जाता है । वह साधक प्राणमें अपानको मिलानेपर 'योगी' हो जाता है, इसके अतिरिक्त जो साधक सम्यक् ज्ञानके बलसे दृश्यका आत्यन्तिक अभाव करके केवलीभावमें स्थित होता है, वह भी 'योगी' ही है ।

अब जालन्धरबन्धसे जो-जो लाभ होते हैं वे नीचेके श्लोकोंमें वर्णित हैं—

जालन्धरकृते बन्धे कण्टसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

अर्थात् मस्तकको झुकाकर कण्ठका संकोचनकर हनु (ठुड्डी) को हृदयसे चार अंगुल ऊपर लगानी चाहिये । ऐसा करनेपर चन्द्रमासे जो अमृत टपकता है, वह नाभिस्थित अग्निको न मिलकर योगीको हो मिलता है । फिर चन्द्रामृतका सेवन करनेसे योगीका शरीर बुढ़ापे और मृत्युसे रहित हो जाता है । इस बन्धसे वायुका कोप कभी होता ही नहीं ।

उड्डियानबन्धसे होनेवाले लाभोंको ये श्लोक बतला रहे हैं—

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥
उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥

अर्थात् नाभिके ऊपर तथा नीचेके भागोंको पीछे खींचकर पीठमें लगावे, इससे प्राणवायु धीरे-धीरे सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करता है । इस साधनका निरन्तर छः महीनेतक अभ्यास करनेसे साधक मृत्युको भी जीत लेता है और वृद्ध हो तो तरुणके समान हो जाता है । तीनों बन्धोंमें उड्डियान श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे प्राणकी गति सुषुम्नामें हो जाती है ।

योगिराज याज्ञवल्क्यजी भी अपनी संहितामें लिखते हैं कि सुषुम्ना नाडी कालको खा जानेवाली है । साधारण मनुष्योंका प्राण-वायु इडा और पिंगला इन दो नाडियोंमें ही चलता है तथा इन दोनों नाडियोंके सन्धिकालमें सुषुम्नामें लगभग आध मिनट-तक अनजानरूपसे चलता है । परन्तु योगाभ्यासी सुषुम्नामें अपने प्राण स्वतन्त्रतापूर्वक इच्छानुकूल समय-तक चलानेमें समर्थ होता है ।

मन पवना पाँचों वश करके तीनो गुण वश कीजे ।
पाँचो मुद्रा साधकर योगी सदा अमीरस पीजे ॥
मूल बंध मन ही वश होई उड्डियान बंध दस बाई ।
जालंधर बंध कंदर्प वश होई तब योगी स्थिरता पाई ॥
वज्र शरीर प्राणका अनुभव नव द्वारनको बाँधो ।
उलटी सुरत चढ़ाय अकाशमें सुरत गगन बिच साधो ॥

Regd. No. A. 1724.

वेदोंमें भगवन्नाममहिमा

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्रीस्वामी भागवतानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर, काव्यसांख्ययोग-न्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥*

(अथर्वसंहिता १०।४।८।१)

जब इस संसारसागरकी जन्ममरणरूप उत्तुङ्ग तरङ्गोंमें गोते खाता हुआ यह प्राणी परम खिन्न और निराश हो जाता है तब मध्याह्नकालमें प्रचण्ड मार्तण्डकिरणोंसे सन्तप्त वालुकामय मरुभूमिका यात्री जैसे किसी छायावाले हरितपत्रपूर्ण फलपुष्पसमलङ्कृत महावृक्षकी सुखद छायामें पहुँचनेका भगीरथ प्रयत्न करता है वैसे ही पूर्वपुण्यपुञ्जके प्रभावसे वह कुछ प्रयत्नकर सत्सङ्गरूपी नौका प्राप्त करता है, वहाँ इसे सुननेको मिलता है कि हे जीव! तू अपने ध्येय लक्ष्य और प्राप्तव्य वस्तुको देख, तू संसारमें विषयवासनारूप कीचड़में फँसनेके लिये नहीं आया है, वेद तुझे उपदेश करता है—

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।' (अथर्ववेद ८।१।६)

'हे मनुष्य! तू भगवत्स्मरण-भगवन्नामकीर्तनादि शुभकर्मद्वारा उन्नति करनेके लिये आया है न कि भगवत्-विमुख आदि पापाचरण करके अवनतिके लिये।' श्रुतिमाता पुकारकर कहती है कि—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो, अनुभवी सद्गुरुके पास जाकर भगवत्-महिमाको जानो।' 'शुभस्य शीघ्रम्' इस कहावतके अनुसार शीघ्रता करनी चाहिये। क्योंकि वेदका उपदेश है—

'न श्वः श्व उपासीत, को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।'

(शतपथ ब्रा० २।१।३।९)

'कल करेंगे, कल करेंगे ऐसा नहीं कहना चाहिये। कौन जानता है कि तुम कलतक जीवित रहोगे या नहीं।' और यह भगवन्नामकीर्तनादि शुभकार्य इस नरदेहमें ही हो सकते हैं।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'

(केन० २।१३)

'भगवद्भक्ति और ज्ञानके अधिकारी इस नरदेहमें प्रभुको जान लिया तो ठीक, नहीं तो सत्यानाश हो जायगा अर्थात् नरदेह व्यर्थ चला जायगा, और पुनः लखचौरासीके चक्रमें पड़ना पड़ेगा।'

'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव।' (कठ० १।१।२६)

'यह जीवन थोड़े ही दिनोंका है।' और शास्त्रमें बतलाये गये नियम मनुष्यके लिये हैं न कि पशुके लिये। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि—

'मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्।'

(वेदान्तदर्शन शारीरकभाष्य १।३।८।२६)

'शास्त्रके अधिकारी मनुष्य हैं।' परमात्माने हमें नरदेह दिया, इसलिये उसके नामकी महिमाको जानकर, भगवन्नाम-कीर्तन और भजन-स्मरण करना चाहिये। इस प्रकृत लेखमें हम यह दिखलायेंगे कि 'वेदोंमें भगवन्नामकी महिमा' का विस्तृतरूपसे वर्णन है। यदि नास्तिकभावापन्न पुरुषोंको वेदोंमें भगवन्नाममहिमा न दीखे तो यह उन्हींका दोष है न कि वेदोंका। यास्काचार्यने निरुक्तमें ठीक ही लिखा है—

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। (१।१७।१०)

यह स्थाणु (ठूँठ) का अपराध नहीं है जो इस (स्थाणु) को अन्धा नहीं देखता है, यह तो अन्धेका ही अपराध है जो वह नेत्ररहित है। ऐसे ही यह वेदों (मन्त्रों) का अपराध नहीं है जो उसमें स्पष्टतया प्रतिपादित तत्त्वको अनभिज्ञ पुरुष नहीं देखता, यह तो मनुष्यके अज्ञानका ही दोष है, वह अपने अज्ञानापराधको वेदमन्त्रोंमें आरोपित करता है। वेदोंके सम्बन्धमें लिखा है कि—

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।

(याज्ञ० स्मृ० १।४०)

'वेद ही द्विजातियोंका परम कल्याणकारक है।'

'वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।' (व्याकरणमहाभाष्य १।१।२)

* जो परमात्मा भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब वस्तुओंका अधिष्ठाता है, जिसका स्वरूप केवल सुखस्वरूप है उस ज्येष्ठ (सबसे बड़े) ब्रह्मको नमस्कार है।

'ब्रह्मबोधक वेदसमुदाय अवश्य जानना चाहिये।'

'वेदः चक्षुः सनातनम्।' (मनु० १२।९४)

'वेद ही सनातन चक्षु (मार्गदर्शक) है।'

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।
(मनु० १२।९८)

'भूत, भविष्यत्, वर्तमान् सबका ज्ञान वेदसे ही होता है।'

'नहि वेदात्परं शास्त्रम्।'
(अत्रिसंहिता १।१४८, महाभा० अनु० पर्व १०६।६५)

'वेदसे श्रेष्ठ अन्य शास्त्र नहीं है।'

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।' (मीमांसादर्शन १।१।२)

'जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वेदके विधिवाक्यसे ही जिसको जान सकते हैं वह इष्टवस्तु धर्म है।'

चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत्किञ्चेन्द्रियम्। अशक्यं हि तत्पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्।
(मीमांसाशाबरभाष्य १।२)

'वेदका विधिवाक्य भूत, भविष्यत्, वर्तमान सूक्ष्म व्यवहित और दूरवर्ती वस्तुका ज्ञान करा सकता है अन्य कोई इन्द्रिय आदि नहीं। बिना वेदके मनुष्य धर्म आदिके तत्त्वको नहीं जान सकता।'

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'(तैत्ति० ब्राह्मण ३।१२।९।७)

'जो वेदज्ञ नहीं है वह ब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है।' अर्थात् यह सिद्ध होता है कि वेदज्ञ ही परमात्माको जानता है, फलतः वेदोंमें भगवन्नाममहिमाका निरूपण अवश्य है, यह मानना ही पड़ेगा। वेदोंका अभ्यास भगवन्नामजप करनेसे ही सफल होता है।

'वेदाभ्यासो हि पञ्चधा विहितः—अध्ययनं विचारोऽभ्यसनं जपोऽध्यापनञ्च'
(ऋग्वेद प्रातिशाख्यकी वृत्तिके आरम्भमें ही।)

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥
(दक्षस्मृ० २।३४)

वेदोंका अभ्यास पाँच प्रकारसे कहा है—अध्ययन, विचार, अभ्यास, भगवन्नामजप और पढ़ाना। भगवन्नामकी महिमाका गान या भगवन्नामका जप यह शब्दब्रह्मकी उपासना है।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
(मैत्र्युपनिषद् ६।२२)

'शब्दब्रह्म और परब्रह्म ये दो (सगुण-निर्गुण) ब्रह्म ज्ञातव्य हैं, शब्दका ज्ञाता ही परब्रह्मका ज्ञाता हो सकता है।'

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥
(श्रीमद्भा० ११।११।१८)

'शब्दब्रह्मको न जानकर परब्रह्मको जो जाननेका प्रयत्न करता है, उसे सफलता नहीं मिलती, केवल श्रम ही होता है। जैसे दूध न देनेवाली गौको रखनेसे दुग्धप्राप्तिरूप फल नहीं मिलता।'

शब्दब्रह्म विना देवि! परं तु शवरूपवत्॥
(राधातन्त्र पटल १५)

'शङ्कर पार्वतीसे कहते हैं कि हे पार्वति! शब्दब्रह्मके बिना परब्रह्म मुर्दे-जैसा है।'

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्[1]।
(वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १)

'जो जन्ममरणरहित व्यापक ब्रह्म है वह शब्दतत्त्व ही है।' यद्यपि विकराल कलिकालमें भगवत्परायण होना कठिन है तथापि हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कलियुगको अपने परिश्रमसे सत्ययुग बना सकें।

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
(ऐ० ब्राह्मण ७।१५)

'सोनेवाला आलसी कलियुग है, जागकर अँगड़ाई लेनेवाला द्वापरयुग है, उठकर बैठनेवाला त्रेतायुग है और इधर-उधर फिरनेवाला परिश्रमी भगवत्स्मरणपरायण पुरुष सत्ययुग है।' आइये भगवन्नाममहिमाको वेदोंमें देखें। स्मरण रहे कि—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'
(आपस्तम्बश्रौतसूत्र २४।१।३१)

'मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते'
(बोधायनगृह्यसूत्र ३।६।२)

१. **'अश्नुते इत्यक्षरम्'** (व्याकरणमहाभाष्य १।१।२) इस महाभाष्यके अनुसार यहाँ 'अक्षर' का अर्थ व्यापक है।

'आम्नायः पुनर्मन्त्रा ब्राह्मणानि च'

(कौशिकसूत्र १ । ३)

—इत्यादि प्रमाणोंसे हमारे मतसे संहिताभाग, ब्राह्मणभाग, उपनिषद्भाग और आरण्यकभाग वेद है। अतः हम 'वेदोंमें भगवन्नाममहिमा' शीर्षक इस लेखमें उक्त ग्रन्थोंके ही प्रमाण उद्धृत करेंगे। वेदमन्त्रोंमें तो स्पष्ट भगवन्नाममहिमा है ही परन्तु वेदोंके नामसे भी उक्त कथन (भगवन्नाममहिमा) की पुष्टि होती है। जैसे—

'ऋक्' ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनयेति ऋक्।

'जिसके द्वारा देवताओंकी स्तुति की जाय वह ऋक् (वेद) है।'

'साम' स्यति पापमिति साम।

'जिससे पाप नष्ट हो वह साम (वेद) है।' वेदमन्त्रोंका गाना ही साम है।

'गीतिषु सामाख्या' (मीमांसादर्शन २ । १ । ३७)

'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते'

(उक्त सूत्रका शाबरभाष्य)

विशेषरूपसे गीत ही साम कहलाता है।

'गायन्ति यं सामगाः' (श्रीमद्भा० १२ । १३ । १)

'सामवेदी उस ही परमात्माको गाते हैं।'

'यजुः' इज्यतेऽनेनेति यजुः।

'जिससे परमात्माका पूजन किया जाय वह यजुः (वेद) है।'

'यजुर्यजतेः' (निरुक्त ७ । १२ । १२)

'यज् धातुसे यजुः बनता है।'

'अथर्व' न थर्वन्ति अथर्वाणः।

'भगवत्प्रतिपादनमें स्थिरताप्रतिपादक (मन्त्रसमुदाय) अथर्व (वेद) है।'

'गायत्री' गायतेः स्तुतिकर्मणः

(निरुक्त दैवतकाण्ड ७ । ३ । १३)

'तया हि गीयन्ते स्तूयन्ते देवताः।'

(उक्त निरुक्तका दुर्गाचार्यकृत भाष्य)

'स्तुति अर्थवाली 'गा' धातुसे 'गायत्री' शब्द बनता है, जिससे देवताओंकी स्तुति की जाय, वह गायत्री है।'

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्र्येषोच्यते बुधैः।

(आग्नेयपुराण)

'भगवन्नाम गान करनेवालेकी रक्षा करती है, इससे विद्वान् इसे गायत्री कहते हैं।'

'मन्त्रा मननात्' (निरुक्त ७ । १२ । १)

'आत्मतत्त्वका मनन जिससे होता है वे मन्त्र कहलाते हैं।'

'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त २ । ३ । १२)

'परमात्माको जाननेवालेको 'ऋषि' (वेद) कहते हैं, ऋषि (वेद) के अर्थके ज्ञाता और उसके प्रचारक ऋषि कहलाते हैं।'

'अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो हि ऋषयः'

(तैत्तिरीयसंहिताकी सायणभाष्यभूमिका)

'इन्द्रियोंके अविषय परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधन धर्मके देखनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं।'

स्तुतिः —'स्तुतिर्नाम गुणकथनपरमेकवाक्यम्'

(सामवे० सा० भा० भूमिका)

स्तुतिर्नाम गुणकथनं तच्च गुणज्ञानाधीनम्।

(मधुसूदन स० कृत महिम्न टी० १)

'गुणोंका गाना 'स्तुति' है, वह गुणोंके ज्ञानके अधीन है' यद्यपि भगवान्के गुणगणोंका अन्त नहीं है तथापि—

'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः।'

(श्रीमद्भा० १ । १८ । २३)

'अपनी शक्तिके अनुसार पक्षी आकाशमें उड़ते हैं।' इस न्यायके अनुसार भगवन्नाममहिमा कही जा सकती है, उक्त रीतिसे वेदोंके तथा वेदसम्बन्धी गायत्री आदि नामकरणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद उस जगदीश्वरके गुणगणका गान करते हैं।

'गतिसामान्यात्' (वेदान्तदर्शन १ । १ । ५ । १०)

समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।

(उक्त सूत्रका शाङ्करभाष्य

---

१. 'अथर्व' पदकी अन्यान्य व्युत्पत्तियाँ भी विद्वानोंने की हैं, परन्तु वे विवादग्रस्त हैं, गोपथब्राह्मण (१ । ४) में तो 'अथर्वाङेनमेतास्वप्स्वन्विच्छ' (हे भृगो ! इस ब्रह्मको इन ही जलोंमें नीचे देखो) इस प्रकारसे अन्य भी व्युत्पत्ति लिखी है, विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखा, विशेष जिज्ञासु वहीं देखें।

'सब वेदान्तों (उपनिषदों) में परमात्माको ही कारण बतलाया गया है ।'

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

(कठ० २ । १५–१७)

'यमराज नचिकेतासे कहते हैं—सब वेद जिस (ओम्) पदका प्रतिपादन करते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये सब तप किये जाते हैं, जिसके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, उस पदको मैं (यम) तेरे (नचिकेताके) लिये संक्षेपसे कहता हूँ, वह पद 'ओम्' यह है । यह 'ओम्' अक्षर ही अपर ब्रह्म है, यह 'ओम्' अक्षर ही परब्रह्म है, इस ब्रह्मको जानने (उपासना करने) से जो चाहता है वही हो जाता है । यही आलम्बन (सहारा) प्रशंसनीय है, यही आलम्बन श्रेष्ठ है, इस ओङ्काररूपी आलम्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।'

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति ।' (गीता ८ । ११)

'वेदवेत्ता उस ओंकारको अविनाशी ब्रह्म कहते हैं ।'

'ओमित्येतदक्षरं सर्वम्' (माण्डूक्य० १)

'ओङ्काररूप ही यह सब जगत् है ।'

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।' (तै० आ० १० । ३३)

'ओम्' यह एक अक्षर ब्रह्म है ।

'ओमभ्यादाने' (अष्टाध्यायीसूत्र ८ । २ । ८७)

'आरम्भ अर्थमें 'ओम्' प्लुत होता है अर्थात् ओम् ईश्वर-वाचक होनेसे आरम्भमें 'ओ३म्' ऐसा प्लुत बोलनेको पाणिनि ऋषि कहते हैं ।'

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।' (गीता ८ । १३)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(गीता १७ । २३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

(गीता १७ । २४)

इन गीतावाक्योंमें भी 'ओम्' इस अक्षरको ब्रह्म कहा है । 'ओम्' ब्रह्मका नाम है, 'ओम्' का उच्चारण करके ही यज्ञ, दान, तप आदि कार्य आरम्भ किये जाते हैं ।

'गिरामस्म्येकमक्षरम् ।' (गीता १० । २५)

'पदोंमें एकाक्षर 'ओम्' मैं ही हूँ ।'

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(मुण्डक० २ । ४)

'ओङ्कारको धनुष और आत्माको बाण बनाकर ब्रह्मको निशाना बनाकर सावधान होकर तीर छोड़े,' ऐसा करनेसे जैसे लक्ष्यपर छोड़ा हुआ बाण लक्ष्यमें प्रविष्ट होकर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा भी ओङ्काररूपी धनुषकी सहायतासे ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

'ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत'

(छान्दोग्य० १ । १)

'ओम् जिसका नाम है, जो अविनाशी है उसकी उपासना करनी चाहिये ।'

अथर्वशीर्ष आदि उपनिषदोंमें ओम्, प्रणव, तार आदिकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए यह कहा है कि भगवन्नाम ओङ्कार, प्रणव, तार आदि नामोंके उच्चारण करनेसे ही जन्म-मरणरूप संसारभयसे त्राण (रक्षण) हो जाता है ।

'एकाक्षरं परं ब्रह्म ।' (मनु० २ । ९३)

'ओम् यह एक अक्षर ब्रह्म है ।'

'प्रणवः सर्ववेदेषु ।' (गीता ७ । ८)

'सब वेदोंमें मैं प्रणवस्वरूप हूँ ।'

'ओङ्कारः ।' (गीता ९ । १७)

'ओङ्कार मैं ही हूँ ।'

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।' (सूर्योपनिषद्, नारायणोपनिषद्)

'ओम् एक अक्षर ब्रह्म है ।'

ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येव व्यवस्थितम् ।

(विष्णुपु० ३ । ३ । २२)

'एक अक्षर ब्रह्म ओम् ही है ।'

'ओङ्कारस्तु परं ब्रह्म ।' (औशनससंहिता ३ । ५२)

'ओङ्कार ही परब्रह्म है ।'

'ओमिति ब्रह्म' (तैत्ति० उ० ८ । १)

'एकाक्षरं परं ब्रह्म ।' (ब्रह्मज्ञानतन्त्र पटल ६)

'ब्रह्म वै प्रणवः ।' (कौषितकिब्राह्मण ११ । ४)

'ओङ्कार ही ब्रह्म है ।'

'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।'
(तै॰ आरण्यक १० । १०)

'जो प्रणव वेदके आदिमें उच्चारण किया जाता है और वेदके अन्तमें प्रतिपादन किया जाता है ।'

'नमस्ताराय ।' (यजुर्वेद)

'संसाररूपी समुद्रके पार उतारनेवाले ओङ्कारको नमस्कार है ।'

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् सर्वाणि स्रोतांसि भयावहानि ।
(श्वेता॰ २ । ८)

'विद्वान्‌को चाहिये कि ओङ्काररूपी नौकाके द्वारा सब भयानक संसारनदीके प्रवाहोंको तैर जाय ।'

'ओम्' इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ।' (व्याकरण म॰ भा॰ पस्पशाह्निक १ । १ । १)

—वेदोंके पढ़नेवाले 'ओम्' ऐसा कहकर—

'शंनो देवीरभीष्टये' 'इषेत्वोर्जेत्वा' 'अग्निमीळे पुरोहितम्' 'अग्न आयाहि वीतये ।'[1]

—इत्यादि मन्त्रोंको पढ़ते हैं ।

'शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ।'

व्याकरणमहाभाष्यमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—'हम वेदरूप शब्दको प्रमाण मानते हैं, जो भी वेदरूप शब्द कहता (प्रतिपादन) करता है वही प्रमाण है ।' महर्षि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायीमें कहते हैं—

'प्रणवष्टेः ।' (८ । २ । ८९)

यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशः स्यात् ।

'वेदके मन्त्र जब यज्ञोंमें पढ़े जायँ तब मन्त्रके 'टि'[2] की जगहमें 'ओम्' शब्द हो जायगा, जैसे 'अपां रेतांसि जिन्वति' इस मन्त्रको 'अपां रेतांसि जिन्वतोम्' ऐसा पढ़ा जाता है ।

'रत्नधातमम् ।' (ऋग्वेद १ । १ । १)

इस ऋग्वेदमन्त्रको 'रत्नधातमोम्' ऐसा पढ़ा जाता है । ईश्वरवाचक 'ओङ्कार' के बिना लगे मन्त्र, यज्ञके योग्य ही नहीं होते ।

'ओमिति प्रणौति ।' (ऐ॰ ब्रा॰ ५ । ३२)

'ओम् ब्रह्मकी स्तुति करते हैं ।'

'ओम् खं ब्रह्म ।'
(शतपथ ब्रा॰ १४ । ८ । १ । १; यजुर्वेद ४० । १५)

'ओम् ब्रह्म आकाशवत् व्यापक है ।'

गोपथब्राह्मण (१ । २ । ३) में एक कथा लिखी है कि—देवता भयभीत होकर सोचने लगे कि इन असुरोंको कौन मारेगा तब ओङ्कारने आकर ही असुरोंको मारा ।

यो ह वा एतमोङ्कारं न वेदावशः स्यात्, इति य एवं वेद ब्रह्मवशः स्यात् । (गोपथ॰ १ । २३)

'जो इस ओङ्कारको नहीं जानता, वह वेदके वशमें नहीं रहता, जो ओङ्कारको जानता है वह वेदकी आज्ञा माननेवाला होता है ।'

न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुर्यदि वदेयुरब्रह्म तत्स्यात् ।' (गो॰ ब्रा॰ १ । २३)

'मुझ ओङ्कारको न उच्चारण करके ब्राह्मण वेदको न बोलें, यदि बोलेंगे तो वह (ओङ्कारके बिना उच्चारण किया) वेद, वेदहीन होवेगा ।'

'मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।' (श्रीमद्भा॰ ११ । १६ । १२)

'मन्त्रोंमें अकार, उकार और मकार अक्षरयुक्त ओङ्कार सर्वोत्तम मन्त्र है ।' ओङ्कार 'आप्लृ' धातु और रक्षा आदि अनेक अर्थवाली 'अव्'[3] धातुसे 'ओम्' बनता है, व्यापक अथवा रक्षक या प्रकाशक अनेक अर्थ 'ओम्' के होते हैं (गोपथब्रा॰ १ । २६) ।

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (ऋग्वेद १ । १६४ । ३९)

'कतमत् तदेतदक्षरम् ? ओमित्येषा शाकपूणिः ।
(निरुक्त १३ । १०)

१. ये क्रमशः अथर्ववेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेदके आरम्भके पहिले मन्त्र हैं ।

२. व्याकरणमें अन्तका स्वरवर्ण 'टि' कहलाता है, देखो अष्टाध्यायीसूत्र (१ । १ । ६४) ।

३. 'अवतेष्टिलोपः' (उणादिसूत्र १ पा॰) रक्षा आदि अर्थवाली 'अव्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय होता है और 'मन्' प्रत्ययके 'टि' (अन्) का भी लोप हो जाता है, 'अव-म्' ऐसा हुआ, 'ज्वरत्वर' सूत्र (६ । ४ । २०) से 'अव' के 'व्' को 'ऊठ्' हुआ, गुण हो गया, ऐसे 'ओम्' सिद्ध होता है ।

यास्काचार्य निरुक्तमें कहते हैं कि **'ऋचो अक्षरे'** इस मन्त्रमें जो 'अक्षर' शब्द आया है उसका क्या अर्थ है ! अर्थात् वह कौन-सा अक्षर है ? शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि मन्त्रमें जो 'अक्षर' शब्द आया है उसका अर्थ 'ओम्' है, बहुत-से विद्वानोंका यह मत है कि मन्त्रोंमें जहाँ 'व्योमन्' पद आया है उसमें गुप्तरूपसे 'ओम्' आया है, जैसे—

'परमे व्योमन्' (अथर्ववेद ५ । १७ । ६, ६ । १२३ । १ ७ । ५ । ३) इत्यादि ।

चारों वेदोंमें भी 'व्योमन्' पद आया है, वि-ओम्-अन्, वि—प्रकृति, ओम्—ब्रह्म, अन्—जीव, प्रकृति और जीवका प्रकाशक वह ब्रह्म है, अथवा वि—विशेषरूपेण ओम् रक्षक परमात्मा, अन् (अनिति प्राणयति इति अन्) सबको प्राणशक्ति (जीवन) देनेवाला है ।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥

(मनुस्मृति २ । ७४)

वेदाध्ययनके आरम्भमें और समाप्तिमें (अन्तमें) 'ओम्' का उच्चारण करना चाहिये, जिसके आदि-अन्तमें 'ओम्' न कहा जाय वह कर्म नष्ट हो जाता है, अर्थात् फलप्रद नहीं होता । इस मनुवाक्यसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कर्मके आदि-अन्तमें प्रभु रहते हैं, अतः (कर्मके) आदि-अन्तमें उन (प्रभु) का पवित्र 'ओम्' नाम अवश्य लेना चाहिये ।

महर्षि पतञ्जलि योगसूत्रमें कहते हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

(१ । २७, २८)

'ईश्वरवाचक ओंकार है, उसका ही जप और उसके ही अर्थका विचार करना चाहिये,' भाव कि प्रभुका नाम लेना ही 'जपयज्ञ' है । 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १० । २५) यज्ञोंमें मैं 'जपयज्ञ' हूँ ।

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः ।
तस्माज्जप इति प्रोक्तः जन्मपापविनाशकः ॥

(आग्नेयपुराण)

जन्म और जन्मके हेतु पापको नाश करनेसे 'जप' कहा जाता है ।

'यः स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्म ।' (तै० आ० २ । १० । ६)

'स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २ । १६)

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २ । १५)

'स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः' (शत० ब्रा० ११ । ५ । ६ । २)

वेदोंका अध्ययन ही ब्रह्मयज्ञ है, उक्त मन्त्रोंका अर्थ है, यदि वेदोंमें प्रभुके गुणगणोंकी महिमाका प्रतिपादन न होता, तो 'ब्रह्मयज्ञ' यह नामकरण ही निरर्थक होता ।

महर्षि व्यासजी तो योगदर्शनपर अपने बनाये हुए योगभाष्य (२ । १ सूत्रकी व्याख्या) में—

'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्रमन्त्राणां जपः ।'

'प्रणव (ओम्) आदि पवित्र मन्त्रोंका जप ही 'स्वाध्याय' है । भगवन्नाममहिमाके बोधक मन्त्र—

नकिरिन्द्र ! त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् ।'

(ऋग्वेद ६ । १९ । १)

हे निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न तथा अज्ञाननाशक भगवन् ! आपसे अधिक कोई बड़ा नहीं है, आपसे कोई अच्छा नहीं है, आप जैसे हैं ऐसा कोई नहीं है ।

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजुः ३२ । ३)

'उस परमात्माके सदृश और कोई नहीं है, जिसका बड़ा यश है ।'

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वेता० उ० ६ । ८)

'न कोई भगवान्‌के तुल्य है न कोई उससे बढ़कर है ।'

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।'

(योग सू० १ । २६)

'वह ईश्वर ब्रह्मा आदिका भी गुरु है, कालादिसे अवच्छिन्न होनेसे ।'

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।

(यजु० १७ । १९, ऋक् ८ । ३ । १६)

सब ओर जिसके चक्षु व्याप्त हैं और चारों ओर मुख, भुजा तथा पाद (पैर) (जिसके) व्याप्त हैं उस परमात्माने तीनों लोकोंको पैदा किया है, कैसे पैदा किया उसको कहते हैं—भुजाओंसे आकाशको उत्पत्तिके लिये अच्छी तरहसे प्रेरणा करता है और चरणोंसे पृथ्वीकी उत्पत्तिके लिये प्रेरणा करता है, आकाश और पृथ्वी तथा तदुपलक्षित सब जगत्‌को उत्पन्न करनेवाला स्वयंप्रकाश एक ही परमात्मा है ।

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋग्वेद १० । ९० । १६)

ज्योतिष्टोम आदि यज्ञकर्मसे उस यज्ञ-पूजनीय (परमात्मा) का देवताओंने यजन किया था । यज्ञका अर्थ पूजनीय परमेश्वर है ।

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।'

(ऋग्वेद १० । ९० । ९)

इस मन्त्रको उद्धृत करके सायणाचार्य अपने ऋग्वेद-भाष्यभूमिकाके आरम्भमें ही—

'सहस्रशीर्षा पुरुष इत्युक्तात् परमेश्वरात् यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात् सर्वहुतः सर्वैर्हूयमानात् ।'

(ऋग्वेद १० । ९० । १)

'सहस्रशीर्षा पुरुष' इस मन्त्रसे कहे गये यज्ञ-पूजनीय परमेश्वरसे ऋक् आदि वेद प्रकट हुए हैं ।

'यज्ञो[1] वै विष्णुः ।' (यजु० २२ । २, शत० ब्रा० १३ । १ । ८ । ८, ताण्ड्यब्रा० ९ । ६ । १०)

यज्ञ व्यापक परमात्माका नाम है ।

'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० उ० ४ । १० । ५)

सुखस्वरूप और व्यापक ब्रह्म है ।

'सत्यं ब्रह्म' (शत० ब्रा० १४ । ८ । ५ । १)

त्रिकालाबाध्यस्वरूप सत्यब्रह्म है ।

'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः'

(यजुर्वे० वा० सं— १६ । ५४)

'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'

(तै० सं० १ । ८ । ६ । १)

वह परमात्मा एक ही है दूसरा परमात्मा नहीं है ।

'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥' (मुण्डक० २ । २ । ५)

उस एक ही आत्मा[2] (व्यापक चेतन) को जानो, भगवत्सम्बन्धी विचारोंसे अन्य बातोंको छोड़ो, यह आत्म-विचार मोक्ष-प्राप्तिका सेतु[3] (पुल) है ।

'नानुध्यायान् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्'

(शतप० ब्रा० १४ । ७ । २ । २३)

भगवत्-महिमासे भिन्न अर्थवाले शब्दोंका चिन्तन या उच्चारण नहीं करना चाहिये, वे शब्द केवल वागिन्द्रियको क्लेश ही देनेवाले हैं ।

'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'नाल्पे सुखमस्ति', 'भूमैव सुखम् ।'

(छा० उ० ७ । २२ । १)

जो व्यापक ब्रह्म है वह सुखरूप है, परिच्छिन्न संसारी पदार्थोंमें सुख नहीं किन्तु वे दुःखरूप ही हैं, 'भूमा' ही सुख है ।

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २ । ४ । ६)

यह सब जगत् आत्मरूप है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३ । १४ । १)

यह सब जगत् निश्चयरूपसे ब्रह्मस्वरूप है ।

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७ । १९)

यह सब जगत् वासुदेवस्वरूप है ।

'महापुरुषं यमवोचाम' (ऐ० आ० ३ । २ । ३)

जिस परमात्माको महापुरुष (श्रेष्ठ पुरुष) कहा है ।

'शन्नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य' (भागवत ११ । ६ । १४)

पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरण कल्याण करें ।

'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते'

(ऐ० आ० ३ । २ । ३)

इस परमात्माकी ही ऋग्वेदीलोग 'उक्थस्तोत्र' में मीमांसा[4] (प्रशस्त विचार) करते हैं ।

'अग्निमीडे' (ऋग्वेद १ । १ । १)

मैं परमात्माकी स्तुति करता हूँ ।

'अग्न आयाहि' (सामवे० १ । १ । १ । १)

---

१. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

(गीता ३ । ९)

ईश्वरार्पणबुद्धिसे जो कर्म नहीं किया जाता है वही बन्धन-कारक है, इस गीतावाक्यमें 'यज्ञ' का अर्थ परमात्मा है ।

२. 'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सर्वत्र व्यापक है वह आत्मा है ।

३. 'संसारमहोदधेरुत्तरणहेतुत्वात्' (उक्त श्रुतिका उपनिषद् भाष्य) संसाररूपी महासमुद्रके पार जानेका साधन होनेसे 'सेतु' कहलाता है ।

४. 'मीमांसाशब्दः पूजितविचारवचनः' (भामती १ । १ । १ । १) अच्छे विचारका नाम मीमांसा है

हे परमात्मन् ! आइये दर्शन दीजिये। यहाँ 'अग्नि' शब्दका अर्थ अध्यात्मपक्षमें परमात्मा है, यथा—

'अञ्चति सकलवेदान्तप्रतिपाद्यत्वं गच्छतीत्यग्निः'

(तैत्ति० सन्ध्याभाष्य)

सकल उपनिषद्प्रतिपाद्य परमात्माको 'अग्नि' कहते हैं।

'अञ्चति गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति अग्निः'

(अथर्ववेद० सा० भा० ३ । १ । १)

सर्वत्र चेतनरूपसे जो व्यापक है सो ही 'अग्नि' है।

'अग्निर्देवता ब्रह्म' (तैत्ति० आ० १० । ३३)

अग्निस्वरूप परमात्मा देवता है।

'ब्रह्म ह्यग्निः' (शत० ब्रा० ८ । ५ । १ । १२)

ब्रह्म ही अग्नि है।

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' (ऋग्वेद २ । ७ । १ । ५ । २२ । २०)

विद्वज्जन व्यापक विष्णुके परम उत्कृष्ट पद (भगवन्नाम-रूप पद) को सर्वदा शास्त्रदृष्टिसे देखते हैं, जैसे आकाशमें फैली हुई नेत्रकी ज्योति अच्छी तरहसे देखती है।

'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णो-र्यत्परमं पदम्।' (ऋग्वेद २ । ७ । १ । ५ । २२ । २१)

जो विष्णुका परम श्रेष्ठ पवित्र पद (नाम) है उसको मेधावी विशेष स्मरणशक्तिसम्पन्न बुद्धिमान् तथा विपन्यवः[1] विशेषरूपसे स्तुति करनेवाले एवं शब्द और अर्थके प्रमाद (भूल) से रहित अर्थात् नाम और नामीके रहस्यज्ञजन अच्छी तरहसे प्रकाशित करते हैं।

'कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम'

(ऋग्वेद २ । १२ । १ । ६ । २४ । १)

यूप (यज्ञ-स्तम्भ) में बँधा हुआ भयभीत 'शुनःशेप' विचार करता है कि सब देवताओंमेंसे सुखदायी किस देवता-का सुन्दर नाम हम (मनामहे[2]) उच्चारण करें जिससे इस बन्धनसे मुक्त हो सकूँ, अनेक सङ्कल्प-विकल्प करके अन्तमें यह निश्चय किया कि—

'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम'

(ऋग्वेद १३ । १ । ६ । २४ । २)

सब देवताओंमें प्रथम (सबसे श्रेष्ठ) परमात्माके श्रवण-प्रिय सुन्दर नामका हम उच्चारण करते हैं।

'अग्निर्हि देवानां नेदिष्ठः' (ऐ० ब्रा० ७ । १६)

सब देवोंमेंसे परमात्मा ही अति समीप है, वही अग्नि है, वही शीघ्र रक्षा करनेवाला है, उसका ही नाम स्मरण करना चाहिये।

'तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य !
विश्वमाभासि विरोचनम् ॥'

(ऋग्वेद ४ । ७ । १ । ९ । ५० । ४)

हे सूर्य![1] अन्तर्यामी होनेसे सबके प्रेरक (हे परमात्मन् !) आप संसार-समुद्रके पार उतारनेवाले हैं, आप ही मुमुक्षुओं-के साक्षात् करनेयोग्य हैं, आप सूर्य आदिके भी कर्त्ता[2] हैं, सब जगत् प्रकाशित हो ऐसा प्रकाश करते हैं। कठ उपनिषद्-में भी कहा है कि—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

(२ । ५ । १५)

उस परमात्माके प्रकाशके पीछे सब वस्तु प्रकाशित होती हैं, उसके ही प्रकाशसे यह जगत् प्रकाशित होता है।

'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' (ऋग्वेद ६ । ४ । २९)

एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है।

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः'

(ऋग्वेद १ । ६ । १६, सामवेद उ० २१ । १ । २)

हे देवगण ! हम कानोंसे भली बातें (भगवन्नाम-महिमा) सुनें यही प्रार्थना है। **[क्रमशः]**

१—'विपन्यवः' 'विशेषेण स्तोतारः' (उक्त मन्त्रका सा० भाष्य) विशेषरूपसे स्तुति करनेवाले 'विपन्यवः' (विपन्यु) कहलाते हैं।

२—मनामहे—उच्चारयामः (उक्त मन्त्रका सा० भा०) मनामहेका अर्थ; 'उच्चारण करते हैं' है।

१—सुवतीति 'सूर्यः' (सू प्रेरणे धातु) प्रेरकका नाम सूर्य। देखो ऋग्वेद सायणभाष्य (३ । ७ । १ । ७ । ३५ । ७)।

२—'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' (ऋग्वेद ८।४ १९) विराट् पुरुषके मनसे चन्द्रमा और नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुए।

बाल-शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गतांकसे आगे]

विद्या

संसारमें विद्याके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। संसारके पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। विद्या तो बाँटनेसे भी बढ़ती है। आदर, सत्कार, प्रतिष्ठा भी विद्यासे मिलते हैं क्योंकि विद्वान् जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसका आदर-सत्कार होता है। विद्याके प्रभावसे मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है, विद्या गुप्त और परमधन है।

भोगके द्वारा विद्या कामधेनु और कल्पवृक्षकी भाँति फल देनेवाली है। विद्याकी बड़ाई कहाँतक की जाय मुक्तितक विद्यासे मिलती है क्योंकि ज्ञान विद्याका ही नाम है और बिना ज्ञानके मुक्ति होती नहीं, इसलिये विद्या मुक्तिको देनेवाली भी है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

(भर्तृहरिनीतिशतक २०)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है, विद्या परम देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥

(चाणक्य ४ । ५)

विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है, यह विद्या मनुष्यका गुप्तधन समझा गया है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।

न चोरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बटवारा नहीं करा सकते और इसका कुछ भार भी नहीं लगता, तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती रहती है अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।

धर्मशास्त्रोंका ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। शास्त्रका अभ्यास वाणीका तप है ऐसा गीतामें भी कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

(१७ । १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला प्रिय और हितकारक (एवं) यथार्थ भाषण है और (जो) वेद-शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अतएव बालकोंको शास्त्रोंके अभ्यासके लिये

तो विद्याका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। विद्या पढ़ानेमें माता-पिताको भी पूरी सहायता करनी चाहिये। क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते हैं वे शत्रुके समान माने गये हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥
(चाणक्य २।११)

'वे माता और पिता वैरीके समान हैं जिन्होंने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी, क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकोंको भी स्वयं पढ़नेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि चाणक्यमें कहा है—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥
(३।८)

'विद्यारहित मनुष्य रूप और यौवनसे सम्पन्न एवं बड़े कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विद्वानोंकी सभामें उसी प्रकार शोभा नहीं पाते जैसे बिना गन्धका पुष्प।'

इसलिये हे बालको! विद्याका अभ्यास भी तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यकीय है। अबतक जितने विद्वान् हुए और वर्तमानमें जो हैं, उनका विद्याके प्रतापसे ही आदर-सत्कार हुआ और हो रहा है।

बड़प्पन और गौरवमें भी विद्याके समान जाति, आयु, अवस्था, धन, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है। मनुजी कहते हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥
(२।१३६)

'धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और पाँचवीं विद्या ये बड़प्पनके स्थान हैं। इनमें जो-जो पीछे है वही पहलेसे बड़ा है अर्थात् धनसे कुटुम्ब बड़ा है इत्यादि।'

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥
(२।१५४)

'न बहुत वर्षोंकी अवस्थासे, न सफेद बालोंसे, न धनसे, न भाई-बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है। ऋषियोंने यह धर्म किया है कि जो अङ्गोंसहित वेद पढ़नेवाला है वही हमलोगोंमें बड़ा है।'

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥
(२।१५६)

'सिरके बाल सफेद होनेसे कोई बड़ा नहीं होता। तरुण होकर भी जो विद्वान् होता है उसे देवता वृद्ध मानते हैं।'

यही क्या विद्यासे सब कुछ मिल सकता है किन्तु कल्याणके चाहनेवाले मनुष्योंको केवल वेद, शास्त्र और ईश्वरका तत्त्व जाननेके लिये ही अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करनेमें सांसारिक सुखोंका त्याग और महान् कष्टका सामना करना पड़े तो भी हिचकना नहीं चाहिये।

इसलिये हे बालको! तुमलोगोंको भी स्वाद, शौक, भोग, आराम, आलस्य और प्रमादको विद्यामें बाधक समझकर इन सबका एकदम त्याग करके विद्याभ्यास करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा

माता, पिता, आचार्यकी सेवा और आज्ञा-पालनके समान बालकोंके लिये दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। मनुने भी कहा है—इन सबकी सेवा ही परमधर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(२ । २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता । यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

बात यह है शास्त्रोंमें माता, पिता, आचार्यको तीनों लोक, तीनों वेद और देवता बतलाये हैं। श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाला हो ।'

मनुने कहा है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥
(२ । २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं ।'

भगवान्ने तपकी व्याख्या करते हुए प्रथम बड़ोंकी सेवा-पूजाको शरीरका तप कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(गीता १७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

इसलिये बालकोंको उचित है कि आलस्य और प्रमादको छोड़कर माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवाको परमधर्म समझकर उनकी पूजा-सेवा एवं आज्ञाका पालन तत्पर होकर करें।

गुरुजनोंकी सेवा

मनुष्य केवल गुरुकी सेवासे भी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है । गीतामें भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं वे (स्वयम्) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।'

इस प्रकारके वेद और शास्त्रोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं । एक समय आयोदधौम्य मुनिने पंजाबनिवासी आरुणि नामक शिष्यसे कहा—'हे आरुणे ! तुम खेतमें जाकर बाँध बाँधो। आरुणि गुरुकी आज्ञाको पाकर वहाँ गया, पर प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकारसे वह जलको नहीं रोक सका । अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं क्यारीमें जाकर लेट रहा । उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया । समयपर आरुणिके न लौटनेसे, आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा, पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है ? शिष्योंने उत्तर दिया आपने ही उसे खेतका बाँध बाँधनेके लिये भेजा है । शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा चलो, जहाँ आरुणि गया है वहीं हम सबलोग चलें । तदनन्तर गुरुजी वहाँ बाँधके पास पहुँचकर, उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे— 'बेटा आरुणे ! कहाँ हो, चले आओ ।' आरुणि उपाध्यायकी बात सुनकर उस बाँधसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला— 'हे भगवन् ! आपके खेतका जल निकल रहा था, मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें

मैं वहाँ लेट गया इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ,—आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! बाँधका उद्दलन करके निकले हो इसलिये तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होओगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा दिखलाते हुए बोले, 'तुमने तन, मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।' इसके उपरान्त वह गुरुके प्रसादको पाकर आरुणि (उद्दालक) गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया। (महाभारत आदिपर्व अध्याय ३)

जबाला नामकी एक स्त्री थी, उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक समय वह हारिद्रुमत-गौतमके पास जाकर कहा 'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा 'हे सौम्य! तू किस गोत्रवाला है?' तब सत्यकाम बोला 'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा 'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता अतएव तू ब्राह्मण है, क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।'

फिर गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर, गौओंके झुण्डमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा कि 'हे सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा 'इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' तब वह एक अच्छे वनमें गया जहाँ जल और तृणकी बहुतायत थी। और बहुत कालपर्यन्त उनकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक साँड़ने उससे कहा कि 'हे सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये हैं—अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो। इसके बाद सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया और गुरुकी आज्ञापालनके प्रतापसे ही उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मुद्गलद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्योपनिषद् अ० ४ खं० ४ से ९ तकमें है।

एक समय जबालाके पुत्र सत्यकामसे कमलके पुत्र उपकोशलने यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक उनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोशल खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपकी आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश बिना दिये ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोशलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर वापस आये और उससे पूछा—'हे सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रतीत होता है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' तब उपकोशलने इशारोंसे अग्नियोंको बतलाया। उसके बाद आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दी। तब आचार्य बोले—'हे सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होगा।' तब उपकोशलने कहा—'मुझे बतलाइये'—फिर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उससे वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। यह कथा छान्दोग्य० अ० ४ खण्ड १० से १५ तकमें है।

आजकलके प्रायः बालक किसके साथमें कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस बातको भूल गये। और-

की तो बात ही क्या है—उपाध्याय, गुरु, आचार्य और शिक्षा देनेवाले गुरुजनोंके साथ भी सत् व्यवहार करना तो दूर रहा कुछ विद्यार्थी तो घृणा एवं तुच्छ दृष्टिसे उनको देखते हैं और कोई-कोई तो तिरस्कारपूर्वक उनका हँसी-मजाक उड़ाते हैं। यह सब शास्त्रकी शिक्षाके अभावका परिणाम है। गुरुओंके पास जाकर किस प्रकारसे उनकी सेवा-पूजा, सत्कार करते हुए व्यवहार करना चाहिये यह मनु आदि महर्षियोंकी शिक्षाको देखनेसे ही मालूम हो सकता है। हमारे इस देशका कितना ऊँचा आदर्श था कि गुरुजनोंके साथमें कैसा व्यवहार था और कैसी सभ्यता थी, उसका स्मरण करनेसे मनुष्य मुग्ध हो जाता है। मनुजी कहते हैं—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥
(२।१९२)

'शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रियाँ और मन इन सबको रोककर हाथ जोड़े, गुरुके मुखको देखता हुआ खड़ा रहे।'

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥
(मनु० २।१९४)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले उठे और पीछे सोवे।'

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥
(मनु० २।१९६)

शिष्यको चाहिये कि 'बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर, खड़े हुएसे उनके सामने जाकर, अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर बातचीत करे।'

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥
(मनु० २।१९८)

'गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसन सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये। गुरुके साथ असत्य आचरण करनेसे उसकी दुर्गति होती है।' मनुजीने कहा है—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥
(मनु० २।२०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा, उनकी निन्दा करनेवाला कुत्ता, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि और उनके साथ डाह करनेवाला कीट होता है।'

इसलिये उनके साथ असत् व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये।

हे बालको! जब तुम गुरुजनोंके पास विद्या सीखने जाओ, तब मन, वाणी, इन्द्रियोंको वशमें करके सादगीके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुजनोंके समीप उनसे नीचे कायदेमें रहते हुए, विनय और सरलताके साथ, उनको प्रणाम करते हुए विद्याका अभ्यास एवं प्रश्नोत्तर किया करो।

इस प्रकार व्यवहार करनेसे गुरुजन प्रेमसे उपदेश, शिक्षा, विद्यादिका प्रदान प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं। सेवा करनेवाला सेवक उनसे विद्या सहजमें ही पा सकता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४।३४)

अब यह बतलाया जाता है कि गुरुजनोंके

पास जाकर कैसे प्रणाम करना चाहिये। मनुने कहा है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(२।७२)

हाथोंको हेरफेर करके गुरुके चरण छूने चाहिये। बायें हाथसे बायाँ और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।

माता-पितादि अन्य पूज्यजनोंके साथ भी इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि बड़ी बहिन, बड़े भाईकी स्त्री, मौसी, मामी, सास, फूआ आदि भी गुरुपत्नी और माताके समान हैं। और इनके पति गुरु और पिताके समान हैं। इसलिये इन सबकी सेवा, सत्कार, प्रणाम करना मनुष्यका कर्तव्य है।

अपनेसे कोई किसी भी प्रकार बड़े हों उन सबकी सेवा और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उनमें भी वेद और शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण तो सबसे बढ़कर सत्कार करने योग्य है।

माता-पिताकी सेवा

माता-पिताकी सेवाकी तो बात ही क्या है—वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य हैं। मनुने भी कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(२।१४५)

बड़प्पनमें दश उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे एक माता बड़ी है।

इसलिये कल्याण चाहनेवालेको श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक तत्परताके साथ उनकी सेवा करना उचित है। देखो, महाराज युधिष्ठिर बड़े सदाचारी, गुणोंके भण्डार, ईश्वरभक्त, अजातशत्रु एवं महान् धर्मात्मा पुरुष थे जिनके गुण और आचरणोंकी व्याख्या कौन लिख सकता है। ये सब बात होते हुए भी वे अपने माता-पिताके भक्त भी असाधारण थे। इतना ही नहीं वे अपने बड़े पिता धृतराष्ट्र एवं गान्धारीके भी कम भक्त नहीं थे। वे उनकी अनुचित आज्ञाका पालन करना भी अपना धर्म समझते थे। राजा धृतराष्ट्र-ने पाण्डवोंको भस्म करनेके उद्देश्यसे लाक्षाभवन बनवाया और उसमें बुरी नीयतसे पाण्डवोंको मातासहित वास करनेकी आज्ञा दी। इस कपट-भरी आज्ञाको भी युधिष्ठिरने शिरोधार्य करके राजा धृतराष्ट्रके षड्यन्त्र-पूर्ण भावको समझते हुए भी वारणावत नगरमें जाकर लाक्षाभवनमें निवास किया किन्तु धर्मका सहारा लेनेके कारण इस प्रकारकी आज्ञाका पालन करनेपर भी धर्मने उनकी रक्षा की। साक्षात् धर्मके अवतार विदुर-जीने सुरङ्ग खुदवाकर लाक्षागृहसे मातासहित पाण्डवोंको निकालकर बचाया। क्योंकि जो पुरुष धर्मका पालन करता है, धर्मको बाध्य होकर उसकी अवश्यमेव रक्षा करनी पड़ती है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि धर्म किसीको नहीं छोड़ता—लोग ही उसे छोड़ देते हैं अतएव मनुष्यको उचित है कि घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, लोभ, भय और मोहके वशीभूत होकर धर्मका त्याग कभी न करें।

राजा युधिष्ठिरपर बहुत आपत्तियाँ आयीं, पर उन्होंने बराबर धर्मका पालन किया इसलिये धर्म भी उनकी रक्षा करते रहे।

जुआ खेलना महापाप है और सारे अनर्थोंका कारण है, ऐसा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा होनेके कारण राजा युधिष्ठिरने जुआ खेला। उसके फलस्वरूप द्रौपदीका घोर अपमान और वनवासके

महान् कष्टको सहन किया, किन्तु आज्ञापालन-रूप धर्मका त्याग न करनेके कारण भगवान्की कृपासे अन्तमें उनकी विजय हुई।

इसके बाद उस अतुल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी राजा युधिष्ठिरने अपने साथ घोर अन्याय करनेवाले धृतराष्ट्र और गान्धारीको नित्य प्रणाम करते हुए उनकी सेवा की। जब धृतराष्ट्र वनमें जाने लगे उस समय अपने मरे हुए बन्धु-बान्धवों और पुत्रोंके उद्देश्यसे अपरिमित धन ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये इच्छा प्रकट की। उस समय राजा युधिष्ठिरने साफ शब्दोंमें विदुरके हाथ यह सन्देशा भेजा कि 'मेरा जो भी कुछ धन है वह सब आपका है। मेरा शरीर भी आपके अधीन है, आप इच्छानुसार जो चाहें सो कर सकते हैं!' (महाभारत आश्रमवासिकपर्व अ० १२)। पाठकगण! जरा सोचिये और ध्यान दीजिये। अपने साथ इस प्रकारका विरोध करनेवाले एवं प्राण लेनेकी चेष्टा रखनेवालोंके साथ भी ऐसा धर्मयुक्त उदारतापूर्ण व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। इसीलिये आज संसारमें राजा युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हैं। और धर्मपालनके प्रभावसे ही वे सदेह स्वर्गको जाकर उसके बाद अतुलनीय परमगतिको प्राप्त हो गये। अतएव हमलोगोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेपर भी माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलताके साथ करनी ही चाहिये।

फिर जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेके योग्य हैं। क्योंकि हमलोगोंके पालन-पोषणमें उन्होंने जो क्लेश सहा है उनका स्मरण करनेसे रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। मनुने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
(२। २२७)

मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।

इसलिये हमलोगोंको बदला चुकानेका उद्देश्य न रखकर उनकी सेवा-पूजा और आज्ञाका पालन अपना परम कर्तव्य समझकर करना चाहिये। ऐसा करना ही परमधर्म और परमतप है अर्थात् माता-पिताके सेवाके समान न कोई धर्म है और न कोई तप है। देखो, धर्मव्याध व्याध होनेपर भी माता-पिताकी सेवाके प्रतापसे त्रिकालज्ञ हुए। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक अपने माता-पिताकी सेवा की।

वे अपने माता-पिताको सबसे उत्तम देव-मन्दिरके समान सुन्दर घरमें रक्खा करते थे—उसमें बहुत-से पलंग, आसन आरामके लिये रहते थे। जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं वैसे ही वे अपने माता-पिताको ही यज्ञ, होम, अग्नि, वेद और परमदेवता मानकर पुष्पोंसे, फलोंसे, धनसे उनको प्रसन्न करते थे। वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराके उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते तथा उनके अनुकूल चलते थे। इस प्रकार वे आलस्यरहित होकर शम, दम आदि साधनमें स्थित हुए अपना परमधर्म समझकर मन, वाणी, शरीरद्वारा तत्परतासे पुत्र, स्त्रीके सहित उनकी सेवा करते थे। जिसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति, दिव्यदृष्टिको प्राप्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए (महा० व० प० अ० २१४-२१५)।

कौशिकमुनि जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना तप करने चले गये थे, वह भी इन धर्मव्याध-

के साथ वार्तालाप करके तपसे भी माता-पिताकी सेवाको बढ़कर समझ पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

जो माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन न करके और उससे विपरीत आचरण करता है उसकी इस लोकमें भी निन्दा एवं दुर्गति होती है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है कि राजा कंसने बलपूर्वक राज छीनकर अपने माता-पिताको कैदमें डाल दिया था। इस कारण उसपर आजतक कलंककी कालिमा लगी हुई है, आज भी कोई लड़का माता-पिताके साथ दुर्व्यवहार करता है, उसके माता-पिता उसपर आक्षेप करते हुए गालीके रूपमें उस बालकको कंसका अवतार बतलाया करते हैं किन्तु जो बालक माता-पिताकी सेवा, प्रणाम तथा उनकी आज्ञाका पालन करता हुआ उनके अनुकूल चलता है उसके माता-पिता उसके आचरणोंसे मुग्ध हुए गद्गद वाणीसे तपस्वी श्रवणकी उपमा देकर उसका गुणगान करते हैं। अतएव बालकोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि उन्हें कभी कंस नहीं कहलाकर, श्रवण कहलाना चाहिये।

आपलोगोंको मालूम होगा कि श्रवण एक तपस्या करनेवाले वैश्य-ऋषिका पुत्र था। श्रवण-की कथा वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञाको शिरोधारण करके प्रसन्नता-पूर्वक जब वनको चले गये थे तब राजा दशरथ आज्ञाकारी भगवान् श्रीरामचन्द्रके विरहमें व्याकुल हुए कौशल्याके भवनमें जाकर रामके शील, सेवा, आचरणोंको याद करके रुदन करने लगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर छठीं रात्रिको अर्धरात्रिके समय पुत्रविरहसे पीड़ित होकर राजा कौशल्यासे बोले—हे देवी! जब हमलोगोंका विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराजपदको प्राप्त हो गया था ऐसे समय बुरी आदतके कारण एक दिन मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार होकर शिकार खेलनेके लिये, जहाँ महिष, हाथी आदि वनके पशु जल पीनेके लिये आया करते थे वहाँ, सरयूके तीरपर गया। तदनन्तर उस घोर वर्षाकी अँधियारी रात्रिमें कोई जलमें घड़ा डुबाने लगा तो उसके घड़ा भरनेका शब्द मुझको ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई हाथी जल पी रहा है, इस प्रकार अनुमान करके उस शब्दको निशाना बनाकर मैंने बाण छोड़ा। इतनेमें ही किसी वनवासीका शब्द सुनायी पड़ा—'हाय! हाय! यह बाण मुझको किसने मारा। मैं तपस्वी हूँ, इस घोर रात्रिमें नदीके किनारे जल लेने आया था, वनके फल-मूल खाकर वनमें वास करनेवाले जटा-वल्कल-मृगचर्म-धारी मेरा वध अस्त्रके द्वारा कैसे किसने किया, मुझे मारकर किसीका क्या काम सिद्ध होगा? मैंने किसीका कुछ बुरा भी नहीं किया, फिर किसने मुझपर अकारण यह शस्त्र चलाया। मुझे अपने प्राणोंका शोक नहीं है, शोक तो केवल अपने वृद्ध माता-पिताका है। उन वृद्धोंका अबतक तो मेरेद्वारा पालन-पोषण होता रहा किन्तु मेरे मरनेपर वे मेरे बूढ़े माता-पिता अपना निर्वाह किस प्रकार करेंगे, अतएव हम सभी मारे गये।'

हे कौशल्ये! इस करुणाभरी वाणीको सुन-कर मैं बहुत ही दुःखित हुआ और मेरे हाथसे धनुष-बाण गिर पड़ा। मैं कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित शोकसे व्याकुल होकर वहाँ गया। मैंने जाकर देखा तो सरयूके तटपर जलका घड़ा हाथसे पकड़े रुधिरसे भीगा हुआ, बाणसे व्यथित एक तपस्वी युवक पड़ा तड़प रहा है। मुझे देखकर वह बोला कि 'हे राजन्! मैंने आपका क्या अपराध किया? मैं वनवासी हूँ, अपने माता-

पिताके पीनेके लिये जल लेनेको आया था, वे दोनों दुर्बल अन्धे और प्यासे हैं, वे मेरे आनेकी बाट देखते हुए बहुत ही दुःखित होंगे ? मेरी इस दशाको भी पिताजी नहीं जानते हैं, इसलिये हे राघव ! जबतक हमारे पिताजी आपको भस्म न कर डालें, उससे पहले ही आप शीघ्रतासे जाकर यह वृत्तान्त मेरे पिताजीसे कह दीजिये । हे राजन् ! मेरे पिताजीके आश्रमपर जानेका यह छोटा-सा पगडंडीका मार्ग है, आप वहाँ शीघ्रतासे जाकर पिताजीको प्रसन्न करें जिससे वे क्रोधित होकर आपको शाप न दें । और मेरे मर्मस्थानसे यह पैना बाण निकालकर मुझे दुःखरहित कीजिये ।'

हे कौशल्ये ! इसके उपरान्त मेरे मनके भावको जाननेवाले मेरी चिन्तायुक्त दशाको देखकर बोलनेकी शक्ति न होनेपर भी मरणासन्न हुए उस ऋषिने धैर्य धारण करके स्थिरचित्तसे कहा—'हे राजन् ! आप ब्रह्महत्याके डरसे बाण नहीं निकालते हैं—उसको दूर कीजिये, मैं वैश्यका पुत्र हूँ ।' जब ऋषिकुमारने ऐसा कहा, तब मैंने उसकी छातीसे बाण निकाल लिया । बाणके निकालनेसे उसे बहुत ही कष्ट हुआ और उसने उसी समय वहीं प्राणोंका त्याग कर दिया । उसको मरा हुआ देखकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ । हे देवि ! फिर चिन्ता करने लगा कि अब किस प्रकारसे मंगल हो । उसके बाद बहुत समझ-सोच घड़ेमें सरयूका जल भरकर उस तपस्वीके बतलाये हुए मार्गसे उसके पिताके आश्रमकी ओर चला और वहाँ जाकर उसके वृद्ध माता-पिताको देखा । उनकी अवस्था अति शोचनीय और शरीर अत्यन्त दुर्बल थे । वे पुत्रके जल लानेकी प्रतीक्षामें थे । मैं शोकाकुल चित्तसे डरके मारे चेतनारहित-सा तो हो ही रहा था और उस आश्रममें जाकर उनकी दशा देखकर मेरा शोक और भी बढ़ गया । मेरे पैरोंकी आहट सुनकर ऋषि अपना पुत्र समझ बोले—'हे वत्स ! तुम्हें इतना विलम्ब किस कारणसे हुआ, अच्छा अब जल्दीसे जल ले आ । हम नेत्रोंसे हीन हैं—इसलिये तुम्हीं हमारी गति, नेत्र और प्राण हो फिर तुम आज क्यों नहीं बोलते ।' तब मैंने बहुत ही डरते हुए-से सावधानीके साथ, धीमे स्वरसे अपना परिचय देते हुए, आद्योपान्त श्रवणकी मृत्युविषयक सारा वृत्तान्त, ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ।

मेरे किये हुए उस दारुण पापके सारे वृत्तान्तको सुनकर नेत्रोंमें आँसू भर शोकसे व्याकुल हो, वे तपस्वी मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन् ! तुमने यह दुष्कर्म किया, यदि इसको तुम अपने मुखसे न कहते तो तुम्हारे मस्तकके अभी सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते और आज ही सारे रघुवंशका नाश भी हो जाता । हे राजन् ! अब जो कुछ हुआ सो हुआ, अब हमें वहाँ पुत्रके पास ले चलो । हम एक बार अपने उस पुत्रकी सूरतको देखना चाहते हैं क्योंकि फिर उसके साथ इस जन्ममें हमारा साक्षात् नहीं होगा ।'

तत्पश्चात् मैं, पुत्रशोकसे व्याकुल हुए उन दोनों वृद्ध पति-पत्नीको वहाँ ले गया । वे दोनों पुत्रके निकट पहुँचकर और उसको छूकर गिर पड़े और विलाप करते हुए बोले—'हे वत्स ! जब आधी रात बीत जाती थी, तब तुम उठकर धर्म-शास्त्र आदिका पाठ करते थे जिसको सुनकर हम बहुत ही प्रसन्न होते थे । अब हम किसके मुखसे शास्त्रकी बातोंको सुनकर हर्षित होंगे । हे पुत्र ! अब प्रातःकाल स्नान, सन्ध्योपासन और होम करके हमें कौन प्रमुदित करेगा ? हे बेटा ! अन्धे होनेके कारण हममें तो यह भी सामर्थ्य नहीं है कि कन्द, मूल, फल इकट्ठा करके अपना पेट भर

सकें। तुम्हीं हमारे स्नान, पान, भोजन आदिका प्रबन्ध करते थे। अब तुम हमलोगोंको छोड़कर चले गये। अब कन्द, मूल, फल वनसे लाकर प्रिय पाहुनेके समान हमें कौन भोजन करावेगा। अब तुम्हें छोड़कर अनाथ, असहाय और शोकसे व्याकुल हुए हम किसी प्रकार भी इस वनमें नहीं रह सकेंगे, शीघ्र ही यमलोकको चले जायँगे। हे वत्स! तुम पापरहित हो, पर पूर्वजन्ममें कोई तो पाप किया ही होगा जिससे तुम मारे गये। अतएव शस्त्रके बलसे मरे हुए वीरगण जिस लोकमें गमन करते हैं, तुम भी हमारे सत्यबलसे उसी लोकमें चले जाओ, तथा सगर, सैव्य, दिलीप आदि राजर्षियोंकी जो उत्तम गति हुई है वही गति तुम्हें मिले। परलोकके लिये अच्छे कर्म करनेवालेकी देह त्यागनेके बाद जो गति होती है, वही तुम्हारी हो।'

इस प्रकार उस ऋषिने करुणस्वरसे बारंबार विलाप करते हुए अपनी स्त्रीके सहित पुत्रके अर्थ जलाञ्जलि दी। तदनन्तर वह धर्मवित् ऋषिकुमार अपने कर्मबलसे दिव्य रूप धारणकर विमानपर चढ़ सर्वोत्तम दिव्यलोकको बहुत शीघ्र जाने लगा। उस समय एक मुहूर्ततक अपने माता-पिता दोनोंको आश्वासन देता हुआ पितासे बोला—'हे पिता! मैंने जो आपकी सेवा की थी उस पुण्यके बलसे मुझे सर्वोत्तम स्थान मिला है और आपलोग भी बहुत शीघ्र मेरे पास आवेंगे।' यह कहकर इन्द्रियविजयी ऋषिकुमार अपने अभीष्ट दिव्यलोकको चला गया।

उसके बाद वह परम तपस्वी अन्धे मुनि मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुम क्षत्रिय हो और विशेष करके अजानमें ही ऋषिको मारा है, इस कारण तुम्हें ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी, किन्तु हमारे समान इसी प्रकारकी तुम्हारी भी घोर दुर्दशा होगी अर्थात् पुत्रके वियोगजनित व्याकुलतामें ही तुम्हारे प्राण जायँगे।' इस प्रकार वे अन्धे तपस्वी हमें शाप देकर करुणायुक्त विलाप करते हुए चिता बनाकर मृतकके सहित दोनों भस्म होकर स्वर्गको चले गये।

हे देवि! शब्दवेधी होकर मैंने अज्ञानतासे जो पाप किया था उसके कारण मेरी यह दशा हुई है। अब उसका समय आ गया है,—इस प्रकार इतिहास कहकर राजा दशरथ रुदन करने लगे और मरणभयसे भयभीत होकर पुनः कौशल्यासे बोले—'हे कल्याणि! मैंने रामचन्द्रके साथ जो व्यवहार और बर्ताव किया है वह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है—परन्तु उन्होंने जो मेरे साथ बर्ताव किया है वह उनके योग्य ही है। भला इस प्रकार वनवास देनेपर भी पितासे कुछ भी न कहे ऐसा कोई पुत्र संसारमें है? अतएव न तो मेरे-जैसा दयारहित पिता ही है और न परम-शीलवान् रामचन्द्र-जैसा पुत्र ही है। हे देवि! इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि मरणके समयमें भी सत्यपराक्रम रामचन्द्रको मैं नहीं देख सकता। आजसे पन्द्रहवें वर्ष वनवाससे लौटकर अयोध्यामें आये हुए शरदृतुके चन्द्रमा एवं खिले हुए कमलपुष्पके समान श्रीरामचन्द्रके मुखारविन्दको जो लोग देखेंगे वे ही पुरुष धन्य हैं और सुखी हैं। हे कौशल्ये! रामचन्द्रको वनमें भेजकर मैं एकबारगा ही अनाथ हो गया। इस प्रकार शोकसे व्याकुल हुए दशरथजी विलाप करने लगे। हा राम! हा महाबाहो! हा पितृ-वत्सल! हा शोकके निवारण करनेवाले! तुम्हीं हमारे नाथ हो, और तुम्हीं हमारे पुत्र हो। तुम कहाँ गये। हा कौशल्ये! हा सौमित्रे! अब तुम हमें दिखायी नहीं देते हो। इस प्रकार राजा दशरथने दुःखसे बहुत ही व्याकुल और आतुर होकर विलाप करते-करते आधी रातके समय प्राण छोड़ दिये।

अतएव हे बालको ! तुमलोगोंको भी वैश्य-ऋषि श्रवणकुमार एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम-चन्द्रजीकी तरह माता-पिताके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना चाहिये । और श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी सेवा करनेके लिये तत्परताके साथ परायण होना चाहिये । जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे माता-पिताकी सेवाके परायण होते हैं उनकी आयु, विद्या और बलकी तो वृद्धि होती ही है—उत्तमगति तथा इस लोक और परलोकमें चिरकालतक रहनेवाली कीर्ति भी होती है ।

आज संसारमें श्रवणकी कीर्ति विख्यात है, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी तो बात ही क्या है वे तो साक्षात् परमात्मा थे । उन्होंने तो लोक-मर्यादाके लिये ही अवतार लिया था । उन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌का व्यवहार तो लोक-हितके लिये आदर्शरूप था । श्रीरामचन्द्रजीका व्यवहार माता-पिता गुरुजनोंके साथ तो श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक था ही, किन्तु सीता और अपने भाइयोंके साथ एवं समस्त प्रजाओंके साथ भी अलौकिक दया और प्रेमपूर्ण था । अतएव आपलोगोंको श्रीरामचन्द्रजी महाराजको आदर्श मानकर उनका लक्ष्य रखते हुए उनकी आज्ञा, स्वभाव एवं आचरणोंके अनुसार अपने स्वभाव और आचरणोंको बनानेके लिये कटिबद्ध होकर प्राण-पर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकारका निष्काम भावसे पालन किया हुआ धर्म शीघ्र ही भगवत्‌की प्राप्तिरूप परम कल्याणका करनेवाला है, ऐसे धर्मके पालन करनेसे मृत्यु भी हो जाय तो उस मृत्युमें भी कल्याण है ।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३ । ३५)

भक्ति

ईश्वरकी भक्ति सबके लिये ही उपयोगी है किन्तु बालकोंके लिये तो विशेष उपयोगी है । बालकका हृदय कोमल होता है, वह जैसी चेष्टा करता है उसके अनुसार संस्कार दृढ़तासे उसके हृदयमें जमते जाते हैं । जबतक विवाह नहीं करता है तबतक वह ब्रह्मचारी ही समझा जाता है ।

'ब्रह्म' परमात्माका नाम है उसमें जो विचरता है वह भी ब्रह्मचारी है, यानी परमेश्वरके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका श्रवण, मनन, कीर्तनादि करना ही उस ब्रह्ममें विचरना है । इसको ईश्वरकी भक्ति एवं ईश्वरकी शरण भी कहते हैं । इसलिये हे बालको ! परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित, प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको महात्माओंसे सुनकर या सद्‌ग्रन्थोंमें पढ़कर सदा प्रेमपूर्वक हृदयमें धारण करके पालन करना चाहिये ।

इस प्रकार करनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जानकर सुगमतासे मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(१० । ९)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले (और) मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन) सदा ही (मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा) आपसमें मेरे प्रभावको जानते हुए तथा (गुण और प्रभाव-सहित) मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और (मुझ वासुदेवमें ही) निरन्तर रमण करते हैं ।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए (और) प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ (कि) जिससे वे मेरेको (ही) प्राप्त होते हैं।'

ध्रुवका नाम संसारमें प्रसिद्ध ही है, जब उनकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, तब एक समय ध्रुवजी पिताकी गोदमें बैठने लगे। तब गर्वसे भरी हुई रानी सुरुचि राजाके सामने ही सौतेले पुत्र ध्रुवसे ईर्ष्यासे भरे हुए वचन बोली-'हे ध्रुव! तुम राजाकी गोदमें बैठने और राज्य-शासन करनेके अधिकारी नहीं हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे नहीं हुआ है। यदि राजाके आसनपर बैठनेकी इच्छा हो तो तप करके ईश्वरकी आराधना करो, और उस ईश्वरके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म ग्रहण करो।

सौतेली माताके कहे हुए ये कटु वचन बालक ध्रुवके हृदयमें बाणकी तरह चुभ गये। तदनन्तर ध्रुवजी वहाँसे रोते हुए अपनी जननी सुनीतिके पास गये। सुनीतिने देखा ध्रुवकी आँखोंमें आँसू भर रहे हैं। ध्रुव रुदन करता हुआ लंबे-लंबे श्वास ले रहा है तब सुनीतिने उसे उठाकर गोदमें ले लिया। इतनेहीमें दासोंने आकर सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब सौतके वाक्योंको सुनकर सुनीतिको बड़ा दुःख हुआ और उसके वचनोंको सुनकर वह आँसूकी वर्षा करने लगी। सुनीतिके दुःखसागरका पार न रहा। तब वह ध्रुवसे बोली-'बेटा! इस विषयमें दूसरोंको दोष देना ठीक नहीं क्योंकि यह सब अपने पूर्वमें किये हुए कर्मोंका फल है। तू मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्मा है। बेटा! मैं अभागिनी हूँ क्योंकि मुझे दासी मानकर भी अंगीकार करनेमें राजाको लज्जा आती है। तुम्हारी सौतेली माता सुरुचिने बहुत ही ठीक कहा है। तुम्हें यदि उत्तम (सुरुचिके पुत्र) के समान राज्यासन पानेकी इच्छा है तो हरि भगवान्के चरणकमलकी आराधना करो। बेटा, मैं भी यही कहती हूँ। तुम ईर्ष्या छोड़कर शुद्ध चित्तसे भक्तवत्सल हरिके चरणोंकी शरण ग्रहण करो। उस भगवान्के सिवा तुम्हारे दुःखको दूर करनेवाला संसारमें कोई भी नहीं है।' इस प्रकार माताके वचनोंको सुनकर ध्रुवने अपनी बुद्धिसे अपने मनमें धीरज धारणकर माताका कहा पूरा करनेके लिये पिताके पुरसे वनकी तरफ चले गये।

नारद मुनि अपने योगबलसे यह सब वृत्तान्त जान गये, तब वे राहमें आकर ध्रुवसे मिले और अपना हाथ उसके मस्तकपर रखकर बोले—'हे बालक! तुम्हारा मान या अपमान क्या? यदि तुम्हें मान-अपमानका खयाल है तो सिवा अपने कर्मके और किसीको दोष नहीं देना चाहिये। मनुष्य अपने कर्मके अनुसार सुख, दुःख मान-अपमानको पाता है। सुखके पानेपर पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और दुःखको पानेपर पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है। ऐसा जानकर चित्तको सन्तुष्ट करो। गुणोंमें अपनेसे अधिकको देखकर सुखी होना एवं अधमको देखकर उसपर दया करना और समान पुरुषसे मित्रता रखनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यके पीड़ा और ताप नहीं होते। तुम जिस योगेश्वरको योगसे प्रसन्न करना चाहते हो वह ईश्वर अजितेन्द्रिय पुरुषद्वारा प्राप्त होना कठिन है अतएव ऐसा विचार छोड़ दो।' तब ध्रुवने कहा-'हे भगवन्! आपने जो कृपा करके शान्तिका मार्ग दिखलाया इसको मेरे-जैसे अज्ञानीजन नहीं कर सकते। मैं क्षत्रिय-स्वभावके वश हूँ इसलिये नम्रता एवं शान्ति मुझमें नहीं है। हे ब्रह्मन्! मैं उस पदको चाहता हूँ जिसको मेरे बाप-दादा नहीं प्राप्त कर सके। त्रिभुवनमें सबसे श्रेष्ठ पदपर पहुँचनेका सुगम मार्ग बतलाइये।'

भगवान् नारद ध्रुवके ऐसे वचन सुनकर उनकी दृढ़ प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हुए और बोले 'हे पुत्र! तुम्हारी माताने जो उपदेश दिया है—उसी प्रकार

तुम हरि भगवान्‌को भजो और अपने मनको शुद्ध करके हरिमें लगाओ, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके मिलनेका सरल उपाय एक हरिकी सेवा ही है। हे पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो! तुम यमुनाके तटपर स्थित मधुवन (मथुरा) में जाओ, जहाँ सर्वदा हरि भगवान् वास करते हैं। वहाँ यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करके आसनपर बैठ, स्थिर मनसे हरिका ध्यान करना चाहिये। भगवान् सम्पूर्ण देवताओंमें सुन्दर हैं, उनके मुख और नेत्र प्रसन्न हैं, उनकी नासिका, भौंहें, कपोल, परम सुन्दर और मनोहर हैं। उनकी तरुणावस्था है, उनके अंग रमणीय, ओष्ठ, अधर और नेत्र अरुणवर्ण हैं। हृदयमें भृगुलताका चिह्न है, शरीर का वर्ण मेघके समान श्याम और सुन्दर है। गलेमें वनमाला, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। मुकुट, कुण्डल, कंकण और केयूर आदि अमूल्य आभूषण धारण किये हुए हैं। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए और गलेमें कौस्तुभ मणि है। कटिमें कञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सोनेके नूपुर पहने हुए हैं, दर्शनीय शान्त मूर्ति हैं। जिनके देखनेसे मन और नेत्र सुखी होते हैं। वे मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं, प्रेमभरे चितवन से देख रहे हैं। देखनेसे जान पड़ता है मानो वे वर देनेके लिये तैयार हैं। वे शरणागतके प्रतिपालक एवं दयाके सागर हैं। इस प्रकार कल्याणरूप भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते रहनेपर मनको अनूठा आनन्द मिलता है, फिर मन उस आनन्दको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। भगवान्‌में तन्मय हो जाता है और हे राजकुमार! मैं तुमको एक परम गुप्त मन्त्र बतलाता हूँ उसका जप करना। वह "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" वह बारह अक्षरका मन्त्र है। इस मन्त्रको पढ़कर पवित्र जल, माला, वनके फूल, मूल, दूर्वा और तुलसीके दल आदिसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

मनको वशमें करके मनसे हरिका चिन्तन करना, शान्त स्वभावसे रहना, वनके फल-मूल आदिका थोड़ा आहार करना, भगवान्‌के चरित्रोंका हृदयमें ध्यान करते रहना और इन्द्रियोंको विषयभोगोंसे निवृत्त करके भक्तियोगद्वारा अनन्यभावसे भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।'

देवर्षि नारदका यह उपदेश सुनकर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया, फिर उनसे विदा होकर मधुवनको चले गये।

ध्रुवने मधुवनमें पहुँचकर स्नान किया और उस रातको व्रत किया। उसके बाद एकाग्र होकर देवर्षिके उपदेशके अनुसार भगवान्‌की आराधना करने लगा।

पहले-पहल बेरके फल खाकर, फिर सूखे पत्ते खाकर तदनन्तर जल पीकर, फिर वायु भक्षण करके ही उन्होंने समय बिताया। फिर पाँचवें महीनेमें राजकुमार ध्रुव श्वासको रोककर एक पैरसे निश्चल खड़े हो हृदयमें स्थित भगवान्‌का ध्यान करने लगे। मनको सब ओरसे खींचकर हृदयमें स्थित भगवान्‌के ध्यानमें लगा दिया। उस समय ध्रुवको भगवान्‌के स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं देख पड़ा।

तदनन्तर भगवान् भक्त ध्रुवको देखनेके लिये मथुरामें आये। ध्रुवकी बुद्धि ध्यानयोगसे दृढ़ निश्चल थी। वह अपने हृदयमें स्थित बिजलीके समान प्रभाववाले भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान कर रहे थे। उसी समय सहसा भगवान्‌की मूर्ति हृदयसे अन्तर्धान हो गयी। तब ध्रुवने घबड़ाकर नेत्र खोले तो देखा वैसे ही रूपसे सामने भगवान् खड़े हैं। उस समय ध्रुवने मारे आनन्दके आश्चर्ययुक्त हो, भगवान्‌के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। फिर मानो नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे, भुजाओंसे लिपटा लेंगे, इस भाँति प्रेमसे ध्रुव हरि-

को देखने लगे। ध्रुव अञ्जलि बाँधकर खड़े हुए और हरिकी स्तुति करना चाहते थे पर पढ़े-लिखे न होनेके कारण कुछ स्तुति न कर सके। इस बात-का अन्तर्यामी भगवान् जान गये और उन्होंने अपना शंख ध्रुवजीके गाल (कपोल) से छुआ दिया, उसी समय ध्रुवजीको तत्त्वज्ञान और अभय-पदकी प्राप्ति हो गयी और ध्रुवजीको विना पढ़े ही ईश्वरकी कृपासे वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, फिर वह धीरे-धीरे भक्तिभावपूर्वक सर्वव्यापी दयासागर भगवान् हरिकी स्तुति करने लगे।

तब भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न होकर बोले 'हे राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। मेरी कृपासे तुम्हें ध्रुवपद मिलेगा, वह लोक परम प्रकाशयुक्त है, कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले लोकोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। उसको सब लोक नमस्कार करते हैं। वहाँ जाकर योगीजन फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, तथा यहाँ भी तुम्हें तुम्हारे पिता राज्य देकर वनमें चले जायँगे। तुम छत्तीस हजार वर्षपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य करोगे किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण मेरी कृपासे विषयभोगोंमें लिप्त न होगा। इस प्रकार भगवान् ध्रुवको वर देकर ध्रुवके देखते-देखते ही अपने लोकको चले गये।

प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे ही, उनकी तो बात ही क्या है—हे बालको! जब प्रह्लाद गर्भमें थे तभी नारदजीने उनको भक्तिका उपदेश दिया था। उसी-के प्रभावसे वह संसारमें भक्तशिरोमणि हो गये। प्रह्लादके पिताने प्रह्लादको मारनेके लिये जलमें डुबाना, पहाड़से गिरा देना, विष देना, सर्पोंसे डसवाना, हाथीसे कुचलवाना, शस्त्रोंसे कटवाना, आगमें जलाना आदि अनेकों उपचार किये किन्तु प्रह्लादका बाल भी बाँका न हुआ। यह सब भगवत्-भक्तिका प्रभाव है। इतना ही नहीं, जब हिरण्यकशिपु स्वयं हाथमें खड्ग लेकर मारनेके लिये उद्यत हुआ तब कृपासिन्धु प्रेमी भगवान्से रहा नहीं गया—वे खम्भ फाड़कर स्वयं प्रकट ही हो गये और हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादसे बोले—'हे वत्स! मेरे आनेमें विलम्ब हो गया है। मेरे कारण तुझे बहुत कष्ट सहन करना पड़ा है। इसलिये मेरे अपराधको क्षमा करना चाहिये।' किन्तु प्रह्लाद तो भक्त-शिरोमणि थे भला वह भगवान्का अपराध तो समझ ही कैसे सकते थे, वह तो विलम्बमें भी दयाका ही दर्शन करते थे।

तदनन्तर प्रह्लादने भगवान्की स्तुति की। तब प्रसन्न होकर भगवान् बोले—'हे प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ जो चाहो वर माँगो। मैं ही मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला हूँ।' तब प्रह्लाद बोले—हे भगवन्! मेरी जाति स्वभावतः कामासक्त है, ये सब वर दिखलाकर मुझको प्रलोभन न दीजिये। जो व्यक्ति आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख माँगता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। हे भगवन्! कामसे बहुत ही अनिष्ट होते हैं, कामना उत्पन्न होनेसे इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धीरज, बुद्धि, लज्जा, सम्पत्ति, तेज, स्मृति एवं सत्यका विनाश होता है। इसलिये हे ईश! हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ! आप यदि मुझको मन-चाहा वर देते ही हैं तो यही वर दें कि मेरे हृदयमें अभिलाषाओंका अङ्कुर ही न जमे। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ।

हे बालको! खयाल करो! प्रह्लाद भक्तिके प्रतापसे दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी भगवान्के अनन्य निष्कामी भक्त-शिरोमणि बनकर परमपद-को प्राप्त हो गये। प्रह्लादकी भक्तिका यह स्वरूप है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ५ । २३

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना।'

यदि ऐसा न बने तो केवल भगवान्‌के नामका जप और उसके स्वरूपका पूजन और ध्यान करनेसे भी अति उत्तम गतिकी प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्‌के हजारों नाम हैं। उनमेंसे जो आपको रुचिकर हो, उसीका जाप कर सकते हैं और उनके अनेक रूप हैं, उनमें आप साकार या निराकार जो रूप प्रिय हो, उसीका पूजन और ध्यान कर सकते हैं। किन्तु वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, प्रेम, दया आदि गुणोंके सागर हैं। इस प्रकार उसके गुण और प्रभावको समझकर ही पूजा और ध्यान करना चाहिये। यदि ध्यान और पूजा न हो सके तो केवल उसके नामका जप ही करना चाहिये। केवल उसके नामका जप करते-करते ही उसकी कृपासे अपने-आप ध्यान लग सकता है। नामका जप निष्काम भावसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर मनके द्वारा करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र सब पाप, अवगुण और दुःखोंका नाश होकर सम्पूर्ण सद्‌गुण और आचरण अपने-आप प्राप्त होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और उसे परमानन्द और नित्य शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९। ३०)

'यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है वह साधु ही माननेयोग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! (तू) निश्चयपूर्वक सत्य जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌के नामका जप सब यज्ञोंसे उत्तम है एवं भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' (गीता १०। २५)

तथा मनुजीने नामकी प्रशंसा करते हुए सारे यज्ञोंमें जपयज्ञको ही सबसे बढ़कर बताया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२। ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्रादि) से जपयज्ञ दशगुना बढ़कर है और उपांशु जप* विधियज्ञसे सौगुना और मानसजप हजारगुना बढ़कर कहा गया है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(मनु० २। ८६)

'जो विधियज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, नित्य श्राद्ध और अतिथिभोजन) हैं वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।

इसलिये और कुछ भी न बने तो उस भगवान्‌के गुण और प्रभावको समझकर उसके स्वरूपका ध्यान अथवा केवल नामका जप तो अवश्य ही सदा-सर्वदा करना ही चाहिये।

---

* दूसरे मनुष्यको सुनायी नहीं दे सके इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला जप उपांशु कहलाता है।

माँकी लीला

(लेखक—श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम० ए०, बी० एस-सी०)

मेरे कमरेमें कुछ दिनोंसे एक चिड़ियोंके जोड़ेने घोंसला बना रक्खा था। एक दिन जब मैं दो बजे कालेजसे वापिस आया तब मैंने देखा कि कमरेमें उन चिड़ियोंकी कृपासे बड़ा कूड़ा पड़ा हुआ है। मैंने उस घोंसलेकी ओर ऊपर सिर उठाकर देखा। उसमेंसे एक लंबी सुतली और बहुत-से तिनके इत्यादि लटके हुए थे। मेरे मित्रोंका कहना है कि मैं अपने जीवनमें सौन्दर्यका कुछ विचार रखता हूँ। ऐसे व्यक्तिके लिये वह कमरेमें बिखरा कूड़ा, और वह लटकती सुतली और वह तिनकोंका ढेर जो उस घोंसलेसे गिरनेके शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षा करता दिखलायी दे रहा था, क्रोधजनक हुए, मुझे प्यास लग रही थी। नौकरको आवाज दी। वह भी अकस्मात् बहरा हो गया मालूम पड़ता था। मेरा पारा चढ़ा। स्वयं पानी पीने उठा। मेरा पानी पीनेका एक खास शीशेका गिलास है जो कि खास तौरपर साबुनसे साफ़ किया जानेपर एक खास स्थानपर रक्खा रहता है। इन 'खास' बातोंसे पाठक समझ गये होंगे कि मेरा मिज़ाज भी कुछ 'खास' तरहका है। वह गिलासका स्थान उस घोंसलेवाले कोनेके पास है। वे चिड़ियाँ इतनी मूर्ख थीं कि उनको यह ज्ञान नहीं था कि वह कोना हुक्कू साहबके गिलासका स्थान है। और उन्होंने वहीं अपना घोंसला अज्ञानतावश बनाया तो जब मैं पानी पीने उठा और गिलासकी ओर देखा उसे मैंने तिनकोंसे काफी भरा पाया। मेरा पारा चढ़ना तो शुरू हो ही चुका था। ऊपर देखा तो लटकती हवामें मस्त झूलती वह गंदी सुतली। नीचे आँखें कीं तो कमरेमें बिखरे कूड़ेके दर्शन हुए, मैंने पानी नहीं पिया। कुछ इधर देखा कुछ उधर। फिर अपनी पुस्तकका जो अध्याय मैं कालेज जाते समय अपूर्ण छोड़ गया था उसे पूरा करने बैठ गया।

थोड़ी देरमें राम जानें कहाँसे १५-२० बैंयें मेरे कमरेमें आ गयीं। वे इधर-उधर छतके पास उड़ती अपना स्थान कोई नये घरके लिये ढूँढ़ रही थीं। मुझे इनके स्वागत करनेकी कोई लालच नहीं हुई। मैं इनको देख रहा था। मन-ही-मन झुँझला रहा था कि इतनेमें घोंसलेसे तिनकोंका ढेर नीचे गिर गया और बमके गोलेकी तरह बिखर गया। मैंने नौकरको बड़े ज़ोरसे आवाज़ दी।

वह दौड़ता हुआ ऊपर आया। उसने मेरी सूरत देखी और कूड़ा, और वह समझ गया। भागकर नीचे गया और झाड़ू लाकर लगा साफ़ करने।

लेकिन मेरे चित्तको शान्ति नहीं हुई। बैंयोंका नम्बर बढ़ गया था। उधर हवामें लटकती बलखाती वह सुतली मेरी सफाईको, मेरे सौन्दर्य-प्रेमको चुनौती देती हुई दिखायी दे रही थी। इस घोंसलेके झगड़ेकी ही वजहसे मैं अभीतक पानी भी नहीं पी पाया था। मैंने नौकरसे कहा 'बाँस लाकर इसे साफ कर डालो।' वह बाँस चट ले आया और लगा घोंसला नोचने।

कुछ देर बाद घोंसला नुच गया। मेरा कमरा साफ हो गया। बैंयाँ जो राम जानें कहाँसे मेरी झुँझलाहट और उन चिड़ियोंके प्रति क्रोध भड़काने आ गयी थीं अपने-आप लोप हो गयीं। मैं फिर पढ़ने बैठ गया।

लेकिन मैं काम नहीं कर पाया। चिड़िया तिनका लेकर आयी चूँ-चूँ-चूँ-चूँ। मैंने उठकर उसे भगा दिया। मैं बैठा ही था कि चिड़िया और उसका चिड़ा दोनों कमरेमें घुस पड़े और चूँ-चूँका शोर मचाया। मैं फिर उठा और उनको कमरेसे निकाल डालनेकी कार्यवाही आरम्भ की। लेकिन वे कमरेसे न गये। इधरसे उड़कर उधर, उधरसे उड़कर इधर चूँ-चूँ-चूँ-चूँ-चूँ। मैं कमरेमें दौड़ता रहा और वे उड़ते रहे। लेकिन मैंने उनको निकाल ही डाला। उनके निकाल देनेपर मेरे बल-बुद्धिजनित अभिमानको सन्तोष मिला।

मैंने मुश्किलसे दो-तीन लाइन लिखी होंगी कि वे पति-पत्नी फिर कमरेमें घुस आये और मेरी ओर देख-देखकर अपने चूँ-चूँके नारे लगाये। मुझे पिछली दौड़ने पसीने-पसीने कर दिया था। इसलिये मैंने अपनी बुद्धिकी शरण ली। उसने सुझाया कि इस तरह चिड़ियाँ दौड़ायें यह तो अपमानजनक है। इसलिये मैं बेबीके खेलनेकी रबड़की गेंद ले आया।

जहाँ बैठता हूँ वहीं बैठकर उन चिड़ियोंके पास दीवार-पर तसवीरें बचाकर गेंद मार देता। वे बेचारी उड़ जातीं

और वह गेंद सुदर्शनचक्रकी तरह मेरे पास आ जाती। थोड़ी देरमें वे कमरेके बाहर उड़ गयीं। लेकिन फिर आयीं। फिर मैंने अपने रवड़के गेंदरूपी चक्रसे उन्हें भगा दिया। यों ही कोई ३५-४० मिनटतक मेरी उनकी लड़ाई होती रही।

फिर वे नहीं आयीं। शायद वे मुझे आखिरकार पहचान पायी थीं। वे मुझे मनुष्य समझी थीं। मेरा घर अपना घर उन्होंने समझा था, लेकिन मैं तो राक्षस निकला!

जब गोधूलिवेला हुई तो मैं उठा, पानी पीनेके लिये गिलासके पास गया। लेकिन—गिलास न उठा पाया, सब चिड़ियाँ बसेरेको जा चुकी थीं। सड़कपर भी सन्नाटा था, साँझकी उस धुँधली शान्तिमें एक हल्का-हल्का चूँ-चूँका शब्द मेरे कानोंमें पड़ा। वह स्वर ऐसे ही धीरे-धीरे हो रहा था जैसे कि पाप करनेपर किसीकी आत्मा उसे उस दुष्कर्मके लिये चुटकी काट रही हो। उस घोंसलेमें चिड़ियाके अनाथ बच्चे थे। उनकी हल्की पुकारने मेरे हृदयमें तीव्र वेदना उत्पन्न कर दी।

मेरी राक्षसी प्रकृतिने इस विचारको मनमें आनेका अवसर नहीं दिया कि जिस घोंसलेको मैं नुचवा रहा था उसमें बच्चे भी हो सकते थे। मेरे उत्साही नौकरने खूब कुरेद-कुरेदकर घोंसला नोच फेंका। लेकिन माँ दुर्गाकी इच्छा यह थी कि वे जीवें!

जाको राखे साइयाँ

जितना मैंने उनका सोचा उतनी ही मेरी वेदना बढ़ती गयी। वे निस्सहाय बच्चे! उनके माँ-बाप कैसे दुखमें पड़े होंगे! अब मैं समझा कि वे दोनों मेरे बार-बार उड़ा देनेपर भी क्यों वापिस आन-आनकर चिल्लाया करते थे। शायद वे अपनी भाषामें मेरे कार्यका विरोध कर रहे थे, शायद वे मुझसे विनती कर रहे थे कि हम माँ-बाप हैं। तुम्हें माँ भगवतीने मनुष्य बनाया है, दया करो, शायद वे रो-रोकर मुझसे अनुरोध कर रहे थे। लेकिन उस समय मैं तो ऐसा राक्षस हो गया था कि अगर उनके आँसू मैं देख भी पाता तो यह विश्वास न करता कि वे आँसू हैं, कुछ मूल्य रखते हैं।

वे बच्चे! अगर वे आदमी होते तो चिल्लाकर जो उनपर निर्दयता की गयी थी उसका ज्ञान लोगोंको कराते, उनकी सहानुभूतिकी भीख पाकर कृतार्थ होते। लेकिन वे तो चिड़िया-चिड्डे थे। और बच्चे! इस मानव-अभिमान, मानव-स्वार्थ, मानव-क्रूरतासने संसारमें दुखियोंकी कौन सुनता है! और फिर इनकी! मेरा हृदय जिसपर उनके माँ-बापकी बार-बारकी चिल्लाहट न असर कर सकी, उनकी हल्की, निस्सहाय-सूचक आवाजने पिघला दिया। मेरा जी चाहा कि मैं उनकी सहायता करूँ लेकिन मैं उनको कैसे समझाता, कैसे सान्त्वना देता? कैसे विश्वास दिलाता कि तुम्हारे माँ-बाप कल प्रातःकाल फिर आ जावेंगे? क्या वे फिर आवेंगे? मुझे तो इसमें भी सन्देह था। मैंने उनको इतना तंग किया था कि अब शायद वे भूलसे भी उस कमरेमें आनेका विचार करनेका साहस न करेंगे। वे चिड़ियाके बच्चे मेरे ही कमरेमें थे। मैं उनकी सहायता करनेको अधीर था लेकिन मुझसे १५ फीट दूर होनेपर भी वे मुझसे उतने ही दूर थे जैसे कि दूसरे लोकमें!

अँधेरेके साथ-साथ मेरा दुख बढ़ता गया। उन चिड़िया-चिड्डे माँ-बापकी अकथ निराशामय वेदना रात्रिकी कालिमा बन मेरे चारों ओर छा गयी।

मेरे पश्चात्ताप, मेरी निस्सहाय बच्चोंके प्रति सहानुभूति, वे माँ-बाप कल फिर आवेंगे या नहीं, इस सोचने मेरी वह रात बड़ी लंबी और दुखद बना दी।

सबेरा हुआ, लेकिन वे चिड़िया-चिड्डे न आये। मुझे उनके आनेकी आशा अब बहुत कम हो गयी थी। नौ बजेतक वे नहीं आये, अब क्या आयेंगे? शायद आ ही जायँ, इसलिये मैं कमरेकी एक खिड़की खुली छोड़कर कालेज चला गया। वहाँसे एक बजे बैंक गया। इतनेमें बड़े ज़ोरसे घटा आयी। मैंने बैंकसे निकलकर पास ही एक मित्रके घरमें शरण ली। पानी मूसलाधार बरसने लगा। मैं बातें कर रहा था। पानी और हवाकी तेज़ी बढ़ती गयी। जहाँ मैं बैठा था वहाँतक बौछार सामनेका कमरा पार करके आने लगी। मेरे मित्र उस कमरेके दरवाजे बंद करने दौड़े। मैंने उनसे पूछा, 'पूरब किधर है?' उन्होंने हाथ उठाकर कहा, 'इधर'। मैं सन्नाटेमें आ गया, क्योंकि इस हिसाबसे बौछार उधरसे ही आ रही थी जिस दिशाकी कमरेकी खिड़की मैं चिड़ियाके

आनेके लिये खुली छोड़कर आया था। इस खिड़कीसे लगा एक छोटा बेबीका पलंग था। बेबी तो आजकल यहाँ था नहीं, क्योंकि मेरी स्त्री अपने मायके गयी हुई थीं। कमरेमें मेरी किताबें और काग़ज़ बिखरे पड़े थे और खिड़कीके पासवाले पलंगपर भी कुछ कीमती चीज़ें पड़ी थीं। ऐसी तेज़ बौछारमें वे सब खराब हो गयी होंगी। मुझे विशेष दुःख अपनी तीन छोटी-छोटी कापियोंका था। ये मेरे कई बरसोंकी मेहनतकी निशानी थीं। इनमें मेरे नोट्स थे—ये सब ज़रूर खराब हो गये होंगे। मैं उठ खड़ा हुआ। कहा, 'जाता हूँ।' मेरे मित्रने कहा, 'अरे, ऐसी बारिशमें कहाँ जाइयेगा?' लेकिन मैंने न सुनी। बस चल दिया। कालेज जाते समय बड़ी करारी धूप निकली हुई थी, इसलिये आज बरसाती नहीं ले गया था। भीगता-भीगता घर आया। रास्तेमें अपनी किताबोंकी, उन तीन छोटी कापियोंकी, खिड़कीके पासवाले पलंगपर रक्खी चीज़ोंकी दुर्दशाको सोचता आया। मुझे कभी-कभी अपनी मूर्खतापर दुःख भी होता कि मैंने खिड़की खुली क्यों छोड़ी। घर पहुँचते ही सीधा ऊपर दौड़ा। जो बौछार एक कमरा पार करके दूसरे कमरेमें मेरे पासतक आयी थी, ऐसी बौछारने उस खुली खिड़कीसे घुसकर मेरी सब चीज़ें रद्दी कर दी होंगी। यह मेरे कल शामके पापका परिणाम था—इसी विचारमें मग्न मैंने ताला खोला। दरवाजोंको धक्का दिया। कमरा सूखा था। खिड़की खुली थी। ऊपर देखा तो वे माँ-बाप चिड़िया और चिड्डे चुपचाप अपने घोंसलेके स्थानपर बैठे थे। मैं चकित रह गया। मुझे पापका परिणाम जैसा मैं समझे था नहीं मिला। मैंने माँ दुर्गाको प्रणाम किया। उन्होंने मेरी रातकी वेदना पश्चात्तापस्वरूपमें स्वीकार कर ली थी।

आत्मपरिचय

(लेखक—श्रीदेवीलालजी सामर, बी० ए०)

(गद्यकाव्य)

मैं इन असंख्य रत्नकणोंमें एक कुरूप रत्न था।

तुमने अपने स्निग्ध हाथोंसे मेरा मुख उज्ज्वल किया और अपने कक्षसे छुड़ाकर मुझे अलग अस्तित्व दिया।

पर इस बहुरंग वातावरणमें मेरे नेत्र चौंधिया गये और मैं तुम्हारा सम्बन्ध भूल गया। असंख्य इच्छाओंने मुझे घेर लिया और मैं समस्त जीवनकी एकता भूल गया।

अब मैं अपना पथ अलग ढूँढ़ता हूँ, अतीत और भावीका भेद भूल जाता हूँ, प्रकृतिका सन्देश खो देता हूँ, प्रेमका महत्त्व नहीं जानता हूँ।

तुमसे मिलनेकी बात एक कल्पनामात्र समझता हूँ और इन असंख्य आसक्तियोंमें पड़कर मैं अपनी ज्योति खो देता हूँ।

सृष्टिने गान गाया, उषाने हमारे उनींदे नेत्रोंको जगाया, पतझड़ने हमारे उदास हृदयमें वसन्तकी कामना जागृत की और विश्वके अणु-अणुने मिलकर एक ही गीत गाया।

पर मैंने कर्मोंकी इस कठोर विडम्बनामें पड़कर अनन्त तान-सरिताकी सृष्टि की और विश्वगानके उस सरल माधुर्यको अनिश्चित कालतकके लिये उलझा दिया।

तुम्हारा अस्तित्व मेरे लिये रहस्य बना, तुम्हारा प्रेम एक स्वप्न रह गया और सृष्टिको निरुद्देश्य समझकर मैं भी पथभ्रष्ट-सा इधर-उधर भटकने लगा।

× × × × × ×

यज्ञोपवीतरहस्य अथवा ब्रह्मात्मैक्यनिरूपण

(लेखक—श्रीधर्मराजजी वेदालङ्कार)

१—शास्त्रमें यज्ञोपवीतका विधान

शास्त्रमें यज्ञोपवीतका विधान है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। बौधायनस्मृतिमें लिखा है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखोऽनुपवीती च यत्करोति न तत्कृतम्॥

इसका अभिप्राय यह है कि शिखा और यज्ञोपवीत सदा धारण करने चाहिये, इनके धारण किये बिना जो कर्म किया जाता है वह न किये हुएके समान होता है।

यज्ञोपवीतका शास्त्रमें इस प्रकार विधान होते हुए भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर इन धागोंका प्रयोजन क्या है? केवलमात्र शास्त्रमें लिखे होनेसे किसी विधानकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। शास्त्रका तर्कसे चिन्तन करना आवश्यक है। कहा भी है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

इसलिये यज्ञोपवीतके विधानको भी तर्ककी कसौटीपर परखना चाहिये। हमारी सम्मतिमें यदि 'यज्ञोपवीत' इस शब्दपर तथा इसके पर्यायवाची 'ब्रह्मसूत्र' शब्दपर थोड़ा ध्यान दिया जाय तो इस विधानका मर्म और प्रयोजन समझमें आ सकता है। 'यज्ञोपवीत' शब्दका अर्थ है, 'यज्ञाय यज्ञकर्मणे वोपवीतम्' अर्थात् यज्ञ अथवा यज्ञकर्मके लिये धारण किया हुआ सूत्र। छान्दोग्यपरिशिष्टमें कात्यायन महर्षिका वचन है—

अनेन हि दधिखदिरादिवदुपवीतित्वस्य बद्धशिखत्वस्य च क्रतुपुरुषोभयार्थत्वमवगम्येत। तेन विशिखेनानुपवीतिना च कर्मणि क्रियमाणे कर्मणोऽपि वैगुण्यं भवति।

संक्षेपमें इस सन्दर्भका आशय यह है कि जिस प्रकार यज्ञमें दधि, खदिर आदि पदार्थोंकी उपयोगिता है, इसी प्रकार शिखा और यज्ञोपवीत भी यज्ञमें उपयोगी हैं, इनके अभावमें यज्ञका निर्वाह होना दुष्कर है। शिखा-सूत्रके बिना जो यज्ञ किया जाता है, उसमें वैगुण्य उत्पन्न हो जाता है। वैगुण्य अथवा खराबीके पैदा हो जानेसे वह कर्म निष्फल हो जाता है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत धारण करनेका प्रयोजन, जैसा कि इस शब्दसे सूचित होता है, यज्ञकर्म है। अब इस लेखमें आगे हम इसी बातकी व्याख्या करेंगे कि यह यज्ञ क्या है और इसमें यज्ञोपवीत किस प्रकार सहायक होता है।

२—उपनयनसंस्कारका सङ्कल्प-यज्ञ

उपनयनसंस्कारमें यज्ञोपवीतका विधान है। मनुष्यका असली जीवन उपनयनसंस्कारसे ही आरम्भ होता है। उपनयनद्वारा आचार्य शिष्यको विद्यामें दीक्षित करता है। विद्याग्रहणके परिणामस्वरूप ब्रह्मचारीमें जो परिवर्त्तन होता है वह एक नये जन्मके समान है, यहाँतक कि वास्तविक जन्म यही है। माता-पिता तो सिर्फ शरीरको ही जन्म देते हैं, परन्तु आचार्य मन, प्राण और आत्माको जन्म देनेवाला है, इन तीनोंमें स्फूर्त्ति और जागृति पैदा करनेवाला है। इसी बातको आपस्तम्बीय धर्मसूत्रमें इस प्रकार कहा है—

स हि विद्यातस्तं जनयति,
शरीरमेव तु मातापितरौ जनयतः।

उपनयनसंस्कारद्वारा मनुष्य किन्हीं उद्देश्यों और सङ्कल्पोंको पूरा करनेके लिये अपने-आपको सन्नद्ध करता है। और 'सङ्कल्पप्रभवा यज्ञाः'—सङ्कल्पसे यज्ञकी उत्पत्ति होती है, किसी उच्च सङ्कल्प अथवा महत्त्वाकाङ्क्षाको पूर्ण करनेके लिये जो कर्म किया जाता है वह यज्ञ है। स्वातन्त्र्यप्राप्तिके महान् उद्देश्यसे किया गया संग्राम भी एक यज्ञ है। ब्रह्मचारी भी किन्हीं सङ्कल्पोंके आधारपर यज्ञ करता है, इस महान यज्ञकार्यके लिये वह यज्ञोपवीतको सङ्केतके रूपमें धारण करता है। एवं यज्ञोपवीत यज्ञकर्मके लिये धारण किया हुआ यज्ञ-चिह्न है, आत्मसंग्राममें असुरोंको परास्त करनेके लिये विजयपताका है।

३—ब्रह्मचारीके सङ्कल्पभूत आत्मज्ञानका स्वरूप सर्वत्र ऐकात्म्यका अनुभव करना है

अब प्रश्न है कि ब्रह्मचारीका सङ्कल्प क्या है? वैयाकरणोंमें 'ब्रह्मचारी' शब्दका निम्नलिखित अर्थ प्रचलित है—

'ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं यद्व्रतं तदपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी' (काशिका)

अर्थात् वेदाध्ययनके लिये जो व्रत करता है वह ब्रह्मचारी है, वेदाध्ययन ही ब्रह्मचारीका सङ्कल्प है। ऊपर 'ब्रह्म' वेद-

को कहा है, इसलिये 'ब्रह्मसूत्र' का भी अर्थ हुआ वेदाध्ययन-के लिये धारण किया हुआ सूत्र ।

वेदाध्ययनसे अभिप्राय चारों वेदोंको याद कर लेना नहीं है । वेद चार पोथियाँ नहीं । वेद तो मनुष्यके विज्ञानमय कोशमें विद्यमान रहता है, वहींसे इसकी अभिव्यक्ति होती है और वहींसे इसका व्यवहार और क्रियामें प्रयोग होता है ।* विज्ञानमय कोशका यह वेद ही अन्तर्ज्योति है, यही अन्तरात्मा है और परमात्मा है, यही आत्मप्रकाश है और यही ब्रह्मानन्द है । वेद और परमात्मा सचमुच अभिन्न हैं । 'ब्रह्म' का अर्थ परमात्मा करो या वेद, एक ही बात है । जो वेदको जानता है वह परमात्माको जानता है । इसी प्रकार जो परमात्माको जानता है वह वेदको जानता है । वेद (विद्‌ल् ज्ञाने) ज्ञान है और ज्ञान परमात्मा है (Truth is God and God is truth)। सृष्टि परमात्मासे होती है या वेदसे, इसमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है । उपनिषद्में 'ब्रह्म' से सृष्टिकी उत्पत्ति कहकर आगे यह भी कह दिया है कि यह सब सृष्टि प्रणव या वेदसे ही होती है । सम्पूर्ण संसार 'ओङ्कार' की व्याख्या-मात्र है । इसी अर्थको सूचित करनेके लिये 'शब्दब्रह्म' पद प्रयुक्त होता है । † एवं 'वेदाध्ययन', 'आत्मज्ञान' या 'ब्रह्म-ज्ञान' ये सब शब्द एक ही अर्थको सूचित करते हैं ।

आत्मज्ञान क्या है, यह बात संक्षेपसे निम्न महावाक्य प्रतिपादित करते हैं—

(१) अहं ब्रह्मास्मि । अयमात्मा ब्रह्म । प्रज्ञानं ब्रह्म । तत्त्वमसि ।

(२) अहमेतद्बहु स्याम् ।

(३) नेह नानास्ति किञ्चन ।

उक्त वाक्य आत्मज्ञानके साथ-साथ संसारकी प्रक्रियाकी भी व्याख्या करते हैं । संसार क्या है ? उपनिषद् और वेदान्त कहते हैं कि संसार मिथ्या है, मिथ्यात्व ही संसार है । मिथ्यात्वको विवेकपूर्वक जाननेसे बन्धन विच्छिन्न होकर मुक्ति प्राप्त होती है । उल्लिखित वाक्योंमेंसे प्रथम महावाक्य जीव और ब्रह्म अथवा आत्मा और परमात्मामें अभेदका प्रतिपादन करता है । द्वितीय महावाक्य 'अहमेतद्बहु स्याम्' यह दर्शाता है कि अद्वैत ब्रह्म ही सर्वत्र विविधरूपसे विराजमान है । तृतीय महावाक्य 'नेह नानास्ति किञ्चन' में कहा है कि दृश्यमान प्रकृति पारमार्थिकरूपसे मिथ्या है, असत् है, अध्यास या भ्रम है । वास्तविक सत् पदार्थ निर्गुण अद्वितीय ब्रह्म है । नानात्व केवल प्रतीतिमात्र है, मायाजाल (Illusion) है, धोकेकी टट्टी है । माया और ब्रह्मका सम्बन्ध होनेपर संसार—अर्थात् वैयक्तिक आत्माओं तथा प्राकृतिक जगत्का आविर्भाव होता है । लेकिन ये आविर्भूत पदार्थ वास्तवमें ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं; क्योंकि इनकी सत्ता मायिक है, केवल प्रतीयमान है, तात्त्विक नहीं ।

महावाक्योंका सार हम इन दो सूत्रोंमें प्रकट कर सकते हैं, यद्यपि ये दोनों विविध रीतिसे एक ही बातको सूचित करते हैं—

(१) अहमेतन्न (अहम्—अ, एतत्—उ, न—म्=ओम्) ।

(२) सोऽहम् ।

प्रथम सूत्रका अर्थ है—'मैं यह नहीं हूँ', अर्थात् आत्मा दृश्यमान जगत् नहीं है । द्वितीय सूत्रका अर्थ है—'मैं वही हूँ', अर्थात् आत्मा ब्रह्म ही है ।* इन दो महामन्त्रोंका जाप करनेसे, इनके अर्थको हृदयङ्गम करते रहनेसे आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान सम्पन्न होता है । ये सूत्र वस्तुतः 'प्रणव' के वाच्यार्थ हैं, दूसरे शब्दोंमें सकल वेदार्थके सारभूत हैं ।†

उपरोक्त आत्मज्ञान ही ब्रह्मचारीके सङ्कल्पका विषय है । ब्रह्मचारी आत्मा अथवा ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये बाहर-अन्दर सब लोक-लोकान्तरोंको खोजता फिरता है ।‡

लेकिन इस निर्गुण आत्मज्ञानको यज्ञोपवीत किस प्रकार सूचित करता है, यह तो उक्त विवेचनसे स्पष्ट नहीं होता ।

---

* 'यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्' —अथर्ववेद

† तुलना करो—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' —गीता

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । ओमितीदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।' —उपनिषद्

'विधातुस्तस्य (प्रणवस्य) लोकानाम्' —वाक्यपदीय

* आत्माके लिये निरुक्तमें 'हंस' शब्दका भी परिगणन किया है । निर्वचनपद्धतिके अनुसार 'हंस' के अक्षरोंका विपर्यास करनेसे 'सोहम्' होता है । जैसे 'हिंस' से 'सिंह' हो गया, इसी तरह 'सोहम्' से 'हंस' हुआ ।

† देखो महर्षि गार्ग्यायणकृत 'प्रणववाद' ।

‡ 'ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे'—अथर्व ।

इसलिये इसी प्रसङ्गमें अब हम परमात्माके सगुण रूपकी ओर दृष्टिपात करते हैं। मोक्षप्राप्तिके पूर्वकालतक मनुष्य अनिवार्य-रूपसे सगुण उपासनाके क्षेत्रमें सीमित रहता है, मोक्षका स्वरूप ही नैर्गुण्य है; वस्तुतः सब प्रकारके सागुण्यको दूर करना ही निःश्रेयस् अथवा कैवल्य है। यज्ञोपवीत सगुणसे निर्गुणकी तरफ जानेका सङ्केत है। सगुणताके व्यावहारिक नामरूपात्मक क्षेत्रमें तीन गुणा किये हुए तीन धागोंका सरल और सीधा सम्बन्ध मालूम होता है।

४—वैयक्तिक आत्मा ब्रह्माण्डका छोटा संस्करण है

प्रसिद्ध उक्ति है—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', जैसा कुछ मनुष्यके इस शरीरपिण्डमें है वैसा ही ब्रह्माण्डमें भी है। इससे विपरीत यह भी कहा जा सकता है, 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' अर्थात् जैसा ब्रह्माण्डमें है वैसा ही मनुष्यके इस छोटेसे शरीरपिण्डमें भी है।

अथर्व ११। ४। ३२ में कहा है—

'तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।'

अभिप्राय यह है कि विद्वान् व्यक्ति मनुष्यके बारेमें 'यह ब्रह्म ही है' ऐसा समझता है। मन्त्रके द्वितीय पादमें इसका कारण बताया है—

'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।'

अर्थात् ब्रह्माण्डके जितने देवता हैं वे सब-के-सब इस पुरुषमें भी विराजमान हैं। उक्त सूक्तके ३० वें और ३१ वें मन्त्रमें इसी तत्त्वको विस्तारसे प्रतिपादित किया है—

'या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह,
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः।
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे,
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये।'

भावार्थ यह है कि ब्रह्माण्डका ब्रह्म तथा उसके सब अनुगामी देवता मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं, ब्रह्माण्डका स्वामी परमनायक भगवान् प्रजापति भी इसमें विद्यमान है। ब्रह्माण्डके तीन मुख्य देवताओंका मनुष्यमें यह क्रम है—द्युलोकका सूर्यदेवता मनुष्यकी आँख है, अन्तरिक्षका वायु-देवता मनुष्यका प्राण है, मनुष्यके शेष भागमें पृथिवीका अग्निदेवता समाया हुआ है। ब्रह्माण्डके समस्त देवताओंकी मजलिस क्योंकि मनुष्यशरीरमें विराजमान है, इसलिये यह भी एक दूसरा ब्रह्माण्ड ही है।

देवलोगोंका शुभागमन वहीं होता है जहाँ किसी प्रकारका यज्ञ हो रहा हो। २९ वें मन्त्रमें मनुष्यमें प्रवर्तमान इस यज्ञका वर्णन है—

'अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥'

मनुष्यमें जो यज्ञ हो रहा है, उसकी समिधाएँ मनुष्य-शरीरकी हड्डियाँ हैं, यज्ञियजल मनुष्यमें स्थित आठ प्रकारके जल हैं और यज्ञार्थ घृत मनुष्यका वीर्य है।

कहनेका मतलब यह है कि ब्रह्माण्डकी जितनी विशेषताएँ हैं, वे सब मनुष्यमें उपलब्ध होती हैं। ब्रह्मचारी यदि अपने अन्दर विद्यमान लोकोंका धारण करता हुआ तथा देवोंको यज्ञहविद्वारा तृप्त करता हुआ आचरण करे तो वह आसानीसे बाह्य ब्रह्माण्डके पृथ्वी आदि लोकोंको धारण करके जगत्के अग्नि, वायु आदि सम्पूर्ण देवताओंको तृप्त करता हुआ परम कल्याणकी सिद्धि कर सकता है। अथर्ववेदके ब्रह्मचर्यसूक्तमें आये हुए इन मन्त्रांशोंमें यही बात कही है—

'तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।'
'स दाधार पृथिवीं दिवं च।'
'स देवांस्तपसा पिपर्ति।'

अब 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' को लेते हैं। मनुष्यकी जितनी विशेषताएँ हैं वे सब ब्रह्ममें भी पायी जाती हैं। मनुष्यके समान ब्रह्मके भी सिर, पैर, पेट, आँख आदि हैं। अथर्ववेदके स्कम्भसूक्तके निम्न मन्त्रांश इस बातको दृढ़तासे पुष्ट करते हैं—

'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।'
'दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्'
'यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।'
'अग्निं यश्चक्र आस्यम्'*
'यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्'
'दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः।'

इनसे मिलते-जुलते अनेक वेदवाक्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म और पुरुष, परमात्मा और आत्मा एक समान हैं।

टिप्पणी-(१) पाठकको यह शङ्का हो सकती है कि भला मनुष्यके इस छोटेसे शरीरमें ब्रह्माण्डके तीनों लोक और

* तुलना करो—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि।

समस्त देवता किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं ? देवताओंके बारेमें यह समझकर भी कुछ हदतक सन्तोष किया जा सकता है जिस प्रकार आँख सूर्यका ही एक अंश होनेसे शरीरमें सूर्य देवताकी प्रतिनिधि है, इसी प्रकार अन्य देवताओंके प्रतिनिधि शरीरके भिन्न-भिन्न अवयवोंके रूपमें विद्यमान हैं। लेकिन इस परिमित शरीरमें द्यु और अन्तरिक्ष-जैसे महान् पदार्थ कहाँ हैं ? अन्नमय, वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय, इन पाँच कोशोंसे परिचय रखनेवाले आसानीसे समझ सकते हैं कि ये ही पञ्चकोश वस्तुतः तीन लोक हैं। बीचके तीन कोशोंसे मिलकर अन्तरिक्ष बनता है, अन्नमयसे पृथिवी तथा विज्ञानमयसे द्यु बनता है। जिस प्रकार द्यु पृथिवी तथा अन्तरिक्षको अपनी ज्योतिसे प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विज्ञानमय कोशके विज्ञानरूप आनन्दमय प्रकाशसे मनुष्यके मन, प्राण, वाणी और स्थूलशरीर आप्लावित होते हैं। जो मनुष्य अपने पृथिवीलोक अर्थात् स्थूल अन्नमय शरीरकी ही इच्छाओंको तृप्त करनेमें तत्पर रहता है वह द्युलोक-विज्ञानमय कोशतक नहीं पहुँच सकता। वहाँ पहुँचनेके लिये वाणी, प्राण और मनके आवरणोंको हटाना आवश्यक है। तीनों लोकोंको धारण करनेका एकमात्र तात्पर्य यही है कि तीनोंमें उचित मर्यादा कायम की जाय, किसी एक निचले लोकमें न फँसते हुए उच्चतर लोककी आकाङ्क्षा की जाय ? जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन मनुष्यकी भिन्न-भिन्न सांसारिक अवस्थाएँ हैं। जाग्रत्में अन्नमय कोशकी प्रधानता होती है, स्वप्नमें मनोमय, प्राणमय और वाङ्मय विशेषरूपसे कार्य करते हैं, इसी प्रकार सुषुप्तिमें विज्ञानमय कोशका कार्य मुख्य है। इन तीन अवस्थाओं और पाँचों कोशोंसे ऊपर उठनेपर संसारावस्थाका अन्त होता है और पारमार्थिक अवस्था उदित होती है। इस हालतमें मनुष्य अपना पृथक् अस्तित्व जो कि बन्धनावस्थामें अनुभव होता था, उसे भुलाकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद्ने इस उच्चतम भूमिकाको 'प्रज्ञानघन' आदि शब्दोंसे सूचित किया है।

(२) मनुष्य परमात्माकी प्रतिमूर्त्ति है, यह विचार पाश्चात्य जगत्में भी प्रसिद्ध है। अंग्रेजीमें Microcosm तथा Macrocosm शब्द इसी भावको सूचित करते हैं। Thomas Carlyle ने अपनी पुस्तक Heroes and Hero-worship में "True Shekinah is man" इस वाक्यको बड़े आदरके साथ उद्धृत करते हुए बताया है कि वास्तविक परमात्मा मनुष्य ही है। परमात्माको यदि कहीं चित्रित अथवा मूर्त्तरूपमें देखना इष्ट हो तो हम आदर्श-पुरुषमें देख सकते हैं। परमात्माके अधीश्वरत्व और शासन-कर्तृत्वका मूर्त्तरूप हम रामायणकालीन संसारके चक्रवर्ती सम्राट् श्रीरामचन्द्रजीमें पा सकते हैं। परमात्माके नैर्गुण्य और निःसङ्गत्वको हम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तथा महात्मा बुद्धमें पा सकते हैं। परमात्मा वह पदार्थ है जहाँ सब सीमाओंका, सब उत्कृष्टताओंका अन्त होता है। * यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (Plato) ने परमात्माका स्वरूप Highest Idea (अथवा न्यायके शब्दोंमें 'परसामान्य'के रूपमें) कहकर प्रतिपादित किया है। दुनियाकी समस्त वस्तुओंमें परमात्माकी ही विभूति व्याप रही है; जहाँ कहीं किसी तरहकी श्रेष्ठता है, जहाँ कहीं सत्य, शिव या सुन्दर है वह सब परमात्मा ही है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने क्या ही अच्छे शब्दोंमें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

इसके अतिरिक्त—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

—इत्यादि श्लोकोंमें इसी तत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रभु परमात्माके अभावमें किसी भी पदार्थमें अस्तित्व, सत्य और प्रकाशका होना सर्वथा असम्भव है; 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' आदि शब्दोंद्वारा उपनिषद् बार-बार इसी सचाईको उद्घोषित कर रही है।

अन्तमें हम प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता राल्फ वाल्डो इमर्सन (Ralph Waldo Emerson) के इन शब्दोंके साथ इस अवान्तर प्रसङ्गको समाप्त करते हैं—

'If a man is at heart just, then in so far is he God; the safety of God, the immortality of God, the majesty of God, do enter into that man with justice.' †

* 'सा काष्ठा सा परा गतिः।' (उपनिषद्)
'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' (योगसूत्र)
'यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष ईश्वरः' (व्यासभाष्य)

† Quoted from the address delivered to the graduating class at Divinity College in 1838.

५—त्रिगुणित त्रित्व (३×३)

अभीतक हमने जो कुछ प्रतिपादन किया है उसका संक्षेपमें सार यह है कि यज्ञोपवीतमें यज्ञपदवाच्य अर्थ 'ब्रह्म-यज्ञ' अथवा 'आत्मज्ञान' है । परमात्माके साथ मनुष्य ऐकात्म्यका अनुभव करे, उसके साथ अपने-आपको एक (Identified) समझे, यही आत्मज्ञान है । इस ऐकात्म्य-का बाह्य स्वरूप यह है कि सर्वत्र चेतन अथवा अचेतन जगत्में अपने ही आत्माका साक्षात्कार करे, व्यक्तित्वकी तुच्छ भूमिका (सतह) से ऊपर उठकर अपने-आपको विश्वव्यापक सार्वत्रिक रूपमें अनुभव करे । यज्ञोपवीत धारण करते समय जो सङ्कल्प करना होता है वह यही आत्मज्ञान है ।

इस विषयके थोड़े और अधिक विस्तारमें जायँ तो यह भी विचार करना होगा कि यज्ञोपवीतमें त्रिगुणित किये हुए तीन तार किस अभिप्रायकी ओर सङ्केत करते हैं । शास्त्रमें कहा है—

> ततः प्रदक्षिणावर्तं समस्याग्नवसूत्रकम् ।
> त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा ब्रह्मविष्ण्वीश्वरान्नमेत् ॥

भावार्थ यह है कि यज्ञोपवीतके नौ तारोंको तीन-तीन करके अलग-अलग बट लेना चाहिये, बादमें तीनोंको इकट्ठा करके उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकर्ता परमेश्वरका स्मरण करते हुए एक दृढ़ गाँठ जिसे 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं, बाँधनी चाहिये ।

इन तीन और नौका क्या सम्बन्ध है, अब इसकी विवेचना करते हैं ।

संसार सामान्यतः तीन-तीनमें बटा हुआ है । वैदिक दृष्टिसे जिस किसी भी क्षेत्रका पर्यालोचन करें, वह तीनमें विभक्त हुआ दृष्टिगोचर होगा, एवं व्यावहारिक या व्यक्त जगत्का आकार ही त्रैतात्मक है । इस त्रित्वको भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणके आधारपर निचले कोष्ठकमें दिखलाया है, कहीं-कहीं त्रित्वका समाहार करनेवाली चौथी चीज़का भी दिग्दर्शन है ।

दृष्टिकोण	१	२	३	४
जगत्की अवस्थाएँ	सृष्टि	स्थिति	संहार	...
त्रिदेव	ब्रह्मा	विष्णु	महेश (शिव)	...
देवियाँ	लक्ष्मी	सरस्वती	सती	...
त्रिविध लक्ष्मी	रमा	लक्ष्मी	शारदा	...
त्रिविध सरस्वती	ऐन्द्री	ब्राह्मी	सरस्वती	...
त्रिविध सती	सती	गौरी	पार्वती	...
वाहन	हंस	गरुड़	वृषभ	...
	देश	काल	गति	...
	ज्ञान	इच्छा	क्रिया	...
त्रिविध क्षिति	पृथिवी	मेदिनी	मही	...
त्रिविध तेज	अग्नि	तेज	वह्नि	...
त्रिविध वायु	मारुत	पवन	वात	...
	आकाश	चिदाकाश	महाकाश	...
अन्तःकरण	मन	बुद्धि	अहङ्कार	चित्त
ज्ञान	सङ्कल्प	विकल्प	अनुकल्प	...
इच्छा	आशा	आकांक्षा	कामना	...
क्रिया	क्रिया	प्रतिक्रिया	अनुक्रिया	...
संसार-प्रक्रिया	आत्मा	अनात्मा	निषेध	समन्वय
नीति	धर्म	अर्थ	काम	मोक्ष
वैशेषिक	द्रव्य	गुण	कर्म	...
	सामान्य	विशेष	समवाय	...
न्याय	प्रमाण	प्रमेय	संशय	मोक्षसमाहार
	कर्ता	कारण	क्रिया	प्रयोजन
योग	ज्ञान	वृत्ति	निरोध	...
सांख्य	प्रकृति	पुरुष	असङ्ख्येय	ब्रह्म
मीमांसा	स्वार्थ	परार्थ	परमार्थ	...
वेदान्त	जीव	माया	ब्रह्म	...
काव्यरस	शृङ्गार	रौद्र	शान्त	...
आध्यात्मिक	राग	द्वेष	प्रशम	...
साहित्य	उपमान	उपमेय	अनन्य	अतिशयोक्ति
संगति	शब्द	प्रतिशब्द	अनुशब्द	...
	ध्वनि	प्रतिध्वनि	अनुध्वनि	...
कर्मयोग	प्रवृत्ति	निवृत्ति	अनुवृत्ति	...
पुराण	सृष्टि	लय	स्थिति	...
	विकास	सङ्कोच	स्थैर्य	...
	स्पन्द	स्फुरण	स्फुलन	...
व्याकरण	स्वर	व्यञ्जन	विसर्ग-अनुनासिक	...
	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित	...
	संज्ञा	धातु	कारक	समास
	कर्ता	कर्म	करण	...
	प्रथम	मध्यम	उत्तम-पुरुष	...

	भूत	भविष्यत्	वर्तमान	...
	पुँल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	नपुंसक-लिङ्ग	...
आयुर्वेद	वात	पित्त	कफ	...
त्रिगुण	सत्त्व	रज	तम	...
	रोहित	शुक्ल	कृष्ण	...
	अग्नि	आदित्य	चन्द्रमा	...
तीन देवता	अग्नि	इन्द्र	सूर्य	...
शारीरिक	अन्न	अप्	तेज	...
	वाक्	प्राण	मन	...
धातु	सुवर्ण	रजत	अयस्	...
लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यु	...
व्याहृति	भूः	भुवः	स्वः	...
	सत्	चित्	आनन्द	...
वेद	ऋग्	यजुः	साम	अथर्व
	ज्ञान	कर्म	उपासना	...
नाडी	इडा	पिङ्गला	सुषुम्ना	...
	प्राण	अपान	हरस्	...
अवस्था	जाग्रत्	स्वप्न	सुषुप्ति	...
शरीर	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	...
युग	सत्य	द्वापर	त्रेता	...
	आयु	वर्चस्	ओजस्	...
	इन्द्रिय	वाक्-प्राण-मन	आत्मा	...
गुरु	माता	पिता	आचार्य	...
ऋण	मातृ-ऋण	पितृ-ऋण	आचार्य-ऋण	...
आश्रम	ब्रह्मचर्य	गृहस्थ	वानप्रस्थ	संन्यास
वर्ण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
प्रणव	अ	उ	म्	...
महावाक्य	अहंब्रह्मास्मि	अहमेतद्बहु स्याम्	नेह नानास्ति किञ्चन	

इसी रीतिसे यदि हम त्रिकोंपर ध्यान दें तो हमें प्रत्येक क्षेत्रमें, संसारके प्रत्येक विभागमें त्रित्व-ही-त्रित्व दिखायी देगा। साथमें यह भी मालूम होगा कि इस त्रित्वके अतिरिक्त एक चौथी वस्तु भी उपलब्ध होती है; ऊपर हमने जहाँ-जहाँ प्रसिद्ध शब्द मिल सके, इसका निर्देश किया है। यज्ञोपवीतके तीन तारोंको मिलानेके लिये जो ब्रह्म-ग्रन्थि नामक गाँठ लगायी जाती है वह त्रित्वात्मक संसारके ब्रह्ममें एकात्मभावको द्योतित करती है। त्रित्वकी तीन अवस्थाओंका समाहार या समन्वय चतुर्थ किंवा तुरीय अवस्थामें ब्रह्मग्रन्थिमें जाकर होता है। यह तुरीय अवस्था ही पारमार्थिक स्थिति है, व्यावहारिक जगत्में विद्यमान त्रैत इसीकी अभिव्यक्ति अथवा रूपान्तर है। व्यवहारके त्रित्वका विवेकपूर्वक समन्वय करके तुरीय पदार्थमें ऐकात्म्यका साक्षात्कार करना परमार्थ, मोक्ष निःश्रेयस् या चरम उद्देश्य है। तुरीयकी तरफ जाना ही साधना है।

एक बात और। तीन-तीनका यह विभाग स्थूल विभाग है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे ज्ञात होगा कि त्रिकका कोई एक पदार्थ शुद्ध रूपमें नहीं मिलता। उदाहरणके लिये केवल सत्त्व या केवल रज या केवल तम नहीं मिल सकता। सत्त्व, रज और तम जहाँ भी होंगे तीनों होंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि केवल सत्त्व ही हो और उसके साथ रज और तमका लेशमात्र भी न हो। हाँ, इतना तो अवश्य सम्भव है कि तीनोंके होते हुए किसी समय सत्त्वका प्राधान्य हो, किसी समय रजका और किसी समय तमका। इस प्रकार त्रिकका प्रत्येक पदार्थ त्रिविध रूपमें प्राप्त होगा। जैसे—सत्त्व, रज और तम इनमेंसे सत्त्वका।

पहला प्रकार वह है जिसमें सत्त्व स्वयं प्रधान हो, रज, तम गौण हों।

दूसरा प्रकार वह है जिसमें रज प्रधान हो, सत्त्व, तम गौण हों।

तीसरा प्रकार वह है जिसमें तम प्रधान हो, सत्त्व, रज गौण हों।

इस पद्धतिको किसी भी त्रिकके बारेमें लागू किया जा सकता है।

इस विवेचनका परिणाम यह हुआ कि संसार त्रित्वमय है और यह त्रित्व स्वयं भी त्रैतात्मक है—अर्थात् दूसरी दृष्टिसे संसार नवात्मक है, सब चीजें नौ-नौ विभागोंमें विभक्त हैं, यह नौ ही थोड़ेमें तीन कहा जाता है। इन्हीं तीन और नौका सम्बन्ध यज्ञोपवीतके तीन और नौ तारोंसे है।

इस प्रसङ्गमें प्रमाण उपस्थित करनेके लिये अथर्ववेदके अठारहवें काण्डका सत्ताईसवाँ सूक्त विचारणीय है। सर्वानुक्रमणीमें इस सूक्तका देवता लिखा है—'त्रिवृद्देवत्यमुत चान्द्रमसम्।' ऊपर जैसा कहा गया है, इसी भाँति यहाँ भी तीन देवताओंको मिलानेवाले तुरीय तत्त्वको 'चन्द्रमा' कहा है। अस्तु, इस सूक्तके शब्दक्रमको देखकर ऐसा प्रतीत होता है

कि इसका लक्ष्य यज्ञोपवीतकी ओर है । इसके दो मन्त्र हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवी-
स्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहु-
स्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥
त्रीन्नाकांस्त्रीन्समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन्वैष्टपान् ।
त्रीन्मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तॄन्कल्पयामि ते ॥ २ ॥

इन मन्त्रोंका सरलार्थ यह है—

प्रथम मन्त्र—तीन द्युलोक, तीन पृथिवीलोक, तीन अन्तरिक्षलोक, चौथे (तीनों लोकोंको मिलानेवाले) तीन समुद्र, तीन प्रकारका स्तोम अर्थात् स्तवन (ज्ञान, कर्म, उपासना), त्रिविध अप् अर्थात् मूलप्रकृति (सत्त्व, रज, तम) ये सब त्रिवृतोंसे त्रिवृत् होकर—त्रित्वपूर्वक तीन होकर (नौ होकर) तेरी रक्षा करें ।

द्वितीय मन्त्र—तीन स्वर्ग, तीन समुद्र, तीन ब्रध्न अर्थात् सूर्यमण्डल, त्रिविध वैष्टप अर्थात् जगत्के पदार्थ, तीन वायु, तीन आदित्य, इन सबको मैं तेरा रक्षक नियत करता हूँ ।

यज्ञोपवीत धारण करनेकी रीतिका विधान करते हुए स्मृतिमें भी इसीसे मिलता-जुलता वचन है—

अब्लिङ्गकैश्च मन्त्रैस्तत्प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
ततः प्रदक्षिणमावर्त्य सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् ॥

'अप्' शब्द जिसमें आया है, (आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन) ऐसे मन्त्रका उच्चारण करके उस सूत्रको धोवे और फिर सावित्री पढ़कर उसे तीन गुना करे ।

यज्ञोपवीतका रचनाप्रकार बतलाते हुए देवलने कहा है—

'सावित्र्या त्रिवृतं कुर्यान्नवसूत्रं तु तद्भवेत् ।'

कर्मप्रदीप छन्दोगपरिशिष्टमें लिखा है—

त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ।

गोभिलगृह्यसूत्रका वचन है—

'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नव तान्तवम् ।'

स्मृति तथा सूत्रग्रन्थोंके उद्धरण देनेका एकमात्र प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है कि ये सब अर्वाचीन वचन अथर्ववेदके उल्लिखित सूक्तका ही अनुसरण करते हैं । 'त्रिवृत्', 'नवसूत्र' आदि शब्दोंका सादृश्य इस बातका प्रमाण है कि यज्ञोपवीतका मूल साक्षात् वेदमें है । वेदमें त्रिगुणित त्रित्व (३×३) न केवल यज्ञोपवीतको ही लक्ष्य करके कहा है प्रत्युत इसका विनियोग संसारके समस्त क्षेत्रोंमें किया गया है । परिणामतः ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञोपवीतके तारोंका तीन गुणा तीन होना त्रिगुणित त्रित्वात्मक संसारका प्रतीक है । वस्तुतः जगत्का अगर कोई सामासिक रूप है, यदि जगत्की प्रक्रियाको अल्प शब्दोंमें प्रकट किया जा सकता है तो वह इसी रूपमें कि जगत् त्रिवृत् होकर फिर त्रिवृत् है—यानी ३×३ (तीन गुणा तीन) है । इसके अतिरिक्त इस त्रिगुणित त्रित्वात्मक प्रपञ्चका समाहार करनेवाली एक तुरीय ब्रह्मग्रन्थि भी है, त्रैगुण्यका अन्तर्धान ब्रह्ममें हो जाता है ।

६—उपसंहार

इस त्रिगुणित त्रित्व प्रपञ्चको तथा इसके समन्वयको अपने अंदर देखना—अनुभव करना—धारण करना ही यज्ञोपवीतका प्रयोजन है । यह धारण किस प्रकार होता है, यह बात ऊपर हम पिण्ड-ब्रह्माण्डके प्रकरणमें स्पष्ट कर चुके हैं । मनुष्य अपने अंदर ही संसारकी समस्त प्रक्रिया—उत्पत्ति, स्थिति, संहार (समाहार) को देखने लग जाय, बस यही धारण करना है । साधारणतया हम समझते हैं कि सृष्टि हमारी अपेक्षा न करके स्वतन्त्र और हमारेसे बाहर है, तथा जहाँतक हो सके हमें अपनेको संसारकी परिस्थितियोंके अनुकूल बना लेना चाहिये, अथवा संसारको अपनेसे प्रतिकूल न रहने देना चाहिये; परन्तु यदि इस प्रकार बाह्य जगत्का आश्रय लिया जाय तो यह मार्ग अत्यन्त दीर्घ और कष्टसाध्य मालूम होगा, संसारमें जबतक मनुष्य है तबतक उसे दुःख-ही-दुःख रहेगा । इससे विपरीत सच्चा वैदिक मार्ग यह है कि हम बाहरसे अंदर प्रगति न करके अंदरसे बाहर प्रगति करें । यदि हम अपने अन्तरको खोजेंगे तो वहीं सब कुछ सिद्ध हो जायगा, बाह्यको सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता न होगी । आत्मापर जय होगा तो संसार और माया स्वयं हार खाकर रह जायँगे ।*

---

* पाश्चात्य और भारतीय प्रवृत्तियोंका भेद दिखलाते हुए प्रसिद्ध विद्वान् पी० बी० पाठकने अपनी पुस्तक "The Heyapaksha of Yoga." की भूमिकामें लिखा है—

"The Western mind has always tried to approach things externally." "Indian mind tries to approach and realise his innermost Self."

बाहर जितना त्रिगुणित त्रित्व दृष्टिगोचर होता है उसको धारण करनेवाला आत्मा ही है, आत्मा ही उसका मूलस्रोत है, आत्माके जाननेपर शेष सब कुछ आनुषङ्गिकरूपसे जाना जाता है, इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ है, उसका मूलाधार बाहर न होकर आत्मामें है।†

इस असली आत्माको पहचानना, सङ्कीर्ण वैयक्तिक आत्मासे ऊपर उठकर सर्वव्यापक, नित्य, सर्वाधार और उच्चतर परम आत्माका अनुभव करना ही मनुष्यका चरम ध्येय है। यज्ञोपवीत इसी ध्येयका एक प्रतीक है, यज्ञोपवीत मनुष्यके अंदर निगूढ़ विश्वात्मा अथवा पिण्डब्रह्माण्डके एक आत्माकी तरफ इशारा करता है। इस एक—अद्वितीय—अज-अमर—स्वयंभू आत्माके साथ अपना तादात्म्य अनुभव करना ही परम कल्याण और मोक्षसम्पद् है।‡
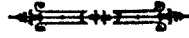
रामनामका उद्यान

[रचयिता—पं० श्रीईश्वरीदत्तजी दौर्गादत्ति शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०एम०]

तापत्रयसंतप्त यह जग यदि नहिं अभिराम।
राम-नाम आराममें तो मन कर आराम॥ १॥

संकट-कंटक-कणिका जिसपर उत्कंठा नहिं कर सकती।
हानि-हिमानी कभी न जिसकी हरियाली है हर सकती॥ २॥

मत्सरके औ मच्छर जिसको छलसे भी नहिं छू पाते।
कपट-वर्कोंके पटल न जिसके निकट फटकने हैं पाते॥ ३॥

नहिं जगकी झंझटकी झंझा-पौन जहाँ है बह सकती।
नवता-नवनीत नहीं जिसकी म्लानि मक्षिका छू सकती॥ ४॥

चिर-चिर भी विचरणसे जिसमें रुचि विचलित नहिं हो सकती।
प्रतिदिन प्रतिपल जिसकी श्रुतिसे श्रुतिकी श्रान्ति न हो सकती॥ ५॥

वैरभाव वानरदल जिसपर बलात्कार नहिं कर सकते।
दर दावानल भी जिसपर हैं कभी न दावा कर सकते॥ ६॥

लोभ-भालु-तति जिसके बाहर ही रहकर रंजित रहती।
मोषक-मूषकपंक्ति निकटमें पंक्तिपूत होकर रहती॥ ७॥

तमस्-तिमिरकी महक तनिक भी जहाँ नहीं है हक पाती।
अज्ञ उलूक-कुलोंकी जिसमें उलूकता ही लुक जाती॥ ८॥

---

† 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'—गीता

'तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।'

'यं आत्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति।' —उपनिषद्

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥' —यजुर्वेद

'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥

सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वमात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥' —मनु

'आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड भवति।' —उपनिषद्

‡ 'यज्ञोपवीत' के लिये हिन्दीमें 'जनेऊ' और गुजरातीमें 'जनोई' शब्द प्रचलित है। ये दोनों शब्द वस्तुतः मूल संस्कृतके ही अपभ्रंश हैं। प्राकृतमें यज्ञोपवीतका बिगड़कर 'जण्णोवईअ' रह गया। इस 'जण्णोवईअ' से 'जनोई' और 'जनेऊ' शब्द बन गये।

पाप-पंक भी कभी न जिसमें अपना अंकन कर सकता।
विषम वासना वायसका जो विषय नहीं है बन सकता॥ ९॥
शंका-कंकर जिसमें जानेको अति शंकित हो जाते।
अतुल अमंगल-ओले जिसमें तूल मृदुल हैं बन जाते॥१०॥
अकुशल-शलभ-सभा भी जिसको सुलभ नहीं है पा सकती।
जहाँ रजोगुण-रजकण-राजी कभी न राजी रह सकती॥११॥
जंजालोंके जम्बुक जिसमें जरा नहीं हैं जा सकते।
पराजयोंके पटबीजन भी उद्वेजन नहिं कर सकते॥१२॥
खंडन-मंडनके भी जिसमें न बवंडर-मंडल आते।
बर्बरताके बर्रे भीतर कभी भूलकर नहिं जाते॥१३॥
दादुर दुर्वादोंके जिसमें कदापि आदर नहिं पाते।
कुत्सित तर्क-कुकीटकदल भी दल जिसका नहिं छू पाते॥१४॥
संशय-दंश-निदंशनका भी जहाँ निदर्शन नहिं मिलता।
अपकार-वराह कभी जिसकी राह नहीं है पा सकता॥१५॥
पराभूति-भूतावलि जिसमें अनुभूत नहीं है होती।
परीवाद-प्रेतोंकी स्थिति भी अभिप्रेत है नहिं होती॥१६॥
अधःपतनका पतझड़ जिसमें झाँक कभी है नहिं सकता।
व्याधिवृन्दका व्याध जरा भी जहाँ न धीरज धर सकता॥१७॥
अभिशापोंके साँप जहाँसे हाँप हाँप हैं भग जाते।
दुर्निश्चयके वृश्चिक जिसमें निश्चित निर्विष हो जाते॥१८॥
परलाञ्छन कपिकच्छू जिसको कभी न लाञ्छित कर सकती।
दुर्वाञ्छाकी विच्छू घास न आश जहाँ है कर सकती॥१९॥
अदर, अदूर, अदोष सदा जो द्वेष किसीसे नहिं करता।
राम-नाम उस निर्मल वनमें क्यों न निरामय मन! रहता॥२०॥
ब्रह्मानन्द अमर अति सुन्दर कन्द सदा जिसमें जमते।
आमोदोंके वर इन्दीवर भी मन्द मन्द हैं हँसते॥२१॥
कीरतिके कैरवकुल जिसमें स्मेर सदा ही हैं रहते।
कमलाके कमनीय कमल भी मन मलीन नहिं हैं करते॥२२॥
प्रभु-अनुकंपा चंपा जिसमें, गौरव-लाभ गुलाब जहाँ।
ऋजुता-ऋद्धि जुही है जिसमें, वीरभाव करवीर जहाँ॥२३॥
शुभ-वेलाकी सदा सुलभता अलबेली बेला जिसमें।
सदाचार-कचनार कभी कुछ भी सकुचाता नहिं जिसमें॥२४॥
सुकृत-केतकी कदापि जिसमें धीरज है निज नहिं तजती।
सत्कामना-कामिनी अपनी पूर्ति कामनाकी करती॥२५॥

हृदयमृदुलता-मृद्वीका है जिसपर उपज सहज जाती।
मननिर्मलता मलयज-पाँती पनप आप ही है जाती ॥२६॥
ललित सफलता-शेफाली भी जिसमें म्लान नहीं होती।
अजपा-जाप जपा जिससे युत जरा जरान्वित नहिं होती ॥२७॥
सुसंस्कार कश्मीरी केसर जिसकी गरिमा गुरु करती।
प्रियसंग प्रियंगु कभी जिसको सत्संगति है नहिं तजती ॥२८॥
श्रीफल ही श्रीफल तरुवर है, शिवसंवाद कदंब जहाँ।
शुभारंभ है रंभा सुन्दर और अशोक अशोक जहाँ ॥२९॥
निखिलगुणांगण भवभयभंजन मंजुल मंगल जो करता।
राम-नाम उस सुमन-विपिनमें क्यों मन! शान्ति न तू भजता ॥३०॥
साधक सारस सार जहाँपर निज जीवनका हैं पाते।
कोविद कोक कभी कुछ जिसमें शोक नहीं हैं दरशाते ॥३१॥
अंजन मंजुल हरिजन खंजन जिससे मनरंजन करते।
सुमति मोतियोंपर ही निर्भर परमहंस भी हैं रहते ॥३२॥
चाकर चारु चकोर जहाँ हैं न उछाह बिछोह जनाते।
शिक्षित-शिशु-शुककुल भी जिसमें अति कोमल केलि दिखाते ॥३३॥
"मोर"-हीन मोरोंकी डारें मदसे मंथर हैं भाती।
"मैं ना" की मैनाएँ जिसमें मान अमित नित नित पाती ॥३४॥
कविवर-कोकिल-आवलि जिसपर बार बार बलि है जाती।
नानाविध नर विविध बिहंगम-तति अति मृदु मंगल गाती ॥३५॥
भिन्न-भिन्न गुणमणि-गण जिसमें सुषमा कुसुमित है करता।
सुरभि समीरण समरसताका सुख असीम वितरण करता ॥३६॥
सहज मधुरिमा सुधावापिका ठौर ठौर है लहराती।
उरु सुवर्णमय उरपर जिसकी मुक्ति-कौमुदी मुसकाती ॥३७॥
विषय-अचिन्ता चिन्तामणिमय आवृति है जिसकी दृढ़तर।
गुरुपदपद्मसमादर जिसका दरवाजा अति है सुन्दर ॥३८॥
दिनकर हिमकर हैं किंकर, जिसके श्रीशंकरजी माली।
महाकाल रखवाला जिसका, मालिक हैं श्रीवनमाली ॥३९॥
निरवधि शेवधि मोदमहोदधि अनिश सरस जो है रहता।
रामनाम उस उपवनमें मन! सदा सुखी क्यों नहिं रहता ॥४०॥

परमार्थके पथपर

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[गतांकसे आगे]

(४)

उस स्थानसे बोधाश्रम दूर न था। पर्वतके ऊँचे-नीचे रास्तोंसे बात-की-बातमें दोनों वहाँ पहुँच गये। भगवती भागीरथीकी प्रखर धारासे टूटकर एक बड़ा-सा शिलाखण्ड पड़ा हुआ था। कुछ तो उसकी बनावटके कारण और कुछ उसके पड़नेके ढंगके कारण उसके नीचे एक बहुत ही सुन्दर स्थान निकल आया था। उसीमें महात्माजी रहते थे। बड़ा ही कोमल बालू उसमें बिछा हुआ था। आस-पास ऐसे पत्थर पड़े हुए थे जिन्हें देखते ही उनपर बैठकर ध्यान करनेकी इच्छा हो जाती थी। सामने ही अपनी गम्भीर ध्वनिसे ज्ञान-वैराग्य और भक्तिकी शिक्षा देती हुई देवनदी गङ्गा बह रही थीं। वह नाममात्रका आश्रम था। वास्तवमें तो प्रकृतिकी बनायी हुई एक गुफा थी।

यद्यपि पहाड़ोंकी उँचाईके कारण चन्द्रमा पश्चिम समुद्र-की गोदमें जाते-से दीखते थे तथापि महात्माजी और सुरेन्द्रके वहाँ पहुँचनेपर कुछ रात बाकी थी। महात्माजीने सुरेन्द्रको सम्बोधित करके कहा—'यह ब्रह्मवेला है। इसमें प्रकृति अत्यन्त शान्त रहती है। प्रकृतिके शान्त रहनेके कारण मन भी शान्त रहता है और वह तीव्र गतिसे अन्तर्देशमें प्रवेश करता है। भगवान्‌की प्रार्थना और चिन्तनका यह मुख्य समय है। तुम किसी शिलाखण्डपर बैठकर भगवान्‌का चिन्तन करो। यह आश्रम अत्यन्त पवित्र है। यहाँके वायुमण्डलमें एकाग्रता भरी है।'

महात्माजी सुरेन्द्रको भेज ही रहे थे कि एक तीसरे व्यक्तिने उस गुफाके द्वारपर आकर महात्माजीको साष्टांग नमस्कार किया। इसके अतर्कित आगमनसे सुरेन्द्र भी रुक गया। महात्माजीने उठाकर आशीर्वाद दिया। उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई मानो उनके आश्रममें स्वयं भगवान् ही पधारे हों। उन्होंने प्रेमसे पूछा—'भैया, तुम कबसे यहाँ आये हो? मेरी अनुपस्थितिसे तुम्हें कष्ट हुआ होगा? इस अनजाने पहाड़ी प्रदेशमें इतनी रातको कैसे आ गये? तुम संक्षेपसे अपनी सारी बात कह सुनाओ।'

पूछते-पूछते महात्माजीने उस आगन्तुक नवयुवकको अपने पास ही बैठा लिया। सुरेन्द्र भी एक ओर बैठ गया। आगन्तुकने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—'महात्मन्! आज आपके दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। आपको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ही मैं यहाँ आया हूँ। यहाँ आनेका कारण क्या बताऊँ? एक प्रकारसे भगवान्‌की आज्ञा ही समझ लीजिये। अब मेरा जीवन सफल हो गया।' उसके चेहरेपर प्रसन्नताका बिलक्षण प्रकाश छा गया।

सुरेन्द्र बहुत ही उत्सुक हो रहा था। महात्माजी भी उसका हाल जाननेके लिये पर्याप्त उत्कण्ठित हो रहे थे। उन्होंने कहा—'भैया! तुम अपनी सब बात कहो, तुम्हें यहाँ आनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा कैसे प्राप्त हुई? परन्तु भगवान्‌की लीला बड़ी अद्भुत, बड़ी मधुर होती है। वे न जाने कब कैसे क्या कर डालते हैं, उसके कहने-सुनने और स्मरण करनेमें बड़ा रस है, बड़ा आनन्द है। तुम उनकी लीला सुनाओ। आजकी ब्रह्मवेला इसी प्रकार व्यतीत हो।' कहते-कहते वे गद्गद हो गये। उनकी आँखोंसे आँसूकी कई बूँदें ढुलक पड़ीं।

आगन्तुकने कहा—'भगवन्! मैं यहाँसे सुदूर पूर्व बंगाल-का रहनेवाला एक ब्राह्मण हूँ। भगवान्‌ने कृपा करके मुझे सांसारिक सम्पत्तिसे बचा रक्खा है। मुझे धनके अभावका दुःख कभी हुआ भी नहीं। मैं अपने युगलसरकारकी पूजा करता था, प्रसन्न रहता था। गत जन्माष्टमीको एक ऐसी घटना घट गयी कि मुझे यहाँ आना पड़ा। मुझपर भगवान्‌की अपार कृपा है! उन्होंने ही मुझे यहाँ भेजा है। आप सब बातें सुनना चाहते हैं तो सुनिये। मुझे भी उनके स्मरणमें बड़ा आनन्द आता है। उनके साथ भगवान्‌की स्मृति सटी हुई है।'

'हाँ, तो उस दिन भादोंकी कृष्णाष्टमी थी। मैं व्रत किये हुए था। मन अन्तर्मुख था। संसारमें कुछ सोचनेको था ही नहीं, रह-रहके मनमें यह बात आती कि आज यदि भगवान् आ जाते। वे अँधेरी रातमें आते हैं। ठीक है, परन्तु मेरा यह जीवन भी तो अँधेरी रात ही है। ठीक-ठीक,

वे दुष्ट दैत्योंके विनाशके लिये आते हैं। परन्तु मेरे हृदयमें क्या कम दैत्य हैं ? तब वे क्यों नहीं आते ? शायद इसलिये कि मेरे हृदयमें गोपियों-जैसा प्रेमका भाव नहीं है। फिर भी उनके आनेपर तो वैसा भाव हो सकता है। अवश्य, यदि वे आ जायँ तो उनके लिये आवश्यक सभी बातें हो सकती हैं। परन्तु वे कहाँ आते हैं ? ऐसा भाव मनमें आते ही बड़ी निराशा हुई। हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उस मर्मान्तक पीड़ासे मैं छटपटाने लगा। परन्तु वह घटी नहीं। सारा दिन आशा-निराशाके द्वन्द्वमें बीत गया।

सन्ध्या हुई। सब अपने-अपने ठाकुरजीको सजाने लगे। परन्तु मैं क्या सजाता ? मेरे पास कुछ था ही नहीं। भगवान्‌के चरणोंपर कुछ फूल चढ़ाये। मिट्टीका एक दीया जलाया। अञ्जलि बाँधकर चुपचाप बैठ गया। फिर वही बात मनमें आयी यदि भगवान् आ जाते ? मैं अशान्त हो गया। परन्तु उस अशान्तिमें भी एक शान्ति विद्यमान थी। मेरी आँखोंसे आँसू गिरे, मैं छटपटाया और बेसुध हो गया। मानो मैं एक दूसरे ही लोकमें चला गया।

उस समय मेरी अन्तरात्मा स्वयं मुझसे कह रही थी 'नरेन्द्र ! (इस आगन्तुकका नाम नरेन्द्र था) तुम पागल हो गये हो। देखो, तुम जिस संसारमें रहते हो, उसमें भी भगवान् रहते हैं। उसमें भी पद-पदपर भगवान्‌का स्मरण करके आनन्दविभोर होनेका प्रतिक्षण अवसर है। लोगोंने भगवान्‌को भुला दिया है, जगत्‌को भगवान्‌से रहित मान लिया है, इसीसे इतने दुःख, अशान्ति और उद्वेगकी सृष्टि हो गयी है। जिस पृथ्वीपर तुम रहते हो उसे किसने धारण कर रक्खा है ? उसकी धूलिमें खेलनेके लिये कौन अवतार लेता है ? इन हरे-भरे वृक्षोंकी सुहावनी छायामें, लताओंके ललित कुञ्जमें कौन क्रीड़ा करता है ? क्या इन्हें देखकर भगवान्‌की स्मृतिमें मग्न नहीं हो जाना चाहिये ? जलको देखते ही क्या उस जलका स्मरण नहीं हो जाता जिस यमुना-जलमें भगवान् विहार करते हैं अथवा जिस सागर-जलमें भगवान् सोते हैं ! ये चन्द्र, सूर्य, तारा और नक्षत्र चमक-चमककर किसकी आभा प्रकट करते हैं ? इस वायुके स्पर्शमें किसके प्राणोंका प्रेममय स्पर्श प्राप्त होता है ? यह नीला आकाश किसकी नीलिमाका दर्शन कराता है ? ये सब भगवान्‌के प्रतीक हैं। इन सबके साथ भगवान्‌की स्मृति है। दुःख नहीं, उद्वेग नहीं, चिन्ता नहीं। प्रेमसे सर्वत्र भगवान्‌का स्मरण करो, मस्त रहो।

अन्तरात्माकी यह ध्वनि सुनते ही मानो मेरी आँखोंपरसे एक परदा हट गया। मेरे सामने चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दीखने लगा। इस लोकसे अत्यन्त विलक्षण दृश्य मेरे सामने आ गया। मैं उड़ सकता था। मैं जड़ वस्तुओंसे बातें कर सकता था और किसी बातका रहस्य शीघ्र-से-शीघ्र समझ सकता था। मैंने देखा—

बड़ा सुहावना समय था। न धूप थी, न अँधेरा। अनेकों सूर्योंका-सा प्रकाश था, परन्तु शीतलता भी प्रचुर मात्रामें थी। चारों ओर आनन्दकी धारा-सी बह रही थी। मेरे मनमें अचानक एक शंका हुई। काल तो बड़ा भयंकर है। यह सबको खा जाता है। फिर आज इतना कोमल क्यों बना हुआ है ? सबको मृत्युके मुखमें ढकेलनेवाला आज जीवनदाता कैसे हो गया ? शंका उठते ही मैंने पूछ दिया 'क्यों काल ! आज तुम इतने परिवर्त्तित कैसे हो गये ? मेरा दृष्टि-भ्रम है अथवा और कोई बात है ?' कालने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'सचमुच आज मैं परिवर्त्तित हो गया हूँ। तुम इसका रहस्य जानना चाहते हो ? अच्छी बात है। सुनो। मैं तभीतक काल रहता हूँ, मैं तभीतक मृत्यु रहता हूँ, जबतक भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। आज भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध होनेवाला है। कालके परे रहनेवाले भगवान् कालकी गोदीमें अर्थात् मेरी गोदीमें खेलनेको आ रहे हैं। अब मैं काल न रहूँगा, मृत्यु न रहूँगा। भगवान्‌से मिलकर, उनसे एक होकर सबके जीवनका कारण बन जाऊँगा। मेरा स्वरूप आनन्दमय, प्रेममय, मधुमय हो जायगा।'

मैं कालके संसर्ग और आलापसे स्वयं चकित, स्तम्भित था। मैं उसके आनन्द और भगवत्सम्बन्धको सुनकर कुछ सोचने लगा था। जब आँखें खोली तब काल मेरे सामने न था। वह कहीं चला गया था। मैंने देखा—'दिशाएँ हँस रही हैं, वे प्रसन्नतासे भर गयी हैं। मैं देखते ही सब रहस्य समझ गया। फिर भी मैंने एक-से पूछ ही दिया। 'क्यों भाई ! आज इतनी सजावट क्यों ? यह साज-शृंगार किस लिये ? एकने कहा—'आज हमारे सौभाग्यका दिन है। हमारे पति दिक्पाल दैत्योंके अत्याचारसे बहुत पीड़ित थे, वे उनके बन्दी हो गये थे। अब भगवान् आ रहे हैं। दस-बारह दिनोंमें (देवताओंकी एक दिन-रात मनुष्योंका एक वर्ष होता है) हमारे पति स्वतन्त्र होकर हमारे पास आ जायँगे। इससे बढ़कर हमारे हर्षका और क्या कारण हो सकता है ? उन्हीं

भगवान्‌के आगमनके उपलक्ष्यमें हम आनन्द मना रही हैं। समझे ?'

मेरी दृष्टि ऊपर चली गयी। मैंने कहा—'धन्य हो प्रभो ! तुम्हारे आगमनसे सब प्रसन्न हैं, शीघ्र आओ। क्या तुम आकाशमार्गसे आओगे ?' मैंने देखा नीला आकाश ताराओंसे जगमगा रहा है। तारागण बड़ी चञ्चलतासे अपने भाव बदल रही हैं। मैं शीघ्र ही उनके लोकमें पहुँच गया। ताराओंने मेरा बड़ा स्वागत किया। उन्होंने कहा—'यद्यपि हमारे पति द्विजराज चन्द्रमा हैं तथापि आज तुम मेरे प्रजा, वंशज नहीं हो। आज तो तुम मेरे अतिथि ब्राह्मण हो, तुम्हारी पूजा किये बिना हम नहीं रह सकतीं।' उन्होंने कहा—'आज हमारे चन्द्रवंशमें स्वय भगवान् श्रीकृष्ण आनेवाले हैं—आज त्रिलोकीमें हमारे-जैसा सौभाग्यवान् और कौन है ? ऐसे उत्सवके अवसरपर हम तुम्हारी पूजा किये बिना नहीं जाने दे सकतीं।' मैं चुप था। अन्दर-ही-अन्दर प्रसन्न हो रहा था। पूजा कर लेनेपर एक ताराने कहा—'ब्राह्मणकुमार ! तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो।' मैं तो यही चाहता ही था। मैंने निःसंकोचभावसे कहा—'हाँ—मैं एक बात माँगना चाहता हूँ। जिन श्रीकृष्ण भगवान्‌के आगमनके कारण इतना उत्सव मनाया जा रहा है, मैं उनका ही दर्शन चाहता हूँ।' वह तारा कुछ ठिठक गयी। उसने कहा—'तुम बड़े चालाक हो। इससे बढ़कर और कोई वस्तु संसारमें है ही नहीं। परन्तु मेरा इतना अधिकार नहीं है कि मैं तुम्हें दर्शन करा सकूँ। और आज तो जेलखानेमें जन्म होगा, इसलिये तुम्हारा वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। परन्तु मैं एक उपाय बताती हूँ। तुम जाकर वहाँ फाटकपर रहना। वसुदेव जब श्रीकृष्ण-को गोदमें लेकर गोकुलकी यात्रा करें तब तुम उनके पीछे-पीछे गोकुल चले जाना।' मैं उनका आशीर्वाद लेकर वहाँसे चल पड़ा।

नीचे उतरते ही मुझे शीतल मन्द सुगन्ध वायुका स्पर्श हुआ। मैंने कहा—'अच्छा है। वहाँतक चलनेवाला एक साथी तो मिल गया। बातचीतका सिलसिला छेड़ते हुए मैंने कहा—'वायुदेव ! तुम तो आज बहुत प्रसन्न मालूम होते हो। कुछ कहते चलो, क्या बात है ?' वायुने कहा—'भाई ! पहले जब भगवान्‌ने रामावतार ग्रहण किया था तब मैं एक प्रकारसे सेवासे वञ्चित ही रहा। मेरा पुत्र हनूमान् ही उनकी सेवामें था। तभीसे मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि भगवान्‌का अब अवतार हो तो मैं स्वयं सेवा करूँ। मैं जगत्‌का प्राण हूँ। मुझसे सेवामें त्रुटि नहीं होनी चाहिये। इसीसे सेवाका अभ्यास कर रहा हूँ। एक बात और है, इस बार भगवान् मेरा विशेष उपयोग करेंगे। वे मेरे ही द्वारा बाँसुरी बजायेंगे। जब ग्वालबालोंसे खेलते-खेलते गोपियोंके साथ नाचते-नाचते थक जायँगे, उनके कपोलोंपर श्रमबिन्दु आ जायँगे तो मैं उन्हें धीरेसे पोंछ दूँगा, उन्हें सुखा दूँगा। वह काम कितनी कोमलतासे होना चाहिये ? बस, इसीलिये अभीसे अभ्यास कर रहा हूँ।'

मैं वायुकी सराहना करने लगा। मेरे मनमें भाव उठा कि 'अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना भगवान्‌के दर्शनका सुअवसर नहीं मिलता। इसीसे वायु पहले विश्वकी सेवा करके अपना अन्तःकरण शुद्ध कर रहा है। इसे अवश्य भगवान्‌की सेवा प्राप्त होगी।'

कुछ ही क्षणोंमें हम तारामण्डलसे चलकर मेघमण्डलमें आ पहुँचे। बहुत थोड़े-से बादल थे। समुद्रके पास मन्द-मन्द गर्जना कर रहे थे। वे समुद्रसे कह रहे थे—'समुद्र ! तुम्हारे अन्दर भगवान् रहते हैं, यह सोचकर हम तुम्हारे पास बार-बार आते थे कि तुम हमें भगवान्‌का दर्शन करा दोगे; परन्तु तुमने कभी हमारी प्रार्थना पूरी नहीं की। अब देखो, भगवान् स्वयं हमारे-जैसे (मेघश्याम) बनकर आ रहे हैं, हमारा कितना सौभाग्य है ! हम अपनी बूँदोंसे उन्हें नहलायेंगे, अपनी छायासे उनकी सेवा करेंगे। हम धन्य हैं, हम धन्य हैं ! मैंने सोचा—'आखिर बादल ही तो ठहरे ! इन्हें समुद्रका कृतज्ञ होना चाहिये। अबतक समुद्र इन्हें जल देता रहा है, जिससे विश्वकी सेवा करके ये अपना अन्तःकरण शुद्ध कर सके हैं। भला समुद्रको उलाहना देनेसे क्या लाभ ?' अबतक मैं पृथ्वीपर पहुँच चुका था।

पृथ्वी मंगलमयी हो रही थी। वह सोलहों शृंगार करके अपने शिशु (मंगल) को गोदमें लिये आरति सजाये खड़ी थी। मैंने पूछा—'क्या है माँ ?' उसका चेहरा प्रसन्नतासे खिल उठा। उसने कहा—'बेटा, वही मेरे एक-मात्र स्वामी हैं। आज वे आ रहे हैं। उनके इस शिशुको उनके चरणोंमें समर्पित करूँगी। उनके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य होऊँगी। संसारके लोग, जो कि मेरे ही धूलि-कणोंसे, मेरे ही सामने पैदा होते हैं, और फिर चार दिन बाद मेरे देखते-देखते मेरे ही धूलिकणोंमें मिल जाते हैं,

जब मुझे अपनी कहकर मेरा उपभोग करना चाहते हैं तो मुझे बड़ा कष्ट होता है। उन्हें मैं अपना बच्चा समझती हूँ यह दूसरी बात है, परन्तु उनकी धृष्टता एवं अज्ञान देखकर मैं दुखी हो जाती हूँ। परन्तु जाने दो इन बातोंको। आज मेरे स्वामी आ रहे हैं। मैं उनकी आरती करूँगी।'

मैं बढ़ते-बढ़ते मथुरामें आ गया था। देखा, वहाँ असमय ही अग्निहोत्रकी बुझी हुई आग जल रही है। अग्निदेवकी लाल-लाल लपटें उठ-उठकर अपने स्वर्णमय अक्षरोंसे सूचित कर रही हैं कि हम भगवान्के मुखसे प्रकट हुई हैं। हमारा काम है देवताओंको भोजन देना। हम दैत्योंको भोजन नहीं दे सकतीं। इन दैत्योंने हमें बड़ा कष्ट दिया है। अब हमारे प्रभु आ रहे हैं। हमें इनके कष्टसे बचावेंगे। हमें अपने मुखमें स्थान देंगे। हम कृतकृत्य हो जायँगी। आज हमारा जीवन सफल हो जायगा। मैंने सोचा, तभी तो इनका वर्ण स्वर्णमय है। भगवान्पर निष्ठा रखनेवाला ऐसा ही होता है। वह जगत्को प्रकाश देता है, शक्ति देता है और सुख देता है। उसके पास आते ही लोगोंके मल धुल जाते हैं।

मेरे मनमें अग्निके अनेकों गुण आये। मैं जेलखानेके फाटकपर पहुँच गया। अभी आधीरात होनेमें कुछ विलम्ब था। पहरेदार सजग थे। मैं एक कोनेमें खड़ा हो गया। मैं सोचने लगा, भगवान् जेलमें क्यों अवतार लेते हैं? वे एक क़ैदीकी कोखसे क्यों प्रकट होते हैं? जिनके नामके उच्चारणमात्रसे सारे बन्धन टूट जाते हैं, उन भगवान्को पुत्ररूपमें पानेवाले बन्धनमें क्यों? मैं इन प्रश्नोंको हल करते-करते विचारमग्न हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि भगवान् अपनेको बन्धनमें अनुभव करनेवालेके पास ही प्रकट होते हैं, नियमोंका बन्धन ही मुक्तिका जनक है। सर्वथा निराश, उदास, पराधीन ही भगवान्के चिन्तनमें अधिक सफल होते हैं। जो अपनेको किसी बन्धनमें नहीं मानते, जो अपने बलपर नाचते हैं, और जो विषयभोगोंकी मस्तीमें झूमते हैं, उनमें पूर्ण निर्भरताका होना कठिन है। जिनके लिये संसारका द्वार बन्द है, उनके लिये भगवान्का दरवाजा खुला है। कितने दयालु हैं प्रभु! मैं सोचते-सोचते तन्मय हो गया।

मुझे ऐसा अनुभव होने लगा मानो मेरी दृष्टि पारदर्शिनी हो गयी है। मैंने देखा—'देवकी-वसुदेव हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े हुए एक बंद कमरेमें हाथ जोड़े खड़े हैं और सामने ही शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् पीताम्बर धारण किये हुए बालकवेषमें मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं। उनकी वह अलौकिक छवि देखकर मैं मुग्ध हो गया। मैं उनकी मधुर शब्दावली भी सुन रहा था। जब उन्होंने वसुदेवको गोकुल ले चलनेकी आज्ञा दी तब कहीं जाकर मेरी आँखें खुलीं। मैंने देखा, सचमुच उस समय सभी पहरा देनेवाले गहरी नींदमें थे।

एकाएक फाटक खुला। मैं पहलेसे ही टकटकी लगाये प्रतीक्षा कर रहा था। भगवान्को गोदमें लिये वसुदेव निकले। उनकी हथकड़ी, बेड़ी खुल चुकी थी। क्यों न हो? भगवान् ही जो उनकी गोदमें आ गये थे! अब भला, बन्धन कैसे रहता? एक सीमाके अंदर, एक चहारदीवारीके भीतर वे कैसे रहते? वे गोकुलकी ओर चले। मैं भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

उस समय आकाशमें कुछ बादल घिर आये थे। वे नन्हीं-नन्हीं जलबिन्दुओंके बहाने भगवान्को अपना जीवन समर्पित कर रहे थे। कभी-कभी बिजली चमक जाती थी, जिससे मैं गोदके उस विचित्र बालकके लाल-लाल तलवों और मुस्कुराते हुए मुखके लाल-लाल ओठोंके दर्शन कर लेता था। शेषनाग ऊपरसे ही जलबिन्दुओंका निवारण कर रहे थे। मैं संकल्प-विकल्पहीन होकर उनका पदानुसरण कर रहा था। आँखें उन नाखूनोंकी ओर लगी थीं, जो उस अँधेरेमें भी कई बार चमक जाते थे। मेरी टकटकी तो तब टूटी जब यमुनातट आ गया और उसकी उत्ताल तरंगोंने अपनी वज्र-कर्कश ध्वनिसे मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। मुझे पहले तो बड़ा क्रोध आया। मैंने सोचा, यह भगवान्के मार्गमें विघ्न बन रही है। परन्तु दूसरे ही क्षण मैं सम्हल गया। मैंने सोचा जिसके अन्तर्देशमें भगवान् आते हैं वह हर्षके कारण फूल उठता ही है, तो भला यमुना क्यों न फूले? यह भगवान्की प्रेयसी है, मानिनी है, सम्भवतः रूठ गयी हो; परन्तु मुझे पीछेसे सच्ची बात मालूम हुई। वह शेषनागको देखकर डर गयी थी कि कहीं कालियनागकी भाँति कोई दूसरा नाग न आ जाय। इसीसे बढ़कर वह उसके आनेका विरोध कर रही थी।

जब भगवान्ने अपने चरणोंसे स्पर्श करके उसे निर्भय कर दिया तब उसने अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख दिया। वह सूख गयी। भगवान्के विरहमें उसकी क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार साँपोंने उसे अपना घर बना लिया था, यह सब बातें उसने भगवान्पर प्रकट कर दीं। दयालु जो ठहरे। एक-न-एक दिन अपनायेंगे ही।

नन्दका द्वार खुला हुआ था। यशोदा पलँगपर सोयी हुई थीं। अबतक उनके पास 'माया' थी। वसुदेव भगवान्‌को यशोदाके पलँगपर सुलाकर, मायाको लेकर चले गये। मैं वहीं एक कोनेमें खड़ा होकर देखने लगा। भगवान् हँस रहे थे। क्यों हँस रहे थे ? शायद इसलिये कि मैं जिसके पास, जिससे सटकर हँस रहा हूँ, खेल रहा हूँ, वही सो रहा है। कितनी विडम्बना है ! शायद इसलिये कि सबलोग माया छूटनेपर भगवान्‌को अपना लेते हैं, पर यशोदा सो रही है। क्षणभर बाद ही वे रोने लगे। मानो जीवकी इस दयनीय दशापर उनमें करुणाका सञ्चार हो गया हो। मैंने सोचा— यह यशोदाको जगानेका उपक्रम है। मैं वहाँसे हट गया। बाहर निकल आया।

बाहर निकलते ही मेरे सामने एक बूढ़े देवता आ गये। वे देखनेसे ब्राह्मण मालूम पड़ते थे। अब मैं समझता हूँ कि वे साक्षात् शिव थे—उन्होंने मुझसे कहा—'अब तुम जाओ। आज भगवान्‌की बहुत लीलाएँ देखीं। अब गंगातटपर स्थित बोधाश्रमके महात्माके पास जाओ। उनकी कृपासे तुम भगवान्‌की और लीलाएँ देख सकोगे।'

इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। मैं व्याकुल होकर उन्हें पुकारने लगा। पुकारते ही मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा, आधीरात बीत गयी है। जन्माष्टमीका प्रसाद ले-लेकर लोग घर जा रहे हैं और मैं अपने ठाकुरजीके सामने पड़ा हुआ हूँ। वही मिट्टीका दीया टिमटिमा रहा है। मैं दूसरे ही दिन वहाँसे चल पड़ा। आज शरद्‌की पूर्णिमा थी। लगभग दो महीनेमें यहाँ पहुँचा। भगवन् ! अब आपकी जो इच्छा हो कीजिये, मैं आपके शरणागत हूँ।

भगवान्‌की लीला सुन-सुनकर महात्माजी और सुरेन्द्र दोनों ही मुग्ध हो रहे थे। सुरेन्द्र तो जड़वत् हो गया था। महात्माजीने कहा—भैया ! भगवान्‌की लीला ऐसी ही होती है। वे न जाने किस मिससे किसे बड़ाई दे देते हैं। मैं तो उनकी सृष्टिका एक तुच्छ जीव हूँ। मुझमें क्या शक्ति है। फिर भी उन्होंने तुम्हें भेजा है। वही तुम्हारा कल्याण करेंगे। देखो, हम सब भगवान्‌की लीला सुननेमें इतने तन्मय हो गये कि समयका ध्यान ही नहीं रहा। सूर्योदय होनेवाला है। शीघ्र ही शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर सन्ध्या करो, फिर हम सब मिलेंगे। (अपूर्ण)

जागृति

(लेखक—साहित्याचार्य पण्डित रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

जागृतिका सम्बन्ध जीवनसे है। रात्रिके पश्चात् सूर्योदय होना आवश्यक है। निद्राके पश्चात् जागरण आवश्यक है। यह स्वाभाविक नियम है।

लोग जागृतिका स्वागत करते हैं, जागृतिको ही सब कुछ समझते हैं। परन्तु जैसे दिनके बाद रातका आना अनिवार्य है और अल्प अथवा दीर्घ जागरण-कालके पश्चात्—विशेषतः कार्याधिक्यकी थकावट अथवा भूरि फलप्राप्तिके पश्चात्—निद्रा और आरामकी अवस्था जरूरी है, क्या उसी प्रकार विश्व-नियमके अनुकूल उन्नतिके बाद पतनको कोई रोक सकता है ? हम जागृतिको उन्नतिका चिह्न समझते हैं और निद्राको नितान्त अवनतिका। परन्तु ऐसा ही समझना प्रकृति-नियमका विरोध करना है। जीवन, लौकिक जीवन, एक गोरखधन्धा है जिसमें अविच्छिन्न जागृतिका स्वागत और निद्राकी पूर्ण अवहेलना ही करते जानेवाला लोक निपट अन्धा है। तथापि हमारा अन्तरात्मा जागृतिका ही स्वागत करता है। यह क्यों ?

मनुष्य ज्ञानात्मक प्राणी है। जागृतिमें ही ज्ञानकी स्थिति हो सकती है। निद्रामें तो ज्ञानकी सामग्रीका लय हुआ करता है।

जागृतिका सम्बन्ध जीवनसे है, परन्तु मनुष्य-जीवनका वनस्पतिजीवन, पशुजीवन, पक्षीजीवन (तिर्यग्-जीवन) से बड़ा भेद है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एक ओर सामाजिक वा जातीय जीवन, राष्ट्रीय जीवन, और दूसरी ओर धार्मिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन, इसके जीवनके वह विशेष हैं जो वनस्पति अथवा पशु-पक्षीके जीवनमें विकसित नहीं हुआ करते। इनमेंसे प्रथम दोका साक्षात्-

सम्बन्ध समाजसे ही है और अन्तिम दोमें व्यक्तित्व-की प्रधानता है।

आजकल जागृतिका नाम सब किसीकी जिह्वापर है। लोग, और विशेषतः भारतीय संस्कृतिके सम्पर्कसे दूर रहनेवाले पठित समाजके लोग और लुगाई, समझ बैठे हैं कि पुरानी सभी बातें निद्रासे सम्बद्ध और हेय हैं और किसी भी अन्य देशमें प्रचलित बातें जो इस देशके लिये नयी हैं, सभी जागृतिकी सूचक और उपादेय हैं।

भारतके उन प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी बाँधी हुई व्यवस्थाएँ जो राग-द्वेषसे अस्पृष्ट होते थे, प्रायः सर्वथा समाजवादके मूलाधारपर खड़ी की गयी थीं। वर्तमान शताब्दीमें जो लहर पाश्चात्य देशोंसे उठकर आज अधिकाधिक सर्वव्यापी होती जा रही है वह व्यक्ति-वादकी है। अतः जीवनके सभी विभागोंमें आज पश्चिम और पूर्वके आदर्शों, अर्थात् व्यक्ति-प्राधान्य और जाति-प्राधान्यके बीचमें, विशेषतः हमारे देश-में (कि जहाँका वातावरण व्यक्तिवादके विरुद्ध चला आ रहा है), एक बड़ा सङ्घर्ष इसलिये हो रहा है कि पश्चिमीय संस्कृतिके भैरवीचक्रमें पड़े हुए लोग अप्राकृत वेगसे भारतीय समाजमें उन बातोंको ठूँसने-के लिये उतावले हो रहे हैं जिनको पचानेके लिये भारतीयता, बल्कि हिन्दू और मुसलमानी दोनों ही प्रकारकी सभ्यता, न केवल सकुचाती-हिचकिचाती हैं प्रत्युत घोर विरोध करती है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य चाहता है कि विवाह-बन्धनको इतना ढीला कर दिया जावे कि फिर वह उसके खुलकर खेलनेमें कुछ भी बाधा न डाल सके। बल्कि जहाँ स्त्रीको अत्यल्प कालके लिये भी किसी पुरुषकी होकर रहनेका विधान है उस विवाह-प्रथाको ही निर्मूल कर देना चाहिये। यह आदर्श जागृतिका लक्षण बतलाया जा रहा है, और इसपर एक बड़ा आन्दोलन उठाया जा चुका है। विवाह-विच्छेद (तलाक) इत्यादि इसीके अङ्ग हैं। जहाँ आजसे प्रायः डेढ़ दर्जन वर्ष पूर्व ही यहाँके बड़े-से-बड़े समाज-नेता भी अपनी कन्याकी निर्लज्जताके फलस्वरूप प्रकटमें विजातीय पुरुषसे उसके गर्हित सम्बन्धके कारण लज्जासे अपने-को मुख न दिखानेयोग्य समझकर मरण-सदृश कष्टसे पीड़ित हो सकते थे, वहाँ आजकलके मध्यम श्रेणीके पिता अपने मुखसे अपनी कन्याओंके इस प्रकारके आचरणके सम्बन्धमें निस्सङ्कोच कहते हैं कि 'ऐसा सम्बन्ध हो जाना तो वर्तमान परिस्थितिमें स्वाभाविक है और इसमें दोष ही क्या है? सड़ी रूढ़ियोंके भक्त इसे दोष मानते हैं, परन्तु वर्तमान शिक्षाके वाता-वरणमें अनुकूल विकासके लिये यह आवश्यक भी है।' युक्तप्रान्तके एक नगरमें जानेपर यहाँतक सुननेमें आया है कि वहाँके कुछ लोगोंमें यह चाल चल पड़ी है कि वे दो-दो, तीन-तीन रातोंके लिये अपनी-अपनी बीबियाँ बदला करते हैं जो स्वयं भी उन लोगोंके साथ टेनिसक्लबमें जानेवाली और 'स्वतन्त्र' विचारकी हैं। नवीन 'जागृति' के हिसाबसे ऐसा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है, तथापि इन पिताओं और पति-पत्नियोंको छोड़कर अन्य वह लोग भी जो नयी सभ्यताके उपासक भक्त या प्रशंसक हैं तथा भारतीय सभ्यतावाले सभी लोग इन बातोंको समानरूपसे निन्दात्मक (Scandalous) ही बतलाते हैं। इससे यही नतीजा निकलता है कि यहाँका वातावरण तो ऐसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके प्रतिकूल ही है, परन्तु भ्रष्टचरित्र लोग उसकी प्रशंसा और उसके आन्दोलनकी नेतृता करते हैं। विवाह-विच्छेद, सन्तान-निग्रह, लड़कोंके साथ लड़कियोंको एक ही विद्यालयमें पढ़ाने और चरम सीमा-तक परदा तोड़नेके आन्दोलन इसीकी शाखाएँ हैं।

सतीत्व और पति-भक्ति, एक-पत्नीव्रत और स्वर्गीय

(परलोकपर्यन्त स्थायी) प्रेमके आदर्शवाले देशके लिये ऐसी स्वतन्त्रता 'जागृति' का नहीं किन्तु अपनी ऐतिहासिक (आदर्शभूत) जातीयताको दीर्घ निद्रा (मृत्यु) का ही लक्षण है।

इसी प्रकार बाल्शेविक आन्दोलन, ईश्वर-खण्डन-आन्दोलन, सिनेमा-आन्दोलन, खान-पान-विचारकी निन्दाका आन्दोलन, अन्तर्जातीय-विवाह (अथवा जाति-पाँति-तोड़क) आन्दोलन, प्राचीन सभ्यता और धर्मके विरोधका आन्दोलन इत्यादि सैकड़ों बातें जागृतिके लक्षण समझी जा रही हैं और लोग आँख मूँदकर उनकी नवीनताके चकाचौंधसे आकृष्ट होकर उधर हो दौड़े जा रहे हैं। इस दौड़का अन्त और फल क्या होगा इसका न तो वे उत्तर देते हैं और न दे सकते हैं। वे इतना ही कहते हैं कि 'परिवर्तन करनेके एकमात्र लक्ष्यसे ही परिवर्तन होना आवश्यक है, अन्तिम फल क्या होगा यह भविष्य बतलावेगा। हमें अन्य देशोंकी गतिके साथ ही चलना चाहिये, नये अनुभव करने चाहिये, फलस्वरूप अन्तमें जो व्यवस्था निकलेगी वही हितकर होगी।' हम समझते हैं कि ऐसे-ऐसे अनुभव हमारे पूर्वजोंने किये थे जिन्हें वे साहित्यमें उट्टङ्कित कर गये हैं। अच्छा हो कि हम उन्हींके अनुभवोंसे सबक ले लें और हर बातके सम्बन्धमें हर बार नया अनुभव करनेके चक्करमें न पड़ें, अन्यथा संघटन (Construction) की अपेक्षा सामाजिक विघटन (Destruction) ही अन्तमें हमारे पल्ले पड़ेगा।

हम न तो उन प्राचीन बातोंके पक्षपाती हैं जो हमारी संस्कृतिमें लाभकी नहीं किन्तु हानिकर हैं और न उन नवीन वैदेशिक बातोंको अपनानेके विरोधी हैं जो हमारी संस्कृतिके लिये कुछ भी हानिकर नहीं किन्तु सर्वथा लाभदायक हैं। हम केवल यही कहते हैं कि आप तमोगुणसे प्रेरित होकर, भेड़चाल-में पड़कर, समाज-विघातक और यथार्थ व्यक्तित्वके भी विनाशक आसुरी सम्पत्के चाकचिक्यको ही जागृति न समझ बैठें किन्तु अपनी वास्तविक जागृति-को पहचानें।
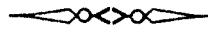
जीवनमें रुचि

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

जीवन वृथा बिता देनेकी वस्तु नहीं है। पूर्ण पुरुष बननेके लिये जीवन ही साधन है। इसके प्रति हमें उदासीन नहीं रहना चाहिये। हमारे पास ऐसा उपयुक्त साधन होना चाहिये कि हमें उसके अस्तित्वका भान करनेके लिये विचार न करना पड़े। यह उस समय होता है जब हमारे प्रत्येक कार्यमें हृदय और बुद्धिकी सहयोगिता हो। इन दोनोंकी सहयोगितासे हम जो कुछ करेंगे उसमें हमारी रुचि होगी। कार्यमें रुचि होनेसे जीवनमें अनुकूलता प्राप्त होती है। ऐसी अनुकूलता प्राप्त हो जानेपर हमें अपना जीवन भार नहीं मालूम होगा। जो कुछ हम करेंगे वही हमको अच्छा मालूम होगा। इसी रुचिका अपने शरीरके साथ ही अन्त न हो जायगा, बल्कि सब प्राणी, सब बातें, जिनके साथ हमारा सम्पर्क हो जायगा हमारी रुचिका कारण बनेंगी। जीवनके साथ ऐसी रुचि, ऐसा सम्बन्ध बनाये रखनेका भी क्या अभिप्राय हो सकता है ? और कुछ नहीं। केवल सत्यका दर्शन करना, शान्तिको हृदयङ्गम करना, आनन्दमें निवास करना।

जीवनके साथ पूर्ण रुचि रखनेके लिये हमारी चित्तवृत्ति सदा जागृत रहनी चाहिये। उसमें कार्यकी स्फूर्ति होना आवश्यक है। जड़वत् उदासीनता, तामसिकता है। इसकी गतिको वही समझ सकता है जिसके अंदर उसका वेग हो। इसका अनुभव जो कुछ हम कर रहे हैं, उसे उसी प्रकार शब्दोंमें रख देना कठिन है। यह तो चित्तकी दशा है। उस अवस्थापर पहुँचनेपर ही इस स्थितिका अंदाज़ा लगाया जा

सकता है। आप अपने अंदर उस स्थितिको जाग्रत करें जिससे आपको भी इस जीवनके साथ रुचि हो जाय। जीवनमें इस रुचिको उत्पन्न करनेके लिये हमारे अंदर शुद्ध सात्त्विक इच्छाका पूर्ण वेग होना चाहिये। प्रत्येक कार्यके सम्पादनमें हमारा लक्ष्य उसी ओर होना चाहिये। उसे प्राप्त करनेके लिये हम सब कुछ त्याग कर सकें। उसको प्राप्त करनेकी इच्छा जब बलवती होगी तभी हम त्याग कर सकते हैं।

त्यागकी भावना, जीवनके साथ रुचि उसी समय उत्पन्न होती है जब हमारे अन्दर सौम्यता प्रवेश करती है। अज्ञानके प्राधान्यसे जीवनकी प्रारम्भिकावस्था विचित्र है। एक प्राणीको, जिसने अपना जीवन पहली बार प्रारम्भ किया है, सब वस्तु विचित्र मालूम होती है, सब वस्तु नयी मालूम होती है। जिस वस्तुको वह देखता है उसे ही अपने पास रख लेना चाहता है। इस लगावसे वह अपने लिये नित्य नवीन कर्म और संस्कार उत्पन्न करता रहता है। पहले तो वह कर्म-संस्कारका बीजारोपण करके कष्ट भोगना ही सीखता है। उसके मनमें केवल एक ही अभिलाषा रहती है कि वह जो कुछ देखे, जो कुछ पावे उसे ही अपने अधिकारमें कर ले। स्थूल शरीरद्वारा जितने पदार्थोंका उपभोग हो सकता है उन सबोंमें उसकी रुचिविशेष होती है। कई जीवनके क्रमशः विकासके प्रयाससे कर्म-संस्कार उत्पन्न कर चुकनेके पश्चात् उसके कष्टका भान हो चुकनेके बाद, प्राणीके अंदर ज्ञानका उदय होता है, कार्य-विवेककी बुद्धि उत्पन्न होती है और वह सही और गलतका भेद मालूम करने लगता है। इस विवेकके उत्पन्न हो जानेके बाद हम उन चीजोंको छोड़ते जाते हैं जो हमारे लिये आवश्यक नहीं हैं। यही एक उपाय है, जिसके द्वारा सत्यको ज्ञान लेनेकी हमारे अंदर रुचि उत्पन्न होती है।

जो लोग जीवन आरम्भ करते हैं उन्हें इन्द्रिय-सुखकी चीजें बहुत अच्छी लगती हैं। इस सुखकी पूर्त्तिके लिये उनमें अदम्य उत्साह होता है, अतिरोहित उमङ्ग होती है। वे प्रत्येक वस्तुको एकत्रित करके जीवन प्रफुल्लित और सुखमय बनानेकी चेष्टामें निमग्न रहते हैं। इन्द्रियोंको सुख प्रदान करनेकी चेष्टामें वे अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इससे कहीं अधिक विचारगाम्भीर्य, शान्ति, उत्साह और उमङ्ग उन लोगोंके मनमें होनी चाहिये जिन्होंने संसारके पदार्थोंकी असारताके सम्बन्धमें समझ लिया है। जिन्होंने ज्ञानद्वारा इस बातको जान लिया है कि इन्द्रिय-सुख अनित्य है, इसमें स्थिर वस्तु कुछ नहीं है, उन्हें अपने इस विचारमें तटस्थ रहना चाहिये। जीवन इस प्रकारका हो जाना चाहिये कि उस विचारमें शिथिलता न हो जाय। यह उसी समय होगा जब इस विचारके साथ ज्ञानका सामञ्जस्य हो, उसमें पूर्ण रुचि हो। जिस कार्यमें हमारी रुचि होती है उसीमें मन, बुद्धि और हृदयका निवास है। इसलिये हमारा ज्ञान दिखाऊ न हो, उसमें हमारी पूर्ण रुचि हो। जिसने अभी अपना जीवन आरम्भ किया है, जिसे संसारकी प्रत्येक वस्तु अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, उससे भी अधिक वेग, अधिक रुचि, अधिक उमङ्ग, उस ज्ञानीके हृदयमें होनी चाहिये जिसने संसारके रहस्यको भली प्रकार समझकर अपने जीवनसे रुचि उत्पन्न कर ली है, अपने अन्दर निवास करना सीख लिया है।

पहलेके जीवन-क्रमसे यह एक बिल्कुल नवीन वस्तु होगी। इसमें इतना अन्तर हो जायगा मानो आप पूर्वकी ओर चलते हुए मार्ग बदलकर पश्चिमकी ओर चलने लगे हैं। जीवनका मार्ग बदल देनेसे आपकी रुचिमें भी विशेष परिवर्त्तन हो जायगा क्योंकि आप जीवनकी प्रारम्भिक दशाको अतिक्रम कर चुके हैं। अज्ञानावस्थामें लोग कर्म उत्पन्न करते हैं, ज्ञानावस्थामें उसका विनाश हो जाता है, प्राणी उससे मुक्त हो जाता है। ज्ञानीका मार्ग तो वह होता है जहाँ उसे अंदरसे आदेश मिलता है। ज्ञानी संसारको देखकर नहीं चलता। इस आदेशको श्रवण करने और माननेमें ज्ञानीका पूर्ण उत्साह होना चाहिये। यह आदेश ही ज्ञानीका ज्ञान है, ज्ञानीका गुरु है।

जीवनमें रुचि हो जानेसे आपको अपने सब कामोंकी ओर पूर्ण ध्यान रखना होगा। आपको गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा, उसपर मनन करना होगा। आपको उसके लिये कष्ट भी भोगना होगा, परन्तु यह कष्ट अज्ञानियोंके साधारण कष्टकी तरह न होगा।

जीवनमें अरुचिका मुख्य कारण अज्ञान है। गन्दे स्थानपर प्रत्येक वस्तुका असर भी उसी प्रकार होता है। जब हमने अपने हृदयको स्वच्छ बना लिया है तो बाहरके अज्ञानका प्रभाव हमारे ऊपर न पड़ेगा। अर्थात् ज्ञानीकी अवस्था समस्त संसारके साथ समतापूर्ण होनी चाहिये। मैंपनके नष्ट हो जानेसे संसारके साथ समता होती है। यह अपनापन ही है जो मार्गमें खड़ा होकर आगेका पथ बंद कर देता है।

इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये, जीवनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये मस्तिष्क सजग होना चाहिये, संसारकी सब वस्तु देखना चाहिये, सब चीजोंसे सबक लेना चाहिये। जबतक हृदयमें पूर्ण स्वच्छता न हो जाय प्रत्येक वस्तुपर विचार करो। ऐसा करनेसे कमजोरी और अस्थिरता जाती रहेगी। हमारे विचारसे मनुष्य वही है जो सदा इस लक्ष्यकी ओर ध्यान रखता है, इस दशातक पहुँचनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है, दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ता जाता है, जिसकी रुचि इसके लिये कभी कम नहीं होती, जो संसारके पदार्थोंमें डूब नहीं जाता, जो जीवनके संघर्षसे घबड़ा नहीं जाता, गार्हस्थ्य-जीवन जिसे अपनेमें विलीन करके नष्ट नहीं कर देता। वही मनुष्य है जो इन झंझटोंको अलग रखते हुए ज्ञानदीपको प्रदीप्त रखता है। साधारण मनुष्य अज्ञानकी दशामें संसारके थपेड़ोंमें पड़कर अपनी सत्ताको नष्ट कर देते हैं, इसमें बह जाते हैं।

इस लक्ष्यकी पूर्तिमें यदि आप संलग्न होना चाहते हैं, यदि आप ज्ञानी होना चाहते हैं, तो आप संसारके शोरगुलको भूल जायँ, अपनेमें उस रुचिको उत्पन्न करें जिससे आगेका मार्ग सुगम होता जाय, दिनोंदिन आपका विकास होता जाय, जिससे आपको शक्ति मिले, जिससे आपके शरीर और मन, दोनोंमें दृढ़ता आवे और आप वास्तविकरूपमें चरित्रवान् बनें। ऐसे ही ज्ञानसे आपका व्यक्तिगत और सारे संसारका कल्याण होगा, आप सारे संसारको सहायता पहुँचायेंगे। यही आपको करना है। जीवनमें रुचि उत्पन्न करनेका यही अभिप्राय है। इसी इच्छाको आप अपने अंदर जाग्रत करें। इससे आप स्वयं ज्ञानी होकर दूसरोंको भी ज्ञानी बनायेंगे। यही जीवनका सार है।

ज्ञानीके जीवनमें ही पूर्ण रुचि उत्पन्न हो सकती है। ज्ञानीका जीवन सब प्रकारसे पूर्ण होना चाहिये। शरीरकी पूर्णता, विचार, बुद्धि और मनकी पूर्णता दोनों साथ-साथ चलकर एक ज्ञानाग्निमें अपना उद्यापन करेंगी। ज्ञानी शरीरद्वारा शिष्ट, सौम्य, सुन्दर और बलवान् होगा, हृदय और मनसे पवित्र होगा। इनमेंसे किसीकी कमी होनेसे ज्ञानी पूर्ण ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञान एक पूर्ण वस्तु है। सब प्रकार पूर्ण जीवनमें ही इसका उदय होता है। ज्ञानीका जीवन अवधूत है। उसकी शान निराली है। राजसी ठाट-बाट और रंकका जीवन दोनों ही उसके लिये समान हैं। किसी अवस्थाके लिये उसके मनमें चिन्ता नहीं है। ज्ञानीको देखकर कभी-कभी संसार भ्रममें पड़ जाता है। जीवनकी इस समतामें एक अनोखापन है, उसके जीवनमें सदा शान्तिकी एक धारा प्रवाहित होती रहती है। उसका जीवन सब प्रकारसे सुन्दर है, अच्छा है। ज्ञानी जिस स्थानपर रहेगा, जो कार्य करेगा, उन सबोंमें उत्तमता होगी। ज्ञानीके जीवनमें आनन्द है, स्वतन्त्रता है, स्पष्टता है। उसे इस बातकी आवश्यकता नहीं रहती कि लोग आकर उसे कुछ बतलावें। वह स्वयं अपना गुरु है। जो लोग जीवनके संघर्षमें भटक रहे हैं, जो जीवनकी छोटी-छोटी चीजोंके लिये प्रयत्नशील हैं, जो अनिश्चित हैं, उन्हें ही इसकी आवश्यकता है कि कोई आकर कुछ बतलावे। यदि आप अपना कहना मानते हैं, अपने अंदरकी आवाज सुनते हैं, तो आपको इस बातकी आवश्यकता न होगी कि संसार आपसे क्या कहता है। जो मनुष्य अपने अन्दरकी आवाज़ सुनता है, उसे संसारकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वही सबसे बड़ी वस्तु है। जबतक प्राणी इस आवाजके आदेशपर चलता है, ठीक है। जिसके जीवनमें ऐसी रुचि है वह बाहरी मायाके परदेको छिन्न-भिन्न कर देगा। सजग होकर अपने अंदरके नादको सुनो। लेकिन इसमें धोका न हो। उन बातोंको सच्ची न समझ लेना जिससे इन्द्रिय-सुखकी वृद्धि होवे, अपनेपनकी भावना दृढ़ होवे। हमलोग बाहरसे विभिन्न हैं लेकिन चराचर सारे ब्रह्माण्डके साथ एक हैं।

भक्तवत्सल

अगर मुझसे नेहा लगाया करोगे। तो कुछ दिनमें सन्मुख लखाया करोगे ॥
मैं बोलूँगा तुमसे तब प्रिय मित्र बनकर। जगत्के सुखोंको भुलाया करोगे ॥
कहोगे तुम 'झूठे हैं दुनियाँके रिश्ते।' तुम मुझमें ही सब सुख पाया करोगे॥
रहेगी न तृष्णा जरा दिलमें बाकी। अधूरे सुखोंको दुराया करोगे ॥
तुम आदर्श बनकर दिखाओगे सबको। पतित जो हैं उनको उठाया करोगे ॥
बिरहकी तपनसे हैं घबरा रहे जो। "सुधा" पान उनको कराया करोगे ॥

'सुधामयी'

कर्मका अनिवार्य फल

(सच्ची घटनाएँ)

पिछले अगस्त महीनेकी घटना है। रविवार, पहली तारीख, सन्ध्यासमय साढ़े पाँच बजे झामापोखर कलकत्तामें एक अठारह वर्षका युवक यक्ष्माकी बीमारीसे मर गया। उसके लिये उसके माता-पिता बहुत ही प्रयत्नशील थे और उन्होंने एक साधुकी शरण ली थी कि लड़का किसी प्रकार बच जाय। परन्तु साथ ही वे और भी उपाय कर रहे थे क्योंकि उन्हें कभी-कभी सन्देह हो जाया करता था कि साधु उस लड़केको अच्छा कर सकेगा या नहीं। लड़केकी मृत्युके एक रात पूर्व उसकी माता और फूआ उसके पास बैठी थीं—रातके डेढ़ बजे होंगे। फूआ यह कह रही थी कि 'देखो न, उस साधुका हम लोग कितना विश्वास करते थे। परन्तु कुछ भी तो लाभ नहीं दीखता, लड़का शायद ही बचे।'

इतना वह कह भी नहीं पायी थी कि यकायक सारा कमरा दिव्य सुगन्धिसे भर गया। माँ और फूआने विचारा कि यह धूप या पुष्पको गन्ध होगी और आश्चर्यचकित होकर वे कमरेमें चारों ओर देखने लगीं। परन्तु वहाँ धूप या पुष्प था कहाँ जो मिलता। इतनेमें ही वह लड़का जगा और बोल उठा—'माँ! देखती नहीं, बाबा आये हुए हैं। घरमें जो कुछ भी अपवित्र वस्तु हो उसे हटा दो और चारों ओर गंगाजल छिड़क दो। कोई मुझे छुये नहीं।' कुछ देर बाद लड़का फिर बोला, 'फूआ! तू बाबाको दोष दे रही थी—तू जानती नहीं क्या है? तुझे क्या पता कि मैं कौन हूँ? मैं पिछले जन्ममें क्या था और आज मैं इस अवस्थामें क्यों हूँ? साधु महाराजका इसमें क्या दोष? तुमने उनका विश्वास नहीं किया। मेरे गत जीवनके कर्मोंको देखते हुए यह यातना तो कुछ भी नहीं है। इससे हजारों गुना अधिक कष्ट मुझे भोगना चाहिये था। पिछले जन्ममें मैं रेलवेका एक कर्मचारी था और मैंने एक आदमीकी हत्या की थी—मैंने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। ओह! मैंने उसे बड़ी यातना दी, बड़ी साँसत की। मेरी यह करनी क्या निष्फल जायगी? यह सब हुए पचास वर्ष हुए। सुकिया स्ट्रीट 'काना सरजंट' के नामसे प्रसिद्ध एक अफसरकी देख-रेखमें थी। वह साहब एक आँखका काना था। खुफिया विभागका बड़ा ही चालाक अफसर था और उसने बहुत दिनोंकी खोज और जाँच-पड़ताल-के बाद मुझे गिरफ्तार किया। फाँसीकी सजासे तो मैं बच गया परन्तु मुझे सख्त कैदकी सजा मिली। फिर भी अपने कियेका फल पूरा-पूरा मैं नहीं पा सका और इसी कारण तुम मुझे आज इस

दशामें पाती हो ।'

फिर माँको सम्बोधितकर लड़केने कहा—'माँ ! अब मैं जा रहा हूँ, जानती हो क्यों ? बगलके कमरेमें जो आदमी (अपने पिताको संकेत करते हुए) सोया है वह मेरा पिछले जन्मका पुत्र है । उसने उस जन्ममें मुझे बहुत कष्ट दिये थे और मुझे दुखी बनानेकी एक भी तरकीब उठा न रक्खी थी । आदमी आदमीपर इतनी विपदा नहीं डाल सकता । उस जन्मका बदला चुकानेके लिये मैं उसके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ । अब वह समझेगा कि पुत्र भी पितापर कितनी विपत्ति और दुःख डाल सकता है । कर्मका फल तो होकर ही गुजरता है; उसे टाला नहीं जा सकता !'

(२)

कुछ वर्ष पूर्वकी बात है बंगालके जैसोर जिलेमें बेंदा गाँवमें महेन्द्रनाथ सेन एक प्रसिद्ध कविराज थे । उनका कम्पाउण्डर तारक अठारह-उन्नीस वर्षका एक नवयुवक था । तारकके पेटमें प्रायः ऐसा भयानक शूल होता कि जिसके कारण वह बेहोश हो जाता । वेदना इतनी जबरदस्त होती कि तारक छटपटाने लगता और मरणासन्न हो जाता । सर्वविद्या सम्प्रदायके एक ब्राह्मणको तारककी यह दशा देखकर बड़ी दया आयी और उसने उसके ललाटपर रोली लगाकर कुछ मन्त्र पढ़े और माँ कालीका आवाहनकर यह पूछा कि 'तारकको इतनी पीड़ा क्यों हो रही है !'

बेहोशीकी हालतमें तारक चिल्ला उठा—'मैं माता कालीका एक अंश हूँ । मैं तारकको दण्ड न दूँ ? इसने अपने पिताका अपमान किया था । इसकी माताने अपने पतिको ठुकरा दिया था । दोनोंको ही इसलिये सात जन्मतक घोर यन्त्रणा भोगनी है । तारकको यह भयानक शूल है और इसकी वह माँ विवाहके केवल चौदह दिन बाद हो विधवा हो जाती है । इन दोनोंके चार जन्म बीत चुके हैं, और तीन जन्म अभी बाकी हैं ।'

उस दयालु ब्राह्मणने पूछा—'तो फिर इस दुःखसे बचनेका कोई भी उपाय नहीं है ?'

तारक अभी बेहोशोकी ही हालतमें था—वह बोला—'तपस्याके बिना इस कष्टसे मुक्ति नहीं मिल सकती । यदि तारक अपनी उस माँका चरणोदक ले और उसके भोजनका अवशिष्ट उच्छिष्ट लेकर प्रसाद रूपमें पावे, और यदि इसकी वह माँ इसे दवा दे तो यह अभी, इसी जन्ममें अच्छा हो सकता है ।'

तारककी वह माँ कहाँ मिलेगी ?—ब्राह्मणने पूछा।

तारक अभी अचेतनावस्थामें ही था—वह बोला—'पास ही घरके पड़ोसमें गोपाल सेनका घर है, गोपाल सेनकी विधवा पत्नी तारककी माँ है ।'

थोड़ी देर बाद तारक होशमें आया और उस ब्राह्मणने उससे सारी बातें सुनायीं । ब्राह्मणने जैसा बतलाया तारकने वैसा ही किया । उसने माताका चरणामृत लिया, और उच्छिष्ट खाया और फिर दवा माँगी । क्या दवा दे, माँ समझ न सकी और इस कारण उसने पानका एक टुकड़ा दिया । तारकने इसे एक ताबीजमें मँढ़ाकर गलेमें बाँध लिया । और आश्चर्य ! कुछ ही समयमें तारक नीरोग हो गया ।

एक वर्ष बाद तारकको शूल और मूर्छाकी वही बीमारी फिर हुई । तारक पीड़ासे मूर्छित हो गया । इसपर तारककी उस माँने अपना पादोदक उसके ऊपर छिड़क दिया और तारक पुनः चंगा हो गया । तब देखा गया कि तारकके गलेमें जो ताबीज थी वह नहीं है । पीछे मालूम हुआ कि पानके टुकड़ेको जब महेन्द्र बाबूकी स्त्रीने तारकको दिया था, उस समय वह मासिकधर्ममें थीं और उस समय वह अस्पृश्य चाण्डालरूप थीं और उन्हें ताबीज देनेका कोई अधिकार नहीं था । (Truth से)

कल्याण

सोचो, तुम कौन हो? जिस शरीरका तुम 'मैं' समझते हो और कभी-कभी कहते भी हो, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं बीमार हो गया, मैं स्वस्थ हूँ' आदि, वह शरीर ही क्या तुम हो? याद करो, लड़कपनमें यह शरीर कैसा था, जवानीमें इसका क्या स्वरूप था और अब बुढ़ापेमें इसका सारा ही रंग-रूप बदल गया। जिसने लड़कपनमें इसको देखा था, वह तो अब इसे पहचान ही नहीं सकता। कहाँ वह नन्हें-नन्हें कोमल हाथ-पैर, मोहन मुखड़ा, दूध-से दाँत, भौंरोंके रंग-से काले घुँघुराले बाल, और कहाँ आजका यह कुबड़ा शरीर, झुर्रियाँ पड़ी हुई चमड़ी, सफेद केश, चिपका मुँह, डरावनी सूरत। वह शरीर तो मर ही गया, उसका एक भी निशान अब नहीं है; ऐसे शरीर ही क्या तुम हो? नहीं, तुम यह नहीं हो, तुम तो वह हो जो इस शरीरको बाल, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओंको समानरूपसे जानता है। शरीर बदल गया परन्तु तुम नहीं बदले। शरीर जड है, तुम चेतन हो; शरीर बढ़ता है, तुम नहीं बढ़ते; शरीर क्षय होता है तुम जैसे-के-तैसे हो; शरीर पैदा होता है और नष्ट हो जाता है, तुम सदा हो रहते हो। फिर तुम क्यों अपनेको शरीर समझते हो और क्यों शरीरके मानापमान, सुख-दुःख और जन्म-मरणमें अपना अपमान, सुख-दुःख और जन्म-मरण मानते हो? क्यों सचमुच यह तुम्हारी भूल है न? अच्छा बताओ, क्या तुम 'नाम' हो? नामकी पुकार सुनते ही सोतेमें बोल उठते हो, नामको कोई गाली देता है तो उसे सुनकर मारे शोकके रो उठते हो, मारे क्रोधके जलने लगते हो। परन्तु सोचो तो सही, क्या वस्तुतः तुम नाम हो? जब तुम माँके गर्भमें थे, उस समय बताओ तुम्हारा क्या नाम था? जब तुम जन्मे उस समय क्या तुम्हारा यह नाम था? जिस नामको आज तुम अपना स्वरूप समझते हो! नहीं था! क्या मरनेके बाद जहाँ जाओगे वहाँ यही नाम रहेगा? नहीं! फिर क्यों यह समझते हो कि मैं 'रामप्रसाद' हूँ? यह तो रक्खा हुआ कल्पित नाम है जो अनित्य है, चाहे जब बदला जा सकता है। फिर इस नामकी निन्दा-स्तुतिमें तुम क्यों अपनी निन्दा-स्तुति समझते हो और क्यों दुःख-सुखका अनुभव करते हो? यह भी तुम्हारा भ्रम ही है न?

अच्छा, क्या तुम आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ी, पैर आदि इन्द्रियोंमेंसे अपनेको कोई मानते हो? यदि ऐसा है तो बताओ आँखें फूट जानेसे, नाक कट जानेसे, कान बहरे हो जानेसे या हाथ-पैर टूट जानेसे क्या तुम मर जाते हो? नहीं; तो फिर तुम इन्द्रियाँ कैसे हुए? तुम तो इनको, इनकी चेष्टाओंको और इनकी अच्छी-बुरी हालतको देखने और जाननेवाले हो; फिर इन्द्रियको अपना स्वरूप मानना तुम्हारी गलती नहीं तो और क्या है?

ठीक, तुम अपनेको मन बतलाओगे! पर जरा सोचकर कहो, मनमें जब नाना प्रकारके विचार उठते हैं, तब तुम उनको जानते हो या नहीं? नहीं जानते, तो कहते कैसे हो कि 'मेरे मनमें अभी यह विचार आया था'; और जानते हो तो यह निश्चय समझो कि जाननेवाला उस जानी हुई वस्तुसे अलग होता है। सुषुप्तिके समय मनका पता नहीं रहता परन्तु तुम तो वहाँ रहते ही हो क्योंकि तुम जागकर कहते हो कि मैं सुखसे सोया था। मन जहाँ-तहाँ भटकता है, तुम अपनी जगह अचल बैठे सदा उसकी हरेक चालको देखा करते हो, उसकी प्रत्येक बातको जानते हो, इसलिये तुम मन नहीं हो, तुम तो उसके द्रष्टा हो—फिर अपनेको मन मानना तुम्हारी भ्रान्ति ही तो है!

तुम बुद्धि भी नहीं हो; मनकी चालकी तरह

बुद्धिकी भी प्रत्येक स्थितिको, उसके हरेक कार्यको और विकारको, उसकी नीचता-उच्चताको, अपवित्रता-पवित्रताको और उसके अच्छे-बुरे निर्णयको तुम जानते हो। उसमें ये सब बातें आती-जाती, बढ़ती-घटती रहती हैं, पर तुम सदा उसकी सारी हरकतोंको देखा ही करते हो। इसीसे कहा करते हो, 'मेरी बुद्धि उस समय बिगड़ गयी थी। सत्संगके प्रभावसे मेरी बुद्धिकी मलिनता जाती रही।' तब फिर तुम अपनेको बुद्धिका द्रष्टा न मानकर बुद्धि ही कैसे मानते हो? यह तुम्हारा भ्रम ही है!

तुम 'अहंकार' भी नहीं हो—आत्मामें स्थित होकर तुम यदि अपनेको 'मैं' कहते तो तब तो ठीक था परन्तु तुम तो देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके समूहमें 'मैं बुद्धि' करके अहंकार करते हो, वस्तुतः इस अहंकारके भी तुम द्रष्टा ही हो। इसीसे कहा करते हो 'मैंने भूलसे अहंकारके वश ऐसा कह दिया था।'

इसी प्रकार तुम प्राण भी नहीं हो, प्राणोंकी प्रत्येक चालके द्रष्टा हो। प्राणोंकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टामें जीवन देनेवाले हो। प्राण तुम्हारे आश्रित हैं। तुम प्राणोंके आधार हो—जीवन हो। प्राण नहीं हो! क्यों अब समझ गये न, कि तुम न देह हो, न नाम हो, न इन्द्रियाँ हो और न मन, बुद्धि और अहंकार हो और न प्राण हो। तुम शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन, आनन्दमय आत्मा हो; देहके नाशमें तुम्हारा नाश नहीं होता और देहके बननेमें तुम नये बनते नहीं। नामका महत्त्व और हीनत्व तुम्हें महान् और हीन नहीं बना सकता। तुम तो सदा निर्विकार हो! तुम्हें न कोई गाली दे सकता है, न तुम्हारा अपमान कर सकता है, न तुम्हें मार सकता है, और न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट कर सकता है। तुम अपने स्व-रूपमें सदा स्थिर अचल प्रतिष्ठित हो। इस बातको समझो और जगत्के द्वन्द्वोंसे अविचल रहो। यह स्वरूपस्थिति ही तुम्हारी असली स्थिति है। इसको पा लेनेमें ही; पा लेना क्या, अपनी इस नित्य स्वरूपस्थितिको जान लेनेमें ही तुम्हारी सफलता है। इसे जान लोगे तो तुम महात्मा बन जाओगे। नाम, रूप और इन्द्रिय, मन आदिको आत्मा मानना ही अधमत्व है और आत्माको अपने महत् स्वरूपमें अविचल देखना ही महात्मापन है।

यह महात्मापन केवल ऊपर लिखी पंक्तियोंके लिखने-पढ़ने या कहना-सुनना जान लेनेसे ही नहीं प्राप्त होता। रटंत तो तोता भी करता है। वेदान्तके सभी पढ़नेवाले इन बातोंको पढ़े होते हैं परन्तु इससे क्या होता है? असली जानना तो वह है जब शरीर, मन आदिसे अहंता-ममता सर्वथा हट जाय और सचमुच ही इनके हानि-लाभमें आत्माको कुछ भी हानि-लाभका अनुभव न हो और उसकी स्वरूपस्थिति नित्य अच्युत रहे।

हमलोग कहना सीख लेते हैं और लोगोंको सिखाने लगते हैं परन्तु स्वयं वैसा करना, वैसा बनना नहीं सीखते। बने हुए कहलाना चाहते हैं, महात्मा बनकर पुजवाना चाहते हैं परन्तु वस्तुतः महात्मापन स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीसे किसी मतविशेषके आग्रही बनकर कोरे उपदेशक रह जाते हैं। सुख-दुःखकी लहरोंमें बहनेवाले, अशान्त-चित्त, मायामोहित साधनहीन प्राणीमात्र रह जाते हैं। जिस समय शरीर, मन, वाणीसे सर्वथा पृथक् आत्माका स्वरूपनिर्देश करते हुए उपदेश करते हैं, उसी समय गहराईसे देखनेपर पता चलता है, हमारी स्थिति शरीर-मनमें ही है, हम उन्हींके सुख-दुःख—मानापमानको अपना सुख-दुःख, मानापमान समझकर हर्ष-शोककी मानसिक तरंगोंमें डूबते-उतराते रहते हैं! यह दशा शोचनीय है। इससे अपनेको बचाओ, इससे निकलकर ऊपर उठो; बस, यही पुरुषार्थ है, यही साधन है, इसीमें लगे रहो! सच्चे साधक बनो—कहनेमात्रके सिद्ध महात्मा नहीं!

'शिव'

भक्त शङ्कर पण्डित

गण्डकीके पवित्र तटपर एक गाँवमें भारद्वाजगोत्रीय भक्त शङ्कर पण्डितका घर था। घरमें श्रीशालग्रामजीकी पूजा थी। बड़े तड़के उठकर भक्त शङ्करजी स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त हो ठाकुरजीकी पूजामें बैठते। विधिवत् पूजा करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए एक पहरतक एकासनसे बैठे हुए षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्रका जाप करते। फिर तर्पण करते और बलिवैश्व करके घरसे बाहर निकलते। गाँवके बाहर एक पुराने पीपलके पेड़के नीचे शिवालय था। शङ्करजी सीधे वहाँ जाकर शिवजीका पूजन करते। शङ्करजी अनन्य रामभक्त थे परन्तु शिव और राममें वे भेद नहीं मानते थे, बल्कि शिवपूजाके बिना उनकी रामपूजा अपूर्ण ही रह जाती थी। फिर घर लौटकर भोजन करते और ठीक समयपर पाठशाला पहुँच जाते।

गाँवमें संस्कृतकी वही एक पाठशाला थी। गाँवके ठाकुर जगपाल बड़े धार्मिक थे, उन्होंने ही इस पाठशालाकी स्थापना की थी। दस विद्यार्थियोंके भोजनका प्रबन्ध था। पन्द्रह दिनका सीधा प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको ठाकुरके घरसे आ जाता। जगपालजीके मरनेके बाद उनके लड़के कुशलपाल गाँवके ठाकुर हुए; ये स्वभावसे अश्रद्धालु थे, विलासी भी थे। परन्तु पिताकी स्थापित की हुई पाठशाला-को उठानेकी इनकी हिम्मत नहीं होती थी; छोटे भाइयोंका, गाँवके लोगोंका और खास करके बूढ़ी माताका डर था। जगपालजीके जमानेमें शङ्कर शर्माका जो आदर था, वह तो अब नहीं रहा, परन्तु उनके काममें कोई दखल भी नहीं देता था। सात रुपये मासिक और रोज एक सीधा उन्हें मिल जाता था। सदाके नियमानुसार शामको सन्ध्या करनेके समयसे एक घंटा पहले शङ्करजी पाठशालासे चल देते और गाँवके बाहर तालाबपर जाकर शौच-स्नान-सन्ध्या और शिवपूजन करते। रात पड़े घर लौटते। उनके सारे काम घड़ीके काँटेकी तरह नियमित होते।

भक्त शङ्करजी बड़े ही विश्वासी, सदाचारी, सात्त्विक प्रकृतिके सन्तोषी ब्राह्मण थे। वे झूठ बोलना और दम्भ करना नहीं जानते थे। खुशामद करनेकी कलुषित कलासे भी सर्वथा अनभिज्ञ थे। सरल और स्पष्टभाषी थे। नियमित कार्य और भगवान्‌का भजन यही उनका दिनभरका काम था। पत्नी रमाबाई भी बड़ी साध्वी थी। एक पुत्र था जो गाँवसे दूर एक शहरमें पण्डिताईका काम करता था, वह भी बड़ा साधुस्वभाव था।

माता जीवित रही तबतक तो कुछ सङ्कोच था, उसके मरनेपर—कुशलपालने स्वतन्त्र होकर विलासितामें अपने हिस्सेका सब धन फूँक डाला। अब उसकी गीध-दृष्टि भाइयों-के धनपर पड़ी। वह तरह-तरहके उपाय सोचने लगा। कुशलपालके तीनों छोटे भाई शङ्कर पण्डितपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। शङ्कर पण्डित बिना काम कभी किसीके घर नहीं जाते थे, परन्तु पिताके द्वारा विशेषरूपसे आदर पाये हुए शङ्करपर उन लोगोंको बड़ा विश्वास था। इसका एक कारण यह भी था कि जगपाल मरते समय कह गये थे कि 'शङ्कर पण्डित-जैसे महात्मा अपने गाँवमें और कोई नहीं है। इनकी भक्ति करना और इन्हें मुझसे बढ़कर समझना।' कुशलपालको छोड़कर—शेष तीनों भाई पिताके इन वचनोंको भूले नहीं थे।

कुशलपालने एक जाल सोचा, उसने पिताके नामसे एक झूठा दस्तावेज बनाया और बड़ी खूबीसे उसपर जगपालके हस्ताक्षर भी बना लिये। पिताके हस्ताक्षरोंकी उसने ऐसी निपुणतासे नकल की कि देखनेवालोंमें किसीको भी यह सन्देह नहीं हो सकता था कि यह हस्ताक्षर जगपालका नहीं है। उस दस्तावेजमें पन्द्रह लाखके सोनेमें तीन हिस्से कुशलपालको दिये गये थे और एक हिस्सेमें छोटे तीनों लड़कोंके लिये तीन भाग करनेकी बात थी। जगपालको सूर्यकी उपासना करनेसे एक नींवमें पन्द्रह लाखका सोना मिला था। उसमेंसे दस लाख रुपयेसे सूर्यभगवान्‌का

एक सुन्दर मन्दिर बनानेका उनका विचार था और पाँच लाख रुपये अपने घरके काममें लेनेका। परन्तु इस मनोरथके पूरा होनेके पूर्व ही उनका देहान्त हो गया! पन्द्रह लाखका सोना यों ही पड़ा रह गया। इन बातोंका शङ्कर पण्डितको पूरा पता था। चारों लड़के भी इसको जानते थे। और कुशलपालको छोड़कर जगपालके शेष तीनों लड़के चाहते भी थे कि मन्दिर जल्दी बन जाय। परन्तु कुशलपाल टालता जाता था। एक दिन जब भाइयोंने बहुत जोर दिया तब कुशलपालने कहा, 'भाई! सच्ची बात तो यह है कि पिताजीका मरते समय विचार बदल गया था। उन्होंने मन्दिर बनवानेकी इच्छा छोड़कर सारा सोना मुझे देना चाहा था परन्तु जब मैंने नहीं लिया और कहा कि या तो मन्दिर ही बने या मेरे भाइयोंको बराबर हिस्सा मिले—तब उन्होंने एक दस्तावेज मुझको लिख दिया था वह मेरे पास है।' बड़े भाईकी इस बातको सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ; वे भाईके स्वभावको जानते थे, इसलिये उन्हें पूरा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने दस्तावेज देखना चाहा, उसने लाकर दिखला दिया। तीनों भाइयोंने आश्चर्यचकित नेत्रोंसे उसे पढ़ा और पिताजीके हस्ताक्षर देखकर कहा, कि पिताजी जो कुछ कर गये हैं, उसमें हमलोगोंको कुछ भी कहना नहीं है। उनके हस्ताक्षर भी हम पहचानते हैं परन्तु हमसे भी अधिक उनके पास रहनेवाले और उनके हस्ताक्षरोंको पहचाननेवाले हैं शङ्कर पण्डित। वे कह देंगे कि ये हस्ताक्षर पिताजीके हैं तो हम इस बातको मान लेंगे।

भगवान्‌की इच्छा कुछ और ही थी। कुशलपालके मुँहसे निकल गया 'शङ्कर पण्डितके सामने ही तो दस्तावेजपर पिताजीने हस्ताक्षर किये थे, वे कहेंगे क्यों नहीं?' 'हाँ, हाँ, तब फिर बात ही क्या है, उसी समय दस्तावेजके अनुसार आप अपने हिस्सेका सोना ले लीजियेगा।' तीनों भाइयोंने कहा।

कुशलपालके मुँहसे बात निकल तो गयी परन्तु अब उसे बड़ी चिन्ता लगी, उसने सोचा, 'ब्राह्मण बड़ा जिद्दी और निर्लोभी है। उसने न कहा तो मेरी बात भी जायगी और आगे बढ़नेपर सोना भी शायद मुझे न मिले।' चोरके चित्तमें तो डर रहा ही करता है, कुशलपाल एक बार काँप गया। फिर विचार किया, 'है कौन-सी बात! सोनेकी मारसे देवताओंके दिमाग भी दुरुस्त हो जाते हैं, फिर इस मामूली ब्राह्मणकी तो बात ही क्या है। 'पूरी जाती देखिके बुध आधी ही लेय' जहाँ पूरी रोटी जाती हो, वहाँ बुद्धिमान् आधी ही ले लेते हैं। ब्राह्मणके सामने सोनेका ढेर लगा दूँगा, फिर देखूँगा, कैसे वह नहीं कहता है। इसपर भी नहीं मानेगा, तो मेरे शरीरका बल तो कहीं चला नहीं गया है। बच्चूको ऐसा मोहनभोग खिलाऊँगा कि वह तो क्या उसके पुरखे मेरे मनकी करने लगेंगे।' इस कुविचारसे कुशलपालको एक बार साहस हो आया। उसने कहा, 'अच्छी बात है, कल पण्डितजीको बुलाकर पूछ लेंगे।'

कुशलपाल घर लौट आया पर उसे चैन कहाँ? वह कुछ खा-पीकर शङ्कर पण्डितके घर गया और बड़ी नम्रतासे दण्डवत् करके उनके चरणोंमें बैठकर कहने लगा—'पण्डितजी! आज एक कामसे आपको कष्ट देने आया हूँ। आप तो मेरे लिये पिताजीके तुल्य हैं। आपको कष्ट न देता, परन्तु काम ऐसा ही था, इसीलिये निवेदन करनेको आना पड़ा। आपको मालूम होगा, पिताजीको पन्द्रह लाखका सोना मिला था'—

'हाँ हाँ, मालूम क्यों नहीं है, उसमेंसे दस लाख-से तो वे मन्दिर बनानेवाले थे, उनका स्वर्गवास हो गया तो क्या है, आप लोग हैं ही, मन्दिर बनवा दीजिये! मैं अच्छी साइत देख दूँगा।' शङ्कर पण्डितने बीचमें ही बात काटकर कहा।

कुशलपाल बोला—'मन्दिरकी बात तो सही है, पहले ऐसी ही बात थी परन्तु पीछे पिताजीका विचार पलट गया था। मेरे मने करते-करते उन्होंने यह दस्तावेज लिख दिया था, इसे आप पढ़िये।' यों कहकर कुशलपालने दस्तावेज पण्डितजी-के सामने डाल दिया। पण्डितजीने तिरछी नजरसे कुशलपाल-के चेहरेकी ओर देखकर दस्तावेज उठा लिया और बड़े गौरसे पढ़कर बोले—'कुशलपालजी! हस्ताक्षर तो उनके-से ही हैं परन्तु निश्चय ही यह दस्तावेज जाली है। किसी धूर्तने उनके हस्ताक्षर बना लिये हैं।'

'शिव! शिव! पण्डितजी आप यह क्या कह गये! वह धूर्त तो फिर मैं ही हुआ। क्योंकि दस्तावेज लिखा हुआ है मेरे हाथका और है भी मेरे ही पास, और सौभाग्य या दुर्भाग्यवश इसमें धनका अधिक हिस्सा भी मुझको ही दिया गया है।'

'आप ही होंगे! मुझे तो कुछ पता नहीं। अन्तर्यामी सब जानते हैं।'

'तब तो वह आप ही अन्तर्यामी हो गये। मैंने समझा

था पण्डितजी ठीकसे बातें करेंगे, सचाईका आदर करेंगे, पर आप तो मुझको ही जालसाज बताने लगे ।'

'मैंने तो आपको जालसाज नहीं कहा, परन्तु आपका पाप अपने-आप ही आपके मुँहसे बोल रहा है। ठाकुर साहेब, परमात्माका डर रखिये । धन साथ नहीं जायगा । मनुष्य मोहवश धनमें सुखकी कल्पनाकर उसके लिये अन्याय और असत्यका आश्रय लेता है, अन्तमें धन यहीं रह जाता है । जैसे आपके पिता सब यहीं छोड़ गये, वैसे ही आप भी सब कुछ छोड़कर मर जायँगे । एक कौड़ी भी आपके साथ नहीं जायगी । जीवनभर जलेंगे और मरनेपर अनन्त नरकोंकी आगमें जलना पड़ेगा । फिर क्यों थोड़े जीनेके लिये इतना बड़ा पाप पल्ले बाँधते हैं ?'

'पण्डितजी ! यह तो आप ठीक ही कहते हैं, पिताजी मर गये, मुझको भी मरना है। इस बातको मैं भी समझता हूँ । पर आप मुझको झूठा समझते हैं, यह आपकी भूल है । सचमुच ही पिताजी दस्तावेज करके मुझको तीन हिस्सेका सोना दे गये हैं । आप नाराज न हों तो मेरी एक सुनिये । आप यदि एक बातमें मेरी सहायता करें तो मैं भी आपकी सेवासे नहीं चूकूँगा । मैं ऐसा कृतघ्न नहीं हूँ जो आपके गुणोंको भूल जाऊँ । सोनेका आधा हिस्सा आपका होगा । फिर आप उससे भगवान्‌की यथेष्ट सेवा कीजिये । और अपने बालबच्चोंको सदाके लिये सुखी बना दीजिये ।'

'ठाकुर साहेब ! अब आप सीमासे बाहर जा रहे हैं । मुझे सोनेका लोभ दिखाकर अपने पापमें शामिल करना चाहते हैं । (कुछ उत्तेजित होकर) क्या तुम मुझसे यह कहलाना चाहते हो कि तुम्हारा दस्तावेज सच्चा है ? यह हर्गिज नहीं होगा । मुझे धन प्यारा नहीं है, धर्म प्यारा है । मेरे ठाकुरजी चोरीके धनकी सेवा स्वीकार नहीं करते । बालबच्चोंको सुख उनकी गाढ़ी कमाईके पैसेसे होगा, पापके सोनेसे नहीं । इससे तो बुद्धि बिगड़ेगी जो न मालूम कितने भयानक दुःखोंका कारण बनेगी । मुझे यह सोना नहीं चाहिये । अब फिर ऐसी बात मुँहसे मत निकालना, नहीं तो परिणाम बहुत बुरा होगा ।'

'जमाना ही बुरा है, होम करते हाथ जलता है । भिखारी ब्राह्मणका अभिमान तो देखो, सोनेसे मानो इनको बड़ी घृणा है ! मुझे परिणामका डर दिखाते हैं !' कुशलपालने झल्लाकर कहा ।

'कुशलपाल, मैं भिखारी हूँ पर तुम्हारी तरह बेईमान नहीं हूँ । मेरे घरमें सोना नहीं है पर मैंने सोनेके लिये ईमान कभी नहीं खोया । मैं फिर भी कहता हूँ तुम कुछ तो भगवान्‌से डरो । भैया ! बहुत हो गया । अब अपने घर जाओ और इस पापमय विचारको छोड़ दो !'

'शङ्कर पण्डित ! अब मैं समझ गया, सीधी अंगुलीसे घी नहीं निकलेगा । पिताजीने तुम्हें बहुत सिर चढ़ा दिया था, उसीका यह नतीजा है । खैर, मैं तो जाता हूँ परन्तु याद रखना, मेरा नाम कुशलपाल है ।'

'भाई ! इतना गर्व क्यों करते हो ? मेरा तुम क्या बिगाड़ोगे ? तुम्हारा क्रोध तुम्हारे ही लिये घातक होगा । भगवान्‌के राज्यमें अन्याय नहीं हो सकता, सब अपना-अपना कर्मफल भोगते हैं । मैं यदि निरपराध हूँ तो तुम मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते ! मेरे 'कोसलपाल' भगवान् श्रीरघुनाथजीके सामने तुम-जैसे क्षुद्र कुशलपाल किस गिनतीमें हैं ? मेरा विश्वास है वे नित्य मेरी सहायता करते हैं, सदा मेरे साथ रहते हैं । वे मुझे अवश्य बचायेंगे । यदि मेरे किसी पूर्वकर्मका भोग तुम्हारे हाथ भोगा जायगा तो उसमें भी मेरा मङ्गल ही होगा !'

'अच्छा देखा जायगा ! मैं जाता हूँ ।'

'जाओ, भाई ! ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम्हें सुबुद्धि दे ।'

'मैं तुम्हारे ईश्वरसे भलाई और सुबुद्धिकी आशा नहीं रखता । अपनी भलाई मैं आप ही अपनी बुद्धिसे कर सकता हूँ, तुम्हारे-जैसोंके आशीर्वादकी मुझे आवश्यकता नहीं है । तुम अपने ही लिये अपने भगवान्‌से प्रार्थना करो ।' इतना कहकर निराश होकर कुशलपाल वहाँसे चला गया । उसके मनमें शङ्कर पण्डितसे बदला लेनेकी आग जल उठी । पापसे पाप पैदा होता है । उसने घर जाते ही एक तेज छूरा जेबमें डाल लिया और शङ्करको मारनेकी घातमें फिरने लगा । प्रतिहिंसाके पापने उसकी बुद्धिका नाश करके उसको पागल-सा बना दिया ।

सन्ध्याका समय है, चारों ओर अँधेरा छाया है, कृष्ण पक्षकी चतुर्थीका दिन है । सुनसान जङ्गलका रास्ता है । इधर-उधर सियार हौआ-हौआ कर रहे हैं । दूरसे कुत्तोंका भोंकना सुनायी देता है । शङ्कर पण्डित सदाकी तरह भगवान्‌के पवित्र नामोंका गान करते हुए

निश्चिन्त मनसे शिवजीके मन्दिरसे घरको लौट रहे हैं। अचानक कुशलपालने उनका हाथ पकड़ लिया और छूरा छातीमें भोंककर वह भाग चला। शङ्कर पण्डितके हृदयसे खून बहने लगा और वे 'हा राम! हा रघुबर!' कहते हुए बेहोश होकर गिर पड़े!

दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा, वे किसी बड़े ही सुरम्य दिव्य बगीचेमें हैं, पास ही सुन्दर जलका विशाल सरोवर है, जिसके चारों ओर नानाप्रकार विचित्र और सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं, अनेकों दिव्य पक्षी अपनी सुन्दर स्वर्गीय भाषामें गा रहे हैं। चारों ओर अनोखा प्रकाश छाया है। विशाल पीपलका एक सुहावना वृक्ष है, उसीके पास एक मनोहर सिंहासनपर भगवान् श्रीराम जनकनन्दिनी श्रीसीताजीसहित अपने दिव्य वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित विराजमान हैं, श्रीभगवान्‌की मनोहर छबि देखते ही बनती है। श्रीलक्ष्मण और भरत चँवर डुला रहे हैं, शत्रुघ्न हाथमें जलकी झारी लिये खड़े हैं। हनूमान्‌जी भगवान्‌के चरण दबा रहे हैं। सामने दोनों ओर भक्तोंकी और संतोंकी सुन्दर पंक्तियाँ हैं, सभी बड़े सुन्दर स्वरोंमें भगवान् श्रीरघुनाथजीका स्तवन कर रहे हैं। शङ्कर पण्डित इस मनोहर और दुर्लभ दृश्यको देखकर कृतकृत्य हो गये। उनके हृदयका घाव तो कभी छूमन्तर हो गया था। वे कभी भगवान्‌के चरणोंकी ओर निहारते और कभी मनोहर मुखचन्द्रकी झाँकी करते। स्तवन समाप्त होनेपर शङ्कर पण्डित प्रेमविह्वल और आनन्दमग्न होकर भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये। वे उस समय जिस परमानन्दके समुद्रमें निमग्न थे, उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता। भगवान्‌का इशारा पाकर हनूमान्‌जीने उन्हें उठाया, वे उठते ही मारुतिकी छातीसे चिपट गये। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह रही थी, शरीर पुलकित था। आनन्द हृदयमें समा नहीं रहा था। भगवान्‌ने कहा 'भक्त शङ्कर! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारे जैसे दम्भहीन, सरल हृदय, निर्लोभी और बिना किसी दिखावेके चुपचाप मेरी निष्काम सेवा करनेवाले सच्चे विरक्त भक्त मुझे परम प्यारे हैं। जाओ, मेरा चिन्तन करते हुए अभी कुछ समयतक पृथ्वीपर रहकर जगत्‌का कल्याण करते रहो। शीघ्र ही तुम मेरे धाममें आकर धन्य होओगे।'

शङ्कर पण्डित भगवान्‌की मधुर वाणी सुनकर निहाल हो गये, परन्तु भगवान्‌को छोड़नेकी बात उनके मन नहीं रुची। पर प्रेममुग्धताके कारण वाणी बन्द थी, वे कुछ भी बोल नहीं सके। हाँ, आँखोंके गरम-गरम आँसू अवश्य ही यह बतला रहे थे कि वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते!

भगवान्‌ने फिर कहा, 'तुम चिन्ता न करो, मेरा आदेश मानकर जगत्‌का कल्याण करो।' भगवान्‌के इतना कहते ही वह सारा दृश्य आँखोंके सामनेसे हट गया। शङ्कर पण्डितने अपनेको उसी सुनसान जङ्गलमें पड़े पाया, परन्तु वे अब होशमें थे और उनका घाव बिल्कुल अच्छा हो चुका था। भगवान्‌की दयापर मुग्ध हुए शङ्कर पण्डित उठे, और उस महान् दुर्लभ दृश्यका मधुर स्मरण करते हुए घरकी ओर चले। थोड़ी ही दूर चले थे कि उन्होंने कुशलपालको जमीनपर पड़े देखा, उसके मुँहसे खून बह रहा था। चाँदके उँजियालेमें उसकी यह दुर्दशा देखकर शङ्कर पण्डितके मनमें बहुत दुःख हुआ। शङ्करने उसको उठाया और पासके कूएँसे जल लाकर उसका खून धोया और धीरे-धीरे उसे होश कराया। कुशलपाल शङ्कर पण्डितको देखकर एक बार तो डरा परन्तु पीछे वह आनन्दमें भर गया। वह चरणोंमें गिर पड़ा और बोला 'पण्डितजी! मैं बड़ा ही नीच अभागी हूँ, जीवनभर मैंने पाप किये, सब धन फूँक दिया, अन्तमें धनके अभावमें मेरी नीचमति हो गयी, मैंने झूठा दस्तावेज बनाया, लोभवश उसपर पिताजीके जाली हस्ताक्षर बनाये, और फिर भाइयोंसे कहा कि पण्डितजीके सामने ही पिताजीने हस्ताक्षर किये थे। मेरे साधुस्वभावके तीनों भाइयोंने इसपर विश्वास करके कहा कि पण्डितजी कह देंगे तो हम आपको तीन हिस्सेका सोना दे देंगे। मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास गया था और लोभ दिखाकर—डरा-धमकाकर आपसे झूठी गवाही दिलवाना चाहता था, परन्तु आप शुद्धान्तःकरण होनेसे मेरी जालसाजी पहलेसे ही जान गये। आपने दया करके मुझको समझाया, परन्तु मैं पापबुद्धि उल्टा आपपर क्रोधित होकर चला गया, फिर तो मैंने जो नीच कर्म किया, वह आप जानते ही हैं। मैं आपको छूरा मारकर भागा। तुरंत ही मुझे ऐसा दिखायी दिया मेरे पीछे दो बड़े भयङ्कर पुरुष आ रहे हैं; मैं डर गया, उन्होंने मुझे पकड़ लिया और कहा 'नराधम! तुझको हम अभी मार डालते और सीधे नरकोंमें पहुँचाते परन्तु क्षमाशील शङ्कर पण्डित बड़े ही भक्त हैं, वे हृदयसे तेरा कल्याण चाहते हैं, तू उनके आशीर्वादसे सुरक्षित है; हमलोग उनके विपरीत कुछ कर नहीं सकते, इसीलिये तुझे थोड़ा-सा

ही दण्ड देकर छोड़ देते हैं, खबरदार ! अब तू द्वेष और लोभको छोड़कर पवित्र हो जा ! नहीं तो आगे बड़ी दुर्दशा होगी ।' इतना कहकर उनमेंसे एकने बड़े जोरसे मेरे सिरमें एक घूँसा जमा दिया, उस समय मुझे जो भयानक पीड़ा हुई, उसे मैं ही जानता हूँ । परन्तु उन्होंने ऐसा करके मुझपर बड़ी ही कृपा की, उस मारसे मेरा मन शुद्ध हो गया, मैं अपने कियेपर पश्चात्ताप करने लगा। मुझे अपने भाइयोंसे बेईमानी करनेका, सूर्यमन्दिरका धन हड़पनेकी इच्छा करनेका तो दुःख था ही । सबसे बड़ा दुःख मुझे आपको मारनेका था । मैंने समझा था कि आपके प्राण बचे नहीं हैं । मैं इसी अनुतापकी आगसे जलता-जलता उस घोर पीड़ाको सहता रहा । पिताजीके समय लड़कपनमें सुनी हुई एक कथा मुझे याद आ गयी । एक बार भगवान्ने अपने पार्षदोंसे कहा कि—

'जो मेरी पूजा करता है परन्तु मेरे भक्तका अपराध करता है वह मानो मेरे पैरोंको पूजता हुआ मेरे गलेपर छुरी चलाता है । ऐसे पुजारीको घोर नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है ।* इसके बाद ही मेरे मुँहसे खून बहने लगा और मैं बेहोश हो गया । बेहोशीमें मैंने जो-जो भयानक दृश्य देखे; लोभी, दम्भी, दुराचारी, हिंसक और भक्त-द्वेषियोंकी जैसी-जैसी भयानक दुर्दशाएँ देखीं तथा स्वयं भी जो घोर यन्त्रणाएँ सहीं, उनको याद करके अब भी मेरा कलेजा काँप रहा है । परन्तु यह सब देखकर और सहकर मैं पवित्र हो गया । मैं अब आपकी कृपासे होशमें हूँ और मेरी सारी पीड़ा मिट गयी है, आपकी कृपासे भगवान्का यह परम अनुग्रह मुझे प्राप्त हुआ । अभी आपको स्वस्थ देखकर तो मेरे हृदयमें आनन्द समा नहीं रहा है; बतलाइये आपके प्राण कैसे बचे ?'

कुशलपालकी करुण कहानी सुनकर शङ्कर पण्डित आनन्दमग्न हो गये, भगवान्की दया देखकर उनका हृदय कृतज्ञतासे भर गया । उन्होंने सोचा, भगवान् कब किसपर किस तरह दया करते हैं, यह कोई नहीं जान सकता । इस बेचारे कुशलपालकी दुर्बुद्धिको दयामय भगवान्ने क्षणोंमें ही कैसे हर लिया । दुःखकी बात तो इतनी ही है कि मेरे कारण इसको इतनी पीड़ा सहनी पड़ी । यों सोचते हुए शङ्कर पण्डितने कहा—'भाई ! कुशलपाल, मेरे अपराधको क्षमा करना, मेरे कारण तुम्हें बड़ी साँसत सहनी पड़ी । अब तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया, यह भगवान्ने तुमपर बड़ी कृपा की । मैं तो तुम्हारा बड़ा ही उपकार मानता हूँ, तुम मुझे छूरेसे नहीं मारते तो मैंने जो भगवान्की झाँकीका अपार आनन्द प्राप्त किया है, वह नहीं प्राप्त कर सकता । तुम ही मुझे भगवान्के धामका दर्शन करानेमें प्रधान कारण हो । मैं तुम्हारे इस उपकारका बदला कैसे चुकाऊँ ?' इतना कहकर शङ्कर पण्डित गद्गद होकर रोने लगे ! कुशलपाल पुनः चरणोंमें गिर पड़ा और उनकी चरणधूलिको मस्तकपर चढ़ाकर बोला—'भगवन् ! आप धन्य हैं । मैं ऐसे हृदयवान् पुरुषके चरणोंमें पड़ा हूँ इसलिये मैं भी आज धन्य हो गया ! पर आप मुझ पामरसे क्षमा चाहते हैं और मेरा उपकार मानते हैं, यह आपकी तो परम साधुता है परन्तु मैं नीच इन शब्दोंको सुन रहा हूँ ! यह मेरी कितनी अधमता है ! पृथ्वी भी नहीं फट जाती कि मैं उसमें समा जाता । मुझपर वज्रपात क्यों नहीं हो जाता । भगवन् ! मैं महापापी नीच नारकी जीव हूँ । आप कृपाकर मुझे अपनाइये, अपना सच्चा शिष्य बनाइये ।' यों कहकर कुशलपाल बड़े जोर-जोरसे पुकार-पुकारकर रोने लगा । सच्चे पश्चात्ताप, भगवत्कृपा और संतकी शुभभावनासे उसका अन्तःकरण परम शुद्ध हो गया !

शङ्कर पण्डितने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और सच्चा अधिकारी जानकर उसे भगवान् रामका षडक्षर (ॐ रामाय नमः) मन्त्र देकर कृतार्थ किया ! कहना नहीं होगा कि उसी क्षणसे कुशलपालका जीवन ही पलट गया ! उसने सारा धन भाइयोंको दे दिया । अपने उससे कुछ भी सम्पर्क नहीं रक्खा । भाइयोंने पिताजीकी इच्छानुसार दस लाखके सोनेसे मन्दिर बनवा दिया, और शेष पाँच लाख भी धर्मकार्यमें लगा दिये । कुशलपालका जीवन भजनमय हो गया । और अन्तमें शङ्कर पण्डितसहित वह भगवान्के परमधाम साकेतलोकमें पहुँचकर कृतार्थ हो गया ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

---

* इसी आशयका सूरदासजीका एक पद है—

श्रीपति दुखित भगत अपराधें ।
संतन द्वेष द्रोहिता करके आरतिसहित जो मोहिं अराधें ॥
सुनो सकल बैकुंठनिवासी साँची कहौं जिन मानो खेदें ।
तिनपर कृपा करूँ मैं किस बिधि पूजत पाँव कंठको छेदें ॥
जनसों बैर प्रीति मोसों करि मेरो नाम निरन्तर लैहैं ।
सूरदास भगवंत बदत यों मोहि भजें पर जमपुर जैहैं ॥

साधकोंसे

भगवान् विष्णुका ध्यान

(१)

प्रातःकालका समय है। सुन्दर, सुरम्य गंगाजीका पवित्र तट है। भगवान् श्रीविष्णुजी आकाशमें भूमिसे लगभग तीन हाथ ऊपर खिले हुए सहस्रदल लाल कमलपर खड़े हैं। उनके चारों ओर करोड़ों सूर्योंका प्रकाश छा रहा है परन्तु साथ ही वह करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल और शान्तिप्रद है। भगवान्का रूप परम शान्त और अत्यन्त दर्शनीय है। भगवान्की किशोर अवस्था है। भगवान्का नीलकमलके समान दिव्य श्याम शरीर है। भगवान्के चरणतलोंमें ऐश्वर्यसूचक वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल आदिके चिह्न हैं। भगवान्के चरणोंकी मनोहर अंगुलियोंमें स्थित उभरे हुए उज्ज्वल अरुण वर्ण परम शोभायमान दसों नखरूपी चन्द्रमाओंकी दिव्य कान्ति भक्तोंके हृदयका अज्ञानान्धकार दूर कर रही है। जिनके धोवनके जलसे बनी हुई परम पवित्र पतित-पावनी गंगाजीको सिरपर धारणकर श्रीशिवजी परम कल्याणरूप यथार्थ शिव हो गये, और जो ध्यान करनेवालोंके पापरूपी पहाड़ोंको विदीर्ण करनेके लिये वज्रके समान हैं, वे कमलपत्र-जैसे कोमल और प्रकाशमान भगवान्के चरणकमल बड़े ही मनोहर हैं। भगवान्के चरणोंमें सुन्दर नूपुर सुशोभित हो रहे हैं। कमलनयना श्रीलक्ष्मीजी सदा अपनी ऊरुओंपर धारण करके अपने कोमल करकमलोंसे जिनका लालन करती हैं, जन्म-मरणके भयका नाश करनेवाले भगवान्के वे दोनों जानु (घुटने) परम सुन्दर हैं। भक्तराज गरुड़जी जिनको बड़े आदर और यत्नसे अपनी भुजाओंपर धारण करनेमें अपना परम सौभाग्य मानते हैं, वे अलसीके पुष्पोंके समान सुहावनी श्यामवर्ण, नीलमणिके समान चमकदार और नील-कमलके समान कोमल भगवान्की जंघाएँ परम मनोहर हैं, जो स्वाभाविक ही कमरमें कसे हुए दिव्य रेशमी कमलपुष्पके परागके समान पीतवर्णके वस्त्रसे ढकी हुई हैं। वह पीतपट अपनी उज्ज्वल आभाके साथ ही कटितटपर शोभायमान सुन्दर दिव्य रत्नजटित करधनीकी दिव्य प्रकाशमयी कान्तिसे विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है। जिससे उत्पन्न हुए सर्वलोकमय कमलकोषसे आत्मयोनि श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए और जो भुवनकोषके स्थानस्वरूप भगवान्के दिव्य उदरमें स्थित है, वह भगवान्की गम्भीर घुमावसे युक्त नाभि अत्यन्त ही सुन्दर है। वह नाभि जब श्वासके चढ़ने-उतरनेसे फड़कती है तब ऐसा लगता है मानो जो विश्व नाभिसे निकला, वह पुनः उसीमें समा रहा है। भगवान्का वक्षःस्थल बहुत चौड़ा और अत्यन्त चमकदार है, जो दिव्य रत्नहारोंकी कान्तिमय किरणोंसे और भी प्रकाशित हो रहा है। भगवान्के हृदयपर परम कान्तिमय विशद हार विहार कर रहा है। लक्ष्मीजी-की स्वर्णवर्ण मनोहर कान्तिसे आलोकित भगवान्का सुन्दर-श्याम वक्षःस्थल दर्शन करनेवाले पुरुषोंके मनको प्रसन्न और नयनोंको आनन्दित करता है। भगवान्-का मनोहर कण्ठ आत्मतत्त्वमयी निर्मल कौस्तुभमणिकी सिंहके कंधेपर रहनेवाली केसरकी-सी कान्तिसे सुशोभित है। गलेमें तुलसी-मञ्जरीसे युक्त रमणीय दिव्य पुष्पमालाएँ घुटनोंतक लटक रही हैं, इन पुष्पमालाओंके दिव्य पुष्पोंकी मधुर सुगन्ध चारों ओर फैलकर सबको सुखी कर रही है। मन्दरगिरिका मन्थन करनेवाली भगवान्की जानुपर्यन्त लंबी सुन्दर चार भुजाएँ हैं। उन भुजाओंमें अत्यन्त उज्ज्वल रत्नोंके बाजू-बन्द और मणिमय कंकण सुशोभित हैं। ऊपरकी भुजाओंमें दाहिनीमें उज्ज्वल प्रकाशको नीलाभायुक्त किरणोंसे झलमलाता हुआ सहस्र आरोंसे

युक्त असह्यतेज सुदर्शन चक्र है, बायींमें दिव्य श्वेत शङ्ख है; नीचेकी दाहिनी भुजामें भगवान्‌की प्यारी कौमोदकी गदा है, और बायींमें सुन्दर हलके रक्तवर्ण-का कमल विराजमान है। भगवान्‌का मुनिमन-मोहन प्रसन्न मुखारविन्द अत्यन्त ही सुन्दर है। कानोंमें हिलते हुए मणिमय मञ्जुल मकराकृति कुण्डलोंकी दिव्य स्वर्णवर्ण झलकसे भगवान्‌के नीलश्याम तेजोमय अनमोल गोल कपोल परम मनोहर छवि धारण कर रहे हैं। भगवान्‌की सुन्दर नुकीली नासिका नासा-मणिकी शोभासे सुशोभित है। कुन्दकली-जैसी सूक्ष्म दन्तपंक्तिके एक-एक दाँतसे श्वेत तेज निकल रहा है जो अधर और होठकी रक्तवर्ण आभाके साथ मिलकर अत्यन्त ही सुन्दर दिखायी दे रहा है। परम उदार भगवान्‌की मन्द-मन्द मुसकान जीवके अनादिकालीन शोकका सर्वथा नाश करती है। कमलकुसुमके समान अरुण वर्ण दोनों नेत्र मीनके समान सुशोभित हैं, जिनकी कोरोंसे दया, प्रेम, आनन्द और शान्तिका नित्य विकास हो रहा है। भगवान्‌की सुस्निग्ध हास्ययुक्त चितवन घोर त्रैतापको हरकर परमानन्द दे रही है। भगवान्‌की टेढ़ी भ्रुकुटीकी सुन्दरता बरबस मनको हर रही है। भगवान्‌के विशाल ललाटपर दिव्य रक्त कुंकुमका ऊर्ध्वपुण्ड्र शोभा पा रहा है। भगवान्‌के सिरपर काली-काली घुँघराली अलकोंकी अपूर्व शोभा है। सिरपर रत्नजटित परम प्रकाशमय किरीट-मुकुट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के सब अङ्गोंसे—रोम-रोमसे एक दिव्य तेज निकल रहा है और भगवान्‌की परम अलौकिक अङ्ग-गन्धसे सारा आकाश भरा है। भगवान्‌के मुखमण्डलके चारों ओर एक विशेष तेजोमण्डल है।

(२)

क्षीरसागरके अन्दर एक ऐसा सुरम्य स्थान है जहाँ ऊपर-नीचे आसपास तो क्षीर-जल है, बीचमें एक महान् प्रकाश छाया हुआ है। वहाँ भगवान् शेषजी विराजमान हैं। शेष भगवान्‌के मनोहर एक हजार सिर हैं, हजार फणोंके ऊपर हजार मणिमय मुकुट हैं और उनके कमलनालके समान चिकने सफेद रंगके शरीरपर नील वस्त्र शोभित हो रहा है। ऐसे शेषजीकी गोदमें भगवान् विष्णु आधे लेटे हुए विराजमान हैं। आपके सिरपर शेषजीके हजार फणोंका छत्र हो रहा है। भगवान्‌के शरीरका सुन्दर नील आभायुक्त श्याम वर्ण है। भगवान्‌के दोनों चरणकमल किञ्चित् उन्नत हैं। चरणोंकी मनोहर अंगुलियाँ अरुणवर्णके नखोंकी किरण-कान्तिसे सुशोभित हो रही हैं। आपके चरणोंमें नूपुर हैं। आपके दोनों ऊरु हाथीकी सूँड-जैसे हैं, परन्तु अत्यन्त कोमल और उज्ज्वल हैं। दोनों जानु परम मनोहर हैं। सुन्दर कटितटपर स्वर्ण-रत्नजटित करधनी है। गम्भीर नाभि है, उदर त्रिवलीसे युक्त है और उसका आकार पीपलके पत्तेके समान है। विशाल वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और प्रभाशाली कौस्तुभ विराजमान है। कण्ठ शङ्खके समान सुन्दर है। गलेमें दिव्य पुष्पमाला, मणिमय रत्नहार हैं। कन्धेपर ब्रह्मसूत्र है। भगवान्‌की चारों भुजाएँ घुटनोंतक लंबी और विशाल हैं। चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित है, भुजाओंमें बाजूबन्द और कंकण सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के दोनों कन्धे ऊँचे हैं और वे कौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान्‌का प्रसन्नमुख परम सुन्दर है, भगवान्‌की हास्ययुक्त चितवन बड़ी ही मनोहर है। भौंहें ऊँची और सुन्दर हैं। भगवान्‌के सुन्दर गोलकपोल और अरुण अधर देखने ही योग्य हैं। भगवान्‌की दंतपंक्तियाँ परम मनोहर और प्रकाशयुक्त हैं। भगवान्‌के कानोंमें मकराकृति सुन्दर कुण्डल हैं। भगवान्‌का ललाट परम प्रकाशमय और विशाल है। ललाटपर मनोहर तिलक है। भगवान्‌के घुँघराले बाल परम सुन्दर हैं।

मस्तकपर मणिमण्डित किरीट है । निर्मल चित्तवाले सुनन्द, नन्द, सनक आदि पार्षद; ब्रह्मा, रुद्र आदि देव; मरीचि आदि ऋषि; प्रह्लाद, नारद, भीष्म आदि भक्तजन स्तुतियाँ कर रहे हैं । श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या आदि शक्तियाँ भगवान्‌की सेवा कर रही हैं । श्रीलक्ष्मीजी भगवान्‌के चरण दबा रही हैं । भगवान्‌की मूर्ति परम शान्त, परम तेजोमय और परम सुन्दर है ।

ऊपर भगवान् विष्णुके दो स्वरूपोंके ध्यान लिखे गये हैं। और भी अनेकों प्रकारके ध्येयस्वरूप हैं। साधकको उपर्युक्त ध्येयस्वरूप भगवान्‌के एक-एक अङ्गका ध्यान करके उनका विधिवत् मानस-पूजन करना चाहिये और ऐसा दृढ़ अनुभव करना चाहिये कि मानो श्रीभगवान् प्रसन्न होकर अपने चरणोंमें मुझे स्थान दे रहे हैं और भगवान्‌की कृपासे मैं समस्त पाप-तापोंसे मुक्त होकर परम कल्याणको प्राप्त हो गया हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(१)

सन्ध्याका समय है, सूर्य देवता अस्ताचलको जा रहे हैं; गौएँ और बछड़े वनसे वापस लौट रहे हैं। भगवान्‌के लौटनेका समय जानकर प्रेममूर्ति गोपियाँ अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलकर भगवान्‌की प्रतीक्षामें खड़ी हैं, दूरसे भगवान्‌की वंशीध्वनि सुनायी दे रही है, बड़ी ही आतुरताके साथ वे तन-मनकी सुध भूलकर व्याकुल हुई भगवान्‌के आनेकी बाट देख रही हैं । दर्शनकी लालसाने उनके नेत्रोंको पलकहीन, चित्तको समस्त संसारी वासनाओंसे शून्य और हृदयको प्रेमसे परिपूर्ण कर दिया है । इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंके दलके साथ मुरली बजाते हुए पधारे । भगवान् श्रीकृष्णके रोम-रोमसे अतुलित मनोहर प्रकाश निकल रहा है, उनके अंगकी दिव्य गन्ध सब ओर फैल रही है । भगवान्‌का कृष्ण आभायुक्त नील नीरदवर्ण श्याम शरीर है; चरणोंसे लेकर शिखापर्यन्त प्रत्येक अंगसे सौन्दर्य-सूर्यकी मनोहर किरणें निकल रही हैं । जिस अंगकी ओर दृष्टि जाती है, वहीं नेत्र अटक जाते हैं । भगवान्‌की आयु लगभग सात वर्षकी है, परन्तु वे किशोर-अवस्थाके जान पड़ते हैं । उनके चरणकमल बड़े ही सुन्दर हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मधुर मुरली बजाते और सुन्दर तालके अनुसार थिरक-थिरककर नाचते हुए बड़ी मनोहर चालसे चले आ रहे हैं । नाचनेमें उनके जब चरण उठते हैं तब चरणोंके मनोहर नील श्यामवर्ण तेजपुञ्जपर चरणतलोंका अरुणवर्ण प्रकाश पड़नेसे नील और अरुण प्रकाशोंका मिश्रण एक महान् रमणीय प्रकाशके रूपमें एक अनोखी छवि दिखला रहा है । उसपर चरणनखोंकी अपूर्व श्वेतप्रकाशमयी अरुण आभा पड़ रही है । भगवान्‌के जानु परम सुन्दर हैं । कटितटपर पीताम्बरकी काछनी कछी है । चरणोंमें नूपुरका शब्द हो रहा है । भगवान्‌के गलेकी दिव्य वनमालाएँ, रत्नहार और गुंजाकी माला नाचनेमें इधर-उधर डुलकर परम शोभाको प्राप्त हो रही है । मनोहर गोल कपोलोंपर काली-काली अलकावली बिखर रही हैं । भगवान् एक हाथसे मुरलीको अधरोंपर लगाये, दूसरे हाथकी अंगुलियोंसे मुरलीके रन्ध्रोंमें सुर भर रहे हैं । मुरलीके सुरोंके साथ भगवान्‌के नृत्यकी ताल बराबर मिल रही है। पृथ्वीपर टिके हुए चरणोंसे व्रजवीथिकी धूलिमें चरणोंमें स्थित वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिह्न अंकित हो रहे हैं । भगवान्‌के नील-श्याम शरीरपर दिव्य सुवर्णवर्ण पीतपट ऐसा मालूम होता है मानो श्यामघन घटामें इन्द्रका धनुषमण्डल शोभायमान है; भगवान्‌के कानोंमें सुन्दर दिव्यकान्ति रत्नोंके कुण्डल हैं, उनमें भगवान्‌ने रक्तकमलके छोटे-छोटे फूल खोंस रखे हैं । नाचनेमें जब कुण्डल हिलते हैं, तब उन कुण्डलोंका उज्ज्वल प्रकाश रक्तकमलोंपर पड़ता है जिससे एक अपूर्व

शोभा हो रही है। भगवान्‌के प्रकाशमय चपल नेत्रोंसे प्रेम और माधुर्यकी परम शान्तिमयी और आनन्दमयी ज्योति निकल रही है, जो मुनियोंके चित्तको भी बलात् आकर्षित कर लेती है। भगवान्‌की टेढ़ी भौंहें देखनेवालोंके चित्तको सदाके लिये हर लेती हैं। भगवान्‌का मुखमण्डल परम मनोहर है। अरुणवर्णके सुन्दर अधर और ओष्ठ हैं। मुरली बजाते हुए भगवान् जो मन्द-मन्द मधुर हँसी हँसते हैं, और उस दुर्लभ हास्यछटाके साथ जब नेत्रोंकी प्रेम-कटाक्षमयी आकर्षणी शक्ति मिल जाती है, तब तो उसे देखकर बड़े-बड़े तपस्वियों, परम देवताओं और महान् संयमी ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका चित्त भी चञ्चल हो उठता है। भगवान्‌का शङ्खके समान सुन्दर गला है। विचित्र-विचित्र धातुओंके विविध रंगों और कोमल नवपल्लवोंसे सुसज्जित भगवान्‌का नटवर वेश परम दर्शनीय है। भगवान्‌के भुजाओंमें स्वर्णरत्नमय बाजूबन्द और कङ्कण शोभायमान है। कटितटमें छोटी-छोटी स्वर्णघण्टियोंसे युक्त विद्युत्-प्रभा-सी रत्नजटित करधनी है। भगवान्‌की नासिकाके अग्र भागमें सुन्दर गजमुक्ताकी लटकन अपूर्व कलासे नाच रही है। नयी बेंतका बना फूलोंसे गुथा हुआ एक गोल चक्र भगवान्‌ने अपनी बायीं भुजामें डालकर कंधेपर धारण कर रक्खा है। दाहिने कंधेपर पीला प्रकाशमय दुपट्टा है जिसके दोनों छोर आगे-पीछे दोनों ओरसे बायीं तरफको ले जाकर कमरके पास बाँधे हुए हैं। भगवान्‌के विशाल उज्ज्वल ललाटपर गोरोचनका ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक है, उसमें छोटी-छोटी मणियाँ चिपकायी हुई हैं। सिरपर काले-काले घुँघराले केश हैं। भगवान् मोरपंखोंका सुन्दर मुकुट धारण किये हुए हैं, जिसपर मोरपंखका चँदवा लगा है और आगे सुन्दर कलँगी लगी है। भगवान् चारों ओरसे विचित्र वेशधारी ग्वालबालकोंसे घिरे हुए हैं। सभी बालक परमानन्दमें मग्न हुए उछलते और नाचते-कूदते हुए चले आ रहे हैं और गोपियाँ भगवान्‌की इस छटाको देखकर प्रेम और आनन्दके सागरमें डूब रही हैं।

(२)

यमुनाजीका तट है, मनोहर वृक्षलताओं और सुगन्धित पुष्पोंसे वनकी शोभा बढ़ रही है, गौ और बछड़े इधर-उधर बिखरे हुए हरी घास चर रहे हैं। एक सुन्दर कदम्बके वृक्षतले मनोहर स्फटिकशिलापर भगवान् श्रीकृष्ण त्रिभङ्गी छटासे खड़े हैं। बायें चरण-पर दाहिने चरणकी आँटी दिये हैं। दाहिना अरुण चरणतल वज्र, ध्वजा, अंकुश आदि चिह्नोंसे सुशोभित दिखायी दे रहा है। करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का तेजःपुञ्ज दिव्य शरीर है और वह प्रकाश करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल है; भगवान्‌का सुन्दर कृष्णाभायुक्त नील वर्ण है। भगवान्‌के मनोहर चरण हैं। चरणोंमें नूपुर शोभित हैं। भगवान्‌के दोनों जानु और जंघाओंकी शोभा अवर्णनीय है; भगवान्‌ने दिव्य रेशमी पीत वस्त्र धारण कर रक्खा है। कटितटमें सुन्दर रत्नोंकी करधनी है। भगवान्‌का त्रिवलीयुक्त परमोदार उदर और गम्भीर नाभि सुशोभित है, भगवान् कदम्बपुष्प और तुलसीसे युक्त दिव्य वनपुष्पोंकी माला धारण किये हैं। वक्षःस्थलपर रत्न और मुक्ताओंके हार हैं। गलेमें गुञ्जाकी माला है। भगवान्‌के गलेमें पीला दुपट्टा है जिसके दोनों छोर सामनेकी तरफ दोनों ओरको फहरा रहे हैं। भगवान्‌की नन्ही-नन्ही लम्बी भुजाओंमें बाजूबन्द और कड़े शोभित हैं। भगवान्‌का मुखकमल परम सुन्दर है। मन्द-मन्द मुसकराते हुए भगवान् मुरली बजा रहे हैं। भगवान्‌के कानोंमें दिव्य पुष्पोंके कुण्डल हैं। मस्तकपर रत्नोंका किरीटमुकुट है जिसमें मयूरपुच्छ खोंसा हुआ है। भगवान्‌के सुन्दर घुँघराले बाल हैं। चारों ओर गोपालबाल खड़े हैं और भगवान्‌के मुखकी

ओर एकटकी लगाये देख रहे हैं, सभी प्रेममुग्ध और आनन्दमग्न हैं।

(३)

दिव्य द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण किशोररूपमें सर्वरत्नोपशोभित रमणीय स्वर्णसिंहासनपर विराजमान हैं, भगवान्‌का दिव्य कृष्ण-आभायुक्त नीलिमामय श्याम वर्ण है। पूर्ण चन्द्रके समान मुखमण्डल है। मस्तकपर मयूरपुच्छयुक्त मुकुट सुशोभित है। वनमाला धारण किये हुए हैं। कानोंमें रत्नोंके कुण्डल, भुजाओंमें बाजूबन्द और गलेमें रत्नहार है। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स और देदीप्यमान कौस्तुभमणि शोभित हैं। परम रमणीय लावण्ययुक्त कलेवर है, पीतवस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, अरुणवर्ण अधरोंपर वंशी विराज रही है। त्रिभुवनमोहिनी सर्ववेदमयी वेणुध्वनि हो रही है। भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, ऊपरके दोनों हाथोंमेंसे एकमें स्फटिकमयी अक्षमाला है और दूसरेसे अभयदान दे रहे हैं। नीचेके दोनों हाथोंसे मुरली बजा रहे हैं। कमल-सदृश सुन्दर और मोहन नेत्र हैं। अपने अद्वितीय सौन्दर्यसे विश्वको मोहित कर रहे हैं। स्वर्णकान्तिमयी कमला हाथोंमें मनोहर वीणा और कमल लिये भगवान्‌की बायीं ओर खड़ी उनके चरणोंमें दृष्टि जमाये हुए हैं। रुक्मिणी, सत्यभामा, कालिन्दी, जाम्बवती, नाग्नजिती, सुनन्दा, मित्रविन्दा, सुलक्षणा—पट्टरानियाँ भगवान्‌की सेवा कर रही हैं। सोलह हजार एक सौ रानियाँ भी भगवान्‌की सेवामें लगी हैं। भगवान्‌के मस्तकपर चन्द्रमण्डलसदृश श्वेतछत्र सुशोभित है। नारदादि मुनिगण तथा इन्द्रादि देवगण भगवान्‌का नमस्कार और स्तवन कर रहे हैं।

(४)

परम दिव्य और रमणीय वृन्दावनमें सुन्दर कदम्ब-काननकी पवित्र स्वर्णभूमिमें सर्वविध रत्नोंसे निर्मित विचित्र मण्डपमें रसराज भगवान् श्रीकृष्ण महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधिकाजीके साथ मनोहर रत्न-सिंहासनपर विराजमान हैं। उनकी अंगप्रभा करोड़ों सूर्योंके समान अनुपम प्रकाशयुक्त और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल है। भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर नव-नील-नीरद श्याम वर्ण है और श्रीराधिका-जीका स्वर्णाभायुक्त गौर वर्ण है। भगवान् पीताम्बर धारण किये हैं और श्रीमतीजी नीलाम्बर। दोनोंके शरीर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। भगवान् श्रीकृष्णका दक्षिण चरणकमल रत्नपूर्ण रत्नघटपर अधिष्ठित है और दूसरा वाम चरणकमल दिव्य रक्तकमलपर। इसी प्रकार श्रीराधिकाजीका दक्षिण चरणकमल मुक्ता-पूर्ण स्वर्णघटपर है और वाम चरणकमल नीलकमल-पर। हजारों गोपियाँ नाना प्रकारसे दोनोंकी परिचर्या कर रही हैं। भगवान् श्रीकृष्णके दक्षिण करकमलमें मुरली है और बायाँ करकमल श्रीराधिकाजीके कण्ठ-देशपर स्थित है। श्रीराधिकाजीका दाहिना करकमल श्रीभगवान्‌के जानुपर रक्खा है और बायें हस्तकमलमें पुष्पोंका हार है। आस-पास रंग-बिरंगी अनेकों गौएँ खड़ी हैं, जो भगवान्‌के मुखमण्डलकी ओर मुग्ध-दृष्टिसे देख रही हैं।

(५)

कुरुक्षेत्रका रणक्षेत्र है। सेनाएँ सुसज्जित खड़ी हैं। कौरवसेना पितामह भीष्मके सेनापतित्वमें व्यूहाकार खड़ी है और पाण्डवसेना धृष्टद्युम्नके सेना-पतित्वमें व्यूहरचनायुक्त है। दोनों ओर बड़े-बड़े वीर हैं। पाण्डवोंकी सेनामें सबसे प्रमुख एक रथ है, रथके चार पहिये हैं, रथके अग्रभागमें एक लंबी ध्वजा है, ध्वजापर श्रीहनुमान्‌जी विराज रहे हैं, रथके सुन्दर चार सफेद घोड़े जुते हैं। अगले हिस्सेमें भगवान् चतुर्भुज श्रीकृष्ण बैठे हैं। उनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है, दूसरेमें सुन्दर चाबुक, तीसरेमें

दिव्य पाञ्चजन्य शंख है और चौथेसे अर्जुनको गीताका उपदेश करते हुए भाँति-भाँतिके संकेतोंसे समझा रहे हैं। भगवान्‌के तेजपुञ्ज नीलश्याम अंगकी आभा कवचको भेदकर बाहर निकल रही है। रथके पिछले हिस्सेमें कवचकुण्डलधारी रणसज्जामें सुसज्जित अर्जुन उदास बैठे हैं, गाण्डीव धनुष बगलमें पड़ा है। तरकसोंका भाथा पीठे कंधेपर है। मुँह उदास है, और बड़ी ही उत्सुकतासे भगवान्‌के मुखमण्डलकी ओर देखते हुए वे ध्यानसे भगवान्‌की वाणी सुन रहे हैं। भगवान् मुसकराते हुए नाना प्रकारकी मुखाकृतिसे और दिव्य वाणीसे तथा हाथके संकेतसे अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं। भगवान्‌के श्रीअंगसे दिव्य सुगन्ध निकल रही है। भगवान्‌के नयनकमलोंसे स्नेह, ज्ञान और प्रकाशकी मिश्रित धारा निकल रही है। भगवान्‌के गलेमें दिव्य रत्नहार है, मस्तकपर किरीट-मुकुट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। सिरपर घुँघराले काले बाल हैं। भगवान्‌की लगभग सोलह वर्षकी किशोर अवस्था है, और अनुपम सौन्दर्य उनके रोम-रोमसे प्रस्फुटित हो रहा है।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके श्रीकृष्णके ध्यानोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नियमित ध्यान करके लाभ उठाना चाहिये।

(भगवान् श्रीराम और भगवान् शिवके कुछ ध्यानके योग्य स्वरूपोंका वर्णन अगले अंकमें देखें।)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥
मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥
न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं संकीर्तनादेव रामरामेति मुच्यते॥

'गिरनेपर, पैर फिसल जानेपर, अङ्ग-भङ्ग हो जानेपर, सर्पादि जहरीले जन्तुओंसे डसे जानेपर, ज्वरादिसे तप्त होनेपर और (युद्धादिमें) घायल होनेपर भी जो मनुष्य बरबस 'हरि' नामका उच्चारण करता है वह यमयातनाको प्राप्त नहीं होता।'

'हे भृगुश्रेष्ठ! श्री 'कृष्ण' नाम मधुरातिमधुर, सब मङ्गलोंका मङ्गल, अखिल वेदरूप वल्लियोंका श्रेष्ठ फल और चैतन्यस्वरूप है। जो इसका श्रद्धासे अथवा विनोदसे भी केवल एक बार गान कर लेता है, वह चाहे कोई भी क्यों न हो, अवश्य तर जाता है।'

'रामनाममें न तो देश-कालका नियम है और न पवित्रता-अपवित्रताका ही विचार है। मनुष्य जब कभी भी रामनामका कीर्तन करके मुक्त हो जाता है।'

श्रीभगवन्नामकी अपार महिमा है। नामका सच्चे मनसे आश्रय करके नाम-जप और नाम-कीर्तन करनेवाले ही नाम-महिमाको जानते हैं। आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष कल्याणके ग्राहक और पाठक महोदय कल्याणकी प्रार्थना सुनकर स्वयं नाम-जप करते और दूसरोंसे करवाते हैं।

गत वर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे, पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी पूर्णिमातक अर्थात् ढाई महीनेमें उपर्युक्त सोलह नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी

प्रार्थना की गयी थी। और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़की जगह लगभग पन्द्रह करोड़ मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है। आशा है, भगवद्रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसन-पर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारण-वश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके तब भी कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अंक प्रकाशित होने-तक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१—किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३—प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४—सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५—संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ होती है। जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें उस दिनसे फाल्गुन सुदी पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६—संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७—सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग
'कल्याण'-कार्यालय
गोरखपुर।

कल्याणप्रेमियोंसे निवेदन

अंग्रेजीमें 'कल्याण-कल्पतरु' के नामसे कल्याणका सुन्दर सचित्र संस्करण गत चार वर्षोंसे निकल रहा है। इस बार पाँचवें वर्षका विशेषाङ्क भगवन्नामाङ्क (Divine Name Number) के नामसे निकला है जो बहुत ही उपादेय और अनेक सुन्दर चित्रोंसे सुसज्जित है। वार्षिक मूल्य विशेषाङ्कसहित ४॥) है, केवल विशेषाङ्कका २॥) है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें इसका प्रचार करनेकी प्रार्थना है।

The Divine Name Number
Of
The Kalyana-Kalpataru

The fifth annual Special Number of the "Kalyana-Kalpataru", the Divine Name Number, contains valuable articles from the pen of distinguished contributors. The Vedas, Smṛtis and Purāṇas have been freely drawn upon to establish the spiritual value of the Divine Name, the philosophy behind the practice of the Name, and the potency of the Name to bring the practicant face to face with God Himself through washing away his sins, which alone stand as a barrier between God and him. There are articles in the issue discussing the practice of the Name in Sikhism, Zoroastrianism and Christianity as well.

Readers will be glad to learn that the following are some of the distinguished writers whose articles will adorn the pages of the special number. Like the previous special numbers the present number also is illustrated by many multi-coloured illustrations by distinguished Indian artists.

SOME CONTRIBUTORS TO THE DIVINE NAME NUMBER.

Sri Uriya Swamiji, Swami Sri Hari Babaji, Pt. Madan Mohan Malaviya, Mahatma Gandhi, Swami Ramdas, Mahatma Ramaswamiji, Sadhu Prajnanathji, Swami Abhedananda, Ph. D., Swami Sivananda Saraswati, Swami Yoganand (America), Swami Tapasyanand, Swami Asanganand, Swami Asheshanand, Swami Shuddhanand Bharati, Acharya Rasik Mohan Vidyabhusan, Acharya Prangopal Goswami, Pt. Panchanana Tarkaratna, M. M. Pramatha Nath Tarkabhushan, M. M. Dr Ganganath Jha, Mahamahopadhyaya Hathibhai Sastri, Syt. Hirendra Nath Datta, Dr. Bhagavan Das, Syt. Upendra Nath Basu, Dewan Bahadur K. S. Ramaswami Sastri, Syt. Basanta Kumar Chatterjee, Prof. Akshaya Kumar Banerjee, Syt. Sridhar Majumdar, Pt. Kokileswar Sastri, Principal N. B. Butani, Prof. M. V. N. Subbarao, Prof. Gurumukh Nihal Singh, Prof. K. V. Gajendragadkar, Prof. Kshitimohan Sen, Prof. Bhim Chandra Chatterjee, Srimati Uma Devi, Revd. Arthur E. Massey, Principal F. C. Dewick Dr. Gualtherus H. Mees, Mr. Laurie Pratt (California), Dr. I. J. S. Taraporewalla, Prof. Firoze Cowasji Davar, Prof. Erward K. S. Dabu, Prof. Bireswar Banerjee, Prof. Jivan Shanker Yajnik, Syt. Nakuleswar Majumdar, Pt. Naradev Sastri, Syt. C. M. Ramachandra, Syt. Ramachandra Krishna Kamat, Prof. Girindra Narayan Mullick, Syt. Upendra Nath Dutta, Syt. Kshitindra Nath Tagore, Prof. M. S. Srinivas Sarma, Prof. Batuk Nath Sharma, Prof Baldeva Upadhyaya, Dr. Jadunath Sinha, Dr. Pitambar Dutta Barthwal, Dr. T. M. P. Mahadev, Prof. Nagendra Nath Chakravarty, Syt. Jayadayal Goyandka, Syt. Hanumanprasad Poddar, etc.

Price—Rs. 2-8- only (5 Sh. Foreign). Annual Subscription Rs. 4-8- Foreign 10 Sh.

The Manager—The Kalyana-Kalpataru,
GORAKHPUR (INDIA)

Regd. No. A. 1724.

किस नरकमें कौन जाता है ?

जो पुरुष दूसरेके धन, परस्त्री और पराये पुत्रको हर लेता है उसको भयानक यमदूत घोर कालपाशमें बाँधकर जबरदस्ती 'तामिस्र' नरकमें डालते हैं। यह नरक अन्धकारमय है। पापी इस नरकमें खाने-पीनेको नहीं पाता और उसे दण्ड, ताड़ना और तिरस्काररूपी अनेकों पीड़ाएँ सहनी पड़ती हैं। वहाँ वह अत्यन्त कातर होकर मूर्छित हो जाता है।

जो पुरुष अपने मालिकसे छल करके उसकी पत्नीके साथ कुकर्म करता है उस दुरात्माको 'अन्धतामिस्र' नामक नरकमें गिरना पड़ता है। इस नरकमें पड़े हुए व्यक्तिकी स्मरणशक्ति और बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

जो पुरुष इस जगत्में 'यह शरीर ही मैं हूँ' 'ये धन-पुत्रादि मेरे हैं', इस प्रकारके अहंकार और ममत्ववश प्राणियोंसे द्रोह करके केवल अपने ही देह और स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, वह भी उक्त नरकमें गिरता है।

जो निर्दयी मनुष्य निरपराध जीवोंकी हिंसा करता है, नरकमें उसीके हाथों मारे गये प्राणी रुरु नामक कीड़े होकर उसका बदला लेते हैं, वे रुरु नामक जीव सर्पसे अधिक क्रूर होते हैं, इसीसे इस नरकका नाम रौरव है।

जो पुरुष इस लोकमें प्राणियोंको दुःख देकर केवल अपने ही शरीरका भरण-पोषण करता है वह महारौरव नामक नरकमें गिरता है, वहाँ रुरु नामक क्रूर जीव उसके शरीरको नोच-नोचकर खाते हैं।

जो उग्र पुरुष अपना शरीर पालनेके लिये इस लोकमें सजीव पशु-पक्षियोंको मारकर उनका मांस राँधता है वह इस कुकर्मके फलस्वरूप कुम्भीपाक नरकमें तपते हुए तेलमें डालकर पकाया जाता है।

(श्रीमद्भागवत)

कल्याण
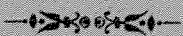
वर्ष १२

* माघ १९९४ *

अंक ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३७६००]

र्षिक मूल्य
तमें ४≡)
शमें ६॥≈)
० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पैंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
rinted and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

॥ श्रीहरिः ॥

छप गया ! श्रीसंत-अंक दूसरा संस्करण !

कल्याणके इस वर्षका विशेषांक सपरिशिष्टांक ८७४ पृष्ठों और ४७० चित्रोंसे सुसज्जित करके ३५५०० (पैंतीस हजार पाँच सौ) की संख्यामें छापा गया था। किन्तु वह सब ग्राहकोंकी कृपासे जल्दी ही समाप्त हो गया। बढ़ती हुई माँगको देखकर खर्चेका ख्याल प्रायः न करके केवल प्रचारकी दृष्टिसे संत-अंकका दूसरा संस्करण छापनेकी शीघ्र व्यवस्था की गयी और अल्प समयमें २५०० (अढ़ाई हजार) प्रतियाँ तैयार की गयी हैं।

इस संस्करणमेंसे कुछ प्रतियाँ तो पहलेकी रुकी हुई माँगोंके लिये जा रही हैं, इसके अलावा नयी माँगें आ ही रही हैं। ऐसी हालतमें आशा की जाती है कि यह संस्करण भी समाप्त हो जायगा। और इस संस्करणके समाप्त हो जानेपर तीसरा संस्करण छपनेकी सहजमें कोई सम्भावना नहीं है।

कल्याण माघ संवत् १९९४ की

विषयसूची

॥ श्रीहरिः ॥

छप गया ! तत्त्व-चिन्तामणि ३ रा भाग (सचित्र) छप गया !

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

पृष्ठ ४५०, मोटा ऐंटिक कागज, सुन्दर छपाई-सफाई, मूल्य प्रचारार्थ केवल ॥=), सजिल्द ॥।=) ५२५० छपी है।

प्रस्तुत पुस्तकमें समय-समयपर कल्याणमें लिखे हुए तैंतीस निबन्धोंका संग्रह है। इस पुस्तकके महत्त्वके विषयमें
बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं है, जिन्होंने इसके प्रथम और द्वितीय भागोंको देखा है वे स्वयं ही इसकी उपयोगिता
समझ जायँगे। हमें इतना ही निवेदन करना है कि जो लोग परमार्थविषयके गम्भीरतम रहस्योंको अत्यन्त सरल भाषा-
में हृदयङ्गम करना चाहते हों, जो अपने जीवन और अमूल्य समयका सदुपयोग सीखनेके इच्छुक हों, जिन्हें भगवत्प्रेम,
भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा लोकशिक्षाके भावोंसे भरे हुए लेख पढ़कर अपने लोक-परलोक दोनों सुधारनेकी चिन्ता हो उन
कल्याणपथके पथिकोंको इस पुस्तकका अविलम्ब सहारा लेना चाहिये।

पहले दो भागोंकी भाँति इसमें भी मनुष्य-जीवनके असली उद्देश्यका ज्ञान कराकर विषयोंके अन्धकारभरे गहन
जंगलमें भटकते हुए मनुष्योंको भगवान्‌की प्रकाशमयी सुन्दर राहपर चढ़ानेवाले, आसुरी सम्पदाका विनाशकर दैवी
सम्पदाको बढ़ानेवाले, सदाचार और सद्विचारोंमें प्रवृत्ति करानेवाले, भ्रम-सन्देहोंका नाश करके और भगवान्‌के दिव्य
गुण, रहस्य, प्रभाव और प्रेमको प्रकट करके श्रीभगवान्‌के पावन चरणोंमें प्रीति प्राप्त करानेवाले, तथा दुर्लभ भगवत्तत्त्वका
सहज ही ज्ञान करानेवाले सरल भाषामें लिखे हुए सुन्दर और सुपाठ्य सब लोगोंके लिये कल्याणकारी, शास्त्रसम्मत और
अनुभवयुक्त विचारोंसे पूर्ण लेखोंका ही संग्रह किया गया है। जिज्ञासुओंके हृदयमें उठनेवाली बहुत-सी जटिल शंकाओंका
प्रश्नोत्तरके रूपमें सुन्दर समाधान किया गया है। तत्त्वविचारके साथ ही व्यावहारिक शिक्षा देनेवाली तथा सरल और
सस्ती होनेके कारण यह पुस्तक सबके उपयोगकी वस्तु हो गयी है। पुस्तकमें आये हुए विषयोंकी पूरी सूची नीचे दी
जा रही है—

(१) मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय। (२) समयका सदुपयोग। (३) विषय-सुखकी असारता।
(४) कर्मयोगका रहस्य। (५) धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि। (६) नारीधर्म। (७) मिल और नीलसे
हानि। (८) प्रतिकूलताका नाश। (९) पाप और पुण्य। (१०) मांसभक्षणनिषेध। (११) चित्त-निरोधके
उपाय। (१२) ध्यानसहित नाम-जपकी महिमा। (१३) प्रेम और शरणागति। (१४) भावनाशक्ति। (१५)
सर्वोच्च ध्येय। (१६) तत्त्वविचार। (१७) सर्वोपयोगी प्रश्न। (१८) परमार्थप्रश्नोत्तरी। (१९) प्रश्नोत्तर।
(२०) भगवत्प्राप्तिके उपाय। (२१) भगवान्‌के लिये काम कैसे किया जाय। (२२) ईश्वर और परलोक। (२३)
ईश्वर-तत्त्व। (२४) ईश्वरमहिमा। (२५) ईश्वरमें विश्वास। (२६) शिवतत्त्व। (२७) शक्तिका रहस्य।
(२८) गीतामें चतुर्भुजरूप। (२९) गीतोक्त साम्यवाद। (३०) सांख्ययोग और कर्मयोग। (३१) देशकाल-
तत्त्व। (३२) मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है ?। (३३) अमूल्य शिक्षा।

उपर्युक्त लेखोंमेंसे 'नारीधर्म' शीर्षक लेख अलग भी पुस्तकरूपमें प्रकाशित है।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

वनवासी श्रीराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, माघ १९९४, फरवरी १९३८ { संख्या ७
पूर्ण संख्या १३९

वनवासी रामके प्रति नमस्कार

नमामि भक्तवत्सलं कृपालुशीलकोमलं ।
भजामि ते पदाम्बुजं अकामिनां स्वधामदम् ॥

निकामश्यामसुन्दरं भवाम्बुनाथमन्दरं ।
प्रफुल्लकञ्जलोचनं मदादिदोषमोचनम् ॥

प्रलम्बबाहुविक्रमं प्रभोऽप्रमेयवैभवं ।
निषङ्गचापसायकं धरं त्रिलोकनायकम् ॥

दिनेशवंशमण्डनं महेशचापखण्डनं ।
मुनीन्द्रसंतरञ्जनं सुरारिवृन्दभञ्जनम् ॥

मनोजवैरिवन्दितं अजादिदेवसेवितं ।
विशुद्धबोधविग्रहं समस्तदूषणापहम् ॥

नीच गतिमें कौन जाते हैं।

जो ब्राह्मण पवित्र ब्राह्मणत्वको छोड़कर लोभके वश हो कुकर्म करते हैं। जो ईश्वरको नहीं मानते, मर्यादा भंग करते हैं, विषयोंके गुलाम हैं, धर्मध्वजी हैं और कृतघ्न हैं। जो देनेकी प्रतिज्ञा करके नट जाते हैं, दूसरेका धन छीन लेते हैं। जो चुगलखोर हैं, झूठ बोलते हैं, दूसरोंका अपमान करते हैं, व्यर्थ बकते हैं। जो पराया हक हड़प जाते हैं, दूसरोंके छिद्र उघाड़ते हैं, निन्दा करते हैं, परस्त्रीगमन करते हैं। जो जीवोंकी हिंसा करते हैं, उत्तम कार्योंमें बाधा देते हैं; स्त्री, पुत्र, नौकर और अतिथियोंको दुःख देते हैं। जो भगवान्‌का चिन्तन नहीं करते, जो यज्ञ, कन्या, सुहृद्, साधु और गुरुकुलोंपर दोषारोपण करते हैं। जो काठ, काँटे और पत्थरोंसे रास्ता रोक देते हैं। जो कामी हैं, दुष्टस्वभाव हैं, भोजनके लिये निमन्त्रित पुरुषोंको निकाल देते हैं। जो किसीका खेत उजाड़ देते हैं, घर उजाड़ देते हैं, वृत्तिका नाश कर देते हैं, प्रेम तुड़ा देते हैं, किसीकी आशाका भंग करते हैं। जो शूल, धनुष आदि शस्त्र बनाते या बेचते हैं। जो अनाथ, अपाहिज, दीन, रोगी, वृद्ध और दुःखिनी विधवाओंके प्रति दया नहीं करते। जो इन्द्रियोंके वशमें होते हैं और चपलतावश धर्मके नियमोंको तोड़ते हैं। जो श्राद्ध-तर्पण नहीं करते, पिता-माता आदि गुरुजनोंकी सेवा और आदर नहीं करते। और जो दुःखियोंके दुःखको घटाते नहीं वरं बढ़ाते हैं।

उत्तम गतिमें कौन जाते हैं।

जो सत्य, तप, दान और स्वाध्यायके द्वारा धर्मका पालन करते हैं। जो हवन, ध्यान, देवपूजन, सत्-प्रतिग्रह करते हैं। जो पवित्र हैं, पवित्र देशवासी हैं। जो भगवान् वासुदेवके परायण हैं, भगवान्‌की स्तुति करते हैं, भगवान्‌का नाम लेते हैं। जो माता-पिताकी सेवा करते हैं, किसीकी हिंसा नहीं करते, सत्संग करते हैं, सबकी भलाईमें लगे रहते हैं। जो दिनमें नहीं सोते, लोभहीन हैं, सबकी सहते हैं, सबको आश्रय देते हैं, सेवा और तपस्याद्वारा गुरुजनोंका सम्मान करते हैं, यथासाध्य सात्त्विक दान करते हैं, हजारोंको दुःखोंसे बचाते हैं, भय, पाप, शोक, रोग और दरिद्रतासे पीड़ित जीवोंको सुख पहुँचाते हैं। जो आत्माका स्वरूप पहचानते हैं, जवान होनेपर भी जितेन्द्रिय हैं, धीर हैं। किसीके द्वारा याचना किये जानेपर जो हर्षित होते हैं, दान देकर मीठे वचन बोलते हैं और प्रसन्न होते हैं, दानका कोई फल नहीं चाहते। गृहहीनोंको घर बनवा देते हैं, अन्न देते हैं, शत्रुओंकी भी कभी निन्दा नहीं करते, वरं उनका भी गुण ही वर्णन करते हैं। जो दूसरेका ऐश्वर्य देखकर जलते नहीं वरं प्रसन्न होते हैं। शास्त्रकी आज्ञाका पालन करते हैं, सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलते हैं, दूसरोंको बाँटकर खाते-पीते हैं। आर्त्तको सान्त्वना देते हैं। जो कुएँ, तालाब आदि बनवाते हैं। जो बुरेके साथ भला, कपटीके साथ सरल और शत्रुके साथ मित्रका बर्ताव करते हैं। जो गुस्सा नहीं होते, कामी नहीं हैं, सदाचारी हैं, प्रतिदिन धर्माचरण करते हैं। जो निन्दा और स्तुति करनेवाले दोनोंको समान देखते हैं। जो शान्त हैं, जितेन्द्रिय हैं और आत्माको जीते हुए हैं। जो भयभीत ब्राह्मण, स्त्री या जीवमात्रकी रक्षा करते हैं। जो तीर्थोंमें, खास करके भागीरथीमें पितरोंके लिये पिण्ड देते हैं। जो निन्दित कर्म नहीं करते, परस्त्रीको तन-मन-वचनसे माता और परधनको विष समझते हैं, जो पवित्र हैं और सदा जीवोंके हितमें लगे रहते हैं।

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

अपने मनमें ऐसा विचारकर मुनि याज्ञवल्क्य-जी अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयीसे कहने लगे—

'हे मैत्रेयी ! अब मैं गृहस्थाश्रम छोड़कर चतुर्थाश्रम ग्रहण करना चाहता हूँ। मेरे पास जितना सुवर्णादि धन है, उस धनके दो विभाग करके एक भाग तुझे और दूसरा भाग कात्यायनीको देता हूँ। मेरे जानेके बाद तुम दोनोंको इस धनसे सुखकी प्राप्ति होगी' यह वचन सुनकर मैत्रेयी संसारको भार समझकर अत्यन्त दुखी हो इस प्रकार कहने लगी—

'हे भगवन् ! जिस धनसे मेरी मृत्यु सदाके लिये मिट जाय उस धनकी मुझे इच्छा है, जिस धनके मिलनेसे इस लोकमें मरणकी प्राप्ति हो उस धनकी मुझे आकांक्षा नहीं है। सुवर्णादिसे भरपूर यह सारी पृथिवी आप मुझे दे दें तो उससे मुझे अमृतभावकी प्राप्ति होगी या नहीं, इसका निश्चय करके फिर मुझे धन दीजिये।'

मुनि–हे मैत्रेयी ! सुवर्णादिसे इस जीवको अमृतभावकी प्राप्ति नहीं होती, कोई भी जीव सुवर्णादि नाशवान् धनसे मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त नहीं हो सकता। सुवर्णादि तो उलटे मरणके कारण हैं, क्योंकि धनवान्को इस लोकमें राजासे, चोरसे तथा दुष्ट पुरुषोंसे दुःख होता है और मृत्यु भी होती है। कोई भी धनवान् चिन्तारहित नहीं होता। स्वप्नमें भी धनीको राजा तथा चोरादिसे भय लगा रहता है, तो जाग्रदवस्थामें तो वह भयरहित होता ही कैसे ? धनरहित निर्धन पुरुषको रोगादि नहीं होते और उसमें बल भी अधिक होता है क्योंकि उसका जठराग्नि प्रबल होता है, इसलिये निर्धनको दैव जितना अनुकूल होता है, उतना धनवान्को नहीं होता। धनवान् रोगी, क्षुधारहित, थोड़ी उम्रवाला तथा तृष्णा-युक्त होता है। धनवान्का अपने पुत्रादि बान्धवों-के साथ द्वेष रहता है। 'यह कार्य करूँ या न करूँ ?' इस प्रकारकी चिन्तासे धनवान्का चित्त सदा व्यग्र रहता है। धनवान्को जगत्में लेशमात्र भी सुख नहीं है। महात्मा दयालु पुरुष जितना स्नेह निर्धनपर करते हैं उतना धनीपर नहीं करते। धनके भयसे धनवान् जितना पाप करते हैं, उतना निर्धन नहीं करता क्योंकि उसको राजादिसे भय लगता है। धनवान् देव, गुरु तथा अतिथिकी भी अवज्ञा करते हैं और अपने आश्रित जीवोंको तथा पराश्रित जीवोंको भी दुःख देते हैं, इसलिये लोक-परलोकमें परम दुःख पाते हैं। निर्धन जीवोंको दुःख नहीं दे सकता, इसलिये अधिक दुःख भी नहीं पाता। धनवान् धनके मदमें संतों, शिष्ट पुरुषों और महात्माओंका तिरस्कार करता है। धनवान् अपनेको मिथ्याभिमानके कारण ऊँचा मानकर सदा सत्संगसे वञ्चित रहता है। चापलूस लोगोंसे घिरा हुआ धनवान् सद्-बुद्धिसे हीन होकर सदा बुरे कार्योंमें लगा रहता है जो उसके भविष्यको दुःखमय बना देते हैं। इसलिये धनवान्से निर्धन श्रेष्ठ है। हे मैत्रेयी ! यदि तू धन अङ्गीकार करेगी तो प्रसिद्ध धनी पुरुषोंके समान ही तेरा भी जीवन होगा। धनकी आसक्तिसे चलायमान चित्तवाले धनवान् पुरुषोंको मोक्षरूप अमृतभावकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये तुझे भी धनकी आसक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। ब्रह्मभावको प्राप्त होनेका नाम

मोक्ष है और उसीका नाम अमृत है। 'मैं' और 'मेरा' रूप अभिमानके त्यागे बिना मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति नहीं होती, अभिमानकी निवृत्ति ही मोक्षका कारण है। अज्ञानके नाश हुए बिना अभिमान नष्ट नहीं होता, इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति अभिमानकी निवृत्तिका कारण है, आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञान बिना अज्ञानका नाश नहीं होता, इसलिये आत्माका ज्ञान अज्ञानकी निवृत्तिका कारण है। धनमें आसक्त पुरुषका चित्त आत्मज्ञानमें कभी नहीं लगता। आत्मज्ञान न होनेसे धनवान्‌का अज्ञान निवृत्त नहीं होता, अज्ञान रहनेसे अज्ञानका कार्य सूक्ष्मशरीर निवृत्त नहीं होता, सूक्ष्मशरीर रहते हुए सूक्ष्मशरीरके आश्रय रहे हुए पुण्य-पापरूप कर्म निवृत्त नहीं होते और कर्म रहनेसे स्थूलशरीरकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। स्थूलशरीर प्राप्त होनेसे पुण्य-पापरूप कर्मानुसार सुख-दुःख भी होता ही है। पूर्वसंस्कारोंसे जीव फिर पुण्य-पाप करता है और कर्मवश मरनेके बाद फिर जन्म पाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान बिना अज्ञानी जीव घटीयन्त्रके समान संसारचक्रमें भ्रमण करता हुआ दुःख भोगा करता है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! जब सुवर्णादि धनसे मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति नहीं होती, उलटा मरण प्राप्त होता है, तो मैं ऐसा धन लेकर क्या करूँगी? धन मिलनेसे मेरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा, इसलिये यह सम्पूर्ण धन आप कात्यायनीको दे दीजिये। इस धनकी मुझे किञ्चित् भी इच्छा नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! धन बिना तू अपने शरीरका खान-पानादि व्यवहार कैसे करेगी?

मैत्रेयी—हे भगवन्! जैसे आप संन्यास धारण करके भिक्षान्नसे अपना निर्वाह करेंगे, उसी प्रकार मैं भी इस शरीरके नाश होनेतक भिक्षान्नसे अपने शरीरका निर्वाह करूँगी। मेरे जीनेके लिये आप चिन्ता न करें। जिस विश्वम्भरने माताके उदरमें मेरी रक्षा की थी, वही विश्वम्भर अब भी मेरी रक्षा करेगा। जब विश्वम्भर सब जीवोंकी सँभाल रखता है, तो क्या मेरी सँभाल नहीं रक्खेगा? हे भगवन्! यदि भिक्षान्न न मिलनेसे मेरा शरीर नष्ट हो जाय तो भी मुझे भय नहीं है। शरीरका नाश होनेसे मैं परमेश्वरका उपकार मानूँगी। यह शरीर विष्ठा-मूत्रादि मलोंसे भरा हुआ है, इसलिये अत्यन्त दुर्गन्धिवाला है, वातादि व्याधियोंसे ग्रस्त है, अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण है, और खोटे मार्गोंमें ले जानेवाला होनेसे अनेक पापोंका कारण है, ऐसे निन्दित शरीरमें मुझे किञ्चित् भी आसक्ति नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! यदि तुझे अपने शरीरमें आसक्ति नहीं है, तो शरीरके रक्षणके लिये अन्नादि किसलिये खाती है?

मैत्रेयी—हे भगवन्! जैसे राजाके भृत्य किसी पुरुषसे बलात्कार करके बेगार कराते हैं, इसी प्रकार मैं भी पराधीनतासे भोजनादि व्यवहार करती हूँ, शरीरमें प्रीति होनेसे मैं भोजनादि नहीं करती। अन्नादि भोजनसे जीवमें काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं, निद्रा-तन्द्रादि उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं और विष्ठा-मूत्रादिकी वृद्धि भी इसीसे होती है। अन्न-भोजनसे ही नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मनादि अन्तरेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होती हैं। नेत्रादिकी प्रवृत्तिसे इस जीवसे अनेक प्रकारके पाप होते हैं। जो प्राणी क्षुधातुर होता है, उसकी प्रवृत्ति किसी भी विषयमें नहीं होती। हे भगवन्! अन्नके भोजन बिना अकेले जीवको ही क्षुधासे पीड़ा होती है और खानेवालेको काम-क्रोधादि अनेक शत्रु पीड़ा देते हैं। कामरूप दोषसे स्त्रियोंको जो दुःख होता है, वह मरण तथा

नरकसे भी अधिक है क्योंकि कामका फल गर्भ है। गर्भके धारणमें और प्रसवके समय स्त्रीको महान् कष्ट सहन करना पड़ता है। इस दुःखका पुरुषको लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। इतना असह्य दुःख सहन करनेपर भी स्त्री-जातिका शरीर नष्ट नहीं होता, यह अत्यन्त आश्चर्य है! इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्माने स्त्रियोंका शरीर वज्रका बनाया है। इस प्रकारके स्त्रियोंको होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ, यह आप जानते ही हैं, आपके सम्मुख उनका वर्णन करना व्यर्थ है। भोजन करनेसे कामादि विकार उत्पन्न होनेसे मेरी मृत्यु हो, उससे तो भूखे मरनेसे मेरी मृत्यु हो, तो मैं अत्यन्त श्रेष्ठ मानती हूँ। जैसे इस लोकमें एक शूरवीर दूसरे शूरवीरके साथ युद्ध करनेमें समर्थ होता है, अनेकोंके साथ समर्थ नहीं होता, यदि वह अनेकोंके साथ युद्ध करे तो अत्यन्त क्लेश पाता है, इसी प्रकार काम-क्रोधादि अनेक विकारोंके साथ युद्ध करनेसे एक क्षुधाके साथ युद्ध करना सहज है। धन ग्रहण न करनेसे यदि मेरी मृत्यु हो जायगी तो मुझे चिन्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे शरीरका भार उतर जायगा। इन सब कारणोंसे शरीरकी रक्षा करनेमें मुझे लेशमात्र भी प्रीति नहीं है। अधिकारी पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेपर भी आत्मज्ञान सम्पादन किये बिना मेरी मृत्यु हो जाय तो ठीक नहीं है, ऐसा होनेसे मुझे महान् क्लेश होगा, इसलिये आप आत्मज्ञान देनेका मुझपर अनुग्रह कीजिये। मोक्ष-प्राप्तिका जो उपाय आप जानते हों, उसीको बतलानेकी कृपा कीजिये, जिससे मैं भी मुक्तिको प्राप्त होऊँ।

जब मैत्रेयीने धन स्वीकार न करके यह प्रार्थना की तो मुनि आत्मज्ञानका उपदेश इस प्रकार करने लगे—

मुनि—हे मैत्रेयी! धनसे इस लोकमें काम तथा धर्मरूप पुरुषार्थ प्राप्त हो सकते हैं किन्तु मोक्षरूप पुरुषार्थ नहीं प्राप्त होता। धनसे पुरुषको स्त्री आदि विषयोंका सम्बन्धरूप सुख प्राप्त होता है। विचारसे देखा जाय तो यह सुख जीवको दुःखोंमें डालनेवाला है। जैसे कोई पुरुष दूरतक चलनेसे थक जाता है, तब पग या घूसे मारनेसे उसे सुख प्रतीत होता है, इसी प्रकार विषयासक्त पुरुषको काम सुखका कारण प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः दुःखका कारण है। विषयसुख धनसे ही प्राप्त होता हो, ऐसा नहीं है, बिना धन भी प्राप्त होता है। कुत्ते, बिल्ली आदि धन बिना ही सम्भोगसे विषयसुख प्राप्त करते हैं, धन बिना भ्रमर अनेक पुष्पोंसे सुगन्ध लेकर सुख प्राप्त करता है, इसलिये धनसे ही विषयसुख प्राप्त होता हो, ऐसा नहीं है। धनसे रहित तोता, कोयल आदि आम्रादि फलोंके रस ग्रहण करके सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये रसादि पदार्थोंके स्वाद लेनेमें धनकी आवश्यकता नहीं है। देवमन्दिर आदिमें गाय आदि पशु और निर्धन मनुष्य गीत आदि नाना प्रकारके बाजोंके शब्द सुनते हैं, इसलिये संगीतरूप सुख भी धन बिना प्राप्त हो सकता है। दरिद्री पुरुष भी वारांगनादि सुन्दर स्त्रियोंको देखकर आनन्द पाते हैं, इसलिये स्वरूपके दर्शनका सुख भी बिना धन होता है। मक्खी आदि जन्तु राजा आदिकी उत्तम स्त्रियोंका स्पर्श करते हैं इसलिये स्पर्शसुखमें भी धन कारण नहीं है। यद्यपि कितनेको विषयसुख धनसे प्राप्त होते हैं परन्तु विचारसे देखा जाय तो विषयसुख धनसे ही मिलता हो, ऐसा नहीं है। जिस वस्तुसे दूसरी वस्तु होती है, वह वस्तु दूसरीका कारण कहलाती है। जैसे मृत्तिका, दण्ड, चक्र तथा कुम्भार इन चार वस्तुओंसे घड़ा बनता है, इसलिये ये चारों कारण कहलाती हैं। यद्यपि कुम्भारका गदहा भी घड़े बनानेमें काम आता है परन्तु उसको कोई कारण

नहीं कहता क्योंकि गदहा न हो तो उसका कार्य दूसरे प्रकारसे भी हो सकता है। इसी प्रकार धनसे कितने ही मनुष्योंको सुख मिलता है परन्तु वह सुख पशु आदि और निर्धन पुरुषोंको भी मिलता है, इसलिये धन विषयसुखका कारण नहीं कहा जा सकता। जैसे विषयजन्य सुखमें धन कारण नहीं है, उसी प्रकार स्वर्गादि सुखके साधन-रूप धर्मका भी धन कारण नहीं है। ब्राह्मणादि निर्धन पुरुष भी अतिथिसेवा करके स्वर्गादि सुखको प्राप्त होते हैं। धनवान् धनके मदसे स्वर्गादि सुखको प्राप्त नहीं होता किन्तु उलटा नरकको प्राप्त होता है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिका साधन अश्वमेधादि यज्ञ हैं, ये यज्ञ धन बिना नहीं हो सकते, इसलिये धनको स्वर्गादिका साधन क्यों न कहा जाय?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! अश्वमेधादि यज्ञोंके सिवा अन्य किसी उपायसे स्वर्गादिकी प्राप्ति न होती हो तो धनमें स्वर्गप्राप्तिकी कारणता सम्भव है परन्तु स्वर्गकी प्राप्तिके लिये शास्त्रमें जप, तप, व्रतादि अनेक उपाय कहे हैं, उनसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है तो धन ही स्वर्गादिका साधन नहीं कहा जा सकता। धनसे यज्ञादिद्वारा यदि मोक्षकी प्राप्ति होती हो तब तो ठीक है परन्तु जब यज्ञसे ही मोक्ष न होता हो तो धनसे कहाँसे मोक्षकी प्राप्ति हो, इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञ धनसे हो सकते हैं परन्तु धनसे अमृतसुखकी प्राप्ति नहीं होती। हे मैत्रेयी! तूने धनका परित्याग किया है और तू मुझसे मोक्षरूप अमृत पूछती है, यह सुनकर मुझे बहुत आनन्द हुआ है। इस लोकमें प्रीतियुक्त स्त्रीमें पति पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये स्त्रीको जाया कहते हैं परन्तु विचारसे देखा जाय तो तू ही मेरी जाया है क्योंकि तेरे वचन सुनकर मैं बहुत ही प्रीतियुक्त हुआ हूँ। तेरे सिवा जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब अन्न, वस्त्र, भूषणादि पदार्थोंकी याचना करके अपने पतियोंको अनेक प्रकारके क्लेश देती हैं। ऐसी स्त्रियोंको जाया कहना योग्य नहीं है, वे भार्या, ललना आदि नामोंके योग्य हैं। जैसे मैंने धनका त्याग किया है, उसी प्रकार हे कल्याणी! तूने धनका परित्याग करके मुझसे आत्माका स्वरूप पूछा है। तेरे इस पूछनेसे मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ है। स्त्रियाँ स्वभावसे ही लज्जायुक्त होती हैं परन्तु अब तू लज्जाको त्यागकर मेरे सम्मुख बैठ जा और एकाग्रचित्त होकर मैं जो आत्माका स्वरूप कहूँ, उसको सुन। हे प्रिये! तुझे मैं पति प्रिय हूँ और मुझे तू जाया प्रिय है, यह बात तो अनुभवसे सिद्ध है परन्तु तेरे शरीरमें मेरी जो प्रीति है, वह तेरे सुखके लिये नहीं है परन्तु अपने (आत्मा) के लिये है, इसी प्रकार मेरे शरीरमें जो तेरी प्रीति है, वह मेरे (पतिके) लिये नहीं है किन्तु अपने (आत्माके) लिये है अर्थात् कामरूप अग्नि शान्त करनेके लिये तथा वस्त्राभूषणादिके प्राप्त करनेके लिये है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! स्त्री अपने सुखके लिये ही पतिमें प्रीति करती है, यह किस प्रकार जाननेमें आवे?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! यदि पतिके सुखके लिये ही स्त्री प्रीति करती है, तो जब पति अन्य स्त्रीमें आसक्ति रखता है, तब स्त्री पतिसे प्रतिकूल हो जाती है, यह न होना चाहिये। और जगत्‌में कोई भी स्त्री अपने प्रतिकूल पतिमें प्रीति नहीं करती। जब पति अनुकूल होता है, तभी पतिमें स्त्री प्रीति करती है, इससे सिद्ध होता है कि स्त्री अपने सुखके लिये ही पतिमें प्रीति करती है, पतिके सुखके लिये नहीं करती। इसी प्रकार पति भी स्त्रीके सुखके लिये स्त्रीमें प्रीति नहीं करता किन्तु अपने कामरूप अग्निको शान्त करनेके लिये और

अन्न-पानादि व्यवहारसुख प्राप्त करनेके लिये स्त्रीमें प्रीति करता है। यदि स्त्रीके सुखके लिये पति प्रीति करता हो, तो जब स्त्री व्यभिचारादि कर्मोंके कारण पतिके प्रतिकूल होती है, तब पतिकी प्रीति उसपर होनी चाहिये, परन्तु नहीं होती अर्थात् पतिकी प्रीति अनुकूल जायामें ही होती है प्रतिकूलमें नहीं होती। जैसे स्वभावसे ही मधुर खाँड अपने सम्बन्धसे हमारे अमधुर शरीरको मधुर बनाती है, इसलिये खाँड अतिशय मधुर कहलाती है, इसी प्रकार हमारा आत्मा इन शरीरादि अप्रिय पदार्थोंको अपने सम्बन्धसे प्रिय बनाता है, इसलिये आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। जैसे अपने सुखके लिये स्त्रीको पति प्रिय है, और पतिके अपने सुखके लिये स्त्री प्रिय है, इसी प्रकार पुत्र, सुवर्ण आदि धन, गौ आदि पशु, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि जाति, भूरादि सात लोक, इन्द्रादि देवता, ऋगादि वेद तथा स्थावर-जंगमादि जगत्‌के पदार्थोंमें जो प्रीति होती है, वह पुत्रादिके सुखके लिये नहीं होती किन्तु अपने सुखके लिये होती है। यदि पुत्रादिकोंके सुखके लिये प्रीति हो, तो जब वे प्रतिकूल हों, तब भी होनी चाहिये। प्रतिकूल पदार्थमें कहीं कोई भी प्रीति नहीं करता किन्तु अपने सुखके लिये अनुकूल पदार्थोंमें सबकी प्रीति होती है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! पति, स्त्री तथा पुत्रादि सबको प्रतिकूल वस्तु सुखका कारण नहीं होती, अनुकूल ही सुखका कारण होती है, तो आनन्दस्वरूप आत्माको यह जगत् प्रिय नहीं लगना चाहिये किन्तु अप्रिय लगना चाहिये परन्तु यह तो अप्रिय नहीं लगता, इसका क्या कारण है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! आत्माके सिवा पति, स्त्री, पुत्रादि जितने अनात्मपदार्थ हैं, वे सब स्वभावसे प्रिय अथवा अप्रिय नहीं हैं परन्तु 'यह पदार्थ मेरे सुखका साधन है,' इस प्रकारकी बुद्धि जिस वस्तुमें होती है, वह वस्तु प्रिय लगती है और 'यह पदार्थ मेरे दुःखका कारण है' इस प्रकारकी प्रतिकूलताकी बुद्धि जिसमें होती है, वह वस्तु अप्रिय लगती है, इसलिये इस लोकमें भ्रान्तिसे जिस पुरुषको अपने प्रिय मित्रमें प्रतिकूलताका ज्ञान होता है, वह अपने मित्रको अप्रिय जानता है और अपने शत्रुमें जिसको अनुकूलताका ज्ञान होता है, वह अपने शत्रुको प्रिय मानता है। इससे सिद्ध होता है कि अनात्मपदार्थोंमें अनुकूलता प्रियताका कारण है और प्रतिकूलता अप्रियताका कारण है। स्वभावसे अनात्मपदार्थोंमें प्रियता अथवा अप्रियता नहीं है, जैसे वायु उष्ण अथवा शीतल नहीं है, अग्निके सम्बन्धसे वायुमें उष्णता और जलके सम्बन्धसे शीतलता आ जाती है; इसी प्रकार अनुकूलताके सम्बन्धसे जीवको अनात्मपदार्थोंमें प्रीति और प्रतिकूलताके सम्बन्धसे अप्रीति होती है। जिस वस्तुका जैसा स्वभाव होता है, वह कभी निवृत्त नहीं होता। जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव कभी नहीं बदलता, इसी प्रकार यदि पति, स्त्री आदि अनात्मपदार्थोंमें स्वभावसे ही प्रियताका गुण होता, तो सर्वदा स्थिर रहना चाहिये था परन्तु प्रिय अनात्मपदार्थ वियोगकालमें तथा प्रतिकूलताके समय जीवको परम दुःख देते हैं। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा सब अनात्मपदार्थ स्वभावसे प्रिय नहीं हैं परन्तु जिस कालमें जीवको उनमें अनुकूलताका ज्ञान होता है, तब वे पदार्थ प्रिय लगते हैं। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मा अपने सम्बन्धसे अप्रिय पदार्थोंको प्रिय करता है। आनन्दस्वरूप आत्मा ही सब जीवोंको सबसे अधिक प्रिय है।

आत्मा सबसे अधिक प्रिय है

मैत्रेयी—हे भगवन् ! आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, यह कैसे जाननेमें आवे ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! सर्व अनात्मपदार्थ जीवको अप्रिय, प्रिय तथा प्रियतर होते हैं और आत्मा प्रियतम यानी सबसे अधिक प्रिय है । अप्रिय, प्रिय और प्रियतर इन तीन गुणोंका निरूपण करता हूँ, ध्यान देकर सुन—'मुझे यह पदार्थ न मिले तो अच्छा' ऐसी बुद्धि जीवको द्वेषसे होती है और 'ये सिंह, सर्पादि दुःखके कारण हैं', जीवका यह दो प्रकारका ज्ञान अप्रिय कहनेमें आता है। 'यह पदार्थ मेरे सुखका साधन है' इस प्रकारका ज्ञान जीवको जिस पदार्थमें होता है, वह प्रिय कहलाता है। पति, स्त्री आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये सात्त्विक अन्तःकरणका परिणामरूप सुख प्रियतर कहलाता है। जैसे पति, स्त्री आदि पदार्थोंमें जीवकी प्रीति पदार्थोंके सुखके लिये नहीं होती किन्तु अपने सुखके लिये होती है, इसी प्रकार प्रियतर सुखमें भी जीवकी प्रीति अन्यके लिये नहीं होती किन्तु अपने लिये ही होती है। यदि अन्यके सुखके लिये सुखमें प्रीति होती हो, तो शत्रुका सुख देखकर भी प्रीति होनी चाहिये परन्तु शत्रुको सुखी देखकर कोई सुखी नहीं होता, इसलिये जीवमात्रको अपने आत्माके लिये ही सुख प्रियतर होता है। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मा सब जीवोंको प्रियतम यानी सबसे अधिक प्रिय है। हे मैत्रेयी ! प्रियतम आत्माके लेशमात्र आनन्दको लेकर ब्रह्मादि लोक परम आनन्दको प्राप्त होते हैं, इसलिये आत्मस्वरूप आनन्द ब्रह्माके आनन्दसे भी अति श्रेष्ठ है । स्वर्गलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकके विषयजन्य आनन्दसे भी अधिक द्वैतभावसे रहित जो ब्रह्मानन्द है, वह जीवोंके आत्मासे भिन्न नहीं है, ब्रह्मानन्द जीवोंका आत्मारूप है इसलिये आत्मस्वरूप आनन्द जीवोंका परम पुरुषार्थरूप है।

साधनसम्पत्ति

आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारके लिये श्रवणादि साधनोंकी आवश्यकता है । जिस अधिकारीको करामलकके समान संशय-विपर्ययरहित आत्माके साक्षात्कारकी इच्छा हो, उसको प्रथम विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता इन चार साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाकर गुरुमुखसे 'अयमात्मा ब्रह्म' 'ब्रह्माहमस्मि' आदि वेदवाक्य श्रवण करने चाहिये । उपक्रम, उपसंहारादि छः लिंगोंसे अद्वितीय ब्रह्मके मतप्रतिपादनमें शास्त्रका तात्पर्य निश्चय करना, इसका नाम श्रवण है । श्रवण करनेसे प्रमाणगत असम्भावना दूर हो जाती है, प्रमेयगत असम्भावना दूर नहीं होती । वेदान्तशास्त्र जीव-ब्रह्मका भेद प्रतिपादन करता है अथवा अभेद प्रतिपादन करता है, इस प्रकारके संशयको प्रमाणगत असम्भावना कहते हैं । शुद्ध एकान्त देशमें जाकर श्रवण किये हुएका श्रुति-अविरुद्ध तर्कोंसे मनन करना चाहिये। जैसे एक मृत्तिकामेंसे घट, शरावादि नाना वस्तुएँ होती हैं, इसी प्रकार एक अद्वितीय परमात्मामेंसे अज्ञानके सम्बन्धसे अनेक प्रकारका जगत् उत्पन्न होता है । जैसे घट, शरावादि मृत्तिकामें लय हो जाते हैं इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् परमात्मामें लय हो जाता है । जैसे अनेक पुष्पोंकी बनायी हुई मालामें सूत्रका अन्वय होता है परन्तु पुष्प परस्पर भिन्न ही रहते हैं इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, बाल, यौवन, वृद्धता अवस्थाओंमें आत्माका अन्वय होता है, तो भी अवस्थाएँ परस्पर अलग-अलग रहती हैं । इस प्रकारका तर्क-वितर्क करके मनन करनेसे मनमें स्थित प्रमेयगत असम्भावना निवृत्त हो जाती है। आत्मा सर्वत्र व्यापक है या नहीं, इस प्रकारके संशयको प्रमेयगत असम्भावना कहते हैं, इसके

बाद चञ्चल मनको अधिकारी पुरुष प्रथम किसी बाह्य प्रिय पदार्थमें एकाग्र करे, फिर अन्तरात्मामें एकाग्र करे, आत्मामें एकाग्र हुआ मन बहिर्मुख नहीं होता, इसका नाम निदिध्यासन है, इससे विपरीत भावना जाती रहती है। अन्य प्रकारकी वस्तुमें अन्य प्रकारकी बुद्धिका नाम विपरीत भावना है। श्रवण,मनन और निदिध्यासनसे असम्भावना और विपरीत भावनासे रहित हुआ मन गुरु-उपदिष्ट महावाक्यके प्रमाणसे आत्मसाक्षात्कारवाला हो जाता है।

मैत्रेयी-हे भगवन्! महावाक्यरूप शब्दप्रमाण विना मनमें आत्मसाक्षात्कार क्यों नहीं होता ?

याज्ञवल्क्य-हे मैत्रेयी! जैसे नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करती हैं और दोषवश अयथार्थ ज्ञान भी उत्पन्न करती हैं, यथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न करें, अयथार्थ न करें, ऐसा आग्रह इन्द्रियोंको नहीं है, इसी प्रकार सर्व वृत्तियोंका आश्रय मन कभी यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है, कभी अयथार्थ ज्ञानको भी उत्पन्न करता है, यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करूँ, अयथार्थ ज्ञानको न उत्पन्न करूँ, ऐसा आग्रह मनको नहीं है, इसलिये सब प्रकारके दोषसे रहित महावाक्यरूप शब्दप्रमाण ही केवल यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करता है, अतएव आत्मसाक्षात्कारमें महावाक्यरूप शब्दप्रमाण ही मुख्य कारण है।

मैत्रेयी-हे भगवन् ! महावाक्य ही आत्म-साक्षात्कारमें कारण हो, तो मनकी सहायता बिना ही आत्मसाक्षात्कार हो जाना चाहिये। मनकी क्या जरूरत है ?

याज्ञवल्क्य-हे मैत्रेयी! जैसे घटपटादि बाह्य विषयोंका प्रत्यक्ष विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संयोगसम्बन्धसे होता है, इसी प्रकार जब आत्माका मनके साथ संयोग-सम्बन्ध होता है, तभी महावाक्यके प्रमाणसे मनमें उत्पन्न हुई आत्माकार वृत्ति प्रत्यक्ष होती है, आत्माका मनके साथ सम्बन्ध हुए विना आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, आत्माके साथ सम्बन्ध होनेमें शुद्ध मनकी अत्यन्त आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन इन तीन साधनोंसे जब मन शुद्ध हो जाता है तब गुरु-उपदिष्ट महावाक्यके बोधसे अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार होता है।

मैत्रेयी-हे भगवन् ! आत्माका साक्षात्कार होनेसे अधिकारीको क्या फल होता है ?

आत्मसाक्षात्कारका फल

याज्ञवल्क्य-हे मैत्रेयी ! श्रवणादि साधनोंसे अधिकारीको जब आत्मसाक्षात्कार होता है तब उसके अज्ञानरूप अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। अविद्याकी निवृत्ति होनेसे उस पुरुषके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण दुःख निवृत्त हो जाते हैं और उसके हृदयमें स्वयंज्योति अद्वितीय आत्माका प्रकाश होता है। जैसे बादलोंके विखर जानेसे आकाश स्वच्छ हो जाता है, इसी प्रकार अविद्याके निवृत्त होनेसे अद्वितीय आत्मा हृदयमें प्रकाशित होता है। जैसे पुरुष स्वप्नके सुखको जाग्रदवस्थामें मिथ्या मानता है, उसी प्रकार अविद्यारूप निद्रासे जाग्रत् हुआ विद्वान् आत्माका साक्षात्कार होनेसे सर्व दृश्य-प्रपञ्चको मिथ्या मानता है। जैसे भयरहित चक्रवर्ती राजा स्वप्नमें नाना प्रकारके भयको प्राप्त होता है और जागनेपर स्वप्नके दुःखोंको अपने नहीं मानता, इसी प्रकार वस्तुतः सर्व दुःखोंसे रहित पुरुष अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानसे अपनेमें नाना प्रकारके दुःख मानता है, और आत्माका साक्षात्कार हो जानेपर सम्पूर्ण दुःखोंको मिथ्या मानकर परम सुखी होता है।

(क्रमशः)

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[गतांकसे आगे]

अब हम इस श्लोकके तात्पर्यका एक अन्य प्रकारसे विचार करते हैं—

'उडुराजः उडुषु उडुसदृशर्तुषु राजत इति उडुराजः वसन्तः। यदैव भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजो वसन्त उदगात्'

अर्थात् जो उडुस्थानीय अन्य ऋतुओंमें शोभायमान है वह वसन्त ही उडुराज है। जिस समय भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की उसी समय वह वसन्तरूप उडुराज उदित हो गया। वह वसन्तऋतु कैसा है? 'दीर्घदर्शनः—दीर्घकाले दर्शनं यस्य।' अर्थात् वर्तमान जो शरदृऋतु है उसकी अपेक्षा जिसका दर्शन दीर्घकालमें होना सम्भव है। ऐसा वसन्तऋतु भी कालका अतिक्रमण करके उदित हुआ।

उसीका विशेषण है 'ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः' अर्थात् जो क–स्वर्ग और कु–पृथिवीमें भासित होता है। इससे वसन्तोपलक्षित होलिकामें होनेवाले उत्सवादि भी सूचित होते हैं। 'प्रियः' भी उसीका विशेषण है, क्योंकि सबके प्रेमका आस्पद होनेके कारण वह सबका प्रिय भी है। वह वसन्तरूप ककुभ और प्रिय उडुराज उदित हुआ। क्या करता हुआ उदित हुआ?

'प्रियसङ्गमाभावजनितविषादान् मृजन् शन्तमैः करैश्च स्वोद्दीपनविभावजनितेन अरुणेन प्रियसङ्गमसम्भावनाजनितेनानुरागेण प्राच्या नित्यप्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या इव चर्षणीनां श्रीकृष्णेन सह रन्तुं गमनशीलानामन्यासां व्रजाङ्गनानां विरहाग्निना पीतं मुखं विलिम्पन्'

अर्थात् वह प्रियसंगमाभावके कारण उत्पन्न हुए विषादको अपनी शान्त किरणोंसे (अथवा सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणोंसे) निवृत्त करते तथा अपने उद्दीपनविभावरूप चन्द्रमासे उत्पन्न हुए अरुण यानी प्रियतमके समागमकी सम्भावनासे प्रकट हुए अनुरागद्वारा, प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुसुताके समान, अन्य सब चर्षणीगण—भगवान् श्रीकृष्णके साथ रमण करनेके लिये अभिसरण करनेवाली समस्त गोपाङ्गनाओंके विरहाग्निजनित पीड़ासे पीले पड़े हुए मुखोंका लेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ 'प्राच्या मुखम् अरुणेन विलिम्पन्' इसका अर्थ यह भी हो सकता है—

'प्राच्याः नित्यप्रियायाः व्रजभुवः मुखं मुख्यं भागं श्रीवृन्दारण्यम् अरुणेन किंशुकादिपुष्पविकासेन विलिम्पन्'

अर्थात् नित्यप्रिया व्रजभूमिके मुख मुख्यभाग श्रीवृन्दारण्यको अरुण—किंशुकादि रक्तपुष्पोंके विकासद्वारा रञ्जित करते हुए उदित हुए। उस समय वसन्तके उदयसे यों तो सभी जीव और भूमियोंकी ग्लानि निवृत्त हो गयी थी, किन्तु उसने प्रधानतया वृन्दारण्यको तो किंशुककुसुमादिकी अरुणिमासे और भी अनुरञ्जित कर दिया था।

इस प्रकार जब समस्त जडवर्ग भगवान्‌की लीलामें उपयुक्त होनेके लिये उद्यत हुआ तो विराट् भगवान्‌का मनरूप चन्द्रमा भी उस रमणलीलामें उद्दीपनरूपसे सहायक होकर उदित हुआ, क्योंकि विराट् तो भगवान्‌का परम भक्त है। उस चन्द्रमामें जो उदयकालीन लालिमा है वह उसका भगवद्विषयक अनुराग है, तथा उसमें जो श्यामता है वह मानो ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप है। उस चन्द्रमाकी जो अरुण कान्ति है वह मानो भगवल्लीलाकी सम्भावनासे प्रादुर्भूत हुए मानसिक उल्लासके कारण जो उसकी मन्द मुस्कान है उसीके कारण विकसित हुई दन्तावलीकी अधरकान्तिमिश्रित आभा है। तथा उस चन्द्रमाका जो निखिलव्योमव्यापी अमृतमय शीतल प्रकाश है वह भगवद्दर्शनके अनन्तर विराट्भगवान्‌का उदार हास है। विराट्के ईषत्हासमें उसकी देदीप्यमान दन्तपंक्तिकी आभा ओष्ठोंकी अरुणिमासे अरुण होकर प्रकट होती है; किन्तु उसके उदार हासमें ओष्ठोंके दूर हो जानेसे उस ओष्ठोंकी अरुणिमाका सम्बन्ध बहुत कम रह जाता है, इसलिये उस समय उस दन्तपंक्तिकी दीप्ति बहुत स्फुट होती है। नक्षत्रमण्डल ही विराट् भगवान्‌की दन्तावली है। उस उल्लासके कारण जो हर्षोत्कर्षसे उद्गत रोमावली है वही ये वृक्ष हैं। इस प्रकार भगवल्लीलादर्शनके लिये उल्लसित होकर विराट् भगवान्‌का मनरूप चन्द्रमा प्रकट हुआ। उस चन्द्रमाका विशेषण है—

'ककुभः—के स्वर्गे मण्डलरूपेण कौ पृथिव्यां प्रकाशरूपेण भातीति ककुभः'

अर्थात् जो मण्डलरूपसे आकाशमें और प्रकाशरूपसे पृथिवीमें प्रकाशित होता है ऐसा वह चन्द्रमा ककुभ है।

वह क्या करता हुआ उदित हुआ?

शन्तमैः करैश्चर्षणीनां श्रीकृष्णरसास्वादनाय वृन्दारण्यं प्रति अभिसरणशीलानां व्रजाङ्गनाजनानां शुचः तम-आदिरूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उद्दीपनविधया वा लोक-कुलमर्यादारूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उदगात्'

अर्थात् वह अपनी सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणोंसे, श्रीकृष्णरसास्वादनके लिये वृन्दारण्यकी ओर जानेवाली व्रजांगनाओंके शोक यानी अन्धकारादिरूप प्रतिबन्धोंका अथवा उद्दीपनरूपसे उनके लोक एवं कुलमर्यादारूप प्रतिबन्धोंका निराकरण करता हुआ उदित हुआ। इसके सिवा अपनी नित्यप्रिया श्रीवृषभानुदुलारीके समान अन्य गोपाङ्गनाओंके भी विरहतापसन्तप्त पीले मुखोंको प्रियतमके संगमकी सम्भावनासे होनेवाले अनुरागरूप उदयकालीन अरुणिमासे अनुरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। भगवान्‌की परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधिकाजी तो नित्य ही भगवत्-संश्लिष्टा हैं, अतः उन्हें यह वियोगजनित ताप नहीं है और इसीसे उनके मुखमें पीतता भी नहीं है, प्रत्युत नित्य ही दीप्तिमती अरुणिमा है। किन्तु अन्य व्रजांगनाओंको यह सौभाग्य उपासनाके पश्चात् प्राप्त होता है। अतः उपासनाकी परिपक्वतासे पूर्व, जब कि पूर्वरागका भी प्रादुर्भाव नहीं होता; वे भगवद्विरहसे व्यथित रहती हैं और उनका समस्त अंग पीला पड़ जाता है। इस समय इस चन्द्रमाने उदित होकर प्रियतमके समागमका सन्देश सुनाकर उस पीतिमाको अरुणिमामें परिणत कर दिया।

परम प्रेमास्पद परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे तादात्म्य-प्राप्तिके लिये भला कौन उत्सुक न होगा? परन्तु अधिकांश उपासक तो उपासनाका परिपाक होनेके अनन्तर ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु श्रीराधिकाजीका भगवान्‌के साथ शाश्वतसम्प्रयोग है। जिस प्रकार सुधासमुद्रमें मधुरिमा नित्य-निरन्तर और सर्वत्र है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णमें उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। अतः श्रीकृष्ण और राधिकाजीका नित्यसंयोग है। उनके सिवा और किसीको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। यद्यपि तत्त्वतः तो भगवान् सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन ही हैं। अतः उनमें अन्य वस्तुके संयोगका अवकाश तभी हो सकता है जब वह भगवद्रूप हो। विजातीय वस्तुका उनके साथ कभी योग नहीं हो सकता। और वस्तुतः विजातीय कोई वस्तु है भी नहीं। विचारवानोंने तो जीवको भगवत्-स्वरूप ही कहा है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

जीवमें जो सुखित्व दुःखित्वादि प्रतीत होते हैं वे यदि स्वाभाविक होते तो उसमें भगवत्सम्प्रयोगकी योग्यता ही नहीं हो सकती थी। अतः उसके ये धर्म आरोपित हैं। आरोपकी निवृत्ति होते ही जीवका भी भगवान्‌से तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रीवृषभानुसुता तो भगवान्‌से नित्य संश्लिष्टा हैं किन्तु इतर व्रजबालाओंका उनसे कल्पित भेद है। उस भेदकी निवृत्ति होते ही उनका भी भगवान्‌से अभेद हो जायगा।

मायामोहित जीव प्रायः भगवान्‌की ओर प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे वह बाह्य प्रपञ्चमें आसक्त रहता है। जिस समय किसी महान् पूर्वपुण्यके प्रभावसे उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर होती है उस समय वह बाह्यप्रपञ्चसे विरत हो जाता है और धीरे-धीरे उसे भगवत्तत्त्व ही परप्रेमास्पद प्रतीत होने लगता है। फिर उसे भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। इस प्रकारके विरहानलसे सन्तप्त होकर उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और जिन दोषोंके कारण वह अपने प्रियतमकी उपेक्षाका भाजन बना हुआ था वे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस विरहावस्थामें उसका मुख पीला पड़ जाता है। भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीकी इसी अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बैठे देखि कुशासन जटामुकुट कृशगात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

इस प्रकार प्रियतमके विप्रयोगमें प्रियतमके प्रेमास्पदत्व-की अनुभूति हो जाती है। जबतक प्रेमास्पद प्रेमास्पदरूपसे अनुभूत नहीं होता तभीतक प्रमाद रहता है। उसमें प्रेमास्पदत्वकी अनुभूति होनेपर तो उसके बिना एक पलको भी चैन नहीं पड़ता। फिर तो उसकी वियोगाग्निमें झुलसकर शरीर दुर्बल हो जाता है तथा मुख पीला पड़ जाता है।

इसी प्रकार गोपांगनाओंके मुख भी भगवद्विप्रयोगमें पीले पड़ गये थे। अतः आज जो चन्द्रमा उदित हुए हैं वे एक विलक्षण चन्द्र हैं। आज इनके उदयसे उद्दीपन-विधया जो भगवान्‌के संगमकी सम्भावनासे एक उत्साह विशेष होगा उससे उनकी वह पीतिमा अरुणिमामें परिणत हो जायगी।

भक्तवर पण्डित श्रीदेवराजजी

(लेखक—पं० श्रीरामनारायण दत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)

मुक्तिदायिनी काशीपुरीमें पं० श्रीदेवराजजी बहुत बड़े महात्मा हो गये हैं। विद्वानोंमें बहुत कम लोग ऐसे पाये जाते हैं, जिनमें विद्वत्ताके साथ ही कठोर तपस्या, भक्ति और ज्ञानका सामञ्जस्य दिखायी दे। पण्डितप्रवर देवराजजी इसी श्रेणीके महात्मा थे। ये जैसे उच्चकोटिके विद्वान् थे वैसे ही तपस्वी, भक्त और ज्ञानी भी थे। विक्रम संवत् १९०१ में छपरा जिलेके कुचायकोट थानेके पास मटिहनिया नामक गाँवमें इनका प्रादुर्भाव हुआ था, इनके पिता-का नाम पं० श्रीशिवसहाय पाण्डेय था। इनके पिता रामायणका पाठ किया करते थे। जब वे पाठ आरम्भ करते तभीसे ये शान्त भावसे उनके पास बैठकर बड़े प्रेमसे रामायण सुनते थे। आठ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत हो जानेपर वर्णमालाका परिचय होनेके बाद इन्हें संस्कृतकी शिक्षा दी जाने लगी। लौकिक व्यवहारोंसे ये प्रायः उदासीन ही रहा करते थे। इनकी असामयिक विरक्ति देखकर घरवालोंने इन्हें विवाहके बन्धनमें बाँधकर 'राहपर लानेका' प्रयत्न किया, पर इसका कोई फल न हुआ।

विवाहके बाद वे तुरन्त ही काशी जानेको उद्यत हुए, अध्ययन तो व्याजमात्र था, इनका हृदय भगवत्-कृपा प्राप्त करनेको अधीर हो उठा था। सांसारिक विषयोंकी ओर आकृष्ट करनेवाले कुटुम्बियोंका सहवास इन्हें वृश्चिकदंशनसे भी अधिक पीड़ा देने लगा। गृहजनोंकी उदासीनताके कारण यद्यपि खर्चका प्रबन्ध न था तो भी ये राहखर्चके लिये कुछ अन्न लेकर पैदल ही काशीके लिये चल पड़े। एक सप्ताहके बाद राह तथा राहखर्च दोनों समाप्त हो गये। वरुणाके पार काशीकी सीमामें पहुँचकर इनके हृदयमें अमित उल्लास भर गया। भूख-प्यासकी चिन्ता मिट गयी। देवाधिदेव विश्वनाथ और जगज्जननी अन्नपूर्णाकी अकारण करुणाका स्मरण करते हुए इनके नेत्रोंसे अनवरत अश्रुवर्षा होने लगी। दशाश्वमेधघाटपर पहुँचकर इन्होंने भगवती भागीरथीको प्रणाम किया और आचमन, मार्जन तथा स्नान करके आशुतोष विश्वनाथका स्मरण करते हुए उनके दर्शनार्थ मन्दिरमें गये। वहाँ उनपर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जल चढ़ाकर इन्होंने प्रार्थना की कि 'हे भक्तवत्सल ! हे अकारण-करुणावरुणालय ! महेश्वर ! मैं भीषण भव-बाधाओंसे भयभीत होकर आज सौभाग्यवश आपकी शरणमें आ पड़ा हूँ, मुझे अपनाइये और अपने चारुचरणोंका प्रेमामृत पिलाकर आप मेरे प्राणोंकी चिर-पिपासा शान्त कीजिये।'

भगवान् विश्वनाथका चरणोदक लेकर वे माता अन्नपूर्णाके मन्दिरमें गये और रोते हुए कहने लगे—'दयामयी माँ ! आज तुम्हारा असहाय पुत्र तुमसे दयाकी भिक्षा चाहता है, इसे आश्रय देकर अनुगृहीत करो। देवि ! तुम्हारे द्वारपर महेश्वर भी भिक्षा लेने

आते हैं और कृतार्थ होकर लौटते हैं, मैं तो निराश्रय और अकिञ्चन प्राणी हूँ, मुझे तुम्हारे सिवा और किसीका भरोसा नहीं है, मेरी प्रार्थनापर सबसे प्रथम ध्यान दो जगदीश्वरि!'—इस प्रकार शुद्धभावसे प्रार्थना करनेपर मानो उन्हें महेश्वर तथा अन्नपूर्णाका देव-दुर्लभ आश्रय और आशीर्वाद प्राप्त हुआ। श्रीदेवराजजीका हृदय दिव्य आनन्दसे भर गया।

इसके बाद ये असी मुहल्लेमें गङ्गाजीके तटपर रहने लगे। आश्रय तो मिला पर भोजनका प्रबन्ध न हुआ, फिर भी इन्हें इसकी कोई चिन्ता न थी, इन्हें तो शिव और अन्नपूर्णापर सुदृढ़ विश्वास था। मनमें निश्चय कर लिया कि 'जगन्माता और जगदम्बाके आश्रयमें रहकर मैं किसीसे कुछ माँग नहीं सकता, माता-पिता स्वयं ही मेरी सुध लेंगे।' इनकी इस सुदृढ़ निष्ठाकी परीक्षा भी आरम्भ हो गयी। सात दिनोंतक इनके भोजनका कोई प्रबन्ध न हुआ, पर ये अपने निश्चयपर अटल रहे। सहनशक्ति इनमें इतनी अधिक थी कि सात दिनोंतक निराहार रहनेपर भी ये शिथिल न हुए, इनका प्रत्येक कार्य ठीक समयसे होता रहा। नित्य-नियमसे निवृत्त होकर ये काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी श्रीरामनिरञ्जन स्वामीजीके यहाँ अध्ययन करने जाते और लौटनेपर जब भोजनका समय आता तो नगवाकी ओर जाकर खेतमेंसे मुट्ठीभर चनेका साग चुन लाते थे। उसे ही गङ्गाजलसे धोकर भगवान्‌को अर्पण करके चबा लेते और फिर अध्ययनमें प्रवृत्त हो जाते थे। इसी तरह सात दिन बीतनेके बाद अन्नपूर्णाकी दयासे इनके पास ही प्रतिदिन अन्न पहुँच जानेका प्रबन्ध हो गया। उत्तरकाशीके एक ब्रह्मचारी प्रतिदिन इनसे गीता पढ़ते और स्वयं ही इनके भोजनके लिये अन्न ला दिया करते थे। कुछ दिनोंके बाद सारा प्रबन्ध सुव्यवस्थित हो गया।

पढ़ते समय अन्य छात्रोंकी तरह केवल पुस्तकाध्ययन-तक ही इनका कर्तव्य सीमित न था, ये ऋषिवृत्तिसे रहते हुए साधनाका जीवन व्यतीत करते थे। श्रद्धा और भक्तिको बढ़ानेवाले स्तोत्रोंका पाठ करते, व्रत रखते और इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक मनको वशमें रखनेका यत्न करते रहते थे। अनेकों वर्षोंके बाद व्याकरण शास्त्रके पूर्ण विद्वान् होनेपर इन्होंने यथासाध्य श्रुति, स्मृति तथा पुराणादिका भी स्वाध्याय किया। तदनन्तर जगज्जननीके प्रत्यक्ष दर्शनकी इच्छासे ये विन्ध्य-गिरिपर गये और एक वर्षके लिये एक अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। इस अनुष्ठानमें वे सूर्योदयसे पूर्व अपना नैत्यिक नियम करके थोड़ी मिर्च पीकर बैठते और रातके दस बजेतक दुर्गासप्तशतीका सम्पुट पाठ किया करते थे। केवल मध्याह्न और सन्ध्याकाल-में थोड़ी देर विराम लेते थे। दस बजे रातके बाद आध सेर दूधके सिवा और कुछ भी भोजन नहीं करते थे। एक ही समय केवल दूधके आहारपर रहनेके कारण इनका शरीर केवल अस्थिचर्मावशिष्ट हो गया। वर्ष पूरा होते-होते इनकी उठने-बैठनेकी भी शक्ति जाती रही। जिस दिन अनुष्ठान पूर्ण हुआ उस दिन महालक्ष्मीजीके मन्दिरके समक्ष ये बारह बजे राततक बैठे रहे, इनके अनुनयसे पुजारीने उस दिन दस बजे फाटक बन्द नहीं किया। आँखें मन्दिरकी द्वार-देहलीपर लगी हुई थीं, उत्कण्ठित हृदय प्रतीक्षामें व्याकुल हो रहा था, रह-रहकर अपनी अयोग्यता और त्रुटियोंकी ओर ध्यान जाता और मुखकी कान्ति फीकी पड़ जाती थी। फिर भी माता-का स्नेहपूर्ण हृदय पुत्रकी व्याकुल पुकार सुनकर स्थिर नहीं रह सकता—यह सोचते ही इस नैराश्य-पूर्ण रजनीमें उन्हें आशाकी किरण दिखायी देने लगती थी। 'हाँ' और 'नहीं' के भँवरमें डूबते-उतराते रहे। जब माताके निकलनेमें विलम्ब हुआ,

तो ये कुछ निराश हो चले, साहस छूट गया, अनाथकी भाँति विलख-विलखकर रोने लगे। 'हा ! मैं कितना भाग्यहीन हूँ ?' यह कहते-कहते गला रुँध गया, आँखें बन्द हो गयीं, गर्म-गर्म आँसुओंकी दो धाराएँ निकलकर कपोलोंको धोती हुई वक्षःस्थल भिगोने लगीं।

भक्तके आँसुओंसे माता महालक्ष्मीके धैर्यका बाँध टूट गया, दिव्य आलोकसे मन्दिरका भीतरी और बाहरी भाग आलोकित हो गया, सैकड़ों चन्द्रमाओंकी ज्योतिको मलिन कर देनेवाली सुधा-स्राविणी चन्द्रिका फैल गयी, मन्दमुसुकानकी शान्तिदायिनी किरणें भक्तकी क्लान्ति हरती हुई उसकी सूखी हड्डियोंमें अद्भुत शक्तिका सञ्चार करने लगीं। दिव्य आभूषणोंकी मधुर झनकारसे वह स्थान सहसा मुखरित हो उठा। कोमल और सुखद स्पर्श पाकर श्रीदेवराजजीकी तन्द्रा दूर हुई, उन्होंने आँखें खोलनेपर देखा—'त्रिपुरसुन्दरी दयामयी माता महालक्ष्मी अपने दिव्य अञ्चलसे उनके आँसू पोंछ रही हैं।' 'आह ! यह आशातीत सौभाग्य बिना माँगे मिला ! माँ ! तू कितनी दयालु है!' यह कहते-कहते वे प्रेमावेशमें मूर्छित हो गये। माताके कर-स्पर्शसे उनकी चेतना जाग्रत् हुई, फिर आदेश मिला कि 'अबसे तुम आदिदेव भगवान् नारायणकी उपासना करो।' आज्ञा शिरोधार्यकर इन्होंने माँकी चरणरेणु मस्तकमें लगायी, फिर सहसा समस्त प्रकाश विलीन हो गया, माता तिरोहित हो गयीं।

जगज्जननीका सुरदुर्लभ प्रसाद प्राप्तकर भक्तवर श्रीदेवराजजीके हृदयमें अपार आनन्द छा गया। ये बड़े उत्साहके साथ विश्रामस्थानपर गये। आजके पूर्व प्रतिदिन इनको एक विद्यार्थी* सहारा देकर मन्दिरसे आश्रमपर लाता और आश्रमसे मन्दिरपर पहुँचाता था, परन्तु आज माँकी कृपासे इनके नस-नसमें नवजीवनशक्ति भर गयी थी। मुखमण्डलपर दिव्य आलोक मुस्कुरा रहा था। इनके विन्ध्याचलमें निराहार रहकर तीव्र तपस्या करनेका समाचार घरपर भी पहुँच चुका था। इनके पिता वात्सल्यके कारण इनके जीवनकी आशंका समझकर इन्हें रोकने आये। अनुष्ठानपूर्तिके दूसरे दिन वे विन्ध्याचल पहुँचकर उनसे मिले और उनके शरीरकी क्षीण दशा देखकर रो पड़े। पिताको सान्त्वना देकर वे धीरे-धीरे आहार करने लगे। उसके बाद कुछ दिन काशी रहे, जब शरीर कुछ मांसल हुआ तो जन्मभूमिपर गये।

वहाँ जानेपर भी ग्रामीणोंके ग्राम्य व्यवहारमें उनका मन न लगा। ब्राह्मण-वृत्तिसे रहनेके लिये वे उपयुक्त साधन ढूँढ़ने लगे। उन दिनों भगवती नारायणी (शालग्रामी) वहाँसे दो ही मील दूरपर बहती थीं। नारायणीके हो तटपर इन्होंने एक कुटी बनवायी और उसीमें रहकर शालग्रामकी अर्चा तथा साधन-भजन करने लगे। वहाँ दूर-दूरतक इनकी ख्याति फैल गयी। सैकड़ों विद्यार्थी इनके पास आकर रहने लगे। ये सदा ही यज्ञ, जप तथा दानादिमें प्रवृत्त रहते थे। एकके बाद एक करके लगातार बारह वर्षोंतक इन्होंने चान्द्रायण व्रत किया था। इन्हें सत्यवादिता सिद्ध हो गयी थी, विशेष-विशेष अवसरोंपर इनकी सत्य वाणीका अद्भुत चमत्कार देखा गया था। ये स्वयं जैसे तपस्वी थे, उसी प्रकार तपोमय जीवनका आदर्श अपने छात्रोंके समक्ष भी रखते थे। इनका यह सिद्धान्त था कि

* ये विद्यार्थी साँलोपारके प्रसिद्ध महात्मा विद्वान् स्वर्गीय पं० देवकीनन्दनजी थे।

'ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते । कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥' अर्थात् ब्राह्मणका यह शरीर छोटे कामोंके लिये नहीं बना है अपितु जीवित रहनेपर कठोर तपस्याके लिये और मरणके पश्चात् अनन्तसुख (मोक्ष) प्राप्त करनेके लिये है ।' बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, समयपर सन्ध्या करना, भोज्य पदार्थ भगवान्को अर्पण करके ही प्रसादरूपसे ग्रहण करना—यह इनका तथा इनके विद्यार्थियोंका स्वाभाविक नियम था ।

एक बार नारायणीमें बड़े जोरकी बाढ़ आयी, तटवर्ती वृक्ष नदीमें कट-कटकर गिरने लगे । अब इनकी कुटी भी गिरनेहीवाली थी, विद्यार्थी सशंक थे । एक छात्र (श्रीकृष्णदत्तजी पाण्डेय) ने आकर कहा—'महाराजजी ! आज रातमें कुटी अवश्य गिर जायगी, अब यहाँसे अन्यत्र चलना चाहिये ।' महाराजजीने आमका एक छोटा-सा अमोला दिखाकर कहा—'इसके आगे नारायणीजी नहीं आयेंगी ।' कहना न होगा कि ठीक यही हुआ । इतना ही नहीं, नारायणीजी क्रमशः दूर होते-होते कुछ दिनोंमें वहाँसे दो-तीन मील दूर हट गयीं, आज वह अमोला एक महान् वृक्ष होकर महाराजजीकी कुटीपर अपनी शीतल छाया फैला रहा है ।

इसके बाद महाराजजी अपनी धर्मपत्नीसहित आकर काशी रहने लगे । यहाँ इन्होंने कभी किसीकी नौकरी नहीं की, कभी दक्षिणा नहीं ली और न किसीके घर जाकर पुराण-कथा ही सुनायी । अनेकों सेठ और राजाओंकी प्रार्थना ठुकराकर ये अपने ही आश्रमपर रहते थे, विद्यार्थी पढ़ाते और ठाकुरजीको पुराण सुनाते थे । वहीं आकर श्रद्धालुजन जो कुछ अर्पण करते उसीसे विद्यार्थियोंसहित अपना खर्च चलाते थे ।

मृत्युके कुछ वर्ष पहलेसे ही ये चान्द्रायण व्रत करते थे और व्रतकी ही दशामें संवत् १९६१ माघ शुक्ल सप्तमीको गङ्गातटपर इनका देहावसान हुआ था । काशीके सुप्रसिद्ध महात्मा मगनीराम ब्रह्मचारीको ही ये अपना साधना-गुरु मानते थे । मृत्युकालके कुछ पहले वे इन्हें देखने आये, इन्होंने उनसे आतुर-संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की, ब्रह्मचारीजीने कहा—'तुम तो अन्तःकरणके संन्यासी हो, तुम्हारे लिये इस समय व्यावहारिक संन्यास आवश्यक नहीं है ।'

अभिलाषा

तुम बनो मनहरण जलद श्याम,
मैं बनूँ मोर तव प्रणय-इच्छु,
नाचूँ तुमको लख थिरक-थिरक ।
प्रिय, बनो प्राणधन स्वाति-बूँद,
मैं बनूँ तृषित चातक अनाथ,
जोहूँ तुमको तन पुलक-पुलक ।
तुम बनो देव ! दीपक महान,
मैं बनूँ पतंगा क्षुद्र जीव
वारूँ तुमपर तन उझक-उझक ।
तुम बनो नाथ ! शशि-प्रभा-पुञ्ज,
मैं बनूँ तुम्हारा प्रिय चकोर,
देखूँ तुमको गोलक अपलक ।

—मुकुटबिहारीलाल श्रीवास्तव 'मुकुट'

चेतावनी

है कहाँ भटकता हाय हन्त !

यह तृष्णाओंका गहन जाल, लहराता भवसागर कराल।
मरु-भू का है यह पथ विशाल, यह हृदय-हीन यह दुखद अन्त ॥
है कहाँ भटकता हाय हन्त !

मायाका है यह सब बनाव, है कपटपूर्ण यह हाव-भाव।
आगे बढ़ मत रख यह पड़ाव, ओ श्रान्त पथिक ! ओ मार्गभ्रान्त !!
है कहाँ भटकता हाय हन्त !

हाँ बहुत निकट है दिव्यधाम, वह भव्य-भवन—वह चिर ललाम।
वह परमज्योति—वह नवल श्याम, वह शान्ति स्थान—वह सुखद प्रान्त॥
है कहाँ भटकता हाय हन्त !

सुन-सुन यह मंगलमय पुकार, 'ओ पथिक ! लौट—चल इधर द्वार।
दे-दे कर्मोंका मुझे भार,' यह अभय दान—यह अमृत क्लान्त !
है कहाँ भटकता हाय हन्त !

है झाँक रहा क्यों श्वपच-द्वार ? हैं बुला रहे वे अति उदार।
कंकालमात्र यह शून्य सार, वे प्रेमसिन्धु—वे निधि अनन्त ॥
है कहाँ भटकता हाय हन्त !

'सुदर्शन'

बनकी लकरिया

'देवलस्य'

मधुबन डोलै, बनकी लकरिया ॥ मधु०—
पातहु डोलै, पौनहु डोलै, काठ भई मन मार ॥
बनकी लकरिया, मधुबन डोलै ॥
कैसे काटूँ मूल बिटपकी, काहेकी बनै कुल्हार ?
लै कै लकरी बेंटु बनायो, काट्यो जंगल झार ॥
जनमाके साथी बैरु निभावत, मैं बौरी बलिहार ॥
चिकुरी बनि फिरि मग-मग डोलति, रटति पियार-पियार॥
'देवल प्यारे' चिता सजावहु, मिलैं एक बनि छार ॥

सज्जन

[लेखक—श्रीमधुसूदनदासजी चतुर्वेदी एम० ए०]

करतैं कढ़ि कीरतिकी लहरी,
बढ़ि सागर-विश्व हिलोरै लगी।
परमारथमें पग पैरे रहे,
गति यों दुःख-पाहन तोरै लगी ॥
हिय पै हक हारे-भयेको भयौ,
करुणा उनके कर जोरै लगी।
रसना रस—सानी रिसानी नहीं,
मृदु—बानी पियूष निचोरै लगी ॥

भगवद्-भक्तोंकी महिमा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्के भक्तोंकी महिमा अनन्त और अपार है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें जगह-जगह उनको महिमा गायी गयी है, किन्तु उसका किसीने पार नहीं पाया। वास्तवमें भक्तोंकी तथा उनके गुण, प्रभाव और संगकी महिमा कोई वाणीके द्वारा गा ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है अथवा वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे भी उनकी महिमा अत्यन्त बढ़कर है। रामचरितमानसमें स्वयं श्रीभगवान्ने भाई भरतसे संतोंके लक्षण बताते हुए उनकी इस प्रकार महिमा कही है—

> बिषय अलंपट शील गुनाकर।
> परदुख दुख सुख सुख देखे पर॥
> सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
> लोभामर्ष-हर्ष-भय त्यागी॥
> कोमलचित दीननपर दाया।
> मन बच क्रम मम भक्त अमाया॥
> सबहिं मानप्रद आपु अमानी।
> भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
> बिगत काम मम नाम-परायन।
> शान्ति बिरति बिनीत मुदितायन॥
> शीतलता सरलता मयत्री।
> द्विज पद प्रेम धर्म जनयत्री॥
> सम दम नेम नीति नहिं डोलहिं।
> परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
> निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
> ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमंदिर सुखपुंज॥

भगवान्के भक्त क्षमा, शान्ति, सरलता, समता, संतोष, पवित्रता, चतुरता, निर्भयता, शम, दम, तितिक्षा, धृति, त्याग, तेज, ज्ञान, वैराग्य, विनय, प्रेम और दया आदि गुणोंके सागर होते हैं।

भगवान्के भक्तोंका हृदय भगवान्की भाँति वज्रसे भी बढ़कर कठोर और पुष्पोंसे बढ़कर कोमल होता है। अपने ऊपर कोई विपत्ति आती है तो वे भारी-से-भारी विपत्तिको भी प्रसन्नतासे सह लेते हैं। भक्त प्रह्लादपर नाना प्रकारके प्रहार किये गये, पर वे किञ्चित् भी नहीं घबराये और प्रसन्नतासे सब सहते रहे। ऐसी स्थितिमें भक्तोंका हृदय वज्रसे भी कठोर बन जाता है, किन्तु दूसरोंका दुःख उनसे नहीं सहा जाता, उस समय उनका हृदय पुष्पसे भी बढ़कर कोमल हो जाता है। उन महापुरुषोंके साथ कोई कैसा ही क्रूर व्यवहार क्यों न करे, वे तो बदलेमें उसका हित ही करते रहते हैं। सर्वत्र भगवद्-बुद्धि होनेके कारण किसीके साथ उनका वैर या द्वेष तो हो ही नहीं सकता, और न किसीपर उनकी घृणा ही होती है। दयाके तो वे समुद्र ही होते हैं। दूसरोंके हितके लिये वे अपने आपको महर्षि दधीचि और राजा शिबिकी भाँति बलिदान कर सकते हैं। दूसरोंकी प्रसन्नतासे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है, सब जीवोंके परम हितमें उनकी स्वाभाविक ही प्रीति होती है। दूसरोंके हितके मुकाबले वे मुक्तिको भी कोई चीज नहीं समझते।

इसपर एक दृष्टान्त है—एक धनी दयालु दानी पुरुष नित्य हजारों अनाथ, गरीब और भिक्षुकोंको भोजन देता था। एक दिन उसका सेवक, जो कि बड़ा कोमल और दयालु स्वभावका था, मालिकके साथ लोगोंको भोजन परोसनेका काम करने लगा। समय बहुत अधिक होनेके कारण मालिकने सेवकसे कहा कि 'जाओ तुम भी भोजन कर लो' यह सुनकर सेवकने कहा 'स्वामिन्! मैं इन सबको

भोजन करानेके बाद भोजन कर लूँगा, आपको बहुत समय हो गया है इसलिये आप विश्राम कर सकते हैं। मुझे जितना आनन्द इन दुखी अनाथोंको भोजन करानेमें आता है उतना आनन्द अपने भोजन करनेमें नहीं आता।' किन्तु मालिक कब जानेवाला था, दोनों मिलकर ही सब दुखी अनाथोंको भोजन कराने लगे। थोड़ी देरके बाद उस धनिकने फिर अपने उस सेवकसे कहा कि 'समय बहुत अधिक हो गया है। तुमको भी तो भोजन करना है, जाओ भोजन कर लो।' यह सुनकर सेवकने कहा 'प्रभो! मैं बड़ा अकर्मण्य, स्वार्थी हूँ, इसीलिये आप मुझे इस कार्यको छोड़कर बार-बार भोजन करनेके लिये कह रहे हैं। यदि मैं अपने भोजन करनेकी अपेक्षा इनको भोजन कराना अधिक महत्त्वकी बात समझता तो क्या आप मुझे ऐसा कह सकते? परन्तु अच्छे स्वामी अकर्मण्य सेवकको भी निबाहते ही हैं! मैं आपकी-आज्ञाकी अवहेलना करता हूँ, आप मेरी इस धृष्टताकी ओर ध्यान न देकर मुझे क्षमा करें। प्रभो! इन अनाथ भूखोंके रहते मैं भोजन कैसे करूँ?' यह सुनकर मालिक बहुत प्रसन्न हुआ और सबको भोजन कराके अपने उस सेवकके साथ घर चला गया। वहाँ जाकर उसने सेवकसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, जो कहो, करनेको तैयार हूँ, बोलो, तुम क्या चाहते हो? तुम जो माँगोगे मैं तुम्हें वही दूँगा।' सेवकने कहा—'प्रभो! दीन-दुखियोंको भोजन करानेका जो काम आप नित्य स्वयं करते हैं—मुझे तो वही काम सबसे बढ़कर जान पड़ता है, अतएव वही मुझे दे दीजिये; काम चाहे अपने साथ रखकर करावें या मुझे अकेला रखकर।'

यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तमें ईश्वरको स्वामी, भक्तको सेवक, जिज्ञासुओंको भूखे-अनाथ-दुखी, और उनको संसारसे मुक्त करना ही भोजन कराना, एवं परमधामको जाना ही घर जाना समझना चाहिये।

भगवान्‌के जो सच्चे प्रेमी भक्त होते हैं, वे अपनी मुक्तिकी परवा न करके सबके कल्याणके लिये प्रसन्नताके साथ तत्पर हो जाते हैं; और भगवान्‌से वर भी माँगते हैं तो यही कि—'सारे जीवोंका कल्याण हो जाय।' ऐसे ही भक्तोंके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा॥

अर्थात् हे स्वामिन्! मेरे मनमें तो ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। राम समुद्र हैं और सन्त मेघ हैं, राम चन्दन वृक्ष हैं और सन्त पवन हैं। मेघ समुद्रका जल लेकर सब जगह बरसाते हैं और सारे जगत्‌को तृप्त कर देते हैं, वैसे ही सन्त-महात्मा भी भगवान्‌के गुण, प्रेम और प्रभावकी बातें जिज्ञासुओंको सुनाकर उन्हें तृप्त करते हैं। एवं जैसे वायु चन्दनकी गन्धको लेकर नीम और साल आदि अन्य वृक्षोंको भी चन्दन बना देता है वैसे ही महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके भावको लेकर जिज्ञासुओंको विज्ञानानन्दमय बना देते हैं।

स्वयं भगवान्‌ने भी अपने भक्तोंके महत्त्वका वर्णन करते हुए उनको अपनेसे बड़ा बताया है। राजा अम्बरीष भगवान्‌के बड़े प्रेमी भक्त थे। वे एकादशीका व्रत किया करते थे। एक समय द्वादशी-के दिन दुर्वासाऋषि राजा अम्बरीषके घर पहुँचे और राजाके प्रार्थना करनेपर भोजन करना स्वीकार करके वे स्नानादि नित्यकर्म करनेके लिये यमुनातट-पर चले गये। उस समय द्वादशी केवल एक घड़ी

शेष रह गयी थी। तदनन्तर त्रयोदशी आती थी। व्रतका पारण द्वादशीमें ही करना अभीष्ट था। दुर्वासाजी स्नान करके समयपर नहीं लौटे, तब राजाने सोचा कि 'पारण न करनेसे तो व्रत भंग होता है और अतिथि ब्राह्मणको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन कर लेनेसे पापका भागी होना पड़ता है।' इसलिये राजाने विद्वान् ब्राह्मणोंसे परामर्श किया और उनकी आज्ञासे केवल जल लेकर पारण कर लिया। इतनेहीमें दुर्वासाजी भी स्नान करके लौट आये। इस बातका पता लगनेपर उन्हें बहुत क्रोध हुआ। राजाने बहुत प्रकारसे क्षमा-प्रार्थना की, किन्तु ऋषिने एक भी न सुनी। क्रोधमें भरकर राजाका नाश करनेके लिये उन्होंने तुरन्त ही अपनी जटासे केश उखाड़कर एक कृत्या उत्पन्न की। राजा उस समय भी हाथ जोड़े उनके सामने ही खड़े रहे। न तो कृत्याको देखकर भयभीत हुए और न उसका कोई प्रतीकार ही किया। किन्तु भगवान्के सुदर्शनचक्रसे यह नहीं सहा गया। वह कृत्याका नाश करके दुर्वासाकी ओर दौड़े। चक्रको देखते ही ऋषि घबड़ा गये और उससे छुटकारा पानेके लिये ब्रह्मा, शिव आदिकी शरणमें गये। किन्तु भगवान्के भक्तका अपराधी समझकर उन्हें किसीने भी सहायता नहीं दी। अन्तमें वे भगवान् विष्णुकी शरणमें गये तो उन्होंने भी साफ जवाब दे दिया। श्रीमद्भागवतमें वहाँका वर्णन इस प्रकार है। भगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(९।४।६३)

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(९।४।६५)

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥

(९।४।७१)

'हे ब्रह्मन्! मैं भक्तजनोंका प्रिय और उनके अधीन हूँ। मेरे साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, अतः मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब और उत्तम धन तथा अपने प्राणोंतकको न्योछावर करके मेरी शरण हो गये हैं, उन प्रिय भक्तोंका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ। इसलिये हे द्विज! तुम्हारा कल्याण हो, तुम महाभाग राजा अम्बरीषके पास जाकर उनसे क्षमा-याचना करो, इसीसे तुम्हें शान्ति मिलेगी, इसके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

ऋषि लौटकर अम्बरीषकी शरणमें आये, तबतक राजा बिना भोजनके उसी तरह खड़े ऋषिके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दण्डवत्-प्रणाम करके ऋषिके क्षमा-प्रार्थना करनेपर राजाको बहुत ही संकोच हुआ। राजाने स्तुति-प्रार्थना करके सुदर्शनचक्रको शान्त किया। ऋषिको बहुत प्रकारसे सान्त्वना देकर भली प्रकारसे भोजन कराया और उनकी सेवा की। बादमें स्वयं भोजन किया। धन्य है! भगवान्के भक्त ऐसे ही होने चाहिये।

भगवान्से भी भगवान्के भक्तोंको बढ़कर बतलानेमें भगवान्की निन्दा नहीं है। भक्तोंको उनसे बड़ा बतलानेमें भी बड़ाई भगवान्की ही होती है—क्योंकि भक्तोंका बड़प्पन भगवान्से ही है।

भगवान्की भक्तिका प्रचार अवश्यम्भावी नहीं होता। वह भगवान्के भक्तोंपर निर्भर है। अपनी भक्ति और महिमाके प्रचार करनेमें स्वाभाविक ही सबको संकोच होता है। इसलिये भगवान् भी अपनी भक्तिका प्रचार स्वयं न करके अपने भक्तोंके द्वारा

ही कराते हैं। अतएव भगवान्‌की भक्ति और महिमाका प्रचार भगवान्‌के भक्तोंपर ही निर्भर करता है। इसलिये भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से बढ़कर हैं।

सारा संसार भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है। (गीता १० । ४२) और भगवान् भक्तके हृदयमें स्थित हैं—इस युक्तिसे भी भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से बड़े हैं।

पवित्रतामें तो भगवान्‌के भक्त तीर्थोंसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि सारे तीर्थोंकी उत्पत्ति उन्हींके निमित्तसे या प्रतापसे हुई है। यदि कहो, बहुतसे तीर्थोंका निर्माण भगवान्‌के अवतार या लीलासे हुआ है, सो ठीक है। पर भगवान्‌का अवतार भी तो प्रायः भक्तोंके लिये ही होता है। अतएव उसमें भी भगवान्‌के भक्त ही निमित्त होते हैं। तीर्थ सारे संसारको पवित्र करनेवाले हैं, परन्तु भगवान्‌के भक्त तो तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

'ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत् शास्त्र कर देते हैं।'

महाराज भगीरथके घोर तपसे प्रसन्न होकर वर देनेके लिये आविर्भूत हुई भगवती श्रीगंगाजीने उनसे कहा—'भगीरथ! मैं पृथ्वीपर कैसे आऊँ? संसारके सारे पापी तो आ-आकर मुझमें अपने पापोंको धो डालेंगे, परन्तु उन पापियोंके अपार पापपङ्कको मैं कहाँ धोने जाऊँगी' इसपर आपने क्या विचार किया है? इसके उत्तरमें भगीरथने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(भा० ९ । ९ । ६)

'हे मातः! समस्त विश्वको पवित्र करनेवाले, विषयोंके त्यागी, शान्तस्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु-महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाहमें स्नान करेंगे तब उनके अंगके संगसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले श्रीहरि निवास करते हैं।'

गंगा, यमुना आदि तीर्थ तो स्नान-पान आदिसे पवित्र करते हैं, किन्तु भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन और स्मरण करनेसे भी मनुष्य तुरन्त पवित्र हो जाता है; फिर भाषण और स्पर्शकी तो बात ही क्या है? तीर्थोंमें तो लोगोंको जाना पड़ता है और जाकर स्नानादि करके वे पवित्र होते हैं, किन्तु महात्माजन तो श्रद्धाभक्ति होनेसे स्वयं घरपर आकर पवित्र कर देते हैं।

महात्माओंकी पवित्रताके विषयमें जितना कहा जाय थोड़ा ही है। स्वयं भगवान्‌ने उनकी महिमा अपने मुखसे गायी है।

श्रद्धापूर्वक किया हुआ महापुरुषोंका संग भजन और ध्यानसे भी बढ़कर है। इसीलिये सनकादि महर्षिगण ध्यानको छोड़कर भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते थे। राजा परीक्षित तो केवल भगवान्‌के गुणानुवाद सुननेसे मुक्त हो गये; क्योंकि सत्संगद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और प्रेमकी बातोंको सुननेसे ही भगवान्‌में श्रद्धा एवं प्रेम होता है।

बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेसे ही भजन-ध्यान होता है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किये हुए भजन-ध्यानसे ही भगवान् मिलते हैं। अतएव भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये महापुरुषोंका संग करके भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और

रहस्यकी अमृतमयी बातें सुनने और समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

महापुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर बतलाया गया है ।

> तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग ।
> तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥

शास्त्र कहते हैं—मुक्ति तो महापुरुषोंकी चरणरजमें विराजमान रहती है अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंकी चरणरजको मस्तकपर धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है । भागवतमें भगवान्‌से उद्धवजी कहते हैं—

> **आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां**
> **वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥**
> (भा० १० । ४७ । ६१)

'अहो ! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई होऊँ, जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है ।'

भागवतमें अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि—

> **निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।**
> **अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥**
> (भा० ११ । १४ । १६)

'सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, मननशील, किसीसे भी वैर न रखनेवाले, समदर्शी एवं शान्त भक्तके पीछे-पीछे मैं सदा इस उद्देश्यसे फिरा करता हूँ कि इसके चरणोंकी धूलि पड़नेसे मैं पवित्र हो जाऊँगा ।'

जो मनुष्य महापुरुषोंके तत्त्वको समझकर उनका संग करता है वह तो स्वयं दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन जाता है । मुक्ति तो बिना इच्छा ही जबरदस्ती उसको प्राप्त होती है, किन्तु वह मुक्तिका तिरस्कार करके भगवान्‌के गुण और प्रभावकी बातोंको सुन-सुनकर प्रेममें मुग्ध होता है और प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌को आह्लादित करता है । इस प्रकार भगवान्‌को आह्लादित करनेको वह मुक्तिसे भी बढ़कर समझता है ।

संसारमें तीन प्रकारके श्रेष्ठ पुरुष होते हैं—उनमें एक तो ऐसे हैं कि जो न्याययुक्त परिश्रमसे धन कमाकर अपना पेट भरते हैं, दूसरे ऐसे हैं जो माँगकर क्षेत्रोंसे या सदावर्तद्वारा शरीरका निर्वाह करते हैं और तीसरे ऐसे हैं जो नित्य सदावर्त बाँटते हैं और सबको खिलाकर खाते हैं । पेट तीनोंका ही भरता है । तुष्टि, पुष्टि भी तीनोंकी ही समानरूपसे होती है । वर्णाश्रमानुसार न्याययुक्त जीविका करनेसे तीनों ही श्रेष्ठ होनेपर भी विशेष प्रशंसाके पात्र वे ही हैं जो नित्य सबको भोजन कराके यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करते हैं । इसी प्रकार मुक्तिके विषयमें भी समझना चाहिये ।

जो भजन, ध्यान आदि साधन करके मुक्ति पाते हैं वे परिश्रम करके पेट भरनेवालोंके समान हैं । जो काशी आदि क्षेत्रोंकी एवं महात्मा पुरुषोंकी शरण लेकर मुक्ति प्राप्त करते हैं वे माँगकर शरीरनिर्वाह करनेवालोंके समान हैं और जो भगवान्‌के देनेपर भी मुक्तिको ग्रहण न करके सबके कल्याण होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावयुक्त भगवान्‌के सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करते हैं, वे सबको खिलाकर भोजन करनेवालोंके समान हैं । यद्यपि सभीका कल्याण होता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिमें सभी समान हैं, पर इन तीनोंमें यदि किन्हींको ऊँचा दर्जा दिया जाय तो वे ही सबसे श्रेष्ठ रहते हैं जो मुक्तिको भी न चाहकर सबका कल्याण करनेपर ही तुले हुए हैं । ऐसा अधिकार भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंकी कृपासे ही मिलता है; अतएव ऐसे पुरुषोंका संग

मुक्तिसे भी बढ़कर है, ऐसे पुरुषोंकी स्वयं भगवान्ने भी गीता अ० १८ श्लो० ६८-६९ में श्रीमुखसे प्रशंसा की है ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा । और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है, न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वीमें दूसरा कोई होगा ।'

ऐसे भक्तोंको जब भगवान् स्वयं मुक्ति देना चाहते हैं तब वे कहा करते हैं कि—'भगवन् ! मैं तो यही चाहता हूँ कि केवल आपके गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावकी बातोंमें ही रात-दिन बिताऊँ, मुझे इससे बढ़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहें तो मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि सारे जीवोंका कल्याण कर दीजिये ।' क्या ही उत्तम भाव हैं ? यह याचना होते हुए भी निष्कामभाव है ।

ऐसे महात्माओंके अमोघ सङ्ग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है । इसलिये महापुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषोंका संग बड़े रहस्य और महत्त्वका विषय है । श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्संग करनेवाले ही इसका कुछ महत्त्व जानते हैं । पूरा-पूरा रहस्य तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं, जो कि भक्तोंके प्रेमके अधीन हुए उनके पीछे-पीछे फिरते हैं ।

कल्याण

इस खेलको नित्य और स्थिर समझकर फँसो नहीं । खेलते रहो, खूब खेलो, परन्तु चित्तको सदा स्थिर रक्खो अपने नित्य, सत्य, सनातन और कभी न बिछुड़नेवाले प्यारे प्रभुके चरणोंमें । इस खेलके साथी पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, मित्र-बन्धु आदि सब खेलके लिये ही मिले हैं । इनका सम्बन्ध खेलभरका ही है । जब यह खेल खतम हो जायगा और दूसरा खेल शुरू होगा, तब दूसरे साथी मिलेंगे । यही सदासे होता आया है । इसलिये खेलके आज मिले हुए साथियोंको ही नित्यके संगी मानकर इनमें आसक्त न होओ; नहीं तो खेल छोड़कर नये खेलमें जाते समय तुमको और इन तुम्हारे साथियोंको बड़ा क्लेश होगा । जहाँ और जब, वह खेलका स्वामी भेजेगा, तब वहाँ जाना तो पड़ेगा ही; इस खेलमें और इस खेलके साथियोंमें मन फँसा रहेगा तो रोते हुए जाओगे !

तुम्हारा यह भ्रम ही है जो इस वर्तमान घर-द्वार, पुत्र-कन्या, भाई-बहिन, माता-पिता, पति-पत्नीको अपने मानते हो । इस जन्मके पहले जन्ममें भी तुम कहीं थे । वहाँ भी तुम्हारे घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी सब थे; कभी पशु, कभी पक्षी, कभी देवता, कभी राक्षस और कभी मनुष्य न मालूम कितने रूपोंमें तुम संसारमें खेले हो; परन्तु वे पुराने—पहले जन्मों-के घर-द्वार, साथी-संगी, स्वजन-आत्मीय अब कहाँ हैं; उन्हें जानते भी हो ? कभी उनके लिये चिन्ता भी करते हो ? तुम जिनके बहुत अपने थे, बड़े

प्यारे थे, उनको धोखा देकर खेलके बीचमें ही उन्हें छोड़ आये, वे रोते ही रह गये और अब तुम उन्हें भूल ही गये हो ! उस समय तुम भी आजकी तरह ही उन्हें प्यार करते थे, उन्हें छोड़नेमें तुम्हें भी कष्ट हुआ था, परन्तु जैसे आज तुम उन्हें भूल गये हो, वैसे ही वे भी नये खेलमें लगकर, नये घर-द्वार, संगी-साथी पाकर तुम्हें भूल गये होंगे। यही होता है। फिर तुम इस भ्रममें क्यों पड़े हो कि इस संसारके घर-द्वार, इसके सगे-सम्बन्धी, यह शरीर सब मेरे हैं ?

बच्चे खेलते हैं, मिट्टीके घर बनाते हैं, तेरा-मेरा करते हैं, जबतक खेलते हैं, तबतक तेरे-मेरेके लिये लड़ते-झगड़ते भी हैं, परन्तु जब खेल समाप्त होनेका समय होता है, तब अपने ही हाथों उन धूल-मिट्टीके घरोंको ढहाकर हँसते हुए चले जाते हैं। तुम सयाने लोग धूल-मिट्टीके—काँच-पत्थरके घरोंपर बच्चोंको लड़ते देखकर उन्हें मूर्ख समझते हो और उनकी मूर्खतापर हँसते हो—परन्तु तुम भी वही करते हो, वे भी मिट्टी-धूलके, काँच-पत्थरोंके लिये लड़ते हैं और तुम भी उन्हींके लिये लड़ते-झगड़ते हो। उनके घर छोटे और थोड़ी देरके खेलके लिये होते हैं, तुम्हारे घर उनसे कुछ बड़े और उनकी अपेक्षा अधिक कालके लिये होते हैं। तुम्हें उनकी मूर्खतापर न हँसकर अपनी मूर्खतापर ही हँसना चाहिये। उनसे तुम्हारे अन्दर एक मूर्खता अधिक है वह यह कि वे तो खेलते समय ही तेरे-मेरेका आरोप करके लड़ते हैं, खेल खतम करनेके समय सबको ढहाकर हँसते हुए घर चले जाते हैं। परन्तु तुम तो खेल खतम होनेपर भी रोते हुए ही जाते हो; वहाँसे हटना चाहते ही नहीं, इसीलिये रोते जाना पड़ता है, और इसीलिये अपने वास्तविक घर (परमात्मामें) तुम नहीं पहुँच सकते। यदि तुम भी इन बच्चोंकी तरह खेलके समय तेरे-मेरेका आरोप करके—(वस्तुतः अपना मानकर नहीं) मजेमें खेलो और खेल समाप्त होनेपर उसे खेल ही समझकर अपने मनसे सबको ढहाकर प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए वास्तविक घरकी ओर चल दो तो सीधे घर पहुँच जाओ। और फिर वहाँसे लौटनेका अवसर ही न आवे। घरपर ही खूब मजेमें—बड़े आनन्दसे रहो। परन्तु खेद तो यही है कि तुमने इस खेल-घरको असली घर मान लिया है और इसमें इतने फँस गये हो कि असली घरको भूल ही गये ! मान लेनेमात्रसे यह घर और इसके रहनेवाले तुम्हारे ही-जैसे खेलनेको आये हुए लोग, जिनसे तुमने नाना प्रकारके नाते जोड़ लिये हैं, तुम्हारे होते भी नहीं; इन्हें अपना समझकर इनसे चिपटे रहना चाहते हो, परन्तु बार-बार जबरदस्ती अलग किये जानेसे तुम्हें रोना-चिल्लाना पड़ता है। तुम्हारा स्वभाव ही हो गया है, हरेक खेलके संगी-साथियोंसे इसी प्रकार चिपटे रहना, दो घड़ीके लिये जहाँ भी जाते हो, वहीं ममता फैलाकर बैठ जाते हो। इसीसे हरेक खेलमें तुम्हें रोना ही पड़ता है। न मालूम कितने लंबे समयसे तुम इसी प्रकार रो रहे हो, और न समझोगे तो न जाने कबतक रोते रहोगे। अच्छा हो, यदि समझ जाओ और इस रोने-चिल्लानेसे—इस सदाकी साँसतसे तुम्हारा पीछा छूट जाय।

'शिव'

प्रभुकी दया

(लेखक—पू० श्रीश्रीस्वामी भोलानाथजी महाराज)

अज़ बन्दा परवरी ओ नवाज़िश बईद नेस्त।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द ॥

'यह बात दीनवत्सलता और कृपासे दूर नहीं है कि अगर बादशाह लोग ग़रीबोंकी तरफ़ नजर भरकर देख लें।'

नेक लोग तो संसारमें अपनी नेकीका फल लेते हैं, उनको तेरी दयाकी आवश्यकता नहीं। अमीर अपनी अमीरीमें प्रसन्न हैं, विद्वान् अपनी विद्याके अभिमानमें तेरी ओर कम देखते हैं, बलवानोंको अपने बलपर नाज़ (गर्व) है। उनमेंसे हर एक अपने-अपने ख़यालमें मस्त है। तेरी दया उनके पास जाकर लौट आती है। उसका दिल चाहता है कि उनपर कृपा करे, उनके दिलके प्यालोंको असली अमृतसे भर दे लेकिन वे कुछ अपनी धुनमें इस तरह मस्त हैं कि वे उसकी (तेरी दयाकी) ओर देखतेतक नहीं और अगर देखते भी हैं तो उसको एक बेकार चीज़ समझते हैं। तेरी दया वापस लौट आती है। उनके सामने कुछ और लोग चिथड़े पहिने हाथोंमें ख़ाली बर्तन लिये किसी चीज़की प्रतीक्षा कर रहे हैं, लेकिन तेरी दया अभीतक वहाँ नहीं पहुँची !

यह सन्देह करना कि तेरी दया पहिलेवाले लोगोंके लिये थी, एक नास्तिकता मालूम होती है। फिर वह इन लोगोंतक क्यों नहीं पहुँची ? इसका क्या कारण है ? शायद इसलिये कि तू इन लोगोंको इन्तज़ारके पश्चात् अपनी दयाका ज़्यादा सुख देना चाहता है और उन पहिले लोगोंकी ज़ुबान बन्द करना चाहता है ताकि उनको शिकायतका कभी मौक़ा न मिले कि तूने अपनी दयाकी दृष्टि उनपर कभी नहीं की—

बज़्मे याराँसे फिरी बादे बहारी मायूस।
एक सर भी उसे आमादए सौदा न मिला ॥

'मित्रोंकी सभासे बहार (वसन्त) की हवा निराश वापस आयी, क्योंकि उसको उन लोगोंमें एक मनुष्य भी सच्चे प्रेममें रँगा हुआ न मिला।'

तेरी दया उन लोगोंके घरोंतक गयी, उनके दरवाज़ोंको खटखटाया, उन्हें मीठी नींदसे जगानेकी कोशिश की। वे जागे, दरवाज़ेपर आये और ऊँघते हुए पूछा, 'कौन है ? यह बेवक़्त दरवाज़ेपर खटखटाना कैसा ? हम नींदमें थे, आराममें थे, तुमने आकर जगाया, आख़िर तुम कौन हो ?'

तेरी दया बोली—'मैं हूँ तुमसे निःस्वार्थ प्रेम करनेवाली, तुमको घोर मोह-निद्रासे जगानेवाली और अन्धकारसे निकालकर प्रकाशमें ले जानेवाली ईश्वरकी दया।' यह सुनकर उन्होंने दरवाज़ा बन्द कर लिया, बेक़दरी और लापरवाहीसे कहा—'हमें तुम्हारी क्या ज़रूरत है ? हम अपनी अवस्थामें प्रसन्न हैं, हमें सोने दो।' वे अन्दर गये और लेट गये ! तेरी दया निराश होकर वापस लौटी और तेरे पास जाकर उसने कहा, 'मैं तेरी वह चीज़ हूँ जिसकी ज़रूरत किसीको नहीं। नेक तुझसे नेकियाँ माँगते हैं, अमीर तुझसे और धन माँगते हैं, विद्वान् विद्याके अभिमानमें हैं, योगी योगमें मग्न हैं, कर्मयोगी कर्मके उत्तम मार्गोंकी सैर कर रहे हैं। कहीं सकाम और कहीं निष्काम भावोंसे भक्तोंको अपनी भक्तिका दावा है, वैज्ञानिक विज्ञानके भरोसे चल रहे हैं, फ़िलासफ़र अपनी फ़िलासफ़ीमें मस्त हैं। फिर बता, मेरी ज़रूरत किसको है ? क्या मैं तेरे पास एक निकम्मी चीज़

नहीं हूँ ? वाक़ई मैं बेकार हूँ। अच्छा, मैं तेरी हूँ, तेरे ही पास रहूँगी।'

लेकिन तू बोला—'नहीं, यह बात नहीं, मैंने तुझका बेकार पैदा नहीं किया, तेरी ज़रूरत भी किसीको है।' दया कुछ सन्तुष्ट होकर प्रभुके पास बैठी ही थी कि इतनेमें बाहरसे दुःखभरी आवाज़ आयी। उस करुणध्वनिको सुनकर प्रभु उठे और उसकी ओर बढ़े। दयाने कहा, 'प्रभो ! मुझे यहाँ क्यों छोड़े जाते हो ? मैं भी देखना चाहती हूँ कि यह आवाज़ कैसी है, मैं आपके साथ ही चलूँगी।' प्रभुने कहा—'अच्छा आओ।' लेकिन दया कुछ सोचकर फिर पीछे हटी, गोया, प्रभु और दयामें वियोग हो गया। दया इस खयालसे वापस लौट आयी कि शायद इन चीखनेवाले लोगोंमें मेरी क़दर नहीं और शायद कोई मेरी बाततक न पूछे, अब प्रभु दयासे रहित उन दुखिया लोगोंके पास पहुँचे। फ़र्माया 'किस लिये आये हो ? क्या चाहते हो ?' उन्होंने रोकर कहा, 'हम हैं ग़रीब भिखारी, उपेक्षित, निःसहाय, दुःखी, आर्त, विपत्तिग्रस्त और अकिञ्चन,—गुनाहोंसे भरे हैं, नादार हैं।' भगवान‌ने पूछा क्या चाहते हो ? उन्होंने कहा—

अज़ बन्दा परवरी ओ नवाज़िश बईद नेस्त।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द॥

'यह बात तेरी कृपा और दीनवत्सलतासे दूर नहीं कि अगर तू हम ग़रीबोंको भी एक नज़र भरकर (प्यारी और रहमकी नज़रसे) देख ले। हम हैं भिक्षुक और सिर्फ़ तेरी दयाके चाहनेवाले !'

प्रभुने पूछा, 'तुम्हारे पास क्या है ?' कहा—'कुछ नहीं। न योग है, न भक्ति है, न कर्म है और न ज्ञान है। हम किसी भी अपने अच्छे कर्मका फल माँगने नहीं आये; क्योंकि हमने कोई अच्छा कार्य किया ही नहीं। देख, हमारे इन जीर्ण हृदयोंमें (फटे चिथड़ोंमें) शुभ कार्योंके मोती बँध ही कैसे सकते हैं ? हममें कोई बल नहीं, कि जिससे हम कोई भी अच्छी बात कर सकते हैं, हम निर्बल हैं, बस तेरी दयाके भिखारी हैं।' जब प्रभुने उनको इस अवस्थामें देखा तो मुस्कराये और कहा—'नहीं, तुम खाली नहीं हो, तुम अपने साथ वह वस्तु लाये हो जिसको देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है, और वह वस्तु मुझे शुभकर्मोंके अभिमानसे कहीं अधिक प्रिय है ! क्या तुम्हें माल्रम है ? अगर नहीं तो लो मैं बतलाता हूँ—वह है तुम्हारे सच्चे पश्चात्ताप-से भरे हुए आँसुओंके मोती, वह है तुम्हारी नम्रताकी दमकती हुई किरणें, वह है तुम्हारी अकिञ्चनताके सुगन्धित पुष्प ! अच्छा, आओ ! आगे बढ़ो !! मैं तुम्हारे इन आँसुओंके मोतियोंको लेना चाहता हूँ। इन मोतियोंके हारको मेरी दया पहनेगी और वह अधिक सुन्दर माल्रम होगी।'

प्रभुने लौटकर देखा कि दया कहाँ है ? आवाज़ दी—'आओ ! और इन मोतियोंके हारको पहिन लो।' लेकिन दया तो वहाँ नहीं है। प्रभुने आवाज़ दी—'दया, आओ ! तुम्हारे सच्चे भक्त आये हैं जिनको केवल तुम्हारा ही सहारा है; जिनका जीवन, जिनके प्राण, जिनकी भक्ति और जिनका ज्ञान केवल एक तुम ही हो !'

दयाने कहा, 'नहीं आप मेरा दिल बहलाते हैं, भला मुझे चाहनेवाला कौन हो सकता है ?' प्रभुने फ़र्माया, 'अच्छा आओ, अगर नहीं मानती हो तो इस भेंटको देखो, जो ये लोग लाये हैं, बड़ी सुन्दर वस्तु है, तुम देखकर प्रसन्न हो जाओगी, तुम्हारे ये भिक्षुक बहुत अमीर हैं। मैं उनसे बहुत प्रसन्न हूँ, ये निरभिमान हैं, बड़े नम्र हैं और इसीसे मुझको बहुत प्यारे हैं। जल्दी आओ, ऐसा न हो कि कोई मोतियों-

का दाना उनके नेत्रोंके पलकोंके हाथसे छूटकर नीचे गिर जाय और टूट जाय ! ऐसे मोती मुश्किलसे मिलते हैं ।'

दया उमड़ती हुई दौड़ी, प्रभु प्रफुल्लित हो गये ! इतनेमें देखते हैं कि कुछ और आदमियोंकी एक क़तार भी सामनेसे आ रही है । उनमें कुछ तो नेक हैं, कुछ भक्तिका अभिमान लिये हैं, कुछ योगके चमत्कारोंका गर्व लिये आ रहे हैं और ज्ञानके अभिमानमें झूम रहे हैं । उन्होंने प्रणाम किये, लेकिन कोई जवाब न मिला, फिर प्रणाम किया—फिर ख़ामोशी थी ! फिर कुछ घबड़ाकर प्रणाम किया तो कुछ थोड़ी-सी नज़र करके पूछा 'कौन हो ?' वे कहने लगे—'हम हैं कर्मकाण्डी, हम हैं उच्च कोटिके भक्त, हम हैं योगी, ऋद्धि-सिद्धियोंके मालिक, हम हैं सब कुछ जाननेवाले ज्ञानी, इत्यादि-इत्यादि ।' पूछा, 'क्यों आये हो ?'

इतनेमें बात काटकर दया सामने आयी और कहने लगी 'प्रभो ! ये वे ही हैं—वे ही, जिनके दरवाज़े खटखटाकर मैं वापिस आयी थी, इन्होंने मेरा कोई स्वागत नहीं किया; कुछ नींदमें ऊँघते हुए आये थे पर यह कहकर वापिस चले गये थे कि 'हमको तुम्हारी जरूरत नहीं, जाओ, हमें आरामसे सोने दो ।' मैं इनके पास हर्गिज़ न जाऊँगी, ये मेरा आदर न करेंगे !'

प्रभुने कहा, 'अच्छा, तुम गयीं और इन्होंने तुम्हारी क़दर न की, अच्छा ! अब मैं इनको तुम्हें न दूँगा ।' प्रभुका मुँह फेरना था कि उनके कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान सब भाग गये । उन बेचारों-के मन पापोंमें लिप्त हो गये; कर्म, भक्ति, योग और ज्ञानकी सब शक्तियाँ गायब हो गयीं और उनके होनेका जो अभिमान था वह भी चकनाचूर हो गया । बहुत आवाजें दीं, लेकिन अब तो कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान पासतक नहीं फटकते । बेचारे बदहवास हो गये । मन-ही-मन सोच रहे हैं, करें तो क्या करें ! जायँ तो किधर ? इधर उनका यह हाल हो रहा है कि हवाइयाँ उड़ रही हैं और चेहरे पीले हो रहे हैं, और उधर प्रभु उन मोतियोंकी माला लिये, नीचा मुँह किये, शर्मिन्दगीसे काँपते हुए, थर्राते हुए, लरजते हुए भिखारियोंकी ओर मन्द-मन्द मुसकान और प्रेमसे देख रहे हैं और उनकी दया उमड़-उमड़कर उनकी ओर दौड़ रही है । उनका हर आँसू क़बूल किया जा रहा है और दया प्रभुसे कह रही है कि 'सच है—मैं बेकार नहीं, मैं तेरी बड़ी ही प्रिय वस्तु हूँ ! देख ! आज तेरी सेवामें मुझको माँगनेवाले अनन्त भिक्षुक उपस्थित हैं । पर ये हैं मेरे सच्चे क़दरदान और मेरी क़ीमत दे डालनेवाले !'

अभी दया प्रभुसे बात कर ही रही थी कि उन भिक्षुकोंने फिर काँपते हुए होठों और हिचकिचाती हुई ज़ुबानसे कहा कि—

अज़ बन्दा परवरी ओ नवाज़िश बईद नेस्त ।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द ॥

इस आवाज़के सुनते ही प्रभु चौंके । दयाने कहा—'प्रभो ! क्या आज्ञा है ? इस शेरका क्या अर्थ है ?' प्रभुने मुसकराकर बड़े प्यारसे दयाके साथ उनकी ओर देखा और कहा कि 'यह है इस शेरका अर्थ ।' दया बहुत प्रसन्न हुई; दीनोंपर कृपाकी दृष्टि हो गयी; दया उनके समीप गयी ।

दूसरी क़तारवाले क्या देखते हैं कि वे कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान अपनी ऋद्धि-सिद्धियों और चमत्कारोंको साथ लेकर इन भिखारियोंके फटे चिथड़ों-में (उनके जीर्ण हृदयोंमें) जाकर छिप गये और कहने लगे कि हम अब यहीं रहेंगे । ये भिखारी

उन कीमती चीजोंको देखकर घबड़ाये और पूछने लगे कि 'आप हमको किस बातके एवज़में मिल रहे हैं? आप तो किसी औरके हक़ थे; हमारा हक़ तो केवल एक प्रभुकी दया ही है और कुछ नहीं।' उन्होंने कहा कि 'तुम्हारा हक़ केवल दया है और हमारा हक़ है प्रभुकी दयाके पास रहना! अब आप हमें निकालेंगे तो भी हम कभी न निकलेंगे, भगायेंगे तो भी हम न भागेंगे; दौड़ायेंगे, हम न दौड़ेंगे। तुम हो प्रभुके दयाके पास, और अब हम हैं तुम्हारे पास!'

अब भिखारी इन अनमोल रत्नोंको उठाकर नाचने लगे लेकिन इनकी नज़रोंमें उस दयाका मूल्य इनसे कहीं अधिक था कि जिसकी वजहसे इनको ये अनमोल रत्न प्राप्त हुए। प्रभुकी दया साथ थी, इसलिये उनको किसी भी बातका अभिमान नहीं हुआ! क्योंकि यह दयाका पहला लक्षण है। जहाँ दयाका प्रकाश है वहाँ अभिमानका अन्धकार नहीं रह सकता। और जहाँ अभिमानका अन्धकार नहीं, वहाँसे ये रत्न कभी चुराये नहीं जा सकते। अब ये भिखारी नाच रहे हैं, गा रहे हैं और कह रहे हैं कि 'हे प्रभो!

अज़ बन्दा परवरी ओ नवाज़िश बईद नेस्त।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द॥
नसीबे मास्त बहिश्त ख़ुदा शनास बिरो।
कि मुस्तहक़े करामत गुनहगारानन्द॥

'ऐ नेकीके दावीदार! जा स्वर्ग तो हमारा ही हक़ है, तुम्हारा नहीं, क्योंकि उसकी दयाके पात्र तो गुनहगार (पापी) ही हो सकते हैं।'

इस अवस्थाको देखकर पीछेसे आये हुए दूसरी क़तारवालोंको बहुत ही हैरानी हुई और उन्होंने सोचा—'वास्तवमें वे पहली क़तारवाले जीत गये, हमको भी उन्हींके चरणचिह्नोंका अनुसरण करना चाहिये, उन्हींके मार्गपर चलना चाहिये और प्रभुको दयाका याचक बनना चाहिये।'

उनके जानेपर इसी तरह निरभिमान और कुछ लज्जित होकर पश्चात्ताप करते हुए ये लोग वहाँ (प्रभुके पास) पहुँचे और पहलेवालोंकी तरह अपनी दीनता प्रकट करके प्रभुकी दयाके अधिकारी बने और उसके पश्चात् वे भी भक्ति, योग और ज्ञानके अनमोल रत्नोंसे मालामाल हो गये। इसके बाद उन्होंने प्रभुकी दयाकीही तरफ़ देखते रहना अपना एकमात्र सिद्धान्त बना लिया और फिर इस शेरको पढ़ने लगे कि—

अज़ बन्दा परवरी ओ नवाज़िश बईद नेस्त।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द॥

कोई यह शंका न करे कि प्रभुकी दया तो पहले भिक्षुकोंके साथ चली गयी थी, इनको दूसरी दया कहाँसे प्राप्त हुई? क्या प्रभुकी दयाएँ बहुत-सी हैं? तो इसका जवाब पहिले ही दिये देते हैं कि—प्रभु अनन्त हैं, उनकी दया अनन्त है, उनके भिक्षुक अनन्त हैं और उनका बाँटना अनन्त है। इसलिये अनन्तमें कोई फ़र्क़ आ ही नहीं सकता और न कोई कमी ही आ सकती है। अनन्तको अनन्तसे भाग दिया जाय तो अनन्त ही रहता है; अनन्तको अनन्तमें जोड़ा जाय या अनन्तसे गुणा किया जाय तो भी अनन्त ही रहता है। इसलिये प्रभुकी अनन्त दयाके सामने वे थोड़े-से भिक्षुक माने ही कहाँ रखते थे और आपको इस शंकाके लिये मौक़ा ही क्यों मिला? क्या आपने श्रुतिकी यह घोषणा नहीं सुनी है?—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

सुन लीजिये, भिक्षुक गाते हुए जा रहे हैं और कह रहे हैं—

कुशादा दस्ते करम जब वह बेनियाज़ करे।
नियाज़मन्द न क्यूँ आजज़ी पर नाज़ करे॥

'जब प्रभु दयाका हाथ बढ़ायें तो भिक्षुक अपनी दीनतापर गर्व क्यों न करे?'

वस्तुतः अब तो यह मालूम हो ही गया कि कुल मन्त्रोंका मूलमन्त्र केवल दया ही है। जो अपने अभिमानको दे डालता है, उसीको दया मिलती है। यही है Secret of Success 'सफलताका रहस्य' या Struggle for Existence 'जीवनसंग्राम' में विजय प्राप्त करनेकी कुंजी!

'दया' को उलटा कर पढ़नेसे 'याद' बनता है, गोया प्रभुकी याद मिलती है और उनकी यादसे बाकी सब कुछ सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसलिये मैं भी इस लेखको इस शेरके साथ समाप्त करता हूँ—

अज़ बन्दा परवरी ओ नावाज़िश बईद नेस्त।
शाहाँ अगर निगाह बसूए गदा कुनन्द॥

हे प्रभो! उन पहली और दूसरी क़तारवालोंके बाद हम लोगोंकी क़तार खड़ी है। हम तो और भी दीन हैं; क्योंकि हमारे पास न तो सच्चे पश्चात्तापके आँसू ही हैं न निरभिमान होनेकी ही कोई बात है। इसलिये हम उन तेरे पहले भिक्षुकोंकी तरफ देखते हुए उनके आँसुओंकी खैरात (निछावर) तेरी दयाको माँगते हैं; क्योंकि हमारे पास तो आँसू भी नहीं हैं। इसलिये हम—

फ़क़ीरोंका काला न जबतक भरेगा,
तेरे दर पै हर वक्त फेरी रहेगी॥

हे प्रभो! हम हैं तेरी दयाके भिक्षुक। अब देर न कर। हम तो तीसरी नहीं चौथी क़तार-(चौथे युग कलियुग)-वालोंमेंसे हैं। शर्मिन्दा होकर बार-बार तेरी दयाके भिक्षुक बनते हैं। हे प्रभो! दया! दया!! दया!!!

कामके पत्र *

(१)

साधक संन्यासीके कर्तव्य

आपका स्वास्थ्य अब अच्छा होगा। असलमें यह स्वस्थता तो प्रकृतिस्थता ही है। असली स्वस्थता तो आत्मामें स्थित होना है, जिसके लिये सारा प्रयत्न है। संसारमें यही मोहकी भाषा है कि प्रकृतिस्थ अपनेको स्वस्थ कहता है। पञ्चदशीमें कहा है—

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः॥

'सत्य ब्रह्मवस्तुमें असत्ताकी भावना और असत्य प्रपञ्चमें सत्-भावनारूपी विपरीत भावना सदा ही क्षुधाके समान दुःखदायिनी है। इसे किसी भी उपायसे जीतना चाहिये। इसमें किसी अनुष्ठानके क्रमकी अपेक्षा नहीं।' अतएव हम यथार्थमें स्वस्थ होना चाहें तो इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये और इस चेष्टामें निरन्तर ब्रह्मचिन्तन ही प्रधान है।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

'उसीका चिन्तन, उसीका कथन, उसीको परस्पर समझना, इस प्रकार उसमें जो एकपरता होती है, उसीको ब्रह्माभ्यास कहते हैं।' श्रीभगवान्ने भी—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

* तीन भिन्न-भिन्न सज्जनोंको लिखे हुए ये पत्र हैं। पत्र लेखकका नाम प्रकाशित नहीं किया जा सका। पत्र कामके मालूम होते हैं, पढ़कर देखने चाहिये।—सम्पादक]

इस श्लोकमें यही उपदेश किया है। उपर्युक्त श्लोक इसी श्लोकका अनुवाद-सा है। मतलब यह कि इस प्रकार अभ्यासपरायण होकर स्वरूप-स्थितिरूप स्वस्थता प्राप्त कर लेनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है। आप इस अभ्यासमें लगे ही हैं। फिर मैं क्या लिखूँ? मेरी प्रार्थना है नीचे लिखी बातोंपर ध्यान रक्खें।

१—अवश्य ही ज्ञानी महापुरुष शास्त्रके शासनसे सर्वथा मुक्त तथा विधि-निषेधसे ऊपर उठा हुआ है तथापि ज्ञानके नामपर विहित कर्मत्याग और निषिद्धाचरणका न तो कभी उपदेश करना चाहिये, न वैसा कोई आचरण ही अपनेमें आने देना चाहिये।

२—सम्मान, बड़ाई, स्त्री तथा धनसे सदा दूर रहना चाहिये। 'हमें इनके संसर्गसे कोई नुकसान नहीं होगा'—वस्तुतः किसीकी ऐसी स्थिति हो तो भी ऐसा मानना नहीं चाहिये। संन्यासोके बाह्य स्वरूपकी रक्षाके लिये भी इनका त्याग सर्वथा आवश्यक है।

३—मठस्थापन, स्थाननिर्माण, पन्थप्रतिष्ठा, शिष्य-ग्रहण और सम्प्रदाय-स्थापनादिसे त्यागी विरक्त संन्यासीको सदा दूर रहना चाहिये। कर्तव्यकी भावना और परिस्थितिवश कभी-कभी इनकी आवश्यकता प्रतीत भी हो तो भी इनसे डरना चाहिये। पहुँचे हुए महापुरुषोंकी बात तो अलग है, साधारणतया तो इन बातोंसे राग-द्वेषकी वृद्धि, प्रपञ्चके विस्तार और परमार्थपथसे च्युतिकी ही सम्भावना रहती है।

४—किसी भी स्थान, वस्तु या कर्तव्यविशेषमें अनुराग नहीं बढ़ाना चाहिये। अनुरागसे ममत्व होता है और ममत्वसे बन्धन! जडभरतकी कथा याद रहे।

५—जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना चाहिये। चाहे अपने लिये कुछ भी कर्तव्य न भासता हो। आवश्यकतानुसार शौच-स्नान, भिक्षा और शयनादिमें जितना नियमित और परिमित समय बीते, उसको छोड़कर शेष सब समय मनसे ब्रह्मचिन्तन और शरीरसे ब्रह्मसेवनके कार्यमें ही लगाना चाहिये। शरीरनिर्वाहकी क्रियाओंको करते समय भी चित्त सदा ब्रह्मचिन्तनमें ही संलग्न रहना चाहिये।

६—पर-दोष तथा पर-गुणोंका चिन्तन नहीं करना चाहिये। इनमें पर-दोषोंका तो बिल्कुल ही नहीं करना चाहिये।

७—जहाँतक हो खण्डन-मण्डन अथवा वाद-विवादमें समय नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि विवादसे विवादके बढ़नेकी और द्वेष-क्रोधादिके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। विजयमें अभिमान और पराजयमें विषाद होता है। समय तो व्यर्थ जाता ही है।

८—किसी प्रकारका संग्रह नहीं करना चाहिये।

ये बातें मैंने उपदेशके तौरपर नहीं, आपकी आज्ञाके अनुसार स्नेहसम्बन्धको लेकर ही प्रार्थनाके रूपमें लिखी हैं। वस्तुतः मैं तो सभी प्रकारसे आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करनेका ही अधिकारी हूँ। कृपा बनी रहे। ये बातें भी साधककी दृष्टिसे ही हैं। सिद्धके लिये तो कुछ कहना हो नहीं बनता।

(२)

पतन करनेवाले तीन आकर्षण

आपने अपने पत्रमें जो दो दोष लिखे—१—दूसरी स्त्रियोंके प्रति मन खराब होना और २—मान-बड़ाई पानेकी इच्छा; और इनके नाश होनेका उपाय पूछा सो आपकी बड़ी सदिच्छा है।

सचमुच जगत्में तीन ही सबसे बड़े आकर्षण हैं। १—धन, २—स्त्री (स्त्रीके लिये पुरुष) और ३—मान-बड़ाई। इसीलिये शास्त्रकारों और अनुभवी संतोंने काञ्चन, कामिनी और मान-प्रतिष्ठाको परमार्थ-

साधनमें सबसे बड़े विघ्न मानकर इनसे बचनेका उपदेश दिया है। इनमें जिनका चित्त आसक्त है, उनसे कौन-सा पाप नहीं हो सकता ? पापोंके होनेमें प्रधान कारण इनमें हमारे चित्तकी आसक्ति ही है। इससे बचनेका उपाय है इनमें वैराग्य होना और भगवान्‌में आसक्ति होना। याद रखना चाहिये जैसे विषयासक्ति समस्त पापोंका मूल है उसी प्रकार भगवदासक्ति समस्त पापोंका समूल नाश करनेके लिये महान् शस्त्र है। विषयोंमें दोष-दुःख देखकर उनसे मन हटाना और भगवान्‌के दिव्य गुण, प्रभावको पढ़-सुन और समझकर उनमें मन लगाना—ये दोनों कार्य साथ-साथ चलने चाहिये। भगवान्‌के दिव्य गुण और उनके सौन्दर्य-माधुर्यमें विश्वास हो जानेपर तो विषयोंके आकर्षण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। सूर्यके सामने दीपकको कौन पूछता है। जबतक वैसा न हो तबतक भगवान्‌के दिव्य गुणोंमें विश्वास जमाने और मन लगानेको तथा विषयोंसे मन हटानेकी कोशिश करनी चाहिये। सोचना चाहिये जिस स्त्रीके शरीरको हम रमणीय मानते हैं, वस्तुतः वह कैसा है। हड्डी, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, चर्म आदिमें यथार्थमें कौन-सी वस्तु रमणीय है ? स्त्रीके शरीरके अंदर क्या है इस बातको विचारपूर्वक देखना चाहिये। तब उससे मन हटेगा, घृणा हो जायगी। श्रीसुन्दरदासजी महाराजने कहा है—

> कामिनीको अंग अति मलिन महा अशुद्ध,
> रोम-रोम मलिन, मलिन सब द्वार हैं।
> हाड़, मांस, मज्जा, मेद, चर्मसूँ लपेट राखे,
> ठौर ठौर रकतके भरे हू भंडार हैं॥
> मूत्र हू पुरीष-आँत एकमेक मिल रही,
> और हू उदर माँहि विविध विकार हैं।
> सुन्दर कहत नारी नख सिख निन्दारूप,
> ताहि जो सराहै सो तो बड़ोई गँवार है॥

यही बात स्त्रीको पुरुष-शरीरके लिये समझनी चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे स्त्रीमें रमणीयता-बुद्धिका नाश होकर वैराग्य हो जाता है।

दूसरा उपाय है—स्त्रीमें भोग्यबुद्धिका नाश होना। जगत्‌की सारी स्त्रियोंमें जगज्जननी भगवतीकी भावना करके सबमें मातृभाव हो जानेसे भोग्यबुद्धिका नाश हो जाता है।

स्त्री-दर्शन तो बुरा है ही, स्त्री-चिन्तन भी बहुत बुरा है। जहाँतक हो सके स्त्री-चिन्तनसे चित्तको हटाना चाहिये। 'स्त्रीकी ओर दृष्टि न डालनेकी कोशिश करनेपर भी उसके पैरोंकी आहट सुनते ही मन उधर दौड़ने लगता है।' इसका कारण यही है कि स्त्रीके रूप और सुखमें चित्त आसक्त है। आसक्ति ज्यों-ज्यों कम होगी, त्यों-ही-त्यों आकर्षण नष्ट होगा।

गायत्री-जाप बढ़ानेसे भी इस पापवासनासे छुटकारा मिल सकता है। इसी कामनासे गायत्री-जाप करना चाहिये।

मान-बड़ाईकी बीमारी तो बड़ी दुःसाध्य है। भगवान्‌की कृपासे ही इसका यथार्थ नाश होता है। मान-बड़ाईमें मनुष्य एक प्रकारके सुखका-सा अनुभव करता है। मानसे भी बड़ाईकी कामना अधिक प्रबल होती है। बड़ाईके लिये मनुष्य मानका भी त्याग कर देता है। वस्तुतः मानका ही विशेष विकसित रूप बड़ाई है। मान-बड़ाई किसी अंशमें लाभदायक भी माने जाते हैं। कारण, मान-बड़ाईके लोभसे मनुष्य बहुत बार दान-पुण्य, सेवा-सत्सङ्ग, भजन आदि सत्कार्य करता है जो मान-बड़ाईकी इच्छा होनेके कारण उसको मोक्षस्वरूप महान् फल न दे सकनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक होते हैं। परन्तु मान-बड़ाईकी इच्छा दम्भकी उत्पत्तिमें बड़ी सहायक होती है। मान-बड़ाईकी

इच्छासे किये जानेवाले कर्मका उद्देश्य ऊँचा नहीं होता। सत्सङ्ग, भजन आदि भी मान-बड़ाईके उद्देश्यसे होते हैं। ऐसी अवस्थामें ऐसा करनेवालेको सत्सङ्ग-भजनकी इतनी परवा नहीं होती—जितनी मान-बड़ाईकी होती है। धीरे-धीरे सत्सङ्ग-भजनसे उसका मन हट जाता है और फिर वह मान-बड़ाई-की चाहसे भजन-सत्सङ्ग आदिका दम्भ करता है। और यदि भजन-सत्सङ्गादि सत्कार्योंमें मान-बड़ाई मिलनेकी आशा नहीं होती तो फिर वह भजन, सत्सङ्गादिको स्वरूपतः भी त्याग देता है। जिन कार्योंमें मान-बड़ाई मिलती है, वही करता है। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छा सन्मार्गमें रुकावट तो है ही। कुसंगवश बुरे लोगोंमें मान-बड़ाई पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर यह बड़े-से-बड़े पतनका कारण भी बन जाती है। यही सब सोचकर मान-बड़ाईसे चित्त हटाना चाहिये।

आपने लिखा प्रभुके सामने रोनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, सो यह उपाय तो सर्वोत्तम है। रोना अभी नकली हो तो भी घबराइये नहीं, नकली ही साधनस्वरूप होनेसे एक दिन असली बन जायगा। और जिस दिन असली आँसू गिरेंगे उस दिन भगवान् आँसू पोंछनेको तैयार मिलेंगे और हमारी प्रार्थना सुनकर हमें इन पापोंसे मुक्त कर देंगे।

(२)

उलटी राह

आपने लिखा मुझमें बुद्धि, धैर्य और उत्साह नहीं है, सो बड़ी अच्छी बात है। बुद्धि, धैर्य, उत्साह तो इस मार्गके बाधक हैं। इनका न होना ही शुभ लक्षण है। बुद्धिमान् मनुष्य तर्कजालमें फँसकर प्रेमसे वञ्चित रह जाता है, उसकी बुद्धि, प्रेम तो दूर रहा, प्रेमास्पदका अस्तित्व ही मिटा देना चाहती है। धैर्य तो प्रेमीको कभी होता ही नहीं। उसका एक-एक पल युगके समान बीतता है। और उत्साह तो उसको हो जो प्रिय-मिलनका सुख प्राप्त कर रहा है। प्रिय-वियोगमें उत्साह कहाँ? यहाँ तो केवल रोना ही शेष रह जाता है और रोते-रोते ही उम्र बीतती है। नींद-भूख भी रोनेमें बह जाती है। 'दिन नहिं भूख, रैन नहीं निदरा पियको बिरह सतावै।' वियोगकी तो कुछ ऐसी दशा होती है कि स्वप्नके दर्शन भी मिट जाते हैं।

> नितके जागत मिटि गयो, वा सँग सुपन मिलाप।
> चित्र दरसहू को लग्यो आँखिन आँसू पाप॥

रोग तो इस दशाका एक सुलक्षण है। तनुता, मलिनता, स्वरभंग, वैवर्ण्य, व्याधि, उन्माद, प्रलाप और प्रलय आदि तो इसके आवश्यक अंग हैं।

> नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
> बिकल मूर्च्छा सिसकिबो ये मगके बिश्राम॥

बस, अधीर होकर रोते रहिये। तनको सुखा दीजिये प्यारेके वियोगमें। जीते ही मर जाइये उसके विरहमें। यही तो परम सौभाग्य है।

विरही उसे दयालु क्यों मानने लगा? उसके लिये तो वह परम निष्ठुर है, निर्दय है, प्राणोंका गाहक है। परन्तु इतनेपर भी वह परम प्यारा है, वह परम दुःखदायी होनेपर भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता। यही तो उसका जादू है।

सत्सङ्गकी इच्छा भी क्यों हो? सत्सङ्गमें तो उस निष्ठुरके ही गुण गाये जायँगे न? उस निपट निर्दयीमें भी कोई गुण है? हम क्यों सुनें उसके गुणोंको जो हमें इतना तरसाता है, मिलनेपर भी फिर वियोगका दूना दुःख साथ ही लेकर आता

है ! उस छलियेके भी गुणोंकी तारीफ होती है ? भाँड़लोग तारीफ ही किया करते हैं । खुशामदियों-का यही पेशा है, वे करते रहें । हमें इससे क्या ? वियोगी विरहीको यही मनोदशा तो उसकी साधन-सम्पन्नताकी निशानी है ।

अजब पागलपन है ! सेवा-कुञ्जकी राह—सीधी-सी राह पूछी जाती है । होगा क्या उस कँटीली गैलमें जानेसे ? वहाँ न शान्ति है, न सुख है, न आराम है, न सन्तोष है, न ब्रह्मचर्य है, न ज्ञान है, न निष्कामभाव है, न निरभिमानिता है, न अपरिग्रह है और न वैराग्य है। जो कुछ है, सब इससे उलटा है । इसपर भी इच्छा हो तो सेवाकुञ्जकी सीधी राहपर जाइये । 'अनोखे अज्ञान'का सारा सामान-साज साथ लेकर निराले मोहके मार्गसे ! जब पूर्णरूपसे मोहाच्छन्न हो जायँ तब समझिये कि राहपर आ गये । परन्तु अभी आपकी इस राहपर जानेकी इच्छा नहीं मालूम होती; क्योंकि अभी तो आप 'अज्ञान कब दूर होगा ?' ऐसी प्रार्थना करते हैं। जब पाथेय ही नहीं होगा तो फिर चलेंगे किस बलपर ?

यह तो उलटी राह है । जो सब तरहकी सुलटी राहपर चलनेके बाद उनके फलस्वरूप मिलती है । सुलटी चलनेके बाद, उलटी चलती है, यही तो पहेली है । इसका अर्थ ही रहस्य है, जो समझानेसे नहीं समझमें आता ।
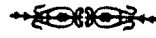
विरह-व्यथा

नहिं बोलैं मुखतें श्याम, उमरिया बीत गई सारी ॥ टेक ॥
गणिक बुलाय दिखायौ मैं कर, कौन गिरह भारी ।
तुलादान, रेशम-पट, मुँदरी मणिकी दै डारी ।
भई करतूति विफल सारी ॥ नहिं०॥
विरह-व्यथा कासौं कहुँ सजनी, को बाँटनहारी ।
विरह-ज्वाल ना बुझै, नयन-झर अँसुवनकी जारी ।
हृदयपर चलति विरह-आरी ॥ नहिं०॥
कैसे करूँ, कहाँ कित जाऊँ, बिधि बिपता डारी ।
प्रजुलित विरह-वह्नि ना मेटति, ऐसी अँधियारी ।
डगरिया दीसति है कारी ॥ नहिं०॥
हृदय-कमल मुँद गयौ सखी ! लखि चहुँ दिशि अँधियारी ।
कली खिले जब श्याम-दरशनकी, चमके उजियारी ।
खड़े हों सनमुख गिरिधारी ॥ नहिं०॥
श्याम नाम, तन श्याम, हृदय हू श्यामलताधारी ।
'मोहन' मोह न नेकु करत, मैं केती दुखियारी ।
ठठरिया तनकी करि जारी ॥ नहिं०॥

—डा० मोहन

परमार्थके पथपर

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[गतांकसे आगे]

(५)

भगवती भागीरथीका पावन पुलिन। मानो कपूरका विस्तृत चबूतरा। एक चौकोर शिलाखण्ड। उसपर बैठे हुए महात्माजी। स्वाभाविक ही स्वस्तिकासन लगा हुआ। सुरेन्द्र और नरेन्द्र पास ही बैठकर उनकी ओर एकटक देख रहे हैं। महात्माजीके शरीरसे शान्ति, आनन्द और पवित्रताकी प्रेममयी धारा बह रही है और वे दोनों उसमें डूब-उतरा रहे हैं, सराबोर हो रहे हैं। मौनका साम्राज्य है। हिमालयका उत्तुङ्ग शृङ्ग अपना सिर उठाकर चुपचाप देख रहा है। अनाहत नादके साथ अपनी स्वरलहरी मिलाकर गंगा अनवरत उन्मुक्त गायन कर रही हैं।

एक साधकने आकर महात्माजीको नमस्कार किया। उसके ऊँचे ललाटपर भस्मकी तीन रेखाएँ थीं, गलेमें रुद्राक्षकी माला और मुद्रा गम्भीर थी। उसके आते ही महात्माजीने आँखें खोल दीं। उन्होंने उसे मन्द-मन्द मुस्कुराहटकी किरणोंसे नहला दिया। आनन्दकी एक बाढ़-सी आ गयी। सुरेन्द्र और नरेन्द्रने भी इस साधकको प्रातःकाल एकान्तचिन्तन करते देखा था। उनके मनमें भी इसके सम्बन्धमें जिज्ञासा और उत्सुकता थी। अब पास आ जानेके कारण वे बहुत प्रसन्न हुए।

महात्माजीने इस साधकको सम्बोधित करते हुए कहा—'ज्ञानेन्द्र! आज तो तुम ब्रह्मवेलासे ही चिन्तन कर रहे थे, इन दोनों (सुरेन्द्र और नरेन्द्र) के आनेका भी तुम्हें पता नहीं। बताओ, क्या सोचते रहे? चिन्तनके द्वारा किस परिणामपर पहुँचे? क्या कलवाली बात तुमने सोची? क्या दुःख-सुखकी समस्या हल हुई?' ज्ञानेन्द्रने बड़ी नम्रतासे अञ्जलि बाँधकर कहा—भगवन्! कल आपने कहा था कि सुख-दुःखके द्वन्द्व आत्मामें नहीं हैं। आत्मा तो इनसे परे इनका साक्षी है। यदि उसे दुःखी अथवा सुखी माना जाय तो उसकी साक्षिता और तटस्थता ही नहीं बनती। यह सुनकर कल मैं गया। बस, उसी समयसे इस बातका मनन होने लगा। मेरे सामने बार-बार यह प्रश्न आने लगा कि दुःख आत्माको नहीं होता तो किसे होता है? ये सुख-दुःख हैं क्या वस्तु? इनका मूल क्या है? कल इनका ठीक-ठीक चिन्तन नहीं हुआ।

आज मैं प्रातःकाल बैठकर ध्यान करने लगा कि मेरा वास्तविक स्वरूप दुःख-सुखसे परे है। इनका सम्बन्ध शरीर और मनसे है। शरीर और मनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यह चिन्तन करते-करते मैं तन्मय हो गया। और किसी वस्तुका भान न रहा। मैं-ही-मैं अकेला रह गया। सुख, दुःख, ज्ञान और अज्ञानकी कुछ स्मृति न रही। एकाएक मेरा वह एकाकीपन मिट गया और मेरे सामने अनेकों प्रकारके दृश्य आने लगे। मैंने उन्हें अपने चिन्तनमें अन्तराय समझा, हटानेकी चेष्टा की परन्तु मैं सफल न हो सका। चिन्तन छोड़कर टहलने लगा। फिर भी मेरी मानसिक दशा ठीक नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता था कि मुझे कोई ऊपर खींच रहा है। आखिर मैं खिंच ही गया। बड़ी अद्भुत-अद्भुत वस्तुएँ देखीं। अब मेरा मन शान्त है। ऐसा मालूम होता है कि मेरा प्रश्न हल हो गया। यह सब आपकी ही लीला है। आपसे क्या कहूँ?

महात्माजीने कहा—'ज्ञानेन्द्र! मेरी कोई लीला नहीं है। सब लीला भगवान्की है। तुम अपनी सभी बातें स्पष्टरूपसे कहो। मुझे भी सुनकर आनन्द होगा और इन दोनोंको तो साधनमार्गकी बहुत-सी बातें मालूम होंगी ही। तुम निःसङ्कोच कहो। यह सब अपने ही हैं।' ज्ञानेन्द्रने महात्माजीकी आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ क्षणोंतक गम्भीरभावसे चुप रहनेके पश्चात् वह बोलने लगा।

ज्ञानेन्द्रने कहा—मैं ध्यान करते-करते तन्मय हो गया। मुझे मेरे अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं था। केवल मैं था और पूर्ण निश्चिन्त तथा आनन्दित था। अचानक मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सामनेसे एक छाया नाच जाती है। वह कुछ थी या नहीं, सो तो मैं नहीं जानता। परन्तु मुझे कुछ छाया-सी ही जान पड़ी थी अवश्य। मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैंने उसे ध्यानसे देखा। उसमें कुछ-कुछ स्थिरता मुझे प्रतीत हुई परन्तु अब भी उसमें पर्याप्त

चञ्चलता थी। मैंने सोचा—पास चलकर क्यों न देख लूँ। मैं जितना उसकी ओर चलता, उतना ही वह मुझसे दूर भागती। उसके पास पहुँचनेकी इतनी उत्सुकता मेरे मनमें हो गयी कि मैं अपनेको भूलकर उसकी ओर दौड़ पड़ा। अब वह स्थिर-सी हो गयी थी। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। उसे देखने लगा।

क्षणभरमें ही मेरे सामने उसके दो रूप दीखने लगे। मुझे मालूम होने लगा कि एक बड़ा सुन्दर मधुर और रमणीय है, दूसरा काला-कलूटा तथा किसी कामका नहीं है। मैं चाहता था कि पहला ही मेरी आँखोंके सामने आवे, दूसरा न आवे। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। मैं एकपर आँखें डालता तो दूसरा भी अवश्य दीख जाता। धीरे-धीरे पहलेसे मेरी आसक्ति हो गयी और दूसरेसे घृणा। मैंने चाहा कि पहलेको पकड़कर अपने हृदयसे लगा लूँ और दूसरेको छोड़ दूँ। बस, हम दो ही रहेंगे, रंगरेलियाँ मनायेंगे। परन्तु यह बात हो न सकी। मैं पहलेको पकड़ता तो दूसरा भी आकर सट जाता। मैं उसे झिड़क देता। डाँटता-डपटता भी। परन्तु वह मेरी एक न मानता। मुझे क्रोध आया। मैंने उसे मारना भी चाहा। परन्तु दूसरेको मारता तो पहलेको चोट लगती। मैं उसके स्पर्श, दर्शन और स्मरणसे भी घबड़ा उठता। मैं फँस गया, इतना फँस गया कि अपनेको छुड़ाना भी कठिन हो गया।

कहींसे आवाज आयी। मैंने स्पष्ट सुना कि—'तुम पहलेका लोभ, आसक्ति और कामना छोड़ दो तो दूसरेसे भी बच जाओगे।' शायद वह मेरी ही अन्तरात्माकी ध्वनि थी। कई बार मैंने छोड़नेकी चेष्टा की, परन्तु बार-बार उसकी ओर झुक गया। न जाने कहाँसे और कैसे—वहीं आपके दर्शन हुए और आपने ज्यों ही कहा कि 'तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, तुमने झूठमूठ यह आपत्ति अपने सिर मोल ले ली है।' त्यों ही मैंने अपनी आँखें खोल दीं। न वे दोनों थे, न आप थे और न तो वह छाया ही थी। मैं जैसे ध्यान करने बैठा था वैसे ही ध्यान करता बैठा था। मैंने अपने मनकी यह स्थिति देखकर सोचा—यह विक्षिप्त हो गया है। अब इस समय चिन्तन नहीं होगा। मैं गङ्गाके किनारे-किनारे टहलने लगा। इन घटनाओंका मेरी समझमें कोई अर्थ न था, यह एक मनका पागलपन था।

मैंने गङ्गाकिनारे देखा। वहाँ एक गुलाबका पौधा था। उसमें एक बड़ा सुन्दर फूल खिला हुआ था। आँखें उसपर लग गयीं। उसे देखनेमें बड़ा आनन्द आने लगा। मैंने सोचा इसे तोड़ लूँ और इसे देखा करूँ। इसे सूँघूँ और इसके स्पर्शका आनन्द लूँ। ज्यों ही उसे तोड़नेको हाथ बढ़ाया त्यों ही मेरे हाथमें कई काँटे गड़ गये। हाथसे खून बहने लगा। परन्तु वह फूल पानेकी लालसासे मैंने काँटोंकी परवा नहीं की। फूल मुझे मिल गया। बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु कुछ ही क्षण बाद वह कुम्हिलाता-सा जान पड़ा। मैंने धूपसे, हवासे बचाकर उसे वैसा ही रखना चाहा परन्तु वह वैसा न रहा, न रहा। बड़ा दुःख हुआ।

अब मैं विचार करने लगा। क्या दुःख-सुखका यही स्वरूप है? क्या प्रत्येक सुखके साथ दुःख लगा हुआ है? क्या अपने वास्तविक स्वरूप नित्य-तत्त्वके अतिरिक्त और किसीकी ओर देखना ही दुःखका कारण है? मैंने क्या देखा था? अपनी ही छाया। वे अच्छे और बुरे उसी एकके दो पहलू थे। परन्तु मैं एकको चाहने क्यों लगा? दूसरेसे द्वेष क्यों हो गया? एकसे सुख और दूसरेसे दुःख क्यों माना? और माना ही नहीं फँस गया, बँध गया। ऐसा बँध गया कि दोनोंको छोड़नेपर ही छूट सका। तब क्या जो हमें दीखता है, उसमें दो विभाग हैं ही, अथवा हम बना लेते हैं? अवश्य बनाते तो हम ही हैं, परन्तु जबतक दोनोंमें एकरस रहनेवाला तत्त्व पहचान न लिया जाय तबतक उसमें रमणीय-अरमणीय और सुख-दुःखका भेद हो ही जायगा। ऐसी स्थितिमें अपनेसे अतिरिक्तको न देखना ही श्रेयस्कर है। इतनी बात समझमें आ गयी कि अपनेसे अतिरिक्त कोई सत्ता मानकर उसे पानेकी इच्छा—कामना करना और उसके लिये चेष्टा करना ही दुःखका कारण है। दुःखका मूल ही भूल है और इस भूलका मिट जाना ही दुःखोंका अन्त हो जाना है। इस दुःखमें सांसारिक सुख भी सम्मिलित हैं। मानो मेरे सामनेसे एक परदा हट गया। मेरे सामने सुख-दुःखका नग्न रूप आ गया। और मैं अपनेको, आत्माको उनसे परे अनुभव करने लगा।

मेरे मनमें एक दूसरी बात आयी। मैं सोचने लगा कि इतना सत्संग करता हूँ, चिन्तन करता हूँ, फिर भी एक सुन्दर-सा रूप या फूल देखकर उसके सौन्दर्यसे विचलित हो गया। यह सर्वथा भौतिक है। इसकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये थी। परन्तु उसे देखते ही मन खिंच गया। हम श्रवण करते हैं, मनन करते हैं, स्वर्गकी तो क्या बात ब्रह्मलोकके विषय भी हमारे लिये तुच्छ हैं।

परन्तु इस तनिक-से रूप-रसपर फिसल जानेवाला स्वर्ग और ब्रह्मलोकका त्याग कैसे करेगा ? मेरे मनमें यह प्रश्न इतने प्रबल वेगसे उठा कि मैं छटपटाने लगा। इतना दुर्बल मन लेकर मैं आत्मराज्यमें कैसे प्रवेश पा सकूँगा ? इन तुच्छ विषयोंके क्षणिक प्रकाशमें ही अपनेको खो देनेवाला भगवान्‌के अनन्त स्वयंप्रकाश धाममें कैसे जा सकेगा ? मैं चिन्तित हो गया। शायद कुछ-कुछ निराश भी। परन्तु उसी समय मुझे एक विलक्षण ही अनुभव हुआ।

मैं शरीरसे पृथक् होकर ऊपर उठने लगा। उस समय मैंने स्थूल जगत्‌को देखा। मेरा शरीर काठके समान पड़ा था। पृथ्वीके सभी जीव जड-से दीख रहे थे। मैंने सोचा इसी जड शरीरके लिये, इन्हीं जड वस्तुओंके लिये मैं सुखी-दुःखी होता था। तो क्या आज इनसे मेरा सम्बन्ध टूट रहा है ? मैं इनसे अलग हो रहा हूँ ? परन्तु शरीरके साथ मेरा सम्बन्ध अब भी था। एक पतला-सा ज्योतिर्मय सूत्र शरीरके साथ मुझे सम्बद्ध किये हुए था। मैं बराबर ऊपर उठता जा रहा था। अनेकों योनियाँ देखीं। अनेकों प्रकारके दृश्य देखे। भूत, प्रेत, पिशाच, पितर, गन्धर्व सभीको अपने-अपने कर्मोंका फल भोगते देखा। कहीं अन्धकार, कहीं प्रकाश, कहीं कुहिरा, कहीं धूप। परन्तु मैं केवल देखता जा रहा था।

मैं एकाएक सूर्यलोकमें पहुँच गया। वहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश था। रात नहीं थी, अन्धकार भी नहीं था। वहाँ बहुत-से दिव्य पुरुष निवास करते थे। उनके राजा थे—भगवान् सविता। उस समय उनके दोनों पुत्र शनैश्चर और यमराज भी उपस्थित थे। यही दोनों मनुष्योंको लौकिक और पारलौकिक दण्ड देते हैं। वहाँ मैंने भोगकी अनेकों वस्तुएँ देखीं। वहाँ रूपका साम्राज्य था। वहाँकी राजरानी संज्ञा थी, जिनकी इच्छासे ही सूर्यके राज्यमें सबका नाम रक्खा जाता है। संज्ञाको देखकर मुझे पृथ्वीकी संज्ञा याद आ गयी। मैंने सोचा—मेरी पृथ्वी कहाँ है ? जिसपर मैं रहता था ? वहाँसे देखा तो कुछ अणुओंके अतिरिक्त मुझे कुछ और नहीं सूझा। मुझे बड़ी उत्सुकता हुई कि मैं जानूँ कि मेरी पृथ्वी कहाँ है ? भारतवर्ष कौन-सा है ? मेरे शरीर और मेरी ममतास्पद वस्तुओंका क्या हाल है ? परन्तु मुझे कुछ पता न चला।

भगवान् सूर्यने मुझे अपने पास बुला लिया। उन्होंने कहा—'भैया ! तुम यहाँ आकर पृथ्वीकी स्थिति जानना चाहते हो ? जिसे तुम बहुत बड़ी पृथ्वी समझते हो, वह यहाँकी दृष्टिसे सरसों-बराबर भी नहीं है। मेरे सामने ही न जाने कितनी ही पृथ्वियाँ पैदा होती हैं, घूमती रहती हैं और मेरे लोकमें समा जाती हैं ? तब तुम पृथ्वीपरकी किसी वस्तु अथवा शरीरकी स्थिति कैसे जान सकते हो ? जैसे वहाँके वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रोंद्वारा एक कणके परमाणुओंका पता लगाते हैं, वैसे ही यहाँसे पृथ्वीरूपी कणके परमाणुओंका पता चलता है।' मेरे प्रश्नका उत्तर मिल गया। मैं विचार करने लगा कि जब मनुष्य इतनी छोटी-सी वस्तु है तब वह अपने शरीर, सम्पत्ति आदिपर अभिमान, मद क्यों करता है ? मैं पृथ्वीकी तुलना सूर्यलोकसे करने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो यही परम धाम है, यही परम सुख है और सूर्य ही त्रिलोकीके स्वामी हैं। मेरे मनमें आया कि अब यहीं रहना चाहिये। पृथ्वीमें जाकर क्या होगा ?

परन्तु मेरे मनमें जिज्ञासा बनी हुई थी। सूर्य मुझे देखकर हँस रहे थे। उन्होंने कहा—भूर्लोकमें तो तुम रहते ही हो। वहाँसे मेरे लोकमें आनेके समय तुमने जो कुछ देखा है, वह अन्तरिक्ष अथवा भुवर्लोक है। मेरा लोक प्रकाशका लोक है, रूपका लोक है। परन्तु यही परम सुख नहीं है। हमसे अच्छे तो हमारे राजा इन्द्र हैं। जाओ, मैं तुम्हें शक्ति देता हूँ कि तुम इन्द्रलोकमें जा सको। तुम यहीं रह जाते परन्तु तुम्हारे मनमें परम सुखकी जिज्ञासा बनी है, इसलिये तुम यहाँ नहीं रुक सकते। मैं उनसे शक्ति पाकर आगे बढ़ा।

विषयोंकी दृष्टिसे यदि कहना हो तो मैं कह सकता हूँ कि उतने अच्छे और सुन्दर विषयोंकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, जितने अच्छे विषय मैंने सूर्यलोकसे चलनेपर देखे। सूर्यलोकमें केवल रूप था परन्तु आगे चलनेपर तो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श सब-के-सब बहुत ही सुन्दर, बहुत ही मधुर थे। मैं उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गया। वहाँ कुछ करना नहीं पड़ता। इच्छा करते ही मनचाही चीज़ सामने आ जाती। भोगकी इतनी प्रचुरता कभी मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। संसारके जिन भोगोंसे मेरी आसक्ति थी उनकी असारता तो यहाँ जाकर समझमें आयी। नन्दनवन देखा, अमरावती देखी, अप्सराएँ देखीं, देवताओंके दिव्य देश देखे। तब क्या यही परमसुख है ? क्या यहीं सुखोंकी पूर्णता है ? मेरे मनमें एकाएक यह प्रश्न जग उठा।

मेरे सामने एक देवता उपस्थित हुए। उन्हें मैंने श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम किया। उन्होंने प्रेमसे कहा—भैया, तुम्हारी

जिज्ञासा पूर्ण हो। उसीके कारण इन भोगोंसे तुम्हारी रक्षा हुई। नहीं तो इनसे बचकर जाना कठिन है। जिन भोगकी सामग्रियोंको यहाँ तुम देखते हो, ये यों तो कल्पभरतक रहती हैं परन्तु इन्हें पूरा-पूरा कोई भोग नहीं सकता। अपने-अपने पुण्यके अनुसार सब न्यूनाधिक भोग करते हैं। कम भोगनेवाले अधिक भोगनेवालोंसे ईर्ष्या करते हैं, अधिक भोगनेवाले कम भोगनेवालोंसे घृणा। दैत्योंके आक्रमण हुआ ही करते हैं। पुण्य क्षीण होनेपर गिरना ही पड़ता है। उस समय उन्हें कितनी पीड़ा होती है? और यह है ही कितने दिनोंका? यहाँका कल्प ब्रह्माका एक दिन है। जिसे तुम एक कल्प कहकर बहुत बड़ा समझते हो वह यहाँ चिटकी बजाते-बजाते बीत जाता है। इसमें रक्खा ही क्या है? आगे बढ़ो। भोगोंकी क्षणिक चकाचौंधमें मत भूलो, देखो, यहाँसे आगे ही ध्रुवलोक है। वह भगवद्भक्तिका एक छोटा-सा फल है।

मैं ध्रुवलोकमें पहुँचा। ध्रुव बड़े सरल, बड़े ही मिलनसार। उन्होंने बड़े प्रेम, बड़ी प्रसन्नतासे मेरा स्वागत किया। उन्हें इतना आनन्द हुआ, मानो स्वयं भगवान् ही उनके घर आ गये हों। उन्होंने मुझसे कहा—भाई! मैं बड़ा ही नीच हूँ। मैंने भगवान्को प्राप्त करके भी सम्मानका वरण किया। सूर्य, देवता और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मेरी प्रदक्षिणा करते हैं, मैं बहुत ऊँचे स्थानपर हूँ। परन्तु मुझे कभी-कभी अब भी पश्चात्ताप हो आता है। मेरे मनमें वासना न होती तो भगवान् यह सब क्यों करते? परन्तु इसमें भी उनकी दया होगी। वे जैसे रखें, वैसे ही रहना है। सर्वत्र उनका दर्शन, उनका स्पर्श प्राप्त होता रहे, यही वाञ्छनीय है।

मैंने देखा—यहाँ भोगोंकी छाया भी नहीं है। है सब कुछ, परन्तु भोगबुद्धि नहीं है। स्वर्गमें जहाँ सभी भोगोंकी ओर बह रहे थे, वहाँ ध्रुवलोकमें सभी सन्तुष्ट, निष्काम और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलनेवाले थे। यहाँकी शान्ति, आनन्द देखकर मेरी इच्छा हुई कि यहीं रहूँ। यही परम सुख है। ध्रुवने कहा—'यही परमसुख नहीं है। आगे बढ़ो—महर्लोक, जनलोक और तपोलोकमें बड़े-बड़े योगी, ज्ञानी तथा भगवत्परायण सन्त रहते हैं। इन्हींमें ब्रह्माके पुत्र सनक, सनन्दन आदिके भी दर्शन होंगे? यहाँ क्या है? यह तो उनकी चरणधूलिकी महिमा है। जाओ, तुम्हें उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलेगी।' मैं ऊपर उठने लगा।

मैंने कितने सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखे, कह नहीं सकता। बड़ी-बड़ी अमृतकी नदियाँ, रत्नोंके पर्वत, कल्पवृक्षोंके वन, अनुरागके रंगमें रँगी हुई शान्त एवं दिव्य भूमि। मनोहर पक्षियोंका मधुर कलरव, भौंरोंकी गुंजार और कहीं-कहीं वीणा, वेणु और मृदंगके अनाहत नाद। मैं यह सब देख-सुनकर मुग्ध हो रहा था। सबसे बढ़कर आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब मैंने देखा और जाना कि ये समाधि लगाये हुए लोग हजारों वर्षसे यहाँ बैठे हैं और इन वस्तुओंकी ओर अनासक्तभावसे भी नहीं देखते। इन्द्रलोकमें लोग भोगोंमें आसक्त थे, ध्रुवलोकमें अनासक्तभावसे विषयोंका उपभोग कर रहे थे और यहाँ सब अपने आपमें ही मस्त थे, भगवद्भावमें ही मग्न थे, बाहर आँख खोलकर कोई देखतातक नहीं था। मैं बराबर ऊपर खिंचा जा रहा था। इन सिद्ध संतोंको देख-देखकर मेरे मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उठ रहे थे।

कुछ ही क्षणोंमें मैं एक ऐसे स्थानपर पहुँच गया, जहाँ केवल शान्ति-ही-शान्ति थी, आनन्द-ही-आनन्द था। मैंने सोचा—अबतक मैंने जितने लोक देखे हैं, उनसे जान पड़ता है कि यही सर्वोत्तम लोक है और यही परम सुख है। मेरे सामने पाँच-पाँच वर्षके चार बालक खेलते-कूदते प्रकट हुए। उनके शरीरपर वस्त्र नहीं थे और मुखसे 'श्रीहरिः शरणम्' का बराबर उच्चारण हो रहा था। ध्रुवकी बात मुझे याद आयी। मैंने समझ लिया कि ये सनक-सनन्दन आदि हैं। उनके चरणोंपर गिरने ही जा रहा था कि उन्होंने हँसते हुए मुझे उठा लिया।

उन्होंने कहा—भैया! यही परमधाम अथवा परम सुख नहीं है। इसके ऊपर ब्रह्मलोक है। उनकी सभा देखोगे, वहाँका साज-शृंगार देखोगे तो तुम्हें वे सब लोक तुच्छ जँचने लगेंगे। वहाँ शान्तनु, भीष्म, पृथु, गय आदि राजर्षि, वशिष्ठ आदि महर्षि सभासद्के रूपमें रहते हैं। सारे ब्रह्माण्डकी रचना, व्यवस्था और प्रबन्ध वहींसे होता है। जैसे इन्द्रके एक जीवनमें ही मनुष्योंके हजारों जन्म हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माके एक जीवनमें हजारों इन्द्र हो जाते हैं। जिन्हें एक कल्पके अधिपति कहकर तुमलोग बड़ाई देते हो, उन इन्द्रका जीवन ब्रह्माके दिनसे केवल एक दिन है। ऐसे दिनोंके हिसाबसे ब्रह्माकी आयु सौ वर्ष है। वे प्रतिदिन जब रात्रिमें सोते हैं तब इस ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है, जब वे प्रातःकाल जगते हैं तब पुनः सृष्टि होती है। इस प्रकार

अबतक तुम जो कुछ देख-सुन और अनुभव कर सके हो ब्रह्माके एक दिनकी विभूति है।

ऐसे-ऐसे ब्रह्मा और उनके ब्रह्माण्ड, प्रकृतिमें कितने हैं ? इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी नहीं दे सकते। फिर उनकी बनायी सृष्टिमें तो ऐसा कोई गणितज्ञ हो ही कैसे सकता है? सब ब्रह्माण्डोंके अधिपति हिरण्यगर्भ हैं। वे प्रकृतिके अधीश्वर हैं। जो उनके लोकमें पहुँच जाता है, वह पुनः लौटता नहीं। महाप्रलयके समय उनके साथ ही मुक्त हो जाता है। हिरण्यगर्भके अधीन, उनके समकक्ष अथवा उन्हींके रूपान्तर और बहुत-से लोक हैं। परन्तु वे ही परम सुख नहीं हैं। जहाँतक तुम चलकर जाओगे, जिसे तुम करके पाओगे वह परम सुख नहीं है। अच्छा, तुम आँख बंद कर लो, देखो, सब लोकों, लोकान्तरोंका चंक्रमण।

मैंने आँखें बंद कर लीं। मेरा व्यक्तित्व लुप्त हो गया, अब मैं व्यष्टि नहीं, समष्टि था। मानो मैं एक महान् एवं अपार समुद्र होऊँ, मेरी एक लहर प्रकृति हो और उसके छोटे-छोटे सीकर ही असंख्य ब्रह्माण्ड हों। सारे-के-सारे ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार होनेमें पलभर भी नहीं लगता था। प्रकृतिलहरीके उठने और शान्त होनेका समय इतना कम था कि गणितके द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता। मैंने बड़े ध्यानसे देखनेकी चेष्टा की परन्तु ब्रह्माण्डोंके अवान्तर भेदोंका पता न चला। सब छोटे-छोटे चिदणुके रूपमें दीख रहे थे। मैंने सोचा—मैं सब हूँ। मेरे सब हैं। सुख-दुःख मेरे स्वरूप हैं। मैं परम सुखी हूँ। अबतक वे चिदणु भी अन्तर्धान हो चुके थे। केवल एक था, केवल मैं था।

उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर मेरा ध्यान भंग किया और कहा—'भैया, यही परम सुख नहीं है। अभी तो तुममें अहंकृति है। तुम अपने अस्तित्वका अनुभव कर रहे थे। वह भले ही व्यष्टिकी अहंकृति न हो, समष्टिकी हो। यहाँ भी तुम एक प्रकारसे चलकर ही पहुँचे हो। गतिका कहीं अन्त नहीं है! यह गोलाकार चक्कर है। तुम्हें नयी-नयी बातें मालूम होंगी, परन्तु होंगी वही सब पुरानी। नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे। सुखसे दुःख, दुःखसे सुख। यह एक चक्र है—संसार-चक्र। यह अनादिकालसे चल रहा है। प्रवाह-रूपसे नित्य है।

संस्कारसे सुन्दर-असुन्दरकी कल्पना। सुन्दरमें राग, असुन्दरसे द्वेष। सुन्दरको चाहना, असुन्दरसे परहेज। पानेकी चेष्टा, हटानेकी चेष्टा। उन-उन चेष्टाओंके संस्कार। और फिर सृष्टि। इस प्रकारका यह चक्र चल रहा है। इससे छूटनेकी चेष्टा भी इसीमें है। जैसे कुम्हारके घूमते हुए चाकपर चलती हुई चींटी चलकर भी उसके चक्करमें ही रहती है वैसे ही अविद्यामें पड़े हुए जीवोंकी दशा है। परन्तु जैसे बादलोंके, वायुके और चाकके आवागमनमें आकाश एक-सा ही निर्लेप रहता है वैसे ही आत्मा। वह एकरस है। वह चलकर नहीं प्राप्त की जा सकती। वह चलकर भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु तुम्हें चलनेके समय भी स्मरण रहना चाहिये कि जहाँसे तुम चले हो, जहाँ चल रहे हो और जहाँ होकर चलोगे वहाँ भी वैसी ही आत्मा है जैसी कि तुम्हें गन्तव्य स्थानपर जानेके बाद मिलेगी। तुम केवल अविद्याका बन्धन काट डालो, उस बन्धनकी प्रतीति निकाल डालो। यही साधना है। तुम्हें परम सुख प्राप्त होगा।

मैंने जितनी बातें कही हैं, वे केवल साधनावस्थाकी हैं। इसको अपने गुरुके पास जाकर समझो। वे तुम्हें अविद्यासे पार पहुँचा देंगे।'

उनकी बात समाप्त होते ही मैं पुनः अपने शरीरमें आ गया। आँखें खोलीं। गङ्गा हर-हर करती हुई बह रही थी। हरिनियोंके नन्हें-नन्हें शिशु पास ही पानी पी रहे थे। रंग-बिरंगे पक्षी कलरव करते हुए किलोलें कर रहे थे। मैं आपके पास चला आया। गुरुदेव! यह सब मैंने क्या देखा है? इनका क्या रहस्य है? क्या सांसारिक दुःख-सुखका मूल हमारी कामना और अविद्या ही है? आपकी अमृतमयी वाणी सुननेको उत्सुक हूँ, कृपा कीजिये, इतना कहकर ज्ञानेन्द्र चुप हो रहा।

महात्माजी बड़े जोरसे हँसे। उन्होंने कहा—आज बड़ा अच्छा संयोग है। सुरेन्द्र आदर्श कर्म चाहता है। नरेन्द्र भगवान्की लीलाओंकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्र सुख-दुःखसे परे आत्माका बोध। साधारण लोग समझते हैं इन्हें अलग-अलग। परन्तु वास्तवमें ये एक ही हैं। क्या इनके सम्बन्धमें मैं अपने अनुभव सुनाऊँ? अपना अनुभव तो गुप्त रखना चाहिये। परन्तु तुमलोग तो अपने ही हो। हाँ, तो इस विषयमें मैं अब अपना अनुभव सुनाऊँगा।

सुरेन्द्र और नरेन्द्र तो ज्ञानेन्द्रकी बात सुनकर चकित थे ही। अब महात्माजीके अनुभव सुननेके लिये और उत्सुक हो गये। ज्ञानेन्द्र भी सावधान हो गया।

(अपूर्ण)

आध्यात्मिक समीकरण

(लेखक—पं० लालजीरामजी शुक्र एम० ए०, बी० टी०)

संसारकी किसी मूल्यवान् वस्तुको प्राप्त करनेके लिये या तो उतने ही मूल्यकी दूसरी वस्तुका त्याग करना पड़ता है अथवा उसकी कीमत अपने परिश्रमसे चुकानी पड़ती है। संसारी व्यवहारमें सदा लेन-देनकी बराबरी रहती है। जितना हम दूसरोंको देते हैं उतना ही हम उनसे ले सकते हैं। इसी तरह हमारे दिये हुएका बदला अवश्य मिलता है। किसी प्रकारका भी त्याग व्यर्थ नहीं जाता और न किसी प्रकारका लाभ बिना त्यागके हो सकता है। इसी नियमको 'आध्यात्मिक समीकरण' के नामसे कहा गया है। समीकरणके साथ आध्यात्मिक शब्द इसलिये जोड़ा गया है कि समीकरणकी क्रिया बाह्य जगत्‌में सदा स्पष्ट नहीं होती, किन्तु अव्यक्तमें उसका कार्य होता रहता है जो आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक समीकरण किस प्रकार होता है पुराणोंके कुछ दृष्टान्तोंसे यह स्पष्ट है। जब महाभारत-युद्ध प्रारम्भ होनेवाला था, तब देवराज इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें अपने वरदानसे पैदा हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनके विषयमें यह भावना उठी कि कहीं उसका घोर शत्रु कर्ण उसे युद्धमें पराजित न कर दे। कर्णके पास सूर्यदेवके दिये हुए कवच-कुण्डल थे जिनका यह प्रताप था कि उनके धारण करनेवाला पुरुष रणमें किसीसे परास्त नहीं हो सकता। अतएव जबतक वे कवच-कुण्डल कर्णके पास रहेंगे तबतक अर्जुनका कर्णको युद्धमें जीतना असम्भव था।

इन्द्रने सोचा कि किसी तरह उन कवच-कुण्डलोंको कर्णसे ले लेना चाहिये। जब इन्द्रको उनके कर्णसे लेनेके लिये कोई दूसरा मार्ग न मिला तो उन्होंने कर्णकी दानवृत्तिसे लाभ उठानेका निश्चय किया। कर्ण अपने द्वारपर आये हुए किसी भी याचकको असन्तुष्ट नहीं जाने देता था। वह जो कुछ माँगता सो देता था। यह कर्णका व्रत था। इन्द्र कर्णके द्वारपर अपने असली रूपको छिपाकर एक भिखारीके भेषमें गये और कर्णसे भिक्षा माँगी। कर्णने जब पूछा कि क्या चाहते हो, तब इन्द्रने कर्णसे उसके कवच-कुण्डल माँगे। कर्णने बड़े हर्षके साथ उन्हें अपने बदनसे उतारकर इन्द्रको दे दिया। इन्द्र भी प्रसन्न होकर वहाँसे चलने लगे। पर ज्यों ही उन्होंने अपना पैर रथपर रक्खा वह इतना भारी हो गया कि उसके दैवी घोड़े उसे स्वर्गकी ओर न चला सके। रथ अब भूमिको छोड़ नहीं सकता था। इन्द्र यह देख बहुत विस्मित हुए। कुछ विचार करनेपर उन्हें ज्ञात हुआ कि कर्णसे दान लेनेके कारण उनका तपोबल इतना क्षीण हो गया है कि जिसके कारण अब वे स्वर्गकी ओर नहीं जा सकते। इन्द्रने समझा कि इतने लाभ और पार्थिवताको अपनेमें स्थान देनेवाले पुरुष स्वर्गकी दैवी विभूतियोंका और स्वतन्त्रताका अधिकारी नहीं हो सकता!

इन्द्र लौटकर कर्णके पास आये और उसे अपना वास्तविक रूप दिखाकर अपने मनका पाप उसके सम्मुख प्रकट किया और कर्णसे कुछ लेनेके लिये कहा। कर्णने पहले तो कहा कि मैं भिखारियोंसे कोई अनुग्रह नहीं चाहता हूँ। पर इन्द्रके बराबर आग्रह करनेपर कर्णने उनकी अमोघशक्तिको स्वीकार कर लिया। इससे उनकी पार्थिवता कम हुई, उनकी आत्माका बोझ हलका हुआ और वे स्वर्गकी ओर जा सके।

इस कथाका सारांश यही है कि कोई भी व्यक्ति दूसरोंका उपकार सहकर बड़ा नहीं रह सकता। उसका तपोबल क्षीण हो जाता है। वह न तो लोक-सम्मानका अधिकारी रहता है और न उसके पास दैवी विभूतियाँ ही टिकती हैं। बड़ी-से-बड़ी स्थिति-वाला व्यक्ति भी किसीको छले तो उसका छल उसे अवश्य ही नीचे गिरा देता है। जबतक अपने किये पापको मनुष्य स्वीकार नहीं करता वह उससे मुक्त नहीं हो सकता। इन्द्रने अपने छलको कर्णके सामने स्वीकार किया और वे उसके लिये प्रतिकार करनेके लिये तैयार हुए तभी वे स्वर्ग जा सके। आत्माका बोझा लेनेसे भारी होता है और देनेसे हलका। यह बात इस पौराणिक कथासे स्पष्ट होती है। 'यही आध्यात्मिक समीकरण' का नियम है।

राजा बलि और वामनकी कथा भी इसी सत्यको सिद्ध करती है। जब विष्णुभगवान् बलिके द्वारपर उससे दान लेनेकी इच्छासे गये तो उन्हें एक बौनेका रूप धारण करना पड़ा। जब उन्होंने बलिसे मुँह-मागा दान पा लिया तो उनका पद और भी कम हो गया। उन्हें चिरकालके लिये पातालमें बलिके द्वारपर पहरुआ बनकर रहना पड़ता है।

उपर्युक्त कथाको यदि आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाय तो यह अर्थ निकलेगा कि आत्मा—जो कि विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी है जब संसारी भोगोंका अभिलाषी होता है तो उसे अपने बृहत् रूपको भूलकर बौना बन जाना पड़ता है। जब वह उन भोगोंको प्राप्त कर लेता है तो उसे भोगविषयक प्रकृतिका दास होना पड़ता है। व्यावहारिक अर्थ इस कथाका यह है कि जब कोई दूसरेसे कुछ माँगता है तब वह अपना बड़प्पन खो बैठता है। अपनी आत्माको बौना बना देता है।

हमें सदा देनेकी भावनाको ही अपनेमें दृढ़ करना चाहिये। इसीसे आत्माके बृहत् रूपका हमें ज्ञान होता है, उसकी पार्थिवता घटती है और आनन्दके शुद्ध स्वरूपका भान होता है। माँगनेकी वृत्तिके परिणाम इसके विपरीत होते हैं। संसारमें जो कोई बड़ा होता है, त्याग, दान और सेवाके भावसे ही बड़ा होता है। देने और पानेके पलड़े सदा बराबर रहते हैं। 'यह आध्यात्मिक समीकरण है।'

जहाँतक बन पड़े, छोटी-से-छोटी वस्तु भी किसी-से भी बिना मूल्य चुकाये नहीं लेनी चाहिये। यदि किसी कारणवश लेनी भी पड़े तो उसका बदला जल्दी-से-जल्दी चुका देना चाहिये। जो व्यक्ति दूसरोंके धनके भरोसे रहता है उसका जीवन कदापि सुखी नहीं हो सकता है। हमें बार-बार अपने पड़ोसीसे कोई चीज माँगने नहीं जाना चाहिये। इससे हमारा सम्मान जाता रहता है। हमारे व्यक्तित्वका गुरुत्व उसी समयतक रहता है जबतक हम अपना हाथ किसीके सामने नहीं पसारते। जब हम किसी व्यक्ति-की किसी प्रकारकी सेवा स्वीकार करते हैं तो चाहे बाह्यरूपसे इस व्यवहारका कोई परिणाम न दिखायी पड़े, वह हमसे कुछ भी पानेकी आशा न करे पर हमारा और उसका सम्बन्ध अव्यक्तरूपमें तो बदल ही जाता है। वह अपनेको ऊँचा मानने लगता है और हम उसके सामने नीचे बन जाते हैं। 'यह आध्यात्मिक समीकरण'के नियमके अनुसार है। जबतक आप किसी व्यक्तिसे, चाहे वह कितना ही श्रीमान् क्यों न हो, कुछ भी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रखते, तबतक उसमें और आपमें बराबरीका भाव रहता है, पर ज्यों ही यह भावना हृदयमें आयी कि हमें उससे कुछ अपना स्वार्थ सिद्ध करना है तो अपना पलड़ा उसी समय हलका हो गया और उसका भारी। उसका और हमारा व्यवहार तुरन्त ही बदल जाता है, यह

स्पष्टरूपसे चाहे हम और वह दोनों ही स्वीकार न करें पर दोनोंका अव्यक्त मन इस बातका अनुभव करने लगता है और अनेक प्रकारकी क्रियाओंके द्वारा वह छिपी भावना प्रकट होने लगती है।

संसारके धनी लोग विद्वानोंको धन देकर और राजसत्ताके अधिकारी अनेक प्रकारके खिताब देकर अपना अधिकार उनके मनपर जमाते हैं। खिताब लेनेवालोंकी बुद्धि सदा खिताब देनेवाली सत्ताकी गुलाम रहती है। इसीलिये महात्मा गाँधीने १९२१ में भारतवासियोंकी बुद्धि स्वतन्त्र करनेके लिये सरकारी खिताब लौटानेका जनताको आदेश दिया था। जब हालेंडके तत्त्ववेत्ता स्पैनोजाका नाम संसारमें फैला तो फ्रांसके राजा चौदहवें ल्युईने उसे १४००० फ्रेंक सालानाकी भारी पेंसिन देनी चाही। पर स्पैनोजाने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह जानता था कि उस पेंसिनके लेनेसे वह अपनी मानसिक स्वतन्त्रता खो बैठेगा। संसारका कोई भी आत्मसम्मानयुक्त व्यक्ति दूसरोंके अनुग्रहको सहजमें स्वीकार नहीं करता।

'आध्यात्मिक समीकरण'का नियम यह बताता है कि किसी एक कार्यको और उसके फलको किसी प्रकार भी पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि बुरा काम करे तो उसका दण्ड उसको अवश्य भोगना पड़ेगा। और यदि भला काम करे तो उसका उसे अच्छा परिणाम अवश्य मिलेगा। हम कार्य और उसके परिणामका अनिवार्य सम्बन्ध इसलिये नहीं देख पाते कि इन दोनोंके बीचमें कालका बड़ा व्यवधान पड़ जाता है। जिन पुरुषोंकी दृष्टि सूक्ष्म है वे इस सम्बन्धको भलीभाँति देख सकते हैं। हमारे सब कामोंको एक नित्य साक्षी आत्मा देखता है और उससे वे किसी तरह भी छिपाये नहीं जा सकते। ज्यों ही कोई काम किया कि तुरंत उसका लेखा हो जाता है और समय आनेपर उसका पूरा-पूरा भुगतान होता है। हिन्दूधर्म-विचारके अनुसार चित्रगुप्त सदा ही हमारे सब कर्मोंको लिखते रहते हैं और परमात्माके सामने, जो कुछ हमने किया है, कहते हैं। ईसाईधर्ममें भी इसी प्रकारकी भावनाएँ हैं।

यदि कोई मनुष्य किसीकी सच्चे मनसे सेवा करे तो उसका फल उसे अवश्य ही मिलता है। पहले तो जिस व्यक्तिकी सेवा की जाती है वह हमारे अनुग्रहके भारसे लदा रहता है। पर यह लाभ तो बाह्य है जो कभी होता है और कभी नहीं। सच्चा लाभ तो हमारी मनोवृत्तिके शुद्ध होनेका है। दूसरोंके दुःख देनेका विचार हमारे मनको कलुषित करता है और दूसरोंको सुख देनेका विचार मनको पुनीत बनाता है।

जो तो को काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
तोहि फूलके फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

अपना कलुषित मन ही सब दुःखोंका मूल है और पवित्र मन आनन्दका आगार है। जिसका मन अच्छा है वह सब प्रकारकी परिस्थितियोंमें प्रसन्न रहता है, बाह्य जगत् उसको संताप नहीं पहुँचा पाता। तथा जिसका मन दूसरोंको हानि पहुँचानेमें अपना सुख देखता है, जो सदा ईर्षासे जला करता है, तथा लोभके चंगुलमें फँसा है वह सब प्रकारकी अनुकूल परिस्थितियोंमें भी दुखी ही रहता है।

हम संसारमें दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें बड़े सतर्क रहते हैं। हमें सदा भय लगा रहता है कि कहीं कोई हमें ठग न ले। यह भय 'आध्यात्मिक समीकरण' का नियम भलीभाँति समझनेसे चला जाता है। हमें अपने आपके सिवा दूसरा कोई संसारमें ठग नहीं सकता। संसारके सब व्यवहारोंका साक्षी एक सर्वव्यापी परमात्मा है। वह हमारे सभी आन्तरिक विचारोंको जानता है और जिसके जैसे भाव होते हैं उसके अनुसार उसको फल देता है।

वह सदा न्यायकी रक्षा करता है। जब हम इस सर्वव्यापी सत्तापर विचार करते हैं तो हमारा भय हमें अपनी बड़ी भूल मालूम होती है। ठग ठगौरी करनेमें अपनी आत्माको ही धोखेमें डालता है। साधु व्यक्ति किसी प्रकार ठगा नहीं जा सकता। जो व्यक्ति ठगनेके विचार अपने हृदयमें रखता है वह भौतिक लाभ तो पाता है पर अपने मनकी शान्तिको गँवा देता है। साधु व्यक्तिको ठगके द्वारा भौतिक हानि तो होती है पर इससे उसके आध्यात्मिक सुखमें तनिक भी क्षति नहीं होती।

'आध्यात्मिक समीकरण'के नियमका समझनेवाला व्यक्ति किसी कार्यको छिपकर नहीं करता। जो बात आज हम अपने घरके कमरेमें छिपकर एक कोनेमें करते हैं, वह एक दिन घरके छतसे चिल्ला-चिल्लाकर संसारको बतलायी जाती है। यह 'आध्यात्मिक समीकरण' का नियम है। आत्मा सर्वव्यापी है; उससे कौन किसी बातको छिपा सकता है? वास्तवमें संसारके दुःख इसीलिये होते हैं कि हम अपने दुष्कर्मोंको दूसरोंसे छिपाना चाहते हैं। दुःखोंद्वारा हमें इस आत्माको भुलावा देनेकी प्रवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। जो छिपकर किये जानेवाला कार्य है वह स्वयं आत्माको अग्राह्य होता है; अतएव यह एक प्रकारका विकार है जो शारीरिक और मानसिक क्लेशोंद्वारा मनसे बाहर निकाला जाता है। इन क्लेशोंद्वारा आत्मशुद्धि होती है और तब प्रकाश या ज्ञान होता है।

लोग कहा करते हैं कि पाप करनेवाले व्यक्ति नरकमें जाते हैं और पुण्य करनेवाले स्वर्ग जाते हैं। सभी धर्मोपदेशक इस प्रकार लोगोंको सदाचारी बनानेका प्रयत्न करते हैं; तथा उन लोगोंको जो सदाचारसे जीवन बिताते हुए भी अनेक प्रकारके कष्ट उठाते हैं एक प्रकारका संतोष देते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जिन शुभ कर्मोंका फल यहाँ नहीं मिला, अगले जन्ममें मिलेगा और दुष्कर्मीलोग दूसरे जन्ममें दुःख भोगेंगे। इस प्रकारके विचार वास्तवमें समाजको बड़े भारी नियमनमें रखते हैं और गरीब-अमीरके भावसे पैदा होनेवाले दुःखको सहनेयोग्य बना देते हैं। पर तर्कप्रधान बुद्धिवाले व्यक्ति ऐसे विचारोंसे संतोष नहीं पाते। और, लोग इन भावोंका दुरुपयोग भी करते हैं। इसीलिये रूसके सुप्रसिद्ध लेखक बेकोनिन इस प्रकारके विचारोंको ठगोंका जाल समझते हैं जिसमें पड़कर बेचारे भोलेभाले मजदूर और किसान धनियोंकी चंगुलमें फँसकर सदा उनकी दासता किया करते हैं।

पुण्य करनेका, सदाचारी जीवन व्यतीत करनेका प्रत्यक्ष लाभ क्या है; यह 'आध्यात्मिक समीकरण'का नियम समझनेपर ही जाना जा सकता है। सब प्रकारके भोगोंका अन्तिम लक्ष्य आत्मशान्ति ही है। जिसकी बुद्धि भोगोंके दिखावटीरूपसे पूर्णतः भ्रान्त नहीं हो गयी है वह यह सहजमें ही समझ जायगा कि पदार्थोंके संग्रहसे आत्मशान्ति और सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता। जर्मनीके तत्त्ववेत्ता शोपेनहर महाशय लिखते हैं कि 'संसारके मनुष्य सुखके लिये अनेकों सामग्रियाँ एकत्र करते हैं पर सुखका होना तो मनकी स्थिति—उसके भावोंपर निर्भर है।' यदि हमें संसारके सभी भोग प्राप्त हों पर मन विक्षिप्त हो तो क्या हम उन भोगोंसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त कर सकते हैं? अतएव बुद्धिमान् मनुष्य बाह्य पदार्थोंपर भरोसा न करके अपने मनको ही भला बनानेकी चेष्टा करते हैं। स्वार्थबुद्धिसे मन सदा विक्षिप्त रहता है और परमार्थसे मनमें शान्ति आती है। स्वार्थबुद्धिका बढ़ना आत्माके बृहत् रूपको भुलाना है। ऐसी अवस्थामें दुःख ही होता रहता है। सांसारिक वैभवका स्वामी दूसरोंकी दृष्टिमें भले ही

सुखी हो, उसका अन्तरात्मा सुखी है या नहीं यह उसकी मानसिक स्थिति ही बता सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति अपने धनकी अधिकाधिक वृद्धि करना चाहता है तो उसे सुख-चैन कहाँ ? वह तो सदा ईर्षा, क्रोध और भयका शिकार बना रहता है।

'आध्यात्मिक समीकरण' का नियम हमें आत्म-संतोष सिखाता है। यदि हम किसी बातकी योग्यता रखते हैं तो वह अवश्य हमें मिल जायगी; यदि किसीकी सच्ची सेवा करते हैं तो उसका अच्छा फल अवश्य मिलेगा। यह नियम हमें लोभकी फाँसमें फँसनेसे बचाता है; जब भी संसारकी कोई एक वस्तु हमें मिलती है तो कोई दूसरी अवश्य छीनी जाती है। यदि कोई धनी है तो या तो उसके संतान नहीं या सच्चे मित्र नहीं या उसे ज्ञान नहीं। यह नियम दूसरोंके प्रति ईर्षाकी अग्नि हमारे हृदयमें जलनेसे हमें बचाता है। हम यह सोचकर कि बाह्य सुख और आन्तरिक शान्ति एक नहीं, अपने चित्तको समाधान कर लेते हैं। अतएव इसका भलीभाँति समझना मनुष्यमात्रके लिये बड़ा कल्याणकारी है। इस बातपर बार-बार विचार करना और इसका मनन करना चाहिये।

शिक्षा कैसी हो ?

(लेखक—आचार्य श्रीगिजुभाई बधेका)

शिक्षाका अर्थ है मनुष्यका सर्वाङ्गीण विकास। और विकाससे मतलब है—शरीरकी, इन्द्रियोंकी, मनकी, मनुष्यके हृदयमें बसी हुई शुभ भावनाओंकी, और अन्य सब शक्तियोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि, उनका विस्तार और उनकी परिपूर्णता !

विकासकी यह क्रिया आत्माहीकी तरह स्वयंभू है। अर्थात् विकास मनुष्यकी प्रकृतिमें सहज है, स्वाभाविक है। विकासका विरोध या दमन उसकी इस प्रकृतिके विरुद्ध है—उसका विकृत रूप है !

शिक्षाका आयोजन और प्रबन्ध करनेवाली शक्तियाँ यदि मनुष्यके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ खड़ी कर दें, और उसके सर्वाङ्गीण विकासमें हर तरह उसकी सहायता करें, तो विकास त्वरित गतिसे हो, वह पुष्ट और बलवान् बने और उसका जो लक्ष्य है, यानी उत्तरोत्तर अपनी शक्तिका अधिकाधिक दर्शन, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, वह शीघ्र ही सिद्ध हो !

आजकलके इस ज़मानेमें लोग शिक्षाके इस विधानको सिद्धान्तके रूपमें भी प्रायः भूल गये हैं। इसी कारण आज शिक्षाका अर्थ बहुत ही संकुचित हो गया है। चारों तरफसे शिक्षाके अर्थको इतना मर्यादित कर दिया गया है कि मनुष्यकी आत्मा मर्यादाओंके इस बोझसे दब गयी है। नतीजा यह हुआ है कि अपने आपको पहचाननेके लिये मनुष्यको जिसकी आवश्यकता है, वह उसके लिये प्रायः अप्राप्य हो गया है। इसीलिये आज हम देखते हैं कि शिक्षाके स्थानपर अशिक्षा ही अधिक फल रही है। शिक्षाकी जो व्यवस्था शरीरके विकासके लिये, इन्द्रियोंके विकासके लिये, बुद्धिके विकासके लिये, नागरिकताके विकासके लिये, मनुष्यको राष्ट्रका उत्तम अंग बनानेके लिये, उसे उत्तम और सुन्दर मनुष्य बनानेके लिये, या उससे मनुष्यके धर्मोंका पालन करानेके लिये की जाती है, वह एक अपूर्ण व्यवस्था है। विकासकी सम्पूर्ण व्यवस्था तो वह होगी, जिसे पाकर मनुष्य मुक्तिमार्गका पथिक बनेगा और बन्धनोंसे मुक्त होगा।

ऐसी व्यवस्थाका विधान ठेठ बचपनसे होना चाहिये। शिक्षाकी दृष्टिसे बालकके जन्मसमयसे लेकर उसके अन्तिम दिनतक उसके चहुँओर ऐसे साधन प्रस्तुत रहने चाहिये, जिससे उसे कल्याणलक्षी वातावरण, आदर्श आचरण, ज्ञान-विज्ञानका शिक्षण और सत्संग आदिका सतत लाभ मिलता रहे। शरीर और मनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें शिक्षाकी भिन्न-भिन्न मात्राओं और उसके विभिन्न स्वरूपोंद्वारा मनुष्यको ऐसी अनुकूलता मिलनी चाहिये, जिससे वह आगे बढ़ सके। और उसे जो विषय सिखाये जायँ, वे इस तरह

सिखाये जायँ कि उनका अन्तिम लक्ष्य सदा हमारी आँखोंके सामने बना रहे !

इस प्रकारकी शिक्षा या संस्कारके लिये जिन-जिन विषयों या वातावरणोंकी योजना की जाय, वे विषय और वे वातावरण हमें अपने निश्चित लक्ष्यकी ओर ले जानेवाले हैं या नहीं, इसका विचार पहलेहीसे कर लेना चाहिये । और यह सब इस तरह सिखाना चाहिये, कि सीखनेवालेको जल्दी ही विषयका ज्ञान और भान हो जाय और वह सब सचाई लिये हुए हो ।

यदि ऐसा किया जाय, तो लेखन, वाचन, गणित, प्रकृति-परिचय, विज्ञान, कला-कौशल आदि सब विषयोंकी शिक्षा आजकल जिस मर्यादित और संकुचित अर्थमें दी जाती है, उसके बदले, विशाल और अमर्यादित अर्थमें, यानी परम-व्यापक लक्ष्यको सामने रखकर दी जाने लगे और यदि ऐसा हो, तो आजकलकी शिक्षाका जो ऐहिक दृष्टिकोण है, वह न रहे; और उसके स्थानपर नवीन शिक्षाका लक्ष्य ऐहिक एवं पारमार्थिक, दोनों प्रकारकी, उन्नति बन जाय ! परिणाममें मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको पाकर आत्यन्तिक शान्तिका अनुभव करेगा ।

आजकल हमारे प्राथमिक, माध्यमिक या उच्च विद्यालयोंका लक्ष्य आधिभौतिक ही विशेष है, अतएव वह त्याज्य है । इन विद्यालयोंमें पढ़ाये जानेवाले विषय हमारे लक्ष्यके सूचक नहीं हैं; बल्कि इन्हें पढ़ानेकी जो दृष्टि है, वह लक्ष्यसूचक है । आज पढ़ानेका अर्थ सिखाना, यानी समझाकर अथवा बिना समझाये ही, किसी विषयको कण्टाग्र करा लेना है । आजकलकी पढ़ाईका अर्थ है, परीक्षामें पास होना ! कितना क्षुद्र और संकुचित है यह अर्थ ! आज विद्याकी समाप्ति और तृप्ति इसीमें समझी जाती है कि विद्याध्ययनके बाद मनुष्य इस योग्य हो जाय कि वह थोड़ा जीविकोपार्जन कर सके और बौद्धिक विषयोंको ठीक-ठीक समझ ले । यह स्थिति संतोषजनक नहीं है और परिवर्तनकी अपेक्षा रखती है । आवश्यक है कि शिक्षाकी समग्र पद्धतिका पुनरुद्धार हो—शिक्षाका लक्ष्य स्पष्ट और सुनिश्चित बन जाय और उसतक पहुँचनेके सब उचित साधन प्रस्तुत हो जायँ ।

इस पुनरुत्थानमें पहली चीज़ है—बालकका सम्मान । हम इस बातको भूल ही गये हैं कि बालकके अंदर जो शक्ति मौजूद है, वह बालकके शरीरकी तरह अल्प, असहाय अथवा अपंग नहीं है । स्मरण रहे कि बिलकुल छोटा होते हुए भी जिस प्रकार बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष समाया रहता है, और इसीलिये बीजकी महत्ता फलसे कम नहीं है, उसी प्रकार छोटा होते हुए भी बालकके अंदर भविष्यमें विकसित होनेवाले विराट् मनुष्यका सम्पूर्ण सत्त्व समाया हुआ है । आज हम अपने आत्मगौरव और सम्मानको भूल चुके हैं । परिणाम यह हुआ है कि आज हमारे दिलोंमें बालकोंके प्रति तिरस्कार, घृणा, तुच्छता, अवहेलना और अपमान आदिके भाव पैदा हो गये हैं । बालकको उसकी देहके समान ही छोटा समझकर, उसकी शिक्षा-दीक्षाके लिये हमने विषय भी वैसे ही साधारण और प्राकृत चुने हैं । यह सोचकर कि बालक तो एक छोटा-सा शरीरधारीमात्र है, जिसके कुछ इन्द्रियाँ भी हैं और मन नामकी भी कोई चीज उसके पास है, जो शिक्षा बालकको दी जाती है, आत्माकी दृष्टिसे वह बहुत हानिकारक होती है । आज जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें मनुष्यको केवल कुछ इन्द्रियोंवाला एक शरीरधारी ही माना है, जिसमें आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है और जिसका शरीर-यन्त्र अपनी गतिसे चलता रहता है । इसका प्रमाण यह है कि मौजूदा पाठ्यक्रमोंमें आत्माकी भूखकी तृप्तिका कोई साधन नहीं है—किसीके सामने यह दृष्टि ही नहीं रही है ।

बचपनके साथ ही मनुष्य अपनी जवानी, बुढ़ापा और मृत्युके बीज बोता है । सूर्यके उगते ही उसके अस्त होनेका समय शुरू हो जाता है । इसी तरह बालककी वृद्धिके साथ ही उसके अन्तकी क्रिया भी शुरू हो जाती है—उसका जीवन-यन्त्र एक सिरेसे वृद्धिके और दूसरे सिरेसे अन्तके साधन प्रस्तुत करने लगता है । ऐसी परिस्थितिमें हमें देखना चाहिये कि मनुष्यके जन्मके साथ ही उसे अन्तमें जिस चीज़की ज़रूरत है, उस चीज़को पानेकी क्रिया भी शुरू हो जाय । और वह चीज़ है—मुक्ति, बन्ध-विमोचन या आनन्द । दो पत्तोंवाला नन्हा पौधा एक सम्पूर्ण वृक्ष है, जो प्रतिपल फूलों और फलोंके लिये जीता है और पोषण ग्रहण करता है । फूल और फल वृक्षकी किसी अवस्थाकी आकस्मिक परिणति नहीं हैं । जिस क्षणसे वृक्ष अपना जीवन शुरू करता है, उसी क्षणसे वह फूलों और फलोंके लिये भी पोषण पाना शुरू कर देता है । यदि वह ऐसा न करे, तो फूल-फल ही न सके । इसी प्रकार नन्हा होते हुए भी बचपनहीसे बालक सम्पूर्ण मनुष्य बननेकी शिक्षा ग्रहण कर सकता है; वह ग्रहण करनेका यत्न करता है, और विरोध या रुकावट न हो, तो ग्रहण करता भी है ।

अपने वर्तमान जीवन-क्रममें हम इस बातको भूल-से गये हैं कि बालकको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी शिक्षाके साधन आरम्भहीसे देने चाहिये। जिस शिक्षणद्वारा हम केवल लेखन-वाचन या गणितकी शिक्षा देते हैं, केवल इन्द्रिय-विकासके साधन जुटाते हैं, केवल उद्योगकी शिक्षा शुरू करते हैं, केवल सदाचारकी शिक्षा देते हैं अथवा केवल नैतिक बुद्धिका विकास करते हैं, वह शिक्षण अपूर्ण है—अधूरा है।

अलबत्ता, आजकलके मदरसोंमें नैतिक विकास, बौद्धिक विकास, इन्द्रिय-विकास अथवा शारीरिक-विकासकी दिशामें कोई खास यत्न नहीं किया जाता है। हाँ, इन सब शक्तियोंका ह्रास अवश्य होता है। ज़बर्दस्ती किसीकी आज्ञाका पालन करना और सत्य आदि गुणोंकी प्राप्तिके लिये भय और इनामकी शरण लेना, बहुत ही अनुपयुक्त और अनीतिपूर्ण है। वैसे ही ये ढंग और उपाय पतनकारी हैं—इनका आश्रय लेकर हम अपने बालकोंको नीतिमान् नहीं, बल्कि नीति-विरोधी ही बनाते हैं।

बौद्धिक विकासके स्थानपर बालकके दिमाग़में तरह-तरहकी जानकारी ठूँसी जाती है। स्मृतिका विकास या जानकारीका संग्रह बुद्धि-विकासका प्रतीक नहीं है। बुद्धिका सच्चा विकास तो वह है जिसके द्वारा मनुष्यमें सत्-असत्‌का, अच्छे-बुरेका विवेक पैदा हो, वह न्याय-अन्यायको तौल सके, उसका मन समतायुक्त हो सके; उसके विचारोंमें विशालता और तर्कमें शुद्धि आ सके। रट-रटाकर घटनाओंको याद रखनेसे बुद्धिका उतना विकास नहीं होता, जितना ह्रास होता है।

हमारे विद्यालय अभीतक नहीं जानते कि इन्द्रियोंका विकास क्या चीज़ है। इन्द्रियोंका उपयोग जितना सहज है, उनके द्वारा उपभोग भी उतना ही सहज है। परन्तु यह उपयोग या उपभोग इन्द्रिय-विकास नहीं है; वह तो इनसे बिलकुल निराली एक चीज़ है। इन्द्रियाँ मनके शस्त्र मात्र हैं। इन्द्रियोंकी, इन्द्रियोंके बलकी, उनके तेज और उनके संयमकी आवश्यकता इसलिये है कि उनके द्वारा हम बाह्य जगत्‌को समझ सकते हैं, उसके साथ सच्चा सम्पर्क साध सकते हैं, अर्थात् अपने अन्दर विज्ञानकी दृष्टि पैदा कर सकते हैं, अपनी दृष्टिसे दूसरोंको देख-परख सकते हैं और उनके गुण-धर्मोंको समझ सकते हैं। घोड़ोंकी तरह इन्द्रियाँ भी हमारे वाहन हैं। अतएव उनका बलवान् और तेजस्वी होना आवश्यक है। वे इतनी सूक्ष्म-संस्कार-क्षम होनी चाहिये कि महान् कार्योंके लिये मन उनका उपयोग कर सके और इतनी लचीली या स्थिति-स्थापक होनी चाहिये कि हाज़िर नौकरकी भाँति सदा अनुकूल रहें,—जिधर मोड़ना चाहें, उधर मुड़ सकें!

कला-कौशलकी शिक्षा तो जीवनकी शिक्षाको सफल बनानेका एक साधनमात्र है। वह हमारा ध्येय नहीं, तथापि जहाँ ध्येयकी दृष्टिसे इनकी शिक्षा दी जाती है, वहाँ जैसा कि अबतक होता आया है, सीखे हुए लोग प्रायः यन्त्रवादी और नास्तिक ही बने हैं। कला-कौशल या उद्योगकी शिक्षा मनुष्यगत सृजन-शक्तिके विकास और तृप्तिके लिये आवश्यक है। सृजन मनुष्यका स्वभाव है। इस स्वभावका विरोध करके उसने पुनः-पुनः विकृत और पतनका अनुभव किया है। यह सब होते हुए भी निरी सृजनात्मक प्रवृत्तिवाली शिक्षा भी अधूरी शिक्षा है, क्योंकि सृजनद्वारा मनुष्यकी वृत्तियाँ विकसित होती हैं, विशाल बनती हैं, अपनी महत्ता और उच्चताका दर्शन पाती हैं, पर जो असल चीज बन्धन-मुक्ति या मोक्ष है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होता! अतएव सृजन या कला भी हमारी शिक्षाका साध्य नहीं, साधन मात्र है।

आजकलके विद्यालयोंमें दी जानेवाली सदाचारकी शिक्षा निरर्थक सिद्ध हुई है। महापुरुषोंकी जीवनी सुनानेसे, सदाचारके व्याख्यान देनेसे अथवा सदाचारका आग्रह रखनेसे और सदाचारी न बननेपर दण्डका प्रयोग करनेसे या सदाचारी बनानेके लिये भय या पुरस्कारको सामने रखनेसे मनुष्यके अंदर यह चीज़ पैदा नहीं होती। मनुष्य स्वभावसे सदाचार-प्रिय है, परन्तु उसे सदाचारी बनानेके लिये आज जिस शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग किया जाता है, वह उसे उलटा सदाचार-विरोधी बनाती है। इस प्रकार बालकोंसे बलात् सदाचारका पालन करवानेका ही यह परिणाम है कि आज हमारे यहाँ गुरु-द्रोह, पितृ-द्रोह, समाज-द्रोह आदि-आदि रात-दिनकी बातें हो गयी हैं।

देशकी कुछ संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षा दी जाती है। लेकिन इस धार्मिक शिक्षाका व्यावहारिक रूप धर्म-सूत्रों आदिकी रटाईके रूपमें ही प्रकट होता है। कहीं-कहीं धार्मिक शिक्षाके सिलसिलेमें धर्म-कर्म, क्रिया-काण्ड आदि कराये जाते हैं। लेकिन इन संस्थाओंमें प्रायः विद्यार्थी इन सब धर्म-कर्मोंका जडवत् या यन्त्रवत् ही करते हैं। क्योंकि ये सब कर्म उनसे

ज़बरदस्ती करवाये जाते हैं, जिससे छात्रोंके मनमें इनके प्रति तिरस्कार, घृणा और उकताहटके भाव पैदा होते हैं, और वे सदाके लिये इनके दुश्मन बन जाते हैं। जो लोग धार्मिक शिक्षाका पाठ्यक्रम तैयार करते हैं और उसका सख्तीके साथ पालन करवाते हैं, वे मनुष्यकी धर्म-विषयक प्रकृतिको नहीं जानते। उनको यह भी पता नहीं होता कि शिक्षा किस प्रकार देनी चाहिये। केवल एक बात वे अच्छी तरह जानते हैं, और वह है, किसी भी तरह धर्मका पालन कराना। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक जीवनके लिये धर्म-पालन आवश्यक है; परन्तु वे लोग भूलते हैं, जो समझते हैं कि जड़की तरह धर्मका पालन करना, धार्मिक जीवन बिताना है। इसी भ्रमके कारण लोग छात्रोंसे ज़बरदस्ती धार्मिक क्रियाएँ करवाते हैं। कहीं-कहीं इन क्रियाओंमें भाग न लेनेवाले छात्रोंको सज़ा भी दी जाती है। जुर्माना भी किया जाता है। मनुष्यके लिये धर्म उसकी एक वृत्ति है और बुद्धि एक प्रकारकी समझ है; यह वृत्ति या यह समझ उसे शाब्दिक उपदेशोंद्वारा अथवा बाह्य आचरणद्वारा प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार ककहरा या बारहखड़ी सीख लेनेसे मनुष्य बुद्धिमान् या विवेकवान् नहीं बन सकता, उसी प्रकार केवल कर्म करनेसे धर्म पैदा नहीं होता है यही बात नीति-शिक्षापर भी घटित होती है। नीतिका सम्बन्ध आचरणसे है; निरे उपदेशद्वारा कोई उसे नहीं पा सकता। जिस प्रकार निरे उपदेशसे लँगड़ा (आदमी) चल नहीं सकता, और मंदबुद्धि कुशाग्र नहीं बन सकता, उसी प्रकार सत्यवादिताका उपदेश मात्र करनेसे कोई मनुष्य सत्यवादी नहीं बनता।

आजकलके विद्यालयोंमें कहीं भी वह चीज़ नहीं सिखायी जाती, जो दरअसल सिखायी जानी चाहिये। न वैसा वातावरण ही उनमें रहता है, जिससे छात्र उस चीज़को सीखनेके लिये प्रेरित हो। इसका एक कारण तो यह मालूम होता है कि जिनके हाथमें शिक्षाका प्रबन्ध है, वे शायद नहीं जानते कि बालकोंको ठेठ बचपनहीसे आत्मज्ञान जैसी चीज़की शिक्षा दी जा सकती है। उनका कुछ ऐसा ख़याल मालूम होता है कि बालककी बुद्धि इस चीज़को ग्रहण नहीं कर सकती। परन्तु यह उनकी गलती है। जिस प्रकार शरीरके पोषण और विकासके लिये आरम्भहीसे उचित परिमाणमें सब प्रकारके खाद्य और पेय पदार्थ लिये जाते हैं, उसी प्रकार मन और आत्माके विकासके लिये भी आरम्भहीसे एक निश्चित प्रमाण और क्रम हो सकता है। जो विराट् है, और सर्वत्र व्यापक है, उसके अपूर्व और अद्भुत सौन्दर्यका अनुभव करनेके लिये किसी प्रमाण और क्रमकी भी आवश्यकता नहीं! इसके लिये तो सौन्दर्यके बीचमें जाकर खड़े रहना ही शिक्षा और प्रेरणाके लिये काफी है। इसी प्रकार जो कुछ उच्च और महान् है, उसका प्रमाण या क्रम सामने रखनेकी अपेक्षा उसके वातावरणको प्रस्तुत करना अधिक इष्ट है, और यही वातावरण शिक्षा-रूप बन जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने विकासके लिये वातावरण और व्यायामकी अपेक्षा रखती है। सहानुभूति और संरक्षण चाहती है। आज अलगसे किसीको यह समझानेकी ज़रूरत नहीं कि हमारे वर्तमान विद्यालयोंमें किसी भी चीज़को भलीभाँति समझने या पानेके लिये जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसमेंसे कुछ भी नहीं है। जहाँ यह हालत है, वहाँ आत्मविकासकी तो बात ही क्या? यदि कोई हमसे कहे कि अमुक पेड़को शुरूहीसे अमुक तरहका खाद न मिला, तो वह बड़ा होगा, मोटा भी होगा, डालियों और पत्तोंसे सुशोभित भी हो जायगा, परन्तु फूले-फलेगा नहीं, तो जिस तरह हम शुरूहीमें उसे उपयुक्त खाद पहुँचानेका यत्न करेंगे, उसी तरह यदि हमें पता हो कि आत्मसाक्षात्कारके लिये शुरूहीसे अमुक प्रकारकी शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये, तो आवश्यक है कि हम उसी प्रकारकी शिक्षाका प्रबन्ध करें। आज जिस शिक्षाका प्रबन्ध है, वह तो फूलों-फलोंसे हीन शिक्षा है और उसका जो कुछ परिणाम है, हमारे सामने है।

ऊपरकी सारी चर्चाका सार यह है कि बालकोंको बचपनहीसे अध्यात्मविद्याका भी ज्ञान कराना चाहिये; किन्तु ऊपर कहे गये किसी ढंगसे नहीं। जिस प्रकार यह सच है कि श्वासोच्छ्वासके लिये बालकोंको साफ हवा मिलनी चाहिये, किन्तु इसके लिये हम पंपद्वारा उनके फेफड़ोंमें हवा नहीं पहुँचाते, उसी प्रकार बालकोंमें आत्मासम्बन्धी बातोंका या मुक्तिका ज्ञान हम उपदेशों, साधनों, शिक्षा अथवा कर्मकाण्डोंद्वारा बलात् पैदा नहीं कर सकते। परन्तु प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि वे वातावरणमेंसे सच्ची चीज़को श्वासोच्छ्वासकी तरह सहज गतिसे ग्रहण कर लें।

जिस प्रकार हम अपने लिये और बालकोंके लिये सौन्दर्य, संगीत, स्वास्थ्य आदिका उच्च वातावरण तैयार कर सकते हैं, और बालक भी उसमें डूबकर उससे पोषण पा लेते हैं; जिस प्रकार अनन्त जल-राशिमेंसे सब अपनी-अपनी शक्तिके

अनुसार जलपान करके तृप्ति पा लेते हैं, उसी प्रकार यदि शिक्षणमें भी हम उन्नतिकारक साधनोंका वातावरण तैयार करें, तो उसमें रह-सहकर बालक सहज गतिसे उसका रसपान कर सकेंगे और उससे लाभ उठा सकेंगे ।

एक साधारण-से तत्त्वको लीजिये । और वह है शान्तिका तत्त्व या वातावरण । सार्वत्रिक या व्यापक शान्ति ऐसी चीज़ है कि जिसके फैलते ही निथरे हुए पानीमें जिस प्रकार बालू, शंख, सीप आदि साफ़-साफ़ दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार हम अपने अंदर उच्च शक्तिकी स्फूर्तिका अनुभव करते हैं । कोलाहल बहिर्मुखताका और शान्ति अन्तर्मुखताका चिह्न है । अन्तर्मुखवृत्तिके लिये शान्तिका वातावरण बहुत ही अनुकूल वस्तु है । जिस दिन हमारे घरोंमें, समाजमें और विद्यालयोंमें शान्तिका साम्राज्य क़ायम होगा, वह दिन उच्च शिक्षाकी दिशामें पहला क़दम बढ़ानेवाला दिन होगा ।

दूसरे तत्त्वको लीजिये—वह है, व्यवस्था और स्वच्छता । स्वच्छ और व्यवस्थित वातावरण मनुष्यकी शक्तियोंको स्वस्थ और निर्भय बनाता है । आत्मिक दर्शनके लिये ये साधन उपकारक हैं । स्थूल दृश्योंकी स्वच्छता और व्यवस्था मनुष्यको धीमे-धीमे आन्तरिक शक्तियोंकी व्यवस्थाकी ओर प्रेरित करती है । अब तो हम इस बातको जानने लगे हैं कि बाहरका मनुष्य अंदरके मनुष्यको और अंदरका मनुष्य बाहरके मनुष्यको प्रभावित करता रहता है ।

नैतिक गुणों, उच्च अनुभूतियों और भावनाओंको हम विकासकी भूमिकाकी अगली सीढ़ियाँ समझते हैं । बचपनकी शिक्षामें विज्ञानकी शिक्षाद्वारा हम नीतिका सुन्दर और सुदृढ़ आरम्भ करा सकते हैं । विज्ञान सत्यका उपासक है । जीवन-साधनाकी उड़ानमें एक पंख सत्यका है, और दूसरा अहिंसाका । अहिंसाकी सिद्धि निर्भयतामें है । जो निर्भय है, वही अहिंसक है, क्योंकि उसे हिंसाका कोई प्रयोजन नहीं रहता ।

शिक्षण और जीवनमेंसे दण्ड, भय, लालच आदि भयमूलक वस्तुओंको मिटानेका अर्थ है—उच्च शिक्षाका निषेधात्मक प्रबन्ध करना । अहिंसाका विधायक रूप है—सर्वात्मसत्त्वभाव—सबको अपनी तरह समझना । पशु, पक्षी, पतिङ्गों, कीड़ों और वनस्पतियोंके पालन और परवरिशमें यह भाव मौजूद है । इसके द्वारा बालकोंमें समता आती है । इससे प्रेम-भावका विकास होता है । इसमें अहंका त्याग और सर्वात्मभावकी जागृति है । आत्माकी सर्वव्यापकताको समझनेका एक लक्षण यह है कि मनुष्य दूसरोंके प्रति सहानुभूति रक्खे, दूसरोंके लिये अपनेको भूल जाय, दूसरोंके लिये अपना बलिदान कर दे ! अपने विद्यालयोंमें हम इस चीज़का वातावरण ऊपर कहे गये ढंगहीसे खड़ा कर सकते हैं । प्रेम, सहयोग, समर्पण, त्याग सभी उत्कृष्ट मनोदशाके लक्षण हैं ! यदि आप चाहते हैं कि आपके बालक परस्पर प्रेम करें, सहायता करें, स्वतन्त्रतापूर्वक एक-दूसरेसे सीखें-सिखायें, तो यह तभी हो सकता है जब आप उस वातावरणको मिटा दें जिसका लक्ष्य, नम्बर या मार्क, परीक्षा, स्पर्द्धा और इनाम वगैरह हैं ! इसके अतिरिक्त इस चीज़का वातावरण तब पैदा होता है जब बालकोंको सहशिक्षा और सहजीवनका लाभ मिलता है, और वे अपने-आपको भूलकर एक-दूसरेको सिखाने-समझाने बैठ जाते हैं । बालकके अंदर इस प्रकारकी वृत्ति स्वयंभू होती है । बचपनकी वृत्तियाँ बड़ेपनकी मर्यादित स्वार्थ-बुद्धिसे कुण्ठित नहीं रहतीं । आवश्यकता इस बातकी है कि इन सब शुभ वृत्तियोंका रक्षण और पोषण किया जाय । पुरानी पाठशालाओंका पाठ्यक्रम, उनकी शिक्षा-पद्धति और उनका वातावरण शुभ वृत्तियोंका द्रोह करनेवाला है । इस द्रोहका विनाश करना हमारा कर्तव्य है ।

शिक्षागुरु स्वयं एक उत्तम वातावरण है । वह और कुछ भले न हो; उसे कम-से-कम जिज्ञासु और मुमुक्षु तो अवश्य होना चाहिये । यह ज़रूरी है कि उसका ज्ञान आत्मलक्षी हो, उसकी क्रियाएँ कल्याणकामिनी हों । शिक्षक या गुरु अथवा शिक्षागुरु बननेका काम बहुत कठिन माना जाता है, क्योंकि उसे स्वयं बालकोंके हितकी दृष्टिसे वातावरण-रूप बनकर रहना पड़ता है और अपने-आपको भूलकर अपने स्व का ही श्रेय सिद्ध करना पड़ता है ।

अतएव शिक्षक या गुरुका न तो अपना कोई मत या पन्थ होता है, न उसके अंदर स्थल-कालकी बाधक भावना होती है, और न उसकी दृष्टि समाज या राष्ट्रसे मर्यादित रहती है । उसका दर्शन विराट्, उसका ज्ञान-विज्ञान परम ज्ञान और उसका ध्येय मुक्तिकी उपासनाके लिये अनुकूल ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है ।

अनुवादक काशीनाथ त्रिवेदी

पवित्र जीवनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

जो व्यक्ति यह जानता है कि प्रभु सत्कार्योंसे प्रसन्न होते हैं और प्रभुकी प्रसन्नताके हेतु सदैव सत्कार्योंमें दत्तचित्त रहता है उसीका प्रयत्न सच्चा प्रयत्न कहा जायगा। जिसे शुभकार्य प्रिय होते हैं, सद्गुणोंको जो आदरकी दृष्टिसे देखता है, उन्हींको अपना आदर्श मानता है, उन्हें धारण करता है—समझ लेना चाहिये कि उसके विचार उन्नत और पवित्र हो रहे हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति शुभकार्यों तथा उनके करनेवालोंको घृणाकी दृष्टिसे देखता है, उनपर क्रोधित होता है, सद्गुणोंका ग्रहण करनेसे विरक्त रहता है अथवा यदि कभी उन्हें ग्रहण करनेकी चेष्टा भी करता है तो वह केवल किसी क्षुद्र स्वार्थसाधनके लिये या नाम और प्रशंसाके लिये हो—वह बहुत नीचे गिरा हुआ व्यक्ति है। उससे पवित्रता कोसों दूर है। वह जबतक सच्चे हृदयसे अपनी उन्नतिकी आकांक्षा करके सद्गुणोंको अपनाना न सीखेगा, शुभकार्योंमें भाग लेनेकी शिक्षा न ग्रहण करेगा—तबतक उसके विचार पवित्र नहीं हो सकते।

एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं। अवगुण और अपवित्रताका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनका और पवित्रताका तीव्र विरोध है। जहाँ एक होगा दूसरा नहीं टिक सकता। सत्य और असत्य एक ही स्थानपर नहीं रह सकते। अतः प्यारे शुभेच्छुओ! सत्कर्मों और सद्गुणोंका ग्रहणकर अपना कल्याण करो! पवित्र विचारवालोंका मन सर्वथा पवित्र होता है। उसमें गंदी वासनाओं और घृणित विषयोंके लिये स्थान ही नहीं होता। उनका मन उनके वशमें रहता है। वे जिधर चाहते हैं उधर उसकी बागडोर घुमा देते हैं। यह कोई आसान काम नहीं है। कहा है, कि—'जितं जगत्केन ? मनो हि येन।' जिसने मनको जीत लिया उसने संसारको जीत लिया। बड़ी तपस्याके उपरान्त मनपर विजय मिलती है। तभी तो—

'जग जीतनेसे बढ़कर है नफ्स जीत लेना!'

और—

'बड़ी मुश्किलसे क़ाबूमें दिले दीवाना आता है।'

पर पुरुषार्थीके लिये संसारमें कोई कार्य असम्भव नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण जब अर्जुनको स्थितप्रज्ञके लक्षण बताने प्रारम्भ करते हैं तो सर्वप्रथम यह कहते हैं कि—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २।५५)

'हे पार्थ! जो व्यक्ति हृदयमें उठनेवाली सारी कामनाओंका परित्याग कर आत्मासे ही आत्मामें सन्तुष्ट रहता है स्थितप्रज्ञ उसीको कहा जाता है।'

और—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'सांसारिक भोगोंमें प्राप्त होनेवाला आनन्द टिकाऊ आनन्द नहीं है, क्षणस्थायी है और साथ ही दुःखदायी भी है। उसका आदि भी है और अन्त भी है। बुद्धिमान् लोग ऐसे अशाश्वत भोगोंमें नहीं रमते। वे जानते हैं कि उनमें रमण करना भारी मूर्खता है अतएव वे भूलकर भी उनके पास नहीं फटकते।'

जो व्यक्ति सब इच्छाओंको छोड़ देता है, भोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो जाता है, भोगोंकी निस्सारता और उनका दुःखदायी परिणाम देखकर स्वप्नमें भी

उन्हें प्राप्त करनेकी कामना नहीं करता—वह महापुरुष केवल पवित्र ही नहीं महापवित्र है, प्रलोभन उसे मार्गसे विचलित नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्तिके सारे विचार पवित्र होते हैं। अपवित्र विचार उसके पास भी नहीं फटक सकते। हम भोगोंसे जितने विरक्त होते जायँगे, कामना, कामिनी और काञ्चनके मोहमय पाशसे अपनेको जितनी तीव्रतासे छुड़ाते जायँगे, मान, प्रशंसा, नाम और पदाभिलाषा आदिसे अपनेको जितनी शीघ्रतासे अलग करते जायँगे—वैसे-ही-वैसे हम पवित्रताके सोपानपर उत्तरोत्तर ऊपरकी ओर चढ़ते चले जायँगे। जबतक हम इन सांसारिक प्रपञ्चोंमें फँसे रहेंगे, सच्चे भक्त नहीं बन सकते। जबतक हम इस अज्ञानान्धकारमें पड़े रहेंगे, ज्ञानका आलोक हमतक न पहुँच सकेगा। जब हम देखें कि अब हमारी भोगोंके प्रति आसक्ति नष्ट हो रही है तथा सांसारिक वासनाएँ अब आ-आकर हमारे मार्गमें बाधाएँ नहीं डालतीं, तब हमें समझना चाहिये कि प्रभु हमारे ऊपर बड़ी कृपा कर रहे हैं और अपने मार्गका बटोही बनानेके लिये हमें साधनसम्पन्न कर रहे हैं। हमारा अज्ञानका पर्दा हट रहा है और हम उत्तरोत्तर विशुद्ध प्रकाशकी ओर जा रहे हैं। प्यारे साधको! यदि तुम्हारे हृदयमें अपने लक्ष्यतक पहुँचनेकी कुछ भी आकांक्षा है तो दिलको इस कसौटीपर रखकर परख लो। सारी खोट निकाल डालो। डरो मत, तुम्हारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। हृदय-वाटिकाको श्रद्धा और विश्वासके मधुर और सुखदायक जलसे परिप्लावित कर निर्भय होकर कह दो—कि

> **कठिन है मंज़िल ठहर न रहबर,**
> **उदू हैं शमसीर ख़म निकाले।**
> **मुझे ये साबित है कर दिखाना,**
> **क़दम न मोड़ेंगे ख़ूँ बहा ले॥**

विपत्तियाँ मनुष्यहीके ऊपर आती हैं उनसे डरना क्या? स्वामी रामतीर्थ एक स्थानपर कहते हैं, कि—

> **शब हो, हवा हो, धूप हो, तूफ़ाँ हो छेड़छाड़!**
> **जंगलके पेड़ कब इसे लाते हैं ध्यानमें?**
> **गर्दिशसे रोज़गारके हिल जाय जिसका दिल,**
> **इंसान होके कम है दरख़्तोंसे शानमें!**

और भी—

Out of the night that covers me,
Black as the pit from pole to pole,
I thank whatever gods may be
For my unconquerable soul.

In the fell clutch of circumstance
I have not winced nor cried aloud,
Under the bludgeonings of chance
My head is bloody, but unbowed.

Beyond this place of wrath and tears
Looms but the horror of the shade,
And yet the menace of the years
Finds, and shall find, me unafraid.

It matters not how strait the gate
How charged with punishments the scroll,
I am the master of my fate;
I am the captain of my soul.

—W. E. Henley.

अर्थात्—संसारकी तमाम चिन्ताएँ और बाधाएँ मुझे घेरे खड़ी हैं पर प्रभुकी कृपासे वे मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ पा रही हैं। वे मुझे पथसे विचलित नहीं कर पायीं। मेरा मस्तक यद्यपि उनकी चोटोंसे घायल है किन्तु वह उनके सम्मुख झुका नहीं है। मैं अपने कर्तव्यपर दृढ़ हूँ। मृत्युकी तो मुझे लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है। मैं विपत्तियोंका हर्षसे स्वागत कर रहा हूँ। मैं स्वयं ही अपना स्वामी हूँ। कोई भी विघ्न मुझे पथभ्रष्ट नहीं कर सकता!

रामलीलाका सुन्दर स्वरूप

(लेखक—श्रीउमरावसिंहजी रावत, एम० ए०)

योगीश्वर भगवान् कृष्णने आजसे लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुनके सम्मुख यह प्रतिज्ञा की थी कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

इस प्रतिज्ञाके पूर्व वा पश्चात्‌के संसारके इतिहासपर यदि एक दृष्टि डाली जाय तो इसकी सत्यता स्पष्ट दिखलायी देती है । संसारमें साधुपरित्राण, दुष्टदलन और धर्मसंस्थापनके लिये भगवान् अवतीर्ण होते हैं परन्तु अधिकांशतः (भक्तोंकी भाषामें हम कह सकते हैं कि) परमात्माकी सृष्टिविधायिनी शक्ति अथवा वैष्णवी शक्ति अथवा विष्णुके आंशिक अवतार होते हैं । रामावतार वा कृष्णावतारकी आवश्यकता बहुत कम पड़ती है । पाप बढ़ते-बढ़ते जब रावणत्वकी कोटितक पहुँच जाता है, तभी रामत्वका उदय होता है और अवश्य होता है, यह एक ध्रुव सत्य है । योगीश्वर श्रीकृष्णके विषयमें कुछ कहना तो मेरे विषयके बाहर है; अतएव केवल इतना कह-कर मैं आगे बढ़ जाऊँगा कि उनमें समस्त मानवी और अलौकिक गुणोंका चरम विकास देखा जाता है, जिसे न समझ सकनेके कारण ही अनेक अनर्गल कल्पनाओंका जन्म हुआ ।

श्रीकृष्णके व्यक्तित्वको समझना टेढ़ी खीर है, लोहेके चने चबाना है; परन्तु रामत्वको समझना सर्वसाधारणके लिये भी सरल है, धनवान् और निर्धन, विद्वान् और मूर्ख, बाल-वृद्ध और युवा, स्त्री और पुरुष, हिन्दू और ईसाई-मुसल्मान आदि अन्य जातियाँ, आर्य जाति और अनार्य जाति, पश्चिम और पूर्व—सभीके लिये रामका चरित्र शिक्षाप्रद है; सभीको उसमें ऐहिक और पारलौकिक जीवनकी उन्नतिके हेतु प्रचुर सामग्री विद्यमान है । राम परब्रह्म न सही, विष्णुके अवतार न सही; परन्तु उन सात्त्विक गुणोंकी समष्टि तो अवश्य है जिसे रामत्व कहते हैं और जो बलात् प्रत्येक पवित्रात्मा—चाहे वह हिन्दू हो या मुसल्मान या ईसाई—अपनी ओर आकर्षित कर लेता है । मनुष्य होनेके नाते मेरी प्रत्येक मानव-बन्धुसे प्रार्थना है कि वह जातिगत वा सम्प्रदायगत संकुचित भावभूमिसे ऊपर उठकर रामको समझनेका प्रयत्न करे । राम केवल हिन्दुओंके नहीं, वह मनुष्यजातिके हैं, नहीं-नहीं, समस्त चराचर जगत्‌के हैं । विश्वके कल्याणके हेतु जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है, वे सभी आपको रामके चरित अथवा रामायणमें मिलेंगी, जिसका अधिकाधिक प्रचार होनेपर ही विश्वमें वह शान्ति स्थापित होगी, जिसे रामराज्यकी शान्ति कहते हैं । इस कार्यके सम्पादनके लिये रामायणका पठन-पाठन, मनन और श्रवण अत्यन्त आवश्यक तो हैं ही, परन्तु प्रत्यक्षरूपमें अर्थात् नाटकीय ढंगपर रामचरित्रका प्रचार करना भी कम आवश्यक नहीं है; बल्कि इस प्रकार तो अधिक सफलता मिलनेकी सम्भावना है । रामचरितका यही नाटकीय ढंग अर्थात् रामलीला ही मेरा प्रस्तुत विषय है ।

अभी कुछ दिन पूर्व मेरे एक पूजनीय वयोवृद्ध सज्जनने पौड़ीके रामलीला-रंगमञ्चसे अपने वक्तव्यमें कहा था कि 'हम रामलीला धार्मिक दृष्टिसे करते हैं, नाट्यकलाकी दृष्टिसे नहीं ।' वाक्यके प्रथम अंशसे मैं पूर्णतः सहमत हूँ, द्वितीय अंशके विषयमें कुछ कहनेकी धृष्टताके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ । इसपर मैं कुछ प्रश्न करूँगा । क्या आप रामके भक्त हैं ? क्या आप समस्त चराचर जगत्‌को रामत्वमें लीन करना चाहते हैं और उसे राममय देखना चाहते हैं ? क्या आप रामराज्यकी स्थापनाके द्वारा विश्वमें शान्ति देखनेके अभिलाषी हैं ? केवल श्रद्धालु भक्तोंके संकुचित क्षेत्रसे रामचरितको ऊपर उठाकर क्या आप अविश्वासियों और अश्रद्धालुओंके मनमें भी श्रद्धा उत्पन्न करनेके आकांक्षी हैं ? यदि हाँ, तो मेरे कथनमें आपको कुछ-न-कुछ तथ्य अवश्य मिलेगा ।

नाट्यकला हमारे लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है । जब कि समस्त संसार अज्ञानान्धकारमें निमग्न अमावस्याकी स्याहीमें था, तब भी हमारे भारतमें नाटक लिखे और खेले जाने लगे थे । भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें इसका सूक्ष्म ब्योरेवार विवेचन तो हुआ ही है, परन्तु उससे भी पहले इस कलापर लक्षण-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे । कहनेका तात्पर्य यह है कि नाट्यकला भी बहुत प्राचीन कालसे हमारी भारतीय सभ्यताका एक अंग ही है, तो अब हम उसे हेय क्यों समझें ! इस कलापर हमारे देशमें भी समय-समयपर सुधार होते रहे हैं और अब भी हो रहे हैं । अतएव उन सुधारोंको अब रामलीलाके क्षेत्रमें

ले आनेमें हमें आनाकानी न करनी चाहिये। हमारी रामलीलामें धार्मिकताका साम्राज्य तो अवश्य हो, परन्तु स्वाभाविकता और कलाका ह्रास कदापि न होना चाहिये। उसमें अलौकिकताका पुट भी अवश्य हो, परन्तु स्वाभाविकताका नाश करके नहीं। अर्थात् धार्मिकता और कला, अलौकिकता और स्वाभाविकताका उचित सामञ्जस्य हमारा उद्देश्य होना चाहिये। इस प्रकार हम अपनी रामलीलाको सर्वकालीन और विश्वव्यापी बना सकेंगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अपनी मन्दबुद्धिके अनुसार मैं कुछ व्यावहारिक कार्यक्रम रखना चाहता हूँ, और ऐसी अनधिकार धृष्टताके लिये विद्वत्समाजसे क्षमा चाहता हूँ।

सर्वप्रथम तो यह हो कि एक 'सार्वदेशिक-रामलीला-प्रचारिणी-सभा' की देशमें स्थापना की जाय और समस्त भारतमें उसकी शाखाएँ तथा प्रशाखाएँ खोली जायँ। क्रमशः इस उपरिलिखित केन्द्रीय सभाकी शाखाएँ विदेशोंमें भी खोली जायँ, और इस प्रकार रामलीला भारतव्यापी होनेके उपरान्त विश्वव्यापी बना दी जाय। उसी केन्द्रीय सभाकी संरक्षतामें किसी विद्वान्के द्वारा अथवा विद्वन्मण्डलीके द्वारा एक रामायण—महानाटकका सम्पादन किया जाय, जिसमें मुख्य आधार तो वाल्मीकि और तुलसीकृत रामायणोंका हो, परन्तु उनके अतिरिक्त रामचरितपर जो कुछ भी लिखा गया है, सबसे सामग्री ली जाय। यह कहनेकी तो अब आवश्यकता नहीं रह जाती कि उसका अधिकांश गद्यहीमें होना चाहिये और कम-से-कम संवाद तो जहाँतक हो सके गद्यहीमें हों; क्योंकि पद्यमें वार्तालाप करना अस्वाभाविक तो लगता ही है, उसके अतिरिक्त श्रोताओं वा दर्शकोंपर पद्यका तात्पर्य ठीकसे समझमें न आ सकनेके कारण उसका पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। गद्यमें संवाद होनेसे थोड़े ही समयमें बहुत-सी बातें दिखायी जा सकती हैं और अशिक्षित व्यक्ति भी उसके तात्पर्यको समझकर पूर्ण लाभ उठा सकता है। उस महानाटकका रूप-आकार कैसा हो, इसका निर्णय तो विद्वान् ही करेंगे। हाँ, मैं अपनी सम्मतिके रूपमें कुछ उस ओर संकेतमात्र कर देना चाहता हूँ, जिसकी सहायतासे रामलीलाकी वर्तमान प्रणालीमें कुछ-कुछ सुधार अभीसे किये जा सकते हैं।

रामलीलामें आदिसे अन्ततक आनेवाले तीन पात्र—राम, लक्ष्मण और सीता हैं, अतएव इनका अभिनय करनेवाले पात्रोंका चुनाव सबसे अधिक सावधानीसे होना चाहिये।

इतना लिखनेका मेरा उद्देश्य यही है कि पात्रोंके चुनावमें और विशेषतः इन तीन मुख्य पात्रोंके चुनावमें बहुत बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है; क्योंकि ये तीन पात्र ऐसे हैं जिनपर सारी लीलाकी सफलता और असफलता निर्भर है, इन्हींपर सब दर्शकोंका ध्यान केन्द्रित रहता है और इनमें थोड़ी भी असावधानी बहुत खटकती है। साधारण पात्रोंके द्वारा यदि थोड़ी असावधानी हो भी जाय तो वह उतनी नहीं खटकती।

कैसा अच्छा होता कि हमारे 'राम, लक्ष्मण और सीता' ये तीन मुख्य पात्र सारी रामलीलामें कम-से कम दो-दो होते—धनुषयज्ञतकके कुमार राम-लक्ष्मण तथा कुमारी सीता, और वनवासके युवा राम-लक्ष्मण तथा युवती 'जगज्जननी जानकी'। ऐसा होनेपर स्वाभाविकता भी बनी रहेगी और अभिनेताओंका पाठ भी कम और सरल हो जायगा।

अब थोड़ा उन खटकनेवाली बातोंका दिग्दर्शन कराया जायगा, जो कि आजकलकी अधिकांश रामलीलाओंमें पायी जाती हैं। धनुषयज्ञ वा सीता-स्वयंवरका आजकल बहुत ही विकृत रूप सामने आता है। रामलीला-सञ्चालकोंको स्मरण रखना चाहिये कि हम प्रसिद्ध योगिराज महाराज जनककी राजसभा दिखा रहे हैं और जगदम्बा सीताके स्वयंवरमें उपस्थित हैं। उस युगके राजा लोग कैसे होते थे, किस सभ्यताके साथ वे राजसभामें बैठते थे, तथा बात करते थे इत्यादि बातोंकी ओर ध्यान देना चाहिये। इस बातकी कोई आवश्यकता नहीं कि सहस्रों वर्ष पश्चात् उत्पन्न होनेवाली अंगरेजी भाषाका उसमें प्रयोग किया जाय और किसी उस समय न पायी जानेवाली अंगरेजादि जातिकी उसमें उपस्थिति दिखायी जाय। सारांश, उसमें तत्कालीन समाजका यथातथ्य ऐतिहासिक चित्रण होना चाहिये। धनुष तोड़नेमें अन्य राजाओंकी असमर्थता और रामकी समर्थता दिखानेमें भी स्वाभाविकताका पल्ला न छोड़ा जाय।

अब वनवासवाले प्रसंगपर आ जाइये। यह रामचरितका सर्वोत्कृष्ट भाग है। इस सूक्ष्म प्रसंगके विवेचनके लिये वाल्मीकिरामायणसे भी सहायता ली जाय। कम-से-कम वह दृश्य तो अवश्य दिखाया जाय, जब कि माता कौशल्या अपने पुत्रके राज्याभिषेकके उत्सवमें खुशियाँ मना रही है, ब्राह्मणों और दास-दासियोंको अनगिनत धन और आभूषण लुटा रही है, देवी-देवताओंकी पूजामें संलग्न है कि यकायक

दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए धीरवीर मर्यादापुरुषोत्तम राम उपस्थित होकर कह बैठते हैं कि—

देवि नूनं न जानासि महद्भयमुपस्थितम् ।

आगे चलकर अभागिनी माता कौशल्यापर किस प्रकार वज्रपात हो जाता है, इसे दिखानेमें भी अत्यन्त सावधानीकी आवश्यकता है। कुछ दूर आगे चलकर माता किस प्रकार धैर्य धारणकर अपने पुत्रको आशीर्वाद देती हुई वन जानेकी आज्ञा देती है; तथा जिन देवी-देवताओंको अभीतक राज्याभिषेकके मङ्गलके लिये मना रही थी, उन्हींको अब अपने पुत्रको वनमें रक्षा और मङ्गलके निमित्त मना रही है; यह दृश्य देखने और दिखाने ही योग्य है। धन्य है यह ध्रुव विश्वास और अटल श्रद्धा जो घोरतम विपत्तिमें भी विचलित न हो सके ! मर्यादापुरुषोत्तमकी माता 'कौशल्या' और पुण्यश्लोक महात्मा 'भरत' के चुनावमें भी कम सावधानीकी आवश्यकता नहीं ! इस प्रकार रामचरितके मार्मिक स्थलोंको पहचानना, उन्हें सुरुचिपूर्वक मार्मिक ढंगसे दर्शकोंके सामने रखना, इस कार्यके सम्पादनके लिये उपयुक्त अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंका चुनाव करना रामलीलाके सञ्चालकोंको अपना कर्तव्य समझना चाहिये।

वनवासके उपरान्त सीताहरणके पश्चात्का वह दृश्य भी कम मर्मस्पर्शी नहीं है, जब कि किष्किन्धापुरीमें राम लक्ष्मणसे सीताके आभूषण बतलाते हुए पूछते हैं कि ये किसके आभूषण हैं। लक्ष्मणका भोलेपनसे यह उत्तर देना कि—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कङ्कणे ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

कितना मर्मस्पर्शी है ! यह है हमारी आर्यसभ्यता जिसने लक्ष्मण-जैसे यतीको उत्पन्न किया ! इस प्रकारकी गौरवमयी सभ्यताका स्मरण कराना तथा उसीमें दर्शकोंको निमग्न कर देना ही हमारी रामलीलाका उद्देश्य होना चाहिये।

राम-वनगमन-प्रसंगके पश्चात् लक्ष्मणपर शक्ति लगनेका हृदयविदारक करुण दृश्य सामने आता है। हमारे चरित्रनायकपर यह विपत्तिकी पराकाष्ठा है। 'पिताने तज दिया, सीता हरी गयी' इत्यादि शब्दोंसे व्यक्त रामका करुण क्रन्दन भी जिसके हृदयको द्रवीभूत न कर सके उसका हृदय हृदय नहीं, पत्थर है ! विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ना और तिसपर भी रामके एकमात्र आधार और आश्रय प्रियबन्धु लक्ष्मणका रण-शय्यापर शयन ! इस दृश्यको देखकर और रामके विलापको सुनकर भी जो व्यक्ति रो न पड़े, उसको संसारमें क्या ओषधि है ! ऐसी परिस्थितिमें सुषेण वैद्यवाले प्रहसनके दृश्यको उपस्थित कर देना केवल भयङ्कर भूल ही नहीं अपितु अपराध भी है। साहित्यके नौ रसोंमें, कुछ परस्पर मित्र रस होते हैं, कुछ विरोधी रस तथा कुछ उदासीन रस। करुणा और हास्य ये दो सर्वथा विरोधी रस हैं, इनका एक ही स्थानपर आ जाना महान् साहित्यिक दोष है। किसी घोर विपत्तिमें फँसे हुए व्यक्तिको रोते हुए देखकर यदि कोई हँसने लगे, या दूसरेको हँसानेका प्रयत्न करने लगे, तो आप उसे क्या समझेंगे ? मेरी समझसे तो यह सुषेण वैद्यवाला दृश्य बिल्कुल न रहे तो भी कोई हानि नहीं। कितनी ही रामायणोंके अनुसार यह वैद्यवाला कार्य जाम्बवन्त ही करता है, या सुषेण नामका वानर ही करता है, तो मैं नहीं समझता लंकाके सुषेण वैद्यको लानेकी क्या आवश्यकता है ! इस कार्यको यदि सुषेण नामका वानर ही सम्पादित कर दे, तो अधिक स्वाभाविक, युक्तियुक्त और उपयुक्त होगा। हाँ, यदि सञ्जीवनी ओषधिके आ जानेपर हास्य-विनोद, आमोद-प्रमोद हो जाय तो कोई हानि नहीं। बल्कि ऐसा होना स्वाभाविक भी है और होना ही चाहिये। इस प्रसंगपर गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी भिन्न-भिन्न रामायणोंमें बहुत कुछ लिख चुके हैं; हमारा कर्तव्य तो केवल इतना रह जाता है कि हम हृदयग्राही रूपमें उस सामग्रीको अपने दर्शकोंके सामने उपस्थित कर दें। यहाँपर उन सूक्ष्म स्थलोंको न भूल जाना चाहिये, जो रामके चरित्रको साधारण कोटिसे बहुत ऊँचे ले जाते हैं। उनमेंसे एक रामकी शरणागतवत्सलता है। गोस्वामीजीने अपनी गीतावलीमें इसका बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको ।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिन करौं भरोसो काको ॥
सुनु, सुग्रीव ! साँचेहू मोपर फेरयो बदन बिधाता ।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन-सो भ्राता ॥
गिरि,कानन जैहें साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती ।
ह्वैहै कहा बिभीषनकी गति, रही सोच भरि छाती ॥

घोर विपत्तिकालमें भी यह है हमारे चरित्रनायककी अपने शरणागतकी रक्षाके लिये व्याकुलता ! जिसके बलपर ही वे आज अपने भक्तोंके हृदय-सम्राट् बने हुए हैं। हमारा प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास इस प्रकारकी घटनाओंसे शून्य नहीं है, परन्तु रामकी शरणागतवत्सलता कुछ

विलक्षण है। सम्पत्तिकालमें तो सभी शरण दे सकते हैं, परन्तु घोर विपत्तिके समय भी किसीको शरण देना रामका ही काम था। यह था उनका आत्म-विश्वास! जिसके बलपर उन्होंने समस्त-भुवन-विजयी लङ्कापतिके विरोधी विभीषणका समुद्र-तटपर ही राज्यतिलक कर दिया था।

इस व्याकुलता और करुण विलापके पश्चात् सेवकके आदर्श और कार्यपटुताकी प्रतिमूर्ति बालब्रह्मचारी महावीर हनूमान्‌जीके ये वीरदर्पपूर्ण उत्साहवर्द्धक वाक्य भी न भूलने चाहिये—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यौं, आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं।
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु-अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं, सबहिको पापु बहावौं॥

इन शब्दोंसे रामको अथवा श्रोताओंको कितनी सान्त्वना मिलेगी यह सोचनेकी बात है। यह रामके सेवकका आत्म-विश्वास है। कोई इसे गर्वोक्ति समझेंगे। परन्तु नहीं। यह ब्रह्मचर्यका प्रताप है और है एक सच्चे भक्तका अपने स्वामीपर दृढ़ विश्वास! जिसके बलपर महावीरजी मृत्युको पकड़कर ही मूषककी तरह पटककर मार देना चाहते हैं, फिर लक्ष्मणको मारनेवाला रहा ही कौन?

अब अन्तमें नन्दीग्रामके जटा-वल्कल-धारी उस महात्माके पास आ जाइये, जिसने अपनी अभूतपूर्व कठोर तपस्याके द्वारा बड़े-बड़े योगियोंको भी लज्जित कर दिया था। इस दृश्यको यों ही छोड़ देना उस महात्माके प्रति घोर अन्याय करना है। आज चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेवाली है, पुण्यश्लोक भरतके निष्कलङ्क हृदयमें स्वभावतः यह भाव उत्पन्न होता है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम अभीतक क्यों नहीं लौटे। अपनेको ही दोषी ठहराकर, अपनेको ही बार-बार धिक्कारते हुए चिन्तामग्न भरतजी अस्पष्ट स्वरमें कुछ गुनगुना रहे थे कि, बटुरूपधारी हनूमान्‌जीके द्वारा रामके लौट आनेका शुभ संवाद उनके कर्णकुहरमें प्रविष्ट होता है। उस समय उनकी क्या दशा हुई होगी, इसके प्रदर्शनमें अत्यन्त सावधानीकी आवश्यकता है। जिस उत्साह, उमंग और उतावलीके साथ उन्होंने रामके स्वागतकी तैयारी की होगी, उसका दिखाना भी आवश्यक है। स्वागतकी ये सब तैयारियाँ रंगमञ्चपर ही दिखायी जानी चाहियें। तथा कुछ दूर और आगे बढ़कर रंगमञ्चपर ही अर्थात् दर्शकोंके सम्मुख ही राम और भरतका मिलाप दिखाया जाना चाहिये—रंगमञ्चके बाहर नहीं।

इस प्रकार जिस 'रामायण-महानाटक' का मैं स्वप्न देख रहा हूँ, उसके पूर्वार्द्ध रूपका यह ढाँचा तैयार किया जा सकता है। सम्पूर्ण सामग्री रखना न तो मेरा उद्देश्य है और न मुझमें उतनी योग्यता ही है। मेरा अभिप्राय तो केवल उस ओर संकेतमात्र कर देना था। रामका उत्तर-चरित भी उस महानाटकके अन्तर्गत आना चाहिये; हाँ, उसका रंगमञ्चपर दिखाया जाना अभी भारतीय रुचिके विरुद्ध है—ऐसा करनेके लिये अभी कुछ और अधिक ठहरनेकी आवश्यकता है। दुःखान्त नाटक देखनेकी भारतीय जनता जबतक पूर्ण अभ्यस्त न हो जाय, तबतक रामका उत्तर-चरित न दिखाना ही उचित है।

जीवन अभिशाप है या वरदान ?

(लेखक—श्री 'माधव')

मनुष्य मात्रके लिये उसका जीवन और यह जगत् एक अविरल समुद्र-मन्थन है। देवता और दानवके द्वारा मनुष्य-जीवन प्रतिपल मथा जा रहा है। कभी देवता खींच ले जाते हैं; कभी दानव। इन दो विरोधी शक्तियोंके बीचमें मनुष्य 'बेचारा'-सा खड़ा है, ऐसा मानो सचमुच इनके हाथका खिलौना ही हो। हमारे भीतर ही देवता भी हैं, दानव भी; स्वर्ग भी है, नरक भी। यह जीवन-मन्थन, हृदय-मन्थन अहर्निश, प्रतिपल, प्रतिक्षण हो रहा है और इसके भीतरसे असंख्य रत्न निकले हैं। सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रेम-वैर, आशा-निराशा, प्रिय-अप्रिय, पुण्य-पाप आदि सभी द्वन्द्वसमूह इस अन्तर्मथनके परिणामस्वरूप निकले हुए पदार्थ हैं। जो बात व्यक्तिके अन्तस्की है वही बात, ठीक वही बात समष्टि जगत्के अन्तस्की है; पिण्ड और ब्रह्माण्डमें—सर्वत्र एक ही लीला चरितार्थ हो रही है।

समुद्र-मन्थनसे अमृत भी निकला, विष भी। अमृतके लिये तो सभी लालायित थे। इसीलिये देवता और दानवोंमें घोर युद्ध हुआ और अन्तमें भगवान्को 'मोहिनी' रूप धारणकर दानवोंको वशीभूत करना पड़ा। हलाहल शिवके हिस्से पड़ा और इसे आँख मूँदकर वे पी गये। हमारे अन्तर्मथनकी भी यही कथा है। सुखोपभोगके लिये तो हमारे सभी अंग, हमारा मन, चित्त, प्राण, इन्द्रियाँ—सभी व्याकुल हैं, लालायित हैं परन्तु दुःख पीनेकी जब बारी आती है तो इनमेंसे कोई भी आगे बढ़ना नहीं चाहता। इसीलिये संसारमें सुख ढूँढ़नेपर भी नहीं दीखता और दुःख-ही-दुःख सर्वत्र तैर रहा है। जैसे जलमें तेल। जबतक हमारे भीतर छिपे हुए शिव प्रकटरूपमें इस दुःख-हलाहलको पी नहीं जाते तबतक हमारे लिये यह जीवन और समग्र जगत् दुःख-रूप ही है। जगत्की दुःखरूपताका पर्दा तबतक हट नहीं सकता जबतक अन्तरकी आँखें खुलती नहीं; और यह खुलना आसान बात नहीं है।

सुखके प्रति आसक्ति, मोह, लालसा मनुष्यमात्रकी सहज दुर्बलता है। दुःखका नाम सुनकर ही मनुष्य काँप उठता है। और इस प्रकार भावी दुःख और आपदाका भय मनुष्यके 'वर्तमान' को भी इतना आच्छन्न और आतङ्कित किये हुए है कि वह सुखकी दशामें भी दुखी ही है। इसलिये भी संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक प्रतीत होता है। स्वर्गकी प्राप्तिका लोभ और नरक जानेका भय भी सुख-दुःखको लेकर ही है। और बहुत अंशोंमें इस लोभ और भयके कारण ही समाजका संगठन तथा शृङ्खला बनी हुई है। पुण्य और पाप—पुण्यमें प्रवृत्ति और पापसे बचनेमें मनुष्यका बहुत कुछ लक्ष्य सुखा-सक्ति और दुःखविरक्ति ही है। इस वासनाके ऊपर उठे हुए कृतकार्य महापुरुषोंकी बात यहाँ नहीं करनी है। जन-साधारणकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके मूलमें तो यह क्षुद्र वासना ही कार्य कर रही है। समाजके संगठन तथा लोकमें सदाचारके संरक्षणके लिये यह है भी एक अमोघ उपाय। और जो लोग इन वासनाओंसे ऊपर जा चुके हैं वे भी इसीलिये इसपर बार-बार जोर देते हैं, हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि कहीं बुद्धिभेद न उत्पन्न हो जाय, कहीं मिथ्याचारको प्रश्रय न मिलने पावे। कामाचारपर अनुशासन रखनेके लिये इससे सुन्दर साधन हो भी क्या सकता था? हाँ, उसके साथ वे यह भी तो स्मरण दिला ही देते हैं कि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—देवता भी, जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है तो स्वर्गसे च्युत होकर हमलोगोंके इसी मर्त्यलोकमें आ गिरते हैं। नैतिक दृष्टिसे, स्वर्गके सुखोंके प्रति भोगकी लालसाका नियन्त्रण इसके द्वारा कियदंशमें हो जाता है। अस्तु

सुखके समय भी भावी दुःखकी आशङ्का हमारे समस्त जीवनको इस प्रकार आतङ्कित किये हुए है कि एक क्षण भी हम 'सुखकी साँस' लेने नहीं पाते। एक अभाव पूरा हुआ नहीं कि दूसरा और तीसरा अभाव सामने आने लगता है। इस प्रकार अभावोंकी एक अविच्छिन्न शृङ्खला सी बन गयी है! अभावोंकी इन विक्षुब्ध तरंगोंमें मनुष्य विक्षिप्त-सा, गतचेतन, निरुपाय, आश्रयहीन होकर दुःखोंमें ही डूबता-उतराता नज़र आता है। अभावोंसे घिरा हुआ मानव शान्ति कैसे पावे—और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'—अशान्तको सुख कहाँ! दुःखके बाद दुःख और फिर दुःख—इस प्रकार अपने तुच्छ सीमामय अहं और इसीके विशद विस्तार इस विश्वमें 'सर्वं दुःखं दुःखं' का दर्शन-अनुभव हुआ। इस विषम विषादकी इति, परिणति इस अनुभव-दर्शनमें ही घनीभूत होकर सिमट नहीं गयी; मनुष्यने यह भी देखा कि क्षण-क्षण सब कुछ मृत्युकी ओर अबाध गतिसे भागा जा रहा है। ऐसा कहना

अधिक उपयुक्त होगा कि मनुष्य विवश होकर मृत्युकी ओर घसीटा जा रहा है। उसकी अपूर्ण इच्छा, अधूरी लालसा और साधोंको रौंदकर मृत्यु उसका सर्वस्व हरण कर रही है। कल जो था वह आज नहीं है, और जो अभी एक क्षण पूर्व था वह इस क्षणमें नहीं है। मृत्यु-ही-मृत्युकी सर्वत्र क्रीड़ा हो रही है। हम जन्मते ही मरने लगते हैं—मृत्युकी ओर बढ़ने लगते हैं। जीवमात्र मरणधर्मा है। सभी कुछ मृत्युके प्रवाहमें बहे जा रहा है। और कुछ निश्चित हो या अनिश्चित मृत्यु तो निश्चित है ही, अत्यन्त निश्चित। मृत्युके विकराल जबड़ेमें पड़ा हुआ मानव सुखकी भावना कैसे करे? यहीं 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं' की दारुण अनुभूति हुई। भगवान् बुद्धके जीवनमें 'निर्वेद' और 'करुणा' की जो इतनी प्रधानता है उसके मूलमें दुःखं-दुःखं और क्षणिकं-क्षणिकं की यह दारुण अथच विषम अनुभूति ही है और समस्त बौद्धदर्शन इस दुःखवादसे ओतप्रोत है।

यही क्यों? होमर-जैसे स्वस्थचित्त आत्मदर्शी कविने, जिसने इलियड और ऑडिसी-जैसे अमर ग्रन्थोंकी रचना की, जीवनकी दुःखरूपताके विषाद-पूर्ण अन्धकारमें यह कहा था कि संसारमें मनुष्य-सा अभागा कोई भी प्राणी नहीं है—"There is nothing more wretched than man of all things that breathe and are." ग्रीसका अमर नाटककार और पारदर्शी कवि सोफोक्लिज़ने भी इस दुःखमय जीवनके विषादसे ऊबकर यही कहा कि यहाँसे लौट चलना ही परम श्रेयस्कर है—'Not to be born is the most to be desired, but having seen the light, the next best is to go whence one came as soon as may be.' तात्पर्य यह कि संसारमें जन्म न लेना ही परम स्पृहणीय वस्तु है और यदि जन्म ले ही लिया तो अब सर्वोत्तम यह है कि शीघ्र-से-शीघ्र हम वहीं लौट चलें जहाँसे आये हैं।

मैत्रायण्युपनिषद्की एक कथा है। बृहद्रथ नामका एक राजा था। राज्यके भोग-विलाससे ऊबकर उसने राज्यका सारा भार अपने बड़े लड़केको सौंपकर जंगलका रास्ता लिया। वहाँ उसने कठिन तपस्या की। सूर्यकी ओर दृष्टि करके तथा ऊर्ध्वबाहु होकर वह हजार वर्षतक एक आसनसे ही तपश्चर्या करता रहा। उसके तपसे प्रसन्न होकर परम तेजस्वी मुनि भगवान् शाकायन्य वहाँ आये और कहा, 'पुत्र! मैं तुम्हारी तपश्चर्यासे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँगो।' राजा बृहद्रथ मुनिके चरणतलमें प्रणामकर बोला—

'भगवन्! अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मा और अश्रुसे दूषित; विट्, मूत्र, वात, पित्त, कफका संघातस्वरूप इस दुर्गन्धियुक्त शरीरको सुखोपभोग पहुँचाकर क्या करूँगा? उससे मुझे क्या सुख होगा? काम, क्रोध, भय, लोभ, विषाद, ईर्ष्या, प्रियजनोंका वियोग और अनिष्टका संयोग; क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदिके आगार इस शरीरका कामोपभोगसे क्या? सब कुछ तो क्षयशील देख रहा हूँ। दंश, मशक आदि कीड़े-पतिंगे जैसे लाखोंकी संख्यामें नित्य जन्मते-मरते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी तो मरणशील है, फिर ऐसे जीवनको व्यर्थ सुखी बनानेकी चेष्टा क्यों करूँ? इसलिये मुझे इस दुःखजालसे छूटनेका एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञानका उपदेश कीजिये।'

राजा बृहद्रथने संसारकी असारता, क्षणभंगुरता तथा मरणशीलता और दुःखरूपताके कई और भी उदाहरण दिये तथा अन्तमें मुनिसे तत्त्वज्ञानकी याचना की। तत्त्वज्ञानकी जिज्ञासावाली बात हटा ली जाय तो राजा बृहद्रथके जो कुछ अनुभव थे वे ही अनुभव यत्किञ्चित् तारतम्य भेदसे हम सभीके हैं परन्तु आश्चर्य यही है कि फिर भी हम दुःखकी गलियोंमें ही जान-बूझकर भटक रहे हैं। यक्षने युधिष्ठिरसे जब पूछा कि संसारमें सबसे महान् आश्चर्यकी बात क्या है तो धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें यह कहा था कि प्रतिदिन लोग मर-मरकर यमसदन जा रहे हैं, यह देखते हुए भी बचे हुए लोग ऐसी बुद्धिसे व्यवहार करते हैं मानो वे कभी मरेंगे ही नहीं। मनुष्य जगत्की दुःखरूपता तथा जीवनकी क्षयशीलताको इतना स्पष्ट देख रहा है फिर भी वह जीवन और जगत्से इतना चिपटा हुआ क्यों है?

'Man's life is full of desires, unrest and dissatisfaction. He wishes for what he has not, and is miserable if he does not attain it. Let him obtain it and he atonce, just as earnesty wants something else beyond...........'

'मनुष्यका जीवन वासना, अशान्ति और असन्तोषका घर है। आज उसे जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसके लिये ललकता है और जिस क्षण उसकी प्राप्ति हो जाती है उसी क्षण किसी और वस्तुके लिये उसके मनमें उतनी ही तीव्र ललक जग उठती है।' इस प्रकार दीखता यह है कि

मनुष्यके भाग्यमें सुख, शान्ति और सन्तोष बदा ही नहीं है। ऐसे जीवनको अभिशापके सिवा और कहा क्या जाय ?

पाश्चात्य दुःखवादी दार्शनिकोंमें शापेनहरका नाम विशेषरूपमें उल्लेखनीय है। शापेनहरकी भी यही मान्यता है कि मनुष्यका जीवन क्षणभङ्गुर तो है ही साथ ही जितने क्षण वह यहाँ रहता है वह दुःखोंसे घिरा रहता है। उसका कथन है कि यह सब कुछ मायाका प्रपञ्च है। ('माया' शब्द शापेनहरको बहुत प्रिय है) । जीवन और स्वप्न एक ही ग्रन्थके पन्ने हैं–'life and dreams are the leaves of the same book' यह जीवन सरासर धोखा है और धोखेहीमें हम यहाँ आ गये—'we are led into the citadel by trickery.' उसने यह भी स्वीकार किया है जीवनके आरम्भमें हमें जो सुखानुभूति-सी होती है वह सुखाभास है, भ्रममात्र है। ज्यों-ज्यों जीवनका नग्न रूप हमारे सामने आने लगता है हम उसके खोखलेपनको अधिकाधिक समझने लगते हैं और हमारे लिये जीवन और जगत्की दुःखरूपता ही एक ठोस सत्य बन जाती है। सुखोपभोग और सुखेच्छाके बीच जीवनकी डोरी हिलती रहती है और जिसे हम सुखोपभोग मानते हैं वह इतना क्षणिक और अस्थिर है कि पलक मारते ही वह आँखोंसे ओझल हो जाता है। सुखोपभोग जन्मते ही क्षय होने लगता है और इसके स्थानपर अभाव, आकांक्षा आ घिरती है। मनुष्यमात्र सुखकी खोजमें दुःखकी गलियोंमें भटक रहा है और अन्तमें उसे वही अनुभूति होती है जो शेक्सपियरके टेम्पेस्टमें अंकित है—

> "We are such stuff as dreams are made or
> Our little life is rounded with a sleep."

'यह हमारा जीवन स्वप्न-तन्तुओंसे ही निर्मित है। हमारे लघु जीवनको नींद चारों ओरसे घेरे हुई है।'

हिन्दूदर्शन जीवन और जगत्की इस दुःखरूपताको अस्वीकार नहीं करते परन्तु उसे वे यों ही छोड़ नहीं देते। वे इसका निराकरण करते हुए इस सारे दुःखका मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञानको मानते हैं—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' इस प्रकार, हिन्दूदर्शनके अनुसार चिन्तनके क्षेत्रमें जो अज्ञान है, भावना और संवेदनके क्षेत्रमें वही दुःख है। इस भावना अथवा संवेदनका आधार है—अज्ञानमूलक परिस्थिति, मनोवृत्ति और दार्शनिक दृष्टिकोण। अभाव और अवसादकी विषम परिस्थितियोंमें घिरा हुआ मनुष्य जीवनमें सुखकी कल्पना भी कैसे कर सकता, विशेषतः जब जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त वह सदा दुःखोंसे ही घिरा रहा ! ऐसी परिस्थितिमें पड़े हुए मनुष्यकी एक दुःखवादी मनोवृत्ति ही बन जाती है और इस मनोवृत्तिके कारण भी वह सदा दुखी ही रहता है। किसी भी पदार्थ, स्थिति अथवा घटनाके प्रकाश-पक्षको न देखकर अन्धकार-पक्षपर ही उसकी दृष्टि जमी रहती है। उसका सूर्य सदा मेघोंसे आच्छन्न ही रहता है और पूर्णिमाकी रातमें भी वह आनेवाली अमावस्याके भय और विषादसे खिन्न रहता है। वह सदा अवसाद, ह्रास, क्षय, मृत्यु, विनाश और प्रलयके विकराल रूपको ही देखता है और उसे इस जगत्में कुछ भी सुहावना या लुभावना नहीं प्रतीत होता। परिणामस्वरूप उसे अपना जीवन भी अवहनीय भार-सा बन जाता है और वह चाहता है कि इससे कब छुटकारा मिले। उसके लिये यह सारा जगत् दुःखका-प्रपञ्चका विस्तार मात्र है और इसे वह Vanity of Vanity मानता है। सचमुच भगवान्से रहित जगत् दुःखमय है भी। आनन्दमय भगवान्से निकले हुए, आनन्दमयमें स्थित और आनन्दमय प्रभुके लीलानिकेतन जगत्को प्रभुसे रहित देखना ही अज्ञान है और इस अज्ञानकी दशामें सुखरूप दीखनेवाला जगत् भी वस्तुतः दुःखरूप ही है। इसीसे मोहग्रस्त मनुष्यको अपने जीवनमें तथा इस जगत्में इतने अधिक दुःख दीखते हैं कि उसे प्रभुके मंगल-विधानपर सन्देह ही होने लगता है। यह सारा अभिनय, सारा प्रपञ्च, सारा व्यापार दुःखान्त-ही-दुःखान्त प्रतीत होता है। किसी विधवाका एक मात्र लाड़ला लाल जब मृत्युके द्वारा उसकी गोदसे छिना जा रहा हो उस समय उसके जीवनको हम 'वरदान' कैसे कहें ! वैसा कहना उसकी विवशतासे व्यङ्ग करना नहीं तो और क्या है ? जो सबल हैं, श्रीमन्त हैं वे अपने ऐश्वर्यके मदमें चूर होकर निरीह कङ्कालोंके कङ्कालको रौंदकर अपनी विजयपर इतराते हैं तो इतरा लें परन्तु वे स्वयं भी तो मृत्युके ग्रास हैं, विनाशके निशाना हैं। और यदि ऐश्वर्यमें ही सुख होता तो अमेरिका-जैसे सम्पन्न देशमें आत्महत्याएँ इतनी साधारण बात नहीं हो जातीं। ऐहिक दृष्टिसे वहाँके लोग 'सुखी' और समृद्धिशाली कहे जा सकते हैं परन्तु वहाँके समाचार-पत्र आत्महत्याओंकी खबरोंसे ही भरे रहते हैं और इन सभी

आत्मघातियोंका अन्तिम निष्कर्ष यही है कि यह संसार रहने-लायक स्थान नहीं है । अभी उस दिन वहाँके एक बहुत बड़े डाक्टरने आत्महत्या कर ली और उसकी जेबमें यह लिखा हुआ पन्ना मिला—" Life in this world is not worth living." और तो और, अहिंसाके अवतार भगवान् बुद्धके ही दो शिष्य-देश जापान और चीन आज किस घृणित व्यापारमें संलग्न हैं ! अबतक कई लाख चीनी इस युद्धमें कट चुके हैं फिर भी अभी इस महानाशकी इति होते दीखती नहीं । गत महायुद्धका घाव अभी हरा ही था; बड़ी कठिनाईसे हम उसके परिणामों (after-effects) से अपनेको विमुक्त कर पाये थे कि पुनः आज संसारमें सर्वत्र महानाशके उपक्रम रचे जा रहे हैं और सर्वत्र उसीकी तैयारी हो रही है । उस दिन लन्दनमें विषैली गैसोंसे बचनेकी परेड हुई । भारतमें भी उसकी तैयारी हो रही है—आत्मरक्षाके नामपर विनाशका नाटक रचा जा रहा है । और चीनमें इतनी अधिक संख्यामें निरपराध लोग मारे गये यह तो हृदयद्रावक बात है ही, सबसे लोमहर्षक दृश्य तो उस दिन उपस्थित हुआ था जब माताकी गोद और अपने घरके आँगनमें खेलते हुए फूलके समान कोमल, छोटे-छोटे सुकुमार शिशुओंपर जापानियोंने विषैली गैसें तथा गोले बरसाये । रेडक्रॉस सोसायटीके स्वयं-सेवक ऐसे कुछ बचे हुए आहत शिशुओंको स्ट्रेचरपर सुलाकर जब अस्पतालकी ओर ले जा रहे थे—उस समय उन भोले शिशुओंकी कराह और रुदनको जिसने सुना उसकी छाती टूक-टूक हो गयी ! हजारोंकी संख्यामें दस वर्षके नीचेके अबोध, सुन्दर, प्यारे बच्चे जापानियोंके गोले तथा गैसोंके शिकार हो चुके हैं । और यह है उस देशकी दानवी लीला जो अपनेको भगवान् बुद्धका अनुयायी मानता-समझता है ।

और उस दिन बिहटामें क्या हुआ ? रेलके उलट जानेसे इतना भीषण नर-संहार शायद अभी रेलवेके इतिहासमें न हुआ हो । वे लाशें जब पटना स्टेशनके प्लेटफार्मपर रक्खी गयीं—एक कतारमें सैकड़ों ही आहत स्त्री-पुरुष ! किसीकी आँतें निकल आयी हैं, किसीकी आँखें उलट गयी हैं, किसीका सिर चूर-चूर हो गया है, किसीके पैर ही कट गये हैं ! कितना बीभत्स दृश्य ! उनमें न जाने कितने पति थे, कितनी पत्नियाँ, कितने पिता थे, कितने पुत्र, कितने भाई थे, कितनी बहिनें······!!! वे छिन्नमस्तक, वे कटी हुई भुजाएँ, वे निकली हुई आँतें, वे टूटे हुए पैर, वे मिटे हुए सौन्दर्य, वे चिपटे हुए मुखमण्डल, वे रक्तप्लावित और धूलधूसरित अंग-प्रत्यंग, वे उलटी हुई शून्य आँखें और निकली हुई जिह्वाएँ और उन सबके ऊपर मृत्युकी उग्र, भीषण, बीभत्स, रोमाञ्चकारी, मर्मस्पर्शी और अमिट छाप !!

इस दुःखान्त अभिनयका कोई 'सूत्रधार' है न ? उफ़ ! वह कितना क्रूर, कितना नृशंस, कितना हृदयहीन होगा ! ऐसा लगता है मानो देवता भी हम मनुष्योंके साथ वैसे ही खिलवाड़ करते हैं जैसे छोटे-छोटे बच्चे रंग-बिरंगी तितलियोंके साथ । पकड़ा, बाँधा, खेला और जब मौजमें आया पीस डाला—

> 'Gods play with men as little boys with flies,
> To kill them when they choose.
> —*Shakespeare.*

इस प्रकार जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोषसे भरे हुए इस दुःखालय, अशाश्वत, अनित्य, असुख लोक-में आना प्रभुका अभिशाप माना जाय या वरदान ? स्थूल दृष्टिसे, इन चर्म चक्षुओंसे देखनेपर तो वास्तवमें सभी कुछ—चर, अचर अभिशापकी भीषण ज्वालामें जलते हुए दीख रहे हैं । कहीं भी आनन्द और शान्तिका नाम नहीं है । कोई भी एक क्षणके लिये निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और अल्मस्त हो नहीं पाता । और आश्चर्य, परम आश्चर्य तो यह है कि वैभव और ऐश्वर्य-में आकण्ठ डूबे हुए भी उतने ही दुखी हैं जितना अभावोंमें जलते हुए, दाने-दानेके मुहताज राहके भिखारी । किम्बहुना, अनुभवमें तो यही आता है कि सांसारिक दृष्टिसे जो जितनी ही ऊँची स्थितिमें है वास्तविक रूपमें, यदि वह स्वयं अपना हृदय टटोलकर देखे तो राहके भिखारीसे भी अधिक चिन्ताशील, अधिक दुखी, अधिक निराश और अधिक परेशान है !

परन्तु यह यथार्थ दर्शन नहीं है । यह अज्ञानकी आँखोंसे देखा जानेवाला व्यावहारिक अज्ञानाच्छादित जगत्का एकाङ्ग-दर्शन मात्र है । पूर्ण दर्शन, असीम दर्शन, पारदर्शन, यथार्थ दर्शन तो दुःख-दर्शन मात्र ही नहीं है । व्यावहारिक जीवनमें अन्धकार भी है प्रकाश भी, अमावस्या भी है पूर्णिमा भी, बाइरन भी हैं, ब्राउनिङ्ग भी । पर इसमें दुःखकी झीनी चादर ओढ़े हमारे अन्तस्तलमें एक अस्फुट शक्ति, अव्यक्त ज्योति जगमगा रही है । हृदयकी आँखोंसे देखनेपर यह जगत् और यह हमारा जीवन आनन्दका रास-विलास है ।

भीतरसे 'कोई' सङ्केत दे रहा है, आवाहन कर रहा है। जीवनके द्वन्द्व और जगत्‌के कोलाहलके कारण हम उस सुकोमल स्वरको सुन नहीं पाते। और न सुन सकनेके कारण ही तो हमारा सम्पूर्ण जीवन बहिर्मुख होकर दुःखके दावानलमें झुलस रहा है। आनन्दकी उपलब्धिके लिये अपनेसे बाहर भटकना नहीं पड़ता, प्रत्युत अपने भीतर लौटना पड़ता है। वहाँ आनन्दका निर्झर अविरल गतिसे प्रवाहित हो रहा है। प्रेम, आनन्द और शान्तिकी त्रिवेणी तो हमारे अन्तस्तलमें ही है। उसीमें स्नान करना होगा; उसीका अमृत पीना होगा। और यह बाह्य जगत् ? यह तो अन्तरकी परिछाईं है। भला या बुरा हम जैसे हैं ठीक उसीके अनुरूप यह जगत् भी है।

Laugh and the whole world laughs with you,
Weep, and you weep alone.

हँसो, सारा संसार तुम्हारे साथ हँसेगा; रोओ, रोनेके लिये तुम अकेले रह जाओगे। अन्तरकी दृष्टि खुल जानेपर यह सारा पसारा रहस्यमय दीखने लगता है—सभीमेंसे 'कोई' मौन सङ्केत कर रहा है, बुला रहा है। और वह 'कोई' अपना 'प्राण' ही है, प्राणाधार है, जीवनसर्वस्व है। भीतरकी आँखोंसे देखनेपर तो वस्तुतः सब कुछ प्रेम, आनन्द और शान्तिमें सराबोर ही दीखता है; देखनेवाला स्वयं उसीमें सराबोर है।

यहाँ, इस जगत्‌में पुराना कुछ भी नहीं है। यह सृष्टि नित्य नवीन, चिरसुन्दर है। आकाशमें जगमगाते हुए ये प्रकाश-पिण्ड ! सन्ध्या आती है, गोधूली होती है, एक-एक करके आकाशमें उदय होने लगते हैं और फिर सारा आकाश इन असंख्य मोतियोंसे जगमगा उठता है, ऐसा मानो बिजलीके छोटे-बड़े, सुनहले-रुपहले अनेकों बल्ब लटका रखे हों। उस 'पावरहाउस' की बात सोचते ही प्राणोंमें एक रहस्यपूर्ण गुदगुदी उठने लगती है, जहाँसे सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र—इन सभी छोटे-बड़े बल्बोंमें करेन्ट आता है ! कितना बड़ा खिलाड़ी है वह ! सूर्य और चन्द्रके दो लड्डू लटका रखे हैं—इस सुन्दर सुविस्तृत सुनील चँदोवेमें और उसपर ये असंख्य छोटे-छोटे प्रकाश-पिण्ड ! इतना ही नहीं, नक्षत्रोंकी एक धारा-सी छूट पड़ती है—स्वर्गंगामें नक्षत्रोंकी लहरें उठने लगती हैं। कितना कौतुकी है वह ! इन नक्षत्रोंके कोमल प्रकाशमें राका न जाने कबसे 'उसे' खोज रही है। उसका यह खोजना नित्य उल्लासपूर्ण है। अमावस्याकी घनी अँधियारीमें इन कोमलप्राण नक्षत्रोंका सुस्निग्ध प्रकाश प्राणोंमें एक परम गोपनीय रहस्यका उद्घाटन करने लगता है !

गुलाबकी पँखड़ीपर ओसकी एक नन्हीं-सी बूँद ! बालारुणकी सुस्निग्ध किरणें उस एक बूँदपर मचल उठी हैं ! इस ओसबिंदुके भीतर छिपे हुए संसारको हमने कभी हृदयकी आँखोंसे देखा है ? और यदि सचमुच हमने देखा है तो क्या हमारा यह जीवन और यह संसार क्षणभंगुर प्रतीत होते हुए भी एक प्रेमीकी प्रणय-कथा, एक कवि की मर्मस्पर्शी कविता, एक चित्रकारके हृदयहारी चित्रके समान सुन्दर नहीं दीखा ?

"This world is not a vale of tears. It is a beautifull world, and men must keep it beautiful by the inherent grasiousness of their own lives and by the joy they weave into the lives of others. This world is of course not a man's home, it is but a halting place on his journey from one point in eternity to the other. It is a wayside-inn, the post where we must epuip our bark if we would fare safely on our fateful voyage in this great Beyond."

यह संसार आँसुओंका आगार नहीं है। यह जगत् सुन्दर है, और हमारा यह धर्म है कि अपने सुन्दर आचरणके द्वारा इसकी सुन्दरताको बनाये रखें और दूसरोंके जीवनमें आनन्दकी लहर पहुँचाकर इस जगत्‌के सौन्दर्यको बढ़ाते रहें ! हाँ, यह तो स्मरण रहे ही कि यह संसार हमारा 'घर' नहीं है; यह एक सराय है, मुसाफिरखाना है, चिड़िया-रैन-बसेरा है जहाँ थोड़ी देर विरमकर हमें अपने अनन्त जीवनके अनन्त पथमें चल देना है। यह एक ऐसा बन्दरगाह है जहाँ हमें महान् सागरमेंसे खेकर 'उस पार' पहुँचनेके लिये अपनी किश्तीको तैयार कर लेना है।'

यहाँ विनाश कहाँ है, दुःख कहाँ है ? यह दीख पड़नेवाला विनाश भी तो नवीन और सुन्दर सृष्टिके लिये ही है।

यह प्रतीत होनेवाला दुःख भी तो आनन्दकी भूमिका है। अमर गायक रवीन्द्रके शब्दोंमें—'जो अपूर्ण रह जाता है, मैं जानता हूँ वह भी नष्ट नहीं होता; वह फूल जो खिलता नहीं परन्तु मुरझाकर अपनी सुगन्धको धूलमें मिला देता है, और वह सरिता जो अपनी धाराको मरुपथमें विलीन कर देती है—मैं जानता हूँ वे वस्तुतः नष्ट नहीं होते।' इसलिये इस 'मार' में भी 'प्यार' ही है क्योंकि यह प्यारेके हाथोंकी है। उसके कोमल करोंका संस्पर्श चाहे मारमें प्राप्त हो या प्रणयकी मनुहारमें, प्राणोंको समानरूपसे मुग्ध करनेवाली है। शुक्लपक्षका प्रकाश कृष्णपक्षके अन्धकारके कारण ही इतना प्रिय, इतना मनोहारी लगता है। करुणाके कारण ही शृंगार 'रसराज' बना हुआ है और विरहके कारण ही मिलनमें रस है। सदा एक ही स्वर बजता रहे तो जीवन भार हो जाय' monotony छा जाय। धूप और छाँहके समान सुख और दुःख, मिलन और विरह प्राणोंको समानरूपसे शीतल करनेवाले हैं, जुड़ानेवाले हैं। जीवनका वास्तविक, आन्तरिक सौन्दर्य इस द्वन्द्वकी रगड़में ही निखरता है। इस विविधताके कारण ही यह जीवन और यह जगत् प्रभुके प्रेमका उपहार बना हुआ है।

संगीतमें आरोह-अवरोहकी लहरियाँ चलती हैं। यदि उसमें केवल सा-सा या रे-रे, या ग-ग ही बजाता रहे तो कौन सुने? इसी प्रकार यदि हमारे जीवनमें भी बराबर एक ही स्वर बजता रहे, उसमें चढ़ाव-उतार न हो तो इस जीवनके प्रति इतना प्यार क्यों होता—इसे हम पुत्रात्प्रेयः, वित्तात्प्रेयः, पुत्रसे भी प्रिय, धनसे भी प्रिय क्यों मानते? चित्रकार अपने मनके चित्रको कूची और रंगके सहारे कागजपर उतारता है। वह यदि एक ही भाव, एक ही रूप, एक ही मनोदशा, एक ही स्थितिको अंकित करता रहे तो उसकी सारी प्रतिभा बासी पड़ जाय! भिन्न-भिन्न रंग और रेखाओंसे वह भिन्न-भिन्न मनोभावको व्यक्त करता है। वैसे ही हमारा 'चित्रकार' भी नित नये चित्र बनाता है। कैनवस, रंग और रेखाएँ नयी-नयी हैं परन्तु चित्रकारकी 'कला' तो सबमें समानरूपसे उतरी ही है। सबमें उसकी कलमकी बारीकी साफ झलक रही है। और वह ऐसा-वैसा कलाकार नहीं है—नित नये साँचे, नये आकार! एक बार जिस साँचेको लिया और उसमें रूप ढाला फिर उस साँचेको फेंक ही दिया! उसकी कलामें बासी कोई भी वस्तु नहीं है; नित्य नयी कल्पना, नया साँचा, नया रूप! इस विचित्रताकी कोई 'इति' है?

जो कल था वह आज नहीं है, जो एक क्षण पहले था वह अब नहीं है; जो आज है वह कल नहीं रहेगा, जो इस क्षण है अगले क्षण नहीं रहेगा। यह सच है, सोलहो आने सच है। और इसीलिये जगत् और जीवनकी शोभा भी है। गंगाका जल गंगोत्रीसे निकलकर अविरल गतिसे, पहाड़ोंको काटते हुए, चट्टानोंको तोड़ते हुए, जंगलोंको चीरते हुए अपने-आप अपना रास्ता बनाते हुए चला जाता है। रुक कैसे सकेगा? कौन उसे रोके? अभी एक क्षण पूर्व जो जल यहाँ था वह तो आगे सरक गया और उसके स्थानपर दूसरा जल आ गया। जलका अनन्त प्रवाह है इसीलिये निकला हुआ जल आनेवाले जलसे कटा हुआ नहीं दीखता—इसीलिये Continuity बनी हुई है। ठीक इसी प्रकार हमारी जीवन-गंगा भी अविरल गतिसे अपने लक्ष्यकी ओर प्रवाहित हो रही है; जन्म और मृत्युकी घाटियोंको नाँघती हुई, सुख और दुःखके जंगलोंको चीरती हुई, हर्ष और विषादके कगारोंको तोड़ती हुई, मिलन और विरहके हृदयोंको सींचती हुई। जहाँसे आयी है वहीं जाकर, वहीं श्रीविष्णु-पदमें पहुँचकर शान्त हो जायगी—एक हो जायगी। तबतक एक क्षणके लिये भी कहीं रुके तो कैसे? यह प्रवाह ही ऐसा है कि इसमें पुराना कुछ भी नहीं हो सकता। दशाश्वमेधघाटपर पुष्प और दीपोंका दान तथा मणिकर्णिका-पर चिताका भस्म लेकर भी तो गंगा समानरूपसे बढ़ती ही जाती है; कहीं किसी स्थानसे आसक्ति नहीं, किसी स्थानसे विरक्ति नहीं।

यहाँ, इस जीवनमें क्या पुराना हुआ? यही तो उस 'कलाकार' की अद्भुत कलाका दिव्य परिचय है। माताका स्नेह न जाने कबसे मिल रहा है, पर वह नित्य नया है। आँचलमें अपने नन्हें-से लालको छिपाकर माँ जब उसके कोमल मुखसे अपना स्तन लगा देती है, उस समय उसके प्राणोंमें प्यारका जो अमृत उमड़ता है उसकी थाह पाना सहज है? और, बालकके उत्पन्न होनेके पूर्व ही माँकी छातीमें दूधकी धारा कौन बहा देता है? माँके हृदयमें इतना स्नेह, इतनी ममता, इतना मोह, इतना प्यार किसने भर दिया? और यह वात्सल्य प्यार क्या हम मनुष्योंतकमें ही सीमित है? माताका यह स्नेह जीव मात्रमें है। सन्ध्या समय वनसे चरकर अपने प्यारे वत्सके लिये रँभाती हुई गायको हमने बहुधा देखा है। परन्तु देखकर भी तो नहीं देखते। गौ रँभाती हुई अपने प्यारे बछड़ेके पास पहुँचती है। बच्चा माँके थनमें मुँह लगाकर ज्यों-ज्यों झकझोरने लगता है माँका प्यार भी उतना ही उमड़ने लगता है। गाय आधी आँखें बंद

किये हुए जीभसे अपने प्यारे बच्चेको चाटने लगती है। उसके रोम-रोमसे बछड़ेके लिये प्यारका अमृत प्रवाहित होने लगता है। वस्तुतः उसके रोयें प्यारमें खड़े हो जाते हैं। उस समय गायकी आँखोंमें स्नेहका जो समुद्र उद्वेलित होता रहता है उसे हमने कभी अनुभव किया है? यह वात्सल्य प्यार किसमें नहीं है? देखता हूँ, प्रायः नित्य ही यह सुमधुर लीला देखता हूँ। जिस धर्मशालामें इन दिनों हमलोगोंका निवास है, वहीं, कुछ कबूतरोंने घास-फूसके अपने घर बना रखे हैं। वहाँ देखता हूँ माँ नित्य प्रातःकाल आती है और अपनी छातीको अण्डेसे सटाकर अपने प्राणोंके प्यारको सेती है, पिता-पक्षी अपनी पत्नीकी इस प्यार-लीलाको बड़े ही भावके साथ देखा करता है। उस समय माता-पक्षी अपनी भाषामें प्यारकी लोरियाँ गाती है। उसके रोम-रोममें हर्षकी, आनन्दकी जो पुलक होती है उसे हमने कभी हृदयकी आँखोंसे देखा है? और प्यारकी यह अजस्र-धारा पशु-पक्षियोंतकमें ही सीमित नहीं है। स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बसुके मर्मपूर्ण अनुसंधानोंसे तो यह भी पता लग गया है कि वृक्ष, लता और पौधे भी प्रेमकी क्रीड़ामें ठीक हम मनुष्य-पशु-पक्षी-जैसे ही संलग्न हैं—वहाँ भी वात्सल्य प्यार है, पति-पत्नीका प्रेम है। ये सारे सम्बन्ध, सारे व्यवहार और तज्जन्य प्रेमानन्द छोटे-बड़े सभी प्रकारकी वनस्पतियोंमें भी व्याप रहा है।

आनन्द-निर्झरकी ये धाराएँ हमारे जीवनको आप्लावित कर रही हैं। हमारे सभी सम्बन्ध, सभी हित-नात, स्थूल-से-स्थूल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, भगवान्‌के आनन्दको ही हमारे जीवनमें बरसा रहे हैं। पार्थिव सम्बन्ध कोई भी है ही नहीं। सारे सम्बन्ध प्रभुके अनेक रूप और अनेक सम्बन्धकी झलक दे रहे हैं। यह सब कुछ दाताका दान है। उसने क्या नहीं दिया, क्या नहीं किया? और संयोग-वियोगकी दुहरी लहरमें तो और भी अधिक आकुलतासे 'वही' आलिङ्गनका दान दे रहा है।

जो जहाँ है उसके लिये वही स्थान सबसे उपयुक्त है, जो जिस काममें है वही काम उसके लिये महान् कल्याणकारी है। क्योंकि सभी स्थान, सारे व्यापार उस 'एक' में पिरोये हुए हैं—'सूत्रे मणिगणा इव'। उससे परे, अलग, भिन्न कोई भी वस्तु रह नहीं सकती, ठहर नहीं सकती। उस प्रभुके साथ युक्तकर हमें सारे व्यापार और सारे सम्बन्धको दिव्य बना लेना है, divinise कर लेना है। मिथ्या-मिथ्या चिल्लाकर हम अपने ही मिथ्या अहंको पुष्ट कर रहे हैं क्योंकि मिथ्या है तो एक मात्र हमारा यह मैं-मैं-मैं। यह समस्त जगत् और इस जगत्‌के समस्त प्राणी परमानन्द हरिके व्यक्त स्वरूप हैं। 'और कुछ' है ही नहीं। जिधर दृष्टि फिरी वही नज़र आया, जो काम हाथमें लिया वही 'पूजा' बन गया और जहाँ शिर झुका वहीं उसके कोमल चरणोंका स्पर्श मिला। अकेलेमें, बीहड़में, वनमें वही गलबाँही दिये साथ चला। मन्दिर हो या मसजिद या गिरजाघर, सर्वत्र ही हमारे प्यारेकी ही बन्दगी और इबादत हो रही है। सभीके मस्तकपर उसीके हाथ हैं, सभीके प्राणोंमें उसीकी धड़कन है, सभीकी आँखोंमें उसीका जलवा है।

आनन्दमय प्रभुकी कला भी आनन्दस्वरूप ही है। सारा उसका वरदान है। जीवनमें जो सुख आये वे भी उसके वरदान, जो दुख आये वे भी उसके वरदान! दोनोंको सहर्ष स्वागत! 'यार' की सौगात है, प्यारेकी प्यारभरी भेंट है। यहाँ कुछ भी व्यर्थ नहीं है, कुछ भी मिथ्या नहीं, कुछ भी मर्त्य नहीं! सभी—अणु-अणु, परमाणु-परमाणु, चर-अचर, समस्त उस 'एक' सनातन, दिव्य, चेतन सत्ताके अंश हैं और उससे सम्बन्धित होनेके कारण सभी कुछ सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। इसीलिये तो हमारे पारदर्शी ऋषियोंने कहा है—आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति—आनन्दसे ही समस्त भूत निकले हैं, आनन्दसे ही पलते हैं और आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं।

इस आनन्दभोगके लिये ही संसारकी रचना हुई है। सभी कुछ, चर, अचर इसी आनन्दके हिलोरोंसे नाच रहा है। Everlasting Yes 'सनातन हाँ' यही है। मिलनेमें तो प्रत्यक्ष आनन्द है ही विरह भी आनन्दका ही सुर है। इस आनन्दरसको भोगनेके लिये ही माँ पुत्रको प्यार करती है, मित्र मित्रके लिये आग्रहशील है, पति पत्नीके लिये, पत्नी पतिके लिये, भाई बहिनके लिये, बहिन भाईके लिये

इतने व्याकुल हैं। सभी इस प्रेमपूर्ण मधुर सम्बन्धसे ही उस रसरूप परमानन्दका भोग कर रहे हैं। यह आनन्द नहीं होता तो यह जगत् पलभरके लिये भी जीवित नहीं रह सकता। तीनों लोक और चौदहों भुवनका एक-एक कण वासुदेवकी वासनासे वासित है। वही हमारा 'सर्वस्व' समस्त रूपोंका आवरण ओढ़े, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल रूप और सम्बन्धमें हमारी ओर झाँक रहा है, बुला रहा है, मिलनका संकेत कर रहा है। भीतर भी वही जा छिपा है, बाहर भी वही फैला है। वही वह, वही वह! बीचमें तुच्छ अहंका मोहक पर्दा पड़ा हुआ है; इस चिककी ओटसे भी वही झाँक रहा है और इस पर्देको उठाकर, इस चिकको हटाकर, विश्वके प्राणमें तल्लीन हो जानेपर, फिर तो सभी कुछ सत्यं, शिवं, सुन्दरं ही रह जाता है; फिर वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि जीवन अभिशाप है या वरदान?

वासनाद्वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

दुर्जन कौन है?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्द वर्मा)

कुछ समय हुआ 'कल्याण' में मैंने एक लेख लिखा था—'महापुरुष कौन है।' उस लेखको इस अमूल्य पत्रके पाठकोंने बहुत पसंद किया था, यहाँतक कि मेरे पास बार-बार इस आशयके पत्र आये कि मैं 'महापुरुष' के बाद अब 'दुर्जन' कौन है, इसपर लिखूँ। 'कल्याण' के सम्पादककी कृपासे मैं इस समय वही कर रहा हूँ।

यह विषय मेरे लिये सरल भी है। महापुरुषहीको पहचानना कठिन है। दुर्जनकी बाज़ार काफ़ी गर्म है और जो स्वयं दुर्जन हो, उसे दुर्जनको पहचाननेमें कोई दिक्कत नहीं होती। दुर्जन हम किसे कहें। कौन दुष्ट है—

"बुरा जो ढूँढ़न मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न होय॥"

इसलिये हम किसको बुरा कहें। यद्यपि इस संसारमें मायाका जाल इतना विस्तृत है कि हमें अपनी आँखकी शहतीर चेष्टा करनेपर भी नहीं दिखायी पड़ती, दूसरेकी आँखकी बिन्दी आसानीसे दीख पड़ती है, फिर भी स्वयं अपनी परिभाषा ही यदि हरेक व्यक्ति लिखने लगे तो 'दुर्जन'-की पर्याप्त मीमांसा हो जाय।

सुजन और दुर्जन—दोनोंका शरीर उसी हाड़मांसका बना होता है। दोनोंका चेहरा-शरीर-राह-रस्म सब एक प्रकारका होता है। जाति-पाँति-विद्या-धन सब एक समान हो सकता है। फिर भी, एक सज्जन दूसरा दुर्जन क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर सभी सरलतापूर्वक दे देंगे—सज्जनका मन साफ़ है, दुर्जनका गँदला। मनसे ही आदमी भला और बुरा होता है। तनसे भलाई-बुराई न तो परखी जा सकती है, न परखनी ही चाहिये।

बुरा और भला बनानेवाला मन होता है, शरीर नहीं। मन शरीरका स्वामी है। सज्जनका मन शरीरसे अच्छे काम कराता है, दुर्जनका बुरे काम! जड़ शरीरको तो केवल 'जो हुक्म सरकारका' से ज्यादा कहना ही—करना ही नहीं पड़ता। यदि बुरे मनका स्थान अच्छे मनने ले लिया तो शरीरके ऊपरकी 'गवर्नमेण्ट' बदल जाती है। वही हाथ जो कलतक सिर्फ शरीफ़ोंका गला काटनेमें सुख पाते थे, आज हरेक दुखी और पीड़ितकी सेवा करते नहीं अघाते। इसलिये दुर्जनको अपनेको सुजन बनानेके लिये शरीर बदलनेकी, कपड़े बदलनेकी, कमरा बदलनेकी जरूरत नहीं होती। उसे केवल मन साफ़ करना होता है। गङ्गास्नान, भगवद्भजन, भक्ति-पूजापाठका उद्देश्य टेढ़ी नाकको सीधी करना, काले शरीरको गोरा बनाना, या लँगड़ेको पैरवाला बनाना नहीं होता—यह भी हो सकता है पर लोग इनके लिये व्यर्थ समय नहीं खोते—इसका, इन सब धर्मकार्योंका उद्देश्य मनको शुद्ध, निर्मल स्वच्छ करना होता है। इसीलिये कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही मनुष्यके बन्धन या मोक्षका कारण है—अथवा योगवाशिष्ठमें महर्षि वशिष्ठने बड़े सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः।
मनःकृतं कृतं कर्म न शरीरकृतं कृतम्॥

जब सब कार्य मन ही करता है तो मनुसे जो साफ हो वह सज्जन, जो मनसे मैला हो— वही दुर्जन !

कौन दुर्जन नहीं है ?

इस परिभाषाके बाद हम सभी सोचने लगते हैं कि कौन दुर्जन नहीं है ? लाखों रुपया दान करनेवाला व्यापारी इस दुनियामें दग़ा-फ़रेबके धंधेसे पैसा पैदा करता है तो उसकी उपासना वृथा है। वह दुर्जन है । मन्दिर-तालाब बनवानेवाला राजा यदि प्रजापर अत्याचारकर शासन करता है तो वह दुर्जन है। मालिकसे पैसा पाकर उसका नमक-हलाल न करनेवाला तथा उसके कामकी हानि कर अपना कोई भी काम करनेवाला दुर्जन है। पिता-माताका परमभक्त बालक यदि दूसरेके पिता-माताको दुःख देता है, तो वह दुर्जन है। शंकर-पार्वतीकी पूजा करनेवाला परन्तु आचरणका हीन दुर्जन है। सोना गहना बनानेके लिये आया—उसमेंसे माल चुराकर गहना बनानेवाला—पर रोज गङ्गास्नान करनेवाला दुर्जन है। भगवान् भावके, सच्ची भक्तिके, शुद्ध मनोवृत्तिके भूखे हैं। वे कसरत नहीं चाहते। दो मील पैदल चलकर मन्दिरमें दर्शन करना बड़ी सराहनीय बात है, पर भगवान्‌के भक्तोंकी दो दिन सेवा करना उससे भी बड़ा काम है—और सबसे बड़ा काम है प्रत्येक जीवमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए एक क्षणके लिये भी किसी गरीब-दुखियाकी सेवा करना। सारांश यह कि जिसकी क्रिया और मन दोनों अशुद्ध हैं वह तो दुर्जन है ही, परन्तु जिसकी कोई-कोई बाहरी क्रियाएँ अच्छी भी हैं पर जिसका मन शुद्ध नहीं है, वह भी दुर्जन है। इसलिये यदि महापुरुष बनना चाहते हो तो मनको शुद्ध करो।

मनकी मैलसे हानि

प्रश्न हो सकता है कि मनकी मैलसे हानि क्या है ? इसका उत्तर हम यही दे सकते हैं कि यह ब्रह्माण्ड उसी परब्रह्मकी रचना है तो सृष्टिमात्रका उद्देश्य उसी ब्रह्मकी तद्रूपता प्राप्त करना है। अतएव कोई वस्तु स्वभावतः गंदी, मैली हो ही नहीं सकती। मनका स्वभाव विकारमय होना नहीं है। यदि उसमें विकार आ गया है तो यह समाजका, सहवासका उसी प्रकारका दोष है जिस प्रकार आकाशसे पानी गिरते समय स्वच्छ–निर्मल रहता है, पर जमीनकी मिट्टीसे मिलकर मैला हो जाता है। इसी प्रकार हमारा मन है जो वातावरण तथा परिस्थितिमें पड़कर गँदला हो जाता है। उसपर जातिका, स्वभावका, वंशका, पूर्व-कर्मका, सबका एक साथ प्रभाव पड़ता है। बच्चा माँके पेटसे चोरी करना नहीं सीखता। जन्मके समय वह शुद्ध रहता है पर धीरे-धीरे वह क्या-से-क्या नहीं हो जाता ! अतएव अपना मन शुद्ध करनेसे अपनी आत्माका, अपने वंशका, अपने देशका, अपने रचयिताकी रचनामात्रका भला होता है—यह इसलिये कि आत्मा तो एक है। उसमें तो कोई भेदभाव है नहीं। हमारी-आपकी सबकी जुदा-जुदा देहके भीतर एक ही आत्माका निवास है। अतएव एककी दुर्जनता सबकी हानि करती है और इसीलिये महापुरुष केवल अपने कल्याणकी बात न सोचकर प्राणिमात्रका कल्याण सोचते हैं। भगवान् अवतार लेकर लोगोंको सन्मार्गपर ले आते हैं।

तत् सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(उपनिषद्)

अर्थात् आत्मा इस जगत्‌को रचकर उसमें प्रविष्ट हो जाता है। जो सबमें अपनेको देखता है, इस आत्माकी एकताको जानता है, उसे क्या मोह, क्या शोक ? इसी परमानन्दको 'सरुरे जावेदानी' कहते हैं। अतः विश्वको अपना अङ्ग जाननेवाला किसीको मनकी मैलमें लिपटा देखकर किस प्रकार शान्त रह सकता है ? उसका मन अपने साथीके दुःखपर कराहता रहेगा।

इसीलिये दुर्जनकी दुर्जनता—हमारी आपकी कमी और हरेकके विचारकी वस्तु है। हरेकके प्रयत्नका विषय है।

दुर्जन पहचाना कैसे जाय ?

प्रश्न यह भी उठता है कि दुर्जनका जब कोई रूप नहीं होता, कोई दृश्य खासियत नहीं होती तो उसे पहचाना कैसे जावे ? इसके लिये हमको महापुरुषोंद्वारा कथित लक्षणोंसे काम लेना चाहिये। 'भक्तिविवेक'में बाबा योधिदासजी एक 'दुर्जन' राजाकी परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं—

नहिं गुरु कीन्ह नाम नहिं पाया। नहिं हरिभक्ति जीवके दाया॥
ज्ञान ध्यान नहिं धर्म विचारा। साधु-सेव नहिं कीन्ह भुआरा॥
तीर्थ न कीन्ह नहिं सुना पुराना। नहिं पूजा नहिं तप अरु दाना॥
जन्मों भरि यह पाप कमाया। देहु नर्क महँ कह जमराया॥

ऐसे राजा नरक जाते हैं जो ऊपर लिखा कार्य करते हैं। यह तो राजाकी दुष्टता समझनेके लिये काफी हुआ। अब जरा दुर्जन साधुका भी लक्षण जानना चाहिये। इसका लक्षण हमारे नानाने अपने एक काव्य-ग्रन्थमें लिखा है। उनका नाम श्रीरामेश्वरदयाल है। उम्र इस समय ९० वर्षके लगभग है। साधु हुए, घर-बार छोड़े ५० वर्षसे ऊपर हो चले। इस अवस्थामें भी अपने हाथसे भोजन बनाते हैं, स्वयं अपना सब काम करते हैं, अपने पेड़-पत्तोंमें पानी देते हैं

और आश्चर्यमय बात यह है कि ५ वर्षसे ऊपर हो रहे हैं कि उन्होंने सूर्यास्तके पहले कभी एक दाना अन्न या एक बूँद पानी भी अपने मुखमें नहीं डाला। ऐसे व्यक्तिको दुर्जन-साधुके विषयमें कुछ लिखनेका अधिकार है। वे लिखते हैं—

सतसंगति बिरले जग भाई। दंभिन मिलि सतपंथ छिपाई॥
कोउ मौनी कोउ सिध बनि बैठा। तापत आगिनि कोऊ जल पैठा॥
लावत पूआ पूरी जो है। मौनी तासन बोलत खुश है॥
सतसंगति हित मुमुखू जाई। ता तनु मौनी चितव रिसाई॥
देखि दीन जोहत मुख भाई। मौनी इत-उत जात पराई॥
कपटी मुनिकर जानत भेदा। निसि दिन परे पेट के खेदा॥
ज्ञान-ध्यानका मरम न जाने। नरतन पाइ बृथा बौराने॥

× × ×

लाज तजे मन नेकु न मरिहै। बिन मन मरे चैन नहिं परिहै॥
इन्द्रीनिग्रह जान न भाई। बायन त्यागि बड़ा पद पाई॥
सुनिकै राजन कर अवाई। 'परमहंस' फूले न समाई॥
पूछत स्वागत सादर जाई। लंपट नारि यार जिमि पाई॥
जो कोउ दीन मुमुक्षू जाता। परमहंस पूछत ना बाता॥
मानापमान न तृण भरि छूट्यो। देहाभिमान न तनको टूट्यो॥
आतम-बोध-बिना भ्रम जाई। बासन टारे कबहुँ पराई॥
इन्हहिं संत जनि समुझउ भाई। इनहिं देखि हरिहू बिसराई॥
बिगरे आप बिगारैं जगहीं। समुझि परे लागे यम-पनहीं॥
वस्तु कलुक पै हाथ न आई। त्यागे वस्तु भया का भाई॥
चंचल मन थिर नेकु न भयऊ। मौनिहिं भये नाहिं मन मरेऊ॥
आप अंध जग पंथ बतावत। दोऊ लोक निज हाथ नसावत॥

श्रीरामेश्वरदयालजीकी ऊपर लिखी पंक्तियाँ बड़ी मार्केकी हैं। उनका तात्पर्य केवल यही है कि केवल वस्त्रसे बना साधु वास्तवमें साधु नहीं गिना जाता बल्कि जिसका मन मर गया है, वही वास्तविक साधु है! महात्मा कबीरदासजीने बड़े सुन्दर शब्दोंमें लिखा है—

केसन कहा बिगाड़िया जो मूँड़ो सौ बार।
मनको क्यों नहिं मूँड़िये जामें बिषै बिकार॥

दुर्जनकी परिभाषा लिखते हुए महात्मा पलटूदासजी संत-निन्दकको बड़ा भयङ्कर दुर्जन मानते हैं। वे लिखते हैं—

सन्तनकी निन्दा नहिं कीजे। सन्तनकी निन्दामें नाहिं भला॥
चौरासी भोग वह भोग चला। चौरासी भोगन फेर चला॥
सन्तनको कछु दोस नहीं। अपने (तू) पापसे आप जला॥
पलटू उसका जो मुँह देखे। उसीका मुँह फिर होय काला॥

महात्मा जगजीवनदासने पाषण्डी भक्तोंको भी दुर्जन माना है। वे लिखते हैं—

जगकी रीति कही नहिं जाई। टेक।
मिलहिं भाव करिकै अधीन है, पाछे करैं कुटिलाई॥
माला कंठी पहिरि सुमिरनी दीन्हो तिलक बनाई॥
कहहिं कि भक्ति सिद्धि है निपिटिहन, बहु बकबाद बढ़ाई॥
अन्तर नाम भजन तेहि नाहीं, जहँ तहँ पूजा लाई॥
करहिं बिबाद बहुत हठ करिकै, परहिं भरम माँ जाई॥
जगजीवनदास गुप्त मति सुमिरहु, प्रगट न देहु जनाई॥

महात्मा कबीरदासने 'दुर्जन' शब्दका ही उपयोग करते हुए लिखा है—

गुन गाड़ै अवगुन खनै, जिभ्या कटुक उदार।
ऐसा मूरख दुर्जना, नरक जाय जमद्वार॥

दुर्जनकी परिभाषा करना वास्तवमें मनुष्यकी परिभाषा करना है! पर, यह परिभाषा जितनी कठिन है, उतनी ही गलत भी हो सकती है। मनुष्यकी परख करना बड़ा कठिन काम है। एक कविने सत्य कहा है—

जौहरको जौहरी सर्राफ जरको परखे।
मगर वो न देखा जो बशरको परखे॥

इसलिये हमलोग स्वयं अपने शब्दोंमें दुर्जनकी परिभाषा करनेसे धोखा उठा सकते हैं। इसलिये उनके लक्षण संतों-महात्माओंके शब्दोंमें ही बतलाना उचित होगा। महात्मा पलटूदासकी एक वाणी है—

झूठ साँच कहि दाम जेरिकै गाड़ने।
औषधि कूटहि रोज़ जियें के कारने॥
जीये बर्ष हज़ार, आख़िरको मरेगा।
अरे हाँ रे पलटू, तन भी नाहीं संग क्या ले करेगा॥

विनयपत्रिकामें महात्मा तुलसीदासजी लिखते हैं—

ते नर नरकरूप जीवत जग,
भवभंजन पद बिमुख अभागी॥
निसिवासर रुचि पाप असुचि मन,
खल मतिमलिन निगमपथ त्यागी।
नहिं सतसंग भजन नहिं हरिको,
स्रवन न रामकथा अनुरागी॥
सुत बित नारि भवन ममता निसि,
सोवति अति मति कबहुँ न जागी॥
तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि,
सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी।

सूकर-स्वान-सृगाऌ-सरिस जग,
जनमत जगत जननि दुख लागी ॥

अब थोड़ा उर्दूके कवियोंकी परिभाषा सुननी चाहिये। हज़रत 'वासिल' लिखते हैं—

अच्छेके एवज़ जो कि बुरा करते यही हैं।
जो लोग नहीं डरते खुदासे वो यही हैं ॥
मोहसिन कुशी बेरहमी व हक़तलफी वा बेदार।
मोजिद हैं यही सबके इन्हींकी हैं ये ईजाद ॥
ऐसोंने किसीसे भी भलाई भी किया है।
जिससे मिलाया हाथ उसे रंज दिया है ॥

सादतयार ख़ाँ रंगीने 'नेककी नेकी देखकर, बदका अपने बद-आमालपर अफ़सोस करना' बहुत ही अच्छे शब्दोंमें दर्शाया है। अन्तमें वे बदसे—दुर्जनसे कहलाते हैं—

और एक इन्सान हैं हमरू सियाह।
दम बो दम करते हैं जो बेहद गुनाह ॥
रहम आता ही नहीं असला कभी।
अपने खातिर मारते हैं लाख जी ॥
रात-दिन तन परवरी की फ़िक्र है।
औरका ग़म खायें हम क्या ज़िक्र है ॥
हमसे रोज़ो शबमें है लाखोंके दुख।
कुछ नहीं पाया किसीने हमसे सुख ॥
शर्म कर अफ़आले बदसे ऐ अज़ीज़।
कौनसे दिन आयेगी तुझको तमीज़ ॥

उदाहरणोंकी भरमार की जा सकती है। अनेक महात्माओंके वचन उद्धृत किये जा सकते हैं। पर इनसे लेखका विस्तार बढ़ेगा और कोई लाभ न होगा। अंग्रेजी तथा संस्कृतमें, विशेषतः संस्कृतमें तो इनकी 'वन्दना' की भरमार है। पर, हमने केवल उन्हीं महात्माओंके वचन दिये हैं जिनकी भाषा हमारे लिये सरल है तथा जिनका नाम हमारी ज़बानपर रहता है। अतएव उनके लक्षणको और अधिक न लिखकर हम केवल गोसाईं तुलसीदासजीद्वारा की गयी उनकी वन्दनाको दुहराकर 'अपना' परिचय समाप्त करेंगे। रामायणमें लिखा है—

बहुरि बन्दि खलगन सति भाये। जे बिनु काज दाहिने बाँये ॥
परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरें हरष बिषाद बसेरे ॥
हरिहर जस राकेस राहु-से। पर अकाज भट सहसबाहुसे ॥
जे परदोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिनके मन माखी ॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनिक धनेसा ॥
उदय केतुसम हित सबहीके। कुम्भकरनसम सोवत नीके ॥
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिमि उपल कृषी दलि गरहीं ॥
बंदौं खल जस सेष सरोषा। सहसबदन बरनै पर दोषा ॥
पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनै सहस दस काना ॥
बहुरि सक्रसम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही ॥
बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहसनयन पर दोष निहारा ॥

उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
जानु पानि जुग जोरि करि, बिनती करहुँ सप्रीति ॥

इस जीवनका उद्देश्य अपनी आत्माका स्वरूप पहचान लेना है। अपने आत्मतत्वको प्राप्त कर लेना है। हम अपने आत्मस्वरूपको प्राप्तकर 'तन्मय' हो जायँ। हमारा भटकना समाप्त हो जाय। यात्री घर लौट आवे! जीवात्मा तथा विश्वात्मा एक हो जावे! यह विश्व एक स्वतन्त्र खेल है। अपनी आत्माको ही सबसे बड़ा निर्माता तथा सुधारक मानना चाहिये। वही विनाशक तथा संहारक भी है। वह स्वयं अपनेको बना-बिगाड़ सकता है। यदि वह अपनेको कर्त्ता मान ले; भय, सन्देह, दुःख तथा शोकसे परे मान ले तथा भगवान्‌की श्रद्धा तथा भक्तिका सुख भोगने लगे तो वह संसारके राग-द्वेषकी मैलसे परे हो सकता है। अतएव हरेक दुर्जनको एक भूला हुआ मुसाफ़िर समझकर उसे सन्मार्गपर लाना चाहिये तथा उसकी दुर्जनताके कारण उससे घृणा नहीं, उसपर दया करनी चाहिये और यह सोचना चाहिये कि हममें वे दुर्गुण हैं या नहीं—यदि हैं तो कैसे दूर हों।

अन्तमें मैं पाठकोंकी सेवामें स्वर्गीय काशिराजके गुरु श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी—श्रीदेवस्वामीजीकी ये पंक्तियाँ देकर इस लेखको समाप्त करता हूँ। पंक्तियाँ कण्ठस्थ करने योग्य हैं—

बन्दे राम चरणसों लाग, जो तू लागि सकै ॥
मोह-निसामें सोवत बीते, जुग जुग अजहूँ जाग।
मान कपट चतुराई निन्दा, बदकर मनसे भाग ॥
जो तू भागि सकै ॥
जदपि विषय-रस प्यारे तद्यपि, अन्त लगैगो दाग।
काजरकी कोठरी समझ ले, अस बिचारिके त्याग ॥
जो तू त्यागि सकै ॥
जिन चरणनको शुक-मुनि सेवत, साथ ज्ञानबैराग।
जिनमें श्रीगंगाजू लहरत, वाही रसमें पाग ॥
जो तू पागि सकै ॥
सुखके कारण सब जग दौड़त, मिलत न सुखको ताग।
देवकिनन्दनके पाँयनमें, नित बसंत, नित फाग ॥
जो तू फागि सकै ॥

भक्त रामावतार

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

किसी भी प्रतिभासम्पन्न पुरुषके व्यक्तित्वकी ठीक-ठीक परीक्षा करना अत्यन्त कठिन कार्य है। उसके जीवनके इतने भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी पहलू हुआ करते हैं कि उसकी जीवनदिशा-का सर्वाङ्गरूपेण पता लगाना यदि असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य हुआ करता है। कभी-कभी परिस्थिति उसके जीवनके एक ही टर्रेको, जो आपाततः सबसे प्रबल तथा प्रकाशमान प्रतीत होता है, सर्वसाधारणके सामने लाकर यों उपस्थित कर देती है कि उसके चकाचौंधमें उसके अन्य अंशोंके अस्तित्वका भी पता हमें नहीं चलता। परन्तु उन अंशोंकी सत्ता रहती अवश्य है और इनका पता उन्हें चलता है जो विवेक-बुद्धिका उपयोगकर उस महापुरुषके समग्र जीवनको पक्षपातरहित होकर समझनेका वास्तवमें उद्योग करते हैं।

मेरे इस कथनका प्रधान लक्ष्य है पण्डितप्रवर रामावतार शर्माजीका जीवनचरित। पार्थिव शरीरको छोड़कर स्वर्गवासी हुए पण्डितजीको अभी कुछ ही वर्ष हुए होंगे, परन्तु इधर ही क्यों उनके जीवनकालमें भी उनके विषयमें कुछ लोगोंकी बेसिर-पैरकी विचित्र धारणा थी। उनके पाण्डित्यका लोहा सब मानते हैं, उनकी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञाकी प्रशंसा किये बिना कोई नहीं रह सकता, उनके सामने कोई भी पण्डितम्मन्य किसी भी विषयके ऊपर शास्त्रार्थ करनेकी कण्डूति लेकर आया, वह उनके अलोकसामान्य प्रतिभाके सामने नतमस्तक अवश्य होता; उसकी कण्डूति जरूर मिट जाती और वह उनके विपुल ज्ञान-वैभवकी शतशः प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। अतः उनकी विद्वत्ताकी चर्चा पर्याप्त मात्रामें होती आयी है। उसके विषयमें मुझे न तो कुछ कहनेकी आवश्यकता है और न कुछ लिखने-की जरूरत। परन्तु मुझे उन लोगोंसे अवश्य कुछ बातें कहनी हैं जो उनके चरित्रकी खूबियोंपर बिना विचार किये ही उन्हें एक बड़ा नास्तिक बतलानेका दुःसाहस करते हैं। सच तो यह है कि पण्डितजी अपने प्रतिपक्षियोंकी युक्तियोंके ही सर्वथा खण्डनमें इस प्रकार दत्तचित्त हो जाया करते थे कि विरोधियों-को भी उनके अपने मतका पता नहीं चलता था। बुद्धि ऐसी प्रखर थी कि कोई भी युक्ति उनके सामने रखी जाती थी उसके खण्डन करनेके लिये पण्डितजी अन्य युक्तियाँ पेश कर ही दिया करते थे। ईश्वरकी सत्ताके विषयमें यदि आप कोई युक्ति देते हैं तो पण्डितजी उसके एकदम खण्डन कर देनेके लिये अपनी प्रबल युक्ति तत्काल लिये उपस्थित हैं। इसके प्रतिकूल यदि ईश्वर-खण्डनके विषयमें आप युक्ति देते हैं तो पण्डितजीके पास ईश्वर-मण्डनके विषयमें युक्तियोंका अभाव नहीं है। अतः ऐसी विचित्र परिस्थितिमें प्रतिपक्षी पण्डितजीके वास्तविक अभिप्रायको न समझ-कर झुँझलाकर उन्हें परम नास्तिक बतलाकर ही अपने जले दिलको ठण्ढा किया करता था। इस प्रकारकी पण्डितजीके विषयमें मिथ्या धारणा लोगोंमें फैल गयी है। इसमें कुछ दोष पण्डितजीके उन सगे सम्बन्धियों, शिष्यों यथा प्रशंसकोंका भी है जो उनके गुणाभासोंके ही अनुकरण करनेमें अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे पण्डितजीको सच्चे आध्यात्मिक जीवनके समझनेवालोंकी संख्या अत्यन्त न्यून है। पर कम होनेपर भी वह है अवश्य। पण्डितजीके सम्पर्कमें आनेवाले तथा उनके भीतरी गुणोंपर दृष्टि-

पात करनेवाले विवेकी विद्वानोंपर उनके पवित्र चरित्रका जौहर अवश्य खुला है इसका मुझे पूरा विश्वास है। उनके सच्चे गुणोंके पारखियोंकी सूची यदि मुझसे कोई बनानेको कहे तो मैं उसमें सबसे पहले काशीके पण्डितप्रकाण्ड महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजजीका ही नाम रखूँगा जो पण्डितजीके थोड़े ही सम्पर्कमें आकर भी उनके विचित्र आध्यात्मिक जीवनकी सत्ताके कायल हो गये थे। बन्धुवर पण्डित बटुकनाथजी शर्मा, डाक्टर हरदत्त शर्मा, पण्डित नारायणशास्त्री आदि अनेक पण्डितजीके शिष्य तथा प्रशंसक आज भी विद्यमान हैं जो उनकी विपुल विद्वत्ताके अन्तस्तलमें वर्तमान रहनेवाली उनकी निश्छल प्रवृत्ति, सरल हृदय, उदात्त विचार, पवित्र आध्यात्मिकताको आलोचनात्मक दृष्टिसे परखकर माननेवाले हैं। अतः जो कुछ अभी आगे लिखा जायगा उसे मैं पण्डितजीके चरित्रका साधारण दृष्टिसे ओझल रहनेवाला एक अंश मानता हूँ और उसकी सत्ताके विषयमें यदि किसीको सन्देह हो तो ऊपर उल्लिखित सज्जन उक्त सन्देहको हटानेमें सर्वथा समर्थ होंगे ऐसी मेरी बद्धमूल धारणा है।

लेखकको पण्डितजीके चरणोंके पास बैठकर विद्याध्ययन करनेका कई वर्षोंका शुभ अवसर मिला है; उन दिनोंमें सदा पास रहनेसे उनके अन्तरङ्ग विचारोंसे परिचित होनेका अभूतपूर्व अवसर भी प्राप्त हुआ है। उसके बाद भी पण्डितजीकी विचारानुसारिणी कार्यप्रणालीको देखनेका भी समय मिलता रहा है। अतः वह जो कुछ लिख रहा है उसे वह अन्धभक्तिकी प्रेरणाका परिणाम नहीं मानता, प्रत्युत विवेचनापूर्वक परीक्षा करनेका सुफल समझ रहा है।

पण्डित रामावतारजीको ईश्वरकी सत्तापर असीम विश्वास था जो केवल अन्धश्रद्धाके ऊपर निर्भर न था बल्कि उनकी विद्वत्ताके अनुरूप ही उनके परिपक्व विचारपर अवलम्बित था। अन्तरङ्ग शिष्योंकी जिज्ञासाको शान्त करते हुए कहा करते थे कि कई एक इतने प्रबल कारण हैं कि ईश्वरकी सत्ता बलात् माननी ही पड़ती है। इस संसारमें पाप-पुण्यका विवेक, मनुष्यको भावप्रवृत्तिका अन्तिम अवसान, ज्ञानकी चरम सीमाका आश्रय—आदि अनेक आवश्यक हेतुओंको जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दकी सत्ताको प्रमाणित करनेके लिये सर्वथा पर्याप्त तथा अकाट्य बतलाया करते थे। विराट्रूपको भगवान्का प्रत्यक्ष रूप बतलाया करते थे। कहा करते थे कि ईश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये अन्यत्र जानेकी क्या जरूरत? भागवतके द्वितीय स्कन्धके प्रथम अध्यायमें विराट्के वर्णनात्मक 'ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्' आदि श्लोकोंको इस प्रसङ्गमें बड़े प्रेमसे सुनाया करते थे। जिन्हें आँखें हैं वे भगवान् शङ्करकी मूर्तिको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। यह नीला आकाश उनका केश है। उनके ललाटपर चन्द्रकला अपनी रुचिरता बिखेर रही है। आकाशमें जगमगाती आकाशगङ्गा हो तो उनके सिरपर जटाजूटमें घूमनेवाली गङ्गाजी हैं। अतः व्योमकेशकी मूर्ति तो सदा ही हमारे नेत्रोंके सामने देदीप्यमान है। इस व्यक्त-मूर्तिको निरखता हुआ भी यदि कोई महापुरुष शङ्करकी सत्तामें इनके मूर्खभावके कारण विश्वास नहीं माने, तो उसे क्या कहा जाय। जिस पुरुषके ऐसे उद्गार हों भला उसे हम अनीश्वरवादी किस मुँहसे कह सकते हैं?

भगवान्में उनकी भक्ति अटल थी। उनकी जिह्वापर कितने स्तोत्र नाचते थे, इसे हम कैसे कहें। न जाने कितने हजार श्लोक जो संस्कृतके चुने हुए भक्तिग्रन्थोंसे हुआ करते थे उन्हें याद थे जिन्हें वे चलते-फिरते, उठते-बैठते कहा करते थे। उनकी

स्मरणशक्ति अलौकिक ही थी । समूचा नैषध उन्हें याद था । उसके हर एक पद्यको वह मन्त्र कहा करते थे और समय-समयपर उसका पाठ किया करते थे । परीक्षाकी कापियाँ देखते जाते थे, नम्बर देते जाते थे । आँख और हाथसे परीक्षाका काम होता रहता और उधर मुँहसे भगवद्भक्तिपूरित महात्माओंके सरस पद्योंका पाठ करते जाते थे । यामुनाचार्यके सुप्रसिद्ध आलवन्दार स्तोत्रका यह भव्य पद्य—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरकं समीक्षते ॥

—ऐसे अवसरपर उनके गद्गद् कण्ठसे अविच्छिन्न-रूपसे निकला करता था । बन्धुवर पण्डित बटुक-नाथजीने पहले-पहले इस श्लोकको ऐसे ही एक अवसरपर पण्डितजीके ही मुँहसे सुना था । पुराणोंको वे बड़े आदरसे देखते और पढ़ते थे, विशेषकर भागवतको । लेखकको वे कितनी बार भागवतके कितने ही सुन्दर श्लोकोंको सुनाया करते थे । सुनाते समय उनकी मुखभङ्गीमें परिवर्तन दीख पड़ता था । भगवत्प्रेमको चखनेवाले महात्माओंके ऊपर भागवतके श्लोकोंका जो असर कहा-सुना जाता है वही प्रभाव उनके ऊपर भी हुआ करता था । भागवतका अधिकांश उन्हें याद था । भागवतके किन-किन श्लोकोंमें विचित्र शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वे प्रसङ्ग आनेपर सदा बताया करते थे । कशिपु शब्दके 'शय्या' अर्थके उदाहरणमें वे भागवतसे 'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः' के प्रयोगको उद्धृत किया करते थे ।

हनुमान्जीके वे बड़े भक्त थे । सुना जाता है कि अपने बाल्यकालमें उन्होंने मारुतिकी बड़ी आराधना की थी । उस समय वे किसी निर्जन मारुति-मन्दिरमें अपना डेरा डाल देते और लगातार जप करनेमें लग जाते । एक प्रकारसे उन्हें हनुमान्-जीका इष्ट था । बहुत-से जानकार लोग पण्डितजीके भव्य चेहरेकी वानराकृतिको हनुमान्जीको प्रखर आराधनाका व्यक्त फल बतलाया करते हैं । जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि पन्द्रह वर्षकी उम्रमें उन्होंने मारुतिशतक-जैसा स्रग्धरावृत्तमें अतीव ओजःप्रधान और जोरदार काव्य लिखा था । इसे तो हम बालक रामावतारपर प्रसन्न हुए साक्षात् हनुमान्जीके प्रसादका ही फल मानते हैं ।

पण्डितजी देवालयोंको सदा श्रद्धा और भक्तिके साथ देखते थे । पण्डोंके दुर्व्यवहारसे जरूर दुःखित हुआ करते थे, और इसीलिये इन देवालयोंकी पवित्रता बनाये रखनेके लिये प्रयत्न करनेका सदा उपदेश दिया करते थे ! पटनेसे जब केवल परीक्षाकार्यके लिये भी कुछ ही घंटोंके लिये काशी आते तब विश्वनाथ और गोपालमन्दिरमें बिना दर्शन किये नहीं रहते थे । भोजनकी शुचिताका इतना खयाल रखते थे कि गङ्गाजलमें तैयार होनेवाली दास हलवाईकी मिठाईके सिवा किसी भी दूकानकी मिठाई नहीं छूते थे ।

कितना लिखा जाय, स्थानकी कमी बरबस कलम-को रोक रही है ! परन्तु अन्तमें हम इतना अवश्य कहेंगे कि ऐसे पवित्र आचरणवाले, सत्यपर अटल निष्ठा रखनेवाले परमभागवत विद्वान्को यदि उनके भावुक शिष्यगण एक छिपा हुआ सच्चा संत मानते हैं, तो क्या इसमें कुछ अनुचित है ? नहीं, कदापि नहीं ।
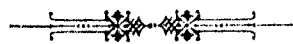
वेदोंमें भगवन्नाममहिमा

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्रीस्वामी भागवतानन्दजी महाराज मण्डलीश्वर, काव्यसांख्ययोग-न्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

[गतांकसे आगे]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्वेद २ । ३ । २१ ।, अथर्व सं० ९ । २८ । ८)

वेदप्रतिपाद्य वेद्य (जाननेयोग्य) परब्रह्म (ओम्) को जिसने नहीं जाना उसने ऋग्वेद आदि वेदोंको पढ़कर भी क्या किया ? अर्थात् कुछ भी नहीं, व्यर्थ ही श्रम किया, जो उस परमात्माको जानते हैं उनका ही जीवन धन्य है, नहीं तो हरिविमुखोंको जीवन्मृत ही समझो ।

'इन्द्र त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे'

(ऋग्वेद ३ । ३ । १)

हे इन्द्र[1] ! (हे परमात्मन् !) सोमरसके पानार्थ हम आपको स्तुतिद्वारा बुलाते हैं ।

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

(ऋग्वेद ६ । ५ । ८, सामवेद ३ । २ । ४ । ६)

दुष्टोंके नाश करनेके लिये वज्रको धारण करनेवाले हे इन्द्र ! परमात्मन् ! आपके मापके लिये सैकड़ों द्युलोक हों, तो भी आपको माप नहीं सकते, सहस्रों सूर्य भी आपको प्रकाशित नहीं कर सकते, उत्पन्न हुई कोई भी वस्तु आपको व्याप्त नहीं कर सकती ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋग्वेद ८ । ७ । ३)

जिस परमात्माकी महिमाको उन्नत शिखरविशिष्ट गगनचुम्बी हिमालय आदि पर्वत और उत्तुङ्गतरङ्गमालाशाली समुद्र, प्रखर वेगवाहिनी गङ्गा आदि नदियोंके साथ कहते (गाते) हैं, अर्थात् पर्वतमाला और नद-नदी अपने विलक्षण विशाल आकारको दर्शाती हुई उस विश्वशिल्पी (कारीगर) के नामकी महिमाके गुणगणका गान कर रही हैं, उस परमात्माने ही यह उत्कर्ष प्रदान किया है । और जिस परमात्माकी ये सब दिशाएँ भुजाके समान हैं, उस सुखस्वरूप परमदेव परमात्माके लिये स्तुतिसे हम विशेष भक्ति करें । यह कैसा अच्छा भगवन्नाम-महिमाका वर्णन है ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

(यजु ४० । १६ । ऋग्वेद १ । १८९ । १ । काण्व सं० ४ । १० । १ । १७)

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! हे हमारी (वयुनो[1]) बुद्धियोंके ज्ञाता प्रभो ! हम आपको बार-बार नमस्कार करके प्रार्थना करते हैं कि—आप हमको सदा शुभ मार्गमें ले जाइये तथा अशुभ और पापमार्गसे दूर रखें ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद १ । १६४ । ४६)

उस एक ही परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और दिव्य स्वरूप सुन्दर पंखवाला गरुत्मान् (गरुड़) कहते हैं, वस्तुतः परमात्मा एक ही है परन्तु (विप्र[2]) मेधावी उस परमात्माको वृष्टि करनेवाली बिजलीरूप अग्नि, यम और मातरिश्वा (वायु) कहते हैं ।

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥' (यजुर्वेद ३२ । १)

वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, प्रजापति और शुद्ध ब्रह्म है ।

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।' (ऋ० १० । ११४ । ५)

बुद्धिमान् उस एक परमात्माके अनेक नामोंकी कल्पना करते हैं ।

'स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । (अथर्व० १३ । ३ । १३)

१—इदं सर्वं जगत्साक्षाद्दर्शयतीतीन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र ! (उक्त मन्त्रका सा० भा०) इस जगत्का साक्षात् करानेवालेका नाम इन्द्र है और वह परमात्मा ही है ।

१—'वयुन' का अर्थ प्रज्ञा (बुद्धि) है, देखो निरुक्तनैघण्टुक खण्ड ३ । १३ ।

२—विप्र शब्दका अर्थ विशेष स्मरणशक्तिसम्पन्न बुद्धिमान् है, देखो निरुक्त निघण्टु काण्ड ३ । १९ ।

वह वरुण[1] सायंकालमें अग्नि होता है। और प्रातः उदय हुआ मित्र होता है, सविता होकर आकाशसे चलता है, वह इन्द्र होकर मध्यसे द्यौको तपाता है।

'त्वमर्कस्त्वं सोमः' इस महिम्नःस्तोत्रके श्लोक (२६) में तथा 'त्वं ब्रह्मा त्वं पशुपतिरर्यमा' इस विष्णुपुराण (५। १८। ५६) में एवं 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' इस मनुस्मृति (१२। १२३) में यही कहा गया है कि—हे परमात्मन्! आप चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा, शिव और अग्नि आदि हैं।

किसी विद्वान्ने ठीक ही कहा है—

श्रीरामचन्द्रहरिशम्भुनरादिशब्दा
ब्रह्मैकमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति।
कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो
नाणीयसीमपि भिदां भजते पदार्थः॥

रामचन्द्र, हरि, शम्भु, नर और नारायण ये सब शब्द एक ही ब्रह्मके प्रतिपादक हैं, कुम्भ, घट और कलश कहनेसे शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं होता।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।

(अथर्ववेद १३। १६। १८)

वह परमात्मा न दूसरा, न तीसरा, न चौथा, न पाँचवाँ, न छठाँ, न सातवाँ, न आठवाँ, न नवाँ और न दशवाँ है, किन्तु एक ही है।

महाभाग्यत्वाद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (निरुक्त ७। १। ४)

परमेश्वरका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है अतः उस एक आत्माकी बहुत प्रकारसे स्तुति की जाती है, उस एक आत्माके अन्य देवता प्रत्यङ्गस्थानीय हैं। परन्तु यह ज्ञान श्रद्धावान् पुरुषको ही प्राप्त होता है जैसा गीता (४। ३९) में कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' श्रद्धावाला ज्ञानको प्राप्त करता है।

'सापि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'(योगभाष्य १। २०)

वह कल्याणकारिणी श्रद्धा माताके सदृश योगीकी रक्षा करती है।

'श्रद्धा श्रद्धानात्।' (निरुक्त ९। ३। ३१)

सत्य (परमात्मा) का स्थापन (प्रादुर्भाव) जिससे होता है वह श्रद्धा है। भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी अपनी रामायणमें कहते हैं—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

(बालकाण्डके आरम्भका दूसरा श्लोक)

श्रद्धारूपी पार्वती और विश्वासरूपी शङ्करको मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके बिना सिद्ध भी अपने अन्तःकरणस्थ ईश्वरको नहीं देख सकते। ऋग्वेदमें तो एक श्रद्धासूक्त ही है, जिसकी अन्तिम ऋचामें कहा है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापये ह नः॥

(ऋग्वेद १०। १५१)

हम श्रद्धाको प्रातःकालमें बुलाते हैं, मध्याह्नमें बुलाते हैं, सूर्यास्तके समय बुलाते हैं, अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें जो पाठ, पूजा, भजन, स्मरण आदि करते हैं उन सत्कार्योंमें हमारी श्रद्धा हो। हे श्रद्धे! तू हमारी प्रत्येक सत्कार्यमें श्रद्धा करा।

'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत'

(ऋ० ८। ६। २८, सामवे० २। २। २। ९)

पर्वतोंकी गुहा आदि रम्यस्थानोंमें और नदियोंके सङ्गमपर ध्यान, योग, प्रार्थना आदिसे प्रसन्न हुए भगवान् बुद्धिमान् उपासकोंको दर्शन देनेके लिये प्रकट हो जाते हैं।

इस मन्त्रके द्वारा यही रहस्य बतलाया गया है कि पर्वतप्रान्त या नदी-सङ्गमके स्थानपर स्तुति-गान करनेसे इन्द्रदेव (ईश्वर) का दर्शन मिलता है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेताश्वतर० ३। १९)

उस परमात्माकी अद्भुत महिमा है इस बातको यह मन्त्र बतलाता है—बिना हाथके ग्रहण करता है, बिना पैरके चलता है, बिना चक्षुके देखता है, बिना कानके सुनता है, वह सबको जानता है, उसकी महिमाको कोई नहीं जानता, विद्वान् उसे सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

(श्वे० उ० ६। ७)

---

१. वरुण नाम परमात्माका है।

वह इन्द्र आदिका भी अधिपति है, देवताओंका भी देवता है, पालकोंका भी पालक है, सब जगत्के अधिपति स्तुतियोग्य उस प्रकाशरूप परमात्माको हम जानें ।

स नः पिता जनिता स उत बन्धु-
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥

(अथर्व० २ । १ । १ । ३)

वह परमात्मा हमलोगोंका पालक, उत्पादक और स्वर्ग आदि सब धामोंको जाननेवाला है, जो सब देवताओंका इन्द्र आदि नाम रखता है, उसके विषयमें सब नाना प्रकारके प्रश्न करते हैं।

भाग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥

(अथर्व० १० । ८ । २२)

वह मनुष्य उपयोगी (सफल) बन जाता है, और अन्न आदि ऐश्वर्यको भोगता है, जो उस सर्वश्रेष्ठ सनातन परमेश्वर-की उपासना करता है । वस्तुतः 'मनुष्यदेह' की रचना ही भगवद्विचार आदि शुभ कार्योंके लिये है। 'मनुष्य' शब्दके अर्थका विचार करनेसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है ।

यास्काचार्य निरुक्तमें कहते हैं—

'मनुष्याः कस्मात् ?' मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्य-मानेन सृष्टाः । (३ । २)

विचारपूर्वक कार्य करनेसे 'मनुष्य' कहाता है, अथवा ब्रह्माजीने इसे बहुत प्रसन्न होकर बनाया है इससे 'मनुष्य' कहलाता है, अर्थात् ब्रह्माजीने विचार किया कि पशु-पक्षी आदि तमोगुणप्रधान जीव विवेकपूर्वक मेरे नियमों (भजन-स्मरण, भगनाम-महिमाका गान आदि) का पालन नहीं कर सकते परन्तु मनुष्य कर सकते हैं । यदि हम शुभ कार्य नहीं करेंगे, तो—

'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'

(वेदान्त द० शा० भा० १ । १ । १ । १)

बिना विवेक-विचारके मनुष्य और पशुमें कोई भेद नहीं है । नीतिकारोंके 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' (धर्मके बिना नर पशुतुल्य है) आदि वचनोंसे भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्यका ध्येय भगवच्चिन्तन आदि सत्कार्य ही होना चाहिये ।

'पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥'

(अथर्व० १० । ८ । २९)

पूर्ण परमेश्वरसे सम्पूर्ण जगत्का उदय होता है, इस सम्पूर्ण विश्वको वह पूर्ण ईश्वर ही जीवन देता है, अतः हम सब उस ब्रह्मको जानें जिससे सकल संसारको जीवन मिलता है ।

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥'

(ऋग्वेद १ । ११५ । १, यजु० वाज० सं० ७ । ४२)

आश्चर्यस्वरूप देवोंके बलस्वरूप सूर्य, चन्द्र तथा अग्निका मार्गदर्शक वह परमात्मा हमारे बाहर-भीतर प्रकट हुआ है, उसने अपने प्रकाशसे पृथिवी और अन्तरिक्षको भर दिया है, वह विद्वानोंके प्राप्तियोग्य जङ्गम और स्थावरका आत्मा (जीवन) है ।

'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥'

(ऋ० १ । १५४ । १)

मैं निश्चितरूपसे विष्णुकी किन-किन शक्तियोंका वर्णन करूँ, जिसने पृथिवीके कण-कणको माप डाला है, जिसने ऊँचे द्युलोकके सहित नक्षत्रोंको थामा (धारण कर रखा) है, जो तीन पगसे सबको मापनेवाला है और जो बहुत प्रशंसा-के योग्य है ।

'त्वमग्ने ! प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्' (ऋग्वेद १ । ३१ । १०)

हे जगद्गुरो ! तू श्रेष्ठ बुद्धि देनेवाला है, तू हमारा सच्चा पिता है, तू हमारे जीवनको बनानेवाला है, हम सब आपके पुत्र हैं ।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।
स अर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥

(अथर्ववेद १३ । ४ । ४)

वह परमात्मा सबका उत्पन्न करनेवाला है, वह सबका पालन करनेवाला है, वह सबका प्राण (जीवन) है, वह ऊपर उठा हुआ नक्षत्रोंवाला आकाश है, वह कर्मफलका दाता है, वह दुःखोंका निवारण करनेवाला है, वह दुष्टोंको रुलानेवाला और सब देवोंमें बड़ा देव है ।

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥

(ऋग्वेद ४ । २५ । ८)

परमात्माको उच्च श्रेणीके, निम्न श्रेणीके और मध्य श्रेणी-के मनुष्य बुलाते (प्रार्थना करते) हैं, उस परमात्माको मार्ग-में चलनेवाले और अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंमें लगे हुए मनुष्य बुलाते हैं, उस परमात्माको घरमें रहनेवाले, युद्ध

करनेवाले और धन-धान्यकी इच्छा करनेवाले सब स्त्री-पुरुष बुलाते (प्रार्थना करते) हैं ।

'त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥' (ऋग्वेद ८ । ४४ । १९)

हे परमात्मन् ! अग्ने (हे जगद्गुरो !) तुझे समबुद्धि-वाले कर्मयोगी कर्मोंसे और तुझे तत्त्वज्ञानी ज्ञानोंसे प्रसन्न करते हैं । हमारी वाणियाँ आपको आपकी महिमाके गान-द्वारा प्रसन्न करें ।

'न तं विदाथ य इमा जजान ।' (ऋग्वेद १० । ८२ । ७)

हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थोंको उत्पन्न किया है ।

'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।' (ऋग्वेद १० । १२९ । ६)

कौन ठीक-ठीक जानता है और कौन ठीक-ठीक कह सकता है कि यह नाना प्रकारकी सृष्टि किस प्रकारसे हुई है, अर्थात् प्रभुकी महिमा अनन्त है, उसका पार पाना कठिन है ।

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'
(ऋ० १० । १२१ । ५)

जिसने द्यौको तेजवाला बनाया है और भूमिको दृढ़ बनाया है, जिसने सूर्य और चन्द्रको रोक (थाम) रखा है, जो आकाशमें लोकोंको बनानेवाला है, हम उस सब प्रजाके स्वामी देवको हविष (श्रद्धा-भक्ति) से पूजा करते हैं ।

'स्व इति सूर्यनाम' (निघण्टु १ । ४)

'स्वर' यह सूर्यका नाम है ।

'लोका रजांसि उच्यन्ते' (निरुक्त ४ । १९)

'रजस्' का अर्थ लोक है ।

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजु० ३१ । १८)

उस परमात्माको ही जानकर मनुष्य जन्म-मरणका उलंघन कर सकता है, उसके जाने बिना दूसरा कोई उपाय मृत्युसे छूटने (मृत्युको उलांघने) का है नहीं ।

तस्मिन् ह भुवनानि विश्वा' (यजु० ३१ । २०)

इस परमात्मामें ही सब पदार्थ स्थित हैं ।

'यत सूर्य उदेति अस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्ये अहं ज्येष्ठं तदु नात्येति कश्चन ॥'
(अथर्व० १०८ । १६)

जिससे सूर्य उत्पन्न होता है और जिसमें लयको प्राप्त होता है उसको ही मैं सबसे बड़ा मानता हूँ, यह बात निश्चित है कि कोई भी उसका उलंघन नहीं कर सकता, कोई भी उससे बढ़कर नहीं है, अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ है ।

'न त्वावाँ इन्द्र कश्चन जातो न जनिष्यते' (ऋ० १ । ८१ । ५)

हे इन्द्र ! कोई भी तेरे-जैसा नहीं है, न पहले हुआ है और न आगे होगा ।

'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' (ऋग्वेद १० । १२९ । २)

कोई भी दूसरा निश्चयरूपमें उससे परे नहीं है ।

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' (यजु० ४० । ५)

वह इस सब (जगत्) के भीतर और बाहर है ।

'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' (ऋ० १ । १६४ । १६)

उस परमात्माको आँखोंवाला (ज्ञानदृष्टिवाला) देखता है अन्धा नहीं देख सकता । उक्त मन्त्रके भावको गीतामें भी बताया है जैसे—

'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (गीता १५ । १०)

'धन्वन्निव प्रपा असि' (ऋ० १० । ४ । १)

हे प्रभो ! आप मरुदेशमें प्याऊकी नाई हो ।

'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि' (ऋ० ७ । २२ । ५)

हे स्वयं यशस्विन् ! मैं सदा आपके नामका उच्चारण करता हूँ ।

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (ऋ० २ । २३ । १)

हम सब समूहोंके मध्यमें तुझ समूहपतिको पुकारते हैं ।

'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (यजु० २३ । ४८)

गा (भगवत्सम्बन्धी वाणी) का मूल्य नहीं है अर्थात् अमूल्य धन है ।

'साकं वदन्ति बहवो मनीषिणः' (ऋ० ९ । ७२ । २)

बहुसंख्यक विद्वान् एक साथ बोलते हैं अर्थात् एकमत रहते हैं ।

'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'
(अथर्व० १०।८।३२)

देव (ईश्वर) के काव्य (भगवत्सम्बन्धी महिमाके प्रतिपादक वेद) का देख, जो न मरता है और न जीर्ण (पुराना) होता है।

'ईशावास्यमिद ँ सर्वम्' (यजु० ४०।१)

यह सब कुछ ईश्वरसे आच्छादित (व्याप्त) है।

'तस्मिन्निद ँ सं च विचैति सर्वम्।' (यजु० ३२।८)

उस परमात्मामें ही यह सम्पूर्ण विश्व लयको प्राप्त होता है और उससे ही उत्पन्न होता है।

'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' (यजु० ३१।१९)

उस परमात्मामें ही सब भुवन स्थित हैं यह निश्चित है, अर्थात् सब (१४ लोक) भुवन उसके ही सहारे खड़े हैं।

'तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः' (अथर्व० ९।१०।१९)

उस परमात्मासे चारों दिशाएँ जीती हैं।

'ओम् खं ब्रह्म।' (यजु० ४०।१७)

महान् ब्रह्म आकाशवत् व्यापक है।

'एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः' (अथर्व० २।२।१)

वह एक परमात्मा ही नमस्कारके योग्य और स्तुतिके योग्य है।

'यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रम्' (ऋ० ३।३२।७)

हम नमस्कारसे उस महान् इन्द्रकी पूजा करते हैं।

'येषामिन्द्रस्ते जयन्ति' (ऋ० ८।१६।५)

परमेश्वर जिनका सहायक होता है वे जीतते हैं।

'सहस्रं साकमर्चत' (ऋ० १।८०।९)

हजारों मिलकर भगवान्की पूजा करो।

'तमु स्तवाम य इमा जजान' (ऋ० ८।८५।६)

उस परमात्माकी ही स्तुति करें, जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की है।

'कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्' (अथर्व० ७।८६।२)

कब मैं प्रसन्नमनसे तुझ सुखदाता प्रभुका दर्शन करूँगा।

'इमे त इन्द्र ते वयम्' (ऋ० १।५७।४)

हे इन्द्र! (ये) हम सब तेरे हैं।

'त्वमस्माकं तव स्मसि' (ऋ० ८।८१।३२)

हे इन्द्र! तू हमारा है और हम तुम्हारे हैं।

'मा भूम निष्टया इव' (अथर्व २०।११६।१)

हम कभी दूसरोंके न बनें केवल आपके ही भक्त रहें।

'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम' (अथर्व ६।७९।३)

हम तेरी भक्तिवाले बनें।

'यस्येदं सर्वं तमिमं हवामहे' (ऋ० ४।१८।२)

हम उस प्रभुका आह्वान करते हैं जिसका यह सकल ब्रह्माण्ड है।

'वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम।' (ऋ० २।१२।१५)

हे इन्द्र! हम तेरे प्यारे पुत्र-पौत्रादिके साथ सदा (तेरे) गीत गाते रहें।

'ओम् क्रतो स्मर।' (यजु० ४०।१५)

हे क्रतोः हे कर्म करनेवाले जीव! तू उस रक्षकका स्मरण कर।

'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि' (ऋ० ७।२२।५)

हे स्वतन्त्र यशवाले प्रभो! मैं सदा तेरे नामका उच्चारण करता हूँ।

'न पापासो मनामहे नारायसो न जल्हवः'
(ऋ० ८।५०।११)

हे परमात्मन्! हम पापसे, दरिद्रतासे और द्वेषसे रहित होकर तेरा स्मरण करें।

'गोभिष्टरेमामतिं दुरेवाम् (अथर्व २०।९४।१०)

भगवन्महिमासम्बन्धी वाणियोंसे दुर्गति करनेवाली दुर्बुद्धि (मूर्खता) को दूर करें।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः'
(अथर्व १०।८।२३)

विद्वज्जन इस परमात्माको सनातन (सदासे होनेवाला) कहते हैं और वह आज भी नया है।

'वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्रणोनुमो वृषन्'
(ऋ० ७।३१।४)

हे सकल ऐश्वर्यसम्पन्न, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले परमात्मन्! हम तेरी कामना करते हुए तुझे बार-बार नमस्कार करते हैं।

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'
(ऋ० १० । ११४ । ५)

बुद्धिमान् लोग उस एक सत्ता (परमात्मा) को नाना शब्दों (नामों) से वर्णन करते हैं ।

'वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः' (ऋ० ९ । ७३ । ७)

बुद्धिमान् (ज्ञानी पुरुष) अपनी वाणीको (भगवन्नाम-महिमा गाकर) पवित्र करते हैं ।

'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (यजु० ३६ । ७)

परमेश्वर सबका राजा है ।

'यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः'
(ऋ० ८ । १९ । २५)

हे प्रकाशरूप परमेश्वर ! मरणधर्मा मैं (मनुष्य) यदि तेरे स्वरूपको पा लूँ, तो अमर हो जाऊँ ।

'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे' (ऋ० ८ । ११ । ५)

हे प्रभो ! हम मरणधर्मा मनुष्यलोग तुझ नहीं मरनेवाले परमेश्वरके बहुतसे नामोंका उच्चारण करते हैं ।

'वाचं वदत भद्रया' (अथर्व० ३ । ३० । ३)

सदा कल्याणकारिणी वाणी बोलो ।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश ॥
(ऋ० १ । १६४ । २१)

जिस शरीरमें इन्द्रियाँ अहर्निश अथवा प्रतिक्षण स्व-स्व विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) में संलग्न रहती हैं, इस सकल संसारका स्वामी अथवा भूतजात (प्राणीसमूह) का स्वामी परमात्मा ही मेरे शरीरका रक्षक है और वही धीर मुझको प्रज्ञानका देनेवाला है ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥
(ऋ० १ । ८९ । ५)

जो परमात्मा स्थावर तथा जङ्गम अर्थात् चराचर सृष्टिका स्वामी है, जो बुद्धिदाता तथा प्राणिमात्रकी इच्छा पूर्ति करता है, हम उसीका अपनी रक्षाके निमित्त आह्वान (प्रार्थना—नामोच्चारण) करते हैं, वही हमारी पुष्टि करनेवाला है, अविनाशी रक्षक वही ईश सदैव हमारी वृद्धि तथा कल्याण करनेवाला हो ।

'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'
(यजु० अ० ३६, मं० ३ । साम अ० १३, खं० ४७ प्र० ६, अर्ध ३, सू० १०, ऋ० २ । ऋ० मण्डल ३, सू० ६२, मं० १०)

सब जगत्‌के उत्पादक प्रकाशरूप परमात्माके प्रार्थनीय उस प्रसिद्ध पापनाशक तेजका हम ध्यान करते हैं; हमारे ध्यानसे प्रसन्न हुआ परमात्मा हमारी बुद्धियोंको सत्कर्ममें प्रेरित करें ।

वस्तुतः 'गायत्री' मन्त्रमें भगवन्नाममहिमा पूर्णरूपसे वर्णित है, जो सद्बुद्धिका दाता है वह सर्वस्वका दाता है, बुद्धि ही यदि सद्बुद्धि हो जाय तो जन्म-मरणका बखेड़ा ही सदाके लिये मिट जाय ।

'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥'
(ऋ० १ । ६ । १)

जो सब लोकोंके जाननेवाले अविनाशी आदिकारण परमात्माकी उपासना करते हैं वे देदीप्यमान द्युलोकमें आनन्दपूर्वक रहते हैं ।

'इन्द्राय स्तोत्रं मतिभिरवाचि' (ऋ० ६ । ३४ । ५)

परमात्माके लिये स्तोत्र हमने अपनी बुद्धियोंके अनुसार कहा है अर्थात् प्रभुकी सम्पूर्ण महिमाका कथन तो असम्भव है, यथाबुद्धि वैभव-कथन किया है ।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥
(ऋ० ८ । २ । २४)

विषयोंके प्रकाशक, इन्द्रियोंके नियामक, परम उपकारक वस्तुतः जीवसे तादात्म्यको प्राप्त परमात्मासे मैत्री करनेवाले ज्ञानी जीव परम आनन्दको प्राप्त होते हैं, इन जीवोंमें भी जो जीव पेटू होता है, वह दुःख ही भोगता है, क्योंकि वह इन्द्रियोंको प्रबल बनानेमें ही तत्पर है । यह 'रावणभाष्य' के अनुसार उक्त मन्त्रका अर्थ है ।

'सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे' (ऋ० २ । ७ । १)

हे वाणीके अधिष्ठातृदेव परमात्मन् ! आप सब जगत्‌के ईश्वर (नियामक—हुक्ममें चलानेवाले) हैं, सो आप मेरी इस स्तुतिको प्राप्त करो—सुनो ।

'इन्द्रः परो मायाभिः' (ऋ० ५ । ४४ । २)

परमात्मा मायासे परे है ।

'यः परः स महेश्वरः' (तैत्तिरीयारण्यक १ । १० । २४)

जो मायासे परे है वही महेश्वर है।

'इदं पूर्णं पुरुषेण ।' (तै० आ० १० । २०)

यह सब जगत् परमपुरुष परमात्मासे पूर्ण (व्याप्त) है।

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (ऋ० २ । २३ । १ । ६ । २९, काठकसंहिता १० । १२, माध्य० सं० २२।२९)

हे समूहोंके अधिपति परमात्मन् ! हम आपका आह्वान करते हैं, हमारी प्रार्थनाको सुनो।

'सदमि त्वा हवामहे ।' (ऋ० १ । ११४ । ८)

हम सदा ही आपको बुलाते हैं अर्थात् आपके नाम लेते हैं।

'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि' (ऋ० २ । ३३ । ४)

हे भगवन् ! आपको मैं सद्वैद्योंमें अति उत्तम वैद्यराज सुनता हूँ, संसाररूपी रोगको मिटानेवाले सिद्धहस्त वैद्य आप ही हो।

'प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि । नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।'

(ऋ० २ । ३३ । ८)

सब जगत्के पालक, इच्छाके पूर्ण करनेवाले शुद्धरूप परमात्माके लिये बड़ी-से-बड़ी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ स्तुति, सुन्दर स्तुतिका उच्चारण करता हूँ। हे ऋत्विक् ! स्वयंप्रकाश परमात्माको तुम भी हविके सहित नमस्कारोंके द्वारा पूजन करो, मैं परमात्माके परम उत्तम ॐ (नाम) को स्मरण करता हूँ।

'कुमारश्चित्पितरं वन्दमानः प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम् । भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणे स्तुतस्त्वं भेषजारास्यस्मे ॥'

(ऋ० २ । ३३ । १२)

पुत्र जैसे अपने पिता आदिको प्रणाम करता है उसी प्रकार हे परमात्मन् ! पूज्य, बहुत-सी सम्पत्तिके दाता, सत्पुरुषोंके रक्षक आपको मैं बार-बार प्रणाम करता हुआ स्तुति करता हूँ। स्तुति किये गये आप हमारे लिये भवरोग-नाशक ओषधियोंको दो।

'कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे । वोचेम शन्तमं हृदे ॥ (ऋ० १ । ४३ । १)

सबके प्रशंसनीय, सर्व कामनाओंके पूर्ण करनेवाले, अनादि प्रपितामह और सबके हृदयमें विराजमान रुद्र परमात्माके लिये हम प्रार्थनाके समय अत्यन्त सुखप्रद वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करें।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् । विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥ (ऋ० १० । ८५ । १८)

परमात्माकी मायाके द्वारा आगे-पीछे ये दो (चन्द्र-सूर्यरूप) बालक अन्तरिक्षमें विचरते और खेलते हैं, एक (सूर्यरूप) बालक समस्त भुवनोंके पदार्थोंको देखता है, दूसरा (चन्द्ररूप) बालक वसन्त आदि ऋतुओंको रस-प्रदानद्वारा धारण करता है। चन्द्र और सूर्य उस भगवान्की आज्ञासे ही समयपर उदय और अस्तको प्राप्त होते हैं।

'क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम्' (अथर्व० ७ । ८६ । १)

अन्तरिक्षमें खेलते हुए चन्द्र और सूर्य चलते हैं।

इन मन्त्रोंसे यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि चन्द्र, सूर्य आदि सबके सञ्चालक वही परमात्मा हैं।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥'

(अथर्व० १० । ८ । २७)

हे भगवन् ! तुम स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी हो, तुम ही बूढ़े हो, दण्ड लेकर चलते हो, तुम ही सर्वव्यापी प्रकट होते हो।

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता)

गीताके इस श्लोकमें भी उपर्युक्त अर्थकी झलक है।

'उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।'

(अथर्व० १० । ८ । २८)

हे भगवन् ! इन प्राणियोंके पिता (उत्पादक) आप ही हैं, और पुत्र भी आप ही हैं। इन (प्राणियों) के छोटे और बड़े भाई भी आप ही हैं।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इस प्रसिद्ध श्लोकमें उक्त मन्त्रका ही भाव लिया गया है।

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥'

(काण्व सं० ४ । ५ । ३ । ७)

वह परमात्मा हमारा बन्धु, उत्पादक, नाना प्रकारसे धारण करनेवाला और प्राणियोंके रहनेके सब स्थानोंको जाननेवाला है, उसी परमात्मामें देवता अविनाशी सुखको प्राप्त करते हैं और तीसरे धाम स्वर्गमें आनन्द करते हैं।

'नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देवकृष्टयः अमैरमित्रमर्दय ।'

(साम० प्र० आ० १ । १ । २ । १)

'हे परमात्मन् ! बलके लिये मनुष्य आपको नमस्कार-रूपसे स्तुति करते हैं, हे स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! असंख्य अपने स्वरूपोंसे हमारे पापरूपी शत्रुगणको मारो ।

'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥'

(सामसंहिता ३ । १ । ५ । १)

हे वीर भगवन् ! आप चर-अचर ब्रह्माण्डके स्वामी हो, सूर्य आदिके प्रकाशक हो, जैसे बिना दुही गौएँ बछड़ोंके सामने आती हैं तैसे ही हम आपके सम्मुख होकर स्तुति करते हैं ।

'त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः । विश्वकर्मा विश्वेदेवा महाँ असि ।' (सामसं० उ० ६ । ७ । २)

हे सकल ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! तुम पापके तिरस्कारक (नाशक) हो, तुम सूर्यका प्रकाश करनेवाले हो, सब संसारके कर्ता हो, समस्त देवस्वरूप हो और सबसे बड़े हो ।

'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'

(ऋ० १ । ६ । ८९ । ५ साम० उ० २१ । १ । ३)

महायशवाला इन्द्रदेव (परमात्मा) हमारेको सुख-कारक हो ।

'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।' (ऋ० १ । २२ । १९)

हे मनुष्यो ! तुम उस व्यापक परमात्माके उन कर्मोंको देखो, जो उसने मनुष्योंके लिये अवश्यकर्तव्य निश्चित किये हैं क्योंकि इन्द्रियोंके स्वामी जीवका वही योग्य मित्र है ।

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे ।' (ऋ० १ । २ । ७, यजु० वा० सं० ५ । १५, साम० उ० आ० ८ । २ । ५ । २ अथर्व० ७ । २६ । ४)

वामनरूपधारी व्यापक विष्णुने इस जगत्को मापनेके लिये तीन प्रकारसे (पाद) पैरको रक्खा था । इस वामन भगवान्के धूलिवाले पैरमें यह सब जगत् समा गया; अर्थात् परमात्मा सबसे बड़ा है ।

'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः । ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥' (ऋ० १ । १ । १९)

हे सकल ऐश्वर्यशाली भगवन् ! गायत्र सामके गाने (बोलने) वाले उद्गाता सामवेदी आपकी ही स्तुति करते हैं, होता ऋत्विक् पूजनीय आपकी ही पूजा करते हैं, ये सब ब्राह्मण यज्ञकर्ममें ध्वजाकी तरह आपको ऊँचा उठाते हैं, अर्थात् आपकी ही स्तुति करते हुए आपकी गुणगण-महिमाको गाते हैं ।

'मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन् । मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् ॥' (ऋ० ७ । ७ । १३ । ४)

हे सबके पोषक परमात्मन् ! हमारी बुद्धि या अभिलाषा-के सिद्ध करनेवाले और बुद्धिमानोंको भी अपनी ओर आकर्षण करनेवाले आपकी हमलोग स्तुति करते हैं ।

'मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से'

(ऋ० ७ । ५ । ३२ । ४)

हे भगवन् ! आप मोहरहित हो अतएव सर्वज्ञ हो, हम लोग तो मूढ़ हैं इसलिये आपकी महिमाको नहीं जानते हैं, आप ही अपनी महिमाको जानते हो ।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्'

(ऋ० २ । ८ । ९ । २)

हे परमात्मन् ! दश दिशाओंसे मुझे निर्भय करो ।

'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् । तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥'

(ऋ० ५ । ६ । २५ । ५)

हे तेजःपुञ्जविशिष्ट विष्णो ! स्तुतिका करनेवाला आपके स्तुतियोग्य गुणोंका ज्ञाता मैं आपकी प्रशंसा (स्तुति) करता हूँ । यद्यपि मैं तुच्छ हूँ तथापि आप सकल गुणसम्पन्न हो ऐसा जानने-वाला हूँ, इसलिये अन्तरिक्षलोकसे भी दूर रहनेवाले (सर्वत्र व्यापक) आपकी स्तुति (गुणगण-महिमाका गान) करता हूँ ।

'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(ऋ० १० । १२१ । १०)

हे जगन्नाथ जगदीश्वर प्रभो ! आपसे अन्य कोई इन सब पदार्थोंको नहीं जानता, आपसे अन्य कोई सर्वत्र व्यापक नहीं है, हम जिस कामनासे याग आदि शुभ कर्म करते हैं वह हमारी कामना पूर्ण हो, हम (लौकिक धनोंके अथवा शास्त्रीय भक्ति (ज्ञानरूपी) धनोंके पति (धनवान्) हो जायँ ।

इस प्रकारसे वेदोंमें अनेक मन्त्र भगवन्नाम-महिमाका प्रतिपादन करते हैं, परन्तु विस्तारभयसे हमने अधिक मन्त्रोंका उल्लेख नहीं किया है ।

अन्तमें मैं अपने पाठकोंके साथ प्रभुसे एक प्रार्थना करके लेखको समाप्त करता हूँ, वह प्रार्थना इस प्रकार है—

'भद्रं नो अपि वातय मनः ।' (ऋ० १० । २० । १, सा० ४ । ८ । ४)

हे प्रभो ! हमारे मनको भगवद्भक्ति, विचार आदि भले कार्योंकी ओर प्रेरित कीजिये ।

हरिः ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

साधकोंसे

भगवान् रामका ध्यान

(१)

अयोध्यापुरीमें महाराजा दशरथजीका सुन्दर महल है, जो सोनेका बना हुआ है और बहुमूल्य मणियों तथा रत्नोंसे जड़ा है। उसके मनोहर चमकते हुए आँगनमें घुटनोंके बल चलनेवाले सच्चिदानन्दघन बालरूप रामजी विराजमान हैं। उनका नीलकमल, नीलमेघ और नीलकान्तमणिके समान सुन्दर कोमल सरस और प्रकाशमय श्यामवर्ण है, भगवान्‌का स्वरूप ऐसा सुन्दर है कि उनके एक-एक अंगपर करोड़ों कामदेवोंकी शोभा निछावर है। भगवान्‌के नेत्र नीलकमलके समान सुन्दर हैं, भगवान्‌की ठोड़ी और नासिका परम मनोहर है, लाल-लाल अधरोंके बीच सुन्दर दाँतोंकी पाँती अनुपम छबि दे रही है। मानो अरुण कमलके बीच अत्यन्त शुभ्रवर्ण कुन्दकलीकी दो-दो पंक्तियाँ हैं, हरित आभायुक्त नीलवर्णमें अरुण आभायुक्त भगवान्‌के प्रकाशमय कपोल बड़े ही सुन्दर लगते हैं। सुन्दर कानोंमें स्वर्ण और रत्नोंके कुण्डल सुशोभित हैं, मस्तकपर सुन्दर तिलक हैं, काली घुँघुराली अलकावली है। विशाल वक्षःस्थलपर मनोहर वनमाला और बघनखा सुशोभित है। शंखके समान तीन रेखावाले गलेमें रत्नोंके और मोतियोंके हार शोभा पा रहे हैं। सुन्दर करकमलोंमें कंकण धारण किये हुए हैं। पोंछी अंगुली पहने हुए हैं। भगवान्‌के लाल-लाल चरणोंमें अङ्कुश, ध्वजा, कमल और वज्रके मनोहर चिह्न हैं तथा अत्यन्त मनोहर ध्वनि करनेवाले नूपुर शोभायमान हैं। भगवान्‌के कमरमें सुन्दर करधनी है। भगवान् शोभाके समुद्र हैं। भाइयोंके साथ खेल रहे हैं और दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देख-देखकर प्रसन्न होते और किलकारी मारते हैं।

(२)

अयोध्यापुरीके परम सुन्दर राजदरबारमें सुन्दर स्वर्ण-सिंहासनपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं। उनका नीलमणि और तमालवृक्षके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला सुन्दर श्याम वर्ण है। सुन्दरताकी सीमा हैं। करोड़ों कामदेवोंकी उपमा उनके सौन्दर्यसे नहीं दी जा सकती। भगवान् वामचरणको सिंहासन-पर मोड़े बैठे हैं और दाहिना चरण नीचे लटकता हुआ बहुत ही कोमल दिव्य गहरे लाल रंगके मखमली तकियेपर टिका है। भगवान्‌के अरुणाभ चरणतलके साथ मखमलके लाल रंगका अद्भुत मिश्रण हो रहा है। उसपर हरिताभ नीलवर्णकी मनहरनी प्रभा पड़ रही है। भगवान्‌के चरणतलमें वज्र, ध्वजा, अङ्कुश, कमल आदिके स्पष्ट चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंमें रत्नजटित दिव्य नूपुर हैं। भगवान्‌के घुटने और जंघाएँ परम सुन्दर हैं। भगवान् कटितटपर सुन्दर दिव्य पीताम्बर धारण किये हैं, जो ऐसा मालूम होता है मानो मरकत-मणिके ढेरपर बिजली अपने चञ्चल स्वभावको छोड़कर छा रही हो। पीत धोतीपर कमरमें पीत रंगका एक दुपट्टा कसा है, उसमें सुन्दर तरकस बँधा है। सुन्दर स्वर्णरत्नमयी करधनी है। भगवान्‌का उदार उदर तीन रेखाओंसे युक्त परम सुन्दर है। गम्भीर नाभि है। चौड़ी छातीपर भगवान् रत्नोंके और गजमुक्ताओंके हार धारण किये हुए हैं। शङ्खके-जैसा सुन्दर गला है। गलेमें मणियोंकी, दिव्य वनपुष्पोंकी और नवीन तुलसीदलकी लंबी मालाएँ सुशोभित हैं। भगवान्‌के सिंहके-से विशाल और ऊँचे कन्धे हैं। अतुलित बलवाली भुजाओंमें भाँति-भाँतिके ज्योतिर्मय कंकण पहने हैं। हाथोंमें मनोहर धनुष-बाण लिये

हैं। जनेऊकी अपूर्व शोभा है, जरीकी किनारी और छोरोंसे सुशोभित दुपट्टा भगवान्‌के अंगपर फहरा रहा है। भगवान्‌के मुखमण्डलकी अपूर्व छटा है। परम सुन्दर ठुड्डी है। लाल-लाल अधर—ओष्ठ हैं। भगवान् जब मुस्कुराते हैं तब उनके शुभ्र-सुन्दर दाँत ऐसे शोभित होते हैं मानो किसी अरुणवर्ण कमलकोशके भीतर बिजलीके रंगमें डुबोये हुए अति सुन्दर पद्मरागके शिखर विराजते हों। भगवान्‌के अरुणाभ गोल कपोल परम सुन्दर हैं, नासिकाकी नोक चित्त चुरानेवाली है, नासाके बीचमें गजमुक्ताकी लटकन है। विशाल मनोहर कानोंमें स्वर्णरत्नमय मकराकृति कुण्डल हैं। भगवान्‌की बाँकी भ्रकुटी है; शोभा, शील, प्रेम और आनन्दके भण्डार अरुण-कमलदलके समान उनके मनोहर नेत्र हैं; जिनसे कृपा और सुन्दरताकी आह्लादकारिणी और मोहिनी प्रकाश-धारा बह रही है। भगवान्‌के विशाल प्रकाशमय मस्तकपर ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक सुशोभित है। सिरपर अत्यन्त रमणीय स्वर्णरत्नोंसे निर्मित तेजपुञ्ज परम सुन्दर मुकुट है। उसके नीचे काले घुँघराले घने केश हैं जो कानोंतक विचित्र ढंगसे सँवारे हुए हैं। भगवान्‌के सारे शरीरपर चन्दनकी खोरी लगी है। भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें करोड़ों कामदेवोंकी छबि छा रही है। अङ्गसे दिव्य सुगन्ध निकल रही है। भगवान्‌के वामभागमें जगज्जननी सीताजी विराजमान हैं जो नील वस्त्र तथा सब अंगोंमें परम उज्ज्वल आभूषण धारण किये हैं। श्रीलक्ष्मणजी, भरतजी और शत्रुघ्नजी चँवर, व्यजन और छत्र लिये भगवान्‌की सेवामें खड़े हैं। श्रीचरणोंमें बैठे हुए महावीर हनुमान्‌जी भगवान्‌के नेत्रोंकी ओर अनिमेष दृष्टिसे देख रहे हैं और भगवान्‌के दाहिने चरणको दबा रहे हैं और मुनिमण्डली स्तुति कर रही है।

(३)

प्रातःकालका सुहावना समय है, वन और उपवनोंमें रंग-बिरंगे पुष्प खिल रहे हैं, बड़ी अच्छी मौसिम है। अयोध्यापुरीमें सरयूजीके पवित्र तटपर भगवान् श्रीरामजी अपने भाइयों तथा मित्रोंके साथ फाग खेल रहे हैं। भगवान् रामकी अनुपम छबि देखकर सबके हृदयमें प्रेम उमड़ रहा है। भगवान्‌का शरीर श्याम तमाल या नीलमेघके समान श्यामवर्ण है। भगवान्‌के चरणतल अरुणवर्ण हैं। उनका ऊपरका हिस्सा श्यामवर्ण है। नखोंकी कान्ति करोड़ों चन्द्रमाओंके प्रकाशके समान है। भगवान्‌के चरणतलमें कमल, वज्र, ध्वजा और अंकुशादिकी रेखाएँ सुशोभित हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं जो अपनी सुमधुर ध्वनिसे मुनियोंका मन मोह लेते हैं। सुन्दर जानु हैं; उनकी जंघाएँ मरकतमणिके खम्भोंके समान सुन्दर और चिकनी हैं। कटिप्रदेशमें अति निर्मल पीताम्बर है। उसपर सोनेकी बनी हुई मणिजड़ित करधनी मनोहर शब्द कर रही है। प्रभुके उदरदेशमें मनोहर त्रिवली और अति सुन्दर गम्भीर नाभि है। भगवान् मनोहर रत्नोंके हार धारण किये हुए हैं; वक्षःस्थलमें भृगुलताका चिह्न उनकी ब्रह्मण्यता और क्षमाशीलताका परिचय दे रहा है। गलेमें सुगन्धित सुन्दर वनमाला है। विशाल भुजाओंमें कंकण और बाजूबन्द सुशोभित हैं। भुजाएँ स्थूल, जानुपर्यन्त लंबी और अपार बलशालिनी हैं जो सदा भक्तोंका भय भञ्जन करनेके लिये तैयार रहती हैं। भगवान्‌की ठुड्डी बड़ी ही मनोहर है। मनोहर अरुण-वर्ण ओठोंके बीचमें दाँतोंकी पंक्ति ऐसी जगमगा रही है मानो अरुण कमलके बीचमें गजमुक्ताओंकी दो मनोहर पंक्तियाँ हों। भगवान्‌के कपोल बड़े सुन्दर हैं, कानोंमें रत्नजटित कुण्डल, मनोहर मस्तकपर तिलक और सिरपर किरीट सुशोभित है। भगवान्‌के

कन्धेपर पीत जनेऊ शोभित हो रहा है। भगवान्‌की भ्रकुटी बाँकी है और चितवन भक्तोंपर कृपा करनेवाली और मुनियोंके भी मनको हरनेवाली है। भगवान्‌के समस्त शरीरसे तेजकी धाराएँ निकल रही हैं। मस्तकके चारों ओर शुभ्रवर्ण तेजोमण्डल है। भगवान्‌के अंग-अंगमें अतुलित शोभा छा रही है। भगवान् हाथोंमें पिचकारी लिये फाग खेल रहे हैं। नगरनिवासीगण करताल, मृदंग, झाँझ, ढोल, डफ और नगाड़े बजा रहे हैं, सुन्दर और सुहावनी सहनाइयाँ बज रही हैं। मनोहर गान गाये जा रहे हैं। वीणा और बाँसुरीकी सुमधुर ध्वनि हो रही है। आकाशमें देवताओंके विमान छाये हैं और सब बड़े हर्षसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं।

(४)

परम रमणीय अयोध्यानगरीमें रत्नोंका बना हुआ एक बहुत ही सुन्दर विशाल मण्डप है। उसके चारों ओर सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी बन्दनवार बँधी है। दिव्य पुष्पोंका बहुत सुन्दर विशाल चंदोवा है। उसमें पुष्पक विमान है और उस विमानपर एक दिव्य मनोहर सिंहासन है। सिंहासनपर भगवान् श्रीराम आदिशक्ति श्रीजानकीजीके साथ विराजमान हैं। देवता, असुर, वानर और मुनिगण सब अलग-अलग दल बनाये विमानमें खड़े भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। लक्ष्मणसहित तीनों भाई और श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामजी और श्रीजानकीजीकी सेवामें लगे हैं। भगवान् नील मेघके समान श्याम-शरीर हैं, जिसपर हरे प्रकाशकी आभा पड़ रही है। भगवान्‌के सारे शरीरपर शुभ्र चन्दन लगा है। मञ्जुल श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है, मानो नील मेघपर चन्द्रमाकी चाँदनी देखकर बिजली छिपना छोड़कर स्थिररूपसे दमक रही हो। भगवान्‌का समस्त शरीर कोमल, सुचिक्कण, सुगन्धमय और प्रकाशका पुञ्ज है। भगवान्‌के पद्मरागमणिके समान मनोहर और कोमल चरणतलोंमें ध्वजा, अंकुश, वज्र और कमल आदिके शुभ चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंके अंगूठे और अँगुलियाँ परम सुन्दर हैं, उनपर अरुण-वर्ण-से नखोंकी ज्योति जगमगा रही है। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं। जंघाएँ कदलीखम्भको भी मात करनेवाली चिकनी, कोमल और स्थूल हैं, जो हाथीके बच्चेकी सूँडका मान मर्दन करती हैं। घुटने ऐसे सुन्दर हैं मानो कामदेवके तरकसका निचला भाग हो। कटितटमें सुवर्ण और मणियोंकी बनी हुई करधनी है और उसपर पीताम्बर कसा है। उसीमें तरकस बँधा है। उदरकी तीन रेखाएँ और गम्भीर नाभि परम सुन्दर है। हृदयमें मोतियोंकी मनोहर माला है। गलेमें वनमाला और पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान है। कन्धे सिंहोंके-से स्थूल हैं। शंखसदृश त्रिरेखावाले गलेकी छवि बड़ी ही प्यारी लगती है। मुखकी मनोहरता अवर्णनीय है। उसे देखते ही अनुपम आनन्द होता है। वह छवि करोड़ों कामदेवोंकी छविको भी हरानेवाली है। प्रभुके लाल-लाल ओठोंके बीचमें अनुपम दन्तावली सुशोभित है। मनोहर मुस्कान मनको बरजोरीसे हर लेती है। सुन्दर ठोड़ी, मनोहर गोल कपोल और तोतेकी चोंच-सी सुन्दर नासिका बड़ी ही मनोहर हैं। भगवान्‌के नेत्र कमलका मान मर्दन करनेवाले हैं तथा चितवन अति मनोहर अमृतकी वृष्टि करती है। कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं। सिरपर काले घुँघराले केश हैं। भगवान्‌की बाँकी भ्रकुटी है। मस्तकपर कुंकुमके तिलक हैं। सिरपर हीरे और मणियोंके जड़े हुए सुवर्णमुकुटकी कान्ति सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित कर रही है। भगवान्‌का कोटि-कोटि सूर्योंका-सा प्रकाश और उनमें करोड़ों चन्द्रमाओंकी-सी सुशीतलता है।

(५)

मन्दाकिनीजीके तीरपर मनोहर चित्रकूट पर्वतपर कल्पवृक्षके नीचे सुन्दर स्फटिक शिलापर भगवान्

श्रीरामजी और श्रीसीताजी विराजमान हैं। श्रीलक्ष्मणजी दूर खड़े पहरा दे रहे हैं। भगवान् नखसे शिखातक परम सुन्दर और दर्शनीय हैं। सुन्दर श्याम शरीर है, वक्षःस्थल और कन्धे विशाल हैं। गलेमें वनमाला है। वल्कल वस्त्र पहने हैं, मुनियोंका-सा वेश है; नेत्र बड़े ही मनोहर और कृपाके समुद्र हैं। जटाओंका मुकुट अत्यन्त सुन्दर है। मनोहर मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंकी छबिको भी मलिन कर रहा है। करकमलोंमें सुन्दर धनुष-बाण और कटिप्रदेशमें तरकस बँधा है। गौरवर्ण परम तेजस्वी श्रीलक्ष्मणजी भी इसी भाँति सुशोभित हैं।

और भी अनेकों प्रकारके भगवान् श्रीरामजीके ध्यान करनेयोग्य स्वरूप हैं। उपर्युक्त पाँचोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साधक किसी भी स्वरूपका ध्यान कर सकते हैं।

भगवान् शिवका ध्यान

(१)

हिमालयमें गौरीशंकर पर्वतके ऊपर एकान्त तथा पुण्यमय पवित्र वनमें एक सुन्दर और विशाल देवदारु वृक्षके नीचे सुन्दर शिलामयी वेदिकापर बाघकी चर्म बिछाये देवदेव श्रीमहादेव समाधिमग्न विराज रहे हैं। उनके चारों ओर एक प्रकाशका मण्डल छाया है। मुखमण्डल असाधारण तेजसे पूर्ण है। शरीर श्वेत कर्पूरवर्ण है परन्तु उसमें कुछ अरुणिमा छायी है। भगवान् पद्मासनसे बैठे हैं। शरीरका ऊपरी भाग अचल, सरल और समुन्नत है। दोनों कन्धे समानरूपसे स्थिर हैं। दोनों हाथोंको गोदमें रक्खे हुए हैं। दाहिने हाथपर बायाँ हाथ है। हथेलियोंकी सुन्दर लालिमा छिटक रही है। जान पड़ता है लाल कमल विकसित हो रहा है। बायें कन्धेपर भूरे भालूकी चर्म है जिसका एक छोर दाहिने कटितटके पाससे नीचेकी ओर लटक रहा है, दूसरा छोर पीठपर है। भगवान्‌के गलेमें गजमुक्ताओंकी माला है। वक्षःस्थलपर वनमाला और एकमुखी रुद्राक्षोंकी माला हैं। नील कण्ठकी अपूर्व शोभा है। भगवान्‌का परम सुन्दर मुखमण्डल है। नासिका परम सुन्दर है। कानोंमें रुद्राक्षकी दुहरी माला सुशोभित हैं, तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागको लक्ष्य करके स्थिर हो रहे हैं। तीसरे नेत्रसे समुज्ज्वल ज्योति निकल रही है जो नीचेकी ओर इधर-उधर छिटक रही है। गलेमें और हाथोंमें सर्पोंके आभूषण हैं, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र शोभित है और चन्द्रमाने अपनी निर्मल प्रभासे मस्तकको जगमगा दिया है। जटाजूट सर्पोंके द्वारा चूड़ाके समान समुन्नतभावसे बँधा हुआ है। सारे शरीरपर भस्मके तिलक हैं। सम्पूर्ण वायु सर्वतोभावसे देहके अंदरसे ऊपर उठकर कपालदेशमें निरुद्ध है जिससे वे आडम्बरशून्य जलपूर्ण गम्भीर बादल तरंगहीन महासागर या निर्वात देशमें कम्पनहीन शिखाधारी समुज्ज्वल दीपकके समान स्थिर हैं। भगवान् शिवका परम दर्शनीय और सुन्दर स्वरूप अत्यन्त शोभा पा रहा है। भाग्यवान् नन्दी समाधिमग्न भगवान्‌की समाधि निर्विघ्न बनाये रखनेके लिये दूर खड़े पहरा दे रहे हैं।

(२)

परम रमणीय कैलाशपर्वतपर एक बहुत ऊँचा विशाल वटका वृक्ष है, जो पद्मरागमणियों-जैसे फलोंसे समुज्ज्वल हो रहा है। यह वृक्ष मरकतमणिमय विचित्र पत्तोंसे सुशोभित है। ऐसे वटवृक्षके नीचे भगवान् शंकर विराजमान हैं। उनका वर्ण सफेद फिटकरी या किञ्चित् लालिमायुक्त चाँदीके समान है। मृगचर्मका आसन है, और भालूकी काली चर्म लपेटे हुए हैं। हाथोंमें और गलेमें साँपोंके आभूषण हैं। चारों सुन्दर हाथोंमें—एकमें सुन्दर जपमाला दूसरेमें अमृतका कलश, तीसरे और चौथेमें विद्या तथा ज्ञानमुद्रा हैं।

वक्षःस्थलपर नागका यज्ञोपवीत है और ललाटपर भस्मका त्रिपुण्ड्र और चन्द्रमा सुशोभित है। नाना प्रकारके आभूषण पहने हैं। तीन नेत्र हैं। परम शोभनीय स्वरूप है।

(३)

सुन्दर बहुत-से दलोंवाले विशाल किञ्चित् अरुण रंगके पवित्र कमलपर भगवान् शंकर पद्मासन लगाये बैठे हैं। भगवान्‌का शरीर सुन्दर स्फटिकमणिके समान है। शान्त मूर्ति है। पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुखमें तीन नेत्र हैं। दस हाथ हैं। दाहिने पाँचों हाथोंमें शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा है। बायें पाँचों हाथोंमें नाग, पाश, घंटा, प्रलयाग्नि और अंकुश सुशोभित हैं। व्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। पैरों और हाथोंमें नाना प्रकारके आभूषण हैं। गलेमें मणियोंकी माला, रत्नोंके हार और नागमाला हैं। नागका यज्ञोपवीत पहने हैं, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र है। ललाटपर अर्धचन्द्र और सिरपर सुन्दर मुकुट हैं। परम मनोहर छबि है।

(४)

आशुतोष भगवान् शंकर रक्तदल पद्मपर विराजित हैं। भवानी पार्वतीजी वामभागमें विराजमान हैं। सुन्दर चार भुजाओंमें जपमाला, शूल, नरकपाल और खट्वांग सुशोभित हैं। सिरपर जटाजूट है। उसपर सर्पोंका बनाया हुआ मुकुट है, ललाटपर अर्धचन्द्र सुशोभित है, बाघाम्बर पहने हैं। नीलकण्ठ हैं। पास ही नन्दी स्थित हैं। अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। करोड़ों बालसूर्योंके समान भगवान्‌के शरीरकी कान्ति है।

भगवान् शंकरजीके अन्य बहुत-से ध्यानस्वरूप हैं। उपर्युक्त चारोंमेंसे अपनी रुचि और प्रसन्नताके अनुसार किसी भी स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, परन्तु करना चाहिये बड़ी लगनके साथ नियमित रूपसे। ऐसा ध्यान होना चाहिये जिसमें अपने ध्येयस्वरूप भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जब ऐसी स्थिति होगी तो एक विलक्षण सुख और परम शान्तिका अनुभव होगा। इतना आनन्द उमड़ेगा कि फिर ध्यान छोड़ना दुःखजनक मालूम होगा। और बार-बार ध्यान करनेके लिये चित्तमें लोभ बढ़ जायगा। निराकार हो या साकार, परमात्माके सिवा सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका सर्वथा अभाव हो जानेपर ही ध्यानावस्थाकी पूर्णता समझी जा सकती है। इस अवस्थामें निराकारके ध्यानमें विशुद्ध चेतन और बोधस्वरूप आनन्दकी जागृति रहती है। और साकारके ध्यानमें ध्येयस्वरूप इष्टदेवका आनन्दमय परम शान्तिप्रद साक्षात्कार होता रहता है। इसलिये इस स्थितिमें लय या शून्य अवस्था नहीं होती। कुछ लोग लय या शून्य स्थितिको ही ध्यान मान लेते हैं परन्तु वह भूल है। ऐसी अवस्था तो प्रतिदिन तमपूर्ण सुषुप्तिकालमें होती ही है परन्तु वह ध्यान नहीं है। ध्यानका फल है,—ध्येयस्वरूप विज्ञानानन्दघन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापी, सर्वतोचक्षु, सर्वाधार, सर्वरहित, अविद्यातीत, गुणातीत, सर्वसद्गुणालंकृत, सर्वगुणालंकृत, सर्वगुण-शून्य, परम प्रकाशरूप, ज्ञानमय, प्रेममय—आनन्द-मय, अज, अविनाशी, सत्य, नित्य, निरञ्जन, निरामय, निष्कल, निर्गुण, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य परमात्माकी प्राप्ति—उस परमात्माका इन विशेषणोंसे संकेतमात्र होता है। वस्तुतः वह अपनी महिमासे आप ही महिमान्वित है। उसके स्वरूपका बोध उसीको है!

हनुमानप्रसाद पोद्दार

खरारी रामके प्रति

(लेखक—श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम० ए०)

मेरे आँसुओंके झिलमिल पर्देकी ओटमेंसे तुम दिखायी दिये तबसे तुम्हारी याद दिलमें घर किये बैठी है ।

एक बार पर्दा हटाकर मुखड़ा दिखा दो, प्यारे !

तुम्हें बुलानेके लिये मैंने अपने तईं पापी बनाया । सुना था कि तुम पापियोंकी मददको दौड़े जाते हो । लेकिन शायद मैं अभी लंकाके राक्षसोंके बराबर पापी नहीं हुआ । नहीं तो तुम स्वयं मेरे घर आकर मुझे दर्शन देते ।

जबसे तुलसीने कहा कि तुम 'सोभासिन्धु' हो तबसे तुम्हारी खोज मैं हर-एक वस्तुके सौन्दर्यमें करता हूँ । लेकिन रे कौतुकी ! मैं ज्यों-ज्यों तुम्हारे पास पहुँचनेका प्रयत्न करता हूँ तुम अपने तईं मुझसे और दूर करते जाते हो ।

एक बार फिर दरस दिला दो, प्यारे ! दोगे ? कब ?

जब तुम्हें देखनेके लिये मैं अपने आँसुओंकी आड़ कर लूँगा, तब हो ?

सुदर्शन

बल-निधान पिता तव तुल्य पा,
सुख-निधे, दुख ही दुख है मिला ।
तरणि-दर्शन पाकर ये नहीं,
तुहिन-पीड़ित-पुष्प कभी खिला ॥

सदय होकर देव तुम्हीं कहो,
शरणको तव छोड़ रहैं कहाँ ?
थल कहाँ वह है करुणा-निधे,
जगतमें सुख शान्ति मिलै जहाँ ?

नियति-वायु कुभाग्यज-व्योममें,
प्रबल हो बहती जग-जीवन !
कुदिन-ग्राह हठी झकझोरता,
विपति-सागरमें मम जीवन ॥

हम पुकार रहे भयभीत हो,
सबल हो गजरक्षक आइये ।
कुदिनपीड़ितको प्रभु वेग हो,
कर दया अब नाथ बचाइये !!

यह रही मम पातक-पुञ्जका,
सघन-कानन है पथमें खड़ा ।
भयद जन्तु जहाँ कुविचारके,
कर रहे रव गर्जन हैं बड़ा ॥

पर 'सुदर्शन' है वह नाथका,
सबल छेदनके इनके लिये ।
फिर कहो हम यों दुःख क्यों सहें ?
अजनके जन हो किनके लिये ?

'शिवकुमार शुक्ल शास्त्री'

सावधान !

यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्द, स्पर्श आदि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है, और ईश्वररचित यह चित्त उसका बड़ा भारी बन्धन है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये दस प्रकारके प्राण उस रथके अक्ष हैं। धर्म और अधर्म ये दो पहिये हैं और यह जीव रथी है। भगवानका नाम (ॐ) इस रथीका धनुष है, शुद्ध अन्तःकरण बाण है और परब्रह्म परमात्मा उसका निशाना है। राग, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, भय, मद, मान, काम, क्रोध, असूया, हिंसा, मात्सर्य, आसक्ति, असावधानता, आलस्य और भूख आदि इस जीवके शत्रु हैं। ये कहीं राजस और तामस भावोंवाले होते हैं, कहीं सात्त्विक भावके होते हैं परन्तु सात्त्विक भावके होनेपर भी परमार्थमार्गी त्यागी पुरुषके लिये ये शत्रुस्वरूप ही हैं अतएव इन सबको जानना बहुत ही आवश्यक है। जीवरूपी रथी इस मनुष्यदेहरूपी रथके इन्द्रियादि घोड़ों तथा मनरूपी लगाम आदिको अपने वशमें रखकर, परम श्रेष्ठ महात्मा पुरुषोंके चरणोंकी सेवारूपी सानपर चढ़ायी हुई तीक्ष्ण ज्ञानरूपी तलवार धारण करके अच्युत भगवानकी सहायता-से, उन शत्रुओंको वशमें करे और उद्वेगरहित होकर आत्मानन्दमें सन्तुष्ट रहे और फिर इन रथ आदिकी भी उपेक्षा करे। नहीं तो असावधान रहनेपर इन्द्रियरूप घोड़े और बुद्धिरूप सारथी उसे कुमार्गमें ले जाकर विषयरूपी विषम बलवान डाकुओंके दलमें डाल देंगे और वे डाकू घोड़े और सारथीसहित उस रथी जीवको पटककर महान मृत्युभयसे युक्त अन्धकारमय भीषण संसारकूपमें छोड़ देंगे।

(श्रीमद्भागवत)

वर्ष
१२
अंक
८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २१६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≡)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कल्याण फाल्गुन संवत् १९९४ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर

की दूकानें

कुम्भमेला, हरिद्वारमें

स्थान—नृसिंहभवन और गंगापार मेला

पुस्तकोंके दामोंमें भारी रियायत

कुम्भके इस महान् पर्वमें सस्ती सुन्दर धार्मिक पुस्तकें अध्ययन, दान, उपहार और पुस्तकालय आदिके लिये खरीदकर लाभ लें।

कमीशन

सर्वसाधारणको—पुस्तकोंमें तीन आना प्रति रुपया कमीशन दिया जायगा। दामोंमें विशेष कमी करके सेटोंके दाम नेट रक्खे गये हैं।

पुस्तकविक्रेताओंको—पुस्तकोंपर चार आना प्रति रुपया कमीशन दिया जायगा।

चित्र और चित्रावलियोंमें कमीशन नहीं है।

मैनेजर—गीताप्रेस, गोरखपुर।
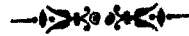
प्रकाशित हो गया! **प्रकाशित हो गया!!**

श्रीसंत-अंक तीन खण्डोंमें

(दूसरा संस्करण)

कल्याणके इस वर्षका विशेषांक सपरिशिष्टांक ८७४ पृष्ठों और ४७० चित्रोंसे सुसज्जित करके ३५५०० (पैंतीस हजार पाँच सौ) की संख्यामें छापा गया था। किन्तु वह सब ग्राहकोंकी कृपासे जल्दी ही समाप्त हो गया। बढ़ती हुई माँगको देखकर खर्चका ख्याल प्रायः न करके केवल प्रचारकी दृष्टिसे संत-अंकका दूसरा संस्करण छापनेकी शीघ्र व्यवस्था की गयी और अल्प समयमें २५०० (अढ़ाई हजार) प्रतियाँ तैयार की गयी हैं।

केवल संत-अङ्कका मूल्य ३॥), ग्राहकोंको पूरे सालभरके शेष अङ्कोंसहित ४≡)में ही दिया जायगा।

मैनेजर—कल्याण, गोरखपुर

सेट नं० १

१) में २४ पुस्तकें जिनका मूल्य १।≥)। है।

१–श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश ।=)

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें

२–परमार्थ-पत्रावली ।)
३–नवधा भक्ति =)
४–नारीधर्म –)॥
५–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप –)॥
६–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा –)।
७–प्रेमभक्ति-प्रकाश –)
८–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय –)
९–भगवान् क्या हैं ?)॥
१०–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)॥
११–सत्यकी शरणसे मुक्ति)॥
१२–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय)॥
१३–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति)॥
१४–धर्म क्या है ?)।
१५–गीता द्वितीय अध्याय)।
१६–त्यागसे भगवत्प्राप्ति)।
१७–महात्मा किसे कहते हैं ?)।
१८–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है)।
१९–प्रेमका सच्चा स्वरूप)।
२०–हमारा कर्तव्य)।
२१–ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है)।
२२–चेतावनी)।
२३–लोभमें ही पाप है आधा पैसा
२४–गजल गीता आधा पैसा

१।≥)।

सेट नं० २

२) में ४ पुस्तकें जिनका मूल्य ३–) है।

१–गीता मझोली सजिल्द ।।।=)
२–तत्त्व-चिन्तामणि भा० १ ।।=)
३–तत्त्व-चिन्तामणि भा० २ ।।।=)
४–तत्त्व-चिन्तामणि भा० ३ ।।≥)

३–)

सेट नं० ३

१) में ४ पुस्तकें जिनका मूल्य १॥)

१–गीता मोटे अक्षरवाली ॥)
२–तत्त्व-चिन्तामणि छोटे आकारका भा० १ ।–)
३–छोटे आकारका भा० २ ।=)
४–छोटे आकारका भा० ३ ।–)

१॥)

सेट नं० ४

२) में २० पुस्तकें जिनका मूल्य ३)॥। है।

१–गीता छोटी =)॥
२–तुलसीदल ॥)
३–नैवेद्य ॥)
४–उपनिषदोंके चौदह रत्न ।=)
५–प्रेम-दर्शन (भक्तिसूत्र) ।–)
६–कल्याण-कुञ्ज ।)
७–मानव-धर्म ≥)
८–साधन-पथ =)॥
९–स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी –)॥
१०–गोपी-प्रेम –)॥
११–मनको वश करनेके कुछ उपाय –)।
१२–आनन्दकी लहरें –)
१३–ब्रह्मचर्य –)
१४–समाज-सुधार –)
१५–वर्तमानशिक्षा –)
१६–भगवान् क्या हैं ?)॥
१७–दिव्य सन्देश)।
१८–नारद-भक्ति-सूत्र)।
१९–प्रेमका सच्चा स्वरूप)।
२०–चेतावनी)।

३)॥।

सेट नं० ५

२॥।) में २० पुस्तकें जिनका मूल्य ४)॥ है।

१–गीता भाषा माहात्म्यसहित (गुटका) ।)
२–तत्त्व-चिन्तामणि भाग ३ ।–)
३–भक्त नरसिंह मेहता ।=)
४–भक्त बालक ।–)
५–भक्त नारी ।–)

पता–गीताप्रेस बुकडिपो, नृसिंहभवन तथा गंगापार मेला

६–भक्त-पञ्चरत्न ।–)
७–आदर्श भक्त ।–)
८–भक्त-सप्तरत्न ।–)
९–भक्त-चन्द्रिका ।–)
१०–भक्त-कुसुम ।–)
११–प्रेमी भक्त ।–)
१२–यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ ।)
१३–बालशिक्षा =)
१४–ब्रह्मचर्य –)
१५–वर्तमान शिक्षा –)
१६–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति)॥
१७–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है)॥
१८–हमारा कर्तव्य)॥
१९–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है)॥
२०–चेतावनी)॥
४)॥

सेट नं० ६

२॥) में ८ पुस्तकें जिनका मूल्य ३॥।) है ।

१–बिनय-पत्रिका सटीक १)
२–गीतावली सटीक १)
३–श्रीकृष्ण-विज्ञान ॥।)
४–कवितावली ॥–)
५–हनुमानबाहुक –)॥
६–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा –)।
७–मूल गोसाईं-चरित –)।
८–भ्रातृप्रेम ≈)
३॥।)

सेट नं० ७

३॥) में ११ पुस्तकें जिनका मूल्य ५≈) है ।

१–गीता शांकरभाष्य साधारण जिल्द २॥)
२–मुमुक्षुसर्वस्वसार ॥।–)
३–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ ।–)
४–विष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य ॥=)
५–विवेक-चूडामणि ।–)
६–प्रबोध-सुधाकर ≈)॥
७–अपरोक्षानुभूति =)॥
८–शतश्लोकी सटीक =)
९–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय –)
१०–भगवान् क्या हैं ?)॥
११–प्रश्नोत्तरी)॥
५≈)

सेट नं० ८

६) में ४ पुस्तकें जिनका मूल्य ८॥।–) है ।

१–पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्भाष्य खण्ड १) २।–)
२–तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्भाष्य खण्ड २) २।=)
३–छान्दोग्य उपनिषद् (उपनिषद्-भाष्य-खण्ड ३) ३॥।)
४–तत्त्व-चिन्तामणि छोटे आकारका भाग १ सजिल्द ।≈)
८॥।–)

सेट नं० ९

३) में ८ पुस्तकें जिनका मूल्य ४॥≈)॥ है ।

1–Story of Mira. –/13/–
2–Philosopher's Stone. –/9/–
3–Mind: Its Mysteries and Control. –/8/–
4–Way to God-Realization. –/4/–
5–Our Present-Day Education. –/3/–
6–The Immanence of God. –/2/–
7–Divine Message. –/–/9
8–God Number. 2/8/–
4/15/9

सेट नं० १०

४२॥) में १५५ पुस्तकें (अजिल्द) जिनका मूल्य ५९॥≈) है ।

४७) में इन पुस्तकोंमेंसे जो जो बिक्रीमें सजिल्द हैं वे सजिल्द, जिनका मूल्य ६६।≈) है ।

आगे दी हुई पुस्तक-सूचीमें '*' इस चिह्नवाली पुस्तकोंको छोड़कर शेष सभी पुस्तकें इस सेटमें शामिल हैं ।

पता–**गीताप्रेस बुकडिपो, नृसिंहभवन तथा गंगापार गोरखपुर**

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें

१–श्रीमद्भगवद्गीता–शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जि० २॥।)
२–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५७०, ६६००० छप चुकी, ४ चित्र मू० १।)
*३–श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५६०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
*४–श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५७०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
५–श्रीमद्भगवद्गीता–(श्रीकृष्ण-विज्ञान) अर्थात् गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृ० २७५, मू० ॥।) सजिल्द १)
६–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृ० ४६८, मू० ॥≈) स० ॥।≈)
*७–श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, प्रायः सभी विषय हिन्दी गीता ॥≈) वालीकी तरह, पृ० ५३५, मू० ··· ॥।)
*८–श्रीमद्भगवद्गीता गुटका–(पाकेट साइज) हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९–३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, सजिल्द मूल्य केवल ··· ··· ··· ··· ··· ॥)
९–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, नं० १० की तरह, मोटे टाइप, साधारण भाषा-टीकासहित, पृ० ३१६, मू० ॥) स० ··· ॥≈)
१०–गीता–साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, (४८०००० छप चुकी) पृ० ३५२, मू० =)॥ स० ≡)॥
११–गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, (२५००० छप चुकी) पृ० १०६, मूल्य ।–) सजिल्द ··· ।≈)
*१२–गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ··· ।=)
१३–गीता-भाषा, गुटका, प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, २ चित्र, पृ० ४००, मू० ।) सजिल्द ··· ।–)
१४–गीता-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृ० ३२८, सजिल्द, मूल्य ··· ··· ।)
१५–गीता–मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च (७५००० छप चुकी है) पृ० २९६, सजिल्द, मूल्य ··· =)
१६–गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, ११९९०० छप चुकी है, पृ० १३०, मूल्य –)॥
१७–गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ··· ··· ··· –)
१८–ईशावास्योपनिषद्–हिन्दी-अनुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ··· ≈)
१९–केनोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ··· ··· ॥)
२०–कठोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ··· ··· ॥–)
२१–मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· ।≈)
२२–प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· ··· ।≈)
*उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ··· २।–)
२३–माण्डूक्योपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ··· १)
२४–तैत्तिरीयोपनिषद् ,, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ··· ··· ॥।–)
२५–ऐतरेयोपनिषद् ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ··· ··· ।=)
*उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ··· २।≈)
२६–छान्दोग्योपनिषद्–सानुवाद शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ-संख्या ९८४, चित्र ९, सजिल्द, मूल्य ··· ३॥।)
*२७–श्रीकृष्णलीलादर्शन–करीब ७५ सुन्दर-सुन्दर चित्र और उनका परिचय सजिल्द ··· २॥)
२८–श्रीविष्णुपुराण–हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जिल्द २॥।)
२९–भागवतस्तुति-संग्रह–(सानुवाद, कथाप्रसंग और शब्दकोषसहित) ... ··· सजिल्द २।)
३०–अध्यात्मरामायण–सातों काण्ड, सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृ० ४००, मूल्य १॥।) सजिल्द २)
३१–प्रेमयोग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, ११००० छप चुकी, मोटा एण्टिक कागज, पृ० ४२०, मू० १।) स० १॥)
३२–श्रीतुकाराम-चरित्र–पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≈) सजिल्द ··· ··· १॥)
३३–भक्तियोग–'भक्ति' का सविस्तर वर्णन, ले०–चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादजी, सचित्र, पृ० ७०८, मूल्य १≈)
३४–भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, पृष्ठ ३४०, मूल्य १) सजिल्द १।)
३५–विनय-पत्रिका–गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनु०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, ६ चित्र, मू० १), स० १।)
३६–गीतावली– ,, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, अनु०–श्रीमुनिलालजी, ८ चित्र, पृ० ४६०, मू० १) स० १।)
३७–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–ले० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मू० ॥।≈) स० १≈)
३८– ,, ,, (खण्ड २)–९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मूल्य १≈) सजिल्द १।≈)
३९– ,, ,, (खण्ड ३)–११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ··· ··· १।)
४०– ,, ,, (खण्ड ४)–१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ॥≈) सजिल्द ··· ··· ॥।≈)

४१–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५)–१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ||।) सजिल्द ... ... १)
*उपरोक्त पाँचों खण्ड सजिल्द (दो जिल्दोंमें) मूल्य ... ... ५)
४२–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, एण्टिक कागज, मू० ||=) स० |||–)
४३– " " " " " " " |–) स०
४४– " भाग २– " " " " ४४८, गुटका, प्रचारार्थ मू० |–) स० |=)
४५– " " " " " " " ६३२, एण्टिक कागज, मू० |||=) स० १=)
४६–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग ३)–मूल्य ||≥) " " पृष्ठ ७५०, गुटका, प्रचारार्थ मू० |=) स० ||)
४७– " " " " " " ... ... स० |||=)
४८–मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषाटीकासहित, अनु०–श्रीमुनिलालजी, पृष्ठ ४१४, मूल्य |||–) सजिल्द ... १–)
४९–श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संतकी जीवनी और उपदेश, पृ० ३५६, मू० ... |||–)
५०–पूजाके फूल–श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, सचित्र पृ० ४१४, मू० ... |||–)
५१–एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित, यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है, पृ०४२०, मू० |||) स० १)
५२–श्रीविष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृ० २७५, मूल्य ... ||=)

५३–देवर्षि नारद–५ चित्र, पृष्ठ २४०, मू० |||) स० १)
५४–शरणागतिरहस्य–सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ||≥)
५५–शतपञ्च चौपाई–सानुवाद, सचित्र, पृ० ३४०, मू० ||=)
५६–सूक्तिसुधाकर–सानुवाद सचित्र, पृ० २७६, मू० ||=)
५७–आनन्दमार्ग–सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ||–)
५८–कवितावली–गो० तुलसीदासजीकृत, सटीक, ४ चित्र, ||–)
५९–स्तोत्ररत्नावली–अनुवाद-सहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ... ||)
६०–श्रुति-रत्नावली–सचित्र, संपा०–श्रीभोलेबाबाजी, मू० ||)
६१–नैवेद्य–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मू० ||) सजिल्द ... ||≥)
६२–तुलसीदल–सचित्र, पृ० २९२, मू० ||) स० ||≥)
६३–श्रीएकनाथ-चरित्र–सचित्र, पृ० २४०, मू० ||)
६४–दिनचर्या–सचित्र, पृ० २२२, मू० ||)
६५–श्रीरामकृष्ण परमहंस–५ चित्र, पृ० २५०, मू० |≥)
६६–धूपदीप–लेखक–श्री 'माधव' जी, पृ० २४०, मू० |≥)
६७–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृ० १००, चित्र १०, मू० |=)
६८–प्रेमदर्शन–(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) |–)
६९–गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला, कर्मकाण्ड पृ० १८२, |–)
७०–लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृ० ३५०, मू० |=)
७१–श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश, सचित्र, पृष्ठ २१८ |=)
७२–तत्त्वविचार–सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य |=)
७३–भक्त नरसिंह मेहता–सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य |=)
७४–भक्त-भारती–(७चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र |≥)
७५–भक्त बालक–५ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, |–)
७६–भक्त नारी–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, |–)
७७–भक्त-पञ्चरत्न–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९८, |–)
७८–भक्त-चन्द्रिका–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९२, |–)
७९–आदर्श भक्त–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ११२, |–)
८०–भक्त-सप्तरत्न–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०६, |–)
८१–भक्त-कुसुम–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९१, |–)
८२–प्रेमी भक्त–९ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०३, मू० |–)

८३–यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित, पृ०९२, |)
८४–विवेक-चूडामणि–सचित्र, सटीक, पृष्ठ २२४, मू० |–)
८५–गीतामें भक्तियोग–सचित्र, ले०–श्रीवियोगी हरिजी |–)
८६–व्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मू० |)
८७–श्रीबदरी-केदारकी झाँकी–सचित्र, मूल्य |)
८८–परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह, पृ० १४४, |)
८९–ज्ञानयोग–इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है, पृ० १२५, मू० |)
९०–कल्याणकुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य |)
९१–प्रबोध-सुधाकर–सचित्र, सटीक, पृ० ८०, मू० ≡)||
९२–आदर्श भ्रातृ-प्रेम–(नयी पुस्तक) ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका ≡)
९३–मानवधर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ०११२, ≥)
९४–साधन-पथ–ले०– " (सचित्र) =)||
९५–प्रयाग-माहात्म्य–(१६चित्र), पृ० ६४, मूल्य =)||
९६–माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य–सचित्र पृ० ९४, मू० =)||
९७–गीता-निबन्धावली–ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका =)||
९८–अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित, पृ०४८, =)||
९९–मनन-माला–सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है, मू० =)||
१००–भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०–श्रीवियोगी हरिजी =)
१०१– " दूसरा भाग " =)
१०२– " तीसरा भाग " =)
१०३– " चौथा भाग " =)
१०४– " पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) लेखक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)
१०५–शतश्लोकी–हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य ≡)
१०६–नवधा भक्ति–ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य =)
१०७–बाल-शिक्षा–(नयी पुस्तक) ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका मूल्य =)
१०८–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–ले०– " मूल्य –)||
१०९–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा ले०– " मूल्य –)|
११०–नारीधर्म (नयी पुस्तक) ले०– " मूल्य –)||
१११–मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित, मूल्य –)||

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी-नेट दाम प्रत्येकका -)॥

१ युगलछबि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकन्द पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका -)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जड़योग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर

चित्रावलियोंके सेट

चित्रोंके दाम, साइज और रंग

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन ४९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३।)॥ जिल्द चार्ज ॥।) कुल लागत ४)॥ लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३० चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥=)। जिल्द चार्ज ।=) कुल १-)। लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १२, रंगीन २११ कुल २२३ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥-)। जिल्द चार्ज ॥) कुल ४-)। लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥=)॥ जिल्द चार्ज =) कुल ॥।=)॥ लिये जायँगे।

पता—गीताप्रेस बुकडिपो, नृसिंहभवन तथा गंगापार मेला

ा

।

ै

ी

ा

ो

?

न

,

,

ा

।

में

इ

ार

ा

ी

ो,

ी

ा

?

ा

)

ने

के

श्रीकृष्ण अपने पितामाता वसुदेव-देवकीकी हथकड़ी-बेड़ी काट रहे हैं ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, फाल्गुन १९९४, मार्च १९३८ { संख्या ८
पूर्ण संख्या १४०

बिछुड़ोंका मिलन

धाइ मिले पितु मातकों यह कहि मैं निज तात ।
मधुरे दोउ रोवन लगे जिमि सुनि कंस डरात ॥
तुरत बंदितें छोरि कह्यौ मैं कंसहि मार्यो ।
योधा सुभट संहारि मल्ल कुवलया पछार्यो ॥
जिय अपने जनि डरि करौ मैं सुत तुम पितु मात ।
दुख बिसरौ अब सुख करौ अब काहे पछतात ॥

(सूरदासजी)

भगवान्को पानेका उपाय

सत्संग

आसक्ति या संग अवश्य ही आत्माको फँसानेवाली अक्षय फाँसी है, परन्तु वही आसक्ति या संग यदि संतोंमें किया जाय तो वह खुला हुआ मोक्षका दरवाजा है। जो पुरुष सहनशील, दयालु, सब जीवोंके सुहृद्, शान्त और शत्रुरहित हैं (जिनके मनमें किसीसे शत्रुता नहीं है) वे ही संत हैं। शास्त्रोंमें वर्णित सुशीलता ही इन संतोंका आभूषण है। ये साधुजन अनन्य भावसे भगवान्की दृढ़ भक्ति करते हैं और भगवान्के लिये समस्त स्वजन-बान्धवोंका मोह त्याग देते हैं। यहाँतक कि–सम्पूर्ण कर्म और देहके अभिमानका त्यागकर वे भगवान्में लीन हो जाते हैं। वे भगवान्के चरित्रोंकी पवित्र कथाएँ सुनते और कहते हैं। उनका चित्त सब समय श्रीभगवान्में लगा रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके ताप उन्हें सन्तप्त नहीं कर सकते। वे संत आसक्तिरहित होते हैं, इसीलिये आसक्ति-का परिणाम जो बन्धन है, उसको वे हरनेवाले होते हैं। ऐसे पवित्र संतोंका ही नित्य संग करना चाहिये। ऐसे महात्माओंके संगसे उनके द्वारा हृदय और कानोंको सुख देनेवाली भगवान्की पवित्र लीलाओंके अमृतसे भरी कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके सुननेसे भगवान्में श्रद्धा, रति और भक्ति होती है। साधक लीलाओंका चिन्तन करता है और भक्तिके प्रभावसे उसके चित्तमें इस लोक और परलोकके सब सुखोपभोगोंसे वैराग्य हो जाता है। फिर वह सब प्रकार-से चित्तको भगवान्के अर्पण करनेका यत्न करता है। इस प्रकार मायाके गुणोंका सेवन न करनेसे वैराग्ययुक्त ज्ञानके प्रभावसे और भगवान्की अनन्य दृढ़ भक्तिके प्रतापसे वह इसी शरीरमें भगवान्को प्राप्त कर लेता है।

(श्रीमद्भागवत)

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

पाँच बातें सर्वथा त्याज्य हैं—(१) व्यर्थ भाषण, (२) व्यर्थ चिन्तन, (३) व्यर्थ क्रिया, (४) व्यर्थ श्रवण और (५) व्यर्थ दर्शन। जप, स्वाध्याय, संकीर्तन और ध्यानादिसे व्यर्थ भाषण छूटता है। भगवच्चिन्तनसे व्यर्थ चिन्तनकी निवृत्ति होती है। आसन, स्थिरता और भगवत्सेवासे व्यर्थ क्रिया दूर होती है। भगवान्‌के गुण और शास्त्र-श्रवणसे व्यर्थ श्रवणकी निवृत्ति होती है तथा भगवत्-प्रतिमादिके दर्शनसे व्यर्थ दर्शन निवृत्त होता है।

छः घंटे ध्यान करो, परन्तु यदि चित्त अपने लक्ष्यपर न रहकर विषयचिन्तनमें भटकता रहता है तो वह सब मिट्टी हो जाता है। इसके विपरीत यदि सब प्रकारके कार्य करते हुए भी लौकिक चिन्तन न हो, निरन्तर भगवत्स्मृति बनी रहे तो वही सच्चा ध्यान है।

शरीरको रक्षा करना चाहते हो, हृदयको सुरक्षित रखना नहीं चाहते; शरीरको पवित्र करना चाहते हो, हृदयको पवित्र करना नहीं चाहते। शुद्ध करना चाहिये शरीर, वाणी और हृदय तीनोंहीको। आचारसे शरीरकी शुद्धि होती है; चोरी, हिंसा, व्यभिचार, राग, द्वेष, ईर्ष्या एवं मद-मोहादिके त्यागसे हृदय शुद्ध होता है और अश्लील भाषणके त्यागसे वाणी शुद्ध होती है। मनकी शुद्धिके प्रधान साधन सत्संग, विचार और सहनशीलता हैं; इनमें विचार मुख्य है।

निठल्ले आदमी ही दूसरोंके गुण-दोषोंको देखते हैं। ज्ञानी आत्मदर्शी होता है, भक्त केवल भगवान्‌को देखता है और कामी केवल अपने एकमात्र इच्छित विषयको देखता है। इन सबको तो दूसरेकी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं है।

ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। एक आनन्दसमुद्रकी निस्तरंग अवस्था है और दूसरा उसकी सतरंग अवस्था। इनमें केवल आस्वादका ही भेद है, वस्तुका नहीं।

ब्रह्मवेत्ताकी तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, व्यतिरेक-दृष्टि तो जिज्ञासुको समझानेके लिये है।

स्वप्नमें चार पदार्थोंकी उपलब्धि होती है—(१) स्वप्नका जड दृश्य, (२) स्वप्नपुरुष, (३) स्वप्नकर्ता और (४) स्वप्न देखनेवाला; किन्तु जागनेपर ये सभी स्वप्न अर्थात् मिथ्या जान पड़ते हैं। इसी प्रकार जड-चेतनादिका विभाग भी अज्ञानके ही अन्तर्गत है। बोध होनेपर तो सब अपना स्वरूप ही सिद्ध होता है।

यद्यपि विचारदृष्टिमें दृश्यका अस्तित्व है नहीं, तथापि दृश्यमें राग न हो—इसीका उपाय निरन्तर करता रहे।

परमात्मामें चित्त आसक्त हुए बिना कोई साधक सिद्धावस्थाको प्राप्त न होगा।

जिसे सारे जीवोंकी चेष्टाएँ परप्रेरित जान पड़ती हैं वही बोधवान् है। जबतक ऐसा अनुभव न हो तबतक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

चार बातें बड़े ही भारी पुण्यसे प्राप्त होती हैं—(१) भगवद्भक्तोंमें प्रेम, (२) भगवन्नाममें प्रेम, (३) भगवद्विग्रहमें प्रेम, (४) भगवान्‌के प्रसादमें प्रेम।

जो भगवान्‌का सच्चा भक्त होगा वह सुल्फा, तंबाकू, भाँग, शराब, कोकिन आदि नशीली चीजें कुछ भी नहीं खाये-पीयेगा। क्योंकि वह सब चीजें भगवान्‌के अर्पण करके खाये-पीयेगा। सुल्फा, तंबाकू, भाँग, शराब, कोकिन आदि बुरी चीजें वह भगवान्‌को

अर्पण नहीं कर सकता। इसलिये वह भी नहीं खायेगा।

जो सन्त महात्माओं और भक्तोंका भक्त होगा, वह भगवान्‌का भक्त अवश्य होगा। और जो भगवान्‌का भक्त होगा वह सन्त महात्माओं और भक्तोंका भक्त अवश्य होगा।

यह संसार जो दीखता है वास्तवमें एक प्रभुके सिवा और कुछ नहीं है। मुझसे एक बार एक मुसलमानने आकर पूछा कि हमारा उद्धार किस प्रकार हो सकता है, कोई उपाय बताओ, मैंने कहा कि 'भैया, तुम अल्लाह-अल्लाह रटा करो, अल्लाह-अल्लाह रटनेसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और हिंसा आदि सब बुरे काम छूट जायँगे।'

बहुत-से मनुष्य गंगास्नान करने तो जाते हैं लेकिन वे न तो भगवान्‌का भजन-कीर्तनादि करते हैं, न सन्त-महात्माओंका दर्शन ही करते हैं। कोई ताश खेलता है, कोई चौपड़ खेलता है, कोई सिगरेट पीता है आदि। ऐसे गंगास्नानसे विशेष कुछ फायदा नहीं।

भावसे ही भगवान् मिलते हैं। भगवान् भावके ही भूखे हैं और शास्त्रोंमें भी भाव ही प्रधान माना गया है।

सन्त-महात्माओंकी सेवा करनेसे यह फल होता है कि सन्त-महात्माओंके शुद्ध परमाणु सेवा करनेवालेके अंदर चले जाते हैं और पापी मनुष्यकी सेवा करनेसे पापके परमाणु जाते हैं इसलिये दुष्ट मनुष्योंका संग छोड़कर सन्त-महात्माओंकी सेवा करनी चाहिये।

भक्तलोग कीर्तनमें अपने प्यारेका नाम जोर-जोरसे लेकर आनन्दित होते हैं। इससे उनका मन एकाग्र हो जाता है।

भगवान्‌में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्तिका एक उत्तम उपाय है।

कीर्तन करनेवाले भक्त यदि कीर्तन करते समय दिखावटी नाचना, रोना, गिर पड़ना और मूर्छित हो जाना आदि न करें तो अच्छा हो।

हाँ, अत्यन्त बढ़े हुए भावावेशमें सावधानी न रहनेसे हो जाय तो वह ठीक ही है।

कीर्तन करनेवाले द्विजोंको सन्ध्या-गायत्रीजाप आदि कर्म अवश्य करने चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि हम कीर्तन करते हैं फिर हमें सन्ध्याकी क्या जरूरत है।

चार बातें बड़े पुण्यसे प्राप्त होती हैं। भगवद्भक्तोंमें प्रेम, श्रीभगवन्नाममें प्रेम, भगवत्-विग्रहमें प्रेम और भगवत्-प्रसादमें प्रेम!

भगवान् श्रीकृष्णने माखन चुराकर खाया, और गोपियोंके साथ रासलीला की। इन लीलाओंका रहस्य हरएक मनुष्य नहीं समझ सकता। भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति होनेपर ही ज्ञानी पुरुष इनको जान सकते हैं।

विधवा स्त्रीको श्रीभगवन्नामजप और श्रीभगवन्नाम-कीर्तनमें अपना समय लगाना चाहिये। उसके लिये शृंगार करना बहुत बुरा है। भगवान्‌को ही अपना सब कुछ मानना चाहिये।

सधवा स्त्रीको अपने पतिको ही परमेश्वर मानकर उसकी सेवा करनी चाहिये और भगवद्भजन भी अवश्य करना चाहिये।

परनिन्दा और इन्द्रियलोलुपता भजनमें पूरे विघ्न हैं।

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[गतांकसे आगे]

[मणि १० बृहदारण्यक]

सर्व प्रपञ्चका मिथ्यात्व

हे मैत्रेयी ! जैसे आकाशमें भ्रममूलक गन्धर्वनगर होता है, इसी प्रकार इस शुद्ध आत्मामें अविद्या नामका जगत् उत्पन्न हुआ है। विचार कर देखा जाय तो गन्धर्वनगर उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार अद्वितीय आत्मामें दुःखरूप जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है। जैसे नेत्रके दोषसे कोई पुरुष एक चन्द्रमाको अनेक रूप देखता है, इसी प्रकार अज्ञानी जीव अविद्याके दोषसे एक अद्वितीय आत्माको अनेक रूप हुआ देखता है। जैसे मूढ़ बालक अपनी अँगुली आँखके सामने आडी रखकर निर्मल आकाशमें मोरके पंख-समान अनेक रूप देखता है, इसीप्रकार यह अज्ञानी जीव भी आनन्दस्वरूप आत्मामें अविद्याके दोषसे इस दुःखरूप जगत्को देखता है।

जैसे तृष्णातुर मृगको जल विना ही ऊसर भूमिमें नाना प्रकार तरंगें दिखायी देती हैं, इसी प्रकार भेदप्रपञ्चरहित अद्वितीय आत्मा अज्ञानी जीवोंको प्रपञ्चवाला दीखता है। जैसे चाँदीके भासवाली सीपीमें लोभी पुरुषको रूपा भासता है और जैसे अँधेरेमें पड़ी हुई रज्जु सर्प भासती है, इसी प्रकार आत्मामें अज्ञानी जीवको जगत् भासता है। जैसे शंकाशील मनुष्य चोररहित स्थानमें चोर देखता है, इसी प्रकार अज्ञानी जीव दुःखरहित आत्मामें दोषसे दुःख देखता है। स्वप्न और जाग्रत्में पुरुषको स्त्री-पुत्रादि जो संसार दीखता है, वह आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार श्रवणादि साधनोंसे शुद्ध हुए मनमें आत्मसाक्षात्कारके लिये महावाक्यका उपदेश लेना चाहिये। ऐसा करनेसे अधिकारीको फिर संसारकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे आकाशमें कल्पित गन्धर्वनगर आकाशरूप ही है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें कल्पित किया हुआ जगत् आत्मारूप ही है, आत्मासे भिन्न जगत्की सत्ता नहीं है। आत्माके श्रवणसे सम्पूर्ण जगत्का श्रवण श्रेष्ठ नहीं है, आत्माके मननसे सम्पूर्ण जगत्का मनन श्रेष्ठ नहीं है, आत्माके निदिध्यासनसे सम्पूर्ण जगत्का ध्यान श्रेष्ठ नहीं है और आत्माके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान श्रेष्ठ नहीं है, तात्पर्य यह कि आत्मासे भिन्न कल्पित जगत्की सत्ता नहीं है। आत्माके ज्ञानसे कल्पित जगत्का ज्ञान हो जाता है, तो भी जगत्के सब पदार्थोंका सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता, और हो भी नहीं सकता। सम्पूर्ण जगत्को जाननेमें श्रुतिवचनका तात्पर्य नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सुखरूप नहीं है, और दुःखका अभावरूप भी नहीं है और सुख-दुःखका साधन भी नहीं है, ऐसे संसारको जाननेके लिये विद्वान्का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। यदि कदाचित् यह सम्पूर्ण जगत् जीवके सुखका हेतु हो भी, तो भी विशेषरूपसे इसका जानना दुर्घट है इसलिये अधिकारीको संपूर्ण जगत्को जाननेकी किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है। अनात्मरूप जगत्के ज्ञानसे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, तो भी हे मैत्रेयी ! यदि तुझे स्त्रीस्वभावसे सम्पूर्ण जगत्को जाननेकी इच्छा हो तो सत्य आत्माका ज्ञान कल्पित जगत्के ज्ञानका कारण है। आत्मज्ञानके सिवा कल्पित जगत्को जाननेके लिये दूसरा उपाय नहीं है, जैसे घट-शरावादि वस्तुओंका एक मृत्तिका कारण है, उपादान-

कारण मृत्तिकाके ज्ञानसे भिन्न-भिन्न स्थलोंपर रक्खे हुए घट-शरावादि कार्योंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार समस्त जगत्के उपादानकारणरूप आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानसे कार्यरूप सब जगत्‌का ज्ञान हो जाता है।

भेदज्ञानसे अनर्थकी प्राप्ति

हे मैत्रेयी! जो पुरुष अद्वितीय आत्मामें नाना प्रकारके भेद देखता है, इस भेददर्शी पुरुषको लोक तथा परलोकमें विषयसुख ही नहीं मिलता, फिर मोक्षसुखकी प्राप्ति तो हो ही कहाँसे? जो स्त्री अपने पति-पुत्रादि बान्धवोंको अपने आत्माके समान प्रिय नहीं जानती किन्तु अपनेसे भिन्न जानती है, तो पति-पुत्रादि बान्धव उसका परित्याग कर देते हैं, इसी प्रकार पति-पुत्रादि जिस स्त्रीको अपनेसे भिन्न जानते हैं तो वह स्त्री उनका परित्याग कर देती है। इससे सिद्ध होता है कि जबतक स्त्री अथवा पुरुष जड़ अथवा चेतन पदार्थोंको अपने आत्माके समान मानकर उनका पालन करता है तबतक वे जड़ अथवा चेतन पदार्थ उसको सुख देते हैं और जब वह पुरुष उनको भिन्न भावसे देखता है अर्थात् उनका त्याग करता है, तो उन पदार्थोंके वियोगसे उसको परम दुःख होता है। जैसे कोई पुरुष जब महाराजाको महाराजा जानता है तो वह उससे प्रसन्न होता है और जब वह महाराजाको दरिद्री जानता है, तो महाराजा उसपर क्रोधित होता है। जो देहधारी जीव पति, स्त्री आदिको अपनेसे भिन्न देखता है, तो वह जीव दुखी होता है किन्तु यदि वे भी उसे भिन्न रूपसे देखते हैं, तो वह जीव दुखी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि इस लोकमें पति, स्त्री आदि जितने पदार्थ हैं, उन सबका आत्मा एक ही है। भेदरहित आत्माको जो पुरुष भेदवाला देखता है, उस भेददर्शी पुरुषको दुःख होता है। जो पुरुष ब्राह्मण जातिको तथा क्षत्रिय जातिको अपने आत्मासे भिन्न देखता है, उस भेददर्शी पुरुषको ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति दोनों लोकोंमें दुःखकी प्राप्ति करती हैं, इस जन्ममें तो भेददर्शीको पापमें डालती हैं और पापसे उत्पन्न हुए अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच प्रकारके क्लेश उत्पन्न होते हैं, इनके द्वारा परलोकमें दुःखकी प्राप्ति करती हैं। जैसे भेददर्शी पुरुषको जाति दुःखकी प्राप्ति करती हैं, इसी प्रकार स्वर्गादि लोक, इन्द्रादि देवता, ऋग्वेदादि वेद भी भेददर्शीको दुःखकी प्राप्ति करते हैं। जो पुरुष स्वर्गादि लोकोंको अपनेसे भिन्न मानता है, उस भेददर्शी पुरुषको स्वर्गादि लोक इस लोकमें नाना प्रकारसे भ्रमण कराते हैं और मरणके बाद नरककी प्राप्ति कराते हैं। जो इन्द्रादि देवताओंको अपनेसे भिन्न मानता है, तो देवता उसको नाना प्रकारके नरकोंकी प्राप्ति कराते हैं। जो वेदोंको अपनेसे भिन्न देखता है, तो वे उसको शूद्रादि नीच जाति प्राप्त कराते हैं। यदि कोई देहधारी जीव सम्पूर्ण जीवोंको अपने आत्मासे भिन्न देखता है तो वे सम्पूर्ण जीव भेददर्शीको इस लोकमें तथा परलोकमें अनेक प्रकारके दुःख देते हैं। हे मैत्रेयी! अधिक क्या कहूँ, आकाशादि पञ्चभूतोंसहित सर्व जगत्‌को जो पुरुष अपने आत्मासे भिन्न देखता है, तो सम्पूर्ण जगत् उस भेददर्शी जीवको अनेक प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति कराता है। इस लोकमें तथा परलोकमें प्राप्त होने योग्य जितने स्त्री-पुत्रादि प्रिय पदार्थ हैं, वे अज्ञानी जीवको प्राप्त नहीं होते, इसलिये वह दुखी होता है अथवा दैववशात् प्राप्त भी हो जायँ तो किसी रोगादि निमित्तसे अज्ञानी जीव प्रिय पदार्थोंके भोगनेमें असमर्थ होता है, अथवा अन्य स्थलमें जानेसे प्रिय पदार्थोंका वियोग हो जाता है अथवा प्रिय पदार्थोंका नाश हो जाता है तब अज्ञानी जीव परम दुःख पाता है। इस प्रकार प्रिय पदार्थोंके प्राप्त होनेमें और न प्राप्त होनेमें अज्ञानीको दुःख

ही होता है। सारांश यह कि भेददर्शी अज्ञानी जीवको सम्पूर्ण स्थावर-जंगम पदार्थ दुःख उत्पन्न करते हैं।

अद्वितीय आत्मामें मनकी स्थिरता

हे मैत्रेयी! सम्पूर्ण जगत्‌को अपना आत्मरूप जान, अपनेसे भिन्न किसी पदार्थको मत देख! आनन्दस्वरूप आत्मा सजातीय, विजातीय, स्वगत, इन तीनों भेदोंसे रहित है, स्वयंज्योतिरूप है और जन्मादि विकारोंसे रहित है। इस प्रकारका तत्त्वज्ञान ही यथार्थ ज्ञान कहलाता है। आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न जितने अनात्मपदार्थ हैं और तुझे सुख देनेवाला जितना सांसारिक ज्ञान है, वह सर्वज्ञान भ्रान्तिरूप है, ब्रह्मासे लेकर जडचेतनपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है किन्तु आत्मस्वरूप ही है। जडचेतनादि जितने मनन करनेयोग्य पदार्थ हैं, वे सब आनन्दस्वरूप आत्मामें रहते हैं, उसीसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लय हो जाते हैं। इस सर्व जगत्‌का कारण अज्ञान भी आत्मसाक्षात्कार हुए आत्मामें लयभावको प्राप्त होता है। आत्मा अद्वितीय है। अद्वितीय आत्मामें मन स्थिर करनेके लिये दृष्टान्त कहता हूँ, सुन!

हे मैत्रेयी! इस लोकमें तामस, राजस और सात्त्विक तीन प्रकारके पदार्थ हैं। यह तीनों प्रकारके पदार्थ आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं हैं, वह सिद्ध करनेके लिये प्रसिद्ध भेरी, शंख और वीणाके दृष्टान्त लेते हैं। ये बाजे मुखके पवनसे क्रूर, मध्यम और मञ्जुल तीन प्रकारके शब्द करते हैं। वीररसको उत्पन्न करनेवाला भेरीका शब्द क्रूर, भयको उत्पन्न करनेवाला नाद मध्यम और शृंगाररसको उत्पन्न करनेवाला शब्द मञ्जुल कहलाता है। ये तीन प्रकारके शब्द भी ऊँचे, नीचे और तीव्रभेदसे अनेक प्रकारके होते हैं, भेरी, शंख तथा वीणाके शब्द क्रमानुसार उत्तम, मध्यम और मञ्जुल आदि होते हैं। इन तीनों बाजोंमें रहनेवाला शब्द एक सामान्य धर्म है। वह ही शब्द भेरीका शब्द, शंखका शब्द और वीणाका शब्द ऐसा जो कहलाता है, वह शब्दका विशेष धर्म है। विशेष धर्मका ज्ञान सामान्य धर्मके ज्ञान बिना नहीं हो सकता। जब जीवको प्रथम शब्दके सामान्य धर्मका ज्ञान होता है, पीछे भेरी, शंख, वीणाके शब्दोंके विशेष धर्मका ज्ञान होता है। जो बहुत प्रयोगमें आवे, वह सामान्य धर्म कहलाता है और जो थोड़ा प्रयोगमें आवे, वह विशेष धर्म कहलाता है। जैसे भेरी, शंख तथा वीणामें 'शब्द' यह सामान्य धर्म है, इसी प्रकार भेरीका शब्द, शंखका शब्द, वीणाका शब्द यह विशेष धर्म है। क्योंकि भेरीका शब्द कहनेसे उसमें शंख और वीणाके शब्दका प्रयोग नहीं होता और शंखका शब्द कहनेसे उसमें भेरी और वीणाके शब्दका प्रयोग नहीं होता, इस प्रकार तीनोंमें रहनेवाला जो मुख्य शब्द है, वह सामान्य धर्म है और प्रत्येकके जुदे-जुदे शब्द वह विशेष धर्म है। इसी प्रकार क्रूर भेरी कहनेसे क्रूर शब्दमें योजना होगी, मध्यम और मञ्जुलमें नहीं होगी। इसी प्रकार मध्यम भेरी कहनेसे मध्यम शब्दमें उसकी योजना होगी, क्रूर तथा मञ्जुलमें नहीं होगी, और मञ्जुल भेरी कहनेसे मञ्जुल शब्दमें उसकी योजना होगी, क्रूर तथा मध्यममें नहीं होगी, इस प्रकार भेरी शब्द सामान्य धर्म है और क्रूर, मध्यम और मञ्जुल विशेष धर्म हैं। इसी प्रकारकी रीति शंख तथा वीणामें भी जान लेनी चाहिये। जैसे शब्दरूप सामान्य धर्मके ज्ञान बिना भेरी शब्दके विशेष धर्मका ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार स्वयंज्योति आत्माके अस्ति, भाति तथा प्रिय आदि सामान्य धर्मके ज्ञान बिना किसी प्रकारका विशेष ज्ञान नहीं होता, किन्तु सामान्य धर्मके ज्ञान हुए पीछे जीवको घटादि विशेष पदार्थोंका ज्ञान होता

है। अस्ति,भाति तथा प्रियरूप आत्मामें सामान्य-रूप स्पष्ट होना आत्माका सर्वमें अनुगतपना है, यह समझना चाहिये। इस लोकमें जितने पदार्थोंका प्रत्यक्षरूप, परोक्षरूप, सत्यरूप, असत्यरूप, अहंरूप तथा ममरूपसे ग्रहण होता है, वे सब पदार्थ चेतन आत्मासे भिन्न नहीं हैं, आत्मारूप ही हैं। जैसे रज्जुमें सर्प, दण्ड, माला, जलधारा आदि कल्पित पदार्थ और उनका ज्ञान रज्जुसे भिन्न नहीं हैं तो भी रज्जुके अज्ञानसे प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें प्रतीत होनेवाला आकाशादि जगत् अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है तो भी आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होता है। इस प्रकार आत्माके सामान्य धर्म अस्ति, भाति तथा प्रियमें आकाशादि आत्माके विशेष धर्म हैं। इसलिये उन विशेष धर्मोंका ज्ञान सामान्य धर्मोंके ज्ञान हुए पीछे ही होता है, चेतन आत्माके यद्यपि बहुत प्रकारके विशेष रूप हैं परन्तु संक्षेपसे दो ही विशेष रूप हैं, एक 'युष्मत्' शब्दका अर्थरूप है और दूसरा 'अस्मत्' शब्दका अर्थरूप है। 'इदम्' 'एतद्' आदि शब्दोंका अर्थ 'युष्मत्' शब्दसे निरूपण होता है और अहं, मम आदि शब्दोंका अर्थ 'अस्मत्' शब्दसे होता है, अतःकरणादि संघातमें स्थित चेतन 'अस्मत्' शब्दका वाच्य अर्थ है और बाह्य घटादि पदार्थोंमें स्थित चेतन 'युष्मत्' शब्दका वाच्य अर्थ है। 'युष्मत्' और 'अस्मत्' शब्दके वाच्य अर्थमें यद्यपि परस्पर भेद है तो भी भागत्यागलक्षणासे लक्षित दोनों शब्दोंका लक्ष्य चेतन एक है, क्योंकि जिस अर्थका 'युष्मत्' शब्द कथन करता है, इसी अर्थका 'अस्मत्' शब्द कथन करता है।

'युष्मत्' शब्दमें 'अस्मत्' शब्दका अर्थ—'अस्मत्' शब्दके अर्थ अन्तरात्मासे भिन्न जितने शंखादि जड पदार्थ तथा पुरुषादि चेतन बाह्य पदार्थ हैं वे सब जड-चेतन पदार्थ 'युष्मत्' शब्दके अर्थरूप, हैं तो भी शंखादि जड पदार्थोंका चेतन-पुरुषके वागादि इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होता है, तब वे नाना प्रकारके शब्द करते हैं और चेतन व्यवहारके योग्य होते हैं, चेतन पुरुषको शरीरका अभिमान होनेसे 'अस्मत्' शब्दका अर्थरूप पुरुष अपने आत्माको 'युष्मत्' शब्दके अर्थरूप बाह्य पदार्थोंसे भिन्न मानता है, इसी प्रकार 'युष्मत्' शब्दके अर्थरूप पुरुषादि चेतन पदार्थ भी 'अस्मत्' शब्दके अर्थरूप अपने आत्माको 'युष्मत्' शब्दके अर्थरूप अन्य पदार्थोंसे भिन्न मानते हैं। इस प्रकार 'युष्मत्' शब्दके अर्थरूप शंखादि जड पदार्थ और पुरुषादि चेतन पदार्थ सबमें 'अस्मत्' शब्दकी अर्थरूपता हो सकती है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! शंखादि जड पदार्थोंका चेतन पुरुषके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किस प्रकार होता है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! इस लोकमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसको चेतन पुरुष अपने आत्मारूपसे ग्रहण न करता हो अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थोंको चेतन पुरुष अपने आत्मारूपसे ग्रहण करता है। प्रपञ्चके इन सब पदार्थोंकी मूल कारण अविद्याको परमात्मादेव अपने शरीररूपसे ग्रहण करता है। अविद्याके कार्य समष्टि सूक्ष्मरूप प्रपञ्चको हिरण्यगर्भ भगवान् अपने शरीररूपसे ग्रहण करते हैं और अविद्याके कार्य समष्टि स्थूल प्रपञ्चको विराट् भगवान् अपने शरीररूपसे ग्रहण करते हैं। व्यष्टिरूप प्रसिद्ध सर्व जड पदार्थोंको अनेक मनु आदि चेतन पुरुष अपने शरीररूपसे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सर्व जड पदार्थ चेतनके आश्रयमें रहे हुए हैं। नियमसे किसी पदार्थमें न तो 'युष्मत्' शब्दकी अर्थरूपता है, और न 'अस्मत्' शब्दकी अर्थरूपता है। केवल आत्मपदार्थके आश्रयसे जड-चेतन आदि सर्व पदार्थोंमें 'युष्मत्' 'अस्मत्' शब्दकी अर्थरूपता होती है, जिन पदार्थोंको पुरुष आत्मासे भिन्न मानता है, उन पदार्थोंमें 'युष्मत्'

शब्दकी अर्थरूपता होती है जैसे देवदत्त नामके पुरुषसे यज्ञदत्त नामके पुरुषमें 'युष्मत्' शब्दकी अर्थरूपता है। इसी प्रकार यज्ञदत्त नामके पुरुषसे देवदत्त नामके पुरुषमें 'युष्मत्' शब्दकी अर्थरूपता है। मन तथा वाणीको अविषयरूप आनन्दस्वरूप आत्मा अपने अस्ति, भाति और प्रियरूपसे सर्व अनात्मपदार्थोंसे श्रेष्ठ है। इसलिये किसी भी शब्दका वाच्य अर्थ नहीं है, सब शब्दोंका लक्ष्य अर्थ है, चेतन आत्मारूप लक्ष्य अर्थ करनेसे 'युष्मत्' तथा 'अस्मत्' शब्द एक ही अर्थ जनाते हैं। इस प्रकार भागत्यागलक्षणासे दोनों शब्दोंसे जब एक चेतन आत्मारूप अर्थ ग्रहण होता है, तब 'युष्मत्' 'अस्मत्' शब्दोंके अर्थको जनानेवाले 'इदम्' आदि शब्दोंमें लक्षणावृत्तिसे एक चेतन आत्मा सिद्ध होता है। चेतन आत्मा अस्ति, भाति आदि रूपोंसे सब पदार्थोंमें प्रकाशता है। सूर्यादि ज्योतियोंसे भी अधिक ज्योतिरूप आत्मा है।

आनन्दस्वरूप आत्मादेवमें आकाशादि विशेष पदार्थोंको अज्ञानी जीव आरोपण करते हैं। जैसे शब्दरूप सामान्य धर्मका ज्ञान होनेके बाद भेरी आदिका विशेष ज्ञान होता है, इसी प्रकार अस्ति, भाति आदि आत्माका प्रकाश होनेके बाद जीवका 'मैं' 'तू' आदि विशेष व्यवहार सिद्ध होता है। आनन्दस्वरूप आत्माके स्फुरण हुए बिना इस लोकका कोई भी व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यह सम्पूर्ण जड-चेतनरूप जगत् अद्वितीय आत्मारूप है और सबसे प्रियतम है। जगत्की स्थितिमें आत्माकी अद्वितीयरूपता सिद्ध हुई। जैसे जगत्की स्थितिकालमें आनन्दस्वरूप आत्मा सब भेदोंसे रहित अद्वितीयरूपसे प्रकाशता है, इसी प्रकार जगत्की उत्पत्तिके समयमें भी अद्वितीय-रूपसे प्रकाशता है। इसका एक दृष्टान्त कहता हूँ सुन! जैसे चिनगारियाँ उत्पन्न होनेसे पहले अग्नि सब भेदोंसे रहित प्रज्वलित होता है और प्रज्वलित अग्निके समान ही चिनगारियाँ और अँगारे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कार्य प्रपञ्चरूप जगत्की उत्पत्तिसे पहिले आनन्दस्वरूप आत्मा सर्व भेदसे रहित होता है और जड-चेतन सम्पूर्ण जगत् उसमेंसे उत्पन्न होता है। श्रुतिमें कहा है—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'

मायाविशिष्ट परमात्मादेवने जगत्की उत्पत्तिके समय सूर्य-चन्द्रमादि सम्पूर्ण जगत्को पूर्वके समान रचा। स्मृतिमें कहा है—

तेषां च नामरूपाणि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥

जगत्की उत्पत्तिके समय परमात्माने वेदके शब्दोंसे आकाशादि पदार्थोंको, भिन्न-भिन्न नामोंको, भिन्न-भिन्न रूपोंको और भिन्न-भिन्न कर्मोंको उत्पन्न किया। अर्थात् परमात्मादेवने 'भू' शब्द उच्चारण करके पृथ्वीको, आकाश शब्द उच्चारण करके आकाशको और इसी प्रकार सर्व जगत्को उत्पन्न किया। आकाशादि जगत्की उत्पत्ति आत्मासे हुई है, यह बात तो श्रुति-स्मृतिके प्रमाणसे जाननेमें आती है और ऋग्वेदादि वेदोंकी उत्पत्ति भी परमात्मासे ही हुई है। जैसे सूखी-गीली लकड़ीके धूममें फेरफार होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मादेवसे वेदकी उत्पत्ति विलक्षण प्रकारसे हुई है। (क्रमशः)

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[गतांकसे आगे]

यहाँ यह सन्देह होता है कि स्वप्नकी दृष्टि, श्रुति, मति एवं विज्ञाति आदि तो आत्मस्वरूप होनेके कारण नित्य हैं; नित्य होनेसे उनका नाश नहीं हो सकता और नाश न होनेसे संस्कार नहीं बन सकता, क्योंकि संस्कार ज्ञानादिका नाश होनेपर ही उत्पन्न होता है, जिस प्रकार घटज्ञानका नाश होनेपर ही घटसंस्कारकी उत्पत्ति होती है। इसीसे ज्ञानकालमें स्मृति नहीं हुआ करती। अतः यदि स्वप्नकी दृष्टि, श्रुति आदि नित्य हैं तो उनकी स्मृति नहीं होनी चाहिये। परन्तु स्मृति होती ही है। इसका क्या समाधान होगा ?

इसका उत्तर यह है कि स्वप्नके समय दृष्टि, श्रुति आदि तो आत्मस्वरूप ही हैं, तथापि उनके विषयोंका नाश तो होता ही है। उनके नाशसे ही संस्कार बनता है। इसीसे उनके ज्ञानका भी नाश कहा जा सकता है। यहाँ विलक्षणता यही है कि नित्य होनेपर भी उसका नाश कहा जा सकता है। इसमें कारण यही है कि विशेष्यके नित्य बने रहनेपर भी विशेषणके नाशवान् होनेके कारण विशिष्टके नाशका व्यवहार होता है; जैसे आकाशके बने रहनेपर भी घटरूप विशेषणका नाश होनेपर घटाकाशका नाश कहा जाता है। विशिष्ट पदार्थका अभाव तीन प्रकार माना जाता है—विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव तथा उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; जैसे कोई दण्डधारी पुरुष है, उसके दण्डित्वका अभाव तीन प्रकार हो सकता है—(१) दण्डरूप विशेषणका अभाव होनेपर, (२) पुरुषरूप विशेष्यका अभाव होनेपर अथवा (३) दण्ड और पुरुष दोनोंहीका अभाव होनेपर। इसी प्रकार यहाँ विशेष्यस्थानीय आत्मचैतन्य तो बना हुआ है, केवल शब्दादि विशेषणोंके नाशसे ही दृष्टि, श्रुति, मति आदि विशिष्ट ज्ञानोंका नाश कहा जाता है; क्योंकि केवल आत्मचैतन्य ही दृष्टि-श्रुति आदि नहीं है अपितु अनिर्वचनीय रूपादिसे सम्बन्धित चैतन्य ही दृष्टि-श्रुति आदि है। अतः केवल चैतन्यके बने रहनेपर भी रूपादि विशेषणके नाशमात्रसे रूपादिविशिष्ट चैतन्यका नाश कहा जा सकता है। इस प्रकार दृष्टि, श्रुति आदिका नाश हो जानेसे उनके संस्कार और स्मृति दोनों ही बन सकते हैं।

इसीसे कई आचार्योंने सुखकी स्मृति भी सुखका नाश होनेपर ही मानी है, क्योंकि घटादि वृत्तियोंके समान वे सुखकी वृत्तिको सुखसे पृथक् नहीं मानते। वे कहते हैं कि वृत्ति तो आवरणकी निवृत्तिके लिये है। जो वस्तु अज्ञातसत्ताक होती है उसीका आवरण हटानेके लिये वृत्ति होती है। सुख-दुःखादि तो अज्ञातसत्ताक हुआ ही नहीं करते। यदि कहो कि वृत्ति चैतन्यसे सम्बन्ध करानेके लिये है, क्योंकि भिन्न-भिन्न आचार्योंके मतानुसार वृत्ति दो प्रकारकी है—आवरणाभिभवात्मिका और चैतन्यसम्बन्धार्था। सिद्धान्त यह है कि घटादिका प्रकाश घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही होता है, किन्तु जबतक वह आवृत्त रहता है तबतक उसका प्रकाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञान अनावृत्त चैतन्यसे ही होता है। अतः वृत्तिका काम यही है कि आवरणकी निवृत्ति कर अनावृत्त चैतन्यसे सम्बन्धित घटादिका ज्ञान करावे। दूसरे आचार्य वृत्तिको चैतन्यसम्बन्धार्था मानते हैं। वे कहते हैं कि सबका परमकारण होनेसे ब्रह्मका घटादिसे सम्बन्ध तो है ही, अतः घटादिका ज्ञान होना ही चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः एक विलक्षण सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। उसे अभिव्यंग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध कहते हैं। चैतन्यका वस्तुपर अभिव्यञ्जन कैसे होता है ? जैसे दर्पणादिमें सूर्यादिका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार जिस पदार्थमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीका प्रकाश हुआ करता है।

लोकमें यह देखा जाता है कि दर्पणादि स्वच्छ वस्तुएँ ही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाली हुआ करती हैं, घटादि अस्वच्छ वस्तुओंमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार चेतनका प्रतिबिम्ब भी अन्तःकरणमें ही पड़ता है कुड्यादि अस्वच्छ वस्तुओंमें नहीं पड़ता। किन्तु जिस प्रकार स्वच्छ जलादिका योग होनेपर अस्वच्छ कुड्यादिमें प्रतिबिम्बग्रहणकी योग्यता आ जाती है उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरणका योग होनेपर घटादि भी चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाते हैं। अन्तःकरणकी घटाद्याकाराकारिता वृत्ति चैतन्यके साथ घटादिका सम्बन्ध करानेके लिये ही होती है। जिस समय अन्तःकरणकी वृत्ति

घटाद्याकारा होती है उस समय अन्तःकरणवृत्तिसंश्लिष्ट घट चैतन्यका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है; इसीसे घटकी स्फूर्ति होती है।

इसी प्रकार कोई-कोई आचार्य अन्तःकरणकी वृत्तिका प्रधान प्रयोजन जीवचैतन्यके साथ विषयावच्छिन्न चैतन्यका ऐक्य कराना मानते हैं। उनका मत ऐसा है कि जो वस्तु जिस चैतन्यमें अध्यस्त होती है वही उसका प्रकाशक होता है; अतः घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यको अपनेमें अध्यस्त घटादिका ज्ञान हो सकता है। तथापि प्रमाता जो जीव है उसे उसका ज्ञान किस प्रकार हो? अतः इन्द्रियमार्गसे विषयतक गयी हुई अन्तःकरणकी वृत्ति उस विषयावच्छिन्न चेतनके साथ जीवचेतनका अभेद कर देती है। उस समय वह विषयावच्छिन्न चेतनमें अध्यस्त विषय अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन यानी जीवचेतनमें अध्यस्त कहा जा सकता है। अतः इस प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनके साथ विषयका आध्यासिक सम्बन्ध होनेसे उसके द्वारा उस विषयका स्फुरण हो जाता है।

इससे सिद्ध क्या हुआ? यही कि वृत्तियोंकी आवश्यकता चाहे आवरणाभिभवके लिये माने चाहे जीवके साथ विषयका सम्बन्ध करानेके लिये माने और चाहे अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन और विषयावच्छिन्न चेतनके अभेदके लिये माने, सुखके प्रकाशके लिये वृत्तियोंकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुख तो अन्तःकरणके समान स्वच्छ ही है। घटादि तो अस्वच्छ थे, इसलिये उन्हें चैतन्य-सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता थी। किन्तु सुख तो स्वतः स्वच्छ है; इसलिये जीवचैतन्यके साथ उसके सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनके साथ सुखावच्छिन्न चेतनका अभेदसम्पादनके लिये भी वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुखका आश्रय अन्तःकरण ही है और न आवरणभंगके लिये ही वृत्तिकी अपेक्षा है, क्योंकि आवरण वहाँ होता है जहाँ पदार्थकी सत्ता ज्ञात नहीं होती। सुख अज्ञातसत्ताक है ही नहीं। इसलिये आवरण न होनेके कारण आवरणाभिभवात्मिका वृत्तिकी भी आवश्यकता नहीं है। इसीसे सुखको केवल साक्षीभास्य मानते हैं। यदि ऐसा न मानेंगे तो वृत्तिके प्रकाशके लिये भी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि वृत्तिके प्रकाशके लिये वृत्ति नहीं मानते तो सुखके प्रकाशके लिये ही क्यों मानते हो?

यहाँ किन्हीं-किन्हींका ऐसा मत है कि सुखका स्मरण होता है, इसलिये सुखाकाराकारित वृत्ति माननी चाहिये, क्योंकि उसका नाश होनेपर ही सुखका संस्कार होगा और संस्कारसे ही स्मृति होगी। किन्तु विशेष विचार करनेपर इसकी आवश्यकता प्रतीत न होगी। सुखज्ञान क्या है? साक्षीका जो सुखके साथ सम्बन्ध है वही सुखज्ञान है। सुखका नाश होनेसे साक्षीगत सुखसंश्लिष्टत्वका नाश हो जायगा। इस प्रकार सुखके नाशसे ही उसका संस्कार बन जायगा और उसीसे स्मृति भी बन जायगी। अतः सुखज्ञानके लिये वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकोंके मतमें सुख और सुखज्ञानका कारण आत्ममनःसंयोग है। किन्तु सुखकी उत्पत्ति भी आत्ममनःसंयोगसे ही होती है। अतः एक आत्ममनःसंयोग तो सुखकी उत्पत्तिके लिये मानना होगा और दूसरा सुखज्ञानके लिये। ये दोनों एक समय हो नहीं सकते। इसलिये जिस समय सुखज्ञानका हेतुभूत आत्ममनःसंयोग होगा उस समय सुखका हेतुभूत आत्ममनःसंयोग नष्ट हो जायगा और उसका नाश हो जानेसे सुख भी नहीं रहेगा, क्योंकि असमवायीकारणका नाश होनेपर कार्यका भी नाश हो जाता है, जैसे तन्तुसंयोगका नाश होनेपर पटका भी नाश हो जाता है। इस प्रकार सुखके रहते हुए तो सुखज्ञान न हो सकेगा और सुखज्ञानके समय सुख न रहेगा। यद्यपि यहाँ नैयायिकोंका कथन है कि असमवायीकारणका नाश होनेपर उसके कार्यभूत द्रव्यका ही नाश होता है, गुणका नाश नहीं होता और सुख गुण है; इसलिये इसका भी नाश नहीं हो सकता, तथापि इस संकोचमें हमें कोई कारण नहीं दीख पड़ता। इस प्रकार इस विषयमें अभी बहुत कुछ कहा जा सकता है, तथापि विस्तारके भयसे इससे उपरत होते हैं।

प्रकरणमें हमें यही विचार करना है कि जिस प्रकार जाग्रतमें सुखज्ञान आत्मस्वरूप है उसी प्रकार स्वप्नमें शब्दादिज्ञानरूप जो दृष्टि, श्रुति, एवं मति आदि हैं वे भी आत्मस्वरूप दर्शन ही हैं। अतः यह दर्शन ही आत्मदर्शन या दीर्घदर्शन है। अतः 'दीर्घं पौरुषेयं चैतन्यात्मकं अबाध्यं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दीर्घ यानी पौरुषेय चैतन्यात्मक अबाध्य दर्शन है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। उनका चैतन्यात्मक दर्शन अलुप्त है। अतः जिन-जिन गोपांगनाओंके अन्तःकरणमें जितने प्रीति आदि भाव थे उन सभीके अलुप्तदृक् साक्षी श्रीभगवान् उनकी अभिरुचिकी पूर्तिके लिये विहारस्थलमें प्रकट हुए।

अथवा 'दीर्घं सर्वविषयं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन (दृष्टि) दीर्घ—सर्ववस्तुविषयक है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार भगवान् दीर्घदर्शन हैं। अतः सामान्य और विशेषरूपसे वात्सल्य-माधुर्यादि अनेकविध भावोंवाली व्रजांगनाओंको देखकर केवल माधुर्यभाववती व्रजांगनाओंकी अभिलाषापूर्तिके लिये प्रकट हुए।

इसपर यदि कोई कहे कि इस प्रकार अलुप्तदृक्त्व अथवा सर्वज्ञसर्ववित्रूपसे भी सभीके अभिप्रायको जाननेवाले श्रीहरि सभीकी अभिलाषापूर्तिके लिये प्रादुर्भूत क्यों नहीं हुए? तो इसका कारण यह है कि भगवान्का यह दर्शन दीर्घ—बहुमूल्य है। उनका जो केवल चैतन्यात्मक सामान्य दर्शन है वह तो सभी भावोंका भासक और अधिष्ठान होनेके कारण किसीका साधक या बाधक नहीं है। किन्तु यहाँका यह दर्शन अमूल्य है। यह कृपाशक्तिसे उपहित है। अतः यहाँ केवल दृष्टि ही नहीं, कृपाका आधिक्य है। अतः यह बहुमूल्य है। इसीसे कहा है—

यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यश्चाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥

अर्थात् जो रामको नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते वह समस्त लोकोंमें निन्दनीय है तथा उसका आत्मा भी उसका तिरस्कार करता है। राम प्राकृत राजकुमार नहीं हैं बल्कि वे सबके अन्तरात्मा हैं। अतः आत्मस्वरूप श्रीरामका दर्शन न करनेवाले आत्मघाती हैं ही। यदि राम आत्मस्वरूप न होते तो उनका दर्शन न करनेमें इतनी विगर्हा नहीं थी, क्योंकि इतना निन्दनीय तो आत्माका ही अदर्शन है। जैसे कि श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अर्थात् जो कोई (ऐसे) आत्मघाती* लोग हैं वे उन असुर्य नामक (अनात्मज्ञोंके आत्मभूत देहात्मक) लोकोंको जाते हैं जो अदर्शनात्मक अन्धकारसे आवृत हैं।

इस दृष्टिसे श्रीरामभद्र समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। अतः जिसने उन्हें नहीं देखा और जिसे उन्होंने नहीं देखा वह निन्दनीय है ही। इसलिये इस निन्दासे छूटनेके लिये उन अपने स्वरूपभूत श्रीरघुनाथजीका साक्षात्कार करना ही चाहिये। किन्तु यदि राम आत्मस्वरूप हैं तो सर्वावभासक होनेके कारण सर्वदृक् हैं ही। उनका न देखना बन ही नहीं सकता। और जब ऐसा नियम है कि—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

तो घटादि विषयोंके भानसे पूर्व भी श्रीरामका भान होना अनिवार्य है ही; क्योंकि जैसे प्रतिबिम्बका ग्रहण दर्पण-ग्रहणके अनन्तर ही होता है उसी प्रकार चितिरूप दर्पणके ग्रहणके अनन्तर ही चैत्यरूप प्रतिबिम्बका ग्रहण होता है। अतः ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो घटादिको देखे और चैतन्यात्मक श्रीरामभद्रको न देखे।

तो फिर यह दर्शन कैसा है? यहाँ रामभद्रका दर्शन उनका कृपाकोणसे देखना है, तथा विशुद्ध भगवदाकाराकारित मनोवृत्तिपर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार करना जीवका भगवद्दर्शन है। इसी प्रकार यहाँ भगवान्का जो अनुग्रहोपेत दर्शन है वही व्रजांगनाओंकी अभिलाषापूर्तिका हेतु होनेके कारण दीर्घदर्शन है। यद्यपि भगवान्का अनुग्रह भी समस्त जीवोंपर समान ही है, तथापि उसकी विशेष अभिव्यक्ति तो भक्तकी भावनापर ही अवलम्बित है। श्रुति कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।'

अर्थात् यह आत्मा जिसको चाहता है उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसीके प्रति यह अपने स्वरूपकी अभिव्यक्ति करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् जो लोग जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार मैं भी उनकी कामना पूर्ण करता हूँ।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि पृथिवीमें नरदारकरूपसे प्रकट हुए श्रीकृष्णचन्द्रमें अलुप्तदृक्त्वादि कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

* जो आत्मतत्त्व नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है उसको कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनर्थोंसे संयुक्त मानना उसका अपमान करना है। और 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इस भगवदुक्तिके अनुसार यह अपमान उस आत्मदेवकी मृत्यु ही है अतः अनात्मज्ञ आत्मघाती ही है।

'ककुभः—कं सुखं तद्रूपतयैव कौ पृथिव्यामपि भातीति ककुभः ।'

अर्थात् क सुखको कहते हैं, भगवान् कु यानी पृथिवीमें भी सुखरूपसे भासमान हैं इसलिये ककुभ हैं । तात्पर्य यह है कि परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् पृथिवीपर अवतीर्ण होकर भी परमानन्दरूपसे ही अभिव्यक्त हैं । अर्थात् जो अलुप्तदृक् विशुद्ध परमानन्दघन तत्त्व है वही पृथिवीमें श्रीनन्दनन्दनरूपसे सुशोभित है; अतः इस रूपमें भी उसका अलुप्तदृक्त्व अक्षुण्ण ही है ।

कल्याण

सब जगह परमात्मा हैं, सबमें परमात्मा हैं, सब कुछ परमात्मा हैं, केवल परमात्मा ही हैं । असली बात यही है । तो भी पहले परमात्माको शुभमें देखो, कल्याणमें देखो, पवित्रतामें देखो, परोपकारमें देखो, सेवामें देखो, शुद्ध आचरणमें देखो, शुद्ध विचारोंमें देखो, सद्गुणोंमें देखो—यों देखते-देखते ज्यों-ज्यों बुद्धि बाह्यसे हटकर अन्तरकी ओर झुकने लगेगी, त्यों-ही-त्यों परमात्माकी झाँकी स्पष्ट होती जायगी । और अन्तमें सब मिटकर केवल परमात्मा ही रह जायँगे ।

परन्तु सबमें या सब कुछ परमात्मा ही है, इस विचारसे—या इस विचारकी भ्रान्तिसे पवित्र और शुभको छोड़कर केवल अमंगलमें, पापमें, पर-पीड़नमें, अपवित्रतामें, हिंसामें, असत्यमें, व्यभिचारमें, अशुद्ध विचारोंमें और दुर्गुणोंमें परमात्माको देखनेका बहाना करोगे तो परमात्मा तो ध्यानमें नहीं रहेंगे—परमात्माके नामपर पापोंमें आसक्ति बढ़ती जायगी, जिसका परिणाम बहुत बुरा होगा !

बुरा और अच्छा सब कुछ भगवान्‌से होता है, भगवान्‌में होता है, भगवान् ही बुरे और अच्छे बनते हैं । संसारमें जो कुछ होता है सब भगवान्-ही-भगवान् है—यह सत्य तत्त्व सद्विचारों और सत्कर्मोंके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही उपलब्ध होता है । नहीं तो भगवान्‌के नामपर अपनी दुर्बलताओं-का ही समर्थन होता है । सिद्धान्तका दुरुपयोग होता है और अपने-आपको धोखा दिया जाता है ।

सदा-सर्वदा सत्यकी ओर झुकते रहो; सत्यका पालन करो, सत्यका विचार करो, सत्यका मनन करो, सत्य व्यवहार करो, सत्यका आचरण करो, सत्यका अनुभव करो, सत्य कर्म करो, सत्य बोलो, सत्य सुनो; जीवनको सत्यमय बनानेकी चेष्टा करो । यों करते-करते जब सत्यका सत्यस्वरूप तुम्हारे सामने प्रकाशित होगा, जब जीवन शुद्ध सत्यमय हो जायगा, तब केवल सत्य ही रह जायगा तब आज जिसे असत्य मानकर छोड़नेको कहा जाता है, उसमें भी तुम्हें सत्य ही दीखेगा—उस सत्यका आजका यह असत्य-स्वरूप उस समय सत्यमें बदल जायगा । नहीं, यह असत्य ही सत्य नहीं दीखेगा; यह असत्य रहेगा ही नहीं । यह मर जायगा । सदाके लिये मर जायगा ! उस समय केवल सत्यका सत्यस्वरूप ही रह जायगा । आसक्ति, कामना, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि असत्यके विभिन्न स्वरूप उस समय नष्ट ही हो जायँगे । इनकी छाया भी नहीं रहेगी । उस समय यदि इनकी कहीं लीला होगी तो वह सत्यका ही एक स्वेच्छासे रचा हुआ स्वाँग होगा, जो असत्यकी बाढ़को रोककर सत्यकी रक्षा, सत्यके विस्तार, सत्यके सम्पादन, सत्यके प्रकाश और सत्यको सत्यरूपमें दर्शन करानेके लिये

ही होगा । वह सत्यकी ही सत्यप्रेरित सत्यसे ओतप्रोत सत्य लीला होगी । उसमें,—और आजके इस असत्याच्छादित अज्ञानरूप, मोहरूप, पापरूप, विषादरूप, भयरूप सत्यमें, जो मूलतः सत्य होनेपर भी असत्यका ही मूर्तरूप है—उतना ही अन्तर है जितना सत्य और असत्यमें होता है । इसीको सत्य मानकर यदि भ्रममें रहोगे तो यथार्थ सत्यके दर्शन दुर्लभ ही रहेंगे ।

यह सत्य ही परमात्मा है, भगवान् है, सब समय है, सबमें है और सब कुछ है । इस सत्यकी उपलब्धिके लिये ही अनन्त जीवनका अनन्त कर्मप्रवाह है । इस सत्यको पाना ही मुक्ति है, जीवनकी सफलता है और भगवत्-साक्षात्कार है । यह सत्य है कि यह सत्य नित्य और सर्वत्र है । यह भी सत्य है कि सत्यके सिवा और कहीं कुछ भी सत्य नहीं है, परन्तु जबतक हमें सत्यके समग्रस्वरूपका अनुभव नहीं होता, तबतक सत्यका सत्यमय सत्यस्वरूप हमारे सामने अप्रकाशित ही रहता है । सब कुछको सत्य बताने या सत्यके सिवा और कुछ भी नहीं है, ऐसा कहने जाकर हम सत्यके एक मलिनांशको जिसको हमने ही अपनी स्वाश्रित भूलसे मलिन कर डाला है, समग्र सत्य समझकर सत्यस्वरूप सम्पूर्ण सत्यके प्रकाशित होनेके मार्गमें बाधक हो जाते हैं । हम आप ही अपनेको धोखा देते हैं । हमारे इस मोहभंगके लिये—भूलको मिटानेके लिये हमें प्रयत्न करना आवश्यक है । यह कहा जा सकता है कि जो है ही नहीं उसको मिटानेका 'प्रयत्न' करना भी भूल ही है, परन्तु इस भूलसे ही वह भूल कटेगी, जो सत्यके सिवा कुछ अन्य न होनेपर भी हमें सत्यके समग्ररूपकी उपलब्धि करनेमें बाधक हो रही है । अतएव सत्यको प्रकाशित करनेवाला होनेके कारण यह 'प्रयत्न' भूल नहीं है । यह भी सत्य ही है । किसी वस्तुका सत्यस्वरूप समझमें आनेपर उसके सम्बन्धकी भ्रान्ति अपने-आप ही मिट जाती है इसलिये सत्यस्वरूपको समझनेमें सहायक होनेके कारण यह 'प्रयत्न' सत्य ही है । वह प्रयत्न है—बुरेको छोड़कर, असत्को त्यागकर, सत्को ग्रहण करना सदाचार और सद्विचारपरायण होकर सत्कर्म करना, अभिमान और दम्भ छोड़कर भगवान्की भक्ति करना और साधनचतुष्टय—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्वको प्राप्त करके तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करना ।

जबतक तुम्हें यह ज्ञान है कि यह 'बुरा' है और यह 'भला' तबतक तुम बुरे-भलेको एक नहीं बता सकते अतएव यदि अपना कल्याण चाहते हो, सचमुच ही शान्त और सुखी होना चाहते हो, सबमें सर्वत्र, सब समय परमात्माको देखना चाहते हो, नित्य अभिन्नरूपसे एकमात्र परमात्माका ही अनुभव करना चाहते हो तो अच्छा-बुरा सब कुछ परमात्मा ही है, यह कहना छोड़ दो और शुद्ध कर्म, श्रद्धायुक्त भक्ति और विवेकविरागयुक्त होकर तत्त्वज्ञानके सम्पादनके लिये प्राणपणसे साधना करो । भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे ।

'शिव'
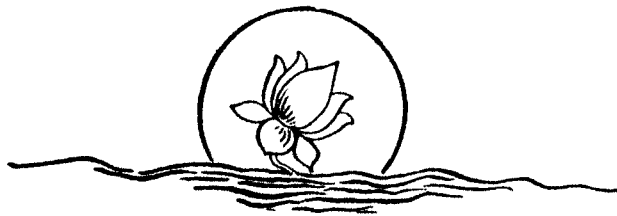
सामूहिक प्रार्थना

(लेखक—स्वामीजी श्रीसत्यानन्दजी परमहंस)

वैदिक कालमें भारतवासी ऋषि-महर्षि और सर्व-साधारण जन मिलकर सामूहिक प्रार्थना किया करते थे । उनके यज्ञोंमें मिलकर एक स्वरतालसे देवताके गुण गाये जाते थे । सुखमें, दुःखमें, मंगलमें, संकट-में वे देवताको ही आह्वान करना, उसका पूजन-आराधन, उसका स्तवन और कीर्त्तन अपना उत्तम कर्म मानते थे । यज्ञोंके विधायक ग्रन्थोंके अवलोकन और विचारपूर्वक मननसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतवर्षके पुरातन पुरुष अपने अभावोंकी पूर्तिके लिये, अपने मनोरथोंकी सिद्धिके लिये, अपने विघ्नोंके निवारणार्थ, अपनी बाधा-विपत्तियोंको दूर करनेके वास्ते और अपनी आत्मकल्याणकामनाके लिये मिल-कर मन्त्र-पाठ करना—स्वरतालसे श्रुतियोंका गाना एक शीघ्र प्रभावजनक साधन समझते थे । भगवती पतित-पावनी श्रुतिका आदेश भी है 'सहस्रं साकमर्चत' हे देवभक्तो ! सहस्रों मिलकर देवताका अर्चन करो, उस सनातन, पुरातन कीर्त्तनका वर्णन ऋग्वेदके सैकड़ों स्तोत्र (सूक्त) कर रहे हैं । उस परम पावन, पुरातन कीर्त्तनका पुण्यपाठ सहस्रों ऋचाएँ शत-शत मुखसे उच्चारण कर रही हैं । हिन्दुओंका प्राचीन कर्मकाण्ड मानो उच्च स्वरसे इसकी साक्षी दे रहा है ।

इस भूमण्डलपर ऐतिहासिक दृष्टिसे भी देखें तो भी सब मतोंसे, सब सम्प्रदायोंसे, सब धर्मोंसे ऋग्वेद-का धर्म पुरातन है, उसकी स्तुतियाँ पुरानी हैं, उसका पूजनप्रकार सबसे पुरातन है, उसका देव-गुण-गान और कीर्त्तन प्राचीनतम है । ऋग्वेदके स्तोत्रोंमें देवताके गीत प्रायः बहुवचनमें आते हैं । ऋचाओंमें बहुधा बहुवचनसे देवता गाया और पुकारा गया है, और तो और जो चारों वेदोंका सार, सर्व ऋचारूप पुष्पोंका निष्कर्ष और सब प्रार्थनाओंका मर्मरूप महामधुर मधु—भगवती, भक्तवत्सला, भाव-पूर्णा, शुभभावोद्भासिनी, ताप-सन्ताप-शापहारिणी, त्रिलोकतारिणी वेदमाता गायत्री है उसमें भी प्रार्थनाका वचन बहुवचनमें आया है । भारतवर्षके पूर्वज पुरुष, आर्यवर्य समुदायमें बैठकर, समूह-के-समूह सम्मिलित होकर बड़ी भारी संख्यामें, बड़े समारोहसे देवाराधन किया करते थे । वेदोंसे तो यही प्रकट होता है ।

वेदकालके ब्राह्मण अपने आराध्यदेवका यजन-स्थानमें आना, यज्ञकी बलिको स्वीकार करना, विहित कर्मोंका नेता होना और उसका यजमानोंकी मनः-कामनाओंको पूर्ण करना बड़े निश्चयसे सुनिश्चित ही मानते थे । ब्राह्मण-ग्रन्थोंके यज्ञ और उनमें वर्णित इष्टियाँ इस बातके प्रबल, पोषक प्रमाण हैं । यदि ऐसा न होता तो सहस्रों ऋचाएँ ऐसा गायन न करतीं, इतने विधान न बनते और कर्मकाण्डका इतना बड़ा विस्तार न होता । उन आदि युगोंके सच्चे, सरल, साधु और शुद्ध स्वभाववाले आर्यवर अर्थवादरूप, व्यर्थवाद बनाना नहीं जानते थे, वे कोरी कल्पनाके कोट-किले नहीं रचा करते थे । वे प्रकृतिके सौन्दर्यके रसिक, सत्यके स्नेही, यथार्थवादके श्रद्धालु, आगमके विश्वासी और अनुभवजन्य ज्ञानके उपासक थे । उनका दैवतवाद, विज्ञानतत्त्व, अनुभूत विषय, स्व-आत्मसत्तासे सिद्ध किया हुआ सिद्धान्त था । मतवादसे अस्पष्ट, सम्प्रदायवादके मान-मोहसे पार, पन्थपरम्परासे पवित्र उन भगवद्भक्तोंको तो जो कुछ सूझता था, जो कुछ ज्ञात होता था, जो कुछ अनुभव

हो जाता था और जो कुछ आता था वही वे गाते और सुनाते थे। उनके कीर्तनोंका इसी कारणसे बड़ा माहात्म्य माना जाता था।

जिस प्रकार श्रुतियाँ देवताका वर्णन करती हैं और जैसा यज्ञोंका विधान ग्रन्थोंमें मिलता है उससे तो यही प्रतीत होता है कि ऋषियोंके देवता सजीव, चैतन्य, तेजोमयी शक्तिरूपा सत्ताएँ हैं और उपासकोंका उन युगोंमें उनके साथ एक गहरा सम्बन्ध होता था। होना भी चाहिये। जो वस्तु चैतन्य है, शक्तिरूप है, सामर्थ्यसहित है और स्वतन्त्र तथा निर्बाध है, यह हो नहीं सकता कि सच्चे उपासकपर किसी-न-किसी प्रकारसे, उसका पावन प्रकाश अवतरित न हो। भक्तिधर्मकी यही मधुर महिमा है। उपासकोंका ऐसा ही सुचारु निश्चय है, श्रद्धालु जनोंकी यही दृढ़ धारणा है और भगवान्‌के भक्तोंके भान, अनुमान तथा अनुभव ज्ञान इसी प्रकारकी परम्परासे आजतक चले आते हैं।

वैदिक कालके कीर्तनोंकी कथाका संकेत इसलिये किया गया है कि हरिभक्तोंको ज्ञात हो कि हरिकीर्तनकी पावनी प्रथा पुरातन तथा सनातन है। यह कोई इस युगके भक्तिवादकी उपज नहीं है, यह कोई पन्थिक प्रणाली नहीं है अपितु यह सत्य सनातन धर्म है। इसका आदिस्रोत वेद है। सत्ययुगके ऋषि, महर्षि, उपासक, भक्त और याजक-यजमान बड़े-बड़े समूहोंमें बैठकर अपने इष्टदेवताके गुण गाया करते थे। यह कथन सर्वथा सत्य है कि कीर्तन, स्तवनरूपा भगवती भक्ति-भागीरथीका पतित-पावन प्रवाह सबसे पहले वेदके सुमेरुशिखरसे ही मानव-मस्तकोंके समतलपर अवतरित हुआ था जो आजतक अनेक दार्शनिक और पन्थोंके प्रबल पत्थरों-चट्टानोंसे टकराता, चक्कर-खाता, बिना विराम निरन्तर चलता चला आया है। और परमात्माके साथ स्वात्माका सच्चा सम्बन्ध जोड़नेका सबसे सरल, सुलभ और सुगम साधन है।

माया

केशव ! यह कैसी माया ?
रोक रही है मेरे पथको मेरी ही यह छाया !
रोक न सकते थे वे कण्टक, मगमें आनेवाले पर्वत,
हुआ प्रयत्न सभीका निष्फल, उन्हें कुचल मैं आया ॥
अरे गिरा करके गिरि भीषण, यह कैसा जलमें परिवर्तन !
फेन मार्गमें जो दृढ़ गढ़ बन, अवरोधक हो पाया !!
किन्तु फेनकी सत्ता कबतक ? छायाकी भी माया कबतक ?
सम्मुख आओ मेरे दिनकर ! आह बहुत भटकाया !!!

—'सुदर्शन'

परमात्माके ज्ञानसे परम शान्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्मा समस्त भूतोंको आत्मा हैं, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है, इस बातके समझ लेनेपर मनुष्य परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि जो इस प्रकार परमात्माको जानता है वह पुरुष किसी भी सेवा करनेयोग्य पुरुषकी सेवा करता हुआ, पूजनेयोग्यकी पूजा करता हुआ, उस सेवा-पूजाको भगवान्‌की ही सेवा-पूजा समझता है और उसे उसी आनन्द और शान्तिका अनुभव होता रहता है जो भगवान्‌की सेवा-पूजासे हुआ करता है। राजा रन्तिदेवकी भाँति वह इस बातको अच्छी तरह समझता है कि एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अपने प्यारे प्रेमीके प्रेमपूर्वक किये हुए दान, यज्ञ, सेवा और पूजन आदिको ग्रहण करते हैं।

महाराज रन्तिदेव रघुवंशमें राजा नरके पौत्र और राजा संकृतिके पुत्र थे। इनकी महिमा स्वर्ग और पृथ्वी दोनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। एक बार सारी सम्पत्तिका सम्पूर्णतया दान करके राजा रन्तिदेव निर्धन होकर सपरिवार भूखके मारे कृश हो गये। उन्हें लगातार अड़तालीस दिनतक अन्नकी तो बात ही क्या, जलतक पीनेको न मिला। सारा परिवार आहारके अभावमें कष्ट पाने लगा। धर्मात्मा राजाका कृश शरीर भूख-प्यासके मारे काँपने लगा। उन्चासवें दिन उन्हें घीसहित खीर, हलुआ और जल प्राप्त हुआ। राजा परिवारसमेत भोजन करना ही चाहते थे कि उसी समय एक अतिथि ब्राह्मण आ गये। सबमें हरिके दर्शन करनेवाले राजाने श्रद्धा और सत्कारपूर्वक ब्राह्मणदेवताको भोजन दे दिया। ब्राह्मण भोजन करके चले गये। राजा बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर भोजन करनेका विचार कर रहे थे कि इतनेमें एक शूद्र अतिथि आ पहुँचा। रन्तिदेवने भगवान् हरिका स्मरण करके बचे हुए अन्नमेंसे उस अतिथिको भी भोजन करा दिया। भोजन करके शूद्र अतिथि गया ही था कि एक और अतिथि अपने कुत्तोंसहित आया और बोला—'राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते भूखे हैं। हमलोगोंको भोजन दीजिये।' राजाने उसका भी सम्मान किया और आदरपूर्वक बचा हुआ अन्न उसको और उसके कुत्तोंको खिला दिया। अब केवल एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके इतना जल ही बच रहा था। राजा उसे पीना चाहते ही थे कि अकस्मात् एक चाण्डाल आया और दीनस्वरसे पुकारने लगा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ नीचको पीनेके लिये थोड़ा जल दीजिये।' उसके करुणाभरे शब्द सुनकर और उसे थका हुआ देखकर राजाको बड़ी दया आयी और स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहते हुए ही उन्होंने वह जल उसको दे दिया। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ही राजा रन्तिदेवके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा ब्राह्मणादिका वेश बनाकर आये थे। राजाका धैर्य और उदारता देखकर तीनों बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपने निज स्वरूपसे राजाको दर्शन दिये। महाराज रन्तिदेवने साक्षात् परमात्मस्वरूप उन तीनोंको प्रणाम किया। और उनके इतने अधिक सन्तुष्ट होनेपर भी उनसे राजाने कोई वरदान नहीं माँगा। राजाने आसक्ति और स्पृहाका त्याग करके मनको केवल भगवान् वासुदेवमें लगा दिया। इस प्रकार भगवान्‌में तन्मय हो जानेके

कारण त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) मयी माया उनके निकट स्वप्नके समान अन्तर्हित हो गयी। रन्तिदेवके सङ्गके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग नारायण-परायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हो गये।

भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं। उनसे बढ़कर संसारमें कोई भी नहीं है। जब इस प्रकार-से मनुष्य समझ जाता है तो फिर वह भगवान्‌को ही भजता है, क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य अपनी बुद्धिमें जिस वस्तुको सबसे बढ़कर समझता है उसीको ग्रहण करता है। मान लीजिये; कोई एक बहुत धनी पुरुष अपने मनके अनुकूल चलने-वाले एक गरीब परन्तु अत्यन्त प्रेमी सेवकको उसके कार्यसे प्रसन्न होकर कुछ देना चाहता है। उसके यहाँ एक ओर कोयले, कंकड़, पत्थर आदिके ढेर लगे हैं; दूसरी ओर ताँबा, लोहा, पीतल आदि धातुओंके ढेर हैं; कहीं चाँदी और रुपयोंकी राशि है, कहीं सोना और सोनेकी मोहरें जमा हैं और कहीं बहुत-से हीरे, पन्ने, नीलम, माणिक आदि बहुमूल्य रत्न रक्खे हैं। वह धनी पुरुष कहता है कि इनमेंसे जो भी चीज तुम्हें पसंद हो, अभी सवेरेसे लेकर शामतक जितनी ले जा सको, ढोकर ले जा सकते हो। आप विचारकर बताइये कि जरा भी समझदार आदमी क्या हीरे-माणिक आदि रत्नोंको छोड़कर कंकड़, पत्थर ढोनेमें अपने समयका एक क्षण भी बितावेगा? कभी नहीं! फिर भला, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंको जाननेवाला भगवान्‌का भक्त, भजन-ध्यानादि बहुमूल्य रत्नोंको छोड़कर संसारके विषय-रूप कंकड़-पत्थरोंमें अपना एक क्षण भी क्यों नष्ट करेगा? यदि वह आनन्दमय परमात्माको छोड़कर संसारके नाशवान् विषयभोगोंके सेवनमें अपने जीवनका अमूल्य समय लगाता है तो समझना चाहिये कि उसने सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्माके महान् प्रभाव और रहस्यको समझा ही नहीं।

दीनबन्धु, पतितपावन, सर्वज्ञ परमात्मा समस्त गुणोंके सागर हैं। कृपा और प्रेमकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही हैं। इस प्रकार परमात्माके गुणोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है। उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता। इसपर यदि कोई कहे कि जब ऐसी बात है कि भगवान् प्रेम और कृपाकी मूर्ति हैं तो उनकी अपार और अपरिमित कृपा सभीके ऊपर होनी चाहिये, और यदि है तो फिर हमको सुख और शान्ति क्यों नहीं मिलती? इसका उत्तर यह है कि प्रभु निश्चय ही अपार और असीम कृपाके सागर हैं, और उनकी वह कृपा सभी-पर है, परन्तु सच्ची बात तो यह है कि हमलोग ऐसा विश्वास ही नहीं करते! प्रभुकी समस्त जीवोंपर इतनी दया है कि जिसका हम अनुमान भी नहीं कर सकते। हमलोग जितनी दयाका अनुमान करते हैं, उससे अत्यन्त ही अधिक और अपार दया सभी जीवोंपर है किन्तु उस अनन्त दयाके तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण हम इस बातपर विश्वास नहीं करते और इसी कारण उस नित्य और अपार दयाके फलस्वरूप सुख और शान्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। यद्यपि भगवान्‌की दया सामान्यभावसे सभी जीवोंपर है परन्तु मुक्तिका खास अधिकारी होनेके कारण

मनुष्य उस दयाका विशेष पात्र है । मनुष्योंमें भी वही विशेष अधिकारी है जो उस दयाके रहस्य और प्रभावको जाननेवाला है । जैसे सूर्यका प्रकाश सम-भावसे सर्वत्र होनेपर भी उज्ज्वल होनेके कारण काँच उसका विशेष पात्र है, क्योंकि वह सूर्यका प्रतिबिम्ब भी ग्रहण कर लेता है, और काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँच तो सूर्यकी शक्तिको लेकर वस्त्रादि पदार्थोंको जला भी डालता है । इसी प्रकार सब जीवोंपर प्रभुकी दया समानभावसे रहते हुए भी जो मनुष्य उस दयाके तत्त्व और प्रभावको विशेषरूपसे जानते हैं वे तो उस दयाके द्वारा समस्त पाप-तापोंको सहज ही भस्म कर डालते हैं । ज्यों-ही-ज्यों प्रभुकी दयाके तत्त्व और प्रभावको मनुष्य अधिक-से-अधिक जानता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुःख, दुर्गुण और पापोंका नाश होता चला जाता है और फलतः वह निर्भय और निश्चिन्त होकर परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त हो जाता है ।

एक धर्मात्मा और ज्ञानी राजा थे। अपनी प्रजापर उनकी स्वाभाविक ही बड़ी भारी दया थी किन्तु सब लोग इस बातको नहीं जानते थे । वे अपने मन्त्रिमण्डल और गुप्तचरोंद्वारा अपनी असहाय और दीन-दुखी प्रजाकी हर समय खबर रक्खा करते थे और सबको यथायोग्य सहायता पहुँचाया करते थे । उनकी राजधानीमें एक क्षत्रिय बालक रहता था, जो बहुत ही सुशील, सदाचारी, बुद्धिमान् और चतुर था तथा राजामें उसकी भक्ति थी । उसके माता-पिता उसे छोटी अवस्थामें ही छोड़कर चल बसे थे । उस बालकने अपने माता-पितासे सुनकर पहलेसे ही यह समझ रक्खा था कि हमारे राजा बड़े ही दयालु और अनाथरक्षक हैं इसलिये जब माता-पिता मरे तब उसे जितनी चिन्ता होनी चाहिये थी, उतनी नहीं हुई । वह समझता था कि दयालु राजा आप ही मेरी व्यवस्था कर देंगे । वह बालक स्कूलमें पढ़ता था । उसके सहपाठियोंने उसे अनाथ होनेपर भी निश्चिन्त देखकर पूछा कि 'तुम्हारे माता-पिता तो मर गये अब तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा ?' लड़केने उत्तर दिया कि 'हमारे राजा बड़े दयालु हैं, वे स्वयं ही सारी व्यवस्था कर देंगे ।' यह बात गुप्तचरोंके द्वारा राजाके कानतक पहुँची । राजाने मन्त्रियोंके द्वारा उसका पता लगाया । मन्त्रियोंने कहा कि 'वह बालक बड़ा ही सुन्दर, सुशील, सदाचारी, धर्मात्मा, बुद्धिमान् और राजभक्त है । उसके माता-पिता मर गये हैं, इसलिये इस समय वह सर्वथा अनाथ हो गया है । अब उसे केवल आपका ही एकमात्र भरोसा है ।' राजाने पूछा कि 'उसके लिये क्या प्रबन्ध किया जाय ?' मन्त्रियोंने कहा—'जो सरकारकी इच्छा ।' राजाने उसके खान-पान और विद्याध्ययनके लिये प्रबन्ध करनेकी और रहनेके लिये मकान बनवा देनेकी आज्ञा दे दी । राजाकी इस उदारतासे मन्त्रीलोग बहुत प्रसन्न हुए । यह बात जब उस बालकके कानोंतक पहुँची तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहा । उसकी भक्ति राजामें और भी बढ़ गयी; साथ ही विश्वास भी दूना-चौगुना हो गया ।

एक दिन जब वह लड़का स्कूलमें पढ़ता था तो उसके किसी प्रेमी सहपाठीने आकर दुखी मनसे कहा कि 'भैया ! तुमसे ऐसा क्या अपराध हो गया है जो राजाके सिपाही तुम्हारी झोपड़ी तुड़वा रहे हैं ?' बालकने बहुत प्रसन्नतासे उत्तर दिया कि 'भाई ! राजाकी मुझपर बड़ी भारी दया है । सम्भव है वे झोपड़ीको तुड़वाकर मेरे लिये अच्छा मकान बनवा दें ।' यह बात भी गुप्तचरोंद्वारा राजातक पहुँची । राजाका प्रेम लड़केके प्रति और भी बढ़ गया । एक दिन राजाने अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'आपलोग जानते हैं, मैं अब वृद्ध हो चला हूँ । मेरे कोई

पुत्र नहीं है, इसलिये अब युवराजपद किसे दिया जाय ?' मन्त्रियोंने कहा 'जिसे सरकार योग्य समझें।' राजाने कहा कि 'मैंने तो उस अनाथ क्षत्रिय-बालकको, जिसकी आपलोग सदा प्रशंसा करते रहे हैं, इस पदके योग्य समझा है। आपलोगोंकी क्या सम्मति है ?' बस, इतना कहनेकी देर थी, तमाम मन्त्रियोंने एक स्वरसे कहा—'हाँ, सरकार, बड़ी अच्छी बात है। वह कुमार बहुत ही सुन्दर, सुशील, सच्चरित्र, बुद्धिमान् और धर्मात्मा है। वह सब प्रकारसे युवराजपदके योग्य है। हमलोगोंने भी उसीको इस पदके योग्य समझा है।' सबकी बात सुनकर राजाने उसे युवराज बनाना निश्चित कर लिया। यह बात राज्यके उच्चपदाधिकारियोंको भी विदित हो गयी। एक दिन कुछ बड़े-बड़े अफसर उस बालकके घर गये। बालकने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। अफसर बोले, 'आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है।' क्षत्रियकुमारने कहा—'क्यों नहीं। मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि सरकारकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है, तभी तो उन्होंने मेरे भोजन, वस्त्र, पठन-पाठन और जमीन-मकानका सब प्रबन्ध कर दिया है।' अफसर बोले—'इतना ही नहीं, आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है, इतनी कृपा है कि जिसे आप कल्पनामें भी नहीं ला सकते।' लड़का कहने लगा—'क्या महाराजा साहबने मेरे विवाहका खर्च देना भी मंजूर कर लिया ?' अफसरोंने कहा—'विवाह तो मामूली बात है, महाराजा साहबकी तो आपपर बहुत भारी दया है।' बालकने कहा—'क्या महाराजा साहब मुझे दो-चार गाँव देना चाहते हैं ?' अफसर बोल उठे—'यह भी कुछ नहीं।' बालकने पूछा—'बतलाइये न, क्या महाराजा साहबने दस-बीस गाँवोंकी जागीर देनेका निश्चय किया है ?' अफसर बोले—'सरकारकी आपपर इससे भी बहुत अधिक दया है।' बालकने कहा—'मैं तो इसके आगे कुछ नहीं जानता, आप ही बताइये कि क्या बात है ?' अफसरोंने कहा—'क्या कहें, हम सभी लोग सदा अपने ऊपर आपकी कृपा चाहते हैं।' बालकने कहा—'ऐसा न कहिये, मैं तो आप सबका सेवक हूँ, आपलोगोंकी कृपासे ही महाराजको मुझपर कृपा हुई है; महाराजा साहबकी विशेष दयाकी बात बतलाइये।' अफसरोंने कहा कि 'हमने तो आपको बता दिया कि हमलोग सदा आपकी कृपा चाहते हैं। क्या आप हमारे कथनका अर्थ नहीं समझे ?' कुमारने कहा—'कृपा करके स्पष्ट बतलाइये।'

वह बेचारा अनाथ बालक यह कल्पना भी कैसे करता कि महाराजा साहब मुझे अपने राज्यका उत्तराधिकारी बनाकर युवराजपदतक दे सकते हैं।

अफसर बोल उठे—'श्रीमान्‌ने आपको युवराज बनाया है।' सुनते ही बालक आश्चर्यमें भरकर बोल उठा—'युवराज बनाया है ?' अफसरोंने कहा—'जी हाँ ! युवराज बनाया है।' अब बालकके आनन्दका पार नहीं रहा। वह आनन्दमुग्ध हो गया।

यह तो दृष्टान्त है। इसे दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ भगवान् राजा हैं, साधक क्षत्रियबालक है, भगवद्भक्ति ही राजभक्ति है, साधकका 'योगक्षेम' ही खान-पान-मकान आदि व्यवस्था है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही मन्त्री है। दैवीसम्पदाप्राप्त मुमुक्षु पुरुष ऊँचे अफसर हैं और भक्तशिरोमणि कारक-पुरुषोंका सर्वोच्च पद ही युवराजपद है।

इस प्रकार जो साधक परमपिता परमात्माकी असीम दयाका अनुभव कर उसके प्रत्येक विधानमें पद-पदपर आह्लादित होता रहता है, वह इस अविनाशी युवराजपदका अधिकारी बन जाता है।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये उन सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु और सबके सुहृद् परमेश्वरको उनके स्वरूप, प्रभाव और गुणोंके सहित जाननेकी चेष्टा करें । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(५ । २९)

'मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर (मेरा भक्त) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

यहाँ इस श्लोकपर प्रश्नोत्तरके रूपमें विचार कीजिये ।

प्र०—यहाँ यज्ञ और तपसे क्या अभिप्राय है ? भगवान् श्रीकृष्ण उन सबके भोक्ता कैसे हैं और उनको भोक्ता जाननेसे मनुष्यको शान्ति कैसे मिलती है ?

उ०—अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन करना, देवता, ब्राह्मण और माता-पिता आदि गुरुजनोंको तथा दुखियोंकी सेवा, पूजा एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं उन सबका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दमें समझना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं, (गीता अध्याय १० । २०) अतः देवता, ब्राह्मण और दुखी आदिके शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हुए भगवान् ही सब सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं, इस कारण भगवान् ही वास्तवमें सब यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता अध्याय ९ । २४) भगवान्के प्रभावको न जाननेके कारण ही मनुष्य उन-उन देव-मनुष्यादिको यज्ञादि और सेवाके भोक्ता समझते हैं, इसी कारणसे वे अल्प फलके भागी होते हैं (गीता अध्याय ७ । २३) और उनको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती । किन्तु भगवान्का जो भक्त भगवान्के प्रभावको जानता है, उसकी दृष्टिमें भगवान् ही सबके आत्मा हैं । सब प्राणियोंमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण उनकी सेवा-पूजादि करते समय उसका यही भाव रहता है कि मैं देव, ब्राह्मण और दुखी आदि सब प्राणियोंके रूपमें भगवान्की ही सेवा-पूजा कर रहा हूँ । जो भक्त इस भावसे सेवा आदि कर्म करता है उसके आनन्द और शान्तिके विषयमें क्या कहना है ? मनुष्य जिसको कुछ भी उत्तम समझता है, जिसमें थोड़ी भी श्रद्धा और थोड़ा भी आन्तरिक सच्चा प्रेम होता है, जब उसीकी सेवा करनेमें उसे बहुत आनन्द और शान्ति मिलती है, तब फिर जो सबके रूपमें साक्षात् अपने परम प्रियतम भगवान्को पहचानकर उनकी श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा करता है, उसको कितना आनन्द और कितनी शान्ति मिलती है, इसका अनुभव तो वास्तवमें वही कर सकता है, जिसे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो ।

प्र०—भगवान्को 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना क्या है और ऐसा समझनेवालेको शान्ति कैसे मिलती है ?

उ०—इन्द्र, वरुण आदि जितने भी लोकपाल हैं भगवान् उन सबके भी स्वामी और नियन्ता हैं । अपनी मायाशक्तिद्वारा भगवान् ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं । इस प्रकार भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सबके नियन्ता और सर्वाध्यक्ष समझना ही उन्हें लोकमहेश्वर समझना है । ऐसा समझनेवाला भक्त सर्वथा निर्भय हो जाता है । शान्तिमें विघ्न करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु उसके निकट भी नहीं जा सकते । उसकी दृष्टिमें भगवान्से बढ़कर कोई न रहनेके कारण शान्ति और आनन्दके समुद्र

श्रीभगवान्‌में ही उसकी अटल स्थिति रहती है ।

प्र०—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् कैसे हैं, और उनको सुहृद् जाननेसे शान्ति कैसे मिलती है ?

उ०—सम्पूर्ण जगत्‌में भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌को प्राप्त न हो और जिसके लिये भगवान्‌का किसीसे कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध हो । भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं (गीता ३ । २२) । तथापि लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये वे सबके हितकी व्यवस्था करते हैं, एवं बारंबार अवतार धारण करके नाना प्रकारके दिव्य चरित्र करते हैं । उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का अनुपम हित भरा रहता है । भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी वे दया ही करते हैं । उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे खाली नहीं होता । इसीलिये भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं । किन्तु मनुष्य इस रहस्यको न समझनेके कारण, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें राग-द्वेष करके सुखी-दुखी होते रहते हैं । इसी कारण उनको शान्ति नहीं मिलती । जो भक्त उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सबका सुहृद् समझ लेता है, वह प्रत्येक अवस्थामें, जो कुछ भी होता है, उसे दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे भरा हुआ मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है । इसीसे उसे अटल शान्ति मिल जाती है, उसकी शान्तिमें किसी तरहकी बाधा पड़नेका कोई कारण ही नहीं रह जाता । संसारमें जो लोग किसी महाशक्तिशाली राजाधिराजको अपना सुहृद् समझते हैं, यद्यपि न तो वह राजा स्वार्थरहित होता है और न वह सर्वशक्तिमान् ही होता है, तो भी वे अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझकर एक तरहसे आनन्दमें मग्न और निर्भय-से हो जाते हैं । फिर जो साक्षात् सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परम प्रेमी, परम दयालु और अनन्त गुणोंके समुद्र परमेश्वरको अपना सुहृद् समझ लेता है, वह सदा आनन्द और शान्तिमें निमग्न रहे, इसमें तो कहना ही क्या है ।

प्र०—इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महेश्वर और समस्त प्राणियोंका सुहृद् इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, उसीको शान्ति मिलती है, या इनमेंसे किसी एकसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल सकती है ?

उ०—इनमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त भगवान्‌को समझनेवालेको भी शान्ति मिलती है और भगवान्‌की दयासे वह साधन करते-करते भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव और गुणोंको समझकर पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो जाता है । परन्तु जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे युक्त भगवान्‌को जान लेता है, वह तो तुरंत ही शान्तिको प्राप्त हो जाता है, यही विशेषता है ।

प्र०—भगवान् सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंके भोक्ता, सब लोकोंके महेश्वर और सब भूतोंके सुहृद् हैं, इस बातको समझनेका क्या उपाय है ? किस साधनसे मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव और गुणोंको भलीभाँति समझकर उनमें पूर्ण श्रद्धासम्पन्न हो सकता है ?

उ०—श्रद्धापूर्वक महापुरुषोंका संग करनेसे तथा सत् शास्त्रोंका श्रवण-मनन करनेसे और भगवान्‌के शरण होकर उत्सुकतापूर्वक उनसे प्रार्थना करनेसे, उनकी दयासे ही मनुष्य इस बातको भलीभाँति समझ सकता है ।

प्र०—यहाँ 'माम्' शब्द किसका वाचक है ?

उ०—जो परमेश्वर अज, अविनाशी, सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी समय-समयपर अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके लीला करनेके लिये योगमायासे संसारमें अवतरित होते हैं, जिन्होंने श्रीकृष्णरूपमें अवतरित होकर अर्जुनको उपदेश दिया था, उन्हीं

निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार और अव्यक्त-व्यक्त-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार समग्र परमेश्वरका वाचक यहाँ 'माम्' शब्द है ।

प्र०—शान्तिको प्राप्त होना क्या है ?

उ०—जिसे परम शान्ति, नैष्ठिकी शान्ति, निर्वाणपरमा शान्ति और मुक्ति कहते हैं, उसे प्राप्त होना ही शान्तिको प्राप्त होना है । इसीको परम-पदकी प्राप्ति, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्माकी प्राप्ति भी कहते हैं ।

उपर्युक्त श्लोकमें 'भोक्तारं यज्ञतपसां' यह विशेषण परमात्मा ही सबके आत्मा हैं इस भावका वाचक होनेसे उनके सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामीस्वरूपका निर्देश करता है । 'सर्वलोकमहेश्वरम्' यह विशेषण परमात्मा ही सबके स्वामी हैं इस भावका द्योतक होनेसे उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वैश्वर्य और अपरिमित प्रभावको बतलाता है, और 'सुहृदं सर्व-भूतानां' यह विशेषण परमात्मा बिना ही कारण सब भूतोंके परम हितैषी हैं, इस भावका बोधक होनेके कारण उनकी अपार और अपरिमित दया, प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणोंका प्रकाशक है ।

ऐसे दयासिन्धु भगवान्की शरण होकर उनके गुण, प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जानने एवं उन्हें प्राप्त करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये ।

'हे नाथ ! आप दयासागर, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर और सर्वशक्तिमान् हैं, आपकी किञ्चित् दयासे ही सम्पूर्ण संसारका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है, फिर हम-जैसे तुच्छ जीवोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिये हम आपको साष्टाङ्ग प्रणाम करके सविनय प्रार्थना करते हैं कि हे दयासिन्धो ! हमपर दयाकी दृष्टि कीजिये जिससे हमलोग आपको यथार्थरूपसे जान सकें । यद्यपि आपकी सबपर अपार दया है किन्तु उसका रहस्य न जाननेके कारण हम सब उस दयासे वञ्चित हो रहे हैं अतएव ऐसी कृपा कीजिये जिससे हमलोग आपकी दयाके रहस्यको समझ सकें । यदि आप केवल दयासागर ही होते, और अन्तर्यामी न होते तो हमारी आन्तरिक पीड़ाको नहीं पहचानते किन्तु आप तो सबके हृदयमें विराजमान सर्वान्तर्यामी भी हैं, इसलिये आपके वियोगमें हमारी जो दुर्दशा हो रही है उसे भी आप जानते हैं । आप दयासागर और सर्वान्तर्यामी होकर भी यदि सर्वेश्वर और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं होते तो हम आपसे अपने कल्याणके लिये प्रार्थना नहीं करते परन्तु आप तो सर्वलोकमहेश्वर और सर्वशक्तिमान् हैं इसलिये हमारे-जैसे तुच्छ जीवोंका इस मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करना आपके लिये अत्यन्त साधारण बात है ।

हम तो आपसे यही चाहते हैं कि आपमें ही हमारा अनन्य प्रेम हो, हमारे हृदयमें निरन्तर आपका ही चिन्तन बना रहे और आपसे कभी वियोग न हो । आप ऐसे सुहृद् हैं कि केवल भक्तोंका ही नहीं परन्तु पतित और मूर्खोंका भी उद्धार करते हैं । आपके पतितपावन, पातकीतारण आदि नाम प्रसिद्ध ही हैं इसलिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सदाचारसे हीन हम-जैसे मूढ़ और पतितोंका उद्धार करना आपका परम कर्तव्य है ।'

एकान्तमें बैठकर इस प्रकार सच्चे हृदयसे करुणा-भावसे गद्गद होकर उपर्युक्त भावोंके अनुसार किसी भी भाषामें प्रभुसे प्रार्थना करनेपर भगवत्कृपासे गुण, प्रभाव और तत्त्वसहित भगवान्को जानकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है इस बातको भगवान् ही जानते हैं । या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं । आजतक जगत्‌में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं; न कोई कह सकता है और न कह सकेगा । यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है, या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है । ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के जितने वर्णन जगत्‌में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं। क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है । अनन्त आकाशमें जैसे सभी मठाकाश, घटाकाश समाते हैं । किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है, क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है अतएव वह जगत् ही है परन्तु यह बात नहीं कि जगत् वह गाँव ही है । फिर जगतका तो वर्णन हो भी सकता है, क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा आकलन करने योग्य है, परन्तु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, इसीलिये वेद उन्हें 'नेति नेति' कहकर चुप हो जाते हैं । निर्गुण अक्षरब्रह्म, विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा प्रकृतिरूप जीवात्मा, अपरा प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप कर्म, व्यक्त जगत्‌का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव, और इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ —ये सब उस नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विशेष भाव हैं, या उसके आंशिक प्रकाश हैं । अवश्य ही स्वभावसे हो पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं । ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय भगवान्‌का वर्णन कौन कर सकता है ?

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ४-५)

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं; मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पन्न और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ ।'

भगवान्‌के इस कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ; सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं है ।' इस कथनका कोई अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता । इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार' का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है । परन्तु यही तो भगवान्‌का 'ऐश्वरयोग' है । हमारी विषयविमोहित जडबुद्धि इसे कैसे जान सकती है ! हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्‌के लिये वह सब कुछ सम्भव है । भगवान्‌में सब विरोधोंका समन्वय है । इसीलिये तो भगवान्‌का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्‌के लिये सत्यरूपसे लागू होता है ।

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त, और

निराधार होते हुए ही सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है—भगवान्की ही परा और अपरा प्रकृति हैं। इन दो प्रकारकी प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं, वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं, वे ही सबका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोक-महेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं, और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं; क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्का यथार्थ स्वरूपज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिसपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं। और कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्का ऐश्वर्य-रूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप; परन्तु उनके पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब वह दिव्य प्रेमरूपमें परिणत होती है। जब भगवान्की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है। जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नामगुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है। इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है। तब भगवान् उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपमें—पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

भगवान्ने घोषणा की है कि मैं जैसा भक्तिसे शीघ्र मिलता हूँ, वैसा अन्य किसी साधनसे नहीं मिलता—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'जिस प्रकार मेरी अनन्य भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५३-५४)

'हे परन्तप अर्जुन! जिस प्रकारसे तुमने मुझको देखा है, इस प्रकारसे मैं न वेदोंसे (ज्ञानसे), न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। इस प्रकारसे मैं केवल अनन्य भक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ,

और अपनेमें प्रवेश करा सकता हूँ, अभिन्नभावसे अपने अन्दर मिला सकता हूँ।'

एक बात और है—ज्ञानके साधनमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरंजन, परम अज्ञेयतत्त्व हैं; और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्त्ता, पालन और संहारकर्त्ता, नियन्त्रणकर्त्ता प्रभु हैं, परन्तु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए ही भक्तके निज जन हैं। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है। भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्को केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म या सर्वलोक-महेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणों-के-प्राण और जीवनों-के-जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है। भगवान्के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सुहृदता, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य, और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार और उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं! जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी, भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्की दिव्य लीलाओंका आस्वादन करता है। और इसीके कारण भगवान्को जगत्के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है!

भगवान्का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिल्कुल खुला व्यवहार होता है। क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण—साकार और निर्गुण—निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्ने भक्तिकी इतनी महिमा गायी है और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं। और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, सोते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

> ब्यापक ब्रह्म निरंजन निरगुन बिगत बिनोद।
> सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद॥

कभी राधाजीके साथ झूला झूलते हैं—

> झूलत नागरि नागर लाल।
> मंद मंद सब सखी झुलावति गावति गीत रसाल॥

कभी माता-पिताकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

> प्रातकाल उठिके रघुनाथा। मात पिता गुरु नावहिं माथा॥
> आयसु माँगि करहि पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं। कहीं भक्तकी सेवा करते हैं, कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते हैं और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं। यह आनन्द भक्त और भगवान्में ही होता है। भक्त और भगवान्में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें

होतो हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं । और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते हैं । वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं । उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं । सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं । और मुक्ति ? मुक्ति तो ऐसे भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ॥

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है मोक्षसाम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कामके पत्र *

(१)

आत्मशक्तिमें विश्वासका फल

प्रिय भाई !

सप्रेम राम राम ।

तुम्हारा एक पत्र पहले मिला था, दूसरा फिर मिला । उत्तर देनेमें मुझसे सदा ही देर हो जाती है । स्वभावदोष है । तुम्हारे पत्रोंको मैंने ध्यान-पूर्वक पढ़ा । तुम बहुत घबरा रहे हो, और निराश और हतोत्साह होकर मानो चारों ओर अन्धकार देख रहे हो । असफलता, विपत्ति और आधि-व्याधिमें ऐसा होना स्वाभाविक है । परन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं । मनुष्यको कभी हतोत्साह और निराश नहीं होना चाहिये । गिरे हुए उठते हैं, दुर्बल सबल होते हैं, तिरस्कृत सम्मानित होते हैं और चारों ओर अन्धकार देखनेवाले प्रकाश पाते हैं । यह प्रकृतिका नियम है । कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष आता ही है, रातके बाद दिन होता ही है । अतएव तुम इतना घबराओ मत । निराश होकर सर्वथा अपनेको अकर्मण्य मानकर महान् आत्मशक्तिका तिरस्कार न करो । नित्यसंगी सर्वशक्तिमान् और तुम्हारे-हमारे अहैतुक प्रेमी परम सुहृद् भगवान्‌का अपमान न करो । भगवान्‌की घोषणा याद रक्खो ।

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥'
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरे प्रसादसे—अनुग्रहसे सब कठिनाइयोंसे तर जाओगे । जो अनन्य पुरुष मेरी भलीभाँति उपासना करते हुए मेरा अनन्य चिन्तन करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका 'योगक्षेम' मैं (स्वयं) वहन करता हूँ ।

अतएव तुम घबराओ नहीं । यह कभी मत सोचो कि हम तो गिरे हुए हैं, गिरे ही रहेंगे । उठेंगे ही नहीं । यह सोचना ही आत्माका और भगवान्‌का अपमान करना है । आत्मदृष्टिसे कहा जाय तो जो आत्मा भगवान् शंकराचार्य, बुद्धदेव, जनक, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदिमें थी, वही तुम्हारेमें है । सुप्त आत्मशक्तिको जाग्रत् करना तुम्हारे हाथ है । भगवान्‌के बलपर निराशा, निरुत्साह, कायरता,

* गतांकमें तीन पत्र प्रकाशित किये गये हैं, इस अंकमें पुनः तीन छापे जाते हैं । पाठकोंको कामके लगे तो आगे भी छप सकते हैं ।—सम्पादक

दीनता छोड़कर साधनमें लगे रहो। आत्माकी अनन्त शक्तिपर विश्वास करो। जो मनुष्य आत्मशक्तिपर विश्वास करके काममें जी-जानसे जुट जाता है—सफलताके बारेमें कभी सन्देह नहीं करता, उसके लिये अपने-आप ही सफलताका मार्ग सुन्दर प्रकाशमय और कुशकण्टकहीन बनता जाता है और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसका अनुभव, उसकी कार्यकरी शक्ति, उसका ज्ञान, उसकी क्षमता, उसका साहस और उल्लास बढ़ता चला जाता है। परन्तु जो आत्मशक्तिमें या भगवान्‌के बलमें सर्वथा अविश्वास करके निराश होकर बैठ जाता है, कुछ भी करनेमें अपनेको नितान्त असमर्थ समझता है, उसका ब्रह्मा भी नहीं उठा सकते। वह विषादमय जीवन ही बिताता है। सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी वह सब प्रकारसे वञ्चित रह जाता है!

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम।' रामकी कृपासे और आत्माकी शक्तिसे क्या नहीं हो सकता? इनके लिये कोषमें 'असम्भव' शब्द ही नहीं है। तुम जो अपनेको अब किसी कामका नहीं मानते हो, सब ओरसे आश्रय और सहानुभूतिसे रहित मानते हो; बस, तुम्हारे विषादका यही कारण है। निर्धनतासे विषाद नहीं होता, यह तो आत्मग्लानिसे ही होता है। तुम्हारे शोकरहित होनेकी शक्ति तुम्हारे साथ भगवान्‌ने पहलेसे ही दे रक्खी है, वह नित्य तुम्हारे साथ रहती है। तुम्हारे अंदर ही है। उसके रहते तुम अपनेको निराश्रय और सहानुभूतिसे रहित क्यों मानते हो? वही तो सच्चा और पक्का आश्रय है, जो बुरी-से-बुरी हालतमें भी साथ नहीं छोड़ता। भय, विभीषिका, वियोग, विषाद और विनाशमें भी जो साथ ही रहता है। तुम्हारे प्रत्येक दुःखमें जो दुःखका अनुभव करता रहता है, उस महामहिम नित्य आश्रयको बिसारकर ही तुम दुखी हो रहे हो। तुम इसी अवस्थामें आज ही सुखी हो सकते हो, यदि उसे देख पाओ—उसका अनुभव कर सको। तुमने मेरे लिये लिखा कि 'आप सर्वशक्तिमान् हैं, सब जगह आपका निवास है; यह हमारा पक्का विश्वास है। हम अब केवल आपके ही शरण हैं, आपको ही अपनेको अर्पण करते हैं। हमारा रास्ता आप ही कीजिये।' सो भैया! यह तुम्हारा पागलपन है। आत्माकी दृष्टिमें मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी मानते हो तब तो ठीक ऐसे ही तुम भी हो। अन्य किसी दृष्टिसे मानते हो तो तुम्हारा सर्वथा भ्रम है, इस भ्रमको तुरंत छोड़ दो, इससे कोई लाभ न होगा। उन परमात्माके शरण जाओ जो वस्तुतः सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वलोकमहेश्वर होते हुए ही तुम्हारे हमारे सबके परम सुहृद् हैं। अपना सब कुछ उन्हींके अर्पण कर दो। अपने सुख-दुःख भी उन्हें सौंप दो। सब अर्पण करनेवालेके पास दुःख, निराशा, उदासी, अन्धकार ये सब कहाँ रह जायँगे? ये रहेंगे तो सब अर्पण कैसे हुआ? अतएव उन्हें इन सबको भी दे दो। कह दो—अच्छा-बुरा सब तुम्हारा। जब हमी तुम्हारे हो गये तो इस हमारी बुराईको हम कहाँ रक्खें। वे दयालु प्रभु तुम्हारे अच्छे-बुरे सारे उपहारोंको अपनी कृपाकी नजरसे परम पवित्र और परम दिव्य बनाकर ग्रहण कर लेंगे। उनकी दयापर विश्वास करो। समस्त बल, समस्त ऐश्वर्य, समस्त श्री, समस्त धर्म, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्यके वे भण्डार हैं। और अपने सारे ऐश्वर्यसे, सारे माधुर्यसे, सारी शक्तिसे तुम्हें अपनानेको सदा तैयार हैं। उनकी शरण जाओ, वे तुमपर अपना दिव्य अमृत-कलश उँडेलकर तुम्हें निहाल कर देंगे! घबराओ नहीं, निराश न होओ, वे तुम्हारे हैं, इस बातपर पूर्ण विश्वास करो और अपने भविष्यको उज्ज्वल—परम उज्ज्वल

देखो। उनकी कृपासे तुम्हारा भविष्य इतना उज्ज्वल हो सकता है जितनेकी तुम कल्पना नहीं कर सकते।

यदि तुम्हें मुझपर कुछ भी विश्वास है तो तुम मेरी उपर्युक्त बातोंपर विश्वास करके अनन्त आत्मशक्तिपर, और परम सुहृद् भगवान्‌की अपार कृपापर विश्वास करके शोक, विषाद, निराशा और निरुत्साहको छोड़कर उनके चरणोंका स्मरण करते हुए निश्चयपूर्वक उनके शरणकी ओर बढ़ चलो। अगर तुमने ऐसा किया तो मैं भी तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल ही नहीं, उज्ज्वलतम हो सकता है और उसकी प्रभाको पाकर बहुत दूर-दूरके लोग प्रकाश पा सकते हैं।

हमेशा भगवान्‌का चिन्तन करो। चित्तमें प्रसन्न रहो और आनन्दपूर्वक आगे बढ़ते चलो। शुद्ध नीयतसे कर्म करते रहो। भगवान् सब आप ही ठीक करेंगे!

(२)

सच्चा धन

तुम्हारा पत्र मिला, सब समाचार जाने। भैया! देखो, भगवान् सर्वत्र हैं, सब समय हैं; उनको देखो। उनकी दया सब ओर सर्वदा बरस रही है, जाओ, उसमें नहा लो! शोक, चिन्ता, विषाद, भय, निराशा और आलस्यको छोड़ दो। भगवान्‌की सन्निधिमें ये कहीं रह ही नहीं सकते। संसारके भोगोंमें—धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिके मोहमें ज्यादा मन फँसो। फँसोगे—रोना पड़ेगा। फँसे हो, इसीलिये रोते हो। इनके हानि-लाभमें शोक-हर्ष न करो। मूर्ख ही सांसारिक भोगोंके आने-जानेमें हँसते-रोते हैं। पद-पदपर भगवान्‌को, और भगवान्‌की दयाको देखो। शरद्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीकी तरह भगवान्‌की दया सर्वत्र छिटक रही है। शरीर कुछ बीमार है, दवा लेते हो सो ठीक ही है। बड़ी बीमारी तो भवरोग है। इस शरीरका रोग कदाचित् एक बार मिट भी गया तो क्या होगा। मौतके मुँहसे कदापि नहीं बच सकोगे। भवरोगका नाश करो, उस लंबे रोगकी जड़ काट दो। फिर नित्य निरामय हो जाओगे। कोई रोग रह ही नहीं जायगा। यह मत खयाल करो कि हम बड़े पापी हैं; हमें भगवान् कैसे अपनावेंगे? उनका द्वार सबके लिये खुला है। दीनोंके लिये विशेषरूपसे! जो पूर्वकृत पापोंके लिये पछताते हैं और अपनेको पापी-अनधिकारी तथा दीन मानकर भगवान्‌के चरणोंमें जाते डरते हैं, भगवान् उन्हें आकर ले जाते हैं; परन्तु जो पुण्यके घमंडमें भगवान्‌के द्वारपर जाकर भी ऐंठे रहते हैं, उनके लिये खुले द्वार भी बंद हो जाते हैं। भगवान्‌को दैन्य प्रिय है, अभिमान नहीं! इसलिये जहाँतक बने, धनका और इज्जतका अभिमान छोड़कर सबका सम्मान करो। तुम्हारे अन्दर यह एक दोष है। तुम कभी-कभी धनके कारण अपनेको दूसरोंसे कुछ बड़ा मान लेते हो; इससे तुम्हारे पारमार्थिक पथमें बाधा आ जाती है। धन भी कोई महत्त्वकी चीज है? यह तो राक्षसोंके पास बहुत ज्यादा था। रावणके तो सोनेकी लंका थी। सच्चा धन तो श्रीभगवान्‌का भजन है। उसीको इकट्ठा करो। यही धन तुम्हारे काम आवेगा। संसारी ईंट-पत्थरके धनको तो, जहाँतक बने, भगवान्‌की सेवामें लगा दो। उसे अपना मानकर क्यों फँस रहे हो। मेरी बात मानो तो नीचे लिखी सात बातोंपर विशेष ध्यान रक्खो—

१ किसी प्राणीसे घृणा या द्वेष न करो।
२ किसीकी निन्दा न करो।
३ धनके कारण अपनेको कभी ऊँचा मत समझो।
४ भगवान्‌की दयाका अनुभव करो।
५ दुःखमें उनकी दयाका विशेष अनुभव करो।
६ सुखमें उन्हें भूलो मत, और
७ सदा-सर्वदा उनके स्वरूपके चिन्तन और नामके जपका अभ्यास करो।

(३)

पापोंके नाशका उपाय

सम्मान्य महानुभाव !

सप्रेम हरिस्मरण । आपने लिखा कि 'चेष्टा करनेपर भी पापकी वृत्ति नहीं छूटती,—बार-बार पापका भयानक फल भोगनेपर भी वृत्ति न मालूम क्यों पापकी ओर चली जाती है । जिस समय पापवृत्ति होती है, मन काम-क्रोधादिके वशमें होता है, उस समय मानो कोई बात याद रहती ही नहीं । इसका क्या कारण है, और इस पाप-प्रवृत्तिसे किस प्रकार पिण्ड छूट सकता है, लिखिये ।'

आपका प्रश्न बड़ा सुन्दर है । यद्यपि मैं स्वयं सर्वथा निष्पाप नहीं हूँ । इसलिये आपके प्रश्नका उत्तर देनेका अधिकारी तो नहीं हूँ तथापि मित्रभावसे जो कुछ मनमें आता है, लिखता हूँ । जबतक पापकी कोई स्मृति भी होती है, जबतक पापकी बात सुनने-समझनेमें जरा भी मन खिंचता है और जबतक काम-क्रोधका कुछ भी असर चित्तपर हो जाता है तबतक बाहरसे कोई पाप कतई न होनेपर भी मनुष्य अपनेको सर्वथा निष्पाप नहीं कह सकता ।

अर्जुनने गीतामें भगवान्‌से पूछा था—'भगवन् ! मनुष्य चाहता है कि मैं पाप न करूँ, वह पापसे अपनेको बचानेकी इच्छा करता है, फिर भी उससे पाप हो ही जाते हैं, मानो कोई अन्दर बैठा हुआ जबर्दस्ती उसे पापमें लगा रहा हो, बताइये, वह अंदरसे पापके लिये तीव्र प्रेरणा करनेवाला कौन है ?'

(गीता ३ । ३६)

भगवान्‌ने हँसकर कहा, 'दूसरा कोई नहीं है, आत्मशक्तिको भूलकर मनुष्य जो रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न कामनाको मनमें स्थान दे देता है, यह काम ही क्रोध बनता है और यही कभी न तृप्त होनेवाला और महापापी बड़ा वैरी है जो अंदर बैठा हुआ पापके लिये तीव्र प्रेरणा करता है । जैसे धूएँसे आग और मलसे दर्पण ढक जाता है, और जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है वैसे ही इस कामसे ज्ञान ढका रहता है । यह सदा अतृप्त रहनेवाला काम ही ज्ञानियोंका नित्य शत्रु है । यही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबमें अपना प्रभाव विस्तार करके—सबको अपना निवास-स्थान बनाकर इन्हींके द्वारा ज्ञानपर पर्दा डलवाकर जीवको मोहमें डाले रखता है । इसीसे सारे पाप होते हैं ।'

(गीता ३ । ३७-४०)

यह ज्ञान-विज्ञानको नाश करनेवाला 'काम' रहता है—इन्द्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें होकर ही यह मन बुद्धिमें जाता है । इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये । इन्द्रियाँ यदि कामको अपने अंदरसे निकाल देंगी तो 'काम' जरूर मर जायगा । (गीता ३ । ४१)

परन्तु कठिनता तो यह है कि हमलोगोंने अपनेको इतना दुर्बल मान रक्खा है कि मानो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना हमारे लिये कोई असम्भव व्यापार है । याद रखिये, पाप वहींतक होंगे, इन्द्रियाँ वहींतक बुरे विषयोंको ग्रहण करेंगी, मनमें वहींतक कुविचारोंके संकल्प-विकल्प होंगे, और बुद्धि वहींतक 'कु' के लिये अनुमति देगी, जहाँतक आत्मा न जाग उठे । भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(गीता ३ । ४२-४३)

'इन्द्रियाँ (स्थूल शरीरसे) श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह आत्मा है । इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे परे—सबका स्वामी, परम शक्तिसम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ जानकर बुद्धिको अपने वश करो और बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा इन्द्रियोंको वश

करके हे महाबाहो ! (बड़े बलवान् वीर !) कामरूपी दुर्जय शत्रुको मार डालो ।'

काम-शत्रु मारा गया कि पापोंकी जड़ ही कट गयी । और यह करना आपके हाथ है । बिना आत्मा-की अनुमतिके पाप नहीं हो सकते । आत्मा अपनेको कमजोर मानकर बुद्धिपर सब छोड़ देता है, बुद्धि मनपर और मन इन्द्रियोंपर निर्भर करने लगता है । इन्द्रियाँ अन्धे घोड़ोंकी तरह जब निरंकुश होकर विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मनरूपी लगाम, बुद्धिरूपी सारथी और आत्मारूपी रथी शरीररूपी रथके साथ ही उनके साथ खिंचे चले जाते हैं, और पापरूपी महान् गड्ढेमें पड़कर या पहाड़से टकराकर बहुत दिनोंके लिये बेकाम हो जाते हैं और पड़े-पड़े नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं । इन सब दुःखोंसे छुटकारा अभी हो सकता है यदि भ्रमवश अपनेको कमजोर मानकर बुद्धि-मन-इन्द्रियोंके वश हुआ आत्मा इस मिथ्या पराधीनताकी बेड़ीको तोड़कर इनका स्वामी बन जाय और इन्हें जरा भी कुमार्गमें न जाने दे । बलपूर्वक रोक दे । आत्मामें यह अजेय शक्ति है । आत्माकी जागृति होनेपर उसकी एक ही हुंकारसे यह काम हो सकता है ।

आप यह निश्चय समझिये—आप सर्वशक्तिमान् आत्मा हैं, आपमें बड़ा बल है । संसारके किसी भी पाप-तापकी शैतानी शक्तियाँ आपका सामना नहीं कर सकतीं । आप अपने स्वरूपको भूले हुए हैं, इसीसे अकारण दुःख पा रहे हैं । राजराजेश्वर होते हुए ही गुलामीकी जंजीरमें अपनी ही भूलसे बँध रहे हैं । इस बेड़ीको तोड़ डालिये । फिर पापवृत्ति आपके मनमें आवेगी ही नहीं । आत्मामें नित्य ऐसा निश्चय कीजिये । 'काम-क्रोध मेरे मनमें नहीं रह सकते । मेरे मनमें प्रवेश नहीं कर सकते । मेरे मनके समीप भी नहीं आ सकते । पाप मेरे समीप आते ही जल जायँगे । मैं शुद्ध हूँ, निष्पाप हूँ, अपार शक्तिशाली हूँ । पापोंकी और पापोंके बाप कामकी ताकत नहीं जो यहाँ आ सकें । आप विश्वास कीजिये यदि आपका निश्चय पक्का होगा तो आप काम-क्रोधसे और पापोंसे सहज ही छूट जायँगे । रोज प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, मैं निर्विकार विशुद्ध आत्मा हूँ । मुझमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और उनसे होनेवाले कोई पाप हैं ही नहीं । अब मैं इनको कभी अपने समीप नहीं आने दूँगा, नहीं आने दूँगा, नहीं आने दूँगा । ये मेरे पास आ ही नहीं सकते !'

हो सके तो निम्नलिखित पाँच बातोंपर ध्यान रखिये । आपके पाप सहज ही मिट जायँगे ।

१ आत्मशक्तिसे रोज आत्मामें निश्चय कीजिये कि काम-क्रोध और पाप मेरे समीप नहीं आ सकते ।

२ रोज ऐसा निश्चय कीजिये कि आत्माके आत्मा सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्मा नित्य मेरे साथ है । उनकी उपस्थितिमें पाप-ताप मेरे समीप आ ही नहीं सकते । और परमात्माको नित्य अपने साथ अनुभव कीजिये ।

३ भगवान्के नामका जाप कीजिये और ऐसा निश्चय कीजिये कि जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम आ जाता है, उसके सारे पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं । मैं भगवान्का नाम लेता हूँ अतः मुझमें न तो पाप रह सकते हैं और न मेरे समीप ही आ सकते हैं ।

४ नित्य स्वाध्याय—सद्ग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और आत्मशक्तिसम्पन्न तथा भगवान्के विश्वासी और प्रेमी दैवीसम्पदावाले पुरुषोंके जीवनचरित्र पढ़िये और उनके उपदेशोंका मनन कीजिये ।

५ किसी भी इन्द्रियसे, मनसे या बुद्धिसे किसी प्रकारसे भी कुसङ्ग जरा भी न कीजिये । इन्द्रिय, मन, बुद्धिको अवकाश ही न दीजिये जिसमें वे सत्को छोड़कर 'सु' को त्यागकर कभी 'असत्' या 'कु' का स्मरण भी कर सकें—कामकी ओर ताक भी सकें ।

पूर्णमदः पूर्णमिदम्

(लेखक—पं॰ श्रीधर्मदेवजी शास्त्री दर्शनकेसरी)

मैं समुद्रके कूल खड़ा हूँ।

ऊपर देखूँ तो अनन्त नभ
नीचे भी वारिधिका नहि अन्त।
पक्षी होकर, उड़ जाऊँ क्या?
रत्नाकर क्या बन पाऊँगा?
मानसकी इस विचिकित्सामें
बस कुछ भी तो नहीं बढ़ा हूँ ॥ १ ॥ मैं समुद्रके—

दो अनन्तके बीच सान्त हूँ
मैं फिर भी क्योंकर गर्व करूँ।
अपने कश्मल इस अन्तरको
प्रतिदिन पापोंसे और भरूँ।
इसीलिये तो जगमें निश्चय
अवनतिहीके गर्त पड़ा हूँ ॥ २ ॥ मैं समुद्रके—

देखो सागर उमड़ रहा है
मुझको अनन्त रस लहरीमें
लेनेको मानो उछल रहा है।
पूर्ण तत्त्वसे बिलकुल अविदित
विस्मृतिके घन वनसे आवृत।
मैं तो बस ठूँठ ठड़ा हूँ ॥ ३ ॥ मैं समुद्रके—

मानवताका चरम प्रकर्ष
देवत्व लाभ करना है बस।
फिर इससे भी आगे बढ़कर
भूमा स्वरूपकी प्राप्ति सुखद।
पूर्ण उदधिसे शिक्षा लेकर
उस अनन्तकी ओर जड़ा हूँ ॥ ४ ॥ मैं समुद्रके—

मैं रत्नोंका नाम न जानूँ
पण्डित बस अपनेको मानूँ।
पोथी ही सर्वस्व नहीं है
रत्नोंकी खनि और कहीं है।
अपनेको कुछ पढ़ा समझकर
ज्ञानोदन्वत्से दूर पड़ा हूँ ॥ ५ ॥ मैं समुद्रके—

—❦—

वंशीकी टेर*

(लेखक—श्रीरैहाना तैयबजी)

[एकाङ्की नाटक]

पात्र

वसन्तराव (पति)
सुशीला (पत्नी)
बालकृष्ण (पुत्र)

प्रथम दृश्य

[एक बड़ा-सा कमरा, सुन्दर, हवादार, साफ-सुथरा, हिन्दुस्तानी ढंगसे सजाया हुआ। खिड़कीके पास एक इकतारा खूँटीसे लटका हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, दत्तात्रेय, शिव और पार्वती आदिके सुन्दर चित्र दीवालमें लगे हुए हैं। दरवाजेके सामने एक हिंडोला डाला हुआ है। हिंडोलेपर एक स्त्री सिर नीचे किये हुए तथा आहें भरती हुई लेटी है।]

वसन्तरावका प्रवेश

वसन्तराव—सुशीला ! सुशीला !

सुशीला—हा राम ! हा राम !

वसन्तराव—सुशीला ! यह क्या ? कहो भी तो, क्या बात हुई ?

सुशीला—(उठकर बिखरे बालोंको सँभालती हुई) हुआ क्या ? पूछो अपने लड़केसे। (अपने हाथोंसे अपने मुँहको ढँक लेती है) हाय ! मैं अभागिनी क्या यही देखनेके लिये आजतक जीती रही ? हा नाथ !

वसन्तराव—क्यों ? उस लड़केने किया क्या ?

सुशीला—उसकी बातोंसे मेरा हृदय टूक-टूक हो रहा है ! कितनी सुन्दर लालसाएँ थीं, कितनी सुन्दर कामनाएँ; और परिणाम उसका यह ?

वसन्तराव—अरी बावरी ! तुम कितनी भोली हो ! तुम्हारी अभिलाषाएँ और प्रार्थनाएँ प्रभुने कब न सुनीं ? उसीकी दयासे तुम्हें दो पुत्र-रत्न प्राप्त हैं।

सुशीला—(कुछ तीखे स्वरमें) हाँ, हाँ; उन दोमेंसे एक-पर बम्बईमें न जाने क्या बीत रही है और यह दूसरा···

वसन्तराव—(स्नेहभरे शब्दोंमें) देवि ! ऐसा कहना तुम्हें शोभा नहीं देता। रामके सम्बन्धमें अभी हमलोगोंको कुछ भी पता नहीं है। मैंने उसके मालिकको तार दिया है। आज-कलमें वहाँसे कोई-न-कोई खबर मिलेगी। फिर नाहक तुम इतना दुखी क्यों हो रही हो ?

सुशीला—सच है, पुरुषोंको हृदय नहीं होता। काश तुम समझ पाते कि मैं क्यों दुखी हो रही हूँ। बम्बईमें जो इतना भयानक दंगा हो रहा है, एक दूसरेकी जानका गाहक हो रहा है, छूरे और तलवारें चल रही हैं और हमारा दुलारा राम वहीं, उसी शहरमें है, इधर कई दिनोंसे उसका कोई पत्र नहीं आया ! अइ, मेरा लाड़ला राम ! कोई भी दिन ऐसा खाली नहीं जाता था जब उसने एक पत्र न डाला हो ! इससे भी बढ़कर चिन्ताकी कोई बात हो सकती है ? और इस जलेपर नमक छिड़कनेके लिये यह जो बालकृष्ण है वह मेरे परम आराध्य भगवान्‌का, मेरे एकमात्र आश्रय, मेरी एक-मात्र आशा, मेरे एकमात्र अवलम्बन मेरे प्राणप्रिय प्रभुका रात-दिन अपमान और अनादर किया करता है। कभी कुछ कह जाता है कभी कुछ। जो वस्तु मुझे मेरे प्राणोंसे भी प्रिय है, जो मेरे लिये परम पवित्र है, जिसके चरणोंमें चारों ओरसे निराश्रित हो चुकनेपर मैं सदासे आश्रय पाती आयी हूँ उसी मेरे हृदयधनको वह अनुचित शब्दोंसे अपमानित करे यह मैं कैसे सहूँ ? सच कहती हूँ—मुझे रामके शरीरकी उतनी चिन्ता नहीं है जितनी बालकृष्णकी आत्माकी। भय और क्रोध—झूठे धर्मके आवेशमें आकर लोग पागल हो जाते हैं, फिर वे उचित-अनुचितका विचार नहीं करते, क्रूर हो जाते हैं, परन्तु उससे भी अधिक क्रूर वह है जिसे भगवान्‌में श्रद्धा और विश्वास नहीं है।

वसन्तराव—सुशीला ! मालूम होता है दुःखोंने तुम्हारे हृदयको क्षुब्ध कर दिया है, नहीं तो इतनी जल्दी तुम अपनी शान्ति खो नहीं बैठती। बाल कितना हठी है यह मैं जानता हूँ। परन्तु सोचो तो सही, बालको

---

* सच्ची घटनाके आधारपर पात्रोंके नाम बदलकर लिखा गया है।

कितनी बड़ी आँधीका सामना करना पड़ा है और इस स्थितिमें वह जैसा कुछ है उससे तुम्हें बहुत दुखी या त्रस्त नहीं होना चाहिये। इतना ही नहीं, उसे पैर टिकानेके लिये सहारा भी तो कहीं मिल नहीं रहा है। वह संशयके समुद्रमें डूब-उतरा रहा है। उसे सहो सुशीला ! आजके नवयुवकोंसे वह बहुत बुरा नहीं है। तुम्हें शायद विश्वास न हो, आजकलके युवकोंमें भगवान्‌के प्रति, प्राचीन संस्कृति और शीलाचारके प्रति आस्था है ही नहीं और उन्हें संसारमें कोई भी ऐसी नयी वस्तु नहीं दीखती जिसमें वे श्रद्धा-विश्वास कर सकें। इस कारण उनका जीवन अशान्त है, दुखी है, क्षुब्ध है। विश्वासके बिना मनुष्य जी कैसे सके, आस्थाके बिना संसारमें जीवन असम्भव ही है—वह आस्था कहीं किसी भी वस्तुमें हो। परन्तु इन्हें समय सिखलायेगा। डरनेकी कोई बात नहीं, चिन्ताका कोई कारण नहीं। अपना बाल भी सीखेगा। यह एक ऐसी बात है जिसे प्रत्येक मनुष्यको सीखना ही पड़ता है। प्रभु सदासे, अनादिकालसे हमें ढूँढ़ रहे हैं और 'उन' का प्रेम-बाण एक ऐसा रामबाण है जो अपना निशाना कभी चूकता ही नहीं। सुशीला ! तुम तो यह जानती हो, अच्छी तरह जानती हो। क्यों ? (उसके बालोंको ठीक करते हुए) अच्छा, सुनो भी !

सुशीला–(आहें भरती हुई और सिर हिलाती हुई) हाय ! मैं कुछ भी सोच नहीं सकती, मेरी बुद्धि थक गयी है, विमूढ़ हो रही है। मैं क्या जानती हूँ, क्या नहीं जानती इसका मुझे ज्ञान नहीं है। मैं बस इतना ही जानती हूँ कि बालके व्यवहारसे मेरा चित्त अत्यन्त क्षुब्ध है; यह एक ऐसा भार है जिसे मेरा हृदय सह नहीं सकता।

वसन्तराव–(प्यारसे) सुशीला ! तुम्हारा विश्वास कहाँ उड़ गया ? तुम्हारी भक्ति कहाँ भाग गयी ? वह महामहिम प्रभु जो अपनी हथेलीपर त्रिभुवनको लिये फिरता है वही तुम्हारे पास खड़ा है, वही तुम्हें सँभाले हुए है। उसकी शक्ति अपार है। सौंप दो न उसके हाथोंमें अपना सारा भार !

सुशीला–(सहसा स्मृतिसे आलोकित होकर) 'वह'! वह मेरे पास खड़ा है और सहारा दिये हुए है ! अहा ! कितना सुन्दर, कितना मधुर ! प्राणनाथ ! आपके इन शब्दोंने मेरे प्राणोंमें नवजीवनका सञ्चार कर दिया ! आपके इन शब्दोंमें कैसा अपूर्व जादू है ! वह मेरे पास खड़ा है ! व··· ह मे···रे पा···स ख···ड़ा···है ! मेरे सर्वस्व ! मेरे प्राणाधार ! प्यारे !·········आपके इन शब्दोंने ही 'उन्हें' मेरे पास, अत्यन्त पास, अत्यन्त निकट ला दिया है···। अह ! कितने दयालु, कितने सहृदय ! (आनन्दातिरेकमें कभी हँसती है, कभी मुसकाती है) हाँ ! हाँ ! मेरे देव ! आपकी वाणीमें मैंने 'उस' की वंशी-ध्वनि सुनी ! अह ! नहीं तो मेरे अँधेरे हृदयमें विद्युत्‌का प्रकाश कहाँसे, किस जादूसे फैल गया ?

वसन्तराव–हाँ हाँ ! ठीक ही तो है ! जब सुशीला कवितामें बातें करने लगती है तो मैं समझ लेता हूँ कि वह अपने आप आनन्दमें है ! (कुछ छेड़ते हुए) अरी तुम कितनी भोली हो ! अभी एक क्षण पहले रो रही थी ! और दूसरे ही क्षण अब हँस रही हो !

सुशीला–(स्नेहार्द्र होती हुई) भोली, बावरी ! हाँ, हाँ भोली हूँ, बावली हूँ, पगली हूँ ! जो कुछ भी कह लीजिये ! और इसीलिये तो अपना सारा भार 'उन' पर दे सकती हूँ, दे सकी हूँ ! आपने मेरा जो नाम रक्खा है वह अक्षरशः सत्य है। (उसकी आँखोंकी ओर देखती हुई और उसकी शरारतभरी नजरसे चोट खाकर) चलो भी ! ये तुम्हारे शब्द थोड़े थे ? फिर हँस क्यों रहे हो ? कहीं ऐसा न समझ लो कि तुम्हारी बातोंसे यह सब अनुभव हो रहा है, तुम्हारा यह अभिमान मिथ्या है। रहने भी दो, तुम्हारी बातें मुझे पसंद नहीं, कतई पसंद नहीं। तुम्हारी हरेक हरकतमें शरारत भरी रहती है ! (झूठे क्रोधका नाट्य करती हुई) अपना बोझ उसपर डालूँ ? कैसी बात कहते हो ! क्या मेरा कृष्ण कुली है कि अपना सारा भार उसके सिर डालूँ। अच्छा, यह तो बतलाओ कि तुम यहाँ आ कैसे गये, क्या काम ?

वसन्तराव–(ठठाकर हँसते हुए) अरे ! सुशीला, सुशीला ! आज भी तुम वैसी ही नादान हो जैसी मैं तुम्हें ब्याहकर लाया था, उस दिन थी ! बीस वर्ष बाद भी तुम ज्यों-की-त्यों अल्हड़ ही रही !

सुशीला–महाराज ! मेरी उम्र उस समय पन्द्रहकी थी, आज मैं चालीसकी अधेड़ हूँ। आप कैसी हँसी कर रहे हैं। यह शरारत ठीक नहीं, मैं लड़ पड़ूँगी ! आपकी बात

कोई पतियावे कैसे ? यदि मैं मान लूँ तो मूर्ख बनूँ, न मानूँ तो अवज्ञा करनेवाली पत्नी समझी जाऊँ, और इस अवज्ञाके अपराधके कारण मुझे दूसरे जन्ममें बन्दर या सुग्गा होना पड़े ! (हँसती है) ठीक वैसी ही जैसी ब्याह लाये थे, वैसी ही भोली, वैसी ही बावली—वाह !

वसन्तराव–(मुसकुराता है, फिर गम्भीर बनकर उसकी ओर विस्मित दृष्टिसे देखते हुए) भक्तका ऐसा ही हृदय होता है ! क्या तुम वही सुशीला हो जो पाँच मिनट पहले रो रही थी ! (हिंडोलेको छूते हुए) यह हिंडोला अब भी तुम्हारे आँसुओंसे तर है ! और वही तुम जो पहले रो रही थी अब·················

सुशीला–हाँ, हाँ तो; मैं ही पहले रो रही थी और मैं ही अब हँस रही हूँ। सच तो है। क्या मैं नृशंस हूँ ? हृदयहीन हूँ ? मैं तो, सच मानिये विवश हूँ, सर्वथा विवश हूँ। आपने 'उन' का नाम लिया और उनका नाम सुनते ही मैं आतुर हो उठती हूँ, बेसुध हो जाती हूँ, बेसँभार हो जाती हूँ ! मैं राम और बालके लिये रो रही थी; परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों ही मेरे लिये हों ही नहीं क्योंकि 'वह' मेरे इतना पास खड़ा है, इतना 'अपना' हो गया है। ये दोनों ही मेरे एक दिनके खिलौने हैं और 'वह'······'वह' तो मेरा सदाका साथी है। वह और मैं–हम दोनों ही वृन्दावनमें खेले···वह और मैं—इतना निकट, इतना 'अपना' ! मेरी ओर ऐसी विस्मित दृष्टिसे क्यों देख रहे हो ?

वसन्तराव–कभी-कभी सुशीला, तुम मुझे डरा देती हो !

सुशीला–सो कैसे ? तुम भी तो वहाँ थे। मैं यदि एक गोपी थी, तो तुम थे एक गोप। हम दोनों ही मिलकर उसके साथ खेले ! उस समय तो तुम डरे नहीं, अब डरते क्यों हो ?

वसन्तराव–सुशीला ! यह सब तुम क्या कह रही हो ! तुम तो मुझे·········

सुशीला–(प्रेमप्लावित) हाँ; और जब कभी 'वह' दूर चला जाता, मैं 'उस' का पता नहीं पाती तो तुम्हें मेरे आँसुओं-पर दया आती, तुम पिघल पड़ते, उसके पास दौड़े हुए जाते और उसे मेरे लिये खींच लाते। (मुसकुराती हुई) वही पुरानी आदत अब भी तुममें है। क्यों है न यही बात ? बोलो, बोलो मेरे हृदयेश ! मेरे स्वामी !

वसन्तराव–'वह' आता है इसलिये कि तुम उसकी बाट जोहती हो, सुशीला, क्यों ? है न यही बात ?

सुशीला—अच्छा, ऐसा ?

वसन्तराव–जाने भी दो। मनमें ऐसा ही विचार आया, कह दिया, इसे लेकर गम्भीर मत बन जाओ। (सुशीला उसकी ओर भेदभरी दृष्टिसे देख रही है, ऐसा मानो कुछ थाह लगाना चाहती है) हाँ, मैं सोच यह रहा था कि यदि हम दोनोंको इस प्रकार बातें करते हुए कोई सुन ले तो क्या समझेगा ? (हँसते हुए) क्या वह पागल नहीं समझ लेगा ?

सुशीला–समझा करे। लोग तो यों भी हमें पागल ही समझते हैं। मुझे इसकी क्या परवा ? मुझे तो अपना पागलपन ही मुबारक ! उनकी बुद्धि लेकर करना क्या है ? ऐसे समय तो इस प्रकारका पागलपन ही अपना एकमात्र आश्रय है।

वसन्तराव–(प्रणयके आवेगमें) तुम मेरे लिये क्या-क्या हो, कितनी हो, तुम कभी समझोगी ? मैं आज कहाँका होता यदि तुम भी एक साधारण, व्यवहारकुशल स्त्रीकी भाँति सदा कपड़े और गहनोंकी ही चर्चा किया करती ? सदा नौकर-नौकरानियोंकी शिकवा-शिकायतें किया करती, सदा खर्च-बर्चका ही सवाल सामने रखती और जब मैं कभी अपने सुन्दर अथ च मधुर भावानुभूतिके आनन्दोल्लासमें होता तो तुम्हारी घृणाभरी झिड़कियाँ मुझे होशमें ला देतीं ! तुम वस्तुतः मेरी 'सद्धर्मिणी' हो। मैंने अपने पूर्वजन्ममें कितना बड़ा पुण्य किया कि इस जन्ममें मुझे तुम-जैसी पत्नी मिली। ना, ना, सच मानो सुशीला, मैं विनोद नहीं कर रहा हूँ। ऐसी पत्नी, जो भगवान्‌के नामोच्चारणमात्रसे अपने सारे कष्टों–आपदाओंको भूलकर प्रभुके प्रेममें बेसँभार हो जाती है–क्या ऐसी पत्नीके गुणका मैं आदर नहीं कर सकता ? उसे प्रणय और सम्मानका दान नहीं देता ? सच मानो सुशीला, तुम्हारे चरणोंकी धूलि अपने मस्तक-पर रखकर मैं अपनेको परम भाग्यवान् समझूँगा।

सुशीला–(कुछ खिन्न-सी होती हुई) महाराज ! जो कुछ भी मैं जानती हूँ आपकी ही सिखलायी हुई। जो कुछ भी, जैसी भी मैं हूँ आपकी बनायी हुई। आप ही मेरे

'गुरु' हैं–फिर आप ऐसी बातें क्यों कहते हैं ? आप मुझे लज्जित क्यों कर रहे हैं ?

वसन्तराव–क्षमा करो, क्षमा करो, प्रिये ! मैं भावोंकी लहरमें बह गया था ? परन्तु सुशीला, यदि सचमुच तुम जानती कि तुम्हारी इस श्रद्धा और भक्तिने मुझ-जैसे निर्बल प्राणीको कितना बल, कितना साहाय्य दिया है तो तुम्हारे लिये मेरे हृदयमें जो पूजाके भाव हैं, आदर और सम्मानके भाव हैं उसके लिये तुम मुझे दोषी नहीं ठहराती । अह ! कितना दिव्य, कितना अपार्थिव ! सुशीला मैं तो पागल हो जाता !

सुशीला–तुम ? तुम पागल हो जाते ? ना, ना, मेरे स्वामी ! तुम तो पहलेहीसे पागल हो । तुम संसारके सबसे दिव्य, सबसे विलक्षण उन्मादसे अभिभूत हो । अब तुम्हें और कोई पागलपन क्या होगा ? क्या भूल गये कि तुम्हारे 'एक ही शब्द' ने मुझे पागलपनसे आज बचा लिया ? ना, ना, अब संसारका और कोई पागलपन आपको छू नहीं सकता । महाराज ! आप उदास न हों । स्वप्नकी तरह दुःख आता है । और चला जाता है--आपने ही मुझे यह सिखलाया है । अच्छा, सुनिये । (वह दौड़कर इकतारा उतारती है, दोलेपर पलथी लगाकर बैठ जाती है और गाने लगती है)

कहे राधा यह दुःख निरे सपने, सखि ! नन्दकिशोर सदा अपने !
सखि ! जायँ भले मथुराको हरि, हम नैनन ढूँढ़े न पायँ हरि ।
पर मन्दिर प्रेम सजाय हरि, हरिनाम रहेगा सदा जपने ॥

(सुशीला गा ही रही है कि बाहरसे कोई जोरसे तिरस्कारकी हँसी हँसता हुआ आ रहा है । सुशीला इससे इतना घबड़ा जाती है कि वह इकतारेको रख देती है । बालकृष्ण अपने हाथोंको कमरपर शानसे रखे हुए दरवाजेपर खड़ा है और अपने माता-पिताकी ओर उपेक्षा तथा अपमानकी दृष्टिसे देख रहा है ।)

बालकृष्ण–हरि, हरि, हरि, हरि ! तुम्हारा लड़का बम्बईमें मरा पड़ा होगा और तुम्हें हरि हरिके सिवा कुछ सूझता ही नहीं । कैसा आसान पा लिया है, कितने मजेकी है तुम्हारी भक्ति ! भजन गा-गाकर तुम अपने दुःखोंको भुला सकते हो और लोग तुम्हें महात्मा कहने लगेंगे ! और मैं यदि अपने दुःखोंको किसी और तरहसे हलका कर लेना चाहता हूँ तो तुम्हीं लोग मुझे नृशंस पशु समझने लगोगे । (अविनीत स्वरमें पितासे) क्यों, रामूकी कोई खबर ?

वसन्तराव–ना, अभीतक तो कोई खबर नहीं आयी !

बालकृष्ण–अच्छा, तो इसीलिये आपलोग यहाँ बैठे भजन गा रहे हैं ! मैं तो इससे कहीं अधिक उपयोगी काम कर रहा था !

सुशीला–सो क्या ?

बालकृष्ण–बहुत ही उपयोगी, बहुत ही सरल । हमलोगोंके ध्यानमें वह बात पहले आयी नहीं ! मेरा मित्र रसूल—रसूलको तो तुम जानती ही हो, उसी रसूलने मेरे रामके होटलका नम्बर नोट कर रक्खा था । नम्बर जानकर मैंने रामको फोन किया ।

सुशीला–फिर, इसके बाद ?

वसन्तराव–क्या राम फोनपर बोला ?

बालकृष्ण–(कुछ उदास होकर) ना, होटलके क्लर्कको उसके बारेमें कुछ भी मालूम न था, वह बहुत डरा हुआ-सा बोल रहा था– काँपते हुए, घबड़ाये हुए स्वरमें ।

सुशीला–हा नाथ ! न जाने क्या होना है !

बालकृष्ण–बम्बईके उस भागमें जहाँ रामूका होटल है बड़ी खून-खराबी मची हुई है । जिसे जो मिलता है उसका वह गला घोंट देता है ।

सुशीला–हा दैव ! प्रभो ! हरि ! मेरे बच्चेको बचाओ, बचाओ ! अरे, मैंने उसे बम्बई जाने ही क्यों दिया ? यदि मैं ऐसा जानती तो उसे बंबई कभी नहीं भेजती ! हे प्रभो ! न जाने उसपर कैसी बीतती होगी ।

वसन्तराव–सुशीला ! इतनी दुखी मत हो ! यह भूल मत कि परमात्मा बंबईमें भी है और वह वहाँसे छोड़कर अहमदाबादमें ही बसने नहीं आ गया है । रामकी रखवाली 'वह' सदा कर रहा है, शान्त हो प्रिये !

बालकृष्ण–है तो यह बात ठीक ही; परन्तु क्या आपलोगोंको यह मालूम है कि रामूके विषयमें पिछले दो दिनसे कुछ भी पता नहीं लग रहा है । क्लर्कने मुझे फोनपर यही कहा था ।

सुशीला–हा हरि !

बालकृष्ण–और उसके होटलके सामने ही रात-दिन दंगा

हो रहा है। रामूका स्वभाव तुम जानती ही हो। कितना बड़ा वह मूर्ख है, कभी कुछ भी आगे-पीछे सोचता-समझता नहीं—जो कुछ सामने आया उसीमें वह बिना जाने-बूझे कूद पड़ता है। मेरा तो यह निश्चित विश्वास है कि लोगोंको बचानेके लिये वह दंगाइयों-के बीचमें कूद पड़ा होगा...... !

वसन्तराव—(पहली बार क्रोधावेशमें) अच्छा, अच्छा, बाल ! अधिक मत बक। (फिर अपने-आप एक किनारे जाते हुए) जो कुछ होनेको होगा, होगा ही। फिर हक-नाहक इसमें अपनी चिन्ताओंसे व्यर्थ ही अपने-आपको क्यों जलाना ? जो कुछ हमसे हो सकता है हम कर ही रहे हैं।

बालकृष्ण—(घृणा और उपेक्षासे) हाँ, हाँ, कर क्यों नहीं रहे हैं ? भजन गा रहे हैं ! इससे अधिक और आप-लोग कर ही क्या सकते ?

(वसन्तराव वहाँसे हट जाता है और खिड़कीके पास खड़ा होकर बाहरकी ओर देखने लगता है।)

सुशीला—(कुछ तीखे स्वरमें) बाल ! यह तेरी कैसी हरकत है ? तू जानता है तेरे पिताजी रामूके समाचारके लिये कितने व्यग्र, कितने व्याकुल हैं। पिछले हफ्तेसे बराबर तार देना और चिट्ठियाँ लिखना ही उनका काम रहा है। हमलोगोंका हृदय चूर-चूर हो रहा है। थोड़ी देरके लिये हम उस प्रभुका स्मरणकर शान्ति पाना चाहते हैं—जो सब कुछके मिट जानेपर भी सदा-सदैव रहता है, तो फिर तू इसके लिये झल्ला रहा है ! कितना हृदयहीन है तू ?

बालकृष्ण—(क्रोधके आवेशमें) तुम हृदयहीन हो, तुम ! ऐसी आफतके समय भी तुम बैठकर मजेमें भजन गा सकती हो और हरि-हरि चिल्ला सकती हो ! मुझे तो ये पागल बना देंगी !

(क्रोधके वेगमें बालकृष्ण बाहर निकल जाता है और दरवाजे बंद करता जाता है। सीढ़ीसे उतरनेकी आवाज सुनायी पड़ रही है। सुशीला और वसन्तराव एक-दूसरेको मूक दृष्टिसे देख रहे हैं। सुशीला बड़ी गम्भीरता और उदासीके साथ उठकर इकतारा उठा लेती है और फिर इसे खूँटीसे लटका देती है।)

दूसरा दृश्य

चौबीस घंटे बाद

(वसन्तराव, सुशीला और बालकृष्ण)

वसन्तराव हाथमें तार लिये हुए हैं।

वसन्तराव—(तार पढ़ते हुए) "खोज कर रहा हूँ। पक्की खबर मिल जानेपर आपको शीघ्र ही सूचित करूँगा, धैर्य रक्खें" पिछला शब्द कितनी सहानुभूतिका है। हो-न-हो, वह हैं एक भले आदमी। राम ऐसे मालिकके संरक्षणमें हैं यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है !

(सुशीला अपने दोनों होठोंको दाँतोंसे दबाती है, पृथ्वीकी ओर देख रही है, उसकी पलकें बड़ी चपलतासे गिर रही हैं—फिर वह बाहरको निकल जाती है।)

बालकृष्ण—सहानुभूति आजकल बड़ी सस्ती हो गयी है। मैं तो तब समझता जब वह कुछ पता लगाते। ऐसी सहानुभूतिसे क्या लाभ ?

वसन्तराव—वह यथाशक्ति चेष्टा कर रहे हैं, यही क्या कम है ?

बालकृष्ण—इससे कुछ ही होने-जानेको नहीं; अभी मैं जाता हूँ और फोनसे आधे घंटेके भीतर पता लगाता हूँ।

वसन्तराव—हाँ, हाँ, ठीक तो है, अवश्य फोनपर पूछो। आलस्यसे काम नहीं चलेगा।

बालकृष्ण—मैं करूँ तो क्या ? इस समय चित्त ऐसा उचट गया है कि किसी भी काममें मन लगता नहीं। पढ़ने बैठता हूँ तो सिर चकराने लगता है और एक अक्षर भी समझमें नहीं आता।

वसन्तराव—तो, फिर किसी दोस्त-मित्रसे मिलकर कुछ मन तो बहला लेते !

बालकृष्ण—और आप क्या करेंगे ? (बेचैनीकी हालतमें) मुझे तो यह स्थान श्मशान-सा काट खाये जा रहा है—माँ पिशाचिनीकी तरह यहाँ-वहाँ चक्कर लगा रही है। उसे हो क्या गया है, कुछ समझमें ही नहीं आता। कल सबेरेसे वह एक शब्द भी बोली नहीं। कभी कहीं देखती है, कभी कहीं। ऐसी माँ तो मैंने अबतक देखी नहीं।

वसन्तराव—उसके दुःखको तुम क्या समझोगे ? (मुँह फेर लेता है और पासकी ही मेजपरसे एक पुस्तक उठा

लेता है । यहाँ-वहाँ खोलता है और फिर बालकृष्णकी ओर देखता है) बाल, क्या तुम माँके बोझको कुछ हलका नहीं कर सकते ?

बालकृष्ण—मैंने समझा नहीं, समझाकर कहिये ।

वसन्तराव—चाहो तो सहज ही समझ सकते हो । रामके सम्बन्धमें वह इतनी चिन्तित और खिन्न है कि उसका हृदय जर्जर हो रहा है और उसपर तुम तानेबाजी किया करते हो ! क्या यह जलेपर नमक छिड़कना नहीं है ?

बालकृष्ण—अच्छा, अब समझा । आप उसके भजन और पदोंके बाबत कह रहे हैं न ? आपसे सच कहता हूँ बापू ! मुझे उसका भजन गाना, कीर्तन करना, हरि-हरि चिल्लाना कतई पसंद नहीं है । मेरे लिये यह सब कुछ असह्य हो उठा है ! अच्छा नहीं लगता !

वसन्तराव—परन्तु यदि इससे उसको कुछ शान्ति मिलती हो तो तुम्हें अच्छा क्यों नहीं लगना चाहिये ?

बालकृष्ण—आपको समझाऊँ भी तो कैसे ? आप भी तो उसीके सुर-में-सुर मिलाकर गाते हैं । आपकी स्थिति तो उससे भी बुरी, उससे भी दयनीय है ! परन्तु मुझे ऐसी पुरानी वाहियात बातें पसंद नहीं । यह सरासर गपोड़ है, नासमझी है, नादानी है ।

वसन्तराव—पुरानी होनेसे ही कोई बात फिजूल और वाहियात नहीं हो जाती ।

बालकृष्ण—क्यों नहीं हो जाती ? आजके युगमें पुरानी बातें फिजूल तो हैं ही । हमें समयके साथ-साथ चलना चाहिये । संसार इतना आगे बढ़ गया है । विज्ञानमें इतनी उन्नति हो रही है, प्रायः नित्य एक नये आविष्कार, नये अनुसन्धान हमारे सामने आते हैं परन्तु आप लोग तो पुरानी लकीरके ही फकीर बने रहेंगे ! आप लोग आँखें मूँदकर, अंध-श्रद्धा-विश्वासके साथ उन्हीं देवी-देवताओंको पूजते चले जाते हैं जिन्हें आपके पूर्वपुरुषोंने पूजा था । वे ही गपोड़-गाथाएँ, पुरानी, सड़ी-गली, निःसत्त्व, निष्प्राण—पाषाणकी तरह निर्जीव—गाथाएँ और किंवदन्तियाँ ! यह सब देखकर मेरा तो हृदय फटा जा रहा है । दूर जानेकी जरूरत नहीं—आप अपनेहीको देखिये—माँको देखिये । आप दोनों ही शिक्षित हैं—फिर भी वही पुरानी लकीर, वही पुराना पोथा······ !!

वसन्तराव—(स्नेहपूर्वक) सच मानो, बाल, इसीके बलपर हमलोग जीवित हैं, इसीके कारण पागल नहीं हो गये ! इस घोर विपत्तिमें यदि इनका सहारा नहीं होता तो या तो हम पागल हो गये होते या हमने आत्महत्या कर ली होती ! इन पिछले दिनोंमें जो तूफान आया उसका बयान क्या किया जाय ? तुम सब कुछ देख ही रहे हो, जानते ही हो ।

बालकृष्ण—(अशिष्टतापूर्वक) तूफान ? कैसा तूफान ? तूफान आता तो आपलोग इतने शान्त और स्थिर कैसे रहते ? मैं तो कुछ भी समझ ही नहीं रहा हूँ कि आखिर यह सब हो क्या रहा है ? आप तो भजनपर भजन गाये चले जा रहे हैं जब मेरा भाई, मेरा भाई ·········(गला रुँध जाता है) ।

वसन्तराव—(प्यारसे) वह भी तो हमारा पुत्र ही है । तुम, क्या नहीं जानते ? मेरी एक बात सुनो शायद इससे तुम्हें शान्ति मिले । इसीलिये कह भी रहा हूँ । ये जिन्हें तुम 'गपोड़-गाथा' कह रहे हो, ये ही हमारे प्राण हैं । उनके बिना हम जी ही नहीं सकते । उनमें एक गूढ़ार्थ है, और वह गूढ़ार्थ ऐसा है जो हमें आपदा और संकटके समय बल प्रदान करता है, दुःखकी घड़ियोंमें हर्ष और आनन्दकी वर्षा करता है, और जीवन तथा जगत्‌के जंजालमें उलझकर जब हम विक्षिप्त-से हो जाते हैं, गत-चेतन और निष्प्राण हो जाते हैं उस समय इन्हीं 'गपोड़-गाथाओं'से हमें आन्तरिक शान्ति और तुष्टि मिलती है । हमारे लिये ये गपोड़ नहीं हैं । हमारे जाननेमें ये ही एकमात्र 'सत्य' हैं ।

बालकृष्ण—हटाइये यह सब फिजूलकी बातें । आप देखते नहीं कि यह सब सरासर बेवकूफी और नासमझीसे भरा पड़ा है !

वसन्तराव—ना, ना, ऐसा कहो मत । मैं उन्हें समझता हूँ, जानता हूँ । जो निरा कपोलकल्पित है, प्रवञ्चना है, असत्य है वह ज्ञान नहीं दे सकता, प्रकाश नहीं दे सकता । एकके लिये जो कोरा कपोलकल्पित है वही दूसरेके लिये गम्भीर विवेचन और चिन्तनकी सामग्री बन जाता है । संसारमें

कुछ भी सर्वथा व्यर्थ, सर्वथा निरुद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो कोई भी उसे पतियाता नहीं, स्वीकार नहीं करता। समझे बाल ? दूसरोंके दृष्टिकोण-को भी समझनेकी चेष्टा करो। जितना तुम्हें अपनी मान्यतामें विश्वास है उतना ही विश्वास उन्हें भी अपनी मान्यतामें है। ऐसा भले ही कहो कि पुराणोंकी बातें तुम्हारी समझमें नहीं आतीं; ऐसा कहो कि तुम्हारा उनमें विश्वास नहीं। परन्तु जो बात तुम्हारे लिये सर्वथा तुच्छ, सर्वथा मूर्खतापूर्ण है, उसीमें यदि दूसरे किसीको पूरा विश्वास हो, वह उसे अक्षरशः सत्य मानता हो तो तुम्हारे लिये यह उचित नहीं कि उसकी मान्यताको घृणा, उपेक्षा अथवा तिरस्कारकी दृष्टिसे देखो।

बालकृष्ण—परन्तु, जो कुछ आपलोग सच मानते हैं वह सच है नहीं।

वसन्तराव—(मुस्कुराते हुए) तुम्हारे लिये अलबत्ता सच नहीं है, हमलोगोंके लिये तो है ही।

बालकृष्ण—(घबड़ाया-सा) परन्तु यह हो कैसे सकता है ? मेरी तो समझके बाहर है कि एक ही चीज किसीके लिये सच हो और किसीके लिये झूठ !

वसन्तराव—(हँसते हुए) हाँ, प्रश्न वास्तवमें बड़ा कठिन है, क्यों ? (गम्भीरतापूर्वक) परन्तु यह तो मनोवृत्ति और निजी अनुभवपर निर्भर है न ? परात्पर, पूर्णतम सत्यका ज्ञान उन्हें ही हो सकता है जिन्होंने उसका अनुभव किया है, और अनुभव करके तद्रूप हो गये हैं। तर्कके द्वारा इसकी थाह पाना, मेरी समझमें, तो असम्भव ही है। मनुष्यकी तर्कणा-शक्ति, उसकी बुद्धि इतनी छोटी-सी एक सीमित वस्तु है कि इसके द्वारा असीम सत्यका अनुमान लगाना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। इस परात्पर सत्यके ही विविध रूप, विविध अभिव्यक्तियाँ हैं; और जिसकी आत्माको जो रूप, जो अभिव्यक्ति प्रिय लगे, उसकी मनोवृत्तिके जो कुछ अनुकूल प्रतीत हो उसीके द्वारा वह परम सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। हमारी मनोवृत्ति किसी एक दिशाको जाती है, तुम्हारी किसी और दिशाको। परन्तु ये सभी सत्य हैं, वास्तव हैं—क्योंकि किसी-न-किसीके लिये तो सच हैं ही। इसे पूरी तरह, ठीक-ठीक समझनेकी चेष्टा करो।

बालकृष्ण—(हठपूर्वक) 'सत्य' क्या है यह मुझे बतलाइये, मुझे कोरे शब्दोंसे बोध नहीं होनेका।

वसन्तराव—(बहुत धीरे-धीरे और विचारते हुए)—हाँ, अठारह—अठारहकी उम्र ऐसी ही—ऐसी ही तूफान भरी होती है। इन बातोंकी ओर ऐसी घृणापूर्ण दृष्टिसे न देखो। मैं तुम्हें समझानेकी ही चेष्टा कर रहा हूँ। यह बड़ी ही रहस्यपूर्ण बात है कि प्रायः सभी सन्तोंके अनुभव—चाहे वे जिस किसी मत, सम्प्रदाय, विचार या जातिके हों—समानरूपसे एक ही तरहके हुए। इसका रहस्य तुमने कुछ भी समझा ? विश्वास करना ही पड़ेगा कि ऐसे लोग वस्तुतः मार्ग दिखलानेमें समर्थ हैं। जीवनको हथेलीपर लेकर उन्होंने सत्यका साक्षात्कार किया, सत्यको पहचाना और समझा। क्या ऐसे अनुभवी लोगोंसे सहायता लेनेमें तुम्हें संकोच होना चाहिये ?

बालकृष्ण—सन्त ! सन्तोंसे मुझे क्या करना है ?

वसन्तराव—क्या तुम तर्कसंगत बात कह रहे हो ? तुम 'सत्य' को जानना चाहते हो परन्तु सत्यसे जिनका साक्षात्कार है उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करना नहीं चाहते यह कैसी बात है ? किसी इंजीनियरके पास जाकर मैं दर्शनशास्त्रका अध्ययन करना चाहूँ, या किसी संगीतज्ञके पास जाकर गणित सीखना चाहूँ तो तुम मुझे क्या समझोगे ?

बालकृष्ण—(अपने मतके अभिमानमें) संतोंकी बातें सब बेकार हैं। कल्पना और बेहोशी ! ऐसी फ़ालतू बातें मैं माननेका नहीं।

वसन्तराव—(हँसी रोकते हुए) अच्छा, नहीं मानोगे तो न सही। फिर तुम्हीं सोचो, सत्यके ज्ञानके लिये जाओगे भी किसके पास ? सत्यकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें विज्ञानसे तुम्हें थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु विज्ञान भी तो अभी एक नन्हा-सा बच्चा है; गलतियाँ करता है फिर सुधारता है। नये आविष्कारोंसे हम अज्ञातकी एक और नयी सतहतक पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त, विज्ञान तो केवल बाह्य स्फुट अभिव्यक्ति-का ही विश्लेषण कर सकता है; जिसकी यह सारी अभिव्यक्ति है उस 'वस्तु' के विषयमें कुछ भी नहीं कहता। दर्शन-शास्त्र तुम्हें यत्किञ्चित् सहायता दे सकता

है परन्तु मनुष्यकी बुद्धि जहाँतक पहुँच सकती है वहींतक दर्शनकी गति है और मनुष्यकी बुद्धि एक बहुत ही सीमित पदार्थ है। अध्यात्मका विषय बुद्धिसे परेका है। आत्मा ही आत्माको जान सकती है। है न यह बात तर्कसंगत? क्यों?

बालकृष्ण—मैं ऐसा मानता तो हूँ। कितना सुन्दर होता कि मैं इसे जानता भी।

वसन्तराव—जाननेके लिये पहले तुम्हें विश्वास करना पड़ेगा। कोई चिन्ताकी बात नहीं है, समय पाकर तुम धीरे-धीरे सब कुछ जान जाओगे। अभी तो इतना ही बहुत है कि तुम दूसरोंके विश्वास और आस्थाको उपहासकी दृष्टिसे न देखो। मेरे लिये यही बड़े संतोषकी बात होगी। इसके सिवा, अपने मनकी ही मानना, दूसरेकी न सुनना तथा जैसा जीमें आवे वैसा ही कहना-करना तुम्हारी उम्रके-जैसे लड़केको शोभा नहीं देता। युवावस्थामें ऐसा होता ही है यह मैं मानता हूँ परन्तु तुम्हारा व्यवहार तो अशोभन नहीं होना चाहिये। बड़ा अच्छा हो, यदि तुम इस बातपर फिरसे गौर करो।

बालकृष्ण—अच्छा, आपके कहनेसे मैं अब ऐसी बातोंमें चुप रहूँगा।

वसन्तराव—ना, ना, मेरे कहनेसे ही ऐसा मत करो। अपने मनमें ही इसे खूब सोच-विचार लो। निश्चय कर लो, तौल लो कि जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ वह कहाँतक सच है और इसे कहाँतक तुम स्वीकार कर सकते हो। इस प्रकार पूरी तरह सोच-विचारकर तब काम करो। यदि मेरी बातें तुम्हें स्वीकार न हों तो मुझसे स्पष्ट कह दो। हो सकता है कि जो कुछ मुझे अविनय और उच्छृंखल दीखता हो वह तुम्हारे लिये विशेष ज्ञानका लक्षण हो। उस दशामें (मुस्कुराते हुए) तुम्हें उसकी विशेषता समझनेका मैं अवकाश दूँगा परन्तु साथ ही यह बतलाता रहूँगा कि मेरी दृष्टिमें यह अवाञ्छनीय ही है। क्यों, है न यह शर्त मंजूर?

बालकृष्ण—(कुछ अच्छी मनोदशामें) हाँ, हाँ, आप तो सदासे बड़े ही सहिष्णु हैं—आपके लिये तो यह बात कह सकता हूँ।

वसन्तराव—फिर भी, उतना सहिष्णु नहीं हूँ जितना होना चाहता हूँ। बड़े-से-बड़े सहिष्णु व्यक्ति भी एक बातमें असहिष्णु हो जाते हैं और वह है दूसरोंकी असहिष्णुताको न सह सकनेकी बात। समय पाकर मनुष्य इस दुर्बलतापर भी विजय प्राप्त कर सकता है। अच्छा, अब (घड़ी देखते हुए) जाओ, फोनका समय हो गया है। तुम्हारी माँ कहाँ गयी? (बालकृष्ण जाता है) सुशीला! सुशीला!

(सुशीलाका प्रवेश)

वसन्तराव—सुशीला तुम थी कहाँ?

सुशीला—(थकी हुई-सी) रसोईघरमें। रसोइया अचानक बीमार हो गया, मैंने उसे घर भेज दिया है।

वसन्तराव—यह तो बड़ा बुरा हुआ। तुम अब कर क्या रही हो?

सुशीला—(संक्षेपमें) भोजन बना रही हूँ। बाल कहाँ गया?

वसन्तराव—(विनोदमें हँसते हुए) वह बाल, वह हमारा लड़ैतलाल! उसे ऐसा-वैसा न समझना। वह तो बड़ा ही योग्य और होनहार है। वह फोनपर गया हुआ है।

सुशीला—धन्य हैं प्रभु! (दोलेपर बैठ जाती है और वसन्तरावपर जो उसके समीप आ गये हैं सिर टिका देती है)

वसन्तराव—(उसके सिरको हलके-से दबाते हुए) क्यों सुशीला, थक गयी हो क्या? सचमुच तुम्हारे लिये यह बड़ी ही कठिनाईका समय आ पड़ा है; परन्तु धैर्य रक्खो प्रिये, सब कुछ मंगल होगा।

सुशीला—धैर्य रक्खूँ तो कैसे? (आँखें बन्द करती हुई) थकी हुई हूँ—उससे क्या; परन्तु मेरा हृदय जर्जर हो गया है इसे कैसे सहूँ?

वसन्तराव—हमलोग पहले भी कई बार हृदय हार चुके हैं। याद है न जब बालको टायफायड हो गया था, और फिर उसके बाद मेरी एक हलकी-सी बीमारीको डाक्टरने यक्ष्मा बतलाया था—उस समय भी तो···!

सुशीला—(बतलाती हुई) हाँ, हाँ ये डाक्टर भी कैसे चों-चोंके मुरब्बा हैं। कितने नादान, कितने मूर्ख! मेरा तो, सच पूछो तो, डाक्टरोंमें विश्वास रहा ही नहीं। मामूली-सी वह बीमारी थी और उस वज्रमूर्खने मुँह बनाकर तुम्हारी छाती ठकठकायी, यह किया, वह किया और फिर मेरी ओर घूमकर गम्भीरतासे कहा कि (सुशीला काँप जाती है) कि कि·········मैं

उसे कैसे भूल सकूँगी-मैं तो उसीदम मर चुकी थी।

वसन्तराव-खैर, वे बलाएँ टल तो गयीं, और खुशी-खुशी हम उसके पार हो गये।

सुशीला-हाँ, आपका अभिप्राय मैं समझ रही हूँ। मैं जानती हूँ। परन्तु उस समय ऐसी विकट स्थिति नहीं आयी थी- फिर भी···फिर···भी, मैं मरी जा रही हूँ- बड़ा सूना-सा लग रहा है भीतर और बाहर सब कुछ। मैं कह नहीं सकती मन कैसा-कैसा हो रहा है। ऐसा कभी भी पहले हुआ नहीं।

वसन्तराव-(स्नेहसे) क्या ऐसे अवसरोंपर प्रार्थनासे तुम्हारे प्राण शान्ति नहीं पा सकते ? पहले तो सदा ही ऐसे समय प्रार्थनाने तुम्हें शक्ति दी, शान्ति दी, तोष दिया और बोध किया।

सुशीला-(पछाड़ खायी हुई-सी) ना ! है तो ठीक यही बात। परन्तु इस समय तो मैं प्रार्थना कर नहीं सकती- मैंने चेष्टा करके, कई बार चेष्टा करके देख लिया है।

वसन्तराव-गीता तो तुमने पढ़ी है-'मामेकं शरणं व्रज' 'न मे भक्तः प्रणश्यति'।

सुशीला-'वह' है कहाँ ? हाय ! ऐसा हुआ तो कभी नहीं, आज क्यों निराश्रित-सी हो रही हूँ। क्या बालके अविश्वास मेरे हृदयमें पैठ गये ! प्रभो ! मैं त्रस्त-सी हो रही हूँ, अवलम्बहीन हो रही हूँ, चारों ओर अन्धकार छा रहा है; मेरा सारा विश्वास कपूरकी तरह उड़ तो नहीं गया ? हाय !

वसन्तराव-अरी, ऐसा क्यों ? कलकी अपेक्षा आज कोई विशेष शोचनीय बात हुई नहीं। हाँ, मैं जानता हूँ कि इसे लेकर तुम्हारे मनको बहुत बड़ा क्षोभ हुआ है परन्तु तुम्हारे विश्वासको हिलानेवाली कोई ऐसी घटना तो हुई नहीं। कल तो तुम प्रसन्न थी, फिर आज मनको मलिन क्यों कर रही हो ?

सुशीला-(अधीरतापूर्वक) क्या हुआ, हुआ क्या ? मुझसे पूछिये मत। मैं नहीं जानती। मैं बुरी तरह थक गयी हूँ, परिश्रान्त हो रही हूँ।

वसन्तराव-हाँ, यह ठीक है, तुम थकी हुई हो।

सुशीला-(तीखे स्वरमें) ना, ना, इतनी ही बात नहीं है। हाय ! यदि मैं केवल प्रभुमें विश्वास कर पाती, यदि मैं उसकी प्रार्थना कर पाती-तो मैं इतना थकी नहीं होती। परन्तु, हाय, मैं चाहती हुई भी तो विश्वास कर नहीं पाती, प्रार्थनामें मनको लगा नहीं सकती। अहा ! यदि वैसा हो पाता तो मैं इतना थकती नहीं। परन्तु मैं करूँ तो क्या। इसीलिये तो मैं चूर-चूर हो रही हूँ।

वसन्तराव-अच्छा, प्रिये, कहो तो मैं तुम्हें एक गाना सुनाऊँ या किसी पुस्तकसे कोई अंश पढ़ूँ। उससे शायद तुम्हारा चित्त कुछ हलका हो जाय और प्रार्थनामें लग सके।

सुशीला-रहने भी दीजिये; इससे मुझे प्रयोजन ही क्या है ? मेरी प्रार्थनाएँ तो आजकल भिखारीकी भिक्षा-याचना मात्र है और 'वह' सदा मेरी प्रार्थनाओंको अनसुनी करता आया है। क्यों न हो ? भिखारीकी प्रार्थनापर ध्यान दे भी कौन ? किसे क्या पड़ी है ? 'उस'ने मेरे हृदय-मन्दिरको सूना कर दिया है, वीरान कर दिया है। 'वह' वहाँ ठहरता ही क्यों ? हाय, मुझमें भक्तिका एक कण नहीं, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ······ (फूट-फूटकर रोने लगती है)

वसन्तराव-सुशीला, सुशीला !

सुशीला-(आवेशमें) मैं कह चुकी न कि मुझमें भक्तिका लेश भी नहीं है। मेरा हृदय पत्थरका हो गया है। यदि 'वह' मेरे लिये अभी ही कुछ करे नहीं तो मैं उसे घृणा करने लगूँगी। यह भी निश्चयपूर्वक कह नहीं सकती कि मैं इस समय भी उसे घृणा नहीं करती। मैं रात-दिन प्रार्थना करती रहती हूँ और कुछ भी होता जाता नहीं ! यदि 'वह' वहाँ होता तो क्या मेरी इतनी प्रार्थनाएँ विफल जातीं, अनसुनी होतीं ? रात-दिन मैं बालके लिये प्रार्थना करती रही, परन्तु सुनता कौन है ? तो फिर क्या 'वह' बहरा हो गया है कि सुनता नहीं ? क्या वह अन्धा हो गया कि मेरी दशाकी ओर देखता नहीं ? क्या वह······???

(बालकृष्णका वेगसे प्रवेश, चेहरा पीला और फीका हो गया है, आँखें रोनेके कारण लाल हो गयी हैं) बाल !

बालकृष्ण-(उखड़ी हुई आवाजमें) करो, करो, अपने पेट्ट भगवान्से प्रार्थना; गिड़गिड़ाओ उस निर्दयके

सामने। वे तुम्हें शान्ति देंगे, दे चुके। मैं तो इन देवी-देवताओंसे ऊब गया हूँ।

(सुशीला चोट खाकर आहत हुई-सी ऐंठ जाती है)

वसन्तराव–(कठोर स्वरमें) बालकृष्ण! इतना तो याद रख कि तू अपनी माँसे बात कर रहा है! क्या रामूका कोई हाल मिला?

बालकृष्ण–(सिर हिलाते हुए और आहें भरते हुए)–ना, कोई हाल नहीं। (सुशीलाकी ओर क्रूर दृष्टिसे देखते हुए) यों रोने-चिल्लानेसे क्या होगा? (फिर क्रोधके वेगमें) क्यों न भीतर जाकर उस भद्दी-सी मूरतिके सामने रोती? वह जिसे तुम अपना भगवान् कहती हो, जिसकी प्रार्थना करते-करते तुम थकती नहीं–वह पत्थरके भगवान्, वह नृशंस, जो कातर आँसुओंपर उपहास और उपेक्षाकी हँसी हँसा करता है–ऐसा मानो उसे आँसुओंसे प्रसन्नता मिलती है! वह–वह भगवान् (उँगलीसे दिखलाते हुए) वह है तुम्हारा भगवान्, वह है तुम्हारा हरि! (उसकी आवाज़ ज़ोरसे चिल्लानेके कारण टूट जाती है)

सुशीला–(क्रोधमें हाँफती हुई, लाल-लाल आँखोंको तरेरती हुई) क्यों, क्यों रे बाल! तू कह क्या रहा है? क्या कहा, फिरसे तो कह नालायक कहींके! दुष्ट, शैतान, तू मेरे भगवान्, मेरे हरिके सम्बन्धमें ऐसी बात निकालता है? ऐसे कृतघ्न, नीच, अधमको मेरी कोखमें जन्म लेना था!

बालकृष्ण–माँ!

सुशीला–कहती हूँ न कि जबान सँभाल! मैं तेरी माँ नहीं हूँ। उसी जीभसे मेरे हरिका अपमान करता है और उसीसे मुझे माँ कहता है? ना, ना, मैं तेरी माँ कैसी? जबतक तू हमलोगोंकी हँसी उड़ाता रहा मैं जैसे-तैसे सहती रही परन्तु क्यों रे निर्लज्ज, नराधम! तू उस प्रभुकी खिल्लियाँ उड़ा रहा है जिसने नौ महीनेतक मेरे गर्भमें तेरी रक्षा की, जो तुझे अन्न और वस्त्र देता है, जो तेरी हर प्रकारसे सँभाल रखता है (गला भर आता है) जा, जा, हट हमारे सामनेसे। क्यों रे! सुनता है कि नहीं?

बालकृष्ण–(डरसे सकपकाया हुआ) माँ! माँ!

(सुशीला उसकी ओर आँखें तरेरकर देख रही है, क्रोधमें उसकी छाती काँप रही है, मुट्ठियाँ बँधी हुई हैं)

वसन्तराव–सुशीला, सुशीला!

सुशीला–अति हो गयी, मैं नहीं सुनती, मैं सुशीला नहीं हूँ, मैं एक ऐसी 'भक्त' हूँ जिसके हृदयकी सारी पवित्र भावनाओंको इस दुष्ट शैतानने चूर-चूर कर दिया है। हाय! तुझे ही मेरा पुत्र होना था? कह रही हूँ न कि जा, हट जा मेरी आँखोंके सामनेसे। जाता है कि नहीं? ऐसा मन होता है कि इसकी जीभ उखाड़ लूँ कि फिर ऐसी बातें यह न बके।

वसन्तराव–(उसे बाँहोंसे पकड़ते हुए तथा उसके मुँहपर अपना हाथ रखते हुए) सुशीला, सुशीला! ठहरो, सुनो, तुम कह क्या गयी?

(सुशीला उसकी बाँहोंसे छुड़ानेका प्रयत्न कर रही है—और बड़ी मुश्किलसे छुड़ाकर कमरेसे बाहर निकल जाती है। वसन्तराव चौकीपर बैठ जाते हैं और अपने मुँहको अपनी हथेलियोंसे ढक लेते हैं। बालकृष्ण काठका मारा, पत्थरकी तरह जहाँ-का-जहाँ खड़ा है और अस्त-व्यस्त दीख रहा है। बड़ी देरतक सन्नाटा छा जाता है।)

बालकृष्ण–मैं आज अपनेको बहुत ही दुखी, बहुत ही लज्जित अनुभव कर रहा हूँ (वह अपने व्यवहारसे बहुत ही लज्जित हो रहा है)

वसन्तराव–(आँखें ऊपर करते हुए और एक समस्यासूचक भावमें) क्यों, क्या कहा? लज्जित हो? तुम और लज्जित होओ? क्या कारण है तुम्हें लज्जित होनेका?

बालकृष्ण–मैंने आपका भाव समझा नहीं, आप क्या कह रहे हैं?

वसन्तराव–(मुस्कुराते हुए) जैसे ही तुम कमरेके भीतर आये, तुम्हारी माँ कह रही थी कि मैं भगवान्से घृणा करती हूँ (हँसता है)।

बालकृष्ण–(आँखें गुरेरते हुए) क्या (धीरे-धीरे बातको समझनेकी चेष्टा करता हुआ) कैसी वि–चि–त्र बात है यह!

तीसरा दृश्य

(वही कमरा। सुशीला दोलेपर इकतारा लिये बैठी है और पास ही वसन्तराव एक चौकीपर बैठे हैं)

सुशीला–(इकतारेका स्वर साधती ई) समय क्या हुआ

होगा, बालकृष्णको गये बड़ी देर हुई न जाने क्या बात हुई !

वसन्तराव–मैं तो आशावान् हूँ ।

सुशीला–आप निराश हुए कब !

वसन्तराव–सुशीले ! जीवनमें सदैव आशाका आधार मिलता रहा है, फिर निराश क्यों होऊँ !

सुशीला–महाराज !

वसन्तराव–कहो, क्या बात है !

सुशीला–पूछते लज्जा आती है ।

वसन्तराव–क्यों, लज्जा क्यों ! थोड़ा-बहुत तुम्हारा भाव तो मैं समझ रहा हूँ ।

सुशीला–(शीघ्रतामें) क्या ?

वसन्तराव–क्यों, क्या उस दिनके प्रातःकालवाली घ···ट···नाके ··············· !

सुशीला–(कुछ शान्त होकर) हाँ, उसी घटनाके········· । आपने मुझे क्षमा कर दिया न ! उस दिन तो मेरे सिरपर शैतान सवार हो गया था !

वसन्तराव–(प्रसन्नतापूर्वक) वैसी कोई बात तो नहीं हुई । तुमने तो अच्छा ही किया ।

सुशीला–(आँखें गड़ाती हुई) क्या कहा ! खूब अच्छा किया ! मैं तो क्रोधके वशमें हो गयी थी, मुझे अपने-आपका होश भी नहीं रहा, भले-बुरेका ज्ञान भी नहीं रहा ! हाँ ! आपने अलबत्ता बड़े ही धैर्य और शान्तिसे काम लिया । आपके स्वभावका कुछ भी अंश मुझे मिल जाता तो ········· !

वसन्तराव–प्रिये ! मैं शान्त कहाँ रह सका ? मैं तो बहुत ही लज्जित हो रहा हूँ । सच मानो, मेरे लिये तो यही बहुत था कि जब वह आँय-बाँय बक रहा था तो उस छोकरेको खूब बनाकर पीटा नहीं ।

सुशीला–(आनन्दोल्लासमें) क्यों, क्या सचमुच ऐसी बात है ! मैं यह सुनकर बहुत प्रसन्न हूँ । (वसन्तराव बहुत ही चकित-स्तम्भित दृष्टिसे देखते हैं) बेशक, मैं आपके शान्त स्वभावकी प्रशंसा करती हूँ परन्तु कितना अच्छा होता कि आप कुछ कम शान्त होते !

वसन्तराव–हाँ, हाँ, मैं तो पूरा पूरा शान्त कहाँ था ! तुमने मुझे बचा लिया । यदि तुम उसपर इस प्रकार टूट नहीं पड़ती तो पता नहीं मैं क्या-का-क्या कर डालता !

सुशीला–सच ? महाराज, आप ऐसा कह रहे हैं ! मुझे तो विश्वास नहीं होता । पचीस वर्षसे हम दोनों साथ रहते आये हैं, एक बारको छोड़कर मैंने कभी आपको रंज होते देखा ही नहीं—क्यों उस एक बारकी याद है न ? एक आदमी अपनी स्त्रीको पीट रहा था, आपने बुरी तरह उसका गला पकड़ लिया था ।

वसन्तराव–मैं अपनेको सदा काबूमें रखनेकी चेष्टा करता हूँ । मेरे पिताजीका स्वभाव बड़ा ही उग्र था, उससे मुझे शिक्षा मिली । अब तो मैंने अपनेको ऐसा बना लिया है कि कुछ भी सह सकता हूँ परन्तु अब भी एक बात ऐसी है जिसे सह सकना मेरे लिये कठिन है और वह है किसीकी असहिष्णुता । मैं बालसे यही बात आज सवेरे कह रहा था । खैर जो हुआ सो हुआ, अब इसे भूल जाओ ।

सुशीला–आप भूल जानेको कहते हैं ! मैं कैसे भूलूँ ! बाल इतना शरारती, इतना शोख कैसे हो गया !

वसन्तराव–प्रिये ! मुझे तो इस बातसे प्रसन्नता ही है कि बालकी बातोंने तुम्हारी तो रक्षा कर ही दी, उससे उसकी ही हानि हुई । उसे ऐसी चेतावनीकी आवश्यकता थी । अब वह जीवनमें ऐसी भद्दी भूल नहीं करेगा । अच्छा, छोड़ो यह सब प्रपञ्च । एक गीत तो सुनाओ !

सुशीला–क्या बालके लौटनेका समय हुआ नहीं ? मैं इस समय गा नहीं सकती । मन न जाने कैसा-सा हो रहा है । मेरा हृदय धड़क रहा है, न जाने क्या होनेवाला है ।

वसन्तराव–सुशीला, गाओ । इससे तुम्हें भी शान्ति मिलेगी । मनकी सारी अशान्तिके लिये हरिनाम ही एकमात्र अचूक दवा है ।

सुशीला–सच मानिये महाराज ! इस समय मेरा मन गानेका है नहीं ।

वसन्तराव–(निराशा प्रकट करते हुए) क्यों क्या कहा ! नहीं गा सकती ? मुझे तो तुम्हारी इस 'नाहीं' से बड़ा दुःख हो रहा है । तुम नहीं जानती तुम्हारे भजनोंसे मेरे चित्तको कितनी शान्ति मिलती है !

सुशीला–तो फिर आप ही क्यों नहीं गाते !

वसन्तराव–इस समय तो ऐसा लगता है कि मेरे हृदयपर कोई लोट कर रहा हो !

सुशीला–(हँसकर) अच्छा, लीजिये, आपकी ही जीत रही ! (गाती है)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोरमुगट मेरो पति सोई ।
तात-मात-भ्रात-बंधु आपनो न कोई ॥
छाँड़ि दई कुलकी कान, कहा करिहैं कोई ।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई ॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ि लीन्ही लोई ।
मोती-मूँगे उतार बनमाला पोई ॥
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई ।
अब तो बेल फैल गई, होनी हो सो होई ॥
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेमसे बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ॥
संत देखि राजी भई जगत देखि रोई ।
दासि मीरा गिरधर प्रभु, तारो अब मोही ॥

वसन्तराव–(साथ मिलकर गाने लगता है)

तात-मात भ्रात बंधु, आपनो न कोई ।
छाँड़ि दई कुलकी कान, का करिहैं कोई ॥

हैं ! जीनेपर किसीके आनेकी आवाज, सुशीला !

(एक साथ ही वे दोनों उठकर दरवाजेके पास आ जाते हैं । सुशीलाके हाथमें अब भी इकतारा है । बालकृष्ण दो-एक सीढ़ियोंको फाँदता हुआ आता है और सुशीलाकी ओर बाँहें फैलाकर दौड़ता है)

बालकृष्ण–माँ, माँ, ओ माँ ! भगवान्की कितनी दया है, माँ !

सुशीला–क्यों, क्या बात है बालू ! ठहरो, ठहरो ।

(बालकृष्ण बीचमें ही रोक लिये जानेके कारण घबड़ा-सा जाता है और आश्चर्यभरी दृष्टिसे माँकी ओर देख रहा है)

सुशीला–जाओ, इसके भीतर जाओ (भीतरके कमरेकी ओर संकेत करती हुई) और प्रभुके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगो । तब मेरे पास आओ ।

(बालकृष्ण अपना सिर झुका लेता है और भीतरवाले कमरेकी ओर जाता है । सुशीला लौटकर इकतारेको झूलेपर रख देती है । वसन्तराव एक गहरी साँस लेते हैं)

वसन्तराव–कितनी दया है प्रभुकी ? अहा ! वह कितना दयालु है ! हमारे दोनों बच्चे राहपर हैं यह कितनी बड़ी दया है उसकी !

सुशीला–प्रभुकी कितनी दया है ! राम अच्छी तरह है परन्तु प्रभुकी सबसे बड़ी दया तो यह हुई कि बालने भी प्रभुकी दयाको समझा ।

(बालकृष्ण आता है, सुशीला उसकी ओर बाँहें फैलाये दौड़ती है । बालकृष्ण भी अपनी बाँहें फैलाकर माँकी छातीमें जा छिपता है)

बालकृष्ण–(आह भरते हुए) माँ, प्रभुने मेरे सारे अपराधोंको क्षमा कर दिया । अब तू भी क्षमा कर दे माँ !

सुशीला–(उसे चूमते हुए) मेरे अच्छे लड़के ! अह ! तुम कितने अच्छे लग रहे हो ।

बालकृष्ण–बापू !

वसन्तराव–(उन दोनोंको अँकवारमें बाँधते हुए) लल्ला !

बालकृष्ण–(स्नेहके आवेशमें) कितना, अह ! कितना मैं सुखी हूँ माँ ! बापू ! राम बड़े मजेमें है ! (उनकी अँकवारसे छुड़ाकर वह आनन्दमें नाचने लगता है) आज मेरी खुशीका क्या ठिकाना ? स्वयं राम फोनपर आया था ! वह बोला—अह ! उसकी प्यारी-प्यारी मीठी-मीठी बातें ! उसकी बातें सुनते ही—वही पहचानी हुई प्यारी आवाज–खुशीमें मैं पागल हो गया ! ऐसी इच्छा होती थी कि वह पास होता तो उसे स्वयं गले लगाकर जी भर रो लेता ! मैंने फोनकी घण्टी दी, फिर थोड़ी देर बाद सुनता हूँ–'हाँ कहिये मैं हूँ राम, कौन बोल रहा है–क्यों बाल ? तुम हो, अच्छा !' (सुशीलाका हृदय भर आता है) उस समय तो ऐसा मालूम हुआ कि मैं सातवें आसमानमें हूँ (सुशीलाकी गर्दनको भुजाओंमें बाँधकर लटक जाता है) फिर राम बोला मैं बहुत मजेमें हूँ । पिछले कुछ दिन हिन्दू-मुसलमानोंके बलवेके कारण बड़ी अशान्ति रही । उसे बराबर रात दिन अपने होटलमें ही छिपे रहना पड़ा । आफिस भी नहीं जा सका । जो उसके होटलके पास ही है । वह रोज खत लिखता और रातको चुपकेसे पोष्टबक्समें डाल आता ।

सुशीला–(आँखें पोंछती हुई) मेरा राम ! कितना अच्छा है वह ! कितना सुन्दर है उसका स्वभाव । रोज़ खत

लिखता था, परन्तु हमलोगोंको तो उसका एक भी खत मिला नहीं।

बालकृष्ण–बम्बईमें ऐसी भगदड़ मची थी कि लोग तबाह थे, त्रस्त थे, किसीको होश नहीं था। खत ज्यों-के-त्यों पड़े ही रह गये होंगे। अब आते ही होंगे। उसके होटलके ही लोग इतने घबड़ा गये थे कि जब मैंने फोन किया तो वहाँ कोई बोलनेवालातक नहीं था।

वसन्तराव–(उत्सुकतापूर्वक) अच्छा! ऐसी बात? फिर क्या हुआ?

बालकृष्ण–कल दिनमें वह एक बार बाहर निकला। बड़ी मुश्किलमें पड़ गया। उसने देखा कि कई हिन्दू दंगाई एक बुढ़िया मुसलमानिनको परेशान कर रहे हैं। राम कब मानता? भीड़को चीरकर वह भीतर घुस गया और उस बुढ़ियाको साहसपूर्वक उठाकर सामनेके रेस्टराँमें जा छिपा। खूनके प्यासे बलवाइयोंने उसका पीछा किया। उन्होंने समझा कि यह एक मुसलमान होगा, क्योंकि राम अंग्रेजी सूटमें था। दिनभर उसे उसी रेस्टराँमें छिपे रहना पड़ा। वहीं उस रेस्टराँवालों-ने उसे कुछ खानेको दिया। हफ्तेभरसे उसने कुछ भी खाया-पिया नहीं था। तबतक उपवासमें ही उसके दिन कटते रहे!

सुशीला–ओहो! कितना भूखा होगा वह, मेरा लाड़ला लाल? क्यों बाल, वह डरा नहीं? अकेले इतने आदमियोंका मुकाबला कैसे कर सका?

बालकृष्ण–उत्साहमें, वह कह रहा था कि उसकी शक्ति अतिमानुषिक हो गयी थी! वह वहाँ रातके साढ़े दस बजेतक बैठा रहा। जब उसने देखा कि सड़क-पर कुछ शान्ति है तो धीरेसे वह चुपके वहाँसे निकला और सड़क पारकर होटलके अपने कमरेमें जा छिपा और भीतरसे दरवाजे बंद कर लिये। कह यह रहा था कि जीवनमें अबतक वह इतना भयभीत नहीं हुआ। परन्तु भगवान्‌की यह दया ही समझो कि वह आज सब तरह सुरक्षित है। (आवाज धीमी करते हुए) अरे–मैं तो अपनी रूमाल वहीं छोड़ आया। (वह अपनी रूमालके लिये जल्दीसे बाहर निकल भागता है)

(सुशीला और वसन्तराव एक-दूसरेकी ओर देखते हैं और मुसकुराते हैं। दोनोंकी आँखें आँसुओंसे गीली हैं। आनन्दके मारे शब्द निकल नहीं रहे हैं। सुशीला दोलेपर जा पड़ती है और वसन्तराव खिड़कीके पास चले जाते हैं)

वसन्तराव–(यकायक) अच्छा!

सुशीला–क्यों, क्या बात है?

वसन्तराव–बाल बगीचेमें गुलाबके फूल तोड़ रहा है।

सुशीला–गुलाबके फूल?

वसन्तराव–हाँ, हाँ, गुलाबके फूल! अब वह तुलसीकी पत्तियाँ चुन रहा है। क्या गजब हो गया!

सुशीला–तुलसी! (खिड़कीके पास आती है) वाह! कितनी अद्भुत घटना!

वसन्तराव–सुनो, सुनो! (सुशीला खिड़कीकी ओर झुकती है, वसन्तराव उसे पकड़कर पीछेको खींच लेते हैं। देखो, सुशीला, उसे अभी पुकारो मत। उसे फूल चुन लेने दो! मैं समझ रहा हूँ वह उन फूलोंको क्या करेगा! वह सीढ़ीसे ऊपर आ रहा है! चुप हो जाओ!

(बालकृष्णके ऊपर आनेकी आवाज आ रही है और वह आकर भीतरके कमरेमें चला जाता है। वसन्तराव और सुशीला, पैरोंकी चाप छुपाये चुपकेसे पूजावाले कमरेके बाहरसे झाँकते हैं फिर वैसे ही चुपकेसे लौट आते हैं)

सुशीला–(श्रद्धामिश्रित अस्पष्ट स्वरमें) वह प्रार्थना कर रहा है.................. ।

वसन्तराव–हाँ!

सुशीला–आज ही क्यों?

वसन्तराव–ठीक ही तो है। कृतज्ञता इसे ही कहते हैं, प्रतिक्रिया इसीका नाम है, आत्मग्लानिका यही स्वरूप है! उसे आज अकेले रहने दो, छेड़छाड़ मत करो। प्रभुके प्रेम-बाणका वह निशाना बन गया है। बालने वंशीकी ध्वनि सुन ली है!

सुशीला–और इतना शीघ्र! इतना महान् परिवर्त्तन! और वह भी एक क्षणमात्रमें।

वसन्तराव–वंशी तो सदा बज ही रही थी, केवल हमारे कान बहरे हो रहे थे—कानोंको खुलते ही वह स्वर प्रवेश कर गया!

(बालकृष्णका गुनगुनाते हुए प्रवेश
मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई···)

पटाक्षेप।

ईश्वरकी सत्ता

(लेखक—स्व० श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर)

प्रश्न—१ ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर—इसलिये मानना चाहिये कि इससे सब प्रकारसे कल्याण होता है और सर्वांगीण अभ्युदयका सीधे-से-सीधा रास्ता मिल जाता है । यही कारण है कि जॉन स्टुअर्ट मिल-जैसे उपयोगितावादीको भी ईश्वरवादकी उपयोगिता यह कहकर स्वीकार करनी ही पड़ी कि, 'कम-से-कम व्यवहारके लिये तो यह (ईश्वरवाद) उपयोगी है ।' अजेय कवचमें जिनका अविचल विश्वास है उन्हें प्रगाढ शान्ति प्राप्त होती है । ईश्वरको माननेसे कर्तव्यका आधार भी स्थिर हो जाता है । इससे जगत्की यह मरुभूमि सहस्रविध सुन्दर सुमनोंकी दिव्य सुगन्धसे महकती हुई हरी-भरी दिव्य वनस्थली बन जाती है । परमेश्वरकी दृष्टिमें जो कर्म अच्छे और करणीय हैं उन्हें करनेकी ओर, इससे, प्रवृत्ति होती है और उन कर्मोंको करनेकी शक्ति भी बढ़ती है । तात्पर्य, ईश्वरको मानना इस बातका निश्चय करा लेना है कि हमारे सब उच्चतम भाव और उद्देश्य पूर्ण होंगे और संसारमें बुरेपर भलेकी विजय होगी । प्रत्येक विवेकी पुरुषका यही अन्तस्थ विश्वास है ।

प्र०—२ ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानि है ?

उ०—कदाचित् कोई विशेष हानि नहीं है यदि ईश्वरकी सत्ता, अपनी आत्मसत्ता और पारलौकिक जीवनको न मानते हुए भी प्रकृतिके विधान और नियम मानकर ही कोई चले । ये नियम प्रकृतिमें इस विश्वके और प्रकृतिके स्रष्टाने मानव तथा अन्य प्राणियोंके कल्याणार्थ बना रक्खे हैं । इस स्रष्टाको ईश्वर तथा अन्यान्य नामोंसे पुकारते हैं । परन्तु जो मनुष्य वास्तवमें परमात्मसत्ता नहीं मानता और इसलिये मनुष्योंमें भी आत्मसत्ता तथा परलोकसत्ता नहीं मानता वह एक ऐसे रास्तेपर चलता है जहाँ पद-पदपर फिसलते ही बनता है, और फिर पहले तो अप्रत्यक्षरूपसे और पीछे प्रत्यक्षरूपसे हानि-ही-हानि होती है । ऐसे मनुष्यके लिये सत्यभाषण, मातृ-पितृ-सेवा इत्यादि धर्मोंका कोई बन्धन नहीं रह जाता, न उसे उच्च आचार-विचारका ही कुछ प्रयोजन रहता है, जिनसे यह जीवन सुखमय बनाया जा सकता है । वह सर्वत्र बस, मौतको ही देखता है और अपने आपको मौतके ही हाथका एक खिलौना समझता है । सत्य, धर्म, न्यायकी जय हो और असत्य, अधर्म और अन्यायका क्षय हो, यह बात उसके तर्कमें भी नहीं आती और इसलिये वह यह बात समझ भी नहीं सकता कि सत्य, धर्म और न्यायकी रक्षाके लिये कोई प्रयत्न करना भी मनुष्यके लिये आवश्यक है । ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा आदि उदात्तभाव उसके अंदर उदय होते हैं पर वह यह नहीं समझ पाता कि हमारे हृदयमें ये भाव कहाँसे आये और किस लिये आये । अनीश्वरवादी मनुष्य या मनुष्यसमाज वास्तविक श्रेय और अभ्युदयकी ओर ले जानेवाले मार्गपर आगे बढ़ ही नहीं सकता ।

सुख और शान्ति अनीश्वरवादकी अवस्थामें रह ही नहीं सकती, दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है । विश्वके स्रष्टा, पालक और सुहृद् परमेश्वरकी सत्तामें आस्थावान् पुरुष इस बातको जानता है कि मेरे जो प्रिय हैं, अपने हैं वे किसी हालतमें हों, यहाँ हों या परलोकमें, भगवान्के प्रेममय आनन्द-

धामसे तो कहीं बाहर जा नहीं सकते। परन्तु जो मनुष्य अपने-आपको तथा दूसरोंको अनात्मा, अणु-परमाणुओंका निरुद्देश्य अन्धसंघातमात्र या सुख-दुःखवेदनों और उमङ्गोंका तमःपुञ्जमात्र जानता है वह किसीसे प्रेम कैसे कर सकता है, किसीके प्रति प्रेम या संकटकालमें समवेदना भी कैसे पा सकता है? अनीश्वरवादके सुप्रसिद्ध आचार्य डेविड ह्यूमने 'मनुष्यस्वभावका विवरण' (Treatise on Human Nature) नामक अपने ग्रन्थमें लिखा है—'मानव-तर्कमें इन परस्पर विरोधोंको और इसके कच्चेपनको देख-देखकर मेरा जी इतना घबरा गया है और मस्तक इतना संतप्त हुआ है कि विश्वास और तर्क मात्रको ही मैं दूर ढकेल देना चाहता हूँ, किसीका कोई मत ऐसा नहीं है जो किसी भी दूसरे मतसे अधिक विश्वसनीय हो। मैं कहाँ हूँ या क्या हूँ? मैं जो कुछ हूँ, इसके मूलमें क्या है और मुझे लौटकर कहाँ जाना होगा? किन लोगोंपर मेरा प्रभाव है या किसका मुझपर प्रभाव है? इन सब प्रश्नोंसे मैं घबरा गया हूँ और ऐसी बुरी हालतमें जा गिरा हूँ कि जिसकी गहराईकी कोई हद नहीं, मेरे चारों ओर केवल घोर अन्धकार है, मेरे सब गात्र शिथिल हो गये हैं, मेरी सारी शक्ति नष्ट हो गयी है।'

श्रीकृष्ण इसी दृश्यको देखते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें सम्पूर्ण सत्य, 'गागरमें सागर' के न्यायसे, इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'

और—

'संशयात्मा विनश्यति'

प्र०—३ ईश्वरके होनेमें कौन-कौनसे प्रमाण हैं?

उ०—इस देशके तथा अन्य देशोंके बड़े-बड़े साधु-महात्माओं और चिन्ताशील पुरुषोंने इस विषयमें अनेकानेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। मैं तो एक अल्पज्ञ जिज्ञासु मात्र हूँ, मैं ईश्वरकी सत्ताके विषयमें विशेष कह ही क्या सकता हूँ? फिर भी मेरे अकिञ्चन गुरु (अन्तरात्मा) के द्वारा सत्यका जो दर्शन मुझे प्राप्त हुआ है उसे प्रकट करनेका मैं प्रयत्न करूँगा।

सबसे पहली बात जो भगवान्‌के विषयमें कहनी है वह यह है कि वे प्रत्येक मनुष्यको स्वयं ही दर्शन देते हैं। ऋषि-मुनि और साधु-महात्मा अपना अनुभव यह बतलाते हैं कि ईश्वर हमें जितना प्रत्यक्ष दीखता है उतना यह संसार नहीं दीखता। परन्तु जिन लोगोंको ईश्वरपर कोई श्रद्धा-विश्वास नहीं उनके लिये नीचे लिखी चार युक्तियाँ हैं जिनसे शायद कुछ काम निकले।

पहली युक्ति 'कार्यकारणसम्बन्ध' की है। प्रत्येक मनुष्य जिसमें लेश मात्र भी बुद्धि होगी, इस बातको मानता है कि प्रत्येक कार्यका कोई-न-कोई कारण होता ही है। यह विचार कहाँसे आया? इसका कारण कौन है? यह कारण कोई जड-पार्थिव पदार्थ नहीं हो सकता। यह कोई सजीव पुरुष ही होगा जो सजीव प्राणियोंमें यह विचार उत्पन्न कर सकता है। इस विश्वासको 'अन्तर्ज्ञान' कहते हैं, क्योंकि इसे अन्य किसी बाह्य साधन या तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। यही अन्तर्ज्ञान यह बतलाता है कि इस जगत्‌का अर्थात् हमारा भी कोई स्रष्टा और पालक है और जैसे मनुष्यकी इच्छासे ही उसके सब काम होते हैं वैसे ही ईश्वरकी इच्छासे यह जगत् अपना भवितव्य पूरा करनेके लिये भ्रममाण हो रहा है। किसी पूर्वकार्यको ही पिछले कार्यका कारण बतलाना, यह कोई कारण बतलाना नहीं है। इससे किसी ऐसे मनुष्यका समाधान नहीं हो सकता जो सब कार्योंके

मूल कारणको ढूँढ रहा हो, वह कारण तो किसी चेतन पुरुषकी इच्छा ही है। यह विषय बहुत बड़ा है, थोड़ेमें सब बातें नहीं कही जा सकतीं।

दूसरी युक्ति जगत्की व्यवस्था देखकर व्यवस्थापकका अनुमान करना है। इस जगत्को देखकर इसके स्रष्टाको मानना ईश्वरवादीके लिये अन्तर्ज्ञानका ही कार्य है। जहाँ और जब कभी हम कोई सुसम्पादित कार्य देखते हैं तब हम यह सोचते ही हैं कि इसका कर्ता कोई बुद्धिमान् और कुशल चेतन पुरुष होगा और उसका इसमें कोई-न-कोई हेतु भी होगा। जो आँख खोलकर देखना चाहता हो वह देख सकता है कि हर समय और हर जगह कैसा विलक्षण कौशल और सौन्दर्य झलक रहा है—भुवन-भास्करके उदय और अस्तको देखिये, ग्रहोंकी सूर्यपरिक्रमाको देखिये, जीवनके विकासको देखिये, हमारी मानसिक क्रियाओंका हमारे मस्तिष्ककी भौतिक क्रियाओंके साथ सम्बन्ध देखिये। इत्यादि। इन सबसे, इस विश्वके नियन्ताका, जिसे ईश्वर कहते हैं, अपार बुद्धिकौशल ही प्रकट होता है। आकर्षणशक्ति, विकासक्रम तथा प्रकृतिकी अन्यान्य शक्तियाँ इस विश्वको निर्माण करती हैं, यह कहना बिल्कुल गलत है। ये केवल कार्यपद्धतियाँ हैं जिनसे उन्नति साधित की जाती है, ये स्वयं विधाता या नियन्ता नहीं, विधाता और नियन्ता ईश्वर है। डेविड ह्यूम-जैसे आदमीको भी एक दिन सन्ध्या समय घर लौटते हुए अपने मित्रसे यह स्वीकार करना पड़ा कि 'आकाशमें सर्वत्र ये तारे जड़े हुए देखकर यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह सारा काम किसी बुद्धिमान् पुरुषका ही है।' सर विलियम टामसनने अपने 'भौतिक विज्ञानके नये आविष्कार' (Recent Advances in Physical Science) नामक ग्रन्थमें अपना यह निश्चित मत लिखा है कि 'कोई यह खयाल न करे कि यदि कभी हम इस रहस्यका भेद जान सके (अर्थात् जीवन या प्राण क्या है यह जान सके) तो हम उतनेसेही, बिना प्राणके ही, कनिष्ठतम कोटिके प्राणीको भी निर्माण कर सकेंगे।'

इस विषयमें, अपने समयके सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टिंडाल यह लिख गये हैं कि 'मस्तिष्ककी भौतिक बनावट और मस्तिष्कमें उत्पन्न होनेवाले विचार इन दोनोंके बीचका मार्ग अचिन्त्य है। यह माना कि मस्तिष्कके विशिष्ट विचारकी क्रिया और मस्तिष्ककी विशिष्ट भौतिक परमाणु-क्रिया, दोनों एक साथ होती होंगी, फिर भी हमारे कोई ऐसा बुद्धीन्द्रिय या आपाततः उसका कोई मूल ऐसा नहीं देखनेमें आता जिससे हम तर्ककी पद्धतिसे दोनोंके बीचका रास्ता जान लें। दोनों देख पड़ते हैं एक साथ ही, पर क्यों?—यह नहीं जाना जाता। यदि हमारी मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ इतनी विस्तृत, बलवती और प्रबुद्ध होतीं कि हम मस्तिष्कके परमाणुओंको ही देख पाते, उनकी सब गतियोंको, उनकी सब कक्षाओंको तथा उनके विद्युन्निक्षेपोंको देख सकते, यदि ऐसा होता; और तत्तदवस्थामें उत्पन्न होनेवाले विचारों और अनुभूतियोंका हमें पूर्ण परिचय होता तो भी यह प्रश्न जहाँका तहाँ रह जाता कि इन भौतिक क्रियाओंके साथ ये मानसिक विचार किस प्रकार सम्बद्ध हैं। ये जो दो प्रकारके तत्त्व हैं इनका एक दूसरेके साथ सम्बन्ध जोड़ना फिर भी असम्भव होता।'

अब विश्वकी सुव्यवस्था और रचनाचातुर्यसे अनुमित होनेवाली ईश्वर-सत्ताके सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अध्यापक हक्सलेका क्या कहना है सो देखकर इस युक्तिकी चर्चाको समाप्त करें। अध्यापक हक्सले कहते हैं, 'रचनाचातुर्यसे ईश्वर-सत्ताके जो

बहुत मामूली तर्क पेश किये जाते हैं उनका सबसे जबर्दस्त विरोधी क्रमविकासका सिद्धान्त है। पहले यह बात कही जाती थी कि मनुष्यकी या उच्च श्रेणीके किसी पशुकी जो आँख होती है वह पहलेसे वैसी ही बना दी जाती है जिसमें उसके द्वारा वह मनुष्य या वह पशु वैसा ही देख सके। पर अब तो यह बात कोई नहीं कह सकता। परन्तु यह बहुत मामूली रचनाचातुर्यवादकी बात हुई, इससे जो व्यापक रचनाचातुर्यवाद है उसपर विकासवादका कोई आघात नहीं हुआ है बल्कि इस रचनाचातुर्यवादका मूल विकासवादका मूल सिद्धान्त ही है। प्रकृतिका विचार चाहे कोई रचनाचातुर्यकी दृष्टिसे करे अथवा यान्त्रिक कौशलकी दृष्टिसे, ये दोनों बातें सर्वत्र एक दूसरेकी विरोधिनी तो नहीं हैं। प्रत्युत कोई यान्त्रिक जितना ही अधिक कल्पक होगा उतना ही अधिक दृढ़ताके साथ वह इस बातको मान लेगा कि यह सारा विश्व परमाणुओंकी आद्य सुव्यवस्थित चतुररचनाका परिणाम है; और उतना ही अधिक वह रचनाचतुर ईश्वरवादी-की बुद्धिके अधीन होगा। कारण, रचनाचतुर-ईश्वरका वादी यह कहता है कि परमाणुओंको यह सुव्यवस्थित चतुररचना इस जगत्को उत्पन्न करनेके हेतुसे ही की गयी है और यान्त्रिक इसका कोई जवाब नहीं दे सकता।'

हमारी तीसरी युक्ति सदाचारके सम्बन्धमें है। हमलोगोंमेंसे प्रत्येक पुरुष इस बातको जानता है कि अच्छे और बुरेके सम्बन्धमें हमारे भाव हमारे अंदर बद्धमूल हैं। हमलोगोंके कानमें जैसे कोई कहता हो कि अमुक बात ठीक है उसे करो, अमुक बात ठीक नहीं उसे छोड़ो। नेकी करना और बदीको छोड़ना, हमारा कर्तव्य है, हमारे ऊपर यह जिम्मेदारी है। बुद्धिके विचारोंसे सदाचारसम्बन्धी ये भाव सर्वथा भिन्न हैं, दोनोंके मन्त्री अलग-अलग हैं। सदाचारके भाव बाहरसे नहीं आते, अंदरसे ही उत्पन्न होते हैं। हमारा सदसद्विवेक भीतरी चीज है। हमारे हृदयका ही यह अनुशासन है कि हृदयको पवित्र रक्खो और सत्पथपर चलो। इस अनुशासनसे उस परम विधाताकी प्राप्ति होती है जो 'शुद्धमपाप-विद्धम्' है। उसका यह शुद्ध अपापविद्ध स्वभाव उससे कभी अलग नहीं हो सकता। किस प्रकार हमारा यह सदसद्विवेक खिलकर पूर्ण विकसित कमल-की तरह उन्मीलित हुआ, इसके अनुसन्धानसे यहाँ कोई मतलब नहीं है। बात इतनी ही है कि हमारा नैतिक स्वभाव हमारे अंदर हमारे ही द्वारा नहीं जमाया हुआ है बल्कि उसका जमाया हुआ है जिसका हमारे ऊपर पूर्ण प्रभुत्व है। अल्फ्रेड रसेल वालेस, जो बड़े नामी विकासवादी हुए, अपने 'नैचरल-सिलेक्शन' नामक ग्रन्थमें कहते हैं—'सौहार्द, सद्व्यवहार, सत्यभाषणादि गुणोंका अभ्यास उन लोगोंके लिये लाभकारी भी हुआ होगा जिनमें वे गुण हैं, पर यह लाभकारिता ही उन लोगोंके इन सत्य और सदाचारके पवित्र माननेका कारण नहीं है। उनकी दृष्टिमें पवित्रता कुछ है और केवल लाभकारिता कुछ और है।' (पृष्ठ ३५२) 'जब कोई मनुष्य श्रद्धाके साथ उस परमेश्वरके सामने नत होता है जो अनन्त कल्याण और सत्यस्वरूप है तब वह समाजके किसी आदर्शभूत मतका पूजन नहीं करता।' हमारी अनेक प्रकारकी वासनाएँ, वृत्तियाँ और शक्तियाँ हैं, पर इन सबके होते हुए भी हमारे सब कर्मोंके ऊपर हमारे सदसद्विवेक और सदाचारका भाव सर्वत्र ही सबसे ऊँचा विधान माना जाता है। यह आरम्भिक अन्तर्ज्ञानमूलक विश्वास है और यही ईश्वरी सत्ताका सच्चा साक्षी बनता है।

तात्पर्य, सदाचारशीलता मनुष्यकी प्रकृतिका

एक मूलभूत अंग ही है, और यह अंग सदसद्विवेक-बुद्धि, कर्तव्यबुद्धि और अनुतापजन्य उद्वेग आदि रूपोंमें प्रकट होता है, और यही हमें परम विधाताके रूपमें ईश्वरकी सत्ता माननेको विवश करता है। यह हमारा अन्तःस्फूर्त विश्वास ही तो है जो हम यह कहते और मानते हैं कि हमें अपने कियेका जवाब ईश्वरके सामने देना पड़ेगा।

अन्तिम बात यह है कि ईश्वरवादीका ईश्वर-सत्तामें जो विश्वास है उसकी सबसे मजबूत नींव उसकी आध्यात्मिक बुद्धि या श्रद्धा है। यह आध्यात्मिक बुद्धि या श्रद्धा वास्तवमें एक खास चीज है, यह सदाचारशीलता या कार्य-कारण-सम्बन्ध या चित्रसे चितेरे या विधानसे विधाताकी अनुमितिसे सर्वथा भिन्न है, यद्यपि ये चीजें भी हैं जो श्रद्धाको पूर्ण विकसित करनेमें सहायक होती हैं। इस श्रद्धाके होनेसे ही हमें इस संसारकी किसी चीजसे, किसी भी मर्यादित ज्ञान या स्फूर्तिसे सन्तोष नहीं होता और हम अपने परम पितासे मिलनेके लिये यत्नवान् होते हैं। वे परमपिता सबके शरण्य हैं, अनन्त हैं और पूर्ण हैं। यह आध्यात्मिक श्रद्धा हमारी सबसे मूल्यवान् वस्तु है। इससे हमें यह भरोसा होता है कि हम सब उसकी सन्तान हैं जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्-चित् आनन्द है। इस श्रद्धाके कारणसे ही हमारे अन्तरात्मामें भगवान् प्रतिबिम्बित होते हैं। इसी श्रद्धाके कारणसे हमें यह निश्चय हो जाता है कि हमलोग केवल इसी लोकके नहीं हैं, किन्तु जैसे-जैसे हमारा ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव बढ़ेगा वैसे-वैसे हम ऊँचे और फिर उनसे भी ऊँचे लोकोंका अनुभव कर सकेंगे और वैसे-ही-वैसे भगवान्की महिमा भी अधिकाधिक उद्घोषित करनेका सौभाग्य हमें प्राप्त होगा। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जब हम अपने-आपको भगवान्की सन्तान करके जानेंगे तब यह भी जानेंगे कि वे हमारे पिता हैं। तभी हम उन्हें पिता, माता और सुहृद् कहकर पुकारेंगे। तब यह पता लगेगा कि वे अथाह प्रेमके चिरन्तन स्रोत हैं। मानव अन्तरात्माकी यह परा स्थिति है। आध्यात्मिक धर्मकी यही विशाल नींव है। यह स्थिति जब सहज और स्थायी हो जाती है तब यह कहा जा सकता है कि अन्तरात्मा अपने परम ध्येयको प्राप्त हुआ। तभी मानव आत्माकी परमात्माके साथ सायुज्यता होती है। हमारी आध्यात्मिक श्रद्धा अल्प और सान्तमें बद्ध रहकर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती, उसे तो अनन्तके चरणोंमें ही विश्राम लेनेकी अभीप्सा है। इस श्रद्धाके कारणसे हम यह जान सकते हैं कि भगवान् दयामय हैं और जब हम देखते हैं कि वे दयारूपसे पद-पदपर प्रकट हो रहे हैं तब पद-पदपर हम परम आदर और श्रद्धाके साथ उनके सामने नत होते हैं। उन परम कारुणिक परमेश्वरने ही हमारे अंदर यह निश्चय जमाया है कि अन्तमें सदा सत्यकी ही जय होती है और इसलिये ऐसे भगवान्के जो भक्त हैं उनके प्रति हमारी निर्हेतुक श्रद्धा होती है। केवल मानसिक तर्कके द्वारा कोई इस श्रद्धाको माननेसे इन्कार करे तो यह व्यर्थका प्रयत्न है, क्योंकि असंख्य साधु-महात्मा पहले हो गये और आज भी मौजूद हैं जो इसकी सत्ताके साक्षी हैं। इसी श्रद्धाकी बदौलत ईश्वरवादी लौकिक आधि-व्याधि और विपत्तियोंसे पीडित रहते हुए भी ईश्वरके चरणोंमें निरपेक्ष विश्राम लाभ करते हैं और यह स्वीकृति देते हैं कि भगवान् 'संसारके सारे वैभवोंसे, पुत्र-कलत्रादि तथा जो-जो कुछ प्रिय है उन सबसे अधिक प्रिय हैं—प्रियतम हैं।' उनके लिये 'कोई सान्त वस्तु प्रिय नहीं, असीम और अनन्त ही उनके आनन्दका मूल कारण है।'

हमारे अन्तर्ज्ञानजनित जो-जो विश्वास हैं उनका

परम विश्राम स्थान वे ही श्रीअनन्त भगवान् हैं। उन्हींके अक्षरविधान इस विश्वको घडते हैं और प्रतिक्षण बदलते रहते हैं जिससे विश्व अपने आपको अधिकाधिक उद्घाटित करता हुआ अभ्युदय और निःश्रेयसकी ओर आगे बढ़ता है।

इसलिये अब हम और हमारे साथ सारा जगत् बिना किसी संकोचके यह घोषित करे कि हमारी इच्छाशक्ति, हमारा ज्ञान, हमारी सदसद्विवेकबुद्धि या सदाचारप्रवृत्ति और हमारी आध्यात्मिक श्रद्धा, ये सभी स्वतःसिद्ध परमात्माके जीते-जागते साक्षी हैं। इन्हीं परमात्मासे यह सारा विश्व निकला है।

प्र०—४ क्या आप अपने जीवनकी कोई ऐसी घटना बता सकते हैं जिससे ईश्वरकी दया और सत्तामें हमारा विश्वास बढ़े ?

उ०—ऐसी घटनाएँ चाहे जितनी बतायी जा सकती हैं। सच तो यह है कि जब कभी मैं उन्हें सच्चे हृदयसे पुकारता हूँ तब उसी क्षण मुझे उनका सहारा मिल जाता है। हर जगह और हर समय ही उनका पितृवत् आशीर्वाद और मातृवत् दया और प्रेम मिलता रहा है। ऐसे प्रत्येक अनुभवका विस्तार-पूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है। उनकी मुझपर कितनी अपार दया है यह जतानेके लिये अपने जीवनकी घटनाएँ बतानेका, कोई मुझसे अनुरोध करता है तो इसके उत्तरमें मैं केवल आनन्दके आँसू ही बहा सकता हूँ। कोई घटनाएँ मैं वर्णन भी करूँ तो सब लोग उन्हें सत्य घटना समझकर नहीं स्वीकार करेंगे, कोई उन्हें भ्रम कह सकते हैं, कोई कल्पनाका खेल समझ सकते हैं। और फिर ऐसा भी हो सकता है कि जो घटनाएँ मेरे लिये अत्यन्त महत्त्वकी हैं वे दूसरोंको बिल्कुल बेमतलब-सी मालूम हों। जिस किसीको ईश्वरकी दयाका अनुभव प्राप्त होता है उसके लिये ऐसी घटनाओंका वातावरण पवित्र द्युतिसे भरा हुआ होता है और उसे वह संशय-कलङ्कसे कलङ्कित किसी निःश्वासके द्वारा विदारित करना नहीं चाहता। इसलिये मैं अपने जीवनकी ऐसी कोई घटना वर्णन नहीं कर सकता, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। इतना तो मैं कह सकता हूँ कि जिन घटनाओंसे भगवान्के प्रतिवचन और कारुण्यका मुझे प्रत्यय हुआ, वैसी घटनाएँ यदि मेरे जीवनमें न हुई होतीं तो मुझे यह पता न लगता कि भगवान् मेरे करुणामय पिता हैं, मेरी दयामयी माता हैं, मेरे परम सुहृद् हैं। यह जो कुछ अत्यल्प-सा मैं जान सका सो ऐसी घटनाओंसे ही!

प्रभुसे विनती

मेरे प्रेमनगरके राजा।

व्याकुलतासे तपत चित्तमें प्रेम-बारि सरसा जा॥
हरे सुगंधित मनोद्यानमें मोह-झकोरे लग करके,
सूख रही मम हृदयवाटिका जीवन-जल बरसा जा।
हरी-भरी खेती हो मेरी, विपुल धान्यकी उपज करे,
अन्न बढ़े ऐसा अब इसमें, जीवन-धन हुलसा जा॥

—लालचन्द्र

परमार्थके पथपर

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[गतांकसे आगे]

(६)

महात्माजीने कहा—उन दिनों मैं बहुत विचार करता था। कोई भी वस्तु सामने आती, बस, मैं सोचने लगता-यह क्या है ? मेरी मान्यता भी यही थी कि किसी वस्तुपर विचार किये बिना उसकी ओर झुक जाना भगवत्प्रदत्त बुद्धिका तिरस्कार करना है। ऐसा तो पशु भी नहीं करते। हाँ, तो मैं बहुत विचार करता था।

माघका महीना था। आकाश बादलोंसे घिरा था। अँधेरी रात थी। मैं एक वृक्षके नीचे बैठा सोच रहा था। मेरी दृष्टि उस फैले हुए अन्धकारपर गयी। मेरे मनमें प्रश्न उठा—यह अन्धकार क्या वस्तु है ? क्या प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है ? तब क्या इस समय प्रकाश सर्वथा है ही नहीं ? बादलोंमेंसे दो-चार तारिकाएँ चमक गयीं। उनकी ज्योति मेरी आँखोंका स्पर्श कर गयी। मैंने अनुभव किया कि प्रकाश इस समय भी है। अच्छा, मान लो तारिकाएँ न चमकतीं, बड़ा घना बादल होता, तब क्या प्रकाश नहीं होता ? अवश्य होता। हमारी आँखें उसे देख नहीं पातीं। हमारी आँखोंमें भी तो प्रकाश है। हमारा मन भी तो प्रकाश-से शून्य नहीं है। तब यह प्रकाश है, रहता है—और यही अन्धकारका अनुभव करता है। दीपकका अभाव अन्धकार है। सौ दीपकोंकी उपस्थितिमें एक दीपक भी अन्धकार है। लाखोंमें सौ। आर सब दीपकमय ही हो, तब लाखों दीपक भी अन्धकार हैं। महासूर्य या ज्योतिर्नीहारिकापिण्डके सामने यह सूर्य भी अन्धकार ही है। आत्मज्योतिके सम्मुख वे भी। अधिक प्रकाशमें कम प्रकाशकी वस्तुएँ दीखती हैं। सबमें कुछ-न-कुछ प्रकाश है, प्रकाशशून्य कोई भी नहीं। तब क्या प्रकाश और अन्धकार दो वस्तुएँ हैं ? एक दूसरेकी अपेक्षासे हैं ? अर्थात् एकके साथ दूसरी वस्तु लगी हुई है ? मैं विचारमग्न हो गया।

मैंने सोचा—नित्य कौन-सी है ? अनित्य कौन-सी है ? किसका बाध किया जा सकता है और कौन-सी अबाध है ? कल्पना करें कि प्रकाश नहीं है। परन्तु इस प्रकाशके अभावको कौन प्रकाशित कर रहा है ? वह भी तो एक प्रकाश ही है। अच्छा, प्रकाश है, अन्धकार नहीं है। तब प्रकाशको प्रकाश ही कैसे कहा जा सकता है ? ठीक है, प्रकाशको प्रकाश नहीं कहा जा सकता। बिना अपेक्षाके शब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु केवल इसीसे प्रकाशवस्तुका अभाव तो सिद्ध नहीं होता। है या नहीं इन शब्दोंसे अनिर्वचनीय होनेपर भी वस्तुकी सत्ताका निषेध नहीं हुआ। निषेध करनेवालेका निषेध भला कौन करे ?

प्रतीति अथवा भान प्रकाशको ही हो सकता है। अन्धकारको वह नहीं हो सकता। मैं हूँ अथवा नहीं, यह है अथवा नहीं अर्थात् अहंवृत्ति और इदंवृत्ति दोनों ही प्रकाश-को होती हैं, प्रकाशमें होती हैं। वह अन्धकारको 'इदम्' समझता है और प्रकाशको 'अहम्'। 'अहम्' के बिना इदंवृत्ति नहीं रह सकती। वह अहंके आधारपर ही टिकी हुई है। परन्तु इदंवृत्तिके बिना भी अहंवृत्ति रह सकती है, रहती है। 'अहम्' अबाध है, और इदं बाधित। अहं नित्य है और इदं अनित्य। अहं सत्य है और इदं मिथ्या। परन्तु अहं सत्य है यह बात कहे कौन ? सोचे कौन ? अपने आपका अपने आपसे विज्ञापन ही कौन करे ?

बादल गरज उठे। बिजली चमक गयी। मेरी आँखें भी उधर गयीं। कान कनमना उठे। परन्तु अब न बिजली-की वह चमक थी और न बादलोंकी गरज। मैंने सोचा—उनका गरजना, उनका चमकना क्या हुआ ? आँखोंने अभी देखा था, कानोंने अभी सुना था। अब न आँखें देख रही हैं, न कान सुन रहे हैं ? उनका भाव और अभाव दोनों ही आँखोंके सामनेसे गुजर गये। मेरी आँखें जैसी-की-तैसी बनी हैं। रूप, शब्द आदिके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाले ये आँखें और कान हैं। सारी स्थूल सृष्टि इन इन्द्रियोंकी प्रामाणिकतापर निर्भर है। इनमें तारतम्य तो होता ही है। किसीकी तेज, किसीकी मन्दी। इस सृष्टिको सभी विभिन्न रूपमें ग्रहण करते हैं। तब क्या यह विभिन्न रूपमें है ? परन्तु सबको किसने ग्रहण किया ? इन्हीं मेरी इन्द्रियोंने। विभिन्न व्यक्तियोंके अस्तित्वमें मेरी इन्द्रियाँ ही

प्रमाण हैं। उनके भावोंकी परीक्षा और निश्चय इन्होंने ही किया है। तब इनकी बात माननेके पहले इन्हींकी परीक्षा और इन्हींके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये।

अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है। मुझे सब पीला-पीला दीखता था। ऊँची आवाज भी कम सुनायी पड़ती थी। क्षितिज चक्कर काटता हुआ-सा जान पड़ता था। उन दिनों मैं रुग्ण था। अब तो स्वस्थ हूँ। परन्तु इसका क्या प्रमाण? मन कहता है कि मैं स्वस्थ हूँ। क्या मन इतना स्थिर है कि उसकी कोई बात सच मान ली जाय। सम्भव है—कुछ दिनों बाद वह कहे कि तुम उन दिनों अस्वस्थ थे। तब आजकी बात झूठी हो जायगी। फिर क्या किया जाय? बुद्धिकी बात मान ली जाय। परीक्षा करें कि मन स्वस्थ है या अस्वस्थ? वह चञ्चल है या स्थिर? काम-क्रोधादिसे प्रभावित होकर कुछ कह रहा है अथवा स्वतन्त्रतासे?

बहुरुपिये मनकी बातोंपर तो विश्वास नहीं आता परन्तु बुद्धिका निर्णय तो स्वीकार ही करना चाहिये? मनकी भाँति ही बुद्धि भी तो दूषित हो गयी है। यह मनकी चेरी हो गयी है। जबतक यह विषयाभिमुख है, तबतक इसका निर्णय पक्षपातपूर्ण होगा। अब बुद्धिका ही परीक्षण-निरीक्षण होना चाहिये। बुद्धिसे अहंका, आत्माका, प्रकाशका विचार किया जाय। अहंकी दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे बुद्धिको परखा जाय। बुद्धिको कभी कुछ सूझता है, कभी कुछ नहीं सूझता। कभी वह जागती है कभी सोती है। अहं, आत्मा उसकी सभी अवस्थाओंको देखा करता है। वह कभी देखा नहीं जाता। वह प्रकाश्य नहीं, प्रकाशक है। बुद्धि और उसके सृष्ट पदार्थ अहंके द्वारा ही प्रकाशित हैं। और सब अन्धकार है। अहं प्रकाश है। तब क्या ये अहंसे भिन्न हैं? क्या बुद्धिसे मन, इन्द्रिय और विषयोंकी सत्ता पृथक् है अथवा सब बुद्धिके ही परिणाम हैं? रूप दीखता है, आँखें देखती हैं। आँखें क्या हैं? रूपकी ही सूक्ष्म तन्मात्रा हैं। रूपका सूक्ष्म अंश स्थूल रूपको देखता है। सूक्ष्म शब्द कर्णगोलकमें स्थित होकर स्थूल शब्दको सुनता है। मन इन इन्द्रियोंको देखता है। मन क्या है? उन्हीं विषयोंकी सात्त्विक तन्मात्रा। सब अपनेको ही देखते हैं। तब अहं भी अपनेको ही देखता है। सब अहंका ही विस्तार है। 'अहं' वस्तु ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके रूपमें फैली हुई है। तब क्या अहं परिणामी है?

पहले यह देखना चाहिये कि अहंका स्वरूप क्या है? क्या वह एकदेशी है? परन्तु यह कैसे हो सकता है? वह देश, उसके अवान्तर भेद और उसके अभावको देखता है। अहंने ही बुद्धिवृत्तिके द्वारा देशकी सृष्टि की है। एक देश और सर्व देश उसीकी उद्भावना हैं। वृत्तियोंके ही अन्तर्भूत हैं। तब भला देश अहंको सीमित कर सकता है? क्या विभिन्न वस्तुएँ अहंको सीमित कर सकती हैं? परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं दीखता। सभी वस्तुएँ उसीमें हैं। वह सब वस्तुओंमें अहं अहंके रूपमें स्फुरित हो रहा है। अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें, उनके भेदकोंमें, व्यष्टि-समष्टि प्रकृतिमें और उसके परे भी अहंका साम्राज्य है। सब एक घन अहं है, और उसमें अहं शब्द लक्षणाके द्वारा तभीतक प्रवृत्त होता है जबतक इदंकी सत्ता दीखती रहती है। इदं शब्दकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जानेपर अहं शब्दकी भी प्रवृत्ति नहीं होती और एकरस अनिर्वचनीय वस्तुतत्त्व ही रह जाता है। और वह है ही। कालके द्वारा भी उसके परिच्छेदकी सम्भावना नहीं है। स्वयं काल भी बुद्धिकी सृष्टि है। वह अनन्त चित्में आरोपित है, जैसे अनन्तका एक अंश असम्भव है वैसे ही कालके अवयव और निर्वचन भी असम्भव हैं। काल, देश और वस्तु सब उसीमें हैं, वही हैं। अहं ही सब है। अहंकी दृष्टिसे यह सब प्रपञ्च कुछ नहीं, अहं ही सब है। यदि सबकी भी कुछ सीमा हो तो उसके परे भी अहं है। उसमें परिणाम होनेके लिये न अवकाश है, न पोल है और न तो उससे बाहर कोई स्थान ही है। उसका परिणाम कब, कहाँ, कैसे और किस रूपमें हो सकता है। सब उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा व्यक्तित्व भी उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा अहं भी उसीका आभास है। मेरा वास्तव अहं तो वही है। अहं ब्रह्मास्मि। व्यष्टि और समष्टि दोनों कल्पित हैं, उपाधि हैं, दोनोंमें स्फुटित होनेवाला शुद्ध चैतन्य एक है।

महात्माजीने आगे कहा—इस प्रकार सोचते-सोचते मैं अन्धकार और प्रकाशकी तहमें पहुँच गया। मैंने देखा, अनुभव किया कि एक ही सत्य है। उसे प्रथम पुरुषके द्वारा कहा जाय या उत्तम पुरुषके द्वारा। बात एक ही है। मध्यम पुरुषके द्वारा भी उसका वर्णन कर सकते हैं। वास्तवमें वह अनिर्वचनीय है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं हैं। और भेदका निषेध भी नहीं है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम्। सत्यं शिवं सुन्दरम्। मैं मस्त हो गया। मस्ती बेमस्तीसे परे हो गया। मैं वैसा था ही,

जान गया। नहीं-नहीं कुछ नहीं जाना। जो जान लिया गया वह—नहीं। दूरमथो विदितादविदितादधि।

मैंने और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया। तीनों शरीर, तीनों अवस्थाएँ और तीनों अभिमानियोंका विश्लेषण किया। पञ्चकोष और पञ्चभूतोंका अन्त कर डाला। सुख दुःख, पाप-पुण्य, आकर्षण-विकर्षण, स्थिति-गति, जड-चेतन ये सब-के-सब दो भावोंसे ही कसौटीपर कसे जा सकते हैं। एक बाध्य और दूसरा अबाध। अबाधका निर्वचन तो बाध्यकी अपेक्षासे ही होता है—परन्तु निर्वचन न होनेपर भी अबाधकी वस्तुसत्ता अबाध ही रहती है। वही स्वरूप है। वही सर्वथा अबाध है।

स्वरूपका निश्चय हो जानेपर जगत् और जगत्के मिथ्यात्व दोनों ही बाधित हो जाते हैं। तब वस्तुतत्त्वको पुरुष-दृष्टिसे भगवान्, स्त्रीदृष्टिसे माता, नपुंसकदृष्टिसे ब्रह्म कहते हैं। जगत्के अतिरिक्त वस्तुतत्त्वको जान लेनेपर जगत् उससे भिन्न नहीं रहता। जगत् उसमें समन्वित हो जाता है। तब जहाँ कहीं जिस रूपमें उसीके—अपने ही दर्शन होते हैं। नहीं भी होते हैं। होना-न-होना दोनों ही स्वरूप हैं।

सर्वं यदयमात्मा। अयमात्मा ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत्……। सद्धीदं सर्वम्, चिद्धीदं सर्वम्।

महात्माजी कहते-कहते तन्मय हो गये। वे मानो मस्त होकर गायन करने लगे। कुछ देरतक उनकी वाणी रुक जाती। कुछ समय बोलते रहते। सुरेन्द्र, नरेन्द्र और ज्ञानेन्द्र—तीनों ही उनकी बात सुन रहे थे।

'आत्मा ही सब है। भगवान् ही सब हैं। माया क्या है? मिथ्या क्या है? सब स्वरूप है। सब सत्य है। सत्यको पाना नहीं है, वह प्राप्त है। उसको धारण करना नहीं है, वह धृत है। पाना भी उसे ही है, धरना भी उसे ही है। क्या लीला है? क्या माधुरी है? अनन्त भगवान्! सब भगवान् सब अपना आपा।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहᳪ श्लोककृदहᳪ श्लोककृदहᳪ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथम जा ऋतास्य।

× × ×

कितना रस है? कितनी मिठास है? आनन्द और शान्तिका अनन्त समुद्र उमड़ रहा है। उसमें सारा विश्व आत्मविस्मृत होकर डूब-उतरा रहा है। उसमें इतनी मादकता है कि अपने-आपको भूलकर, उसको भूलकर सब उसीमें उसीको ढूँढ़ रहे हैं। भगवान्से ही भगवान्को पूछ रहे हैं। आत्मा ही आत्माका अनुसन्धान कर रही है। ज्ञान ही ज्ञानके लिये आतुर हो रहा है। कैसी लीला है? कितना सुन्दर खेल है? जो खिलाड़ी है वही खिलौना है और वही खेल है। देख भी वही रहा है। देखते-देखते तन्मय होकर भूल भी वही रहा है। अपने खेलमें स्वयं ही रीझ गया है। यही खेलकी पूर्णता है। सम्पूर्ण रसमय, सम्पूर्ण मधुमय और सम्पूर्ण आनन्दमय।

× × ×

पवित्रता, शान्ति और आनन्द। सम्पूर्ण साधनोंका सूक्ष्म रूप यही है। जहाँ 'पापोऽहं' की भावना है, वहाँ भी अन्तस्तलमें पवित्रताका स्रोत है। वह आज न तो कल फूट निकलेगा और सारी प्रकृतिको एवं अणु-परमाणुओंको पवित्रतामय कर देगा। केवल पवित्रताकी चेष्टा हो। आत्मामें, परमात्मामें, हृदयमें छिपी हुई मूर्छित, सुप्त पवित्रताको ढूँढ़ निकाला जाय, जगा लिया जाय। चाहे जैसे हो—जपसे, तपसे, प्रार्थनासे, ध्यानसे, ज्ञानसे, कर्मसे, भक्तिसे, पापोऽहंसे, शिवोऽहंसे। राग और विराग दोनों ही पवित्रताके साधन हैं। पवित्रता ही शान्तिकी जननी है। शान्तिमें ही आनन्द है। अपवित्र शान्त नहीं हो सकता। अशान्त सुखी नहीं हो सकता। पवित्रता, शान्ति और आनन्द ये—परमार्थके मूलस्वरूप हैं।

× × ×

तब फिर कूद क्यों न पड़ें पवित्रताकी उस अनन्त धारामें? कब और कहाँ? अभी और यहीं। प्रतीक्षा दुर्बलताकी द्योतक है। एक पगली छलाँगमें ही क्यों न कूद पड़ें? तब क्या हम कूदे हुए नहीं हैं? कूदे हुए हैं। परन्तु हम हैं कहाँ? हमारा मन, हमारा हृदय, हमारी आँखें हमसे दूर हैं। जहाँ हम हैं, वहाँ वे नहीं। यही तो वैषम्य है। जहाँ हम हैं, वहीं सब रहें। हम हैं अमृतमें। वास्तवमें हम अमृतमें हैं। परन्तु हमारा मन विषमें है। हम वर्त्तमानमें हैं, वह भूत या भविष्यमें है। हमसे दो चार हाथ दूर रहना उसका स्वभाव है।

अपवित्रता, अशान्ति और दुःखका यही कारण है।

इसे समेट लें, अपने पास बुला लें। जहाँ हम रहें, वहीं मन रहे। हमारा सेवक, हमारा यन्त्र हमारे अधीन, हमारे पास, हमारे वसमें रहे। बस हमारी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे। यही पवित्रताकी साधना है। इसे अभी पूर्ण कर लें। हाँ, अभी। शायद विलम्ब और विलम्बकी सृष्टि कर दे। शायद क्या निश्चय ही। तब फिर अभी।

× × ×

मन दूर क्यों जाता है? किस वस्तुकी अपेक्षा है? उपेक्षा क्यों नहीं कर देता? अप+ईक्षा अर्थात् अन्धता। उपेक्षा अर्थात् तटस्थ दृष्टि (उप+ईक्षा)। वह किसी वस्तुको तटस्थ रहकर नहीं देखता। उसके साथ घुलमिल जाता है, अभिनिविष्ट हो जाता है। यह अपेक्षा, अन्धता अर्थात् अज्ञान ही उसे अन्यत्र ले जाता है। अपेक्षा अन्धी है। उपेक्षा सदृष्टि है। यह दृष्टि ही ज्ञानका स्वरूप है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें, दोनोंसे तटस्थता रहे तो अपेक्षा होवे ही नहीं। फिर मन अपनेसे दूर न जाय, अपने पास रहे, अपने सामने रहे। अपना ही रस, अपना ही आनन्द लेने लगे।

× × ×

संकल्प ही सारे प्रपञ्चका मूल है। संकल्प ही न किया जाय। संकल्प न करनेका भी संकल्प न किया जाय। तटस्थ दृष्टिकी भी अपेक्षा न रहे। जो हो रहा है—होने दो। जो कुछ किसीके सम्बन्धमें कहा-सुना जा रहा है—कहा-सुना जाने दो। तुम निःसंकल्प रहो। अपने आपमें रहो। भगवान्में रहो। संकल्पका त्याग होते ही निष्काम कर्म होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही भगवान् और उनकी लीलाके दर्शन होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही आत्मसाक्षात्कार हो जायगा। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अपेक्षाका जनक है। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अज्ञान है। अपना संकल्प तो करना ही क्या है? केवल आत्मा है, भगवान् हैं, ज्ञान है, आनन्द है। संकल्परहित अद्वैत है। बिना दोका एक है। शान्ति है, आनन्द है। सर्व-असर्व एक है।

× × ×

सुरेन्द्र! तुम संकल्पहीनताका अभ्यास करो। भगवान्की इच्छासे सामने जो कर्त्तव्य आ पड़े, उसे बिना आसक्तिके कर डालो। पूर्व संकल्प मत करो। भूलो मत। अपेक्षा मत करो। फल मत सोचो। भविष्यकी ओर दृष्टि मत दो। अपना काम करते चलो। कर्मकी पूर्णता फलमें नहीं है। उसकी पूर्णता उसकी ही पूर्णतामें है। प्रत्येक क्रिया पूर्ण है। केवल आँखें उसपर जमी रहें। दृष्टिकी चञ्चलता ही चञ्चलताकी जननी है। स्थिर हो जाओ। अभी स्थिर हो जाओ। तुम स्थिर ही हो, तुममें गति है ही नहीं। अब यहाँसे जाकर अपने वर्णाश्रमधर्मका सेवन करो। आदर्शको ढूँढ़ो मत। तुम स्वयं आदर्श बनो। तुम स्वयं आदर्श हो।

× × ×

नरेन्द्र! तुम भगवान्‌को देखो। भगवान्‌की लीलाको देखो। बाह्य वस्तुओंके संकल्प त्याग दो। तुम्हारे सामने इसी क्षण भगवान् और उनकी लीला दोनों ही प्रकट हो जायँगे। उनके अतिरिक्त और है ही क्या? केवल संकल्पने ही बाह्य वस्तुओंकी सृष्टि कर रक्खी है। इन्हें रोकते ही, इनका त्याग करते ही भगवान्‌की लीलाके दर्शन होते हैं। अभी छोड़ दो। अन्तर्लीलाकी अनुभूति हो जानेपर बाह्य जगत् भी भगवान्‌की लीला ही हो जाती है। वास्तवमें सब भगवान्‌की लीला ही है। अपने अपेक्षापूर्ण संकल्पोंका त्याग कर दो। वासनावासित मनोराज्यकी उपेक्षा कर दो। एक बार उपेक्षा कर देनेपर ही उपेक्षित वस्तु उस रूपमें न रहेगी। भगवान् तुम्हारा कल्याण कर रहे हैं। तुम अन्तर्जगत्में प्रवेश कर रहे हो। मैं तुम्हारी अन्तर्मुखता देख रहा हूँ। शान्ति, शान्ति, शान्ति। तुम्हें भगवान्‌की लीला दीख रही है।

× × ×

ज्ञानेन्द्र! तुम संकल्प और उनके अभावके साक्षी हो। वहीं, साक्षी और साक्ष्यका भेदभाव तुममें नहीं बनता। तुम हो, तुम्हीं हो, तत्त्वमसि, यह कहना भी नहीं बनता। न तुम्हें परम सुखकी अपेक्षा है और न तो परम ज्ञानकी। तुम्हीं सब हो। तुम स्वयं पूर्ण हो। पूर्ण रहो। पूर्ण रहोगे। पूर्ण-ही-पूर्ण है। परमार्थ-ही-परमार्थ है। पथ भी परमार्थ ही है। जहाँसे पथ प्रारम्भ होता है, वह भी परमार्थ ही है।

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

× × ×

सुरेन्द्र निष्कामभावसे शान्त बैठा था। नरेन्द्रको सर्वत्र भगवान्‌की लीलाके दर्शन हो रहे थे। ज्ञानेन्द्र स्वरूप-समाधिमें मग्न था। गंगाजी बह रही थीं। महात्माजी हँस रहे थे!

दृढ़निश्चयी भक्त श्रीव्यासदासजी

(लेखक—श्रीनवलकिशोरदासजी विद्यार्थी)

ओड़छा (बुन्देलखण्ड) के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें पण्डित सुमोखन शर्मा शुक्ल राज्यपुरोहित एक माननीय पुरुष थे। उनके वचनको ओड़छानरेश और उनकी सब प्रजा मानती थी। उनकी धर्मपत्नीके गर्भसे विक्रमसंवत् १५६७ मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमीके दिन एक सुपुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। जिसका शुभ नाम हरिराम रक्खा गया। यह लड़कपनसे ही बड़ा बुद्धिमान् मालूम होता था; सबको प्रिय लगता था। पं० शुक्ल सुमोखन शर्माजीने अपने इकलौते प्रिय पुत्रको भलीभाँति विद्याभ्यास कराकर सब प्रकारसे सुयोग्य परम विद्वान् बना दिया, और जैसे उपनयनसंस्कार किया वैसे ही यथासमय बड़े समारोहसे एक सुशीला कन्याके साथ उसका विवाह भी कर दिया।

अपने पूज्य पिताकी सुकीर्तिको बढ़ानेवाले पण्डित हरिराम शर्माकी विद्याका चमत्कार चमक उठा और उनकी ख्याति दिन-दूनी फैलने लगी। बड़े-बड़े विद्वान् शास्त्रोंका मर्म समझनेके लिये इनके पास आने लगे। उन सबको आप शास्त्रोंकी व्याख्या करके सन्देहरहित करके लौटाने लगे।

अरथ पुरान सकल समुझावैं। संसै कोऊ रहन न पावैं॥

इस प्रकार थोड़े दिनोंमें ही इनकी खासा प्रसिद्धि हो गयी। जिस समय इनके पूज्य पिताजी स्वर्गवासी हुए और उनकी जगह राज्यपुरोहितका कार्य आप करने लगे, उस समय ओड़छानरेश महाराजा मधुकरशाहजी थे। वे इनकी विद्वत्तापर मुग्ध थे।

पण्डित श्रीहरिराम शर्मा शास्त्रोंके आधारसे धर्म-कर्मके प्रत्येक विषयमें वाद-विवाद करके अपना मत विशेष मान्य करानेमें बड़े निपुण थे। जहाँ कहीं किसी विद्वान्का नाम सुन पाते, तुरंत उसके पास वहीं शास्त्रार्थके लिये जा पहुँचते। इनके साथ राज्यकी ओरसे अङ्गरक्षक रहते थे। इनके शास्त्रार्थकी प्रसिद्धि भी दूर-दूरतक खूब फैल चुकी थी। एक समय आप काशी पधारे। प्रतिष्ठित राजपुरोहित और एक प्रखर विद्वान्का आना सुनकर काशीके अच्छे-अच्छे गणनीय विद्वान् इनसे मिलनेके लिये आये। शास्त्रचर्चा हुई—उसमें इनकी उत्कृष्टता रही। पश्चात् इन्होंने श्रावण मासमें वहाँके प्रसिद्ध विद्वानोंकी सम्मति लेकर वेदोक्त वृहद्विधि-विधानसे सर्वप्रकार साङ्गोपाङ्ग काशी-विश्वनाथका अभिषेक कराया। उसी रात्रिको सोतेमें राज्यपुरोहितजीने एक स्वप्न देखा। शुक्लाम्बरधारी साधुके वेषमें सदाशिव इनके पास आकर बोले—'मैं बहुत कालसे इस काशीमें निवास करता हूँ। आपकी विद्याकी बड़ाई सुनकर आया हूँ, मेरी एक छोटी-सी शंकाका समाधान आप कर दीजिये।' वह शङ्का यह है कि—'विद्याकी पूर्णता कब है?' उत्तरमें इन राजपुरोहितजीने कहा—'भगवन्! सत्यासत्यको

यथार्थ जानकर प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त किया जाय, तब है।' यह उत्तर सुनकर भोलेबाबा बोले—'अहो पण्डितराज ! आप जितना दूसरोंको समझाते हैं उतना स्वतः क्यों नहीं समझ रहे हैं? आपकी विद्यामें यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। इस त्रुटिको दूर करनेके लिये आपको प्रयत्न करना चाहिये। जब प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त करनेमें ही विद्याकी पूर्णता है, तब भला वाद-विवादसे वह पूर्णता कैसे प्राप्त होगी ? वह पदार्थ एकमात्र भक्तिसे लभ्य है और विद्याकी पूर्णता भी भगवद्भक्तिमें ही है। भक्तिके बिना इस विद्याकी पूर्णता नहीं है; विद्याकी पूर्णताके लिये भगवद्भक्ति करनी चाहिये। अतः अब, 'वही पढ़ विद्या जामें भक्तिकौ प्रबोध होय।' इस स्वप्नने इनके जीवनको पलट दिया, अब तो 'वही पढ़ विद्या जामें भक्तिकौ प्रबोध होय' यह सूत्र इनके जीवनको प्रधान कर्तव्य बन गया। जिसकी विद्वत्ताके आगे बड़े-बड़े सुपण्डित परास्त हो चुके थे वही आज 'जिसमें भक्तिका प्रबोध होय' ऐसी विद्या पढ़नेकी चिन्तामें डूब रहे हैं। यह कुछ निराली ही पहेली है।

पं० श्रीहरिराम शर्मा व्यास अपने वाद-विवादोंके साधन बड़े-बड़े पोथोंको बाँधकर काशीसे सीधे अपने मुकाम ओड़छाको चले आये किन्तु वह रटन चित्तमें चौगुनी बलवती हो चली। अब तो बाल-बच्चे, धन-धाम, काम-वाम, मान-बड़ाई सभी बातें इन्हें भार-सी—व्यर्थ-सी मालूम होने लगीं।

ऊँचौ मन, गुरु करनौ बिचारै। ऐसौ करौं जु पार उतारै॥
कबहूँकै रैदास सुहावै। कबहूँ मत कबीरकौ भावै॥
कबहूँ पीपापर मन राखै। कबहूँ श्रीजयदेवहि भाखै॥
कबहूँ नामदेव सुधि आवै। कबहूँ रंकहि-बंकहि गावै॥

किन्तु ठीक किसी एक निश्चयपर नहीं पहुँचे। इनके सौभाग्यसंयोगवश श्रीराधावल्लभ (आद्यब्रह्म) सम्प्रदायाचार्य वंशयवतार अनन्तश्रील श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीके शिष्य संत श्रीनवलदासजी भ्रमण करते-विचरते ओड़छा जा निकले। इनको देखकर पण्डितराज अति प्रसन्न हुए, मिले और उनको आदरपूर्वक कुछ दिन अपने पास रखकर इन्होंने सत्सङ्ग किया। सत्सङ्गसे श्रीराधाकृष्ण युगलस्वरूपकी अभिन्नता और नित्य-लीलाका रहस्य मिला। रहस्यको प्रकट करनेवाले श्रीहितप्रभुजीकी उपस्थिति सुनी।

'भगवत' दुख बिसर्यौ सुनत, नवलबचन सुख-सीर।
संवै सूल रु भ्रम नस्यौ, निरमल भयौ सरीर॥

श्रीहितप्रभुजीको गुरु करनेकी उत्कण्ठा देख महात्मा श्रीनवलदासजी इनसे बोले, वृन्दावन चलकर दर्शन कीजिये और उन्हींसे दीक्षा लीजिये। अब तो पण्डितजीको गृहस्थाश्रम एक पूरा जंजाल दिखायी देने लगा और सब छोड़-छाड़कर बाबाजी बननेकी धुन सवार हो गयी। तुरंत—

'व्यास' अवास कुटुम्ब बिहाई। वृन्दावन गमने हरषाई॥

मार्गमें बहुविध मनोरथ करते जाते थे।

हरि मिलिहैं मोहि वृन्दावनमें।
साधु बचन मैं साँचे जाने, फूल भई मेरे मनमें॥
बिहरत संग देखि अलिगन-युत निविड़ निकुञ्जभवनमें।
नैन सिराइ पाइ गहिबी तब, धीरज रहिहै कवनमें॥

अब न और कछु करनै रहनै है वृन्दावन।
होनौ होइ सो होइ किनि, दिन-दिन आयु घटति झूँठे तन॥
मिलिहैं हित ललितादिक दासी रासमें गावत सुनि मन।
जमुना-पुलिन कुंज-घन बीथिनि बिहरत गौरस्यामघन॥
कहु सुत सम्पति गृह दारा, काटहु हरि मायाके फंदन।
व्यास आस छाड़हु सबहीकी कृपा करी राधा-नँदनंदन॥

इस प्रकार मन-ही-मन मनोरथ करते ये वि० सं० १६०० के लगभग कार्तिक मासमें श्रीवृन्दावन-धाममें महात्माजीके साथ आये। यमुनाजीमें

स्नान करके श्रीजीके मन्दिरमें आये। उस समय श्रीहितप्रभुजी भगवान् श्रीराधावल्लभजीको राजभोग धरानेके निमित्त रसोई बनानेका कैङ्कर्य कर रहे थे। उसी समय पण्डितजीने उनसे बातें करनी चाहीं। आग्रह देख श्रीमदाचार्यने चूल्हेपर टोकनी रक्खी थी, उसे उतारकर नीचे रख दी और जलसे अग्निको शान्त कर दिया। यह देख तुरंत पण्डितजी बोल उठे—रसोई और चर्चा दोनों काम साथ ही हो सकते थे। कारण कि—

करिबौ धरिबौ करकौ धर्म। कहिबौ सुनिबौ मुख श्रुति मर्म॥
(अ० रसिकमाल)

इसके उत्तरमें श्रीमहाप्रभुजीने सारभरी बात इस प्रकार कही—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहँ तहँ बिपति जार जुबती लौं प्रगट पिङ्गला गायौ॥
द्वै-तुरंगपर जोर चढ़त हठि परत कौन-पै धायौ।
कहि धौं कौन अंकपर राखै, जो गनिका सुत जायौ॥
(जैश्री) हितहरिबंश प्रपंच-बंच सब काल-ब्यालकौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम-स्यामा पदकमल-संगी सिर नायौ॥

इस हितसिद्धान्तको श्रवण करते ही पण्डितजीको विशेष उपदेश यह हुआ कि, 'यह समस्त प्रपञ्च कालरूप सर्पसे ग्रसित है; इसका अन्त अवश्य है। ऐसा हृदयमें विचारकर जिसने श्रीश्यामाश्याम-पादपद्मानुरागी जनोंको सिर नवाया, वह काल-ब्यालके गालसे बचा—अर्थात् वही जीवन्मुक्त हुआ।' यह उपदेश पण्डितजीको बहुत रुचा, ये दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थनापूर्वक बोले—'अब कृपा करके आप मुझे दीक्षा दीजिये और अपना किंकर कीजिये।'

श्रद्धा लखि 'निज-मंत्र' सुनायौ। भयौ ब्यासके मनकौ भायौ॥
(अनन्य रसिकमाल)

अब तो यथाविधि दीक्षा प्राप्त करके ओड़छाके राजपुरोहित पण्डित श्रीहरिराम शर्माजी श्रीजीकी शरण पाकर श्रीव्यासदास बन चुके; एक विरक्त वैष्णवके रूपमें दिखायी देने लगे* और वृन्दावनधाममें सेवाकुञ्जके समीप एक मन्दिर निर्माण कराकर हित-पद्धतिसे सेव्य युगलकिशोर-स्वरूप श्रीराधाकृष्ण पधराकर अत्यन्त लाड़ लड़ाने लगे। थोड़े ही दिनोंमें वृन्दावनके कोने-कोनेमें 'व्यासजीकी जोरी' के नामसे प्रभु कहाने लगे।

रहसि बिलास महोत्सव पागे। श्रीगुरु साधुनि सेवन लागे॥

संत श्रीनवलदासजीका उत्तम आभार मानकर, दीक्षाके तत्त्वको विचार करके और प्रेमा-भक्तिके महत्त्वको समझकर आप कहने लगे—

हौं बलिहारी संतकी, कियौ बहुत उपकार।
हरि-सो धन हिरदै धरयौ, छुटा दियौ संसार॥
और—

स्याम निबेरयौ सबसौं झगरौ।
निज-दासनिके दास करे हम पायो नाम अचगरौ॥
देवी-देवा भूत-पितर सबहीकौ फारयौ कगरौ।
पावन गुन गावत तन सुधरयौ तब रसिकन पथ डगरो॥
मिटि गई चिंता मेरे मनकी छूटि गयौ भ्रम सगरौ।
चार पदारथहूँतें न्यारौ 'व्यास' भगति-सुख अगरौ॥

यहाँतक इनके शिष्य होनेके सम्बन्धमें संक्षेपमें लिखा गया। अब आगे इनके सात्त्विक जीवन, जगत्‌में संतजनोंको क्या-क्या बाधाएँ भोगनी पड़ती हैं और उनके बीचमें विरक्त-वैष्णवका जीवन किस कसौटीपर पहुँचता है, एवं साधुकी

---

* निजमन्त्रोपदेशेन माया दूरमुपागता।
कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्म कथ्यते॥
(नारदपञ्चरात्र)

यह 'मन्त्र' हितस्वामिनि श्रीश्रीराधिकाजीने कृपा करके विक्रम संवत् १५४१ चैत्र शुक्ला पूर्णिमा सोमवारके दिन श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीको प्रदान किया था। इसी मन्त्रकी दीक्षाद्वारा जो शिष्य-प्रशिष्य हुए, उनके द्वारा हित-सिद्धान्तका विशेष प्रचार हुआ है।

सहनशक्तिका प्रभाव सांसारिक जीवनके ऊपर कैसा पड़ता है, इन सब दृष्टियोंसे इनके जीवनकी कुछ खास-खास घटनाओंका उल्लेख यहाँ 'कल्याण' के प्रेमी पाठक महानुभावोंके आनन्दार्थ किया जाता है।

प्रतिदिनकी भाँति इनके यहाँ आज भी दर्शकोंका जमघट जम रहा था, रासमें युगलस्वरूपका नृत्य हो रहा था, रंग छा रहा था; अनुपम आनन्द आ रहा था। इसी समय श्रीराधिकाजीके चरणकमलसे घुंघरू टूटकर पृथक् हो गया। आप वहीं बैठे थे ही, तुरंत 'नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ महत-सभा-मधि रासके' यह देख दर्शक लोग बोले-व्यासदासजी! यह आपने क्या किया जो यज्ञोपवीतको पगमें बाँध दिया? आपने उसी समय उत्तर दिया कि 'बहुत दिनोंसे इसको ढोया था, आज अच्छे मौकेपर इसे बहुत सुन्दर काममें लगा दिया। इससे अच्छा इसका उपयोग और क्या हो सकता है। भगवच्चरणोंकी प्राप्ति ही तो सब धर्मोंका लक्ष्य है। इसीलिये मैंने आज इस शुभावसरमें इस सूत्रको परमइष्ट श्रीकृष्ण-प्राणाधिका राधिकाजीके चरणोंमें समर्पण कर दिया है। यही तो इस सूत्रका सौभाग्य है।' सुनकर सब भावुक आनन्दित हुए।

कुछ वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् इनका पता ओरछानरेशको मिला। उन्होंने इनको लिवा ले जानेके लिये अपने मन्त्रीको भेजा। मन्त्री वृन्दावन आकर इनसे मिला। महाराजाका लिखा पत्र दिया और सब समाचार कह सुनाये। आप 'हाँ, ना' कुछ न बोले—पूरा महीना बीत चला, तब मन्त्रीने कहा, 'आपको बुलानेके लिये मुझे भेजा गया है: महाराजा आपको दिन-रात याद किया करते हैं; आप ओरछे पधारें।' यह सुनकर आप मन्त्रीसे बोले—

कहाँ हों, वृन्दावन तजि जाउँ।
मोसे नीच पोचकौ अनत न हरि बिनु और न ठाउँ॥
सुख-पुंजनि-कुंजनिके देखत विषय-विषै क्यौं पाउँ।
एक आगिकौ डाढ़्यौ दूजी आगि माँझ न बुझाउँ॥
एक प्रसन्न न मोपर, निसिदिन छिनि-छिनि सबै कुदाउँ।
राधा-रँवन सरन बिनु अब हौं काके पेट समाउँ॥
भोजन छाजनकी चिन्ता नहिं मरबेहू न डराउँ।
सिर सिंदूर व्यास धार्‌यौ अब ह्वै हैं स्याम सहाउँ॥

इस उत्तरसे मन्त्रीने जान लिया कि 'इनका मन चलनेका नहीं है। और अधिक कहनेमें भी कुछ सार नहीं है।' तब विचारकर उसने एक उपाय रचा; श्रीव्यासदासजी यमुनाजीमें स्नान करने गये थे। पीछेसे समय पाकर मन्त्रीने श्रीहित महाप्रभुजीसे बहुत कुछ प्रार्थना करके अपना अभिप्राय प्रकट किया। अन्तमें महाप्रभुजी बोले—'अच्छा, दर्शन करने आवेगा तब व्यासदासको कुछ कहेंगे।' इस बातका पता यमुनाजीपर श्रीव्यासदासजीको लग गया कि 'आज आपको ओरछा जानेके लिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा देनेवाले हैं।' आप आज्ञाके भयसे वहीं झाउओंमें छिप रहे; दर्शन करनेतक नहीं गये। तीन दिन बीत गये तब श्रीमहाप्रभुजीने इनको ढूँढ़नेके लिये अपने शिष्योंको आज्ञा दी; उन्होंने बहुत कुछ खोज की तो यह झाउओंके आड़ छिपे पड़े मिले। गुरुदेवका बुलावा सुनकर आप उठे और बोले 'ठहरो! मैं स्नान कर लूँ, फिर चलूँ।' यमुनाजीपर आकर बड़ी देरतक स्नान करते रहे, शीघ्र चलनेको कहा गया तो घाटपर कोयला घिसकर मुखपर बहुत-सी कारिख पोत ली और एक गदहा साथमें ले लिया; चले गुरुदेवके दर्शन करने। यह देख रसिकजनोंने इनसे पूछा, आज आपने यह कैसा स्वाँग रचा है? आपने उत्तर दिया, 'जिनकी शरणमें आकर मैंने श्रीवृन्दावन-धामका निवास पाया है और अपने जीवनका लाभ लेता हूँ वही मेरे श्रीगुरुदेव आज मुझे इस वृन्दावनधामको छोड़कर जानेकी आज्ञा करेंगे;

तब निश्चय ही मुझे जाना ही पड़ेगा। इसलिये अब श्रीवृन्दावनधामका निवासरूप जो परमपद है इससे उतरकर नरकमें पड़ना ही होगा; श्रीवृन्दावनधामको छोड़कर निकलते समय कारिख मिली-न-मिली। इसीसे मैंने पहले ही पोत ली।' यह बात व्यासदासजीकी प्रतीक्षामें बैठे हुए श्रीआचार्य महाप्रभुजीके कानोंतक पहुँच गयी। सुनकर वे बहुत दुखी हुए; मनमें पछतावा करने लगे; हृदय भर आया। मन्त्री वहीं बैठा था, उसको आपने तत्काल साफ उत्तर दे दिया कि—'मैं उस बड़भागी व्यासदाससे श्रीवन छोड़कर आपके साथ जानेके सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहूँगा।' अब तो श्रीव्यासदासजीको खबर मिली और निश्चय हुआ कि 'मेरे श्रीगुरुदेव मुझे वह बात नहीं कहेंगे।' तुरंत कारिख धोकर दर्शन करने आये। गद्गद होकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीमहाप्रभुजीने इनके निमित्त श्रीमहाप्रसाद धर रक्खा था वह पवाया। दर्शन करके अपने मुकाममें गये तो मन्त्रीने पुनः बड़े आग्रहसे वही बात चलायी। आपने तुरंत कह दिया अच्छी बात है, कल होने दो। दूसरे दिन आपने कहा 'अब चलनेकी तैयारी करो। मैं श्रीगुरुदेवके दर्शन कर प्रसाद लेता हूँ।' मन्त्रीने समझा यह आज भी कहीं जा न छिपें। इसलिये मन्त्री और मन्त्रीके सभी साथी इनके साथ हो लिये। श्रीजीको राजभोग लग चुका था और महाप्रसाद पाने संत पुरुषोंकी पंक्ति बैठी थी। पंक्ति प्रसाद पाकर जब उठी तो नित्य-नियमानुसार श्रीव्यासदासजीने संतोंका जूठन लेकर पाया।* यह देख साथमें आये हुए चतुर इनसे घृणा करने लगे और आपसमें विचार किया कि, 'अब ये राज्यपुरोहितजी बिल्कुल विटल चुके; ब्राह्मण नहीं रहे; अपने वहाँ ले चलेंगे तो यह और सबको भी विटलावेंगे। अतएव इनको यहीं रहने देना ठीक है। महाराजाको समझा देंगे।' इस प्रकार निश्चय करके डेरेपर आये और श्रीव्यासदासजीसे बोले 'अब हम सब वापिस जाते हैं। आप महाराजाको पत्र लिख दीजिये।' आपने लिखा—

रसिक-अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ ब्रजबासिनिसौं पाँति॥
गोत गुपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखण्डि हरिमन्दिर भाल।
हरि-गुन-नाम बेदधुनि सुनियत, मूँज पखावज, कुस करताल॥
साखा जमुना, हरिलीला षट्कर्म, प्रसाद-पान, धन रास।
सेवा विधि, निषेध जड़ संगति, वृत्ति सदा वृन्दावन वास॥
स्मृति भागवत, कृष्ण नाम संध्या तर्पन गायत्री जाप।
बंशी रिषि, जजमान कल्पतरु, 'व्यास' न देत असीस सराप॥

मन्त्रीने जाकर महाराजा मधुकरशाहको वह पत्र दिया और सब समाचार सुनाये। कहा 'वे राजपुरोहितजी अब आपके यहाँ पुरोहितीका काम करनेके योग्य नहीं रहे; विटल गये हैं; जो किसी वर्ण-धर्ममें नहीं हैं ऐसे साधुओंका जूँठन बचा हुआ खा लेते हैं और यज्ञोपवीत न जाने कबका तोड़ फेंका है।' यह सब सुना पर ओरछानरेश कुछ बोले नहीं।

परन्तु पुरोहितजीके बिना महाराजका जी बहुत उदास रहने लगा। तब उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि, 'पुरोहितजी सकलशास्त्रनिष्णात एक प्रसिद्ध पुरुष हैं। मन्त्रीके साथ नहीं आये, पर मेरे जानेसे वे अवश्यमेव आ जावेंगे।' यह विचार निश्चयकर स्वतः महाराजा श्रीव्यासदासजीको लेने वृन्दावन गये। कर्मचारीने आगे आकर खबर दी कि, 'आपके दर्शनार्थ आपके पास महाराजा आ रहे हैं।' तब ये मन-ही-मन कहने लगे—

---

* प्रेममगन नहिं गन्यौ कछु बरनाबरन बिचार।
सबनि मध्य पायौ प्रगट लै प्रसाद रस-सार॥
—आचार्य श्रीहित ध्रुवदासजी

मन मेरे तजिये राजा संगति ।
स्यामहि भुलवत दाम-काम-बस इन बातनि जैहै पति ॥
विषयनिके उर क्यों आवत हरि, पोच भई तेरी मति ।
सुख कहँ साधन करत अभागे निसिदिन दुख पावत अति ॥

इतनेमें महाराजा आ पहुँचे । पूर्वस्नेहके कारण परस्पर गद्गद होकर मिले; शिष्टाचार हो चुकनेके पश्चात् महाराज बोले 'आप ओरछे पधारिये ।' इन्होंने कहा—

अब मैं श्रीवृन्दावन-रस-पायौ ।
राधाचरन-सरन मन दीनौं मोहनलाल रिझायौ ॥
सूतो-हुतौ विषयमंदिरमें हितगुरु टेरि जगायौ ।
अब तौ 'व्यास' विहार बिलोकन सुक-नारद मुनि गायौ ॥

'भले, एक दिन रहकर वापस चले आइये; पर एक बार आप मेरे साथ ओरछे अवश्य चलिये ।' महाराजाने बड़े आग्रहसे ऐसा कहा, तब आपने कह दिया 'अच्छा विचार करेंगे ।' महाराज अपने डेरेपर गये । ये प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—

मेरे तनसों वृन्दावनसों हरि जिनि होइ बिछोह ।
अरु यह साधु-संग जिनि छूटौ, ब्रजवासिनसों छोह ॥

जब महाराजा इनसे मिलें, तभी चलनेकी चर्चा किया करें परन्तु ये उनको 'आज अमुक फूलबंगलाके दर्शन करो; आज मेला देख लो; आज श्रीवृन्दावनधामकी चलिये परिक्रमा तो कर ही लीजिये फिर न जाने कब आना हो ? आये न भी आये । अतः जो अवसर है इसका लाभ ले लेना चाहिये, अच्छा तो अब दो रात्रि और निवास कर लीजिये पीछे देखा जायगा ।' तदनन्तर श्रावणके झूलोंका बहाना करने लगे । इस प्रकार नित्य बहाने करके समय बिताने लगे । ऐसे बहानोंमें हेतु इनका यह व्रत था—

जीवत मरत वृन्दावन सरनैं ।
सुनहुँ सचित ह्वै श्रीराधामोहन यह विनती मन धरनैं ॥
यह परमपुरुषारथ मेरौ और कछू नहिं करनैं ।
स्याम भरोसें, तेरे व्रतके नहीं 'व्यास' कौ टरनैं ॥*

महाराजाके आग्रहसे श्रीवनवासियोंने कुटुम्बी जनोंसे मिल आनेके बहाने, साथमें जानेके लिये कहा । आपने उसी समय उत्तर दिया, 'अरे वनवासी भाइयो ! मिलने किससे जाना, जब कि—

(श्री) वृन्दावनके रूँख हमारे मात पिता सुत बन्धु ।
गुरु गोविन्द साधु गति मति सुख फल-फूलनिकौ गन्धु ॥
इनहिं पीठि दै अनत दीठि करै, सो अन्धनिमें अन्धु ।
'व्यास' इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परै निकन्धु ॥

और—

वृन्दावन तजि जे सुख चाहत ते सब राच्छस प्रेत ।
व्यासदासके उरमें बैठ्यौ मोहन कहि कहि देत ॥

इनके परमदेवता संत महापुरुषोंने भी कहा 'श्रीव्यासदासजी ! आप संत-सेवी महात्मा हैं । यद्यपि जो उचित प्रतीत होगा आप वही काम करेंगे । तथापि हमारी सबकी सम्मति तो यह है कि जब राजाका आग्रह-पर-आग्रह है तो एक बार आप ओरछा हो आइये, इसमें महाराजाके मनको आनन्द होगा और आपको संत-सेवाके लिये अर्थ प्राप्त हो जायगा । अतः एक दिनके लिये वहाँ जानेमें क्या हानि है ।' इसके उत्तरमें महात्माजीने कहा—'प्रभो ! आपकी आज्ञा तो उचित ही है, किन्तु हमारे अनन्य परमधर्मकी रीति इससे नितान्त विपरीत है; वह यह है कि—

जाको उपासना ताहीकी वासना,
ताहीकौ नाम-रूप-गुन गाइयै ।
यहै अनन्य परमधर्म-परिपाटी,
वृन्दावन बसि अनत न जाइयै ॥
सोई व्यभिचारी आन कहै आन करै,
ताकौ मुख देखे दारुन दुख पाइयै ।
'व्यास' होइ उपहास आस किये,
आस-अछत कित दास कहाइयै ॥

* जो कोउ कहै, जा, व्रत छोड़ी ।
ताहि कहैं मति तोरि निगोड़ी ॥
(स्व० म० रघुराजसिंहजी)

और—

'व्यास' आस जौलगि हिये, जग-गुरु जोगी-दास ।
आस विहीनो जगतमें, जोगी गुरु जग-दास ॥

उपस्थित सब संत परधर्मी अनन्यरसिककी प्रशंसा करने और धन्य-धन्य कहने लगे । स्वतः ओरछानरेश बोले, 'आपको हमारे साथ अवश्य चलना ही पड़ेगा; बिना लिये हम न जायँगे । अब चलनेको तैयार हो जाइये ।' तब इन महात्माजीने अपना मनोगत भाव स्पष्ट कह सुनाया कि—

सुधारयौ हरि मेरौ परलोक ।
श्रीवृन्दावनमें कीन्हौ-दीन्हौ हरि अपनो निज ओक ॥
माताकौ-सो हेत कियौ हरि जानि आपनौ तोक ।
चरनधूरि मेरे सिर मेली और सबनि दै रोक ॥
ते नर, राच्छस कूकर गदहा ऊँट वृषभ गज बोक ।
'व्यास' जु वृन्दावन तजि भटकत ता सिर पनही ठोक ॥

सुनते ही महाराजने अपने कर्मचारियोंको आज्ञा दी कि, 'अब इनको पालकीमें धरकर ले चलो ।' सभी भृत्य पकड़नेको तैयार हो गये तब ये बोले, 'अच्छा तो अब मेरे सब भाई-बन्धुओंसे तो मिल लेने दो !' ऐसा कहकर आप एक कदम्ब-को बाँक भरकर बड़ी देरतक रोये । बल करके जैसे-तैसे छुड़ाया गया तो चटसे दूसरे कदम्बको लिपट पड़े; दूसरेसे छुड़ानेपर तीसरेसे चिपट गये । यह देखकर राजकर्मचारियोंने कहा, 'बस, मिल लिये, अब तो छोड़ो !' आप कहें अभी तो बहुत बाकी हैं; मुझे सबसे मिल लेने दो; रोते जायँ और कदम्बोंसे बोलते जायँ—'आपकी शरणमें मुझे सदा आनन्द रहता है; आप ही तो मेरे माता हो, पिता हो, भाई-बन्धु हो, मित्र हो, मेरी गति हो और परम पुरुषार्थ हो । पर आज आप मुझपर दया नहीं करते; मैंने आपको कोई कष्ट नहीं दिया; मुझे क्यों छोड़ते हो ? अरे रे, आपका वियोग मुझसे कैसे सहन हो सकेगा ? आप ही बताओ मुझसे ऐसा कौन-सा आपका अपराध बन गया जिससे आप इतने कुपित हो गये हैं ? भले, मेरे दुर्भाग्यवश आप मुझे न चाहो पर मैं जीते-जी आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा; आपके बिना नहीं जीऊँगा ।' इस प्रकार रोते, मिलते-करते चार प्रहर दिन बीतनेको आया । यह दशा देख एक वृन्दावनवासिनी बुढ़ियाने सरलतासे कहा—'अरे निपूते ! तोकों लै जाइबेके ताईं राजा मथै है तौ तूँ इतनौ हठ क्यों करै है, वाके संगमें छानों मानों चलौ—क्यों नाहिं जाय; दुःख क्यों उठावै ? कदम्बनिके ताईं बावरे ! क्यों मरौ परै है, ये कहूँ भाजि थोरे ही जायँगे; फिर आजइयौ ।' आपने कहा—

व्यास सुरसिकनकी रहनि, बहुत कठिन है वीर !
मन आनंद घटै न छिन सहै जगतकी पीर ॥

महाराजा श्रीमधुकरशाहजी, श्रीव्यासदास-जीके ऊपर मरे पड़ते थे; उनका हृदय टूटा पड़ता था, वे चाहते थे कि किसी प्रकार ये एक बार ओरछा चले चलें तो ठीक ! किन्तु उनका वह मनोरथ अनेक प्रयत्न करनेपर भी सफल न हुआ । अन्तमें निराश होकर ओरछाधिपति श्रीव्यासदासजीके आगे रो पड़े और लिवा ले जानेके कारण किये गये अपने कृत्यके लिये हाथ जोड़कर इनके चरणोंपर अपना मस्तक धरके उन्होंने क्षमा माँगी और कहा, 'आपने मेरे हठवश बहुत कुछ कष्ट उठाया; जीमें अत्यन्त क्लेश भोगा । मेरे अपमानजनक स्वार्थमय कुवचनोंको भी आदिसे अन्ततक आपने सहा; मेरे दुराग्रहकी हद हो गयी परन्तु आपने अपने मुखसे मुझे एक भी कठोर शब्द न कहा और न मेरे प्रति आपने अपने स्नेहको ही तोड़ा और न अपना दृढ़व्रत ही छोड़ा ।' संतजीने अपने सहज-सभावसे कहा—राजन् !

भगत बिनु केहि अपमान सह्यौ ।
कहा कहा न असाधुनि कीनी, हरि-बल धरम रह्यौ ॥

अधम-राज-मद-माते लै सिविका जड़भरत नह्यौ ।
निगड़ सहे वसुदेव देवकी, सुत-पटकत दुसह सह्यौ ॥
हरि-ममता प्रहलाद विषाद न जान्यौ, दुःख सहदेव दह्यौ ।
पट लूटत द्रौपदी नहिं मटकी, हरिकौ सरन गह्यौ ॥
मत्त-सभा कौरवनि विदुरसों कहा कहा न कह्यौ ।
सरनागत आरत गजपतिको आपुन चक्र गह्यौ ॥
हा, हरि ! नाथ ! पुकारत, आरत और कौन निबह्यौ ।
व्यास-वचन सुनि मधुकरसाह भक्तिफल सदा लह्यौ ॥

अतएव—

हरियों कीजै प्रीति निवाहि ।
कपट किये नागर-नट जानत सबके मनकी डाहि ॥
मैं फिरि देख्यौ लोक-चतुर्दस नीरस घर-घर आहि ।
अपनै अपनै स्वारथके सब मन दीजै अब काहि ॥
भक्ति-प्रताप न जानत विषई, भवसागर अवगाहि ।
जार-जुवति, गनिकाकौ बेटा पहिचानै न पिताहि ॥
जैसें प्यासौ मृग धावत नहिं पावत मृगतृस्नाहि ।
ऐसें तन धन सुत दारा झूँठे 'व्यास' मधुकरसाहि ॥

जो पूर्व धर्म-कर्मकी शिक्षा देनेमें कुशल राज्य-पुरोहित थे; वही अब श्रीभगवद्भक्तिकी दीक्षा देनेमें पूरे राज्यगुरु हैं। इस बातको महाराजाका हृदय स्वीकार कर चुका। मोहरूप रात्रिका पौ-फट हो गया। यहाँसे जीवन सफल करनेको मार्ग मिल गया। बार-बार नमन करने लगे और अपने भाग्यको धन्य कहने लगे। शिक्षाके साथ दीक्षा भी मिल गयी; जिनको लेने आये थे उनके हाथ अपने आप बिक चले !

जब ओरछाधिपति वापिस जाने लगे तो अपने पूज्य गुरुदेव श्रीव्यासदासजीकी आज्ञा लेने आये। उस समय राज्यगुरु अपने शिष्यका हाथ पकड़कर समीप बैठाकर बोले, 'जाते तो हो पर याद रखना—

मेरे, भक्त हैं देई देऊ ।
भक्तनि जानौ, भक्तनि मानौ, निज-जन मोहि बतेऊ ॥
माता पिता भैया मेरे भक्त दमाद सुजन बहनेऊ ।
सुख सम्पति परमेसुर मेरैं हरिजन जाति जनेऊ ॥
भवसागरकौ बेरौ भक्तै केवट बड़ हरि खेऊ ।
बूड़त बहुत उबारे भक्तन लिये उबारि जरेऊ ॥
जिनकी महिमा कृष्ण,कपिल कहि-हारे सर्वोपरि वेऊ।
व्यासदासके प्रान-जीवन-धन हरिजन बाल बड़ेऊ ॥

अतएव, देखना कहीं इनकी सेवामें चूक न पड़ने पावे।' स्वीकार कर, दण्डवत्-प्रणाम करके महाराजाने श्रीवनसे गमन किया। ओड़छा पहुँचे उसी दिनसे 'कण्ठी-धरि आवै कोइ, धोय पग, पीवै सदा' यह दृढ़ नेम निभाने लगे और भाव-भक्ति करने लगे—

जैसे 'उत्कर्षतिलक अरु दामकौ भक्त-इष्ट अति व्यासकैं' वैसे ही महाराजा भी साधु-वेषमें पूर्ण निष्ठावान् हुए, किन्तु परमभक्त श्रीमधुकरशाहजीकी दृढ़ निष्ठा और संत-सेवाके भावको न समझकर, उनके भाई-बन्धुओंने बहुत कुछ बाधा पहुँचानी आरम्भ की एवं उनको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। उनसे उकताकर महाराजाने अपने पूज्य श्रीगुरुदेवको श्रीवनपत्र लिखा। उस पत्रके उत्तरमें महात्माजीने लिखा—

होइब सोई हरि जो करि है ।
तजि चिन्ता चरन सरन रहि, भावी सकल मिटरि है ॥
करिहैं लाज नामा-नातेकी, यह विनती मन धरिहैं ।
दीनदयाल बिरद साँचो करि, हरि दारुन-दुख हरिहैं ॥
सिंघनि सिंघ बीच देख्यौ सुत, कैसें स्यारहि डरिहैं ।
ऐसें स्यामा स्यामै थरु है, डरिकैं कौन त्रिचरिहैं ॥
सुनियत सुक-मुनि-बचन चहूँ जुग हरि दोषनि संघरिहैं ।
साधुनकौ अपराध करत मधुकरसाह ! न ताहि गुदरिहैं ॥

१ गोस्वामी श्रीनाभाजीने 'भक्तमाल' (भक्त संख्या १५२ छप्पय ११७) में लिखा है—
'..........................
मधुकर नृप सरबसु दियौ ।
भक्तनिकौ आदर अधिक,
राजवंशमें इन कियौ ॥'
इसकी टीकामें श्रीप्रियादासजीने कहा है—
मधुकरसाह, नाम कियो लै सफल जातें,
भेष गुन सार ग्रहै, तजत असार है ।

राज्यपुरोहितानीजीने समझ लिया कि मन्त्रीके जानेसे न आये; और स्वतः महाराजाके जानेसे भी जो नहीं आये, वे अब यहाँ नहीं आवेंगे। अतएव अब मुझे ही उनकी सेवामें जाना चाहिये। यह विचार, वे अपने पतिसे मिल आनेके लिये महाराजसे आज्ञा लेकर पुत्रोंके साथ वृन्दावन आयीं। किन्तु श्रीव्यासदासजीने पूरी उदासीनता दिखायी, तब अन्य लोगोंने सिफारिश की कि, 'यह तो आपकी अर्धाङ्गिनी हैं; इनके साथ कठोरता करनी उचित नहीं है?' आपने उत्तर दिया कि—

जो तिय होइ न हरिकी दासी।
कीजै कहा रूप गुन सुंदर, नाहिन स्याम उपासी॥
तौ दासी गनिका सम जानौ दुष्ट कुटिल मसवासी।
निसिदिन अपनौ अंजन मंजन करत विषैकी रासी॥
परमारथ सुपनें नहिं जानत, अन्ध बँधी जम-फाँसी।
ताके संग रंग पति जैहै, तातें भली उदासी॥

यह सुनकर पुनः बोले, ऐसा करेंगे तो आपको इनका शाप लगेगा? पुनः उत्तर दिया—

तिनुका कैसें रोकि सकै पावस-प्रवाह-नदीकौ।
हरि अनुरागिनहिं लगै सराप न, सुर नर जती सतीकौ॥

तब तो सब चुप हो चले गये। इस सिद्धान्तका प्रभाव पुरोहितानीजीके हृदयपर पड़ा। वह समय पाकर इनके चरणोंमें गिरी और उसने दीनभावसे शरणमें रहनेकी प्रार्थना की कि 'आपकी जो आज्ञा होगी आपकी यह दासी उसे प्राणपणसे पालन करनेको प्रस्तुत है। आपके और आपके धर्म-प्रणके विपरीत रहकर यह जीना नहीं चाहती।' संतजी बोले—'अब तो यदि हरिदासी होकर वैष्णवोंकी सेवा करनी हो तब तो यहाँ तुम्हारा निर्वाह हो सकता है; नहीं तो नहीं।' स्वीकार कर लेनेपर शिक्षा-दीक्षा देकर उसका 'वैष्णवदासी' नाम रख दिया और उसे संत-सेवा करनेके कार्यमें लगा दिया। पुत्रोंके ऊपर माताकी स्वाभाविक ममता होती ही है अतः उनके लिये प्रार्थना की तो आप फिर वही बात बोले—

पूत मूतकौ एक-मग, भगत भयो सो पूत।
'व्यास' बहिरमुख जौ भयौ सो सुत मूत-कपूत॥

और—

हरि विमुखनि जननी जनि जावै।
हरिकी भक्ति बिनु कुलहि लजावै॥
हरि बिनु विद्या नरक बतावै।
हरि-नाम-पढ़ै साधुनि अति-भावै॥
हरि बोलि हरि बोलि कहूँ न ध्यावै।
हरि बोले बिनु 'व्यास' मुँह न दिखरावै॥

बहुत कहने-सुननेपर आप मान गये पर उनको आपने दीक्षा नहीं दी। एकने परम संत स्वामी श्रीहरिदासजीकी साधुताका बखान किया तो आपने उसको चतुर समझकर उनके शिष्य होनेकी आज्ञा दी; और उसने स्वामीजीसे दीक्षा ली; जो कि 'चतुर जुगलकिशोरदास' के नामसे प्रसिद्ध है। इसका संतोंमें अनुराग था।*

कुछ दिन संत-सेवा करते बीते। एक समय महात्मा श्रीव्यासदासजीने अपनी पूर्वगृहिणी किन्तु अब शिष्या-वैष्णवदासीमें नारी-स्वभाव-सुलभ काम-चेष्टाका कुछ ढंग देखकर उनको एकान्त-शान्तिमें समझाया—

विनती सुनिये वैष्णवदासी।
या सरीरमें बसत निरंतर नरक व्याधि पित खाँसी॥
ताहि भुलाइ हरिहि दृढ़ गहियो, है सतसंग सुखरासी।
बढ़ै सुहाग ताहि मन दीजै और वराक विसासी॥

'ओरछे' कौ भूप भक्त-भूप सुखरूप भयौ,
लयौ पन भारी जाके और न विचार है॥
कंठी-धरि आवै कोइ, धोइ पग, पीवै सदा,
भाई दूखि खर-गर-डारयौ माल भार है।
पाँय पखाल, कही 'आज जू निहाल किये'
हिये द्रये दुष्ट पाँव गहे दृग धार है॥
(कवित्त ४८८)

* इनकी रची हुई कविता मिलती है। व्रज छोड़कर ये अन्यत्र कहीं नहीं गये।

ताहि छाँड़ि हित करौं औरसों, गरे परै जम-फाँसी ।
दीपक हाथ परै कूँवामें, जगत करै सब हाँसी ॥
सर्वोपरि राधापतिसों रति करत अनन्य बिलासी ।
तिनकी पद-रज-सरन व्यास कौं गति वृन्दावनवासी ॥

श्रीवैष्णवदासीजी समझ गयीं और तबसे उनकी कोई चेष्टा वैसी नहीं हुई। एक समय, रात्रिमें सदैवकी भाँति सब संत ब्यारू करने बैठे; साथ ही श्रीव्यासदासजी भी बैठे। वैष्णवदासी पूरी परसकर दूध परसने लगीं, परसती-परसती जब श्रीव्यासदासजीको परसने लगी तो संयोगवश इनके कटोरेमें दूधके साथ मलाई भी गिर पड़ी। वह दूध इन्होंने न पिया। ब्यारू हो चुकनेके बाद आपने कहा, 'तुमने यह क्या किया? और सब संतोंको दूध; मुझे दूध और मलाई दोनों! तुमने यह पंक्तिभेद किया; मेरे धर्मको तुम कलङ्क लगाना चाहती हो? तुम यहाँसे चली जाओ, इतना भेद-भाव रखनेवाली तुम अभी संत-सेवाके योग्य नहीं हो।' यों कहकर उसे सेवासे हटा दिया; उसकी एक न सुनी। उस दृढ़व्रतवाली देवीने भी यह प्रण किया कि संत-सेवा मिलेगी तो ही अन्न-जल ग्रहण करूँगी; नहीं तो नहीं। और ऐसा करके अन्न-जल लेना त्याग दिया। श्रीव्यासदासजीसे संत-जनोंने कहा, 'महात्माजी! आप अनजानमें हुई एक साधारण-सी बातपर इतना कठिन दण्ड देंगे तो आपके आश्रित जीवका भला निर्वाह कैसे होगा? उनका दोष भी तो नहीं है। यदि वे दूधसे पृथक् करके मलाई आपको लाकर देतीं, तब तो आपका यह उलाहना कुछ ठीक भी कहा जा सकता था किन्तु अपने-आप दूधके साथ आपके कटोरेमें मलाई गिर पड़ी इसमें उन बेचारीका क्या दोष? आपने उनको निकाल दिया यह हम सबको अच्छा नहीं लगा। और आप यह कहें कि, उन्होंने यह भूल ही क्यों की, तो बात यह है कि, 'जो सेवा करता है उससे भूल भी कभी हो ही जाती है, तब क्या उसे निकाल देना उचित है या समझा देना? उनका जी दुखाया है; उन्होंने आज तीन दिन हुए अन्न-जलतक नहीं लिया है। क्षमा कीजिये'—

तिय हित विनय संत सब कीन्हें ।
ऐसो तब करार करि दीन्हें ॥
भूषण बेंचि जो संत खवावै ।
तौ मेरे घर आवन पावै ॥
(रामरसिकावली)

यह सुनते ही उस वैष्णवदासीने तुरन्त अपने अङ्गके सब आभूषण उतारकर बाजारमें बेच दिये।* और उस रकमसे रसोई बनानेका बहुत-सा सामान खरीदकर मुकाममें पहुँचा दिया। अनेक प्रकारके पदार्थ बनवाकर सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीको भोग धराया। सभी संत-महात्माओंको निमन्त्रण दे, बुलाकर प्रसाद कराया और सब संतोंका चरणामृत और सीथ-प्रसाद उसने लिया।† तब दृढ़-धर्मी महात्माजीने पुनः वैष्णवदासीको संत-सेवा सौंपी। आप ऐसे पूरे विरक्त और संत-सेवी थे। इसी प्रकार परमभाग्यवती देवीजीने भी जब अपने प्रणके अनुसार दृढ़-धर्मीसे संत-सेवा ले ली तभी प्रण छोड़ा और महाप्रसाद पाया। लोगोंने चर्चा की कि, 'देखो! इसने अपने पतिके जीते-जी सब शृङ्गार उतार दिया; जरा भी लोक-लाज न रक्खी?' इसपर परमभक्तिमति श्रीवैष्णवदासीजी कुछ न बोलीं, पर महात्माजीने सबको सुनाया—

व्यास भक्ति सहगामिनी टेरैं कहत पुकारि ।
लोक-लाज तब ही गई, बैठी मूँड़ उघारि ॥

* कहते हैं बाईस हजार रुपयोंके हुए थे।

† तब निज भूषण बेंचिके, नारी अति हरषाय ।
संत समाज बुलाइके, सादर दियौ पवाय ॥
(स्व० म० श्रीरघुराजसिंहजी रीवाँ)

ओरछासे परमभक्त महाराजाने सेव्य श्रीजुगलकिशोरजीको धारण करानेके लिये स्वर्णकी एक नकसीदार सुन्दर वंशी बनवाकर भेजी। उसको आप बड़े चावसे प्रभुके करमें धारण कराने लगे। कुछ मोटी थी; जिससे प्रभुकी अँगुली किञ्चित् छिल गयी; रक्त निकल आया। यह देख आपने वंशीको पटक दिया और तुरन्त जलमें भिगोकर एक कपड़ा अँगुलीमें बाँध दिया।* मनमें बहुत पछताये; महाप्रसाद नहीं पाया। वंशीको दोष देने लगे। सायङ्काल प्रभुने अपने आप वंशी धारण कर ली जिसको देखकर आप अत्यन्त आनन्दित हुए।

किसी समय महाराजाकी भेजी हुई एक सुन्दर जरकसी पाग आयी। आप प्रभुके मस्तकपर बाँधने लगे किन्तु नयी और जरकसी होनेके कारण जैसी बाँधनी चाहते थे वैसी बँधती नहीं थी; खिसक जाती थी। ऐसे बहुत बार खिसकती देख झुँझलाकर उसे वहीं छोड़के—'लीजिये, मेरी बाँधी पसन्द न आती हो तो आप ही बाँधिये' कहते हुए रिसियाकर सेवा-कुञ्जके दरवाजेपर जा बैठे। यहाँ प्रभुने स्वयं पाग बाँध ली। दर्शकोंने इनकी बड़ाई की कि, 'आपको धन्य है; आज आपने प्रभुको बड़ी सुन्दर पाग बाँधकर हमको दर्शनोंका लाभ दिया'। इतना सुनते ही आप तुरंत दौड़े आकर देखते हैं तो सचमुच मनमानी पाग बाँधी है। गद्गद हो गये। प्रेमावेशमें बोल उठे—'अरे सुघड़ सलोने! तुझे अपनी ही बाँधी पसंद है; खूब सुन्दर बाँधी है। इसके सामने भला मेरी बाँधी क्यों पसन्द करने लगा?'

सन्त श्रीव्यासदासजी भजनभावना और रासरंगमें जितने रँगे रसिक थे उतने ही सन्त-सेवा करनेमें भी पूरे परमार्थी थे। इनके पास सदैव सन्तजनोंकी मण्डली आती-जाती रहा करती; ये सबके आगे विनम्रभावसे हाथ जोड़े रहते, उनको सब प्रकार सुख देते; सन्तोंका आना इनको बड़ा प्रिय लगता, पर उनका जाना दुःखका कारण बन जाता। इसलिये जहाँतक बनता ये सन्तोंको रोक रखनेका प्रयत्न करनेमें कोई कसर नहीं करते, पुनः आनेकी प्रार्थना भी करते। सन्त भी इनके शीलस्नेहयुक्त निश्छल स्वभावके कारण इनके पास चिरमे रहते।

वे कहा करते—

श्रीवृन्दावनमें मंजुल मरिबौ।
जीवन्मुक्त सबै ब्रजबासी पद-रजसों हित करिबौ॥
जहाँ स्याम बछरा लै गायनि चौंपि तृननिकौ चरिबौ।
हरि बालक गोपिन-पय-पीवन हरि आँकौ-भरि-मिलिबौ॥
सात रात दिन इन्द्र रिसानौ गोबरधन करपर धरिबौ।
प्रलय मेघ मघवाहि विमद करि कहि सबसों नहिं डरिबौ॥
अघ बक बकी विनासि राम रचि सुखसागरमें तरिबौ।
कुंजभवन रति-पुंज चयनि करि राधाके बस परिबौ॥
ऐसे प्रभुहि पीठि दै लोभ-रति माया जीवनि जरिबौ?

एक सन्त पुरुष इनकी सरल साधु-वृत्ति, सन्त-सेवा और सहनशक्तिके यशको सुनकर परीक्षा लेने पधारे। मन्दिरके भीतर प्रवेश करते ही भोजन माँगा—बोले, हमारे रामको बड़ी क्षुधा सता रही है; शीघ्र भोजन कराओ; भूखे नहीं रहा जाता है? ये हाथ जोड़कर बोले, 'सन्तजी! प्रभुको भोग धराये बिना आपको कैसे भोजन कराया जाय? आइये, शान्तिसे विराजिये, बहुत देर नहीं है; थोड़ी देरमें अभी राजभोग लगेगा, धीरज रखिये।' इतना सुनते ही सन्तजी इनको गालियाँ-पर-गालियाँ देने लगे। सन्तसेवी श्रीव्यासदासजीने मौन होकर बैठे-बैठे उनकी वह सब गालियाँ ऐसे सुनीं, जैसे कोई अपने प्रशंसाके वचन सुनकर

* वह वस्त्र आज भी आपके परमधन प्रभु अपनी अँगुलीमें बाँधे रहते हैं। अब 'पन्ना'में हैं। श्रीव्यासदासजी निकुञ्ज पधारे, पश्चात् महाराजा वृन्दावनसे ले गये। वृन्दावनमें उनकी जगह दूसरी जुगल मूर्ति विराजमान हैं। स्थल व्यास घेरेके नामसे प्रसिद्ध है।

प्रसन्न होता है। दर्शकोंमेंसे किसीने उनको यह कहकर गालियाँ देनेसे मना करना चाहा कि 'आपका ऐसा क्या काम बिगाड़ दिया है जो गालियाँ दे रहे हो।' इतनेमें इन्होंने तुरंत यह कह समझाया कि यह गालियाँ नहीं हैं।

'व्यास' बड़ाई औरकी जु मेरे मन धिक्कार।
संतनकी गारी भली यह मेरौ सिंगार॥

इतनेमें भगवान् श्रीयुगलकिशोरजीके राजभोग लग चुका तब महात्माजीने एक बड़ा थाल भरकर सन्तजीके आगे रक्खा और हाथ जोड़कर बोले, 'कृपा करके आप यह प्रसाद पा लीजिये। जो बाकी रही हो उन्हें फिर देना।' सन्तजी प्रसाद पाने बैठे और यह उनको हवा करने लगे। सन्तजीने महाप्रसाद पाकर बची हुई जूठनकी थाल यह कहकर इनके मस्तकमें मारी कि 'ले, यह तेरा भाग है।' महात्माजीने बार-बार उनके चरणोंमें अपना मस्तक नवाया और वह सब जूठन समेटकर आप पाने लगे।

अब, परीक्षक संत पुरुषजीसे न रहा गया। वह अत्यन्त आनन्दित होकर, धन्य-धन्य कहने लगे; चरण छूने लगे और बोले मैं आपकी साधुसेवाकी उत्कृष्टताको सुनकर परीक्षा करने आया था; इसमें सन्देह नहीं कि उस सुनी हुई बातसे कई गुना अधिक आप निश्छल, सात्त्विक और श्लाघनीय महात्मा हैं। ये बोले 'यह सब आप संतोंकी परम कृपाका प्रताप है। इसीसे मुझे—

भावत हरि-प्यारेके प्यारे।
जिनके दरस परस हरि पाये, उघरे भाग हमारे॥
दूरि भये दुख-दोष हृदयके कपट कपाट उघारे।
भवसागर बूड़त हमसे अपराधी बहुत उबारे॥
भूत पितर देई देवा-सों झगरे सकल-निवारे।
सुक मुखवचन रचन कहि कोटिक बिगरे 'व्यास' सुधारे॥

परीक्षक संत अपनी साधुताको इनकी साधुताके आगे तुच्छ मानने लगे।

इनकी महाप्रसादनिष्ठा भी अपूर्व थी। ये अपने सेव्य श्रीयुगलकिशोरजीका महाप्रसाद तीन सौ साठ दिन समान रीतिसे सेवन करते थे; अपने इष्टदेवके जो पदार्थ भोग लग चुका उस श्रीमहाप्रसादके एक कनिकाको ही समस्त व्रतोंसे विशेष महत्त्वयुक्त व्रत मानते थे; और इसमें ये दृढव्रती थे। इस इनके महाव्रतमें यदि कोई नूतन सन्त इनके यहाँ आते और वह एकादशीके दिन महाप्रसाद पाते देख शङ्का करते तो आप उनको तुरंत कह दिया करते थे कि—'भगवन्! मैं एकादशीका भक्त नहीं हूँ; मैं—

(श्री) राधावल्लभकौ हों भावतौ चेरौ।
राधावल्लभ कहत सुनत ही, मन न नेम जम केरौ॥
राधावल्लभ वस्तु भूलिहूँ कियो अनत नहिं फेरौ।
'राधावल्लभ व्यासदासकें' सुनहुँ स्रवन दै टेरौ॥*

इसी हेतुसे—

हमारी जीवनि-मूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटन सब प्रतिवाद॥†
जो षट्मास-व्रतनि कीनें फल, सो इक सीथके स्वाद।‡
दरसन पाप नसात, खात सुख, परसत मिटत विषाद॥

* कहनी करनी करि गयौ, एक व्यास इहि काल।
लोक वेद तजिके भजे सु राधावल्लभलाल॥
(श्रीहितध्रुव-वाणी)

† यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते॥

‡ षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम्।
विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतां कलौ॥
(स्कन्दपुराण)

'छः महीनेतक एकादशी इत्यादि व्रत-उपवास करनेसे जितना फल शास्त्रोंमें लिखा है, उतना फल तो भगवान् श्रीहरिके नैवेद्यका कणमात्र पानेसे प्राप्त हो जाता है।'

एकादशीसहस्रेण द्वादशीनां शतेन च।
यत्फलं लभते गौरि विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात्॥
(पद्मपुराण)

देत लेत जो करै अनादर सो नर-अधम गवाद ।§
व्यास प्रीति परतीति रीतिसों जूँठनिते गुन नाद ॥

यह अपने परमपूज्य श्रीगुरुदेव हितप्रभुजीकी भाँति विधि-निषेधके झंझटसे एकदम पृथक् थे। आप जबतब कहा भी करते 'व्यासहि अब जिनि जानियौ, लोक वेदकौ दास।' अन्तमें, आप अपना अहोभाग्य किस प्रकार मानते हैं। यह भी देखने ही योग्य है। कहते हैं—

तन अबहीकौ कामै आयौ।
साधु-चरनकौ संग कियौ जिनि हरिजूकौ नाम लिवायौ ॥
धन्य वदन मेरौ जिनि रसिकनकौ जूठौ खायौ।
रसना मेरी धन्य, अनन्यनिकौ चरनोदक प्यायौ ॥
धन्य सीस मेरो, श्रीराधा-रवन-रेनु-रस लायौ।
धन्य नैन मेरे, जिनि वृन्दावनकौ सुख दिखरायौ ॥
धन्य श्रवन मेरे, श्रीराधा-रवन-विहार सुनायौ।
धन्य चरन मेरे, श्रीवृन्दावन गहि अनत न धायौ ॥
धन्य हाथ मेरे, जिनि कुंजनिमें मन्दिर छायौ।
धन्य व्यासके श्रीगुरु जिनि, सर्वोपरि रङ्ग बतायौ ॥

× × ×

व्यास भक्तिकौ फल लह्यो, वृंदावनको धूरि।
हितहरिवंश प्रतापतें, पाई जीवनि-मूरि ॥

इनका परिचय रसीले सुलेखक श्रीवियोगी-हरिजीने अपनी प्यारी लेखनीसे जिन मधुर शब्दोंमें दिया है वह इस प्रकार है—

भक्त-सिरोमनि 'व्यास', ओरछा नगर-निवासी।
श्रीहरिवंश प्रसंस-सिष्य हित-धाम विलासी ॥
अनुरागी रसमसो रँगीलो राधा-पीको।
बिधि-निषेध मग त्यागि पान किये घूँट अमीको ॥
राधावल्लभ सेइ निगमकी कानि न राखी।
व्रज-विहार-पद गाय कही अति साँची साखी ॥
रसिकाभरन अनन्य 'व्यास', जय आनँदरासी।
श्रीव्रजचन्द्-चकोर राधिका-चरण उपासी ॥

बँधुएका विलाप

न्यायकारी भगवन्!

आपके निर्धारित नियमानुसार किसी अप्राकृतिक अत्याचारके अक्षम्य अपराधके ही कारण जाति-जननीकी संकीर्ण कुक्षि-कोठरीके भीतर पाञ्चभौतिक पिंजरेमें विवश बँध जाना पड़ा। इस अवधिके पूर्ण होनेपर अपने, विश्वमण्डलान्तर्गत, पारिवारिक पंक-परिधिमें धँस गया। जहाँ आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक त्रयतापकी चारों ओर फैली हुई चहारदिवारीमें घिरा रहना पड़ रहा है। प्यारे प्रभु! क्या अक्षय आनन्द-भण्डारमें इस पतित जीवनका भी आश्रय भाग है? दयानिधे! इस बँधुएके विलापको अन्तरात्मामें व्यापकरूपसे श्रवणकर भी अपनी दयादृष्टिसे वञ्चित ही रक्खेंगे? हे करुणामृतवारिधे! इस पापपंकपूरित पतित जीवनको शीघ्र ही शुद्धकर अपने अक्षय आनन्दगोदमें आश्रय देनेकी दया कर अनुगृहीत करें।

—दुःखित स्वामी देवानन्द सरस्वती

'हजारों एकादशी, सैकड़ों द्वादशी इत्यादिका व्रत करनेसे जो फल होता है, वह फल केवल श्रीहरिका महाप्रसादसेवनमात्रसे होता है।'

§ स्वतः एकादशी ऋषि-मुनियोंके समक्ष कहती है—

प्रसह्य हरिदत्तान्नं ये भुञ्जन्ति नरोत्तमाः। तान् विलोक्य पवित्राहमेकादशी द्विजोत्तमाः ॥
(नारदपञ्चरात्र)

'जो उत्तम मनुष्य बलात्कारसे भी श्रीहरिप्रसादको मेरे दिन पाते हैं, हे उत्तम द्विजो! उनको देखकर (उनके दर्शनसे) मैं एकादशी स्वतः पवित्र होती हूँ।'

सुखी जीवन

(लेखिका—बहिन श्रीमैत्रीदेवीजी)

[गताङ्कसे आगे]

एक दिन सौभाग्यसे सुमतिकी शान्तिदेवीसे फिर भेंट हुई। तब सुमतिने उनसे कहा—'बहिनजी! उस दिन आपने कहा था मैं मनुष्य-धर्म बताऊँगी, जिसके जान लेनेपर तुम स्वाभाविक कर्म करने लगोगी। दुःख-सुख तुम्हें स्वरूपसे विचलित न कर सकेंगे। आज ईश्वरकी कृपासे फुरसतका दिन है, मुझे वे सब धर्म कृपा करके सुनाओ। हे बहिन! पहले मुझे बताओ कि धर्म किसे कहते हैं? उस दिन जब मैं अपने एक सम्बन्धीके घर गयी थी तो वहाँ धर्मके विषयमें अजब-अजब राय दी जा रही थी।'

शान्तिदेवी—तुम मुझे वहाँकी बातें तो सुनाओ?

सुमति—जब मैं वहाँ पहुँची, उस समय वहाँ उपस्थित सज्जनोंमें धर्मपर बातचीत हो रही थी। उनमेंसे एक सज्जन बोले—अजी! इस धर्मने तो हिन्दोस्तानको तबाह कर दिया! दूसरे साहब बोले—औरतें तो समझने लगीं कि हम सत्संगमें जरूर जायँगी। हमारा यही धर्म है। वहाँ नयी-नयी बातें सुनकर आती हैं। घरमें आकर उपदेश करने लगती हैं—झूठ नहीं बोलना चाहिये, किसीको सताना न चाहिये आदि-आदि। भला, उनकी बात मानें तो दुनिया-में काम ही कैसे चले? अजब नाकमें दम कर रक्खा है। तीसरे महाशय बोले—अजी सुनिये तो! मेरी एक भाभी हैं। मैं उनका हाल आपको क्या सुनाऊँ? उनकी लीला और धर्म निराला ही है। वे नहाकर धोये हुए कपड़े पहन लेती हैं और कुछ कपड़ा नहीं पहनतीं। एक बोरी बिछाकर उसपर बैठ जाती हैं फिर ठाकुरको नहलाती, खिलाती, और न मालूम क्या-क्या करती हैं। जरा-सा कोई छू ले, तो कुछ न पूछिये। उनको फिरसे नहाकर साड़ी बदलनी पड़ती है। अरे भाई! हमारे देशका तो इस पूजा और धर्मने नाकोंदम कर दिया!

सुमतिने फिर कहा—बहिन! क्या बताऊँ। एक पुलिसके अफसरने तो ऐसी बात कही कि उसे सुनकर मेरा तो जी घबरा गया! मैं उसे कह नहीं सकती!

इतनेमें एक सज्जन बोल उठे—'भाई साहब! माफ़ करना। मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। मेरी बातको ध्यान देकर सुनना। अरे भाइयो! सच्ची बात तो यह है कि जबसे विदेशकी हवा हमारे यहाँ आयी, तभीसे हमारी तबाही शुरू हो गयी। अब तो वह हवा इतनी तेज हो गयी है कि उससे पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो गया है। इस हवाके झोंकेमें पड़े हुए लोगोंमें धर्मको कोई नहीं जानता! धर्म और पूजासे नहीं, दुर्दशा तो हो रही है इस साहबियतसे। हम आज आँख मूँदे दूसरोंकी नकलपर उतर रहे हैं और नकल भी अच्छी बातोंकी नहीं करते। अपने धर्म, अपनी सभ्यता, अपने रहन-सहन और अपनी रस्मरिवाज हमें आज जरा भी नहीं सुहाती। विदेशी सज्जन ऐसा नहीं करते परन्तु हम तो इसीमें अपना कल्याण समझते हैं। यदि हम धर्मको समझ लें, किसका क्या धर्म है यह जान लें और अपने-अपने धर्मको ठीक-ठिकानेसे निबाहें तो हमारी गृहस्थीमें सुख और शान्तिका साम्राज्य हो जाय। एक सेवा-धर्मको ही लीजिये। यह मुख्य धर्मोंमेंसे एक है। मगर आजकल मानो सेवाका खयाल ही मनुष्योंके दिलसे निकल गया है। पुत्र पिताकी, बहू सासकी,

भाई भाईकी, स्त्री पतिकी सेवा करना नहीं जानते। यदि कोई अपना धर्म समझकर सेवा करता है और बड़ोंकी आज्ञामें चलता है, तो उसे ये साहेब लोग यह कहकर चिढ़ाते हैं कि तुम बुद्धू हो! भोंदू हो! अरे भाई! यदि स्त्रियाँ नहाती-धोती हैं, शुद्ध कपड़े पहनती हैं, ठाकुरजीका पूजन करती हैं और सत्-संगमें जाती हैं तो इसमें बुराई ही क्या है? यह तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। हाँ, झूठ बोलना, चोरी करना, बुराई करना, किसीका दिल दुखाना, घमंडमें भरकर दूसरोंका निरादर करना, और नाहक किसीपर दोष लगाना बुरा है। अपनेको ऊँचा, दूसरोंको नीचा मानना बहुत ही बुरा है। इन कामोंके करनेमें तो बुराई नहीं माळूम होती, सारी बुराई पूजापाठमें ही दीखती है!'

इसके बाद फिर कोई कुछ न बोला। मैं इन बातोंको बड़े ध्यानसे सुनती रही। अब आप बताइये, धर्म क्या है?

शान्तिदेवी—प्यारी सुमति! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। परन्तु मैं तुम्हें अपनी बुद्धिके अनुसार वह साधारण धर्म सुनाऊँगी जो हम गृहस्थियोंको जरूर पालन करना चाहिये। इस धर्मपर मैं तुम्हें एक पुरानी कथा सुनाती हूँ।

ब्राह्मण और व्याध

कौशिक नामका एक ब्राह्मण था। वह सब द्विजोंमें श्रेष्ठ नित्य वेदोंको पढ़नेवाला था। तप ही उसका धन था। वह सदा धर्ममें लगा रहता था। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण व्याकरण आदि अंगों और उपनिषदोंके साथ वेदोंका अध्ययन करता था। जिस वृक्षके नीचे वह रोज़ तप किया करता था उसी वृक्षपर बैठे हुए एक पक्षीने एक दिन ब्राह्मणके ऊपर बींट कर दी। बींट पड़ते ही ब्राह्मणको बड़ा क्रोध हो आया और गुस्सेमें भरकर उसने ऊपरकी ओर देखा। पक्षीपर उसकी नजर पड़ते ही पक्षी तड़फड़ाकर जमीनपर आ गिरा! पक्षीको अपने सामने गिरा देख उसे बहुत ही दुःख हुआ। वह पछताने लगा और अपनेको धिक्कारने लगा। क्रोधमें आकर मैंने गरीब पक्षीको बिना विचारे भस्म कर दिया। बेचारे पक्षीके लिये तो विचार न होनेके कारण सब कुछ समान है। इसीसे वह चाहे जहाँ भोजन कर लेता है और चाहे जहाँ बींट कर देता है। परन्तु मैं तो मनुष्य था। मैंने यह क्या अनर्थ किया? जो निरपराध पक्षीको मार दिया? मोह और क्रोधके वश होकर मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला? इस तरह ब्राह्मण पश्चात्ताप करता रहा। भिक्षाका समय हो गया था। इसलिये वह उठा और सीधा शहरकी ओर चल पड़ा। एक सदाचारी गृहस्थके दरवाजेपर खड़े होकर उसने भिक्षाके लिये आवाज़ लगायी। जिस समय घरकी मालकिन भिक्षा देनेको उठना चाहती थी उसी समय उसके पतिदेव आ गये और बोले 'प्रिये! जल्दी भोजन परस दो, मुझे अभी फिर जरूरी कामसे बाहर जाना है।' इतना सुनकर वह झटपट थाली परोसकर पतिको भोजन कराने लगी। ब्राह्मणने भिक्षाके लिये फिर आवाज़ लगायी। जब वह भिक्षा लेकर पहुँची तो ब्राह्मण कुछ क्रोधमें भरकर बोले—'पहले भिक्षा देनी चाहिये या घरका काम करना चाहिये? हमें 'ठहरो' ऐसा कहकर पतिको भोजन कराने लगी? क्यों?' वह स्त्री बड़ी शान्तस्वभावकी थी। बोली—'महाराज! मैं तो पतिसेवाको ही सबसे बड़ा धर्म समझती हूँ। उनके किसी काममें देर न हो जाय, इसका सदा ध्यान रखती हूँ। इस समय वे भूखे थे और उन्हें अभी फिर बाहर जाना था। आपने देखा। कितनी जल्दी खाकर चले गये?'

ब्राह्मण—यह तो ठीक है परन्तु शास्त्रोंमें तो लिखा है कि अभ्यागत अतिथि, ब्राह्मणको भोजन कराकर फिर गृहस्थको भोजन करना चाहिये।

स्त्री—हाँ, मैं जानती हूँ, परन्तु महाराज!

मैं तो पतिको देवता ही मानती हूँ। शास्त्रमें पहले देव-पूजन और उसके बाद अतिथि आदिके सत्कारकी बात लिखी है।

ब्राह्मण—तू पतिको देवता मानती है सो तो ठीक है। परन्तु पति-पत्नीका सम्बन्ध लोभ, मोह और संसारासक्तिके कारण ही तो है। पतिको देवता मानना स्त्रीका धर्म है। पर याद रख! ब्राह्मण अतिथिका सत्कार पति-सेवासे बढ़कर है। तूने ब्राह्मण-सेवामें इतनी देर लगायी है। इससे एक विद्वान् ब्राह्मणका बड़ा अपमान हुआ है। क्या तू जानती नहीं कि ब्राह्मण आगके समान तेजस्वी होता है?

ब्राह्मणको क्रोधमें भरा देखकर देवी बोली—'हे तपोधन ब्राह्मण! कृपाकर अपने क्रोधको शान्त कीजिये। मैं जंगलकी चिड़िया नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे जलकर भस्म हो जाऊँ। हे ब्राह्मण! मैं खूब जानती हूँ। ब्राह्मणको क्रोध जल्दी आता है। पर साथ ही वे उतनी ही जल्दी प्रसन्न भी हो जाते हैं। मेरे अपराधको क्षमा करके कृपया शान्त होकर मेरी बात सुनिये।' इतना सुनकर ब्राह्मणने कहा—

ब्राह्मण—देवी! पहले मुझे यह बता कि जंगलकी बात तूने कैसे जानी?

स्त्री—यह पति-सेवाका ही प्रभाव है जिससे मुझे आपकी कोपदृष्टिसे पक्षीके मरनेका हाल मालूम हो गया।

ब्राह्मण—हे देवी! इस प्रकार दूरकी बातको जान लेना बड़े तपका परिणाम है। तूने कौन-सा तप किया है सो मुझे बता।

स्त्री—'हे ब्राह्मण! पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं पति-सेवाको ही मुख्य समझती हूँ। सास-ससुर आदि बड़े लोगोंकी सेवा करना और हर प्रकारसे उन्हें प्रसन्न रखना मैं अपना कर्तव्य मानती हूँ। मैं हर समय ऐसे ही काम करती हूँ जिससे घरके सब लोग मुझसे प्रसन्न रहें। मैं जानती हूँ जो सबको अपने समान समझता है, जो प्राणसंकट आ पड़नेपर भी सत्य बोलता है, अपनेसे बड़ोंकी सेवा करता है, स्वयं हानि सहनेपर भी दूसरोंका नुकसान नहीं करता, किसीके द्वारा सताये जानेपर भी उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता वही सच्चा धर्मात्मा और तपस्वी है। जो जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ, पवित्रहृदय होकर कामक्रोधको जीते हुए रहता है देवताओंने उसीको ब्राह्मण कहा है। हे ब्राह्मण! ब्राह्मणका धर्म वेद पढ़ना और वेदकी शिक्षानुसार सबको समदृष्टिसे देखना है और तुम ब्राह्मण होकर भी इसे नहीं जानते! क्रोध तो मनुष्यमात्रका शत्रु है। हे ब्राह्मण! तुमने वेदोंका अध्ययन किया है, तुम धर्मशील भी हो। तुम्हारा चाल-चलन भी पवित्र है। परन्तु मेरी समझमें तुमने धर्मका असली मर्म नहीं समझा है, सिर्फ पढ़ते ही हो, समझकर उसपर अमल नहीं करते। जब तुम पढ़नेके अनुसार वैसे ही काम भी करने लगोगे तब तुम सचमुच ब्राह्मण बन जाओगे। हे ब्राह्मण! यदि तुम धर्मके तत्त्वको जानना चाहते हो तो मिथिलापुरीमें जाओ, वहाँ एक धर्मव्याध रहता है। उसके पास जाकर सीखो कि मनुष्यका धर्म क्या है? मुझे आशा है वहाँ जानेसे तुम धर्मके तत्त्वको जान जाओगे! हे ब्राह्मण! धर्म जान लेनेपर ही कल्याण हो जाता है। तुम एक तपस्वी ब्राह्मण हो और मैं एक गृहस्थ स्त्री हूँ। यदि मैंने कुछ अनुचित कहा हो तो क्षमा करना।' इतना कह स्त्री ब्राह्मणको प्रणाम करके अन्दर चली गयी।

'नारायण हरि' कहता हुआ ब्राह्मण मिथिलाकी ओर चल दिया। रास्तेमें सोचता जाता था कि धिक्कार है मेरे अभिमानको। जंगलमें रहा, गरमी-सरदी सही, भूख-प्यासको रोका परन्तु क्रोध और अभिमानको न छोड़ सका। हाय! मैंने इतनी आयु

व्यर्थ ही गवाँ दी। धर्मके तत्त्वको न जाना। इस देवीने मेरे हृदयमन्दिरमें उजाला कर दिया। अब देखना है वह धर्मव्याध क्या कहता है। बस, इसी उमंगमें जल्दी-जल्दी पैर उठाता और धर्मकी सूक्ष्म गतिपर विचार करता हुआ वह मिथिलामें जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने धर्मव्याधका पता पूछा, एक आदमीने पता बता दिया। जब ब्राह्मण वहाँ पहुँचा तो उसे दूकानपर मांस बेचते देखा। ब्राह्मण एक वृक्षके नीचे बैठ गया। जब व्याध अपने कामसे निपटकर दरवाजा बन्द करके अपने घर जाने लगा तब उसने वृक्षके नीचे साधुको बैठा देख उसे प्रणाम किया। और अपने साथ चलनेको कहा। व्याधने कहा—उस गृहदेवीने आपको मेरे पास जिस कामके लिये भेजा है उसे तो मैं जानता हूँ, उस सम्बन्धमें तो मैं आपसे निवेदन करूँगा परन्तु आप ब्राह्मण हैं और मैं व्याध हूँ। आपका स्वागत कैसे करूँगा, यही सोचता हूँ।

यह सुनकर ब्राह्मणको और भी आश्चर्य हुआ। सोचने लगा इस व्याधने मेरी और उस देवीकी सारी बातोंको कैसे जान लिया? बड़े आश्चर्यमें डूबा हुआ ब्राह्मण उसके साथ उसके घरपर जा पहुँचा।

ब्राह्मण—तुम्हारा यह घोर कर्म देखकर मुझे दुःख होता है। तुम इस बुरे कामको छोड़ क्यों नहीं देते? यह घोर कर्म कबसे करते हो?

व्याध—हे ब्राह्मण! मेरे बाप-दादा यही काम करते रहे हैं इसीसे मैं भी यही काम करता हूँ। विधाताने इस कुलमें उत्पन्न करके मेरे लिये जो कर्म नियत कर दिया है मैं उसीको करता हुआ अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा तन-मनसे करता हूँ। मेरा विश्वास है इसीसे मेरा कल्याण हो जायगा। मैं सदा सत्य बोलता हूँ। किसीसे द्वेष नहीं करता। जो बन जाता है, दान कर देता हूँ। अपने इष्टदेवका पूजन करके उनके भोग लगाता हूँ, फिर माता, पिता, अतिथि आदिको भोजन कराकर स्वयं खाता हूँ। जो स्वयं खाता हूँ, वही नौकरको देता हूँ। मैं कभी किसीकी बुराई नहीं करता। जो मुझसे बड़े हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। मांस बेचनेका काम करता हूँ पर बेईमानी नहीं करता। कभी कम या ज्यादा नहीं तौलता। किसीको धोखा नहीं देता। मैं खुद न तो पशुओंकी हत्या करता हूँ, न मैं मांस खाता ही हूँ। हे ब्राह्मण! मेरी कोई निन्दा करे अथवा बड़ाई, मैं उन दोनोंसे एक-सा बर्ताव करता हूँ। जो किसी समय मुझे शत्रु समझते थे वे भी इस समय मुझे मित्र मानते हैं। मैं जानता हूँ जो संतोषी रहकर कटु वचनोंको सहन करता है सभी उसके मित्र बन जाते हैं। हे ब्राह्मण! सबको अपने-अपने धर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, घृणासे धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। जो लाभ-हानिमें समचित्त रहता है, कष्ट आनेपर भी अपने धर्मपर आरूढ़ रहता है, धनके अभावमें भी जो नहीं घबराता, प्रशंसा करके दूसरोंको धोखा नहीं देता, अपनेको धोखा देनेवालेको भी धोखा न देकर सबकी भलाईमें लगा रहता है और सबसे प्रेम करता है वही धर्मात्मा है। हे ब्राह्मण! जो लोग यह कहते हैं हम धर्म-कर्म कुछ नहीं जानते, और धर्म पालनेवालोंकी दिल्लगी करते हैं वे ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण नहीं हैं। जो मनुष्य पाप करके यह समझे कि मैं पापी नहीं हूँ, मुझे कौन देखता है तो उसे जान लेना चाहिये कि उसके हृदयमें बैठा हुआ ईश्वर और उसके तमाम अंगोंमें और सारे विश्वमें स्थित देवता उसे देखते हैं। इसलिये हे ब्राह्मण! राग और द्वेषको छोड़कर ऐसे काम किया करो जिससे दूसरोंको लाभ हो। जो मनुष्य अपने दोषोंको न देखता हुआ दूसरे भले पुरुषोंकी बुराई और बदनामी करनेके लिये खड़ा रहता है वह स्वयं ही एक दिन इस दुनियामें बदनाम होता

है। जो मनुष्य सबपर दया करते हैं और जिनका हृदय दयासे पूर्ण है वे अत्यन्त संतुष्ट होकर उत्तम मार्गपर चलते हुए परम तत्त्वको पा जाते हैं। हे ब्राह्मण ! अपनी बुद्धि और विद्याके अनुसार यह ज्ञान मैं तुमको सुना दिया है। जो मनुष्य शिष्टाचारके पवित्र साधनोंका नित्य पालन करते हैं वे सब कुछ पा सकते हैं पर शिष्टाचारका पालन करना बड़ा दुर्लभ है।

ब्राह्मण—वह शिष्टाचार क्या है ?

व्याध—यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और सत्य-पालन शिष्टाचार है।

जो काम, क्रोध, दम्भ, लोभ और क्रूरताको त्यागकर अपने धर्ममें संतुष्ट रहते हैं उन्हें भले लोग शिष्ट कहते हैं।

हे ब्राह्मण ! गुरुजनोंकी सेवा, सत्यपालन, क्रोधका त्याग और दानका देना—यह चार बातें सदा शिष्टाचारमें गिनी जाती हैं। वेदका सार सत्य है, सत्यका सार इन्द्रियोंका दमन है और दमनका सार त्याग है। ये तीनों बातें शिष्टाचार कहाती हैं। मनुष्यको न कभी कुमार्गपर चलना चाहिये और न कुमार्गपर चलनेवालोंका संग करना चाहिये। कुमार्गपर चलनेवालोंका साथी भी पापका भागी होता है और परिणाममें कष्ट पाता है। मनुष्यको उन्हीं महात्माओं-का संग करना चाहिये जो शिष्ट, संयमी, वेदोंके अनुसार कर्म करनेवाले, त्यागी, धर्मशील और सत्य-परायण हैं। उन्हींको अपनो बुद्धिका नियामक बनाना चाहिये।

विद्याध्ययन, तीर्थसेवन, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच शिष्टाचारके लक्षण हैं। सबकी हित-कामना, श्रेष्ठ स्वभाव, सत्त्वगुणमें स्थिति, उत्तम मार्ग-पर चलना, दूसरोंके लिये धन कमाना, दीनोंपर दया करना, तप करना, हिंसा-द्वेष-निष्ठुरता-द्रोह-काम-अभिमान आदिका त्याग करना ये सब शिष्ट साधु पुरुषोंके लक्षण हैं। जो शिष्टाचारका पालन करते हैं, वे जन्म-मृत्युके महान् भयसे छूट जाते हैं। हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने जैसा सुना था और मुझे जो मालूम है वह मैंने आपको सुना दिया है।

हे भगवन् सुनिये ! जो किसीसे ईर्षा नहीं करता और अपने साथ किये गये उपकारोंको नहीं भूलता वह कल्याण, सुख, धर्म, अर्थ और उत्तम गतिको प्राप्त करता है। इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है। धर्मात्मा होनेसे उसका चित्त प्रसन्न रहता है, और अपने मित्रजनोंको सन्तुष्ट करता हुआ वह इस लोक तथा परलोक दोनोंमें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श जो पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं, वे उसके वशमें हो जाते हैं, यह धर्मका ही फल मानना चाहिये।

हे ब्राह्मण ! मैं इस संसारको नाशवान् मानता हूँ। सारी वासनाओंका त्याग करनेकी कोशिश करता हूँ। मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऊपर कहे साधनोंमें लगा रहता हूँ। तपसे बढ़कर संसारमें दूसरी वस्तु नहीं है। उस तपकी जड़ शान्ति और दमन है। जिसमें ये दोनों गुण आ जाते हैं, वह इनके द्वारा जो चाहे प्राप्त कर सकता है।

हे द्विजवर ! आपको आश्चर्य हो रहा था कि जंगलके चिड़ियाका जलना उस स्त्रीको कैसे मालूम हुआ, फिर उससे भी अधिक आश्चर्य तब हुआ, जब आपकी मुझसे भेंट हुई। परन्तु ये तो मामूली बातें हैं। मैं पहले ऊपर कह चुका हूँ। तपसे मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है।

हे द्विजश्रेष्ठ ! इन्द्रियोंके निरोध, सत्यपालन

और आत्मदमन करनेसे मनुष्य अनायास ही ब्रह्मके परमपदको प्राप्त कर लेता है।

ब्राह्मण—हे व्रतशील ! इन्द्रियाँ क्या हैं ? उनका दमन किस तरह करना चाहिये ? दमनका फल क्या है ? और वह फल मनुष्य किस तरह पाता है ? इन सबके तत्त्वको मैं जानना चाहता हूँ, कृपाकर मुझसे कहिये।

व्याध—हे ब्राह्मण ! किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पहले मनुष्यका मन प्रवृत्त होता है। उस वस्तुका ज्ञान हो जानेपर मनुष्य उसे पानेकी इच्छा करता है और न मिलनेपर उसे क्रोध आता है। इच्छित वस्तुको प्राप्त करनेके लिये वह यत्न और महान् कर्म प्रारम्भ करता है और जिस रूप तथा जिस गन्धकी उसे इच्छा होती है उसका अभ्यास और सेवन करता है। तब उन चीजोंके ऊपर उसे प्रेम होता है। जो चीजें उससे विरुद्ध होती हैं उनसे द्वेष होता है। वस्तुकी प्राप्ति होनेपर लोभ होता है और लाभसे मोह होता है। जब मनुष्य लोभ, मोह और राग-द्वेषके वशीभूत हो जाता है तब उसकी बुद्धि धर्मसे हटकर पापमें प्रवृत्त हो जाती है।

राग-द्वेषसे प्रेरित होकर वह तीन प्रकारका अधर्म करता है—अर्थात् वह पापकी बात सोचता है, पापकी बात कहता है और पापकर्म करता है। पापकर्म करता हुआ मनुष्य इस लोकमें दुःख पाता है और परलोकमें नष्ट होता है। जो पापात्मा हैं उनकी यही दशा होती है। अब धर्मसे जो लाभ होते हैं उनको सुनो—जो मनुष्य अपनी बुद्धिसे, इन दोषोंको पहलेहीसे देखकर सुख-दुःख दोनोंमें उचित आचरण करनेमें कुशल हैं, साधुजनोंकी सेवा करते हैं, उनकी बुद्धि अच्छा कार्य करनेसे धर्ममें प्रवृत्त होती है। बाहर और भीतरके कर्म करनेके जो साधन हैं, उनको इन्द्रिय कहते हैं, उन्हें असत् विषयोंसे हटाकर सत् विषयोंमें लगाना ही उनका निग्रह करना है। और इस निग्रहका फल है परमपदकी प्राप्ति ! इस प्रकार व्याधने और बहुत-से धर्म बताकर कहा हे द्विजश्रेष्ठ ! अब प्रत्यक्षमें (अमली तौरपर) मैं जिस धर्मका आचरण करता हूँ और जिसके प्रभावसे मैंने यह सिद्धि पायी है उसे प्रत्यक्ष चलकर देख लीजिये। उठिये, शीघ्र घरमें अंदर चलकर मेरे माता-पितासे भेंट कीजिये।

अंदर जाकर ब्राह्मणने व्याधके माता-पिताको बैठे देखा। वे उजले साफ़ कपड़े पहने हुए बैठे थे। व्याधने माता-पिताके चरणोंमें झुककर प्रणाम किया। तब दोनोंने आशीर्वाद देते हुए कहा—बेटा ! उठो, धर्म तुम्हारी रक्षा करे। हम तुम्हारे विशुद्ध व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हैं, तुम सपूत हो, तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र है। तुमने इष्टगति, ज्ञान, तप और सद्बुद्धिको प्राप्त किया है। तुम जितेन्द्रिय हो। इस प्रकार मन-वाणी-शरीरसे श्रद्धापूर्वक माता-पिताकी निष्काम सेवा करते देखकर तुमपर तुम्हारे पितामह और प्रपितामह भी बहुत प्रसन्न हैं। बेटा, परमात्मा तुम्हारी आयु बढ़ावे और तुम सदा सुखी रहो !

फिर व्याधके पिताजी ब्राह्मणसे बोले—आप सारी विघ्नबाधाओंसे रहित होकर यहाँ पधारे हैं न !

ब्राह्मण—हाँ ! मैं अब इन व्याधके धर्मोपदेशसे अपनेको बाधाओंसे रहित पाता हूँ।

व्याध—देखिये भगवन् ! ये जो मेरे माता-पिता हैं यही मेरे सबसे बड़े देवता हैं। जो पूजा देवताओंकी की जाती है वही मैं इन दोनोंकी करता हूँ। इन्हींको परम पूज्य देव मानकर फल-फूल आदिसे भोग लगाता हूँ। जैसे स्त्री, धन, पुत्र आदि सब भगवान्‌को अर्पण कर देते हैं वैसे ही मैंने इन्हींको

सब कुछ अर्पण कर दिया है। मैं, मेरी स्त्री, और मेरा पुत्र रोज इनकी सेवा-पूजा करते हैं।

हे ब्राह्मण! पिता, माता, अग्नि आत्मा और परमार्थका उपदेश करनेवाले पुरुष—ये पाँच गुरु माने गये हैं। जो प्राणी इनके साथ ठीक बर्ताव करता है वह सदा सुखी रहा करता है। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंका यही सनातन धर्म है। आपने धर्मका त्याग कर दिया है। माता-पितासे बिना आज्ञा लिये आप घर छोड़ आये हैं, वे बेचारे आपके वियोगमें अन्धे हो गये हैं। आपको ऐसा करना उचित नहीं था। अब आप यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो घर जाकर माता-पिताको प्रसन्न कीजिये। मेरी बात-पर विश्वास कीजिये और मैं जो कहूँ, वही कीजिये क्योंकि मैं आपको वही बताऊँगा जिसमें आपका कल्याण होगा। आप अब जल्दी अपने घर जाइये और आलस्य तथा लज्जा छोड़कर दोनोंको देवताके समान समझकर सेवा कीजिये। इससे बढ़कर आपके लिये दूसरा धर्म नहीं है। इतना सुनकर ब्राह्मणने कहा—अहोभाग्य! जो मैं यहाँ आया। आप-जैसे धर्मके बतानेवाले लोग संसारमें दुर्लभ हैं। इस प्रकार धर्मका उपदेश करनेवाले हजारोंमें कोई एक होंगे। आपसे धर्मोपदेश सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आपने मुझे नरकसे बचा लिया। अब मैं अपने माता-पिताकी सेवा करूँगा।

इस प्रकार शान्तिदेवीसे सुन्दर इतिहास सुनकर सुमति बोली—आपके मुखसे धर्मकी महिमाको सुनकर आश्चर्य होता है।

शान्तिदेवी—देखो सुमति! संसारी धर्मको ठीक निभानेसे कैसी सहज रीतिसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और अन्तःकरणकी शुद्धिसे हम किस सरलतासे परमार्थपथपर आगे बढ़ जाते हैं। जो धर्ममें लगा रहता है, वह अज्ञान और अहंकारके अँधेरेसे दूर होकर प्रकाशमें पहुँच जाता है और स्वयं प्रकाश उत्पन्न करनेवाला बन जाता है। हे बहिन! जो धर्मको अपना साथी बनाता है उसको वह साथी आत्माकी दुर्लभ प्राप्ति सहज ही करा देता है। धर्मात्मा पुरुषोंकी बुद्धि, उनका अन्तःकरण विशुद्ध, निर्मल, पवित्र, प्रकाशमय और बलवान् होता है। धर्मात्मा पुरुषके काम दुनियामें प्रायः ठीक होते हैं इससे उसका चित्त प्रसन्न रहता है। धर्मात्मामें अज्ञानजनित भूल-भ्रम नहीं रहते। वह सदा सम-चित्त होकर काम किया करते हैं, उनका जीवन सत्य, सेवा तथा प्रेमका स्रोत होता है। धर्मात्मा मनुष्य (स्त्री हो अथवा पुरुष) ज्ञानके प्रकाशसे भरपूर होनेके कारण तत्त्व-ज्ञानको यथार्थ जानने तथा बताने-वाले होते हैं। धर्मात्मा पुरुष ही इस लोक और परलोकमें यथार्थ धनवान् माने जाते हैं। धर्मात्मा मनुष्यका ही धर्म सदा जाग्रत्, स्थायी और रक्षाकारी होता है। धर्मात्माको ही अपने आत्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव शीघ्र होता है।

शान्तिदेवीने कहा—प्यारी सुमति! यह धर्मकी बातें मैंने तुम्हें सुनायी, अब मैं तुम्हें यह बताऊँगी जो इस धर्मको छोड़ देते हैं उनको कैसी हानि उठानी पड़ती है।

पागलपन

(लेखक—म० श्रीशंभुदयालजी शर्मा)

ये जितने शरीर दिखायी देते हैं, ये स्वयं नहीं चलते-फिरते हैं। ये तो मोटरें हैं; भीतर एक ड्राइवर बैठा हुआ इन्हें चला रहा है। यदि यह एक शरीर ही सब कुछ हो तो लाशको जलानेकी क्या आवश्यकता है। पाँच वर्षके बालककी देह उसके मर जानेपर बढ़ती क्यों नहीं ! जिस देहको चूम-चूमकर प्यार किया जाता था, अब वह जलाने-गाड़नेयोग्य क्यों समझी जाती है ? वास्तवमें वह प्यार उस देहसे नहीं किया जाता था। प्यारकी वस्तु तो उसके भीतर थी जो अपनी चमक-दमकसे देहको भी प्रकाशित कर रही थी। वही वस्तु प्रेम करनेयोग्य है। वह बालक जब गलीमें गुम हो जाता था तो उसकी खोज उसके नाक, कान, मुखादिकी आकृतिको देखकर की जाती थी और मिल जानेपर खुशियाँ मनायी जाती थीं। फिर क्या कारण है कि वही देह जब लाश होकर पड़ी है तो सब घरके लोग उसको देख-देखकर रो रहे हैं और वह छूनेयोग्य भी नहीं समझी जाती है। अब वह इतनी अपवित्र हो गयी कि उसको छूकर स्नान करनेकी आवश्यकता होती है। उसमेंसे ऐसी क्या पवित्र वस्तु निकल गयी जो उस अपवित्र थैलीको पवित्र बनाये रखती थी।

थैलीसे प्रेम है न कि दामोंसे। दामोंके लिये थैली प्रिय है न कि थैलीके लिये दाम ? जब उस बोलते शरीरसे तुम्हारा प्रेम है तो यह निश्चय ही है कि तुम्हारा शरीर चेतनामय है, तभी यह आकर्षण है। यदि तुम्हारा शरीर उसी भाँति अचेतन हो जाय तो तुम भी उससे प्रेम न करो। फिर यहाँ दोनों शरीरोंमें कौन किससे प्रेम करता है, इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर किसी शरीरसे प्रेम नहीं करता। दोनों ओर शरीर तो बाह्य साधन हैं जिनके द्वारा प्रेमके लक्षण और क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वास्तवमें तो आत्मा ही आत्मासे प्रेम करता है।

यह देह एक यन्त्रमात्र है। इसके भीतर रहनेवाला चेतन ही इसको बनाकर आप अन्दर बैठा हुआ है। वही अन्न-जल आदि ग्रहण करता है और वही श्वास लेकर जीवित हुआ इसमें दुःख-सुखके भाव दिखाता है। वह जो इसके भीतर बैठा हुआ है, स्पष्ट तो पुकार रहा है कि यह मेरी देह है, ये मेरे कान हैं, ये मेरे हाथ हैं, ये मेरी आँखें हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है इत्यादि। उस 'मेरा' कहनेवालेका भी पता है वह कौन है ? वह इन सब कल-पुर्जोंको तो मेरा-मेरा कहता है परन्तु यह नहीं कहता है कि 'मैं यह हूँ।' वह यहाँतक तो कहता है कि 'मैंने खूब सोचा कि मैं कौन हूँ। परन्तु मुझे अभीतक यह नहीं विदित हुआ कि मैं कौन हूँ।'

वह इस देहका मालिक है। परन्तु अज्ञानसे अपने-आपको नहीं देखता है। यदि किसी मकानका मालिक अपने मकानको छोड़कर अन्यत्र चला जाय तो वह मकान उसी रौनकपर खड़ा रहता है। जहाँ-के-तहाँ सब सामान, कुर्सी, मेज, आल्मारी, लैम्प सब यथावत् स्थित रहते हैं। परन्तु वह मालिक यदि इस मकानको क्षणभरके लिये भी त्याग देता है तो यह मकान (शरीर) धड़ामसे गिर पड़ता है। फिर इसका कोई भी कल-पुर्जा कुछ काम नहीं करता। यह इस मकानमें न आता दृष्टि आया और न जाता ही। यह इतना सूक्ष्म होकर भी इतने बड़े शरीरको

थामे रहता है। इस पक्षीने यह घोंसला अपनी इच्छासे पसन्द किया और उसमें प्रविष्ट हो गया। एक दूसरे-के घोंसलेसे प्यार करने लगे पर यह नहीं पूछा कि 'ऐ घोंसलेवाले! तू कहाँसे आया है, कौन है और कहाँ जायगा?'

और तो कौन किससे, क्यों पूछे, यह आप ही अपनेको नहीं पूछता कि मैं कौन हूँ, क्यों आया हूँ और कहाँ जाऊँगा। दुनियाँभरके तलपट बाँधना और अपना खाता चौपट रखना, इससे बढ़कर और क्या पागलपन हो सकता है?

उद्बोधन !

(लेखक—श्रीहरनारायणजी त्यागी)

पथिक, अब सचेत हो जा। रात्रिका काला आवरण अब कहाँ है! अब तो केवल उषाकी झाँकी है और उसमें वह रूप-माधुरी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। तनिक आँखें खोल और जीवनको सफल बना। वही तो है, जिसकी खोजमें थककर तू सो रहा है। मुँहपर पड़ी हुई चादर हटा और प्रिय-दर्शनका असीम आनन्द ले। उठ, जाग!

जिज्ञासु, अपने परिश्रमपर पानी न फेर। तुझे याद है, कितनी दौड़-धूपके पश्चात् तू यहाँतक पहुँच पाया था! तेरे पैरोंमें छाले पड़े हुए थे। पीठ छिल गयी थी। मुखपर भूख तथा प्यासके कारण झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। तू एक-एक पग गिन-गिनकर रख रहा था। वर्षा, आतप और शीतके प्रचण्ड प्रकोपोंको सहते-सहते तेरा शरीर जर्जर हो गया था। आशाने साथ छोड़ दिया था, निराशा तुझे लौट जानेके लिये प्रतिक्षण बाध्य कर रही थी। फिर भी क्या तेरे साहसकी सीमा यहींतक थी? तू नहीं जानता कि प्रबल साहस और अडिग विश्वासके चरणोंपर सफलता सदैव लोटा करती है?

प्रथम तो तूने विश्रामके लिये बैठनेमें ही भूल की। फिर सन्ध्याकी ठण्ढी-ठण्ढी हवाके झोंकोंने तुझे लेटनेके लिये बाध्य कर दिया। बस, जरा-सा लेटना था कि तेरी आँखोंमें नींद खुम बनकर मँडराने लगी। तू सो गया, यह भूल गया कि किस पथमें, किस उद्देश्यसे, कहाँतक आया था। अब भी जाग, देख किसकी असीम, अनन्त शोभाके सामने उडुगण लज्जित होकर अदृष्ट हो रहे हैं! निशानाथ पदच्युत सम्राट्की भाँति पश्चिमकी ओर मुँह छिपाये जा रहे हैं। भौंरे कमल-सम्पुटसे मुक्त होकर गुनगुना रहे हैं। विरहिणी चकवी प्रिय-मिलनका अपूर्व आनन्द ले-लेकर चहक रही है। पक्षियोंने अपने-अपने नीडोंको छोड़ दिया है और अब वे प्रभातकी शीतल मन्द सुगन्ध पवनके झोंकोंसे झूमती हुई शाखाओंपर बैठकर मंगल-गीत गा रहे हैं। जानते हो? ये सब संकट-विमोचनका गुणगान कर रहे हैं!

वह देख, केकी भी 'कुहू-कुहू' के सुमधुर कण्ठरवसे वातावरणको विमुग्ध बना रहे हैं, पंख फैला-फैलाकर नाच रहे हैं। मृग-दम्पति आनन्द-विह्वल होकर चौकड़ियाँ भर रहे हैं। कोकिलकी काकली और पपीहेकी 'पिऊ-पिऊ' पुकार हरिके शुभागमनकी स्पष्ट सूचना दे रही हैं। सारा जगत् प्रियतमके स्वागतका साज सज रहा है और सब उनके दिव्य दर्शनके लिये समुत्कण्ठित हैं। केवल तू ही सो रहा है, गहरी नींदमें, बेसुध होकर। जाग मूर्ख, अबसे भी जाग। वह देख, हरि आये!

पलक उघारकर निहार तो सही, कितना

सुहावना समय है। श्रीहरिके अंगोंका स्पर्श पाकर उनके दिव्य अंग-गन्धको लिये वायु दिशाओंको सुवासित करती हुई धीरे-धीरे लज्जिता-सी बह रही है। वृक्षावलियाँ फूलोंकी वर्षा कर रही हैं। तृणदल रोमाञ्चित होकर ओस-कणोंके रूपमें आनन्दके अश्रु-बिन्दु टपका रहे हैं। प्रत्येक कुसुम-कली किसीके संकेतसे इठलाती हुई झूम-झूमकर अलिगणोंको असंख्य चुम्बन प्रदान कर रही है। उन्होंने अपने मकरन्द-कोषके कपाट खोल दिये हैं। प्रकृति देवी प्राचीकी अरुणताके मिस माँगमें सिन्दूर भरकर हरित पल्लवोंकी साड़ी पहनकर भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे अलंकृत होकर अपने स्वामीके आगमनपर सधवा होनेका गर्व कर रही है। सर्वत्र नवजीवन, नव-उल्लासका स्रोत प्रवाहित हो रहा है। समस्त संसार निराला दीख रहा है। सबको मुँहमाँगी मुराद पूरी हो रही है। तू भी जाग और अभिलषित वस्तु माँग ले। यही तो शुभावसर है!

पथिक, इस समय तो केवल उल्लूक पक्षी-जैसे जीव ही दृष्टिहीन हो रहे हैं। तू तो मनुष्य है, मनुष्य-जन्म देवताओंको भी दुर्लभ है। प्रियतमसे प्रेम कर. नहीं जानता वे भक्तजनोंके द्वारपर स्वयं उपस्थित होते हैं। अरे, वे तो केवल प्रेमके ही पुजारी हैं। उठ, जाग! ज्ञानचक्षु खोल। देख भगवान् तेरी ओर कृपाभरी दृष्टि डालकर मुस्कुरा रहे हैं। कैसी प्रेममयी मुस्कान है। अँगड़ाई ले, खड़ा हो जा और बढ़ चल प्रेमार्णव श्याम-सुन्दरकी ओर। यही बेला तो उनके मिलनकी है!

सोनेवाले पथिक, अब भी न जाग सका तो इस स्वर्ण-सुयोगसे वञ्चित ही रह जायगा। इस निद्रा-राक्षसीका आलिङ्गन छोड़। यही तो प्रिय-मिलनमें बाधक है। इसके माया-जालको छिन्न-भिन्न कर, नहीं तो यह तुम्हें पतनके गहरे गड्ढेमें गिरा देगी! इस समय जो तू इन झूठे क्षणिक 'सुखद' स्वप्नोंको देख-देखकर निहाल हो रहा है, इनमें तत्त्व कहाँ? सत्य कहाँ? मान मेरी बात, नहीं तो पीछे पछतायेगा। पलकें खोल, सावधान हो जा। इस समय जिधर ही दृष्टि डालेगा, उधर ही उस चितचोरके दर्शन होंगे। उठ, विश्वास कर। प्रेमीको चैन कहाँ, विश्राम कहाँ! यही तेरा प्रेम है! छिः, हरि द्वारपर खड़े हैं और तू सो रहा है! उठ, देर न कर, वह देख, अब भी समय है!

क्या कहा—'कुछ ठहरो, जरा सो लेने दो!' अभागा है! जा फिर रोयेगा!!

* रामफगुआ *

प्रेमसहित गुण गाओ, प्रभूका ॥ टेक ॥

राम-भजनमें प्रीति बढ़ाकर, माया मोह हटाओ ॥ १ ॥ प्रभूका०
पाँच चोर नित सँग-सँग डोलैं, इनको दूर भगाओ ॥ २ ॥ प्रभूका०
उठकर अपना माल सँभालो, प्रेमका ताला लगाओ ॥ ३ ॥ प्रभूका०
यह दुनिया छनभरका मेला, भूल निकट मत जाओ ॥ ४ ॥ प्रभूका०
मायाका सब जाल बिछा है, अपने प्राण बचाओ ॥ ५ ॥ प्रभूका०
"कवलवास" हरि सुमिरण करके, जीवन सफल बनाओ ॥ ६ ॥ प्रभूका०

—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी

धोपाप नामक तीर्थ

(लेखक—श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)

सुल्तानपुर ज़िलेके अन्तर्गत कादीपुर तहसीलमें धोपाप नामक एक बहुत ही प्राचीन स्थान है। यह जौनपुरसे जो रेलवेलाइन सुल्तानपुरको जाती है, उसीपर लमुंवा नामक स्टेशनसे उत्तर तरफ़ तीन मीलकी दूरीपर स्थित है। यह स्थान गोमतीके किनारे अवस्थित है। यहाँपर नदीका प्रवाह पूर्वसे पश्चिम तथा पुनः दक्षिणकी ओर होते पूर्वको चला गया है।

इस स्थानको देखनेसे इसकी प्राचीनता मालूम पड़ती है। यहाँपर प्राचीन किलेका भग्नावशेष अद्यावधि वर्तमान है। कहा जाता है कि यह किला भरोंने बनवाया था। प्राचीन भारतमें भर नामक जाति भी स्थान-स्थानपर शासन करती रही। यद्यपि उसके बारेमें विशेष अनुसन्धान नहीं हुआ है परन्तु यह निर्विवाद है कि उसने अधिक समयतक राज्य किया। मुसलमानोंके आक्रमणके कारण राजपूतोंने अपना-अपना स्थान छोड़कर अन्य प्रान्तोंकी शरण ली तथा वहाँके शासक जातियोंको जीतकर अपना प्रभुत्व जमाया। भर भी उन्हीं जातियोंमेंसे हैं। उन्हीं भरोंका किला सुल्तानपुर जिलेमें स्थान-स्थानपर है। धोपापमें भी उनका एक किला है। इस कथनमात्रसे ही धोपापकी प्राचीनता नहीं प्रकट होती परन्तु यह अत्यन्त प्राचीनतम स्थान है।

धोपापका सम्बन्ध रामायण-कालसे बतलाया जाता है। अयोध्याके समीप स्थित होनेसे यह उससे सम्बन्धित तो अवश्य है, परन्तु इस जिलेका प्राचीन नाम कुशभवनपुर बतलाया जाता है। यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पुत्र कुशकी राजधानी थी या नहीं, यह निश्चितरूपसे तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह स्थान भगवान्‌के चरणोंसे अवश्य पवित्र हुआ था।

संयुक्तप्रान्तके चार मुख्य तीर्थोंमें धोपापको चौथा स्थान दिया गया है—

> ग्रहणे काशी, मकरे प्रयाग,
> रामनवमी अयोध्या, दशहरे धोपाप।

इस प्रकार धोपाप एक मुख्य तीर्थ माना जाता है। यहाँ मईके महीनेमें दशहराके समय बहुत बड़ा मेला लगता है। सुदूर स्थानोंसे धार्मिक जनता एकत्रित होकर पुण्यलाभ करती है।

प्रश्न यह उठता है कि इस स्थानका धोपाप नामकरण कैसे हुआ। धोपाप शब्दसे ही ज्ञात होता है कि इस स्थानपर स्नान करनेसे जन्म-जन्मका पाप धुल जाता है। कहा जाता है कि जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जगज्जननी जानकीको लंकासे लेकर वापस आ रहे थे तो उन्होंने अयोध्या पहुँचनेसे पूर्व इसी स्थानपर स्नान किया था। जब—

> 'नाम अजामिलसे खल कोटि, अपार नदी भव बूड़त काढ़े'

—तो जिस स्थानपर भगवान्‌ने स्वयं स्नान किया, वह स्थान पतितोंको तारनेवाला क्यों न हो? इसकी महत्ता किसी स्थानविशेषसे नहीं है, परन्तु भगवान्‌के स्नान करनेसे इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस स्थानको धोपाप नाम दिया गया। इसका पूर्व नाम क्या था, इसे कोई बतला नहीं सकता। यह स्थान रामचन्द्रजीके सम्बन्धसे ही धोपाप नामसे प्रसिद्ध हुआ। रामायणमें इसका नाम क्यों नहीं आया, यह बतलाया नहीं जा सकता। अन्य तीर्थ—काशी, प्रयाग या अयोध्या आदिके सदृश इसकी महत्ता क्यों नहीं हुई, यह कहना कठिन है। जो कुछ भी हो, धोपाप बहुत ही पुण्य देनेवाला तथा पापको मिटानेवाला समझा जाता है।

होलीपर कर्तव्य

क्या करना चाहिये

१–प्रेमसे हलका रंग डालकर होली खेलनेमें हर्ज नहीं है ।

२–निर्दोष गायन-वाद्य करनेमें हानि नहीं है । भगवान्‌के नामका कीर्तन करना चाहिये ।

३–वासन्ती नवशस्येष्टि (वसन्तमें पैदा होनेवाले नये धानका यज्ञ) करना चाहिये । हवन करना चाहिये ।

४–भक्त प्रह्लादकी कथाएँ तथा लीलाएँ होना चाहिये ।

५–भगवन्नामके महत्त्वका प्रचार करना चाहिये ।

६–सब प्रकारके वैरको त्यागकर परस्पर प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये ।

७–फागुन सुदी ११ से १५ तक किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये—जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नाम-कीर्तनकी व्यवस्था करनी चाहिये ।

८–निम्नांकित न करने लायक कार्योंको लोग न करें, इसके लिये जगह-जगह सभा करके सबको इनके दोष समझाने चाहिये ।

९–श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाना चाहिये । महाप्रभुका प्राकट्य होलीके दिन ही हुआ था । इस उपलक्ष्यमें हरिनामकी खूब ध्वनि करनी चाहिये ।

१०–भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाने चाहिये ।

११–भगवान्‌का दोलोत्सव—झूलनोत्सव मनाना चाहिये ।

क्या नहीं करना चाहिये

१–गाली नहीं बकनी चाहिये ।

२–राख, धूल, कीचड़ नहीं उछालना चाहिये ।

३–गंदे पानीको किसीपर नहीं डालना चाहिये ।

४–रंग डालनेसे जिनका मन दुखता हो, उनपर रंग नहीं डालना चाहिये ।

५–स्त्रियोंकी ओर गंदे इशारे नहीं करने तथा उन्हें गंदी जबान नहीं बोलनी चाहिये ।

६–किसीके भी मुँहपर स्याही, कारिख या नीला रंग आदि नहीं पोतना चाहिये ।

७–शराब, भाँग, गाँजा, चरस, नशीला माजून आदि खाना-पीना नहीं चाहिये ।

८–वेश्यानृत्य नहीं कराना चाहिये ।

९–गंदे अश्लील धमाल, रसिया, कबीर या फाग नहीं गाने चाहिये ।

१०–टोपियाँ या पगड़ियाँ नहीं उछालनी चाहिये ।

११–जूतोंकी माला पहनकर या पहनाकर, शव बनाकर गंदे गाने गाते बजाते हुए जुलूस नहीं निकालना चाहिये ।

Regd. No. A. 1724.

* * श्रीहरिः * *

मोक्ष किससे मिलता है ?

जो महात्मा मन, वाणी, कर्म और बुद्धिसे कभी पाप नहीं करते, वे ही तपस्वी हैं । तरह-तरहके कष्ट देकर शरीरको सुखाना तप नहीं है। जिसको अपने आश्रित परिवारपर दया नहीं है, उसे भूखों मरता छोड़कर जो वनमें जाकर शरीरको कष्ट देता है, उसका वह तप, तप नहीं है, हिंसा है । केवल भूखे रहना और आग तापना ही तप नहीं कहलाता । जो घरमें रहकर मुनियोंकी भाँति पवित्र-हृदय और मनुष्यके योग्य गुणोंसे युक्त होकर सब जीवोंपर दया रखता है, वह पापोंसे छुटकारा पाता है । शास्त्रमें जिनका उल्लेख नहीं है, ऐसे मनोकल्पित घोर कर्मोंके करनेसे पाप दूर नहीं होते, केवल क्लेश ही होता है । चित्तशुद्धिसे हीन मनुष्योंके कर्मोंको और उनके फलोंको आग नहीं जला सकती । अपने सत्कर्मोंके बलसे ही मनुष्यकी चित्तशुद्धि होती है । संयम और नियमोंका पालन करना उत्तम है परन्तु केवल कन्द-मूल-फल खाने या वायुका आहार करने, मौनव्रत धारण करने, सिर मुँड़ाने, घर-द्वार छोड़ने, जटा रखाने, खुले मैदानमें सोने, उपवास करने, अग्नि तापने, जलके अन्दर रहने या पृथ्वीपर सोनेमात्रसे ही मनुष्यको परम गति नहीं मिलती । चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञानका साधन करनेसे ही जरा, मृत्यु, व्याधियुक्त जन्मसे छुटकारा होता है और परम गति मिलती है । सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सर्वमय नित्य, सत्य, सनातन आत्माका ज्ञान होनेसे ही मुक्ति होती है । यह तत्त्वज्ञान इन्द्रियदमन, और चित्तशुद्धिपूर्वक विषयोंकी आसक्तिके त्यागसे ही होता है । विषय-वासनाका त्याग ही यथार्थ अनशन-व्रत है; भूखे रहना नहीं ! विषय-वासनाके त्यागसे तत्त्वज्ञान होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । (महाभारत)

वर्ष
१२

अंक
९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३७६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। मन चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

सूचना

इस बार सत्संगके लिये कर्णवास स्थान निश्चित हुआ है। गंगातटपर यह स्थान बहुत ही रमणीय है। आसपास साधु-महात्मा रहते हैं। कलकत्तेकी ओरसे आनेवाले सज्जनोंको देहरादून एक्सप्रेससे आना चाहिये और बरेलीमें गाड़ी बदलकर 'अलीगढ़ बरेली शाखा' की 'राजघाट-नरोरा' स्टेशनपर उतरना चाहिये। यहाँसे गंगा-किनारे पैदल जानेपर लगभग दो मील और मोटर-लारीसे लगभग चार मीलका रास्ता है। पश्चिमसे आनेवाले सज्जनोंको अलीगढ़में बदलकर 'राजघाट-नरोरा' पहुँचना चाहिये। श्रीजयदयालजी वहाँ लगभग चैत्र शुक्ला ५ को पहुँचकर अनुमानतः दो महीने ठहरनेका विचार करते हैं।

कल्याण चैत्र संवत् १९९४ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

भूल-सुधार

गतमासके कल्याणमें विषय-सूचीके नीचे तत्त्व-चिन्तामणि भाग २, छोटे आकारके संस्करणका दाम भूलसे अजिल्द ।) और सजिल्द ।-) छप गया है । वास्तवमें इसका दाम अजिल्द ।-) और सजिल्द ।=) है । इसी अङ्कमें अन्यत्र पुस्तक-सूचीमें तथा सेटोंमें ।-) और ।=) दाम भी छपा है । मैनेजर—गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकोंके दामोंकी भारी रियायत

केवल कुम्भमेलेमें हरिद्वारकी दूकानोंपर ही है ।

फाल्गुन मासके कल्याणमें सेटोंमें खास रियायतकी सूचना पढ़कर कई सज्जनोंने गोरखपुर आर्डर भेजे हैं एवं कई सज्जनोंने हरिद्वारसे वी. पी. मँगानेके लिये पत्र दिये हैं किन्तु यह रियायत केवल कुम्भमेलेपर हरिद्वार पधारनेवाले सज्जनोंके लिये ही है, हरिद्वारके बाहरके सज्जनोंके लिये इस रियायतसे वी. पी. आदि भेजनेका कोई प्रबन्ध नहीं है ।

आधे दाममें श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका)

(मूल-पदच्छेद-अन्वय और भाषाटीकासहित)

हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, जिसका दाम ॥) है वह कुम्भमेलेपर हरिद्वारमें केवल ।) में ही दी जायगी । अध्ययन, दान, उपहार, पुस्तकालय और पुस्तकविक्रेताओंके लिये यह अच्छा अवसर है ।

पता—गीताप्रेसबुकडिपो, नरसिंहभवन और गंगापार मेला, हरिद्वार

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित

दो नयी पुस्तकें

आदर्श भ्रातृ-प्रेम

यह तत्त्व-चिन्तामणि भाग २ का ही एक लेख पृथक् पुस्तकाकार छपा है । पृष्ठ-संख्या ११२, चारों भैया, भरतका पादुकादान, रामविलाप और ध्यानमग्न भरत ये चार रंगीन चित्र, दाम केवल ≡) ।

बाल-शिक्षा

यह लेख कल्याण वर्ष १२ अङ्क ५ और ६ में प्रकाशित हुआ था । कई सज्जनोंके अनुरोधसे यह बालोपयोगी लेख संशोधन करके अलग पुस्तकके आकारमें छापा गया है । इसकी पृष्ठ-संख्या ७२ है और इसमें तीन रंगीन और एक सादे चित्र हैं जिनके नाम ये हैं—ध्यानयोगी ध्रुव, गुरु गोविन्दसिंहके लड़के धर्मके लिये प्राण दे रहे हैं, भीष्म-प्रतिज्ञा, सत्यकाम और गुरु गौतम । दाम =) मात्र ।

मैनेजर—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीसन्त-अङ्क दूसरा संस्करण

(तीन खण्डोंमें)

१,००० से अधिक बिक चुका है । लेनेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये । मूल्य ३॥)

गत श्रावणसे पूरे सालभरके ग्राहकोंको शेष अङ्कोंसहित ४≡) में ही दिया जायगा ।

मैनेजर—कल्याण, गोरखपुर ।
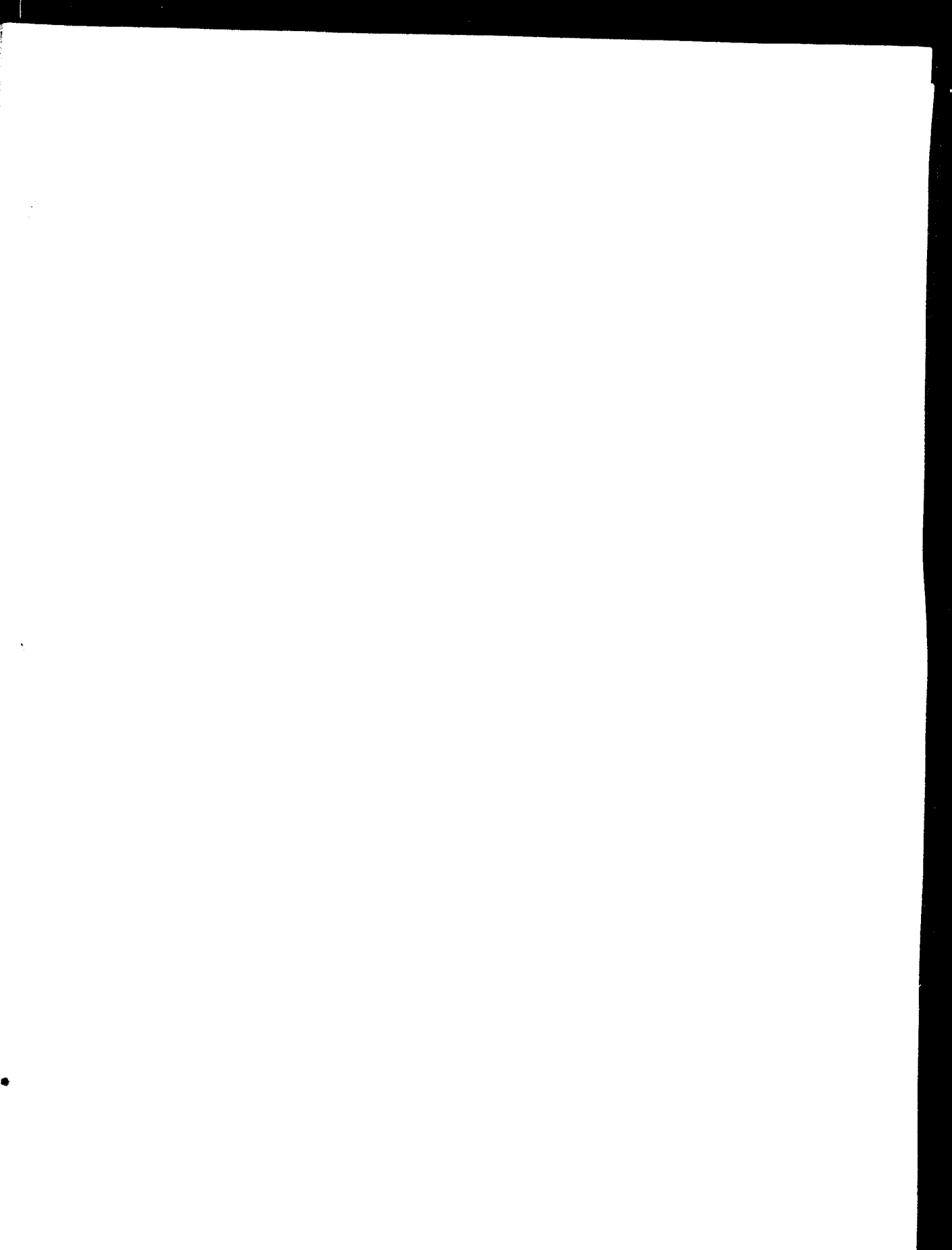
नौकारोहण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
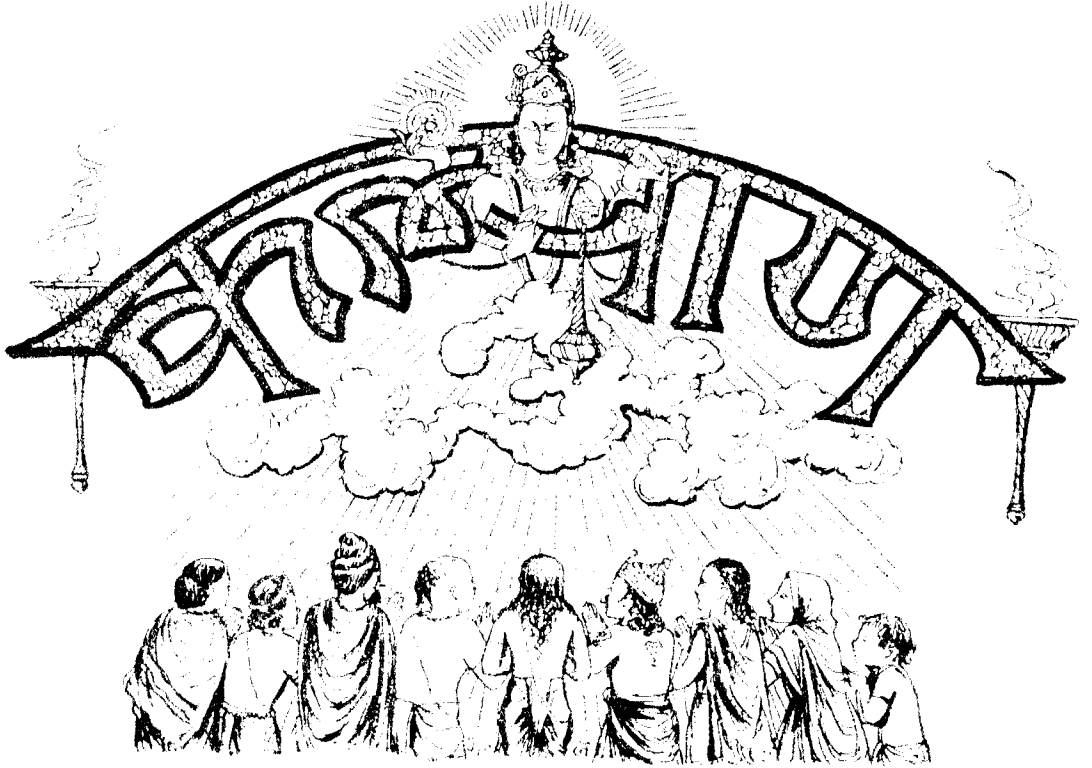
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।

दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, चैत्र १९९४, अप्रैल १९३८ { संख्या ९
पूर्ण संख्या १४१

केवटके भाग्य

पद पखारि जलु पान करि, आपु सहित परिवार ।

पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लै पार ॥

(रामचरितमानस)

शोकका त्याग करो

जो मनुष्य किसीके मरने या प्रिय वस्तुके नष्ट हो जानेपर शोक करता है, उसे उस शोकके द्वारा सिवा दुःखके और कुछ भी नहीं मिलता। संसारमें जन्म-मृत्युके प्रवाहको देखकर जो मनुष्य प्रिय वस्तुके नष्ट हो जानेपर शोक नहीं करता, वही सच्चा ज्ञानी है। चिन्ता करनेसे दुःखका नाश नहीं होता, वरं वह बढ़ता ही जाता है। यौवन, रूप, जीवन, धनसञ्चय, आरोग्य और प्रियका संसर्ग सदा रहनेवाला नहीं है। विवेकी पुरुषोंको इनमें नहीं फँसना चाहिये। पुत्रादि किसी प्रिय पदार्थके नष्ट हो जानेपर शोक हो तो उसे विवेकसे हटा देना चाहिये। संसारमें प्रायः सभीको सुखके बाद दुःख मिलता है और सभी लोग मोहवश विषयोंमें आसक्ति करते और मृत्युको अप्रिय मानते हैं। परन्तु विषयनाश होता ही है। मृत्यु टलती ही नहीं। जो मनुष्य सुख-दुःख दोनोंका त्याग कर देता है वही ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। धनके पैदा करनेमें, रक्षा करनेमें और खर्च या नाश होनेपर बड़ा क्लेश होता है। अतएव धनका नाश होनेपर चिन्ता करना किसी प्रकार भी उचित नहीं। अविवेकी मनुष्य दिनरात धन बढ़ानेमें लगे रहते हैं और विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होते; परन्तु बुद्धिमान् पुरुष सदा सन्तुष्ट रहते हैं। काल आनेपर जगत्में सभी वस्तुओंका नाश, संयोगका वियोग, उन्नतका पतन और प्राणियोंका मरण होता है। तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है। सन्तोष ही सब सुखोंकी जड़ है। इसीलिये विवेकी पुरुष सन्तोषको ही परमधन समझते हैं। आयु प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है, वह क्षणभर भी विश्राम नहीं करती। जब अपना शरीर ही सदा नहीं रह सकता, तब सांसारिक विषयोंके लिये शोक करना व्यर्थ है। जो मनुष्य बुद्धिके द्वारा सब प्राणियोंमें और समस्त जगत्में परमात्माके दर्शन करके शोकका सर्वथा त्याग कर देता है वही सुखी होता है और वही परमगतिको प्राप्त होता है।

(देवर्षि नारद)

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[गतांकसे आगे]

[मणि १० बृहदारण्यक]

वेदभगवान्‌की उत्पत्ति

मैत्रेयी—हे भगवन् ! वेदोंकी उत्पत्ति ईश्वरसे हुई मानी जाय तो वेद पौरुषेय कहे जायँ परन्तु शास्त्रोंमें तो वेदोंको अपौरुषेय कहा है, इसलिये विरोध होता है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! शब्दका उच्चारण होनेके बाद शब्दका बल निश्चय करनेको प्रत्यक्षादि प्रमाण होने चाहियें, शब्दका अर्थ विचारपूर्वक होना चाहिये, विचार बिना न होना चाहिये। आजकल भी अर्थविचारपूर्वक शब्द उत्पन्न होता है। वेदरूप शब्द अर्थके विचारपूर्वक परमात्मासे उत्पन्न नहीं हुआ है। जैसे यत्न बिना पुरुषके मुखमें-से श्वास निकलता है, इसी प्रकार प्रयत्न बिना परमात्मादेवसे वेदरूप शब्द उत्पन्न हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषसे उच्चारण किया हुआ वचन पौरुषेय नहीं कहलाता किन्तु अपने मनमें विचारकर जो पुरुष उच्चारण करता है, वह पौरुषेय कहलाता है, इस प्रकारका पौरुषेयत्व वेदवचनमें नहीं है, इसलिये वेद अपौरुषेय कहलाता है।

मैत्रेयी—हे भगवन् ! यदि अर्थके विचार बिना उच्चारण किया हुआ वचन अपौरुषेय कहा जाय तो आजकल भी लौकिक पुरुषोंका अर्थके विचारे बिना उच्चारण किया हुआ वचन वेदवचनके समान अपौरुषेय कहलाना चाहिये।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! यह जीव भ्रम और प्रमाद आदि दोषोंसे युक्त है इसलिये अर्थके विचार बिना जिस-जिस वचनका उच्चारण करता है, वह वचन उन्मत्तके वचनके समान व्यभिचारी होता है। जिस वचनके अर्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणों-से बाध हो जाय वह वचन अर्थमें व्यभिचारी कहलाता है। जैसे किसी पुरुषने 'अग्नि शीतल है' ऐसा उच्चारण किया, तो प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे इस वचनका बाध हो जाता है क्योंकि अग्निमें शीतलता कदापि सम्भव नहीं है, इसलिये उसका वचन व्यभिचारी है। हे मैत्रेयी ! इस लोककी तो बात ही क्या है, ब्रह्मलोकमें रहकर भी यदि यह जीव बिना विचार उच्चारण करे, तो उन्मत्तके वचनके समान उसका वचन व्यभिचारी गिना जाय। सर्वज्ञ परमात्मा भ्रम-प्रमादादि दोषोंसे रहित हैं, इसलिये सर्वज्ञ ईश्वर बिना विचारे भी उच्चारण करे, तो वेदवचन अपने अर्थमें व्यभिचारी नहीं होता, इसलिये वेदवचनकी सिद्धिके लिये किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। वेदवचन अपने अर्थमें व्यभिचारी नहीं होता, इसलिये वेदवचन प्रत्यक्ष प्रमाणोंमें मुख्य गिना जाता है। वचन-प्रमाण-सिद्धिके लिये मीमांसा शास्त्रकी रीति-अनुसार लौकिक शब्दोंमें सामान्य प्रमाणकी अपेक्षा होती है, वेदवचनमें नहीं होती। कोई अनाप्त पुरुष मार्गमें चलनेवालेसे कहे कि नदीके दूसरे तीरपर तेरे भक्षण करनेयोग्य फल हैं, यह सुनकर सुननेवालेको ऐसा बोध होता है कि नदीके तीरपर फल हैं, यह सामान्य प्रमाण कहलाता है। पीछे जब नदीके तीरपर फल नहीं मिलते, तो उस वचनके अर्थमें प्रत्यक्ष प्रमाणका बाध आता है।

मीमांसा शास्त्रवाले प्रमाण तथा अप्रमाणकी

इस प्रकार व्याख्या करते हैं—किसी भी अर्थका बोध हो, उसका नाम प्रमाण है; किसी भी अर्थका बोध न हो, उसका नाम अप्रमाण है। अर्थका जनाना वचनमें भी होता है, इसलिये वचन भी सामान्य प्रमाणरूप है। यदि नैयायिक अर्थके जाननेपनेके प्रमाणमें प्रमाणरूपता न मानें तो उनके मतमें उन प्रमाणोंकी प्रमाणरूपता कैसे सिद्ध हो सके? प्रमाणसे उत्पन्न ज्ञानसे जीवकी जो समर्थ प्रवृत्ति होती है, उस समर्थ प्रवृत्तिके हेतुसे उस प्रमाणमें और प्रमाणसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें अनुमान प्रमाण होता है। जैसे प्रथम नहीं जाने हुए स्थलमें जल देखकर एक पुरुष जल लेने जाय और वहाँ उसको जल मिल जाय तो वह पुरुष अनुमान करता है कि प्रथम जो मुझे जलका ज्ञान हुआ था, वह प्रमाणरूप है, क्योंकि वह ज्ञान समर्थ प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेवाला है। इस प्रकार माननेवाले नैयायिकोंसे पूछना चाहिये कि जिस समर्थ प्रवृत्तिरूप हेतुसे ज्ञानप्रमाणका अनुमान होता है, उस प्रवृत्तिमें समर्थपनवाली कौन-सी वस्तु है? क्या जो पदार्थ उस ज्ञानका विषय है, वही पदार्थ उस प्रवृत्तिका विषय है, इस प्रकारका समान विषयपना समर्थपना है, अथवा फलकी उत्पत्ति करनेवाली वस्तुका नाम समर्थपना है? इन दोनोंमेंसे प्रथम पक्ष नहीं बनता क्योंकि इस लोकमें चेतन पुरुषकी जो-जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति 'यह पदार्थ मेरे सुखका साधन है' इस प्रकारके इष्ट वस्तुके ज्ञान बिना नहीं होती, इष्ट वस्तु मिलनेके ज्ञानके पीछे चेतन जीवकी प्रवृत्ति होनेसे प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति-के समर्थपनेके ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य है। ज्ञान बिना प्रवृत्तिमें समर्थपना सम्भव नहीं है। इसलिये समर्थ प्रवृत्तिसे ज्ञानमात्रसे अनुमान होता है परन्तु उस ज्ञानके प्रमाणपनेका अनुमान सम्भव नहीं है। प्रवृत्तिके फलको उत्पन्न करनेवाली वस्तुका नाम समर्थपना है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि सुख-दुःख इन दोनोंका नाम फल है। यह सुख-दुःख फलकी सिद्धिमें उपयोगी ज्ञानमात्रकी अपेक्षा करता है, प्रवृत्तिसे प्रमाण ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। एक अनाप्त—झूठे पुरुषके वचनसे होनेवाली प्रवृत्तिमें भी सुख या दुःखरूप फलकी समर्थता होती है, क्योंकि नदीके तीरपर फल है, इस प्रकारका अनाप्त पुरुषका वचन सुनकर पथिक वहाँ जानेमें प्रवृत्त होता है और उसको नदीके तीरके दर्शनसे सुख अथवा दुःखकी अवश्य प्राप्ति होती है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! नदीके तीरपर फलकी प्राप्ति होनेसे पथिकको सुखरूप फलकी प्राप्ति हो तो फिर उसको दुःखरूप फलकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! इस लोक तथा परलोकमें ऐसी किसी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं है, कि जो प्रवृत्ति दुःख बिना केवल सुखकी ही प्राप्ति करे किन्तु सुख-दुःख दोनोंकी प्राप्ति करती है, और विचार-कर देखा जाय तो पुरुषकी प्रवृत्ति केवल दुःखका ही कारण है, प्रवृत्तिको लोग भ्रान्तिके कारण ही सुखका साधन मानते हैं। यह लौकिक प्रवृत्ति दुःखरहित केवल सुख उत्पन्न नहीं करती। नैयायिकोंका भी सिद्धान्त है कि कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो दुःख बिना केवल सुख ही उत्पन्न करता हो। केवल दुःखाभाव—सुखको उत्पन्न करनेवाला अकेला मोक्षमार्ग है। इसलिये पुरुषकी प्रवृत्ति केवल सुखका कारण खोजनेमें ही होती है, यह कहना ठीक नहीं है। अर्थकी बोधकता प्रमाणमें प्रमाणरूपताकी सिद्धि करती है। अर्थकी बोधकता जितनी शब्दप्रमाणमें है, उतनी प्रत्यक्ष प्रमाणमें नहीं होती। जैसे 'नदीके तीरपर फल है' यह अनाप्त पुरुषका वचन अर्थका बोधक होनेसे प्रमाणरूप है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! 'नदीके तीरपर फल है' इस वचनमें प्रमाणरूपता सम्भव नहीं है, क्योंकि 'नदीके तीरपर फल नहीं है' इस निषेध वचनसे उस वचनकी प्रमाणरूपतामें बाध आता है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! निषेध वचनसे यदि वचनके प्रमाणरूप होनेमें बाध आता हो, तो जबतक निषेध वचनकी प्रवृत्ति नहीं हुई हो, तबतक उस वचनके प्रमाणरूपकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु निषेध वचनकी प्रवृत्तिके बाद ही वचनकी प्रमाणतामें बाध आता है, इसी कारणसे वेदवेत्ताओंने आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त वैदिक प्रमाणमें प्रमाणरूपता मानी है। जैसे सब वनचरोंमें सिंह बलवान् है, इसी प्रकार अपने सम्बन्धसे सब पदार्थोंके अभावको जतानेवाला नकार ककारादिक वर्णोंमें बलवान् है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! जहाँ नकारसे दो प्रकारके निषेध वचनोंकी प्राप्ति हो, वहाँ परस्पर दोनों वचन प्रतिबन्धक होनेसे किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं होनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! जहाँ एक पदार्थमें दो निषेध वचन हों, वहाँ एक अर्थके निश्चय करनेके लिये किसी तीसरे प्रमाणको अवश्य मानना चाहिये। यदि उस तीसरे प्रमाणके अर्थको साधन करनेवाला कोई चौथा प्रमाण न हो, तो वह तीसरा प्रमाण अर्थकी सिद्धि करनेवाला कहलाता है, और दो निषेध वचनोंमें एक निषेध वचन लौकिक हो और दूसरा वैदिक हो, तो एक वचनके अर्थका निश्चय करनेके लिये किसी तीसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि भ्रम-प्रमादादि दोषोंसे युक्त लौकिक वचन दुर्बल है और दोषरहित वैदिक वचन बलवान् है। इसलिये बलवान् वैदिक प्रमाणसे दुर्बल लौकिक प्रमाणका बाध होता है। जैसे नदीके तीरपर फल है और नदीके तीरपर फल नहीं है, इन दोनों लौकिक वचनोंमें विरोध है। इसी प्रकार 'परलोक नहीं है', इस लौकिक वचनमें और 'परलोक है', इस वैदिक वचनमें परस्पर विरोध है। यहाँ लौकिक वचन प्रबल होनेपर भी दोषयुक्त होनेसे दुर्बल माना जाता है और दोषरहित होनेसे वेद-वचन प्रबल माना जाता है। इसलिये बलवान् वैदिक वचनसे दुर्बल लौकिक वचनका बाध हो जाता है। जब ककारादि वर्णोंसे बने हुए वचनोंमें शब्दरूपी तथा अर्थरूपी प्रमाणकी सिद्धि होती है तब नाना प्रकारके अर्थको बोध करनेवाले वचनोंमें अर्थके बोधरूप प्रमाणकी सिद्धि होती है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! अर्थका बोध होनेसे यदि वचनमें प्रमाणपना होता हो, तो जिस वचनसे किसी अर्थका बोध न होता हो, वह वचन अप्रमाणरूप माना जाय।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! जो वचन किसी अर्थका बोध न करे, वह वचन प्रमाणरूप है ही नहीं। परस्पर विरोधवाले प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका बाध करनेको जो अविरुद्ध प्रमाण समर्थ हो, वह अविरुद्ध प्रमाण नकारकी सहायता बिना नहीं कहा जा सकता, इसलिये नकार ककारादि सब वर्णोंमें बलवान् है। बलवान् नकार जैसे अभावरूप अर्थका बोध करता है इसी प्रकार 'नेति-नेति' आदि श्रुतियोंसे उत्पन्न हुए सर्व जगत्‌के अभावका बोध नकारसे अधिकारी जीवको होता है। जैसे निषेध वचनोंमें अर्थके बोधसे प्रमाणरूपता सिद्ध होती है, इसी प्रकार सर्व वचनोंमें अर्थके बोधसे प्रमाणरूपता सिद्ध होती है। जब पुरुषकी प्रवृत्ति हो, तभी प्रमाणरूपता होती हो, ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि भ्रम-प्रमादादिसे दूषित लौकिक वचन उपर्युक्त युक्तियोंसे अर्थका बोध करानेसे प्रमाणरूप होते हैं तो दोषरहित वेद-वचन अर्थके बोधन करानेसे प्रमाणरूप हों, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार

ईश्वरसे उच्चारण किये हुए वेद-वचनोंमें अपौरुषेयपना सिद्ध होता है।

वेदोंका विभाग

प्रत्यक्षादि सब प्रमाणोंमें वेदप्रमाण राजारूप है। वेदके दो भाग हैं, एक मन्त्ररूप वेद और दूसरा ब्राह्मणरूप वेद। मन्त्ररूप वेद ऋक्, यजुष्, साम और अथर्वण आदि भेदसे चार प्रकारका है। दूसरा ब्राह्मणरूप वेद इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्यान भेदसे आठ प्रकारका है। जिन वेद-वचनोंका जनक आदि राजाओंके प्रसंगसे बोध होता है, वे इतिहास कहलाते हैं। जिन वेद-वचनोंसे मायाविशिष्ट परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय बताया है, जिनमें पौर्णमास्यादि ऋषियोंकी वार्ता है, जिनमें विराट् भगवान्के पुत्र स्वायंभुवमनुकी उत्पत्ति कही है और मनुकी सृष्टिमें ब्राह्मणादि चार वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमोंके भिन्न-भिन्न कर्मोंका सम्पूर्ण वर्णन है, उनको पुराण कहते हैं। जिन वेद-वचनोंसे 'उपासीत' इत्यादि शब्दोंसे ब्रह्मादि देवताओंकी उपासना कही है, उनको विद्या कहते हैं। जो वेद-वचन 'सत्यका भी सत्य है' इस प्रकारके वचनोंसे ब्रह्मका रहस्य जताते हैं, उनको उपनिषद् कहते हैं। ब्राह्मणभागमें जो मन्त्र कहे हैं, उन मन्त्रोंका नाम श्लोक है। संक्षेपसे 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि वचनोंसे जो अनेक अर्थोंका बोधन करते हैं, उनका नाम सूत्र है। वेदके भागोंका नाम व्याख्यान है और मन्त्रके अर्थको बतानेवाले ब्राह्मण-रूप, जिन वचनोंसे मन्त्र, अर्थ तथा वादरहित सूत्रके अर्थका विस्तार हो, उनका नाम अनुव्यान है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! अनेक अर्थको जो बोधन करे, उसका नाम सूत्र हो, यह सम्भव नहीं है क्योंकि एक बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही अर्थका बोधन करता है, यह शास्त्रका नियम है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! जैसे लौकिक वाक्योंकी आवृत्ति करके अनेक अर्थोंका बोधन करना दोषरूप है इस प्रकार सूत्ररूप वेदवाक्योंकी आवृत्ति होनेसे अनेक अर्थोंका बोधन करना दूषणरूप नहीं है किन्तु भूषणरूप है। जैसे भूमिरूप क्षेत्रमें वृक्षकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार ब्रह्मरूपी क्षेत्रसे वेदरूपी कल्पवृक्षकी उत्पत्ति हुई है। वेदरूप वृक्षकी ऋक्, यजुष्, साम और अथर्वण चार शाखाएँ और अनेक उपशाखाएँ हैं। ब्रह्मसे वेदभगवान्की उत्पत्ति हुई है इसलिये शास्त्रमें वेदभगवान्को ब्रह्मरूप कहा है। हे मैत्रेयी! माया-विशिष्ट ब्रह्मसे जैसे शब्दरूप वेद उत्पन्न हुआ है इसी प्रकार वेदका अर्थ भी ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है। ज्ञानयोग और कर्मयोग दो प्रकारका योग है। यज्ञभूमिसे बाहर करने योग्य नाना प्रकारके दान, लोक-परलोकमें जीवको प्राप्त होनेवाला सुख-दुःखरूप फल, सुख-दुःखके भोगनेके साधन-रूप स्थावर-जंगम शरीर, आकाशादि पञ्चमहाभूत, वागादि ग्यारह इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके अभिमानी देवता, समष्टि-व्यष्टि प्राण इत्यादि सब जगत् परमात्मादेवसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्ममें अद्वितीयरूपता सिद्ध होती है।

प्रलयमें ब्रह्मकी अद्वितीयरूपता

हे मैत्रेयी! जगत्की उत्पत्ति और स्थितिकालमें ब्रह्मकी अद्वितीयरूपता सिद्ध हुई, अब प्रलयमें भी ब्रह्मकी अद्वितीयरूपता दृष्टान्तसहित कहता हूँ। जैसे गङ्गादि नदियोंके और मेघादिके जलका परस्पर सम्बन्ध होनेसे महान् समुद्रकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार प्रलयमें स्थावर-जङ्गमरूप सब जगत्का साक्षात् अथवा परस्पर सम्बन्ध होनेसे सर्व जगत् परमात्मादेवको प्राप्त होता है। प्रलयकालमें शब्द-स्पर्शादि विषय श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ आकाशादि

पञ्चभूतोंमें और आकाशादि पञ्चभूत माया-विशिष्ट परमात्मामें लय हो जाते हैं अर्थात् स्पर्श-रूप विषय त्वक्-इन्द्रियमें, रसरूप विषय रसन-इन्द्रियमें, गन्ध घ्राण-इन्द्रियमें, काले-पीले आदि रंग चक्षु-इन्द्रियमें, लौकिक शब्द श्रोत्र-इन्द्रियमें, सङ्कल्प मनमें, निश्चयरूप वृत्ति बुद्धिमें, ग्रहणादि व्यापार हस्त-इन्द्रियमें, विषयजन्य आनन्द उपस्थ-इन्द्रियमें, मलादि विसर्ग पायु-इन्द्रियमें, गमन-व्यापार पगमें और शब्द वाक्-इन्द्रियमें लय हो जाते हैं। इसी प्रकार जो-जो इन्द्रिय जिस भूतका कार्य है, उस-उस भूतमें लय हो जाती हैं। जैसे छोटी नदियोंका जल गङ्गादि बड़ी नदियोंमें जाता है और बड़ी नदियोंका जल महासागरमें मिल जाता है, इसी प्रकार प्रलयकालमें प्रथम सब कार्य अपने-अपने कारणमें लय होते हैं और पीछे कारणसहित सब कार्य अपने परम कारणरूप परमात्मामें लय हो जाते हैं, इसलिये प्रलयमें भी परमात्मादेव अद्वितीयरूप है।

आत्माकी अद्वितीयरूपता

हे मैत्रेयी! ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेके बाद कार्य-सहित अविद्याके लय होनेमें दृष्टान्त कहता हूँ, सुन! जैसे समुद्रादिका जल स्वाभाविक द्रव पदार्थ-रूप है, वह जल अग्नि तथा वायु आदिके स्पर्शसे लवणरूप घन हो जाता है, इसी प्रकार पुण्य-पाप-रूप अदृष्ट फलकी प्राप्तिसे ईश्वरादि भेदसे रहित शुद्ध परमात्मादेव अविद्याके सम्बन्धसे घन होकर सांसारिक जीवभावको प्राप्त हो जाता है। जैसे लवणका टुकड़ा किसी प्रकार भी समुद्रसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है। जैसे लवणकी डली पिघलकर जल-रूप हो जाती है, इसी प्रकार यह जीव ब्रह्मभावमें लय हो जाता है। जैसे लवणकी डली घनी होनेसे समुद्रके जलसे भिन्न प्रतीत होती है, इसी प्रकार जीवको अद्वितीय परब्रह्मसे संसार भिन्न दीखता है। जैसे लवणपिण्डका घनापना नष्ट हो जाता है परन्तु जलरूपता बनी रहती है, इसी प्रकार आत्माकी जीवरूपता नाशवान् है परन्तु ब्रह्मरूपता नाशसे रहित है। जैसे लवणादिके गलनेसे उसका पिण्डपना नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मोक्ष-अवस्थामें अविद्याका नाश होनेसे जीवका जीव-भाव नष्ट हो जाता है। जैसे लवणकी डली सब ओरसे उत्पत्ति, स्थिति तथा लयकालमें क्षाररस-वाली है, इसी प्रकार जीवात्मा भी प्रत्येक अवस्थामें स्वयंप्रकाश चेतनरूप है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! यदि आनन्दस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाश है, तो सब जीवोंको आत्मा-की स्वयंप्रकाशता प्रतीत क्यों नहीं होती?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! जैसे अत्यन्त समीप भी सूर्यादि प्रकाशको अन्धा पुरुष देख नहीं सकता, इसी प्रकार अज्ञानसे ढकी हुई बुद्धिरूपी नेत्रवाले अज्ञानी जीवोंको अत्यन्त समीपमें रहनेवाला स्वयं-ज्योति आत्मा दिखायी नहीं देता। जिस मनुष्यका मन स्त्री आदि विषयोंमें लुब्ध होता है, वह अत्यन्त समीपके पदार्थको भी देख नहीं सकता। जैसे समुद्रके लवणपिण्डमें घनापना होता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकारका विशेष ज्ञान होता है। इस विशेष ज्ञानका कारण यह स्थूल शरीर है क्योंकि इस स्थूल शरीरका नाश होते ही विशेष ज्ञानरूप घनभावविशिष्ट आत्माका भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि नाशरहित है, तो भी जैसे चार कोनेवाले लोहेके समूहको अग्निमें तपानेसे चारों तरफ अग्नि प्रतीत होती है और चार कोनेवाले लोहपिण्डका नाश होनेसे चारों कोनोंमें स्थित अग्निका भी नाश हो जाता है, इसी प्रकार जीवित-अवस्थामें स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा 'मैं मनुष्य हूँ'

इस प्रकारके विशेष ज्ञानवाला प्रतीत होता है और मरणकालमें शरीरका नाश होनेके बाद विशेष ज्ञानसे ढके हुए आत्माका भी नाश हो जाता है। जैसे पुरुष आप विद्यमान होते हुए भी अपने पासके दण्डका नाश होनेसे दण्डी कहनेमें नहीं आता, इसी प्रकार मरणकालमें आत्मा विद्यमान होनेपर भी 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकारके विशेष ज्ञानरूपी विशेषणका नाश हो जाता है। जैसे मरणकालमें यह जीव 'मैं मनुष्य हूँ' अथवा 'ब्राह्मण हूँ' इस प्रकारके सर्व विशेष ज्ञानसे रहित होनेसे स्थूल शरीरके दुःखको नहीं प्राप्त होता, इसी प्रकार मोक्ष-अवस्थामें यह जीव 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकारके सम्पूर्ण विशेष ज्ञानसे रहित होता है, इसलिये मोक्षावस्थामें दुःखको प्राप्त नहीं होता।

मैत्रेयी—हे स्वामिन्! जैसे मरणकालमें विशेष ज्ञानका अभाव होता है, इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें विशेष ज्ञानका अभाव होता है, तो सुषुप्तिके दृष्टान्तसे मोक्षावस्थामें दुःखका अभाव विद्वान् क्यों नहीं कहते?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! यद्यपि सुषुप्तिमें सब विशेष ज्ञानका अभाव होता है, तो भी सुषुप्ति-अवस्थाको त्यागकर जीव जाग्रदवस्थामें नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करता है और मरण-कालके बाद जीवको स्थूल शरीरसम्बन्धी दुःख नहीं होता, इसलिये सुषुप्तिका दृष्टान्त न देकर मोक्षमें विद्वान् मरणावस्थाका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्थूल शरीरके नाशके बाद सम्पूर्ण विशेष ज्ञानसे रहित हुआ जीव शरीरसे भिन्न होकर दुःखको प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार होनेसे अविद्याका नाश होनेपर सब विशेष ज्ञानसे रहित हुआ स्वयंज्योति आत्मा फिर शरीर-सम्बन्धी दुःखको नहीं प्राप्त होता।

मैत्रेयी—हे भगवन्! मोक्षावस्थाके समान मरण-कालमें सब दुःखोंका अभाव होता है, तो मरण अवस्थाको प्राप्त हुए अज्ञानी जीव और मुक्त पुरुषमें क्या भेद है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! मरणकालमें विशेष ज्ञानका अभाव होनेसे जीवको पूर्वजन्य शरीरके दुःखका अभाव होता है तो भी पुण्य-पापरूप अदृष्ट फल भोगनेको भावी शरीरकी प्राप्ति तथा सर्व शरीरोंका कारण अविद्या ये दोनों रहते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव दूसरे जन्ममें अनेक प्रकार-के दुःख पाता है। आत्मज्ञानसे अविद्या और पुण्य-पापरूप अदृष्टका नाश हो जानेसे मुक्त पुरुषको दूसरे शरीरकी प्राप्ति न होनेसे दुःख भी नहीं होता।

मैत्रेयी—हे भगवन्! पूर्वमें आपने आनन्दस्वरूप आत्माको सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप कहा और अब आप स्थूल शरीरका नाश होनेपर आत्माका नाश कहते हैं, इसलिये आपके पूर्वोत्तर वचनोंमें विरोध आता है। जैसे पवन रूईको दसों दिशाओंमें भ्रमाता है, इसी प्रकार आपका वचनरूपी पवन मेरे मनरूप रूईको भ्रमाता है। पूर्व मैंने विद्वानोंके मुखसे सुना है कि आत्माका नाश नहीं होता और कितने ही प्रसङ्गोंमें आपके मुखसे भी ऐसा सुना है। जैसे कोई धन कमानेकी इच्छासे व्यापारमें प्रवृत्त हो और उसका मूलधन भी नाश हो जाय, इस प्रकार मुझे शोक होता है।

याज्ञवल्क्य—हे प्रिये! शरीरके नाशसे आत्मा-का नाश होता है, इस वचनसे व्यामोहको मत प्राप्त हो! मेरे वचनका अभिप्राय तेरी समझमें नहीं आया, अब मेरा स्पष्ट अभिप्राय सुन! यद्यपि आनन्दस्वरूप आत्मा जीवभावसे रहित है तो भी अविद्याके सम्बन्धसे जीवभावको प्राप्त होता है। आत्मसाक्षात्कार होनेसे जब अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है तब आनन्दस्वरूप आत्मा जीवभाव-

को त्यागकर अपने मूल रूपमें लय हो जाता है। मोक्षावस्थामें 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि सम्पूर्ण ज्ञानका नाश हो जाता है किन्तु आनन्द-स्वरूप आत्माका नाश नहीं होता। जैसे मरण-समय विशेष ज्ञानका नाश होनेसे पुरुष स्थूल शरीरके दुःखका अनुभव नहीं करता इसी प्रकार मोक्षावस्थामें विशेष ज्ञानके अभावसे शरीरसे होनेवाले दुःखको नहीं प्राप्त होता। ऐसा बोध करानेको मैंने कहा है कि शरीरके नाशके बाद आत्माका नाश हो जाता है परन्तु मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि वास्तविक आत्माका नाश हो जाता है। घटके नाश होनेसे घटाकाशका नाश नहीं होता, तो भी मूढ पुरुष घटाकाशका नाश मानते हैं। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका कभी नाश नहीं होता, किन्तु स्थूल शरीरके नाश-से अविवेकी पुरुष आत्माका नाश हुआ मानते हैं। यदि स्वभावसे आत्माका नाश माना जाय तो इस लोकमें किये हुए पुण्यपापरूप कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल भोगे बिना नाशरूप दोष और पुण्य-पाप किये बिना ही सुख-दुःखरूप फल भोगने-से कृतनाश तथा अकृताभ्यागमरूप दो दोष प्राप्त होते हैं। इसलिये विद्वानोंने आत्माका नाश नहीं माना है। मरणसमय पुरुषके देह इन्द्रियादि संघातका लय हो जाता है, इसलिये उसको विशेष ज्ञान नहीं रहता। जब विशेष ज्ञानका अभाव होनेसे मरण-अवस्थामें दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, तो आत्मसाक्षात्कार होनेसे अविद्यारहित आत्माको मोक्ष-अवस्थामें दुःखकी प्राप्ति कहाँसे हो? मोक्ष-अवस्थामें विशेष ज्ञानका नाश होनेपर भी स्वयंज्योति आत्माका नाश नहीं होता क्योंकि स्वयंज्योति आत्मा शाश्वत और अविनाशी है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! स्वप्रकाश आत्मा मोक्ष-दशामें शरीरादि द्वैत प्रपञ्चको क्यों नहीं देखता? यदि द्वैत प्रपञ्चको नहीं देखता, तो मोक्षावस्थामें स्वयं कैसे है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! सुषुप्ति और मरणा-वस्थामें स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा स्त्री, पुत्र, धनादि पदार्थोंको नहीं देख सकता, इसमें आत्माके स्वप्रकाशका अभाव कारण नहीं है किन्तु पदार्थोंका तथा इन्द्रियोंका अभाव कारण है, इसलिये सुषुप्ति और मरणावस्थामें स्वप्रकाश आत्मा द्वैत प्रपञ्चको नहीं देखता। इसी प्रकार मोक्षावस्थामें द्वैत न देखनेका कारण आत्माके स्वप्रकाशका अभाव नहीं है सर्व द्वैत प्रपञ्चका अभाव होनेसे मोक्षदशामें आत्मा स्वप्रकाश चैतन्य होनेपर भी द्वैत प्रपञ्चको नहीं देखता। आनन्दस्वरूप आत्मा अविनाशी होनेसे सुषुप्ति, मरण और मोक्ष तीनों अवस्थाओंमें अपने मूल रूप-का त्याग नहीं करता। आत्माका वास्तविक स्वरूप जैसा मोक्षदशामें होता है, वैसा ही संसार-दशामें भी होता है, तो भी संसार-दशामें देहादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रतीत नहीं होता। मोक्षावस्थामें आत्माका देहादिका सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है, इसलिये मोक्षावस्थामें विद्वान्‌को आत्माका वास्तविक स्वरूप करामलकके समान स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव कभी भी अन्य भावको प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार सुषुप्ति, मरण और मोक्ष तीनों अवस्थाओंमें आत्माका स्वप्रकाश कभी अन्य भावको प्राप्त नहीं होता, इस-लिये आत्मा समस्त भेदोंसे रहित है। (क्रमशः)

पूज्यपाद स्वामीजी श्रीहरिबाबाजी महाराजके उपदेश

१—भगवन्नाम-कीर्तन करके अगर तुम किसी अन्य वस्तुको चाहते हो तो भगवान् हाथसे निकल जायँगे। चाहे जो हो जाय कुछ भी न माँगो। भले ही सब कुछ नष्ट हो जाय किन्तु भगवत्सम्बन्ध न टूटने पावे।

२—मुझे तो सब मार्ग एक ही ओरको गये दीखते हैं; एक ही फल दीखता है। पर वहाँ पहुँचनेके लिये, उससे मिलनेके लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करनी पड़ेगी।

सबकर ममता-ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँधु बट डोरी॥

३—हे मन! तू अपनी चतुराई छोड़ दे, यह समझ कि भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्के हैं।

४—नियमपूर्वक सत्संग करके मनको भगवान्में लगाओ। भगवत्प्रेम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह तो चिन्मय रस है।

५—जब समष्टिकी लगन होती है तब भगवान् अवतार लेते हैं, और एककी ही लगन होती है तब उसके भावानुसार उसे दर्शन देते हैं। लगन निरन्तर—प्रतिक्षण बढ़ती रहनी चाहिये। लगन बढ़ती है—भगवत्कृपासे, महाप्रभुजीकी कृपासे, पूर्ण भक्तकी कृपासे।

६—भगवान् श्रीकृष्ण सब अवतारोंके अवतारी हैं। वे ही वेदान्तके 'सच्चिदानन्द' हैं, अखिल ब्रह्माण्ड-नायक और सर्वात्मा हैं। वे समस्त ऐश्वर्यो और समस्त शक्तियोंके आधार हैं, श्रीकृष्ण चिन्मय हैं। ब्रह्मा, शंकर भी उनके सम्पूर्ण रहस्यको नहीं जानते। वे ही श्रीकृष्ण वृन्दावनके गोपियों-ग्वालोंमें रास किया करते हैं। वे पूर्णावतार हैं।

७—श्रीकृष्ण नाम चिन्मय है। इसे युक्तिसे या दलीलसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रद्धा ही इस मार्गमें आगे बढ़ानेवाली है।

८—समस्त संसारमें जितने भी रस हैं, उन सबके सार श्रीकृष्ण हैं। जीव तभीतक प्राकृतिक रसोंके वशीभूत है, जबतक वह श्रीकृष्ण-रससे वञ्चित है।

९—जो श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीराधिका हैं, जो श्रीराधिका हैं, वही श्रीकृष्ण हैं, दोनों परस्पर अभिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, गुलाबका फूल और उसकी सुगन्ध। बल्कि यों कहिये कि श्रीजीके द्वारा ही श्रीकृष्णका आनन्द है। वैष्णवोंने श्रीजीको 'आह्लादिनी शक्ति' कहा है, जिसका सार प्रेम है।

१०—हमारे मन कितने मलिन हैं, जो हम श्रीकृष्ण और श्रीराधामें पुरुष-स्त्रीका भाव करते हैं। वहाँ तो इसकी गन्ध भी नहीं है। उनकी लीलाओंका रहस्य जाननेके लिये, बड़े ऊँचे भाववाले परम पवित्र मन चाहिये। हमारे मन तो प्राकृतिक रागको क्षणमात्र भी नहीं त्याग सकते। सचमुच, मन यदि मायासे ऊपर उठ जाय तो नया जन्म ही हो जाय।

११—जो लोग भगवान्की लीलाओंमें तर्क-वितर्क करते हैं, उन्हें उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भगवान्पर विश्वास ही नहीं है।

१२—हमें यदि उस रसको पीना है तो भले ही इसके लिये संसारसे हमारी जड़ कट जाय। उसकी लगनमें हँसते-हँसते सिरतक दे देना चाहिये।

१३—हम कथा-कीर्तन करते-सुनते हैं, पर वे सब ऊपर-ही-ऊपर हवाकी तरह उड़ जाते हैं। अंदर गहरी तहमें चले जायँ तो फिर क्या कहने हैं!

१४–जैसे बच्चा माताकी गोदमें जानेके लिये रोता है, वैसे ही माता भी बच्चेको गोदमें लेनेके लिये आतुर होती है। इसी प्रकार जो जीव भगवान्‌से मिलना चाहते हैं, तब भगवान् भी चाहते हैं कि ये जीव मेरी ओर आवें।

१५–भगवान् बड़ा बनना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि जीव मुझे छोटा बनाकर मुझसे प्यार करे। बड़ा बननेकी धुन तो सांसारिक मनुष्योंमें होती है। जो यह समझता है कि भगवान् तो हमारे ही हैं, उसे भजन करनेकी जरूरत नहीं होती। श्रीमहाप्रभुजीने यही बतलाया था कि 'जीवो! भगवान्‌से डरो मत, राधा-कृष्ण कहो, उनसे खूब प्रेम करो।'

१६–हम छोटे-से त्यागको भी बहुत कुछ समझ लेते हैं परन्तु भगवान्‌के लिये तो सारे सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग करना होगा। वह भी सदाके लिये और हँसते-हँसते प्रसन्नताके साथ।

१७–साधकको किसी बलकी जरूरत नहीं है, वह केवल यही विश्वास रक्खे कि भगवान् हमारे हैं। बस, इसीकी जरूरत है। जब महाप्रभुजीने हमें अपना लिया तो फिर डरनेकी क्या आवश्यकता है?

१८–जब भगवत्कृपा होगी, तब सब कुछ आप ही हो जायगा। हमें कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं होगी।*

प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी

दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज

(लेखक—श्रीरामशरणदासजी)

'कल्याण' के पाठक महानुभावोंके सम्मुख सुप्रसिद्ध संन्यासी महात्मा श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त रखते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। यह वृत्तान्त नरवर सांगवेदविद्यालयके संस्थापक बालब्रह्मचारी पूज्य पण्डित श्रीजीवनकिशोरजी महाराजके द्वारा ही प्राप्त हुआ है, एतदर्थ मैं उनके श्रीचरणोंका अत्यधिक आभारी हूँ।

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय श्रीस्वामीजी महाराजका जन्म पंजाब प्रान्तमें हुआ था। गृहस्थाश्रममें आपका पहला नाम पण्डित रामफलजी शास्त्री था। पहले तो आपने अपने प्रान्तमें ही विद्याध्ययन किया, बादमें काशी जाकर न्याय, वेदान्त, मीमांसा आदि शास्त्रोंका विधिपूर्वक अनुशीलन किया। आपकी बुद्धि बड़ी ही विमल तथा प्रतिभा प्रकृष्ट थी, अतः थोड़े ही समयमें आप अनेक शास्त्रोंके महान् ज्ञाता हो गये। आपके गुरुओंमें पण्डित श्रीराम मिश्रजीसे आपने वेदान्त पढ़ा। परमपूज्य प्रातःस्मरणीय भारतप्रसिद्ध पण्डितराज श्रीलक्ष्मण शास्त्रीजी द्राविड़से भी आप वेदान्तशास्त्र पढ़ा और विचारा करते थे।

* होलीके संकीर्तन-उत्सवके समय बाँधपर महाराजजी नित्य कथा कहा करते थे। बीच-बीचमें उपदेशप्रद बातें भी कहते जाते थे। उन्हींमेंसे कुछ बातें नोट की हुई हैं। इसमें जो कुछ भूल रह गयी है वह हमारी है।—प्रेषक

न्यायशास्त्रका परिशीलन पण्डित श्रीत्रिलोकीनाथजी मिश्रसे किया था।

यथासमय आपका विवाह-संस्कार हुआ था परन्तु कुछ ही दिनोंके बाद आपकी धर्मपत्नीजीका स्वर्गवास हो गया। उस समय आप अध्यापन-कार्य करते थे। धर्मपत्नीकी मृत्यु होनेपर आपने अनाश्रमी रहना अनुचित समझकर एक उच्चकोटिके महात्मा दण्डि-स्वामीको गुरु बनाकर उनसे संन्यास-दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् आप जम्मू (कश्मीर) रियासतमें चले गये। वहाँके महाराज आपके परम भक्त थे। महाराजके आग्रहवश आप वहाँ बहुत दिनोंतक रहे तथा आपने राजगुरु एवं अन्य अनेक कर्मचारी ब्राह्मणोंका अपनी ऊँची विद्या प्रदान की। कुछ कालके अनन्तर अमृतसर चले आये और वहाँ आप सेठ श्रीगागरमलजीकी पाठशालामें स्वतन्त्ररूपसे रहने लगे। वहाँके पण्डित-वर्गको भी आपने मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि विषयोंका अध्ययन कराया। तत्पश्चात् आपकी इच्छा गंगा-तटपर निवास करनेकी हुई। यह समाचार पाते ही हरिद्वार-ऋषिकेशके बाबा काली कमलीवाले-जैसे कई प्रतिष्ठित सज्जनोंने आपसे प्रार्थना की कि आप वहाँ आकर निवास करें, परन्तु आप गंगा-तटपर ऐसे स्थानमें रहना चाहते थे, जहाँ पंजाब प्रान्तके लोगोंका आना-जाना न हो। इसलिये उनकी प्रार्थना पूरी नहीं हुई। अकस्मात् पूज्य स्वामी श्रीआत्मदेवजी महाराजने आपको नरवरका परिचय दिया और उन्हींकी प्रेरणासे नरवरके उपर्युक्त पण्डित श्रीजीवनकिशोरजी महाराजने वहाँ पधारनेके लिये आपके पास प्रार्थना-पत्र भेजा। आपने लिखा कि इस समय जो ग्रन्थ चल रहे हैं, उनके पूरे होनेपर आवेंगे। एक वर्ष पश्चात् ब्रह्मचारीजीको आपने लिखा कि ग्रन्थ पूरे हो चुके हैं, अब यदि बुलानेकी इच्छा हो तो हम आ सकते हैं। तब पण्डितजीने अपने कुछ ब्रह्मचारी आपकी सेवामें भेज दिये और वे बड़े आदर एवं श्रद्धासहित आपको नरवर ले आये। उन दिनों पूज्यपाद जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी, श्रीमधुसूदनतीर्थजी महाराज गोवर्धन-मठाधीश, जगद्गुरु श्रीस्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज और स्वामीजी श्रीशुद्धबोधतीर्थजी महाराज भी वहीं ठहरे थे। नरवरमें आप लगातार आठ महीनोंतक रहे, तदनन्तर पूज्य पण्डित श्रीदौलतरामजी महाराज (स्वामी श्रीअच्युतमुनिजी महाराज, जिनका कुछ समय पूर्व ही काशीमें देहावसान हुआ है) ने आकर आपके दर्शन किये। वे आपके परम कृपापात्र बन गये तथा उनके विशेष आग्रहसे आपको भेरिया नामक स्थानपर जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने आपसे अद्वैत-सिद्धि, खाद्य-खण्डन आदि दुर्बोध ग्रन्थोंका श्रवण किया। फिर तो श्रीअच्युत स्वामीजी महाराज आपको गुरु-रूप मानने लगे और जबतक वे इस धराधामपर रहे तबतक उसी भावसे आपकी प्रतिष्ठा करते रहे। किसी कारणवश भेरियामें अधिक दिनोंतक आपका चित्त न लगा और आप फिर नरवर चले आये। तबसे लगातार दस-ग्यारह वर्षोंतक आप नरवरहीमें रहे।

एक बार काशीमें उदासीन-सम्प्रदायके विद्वानोंके साथ जब शास्त्रार्थ करनेका अवसर आया था, तब वहाँके विशिष्ट पण्डितोंने तथा पूज्यपाद स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज महामण्डलेश्वरने बड़े आग्रहके साथ आपको वहाँ बुलाया था और आपसे काशी-वास करनेके लिये विशेष अनुरोध किया था परन्तु आपने नरवरके सौभाग्यसे उसे अस्वीकार कर दिया और अन्ततक नरवरमें रहकर उसे प्राचीन ऋषिकुल ही बना दिया।

पूज्यपाद संतश्रेष्ठ स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज भगवान् श्रीरामके उपासक एवं परमभक्त थे। आप नित्य प्रातःकाल तीन बजे उठते और शौचादि-से निवृत्त होकर ध्यानाभ्यासमें तल्लीन हो जाते थे।

जब कुछ-कुछ प्रकाश आने लगता था तब महिम्नः-स्तोत्र तथा श्रीवाल्मीकीय रामायणका पाठ करने लगते थे। गंगा-स्नान करनेका भी आपका नित्य-नियम था। इस प्रकार गंगा-स्नान, ध्यान, पाठ-पूजासे छुट्टी पाकर आप बड़े परिश्रम एवं चावके साथ विद्यार्थियों-को पढ़ानेमें लग जाते थे और वह क्रम दिनके १२ बजेतक चलता था। उसके बाद आप भिक्षा किया करते थे, भिक्षामें केवल रोटी और मूँगकी दाल ही होती थी। भिक्षा-ग्रहणके पश्चात् बहुत थोड़े समय-तक आप विश्राम करते थे और फिर सन्ध्या-समय-तक अध्यापनकार्यमें निरत रहते थे। इस तरह आप-के सारे कार्य समयपर एवं नियम-बद्ध होते थे। आपका सारा जीवन पूर्ण कर्मठ बना रहा और कहीं भी उसमें ढील नहीं आयी।

आपकी विरक्ति और त्याग-भावनाके सम्बन्धमें क्या कहना है। आप इनके मूर्तिमान् विग्रह थे। जबसे आपने घर छोड़ा तबसे उधर मुँह फेरकर देखा भी नहीं। किसी भी धनी मानी मनुष्यके साथ आप-का पत्र-व्यवहारतक नहीं हुआ और न आपने किसीके श्रद्धापूर्वक चढ़ाये हुए द्रव्यादिका भी स्पर्श किया। आपमें एक यह खास बात थी कि कहीं भी जा रहे हों, मार्गमें किसी भी देवी-देवताका मन्दिर पड़ जाता, आप बड़ी श्रद्धा और प्रेमके साथ सनातन-धर्मानुकूल साष्टांग प्रणाम-नमस्कार और परिक्रमा आदि करते थे। साधु-महात्माओंका बड़े सम्मानके साथ सत्कार करते थे, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय-के क्यों न हों।

कुछ लोग ऐसा समझे हुए थे और शायद अब भी कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो कि पूज्यचरण स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज तथा उनके परम शिष्य भारतप्रसिद्ध विद्वान् पूज्यपाद श्रीस्वामी श्रीहरिहरानन्दजी महाराज (परमहंस करपात्रीजी महाराज) कीर्तनके विरोधी हैं और कीर्तनको अच्छा नहीं समझते। परन्तु यह बात क्या कभी सत्य हो सकती है ? उनके-जैसे महात्मा विरक्त त्यागी सनातनधर्मावलम्बी पुरुषश्रेष्ठ क्या कभी कीर्तनको बुरा बतला सकते हैं ? कदापि नहीं। वास्तविक बात यह है कि वे शास्त्र-विधिके पक्के पक्षपाती थे। आजकल प्रायः लोग भगवन्नामकी आड़में आलस्य या प्रमादवश शास्त्राज्ञाकी परवा न करके मनमाना आचरण करते देखे जाते हैं। ऐसे लोगोंके स्वामीजी महाराज विरोधी थे। उनका कहना था कि 'सब लोग शास्त्राज्ञाका पालन करें और अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुरूप कर्म करें, तभी सबका कल्याण हो सकता है। शास्त्राज्ञानुसार 'ॐ' का उच्चारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। फिर क्यों किसी कीर्तनमें सब लोग 'ॐ' का उच्चारण करने लगते हैं। कीर्तनमें अनुराग होनेका यह अर्थ नहीं कि सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कर्म छोड़ दिये जायँ। आजकल कितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नित्य नियमपूर्वक सन्ध्या-वन्दन करते हैं ? कीर्तनके नामपर सन्ध्या छोड़ देना कौन-सा धर्म है ? साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी भी शास्त्रानुमोदित कर्तव्योंकी उपेक्षा नहीं करते थे, नित्य समयपर सन्ध्या-वन्दनादि करते थे, भगवान् श्रीकृष्णने भी शास्त्र-विधिका पालन करनेके लिये प्रबल आज्ञा दी है, क्या तुमलोग उनकी आज्ञा भंग करके उनका नाम लोगे ? नहीं, सब काम मर्यादापूर्वक करो। समयपर सन्ध्या करो, समयपर गायत्री जपो, समयपर

दान दो, समयपर श्राद्ध करो, और समयपर भगवन्नाम-कीर्तन करो। न कि कीर्तनके बहाने अन्य आवश्यक कर्मोंको छोड़ दो।' बस, आपके उपदेशका यही आशय था। इसी आधारपर कुछ लोग आपपर उपर्युक्त आरोप करते हैं। पर आप-जैसे ज्ञाननिष्ठ कर्मनिरत भक्तिभावापन्न संत-शिरोमणिपर इस तरहका आरोप करनेसे आरोपकर्ताओंकी ही हानि होती है।

इस प्रकार पूज्यपाद स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज अपने ज्ञानोपदेश तथा विद्या-दानादिसे अनेकों मनुष्योंका कल्याण करते हुए अपने जीवनके अन्तकालतक नरवरमें ही रहे। आपने लगभग ६० वर्षकी अवस्थामें मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग दिया। परलोकवासके कुछ समय पूर्वसे आपका शरीर रुग्ण हो गया था, उस समय इलाज करानेके लिये लोग आपको मेरठ ले गये पर कुछ लाभ नहीं हुआ और फिर आप नरवर चले आये। देह-त्यागके समय आपने पूज्यपाद श्रीउड़िया-बाबासे मिलनेकी इच्छा प्रकट की थी परन्तु संयोगवश उनसे भेंट न हो सकी। जिस दिन आपने शरीर छोड़ा, उस दिन श्रीउड़ियाबाबाजी आ गये थे। बड़े धूमधामके साथ जुलूस निकाला गया था, उसमें पूज्य श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज, तथा भेरिया एवं विहार-घाटके अन्यान्य महात्मागण सम्मिलित हुए थे। बड़े जोरोंसे कीर्तन हो रहा था। गंगाप्रवाहके समय वेद-मन्त्र भी बोले जा रहे थे। कुछ दिनों पश्चात् आपका भण्डारा हुआ था, जिसमें बड़े-बड़े त्यागी-विरक्त संत-महात्मा, विद्वान् ब्राह्मण, सद्गृहस्थ आदि पधारे थे।

पूज्य स्वामीजीके प्रधान शिष्योंके नाम इस प्रकार हैं—सुप्रसिद्ध महात्मा, विद्वद्वरेण्य, त्याग और तितिक्षाकी मूर्ति परमहंस श्रीकरपात्रीजी महाराज, स्वामी श्रीप्रभासभिक्षुजी महाराज, स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजी महाराज, स्वामी श्रीआत्मबोधाश्रमजी महाराज, स्वामी श्रीरामकृष्णाश्रमजी महाराज, स्वामी श्रीअखण्डबोधाश्रमजी महाराज, आदि-आदि। ब्रह्मलीन स्वामीजी महाराजके इन त्यागी विरक्त और महात्मा शिष्योंके द्वारा सनातन वर्णाश्रमधर्मकी बड़ी रक्षा हो रही है।

एक भक्तके उद्गार

(अनु०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)

१—जबतक तुम प्रभुकी ओर नहीं झुकते, तबतक भले ही तुम कहीं या किधर भी जाओ, किन्तु तुम दुखी रहोगे।

जब तुम्हारी इच्छानुसार चीज़ें गुजरती नहीं हैं तो तुम क्यों दुखी होते हो ? ऐसा कौन है जिसको मनोनुकूल सारी वस्तुएँ प्राप्त हों ? न मैं हूँ और न तुम और न पृथ्वीपर कोई अन्य ही ऐसा है !

संसारमें, राजा या धर्माचार्य ऐसा कोई नहीं है, जिसे दुविधा या दुःख न हो।

तब, सबसे सुखी कौन है ? वही, जो भगवान्‌के लिये कुछ दुःख झेल सकता हो !

२—कुछ कमज़ोर और दुर्बल प्रकृतिके लोग कहते हैं, 'देखो, वह कैसा सुखी जीवन भोग रहा है, वह कैसा धनी है, महान् है, और उसमें कितना बल और गौरव है।'

किन्तु ईश्वरीय वैभवपर नज़र डालो, देखोगे कि इस जीवनके सम्पूर्ण विभव नगण्य हैं। ये अत्यन्त अस्थिर तथा भारपूर्ण हैं, चूँकि चिन्ता और भय बिना हम इन्हें नहीं रख सकते !

बहुतेरे सांसारिक पदार्थ रखनेमें मानवको सुख नहीं है, किन्तु वे मानवके लिये थोड़ी मात्रामें ही यथेष्ट हैं।

सचमुच, पृथ्वीपर जीवन धारण ही काफ़ी दुःख है।

मानव जितना ही धार्मिक बनना चाहता है, प्रस्तुत जीवन उसे उतना ही कटु हो जाता है। कारण यह है कि वह अधिक स्पष्टता और अनुभूतिसे मानवपतनके दोषोंको देख सकता है।

पापमुक्त एवं स्वातन्त्र्यप्रेमी धार्मिक पुरुषको खाने-पीने, सोने-जागने, श्रम और विश्राम तथा प्रकृतिके अन्य आवश्यक कर्मोंमें निस्सन्देह बहुत दुःख और कष्ट होता है।

३—सात्त्विक पुरुषको इन बाह्य शारीरिक आवश्यकताओंसे बहुत भार मालूम पड़ता है।

इसीसे किसी महात्माने इनसे मुक्त होनेके लिये अत्यन्त भक्तिके साथ प्रार्थना की थी, 'हे प्रभो ! मुझे इन विपत्तियोंसे उबार।'

पर खेद उनके लिये है जो अपना दुःख खुद नहीं जानते और अधिक खेद उनपर है जो इस दुःखी और पतित जीवनको ही प्यार करते हैं।

इनमें तो कुछ इनसे ऐसे चिपके हुए हैं कि गोकि मेहनत और भीख माँगनेपर जरूरियातसे ज़्यादा नहीं मिल पाता, फिर भी यदि इन्हें यहाँ सदा रहनेको मिल जावे तो भगवान्‌का ध्यान भूलकर भी नहीं करेंगे !

४—ये कैसे मूढ़ और अविश्वासी हैं जो धरतीमें इतना गहरा धँस चुके हैं कि सांसारिक पदार्थोंको छोड़ दूसरी किसी चीज़में आनन्द नहीं पा सकते !

किन्तु अन्तमें ये अनुभव करेंगे कि जिस वस्तुसे हम इतना प्रेम करते थे वह अत्यन्त पतित और तुच्छ थी !

भगवान्‌के भक्त और सन्तगण शरीरको सुखी करनेवाले या इस जीवनमें चमकनेवाले पदार्थोंपर ध्यान नहीं देते थे, वरं पूर्ण आशा और सच्ची भक्तिके साथ नित्य सम्पदाकी कामना करते थे।

उनकी सम्पूर्ण कामना नित्य तथा अदृश्य पदार्थोंमें लगी रहती थी, ताकि दृश्यमान पदार्थोंकी कामना नीचेकी ओर खींच न ले जावे।

५—प्यारे भाई ! सात्त्विकतामें, उन्नतिमें विश्वास न हारो। अब भी समय शेष है, घड़ी नहीं बीत पायी है।

अपना सदुद्देश्य दिन-दिन स्थगित क्यों करते हो? उठो और इसी क्षण आरम्भकर कहो, यही समय कार्य करनेका है, प्रयत्न करने और आत्म-सुधारके लिये यही समय उपयुक्त है।

जब तुम दुःखी और अस्वस्थ हो तभी उन्नतिके लिये सर्वोत्तम समय है।

विश्राम-भूमिपर पहुँचनेके पहले तुम्हें अग्नि और जलसे होकर गुजरना ही पड़ेगा।

जबतक तुम खूब जोर लगाकर अपनेको आगे नहीं बढ़ाते, पापपर विजय कदापि नहीं मिलेगी।

जबतक यह दुर्बल शरीर कायम है, अथवा जबतक इसमें आसक्ति है, हम पापमुक्त, चिन्ता और पीड़ारहित नहीं हो सकते।

हम दुःखोंसे सानन्द मुक्त होना चाहते हैं, पर दुःखोंके बीच रहकर हम अबोधता और आनन्द खो बैठे हैं।

अतः भगवान्‌की करुणाकी प्रतीक्षामें हमें तबतक धैर्य रखना उचित है, जबतक यह विषमता दूर न हो जाय।

६—अहा ! मानवी दुर्बलता कैसी प्रबल है, जो सदा पापमुखी रहती है।

आज तुम पाप स्वीकार करते हो और कल फिर उसी पापको कर बैठते हो !

अभी तुम सात्त्विक जीवन बिताना निश्चित करते और क्षणभर बाद ही ऐसा व्यवहार करने लगते हो, मानो कभी निश्चय ही न किया हो।

चूँकि हम ऐसे दुर्बल और अस्थिर हैं, इससे अपनेको नम्र रखने और गर्व न करनेके लिये यह अच्छा कारण है।

इसके अतिरिक्त बड़े परिश्रमद्वारा प्राप्त भगवत्-प्रसादको असावधानीसे हम बड़ी जल्दी खो बैठते हैं।

हमारे-से लोगोंकी अन्तमें क्या गति होगी, जब अभीसे हम इतने ठंडे पड़ जाते हैं।

छिः हमें धिक्कार, जब इतनी जल्दी हम फिर इन्हीं कल्पित सुखोंमें फँस जायेंगे, मानो सब कुछ शान्तिसे ही गुजरता चला आया हो। आह ! सच्ची पवित्रताका एक लक्षण भी हमें दिखायी नहीं देता।

हमें नौसिखियोंकी तरह सात्त्विक जीवनकी नयी शिक्षा जरूरी है, यदि मनमें भावी सुधार और आध्यात्मिक उन्नतिकी कुछ भी आशा शेष हो।

आह्वान

(१)

बैठ एक बार मम जीवन-कदंब-तले
मोहन ! सप्रेम निज मुरली बजाओ तुम;
आकर गोपाल ! मम कामना-गहन-मध्य
गोप-ग्वाल-संग निज धेनुको चराओ तुम।
कूद एक बार पाप-अर्कजामें दीनबंधु !
काम,क्रोध,लोभ,मोह-व्यालको नशाओ तुम;
होकर आरूढ़ मन-पादपपै लीलाशील !
अज्ञता-अहीरिनके चीरको चुराओ तुम।

(२)

अघसे बचाके भक्तवत्सल ! सदैव लाज
हाय ! एक बार निज प्रणकी बचाओ तुम;
दिखाके सलोनी घनश्याम ! देह-कांति आज
सूखे प्राण-मध्य रस-धारा बरसाओ तुम।
राधिका-सहित नाथ ! मन्द मुसुकाते हुए
आके 'द्विजेन्द्र' के हृदयमें बस जाओ तुम,
करुणासदन ! आओ, राधिका-रमण ! आओ,
आओ दीनानाथ!माधो!एक बार आओ तुम।

गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

प्रभु और भिखारी

(लेखक—पूज्यपाद श्रीश्रीभोलानाथजी महाराज)

संसारमें प्रभुदर्शनके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। कोई किसी मार्गसे जाता है, तो कोई किसी मार्गसे—अन्तिम लक्ष्य सभीका एक है। यदि यह पता लग जाय कि ये सभी मार्ग केवल एक ही जगह जाकर समाप्त होते हैं तो आपसके सब झगड़े समाप्त हो जायँ। संसारमें लड़नेवालोंसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि आप मार्गमें लड़ते हैं तो आपको मार्गमें ही अपने अन्तिम सत्यपर पहुँचनेवाली वस्तुके लिये दावा करनेका क्या हक़ है? और दूसरेको झूठा किस प्रकार कहते हैं जब कि न तो आप ही लक्ष्यपर पहुँचे हैं, न उसके मार्गसे ही जानकार हैं जिसपर कि वह चल रहा है। और यदि आप अपने लक्ष्य-स्थानपर हैं तो भी किससे लड़ते हैं—दूसरे लक्ष्यपर पहुँचे हुओंसे या उनसे जो अभी रास्तेपर चल रहे हैं? लक्ष्यपर पहुँचे हुए सन्तुष्ट पुरुषोंसे तो कैसे लड़ेंगे क्योंकि वे तो पहुँच ही चुके हैं। रहे मार्गवाले, सो उनसे लड़ना ही असम्भव है जब कि वे आपके समीप ही नहीं हैं और उनका मार्ग ही भिन्न है। दूसरे, आप उनसे लड़ते हैं जो आपहीके रास्तेपर चलकर आपके लक्ष्य-स्थानकी ओर जा रहे हैं या उनसे जो दूसरे रास्तोंसे आ रहे हैं!—यदि अपने मार्गपर चलनेवालोंसे लड़ाई है तो क्या यह उचित है? और यदि दूसरे रास्तेवालोंसे लड़ रहे हैं तो उनसे लड़ा ही कैसे जा सकता है जब कि आप उनके मार्गपर चले ही नहीं।

दूसरा प्रश्न—प्रभु जड हैं या चेतन? यदि जड हैं तो हमको उनसे लाभ ही क्या होगा? और यदि चेतन हैं तो ज्ञान-स्वरूप हैं या ज्ञानसे रहित? यदि ज्ञानसे रहित हैं तो वे हमको कैसे समझेंगे और क्या दे सकेंगे? और यदि ज्ञानशक्तिवाले हैं तो फिर वे अल्पशक्ति हैं या सर्वशक्तिमान्? अल्पशक्ति हैं तो हममें और उनमें भेद ही क्या रहा? और यदि वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि वे हमारे हृदयके भावोंको उनके प्रकट होनेसे कहीं पहले वे जानते हैं। वे शेरोंकी दहाड़, हाथीकी चिंघाड़ और बिजलीकी कड़कसे चींटीके पाँवकी आहटको कहीं अधिक सुनते हैं। वे हमारे भावोंको उनके उत्पन्न होनेसे पहले, उनके अस्तित्वके समय और उनके नाश होनेके बाद वे खूब अच्छी तरह जानते हैं।

यदि यह सत्य है कि प्रभु कर्मका फल भावको देखकर देते हैं उसके बाहरी रूपको देखकर नहीं, तो फिर उन तमाम मनुष्योंके लिये रास्ता साफ़ है जो सच्चे भावोंसे प्रभुका दर्शन चाहते हैं। अब यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता कि वे इस मार्गपर किसलिये, क्यों और किस तरह जा रहे हैं!

एक आदमी बड़े ही अच्छे मार्गपर चल रहा है, ज्ञानकी ऊँची चोटियोंपर घूमता नजर आता है, प्रकटरूपमें सभी बातें बहुत ही अच्छी हैं, क्रियाएँ बड़ी पवित्र हैं लेकिन इन सारी बातोंके होते हुए भी उसका मन प्रभु-प्रेमसे खाली है, वह लोगोंको धोखा देता है, प्रभुके अस्तित्वको अपनी क्रियाओंसे मिटा रहा है तो क्या प्रभु उसको अपने मार्गपर चलता समझकर उसको उस दिखावेका फल उसी तरह देंगे जैसा कि एक सच्चे भक्तको? अगर यह सही है तो फिर प्रत्येक मनुष्य अपने दिखावेसे प्रभुको बहका सकता है। उसके विपरीत एक ऐसा मनुष्य है, जिसको प्रभु-दर्शनके अच्छे-अच्छे मार्गोंका ज्ञान नहीं, वह छोटे-छोटे दीखनेवाले रास्तेपर प्रभु-प्रेममें व्याकुल हुआ चल रहा है, उसका मन प्रभु-प्रेममें डूबा हुआ है, उसका विश्वास उसकी क्रियाओंसे टपक रहा है, वह अपने आपको प्रभुके अर्पण कर चुका है। अगर एक बालक किसी तरह अपनी माताको उस कमरेमें ढूँढ़ रहा है जहाँ वह नहीं है तो क्या माँ, जिसने कि उसको यह खेल करते देख लिया, उसको भटकायेगी या स्वयं दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेगी? प्रत्यक्ष नियममें भी यह बात देखी जाती है कि अगर किसी मनुष्यसे कोई अपराध हो जाय और जजको मालूम हो जाय कि इसकी नीयत इस पाप-कर्मको करनेकी न थी तो वह उसे क्षमा कर देता है और अगर यह ज्ञात हो जाय कि नीयत बुरे कर्म करनेकी थी और किसी कारणसे कर न सका तो उसे दण्ड मिलता है। भावना और मनको जाननेवाले प्रभु सदैव भावको जानकर फल दिया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी तो गीतामें यही आज्ञा की है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

'जो मेरी ओर जिस तरह आता है मैं उसको उसी तरह चाहता हूँ और वस्तुतः सब लोग मेरी ही तरफ चले आ रहे हैं।'

बच्चा जब 'ओती' कहता है तो माँ उसको 'रोटी' देती है और जब 'मानी' कहता है तो उसको 'पानी' दिया जाता है क्योंकि माँ उसके भावको समझती है। यदि यह ठीक है तो हम किसीको झूठा उसकी प्रकट क्रियाको देखते हुए कहते हैं या अंदरके भावको?—अगर ऊपरी क्रियाको, तो भावके जाने बिना हम कोई निर्णय कैसे कर सकते हैं और अगर भीतरके भावको जानकर, तो ठीक है। लेकिन अन्तर्यामी प्रभु तो सबके भावोंको जानते हैं—वे हरेकको उसके अनुकूल फल देते हैं। कुल मार्गोंमें एक मार्ग भावकी सच्चाई है।

अब कोई कहता है 'संसारमें बलवान् ही जीतता है', कोई कहता है 'निर्बलके बल राम'—कौन सही है? दोनों ही। अगर किसीपर पहले प्रभुकी इतनी कृपा हो चुकी है कि वह पूर्णतः बलवान् है तो वह क्यों न जीते? और यदि उनसे दुर्बलकी सहायता न हो तो फिर उनके बलसे किसीको लाभ ही क्या? आप उसीको उठाते हैं जो गिरा होता है। परन्तु जो सच्चा निर्बल है, उसके बल राम तो जरूर ही होंगे। परन्तु मजबूत ही जीतता है यह अधिक सत्य मालूम होता है। अतः यदि कोई अपनी निर्बलताके भावमें मज़बूत होगा तो वह भी जरूर जीतेगा। देखिये, एक निर्बल अपनी निर्बलताके बलपर किस प्रकार औरोंसे जीतता है!

एक बार प्रभुने दरबार लगाया। देवताओंको आज्ञा दी कि संसारके सुखके लिये हरेक तरहके पदार्थ बड़ी संख्यामें तैयार होना चाहिये। जिस-जिस पदार्थकी संसारको आवश्यकता है उसका भण्डार मेरे दरबारमें होना आवश्यक है। निश्चय ही दाताके दरबारसे कोई खाली न जाय। यदि सृष्टिकी इच्छाओंके अनुकूल सारे पदार्थ न होंगे तो मेरा प्रबन्ध अपूर्ण होगा। संसारमें लोग अभावोंकी प्रतारणासे घबराये हुए ही मिलते हैं। कोई कहता है इस इच्छाका इलाज नहीं, कोई कहता है इस ज़रूरतका जवाब नहीं। आह! कहाँ जायँ? किससे कहें? किसके आगे प्रार्थना करें? आखिर उनकी आवश्यकताओंका पूरा होना ज़रूरी है। इसलिये सारे पदार्थ बनने चाहिये।

देवताओंने प्रार्थना की, प्रभो! जो शक्तियाँ आपने हमको दे रक्खी हैं उनसे जो आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं, आज्ञा करें। उसके बाहर जो हैं उन्हें आप अपनी अद्भुत शक्तिसे उन जीवोंके सुखके लिये तैयार करें।

प्रभुने कहा, 'यह काम मेरा है इसलिये मैं इन सब पदार्थोंको अभी तैयार किये देता हूँ।' इच्छा की और सब पदार्थ पैदा हो गये। इसके बाद देवताओंको आज्ञा हुई 'जाओ और दुनियामें ढिंढोरा पीट दो—प्रभुने आपलोगोंके सुखके लिये सब सामान तैयार कर दिये हैं। जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो आये और प्रभुके दरबारसे ले जाय।' देवता गये और ढिंढोरा कर दिया गया। इस घोषणाको सुनकर, मारे खुशीके सब नाचने लगे कि देखो आखिर प्रभु कितने दयालु हैं। हमारी इच्छाओंकी पूर्तिका सारा प्रबन्ध कर ही दिया। आखिर क्यों न करते?—उनको बच्चोंका ध्यान जो है! फिर क्या था, इस आवाज़को सुनकर सब दौड़े। कोई किसीके आगे होता तो दूसरा धक्का देकर उसको पीछे कर देता और स्वयं बढ़कर आगे आ जाता था। कोई किसी तरह भागा जा रहा है, कोई किसी तरह फाँद रहा है। कोई लड़ता है, कोई झगड़ता है। हरेककी इच्छा है कि वह सबसे पहले पहुँचे ताकि सबसे अच्छी चीज़ोंको पा सके। Survival of the fittest—'बलवान्‌की विजय' का सिद्धान्त कार्य करने लगा। देखते-देखते प्रभुके दरवाजेपर भीड़ लग गयी, नम्बरवार सब अंदर दौड़ गये। 'क्यों आये हो?' 'सरकारकी घोषणा सुनकर।' 'क्या चाहते हो?' 'धन।' 'ले जाओ, जितना चाहो, ले जाओ।' दूसरेसे—'तुम क्या चाहते हो?' 'यश-कीर्त्ति।' 'उस ढेरमेंसे ले जाओ।' तीसरा—'भगवन्! मुझको बालबच्चे चाहिये।' 'अच्छा, ले जाओ।' चौथा—'मैं स्वस्थ शरीर चाहता हूँ'। 'अच्छा ले जाओ।' पाँचवाँ—'मैं विद्या लेने आया हूँ।' 'बहुत अच्छा!' छठा—'मैं चमत्कारकी शक्तियाँ चाहता हूँ'। 'अच्छा, जाओ मिल गयीं।' एकपर एक सवार हो रहे हैं। प्रभु खुले हाथोंसे लुटा रहे हैं। तुमको क्या चाहिये?—'स्वर्ग।' 'बहुत अच्छा' चारों तरफ़से तरह-तरहकी आवाजें आ रही हैं। इधर प्रार्थी बढ़ रहे हैं उधर दाताके हाथ दानपर तुले हुए हैं। सच है आज सब भिक्षुओंको अपने ऊपर गर्व है कि वह ऐसे दाताके खुले हुए घरमें हैं। देवता प्रसन्न हो रहे हैं। कोई खाली नहीं जाता। पीछे पहुँचनेवाले उदास चेहरोंसे आ रहे हैं कि शायद उनकी इच्छाकी चीजें पहले ही न बँट जायँ। परन्तु जो जिस समय पहुँचता, खाली न आता।

कुछ समयके पश्चात् सब भिक्षुक चले गये। दरवाजा बंद हो गया। इतनेमें एक और भिक्षुक वहाँ पहुँचा जिसके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ रही थीं। जो इस भीड़में बेतरह कुचला गया था। Struggle for existence—

'जीवनधारणके लिये युद्ध' में सबसे पीछे फेंका गया था, रौंदा गया था, हर तरह हैरान था और घबड़ाया हुआ था। सब लोग अपनी झोलियाँ भरकर वापस जा रहे थे और इसका अभाग्य इसको वहाँ ला रहा था। हरेक उससे कहता था कि 'देख ! यह है तेरी दुर्बलताका दण्ड। हम सब कुछ ले आये—हमने अपनी झोलियाँ भर लीं। तू है जो अभीतक खाली जा रहा है। ओ अभागे ! जा देख कि तेरे सामने दरवाजा बंद हो चुका है और यह है तेरी दुर्बलताका दण्ड।' यह बेचारा घबड़ाया और क़दम आगे बढ़ाने लगा लेकिन दुर्बलताके कारण गिर पड़ा। फिर उठा, आगे बढ़ा। क्या देखता है?—दरवाजा आ गया। आशाएँ खिल गयीं। दाताका द्वार आ गया। आखिर वहाँसे अवश्य कुछ मिलेगा। जब यह मारे खुशीके आगे बढ़ा तो द्वार बंद था। और जैसे बिजलीकी कड़कके बाद अकसर बरसात आती है उसी तरह इसकी हँसीके बाद आँसू निकलने लगे और यह धड़ामसे प्रभुके द्वारपर गिरा। यह आवाज़ बंद दरवाजोंके अंदर गयी। प्रभुने अभी दरबार बरखास्त नहीं किया था। आवाज़ सुनी और कहा 'देखो कौन है।' देवता दौड़े। उधर यह ग़रीब अपनी विवशतापर रो रहा है। वस्तुतः यह अपने दुर्भाग्यके कारण इस अवस्थातक पहुँचा और मनमें कहने लगा कि जब संसारके सब द्वार बंद हो जायँ और कहींसे कोई सहायता न मिले तो प्रभुका द्वार खुलता है लेकिन अगर किसी अभागेके लिये वह भी बंद हो जाय तो वह कहाँ जाय और किस तरह अपने मनकी आगको बुझावे ? उसने बढ़कर ठंढी आह ली, और मूर्छित होकर गिर गया। इतनेमें देवता आये, देखा और देखते ही चौंक उठे क्योंकि उन्होंने आजतक ऐसा निर्बल, दुखिया और ग़रीब आदमी कभी देखा ही नहीं था। पूछने लगे—'तुम कौन हो ? यहाँ क्यों खड़े हो ? तुमको क्या कष्ट है ?' उसने जवाब दिया—

न किसीकी आँखका नूर[1] हूँ; न किसीके दिलका सरूर[2] हूँ।
जो किसीके काम न आ सके; वह मैं एक मुश्तेगुबार[3] हूँ॥

'मैं वह अभागा भिक्षुक हूँ जिसपर प्रभुका दरवाजा भी बंद हो चुका है।'

देवताओंने घबराकर पूछा 'यहाँ क्यों आये हो ?' कहा—'जिस तरह और आये थे, वह भी प्रार्थी थे और मैं भी प्रार्थी हूँ, वह भरकर गये और मैं खाली हूँ।' देवताओंने कहा—'जाओ ! लौट जाओ !! अब देर हो गयी है। सब कुछ बँट चुका है। तुम्हारे और तुम्हारे भाग्यके लिये अब कुछ भी नहीं।' उसने कहा 'यह तो ठीक है कि मैं चला जाऊँ लेकिन कृपा करके यह भी बता दीजिये कि आखिर जाऊँ तो कहाँ जाऊँ ? संसारको छोड़कर प्रभुके दरवाजेपर गिरा, वहाँसे आज्ञा हुई जाओ कहीं और जाओ; लेकिन यह न बतलाया कि जाऊँ तो कहाँ जाऊँ। संसार प्रभुके अंदर है वहाँ मेरे लिये कुछ नहीं और प्रभुसे बाहर कुछ है ही नहीं जहाँसे मुझे कुछ मिल सके। अगर देशनिकालेकी आज्ञा मिली है तो कहीं विदेशमें जगह भी मिलनी चाहिये थी। अस्तु ! यह तो हुआ। मैं आपसे प्रार्थना करना चाहता हूँ। अगर आपको कष्ट न हो तो प्रभुके चरणोंमें मेरा यह निवेदन पहुँचा दें और यदि मुझे देश-निर्वासनकी ही आज्ञा हो तो कोई बात नहीं; उन्हींके मुखारविन्दसे यह आज्ञा ले आइये कि मेरे लिये उनके पास कुछ नहीं है और वे मुझको खाली हाथ ही वापिस लौटाना चाहते हैं। प्रभुसे इतना कह दीजिये कि वह प्रार्थी अपनी दुर्बलताके कारण देरमें पहुँचा और उसके पहुँचनेसे पहले द्वार बंद हो गया था।' वह घबराकर गिरा, फिर होशमें आया और भिक्षाके लिये हाथ बढ़ाकर कुछ माँगनेको ही था कि चारों ओरसे आवाज़ आयी—'जाओ ! जाओ !! अब तुम्हारे लिये कुछ नहीं है। बाकी भिक्षुक सब कुछ ले गये, अब कुछ भी नहीं बचा। यह है तुम्हारी कमज़ोरी और दुर्बलताकी सज़ा। अगर तुम पहले आते तो ज़रूर कुछ ले जाते ! देखो संसारमें Survival of the fittest 'बलवान्‌की विजय' का सिद्धान्त ठीक निकला। (परन्तु अगर कोई अपनी दुर्बलतामें बलवान् है तो वह भी तो बलवान् ही हुआ। बलवान् ही जीतता है चाहे किसी बातमें बलवान् हो) !

जब देवताओंने इसकी इस हालतको देखा तो उनके हृदयमें दयाकी लहरें उठने लगीं और एक दूसरेसे कहने लगे कि क्या हुआ अगर द्वार बंद हो गया और सब कुछ बँट चुका। यह याचक तो बहुत ही सच्चा मालूम होता है। इसकी दशापर बड़ी दया आ रही है। चलिये, भगवान्‌से जाकर इसका कुछ हाल कह सुनावें। देवताओंने प्रभुसे जाकर सब हाल कह सुनाया। भगवान्‌ने कहा कि देखो अगर कुछ बचा हो तो इस भिक्षुकको दे दो। देवता इधर-उधर दौड़े। लेकिन कोई वस्तु सामने नहीं दीख पड़ी, तुरन्त

१ प्रकाश, २ आनन्द, ३ राखकी चुटकी।

काँपते हुए वे लौट आये और प्रार्थना की 'हे प्रभो ! अब तो यहाँ कुछ भी है नहीं; आपकी अनन्त दयाने खुले हाथोंसे इस प्रकार बाँटा कि पहले भिक्षुक मालामाल हो गये। और अब कुछ भी सामने दीखता नहीं जो इसको दिया जाय।' प्रभुने फिर जोरसे कहा—'जाओ, फिर देखो कि कुछ है या नहीं।' देवता काँपते हुए दौड़े। घबराये हुए वापस आये और कुछ दबे स्वरमें डरकर कहने लगे—'हे प्रभो! हमको तो अब कुछ नहीं दीखता जो इसे दिया जाय। प्रभुने बाँटनेके लिये जितने सामान तैयार कराये थे सब बाँट दिये गये। यदि फिर आज्ञा हो तो नयी सृष्टिकी रचना इस भिक्षुकके लिये की जाय।' प्रभुने आज्ञा दी कि अच्छा यदि यह बात है तो जाओ उससे कह दो कि सब कुछ बँट चुका है अतएव तुम्हारे लिये प्रभुके दरबारमें अब कोई भी चीज़ नहीं है। देवता दौड़ गये और प्रभुका सन्देश दिया। भिक्षुकने नेत्रोंमें जल भरके पूछा—ये शब्द तुम्हारे हैं या प्रभुके ? उन्होंने कहा—'नहीं, यह उसी दाता प्रभुके हैं।' भिक्षुकने कहा यदि आपको कष्ट न हो तो मेरा सन्देश फिर प्रभुको कहिये कि भिक्षुक आपसे सिर्फ़ इतनी ही याचना करता है कि आप अपने मुखारविन्दसे इतने शब्दोंकी भिक्षा मुझको स्वयं दे दें कि मेरे पास तुम्हारे लिये कुछ नहीं है। देवता गये और यही प्रार्थना की। जब प्रभुने सुना कि कोई भिक्षुक मेरे मुखसे यह शब्द सुनना चाहता है तो चुप रह गये, फिर देवताओंसे पूछा कि 'क्या अब इसको देनेके लिये कोई वस्तु रही ही नहीं जो यह खाली हाथ जा रहा है। देखो, शायद कुछ बाकी हो।' देवता आज्ञाका पालन करते हुए फिर ढूँढ़ने दौड़े किन्तु निराश होकर लौट आये और कहा कि प्रभो! यह सच बात है कि अब कोई चीज़ इसको देनेके लिये रही नहीं। प्रभुने मुस्कुराकर पूछा कि क्या कोई अभागा मेरे द्वारपरसे खाली जा सकता है? यदि ऐसा हो तो फिर वह किसका द्वार खटखटायेगा? जाओ, फिर देखो, जो कुछ भी बचा हो इसको दे दो। मेरे द्वारसे कोई खाली हाथ नहीं जा सकता। देवता आज्ञापालनके लिये पुनः दौड़े और इधर-उधर देखने लगे और झट वापस आये, प्रार्थना की कि 'प्रभो! हमलोगोंकी दृष्टि बहुत ही दुर्बल है। आज्ञाके पालनमें इधर-उधर दौड़े चले जाते हैं लेकिन हमें मालूम है कि यहाँ कोई वस्तु कौन कहे लोग उस जगहको भी उखाड़ ले गये जहाँ वे चीज़ें थीं।'

प्रभु अपनी दीनवत्सलता और दयाके भावमें आकर कहने लगे—'तो क्या मैं भी नहीं रहा जो तुम बार-बार कह रहे हो कि 'कुछ नहीं रहा', 'कुछ नहीं रहा' और क्या मैं कुछ नहीं? हाँ, अब मैं स्वयं इसके हिस्सेमें आऊँगा; मैं इसे खाली हाथ वापस नहीं कर सकता।' देवता यह सुनकर हैरान हो गये और एक दूसरेकी ओर देखने लगे कि 'हैं! यह क्या हुआ? प्रभु स्वयं इसके हिस्सेमें आ गये। ऐसा भी कोई दाता हो सकता है कि जो अपने-आपको भिखारीके प्रति दे डाले। काश आज हम भी भिक्षुक होते! हम निर्बल होते और हर तरहसे आतुर होते! प्रभु तो हमारे हिस्सेमें आते! आज यह कितना भाग्यशाली है कि जो उनको लिये जा रहा है कि जिनसे सारा संसार माँग रहा है! पहले आदमी अवश्य भाग्यशाली थे कि जो प्रभुसे अनेक प्रकारकी चीज़ें ले गये लेकिन यह उनसे कहीं अधिक भाग्यवाला है जो प्रभुसे स्वयं प्रभुहीको लिये जा रहा है।

'तुझसे माँगूँ मैं तुझहीको कि सभी कुछ मिल जाय
सौ सवालोंसे फ़कत एक सवाल अच्छा है।'

इतनेमें प्रभु उठे और उस भिक्षुककी तरफ बढ़े। भिक्षुक यह देखकर काँप उठा और मन-ही-मन सोचने लगा कि प्रभु किधरको उठकर चल दिये। जब पास आये तो पूछा—'क्या चाहता है?'

भिक्षुकने कहा—'प्रभो! देवताओंने मुझसे कहा था कि अब प्रभुके दरबारमें तेरे लिये कुछ नहीं रहा इसलिये जाओ, देर हो चुकी है' तो मैंने केवल इतनी ही प्रार्थना की थी कि क्या यह बात आप अपनी तरफसे कह रहे हैं या प्रभुकी तरफसे। यदि प्रभुकी तरफसे कह रहे हैं तो उनसे विनम्रतापूर्वक मेरी ओरसे एक बार और यह प्रार्थना कर दीजिये कि 'प्रभो, आपके दरवाजेसे खाली जानेवाला भिक्षुक अगर और कुछ यहाँसे नहीं ले जा सकता तो इतनी जरूर याचना करता है कि वह आपके पवित्र मुखारविन्दसे यह शब्द सुनकर जावे कि 'ऐ भाग्यहीन भिक्षुक! जा, चला जा, तेरे लिये मेरे दरबारमें कुछ नहीं है।' मैं इन शब्दोंसे सन्तुष्ट होकर चला जाऊँगा क्योंकि इसके बाद मेरी सारी आशाएँ सदाके लिये शून्य हो जायँगी; मैं अपने आपको उन अभागोंमें समझ लूँगा जिनकी प्रार्थना प्रभुके दरबारमें भी नहीं सुनी जा सकती।'

इतना कहकर भिक्षुक गिड़गिड़ाया और प्रभुके मुँहकी ओर आतुर दृष्टिसे देखने लगा कि अब कोई दिल

तोड़नेवाला उत्तर उधरसे मिलता है और अब मैं अपने आपको सदाके लिये अभागोंमें समझ लूँगा; शायद ही मुझ-जैसा अभागा कोई दूसरा संसारमें हो। परन्तु इस बार प्रभु इसकी ओर देखकर मुस्कुराये और कहने लगे कि 'सुन, मैं तुझे तेरे सवालका जवाब देता हूँ।'

भिक्षुकके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लगीं और निराशाओंका कुहरा उसके चेहरेपर छाने लगा। इस समय भिक्षुक सिरसे पाँवतक निराशाकी सजीव प्रतिमा बन रहा है और सोच रहा है कि अब बिजली मुझपर गिरी; अब मेरा संसार लुटा! लेकिन जब फिर कुछ ध्यानसे प्रभुके मुखमण्डलकी ओर देखा तो उसमें कुछ हल्की-हल्की मुस्कान नज़र आयी जिसके दो अर्थ इस भिक्षुकने किये। पहिला—शायद प्रभु इसलिये मुस्कुराये हैं कि वे कहते हैं कि तुझ-सा भाग्यहीन भी कोई है जो इतनी देरमें पहुँचा, और दूसरे—शायद मुस्कानका भावार्थ यह है कि प्रभु शायद मेरी लालसा बढ़ा रहे हैं कि 'घबराता क्यों है, मैं तुझको खाली न भेजूँगा।' परन्तु दूसरी बात तो असम्भव मालूम होती है। मुस्कानका अर्थ पहला ही हो सकता है। अच्छा, देखें अब क्या उत्तर मिलता है।

भिक्षुकने फिर एक बार अपनी आँखोंको ऊपर उठाकर प्रभुकी ओर देखनेकी कोशिश की तो क्या देखता है कि वे बड़े प्रेमसे इसकी ओर बढ़े आ रहे हैं। इसने समझा शायद हाथ पकड़कर ढकेल देंगे लेकिन इसमें भी इसे सन्तोष हुआ कि इस तरह प्रभुके करकमल मुझ अभागेको स्पर्श तो कर ही लेंगे और मैं अपना कल्याण उसीमें देखूँगा। बादशाहकी मार खानेका गौरव हर एकको कहाँ मिलता है? जिसको वह अपने हाथोंसे मार दे वह तो उसका बहुत ही 'अपना' हुआ या मारकर उसको वह 'अपना' बना लेना चाहता है।

भिखारी झिझका नहीं, खड़ा रहा। यह प्रभुके मनकी बात भला कैसे जान सकता! खैर, प्रभु आये और कहा कि भिक्षुक! देख, तेरे लिये इस समय मेरे दरबारमें कुछ नहीं रहा, सब चीजें समाप्त हो गयीं; तू देरमें पहुँचा, बस यही उत्तर तू सुनना चाहता था न! वस्तुतः इस समय मेरे दरबारमें कोई चीज बाक़ी नहीं है—फिर सुन ले!

इन शब्दोंको सुनकर भिक्षुक पत्थरकी मूरत बन गया, जैसे काठ मार गया हो, आँखें खुली रह गयीं, शरीरमें खून न रहा, मानो प्राण उस शरीरको छोड़कर कहीं चल दिये।

देवताओंने कहा—हैं! यह क्या हुआ? प्रभु तो अभी कहकर गये थे कि हम इसके हिस्सेमें आयेंगे लेकिन वहाँ जाकर तो प्रभुने कुछ और ही टका-सा उत्तर दे दिया—यह क्या रहस्य है? सचमुच यह इसी उत्तरका अधिकारी था तभी तो भगवान्‌ने ऐसा उत्तर दिया। दूसरे देवता बोले—ठहरो! अपने आप ही कोई निर्णय न कर लो, न मालूम प्रभु क्या करेंगे और क्या कर रहे हैं? देखो—

प्रभु फिर बोले—'ऐ भिक्षुक! तूने उत्तर सुन लिया, यही सुनना चाहता था लेकिन यह तो मेरा अधूरा उत्तर है, अब पूरा सुन।' इस उत्तरको सुनकर पथराया हुआ भिक्षुक कुछ चैतन्य होकर प्रभुकी ओर कुछ इस तरह देखने लगा जिससे वेदना फूट-फूटकर उसके हर रोमसे इस तरह निकल रही थी कि जैसे पहाड़की पथरीली चट्टानोंमेंसे प्रायः जलके झरने इधर-उधर यहाँ-वहाँ फूटकर बहने लगते हैं।

इस दशाको देखकर प्रभुने आज्ञा की—'ऐ मेरे प्यारे भिक्षुक! देख मेरी ओर, मैं तुझको क्या उत्तर दे रहा हूँ। सचमुच, मेरे दरबारमें तेरे लिये कुछ न बचा, सब चीज़ें तेरे आनेसे पहले समाप्त हो गयीं, दूसरी चीज़ें बनानेमें ज़रा सङ्कोच हुआ। चारों ओर 'कुछ नहीं रहा', 'कुछ नहीं रहा' लिखे हुए नज़र आते हैं लेकिन निराश न हो। यदि एक भिक्षुकको दाताके दरवाजेसे खाली जाना कठिन है तो दाताको भी एक भिक्षुकको अपने दरवाजेसे खाली लौटाना असम्भव है और फिर मैं, किसीको खाली कैसे लौटाऊँ?'

भिक्षुकके मुरझाये हुए चेहरेपर खुशीके फूल इस तरह खिल गये कि जिस तरह वसन्तऋतुकी हवा मुरझाये हुए पौदोंको फूलोंसे लाद देती है—

> 'बाग़बाने चारा फरमासे यह कहती है बहार,
> ज़ख्मे गुलके वास्ते तदबीरे मरहम कब तलक।

(बहार मालीसे आकर कह रही है कि 'ओ माली! तू पुष्पके घावके लिये मरहमके फाहे क्या ढूँढ़ता फिरता है, मैं तो लाखों फूल तेरी हर टहनीपर पैदा कर दूँगी और उनके घाव इस तरह अच्छे होंगे मानो कभी हुए ही न थे)

प्रभुकी इस वाणीने उस ग़रीब भिक्षुकको कुछ इस तरह चौंका दिया जैसे कोई निर्धन बादशाह बननेकी खबर सुनकर चौंक उठे।

मिक्षुक–प्रभो ! तो क्या आप मेरे लिये अब और कुछ बनायेंगे ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–तो क्या औरोंसे छीनकर मुझको कुछ देंगे ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–तो आप यहाँसे मुझको खाली जानेकी आज्ञा करेंगे ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–तो क्या आप मुझको कुछ देंगे ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–क्या नहीं ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–लेकिन अभी तो आप कह रहे थे कि मेरे द्वारपरसे कोई खाली नहीं जाता और अब आज्ञा हुई है कि हम कुछ नहीं देंगे तो क्या मैं यह समझ लूँ कि अब मुझे यहाँसे कुछ नहीं मिलेगा ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–तो क्या मैं किसी चीज़को आपसे लेनेकी आशा करूँ और उसीमें अपने जीवनके दिन काटूँ ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–तो क्या मैं चुपका-सा यहाँ बैठा रहूँ ?

प्रभु–'नहीं'

भिक्षुक–प्रभो ! आख़िर आपका क्या मतलब है, आप हर बातमें 'नहीं' कह रहे हैं, कुछ समझमें नहीं आता। आपकी हल्की-हल्की मुसकान हृदयमें उल्लासकी फुलझड़ियाँ बरसाती हैं परन्तु अपनी मन्दभाग्यताका ध्यान आकर दिल तोड़ता है। आख़िर मैं क्या करूँ ? जिस समय दिल टूटने लगता है तो आपके वह उत्साह बढ़ानेवाले शब्द सामने आ जाते हैं कि 'मेरे द्वारपरसे कोई ख़ाली नहीं जा सकता।' अब जो आख़िरी हुक्म हो वही करूँ।

प्रभु–मैंने तुम्हारे लिये कुछ सोच लिया है और वह तुमको दूँगा। (देवता एक दूसरेकी तरफ देखकर) देखो ! सुनो, प्रभु क्या कह रहे हैं ?

भिक्षुक–तो क्या मेरे लिये कुछ सोच लिया है ?

प्रभु–'हाँ'

भिक्षुक–तो जल्द फैसला सुना दीजिये।

प्रभु–'और ठहरो'

भिक्षुक–अब मुझसे ठहरा नहीं जाता, अब अधिक प्रतीक्षा न कराइये।

प्रभु–'इतनी आतुरता, इतनी अधीरता !'

भिक्षुक–हाँ प्रभो ! आपकी दयाकी तरफ़ देखकर अधीर हुआ जा रहा हूँ। मालूम होता है कि आप मुझसे खुश हैं।

कुशादा दस्ते करम जब वो बेनियाज़ करे
नियाज़मन्द न क्यों आजिज़ी पै नाज़ करे।

प्रभु ! जब आपने कह दिया कि तुझको खाली नहीं भेजूँगा। तो आज मुझे अपने खाली हाथोंको, खाली जेबोंको, खाली दामनको देखकर बहुत खुशी हो रही है क्योंकि यह सब आज प्रभुकी दयाके पात्र बने हैं, क्योंकि यह उन करकमलोंसे भरे जायँगे कि जिनका पात्र बनना आसान बात नहीं। मुझे आज अपनी खाली जेबें, खाली हाथ देखकर बहुत खुशी हो रही है। अच्छा है, यह पहले किसी औरके हाथोंसे न भरे नहीं तो आज उन हाथोंको इन हाथों और जेबोंतक पहुँचनेका अवसर ही कैसे मिलता ? मुझे आज अपनी अकिञ्चनतापर, खाली जेबोंपर गर्व है ! आज आपके हाथोंसे ये भरी जायँगी। यदि ये और किसी दाताके हाथोंसे भरती भी तो क्या भरती ? उनके पास है ही क्या जो इनमें कुछ भरते और यदि कुछ भरते तो वह सब खाली की जानेवाली चीजें ही होतीं। अच्छा हुआ कि मेरी जेबें और हाथ किसी और वस्तुको न छू सके। आपकी ही दयाके करकमलोंसे भरे जानेका इनको गौरव प्राप्त हुआ। यदि आज मेरे हाथ भरे होते, जेबें भरी होतीं, पल्ले भरे होते तो फिर आपकी कृपासे दी हुई चीज़ोंको कहाँ रखता ? अहा ! धन्य है मेरी ग़रीबी, धन्य हैं मेरी जेबें, धन्य हैं मेरे खाली हाथ, कि आज जिनको आप स्पर्श करेंगे। तू निराला है, तेरी दी हुई चीजें निराली होंगी। आजतक जिस ग़रीबीपर, जिस आतुरतापर, जिन खाली हाथोंपर, जिस खाली पल्लेपर, मैं रोता था आज वही मुझको हँसानेका कारण बन रहे हैं। मुझे क्या मालूम था कि किसी दिन यही चीजें मेरे भाग्यके सूर्यको उदय करेंगी कि जिससे मेरी काया ही पलट जायगी, सचमुच—

मुझको जमीअते ख़ातिर है परेशाँ होना
लाख सामान हैं इक बेसरो सामाँ होना।

सच है, इसी ग़रीबीने मेरे भाग्य खोले, पर दाता !

यह तो बताइये कि अब मैं आपसे माँगूँ तो क्या ? आपकी तरफ देख-देखकर मेरी कुल भूख, कुल इच्छाएँ, कुल तृष्णाएँ, अपने आप ही उड़ी जा रही हैं। हाँ, यदि कुछ देना है तो अब शीघ्रता कीजिये। मैं आपको अब और अधिक कष्ट नहीं देना चाहता। क्या यह तेरी अत्यन्त दया नहीं कि तू मुझ भिक्षुकके साथ खड़ा-खड़ा इतनी देरसे बातें कर रहा है। आज तेरी वह कृपा-दृष्टि जिसके लिये बादशाह, शाहंशाह, ऋषि, मुनि तरसते हैं, मुझपर विवश होकर बरस रही है। धन्य है, प्रभु आपको और आपकी दयाको!

प्रभु—भिक्षुक! अब और बातें मत करो; देवताओंने कह दिया कि कुछ नहीं बचा; मैंने भी देख लिया है कि वह ठीक कहते हैं, अब तुम भी देख लो क्या यह सच है?

भिक्षुक कुछ आगे बढ़कर चारों ओर देखता है परन्तु उसको कुछ भी नज़र नहीं आता। (कुछ सहम-सा जाता है) प्रभु तो अभी कह रहे थे कि 'तुझको खाली नहीं भेजूँगा' लेकिन यहाँ तो कुछ भी नहीं है, आखिर मुझे क्या देंगे? क्या मेरा दिल रख रहे हैं जो कहते हैं कि खाली नहीं भेजेंगे और उधर दिखा रहे हैं कि कुछ नहीं बचा। (बाहर आकर)—

प्रभो! देवता सच कहते हैं, सचमुच कुछ नहीं बचा तो क्या मैं जाऊँ?

प्रभु—नहीं।

भिक्षुक—तो क्या आज्ञा है?

प्रभु-देखो शायद कुछ बचा हो।

भिक्षुक—(प्रभुकी ओर सतृष्णदृष्टिसे देखते हुए) मुझे तो कुछ नज़र नहीं आता।

प्रभु-मेरी ही तरफ़ देखकर कह रहे हो कि मुझे कुछ नज़र नहीं आता।

भिक्षुक—प्रभो! धृष्टता हुई, क्षमा कीजिये। अवश्यमेव कुछ होगा जो अब आपकी ओर देखकर नज़र आ जायगा। मैंने अनजानमें अस्वीकार किया।

प्रभु—अगर मेरी ही ओर देखकर कुछ दीख सकता हो तो मेरी ही ओर देखो।

(भिक्षुक प्रभुकी तरफ़ देखता है और देखता ही चला जाता है)

प्रभु—अब नज़र आया कि यहाँ कुछ और भी है।

भिक्षुक—(चुप)

प्रभु—भिक्षुक! चुप क्यों हो गये? क्या अबतक भी कुछ नज़र न आया? क्या मेरे दर्शनका परिणाम यही है कि तुमको कुछ नज़र न आये और तुम कहो कि यहाँ कुछ नहीं बचा है। अच्छा, एक बार फिर देखो।

(भिक्षुक प्रभुकी ओर देखनेकी कोशिश करता है परन्तु इस बार गरदन नहीं उठती, ऐसा मालूम होता है कि किसी दयाविशेषका बोझ भिक्षुकपर आ पड़ा है)।

प्रभु—अच्छा, अगर तुम नहीं देख सकते तो लो मैं दिखाता हूँ। (प्रभु भिक्षुकके क़रीब आकर कहते हैं)—'क्या कुछ नहीं बचा?' (दोबारा उसके कंधेपर हाथ रखकर प्यारसे।) 'क्या कुछ नहीं बचा?'

देवता—हैं! यह क्या! प्रभुका हाथ इसके कंधेपर पहुँच गया। निराला यह भिक्षुक है, निराली दया है!!

प्रभु—भिक्षुक! देख अब मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ।

भिक्षुक—(चौंककर प्रभुकी ओर देखनेकी कोशिश करता है)

प्रभु—तो तुम कैसे कहते थे कि कुछ नहीं बचा।

भिक्षुक—प्रभो! मेरी मंद दृष्टिके कारण मैं कुछ न देख पाया। आप ही बता दीजिये कि क्या बचा है?

प्रभु—अच्छा तो यह होता कि तुम स्वयं देख लेते।

भिक्षुक—प्रभो! तो कृपा करके दिखा दीजिये।

प्रभु—'देखो मेरी तरफ' मैं तुमको आज्ञा करता हूँ। देखो मेरी तरफ!

भिक्षुक—डरता हुआ, शर्माता हुआ, झिझकता हुआ प्रभुके चेहरेकी ओर निहारता है। प्रभुके चेहरे और नेत्रोंका रंग कुछ इस तरह दयावश अपना प्रकाश कर रहा है कि जिसके हर हिस्सेपर यह लिखा हुआ है—'देख, अभीतक मैं बाक़ी हूँ। क्या मैं भी नहीं रहा जो तू कह रहा है कि कुछ नहीं बचा। तेरे हिस्सेमें मैं स्वयं आ रहा हूँ, निराश मत हो।'

प्रभुका मौन यह बतला ही रहा था कि भिक्षुकके तनमें एक बिजली-सी दौड़ गयी। उसे यह कदापि विश्वास नहीं होता था कि सबको सब कुछ देनेवाले प्रभु भी किसीके हिस्सेमें आ सकते हैं और फिर मुझ-से भिक्षुकके! वह समझता था कि यह मेरा

झूठा विचार है कि प्रभु मुझको अपना-आप दे रहे हैं। बुद्धि उसको आकर कह रही थी कि 'अरे मूर्ख! अपनी ओर देख और भगवान्‌की ओर देख! तू कहाँ और वह कहाँ!' शायद प्रभुने उसके अंदर यह भ्रम इसलिये डाल दिया हो कि वह इस खुशीको सह सके!

तेरे वादेपर जिये हम तो यह जान झूँठ जान।
कि खुशीसे मर न जाते अगर इतबार होता॥

अर्थ–ऐ प्रभो! तेरी प्रतिज्ञाका स्मरणकर हम इसलिये जी सके कि हमने उसको एक आश्वासनमात्र समझा था और यह न समझा कि तू सच कह रहा है और यदि हमें विश्वास हो जाता कि तू जो कुछ कह रहा है, वही करेगा तो हम तो खुशीसे उसी समय मर जाते– (कि तू भी किसीके हिस्सेमें आ सकता है)। इस सन्देहने भिक्षुकके जीवनको नष्ट न होने दिया और उसकी खुशी उसके हृदयमें आकर इस तरह शुष्क हो जाती रही जिस तरह मूसलाधार वृष्टि किसी रेतीली ज़मीनमें आकर सूख जाती है।

प्रभु–अब मुझे स्पष्ट कहना ही पड़ा कि तू जिसकी तरफ देखकर कह रहा है कि कुछ नहीं बचा—ऐ प्रिय भिक्षुक! क्या वह भी नहीं बचा जो तुझको ऐसा सन्देह हो रहा है! मैं दाता हूँ, तू भिक्षुक है। अभीतक एक चीज बाकी है और वह वही है जिससे तू बातें कर रहा है। देख, ठहर, सम्हल, होशमें आ, अब वही तेरे हिस्सेमें आ रहा है।

भिक्षुक–(चौंककर) हैं! यह क्या? प्रभु और मेरे हिस्सेमें!—असम्भव, असम्भव! हैं! मैं यह क्या देख रहा हूँ, कैसा संयोग है—क्या कभी दाता स्वयं अपने-आपको ही दानमें किसीको दिया करता है! फिर यह क्या? नहीं, नहीं प्रभु! नहीं; मैं अधिकारी नहीं, पात्र नहीं, मैं इस योग्य नहीं। आप मुझतक न आइये। मैं बहुत बुरा हूँ, नीच हूँ, अपराधी हूँ, पापी हूँ, मुझको स्पर्श न कीजिये। आप-सी उच्च वस्तु कहीं अच्छे स्थानपर रहनी चाहिये। मेरी जेबें फटी हैं, मेरे वस्त्र पुराने हैं, मेरे हाथ अच्छे नहीं।

(भिक्षुक मारे संकोचके पीछे हटता है लेकिन प्रभु झट आगे बढ़कर उसको गले लगा लेते हैं—उसमें समा जाते हैं।)

देवता–हैं! यह क्या! क्या प्रभु इसके हिस्सेमें आ गये! इसने ऐसा कौन-सा कर्म किया, यह तो बहुत ही दुर्बल था, बहुत आतुर था। क्या यह इसकी आतुरताका उत्तर है।

प्रभुकी कृपादृष्टिसे उस भिक्षुककी ओर देखना ही था कि उसकी काया पलट गयी, वह मारे खुशीके नाचने लगा, पागल-सा हुआ गा रहा है—

वह आयें घरमें हमारे यह हमारी किस्मत।
कभी हम उनको कभी अपने घरको देखते हैं॥

भिक्षुक मारे खुशीके बेसुध हुआ ही चाहता था कि प्रभुने कहा—'ऐ मेरे भिक्षुक! देख, तू इतना खुश क्यों हो रहा है, क्या मेरे मिलनेकी खुशी मुझसे बढ़कर है! देख, तुझको मैं इस प्रसन्नतासे भी अधिक प्रिय हूँ।' भिक्षुक सम्हल गया और प्रभुकी ओर देखने लगा। खुशी एक तरफ अपना नाच नाचने लगी। वह प्रभुकी ओर देखकर एक गहरे आनन्दके समुद्रमें इधर-उधर तैरने लगा। प्रभु इसके साथ थे, यह प्रभुके साथ। निराला भिक्षुक! प्रभुही-को साथ ले आया लेकिन यह जिस तरफ़से भी गुज़रता था इसकी मस्ती, इसका चलना कुछ इस ढंगका था कि हर एकको इसके मालदार होनेका सन्देह हो रहा था—सब कहते थे कि—

अनोखी शान है सारे ज़मानेसे निराले हैं।
यह आशिक कौनसी बस्तीके या रब! रहनेवाले हैं॥

पाससे बड़े-बड़े लोग अपनी शानदार सवारियोंमें बैठे निकल रहे हैं। वाटिकाएँ और महल ज़मीनके किनारेपर खड़े आकाशसे बातें कर रहे हैं। संसारभरका सौन्दर्य किसी वाटिकाके कोनेमें छिपा बैठा है! लेकिन यह है, जो किसी तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखता। कुछ अजीब बेपरवाह है! अनोखी अलमस्ती है!

बढ़ते-बढ़ते एक जङ्गल आ गया; फाड़ खानेवाले जानवरोंके भयङ्कर शब्द कानोंमें गूँजने लगे, वह शेर पास आया, वह जंगी हाथी दहाड़ता हुआ इधरसे निकल गया, लेकिन यह अपनी शाहंशाही फकड़पनमें चुपका-सा चला जा रहा है, हिचकिचाहटका नाम नहीं। कुछ कदम आगे बढ़ा, सामनेसे जाते हुए कुछ लोग नजर आये। इसको न मालूम क्या हुआ बेसँभार नाचने लगा। उन लोगोंने इसकी तरफ देखा, वह इसके पुराने परिचित थे—कहा—'यह वही है वही; जब हम भगवान्‌के घरसे लौटे आ रहे थे तो यह उधर जा रहा था, अभागा कहींका!

इतनेमें वे समीप आये और एक दूसरेसे कहने लगे—'यह तो बड़ा खुश है, आखिर क्यों ? इसे मिल क्या गया है ! वहाँ तो दरवाजा बंद था, आखिर यह क्या लेकर आया है। मालूम होता है अपनी अयोग्यताको छुपानेके लिये बहाना कर रहा है। पूछा—'ओ अभागे ! यह चालाकी ! यों छुपाता है अपनी बातोंको ? हम कौन-से बच्चे हैं जो बहक जायँगे ? देखा, पीछे जानेका मज़ा !' लेकिन इसने कुछ परवाह न की, आगे बढ़ता गया। वे कुछ हैरान-से हुए इसके पीछे चले—कहा कि 'एक और चालाकी, यह बेपरवाही, हमारे सामने यों गुजरना ! ये अबकी ज़ोरसे चिल्लाये तो भिक्षुकने आँख उठाकर उनकी ओर देखा। बस, फिर क्या था—सब हैरान हो गये। हैं ! यह क्या ! इसकी आँखोंमें कौन-सी बिजली छिपी है; यह तो कोई खास चीज़ लेकर आया है।

दुबारा उन लोगोंका उस भिक्षुककी तरफ़ ताकना ही था कि प्रभुने इसके हृदयसे निकलकर इसके नेत्रोंकी खिड़कीसे उनकी तरफ झाँका और फिर पीछे बैठ गये !

(सबलोग एक तरफ़को हटकर) हैं ! यह क्या ! यह किनको ले आया जिनसे हम सब कुछ लाये हैं; वे कौन थे ? जो इसके नेत्रोंसे अभी-अभी झाँककर गये ! यह तो वे ही मालूम होते हैं जिनसे हम सब कुछ लेकर आये थे—आख़िर, यह उनको कैसे ले आया ! हैं, क्या प्रभु इसके अंदर हैं ? इसके हृदयमें विराजमान हो गये। अब मालूम हुआ कि यह इस तरह बेपरवाह, मस्त, प्रसन्न और अभय क्यों है; आखिर, ये सब बातें इसके लिये स्वाभाविक हैं। जैसे सूर्योदय होनेपर गरमी और रोशनी चारों तरफ़ फैलने लगती है, उसी तरह प्रभुके हृदयमें आनेसे बेपरवाही, उदारता, प्रसन्नता, निर्भयता आदि मनुष्यके लिये स्वाभाविक बन जाती हैं। कल यह चाहे कुछ भी था लेकिन अब तो यह बहुत ही बड़ा है। क्यों न हो ? जब बड़ा ही उसके पास है। अब उस बड़ेतक पहुँचनेके लिये पहले तो हमको इसीतक पहुँचना पड़ेगा; यह बड़ा ही भाग्यवाला निकला कि प्रभुहीको साथ ले आया परन्तु प्रभु इसकी किस बातपर प्रसन्न होकर इसके साथ चले आये ? काश, हममेंसे भी कोई वहाँ होता जो इस रहस्यको समझ सकता। निस्सन्देह, हम बहुत बड़े हैं, हमारे पास संसारके बहुत-से पदार्थ हैं लेकिन हमारे पास वह नहीं कि जिसके आनेपर और कुछ पाना बाकी नहीं रहता। क्या हम इस भिक्षुकको भिक्षुक कह सकते हैं जिसके पास त्रिभुवनका स्वामी स्वयं विद्यमान हैं। इनके एक सङ्कल्पसे इसको क्या नहीं मिल सकता ! सबकी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला इसके हिस्सेमें आ चुका है।

वह जो सब कुछ रखते हैं तेरे सिवा परमात्मा
उनपै हँसते हैं जो कुछ रखते नहीं तेरे सिवा।

इस वक्त भिक्षुककी अवस्था कुछ ऐसी थी कि जिसपर लाखों खुशियाँ निछावर हो रही थीं और यह सभी लोग उसको देखकर हैरान हो रहे थे और अपने हृदयमें उसके महत्त्वको अनुभव करते हुए अपने विनम्र भावोंको उसके सामने रख रहे थे—धन्य है ऐसा भिक्षुक ! धन्य है ऐसे भिक्षुककी नम्रता, जिसने प्रभुको अपनालिया। यह अपने विनम्र भावमें स्वभावतः पक्का था, मजबूत था, यानी यह उसको बदल न सकता था इसलिये यह सफल हुआ। इसके हिस्सेमें वह सफलता आयी जो औरोंको न मिली।

सच है, अगर कोई सच्चे दिलसे आतुर होकर प्रभुके पास अपने जीवनके अन्तिम श्वासमें भी पहुँच सकता है तो वह अवश्य प्रभुकी दयाका पात्र होगा—

भिक्षुक गा रहा है—

नज़रमें दिलमें जिगरमें समाये जाते हैं;
ख़लिशको दिलकी, जिगरकी मिटाये जाते हैं ॥ १ ॥
किसी गदाको शहन्शाह बनाये जाते हैं;
पयामे रूहे मोहब्बत सुनाये जाते हैं ॥ २ ॥
फनाये होशका दारू पिलाये जाते हैं;
नकाब रुख़से वह अपने उठाये जाते हैं ॥ ३ ॥
ख़ुशीसे दिलको हम अपने लगाये जाते हैं;
ख़याले गैरको दिलसे मिटाये जाते हैं ॥ ४ ॥
निसारे शमए मोहब्बतने यूँ कहा हमसे;
जवाबे इश्कमें हम यूँ जिलाये जाते हैं ॥ ५ ॥
किसीकी आतिशे उल्फ़तमें फूँक मारी है;
कुचाके आपको अब वह दिखाये जाते हैं ॥ ६ ॥
सुना है साक़ीने जबसे ग़मे निहाँ दिलका;
बुलाके 'नाथ' को साग़र पिलाये जाते हैं ॥ ७ ॥

अर्थ—दृष्टिमें, हृदयमें और जिगरमें वे कुछ इस तरह प्रवेश किये जा रहे हैं कि जिससे हृदय और जिगरकी तमाम मुश्किलें अपने-आप दूर हुई जा रही हैं और वह अज्ञानकी गाँठ (हृदय-ग्रन्थि) जो आजतक न खुली थी, अपने-आप

खुली जा रही है। उनका हृदयमें आना कितना सुखदायक है किसी भिक्षुकको अपनी कृपादृष्टिसे सम्राट् बनाये जाते हैं क्योंकि उसके कानोंमें दिलको बढ़ानेवाले प्रेमके वचन सुनाये जाते हैं कुछ इस तरहकी दवा पिला रहे हैं कि जिससे बुद्धि जिसको कि दुनियाके झंझटोंसे एक मिनटके लिये फुरसत नहीं मिलती और अहंकार कि जो भिक्षुक और प्रभुके बीच एक बड़ा घना आवरण बना हुआ है उसको उड़ानेकी तरकीब कर रहे हैं मानो अब वे अपने चेहरेसे उस पर्देको जो कि भिक्षुकसे उठना असम्भव था, स्वयं अपनी कृपाके हाथोंसे एक तरफको हटाये जाते हैं अब तो भिक्षुकने यह पूरा विचार कर लिया है कि मैं अपने मनको केवल उन्हींके चरणोंमें लगाऊँगा; नहीं, बल्कि लगा ही दिया है और उनके सिवा जो कुछ भी और है उससे कोसोंपर भाग रहा हूँ पतंगेने एक दिन आकर भक्तोंको एक विचित्र बात सुना दी कि देखो, देखो, हम अपने प्रेमके फलस्वरूप बजाय जलनेके जिलाये जाते हैं यानी और भी जिन्दा किये जा रहे हैं जबसे उन्होंने छिपनेके पश्चात् अपने आपको प्रकट किया है उस दिनसे भिक्षुकके प्रेमकी मन्द अग्नि और भी भड़क उठी है जबसे प्रभुने भिक्षुकके हृदयकी प्रार्थना सुनी तबसे वे उसको बुलाकर बलात् अमृतपान कराये जा रहे हैं !!

ऐसे दाताकी जय हो और ऐसे भिक्षुककी भी !

भगवान्‌की शरणसे परमपदकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरण*को प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होनेके लिये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबको सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर देनेकी आवश्यकता है। परन्तु यह अर्पण केवल मुखसे कह देनेमात्रसे नहीं हो जाता। इसलिये किसके अर्पणका क्या स्वरूप है, इसको समझनेकी कुछ चेष्टा की जाती है।

बुद्धिका अर्पण

भगवान् 'हैं' इस बातका बुद्धिमें नित्य-निरन्तर प्रत्यक्षकी भाँति निश्चय रहना, संशय, भ्रम और अभिमानसे सम्पूर्णतया रहित होकर भगवान्‌में परम श्रद्धा करना, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति पड़नेपर भी भगवान्‌की आज्ञासे तनिक भी प्रतिकूल भाव न होना तथा पवित्र हुई बुद्धिके द्वारा गुण और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूप और तत्त्वको जानकर उस तत्त्व और स्वरूपमें बुद्धिका अविचलभावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना। यह बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण करना है।

मनका अर्पण

प्रभुकी अनुकूलतामें अनुकूलता, उनकी इच्छानुसार ही इच्छा और उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न होना, प्रभुके मिलनेकी मनमें उत्कट इच्छा होना, केवल प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, रहस्य और लीला आदिका ही मनसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करना, मन प्रभुमें रहे और प्रभु मनमें बास करें—मन प्रभुमें रमे और प्रभु मनमें रमण करें। यह रमण अत्यन्त प्रेमपूर्ण हो, और वह प्रेम भी ऐसा हो कि जिसमें

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनकी आज्ञानुसार कर्त्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्य शरण' होना है।

एक क्षणका भी प्रभुका विस्मरण जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलतासे भी बढ़कर मनमें परम व्याकुलता उत्पन्न कर दे। यह भगवान्‌में मनका अर्पण करना है।

इन्द्रियोंका अर्पण

कठपुतली जैसे सूत्रधारके इशारेपर नाचती है,—उसकी सारी क्रिया स्वाभाविक ही सूत्रधारको इच्छाके अनुकूल ही होती है, इसी प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर उनकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार कार्य करना और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया हो उसे मानो प्रभु ही करवा रहे हैं ऐसे समझते रहना—अपनी इन्द्रियोंको प्रभुके अर्पण करना है।

इस प्रकार जब सारी इन्द्रियाँ प्रभुके अर्पण हो जायँगी तब वाणीके द्वारा जो कुछ भी उच्चारण होगा, सब भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल ही होगा। अर्थात् उसकी वाणी भगवान्‌के नाम-गुणोंके कीर्तन, भगवान्‌के रहस्य, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वादिके कथन; सत्य, विनम्र मधुर और सबके लिये कल्याणकारी भाषणके अतिरिक्त किसीको जरा भी हानि पहुँचानेवाले, विषयासक्ति, बढ़ानेवाले, दोषयुक्त या व्यर्थ वचन बोलेगी ही नहीं। उसके हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा और इस लोक और परलोकमें यथार्थ हित हो, ऐसी ही क्रिया होगी। इसी प्रकार उसके नेत्र, कर्ण, चरण आदि इन्द्रियोंके द्वारा भी लोकोपकार, 'सत्यं और शिवं' का सेवन आदि भगवान्‌के अनुकूल ही क्रियाएँ होंगी। और उन क्रियाओंके होनेके समय अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति, उत्साह और प्रेम-विह्वलता रहेगी। भगवत्प्रेम और आनन्दकी अधिकतासे कभी-कभी रोमाञ्च और अश्रुपात भी होंगे।

शरीरका अर्पण

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करना, यह शरीर प्रभुकी सेवा और उनके कार्यके लिये ही है ऐसा समझकर प्रभुकी सेवामें और उनके कार्यमें शरीरको लगा देना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, सब कुछ प्रभुके कार्यके लिये ही हो यह शरीरका अर्पण है। जैसे शेषनागजी अपने शरीरकी शय्या बनाकर निरन्तर उसे भगवान्‌की सेवामें लगाये रखते हैं; जैसे राजा शिबिने अपना शरीर कबूतरकी रक्षाके लिये लगा दिया, जैसे मयूरध्वज राजाके पुत्रने अपने शरीरको प्रभुके कार्यमें अर्पण कर दिया। वैसे ही प्रभुकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार लोकसेवा-के रूपमें या अन्य किसी रूपमें शरीरको प्रभुके कार्यमें लगा देना चाहिये।

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीरको प्रभुके अर्पण करनेके बाद कैसी स्थिति होती है, इसको समझनेके लिये एक पतिव्रता स्त्रीके उदाहरणपर विचार कीजिये।

एक पतिव्रता देवी थी, उसकी सारी क्रियाएँ इसी भावसे होती थीं कि मेरे पति मुझपर प्रसन्न रहें। यही उसका मुख्य ध्येय था। पातिव्रत-धर्म भी यही है। उसके पतिको भी इस बातका अनुभव था कि मेरी स्त्री पतिव्रता है। एक बार पतिने अपनी स्त्रीके मनके अत्यन्त विरुद्ध क्रिया करके उसकी परीक्षा लेनी चाही। परीक्षा सन्देहवश ही होती हो सो बात नहीं है, ऊपर उठाने और उत्साह बढ़ानेके लिये भी परीक्षाएँ हुआ करती हैं।

एक समय पतिदेवके भोजन कर चुकनेपर वह पतिव्रता देवी भोजन करने बैठी। उसने अभी दो-चार कौर ही खाये थे कि इतनेमें पतिने आकर उसकी थालीमें एक अञ्जलि बालू डाल दी और वह हँसने लगा। स्त्री भी हँसने लगी। पतिने पूछा—'तू क्यों हँसती है?' स्त्रीने कहा—'आप हँसते हैं, इसीलिये मैं भी हँसती हूँ। मेरी प्रसन्नताका कारण आपकी प्रसन्नता ही है।' पतिने कहा—'मैं तो तेरे मनमें विकार उत्पन्न करनेके लिये हँसता था किन्तु विकार तो उत्पन्न नहीं हुआ।' स्त्री बोली—'मुझे इस बातका पता नहीं था कि आप मुझमें विकार देखना चाहते हैं। विकारका होना तो स्वाभाविक ही है किन्तु आप मुझमें विकार नहीं देखते,

यह आपकी ही दया है।' इस कथनपर पतिको यह निश्चय हो गया कि उसकी स्त्री पतिव्रता है।

जो पुरुष सब प्रकारसे अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसकी भी सारी क्रियाएँ पतिव्रता स्त्रीकी भाँति स्वामीके अनुकूल होने लगती हैं। वह अपने इच्छानुसार कोई कार्य कर रहा है परन्तु ज्यों ही उसे पता लगता है कि स्वामीकी इच्छा इससे पृथक् है, उसी क्षण उसकी इच्छा बदल जाती है और वह स्वामीके इच्छानुकूल कार्य करने लगता है। चाहे वह कार्य उसके बलिदानका ही क्यों न हो! वह बड़े हर्षके साथ उसे करता है। स्वामीके पूर्णतया शरण होनेपर तो स्वामीके इशारेमात्रसे ही उनके हृदयका भाव समझमें आने लगता है। फिर तो वह प्रेमपूर्वक आनन्दके साथ उसीके अनुसार कार्य करने लगता है।

दैवयोगसे अपने मनके अत्यन्त विपरीत भारी संकट आ पड़नेपर भी वह उस संकटको अपने दयामय स्वामीका दयापूर्ण विधान समझकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है।

यह सारा संसार उस नटवरका क्रीडास्थल है। प्रभु स्वयं इसमें बड़ी ही निपुणताके साथ नाट्य कर रहे हैं, उनके समान चतुर खिलाड़ी दूसरा कोई भी नहीं है, यह जो कुछ हो रहा है सब उन्हींका खेल है। उनके सिवा कोई भी ऐसा अद्भुत खेल नहीं कर सकता। इस प्रकार इस संसारकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझकर वह शरणागत भक्त क्षण-क्षणमें प्रसन्न होता रहता है और पग-पगपर प्रभुकी दयाका दर्शन करता रहता है।

यही भगवान्‌की अनन्य शरण है और यही अनन्य भक्ति है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण होनेसे मनुष्य भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, रहस्य, गुण, महिमा और प्रभावको जानकर अनायास ही परमपदको प्राप्त होता है।

कल्याण

जगत्‌की सम्पत्ति जितनी ही बढ़ेगी, उतनी ही अभावकी वृद्धि होगी। जिसके पास दस-बीस रुपये हैं उसको सौ-पचासकी चाह होती है परन्तु जिसके पास लाखों हैं वह लाखोंकी चाह करता है। इसलिये सम्पत्ति बढ़ानेकी चाह करना प्रकारान्तरसे अभाव बढ़ानेका चाह करना है। याद रक्खो—अधिक पानेसे तुम्हें सुख नहीं होगा वरं झंझट, कष्ट तथा दुःख बढ़ेंगे ही।

अभिमानमें भले ही भरे रहो कि मेरे इतने गाँव और इतने महल हैं, परन्तु अपने बैठनेको जगह उतनी ही काममें आवेगी, जितनीमें शरीर रह सकता है। खाओगे भी उतना ही, जितना सदा खाते हो। हाँ, इतना जरूर है कि अधिक सुविधा होनेपर कुछ बढ़िया चीजें खा लोगे परन्तु मेहनत न करनेके कारण उन्हें पचा न सकोगे, जिससे कुछ समयके बाद उतना खानेयोग्य भी नहीं रह जाओगे।

यश, कीर्ति और सम्मान आदि अधिक बढ़ेंगे तो यह भय भी सदा जलाया करेगा कि कहीं अयश, अकीर्ति और अपमान न हो जाय। जितना बड़प्पन होगा—उतना ही गिरनेमें अधिक कष्ट होगा, जितने ऊँचे होओगे, नीचे गिरनेपर उतनी ही चोट अधिक लगेगी। इसलिये धन, मान, यश आदिके बढ़ानेकी चिन्ता छोड़कर भगवान्‌की चिन्ता करो जिससे तुम्हारा यथार्थ कल्याण हो।

खूब समझ लो, और इस बातपर विश्वास करो कि धनी, मानी, अधिकारारूढ़ और विषयोंसे अधिक सम्पन्न लोग सुखी नहीं हैं, उनके चित्तमें शान्ति नहीं है। उनकी परिस्थिति और भी भयानक है क्योंकि उनके अभाव भी उतने ही अधिक बढ़े हुए हैं। यह निश्चय है कि जहाँ अभाव है, वहीं अशान्ति है, और जहाँ अशान्ति है, वहीं दुःख है।

संसारके हानि-लाभकी परवा न करो। जो काम सामने आ जाय यदि अन्तरात्मा उस कामको अच्छा बतावे तो अपनी जैसी बुद्धि हो, उसीके अनुसार शुद्धभावसे सबका कल्याण देखकर उसे करो, परन्तु यह कभी न भूलो कि यह सब खेल है। अनन्त महासागरकी लहरें हैं। तुम अपनेको सदा इनसे ऊँचेपर रक्खो। कार्य करो, परन्तु फँसकर नहीं, उसमें रागद्वेष करके नहीं। आ गया सो कर लिया। फिर उससे कुछ भी मतलब नहीं। न आता तो भी कोई आवश्यकता नहीं थी।

अपनेको सदा आनन्दमें डुबोये रक्खो—दुःखकी कल्पना ही तुम्हें दुःख देती है। मान लो, एक आदमी गाली देता है, तुम समझते हो मुझको गाली देता है इसलिये दुःखी होते हो, उसे बुरा समझते हो, उसपर द्वेष करते हो, उससे बदला लेना चाहते हो। परन्तु सोचो तो सही वह तुम्हें गालियाँ देता है या किसी जडपिण्डको लक्ष्य करके किसी कल्पित नामसे गालियाँ देता है। क्या 'नाम' और 'शरीर' तुम हो जो गालियाँ सुनकर रोष करते हो! तुम्हें कोई गाली दे ही नहीं सकता! तुम्हारा अपमान कभी हो ही नहीं सकता!

यदि कोई ऐसी भाषामें गाली दे जिसे तुम नहीं समझते तो तुम्हें गुस्सा नहीं आता। फिर क्यों नहीं तुम यह समझ लेते कि वह जिस भाषामें गाली देता है, उसका अर्थ दूसरा ही है। तुम उसे गाली ही क्यों समझते हो? गाली समझते हो तभी दुःख होता है। आशीर्वाद समझो—अपने मनकी किसी अच्छी कल्पनाके अनुसार उसको शुभरूप दे दो तो तुम्हें दुःख हो ही नहीं।

सदा शान्त रहो, निर्विकार रहो, सम रहनेकी चेष्टा करो। जगत्‌के खेलसे अपनेको प्रभावित मत होने दो। खेलको खेल ही समझो। तुम सदा सुखी रहोगे। फिर न कुछ बढ़ानेकी इच्छा होगी और न घटनेपर दुःख होगा।

जो कुछ है, उसीमें सन्तुष्ट रहो और असली लक्ष्य श्रीपरमात्माको कभी न भूलो। याद रक्खो, यहाँकी बनने-बिगड़नेकी लीलासे तुम्हारा वास्तवमें कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। फिर तुम विशेष बनाने जाकर व्यर्थ ही क्यों संकट मोल लेते हो।

भगवान्‌को याद करो, भगवान्‌में प्रेम करो, भगवान्‌को जीवनका लक्ष्य बनाओ, भगवान्‌की ओर बढ़ो। तुम्हें फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये भगवान्‌के स्मरण, चिन्तन और भगवत्कार्यसे। जगत्‌का जो कुछ आवश्यक काम हो, जिसके किये बिना न चलता हो, उसे भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌का कार्य समझकर ही करो, और सदा सभी अवस्थाओंमें सन्तुष्ट रहो। तृप्त रहो।

'शिव'

मन्त्र भगवान्‌को कैसे अभिव्यक्त करते हैं ?

(लेखक—पं० श्रीकोकिलेश्वरजी शास्त्री, एम० ए०, विद्यारत्न)

संसारके गोचर पदार्थ, जो वेदान्तमें 'विकार' नामसे परिगणित हैं, श्रुतिमें 'वागालम्बन'के नामसे पुकारे गये हैं—अर्थात् वे उन विशेष नामोंपर निर्भर हैं जो हम उनके लिये प्रयुक्त करते हैं। प्रश्न यह है कि इनमें सब एक दूसरेसे स्वतन्त्र हैं अथवा उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध भी है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के शांकरभाष्यमें एक महत्त्वपूर्ण वादका वर्णन है जिससे हमें ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत 'सामान्य' और 'विशेष' में सदैव एक सम्बन्ध रहता है। शंकर शब्द-सामान्य तथा विशेष नामका दृष्टान्त देते हैं—

एकस्मात् शब्दसामान्यात् सर्वाणि विशेषनामानि देवदत्तो यज्ञदत्त इत्येवमादिप्रविभागानि उत्पद्यन्ते प्रविभज्यन्ते।

यह सार्वदेशिक शब्द अथवा नाम-सामान्य ही अपने विशेष नामोंमेंसे प्रत्येकमें स्थित और कार्यशील है; सामान्यसे इन विशेष नामोंको अलग अथवा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता—

न तत एव निर्भिद्य ग्रहीतुं शक्यन्ते ।

अनेकत्व एवं स्वतन्त्रता अन्तिम शब्द नहीं हैं। सामान्य अपने अन्तर्गत सब विशेषोंको अपने उपकरणोंके रूपमें धारण किये हुए है ।

शंकरने कहा है—

अनेके हि विलक्षणा······सामान्यविशेषाः··· तेषां पारम्पर्यगत्या एकस्मिन् महासामान्ये अन्तर्भावः प्रज्ञानघने ।

(बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य २।४।९)

विवेचनीय सामान्योंका (अपने अन्दरके विशेषों-सहित), भी एक अनेकत्व है, जो अपने प्रगतिमान क्रममें, अन्तिम सर्वोच्च विश्व-चैतन्यमें सम्मिलित है। ये सब विशेष उपकरण एक ऐसी सर्वविद् सत्तामें, और उसीके द्वारा, एकत्वको प्राप्त करते और समन्वित हो जाते हैं जो उन सबको समन्वित, संघटित और एक करती है। ये सब एक विश्वात्मा अथवा विश्व-केन्द्रमें केन्द्रित हैं अर्थात् ये सब अंगीभूतया परस्पर सम्बन्धित हैं।* इसके बाहर कुछ नहीं है। यह अपनेमें इन सब विशेषोंको धारण किये हुए है। इसलिये इन नाम-विशेषोंमें केवल सामान्य ही सत्य है; ये जो विशेष हैं वे सामान्यके ही अपने संस्थान हैं। सामान्य ही इन विशेषोंमें अपनेको व्यक्त करता है, इसलिये विशेष सामान्यसे भिन्न कोई वस्तु नहीं वरन् उसीकी अभिव्यक्तियाँ हैं; वे उससे कुछ अन्य नहीं हैं।

इसलिये शब्द-सामान्य ही उच्चरित स्वरों एवं शब्दोंका उद्गम है और इन व्यक्त शब्दोंका तत्त्व एवं आधार है। विभिन्न भाषाओंमें यह भिन्न-भिन्न नहीं है वरन् सबमें एक अथवा समान है। शंकरने सामान्य एवं विशेषके बीच जिस सम्बन्धका विवेचन किया है, वह यही है। सामान्योंकी एकपर ऊँची एक श्रेणियाँ हैं, और ये सब श्रेणियाँ एक सर्वोच्च दैवी सामान्यमें अन्तर्भुक्त हैं जो उनके अन्तिम उद्गमके रूपमें उनके पीछे फैला हुआ है।

इस विवेचनसे प्रकट है कि शंकरके मतसे, अपने-अपने विशेषोंके साथ प्रगतिमान श्रेणी रूपमें सामान्योंकी एक माला अथवा शृंखला ही है। इन सामान्योंको अवान्तर प्रकृतिके रूपमें माना जा सकता है और ब्रह्म इन सबका मूल कारण है जिसमें ये सब अन्तर्भुक्त हैं।

एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरमनन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वकार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येति । न हि स्वकारणव्यतिरेकेण कारण-कारणे कार्याप्ययो न्याय्यः ।

इसका तात्पर्य यही है कि गोचर पदार्थ तुरन्त सीधे अन्तिम कारण—ब्रह्ममें लीन नहीं हो जाते। उनको उलटे क्रमसे अपने पूर्व कारणमें विलीन होना पड़ता है। इस उलटे क्रमकी उठती हुई श्रेणीमें प्रत्येक पहलेकी श्रेणी दूसरीसे अथवा नीचेकी अपने ऊपरवालीसे कम सूक्ष्म है और इन श्रेणियोंमेंसे प्रत्येक क्रमशः अपनेसे ऊपरवाली श्रेणीमें विलीन होती जाती हैं, यहाँतक कि सबसे सूक्ष्म, सबसे अन्तःमुखी अन्तिम कारण, ब्रह्मतक पहुँच जाती हैं। इन सामान्य रूपोंका भी सत्से भिन्न कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है अर्थात् वे विश्वव्यापी ज्ञान—'महासामान्ये प्रज्ञानघने'—में सम्मिलित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वात्मा अपने अन्तर्गत उन सब प्रबुद्ध सामान्योंको धारण किये हुए है जो दृश्य पदार्थोंके पीछे हैं। ईश्वरीय तात्पर्य होनेके कारण वे

---

* यत् परस्परोपकार्योपकारकं ·········· तत् एक-सामान्यात्मकं दृष्टम् । (बृहदारण्यक उपनिषद्)

ईश्वरीय विचारमें सम्मिलित हैं। वे एक सर्वोच्च सत्ताके अङ्गीभूत उपकरण हैं।

इस प्रकार हमको ज्ञात होता है कि सामान्य वे प्राणद सिद्धान्त हैं जिनमें विशेष समाये हुए हैं—

सामान्यमात्मस्वरूपप्रदानेन विशेषान् बिभर्त्ति······विशेषाः सामान्ये उताः, न तत एव निर्भिद्य ग्रहीतुं शक्यन्ते।

विशेष सामान्यमें भुक्त हैं और उनसे अलग नहीं किये जा सकते। पर वे स्वेच्छया अलग कर दिये गये हैं। काण्टने सामान्य (Thing-in-itself) को विशेष (Phenomena) से अलग कर दिया। रामानुज कहते हैं कि हमें निर्विशेषका कोई ज्ञान नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद्‌में कहा गया है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'—संसारके परिवर्तनशील पदार्थ, जो पूर्णतः शब्दविशेष,—जिनके निर्देशके लिये हम विशेष नामों वा शब्दोंका प्रयोग करते हैं—पर निर्भर करते हैं (शंकरके मतानुसार आरम्भणका अर्थ आलम्बन है), वस्तुतः नामधेय अर्थात् नाममात्र अर्थात् नाम-सामान्य हैं और वे शब्द-विशेष उनकी ही अभिव्यक्तियाँ अथवा अभिव्यञ्जनाएँ हैं। इससे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि अभिव्यञ्जित अथवा अभिव्यक्त शब्द शब्दमात्र नहीं हैं वरन् उनके पीछे उनके सामान्य शब्द अथवा नाद हैं जिनकी उनमें अभिव्यक्ति होती है। यह विश्वव्यापी वा सामान्य नाद भी अपने भीतर या पीछेके चित्‌की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार इन विशेष शब्दोंमें वस्तुतः चित् (चेतना) का ही अस्तित्व है, और यह चित् ही, जिसकी वे अभिव्यक्तियाँ हैं, उनकी वास्तविकता या सत्य है। इस तरह शब्द अथवा नाम उस चेतना या चित्‌को व्यक्त करते हैं जो उनमें रहती और उनके द्वारा कार्य करती है। इसलिये जब निरन्तर प्रभु वा ईश्वरके नामोंका उच्चारण या जप किया जाता है तब चित् या चैतन्य जाग्रत होता है जो उन शब्दोंका सहरूपी या एकरूपी है, इसलिये कि शब्द अथवा नामकी उस चित्‌के सिवा, जिसकी वे अभिव्यक्तियाँ हैं, कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह चित् ही उनमें रहता और कार्य करता है और उनको स्वरूप प्रदान करता है—

यत्स्वरूपव्यतिरेकेण अग्रहणं यस्य, तस्य तदात्मकत्वं दृष्टम्। (बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य)

सामान्य एवं विशेषके मध्य जो सम्बन्ध है, उसके विषयमें यह शंकरका मत है। इस व्याख्याकी सहायतासे हम इस निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि जितने भी नाम-विशेष हैं, एक शब्द-सामान्यकी अभिव्यक्तियाँ हैं; और इस शब्द-सामान्यसे, जो प्रत्येक नाम-विशेषमें स्थित है, रहित होकर वे असत् हो जाते हैं,—उनका एकमात्र सत् या स्वरूप एक सर्वोच्च शब्द-सामान्यको लेकर ही है। यह सर्वोच्च शब्द-सामान्य सब व्यक्त शब्दोंमें समानरूपसे स्थित है और सबका आधार अथवा आश्रय है। तन्त्र-शास्त्रमें इसे ही 'पर शब्द'—संसारका प्राण-स्रोत—कहा गया है। यह अभिन्न और अव्यक्त है—सब व्यक्त शब्दोंका अन्तिम उद्गम है। और यह चित् या चेतन भी है। इसीलिये शंकरने इसे 'एकस्मिन् महासामान्ये प्रज्ञानघने' कहा है। शब्दमें चैतन्य अन्तर्हित है। इसलिये मूलतः शब्दको चेतन शक्तिके रूपमें ही देखना चाहिये। नाम और नामी अभिन्न हैं। मीमांसाकारने इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको शब्द और अर्थके बीच रहनेवाले नित्य सम्बन्धके रूपमें प्रतिपादित किया है। इस प्रकार इस सत्यकी

अवतारणा होती है कि जब शब्द या मन्त्र अथवा आलापका उच्चार होता है तब वे अपने भीतर प्रच्छन्न वा निहित चैतन्यको जाग्रत कर देते हैं।

तन्त्रमें विविध श्रेणियोंके चतुर्विध शब्दोंका उल्लेख है। परा और पश्यन्ती ईश्वर-शक्ति अथवा शब्दकी मूल ('कारण') अवस्थाको प्रकट करते हैं, जिसे शंकरने अपने वेदान्त-भाष्यमें अव्यक्त कहकर पुकारा है। मध्यमा शब्द सूक्ष्मावस्था अथवा हिरण्यगर्भको प्रकट करता है। वैखरी अवस्थामें शब्दका विकसित रूप अथवा स्थूल अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार वैखरीकी भाँति परा शब्द विभिन्न भाषाओंमें भिन्न-भिन्न नहीं है वरन् सबका मूलाधार—सृष्टिका उद्गम है। आधुनिक भाषाविज्ञान केवल विकासप्राप्त उच्चरित शब्दों अर्थात् वैखरीका ही निरूपण करता है और उनके तथा उनके मूल उद्गम पराके बीच जो सम्बन्ध है उसे देख सकनेमें असमर्थ है। वह परा और चित्के सम्बन्धको समझनेमें तो बिल्कुल असफल है पर यह चित् ही शब्दके मूलस्रोतके पीछे है; वही इस स्रोतमें रहता और क्रियाशील होता है और बिना उसके परा शब्द महत्त्वशून्य तथा असत् हो जाता है। यह हिन्दू तत्त्वज्ञानका महान् आविष्कार है कि विकसित या रूपधारी शब्दोंको केवल शब्दके रूपमें ही नहीं देखना चाहिये। इन विशिष्ट शब्दोंके पीछे व्यापक शब्द या 'नाम-सामान्य' है जो उन्हें वास्तविकता प्रदान करता और अपनी प्रकृतिके अनुकूल उनको सार्थक बनाता है—

सामान्यमात्मस्वरूपप्रदानेन विशेषान् बिभर्ति।

इस 'नाम-सामान्य'के पीछे भी एक विश्वव्यापी चेतनसत्ता (प्रज्ञानघन) है। 'नाम-सामान्य' इसीको अभिव्यक्ति है और इसके बिना 'नाम-सामान्य' स्थित नहीं रह सकता, न उसकी अपनी कोई वास्तविकता ही रह जाती है। यही विकासप्राप्त या स्थूल शब्दोंको संयुक्त करता और उनको जीवित रखता है। तन्त्रका जो तत्त्वज्ञान है, उसमें इस 'प्रज्ञानघन' द्वारा 'नाम-सामान्य' पर नियन्त्रण स्थापित करनेकी विधियोंका वर्णन है। मन्त्रोंके द्वारा 'चित्', उस चित्की सरलतापूर्वक साधना की जा सकती है जो स्वतः विद्वानों एवं तत्त्वविदोंसे भी दूर भागता है। इस प्रकार मन्त्र हमें जाग्रत् कर सकते और चित् (प्रज्ञानघन) की सिद्धिमें निःसंशय हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

भारतके योगियोंमें एक सम्प्रदाय-विशेष ऐसा है जो नाम-साधनाका अभ्यास करता है। एक विशेष मन्त्रका उच्चार किया जाता है पर इस उच्चारमें एक विचित्र विधिका पालन करना पड़ता है। श्वासके अन्दर जाने और निकलनेके बीचके समयमें मन्त्रके सब शब्दोंको एक बार मानसिक उच्चार करना पड़ता है। कोई श्वास तबतक अन्दर जाने और निकलने नहीं पाता जबतक मन्त्रका अन्तःउच्चार न हो ले। यह अभ्यास निरन्तर चलता रहता है। कहा जाता है कि श्वास-सम्बन्धी निश्चित नियमकी ओर निरन्तर गहरा ध्यान देते हुए एक मन्त्र-विशेषका जप निश्चय ही चैतन्यको जाग्रत कर देता है। कुछ कारणोंसे साधनाकी इस विचित्र विधिके विषयमें विस्तारसे लिखना उचित न होगा।

स्वप्नकी स्मृति

(लेखक—श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

प्रायः लोग स्वप्नोंको भूल जाया करते हैं। बुरे स्वप्न तो जगनेपर भी कुछ समयतक याद रहते हैं परन्तु अच्छे स्वप्न शीघ्र ही विस्मृतिकी गोदमें सो जाते हैं। स्वप्नकी तो बात ही क्या, जाग्रत्‌की भी अधिकांश बातें भूल ही जाती हैं। रह जाता है कुछ तो केवल राग-द्वेषका संस्कार। उसमें भी रागकी अपेक्षा द्वेषका अधिक। परन्तु मैंने बहुत पहले एक स्वप्न देखा था। वह स्वप्न था जीवनके आदर्शका स्वप्न। यदि मैं उसे अपने जीवनमें उतार पाता ? परन्तु अबतक तो नहीं उतार पाया। उसके लिये जैसी चेष्टा होनी चाहिये थी, वैसी चेष्टा भी नहीं हुई। फिर भी मैं उसे भूला नहीं हूँ। वह मेरी स्मृतिमें वैसा ही नया है। यदि मेरा जीवन उसके अनुसार बन गया होता तो आज यह लिखनेका अवसर ही न आता। मैं अपने प्राण-नाथ, अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुरतम स्मृतिमें तल्लीन होता। परन्तु मेरी लगनका अभाव और मेरी शिथिलता मेरे पीछे लगी है। क्या करूँ ? बैठे-बैठे उस स्वप्नकी ही याद करूँ ! वह स्वप्न, हाँ वह स्वप्न अत्यन्त मधुर है। उसकी स्मृति इस भजनहीन जाग्रत्‌की अपेक्षा तो बहुत ही सुन्दर है।

मैंने स्वप्नमें देखा था—'एक ओरसे धीरे-धीरे गम्भीर यमुना बिना शब्द किये चुपचाप आ रही हैं। दूसरी ओरसे भगवती भागीरथी बड़े वेगसे हर-हर करती पधार रही हैं। दोनोंके बीचमें बड़ा ही सुन्दर एक बरगदका वृक्ष है। उसके नीचे भगवान् शिवकी कपूरके समान श्वेतवर्णकी मूर्ति है। मैंने उन्हें श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम किया। मैं उस समय पन्द्रह या सोलह वर्षका लड़का था। वासनाएँ अधिक नहीं हुई थीं। मैं क्या बनूँ ? किस प्रकार आगेका जीवन बिताऊँ ? यही प्रश्न उस समय मनमें उठा। मैं सच्चे हृदयसे भगवान् शंकरकी प्रार्थना करने लगा। मेरे मनमें न छल था, न कपट था और न दम्भ था। मेरा अन्तस्तल प्रेमसे उमड़ पड़ा। आँखोंसे आँसू गिरने लगे। मैंने कहा—'भगवन् ! मुझे मार्ग बताओ।' मेरी प्रार्थना सुनी गयी। उत्तर मिला—'यहाँ तीन नदियाँ बह रही हैं। किसी एकका किनारा पकड़कर ऊपरकी ओर बढ़ो। जिधरसे जल आ रहा है, उधर बढ़नेपर तुम्हें मार्गदर्शक मिल जायँगे।' मैंने सोचा—यहाँ तो दो ही नदियाँ दीखती हैं, तीसरी कौन है ? नीले जलकी यमुना, मटमैले जलकी गंगा और तीसरी-का जल कैसा है ? उसी समय मुझे अत्यन्त सूक्ष्म प्रणवकी ध्वनि सुनायी पड़ी। झीनेसे, रूपरहितसे जलका भी अनुभव हुआ। मानो इडा-पिङ्गलाके बीचमें ज्ञानकी धारा सुषुम्ना ही प्रवाहित हो। मुझे स्मृति हो आयी—यह तो सरस्वती है। तब इसीके किनारेसे क्यों न चला जाय ? ठीक तो है। बस, मैं चल पड़ा।

बड़ा सुन्दर मार्ग था। स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर रंग-विरंगे कमल थे। हंस, परमहंस, सारस आदि विहंग विहार कर रहे थे। तरंगें उठती थीं, परन्तु दीखती न थीं। अमृतकी धारा थी, आनन्दका तट था। न सूर्य थे, न चन्द्रमा। मधुमयी रश्मियाँ छिटक रही थीं। कहाँसे आ रही थीं, मुझे पता नहीं। बड़ा ही सुन्दर स्फटिकका मार्ग था। केसरकी क्यारियाँ दोनों ओर सजायी हुई थीं। कहीं-कहीं धारा बड़ी ही सूक्ष्म, बड़ी ही पतली हो जाती थी। परन्तु मैं चला जा रहा था—सीधे मार्गपर। भगवान् शिवपर मेरा पूरा विश्वास था। कोई शंका नहीं थी।

मैंने देखा—एक सज्जन मुझसे आगे जा रहे हैं।

मोटेसे, छोटेसे, सरल, हँसमुख आनन्दकी मूर्ति और फुर्तीले। उनके साथ एक लड़का भी है। गोरा-सा, छरहरा-सा, प्रसन्न और अनुगत। मैंने सोचा कि ये मेरे मार्ग-दर्शक तो नहीं हैं? परन्तु जब ये भी इसी मार्गसे जा रहे हैं तब पीछे-पीछे चलनेमें क्या आपत्ति है? मैं उनके पाससे ही चलने लगा। लड़केने पूछा—'भगवन्! अभी वृन्दावन कितनी दूर है?' उन्होंने कहा—'यहाँसे अधिक दूर है। हमारे मनमें जितनी उत्सुकता होगी उतना ही शीघ्र हम वहाँ पहुँच सकेंगे। वहाँका मार्ग प्रेमका, लगनका है, पैरोंसे वहाँ कोई नहीं पहुँच सकता। जब ऐसे वृक्ष मार्गमें पड़ने लगें, जिनका मुँह नीचेकी ओर हो तब समझना कि अब वृन्दावन पास ही है।'

उस लड़केने पूछा—'भगवन्! वृन्दावनके वृक्षोंका मुँह नीचेकी ओर क्यों रहता है?' उन्होंने कहा—'भाई! वहाँके वृक्ष साधारण वृक्ष थोड़े ही हैं। वे परम प्रेमी हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और देवता हजारों वर्ष तपस्या करके श्रीकृष्णकी कृपासे वृन्दावन-के वृक्ष होते हैं। उनके नीचे भगवान् खेलते हैं, लीला करते हैं, उन्हींको देखनेके लिये वे अपना मुँह नीचे किये रहते हैं। उनके एक-एक पत्ते उनकी आँखें हैं। वे अतृप्त नयनोंसे उनकी लीलाका रस लिया करते हैं। श्रीकृष्णकी लीला बड़ी मधुर है, मधुमय है। बिना उनकी कृपाके उसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। चलो आज तो तुम्हें चलना ही है।' दोनों आगे बढ़ने लगे। मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

कुछ क्षणोंके बाद पुनः उस लड़केने पूछा—'भगवन्! आपने कौन-सी साधना की, जिससे भगवान्की लीलामें आपका प्रवेश हुआ? कृपया आप इस विषयका अनुभव सुनाते चलें तो बड़ा अच्छा हो। भगवान्की चर्चा भी होती चले, मार्ग भी कट जाय।' उन्होंने कहा—'भाई! मेरा अनुभव ही क्या है? मैंने साधना ही क्या की है? मेरा कुछ अनुभव भी है तो केवल कृपाका है, केवल कृपासे है। वास्तवमें सम्पूर्ण जीवोंपर, समग्र जगत्पर भगवान्की अनन्त और अपार कृपाकी अगाध धारा बरस रही है। सब डूब-उतरा रहे हैं कृपाके महान् पारावारमें। परन्तु इसका अनुभव भी कृपासे ही होता है। मेरा जीवन क्या है? तुम्हारा जीवन क्या है? सबका जीवन क्या है? उन्हींकी कृपाका एक कण। कण नहीं सम्पूर्ण कृपा। तब मेरी साधना क्या है? उन्हींकी कृपाका दर्शन। मैंने किस प्रकार उनकी कृपाका दर्शन किया है, यदि तुम यह सुनना ही चाहते हो तो लो, सुनो। परन्तु स्मरण रहे, यह सब उनकी कृपा है, मैं या मेरा कुछ नहीं है।'

'मेरे एक मित्र थे—बड़े श्रद्धालु, बड़े विश्वासी। वे प्रतिदिन सत्संगमें जाते, उपदेश सुनते, भगवान्-का भजन करते। मुझमें न श्रद्धा थी, न विश्वास था और न तो मैं भजन ही करता था। वे मुझे बहुत समझाते। कहते कि 'देखो, सन्तोंमें कितनी शान्ति है? संसारके लोग बहुत-से साधन और सामग्रियोंके पास रहनेपर भी दुखी हैं, अशान्त हैं, उद्विग्न हैं। परन्तु सन्त बिना परिग्रहके भी सुखी हैं, शान्त हैं, आनन्दित हैं। उन्हें क्रोध नहीं आता, शोक नहीं होता। वे किसीसे भयभीत नहीं होते। उनसे किसीका अनिष्ट नहीं होता। उनके हृदयमें कभी जलन नहीं होती। पारमार्थिक आनन्दको यदि न मानें तो भी उन्हें कितनी शान्ति है? चलकर देखो तो सही।' मैं उनके साथ सत्संगमें जाने लगा।

'सन्तोंपर मेरे मित्रकी स्वाभाविक श्रद्धा थी। परन्तु मेरे हृदयमें वह बात न थी। मैं कई बार उनमें

दोष भी देखता। बीचमें दो-चार दिन जाना छोड़ भी देता। फिर भी मुझे कोई घसीट ले जाता। श्रद्धाके डावाँडोल रहनेपर भी उनके पास जाना ही पड़ता। पता नहीं क्या आकर्षण था? देखादेखी कुछ नाम भी मुँहसे निकल जाते। एक दिन मैंने एक सन्तसे अपनी अश्रद्धाकी बात कह दी। प्रार्थना की कि 'महात्मन्! कम-से-कम मेरी अश्रद्धा तो दूर कर दीजिये।' वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—'कुछ भजन करो, भगवान्‌की कृपासे सब हो जायगा।' मैं राम-राम करता हुआ घर लौटा।'

'मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि वे सन्त मेरे साथ ही हैं। जब मनमें अश्रद्धाके भाव उठते तो सामने ही चार-पाँच हाथकी दूरीपर जमीनसे कुछ ऊपर हँसते हुए-से वे दीख जाते। कभी मनमें पापप्रवृत्ति होती तो ऐसा जान पड़ता कि मेरे सिर और गालोंपर वे तड़ातड़ चपत लगा रहे हैं। पापकर्मकी ओर चलता तो वे आकर सामने खड़े हो जाते, कोई-न-कोई रोकनेवाला निमित्त अवश्य आ जाता। मेरे मनमें श्रद्धाका सञ्चार हो गया। क्रियात्मक पाप तो सर्वथा छूट ही गये। मैं नामजप करने लगा। श्रीकृष्णका ध्यान करना चाहता, न होता। परन्तु मनमें बुरे विषयोंका चिन्तन कम होने लगा। उस समय मनमें बड़ा उत्साह था। जैसे बुद्धिमान् और अध्ययनशील विद्यार्थी सोचता है कि अब सम्पूर्ण शास्त्रोंको मैं समाप्त कर डालूँगा, वैसे ही मैं भी सोचता कि एक-न-एक दिन मैं समस्त सीढ़ियोंको पार करके भगवान्‌के पास पहुँच जाऊँगा। मार्ग चाहे जितना लम्बा हो, मैं अवश्य-अवश्य अन्त करके छोड़ूँगा। मैं साहस, उत्साह, उद्यम और शक्तिके साथ अपने मार्गपर चलने लगा।'

'इस (उत्साहमयी) अवस्थाके बाद मुझे उन सन्तके दर्शन कम होने लगे। वे रहते तो मेरे पास ही थे परन्तु न जाने क्यों विषयोंसे युद्ध करते समय अब पहलेकी भाँति वे नहीं दीखते थे। शायद इसलिये कि मैं विषयोंसे लड़कर अपनी शक्तियोंका विकास करूँ, उन्हें जानूँ और उनका विस्तार करूँ। शायद इसलिये कि मैं असहाय अवस्थामें भगवान्‌की कृपा, सहायता और शक्तिका अनुभव करूँ। बात चाहे जो रही हो, अब वे प्रकटरूपसे मेरी सहायता नहीं करते थे। कभी-कभी भगवान्‌के स्मरणसे मेरी वृत्तियाँ घनी हो जातीं, कभी विषयोंके स्मरणसे तरल, शिथिल और कमजोर। इस प्रकार कुछ दिनोंतक मेरी यही (घनतरला) अवस्था रही।'

'विषयोंके सामने आनेपर मन खिंचने-सा लगता। मैं दूसरी ओर लगाना चाहता तो भी नहीं लगता। मैंने सोचा—'विषयोंका सामने आना ही सबसे बड़ा रोग है। यदि ऐसे स्थानमें रहूँ, जहाँ ये संसारके सुन्दर-सुन्दर विषय पहुँच ही न पावें तो फिर इनसे खिंचनेका प्रश्न हल हो जाय। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।' परन्तु दूसरे ही क्षण दूसरे प्रकारके विचार मनमें आते। सोचने लगता—घर-द्वार छोड़कर वनमें गया और यदि वहाँ भी भोजन-वस्त्रको चिन्ता सताने लगी तो क्या होगा? यदि भजन ही करना है तो यहीं क्यों न किया जाय? इस प्रकार अनेकों संकल्प-विकल्प उठते। इस चञ्चल (व्यूढ-विकल्पा) मनोवृत्तिसे घबड़ाकर मैंने उन सन्तकी शरण ली। उन्होंने कहा—'अभी तुम संन्यासके अधिकारी नहीं हो। विषयोंके वश हो जानेवाला या उनसे युद्ध करनेवाला संन्यासमार्गमें प्रवेश करनेयोग्य नहीं है। जिसने विषयोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर ली है, वही संन्यासकी ओर कदम बढ़ा सकता है। तुम भजनके लिये अलग एक स्थान बना लो।

भजन करो, विषयोंपर विजय प्राप्त करो ।' मैं एकान्तके एक कमरेमें भजन करने लगा ।'

'विषयोंके साथ संग्राम करनेका अवसर तो अब आया । जब एकान्तमें बैठता तब नाना प्रकारके विषय आकर सामने नाचने लगते । उनके भोगोंकी कल्पना होती । भोग करनेके अनेकों बहाने सूझते । कभी-कभी तो मेरा मन उनके प्रवाहमें बह जाता । मैं प्रातःकालसे ही उनको दूर करनेके लिये सचेष्ट रहता । निद्रा टूटते ही भगवान्से प्रार्थना करता, नामजप करता, स्वाध्याय करता, पूजा करता और आर्त स्वरसे स्तुति करता । बहुत-से दिन ऐसे भी आते, जब विषयोंका चिन्तन कम, भगवान्का स्मरण अधिक होता । किसी-किसी दिन विक्षेप बिल्कुल नहीं रहता । परन्तु सब दिन एक सरीखे नहीं बीतते थे । कभी मेरी जीत और कभी विषयाभिमुख मनकी जीत । इस प्रकार यह (विषयसंगरा) मनोवृत्ति कुछ दिनोंतक चलती रही । मैं इस विषम परिस्थितिको हटानेके लिये रो-रोकर भगवान्से कहा करता था ।'

'भगवान् बड़े दयालु हैं । उन्हें कोई सच्चे हृदयसे पुकारे और वे न सुनें, ऐसा न कभी हुआ है और न तो कभी हो ही सकता है । उन्होंने मेरे अंदर शक्तिका, बलका सञ्चार कर दिया । मेरा मन मेरे अधीन जान पड़ने लगा । दोषोंकी ओरसे स्वभावतः उदासीन हो गया । दोषों या विषयोंके चिन्तनका निमित्त उपस्थित होनेपर उनकी ओरसे विमुख हो जाता । परन्तु अब भी मेरे अंदर एक बहुत बड़ा दोष था । मैं नियम तो बहुत-से बना लेता, परन्तु उनका पालन ठीक नहीं होता । प्रतिदिन एक लाख नामजप करनेका नियम बनाया । परन्तु कभी-कभी पूरा होनेमें कुछ कसर रह जाती । दो घंटे ध्यानका निश्चय किया परन्तु उतने समयतक ध्यान न कर पाता । करता भगवान्का ही काम परन्तु ध्यानके समय जप, जपके समय स्वाध्याय और स्वाध्यायके समय पूजा । इस प्रकार नियमोंके पालनमें मेरी मनोवृत्तियाँ असमर्थ रहने लगीं । मैं प्रार्थना करता— हे प्रभो ! इस (नियमाक्षमा) वृत्तिको नष्ट कर दो । निश्चय करता कि आजसे ऐसा न होने दूँगा । परन्तु हो ही जाता । भगवान्की अपार कृपासे कुछ दिनोंमें नियमोंका पालन भी होने लगा । मैं नियमपूर्वक भजनमें लग गया ।'

'जब भगवान्की कृपासे भजन होने लगा तब मेरे सामने प्रलोभनोंकी भीड़ लग गयी । संसारकी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ मेरे पास आने लगीं । कोई मेरे सामने रुपये रख जाता; कोई माला, फूल, चन्दन आदिसे पूजा करने आता, कोई स्तुति-प्रशंसा करता और घूम-घूमकर मेरी महिमा गाता । कभी-कभी मनको ये सब अच्छे भी लगते । पहले कोई गाली देता, निन्दा करता था तो उस ओर दृष्टि ही नहीं जाती थी । अब उसका खयाल होने लगता था । किसीसे कहता नहीं था तो केवल इसलिये कि जब इतने लोग मेरी महिमा गाते हैं तब एक-दोकी की हुई निन्दाका क्या मूल्य है ? परन्तु मैं सचेत हो गया । बहुत दिनोंतक उन तरंगोंमें नहीं बहा । मैंने बाह्य जगत्से आँखें बंद कर लीं, उस स्थानसे हट गया ।'

'अब मुझे देवताओंके दर्शन होने लगे । कोई आकर कहता—'चलो, तुम्हें स्वर्गका उत्तम सुख प्राप्त होगा ।' कोई कहता—'तुम्हें ब्रह्मलोक मिलेगा । उससे उत्तम कोई लोक नहीं । महाप्रलयपर्यन्त सुख भोगना फिर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाना ।' कोई कहता—'मैं तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करता हूँ । तुम अभी कैवल्य-मुक्ति प्राप्त कर लो । अभी जीवन्-

मुक्त हो जाओ।' मेरे मनमें मुक्तिका महत्त्व आता, ब्रह्मलोकका महत्त्व आता और कभी-कभी सोचता कि क्यों न इसे स्वीकार कर लिया जाय। अपरिमित कालतक ब्रह्मलोकका सुख और फिर मुक्ति। इससे बढ़कर और क्या होगा? इस (तरङ्गरङ्गिणी) मनोवृत्तिमें मैं बहते-बहते बचा।'

'बात यह थी कि मेरे भजनका नियम पूर्ववत् चल रहा था। कभी एक दिनके लिये भी उसमें किसी प्रकारका व्यवधान नहीं पड़ा। जब मेरी मनोवृत्ति ब्रह्मलोक या मुक्तिकी ओर झुकती तब मुझे ऐसा मालूम होता, मानो नन्हे-से श्रीकृष्ण मेरे कन्धों-पर बैठकर मेरे बाल खींच रहे हैं, मेरे गालोंपर चपत लगा रहे हैं। कभी ऐसा जान पड़ता कि वे मेरी गोदमें बैठे हुए हैं और रो-रोकर कह रहे हैं कि तुम मुझे छोड़कर ब्रह्मलोक या मुक्ति क्यों चाहते हो? मैं उनका कोमल स्पर्श अनुभव करता। उनके मुखकी विवर्णताका अनुभव करता। जब मैं उनकी आँखोंमें आँसू देखता तो मेरा कलेजा फटने लगता। मेरा हृदय हहर उठता, विहर उठता, सिहर उठता। मैं प्यारसे उन्हें अपने हृदयसे सटा लेता और कहता—प्यारे कृष्ण! मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। मैं तुम्हारा प्यार करूँगा, दुलार करूँगा। तुम्हारे लिये मरूँगा, तुम्हारे लिये जीऊँगा। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं। वे मुस्कराकर मेरे हृदयसे चिपक जाते और कहते 'हाँ, मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा। अपने पास रक्खूँगा। तुमसे खेलूँगा, तुमसे हँसूँगा, तुमसे बोलूँगा।' मैं अपने प्राणप्यारे—कन्हैयाकी वह तोतली बोली सुनकर निहाल हो जाता। मैं एक-दो मुक्ति नहीं, अनन्त मुक्तियोंको उनके चरणोंपर निछावर कर देता।

'मैं चलते-फिरते, उठते-बैठते सर्वत्र सर्वदा उनकी सन्निधिका अनुभव करता। जो वस्तु मेरे सामने आती उसीके हृदयमें बैठे हुए वे दीख जाते। उसके हृदयमें ही नहीं, ऐसा जान पड़ता कि उसका रूप बनाकर भी वे ही आये हैं। किसीसे मिलनेमें, किसी भी परिस्थितिका सामना करनेमें मुझे झिझक नहीं होती थी। झिझक तो तब होती, जब वहाँ श्रीकृष्ण नहीं होते। श्रीकृष्णसे क्या संकोच? मैं हर जगह, हर हालतमें उनकी अनूप रूपमाधुरीका पान करके मस्त रहने लगा। कभी वे बाँसुरी बजाते और मैं नाचता। कभी मैं ताली बजाता और वे ठुमुक-ठुमुककर नाचते। कभी पीछेसे आकर मेरी आखें बन्द कर लेते। कभी वे छिप जाते, मैं ढूँढ़ता। जब मैं ढूँढ़ते-ढूँढ़ते खेलकी बात भूल जाता और उन्हें सचमुच अपनेसे अलग मानकर, पानेके लिये छटपटाने लगता, रोने लगता, तब वे हँसते हुए मेरे पास आ जाते।'

उन्होंने उस लड़केसे कहा—'वास्तवमें भगवान् हमारे साथ आँखमिचौनी खेल रहे हैं। वे कहीं गये थोड़े ही हैं। यहीं कहीं छिपे होंगे। बहुरुपिये हैं न, देखो कैसे-कैसे रूप बनाकर हमें छका रहे हैं। मैं जानता हूँ, उनका छलछन्द। मैं पहचानता हूँ उनके सब रूपोंको। मुझसे छिपकर वे कहाँ जायँगे! जो लोग इस क्रीडाका, खेलका, रमणका रहस्य नहीं जानते, वे इन वस्तुओंको उनसे भिन्न समझकर भटका करते हैं, अथवा उनके लिये रोया करते हैं। जो रोते हैं, वे पा जाते हैं, जो नहीं रोते वे भटकते रहते हैं। पानेवाले क्रीडाका रहस्य भी जान जाते हैं। देखो, उस अजब खिलाड़ीका खेल! खुद ही खेल, खुद ही खिलाड़ी और देखनेवाला भी अपने आप ही। यही तो उसकी लीला है।'

'हाँ, तो अब वृन्दावन आ गया। चलो, तुम

भगवान्‌की लीला देखो। हमलोगोंके पीछे एक और बालक आ रहा है। अब वह इससे आगे नहीं जा सकता। ठहरो, उसे समझाकर लौटा दें तब आगे चलें। ये सब बातें मैंने उसीके लिये कही हैं। वह यदि इनके अनुसार अपना जीवन बना सकेगा तो उसका भी भगवान्‌की लीलामें प्रवेश हो सकेगा।'

वे दोनों ठहर गये। मैं पास चला गया। उन्होंने मुझसे कहा—'भैया, यह भगवान्‌का लीलालोक है। यहाँ सबका प्रवेश नहीं है। जो लोग स्थूल शरीरसे आसक्त हैं, जिनका मन कलुषित है, जिनके हृदयमें प्रेमभक्ति नहीं है, वे यहाँ नहीं आ सकते। यहाँ केवल वे ही आ सकते हैं, जिन्होंने कलुषित मन और कलुषित शरीरका चोला त्याग दिया है। इसका उपाय है—भजन, एकमात्र भजन। जाओ प्रेमसे भजन करो और प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ो।'

मैं कुछ और कहनेवाला था। परन्तु उसी समय आरतीकी घंटी बज उठी। मेरी नींद टूट गयी और मैंने देखा कि पाँच बजनेमें अब कुछ ही देर है। वह एक स्वप्न था, मेरे भविष्य जीवनके लिये एक आदेश था, उसीपर मेरे जीवनकी सफलता निर्भर करती थी। परन्तु मैंने कुछ न किया। अपने सिरपरसे दोषोंकी गठरी न उतारी। आज भी मुझे वह स्वप्न याद है और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरा वह स्वप्न इस जाग्रत्‌की अपेक्षा बहुत अच्छा था। यदि मैं जीवनभर वह स्वप्न ही देखता रहता? परन्तु मेरा भाग्य इतना अच्छा कहाँ! यदि उस स्वप्नकी स्मृति बनी रहे तो भी बड़ा सुख हो। क्या ऐसा हो सकेगा! हाँ, स्वप्नकी स्मृति, स्वप्नके पदार्थोंकी स्मृति, ना, ना, श्रीकृष्णकी स्मृति।

सामुदायिक कीर्तनकी आवश्यकता

(लेखक-स्वामीजी श्रीसत्यानन्दजी परमहंस)

हमारा वर्तमान युग अत्यन्त ही चञ्चलयुग है। इसकी चञ्चलताका चक्कर इतनी तीव्र चालसे चल रहा है कि सारा विचारकदल मुग्धचित्त हो रहा है। इस युगमें बड़े-बड़े सरदार, जागीरदार, भूमिहार, राजे-महाराजे, नवाब और शानदार शाह बादशाह सब, एकचित्त होकर, इस चक्करकी चञ्चल चालको चकाचौंध होकर निहार रहे हैं। इस युगके चक्करने वह वंश, वह घराने, वह शासन-आसन, वह नियम-नियन्त्रण और वह महन्त-मुखिया सहसा बदल डाले हैं कि जिनका उठ जाना मनुष्यके मनको, कुछ काल पहले, असम्भावित-सा दीख पड़ता था। इस युगके नित्य नये चमत्कार देखकर, जातियोंके, मतोंके और धर्मोंके बहुत पुराने मन्तव्य और मर्यादा-मन्दिर हिलते हुए-से दीखने लगे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युगकी चञ्चलताका चक्कर एक बड़े भारी भूचालका रूप धारण किया चाहता है। ऐसी दशामें सभीको अपने बचावका सच्चा साधन और सुस्थिर स्थान, सामूहिक जीवन, सामूहिक सम्बन्ध, सामूहिक बल और सामूहिक भावकी चट्टान ही सूझता है। वे ही धर्म आगामी युगोंके दिन देखेंगे जो सामूहिक शक्तिके श्रद्धालु हैं और संघबलके पोषक हैं। सर्वसाधारण जनसमुदायका हितचिन्तन, संगठन और एकीकरण ही इस युगपरिवर्तनके प्रबल भूकम्पसे सुरक्षित रहनेका परम उपाय है।

धर्ममें, परलोकसम्बन्धी निश्चय, परमात्माके अस्तित्वका विश्वास और अपने भीतरकी अमर सत्ता-

की अचल धारणा ही मुख्य सिद्धान्त है। आत्मा-परमात्माके विश्वासीलोग अपने सच्चे स्वरूपको उद्बुद्ध करनेके लिये, अपनी प्रसुप्त सत्ताको जाग्रत् बनानेके लिये और असीम विश्वात्मासे सुदृढ़ तथा शुद्ध सम्बन्ध-सम्पादनार्थ पूजा-पाठको, जप-ध्यानको, ज्ञान-विचारको और कथा-कीर्तनको एक ऊँचा साधन बतलाया करते हैं। उनकी धारणा है कि हरिनामके जपद्वारा, चिन्तनद्वारा अथवा उच्च स्वरसे गायनद्वारा एकमन हो जाना, एकाग्रता लाभ कर लेना तथा देशकालको भी भूलकर मग्न बने रहना एक उत्तम कोटिका कीर्तन है।

हरिकीर्तन करनेवाले प्रभुप्रेमियोंमें, एक समूहमें बैठकर, कीर्तन करते समय भक्ति-भावका वह अनोखा उल्लास विलसित और विकसित हो उठता है, वह प्रेम प्रवाहित हो आता है और वह शान्तरस उमड़ पड़ता है जो उपासनाके दूसरे उपायोंमें देखना दुर्लभ ही हुआ करता है। यही कारण है कि सब देशों और युगोंके संतजन हरिनाम और हरिगुणोंका कीर्तन करते चले आये हैं। उनकी ऐसी सामूहिक प्रार्थनाओंने, उनकी ऐसी सामूहिक उपासनाओंने मानवमण्डलके मनोंको युग-युगमें मोहित किया है। उनके भक्तिभावके ऐसे प्रकार, उद्गारने मनुष्यसमाजको बहुत ही मृदु, मधुर, स्वच्छ, शुचि और सुन्दर बनाया है। जनसमाजको सभ्य बनाने और समुन्नत करनेमें, हरिभक्तोंका बड़ा भारी भाग है।

जिस कालमें भारतवर्षमें बाहरसे धनलिप्सु लोग आकर घोर कठोर उत्पात मचाते थे, सर्वजन-हननके आदेश देते थे, सर्वत्र त्रास फैलाते थे और बलात्कारसे हिन्दुओंको मत बदल डालनेके लिये विवश करते थे उस विकराल कुकालमें भी वैदिक समयके महर्षियोंकी भाँति, हिन्दू सन्तोंने भारतवर्षके प्रत्येक प्रान्तमें अवतरित होकर हरिनाम और हरिगुणगानका पुण्य-पाठ उच्चस्वरसे पढ़ना-पढ़ाना प्रारम्भ किया था। उन सन्तशिरोमणियोंके सुरीले शब्द-स्वादने, सरल राग-रसने, मधुर पद-पाठने और मनोमोहक कथन-कीर्तनने हिन्दूधर्मके बुझते हुए दीपकमें तेल और बत्तीका काम किया, हताश और निराश हिन्दूसमाजको नव-जीवन, नव उत्साह, नवीन साहस, नूतन बल और नया, अनोखा प्रावेश प्रदान किया जिससे युग-परिवर्तनकारिणी क्रान्तियाँ हुईं जिन्होंने शाहीकी जीवनजड़को हिला दिया, हत्याकाण्डकी ज्वाला-मालाको ठण्डा करके छोड़ा, मतान्धताको महामारीको मिटाया और सबसे बढ़कर यह किया कि जनतामें भक्तिभावका, प्रभुके प्रेमका प्रवाह चला दिया। इस समयके हिन्दूधर्मपर और हिन्दूसमाजपर उन सन्तोंके साहित्यका, कामका और कथा-कीर्तनका बड़ा प्रभाव है, सत्य तो यह है कि हिन्दूधर्मके सब विभागोंमें, इस समय भी वे सन्त ही बोलते जान पड़ते हैं।

उस युगके सन्तसमुदायमें उदारता भरपूर थी। वे बड़े समदृष्टि थे। उनके सत्संगोंमें, उनके भजन-कीर्तनमें, उनके नामदान और उपदेशमें भेदभावकी भद्दी भित्ति नहीं होती थी। उनके हरिकीर्तनोंके गंगाजलको सभी लोग पान करते थे। यही कारण था कि सन्तोंके विचारोंको सर्वसाधारण जनसमूहने अपनाया और हिन्दूसमाज बड़ी सुगमतासे उनका अनुकारी और अनुगामी बन गया।

सन्तजन, हरिभक्तोंमें और हरिमें किसी दूसरेको खड़ा नहीं करते थे। उनके निश्चयमें भक्तिकी नौकामें आरूढ़ होकर भवसागरसे पार पानेके और भगवान्के परमधामको प्राप्त करनेके सभी अधिकारी हैं। भगवान् सबमें सम हैं इसलिये समभावनावाले भक्त ही उसे पाते हैं। जो जन भेदभावकी भूलभुलैयामें

ही उलझे हुए हैं, जो सदा भिन्नभावके भ्रममें भटकते रहते हैं और जो संशयशील हैं वे भक्तिधर्मके रसास्वादसे वञ्चित ही रह जाते हैं और भवसागरसे पार नहीं पा सकते । जो मनुष्य भुवन-भावन भगवान्‌के साथ समता-की सुरीली सितारका सुर मिलाना चाहता है, देश-काल तथा कर्मबन्धनका बाध करना चाहता है, जो अनन्त आत्माके साथ परम ऐक्य सम्पादन करना चाहता है और असीम सुख-सिन्धुमें लीनता लाभ करना चाहता है उसे प्रथम भगवान्‌के भक्तोंमें समभाव, भ्रातृभाव, प्रेमभाव और एकताका सुदृढ़ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये ।

हिन्दूधर्ममें समदृष्टि होनेका तथा समभाव रखने-का बड़ा माहात्म्य है । इसका फल शास्त्रोंने बहुत उत्तम वर्णन किया है । इसलिये हरिभक्तोंको उचित है कि वे धर्ममें समभावका बहुत विस्तार करें, हिन्दू-धर्ममें समानता लावें, हरिभक्तोंके कोमल कानोंमें प्रेम-का—एकताका महामन्त्र फूँकें और संघशक्ति उत्पन्न करके अपने सनातन पुरातन धर्मको सजीव, सतेज और अप्रतिम प्रभाव बनावें । ऐसा करनेके साधनोंमें सामूहिक प्रार्थना, उपासना और सम्मिलित हरिकीर्तन एक बहुत उत्तम साधन है । इस कालमें हरिकीर्तनकी बड़ी आवश्यकता है । जनतामें चुप-चाप बढ़ती हुई नास्तिकतारूपी आसुरीको नष्ट करने-के लिये सामूहिक हरिकीर्तन सचमुच सुदर्शन चक्र ही समझना चाहिये ।

मृग-तृष्णा

अरधंगिनी ब्याही कुरंगिनीके सँग ठाढ़ो कुरंग महा दुखतें ।
अति प्यासे दुहूँ मृग-दंपतिके रिसे फेन परैं बिरसे मुखतें ॥
मिलतो कहूँ एक हू बूँद जु पै पय पीत अघाइ घने सुखतें ।
इतनेहीमैं रेनु-अभास लख्यौ प्रगट्यौ दिसि उत्तरके रुखतें ॥१॥

पयके भ्रम धूलि-अभास लखें मृग एक ही बेरमैं फूलि गयौ ।
अब पीहौं अघाइ जलाम्बुधिकों बुधिमैं यह भाव यौं झूलि गयौ ॥
अपनी गति-लाघवतामैं तबै सुप्रभंजन-भंजन तूलि गयौ ।
इमि धायौ कुरंग कुरंग-रँग्यौ बन ब्याही कुरंगिनी भूलि गयौ ॥२॥

जितनो चह्यौ प्यास बुझाइबेकों तितनो वह और हू प्यासो भयौ ।
जितनी करी आस मरीचिनकी तितनो वह और निरासो भयौ ॥
तृसनाकी तरंगनमैं परिकै मृग चोपरिको मनु पाँसो भयौ ।
कछु सिद्धि सरी न बृथा भ्रममैं परि प्राननको अब साँसो भयौ ॥३॥

दुइ चारि घरीतक घूम्यौ कियौ निज देसतैं दूरि प्रबासो भयौ ।
बनिता-तरु-छाँह-बिछोहके छोह औ नीरके मोह भ्रमासो भयौ ॥
भटक्यौ भ्रम्यौ भूल्यौ भ्रम्यौ मुरझ्यौ भू पर्‌यौ रबि-आतप-ताँसो भयौ ।
मृगकी तृसनाको तमासो भयौ, मृग कालके गालको गाँसो भयौ ॥४॥

गोविन्ददत्त चतुर्वेदी

महात्मा पुरन्दरदासजी

(लेखक—श्री० के० नारायणाचार्य)

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें विजयनगरके हिन्दू-साम्राज्यका वैभव दक्षिण भारतमें ही नहीं, अपितु सारे भरतखण्डमें मध्याह्नकालीन सूर्यकी भाँति अपना प्रखर प्रकाश फैलाये हुए था। उस साम्राज्यके आश्रयमें साहित्य, संगीत, कला और भारतीय संस्कृतिने एक बार फिर अपना मस्तक उठाकर कीर्ति-मुकुट धारण किया और समस्त विश्वको अपना वैभव दिखलाया। साहित्यकी श्रीवृद्धिके लिये तो वह काल सर्वोत्तम माना जाता है। इसी स्वर्णयुगमें हिन्दी-काव्यसाहित्यगगनके सूर्य सूरदास तथा शशि तुलसीदास-जैसे रससिद्ध कवीश्वर उत्पन्न हुए थे।

सोलहवीं शताब्दीमें विजयनगरके राजा कृष्णदेव राय हुए। वे बड़े ही साहित्यज्ञ और साहित्यप्रेमी थे। उनके दरबारमें तेलगू और कन्नडीभाषाके अनेकों कवियोंको आश्रय मिला था। उन्हींके दरबारमें अप्पय दीक्षित आदि आठ प्रसिद्ध कवि थे, जो 'अष्ट दिग्गज' के नामसे प्रख्यात थे। उसी सु-राज्यमें कुमार व्यास (जिन्होंने महाभारतको कन्नडी भाषामें अनुवादित किया), कुमार वाल्मीकि (जिन्होंने तोरवेय रामायण लिखा) तथा कनकदास आदि कविश्रेष्ठ थे, जिनकी कृतियोंसे कन्नडी-साहित्य आजतक अपना सिर ऊँचा किये हुए है। कविवर पुरंदरदासजी भी इसी युगकी एक महान् विभूति थे।

धर्म साहित्यका उपादान कारण है, बिना धर्मके साहित्यका निर्माण हो ही नहीं सकता। संसारके सभी देशोंमें धर्मकी नींवपर ही साहित्यका समुन्नत प्रासाद खड़ा किया गया है। कन्नडी-साहित्यके आदिकालमें जैन-साहित्यकी बड़ी उन्नति हुई। 'रन्न' और 'पंप'की रचनाएँ तो विश्व-साहित्यसे होड़ लगा सकती हैं। इसके बाद शैव (लिंगायत) साहित्य बढ़ा। शैव-साहित्यके निर्माताओंमें श्रीबसवेश्वर, सर्वज्ञ महादेवी आदि मुख्य हैं। विजयनगरमें हिन्दू-साम्राज्यकी स्थापना हो जानेके बाद आश्रय पाकर ब्राह्मण अथवा दास-साहित्यकी श्रीवृद्धि हुई। ब्राह्मणोंका द्वैत-साहित्य बहुत ही लोकप्रिय हुआ, क्योंकि वह सरल, सरस, सुबोध और जनताके हृदयोंमें घर करनेवाला था। उसके पहले स्मृति तथा दर्शन शास्त्रकी जटिल समस्याओंसे सर्वसाधारण जनताको संतोष नहीं होता था। बल्कि यों कहें कि धार्मिक कृत्योंके वितण्डावाद और आडम्बरसे सदाचार-तकका लोप हो गया था। पारस्परिक विद्वेष, कलह आदिका बोलबाला था। साधारण जनता संस्कृत-भाषाका ज्ञान न रखनेके कारण अज्ञानान्धकारमें पड़ी थी और जो लोग शास्त्रज्ञ कहे जाते थे, वे अपने आचरणोंसे उनमें भ्रम फैला रहे थे। संन्यास-ग्रहण करनेवाले लोगोंमें भी अनेकों बुराइयाँ आ गयी थीं। निष्कपट व्यवहार, शुद्ध मनोभाव, भगवद्भक्ति आदि लुप्त हो गये थे। भोग-विलास और आमोद-प्रमोदमें ही प्रायः सब लोग मग्न थे।

ऐसी परिस्थितिमें लोकहितैषी साहित्यकी बड़ी आवश्यकता थी और इसी कारण पथभ्रान्त लोगोंको सन्मार्गपर लाने तथा जनताके अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिये वैष्णव-साहित्यकी सृष्टि हुई। भगवान्‌ने उस समय भक्तराज पुरंदरदासको प्रेरित किया और वैष्णवसाहित्यके निर्माताओंमें उनका स्थान अत्यधिक ऊँचा हुआ। उन्होंने कन्नडी-साहित्य तथा जनताकी जो सुन्दर सेवा की वह सर्वथा वर्णनातीत है। उन्होंने साहित्यमें भक्तिरसकी सर्वसुलभ अमृतधारा बहा दी, जिसका एक-एक घूँट पीकर असंख्य जन तर गये। संत पुरंदरदासके द्वारा ही 'कर्नाटक संगीत'का भी उद्धार हुआ। कहा जाता है कि उनके कीर्तन-पदोंने ही तेलगूके महान् भक्त कवि श्रीत्यागराजको उत्पन्न किया। दक्षिण भारतमें ऐसा शायद ही कोई होगा, जिसने श्रीपुरंदरदास तथा श्रीत्यागराजके कीर्तन न सुने हों। घर-घरमें इनकी कीर्ति मुक्तकण्ठसे सराही जाती है, उनके बनाये भजन गाये जाते हैं और कीर्तन होता रहता है।

भगवान्‌की लीलाका भी क्या कुछ ठिकाना है। वे स्वयं तथा अपने भक्तोंद्वारा कब-कब किस-किस रूपमें कौन-कौन-सी लीलाएँ करते-कराते हैं, इसका रहस्य उनके तथा उनके भक्तोंके सिवा और कोई नहीं जानता। कौन कह सकता है कि महात्मा श्री-पुरंदरदासजी अपने पूर्व-जीवनमें अपार धनराशिके स्वामी किन्तु परम कंजूस रहे होंगे! पर बात ऐसी ही है। पंढरपुरके पास ही पुरंदरगढ़ नामका एक नगर है। वहाँ एक ब्राह्मण निवास करते थे, जिनका नाम था वरदप्प नायक। शाके १४०४ के लगभग उन्हें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम श्रीनिवास नायक रक्खा गया। पुत्र-जन्मके कुछ साल बाद वरदप्प नायककी मृत्यु हो गयी और श्रीनिवास नायक अपने पिताके अपार धनके मालिक बने। उस समय विजयनगर और गोलकुण्डा ये दो बड़े समृद्धिशाली राज्य थे। वहाँके राजाओंसे श्रीनिवास नायक हीरे, मोती, माणिक्य आदि बहुमूल्य रत्नोंका व्यापार करने लगे। उससे उनकी सम्पत्ति और भी बढ़ गयी। वे एक सुविशाल सम्पत्तिके स्वामी बन गये, परन्तु यह दस्तूर-सा है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यके पास धन बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसकी उदारता घटती जाती है। इसी कहावतके अनुसार श्रीनिवास भी हद दर्जेके कंजूस हो गये। एक पैसा देनेके नामपर भी उन्हें बुखार चढ़ आता था। धनके अत्यधिक मोहने उनकी आँखोंपर परदा डाल दिया।

श्रीनिवास नायकके पूर्वकृत सुकृतके फलोदयका अवसर आया, उनके पहलेके किये हुए भजनके प्रभावने प्रकट होना चाहा, भगवान्‌ने मायामें भूले हुए अपने भक्तकी मोहनिद्रा भंग करनेके लिये एक बड़ी मनोहर लीला रची। वे एक दिन एक दरिद्र ब्राह्मणका वेश बनाकर श्रीनिवास नायककी दूकानपर आये। ब्राह्मणने श्रीनिवास नायकसे याचना की, कहा कि 'मेरे लड़केका यज्ञोपवीत-संस्कार होनेवाला है। मैं बहुत ही गरीब हूँ। आप करोड़पति हैं। मेरी कुछ सहायता कीजिये।' श्रीनिवास नायक सीमापर पहुँचे हुए कंजूस थे परन्तु भरसक साधु-ब्राह्मणोंके सामने अविनय नहीं करते थे, इसलिये उन्होंने कहा—'आज फुरसत नहीं है, कल आइये।' ऐसा कहनेका उद्देश्य यह था कि कल ब्राह्मण फिर न आवें और इस तरह कुछ देना न पड़े! परन्तु ब्राह्मण क्यों मानने लगा? वह दूसरे दिन आया। श्रीनिवास नायकने फिर कहा कि 'क्या करें, फुरसत ही नहीं मिलती, अच्छा कल आइये।' इस प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें दिन करते-करते

श्रीनिवास नायकने उस ब्राह्मणको छः महीनेतक भटकाया, परन्तु ब्राह्मण भी ऐसा प्रणका पक्का निकला कि वह नित्य उसके वादेके मुताबिक आता ही रहा। अन्तमें उस ब्राह्मणके द्वारा श्रीनिवास नायकका नाकों दम हो गया। वे एक दिन झिझककर उठे और रद्दी पैसोंसे भरी हुई दो थैलियाँ लाकर उसने ब्राह्मणके सामने पटक दीं, और कहा कि 'इन थैलियोंमेंसे जो एक पैसा पसन्द आवे, उसे निकाल ले जाइये।'

ब्राह्मणवेशधारी भगवान् तो सब कुछ जानते ही थे, फिर भी उन्होंने ऐसा भाव प्रकट किया मानो वे दंग रह गये हों। अथवा जैसे छः महीनोंके बाद ही सही, उन्हें उस करोड़पतिसे मालामाल हो जानेकी आशा थी और उसपर पानी फिर गया हो। ब्राह्मणने दुखी होकर उन थैलियोंको खोला भी नहीं, वह वहाँसे सीधे चल पड़ा तथा श्रीनिवास नायकके घरपर उनकी स्त्री लक्ष्मीबाईके पास पहुँचा। उससे उसने सारी कथा सुनायी और कहा कि 'यदि तुम कुछ सहायता कर सकती हो तो करो।' लक्ष्मीबाई श्रीनिवास नायक-जैसे कंजूसराजकी स्त्री होनेपर भी बड़ी ही उदार थी। उसने पतिके कर्तव्योंकी ओर ध्यान नहीं दिया और पिताका दिया हुआ उसके पास जो बहुमूल्य नकफूल था, उसे उतारकर 'कृष्णार्पणमस्तु' कहते हुए उसने ब्राह्मणको दे दिया। परन्तु वह विचित्र ब्राह्मण नकफूल लेने तो आया नहीं था, उसे तो श्रीनिवास नायककी जीवन-धाराको दूसरी दिशामें पलटना था। अतः वह नकफूल लेकर श्रीनिवास नायकको दूकानपर ही गया और बोला कि 'इस नकफूलको गिरवीं रखकर मुझे चार सौ मुहरें दे दो।' श्रीनिवास नकफूल देखते ही पहचान गये। उन्होंने झटपट ब्राह्मणसे कहा—'ठीक है, आप इस नकफूलको मेरे पास ही रहने दीजिये। कल आइयेगा, एक सौ मुहरें दूँगा।'

ब्राह्मण 'अच्छा' कहकर चला गया। श्रीनिवास नायकने बड़ी सावधानीसे नकफूलको दूकानकी तिजूरीमें बंद करके ताला लगा दिया और घर आकर स्त्रीसे पूछा कि 'तुम्हारा नकफूल कहाँ है?' लक्ष्मीबाई क्या जवाब देती? वह चुप रही। श्रीनिवास नायक आपेसे बाहर हो गये। एक तो वे स्वयं ही महान् कंजूस थे, दूसरे उस ब्राह्मणको, जिसने छः महीनोंतक उन्हें परेशान किया, बेशकीमती नकफूल दे देना, क्या साधारण बात थी! श्रीनिवास नायक-ने क्रुद्ध होकर स्त्रीसे कहा—'मैं पूछता हूँ, तुम्हारा वह नकफूल कहाँ है, जिसे तुम सबेरेतक पहने हुए थी?' सती-साध्वी पतिपरायणा लक्ष्मीबाई काँपने लगी। उसको पतिके क्रोधी स्वभावका पता था। उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया। वह कुछ न बोली। श्रीनिवास नायक और भी गरज उठे, बोले—'बता कहाँ है तेरा नकफूल? अभी लाकर दे, नहीं तो तुझे जीते ही जमीनमें गड़वा दूँगा।'

लक्ष्मीबाई उसी तरह अवाक् थी, जिस नकफूल-को दान दे चुकी थी, उसे कहाँसे लाकर देती? यदि पतिसे कहती कि 'मैंने उसे दान दे दिया' तो इसपर उनका क्रोध और भी बढ़ जाता। आखिर उसके मुँहसे निकल गया—'नाथ! नकफूल अंदर रखा हुआ है।' यह कहकर वह भीतर गयी और झटपट आत्महत्या करनेका प्रयत्न करने लगी। हीरेकी अँगूठी उसकी अँगुलीमें थी, उसने उसको निकाला और पत्थरपर घिसकर विष तैयार किया। विषकी कटोरी हाथमें लेकर अनन्य भक्तिके साथ दयामय भगवान्‌की प्रार्थना की, कहा—'भगवन्! मैंने तुम्हारे ही प्रीत्यर्थ उस नकफूलका दान किया था। मेरा विश्वास है

कि भिक्षुक ब्राह्मणके वेशमें तुम्हीं आये थे । तुमने द्रौपदीकी लाज बचायी थी । ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल आदिको उबारा था, मेरी भी रक्षा करोगे ही । पर मैं मौतसे बचना नहीं चाहती । मुझे अपने चरणोंमें ले लो और मेरे पतिदेवकी बुद्धिको इतना निर्मल बना दो कि वे तुम्हारा स्मरण करते हुए साधु-ब्राह्मणों और दीन-दुखियोंकी मुक्तहस्तसे सेवा करें और उससे कभी न अघायें ।' यह कहकर लक्ष्मीबाईने ज्यों ही उस विषकी कटोरीको होठोंसे लगाना चाहा, त्यों ही उसमें कोई चीज छन्-से आ गिरी ! लक्ष्मीबाई चौंक पड़ी, आँख खोलकर देखा तो कटोरीमें उसका वही नकफूल पड़ा हुआ है । उसने चारों तरफ आँख फाड़-फाड़कर देखा पर उस बंद कमरेमें कोई नहीं था । अब उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही, वह फूले अंग न समायी, भक्तवत्सल भगवान्‌की लीला उसकी समझमें आ गयी । उसने गद्गद कण्ठसे भगवान्‌की फिर स्तुति की । तदनन्तर उस नकफूलको लेकर प्रसन्नतापूर्वक पतिदेवके पास गयी ।

श्रीनिवास नायकने नकफूल तो रख ही लिया था—स्त्रीको डाँट-फटकार सुनानेके बाद अब वे यह सोच रहे थे कि कल जब वह ब्राह्मण सौ मुहरें लेनेके लिये आवेगा, तब क्या होगा ? इतनेमें सामने खड़ी हुई अपनी स्त्रीके हाथमें उन्होंने वह नकफूल देखा, वे दंग रह गये । इसी नकफूलको ब्राह्मणके हाथोंसे लेकर उन्होंने तिजूरीमें बंद किया था, उसकी चाभी उन्हींके पास थी । फिर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ, स्त्रीके हाथसे नकफूल लेकर वे अपनी दूकानकी ओर दौड़ पड़े । वहाँ जाकर देखा तो तिजूरी ज्यों-की-त्यों बंद है पर उसमेंसे नकफूल गायब है ! श्रीनिवास नायकका दिमाग अब चक्कर काटने लगा, उनका सुदृढ मन विचलित हो उठा । वे सोचने लगे, यह क्या लीला है, वह ब्राह्मण कौन है, नकफूल इस पेटीमेंसे अदृश्य होकर लक्ष्मीबाईके हाथमें कैसे गया ? आदि-आदि । थोड़ी देर बाद श्रीनिवास नायक घर लौटे, इधर लक्ष्मीबाईको भी आजकी घटनासे बड़ा आश्चर्य हुआ था । वह बड़े आनन्दके साथ भगवान्‌की इस अद्भुत लीलाका चिन्तन करती हुई भगवत्प्रेममें तन्मय हो रही थी । इतनेमें गम्भीर आकृति बनाये श्रीनिवास नायक उसके पास आये । आज उनमें एक विचित्र परिवर्तन हो गया था, संसारकी विनश्वरता उनकी आँखोंके सामने नाचने लगी थी, वे आजकी घटनाके साथ-साथ यह सोच रहे थे कि 'मेरा भी जीवन क्या कोई जीवन है । मैं कितना अधम हूँ, जो आजतक मैंने भगवान्‌का एक बार भी ध्यान नहीं किया, किसीको एक कानी कौड़ी भी दानमें नहीं दी !' उन्होंने अपनी स्त्रीसे पूछा—'लक्ष्मी ! कहो सच्ची बात क्या है ? तुमने नकफूल किसको दिया था ? वे ब्राह्मण कौन थे ? फिर तुम्हें यह नकफूल कैसे मिला ? प्रिये ! बोलो, जल्दी बोलो । मैं इन सारी आश्चर्यजनक बातोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहा हूँ ।'

पतिकी कातर वाणी सुनकर लक्ष्मीबाईको रोमाञ्च हो आया । उसने बड़े विनय और शान्तिके साथ सारी घटना कह सुनायी । किस प्रकार करुण शब्दोंमें उन ब्राह्मण देवताने उससे सहायताकी याचना की, किस प्रकार पतिके कोपसे बचनेके लिये उसने विषपान करना चाहा, फिर कैसे उसकी विषभरी कटोरीमें वह नकफूल आ गिरा, इन सारी बातोंको लक्ष्मीबाईने एक-एक करके पतिके समक्ष निवेदित कर दिया । अब क्या था, स्त्रीकी बातोंको सुनते ही श्रीनिवास नायककी मनोवृत्ति पूर्णतः परिवर्तित हो गयी । उन्होंने दोनों हाथोंको जोड़कर

और उन्हें मस्तकसे लगाकर कहा—'धन्य हो प्रभु ! तुमने ब्राह्मणरूपमें मेरे-जैसे अधम कंजूससे याचना की, किन्तु मैंने लोभवश तुम्हारी कुछ भी सेवा नहीं की। नाशवान् धनके प्रलोभनमें पड़कर मैं तुमको भूल बैठा ! मेरी स्त्रीने तुम्हें कुछ देना चाहा भी तो उसपर मैं आपेसे बाहर हो गया। फिर भी तुमने मेरी इस नीचतापर कोई विचार नहीं किया बल्कि मेरी प्राणप्रिया पत्नीके प्राणोंकी रक्षा की और मुझे नरककी ओर जानेसे बचाया।' श्रीनिवास नायक यह कहते-कहते जड़वत् हो गये। उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी, वे एकटक होकर अपनी स्त्रीकी ओर ताकने लगे। लक्ष्मीबाईने भगवान्‌की अनेकों सुललित लीलाओंका बखान करके पतिको सचेत किया। वे वहाँसे उठकर स्नानागारकी ओर गये। स्नानके पश्चात् श्रीनिवास नायकने स्त्रीके साथ अनन्य भक्तिभावपूर्वक भगवान्‌की पूजा की, अपराधोंकी क्षमाके लिये सजल नेत्रोंसे स्तुतियाँ कीं और उसी समय तुलसीदल तथा जल हाथमें लेकर 'कृष्णार्पणमस्तु' का उच्चारण करते हुए अपनी सारी सम्पत्ति दान करनेका सङ्कल्प कर लिया।

श्रीनिवास नायकने दीनों, ब्राह्मणोंको बुलाकर अपना सारा धन लुटा दिया। वे कंजूसीरूपी पापका पूरा प्रायश्चित्त करके फकीर हो गये। अपने तथा स्त्री-पुत्रोंके लिये एक कौड़ी भी नहीं बचायी और वे परिवारके साथ घरसे निकल पड़े। लक्ष्मीबाईने केवल सोनेकी बनी हुई अपनी सिन्दूरकी डिबियाको आँचलमें बाँध रक्खा था परन्तु श्रीनिवास नायकने देखा तो मार्गमें उसे भी फेंकवा दिया। लोगोंने उन्हें बहुत समझाया, पर उन्होंने एक बात भी न सुनी। वे सच्चे अपरिग्रही बनकर पण्ढरपुर पहुँचे। वहाँ इन्हें गरीबीके कारण बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े, पर वे जरा भी विचलित नहीं हुए। प्रातःकाल विट्ठल स्वामीके कीर्तन गा-गाकर वे द्वार-द्वार घूमते, जो कुछ भी मिल जाता, उसीसे तृप्त होकर बाकी सब समय श्रीविट्ठल स्वामीके भजन-पूजनमें मस्त रहते। इस प्रकार श्रीनिवास नायक बारह वर्षोंतक पण्ढरपुरमें रहे और तत्पश्चात् वहाँ मुसलमानोंका उपद्रव होनेके कारण विजयनगर चले गये।

विजयनगरके राजा श्रीकृष्णदेव राय रत्नोंका व्यापार करनेके कारण श्रीनिवास नायकसे पहलेसे ही परिचित थे। जब उन्होंने श्रीनिवास नायकको उस रूपमें देखा तो उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। राजाके गुरुका नाम स्वामी श्रीव्यासराय था। वे संस्कृतके बड़े ही विद्वान्, यतिश्रेष्ठ और अनेकों धर्मग्रन्थोंके रचयिता थे। उनके अनेकों शिष्य थे। श्रीनिवास नायकने विजयनगरमें आकर उन्हींकी शरण ली। उनको अपना गुरु बनाया। स्वामीजीने अपने उन अधिकारी और सुयोग्य शिष्यको वेद, पुराण, श्रुति, स्मृति आदिका अध्ययन कराया और उनका दूसरा नाम 'पुरंदर विट्ठल' रखकर आज्ञा दी कि 'अपने ज्ञान, बुद्धि, बल तथा अनुभवसे जनता-जनार्दनकी सेवा करते हुए जगत्पिताकी महिमा गाओ।' पुरंदर विट्ठलने गुरुके चरणोंका शिरसा स्पर्श करते हुए उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे ही आगे चलकर 'पुरंदरदास'के नामसे सुविख्यात हुए।

'दास' का अर्थ है—सेवक। वास्तवमें इस विश्वमें ईश्वरत्व और दासत्व ये दो ही भाव हैं। भगवान् जगदीश्वर हैं और बाकी सब दास हैं। यह कहना चाहिये कि इस विश्व-ब्रह्माण्डके सभी प्राणी भगवान्‌के दास ही हैं। जो उन भगवान्‌को अपना प्रभु और अपनेको उनका दास मानकर उनकी महिमा गाते हुए उनके आज्ञानुसार अपना जीवन व्यतीत करता

है, वही श्रेष्ठ है, उसीका जीवन सार्थक है। शास्त्रोंकी यही आज्ञा है, अनुभवी संत-महात्माओंका यही उपदेश है। अस्तु, पुरंदरदासजी ऐसे ही हरिदासोंमें हुए। उनकी महिमा स्वयं उनके गुरुदेव श्रीव्यास स्वामीने मुक्तकण्ठसे गायी है। महात्मा पुरंदरदासने भगवान्‌का सच्चा दासत्व ग्रहण किया था और लोकहितके लिये अनेकों अलौकिक लीलाएँ दिखायी थीं। उनका त्याग अनोखा था, सारी सम्पत्ति दान कर देनेके बाद उनका सारा जीवन भिक्षापर ही बीता। और उनकी धर्मपत्नी सती-श्रेष्ठा लक्ष्मीबाईकी निष्ठाका क्या कहना! पतिके द्वारा उसे जो कुछ भिक्षान्न मिल जाता, उसे ही वह बड़े प्रेमके साथ पकाती। सबसे पहले अतिथि-अभ्यागतोंको खिलाती, तत्पश्चात् पति-पुत्रोंको भोजन कराती और उसके बाद आप खाती। जो कुछ बच रहता, उसे तुंगभद्रा नदीके चक्रतीर्थमें डाल देती ताकि उसे जलचर खा जावें। पतिने उसे आज्ञा दे दी थी कि दूसरे दिनके लिये वह कुछ न बचावे। इस आज्ञाका वह दृढ़ नियमके साथ पालन करती। धन्य हो पुरंदरदास और लक्ष्मीबाई! आज व्यंग्यमें लोग दरिद्रोंके घरको 'पुरंदरदासका घर' कहते हैं, पर इस व्यंग्यमें तुम्हारी कितनी महिमा भरी पड़ी है!

महात्मा पुरंदरदास भगवान्‌की प्रेरणा तथा गुरुकी आज्ञासे कविता करने लगे। उनके अंदर जो कवित्वशक्ति प्रसुप्त थी, वह जाग उठी। परन्तु जहाँ उन्हें भगवद्भक्ति, तत्त्वज्ञान और वैराग्यपूर्ण पदोंको रचकर तथा उनका गायन करके जगत्‌का कल्याण करना था, वहीं एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करना था। समाजमें फैले हुए बाह्याडम्बर, जातिद्वेष, कुरीतियों आदिका भी खण्डन करना था। इसलिये उन्होंने जनताके हृदय-क्षेत्रमें भक्तिका बीज बोनेके साथ-साथ जहाँ कहीं बुराइयोंको देखा, वहीं उनका खुल्लमखुल्ला विरोध किया। जो लोग जनताके अज्ञानसे लाभ उठाकर भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके नामपर लोगोंको ठगते फिरते थे, उन्हें पुरंदरदासजीने खूब फटकारा और बुरी प्रथाओंको तोड़नेके लिये जन-समाजको प्रोत्साहित किया तथा अच्छी बातोंको दूसरोंसे भी ग्रहण करनेका उपदेश दिया। पुरंदरदासजीकी ऐसी कोई भी कृति नहीं, जो बिना किसी उद्देश्य-विशेषके लिखी गयी हो। किसीके द्वारा पापाचारका विरोध किया गया है तो किसीके द्वारा सन्मार्गपर चलनेका आदेश दिया गया है। इस प्रकार समाजका उद्धार करनेके लिये पुरंदरदासजीने खण्डन और मण्डन दोनों क्रियाओंका उपयोग किया तथा इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। पुरंदरदासजीकी स्पष्टवादिताके अनेकों उदाहरण हैं। एक बार विजयनगरके राजा कृष्णदेव रायके पूछनेपर उन्होंने कहा—'राजन्! मैंने अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति लुटा दी तभी तो ईश्वररूपी अमूल्य वैभव मुझे प्राप्त हुआ है। आप राजा हैं और आपके पास बहुत-सा धन है पर आप ही बताइये कि आपकी सम्पत्ति बड़ी है या मेरी?' वास्तवमें श्रीपुरंदरदासजीको बाह्य रंकताके रूपमें जो अचल अविनश्वर सम्पत्ति मिली थी, उसकी तुलना क्या किसी भौतिक सम्पत्तिसे की जा सकती है? भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि 'यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्।' अर्थात् जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन हर लेता हूँ।'

कई लोगोंका मत है कि कन्नडी-भाषामें दास-साहित्यके आदिनिर्माता पुरंदरदासजी ही हैं। पर यह मत ठीक नहीं जँचता है। दास-साहित्यका उदय पुरंदरदासजीके पहले ही हो चुका था। नवीं शताब्दीमें ही श्रीअचलानन्ददासने दास-साहित्यकी

सृष्टि की थी। उसके बाद श्रीमाधवाचार्यजीके शिष्य नरहरितीर्थने और तदनन्तर १५-१६ वीं शताब्दीमें श्रीपादराय तथा श्रीव्यासराय आदिने दास-साहित्य-की श्रीवृद्धि की। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा और यह कहा भी जा चुका है कि श्रीपुरंदरदासजीने दास-साहित्यको अत्यधिक समुन्नत बनाया। दास-साहित्यके उद्धारकोंमें उनका स्थान अत्यन्त ऊँचा है। उन्होंने ही दास-साहित्यके क्रमागत निर्माताओं-की संस्था 'हरिदासपंथ' अथवा 'दास-कूट' की स्थापना की। श्रीपुरंदरदासजीके चार पुत्र इस संस्था-की उन्नतिमें और भी सहायक हुए। 'दास-कूट' अब भी है और उसके अनेकों अनुयायी हैं, जो समय-समयपर एकत्रित होकर दास-साहित्यके कीर्तन गाते हैं। दास-कूटके कारण ही अबतक दास-साहित्यको कोई क्षति नहीं पहुँची है।

देश तथा धर्मकी उन्नतिमें साहित्यसे बड़ी सहायता मिलती है। जो साहित्य देशके लिये उपयोगी है, जिस साहित्यके द्वारा धर्मकी अभिवृद्धि होती है— जनताको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके सम्पादनमें सहायता मिलती है, वस्तुतः वही साहित्य है। श्रीपुरंदरदासजीकी साहित्य-रचनाका यही उद्देश्य था, अतः उन्होंने संस्कृतके धर्मग्रन्थोंसे जो सहायता मिल सकती थी, उसे अपनाया। वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र आदि धर्मग्रन्थोंके सारको ग्रहण करके उसे सरल सरस कन्नडी-भाषामें प्रकट किया। इसके अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं पर यहाँ स्थानाभाववश एक ही उदाहरण दिया जा रहा है। श्रुतियोंने सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको परिपूर्ण बताया है, उसीको पुरंदरदासजीने इस प्रकार प्रकट किया है—

पाद नख परिपूर्ण जानु जंघे परिपूर्ण।
उरु कटि परिपूर्ण नाभि कुक्षि परिपूर्ण॥
शिरो बाहु परिपूर्ण शिरोरुह परिपूर्ण।
सर्वांश परिपूर्ण पुरंदर विट्ठला॥

इसीलिये श्रीपुरंदरदासजीकी कृतियोंको उनके गुरुदेव श्रीव्यासराय स्वामीने 'पुरंदरोपनिषद्' नाम देकर सम्मानित किया था।

श्रीपुरंदरदासजीने भगवन्नाम-स्मरणपर बड़ा जोर दिया, इसीलिये कई लोग उन्हें देवर्षि नारदका अवतार कहते हैं। वास्तवमें श्रीपुरंदरदासजीके द्वारा भगवन्नामका बड़ा प्रचार हुआ और अगणित नर-नारी उसका सहारा लेकर संसार-सागरसे पार हो गये। पुरंदरदासजी जो कुछ देखते थे, उसीको तात्त्विकरूप देकर उसे आत्माभिवृद्धिका साधन बना लेते थे। उन्होंने किसीको हुक्का पीते हुए देखा तो कहा कि 'भक्तिरूपी हुक्का पीओ और काम, क्रोधरूपी धुआँ बाहर फेंक दो। किसीके दरवाजेपर भिक्षा माँगने गये और गृहिणीने उन्हें देखकर दरवाजा बंद कर लिया, तब कहा कि उस स्त्रीने दरवाजा बंदकर लिया, इसलिये कि अंदर जो पाप है, वह बाहर न जाने पावे।' इस प्रकार ऐसे अवसरोंपर कही गयी उनकी अनेकों सुन्दर उक्तियाँ हैं। स्पष्टवादी होते हुए भी पुरंदरदासजी किसीके विरोधी नहीं थे। सबपर उनका प्रभाव था, किन्हीं दो व्यक्तियों, जातियों अथवा सम्प्रदायोंमें झगड़ा होजाता था तो वे बड़ी कुशलताके साथ उसका निपटारा करके उनमें मेल करा देते थे। अस्पृश्योंके साथ श्रीपुरंदरदासजीकी बड़ी सहानुभूति थी, उन्होंने अस्पृश्यताके सम्बन्धमें जो बातें कही हैं, वे अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। उन्होंने कहा है—'क्या दूसरोंकी सम्पत्ति और स्त्री अस्पृश्य नहीं हैं? क्या परमेश्वरकी विस्मृति अस्पृश्य नहीं है?' इनका स्पर्श न करो।

कहा जाता है कि पुरंदरदासजीने कुल

४७५००० ग्रन्थ (३२ मात्राओंके एक अनुष्टुप् छन्दको ग्रन्थ कहते हैं) रचे थे परन्तु इनमेंसे कई हजार अबतक उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। जो मिले हैं, उन्हें प्रकाशित करनेवाले भी प्रायः नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त आज कन्नडी-साहित्यकारोंकी दृष्टि ब्राह्मण अथवा दास-साहित्यकी अपेक्षा जैन और शैव-साहित्यकी ओर ही अधिक है। ऐसी दशामें दास-साहित्यकी उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है। पर यह प्रसन्नताकी बात है कि इस युगमें भी दास-साहित्यके संग्रह, प्रकाशन और प्रचारकार्यमें श्रीमान् बेलूरु केशवदासजी, 'सुबोधा'—सम्पादक श्रीएम-रामराव तथा वरुवणि रामराव बी० ए० आदि बहुत ही प्रशंसनीय उद्योग कर रहे हैं। अतः वे आदरणीय एवं धन्यवादके पात्र हैं। अस्तु।

इस प्रकार श्रीपुरंदरदासजीने अपने ऐहिक सुखोंका परित्यागकर, त्यागमें सुखानुभव करते हुए भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी और उसके द्वारा उन्होंने समाज तथा साहित्यकी बड़ी भारी सेवा की। वे एक युगान्तरकारी संत थे। उनकी सेवाओंके लिये समाज चिर ऋणी रहेगा और वे सदा-सर्वदा हमारे लिये प्रातःस्मरणीय रहेंगे। लगभग ४० वर्षोंतक तीर्थाटनके बहाने घूम-घूमकर उन्होंने लोक-कल्याण किया और जब लीला-संवरणका अवसर देखा तब ८० वर्षकी अवस्था पूरी हो जानेपर सं० १५६४ में भगवद्धामकी यात्रा कर दी।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय।'

भगवान्‌की झाँकी

(लेखक—डा० श्रीरामस्वरूपजी गुप्त एल० एम० पी०, विद्यामणि)

भगवान्‌की झाँकी प्रत्येक वस्तु क्या प्रत्येक कणमें होती रहती है। भगवान्‌का ज्ञानी इसी संसारमें प्रतिक्षण देखता है। भक्तोंके तो हृदयोंमें भगवान्‌का वास है, उन्हें भगवद्दर्शनके लिये किसी विशेष आयोजनकी आवश्यकता नहीं। उनके प्रेमसागरमें ज्वारभाटा आते ही प्रत्येक लहर भगवान्‌का रूप धारण कर लेती है। परम योगी और वीतरागी तो स्वयं भगवान्‌के रूप हैं; साधारण मनुष्योंका भगवान्‌का साक्षात्कार कठिनतासे होता है, क्योंकि प्रथम तो वे संसारके विषयोंमें ऐसे जकड़े हैं कि भगवान्‌के स्मरणके लिये उनके पास न तो समय है और न साधन। दूसरे अवकाश मिलनेपर भी कुछ अभागे तो भगवान्‌के सम्मुख आनेपर भी आँख मूँद लेते, और देखते हुए भी नहीं देखते हैं।

साधारणजनोंके हितार्थ ऋषियोंने पुराण रचकर उनमें वेदान्तके ऊँचे तत्त्वोंको भर दिया है। वेदान्तके उस तत्त्वज्ञानको जिसे समझनेमें बड़े-बड़े विद्वान् चक्कर काटते हैं उन्होंने इस सुगम रीतिसे स्पष्ट कर दिया है कि आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता। समझनेपर विद्वान् पुरुष तो उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। ऋषियोंने साकारको प्रत्येक लीलामें निराकारकी झाँकी करायी है। उन्होंने निराकार, निरवच्छिन्न, अनन्त और अनिर्वचनीयको—जिसका वेदोंने व्यतिरेकद्वारा 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है, साधारण जनोंके समझानेके निमित्त जिस शैलीका अनुकरण किया है, वह वास्तवमें प्रशंसनीय, वन्दनीय तथा अद्वितीय है। इसपर भी यदि वे भगवान्‌को न देख सकें, उनकी लीलाओंके अपूर्व रहस्यको

किञ्चिन्मात्र न समझ सकें, और समझकर जीवन सफल न कर सकें, तो इसमें किसका दोष है ?

झाँकीका वास्तविक अर्थ क्या है यह जानना कुछ कठिन है। जिस प्रकार दशहरेके दिन घने पेड़की हरी-हरी पत्तियोंमें छिपे हुए नीलकण्ठका लोग तीक्ष्ण दृष्टिसे देख लेते हैं, उसी प्रकार कहीं-कहीं उससे भी अधिक पैनी दृष्टिसे संसारके साधारण-से-साधारण कार्योंमें निराकार तथा छिपे हुए भगवान्‌को देख लेना 'श्रीभगवान्‌की झाँकी' कहलाती है। एक वधिक-पुत्र न जाने कितने पक्षियों तथा कबूतरोंके गलोंको बड़ी निर्दयतापूर्वक मरोड़ चुका था, परन्तु अबतक किसी आँखमेंसे भगवान् नहीं उझके थे। आज जब उसने एक कबूतरको पकड़कर उसका गला घोंटना आरम्भ किया, तो कबूतरने अपने घातकपर इस प्रकार करुणाभरी दृष्टि डाली कि घातकका दिल हिल गया, उससे पक्षी छूट गया। उसने कबूतरकी कातरदृष्टिमें श्रीभगवान्‌को देख लिया, उनकी झाँकी पा ली।

श्रावण सुदी तृतीयासे पूर्णिमातक देवालय प्रत्येक स्थानपर भगवान्‌की झाँकीके लिये सजाये जाते हैं। इसके पश्चात् श्रीकृष्णजन्माष्टमीपर श्रीभगवान्‌की 'जन्मलीला' दिखलाकर झाँकियाँ बंद हो जाती हैं। ये झाँकियाँ और लीलाएँ प्रतिवर्ष दुहरायी जाती हैं। इनका उद्देश्य यही है कि साधारण जनता अच्युतके दर्शन करनेका अभ्यास करे। अतः उसको उचित है कि वह इन झाँकियोंसे लाभ उठावे। खेद है कि कुछ ही लोग झाँकियोंके यथार्थ आशयको समझते और हृदयंगम करते हैं, अधिकतर तो इनको मन-बहलावकी ही सामग्री समझते हैं।

कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। एक मन्दिरमें—श्रीराधिका अपनी सखियोंके साथ चम्पाबागमें झूला झूलने आयी हैं। सब मिलकर झूला झूल रही हैं। श्रीकृष्ण भगवान् कुञ्जों तथा बेलोंमें छिपे हुए श्रीराधिका तथा उनकी सहेलियोंका झूलना बहुत देरतक देखते और मुसकराते हैं। अन्तमें श्रीराधाकी दृष्टि उन बेलोंमें छिपे हुए कुञ्ज-विहारीपर पड़ ही तो जाती है। अब क्या, झूला बंद हो जाता है। राधा अत्यन्त लज्जाके मारे गड़-सी जाती हैं। व्रजविहारी श्रीकृष्ण राधाकी कलई पकड़कर उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं।

दूसरे मन्दिरमें—एक गोपी दहीका मटका अपने सिरपर रक्खे जा रही थी। मार्गमें नटखट कृष्णसे भेंट हो गयी। कृष्णने मटकेपर ऐसा डंडा जमाया कि मटका टूक-टूक हो गया और मक्खन बिखर गया। कृष्ण और उनके सखा मक्खन खाने लगे।

तीसरे मन्दिरमें चीरहरणलीला। गोपियाँ अपने-अपने वस्त्र तीरपर उतारकर यमुनाजीमें नहानेके लिये धँसीं, और डुबकी लगाकर ज्यों ही ऊपर आयीं त्यों ही उन्हें ज्ञात हुआ कि वस्त्र किनारेपर नहीं हैं। यह देखकर गोपियाँ अति व्याकुल हुईं। उन्होंने कृष्णसे विनती कर अपने वस्त्र वापस माँगे। भगवान्‌ने उन्हें उनके वस्त्र लौटा दिये।

इन लीलाओंको देखनेके पश्चात् स्त्री-पुरुषोंके क्या विचार हुए, उनमें क्या परिवर्तन हुआ ये बातें तो पाठक स्वयं समझ लेंगे। कुछ लोग इन दिव्य चरित्रोंको कपोलकल्पित और कुछ इनको अक्षरशः सत्य मानते हैं। इनसे हमें कुछ नहीं कहना है। हमें तो इस चरितावलीमें अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोंको भगवान्‌की झाँकी कराना है।

१—पहली झाँकी—यह संसार बाग है। श्रीराधा माया-पटलपर भगवान्‌का प्रतिबिम्ब हैं। सखियाँ इन्द्रियाँ हैं; झूला झूलना आवागमनका चक्र है, और

गीतवाद्य जीवका सुख-दुःख है। आत्मारूपी भगवान् इस संसारमें खेलरूपी प्रपञ्चमें छिपे हुए इन्द्रजालको देखते रहते हैं, परन्तु उसमें लिप्त नहीं होते। जब जीव भगवान्‌को इस प्रपञ्चमेंसे देख लेता है, तब इन्द्रियाँ और मन जीवको भगवान्‌के पास अकेला छोड़कर खिसक जाते हैं, तभी भगवान् अपने पूर्व-कर्मोंसे संकुचित भक्तको हाथ पकड़कर हृदयसे लगा लेते हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्मका अभेद मिलन हो जाता है।

२—दूसरी झाँकी—इस गोपीरूप जीवने आत्मारूपी मक्खनको भ्रमवश देहाहंकाररूपी मिट्टीके मटकेमें अर्थात् शरीरमें बंद किया है। और इस मिट्टीके मटके देहाहंकारको सिरपर लादे खुले बाजार (संसारमें) इठलाता डोलता है। अर्थात् जीव देहाभिमानसे अपनेको कर्ता-धर्ता सब कुछ समझता है। भाग्यवश जब भगवान् इस जीवन-यात्रामें मिल जाते हैं, तो सबसे पहले वह इस जीवके देहाभिमानको एक ही चोटमें चूर-चूर कर डालते हैं। और जहाँ अहंकार टूटा कि आत्मरूपी मक्खन चारों ओर फैल जाता है। फिर तो मुँहमें भी मक्खन, नाकमें भी मक्खन, बालोंपर भी मक्खन, कपड़ोंपर भी मक्खन, जहाँ देखो वहाँ मक्खन ही दीख पड़ता है। जड वस्तुओंमेंसे जडता निकल जाती है और उनमें आत्मभावना भर जाती है। इसी आत्मरूपी मक्खनका स्वाद भगवान् और उनके भक्तजन लिया करते हैं। यही 'माखनलीला' है।

३—तीसरी झाँकी—समाधिरूपी अगाध यमुनामें तभी निमग्न हुआ जायगा जब कि गोपीरूपी मनकी वृत्तियाँ इस यमुनाके किनारेपर ही अपने-अपने वस्त्ररूपी विषयोंको छोड़ देंगी। अर्थात् जब वृत्तियाँ अपने-अपने विषयोंसे पराङ्मुख होती हैं तभी समाधिमें विलीन हो जाती हैं। जीव भक्तिरूपी यमुनामें अथवा समाधिरूपी नदीमें तभी डुबकी लगा सकता है जब कि देहरूपी वस्त्रोंको उतारकर किनारेपर ही छोड़ दे। यदि भाग्यवश डुबकी लगाते समय (समाधि अवस्थामें) मृत्यु हो जाय या यों कहिये कि भगवान् शरीरको चुरा लें तो फिर जीवभाव लंबे कालके लिये विलुप्त हो जाता है (नष्ट नहीं होता); और फिर यदि किसी गुप्त संस्कारवश शरीर धारण करना पड़े तो भगवान् फिर शरीररूपी वस्त्रोंको वापस दे देते हैं। यही 'चीरलीला' का रहस्य है।

संसारमें हम सब उन्हींके साथ खेल खेला करते हैं जिनसे हमारी घनिष्ठता होती है। इसी भाँति भगवान् भी अपनी लीलाएँ अपने भक्तोंके साथ किया करते हैं।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

'मैं सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ। मैं हूँ मरीचियोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, वेदोंमें सामवेद, इन्द्रियोंमें मन, भूतोंमें चेतना, रुद्रोंमें शंकर, वसुओंमें पावक, पुरोहितोंमें बृहस्पति, सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक, जलाशयोंमें समुद्र, महर्षियोंमें भृगु, वचनोंमें ॐकार, यज्ञोंमें जप, पर्वतोंमें हिमालय, पेड़ोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, सिद्धोंमें कपिल, घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत, नरोंमें राजा, शस्त्रोंमें वज्र, गायोंमें कामधेनु, सर्पोंमें वासुकि, नागोंमें शेषनाग, दैत्योंमें प्रह्लाद, पशुओंमें सिंह, पक्षियोंमें गरुड़, समासोंमें द्वन्द्व, छन्दोंमें गायत्री, मासोंमें मार्गशीर्ष, ऋतुओंमें वसन्त, छलियोंमें द्यूत, मुनियोंमें व्यास और ज्ञानियोंका ज्ञान। मेरे बिना चर-अचर कुछ नहीं है।' इन कूटस्थ भगवान्‌को देख लेना ही 'भगवान्‌की झाँकी' है।

है पियका पंथ निराला

ऐसे परिचयसे तो वह 'अपरिचय' ही अच्छा ! तुम अपनी महामहिमाके गौरवमें विराजमान थे, मैं अपने तुच्छ क्षुद्रत्वको लेकर जगत्के एक कोनेमें पड़ा हुआ था। तुम अकल, अनीह, अव्यक्त और न जाने क्या-क्या बने हुए तीनों भुवन और चौदहों लोक तथा इससे भी परे जो देश है, कालके जन्मके पूर्व जो काल था और कालकी इतिके परे जो काल रहेगा, उसमें, उसके एक-एक अणु, एक-एक परमाणुमें व्याप्त थे और बंदा भी अपनी मस्तीमें चूर, जगत्के सुखों और भोगोंके राजमार्गपर बेपरवा जा रहा था; न लोककी चिन्ता थी, न परलोककी। तुम्हारी चर्चा जो करता उसे मैं पागल, सनकी, खब्ती, फ़ालतू और परले सिरेका मूर्ख समझता था। जो पदार्थ देखा नहीं जा सकता, छुआ नहीं जा सकता, पकड़में नहीं आ सकता और जो सदा-सदैव खोजते रहने परन्तु कभी भी पानेका न हो उसके विषयमें सर खपाना मेरे लिये वाहियात-सी बात थी। दादी और माँने कितना समझाया, परन्तु मैं यही कहता कि तुम्हारी उम्रका हो जाऊँगा तो देख लूँगा, समझ लूँगा। सोचता भी यही था कि आखिरी वक्त जब दुनियाके लिये निकम्मा और बेकार हो जाऊँगा तो उस बुढ़ापेमें तुम्हारी चर्चा कर लूँगा, तुम्हारा सुमिरन कर लूँगा। भरी जवानीमें तुम्हारी ओर लगनेकी न लालसा ही थी, न कल्पना ही। यथेच्छ सुखोंका भोग ही जीवनका लक्ष्य था और इस लक्ष्यकी पूर्त्ति भी, घरका एकमात्र लाड़ला लाल होनेके कारण खूब मनचाही होती थी। बड़े ही चैनके थे वे दिन !

परन्तु तुम मेरी इस भरी जवानीमें ही आये, रास्ता रोककर आये। संसारकी जो सबसे बड़ी विपत्ति मेरे लिये हो सकती थी उसीका घना आवरण ओढ़े आये। जगत्में मेरे सुखों और साधोंका जो एक मात्र सहारा और आश्रय था वही मुझसे लुट गया और देखते-देखते मैं दुःखोंकी प्रखर धारमें अनाथ होकर बह चला ! उफ़ ! वे भयानक दिन ! चारों ओर दुःख-ही-दुःख ! जिधर दृष्टि जाती अन्धकार-ही-अन्धकार। दुःखोंका कहीं ओर-छोर नहीं था, विपदाका कहीं कूल-किनारा नहीं था ! पहले तो शक्तिभर हाथ-पैर मारा परन्तु वह कितनी देरतक ! थका। थककर डूबने लगा, डूब चला। प्राण अब-तब थे ! जीवन और मृत्युके बीच वह भीषण द्वन्द्व ! परन्तु क्या देखता हूँ, हरि ! हरि ! पीछेसे एक ज़ोरका झटका लगा और आगेसे किसीने अपने कंधेका सहारा दिया। दूसरे ही क्षण मैंने अपनेको किनारेपर पाया। कुछ समझमें नहीं आया यह अकारण अनुकम्पा किसने की। फिर भी कृतज्ञताके भारसे झुका हुआ हृदय एक बार पुकार उठा—

> नाथ तू अनाथको अनाथ कौन मोसो।
> मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥

विपन्नावस्थामें एक बार मस्तक कृतज्ञताका ऋण स्वीकार कर चुका था; किसकी—इस सम्बन्धमें कुछ निश्चय नहीं था—परन्तु किसी सर्वशक्तिमान् सत्ताकी, इतनी बात निश्चित है। परन्तु हाय रे अभागा मानव ! दुःखोंसे ज्यों ही बाहर निकला, घड़ी, आध घड़ीकी इस पवित्र, सात्त्विक कृतज्ञताके अनन्तर फिर वही पुरानी धुन सिरपर सवार हुई और लगा फिर नये उत्साहसे सुखकी खोजमें और ऐसा लगा कि कुछ ही क्षण पूर्व दुःखोंके अथाह सागरमें डूबने और एक अदृश्य शक्तिद्वारा बाहर लाये जानेकी सारी बात अतीतके स्वप्नकी तरह धूमिल हो गयी, भूल गयी। इसके बादकी कथा बहुत ही करुण और मर्मस्पर्शी है। उसके दाग़ अब भी हृदयपर बने हुए हैं, वे धब्बे अबतक नहीं धुले। कहाँ-कहाँ उलझा, कहाँ-कहाँ अँटका। कहीं रूपमें भरमा, तो कहीं स्पर्शकी व्याकुलता प्राणोंको, मन-चित्त-बुद्धिको विमूढ़ कर गयी ! कहीं उलझी हुई अलकोंमें मन उलझा तो कहीं अमिय-हलाहल-मदभरे नयनोंके तीखे-नुकीले बाणोंमें प्राण बिंधे ! वह फिसलन ! वह आत्म-विस्मृति ! उसकी स्मृतिमात्रसे अन्तस्तलमें शत-शत वृश्चिक-दंशन होने लगता है और बार-बार 'मनुष्यकी कृतघ्नता'का स्मरणकर हृदय काँप उठता है !

मैं खूब निश्चिन्त था। सोचता था तुम असीम, अनन्त, महान्, विराट् हो, मुझ क्षुद्रातिक्षुद्रकी खबर तुम रक्खो, यह कब सम्भव था ! परन्तु अब यह क्या देख रहा हूँ। अवाक् हूँ तुम्हारी कुशलतापर। तुम्हारी नज़र बचाकर, छिपकर मैं तुम्हारी बगलसे निकल जाना चाहता था। असंख्य प्राणियोंमें मुझ एक छोटे-से जीवके लिये तुमको अवकाश इतना कहाँ कि मेरी सारी बातें जान सको, सबका

लेखा-हिसाब रख सको। परन्तु हाय, हाय, यह क्या हुआ ! बिना बुलाये, अचानक, अनायास, हठात् तुम आकर मेरे जीवन-पथमें खड़े हो गये ! हरे राम राम, तुम कहीं भी मुझे चुपचाप शान्तिसे रहने नहीं दोगे ? यह तुम्हारी कैसी माया है, कैसे खेल हैं ! तुम मुझे मेरी अपनी इच्छाके अनुसार स्वतन्त्र चलने क्यों नहीं देते ? जिस दिशामें बढ़ना चाहता हूँ तुम आगे राह रोके खड़े हो। तुम मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो बोलो न ? तुम्हारा मूक संकेत मैं क्या समझूँ ! मुझे क्यों परेशान कर रहे हो ? बार-बार वही शरारत ! मुझे चलने न दो अपने आप जहाँ और जैसे मैं चलना चाहूँ। परन्तु तुम तो एक अजीब हठी निकले। बताओ तो, क्या यही तुम्हारी माया है ? मेरा पिण्ड छोड़ क्यों नहीं देते ? डूबता हूँ डूबने दो, विष खाकर मरता हूँ मरने दो ! मैं तुम्हें छोड़ना चाहता हूँ पर तुम नहीं छोड़ते !

मैं हूँ मोहनगरका पंछी, 'उस पथ' का रहस्य क्या जानूँ ?

और इस बारका तुम्हारा रूप ! क्या कहूँ, कैसे कहूँ ? तुम्हारे वे आश्वासनके वचन ! 'ओ भोले प्राणी ! रूपकी ही तेरी प्यास है न ? लो मेरा रूप देखो—फिर कुछ देखना न रह जाय ! रसके लिये ही तड़प रहे हैं न ? लो मेरा यह अमृत रस पियो जिसे पीकर फिर पीनेकी कोई वासना न रह जाय। तुम्हारे अंग-अंग किसी सुकोमल, सुस्निग्ध स्पर्शके लिये ही व्याकुल हैं न ? लो मेरा यह शीतल स्पर्श, मेरे अंगका स्पर्श, जिसकी कोमलता कहीं है ही नहीं। यह रूप, ऐसा रस, और इतना प्यारा स्पर्श तुम्हें कहाँ मिलेगा ! मेरे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके एक कणमात्रसे जगत्का समस्त सौन्दर्य, समस्त माधुर्य, समस्त लावण्य और समस्त स्निग्धता अपना नाम सार्थक कर रही है। उनकी बंसी डालकर मैं तुम्हें अपनी ओर खींचना चाहता हूँ, अपनेमें एक कर लेना चाहता हूँ। तुम मेरी विकलताको समझ नहीं पाते इसीलिये तो जगत्के इस लुभावने रूप, रस और स्पर्शमें ही उलझ रहे हो। तुम मेरे बिना रह सकते हो, परन्तु मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूँ ?'

शर्मसे मेरा सिर झुक गया ! यह कितना 'अपना' है ! मैं इसे छोड़ देता हूँ पर यह मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता, एक घड़ीके लिये भी अपनेसे अलग नहीं रखना चाहता ! मेरे गोपनीय अन्तस्तलके भीतर जो कुछ भी है—एक-एक क्षणका सब कुछ इसे ज्ञात है ! सारी बातें सदा देखता रहता है। फिर भी, मुझे पथभ्रष्ट देखते हुए भी, सदा अपनानेके लिये ही भुजाएँ फैलाये हुए है, छाती खोले हुए है। कितना प्रौढ़, एकांगी और प्रगल्भ है इसका प्रेम जो बार-बार मेरा तिरस्कार और उपेक्षा पाकर भी मेरे प्यारकी याचना करता रहता है। बार-बार मेरे द्वारपर प्रेमकी भीख माँगने आता है और न पाकर भी निराश नहीं होता; मेरी सारी तुच्छताको प्रणयका मान समझकर मेरी मनुहारें करता रहता है।

लज्जा और शर्मके मारे मेरा सिर झुका हुआ था। झुकी हुई पलकोंकी ओटमें एक बार तुम्हारी ओर झाँका भर था। गुलाबकी कोमल पंखड़ीके समान, बालरविकी अरुण लालिमाके समान दो प्यारे-प्यारे त्रिभुवनमोहन चरण ! नखोंसे सुस्निग्ध ज्योत्स्नाकी दिव्य धारा छूट रही थी ! पीताम्बर एड़ीको चूम रहा था। कमलदलमें जैसे सुन्दर रेशे और पंक्तियाँ होती हैं चरणोंके अग्र भागमें, दो अंगुलियोंके बीच वैसी ही कोमल रेखाएँ थीं। दृष्टि गड़ी सो गड़ी ही रही। लाज-शर्म छोड़कर कितनी देरतक मैं एकटक देखता रह गया उन प्राणके धनके समान चरणोंको, सो याद नहीं है परन्तु जब होशमें आया तो देखता क्या हूँ कि हृदयके कमलकोषमें वे ही दोनों चरण विराजमान हैं !

मन, इस बार, अनायास ही इस मायावीके जालमें जा फँसा। बंसी लगाकर वह मेरे हृदयको फँसाना चाहता था। चरणोंकी ओर दृष्टि गयी नहीं कि लोक-परलोककी सारी कड़ियाँ पटा-पट टूट गयीं ! एक विचित्र-सी व्याकुलता अपने लिये मेरे हृदयमें भरकर वह छलिया जा छिपा, न जानूँ कहाँ। रह-रहकर प्राणोंमें एक टीस-सी उठती, एक हूक-सी होती। सब कुछ उसके बिना व्यर्थ और सूना लगने लगा। मनमें बार-बार यही आता कि वह अकारण प्रेमी कितना उदार है जो मेरी भूलों और अपराधोंपर प्यारका पर्दा डालकर अपनी ओर खींचना चाहता है और अपने ही प्रेमका जादू चलाकर वह मेरा प्रिय बन रहा है। यदि 'वह' पूर्णतः अपना होता ! कितने प्यारे थे वे सुन्दर चरण ! कैसा लुभावना होगा उसका मुखमण्डल ? क्यों न अच्छी तरह देख ही लिया। लज्जाकी बात क्या थी जब वह स्वयं मेरे घर आया था ?

चैत्रकी पूर्णिमा थी। मलयसमीरके हिल्लोरसे समस्त प्रकृति नव-नव उल्लासमें इठला रही थी। एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राण-प्राणमें किसीके साथ रसमिलनके लिये प्रेरणा

कर रहा था। नयी मंजरी, नये किसलय, नयी-नयी कुसुम-कलिकाएँ, उनकी शोभा और सुगन्धि हृदयमें एक अपूर्व उल्लासकी तरंगें उठा रही थीं। जिधर भी दृष्टि जाती रूप और छविकी हाट लगी हुई थी। प्रकृति अपनेको सँभाल नहीं पाती थी। मैं बगीचेमें, बाहर एक सीतलपाटी बिछाये सो रहा था। चम्पा-चमेली, मल्लिका-मालती, मोलश्री और हरसिंगार, गुलाब और जूहीकी भीनी-भीनी गन्धसे सारा उपवन नन्दनकानन हो रहा था। पास ही रजनीगन्धाकी गन्ध बरबस मनको बेसँभार कर रही थी। आकाशमें तारिकाएँ जगमगा रही थीं और चन्द्रमाका हृदय गुदगुदा रही थीं। मैं आधा सोया और आधा जाग रहा था। आँखें बाहरसे बंद और भीतर खुली हुई थीं। किसी 'अपने', सबसे 'अपने'के मिलनकी लालसा प्राणोंको विकल कर रही थी! हृदयमें किसी अनदेखेका प्यार उमड़ रहा था!

धीरे-धीरे समग्र चेतना केन्द्रीभूत होकर हृदय-सरोवरमें नहाने लगी। फिर देखता क्या हूँ—हरि! यह तुम्हारी कैसी लीला है! बाहरका समस्त सौन्दर्य, समस्त शृंगार और शोभा; यह समस्त आकाश और यह अमृतवर्षिणी चन्द्र-ज्योत्स्ना, ये असंख्य नक्षत्र, सभी लताएँ और वल्लरियाँ अपनी मादक गन्धको लिये हुए मेरे हृदयदेशमें समा रही हैं;—एक-एक कर नहीं, अनायास, अचानक सारा-का-सारा आलोक, सारी वन-श्री मेरे हृदयलोकमें छा गयी। हृदयके विस्तारकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती—समस्त चर-अचर बड़ी खुशीसे उसमें समा सकते थे, केलि-क्रीड़ा कर सकते थे! फिर क्या सुनता हूँ—धीरे-धीरे कोई वंशी बजा रहा है हृदयकुञ्जके भीतरसे। उसकी काया स्पष्ट नहीं दीख रही है परन्तु लताओं और वल्लरियोंके बीच-बीचसे कभी-कभी कुछ किरणें बाहर आ जाती हैं—बड़ी ही स्निग्ध, बड़ी ही मोहक। सारी प्रकृतिमें एक आनन्द-स्रोत बह उठा। लता-वल्लरियाँ पुलकित हो उठीं। प्राण-प्राणमें, जीव-जीवके हृदयदेशमें वही तान-तरंग उद्वेलित हो उठी। सभीके प्राण खिंच आये उस आकुल आह्वानके जादूभरे स्वरमें। शरीर जहाँ-के-तहाँ रह गये। कोई भी अपने वशमें नहीं था। और वह रसिकशेखर कुञ्जमें छिपा-छिपा नयी-नयी तानें छेड़कर चर-अचर सभीको खेलमें बुला रहा था! सँपेरा जैसे साँपको नचावे वही दशा थी। सभी नाच रहे थे उसके स्वर-संकेतपर और वह स्वयं सभीके साथ अपनी समस्त लीलाको अनावृतकर, सारे पर्दे हटाकर नाचने लगा! उस समय लीला-विलासका उत्फुल्ल मधु मदिरका जो स्रोत उमड़ा उसमें सभी डूब गये! सभीके साथ वही एक! वही एक परिधिमें भी सबके साथ नाच रहा है, वही एक केन्द्रमें स्थिर सबको नचा रहा है—

> **अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो**
> **माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।**
> **इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः**
> **संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥**

जगत्‌के समग्र बन्धनों और दुःख-तापोंसे छुटाकर इस रस-रासमें एक कर लेनेकी तुम्हारी यह दिव्य मंगल कामना! सारा रास्ता तुम्हें ही तय करना पड़ता है फिर भी हम मानव अपने प्रेमका अभिमान नहीं छोड़ते! बाहरसे तुम्हीं आकर्षित करते हो, भीतरसे तुम्हीं आकृष्ट होते हो और बाहर-भीतरके बीचका भीना आवरण जब हट जाता है, उसे बलात्, हठपूर्वक जब तुम हटा देते हो तो फिर जो कुछ होने लगता है उसका वर्णन कोई कैसे करे! यह रस-रास तो सृष्टिके आदिसे ही प्रत्येक जीवके हृदयमें छिड़ा हुआ है। जीव-जीवके हृदयकुंजमें बैठे हुए, छिपे हुए तुम मुरली टेर रहे हो, बुला रहे हो, आवाहन कर रहे हो! और हमारी तनिक-सी रुझान देखकर स्वयं प्रेमपरवश होकर हमारे हृदयका वज्रद्वार खोल देते हो और अपनी खुली हुई भुजाओंसे हमें सदाके लिये अपने आलिङ्गनपाशमें बाँधकर रसमें सराबोर कर देते हो। मुझे क्या पता था कि तुम्हारा सारा परिश्रम, सारी चेष्टा, सारा संकेत मुझे मेरे हृदयमें ही बुलानेका था! मेरे घरमें ही तुम बंदी हो, मैं बाहर-बाहर कई जन्मोंसे भटक रहा था!

'माधव'

राधेश्यामका कुआँ

(कहानी)

["चक्र"]

'इस कुएँमें राधेश्याम कहना होता है। राधेश्याम कहो !'

मेरे साथीने मुझे प्रेरित करते हुए स्वयं कुएँमें मुँह झुकाकर बड़ी लम्बी ध्वनिसे कहा 'रा-धे-श्या-म'।

मैं देख रहा था कि जो यात्री स्त्री या पुरुष आगे जाते थे, सभी उस कुएँमें सिर झुकाकर राधेश्यामकी यथासम्भव ऊँची ध्वनि लगाते थे।

कुएँकी जगत कुछ ऊँची थी। मार्ग नीचा होनेके कारण कुएँका मुख कमरसे ऊपर ही पड़ता था। ऊपरसे देखनेपर कुआँ साधारण पुरानी ईंटोंका बना था। उसकी जगत जीर्ण हो चुकी थी। घास-फूस उग आये थे।

मैंने एक बार झाँककर कुएँके भीतरी भागको देखा। जल था तो सही, पर बहुत नीचे। बड़ और पीपलके पौधोंने भी अपना आसन जमा लिया था। ईंटें टूट-फूट गयी थीं। भीतर एक छोटी चिड़िया बैठी थी। दो मैनाओंने फड़फड़ाकर बतलाया कि इस समय तो यह हमारा राजभवन है।

जितनी देर मैं कुएँको देख रहा था, उतनी देरमें कई यात्री आकर मेरी बगलसे उसमें राधेश्यामकी ध्वनि लगा गये। उस कूपकी दशा देखनेका कष्ट कोई क्यों करने लगा ! सिर झुकाया, ध्वनि लगायी और अपना मार्ग लिया।

मेरे साथीने पुनः ध्वनि लगानेकी प्रेरणा की। मैंने भी उच्चस्वरसे कहा 'रा-धे-श्या-म'। प्रतिध्वनिने मेरे कर्णकुहरोंको गुंजित कर दिया 'रा-धे-श्या-म'। हम फिर परिक्रमा-पथपर बढ़ चले।

(२)

श्रीवृन्दावनकी पावन वीथियोंमें विचरण करनेवाले प्रेमरस-छके पागलोंका कभी अभाव नहीं रहा है। उस प्रेमकी भूमिकी रजमें ही कुछ ऐसी मादकता है। प्रेमके देव उस रजमें स्वयं नृत्य करते थे, उसे अंगोंमें लपेटते और इधर-उधर देखकर, दूसरोंकी दृष्टि बचाकर उसे चख भी लेते। आज भी भावुक भक्त वहाँ रासेश्वरी और रासविहारीकी नित्य रासलीलाका दर्शन पाते हैं।

हम तबकी बात कहनेवाले हैं, जब वृन्दावन आज-सा बाजार न था। एक-दो विरक्त महापुरुष वृक्षोंके नीचे या फूसकी झोपड़ियोंमें रहते थे। एक भी पक्का तो क्या कच्चा मकान भी नहीं था। वे साधु या तो पासके ग्रामोंसे मधुकरी कर लाते या वहीं उन्हें कोई कुछ दे जाता। मयूर, बन्दर तथा जंगली गायोंकी भरमार थी। करीलकी कुञ्जोंमें जहाँ-तहाँ हिरनोंके झुण्ड खेलते रहते थे।

उस समय भी दूर-दूरसे पैदल चलकर बहुत-से प्रेमी दर्शनार्थ वहाँ आते थे। यात्री मथुरासे प्रातः वृन्दावन आते। दर्शन, परिक्रमा आदि करके सन्ध्यातक अवश्य ही लौट जाते। उस सुनसान जंगलमें उस समय वही रहते थे जिन्हें शरीरका कोई मोह न था। बाह्य सुखोंकी कोई अपेक्षा न थी।

उन्हीं गिने चुने लोगोंमें एक राधेश्यामजी बाबरे भी थे। दिन-रात उच्चस्वरसे राधेश्यामकी ध्वनि लगाना और पागलोंकी भाँति यहाँसे वहाँ घूमा करना यही उनका काम था। इसीसे व्रजके लोगोंने उनका नाम 'राधेश्याम बाबरा' रख दिया।

गौर वर्ण, पतला पर सुदृढ शरीर तथा तेजोमय मुखमण्डल राधेश्यामजीके चरणोंमें मस्तक झुकानेको विवश कर देता था। केवल एक कौपीन ही उनका सब आच्छादन थी। किसी एक वृक्षके नीचे किसी-ने उन्हें दो रात्रि सोते नहीं देखा।

बच्चोंकी भाँति दौड़ते, चाहे जहाँ भी धूलिमें लोटने लगते। सर्वदा खिलखिलाते रहते। गोप चरवाहे लड़के उन्हें देखते ही तालियाँ बजाकर कहने लगते 'राधेश्याम, राधेश्याम' और आप भी उनके समीप उछल-उछलकर नाचते, कूदते और गाते 'राधेश्याम, राधेश्याम।'

इन महापुरुषकी मित्रता, बस, इन चरवाहों, बन्दरों, मयूरों, मृगों, गायों और विशेषतः छोटे बछड़ोंसे थी। यात्रियोंसे तो बोलते नहीं थे। बहुत प्रसन्न हुए तो 'राधेश्याम' कह दिया। नहीं तो दूसरी ओर दौड़ छूटे। वैसे मौन नहीं थे। छोटे बछड़ोंसे, पेड़ोंसे तथा करील-लताओंसे कभी-कभी जाने क्या घंटों बातें करते रहते थे।

राधेश्यामजी केवल चरवाहोंकी रोटियाँ ही ग्रहण करते, वह भी यदि बिना माँगे मिल जायँ। चरवाहे गोप इन्हें ढूँढ़ते रहते थे कि आज ये किधर वनमें दौड़ते फिरते हैं। गोप बड़े प्रेमसे अपनी सूखी रोटियाँ, नमक, साग, मक्खन, छाछ जो भी घरसे लाते, राधेश्यामजीको ढूँढ़कर देते। जो मौजमें आयी ले लेते, नहीं सिर हिला देते।

किसीको कुछ पता न था कि ये विलक्षण अवधूत कहाँसे व्रजमें आये। इनकी जन्मभूमि कहाँ है। किसीको यह जाननेकी आवश्यकता भी न थी।

कभी-कभी गोप अपनी व्रजभाषामें पूछते 'बावरे! हम तोय रोटी ना देंय तो कहा खायगो!' अर्थात् पगले! हम तुझे रोटी न दें तो क्या खायगा? आप तुरंत कहते 'जाको घर है वाय तो खवावनई परैगो।' जिस (श्रीकृष्ण) का यह घर है, उसे तो खिलाना ही पड़ेगा।

एक दिन किसीने पूछा 'महाराज! आप पूजा क्यों नहीं करते?' आप हँस पड़े 'राधेश्याम' की ध्वनि लगाकर। सचमुच यह क्या कम पूजा है। पूजाका सार सर्वस्व तो है ही।

ज्येष्ठकी दोपहरी थी। रमणरेतीके पास इधर-उधर मीलों जलका कहीं नामोनिशान न था। दावानल प्रभृति कुण्ड पर्याप्त दूर थे और सूख चुके थे। यमुनाजी उन दिनों वहाँसे दूर हट गयी थीं। आसपासके वृक्ष भी सूख गये थे। पशु-पक्षियोंका इस ऋतुमें उधर निवास ही नहीं था।

भूमिपर मार्तण्डकी किरणें अग्नि-वृष्टि कर रही थीं। उष्ण पवन धूलिके साथ शरीरको झुलसाये जा रहा था। किरणोंकी गोदमें वेदान्तके विवर्तवादके अनुसार अनन्त समुद्र हिलोरें ले रहा था।

इस भीषण समयमें भी एक अवधूत रमणरेतीमें अपनी मस्तीसे उछल रहा था। वर्षाके सीकरोंमें नृत्य करते मयूरकी भाँति वह कूदते हुए गा रहा था 'राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम।' उसपर न तो धूपका प्रभाव था और न वायुका। मानो वह प्रकृतिका अधीश्वर हो तथा प्रकृति उसके लिये अनुकूल बर्ताव कर रही हो।

इसी समय कोई एक यात्री परिक्रमामार्गसे निकला। यात्री सुकुमार तथा किसी उच्च एवं सम्पन्न कुलका था। वह मथुरासे आज ही वृन्दावन आया था। दूसरे स्थलोंके दर्शन तथा महात्माओंके सत्संगमें देर हो गयी। उसे क्या पता था कि परिक्रमामें जल नहीं है। सन्ध्याको मथुरा लौटना अनिवार्य था,

अतः दोपहरीमें तनिक कष्ट उठाकर भी उसने परिक्रमा करनेका निश्चय किया था ।

प्यासके मारे यात्रीका मुख सूख गया था । ऊपरसे धूप और उष्ण वायु । एक-एक पद चलना भारी हो गया । आकुलतासे वह चारों ओर दृष्टि दौड़ाता, पर कहीं भी जलका चिह्न न था । उसे जीवनसे निराशा हो गयी । इसी समय यात्रीने अवधूतजीको देखा । सम्पूर्ण शक्ति एकत्र कर उनकी ओर जल माँगने बढ़ा । वह उनतक पहुँच भी न पाया था कि मूर्छित होकर गिर पड़ा ।

अवधूतजीने उस यात्रीको उठाया । उनके अमृतस्पर्शने चेतना लौटा दी । फिर भी प्यासके मारे वह बोल न सका । बगलमें ही एक पुराना सूखा कुआँ था । यह प्रसिद्ध था कि गोपालने सखाओंके प्यासे होनेपर उसे वंशीसे बनाया था । इस समय तो वह एक सूखा गड्ढा मात्र था ।

अवधूतकी दृष्टि एक बार ऊपर उठी । कुछ सोचकर उन्होंने कुएँमें सिर झुकाकर उच्चस्वरसे पुकारा 'राधेश्याम ।' सहसा कुआँ मुखतक जलसे भर गया । यात्रीने जलपान किया । उसे जीवनदान मिला ।

(२)

दूसरे दिन वही यात्री मथुरासे फिर वृन्दावन लौटा । बहुत अन्वेषण करनेपर भी वे अवधूत उसे नहीं मिले । फिर कभी गोप चरवाहोंने भी उन्हें नहीं देखा । लोगोंका अनुमान है कि इस चमत्कारसे जो प्रसिद्धि हुई, उसके फलस्वरूप जनसमुदायके पीछे पड़नेके भयसे वे कहीं गुप्तरूपसे रहने लगे । उस यात्रीने उस कुएँको ईंटोंसे बँधवा दिया ।

कुएँमें अबतक जल है । भक्तोंका विश्वास है कि कुएँमें राधेश्यामकी ध्वनि लगानेसे भगवान् उस अपने परमप्रेमीकी स्मृतिसे प्रसन्न होते हैं ।

तुम्हारी धरोहर !

मैं तुम्हारी धरोहरकी रक्षा करता हूँ, रात-दिन ! सायं-प्रातः ! लोग उसे मेरा कहते हैं, किन्तु, ममत्व कैसा ! जब सब कुछ अर्पण कर चुका, तो, ममता कैसी ? अपनापन कैसा ? वह तो तुम्हारी ही वस्तु है, मुझपर केवल उसकी रक्षाका भार है ! मैं उसका रखवाला हूँ !

× × ×

कोई आकर उसे ले न जाय—उसे किसी प्रकारकी हानि न पहुँचे—इसीलिये मैं उसकी रक्षा करता हूँ—तनसे, मनसे, धनसे !

× × ×

मेरी परीक्षा मत लो, मैं इस योग्य नहीं, मेरे स्वामी ! बहुत दुर्बल हूँ—कमजोर हूँ ! मुझमें इतना बल नहीं कि इसकी रक्षा कर सकूँ, विवश हूँ ! सत्-असतका विवेक भूल बैठा हूँ, कहीं ऐसा न हो, तुम्हारी धरोहर मुझसे छिन जाय, मुझे अयोग्य समझ—कायर समझकर—कोई उसे हथिया ले—मेरी आँखोंमें धूल झोंककर ! इसीलिये तुमसे विनती करता हूँ ! तुम्हारे हाथ-पाँव जोड़ता हूँ देव ! उसे ले लो ! अपना लो !

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये !

—श्रीरामकृष्ण 'भारती' शास्त्री

साहित्यका उद्देश्य—लोकजीवन

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-वेदान्त-न्यायतीर्थ)

भारतीय धर्मकी यही विशेषता है कि वह अनेकमें एकके दर्शन करनेका आदेश करता है। भारतीय संस्कृतिका अर्थ है—पिण्डके 'मैं' से उठकर ब्रह्माण्डके 'मैं' से नाता जोड़ना। इसका उपाय भी हमारे ऋषियोंने बताया है। वह है नरके रूपमें नारायणकी सेवा करना। धर्मकी मालामें सेवा मध्यमणि है।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा है और उसीके रहनेपर ही व्यक्ति जीवित समझा जाता है। इसी प्रकार समाजमें भी एक आत्मा है जिसकी सत्तापर ही समाजको जीवित कहा जा सकता है। उस आत्माको व्यक्त करनेके अनेक साधन हैं, यथा—रीतिरिवाज़, शिल्प, कौटुम्बिक जीवन, रहन-सहन, व्यापार, ललितकला आदि। साहित्य भी इन साधनोंमें एक है। और साधनोंकी अपेक्षा इसपर बाह्य परिस्थितिका कम-से-कम प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह है भी व्यापक। इसे कम-से-कम बन्धनमें डालनेका प्रयास किया जाता है। इसलिये साहित्य भी समाज तथा लोकसेवाके लिये ही है, अपने लिये नहीं। साहित्य उद्देश्य नहीं, अपितु वह नरके रूपमें नारायणकी सेवा करनेका अन्यतम उपाय है। जनसेवाके पवित्र कार्यमें ही उसका उपयोग होना उचित है। सेवा ही साहित्यका देवता है।

क्योंकि साहित्य सामाजिक आत्माको व्यक्त करनेका उपाय है। अतः जो साहित्य अन्य साहित्यका अनुकरण-मात्र है अथवा जिसका निर्माण केवल 'कुछ लिखने' की भावनासे होता है वह सच्चा साहित्य नहीं। वर्तमान कालकी सैकड़ों भी अनुकरण करनेकी दृष्टिसे लिखी गयी पुस्तकें जिस भारतीय आत्माको व्यक्त नहीं कर सकतीं। प्राचीन कालकी एक भी कबीर या तुलसीदास अथवा भवभूति या कालिदासकी पुस्तक उनकी अपेक्षा अधिक भारतीय आत्माको सत्यरूपमें व्यक्त कर सकती है। 'अन्य' बननेका इच्छुक अपने 'स्व' को नहीं पा सकता और 'स्व' 'अन्य' भी नहीं हो सकता।

भारतीय आत्माको व्यक्त करनेवाला समन्वयात्मक साहित्य भारतकी सभी प्रान्तीय भाषाओंमें पाया जाता है। भाषा आदिके अनेक भेद रहनेपर भी यही आत्मव्यक्तीकरणकी समानता ही वह लड़ी है जो भारतकी विभिन्न प्रान्तीय भाषाओंको एक दूसरेसे जोड़नेवाली है। यही समानता ही देशकी एकता और राष्ट्रीयताका मूल आधार है। इसीलिये ही हम कह सकते हैं कि चाहे समूचे राष्ट्रमें भाषा, लिपि, धर्म आदिके अनन्त भेद हों तथापि राष्ट्रका आत्मा एक है और वह है संस्कृति। जो भारतीय अनेकोंमें इस एकताका और अभेदका साक्षात्कार नहीं करता, समझना चाहिये उसने राष्ट्रके आत्माका साक्षात्कार नहीं किया। इसी प्रकार जो साहित्य अभेदमें भेदकी भावनाको जाग्रत करता है वह भी आत्मशून्य साहित्य है। शरीरसे सुरूप होनेपर भी उसे राष्ट्रमें रखना अनिष्टकर है। उसके सड़ जानेका भय है। उससे समाजके वायुमण्डलके दूषित होनेकी सम्भावना है। ऐसे साहित्यपर अंकुश रखनेकी आवश्यकता है। इसीलिये ही प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकताको उत्तेजन देनेवाले साहित्यको मैं साहित्य नहीं कहता। इस प्रकार तो हम अपनी संस्कृतिका सर्वनाश करेंगे और पायेंगे भी सर्वनाश ही।

इधर कुछ साहित्यकार कहने लगे हैं कि 'साहित्य साहित्यके लिये है।' इसका यदि यही अर्थ हो कि साहित्य पैसे कमानेके लिये नहीं, विषयलोलुपताको बढ़ानेके लिये नहीं, यशके लिये नहीं तो ठीक है। परन्तु यदि इसका अर्थ यह हो जैसा कि प्रायः समझा जाता है कि साहित्यका उद्देश्य और कोई नहीं, वह अपनेमें ही पूर्ण है, उसपर किसीका नियन्त्रण नहीं तो यह ठीक नहीं। योगी याज्ञवल्क्यके शब्दोंमें—'न वै सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', सब वस्तुओंकी उपादेयता सबके लिये नहीं अपितु आत्माके लिये है। जो साहित्य सामाजिक आत्माको उन्नत करनेकी अपेक्षा अवनत करता है उसे साहित्य कौन कहता है? साहित्यका वाच्यार्थ भी है हितके साथ वर्तमानता (हितेन सह वर्तते तस्य भावः)। साहित्यका निर्माण केवल अपने लिये नहीं होता वह तो जनताके लिये बनाया जाता है। इस प्रकार जिसका निर्माण जनता और समाजके हितकी दृष्टिसे होता है वही साहित्य है। इसीलिये तो संसारका महापुरुष सेगाँवका संत महात्मा गांधी कहता है कि साहित्यका उद्देश्य है—'जनसेवा'। जिस

साहित्यके निर्माताके हृदयमें जनसेवाकी भावनाका उदय नहीं हुआ उसकी कृति साहित्याभास है ।

उत्कृष्ट कवियोंकी 'स्व' भावनाका क्षेत्र भी व्यापक होता है । वे तो उसपर भी 'आत्मा' का साक्षात्कार करते हैं । जो चीज़ अतिकान्त है—सर्व साधारणकी आँखोंसे नहीं दीखती, उसे भी वे देखते हैं । वे तो 'मैं' में सबका और सबमें 'मैं' का साक्षात्कार करते हैं । अतः यदि वे 'स्वान्तः-सुखाय' भी कविता करते हैं, तब भी वह जनसेवाके लिये ही होती है । ऐसी स्थितिमें पहुँचे हुए व्यक्तिकी तो प्रत्येक कृति स्वभावतः जनसेवाके लिये ही होती है उसी प्रकार जैसे पानीका प्रवाह स्वभावतः निम्नाभिमुख होता है । ऐसा व्यक्ति तो जीता ही 'नारायण' के लिये है जो भेदमें अभेददर्शनका सच्चा अर्थ है । वेदमें इसीलिये ही अनेक स्थानोंपर परमात्मा-को कवि कहा गया है !

कुछ विद्वान् कहते हैं कि 'साहित्य बोधके लिये है ।' परन्तु हम तो कहते हैं कि बोध भी तो किसी औरके लिये ही है । और वह 'और' है आत्मा । जो बोध मनुष्यताका अपमान करना सिखाता है, जो बोध ऊँच-नीचका भेद उत्पन्न करता है उसे बोध कौन कहता है, उसका उपयोग ही क्या ? यदि किसी व्यक्तिको नख-शिखका, तथा भ्रूविक्षेप और नायिकाभेदका ज्ञान नहीं होगा तो कौन-सा महान् अनिष्ट हो जायगा । साहित्यको तो समाजका बन्धु—मित्र होना चाहिये । उससे तो समाजका आत्मा शुद्ध और उन्नत होना चाहिये । और साहित्यसे तो जनताके चरित्रका पद (Standard) बढ़ जाना चाहिये, घटना नहीं । साहित्यके अध्येताकी 'मैं'भावना व्यापक हो जानी चाहिये । उसे तो गरीबों, हरिजनों और ग्रामीणोंका हितैषी बनना चाहिये । आज क्या है ? पढ़े-लिखे लोग इनसे और भी दूर हो जाते हैं । यह किसका दोष है ! साहित्यका । वास्तवमें इधर साहित्यका निर्माण साहित्यके ही आधारपर हो रहा है । वह किसी जीवनकी प्रेरणासे नहीं बनता । मैं तो समझता हूँ जो 'साहित्य' के लिये 'साहित्य' की घोषणा करते हैं वे अनियन्त्रित रहना चाहते हैं । हम यह स्वीकार करते हैं कि साहित्यपर कम-से-कम नियन्त्रण रहना चाहिये । परन्तु यदि साहित्यपर धर्मात्मा वीतराग पुरुषोंका नियन्त्रण रहे तो इसमें क्या दोष है ?

प्राचीन कालमें शासनकी बागडोर राजाके हाथमें कम होती थी । शुक्रनीतिके 'राजा प्रजानां स्वामी स्याद् राज्ञः स्वामी पुरोहितः' इस वचनानुसार राजा प्रजाका स्वामी होता था । परन्तु राजाका भी स्वामी पुरोहित होता था । पुरोहितका अर्थ है व्यवस्थापक ब्राह्मण । (पुर एनं दधति धर्मकार्येषु) । त्यागी ब्राह्मणोंका ही सब विषयोंपर नियन्त्रण होता था । यदि आज भी इस प्रकारके त्यागी महात्मा पुरुषोंका साहित्यपर नियन्त्रण रहे तो इससे साहित्यकी स्वतन्त्रतापर कोई भी आघात नहीं होगा, उसकी ग्राह्यता और उपयोगिता अवश्य बढ़ जायगी ।

वैसे तो मैं कई वर्षोंसे अध्यापनकार्य ही करता हूँ । परन्तु तीन-चार वर्षोंसे कन्याओंके पढ़ानेका अवसर मिला है । साहित्यरत्नादि ऊँची कही जानेवाली परीक्षाओंमें साहित्यके नामपर जो साहित्य इस समय निश्चित किया गया है और पढ़ाया जाता है वह इतना गंदा है कि स्वयं भी नहीं पढ़ा जा सकता । लड़कों-लड़कियोंको पढ़ानेकी तो बात ही क्या । ऐसे साहित्यको, जो सदाचारके पीछे लाठी लिये हो, 'अलंकार-शास्त्र' कैसे कहा जा सकता है ? मैं जानता हूँ, अधिकतर विज्ञ पुरुष अपने लड़के-लड़कियोंको इन ऊँची परीक्षाओंमें इसीलिये नहीं बैठने देना चाहते कि इन पाठ्य पुस्तकोंमें अश्लील पुस्तकें बहुत हैं । कुछ लाचारीसे पढ़ाये जाते हैं और कुछ पता ही नहीं क्यों ? परन्तु सर्वथा देशके भविष्यको तो अन्धकारमय ही बनाया जा रहा है । मेरा विचार है यदि हमें देशका हित अभिप्रेत है तो इस प्रकारके सब साहित्यको दूर कर देना होगा । यह साहित्य जीवनके लिये नहीं, मृत्युके लिये अवश्य है ।
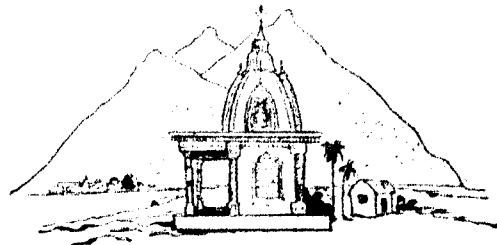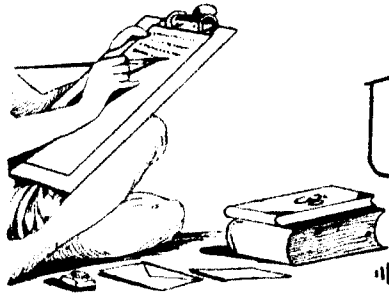
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

तुमने लिखा कि दूकानका काम अधिक देखना पड़ता है जिससे भजनमें और भी अधिक भूल हो जाती है सो ठीक है। भजन-ध्यानको स्थितिमें सावधान रहते हुए जितना काम हो सके, करना चाहिये। कामसे डरना नहीं चाहिये। न कामको छोड़ना ही चाहिये। भजन-ध्यानमें प्रेम होनेपर उस मनुष्यको काम स्वयं ही छोड़ देता है। संसारके कामसे प्रेम छोड़कर भगवान्में प्रेम करना चाहिये। फिर संसारका काम चाहे जितना हो, कुछ हर्ज नहीं! फलासक्तिको छोड़कर निष्कामभावसे भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए प्रसन्न मनसे भगवान्के लिये काम करना चाहिये। जो कुछ संसार प्रतीत होता है वह भी भगवान्की लीला है। भगवान् ही लीला कर रहे हैं। उनकी रुचिके अनुसार ही लीलावत् ही काम करना चाहिये। मालिकके काममें सहारा देना चाहिये। मालिककी इच्छासे ही सब काम होते हैं। मालिक जैसा करें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। उसके विपरीत इच्छा हो नहीं करनी चाहिये। और काम करते समय भी मनमें अप्रसन्न होना ठीक नहीं। इससे मालिक अकर्मण्य समझता है, शरणागतिमें दोष आता है। और वह निष्काम कर्म भी नहीं समझा जाता। अपने मनके अनुसार इच्छा करना ही शरणागतिमें दोष लगाना है। इसलिये अपनी इच्छाको सर्वथा छोड़कर जिससे स्वामी प्रसन्न हों वही काम स्वामीके लिये लीलामात्र मानकर करना चाहिये। जो मनुष्य संसार-को मिथ्या समझ लेगा वह कामसे कभी घबरायेगा नहीं! जो मनुष्य स्वामीके कामको झंझट समझकर उससे जी चुराता है वह अकर्मण्य समझा जाता है। जो लीलामात्र कामको सच्चा समझता है, स्वामी उसे मूर्ख मानता है, और जो मिथ्या स्वप्नवत् कामको वास्तवमें ही स्वप्नवत् (लीलामात्र) समझता है, मालिक उसीको अपना ज्ञानी भक्त समझता है। और तुमने लिखा कि मैंने अभी समयको अमूल्य नहीं समझा; सो ठीक है। समयको अमूल्य जान लेनेपर निरन्तर भजन, ध्यान होते रहनेमें संसारके काम कुछ भी अड़चन नहीं डाल सकते।

जिन मनुष्योंकी शरीरमें आसक्ति है, यदि उनके जेल या फाँसीके योग्य कोई मुकद्दमा लग जाय तो संसारके सब काम करते हुए भी वे उसके चिन्तनको नहीं भूल सकते। जिस किसी उपायसे उस मुकदमेसे छुटकारा हो उसी बातको वे सर्वोत्तम मानते हैं। इसीलिये उसको भूलते नहीं। इसी प्रकार जो यमराजके द्वारा दी जानेवाली फाँसी (मृत्यु) के मुकदमेको समझ लेता है, वह भी जबतक उससे छुटकारा नहीं पा लेता, तबतक छुटकारेके लिये प्रयत्न करता रहता है। जिसे यह विश्वास है कि

मुझपर चौरासी लाख बार शूली चढ़नेका मुकद्दमा चल रहा है, अर्थात् चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेकर मरना पड़ेगा, उसे जबतक इस मुकदमेसे छुटकारा न हो जाय, तबतक क्षणभरके लिये भी चैन नहीं पड़ता।

जैसे धनका लोभी चलते-फिरते सब काम करते हुए भी निरन्तर इसी चिन्तामें रहता है कि कैसे धन मिले। जैसे दुष्ट स्वभावके कारण नीच पर-पुरुषमें आसक्त दुराचारिणी स्त्रीका चित्त सावधानीके साथ घरका काम-काज करते हुए भी निरन्तर पर-पुरुषके चिन्तनमें लगा रहता है, और वह अपना भेद भी किसीपर प्रकट नहीं होने देती है। इसी प्रकार निरन्तर गुप्तरूपसे तथा लगनके साथ श्रीनारायणका प्रेमपूर्वक स्मरण करना चाहिये। जो नारायणको छोड़कर संसारसे प्रीति करता है, वह तो अपने ही हाथों अपनी गर्दन मारता है।

(२)

तुमने लिखा कि 'निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन-सहित जप हो सके ऐसी कोई व्यवस्था होनी चाहिये;' सो ठीक है। यदि तुम्हारे मनमें ऐसी चाह होती है तो बड़ी उत्तम बात है। फिर देर क्यों हो रही है? जिसको किसी वस्तुकी इतनी प्रबल चाह होगी, वह तो उसीके परायण हो जायगा! फिर ऐसा होनेमें देर क्या है? परन्तु अभी पूरी चाह नहीं हुई है। इस चाहके साथ जो सांसारिक वस्तुओं-की चाह भी लगी हुई है वही इसमें कलंकरूप है। जो भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेगा, वह सभी समय एकमात्र भगवान्‌की ही चाह करेगा। अन्य वस्तुकी चाहको मनमें स्थान ही न देगा। सर्वोत्तम वस्तुके बदले कोई बुरी चीज कैसे ले सकता है?

भगवान्‌का भजन-ध्यान अमूल्य हीरे-माणिक्य है, और सांसारिक भोग-पदार्थ काँच-पत्थर! इस बातको जो समझ लेगा वह भजन-ध्यानरूप हीरे-माणिक्यको छोड़कर काँच-पत्थररूप विषय-भोगका व्यवहार कैसे करेगा? जो ऐसा करेगा, वह तो महा मूर्ख ही समझा जायगा!

समयको अमूल्य समझना चाहिये, भजन अधिक होनेका उपाय पूछा,—सो भगवान्‌के नाम-जपको सर्वोत्तम समझ लेनेपर भजन अधिक हो सकता है। भगवान्‌के नामकी महिमा तथा प्रभाव जाननेपर भी भजन अधिक हो सकता है। सब लोग एकत्र होकर भगवान्‌की चर्चा करें तो बड़ा उत्तम है। सत्संग ही सार है।

(३)

आपने लिखा—'मुझसे नाम-जपमें बहुत भूलें होती हैं, यह मेरे पुरुषार्थकी ही त्रुटि है।' सो पुरुषार्थमें त्रुटि तो नहीं रखनी चाहिये। भजनका रहस्य और प्रभाव जान लेनेपर तो त्रुटि रहती ही नहीं। परन्तु अभी तो विश्वास करके ही नाम-जपका तीव्र अभ्यास करना चाहिये।

आपने लिखा कि—'समय बीत रहा है'! सो समय तो बीतेगा ही, जिसका समय भगवान्‌के भजन-ध्यानके बिना बीत रहा है वही वास्तवमें बीत रहा है। जो समय भजन-ध्यानमें बीता, वह तो बीता नहीं, वह तो बना रह गया। जो समय बिना भजन-के जाता है उसीके लिये पछताना पड़ता है। इसलिये सर्वकालमें निरन्तर भगवान्‌का स्मरण बना रहे इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार दृढ़तापूर्वक चेष्टा होगी तो अवश्य कम भूलें होंगी।

इस प्रकार प्रबल चेष्टा करनेपर भगवान्‌में प्रेम होगा ही। तब संसारसे प्रेम आप ही हट जावेगा।

बहुत दिनोंतक प्रसन्न मनसे भजनका तीव्र अभ्यास करनेपर भगवन्नाम-जपमें प्रेम हो सकता है।

प्रेमपूर्वक न भी हो तो भी भजन निरन्तर हो, ऐसी चेष्टा दृढ़ताके साथ करनी चाहिये। समय अमूल्य है, उसे अमूल्य काममें ही बिताना चाहिये। फिर कोई हानि नहीं! बहुत सावधान रहना चाहिये। मृत्यु पहलेसे किसीको सूचना नहीं देती। ऐसा जानकर सब समय एकमात्र नारायणका आश्रय लेना चाहिये। सच्चिदानन्द भगवान्का चिन्तन होते हुए जिसकी मृत्यु होगी, उसके लिये कोई हानि नहीं है। फिर एक पलके लिये भी आप कालका विश्वास क्यों करते हैं?

(४)

आपने लिखा कि 'दूकानका काम देखनेमें तथा लोगोंसे बात-चीत करनेमें भूल (भगवत्-विस्मृति) हुए बिना नहीं रहती।' सो ठीक है। निरन्तर अटल स्थिर स्थिति न हो जाय तबतक ऐसा हो सकता है। इसके लिये उपाय पूछा, सो भजन-ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास ही उपाय है। संसारको लीलामात्र जानकर बेपरवा रहते हुए शरीरसे काम करना चाहिये। सर्वव्यापकमें स्थित रहते हुए साक्षीरूपसे रहना चाहिये। दृश्यमात्रका अभाव निश्चय रखना चाहिये। स्वयं काम करनेवाला नहीं बनना चाहिये। फिर कोई हर्ज नहीं। और सत्संग तथा ग्रन्थोंके द्वारा भगवद्विषयका विचार करते रहना चाहिये।

भगवान्की स्मृति तथा सत्संग और सद्ग्रन्थोंके द्वारा भगवान्के भजन, भक्ति, ध्यान, वैराग्य तथा ज्ञानकी और भगवान्के प्रभावकी बातें, उनके गुणानुवाद तथा सुहृद्स्वभावकी कथाएँ सुनने एवं पढ़नेसे भगवान्में प्रेमसहित श्रद्धा हो सकती है। तब भगवान्का यथार्थ प्रभाव जाना जा सकता है; और तभी निरन्तर सर्वकालमें ध्यानसहित नामका जप हो सकता है।

(५)

तुमने लिखा कि 'मेरा आना नहीं हुआ, इसमें मेरे प्रेमका ही अभाव समझना चाहिये।' सो ऐसा मानना उचित नहीं; ··········का तो मुझसे बहुत ही कम मिलना होता है, तो क्या उनका प्रेम कम समझना चाहिये। पूर्वकालमें भी जिनका-जिनका परस्पर मिलना कम होता तो इससे उनका प्रेम कम थोड़े ही समझा जाता। अपने तो साधारण मनुष्य हैं, साक्षात् श्रीभगवान्के साथ अर्जुनका बहुत ही अधिक प्रेम था। लोगोंके देखनेमें भगवान्से अर्जुनका मिलना बहुत ही कम होता था, परन्तु क्या इससे उनका प्रेम कम समझा जा सकता है? न मिलनेमें केवल प्रेमका अभाव हो सो बात नहीं है, और भी कई कारण हो सकते हैं।

तुमने लिखा—'ऐसा क्या प्रतिबन्ध है जिससे तुम्हारे पास रहना नहीं होता।' सो प्रतिबन्ध तो भले ही हो। परन्तु मेरे पास रहनेकी तुम्हारी इतनी जिद क्यों है? मेरे पास रहनेसे ही लाभ होता तो मेरे पास रहनेवाले सभीको ही लाभ होना चाहिये था।

पहले तुम कहा करते थे कि, 'लगातार छः मास यदि तुम्हारे पास रहना हो जाय तो भगवान्की प्राप्ति हो जाय।' परन्तु तुम तो इससे भी अधिक मेरे पास रह चुके! अतः भाई! भगवत्प्राप्ति तो भगवान्के भजन, ध्यान, सत्संगके तीव्र अभ्यास करनेसे ही हो सकती है। और वह नारायणके आश्रयपर पुरुषार्थ करनेसे सभी जगह हो सकती है।

हर समय भगवान्के समीप रहनेकी उत्कण्ठा रखनी चाहिये। भगवान्के पास नित्य रहनेमें

उत्कण्ठा ही प्रधान हेतु है। उत्कण्ठा तीव्र होनेपर कोई भी प्रतिबन्धक नहीं रह सकता।

'निरन्तर मेरे पास रहनेके लिये क्या पुरुषार्थ करना चाहिये' इसका उपाय पूछा, सो मैं यह नहीं लिख सकता। मुझे हर समय पास रखना हो तब मुझसे उसका उपाय लिखते बने!

जो समयका मूल्य जानते हैं, उन्हींको धन्यवाद है। ऐसा अमूल्य समय पाकर जो भगवान्के दर्शन किये बिना जायगा वही मन्दबुद्धि है। भगवान्की कृपासे ही सब बातोंका सुयोग लगा करता है। संयोग प्राप्त हो जानेपर भी जो नहीं चेतते वे तो निरे पशु ही समझे जाते हैं। मनुष्य होकर कुछ तो विचार करना चाहिये कि मेरा क्या कर्तव्य है और मैं क्या कर रहा हूँ!

(६)

भगवान्की कृपा, दया हम सभीपर सदा ही पूर्ण बनी हुई है। इस बातको जो जान लेगा, वह भगवान्को कभी न भूल सकेगा। आपने लिखा कि—'एक पल या एक श्वास भी भगवान्के स्मरण किये बिना न जाने पावे, इसके लिये क्या चेष्टा करनी चाहिये?' सो इसके लिये भगवान्के गुणानुवाद, प्रभाव, स्वरूप, भक्ति और वैराग्यकी बातें सुननी और पढ़नी चाहिये। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं। ऊपर लिखे अनुसार करनेसे भगवान्में प्रेम होनेपर निरन्तर ध्यानसहित निष्काम स्मरण रह सकता है।

जो मूल्यवान् समयकी कीमत जान लेता है, उसका एक पल या एक भी श्वास व्यर्थ कैसे जा सकता है? जो समय बिना भगवच्चिन्तनके जाता है वह तो धूलमें ही जाता है। (व्यर्थ ही नष्ट होता है) इस प्रकार समझनेवालेके द्वारा एक पल या एक श्वास भी धूलमें कैसे मिलाया जा सकता है?

सच्चिदानन्दघन भगवान्में स्थित होकर शरीर और संसारको अपनेमें मिथ्या और कल्पित देखते रहना चाहिये। उनके द्रष्टा होकर संसारको अपने संकल्पके आधार ही मानना चाहिये।

(७)

समय बीत रहा है। जो समयके महत्त्वको जानता है, वह कभी कालके द्वारा नहीं मारा जाता। क्योंकि वह कभी कालका विश्वास ही नहीं करेगा। उसको काल धोखा कैसे दे सकता है? जो कालको अच्छी तरह नहीं जानता, वही कालके धोखेमें आता है। उसीको काल नाश कर देता है। काल अचानक आता है। जैसे चूहेको बिल्ली पकड़ती है, मौत भी उसी प्रकार अचानक आ पकड़ती है, ऐसा जानना चाहिये।

अतः जो सब समय भगवान् नारायणके चिन्तनकी शरण रक्खेगा, एक पल भी उसे नहीं छोड़ेगा और भगवान्के नामका चिन्तन करते हुए ही मरेगा वह तो भगवान्को ही प्राप्त होगा। वह मृत्युरूपी संसारसागरमें कभी न डूबेगा। उसको मृत्यु कभी नहीं मार सकेगी। वही पुरुष धन्यवादका पात्र है जिसका हर समय एकमात्र भगवान्में ही ध्यान रहता है। जिसको निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन रहता है, उसको फिर जीवन्मुक्तिसे क्या प्रयोजन है? वह तो दर्शन करने योग्य है। उसके दर्शनसे तो पापी भी पाप-मुक्त हो जाता है। उसके जरिये कितने ही पुरुष जीवन्मुक्त हो जाते हैं, फिर उसके अपने जीवन्मुक्त होनेकी तो आवश्यकता ही नहीं रहती। सर्वकालमें निरन्तर एकमात्र भगवान्का चिन्तन होता रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ भी चाह नहीं होनी चाहिये।

(८)

आपने लिखा कि 'समय बहुत व्यर्थ जाता है, भजन बहुत ही कम होता है' सो व्यर्थ समय किस

लिये जाता है ? विषयी पुरुषोंका संग और विषयोंका चिन्तन अधिक होता होगा । भगवान्‌में प्रेम कम होनेके कारण ही भजन कम होता है । भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये भगवान्‌के गुणानुवादकी बातें सत्संग तथा शास्त्रोंद्वारा सुननी तथा पढ़नी चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करनेसे भगवान्‌का प्रभाव जाना जा सकता है; जिससे संसारसे वैराग्य होकर भगवान्‌में प्रेम हो सकता है । तब ऐसा होनेपर अपने-आप ही भजन अधिक होगा । दिन बीत रहे हैं, गया हुआ समय पीछा नहीं आता । शरीर एक दिन अवश्य मिट्टीमें मिल जायगा, इसका कोई उपाय नहीं है । जब शरीर ही अपना नहीं है, फिर औरकी तो बात ही क्या है ? जो कुछ भी पदार्थ हैं, सबका नाश होनेवाला है । श्रीनारायणदेव ही सच्चे आनन्दरूप हैं, उन्हींकी शरण लेनी चाहिये । श्रीभगवान्‌के दर्शन हुए बिना संसारके जालसे कभी छुटकारा नहीं होगा । श्रीनारायण प्रेमके अधीन हैं । इसलिये जैसे भी हो शीघ्र श्रीनारायणमें पूर्ण प्रेम हो, बहुत जल्दी वैसी चेष्टा करनी चाहिये । तुम्हारे पास जो कुछ भी है वह सब कुछ नारायणदेवके प्राप्तिके लिये लगा देना चाहिये; फिर तो नारायण हाजिर ही हैं ।

(९)

आपसे अपने पिताजीकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा भलीभाँति बनती है या नहीं ? नारायण-के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान हर समय काम करते हुए भी बना रहे ऐसा उपाय करना चाहिये । करीब दो घंटेका समय भजन-ध्यानके लिये अलग नियत रखना चाहिये । इस कामके लिये अवकाश अवश्य निकालना चाहिये । सत्सङ्गकी चेष्टा करनी चाहिये । शास्त्र तथा भगवत्-भक्तिसम्बन्धी ग्रन्थोंको पढ़ना भी सत्सङ्ग ही समझा जाता है । भजन-ध्यानमें आनन्द आनेपर तो बिना ही चेष्टाके भजन हो सकता है । अभी तो एक बार बुद्धिके विश्वाससे और जबर्दस्ती-से ही करना चाहिये । भजन करते-करते ही आनन्द आता है और तभी भजनका मर्म जाना जा सकता है !

(१०)

आपने लिखा—'निरन्तर भजन-ध्यान हो, ऐसी कड़ी बात लिखनी चाहिये ।' सो ठीक है । परन्तु बातोंसे भजन-ध्यान होता तो कभीका हो जाता । परमात्मामें प्रेम होनेपर संसारसे आप ही वैराग्य हो जाता है । भगवान्‌के गुणानुवाद, उनके स्वभाव, सामर्थ्य और प्रेम-भक्तिकी बातें पढ़ने-सुननेसे भगवान्‌का मर्म जाना जाता है । तब मिलनेकी तीव्र इच्छा होती है और तभी भजन-ध्यानकी अधिक चेष्टा होती है । भजन-ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब संसारके भोग अच्छे नहीं लगते । एकमात्र भगवान्‌के मिलनेकी ही बारम्बार उत्तेजना होती है । तभी निरन्तर भजन होता है । वैराग्यकी स्थिति बनी रहनेपर तो उत्तेजनाके बिना भी अपने-आप ही भजन-ध्यान होता रहता है ।

समय बीता जा रहा है, गया हुआ समय किसी प्रकार भी लौटकर नहीं आता । ऐसा जानकर समयको अमूल्य काममें ही बिताना चाहिये । ऊँचे-से-ऊँचे काममें ही समय लगाना चाहिये । आप जिस कामके लिये संसारमें आये थे, उस कामको पहले पूरा करके ही फिर दूसरे कामको देखना चाहिये । एक भगवान्‌के बिना आपका सच्चा सुहृद् और कोई नहीं है । विलम्ब करनेका समय नहीं है ।

(११)

तुमने लिखा कि 'परमात्मामें मन लगे ऐसा उपाय होना चाहिये' सो मेरा भी यही लिखना है कि इसीके लिये जल्दी होनी चाहिये । परन्तु आप उपाय न करें तब क्या उपाय हो ? जिसे परमात्मामें मन लगानेकी चिन्ता होगी, वह उसके लिये बड़ी तत्परताके साथ उपाय करेगा, और उसीका उपाय भी सफल होगा ।

(१२)

भजन, ध्यान, सत्सङ्गके लिये हर समय सचेष्ट रहनेसे, थोड़ा-बहुत भजन-ध्यान हो सकता है। अधिक भजन तो बहुत दिनोंतक विशेष तत्परताके साथ अभ्यास करनेपर भले ही बने। भजन, ध्यान और सत्सङ्गके समान संसारमें और कोई लाभ नहीं है। मनुष्यको विचार करना चाहिये, कि मैं किस लिये आया हूँ, मैं कौन हूँ? मेरा क्या कर्त्तव्य है और मैं कर क्या रहा हूँ? मैं जो कुछ करता हूँ वह सब ठीक है या नहीं? जिससे हमारा परम कल्याण हो, हमें वही करना चाहिये। मैं जो कुछ करता हूँ वह यदि ठीक नहीं है, तो फिर वही करना चाहिये जो ठीक हो। मूल्यवान्-से-मूल्यवान् काममें ही समय लगाना चाहिये।

(१३)

तुमने लिखा 'मुझमें प्रेमका अभाव है, यह त्रुटि है, इसीसे तुम्हारा पत्र नहीं आया।' सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये। तुमसे अधिक प्रेमवाले किसीको पत्र दिया जाता तो तुम्हारा ऐसा लिखना ठीक था। तुम्हारे प्रेमविषयक समाचार········कहे होंगे, तुम्हारे मिलनेकी इच्छा विदित हुई। तुम्हारी ऐसी ही उत्कण्ठा हो तो मैं कलकत्ते आ सकता हूँ। परन्तु किसी कामके बहानेसे ही आना ठीक है, क्योंकि पूज्य श्रीमाताजी बिना कारण मेरे कलकत्ते रहनेमें अपनी कम सम्मति प्रकट करती थीं। और तुमने लिखा—'मुझमें प्रेमका अभाव है, इसके दूर होनेका कोई उपाय लिखना चाहिये।' सो ठीक है। अभाव तो नहीं है, कम है। उसके अधिक होनेके लिये उपाय पूछ सकते हो। असलमें तो प्रेम होनेपर ही प्रेमका मर्म जाना जा सकता है। अतः पूर्ण प्रेम तो श्रीनारायणसे ही करना चाहिये। निष्काम भावसे श्रीनारायणमें कैसे प्रेम हो सकता है, इस विषयमें ········की चिट्ठीमें लिखा है, वह पढ़ सकते हो। हर समय नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करनेसे भी प्रेम बढ़ सकता है। भगवान्‌के गुणानुवाद और स्वभाव सत्सङ्गद्वारा जाननेसे उसका प्रभाव जाना जाता है। तब उसमें प्रेम और मिलनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न होती ही है। यदि उसकी दयालुता, सुहृदता और मित्रताकी ओर ध्यान दिया जाय तो उससे मिले बिना रहा ही कैसे जा सकता है? इस प्रकार मर्म जान लेनेपर तो बिना ही परिश्रम सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन रह सकता है। जबतक भगवान्‌का प्रभाव नहीं जानते तभीतक संसारका चिन्तन होता है। भगवान्‌का प्रभाव जान लेनेपर उसमें श्रद्धायुक्त पूर्ण प्रेम हो जाता है, फिर दूसरा चिन्तन हो ही नहीं सकता।

········के साथ इस बार तुम्हारा यहाँ आना न हो सका, और न कलकत्तेमें ही इस बार विशेष सङ्ग हुआ। इसपर तुमने अपने प्रेमकी त्रुटि मान ली। सो ऐसा नहीं मानना चाहिये। मेरे पास जितने लोग रहे, उन सभीका पूर्ण प्रेम थोड़े ही समझा जा सकता है। प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। मिलना भले ही कम हो। मैं तो प्रेमीका दास हूँ। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। स्वयं श्रीनारायण भी अपने प्रेमीके अधीन हैं। इसलिये पूर्ण विशुद्ध प्रेम तो श्रीनारायणमें ही करना चाहिये।

तुम्हारे मनमें मिलनेकी विशेष उत्कण्ठा हो तो भी श्री········जी आदिकी आज्ञा बिना न आना। तुमको आनेमें दो जगहसे आज्ञा लेनी पड़ती है, श्रीपू० माताजीकी आज्ञा भी प्राप्त करनी चाहिये।

भक्तोंका सङ्ग (आजकल) कैसा होता है? निरन्तर असली, ऊँचा और मूल्यवान् साधन करना चाहिये। समय तो बीता ही जा रहा है, उसको उत्तम-से-उत्तम काममें ही बिताना चाहिये।

श्रीगंगाजी

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०)

श्रीगंगाजीका उद्गमस्थान

श्रीगंगाजीके सम्बन्धमें मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ। कई वर्षोंसे आवश्यक सामग्री इकट्ठी की जा रही है। परन्तु मैं अभीतक यह निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि गंगाजीका असली उद्गमस्थान कहाँ है। प्रतिवर्ष सैकड़ों यात्री गंगोत्री-की यात्रा करने जाते हैं। गंगोत्रीसे दस मील आगे गौमुख है, जहाँसे गंगाजीकी धार बड़े वेगसे निकलती है। वह धार वास्तवमें कहाँसे, और कितनी दूरसे आती है, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। गौमुखके आगे बर्फ-ही-बर्फ है, और उस बर्फको पार करना मनुष्यके लिये आसान काम नहीं है।

पुराणोंके अनुसार श्रीगंगाजी भगवान् शंकरकी जटासे निकली हैं। और शंकरजीका निवासस्थान कैलास पर्वत है, जो कि गौमुखसे सौ मीलसे अधिक दूर है। कैलासके नीचे मानसरोवर है, जिसको कुछ लोग श्रीगंगाजीका उद्गमस्थान मानते हैं। परन्तु मानसरोवरसे गौमुखतक कोई ऐसी नदी नहीं देखनेमें आती, जिससे इस बातपर विश्वास किया जा सके। वहाँसे तो सतलज नदी अवश्य निकली है। यदि यह मान भी लें कि गंगाजीकी धार मानसरोवरसे आती है, तो बीचमें हिमालयकी एक पर्वतश्रेणी मौजूद है, जिसके कारणसे मानसरोवरसे निकली हुई किसी भी नदीका जल गौमुखतक आना सम्भव नहीं। हाँ, इस पर्वतश्रेणीमें दो दर्रे नीति और माना नामके हैं। जिनसे क्रमशः धौली गंगा और अलखनन्दा आती हैं। परन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि मानसरोवरसे कोई नदी आकर धौली गंगा या अलखनन्दामें मिली हो।

इस सम्बन्धमें मैंने एक पत्र भारतसरकारके सर्वे विभाग-के डाइरेक्टरको लिखा था। इस विभागने गत दो तीन वर्षों-से गढ़वाल जिला और टिहरी राज्यकी जाँच और खोज करनेका काम हाथमें लिया है। और इस विभागके अफसरों-ने भी गंगाजीके असली उद्गमस्थानका पता लगानेका प्रयत्न किया है। परन्तु वे भी गौमुखके आगे कुछ पता न लगा सके। इस विभागके एक अफसर मेजर आसमेस्टनने गौमुख और कैलासके आस-पासका नकशा भागीरथी, अलखनन्दा, मन्दाकिनी, धौलीगंगा इत्यादिके वर्णनसहित मेरे पास भेजनेकी कृपा की है। यह नकशा सर्वे विभागकी वर्तमान खोजके आधारपर बनाया गया है। इससे भी गंगाजीके असली उद्गमस्थानका पता नहीं लगता।

सन् १७८० ई० के लगभग रेनल साहबने एक पुस्तक अंगरेजीमें लिखी है, जिसका नाम Memoirs of a Map of Hindustan है। उसमें उत्तर भारतका जो नकशा दिया है, उसमें गंगाजीका उद्गमस्थान मानसरोवर बताया गया है, और मानसरोवरसे गौमुखको एक नदीद्वारा सम्बन्धित कर दिया गया है। और जो नदी मानसरोवरसे गौमुखतक दिखलायी गयी है, उसमें एक ऐसी नदीका भी मिलना दिखलाया गया है, जो काश्मीरकी तरफसे आती है। इस तरह श्रीगंगाजीका एक दूसरा उद्गमस्थान काश्मीरकी तरफ रेनल साहबने माना है। पुस्तक पढ़नेपर उसमें इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रेनल साहबने स्वयं खोजकर गंगाजीके उद्गमस्थानका, गौमुखसे मानसरोवरतक गंगाजी-के किनारे-किनारे जाकर, पता लगाया हो। ऐसा मालूम होता है कि रेनल साहबने जनश्रुतिके आधारपर ही नकशेमें मानसरोवर-को गंगाजीका उद्गमस्थान दिखला दिया है। सर्वे विभागकी वर्तमान खोजसे इसका समर्थन नहीं होता है। मेजर आसमेस्टन साहबका अनुमान है कि मानसरोवरके आस-पाससे करनाली नामकी नदी दक्षिणको जाकर घाघरा (सरयू) में मिलती है, और घाघरा अन्तमें गंगाजीमें मिली है। यदि करनाली नदीको ही असली गंगा मान लें, तो गंगाजीका कैलास और मानसरोवर-से निकलना सिद्ध हो सकता है।

गंगाजीके उद्गमस्थानके विषयमें महामहोपाध्याय मधुसूदनजी झासे ज्ञात हुआ है कि गंगाजीका असली उद्गम

स्थान काश्मीरके उत्तरमें पामीरका पठार है। आपका मत है कि गंगाजीका जल इस ब्रह्माण्डसे बाहर दूसरे ब्रह्माण्डसे आया है। इसीलिये उसके जलमें जो गुण हैं, वह संसारके किसी भी जलमें नहीं हैं। आपने कहा है कि दूसरे ब्रह्माण्डका जल भापरूपमें इस ब्रह्माण्डमें आकर चन्द्रमाकी शीतलता पाकर उसके आसपास जमने लगता है और वहाँसे वह ध्रुवतारेपर गिरता है, जिसे विष्णुपाद भी कहते हैं। ध्रुवतारेसे जल पामीर पठारपर गिरता है। वहाँसे चारों तरफ चार धाराएँ जाती हैं। जो धार दक्षिणकी तरफ आती है, उसे ही वर्तमान गंगाका नाम दिया गया है। यह धारा प्राचीन कालमें हिमालयपर्वतके कारण भारतमें आनेसे रुक जाती थी। सूर्यवंशी राजा भगीरथ हिमालयमें एक सुरंग फुड़वाकर इस धाराको भारतकी तरफ लाये। गौमुख ही उस सुरंगका दक्षिणी मुख है। गोमुखके आस-पास बर्फ जमी रहनेके कारण अब आजकल कोई उस सुरंगका पता नहीं लगा सकता। यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय तो पुराणोंमें श्रीगंगाजीकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें दी हुई बहुत-सी बातें आसानीसे समझमें आ जाती हैं। परन्तु इस कथनको सत्य माननेमें सबसे बड़ी अड़चन यह है कि आजकल ऐसी कोई नदी नहीं दिखायी देती जो पामीरके पठारसे हिमालयके दूसरी तरफतक बहती हो। हाँ, रेनल साहेबके नकशेमें इस प्रकारकी नदी अवश्य बतलायी गयी है। परन्तु उसके अस्तित्वका पता आजकल तो कहीं नहीं लगता, दूसरी अड़चन यह है कि भगवान् शंकरका निवासस्थान पामीर मानना होगा, जो कैलास पर्वतसे सैकड़ों मील दूर है।

श्रीगंगाजीके उद्गमके सम्बन्धमें मैं जो कुछ जान पाया हूँ, उसे मैंने ऊपर लिखनेका प्रयत्न किया है। इस जानकारीके आधारपर मैं किसी भी निश्चयपर नहीं पहुँच सका हूँ। 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि श्रीगंगाजीके उद्गमस्थानके बाबत वे जो कुछ जानते हों, मेरे पास लिख भेजकर मुझे अनुगृहीत करें। यदि उनके पास श्रीगंगाजीके किनारेके, किसी स्थान, घाट, मन्दिर, आदिका चित्र (फोटो) हो, तो उसे भी मेरे पास दारागंज, प्रयागके पतेसे भेजनेकी कृपा करें। इस कृपाके लिये मैं उनका बहुत आभारी रहूँगा।

गंगाद्वारसे गंगासागर

(१)

लक्ष्मणझूलासे कर्णवास

वर्तमान समयमें रेल, हवाईजहाज, सड़क आदिकी सुविधाओंके कारण, जहाँ मनुष्यको अपने निश्चित स्थानपर पहुँच जानेकी अपूर्व सुविधा हो गयी है; वहाँ मनुष्यको मार्गके सब स्थानोंका सूक्ष्मरूपसे दर्शन और ज्ञान प्राप्त करनेका अवकाश भी नहीं रहा है। रेल सर-सर सर-सर मनुष्यको ले जाकर निश्चित स्थानपर पटक देती है। पहाड़ी स्थानोंमें अनेक कठिनाइयोंके कारण इन साधनोंका कुछ अभाव-सा है। इस कारणसे यात्री ऋषीकेशसे उत्तराखण्डमें प्रवेश करते समय पैदल या कंडी-झप्पान आदिके द्वारा ही यात्रा करते हैं। इसी कारणसे इस प्रदेशके मार्गवर्ती स्थानोंका वर्णन कुछ यात्रियोंने प्रकाशित किया है। हरिद्वारसे दक्षिणमें गंगाजी मैदानमें प्रवेश करती हैं। यहाँसे गंगासागरतककी यात्राके क्रमबद्ध विवरण कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं।

यहाँ कुछ सज्जन कहेंगे कि रेल आदिसे हम जिस स्थानपर जाना चाहें जा सकते हैं। किन्तु अनुभवसे ज्ञात होता है कि सुविधा मिल जानेपर मनुष्यका यात्राक्षेत्र कुछ स्वभावतः संकुचित हो जाता है। आजकल हवाईजहाजका मार्ग स्थापित हो जानेके कारण लोग केवल बद्रीनाथ और केदारनाथके दर्शन करके ही अपनेको धन्य मान लेते हैं जिससे मार्गके अन्य स्थानोंकी उपेक्षा होने लगी है। इन सज्जनोंको पर्वतयात्राका भी कोई विशेष आनन्द नहीं प्राप्त होता।

यह कितनी लज्जाकी बात है कि विदेशी लोग तो सुदूर

विलायतसे आकर हमारे देशके दुर्गम-से-दुर्गम स्थानोंकी यात्रा करें और उनका विशद वर्णन अपने देशकी पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित करें, और हमलोग अपने उन चिर-परिचित स्थानोंकी भी उपेक्षा करते जायँ जिनकी कीर्तिको हमारे पूर्वज सहस्रों वर्षसे जीवित किये हुए हैं। श्रीगंगाजी-को ही लीजिये। यह भारतकी सबसे पवित्र पुण्यसलिला नदी है। इसके तटपर सबसे प्रथम हमारी सभ्यताका विकास

लक्ष्मण झूलेका पुल, चित्र नं० १

हुआ है। इसीकी घाटी आज भी भारतका उद्यान समझी जाती है। इसका अधिकांश भाग भी मैदानमें ही स्थित है। इसका मार्ग कुछ भी दुर्गम नहीं है। इस देशके मुख्य स्थान और हजारों तीर्थ इसके तटपर स्थित हैं। किन्तु कितने हैं ऐसे भारतके लाल जिन्होंने इसकी सम्पूर्ण यात्रा की हो। उस यात्राका पूरा विवरण लिखना तो दूर रहा, सौ दो सौ मीलका ही पूरा विवरण लिखनेवाले भी नजर नहीं आते!

हम ऊपर स्वीकार कर आये हैं कि उत्तराखण्डकी यात्रा लोगोंने की है, और उसके कई वर्णन भी हिन्दीमें प्रकाशित हो चुके हैं। इसलिये उस वर्णनको न दुहराकर हम केवल लक्ष्मणझूलासे दक्षिणहीका वर्णन अपनी लेखमालामें करते हैं। ईस्ट इंडियन रेलवेके ऋषीकेश स्टेशनसे तीन मीलकी दूरीपर लक्ष्मणझूला नामक स्थान है। यहाँपर लक्ष्मणजीका मन्दिर है और उन्हींके नामसे एक प्रसिद्ध झूला है, जिसपरसे लोग भागीरथीको पार करते हैं। यह झूला तारके रस्सोंपर बना हुआ है। पुल ५०० फीट लम्बा है। (देखो चित्र १) इसपर चलनेसे पुल झूलेकी तरह हिलने लगता है। गंगाजीके दोनों ओर बस्ती है। यात्रियोंके ठहरनेके लिये धर्मशाला है। पोस्ट आफिस भी है। यहाँसे थोड़ी दूरपर

सत्य सेवाश्रम, स्वर्गाश्रम नामक स्थान हैं। (देखो चित्र २) के उत्तर भागमें भरतजीका शिखरदार एक प्रसिद्ध
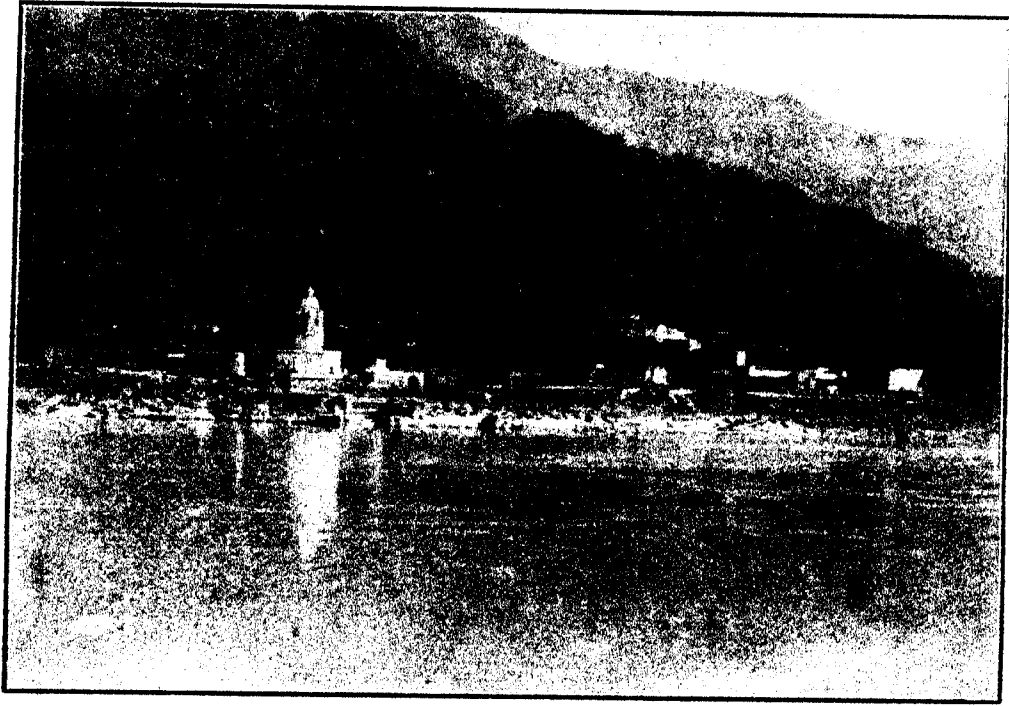
स्वर्गाश्रमका दृश्य, चित्र नं० २

यह स्थान अत्यन्त रमणीय है। झूलेके दोनों ओर बाबा काली कमलीवालेकी धर्मशालाएँ हैं। सदावर्त भी बँटता है। यहाँ गंगाका घाट चौड़ा तो नहीं है किन्तु गहरा अवश्य है।

ऋषीकेशसे १॥ मीलकी दूरीपर मुनिकी रेती है। यहाँ गढ़वाल रियासतका कुली रजिस्ट्रेशन आफिस है। इसी स्थानपर सरकारी ठेकेदार रहता है जो यात्रियोंका सामान वगैरह तौलता है और कुली आदिके नाम-पते लिखता है। यहाँपर टिहरी नरेशकी शिल्पशाला और अस्पताल हैं।

ऋषीकेश हरिद्वारसे चौदह मील है। यहाँतक रेल भी आती है। ऋषीकेशतक मोटर, ताँगा या इक्का भी मिल जाते हैं। ऋषीकेश प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी तपोभूमि है। गंगाके दाहिने तटपर यहाँकी श्रीरामजानकीका मन्दिर है। (देखो चित्र १, पृष्ठ नं० १३४३) मन्दिरके आगे गंगाकी ओर कुब्जामृत नामक कुण्ड है। ऋषीकेश-मन्दिर है। (देखो चित्र ४, पृष्ठ नं० १३४१) मन्दिरमें श्रीभरतजीकी सुन्दर मूर्ति है। बाबा काली कमली-वालेके क्षेत्रोंका यहाँ प्रधान केन्द्र है। यहाँपर पोस्ट आफिस और तारघर है। ऋषीकेशसे थोड़ी दूरपर कैलाश नामक एक स्थान है यहाँ श्रीशंकराचार्य और चन्द्रशेखर महादेवके मन्दिर हैं। यहाँपर श्रीशंकराचार्यजीकी गद्दी भी है।

हरिद्वारसे आठ मीलपर सत्यनारायण चट्टी है। यहाँ श्रीसत्यनारायणजीका मन्दिर और निर्मल जलका एक कुण्ड है। बाबा काली कमलीवालेका यहाँ एक क्षेत्र है।

हरिद्वार भारतके मुख्य सात नगरोंमेंसे है। श्रीगंगाजीकी विचित्र शोभाके देखनेका सौभाग्य सबसे प्रथम यहीं प्राप्त होता है। हरिद्वारका स्टेशन ई० आई० आर० की उस शाखापर है जो लुकसर जंकशनसे देहरादूनतक गयी है।
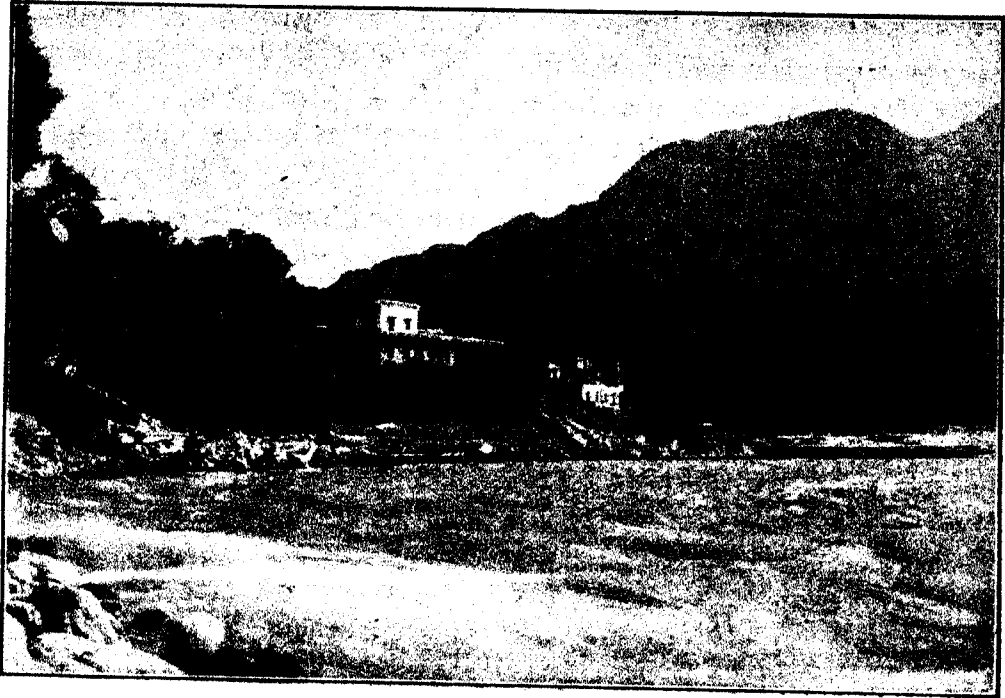
श्रीरामजानकीका मन्दिर, चित्र नं० ३
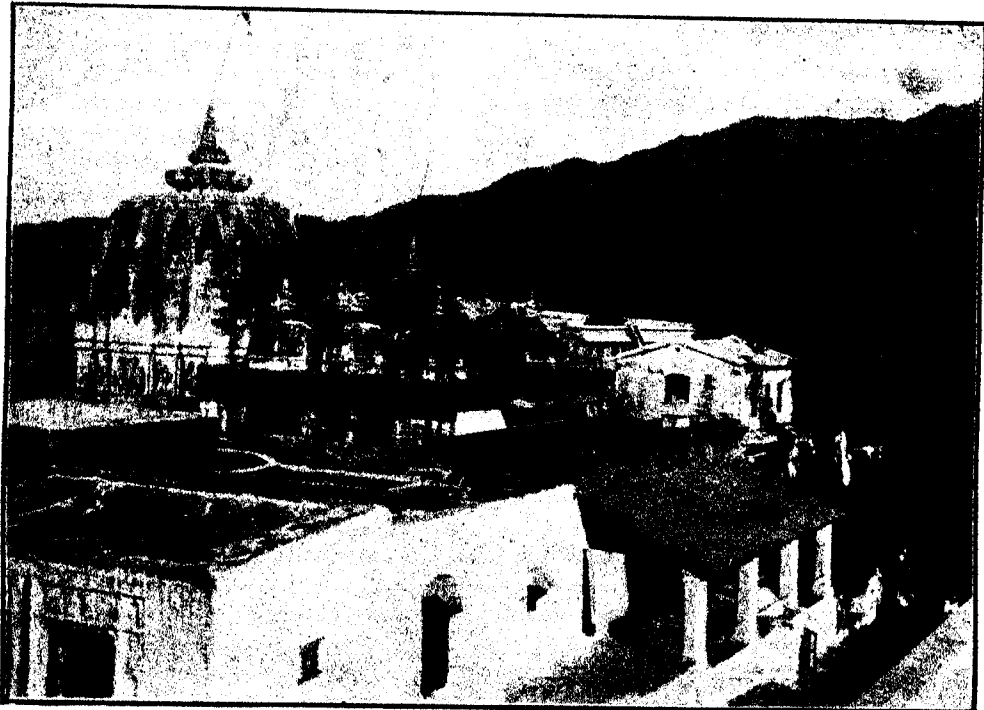
भरतजीका शिखरदार मन्दिर, चित्र नं० ४

हरिद्वारमें करीब ४२ धर्मशालाएँ हैं। कुछमें यात्रियोंके भोजनका भी प्रबन्ध है।

हरिद्वार अब एक बड़ा नगर बन गया है। यह श्रीगंगाजीकी नहरके किनारे है। डाकघर, बिजली, तार, टेलीफोन आदि सभी यहाँ हैं। म्युनिसिपलटीके उद्योगसे इस समय पक्की सड़कें बन गयी हैं। अस्पताल भी खुल गया है। खाने-पीनेकी चीजोंके लिये बाजार है।

हरिद्वारमें स्नान-माहात्म्य है। यहाँ देवदर्शनका भी बड़ा पुण्य है। पिण्डदान, तर्पण भी किया जाता है। हरिकी पैड़ीमें अस्थियाँ भी प्रवाहित की जाती हैं। यह स्टेशनसे पौन मीलकी दूरीपर प्रसिद्ध पत्थरका पक्का घाट है। दाहिनी ओर दो-तीन मन्दिर हैं। बायीं ओर पत्थरका एक बड़ा मकान है। जिसके साथ ही एक ओर मन्दिर है। इस घाटपर उत्तरकी ओर दीवारके नीचे हरिका चरणचिह्न है। हरिकी पैड़ियोंसे कुछ दूर पूर्वकी ओर गंगाके बीच घाटमें पानीसे थोड़ा ऊपर एक चबूतरा है। इस प्लेटफार्म तथा सीढ़ियोंके मध्यमें एक छोटा-सा पुल है। प्लेटफार्म और पैड़ियोंके बीच जहाँ गंगाकी धार है उस स्थानको ब्रह्मकुण्ड कहते हैं। यहाँ निडर बड़ी मछलियाँ बहुत हैं। गंगाजीकी धारके बीचमें मनसादेवीका मन्दिर है। मन्दिरकी प्रदक्षिणा लोग जलहीमें करते हैं। ब्रह्मकुण्डपर ब्रह्माजीने यज्ञ किया है। यहींपर श्रीगंगाजीका मन्दिर है, जहाँ सायं-प्रातः आरती होती है। रातको बहुत-से नर-नारी पत्तेके दोनोंमें दीपक जलाकर गङ्गाजीकी धारामें छोड़ते हैं, उस समय गंगाकी शोभा बड़ी सुन्दर मालूम होती है।

गंगाकी दूसरी तरफ सामने ही नीलपर्वत है। इसके नीचे नीलधारा बहती है। हरिद्वारसे ही श्रीगंगाजीकी प्रधान नहर आरम्भ होती है। गर्मीके दिनोंमें श्रीगंगाजीका अधिकांश जल इसी नहरमें छोड़ा जाता है। थोड़ा-सा जल नीलधारामें आता है। असलमें नीलधारा ही गंगाजीकी प्रधान धारा है। पहाड़की ठीक चोटीपर चण्डीदेवीका मन्दिर है। इसके समीप ही अंजनादेवीका छोटा-सा मन्दिर है।

हरिद्वारमें अन्य स्थानोंकी भाँति मन्दिर बहुत अधिक नहीं हैं। दस-पाँच मन्दिर अब बन गये हैं। श्रवणनाथ, और बिल्वकेश्वर महादेवके मन्दिर भी दर्शनीय हैं।

हरिद्वारसे एक मील दक्षिण-पश्चिम गंगाके दाहिने तटपर मायापुर है। यह सप्तपुरियोंमेंसे माया नामक एक पवित्र पुरी थी। अब यह हीन दशामें है। यहाँके प्राचीन ऊँचे टीले ही इसकी स्मृतिमात्र हैं। इसी मायापुरमें राजा वेनकी उजड़ी गढ़ी बनी हुई है। इन टूटे-फूटे ध्वंसावशेष स्थानोंको देखनेके लिये भी यात्री बड़े चावसे जाते हैं।

यहाँसे दो मीलकी दूरीपर गंगाके दाहिने किनारे बसा हुआ कनखल तीर्थ है। यह छोटा कसबा है किन्तु हरिद्वारकी अपेक्षा बड़ा है। यहाँ भी पक्के घाट बने हुए हैं। संन्यासियों, वैरागियोंके मठ और अखाड़े बहुत हैं। बाजार बड़ा और सुन्दर है। किन्तु यहाँ हरिद्वारकी रौनक नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मकान खाली और उजाड़ पड़े हैं। अनेक सदावर्त हैं किन्तु उनका प्रबन्ध ठीक न होनेके कारण साधु-संन्यासी कष्ट पाते हैं।

कनखलमें लंढौरवाली रानीकी छत्री और घाट दर्शनीय हैं। छत्रीमें भगवान् कृष्णकी दिव्य मूर्ति है। छत्रीका कला-कौशल और चित्रकारी दर्शनीय है।

कनखल एक अति प्राचीन स्थान है। इस स्थलपर सनत्कुमारने तप किया था। इसी स्थानपर दक्ष प्रजापतिने यज्ञ किया था, जिसमें सतीने अपना शरीर भस्म कर दिया था। दक्ष प्रजापतिका मन्दिर अब भी विद्यमान है (देखो चित्र ५)। मन्दिरमें वीरभद्र और

दक्ष प्रजापतिका मन्दिर, चित्र नं० ५

भद्रकालीकी छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं, और सामने सतीकुण्ड है। कुण्डसे लोग विभूति लेकर मस्तकमें लगाते हैं। मन्दिर और कुण्डके मध्यमें नन्दीकी मूर्ति है। दालानमें हनुमान्-जीकी मूर्ति है।

हरिद्वारसे चार मीलकी दूरीपर कांगड़ी मिलता है। यह गंगाके बायें तटपर स्थित है। इसके निकट ही नीचेकी ओर आर्यसमाजियोंका सबसे बड़ा गुरुकुल था। इसे सन् १९०८ ई० में महात्मा मुंशीरामजी (स्वामी श्रद्धानन्दजी) ने स्थापित किया था। सन् १९२४ की गंगाजीकी बाढ़में गुरुकुलकी इमारतोंको बहुत नुकसान हुआ। अब गुरुकुल विश्वविद्यालयकी इमारतें हरिद्वारसे थोड़ी दूर श्रीगंगाजीके नहरके किनारे बनायी गयी हैं। भारतकी राष्ट्रीय संस्थाओंमें इस संस्थाका मुख्य स्थान है। प्राचीन सभ्यता और शिक्षाका भारतमें प्रचार करनेके निमित्त इस संस्थाकी स्थापना हुई थी। इसमें ब्रह्मचारियोंको प्राचीन समयके गुरुकुलोंकी भाँति शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया गया था। यहाँसे कुछ मील नीचे इसी तटपर शामपुर है जहाँ डाकघर और थाना दोनों ही हैं। कांगड़ीसे आनेवाली कच्ची सड़क भी इस स्थानसे निकलती है। यहींसे बिजनौर जिला आरम्भ होता है। आगे ही बहार पैली है जहाँसे एक कच्ची सड़क लालधंगको भी जाती है। सामने उस पार चाँदपुर नामक स्थान है। जहाँसे श्रीगंगाजीकी एक धारा बाणगंगाका निकास हुआ है। यह धारा गंगाके पूर्व मार्गमें स्थित है। और कुछ दूर आगे चलकर खानपुरके निकट गंगासे फिर मिल जाती है। कुछ मील नीचे टटवाला स्थानपर रवासन नदीका संगम है। उस पार भोगपुर है। इससे भी कुछ नीचे कोटवाली राव नदीका संगम मालूवालाके निकट ही है। थोड़ा ही नीचे सावलगढ़के किलेके भग्नावशेष दिखलायी पड़ते हैं। इस दुर्गका निर्माण मुग़लसम्राट् शाहजहाँके राजकालमें, लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व, नवाब सावलखाँने किया था। किला गंगाके तटपर ही स्थित है। यहाँसे नागल कच्ची सड़कद्वारा भी जा सकते हैं। यह नगर गंगाजीके बायीं ओर लगभग डेढ़ मीलकी दूरीपर स्थित है और कांगड़ीसे १६ मील पड़ता है। इसे सन् १६०५ ई० में साहनपुरके राजने बसाया था। नागलकी खोहें देखने योग्य हैं। बस्तीसे पचास कदम चलकर ही बड़े-बड़े ऊँचे रेतके टीले गंगातटतक बनते चले गये हैं। इनके अन्दर गुफ़ाएँ हैं और फिर उनके अन्दर वृक्ष-लता इत्यादि हैं। पास ही गोयला-ग्राममें कार्तिकी पूर्णिमापर मेला लगता है। पार रनजीतपुर जानेके लिये नाव भी मिलती है। नागलसे कच्ची सड़कें नज़ीबाबाद, चन्दोक स्टेशन और बालावली स्टेशनको जाती हैं। नागलसे चार मीलपर बालावली है। बालावलीका स्टेशन गंगाके तटपर ही स्थित है। यहीं ई० आई० आर० की लुक्सरवाली शाखा गंगाको पार करती है। चन्दोक जानेवाली कच्ची सड़क वहाँसे मण्डावरतक पक्की बनी हुई है। मण्डावर पुराना नगर है। जो प्राचीन कालमें उजड़ गया था। बारहवीं सदीमें अग्रवाल बनियोंने इसे फिर आबाद किया। गाँवके आस-पास आमके बगीचे हैं। यहाँ देवीजीके उपलक्ष्यमें चैत्र और कारमें मेले लगते हैं। यहाँसे चारों ओर कच्ची सड़कें गयी हैं। मण्डावर श्रीगंगाजोसे करीब छः-सात मील दूरीपर दक्षिण किनारेपर है। इसके सामने गंगाजीके उत्तर तटपर शुक्रताल है। यह वही स्थान है जहाँ राजा परीक्षित शापके बाद गंगा-तटपर चले गये थे और श्रीशुकदेवजीने उनको सात दिनके अन्दर श्रीमद्भागवत सुनायी थी। उस स्थानपर एक पचास-साठ फोट ऊँचा टीला है, जिसके ऊपर एक विशाल वटवृक्ष है, जो कुल टीलेपर साया रखता है। उस टीलेपर एक छोटा-सा मन्दिर स्थापित है, जिसमें श्रीशुकदेवजीके युगल चरणोंके चिह्न स्थापित हैं। यहाँपर मुजफ्फ़रनगरके रईसोंने धर्मशालाएँ बनवा दी हैं। हर धर्मशालामें मन्दिर है, हर मन्दिरमें बारहों महीने पुजारी रहता है। एक दण्डीबाड़ा नामक इमारत है, जिसमें अधिकतर दण्डी स्वामी इत्यादि ठहरते हैं और जिसमें मुजफ्फरनगरकी मण्डोके आढ़तियोंकी तरफ़से क्षेत्र है। मण्डीवालोंकी तरफ़से एक गोशाला भी है जिसका प्रबन्ध अच्छा है। इस स्थानपर गृहस्थी लोग सिर्फ़ गंगास्नानके पर्वपर जाते हैं, बाक़ी समयमें भजनानन्दी लोग ही रहते हैं। कोई बाज़ार या दूकान इत्यादि नहीं हैं। मेलोंपर और जगहोंसे दूकानें आती हैं। मुजफ्फ़रनगर स्टेशनसे भोप्पा नामक ग्रामतक पक्की सड़क गयी है, वहाँसे श्रीशुकदेवजीतक कच्ची चौड़ी सड़क गयी है। भोप्पेसे शुकदेवजी छः मील रह जाते हैं।

शुकतालसे करीब चार मील मतावलीघाट है जहाँसे

मुजफ्फरनगरको सड़क गयी है। मतावलीघाटके दूसरी तरफ श्रीगंगाजीके दक्षिण तटपर रावलीघाट है। बीचमें नावोंका पुल प्रतिवर्ष बनाया जाता है। रावलीघाटसे पक्की सड़क बिजनौरको गयी है। यह यहाँसे नौ मील है। बिजनौर गंगाके दक्षिण किनारेसे तीन मीलपर स्थित है। प्राचीन कालमें इसे उसी राजा वेनने बसाया था, जिसने बीजना पंखे बेचकर काम चलाया, किन्तु लोगोंसे कर नहीं वसूल किया। कदाचित् यह बीजानगर या विजयनगरका अपभ्रंश है। यहाँ जाटोंका आधिपत्य रहा है। यहाँ कई मन्दिर और सरकारी सरायें हैं। यहाँसे साधूपुरा होती हुई गंगातटतक पक्की सड़क बनी हुई है। वहाँ नावोंका पुल है। उस पार थाना भी है। वहाँसे मीरनपुर और नयगाँवकी ओर कच्ची सड़कें गयी हैं।

दारानगर आठ मील नीचे गंगातटपर ही बसा हुआ है। यहाँसे आध मीलपर गंज है। जहाँ डाकघर और थाना है। यहाँ गंगास्नानके कई मेले होते हैं। इनमें प्रधान कार्तिकमासकी पूर्णिमाका होता है। दारानगरमें विदुर-कुटी है। महाभारतके समय पाण्डवोंकी स्त्रियाँ यहीं पहुँचा दी गयी थीं। इसीसे इसका ऐसा नाम है। यहाँ विदुरजीकी पादुकाएँ हैं। गंजमें कालीका मन्दिर है, और पक्का घाट बना हुआ है। यहाँ कार्तिक शुक्ला सप्तमी और अष्टमीसे गंगाजीकी रेतीमें बड़ा मेला लगता है जो अगहनमें द्वितीयातक रहता है। यह स्थान हरिद्वारसे पचास मील दक्षिण है। यहाँसे गढ़मुक्तेश्वर चालीस मील रह जाता है।

दारानगरसे दो ही मील दक्षिणमें जहानाबाद है, जिसका पुराना नाम गोवर्धननगर था। किन्तु शुजाजातखाँने इसका नाम जहाँगीर बादशाहकी यादगारमें जहानाबाद कर दिया। यहाँसे कुछ मील नीचे छोइया नदी आकर गंगासे मिली है। यहीं धिनवारपुरपर गंगा पार करनेके लिये नाव मिलती है।

यहाँसे आठ मील दक्षिणमें सीताबनी नामक स्थान जंगलमें है। यहाँ शंकरजीकी मूर्ति एक मठमें है। गंगाजी इसके चारों ओर आ जाती हैं। इसे रामकार कहते हैं। ऊपर पहुँचनेके लिये जगमोहनमें पहुँचकर चार रास्ते हैं। यहाँ एक सीताकुण्ड है।

उस पार गंगाजीके उत्तर तटपर कई मीलका नीचा मैदान खादिरके नामसे प्रसिद्ध है। इस मैदानपर घासके जंगल उगे हुए हैं, जो सुअर आदि पशुओंसे पूर्ण हैं। यह अवश्य ही किसी समयमें गंगाका पेंदा रहा होगा। गंगामें यह महान् परिवर्तन जिसके कारण इस खादिरका विकास हुआ, चौदहवीं शताब्दीमें हुआ था। जनश्रुतिके अनुसार इसी प्रकारका एक और परिवर्तन शाहजहाँके शासनकालमें हुआ है।

नीचेके प्रदेशमें गंगाका दाहिना तट तो स्पष्ट है, किन्तु बायें तटका कुछ भी ठिकाना नहीं है। धार काफी स्थिर है। किन्तु कुछ स्थानोंपर तट कट रहे हैं। मेरठ जिलेके पूठ परगनेमें काफी कटाव हुआ है। और खादिरमें कृषि की हुई भूमि बराबर बदलती चली जा रही है। इस विस्तृत तटपर गढ़मुक्तेश्वर और पूठको छोड़कर कोई बड़ा ग्रामतक गंगाके दाहिने तटपर नहीं है। मालूम पड़ता है कि नदीका धरातल गढ़मुक्तेश्वरसे कुछ नीचा होता गया है। जिससे यहाँ और पूठकी भूमि केवल धान और ऊखके उपयुक्त रह जाती है।

सीताबनीसे करीब बीस मील श्रीगंगाजीके दक्षिण तटपर टिगरी ग्राम है। यहाँ कार्तिकी पूर्णमासीपर बड़ा मेला लगता है। टिगरीसे दूसरी तरफ श्रीगंगाजीके उत्तर तटपर गढ़मुक्तेश्वर है। यह बूढ़गंगा संगमसे कुछ ही मील नीचे एक उच्च कगारपर स्थित है। गढ़वाल और देहरादूनसे बहे हुए लकड़ी और बाँसके गट्ठर यहाँ आते हैं, और उनका व्यापार यहाँ खूब होता है।

गढ़मुक्तेश्वरका नाम मुक्तेश्वर महादेवके नामपर पड़ा है। जिनका विशाल मन्दिर (देखो चित्र ६) गङ्गाजीसे

मुक्तेश्वर महादेव, चित्र नं० ६

करीब एक मील दूर है। मन्दिरके अन्दर ही नृगकूप है (देखो चित्र ७)। जिसमें स्नान करनेका बड़ा माहात्म्य है।

नृग कूप, चित्र नं० ७

मन्दिरके पास ही वनमें झारखण्डेश्वर महादेवका प्राचीन लिङ्ग है (देखो चित्र ८)। इसके अतिरिक्त गङ्गेश्वर,
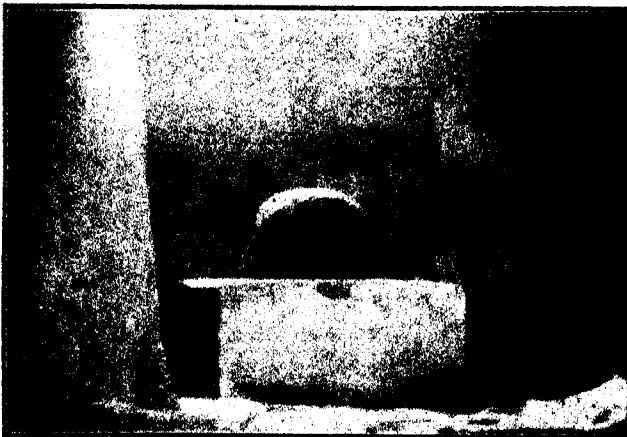
झारखण्डेश्वर महादेवका लिंग चित्र नं० ८

भूतेश्वर और आशुतोषेश्वरकी भी मूर्तियाँ प्राचीन हैं। यहाँपर लगभग अस्सी सतीस्तम्भ हैं। किन्तु वे अब भग्नावस्थामें हैं। गङ्गाजीका सबसे पुराना सीढ़ियोंवाला मन्दिर है। यह झज्झर जिला रोहतकके नवाब और उनके कायस्थ दीवानके उद्योगसे बना है। कार्तिकी पूर्णिमाको यहाँ बड़ा मेला लगता है।

गढ़मुक्तेश्वरसे आठ मील दक्षिणमें गङ्गाकी दाहिनी ओर पूठ स्थित है। यहाँ सोमवतीको अच्छा मेला लगता है। रघुनाथजी, राधाकृष्ण तथा महाकालेश्वरके मन्दिर गङ्गातटपर ही हैं। कहा जाता है, कि हस्तिनापुरके राजाओंका उद्यान यहीं था। इसका नाम भी पुष्पवती था। नाममें रूपान्तर मुसलमानोंके कारण हुआ है। यहाँ खादिर समाप्त हो जाती है। पार जानेके लिये नाव रहती है। नावोंका पुल भी बनता है। जिसे पारकर सड़क गङ्गाचोली ग्राम होती हुई हसनपुरको जाती है। पूठसे एक मीलपर शङ्करटीला है, अति रमणीक स्थान जंगलमें है। एक मन्दिर है। भगवानपुर यहाँसे चार मील है। यहाँ एक प्राचीन शिवालय है किन्तु उसमें मूर्ति नहीं है। यहाँ एक संस्कृत पाठशाला है। यहाँसे चार मीलपर बसई ग्राम है। यहाँपर मुरादाबाद जिलेमें जानेके लिये नाव मिलती है। यहाँ एक शिवालय और दो छोटी-छोटी धर्मशालाएँ हैं जहाँसे आठ मील माडू पड़ता है। यहाँ माण्डव ऋषिकी मूर्ति है। माण्डकेश्वर महादेवका मन्दिर है। यहाँ ढाकका वन है। यहाँसे पाँच मील नीचे अहार है।

अहार एक प्राचीन किन्तु छोटा नगर है। यहाँसे पार सिरसासरायँ नामक ग्राममें जानेके लिये नाव मिलती है, जहाँ एक मन्दिर भी है। अहारमें मन्दिर बहुत हैं, जिनमेंसे कुछ प्राचीन हैं। शिवरात्रि और गङ्गादशहरापर मेला लगता है। गङ्गास्नानके लिये बड़ी भीड़ होती है। भैरोंगणेश, कञ्चनामाई, चामुण्डमाई, हनुमान्‌जी, भूदेश्वर, नागेश्वर और अम्बिकेश्वर महादेवके मन्दिर हैं। ब्रह्मपुराणमें लिखा है कि जब असुरोंके उत्पातसे पृथ्वीतलपर हाहाकार मच गया, तो भगवान्‌ने वाराहरूप यहीं धारणकर उनका दमन

किया। जनमेजयने नागयज्ञ यहीं किया था। यहाँसे दो मील दक्षिणमें अवन्तिकादेवीका मन्दिर है।

यहाँसे पाँच मील चलनेपर अनूपशहरका प्रसिद्ध नगर गङ्गाके दायें तटपर मिलता है। नगरके आरम्भहीमें नर्मदेश्वर महादेवका प्राचीन मन्दिर है (देखो चित्र ९)। कार्तिकी पूर्णिमाको यहाँ बड़ा मेला लगता है।

इसे बड़गूजर राजा अनूपरायने बसाया था। यहाँका जलवायु उत्तम समझा जाता है। किन्तु यहाँकी मृत्यु-संख्या भी अधिक है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बहुत-से धार्मिक हिन्दू यहाँ केवल मरनेके ही लिये आते हैं। यहाँ हिन्दू वैद्योंका एक प्रसिद्ध कुटुम्ब रहता है। अनूप-शहरसे आठ मील दक्षिणमें कर्णवासक्षेत्र है। इसका वर्णन अगले लेखमें किया जायगा।*

नर्मदेश्वर महादेवका मन्दिर चित्र नं० ९

प्रेम-गलीमें आये क्यों ?

जो शीश तलीपर रख न सके वह प्रेम-गलीमें आये क्यों ?
संसार नहीं है रहनेको, यहाँ कष्ट-हि-कष्ट हैं सहने को
जिसे प्रेमनगरमें जाना है, वह इसमें चित भरमाये क्यों ?
जो शीश० ॥१॥

तुझे काम क्रोधसे बचना है, यह मायाकी सारी रचना है
जो मन विषयोंसे मोड़े नहीं, तो भक्तिका ढोंग रचाये क्यों ?
जो शीश० ॥२॥

जो प्रेमनगरमें रहते हैं, उन्हें बावरे बावरे कहते हैं
जो ताने जगके सह न सके, प्रीतमसे नयन मिलाये क्यों ?
जो शीश० ॥३॥

जिसे भवसागरको तरना है, उसे छोड़ खुदी खुद मरना है
प्रकाश जो प्रेमका पा न सके, वह देवको फिर अपनाये क्यों ?
जो शीश० ॥४॥

—ॐप्रकाशजी ऋषि

* श्रीगङ्गाजीके सम्बन्धमें मैंने जो सामग्री इकट्ठी की है, उसके आधारपर यह लेख लिखा गया है। 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंसे निवेदन है कि इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों उनको वे मुझे बतलानेकी अवश्य कृपा करें। यदि उनके पास श्रीगङ्गाजीके किनारेके किसी दर्शनीय स्थान, घाट, मन्दिर इत्यादिका चित्र हो, तो उसे वे मेरे पास दारागंज, प्रयागके पतेसे भेज देनेकी कृपा करें।

मैं हूँ

(लेखक—श्रीलाडलीनाथजी एम० ए०)

प्रकाश ! प्रकाश !! अरे यह कैसा विचित्र प्रकाश है, कैसा मतवाला !

मैं ही हूँ ! मैं ही हूँ !! मैं ही हूँ !!! और कुछ ! और कुछ नहीं । मैं सर्वत्र हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ ।

तब तो मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ । मेरी इच्छा-पर समस्त कार्य निर्भर होंगे । कोई कार्य मुझे हानि पहुँचानेवाला न होगा । हानि ?

हुँह: । हानि क्या चीज़ ? लाभ क्या चीज़ ? काहेकी हानि और काहेका लाभ ! जब मैं ही सब कुछ करता हूँ, जब सबका भोक्ता भी मैं हो हूँ तो हानि क्या, लाभ क्या !

किन्तु !

क्या यह आत्मविस्मरण नहीं है ? क्या मैं इस प्रकार विश्वकी वास्तविकताको भूलकर, 'अहमस्मि' के मनसिज वनमें किल्लोलें नहीं मार रहा हूँ ? क्या मैं इस प्रकार असलियतसे दूर भागकर भावोंके संसारमें विचरण करनेका यत्न नहीं कर रहा हूँ ? क्या जब मैं आँखें खोलता हूँ तो इस विश्वकी भौतिक वास्तविकतामें, इस जीवनके उत्थान-पतनमें लीन नहीं हो जाना पड़ता है ? क्या मैं अपने चारों ओर दुःख, द्वन्द्व, दीनता, वैभव, कर्मण्यता, आधिपत्य, दण्ड, दोष, सफलता, निष्फलता इत्यादिका कराल चक्र अविरत गतिसे रात-दिन चलता नहीं देखता ? क्या यह सब निरर्थक हो हैं ?····नहीं ।········

········यह केवल मनकी सृष्टि है ।—मैं सोचता हूँ कि यहाँ दुःख है, इसमें दुःख है, मुझे दुःख होने लगता है । मेरा मन यह सीख ले कि इसीमें सुख है मुझे वैसा ही अनुभव भी होने लगेगा । सुख-दुःख मेरे विचारोंकी ही सृष्टि है ।········सफलता और निष्फलता काहेकी ? ऐसा तो केवल मनके अनुभव करनेके कारण प्रतीत होता है । जब मैं अनन्तकी ओर देखता हूँ तो मानविक सफलता-निष्फलता तुच्छ लगने लगती हैं—माळूम देता है खेल-सा हो रहा था, उसमें मनने व्यर्थ ही थोड़े-से समयके लिये यह धारणा कर ली । देखो तो—अनन्तके सामने तो यह सफलता-निष्फलता केवल मानसिक विकारमात्र रह जाता है ।

फिर इस संसारमें यह वेदना क्यों ?

क्योंकि मैं इतने आकारोंमें अपनेको भूलना पसंद कर लेता हूँ । वह मेरा भ्रमस्वरूप है । जिस आकारमें मैं अपनेको ज्ञात रहता हूँ वहाँ न वेदना है, न आनन्द; न इच्छा है, न भाव; न सुख है, न दुःख; वहाँ अनुभव ही नहीं रह जाता । बस, मैं-ही-मैं सर्वत्र रहता हूँ । और फिर भी भौतिक शरीरमें निरन्तर कार्यलीन रहता हूँ । मैं निस्सीम हूँ । मैं निष्कलंक हूँ । मेरा ही अस्तित्व है ।

मानस-पारायणकी योजना

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना॥

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

भगवत्कृपासे एक रामायणप्रेमी महात्माजीने श्रीरामचरितमानसका पारायण करनेसे अपूर्व लाभ होना बतलाया है। उनके कथनमें शंका करनेके लिये कोई आधार नहीं क्योंकि यह रामचरित-यशकी धारा भक्तश्रेष्ठ विद्वद्वर्य सिद्ध महात्मा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी-सरीखे अनुभवी महापुरुषकी लेखनीसे प्रवाहित हुई है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रकी यह धारा जगत्के उद्धारके लिये उन्हींको प्रेरणासे गुसाईंजीके द्वारा प्रकट की गयी है। फिर इसे उन्हीं भक्त-वत्सल श्रीरामने अपने हाथों सही करके संसारके कल्याणके निमित्त कलिकालके पामर जीवोंको प्रदान किया है। ऐसा यह मानस अपूर्व गुणोंसे परिपूर्ण हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। हम सांसारिक मायाजालमें फँसकर उसकी ओर ध्यान न दें तो इसमें हमारा ही दुर्भाग्य है। 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता' न जाने श्रीहरिका कितना अनुग्रह है जो उन संत महापुरुषने दया करके हमको श्रीरामायणकी पाठ-विधि तथा क्रम एवं नियम हमारे तथा संसारके लाभके लिये बतलानेका निश्चय किया है। आशा है भगवत्-प्रेमी निम्नलिखित नियमोंको पढ़कर लाभ उठावेंगे। इस प्रकारसे अनुष्ठान करनेपर देश, समाज और संसारका कितना कल्याण होगा इसका अनुमान करना कठिन ही है।

विधि—क्षेपकरहित श्रीरामचरितमानसके नवाह-विधिसे १०८ पाठ करना।

क्रम—१०८ पाठ ९७२ दिनोंमें पूरे करने चाहिये। किन्तु इतना समय कोई एक साथ न दे सकें तो ५४ पाठ ४८६ दिनमें करते हुए सुविधानुसार दो बारमें समाप्त कर लेना चाहिये, अथवा २७ पाठके क्रमसे चार बारमें, नहीं तो १४ पाठके क्रमसे आठ बारमें समाप्त कर लेना चाहिये। यदि उपर्युक्त रीतिसे अनुकूल न पड़े तो फिर १ मासमें तीन पाठके क्रमसे ३६ बारमें पूरा अनुष्ठान किया जा सकता है। उत्तम तो एक ही बारमें १०८ पाठ करना है। किन्तु समय और सुविधाके अनुसार कोई भी मार्ग ग्रहण किया जा सकता है। साधनकालके कुछ नियम भी आवश्यक हैं।

१ प्रातः चार बजे उठकर शौच, स्नान, नित्य-कर्म, सन्ध्या-वन्दनादि करना।

२ श्रीसीतारामजी और श्रीहनुमान्‌जीकी धूप-दीप आदिसे पूजा करना।

३ श्रीसीतारामजीके षडक्षर मन्त्रका कम-से-कम ११०० माला जप करना। अधिक हो सके तो और भी उत्तम। इन सब कार्योंसे ९, ९॥ बजेतक निवृत्त होकर भोजन करना चाहिये। भोजनमें फल और दूध उत्तम हैं। अभावमें सात्त्विक भोज्य पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। पकवान, खटाई, मिर्च, मसाला तथा तामसिक पदार्थ नहीं। घी भी थोड़ा हो। भोजन, विश्रामसे बारह बजेतक निपटकर पाठके लिये तैयार हो जाना चाहिये। भाँग, तमाखू या कोई मादक चीजका सेवन खाने-पीनेमें किसी प्रकार नहीं करना

चाहिये। मुखशुद्धिके लिये पानके स्थानमें लौंग या तुलसीदलका प्रयोग करना चाहिये। स्त्री-संसर्ग नहीं रखना चाहिये। स्त्रीसे बातचीत करना तो दूर रहा, साधनकालमें दर्शन भी नहीं करना चाहिये। अनायास स्त्री-दर्शनसे यदि भावना विकृत हुई हो तो सूर्यनारायण-को नमस्कार करना और आवश्यकतानुसार प्रायश्चित्त-स्वरूप उपवास भी करना चाहिये, पाठ बारह बजेके बाद आरम्भ हो। साधक अनेक हों तो पहले एक सज्जन दोहे-चौपाई पढ़ें, फिर दूसरे सब उच्चस्वरसे बोलें। इस रीतिसे उच्चारण ठीक होगा और अर्थ तथा भाव हृदयंगम होंगे। पाठमें रुचि बनी रहे इसलिये लय बदलते हुए पाठ किया जा सकता है। इस प्रकार ६-७ घंटेमें एक दिनका पाठ पूरा होगा। अभ्यास होनेपर ५-५॥ घंटेमें हो सकेगा। अकेले भी पाठ जोर-जोरसे अर्थ समझते हुए करना ठीक है। यह साधन प्रपञ्चसे दूर एकान्तमें मौनव्रत लेकर या रामायणके सिवा और किसी शब्दका उच्चारण न करके करना चाहिये। अकेले साधन करना शायद किसीको न अच्छा लगे, अतः आश्रमकी योजना की जा रही है, जहाँ कुछ साधक साथ रहकर नियमोंका निर्वाह कर सकें। सामूहिक साधनसे कार्यमें रुचि अवश्य बनी रहेगी। विचार यह है कि अगर कम-से-कम ५ साधक २४३ दिनका अनुष्ठान करनेवाले मिल जायँ तो एक आश्रमकी व्यवस्था की जाय। भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध साधककी इच्छापर है। वे चाहें तो अपना प्रबन्ध करें, नहीं तो आश्रमके और साधकोंके खर्चेका सब प्रबन्ध कर दिया जायगा। अतः जिनकी रुचि हो, जिन्हें भगवत्-प्रेम-प्राप्तिकी इच्छा होवे वे निम्न पतेपर पत्रव्यवहार करें। जो पूछना हो पूछें। साधक बननेकी इच्छावाले महानुभाव पत्रमें इन बातोंका उत्तर भी लिखें।

१ किस जातिके हैं?
२ आयु क्या है?
३ हिन्दीभाषाका कैसा अभ्यास है?
४ क्या कभी रामायणका पाठ किया है?
५ कभी महात्मा-सन्तोंका सत्संग लाभ हुआ है? अब भी होता है कि नहीं?
६ श्रीप्रभु-प्रीति कबसे उदय हुई है?
७ कितने दिन साधन करनेकी इच्छा है?

विनीत—एक प्रभुसेवक
* पोस्टबक्स नं० २३३२
कलकत्ता

हरे राम हरे कृष्ण जय श्रीसीताराम

* इस साधनका मुख्य उद्देश्य गृहस्थमें फँसे भाइयोंको यथासाध्य प्रपञ्चसे दूर रखकर परमार्थलाभ कराना है। सब प्रबन्ध गृहस्थलोग ही करेंगे। पत्रव्यवहार पोस्टबक्सके पतेसे होगा। यह जाननेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये कि कौन इन पत्रोंका उत्तर देते हैं। जिन्हें ज्ञात हो जाय वे भी छिपाये ही रहें क्योंकि यही उचित है। आशा है इसका पूरा ध्यान रक्खेंगे।

कुछ उपयोगी मन्त्र और उनके जपकी विधि

शास्त्रोंमें भगवत्प्रेम एवं चारों पुरुषार्थ प्राप्त करनेके लिये अनेकों मन्त्रोंका वर्णन हुआ है । मन्त्रों-के द्वारा भोग-मोक्ष, एवं भगवत्प्रेमकी सिद्धि हो सकती है । मन्त्रोंमें कौन-सी ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा साधकोंको सिद्धिलाभ होता है इसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है । यहाँ तो केवल कुछ मन्त्रोंकी जपविधि लिखी जाती है । जिनकी श्रद्धा हो, विश्वास हो वे किसीसे सलाह लेकर इनका अनुष्ठान कर सकते हैं । हाँ, इतनी बात दावेके साथ कही जा सकती है कि इन मन्त्रोंमें दैवी शक्ति है । अभिलाषा पूर्ण करनेकी अद्भुत शक्ति है । यदि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर निष्कामभावसे इनका जप किया जाय तो ये शीघ्र-से-शीघ्र अन्तःकरण शुद्ध कर देते हैं और भगवान्‌की सन्निधिका परमानन्द अनुभव कराने लगते हैं ।

प्रायः बहुत-से लोग अपनी कुलपरम्पराके अनुसार अपने कुल-गुरुओंसे दीक्षा ग्रहण करते हैं । समयके प्रभावसे अथवा अशिक्षा आदि अन्य कारणों-से आजकलके गुरुजनोंमें भी अधिकांश मन्त्रविधिसे अनभिज्ञ ही होते हैं । उनसे दीक्षा पाये हुए शिष्योंके मनमें यदि विधिपूर्वक मन्त्रानुष्ठानकी इच्छा हो तो वे इस विधिके अनुसार जप कर सकते हैं । इस स्तम्भमें क्रमशः कई मन्त्रोंकी चर्चा होगी ।

(१)

मन्त्रोंमें वासुदेव द्वादशाक्षर मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है । इसीके जपसे ध्रुवको बहुत शीघ्र भगवान्‌के दर्शन हुए थे । पुराणोंमें इसकी महिमा भरी है । इसका स्वरूप है 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' । प्रातःकृत्य सन्ध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त होकर इसका जप करना चाहिये । पवित्र आसनपर बैठकर तुलसी, रुद्राक्ष अथवा पद्मकाष्ठकी मालाके द्वारा इसका जप किया जा सकता है । इसकी विधिका विस्तार तो बहुत है परन्तु यहाँ संक्षेपमें लिखा जाता है । मन्त्रजपके पहले ऋषि, देवता और छन्दका स्मरण करना चाहिये । इस मन्त्रके ऋषि प्रजापति हैं, छन्द गायत्री है और देवता वासुदेव हैं । इनका यथास्थान न्यास करना चाहिये । जैसे सिरका स्पर्श करते हुए 'शिरसि प्रजापतये ऋषये नमः' । मुखका स्पर्श करते हुए 'मुखे गायत्रीछन्दसे नमः' । हृदयका स्पर्श करते हुए 'हृदि वासुदेवाय देवतायै नमः' । इसके बाद करन्यास और अंगन्यास करना चाहिये । जैसे 'ॐ अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' 'ॐ नमः तर्जनीभ्यां स्वाहा' 'ॐ भगवते मध्यमाभ्यां वषट्' 'ॐ वासुदेवाय अनामिका-भ्यां हुम्' 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय कनिष्ठाभ्यां फट्' इस प्रकार करन्यास करके इसी क्रमसे अंगन्यास भी करना चाहिये ।

ॐ हृदयाय नमः ।

ॐ नमः शिरसे स्वाहा ।

ॐ भगवते शिखायै वषट् ।

ॐ वासुदेवाय कवचाय हुम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अस्त्राय फट् ।

हो सके तो सिर, ललाट, दोनों आँखें, मुख, गला, बाहु, हृदय, कोख, नाभि, गुह्यस्थान, दोनों जानु और दोनों पैरोंमें मन्त्रके बारहों अक्षरोंका न्यास करना चाहिये । इस प्रकार न्यास करनेसे सारा शरीर मन्त्रमय बन जाता है । सारी अपवित्रता दूर हो जाती है और मन अधिक एकाग्रताके साथ इष्टदेवके चिन्तनमें लग जाता है ।

इसके पश्चात् मूर्ति-पञ्जरन्यासकी विधि है ।

ललाटे—ॐ अं केशवाय धात्रे नमः ।

कुक्षौ—ॐ नम् आम् नारायणाय अर्यम्णे नमः।

हृदि—ॐ मोम् इम् माधवाय मित्राय नमः।

गलकूपे—ॐ भम् ईम् गोविन्दाय वरुणाय नमः।

दक्षपार्श्वे—ॐ गम् उम् विष्णवे अंशवे नमः।

दक्षिणांसे—ॐ वम् ऊम् मधुसूदनाय भगाय नमः।

गलदक्षिणभागे—ॐ तेम् एम् त्रिविक्रमाय विवस्वते नमः।

वामपार्श्वे—ॐ वाम् ऐम् वामनाय इन्द्राय नमः।

वामांसे—ॐ सुम् ओम् श्रीधराय पूष्णे नमः।

गलवामभागे—ॐ देम् औम् हृषीकेशाय पर्जन्याय नमः।

पृष्ठे—ॐ वाम् अम् पद्मनाभाय त्वष्ट्रे नमः।

ककुदि—ॐ यम् अः दामोदराय विष्णवे नमः।

इस मूर्ति-पञ्जर-न्यासके द्वारा अपने सर्वांगमें भगवन्मूर्तियोंकी स्थापना करके किरीटमन्त्रसे व्यापक न्यास करते हुए भगवान्को नमस्कार करना चाहिये। किरीटमन्त्र यह है—

किरीटकेयूरहारमकरकुण्डलशङ्खचक्रगदाम्भोजहस्तपीताम्बरधरश्रीवत्साङ्कितवक्षःस्थलश्रीभूमिसहितस्वात्मज्योतिर्मयदीप्तकराय सहस्रादित्यतेजसे नमः।

इसके पश्चात् ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्। इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करके यह भावना करे कि भगवान्का सुदर्शन चक्र चारों ओरसे मेरी रक्षा कर रहा है। मेरा शरीर और मन पवित्र हो गया है, मेरे ध्यान और जपमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ेगी। मेरे चारों ओर मेरे शरीरमें और मेरे हृदयमें भी भगवान्के ही दर्शन हो रहे हैं। इस प्रकारकी भावनामें तन्मय हो जाना चाहिये। इस मन्त्रका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है।

विष्णुं शारदचन्द्रकोटिसदृशं शङ्खं रथाङ्गं गदा-
मम्भोजं दधतं सिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम्।
आबद्धाङ्गदहारकुण्डलमहामौलिं स्फुरत्कङ्कणं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम्॥

भगवान् वासुदेवका श्रीविग्रह शरत्कालीन करोड़ों चन्द्रमाओंके समान समुज्ज्वल शीतल एवं मधुर है। वे अपनी चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। वे श्वेत कमलपर विराजमान हैं और उनकी शरीरकान्तिसे तीनों लोक मोहित हो रहे हैं। वे बाजूबन्द, हार, कुण्डल, किरीट और कङ्कण आदि नाना अलंकारोंसे अलंकृत हैं। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न है और कण्ठमें कौस्तुभमणि शोभा पा रही है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि सामस्वरसे उनकी स्तुति कर रहे हैं। ऐसे वासुदेव भगवान्की मैं वन्दना करता हूँ। ध्यानमें भगवान्की षोडशोपचार-से पूजा करनी चाहिये। मानसपूजाके पश्चात् दक्षिणामें सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा जो कुछ मैं हूँ अथवा जो कुछ मेरा है, सब तुम्हारा ही है। भ्रमवश इसे मैंने अपना मान लिया था और अपनेको तुमसे पृथक् कर बैठा था। अब ऐसी कृपा कीजिये कि जैसा मैं तुम्हारा हूँ वैसा ही तुम्हारा स्मरण रक्खा करूँ। कभी एक क्षणके लिये भी तुम्हें न भूलूँ। तुम्हारा भजन हो, तुम्हारे मन्त्रका जप हो और तुम्हारा ही चिन्तन हो। मैं एकमात्र तुम्हारा ही हूँ।'

समय, रुचि और श्रद्धा हो तो बाह्य उपचारोंसे भी भगवान्की पूजा करनी चाहिये। उसके पश्चात् स्मरण करते हुए द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करना चाहिये। जप करते समय माला किसीको दिखनी

नहीं चाहिये । तर्जनीसे मालाका स्पर्श नहीं होना चाहिये । मन्त्र दूसरेके कानमें नहीं पड़ना चाहिये । बारह लाखका एक अनुष्ठान होता है । अन्तमें दशांश हवन करनेकी विधि है और उसका दशांश तर्पण तथा तर्पणका दशांश ब्राह्मणभोजन है । यदि हवन आदि करनेकी शक्ति और सुविधा न हो तो जितना हवन करना हो उसका चौगुना जप और करना चाहिये । इस विधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यम-नियमका पालन करते हुए अनुष्ठान करनेसे अवश्य-अवश्य मनोवाञ्छित फलकी सिद्धि होती है । भगवान्‌के दर्शनकी लालसा करनेपर भगवान् वासुदेव-के दिव्य दर्शन हो सकते हैं । और निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे भगवत्प्रेम या मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

"श्याम"

भजु मन श्याम, नव-घनश्याम ।
जलधर श्याम, नटवर श्याम ॥

श्याम-श्याम ध्वनि चहुँदिशि बाजत,
श्याम-श्याम आभा चहुँ राजत,
श्याम-नामकी महिमा जागत,
श्याम-सुधा पी यम-भय भागत,

तनमें श्याम, मनमें श्याम,
थलमें श्याम, नभमें श्याम ॥

श्याम बनावत, श्याम बिगाड़त,
श्यामहिं राखत, श्यामहिं मारत,
विश्व-प्रपंच श्याम रचि राखत,
वेद, पुराण श्याम-यश भाखत,

निर्गुण श्याम, अनुपम श्याम,
गिरिधर श्याम, गुरुवर श्याम ॥

अवतारी प्रिय श्याम भुवन-मय,
चिरसुंदर, अविनाशी, अव्यय,
"मोहन" रहत निरंतर तनमय,
जयति श्याम, जय ! जय !! प्रभु जय ! जय !!

मेरे श्याम, तेरे श्याम,
सबके श्याम, सर्वस श्याम ॥

—मोहनलाल मिश्र "मोहन"

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मूल्य साधारण जिल्द २।।) बढ़िया कपड़ेकी जिल्द .... २।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, ४ चित्र, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—गुजराती टीका, गीता नं० २ की तरह मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वाली नं० २ के समान, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० २ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मू० ।।≈) स० ... ।।।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता—बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह, इसमें हिन्दी-गीताकी सब बातें बँगलामें लिख दी गयी हैं। इसमें भगवान् और अर्जुनका चित्र दूसरा नया बनाकर लगाया गया है। पृष्ठ ५४०, मूल्य .... ।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता गुटका—(पाकेट साइज) हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९-३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, सजिल्द मूल्य केवल .... ।।)

श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, गीता नं० १३ की तरह, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।) सजिल्द .... ।।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता—सचित्र, इसके अक्षर खूब मोटे हैं। यह नित्यपाठके लिये पूजामें रखनेयोग्य है। नवसिखिये बालकों और स्त्रियों एवं बूढ़ोंके लिये विशेष कामकी चीज है। आकार २२×२९, सोलहपेजी। कागज चिकना, पृष्ठ ३१६, मूल्य अजिल्द ।-) सजिल्द .... ।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, संस्कृत-श्लोक न पढ़ सकनेवालोंके लिये बड़ी उपयोगी है। छोटे अक्षरोंसे जिनकी आँखोंमें पीड़ा होने लगती है वे इससे अधिक लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि इसके अक्षर बड़े और गहरे हैं। आकार २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ २००, मूल्य ।) स० .... ।=)

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा—(गुटका) प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित २२×२९-३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४००, मूल्य अजिल्द ।) सजिल्द .... ।-)

पञ्चरत्न गीता—श्रीमद्भगवद्गीता (माहात्म्यादिसहित), श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति और श्रीगजेन्द्रमोक्ष यह पाँचों ग्रन्थ मूल मोटे टाइपोंमें नित्य पाठ करने लायक सुन्दर छापे गये हैं। आकार ४। इञ्च × ५।। इञ्च, ग्लेज कागज, पृष्ठ-संख्या ३२८, सजिल्द, मूल्य .... ।)

श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सभी विषय ।।) वाली गीता नं० ८ के समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ≈)।। सजिल्द .... ≈)।।

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल ताबीजी, बहुत छोटी होनेके कारण हर समय पास रखनेमें बहुत सुभीता रहता है। आकार २×२।। इञ्च, पृष्ठ २९६, मूल्य केवल .... =)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, इसमें गीताके मूल श्लोकोंके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम भी छपा है। आकार छोटा। कागज चिकना। पृष्ठ १३२, सजिल्द, मूल्य केवल .... -)।।

श्रीमद्भगवद्गीता—७।।×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, चित्रकी तरह शीशेमें मढ़ाकर रखनेयोग्य है। मू० -)

* तीनों गुणोंसे उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न गुण *

सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले गुणः—

सत्त्व, आनन्द, ऐश्वर्य, प्रेम, प्रकाश, सुख, शुद्धि, आरोग्य, सन्तोष, श्रद्धा, उदारता, अक्रोध, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, ऋणहीनता, नम्रता, लज्जा, अचञ्चलता, सरलता, आचार, अभ्रान्ति, इष्ट और अनिष्टके वियोगमें उदासीनता, प्राणिमात्रकी रक्षा, निर्लोभ, दूसरोंके भरण-पोषणके लिये धन-उपार्जन और सब जीवोंपर दया।

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले गुणः—

रूप, वैभव, विग्रह, सांसारिक व्यवहारोंमें फँसावट, निर्दयता, सुख-दुःखमें रागद्वेष, परनिन्दा, विवाद, अहंकार, असम्मान, चिन्ता, शत्रुता, शोक, दूसरेके धनकी इच्छा और चोरी, निर्लज्जता, कुटिलता, भेदज्ञान, घमंड, काम, क्रोध, मद, अभिमान, द्वेष और बकवाद करनेका स्वभाव।

तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले गुणः—

मोह, अन्धकार, अज्ञान, मरण, क्रोध, असावधानता, जीभके स्वादमें आसक्ति, खान-पानमें असन्तोष, सुगन्ध द्रव्य, वस्त्र, सेज, आसन, विहार, दिनमें सोने और दूसरोंकी निन्दा करनेमें आनन्द, गंदे नाच-गानमें रुचि, प्रमाद तथा धर्मसे द्वेष।

सत्त्वगुण उन्नत करता है।

रजोगुण उन्नति रोक देता है।

तमोगुण अवनतिके गड्ढेमें गिरा देता है।

(महाभारत)

वर्ष १२

अंक १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३५६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कल्याण वैशाख संवत् १९९५ की

विषय-सूची

बा
भा
विं
(

सनत्कुमारका नारदको उपदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, वैशाख १९९५, मई १९३८ { संख्या १० पूर्ण संख्या १४२

आश्चर्य !

अचंभो इन लोगनको आवे ।
छाँड गोपाल अमित रस अमृत माया-विष फल भावे ॥ १ ॥
निंदत मूढ मलय-चंदनकौं कपिके अंग लगावे ।
मान-सरोवर छाँड हंस सर काक-सरोवर न्हावे ॥ २ ॥
पगतर जरत न जानत मूरख पर घर जाय बुझावे ।
लख चौरासी स्वांग धरे धर फिर-फिर यमहिं हँसावे ॥ ३ ॥
मृगतृष्णा संसार जगत-सुख तहाँते मन न दुरावे ।
सूरदास भक्तनसों मिलकैं हरि-जस काहे न गावे ॥ ४ ॥

—सूरदासजी

ऐश्वर्यका मद

अहो ! ऐश्वर्यके मदमें स्त्रीसंग, जुआ और शराबकी ही अधिकता होती है; इसीसे विषयोंमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि ऐश्वर्यके मदसे बिल्कुल भ्रष्ट हो जाती है। अच्छे कुलके और विद्या आदिके अनेकों मदोंमें अथवा राजसी कार्योंमें इतना मोह नहीं होता। ऐश्वर्यका मद होनेपर इन्द्रियों और मनके गुलाम, विचारहीन, निर्दयी मनुष्य एक दिन अवश्य नष्ट होनेवाले शरीरको कभी न मरनेवाला मानकर शरीरके लिये जीवोंकी हत्या करते हैं। यह विनाशी शरीर चाहे भूदेव कहलावे या नरदेव, अन्तमें तो इसे (जमीनमें गाड़े जानेपर) कीड़ा, (किसी जानवरके द्वारा खाये जानेपर) विष्ठा या (जलाये जानेपर) राख होना ही पड़ता है। इतनेपर भी जो मनुष्य इस शरीरके लिये दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करता है, वह अपने सच्चे स्वार्थको नहीं पहचानता। जो असत् मनुष्य धनके या अधिकारके मदसे अन्धा हो रहा है उसको दिव्यदृष्टि देनेके लिये दरिद्रता ही बहुत बढ़िया सुरमा है। जब वह दरिद्र होता है, तभी अपने साथ तुलना करके दूसरे सबको अपनेसे श्रेष्ठ मानता है। जिसके अंगमें कभी काँटा लगा है और जो उसकी पीड़ाका अनुभव कर चुका है, वही दूसरेकी पीड़ाको उसका उदास चेहरा देखकर अपनी ही पीड़ाके समान समझता है, और नहीं चाहता कि किसीको ऐसी पीड़ा हो। परन्तु जिसके काँटा लगा ही नहीं, वह कैसे दूसरेकी पीड़ाका अनुभव कर सकता है और कैसे किसी दूसरेके दुःखको मिटानेमें सहायता कर सकता है? इसलिये धनी न होकर दरिद्र ही होना अच्छा है। समदर्शी साधुगण दरिद्रोंसे ही मिलते हैं। उन साधुओंके संगसे सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर मनुष्य शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं। समदर्शी और भगवान्के चरणोंकी चाह रखनेवाले साधुजन धनगर्वित और बुराईमें लगे हुए असाधुओंसे क्यों मिलने लगे?

देवर्षि नारद

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[गतांकसे आगे]

[मणि १० बृहदारण्यक]

भेददर्शनमें अविद्याका सम्बन्ध

हे मैत्रेयी ! आनन्दस्वरूप स्वयंज्योति आत्मामें द्वैतप्रपञ्च कदापि नहीं है और जीवको प्रतीत होता है। जैसे नेत्रादिके दोषसे मूढ़ बालकको आकाशमें दो चन्द्रमा दीखते हैं, इसी प्रकार अविद्याके दोषसे अज्ञानी जीवको अद्वितीय आत्मामें द्वैतप्रपञ्च प्रतीत होता है। सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च मायामात्र है। जिस समय आत्माका अद्वितीय स्वरूप द्वैतप्रपञ्चका-सा दीखता है, उस समय अज्ञानी जीव अपनेको आत्मासे भिन्न विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि अनेक भेदवाला देखता है तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि सम्पूर्ण जगत् श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे भिन्न-भिन्न देखता है। इसलिये अविद्याके कारण द्वैतदर्शनका अन्वय प्रतीत होता है। अधिकारी पुरुषको शास्त्रके यथार्थ उपदेशसे जब अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होता है, तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञानका नाश होनेसे स्थावर-जङ्गम शरीर, शब्दादिसहित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ तथा सुख-दुःखवाला अन्तःकरण आदि सम्पूर्ण कार्यप्रपञ्चका नाश हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कार्यप्रपञ्चसहित अज्ञानका नाश होनेके बाद स्वयंज्योति आत्मा अकेला रह जाता है। मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त हुआ विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण जगत्को अपना आत्मारूप देखता है, इसलिये नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूपादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न नहीं देखता और आवरणकी निवृत्तिरूप फलका ज्ञान भी उस समय नहीं होता।

मैत्रेयी—हे भगवन् ! जब मोक्षावस्थामें विद्वान् जगत्को अपनेसे भिन्न नहीं देखता, तो उस अवस्थामें उसे अपने आत्माको तो देखना चाहिये ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! अविद्याके समयमें जब आत्मा द्वैत-सा प्रतीत होता है, तो उस अविद्यामें भी स्वयंज्योति आत्मा किसी भी ज्ञानका विषय नहीं होता। जब अविद्यामें आत्मा किसी ज्ञानका विषय नहीं होता, तो सर्व द्वैतप्रपञ्चके अभाववाली मोक्ष-अवस्थामें स्वयंज्योति आत्मा किसी ज्ञानका विषय हो ही नहीं सकता, यह स्पष्ट ही है। अपने स्वप्रकाशरूपसे सब जगत्को जाननेवाला विज्ञाता पुरुष 'अद्वितीय आत्माको मैं जानता हूँ' ऐसा कहे तो उससे पूछना चाहिये कि इस जीवको जो-जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान नेत्रादि इन्द्रियोंसे होता है, नेत्रादि साधन बिना कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अद्वितीय आत्माका तुझे जो ज्ञान हुआ है, तो किन कारणोंसे हुआ है ? यदि वह मूर्त अथवा अमूर्त जगत्को अथवा जगत्के अभावको आत्मज्ञानमें साधन कहे, तो उसका कहना ठीक नहीं है क्योंकि अविद्यासे रहित शुद्ध आत्मामें मूर्त-अमूर्त जगत् तथा जगत्का अभाव वास्तविक नहीं है। स्वयंज्योति आत्मा मन और बुद्धि आदि अन्तरके साधनोंसे अथवा नेत्रादि बाह्य साधनोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। जो-जो पदार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय होता है, वह-वह पदार्थ धीरे-धीरे अपने अवयवोंकी शिथिलता होनेसे घिसता जाता है। जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय वस्त्रादि पदार्थ धीरे-धीरे घिस जाते हैं, इसी प्रकार यदि आत्मा इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय हो, तो वह भी धीरे-धीरे घिस जाय परन्तु आनन्दस्वरूप आत्मा तो कभी नहीं घिसे, ऐसा है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा

किसी इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय नहीं है। जो-जो पदार्थ घिसते हैं, वे सब संयोगादि सम्बन्धवाले होते हैं। जैसे वस्त्रादि घिसते हैं, इसलिये वे जलादिके संयोगवाले होते हैं। स्वयंज्योति आत्मा संयोगादि सम्बन्धरूप सर्व संगसे रहित है, इसलिये वह कभी शीर्यताभावको प्राप्त नहीं होता। जैसे मनुष्यादि शरीर संयोगादि सम्बन्धरूप संगवाले हैं, इसलिये सिंह-सर्पादिसे भयको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो-जो पदार्थ संयोगादि सम्बन्धरूप संगवाला होता है, वह अवश्य भयको प्राप्त होता है। आत्मा सर्वभयसे रहित होनेसे किसीके संगवाला नहीं होता। जिस-जिस पदार्थको भय होता है, वह दुखी होता है। जैसे मनुष्यादि शरीर भयवाले हैं, इसलिये दुःखवाले भी हैं। आनन्दस्वरूप आत्मा सब प्रकारके दुःखसे और भयसे रहित है। जैसे मनुष्यादि शरीर दुःखवाले हैं, इसलिये विनाश भाववाले भी हैं, इसी प्रकार जो-जो पदार्थ दुःखवाला है, वह नाशवान् है। आत्मा नाशवान् नहीं है क्योंकि वह दुःखसे रहित है। जहाँ अग्नि होता है, वहाँ धूम अवश्य होता है, अग्नि बिना धूम नहीं होता। इसलिये धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक कहलाता है। जहाँ व्यापक अग्निका अभाव होता है, वहाँ व्याप्य धूमका भी अभाव होता है। जैसे जलसे पूर्ण तालावमें व्यापक अग्निका अभाव है, वहाँ व्याप्य धूमका भी अभाव है। इस प्रसंगमें इन्द्रियजन्य ज्ञानकी विषयता, शीर्यता, संयोगादि सम्बन्धरूप संग, भय, व्यथा और विनाशका कारण इन छः पदार्थोंमें पूर्वके पदार्थसे पिछला पदार्थ व्यापक गिना जाता है और उत्तर पदार्थका पूर्व पदार्थ व्याप्य गिना जाता है। उत्तरके व्यापक पदार्थका आत्मामें अभाव होनेसे पूर्वके व्याप्य पदार्थका भी आत्मामें अभाव ही सिद्ध होता है, जैसे आत्मा नाशरहित होनेसे व्यथारहित है, व्यथारहित होनेसे भयरहित है, भयरहित होनेसे संगरहित है, संगरहित होनेसे शीर्यतारहित है और शीर्यतारहित होनेसे इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय नहीं है, इसलिये श्रुतिने आत्माको अगृह्य कहा है। आत्मा भाव-अभावसे रहित, व्याप्यसे रहित स्वयंप्रकाश है। आत्मामें नेत्रादि इन्द्रियोंकी विषयता सम्भव नहीं है। इस प्रकार वेदान्तशास्त्र तथा योगशास्त्रके मतानुसार आत्माके साक्षात्कारमें नेत्रादि साधन सम्भव नहीं हैं।

नेत्रादि साधनोंका अभाव

बृहस्पतिके शिष्य चार्वाकोंमेंसे कोई चार्वाक स्थूल शरीरको, कोई नेत्रादि इन्द्रियोंको, कोई प्राणको और कोई मनको आत्मा मानता है। नैयायिक देह और इन्द्रियोंसे भिन्न कर्ता-भोक्ताको आत्मा मानते हैं। इन सबके मतमें आत्मसाक्षात्कारमें नेत्रादि साधन सम्भव नहीं हैं। जो स्थूल संघातको आत्मा मानते हैं, उस संघातवाले आत्माके साक्षात्कारमें भी नेत्रादि साधन सम्भव नहीं हैं क्योंकि संघातवाले आत्मासे नेत्रादि करण भिन्न हैं। नेत्रादि इन्द्रियाँ समूहवाली हैं और समूहवाला आत्मा ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता है, इसलिये समूहसे अभिन्न नेत्रादि भी कर्ता हैं। कर्तारूप नेत्रादिमें साधनपना सम्भव नहीं है क्योंकि कर्ता पुरुषसे भिन्न कारण साधन कहलाते हैं। जैसे काटनारूप क्रियाके करनेवाले पुरुषसे कुल्हाड़ारूप साधन भिन्न होता है। इसलिये चार्वाकके मतानुसार समूहरूप आत्माके साक्षात्कारमें नेत्रादि इन्द्रियोंकी साधनरूपता सम्भव नहीं है। जो चार्वाक इन्द्रियोंके समूहको आत्मा मानते हैं, उनके मतानुसार इन्द्रियरूप आत्माके साक्षात्कारमें कोई करण नहीं हो सकता क्योंकि यह स्थूल शरीर और बाह्य घटादि पदार्थ ये सब ज्ञानरूप क्रियाका कर्म हैं, इसलिये देहादिमें ज्ञानरूप क्रियाकी करणरूपता सम्भव नहीं है, अतएव

इन्द्रियरूप आत्माके साक्षात्कारमें कोई साधन सम्भव नहीं है। जो प्राण, मन और कर्ता-भोक्ता-को आत्मा मानते हैं, उन तीनोंके मतमें भी नेत्रादि इन्द्रियोंकी करणरूपता सम्भव नहीं है। प्राण, मन और कर्ता-भोक्ताको आत्मा माननेवालोंसे पूछना चाहिये कि उनका आत्मा नीलपीतादि रूपवाला है अथवा रूपरहित है। इन दोनों पक्षोंमेंसे, आत्मा रूपवाला है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता क्योंकि आत्मा रूपवाला हो तो घट-पटादिके समान इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष दीखना चाहिये। इसलिये नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे तो आत्माका साक्षात्कार सम्भव नहीं है। और नेत्रादिकी सहायता बिना मन किसी भी रूपवाले पदार्थको ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये आत्मसाक्षात्कारमें मन भी साधन नहीं हो सकता, इसलिये प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है। और आत्मा नीलपीतादि रूपरहित है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे रूपवान् पदार्थ दीखता है, इसलिये रूपरहित आत्माके साक्षात्कारमें नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ साधन नहीं हैं। यदि वादी आत्मसाक्षात्कारमें मनको साधन माने तो उससे पूछना चाहिये कि यदि मनसे आत्माका साक्षात्कार होता है, तो ज्ञानरूप क्रियाका आत्मा कर्म है या कर्ता है। यदि आत्मा ज्ञानरूप क्रियाका कर्म हो तो जो पदार्थ जिस क्रियाका कर्म होता है, वह पदार्थ उस क्रियाका कर्ता नहीं होता, इसलिये ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता आत्मासे भिन्न दूसरा होना चाहिये किन्तु आत्मासे भिन्न दूसरा कोई ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता नहीं है, इसलिये कर्ताके अभावसे ज्ञानरूप क्रियामें मनका करणपना सम्भव नहीं है। आत्मा ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि आत्माको विषय करनेवाली क्रियाका कर्म आत्मासे भिन्न कोई दूसरा नहीं है। कर्मका अभाव होनेसे ज्ञानरूप क्रियामें मनका करणपना सम्भव नहीं है क्योंकि करणको कर्ता तथा कर्मकी अपेक्षा है; कर्ता कर्म बिना करणपना सिद्ध नहीं होता। जैसे छेदनरूप क्रियामें कर्ता पुरुष है और कर्म काष्ठ है, इन दोनोंके विद्यमान होनेपर ही कुल्हाड़ेमें करणपना सिद्ध होता है। कर्ता, कर्म बिना कुल्हाड़ेमें करणपना सिद्ध नहीं होता, इसीलिये शास्त्रवेत्ताओंने कहा है कि कर्ता जिस पदार्थसे कर्ममें फलकी उत्पत्ति करता है, वह पदार्थ करण कहलाता है। इस प्रकार मनमें करणपना सम्भव नहीं है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! आत्मासे भिन्न यदि कोई दूसरा पदार्थ ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता तथा कर्म नहीं हो, तो एक आत्मा ही ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता तथा कर्म हो, इस प्रकार कर्ता तथा कर्म विद्यमान होनेसे ज्ञानरूप क्रियामें मनको करणरूपता सम्भव है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! एक ही समयमें तथा एक ही क्रियामें एक ही पदार्थ कर्ता तथा कर्म नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञानरूप क्रियामें एक ही आत्माको कर्ता तथा कर्म कहना अत्यन्त विरुद्ध है। जो वादी आत्मसाक्षात्कारमें मनको करण माने उससे कहना चाहिये कि श्रुति तथा विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध हुए आत्माके स्वप्रकाशपनेको त्यागकर आत्मामें नेत्रादि साधनोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानना अत्यन्त अनुचित है।

मैत्रेयी—हे भगवन्! प्रथम आपने आत्मसाक्षात्कार होनेमें महावाक्यरूप शब्दको करणरूप कहा और अब आत्मसाक्षात्कारमें करणका अभाव कहते हैं, यह कैसे बन सकता है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! जैसे घटादि जड पदार्थोंके देखनेमें नेत्रादि करण हैं, इस प्रकार आत्मसाक्षात्कारमें महावाक्यरूप श्रुतिकी करणरूपता नहीं है किन्तु आत्माके आश्रय रहे हुए और आत्माको विषय करनेवाले अज्ञानरूप

आवरणरूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति महावाक्यजन्य बुद्धिकी वृत्तिसे होती है। आवरणकी निवृत्ति होनेपर आनन्दस्वरूप आत्मा अपने आप ही प्रकाशित होता है, इसलिये महावाक्यमें वास्तविक करणरूपता नहीं है। किन्तु महावाक्यसे अन्तःकरणकी वृत्ति आवरणरूप प्रतिबन्धसे रहित होती है, केवल इतने ही कारणसे पूर्वमें मैंने आत्मसाक्षात्कारमें महावाक्यरूप श्रुतिको करण कहा है, इसलिये पूर्वोत्तर मेरे वचनमें विरोध नहीं है।

हे मैत्रेयी! मन्दबुद्धि चार्वाक शरीरको ही आत्मा मानते हैं किन्तु उनके मतसे आत्मसाक्षात्कारमें पूर्वोक्त युक्तियोंसे कोई करण सिद्ध नहीं होता, तो अद्वैतवादियोंके मतमें आत्मसाक्षात्कार होनेमें कोई करण नहीं है, यह स्पष्ट ही है। जैसे घटपटादि अनात्मा हैं, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि सम्पूर्ण समूह जडरूप है, इसलिये वह समूह भी अनात्मरूप है। आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे अनात्मसमूह प्रत्यक्ष होता है परन्तु विचारदृष्टिसे देखनेसे वह मिथ्या है। इस मिथ्या जगत्‌में स्थित आत्मा सर्वभेदसे रहित तथा अद्वितीयरूप है। अद्वितीयरूप आत्मा बुद्धि आदि संघातका साक्षी है। साक्षीरूप स्वप्रकाश आत्माको अधिकारी पुरुष नेत्रादि करणोंसे जान नहीं सकता और न देख सकता है।

हे मैत्रेयी! तू दुःख उत्पन्न करनेवाले पति, पुत्र, धनादि पदार्थोंको त्यागकर अपने हृदयमें स्वयंज्योति आत्माका निश्चय कर! तूने मुझसे मोक्षरूप अमृतका साधन पूछा था। मोक्षका साधन ब्रह्मविद्याका मैंने तुझको उपदेश किया। देहादि अनात्मपदार्थोंमें 'मेरा' 'तेरा' आदि अभिमान त्यागकर जब तू आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करेगी तो उसके प्रभावसे शरीरको त्यागनेके बाद फिर तू जन्ममरणको प्राप्त न होगी किन्तु अमर हो जायगी। इसलिये इन देहादि अनात्मपदार्थोंको त्यागकर आनन्दस्वरूप आत्मामें अपना मन एकाग्र कर!

इस प्रकार मैत्रेयीको उपदेश करनेके बाद गृहस्थाश्रमको त्यागकर मुनि संन्यासाश्रम ग्रहण करते हुए इस प्रकार विचार करने लगे—

मुनिका विचार

सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न असत् जड तथा दुःखरूप मायाशक्ति है। यह मायाशक्ति सत्त्व, रज और तम तीन गुणोंसे युक्त है। आनन्दस्वरूप आत्मा जगत्‌का प्रधान कारण है और मायाशक्ति सहकारी कारण है, इसलिये मायाशक्तिको मिथ्या मानना युक्त है। शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान, शत्रु, मित्र, अपना शरीर, पराया शरीर, धर्मात्मा, पापात्मा आदि जितने भी अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थ हैं, सभी पदार्थोंमें समान दृष्टि रखनी चाहिये। नेत्रादि इन्द्रियोंके धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिमें अब मुझे उदासीन रहना चाहिये। शरीर, मन तथा वाणीसे सबको अभय देना चाहिये और सूर्य-चन्द्रमाके समान रागद्वेषादिसे रहित होकर पृथिवीपर विचरना चाहिये।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि संन्यास लेकर ब्रह्मचिन्तनमें लग गये। जैसे मुनिने चतुर्थाश्रम धारण किया, इसी प्रकार मैत्रेयी भी संन्यास लेकर विचरने लगी। दोनोंमें केवल इतना ही भेद था कि मुनिने लिंग संन्यास दण्डग्रहण करके लिया था और मैत्रेयीने अलिंग संन्यास लिया था। भिक्षाटनादि बाह्यधर्म तथा शमदमादि आन्तरधर्म लिंग संन्यासी तथा अलिंग संन्यासीके समान होते हैं।

शोकशंकर—हे देवी! मुनिके समान मैत्रेयीने भी दण्डग्रहणपूर्वक लिंग संन्यास क्यों नहीं धारण किया?

देवी—हे प्रियदर्शन ! दण्डग्रहणरूप लिंग संन्यास ग्रहण करनेका एक ब्राह्मणको ही अधिकार है। क्षत्रिय, वैश्य और स्त्रीको लिंग संन्यासका अधिकार नहीं है। स्मृतिमें कहा है—

मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते ॥

'परमेश्वरके मुखसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंको ही दण्डग्रहणपूर्वक लिंगसंन्यास धारण करनेका अधिकार है, बाहुसे उत्पन्न हुए क्षत्रियोंको और ऊरुसे उत्पन्न हुए वैश्योंका लिंग-संन्यासका अधिकार नहीं है।' पूर्वके किसी पुण्यकर्मके प्रभावसे यदि क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुषको तथा तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णकी स्त्रीको तीव्र वैराग्य हो, तो उनको अलिङ्ग संन्यास धारण करके अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा सत्यादि जो-जो लिङ्ग संन्यासियोंके धर्म हैं, उन धर्ममात्रका पालन करना चाहिये।

गुरुकी आवश्यकता

हे प्रियदर्शन ! जो अधिकारी मनुष्य शरीरको पाकर आत्मसाक्षात्कार नहीं करता, उसकी महान् हानि होती है। श्रुतिमें कहा है—

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'

'जो अधिकारी शरीरको प्राप्त करके आनन्दस्वरूप आत्माको नहीं जानता, वह अज्ञानी पुरुष जन्म-मरणादि अनेक दुःखोंको पाता है और जो आनन्दस्वरूप आत्माको जानता है, वह मोक्षरूप अमृतको प्राप्त होता है।' आत्मसाक्षात्कार करनेका सबको अधिकार है। भगवद्गीतामें कहा है—

'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।'

'स्त्री, वैश्य तथा शूद्र सर्व मोक्षके योग्य हैं।' वह मोक्ष आत्मज्ञान बिना नहीं होता। श्रुतिमें कहा है—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

'आत्मज्ञान बिना कभी मुक्ति नहीं होती, इसके सिवा मुक्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है।' केवल आत्मज्ञान ही मोक्षकी प्राप्तिका परम मार्ग है। आत्मज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके उपदेशसे होता है। श्रुतिमें कहा है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष आत्माको जानता है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णोंके पुरुष तथा चारों वर्णवाली स्त्रियोंको ब्रह्मनिष्ठ गुरुके मुखसे ब्रह्मविद्या श्रवण करके आत्मज्ञान अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

कौन वर्ण किस वर्णका गुरु करे ?

सब वर्णोंमें ब्राह्मण उत्तम है, इसलिये ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको उपनिषद्के वेदवचनके उपदेशसे आत्म-साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि शास्त्रमें शूद्रको उपनिषद्रूप वेदवचनके श्रवण करानेका जैसे निषेध किया है, वैसे तीन वर्णोंकी स्त्रियोंको निषेध नहीं किया है।

डोरूशंकर—हे देवी ! श्रुतिमें स्त्रियोंको वेदके अर्थका निषेध किया है। जैसे कि 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' स्त्री तथा शूद्र वेदका अध्ययन न करें। इसलिये स्त्रीको उपदेश करनेसे इस श्रुति-वचनका विरोध होता है या नहीं ?

देवी—हे वत्स ! अध्ययनका अर्थ यह है कि जिस वेदवचनका गुरु उच्चारण करे उसी वेद-वचनका शिष्य उच्चारण करे। इस प्रकार वेदके अध्ययन करनेका तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको निषेध है। तो भी ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे वेदवचनके श्रवण करनेका तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको निषेध नहीं है। यदि ऐसा हो तो वेदमें मैत्रेयी, गार्गी आदि स्त्रियों-को जो ब्रह्मविद्याका उपदेश किया गया है, वह शास्त्रविरुद्ध कहा जाय, इसलिये प्रथमके तीन वर्णों-

की स्त्रियोंको वेदवचन श्रवण करनेका अधिकार है, और क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुषको तो वेदवचन अध्ययन करनेका पूर्ण अधिकार है। ब्रह्मवेत्ता विद्वान् पुरुष क्षत्रिय, वैश्य तथा प्रथम तीन वर्णकी स्त्रियोंको वेदवचनका उपदेश करके आत्मसाक्षात्कार करावे परन्तु वह उनको दण्डकमण्डलुके ग्रहणपूर्वक लिङ्गसंन्यास नहीं दे सकता, यदि क्षत्रिय और वैश्य पुरुषोंको तथा तीन वर्णोंकी स्त्रियोंको उत्कट वैराग्य हो तो उनको दण्ड दिये बिना अलिंगसंन्यास देना चाहिये। जैसे शास्त्रमें शूद्रको यज्ञादि विशेष कर्म करनेका निषेध किया है तो भी यज्ञमें करनेयोग्य दान, तप, सत्य तथा नमस्कारादि शुभ कर्म करनेका अधिकार दिया है, इसी प्रकार दण्डग्रहणपूर्वक लिङ्गसंन्यास धारण करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको होनेपर भी लिङ्गसंन्यासमें पालन करनेयोग्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा सत्यादि धर्म तो अलिङ्गसंन्यास धारण करनेवाले क्षत्रिय, वैश्य तथा तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको पालन करनेसे दोषकी प्राप्ति नहीं होती, उलटा महान् पुण्य होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णोंकी कोई स्त्री सम्पूर्ण ब्रह्मविद्यामें कुशल हो, तो भी उसको गुरु न बनाना चाहिये। ब्राह्मण न मिले तो भी क्षत्रिय आदि अन्य वर्णको गुरु करके उससे ब्रह्मविद्याका ग्रहण न करना चाहिये। शास्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यकी स्त्रियोंको अध्ययन करनेका निषेध किया है, इसलिये उन स्त्रियोंको गुरु बनकर तीन वर्णवाले पुरुषोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश न करना चाहिये। यदि तीन वर्णोंमें कोई भी पुरुष ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेको न मिले तो स्त्री भी ब्रह्मविद्याका उपदेश कर सकती है परन्तु स्त्रियाँ अपने समान जातिवालेको तथा अपनेसे हलकी जातिवाले पुरुषको ही ब्रह्मविद्याका उपदेश करें, उत्तम जातिवाले पुरुषको न करें। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पुरुषको भी अपनेसे उत्तम जातिवाला अथवा समान जातिवाला पुरुष गुरु होनेयोग्य न मिले तो वह ब्राह्मण पुरुष भी अपनेसे हलकी जातिवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुषको गुरु मानकर आत्मज्ञानकी विद्या सम्पादन करे। इसी प्रकार आचार्यसे शिक्षित हुए ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ अपना गुरु करें। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंके उनके पति ही गुरु हैं। यदि पति ब्रह्मविद्या न जानता हो, तो वे स्त्रियाँ अपनेसे उत्तम जातिवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुषको गुरु ग्रहण करें, यदि कोई उत्तम जातिवाला न मिले तो समान जातिका गुरु ग्रहण करें। ब्राह्मणसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे वैश्य और वैश्यसे शूद्र हलका है, इसलिये ब्राह्मणको आपत्तिमें भी शूद्रको गुरु स्थापन न करना चाहिये और शूद्र पुरुषको, शूद्र स्त्रीको तथा वर्णसंकर जातिको यदि पूर्वके पुण्यके प्रभावसे वैराग्य उत्पन्न हो और आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा हो तो विद्वान्को चाहिये कि उनको भी ब्रह्मविद्याका उपदेश करे परन्तु साक्षात् उपनिषद्वचनोंसे उपदेश न करे, उपनिषद्के अर्थवाले भागवतादि पुराणों तथा अन्यान्य ग्रन्थोंसे उपदेश करके ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति करावे। यदि उत्तम जातिवाला ब्रह्मवेत्ता गुरु न मिले तो हलकी जातिवालेको धन देकर ब्रह्मविद्या ग्रहण करे। यदि वह इच्छारहित होनेसे धन ग्रहण न करे तो बिना धनके ही उससे ब्रह्मविद्या ग्रहण करे। परन्तु उत्तम जातिवाला शिष्य पैर दबाना आदि सेवा हलकी जातिवाले गुरुकी न करे। वेदमें अश्वपति नामके राजाने उद्दालकादि ब्राह्मणोंको और अजातशत्रु राजाने बालाकि ब्राह्मणको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है। इस प्रकार क्षत्रिय आदिसे ब्राह्मणादिको अध्ययन करनेका अधिकार है परन्तु जहाँ ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ताका अभाव हो, वहीं ऐसा करे, जहाँ ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता प्राप्त हों, वहाँ ऐसा न करे। इसलिये शास्त्रकी मर्यादा जाननेवाली मैत्रेयीने लिङ्गसंन्यास धारण नहीं

किया किन्तु अलिङ्गसंन्यास धारण करके मुनिके समान वह शम-दमादि सब धर्मोंका पालन करती हुई विचरने लगी।

हे प्रियदर्शन! इस मणिका सारांश यह है कि आनन्दस्वरूप आत्मा एक अद्वितीय है। तीनों भेदोंसे रहित है। तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। वही सबका आत्मा है, नित्य है, चेतन है और आनन्दघन है। तीनों कालोंमें अखण्ड एकरस है। सब मुहूर्तोंमें, सब घड़ियोंमें, चैत्रादि मासोंमें, वसंतादि ऋतुओंमें, उत्तर, दक्षिण दोनों अयनोंमें, प्रभव आदि संवत्सरोंमें, कृत आदि युगोंमें, ब्राह्म आदि कल्पोंमें एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा प्रकाशित है। उसका न उदय है, न अस्त है; वह स्वयंप्रकाश मन, वाणीका अविषय है, ऐसे आनन्दस्वरूप आत्माको प्राप्त होकर अधिकारी पुरुष फिर जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त नहीं होता। वह सदाके लिये अमर हो जाता है। इस आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कार करानेको ही वेद भगवान्‌की प्रवृत्ति है। महावाक्यश्रवणद्वारा आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति होती है, आत्माकी प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। निर्मल चित्त हुए बिना आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। इसलिये शम-दमादि साधनद्वारा चित्तको सूक्ष्म और निर्मल करके अधिकारीको गुरुमुखसे महावाक्य श्रवण करके, श्रवणका मनन और मनन किये हुएका निदिध्यासन करके आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये। आत्मसाक्षात्कार ही मनुष्यशरीरका सार्थक करना है, यही मनुष्यशरीरका कर्तव्य है। मनुष्यशरीर देवताओंको दुर्लभ है। सुरदुर्लभ इस अधिकारी मनुष्यशरीरको प्राप्त करके जिसने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया, उसने चिन्तामणिको हाथसे छोड़कर काँच ले लिया, ऐसा समझना चाहिये। संसार असार है, इसमें सिवा दुःखके लेशमात्र भी सुख नहीं है। अधिकारी शरीरको प्राप्त करके जिसने अपना कल्याण नहीं किया, वह जन्म-जन्म भटकता रहता है और कहीं भी सुख-शान्ति नहीं पाता। इसलिये जो कुछ तूने सुना है, उसका एकान्तमें जाकर एकाग्रचित्त होकर मनन कर! सूक्ष्म बुद्धिवाला और ऊहापोहमें कुशल शिष्य ही सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन करता है और सदाके लिये सुखी होता है। अच्छा! तेरा कल्याण हो!

पाठकगण! देवी-डोरूशङ्करका आजका संवादरूप दसवीं मणि समाप्त हुआ! जिन ब्रह्मवेत्ताओंने मन, वाणीके अविषय आनन्दस्वरूप आत्माका तत्त्व इतना सुलभ और सुगम कर दिया है, उन याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंको धन्यवाद है। ऐसे दयालु ऋषि-मुनियोंके ऋणसे मुक्त होना तो क्या, कोई किञ्चित् मात्र भी इस ऋणका करोड़वाँ हिस्सा भी नहीं चुका सकता, फिर भी ऐसे धीर संत-महात्माओंकी स्तुति और नमस्कार करनेसे स्तुति-नमस्कार करनेवालेका कल्याण अवश्य होता है। इसलिये हम हरिगीत छन्दमें संत-महात्माओंका गुणगान करते हैं—

संतगुणगान

हरिगीत छन्द

(१)

तनमें नहीं आसक्ति है, मनमें नहीं है कामना।
चिन्ता नहीं है चित्तमें, नहिं चाहता है नामना॥
विश्वेशकी ली है शरण, नहिं अन्य कुछ भी जानता।
सो ही विवेकी धन्य है, शिव-तत्त्व जो पहिचानता॥

(२)

तड़का हुआ दिन ढल गया, संझा हुई फिर रात है।
जाड़ा गया गर्मी गयी, फिर आ गयी बरसात है॥
दिन चारकी इस चाँदनीमें मन नहीं भटकात है।
सो संत सबका पूज्य सबकी चाहता कुशलात है॥

(३)

जिस रोज बालक जन्मता, यम घर उसी दिन आय है।
सिरपर खड़ा रहता सदा ही साथ लेकर जाय है॥

यम दीखता सिरपर खड़ा, धोखा नहीं सो खाय है ।
संसारसे मुख मोड़कर सत् ब्रह्म निश-दिन ध्याय है ॥

(४)

देता सभीको है अभय, नहिं भय किसीसे खाय है ।
नहिं दुःख देता अन्यको, नहिं आप ही दुख पाय है ॥
देखे तमाशा विश्वका, नहिं बोझ पीठ उठाय है ।
ऐसा विवेकी अन्य तारे, आप भी तर जाय है ॥

(५)

गप्पें वृथा नहिं मारता, हित मित मधुर सच बोलता ।
कमती नहीं बढ़ती नहीं, पूरा बराबर तोलता ॥
हृद्ग्रन्थि अपनी काटता है अन्यकी भी खोलता ।
सच्चा वही है संत क्या बैठा हुआ क्या डोलता ॥

(६)

सब देवियाँ माता बहिन या बेटियाँ है जानता ।
लक्ष्मी भवानी शारदा, जगदम्बिका सम मानता ॥
मन निर्विकारी ब्रह्मचारी ब्रह्म केवल ध्यावता ।
निष्काम आत्माराम पूरा संत सो कहलावता ॥

(७)

नहिं वस्त्र कोई गात्रके, नहिं पात्र कोई हाथ है ।
निर्भय अकेला बेधड़क, रखता न कोई साथ है ॥
कुटिया बनाता है नहीं, कूटस्थमें निज वास है ।
है विश्वभरका पूज्य सो, नहिं आशका जो दास है ॥

(८)

ऊपर भले मैला रहे, भीतर न किञ्चित् मैल है ।
सन्मार्ग चलता है स्वयं सबी बताता गैल है ॥
सब विश्व माँही भर रहा है देखता सब खेल है ।
रखता सभीसे मेल, फिर भी नहिं किसीसे मेल है ॥

(९)

है आप ही इस पारमें, है आप ही उस पारमें ।
संसारमें है दीखता, पर चित्त है सुखसारमें ॥
व्यवहार करता है सभी, फँसता नहीं व्यवहारमें ।
सो संत है जगमान्य, देखे सार ही निस्सारमें ॥

(१०)

दीन्हा मिटा है आपको, सन्तुष्ट अपने आपमें ।
निर्माल्य कूड़ा त्यागकर शिव देखता है आपमें ॥
अनुरक्त अपने आपमें, निष्काममें निष्पापमें ।
आसक्त अपने आपमें, बेतोलमें बेमापमें ॥

(११)

उपवीत षट्सम्पत्तिका, लम्बी शिखा है ज्ञानकी ।
तुम्बी परम वैराग्यकी, झोली अखण्डित ध्यानकी ॥
कर दण्ड है सन्तोषका, कंथा अचल विज्ञानकी ।
सो संत भोला ! पूज, यदि है चाह निज कल्याणकी ॥

छन्द नाराच

समस्तदोषवर्जितं समस्तदोषनाशकम् ।
निरामयं निरव्ययं समस्तविश्वव्यापकम् ॥
मनुष्यदेहधारकं स्वभक्तशिष्यतारकम् ।
समस्ततापहारकं नमामि श्रीयुतं गुरुम् ॥

दोहा

बृहदारण्यक उपनिषद् पढ़ें नारि-नर धीर ।
भोला ! शिवशंकर कृपा, लेश न हो भवभीर ॥

दसवीं मणि समाप्त ।
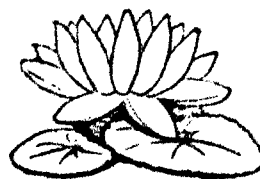
समीकरणकी प्रवृत्ति

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

'कल्याण'के किसी पिछले अंकमें मैंने आध्यात्मिक समीकरणपर कुछ लिखा था। इस नियमके बार-बार मनन करनेसे चित्त शुद्ध होता है और हमारी कलुषित वासनाएँ अपने-आप शान्त हो जाती हैं। संसारमें अपने-आपके स्वभावका ज्ञान न होना ही अनेक दुःखों-का कारण है। यदि हम अपने मनकी क्रियाओंको भलीभाँति समझ लें, उनके आपसके द्वन्द्वके नियमोंको जान लें तो हम अपने जीवनकी अनेकों उलझनोंको सहज ही सुलझा सकते हैं। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्यका मन ही उसके सुख और दुःखोंका कारण है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"। जिस मनुष्यका मन अपनी उलझनोंको सुलझा सका है, जिस मनुष्यके अव्यक्त मनमें अनेकों प्रकारकी भावना-ग्रन्थियाँ स्थित नहीं हैं, ऐसा ही मनुष्य सब प्रकारकी स्थितियोंमें चैनसे जीवन व्यतीत करता है, उसके लिये सभी परिस्थितियाँ शुभ होती हैं, सब मनुष्य भले होते हैं और सब समय अच्छा होता है। (To the poet, to the philosopher and to the saint, all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy and all men divine—Emerson) यदि हमारे हृदयमें शान्ति है तो हमें बाह्य जगत् भी आनन्दरूप दिखायी देता है, और यदि अपने अन्तस्तलमें शान्ति नहीं तो बाह्य जगत् भी अशान्त दुःखरूप होकर हमारे सामने आता है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि अपने-आपके स्वभावको जाने, मनकी पुरानी ग्रन्थियोंका निवारण करे और नयी ग्रन्थियोंको पड़नेका अवकाश न दे। यही परमानन्दप्राप्तिका एक सुन्दर उपाय है और यही संसारी जीवनको सफल बनानेका साधन है।

मनुष्यके स्वभावमें भली और बुरी दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। पश्चिमीय विद्वानोंमें प्रायः इस बातपर बड़ी बहस होती है कि मनुष्यका वास्तविक स्वभाव भला है अथवा बुरा। हाब्स महाशयके अनुसार मनुष्यका मूल स्वभाव बुरा है। मनुष्य बड़ा स्वार्थी जीव है और दूसरेके प्रति उसके भाव सदा आघात करनेके ही रहते हैं। (*Homni homno lepus*) अर्थात् मनुष्य मनुष्यके लिये भेड़िया है। इस सिद्धान्तके प्रतिकूल रूसो महाशय मनुष्यके मूल सिद्धान्तको दैवी मानते हैं। उनका कथन है कि परमात्माके पाससे जब मनुष्य आता है तो उसका स्वभाव पवित्र होता है, पर समाज उसे बिगाड़ देता है। हमारे ऋषियोंके मतानुसार आत्मा तो सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और कल्याणस्वरूप है; और मनुष्यके स्वभावमें दोनों सिद्धान्तोंमें आंशिक सत्य है। उसके स्वभावमें स्वार्थमय घातक प्रवृत्तियाँ भी हैं, तथा उदारता और प्रेमको प्रवाहित करनेवाले स्रोत भी उसके हृदयमें हैं। जिनसे दैवी भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें दो प्रकारकी सम्पत्तियोंका वर्णन किया गया है—दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत्ति हमारे दैवी स्वभावसे उत्पन्न होती है। वह हमारी पूर्णता और ज्ञानकी द्योतक है। आसुरी सम्पत्ति हमारे आसुरी स्वभावसे उत्पन्न होती है और वह मनुष्यके मोह और अज्ञानकी द्योतक है। ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती है, दैवी सम्पत्तियाँ आसुरी सम्पत्तियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करती हैं। इस प्रकार मनुष्य पूर्णताकी ओर जाता है। दैवी सम्पत्तियोंके आसुरी सम्पत्तियोंपर विजय पानेमें ही मनुष्यके स्वभावका विकास है जिसका कि अन्तिम लक्ष्य विष्णु-पदकी प्राप्ति है।

इस विकासका कार्य आत्मा स्वयं अपने-आप करता है। यह आत्मोत्थान दो प्रकारसे होता है—ज्ञातरूपसे और अज्ञातरूपसे। जिन व्यक्तियोंका जीवन पर्याप्तरूपसे विकसित है वे जान-बूझकर अपने-आप आत्म-उत्थानका कार्य करते हैं। उनके जीवनके सामने एक उच्च आदर्श रहता है और वे उसे बड़ी लगनके साथ प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। वे अपने कार्योंकी सदा आलोचना किया करते हैं। उनके मनमें अपनी सब चेष्टाओंके प्रति एक साक्षीभाव उत्पन्न हो जाता है। इङ्गलैण्डके नीति-शास्त्रके लेखक एडम स्मिथने इस भावको निष्पक्ष द्रष्टा (Impartial spectator) कहा है। ऐसे व्यक्ति अपने निन्दकोंसे कभी भी असन्तुष्ट नहीं होते: वे उन्हें अपना हितैषी जानकर उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार करते हैं। कबीरदासजी एक जगह कहते हैं—

> निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
> बिन पानी साबुन बिना, निरमल करे स्वभाय॥

उपर्युक्त कथन ऐसे व्यक्तिका है जो सदा सजग रहता है और अपने जीवनमें आत्मोद्धारका कार्य ज्ञातरूपसे वह स्वयं करता है। ऐसा व्यक्ति अज्ञान या मोहके कारण यदि कभी किसी बुरी चेष्टामें लग भी जाता है तो वह उससे मुक्त होनेका प्राणपनसे प्रयत्न करता है। अपने किये हुए दुष्कर्मोंका प्रायश्चित्त करनेके लिये वह सदा तत्पर रहता है। उससे यदि किसी व्यक्तिके प्रति कोई अपराध बन जाता है तो वह उससे क्षमा माँगनेके लिये सदा तैयार रहता है। वह अपने मान और प्रतिष्ठाके कारण सत्यको स्वीकार करनेमें कभी भी नहीं हिचकता। और बुरे कामोंके लिये यदि उसे दण्ड मिलता है तो वह उसको प्रसन्नताके साथ स्वीकार करता है। अर्थात् उसके मनमें स्वतः ही किसी अनुचित क्रियाके प्रभावको नाश करनेके लिये एक प्रतिक्रिया शीघ्र होती है। आत्माकी समीकरणकी प्रवृत्तिके कारण ही ऐसा होता है। विषयासक्त होना ही पाप है, यह एक प्रकारका विक्षेप है, विषम अवस्था है, जिसका निवारण आत्मा सदा किया करता है। इसीका नाम समीकरणकी प्रवृत्ति है।

उपर्युक्त कथन भागवतमें वर्णित राजा परीक्षितकी कथासे स्पष्ट होता है। राजा परीक्षितने कलिके वशमें होकर शृङ्गी ऋषिके पिताके गलेमें मरा साँप डाल दिया। जब वे घर आये और अपने मुकुटको उतारा तो वहाँ उन्हें कलि दिखायी पड़ा; साथ-ही-साथ उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि कलिके वशमें होकर मैंने बड़ा भारी पाप कर दिया है। उनके चित्तमें बड़ी अशान्ति पैदा हुई। उन्हें इतनी अधिक आत्मग्लानि हुई कि वे उसे सह नहीं सकते थे। वे इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहते थे। और जब शृङ्गीजीका शाप उन्हें सुनाया गया तो उन्होंने उसको बड़े हर्षके साथ स्वीकार किया। इस कथाके ऐतिहासिक सत्यपर कुछ तर्कबुद्धि-प्रवीण पाठक सन्देह कर सकते हैं, उन्हें इतना अवश्य जान रखना चाहिये कि इसमें आध्यात्मिक सत्य तो अवश्य है ही। जैसा कि भारतवर्षकी अनेकों पौराणिक कथाओंमें है। यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि जर्मनीके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपेनहावर भारतीय पौराणिक कथाओंको संसारकी समस्त पौराणिक कथाओंसे उत्तम तथा सत्यमयी मानते हैं। उपर्युक्त कथाका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मनुष्य जबतक अहङ्कारका ताज जो कि सम्पत्ति-सुवर्णसे बना होता है, अपने ऊपर रक्खे रहता है, तबतक उसे सत्य और असत्यका भेद स्पष्टतः नहीं दिखायी देता। अहङ्कारके वशमें होकर वह अन्याय कर बैठता है। उसमें अपने-आपपर आलोचना करनेकी शक्ति नहीं रहती। संसारमें भ्रमण करते समय, समाजमें व्यवहार

करते समय, हम इस अहङ्कारके ताजको सदा अपने ऊपर रक्खे रहते हैं। पर जब हम संसारसे अलग होकर, एकान्तमें जाकर, शान्तचित्त बैठते हैं तब अहङ्कारके ताजकी आवश्यकता नहीं रहती। मूर्ख लोग तो उस समय भी उसे पहने रहते हैं, पर विद्वान् उसे उतारकर एक ओर रख देते हैं। तब हमारी विवेकबुद्धि—जो अभीतक अहङ्कार तथा उसमें निवास करनेवाले कलिरूपी स्वार्थके डरसे अपनी उचित सलाह नहीं देती थी—अपना काम करने लग जाती है। अतएव हम अपने कामोंकी स्वभावतः ही आलोचना करते हैं और तब हमें अपनी भूलें स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं। हमारा अन्तःकरण उन भूलोंके कारण दुखी होता है और हम प्रायश्चित्त किये बिना रह नहीं सकते। वास्तवमें प्रायश्चित्त आत्मशुद्धिकी चेष्टामात्र है। आत्मा अपने-आपमें पापको स्थान देना नहीं चाहती।

हर-एक क्रिया घटित होनेसे अपनी एक प्रवृत्ति पैदा कर देती है चाहे वह क्रिया भौतिक जगत्‌में हो या मानसिक जगत्‌में। जबतक एक प्रवृत्तिका विरोध दूसरी प्रवृत्तिद्वारा नहीं होता, तबतक वह प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। परन्तु ऐसी कोई प्रवृत्ति यदि आत्माको हानिकारक है तो उसे तुरन्त रोक देना आवश्यक है, अर्थात् किसी भी अपने-आपद्वारा की गयी अशुभ क्रियाके विपरीत एक प्रतिक्रिया अवश्य करनी चाहिये, तभी पहले की हुई क्रियाका परिणाम नष्ट हो सकता है। प्रायश्चित्त एक प्रकारकी आध्यात्मिक प्रतिक्रिया है जो कि पाप-क्रियाओंसे उत्पन्न प्रवृत्तियोंका सफलतापूर्ण विरोध करती है तथा उनके परिणामोंका नाश कर देती है। जो व्यक्ति अपने पापोंका प्रायश्चित्त नहीं करता, जो अपने कार्योंकी आलोचना नहीं करता, उसकी कुप्रवृत्तियाँ बढ़ती ही जाती हैं, जबतक कि अज्ञात जगत्‌में तथा अदृष्ट मनमें उनके प्रतिकारके हेतु विरोधी परिस्थितियाँ पैदा न हो जायँ और उनका आगे बढ़ना न रोक दें।

ज्ञातभावसे एक कुप्रवृत्तिके प्रति भली प्रवृत्तिका उत्थान होना, अर्थात् किसी पापके लिये प्रायश्चित्तकी इच्छा होना, और प्रकृतिद्वारा विपरीत परिस्थितियोंकी उत्पत्ति होकर पापाचरणका प्रतिकार होना, दोनों एक ही नियमके दो स्पष्ट स्वरूप हैं। और वह नियम यह है कि आत्मा सदा साम्यावस्थामें रहना चाहता है। किसी प्रकारकी विषमताको प्राप्त होना आत्माको भाता नहीं है। विषमता आत्माके स्वरूपके प्रतिकूल है, वह (विषमता) उसकी महत्ता, उसकी सम्पूर्णता तथा उसकी एकताका एक प्रकारसे विच्छेद या अवरोध है। अहंकार और स्वार्थबुद्धिका बढ़ना एक प्रकारका रोग है जिससे आत्मा सदा मुक्त होनेकी चेष्टा करता रहता है। जब अहंकार और स्वार्थबुद्धि बढ़ती है तभी हम दूसरोंको दुःख देते हैं और अनेकों प्रकारके दुराचार करते हैं। आत्मामें इस बुद्धिके नाश करनेकी प्रवृत्ति सदा वर्तमान है। इसी बुद्धिको अँगरेजीमें "Conscience" कहते हैं और यही "समीकरणकी प्रवृत्ति" बनकर अपना कार्य आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक जगत्‌में करती है। जिस प्रवृत्तिको हम जड जगत्‌में ऊँचेको नीचे करने और नीचेको ऊपर उठानेमें, जलते हुएको बुझानेमें और बुझे हुएको जलानेमें, गरमको ठण्डा करने और ठण्ढेको गरम करनेमें कार्य करते देखते हैं वही प्रवृत्ति हमारे मनमें भी कार्य करती है। जब मनका कोई एक भाग अत्यधिक बढ़ जाता है तो आत्माके द्वारा उसे कम करनेकी चेष्टा होती है; इसी तरह जब जीवनका कोई अंग अत्यधिक बढ़ जाता है तो आत्माकी समीकरणकी प्रवृत्ति उसे घटा देती है

और दूसरे भागोंको पुष्ट करती है। इसी समीकरणकी प्रवृत्तिके कारण हमारे मनमें जब राग होता है तो उसके प्रतिकारके लिये विराग भी अपने-आप उत्पन्न हो जाता है। यही प्रवृत्ति आत्मशुद्धि या आत्मोद्धारका कारण है।

'समीकरणकी प्रवृत्ति' हमारे आध्यात्मिक जीवनतक ही सीमित नहीं वरं स्वयं प्रकृति भी इसका कार्य करती है। इमरसन महाशय एक जगह लिखते हैं—Mind is one and nature its correlative अर्थात् मन एक है और प्रकृति मनका दूसरा रूप है। जब हम स्वयं अपनेको नहीं सँभाल सकते तब प्रकृति हमें अपने आपको सँभालनेमें सहायता देती है। संसारके दुःख, दारिद्रय इसीलिये होते हैं जिससे कि हम अपने आपको समझकर सँभाल लें। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि सत्य सबको बरबस स्वीकार करना ही पड़ता है। 'Truth is driven home at the bayonet's point' सत्यसे कोई बच नहीं सकता।

पर देखनेकी बात तो यह है कि वास्तवमें प्रकृति वही करती है अथवा नहीं जो कि हमारे अव्यक्त मनकी इच्छा है, जो हमारे दैवी स्वभावके अनुकूल है। हम जिस प्रकार अपने स्वप्नोंको देखकर आश्चर्य करते हैं कि वे कैसे आये इसी प्रकार हम जगत्की घटनाओंको देखकर आश्चर्य करते हैं कि अमुक घटनाएँ हमारे जीवनमें क्यों हुईं। जिस तरह स्वप्नोंकी अनेक घटनाओंका सम्बन्ध अपने जीवनसे नहीं समझ सकते इसी प्रकार जगत्की घटनाओंका अर्थ जाननेमें भी हम प्रायः असमर्थ रहते हैं। इसमें कारण हमारा अज्ञान और मोह है। आधुनिक चित्तविश्लेषण शास्त्र (New Psycho-analysis) बताता है कि स्वप्नकी प्रत्येक घटनाका हमारे जीवनसे बड़ा सम्बन्ध है। वे हमारी सुप्त वासनाओंको प्रदर्शित करती हैं; पर ये वासनाएँ छिपेरूपसे तृप्ति प्राप्त करनेकी कोशिश करती हैं, अतएव हम अपने स्वप्नोंका अर्थ नहीं समझ पाते। बाह्य जगत् भी वास्तवमें इसी प्रकार हमारी वासनाओंसे सम्बन्ध रखता है और उसकी घटनाएँ हमारी आन्तरिक इच्छाओंको पूरी करती हैं। हम इन इच्छाओंको अपने अज्ञान और अहंकारके कारण पहचान नहीं पाते। पर ज्ञान-दृष्टिसे जब मनके अन्तरपटलको देखा जाता है तो हम अनेकों ऐसी छिपी वासनाएँ पाते हैं जिनका हमें बिल्कुल सन्देह ही नहीं था।

हम कभी-कभी अपने-आप स्वप्नमें क्लेशोंमें पड़ जाते हैं, हम देखते हैं कि हमारे किसी प्रिय सम्बन्धी या मित्रकी मृत्यु हो गयी है। कभी-कभी हम अपनी भी मृत्यु देखते हैं। ये सब घटनाएँ हमारी सुप्त वासनाओंसे ही आविर्भूत होती हैं। यह बात चित्तविश्लेषण-विज्ञानने भली भाँति सिद्ध कर दी है। संसारकी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी इसी तरह हमारी सुप्त वासनाओंका प्रतिफल हैं।

अब एक प्रश्न हमारे सामने आता है जो उपर्युक्त सिद्धान्तको स्वीकार करनेसे हमें रोकता है कि अपने-आपको दुःख देनेवाली परिस्थितियाँ किस प्रकार हमारी स्वतन्त्र इच्छासे पैदा हो सकती हैं? हम सदा अपने लिये सुख चाहते हैं, फिर अपनी इच्छासे दुःख कैसे उपस्थित हो सकता है? आध्यात्मिक समीकरणका नियम, आत्माकी समीकरणकी प्रवृत्ति सहज ही इस प्रश्नको हल कर देती है। हमारे मनमें सदा दो प्रकारकी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ चला करती हैं, एक हमें विषयासक्तिकी ओर ले जाती है और दूसरी उनसे मुक्तिकी ओर। राग और विराग—यह मनका सहज स्वभाव है। जिस प्रकार रागात्मक वृत्तिके प्रबल होनेपर संसारी सुखोंकी सामग्री हमारे समक्ष एकत्र हो जाती है,

इसी तरह विरागात्मक प्रवृत्तिके क्रियमाण होनेपर सब सुखोंकी सामग्री ध्वंस हो जाती है। यह शरीर भी इसी प्रकार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।

हर एक मनुष्यका अन्तरात्मा शुद्ध, निर्मल तथा आनन्दरूप है। विषयोंके सम्बन्धसे प्राणियोंको अपने स्वरूपपर एक प्रकारका आवरण हो जाता है। इसका निवारण आत्मा स्वयं ही करता है। दुःखोंकी उपस्थिति इस आत्माकी विषयोंसे मुक्ति पानेकी चेष्टा-मात्र है। अहंकारी मन इस बातको नहीं जान पाता, क्योंकि ये क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ अव्यक्त मनमें होती हैं। बाह्य जगत्‌में उनका परिणाममात्र दिखायी देता है।

योगवाशिष्ठमें कहा गया है कि हमारा मन ही ब्रह्मा है जो हमारी सृष्टिका सृजन करता है। जब मनकी किसी अव्यक्त भावनाकी तृप्ति मृत्युसे ही हो सकती है तब व्यक्तिकी मृत्यु हो जाती है। जिस प्रकार संसारमें जन्म अपनी अव्यक्त वासनाओं-के कारण होता है उसी प्रकार आन्तरिक भावनाके कारण ही मृत्यु होती है। जन्म भोग-प्रवृत्तिके बढ़नेसे होता है और मरण वैराग्य-प्रवृत्तिके बढ़नेसे। पहली प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्तिद्वारा समीकृत हो जाती है। लाभका समीकरण हानिसे होता है, सुखका दुःखसे, मानका अपमानसे; इसी तरह जाग्रत् अवस्थाका सुषुप्तिसे और संसारी जीवनका मृत्युसे होता है। जिस प्रकार महासागरमें सदा शान्त रहनेकी प्रवृत्ति रहती है, अतएव वह अनेकों जलतरंगोंको नष्ट करती रहती है। इसी तरह आत्माकी सदा शान्त रहनेकी प्रवृत्ति मानसिक संकल्पों और तज्जनित संसारको अपने स्वरूपमें विलीन करती रहती है।

इस समीकरणकी प्रवृत्तिके कारण ही पाप करने-के बाद पश्चात्ताप होता है और इसीके कारण बाह्य जगत्‌में प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होकर हमें पापाचरणसे बरबस रोक देती हैं। इस प्रवृत्तिके कारण ही हर एक अनुचित कार्यके लिये मनुष्यको दण्ड मिलता है। यह दण्ड स्वयं आत्मा अपने-आप देता है। पापाचरणसे आत्मा दुखी हो जाता है और वह पापमय जीवनसे मुक्ति चाहता है। बाहरी परिस्थितियाँ उसकी इस आन्तरिक इच्छाकी पूर्ति करनेमें सहायक मात्र होती हैं।

यह बात इतिहासकी घटनाओंसे सिद्ध होती है तथा कवियोंने इसे अपनी कृतियोंमें पूर्णतः स्पष्ट किया है। यहाँ शेक्सपियरके प्रसिद्ध 'मेकबेथ' नामक नाटककी मुख्य घटनाका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। जब मेकबेथने अपने अतिथि राजा डनकनकी हत्या राज्यके लोभसे की तो उसका चित्त विक्षिप्त-सा हो गया। उसके हृदयकी शान्ति जाती रही। उसकी स्त्री जो कि इस कार्यमें सहायक थी अपने पापी जीवनका भार न ढो सकी। स्वप्नमें उसका अव्यक्त मन उस पापसे मुक्त होनेकी चेष्टा करता था। पर मृत्युके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय उस पापसे मुक्त होनेका था नहीं। अतएव उसकी मृत्यु हो गयी। इसी तरह मेकबेथकी मृत्यु भी अपने-आपकी इच्छासे हुई। उसने एक समय राजा डनकनकी मृत्युमयी शान्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा व्यक्त भावसे भी प्रकट की थी। यहाँ अहंकारी मनकी लोभकी प्रवृत्तिका प्रतिकार संसारी जीवनसे मुक्त होनेकी प्रवृत्तिने किया। पहली क्रियाके प्रतिकूल एक प्रतिक्रियाका होना आत्माकी समीकरणकी प्रवृत्तिके कारण हुआ।

फ्राइड महाशय इस प्रवृत्तिको निर्वाणकी इच्छा (wish for *nirvana*) कहते हैं। यह सभी प्राणियोंमें सदा वर्तमान रहती है। इसीके कारण निद्रा आती है, तथा मृत्यु होती है। और इसीके कारण हम संसारी जीवनसे मुक्त होते हैं। यह आत्माके सच्चे स्वरूपके ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति है।

रम्य रहस्य

(लेखक—म० पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी)

वीर्यसे जो मानव होता
विना नर वीर्य बना किससे।
पुरुषसे वीर्य हुआ है तो
कौन वह, पुरुष हुआ जिससे।१।

वृक्ष जो बना बीजसे तो
विना तरु बीज कहाँ आया।
वृक्षसे हुआ बीज है तो
वृक्ष क्या विना बीज छाया।२।

सुना है काठ न डंडेका
काठका कहलाता डंडा।
सुनी क्या मुर्गी अंडेकी
कहाता मुर्गीका अंडा।३।

सत्य जो, मुर्गीका अंडा
कहाँसे फिर मुर्गी आयी।
इसलिये अंडेकी मुर्गी
आप ही मुर्गी कहलायी।४।

आज जो जच्चाका बच्चा
उसे क्यों कहते हैं कच्चा।
पश्चिमी विज्ञानी-मतसे
पुरुषका पिता हुआ बच्चा।५।

यही जो सत्य, पुरुषका क्यों
कहाता बच्चा फिर बच्चा।
इसलिये पुरुष सदा होता
पिता है बच्चाका सच्चा।६।

साँपका क्या है छोटा-बड़ा
कली क्या पक्की क्या कच्ची।
कई माताओंकी माता
कहातीं छोटी-सी बच्ची।७।

बिंदुएँ बनीं सिंधुओंसे
बिंदुओंसे सागर भरते।
शैलसे रज-कण बनते हैं
शैलको कण पैदा करते।८।

बजा क्या इकतारेसे है
कंठने क्या गाने गाये।
व्योम तो भरा स्वरोंसे है
तार-गलसे न नये आये।९।

फूलसे सौरभका आना
भ्रमर-मनने क्यों माना है।
सत्य पूछो तो पृथ्वी ही
गंधका एक खजाना है।१०।

हुए दो नाम ब्रह्म-माया
दूसरा पहलेमें खोता।
नहीं दो एक कभी बनता
एक दो कभी नहीं होता।११।

तैल-बत्ती दो हैं तो क्या
नहीं दो-चार लोककी लौ।
एक ही, दो इन आँखोंसे
दिखायी दे जाता है दो।१२।

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

आजकल लोगोंने भगवान्‌को सट्टेकी तरह,—जिसमें एक ही दिनमें लाखों रुपये आ जाते हैं,—समझ रक्खा है। दो-चार माला फिरायें कि भगवान् हमारे गुलाम बन जायें। अरे, दस वर्षमें भी भगवान् मिल जायें तो भी बहुत है। यदि एक जन्ममें न मिले तो भी कुछ चिन्ता नहीं है। हमारे यहाँ तो पुनर्जन्म होता है!

शास्त्र दवाखाना है, और गुरु वैद्य हैं। वे जैसा रोग देखते हैं, वैसा ही शास्त्रका निचोड़—दवा दे देते हैं। वहाँ तर्क नहीं करनो चाहिये कि इस दवाको हम क्यों खायँ? आजकल लोग डाक्टरसे तो तर्क नहीं करते, गुरुसे तर्क करते हैं। परन्तु कम-से-कम डाक्टरसे तो गुरु बड़े ही होते हैं। गुरुसे तर्क करनेवाले मन्द-बुद्धि ही हैं।

मीराबाईका और तुलसीदासजीका उदाहरण बात-बातमें मत दिया करो। मीराबाई क्या साधारण स्त्री थी? मीराबाई साक्षात् श्रीजगदम्बाकी अवतार थीं, और श्रीतुलसीदासजो साक्षात् वाल्मीकिजीके अवतार थे।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं। इस अभिमानमें मस्त रहना चाहिये।

हमारे यहाँ पापीका चिन्तन करना निषिद्ध है, क्योंकि पापीका चिन्तन करनेसे पापवृत्ति आती है। पापीका दर्शन मत करो, पापीका स्पर्श मत करो, पापीकी बात मत करो और पापीका चिन्तन मत करो। धर्मात्माके दर्शन करो, धर्मात्माका स्पर्श करो, धर्मात्माकी बात करो और धर्मात्माका चिन्तन करो।

धनके और स्त्रीके आकारसे भी जिसे डर लगता है वही विरक्त है। जिस प्रकार सर्पको देखकर डर लगता है, इसी प्रकार विषयी मनुष्यको देखकर भी जिसे डर लगने लगे वही विरक्त है। जिसे अपनी पूजा या भोजनोंके थाल नरक-से मालूम हों, वही विरक्त है।

शास्त्रका सिद्धान्त है, आचार्योंका सिद्धान्त है कि रागसे ही राग छूटता है। हवा बादल पैदा करती है, फिर वही बादलको हटा भी देती है। भगवत्प्राप्तिकी इच्छा सांसारिक इच्छाको काट देती है। अन्तमें भगवान्‌की प्राप्तिसे वह आप भी शान्त हो जाती है।

माताकी सेवा बिना कल्याण नहीं होगा। स्वयं जगद्‌गुरु भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज भी माताके भक्त थे। यहाँतक कि, माताके मरनेपर उन्होंने संन्यासी होनेपर भी माताको अग्नि दी थी। माताको दुःखी करनेसे कल्याण नहीं होगा!

जो कुछ भी समझमें आयेगा सब ब्राह्मणकी शरण लेनेपर ही आयेगा। ब्राह्मणके रग-रगमें ब्रह्मविद्या भरी पड़ी है। भला, एक बढ़ई—जिसके कि बाप-दादोंसे बढ़ईपनका काम होता आया है, जो काम कर सकता है वैसा क्या दूसरी जातिका आदमी कर सकता है? उपनिषदोंमें भी जगह-जगह ब्राह्मणोंकी महिमा भरी पड़ी है।

मूर्ख, जो संसारके खिलौनेमें ही राजी हैं, भगवान्‌के भजनको बुरा बतायेंगे ही। वे तो विषयोंके ही गुण गावेंगे!

१३६
और
प्रवृ
उस
हो
का
तक
का
ख्रि
cc
दूर
स
स
हर
स
स

जन्म-जन्मान्तरोंसे हमारा विषयोंमें अनुराग है इसीलिये भगवान्में अनुराग नहीं होता। भगवान्में पूरा अनुराग हुआ कि संसार छूटा। जैसे निद्राका अन्त और जागना दोनों एक ही साथ होते हैं।

दूसरी चोजमें मन चला भी जाय तो हानि नहीं, परन्तु बुद्धि नहीं जानी चाहिये। बुद्धिके चले जानेसे हानि है। बुद्धि न्यायाधीश है और मन पेशकार है। पेशकार कितना भी कुछ करे, न्यायाधीश जो फैसला दे देता है, वही माना जाता है।

तुम्हें यदि कोई उत्तम उपदेश दे तो तुम यह मत देखो कि वह भी कुछ करता है कि नहीं; तुम तो उसके उपदेशको सुनो और मानो। देखो, जिस प्रकार हलवाईकी दूकानपर मिठाई बनती है परन्तु बहुत-से हलवाई स्वयं मिठाई नहीं खाते; दूसरे ही खाते हैं पर यह कोई नहीं देखता कि हलवाईने भी मिठाई खायी या नहीं।

उत्तम शिष्य चिन्तन करनेसे ही गुरुकी शक्ति प्राप्त करते हैं, मध्यम शिष्य दर्शन करनेसे शक्ति प्राप्त करते हैं और निकृष्ट शिष्य प्रश्न करनेपर शक्ति पाते हैं। हमारे यहाँ प्रश्नोत्तर नहीं है। गुरुकी सेवा करे, गुरुका चिन्तन करे। जब गुरुमें अनुराग है, जब गुरु हमारे हैं तब उनमें जो गुण हैं वे भी हमारे हैं।

प्रश्न—क्या समयके अनुसार धर्ममें परिवर्तन हो सकता है?

उत्तर—नहीं हो सकता। परिवर्तन करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। हमारे महर्षि चारों युगोंके लिये धर्म बना गये हैं। कलियुगके लिये भी धर्म बना गये हैं। नवीन बनानेकी आवश्यकता नहीं है।

प्र०—कीर्तनसे क्या ध्यान स्थिर रह सकता है?

उ०—कीर्तन भी ध्यान ही है। ईश्वर-भक्तको ईश्वरके भजनसे, चिन्तन करनेसे, इष्टकी हर एक बातसे आनन्द आता है। भगवान्को याद करना और इस जगत्को भूल जाना, हमारा यही तो लक्ष्य है। कीर्तन करो, कीर्तनसे थक गये तो जप करो, जपसे थक गये तो स्वाध्याय करो, उससे थक गये तो ध्यान करो, ध्यानसे भी थक गये तो श्रीभगवान्की चर्चा करो। व्यर्थकी बातोंमें समय नष्ट न करो। हर समय भगवान्का चिन्तन करते रहो।

प्र०—'सुवा पढ़ावत गनिका तारी' यह क्या सत्य है?

उ०—तो क्या झूठ है? बिल्कुल सत्य है परन्तु तुम इसे नहीं समझ सकते।

प्र०—पुण्य क्या है और पाप क्या है?

उ०—कुकर्म पाप है और शुभकर्म पुण्य हैं। हमारे आचार्य जो कर्म करनेको लिख गये हैं उन्हें करना पुण्य है और जिन्हें निषिद्ध बता गये हैं उनको करना पाप है।

आजकल हर एक आदमी अपनेको बुद्धिमान् समझता है। इसीलिये तो उन्हें शान्ति नहीं मिलती।

लेखक—भक्त रामशरणदासजी।

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[पृष्ठ १२०७ से आगे]

अथवा 'कं सुखं तद्रूपा कुः पृथिवी भाति यस्मात् असौ ककुभः' अर्थात् क सुखको कहते हैं, अतः जिनके कारण कु—पृथिवी भी सुखस्वरूपा जान पड़ती है वे भगवान् ककुभ हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के अद्भुतत्व और परमानन्द-सिन्धुत्वमें तो सन्देह ही क्या है, उनकी सन्निधिसे तो 'कु' शब्दवाच्या पृथिवी भी आनन्दरूपा होकर भास रही है। जिस समय रासलीलासे भगवान् अन्तर्हित हो गये उस समय श्रीकृष्ण-सौन्दर्यसमास्वादनसे प्रमत्त हुई गोपांगनाएँ वृक्षादिसे उनका पता पूछती हुई अन्तमें पृथिवीसे कहती हैं—

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥

अर्थात् 'अरी पृथिवि! तूने ऐसा क्या तप किया है कि अहो! जिसके कारण तू श्रीकृष्णचन्द्रके स्पर्शजनित आह्लादसे हुए रोमाञ्चोंसे सुशोभिता है। अथवा श्रीउरुक्रम भगवान्‌के पादविक्षेपजनित चरणस्पर्शसे या श्रीवराहभगवान्‌के आलिङ्गनसे तुझे यह रोमाञ्च हुआ है?'

यहाँ सन्देह हो सकता है कि पृथिवी तो जड है, उससे ऐसा प्रश्न करना किस प्रकार सार्थक होगा? तो इस सम्बन्धमें मेघदूतके यक्षका दृष्टान्त स्मरण रखना चाहिये। वह भी तो मेघद्वारा अपनी प्रियतमाके पास अपना सन्देश भेज रहा था। बात यह है कि जो विरही होते हैं उन्हें चेतनाचेतनका विवेक नहीं रहता। प्रियाकी वियोगव्यथासे पीडित भगवान् राम भी मानो विरहियोंकी दशाका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—'हे चन्द्र! तुम पहले श्रीजानकीजीका स्पर्शकर उनके अङ्ग-सङ्गसे शीतल हुई किरणोंद्वारा फिर हमारा स्पर्श करो।' इसी प्रकार यहाँ भी पृथिवीसे प्रश्न हो सकता है। विरहिणी व्रजाङ्गनाओंकी दृष्टिमें तो पृथिवी भगवत्सम्बन्धिनी होनेके कारण चेतन ही है।

अतः वे पृथिवीसे पूछती हैं, 'हे क्षिति! तुमने ऐसा क्या तप किया है? यदि कहो कि हम तो जडा हैं, हमारेमें तुम्हें तपका क्या चिह्न दिखायी देता है? तो हमें तो मालूम होता है कि तुमने अवश्य ही कोई बड़ा तप किया है। इसीसे तो तुम्हें भगवान्‌के चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे तुम्हारा आनन्दोद्रेक स्पष्ट प्रकट होता है, क्योंकि बिना आनन्दोद्रेकके रोमाञ्च नहीं होता। अतः परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शजनित उल्लाससे ही तुम रोमाञ्चित हो रही हो।' यहाँ पृथिवीकी ओरसे यह कहा जा सकता था कि पृथिवीका यह तरुलतारूप रोमाञ्च तो अनादि कालसे है इसे तुम श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे हुआ कैसे मानती हो? इसपर कहती हैं—'यह तो निश्चय है कि इस प्रकारकी रोमोद्गति भगवच्चरणोंके स्पर्शसे ही हो सकती है; चाहे यह श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे हुई हो अथवा भगवान् उरुक्रमके पादविक्षेपके समय उनके पदस्पर्शसे हुई हो या जिस समय भगवान्‌ने वाराह अवतार लेकर तुम्हारा आलिङ्गन किया था उस समय उस आलिङ्गनजनित आनन्दोद्रेकसे यह रोमाञ्च आ हो। तुम्हें भगवच्चरणोंका स्पर्श अवश्य आ है और तुम हमारे प्राणाधार श्रीनन्दनन्दन-का पता भी अवश्य जानती हो; अतः हमपर दयादृष्टि करके हमें उनका पता बतला दो।'

पृथिवीका इस प्रकारका सौभाग्य तो परम्परासे है। अर्थात् यह सौभाग्य पृथिवीके समस्त देशको प्राप्त नहीं है, बल्कि उसके एक देशको ही है। किन्तु जिस प्रकार भगवान् रामके चित्रकूटपर निवास करनेसे 'बिनु श्रम बिन्ध्य बड़ाई पावा'—सारा विन्ध्याचल ही सौभाग्यशाली समझा गया, उसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि केवल व्रजभूमिको ही भगवान्‌के चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त था—क्योंकि अन्यत्र रथादि या पादत्राणादिका व्यवधान अवश्य रहता था—तथापि उसीके कारण सारी पृथिवीकी सौभाग्यश्रीकी सराहना की गयी। व्रजको तो यह सौभाग्य प्राप्त था ही। इसीसे कहा है—

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

अर्थात् आपके प्रादुर्भूत होनेसे व्रज बहुत ही धन्य-धन्य हो रहा है, क्योंकि यहाँ निरन्तर ही लक्ष्मीजीका निवास

रहने लगा है। वैकुण्ठकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी वैकुण्ठलोककी सेव्या है, किन्तु यहाँ तो वह श्रयते—सेवते अर्थात् सेवा करती है—सेविका है। यही नहीं 'वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः' कहकर तो स्पष्ट ही वृन्दारण्यकी शोभामें भगवच्चरणोंका ही कारणत्व निर्देश किया गया। अतः सिद्ध हुआ कि जिनके कारण अर्थात् जिनका चरणस्पर्श पाकर कु—पृथिवी भी परमानन्दमयी हो रही है वे श्रीभगवान् ही ककुभ हैं।

अथवा 'कः ब्रह्मापि कुत्सितो भाति यस्मात् असौ ककुभः' अर्थात् जिनकी अपेक्षा ब्रह्मा भी कुत्सित ही प्रतीत होता है वे भगवान् ही ककुभ हैं। ऐसी स्थितिमें उनकी सर्वज्ञता और अलुप्तदृक्तामें तो सन्देह ही क्या है?

ऐसे अचिन्त्यानन्दैश्वर्यशाली श्रीभगवान् व्रजांगनाओंके रमणके लिये वृन्दारण्यमें कैसे आये? इसपर कहते हैं 'के ब्रह्मणि को कुत्सिते अस्मदादावपि समान एव भातीति ककुभः' अर्थात् वे भगवान् ब्रह्मा और हम-जैसे कुत्सितोंमें भी समानरूपसे ही विराजमान हैं इसीलिये ककुभ कहे जाते हैं, क्योंकि भगवान्‌की दृष्टिमें उत्कृष्ट-अपकृष्ट भेद नहीं है। भला जब कि भगवान्‌के स्वरूपका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले मुनियोंकी भी ऐसी स्थिति होती है कि 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' तो फिर स्वयं भगवान्‌में विषमदृष्टि क्यों होने लगी?

भगवान् तो समस्वरूप हैं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' वे केवल वरणमात्रसे ही भेददृष्टिवाले-से जान पड़ते हैं। जिसने परप्रेमास्पदरूपसे उनका वरण किया है उसीको 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस नियमके अनुसार वे आत्मीयरूपसे स्वीकार करते हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहि न पाप-पुन्य गुन-दोषू॥
तदपि करहि सम-बिषम बिहारा। भक्त-अभक्त हृदय अनुसारा॥

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के सम-विषम व्यवहारमें भक्तका हृदय ही हेतु है। परमकरुणामय श्रीभगवान्‌की परमभास्वती अचिन्त्य कृपा अपार है। किन्तु जिसने उसका प्राकट्य कर लिया है उसे ही उसकी उपलब्धि होती है। इसका उपाय यही है कि उस परम प्रेमास्पद तत्त्वको स्वकीयरूपसे वरण करे, उसकी प्रार्थना करे और उसे आत्मसमर्पण करे। बस इसीसे वह भगवत्कृपा प्रकट हो जायगी। इस प्रकार परमकरुण और कृपालु श्रीहरि हम-जैसे कुत्सितोंकी मनोरथपूर्तिके लिये भी सब प्रकार कृपा करते हैं।

अब एक दूसरी दृष्टिसे इस श्लोकके अर्थका विचार करते हैं। प्रथम श्लोककी व्याख्यामें एक स्थानपर कहा गया था शरदोत्फुल्लमल्लिकाके समान आपातरमणीय सुखोंमें ही आसक्त 'ता रात्रीः' अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त उस प्राकृत प्रजाको देखकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। जिस समय भगवान्‌ने अज्ञानियोंके हृदयारण्यमें रमण करनेकी इच्छा की उस समय उसे रमणार्ह बनानेके लिये पहले उनके हृदयाकाशमें वैदिकस्मार्तधर्मरूप चन्द्रमाका उदय हुआ, क्योंकि जबतक वर्णाश्रमधर्मका आचरण करके मन शुद्ध नहीं होगा तबतक वह भगवत्-क्रीडाका क्षेत्र बननेयोग्य नहीं हो सकता। उस हृदयकी शुद्धिका प्रधान हेतु वैदिक-स्मार्त कर्मोंका आचरण ही है। जैसे चन्द्रोदयसे वृन्दारण्य भगवत्क्रीडाके योग्य होता है उसी प्रकार वैदिक-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्यका हृदय भगवान्‌की विहारभूमि बन सकता है।

इसमें 'उडुराजः' का अर्थ एक तो चन्द्रमा ही ठीक है। दूसरे 'रलयोः डलयोश्चैव' इत्यादि नियमके अनुसार पहले उ और ल का सावर्ण्य होनेसे 'उलुराजः' और फिर ल और र का सावर्ण्य होनेसे 'उरुराजः' माना जाय तो 'उरुधा राजत इति उरुराजः' ऐसा विग्रह करके यह अर्थ करेंगे कि यजमान, ऋत्विक्, द्रव्य एवं देवतारूपसे अनेक प्रकार सुशोभित होनेवाला यज्ञ ही उरुराज है। धर्मके स्वरूप ये ही हैं। पहले हम कह चुके हैं कि अवयवी अवयवों-से अभिन्न होता है। अतः धर्मके अंग होनेके कारण ये यजमानादि धर्मरूप ही हैं। 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' इस वाक्यके अनुसार कर्म अनेकविध साधनसाध्य ही है। इनमें द्रव्य और देवता तो कर्मके आन्तरिक साधन हैं और ऋत्विक् यजमानादि उसके सम्पादक होनेके कारण बहिरंग हैं। इस प्रकार यह वैदिक-स्मार्त कर्म ही चन्द्र है। यह जिस हृदयमें उदित होता है उसे ही शुद्ध करके भगवान्‌की क्रीडाभूमि बना देता है।

वह उडुराज कैसा है? 'ककुभः—के स्वर्गे को पृथिव्यां भातीति ककुभः' अर्थात् यह धर्म स्वर्ग और पृथिवीमें समानरूपसे भासता है। यह सारा प्रपञ्च धर्मका ही कार्य है,

यदि धर्म न हो तो यह सब उच्छिन्न हो जाय। धर्मके बिना न यह लोक है और न परलोक ही। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' अतः धर्म ही देवताओंका रक्षक है और धर्म ही मनुष्योंका। इसीसे भगवान्ने कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

अर्थात् 'इस वैदिक-स्मार्त्त कर्मसे तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार परस्पर परितुष्ट करते हुए ही तुम परम श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।' इस प्रकार साधारण स्वर्गादि ही नहीं मोक्ष-प्राप्तिमें भी यह वर्णाश्रमधर्म ही मुख्य हेतु है, क्योंकि बिना वर्णाश्रमधर्मका यथावत् आचरण किये चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, बिना चित्तशुद्धिके जिज्ञासा नहीं होगी, बिना जिज्ञासा ज्ञान नहीं होगा और ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

इसीसे यह भी बतलाया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक परमोन्नति) की सिद्धि होती है वही धर्म है। तथा 'ध्रियेते अभ्युदयनिःश्रेयसौ अनेनेति धर्मः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयसका धारण करनेवाला है। वस्तुतः वैदिक-स्मार्त्त कर्म ही सम्पूर्ण प्रपञ्चको धारण करनेवाला है; इसीसे कहा है—'धारणाद्धर्म इति प्राहुः' अर्थात् धारण करनेके कारण ही इसे धर्म कहते हैं। अतः शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्मका यथावत् आचरण करनेसे ही मनुष्य सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है; और यही भगवत्पूजनका मुख्य प्रकार है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। इसीके द्वारा मनुष्य अन्तःकरण-शुद्धिरूपा, भगवद्भक्तिरूपा और भगवज्ज्ञानलक्षणा सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

अतः जिसके हृदयमें भगवान् रमण करना चाहते हैं उसके हृदयमें पहले इस वर्णाश्रमधर्मरूप चन्द्रका ही उदय होता है। इस उडुराजके प्रियः और दीर्घदर्शनः ये दोनों विशेषण हैं। वह उडुराज कैसा है? 'प्रियः'—सबका प्रिय; क्योंकि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सुखका साधन धर्म है। जो लोग ऐहिक अथवा आमुष्मिक सुख चाहते हैं उन्हें धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि उसकी प्राप्तिका साधन धर्म ही है। इसीसे बुद्धिमान् लोग सुखकी परवा न करके धर्मानुष्ठानपर ही जोर देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि साधन होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो ही जायगी। अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख उपस्थित हो जायगा। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये। धर्मसील पहँ जाहिं सुभाये॥

अर्थात् जहाँ धर्म है वहाँ सब प्रकारके सुख और वैभवको आज नहीं तो कल अवश्य जाना पड़ेगा। यही नहीं, भगवान्को भी धर्म ही प्रिय है, इसीसे वे स्वयं कहते हैं—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।' अर्थात् मैं युग-युगमें धर्मकी सम्यक् प्रकारसे स्थापना करनेके लिये जन्म ग्रहण करता हूँ। यद्यपि सर्वशक्तिमान् होनेके कारण वे बिना अवतीर्ण हुए भी धर्मकी स्थापना कर सकते थे, तथापि अपनी इस परम प्रेमास्पद वस्तुकी रक्षाके लिये उनसे अवतीर्ण हुए बिना नहीं रहा जाता; वस्तुतः प्रेमावेश ऐसा ही होता है। इस विषयमें एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है।

कहते हैं, एक बार किसी सम्राट्ने किसी बुद्धिमान्से कहा कि 'यदि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं तो धर्म और भक्तोंकी रक्षाके लिये अवतार क्यों लेते हैं; इस कार्यको वे अपने सङ्कल्पमात्रसे ही क्यों नहीं कर डालते; अथवा उनके बहुत-से सेवक भी हैं उन्हींसे इसे पूरा क्यों नहीं करा देते?' इसपर उस बुद्धिमान्ने उत्तर देनेके लिये एक मासका अवकाश माँगा। सम्राट्का एक अति सुन्दर पुत्र था, उसके प्रति सम्राट्का अत्यन्त स्नेह था। बुद्धिमान्ने ठीक उसीके आकारकी एक मोमकी मूर्ति बनवायी और एक दिन, जिस समय सम्राट् अपने बहुत-से सेवक और साथियोंके सामने महलके हम्मामखानेमें स्नान कर रहा था उस पण्डितने उस मोमके पुतलेको दुलार करते हुए हम्मामकी ओर ले जाकर जलमें गिरा दिया। अपने लाडिले लालको हम्माममें गिरा जान सम्राट् उसकी प्राणरक्षाके लिये तुरन्त हम्माममें कूद पड़ा और वहाँ अपने पुत्रकी आकृतिका एक पुतलामात्र देखकर पण्डितसे इस अशिष्टताका कारण पूछा। पण्डितने कहा—'महाराज! यह आपके प्रश्नका उत्तर है; जिस प्रकार अपने बहुत-से दरबारी और दास-दासियोंके रहते हुए भी राजकुमारके मोहवश आपके ध्यानमें इस कामके लिये किसीको आज्ञा देनेकी बात नहीं आयी उसी प्रकार

भगवान् भी अपने अत्यन्त प्रिय भक्त या धर्मका संकटमें पड़ा देखकर स्वयं अवतीर्ण हुए बिना नहीं रह सकते।'

इस प्रकार यह धर्म-चन्द्र प्रिय है। इसके सिवा यही भगवत्प्राप्तिका भी असाधारण हेतु है; क्योंकि यह वर्णाश्रम-धर्म ही भगवान्‌को आराधनाका प्रधान साधन है, इसके सिवा किसी और साधनसे उनकी प्रसन्नता नहीं हो सकती—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

तथा भगवद्भक्ति ही तत्त्वज्ञानका प्रधान हेतु है; अतः परम्परासे ज्ञानका साधन भी यह धर्मचन्द्र ही है। यह बात सर्वथा सुनिश्चित है कि निर्गुण परमात्माकी प्राप्ति मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी निश्चलता होनेपर ही हो सकती है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

अर्थात् 'जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसी अवस्थाको परमगति कहते हैं।' किन्तु आरम्भमें यह इन्द्रियादिकी निश्चेष्टता अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः पहले वैदिक-स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करके अपने देह और इन्द्रियादिकी उच्छृङ्खल चेष्टाओंको सुसंयत करना चाहिये, तभी उनका निरोध करना भी सम्भव होगा।

इसके सिवा और भी यह चन्द्र कैसा है! 'दीर्घदर्शनः—दीर्घेण कालेन फलात्मना दर्शनं यस्य इति दीर्घदर्शनः।' अर्थात् जिसका दीर्घकाल पश्चात् फलरूपसे दर्शन होता है, क्योंकि कर्मफल होनेमें भी कुछ देरी अवश्य होती है; अथवा कीट-पतंगादि अनेक योनियोंके पश्चात् जब जीवको मनुष्ययोनि प्राप्त होती है और उनमें भी जब उसका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंके अन्तर्गत होता है तब उसे इस धर्मचन्द्रका दर्शन होता है, क्योंकि उसी समय उसे वैदिक-स्मार्त्त धर्मोंका आचरण करनेका अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये भी वह दीर्घदर्शन है।

अथवा 'दीर्घमनवबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन दीर्घ—अबाध्य है वह यह धर्म-चन्द्र दीर्घदर्शन है, क्योंकि धर्मका ज्ञान वेदोंसे होता है और उनका प्रामाण्य किसीसे बाधित नहीं है।

वह धर्मचन्द्र किस प्रकार प्रकट हुआ? 'स उडुराजः चर्षणीनामधिकारिजनानां शुचः तत्तदभिलषिताप्राप्तिजन्या आर्त्तीः शन्तमैः सुखमयैः करैः सुखप्रदैश्च स्वर्गादिफलैर्मृजन् दूरीकुर्वन्नुदगात्' अर्थात् वह चन्द्रमा अधिकारी पुरुषोंकी अपने अभिलषित पदार्थोंकी अप्राप्तिके कारण होनेवाली दीनताको स्वर्गादि सुखमय और सुखप्रद फलोंद्वारा निवृत्त करता हुआ प्रकट हुआ। साथ ही स्वाभाविक कामकर्मरूप आर्त्ति भी आर्त्तिकी जननी होनेके कारण आर्त्ति ही है। उसका मार्जन करता हुआ भी प्रकट हुआ। इस पक्षमें यह समझना चाहिये कि जो सुखरूप और सुखप्रद शास्त्रीय काम-कर्मादि हैं, उनसे स्वाभाविक काम-कर्मादिकी निवृत्ति होती है।

और क्या करता हुआ प्रकट हुआ?

यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखमरुणेन विलिम्पन्नुदगात् एवमेवायमपि प्रियो दीर्घदर्शनश्च उडुराजोऽरुणेन कर्मजन्येन सुखेन तद्रागेण वा प्राच्याः प्राचीनाया बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन् तद्गत-दुःखं दूरीकुर्वन्नुदगात्।

जिस प्रकार प्रियतम भगवान् कृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनीके मुखको अपने करधृत कुङ्कुमसे अनुरञ्जित करते प्रकट हुए थे उसी प्रकार यह प्रिय और दीर्घदर्शन चन्द्र भी अरुण—कर्मजनित सुख अथवा उसके रागसे प्राची—प्राग्भवा बुद्धिके सत्त्वात्मक भागको लेपित करते हुए अर्थात् उसके दुःखको दूर करते हुए प्रकट हुए। अथवा यों समझो कि 'प्राच्याः अविवेकदशायाः मुखं जाड्यं स्वजनितेन नित्यानित्यविवेकेन तिरस्कुर्वन्नुदगात्' अर्थात् बुद्धिकी जो अविवेकदशा है, उसके मुख यानी जडताको अपनेसे उत्पन्न हुए नित्यानित्यविवेकसे तिरस्कृत करता हुआ प्रकट हुआ, क्योंकि वैदिक-स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्त शुद्ध होता है। इससे नित्यानित्यवस्तु-विवेक होता है और विवेकसे बुद्धिकी जडता निवृत्त होती है।

(क्रमशः)

भगवत्प्राप्तिके कुछ साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यजन्म सबसे उत्तम एवं अत्यन्त दुर्लभ और भगवान्‌की विशेष कृपाका फल है। ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर जो मनुष्य आलस्य, भोग, प्रमाद और दुराचारमें अपना समय बिता देता है वह महान् मूढ है। उसको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

छः घंटेसे अधिक सोना एवं भजन, ध्यान, सत्संग आदि शुभ कर्मोंमें ऊँघना आलस्य है।

करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना एवं मन, बुद्धि और शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना प्रमाद है। शौक, स्वाद और आरामकी बुद्धिसे इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना भोग है।

झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, जारी आदि शास्त्रविपरीत आचरणोंका नाम दुराचार (पाप) है।

अपने हितकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इन सब दोषोंको मृत्युके समान समझकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

क्लेश, कर्म और सारे दुःखोंसे मुक्ति, अपार, अक्षय और सच्चे सुखकी प्राप्ति एवं पूर्ण ज्ञानका हेतु होनेके कारण यह मनुष्यशरीर चौरासी लाख योनियोंमें सबसे बढ़कर है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, मुक्ति और शिक्षाको प्रणाली सदासे बतलानेवाली होनेके कारण यह भारतभूमि सर्वोत्तम है। सारे मतमतान्तरोंका उद्गमस्थान, शिक्षा और सभ्यताका जन्मदाता तथा स्वार्थत्याग, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि गुणोंका भण्डार, सत्य, तप, दान, परोपकार आदि सदाचारका सागर और सारे मतमतान्तरोंका आदि और नित्य होनेके कारण वैदिक सनातनधर्म सर्वोत्तम धर्म है।

केवल भगवान्‌के भजन और कीर्तनसे ही अल्पकालमें सहज ही कल्याण करनेवाला होनेके कारण कलियुग सर्व युगोंमें उत्तम युग है। ऐसे कलिकालमें सर्व वर्ण, आश्रम और जीवोंका पालन-पोषण करनेवाला होनेके कारण सर्व आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम उत्तम है। यह सब कुछ प्राप्त होनेपर भी जिसने अपना आत्मोद्धार नहीं किया वह महान् पामर एवं मनुष्यरूपमें पशुके समान ही है। उपर्युक्त सारे संयोग ईश्वरकी अहैतुकी और अपार दयासे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीवोंकी संख्याके अनुसार यदि बारीका हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस जीवको पुनः मनुष्यका शरीर लाखों, करोड़ों वर्षोंके बाद भी शायद ही मिले। वर्तमानमें मनुष्योंके आचरणोंकी ओर ध्यान देकर देखा जाय तो भी ऐसी ही बात प्रतीत होती है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर ही मिलना कठिन है और यदि वह मिल जाय तो भी भारतभूमिमें जन्म होना, कलियुगमें होना तथा वैदिक सनातनधर्म प्राप्त होना दुर्लभ है। इससे भी दुर्लभतर शास्त्रोंके तत्त्व और रहस्यके बतलानेवाले पुरुषोंका संग है। इसलिये जिन पुरुषोंको उपर्युक्त संयोग प्राप्त हो गये हैं वे यदि परमशान्ति और परम आनन्ददायक परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो इससे बढ़कर उनकी मूढ़ता क्या होगी।

ऐसे क्षणिक, अल्पायु, अनित्य और दुर्लभ शरीरको पाकर जो अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते, जिनका तन, मन, धन, जन और सारा समय केवल सब लोगोंके कल्याणके लिये ही व्यतीत होता है वे ही जन धन्य हैं। वे देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। उन्हीं बुद्धिमानोंका जन्म सफल और धन्य है।

प्रथम तो जीवन है ही अल्प और जितना है वह भी अनिश्चित है। न मालूम मृत्यु कब आकर हमें मार दे। यदि आज ही मृत्यु आ जाय तो हमारे पास

१३६ और प्रवृ उससे हो उ का तक कार्य लिए co दूस सब सह इसं स स "J p व म ई र ।

क्या साधन है जिससे हम उसका प्रतीकार कर सकें। यदि नहीं कर सकते तो हम तो अनाथकी तरह मारे जायँगे। इसलिये जबतक देहमें प्राण हैं और मृत्यु दूर है तबतक हमलोगोंको अपना समय ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये। शरीर और कुटुम्बका पोषण एवं धनका संग्रह भी यदि सबके मंगलके कार्यमें लगे तभी करना चाहिये; यदि ये सब चीजें हमें सच्चे सुखकी प्राप्तिमें सहायता नहीं पहुँचातीं तो इनका संग्रह करना मूर्खता नहीं तो क्या होगा! देहपातके बाद धन, सम्पत्ति, कुटुम्बकी तो बात ही क्या, हमारी इस सुन्दर देहसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा और हम अपने देह और सम्पत्ति आदिको अपने उद्देश्यके अनुसार अपने और संसारके कल्याणके काममें नहीं लगा सकेंगे। देहकी तो मिट्टी और राख हो जायगी, अतः वह किसी भी काममें नहीं आवेगी।

सब बातें सोचकर हमको अपनी सब वस्तुएँ ऐसे काममें लगानी चाहिये जिससे हमें पश्चात्ताप न करना पड़े। परम शान्ति, परम आनन्द और परम प्रेमरूप परमात्माकी प्राप्तिरूप परम कल्याणप्रद साधनमें ही इस जीवनको बितानेकी तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बतलाये गये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनको यदि मनुष्य स्वार्थ त्यागकर निष्कामभावसे करे तो सहजमें और शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। उन साधनोंमेंसे कुछका वर्णन किया जाता है—

(१) सांख्ययोग

इसके कई प्रकार हैं—

(क) एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सम एवं अपने अनुकूल आसनसे बैठकर भोग, आराम और जीवनकी सम्पूर्ण इच्छाओं एवं वासनाओं-को छोड़कर मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके बाहरके सारे विषयभोगों तथा अन्य पदार्थोंसे इन्द्रियोंको हटाना चाहिये। तदनन्तर मनके द्वारा होनेवाले विषयचिन्तनका भी विवेक और विचारके द्वारा परित्याग कर देना चाहिये। इसके पश्चात् धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाना चाहिये अर्थात् केवल एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये उसके सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये अर्थात् शरीर और संसारको इस प्रकार एकदम भुला देना चाहिये कि पुनः इसकी स्मृति हो ही नहीं। यदि पूर्वअभ्यासवश हो जाय तो पुनः उसे विस्मरण कर देना चाहिये। इस प्रकार करते-करते जब बहुत कालतक चित्तकी वृत्ति उस परमात्माके स्वरूपमें ठहर जाती है अर्थात् मनमें कोई भी संसारकी स्फुरणा नहीं होती तो उसके सम्पूर्ण पापों-का नाश होकर सुखपूर्वक सहजमें ही नित्य और अतिशय सर्वोत्तम परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी एकीभावसे सदाके लिये प्राप्ति हो जाती है। जैसे घड़ेके फूटनेसे घटाकाश और महाकाशकी एकता हो जाती है, यद्यपि घटाकाश और महाकाशकी वस्तुसे नित्य एकता है, केवल घड़ेकी उपाधिसे ही भेद प्रतीत होता है, घड़ेके फूटनेसे प्रतीत होनेवाले भेदका भी सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानके कारण संसारके सम्बन्धसे जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत होता है। विवेक और विचारके द्वारा संसारके चिन्तनको छोड़कर परमात्माके चिन्तनके अभ्याससे मन और बुद्धिकी वृत्तियाँ परमात्माके स्वरूपमें तन्मय होकर तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाले जीव और ईश्वरके भेदका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, अर्थात् साधकको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी अभेदरूपसे सदाके लिये प्राप्ति हो जाती है।

परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद व्युत्थान अवस्थामें भी अर्थात् समाधिसे उठनेके बाद भी यह संसार उस योगीके अन्तःकरणमें निद्रासे जागृत हुए पुरुषको स्वप्नके संसारकी भाँति सत्तारहित प्रतीत होता है, अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य सत्ता वहाँ नहीं रहती।

(ख) संसारमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, वह गुणोंके द्वारा ही हो रही है, अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं; ऐसा समझकर साधक अपनेको सब प्रकारकी क्रियासे अलग, उन सब क्रियाओंका द्रष्टा समझे। अभी हमलोगोंने इस साढ़े तीन हाथके स्थूल शरीरके साथ अपना तादात्म्य कर रखा है अर्थात् इस शरीरको ही हम अपना स्वरूप समझे हुए हैं। किन्तु इस शरीरसे परे पृथ्वी है, पृथ्वीके परे जल है, जलके परे तेज है, तेजके परे वायु है, वायुके परे आकाश है, आकाशके परे मन है, मनके परे बुद्धि है, बुद्धिके परे समष्टिबुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व है। समष्टिबुद्धिके परे अव्याकृत माया है और उसके परे सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। मायापर्यन्त यह सब दृश्यवर्ग द्रष्टारूप परमात्माके आधारपर स्थित है, जो इन सबके परे है। उस परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर समष्टिबुद्धिके द्वारा इस सारे दृश्यवर्गको अपने उस अनन्त निराकार चेतन स्वरूपके अन्तर्गत अपने ही संकल्पके आधार, क्षणभङ्गुर देखे। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करते हुए संसारका सारा व्यवहार करनेसे उसको एकीभावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् सबका अभाव होकर केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही शेष रह जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(१४।१९)

हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।

(ग) साधक अपने तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब ओर एक सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही परिपूर्ण देखे और अपने शरीरसहित इस सारे दृश्य-प्रपञ्चको भी परमात्माका ही स्वरूप समझे। जैसे आकाशमें स्थित बादलोंके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर एकमात्र आकाश ही परिपूर्ण हो रहा है और स्वयं बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे तेज और तेजसे जलकी उत्पत्ति होनेसे जलरूप मेघ भी आकाश ही हैं। इसी प्रकार साधक अपनेसहित इस सारे ब्रह्माण्डको सब ओर एकमात्र परमात्मासे ही घिरा हुआ एवं परमात्माका ही स्वरूप समझे। वह परमात्मा ही सबकी आत्मा तथा सबके परे होनेके कारण निकट-से-निकट एवं दूर-से-दूर है। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्माकी ही सत्ता रह जाती है और साधक उस परमात्माको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। गीता कहती है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३।१५)

वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।

(घ) साधक अपनेको सम, अनन्त, नित्य, विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ अभिन्न समझकर अर्थात् स्वयं उस परमात्माका स्वरूप बनकर सारे भूतप्राणियोंको अपने संकल्पके आधार एवं अपनेको उन भूतप्राणियोंके अंदर आत्मरूपसे व्याप्त देखे अर्थात् अपनेको सबका आत्मा समझे । जसे आकाश वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन चारों भूतोंका आधार एवं कारण होनेसे ये सब भूत आकाशमें ही स्थित हैं और इन सबमें आत्मरूपसे अनुस्यूत होनेके कारण आकाश इन सबके अंदर भी है, अथवा जैसे स्वप्नका जगत् स्वप्न देखनेवालेके संकल्पके आधार है और वह स्वयं इस जगत्में तद्रूप हाकर समाया हुआ है; उसी प्रकार साधक भी चराचर विश्वको अपने संकल्पके आधार और अपनेको उस विश्वके अंदर आत्मरूपसे देखे । ऐसा अभ्यास करनेपर भी साधकको उस नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ।

(ङ) पवित्र और एकान्त स्थानमें सम, स्थिर और सुखपूर्वक आसनसे बैठकर पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द इन शब्दोंके भावका पुनः-पुनः मनके द्वारा मनन करे । इस प्रकार करते-करते मन तद्रूप बन जाता है । तब इन विशेषणोंसे विशिष्ट परमात्माके स्वरूपका निश्चय होकर बुद्धिके द्वारा उसका ध्यान होने लगता है । इस प्रकार ध्यान करते-करते बुद्धि परमात्माकी तद्रूपताको प्राप्त होकर सविकल्प समाधिमें स्थित हो जाती है, जिसमें उस सच्चिदानन्द परमात्माके शब्द, अर्थ और ज्ञानका ही विकल्प रह जाता है, अर्थात् परमात्माके नाम और रूपका ही वहाँ ज्ञान रहता है । इस प्रकार उस साधककी परमात्माके स्वरूपमें दृढ निष्ठा होकर फिर उसकी निर्विकल्प स्थिति हो जाती है, जिसमें केवल अर्थमात्र एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही स्वरूप रह जाता है और वह साधक उस परमात्माके परायण हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिल जाता है । उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला पुरुष परमात्माके तत्त्वको जानकर पापरहित हुआ परमगति अर्थात् परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

(२) कर्मयोग

(क) सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार केवल भगवान्के ही लिये शास्त्रविहित कर्मोका आचरण करनेसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्की शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है ।

(ख) परमात्मा ही सबका कारण एवं सबकी आत्मा होनेसे सारे भूतप्राणी परमात्माके ही स्वरूप हैं, ऐसा समझकर जो मनुष्य भगवत्प्रीत्यर्थ दूसरोंकी स्वार्थरहित, निष्काम सेवा करता है और ऐसा करनेमें अतिशय प्रसन्नता एवं परम शान्तिका अनुभव करता

है, उसे इस प्रकारके साधनसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। इस प्रकारकी सेवाके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। अभी कुछ ही शताब्दियों पूर्व दक्षिणमें एकनाथजी नामके प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं। उनके सम्बन्धमें यह इतिहास मिलता है कि वे एक समय गंगोत्रीको यात्रा करके वहाँका जल काँवरमें भरकर रामेश्वरधामकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें बरार प्रान्तमें उन्हें एक ऐसा मैदान मिला, जहाँ जलका बड़ा अभाव था और एक गदहा प्यासके मारे तड़पता हुआ जमीनपर पड़ा था। उसकी प्यास बुझानेका और कोई उपाय न देखकर एकनाथजी महाराजने उस जलको, जिसे वे इतनी दूरसे रामेश्वरके शिवलिंगपर चढ़ानेके लिये लाये थे, उस गदहेको भगवान् शंकरका रूप समझकर पिला दिया। इस प्रकार प्रत्येक भूतप्राणीमें परमात्माकी भावना करके उसकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे परमात्माको प्राप्ति सहजहीमें हो जाती है। राजा रन्तिदेव तथा भक्त नामदेव आदिकी भी इसी प्रकारकी कथाएँ आती हैं।

(ग) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप अथवा केवल ज्योतिरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परम दयालु परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादिके द्वारा उनके चित्रपट, प्रतिमा आदिकी अथवा मानसिक* पूजा करनेसे भी भगवान् प्रकट होकर भक्तको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। गीतामें भी कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९। २६)

हे अर्जुन! मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र, पुष्पादिक मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

(घ) भगवान्‌को ही अपना इष्ट एवं सर्वस्व मानकर प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे उनके स्वरूपका गुण-प्रभावसहित निरन्तर तैलधारावत् चिन्तन करते रहनेसे और इस प्रकार चिन्तन करते हुए ही समस्त लौकिक व्यवहार करनेसे भी भगवान् सहजमें ही प्राप्त हो जाते हैं। प्रेमस्वरूपा परम भक्तिमती गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत आदिमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, गाय दुहते, गोबर पाथते, बच्चोंको खिलाते-पिलाते, पतियोंकी सेवा करते, धान कूटते, आँगन लीपते, दही बिलोते, झाड़ू लगाते तथा गृहस्थीके अन्य सब धन्धोंको करते हुए हर समय भगवान् श्रीकृष्णका मनसे चिन्तन और वाणीसे गुणानुवाद करती रहती थीं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८। ७)

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।

(ङ) कठिनसे भी कठिन विपत्ति आनेपर, यहाँतक कि मृत्यु उपस्थित होनेपर भी उस विपत्ति अथवा मृत्युको अपने प्रियतम भगवान्‌का भेजा हुआ मंगल-

* मानसिक पूजा तथा ध्यानकी विधिके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'प्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तक देखनी चाहिये।

मय विधानरूप पुरस्कार समझकर उसे प्रसन्नतापूर्वक सादर स्वीकार करनेसे और किञ्चिन्मात्र भी विचलित न होनेसे अथवा उस विपत्ति अथवा मृत्युके रूपमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करनेसे अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जैमिनीयाश्वमेध-में भक्त सुधन्वाकी कथा आती है, उसे जब पिताने उबलते हुए तेलके कड़ाहमें डालनेकी आज्ञा दी तो वह भगवान्‌को स्मरण करता हुआ सहर्ष उसमें कूद पड़ा किन्तु तेल उसके शरीरको नहीं जला सका। भक्तशिरोमणि प्रह्लादका चरित्र तो प्रसिद्ध ही है। वे तो अपने पिताके दिये हुए प्रत्येक दण्डमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करते थे, जिससे उन्हें सहजहीमें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार भयंकर-से-भयंकर रूपमें भी अपने प्रियतमका दर्शन करनेवाले भक्तको सहजहीमें भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

(च) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि किसी भी नामको भगवान्‌का ही नाम समझकर निष्काम प्रेमसहित केवल जप करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। शास्त्रोंमें नाम और नामीमें अभेद माना गया है और गीतामें भी भगवान्‌ने नाम-जपको अपना ही स्वरूप बतलाया है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' यों तो नामकी सभी युगोंमें महिमा है परन्तु कलियुगमें तो उसका विशेष महत्त्व है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

यह जप वाणीसे, मनसे, श्वाससे, नाड़ीसे कई प्रकारसे हो सकता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, निष्कामभावसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करनेसे इससे शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

'स्वाध्याय अर्थात् गुण और नामके कीर्तनसे इष्टदेवताको प्राप्ति हो जाती है।'

(छ) महान् पुरुषोंका अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक संग करनेसे भी संसारके विषयोंसे वैराग्य एवं भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌को प्राप्ति शीघ्र हो ही जाती है। देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

महान् पुरुषोंका संग बड़ा दुर्लभ है और मिल जानेपर उन्हें पहचानना कठिन है, किन्तु पहचानकर उनका संग करनेसे परमात्मस्वरूप महान् फलकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। क्योंकि महत्पुरुषोंका संग कभी निष्फल नहीं होता। महान् पुरुषोंका संग बिना जाने करनेसे भी वह खाली नहीं जाता क्योंकि वह अमोघ है। योगदर्शनमें तो यहाँतक कहा है कि महत्पुरुषोंके चिन्तनमात्रसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

(ज) गीतामें कहे हुए उपदेशोंके यथाशक्ति पालन करनेका उद्देश्य रखकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ एवं भावसहित उसका अध्ययन करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने भी स्वयं गीताके अन्तमें कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(१८। ७०)

तथा हे अर्जुन! जो पुरुष, इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है।

(झ) सब भूतोंके सुहृद् परमात्माको अपने ऊपर अहैतुकी दया एवं परम प्रेम समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होनेसे भी मनुष्य परम पवित्र होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

(ञ) माता, पिता, आचार्य, महात्मा, पति, स्वामी आदि अपने किसी भी अभीष्ट व्यक्तिमें परमेश्वर-बुद्धि करके श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा अथवा ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

'यथाभिमतध्यानाद्वा।'

(ट) श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक किये हुए सत्पुरुषोंके संग तथा शास्त्रोंके अध्ययनसे भगवान् तथा भगवत्-प्राप्तिमें दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छा जागृत होनेपर भगवान्की कृपासे स्वयमेव साधन बनकर भगवान्की बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार हठयोग, राजयोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत-से अन्य उपाय भी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। परन्तु उन सबका वर्णन करनेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा, यह सोचकर उनका उल्लेख नहीं किया गया। ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अभ्यास करनेसे, जो मनको रुचिकर एवं अनुकूल प्रतीत हो, परम गतिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि जिसकी मृत्यु आज ही होनेवाली है, क्या वह भी इस प्रकारसे साधन करके परम कल्याणको प्राप्त हो सकता है? हाँ, यदि निष्काम प्रेमभावसे भजन-ध्यान तत्परताके साथ मृत्युके क्षणतक किया जाय तो ऐसा हो सकता है। भगवान्के वचन हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

अन्तमें जो लोग नियमित रूपसे साधन करना चाहते हैं, उनके लिये कुछ थोड़े-से सामान्य नियम तथा साधन जो अवश्य ही करने चाहिये, नीचे बताये जाते हैं—

प्रातःकाल सोकर उठते ही सबसे पहले भगवान्का स्मरण करना चाहिये और फिर शौच-स्नानादि आवश्यक कृत्यसे निवृत्त होकर यथासमय (सूर्योदयसे पूर्व) सन्ध्या तथा गायत्री मन्त्रका कम-से-कम १०८ जप करे। फिर भगवान्के किसी भी नामका जो अपनेको प्रिय हो जप करे तथा परमात्माके गुण-प्रभावसहित अपने इष्टस्वरूपका ध्यान तथा मानसिक पूजा करे। इसके अनन्तर यदि घरमें कोई देवविग्रह हो तो उसका शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन करे, माता-पिता तथा अन्य गुरुजनोंको प्रणाम करे तथा बलिवैश्वदेव करके फिर भगवान्को अर्पण करके भोजन करे। इसी प्रकार सायंकालको भी यथासमय (सूर्यास्तसे पूर्व) सन्ध्या और गायत्रीका जप करे तथा प्रातःकालकी भाँति ही नाम-जप, ध्यान और मानसिक पूजा करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंको छोड़कर अथवा इनमेंसे भी जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ हो उन्हें सन्ध्या तथा गायत्रीजप नहीं करना चाहिये। इनके साथ-साथ गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तथा षोडश मन्त्रकी १४ माला या अपने इष्टदेवके नामका २२००० जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

संतवाणी

(सङ्कलित)

दुनियामें घुसना बहुत आसान है पर उसमेंसे निकलना उतना ही मुश्किल है ।

ईश्वरके प्रति नम्र होना, उसकी आज्ञाके मुताबिक चलना, उसकी प्रत्येक इच्छाके आगे सिर झुकाना—इसीका नाम ईश्वरके प्रति विनय दिखाना है ।

प्रभुपर निर्भर और उसके अधीन रहनेवाला वास्तवमें वही है जिसने ईश्वरका दृढ़ आश्रय लिया है और जो किसी भी बातका उसे दोष नहीं देता ।

एक ईश्वरकी प्राप्तिके लिये ही जिसके मनमें वैराग्य उपजा हो वही सच्चा वैरागी है, स्वर्गके लोभसे जो वैरागी बना हो वह तो असली वैरागी नहीं ।

अपने पास बहुत-से नौकर-चाकर और भोगोंके सामान देखकर एक अज्ञानी ही फूला नहीं समाता ।

जिसने अपना अभिमानका बोझ हलका कर लिया है, वही पार उतर सकता है । जिसने बोझ बढ़ा लिया है वह तो डूबेगा ही ।

जो मनुष्य संसारको नाशवान् और भगवान्‌को सदाका साथी समझकर चलता है, वही उत्तम गति पाता है । जो नाशवान् चीजोंका मोह छोड़कर, संसारका भार प्रभुपर छोड़कर, भाररहित हो जाता है वह सहज ही संसार-सागरसे तर जाता है ।

इस दुनियामें इन्द्रियोंको बाँधनेके लिये जैसी मजबूत साँकल चाहिये वैसी मजबूत साँकल पशुओं-को बाँधनेके लिये भी नहीं चाहिये ।

तुम्हारे पूर्वज ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन करते हुए चलते थे । रातको वे उसका चिन्तन करते थे और दिनमें उसीके अनुसार बर्ताव करते थे । परन्तु तुमने वैसा करना छोड़ ही नहीं दिया, उलटे ईश्वरकी आज्ञाओंके उलटे-सुलटे अर्थ लगाकर तुम संसारमें आसक्ति बढ़ानेवाले लेख तैयार कर रहे हो ।

तुम्हारा चिन्तन तुम्हारा दर्पण है । कारण, तुम्हारे शुभाशुभका हाल वह बता देगा ।

जिसकी दृष्टि वशमें नहीं, उसे कुमार्गपर जाना पड़ता है ।

जिसने वासनाओंको पैरों तले कुचल दिया है, वही मुक्त है ।

जबतक हृदय संकेत नहीं करता, ज्ञानी मौन रहते हैं । उनकी जीभसे वही बात निकलती है जो उनके हृदयमें होती है ।

इस दुनियामें लोगोंकी दोस्ती बाहरसे देखनेमें सुन्दर, पर भीतरसे जहरीली होती है ।

मायावी संसारसे सदा सचेत रहना, यह बड़े-बड़े पण्डितोंके मनको भी वशमें कर लेता है ।

जिन्हें ईश्वरकी स्तुति और ईश्वरका स्मरण करनेके बदले लोगोंको शास्त्रवचन सुनाना ही अच्छा लगता है, प्रायः उन सबका ज्ञान बाहरी—नकली है, उनका जीवन सारहीन है ।

जो ईश्वरका भरोसा रखते हैं ईश्वर अवश्य उनका निर्वाह करता है ।

विपत्तिको सह लेनेमें अचरज नहीं है, अचरज है वैसी हालतमें भी शान्त और आनन्दमग्न रहनेमें । और यही ईश्वर-विश्वासका लक्षण है ।

ईश्वरसे डरकर जो काम किया जाता है वह

सुधरता है, और जो काम बिना उसके डरके किया जाता है वह बिगड़ता है ।

जबतक लोक और लौकिक पदार्थोंमें आसक्ति रहेगी, तबतक ईश्वरमें सच्ची आसक्ति न हो सकेगी ।

जिसकी जीभ सत्य और हितकर वाणी बोलती है वही वास्तविक वक्ता है ।

प्रभु-प्रेम मनुष्यसे प्रभु-प्रेमकी बातें करवाता है । प्रभुकी लज्जा उसे असत् बोलनेमें मौन रखती है और प्रभुका भय उसे पाप करनेसे बचाता है ।

दानादि सत्कर्मोंको करते समय होनेवाली अपनी प्रशंसाकी ओर कान भी न दो । वह प्रशंसा तुम्हारी नहीं, उस ईश्वरकी महिमा है ।

पहले प्रभुके दास बनो । और जबतक वैसे न बन पाओ, 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं वही हूँ' ऐसा मत कहो । नहीं तो, घोर नरकको यातना भोगनी होगी ।

जो मनुष्य सांसारिक विषयों तथा विषयी लोगोंके संसर्गसे दूर रहता है और साधुजनोंका ही संग करता है वही सच्चा प्रभुप्रेमी है; कारण, भगवत्-परायण साधुजनोंसे प्रीति करना और ईश्वरसे प्रीति करना एक ही समान है ।

ईश्वरकी कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन करनेमें भी प्रसन्न होना सीखो । ईश्वरका आदेश सुनने, समझनेकी इच्छा हो तो पहले अभिमान छोड़कर, आदेशको सुनकर, उसके पालनमें जुट जाओ । भयानक विपत्तिमें भी हर एक साँसके साथ प्रभुके प्रेमको बनाये रक्खो ।

सच्चे प्रभु-प्रेमीके दो लक्षण हैं—स्तुति-निन्दामें समभाव रहना और भगवान्से कोई भी लौकिक कामना न रखना ।

बाहरी आँखोंका नाता बाहरी चीजोंसे है और भीतरी आँखोंका नाता है परमात्माकी श्रद्धासे ।

विश्वासके चार लक्षण हैं—सब चीजोंमें ईश्वरको देखना, सारे काम ईश्वरकी ओर नजर रखकर ही करना, हर एक दुख-सुखमें उसका हाथ देखना, और हर एक हालतमें हाथ पसारना तो उस सर्वशक्तिमान्के आगे ही ।

संत-समागम और हरिकी रहस्यभरी कथा प्रभुमें श्रद्धा उत्पन्न करते हैं । प्रभुके विश्वाससे तीव्र जिज्ञासा, जिज्ञासासे विवेक-वैराग्य, वैराग्यसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानसे परमात्मदर्शन प्राप्त होता है ।

जो मनुष्य दुःखमें प्रभुका आशीर्वाद देखता है, वह महान् है ।

जो मनुष्य सुखमें प्रभुका चिन्तन करता है, वह भाग्यवान् है ।

ईश्वरसे डरनेवालेका मन ईश्वरको नहीं छोड़ता, उसके मनमें प्रभु-प्रेम दृढ़ रहता है और उसकी बुद्धि पूर्णताको प्राप्त होती है ।

बड़प्पनको खोजनेवाला तो हलकाईको ही पाता है ।

इस संसारमें एक ईश्वरका भय दूसरे सब भयोंसे मुक्त करता है ।

जिसका बाह्य जीवन उसके आन्तरिक जीवनके समान नहीं है उसका संसर्ग मत करो ।

मनुष्य कब ईश्वरार्पण हो सकता है ? जब कि वह अपने-आपको, अपने हर एक कामको बिल्कुल भूल जाय, सर्वभावसे उसका आसरा ले ले और उसके सिवा किसी दूसरेकी न आशा रक्खे, न किसीसे सम्बन्ध रखे ।

अचरजकी बात है ! तेरा प्यारा मित्र तेरे समीप भी है और अनुकूल भी है, फिर भी तेरी यह हालत !

उसका आह्वान

परमात्मा हमें कभी नहीं छोड़ता। छोड़ना तो दूर रहा जब हम उसको छोड़ देते हैं तो वह सुख-दुःखके दूत भेजकर हमको न जाने कितनी बार बुलाता है। हम उसके वियोगको सहन कर सकते हैं किन्तु वह हमारे वियोगको सहन नहीं कर सकता। हृदयके अन्दर उस अनन्तकी ओरसे उसकी वह मूक ध्वनि बार-बार हमारा आह्वान कर रही है।

स्वामी ब्रह्मानन्द

'अनु-कीर्तन'

(रचयिता—पं० श्रीईशदत्तजी पाण्डेय 'श्रीश' साहित्यरत्न, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

(१)

खल विघ्नका आह ! अकालहीमें
बनता कहो कौन निशाना नहीं ;
किस यौवनसे झुके जीवनको
दिया कालकरालने ताना नहीं।
क्षण एकमें क्या-क्या हुआ करता
किसीने इस तत्त्वको जाना नहीं ;
यह चार दिनोंकी ही जिन्दगी है,
इसे झूठ-ही-मूठ बिताना नहीं !!

(२)

क्षणभंगुर जीवन ही जब है
फिर है इसमें कहो सार ही क्या ;
अरे जीव ! तू पार न पा सकता
इस मोहसमुद्रका पार ही क्या !
अघमें सनी है जब संसृति ही
कहो तो किस रीति उबार ही क्या ;
कही मान ले मानस-मूढ ! अरे !
सिवा भक्तिके है यहाँ सार ही क्या !!

(३)

यदि ज्ञेय है कोई पदार्थ यहाँ
तो महा जगदीशकी शक्ति ही है ;
मनोरञ्जन है यदि कोई यहाँ
बस, श्रीहरिकी अनुरक्ति ही है।
यदि कोई समुत्तम ध्येय है तो
इस संसृतिसे तो विरक्ति ही है ;
यदि कोई विधेय है जीवनमें
हरिके पदपद्मकी भक्ति ही है !!

(४)

वही नेत्र हैं नेत्र जिन्होंने कभी
लख श्रीहरिका प्रियधाम लिया ;
वही है रसना रसधारभरी
जिसने सदा रामका नाम लिया !
वही मानव, मानव है जिसने
हरिभक्ति अ-खण्ड अ-काम किया ;
वही शीश है 'श्रीश' कभी जिसने
हरिको, हो सनेही, प्रणाम किया !!

(५)

जय भूतल-भूषण भारतकी
जय भारतीके सुविधानकी हो ;
जय भारतवर्ष पै हर्षभरी
दयादृष्टि दयाके निधानकी हो !
जय भावुकताकी, सुकीर्तनकी
जय श्रीहरिके गुणगानकी हो ;
जय शक्तिमती हरिभक्तिकी हो
जय भक्तकी हो भगवान्‌की हो !!

नाम स्वयं भगवान् ही है

(लेखक—आचार्य श्रीरसिकमोहनजी विद्याभूषण)

विज्ञान और धर्म

संसारके प्रत्येक सभ्य देशके शास्त्रग्रन्थ हमें बताते हैं कि इस जगत्का एक स्रष्टा है जो सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् और अपने उत्पन्न किये हुए प्राणियोंके प्रति सर्वदयापूर्ण है। आदमियोंका एक ऐसा भी वर्ग है जो ऐसे किसी स्रष्टामें विश्वास नहीं करता। ऐसे लोग अपने वैज्ञानिक होनेका ढोंग करते हैं परन्तु वस्तुतः वे बौद्धिक यन्त्रमात्र हैं और अधिकांशतः स्वैराचारी हैं। ऐसे लोग अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक कहलाते हैं। कुछ ऐसे भी नीतिवादी या सदाचारवादी हैं जिन्होंने बिना धर्मका आश्रय लिये नीति अथवा आचारकी एक योजना बनानेके कार्यमें श्रम किया है। यह एक बिल्कुल अप्राकृतिक प्रकारका विच्छेद और उनके मानसिक निर्माणमें कुछ अभावका स्पष्ट चिह्न है। विज्ञानकी सच्ची भावना तो धर्मके विरुद्ध नहीं है। प्रकृतिके सच्चे और पूर्ण अध्ययनसे धर्मके सुन्दर रूपोंपर प्रकाश पड़ता है। प्रोफेसर हक्सले कहते हैं—'सच्चा विज्ञान और सद्धर्म जुड़वाँ बहनके समान हैं और एकको दूसरेसे अलग करनेसे दोनोंकी मृत्यु निश्चित है। विज्ञानके आधारमें जितनी वैज्ञानिक गम्भीरता और दृढ़ता होगी उतनी ही उसकी उन्नति होगी। तत्त्वज्ञानियोंके महान् कार्य उनकी बुद्धिकी अपेक्षा उनकी धार्मिक प्रवृत्तिमय मनद्वारा नियन्त्रित बुद्धिके ही परिणाम अधिक हैं। सत्यने उनके तार्किक उपकरणोंकी अपेक्षा उनकी श्रद्धा, उनके प्रेम, उनके हृदयकी सरलता और उनके आत्म-त्यागके प्रति ही अधिक आत्मार्पण किया है।' यह श्री हक्सले एक प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक थे। जनरूढ्या वह वैज्ञानिकोंमें वैज्ञानिक थे। सच्चा विज्ञान सच्चे धर्मका कभी विरोध नहीं कर सकता।

ईश्वरका अस्तित्व

बहुत-से लोग समझते हैं कि विज्ञान अधार्मिक है पर वस्तुतः विज्ञान कभी धर्मद्रोही नहीं हो सकता। वह विज्ञान-की उपेक्षा है जो अधार्मिक होती है—वह चतुर्दिक् सृष्टिके अध्ययनके प्रति अस्वीकृति है जो अधार्मिक है। विज्ञानमें निष्ठा एक मौन उपासना है; अध्ययन किये जानेवाले पदार्थों और फलतः उनके हेतुमें विश्वासकी प्रतिष्ठा अथवा उसकी मौन स्वीकृति है। यह केवल श्रद्धा नहीं है वरं कार्यरूपमें व्यक्त होनेवाली निष्ठा है; यह केवल मौखिक आदर-प्रदर्शन नहीं है वरं समयके त्याग, विचार और अध्यवसायद्वारा सिद्ध आदर है। इस तरह यह बात नहीं कि सच्चा विज्ञान तत्त्वतः धार्मिक हो। यह धार्मिक है इसलिये कि यह कार्यकी उन अभिन्नताओंके प्रति एक गम्भीर सम्मानका भाव जाग्रत् करता और उनमें दृढ़ निष्ठा प्रकट करता है जिन्हें सभी पदार्थ व्यक्त करते हैं। परन्तु संसारमें ऐसे लाखों स्त्री-पुरुष हैं जो ईश्वर तथा उसके प्रति कर्तव्य-पालनके सम्बन्धमें पूर्णतः विमुख हैं। वे इस संसारकी दैनिक झंझटों, संकटों और हाहाकारके बीच रह रहे हैं और कदाचित् ही कभी आत्मा और परमात्माके विषयमें सोचते हैं। वे नहीं जानते कि हम 'उसी'में रह और चल रहे हैं एवं हमारी सत्ता उसीके अन्तर्गत है और 'वह' इस जगत्के प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ और प्राणीमें वर्तमान है। अपनी अन्तःप्रकृतिमें किञ्चित् डूबकर देखनेसे हमें इस महान् सत्यका अनुभव होने लगेगा कि इस जगत्की प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे सम्बन्धित और परस्पराश्रयी है एवं यह विशाल विश्व 'उसी'की अभिव्यक्ति है, उसीमें अनुप्राणित है और उसीके द्वारा जीवित है। इस प्रकार जगत्की प्रकृति, उस अनन्त और निरन्तर सम्बन्धकी ओर, जो हमारे और 'उस'के बीच है, पूर्णतः निर्देश करती है और स्पष्टतः बताती है कि 'उस'के प्रति हमारे स्थायी कर्तव्य हैं। यह हमारा एक निश्चित कर्तव्य है कि हम 'उसे' निरन्तर अपने मनके समक्ष रक्खें।

ईश्वरकी सेवाके साधन

अब यह देखना चाहिये कि 'उसे' अपने सम्मुख रखनेका साधन क्या है? यह बहुत स्पष्ट और सरल है। जब हमारा कोई मित्र अन्धकारमें किसी भीड़में खो जाता है तब हम उसे प्राप्त करने अथवा खोज निकालनेके लिये क्या करते हैं? हम ज़ोरसे उसे पुकारते हैं। हम उसे

उसका नाम लेकर यों पुकारते हैं कि हमारी आवाज़ उसके पास निश्चितरूपसे और शीघ्रतापूर्वक पहुँच जाय। वह प्रत्युत्तर देता है और हमको अपने दर्शनसे कृतार्थ करता है। केवल यही एक प्रभावशाली और फलदायी उपाय है।

उसका नामोच्चार (जप) सब साधनाओंमें श्रेष्ठ है

हमारे शास्त्रोंमें ईश्वरोपासनाके अनेक मार्ग बताये गये हैं। यहाँ हम अन्य मार्गोंपर विचार न करके केवल भगवन्नाम-उच्चारको ही लेते हैं, जो अत्यन्त सरल एवं सार्वदेशिक है; पापोंका प्रक्षालन करनेमें पूर्णतः समर्थ है और परम निःश्रेयस तथा अपवर्ग, परिपूर्ण आनन्द एवं परिपूर्ण भगवत्प्रेम (अर्थात् स्वयं ईश्वर ही क्योंकि ईश्वर तथा उसका प्रेम दोनों अभिन्न हैं; 'प्रेम ईश्वर है और ईश्वर प्रेम है।') की प्राप्तिमें जितनी भी विघ्न-बाधाएँ हैं उनको दूर करनेवाला है। शास्त्रोंके प्रमाणपर हम जोरके साथ कह सकते हैं कि उपासनाकी यह विधि, और केवल यही विधि, हमारी आध्यात्मिक उन्नतिकी सर्वग्राही विधि है। वेदोंसे लेकर पुराणोंतक, हमारे शास्त्रग्रन्थ इच्छित फलोंकी प्राप्तिमें इसकी परम उपयोगिता, महत्त्व एवं प्रभावशीलताको एक स्वरसे स्वीकार करते हैं। पुस्तकों, पुस्तिकाओं एवं पत्रकोंके रूपमें, भगवन्नामकी महिमा प्रकट करनेवाले शास्त्रवचनोंके कई संग्रह भी हैं जिनमें इस लेखककी 'श्रीनाम-माधुरी' एवं 'ब्रह्म हरिदास' तथा श्रीनिवासदास पोद्दारका 'भगवन्नाम-माहात्म्य' महत्त्वपूर्ण हैं। अन्तिम पुस्तकका प्रारम्भिक भाग 'श्रीनाम-माधुरी'का हिन्दी अनुवाद है किन्तु इसके उत्तरभागमें पश्चिम भारतके साधु-सन्तों एवं भक्त कवियोंके हिन्दी पदोंका सुन्दर संकलन है। जो लोग इस विषयमें शास्त्रोंके विचार जानना चाहते हैं उनको इन पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये।

यहाँ मैं, अपने क्षुद्र ज्ञानके सहारे, संक्षेपमें शास्त्र-वचनोंके भावोंको दिखानेकी चेष्टा करूँगा। भगवन्नामोच्चार-की महिमाके विषयमें शास्त्र-सिद्धान्तोंपर तात्त्विक विवेचन सूक्ष्म एवं रहस्यकी बातोंसे पूर्ण होनेके कारण मेरी शक्तिसे बाहर हैं। मैं इस विषयपर यहाँ अपने विचार प्रकट करूँगा। इन विचारोंको मैंने अपने आध्यात्मिक गुरुओंकी शिक्षा और निर्देशके तथा साधनाके निजी अनुभवोंके आधारपर स्थिर किया है।

ईश्वरकी धारणा

ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंपर विचार करनेके पूर्व ईश्वरकी धारणापर विचार कर लेना आवश्यक है। सभ्यताके आदिम युगोंसे ही मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय इस जीवनके बादके जीवन तथा हमारी नियतिको रूप देनेवाली, नियन्त्रित एवं प्रभावित करनेवाली किसी व्यक्त अथवा अव्यक्त शक्तिकी कल्पना करता आया है। अन्धोपासनासे लेकर उपनिषद्के अव्यक्त 'परब्रह्म' तक ईश्वरकी विविध धारणाओंकी एक लंबी माला धर्मके इतिहासमें पायी जाती है। यह एक तथ्य है कि कतिपय परिस्थितियोंमें मानव-मन और मानव-हृदय किसी अदृश्य शक्तिके विषयमें सोचता है और उससे सहायता ग्रहण करना चाहता है। इसके अतिरिक्त परमार्थविद्या, विशेषतः भारतीय परमार्थ-विद्या, एक ऐसी सत्ताका वर्णन करती है जो सर्व उपाधियों या गुणोंसे रहित और मानव-ज्ञानके लिये अज्ञेय है। यह 'निर्विशेष परब्रह्म' है जिसका प्रतिपादन श्रीशंकराचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोंके भाष्यमें किया है। यह ब्रह्म और कुछ नहीं, आध्यात्मिक प्रणिधान है; फिर भी यह वह सिद्धि है जिसकी कुछ श्रेणियोंके विचारक श्रद्धापूर्वक इच्छा करते हैं। किन्तु ये विचारकतक, अपनी उपासनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें प्राप्य वस्तुके प्रतीक-स्वरूप निरन्तर 'ओंकार' का उच्चार या धीरे-धीरे पाठ करते हैं। इस विधिको वे जप कहते हैं। पतञ्जलिने अपने योग-सूत्रमें इसका सारांश यों दिया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१-२७)

'उसका वाचक—निर्देशक—प्रणव है।'

प्रणव ॐ का वैज्ञानिक नाम है और शास्त्रोंकी आज्ञा है कि इस अक्षरका सदा उच्चार करना चाहिये। वेद, उपनिषद् तथा अन्य सब हिन्दू धर्मग्रन्थ इसे प्रभुका सबसे पवित्र नाम मानकर इसी विधिकी सिफ़ारिश करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्में इसका वर्णन है और भगवद्गीतामें भी इसकी प्रतिध्वनि है, जिसमें कहा गया है—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(८। १२-१३)

'हे अर्जुन! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके और अपने प्राणको मस्तक (दोनों भवोंके बीच) में स्थापन करके, योगधारणामें स्थित होकर'—

'जो पुरुष, ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ, शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

'योगसूत्र' का दूसरा सूत्र यों है—

'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।'

इसका भी यही अर्थ है कि ॐका जप और उसके अर्थपर भावना या ध्यान दोनों साथ-साथ चलना चाहिये। जपका मतलब है विधिवत् शब्दका बार-बार उच्चार और भावनाका मतलब है कि इसके द्वारा जिस पदार्थ, ईश्वरका निर्देश होता है उसकी मानसिक धारणा। ईश्वरमें अपने विचारोंको केन्द्रित करनेके ये दो साधन हैं। अतः समाधिकी अवस्थातक पहुँचनेके लिये योगीको निरन्तर प्रणवका जप करना और उसकी भावनापर अपने ध्यानको केन्द्रित करना चाहिये। जप और ध्यान या भावनाकी इस विधिसे परमात्माकी अनुभूति होती है और सब बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

नामके साथ ईश्वरका ऐक्य

इन्द्रियोंका स्वाभाविक कार्य यह है कि वे बाह्य पदार्थोंका अनुभव प्राप्त करनेके लिये बाहरकी ओर फैलें और उन्हें मस्तिष्कतक पहुँचायें। किन्तु योगी इसे दबा देता है इसलिये इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और अपनी प्राप्य वस्तुओंको अंदर ही पा लेती हैं। इसीलिये कहा जाता है कि उनका कार्य उलटा हो जाता है। जिन बाधाओंको दूर करना है वे हैं—अभिलाषा, अवसाद, सन्देह, असावधानता, आलस्य, संसारपरायणता या दुनियादारी, विभ्रम, योगकी किसी अवस्थाकी अप्राप्ति और उसमें अस्थिरता। ये निश्चित स्थानसे हमें हटाते और डगमग करते हैं इसलिये ये विघ्न हैं। ये ध्यानके शत्रु हैं और जपद्वारा दूर होते हैं।

उपर्युक्त सूत्रमें महर्षि पतञ्जलिने एकाक्षर प्रणवद्वारा व्यक्त भगवन्नामजपका महत्त्व, उपयोग, गुणकारिता और प्रभाव बड़ी सुन्दरता और स्पष्टतासे प्रदर्शित किया है। ऋषिके कथनानुसार प्रणव केवल ईश्वरका वाचक है, स्वयं ईश्वरके साथ उसका ऐक्य नहीं है। निर्देशक, वाचक, नाम, अभिव्यक्तिशील शब्द, जहाँ वह पूर्णतः प्रकर्षको प्राप्त होता और संगीतमय हो जाता है, प्रणव अर्थात् ॐ ही है। यह निर्देशक या वाचक स्वयं निर्देश्य या वाच्य नहीं है। यह केवल 'उसे' (ब्रह्म या ईश्वरको) प्राप्त करनेका साधन है। वेदान्तसूत्रके अपने भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने भी यही मत प्रकट किया है।

परन्तु भक्त वैष्णव इस मतसे बहुत आगे गये हैं। वे अधिकारके साथ कहते हैं कि राम, कृष्ण इत्यादि भगवन्नामोंका परम ब्रह्मके साथ पूर्णैक्य है। वे पूर्णतः वही हैं जो ईश्वर या ब्रह्म है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
नित्यशुद्धः पूर्णमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

'कृष्णनाम चिन्तामणि है—सब अभिलषित फलोंको देनेवाला है, यह चैतन्य-रसविग्रह है; नित्य है, शुद्ध है, पूर्ण है, मुक्त है तथा नाम और नामीकी अभिन्नताको व्यक्त करता है।'

उपर्युक्त पाठ ही बँगलामें, किञ्चित् संक्षिप्तरूपमें, निम्नलिखित पदमें प्रकट है—

जेइ नाम सेइ कृष्ण भज श्रद्धा करि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्रीहरि॥

'चूँकि परब्रह्म (श्रीहरि) अपने नाममें विद्यमान है और चूँकि वह और उनका नाम एक है इसलिये पूर्ण श्रद्धाके साथ उसकी सेवामें आत्मार्पण करो; तुम इसके द्वारा निश्चितरूपसे पूर्णता प्राप्त करोगे।'

आप्तवाक्यका प्रमाण

इन वक्तव्योंमें पूर्ण विश्वास करना बड़ा कठिन है। संतों और ऋषियोंद्वारा व्यक्त सत्य सर्वातिरिक्त है; वह उन लोगोंकी विचार-शक्तिसे परे है जिनको अपने हृदयमें भगवत्कृपारूपी ज्वालाके स्फुलिंग प्राप्त नहीं हुए हैं। हम साधारण मनुष्य इस सत्यकी आत्मामें कठिनतासे ही प्रवेश कर सकते हैं। हमारी जानकारीमें तो नाम कुछ अक्षरोंसे बना है; ऐसा नाम स्वयं ब्रह्मसे अभिन्न कैसे हो सकता है? हम इसके लिये कोई कारण नहीं बता सकते। वस्तुतः

युक्तिवादकी सम्पूर्ण सांसारिक विधियाँ इस सत्यको प्रकट करनेमें असमर्थ हैं। इस जगत्‌में बहुत-सी ऐसी चीजें हैं—विशेषतः वे वस्तुएँ जो सर्वातिरिक्त हैं—जिनकी व्याख्या साधारण बुद्धिसे नहीं की जा सकती। ऐसी ही बातोंके लिये संतों और ऋषियोंके शब्द, जिन्हें 'आप्तवाक्य' कहा जाता है, प्रमाण माने जाते हैं।

वैष्णव संतोंके अतिरिक्त शास्त्रोंके कतिपय प्रामाणिक भाष्यकारोंने भी ईश्वर और उसके नाममें अभिन्नता स्वीकार की है। महाभारतके प्रसिद्ध भाष्यकार नीलकण्ठने हमें बताया है कि ॐ शब्द स्वयं ब्रह्म है। ऊपर गीताके जो दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनकी टीकामें वह लिखते हैं—'यदि कोई देवदत्तको उसके नामसे पुकारता है तो जिस व्यक्तिको बुलाया जाता है वह (देवदत्त) पास आ जाता है; इसी तरह जब ईश्वरका कोई भक्त ब्रह्मका नामोच्चार करता है तो वह ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करता है। इससे यह प्रकट होता है कि ॐ शब्द ब्रह्मका नाम है और यह नाम तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। टीका यह है—

'ओङ्काररूपम् एकाक्षरम्—एकञ्च तदक्षरञ्च वर्णो ब्रह्म च—तद्व्याहरन् उच्चरन् मां च ब्रह्मभूतम् अनुस्मरन्, यो हि देवदत्तं स्मृत्वा तन्नाम व्याहरति तस्मै देवदत्तोऽभिमुखो भवतीत्येवं ब्रह्मणो नामोच्चारणेन सन्निहिततरं व्यापकं ब्रह्म साधकस्य, सन्निहिते च ब्रह्मणि यो देहं त्यजन् म्रियमाणो प्रयाति ऊर्ध्वनाड्या याति स परमां गतिं सन्निकृष्टब्रह्मस्वरूपं याति ब्रह्मैव प्रकृत्य श्रूयते एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषास्य परम आनन्द इति, तामेव गतिं शुद्धं ब्रह्मैव प्राप्नोति ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा।'

नीलकण्ठने सचमुच पाठमें प्रकट विचारकी आत्मामें प्रवेश किया है। भगवद्गीताके एक दूसरे टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्तीका भी ऐसा ही मत है। वे न केवल एक महान् पण्डित थे वरं भगवान्‌के परम भक्त भी थे। उक्त दो श्लोकोंकी अपनी टीकामें उन्होंने बड़ी स्पष्टता और ज़ोरके साथ इसका प्रतिपादन किया है कि ॐको ब्रह्म-स्वरूप ही समझना चाहिये।

छान्दोग्य उपनिषद्‌में हमें एक वाक्य मिलता है—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

यद्यपि ॐ शब्दके कई अर्थ हैं पर यहाँ यह शब्द ब्रह्म—परब्रह्मके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। पुनः,

अथो नाम ब्रह्मेत्युपासीत।

इस श्रुतिका उल्लेख करते हुए ब्रह्मसूत्रमें एक सूत्र है—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। (४-१-५)

यह सूत्र हमारे इस वक्तव्यको पुष्ट करता है—

जेइ नाम सेई कृष्ण भज श्रद्धा करि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्रीहरि॥

अब, हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि यह निष्कर्ष श्रुति और स्मृतिके प्रबल प्रमाणोंपर आश्रित है परन्तु हमें भय है कि यह सब हमारे पाठकोंके मनमें नाम और नामीके अभिन्नत्वकी धारणाको पुष्ट करनेमें विशेष सहायक न होगा। पर, इतना तो हम ज़ोर देकर कह सकते हैं कि यह वक्तव्य निराधार अथवा अप्रामाणिक नहीं है।

लोगोज़ और नाम-ब्रह्म

ईसाई परमार्थ शास्त्रमें हम देखते हैं कि आरम्भमें शब्द था और शब्द ईश्वरके साथ था और शब्द ईश्वर था। 'न्यू टेस्टामेण्ट' में संत जॉनका यह वचन वैदिक साहित्यकी प्रतिध्वनि-सा मालूम पड़ता है।

यह सिद्धान्त कि ईश्वरका नाम परमेश्वरसे अभिन्न है, हिब्रू-धर्मग्रन्थोंसे भी समर्थित होता है। बहुत पहले फीलो जूडासकी रचनाओंमें भी इस सिद्धान्तकी खोज की जा सकती है। हिब्रू-ग्रन्थोंमें जीहोवा शब्द ईश्वरकी शक्तिको प्रकट करता है। वह स्वर्गकी सृष्टि करता है; वह जगत्‌का शासन करता है। इसी प्रकार फिलिस्तीनी यहूदियोंमें, चैल्डी व्याख्याकार प्रायः सदैव ही ईश्वरको सीधे कार्य न करके 'मेमरा' अथवा शब्दद्वारा कार्य करते हुए चित्रित करते हैं। यूनानी ज्ञानग्रन्थोंमें शब्द विवेकसे अभिन्न है पर विवेकका सदा ज़िक्र आता है और शब्दका वर्णन बहुत ही कम बार किया गया है। फीलोका लोगोज़ प्रादुर्भूत पदार्थोंमें सबसे प्राचीन एवं सबसे अधिक सामान्य या व्यापक है। वह ईश्वरकी नित्य प्रतिमा है; यह वह बन्धन है जिससे सब पदार्थ एक-दूसरेसे बँधे हुए हैं; वह सब वस्तुओंका अनुभव करता है; वह सब वस्तुओंको धारण किये हुए है। लोगोज़ अनन्त शब्द है। तदनुसार संत जॉन कहते हैं कि सब वस्तुओंका जन्म या निर्माण शब्दसे हुआ और यह स्रष्टा शब्द ही अभिव्यञ्जक—प्रकाशकर्ता भी है। शब्द जीवन है; शब्द आलोक है और शब्द आत्मस्थित सत्ता है।

वह जगत्-जीवनका केन्द्र और स्रोत है। ईश्वर प्रेम है, प्रेम वह सम्बन्ध है जो ईश्वर तथा उसकी इच्छाकृत सम्पूर्ण सृष्टिके बीच है। प्रेम ईश्वरकी सत्ताका बन्धन है। ईश्वर आलोक है—इसका तात्पर्य यह है कि वह परिपूर्ण प्रज्ञात्मक एवं नैतिक सत्य है। वह विचार-जगत्में सत्य है और वह कर्म-जगत्में सत्य है। वह सर्वज्ञाता और परिपूर्ण पवित्र सत्ता है। इस प्रकार लोगोज़ प्रकाश है—वह प्रकाश जो ईश्वर-का सार-तत्त्व है। इस तरह शब्द ईश्वरीय तत्त्वका प्रकाश करता है।

मैं समझता हूँ कि अब इस विषयपर अधिक लिखना अनावश्यक है। भगवन्नाम या शब्द स्वयं ईश्वरसे अभिन्न है। यह पदार्थोंके साधारण नामकी तरह नहीं है। जब हम जल कहते हैं तो 'जल' शब्द हमारी पिपासाको शान्त नहीं करता परन्तु जब हम ठीक और उचित विधिसे भगवन्नामका उच्चार करते हैं तो उस शब्दकी ध्वनि उसके (ईश्वरके) पास पहुँचती है और उसका ध्यान हमारी ओर आकर्षित होता है।

नाम-साधनाकी सार्वदेशिकता

नाम-साधना अर्थात् भगवन्नामके द्वारा ईश्वरकी उपासनाकी विधि प्रायः सार्वदेशिक है। विश्वके लगभग सभी प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा दूसरे लोगों—ने पाप-प्रक्षालन तथा ईश्वरीय विभूतिकी प्राप्तिके लिये इस विधिको अपनाया है। हमारे शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नामोपासना अथवा शास्त्रीय विधिसे निरन्तर भगवन्नामके जपके अतिरिक्त कर्म-शक्तियोंको निष्प्रभाव या असफल करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। अन्य विधियों या साधनोंसे जो कुछ लाभ हो सकता है वह सब इससे निश्चितरूपमें होता है; यह हमको सब प्रकारके अपराधों एवं पापोंसे मुक्त करता है और यह नित्य एवं अनन्त आनन्दतक हमें पहुँचाता है। हम इस वक्तव्यके समर्थनमें वेद, उपनिषद् तथा पुराणोंसे अनेक श्लोक दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त भारतके सब भागों एवं संसारके अन्य देशोंके साधु-संतोंके सहस्रों पद, दोहे, भजन और उक्तियाँ हैं।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुद्वारा इस सिद्धान्तका समर्थन

नवद्वीपके श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु अपने कालमें ही सहस्रों विद्वानोंद्वारा पूजित थे और आज भी लाखों आदमी उन्हें ईश्वरका अवतार मानते हैं। उनके परम महत्त्वपूर्ण एवं प्रिय विचारके रूपमें चैतन्य-चरितामृतमें इस सिद्धान्तका प्रबल समर्थन मिलता है। ईश्वरसे उसके नामकी अभिन्नता-के सम्बन्धमें उन्होंने निम्नलिखित घोषणा की थी—

> कृष्ण नाम कृष्ण स्वरूप दुइ त समान ॥
> नाम, विग्रह, स्वरूप, तिन एकरूप।
> तिने भेद नाइ तिन चिदानन्दरूप ॥
> देह-देही, नाम-नामी, कृष्णे नाहि भेद।
> जीवेर धर्म नाम-देह-स्वरूप-विभेद ॥

जो इस विधि (भगवन्नाम-जप) से ईश्वरकी उपासना करते हैं उनको कार्यतः और सांसारिक तथा आध्यात्मिक सब प्रकारके लाभ देनेमें श्रीकृष्णका नाम स्वयं श्रीकृष्णके तुल्य है। नाम, विग्रह, स्वरूप तीनों एक हैं; एक ही सत्ताकी इन तीन दशाओंमें कोई भेद नहीं है। तीनों चिदानन्दरूप हैं। जहाँतक श्रीकृष्णका सम्बन्ध है, देह-देही, नाम-नामीमें भेद नहीं है। पर जीवके विषयमें यह बात नहीं है; वहाँ उसके शरीर और उसकी जीवात्मा तथा नाम एवं उसकी सत्तामें निश्चित भेद है।

> अतएव कृष्णेर नाम-देह-विलास।
> प्राकृतेन्द्रिय ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश ॥
> कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
> कृष्णेर स्वरूप सम, सब चिदानन्द ॥

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि कृष्णका नाम, देह, विलास हमारी प्राकृत इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य नहीं है। वे स्वप्रकाशित हैं।

इन वक्तव्योंके पश्चात्, इस ग्रन्थमें, इस सिद्धान्तके समर्थनमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके एक प्रेमी भक्त तथा भक्ति-सम्प्रदायके एक प्रामाणिक प्रतिपादक श्रीपाद रूप-गोस्वामीलिखित 'भक्तिरसामृतसिन्धु' से एक श्लोक दिया गया है—

> अतः श्रीकृष्णनामादि भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
> सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

नाम-साधनाका प्रभाव

इस पद्यका तात्पर्य अत्यन्त अनुभवातीत और अत्यधिक आध्यात्मिक है। इसका मतलब यह है कि नामकी भावना और अर्थ हमारी इन्द्रियोंके लिये सर्वथा अग्राह्य हैं।

नामका निरन्तर उच्चार अथवा जप तथा भगवत्लीलाकी कथाओंका श्रवण उस आध्यात्मिक लोकका मार्ग है जहाँ सच्चे तत्त्वका अस्तित्व है। सत्यकी सिद्धिके लिये प्रधान आवश्यकता इस बातकी है कि निष्ठापूर्वक निरन्तर भगवन्नामका जप किया जाय। भगवन्नामोच्चारका प्रथम प्रभाव तो यह है कि हमारा मन सब प्रकारके कुविचारों तथा दुरभिलाषाओंसे मुक्त होकर निर्मल हो जाता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि यह अपने प्रभावकारी अथवा गुणकारी होनेका दृढ़ विश्वास स्थापित कर देता है। तीसरी बात यह होती है कि यह सत्संगकी ओर हमारी रुचि बढ़ाता है। चौथी बात यह कि इससे हम निरन्तर नामोच्चार अथवा भजनमें लगे रहते हैं। पाँचवाँ परिणाम यह होता है कि हमारी आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें जो विघ्न-बाधाएँ आती हैं उन्हें दूर कर देता है। छठा यह हमें जपके अभ्यासमें आसक्त कर देता है। सातवें हमें नाममें स्वाद आने लगता है। आठवाँ हमारा हृदय नाम-साधनाके शीर्षबिन्दुमें केन्द्रित हो जाता है जो अन्य सब आकांक्षाओंको आत्मसात् कर लेता है। नवीं बात यह होती है कि हमारे अन्तश्चक्षुओं और बादमें हमारी आँखोंके सम्मुख भी यह निरतिशय आनन्द और नित्य ज्ञानके अवतार श्रीकृष्णकी मनोरम मूर्तिको उपस्थित कर देता है। इस प्रकार हमारा कार्य पूर्ण हो जाता है।

हमारे शास्त्रोंमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले सहस्रों श्लोक हैं कि इस जगत्के दुःखोंसे मुक्त होने तथा सर्वोच्च आनन्द एवं अनन्त सुख, जो ईश्वर अपने प्रेमी भक्तोंको दे सकता है, प्राप्त करनेके जितने साधन हैं उनमें नाम-साधना सर्वोत्तम है। बृहन्नारदीय पुराणने बड़े बलपूर्वक यह बात घोषित की है कि नाम-साधनाके अतिरिक्त कलियुगमें मुक्ति प्राप्त करनेका दूसरा उपाय नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

नाम-साधना उपासनाकी सर्वोच्च विधि है

उपर्युक्त श्लोक शास्त्र-विहित अन्य विधियोंको त्यागकर भगवन्नाम-जपकी उपयोगिता, महत्त्व और प्रभावमें विश्वास उत्पन्न करता है। अब यह प्रश्न उठता है कि इस उपासनाके लिये निश्चित विधि क्या होनी चाहिये? इसके लिये एकाधिक मार्ग है। कुछ लोग निरन्तर ज़ोरसे नामोच्चार करते हैं; दूसरे लोग १०८ मणियों या दानोंकी मालापर भगवन्नाम लेते रहते हैं। एक बार भगवान्का नाम लेनेपर एक मणि आगे कर दी जाती है और इस प्रकार कितनी बार भगवान्का नाम लिया गया, यह पता चलता रहता है। नाम-साधनाकी यह विधि प्रायः सार्वदेशिक है और न केवल हिन्दूधर्मके विविध सम्प्रदायोंमें प्रचलित है वरं दूसरे धर्मोंके अनुयायियोंमें भी इसका प्रचार है। मालाका उपयोग रोमन कैथलिक और मुसलमान भी करते हैं। बंगालके वैष्णव अपनी धार्मिक साधनाका प्रधान अंग मानकर इसका उपयोग करते हैं। उनमेंसे बहुतेरे प्रायः निरन्तर मालाका उपयोग करते रहते हैं। कभी-कभी वे ज़ोर-ज़ोरसे भगवन्नाम लेते और हाथोंको ऊपर उठा-उठाकर विस्मृत-से नृत्य करते हैं; साथ ही मृदङ्ग और करताल ज़ोरोंसे बजा करते हैं। इसे वे 'नाम-संकीर्तन' कहते हैं। संकीर्तनकी यह विधि बंगालमें पहली बार नदियाके 'अवतार' श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने प्रचलित की, जिन्हें उनके, शिक्षित और अशिक्षित दोनों प्रकारके, भक्तोंने स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें देखा और घोषित किया। वह श्रीगौराङ्गके रूपमें प्रकट हुए अर्थात् बाह्यतः उन्होंने श्रीराधाका रंग और स्वभाव ग्रहण किया और अन्दर अपनेको सुरक्षित रक्खा। इस अवतारकी लीलाका बाह्य उद्देश्य और तात्पर्य यह था कि सामान्यजनोंको मुक्तिका एक साधन प्राप्त हो और वे नामोच्चारके द्वारा प्रभु श्रीकृष्ण, परमेश्वरके प्रति आनन्दमय, असीम प्रेम प्राप्त कर सकें। महामन्त्र अथवा तारक-ब्रह्मका जो सूत्र प्राचीन ऋषियों, सन्तों और साधुओंको ज्ञात था, एक बार सम्पूर्ण देशमें उसका प्रचार हो गया। वह सुप्रसिद्ध सूत्र यह है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

सामान्यतः इस मन्त्रका मनमें अथवा ज़ोरसे उच्चार किया जाता है। गायनके रूपमें यह ज़ोरके साथ गाया भी जाता है। श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तनकी प्रशंसामें स्वयं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु-रचित संस्कृतका प्रसिद्ध श्लोक है—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

'जो श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन हमारे हृदयको निर्मल करता है, जो उस दर्पणके समान है जिसमें ईश्वरत्व प्रतिबिम्बित

है, जो संसारके प्रति आसक्तिरूपी महादावाग्निको शान्त करता है, जो श्रेयरूपी कैरवके लिये चन्द्रिका वितरण करनेवाला है, जो विद्यावधूजीवन है, जो आनन्दरूपी समुद्रको बढ़ानेवाला है, जिसके प्रतिपदमें पूर्णामृतका स्वाद है और जो प्रत्येक आत्माको शान्तिदायक है, उसकी जय हो।'

सृष्टि-शक्तिका मूल और शब्द-ब्रह्मके रूपमें नाम

शब्दकी उपर्युक्त प्रशंसाको सामने रखते हुए शब्दकी प्रकृति, उद्गम, बाढ़, विकास और कार्यके विषयमें एक सरसरी जाँचकी आवश्यकता प्रतीत होती है जिससे शब्दकी उपयोगिता, प्रभाव और गुणशीलताकी पूरी जानकारी हो जाय। ब्रह्म नामसे पुकारी जानेवाली सात्त्विक वा मूल सत्ताकी प्राचीन ऋषियोंने दो रूपोंमें धारणा की थी—परब्रह्म और शब्द-ब्रह्म। मैं अपने विषयके लिये शब्द-ब्रह्मको लेता हूँ। ऋषियोंने एक ऐसे समयकी कल्पना की है जब न पृथ्वी थी, न चन्द्र और न सूर्य थे, न अन्य कोई ऐसी चीज़ थी जिसकी हम धारणा कर सकें। ऋग्वेद कहता है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

अनुमानसे हम कह सकते हैं कि यह बिल्कुल शून्य अथवा परिपूर्ण अन्धकार था। उस तुल्यावस्था या अवर्णनीय शून्यमें चतुर्दिक् अन्धकारके अतिरिक्त और कुछ न था। अकस्मात् ॐकी ध्वनिके रूपमें शब्द स्वयं व्यक्त हुआ। यह ॐ ही सृष्टिका बीज था। इसीसे शनैः-शनैः आकारहीन द्रव्यका विकास हुआ। यह पहले तत्त्वका एक गुणीय पुञ्ज था जिसका आधार ॐ था। इस एक गुणत्व वा सादृश्यसे ही उस पुञ्जमें सन्निहित कतिपय अन्तरस्थ शक्तियोंके आन्दोलनके कारण एक भिन्नगुणात्मक पुञ्जका विकास हुआ। इस प्रकार विकास-क्रमसे जड़-चेतनमय इस विशाल एवं अद्भुत जगत्का निर्माण हुआ। सृष्टि-विज्ञानका यह वैदिक सिद्धान्त है। अब हम एक सीमातक, समझ सकते हैं कि ईश्वरका नाम और ईश्वर अभिन्न हैं।

फ़िलोकी लोगोज़ नामक जिस धारणाके विषयमें पहले लिखा जा चुका है, साररूपमें, प्रणव उसकी एक महत्तर धारणा है। अ, उ, म के तीन अक्षरोंके इस रहस्यपूर्ण संयोगमें सम्पूर्ण जगत् समाया हुआ है,—इसीसे सब शब्दों और रूपोंका विकास और विस्तार हुआ है। इसीके अन्दर निरन्तर और अनन्त क्रममें, एकके पश्चात् एक जगत् उत्पन्न और विलीन होते हैं—यह एक ऐसी शृंखला है जिसका न आदि है, न अन्त है। यह एक रहस्यमय सूत्र है। श्रुतियोंमें इसे ब्रह्मका नाम कहा गया है। जो भक्त इस नामके जप-द्वारा ईश्वरकी उपासना करते हैं, वे भलीभाँति जानते हैं कि इससे कैसे रहस्यपूर्ण संगीतका उद्भव होता है। कहा जाता है कि कतिपय योरोपीय साधु-सन्तोंने भी इस दैवी संगीतका आनन्द लिया है। मोज़ार्टके विषयमें कहा जाता है कि उसने अपने महान् संगीतका कुछ अंश ऐसे जगत्में सुना था जो हमारी कल्पनाके बाहर है। वहाँ उसने एक अनुभूतिमें इसको प्राप्त किया और जब पुनः इस निम्न जगत्में आया तो उसी अद्भुत लयको अपने विविध रागोंमें उसने प्रवाहित किया।

ठाकुर नरोत्तमदास एक सच्चे और निष्ठावान् वैष्णव थे। उन्होंने अपनी एक प्रार्थनामें लिखा है—

गोलोकेर प्रियधन हरिनाम संकीर्त्तन।
रति ना जन्मिल केन ताय॥
संसारेर विषानले निरवधि हिया ज्वले।
जुड़ाइते ना कइनु उपाय॥

इन पंक्तियोंमें एक ऐसे सत्यका संकेत है जिसपर ईश्वरीय सत्योंके सब नम्र मुमुक्षुओंको विचार करना चाहिये। योरोपीय साहित्योंके पाठकोंको साधारणतः यह अविदित नहीं है कि बहुत-से धार्मिक जन एक प्रकारके स्वर्गीय संगीतका श्रवण करते और आनन्द लेते हैं। 'पैरेडाइज़ लास्ट'के अमर कवि मिल्टनने इसका ज़िक्र किया है। भारतके भक्तगण इस प्रकारके संगीतके विषयमें भलीभाँति जानते हैं। दिव्य लोकके सर्वोच्च स्तर, गोलोकमें, यह अनन्त संगीत निरन्तर ध्वनित होता है और कहा जाता है कि वहाँसे छन-छनकर इस लोकमें भी बराबर आ रहा है। हमारी मानव-जातिमें जो लोग अपनी स्मृति और कल्पना—कल्पना जो स्मृतिपर आश्रित है, शारीरिक घटनाओंकी स्मृति नहीं वरं जीवात्माकी स्मृतिसे साधारण जनोंकी अपेक्षा बहुत ऊँचे उठ जाते हैं उनके द्वारा यह संगीत ऊपरसे इस लोकमें प्रवाहित होता है। ऐसे लोग आनन्दावेगके किसी केन्द्रित क्षणमें, शारीरिक सीमाओंको लाँघकर अद्भुत अभिव्यक्तियोंके आलोक-मार्गतक पहुँच जाते हैं। इसमें ऊपर—स्वर्गसे मिलनेवाला प्रकाश उनका पथ-प्रदर्शन करता है।

भगवन्नाम भगवान्‌से भी अधिक शक्तिशाली है

एक बंगाली कवि काशीरामदासने महाभारतकी कथाओंके आधारपर बँगलामें एक काव्य लिखा है। यह मूल पाठका ठीक अनुवाद नहीं है। कविने मूलसे भाव लेकर स्वतन्त्रतापूर्वक लिखा है। यदि इसके पाठक इसे महाभारतका शब्दशः अथवा ठीक-ठीक अनुवाद समझकर पढ़ेंगे तो निराश होंगे। इस कविका भगवन्नामकी प्रभावकारितामें पूर्ण विश्वास था। इस काव्यकी प्रथम पंक्तिका यह आशय है कि भगवन्नाम सर्वशास्त्रोंका बीज है—

'सर्वशास्त्रबीज हरिनाम द्वि अक्षर।'

इस वक्तव्यमें जो सत्य है उसे हम प्रणवके विषयमें विचार करते समय सिद्ध कर चुके हैं। अपनी कृतिमें काशीरामदासने इस पक्षकी पुष्टि करते हुए यहाँतक कहा है कि भगवन्नाम स्वयं भगवान्‌से भी अधिक शक्तिशाली है, यद्यपि दोनों एक दूसरेसे अभिन्न हैं। उसने इस वक्तव्यको एक दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है। कथा इस प्रकार है—

एक समयकी बात है कि श्रीकृष्णकी प्यारी पत्नी सत्यभामाने एक धर्म-यज्ञ करनेकी इच्छा प्रकट की और नारदमुनिको इसके लिये पुरोहित चुना। इस कार्यके बदले सत्यभामाने नारदको वचन दिया कि वह श्रीकृष्णके तौलमें रत्नराशि उनको देंगी और यदि वैसा न कर सकेंगी तो श्रीकृष्णपर उनका कोई अधिकार न रह जायगा, नारदका अधिकार हो जायगा। महारानीने इतने दानको बहुत साधारण समझा क्योंकि द्वारकाके खजानेमें अगाध रत्नराशि थी। यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् नारदने श्रीकृष्णके बराबर धन माँगा। एक बड़ी तुला खड़ी की गयी। एक पलड़ेपर श्रीकृष्ण बैठाये गये; दूसरेपर स्वर्णरत्नादिका ढेर लग गया। पर श्रीकृष्णका पलड़ा भारी रहा। दूसरे पलड़ेपर ढेरों स्वर्णादि लाकर रक्खे गये फिर भी पलड़ा उठा ही रह गया। महारानी तथा अन्य उपस्थित लोग आश्चर्य-विमूढ़ हो गये। नारदने आकर बड़ी कड़ाईसे अपना निश्चित पारिश्रमिक माँगा और बोले—यदि तुम उसकी पूर्ति न कर सकोगी तो मैं श्रीकृष्णको ले जाऊँगा। सत्यभामा बिल्कुल हताश हो गयीं क्योंकि उन्हें श्रीकृष्णके वजनके बराबर कोई चीज़ नहीं मिली। ऐसे मनश्चिन्ताके क्षणमें न जाने कहाँसे एक वाणी सुनायी दी—"ऐ मूर्ख स्त्री! उस श्रीकृष्णको इस संसारकी वस्तुओंसे तौलनेकी तेरी चेष्टा कितनी मूर्खतापूर्ण है, जिसके शरीरके प्रत्येक छिद्रसे प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लय होते हैं—जो अरबों ब्रह्माण्डोंके आश्रय हैं। इस समय केवल एक ही बातसे तेरी रक्षा हो सकती है। तुलसीकी एक पत्ती ले और उसपर दो अक्षरोंका 'हरि' शब्द लिख दे। दूसरे पलड़ेपरसे ये सब तुच्छ रत्नाभूषण उतार ले और 'हरि' शब्दयुक्त तुलसीपत्र उसमें रख दे। फिर देख क्या फल होता है।" सत्यभामाने तुरन्त इस आदेशका पालन किया। परिणाम अद्भुत हुआ। सहस्रों व्यक्ति, जो वहाँ इस समय उपस्थित थे, यह देखकर चकित रह गये कि तुलसीपत्रवाला पलड़ा ज़मीनसे लगा हुआ है और श्रीकृष्णका पलड़ा ऊपर उठ गया है। नारद गद्गद हो गये। उन्होंने रानी सत्यभामाको बधाई दी और पवित्र एवं अमूल्य तुलसीपत्रको, जिसपर सब धनोंका धन तथा असीम आनन्दका दाता नित्यानन्द-स्वरूप 'हरि' नाम लिखा था, ले लिया। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि नाम नामीसे बड़ा है। काशीरामदासने एक श्लोक भी उद्धृत किया है जिससे नामकी महिमा प्रकट होती है—

> **नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा**
> **शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितिरहितं तारयत्येव सत्यम्।**
> **तच्चेद् देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये**
> **निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥**
>
> (पद्मपुराण)

इसका तात्पर्य यह है कि भगवन्नामकी महिमा इतनी अद्भुत है कि यदि यह अंशतः शुद्ध या अशुद्ध, किसी प्रकार और किसी रूपमें हमारे कानतक पहुँचता है, हमारी जिह्वाको स्पर्श करता है अथवा हमारे विचारमें प्रवेश करता है तो सांसारिक इच्छाओं, पापों एवं दोषोंसे हमारी मुक्ति निश्चित है; परन्तु जब स्वास्थ्य, धन अथवा किसी अन्य सांसारिक पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवन्नामका जप या उपयोग किया जाता है तब इसका प्रभाव घट जाता है। श्रीजीव गोस्वामीने अपने ग्रन्थ 'भक्ति-सन्दर्भ' में अजामिलद्वारा मृत्युके समय भगवन्नाम-जपकी महिमाका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं कि भगवन्नाम-उच्चारकी महिमाकी सफाई किसी मनोवैज्ञानिक क्रम अथवा साधनाके परिणामके रूपमें नहीं दी जानी चाहिये। शास्त्रोंमें ऐसे व्यक्तियोंके उदाहरण भी मिलते हैं जिनका भगवन्नाम-महिमामें कोई विश्वास नहीं था पर उन्होंने यों ही, संयोग-वश, बिना नामकी गुणकारिता, प्रभाव वा महिमाका विचार किये मृत्युके समय भगवन्नाम लिया और वे भगवान् विष्णुके दूतोंद्वारा सर्वोच्च लोकको भेज दिये

गये। जैसे अग्नि अपने सम्पर्कमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुको जला डालती है वैसे ही भगवन्नाम सब पापोंको, उनके बीज अथवा संस्कारोंके साथ, नष्ट कर देता है। यह पापीके हेतुपर विचार नहीं और न उस व्यक्तिकी योग्यता-अयोग्यतापर ही विचार करता है। जो अन्तिम श्वासके साथ भगवन्नामकी महिमाका विचार किये बिना उसका उच्चार करता है, वह इस प्रकारका कोई भेद किये बिना ही नाम लेनेवालेको मुक्ति-प्रदान करता है।

श्रीमद्भागवतमें अजामिलकी कथामें इस बातका बड़े जोरोंके साथ प्रतिपादन किया गया है कि भगवन्नाम न केवल इस जन्म वरं पूर्व जन्मोंके दूषणों एवं पापोंको भी नष्ट कर देता है। वह श्लोक यह है—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेकं सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

श्रीपाद जीव गोस्वामीकी टीकामें हमें निम्नलिखित वाक्य मिलता है—

अतः स्वाभाविकतयावेशहेतुत्वेन तदीयस्वरूपभूतत्वात् परमभागवतानां तदेकदेशश्रवणमपि प्रीतिकरम्।

यहाँ नामको ईश्वरसे अभिन्न बताया गया है। चूँकि भगवन्नाम, परमेश्वरके साथ अपने आन्तरिक एवं स्वाभाविक ऐक्यके कारण, हमारी श्रवणेन्द्रियतक पहुँचनेपर हमारे अन्तःकरणमें ईश्वरत्वकी प्रत्येक विभूतिको उत्पन्न करता है।

नाम-साधना, इसकी स्वतन्त्र शक्ति

किसी फल अथवा परिणाममें नाम-साधनाका किसी अन्य उपासना-विधिसे अन्तःसम्बन्ध अथवा सह-सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक जगत्‌में किसी प्रकारका वाञ्छित फल देनेमें यह अन्य सब विधियोंसे ऊपर है। यह दीक्षा अथवा पुरश्चर्याकी प्रतीक्षा नहीं करता। 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' में भगवन्नामकी प्रशंसामें एक श्लोक है जो इसकी स्वतन्त्र महिमाको व्यक्त करता और कहता है कि इसे किसी अन्य उपासना-विधिके सहयोगकी आवश्यकता नहीं है—

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनञ्चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥

इसी ग्रन्थमें उपर्युक्त श्लोकका बंगला पद्यमें निम्नलिखित अनुवाद किया गया है—

दीक्षा-पुरश्चर्या-विधि अपेक्षा ना करे।
जिह्वास्पर्शे आचाण्डाले सबारे उद्धारे॥
आनुषंगे फल करे संसारेर क्षय।
चित्त आकर्षिया करे कृष्ण-प्रेमोदय॥
एई कृष्णनामे करे सब पाप क्षय।
नवविध भक्तिपूर्ण नाम हइते हय॥

'भक्तिसन्दर्भ' में एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'रामार्चना-चन्द्रिका' से कतिपय अन्य श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं—

वैष्णवेष्वपि मन्त्रेषु राममन्त्राः फलाधिकाः।
गाणपत्यादिमन्त्रेभ्यः कोटिकोटिफलाधिकाः॥
विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्यां विनैव हि।
विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः॥

'भक्तिसन्दर्भ' में एक दूसरे ग्रन्थ 'मन्त्रदेवप्रकाशिका' से भी कई श्लोक उद्धृत किये गये हैं। एक श्लोक यह है—

सौरमन्त्राश्च येऽपि स्युर्वैष्णवा नारसिंहकाः।
साध्यसिद्धसुसिद्धारिविचारपरिवर्जिताः॥

एक दूसरे ग्रन्थमें हमें निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

नृसिंहार्कवराहाणां प्रसादप्रणवस्य च।
वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत्॥

'सनत्कुमार-संहिता' में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

साध्यः सिद्धः सुसिद्धश्च अरिश्चैव च नारद।
गोपालेषु न बोद्धव्यः स्वप्रकाशा यतः स्मृताः॥

एक दूसरे ग्रन्थमें 'नाम-साधना' की सार्वदेशिकतापर जोर दिया गया है—

सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु
नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां
प्रागेव गोपालकमन्त्र एषः॥

इन सब श्लोकोंसे प्रकट होता है कि उपासकोंका एक वर्ग ऐसा था जिसने उपासनाकी अन्य सब विधियोंको छोड़कर केवल 'नाम-साधना' को अपनाया था। श्रीपाद जीव गोस्वामीने अपने 'भक्ति-सन्दर्भ' में इस विषयका विवेचन

दुःख
वह ।
बार-

खल
किस
क्षण
यह
क्षणभं
अरे
अधमें
कहीं

करते हुए सिद्ध किया है कि मन्त्र और कुछ नहीं, भगवन्नाम-का सार हैं, जिनमें अधिक प्रभावशीलता होती है और जो जीवात्मा एवं स्वयं परमेश्वरके बीचके सम्बन्धको प्रकट करते हैं। उन्होंने शास्त्रवाक्योंके आधारपर इन बातोंकी बड़े तर्कसंगत ढंगसे विवेचना की है। उनका कहना है कि भगवन्नाम, केवल भगवन्नाम ही, उपासककी सब इच्छाओं-की पूर्ति करनेमें पूर्णतः समर्थ है। अन्य सब विधियोंसे स्वतन्त्र केवल नाम ही हमें ईश्वरके राज्यतक पहुँचा सकता और असीम आनन्द प्रदान कर सकता है—

ननु भगवन्नामात्मका एव मन्त्राः तत्र विशेषणे नमः-शब्दालङ्कृताः श्रीभगवता श्रीमदृषिभिश्चाभिहितशक्ति-विशेषाः श्रीभगवता सममात्मसम्बन्धविशेषप्रतिपादकाश्च। तत्र केवलानि श्रीभगवन्नामान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थ-फलपर्यन्तदानसमर्थानि।

मैं समझता हूँ कि इतनी बातें पाठकोंको आश्वस्त करनेके लिये पर्याप्त हैं कि किसी समय 'नाम-साधना' ईश्वरोपासनाकी एक लोकप्रिय विधि थी और आज भी भारतमें बहुसंख्यक स्त्री-पुरुष इसका अभ्यास करते हैं। अन्य साधनाओंसे इसकी महत्ता और उपयोगिता प्रदर्शित करनेके लिये हमने ऊपर कुछ प्रामाणिक शास्त्रवाक्योंको उद्धृत किया है। इन श्लोकोंसे यह भी सिद्ध होता है कि अभिलषित फलोंकी प्राप्तिके लिये इस साधनाके साथ दूसरी किसी साधनाके अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है और जैसा कि इन श्लोकोंमें कहा गया है, नाम-साधनाके लिये किसी दीक्षा-की भी आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि यद्यपि ये सब श्लोक 'नाम-साधना' की स्वतन्त्रताके विषयमें वास्तविक सत्यपर ज़ोर देते हैं, वे ईश्वरोपासनाकी अन्य विधियोंको अनुत्साहित नहीं करते। यद्यपि 'नाम-साधना' अत्यन्त शक्तिशाली समझी जाती है पर उसमें भी साधकोंके लिये कुछ सीमाएँ और सावधान-ताएँ हैं। जो लोग इस उपासना-विधिका अनुसरण करना चाहते हैं उनको शास्त्रोंमें बताये गये उन प्रलोभनों एवं दूषणोंसे बचनेमें बहुत सावधान रहना चाहिये जो हमारी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक हैं और हमें लक्ष्य-भ्रष्ट करते हैं। इनका शास्त्रीय नाम 'नामापराध' है और 'नाम-साधना' में निर्बाध सफलता प्राप्त करनेके लिये इनसे पूरी तरह बचना चाहिये।

श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं सामूहिक संकीर्तन

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुद्वारा प्रचलित और विकसित किये हुए नाम-संकीर्तनकी उपासना-विधिका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। हमारी जातिके विचारवान् निरीक्षकोंने इस बातको लक्ष्य किया है कि जातीय संस्कृतिके विकासमें संगीतका, जो सामञ्जस्यका मूर्तिमान् रूप, कलाओंमें सबसे उदात्त है और धर्माचारमें जिसका इतना प्रचार है, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग है। यह ध्यानमें सहायता करता है, अशान्त मनको शान्त एवं निरुद्वेग करता है और भावनाओं-को सुसंस्कृत करता है। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने सामूहिक उपासनाकी लोकप्रिय विधि चलायी और इसका अत्यन्त अद्भुत एवं आश्चर्यकर परिणाम हुआ। जो लोग इसमें सम्मिलित होते थे, बिल्कुल आत्म-विस्मृत हो जाते थे, आनन्दावेशकी गहरी अनुभूतियोंमें डूब जाते थे और आध्यात्मिकरूपसे परिपूर्ण एवं असीम कल्याण तथा आनन्द-के क्षेत्रमें पहुँच जाते थे। कहा जाता है कि मुसलमानोंमें सूफ़ी और ईसाइयोंमें क्वेकर लोग सर्वोच्च धार्मिक अनु-भूतियोंमें मग्न हो जाते हैं। ईश्वरीय उपासनाके समय वे गाते हैं, नाचते हैं और आनन्दावेशमें मग्न हो जाते हैं। यह संकीर्तनका आध्यात्मिक पक्ष है। पर इसका एक लौकिक पक्ष भी है। प्रसिद्ध लेखक प्लेटोने, बाह्य एवं अन्तःसंसारके पारस्परिक सम्बन्धका स्पष्ट निदर्शन करते हुए लिखा है कि संगीतमें जन-रुचिमें परिवर्तन देखकर तुम विद्रोह आरम्भ होनेकी भविष्यद्वाणी कर सकते हो। कला प्रकृतिके जीवन-पक्षकी चीज़ है, इसलिये जाति वा राष्ट्रकी कलाका प्रकार—'टाइप'—'राष्ट्र या जातिके अन्त-र्जीवन' का 'मानसिक चिह्न (हस्ताक्षर) है।' अनर्गल संगीत केवल हलके प्राणियोंको आकर्षित करता है। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके समय भयंकर 'कैरा' ने फ्रांसीसी भीड़को उन्मत्त कर दिया था। वह सड़कोंपर उन्मत्त होकर गाती और नाचती थी। 'कम्यून' के दिनोंमें भी इसका पुनरा-वर्तन हुआ था। श्रीचैतन्य महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु संकीर्तन-प्रणालीके जन्मदाता माने जाते हैं। यह बात वहींतक सत्य है जहाँतक उनके द्वारा आविष्कृत एवं प्रचारित प्रणालीका सम्बन्ध है; भगवत्पूजामें भगवन्नामके उच्चारकी प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितने प्राचीन वेद हैं। वैदिक-कालके पुजारियोंका एक वर्ग 'सामगस' के नामसे प्रसिद्ध था। ये लोग ईश्वरीय पूजाके समय वैदिक मन्त्रोंका पाठ

करते थे और उनके द्वारा लौकिक सफलता, लाभ एवं उन्नतिके लिये देवोंकी सहायता लेते थे। यह प्रथा श्रीकृष्ण-चैतन्यके समयतक प्रचलित थी, जिन्होंने इसे सब स्वार्थपूर्ण लौकिक अभिलाषाओंसे मुक्तकर शुद्ध ईश्वरीय उपासनाका रूप दिया। उन्होंने स्वयं सर्वोच्च आध्यात्मिक आनन्द एवं सर्वोच्च चारुताके लिये इसका अभ्यास किया। ऋषियोंके सामगान और श्रीगौरांग महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित नामगानमें बड़ा भारी अन्तर है। ऋषिगण मन्त्रोंका पाठ शब्दोंके उच्चारण एवं मन्त्र-सम्बन्धी छन्दशास्त्र तथा व्याकरणके नियमोंपर पूर्ण ध्यान रखते हुए करते थे। उनका विश्वास था कि इन नियमोंका ज़रा भी अतिक्रम होनेसे न केवल उद्देश्य-भंग हो जाता है वरं उलटा परिणाम होता है। किन्तु नाम-गानमें लोगोंके लिये इस प्रकारकी सावधानीकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। शुद्ध या अशुद्ध, सावधानीसे अथवा असावधानीके साथ, किसी प्रकार भगवन्नाम लिया जाय, उससे मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति अवश्य होगी। वैष्णवोंकी भगवन्नामकी महिमा और अन्तःशक्तिमें अटल श्रद्धा है। उनका विश्वास है कि जैसे अग्निमें ज्वलनशील पदार्थोंको जला देनेकी स्वाभाविक शक्ति है वैसे ही भगवन्नाममें पापोंको नष्ट कर देने और उसका ग़लत या सही, सावधानीके साथ अथवा असावधानीसे उच्चार करनेवालोंको पवित्र आनन्द देनेकी शक्ति है। किसी पदार्थका स्वाभाविक गुण-धर्म तो अपनेको प्रकट करेगा ही। भगवन्नामका अपना गुण-धर्म है। इसमें पापोंको समूल नष्ट कर देने और मानवात्माको अनन्त आनन्दके क्षेत्रमें उठाकर पहुँचा देनेकी प्राकृतिक एवं प्रच्छन्न शक्ति है।

श्रीगौरांग-नित्यानन्दद्वारा प्रवर्तित नाम-संकीर्तन ईश्वरीय ध्वनिका एक बड़ा ही आध्यात्मिक रूप है। इसका प्रभाव क्षणभंगुर नहीं है, न केवल इन्द्रियोंको ही सुखद है। हमारी आत्मापर यह सीधा, बड़ी प्रबलता और शक्तिके साथ अपना प्रभाव डालता है। श्रोताओंपर इसका जो प्रभाव पड़ता है उसका बड़ा विशद वर्णन 'श्रीचैतन्य-भागवत' और 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' के लेखकोंने किया है। पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि इस विषयपर उनके वक्तव्योंको इन ग्रन्थोंमें पढ़ें। हमारा अनुवाद उसकी छायाको भी न स्पर्श कर सकेगा।

स्मरण-साधन

(लेखक—स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज)

माला जपो न कर जपो जिह्वा जपो न राम।
मेरा साईं हरि जपै मैं पाऊँ विश्राम॥

राम-नामका जप करनेके लिये जो माला अपने रामजीकी ओरसे मिली है, उससे प्रतिक्षण राम-नामका जप करो। यदि ऐसा अवसर आ जाय कि माला हाथमें न रहे तो उस समय हाथसे ही जपो। जिस तरह माला हाथमें रहनेपर अंगुष्ठ, मध्यमा और अनामिकाद्वारा मणियाँ फेरी जाती हैं, उसी तरह माला हाथमें न रहनेपर भी उन्हीं अँगुलियोंसे जप करते रहो। हाथसे जप करनेका एक तरीका यह भी है कि पाँचों अँगुलियोंमें राम-नामका स्फुरण हो। ऐसा चलते-फिरते और काम-काज करते हुए भी किया जा सकता है। फिर जैसे मालाके साथ ऊँचे स्वर और उपांशु दोनोंसे जप किया जाता है, वैसे ही अँगुलियों-द्वारा जप करते समय भी हो सकता है।

'जिह्वा जपो न राम' का तात्पर्य यह कि जिह्वाद्वारा भी उपर्युक्त दोनों विधियोंसे जप होता रहे। जीभका हिलना इस तरह हो मानो उसमें राम-नामका स्फुरण हो रहा है!

करद्वारा जप करनेमें राम-नामका लिखना भी शामिल है और वह लिखना जितने ही बारीक अक्षरोंमें होगा, जपकर्ताका साधन उतना ही गहरा होगा। क्योंकि उसमें दृष्टि और मन दोनों ही सम्मिलित रहेंगे। राम-नाम लिखनेके साथ-साथ उसका उच्चारण करते रहना अत्यावश्यक है। जब

उच्चारण होता रहेगा तो श्रवणद्वारा साधन अपने आप होता जायगा । राम-नामका उच्चारण सुनते रहना जप करनेके ही अन्तर्गत है । जैसे—

ओठ कंठ हाले नहिं प्यारा ।
राम जपे नित श्रवण द्वारा ॥

जप करते समय ओठ और कण्ठमें कम्पन न हो और कानोंसे जप होता रहे ! वह इस तरह कि मनमें ऐसी धारणा हो मानो हृदयमें राम-नामकी ध्वनि उठ रही है और उस ध्वनिको मैं कानोंसे सुन रहा हूँ।

भक्तिके तीन साधन हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन । इनमें श्रवण प्रथम एवं प्रधान है । श्रवणकी साधना उपर्युक्त प्रकारसे ही सिद्ध होती है । गहरे-से-गहरा साधन यही है कि अपने रामजीको सर्वस्वका समर्पण कर दिया जाय तथा मनमें यही धारणा बनी रहे कि मुझको अपने रामजीने स्वयं ही इस साधनामें प्रवृत्त कराया है ।

इस तरह माला, हाथ, जिह्वा और श्रवण चारोंके द्वारा जपका साधन हो सकेगा । सारा जीवन राममय हो जायगा ।

इस शरीरके अन्तःकरणमें जो 'मैं' 'मेरा' आदिकी कल्पना हो रही है, वस्तुतः उसका स्वामी आत्मा है । उपर्युक्त विधियोंसे जपका अभ्यास बढ़ानेपर उसी आत्मसत्तामें अपने प्रभुका जप होने लगेगा और तब यह अनुभव होगा कि मानो मेरे स्वामी ही जप कर रहे हैं तथा 'मैं' 'मेरा' आदि जीवनका जितना प्रसार है, वह सब विश्राम पा रहा है । क्योंकि उस समय 'मैं' 'मेरा' आदिके साथ जीवनकी जितनी व्यापकता है, वह सब आत्मसत्तामें समा जायगी । यह विश्राम पाना उसी अवस्थामें सम्भव है जब जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें राम-नामका जप होता रहे । अन्यथा नहीं ।

प्रभुकी भक्ति चाहे जिस रूपमें हो, इसमें असत्यता और असफलता नहीं आ सकती । क्योंकि वे सर्वसत्य हैं । वे अपने नानारूपों और नामोंमें अपनी परम सत्यता तथा परमानन्दका दर्शन करा रहे हैं । इसी तरह उनकी सर्वव्यापकता और पूर्ण समताका दर्शन वृक्ष-लताओं, फूल-काँटों और साधु-असाधुओंमें हो रहा है । जीवनमें जो आनन्द, जो लहर और जो उमंग होती है, वह सब उस परम-प्रभुका ही प्रसाद है । उन्हींकी कृपासे आनन्द-चर्चाएँ, आनन्द-संगीत आदि कानोंमें पड़ते हैं । उन परमप्रभुसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । भीतर-बाहर सब जगह उन्हींकी सत्ता है ।

भक्तकी चुनौती

दौड़ेंगे उपाहने न बाहन मिलेगा चक्र
ढूँढते फिरेंगे जब आर्तनाद होवेंगे ।
सत्य कहती हूँ भीर भारी ये हमारी देख,
ऐ हो बनवारी आप धीर निज खोयेंगे ॥
होगा अक्षैवट क्षै मचेगी प्रलै वह नाथ,
नीरसे भरे ये नैन क्रांति कर देवेंगे ।
आहें ये हमारी घोर व्योमको करेंगी राह,
देखें छीर-सिन्धु बीच कैसे आप सोवेंगे ?

—निरुपमा देवी

अन्तस्तलकी ओर

(लेखक—'शान्त')

हमारी मनोवृत्तियोंको विचार करनेका व्यसन है। वे कुछ-न-कुछ सोचा ही करती हैं। चाहे कोई प्रयोजन हो या न हो, वे अपने काममें लगी रहती हैं। साधारण लोग उनपर दृष्टि नहीं रखते। परन्तु साधक उनकी विशेष निगरानी रखते हैं। रखनी भी चाहिये। बाह्य क्रियाएँ भी मनकी शक्तिसे ही होती हैं। जिसने मनको उच्छृंखल छोड़ दिया है, जिसकी मनोवृत्तियोंका व्यर्थ अपव्यय होता है, वह संसारका भी कोई ठोस काम नहीं कर सकता। भगवान्‌के राज्यमें—ज्योतिर्मय लोकमें अथवा उच्चतम अध्यात्ममें तो उसका प्रवेश ही कैसे हो सकता है? कोई भी काम करना हो, पहले मनोवृत्तियोंको नियन्त्रित करना होगा, उन्हें अभिलषित दिशामें, एक ओर लगाना होगा। बिखरी हुई शक्तियोंसे हम कोई काम पूरा करनेकी आशा कैसे कर सकते हैं?

जो लोग आत्मतत्त्व अथवा भगवान्‌के चिन्तनमें लगे रहते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है। हमें विचार करना है—अपने सम्बन्धमें और अपनी वर्तमान वृत्तियोंके सम्बन्धमें। हमें सबसे पहले यह बात देखनी चाहिये कि हम अपने बारेमें कितना सोचते हैं और दूसरोंके बारेमें कितना? हमें यह बात जान लेनी चाहिये कि जबतक हम अपनेको नहीं पहचान लेंगे तबतक और किसीको ठीक-ठीक नहीं पहचान सकेंगे। विभिन्नता होनेपर भी सबकी प्रकृति, सबका उपादान एक है। परन्तु उस एककी पहचान तो होनी ही चाहिये। उसे जानने, समझने, पहचानने और अनुभव करनेके लिये सबसे सुन्दर, सबसे निरापद, सबसे अनुकूल और सबसे निकट अपना ही शरीर, अपना ही मन और अपनी ही अन्तरात्मा है। अपनी प्रकृति और अपने मनके उपादानोंको तत्त्वतः समझ लिया जाय तो फिर दूसरे-का समझना बाकी नहीं रहता। यह एक रहस्य है, जो कभी-न-कभी प्रत्येक विचारकके सामने उपस्थित होता ही है।

यदि हम अपने सम्बन्धमें नहीं सोच पाते या कम सोच पाते हैं और दूसरोंके सम्बन्धमें सोचना ही पड़ता है, तो हमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये। वह यह कि दूसरोंका विचार करते समय हम उनके गुणोंको देखते हैं या दोषोंको। दोष तो दूसरोंपर विचार करना भी है, परन्तु दूसरोंका दोष देखना तो महान् दोष है। जिस वस्तुका चिन्तन होता है, हृदयपर उसके संस्कार पड़ते हैं और धीरे-धीरे वे दोष हमारे अन्दर आने लगते हैं। चाहे पहले उनका रूप बहुत ही सूक्ष्म हो और वे न जान पड़ें, तथापि एक-न-एक दिन वे बढ़कर तरङ्गसे समुद्र हो जाते हैं। वास्तवमें तो हमारे अन्दर इतने दोष हैं कि हमें दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि डालनेका अवसर ही नहीं मिलना चाहिये। किसीके दोष देखनेका हमें क्या अधिकार है? हम किसीके दोषपर विचार करनेवाले न्यायाधीश तो हैं नहीं। इसके विपरीत गुणोंके चिन्तनसे हमारे अन्दर गुणोंका विकास होता है, पवित्रता आती है, प्रसन्नता मिलती है और शान्तिका अनुभव होता है। आजकल जो संसारमें अधिक उद्वेग तथा अशान्तिके दर्शन होते हैं, उनके कारणोंमें परदोषदर्शनका मुख्य स्थान है।

अपने सम्बन्धमें विचार करते समय सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम अपने गुणोंका चिन्तन करके अभिमानकी वृद्धि तो नहीं कर रहे हैं? अपने

एक-एक दोषोंको जानकर, ढूँढ़कर उन्हें निकाल फेंकना चाहिये । अपने दोषोंकी ओरसे प्रायः हमारी आँखें बन्द हो रहती हैं । दूसरोंका तनिक-सा दोष भी सूझ जाता है परन्तु अपना बड़ा-सा दोष भी नहीं सूझता । हमें अपनी ओर, अपने दोषोंकी ओर थोड़ी गम्भीरता और कड़ाईके साथ देखना चाहिये । दोषोंके रहनेके दो कारण हैं—एक तो उन्हें न जानना और दूसरा उनमें आसक्ति । ये दोष हैं, इतना जानते ही वे निकल भागते हैं, यदि हम फिर उन्हें बुलाकर अपनेमें आश्रय नहीं देते । वास्तवमें आश्रय देना भी उनके अज्ञानसे ही होता है । हमें जब मालूम हो जाता है कि हमारे घरमें साँप है या हमारे भोजनमें विष है तब हम साँपको निकाल डालते हैं, उस भोजनको छोड़ देते हैं । घरके स्वामीको सजग देखकर चोर स्वयं ही भाग जाते हैं, हमें केवल चोरोंको चोर जानना चाहिये और सजग होना चाहिये । शरीरके दोषोंको जान लें, मनके दोषोंको जान लें, उनसे आसक्ति छोड़ दें, बस हम पवित्र हो जायँगे ।

हमारी पवित्रताकी परीक्षा तो तब होती है, जब हम एकान्तमें बैठते हैं । व्याख्यानसे, अच्छी-अच्छी बातोंसे या सुन्दर लिखनेसे हमारी पवित्रताका पता नहीं चल सकता । एकान्तमें, जनशून्य स्थानमें जहाँ परमात्माके अतिरिक्त हमें और कोई देखनेवाला न हो वहाँ हमारा मन हमारे सामने आता है । उस समय हम जान सकते हैं कि ईश्वर, धर्म और सदाचारके प्रति हम कितना श्रद्धा-विश्वास रखते हैं । हमारी धारणा तो यहाँतक है कि हम चाहे जितने जप-तप, पूजा-पाठ, आसन-प्राणायामादि करते हों, परन्तु जबतक एकान्तमें पाप-चिन्तन होता है, तबतक सच्ची आस्तिकताका जन्म ही नहीं हुआ है और न तो साधनाका प्रारम्भ ही । पापवृत्तियोंकी निवृत्ति बिना, साधनाकी प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों दो वस्तु नहीं हैं । असुन्दर और अपवित्रकी ओरसे निवृत्त होना ही होगा । मनकी प्रवृत्ति स्वभावतः विषयोंकी ओर, बाहरकी ओर है, 'स्व' को भूलकर 'पर' की ओर है । उसे क्रमशः निवृत्त करना होगा । पापसे निवृत्ति ही पुण्यमें स्थिति है । और पाप-पुण्यसे निवृत्ति आत्मामें, भगवान्‌में स्थिति है । धीरे-धीरे वृत्तियोंको बाह्यसे संकुचित करके अन्तरमें स्थित करना होगा । यदि हम निवृत्तिसे चिढ़ेंगे तो इसका यह अर्थ होगा कि अभी हम साधनाका स्वरूप समझते ही नहीं । दूसरेसे निवृत्त होकर 'स्व' में अपने वास्तविक 'स्व' भगवान्‌में प्रतिष्ठित होना ही सम्पूर्ण साधनाओंका सम्पूर्ण अर्थ है । वृत्ति और वृत्तियोंसे पृथक् पदार्थोंमें प्रवृत्ति पतनका कारण है । इसलिये भगवान्‌की ओर प्रवृत्त होना—जाना नहीं है, उनकी ओर निवृत्त होना—लौटना है । आज हमारी आत्मा अपनेको भूलकर वृत्तियों, इन्द्रियों और क्रियाओंके द्वारा बाहर प्रवृत्त हो रही है, जा रही है । उधरसे निवृत्त होना होगा, लौटना होगा । प्रवृत्तिमार्गका अर्थ है—पुण्यमें स्थिति । वह एक प्रकारसे पापोंसे निवृत्तिका ही नामान्तर है । महात्माओंकी निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति दूसरी वस्तु है । वह महात्माओंके ही कामकी है ।

एकान्तमें बैठनेपर पापवृत्तियाँ नहीं उठतीं, तो भी साधनमें एक बहुत बड़ी अड़चन आती है । वह है भूत अथवा भविष्यकी चिन्ता । 'मैंने यह अच्छा किया, यह बुरा किया' इस प्रकार भूतकी बातें बार-बार मनमें आने लगती हैं । उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी वस्तुओं और व्यक्तियोंका स्मरण हो आता है और फिर उन्हींमें हम उलझ जाते हैं । अपने किये हुए अच्छे कामोंका स्मरण आना तो अभिमानजनक है ही, परन्तु उस समय बुरे कामोंका स्मरण

आना भी घातक ही है। हमें चाहिये कि उन्हें याद करके उनपर पश्चात्ताप और उनको पुनः न करनेका संकल्प करनेके लिये दूसरा समय निकालें। अब तो वे हो चुके हैं। वर्तमान समयको ठीक-ठीक भगवान्के—आत्माके चिन्तनमें बितावें। भविष्यके सम्बन्धमें बुरे संकल्पोंकी तो बात ही क्या है अच्छे संकल्प भी न करें। उनके लिये दूसरा समय रखना ही ठीक है। क्या पता वह समय आवे या न आवे? पूरी शक्ति लगाकर इस क्षणका सदुपयोग करना चाहिये। हम विचार करेंगे तो देखेंगे कि दो क्षणोंका सन्धिकाल इतना सूक्ष्म है कि भूत और भविष्यकी चिन्ताओंसे मुक्त होकर यदि हम उसमें स्थित होते हैं तो वास्तवमें सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

हम संतोंका संग करते हैं, साधन करते हैं परन्तु हमारी आँखें भीतर देखती ही नहीं। सारे शास्त्र पढ़ लिये, परन्तु भीतरका शास्त्र पढ़ा ही नहीं। इसका क्या कारण है? क्या हम केवल बिना मनकी कुछ क्रियाओंसे भगवान्को पाना चाहते हैं? यह केवल भ्रम है। मन घूमा करे इधर-उधर विषयोंमें, बुद्धि रुपये ठनठनाया करे और भगवान् हमें मिल जायँ, यह मनोरञ्जनकी बात है। अभी डाँटकर मनको अन्तर्मुख करना होगा। बाह्य दृश्योंको छोड़कर या उनके अन्दर भीतरके दृश्य—भगवान्की लीला अथवा आत्माका विस्तार देखना होगा। सत्संगका फल है—अन्तर्दृष्टि। अन्तर्दृष्टि ही सच्चा भजन है। यह आँखें खुली रहनेपर भी रह सकती है। इसके लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। हम जहाँ बैठे हैं, खड़े हैं, हैं, वहीं उसी अवस्थामें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। जिन देखी-सुनी वस्तुओंकी ओर मन जाता है, उनकी अनित्यतापर विचार किया जाय। वृत्तियाँ जिन प्रलोभनोंकी ओर झुकती हैं, उन्हें उखाड़ फेंका जाय। कड़ा पहरा रहे—इन वृत्तियोंपर। देहके सम्बन्धी, देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सबकी ओरसे वृत्तियोंको मोड़कर अपने आपमें ही रक्खा जाय। साक्षित्व बना रहे। एक क्षण भी निरीक्षणसे च्युत न हों। मन कभी मनमानी न करने पावे। यह केवल सावधानीसे हो जायगा। और सब उपाय केवल सावधानीके, जागरणके लिये हैं। सावधानी ही अन्तर्दृष्टि है।

प्रश्न होता है—यह दृष्टि टिके कहाँ? इसका त्राटक कहाँ लगाया जाय? इस प्रश्नका सीधा उत्तर यह है कि द्रष्टामें ही इसे स्थिर किया जाय। वृत्तियाँ अपनेसे स्थूल पदार्थको ही ग्रहण कर पाती हैं। अपने अन्दर रहनेवाले अपनेसे सूक्ष्मतम वस्तुको ग्रहण करनेमें वे सर्वथा असमर्थ हैं। वे स्वयं जड हैं, उनका विषय जड है, वे जो कुछ सोचती-विचारती हैं, वह सब जड है। उन्हींके द्वारा पैदा किया हुआ है, उन्हींके द्वारा सुरक्षित है और उनके न रहनेपर रहता भी नहीं। ऐसी अवस्थामें इन्हें कहाँ लगाया जाय? जहाँ लगेंगी वह जड है। जो इनके विचारमें आ जायगा वह जड है, ये जितना आकलन कर लेंगी, वह जड है। इन्हें कहीं न लगाया जाय। इनका विषय अनित्य है, मिथ्या है और जो इनसे परे है, उसमें इनकी गति ही नहीं है। विषयमें जायँ नहीं और अपनेसे परेवाले तत्त्वमें प्रवेश कर नहीं सकतीं, तब इनकी क्या गति होगी? ये मर जायँगी। ये स्वयं जड, अनित्य और मिथ्या हैं। वास्तवमें इनका अस्तित्व है ही नहीं। इनका सबीज नाश ही आत्मा, परमात्मा अथवा भगवान्की प्राप्ति है।

हमारे अन्दर बड़ी दुर्बलता है। इन वृत्तियोंसे हमारा बड़ा मोह हो गया है। कम-से-कम इस समय तो हम ऐसा ही मानते हैं। इसीका नाम

अज्ञान है । यदि हम वृत्तियोंकी रक्षाका मोह छोड़ दें तो अभी-अभी हम अपनी स्वरूपस्थितिका अनुभव करने लगें । सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर हम अनुभव करेंगे कि हम कुछ-न-कुछ बचा रखना चाहते हैं यही 'बचाने' की वृत्ति साक्षात्कारकी विघातक है । इसका नाम है काम । इसके नष्ट होते ही काम बन जाता है । श्रुतियोंने स्पष्ट घोषणा की है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

यह कामना अपने स्वरूपको न जाननेके कारण है । हम जानते नहीं, समझते नहीं कि हमारा स्वरूप इतना बड़ा, इतना सत्य, इतना सुन्दर और इतना सन्तृप्त है कि हमें और किसी वस्तुकी सर्वथा आवश्यकता ही नहीं है । भगवान् पूर्ण हैं, उनके पानेपर कुछ पाना शेष नहीं रहता । हिरण्यगर्भ भी अपने अन्तर्भूत हो जाता है । तब हम और कुछ क्यों चाहते हैं ? भगवत्प्राप्तिके समय या उसके पश्चात्के लिये भी हम कुछ बचा रखना क्यों चाहते हैं ? यही तो अज्ञानका स्वरूप है । विचार करके देखें, हम ऐसी कोई वस्तु अवश्य चाहते हैं—जो वृत्तियोंका विषय है अथवा वृत्तिरूप है । यही प्रतिबन्धक है—आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें । प्रारब्ध, अदृष्ट आदिकी कल्पना भी इसी दुर्बलताके कारण हुई है । इसीसे वेदान्तके कई ऊँचे ग्रन्थोंमें महाप्रलयके चिन्तनकी बड़ी महिमा बतायी है । छोड़ दें अपनेसे अतिरिक्तका मोह, मोड़ लें उनकी ओरसे दृष्टि, और फोड़ दें उनकी सत्ताका मिथ्या भाँड, फिर तो आत्मा ही आत्मा है, भगवान् ही भगवान् हैं ।

हम किससे प्रेम करते हैं ? इसी शरीरसे, इन्हीं इन्द्रियोंसे और इन्हीं प्राणोंसे । हम चाहते हैं कि इसी कलुषित शरीर, मन और प्राणोंसे भगवान्को प्राप्त करें । इनके नष्ट होनेपर भगवान् मिलेंगे, इस बातकी कभी कल्पना ही नहीं होती । इन्हें नष्ट होनेकी बातसे हम थर्रा उठते हैं, काँप जाते हैं । क्या भगवान् या आत्माकी अपेक्षा इनसे अधिक प्रेम करते हैं, क्या हम आत्मा या भगवान्की उपलब्धिके लिये इनका बलिदान कर सकते हैं ? बलिदान करनेकी बात नहीं है । बात तो इन्हें अनन्त, चित्, अमृत और आनन्दसे एक कर देनेकी है । परन्तु क्या हम इसके लिये तैयार हैं ? बातोंसे तैयार हैं, देखा-देखी तैयार हैं । परन्तु वास्तवमें तो वैसे तत्त्वकी जानकारी अथवा उसपर हमारा विश्वास ही नहीं है ।

हमें सबसे पहले आवश्यकता है विश्वासकी । शास्त्रोंमें, संतोंमें, धर्ममें और भगवान्में विश्वास होना चाहिये, श्रद्धा होनी चाहिये । विश्वासके बिना एक पग भी हम आगे नहीं बढ़ सकते । तब विश्वास कैसे प्राप्त हो ? इसका एक उपाय है । हम अपने जीवनके सम्बन्धमें सोचें, इसीके सम्बन्धमें विचार करें । जिन्होंने अपने जीवनका रहस्य समझ लिया है, उनकी सङ्गति करें । हम देखेंगे कि हमारी अबतककी चेष्टाएँ जो कि अपने जीवनको समझे बिना हो रही थीं सर्वथा बाह्य और अधिकांश व्यर्थ थीं । जब हम अपने शरीरको अव्यवस्थित एवं रोग और मृत्युके समीप पायेंगे, जब हम अपनी इन्द्रियोंको उच्छृंखल और आज्ञाका उल्लंघन करनेवाली तथा विनाशोन्मुख पायेंगे, जब हम अपने मन, बुद्धि और अन्तःकरणको अस्थिर, निरुद्देश्य, निश्चयहीन तथा निकटतम वस्तुके सम्बन्धमें अज्ञान एवं दुःख-शोकसे अभिभूत पायेंगे, तब स्वभावतः उनके निदान, चिकित्सा और ओषधियोंकी जिज्ञासा होगी—उन

दोषोंसे मुमुक्षा होगी, तब हम संतोंका, धर्मोंका, शास्त्रोंका और भगवान्‌का विश्वास करेंगे और सच्चे सुख एवं शान्तिका लाभ करेंगे। शान्तिके लिये विश्वास और विश्वासके लिये अपनोंके एवं अपने आपके निरीक्षण-परीक्षणकी आवश्यकता है।

चाहे जैसे हो, एक-न-एक दिन हमें बाध्य होकर विश्वास करना पड़ेगा। बाहरकी ओरसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको, मनोवृत्तियोंको समेटकर अन्तस्तलमें, आत्मामें, परमात्मामें स्थापित करना ही होगा। विलम्ब करनेसे क्या लाभ? इसी समय एक बार अन्तस्तलकी ओर वृत्तियोंको मोड़कर देखें तो सही। कितना समय यों ही जाता है, पाँच-दस मिनट प्रतिदिन ऐसे ही बितावें। मेरा विश्वास है कि यदि प्रतिदिन कुछ समयतक किया जाय, अपने सम्बन्धमें सोच-विचारकर अन्तर्मुख होनेकी चेष्टा की जाय तो वह समय शीघ्र ही आ जायगा, जब हम धर्म एवं परमात्माका सान्निध्य अनुभव करने लगेंगे। क्या हम ऐसा कर सकेंगे?

जाति, आयु और भोग

(लेखक—श्रीचक्खनलालजी गर्ग एम० ए०, एल० टी०)

संसारमें हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवधारी एक विशेष जाति—अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि योनि—में उत्पन्न होता है, एक विशेष अवस्था अर्थात् आयु प्राप्त करता है, और अपनी आयुमें अपनी जाति तथा बुद्धिके अनुसार एक विशेष भोग भोगता है। जिस प्रकार किसी सज़ा पाये हुए क़ैदीके लिये तीन बातें नियत होती हैं, उसी प्रकार प्राणियोंको जाति, आयु और भोग दिये गये हैं। न्यायाधीश क़ैदीको दण्ड देते समय, उसकी श्रेणी, समय और कार्यका निर्देश कर देता है। अर्थात् क़ैदी अमुक श्रेणीकी जेलमें भेजा जाय, अमुक आहार-विहारके साथ अमुक काम करे और अमुक समयतक वहाँ रहे। यहाँ क़ैदियोंका श्रेणीविभाग ही प्राणियोंकी जाति, उनका काम और आहार-विहार, उनका भोग और बन्धनकी मियाद ही उनकी आयु है।

योगशास्त्रमें लिखा है कि—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(यो० २। १२)

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(यो० २। १३)

अर्थात् वर्तमान और भावी जन्मोंमें पानेयोग्य कर्म-फलोंका मूल क्लेश ही हैं।

मूलके रहते हुए उसका फल जाति, आयु और भोग होते हैं।

इन मन्त्रोंसे सिद्ध होता है कि प्राणियोंकी तीनों वस्तुएँ—जाति, आयु और भोग उनके पूर्व कर्मानुसार मिलती हैं। मनुष्योंके अतिरिक्त अन्य प्राणी अपने-अपने भोग, आयु और जातिमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। एक गायकी जाति जो ईश्वरप्रदत्त है, उसमें वह कुछ भी तबदीली नहीं कर सकती, उसका भोग, घास इत्यादि खाद्य सामग्री है, उसके अतिरिक्त वह और कुछ पानेमें असमर्थ है, उसी प्रकार उसकी आयु भी पन्द्रह-बीस वर्षकी अवधि है, उससे अधिक वह जीवित रहनेकी न इच्छा ही कर सकती है और न वह अपनी आयु बढ़ानेमें ही समर्थ है।

परन्तु मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, इसलिये

यह बात तो सबकी समझमें समानरूपसे आ सकती है कि वह अपने कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे जन्ममें शरीर धारण करता है, परन्तु कुछ लोगोंको इस बातमें सन्देह हो सकता है कि मनुष्य इसी जन्ममें भी अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार बड़ा ज़बरदस्त परिवर्तन अपने जाति, आयु और भोग तीनों विषयोंमें कर सकता है।

पहिले जाति-परिवर्तनको लीजिये।

जातिसे अभिप्राय वर्णविभाग नहीं है। न्यायशास्त्र-में गौतम मुनिके अनुसार 'समानप्रसवात्मिका जातिः' अर्थात् जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। समान प्रसवका अर्थ है कि जिसके संयोगसे वंश चलता हो। जैसे गाय और बैल एक जाति हैं, कुत्ता और गाय नहीं। जातिकी दूसरी पहिचान आयु है। घोड़े और घोड़ीकी आयु समान है, परन्तु घोड़े और कुत्तेकी नहीं। जातिकी तीसरी पहिचान आहार-विहार है। जो आहार-विहार अर्थात् भोग घोड़ा और घोड़ीका है, वह घोड़ा और सिंहका नहीं। इस परीक्षासे सिद्ध होता है कि मनुष्य-जाति एक है। जाति-परिवर्तनसे अर्थ यह नहीं है कि मनुष्यका शरीर पशु, पक्षी इत्यादि-में तबदील हो जायगा, बल्कि इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि सात्त्विक आहार-विहारसे, परोपकारी कर्मोंसे, स्वाध्यायसे तथा ईश्वरके भजन-पूजनसे मनुष्य-का शरीर दिव्य होता चला जायगा। उसके चेहरेसे शान्तिकी ऐसी आभा फूटेगी, जो उसके संसर्गमें आनेवाले मनुष्यको प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती। बुद्ध भगवान्‌की शान्तिमय मूर्तिके सम्मुख किसका कष्ट दूर नहीं हो जाता। इसके विपरीत मांस-मदिराके सेवन, स्वार्थके जीवन और हिंसा इत्यादि कर्मोंसे मनुष्यकी वृत्ति राक्षसी हो जाती है, जैसे कि हम प्रतिदिन आसुरी वृत्तिवाले लोगोंके चेहरेसे देख सकते हैं। योगदर्शनमें भी लिखा है कि—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।
(यो० ४। १)

अर्थात् जन्म, ओषधि, मन्त्र, तपस् और समाधिसे उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। वे सिद्धियाँ मनुष्यको इस कारण प्राप्त हो जाती हैं कि उनमें उपर्युक्त कारणोंसे—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।
(यो० ४। २)

—अर्थात् प्रकृतिके चारों ओरसे आ भरनेसे जात्यन्तरका-सा परिणाम होता है।

भोगपरिवर्तन—

भोगपरिवर्तनके विषयमें इतना समझना चाहिये कि एक मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार एक निश्चित भोगको इस प्रकार भोग सकता है कि उससे अधिक-से-अधिक लाभ हो। दूसरा इसके विपरीत यदि अपनी बुद्धिके ऊपर इन्द्रियोंका शासन होने देता है, तो उस निश्चित भोगको शीघ्र ही समाप्त करके घर-घरका भिखारी बन सकता है। उदाहरणके लिये माना कि एक पिताके दो बालक हैं। पिता उन दोनोंमेंसे प्रत्येकको एक निश्चित धन देता है। एक बालक तो धन पाकर एकदम हर्षसे फूल जाता है और उसको राग-रंग, नाच-सिनेमा, मांस-मदिरामें उड़ा देता है, जिससे उसके शरीरको ही हानि नहीं होती बल्कि उसकी आत्मा भी कलुषित हो जाती है और फिर उसके भागका भोग भी शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इसके विरुद्ध दूसरा बालक अपनी बुद्धिके अनुसार सोचता है कि इस धनका उपयोग मुझको ऐसी वस्तु-ओंके संग्रहमें करना चाहिये, जिससे मेरा शरीर, मन और आत्मा शुद्ध हो। वह शुद्ध सात्त्विक भोजन, जैसे फल और दूधका आहार करता है, सादा वस्त्र पहिनता है, और अपना समय ईश्वर-चिन्तनमें व्यतीत

करता है और इस प्रकार अपने भोगसे अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है।

इसी प्रकार जो मनुष्य ईश्वरके दिये हुए भोगका उपयुक्त उपयोग नहीं करते, वे पापके भागी बनते हैं, उनके शरीर, मन और आत्मा कलुषित हो जाते हैं, वे इस मनुष्यशरीरको जानवरोंका शरीर बना डालते हैं और सदैव चिन्ता, ईर्षा, द्वेष इत्यादि कलुषित भावनाओंसे भरे हुए अन्तमें अकाल मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं।

आयुपरिवर्तन—

शुद्ध आहार, विहार, अच्छे कर्म और प्राणायाम इत्यादिसे मनुष्य अपनी आयुमें अत्यन्त वृद्धि कर सकता है। वैद्योंके अनुभवसे स्वस्थ मनुष्यके श्वास एक घड़ीमें तीन सौके लगभग माने गये हैं, इससे अधिक श्वास चलनेसे आयु सौ वर्षसे घटेगी और न्यून चलनेसे बढ़ेगी। जैसे अधिक गाड़ी चलनेवाली सड़क शीघ्र टूट जाती है, कुएँपर रस्सीसे अधिक रगड़ खानेवाले लकड या चौखटे शीघ्र टूट जाते हैं, और अधिक घसापससे पहरे जानेवाले वस्त्र शीघ्र फटते हैं, इसी प्रकार अधिक श्वासकी रगड़से आयु भी शीघ्र नष्ट हो जाती है। योगदर्शनमें प्राणायाम, प्राणको वशमें करना सिखलाता है अतः इससे आयुमें भी वृद्धि होती है।

निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट हो जायगा कि जीवधारियोंकी आयुका सम्बन्ध उनके श्वासोंपर कितना निर्भर है।

प्राणी	एक मिनटमें श्वास	आयु
(१) शशक	३८	८ वर्ष
(२) कबूतर	३६	८ ,,
(३) वानर	३२	२१ ,,
(४) कुत्ता	२९	१४ ,,
(५) बकरा	२४	१३ ,,
(६) घोड़ा	१९	५० ,,
(७) मनुष्य	१३	१०० ,,
(८) हाथी	१२	१०० ,,
(९) सर्प	८	१२० ,,
(१०) कछुवा	५	१५० ,,

जो मनुष्य अधिक क्रोध करते हैं, अधिक कामी होते हैं और अधिक निर्दयी होते हैं, वे इस योग्य कभी नहीं हो सकते कि वे प्राणायाम इत्यादि साधनाएँ कर सकें और वे अपने अमूल्य श्वासोंको बड़े तीव्र वेगसे व्यय करते रहते हैं और यही कारण है कि वे शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य ज्यों-ज्यों विषयोंकी ओर बढ़ता जाता है, ज्यों-ज्यों वह इन्द्रियोंका शिकार होता जाता है और ज्यों-ज्यों वह अपनी बुद्धिका प्रयोग करना छोड़ता जाता है अर्थात् ज्यों-ज्यों वह ईश्वरसे अलग होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी प्रकृति कलुषित और दूषित होती जाती है, उसका भोग शीघ्र ही समाप्त होता जाता है और उसकी आयु क्षीण होती जाती है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों मनुष्य संयमी होता जाता है, ज्यों-ज्यों इन्द्रियोंपर अपना आधिपत्य करता जाता है और ज्यों-ज्यों अपनी बुद्धिका प्रयोग करता जाता है, अर्थात् ज्यों-ज्यों वह ईश्वरके समीप—मायासे अलग—होता जाता है, त्यों-त्यों उसका शरीर कान्तिमय, देवताओंके सदृश सुन्दर, सौम्य और शान्त होता जाता है, उसका भोग शीघ्र समाप्त नहीं होता और उसकी आयुमें वृद्धि होती जाती है। मनुष्यका जीवन ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये है, और इसीलिये ईश्वर ऐसे मनुष्योंको ही दीर्घजीवी बनाता है, जो उसके प्राप्त करनेके साधनोंका उपयोग करते हैं। जो मनुष्य इसके विपरीत आचरण करते हैं वे पृथ्वीपर भाररूप होते हैं, इसलिये यह ईश्वरकी दया है कि ऐसे मनुष्योंका जीवन शीघ्र समाप्त कर दें क्योंकि वे अपने लिये और संसारके लिये विष-वृक्ष बोते हैं।

श्रीगंगाजी

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०)

(२)

कर्णवाससे कानपुर

पिछले लेखमें हमने लक्ष्मणझूलासे कर्णवासतक श्रीगङ्गाजीके किनारेके दर्शनीय स्थानोंका परिचय दिया था। अब इस लेखमें कर्णवाससे कानपुरतकके दर्शनीय स्थानोंका संक्षिप्त वर्णन देते हैं।

कर्णवास श्रीगङ्गाजीके दाहिने तटपर है। यह एक प्राचीन पुण्य-तीर्थ है, तथा सदैवसे ब्रह्मज्ञानियोंका निवासस्थान रहा है। भगवान् बुद्धने यहाँ तप किया था। और वह रमणीय स्थान कर्णवासके समीप ही एक सघन झाड़ी नामक वनमें बूधौके नामसे प्रसिद्ध है। इस सघन झाड़ीमें सब प्रकारकी यज्ञकी सामग्री मिलती है। साधु-महात्माओंके रहनेके लिये यह बड़ा ही दिव्य स्थान है। इस वनमें ऐसे वृक्ष हैं, कि छोटी-मोटी वर्षा होनेका प्रभाव उनके नीचेतक नहीं पहुँचता है। बाबा विद्याधर यहीं हुए हैं, जिनके चमत्कारसे प्रभावित होकर शाहजहाँ बादशाहने उन्हें खुदाई आदमी माना, और बहुत कुछ देकर साथ दिल्ली चलनेकी हठ की, किन्तु बाबाने मंजूर नहीं किया। यहाँपर अन्य कई प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं, इनमें परमहंस मस्तराम, दीनबन्धु, मौजानन्द विशेष उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वतीने जलवायु योगानुकूल देख तथा ठहरे हुए साधुओंमें पूर्णानन्द और मौजबाबाकी पूर्णयोग क्रियासे प्रसन्न होकर यहीं तीन वर्ष योगाभ्यास किया, और दोबारा फिर पधारे। अभी सांगवेद पाठशालाके अध्यापक पं० जीवाराम-जीने तीस वर्षतक गायत्री मन्त्रका जप किया है। इस समय भी कर्णवास और उसके आसपास कई बड़े ऊँचे विरक्त महात्मा रहते हैं। कर्णवासका पुराना नाम भृगुक्षेत्र है। यह भृगुजीका स्थान है। शुम्भ-निशुम्भको युद्धमें मार-कर श्रीदुर्गाजीने यहीं विश्राम किया था, और इसे अपना स्थान बनाया था। वही देवीजी आज सबके कल्याण करने-के कारण कल्याणीदेवीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके मन्दिरपर हमेशा भीड़ रहती है। (देखो चित्र १०) दोनों नवरात्रपर

कल्याणीदेवीका मन्दिर, चित्र नं० १०

बड़ा मेला लगता है। यहाँ बत्तीस सौ वर्षकी प्राचीन मूर्तियाँ खोदनेपर प्राप्त हुई हैं। वहाँका स्थान कर्णका कोट कहलाता है। कहते हैं कि राजा कर्णका शिशु शरीर गङ्गाजीसे यहीं निकाला गया था और यहाँ उन्होंने तप भी किया था। इसीसे भृगुजीने आशीर्वाद दिया कि इस स्थानका नाम कर्णवास होगा। राजा कर्णकी यहाँ एक शिला है, जो जल-की चुवानतक चली गयी है। (देखो चित्र ११)
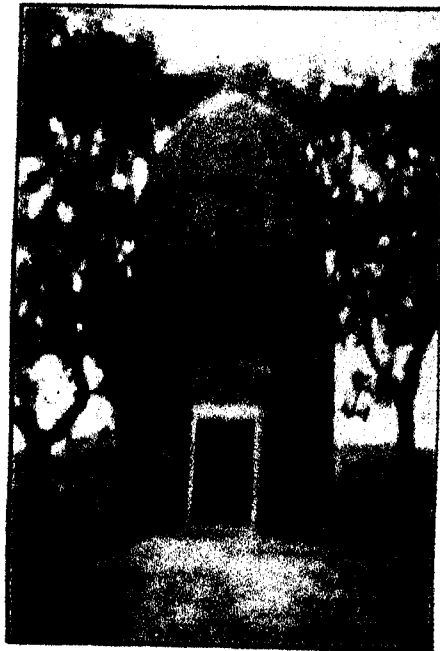
कर्णवासका मन्दिर चित्र नं० ११

यहाँका सिंधियाघाट भी दर्शनीय है। यद्यपि अन्य स्थानोंकी भाँति यहाँ भी यह गिरा हुआ पड़ा है। श्रीभूतेश्वर-का प्राचीन मन्दिर इसी घाटपर है। (देखो चित्र १२)

श्रीभूतेश्वरका प्राचीन मन्दिर, चित्र नं० १२

कार्तिकी पूर्णमासी और गङ्गादशहराको यहाँ बड़े-बड़े मेले लगते हैं, जिनमें लगभग एक लाख नर-नारी भाग लेते हैं।

कर्णवाससे तीन मील दक्षिण राजघाट गङ्गाके दाहिने तटपर है। रेल निकल जानेसे इस स्थानका महत्त्व बढ़ गया है। रेलके पुलके दक्षिणमें नावोंका पुल है। पार बबराला है जहाँसे कई ओरको सड़कें गयी हैं।

यहाँसे तीन मील नीचे गङ्गाजीके दाहिने किनारेपर सुप्रसिद्ध नरवर पाठशाला है। यह एक बड़े ही रमणीय स्थानमें स्थित है। जहाँ बड़े अच्छे-अच्छे महात्मा और विद्वान् रहते आये हैं।

यहाँसे एक मीलपर नरोरा नामक नगर है। गङ्गाजीकी दूसरी नहर यहींसे निकली है। नहरके लिये गङ्गामें एक बड़ा बाँध बँधा हुआ है, और धाराको स्थिर रखनेके लिये भी बाँध बाँधे गये हैं।

यहाँसे चार ही मील नीचे दाहिने तटपर सुप्रसिद्ध तीर्थ रामघाट है। यहाँ श्रीबनखण्डेश्वर महादेवका बड़ा प्राचीन मन्दिर है। (देखो चित्र १३) वैसे तो श्रीगङ्गाजी, हनूमान्जी, नृसिंहजी, बिहारीजी और रघुनाथजीके भी मन्दिर दर्शनीय हैं। कार्तिककी पूर्णिमाको यहाँ समस्त भारतसे यात्री आते हैं। नरोरापर बाँध बँधनेके पूर्व बनारस और मिर्जापुरसे खूब व्यापार होता था, किन्तु अब वह बन्द-सा हो गया है।

यहाँसे लगभग पन्द्रह-सोलह मीलपर लहराघाट है। जहाँ श्रीलहरेश्वरका मन्दिर है। यहाँसे तीन मीलपर सोरों है। पहिले इसका नाम अकलक्षेत्र था परन्तु हिरण्याक्ष दैत्यके वाराह भगवान्द्वारा वध किये जानेपर इसका नाम शूकरक्षेत्र पड़ गया। प्राचीन नगरका अवशेष अब केवल एक ढेरी रह गयी है। यहाँ बूढ़गङ्गामें स्नान करनेके लिये यात्री बड़ी दूर-दूरसे आते हैं। यद्यपि इसमें बहुत-सी अस्थियाँ पड़ा करती हैं। किन्तु तीसरे दिन वे सब
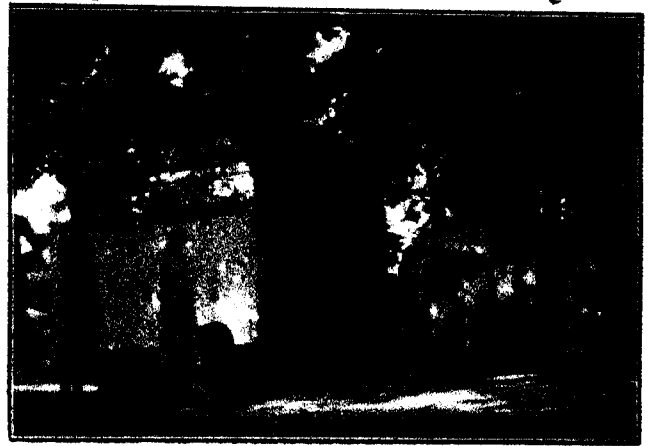
श्रीबनखण्डेश्वरका प्राचीन मन्दिर, चित्र नं० १३

जलरूपमें परिवर्तित हो जाती हैं। यह विचित्र बात यहीं देखनेमें आती है। अगहन शुक्ल एकादशीसे पञ्चमीतक यहाँ एक बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें नुमायश भी होती है। यहाँके निवासियोंका कहना है कि गोस्वामी तुलसीदासजी यहींके रहनेवाले थे। उनका एक कच्चा मकान भी बताया जाता है। यहाँके अन्य दर्शनीय

स्थान बटुकनाथजीका मन्दिर, सोमेश्वरका मन्दिर, सूर्यकुण्ड और श्रीभागीरथीजीकी गुफा है।

इसके उपरान्त दूसरा प्रसिद्ध घाट हमको कचला मिलता है। कहते हैं कि कच्छप अवतार यहीं हुआ था। गङ्गादशहराको यहाँ बड़ा मेला लगता है। यहाँ एक नावोंका पुल है। एक रेलका भी है। यह स्थान खरियामिट्टीके धन्धेके लिये प्रसिद्ध है। यहाँ एक अफीमकी कोठी है।

कचलासे कुछ दूरपर गङ्गाके बाय तटसे तीन मीलपर ककोड़ा नामक स्थान है। कार्तिककी पूर्णिमाका यहाँ एक बड़ा मेला लगता है, जो करीब सात-आठ दिनतक रहता है। इसमें लाखों मनुष्य भाग लेते हैं। इस मेलेमें हाथी, ऊँट, घोड़े, बैल, घोड़ेगाड़ियाँ, बैलगाड़ियाँ बिक्रीके लिये आती हैं।

इसके निकट ही कादरचौक नामक कसबा है जिसे नवाब कादरजङ्गने बसाया था, और एक कच्चा किला भी बनवाया था। किन्तु अब ऊँचे-ऊँचे टीले ही उसकी याद दिलाते हैं। यहाँसे गङ्गातटतक कच्ची सड़क गयी है। पार जानेके लिये नाव मिलती है। उस पार कादिरगंज बसा हुआ है। इसे भी इसी नवाबने बसाया था। यहाँ भी एक पुराना किला बना हुआ है।

कच्ची सड़कद्वारा जानेसे सोलह मीलपर कांपिल मिलता है। यह एक पुराने कगारपर स्थित है, जहाँ पहले गङ्गाजी बहती थीं, वहाँ अब मन्दिरों और स्नानगृहोंकी श्रेणियाँ खड़ी हुई हैं। यहाँ रामेश्वर-नाथ महादेव और कालेश्वरनाथ महादेवके प्रसिद्ध मन्दिर हैं। एक कपिल मुनिकी कुटी स्थान है, जहाँसे नीचे आनेपर द्रौपदीकुण्ड मिलता है। यहाँ एक टीला पुराने किलेका है, जिसके ऊपर तंबाकूकी खेती होती है। आजकल श्रीगङ्गाजी यहाँसे तीन मीलपर हैं। कांपिलसे पक्की सड़क कायमगंजको जाती है, जहाँ वसन्तऋतुमें दो मेले लगते हैं। एक परशुरामजीके मन्दिरपर और दूसरा बाबजीदासके मन्दिरपर।

कायमगंजसे पाँच मीलपर शम्साबाद नामक नगर एक पुराने कगारपर स्थित है। विलायती वस्त्र भारतमें आनेके पहले यहाँ सुन्दर वस्त्र बहुत बड़े परिमाणमें बनते थे। यहाँसे एक सड़क श्रीगङ्गाजीको गयी है, जहाँसे पार जानेके लिये नाव मिलती है। पार भारतमें सुप्रसिद्ध ढाही घाट है।

शाहजहाँपुर जिलेमें, शहरसे तीस मील दक्षिण ढाही नामका पुराना कसबा एक ऊँचे टीलेपर आबाद है। इस टीलेके खोदनेपर सुगन्धित भस्म मिलती है, जिससे मालूम होता है कि प्राचीन समयमें यहाँ कई यज्ञ हुए होंगे। गङ्गाजीकी धारा यहाँसे पाँच मील दूर है। ढाही और गङ्गा-के बीचमें मौजा भरतपुर है। इसमें वानप्रस्था श्रीमती अन्नपूर्णा देवीका स्थान है। यह देवी बड़ी साधु-सेवी हैं। इनके स्थानपर कई साधु निवास करते हैं।

यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिककी पूर्णिमाका बहुत बड़ा मेला लगता है। यह पन्द्रह दिनतक रहता है। यह ढाहीसे गङ्गातक फैल जाता है। इसमें पशुओंकी बिक्री बहुत होती है। दूर-दूरसे व्यापारी आते हैं। मेलेमें हर चीज़के बाजार अलग-अलग होते हैं। शाहजहाँपुरसे पक्की सड़क जलाला-बादतक है। आगे दस मील कच्चा रास्ता है।

ढाही घाटसे बारह मीलपर फर्रुखाबाद है। यहाँपर विश्रान्तियाँ (पक्के घाट) बहुत बनी हुई हैं, जिनमें शाहजीकी विश्रान्ति विशेषतया दर्शनीय है। (देखो चित्र १४)

शाहजीकी विश्रान्ति, चित्र नं० १४

इसके जोड़की विश्रान्ति कदाचित् भारतभरमें और कहीं नहीं है। घाटपर गङ्गामन्दिर और महाकालेश्वरके मन्दिर बने हुए हैं, थोड़ी दूर चलकर तारकेश्वरका मन्दिर और उनके नादियाका स्थान दर्शनीय है। यहाँ गङ्खावाले महादेव, बड़पुरकी देवी, मठियाकी देवी और मिट्टकुँचाके हनूमान्‌जीका मन्दिर प्रसिद्ध हैं। यहाँका व्यापार उन्नतिशील नहीं है। साघोके छापे हुए लिहाफ विलायततक जाते थे, किन्तु अब उनका भी काम गिर रहा है। फर्रुखाबाद जिलेका केन्द्र फ़तेहगढ़ है, जो यहाँसे तीन मील दक्षिण, गङ्गाजीके एक ऊँचे कगारपर स्थित है। इसीके दक्षिणमें बागर नाला आकर गङ्गासे मिला है। फ़तेहगढ़में धूमघाटपर पाण्डवोंका गुप्तवास हुआ था। इसी नगरमें गरैयाघाट गर्गमुनिका प्रसिद्ध स्थान है। यहाँसे पक्की सड़क छः मीलपर रजीपुरतक जाती है, जहाँसे शृंगीरामपुर केवल दो मील रह जाता है, और वहाँके लिये कच्ची सड़क भी है।

पुराणोंमें शृंगीरामपुरकी कथा इस प्रकार है—महर्षि अङ्गिरसके पुत्र शृंगी ऋषि हुए। यह शृंग (सींग) धारण किये हुए थे। इन्होंने बालकपनहीमें राजा परीक्षितको शाप दिया, और सब हाल अपने पितासे कह सुनाया। अङ्गिरस बोले कि हे पुत्र! तूने ब्रह्महत्याके समान पाप किया है, इसलिये तप कर। पुत्रने पिताकी बात स्वीकार करते हुए प्रणाम किया और तपका स्थान पूछा। अङ्गिरस बोले कि तू तीर्थ भ्रमण कर, और जहाँपर तेरे शृंगका पतन हो, वहीं निवास करके तप कर।

इसके बाद शृंगी ऋषिने श्रीगङ्गाजीके किनारे-किनारे यहाँ आकर स्नान किया जिससे उनके सींग गिर गये, और मुनि तपस्यामें संलग्न हो गये। इसके प्रभावसे सब देवता यहाँ आये और उन्हें वरदान दिया। उनकी आज्ञासे शृंगी ऋषिने वैकुण्ठके तुल्य एक नगर बनाया। यही शृंगीरामपुर प्रसिद्ध है।

यहाँपर शृंगी ऋषिका मन्दिर बना हुआ है। अन्य दर्शनीय स्थान रावसाहेबकी विश्रान्ति (देखो चित्र १५)
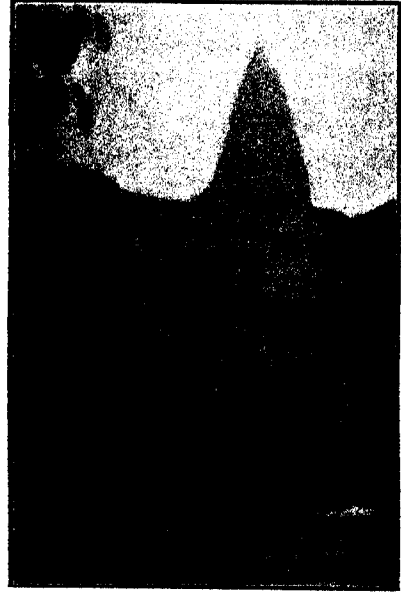
रावसाहेबकी विश्रान्ति, चित्र नं० १५

और खदीपुर महाराजकी विश्रान्ति हैं। किन्तु गङ्गाजी अब इनसे दूर हैं। शृंगीरामपुरसे चार मीलपर चियासर नामक एक बड़ा ही रमणीय स्थान है। यहाँ च्यवन ऋषिकी मूर्ति है और च्यवनेश्वर महादेवका मन्दिर भी है।

यहाँसे दो मीलपर जलेसर है। यहाँ याज्ञवल्क्य ऋषिकी स्थापित की हुई याज्ञवल्केश्वर महादेवकी मूर्ति है, जो आगेश्वर महादेवके नामसे प्रसिद्ध है। किन्तु मन्दिर जीर्णावस्थामें है।

यहाँसे चार कोसपर सदियापुर है। यहाँ तीन शिवालय हैं। एक मौनीबाबाकी स्थापितकी हुई पाठशाला है। थोड़ी दूरपर दूल्हादेवीका मन्दिर है।

यहाँसे तीन कोसपर कन्नौजका राजघाट है जहाँसे एक कोस उत्तरकी ओर कन्नौज नगर है। यहाँका घाट कच्चा है। धारा बदलती है। रास्तेमें लाखनके किलेका खंडहर

है। यह लगभग चार खण्ड ऊँचा है। यहाँ पुरानी इमारतोंके चिह्न जैसे कोठे आदि खोदनेपर निकलते हैं। रजगिरका किला भी ऐसा ही है। रास्तेमें गौरीशङ्कर महादेवका मन्दिर है (देखो चित्र १६)। अजयपालका

गौरीशङ्करका मन्दिर, चित्र नं० १६

मन्दिर नगरहीमें है (देखो चित्र १७)। फूलमतीदेवीका भी मन्दिर शहरहीमें है (देखो चित्र १८)। यहाँ चैत्र और क्वारमें नवदुर्गाका बड़ा मेला लगता है। कन्नौजके आसपास सुन्दर बगीचे हैं। यह नगर अतरके लिये बहुत
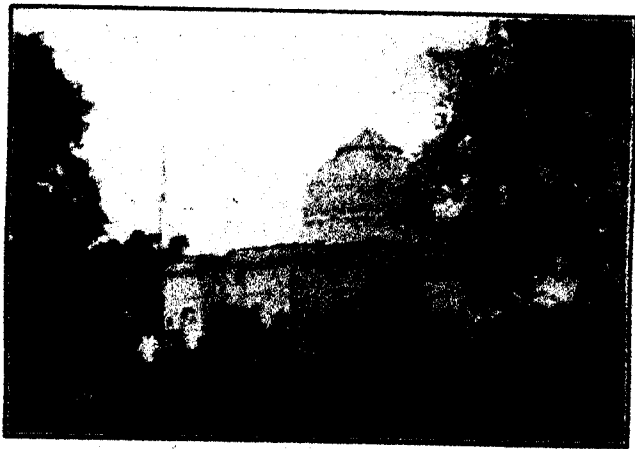
अजयपालका मन्दिर, चित्र नं० १७

फूलमतीदेवीका मन्दिर, चित्र नं० १८

प्रसिद्ध है। यहाँसे भारतके भिन्न भिन्न भागोंमें अतर भेजा जाता है। कन्नौजसे तीन मीलपर सागोंमें गोवर्द्धनीदेवीका प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ चैत सुदी चौथको पुरुषोंका बड़ा मेला लगता है। दूसरे मंगलको स्त्रियोंका वैसा ही मेला लगता है। चिन्तामणिका स्थान कन्नौजसे दो मील है। यहींपर रामघाट (देखो चित्र १९) जीर्णावस्थामें अब भी

चिन्तामणिका स्थान, चित्र नं० १९

देखनेको मिलता है । कन्नौजमें मन्दिर बहुत हैं । अधिकतर शिवजीके ही हैं ।

यहाँसे हरदोई जिलेको असबाब और यात्री लेकर नाव जाती है । गङ्गाके बायें तटपर हरदोई जिलेमें बिलग्राम अच्छा नगर है । नाज़िम हाकिम मेंहदीअलीखाँने दो बाजार भी बनवाये थे । यहाँ अमृतबान और घन अच्छे बनते हैं । नक्काशी किये हुए दरवाजे और अन्य वस्तुएँ भी बनती हैं ।

कन्नौजसे सात कोस गङ्गाजीके उत्तर तटपर कानपुर जिलेमें नानामऊ नामक स्थान है । यहाँ कार्तिकी पूर्णिमाको अच्छा मेला लगता है । यहाँ मुर्दे बहुत दूर-दूरसे आते हैं । लोकोक्ति है—

'देश भरका मुर्दा, नानामऊका घाट'

नानामऊसे चार मीलपर सेंग है । यहाँसे एक मीलपर शृंगी ऋषिका मन्दिर है । (देखो चित्र २०) मैंगसे यहाँ-

शृंगी ऋषिका मन्दिर, चित्र नं० २०
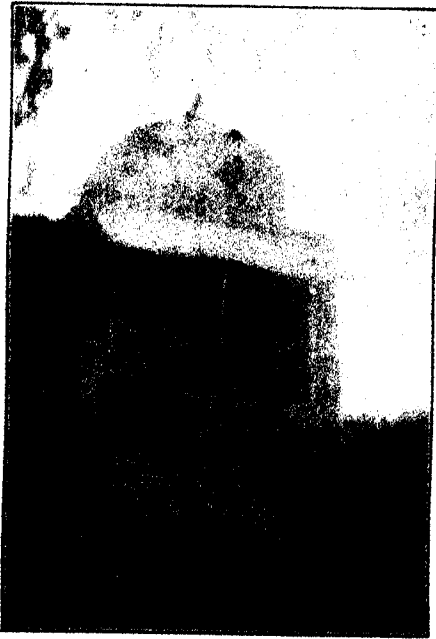
से दो मील है । यहाँ मालसिला देवी, (देखो चित्र २१) बलखण्डेश्वर महादेव और महाबीरजीके मन्दिर हैं ।

बलखण्डेश्वर महादेव, महावीरजीके मन्दिर, चित्र नं० २१

सेंगसे दो मीलपर जैसरमऊमें गंगेश्वर महादेवका मन्दिर है । यहाँसे दो मीलपर राधन एक बड़ा मौजा है । कहते हैं किसी भूकम्पमें आधी राधन लौट गयी थी । उसी समय यहाँकी चतुर्भुजी देवी पृथ्वीसे निकल आयी थीं । यहाँ मेला लगता है ।

यहाँसे पाँच मीलपर सरैयाँका पक्का घाट है । यहाँ तीन पक्के घाट बने हुए हैं । यहाँ नीलकण्ठेश्वर महादेवका दर्शनीय मन्दिर है । (देखो चित्र २२) मीलभर अंदर जानेपर

नीलकण्ठेश्वर महादेवका मन्दिर, चित्र नं० २२

वीरेश्वर महादेवका प्रसिद्ध मन्दिर मिलता है (देखो चित्र २३)

वीरेश्वर महादेवका मन्दिर, चित्र नं० २३

जंगलकी ओर अश्वत्थामा (देखो चित्र २४) और दुधेश्वरके

अश्वत्थामाका मन्दिर, चित्र नं० २४

प्राचीन मन्दिर हैं (देखो चित्र २५) सरैयाँसे चार मीलपर वरुआ नामक स्थान है । यहाँ एक संन्यासी रहते हैं ।

दुधेश्वरका प्राचीन मन्दिर, चित्र नं० २५

यहाँसे एक मीलपर बन्दीमाताका प्रसिद्ध मन्दिर है, (देखो चित्र २६) जिसकी स्थापना जानकीजीने स्वयं की

बन्दीमाताका मन्दिर, चित्र नं० २६

थी । इसके आगे पटकापुर है जहाँसे विठूर केवल दो मील रह जाता है ।

विठूरमें ब्रह्मावर्तकी खूँटी (देखो चित्र २७, पेज नं० १४१३) सीताकुण्ड, सीतारसोई, और मीनार, (देखो

ब्रह्मावर्तकी खूँटी, चित्र नं० २७

चित्र २८) स्वामी आत्मानन्दका मन्दिर, श्रीरामचन्द्रजीका मन्दिर और राजा ध्रुवका किला, (देखो चित्र २९ और ३०) दर्शनीय हैं । उस पार परियर नामक ग्राम है, जिसके निकट ही महुआ झील नामक सुन्दर

सीताकुण्ड, सीता रसोई, मीनार, चित्र नं० २८

ध्रुवका किला नं० १, चित्र नं० २९
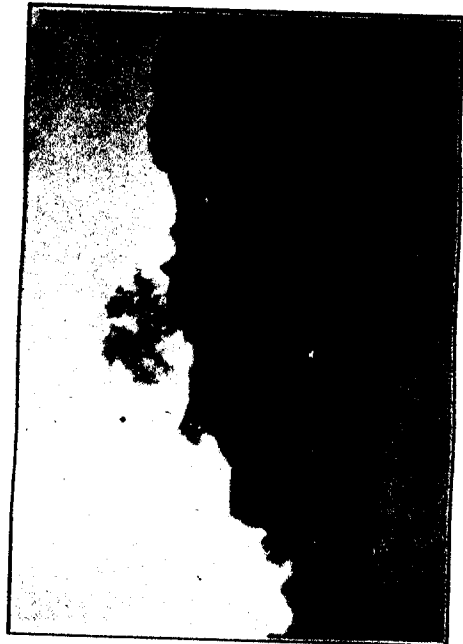
ध्रुवका किला नं० २, चित्र नं० ३०

जलाशय है । कार्तिकी पूर्णिमाको यहाँ बड़ा मेला लगता है जिसमें लगभग एक लाख मनुष्य भाग लेते हैं । यहाँसे पन्द्रह मील नीचे कानपुरका प्रसिद्ध नगर है । इसका वर्णन अगले लेखमें किया जायगा । *

* श्रीगंगाजीके सम्बन्धमें मैंने जो सामग्री इकट्ठी की है, उसके आधारपर यह लेख लिखा गया है । 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंसे निवेदन है कि इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हों उनको वे मुझे बतलानेकी अवश्य कृपा करें । यदि उनके पास श्रीगंगाजीके किनारेके किसी दर्शनीय स्थान, घाट, मन्दिर इत्यादिका चित्र हो, तो उसे वे मेरे पास दारागंज, प्रयागके पतेसे भेजनेकी कृपा करें ।

१४१

है।
हमार
रजगि
महादे

रूप और साधना

(लेखक—श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम० ए०)

हमारे धार्मिक साहित्यकी एक विशेषता यह है कि स्थान-स्थानपर और बातोंके साथ ईश्वरके विराट् रूपका वर्णन पाया जाता है। श्रीरामचरितमानसमें, श्रीमद्भागवतमें, गीतामें और अनेकों धर्मग्रन्थोंमें इस रूपकी चर्चा है। अपनी छोटी सफलताओंपर ऐंठनेवाले, इस अल्प जीवनको मदान्ध हो असीम समझनेवाले, थोड़ी-सी प्रशंसा पाकर, दो-चार मस्तकोंका अपने सामने नत होते देखकर रामको भूल जानेवाले मनुष्य नामके प्राणीके लिये आचार्योंने यह आवश्यक समझा कि उसकी लघुताके गर्वको भुला देनेके लिये ईश्वरके एक ऐसे महान् स्वरूपका आदर्श उसके सामने रक्खा जाय कि वह मानवजीवनकी तुच्छताको और इसकी अस्थिरताको समझे जो कि, जैसा कि अध्यात्म-रामायणमें कहा है, एक हिलते पत्तेकी नोकपर लटकती हुई ओसकी बूँदके समान है, राम जाने कब मिट्टीमें मिल जाय, ईश्वरकी अपारताका ध्यान दिलानेके लिये विराट्-रूपका विचार निस्सन्देह सहायक होता है, वैसा ही जैसा कि सौर जगत्के चमत्कारका अध्ययन और चिन्तन, लेकिन इस रूपमें एक कमी है। जिस साधकका उद्देश्य हर एकको राममय जानना है, जिस साधककी लालसा है कि प्रत्येक वस्तुमें प्यारेकी सूरत देखूँ, उसके लिये यह रूप विशेष सहायक नहीं होता। विराट्रूपका ध्येय तो अपने बड़प्पनके भ्रममें सोते हुए व्यक्तिकी आँखें खोलना है। जब आँखें खुल गयीं, यह विचार मनसे हट गया कि मेरी महत्ता, मेरा अस्तित्व महान् है, और इसके स्थानमें यह परम मधुर विश्वास आ गया कि—

उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन

—इसके बाद, खुल जानेके बाद आँखें क्या देखें ? यह समस्या विराट्रूपसे हल नहीं होती। इस समस्याको सुलझानेके लिये श्रीदुर्गासप्तशतीके पाँचवें अध्यायकी शरणमें जाना पड़ता है, क्योंकि जिस मधुर सौन्दर्यसे इसका उत्तर वहाँ मिलता है और कहीं आसानीसे शायद न मिल सके।

शुम्भ और निशुम्भके तिरस्कारसे अधिकाररहित सब देवता, अपराजितादेवीका स्मरण करने लगे क्योंकि आपत्ति-कालमें वे और किसको पुकारते ! दुखी बालकके आँसू सिवा माँके और किसको याद कर सकते हैं ! सब देवता भगवतीका स्मरण करने लगे, उनके गुणोंको याद कर-करके उनकी स्तुति देवताओंने की, इस स्तुतिको प्रेमसे पढ़नेपर हृदय अकथ सुखसे भर जाता है, क्योंकि हमें यह मालूम होता है कि जिस माँको हम दूर समझकर दुखी और असहाय बने रोते हैं वे तो एकदम हमारे पास हैं। इस स्तुतिमें देवताओंने कहा—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

सब प्राणियोंमें चेतनारूपसे जो देवी बसी हुई हैं, जो चैतन्य हममें है वह देवीके अस्तित्वका ही द्योतक है, उस देवीको हम नमस्कार करते हैं, बार बार उसको नमस्कार करते हैं।

देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।

देवी सबोंमें बुद्धिरूप बनकर रहती है, अगर हम विचार कर सकते हैं तो इसीलिये कि माँ बुद्धिरूप होकर हमें विचार करनेमें सहायता देती हैं।

देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।

दिनभर काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, माँ नींद बनकर हमारे पास आती हैं, रोज़ आती हैं, बिना बुलाये स्वयं आती हैं लेकिन हम उन्हें पहचान नहीं पाते!

देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।

माँ चाहती हैं कि क्योंकि उन्होंने हमें शरीर दिया है इसलिये हम उसकी रक्षा करें क्योंकि यह शरीर परमार्थ-साधनमें हमारी मदद करता है, इस शरीरकी हम रक्षा करें इसलिये माँ क्षुधाके रूपसे, भूख बनकर, इस शरीरकी रखवालीमें हमारी सहायक बनती हैं।

देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता।

माँको हम इतने प्यारे हैं कि वे हमसे अलग रह ही नहीं सकती हैं, सदा हमारे साथ हमारी छाया बनी फिरती हैं।

देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।

जो कुछ हम करते हैं, छोटा या बड़ा कोई भी काम, माँ शक्ति बनकर हमें उस कामके पूरा करनेमें सहायक बनती हैं और कार्यपूर्तिका सुख हमें प्रदान करती हैं।

इसी प्रकार इस स्तुतिमें देवताओंने देवी भगवतीके अनेक गुण गाये हैं जिसे पढ़कर यही मालूम पड़ता है कि माँ हमारे एकदम आँखोंके सामने हैं। माँ बड़ी कौतुक प्रिय हैं। कभी वे तृष्णारूप बनकर हमारे जीवनमें आती हैं। हमारा इम्तिहान लेती हैं। हमारे क्रोध, लोभ, मोहकी परीक्षा करती हैं। लेकिन हम जब घबरा जाते हैं तो माँ शान्ति बनकर सान्त्वना देनेमें देर नहीं करतीं। इस संसारमें जो हम अनेक जातियाँ, श्रेणियाँ, कोटियाँ, भेद देखते हैं माँ ही इनका कारण है, यह जाति—विभक्त संसार माँका ही रूप है। माँ बड़ी प्यारी हैं! वे लाज बनकर हमारे अवगुण ढक लेती हैं। माँ चाहती हैं कि हम उनको याद करें। माँ चाहती हैं कि हम इसमें पूरा विश्वास करें कि वे सचमुच माँ हैं। इसलिये दुर्गा माँ हमारे हृदयमें श्रद्धारूपसे रहती हैं। जहाँ हम जाते हैं, माँ आँखोंके सामने सदा रहती हैं, कान्ति बनकर वे हर वस्तुमें हमें अपने तईं दरसाती हैं—ऊपर चन्द्रमामें, नीचे मोतियोंपर, अपने भाई, अपनी बहिनोंके मुखड़ोंपर सुखकी, स्वास्थ्यकी कान्ति बनकर। हम सुखी रहें माँकी यही एक इच्छा है। हम अपनी अभिलाषाएँ यथोचित पूरी कर पायें इसलिये माँ लक्ष्मीरूप बनकर हमारे हाथोंमें आ जाती हैं। हम उन्हें भूल न जायँ जिनकी हमपर सदा कृपा रहती है, हम उन्हें भूल न जायँ जिनको हमारी सहायताका एकमात्र आसरा है, हम अपने सुविचार, अपने सुन्दर विश्वास, अपने सत्य वचन भूल न जायँ इसलिये माँ स्मृति बनकर हमारे हृदयमें वास करती हैं। जो दुखी हैं उनका दुख हमें समझानेके लिये, हृदयमें मानवता सञ्चार करनेके लिये, पार्थिवश्रेणीसे ऊपर हमें उठानेके लिये, अपनी ओर एक पद हमें बढ़ानेके लिये, माँ हमारे हृदयमें दया बनकर रहती हैं। जब हम सब प्रकारसे सुखी रहते हैं, खानेसे, पीनेसे, पहननेसे, ओढ़नेसे, सब प्रकारसे जब हम संतुष्ट होते हैं तब माँ तुष्टिरूप बनकर हमें अपनी याद दिलाने आती हैं। माँ बड़ी प्यारी माँ हैं। हमारा सुख ही उनका सुख है। वे हमसे खेल भी करती हैं। कभी खेल-खेलमें वे हमें तंग भी करती हैं—हास्य-प्रिय, कौतुक-प्रिय, माँ ही जो ठहरीं! हमारा मचलना देखकर वे सुख पाती होंगी। जैसे कोई माँ बच्चेसे अपने मुँहपर चेहरा लगाकर खेल करे और उसके डर जानेपर वह चेहरा फेंक देती है और फिर माँ-बेटा दोनों खेलपर हँसते हैं वैसे ही माँ दुर्गा भ्रान्तिरूप बनकर हमसे खेलती हैं। वे जान-बूझकर हमारे लिये भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। वे जानती हैं कि हमारा कोई अनर्थ तो हो ही नहीं सकता है, जब माँ स्वयं देखरेख करती हैं, स्वयं हमसे खेल करती हैं तो अनर्थ कैसा? इसलिये माँ भ्रान्ति बनकर कभी-कभी हमसे खेलती हैं। लेकिन हम अज्ञान बालकके समान इस भ्रममें न माँका खेल समझ पाते हैं, न उनका कौतुक-प्रेम, न मधुर स्वभाव! मूर्ख बालकके-ऐसे हम रो उठते हैं। और माँ मुस्कुराती हैं!!

श्रीदुर्गासप्तशतीके पाँचवें अध्यायकी स्तुतिपर मनन करनेसे ऐसे विचार मनमें उत्पन्न होते हैं। माँ कितनी प्यारी हैं, कितनी सच्ची माँ हैं, कितनी पास रहती हैं, हर समय कितना हमारा ध्यान रखती हैं, तरह-तरहके रूप बनाकर वे हमें सुखी बनानेमें कैसी लगी रहती हैं—ऐसे भाव इस स्तुतिके चिन्तन करनेसे द्रवीभूत होते हैं। विराट्-रूपके ध्यानसे अपने जीवनकी लघुताका विचार होनेके पश्चात्, झूठे बड़प्पनकी नींदसे जगनेके बाद आँखें क्या देखें? उसका उत्तर इस स्तुतिसे मिलता है। मोहनिद्रासे खुली आँखें यह नया कौतुक देखें। माँकी सर्वव्यापकता, प्रत्येक वस्तुके सौन्दर्य और कान्तिमें माँकी मुसक्यान, छाया बनकर माँका साथ-साथ फिरना, प्रत्येक वस्तुके चैतन्यमें माँके दर्शन—नींदसे खुली आँखें यह कौतुक देखें। और शायद यही देखनेके लिये माँने हमें दो-दो आँखें दी हैं। इस सत्यको हम माँके रूपमें देखें या और किसी रूपमें, सीता कहें या राम, बात एक ही है क्योंकि जैसा भक्तवर अमर तुलसीने कहा है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

हिरण्याक्ष-विभीषिका अथवा अर्थका अनर्थ

(लेखक—पं० श्रीशिववत्सजी पाण्डेय, एम०ए०, सा० शास्त्री)

(१)

अर्थकी ज्वालाएँ विकराल
भस्म करती जातीं जग-शान्ति !
पान करतीं मानवता-रक्त !!
बढ़ातीं ताप, वेदना भ्रान्ति !!!

(२)

अर्थ ? जो चतुर्वर्गका प्राण ?
अर्थ, जो संसृति-सुखका सार ?
वही उपजाता आज अनर्थ !
वही कर रहा सृष्टि-संहार !!

(३)

कहें यदि इसको शिव ? शं-कर ?
नहीं, वह बन कर प्रलयंकर !
विघ्नहर-प्रभव, सौम्य, तोषक,
स्थिति-स्थापक जगका तमहर ।

(४)

अरे यह तो पिशाचकी मूर्ति !
क्रूर यह काल मेदिनीका !
कराता हिरण्याक्षका स्मरण —
नहीं, सुस्पष्ट रूप उसका !

(५)

आज अचलापर यह हलचल !
क्लेशका उर्मिल पारावार !
आज वेदोंका यह निर्वेद !
अर्थका ही तो अत्याचार !

(६)

आजके अस्त्र ! आजके शस्त्र !
आजके युद्ध ! आजकी आग !
घोर धू धू ! धाँ धाँ !! घ्रां घ्राम् !!!
उसीके परम भयंकर राग !!!

(७)

मनोहर अर्थ ! हृदयहर अर्थ !
अरे उसका ऐसा व्यापार !!
कनक-घट सचमुच विष-रस भरा !!!
पाहि विश्वेश ! पाहि कर्तार !

(८)

कभी धर शूकरका अवतार,
बचाई तुमने श्रुति-मर्याद,
किया अभिनव धर्म-स्थापन,
मिटाया धरणीका अवसाद ।

(९)

कहाँ हो आज चराचरपते !
कहाँ हो 'यस्य निश्वसित वेद' !
तुम्हारे भी ऊपर आपत्ति ।
करोगे अब तो अर्थोच्छेद ?

भगवन्नाम-जप

कल्याणके 'नामजपविभाग' की प्रार्थनापर ध्यान देकर इस बार 'कल्याण' के पाठक-पाठिका, भाई-बहिनोंने बहुत ही उत्साहके साथ कार्य किया। होलीतक दस करोड़ मन्त्रजपके लिये प्रार्थना की गयी थी—परन्तु अबतककी ३६८ स्थानोंसे आयी हुई सूचनाके अनुसार २५४१६७६०० मन्त्र-जप-संख्या होती है। नाम जोड़नेसे इससे सोलह गुनी होगी। गत वर्ष लगभग तेरह करोड़ ही हुई थी। पत्रोंसे मालूम हुआ है कि इस वर्ष कई स्थानोंपर कई महानुभावोंने बहुत ही उत्तम उद्योग किया। उन सब सज्जनोंके नाम प्रकाशित करके हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते। कई स्थानोंसे तो ऐसी सूचनाएँ आयी हैं कि उन्होंने जीवनभरके लिये जप करनेका नियम ले लिया है। जिन भाइयों और बहिनोंने इस महान् यज्ञके करने-करानेमें योग दिया, उन सबके हम बड़े ही कृतज्ञ हैं। प्रार्थना है, यह दया सदा बनी रहे और उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे। जिन स्थानोंसे सूचनाएँ आयी हैं उनके नाम ये हैं—

अकबरपुर, अकबरपुरकोट, अगुवानपुर, अजनोद, अजमेर, अड्डाल, अमरकोट, अमरोधा, अहमदाबाद, आगरा, आगासौद, आजनोद, आदिग्राम, आधारीखुरहा, आरमूर, आरा, इन्दौर, इलाहाबाद, इलिचपुर, ईगुईमाधोगढ़, ईसागढ़, उकाडा, उदनाबाद, उन्नाव, ऊना, एकसंबा, एरच, एलनाबाद, औरैया, औरंगाबाद, ऋषीकेश, कच, कचरापाड़ा, कजरैली, कड़ाकोट, कण्डाहर, करनाल, कराची, कलकत्ता, कलानौर, कहानी, काटमांडू (नेपाल), कादी, कानपुर, कानारपुर, कापरेन, कालाकाँकर, कालाबड़, काशीपुर, किलिन्दिनी (केनिया), केशरिया, कैलगढ़, कैलास, कुचवाड़ा, कुठौदा, कुन्दन, कुंभारबंध, कोटकपूरा, कोटलीअरूरा, कोयली, काँकर, खम्भात, खरालो, खुदागंज, खैराबाद, खैरनगर, खाँधली, गर्च, गजना, गढ़पुरा, गढ़सिवानी, गढ़-उमरिया, गढ़ेवा, गया, गाजियाबाद, गारासणी, गावाँ, गुंडर-देही, गुलबर्गा, गोड्डा, गोधरा, गोढ़ो, गोरखपुर, गोलरा, गोला-घाट, गौतमपुरा, गौरंगचढ़, गंगानगर, गंगापुर, गंधावल, घमहापुर, घारुटा, चकमहेली, चन्दौसी, चरथावल, चम, चाबुआ, चिउटाहा, चिच, चिन्तामणिचक, चिरईडोंगरी, चुरू, चोमू, चाँदा, छतरपुर, छपरा, छीपाबड़ोद, जगनेर, जबलपुर, जलगाँव, जलालखेड़ा, जलालपुर, जमालपुर, जयपुर, जहुली, जालखमण्डी, जालन्धरछावनी, जुसा, जूनागढ़, जोगीमठ, जोडियाबन्दर, जोधपुर, झगरपुर, झींझक, टिकारी, टीटोएंडल (Mtito Andel केनिया), टेहटा, डभोई, डाल्टनगंज, डिलीपुर, डेगाना, डेरा, डेरागोपीपुर, डुमरिया, डोमरियागंज, तलवन्दीखुर्द, तारीन बहादुरगंज, तुरकौलिया, तुलसीपुर, तांदुर, थुमहा, दतिया, दन्तोलापट्टी पुंगराऊँ, दमोह, दहीखेड़ा, दादर, दामड़ी, दामोदरपुर, दिउरानगढ़िया, दियोसी, दिलीपनगर, दिल्ली, दीवानचौक, देवबन्द, देहरादून, देहरी, दुरान, दोंडाइचा, दाँता, धोलका, धनौरामण्डी, धुलिया, नजीबाबाद, नडिआद, नदवा, नवादा, नवाबगंज, नयागाँव, नयी-दिल्ली, नरेन्द्रनगर, नवसारी, नसरपुर, नागपुर, नागलारूँध, नापा, नापासर, नार, नारायणपुर, निजामाबाद, नियाजीपुर, निहतौर, नुवालबनेड़ा, नेसदा, नौगराँ, नाँदुरा, पछेगाँव, परसरामपुर, प्रभासपाटन, पसान, पाण्डेपुर, पापा (Mpwapwa केनिया), पायल, पालीताना, पिण्डीघेब, पिथौरागढ़, पिलखाना, पीपलरावा, पीलुदराँ, पुरकाजी, पुरानागंज, पूना, पेटलाद, पेंड्रारोड, पैरी, पोखरी, पोरबन्दर, पोरा, पाँढुरना, पिंजरी, फतेहगढ़, फतेहपुर, फलधरा, फिल्लौर, फीरोजपुर, फूलमण्डी, फैजाबाद, बड़काराजपुर, बड़ागूढ़ा, बस्ती, बड़ौदा, बच्छराना, बनवासी, बनारस, बम्बई, बम्बई, ब्यावरा, बरनाला, बरेली, बलसार, बाणपुर, बारसुईधार, बाराबंकी, बालसमुद, बालाघाट, बासणा, बासुदेवपुर, बहोलियाबिगहा, बाँकानेर, बाँकुड़ा, बाँदा, बिनेका, बिराटनगर, बिलासपुर, बिहारशरीफ, बीकानेर, बुगराशी, बेगमाबाद, बेणचिनमर्डि, बेसमा, बैतूल, बोनकाट्टा, भडरथ, भरतपुर, भभुआ, भवानीपाटन, भटेका खामपर्जा, भटपुरा, भीलोड, भुजनगर, मवईखुर्द, मल्लेश्वरम्, महुआहव, मनजगाँव, मच्छरपुर, मसलीपट्टम, महनार, महेसाना, मद्रास, महुआबन्दर, मवईरहायक, मारवाड़ जंकशन, माँझी,

माँगरोल, मांडल, मांडवला, मिरजागंज, मिर्जापुर, मुजफ्फरनगर, मुरैना, मुंगेर, मूसानगर, मूंदी, मेरठ, मोतिहारी, मौठ, रतनगढ़, रजोई, रतलाम, रसूलाबाद, रामपुरा, रायपुर, राधनपुर, रायपुर (मेवाड़), रामबाग, राजकोट, रामगढ़, रियासी, रुड़की, रूण, रोहतक, लक्ष्मणगढ़, लश्कर, लकुथ, लखनऊ, लाहरला, लाहौर, लाडौल, लातेहर, लोमारा, लुणावाड़ा, वरंडा, वळा, वरेवा, वालाद, विनोदपुर, विलन्दा, विसनगर, विरवनिया, वीरमगाँव, वैहर, वैरी, वोंद, शमियरगंज, शाहजहाँपुर, शिकारपुर, शिवसागर, शेखूपुरा, शेरपुर, शेगाँव, शोलापुर, सरदारशहर, सरसर, सरलाही, सहजनवा, सरमालियाँ, सरसा, सहावन, संडावता, सातोदड, साद्रा, सांडवा, सिरसोली, सिआणी, सिवनी, सिंगापुर, सीमलखेड़ी, सीतापुर, सुढार, सुभानपुर, सुन्दर, सूरत, सूरतगढ, सोनाड़ा, हरीया, हरद्वार, हरीपुरा, हँडिया, हरदा, हरसूद, हँसुआ, हाथरस, हिरेवागवाड़ी, हिस्सार, हुमेलवा, हुबली, हैदराबाद (दक्षिण), होशंगाबाद, होसिर, त्रिमुहान ।

उपालम्भ

छिपे हो क्यों मुझसे छविमान ।
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
बरस रही है सुरभि-सुमन मगमें शाखाएँ बाला ।
मधुर गीत गा-गाकर मधुकर उड़ते ज्यों घनमाला ।
तुम्हारे स्वागतमें मतिमान ।
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
मरकत मणि-सी यह यमुनाकी तरल तरंगित धारा ।
चूम-चूम पदरज कर देती प्लावित कूल-किनारा ।
दिया इसने है जीवन-दान !
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
झीनी-झीनी ज्योत्स्ना है इस लता-कुंजमें आती ।
शय्या किसलयके मुकुरोंमे थिरक-थिरककर जाती ।
तुम्हारी बिखर रही मुस्कान ।
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
मेरी आशा-अभिलाषाका छोर नहीं अब प्यारे !
क्या झुरमुटकी ओट देखते नटवर ! न्यारे-न्यारे !
तरसते हैं मेरे ये प्रान !
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
आते-आते ठिठक गये क्यों निर्जन वन है सूना ।
आओ कुंज-कुटीको भर दो सुखसे, किन्तु न छूना !
करूँगा अभी-अभी मैं मान !
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !
आ-आकरके पास नित्य तुम मुरली मधुर बजाते ।
ज्ञान-समाधि भंग कर मेरी बन-बन नाच नचाते ।
मोहनी डाली छली महान !
बहाया तुमने मेरा ज्ञान !

—'शान्त'
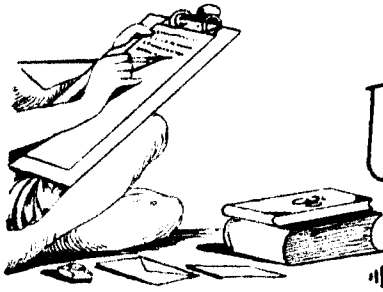
परमार्थ पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

भगवान्‌की स्मृति अधिक रहनेका उपाय पूछा, सो वह संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेसे रह सकती है। केवल बातें लिख देनेसे कुछ नहीं हो सकता; धारण करनेसे ही होगा।

सत्संग एवं सद्‌ग्रन्थोंद्वारा भगवद्भजन, भक्ति, ध्यान, वैराग्य तथा ज्ञानकी बातें एवं भगवान्‌के प्रभाव और गुणानुवादकी बातें प्रेमसहित सुनने-पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा होनेपर भगवान्‌की स्मृति बहुत ही अधिक रह सकती है।

इस प्रकार साधन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌का स्मरण हो सकता है। फिर भगवान्‌की प्राप्ति तो हुई ही रक्खी है। बाकी क्या है? उनको फिर भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा ही नहीं रहती, भगवान् ही उनके पीछे-पीछे फिरते हैं।

सच्चिदानन्दमय सगुणरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मनमोहिनी मूर्तिको अपने हृदयसे कभी बिसारना नहीं चाहिये; पर इस रहस्यको जाने बिना इस प्रकार बन नहीं पड़ता। और जब श्रीनारायणके परम रहस्यको कोई जान लेता है तो फिर उसके लिये भगवान्‌के स्वरूपको भुलाना सम्भव नहीं। एक हृदयकी तो बात ही क्या है, फिर उसको सब जगह वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही भासित होते हैं जैसे गोपियोंको होते थे।

उस मोरमुकुटधारी, वंशीविहारीकी माधुरी मूर्ति और मीठी वाणीमें जब एक बार सुरति समा जाती है तो फिर वह लौटकर नहीं आती। चित्त उसीमें लीन हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त उसे किसी औरका ज्ञान ही नहीं रहता। तब वह प्रेमी भक्त आनन्दमय हो जाता है। जब नारायणके सिवा और कुछ भी नहीं रहता, तब नारायण उसको मिल ही गये। इसके बाद उसके शरीरकी चेष्टाएँ होती भी हैं और नहीं भी।

(२)

आपने लिखा कि 'भगवान्‌की याद बहुत ही कम रहती है,' सो भगवान्‌की स्मृति रहनेके विषयमें············के पत्रमें लिखा है। इधर आपका समय ठीक नहीं बीतता, इसका कारण आप ही जान सकते हैं। मैं इतनी दूरसे कैसे पक्का अनुमान लगा सकता हूँ? या तो आपके सांसारिक झंझट अधिक रहते होंगे अथवा भगवद्भक्तोंका संग कम होता होगा। प्रधान तो ये दो ही कारण अनुमान किये जाते हैं। आपसे बहुत पीछे जो लोग साधनमें लगे थे वे भी आपसे आगे बढ़ गये। शुरू-शुरूमें आपकी बड़ाई अधिक हो गयी थी, उसे सुनकर

आपको कहीं कुछ अभिमान तो नहीं हो गया ? क्योंकि............आपके भजनकी बहुत ही प्रशंसा किया करता था। जो हुआ सो हुआ, अब भी चेत जायँ तो कुछ नहीं बिगड़ा है। अब भी सब बात बन सकती है !

बहुत-से पुरुषोंका बहुत उत्तम और तेज साधन देखकर भी आपको उत्साह क्यों नहीं होता ? यदि कहें कि 'कुछ तो होता है' परन्तु वह कुछ नहीं, जब कि आप उस उत्साहके अनुसार कार्य नहीं करते तब फिर सूखे उत्साहसे क्या होता है ? फिर भी न होनेसे तो उत्तम ही है, परन्तु यह उन लोगोंसे आगे बढ़ा देनेवाला उत्साह नहीं है। आपको यदि भगवद्विषयपर पूरा विश्वास है तो फिर एक पलकी भी देर आप क्यों कर रहे हैं ? संसारको यदि स्वप्नतुल्य मिथ्या समझते हैं, तो फिर इस मिथ्या जगत्के लिये अपना अमूल्य समय क्यों व्यर्थ गँवा रहे हैं ? संसार पूर्णरूपसे मिथ्या न समझमें आवे तो भी यह क्षणभंगुर तो प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। एक श्रीनारायणको छोड़कर कोई भी ऐसी वस्तु संसारमें नहीं है, जो नित्य हो। फिर शरीरकी तो बात ही क्या है। एक दिन इस शरीरका अवश्य ही नाश होना है। अतः इस शरीरके भस्म होनेसे पहले-पहले ही जो कुछ करना हो, कर लेना चाहिये। एक पलका भी विलम्ब क्यों करते हैं ! आपको किस वस्तुकी आवश्यकता है ? जिसके लिये आप जीवनके अमूल्य समयका अमूल्य काममें उपयोग नहीं करते।

(३)

सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न जो कुछ भी भासता है, वह है नहीं। इस प्रकार समझकर, जो कुछ भी चिन्तनमें आता है उसका खयाल छोड़कर जो बच रहे उसको अचिन्त्य सच्चिदानन्द समझकर उसीमें स्थित होना चाहिये। इस प्रकार अधिक अभ्यास करनेपर अचिन्त्यके ध्यानकी स्थिति हो सकती है।

जलमें बर्फकी तरह अपने शरीरको आनन्दमें डुबोकर शरीरको ढहा दे। फिर आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। इस प्रकार ध्यान करनेसे सच्चिदानन्द-के स्वरूपमें स्थिति हो सकती है।

श्रीसच्चिदानन्दघनका भाव अर्थात् होनापना, और शरीर, संसार तथा जो कुछ भी चिन्तनमें आ जाता है उन सबका अत्यन्त अभाव अर्थात् दृश्यमात्र कुछ है ही नहीं इस प्रकारका दृढ निश्चय। ऐसा होनेसे एक सच्चिदानन्दके अतिरिक्त सबका अभाव होकर परम आनन्दमय एक सच्चिदानन्दघन ही सर्वत्र अभिन्नरूपसे प्राप्त रह जाता है, वही परमपद है, वही परब्रह्म है और वही अमृत है।

जो मनुष्य ध्यानके मर्मको जान लेता है, बिना ही चेष्टाके उसका ध्यान हर समय बना रहता है। ध्यान करनेमें कोई कष्ट नहीं है। जबतक ध्यान करनेमें कोई परिश्रम मालूम होता है तबतक ध्यानका मर्म ही नहीं जाना गया। ध्यानका मर्म जान लेने-पर तो फिर ध्यानमें आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दसे आनन्दमयका ध्यान अपने-ही-आप होता रहता है। वह तो फिर भगवत्प्राप्ति भी नहीं चाहता। केवल इस प्रकार प्रेमपूर्वक ध्यानसहित भगवान्‌का स्मरण बना रहे। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं चाहता। इस प्रकारके भक्तोंको भगवान् प्राप्त ही हैं।

(४)

कृपा, दया तो भगवान्‌की सबपर सदा ही बनी है। उसीकी कृपासे सब कुछ बनता है।

परन्तु उनकी वह कृपा भजन किये बिना समझमें नहीं आती । और कृपाका प्रभाव जाने बिना कृपाकी प्रतीति नहीं होती, तब उद्धार भी कैसे हो ? विश्वास ही सार है । बिना विश्वासके नारायणमें प्रेम नहीं होता, बिना प्रेमके नारायण मिलते नहीं, और नारायणके मिले बिना संसारसे उद्धार होनेका और कोई भी उपाय नहीं है ।

जिस बातसे एक-दो दिन भी भगवान्‌में कुछ प्रेम होता हो, उसी बातको निरन्तर सुनने, पढ़नेकी चेष्टा करनी चाहिये । जब दिन-रात निष्काम प्रेमभावसे जप होने लगे फिर तो मनुष्य किसी प्रकारसे भी संसारके लोभमें नहीं फँस सकता । क्योंकि जब उस ओरका (भगवान्‌के प्रेमका) सच्चा लाभ प्रत्यक्ष दीखने लगता है तब भजन अपने-ही-आप होने लगता है । फिर विशेष चेष्टा नहीं करनी पड़ती । उस ओरका आनन्द नहीं जाना जाय तभीतक भजन करना कठिन हो रहा है । यदि भजन, ध्यान, सत्संगके तीव्र अभ्यासकी चेष्टा बहुत जोरसे की जाय तो बुद्धि शीघ्र ही सुधर सकती है । इस प्रकारका और कोई उपाय नहीं दीख पड़ता ।

पिछले पाप तो सभीके बहुत ही किये हुए होते हैं, परन्तु भगवान्‌के नाम-जपके प्रतापसे वे सभी पाप भस्म हो जाते हैं; फिर कुछ भय नहीं रहता । भजन होता रहे तो कोई चिन्ताकी बात नहीं;

जबहि नाम हृदय धरयो, भयो पापको नास ।
जैसे चिनगी अग्निकी, परी पुराने घास ॥

पिछले पापोंकी कौन जाने, और जाननेकी आवश्यकता भी नहीं । भगवन्नामजपसे वे सभी नाश हो जाते हैं । इसलिये बहुत तत्परतासे नाम-जप ही करना चाहिये । कलियुगमें नामजपके समान और कोई भी उपाय नहीं है । एकमात्र भगवन्नामजप ही सार है । इसलिये जिस उपायसे नामजप हो सके पूरी चेष्टासे उसीमें लग जाना चाहिये । रामायणमें कहा है—

कलियुग केवल नाम अधारा । सुमिरि सुमिरि भव उतरे पारा ॥

यदि भगवन्नामका जप नहीं होता है तो आपका भगवान्‌में विश्वास ही नहीं है । यही समझना चाहिये । नहीं तो और क्या कारण समझा जाय ? अतः एक बार विश्वास करके भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करना चाहिये । फिर सांसारिक लोभ नहीं रह सकेगा । आप सांसारिक आनन्दको आनन्द मान रहे हैं, इसीसे आप उसमें फँस रहे हैं । आपको विचार करना चाहिये कि संसारमें आकर मैंने क्या किया ? पशुमें और मुझमें क्या अन्तर है ? खाना, सोना और विषयभोग तो पशु भी करते हैं, फिर पशुसे अधिक आपको क्या आनन्द मिला ? इस प्रकार विचारकर देखनेसे मालूम होगा कि हमारा जन्म लेना व्यर्थ ही हुआ; केवल दस महीने माताको बोझ हो ढोना पड़ा । अब भी चेत जायँ । नहीं तो पीछे पछतानेसे कुछ भी नहीं बनेगा । अन्तमें भगवान्‌के भजन बिना कोई भी काम नहीं आवेगा । सब यहीं रह जायगा, शरीर भी साथ नहीं जायगा, फिर औरकी तो बात ही क्या है ?

(५)

प्रेमकी बातें पिछले पत्रमें बहुत ही लिखी हैं, मैं जो कुछ लिखूँ उससे चित्तमें दुःख नहीं मानना चाहिये, आनन्द ही मानना चाहिये । तुमने लिखा कि 'भाईजी ! मेरा तो कुछ जोर नहीं है' सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये । जहाँ प्रेम है वहाँ बहुत जोर है ।

तुमने लिखा कि 'पूर्ण इच्छा होनेपर मिलाप होना रुक नहीं सकता।' सो ठीक है। मिलना भले ही देरसे हो, प्रेम अधिक बढ़ाना चाहिये; प्रेम ही प्रधान है। अपना सभी समय निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नामजप और ध्यानमें बीते, सारा पुरुषार्थ लगाकर वही चेष्टा करनी चाहिये। एक क्षणकी भी जोखिम नहीं रखनी चाहिये। कालका जरा भी विश्वास नहीं करना चाहिये।

(६)

आपने लिखा कि 'डाकगाड़ीमें जानेसे जैसे जल्दी पहुँचा जा सकता है, इसी प्रकारका कोई उपाय होना चाहिये।' सो, जो मनुष्य उपाय होना चाहेगा, वह तो उसीके अनुसार चेष्टा भी करेगा। मेरा लिखना भी ऐसा ही है कि यह उपाय जल्दी होना चाहिये, नहीं तो पीछे पछतानेसे कुछ भी नहीं बनेगा। चेष्टा करनेसे उपाय होनेमें क्या विलम्ब है? सत्सङ्ग और भजन कम होता है, इसमें पुरुषार्थकी कमी समझनी चाहिये। संसारमें भले ही प्रेम रहे, केवल निरन्तर भजन-सत्सङ्ग होते रहना चाहिये, फिर कोई चिन्ता नहीं। चाहे जितने भी सांसारिक काम हों, भगवान्‌के नाममें प्रेम होनेपर भजनमें भूल अधिक नहीं हो सकती। काम करते हुए ही नामजपकी याद अधिक रहे, वही चेष्टा करनी चाहिये।

आपने लिखा—'संगवाले आगे बढ़ रहे हैं' सो वे भले ही बढ़ें, आपको भी यही निश्चय करना चाहिये कि मैं भी बहुत तेजीसे उस काममें लगूँ। बिना निरन्तर ध्यानसहित भगवन्नामजपके तृप्ति कैसे हो सकती है? भगवान्‌का प्रेमपूर्वक नाम जपनेसे नामामृतके आनन्दमें मग्न हुए पुरुषको जब शरीरका भी ज्ञान न रहे, तब तृप्ति हो।

दूकानके आदमियोंका तथा सांसारिक लोगोंका संग करनेसे भजन कम होता हो तो उनका संग कम करना चाहिये। थोड़ा-बहुत हो जाय तो विषयी पुरुषोंके संगसे प्लेगकी भाँति डरना चाहिये। जब भगवान्‌में पूर्ण प्रेम और विश्वास हो जायगा तब तो चाहे जितना विषयी मनुष्योंका संग हो, फिर भगवान्‌की याद भूली नहीं जा सकती। वह विश्वास पूर्ण प्रेम होनेपर ही होता है। भजन और सत्संग अधिक होनेपर हो विश्वास हो सकता है। इसलिये भजन-सत्संगकी ही विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

कृपा-दया तो भगवान्‌की सभीपर सदा ही पूर्ण रहती है। उसे जान लेनेपर मनुष्य भगवान्‌को कभी भूल नहीं सकता। जान लेनेपर उसका चिन्तन किस प्रकार छोड़ा जा सकता है?

आपने लिखा—'किसी समय तो मुकद्दमेका काम लीलामात्र दीखने लगता है।' तब तो बहुत ही आनन्दकी बात है, फिर तो उस मुकद्दमेकी चिन्ता भी नहीं रहनी चाहिये। और एकमात्र नारायणका ही भजन होना चाहिये। मुकद्दमेका चिन्तन मुकद्दमेके दिन ही होना चाहिये। अथवा किसी समय याद भले ही आ जाय, परन्तु चिन्तन न हो। जिनको मुकद्दमेका भय होता है, उनको वह निरन्तर जलाता रहता है। मुकद्दमेकी तरह मृत्युको याद रखना चाहिये। नारायणमें मन लगाना चाहिये। सबसे बड़ा मामला तो नारायणके घर है, उसका न्याय करनेवाले भगवान् आप हैं। उनका छोटा हाकिम यमराज है। यमराज भी उन्हींका नाम है। यमराजको अदालतमें नहीं जाना पड़े वही चेष्टा करनी चाहिये। शरीरको लेकर मुकद्दमा चल रहा है, आप कहते हैं यह मेरा है, पर असलमें

यह आपका है नहीं। आपके पास क्या प्रमाण है? कुछ भी है नहीं। मुकद्दमा हो ही रहा है। आखिर इस शरीररूपी मकानको अवश्य खाली कर देना पड़ेगा। प्रसन्नतासे छोड़ देंगे तो आपकी लायकी है, नहीं तो फजीहत होगी। शरीर आपका है नहीं। आपके पास इसका कोई प्रमाण भी नहीं है कि शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है। जो जीवित रहते हुए ही शरीरका आश्रय त्याग देता है, शरीरको मुर्देके समान समझ लेता है वही उत्तम है, वही जीवन्मुक्त है। इस शरीरको पहलेसे ही मुर्देके समान समझकर इसमेंसे अपनेपनका भाव निकालकर जो पुरुष एकमात्र नारायणमें अपनेपनका भाव कर लेगा उसीकी पेश आवेगी। नहीं तो फजीहत होगी। शरीर तो छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिये पहले ही छोड़ देना अच्छा है। जबतक छूटता नहीं है उतने समयतक इससे काम तो लेना चाहिये। एक दिन तो अवश्य ही इसे खाली करना पड़ेगा। जबतक आपका इसपर अधिकार है अच्छी तरह शीघ्रतासे इससे काम ले लेना चाहिये। इसमेंसे भजन, ध्यान, सत्सङ्गरूपी अमृत तो निकाल लेना चाहिये, जिससे बादमें पछताना न पड़े। फिर शरीरका प्रेम आप ही नाश हो जायगा।

भगवान्‌के भजन, ध्यान तथा सत्सङ्गके बिना 'मैं और मेरा' यह भाव नाश होना कठिन है। भगवान्‌का भजन बहुत कीमती है, वही चेष्टा करो। यही तुम्हारे काम आवेगी। समय बड़ा अमूल्य है, इस प्रकारका अवसर मिलना बहुत कठिन है, जो ऐसा समझेगा वह तो अपने अमूल्य समयको अमूल्य काममें ही बितावेगा।

कोड़े लगानेवाला मैं कौन हूँ? इस प्रकार नहीं लिखना चाहिये। कोड़े तो गुरु लगा सकते हैं। यदि कोड़े लगवानेकी आवश्यकता हो तो किसी सच्चे निष्काम प्रेमी गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। शरण भी ऐसी हो कि कुछ भी हो सब गुरुकी आज्ञानुसार ही करे। प्राण भले ही चले जायँ, अपने प्रणको नहीं छोड़ना चाहिये। प्रेमपूर्वक भजनमें ऐसा मग्न हो जाय कि शरीरका ज्ञान ही न रहे। तब आनन्द-ही-आनन्द है। भजन-सत्सङ्ग कम होनेमें आलस्य ही विशेष कारण जान पड़ता है। काम करते हुए अधिक भजन होना तभी-तक कठिन है जबतक प्रेम कम है। सत्सङ्ग तो महीने भरके लिये भले ही न हो परन्तु सत्संगमें प्रेम होना चाहिये। यदि पूर्ण श्रद्धा, प्रेम और निष्काम-भावसे हो तो सत्संग तो एक पलका भी बहुत है। थोड़ी भी श्रद्धा हो तो भी बहुत लाभ है। सत्संग सभी जगह है, तीव्र इच्छा होनी चाहिये। आपने प्रेम और विश्वाससे सत्संगकी खोज नहीं की होगी, अधिक प्रेम होनेपर उपदेश सभी जगह मिल सकता है।

आपके ससुरालका हाल जाना। इस विषयमें आपको ससुरका पक्ष नहीं करना चाहिये। माता-पिता जो कहें उसी प्रकार करना चाहिये। आपके पिताजीकी आत्मा दुःखी हो तो आपको अपने ससुरके पास भी नहीं जाना चाहिये। यदि आपके ससुराल-वालोंके हितके लिये वहाँ जाना आवश्यक हो और उसमें आपके पिताजी आदिका भी हित होता हो तो आप अपने पिताजीसे प्रार्थना करके उनसे आज्ञा लेकर अपने ससुरके पास जा सकते हैं। अपने आरामके लिये नहीं जाना चाहिये। शास्त्रकी दृष्टिसे तो ऐसा ही अनुमान होता है। मुकद्दमेका संकल्प विशेष नहीं रखना चाहिये। पिताजीको आज्ञा लेकर ससुरजीके पास जाकर मुकद्दमा मिटा सकते हैं। वे आज्ञा न दें तो कोई उपाय नहीं।

आपने लिखा कि 'मैं निष्काम होकर चलूँ। ऐसा विचार है; मामलेका सुख-दुःख कुछ मानूँ नहीं।' सो ऐसा हो तो फिर चिन्ता ही क्या है? इस प्रकारकी तो ज्ञानवान् पुरुषकी स्थिति हुआ करती है।

(७)

धारणाकी बात जानी। भजन, ध्यानका तीव्र अभ्यास करनेसे हृदय शुद्ध होता है, तभी धारणा होती है। पूर्ण प्रेम तो भगवान्‌में ही होनेका उपाय करना चाहिये। वह भजन, ध्यान, सत्संगके तीव्र अभ्यास करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर प्रभुके प्रभाव जाननेसे ही होता है। प्रेमकी बात जानी। मैं ता तुम्हारे प्रेमके अनुसार पूरा पत्रव्यवहार भी नहीं कर सकता। इस बार बहुत ही कम पत्र लिख सका। मिलनेकी बात भी जानी। प्रेम बढ़ता रहे तो मिलना भले ही कम हो कोई हर्जकी बात नहीं है।

मेरे साथ प्रेम बढ़नेकी बात पूछी सो इसका उत्तर मैं कुछ नहीं लिख सकता। क्योंकि वर्तमानमें तुम्हारा जो प्रेम है उसे देखते मुझे·······जानेमें उज्र क्यों होना चाहिये था परन्तु मैं तो नहीं जा सका।

भजन-सत्संगका अभ्यास अधिक होनेसे भगवान्‌के ध्यानकी स्थिति बढ़ सकती है। तुमने अपना साधन कमजोर लिखा, इसका क्या कारण है? तुम्हारे साधनको कौन कम करवा रहा है? तुम किसके दबावसे, मूर्खतासे या कुसंगसे किस हेतुसे साधन कम कर रहे हो? एक भगवान्‌के बिना तुम्हारा और कोई भी नहीं है। तुमको ऐसी किस वस्तुकी आवश्यकता है, जिसके लिये तुम भगवान्-सरीखे प्रिय मित्रके प्रेम-चिन्तनको छोड़कर मिथ्या, क्षणभंगुर संसारके चिन्तनमें अपने अमूल्य समयको बिता रहे हो? संसारका काम निष्कामभावसे बेपरवाह-से होकर करना चाहिये। एक पल भी तुम्हें व्यर्थकी बातोंमें तथा काममें नहीं बिताना चाहिये। भगवान्‌को छोड़कर अन्तमें कोई भी तुम्हारा साथी नहीं है। ऐसा जानकर उस नारायणको एक पलके लिये भी नहीं छोड़ना चाहिये।

भेद खुली

कौन यह नीलाम्बर धारे ?
कुंडल झलकत बनि-बनि रवि शशि भूषन बनि तारे ॥
कटि किंकिनि बनि गगनतरंगिनि दुतिवृति विस्तारे।
रुनझुन रुनझुन नूपुरकी धुनि बनि खग गुंजारे ॥
जाके हास विकास जगतको खिलत सुमन सारे।
मोहित जन सब विधि हरि हर लौं तन मन पन वारे ॥
पीछे छिपत लजात कहा अब बचहु न इनकारे।
पकरि लियो वचनेश आज तोहि प्रिया-सहित प्यारे ॥

—वचनेश

कुछ उपयोगी मन्त्र और उनके जपकी विधि

(२)

'ॐ नमो नारायणाय ।' यह अष्टाक्षर मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है । यह सिद्ध मन्त्र है, इसके जपसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं । अन्तःकरण शुद्ध होता है, कृपा करके भगवान् दर्शन देते हैं और भगवत्प्रेमकी उपलब्धि होती है । अनेकों महापुरुषोंको इसके जपसे भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए हैं । स्नान, सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर पवित्रता-के साथ एक आसनपर बैठकर इसका जप किया जाता है । बोलकर जप करनेकी अपेक्षा मन-ही-मन जप करना अच्छा है । जपके पूर्व वैष्णवाचमन करने-की विधि है । वैष्णवाचमनकी विधि इस प्रकार है—

ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः, इन मन्त्रोंसे दाहिने हाथको गौके कान-के समान करके एक-एक बूँद जल तीन बार पीवे ।

ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, इनसे हाथ धोवे । ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, इनसे दोनों अँगूठे धो ले । ॐ वामनाय नमः, ॐ श्रीधराय नमः, इनसे मुख धोवे । ॐ हृषीकेशाय नमः, इससे हाथ धोवे । ॐ पद्मनाभाय नमः, इससे पैरोंपर जल छिड़के। ॐ दामोदराय नमः, इससे सिर पोंछ ले । ॐ संकर्षणाय नमः, इससे मुँहका स्पर्श करे । ॐ वासुदेवाय नमः, ॐ प्रद्युम्नाय नमः, इनसे अँगूठा और तर्जनीके द्वारा नाकका स्पर्श करे । ॐ अनिरुद्धाय नमः, ॐ पुरुषोत्तमाय नमः, इनसे अँगूठा और अनामिकाके द्वारा दोनों आँखोंका स्पर्श करे । ॐ अधोक्षजाय नमः, ॐ नृसिंहाय नमः, इनसे अँगूठा और अनामिकाके द्वारा दोनों कानोंका स्पर्श करे । ॐ अच्युताय नमः, इससे अँगूठा और कनिष्ठिकाके द्वारा नाभिका स्पर्श करे । ॐ जनार्दनाय नमः इससे हथेलीसे हृदयका स्पर्श करे । ॐ उपेन्द्राय नमः, इससे अँगुलियोंके अग्रभागसे सिरका स्पर्श करे । ॐ हरये नमः, ॐ विष्णवे नमः, इनसे दोनों हाथ टेढ़े करके एक दूसरेका पखुरा (कवच) स्पर्श करे ।

श्रद्धापूर्वक किये हुए इस वैष्णवाचमनसे बाह्य और अन्तरके मल धुल जाते हैं और अभ्यास हो जानेपर सर्वत्र भगवान् नारायणका स्पर्श प्राप्त होने लगता है । इसके बाद सामान्य अर्घ्यदानसे लेकर मातृकान्यास-पर्यन्त विधि हो सके तो करनी चाहिये और केशव-कीर्त्यादिन्यास भी करना चाहिये । केशवकीर्त्यादि-न्यास है तो कुछ लम्बा परन्तु बड़ा ही लाभदायक है । यह न्यास सिद्ध हो जाय तो साधक बहुत शीघ्र सफलमनोरथ हो जाता है । वह पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता है । इस न्यासमें अँगुलियोंका नियम भी है इसलिये मन्त्रोंके साथ है । एकसे पाँच-तककी संख्याएँ भी लिख दी जाती हैं, वह अँगुलियों-का निर्देश है । १ को अँगूठा और ५ को कनिष्ठिका समझना चाहिये । जहाँ २, ३ संख्याएँ एक साथ ही हों वहाँ उन सब अँगुलियोंसे एक साथ ही स्पर्श करना चाहिये ।*

ललाटमें—ॐ **अं केशवाय कीर्त्यै नमः ।** १, ४ ।

मुखमें—ॐ **आं नारायणाय कान्त्यै नमः ।** २, ३, ४ ।

दाहिने नेत्रमें—ॐ **इं माधवाय तुष्ट्यै नमः ।** १, ४ ।

---

* जिन्हें किसी सांसारिक पदार्थोंकी कामना हो, उन्हें प्रत्येक न्यासमन्त्रमें ॐ के पश्चात् 'श्रीं' जोड़ लेना चाहिये ।

बायें नेत्रमें-ॐ ई गोविन्दाय पुष्ट्यै नमः । १, ४ ।
दाहिने कानमें-ॐ उं विष्णवे धृत्यै नमः । १ ।
बायें कानमें-ॐ ऊं मधुसूदनाय शान्त्यै नमः । १ ।
दाहिनी नाकमें-ॐ ऋं त्रिविक्रमाय क्रियायै नमः । १, ५ ।
बायीं नाकमें- ॐ ॠं वामनाय दयायै नमः । १, ५ ।
दाहिने गालपर-ॐ लृं श्रीधराय मेधायै नमः । २, ३, ४ ।
बायें गालपर-ॐ लॄं हृषीकेशाय हर्षायै नमः । २, ३, ४ ।
ओठमें-ॐ एं पद्मनाभाय श्रद्धायै नमः । ३ ।
अधरमें-ॐ ऐं दामोदराय लज्जायै नमः । ३ ।
ऊपरके दाँतोंमें-ॐ ओं वासुदेवाय लक्ष्म्यै नमः । ३ ।
नीचेके दाँतोंमें-ॐ औं संकर्षणाय सरस्वत्यै नमः।३।
मस्तकमें-ॐ अं प्रद्युम्नाय प्रीत्यै नमः ।३।
मुखमें-ॐ अः अनिरुद्धाय रत्यै नमः ।२,४।
बाहुमूलसे लेकर ॐ कं चक्रिणे जयायै नमः, ॐ खं अँगुलीतक गदिने दुर्गायै नमः, ॐ गं शार्ङ्गिणे (दाहिने)-प्रभायै नमः, ॐ घं खड्गिने सत्यायै नमः, ॐ ङं शङ्खिने चण्डायै नमः। ३,४,५।
बाहुमूलसे लेकर ॐ चं हलिने वाण्यै नमः, ॐ छं अँगुलीतक (बायें)-मुशलिने विलासिन्यै नमः, ॐ जं शूलिने विजयायै नमः, ॐ झं पाशिने विरजायै नमः, ॐ ञं अङ्कुशिने विश्वायै नमः । १ ।
पादमूलसे लेकर ॐ टं मुकुन्दाय विनदायै नमः, अँगुलियोंतक (दाहिने)-ॐ ठं नन्दजाय सुनन्दायै नमः, ॐ डं नन्दिने स्मृत्यै नमः, ॐ ढं नराय ऋद्ध्यै नमः, ॐ णं नरकजिते समृद्ध्यै नमः । १ ।
पादमूलसे लेकर ॐ तं हरये शुद्ध्यै नमः, ॐ थं अँगुलियोंतक (बायें)-कृष्णाय बुद्ध्यै नमः, ॐ दं सत्याय भक्त्यै नमः, ॐ धं सात्वताय मत्यै नमः, ॐ नं शौरये क्षमायै नमः ।१।
दाहिनी बगलमें-ॐ पं शूराय रमायै नमः ।१।
बायीं बगलमें-ॐ फं जनार्दनाय उमायै नमः ।१।
पीठमें-ॐ बं भूधराय क्लेदिन्यै नमः । १ ।
नाभिमें-ॐ भं विश्वमूर्त्यै क्लिन्नायै नमः। २,३,४,५।
पेटमें-ॐ मं वैकुण्ठाय वसुदायै नमः ।१,५।
हृदयमें-ॐ यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः । १,५ ।
दाहिने कंधेपर-ॐ रं असृगात्मने बलिने परायै नमः । १, ५ ।
गर्दनपर-ॐ लं मांसात्मने बलानुजाय परायणायै नमः । १, ५ ।
बायें कंधेपर-ॐ वं मेदात्मने बालाय सूक्ष्मायै नमः ।१, ५ ।
हृदयसे लेकर दाहिने ॐ शं अस्थ्यात्मने वृषघ्नाय हाथतक-सन्ध्यायै नमः ।१-५ ।
हृदयसे लेकर बायें हाथतक-ॐ षं मज्जात्मने वृषाय प्रज्ञायै नमः । १, ५ ।
हृदयसे लेकर दाहिने पैरतक-ॐ सं शुक्रात्मने हंसाय प्रभायै नमः । १, ५ ।
हृदयसे बायें पैरतक-ॐ हं प्राणात्मने वराहाय निशायै नमः १, ५ ।
हृदयसे पेटतक-ॐ ळं जीवात्मने विमलाय अमोघायै नमः। १, ५ ।
हृदयसे लेकर मुखतक-ॐ क्षं क्रोधात्मने नृसिंहाय विद्युतायै नमः । १, ५ ।

इनका यथास्थान न्यास करके ऐसा ध्यान करना चाहिये कि मेरे स्पर्श किये हुए अंगोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्यामवर्णके भगवान् नारायण पृथक्-पृथक् विराजमान हैं । उनके साथ वर्षाकालीन

बादलमें चमकती हुई बिजलीके समान उनकी पृथक्-पृथक् शक्तियाँ शोभायमान हो रही हैं। कभी-कभी उनकी मुस्कुराहटसे दाँत दिख जाते हैं और बड़ा ही सुन्दर सुखद शीतल प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। मेरे शरीरमें रोम-रोममें भगवान् विष्णुका निवास है। मेरे हृदयकी एक-एक वृत्तियोंसे भगवान् नारायणका साक्षात् सम्बन्ध है। मेरा हृदय पवित्र हो गया है अब इसमें स्थायीरूपसे भगवान् विष्णुके दर्शन हुआ करेंगे। अब पाप, अपवित्रता और अशान्ति मेरा स्पर्श नहीं कर सकती। इस न्यासके फलमें बतलाया गया है कि यह केशवादिन्यास न्यासमात्रसे ही साधकको अच्युत बना देता है अर्थात् वह किसी भी विघ्नके कारण साधनासे च्युत नहीं होता। भगवान्के चिन्तनमें तल्लीन होकर भगवन्मय हो जाता है।

इसके बाद नारायण अष्टाक्षर मन्त्रके जपका विनियोग करना चाहिये। हाथमें जल लेकर ॐ नारायणाष्टाक्षरमन्त्रस्य प्रजापति ऋषिः गायत्री छन्दः अर्धलक्ष्मीहरिर्देवता भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः। जल छोड़ दें। प्रजापति ऋषिका सिरमें, गायत्री छन्दका मुखमें और अर्धलक्ष्मीहरि-देवताका हृदयमें न्यास कर लें। नारायण अष्टाक्षर मन्त्रका न्यास केवल श्री बीजसे ही होता है। जैसे 'ॐ श्रीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।' 'ॐ श्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा' इत्यादि। करन्यासकी भाँति ही अंगन्यास भी कर लेना चाहिये। इसका ध्यान बड़ा ही सुन्दर है—

उद्यत्प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातं
पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम्।
नानारत्नोल्लसितविविधाकल्पमापीतवस्त्रं
विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकीचक्रपाणिम्॥

'भगवान् विष्णु उगते हुए सैकड़ों सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी, तपाये हुए सोनेकी भाँति अंगकान्ति-वाले और दोनों ओर लक्ष्मी एवं पृथ्वीके द्वारा सेवित हैं। अनेकों प्रकारके रत्नजटित आभूषणोंसे भूषित हैं एवं फहराते हुए पीताम्बरसे परिवेष्टित हैं। चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान हो रहे हैं और मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए मेरी ओर देख रहे हैं। ऐसे भगवान् विष्णुकी मैं वन्दना करता हूँ।' इस प्रकारका ध्यान जब जम जाय तब मानस पूजा करनी चाहिये। मानस पूजामें ऐसी भावना की जाय कि सम्पूर्ण जलतत्त्वके द्वारा मैं भगवान्के चरण पखार रहा हूँ और सम्पूर्ण रसतत्त्वके द्वारा उन्हें रसीले व्यञ्जन अर्पण कर रहा हूँ, सम्पूर्ण पृथ्वीतत्त्वका आसन और सम्पूर्ण गन्धतत्त्वकी दिव्य सुगन्ध निवेदन कर रहा हूँ। सम्पूर्ण अग्नितत्त्वका दीपदान एवं आरति कर रहा हूँ तथा सम्पूर्ण रूप-तत्त्वसे युक्त वस्त्राभूषण भगवान्को पहना रहा हूँ। सम्पूर्ण वायुतत्त्वसे भगवान्को व्यजन डुला रहा हूँ एवं सम्पूर्ण स्पर्शतत्त्वसे भगवान्के चरण दबा रहा हूँ। सम्पूर्ण आकाशतत्त्वमें भगवान्को विहार करा रहा हूँ एवं सम्पूर्ण शब्दतत्त्वसे भगवान्की स्तुति कर रहा हूँ। इस प्रकार पूजा करते-करते अन्तमें जो कुछ अवशेष रह जाय मैं, मेरा वह सब दक्षिणा-स्वरूप भगवान्के चरणोंमें चढ़ा देना चाहिये। और अनुभव करना चाहिये कि यह सम्पूर्ण विश्व, मैं, मेरा जो कुछ है वह सब भगवान्का है, सब भगवान् ही हैं। दूसरे प्रकारसे भी मानस पूजा कर सकते हैं।

जब ध्यान टूटे तब सम्भव हो तो बाह्य पूजा करके, नहीं तो ऐसे ही मन्त्रका जप करना चाहिये। सोलह लाख जप करनेसे इसका अनुष्ठान पूरा होता है। यह मन्त्र सिद्ध हो जानेपर कल्पवृक्षस्वरूप

बतलाया गया है। इसका दशांश हवन करना चाहिये या दशांशका चौगुना जप। बृहत् अनुष्ठान करना हो तो किसी जानकारसे सलाह भी ले लेना चाहिये। इतनी बात अवश्य है कि चाहे जैसे भी जपें इसके जपसे हानि नहीं, लाभ-ही-लाभ है।

(३)

'ॐ रां रामाय नमः' यह षडक्षर राममन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें इसे चिन्तामणि नामसे कहा गया है। इसके जपसे भगवान् राम प्रसन्न होते हैं, सकाम साधकोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। निष्काम साधकोंको यथाधिकार भगवत्प्रेम या ज्ञान दे देते हैं। इस मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और श्रीराम देवता हैं। इनका यथास्थान न्यास कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् करांगन्यास करना चाहिये। ॐ रां अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः, ॐ रीं तर्जनीभ्याम् स्वाहा, ॐ रूं मध्यमाभ्याम् वषट्, ॐ रैं अनामिकाभ्याम् हूम्, ॐ रौं कनिष्ठिकाभ्याम् वौषट्, ॐ रः करतलकरपृष्ठाभ्याम् फट्, इसी प्रकार हृदय, सिर, शिखा, नेत्र, कवच और अस्त्रमें भी न्यास कर लेना चाहिये। फिर मन्त्रन्यास करना चाहिये। ब्रह्मरन्ध्रमें ॐ रां नमः, भौंहोंके बीचमें ॐ रां नमः, हृदयमें ॐ मां नमः, नाभिमें ॐ यं नमः, लिंगमें ॐ नं नमः, पैरोंमें ॐ मं नमः, इसके पश्चात् ॐ नमो भगवते वासुदेवाय मन्त्रकी विधिमें बतलाये हुए मूर्तिपञ्जर और किरीटन्यास करना चाहिये। इस मन्त्रका ध्यान निम्नलिखित है—

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

'भगवान् श्रीरामके शरीरकी कान्ति वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है। एक-एक अङ्गसे कोमलता टपक रही है। वीरासनसे बैठे हुए हैं, एक हाथ जंघेपर रखा हुआ है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रायुक्त है। हाथमें कमल लिये श्रीसीताजी पास ही बैठी हुई हैं। उनके शरीरसे बिजलीके समान प्रकाश निकल रहा है। भगवान् श्रीराम उनकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। मुकुट, बाजूबन्द आदि दिव्य सुन्दर-सुन्दर आभूषण शरीरपर जगमगा रहे हैं। ऐसे भगवान् रामकी मैं सेवा कर रहा हूँ।' ध्यानके पश्चात् मानस सामग्रीसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये। पूजाकी विधि अन्यत्र देखनी चाहिये। इस मन्त्रका अनुष्ठान छः लाखका होता है, दशांश हवन होता है।

इस मन्त्रके कई भेद हैं। जैसे ॐ रां रामाय नमः, ॐ क्लीं रामाय नमः, ॐ ह्रीं रामाय नमः, ॐ ऐं रामाय नमः, ॐ श्रीं रामाय नमः, ॐ रामाय नमः, इनके ऋषि भी पृथक्-पृथक् हैं। क्रमशः ब्रह्मा, सम्मोहन, शक्ति, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य, श्रीशिव। दूसरे मन्त्रके ऋषिके सम्बन्धमें मतभेद है, कहीं-कहीं सम्मोहनके स्थानमें विश्वामित्रका नाम आता है। इन मन्त्रोंके न्यास, ध्यान, पूजा आदि पूर्वोक्त मन्त्रके समान ही हैं। सब-के-सब सिद्ध मन्त्र हैं। इनसे अभीष्टकी सिद्धि होती है।

(४)

भगवान् रामका दशाक्षर मन्त्र है 'ॐ हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा' इसके वशिष्ठ ऋषि हैं, विराट छन्द है, सीतानाथ भगवान् राम देवता हैं। इसका बीज हुं है और स्वाहा शक्ति है। करन्यास और अङ्गन्यास क्लींसे करना चाहिये। ॐ क्लीं अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः इत्यादि। इसके दस अक्षरोंका न्यास शरीरके दस अङ्गोंमें होता है। जैसे मस्तकमें 'ॐ हुं नमः' ललाटमें 'ॐ जां नमः' भौंहोंके बीचमें 'ॐ नं नमः' इसी

प्रकार शेष अक्षरोंका भी तालु, कंठ, हृदय, नाभि, ऊरु, जानु और दोनों पैरोंमें न्यास कर लेना चाहिये। इसका ध्यान निम्नलिखित है—

अयोध्यानगरे रम्ये रत्नसौन्दर्यमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धवितानतोरणान्विते॥
सिंहासनसमारूढं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः॥
संस्तूयमानं मुनिभिः सर्वज्ञैः परिशोभितम्।
सीतालङ्कृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम्॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।

'मनोहर अयोध्यानगरीमें एक अत्यन्त सुन्दर रत्नोंका बना मण्डप है। कल्पवृक्षके पुष्पोंसे उसकी चाँदनी और तोरण बने हुए हैं। सिंहासनके ऊपर बिछे हुए सुन्दर फूलोंपर भगवान् राम बैठे हुए हैं। राक्षस, वानर और देवगण दिव्य विमानोंसे आ-आकर उनकी स्तुति कर रहे हैं। सर्वज्ञ मुनिगण चारों ओर रहकर उनकी सेवा कर रहे हैं। बायीं ओर माता सीता विराजमान हैं। लक्ष्मण निरन्तर सेवामें संलग्न हैं। भगवान् रामका शरीर श्याम वर्णका है। मुखमण्डल प्रसन्न है और वे सब प्रकारके दिव्य आभूषणोंसे आभूषित हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके पूर्वोक्त पद्धतिसे मानस पूजा और बाह्य पूजा करनी चाहिये तथा मन्त्रका जप करना चाहिये। इसका अनुष्ठान दस लाखका होता है और उसके दशांश हवनादि होते हैं।

(५)

भगवान् रामका नाम ही परम मन्त्र है। राम-राम करते रहो किसी मन्त्रकी आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। राममन्त्रका जप दो प्रकारसे किया जाता है—एक तो नामबुद्धिसे और दूसरा मन्त्रबुद्धिसे। नामके जपमें किसी प्रकारकी विधि आवश्यक नहीं है। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते रामनामका जप किया जा सकता है। परन्तु मन्त्रबुद्धिसे जो जप किया जाता है उसमें विधिकी आवश्यकता है। उसका केवल जप भी होता है और उसमें कई बीजाक्षर जोड़कर भी जप करते हैं; जैसे श्रीं राम श्रीं, ह्रीं राम ह्रीं, इनके साथ स्वाहा, नमः, हुं फट् आदि भी जोड़ सकते हैं। जैसे श्रीं राम श्रीं स्वाहा, ह्रीं राम ह्रीं नमः, क्लीं राम क्लीं हुं फट्, इसी प्रकार ऐं भी जोड़ सकते हैं। इस प्रकार पृथक् योगसे त्र्यक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर आदि राममन्त्र बनते हैं। ये सब-के-सब मन्त्र चतुर्विध पुरुषार्थको देनेवाले हैं। राम शब्दके साथ चन्द्र और भद्र शब्द जोड़नेपर भी रामभद्र और रामचन्द्र यह चतुरक्षर मन्त्र बनते हैं। रामाय नमः, श्रीं रामाय नमः, क्लीं रामाय नमः, अ रामाय नमः, आ रामाय नमः, इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णोंको जोड़कर पचासों प्रकारके राममन्त्र बनते हैं। रां यह रामका एकाक्षर मन्त्र है। ये सब-के-सब मन्त्र भगवान्के प्रसादजनक हैं। इन सब मन्त्रोंके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और रामचन्द्र देवता हैं। एकाक्षर मन्त्रका अनुष्ठान बारह लाखका होता है और अन्य मन्त्रोंका छः लाखका। इनके ध्यान, पूजा आदि पूर्वोक्त षडक्षर मन्त्रके समान ही हैं। जिस साधकको भगवान्का जो लीला-विग्रह रुचे, उसीका ध्यान किया जा सकता है। भगवान् रामके रूपका वर्णन इस श्लोकमें बड़ा सुन्दर हुआ है—

दूर्वादलद्युतितनुं तरुणाब्जनेत्रं
हेमाम्बरं वरविभूषणभूषिताङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयकिशोरमूर्तिं
पूर्तिं मनोरथभुवां भज जानकीशम्॥

'भगवान् रामका शरीर दूर्वादलके समान साँवला

है, खिले हुए कमलके समान बड़े-बड़े नेत्र हैं। करोड़ों कामके समान अत्यन्त सुन्दर किशोर मूर्ति है। पीताम्बर धारण किये हुए हैं और अनेकों उत्तम आभरणोंसे उनके अंग-प्रत्यंग आभूषित हैं। वे सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं और माँ जानकी-के जीवनधन हैं। हम प्रेमपूर्वक उनका ध्यान कर रहे हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णके सैकड़ों मन्त्र प्रसिद्ध हैं। यहाँ केवल कुछ गिने-चुने मन्त्रोंकी ही चर्चा की जायगी। श्रीकृष्णका दशाक्षर मन्त्र बड़े ही महत्त्वका माना जाता है। दशाक्षर-मन्त्र है 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'। परन्तु इसके पूर्व क्लीं जोड़नेका विधान है तथा बिना प्रणवके कोई मन्त्र होता ही नहीं। इसलिये जपके समय 'ॐ क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा', इस प्रकार जप करना चाहिये। प्रातःकृत्य, वैष्णवा-चमन आदि करके इस मन्त्रका विशेष प्राणायाम करना चाहिये। इस मन्त्रका प्राणायाम दो प्रकारका होता है—एक तो क्लींके द्वारा और दूसरा दशाक्षर मन्त्रके द्वारा। दोनोंके नियम पृथक्-पृथक् हैं। एक बार क्लींका उच्चारण करके दाहिनी नासिकासे वायु निकाल दे फिर सात बार जप करते हुए वायुको बायीं नाकसे खींचे, बीस बार जप करनेतक वायुको रोक रखे और फिर एक बार उच्चारण करके बायीं नाकसे वायु छोड़ दे। फिर दक्षिणसे पूरक, दोनोंसे कुम्भक एवं दक्षिणसे रेचक इस प्रकार तीन प्राणायाम करे। यदि मन्त्रसे ही प्राणायाम करना हो तो २८ बार पूरक, कुम्भक, रेचक करना चाहिये।

इस मन्त्रके ऋषि नारद हैं, छन्द गायत्री है और देवता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसका बीज क्लीं है और स्वाहा शक्ति है। इनका क्रमशः सिर, मुख, हृदय, गुह्य और पादमें न्यास करना चाहिये। मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गा है। जप प्रारम्भ करनेके पूर्व उसका स्मरण और नमन कर लेना चाहिये। इसमें न्यासकी विधि बहुत ही विस्तृत है। संक्षेपसे मूर्ति-पञ्जरन्यास जो कि ॐ नमो भगवते वासुदेवाय मन्त्रको विधिमें लिखा गया है, कर लेना चाहिये। ॐ गों नमः, ॐ पीं नमः, ॐ जं नमः इस प्रकार मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके साथ ॐ और नमः जोड़कर हृदय, सिर, शिखा, सर्वाङ्ग, दिशाएँ, दक्षिण पार्श्व, वाम पार्श्व, कटि, पीठ और मूर्धामें न्यास कर लेना चाहिये। इसका पंचांगन्यास निम्न लिखित है—

ॐ आचक्राय स्वाहा हृदयाय नमः।
ॐ विचक्राय स्वाहा शिरसे स्वाहा।
ॐ सुचक्राय स्वाहा शिखायै वषट्।
ॐ त्रैलोक्यरक्षणचक्राय स्वाहा कवचाय हुम्।
ॐ असुरान्तकचक्राय स्वाहा अस्त्राय फट्।

इसके पश्चात् द्वादशाक्षरमन्त्रोक्त किरीट, केयूरादि मन्त्रसे व्यापकन्यास करके ॐ सुदर्शनाय अस्त्राय फट्, इससे दिग्बन्ध करके सम्पूर्ण बाधा-विघ्ननिवारक अपने चारों ओर रक्षकरूपसे स्थित चक्रभगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये। इसके बाद ध्यान करना चाहिये।

रमणीय श्रीवृन्दावनधाममें कमलनयन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण प्रेममूर्ति गोपकन्याओंको बाँसुरी बजा-बजाकर अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। गोपकन्याओंकी आँखें उनके सुन्दर साँवरे मुखकमलपर लगी हैं और भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये उनका हृदय उत्सुक हो रहा है। वे इतनी प्रेममुग्ध हो गयी हैं कि उन्हें अपने तन-बदनकी सुधि नहीं है, गला रुँध गया है, बोलतक नहीं सकतीं। उनके शरीरके आभूषण जगमगा रहे हैं, वे जब प्रेमगर्भित दृष्टिसे मुस्कराकर श्रीकृष्णकी ओर देखती हैं तो उनके लाल-

लाल अधरोंपरसे दाँतोंकी उज्ज्वल किरणें नाच जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्णका मुख चन्द्रमाके समान खिले हुए नीले कमलके समान शोभायमान हो रहा है। सिरपर मुकुटमें मयूरपिच्छ लगा हुआ है, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और कौस्तुभमणि पहने हुए हैं। उनके सुन्दर शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है और शरीरकी ज्योतिसे उनके दिव्य आभूषणोंकी कान्ति भी मलिन पड़ रही है। वे बड़े ही मधुर स्वरसे बाँसुरी बजा रहे हैं। गौएँ एकटकसे उन्हें देख रही हैं। एक ओर ग्वाल-बाल घेरे हुए हैं तो दूसरी ओर गोपियाँ भी अपने नेत्रकमलोंसे उनकी पूजा कर रही हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्णका हम निरन्तर चिन्तन करते रहें।

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

मानस पूजा और सम्भव हो तो बाह्य पूजा करनेके पश्चात् मन्त्रका जप करना चाहिये। इसका अनुष्ठान दस लाखका होता है। उसका दशांश हवन आदि। इतना स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जो बातें लिखी जा रही हैं वे बहुत ही साधारण संक्षिप्त और नित्यपूजाकी हैं। जिन्हें बृहत् अनुष्ठान करना हो वे किसी जानकारसे पूरी विधि जान लें तो बहुत ही अच्छा हो। यों तो भगवान् श्रीकृष्णके मन्त्रजपसे लाभ-ही-लाभ है।

(७)

श्रीकृष्णदशाक्षरमन्त्रके साथ श्रीं, ह्रीं, क्लीं, जोड़ देनेपर त्रयोदशाक्षर मन्त्र बन जाता है। इन तीनोंको भिन्न-भिन्न क्रमसे जोड़नेपर त्रयोदशाक्षर मन्त्र तीन प्रकारका हो जाता है; यथा—

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।
ॐ क्लीं ह्रीं श्रीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

इन तीनोंकी विधि पूर्वोक्त दशाक्षर मन्त्रकी भाँति ही है। ऋषि नारद, छन्द विराट गायत्री और श्रीकृष्ण देवता। बीजशक्ति और मन्त्राधिष्ठात्री देवता पूर्ववत्। इनका अनुष्ठान पाँच लाखका ही होता है। ये मन्त्र सर्वार्थसाधक, भगवत्प्रसादजनक और महापुरुषोंके द्वारा अनुभूत हैं। श्रद्धा-विश्वासके साथ इनमें लग जानेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है। इन मन्त्रोंका ध्यान भी दशाक्षर मन्त्रके समान ही करना चाहिये। किसी-किसीके मतसे दूसरे और तीसरे मन्त्रोंके ध्यान भिन्न प्रकारके हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका चिन्तन होना चाहिये। पूर्वोक्त ध्यानपर ही अधिकांश लोग जोर देते हैं।

(८)

गोपालतापनी उपनिषद्का अष्टादशाक्षर मन्त्र तो बहुत ही प्रसिद्ध सिद्ध मन्त्र है। वह है 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'। प्रातः-कृत्यसे लेकर सम्पूर्ण क्रियाकलाप करके ऋष्यादिन्यास करना चाहिये। इसके भी ऋषि नारद हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। क्लीं बीज और स्वाहा शक्ति है। पूरे मन्त्रका उच्चारण करके तीन बार व्यापकन्यास कर लेना चाहिये। इसका करन्यास निम्नलिखित है—

ॐ क्लीं कृष्णाय अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः।
ॐ गोविन्दाय तर्जनीभ्याम् स्वाहा।
ॐ गोपीजन मध्यमाभ्याम् वषट्।
ॐ वल्लभाय अनामिकाभ्याम् हुम्।
ॐ स्वाहा कनिष्ठाभ्याम् फट्।

इसी क्रमसे ॐ क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः आदि

अंगन्यास करके अष्टादशाक्षर मन्त्रसे सिरसे पैरतक व्यापकन्यास कर लेना चाहिये। फिर ॐ क्लीं नमः, ॐ कृं नमः, ॐ ष्णां नमः, इस प्रकार मन्त्रके प्रत्येक वर्णका सिर, ललाट, आज्ञाचक्र, दोनों कान, दोनों आँख, दोनों नाक, मुख, गला, हृदय, नाभि, कटि, लिंग, दोनों जानु और दोनों जंघोंमें न्यास कर लेना चाहिये। नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य और चरणोंमें मन्त्रके प्रत्येक पदके साथ नमः जोड़कर न्यास कर लेना चाहिये। इस मन्त्रमें अंगन्यासका क्रम करन्यास-के अनुरूप ही है। मूर्तिपञ्जरन्यास और किरीटन्यास पूर्व मन्त्रोंके अनुरूप ही इसमें भी होते हैं। ध्यान दशाक्षरमन्त्रवाला ही है। उसके पश्चात् मानस पूजा, बाह्य पूजा आदि करके जप करना चाहिये। इस मन्त्र-का अनुष्ठान बहुत ही शीघ्र फलप्रद होता है। इस मन्त्रके साथ ह्रीं और श्रीं जोड़ देनेपर यही मन्त्र बीस अक्षरका हो जाता है। केवल ऋषि नारदके स्थानमें ब्रह्मा हो जाते हैं और न्यासमें ह्रीं श्रीं क्लीं अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः इस प्रकार कहना पड़ता है।

नाविकके प्रति

(रचयिता—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)

नाविक ! तू भीषण लहरोंमें खेकर नैया क्यों लाया ?
सिन्धु अगम है, निर्जन बेला, इधर पड़ा तू भरमाया !
कठिन वेगसे तूफानोंके खरतर झोंके आते हैं।
आ-आकर वे तीक्ष्ण घातसे पाल फाड़ते जाते हैं।
टूटी नैया, छिद्र अनेकों, डगमग करती जाती है।
झोंके खा, नीरधिकी हलचलमें फिर गिरती जाती है।
कौन सम्हाले इसे, प्रखर गति उमड़ रही है जलधारा ?
कोसोंतक भी नहीं दीखता सागर क्षुब्ध किनारा !
कैसे तू भीषण धारामें अपनी नाव बचावेगा ?
जलसमाधिमें ही क्या नाविक तू अंतिम गति पावेगा ?
अपनी धुनमें तू मतवाला राग अलापे जाता है।
मरण और जीवनसे तुझको रहा नहीं अब नाता है।
मेरे कर्णधार ! कर जोड़ूँ, मेरी नाव सम्हाले जा।
हहर हिलोरोंकी हलचलमें कसकर डाँड़ सम्हाले जा !
हिया हमारा हठी हिलोरोंके गर्जनसे घबराया !
घहर-घहरसे, तूफानोंसे लहरोंके उर थहराया !
तेरे बिना कौन अवलम्बन कर्णधार ! अब मेरा है ?
तू विधि है, तू प्राण बचैया, तू स्वामी प्रभु मेरा है।
तेरे कुशल करोंमें किश्ती छोड़ दिया अब तू जाने।
इसे डुबा दे, पार लगा दे अब जैसा मनमें ठाने !

कृपालु संत-महात्मा और विद्वानोंसे प्रार्थना

मानसांक

आगामी जुलाईमें 'कल्याण'का बारहवाँ वर्ष समाप्त होगा। भगवान् जो चाहते हैं करवाते हैं, वही होता है। बिना किसी सोची हुई योजनाके भगवान्की प्रेरणासे—उनकी इच्छासे अबतक ऐसे विभिन्न प्रकारके संयोग मिलते गये, जिनसे उत्तरोत्तर 'कल्याण' का प्रचार बढ़ता रहा। भगवान्ने स्वयं ही अपनी ही शक्तिसे, जिस ढंगसे उन्होंने उचित समझा, अपनी पूजा करवायी। अब आगे वे किस रूपमें पूजा कराना चाहते हैं, वे ही जानें। वे जैसा जो कुछ चाहते हैं वही होता है, जो चाहेंगे वही होगा। मनुष्य तो मिथ्या ही अभिमान करके सफलतामें फूल उठता है और असफलतामें विषादग्रस्त हो जाता है। इस समय 'कल्याण' ३७५०० छपता है। और भारतके प्रत्येक प्रान्तमें इसका प्रचार है। इस बातको पाठकगण जानते हैं।

इस बार तेरहवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीमानसांक' निकालनेका निश्चय हुआ है। गोस्वामीजी श्रीतुलसीदासजीका रामचरितमानस हिन्दीमें अभूतपूर्व ग्रन्थ है। यह सभी जानते हैं। गीताप्रेससे रामायण-का एक संस्करण निकालनेका आयोजन बहुत समयसे हो रहा है। अब वह कार्य प्रायः पूरा हो चला है। गीताप्रेससे रामायणका वह संस्करण शीघ्र ही निकलनेवाला है। उसमें विस्तृत भूमिका, पाठभेद, पाठनिर्णय कारणसहित आदि सभी विषय रहेंगे। उसकी सूचना यथासमय दी जायगी। 'कल्याण' के इस 'मानसांक'में निम्नलिखित विषय रहेंगे।

१. श्रीरामचरितमानसके पात्रोंपर महात्माओंके और विद्वानोंके लेख।
२. श्रीरामचरितमानसकी विशेषताएँ प्रदर्शित करनेवाले लेख।
३. श्रीरामचरितमानसके आधारपर पूजापद्धति, मानसके अनुष्ठान आदिका विवरण।
४. श्रीरामचरितमानस सम्पूर्ण मूल और हिन्दी टीकासहित।
५. श्रीरामचरितमानससम्बन्धी रंगीन और सादे चित्र।

छपाईका काम शीघ्र ही आरम्भ होनेवाला है। इसलिये लेख भेजनेवाले महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये। लेख आगामी वैशाख शुक्ल १५ से पहले-पहले आ जाने चाहिये। लेख कागजकी एक पीठपर हाँसिया छोड़कर लिखना चाहिये। लेख चार पृष्ठसे अधिकका नहीं होना चाहिये।

लेख-सूची

१. मानसके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श।
२. ,, श्रीभरतजीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श।
३. ,, श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श।
४. ,, श्रीशत्रुघ्नजीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श।

५. मानसके अनुसार श्रीदशरथजीके चरित्रसे शिक्षा ।
६. ,, श्रीजनकजीके चरित्रसे शिक्षा ।
७. ,, श्रीकौसल्याजीके चरित्रसे शिक्षा ।
८. ,, श्रीकैकेयीजीके चरित्रसे शिक्षा ।
९. ,, श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श ।
१०. ,, श्रीविभीषणजीके चरित्रका महत्त्व और आदर्श ।
११. रामचरितमानसके अन्याम्य पात्रोंके चरित्र और उनका महत्त्व ।
१२. रामचरितमानसका दार्शनिक सिद्धान्त ।
१३. रामचरितमानसका भक्ति सिद्धान्त ।
१४. रामचरितमानसके अनुसार अवतारका स्वरूप ।
१५. रामचरितमानसके अनुसार रामायणकालीन भूगोल ।
१६. रामचरितमानसके कविकी पूर्णता ।
१७. रामचरितमानसमें शुद्ध शृंगार ।
१८. रामचरितमानससे राष्ट्रनिर्माणका कार्य ।
१९. जगत्‌के साहित्यमें रामचरितमानसका स्थान ।
२०. हिन्दी साहित्य और रामचरितमानस ।
२१. गोस्वामी तुलसीदासजीकी जीवनी ।

व्रजभूमिमहिमा

(रचयिता—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल "सिरस")

पूँछै पुनीतनको सब तीरथ पुन्य पुरी परमान बखानै ।
वेद पुरानहु शास्त्र सबै मन शुद्ध करो अस गावत गानै ॥
है व्रजभूमिहि ऐसी भली छली चोर चवाइनको भल जानै ।
चीर चुरायो जहाँ हरिहू तहँ "श्रीरस" पापिहि पापी को मानै ॥
काम तमाम कियो मम काम न राम जप्यों कबहूँ उठि भोरसों ।
द्वेष न लेस छुट्यो मनको मनमोहनको चितयों नहिं कोरसों ॥
भक्ति न ज्ञान विराग न राग रँगो हिय रंग विपै नहिं थोरसों ।
"श्रीरस" है हरि-चोर-महा व्रजमैं मिलिहै चलि माखनचोरसों ॥

Regd. No. A. 1724.

शरीर-नगर

महर्षियोंने शरीरको नगर बतलाया है। बुद्धि उसकी स्वामिनी और मन उस बुद्धिका मन्त्री है। इन्द्रियाँ उस नगरकी प्रजा हैं, ये बुद्धिके भोग करनेके लिये कार्य करती हैं। इस नगरमें रज और तम नामके दो दोष भी रहते हैं। बुद्धि, मन और इन्द्रिय आदि नगरनिवासी इन दोषोंके कारण सुख-दुःख भोगते हैं। राजस और तामस अहंकार अनुचित मार्गमें पैदा हुए सुख-दुःखका आश्रय करते हैं। इस नगरमें बिगड़े हुए मनरूपी मन्त्रीके साथ मिलकर बुद्धिरूपी स्वामिनी भी दूषित हो जाती है और इन्द्रियाँ, उस बिगड़े मनके डरसे, चञ्चल हो उठती हैं। दूषित बुद्धि जिस विषयको हितकर समझती है वह विषय अनिष्ट फल देकर नष्ट हो जाता है और मन उस नष्ट वस्तुको याद कर-करके बहुत ही दुखी होता है। मनके दुखी होनेपर बुद्धि पीड़ित होती है और बुद्धिके पीड़ित होनेपर आत्माको दुःख होता है। सारांश यह कि मन ही रजोगुणके साथ मित्रता करके, आत्मा और इन्द्रिय आदि समस्त नगरनिवासियोंको दुःखमें डाल देता है। इसलिये इस मनसे सदा सावधान रहना चाहिये और इसे रज-तमसे नहीं मिलने देना चाहिये। (भगवान् व्यास)

वर्ष
१२

अंक
११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३७६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कृपाकर ग्राहकनंबर नोट करना न भूलें।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें हम बार-बार प्रार्थना करते आये हैं कि वे अपना-अपना ग्राहकनंबर नोट कर लें और पत्रव्यवहार करते या रुपया भेजते समय अवश्य लिखें परन्तु अब भी कई पत्र और मनीआर्डर बिना ग्राहकनंबरके आते हैं। अतः हमारी पुनः-पुनः विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनंबर जो "कल्याण" के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है अवश्य नोट कर लें और पत्रव्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें।

मैनेजर, 'कल्याण'

ग्राहक नंबर

कल्याण ज्येष्ठ संवत् १९९५ की

विषय-सूची

मानसांकके लेखक—

[मानसांकमें लिखनेके लिये जिन सज्जनोंसे खास तौरपर अनुरोध किया गया है, और जिनके लेख आनेकी सम्भावना है, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—]

स्वामीजी श्रीउड़ियाबाबाजी, स्वामी श्रीअवधविहारीदासजी परमहंस, स्वामी श्रीएकरसानन्दजी महाराज, स्वामी श्रीहरिबाबाजी, स्वामी श्रीरामदेवजी, पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी, महात्मा बालकरामजी, श्रीजयरामदासजी दीन, महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथजी झा, डा० भगवानदासजी, श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी, श्रीभूषणजी महाराज, श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी, पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदासजी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, राय श्रीकृष्णदासजी, पं० पीताम्बरदत्तजी बड़थ्वाल, श्रीजयदयालजी गोयन्दका आदि।

'वेदान्ताङ्क'
सहित
गत वर्षकी पूरी फाइल खरीदिये।

कल्याणके विशेषाङ्कोंमें 'वेदान्ताङ्क' अपना खास स्थान रखता है। इसमें दो खण्ड हैं। श्रावणमासके पहले खण्डके ६२८ पृष्ठोंमें वेदान्तके बहुत गूढ़ विषयोंका अनेकों प्रकारसे वर्णन है और बड़े-बड़े महात्माओंने तथा विद्वानोंने वेदान्तके सारको समझाया है। भाद्रपदके दूसरे खण्डमें कुछ बहुत अच्छे लेखोंके अतिरिक्त वेदान्तको माननेवाले कई सम्प्रदायके आचार्योंका और उनके पीछेके विद्वानोंकी जीवनी और उनके सिद्धान्तोंका परिचय है। इनमें वेदान्तके प्राचीन आचार्य बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, जैमिनि, काश्यप, वेदव्यास; शंकरसे पूर्वके आचार्य भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, टंक, ब्रह्मदत्त, भारुचि, सुन्दरपाण्ड्य; अद्वैतसम्प्रदायके आचार्य सर्वश्री गौडपादाचार्य, गोविन्दाचार्य, शंकराचार्य, पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, शंकरानन्द, विद्यारण्य, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष, अमलानन्द, श्रीचित्सुखाचार्य, आनन्दगिरि, भट्टोजि दीक्षित, सदाशिवेन्द्र, मधुसूदन सरस्वती आदि ४४ आचार्योंका; विशिष्टाद्वैतवादके सर्वश्री बोधायन, ब्रह्मनन्दी, द्रमिडाचार्य, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, देवराजाचार्य, वेंकटनाथ आदि २३ आचार्योंका; शिवाद्वैतवादके श्रीश्रीकण्ठाचार्य आदिका; द्वैतवादके सर्वश्री मध्वाचार्य आदि आठ आचार्योंका; द्वैताद्वैत या भेदाभेदमतके सर्वश्री निम्बार्काचार्यादि आठ आचार्योंका; शुद्धाद्वैतवादके सर्वश्री विष्णुस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्योंका और अचिन्त्यभेदाभेदके श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरूप गोस्वामी आदि पाँच आचार्योंका—यों लगभग सौसे ऊपर बहुत बड़े-बड़े संतोंका वर्णन और सिद्धान्त आया है। इनमेंसे बहुतोंका वर्णन संत-अंकमें नहीं आया है। इसके सिवा बहुत उत्तम-उत्तम तिरंगे ५४, दोरंगा १ और इकरंगे १३६ चित्र हैं, जिनमें अनेकों संतोंके हैं।

इन दो अंकोंके अलावा दस अंक और हैं, जो सभी संग्रहणीय हैं। इस फाइलको लेनेसे संत-अंकमें नहीं आये हुए बहुत-से संतोंका बहुत सुन्दर वर्णन पढ़नेको मिल जायगा। कीमत पूरे फाइलकी अजिल्द ४≡) सजिल्दकी ५≡) है। अवश्य मँगाना चाहिये। केवल वेदान्ताङ्कका मूल्य ३) है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर
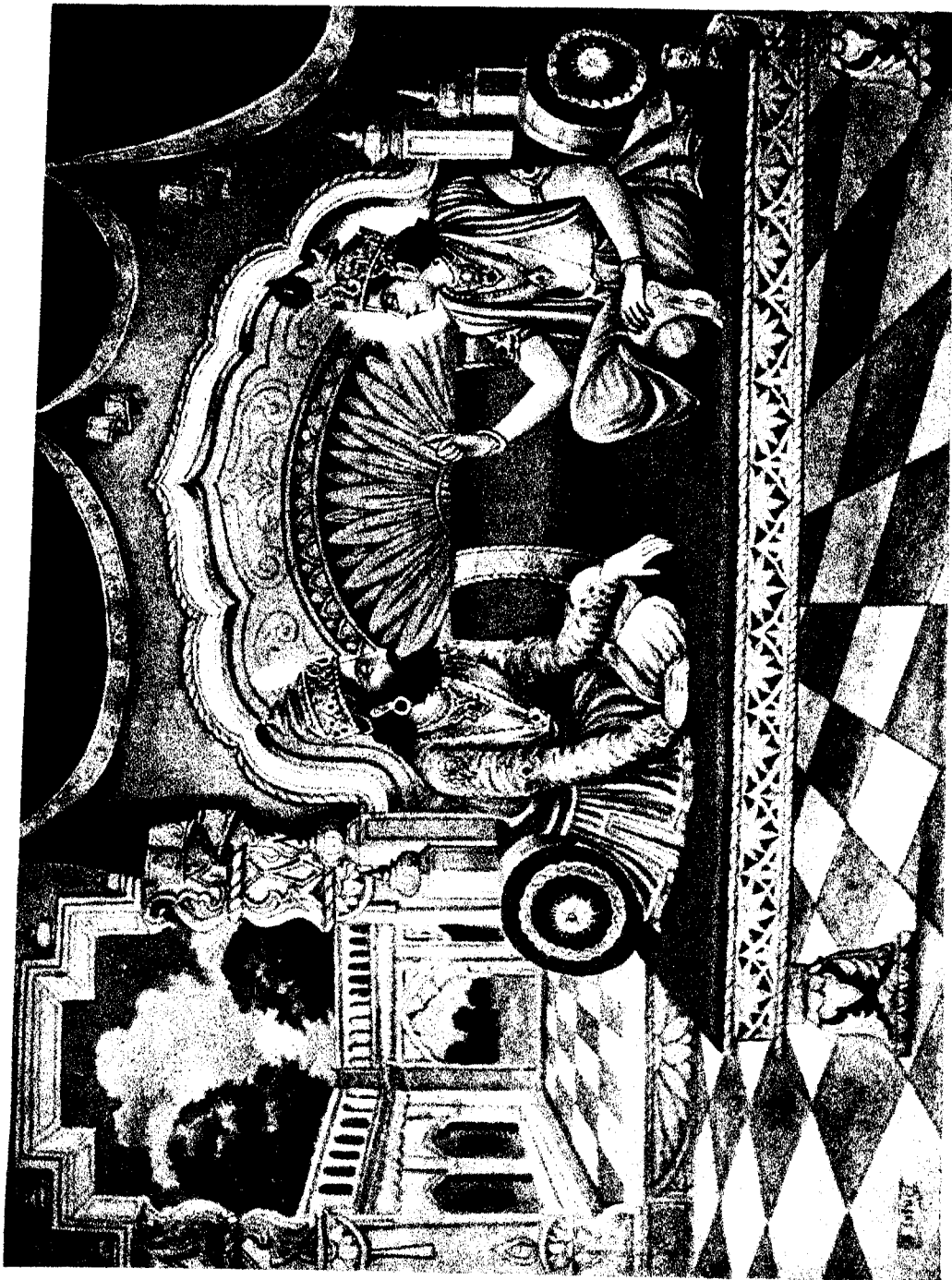
अक्रूरजीको हस्तिनापुर भेजना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
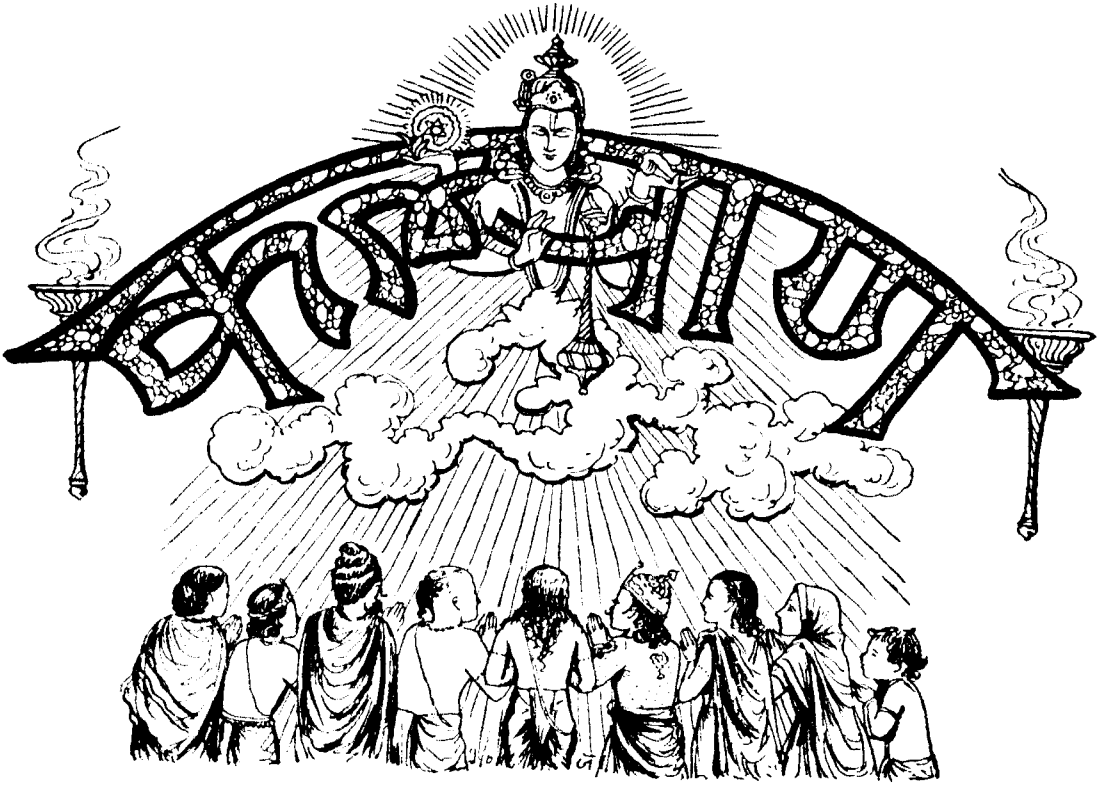
ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः ।
दैवीभूतिविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, ज्येष्ठ १९९५, जून १९३८ { संख्या ११
पूर्ण संख्या १४३

आयुका व्यर्थ नाश

मन रे तू भूल्यो जनम गमावै ।
खबर न परी तोहि सिर ऊपर काल सदा मँडरावै ॥ १ ॥
खान-पान अटक्यो निसिबासर जिह्वा लाड लडावै ।
गृह-सुख देख फिरत फूल्यो-सो सुपने मन भटकावै ॥ २ ॥
कै तूँ छाँडि जायगो इनको कै तुँहिं यही छुडावैं ।
ज्यों तोता सेंबरपर बैठ्यो हाथ कछू नहिं आवैं ॥ ३ ॥
मेरी मेरी करत बावरे आयुष वृथा गमावै ।
हरि-सो हितू बिसार विषय-सुख-विष्ठा चित मन भावै ॥ ४ ॥
गिरधरलाल सकल सुखदाता सुन पुरान श्रुति गावै ।
सूरदासबल्लभ उर अपने चरनकमल चित लावै ॥ ५ ॥

—सूरदासजी

मानापमानको समान समझनेवाले ही मुक्ति पाते हैं

जो स्तुति और निन्दाको समान समझते हैं वे दूसरोंकी की हुई स्तुति या निन्दा किसीको क्यों कहेंगे ? विवेकवान् पुरुष शत्रुद्वारा निन्दित होनेपर भी उसकी निन्दा नहीं करते और मारनेके लिये उद्यत मनुष्यको भी मारनेकी इच्छा नहीं करते; वे बीती हुई और आनेवाली बातोंका सोच न करके वर्तमान आवश्यक कार्योंको करते हैं। कभी मिथ्या प्रतिज्ञा नहीं करते। पूजाका समय उपस्थित होनेपर व्रत-निरत होकर श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। यथासाध्य धन खर्च करते हैं। सदा क्रोधको और इन्द्रियोंको जीते रहते हैं। मन, वचन और शरीरसे न तो किसीका बुरा करते हैं और न किसीकी समृद्धि देखकर जलते हैं। जो लोग किसीकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते वे अपनी निन्दा या प्रशंसाकी भी परवा नहीं करते। सब प्राणियोंका हित चाहनेवाले शान्त-बुद्धि पुरुष ही हर्ष, क्रोध और अपकारको छोड़कर जीवको शरीरसे भिन्न समझते और बड़े सुखसे विचरते हैं। जिसका कोई शत्रु या मित्र नहीं है और जो स्वयं भी किसीका मित्र या शत्रु नहीं है वह बड़े ही सुखसे रहता है। जो धर्मज्ञ होकर धर्मके अनुसार चलता है वह सर्वदा सन्तुष्ट रहता है और जो धर्मके मार्गको त्याग देता है वह दुःख भोगता है। मैंने धर्मके मार्गका अवलम्बन कर लिया है तो फिर मैं क्यों दूसरोंसे निन्दित होकर निन्दा करनेवालोंसे द्वेष करूँ और प्रशंसा करनेवालोंपर प्रसन्न होऊँ ? जो मनुष्य जिससे जिस वस्तुके पानेकी इच्छा करता है उससे उसको वही मिलती है। मुझे किसी मनुष्यसे कोई ईर्ष्या नहीं है। प्रशंसा या निन्दासे न तो मेरा कुछ लाभ है न हानि ही। तत्त्वदर्शी लोग अपमानित होकर अपमानको अमृतके समान समझकर सन्तुष्ट होते और सम्मानित होनेपर सम्मानको विष-तुल्य समझकर घबरा उठते हैं। जिन महात्माओंमें एक भी दोष नहीं होता वे अपमानित होनेपर भी सुखी रहते हैं; किन्तु जो मनुष्य उनका अनादर करते हैं वे बेचैन हो जाते हैं। जो महात्मा परमगति प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी इच्छा इन्हीं नियमोंका पालन करनेसे पूरी होती है। जितेन्द्रिय मनुष्य निष्काम होकर, शास्त्रके अनुसार, सब यज्ञोंका अनुष्ठान करके उस दुर्लभ ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं जिसको देवता, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस कोई भी नहीं प्राप्त कर सकते। (महर्षि जैगीषव्य)

नाम-साधना

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

१—नामका उद्गम

अर्द्धरात्रिकी निस्तब्धतामें स्पष्टतः दूरसे आनेवाला वंशी-रव सुनायी पड़ता है। उषाकालकी शान्तिमें पक्षी आनन्दपूर्वक चहचहाते हैं। इसी प्रकार, जब प्रबल कामनाएँ, मनके संकल्प-विकल्प, और दौड़-धूप शान्त हो जाती हैं तथा भावनाप्रवण मन अन्तःकरणमें स्थिर हो जाता है, मनुष्यको शान्तिकी उषाका अनुभव होता है और अन्तरसे एक सामञ्जस्यात्मक ध्वनि आती है—'मैं हूँ ! मैं हूँ ! ॐ, ॐ !' यही मन्त्र, नाम, शब्द-ब्रह्म है जिससे सम्पूर्ण वेदोंका आविर्भाव हुआ है और विश्वकी सब बोली एवं लिखी जानेवाली भाषाओंने जन्म लिया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।

उपनिषद्की घोषणा है कि 'ओम् एक अक्षर—अविनाशी—ब्रह्मका प्रतीक है। इस जगत्की सब वस्तुएँ उसीकी अभिव्यक्तियाँ हैं।' जब मनकी स्थिरतामें मनुष्यकी वाक्चटुल जिह्वा शान्त हो जाती है, जब चञ्चल विशृङ्खल मन हमारी सत्ताके हृदय अथवा केन्द्रमें दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाता है और जब पवित्र हो गये हृदयका आत्मा अथवा अन्तःवासीके साथ स्वरैक्य हो जाता है तब यह वाणी सुन पड़ती है—'मैं हूँ ! मैं हूँ ! ओम् । मैं हा सत्य हूँ; मैं तुम्हारी वास्तविकता हूँ।' शान्तिकी इस नम्र वाणीके द्वारा हृदयवासीके साथ सम्भाषण करना ही सर्वोच्च नाम-साधना है। वह भगवन्नाम है और वह स्वेच्छापूर्वक नामका जप करता है। हमें केवल जाग्रत् और नामके प्रति चैतन्य रहना है। वह नाम हमें दिन-प्रतिदिन पवित्र करता और हमारे सत्यकी गहराईमें ले जाता है। मुरलीका रहस्यपूर्ण नाद हमारे मनको मुग्ध कर लेता और उस मुरलीधरकी ओर हमें खींच ले जाता है जो हमारा स्वामी है। जिनके पास इस विमुग्धकारी अन्तर्मुरलीको श्रवण करने और स्वयं अपनी सत्ताके अन्तरतरमें इसका अनुगमन करने योग्य स्थिर शान्ति है, वे धन्य हैं। ईश्वरीय सत्तामें उनकी ही आनन्दपूर्ण स्थिति है।

२—साधना

मनको उसकी स्वाभाविक चञ्चलतासे विमुक्त कर हृदयमें दृढ़तापूर्वक स्थापित करना निश्चय ही एक अत्यन्त कठिन कार्य है। मन आकाश, पृथ्वी और समुद्रसे भी अधिक विशाल है; यह सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश और समुद्रको एक क्षणमें माप सकता है और इसके विचार एवं अशान्त अनुभूतियाँ तूफ़ानी लहरोंसे अधिक चञ्चल एवं तूफ़ानी हैं। मन ही जीवात्मा—'अहंकार'—मैं और मेरा है। योगके विविध अभ्यास एवं धार्मिक यमादि इसी विद्रोही मनको वशमें करने और उसे अन्तरके राजाकी सेवामें समर्पित करनेके लिये हैं—वे 'मैं कौन हूँ' के शस्त्रसे मनकी चञ्चलताका अन्त करनेके लिये हैं। मन वहींसे उठता है जहाँसे श्वास या प्राण उठता है और वह श्वासके साथ ही शान्त हो जाता है। जहाँ अज्ञान एवं विभेदकारी मनका अन्त होता है वहाँ सत्यके सूर्यका उदय होता है। जब मन अपने अहंकारका प्रतिपादन करता है तब सब प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ उसके साथ आती हैं। इसीलिये श्रीकृष्णने इतनी स्पष्टतासे कहा है—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।

... ...

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
... ...

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
... ...

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

'मनको वशमें कर और चित्तको मुझमें नियोजित कर। (मैं तेरा अन्तःसत्य हूँ) । योगके द्वारा मुझमें केन्द्रित हो।····जिस प्रकार वायु-विघ्नसे रहित दीपक स्थिर ज्योतिसे जलता है उसी प्रकार आत्मयुक्त—आत्मामें स्थिर—योगीके जीते हुए चित्तकी दशा होती है।····इसलिये संकल्प-जनित सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जा। ये कामनाएँ बड़ी विघ्नकारी हैं। उन्हें पूर्णतः निर्मूल कर दे। निश्चय एवं दृढ़तापूर्वक मनको इन्द्रियोंसे अलग करके आत्मामें नियोजित कर। यह अस्थिर, चञ्चल मन जहाँ-जहाँ विचरता हो वहाँ-वहाँ उसे वशमें करके आत्मामें उसका निरोध कर।'

श्वास एवं मनके बीच वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वायु एवं तरङ्गोंमें है। इसीलिये अशान्त मनपर नियन्त्रण स्थापित करनेके लिये हठयोग एवं राजयोग-की साधनाएँ प्राणायामका विधान करती हैं। पूरक, कुम्भक और रेचकमें क्रमशः ४ : ८ : १६ के अनुपात-में ॐका उच्चार करना आदर्श प्राणायाम है। यदि प्रतिदिन कम-से-कम एक घण्टा इसे नियमितरूपसे किया जाय तो मनपर इसका निश्चित प्रभाव पड़ता है। किन्तु यदि उपयुक्त शिक्षकके तत्त्वावधानमें न किया जाय तो इस प्राणायाममें खतरे भी हैं।

मनको वश करनेका इससे अधिक प्रभावशाली उपाय, तीन प्रसिद्ध सूत्रोंको लेकर 'ज्ञान-विचार' करना है। ये सूत्र यों हैं—नाहम्=मैं यह नहीं हूँ। कोऽहम्=मैं कौन हूँ। सोऽहम्=मैं वह हूँ। जैसे नारियलकी गिरी या गूदा खानेके लिये उसके जटामय आवरणको हटाकर उसकी खोपड़ीको तोड़ना पड़ता है वैसे ही आत्म-विचारके इस मार्गका साधक सम्पूर्ण कामनाओं, संकल्पों एवं भावोद्वेगोंसे अपने मनको मुक्त कर लेता है; वह मानसिक अहंकारके कड़े छिलकेको, जो अनात्ममय है, तोड़कर अपनी वास्तविकता—सत्य—के गूदेतक पहुँचता है। विचारोंके रूपमें आनेवाले प्रत्येक विघ्नके प्रति वह जागरूक रहता है। फिर समय आता है जब सम्पूर्ण विचार-तरङ्गें शान्त हो जाती हैं। जैसे उदय होते हुए सूर्यके सम्मुख तारिका-मण्डल छिप जाता है वैसे ही आत्मानन्दरूपी सूर्यके उदय होते ही सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पका अन्त हो जाता है।

मनपर विजय प्राप्त करनेका एक दूसरा प्रभावशाली मार्ग संतोंका सत्संग है। आह, इस दुनियामें पवित्र संतोंका ऐसा समूह कहाँ है? वे भाग्यवान् व्यक्ति धन्य हैं जो सच्ची साधनावाले किसी ऐसे संतके सम्पर्कमें आते हैं जिसकी आध्यात्मिक अग्नि मानसिक कण्टकोंको जलाकर भस्म कर दे और शान्तिकी मुस्कानके साथ जीवको चुपचाप आत्मानन्द-के दिव्यदेशमें पहुँचा दे। ऐसे संत योगीके समक्ष थोड़ी देर बैठो, तुम उसके ज्योति-चक्रसे अपनेको विद्युन्मय होता हुआ अनुभव करोगे। ऐसे समय एक निस्तब्धता स्वतः तुमको वशीभूत कर लेती है; तुम बाह्य जगत्को भूल जाते हो; तुम्हारा मन हृदयमें गहरे और गहरे पैठता है; तुम अपने अन्तरमें किसी आनन्दमय वस्तुका निरीक्षण करते हो; तुम्हारा मन उसपर केन्द्रित हो जाता है और तुम अजाने ही ध्यानस्थ हो जाते हो। ऐसे महात्माके निरन्तर सत्संगमें रहकर तुम्हारा ध्यान अधिकाधिक अन्तःस्थ होता जाता है

और तुम दिन-दिन आन्तरिक शान्ति एवं आनन्दके प्रति जाग्रत् होते जाते हो। ज्वलित शक्तिसे पूर्ण संत अपने सम्पर्कमें आनेवाले सब सच्चे मुमुक्षुओंको अपने दैवी विद्युत्प्रवाहसे शक्तिपूर्ण एवं विद्युन्मय कर देता है।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

भगवान् कहते हैं—'संत मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ।' एक सच्चे संतके वातावरणमें रहनेसे आत्मामें परिपक्वता आती है।

३—ईश्वरीय नाम

ईश्वरत्वकी साधनाका दूसरा प्रभावपूर्ण मार्ग 'उसको' निरन्तर स्मरण करना, जोरसे अथवा चुपचाप उसके नामका जप करना है। प्रार्थना, माला फेरना (जप), नामोच्चार (भगवन्नाम-संकीर्तन) और मन्त्रोच्चार सबका ही मनुष्यके जीवन और विचारपर बड़ा पवित्र प्रभाव पड़ता है। जहाँ सच्चे भक्त भगवन्नाम और महिमाका गान करते हैं वहाँकी वायु दैवी विद्युत्प्रवाहसे परिपूर्ण होती है। भगवान् कहते हैं—'मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता, न योगियोंके हृदयमें रहता हूँ; मैं वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरी महिमाका गान करते हैं।' भगवन्नाम-स्मरणके इस मार्गके लिये सच्ची निष्ठा एवं आत्मार्पण, शुद्ध भक्ति और एकाग्रता आवश्यक हैं। नाम और रूपमें बहुत अन्तर हो सकता है और पूजाकी विधि भी भिन्न-भिन्न हो सकती है परन्तु वह, जिसको लेकर ये नामरूप हैं, अद्वैत है। वैसे प्रत्येक व्यक्तिका अपना 'इष्टदेव', निजी ईश्वर या देव है, जो उसकी अपनी प्रेम एवं भक्तिकी प्रवृत्तिको आकर्षित करता है।

सर्वोच्च देव, ईश्वर, एक सर्वव्यापक सत्ता है। वह नित्यानन्दपूर्ण शिव, सर्वव्यापक विष्णु, हृदयमोहक कृष्ण, सदाप्रसन्न राम, स्रष्टा ब्रह्मा, पवित्र शंकर, देवोंके सर्वोच्च स्वामी महेश्वर, नित्य पवित्र शुद्ध, जीवोंके रक्षक पशुपति, बुराइयों, दुःखों और शत्रुओंके नाशक रुद्र, सीमारहित अनन्त, प्रकाशमान भर्ग, पाप-विध्वंसक हर, भक्तजनोंके दुःखहरणकारी हरि, लक्ष्मीपति माधव, अमर अच्युत, विघ्नहरण विनायक, गणोंके स्वामी गणपति, महावीर वीरभद्र, नित्ययुवक कुमार, विश्व-रंगभूमिके स्वामी रंगनाथ, विश्वनृत्यके देव नटराज—मतलब यह कि हिन्दूपंथका प्रत्येक देवता परमेश्वरके एक वा अनेक गुणोंका मूर्तिमान् प्रतीक है। उसी (परमेश्वर) की विश्व-शक्ति अनेक रूपमें क्रीड़ा करती है। इसकी पूजा विविध नाम-रूपके साथ 'शक्ति' के रूपमें होती है। इस प्रकार वह रक्षिका उमा, जगन्माता अम्बिका, सर्वोच्च विश्व-शक्ति पराशक्ति, माता मा, सर्व वैभवोंकी दात्री लक्ष्मी, धनादिकी स्वामिनी इन्दिरा, महिमागायक भक्तोंकी रक्षा करनेवाली गायत्री, वाणी एवं विद्याकी देवी सरस्वती, काले रंगवाली काली, चण्डासुर (अहंकार) को मारनेवाली चण्डी, दुष्टोंको त्रास देनेवाली भैरवी, रूपमयी सुन्दरी, ईश्वरीय शक्ति चिन्मयी, शान्ति एवं ज्ञानकी सर्वोच्च देवी महेश्वरी। इस प्रकार प्रत्येक देवता एक विशेष तात्पर्य, एक गम्भीर अर्थ है और उस देव-विशेषकी निरन्तर पूजा-अर्चनासे हममें एक विशेष गुण आता है।

४—पूजा

विद्युत्प्रवाह एक ही है, दीपक अनेक हैं। ईश्वर एक है; उसकी अभिव्यक्तियोंके रूप अनेक हैं। मूर्तियाँ एवं मन्दिर अनेक हैं परन्तु इन सबमें ईश्वरीय, दैवी, चैतन्य एक ही है।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमिति।

'वह ऊपर, नीचे, सामने, पीछे है। वह दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिममें है। जो कुछ है सब वही है। वह सर्वत्र है।' यह छान्दोग्य उपनिषद्की घोषणा है। इसलिये कोई चाहे किसी देशका रहनेवाला हो, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय वा जातिका हो, उसे अपनी धारणाके अनुसार उसकी (ईश्वरकी) पूजा करनेका अधिकार है।

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें उसे उस क्षेत्रका ज्ञाता और प्रभु जानो—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

सूर्यमें, चन्द्रमें, तारिकाओंमें, अग्निमें, बुद्धिमें वह प्रकाश है। वह नवीना उषाकी मुस्क्यान है, वह नवीन कलियोंका मुस्कराहट है, वह योगी-हृदयकी शान्तिका सुन्दर हास्य है।

शरीरधारियोंके लिये जीवन या प्राणके स्वामी प्रभुके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रयस्थान नहीं है। आत्यन्तिक निष्ठा, प्रेम, आत्मार्पण एवं उपासनाकी पवित्रतासे वह दैवी विभूति आती है जो साधकको असत्यसे सत्यकी ओर, मानसिक अन्धकारसे आध्यात्मिक प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाती है। वह सत्य है, ज्ञान है, अद्वितीय है जिसका ज्ञान हमें करना है; वह एक और अनेक है। चाहे किसी नाम और किसी रूपमें उसकी पूजा करो, वह तुम्हारी प्रार्थना सुनेगा और तुम्हारी पुकारका उत्तर देगा।

परमहंस रामकृष्णने अपने हृदयकी सम्पूर्ण व्यग्रताके साथ पुकारा था—'मा! मा! ओम् काली!' उस (प्रभु) ने अपनेको जगत्की शक्ति कालीके रूपमें व्यक्त किया और संसारमें ऐसे महान् आध्यात्मिक पुनर्जागरणको लानेके लिये संतके अन्तरमें प्रवेश किया। महाराष्ट्र संत रामदासने उसे रामके रूपमें पूजा, कोटि-कोटि बार उसके नामका पारायण किया; उसके नामको अपने जीवनका श्वास बना लिया। उनकी मन्त्र-सिद्धिने राष्ट्र और धर्मकी रक्षाके लिये शिवाजीके रूपमें एक अद्भुत वीर पुरुषको जन्म दिया। गुरु गोविन्दसिंहने बड़ी भक्ति और एकाग्रतापूर्वक 'जय चण्डी' मन्त्रसे प्रभुकी पूजा की और ईश्वरीय शक्तिने उनको वह बल एवं अग्नि दी जिससे उन्होंने खालसा वीरोंके एक शक्तिमान् राज्यका निर्माण किया। नारायणरूपमें ईश्वरका ध्यानकर और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का पाठ करते हुए बालक ध्रुवने प्रभुके दर्शन पा लिये; इतना ही नहीं, उसे अपना न्यायपूर्ण राज्याधिकार भी वापिस मिल गया। प्रेम और भक्तिकी मूर्ति, महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने निम्नाङ्कित नाम-मन्त्रके द्वारा उसका गान एवं नृत्य करते हुए भक्तोंके हृदयको भावावेशके विद्युत्से परिपूर्ण कर दिया—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
यादवाय केशवाय गोविन्दाय नमो नमः॥

उनका प्रेम और हरिनाम आज भी देशके वातावरणमें तरंगायित है। भगवन्नामके प्रभावसे ही उन्होंने दुष्ट जगाई और माधाईको साधु बना दिया और वासुदेव सार्वभौम एवं प्रकाशानन्द-जैसे अभिमानी पण्डितोंको भगवान् श्रीकृष्णके प्रति आत्मार्पण करने एवं प्रेमका मार्ग ग्रहण करनेको राजी किया। उन्होंने हरिनामके विद्युत्-प्रवाहसे पूर्ण अपने आलिंगनसे धर्मनिष्ठ सनातनाचार्यका पुरातन चर्मरोग अच्छा कर दिया। हरिनामके प्रभावसे चैतन्यने मनुष्योंको अज्ञान और दुःखसे उठाकर प्रेम और उपासनाके आनन्द-तक पहुँचानेके दैवी कार्य किये। नाम-जपकी महिमा-से ही हरिदासने उस वेश्याको शान्तिपूर्वक विशुद्ध करके भक्त बना लिया जो उन्हें प्रलुब्ध करनेके लिये आयी थी। महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध संत कैलास-

वासी सिद्धारूढ़ने पञ्चाक्षरी (ॐ नमः शिवाय)के ध्यान एवं निरन्तर जपद्वारा ही आत्मानन्द प्राप्त किया था। केवल एक बार उनके दृष्टि मिलानेसे व्याघ्र और चीते-जैसे हिंसक जानवरोंको वह पालतू—वशमें—कर लेते थे। उन्होंने सम्पूर्ण गाँवको 'नमः शिवाय' मन्त्रसे प्रतिध्वनित कर दिया। अपनी धर्म-प्रचार-सम्बन्धी यात्राओंमें श्रीशंकराचार्य अपने भक्तोंके साथ सामूहिकरूपसे गाया करते थे—'साम्ब सदाशिव ! साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव ! साम्ब शिव !' वह सुप्रसिद्ध अच्युताष्टक भी गाया करते थे जो निम्नलिखित छन्दके साथ आरम्भ होता है—

'अच्युतं केशवं रामनारायणं
कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम् !'

पवित्र अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय)के ध्यान एवं जपसे ही नम्मलवरने वह परमानन्द प्राप्त किया जिससे उनके भावावेशसे पूर्ण भजन ओतप्रोत हो गये। 'राम'के ईश्वरीय नामका उलटा उच्चारण करते-करते एक डाकू अद्भुत महाकाव्य रामायणका लेखक वाल्मीकिमुनि बन गया। भगवन्नामके जादूभरे प्रभाव और उसके दैवी चमत्कारोंको जाननेके लिये इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये ? विश्वास करो, प्रेम करो और आत्मार्पण करो !

५—नाम ही रक्षक है

हे स्त्री-पुरुषो ! निस्सार वाग्जालका त्याग करो। इस दैवी पुकारके चरणोंमें आश्रय लेनेको दौड़ पड़ो—'हरे राम, हरे कृष्ण ! गोविन्द, मुकुन्द, हर, महादेव !' देवी पुकारके चरण पकड़ लो—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'हे मेरे परम प्रभु ! तुम्हीं माता हो, तुम्हीं मेरे पिता हो। तुम्हीं बन्धु और सखा हो। तुम्हीं विद्या और तुम्हीं धन-सम्पदा हो। तुम मेरे सर्वस्व हो।' ओ संसारकी हिंसापूर्ण भ्रान्तियोंसे पीड़ित मानवात्मा ! उसके चरणोंका त्याग मत कर। उस पवित्रतम प्रभुका शोध कर। सच्चे भक्त गाते हैं—'हरि, शिव, अल्ला, जिहोवा, शक्ति !' उसका जो नाम तुझे स्पर्श करे उसकी महिमाका गान कर। उसके पवित्र नामका जप कर, उसे गा, नृत्य कर और आनन्दकी धारामें बह जा ! उस भगवन्नामका बारम्बार स्मरण कर जो मानवात्माको अज्ञानके जटिल बन्धनोंसे मुक्त करता है। उसका नाम लेकर चोर और डाकू, दुश्चरित्र, वेश्या और पापी महात्मा और संत बन गये ! जीवन-के पीछे मृत्यु कालका खड्ग लेकर दौड़ी आ रही है ! दौड़ और प्रभुके पाँव पकड़ ले। अन्य सब आश्रय अहंकार हैं। भगवन्नाम ले; और सब बातें निस्सार, अहंकार हैं !

गृहोंमें दैवी वातावरण उत्पन्न करनेके लिये ही बच्चोंके नाम देवताओंपर रक्खे जाते हैं। जब एक माँ कहती है—'मेरे प्यारे गोपाल आओ ! मेरे राजा बेटा कृष्ण ! मेरे प्यारे हरि ! आओ, भोजन कर लो,' तब एक प्रकारके अज्ञात आनन्दका स्रोत उसके हृदयसे बह निकलता है। नाम स्वयं एक साधन और सन्देशका काम देता है। नारायण नामका आदमी यों सोचता है—मेरे माता-पिता मुझे नारायण कहते हैं; और लोग भी मुझे इसी नामसे पुकारते हैं। परन्तु मेरे अन्दर नारायण कौन है ? वह नारायण कहाँ है ? यदि इस शरीरकी मृत्यु हो जाती है तो मैं मृत कहा जाऊँगा, नारायण नहीं।

अतः नारायण अवश्य ही इस शरीरके अन्दर होगा। हाँ, मेरे हृदयमें किसी वस्तुका स्पन्दन है। जब कोई मेरा नाम पूछता है तब मैं वहाँ अपना हाथ रखकर कहता हूँ—'मैं नारायण हूँ।' इसलिये नारायण मेरे हृदयमें है। वह मेरे हृदयका ईश्वरीय तत्त्व है। यह वही (नारायण) है जो जिह्वाद्वारा भोजनका स्वाद लेता है, जो मेरी आँखोंद्वारा देखता है, मेरे फेफड़ोंद्वारा श्वास लेता है, मेरी इन्द्रियोंद्वारा अनुभव करता है, जो मेरे मस्तिष्कद्वारा चिन्तन करता और मेरे हृदयद्वारा प्रेम करता है। मैं नारायण बिना कुछ नहीं हूँ। मुझमें यह जो 'मैं' कहा जाता है वही वास्तविक नारायण है। 'ॐ नमो नारायणाय!' इस प्रकार स्वयं उसका नाम ही उसीके अन्दर स्थित दैवी केन्द्रकी ओर उसे ले जाता है। प्रत्येकको अपने देवार्थवाची नामके विषयमें इसी प्रकार सोचना चाहिये। आत्म-साक्षात्कारका यह एक शक्तिमान् साधन है।

६—अजामिल

मैं पवित्र भागवतकी एक कथा तुमको सुनाता हूँ। कान्यकुब्ज (कन्नौज) में अजामिल नामका एक व्यक्ति रहता था। वह उच्च कुलमें उत्पन्न हुआ था पर उसका जीवन और आचरण नीचतापूर्ण था। एक वेश्याके संसर्गसे उसका हृदय और मस्तिष्क दोनों पूर्णतः दूषित हो चुके थे। वह चोरी करके और जुआ खेलकर निर्वाह करता था। उसके दस बच्चे थे। सबसे अन्तिम लड़केको वह बहुत प्यार करता था और उसे 'नारायण' नामसे पुकारता था। उसे पुकारते समय वह एक अज्ञात आनन्दका अनुभव करता था। वृद्धावस्थामें जब उसका शरीर उसके पापोंके बोझसे चूर हो रहा था, यमके भयंकर दूत अपने फन्दे लिये हुए आये। उस समय उसने जोरसे अपने लड़केको पुकारा—'नारायण! नारायण!' यह उत्साहपूर्ण पुकार उसे नरक-यन्त्रणासे बचानेके लिये पर्याप्त थी। विष्णुके दूत अजामिलके जीवनकी रक्षाके लिये दौड़ पड़े। यमके दूतोंने अजामिलके प्राण लेने और यमके न्यायालयमें उपस्थित करके उसके पापोंके लिये दण्ड दिलानेपर जोर दिया पर विष्णुके दूतोंने उन्हें तर्कमें हटा दिया और कहा—

> **साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।**
> **वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥**

'विद्वानोंकी घोषणा है कि वैकुण्ठके स्वामी नारायणका नाम यदि संकेतसे, परिहासके साथ, प्रसंगवश अथवा अवहेलनाके साथ भी लिया जाय तो वह मनुष्यको सब पापोंसे मुक्त कर देता है।' इस प्रकार प्रभुके नामोच्चारसे अजामिलके सब पाप धुल गये और वह नरककी यन्त्रणा भोगनेसे बच गया।

७—नाम पवित्र करता है

भगवन्नाम वासनाओंसे पूर्ण मनको भी पवित्र करता है। एक संत थे जिनके कई शिष्य थे। ये सब शिष्य ब्रह्मचारी थे। ये अपने गुरुसे धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करते थे। 'नमः शिवायम्' नामका एक शिष्य अपनी काम-वासनाका नियन्त्रण नहीं कर सका। समीपके गाँवमें एक बदनाम स्त्री रहती थी। इस शिष्यका मन सर्वदा उसीकी ओर दौड़ा करता था। वह बिना उसका ध्यान किये श्वास भी नहीं ले सकता था। तात्पर्य यह कि वह प्रतिक्षण उसका ध्यान करता था। वह ठीक तरहसे अध्ययन और प्रार्थना न कर पाता था। गुरुको उसकी इस मोहाविष्टताका पता चला। एक दिन उन्होंने उसे एकान्तमें बुलाया और पूछा—'तुमको क्या हो गया है? तुम अपने अध्ययनकी ओर ध्यान क्यों नहीं दे रहे हो?'

शिष्य सत्यभाषी था। उसने गुरुसे कहा—'मेरे श्रद्धेय गुरुदेव! मुझे क्षमा कीजिये; मेरा मन एक स्त्रीके प्रति अनुरागसे भर गया है।'

'ओह! यह बात है? तुम्हें आकर्षित करनेवाली वह स्त्री कौन है?'

'वह एक वेश्या है। यह कहते मैं लज्जित हूँ···।'

'मेरे सामने सत्य कहनेमें कोई लज्जाकी बात नहीं। उसका नाम क्या है?'

'उसका नाम 'ज्ञानम्' है, गुरुदेव!'

'बहुत अच्छा! क्या तुम्हें उसकी ओरसे प्रेमका प्रतिदान मिला?'

'नहीं। वह बहुत धनवान् है। धनवान् लोग उसकी प्रीति पानेके लिये परस्पर स्पर्धा करते हैं। मैं दरिद्र हूँ ········।'

'प्यारे शिष्य! मैं इसकी व्यवस्था करूँगा कि 'ज्ञानम्' स्वतः स्वेच्छापूर्वक तुम्हारे पास आवे।'

'ओह! इससे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी। गुरुदेव! आप मेरे त्राता हैं। आप जो कहेंगे, मैं वही करूँगा।'

'अच्छा। आजसे एक कार्य अपनी सम्पूर्ण एकाग्रताके साथ करो। उस एकान्त कमरेमें बैठो; सम्पूर्ण विचारोंको छोड़ दो। यह माला लो और उससे दिनरात यह जप करो, जो मैं तुमको बतला रहा हूँ।'

'मैं आपकी शरणमें हूँ और आपकी आज्ञाका निष्ठापूर्वक पालन करूँगा।'

'और सब कुछ भूल जाओ! तुम्हारे लिये मैंने जो विशेष मन्त्र बनाया है उसका जप करो—'ओ ज्ञानम्! नमः शिवायम्के पास आ।' बस, इसे तबतक जपते रहो, जबतक वह तुम्हारे पास न आ जाय।'

शिष्य निष्ठापूर्वक मन्त्रका जप करने लगा।

प्रथम दिवस वह ज्ञानम् नामके भौतिक रूपमें लीन रहा। दूसरे दिन उसने एकाएक अपनेसे प्रश्न किया—'नमः शिवायम् कौन है और ज्ञानम् कौन है? क्या यह शरीर नमः शिवायम् है? क्या वह शरीर ज्ञानम् है? जड़ पदार्थ होनेके कारण शरीर शरीरको प्यार नहीं कर सकता। मेरे अन्दर कोई ऐसा है जो उसके अन्दरकी किसी वस्तुको प्यार करता है। यह 'कोई' कौन है? यह 'कोई' मेरा सत्य है। यह 'कोई' उस पदार्थका भी सत्य है जिसे मैं प्यार करता हूँ। इसलिये मेरे अन्दरका सत्य ही उसमें एक दूसरे रूपमें प्रकट हो रहा है। केवल रूपमें भेद है। अन्तःसत्य एक और अभिन्न है। जिसे मैं प्यार करता हूँ वह वही है जो मुझमें है; तब मैं अपने ही अन्दर उस प्रेमके आनन्दका स्वाद क्यों न लूँ? हाँ, ज्ञानम् नमः शिवायम्के पास आयी है। शिवायम् ही ज्ञानम् (ज्ञान) है; वह ज्ञाता भी है।' इस प्रकार वह चिन्तन करने लगा, यहाँतक कि वह अपनी ही आत्म-सत्तामें निमग्न हो गया। जब एक सप्ताहके पश्चात् गुरुने द्वार खोले तो उन्होंने देखा कि शिष्य आत्मचिन्तनमें सब कुछ भूल गया है और कभी-कभी उसके मुँहसे केवल 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' निकलता है। आनन्दाश्रु बह रहे हैं। गुरु समझ गये कि किस प्रकार शिष्यका चोला बिल्कुल बदल गया और कैसे उसके अन्तरमें एक अद्भुत ज्ञानका उदय हुआ। गुरुने पूछा—'प्रिय वत्स! क्या तुम्हें अपनी 'ज्ञानम्' को प्राप्त करनेमें सफलता मिली?' शिष्यने उत्तर दिया—'मैं स्वयं वह हूँ

और तुम भी वह हो।' यह कहकर वह निर्वाक्-समाधिमें डूब गया।

प्रत्येक धर्ममें एक मन्त्र ऐसा अवश्य है जिसे उसकी सम्पूर्ण शिक्षाओंका कल्याणकारी तत्त्व कह सकते हैं। जरथुस्त्रियों (पारसियों) के पास उनका 'अहुना वैर्या' है जिसके विषयमें कहा जाता है कि स्वयं अहुर मज़्दने जरथुस्त्रको ध्यानमें उसे अभिव्यक्त किया था। हिन्दूके पास प्रणव अर्थात् ॐ है जो सम्पूर्ण वेदोंका सार है। यह उस ईश्वरकी सर्वव्यापकताकी व्याख्या करता है जो सच्चिदानन्द है। इस्लाममें फातिहा है जिसमें सर्वशक्तिमान् प्रभुको कल्याणकारी और दयालु (बिस्मिल्लाह-अर-रहमान-अर-रहीम) कहा गया है। बौद्धोंके पास बुद्ध, संघ और धम्म नमस्कार है और उनके दैनिक मन्त्र ('नमो भगवतो अरहतो सम्म सम्बुधस्स') में परिपूर्ण, सर्वदर्शक बुद्धका आवाहन किया गया है। जैन लोगोंमें 'पञ्च नमस्कार' है जिसमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचकी पूजा है (ॐ, नमो अरहन्ताणम्, नमो सिद्धाणम्, नमो ऐरियाणम्, नमो उवज्झायाणम्, नमो लो सव्व साहुणम्)। यदि श्रद्धा और भक्तिके साथ पढ़ा जाय तो प्रत्येक मन्त्र हमें अन्तिम सत्यतक पहुँचा सकता है।

अब मैं एक छोटा दृष्टान्त देकर इस लेखको समाप्त करूँगा। इस दृष्टान्तसे सिद्ध होगा कि जिस धर्ममें जन्म हुआ उसका निष्ठापूर्वक पालन करनेसे एक चोर भी सम्राटोंकी पूजाके योग्य संत बन सकता है।

जैसे शैव एवं वैष्णव धर्ममें पवित्र संतोंकी अनेक कथाएँ हैं वैसे ही इस्लाममें भी उसके सूफ़ियोंकी भावपूर्ण कहानियाँ हैं।

भारतीय भक्तोंमें हम वाल्मीकि और नील अलवार-को पाते हैं। सूफ़ी संतोंमें फ़ज़ल अयाज़की कथा हमें आकर्षित करती है। फ़ज़ल एक डाकू सरदार था जो अरबके मरुस्थलसे पार होनेवाले कारवानोंको लूटा करता था। किन्तु उसके हृदयमें अल्लाहकी सच्ची लगन थी। और वह घंटों बैठकर प्रभुका नाम लेता और पवित्र क़ुरानकी आयतें गाया करता था। एक दिन जब वह सौदागरोंके एक गिरोहको लूट रहा था तब उनमेंसे एक सौदागरने उससे कहा—'क्या अभीतक निद्रासे तुम्हारे जागनेका समय नहीं हुआ?' यह संदेश उसके हृदयके भीतर पहुँच गया और उसने कहा—'हाँ, मैं अभी उठता हूँ।' उस समयसे उसने डाका डालना छोड़ दिया। उसने एक सूफ़ी संतसे आध्यात्मिक शिक्षा ली और स्वयं एक महान् संत बन गया। वह जोरसे ईश्वरका नाम लेते और इस तरह बिलख-बिलखकर रोते घर पहुँचा कि उसके पुत्रने पूछा—'पिता, क्या आप घायल हो गये हैं? आपको कहाँ चोट लगी है?' पिताने उत्तर दिया—'हाँ, प्यारे बेटे! मेरे दिलमें एक घाव हो गया है और मैं इसके इलाजके लिये मक्का जा रहा हूँ।' उसी वक्त उसने गृह त्याग दिया, मक्का चला गया और वहाँ एक फ़क़ीरकी भाँति रहने लगा। वह सारा समय प्रार्थना और ध्यानमें लगाता और प्रायः उपवास करता। ग्रीक दार्शनिक डायोजीनसकी भाँति वह भोग-विलाससे घृणा करता था। उस देशका बादशाह एक सच्चे संतकी खोजमें था। इस बादशाहका नाम हारून-अल-रशीद था। उसने फ़ज़ल अयाज़के विषयमें सुना और उसके दर्शनके लिये चल पड़ा। उसने अपने आगमनकी सूचना देनेके लिये पहलेसे ही एक मन्त्रीको संतके पास भेज दिया। जब मन्त्री वहाँ पहुँचा तो फ़ज़ल ध्यानस्थ था। मन्त्रीने दरवाजेको खटखटाया और आवाज दी—'ओ फ़क़ीर!

सुलतान तुमसे मिलनेको प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुरंत किवाड़ खोलो।' संतने उत्तर दिया—'फ़कीरको बादशाहसे क्या करना है? कृपया मुझे शान्तिपूर्वक अपना काम करने दीजिये।' बड़ी आरजू-मिन्नतके बाद उसने दरवाजा खोला और बादशाहको अन्दर आने दिया पर इसके पूर्व दीपक बुझा दिया जिससे जो आँखें ईश्वर-दर्शनकी अभ्यस्त हैं, शाही आभूषणों एवं वस्त्रोंकी ओर आकर्षित न हों। हारून बड़ी भक्तिके साथ संतके समीप गया और श्रद्धापूर्वक उसकी बात सुनी। संतकी शिक्षाका तत्त्व यह था कि 'अपने मनपर शासन करो।' विदा होते समय बादशाहने ढेर-की-ढेर अशर्फ़ियाँ संतको देनी चाहीं पर संतने सोनेको छूनेसे इन्कार किया। जो कुछ ईश्वरप्रेरित उसके पास आ जाता था वही खाकर वह रहता था और स्वयं किसीसे कुछ नहीं माँगता था। उसका प्रेम, श्रद्धा और आत्मार्पण परिपूर्ण एवं निर्दोष थे। उसके दो कुमारी कन्याएँ थीं। जब उसकी मृत्युका समय आया, उसकी पत्नीने अश्रुपूर्ण नयनोंसे पूछा—'मेरे स्वामी! आप तो जा रहे हैं मैं इन दोनों लड़कियोंका क्या करूँगी? कौन इनको आश्रय देगा?' एक गहरी नीरवप्रार्थनाके पश्चात् फ़ज़लने उत्तर दिया—'जब इस शरीरके रूपमें मैं न रह जाऊँ तो अपनी लड़कियोंको उस पहाड़पर ले जाना और अल्लाहसे जोरसे पुकारकर प्रार्थना करना—'हे सर्वशक्तिमान् अल्लाह! मेरे पतिकी मृत्यु हो गयी है। मैं असहाय हूँ। मेरी लड़कियोंको शरण दे।' पत्नीने ऐसा ही किया। संयोग ऐसा हुआ कि जिस समय पत्नी इस प्रकार विकल होकर ईश्वरसे प्रार्थना कर रही थी, पहाड़के नजदीकसे बादशाह गुजरा; उसको सारी बातें मालूम हुईं। उसने विधवासे कहा—'सर्वदयामय अल्लाहके नामपर मैं तुम्हारी लड़कियोंको अपने संरक्षणमें लेता हूँ।' वह उन लड़कियोंको अपने महलमें ले गया और अपने दो लड़कोंके साथ उनको ब्याह दिया। ईश्वरके प्रति आत्मार्पण एवं उसको प्रार्थनामें ऐसी अद्भुत शक्ति है।

ताव-तेह-चिंगकी वाणी है—"आदमीमें श्रद्धा होनी चाहिये और उसे शान्तिपूर्वक 'ताव' (ईश्वरत्व—चरमसत्य) की प्रतीक्षा करनी चाहिये।"

अपने हृदयकी सम्पूर्ण भावनाके साथ अपने अन्तरके ईश्वरका अनुगमन करो! उसे प्रत्येक वस्तुमें स्मरण करो; अपनी सत्ताके प्रत्येक परमाणुमें, जगत्के प्रत्येक स्थानपर उसकी उपस्थितिका अनुभव करो। स्मरण रखो कि सम्पूर्ण जगत् उसका आवास है—'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्।' उसे सदा किसी मन्त्र, किसी नामके द्वारा याद रखो। वह नाम तुम्हारी साधनाका पथदर्शक प्रकाश होगा। नाम तुम्हें उस-तक पहुँचा देगा जो सर्व नाम-रूप-गुणोंसे परे है।

निष्ठापूर्वक किसी भी पवित्र मार्गका अनुसरण करके हम उस अद्वितीय एकतक पहुँच सकते हैं जो सब मार्गोंका ध्येय है। उस एकको जानकर हम सम्पूर्ण जगत्को जान सकते हैं!

'यस्मिन्नेकस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

स्मरण-साधन

(लेखक—ब्र० स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज)

स्मरण क्या है ?

जब हम विचारद्वारा अपनी स्मरण-शक्तिकी जाँच करते हैं, तब उसमें अपनी जीवन-सत्ता ही पाते हैं। यदि हममें स्मरण है तो ज्ञान और जीवन भी है। स्मरण सिद्ध होनेपर ज्ञान एवं जीवनकी सिद्धि अपने-आप हो जाती है। जब हमें किसी वस्तुका स्मरण नहीं रहता तब यही कहना पड़ता है कि 'हम उस वस्तुको नहीं जानते।' और यह कहकर हम अपनी अज्ञानता ही दिखलाते हैं। परन्तु उस वस्तुका स्मरण होते ही उसका ज्ञान हमारे अन्दर उत्पन्न हो जाता है। अतः हमारी स्मरण-शक्ति ही हमारा ज्ञान अथवा जीवन है।

स्मरणका सम्बन्ध जिस प्रकार नामसे है, उसी प्रकार रूपसे भी है। परन्तु नाम नित्य है और रूप नामके साथ ही नित्य होता है। अर्थात् नामद्वारा जिस रूपकी धारणा होती है, वही सत्य धारणा है। जहाँ रूपके साथ नाम है, वहाँ वह रूपमें समाया हो है। इसी कारण प्रभु-भक्त राम-नाम और कृष्ण-नामका स्मरण ही हृदयमें धारण करते हैं। हृदयमें नामका स्मरण होते ही नामी अथवा रूप भी प्रकट हो जाता है। जैसे जब हम किसी मनुष्यको नाम लेकर पुकारते हैं तब नामके साथ ही वह हमारे सम्मुख आ जाता है। नामके बिना किसी मनुष्यको बुलानेका कोई जरिया ही नहीं होता। अतः स्मरणमें नामको ही धारण किया जाता है अथवा यों कहें कि स्मरण नामको ही धारण करनेवाला है।

अब यह देखना है कि स्मरणका रूप क्या है ? जब बहुत-से नामोंका स्मरण करना होता है तब अस्मरण वा भूल भी साथ ही रहती है। अतः सबका स्मरण ही कहाँ हुआ, जब साथमें भूल भी है ! वस्तुतः स्मरणकी सिद्धि एक नाममें ही होती है। एक नामके स्मरणमें जो भूल होती है, वह भी उसीमें समायी रहती है। अतः ऐसे नित्य स्मरणके साथ-साथ ज्ञान और जीवन भी नित्य ही है। और नित्य स्मरण, नित्य ज्ञान और नित्य जीवन नित्य सत्य परम पुरुष परमात्मामें ही है।

जब हम अपने जीवनमें स्मरणकी दशाको देखते हैं तब बहुत काल पहलेकी बातें स्मरण आ जाती हैं। परन्तु उनके साथ भूलें भी अधिक रहती हैं। इसलिये ऐसे स्मरणमें आयी हुई बातें वास्तवमें भूलमें ही हैं। अतः अपना स्मरण एकके साथ बाँध देना आवश्यक है, जिससे अपने जीवनमें अस्मरण या भूल न होने पावे। एकके साथ जीवन बाँध देना मानो एकहीमें स्थिति पा जाना है और वह स्मरणके साथमें ही है। अतः अपना स्मरण ही अपना जीवन है, स्मरणका बना रहना ही जीवनका बना रहना है। यही अमरत्व है तथा अस्मरण या भूल ही मृत्यु है। अतः अपना जीवन स्मरणमें ही बना रहे, ऐसी चेष्टा होनी चाहिये।

हमारे जीवनकी सत्ता कर्म और पुरुषार्थके रूपमें प्रत्यक्ष है। यदि कर्म और पुरुषार्थ है तो जीवनकी सत्ता है, नहीं है तो जीवन भी नहीं है। जीवनकी सिद्धि पुरुषार्थ और चेष्टामें ही है। तो फिर पुरुषार्थ और चेष्टा उसीको सिद्धिमें लगायी जाय, जिससे अपना स्मरण बना रहे। कोई भी प्राणी पुरुषार्थ और चेष्टासे विहीन नहीं है, इसलिये उन्हें एकके ही स्मरणमें लगाना चाहिये। इसमें तनिक भी रुकावट नहीं आनी चाहिये। रुकावट आनेसे हमारे जीवनमें

रुकावट पैदा हो जाती है। आत्यन्तिक पुरुषार्थ ही आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति अथवा मोक्ष है। यह आत्यन्तिक पुरुषार्थ वही है, जो अपनी एक ही सत्तामें बराबर बना रहता है। स्मरण-साधन आत्यन्तिक पुरुषार्थ ही है। इसलिये अपने जीवनकी धारणा और पुरुषार्थका प्रवाह ऐसा होना चाहिये कि उससे अपना स्मरण बराबर बना रहे। हमारा जीवन स्मरण-ही-स्मरण है। और वह नित्य सत्य एक परमात्मामें ही बना रहता है। जैसे संसारी मनुष्यों-का जीवन और स्मरण संसारकी गतिमें ही होता है, वैसे ही ईश्वरीय व्यक्तिका जीवन और स्मरण भी ईश्वरीय गतिमें ही होना चाहिये।

इस प्रकार स्मरणका रूप जान लेनेपर ही उसकी सम्हाल होती है।

(२)

स्मरणकी सम्हाल

अब अपने स्मरणको इस प्रकार देखते हैं कि अपनेमें स्मरण-साधन किस-किसके द्वारा सिद्ध होता है। जैसे कर्मोंके द्वारा अर्थात् अपना स्मरण अपने कर्मोंके करनेमें है। जो कुछ काम अथवा सांसारिक धन्धा किया जाता है अथवा करते रहते हैं, वह अपने स्मरणमें रहता है। इस प्रकार अपना स्मरण अपने कर्मोंमें अथवा करनेमें कहलाता है। स्मरणकी दूसरी अवस्था अपनी इन्द्रियोंके साथ है। जो अपने देखने, कहने, सुनने, सूँघने और स्पर्श करनेमें आता है, उसका स्मरण भी अपनेमें बना ही रहता है। जैसे जो बात बार-बार जिह्वापर चढ़ती रहती है या उच्चारित होती रहती है, वह स्मरणमें आ जाती है। ऐसे ही देखी हुई भी स्मरणमें रहती है, सुनी हुई भी स्मरणमें रहती है, स्पर्श की हुई भी स्मरणमें रहती है। साथ ही हम जाननेवाले भी हो जाते हैं। यह जानना स्मरणके ही अधीन है। ऐसे ही इन्द्रियों-द्वारा स्मरणकी धारणा होती है और स्मरणकी धारणासे ज्ञानसिद्धि हो जाती है।

स्मरणका तीसरा साधन अन्तःकरण है। मानो अन्तःकरण तो स्मरणका मुख्य स्थान ही है। मनन और चिन्तनद्वारा जो स्मरण-सिद्धि है, वह इन्द्रियोंके स्मरणकी अपेक्षा अधिक गहरी और चिरस्थायी ही रहती है। इन्द्रियोंके स्मरणसे पार होकर ही अन्तःकरणके स्मरणकी धारणामें आते हैं। इसी प्रकार देशके साथसे स्मरणकी धारणा बनी रहती है कि अमुक स्थानमें अमुक मनुष्य मिला था अथवा अमुक स्थानमें अमुक वस्तु देखी थी। ऐसे स्मरणमें देश वा स्थानका साथ प्रकट ही है। इसी प्रकार स्मरणकी धारणा कालाधीन भी रहती है। अमुक कालमें मिले थे, अथवा अमुक कालकी बात है, इस व्यवहारमें कालके साथ स्मरण-सत्ता प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अपने जीवनकी सब अवस्थाएँ स्मरणकी साधनाएँ हैं। तो क्या स्मरण अपना जीवन ही है? और अस्मरण अपनी अज्ञानता एवं अपना मरण ही है? वास्तवमें ऐसी ही बात है। अपना कर्म-धर्म, धारणा, ज्ञान सब स्मरणके अधीन हैं। अब स्मरणका ऐसा साधन, जिससे अपना जीवन सर्वरूप प्रभुके स्मरणमें आ जाय, दिखलाते हैं।

जिन-जिन साधनोंके साथ स्मरणका सम्बन्ध रहता है अथवा जिनके द्वारा स्मरण-सत्ता बनी रहती है, उनका इस प्रकार विभाग किया जा सकता है—

१—सांसारिक व्यवहार वा प्रकृतिके साथसे स्मरणका सम्बन्ध।

२—कर वा हाथोंके द्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

३—वाणीके उच्चारणद्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

४—नेत्र वा देखनेके द्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

५—कर्मेन्द्रिय वा सुननेके द्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

६—नाक वा सूँघने और त्वचा वा स्पर्शके द्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

७—मन वा मननसे स्मरणका सम्बन्ध।

८—चित्त वा चिन्तनके द्वारा स्मरणका सम्बन्ध।

९—बुद्धि वा निश्चयसे स्मरणका सम्बन्ध।

१०—देश वा स्थानके साथसे स्मरणका सम्बन्ध।

११—काल वा समयके साथ स्मरणका सम्बन्ध।

१२—स्वयं स्मरण होना।

इन सब साधनोंसे जो स्मरणकी सिद्धि होती है, उन सबमें प्रभु-नामका आश्रय ही साथ रहता है। अपने इष्ट नामका आश्रय लेकर उसी नामके आश्रयसे स्मरणकी सिद्धिमें बढ़ते रहते हैं। जिससे अपना स्मरण सर्वस्मरण हो जाता है। फिर कोई अस्मरण वा भूल रहती हो नहीं। क्योंकि जब अपने जीवनका आश्रय एकसे बँध जाता है तब अपना स्मरण और अपना ज्ञान भी एकसे बँध जाता है।

एकसे बँध जानेपर अभावकी कोई अवस्था नहीं होती। अस्मरण या भूलकी अवस्था तो बहुतोंके साथसे होती है। जैसे एक स्मरणमें है तो शेष बहुतसे अ-स्मरणमें हैं। परन्तु जब स्मरणकी आवश्यकता होती है, तब उस समय अपनी ऐसी अवस्था हो जाती है कि बहुत-सी बातों, कर्मों वा मनुष्योंमेंसे अपने अन्दर एक बात, कर्म या मनुष्यकी ढूँढ़ हो जाती है। जैसे इस संसारमें अपनी एक इच्छित वस्तुको ढूँढ़ते हैं, दूसरी वस्तुकी ओर देखते भी हैं तो उसीके लिये। वैसे ही जब अपने अन्तर्हृदयमें स्मरणकी ढूँढ़ जगती है तब जैसे संसारमें अपना स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ ढूँढ़नेवाली होती हैं, वैसे ही अपने हृदयमें भी अपना सूक्ष्म शरीर और बुद्धि ढूँढ़नेमें लग जाती है। इसमें स्थूल शरीरके साथ स्थूल इन्द्रियाँ और सूक्ष्म शरीरके साथ सूक्ष्म इन्द्रियाँ रहती हैं। यह ढूँढ़ जीवका ही एक किलोल है। यह प्रभुका ही एक नाम है। राम, कृष्ण, शिव, देवी, वाहगुरु, अल्लाह सब प्रभु-ही-प्रभु! प्रभु-ही-प्रभु!!

इसमें यह विचार होता है कि उपनिषदोंमें जो उपासना कही गयी है, वह ॐ अक्षरकी ही धारणा बतलाती है। वास्तवमें ॐ अक्षर अक्षरतत्त्व ही है। इसलिये यह अक्षर ब्रह्म साक्षात् ब्रह्म है। इसमें ज्ञान, ध्यान सब समाया हुआ है। इसका मुख्य सम्बन्ध हृदयके साथ है। इसकी ध्वनि ब्रह्ममें लीन है। वह जिह्वा और तालुके मूलसे उठकर कपालीमें (मूर्द्धा या ब्रह्मरन्ध्रमें) घूमती रहती है। मानो वह स्वयं लीनताका आनन्द अनुभव कर रही हो। स्मरण इसमें समाया रहता है। यही कारण है कि सब वाणीका सार वेद, वेदोंका सार गायत्री और गायत्रीका सार ॐ अक्षर है। यह साधारण नामकी श्रेणीमें नहीं आता। प्रभुके सभी नाम प्रकृति और मायाके नामोंसे भिन्न ही होते हैं। प्रकृति और मायाका विस्तार नामका ही विस्तार है। जब एक नामकी धारणा होती है तब यह सब विस्तार एक नाममें सिमिटकर एकत्र हो जाता है। उसीके साथ अपना जीवन भी एकत्र होकर आत्मभावमें आ जाता है। फिर नामका जीवन भी लीनतामें लीन हो जाता है। यह ऐसा साधन प्रकट है।

किसी नाममें कोई भेदभाव वा पक्षपात नहीं। प्रभुके नाम अनन्त हैं। जो नाम अपनी धारणामें आ गया, उसीमें अपनी आन्तरिक प्रीति जोड़ देनी चाहिये। वह प्यारा नाम अपना इष्ट नाम है। वास्तवमें सब रूप और सब नाम अपने प्रभुके हैं, जिसको हम अपने साधनमें धारण कर लेते हैं अथवा जिसके साथ लग जाते हैं, वही अपने प्रभुमें पहुँचने-का मुख्य साधन है।

नेहा अपना राममें गेहा अपना राम।
सुमिरन अपना राममें सर्वस रामै राम ॥

इसके विपरीत दूसरी अवस्था भिन्नतामें होती है। अपनी एक स्थिति वा एक धारणासे हटकर बहुतोंके भ्रममें पड़कर भटकने लगते हैं। परन्तु कभी-न-कभी इस भ्रमसे निकलनेकी लालसा हो ही जाती है। यही साधनावस्थाका प्रारम्भ है। एकके साथ रमण करना सिद्ध अवस्था है। और बहुतोंके साथ रहते-रहते ऊबकर एकका साथ पानेके लिये जो उत्सुकता है, वही साधनावस्था है। इस प्रकार इस संसारयात्रामें दो ही पुरुष जीवनका फल पा रहे हैं। एक सिद्ध पुरुष और दूसरे साधक पुरुष। इनमें सिद्ध पुरुषके लिये कोई साधन वा पुरुषार्थ क्या हो? वे सब प्रकारसे सिद्ध, स्थिर और अपनेमें परिपूर्ण हैं। वे अपने प्रेम और आनन्दमें रमण कर रहे हैं, अपनी स्थिति और दृढ़तामें दृढ़ हैं। न उनमें भरमना है और न तो कुछ करना ही शेष है। दूसरा साधक पुरुष अपने साधन और पुरुषार्थमें लगा है, उसमें एक ही धारणाका लक्ष्य बँधा हुआ है। वह बहुतोंके साथ दुःख, क्लेश, भ्रमण और बन्धन देख रहा है। इस दुःख-सागरसे पार होने तथा भरमने-भटकनेसे बचनेका पुरुषार्थ उसमें पूर्णरूपसे विद्यमान है। इस प्रकार परिवर्तन और मृत्युकी अवस्थाओंसे निकलकर साधक अपनी स्वरूपस्थिति वा अमर होनेकी स्थितिमें पहुँच जाते हैं। अर्थात् ऐसी साधनावस्थासे वे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। फिर यह दो अवस्थाएँ न रहकर एक ही सिद्ध अवस्था सिद्ध रह जाती है।

इस लेखसे प्रकट है कि बहुतों वा अनेकोंका साथ बन्धनरूप है। क्योंकि एकके साथ एक स्थिति और अनेकोंके साथ भ्रमना प्रत्यक्ष है। इसीसे एकके साथमें मोक्ष-सिद्धि अर्थात् अपनेमें दृढ़ता आकर अपनी अवस्था निर्भ्रम हो जाती है। यद्यपि भ्रमनेकी अवस्था बहुतोंके साथमें एक प्रकारसे खुली अवस्था प्रतीत होती है और एकके साथमें बँध जाना प्रत्यक्ष बन्धन है तथापि जब बन्धन और मोक्षके तत्त्वको विचारदृष्टिसे देखते हैं तब एकमें अपना प्रेम-बन्धन, पूर्ण दृढ़ता, परम स्थिति और पूर्ण आनन्दस्वरूप ही पाते हैं। वास्तवमें वह पूर्णताका अनुभव है। इसके विरुद्ध जो बहुतोंका साथ है, वह ऐसा ही है, जैसे कोई स्त्री पातिव्रतधर्मसे नष्ट हो जाती है और उसे कहीं कोई ठौर-ठिकाना नहीं रह जाता। साधकके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि जैसे भी हो एक ही साधनकी सिद्धिमें लगा रहे। अपने जीवनकी सभी अवस्थाएँ अपने एकमात्र प्रभुको अर्पित हो जायँ। ऐसी दृढ़-अवस्थाके सिद्धयर्थ वेद, शास्त्र और महात्माओंने साधनके मार्ग कथन किये हैं।

इन साधनोंकी धारणासे साधक अपने एक ही इष्टमें समाया रहता है। सब ओरसे दृढ़ता दृढ़ होती जाती है, अब उसके पास कोई भ्रमने या भटकनेकी क्रिया नहीं फटक पाती। वह अपनी दृढ़भावनामें अपनी दृढ़तासे ऐसा दृढ़ रहता है कि उसको कोई भी शक्ति डिगानेमें समर्थ नहीं होती। यह अपनी एक ही पकड़के साथ बँधा रहता है कि यह सब एकमें ही समाया हुआ है। यह बहुत रूप भी अपने ही प्रभुमें है। जैसे एक परम ब्रह्म परमात्मा अपने बहुत रूप धारण करके रमण कर रहा है। अपनी इस दृढ़ धारणाको दृढ़तासे मेरे प्रभु मेरे अन्दर दृढ़ कर रहे हैं। इस एकमें रमण करते हुए भी इस बहुतका देखना इस प्रकार होता है कि यह सब एक प्रभुका विस्तार है और प्रभुकी सब लीला एकमें एक ही है। अपने प्रभुजी एकके ही साथ अपनी पूरी पकड़ दे रहे हैं। ऐसी पकड़के साधन ही वास्तवमें साधनके मार्ग हैं और उनमें यह स्मरण-साधन मुख्य है। इस

स्मरण-साधनमें स्मरणका रूप देखकर फिर जिस प्रकार सिद्धि हो, उसीमें लग जाना है ।

(३)

स्मरण-ज्ञान

मैं तेरा प्रभु मोहि दिलसे ना भूल ।
मैं डाल-डाल तू पात-पातमें तू ही अनोखा फूल ॥

धन्य ! धन्य !! प्रभुके प्यारे भक्त अपनी यादको प्रभुके दिलसे बाँध देते हैं ! ऐसा होना ही चाहिये । भक्तोंके दिल प्रभुके स्मरणको धारण करनेवाले क्यों हों ? संसारकी अन्य वस्तुओंकी तरह प्रभु आँखोंको क्यों दिखायी दें ? वे तो हमारे अन्तरतममें समाये हो हुए हैं । इसलिये यही धारणा उत्तम है कि 'मेरे प्रभो, तुम हमें अपनी ही दृष्टिमें रक्खो ।' यदि ऐसी प्रार्थना की जाय कि 'मेरी दृष्टिमें आओ मेरे प्रभो', तो वे क्या हमारी दृष्टिसे अलग हैं ? हमारी दृष्टि तो प्रभुमें हो लगी है । क्या किसी सुन्दर रूपको अपनी दृष्टिमें लाना पड़ता है ? वह तो आप-से-आप हमारी दृष्टिका हरण कर लेता है । फिर अपना देखना कहाँ रहा ? अपना देखना तो उसी अवस्थामें होता है, जब अपना देखना अपने अधीन रहे । अर्थात् हम जैसा देखना चाहें, वैसा ही देखें । परन्तु जब अपना देखना किसी सुन्दर रूपमें बँध गया है तब वह सुन्दर रूप हमारे देखनेको कहाँ छोड़ता है ? अतः यही पुकार समुचित है कि 'हे प्रभो, मुझे देखते ही रहो । मुझे अपने देखनेमें ही रखो ।'

'मुझे अपने दिलसे मत भूलो मेरे प्रभो !' इस पुकारद्वारा हम अपनी यादको प्रभुके दिलसे बाँध देते हैं । ऐसी ही हमसे क्रिया भी होती है, जिससे हमारा स्मरण हमारे प्रभुको अर्पण हो जाता है । 'मैं डाली होऊँ, तू पत्ता हो' इस प्रार्थनामें भी प्रभु और भक्तकी अभिन्नता है । क्योंकि पत्तोंसे ही डालियाँ हरी-भरी और शोभायमान होती हैं । इस प्रकार प्रभुकी शोभा और सुन्दरताकी धारणासे ही प्रभुका स्मरण बँधा रहता है और ऐसे ही स्मरणको प्रकृतिद्वारा स्मरण करना कहा जाता है । जिस प्रकार हमारी कोई भी अवस्था प्रकृति-शून्य नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृतिके साथ हमारा स्मरण भी बना ही रहता है । प्रकृतिकी शोभाका गीत गाकर प्रभु आनन्द पा रहे हैं । पर प्रकृतिमें रमण नहीं होना चाहिये । वह तो परिवर्तनशील है, एक स्थितिमें नहीं रहती । प्रकृतिद्वारा साधकके हृदयमें ईश्वरीय सौन्दर्यका बोध होकर बराबर प्रभु-स्मरण बना रहना चाहिये । कोई पुरुष किसी स्त्रीपर मुग्ध हो जाय और उसके स्मरणमें उस स्त्रीका रूप ही बना रहे तो वह प्रभु-स्मरणकी अवस्था नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्रकृतिकी शोभापर मुग्ध होनेमें समझना चाहिये । प्रभुके प्रेमका स्मरण प्रकृतिसे परे ही होता है । यदि स्त्रीका रूप सुन्दर प्रतीत हो तो उसके द्वारा प्रभु-स्मरणमें पहुँचना नहीं होता । उसके जरिये कुछ-कुछ पहुँचना अवश्य होता है । इसी कारण गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने यह कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

कामी और लोभी काम और लोभसे हट सकते हैं परन्तु भक्त अपने राम-स्मरणसे कैसे हट सकते हैं? यह तो एकदेशीय दृष्टान्त है । प्रकृतिसे यदि कुछ प्रीति और उसके द्वारा मनका यत्किञ्चित् हरण हो जावे तो उससे पार प्रकृतिके स्वामी प्रभुके स्मरणमें कुछ-कुछ पहुँचना हो जाता है । ईश्वरने प्रकृतिकी शोभा और सुन्दरताकी इसीलिये रचना भी की है कि उसके द्वारा प्रभु-प्रेमकी धारणा नसीब हो । जैसे मायाके द्वारा मायाके स्वामीमें पहुँचना होता है, वैसे ही प्रकृतिके साहचर्यसे यह धारणा बँधती है कि

प्रकृतिमें जो शोभा और सुन्दरता है, वह सब कुछ प्रभुकी ही शोभा तथा सुन्दरता है। अतः प्रकृतिकी शोभा और सुन्दरताके द्वारा हृदयमें प्रभु-स्मरणका ही उदय होना चाहिये ।

प्रकृतिका दृश्य सब कालमें हमारे नेत्रोंके सम्मुख रहता है, हमारे जीवनकी ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो प्रकृतिके दृश्यसे शून्य हो। ऐसी अवस्था प्रभु-प्रेम एवं प्रभु-स्मरणकी ही अवस्था है । इसमें केवल प्रकृतिका दृश्य कहाँ रह सकता है ? बल्कि अपनी सत्ताका भाव भी अपनी प्रकृतिमें नहीं रहता। इस सर्व-भाव-लीनताके द्वारा अपने रामका स्मरण अपनेमें बँधा ही रहता है। अतः यही धारणा साधन-सिद्धि है कि इस प्रकृतिका सारा दृश्य प्रभुका स्मरण दिलानेवाला ही है। इसकी जो भी सत्ता हमारे देखनेमें आती है, वह प्रभुकी परम सत्ता ही है। प्यारे प्रभुके बिना और किसीकी सत्ता ही नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि प्रकृतिके दृश्य नाना रूपोंमें हैं। इसका यही अर्थ है कि इन नाना रूपवाले प्रकृतिदृश्योंद्वारा प्रभुका स्मरण बना रहे। एवं इनके द्वारा हम प्यारे प्रभुकी ढूँढ़ कर सकें। पाना वही है, जो ढूँढ़में रहता है और ढूँढ़नेकी क्रिया बहुत दृश्योंमें ही होती है। अतः हम बहुत दृश्योंमें ढूँढ़ते रहें तथा एककी प्राप्तिमें पहुँचे रहें, इसीकी सिद्धिमें प्रकृतिका सम्बन्ध है। हमारे प्रभुने ढूँढ़ तो बहुतमें दी है पर प्राप्ति एकमें ही रक्खी है।

यह सुन्दर सुहावनी हवा अठखेलियाँ करती हुई बह रही है, मानो यह अपने प्रभुका ही स्मरण दिला रही है। इस वायुमें भीनी-भीनी सुगन्धि बसी हुई है, इसे पहुँचाकर वायु प्रभुकी ही सुगन्धिका स्मरण दिला रही है। प्यारे प्रभुने इसीलिये यह सुगन्धि पहुँचायी है कि इसके द्वारा हमारे हृदयमें प्रभु-स्मरण बना ही रहे। यदि प्राकृतिक दृश्य बहुत रूपोंमें देखा जावे तो भी इसके साथसे अपना स्मरण बहुत रूपोंमें न हो। इन बहुत रूपोंमें अपने स्मरणकी धारणा राम-राममें ही बँधी रहे। मानो अपना प्यारा राम इस संसारमें रमा हुआ है। संसारके बहुत रूपोंमें एक रामकी ही ढूँढ़ और रामकी ही प्राप्ति बनी रहे। यदि अपनी स्मरण-शक्ति बहुतोंके साथ लगाते हैं तो उसमें अस्मरण वा भूल साथ ही रहती है। यह बहुतका विस्तार बहुत रूपोंमें रहे परन्तु इस बहुत्वके विस्तारमें अपना साधन एकमें ही जुड़ा रहे। जिस एकका आश्रय पाकर यह बहुत बना हुआ है इस बहुतसे ऊपर उठकर उस एकका ही स्मरण अपने पल्ले बाँध लिया जाय।

एक गहे सब गहत है सब सों एक ही जात ।
एक जो सींचे मूलको सींचत डाली-पात ॥

प्रकृतिके सम्बन्धमें यह विचार भी होता है कि जैसे यह सर्वसृष्टि वा ईश्वरीय सृष्टिका विस्तार दीख रहा है, वैसे ही अपनी सृष्टि (जीवसृष्टि) भी है। इन दोनोंमेंसे साधन-धारणा अपनी ही सृष्टिमें रहती है। जब अपनी सृष्टिका मेल ईश्वरीय सृष्टिसे हो जाता है तब साधनाकी सिद्धि है। अपनी सृष्टि क्या है, अपनी पूँजी ही है। अपनी पूँजीके द्वारा जो लाभ होता है, वह ईश्वरीय सृष्टिमें है। एक तो यह सम्पूर्ण प्रकृति वा ईश्वरीय सृष्टिका विस्तार और दूसरी अपनी ही प्रकृति। प्रत्येक जीव ईश्वरीय प्रकृतिमेंसे ही अपना भाग पाये हुए हैं। अपने साधनकी अवस्था अपनी ही प्रकृतिमें हैं। इसके द्वारा ईश्वरीय प्रकृतिमें लीनता प्राप्त की जाती है। सारांश यह कि अपनी जीवन-सत्ता अणुरूप है, उसमें सम्पूर्ण वा विभुको प्राप्त करनेकी कामना बनी रहती है। इसी पूर्ण हो जानेकी

कामनाके सिद्ध्यर्थ जीवका पुरुषार्थ और प्रयत्न है, अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न अपनी कामनाके अनुरूप ही होता है। यदि अपनी कामना इस सम्पूर्णसे भिन्न पदार्थके साथ होती है तो अपना पुरुषार्थ वा प्रयत्न भी भिन्नतामें ही रहता है। और इस प्रकार अपनी जीवन-सत्ता वा अपना जीवन भी भिन्नतामें ही भ्रमता रहता है।

इस सिद्धिके लिये आवश्यक है कि अपनी इच्छा और कामना सर्व अर्थात् सम्पूर्णमें बनी रहे। ऐसी सर्व-इच्छा और कामनाके साथसे अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न भी सर्वस्वरूप ही रहता है। अणुकी धारणा बहुतकी धारणा है, क्योंकि यह अणु-अणुका विस्तार ही बहुत है। ऐसे अणुओंका बहुत होना प्रत्यक्ष ही है। इन अणुओं या टुकड़ोंकी धारणामें अभी अपना सम्बन्ध एक अणु वा टुकड़ेसे है। फिर क्षणभरमें ही दूसरे अणु वा टुकड़ेसे हो जाता है। यह विकार बहुतके साथसे ही है। एकमें अपनी धारणा एकमें ही बँधी रहती है। इसमें दूसरापन नहीं कि एकसे हटकर दूसरेमें जा सके। तो इन सब रूपोंमें एक क्या है? सर्व ही सर्व है, एक ही एक है हो। और यह बहुत क्या है, अणु ही अणु और टुकड़े ही टुकड़े। ये अणु वा टुकड़े एक सर्वमें हो ही कहाँ सकते हैं। जबतक अपना सम्बन्ध बहुत वा टुकड़ोंसे रहता है, तबतक उसके साथ-से अपनी अवस्था अणु वा टुकड़ोंमें रहती है। परन्तु जब अपनी दृढ़ धारणा सर्व ओरसे एकमें ही बँधी रहे तो अपना जीवन सर्वजीवन वा एक ही जीवन है। इसी सिद्धि वा एक-एककी प्राप्तिरूप एक राम-रामकी धारणा ही सिद्ध धारणा है। एक राम-रामका स्मरण ही स्मरण सर्वसिद्धि है। इसी अर्थमें यह वचन है—

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
मूल जो सींचे प्रेम सों फूलै-फलै अघाय॥

जगदीशकी महत्ता

(र०—भगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम० ए०, एल-एल० बी०, काव्यतीर्थ)

चूमनेको जिसकी चरणरेणु रम्य सदा,
चारों ओर चलते समीरण सिहारते।
जिसके रँगीले रंग रँग व्योम वारिधि हैं,
रवि शशि तारे नित्य आरती उतारते॥
जिसका न भेद पाते हैं महेश शेष सुर,
नारद निगम नेति नेति हैं पुकारते।
ऐसे जगदीशकी महत्ताको भुला करके,
अविवेकी अपनी महत्ताको विचारते॥

भगवत्प्राप्तिके साधनोंकी सुगमताका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, योगदर्शन, श्रीमद्भागवत और गीता आदि शास्त्रोंको देखनेपर अधिकांश मनुष्योंके चित्तमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं और किसी-किसीके चित्तमें तो किंकर्तव्यविमूढ़ताका-सा भाव आ जाता है। जब साधक योगदर्शनके अनुसार एकान्तमें बैठकर ध्यानयोगद्वारा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधरूप समाधि लगानेकी चेष्टा करता है तब विक्षेप और आलस्यदोषके कारण चित्त उकता जाता है। उनमें भी आलस्य तो इतना घेर लेता है कि साधक तंग आ जाता है। आलस्यमें स्वाभाविक ही आराम प्रतीत होता है, इससे साधकका स्वभाव तामसी बनकर उसे साधनसे गिरा देता है। बुद्धि और विवेकद्वारा आलस्यको हटानेके लिये साधक अनेक प्रकारसे प्रयत्न करता है। भोजन भी सात्त्विक और अल्प करता है। आसन लगाकर भी बैठता है। विशेष शारीरिक परिश्रम भी नहीं करता। रोग-निवृत्तिकी भी चेष्टा करता रहता है। समयपर सोनेकी भी चेष्टा रखता है। इस प्रकार प्रयत्न करने-पर भी मनुष्यको आलस्य दबा लेता है। इसलिये साधक कृतकार्य हो नहीं पाता और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो जाया करता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या करना चाहिये ?

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रको देखकर जब वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार साधक जगत्को स्वप्नवत् समझता हुआ सम्पूर्ण संकल्पोंका यानी स्फुरणामात्रका और जिन वृत्तियोंसे संसारके चित्रोंका अभाव किया उनका भी त्याग करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभेदरूपसे नित्य निरन्तर स्थित रहनेका अभ्यास करता है तब आलस्यके कारण चित्तकी वृत्तियाँ मायामें विलीन हो जाती हैं और साधक कृतकार्य नहीं होने पाता। ऐसी अवस्थामें विचारवान् पुरुष भी चिन्तातुर-सा हो जाता है। बहुत-से जो इस तत्त्वको नहीं जानते हैं वे तो इस लय-अवस्थाको ही समाधि समझकर अपनी ब्रह्ममें स्थिति मान बैठते हैं। उस सुषुप्तिका जो तामस सुख है उसको ही वे ब्रह्मप्राप्तिका सुख मानकर गाढ़ निद्रामें अधिक सोना ही पसन्द करते हैं। जो इस प्रकार भ्रमसे निद्रासुखको सुख मानते हुए विशेष समय सोनेमें ही बिता देते हैं, अज्ञानके कारण उनका जीवन नष्ट हो जाता है। किन्तु जो विवेकशील इस निद्राके सुखको तामस सुख मानते हुए इस लयदोषसे अपनेको बचाना चाहते हैं, वे भी बलात्कारसे आलस्य और निद्राके शिकार बन जाते हैं। अतएव इनको क्या करना कर्तव्य है ?

दूसरे जो गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगकी दृष्टिसे अपनी बुद्धिके अनुसार स्वार्थ, आराम और आसक्ति-को त्यागकर लोकोपकारकी बुद्धिसे लोकसेवारूप निष्काम कर्मका साधन करते हैं, उनके चित्तमें भी अनेक प्रकारकी स्फुरणाएँ और विक्षेप होते हैं, इससे उनको बड़ा झंझट-सा प्रतीत होने लगता है और भगवत्की स्मृति भी काम करते हुए निरन्तर नहीं होती अतः उनके चित्तमें उकताहट पैदा हो जाती है। न कर्मयोगकी सिद्धि होती है और न काम करते हुए भजन-ध्यानरूप ईश्वरभक्ति ही बनती है इसलिये वे तंग आकर यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उस लोकोपकाररूप कर्मको स्वरूपसे ही छोड़नेकी इच्छा करने लगते हैं। जब एकान्तमें

जाकर ध्यान करने बैठते हैं तब आलस्य आने लगता है, इसलिये वे किंकर्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें कैसे क्या करना चाहिये ?

कितने ही जो श्रीमद्भागवतमें बतायी हुई नवधा भक्तिके अनुसार जप, स्तुति, प्रार्थना, ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार आदि करते हुए अपने समयको बिताते हैं, उन लोगोंको भी जैसा आनन्द आना चाहिये वैसा आनन्द नहीं आता। और उनका चित्त साधनसे ऊब जाता है तथा अकर्मण्यता बढ़ जाती है। एवं कितने ही लोग भगवान्की रासलीलाको देखकर प्रसन्न होते हैं किन्तु उनमें भी झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष देखनेमें आते हैं, इसका क्या कारण है ?

इसी प्रकार और भी परमात्माकी प्राप्तिके जितने साधन शास्त्रोंमें बतलाये हैं तथा महात्मा लोग बतलाते हैं, उन सभी साधनोंको करनेवाले साधकोंको कार्यकी सिद्धि कठिन-सी प्रतीत होती है। किन्तु बहुत-से महात्मा और शास्त्र इन साधनोंको सहज और सुगम बतलाते हैं एवं उनका परिणाम भी सर्वोत्तम बतलाते हैं तथा विचारनेपर युक्तियोंसे भी यह बात ऐसी ही समझमें आती है। फिर भी उपर्युक्त साधन उन्हें सुगम क्यों नहीं प्रतीत होते तथा सभी पुरुष प्रयत्न क्यों नहीं करते; क्योंकि सभी क्लेश, कर्म और दुःखोंसे रहित होकर शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। फिर वे कृतकार्य नहीं होते—इसका क्या कारण है ! ऐसे-ऐसे बहुत-से प्रश्न साधकोंकी ओरसे आते हैं; अतः इनपर विचार किया जाता है।

देहाभिमान रहनेके कारण तो ज्ञानयोगमें और आलस्यके कारण ध्यानयोगमें तथा तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भक्तियोगमें एवं स्वार्थबुद्धि होनेके कारण कर्मयोगमें कठिनता प्रतीत होती है, पर वास्तवमें कठिनता नहीं है।

परमात्माकी प्राप्तिके सभी साधन सुगम होनेपर भी सुगम माननेसे सुगम हैं और दुर्गम माननेसे दुर्गम हैं। श्रद्धापूर्वक तत्त्व और रहस्य समझकर साधन करनेसे सभी साधन सुगम हो सकते हैं। इनमें भी भक्तिसहित कर्मयोग या केवल भगवान्की भक्ति सबके लिये बहुत ही सुगम है।

किन्तु प्रायः सभी मनुष्य अज्ञानके कारण आलस्य, भोग और प्रमादके वशीभूत हो रहे हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंके तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानते। अतः उन्हें ये सब कठिन प्रतीत होते हैं तथा इसी कारण उनमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी रहती है। और इसीसे सभी लोग साधनमें नहीं लगते।

शास्त्रोंमें जो अनेक उपाय बतलाये हैं वे अधिकारीके भेदसे सभी ठीक हैं। किन्तु इस तत्त्वको न जाननेके कारण साधक कभी किसी साधनमें लग जाता है और कभी किसीमें। बहुत-से तो इस हेतुसे कृतकार्य नहीं होते और बहुत-से अपनेको क्या करना कर्तव्य है इस बातको न समझकर अपनी योग्यताके विपरीत साधनका आरम्भ कर देते हैं—इस कारण भी कृतकार्य नहीं होते, और कितने ही विवेकी पुरुष अपनी योग्यताके अनुसार कार्य करते हुए भी उसका तत्त्व और रहस्य न जाननेके कारण अहंता, ममता, अज्ञान, रागद्वेष, संशय, भ्रम, अश्रद्धा आदि स्वभावदोष तथा पूर्वसञ्चित पाप और कुसंगके कारण शीघ्र कृतकार्य नहीं होने पाते। इसलिये उन पुरुषोंको महात्माओंका संग करके उपर्युक्त ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदिका तत्त्व-रहस्य समझकर अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार महात्माके बतलाये हुए किसी एक साधनको विवेक, वैराग्य और धैर्ययुक्त बुद्धिसे आजीवन करनेका निश्चय करके उसी साधनके लिये

तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार श्रद्धाभक्तिपूर्वक साधन करनेसे साधकके सम्पूर्ण दुर्गुणोंका, पापोंका और दुःखोंका मूलसहित नाश हो जाता है एवं वह कृतकृत्य होकर सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानयोगका साधन देहाभिमानसे रहित होकर करना चाहिये। सच्चिदानन्द परमात्मामें अभेदरूपसे स्थित होकर व्यवहारकालमें तो सम्पूर्ण दृश्यवर्गको 'गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं'—ऐसा मानकर उन सारे पदार्थोंको मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके सदृश अनित्य समझना चाहिये। और ध्यानकालमें वृत्तियोंसहित सम्पूर्ण पदार्थोंके संकल्पोंका त्याग करके केवल एक नित्य विज्ञानरूप परमात्मामें ही अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें चिन्मय (विज्ञानमय) का लक्ष्य न रहनेके कारण स्वाभाविक आलस्यदोषसे लयवृत्ति हो जाती है अर्थात् मनुष्यकी तन्द्रा-अवस्था हो जाती है। इसलिये ध्यानावस्थामें केवल ज्ञानकी दीप्ति यानी चेतनताकी बहुलता रहना अत्यावश्यक है। क्योंकि जहाँ ज्ञान है, वहाँ अज्ञान और अज्ञानके कार्यरूप निद्रा, आलस्य और लय आदि दोषोंका रहना सम्भव नहीं। इस रहस्यको जाननेवाले वेदान्त-मार्गी विवेकी पुरुष निद्रा और आलस्यके शिकार न बनकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार साधन करनेवालोंको भी आत्मसाक्षात्कारके लिये केवल चितिशक्ति अर्थात् गुणोंसे रहित केवल चेतनका ही ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार जहाँ केवल चेतनका ही लक्ष्य रहता है वहाँ जैसे सूर्यके पास अन्धकार नहीं आ सकता वैसे ही उनके पास निद्रा-आलस्य नहीं आ सकते। अतएव इनको भी युक्त आहार, निद्रा और आसन आदिका पालन करते हुए विशेषरूपसे विज्ञानमय चेतनताकी तरफ ही लक्ष्य रखना चाहिये। इस प्रकार उस शुद्ध निरतिशय ज्ञानमय परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश हो जाता है और साधक कृतार्थ हो जाता है।

परमेश्वर और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी होनेके कारण ही साधन करनेमें उत्साह नहीं होता। आरामतलबी स्वभावके कारण आलस्य और अकर्मण्यता बढ़ जाती है इसीसे उन्हें परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये श्रीमद्भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका तत्त्व-रहस्य महापुरुषोंसे समझकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ भक्तिका साधन करना चाहिये।

भगवान्‌के रासका विषय तो अत्यन्त ही गहन है। भगवान् और भगवान्‌की क्रीडा दिव्य, अलौकिक, पवित्र, प्रेममय और मधुर है। जो माधुर्यरसके रहस्यको जानता है, वही उससे लाभ उठा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी जो असली रासक्रीडा थी, उसको तो जाननेवाले ही संसारमें बहुत कम हैं। उनकी वह क्रीडा अति पवित्र, अलौकिक और अमृतमय थी। वर्तमानमें होनेवाले रासमें तो बहुत-सी कल्पित बातें भी आ जाती हैं तथा अधिकांशमें रास करनेवाले आर्थिक दृष्टिसे ही करते हैं। उनका उद्देश्य दर्शकोंको प्रसन्न करना ही रहता है। इसलिये दर्शकोंके चित्तपर यह असर पड़ता है कि भगवान् भी ये सब आचरण किया करते थे। तथा यह बात स्वाभाविक ही है कि साधक जो इष्टमें देखता है, वह बात उसमें भी आ जाती है। भगवान्‌के तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण उनकी प्रेममय लीला काममय दीखने लगती है।

और निर्दोष बात दोषयुक्त प्रतीत होने लगती है। इस कारण ही देखनेवाले किसी-किसी स्त्री-पुरुष और बालकोंमें झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष आ जाते हैं। अतः सर्वसाधारणको भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका* साधन ही करना चाहिये।

जिन्हें माधुर्य रसवाली प्रेमलक्षणा भक्तिकी ही इच्छा हो उनको भी प्रथम नवधा भक्तिका ही अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि बिना नवधा भक्तिका अभ्यास किये वह साधक प्रेमलक्षणा भक्तिका सच्चा पात्र नहीं बन सकता और उस प्रेमलक्षणा भक्तिका रहस्य भगवत्प्राप्त पुरुष ही बतला सकते हैं। इसलिये उस प्रेमलक्षणा भक्तिके जिज्ञासुओंको उन महापुरुषोंके संग और सेवाद्वारा उसका तत्त्व और रहस्य समझकर उसका साधन करना चाहिये।

गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगके साधकोंको तो भगवान्‌पर ही भरोसा रखकर सारी चेष्टाएँ करनी चाहिये। सब समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवान्‌में प्रेम होनेके उद्देश्यसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सारे कर्म करने चाहिये। अथवा अपनी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देनी चाहिये, जिस प्रकार भगवान् करवावें वैसे ही कठपुतलीकी भाँति कर्म करे। इस प्रकार जो अपने आपको भगवान्‌के हाथमें सौंप देता है उसके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म तो हो ही नहीं सकते। यदि शास्त्रविरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कर्म होता है तो समझना चाहिये कि हमारी बागडोर भगवान्‌के हाथमें नहीं है, कामके हाथमें है; क्योंकि अर्जुनके इस प्रकार पूछनेपर कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

'हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पापका आचरण करता है?' स्वयं भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह ही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।

इसके अतिरिक्त शास्त्रानुकूल कर्मोंमें भी उससे काम्य कर्म नहीं होते। यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि सम्पूर्ण कर्म केवल निष्काम भावसे हुआ करते हैं। भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म करनेवाले पुरुषके द्वारा दृढ़ अभ्यास होनेपर भगवत्स्मृति होते हुए ही सारे कर्म होने लगते हैं। तभी तो भगवान्‌ने कहा है कि—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'

(गीता ८।७)

अतएव हमलोगोंको भी इसी प्रकार अभ्यास डालना चाहिये। भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म तो साक्षात् भगवान्‌की ही सेवा है। यह रहस्य समझनेके बाद उसे प्रत्येक क्रियामें प्रसन्नता और शान्ति ही मिलनी चाहिये। क्या पतिव्रता स्त्रीको कभी पतिके अर्थ या पतिके अर्पण किये हुए कर्ममें झंझट प्रतीत होता है?

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

१. भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, २. कीर्तन, ३. भगवान्‌का स्मरण, ४. भगवान्‌के चरणोंकी सेवा, ५. भगवद्विग्रहका पूजन, ६. भगवान्‌को प्रणाम करना, ७. अपनेको भगवान्‌का दास समझकर उनकी सेवामें तत्पर रहना, ८. अपनेको भगवान्‌का सखा मानकर उनसे प्रेम करना और ९. भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना—यही नौ प्रकारकी भक्ति है।

यदि होता है तो वह पतिव्रता कहाँ ? कोई स्त्री पतिके नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो करती है किन्तु पतिकी सेवाको झंझट समझकर उससे जी चुराती है वह क्या कभी पतिव्रता कही जा सकती है ? वह तो पतिव्रतधर्मको ही नहीं जानती । जो सच्ची पतिव्रता स्त्री होती है वह तो पतिको अपने हृदयमें रखती हुई ही पतिकी आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई हर समय पतिप्रेममें प्रसन्न रहती है । पतिकी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें उसकी प्रसन्नता और शान्तिका ठिकाना नहीं रहता । फिर साक्षात् परमेश्वर-जैसे पतिकी आज्ञाके पालनमें कितनी प्रसन्नता और शान्ति होनी चाहिये । अतएव जिन्हें भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्मोंमें झंझट प्रतीत होता है वे न कर्मोंके, न भक्तिके और न भगवान्‌के ही तत्त्वको जानते हैं ।

एक राजाका चपरासी राजाकी आज्ञाके अनुसार किसी भी राजकार्यको करता है तो उसे हर समय यह खयाल रहता है कि मैं राजाका कर्मचारी हूँ—राजाका चपरासी हूँ। फिर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवत्कार्य करनेवाले भगवद्भक्तको हर समय यह भाव क्यों नहीं रहना चाहिये कि मैं भगवान्‌का सेवक हूँ ।

जो भगवत्कार्य करते हुए भगवान्‌को भूल जाते हैं वे खास करके सभी कार्योंको भगवान्‌के कार्य नहीं मानते, अपना कार्य मानने लग जाते हैं । इसी कारण वे भगवान्‌के नाम और रूपको भूल जाते हैं । अतएव साधकोंको दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि सारे संसारके पदार्थ भगवान्‌के ही हैं । जैसे कोई भृत्य अपने स्वामीका कार्य करता है तो यही समझता है कि यह स्वामीका ही है, मेरा नहीं; अर्थात् स्वामीकी नौकरी करनेवाले उस भृत्यका क्रियाओंमें, उनके फलमें एवं पदार्थोंमें सदा-सर्वदा यही निश्चय रहता है कि ये सब स्वामीके ही हैं उसी प्रकार साधकको भी सम्पूर्ण पदार्थोंको, क्रियाओंको और अपने आपको परमात्माकी ही वस्तु समझनी चाहिये । साधारण स्वामीकी अपेक्षा परमात्मामें यह और विशेषता है कि परमात्मा प्रत्येक क्रिया और पदार्थमें व्याप्त होकर स्वयं स्थित है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ और क्रियामें जो स्वामीका निश्चय और स्मरण है वह स्वामीका ही भजन है । इसलिये उपर्युक्त तत्त्वको जाननेवाले पुरुषका उस परमात्माकी विस्मृति होना सम्भव नहीं । यदि स्मृति निरन्तर नहीं होती तो समझना चाहिये कि वह तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानता । अतएव हमलोगोंको सम्पूर्ण संसारके रचयिता लीलामय परमात्माको सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त समझते हुए उसकी आज्ञाके अनुसार उसके लिये ही कर्म करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकारका अभ्यास करते-करते परमात्माका तत्त्व और रहस्य जान लेनेपर न तो कर्मोंमें उकताहट ही होगी और न भगवान्‌की विस्मृति ही होगी बल्कि भगवत्‌के स्मरण और भगवदाज्ञाके पालनसे प्रत्येक क्रिया करते हुए शरीरमें प्रेमजनित रोमाञ्च होगा और पद-पदपर अत्यन्त प्रसन्नता और परम शान्तिका अनुभव होता रहेगा ।

सती भगवती

पतिके लिये आत्मोत्सर्ग

(लेखक— पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर)

श्रीशिवप्रसादजी गुप्तकी पत्नी श्रीमती भगवती देवीके स्वर्गवासका समाचार 'आज' में प्रकाशित हो चुका है। पर उसमें एक घटनाका उल्लेख नहीं किया गया जो स्वर्गीया भगवती देवीके स्वभाव, विश्वास और मानसिक महानतापर ऐसा प्रकाश डालती है जैसा उनके जीवनके और किसी कार्यसे नहीं पड़ता।

श्रीशिवप्रसादजीको रक्तसञ्चार बढ़नेकी बीमारी बहुत दिनसे है जिससे बहूजी बड़ी चिन्तित रहती थीं और उनकी कुण्डली ज्योतिषियोंको दिखाया करती थीं। गत मार्गशीर्षमें उन्हें पता चला कि फाल्गुन शुक्लमें गुप्तजीको भयंकर अरिष्ट है। कई ग्रह, जैसे सूर्य, शनि, बुध, शुक्र और चन्द्र मृत्युस्थानमें एकत्र हो रहे हैं। काशीके कई प्रमुख ज्योतिषियोंको बहूजीने कुण्डली दिखायी। सबने एक स्वरसे (शब्दोंका हेर-फेर करके) यही कहा कि इस योगसे गुप्तजीका बचना असम्भव है।

यह जानकर बहूजीकी जो अवस्था हुई उसका वर्णन करना कठिन है। वे इस धुनमें लगीं कि इस भीषण अरिष्टका निवारण किस प्रकार हो। पण्डित लोग पूजा-पाठ, जप-दान इत्यादि बताते थे पर प्रबल मारकेशोंको देखकर कोई साहसपूर्वक यह वचन नहीं देता था कि ऐसा करनेसे गुप्तजीकी मृत्यु टल ही जायगी।

बहूजीका एक महात्मासे परिचय था जो दक्षिणमार्गी सिद्ध तान्त्रिक हैं। उनसे भी उन्होंने अपना कष्ट निवेदन किया और उपाय पूछा। महात्माने कहा—'एक प्रयोग मैं बता सकता हूँ जिससे गुप्तजी तो निश्चयरूपेण बच जायँगे पर तुम्हारे ऊपर आ बनेगी। तुम्हारे बचनेमें सन्देह है। गुप्तजीका तो एक बाल भी न बाँका होगा पर तुम प्रयोग समाप्त होते-होते बीमार पड़ जाओगी, फिर ईश्वर ही तुम्हारी रक्षा करे।'

बहूजीने महात्मासे इस प्रयोगको जाननेका बड़ा हठ किया। महात्मा उन्हें बराबर चेतावनी देते गये कि इस कार्यमें तुम्हें अपने लिये पूरा खतरा है, मत करो। पर बहूजीने अपना हठ न छोड़ा। बहूजीने जब बहुत बल बाँधा, यहाँतक कहा कि मैं अपनी आयु सहर्ष पतिको भेंट करना चाहती हूँ, तब महात्माने लाचार होकर बहूजीको प्रयोग बताया।

अन्तमें वही हुआ जैसा महात्माने कहा था। इस दुर्दान्त अरिष्टके समय, जब कि मृत्यु ही अवश्यम्भावी थी, शिवप्रसादजीकी एक उँगलीमें भी पीड़ा न हुई, और बहूजी अनुष्ठान समाप्त होनेके ५-६ दिन पहलेसे ही बीमार पड़ गयीं।

पर उन्होंने किसीसे कहा नहीं, बराबर छिपाये रहीं। स्नान, हविष्यान्न भोजन इत्यादि कठिन नियमोंके साथ अनुष्ठान चलाती गयीं। पूर्णाहुति होकर जिस दिन कुमारीपूजन, ब्राह्मणभोजन इत्यादि था उस दिन उन्हें १०३ डिगरी ज्वर चढ़ा था।

इसके बाद फिर वे उठ नहीं सकीं। आरम्भमें आयुर्वेदिक, फिर एलोपैथिक और अन्तमें होमियोपैथिक चिकित्सा हुई, पर अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही गयी।

महात्माने कह रक्खा था कि अनुष्ठान समाप्त होनेपर भी, जबतक गुप्तजीका अरिष्टकाल बीत न जाय, तुम बताये हुए मन्त्रका जप १०८ बार सबेरे और इतनी ही बार रात्रिमें नियमितरूपसे करते जाना। इस आज्ञाका बहूजीने अक्षरशः पालन किया। १०३-१०४ डिगरी ज्वर चढ़ा रहता था पर वे उठकर, चारपाईसे उतरकर, बैठकर, सविधि—अंगन्यास, करन्यास आदि करके दोनों समय जप कर लेती थीं। जब उठने बैठनेसे लाचार हो गयीं तब महात्माने लेटे-लेटे ही जप कर लेनेकी अनुमति दी। यह जप वे अपनी मृत्युके दो दिन पूर्वतक अर्थात् जबतक होश बना रहा, करती गयीं।

एक बात विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। बहूजीकी बीमारी जब बहुत बढ़ गयी थी उसके कुछ पूर्व-

से ही महात्मा उनसे कहते आ रहे थे कि चाहो तो अब भी जप करना छोड़ दो। जप छोड़ते ही तुम अच्छी हो जाओगी। पर उन्होंने एक दिन भी जप नहीं छोड़ा। जो आयु पतिको दे चुकी थीं उसे वापस लेनेका विचार वह सती कैसे करती? एक दिन इन्हीं शब्दोंमें उन्होंने महात्माको उत्तर दिया—"महाराज! आपकी कृपासे मैंने उन्हें बचा लिया है, अब तो मैं उनके कंधोंपर झूमचती हुई जाऊँगी।" इस 'झूमचती हुई' को याद करके अब वे महात्मा भी कभी-कभी रो पड़ते हैं।

अनुष्ठानका क्रम

अनुष्ठान आरम्भ—पौष कृष्ण ५ (२१ दिसम्बर सन् ३७)।

अनुष्ठान समाप्त—माघ शुक्ल १५ (१४ फरवरी सन् ३८)।

अरिष्ट आरम्भ—फाल्गुन शुक्ल ९ (१० मार्च १९३८)।

अरिष्ट समाप्त—चैत्र कृष्ण ३० (३१ मार्च १९३८)।

बहूजीने कुल ४ अनुष्ठान किये—प्रत्येक दस-दस दिनका था।

पाँचवाँ अनुष्ठान ठीक अरिष्टके समयपर करनेवाली थीं, पर चौथा अनुष्ठान समाप्त करते-करते ही बीमार पड़ गयीं। इसलिये पाँचवाँ अनुष्ठान न कर सकीं। वह फिर स्वयं महात्माजीने किया।

[आरम्भ—फा० शु० ४ (७ मार्च १९३८)। समाप्त—चैत्र शु० ६ (६ अप्रैल १९३८)।]

बहूजीने नृसिंह भगवान्‌का अनुष्ठान किया था और महात्माने महारुद्रका।

बहूजीने घरपर रात्रिमें ९ से १२ तक अनुष्ठान किया था और महात्माने महल्ला सारनमें शिवप्रसादजीके बागमें।

बहूजी दिनमें जौकी रोटी मूँगकी दाल खाती थीं। रात्रिमें केवल दूध और फल। चौकीपर या जमीनपर सोती थीं। पान, सुरती, जो सदासे खाती थीं, छोड़ दिया था।

प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अनुमान कर सकता है कि जिस महिलाने यह कार्य इतनी धीरता और दृढ़ताके साथ, सामने नाचनेवाली मृत्युकी अवहेला करके, प्रसन्न चित्तसे किया उसका हृदय कितना विशाल था। किसी आवेशमें सहसा जान दे देना सहज है पर शान्त चित्तसे लगातार पतिकी हित-चिन्तना करते हुए अपने लिये मृत्युका आवाहन करते रहना, और वह भी हँसते हुए, महासतीका ही कार्य हो सकता है। महीनों कष्ट उठाया पर एक बार भी मुँहसे प्रयोगकी बात न निकाली, महात्माजीके प्रलोभन देनेपर भी अपने व्रतसे विचलित नहीं हुईं। अन्तमें पतिका भला करके, भगवद्गुण श्रवण करते-करते, शान्तचित्तसे स्वर्गलोकको सिधार गयीं।

ऐसे प्रयोगोंसे कुछ होता है अथवा नहीं, यह विचारणीय विषय नहीं है। सती भगवती देवीका इसपर विश्वास था और यह जानकर भी कि इससे अपनी जीवनहानि होगी उन्होंने हँसते-हँसते प्रयोग किया और ३-४ महीने कष्ट उठाते रहनेपर भी एक बार भी इसके लिये पश्चात्तापका शब्द मुँहसे नहीं निकाला। केवल प्रयोग करनेकी अपेक्षा यह काम अधिक कठिन है और उस पुण्यात्माकी महत्ताका दर्शक है।

इस प्रयोगकी बात सेवाउपवनके बहुत कम लोग जानते थे। शिवप्रसादजीको तो उनकी मृत्युके बाद इसका पता लगा। मुझे दो चार दिन पहले मालूम हुआ था। शिवप्रसादजी रोकर कहते थे कि मुझे मालूम होता तो कभी न करने देता। उनकी दृष्टिसे उनका यह कथन ठीक ही है पर बहूजीकी दृष्टिसे उन्होंने जो किया क्या वही उचित नहीं था? उससे उनकी आत्माकी जिस महत्ताका परिचय मिलता है, ईश्वर करे वह भारतके घर-घरमें दिखायी दे।

['आज' से उद्धृत उपर्युक्त लेखसे हिन्दू-नारीके अनुपम त्याग, आदर्श पातिव्रतधर्म और ऋषियोंके अनुभूत शास्त्रीय प्रयोगोंकी महत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है। भारतके पवित्र सतीधर्मको कुसंस्कार बतानेवाले और हिन्दूशास्त्रोंको असत्य माननेवाले पश्चिमीय दूषित भावोंसे प्रभावित हमारे आजके भारतीय भाई-बहिन ऐसी घटनाओंपर विचार करके अपने विचारोंको बदल सकें तो बहुत उत्तम हो।—सम्पादक]

कामके पत्र

(१)

श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ होनेपर भी भगवत्कृपासे उसीको हो सकती है और सहज ही हो सकती है जो वास्तवमें चाहता है। चाहता वही है जो प्रेमकी कीमतमें सर्वस्व अर्पण करनेको तैयार है। यद्यपि भगवत्प्रेम किसी कीमतसे नहीं मिलता क्योंकि वह अमूल्य है।

'कैवल्य'की कीमत भी उसे खरीदनेके लिये पर्याप्त नहीं है; यों कहना चाहिये कि भगवत्प्रेम खरीदा ही नहीं जा सकता। वह उसीको मिलता है, जिसको कृपा करके भगवान् देते हैं, और देते उसको हैं जो सर्वस्व उनके चरणोंपर न्योछावर करके भी अपनेको प्रेमका अपात्र मानता है, और पल-पलमें प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमपर मुग्ध होता रहता है। किसी भी उपायसे प्रेम नहीं मिलता और न उसके लिये समयकी ही शर्त है। प्रेमके मार्गमें किसी भी शर्तके लिये गुंजाइश नहीं है। यहाँ तो बिना शर्तका समर्पण है। सब कुछ दे डाले, तन-मन अर्पण कर दे। मुरलीकी भाँति हृदयको शून्य कर दे और बदलेमें कुछ भी न चाहे। चाहे तो यही चाहे कि इस शून्य हृदयका भी उस प्रेमास्पदको पता न लग जाय। क्योंकि शून्य होनेपर भी यह प्रेमके योग्य नहीं है। उसका पवित्र प्रेम यहाँ आवेगा, इस हृदयमें उसका प्रवेश होगा तो उस प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी। प्रेमके लिये सर्वथा अयोग्य मुझको प्रेम न देनेमें प्रभुके प्रेमकी शोभा है, परन्तु वह परम प्रेमास्पद इतनेपर भी न जाने क्यों मुझसे प्रेम करता है, क्या वह स्वयं अपनी प्रेमप्रतिष्ठाको भूल गया है, जो मुझ-सरीखे त्यागकी स्मृति रखनेवाले त्यागाभिमानियोंकी ओर निरन्तर प्रेमदृष्टिसे देखता है और मुझमें भी प्रेमका अस्तित्व मानता है। स्वाभाविक ही सर्वार्पणके पश्चात् जब इस प्रकारका भाव होता है, तब भगवान्‌के प्रेमका पवित्र प्रादुर्भाव हृदयमें होता है। प्रेम तो प्रत्येक जीवके साथ भगवान्‌का दिया हुआ है ही, वह विषयानुरागके दृढ़ और मोटे आच्छादनसे ढका है; विषयासक्ति, ममता और अहंकारके काले पर्देसे आवृत है। इस आच्छादन और आवरणके हटते ही वह निर्मल और पवित्ररूपमें प्रकट हो जाता है। यह प्राकट्य ही प्रादुर्भाव है। अतएव जबतक विषयासक्ति, ममता और अहंकार दूर न हो, तबतक भगवान्‌के गुण, माहात्म्य, सौन्दर्य-माधुर्य, कारुण्य आदिके श्रवण-मननसे विषयासक्तिको, परम आत्मीयभावके निरन्तर अनुचिन्तन और निश्चयसे विषय-ममत्वको, और शरणागतिके भावसे अहंकारको हटाते और मिटाते रहना चाहिये। साथ ही भगवच्चिन्तनका सतत अभ्यास करना चाहिये। प्रेम कितने दिनमें मिल सकेगा, इस बातकी चिन्ता छोड़कर उनका निरन्तर चिन्तन कैसे होता रहे, इसीकी चिन्ता करनी चाहिये। नामजप, गुणानुवाद, श्रवण-मनन, स्वरूपका ध्यान, ये सभी इसमें सहायक हैं। परन्तु निर्भरताका भाव बहुत अधिक सहायक होता है। निर्भरताका अर्थ प्रेम-प्राप्तिकी उत्कण्ठाका ह्रास नहीं है। उत्कण्ठा बढ़ती रहे, भगवान्‌के प्रेमके लिये प्राण तड़पते रहें, हृदयमें विरहाग्निकी ज्वाला धधक उठे। परन्तु साधन एकमात्र निर्भरता हो। अपने पुरुषार्थका बल कुछ भी न रहे। प्राणोंकी आकुल तड़प, हृदयकी प्रदीप्त अग्नि ही निरन्तर तड़पाती और जलाती रहे, और वह तड़पन और ताप ही जीवनका आधार भी रहे। रक्त-मांसको खा डालनेवाली यह आग ही प्राणोंकी रक्षा करती रहे। बड़े सौभाग्यसे इस आगमें जलते हुए,

इसी आगको प्राणाधार बनानेका सुअवसर प्राप्त हुआ करता है। उस समय यही चाह हुआ करती है कि प्राणाधार ! यह आग कभी न बुझे और उत्तरोत्तर बढ़ती रहकर,—मुझे जला-जलाकर सुख पहुँचाती रहे। प्रेमकी प्राप्तिका तो मुझे अधिकार ही नहीं। मेरा तो अधिकार बस जलनेका है। जलता ही रहूँ !

(२)

आपका कृपापत्र मिल गया था, पुनः दूसरा पत्र भी मिल गया, उत्तर लिखनेमें बहुत विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें। आपने पत्रके आरम्भमें ही लिखा कि 'आपको तत्त्वदर्शी ज्ञानी होनेसे मैं साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणामसहित नम्रतापूर्वक प्रश्न करता हूँ।' सो प्रश्न करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं है, आप इच्छानुसार पूछ सकते हैं और अवकाश मिलनेपर मैं अपनी तुच्छ मतिके अनुसार उत्तर भी दे सकता हूँ। परन्तु मैं कोई तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष नहीं हूँ। इसलिये उस दृष्टिसे प्रणामके सर्वथा अयोग्य हूँ। सर्वभूतस्थित भगवान्‌के नाते आप प्रणाम करते हों तो उसी नाते मैं भी आपको करता हूँ।

आपका पहला प्रश्न है—ईश्वरके शरणमें जाना कैसे बनता है, इसका उत्तर है कि सब प्रकारसे अपने सर्वस्वको तन, मन, धन, कामना, वासना, बुद्धि, अहंकार सबको—सब प्रकारसे परमात्मामें अर्पण कर देनेसे शरणागति बनती है। इसके प्रारम्भिक साधन हैं—१—भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य (तन, मन, वाणीसे) करनेका दृढ़ निश्चय, २—भगवान्‌के प्रतिकूल समस्त कार्यों और भावोंका (तन, मन, वाणीसे) सर्वथा त्याग, ३—भगवान्‌में ही परम विश्वासकी चेष्टा, ४—भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक, प्रभु, प्रेमास्पद, गति, आश्रय, ध्येय और लक्ष्य मानना, ५—भगवान्‌के लिये ही सब कार्य करना, ६—सब कार्योंके होनेमें अपने पुरुषार्थको कुछ भी न मानकर भगवान्‌की ही शक्तिके द्वारा होते हुए समझना और ७—सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते चार भाव हृदयमें प्रकट होते हैं, और उन्हींके अनुसार क्रिया होने लगती है। वे चार हैं—१—भगवान्‌का परम प्रेमके साथ निरन्तर चिन्तन और तज्जन्य परमानन्द-का पल-पलमें अनुभव, २—भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य करनेका स्वभाव, ३—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें (सुख-दुःख, हानि-लाभ सबमें) परमानन्द, और ४—सर्वथा निष्कामभाव यानी कामनाका बिल्कुल अभाव। इसी अवस्थामें परम शान्ति—शाश्वती शान्ति मिलती है। यह परमोच्च दशा है, इस अवस्थामें उस आधारमें स्थित होकर भगवान् ही लीला करते हैं।

प्रश्नका दूसरा भाग है—तीव्रतर वैराग्य आदिके द्वारा शाश्वती शान्ति मिल जानेपर भी अवश्य होनेवाले प्रारब्ध कर्मके मिटानेकी यदि कोई युक्ति होती तो राजा नल, धर्मावतार युधिष्ठिर और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी इत्यादि समर्थ पुरुष राज्यसे भ्रष्ट होकर क्यों वन-वन फिरकर अनन्त दुःख उठाते। अतः शाश्वती शान्तिवाले ज्ञानीका भी प्रारब्ध कर्म नहीं मिट सकता ऐसा श्रुति कहती है। तब शाश्वती शान्ति मिलना-न-मिलना एक-सा हो गया। अतएव तत्त्व-ज्ञानसे यथार्थ शान्ति मिलनेपर भी प्रारब्ध कर्मद्वारा उस शान्तिमें विघ्न हो जाता है, या प्रारब्ध कर्मसे उसमें कोई विघ्न नहीं होता ? यदि नहीं होता तो फिर ऐसा पुरुष प्रारब्ध कर्म कैसे भोगता है ?

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहले तो यह बात कहनी है कि—

अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखे न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

यह श्लोक केवल कर्मकी प्रबलता दिखलानेके लिये ही है। वैसे तो इस श्लोकका सिद्धान्त सर्वथा

माननेयोग्य नहीं है। क्योंकि इसमें नल और युधिष्ठिरके साथ ही भगवान् श्रीरामका नाम लिया गया है। यह सिद्धान्त सर्वथा स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌का अवतार किसी कर्मफलसे नहीं होता। हम लोगोंके देहधारणमें—जन्ममें जैसे प्रारब्ध कारण है, वैसे भगवान्‌के जन्ममें नहीं है, वे तो अपनी लीलासे ही जन्म धारण करते हैं। वास्तवमें वह जन्म ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि वह परम मंगल-विग्रह पहले नहीं था, अब माताके उदरमें रजवीर्यके संयोगसे बन गया। वह तो नित्य है और समय-समयपर अपनी लीलासे ही प्रकट होता है। यह प्राकट्य ही उनका जन्म है और फिर लीलाके अनन्तर अन्तर्धान हो जाना ही उनका देहावसान कहा जाता है। वस्तुतः वे जन्म-मृत्युसे रहित हैं। काल-कर्मसे अतीत हैं।

वे स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

मैं सर्वथा अविनाशीस्वरूप और सर्वथा अजन्मा होते हुए ही तथा सब ब्रह्माण्डोंका परम ईश्वर होते हुए ही अपनी प्रकृतिके द्वारा अपनी योगमायासे—अपनी लीलासे—प्रकट होता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, और जो पुरुष इस जन्मकर्मके तत्त्वको जान लेता है वह देहत्यागके अनन्तर दूसरे जन्मको न प्राप्त होकर मुझको ही प्राप्त होता है।

जिनके जन्मकर्मके तत्त्वको जान लेनेसे ही अपुनर्भव (मोक्ष) मिल जाता है, उन भगवान्‌को प्रारब्ध कर्मवश वनमें बाध्य होकर कष्ट सहन करना पड़ा यह कहना एक प्रकारसे भूल ही प्रकट करना है। भगवान् श्रीरामचन्द्रका युवराजपद-पर प्रतिष्ठित न होकर वनमें जाना उनकी दिव्यलीला ही थी। किसी प्रारब्धका भोग नहीं। रहे नल और युधिष्ठिर, सो यदि ये महानुभाव तत्त्वज्ञानी पुरुष थे तब तो वनमें रहनेपर भी इन्हें वास्तवमें कोई अशान्ति नहीं हुई। और यदि तत्त्वज्ञानतक नहीं पहुँचे थे तो यथायोग्य अशान्ति होनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इन दोनोंमें भी युधिष्ठिरका दर्जा नलसे ऊँचा प्रतीत होता है। कुछ भी हो, इस श्लोकको प्रमाण मानकर शाश्वती शान्तिमें विघ्न मानना सर्वथा अप्रासंगिक है। इतनी बात अवश्य सत्य है कि प्रारब्ध कर्मका प्रतीकार नहीं हो सकता। सञ्चितका नाश हो जाता है। क्रियमाण भी अहंभावका अभाव तथा सहज निष्काम-भाव होनेके कारण भूँजे हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु प्रारब्धका नाश भोग हुए बिना नहीं हो सकता। किसी प्रबल नवीन कर्मके तत्काल सञ्चितमेंसे प्रारब्ध बन जानेके कारण फलदानोन्मुख प्रारब्धका प्रवाह रुक सकता है, परन्तु मिट नहीं सकता। यह सत्य होनेपर भी तत्त्वज्ञानी-की शाश्वती शान्तिसे इसका क्या सरोकार है! कर्मोंका अस्तित्व ही अज्ञानमें है, अज्ञानका सर्वथा नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानकी या शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। और शाश्वती शान्तिमें अज्ञान नहीं रहता, अतएव शाश्वती शान्तिको प्राप्त आनन्द-मय पुरुषमें एक सम ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें शरीर-में होनेवाले भोगोंसे उसकी नित्यैकशान्तिमें कोई बाधा नहीं आती। वह सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र सम होता है। सुख-दुःख, मानापमान, जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष शोक, शीत-उष्ण, किसी भी द्वन्द्वमें वह विषम नहीं देखता। वह

एकमात्र ब्रह्मको ही जानता है, ब्रह्ममें ही रहता है, और ब्रह्म ही बन जाता है। ऐसी अवस्थामें न तो जगत्‌की दृष्टिसे होनेवाला भारी-से-भारी दुःख उसे विचलित कर सकता है, और न जगत्‌की दृष्टिसे प्रतीत होनेवाला परम सुख ही उसे सुखके विकारसे क्षुब्ध कर सकता है। वह सदा सम, अचल, कूटस्थ, स्वरूपस्थित रहता है। इसी बातको समझानेके लिये भगवान्‌ने जहाँ-जहाँपर गीतामें तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ-वहाँ समतापर बड़ा जोर दिया है। इसीको प्रधान लक्षण बतलाया है, देखिये गीता अध्याय २ श्लोक ५६, ५७; अ० ५। १८, १९; अ० ६। २९, ३०, ३१; अ० १२। १३, १७, १८, १९; अ० १४। २२, २४, २५ आदि, आदि। शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषकी शान्ति वह होती है जो सर्वोच्च है, जो किसी कालमें किसी भी कारणसे घटती नहीं, नष्ट नहीं होती। वह नित्य है, सनातन है, अचल है, आनन्दमयी है, सत् है, सहज है, अकल है और अनिर्वचनीय है। बस वह परमात्माका स्वरूप ही है। जो शान्ति किसी शारीरिक स्थितिके कारण विचलित होती है, बदलती है या नष्ट होती है, वह यथार्थमें शान्ति ही नहीं है, वह विषयप्राप्तिजनित क्षणिक सुखस्वप्नसे प्राप्त होनेवाली चित्तकी अचञ्चलता है, जो दूसरे ही क्षण नवीन कामनाके जागृत होते ही नष्ट हो जाती है। भक्तकी दृष्टिसे कहा जाय तो भी यही बात है। भक्त सुख और दुःख दोनोंमें अपने भगवान्‌की मूर्ति देखता है, वह अपने भगवान्‌को कभी विना पहचाने नहीं रहता। 'वज्रादपि कठोर' और 'कुसुममे भी कोमल' दोनोंमें ही वह अपने प्रियतमको निरख-निरखकर उसकी विचित्र लीलाओंको देख-देखकर नित्य निरतिशय आनन्दमें निमग्न रहता है, उसकी उस आनन्दमयी शान्तिको नष्ट करनेकी किसमें सामर्थ्य है ? भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६। २२)

उस परम लाभके प्राप्त हो जानेपर उससे अधिक अन्य कोई भी लाभ नहीं जँचता और उस अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह सर्वत्र सर्वदा अपने हरिको ही देखता है। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६। ३०)

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषके लिये कोई कर्म रहता ही नहीं। प्रारब्धसे शरीर रहता है परन्तु उसमें अहंता और कर्ता-भोक्ता भाववाले किसी धर्मीका अभाव होनेसे क्रियामात्र होती है वस्तुतः उसको कोई भोगता नहीं। उसके कर्मोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं। कर्मोंका समस्त बोझ उसके सिरसे उतर जाता है। प्रारब्धके शेष हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है।

अब एक प्रश्न आपका यह है कि गीता अध्याय २। ६० में जो यह कहा गया है कि प्रमथनकारिणी इन्द्रियाँ विपश्चित् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं, वह विपश्चित् पुरुष शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुष है या अन्य ? इसका उत्तर एक तरहसे ऊपर आ चुका है, थोड़े शब्दोंमें यह पुनः समझ लीजिये कि शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुष ब्रह्ममें—भगवान्‌के स्वरूपमें नित्य एकत्वरूपसे अचल रहता है। वह चलायमान होता ही नहीं। यहाँ विपश्चित् शब्दसे बुद्धिमान् पुरुष समझना चाहिये। जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् तो है परन्तु भगवत्प्राप्त नहीं है, उसको

बुद्धि यदि मनके अधीन हुई रहे तो उसके मनको इन्द्रियाँ जबरदस्ती खींच लेती हैं।

(३)

आपके पत्र आये थे, मैं उत्तर समयपर नहीं दे सका था। एक पत्रमें आपने इस आशयकी बात लिखी थी कि 'किसी समय मेरे किसी संकल्पसे आपके मनमें बार-बार उठनेवाली एक बुरी वासना शान्त हो गयी थी। इसलिये अब मैं पुनः ऐसा संकल्प करूँ जिससे आपकी कोई दूसरी बुरी वासना भी शान्त हो जाय।' इसपर मेरा यह निवेदन है कि यदि उस बार ऐसा हुआ तो इसमें प्रधान कारण भगवत्कृपा और आपकी श्रद्धा है। मेरे संकल्पमें मुझे ऐसी कोई शक्ति नहीं दीखती जिसके बलपर मैं कुछ कर सकता हूँ, ऐसा कह सकूँ। हाँ, आपके मनसे बुरी वासना नाश हो जाय, यह मैं भी चाहता हूँ। आप भगवत्-कृपापर विश्वास करें, और श्रद्धापूर्वक ऐसा निश्चय करें कि भगवान्की दयासे अब मेरे मनमें अमुक बुरी वासना कभी न उठे, तो मेरा विश्वास है कि यदि आपका निश्चय दृढ श्रद्धायुक्त होगा तो आपके मनसे उक्त बुरी वासना हट सकती है। श्रीभगवान्की शक्ति अपरिमित है, जो मनुष्य अपनेको भगवान्पर सर्वतो-भावेन छोड़ देता है, अपना सारा बल भगवान्के चरणोंमें न्यौछावर कर भगवान्के बलका आश्रय कर लेता है, भगवान्की अचिन्त्य महिमामयी शक्तिके द्वारा सुरक्षित होकर वह समस्त विरोधी शक्तियोंपर विजयी हो सकता है। निर्भरता अवश्य ही सत्य, पूर्ण और अनन्य होनी चाहिये। फिर उसे कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

सत्यका महत्त्व समझमें आ जानेके बाद जरा-सा भी सत्यका अपलाप बहुत ही असह्य मालूम होता है। सत्यके द्वारा प्राप्त होनेवाले अतुलनीय आनन्द और शान्तिका आस्वादन जबतक नहीं होता तभीतक असत्यकी ओर प्रवृत्ति होती है। श्रीभगवान्में पूर्ण विश्वास होनेपर भी असत्य छूट जाता है। आसक्ति, मोह और प्रमादवश ही मनुष्य झूठ बोलता है, और उसके द्वारा सफलताकी सम्भावना मानता है। मनोरञ्जनके लिये झूठ बोलना प्रमाद है। स्वभाव बिगड़ जानेपर असत्य छूटना अवश्य ही कठिन हो जाता है परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि वह छूट ही नहीं सकता। वास्तवमें आत्मा सत्स्वरूप है, आत्माका स्वरूप ही सत्य है, अतएव असत्य आत्माका स्वभाव नहीं है। भूलसे इस दोषको आत्माका स्वरूप मान लिया जाता है। जो बाहरसे आयी हुई चीज है, उसको निकालना असम्भव कदापि नहीं है, पुरानी होनेकी वजहसे कठिन अवश्य है। भगवान्की कृपापर भरोसा करके दृढ़तापूर्वक पुराने अभ्यासके विरुद्ध नया अभ्यास किया जाय, और बीचमें ही घबराकर छोड़ न दिया जाय तो असत्यका पुराना अभ्यास निश्चय ही छूट जा सकता है। इस बातपर अवश्य विश्वास करना चाहिये। दुर्गुण और दुर्भाव आत्मा या अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, स्वाभाविक नहीं हैं, अतएव इनको नष्ट करना यथायोग्य परिश्रमसाध्य होनेपर भी सर्वथा सम्भव है।

यहाँ एक बात यह सत्यके स्वरूपके सम्बन्धमें जान रखनी चाहिये कि सत्य वही है, जिसमें किसी प्रकारका कपट न हो और जो निर्दोष प्राणीका अहित न करता हो। मानो सत्यके साथ सरलता और अहिंसाका प्राण और जीवनका-सा मेल है। इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। वाणीसे शब्दोंका उच्चारण ज्यों-का-त्यों होनेपर भी यदि कपटयुक्त भावभंगीके द्वारा सुननेवालेकी समझमें यथार्थ बात नहीं आती तो वह वाणी सत्य नहीं है, इसके विपरीत शब्दोंके उच्चारणमें एक-एक अक्षरकी या वाक्यकी यथार्थता न होनेपर भी, यदि सुननेवालेको ठीक समझा देनेकी नीयत, इशारों या भावोंका प्रयोग करके

उसे यथार्थ समझा देनेकी सरल चेष्टा होती है तो वह सत्य है। उच्चारणमें वाणीकी प्रधानता होनेपर भी सत्यका यथार्थ सम्बन्ध मनसे है। इसी प्रकार किसी निर्दोष जीवका अहित करनेकी इच्छा, या वासनासे जो सत्य शब्दोंका उच्चारण किया जाता है, वह भी परिणाममें असत् और अनिष्ट फलका उत्पादक होनेसे असत्यके ही समान है। मन, वचन तथा तनमें कहीं भी छल न होकर जो सरल भाषण होता है, वही अहिंसायुक्त होनेपर सत्य समझा जाता है।

क्रोधके नाशके प्रधान उपाय दो हैं। १ सबमें भगवान्‌को देखना, और २ सब कुछ भगवान्‌का विधान समझकर प्रत्येक प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करना, और भी अनेकों उपाय हैं। उनसे सावधानीके साथ काम लेना चाहिये। सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका अभ्यास करना चाहिये और जिनसे व्यवहार पड़ता हो, उनको भगवान्‌का स्वरूप समझकर पहले मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये, तदनन्तर यथायोग्य निर्दोष व्यवहार करना चाहिये। श्रीभगवान् हैं, यह बात याद रखनेपर व्यवहारमें निर्दोषता अपने-आप ही आ जायगी।

धनका लोभ न रखकर कर्तव्य-बुद्धिसे या इससे भी उच्च भावना हो तो भगवान्‌की सेवाके भावसे धनोपार्जनके लिये चेष्टा करनी चाहिये। यह भाव रहेगा तो दोष नहीं आ सकेंगे। धनोपार्जनमें पापोंका प्रवेश लोभके कारण ही होता है—यह याद रखना चाहिये। काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें इस बातकी स्पष्ट घोषणा की है। अतएव इन तीनोंसे यथासाध्य बचना चाहिये।

परधन और परस्त्रीमें विषबुद्धि होनी चाहिये। उन्हें जलती हुई आग या महाविषधर सर्प समझकर उनसे दूर—अतिदूर रहना चाहिये। सत् हेतुसे भी परधन या परस्त्रीमें प्रीति होनेपर गिरनेका डर रहता है, क्योंकि ये ऐसी ही वस्तुएँ हैं। जरा-सी दूषित आसक्ति उत्पन्न होते ही तो पतन होते देर नहीं लगती। इसीलिये साधकोंके लिये शास्त्रोंमें इनका 'स्व' होनेपर भी वर्जन ही श्रेयस्कर बतलाया है। 'पर' तो प्रत्यक्ष नरकानल है ही। अतएव बार-बार दोष और दुःखबुद्धि करके परस्त्री और परधनकी ओर चित्तवृत्तिको कभी जाने ही नहीं देना चाहिये।

एक बात और है वह यह कि श्रीभगवान्‌की दयापर विश्वास करके उनका स्मरण करते रहना चाहिये। भगवान्‌पर निर्भर हो जानेसे सब विपत्तियाँ अपने आप ही टल जाती हैं। भगवान् कहते हैं 'तुम मुझमें मन लगाये रक्खो, फिर मेरी कृपासे सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको सहज ही लाँघ जाओगे।' भगवान्‌की इस आश्वास वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(४)

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। स्वभावदोषसे उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपके चित्तकी स्थितिका हाल जानकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। धन होनेसे चित्तमें शान्ति नहीं होती। जब धन नहीं होता तब मनुष्य समझता है कि मैं धनी हो जाऊँगा तब सुखी हो जाऊँगा। परन्तु ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों अभाव बढ़ते हैं। अभावोंकी पूर्तिके लिये चित्त अशान्त रहता है, और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' अशान्तको सुख कहाँ? आपके घरमें धन-पुत्रकी प्रचुरता, मनमाने भोग आपको सहज ही प्राप्त हैं, परन्तु अशान्तिकी आग तो और भी जोरसे धधकती है। आपके पत्रको पढ़कर शास्त्रकारोंके ये वाक्य प्रमाणित हो गये कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषां त्यजेत्॥

भोगके द्वारा कामनाकी निवृत्ति नहीं होती, जैसे अग्निमें घी या ईंधन पड़नेपर वह और भी जोरसे जलती है, इसी प्रकार भोगरूपी ईंधनसे कामाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है । पृथ्वीमें जितना धान्य, यव, सुवर्ण, पशु, स्त्री आदि विषय हैं, सब-का-सब एक आदमीको मिल जाय तब भी उसकी प्यास नहीं बुझती । अतएव इस प्यासको ही मिटाना चाहिये । बुढ़ापेमें सब कुछ जीर्ण हो जाता है, परन्तु एक यह तृष्णा जीर्ण नहीं होती । "तृष्णैका न जीर्यते ।" इस कामाग्निमें तो वैराग्यरूपी जलधारा ही छोड़नी चाहिये । आपके चित्तकी अशान्ति मिटनेका सहज उपाय मेरी समझसे यह है कि घर-धनसे ममता छोड़कर भगवान्‌को अपना मानिये और यथासाध्य उनके नामका प्रीतिपूर्वक जप कीजिये । आपका वश चलता हो तो धनको गरीबोंकी सेवामें लगाइये । जो भूखोंको अन्न देता है, रोते हुओंकी सेवा करके उनके आँसू पोंछता है, रोगीके लिये दवा, पथ्य और सेवाकी व्यवस्था करता है, स्वयं सेवा-शुश्रूषा करता है, अभावग्रस्तोंके अभावको धनके द्वारा मिटाता है, ऊपरसे अच्छे बने हुए इज्जतदार गरीबोंकी गुप्त सेवा करता है, उसीका धन सार्थक है । इस सेवामें भी यह भाव रखना चाहिये कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ । भगवान्‌की चीज भगवान्‌के काममें लग रही है । भगवान्‌की बड़ी कृपा है जो उन्होंने इसमें मुझको निमित्त बनाया । किसीको कुछ देकर कभी अभिमान, एहसान या शासन नहीं करना चाहिये । मेरी तुच्छ सम्मतिके अनुसार आप यह साधन कीजिये । आपकी सब बातोंका प्रतिकार इसमें हो जायगा ।

१. धन-पुत्रादि विषयोंमें बार-बार दुःख-दोषदृष्टि, इनकी अनित्यता और क्षणभंगुरताका विचार । इनमें ममत्व अज्ञानवश आरोपित है, वास्तवमें ये मेरे नहीं हैं, ऐसा बार-बार विचार ।
२. शरीर मैं नहीं हूँ । इस शरीरके बननेके पहले भी मैं था, इसके नाशके बाद भी रहूँगा, नाम कल्पित है । मैं इनका द्रष्टा हूँ । इनके मान-अपमानसे मेरा मानापमान नहीं होता, और इनके नाशसे मेरा नाश नहीं होता, ऐसा विचार ।
३. प्रतिदिन गायत्रीकी २१ मालाका जाप ।
४. प्रतिदिन रातको एकान्तमें भगवत्प्रार्थना । प्रार्थना अपने शब्दोंमें हृदय खोलकर करनी चाहिये । चाहे हो वह मानसिक ही ।
५. सप्ताहमें एक दिन मौन और एकान्तमें रहकर भगवान्‌का ध्यान करनेकी चेष्टा करना । और सप्ताहभरकी अपनी दशापर विचार करके अगले सप्ताह और भी दृढ़ताके साथ साधनमार्गमें अग्रसर होनेका संकल्प करना ।
६. जिनसे मनोमालिन्य हो, उनसे सच्चे हृदयसे क्षमा माँग लेना और इसमें अपना अपमान न समझना ।
७. धन और पदके मानका यथासाध्य विचार-पूर्वक त्याग करना ।
८. सर्वदा सबमें भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करना । जिससे बोलनेका काम पड़े, उसमें पहले भगवान्‌के स्वरूपकी भावना करके उस भावना-को याद रखते हुए ही व्यवहार करना ।
९. सरकारी अफसरोंसे मिलना-जुलना कम कर देना ।
१०. अधिक मसालेकी चीज, और मिठाई न खाना ।
११. चापलूस, खुशामदी और अपनी झूठी बड़ाई करनेवालोंसे सम्बन्ध त्याग देना ।
१२. रोज उपनिषद्, महाभारत शान्तिपर्व, रामचरितमानस पढ़ना । श्रीमद्भगवद्गीता सर्वोत्तम है ।
१३. घरमें अपनेको दो दिनके अतिथिकी तरह समझना, मालिकीके अभिमानका त्याग ।
१४. ताश, सतरंज न खेलना ।
१५. कभी किसीसे कठोर वचन न कहना ।

पूज्य श्रीस्वामी भोलानाथजी महाराजके अनमोल उद्गार

एक आदमीकी जेबमें जवाहरात भरे पड़े हैं पर उसके हृदयमें नेकीके भाव नहीं, दूसरेके हृदयमें नेकीकी भावनाएँ हैं पर उसकी जेब खाली है। इनमेंसे पहले व्यक्तिको जवाहरातके बलपर सांसारिक सुख मिल सकते हैं पर वह जवाहरातके जरिये न तो उत्तम गति प्राप्त कर सकता है और न उसके सुखका ही भागी बन सकता है।

दूसरा आदमी गरीबीके कारण किसी हदतक अपने इस जीवनको दुःखमें काटता है परन्तु उसकी नेकियोंके बदलेमें परलोकके सम्पूर्ण सुख उसको अवश्य मिलेंगे। क्योंकि दुनिया जवाहरातसे खरीदी जा सकती है पर उत्तम गति तो नेकियों यानी सद्भावों-से ही मिल सकती है।

लोग सन्देह करते हैं कि 'परलोक ही नहीं है, फिर नेकीसे क्या लाभ ? परलोककी झूठी आशापर यहाँके सुख क्यों नष्ट किये जायँ ?' बात ठीक है, पर जहाँतक सन्देहकी बात है वहाँतक यह सम्भव है कि परलोक हो भी। जीवनका यह थोड़ा-सा हिस्सा जो हमें मनुष्य-जीवनके रूपमें प्राप्त हुआ है, किसी-न-किसी प्रकार सुखमें या दुःखमें स्वप्नकी तरह बीत ही जायगा। परन्तु यदि नेकियोंके बदलेमें परलोक (उत्तम गति) मिल गया तो फिर क्या कहना है ! उस समय तो अनन्त जीवनकी प्राप्ति होगी और आनन्दकी सीमा न रहेगी।

मान लें कि परलोक नहीं है परन्तु क्या किसी सद्भावशील मनुष्यका कोई शुभकार्य ही उसको अच्छी-से-अच्छी सांसारिक वस्तुकी अपेक्षा अधिक सुखदायी न होगा ?

एक आदमी जवाहरातको जेबमें ही रखता है, कभी उनको खर्च नहीं करता और न उनसे कोई लाभ ही उठाता है। लेकिन उसका हृदय इसी विचारसे प्रसन्न रहता है कि उसने असाधारण और बहुमूल्य वस्तुको अपने पास रख छोड़ा है। ऐसी स्थितिमें यदि उस लालची मनुष्यका विचारमात्र उसको सुखी बनाये हुए है तो क्या अच्छी भावनाओं-वाला व्यक्ति अपने किये हुए शुभकार्योंका विचार करके सुखी न होगा ?

जो व्यक्ति हानिको सामने रखता है, वही लाभ उठा सकता है। व्यापार करनेवाला यदि घाटेसे डरे तो उसे कभी फायदा हो ही नहीं सकता। लॉटरी (Lottery) में वही कामयाब होता है, जो अपने टिकटके खर्च होनेकी बातको पहले सोच लेता है। इसी प्रकार यदि अल्पकालीन जीवनके थोड़े-से सुखोंको छोड़ देनेसे सदा-सर्वदा बने रहनेवाले असीम सुखकी प्राप्तिका अवसर मिल जाय तो क्या हर्ज है ? गया वही, जिसे जाना था और यदि मिल गया तो एक अनमोल खजाना !

मेरे सद्गुरु भगवान् श्रीबाबाजी महाराज बहुधा परलोककी बातपर सन्देह करनेवाले लोगोंको यह उपदेश दिया करते हैं कि 'देखो, परलोक (उत्तम गति) की काल्पनिक आशाओंपर अपने वर्तमान जीवनको नष्ट न करो और न उसे इस तरह ही बिताओ कि जिसका परिणाम परलोकमें बुरा हो। सच्ची बात तो यह है कि परलोक एक विश्वसनीय वस्तु है और उसे (उत्तम गतिको) प्राप्त करनेके बदले कोई भी हानि उठा लेना किसी भी लाभसे कम नहीं है।'

ऐ बेखबर बकोश कि साहब खबर शवी।
ता राह बीं न बाशी कै राहबर शवी॥

ऐ भूले हुए, जाग ! उद्योग कर, जिससे तुझको सच्ची बातका पता लग जाय। जबतक तू मार्गको देखेगा नहीं तबतक मार्ग दिखानेवाला नहीं बन सकता। अर्थात् जबतक तू विनम्र-भावसे किसी सद्गुरुका शिष्य नहीं हो जायगा तबतक तू गुरु कैसे बन सकता है ?

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—क्या निराकारोपासकोंके लिये भी कीर्तन उपयोगी है ?

उत्तर—जप और कीर्तन दो वस्तु नहीं हैं। जो जप करता है वह कीर्तन भी कर सकता है। निराकारोपासकोंको श्रीभगवान्‌की सेवाका अधिकार नहीं है, परन्तु जप-कीर्तनमें पूर्ण अधिकार है। जप-कीर्तनसे भगवदाकारवृत्ति होती है। निर्गुण लक्ष्य हो या सगुण, दोनोंमें ही जप और कीर्तनसे तदाकारवृत्ति होती है। इसलिये जप-कीर्तन दोनों ही कर सकते हैं। साकारोपासक और निराकारोपासक—इन दोनोंसे जिज्ञासु विलक्षण है। जिज्ञासुके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन मुख्य है, कीर्तन गौण है। वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है परन्तु थोड़ी देरके लिये कीर्तन-जप करे तो इससे उसके लिये हानि नहीं है, जप-कीर्तन तो उसका सहायक ही होता है। किन्तु उपासकोंके लिये जप-कीर्तन मुख्य है। वर्तमानकालमें कुछ ऐसे उद्दण्ड जिज्ञासु होते हैं जो प्रणवका जप भी नहीं करते, फिर वे कीर्तन क्या कर सकते हैं ? ऐसोंके लिये हमें कुछ कहना नहीं है। वे दुनियाँकी बातें तो कर सकते हैं परन्तु कीर्तन नहीं कर सकते, जप नहीं कर सकते और ध्यान नहीं कर सकते।

प्रश्न—एक देवताका उपासक दूसरे देवताका नाम-कीर्तन तथा पूजादि कर सकता है या नहीं ?

उत्तर—अच्छी तरहसे कर सकता है। अपने इष्टदेवमें अनुराग होनेके लिये कर सकता है परन्तु तभीतक कर सकता है कि जबतक उसे अपने इष्टदेवमें पूर्ण अनुराग नहीं हो जाता। वैधी और गौणी भक्तितक तो सब कुछ कर सकता है परन्तु रागात्मिका भक्तिकी प्राप्ति होनेपर तो सब कुछ छूट जाता है।

प्रश्न—संकीर्तन—ज्ञानप्राप्तिमें कारण हो सकता है या नहीं। और हो सकता है तो किस प्रकार ?

उत्तर—ज्ञानेच्छु ज्ञानमार्गियोंके लिये कर्म और उपासना अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये होते हैं। कीर्तन भी कर्म-उपासनाके अन्तर्गत है। अतएव उससे उनके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, और शुद्धान्तःकरण होनेपर ज्ञानकी प्राप्ति होगी। किन्तु ज्ञानेच्छुका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, वह लक्ष्य तो प्रेमियोंका है। अतएव भगवत्-प्रेमियोंके लिये कीर्तन साधन है और साध्य भी है। तथा ज्ञानमार्गियोंके लिये वह अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये है।

प्रश्न—वर्णाश्रमधर्मका पालन क्यों आवश्यक है ?

उत्तर—वर्णाश्रमधर्म हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह ईश्वरका बनाया हुआ है, मनुष्यका नहीं। इसलिये इसका पालन आवश्यक है।

प्रश्न—हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पहले बुरे कर्म छोड़ो, अच्छे कर्म करो। हिंसा, असत्य, चोरी, परधन, परनिन्दा, मादक-द्रव्य (जैसे शराब, भाँग, तम्बाकू आदि) छोड़ो। जिसको शास्त्रने बुरा कहा है उसे छोड़ो, और उसके बाद निष्काम कर्म करो। आचरणकी आवश्यकता है। ज्यादा पढ़ने-लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। बकवादकी जरूरत नहीं है। काम करनेवालेको तो थोड़ा ही पढ़ना अच्छा है। शास्त्रार्थ करना हो तो ज्यादा पढ़े।

प्रश्न—श्रीश्रीजगन्नाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त बना है या नहीं ?

उत्तर—श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त बना है।

प्रश्न—यदि जगन्नाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त बना है तो फिर मन्दिरके ऊपर अश्लील चित्र क्यों बने हैं ?

उत्तर—बाहर अश्लील संसार चित्रित कर दिया गया है। दिखलाया गया है कि देखो यह संसार है और भीतर देखो मन्दिरमें भगवान् बैठे हैं। इसका त्याग करो, और उसको ग्रहण करो। तुम संसारमें रत हो, इसका त्याग किये बिना भीतरके अधिकारी नहीं हो सकते, देखो भीतर वैकुण्ठ है।

यह चरित्र जाने मुनि ज्ञानी। जो रघुबीरचरन रति मानी॥

विषयी पुरुषोंका संग विषयसे भी बुरा है। भोगी पुरुषोंके संगसे, विषयोंकी बात करते-करते तुम्हारा मन खराब हो जायगा। स्त्रियोंसे अनुराग करनेवालोंका संग तो अत्यन्त ही हानिकर है।

जहाँ वाद-विवाद है वहाँपर न भगवान् ही हैं और न परमार्थ ही है—

सुने न काहूकी कही, कहे न अपनी बात।
नारायण वा रूपमें, मगन रहे दिनरात॥

शरीरकी कसरत सन्ध्या बिना नहीं होती, मनकी कसरत भजन बिना नहीं होती और बुद्धिकी कसरत विचार बिना नहीं होती। जब सन्ध्या करनेका समय होता है आजकल लोग उस समयमें फुटबॉल आदि खेलते हैं। तभी इनके अन्दर धातु नहीं है। हमारी प्राचीन प्रथामें जो दोष लगाते हैं वह इस बातको समझें।

मुखसे जो कुछ बोलो वह भगवच्चिन्तन बिना और कुछ न हो, फिर तुम्हें निन्दा-स्तुतिका मौका कैसे मिल सकता है? सांसारिक बातें जहाँतक हो न बोलो।

१ दुनियाँका चिन्तन न करो। २ दुनियाँकी बात न करो। ३ दुनियाँकी क्रिया न करो। जो पुरुष ये तीनों बातें नहीं करता वही परमार्थ-साधन कर सकता है।

जबतक वैराग्य न हो तबतक ध्यानयोगमें तत्परता नहीं होगी। (प्रे०—भक्त रामशरणदासजी)
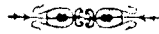
धन

(लेखक—श्रीयुत लालचन्दजी)

साधारण लोग रुपये-पैसेको धन कहते हैं। कुछ लोग गाय, भैंस आदि पशुओंको धन कहते हैं। गोधन भारतमें सभी कहते हैं। पृथिवी भी धन है। प्रायः सभी सम्पत्ति धन कही जाती है। वस्तुतः जिस वस्तुके बदलेमें अन्य वस्तु प्राप्त हो, जिसकी मनुष्य इच्छा करता हो, वे सब धन कहाती हैं। किन्तु ये सब पदार्थ धन होते हुए भी अपना मूल्य परिमित ही रखते हैं।

असली धन विकासकी शक्तिका नाम है, जिससे एकसे अनेक और थोड़ेसे बहुत हो जाता है। वास्तवमें यह विकासशक्ति ही धन है, ऐसा माना जा सकता है; पर विकासशक्ति तेजःशक्ति और ओजशक्तिपर निर्भर है और ये दोनों शक्तियाँ वीर्य-पर अवलम्बित हैं। इसलिये शुद्ध वीर्य ही परम धन है। जहाँ वीर्य है वहीं सच्चा पराक्रम है, वहीं यश है, समृद्धि है और ऐश्वर्य है। शुद्ध वीर्य और सात्त्विक जीवनका परस्पर सम्बन्ध है इसलिये सात्त्विक जीवन भी धन है और सात्त्विक जीवन बिना सत्सङ्गके नहीं हो सकता इसलिये सत्सङ्ग भी परम धन है। जिन्हें सत्सङ्ग प्राप्त है, वे परमैश्वर्यवान् भगवान्के पूर्ण धनके धनपति होते हैं। भगवान् अपनी पूर्ण शक्तियोंके साथ सत्सङ्गमें जब भक्तोंके हृदयमें परिपूर्ण होते हैं, तब भक्त लोग परम समृद्धिरूप नामधनके धनी होकर पूर्ण धनवान् होते हैं।

भगवान् प्रेमनिधि हैं। जहाँ प्रेम है, एकता है, सहृदयता है, वहीं धन है, ऐश्वर्य है, बल है, शक्ति

है और आनन्द है। मनुष्यका ध्येय आनन्द है, पर वह मोहके कारण सुखको आनन्द समझकर भटका करता है। भगवान्‌के सहवासमें अपरिमित आनन्द है, भूमा सुख है, अनन्त मंगल है। भगवान् परमैश्वर्यवान् हैं, उनका सखा पूर्ण धनी होता है। उसके अंदर कमी नहीं होती। सर्वशक्तिमान् भगवान् उसको निमित्त बनाकर उसका योग और क्षेम स्वयं वहन करते हैं। जो भगवान्‌का प्यारा है, वही धनी है अन्य सब निर्धन हैं।

भगवान् 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' हैं। भगवान्‌का प्यारा भक्त अपने प्रियतमके निकटतम होनेसे उनके गुण अपनेमें धारण करता है। भगवान्‌में किसी प्रकारकी कमी नहीं, भगवान् पूर्ण हैं। भगवान्‌का भक्त भी पूर्णताकी ओर गति करता है और भगवान्‌के प्रेमसे पूर्ण होकर परम आनन्द प्राप्त करता है।

इसलिये सारांश यह हुआ कि प्रजापति भगवान्‌का उपासक जब भगवान्‌को प्रजाके अंदर रमा हुआ अनुभव करता है और परम शक्तिमान् सखाको पाकर जब शक्तियुक्त होकर कर्तव्यसाधनमें तत्पर होता है तो विजयी होता हुआ वह सत्य, यश और श्रीको प्राप्त होता है। भगवान्‌के भक्त ही सच्चे धनी होते हैं, वे वासनारहित और सदैव प्रेम और आनन्द-भावनामें मग्न रहते हुए प्रसन्न रहते हैं। जिसे प्रसन्नता प्राप्त होती है वह शीघ्र ही एकाग्रता लाभ करता है, और संयम तथा एकाग्रताके सहारे सब कार्योंमें सफलता प्राप्त करता हुआ वह सदा रहनेवाली लक्ष्मीको प्राप्त होता है। उसके कुलमें दरिद्रता, हीनता और कमी नहीं आती। भगवान् पूर्ण धन हैं, इसीलिये परमेश्वर और परम सामर्थ्यवान् कहे जाते हैं। भगवान् अच्युत हैं, अपने नियमोंपर दृढ हैं, इसीलिये शाश्वत हैं, सनातन हैं, पुराण हैं। और पुराणपुरुष होते हुए भी वे नित्य नवीन हैं। भगवान् परमगति, परमसम्पद् और परमबल हैं। भगवान् भक्तके सर्वस्व हैं। भगवान् ही भक्तके पूर्ण धन हैं।

एक महात्मा वीर्य और वाणीको धन कहा करते थे। विचार किया जाय तो यह भी ठीक ही है। वीर्य मणि कहा जाता है; और सत्य तो यह है, कि जिसमें शुद्ध वीर्य है वह परम धनी है। वीर्यके दूषित अथवा ह्रास होनेमें जो मनुष्यकी दुर्गति और धनकी हानि होती है यह विश्वज्ञात है। वीर्यवान्, वर्चस्वी, तेजस्वी, ओजस्वी मनुष्योंको क्या कभी धन, यश और बलकी कमी हुई है? सच्चा वीर्य, स्थायी बल और चिरस्थायी लक्ष्मी केवल भगवत्-अर्पण जीवनसे ही प्राप्त होती है। अर्पणबुद्धिवाला वीर्यवान् पुरुष विजयी होता है, भगवान्‌की शरणागतिसे ही अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। धन, बल, बुद्धि, ज्ञान भगवत्-शरणागतिमें ही सफल होते हैं।

वाणी धन है। वाणीका सद्व्यय यश और बल बढ़ाता है और वाणीका अपव्यय घोर क्लेश उत्पन्न करके धन, यश, बल सबका ह्रास करता है। वाणी धन है, इसका सदुपयोग करना ही श्रेयस्कर है। वाणीका संयम आचारका एक अंग है। जिसका वाणीपर अधिकार नहीं, वह सदाचारी नहीं हो सकता और बिना सदाचारी हुए, बिना ब्रह्मचारी हुए, बिना भगवान्‌की ओर गति किये, कभी संतोष और शान्तिरूपी परमधन लाभ नहीं होता। प्रायः सभी कलह मलिनहृदयवाले लोगोंकी वाणीके दुरुपयोगसे ही आरम्भ होते हैं और जातियोंके धन, यश, मान, मर्यादाके नाशके कारण बनते हैं। इसलिये सदाचार हर प्रकारके धनका आधार है। जहाँ सत् आचार और विचार दृढ और स्थिर होंगे वहीं यश और श्री निवास करेंगे।

भगवान् विष्णु लक्ष्मीपति हैं। भगवान् विष्णुरूपमें सर्वव्यापक हैं, यज्ञदेव हैं। जहाँ व्यापकदृष्टिसे

कार्य होते हैं, जहाँके लोग संकुचित और संकीर्ण भावसे कार्य नहीं करते, जहाँ स्वार्थकी मात्रा जितनी ही कम है वहाँ उतनी ही श्री, लक्ष्मी, विभूति और विजय दिखायी देती हैं।

लक्ष्मीका हमारे यहाँ वास हो, ऐसी शुभ अवस्था तभी हो सकती है जब हम विष्णु भगवान्‌को आदर्श जानकर, व्यापक और सर्वहितकारी कार्य करनेमें अपना तन, मन लगाकर पुरुषार्थ करें। यज्ञमय जीवनमें ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। जो स्वार्थी है, वह पापी तो केवल पाप खाता है और वह पापमय जीवन व्यतीत करके पुनः मनुष्य-शरीर नहीं प्राप्त करता।

मनुष्य-शरीर पाकर हम बहुत उन्नति कर सकते हैं यदि हम अपना ध्येय यज्ञ समझें और गति परमात्माको मानें। हमें अपनी गति सरल, सीधी और सच्ची करनी होगी तभी भगवान् प्रसन्न होकर हमें हर प्रकारसे भरपूर करेंगे। भगवान्‌के 'ऋत' और 'सत्य' नियम जो सकल सृष्टिको चला रहे हैं और नवजीवन दे रहे हैं, क्या मनुष्यके सहायक न होंगे? 'ऋत' और 'सत्य' के अवलम्बन बिना हम सदा दरिद्र और हीन अवस्थामें रहते हुए, यश, श्री और बलसे वञ्चित रहेंगे। सच्चा धन केवल भगवान्‌के भरोसेपर भगवत्, शाश्वत, सनातन धर्मके अवलम्बनद्वारा ही मिल सकता है। 'ऋत' और 'सत्य' आदि और अनादि कालसे धर्मके रक्षक और पोषक स्तम्भ हैं। 'ऋत' और 'सत्य' के अवलम्बनमें धन, धान्य, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और बल सब कुछ निहित है। भगवान्‌की कृपासे सत्य नियमोंमें रुचि बढ़कर मनुष्य कृतार्थ होता है और आत्मतृप्त होता है।
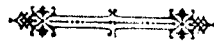
भक्तप्रवर पण्डित यागेश्वर शास्त्री

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

समय कितनी शीघ्रतासे पलटता जा रहा है। जो अभी थोड़े दिन हुए अनेक गुणोंके निकेतन थे उनमें समयके प्रभावसे अनेक दुर्गुणोंका प्रसार दीख पड़ रहा है। समयका प्रभाव ही ऐसा है जिससे कोई भी समाज बच नहीं सकता। हमारे पण्डितसमाजको ही ले लीजिये। यह समाज सकल गुणोंका आगार था और दूसरोंको राह दिखलानेवाला था। उसीकी आज दुरवस्था देखकर किस सहृदयके हृदयपर चोट नहीं लगती, किसका चित्त चाञ्चल्यसे विचलित नहीं हो उठता? जिस समाजमें विमल ज्ञानके साथ-साथ भक्तिकी पवित्र धारा बहती थी, उसीमें आजकल अध्यात्मविमुखताको देखकर सबके मानसमें विषादकी रेखा झलकने लगती है। प्राचीन आदर्शोंका आजकल सर्वथा अभाव नहीं हो गया है, तथापि उसकी विरलता नितान्त खेद पैदा करनेवाली है। आज प्राचीन पाण्डित्यके आदर्शभूत पण्डितरत्न यागेश्वर शास्त्रीजीका पवित्र चरित्र पाठकोंके सामने रक्खा जाता है।

पण्डितजीको बैकुण्ठवासी हुए ४० वर्षके लगभग हुए। संवत् १९५९ के माघमासमें इनका स्वर्ग हुआ था। उस समय इनकी उम्र ७० सालकी थी। इनका जन्म हुआ था इसी प्रान्तके सबसे पूर्वी जिला बलियामें। उस जिलेके गंगातीरपर विराजमान रुद्रपुर नामक गाँवमें एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था। पिताके चार पुत्रोंमें ये सबसे छोटे थे। पिता निर्धन थे। किसी प्रकार ब्राह्मणवृत्तिसे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण किया करते थे। उनके पास इतनी सम्पत्ति न थी कि पुत्रोंको काशी भेजकर पढ़ानेका प्रबन्ध कर सकें। अतः अन्य पुत्र विद्याका विशेष उपार्जन नहीं कर सके, परन्तु यागेश्वरजीने इस कठिनाईका खयाल न कर अपनेको सुशिक्षित बनानेका दृढ़ निश्चय कर लिया। बुद्धि निर्मल थी, धारणा प्रबल थी। जिस शास्त्रको पढ़ते थे, शीघ्र ही ग्रहण कर लेते थे। लड़कपनसे ही इनकी प्रवृत्ति पाणिनीय व्याकरणकी ओर थी। आसपासके पण्डितोंसे अपना काम चलता न देखकर इन्होंने घर छोड़नेका निश्चय किया, परन्तु जायँ तो कहाँ जायँ? घरमें दरिद्रताका था राज्य। बाहर भरण-पोषण कैसे होता? संयोगवश पासके ही एक जमींदारके गुणग्राही मैनेजरसे, जो एक शिक्षित बंगाली

सज्जन थे, कुछ सहायता मिली। और ये बिना किसीसे कहे घरसे निकल भागे और चले गये पाँव-पाँव गोरखपुरके एक पण्डितबहुल स्थानपर। वहाँके पण्डितजीका नाम सुन रक्खा था। खूब प्रेमसे अध्ययन करने लगे। पर वहाँका जीवन था बड़ा कठिन। पीपलके पत्तोंको जलाकर रातको पढ़ते थे और जवकी रूखी-सूखी रोटीपर गुजारा करते थे। वहाँ रहकर यागेश्वरजीने व्याकरणके उच्चकोटिके समग्र ग्रन्थोंका अध्ययन ही नहीं कर डाला प्रत्युत सम्पूर्णरूपेण मनन कर डाला। जब गोरखपुरसे ये अपने अध्ययनकी पूर्तिके लिये काशी पधारे, तो उस समय काशीमें राजाराम शास्त्रीजी सबसे प्रधान पण्डित थे। इन्हींके पास यागेश्वरजी व्याकरणके अन्य ग्रन्थ पढ़ने लगे, परन्तु इनकी प्रतिभा विलक्षण थी, धारणाशक्ति अलौकिक थी। ये सब विद्यार्थियोंके सिरमौर हो गये। यहींपर सुप्रसिद्ध बालशास्त्रीजी इनके सहपाठी थे। शास्त्रीजी यागेश्वरजीको सदा जेठे भाईके समान मानते थे। जब कभी बाहर राजधानियोंमें जाते थे, तो सदा इन्हें अपने साथ ले जाते थे। दोनों पण्डितोंका सौहार्द नैसर्गिक था। बालशास्त्रीने पीछे बड़े समारोहके साथ एक बड़ा यज्ञ किया था; उसमें इन्हीं यागेश्वर पण्डितको इन्होंने आचार्य बनाया था। इस प्रकार सब प्रकारसे विद्यासम्पन्न होकर यागेश्वरजी काशीमें ही रहने लगे। जब घरवालोंको खबर लगी, तो इन्हें घर ले गये और विवाह कराया। पर इन्होंने अपना जीवन काशीजीमें ही अध्ययन-अध्यापन कार्यमें बिताया।

व्याकरणमें इनकी योग्यता अद्वितीय थी। पाणिनि-व्याकरणकी प्रक्रियाके तो ये अगाध विद्वान् थे। इनके सदृश पण्डित इधर तो हुआ ही नहीं, यह निःसन्देह कहा जा सकता है। पतञ्जलि, भट्टोजि दीक्षित तथा नागेशभट्टके ग्रन्थोंकी प्रत्येक पंक्तिका स्वारस्य समझनेवाला ऐसा विद्वान् विरला ही होगा। इधर काशीमें जिस नव्य व्याकरणका प्रचुर प्रचार दिखलायी पड़ता है उसका बहुत कुछ श्रेय बालशास्त्रीजीको प्राप्त है। वही बालशास्त्रीजी यागेश्वर पण्डितजीको सदा विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते थे। सिद्धान्तकौमुदीका अध्यापन कराते समय ये समस्त ज्ञातव्य विषयोंका ज्ञान करा देते थे जिसके कारण विद्यार्थियोंको टीकाग्रन्थोंके पढ़नेमें कुछ भी आयास नहीं लगता था। काशीके प्रायः समस्त विद्वानोंने कौमुदीका अध्ययन आपके ही पास किया था। पण्डितजीने 'परिभाषेन्दुशेखर' पर एक नयी विद्वत्तापूर्ण 'हैमवती' नामक टीकाका प्रणयन किया है जिससे इनकी विद्वत्ताका पता लग सकता है।

इनका आचरण विद्वत्ताके अनुरूप ही उच्चकोटिका था। निःस्पृहता तो इनमें कूट-कूटकर भरी थी। विद्यार्थियोंका अध्यापन आदर्शरूपसे बिना किसी प्रकारका वेतन लिये किया करते थे, परन्तु गुणग्राही राजा-महाराजाओंकी सहायता स्वयं समय-समयपर आती रहती थी। कभी किसीके पास गये नहीं। इनका एक द्रविड छात्र महाराजा विजयनगरकी स्टेटका मैनेजर हो गया। उसने अपने गुरुजीको कुछ दक्षिणा देनेका विचार किया। इसके लिये उसने विजयनगरके राजासे कहलाकर पण्डितजीके घरके ही पास पचासों बीघेके करीब जमीन देनेका निश्चय किया। रजिस्टरीके लिये उचित कार्रवाई भी उसने की, पर पण्डितजीसे हस्ताक्षर करनेको कहा गया तो उन्होंने साफ़-साफ़ इनकार कर दिया। कहने लगे कि 'भाई, मैं बूढ़ा हो चला। अबतक किसी राजाके दरबारकी धूल नहीं फाँकी। अब मुझे क्यों घसीट रहे हो? मुझसे यह न हो सकेगा।' लाख कहा गया कि आपको कुछ भी करना न होगा, पर इन्होंने स्वीकार नहीं किया। निःस्पृहताको किसी प्रकार क्षुण्ण होने नहीं दिया। जब राजाराम शास्त्रीजी बीमार पड़े तब पण्डितजी क्वीन्स कालेजमें उनके स्थानपर पढ़ाने लगे। वहाँ समयके बन्धनको नहीं मानते थे। आरम्भ किये पाठको बिना समाप्त किये टलते नहीं थे, चाहे दस क्या ग्यारह भले बज जाय। वहाँसे सीधे पञ्चगंगाघाटपर जाते। सचैल स्नान करते। तब घरमें प्रवेश करते थे। जो वेतन मिलता, उसे शास्त्रीजीके पुत्रको अर्पण कर देते थे। उसमेंसे एक पैसा भी नहीं लेते थे। शास्त्रीजीके काशीवास होनेपर इन्हें उनका रिक्त स्थान दिया गया, पर इन्होंने शुल्क लेकर अध्यापन करना अस्वीकार किया। इन्हें राज़ी करनेके लिये, सुनते हैं, कालेजके प्रिन्सिपल ग्रिफ़िथ साहब स्वयं इनके घरपर गये थे, पर पण्डितजी अपने निश्चयसे तनिक भी नहीं डिगे। इन्होंने कालेजकी नौकरी स्वीकार नहीं की। सदा गरीबीमें दिन बिताया, परन्तु ब्राह्मणवृत्तिसे तनिक भी नहीं टले। इस प्रकारका निःस्पृह चरित्र आजकलके जमानेमें तो विरला ही है।

कहना न होगा ऐसे सत्पुरुषकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक विषयोंकी ओर स्वाभाविक थी। आप परम वैष्णव थे। आपको दो ही काम थे—अध्यापन तथा पूजा-पाठ। प्रातःकाल तीन बजे उठकर गंगाजी स्नान करनेके लिये जाते थे। वहाँसे आकर पूजा-पाठमें लग जाते थे।

सूर्योदय होनेके अनन्तर पढ़ाने बैठते थे। दोपहरतक पढ़ाते रहते। पत्नीके देहान्त हो जानेपर पुत्रवधू ही भोजन बनाती थीं। यदि वे न रहती थीं, तो स्व ं पाक करते थे। उधर पाककी सामग्री इकट्ठा करते इधर मुँहसे विष्णुसहस्रनामका पाठ निरन्तर चलता रहता। अपने छात्रोंको गीता और विष्णुसहस्रनाम पढ़ाई समाप्त करनेसे पहले अवश्य पढ़ा दिया करते थे। अभी उनके एक छात्रसे (जो इस समय सत्तरके लगभग हैं) भेंट हुई थी। वे कहते थे कि गुरुजीकी कृपासे विष्णुसहस्रनामपर इतनी श्रद्धा है कि कैसा भी विकट संकट क्यों न आवे सहस्रनामके कुछ बार पाठ करते ही वह दूर हो जाता है। सहस्रनामके श्लोकोंकी विलक्षण व्याख्या करते थे। भोजन कर कुछ विश्राम करते। पश्चात् एक दक्षिणी भजनीक ब्राह्मणके घरपर चले जाते और वहीं बैठकर घंटोंतक कीर्तन किया करते थे। इनकी मातृभाषा हिन्दी ही थी, पर छात्रावस्थासे ही दक्षिणी ब्राह्मणोंके संगसे शुद्ध मराठी बोलते थे। सूर, तुलसीके साथ-साथ ज्ञानदेव और तुकारामके पदोंका बड़े भक्तिभावसे कीर्तन किया करते थे। इसमें किसी प्रकार भी कमी नहीं होती थी। मध्याह्नका उपयोग इसके लिये किया ही जाता था। भक्त और पण्डितके पारस्परिक सम्बन्धसे अपरिचित छात्रोंको गुरुजीका अनपढ़ भक्तके पास जाना बड़ा अखरता था। उन्होंने अपने भावको गुरुजीके सामने प्रकट भी किया, परन्तु गुरुजीने शिष्योंकी बातोंको साफ शब्दोंमें तिरस्कार कर दिया, क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें भक्तका वास्तविक मूल्य है। वही उसके गुणोंको भलीभाँति जान सकता है। पण्डितजी अनपढ़ भक्तके वास्तविक गुणोंसे परिचित थे, उनके अक्षररट्ट शिष्योंको इतना समझनेकी शक्ति कहाँ थी। इसी कारण शिष्योंके कथनपर उन्होंने कान नहीं किया और अपनी दिनचर्यामें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं किया। सायंकाल लौटकर फिर विद्यार्थियोंके अध्यापनकार्यमें लग जाते थे। रातके समय फिर वही कीर्तन और नाम-स्मरण। सामान्यरूपेण यही उनकी दिनचर्या थी। इस प्रकार पण्डितजीका समय पठन-पाठन, भजन-पूजनके अतिरिक्त अन्य किसी काममें लगता ही न था। संसारकी वस्तुओंसे किसी प्रकारका सम्पर्क ही न रखते थे। यहाँतक कि यदि किसी स्वजनकी मृत्यु गाँवपर हो जाती थी, तो भी काशी नहीं छोड़ते थे।

सच्चे सनातनी थे। वेषके आदर करनेवाले थे। कम अवस्थावाला भी संन्यासी यदि उनके पास आता, तो साष्टाङ्ग प्रणाम किये बिना नहीं रहते। काशीमें मनीषानन्दजी एक विद्वान् संन्यासी माने जाते थे। वे गृहस्थावस्थामें एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे और क्वीन्स कालेजमें व्याकरणके अध्यापक थे। नयी जवानीमें उन्होंने संन्यास ले लिया। पण्डितजी इस घटनासे परिचित थे। एक बार मनीषानन्दजी व्याकरण-सम्बन्धी कुछ सन्देहोंके निराकरणके लिये यागेश्वरजीके पास आये। सायंकाल हो रहा था। सूर्य भगवान् डूबनेवाले ही थे कि स्वामीजी पहुँचे। पण्डितजी बहुत वृद्ध हो चले थे और आँखोंसे कुछ कम दिखलायी पड़ता था। उन्होंने स्वामीजीको तुरन्त पहचाना नहीं। विद्यार्थियोंके द्वारा परिचय पानेपर वे बड़े प्रसन्न हुए और स्वामीजीके अनेक प्रतिवाद करनेपर भी उन्होंने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। स्वामीजी कहने लगे कि मैं तो अपने सन्देहको दूर करनेके लिये आपके पास जिज्ञासु बनकर आया हूँ। अतएव मैं आपका शिष्यस्थानीय हूँ, प्रणामार्ह नहीं हूँ। पण्डितजीने कहा कि स्वामीजी! आप जिस किसी भी अभिप्रायसे मेरे पास आये हों उससे मेरा मतलब नहीं। आप जिस वेषमें हैं वह वेष हम गृहस्थोंके लिये सम्मानकी चीज है—आदरकी वस्तु है। अतः आप मुझसे अवस्थामें भले छोटे हों, जिज्ञासु बनकर भले आये हों, परन्तु मैं तो बिना प्रणाम किये आपको रह नहीं सकता। इस प्रकार आदरप्रदर्शनके अनन्तर यागेश्वरजी मनीषानन्दजीको अपने खास कमरेमें ले गये और उनकी शंकाओंका समुचित समाधान कर दिया। मनीषानन्दजी बड़े प्रसन्न हुए। विदा करते समय स्वामीजीको फिर उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इस प्रकार पण्डितजीको किसी प्रकार भी अपने पाण्डित्यका गर्व न था और गृहस्थोंके लिये आदरणीय व्यक्तियोंका आदर देनेमें वे किसी तरहकी अप्रतिष्ठा नहीं समझते थे।

इस प्रकार शुद्धाचरण बितानेवाले व्यक्तिमें यदि वाक्सिद्धि आ जाय तो क्या यह आश्चर्यकी बात है? पण्डित वीरेश्वरशास्त्रीजी द्रविड़ (जयपुर संस्कृत कालेजके रिटायर्ड प्रिन्सिपल) ने कई बार लेखकसे यागेश्वर पण्डितजीकी अनेक प्रकारकी अलौकिक बातोंका वर्णन किया है। वे पण्डितजीके प्रधान शिष्योंमें हैं। अपने बारेमें वे यही कहा करते हैं कि जो कुछ मेरी विद्या-बुद्धि है जो कुछ ज्ञान

है वह गुरुजीकी कृपाका सुलभ फल है। जयपुर कालेजमें अध्यापकी करते समय वे गुरुपूर्णिमाके दिन गुरु-पूजाके लिये काशी अवश्य आते थे। गुरुजी भी जानते थे। यदि आनेमें देर होती, तो गुरुजी स्वयं उनके ठहरनेकी जगह जाकर पूछताछ किया करते थे कि वीरेश्वर अबतक क्यों नहीं आया? कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया इत्यादि। विद्यार्थियोंपर उनकी कृपा सदा समानभावेन बनी रहती थी। वे उन्हें पुत्रके समान ही समझते थे। एक बार वीरेश्वर-शास्त्रीजी गुरु-पूजाके बाद प्रस्थानके दिन सवेरे प्रणाम करने गये। उस समय वे पूजा-पाठसे निवृत्त हो रहे थे। जाते ही कोमल स्वरमें पूछा कि क्यों वीरेश्वर, आज ही जायगा? इनके 'हाँ' करनेपर उन्होंने अपनी गीताकी पुस्तक इन्हें दी और अपने हाथसे इनके शरीरको अच्छी तरह हाथ घुमा-फिराकर स्पर्श कर दिया। शास्त्रीजीका कहना है कि बस उस समय ज्ञात हुआ कि शरीरमें बिजली दौड़ गयी हो। विचित्र स्फूर्ति मालूम पड़ने लगी और उस दिनके बाद जिस किसी भी विषयके ग्रन्थको मैं देखता, वह अनायास लग जाता था। जान पड़ता था कि वह मेरा पहलेका पढ़ा-लिखा है। इसी कृपाका फल हुआ कि वेद, वेदान्त, पूर्वमीमांसा-जैसे कठिन शास्त्रोंमें भी मेरी बुद्धि अनायास प्रवेश करने लगी और पठनमात्रसे ही मुझे इनका यथातथ्य ज्ञान प्राप्त हो गया। गुरु-कृपा भी तो कोई अनोखी चीज़ है!

कैलासवासी महामहोपाध्याय पण्डित नित्यानन्द पर्वतीय-जी तथा उनके अनुज पं० गोपीवल्लभजी यागेश्वरजीके पास बहुत आते-जाते थे। पण्डितजीने गोपीवल्लभजीको एक बार ब त ही खिन्न तथा उदास देखा। इसके कारण पूछनेपर उन्हें ज्ञात हुआ कि सन्तानका अभाव ही इसका प्रधान कारण है। पण्डितजीने उनसे कहा कि घबड़ानेकी बात नहीं है। तुम वाल्मीकि रामायणका २२ बार पारायण कर जाओ। पुत्र होगा और गुणी पुत्र होगा। इसपर गोपीवल्लभजीने पारायण आरम्भ किया। यथासाध्य रामायणके पाठ करनेमें उन्होंने अपना मन लगाया। इधर २१ पारायण समाप्त हुए, परन्तु तज्जन्य अभिलषित फलके चिह्न भी दीखनेमें नहीं आये। तब गोपीवल्लभजीने पण्डितजीके पास आकर अपनी चिन्ता कह सुनायी। पण्डितजी तनिक भी विचलित नहीं हुए और कहा कि 'अभी एक पारायण शेष है। उसे कर डालो। विश्वास रक्खो। फल जरूर मिलेगा।' आखिर हुआ वैसा ही। अन्तिम पाठ समाप्त होनेके पहले ही आधान रहा और पण्डितजीके कथनका एक-एक अक्षर सच्चा निकला। पु यथासमय आ। पण्डितजीने ही उसका नामकरण 'सीताराम' किया और इस बालकके विषयमें पण्डितजीने जो भविष्य किया वह बिल्कुल सच्चा निकला। आज भी ये विद्वान् सज्जन काशीके एक प्रसिद्ध हाई स्कूलके टीचर हैं और वास्तवमें उच्च विचार तथा सच्चरित्रसम्पन्न व्यक्ति हैं।

इस प्रकारकी अनेक बातें पण्डितजीके विषयमें कही-सुनी जाती हैं। इन्हें यहाँ लिखकर लेखके कलेवर बढ़ानेका मेरा विचार नहीं है, परन्तु पण्डितजीके चरित्रकी आलोचना करनेसे इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि आपका चरित्र अलौकिक था। जिस प्रकार उनमें पाण्डित्यकी प्रखरता विद्यमान थी, उसी प्रकार आचरणकी शुभ्रज्योत्स्नासे वह सर्वथा सुशोभित था। ऐसा विमलचरित्र होना आजकल, समयके परिवर्तनसे, दुर्लभ-सा हो गया है। उनमें सांसारिक प्रपञ्चोंसे वास्तविक विरक्ति थी। निःस्पृहताका तो कहना ही क्या है। इतनी प्रसिद्धि पाकर यदि वे चाहते तो अपने लिये बहुत कुछ धन-सम्पत्ति जोड़ सकते थे, परन्तु उन्होंने सदा उसकी अवहेलना की। सम्पत्तिको सदा ठुकराते रहे। ऐश्वर्य-की लालसाको पास फटकने नहीं देते थे। आयी हुई सम्पत्तिके भी निराकरण करनेमें उन्हें तनिक भी क्षोभ या संकोच न था। तभी तो सीतापुरके एक धनाढ्य ताल्लुकेदार साहबको लोभ दिखानेपर भी उन्होंने मन्त्रदीक्षा नहीं दी और काशीके अन्य विद्वान्‌के पास उन्हें जानेकी राय दी। लोभ-प्रधान संसारमें ऐसा होना नितान्त दुर्लभ दीख पड़ता है। भगवान्‌की भक्ति ही उनके जीवनका उद्देश्य था जिसके लिये उन्होंने सब माया-ममता छोड़कर सच्चे हृदयसे—पूरी श्रद्धाके साथ विद्याध्यापन कराते समय भी—अपनी सारी शक्ति लगायी और उसका सुखद लाभ पाया। जिस दृष्टिसे भी देखा जाय उनका चरित्र आदर्श तथा अनुकरणीय है। ऐसे साधुजन तीर्थसे भी अधिक पवित्र हैं और देवतासे भी अधिक कल्याणकारी हैं। श्रीमद्भागवतमें ठीक ही कहा है—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

ईश्वर-प्रेमपर गुरु नानकदेव

(लेखक—श्रीगंगासिंहजी ज्ञानी)

जगद्गुरु श्रीनानकदेवजी महाराजने देश-विदेश-के भ्रमण और अपनी उच्चतम साधनाओंसे प्राप्त ज्ञान-के आधारपर सारे संसारको एकमात्र ईश्वर-प्रेमका ही सन्देश सुनाया था। वे ईश्वर-प्रेमके महत्त्वको नाना प्रकारके दृष्टान्तोंद्वारा बहुत अच्छी तरह समझाया करते थे तथा स्पष्ट उपदेश देते थे कि ईश्वर-भक्तिके बिना मनुष्य-जीवन सर्वथा व्यर्थ है। उनकी अमृत-वाणी आज भी हमें नवजीवन प्रदान कर रही है। इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे अधिक न कहकर 'कल्याण'के पाठकोंके लाभार्थ मैं उन परम पवित्र तथा तप्त हृदयों-को शान्ति देनेवाली कुछ गुरु-वाणियोंका ही यहाँपर उल्लेख कर रहा हूँ। पाठक महानुभाव देखें कि श्रीगुरुदेवने किस प्रकार ईश्वर-प्रेम करनेकी रीति सिखलायी है।

> रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति कर जैसी जल कमलेहि[1]।
> लहरी[2] नालि[3] पछाड़ीऐ[4] भी विगसै[5] असनेहि[6]॥
> जल महि जीअ उपाइ कै बिनु जल मरणु तिनेहि[7]॥१॥

भावार्थ—हे मन! परमात्मासे इस प्रकार प्रीति कर, जिस प्रकार कमल जलसे प्रेम करता है। जल-की तरंगें कमलपर आ-आकर टकराती हैं, उसे धक्का देती हैं, फिर भी वह अविचल रहता है। बल्कि प्यार-के मारे और भी खिल जाता है। ईश्वरने जलमेंसे ही उसका जीवन बनाया है। जलसे विलग होते ही कमल मुरझाकर सूख जाता है। जलके प्रति ऐसा उसका अनन्य अनुराग है। तात्पर्य यह कि जैसे कमल जलकी लहरोंसे टक्कर खाकर दुःखका अनुभव नहीं करता, वैसे मनुष्यको भी सामने आयी हुई विपत्तियोंसे नहीं घबराना चाहिये तथा सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक ईश्वरका स्मरण करते रहना चाहिये।

> मन रे क्यों छूटहि बिनु प्यार।
> गुरमुखि अन्तरि रवि रहिया बखसे भगति भंडार॥

भावार्थ—हे मन! तू ईश्वर-प्रेमके बिना जन्म-मरण-के चक्करसे कैसे छूट सकता है? जो गुरुमुख (सच्चे भक्त) हैं, उन्हींके हृदयमें प्रेम-पुञ्ज परमात्मा निवास करते हैं। और उन्हींको वे कृपापूर्वक अपनी भक्तिका भण्डार देते हैं। इसलिये तू भी श्रद्धापूर्वक श्रीगुरुचरण-शरण होकर ईश्वर-भक्ति प्राप्त कर।

> रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति कर जैसी मछली नीर।
> ज्यों अधिकउ त्यों सुख घणो मन-तन शान्ति शरीर॥
> बिन जल घड़ी न जीवई प्रभु जानै अभपीर[1]॥२॥

भावार्थ—हे मन! जिस प्रकार मछली पानीके साथ अटूट प्रेम करती है, उसी प्रकार तू ईश्वरसे प्रेम कर। ज्यों-ज्यों जल बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मछली तनमनमें शान्ति और शीतलताका अनुभव करती है, वह पानीके बिना पलभर भी जीवित नहीं रह सकती। जलसे बिछुड़नेपर मछलीको जितनी पीड़ाका अनुभव होता है, उसका वर्णन कौन कर सकता है? इसी प्रकार ईश्वर-प्रेमकी वृद्धि अथवा अभावमें तुम्हारी भी अवस्थाएँ होनी चाहिये। तात्पर्य यह कि प्रबल उत्साह और प्रसन्नताके साथ ईश्वर-प्रेमको बढ़ाना चाहिये तथा बिना ईश्वर-प्रेम अपनेको मरा हुआ समझना चाहिये।

१—कमल, २—लहर, ३—साथ, ४—धक्का लगना, ५—विकसित होता है, ६—प्यारमें, ७—उसका।

१—हृदयकी पीड़ा।

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति कर जैसी चात्रिक मेह ।
सर भरि थल हरी आवले इक बूँद न पवई केह ।
करमि मिलै सो पाइऐ किरति पिआसिरि देह ॥

भावार्थ—हे मन ! चातकको देखता है ? वह स्वाति-बूँदके साथ कितना अखण्ड प्रेम रखता है ? बड़ी-बड़ी नदियाँ, तालाब, कुएँ आदि पानीसे भरे पड़े रहते हैं परन्तु वह उनकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। उसे ता स्वाती नक्षत्रमें बरसनेवाली बूँदोंकी ही आवश्यकता रहती है, उन्हींके लिये वह प्रतिक्षण तरसता रहता है और जबतक वह उन्हें पाता नहीं तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती । इसलिये तू भी चातकके समान प्रेमी बन जा । ऐसी प्रीति ईश्वर-कृपासे ही मिलती है और वह स्वभावके अनुसार ही उत्तम फल देती है । तात्पर्य यह कि चातकके समान प्रेमी बनना चाहिये, ऐसा होनेपर ही हरि-दर्शनकी तीव्र लालसा बनी रहती है और ईश्वरके सिवा जगत्‌के किसी भी प्रलोभनकी ओर ध्यान नहीं जाता ।

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति कर जैसी जल दुध होइ ।
आवटणु[1] आपे खवै दुधको खपण न देइ ।
आपे मेलि विछुंनिया[2] सचि वडिआई देइ ॥

भावार्थ—हे मन ! जिस प्रकार जल और दूध आपसमें मिलकर अभिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार तू भी 'वाहिगुरु' से अभिन्न हो जा । ईश्वर-प्रेमके लिये अपने सर्वस्वका परित्याग कर दे । देख, जल दूधमें मिलकर ऐसा हो जाता है कि अग्निका ताप देनेपर भी उससे अलग नहीं होता, बल्कि जलकर अपने आपको नष्ट कर देता है । जीते जी दूधको कम नहीं होने देता । प्रभुके अतिरिक्त तू कुछ भी न रह । ऐसा अनुभव कर कि वे अपने आप ही विषयोंका संयोग कराकर फिर उनसे विछोह करा देते हैं तथा सत्यद्वारा मान-बड़ाई देते हैं ।

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति कर जैसी चकवी सूर ।
खिनु[3] पल नीद न सोवई जाणै दूर हजूरि[4] ॥
मनमुखि[5] सोझी ना पवै गुरमुखि[6] सदा हजूरि ॥

भावार्थ—हे मन, परमात्मासे इस प्रकार प्रीति कर जैसे चकवी सूरजसे करती है । सूर्यके बिना उसे पलभर भी नींद नहीं आती, क्षणभर भी उसे चैन नहीं मिलता । सूरज कितनी दूर है, इसका उसे ध्यान भी नहीं रहता । वह तो उसे अपने सन्निकट देख-देखकर ही सुख लूटती है । दुःखकी बात है कि मनमुख (अज्ञानी) पुरुषोंको ये बातें समझमें नहीं आतीं । परन्तु जो गुरु-मुख हैं वे सदा सर्वकाल ईश्वरको अपने पास ही देखते हैं ।

इस तरहकी अन्य अनेक गुरु-वाणियोंका उल्लेख किया जा सकता है । इन पाँच वाणियोंद्वारा गुरुदेव हमें इस बातका दृढ़ उपदेश दे रहे हैं कि ईश्वर-प्रेममें (कमलकी तरह) दुःख-सहनकी क्षमता, (मछलीकी तरह) सर्वकालीन उत्साह, (चातककी तरह) तीव्र लालसा, (जलकी तरह) त्यागभाव और (चकवीकी तरह) प्रियकी समीपताका अनुभव होना चाहिये । और भी एक गुरु-वाणीका आनन्द लीजिये—

स्वामीको गृह ज्यो सदा स्वान तजत नह नित्त ।
नानक ऐसी विधि हरि भजो इक मन होइ इक चित्त ॥

अर्थात् जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामीके घरको नहीं छोड़ता, इसी प्रकार एक मन, एक चित्त होकर परमात्माका स्मरण करो ।

१–सेंक—उबाल, २–विछोह कर देना, ३–क्षण, ४–प्रत्यक्ष, ५–अपने मनके पीछे लगनेवाला— अहंकारी, ६–गुरुशिक्षाके अनुसार आचरण करनेवाला ।

माँ

(श्री'माधव')

प्रभुका सबसे प्रिय नाम, सबसे प्रिय रूप 'माँ' है। सभी संकटोंमें अपनी नन्हीं-नन्हीं भुजाओंसे माँके गलेमें लिपटकर उसकी गोदमें एक मुग्ध शिशुकी भाँति निश्चिन्त होकर जब सोता हूँ उस समय तीनों लोक और चौदहों भुवनकी सम्पदा मेरे चरणोंमें लोटती है! मेरी माँ ही आदिशक्ति जगज्जननी है। वही वेदजननी है। जब कुछ भी नहीं था, वह थी; जब कुछ भी नहीं रहेगा, वह रहेगी।

माँके ही रूपका यह समस्त विस्तार है। मेरी माँ ही महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती है। उमा, सीता और राधा भी वही है। गंगा, गीता और गायत्री उसीके व्यक्त रूप हैं। ब्रह्माण्डकी अधीश्वरी वही है। वही विश्वकी अनन्त मूलस्रोत है। उसीकी शक्ति, उसीका शील, और उसीका सौन्दर्य जगत्‌के भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें व्यक्त हो रहा है। और उसीकी अविद्याशक्तिसे विमूढ़ होकर हम उसे भूल जाते हैं तथा जगत्‌के भोग-विलासोंमें लिप्त हो जाते हैं!

यह सब कुछ माताका प्रसाद है। माँ कहती है लो ये सब भोग-वैभव परन्तु मुझे न भूल जाओ! प्रसाद-बुद्धि नष्ट हो जानेसे ही और माँके विस्मरणके कारण ही हम पथभ्रष्ट हो गये। माँका स्मरण करना और इन समस्त भोगोंको माँके ही चरणोंमें निवेदन कर देना—यही प्रसाद-भावना है। ऐसा होनेपर अपनी भार्यामें भी, अपनी कन्यामें भी माँके दिव्य दर्शन होंगे। जगत्‌में जितनी भी स्त्रियाँ हैं सभीमें माँका रूप प्रकट होगा और उस समय स्मरण और निवेदनकी प्रक्रिया सहज ही, स्वभावतः ही होगी। कुछ करना नहीं पड़ेगा, प्रयास न होगा।

माँ! 'माँ' से बढ़कर प्रभुको पुकारनेका और कोई साधन है नहीं। जगत्‌में आकर पहला स्फुट शब्द 'माँ' ही उच्चरित हुआ! ओम् माँका ही वैदिक सम्बोधन है। ओम्‌से गायत्री और गायत्रीसे वेद—इस प्रकार माँ ही सबके मूलमें है। माँ कहकर हम प्रभुके समग्र हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। माँ कहना किसीसे सीखना नहीं पड़ता। माँको प्यार करना हमें किसीने सिखाया नहीं। साँस लेनेकी तरह माँ-माँ पुकारना और माँकी गोदमें निश्चिन्त हो जाना स्वाभाविक है। माँके सिवा शिशुकी पुकार सुने भी कौन?

आकाश पिता है, पृथ्वी माता। दिन पिता है, रात माता। माँकी गोद और पिताकी छाया हमें सदा प्राप्त है। सभी स्थान पवित्र हैं क्योंकि माँके चरण सर्वत्र हैं। 'त्वमेव माता' कहनेके उपरान्त फिर कुछ भी कहना नहीं पड़ता। प्रभुका मातृरूप 'त्वमेव सर्वं मम देवदेव' के अनन्तर सामने आता है। और जब माँ सामने आती है तब किसी औरके आनेकी अपेक्षा नहीं रहती! माँके चरणोंकी ज्योतिसे हृदयका सारा कल्मष सदाके लिये मिट जाता है। हृदय-कमलमें श्रीमातृचरणका दर्शन बहुत ही दुर्लभ दर्शन है।

घोर संकट और विपत्तियोंसे जब घिर जाता हूँ, चारों ओरसे निराश और उदास हो जाता हूँ, निविड़ अन्धकारमें जब कोई मार्ग नहीं सूझता तो यकायक प्राण माँ-माँ पुकार उठते हैं। और यह पुकार कभी व्यर्थ न गयी। माँने कभी न सुना हो अथवा सुनते ही वह दौड़ी हुई न आयी हो—ऐसा कभी हुआ ही नहीं। जब कभी, जहाँ कहीं पुकारा तत्काल माँके पायलोंकी आवाज़ कानोंमें आयी, मानो पुकारनेभरकी देर थी। उस

समय माँके मुखकी जो करुण मुद्रा होती है उससे उसके हृदयकी असीम वात्सल्य वेदना झलकती है। वह जैसे ही एक बार पुचकारकर जब हमारे मुखको चूम लेती है उसी क्षण सारे अवसादका अवसान हो जाता है।

हमारे यहाँकी एक रीति है। पुत्र जब 'दूल्हा' बनकर ससुराल जाने लगता है तो माँ ठीक उसके चलते समय उसके मुखसे अपना स्तन स्पर्श कराती है, उसका सिर सूँघती है और एक बार अमित प्यार और आशीर्वादकी दृष्टिसे उसे देखती है। रहस्य इसका यह है कि माँ उस समय अपने पुत्रको अपने 'दूध' का स्मरण दिलाती है और संकेत करती है कि अपने प्रणयकी स्वामिनीके उल्लासमें मुझे बिसार न बैठना, आँखें न फेर लेना। परन्तु हममें कितने हैं जो उस 'दूधकी लाज' को बिसार नहीं बैठते ?

ऐसी है अपनी कृतघ्नता ! और फिर भी देख रहा हूँ कि माँ दूधका कटोरा हाथमें लिये मेरे पीछे-पीछे घूम रही है और कह रही है—तूने मुझे बिसार दिया, पर मैं तुझे कैसे बिसारती ? मेरा हृदय जो नहीं मानता। मेरे प्राणोंमें जो तुम्हारे लिये व्यथा है वह मुझे शान्ति नहीं लेने देती ! तू भले ही आँखें फेर ले परन्तु मेरी आँखें जो सदा तुम्हें देखते रहनेके लिये तरसती हैं। तू मेरी ओर देखतातक नहीं ! अरे मैं इतने-से भी गयी ?

माँके रूखे बाल बिखरे हुए हैं, मुँह सूख गया है, आँखें सूजी हुई हैं, अञ्चल अस्त-व्यस्त हैं, पाँव लड़खड़ा रहे हैं। और अपनी कृतघ्नता इतनी कि एक बार कण्ठ खोलकर हृदयसे मैं पुकार भी नहीं पाता—माँ, माँ, ओ माँ ! फिर भी माँ मेरे पीछे-पीछे आ ही रही है !

> की स्वदेशे, की विदेशे, माँ आमार सदा पासे
> प्राणे बसे कहे कथा मधुर वचने।
> आमि तो घोर अविश्वासी, भूले थाकि दिवानिशि
> माँ आमार सकल बोझा बहेन यतने ॥

'स्वदेशमें या विदेशमें-माँ सदा ही मेरे समीप है, मेरे प्राणोंमें विराजित होकर वह मधुर वचनोंसे बोल रही है। मैं अत्यन्त अविश्वासी हूँ, दिनरात भूला रहता हूँ। पर-माँ मेरा सारा भार बड़े ही जतनसे वहन करती है।'

मृगसे

जाके हेत फिरत अचेत देत प्रान निज,
खोजि-खोजि खोवै दिन बिपिन अनंतमें।
जाके हेत दर-दर ठोकर सहत घोर,
भरमत भूलि भूरि भरम बढ़ंतमें ॥
जाके बिन जाने उर थिरता न आने नेकु,
'सुकवि नरायण' बखाने बुधिवंतमें।
कढ़त सुगंध तौन तेरेई सु भीतरते,
ये रे मृगमूढ़ ! कहाँ दौरत दिगंतमें ॥

—नारायणदास चतुर्वेदी

मोकलपुरके बाबा

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

मैं केवल एक अर्थमें भाग्यवान् हूँ । जबसे होश सँभाला तबसे मैं किसी-न-किसी संतकी छत्रछायामें ही रहता आया हूँ । संतोंकी मुझपर कृपा रही है, उन्होंने मुझे अपना समझा है । आज जिन संतके सम्बन्धमें मैं लिखने जा रहा हूँ उनका मुझपर बड़ा स्नेह रहा है और मैं बहुत दिनोंतक उनके सम्पर्कमें रहा हूँ । यह ठीक है कि मैं उनके संगसे बहुत अधिक लाभ नहीं उठा सका फिर भी मेरे हृदयमें उनकी जो पवित्र स्मृति है वह एक-न-एक दिन मुझे पवित्र बना देगी, इसमें सन्देह नहीं ।

पाँच-छः वर्ष पहलेकी बात है, मैंने सुना काशीसे ६-७ कोस दूरीपर गंगाकिनारे एक सिद्धपुरुष रहते हैं, उनकी कुटिया जिस स्थानपर है उसे गंगाजी चारों ओरसे घेरे रहती हैं, वे किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते । कोई दुखिया रुग्ण उनके पास जाता है तो उसके लिये कुछ खरपात उठाकर दे देते हैं और वह भला-चंगा हो जाता है । यद्यपि उन दिनों मेरे मनमें सिद्धियोंके प्रति कोई आस्था नहीं थी, फिर भी उनकी सिद्धियोंकी बात सुनकर मैं आकर्षित हुआ । और अपने एक मित्रके साथ उनके दर्शनार्थ मैंने यात्रा की । पहली बार वे अपनी कुटियापर नहीं मिले । कई गाँवोंमें घूमनेके बाद गंगाकिनारे एकान्त स्थानमें बैठे हुए वे मिले । उनकी बातोंसे मालूम हुआ कि वे हमारी परेशानी देख रहे थे और हमें दर्शन देनेके लिये ही वहाँ ठहर गये थे । उन्होंने ग्राम्य भाषामें हमसे कहा—'भगवान्की लीला बड़ी विलक्षण है । देखो ! इस शरीरको कहाँ-से-कहाँ लाकर पटक दिया । तुम्हें भी न जाने कितना घुमाकर मेरे पास पहुँचाया । क्या तुम सीधे मेरे पास नहीं आ सकते थे । इसमें भी कुछ रहस्य होगा, इसमें भी उसकी कुछ लीला होगी ।' उस दिन वहीं कुछ किसान दही लेकर आ गये और बाबाने हम दोनोंको खूब दही खिलाया । यह उनका पहला स्वागत था । उन्होंने कहा—'अच्छा अब जाओ, कभी फिर आना ।'

दूसरी बार हम तीन मित्र गये । रास्तेमें मेरे मनमें अनेकों प्रकारके विचार उठ रहे थे । मैं सोचता जा रहा था कि मुझे सिद्धियोंकी आवश्यकता है नहीं और बाबा उपदेश करते नहीं तो फिर उनके पास जानेकी मुझे क्या आवश्यकता है ! परन्तु यह सोचनेके समय भी बाबाका ज्योतिर्मय मुखमण्डल और सौम्य स्वभाव मेरी आँखोंके सामने नाच जाता । मैं किसी दिव्य आकर्षणसे खिंचा हुआ-सा उनकी ओर चल रहा था ।

इस बार बाबाने जाते ही उपदेश शुरू किया । उन्होंने कहा तुम भगवान्को निराकार मानो तो निराकार, साकार मानो तो साकार । निराकारके संकल्पसे एक बूँद जलकी सृष्टि हुई अथवा साकारके पसीनेसे एक बूँद जल निकला । उसीसे सारे संसारकी सृष्टि हुई । उसे कोई मूल प्रकृति कहते हैं, कोई कारणवारि कहते हैं और मैं गंगाजी कहता हूँ । वह जल स्वयं कफ है, उसमें जो गति है वह वात है और उसका धक्का ही पित्त है । इन्हीं तीनों धातुओंसे इस सृष्टिका निर्माण हुआ है । वास्तवमें तो यह सब नामरूप गंगाजीके ही हैं ।

गंगाजीमें ही घास और मांस दोनोंकी सृष्टि हो रही है । गंगाजी ही मिट्टी बनती हैं, मिट्टीसे घास बनता है और घास; वनस्पति ओषधियोंके द्वारा मांसका बनता है । मांसमय सब शरीर हैं, मांस गलकर मिट्टी बन जाता है और मिट्टी पुनः घासके रूपमें परिणत हो जाती है । यह क्रम बहुत दिनोंसे चल रहा है । यह सब गंगाजीमें गंगाजी ही बनती हैं और वह बाँगर अलग बैठकर यह सब खेल देखता रहता है । (बाबाजी प्रायः ईश्वरको बाँगर कहा करते थे, वे इसकी व्याख्या भी करते थे । कहते थे कि जो अपने-आपमें अपने-आप ही संतुष्ट है उसे इतनी उपाधि बनानेकी क्या आवश्यकता थी ? बिना मतलब इतना जंजाल बढ़ा लेना उसका बाँगरपन है । वे हँसकर पूछते क्या मेरा बाँगर कहना अनुचित है ? यह सब जो कुछ दीख रहा है सब गंगाजी ही हैं, ये भिन्नताएँ गंगाजीकी बनायी हुई हैं । इन्हें गंगाजीसे पृथक् देखना अज्ञान है । हम सब गंगाजीमें ही पैदा होते हैं, गंगाजीमें ही रहते, खेलते-खाते हैं । गंगाजीकी ही गोदमें सो जाते हैं—समा जाते हैं । तुम गंगाजीको सोचो, गंगाजीको जानो, फिर अपनेको जान जाओगे और सबको जान जाओगे ।

रोज देखते हो, पञ्चभूतोंकी सृष्टि कैसे होती है ! तुम

एक आसनपर शान्त बैठे हो। मैं इसे आकाशका रूपक देता हूँ। अब तुम किसी अनिवार्य कारणसे दौड़ पड़ो। इसे हम वायु कहेंगे, दौड़नेसे जो गर्मी होगी वह अग्नि है। गर्मीसे जा पसीना होगा वह जल है और जल जमकर मैल बन जायगा, मिट्टी बन जायगा। यह तुम्हारा रोज-मर्राका अनुभव है। परन्तु तुम कभी सोचते नहीं, ऊपर-ही-ऊपर तैरते रहते हो। देखो तो सही तुम सारी सृष्टिका रहस्य चुटकी बजाते-बजाते समझ जाओगे।'

उनके उपदेशकी भाषा विलक्षण ही होती थी। गाँवकी गँवार भाषामें ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वकी बात कह डालते थे। उनकी भाषाके व्याकरणमें मध्यम और उत्तम पुरुषके लिये स्थान नहीं था, केवल अन्य पुरुषका प्रयोग करते थे। कभी जोर देकर कोई बात कहनी होती तो खड़ी भाषा भी बोल जाते थे। परन्तु वही अन्य पुरुष वहाँ भी रहता था, 'मैं करता है, तुम बोलता है' ऐसा ही प्रयोग करते थे। वास्तवमें उनके लिये संसारके सब क्रिया-कलाप—कर्त्ता, भोक्ता अन्य हो गये थे अथवा आत्मा हो गये थे जहाँ केवल एक ही प्रकारसे बोला जा सकता था।

हमलोग बार-बार उनके पास जाते रहे और वे हर बार प्रायः कुछ-न-कुछ उपदेश करते रहे। कभी हमारे सिरपर फूल चढ़ाकर हाथ जोड़ लेते तो कभी इतना तिरस्कार करते कि एक क्षण भी कुटियापर बैठनेके लिये स्थान न मिलता। हम ऐसा अनुभव करते कि उनका हमपर अपार स्नेह है। कभी-कभी वहाँ बैठे-बैठे मनमें भोजनकी बात आ जाती और यदि वह वस्तु उस ऋतुमें मिलने योग्य न होती तो भी कोई-न-कोई लेकर उसी समय आ जाता और हमें वह मिल जाती। यह मेरा अपना निजी अनुभव है।

एक बार बाबाने कहा—'तुमलोग बार-बार मेरे पास आते हो, मैं भी तुम्हारे यहाँ चलूँगा।' दिन निश्चित हो गया, नावपर सवार होकर बाबा हमारे यहाँ आये और लगभग एक महीनेतक बराबर वहीं गंगातटपर रहे। हम सब भी रातदिन प्रायः वहीं रहते। हजार-हजार नर-नारियोंकी भीड़ होती, बाबा हँस-हँसकर घूमते और सबकी मनोकामना पूरी करते। उपदेशोंका तो ताँता लग गया था। कहते इस बार मैं बकामुर होकर आया हूँ, मुझसे चाहे जितना बकवा लो। बड़े-बड़े विद्वान, जमींदार, रईस आते, बाबाका सबके साथ समान व्यवहार होता। कोई फल-फूल लाकर रख जाता तो तुरन्त दर्शनार्थियोंमें बाँट दिया जाता। वे कहा करते थे—'आत्मा या परमात्मा जो कुछ है सो तो है ही उसे पाना नहीं है। सोचो, यदि प्रयत्न करके बन्धन काटा जाय तो फिर बन्धन हो जायगा। यदि साधन करके संसारको मिटाया जाय तो यह फिर पैदा हो जायगा। जब कुछ नहीं था तब तो इतना प्रपञ्च फैल गया, जब तुम कुछ करोगे तब तो कभी मिटाये न मिटेगा। इसका बखेड़ा और भी बढ़ जायगा। केवल जो तुमने अज्ञानवश संसारका बन्धन बना रक्खा है उसे ज्ञानके द्वारा काट डालो। अज्ञानका ध्वंस होते ही ज्ञान भी अनावश्यक हो जायगा और तब तुम जान जाओगे कि बिना बन्धनके ही मैं अपनेको बद्ध मान रहा था। संसार और बन्धन तुम्हारी कल्पनाके भूत हैं इन्हें रखकर चाहे इनसे डरते रहो, चाहे मुक्त हो जाओ।'

'भगवान् किसीसे दूर थोड़े ही हैं। वे सबके अपने हैं, सबको गोदमें लिये हुए हैं और सबकी गोदमें बैठे हुए हैं। जबतक तुम उन्हें पहचानोगे नहीं, उनसे अनजान बने रहोगे, तबतक उनके पास रहनेपर भी तुम उन्हें नहीं पा सकोगे। जब जान लोगे तब देखोगे कि वे प्रतिदिन नहीं, प्रतिक्षण हजारों रूप धारण करके तुम्हारे पास आते हैं और तुमसे खेलते हैं। क्या तुम भगवान्‌को पानेके लिये किसी घोर जंगल या पर्वतपर जाना चाहते हो? यदि तुम उन्हें यहाँ नहीं पहचानोगे तो वहाँ पहचान लोगे इसकी कल्पना कैसे की जाय? पहले हृदयके मन्दिरमें उनका दर्शन करो पीछे सब उनका हृदय हो जायगा।'

'भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना चाहिये। परन्तु क्या यह आत्मा भगवान्‌को समर्पित नहीं है? सम्पूर्ण प्रकृति, प्रकृतिके सम्पूर्ण विकार और सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को समर्पित ही हैं। उनकी इच्छा, उनकी शक्ति और उनकी प्रेरणाके बिना एक तिनका भी नहीं हिल सकता। सब उन्हींके नचाये नाच रहे हैं। तब आत्म-समर्पणका अर्थ क्या है? बस, आत्म-समर्पणका इतना ही अर्थ है कि मैं असमर्पित हूँ इस भावनाको समूल उखाड़ फेंका जाय। नाचते तो हैं भगवान्‌के नचाये परन्तु मानते हैं कि हम स्वतन्त्रतासे नाच रहे हैं। इस मान्यताको नष्ट करना होगा।

यह मान्यता संसारके स्वरूपपर अपने जीवनके स्वरूपपर विचार न करनेके कारण है। इसको समझे बिना निस्तार नहीं हो सकता। चाहे यह बात सद्गुरुसे समझी जाय या भगवान् स्वयं समझावें।'

इस बार बाबाने जो उपदेश दिये थे वे किसी भी आध्यात्मिक साधकके लिये पूर्ण थे। न यहाँ उन बातोंके लिये स्थान ही है और न मुझे वे सब बातें पूर्णतः स्मरण ही हैं। उन दिनों वहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक घटनाएँ भी घटीं। मेरे गाँवके पासके ही मेरे एक मित्र, जो अभी जीवित और स्वस्थ हैं, उन दिनों पागल हो गये थे। लोग उन्हें पकड़कर ले आये और बाबाके सामने आते ही पाँच मिनिटमें वे स्वस्थ हो गये। यह मेरी आँखों देखी घटना है। एक दिन अवर्षण होनेके कारण बहुत लोगोंने हठ करके बाबाको घाममें बैठा दिया और कहा कि जबतक वर्षा न होगी यहाँसे उठने नहीं देंगे। हमलोगोंने उन्हें रोकनेकी बहुत चेष्टा की परन्तु हमारी एक न चली। बाबा भी बैठ गये। एक घंटेमें ही सारे आकाशमें बादल छा गये और घमासान वर्षा हुई। एक दिन मुझसे कुछ अपराध हो गया था, उस बातको मेरे सिवा और कोई नहीं जानता था। जब मैं बाबाके सामने आया उन्होंने खोलकर सब बातें कह दीं और मुझे तुरन्त गंगास्नान करके अघमर्षण करनेके लिये भेज दिया।

वे मोकलपुरमें ४० वर्षोंसे रह रहे थे। परन्तु किसीको पता नहीं था कि ये किस जातिके हैं? कहाँके रहनेवाले हैं? इनका आश्रम क्या है और नाम क्या है? जब बाबा मेरे गाँवके पास गंगातटपर ठहरे हुए थे तब हमारी जातिके एक प्रतिष्ठित वैद्य और दो-तीन शास्त्रियोंने उनसे यह बात जाननेका बड़ा आग्रह किया। बात यह थी कि मैं था ब्राह्मण, वे लोग यह नहीं देख सकते थे कि मैं किसी अब्राह्मणकी सेवा करूँ। परन्तु बाबाकी जाति-पाँतिका पता तो किसीको था ही नहीं, लोग तरह-तरहकी बातें करते थे। हमलोगोंने भी आग्रह किया कि बाबा अपने जीवनकी कुछ बातें बतावें।

बाबाने कहा—'इस विशाल सृष्टिमें एक व्यक्तिके जीवनका क्या महत्त्व है? रोज अगणित कीड़े-पतंगे पैदा होते हैं और मर जाते हैं। कईके तो एक ही दिनमें कई जन्म भी हो जाते हैं। वैसा ही एक कीड़ा मैं भी हूँ। मेरा जन्म और जीवन कोई वस्तु नहीं। मेरी कोई जाति-पाँति नहीं; मैं भगवान्का हूँ, सब भगवान्के हैं जो सबकी जाति-पाँति है वही मेरी भी है। सबकी एक जाति है, सबकी एक पाँति है। मुझे ब्राह्मण-क्षत्रिय बनकर क्या करना है? जो तुम्हारी मौज हो समझो।' परन्तु इतनेसे किसीको संतोष नहीं हुआ। बहुत-से लोग पीछे पड़ गये। बाबाने हँसते हुए कहा—'अच्छा भाई, आज यही सही, सुन लो इस कीड़ेकी जीवनी। यद्यपि शास्त्रोंमें 'आत्मचरितं न प्रकाशयेत्' कहकर ऐसा करनेका निषेध है तथापि जब तुमलोग यही सुनना चाहते हो तो सुनो।' बाबा बोलने लगे।

विन्ध्याचल और प्रयागके बीचके किसी गाँवमें मेरे माँ-बापकी जन्मभूमि थी। मेरे पिता सीधे और भगवद्भक्त थे। घरवालोंने उन्हें हिस्सा नहीं दिया, पागल समझकर घरसे निकाल दिया। मेरी माँ भी उन्हींके साथ चल पड़ीं। वे विन्ध्याचलकी धर्मशालामें रहते और भीख माँगकर जीवननिर्वाह करते। ब्राह्मण होनेके कारण वे किसीकी नौकरी करना ठीक नहीं समझते थे। कुछ दिनोंके बाद विन्ध्याचलकी धर्मशालामें ही मेरा जन्म हुआ। बारह वर्षतक उन्होंने भीख माँग-माँगकर मुझे पाला और फिर वे दोनों एक साथ ही इस संसारसे चल बसे। सांसारिक दृष्टिसे मैं अनाथ हो गया। भगवान्के अतिरिक्त मेरा कोई और रक्षक नहीं रह गया। भीखसे पला होनेपर भी मैं भीख माँगना बुरा समझता था। विन्ध्याचलमें बहुत-से यात्री आते, मैं उनकी गठरी ढोकर पहुँचा देता, वे मुझे कुछ दे देते थे। इस प्रकार वर्षों बीत गये। एक दिन मैंने देखा कि साधुओंकी एक जमात काँवरोंमें जल भरकर रामेश्वरकी ओर जा रही है। उन दिनों रेल थी नहीं, सब पैदल ही जाते थे। मेरे मनमें भी इच्छा हुई कि चलूँ रामेश्वर दर्शन कर आऊँ। परिवारका मोह तो था ही नहीं, लौटने-न-लौटनेका प्रश्न क्यों उठता? मैंने भी एक काँवर गङ्गाजल लिया और उनके साथ चल पड़ा।

उनके साथ रामेश्वर आदि तीर्थोंमें वर्षोंतक घूमता रहा। एक बार नर्मदाकी परिक्रमा करते समय एक वृद्ध ब्रह्मचारीके दर्शन हुए। उन्होंने मुझे कृपा करके अपने पास रख लिया और विद्याध्ययनके साथ ही योगाभ्यास प्रारम्भ कराया। मैंने थोड़े ही दिनोंमें कुछ हिन्दी और संस्कृतकी योग्यता प्राप्त कर ली। निरन्तर जप होने लगा। विचारकी प्रवृत्ति

बढ़ी और एकान्तमें मेरी वृत्तियाँ निरुद्ध रहने लगीं। सोलह वर्षतक अभ्यास करनेके पश्चात् श्रीब्रह्मचारीजी महाराजने मुझे विचरण करनेकी आज्ञा दे दी। मैं भारतवर्षके प्रायः समस्त तीर्थोंमें घूम आया। इस यात्रामें मुझे अनेकों प्रकारके अनुभव हुए। पापी-पुण्यात्मा, दुरात्मा-महात्मा, देवता-दानव, सभी प्रकारके लोग मिले। सबसे मैंने कुछ-न-कुछ सीखा। एक बार मुझे भगवती गंगाके दर्शन हुए, तबसे मैं पागल-सा हो गया और दिन-रात गंगा-गंगा चिल्लाता रहता। शरीरपर कपड़े हैं कि नहीं इस बातकी मुझे सुधि नहीं रहती। ऐसा मालूम होता कि आद्याशक्ति जगन्माता भगवती गंगा ही हैं। मैं माँ गंगाके स्मरण-ध्यानमें मस्त हो गया और उन्हींके किनारे विचरने लगा।

मोकलपुरका स्थान मुझे बहुत अच्छा लगा। वह चारों ओरसे गंगाजीसे घिरा हुआ है, वह गंगाके गर्भमें है। मुझे अपनी माँकी गोदमें ही रहना पसन्द आया और मैं चालीस-पचास वर्षोंसे मोकलपुरमें ही रह रहा हूँ। यहाँ आनेपर संत कच्चा बाबाकी मुझपर बड़ी कृपा हुई और अब मैं जैसा हूँ, जो हूँ तुमलोगोंके सामने हूँ। भगवान्‌की सृष्टिमें जैसे अनेकों प्राणी हैं वैसे ही एक मैं भी हूँ। जब तुम ऊँची चौकीपर बैठा देते हो तब मैं उसपर बैठ जाता हूँ, नहीं तो नीचे पड़ा रहता हूँ। मेरा अनुभव क्या है यह सब भगवान्‌की ही लीला है, भगवान्‌की ही कृपा है और सब भगवान्-ही-भगवान् है।

जब भीड़ अधिक बढ़ने लगी तब प्रायः बाबा जंगलमें भाग जाते और घंटों विचरते रहते और बादमें तो भीड़से घबड़ाकर वे हमारे यहाँसे चले ही गये। अस्सी वर्षके लगभग अवस्था होनेपर भी उनके शरीरमें इतना बल था कि बड़े-बड़े नौजवान लड़के दौड़कर उन्हें छू नहीं सकते थे। उनका जीवन इतना नियमित था कि बिना घड़ीके ही सब काम समयसे होते रहते थे। शौच होकर वे विष्ठाको मिट्टीसे ढक देते थे। दोनों समय स्नान करते और जिधरसे हवा आती उधर ही बैठते। किसीके शरीरकी हवा अपने शरीरमें नहीं लगने देते थे। कोई बीमार आता तो उसकी चिकित्सा भी विलक्षण ही करते। कह देते कि अमुक-अमुक पाँच पेड़ोंको प्रणाम कर लो, अच्छे हो जाओगे। अमुक देवताकी सात बार परिक्रमा कर लो और अपने पुरोहितको ठूँस-ठूँसकर खिला दो, तुम्हारा रोग भग जायगा। किसीको कह देते पाप तो तुमने किया है भोगेगा कौन!

एक मास्टर साहब अभी जीवित हैं उन्हें दमाका इतना भयंकर रोग था कि वे बोल नहीं सकते थे। शरीर सूख गया था, चलने-फिरनेकी शक्ति नहीं थी। एक दिन वे किसी प्रकार बाबाके पास गये। बाबाने कहा कि 'अमरूद खाओ।' वे डरके मारे काँपने लगे। बाबाने बलात् दो सेर अमरूद खिला दिये, और उसके ऊपर बहुत-सा दही खिलाकर डंडा लेकर उठे कि यहाँसे डेढ़ कोसतक दौड़ते हुए जाओ नहीं तो तुम्हारे जानकी खैर नहीं है। उसी दिनसे उनका दमाका रोग भग गया, वे आज भी स्वस्थ और एक स्कूलके मास्टर हैं और बाबाके गुण गाते रहते हैं। ऐसे अनेकों प्राणियोंका कल्याण बाबाके द्वारा हुआ है।

एक बार बाबा हमारे यहाँ और आये। इस बारका आना अन्तिम आना था, फिर दूसरी बार आनेका मौका नहीं मिला। बाबा बार-बार मुझसे कहा करते थे कि उपदेशक नहीं बनना। मैंने एक पुस्तक लिखी थी, संस्कृतमें दो-ढाई सौ श्लोक थे, उसका नाम था तत्त्वरसायन। बाबाकी आँख उसपर पड़ी। बाबाने कहा—'इतने ग्रन्थ पड़े हैं उन्हें पढ़नेवाला कोई नहीं, अब यह नया भार क्या बढ़ा रहे हो! तुम्हें कागज काला करनेका शौक तो नहीं है!' मैंने वह पुस्तक गंगाजीमें डाल दी और निश्चय किया कि अब कभी न लिखूँगा। परन्तु मेरे निश्चयसे क्या होता है! निश्चय तो किसी दूसरेका ही काम करता है। कौन जानता था कि मुझे ही बाबाके संस्मरण लिखने पड़ेंगे।

बाबाके पास बड़े-बड़े नेता जैसे मालवीयजी, बड़े-बड़े विद्वान् जैसे कविराज श्रीगोपीनाथजी और बड़े-बड़े राजा-रईस दर्शनोंके लिये आया करते थे। अभी सन् १९३७ के दिसम्बरकी बात है, बाबाने कहा—'एक यज्ञ होगा, पाँच दिनतक लगातार हवन होता रहेगा। बीचमें चाहे कोई भी विघ्न पड़ जाय, यज्ञ बन्द न होगा। यज्ञमें जो बचेगा वह श्रीविश्वविद्यालयको दान दे दिया जायगा और यदि मैं मर जाऊँगा तो कच्चा बाबाकी समाधिके पास ही मेरी समाधि दे दी जायगी। यज्ञ प्रारम्भ हुआ, यज्ञके दूसरे दिन बाबा सो गये और फिर नहीं उठे।

अन्तिम दिनोंमें बाबा संकीर्तनपर बड़ा जोर देते थे।

जाल्हूपुर परगनेके लोगोंको इकट्ठा करके कीर्तन करवाते थे और परिक्रमा भी करवाते थे। वे कहते थे कि कलियुगके जीवोंसे ध्यान-समाधि तो बननेकी नहीं, केवल भगवान्‌के नामके आश्रयसे ही वे कल्याण-साधन कर सकते हैं। वे श्रीकच्चा बाबाको विश्वनाथस्वरूप मानते थे और कच्चा बाबाने एक बार कहा था कि ये मुझसे तनिक भी कम नहीं हैं। संतोंमें बड़ा-छोटा होनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, उनकी लीला वही जान सकते हैं।

काशीके एक प्रसिद्ध संतने, जिनपर हम सभी श्रद्धा-विश्वास रखते हैं, कहा था कि 'मोकलपुरके बाबा आधिकारिक पुरुष हैं। उनके कारण संसारमें बड़ी शान्ति और सुखका विस्तार हो रहा है। काशीके ईशान कोणपर रहकर वे काशीकी रक्षा करते हैं और काशीके संतोंमें उनका स्थान बहुत ऊँचा है।' मैंने यहाँ उनकी बातोंका भावमात्र ही लिखा है, उनके शब्द मुझे ठीक स्मरण नहीं हैं। यह मैंने देखा था कि कोई कहीं दुःखी होता तो बाबा उसके लिये व्याकुल हो उठते थे। दैवी शक्तियोंसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और हर जगहकी सूचना उन्हें मिलती रहती थी। जिन दिनों मैं भूत, प्रेत और पितर योनियोंपर विश्वास नहीं करता था बाबाने अपने जीवनकी कई घटनाएँ बतलाकर मुझे समझाया था। सन् १९१६ में जब गंगाजीमें भयानक बाढ़ आनेवाली थी, उन्होंने दो-तीन दिन पहले ही गाँववालोंको बाढ़के क्षेत्रसे अलग कर दिया था। जब बिहारका भूकम्प आया था तब उन्होंने लोगोंसे कह-कहकर वहाँ चन्दा भिजवाया था। बाढ़के बारेमें पूछनेपर उन्होंने मुझसे कहा था कि श्रीगंगाजी आकर स्वयं श्रीमुखसे मुझसे कह गयी थीं। उनके हृदयमें अपार करुणा थी, जीवोंपर स्वाभाविक कृपा थी और यही संतोंका विशेष गुण है। यद्यपि उनकी कृपा हमलोगोंपर निरन्तर बरस रही है तथापि वे हमपर और भी विशेष कृपा करके ऐसी योग्यता प्रदान करें कि हम शुद्ध अन्तःकरण होकर उनकी कृपाका अधिकाधिक लाभ उठा सकें और उनकी छत्रछायाका निरन्तर अनुभव कर सकें।

संत स्वयं भगवान् हैं, सन्त भगवान्‌से भी बड़े हैं। बोलो संत भगवान्‌की जय!

नाम-प्रेम

पापनतें पीन अति बिषै लवलीन निसि-
दिवस मलीन फँस्यौ जगतके जालमैं।
निजकृत भोग कीधौं संसृत कुरोग कीधौं,
लिख्यौ ना बिरंचि ही भलाई कछु भालमैं॥
आनु मन! धीर भजु सीय-रघुबीर जातें,
मिटै भव-पीर न तो जरा दुःख-ज्वालमैं।
मुनिन बिचार कीन्हो बेद-अनुसार कह्यौ,
नाम ही अधार 'अमरेस' कलि-कालमैं॥१॥

नामको प्रताप कलि-दाप नहिं ब्यापै हिय,
छूटत हैं पाप तेज बढ़त है तनको।
नाम जपै आनन जो गुन सुनै काननतें,
मानत है बात सुख बासव-सदनको॥
तज्यौ निज धाम जप्यौ नाम आठो जाम ध्रुव,
पायौ ध्रुव-धाम फल रामके रटनको।
छोड़ झूँठो नेह कर रामतें सनेह तातें,
यहै सिख देत 'अमरेस' निज मनको॥२॥

नामहीके बल सहसानन धरा धरत,
नाम-बल रचै चतुरानन जगतको।
नामहीके बल सिव संभुको प्रभाव सब,
नाम ही अधार एक केवल भगतको॥
नामहीके आस जन मेटै भव-त्रास सब,
नाम-बल होतो न तो रूपकों लखत को।
नामकी रटन निसि-दिन 'अमरेस' करु,
नामको बिसारि कत धावत अनत को॥३॥

—अमरेस

संतवाणी

(सङ्कलित)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

अहा ! वह कैसा सुखी होगा जो प्रभुको सदा समीप और अनुकूल देख पाता है ।

सच्चा एकान्त कब हो ? जब भगवान्‌से शून्य जीवनसे परे हो जाओ ।

संसार क्या है ? जो ईश्वरसे तुम्हें परे रक्खे ।

अधम कौन है ? जो ईश्वरके मार्गका अनुसरण नहीं करता ।

किसका संग किया जाय ? जिसमें 'तू-मैं' का भाव नहीं !

निन्द्य जीवनसे वैर बाँधकर ईश्वरके मित्र बनो । ईश्वरसे वैर बाँधकर निन्द्य जीवनसे प्रीति न करना ।

एक छोटे-से जीवको भी अपनेसे नीचा मत समझो । बाहरी दुनियाको देखो भी तो ऊपर-ही-ऊपरसे । भीतरी आँखोंको तो उस प्रभुकी ओर ही लगाये रहो ।

आगे-पीछेका विचार छोड़ो । जो हो गया है और जो होगा उसकी चिन्ता न करो । वर्तमानमें प्रभुके भजनमें लगे रहो ।

यदि तुमने ईश्वरको पहचान लिया है तो तुम्हारे लिये एक वही मित्र काफी है । यदि तुमने उसको नहीं पहचाना है तो उसे पहचाननेवालोंसे मित्रता करो ।

हृदय कब सुखी होता है ? जब हृदयमें प्रभु आ विराजते हैं ।

जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, सांसारिक सुखोंका उसीका अभाव रहता है ।

संतोंका एक ही लक्ष्य होता है—भगवान् । किसी भी हालतमें उनका मन भगवान्‌से नहीं हटता ।

जन्मके पहले तू ईश्वरको जितना प्यारा था उतना ही मृत्युपर्यन्त बना रहे, ऐसा आचरण कर ।

अपने निर्वाहके लिये जो चिन्ता अथवा प्रपञ्च नहीं करता वही सच्चा विश्वासी है ।

अहंभावको छोड़कर विपत्तिको भी सम्पत्ति मानना ही सच्चा संतोष है ।

उच्च और पवित्र भावना एक ऐसी अद्‌भुत वस्तु है जो मनुष्यके मनमें आकर भी स्थिर नहीं रहती । उसका तो मनुष्यपर बहुत प्रेम है, किन्तु मनुष्यकी उसपर प्रीति हो तब न ?

जिसका मन पवित्र नहीं उसका कोई काम पवित्र नहीं होता ।

इस नाशवान् संसारमें जो आसक्त नहीं है वही सच्चा ऋषि है । तल्लीन होकर ईश्वरके गुण गाना, मत्त होकर प्रभुके संगीत सुनना और प्रभुकी अधीनता मानकर काम करना ही ऋषिका धर्म है ।

जो ईश्वरमें लीन रहता है वही सच्चा संत है ।

अपना भार दूसरेपर न लादना और बिना संकोच दान करना बड़ी दिलेरीका काम है ।

ईश्वरमें निमग्न होना, भावावेशमें अपनेपनका नाश करना है ।

वास्तविक साक्षात्कारमें एक ईश्वरमें ही स्थिति होनेके कारण अहंता और ममताका नाश हो जाता है । सो हालतमें तुम अपने शरीर और जीवको नहीं देख पाओगे ।

सारी रात बिना नींदके प्रभुका स्मरण करनेवाला और दूसरे यात्रियोंके उठनेके पहले ही मंजिल तय कर लेनेवाला मनुष्य ही सच्चा प्रभुभक्त और सत्पुरुष है ।

जहाँ ईश्वरकी चर्चा होती है, वही स्वर्ग है ।

जहाँ विषयोंकी चर्चा होती है, वही नरक है ।

हे प्रभो! तेरे सिवा मेरा कोई नहीं, तू मेरा है तो फिर सब कुछ मेरा है।

हे प्रभो! मैं तो तुम्हींको चाहता हूँ और कुछ भी नहीं। तुम महान्-से-महान् हो, परम कृपालु हो; मुझे तुम्हींसे शान्ति मिलेगी। मुझे अपनेसे जरा भी अलग न करना, मेरे सामने अपने सिवा और किसीको न आने देना।

ईश्वरकी कृपाके बिना मनुष्यके प्रयत्नसे कुछ भी नहीं मिल सकता।

ईश्वरके गुणोंका अपनेमें आरोप करनेवाला योगी अधम है।

अन्तःकरणमें एक भण्डार है, उस भण्डारमें एक रत्न है, वह रत्न है प्रभु-प्रेम। इस रत्नको पानेवाला ही ऋषि है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों संसारी परदोंसे ढकता जाता है त्यों-ही-त्यों वह प्रभुकी पूजा और साधना छोड़ता जाता है।

जो ईश्वरको जानता है वह ईश्वरको छोड़कर और किसी बातकी चर्चा ही नहीं करता।

संत वही है जिसे कोई भी विषय मलिन नहीं कर पाता, बल्कि मलिनता भी जिसे छूकर पवित्र हो जाती है।

ये सब वाद-विवाद, शब्दाडम्बर और अहंता-ममता तो परदेके बाहरकी बातें हैं। परदेके भीतर तो नीरवता, स्थिरता, शान्ति और आनन्द व्याप्त है।

साधनाके लिये जो कुछ करना पड़े, सब करना। परन्तु उसमें प्रभुकृपाका ही प्रताप समझना, अपना पुरुषार्थ नहीं।

पीड़ाकी आग तो उसीको सता सकती है जो ईश्वरको नहीं पहचानता। ईश्वरको जाननेवाला तो धधकती हुई आगको भी ठंढी और सुखदायक जान पाता है।

जो ईश्वरके नजदीक आ गया उसे किस बातकी कमी? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसीकी है। क्योंकि उसका वह परम प्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है।

जो अपना परिचय ज्ञानी कहकर देता है वह ज्ञानी नहीं है। जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानता, वही ज्ञानी है।

सारी दुनिया तुझे अपना ऐश्वर्य और स्वामित्व भी सौंप दे तो तू फूल न जाना और सारी दुनियाकी गरीबी भी तेरे हिस्सेमें आ जाय तो उससे नाराज न होना। चाहे जैसी हालत हो, उस एक प्रभुका काम बजानेका ध्यान रखना।

या तो जैसे बाहरसे दिखाते हो वैसे ही भीतरसे बनो, नहीं तो जैसे भीतर हो वैसे ही बाहरसे दिखाओ।

प्रभुमें ही सब लोगोंकी स्थिति और गति देख सकनेपर ही पक्के पायेपर प्रभु-दर्शन हुए जानना।

धर्मकी भूख बादलके समान है। जहाँ वह बराबर जमी और चातककी-सी आतुरताकी गर्मी बढ़ी कि तुरन्त ईश्वरकी कृपाका अमृत बरसने लगा।

तीन बातें ध्यान देने लायक हैं—(१) जब कभी किसी बुरे आदमीसे काम पड़ जाय तो उसके नीच स्वभावको अपने भले स्वभावसे ढक लेना, इससे स्वयं तुम्हें संतोष होगा; (२) जब कभी कोई तुम्हें दान दे तो पहले कृतज्ञ होना उस प्रभुका, उसके बाद उस उदारहृदय दाताको धन्यवाद देना, (३) जब कभी विपत्ति आ पड़े तो तुरन्त

विनीत भावसे उस विपत्तिको सहनेकी शक्तिके लिये प्रभुसे प्रार्थना करना।

इन असंख्य तारों और नभमण्डलके सिरजनहार-की नजर तू जहाँ कहीं होगा वहीं रहेगी, ऐसा विचारकर सदा-सर्वदा सावधान और पवित्र रहना।

किन-किन बातोंसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है? गूँगे, बहरे और अन्धेपनसे। प्रभुके सिवा न कुछ बोलो, न सुनो और न देखो।

मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीजसे प्रीति न जोड़ना।

जो यह जानते हैं कि ईश्वर हमारा हर एक काम देखता है, वे ही बुरा काम करनेसे डर सकते हैं।

ईश्वरके भजन-पूजनमें जो दुनियाकी सारी चीजों-को भूल जाते हैं उन्हें सब चीजोंमें ईश्वर-ही-ईश्वर दिखायी पड़ता है।

सभी हालतोंमें प्रभु और प्रभुभक्तोंका दास होकर रहना ही अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति करना है।

भीतरसे प्रभुकी गाढ़ भक्ति करना, परन्तु बाहर उसे प्रसिद्ध न होने देना साधुताका मुख्य चिह्न है।

ईश्वरको उपासनामें मनुष्य ज्यों-ज्यों डूबता जाता है, त्यों-त्यों प्रभुदर्शनके लिये उसकी आतुरता बढ़ती जाती है; यदि एक पलके लिये भी उसे साक्षात्कार हो जाता है तो वह उस स्थितिकी इच्छामें अधिकाधिक लीन हो जाता है।

विशुद्ध प्रभुप्रेम जगत्में एक दुर्लभ पदार्थ है। मनमेंसे कपटबुद्धिको दूर करनेका जब मैंने प्रबल प्रयत्न किया, तब उस प्रभुने अनेक सद्गुणोंके रूपमें आकर मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया।

जो मनकी मलिनतासे रहित, दुनियाके जंजालोंसे मुक्त और लौकिक तृष्णासे विमुख है, वही सच्चा संत है।

संत ईश्वरपरायणताको ऊँची अवस्थामें अपार सुखशान्ति भोगते हैं। वे संसारसे दूर भागे हुए होते हैं। वे न किसी चीजके मालिक होते हैं और न किसी चीजके गुलाम ही।

जो न तो दुनियाकी किसी चीजपर अपना बन्धन ही रखते और न खुद किसी बन्धनमें बँधते हैं, वे ही संत हैं।

सच्चे संतका धर्म बाहरी आचार और पण्डिताई दिखानेमें नहीं है। उनका धर्म है पवित्रचरित्र होकर ईश्वरका अनुसरण करना जो बाहरी दिखावे और ज्ञानकी बातें रट लेनेसे नहीं मिल जाता।

मुक्त रहना, वीर बनना और बाहरो सुख-वैभव-से अलग रहना, ईश्वरको पानेके लिये पशुवृत्तियोंकी गुलामी छोड़ देना—यह सच्चे संतका स्वभाव है। इस उत्तम स्वभावसे संसारकी मित्रताको छोड़कर ईश्वरसे स्नेह जोड़नेकी शक्ति आती है।

जिनकी सदा ईश्वरकी ओर दृष्टि है और जो संसारसे विरक्त हैं वही संत हैं।

जो दुराचारियोंके अत्याचारोंसे कभी जरा भी व्यथित नहीं होते, वे ही महापुरुष हैं।

परमेश्वरके नामपर लोगोंको अपनी ओर घसीटने-वाले धर्मध्वजी बहुत-से हैं। उनसे बचकर रहना।

एक ईश्वरप्रेमीके लिये सभी स्थल मन्दिर हैं, सभी दिन पूजाके दिन हैं और सभी महीने व्रतके हैं। वह जहाँ रहता है, ईश्वरके साथ रहता है।

'उस' के अस्तित्वका ज्ञान होते ही मैंने अपने अस्तित्वकी ओर देखा, तो वहाँ भी मुझे उसीका अस्तित्व दिखायी दिया।

प्रभु अपने प्रेमियोंको ऐसी जगह रखता है जहाँ साधारण लोग पहुँच ही नहीं पाते। जो लोग उस जगह पहुँच गये हैं उनको जनसाधारण पहचान ही नहीं सकते कि वे प्रभु-प्रेमी हैं। जब कभी मैंने उस प्रभुके सौन्दर्यकी बात लोगोंसे कही तो उन्होंने मुझे पागल बतलाया।

जिस किसीने साधु पुरुषोंका सहवास किया है वही ईश्वरको पा सका है।

हे प्रभो! तुम जब मेरा सदा स्मरण रखते हो, तो मेरे आखिरी साँसतकके हर एक साँसके साथ तुम्हारा नाम रहे, मन भी सदा तुम्हारे स्मरणमें लगा रहे और तन और जीवन भी तुम्हारा अनुसरण करते रहें।

हे प्रभो! तुमने मुझे अपने लिये ही रचा है और तुम्हारे लिये ही मैं जनमा हूँ। कृपाकर अपनी रची हुई किसी भी वस्तुके प्रति मेरे मनमें मोह न उत्पन्न होने देना।

मनुष्य ज्यों ही यह मानने लगता है कि मैं कुछ तो जानने लगा, तभीसे उसके ज्ञानके द्वार बंद हो जाते हैं।

ईश्वरको पानेके लिये जिसका हृदय तरस रहा है उसीका जन्म धन्य है; कारण, उसका सर्वस्व तो उस ईश्वरमें समाया रहता है।

अगर तुम दुनियाकी खोजमें जाओगे, तो दुनिया तुमपर चढ़ बैठेगी, उससे विमुख होओगे तो उसे पार कर सकोगे।

संत वह है जिसे आज और कल किसी दिनकी परवा नहीं, जो अपने प्रभुके सम्बन्धके सामने लोक और परलोक दोनोंको तुच्छ समझता है।

बिना ईश्वरका नाम लिये कोई भी बात विचारने अथवा करनेसे बहुत बड़ी विपत्तिका सामना करना पड़ता है।

साधुओंका समागम करनेसे प्रभुप्रेमरूपी सुन्दर बादल उमड़ेंगे और उनसे ईश्वर-अनुग्रहका स्वच्छ जल बरसेगा, किन्तु जब तुम उस प्रभुका ही समागम करने लग जाओगे तब तो उन बादलोंसे प्रेमके अमृतकी वर्षा होने लगेगी।

जो ईश्वरकी ओर जाता है उसे वह कुछ ऐसी वस्तु दे देता है जिससे उसका अपना सब कुछ चला जाता है, और उसके बदलेमें भजन, भाव, उपासना, प्रार्थना आदि दैवी पदार्थ प्रभुकी ओरसे उसे मिलते रहते हैं।

स्वयं ईश्वर जिसका मार्गदर्शक है, उसका रास्ता अपने भरोसे ही चलनेवालेके रास्तेसे कहीं अधिक सुगम और छोटा है; क्योंकि ईश्वर अपने आश्रितको दिव्य दृष्टि प्रदान करता है, जिससे वह अपने सीधे रास्तेको सरलतासे देख लेता है।

रास्ते दो हैं—एक लम्बा, दूसरा छोटा। लम्बा रास्ता भक्तके पाससे शुरू होकर भगवान्‌के पास जाता है और छोटा रास्ता भगवान्‌के पाससे शुरू होकर भक्तके पास आता है।

जो उसे पाता है वह अपने रूपमें न रहकर उसके रूपमें समा जाता है।

मुँह बंद रक्खो। ईश्वरके सिवा दूसरी बात ही मत करो। मनमें भी ईश्वरके सिवा और किसी बातका चिन्तन न करो।

जब तुम पूरी तरहसे अपना विनाश कर लोगे तभी तुम 'पूर्ण' बनोगे।

स्वर्ग और मृत्युलोकके सारे जीवनमें किये हुए धर्मानुष्ठानोंकी अपेक्षा पलभरका पवित्र प्रभु-समागम कहीं श्रेष्ठ है।

एकान्तमें प्रभुके साथ बैठनेवालेका लक्षण है संसारकी सब वस्तुओं और दूसरे सब मनुष्योंकी अपेक्षा प्रभुको ही अधिक प्यार करना ।

ईश्वरके प्रेमियोंके लिये है उसका स्नेह, और पापियोंके लिये है उसको दया ।

जो छोटे-छोटे प्राणियोंसे प्रेम नहीं कर सकता वह ईश्वरसे क्या प्रेम करेगा ?

जो आदमी अपने संसार और अपने जीवनको प्रभुको अर्पण नहीं कर देता वह दुनियाके इस भयानक जंगलको पार कर नहीं सकता ।

पलभरका ईश्वरका सहवास हजारों वर्षोंकी साधनासे कहीं अधिक उत्तम है ।

साधुओंका बाना तो बहुत पहन लेते हैं; परन्तु ईश्वर तो चाहता है मनकी शुद्धि और व्यवहारकी सात्त्विकताका बाना ।

ऐसे लोगोंकी ही संगति करना जो ज्ञानाग्निसे शुद्ध होकर प्रभु-ममतारूपी अमृतसागरमें डूबे हैं !

ईश्वरका स्मरण करो तो ऐसा कि फिर दूसरी बार उसे याद ही न करना पड़े ।

जो श्रोता प्रभुको पानेकी इच्छा नहीं रखता उससे बात मत करो, और जिस वक्ताको प्रभुके दर्शन नहीं हुए, तो उसकी बात मत सुनो ।

सच्चे प्रभु-प्रेमी बनकर जिस किसी ओर देखोगे वहीं, ईश्वर ही दिखायी देगा । कारण, ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है ही ।

शरीर, वाणी, मन तीनों मेरे नहीं; उन्हें तो मैं ईश्वरको सौंप चुका हूँ । मेरा न लोक है न परलोक; दोनोंकी जगह है परमेश्वर ।

पूरी लगनसे काम करके उसे ईश्वरको समर्पित कर देनेवाला ही सच्चा साधु है ।

प्रभु-प्रेमी ही प्रभुको पाता है और जो प्रभुको पा लेता है, वह अपने-आपको भूल जाता है । उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है ।

पोथियोंके पण्डित धर्मका उपदेश दूसरोंको सुनानेमें ही लगे रहते हैं, किन्तु सच्चे साधु अपने-आपको सुनाते हैं और स्वयं उसपर आचरण करते हैं ।

लोगोंके आगे रोनेकी अपेक्षा प्रभुके आगे रोओगे तो सच्चा लाभ होगा ।

तुमने 'उसे' कहाँ देखा ?—जहाँ मैं खुद खो गया ! अपने-आपको मैं नहीं देख पाया वहाँ !

मैं नहीं कहता कि काम मत करो । काम जरूर करो; किन्तु अपनी शक्ति और सम्पत्तिके सहारे नहीं उस प्रभुकी शक्ति और सम्पत्तिके सहारे करो । वह करावे तभी करो !

साधु पुरुषो ! सावधान रहना । फकीरो ! फकीरी पोशाकसे ही तुम्हें उसके दर्शन नहीं हो सकेंगे । इन बाहरी साधनोंमें ही साधुता मान बैठनेसे तो हानि ही होगी ।

अपने सब काम भूलकर सदा ईश्वरका स्मरण करते रहो ।

क्या करनेसे जाग्रत् रहा जा सकता है ? हर एक श्वासके साथ यही समझो कि बस यही अन्तिम श्वास है ।

अगर उस करुणासागरकी करुणाकी एक बूँद भी तुमपर गिर जाय तो संसारके किसीसे कुछ भी माँगनेकी तुम्हें आवश्यकता नहीं रह जायगी ।

इस दुनियाके कँटीले झाड़के नीचे बैठकर प्रभु-का ध्यान करना मुझे पसंद है; किन्तु स्वर्गके कल्पतरुके नीचे बैठकर ईश्वरको भूल जाना मुझे पसंद नहीं ।

ईश्वरके मार्गमें पहले व्याकुलता, तीव्र जिज्ञासा और पीछे निर्बलता, पश्चात्ताप, प्रभुकी महिमाका कीर्तन और परमात्म-दर्शन क्रमशः आते हैं।

पवित्र बनो। ईश्वर स्वयं पवित्र है और वह पवित्रात्मापर ही अपने प्रेमकी वृष्टि करता है।

सच्चा संत ईश्वरकी गोदमें हँसने, खेलनेवाला सुन्दर बालक है। ईश्वरकी गोदमें संत बिना किसी संकोचके खेलता-कूदता और गाता-बजाता रहता है।

अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुको अपने परमप्रिय सखा परमात्माके लिये न्योछावर कर दो, यही प्रभु-प्रेमका लक्षण है।

गहरे उतरकर तुम उसकी खोज नहीं करते, इसीलिये तो उसे नहीं पा सकते।

मनुष्यने प्रभुको देखा नहीं है इसीलिये वह विषय-भोगोंके पीछे दौड़ता फिरता है। उसने उसे देख लिया होता तो वह दूसरी चीजोंके पीछे क्यों दौड़ता फिरता ?

जिसने ईश्वरको पा लिया है वह दूसरोंका उपदेशक नहीं बनता। और वह ईश्वरके सिवा किसी दूसरेको अपना रक्षक, शिक्षक अथवा मार्गदर्शक नहीं बनाता।

जिस प्रकार वर्षाऋतुके आनेपर जल बरसता है, बिजली चमकती है, मेघ गर्जना करते हैं, हवा जोरसे चलने लगती है, फूल खिल उठते हैं और पक्षी आनन्दमें डूबकर कूजने लगते हैं, उसी प्रकार परमात्माके दर्शन हो जानेपर आनन्दित होकर नेत्र जलवर्षा करने लगते हैं, ओंठ मृदु हास्य करने लगते हैं, अन्तरकी कली खिल उठती है, आनन्दके झोंकेसे मस्तक हिलने लगता है, प्रतिक्षण उस प्रिय सखाके नामकी गर्जना होने लगती है और प्रेमकी मस्ती प्रभु-के गुणगानमें सराबोर कर देती है।

जो मनुष्य ईश्वरके सिवा और किसी चीजमें नहीं रमता वही सच्चा संत है।

प्रभुकी पूजा करना ही सच्चा कर्त्तव्य है, उसकी खोज करना ही सच्चा रास्ता है, उस परमात्माका दर्शन होना ही एक सच्ची कथा है।

परमात्माके दर्शनमें लीन होकर उसका स्मरण करना भी भूल जाओ, यही ऊँचा-से-ऊँचा स्मरण है।

प्रभुस्मरणके लिये संसारको भूल जाओ और परलोककी बात भी मत सुनो।

सृष्टिमेंसे मनको खींचकर स्रष्टामें लगाना ही वैराग्य है। ईश्वरेतर सब चीजोंसे परे रहना ईश्वरके समीप जाना है।

सृष्टि और स्रष्टा तथा विधान और विधाताको एक समझनेमें ही पूर्णता है।

लोक-कल्याणको अपने कल्याणसे भी अधिक मानना ही सच्ची साधुता, महत्ता और उदारता है।

जिस लोक-कल्याणमें अभिमानका पुट है वह तो मोह है—त्याज्य है।

इस समय तुम्हें जो क्षण प्राप्त है वही तुम्हारा सबसे बढ़कर कीमती धन है। आध्यात्मिक जगत्‌में काल नामकी वस्तु ही नहीं है, इसीलिये भूत और भविष्य भी नहीं है।

जिसका मन खान-पान और गहने-कपड़ेमें ही बसा है उसकी स्थिति पशुसे भी गयी बीती है।

ईश्वर भीतरकी छोटी-से-छोटी बातको भी देख रहा है इस बातको एक क्षण भी न भूलो।

संसारके सारे पदार्थोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र

प्रभुकी ओर लग जाओ। इस दुनियाको आज नहीं तो कल छोड़ना ही है।

जिसके मनमें कामवासना प्रबल हो उसके लिये विवाह कर लेना ही उचित है। ऐसा करनेसे वह दूसरे पापों और सङ्कटोंसे बच जाता है। मेरी भी नजरमें अगर दीवार और औरत एक-सी न लगती होती; तो मैंने भी विवाह कर लिया होता।

ईश्वर अपने भक्तसे बार-बार कहता है कि तू दुनियासे विमुख हो जा और मेरी ओर आ। और कुछ चाहे जितना करता रह, पर याद रख, बिना मेरी ओर आये तुझे सच्ची शान्ति और सुख मिलनेका ही नहीं। इसीलिये पूछता हूँ कबतक तू मुझसे भागता फिरेगा? कबतक मुझसे विमुख रहेगा?

भाग्यशाली कौन? जो ईश्वरको भक्ति करके उसके प्रेमका स्वाद चखकर इस लोक और परलोकमें शान्ति पाता है।

सावधान रहना, जो आदमी तुम्हारे आगे दूसरोंकी निन्दा करता है, वह दूसरोंके आगे तुम्हारी निन्दा अवश्य करता होगा। ऐसे आदमीको बातोंमें मत फँसना, नहीं तो बड़ी भारी विपत्तिका सामना करना होगा।

सदा प्रभुसे डरकर चलना और भूलकर भी किसीका अहित न चाहना, न करना।

जो ईश्वर-प्रेमी हो गया वह विषय-प्रेमी नहीं रह सकता। और जो विषयोंमें आसक्त हैं वह ईश्वर-प्रेमी हो कैसे सकेगा?

पहनने-ओढ़नेमें सादगीका खयाल रखना। शौकीनोंकी पोशाक और आडम्बरसे परे ही रहना।

सदा सत्पुरुषोंकी सङ्गतिमें रहना।

सावधान! परस्त्रीकी ओर कभी दृष्टिपात भी न करना।

दिवसका पहला और आखिरी प्रहर प्रभुके गुण-गान, पठन और गुण-श्रवणहीमें बिताना।

ईश्वरोपासनाको परम कर्त्तव्य मानकर उसीमें लगे रहना।

साधनाके लिये निर्जनताका आश्रय बहुत ही उत्तम है।

सब बातोंको छोड़कर अपने एकमात्र परम मित्र परमात्मामें लीन होना ही योगकी ऊँची अवस्था है।

जो वस्तु—जो स्थिति तुम्हें ईश्वरसे दूर रखती है उससे तुम स्वयं दूर रहो, यही निवृत्ति है।

सांसारिक सम्पत्ति छोड़कर परमात्मामें समायी हुई सच्ची शान्ति पाना ही सच्चा वैराग्य है। अध्यात्म-ज्ञानकी प्राप्ति करना ही सच्चा विलास है।

भक्त ज्यों ही सर्वभावसे प्रभुका आश्रय लेता है, त्यों ही परमेश्वर उसकी रक्षा, उसका योग-क्षेम अपने हाथमें ले लेता है।

जिसकी दृष्टिमें जन्म और मरण समान हैं वही सच्चा साधु है।

लोगोंकी नजरमें जिसका दरजा ऊँचा हो गया है, समझ लो वह बहुत ही हलका मनुष्य है।

जिस प्रभु-प्रेमीको दुनियाके लोग नाचीज, पागल और बेसमझ समझते हैं, वह सबसे ऊँचा है। दुनियावी तराजूसे यह तराजू न्यारा है।

जो मनुष्य विपत्तिमें भी अपने ऊपर ईश्वरकी कृपाको देख सकता है वह कभी मृत्युकष्टके अधीन नहीं हो सकता।

ईश्वरकी सेवासे शरीरमें और श्रद्धासे प्राणोंमें ज्योति प्रकट होती है।

जो कुछ भी तुम्हारा है उसका त्याग करो और 'वह' जैसी आज्ञा दे उसका पालन करो।

ईश्वरका भय मनका दीपक है। इस दीपकके प्रकाशसे मनुष्य अपने गुण-दोष भलीभाँति देख सकता है।

दूसरोंसे लेनेकी अपेक्षा देनेमें जिसे अधिक सुख नहीं मालूम होता वह सच्चा संत नहीं हो सकता।

कामकी बात

(लेखक—शान्त)

जिज्ञासु—महाराज! कोई ऐसा उपाय बताइये कि मेरा हृदय शुद्ध हो जाय, मेरे सब दोष मिट जायँ, और मैं निरन्तर भगवान्‌के भजनमें लगा रहूँ।

महात्मा—भैया! हृदय शुद्ध होना, दोषोंका मिटना और भजनका होना ये तीन बातें नहीं हैं। जितना भजन होता है उतने ही दोष मिटते हैं और उतना ही हृदय शुद्ध होता है, फिर तो अधिकाधिक भजन बढ़ने लगता है। तुम इनका उपाय पूछते हो! पर मैं तुमसे ही पूछता हूँ, क्या तुम्हें दोष दोषरूपसे माऌम पड़ते हैं?

जिज्ञासु—भगवन्! शास्त्रोंमें जिन्हें दोष बताया है, संतलोग जिन्हें दोष कहते हैं। जैसे झूठ बोलना, क्रोध करना, हिंसा करना, आदि-आदि इन्हें तो मैं दोषरूपसे जानता ही हूँ, फिर भी वही काम कर बैठता हूँ।

महात्मा—भैया! जानना दो प्रकारका होता है, एक तो ऊपर-ऊपरका और दूसरा आन्तरिक। हम दूसरोंसे सुनकर देखादेखी जो कुछ जानते हैं वह केवल ऊपर-ऊपरका ज्ञान है। देखो न सभी जानते हैं कि झूठ बोलना दोष है परन्तु झूठ बोलते हैं। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि वे ऊपर-ऊपरसे तो 'झूठ बोलना पाप है, झूठ बोलनेसे हानि है' ऐसी बातें कहते-सुनते हैं, परन्तु हृदयसे झूठपर आस्था रखते हैं। कोई मामला सामने आया तो ऐसा विश्वास कर लेते हैं कि झूठ बोलनेसे हमारा लाभ होगा और सच बोलनेसे हानि। यदि उनके हृदयमें सत्यकी महिमा बैठ गयी होती तो वे सत्यसे ही लाभकी आशा रखते, असत्यसे हानि-ही-हानि समझते। परन्तु बात ठीक उलटी है। केवल वाणीसे कहने और कानसे सुननेका नाम दोषको दोष जानना नहीं है।

मान लो तुम यहाँ छप्परके नीचे बैठे हो। अब यदि ऊपरसे एक साँप तुम्हारी गोदमें गिरे तो तुम किसीसे पूछने जाओगे या सोच-विचार करोगे कि इसे क्या करूँ? तुम दोनोंमेंसे एक काम भी नहीं करोगे। एक क्षणका विलम्ब किये बिना उसे अपनी गोदसे झटककर फेंक दोगे। ऐसा क्यों होगा? इसका एक ही उत्तर है, तुम जानते हो कि साँप मुझे काट खायगा, साँपसे मेरी हानि है। ऐसे ही झूठ बोलने आदि दोषोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। यदि यह ज्ञान हो जाय, यह धारणा दृढ़ हो जाय कि ये दोष हैं, इनसे मेरे स्वार्थकी हानि है, इनके फलस्वरूप मुझे नरकमें जाना पड़ेगा, परमात्मा अप्रसन्न होंगे तो जान-बूझकर एक क्षणके लिये भी दोषोंको नहीं अपनाओगे। यदि अनजानमें कभी दोष आ जायँगे तो तुम्हें बड़ा दुःख होगा, पश्चात्ताप होगा और फिर कभी न आवें इसके लिये सावधान हो जाओगे। इसलिये दोषोंको मिटानेका यह उपाय है कि उन्हें दोषरूपसे पहचाना जाय। यह निश्चय किया जाय कि इनसे हमारी हानि-ही-हानि है, वास्तवमें हम दोषोंको दोष न जानकर, उन्हें न पहचानकर उनमें आसक्त हो गये हैं और बाहर

नहीं तो भीतर-ही-भीतर उन्हें अपनाये हुए हैं। उन्हें पहचानो और छोड़ो। सचाईके साथ छोड़ते ही वे भग जायँगे और फिर कभी नहीं आयेंगे।

जिज्ञासु—महाराज! दोषोंका स्वरूप क्या है, और उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे होती है?

महात्मा—आत्माको, भगवान्‌को भूलकर छोड़कर और कहीं दृष्टिका जाना, किसी दूसरी सत्ताका प्रतीत होना और प्रतीत करानेवाली वृत्तिका रहना ही दोषका मूलस्वरूप है। हम जहाँ जितना अधिक परमात्मासे दूर रहते हैं, वहाँ उतना ही अधिक दोष है। व्यवहारमें दोष और गुणकी परिभाषा अपेक्षासे ही होती है। जो काम करते हुए हम अन्तर्मुख होते हैं, भगवान्‌की ओर बढ़ते हैं वह गुण है और जिस कामको करते हुए हम परमात्मासे दूर होते हैं वह दोष है। जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान, स्तोत्र, भगवान्‌की याद दिलाते हैं इसलिये वे गुण हैं। काम, क्रोध, लोभ, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण परमात्माको भुलवा देनेवाले हैं इसलिये वे दोष हैं। भगवान्‌ने, संतोंने, शास्त्रोंने जिसे गुण कहा है वे गुण हैं क्योंकि उनके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध है और उनको अपनानेसे भगवान्‌की स्मृति बढ़ती है। अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तिसे अपनी बुद्धिसे गुण समझकर जो काम किया जायगा उसमें अभिमान हो सकता है, भ्रम हो सकता है और इसीसे वह भगवान्‌के सम्बन्धसे शून्य भी हो सकता है। सम्बन्ध न होनेके कारण वह हमें भगवान्‌का स्मरण नहीं करायेगा और यही उसके दोष होनेका कारण है। एक स्थितिमें शास्त्रविरुद्ध लोगोंको दुःख देनेवाली क्रिया और उसके संकल्प दोष हैं तो दूसरी स्थितिमें पुण्यकी क्रिया और उसके संकल्प भी दोष हैं। क्योंकि संसारके सम्बन्धमें कोई संकल्प न करके भगवान्‌का स्मरण करते रहना ही सर्वोत्तम है। एक स्थिति ऐसी भी आती है जब स्मरण करनेवाला और स्मरण करनेका विषय अलग नहीं रह जाता। उस समय स्मरणक्रियाका बोध होना भी दोष ही है। संक्षेपसे कहें तो यही कहना होगा कि परमात्माके अतिरिक्त जो कुछ देखा-सुना, सोचा-समझा जाता है वह सब दोष है और एक-न-एक दिन उस सबका परित्याग करना ही होगा।

अब प्रश्न यह है कि दोषकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो यही है कि आत्मतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार हुए बिना, जिसमें कि स्वसत्ताके अतिरिक्त और दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रहती अथवा उस भगवत्प्रेमके बिना, जिसमें केवल प्रेम-ही-प्रेम, भगवान्-ही-भगवान् रहते हैं, दोषोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती। बीजरूपसे, संस्काररूपसे अथवा कारणरूपसे वे कहीं-न-कहीं छिपे ही रहेंगे, इसलिये उस तत्त्वज्ञान अथवा भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेकी ही प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये, जिससे कि सम्पूर्ण दोषोंकी सर्वदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय। जबतक वह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक यथाशक्ति दोषोंके संकल्प और विचारोंको दबाते हुए, उनके दोषत्वका चिन्तन करते हुए, संतोंके बतलाये हुए पवित्र कर्म जप-तप आदि और पवित्र भावना सर्वभूतहित भगवत्स्मरण आदि करते रहना चाहिये। धीरे-धीरे वह दिन भी आयेगा जब सब दोष नष्ट हो जायँगे।

जिज्ञासु—भगवन्! दोषोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो तत्त्वज्ञान अथवा परमप्रेम प्राप्त होनेपर होगी,

यह बात समझमें आ गयी, परन्तु उसका प्राप्त होना अपने वशको बात नहीं है, भगवत्कृपासे ही हो सकता है। व्यवहारमें जो कई बार स्थूल पाप बन जाते हैं उनकी निवृत्ति कैसे हो ? जैसे क्रोध ही है, तनिक-तनिक-सी बातपर आ जाता है, इसे कैसे दबाया जाय ?

महात्मा—भैया ! सच्ची बात तो यही है कि बिना भगवत्कृपाके कुछ नहीं होता, परन्तु भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये भी तो अपनी ओरसे चेष्टा होनी चाहिये। यह चेष्टा भी उनकी कृपासे होती है। तुम क्रोधकी बात कहते हो तो सुनो, कुछ क्रोधकी ही चर्चा की जाय। पहले क्रोधका निदान जानना चाहिये, क्रोध क्यों होता है ? जब हमारे मनमें किसी वस्तुकी कामना रहती है, किसी वस्तुकी लालच रहती है तभी क्रोध होता है। काम और तृष्णा ये क्रोधके मा-बाप हैं। सम्मान, स्थिति, धन आदि वस्तुओंको पानेकी इच्छा हो और वे न मिलें, कम मिलें तब क्रोध आता है जो उनके मिलनेमें अड़चन डालता है उसपर। चाहे बाहरसे न जान पड़े परन्तु सोचनेपर मालूम होगा कि बिना कामनाके क्रोध आता ही नहीं। जिसकी कामना जितनी शिथिल होगी उसे उतना ही कम क्रोध आयगा और कामनाएँ होती हैं आत्माके अतिरिक्त भगवान्‌के अतिरिक्त और वस्तु दीखनेसे, और यह दीखना होता है अज्ञानसे। इस प्रकार अज्ञानसे काम और कामसे क्रोध होता है। जड़ मिट जाय तब तो शाखा-पल्लवकी कोई चर्चा ही न रहे, परन्तु जबतक जड़ नहीं मिटती तबतक व्यवहारमें क्रोध न आवे इसके लिये कुछ नियम बनाने चाहिये।

१—ऐसी कोई इच्छा ही न की जाय जिसके भंग हो जानेपर क्रोध आनेकी सम्भावना हो।

२—जो होता है, भगवान्‌की इच्छा अथवा प्रारब्धसे होता है, भगवान्‌की इच्छा सर्वथा मङ्गलमयी है, प्रारब्धके अनुसार कर्मोंका फल भोगना अनिवार्य है ऐसी भावना करके सांसारिक हर्ष-विषादके निमित्तोंसे प्रभावित न होना।

३—क्रोधका निमित्त आनेपर मौन लेकर राम-राम जपने लगना या वहाँसे हटकर कीर्तन करने लगना।

४—मुँह, हाथ, पैर, आँख धोकर थोड़ा ठंढा जल पी लेना, कुल्ले करना।

५—किसी दूसरे काममें लग जाना।

६—क्रोध आ जानेपर यथाशक्ति उसे दबा लेने और प्रकट न होने देनेकी चेष्टा तथा प्रकट हो जानेपर हार्दिक पश्चात्ताप।

७—क्रोधके दोषोंका चिन्तन। क्रोध आगके समान है, पहले जहाँ पैदा होता है उसीको जलाता है पीछे दूसरेको स्पर्श करता है इत्यादि।

८—क्रोध आनेपर प्रायश्चित्त करना। उपवास, रोजकी अपेक्षा दस-पाँच मालाओंका अधिक जप, किसी दूरके देवालयमें पैदल जाकर भगवान्‌का दर्शन इत्यादि परिस्थितिके अनुसार।

९—प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही भगवान्‌के आश्रयसे यह संकल्प करना कि आज मैं अपने सामने आनेवालोंमें भगवान्‌का दर्शन करूँगा और चाहे जैसी परिस्थिति आ जाय क्रोध नहीं करूँगा।

१०—एकान्तमें आर्तस्वरसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌से प्रार्थना करना कि हे प्रभो ! मुझे क्रोधसे बचाओ।

११–जिसपर क्रोध आ जाय, उसके सामने बड़ी नम्रतासे सचाईके साथ क्षमा माँगना।

१२–कम-से-कम प्रतिदिन दस मिनट इस बातका चिन्तन करना कि सबके रूपमें भगवान् ही प्रकट हैं, सबके हृदयमें भगवान् ही विराज रहे हैं। इस प्रकारकी भावनासे समत्वकी वृद्धि होगी, भगवान्का ध्यान होने लगेगा, राग-द्वेष कम हो जायँगे और किसीपर सहज ही क्रोध नहीं आयगा।

जिज्ञासु–भगवन्! भगवान्का ध्यान ठीक-ठीक नहीं लगता। वृत्तियाँ इधर-उधर संसारमें भटकने लगती हैं। ऐसा मालूम होता है कि उन्हें भगवान्में कुछ रस ही नहीं आता, क्या करूँ?

महात्मा–बहुत जन्मोंसे और इस जन्ममें भी संसारकी वस्तुओंमें प्रियबुद्धि हो रही है। अनेकों वस्तुओंको रमणीय समझ चुके हो और अब भी समझते हो इसीसे उनकी ओर वृत्तियाँ खिंच जाती हैं। कई बार तो ऐसा मालूम होता है कि मन यों ही ऊटपटाँग भटकता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। जन्म-जन्मकी आसक्ति उसके साथ लगी हुई है, वह न जाने किस जन्मके सम्बन्धीको ढूँढ़ता है और उसके पास जाता है। इसलिये भगवान्का ध्यान चाहनेवालोंको जगत्की वस्तुओंसे विरक्त होना चाहिये। ऐसा अनुभव होना चाहिये कि यह संसार एक महासमुद्र है। इसमें विषयोंका जल भरा हुआ है। ये प्राणी हमें खा जानेवाले बड़े-बड़े मगर, सूँस आदि हैं और मैं इस भयंकर जलमें डूब रहा हूँ। तैरना न जाननेवाला आदमी जैसे जलमें डूबने लगे, घबड़ा जाय, निकलनेके लिये व्याकुल हो उठे, हाथ-पैर पीटने लगे, वैसी ही दशा जब भवसागरमें डूबनेवाले प्राणीके जीवनमें भी आ जाय, वह छटपटाने लगे इससे त्राण पानेके लिये, तब इस संसारसागरकी धारामें बहती हुई किसी वस्तुके प्रति उसका राग नहीं होता। दिनोंका भूखा सिंह जितने उत्साह और शक्तिके साथ अपने सामनेके शिकारपर टूट पड़ता है उतने ही उत्साह, साहस और शक्तिके साथ वह प्राणी भगवान्के ध्यानका रस लेनेके लिये टूट पड़ता है, दूसरी ओर उसकी आँखें जाती ही नहीं। वास्तवमें तभी सच्चा ध्यान होता है। जबतक हमारे हृदयमें इन वस्तुओंके अच्छी होनेकी धारणा बँधी हुई है, तबतक हमारा मन पूर्णरूपसे भगवान्के ध्यानमें तल्लीन नहीं हो सकता। तुम जगत्को दुःखरूप, क्षणभङ्गुर और असत्य समझ लो। इनमें जो कुछ प्रियता, रमणीयता प्रतीत हो रही है उसे नष्ट कर डालो और केवल भगवान्के चिन्तनका ही रसास्वादन करनेके लिये अन्तर्मुख हो जाओ। तुम्हारे मनका भटकना बन्द हो जायगा, ध्यान होने लगेगा।

जिज्ञासु–भगवन्! ध्यान करनेके समय तो भगवान्का चिन्तन करना हो चाहिये, परन्तु सर्वदा ध्यान ही तो नहीं होता। व्यवहारके समय इस जगत्पर किस प्रकार दृष्टि डाली जाय?

महात्मा–भैया! तुमने कहा कि ध्यान सर्वदा नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है। ध्यान सर्वदा हो सकता है और ऐसा हो सकता है कि उसमें 'सर्वदा' का ही लोप हो जाय। परन्तु यदि व्यवहारमें जाना ही पड़े तो

भगवान्‌को साथ लेकर ही जाना चाहिये। किसीसे बात करनी हो तो इतनी कोमलतासे करो मानो भगवान्‌से ही बात कर रहे हो। तुम अपनी युक्तियों और वक्तृत्वकलाको ओर दृष्टि मत रक्खो। यह भी मत देखो कि तुम्हारी बातका उसपर क्या असर पड़ रहा है परन्तु यह अवश्य देखते रहो कि तुम भगवान्‌के कितने निकट होकर बोल रहे हो। तुम्हारी बातोंकी सुन्दरता मधुर होनेमें या दूसरोंको मोहित करनेमें नहीं है उसकी सच्ची सुन्दरता है भगवान्‌का स्पर्श करते हुए निकलनेमें। मैं साक्षात् भगवान्‌से ही बात कर रहा हूँ अथवा जिससे बात कर रहा हूँ उसके हृदयमें भगवान् हैं यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये। एकान्तमें भी भगवान्‌की मधुर सन्निधिका, उनके कोमल करोंके सुखमय स्पर्शका अनुभव करते रहना चाहिये।

व्यवहारकी एक दृष्टि और है। क्या तुमने कभी कोई चित्रशाला देखी है? एक चित्रशालामें अनेकों रंग, रूप और रसके चित्र टँगे रहते हैं। कोई अत्यन्त करुणाजनक होता है, तो कोई अत्यन्त हास्यजनक, कहीं आमूल चूल श्रृङ्गार रहता है तो कहीं बीभत्स, कहीं शान्त तो कहीं रौद्र और भयानक। दर्शक सब चित्रोंको देखता है, सबके भाव ग्रहण करता है, सब रसोंसे मनोरञ्जन करता है, परन्तु उन चित्रोंको चित्र ही समझता है। एक क्षण उन्हें देखकर हँस सकता है या रो सकता है, परन्तु वह हँसना और रोना दोनों ही उसके मनोरञ्जन हैं और रसका अनुभव करानेवाले हैं। वह उस चित्रशालामेंसे निकलता है तो किसी चित्रको लेकर नहीं निकलता, चित्रकारकी प्रशंसा करता हुआ निकल आता है। यह संसार भी एक चित्रशाला है। इसमें अनेकों प्रकारके दृश्य आते हैं; कोई हँसनेके, कोई रोनेके परन्तु यह हँसना और रोना दोनों ही किसीको सुखी करनेके लिये ही हैं। बुद्धिमान् दर्शक इन्हें देखकर प्रसन्न होता है, किसी भावमें आसक्त नहीं होता, और इस चित्रशालाको देखकर चित्रोंके रचयिता भगवान्‌का स्मरण करके आनन्दविभोर होता है और करुणा, बीभत्स, रौद्र, श्रृङ्गार सबमें एक-सा रसका अनुभव करता है। व्यवहारमें सभी वस्तुओंको भगवान्‌की बनायी हुई, भगवान्‌से सम्बद्ध और भगवान्‌की कला समझकर प्रसन्न होना चाहिये और सभी परिस्थितियोंमें उनका स्मरण करते हुए आनन्दमें ही निमग्न रहना चाहिये।

जिज्ञासु—भगवन्! व्यवहारमें न चाहनेपर भी चिन्ता हो ही जाती है और जब चिन्ता आ जाती है तब सब कुछ भूल जाता है तथा पहले कुछ भजन होता भी रहे तो बंद हो जाता है, यह चिन्ता कैसे मिटे?

महात्मा—चिन्ता किस बातकी होती है? शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको लेकर चिन्ताएँ आती हैं। 'अमुक वस्तु मुझे चाहिये या मेरे कुटुम्बीको चाहिये वह कैसे मिले, कहाँ मिले।' लौकिक चिन्ताका यही स्वरूप है। पारलौकिक चिन्ता अन्तःकरणको लेकर होती है। सार बात यह है कि अपने पास कुछ संग्रह होता है तो उसकी रक्षाकी चिन्ता होती है, थोड़ा हो तो और करनेकी चिन्ता होती है। उसका नाश न हो जाय इसकी चिन्ता होती है। चिन्ता छूटनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि अपने पास आन्तरिक और बाह्य किसी प्रकारका भी संग्रह न हो। वास्तवमें संग्रह आन्तरिक ही होता है, बाह्य नहीं। मनसे जिस वस्तुको

पकड़ लिया कि यह मेरी है वही बाह्य संग्रहके रूपमें बन गयी। मनसे किसी वस्तुको अपनी न माने, चाहे शरीरके आसपास बहुत-सी वस्तुएँ रक्खी हों। शरीरको भी अपना न माने और तो क्या मनको भी अपना न माने एवं आत्मा भी जिसका अंश है, जिसका अपना है, जो है उसीका वही रहने दें, उसमें भी अहंकृतिका भाव न आने दें। वास्तवमें यह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा सब-के-सब भगवान्‌के हैं। जो इनके सम्बन्धी प्रतीत होते हैं, वे भी भगवान्‌के ही हैं फिर इनके या उनके साथ अपनापन क्यों रक्खा जाय, ममता क्यों की जाय! यह ममता ही चिन्ताकी जननी है। ममता नष्ट होनेपर चिन्ता भी नष्ट हो जाती है।

क्या तुम्हें भगवान्‌पर विश्वास नहीं है? उनके देखते-देखते उनके ही अंदर जब कि सब कुछ वही हैं, कहीं कुछ अन्याय हो सकता है? तुम्हारी कोई हानि हो सकती है? तुम्हारा कोई कुछ चुरा सकता है? सोलहों आने झूठी बात है। अभी भगवान्‌पर तुम्हारा विश्वास ही नहीं हुआ। वे जो कुछ करें उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। योगक्षेमकी चिन्ता न करके निरन्तर उन्हींका चिन्तन करना चाहिये। क्या हम शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको इतना महत्त्व देते हैं कि उनके लिये भगवान्‌का चिन्तन छोड़ दिया जाय? यदि ऐसी बात है तो समझना चाहिये कि अभी हमारी साधनाका प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। साधना प्रारम्भ होते ही भगवत्स्मरण और भजनमें रस आने लगता है और उसके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ हो जाता है। फिर चिन्ता किस बातकी, निरन्तर भजन करते चलो।

जिज्ञासु—भगवन्! भगवान्‌पर विश्वास होता है, परन्तु कभी-कभी चेष्टा करके रोकनेपर भी चिन्ताएँ आ घेरती हैं, उन्हें कैसे मिटाया जाय?

महात्मा—बस, भगवान्‌की प्रार्थना करो, सच्चे हृदयसे उन्हें अपने आपको सौंप दो, उनकी शरण हो जाओ। वे जो करें होने दो—जो करावें करो। अपनी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ उनके चरणोंपर चढ़ा दो। देखो तो तुम्हारे सामने अनेकों वेश धारण करके वे आते हैं, तुम्हें अपनाना चाहते हैं और तुम उनकी ओरसे मुँह मोड़कर विषयों-की ओर लगे हुए हो। देखो! कितना सुन्दर मुख है, कितनी मधुर मुस्कान है, कैसी प्रेम-भरी चितवन है, कितना कोमल स्वभाव है। तुमपर दया करके अपनी लम्बी-लम्बी भुजाएँ फैलाकर तुम्हें अपने हृदयसे लगा लेना चाहते हैं। त्रिलोकीके एकमात्र स्वामी तुम्हारी बराबरीके परम हितैषी मित्र होकर निरन्तर तुम्हारे साथ रहना चाहते हैं और तुम उन्हें रखना नहीं चाहते! यह तुम्हारा कितना दुर्भाग्य है! अरे भाई! यह जीवन व्यर्थ जा रहा है, उनके चरणोंपर सिर रखकर इसे सफल करो और अपना सारा भार उनपर डाल दो, डालनेकी आवश्यकता नहीं, जीवन और भारको भी याद करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम केवल कह दो—सच्चे हृदयसे कह दो कि 'मैं तुम्हारा हूँ', वे तुम्हें अपनाये हुए हैं, कहते ही हृदयसे लगा लेंगे। तुम उनका मधुर स्पर्श पाकर कृतकृत्य हो जाओगे।

सच्चा समर्पण होनेपर चिन्ताएँ नहीं आतीं, यदि आती हैं तो समर्पणमें कुछ कमी है अथवा भगवान्‌-की ओरसे वे चिन्ताएँ आती हैं और समर्पित भक्त-

के मनमें वे चिन्ताके समान नहीं मालूम होतीं, उन्हें भी वह भगवत्स्वरूप ही देखता है। यदि चिन्ताएँ आती ही हैं तो पुनः-पुनः भगवान्‌को समर्पित करना चाहिये। उनसे कहना चाहिये कि 'हे प्रभो! इस सारे जगत्‌के सञ्चालक आप हैं, आप लीला-लीलामें ही इसका सञ्चालन करते हैं और ये मेरे शरीर, प्राण आदि जो कुछ हैं सब संसारके ही अन्तर्गत हैं। मेरे इन कल-पुर्जोंको और मुझे सञ्चालित करनेमें आपका कोई विशेष परिश्रम तो करना नहीं पड़ता और वास्तवमें तो आप ही इन्हें चलाते ही हैं। ऐसी स्थितिमें मेरे मनमें जो यह अहंकार हो जाता है कि मैं अपना जिम्मेवार हूँ इसको नष्ट कर दीजिये और इर तरहसे मुझे अपना लीजिये।' इस प्रकार सच्चे हृदयसे प्रार्थना करते-करते एक-न-एक दिन वे अपना ही लेंगे, फिर चिन्ताएँ नहीं होंगी। समर्पण जितना ऊँचा और सच्चा होता है चिन्ताएँ उतनी ही कम होती हैं।

जिज्ञासु—महाराज! समर्पण तो एक ही बार होता है, फिर बार-बार समर्पणके संकल्प दुहरानेकी क्या आवश्यकता है?

महात्मा—बात तो सची है, समर्पण केवल एक बार होता है परन्तु समर्पण उस वस्तुका किया जाता है जो अपनी होती है, अपने अधीन होती है और जिसके बारेमें हम जानते हैं कि इसके समर्पणमें कोई अड़चन नहीं है। परन्तु यहाँ तो जो समर्पण करना है वह हमारे अधीन नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल हैं, हमारा मन मनमानी करता रहता है, हमारी बुद्धि अनेकमुखी है और हम क्या हैं इस बातका पता नहीं। फिर इनका समर्पण कैसे किया जा सकता है? यह अपने हाथमें तो है नहीं कि जब चाहा दूसरेको दे दिया। जो एक बार समर्पण होता है, सच्चा समर्पण होता है वह इनको वशमें कर लेनेके बाद होता है अथवा लेनेवाला बलात्कारसे इन्हें ले ले तब होता है। जबतक ये हमारे अधीन नहीं हैं और हम समर्पण करना चाहते हैं तबतक प्रतिदिन नहीं, प्रतिक्षण इन्हें भगवान्‌को समर्पित करते रहना होगा। जब इनके प्रति ममता हो, अहंकार हो, तभी सोचना चाहिये कि ये तो प्रभुके हैं, इन्हें मैं प्रभुको समर्पित कर चुका हूँ, फिर ये मेरे हैं, ऐसा भाव क्यों हुआ? तुरन्त उस भावको मिटा देना चाहिये। हम संसारमें सच्चा बननेका दावा करते हैं, अपनेको सत्यवादी कहलाते हैं, परन्तु भगवान्‌के सामने रोज झूठ बोलते हैं कि 'प्रभु, हम तुम्हारे हैं, हमारी सब वस्तुएँ तुम्हारी हैं।' कितनी लज्जा और दुःखकी बात है? जब अपनेपनका भाव उठे तभी अन्तस्तलमें घोर दुःख होना चाहिये और तुरन्त सब कुछ भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ा देना चाहिये!

मान लो, तुम्हारे पास एक बदमाश घोड़ा है, उसे तुमने किसीको दान कर दिया या बेच दिया। वह घोड़ा अपने नये मालिकके घर नहीं रहता, बार-बार तुम्हारे पास भाग आता है। अब तुम्हारा कर्तव्य क्या है? तुम उसे अपना मानकर उसपर सवारी करोगे या आते ही उसके पास पहुँचा दोगे? तुम्हारी साधुता इसीमें है कि उस घोड़ेके साथ तनिक भी ममताका होना बेईमानी समझकर उसे तुरंत उसके नये मालिकके पास पहुँचा दो। वह जबतक तुम्हारे पास आवे, अपने नये मालिकसे हिल-मिल न जाय, तबतक बार-बार उसके पास पहुँचाते रहो। यह मन भी बदमाश घोड़ेसे कम नहीं है। समर्पण कर

दो इसका भगवान्‌के चरणकमलोंपर ! इसे और कहीं जाने ही मत दो। भगवान्‌के चरण भी इतने रसीले हैं कि एक बार वहाँका रस जिस मनको प्राप्त हो जाता है वह फिर वहाँसे हटता ही नहीं !

जिज्ञासु—भगवन् ! यह बात तो समझमें आती है कि इस बातका निरन्तर स्मरण रहना चाहिये कि मैं और यह सब संसार भगवान्‌का है परन्तु यह बात निरन्तर स्मरण रहती नहीं, भूल जाया करती है। कैसे स्मरण रक्खा जाय ?

महात्मा—निरन्तर स्मरण रखना चाहिये, यह बात हृदयकी गहराईमें बैठ जाय तो स्मरणके अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगेगा। वास्तवमें तो लोगोंको स्मरणकी सच्ची आवश्यकताका अनुभव ही कम होता है। क्योंकि जिन सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकताका अत्यन्त अनुभव होता है उनके लिये हम प्राणपणसे चेष्टा करते हैं न ? भूख लगनेपर अन्नके लिये क्या-क्या नहीं करते ? प्यास लगनेपर पानीके लिये किसका दरवाजा नहीं खटखटाते ? इसी प्रकार स्मरणकी आवश्यकता होनेपर हम स्मरणके लिये भी निरन्तर लगे रह सकते हैं। संसारमें जितने साधन हैं जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थयात्रा, सत्संग, अनेकों प्रकारके योग, यज्ञ आदि सब-के-सब भगवान्‌के स्मरणके लिये हैं। भगवान्‌का दर्शन भी भगवान्‌के स्मरणके लिये है। और तो क्या कैवल्यमोक्ष और जगत्‌के मिथ्यात्वका वर्णन भी इसीलिये है कि वृत्तियाँ जगत्‌की ओरसे सर्वथा हट जायँ और निरन्तर भगवान्‌के स्मरणमें लगी रहें। भगवान्‌का दर्शन हो जानेपर जगत्‌की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। निरन्तर स्मरण होता रहता है। स्मरणके लिये योग है, स्मरणके लिये ज्ञान है, स्मरणके लिये भक्ति है। वास्तवमें भगवान्‌का स्मरण-ही-स्मरण है।

देश, काल, पात्र, शक्ति, आयु, अवस्था आदिपर विचार करके शास्त्रों और संतोंने एक मतसे यह निर्णय दिया है कि वर्तमान समयमें नामजपसे बढ़कर भगवत्स्मरणके लिये और कोई दूसरा साधन नहीं है। नामका उच्चारण हो, नामका गायन हो, नामका श्रवण और नामका अध्ययन हो। नामका ही ध्यान और नामका हो ज्ञान हो। नाम स्वयं भगवान् है, नाम स्मरणरूप है और नाम ही परम पुरुषार्थ है। आओ हम दोनों भी सच्चे हृदयसे भगवान्‌का नाम गावें। बातें बहुत हो चुकीं, सबका सार यही है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

यही सब दोषोंका मिटना है, यही अन्तःकरणकी शुद्धि है और वास्तवमें यही भगवद्भजन है !

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

····सच्चिदानन्द परमात्मामें अनन्य प्रेम होनेके बाबत साधन पूछा सो अनन्य प्रेम तो सभी साधनोंका फल है। मुख्य प्रेम होना चाहिये। मुख्य प्रेम हो जानेपर भजन, ध्यान और सत्संगके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तब शीघ्र ही अनन्य प्रेम हो जाता है। दृढ़ वैराग्य होनेसे भजन, ध्यान निरन्तर अपने-हो-आप होता रहता है। वैराग्यका रहस्य जान लेनेसे ही वैराग्यकी उत्तेजना सदा बनी रहती है। और जितना ही भजन, ध्यान और सत्संग होता है उतना ही मनुष्य वैराग्यका रहस्य जानता है।

संसारमें दृढ़ वैराग्य होनेके लिये भजन, ध्यान और सत्संग ही सुगम उपाय है। इसके अतिरिक्त विचारादि भी उपाय तो हैं, परन्तु वे इतने बलवान् नहीं। हाँ, विचारादिसे भी लाभ होता है, परन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना विचार ठहरता नहीं। मनुष्य अपनी बुद्धिसे जान भी लेता है कि संसार मिथ्या और क्षणभंगुर है; परन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना राग-द्वेष, सुख-दुःख, शोक-मोह आदि हुए बिना नहीं रहते। संसारकी सत्ताका अत्यन्त अभाव नहीं होता। भजन, ध्यान, सत्संग और निष्काम कर्म करनेसे तथा भगवान्के प्रेम, भक्ति और ज्ञानकी बातोंके पढ़ने-सुननेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। विचारकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष अनुमान होता है कि संसार, शरीर और भोग, ये सब क्षणभंगुर और नाशवान् हैं। देखते-देखते नाश होते जा रहे हैं। यदि मूर्खतासे कोई इन्हें सत्य भी मान ले तो सुख तो इनमें लेशमात्र भी नहीं है। मूर्खतासे यह जिसको सुख मानता है, विचारकर देखनेसे उसमेंसे दुःख और शोकके ही भण्डार निकलते हैं।

परमेश्वरके ध्यानकी स्थितिके समय भगवान्की शरण होकर संसारको कल्पित समझकर उसे मनसे निकालता रहे तथा उसे बिना ही हुए मृगतृष्णाके जलवत् अथवा जलमें बर्फकी भाँति या स्वप्नके संसारकी तरह स्फुरणाके—संकल्पके आधारपर समझे और यह समझे कि जो संकल्प है वह भी सच्चिदानन्द ही है। सच्चिदानन्दघनका ही यह विराट्स्वरूप—विश्वरूप यह संसार है। जलमें बर्फकी तरह—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
(गीता ९। ४)

मनुष्यको विचार करना चाहिये कि भजन, ध्यान और सत्संगरूपी अमृतको छोड़कर एक क्षण भी व्यर्थ क्यों बिताया जाय। आनन्दमय भगवान्के स्मरण बिना जो समय व्यतीत होता है वही मिथ्या और व्यर्थ है। इसके रहस्यको जो समझ लेता है वह भगवच्चिन्तनकी स्थितिको एक सेकंड भी कैसे छोड़ सकता है?

आपने लिखा कि ध्यानकी वृत्तियाँ निरन्तर एक सरीखी रहती हुई नहीं अनुमान होतीं। सो ठीक है। सदा एक-सी वृत्ति न रहनेपर भी बहुत समयतक ध्यानमें स्थिति रहती है सो बहुत ही आनन्दकी बात है। एकान्तकी स्फुरणा होती है तो बहुत ही अच्छा है। एकान्तकी स्फुरणा तो सात्त्विकी समझी जाती है। परन्तु संसारके संगमें मनको भय भी किस बातका है? सर्वत्र एक श्रीसच्चिदानन्द ही तो पूर्णरूपसे विराजमान हो रहे हैं। इस प्रकार बहुत अधिक अभ्यास दृढ़ हो जानेपर तो सर्वत्र एक नारायण-ही-नारायण भासित होने लगते हैं।

पहले आपको ध्यानकी बातें लिखी थीं, उनमें ध्यान नं० २ वाली स्थिति यदि रहे तो काम करते हुए भी कोई अड़चन नहीं। स्फुरणा भी भले ही हो, कोई हानि नहीं है। संसारका अभाव और सच्चिदानन्दघनका भाव (होनापना) देखते रहना चाहिये, फिर कोई हर्ज नहीं। संसारका संग भले ही हो, संसारको मिथ्या समझना चाहिये। सभी जगह एक नारायण ही पूर्णरूपसे विराजमान हो रहे हैं। उनके बिना जो कुछ भी भासित होता है सो है नहीं।

सारे संसारको एक सत्-चित्-आनन्दके द्वारा व्याप्त—परिपूर्ण समझना चाहिये; जैसे बर्फका ढेला जलसे व्याप्त है इसी प्रकार आनन्दघनसे सारा संसार व्याप्त है। इस प्रकार समझता रहे तो फिर संसारका चाहे जितना संग हो, कोई हानि नहीं। भक्तिके भावसे संसारके काम करते हुए इस तरह समझना चाहिये कि जो कुछ भी है वह सब केवल भगवान्‌के संकल्पमात्रसे बना हुआ है, सारा संसार लीलामात्र है, भगवान्‌की फुलवाड़ी है। इसमें भगवान् प्रसन्न हों, उसी प्रकार लीलाकी भाँति कार्य करना चाहिये। जो कुछ भी है सब एक नारायणका संकल्पमात्र है; ऐसा समझकर जो नारायणकी राजके अनुसार काम करता है वह इसमें लिपायमान नहीं होता। जो सभी वस्तुओंको नारायणकी समझकर अहंकारसे रहित होकर सब कुछ नारायणके लिये ही करता है, उसीपर नारायण प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकारका भाव हो जानेपर भले हो संसारका संग होता रहे, कोई हानि नहीं। यह शरीर भी नारायणका है। काम भी नारायणका है। नारायणकी आज्ञानुसार नारायणके लिये, फल और आसक्तिको छोड़कर—कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर जो नारायणको इच्छानुसार करता है वह इस मिथ्या संसारके संगमें रहकर भी इससे वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे जलमें रहकर भी कमल जलसे अलग ही रहता है।

आपने लिखा कि ध्यान करते समय आनन्दकी भी इच्छा नहीं रहे, केवल निरन्तर ध्यान ही होता रहे ऐसी इच्छा रहती है, सो आनन्दकी इच्छा रहे, तो कोई हर्ज नहीं है। भगवान्‌के ध्यानकी तथा नामके जपकी प्रेमसहित लालसा बनी रहे तो उत्तम ही है, इसमें भगवान्‌से कुछ माँगना नहीं है।

आपने पहलेसे अब अपना शरीर कमजोर लिखा सो इसके लिये दवाकी चेष्टा करनी चाहिये। ज्ञानवान्‌के तो केवल प्रारब्ध ही रहता है। सब चेष्टा करते हैं, इसलिये आपको तो अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। × × × × × × × × × × × × और भी तो सब काम किये जाते हैं। कामसे डरना नहीं चाहिये। खाने-पीनेकी चेष्टा भी तो करनी पड़ती है।

नामजप भगवान्‌के ध्यानसहित हो वह उत्तम है; केवल ध्यान हो, ध्यानमें स्फुरणा कम भी हो, तो भी नामजप साथमें रहे तो और भी उत्तम है। केवल नामका जप हो और व्यर्थ स्फुरणा न हो तो भी

कुछ अड़चन नहीं। परन्तु ध्यानके साथ नामका जप होता रहे तो बहुत ही उत्तम है।

केवल सत्-चित्-आनन्दका ध्यान हो और शरीरका भी ज्ञान न रहे, ऐसे समयमें नामका जप यदि अपने-आप ही छूट जाय तो कोई हानि नहीं। किन्तु निद्रा, आलस्य नहीं आना चाहिये।

(२)

तुमने लिखा कि मुझे चिन्ता वास्तवमें तो नहीं होनी चाहिये, परन्तु मायाका प्रभाव इतना बलिष्ठ है कि चिन्ता, राग-द्वेषादि एवं सुख-दुःख हुए विना नहीं रहते, बलात्कारसे हो जाते हैं, सो ठीक है। यह सब त्रिगुणात्मक मायाका ही कार्य है। इसका उपाय पूछा सो निष्काम प्रेम और गुप्तभावसे ध्यान-सहित निरन्तर नामका जप ही प्रधान उपाय है। गीतामें भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७।१४)

भाई, माया तो अति दुस्तर ही है, परन्तु भगवान्की शरण लेनेके बाद वह दुस्तर नहीं रह जाती। भगवत्-भजन ही उससे तरनेका एकमात्र उपाय है। भगवान्का आसरा लेकर भी हम यदि मायाको दुस्तर ही मानते हैं तो हमने भगवान्का प्रभाव ही कहाँ जाना? इसलिये भगवान्के नामकी शरण भली प्रकार लेनी चाहिये। पीछे कोई चिन्ता नहीं। यों तो हरिके नामका प्रभाव सदा ही है, परन्तु कलियुगमें विशेष है, सो प्रकट ही है। इस समय हरिनामके विना मायासे तरना वास्तवमें कठिन है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

हरिमाया कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥

और तुमने लिखा कि जबतक शरीरमें अहंभाव और संसारमें सत्ताकी प्रतीति रहती है तबतक मनुष्य विना हुए ही अपने ऊपर भार मान लेता है, सो ठीक ही है। तुमने लिखा कि अन्तःकरण शुद्ध हुए विना इन सबको मिथ्या मानना असम्भव है, सो भी ठीक है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही हरिके नामका जप, परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान और सत्संग एवं निष्काम कर्म आदि उपाय शास्त्रमें लिखे हैं।

नामजपके साथ, शरीरसे पृथक् होकर, यह शरीर मैं नहीं, यह शरीर मैं नहीं, इस प्रकार बारंबार मनन करनेसे भी शरीरमें अहंभावका अभाव हो जाता है।

एक सच्चिदानन्द सर्वव्यापक परमात्माके होनेपनेका भाव और उसके विना और सबका अभाव देखनेसे, तथा संसारको मिथ्या, स्वप्नवत् कल्पित देखनेका अभ्यास करनेसे भी संसारकी सत्ता और शरीरमें अहंभावका अभाव हो सकता है।

(३)

आपने हर समय नाम याद रहनेका उपाय पूछा, सो भगवान्में प्रेम और संसारके प्रति तीव्र वैराग्य होनेसे भगवान्की स्मृति हर समय हो सकती है। इसके लिये भगवान्के नामका जप प्रसन्नतापूर्वक करनेका अभ्यास करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। चेष्टा करना ही वास्तविक उपाय है। समयको अमूल्य समझना चाहिये और बहुत उत्साहके साथ भगवान्की ओर लगना चाहिये। शरीरका चिन्तन भगवान्की प्राप्तिमें बहुत बड़ा बाधक एवं अपने लिये घातक है, ऐसा जाने। संसारका चिन्तन करते हुए जो मरेगा उसको संसारकी ही प्राप्ति होगी। और जो भगवान्का चिन्तन होते हुए मरेगा उसे भगवान् ही प्राप्त होंगे। ऐसा जान लेनेपर कौन मूर्ख भगवान्को

भूलेगा । जो भगवान्को छोड़ संसारका चिन्तन करता है उसको मूर्ख समझना चाहिये ।

(४)

आपने लिखा कि भगवान्का भजन निरन्तर हो ऐसा अभ्यास जल्दी होना चाहिये, सो यही ठीक है । आपके अंदर इस प्रकारकी इच्छाका होना बहुत ही उत्तम एवं प्रशंसाके योग्य है । इस प्रकारकी तीव्र इच्छा रहनेसे निरन्तर अभ्यास रहना कोई बड़ी बात नहीं । आपने लिखा कि भूल बहुत पड़ती है, सो ठीक ही है । संसारका अभ्यास बहुत दिनोंसे करते आये हैं, इसीसे भूल पड़ती है । यह भूल यदि आपको सहन न होगी तो अपने-आप कम हो सकती है । जबतक भगवान्में पूर्ण प्रेम नहीं होगा तबतक भूलका सर्वथा मिटना सम्भव नहीं । आपने लिखा कि भगवान्के चरणोंमें प्रेम होना चाहिये, सो मेरा भी लिखना है कि यह अवश्य होना चाहिये । आपके अंदर इस प्रकारकी इच्छा रहेगी तो फिर अधिक ढील होनेमें कोई कारण नहीं दिखायी देता । भगवान्के गुणोंकी चर्चा पढ़ने-सुननेसे तथा भजन-ध्यानका विशेष चेष्टापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे भगवान्का चिन्तन हर समय हो सकता है । आपने लिखा कि भगवान्के स्वरूपका ध्यान रखते हुए नामका जप होना चाहिये, सो भजन, ध्यान, सत्संगके अभ्याससे उसका प्रभाव जान लेनेसे ऐसा हो सकता है । भजन-ध्यानको सबसे उत्तम माना जाय तभी भजन-ध्यान हो सकता है । भजनको सच्चे मनसे सर्वोत्तम मान लेनेके बाद दूसरा चिन्तन अपने-आप कम होने लगेगा, सो भी थोड़े ही दिन होगा । संसारका चिन्तन जब आपके मनको अच्छा नहीं लगेगा तब भगवान्का ही चिन्तन अधिक होगा । आपने लिखा कि भजन-ध्यान करते समय भगवान्का ध्यान छूटकर संसारका चिन्तन बरबस होने लगता है, सो ठीक ही है । संसारका चिन्तन हमारे लिये बड़ा घातक है । जो संसारका चिन्तन करते हुए मरेगा उसे संसारकी ही प्राप्ति होगी और जो भगवान्का चिन्तन करते हुए मरेगा उसे भगवान् ही प्राप्त होंगे । जो इस भेदको समझ जायगा उसे संसारका चिन्तन सहन नहीं हो सकता । ऐसा होनेपर यदि फिर भी संसारका चिन्तन बलात्कारसे होगा तो वह थोड़े ही दिन टिकेगा । संसारके चिन्तनका जब चोटकी भाँति दर्द होगा तब अपने-आप चेत हो जायगा । हम जितनी ही अधिक चोट सहते हैं उतनी ही अधिक चोट हमें लगती है । आपने लिखा कि स्मरणमें भूल बहुत होती है, वह जल्दी मिटनी चाहिये, सो उसे मिटानेकी सच्चे मनसे चेष्टा होनेसे भूलका मिटना कौन बड़ी बात है । आपने फर्रुखाबादसे चिट्ठी दी, जिसमें लिखा था कि हर समय प्रेमपूर्वक भगवान्का स्मरण होना चाहिये, सो हर समय सुमिरन तो प्रेम होनेपर ही होगा । चाहे जिस प्रकारसे हो, भगवान्का चिन्तन हर समय होना चाहिये । इस प्रकारकी इच्छा रखनी चाहिये, इस तरहकी इच्छा भी बहुत उत्तम है । समय बीता जा रहा है । निरन्तर चिन्तनके लिये जल्दी कोशिश करनी चाहिये । हर समय चिन्तन होना ही उत्तम उपाय है, चाहे और कुछ भी न हो । गया हुआ समय वापस नहीं आता । समय बहुत ही अमूल्य है । इसको अमूल्य काममें ही लगाना चाहिये । समयको जो अमूल्य काममें बितावेगा उसे फिर कभी पछतावा नहीं करना पड़ेगा । समयका मूल्य जान लेनेपर [सफलतामें] विलम्ब नहीं है ।

(५)

काम करते हुए भगवान्का ध्यान करते रहनेका उपाय पूछा सो निम्नलिखित रूपसे समझना चाहिये—

(१) *निर्गुणका ध्यान*—चलते-फिरते, उठते-बैठते सर्वव्यापकमें स्थित रहते हुए संसारको असत् समझकर और शरीरसे पृथक् द्रष्टा—साक्षी-

रूपसे स्थित सच्चिदानन्द परमात्माके ही स्वरूपमें स्थित रहकर प्रयत्न करना चाहिये ।

यदि सगुण भगवान्‌में प्रेम हो तो काम करते हुए सगुण भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—

(२) सगुणरूप श्रीकृष्ण भगवान्‌की मनमोहिनी मूर्तिको सब जगह देखते हुए काम करे । जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी ओर देखती हुई पतिकी इच्छानुसार सब काम करती है, उसी भाँति उस भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मोर-मुकुटधारी, वंशीवटविहारीकी माधुरी मूरतको अपने नेत्रोंके सामने देखता हुआ काम करता रहे । जहाँ-जहाँ नेत्र जाय वहाँ-वहाँ ही श्रीवासुदेव श्यामसुन्दरकी मूर्तिकी भावना करे । और जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ भी आनन्दमय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी मूर्तिका चिन्तन करते हुए, मनको भगवान्‌में रखते हुए सांसारिक काम करता रहे ।

(३) ज्यों पतिव्रता स्त्री अपने पतिमें मन रखते हुए संसारका काम करती है उस प्रकार करनेसे साधन परिपक्व हो जाता है । उसे एक श्रीकृष्ण भगवान्‌के सिवा और कुछ नहीं भासता, और वह आनन्दमें ऐसा मगन हो जाता है कि उसे अपने शरीरका भी भान नहीं रहता । वह गोपियों-की भाँति मुग्ध हो जाता है ।

ऐसे भगवान्‌की दोस्ती छोड़कर जो सांसारिक तुच्छ स्त्री और अपने शरीरका दास होकर उनमें प्रेम करता है, वही पशु है । समय बीता जा रहा है । जो भी कुछ सांसारिक वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, सब मिथ्या, नाशवान् हैं, ऐसा जानकर इनसे प्रेम छोड़कर सत्यस्वरूप भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये । भगवान् तो केवल प्रेम ही चाहते हैं ।

कलिकाकी मुस्कान

मुकुलित कलिकाकी मुसकान,
हृदय-पटलपर अंकित करती जीवनका अवसान ।
निशिमें शशि-किरणोंका चुम्बन ,
ऊषामें दलपर मुक्ता-कण ।
रहकर कुछ क्षण ,
अरे ढुलक पड़ता जो उसका था शृंगार महान ॥
पवनका बार-बार सुहलाना ,
भ्रमरका मधु पी-पीकर गाना ।
नहीं कुछ माना ,
जगको करती रही निरंतर निज सौरभका दान ॥
पर जब सब पंखुड़ियाँ झड़कर ,
गिरी भूमिपर जीवन खोकर ।
तब क्या आकर ,
कोई एक आह भी करता लख उसका मुख म्लान ॥
लेकिन कहीं सुभग पा अवसर ,
कहीं किसीके करसे चुनकर ।
प्रभु-चरणोंपर ,
चढ़ पाती तो पा जाती है सुरदुर्लभ सम्मान ॥
यों ही मानव जीवन पाकर ,
इस नश्वर जगतीमें आकर ।
सब कुछ खोकर ,
दुखमय सुख पा कर जाते हैं शून्यहृदय प्रस्थान ॥
पर यदि सब कुछ अर्पण करके ,
पा जाते हैं उस प्रियवरके ।
जीवन-धनके ,
चरण-कमल तो हो जाता कल्याण ॥

—'सुदर्शन'

कुछ उपयोगी मन्त्र और उनके जपकी विधि

(९)

बालगोपालके अठारह मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। किसी एकके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेसे साधकका अभीष्ट सिद्ध होता है। यहाँ उन मन्त्रोंका संक्षेपरूपसे स्वरूपनिर्देश किया जाता है—

'ॐ कृः' यह एकाक्षर मन्त्र है।

'ॐ कृष्ण' यह द्वयक्षर मन्त्र है।

'ॐ क्लीं कृष्ण' यह त्र्यक्षर मन्त्र है।

'ॐ क्लीं कृष्णाय' यह चतुरक्षर मन्त्र है।

'ॐ कृष्णाय नमः' 'ॐ क्लीं कृष्णाय क्लीं' ये दो पञ्चाक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ गोपालाय स्वाहा', 'ॐ क्लीं कृष्णाय स्वाहा', 'ॐ क्लीं कृष्णाय नमः' ये तीन षडक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ कृष्णाय गोविन्दाय', 'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय क्लीं' ये सप्ताक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय', 'ॐ दधिभक्षणाय स्वाहा', 'ॐ सुप्रसन्नात्मने नमः' ये अष्टाक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीं', 'ॐ क्लीं ग्लौं श्यामलाङ्गाय नमः' ये नवाक्षर मन्त्र हैं।

'ॐ बालवपुषे कृष्णाय स्वाहा' यह दशाक्षर मन्त्र है।

'ॐ बालवपुषे क्लीं कृष्णाय स्वाहा' यह एकादशाक्षर मन्त्र है।

प्रातःकालके सारे नित्यकृत्य समाप्त होनेके पश्चात् इनमेंसे किसी एकका जप करना चाहिये। इन सब मन्त्रोंके ऋषि नारद हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। इनका क्रमसे सिर, मुख और हृदयमें न्यास कर लेना चाहिये। करन्यास और अङ्गन्यास निम्नलिखित मन्त्रोंसे करना चाहिये—

ॐ क्लां अंगुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ क्लीं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ क्लूं मध्यमाभ्यां वषट्
ॐ क्लैं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ क्लौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ॐ क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी क्रमसे 'ॐ क्लां हृदयाय नमः' इत्यादि अङ्गन्यास भी कर लेना चाहिये। इसके पश्चात् पूर्वमन्त्रोक्त भावना करके बालगोपालका ध्यान करना चाहिये। इन अठारहों मन्त्रोंका ध्यान एक ही है। यथा—

अव्याद् व्याकोषनीलाम्बुजरुचिररुणा-
म्भोजनेत्रोऽम्बुजस्थो
बालो जङ्घाकटीरस्थलकलितरण-
त्किङ्किणीको मुकुन्दः।
दोर्भ्यां हैयंगवीनं दधदतिविमलं
पायसं विश्ववन्द्यो
गोगोपीगोपवीतो रुरुनखविलस-
त्कण्ठभूषश्चिरं वः॥

भगवान् गोपालके अङ्गकी कान्ति खिले हुए नील-कमलके समान है। नेत्र रक्तकमलके समान हैं और वे बालकवेषमें कमलके ऊपर नृत्य कर रहे हैं। उनके चरणोंमें नूपुर झुनझुन कर रहे हैं और कमरमें किङ्किणीकी ध्वनि हो रही है। एक हाथमें नवनीत लिये हुए हैं और दूसरेमें अत्यन्त उज्ज्वल खीर। ये साधारण बालक नहीं, सारे संसारके वन्दनीय हैं। चारों ओरसे इन्हें गौ, ग्वाल और ग्वालिनें घेरे हुए हैं। कण्ठमें बाघके नखकी कँठुली शोभायमान है। ये सर्वदा सारे जगतकी रक्षामें तत्पर रहते हैं। इस प्रकार ध्यान करते हुए मन-ही-मन भगवान्‌की षोडशोपचारसे पूजा करनी चाहिये। विशेष अनुष्ठान-

के लिये विशेष विधियाँ हैं। इनमेंसे किसी मन्त्रका अनुष्ठान एक लाखका होता है और घी, मिश्री और खीरसे दस हजार आहुतियोंका हवन होता है। हवनकी सामर्थ्य न होनेपर चालीस हजार जप और करना चाहिये। हवनकी संख्यासे ही तर्पणका भी विधान है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करनेपर ये मन्त्र अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, भगवद्दर्शन और भगवत्प्रेमको देनेवाले हैं। जो विना श्रद्धा-भक्तिके विधिपूर्वक जप करते हैं उनके अंदर ये श्रद्धा-भक्तिका सञ्चार करनेवाले हैं।

(१०)

बालगोपालका एक दूसरा अष्टाक्षर मन्त्र है—

'ॐ गोकुलनाथाय नमः।'

इसके ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और श्रीकृष्ण देवता हैं। उनका यथास्थान न्यास करके मन्त्रका न्यास करना चाहिये—

ॐ गो कु अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ ल ना तर्जनीभ्यां स्वाहा।

ॐ था य मध्यमाभ्यां वषट्।

ॐ नमः अनामिकाभ्यां हुम्।

ॐ गोकुलनाथाय नमः कनिष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार 'ॐ गो कु हृदयाय नमः' इत्यादि अंगन्यास भी कर लेना चाहिये। वैष्णवमन्त्रोंमें कई स्थानोंपर षडंगन्यासकी जगह पञ्चांगन्यास ही आता है। इसके ध्यानका प्रकार निम्नलिखित है—

पञ्चवर्षमतिलहसमङ्गने धावमानमतिचञ्चलेक्षणम्।
किङ्किणीवलयहारनूपुरैरञ्जितं नमत गोपबालकम्॥

'भगवान् बालगोपालकी अवस्था पाँच वर्षकी है। स्वभाव बड़ा ही चञ्चल है। आँगनमें इधर-उधर दौड़ रहे हैं। आँखें बड़ी चञ्चलताके साथ अपने भक्तोंपर कृपामृतकी वृष्टि करनेके लिये दौड़ रही हैं। किंकिणी, कंकण, हार, नूपुर आदि आभूषणोंसे भूषित हैं। ऐसे बालगोपालके सामने हम बड़े प्रेमसे प्रणत होते हैं।'

ऐसे ही भगवान्‌को नमस्कार करना चाहिये। इसी प्रकार ध्यान करके मानसपूजा करनी चाहिये। बालगोपालकी ऐसी ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके बाह्य-पूजा करनी चाहिये। इसका अनुष्ठान आठ लाखका होता है और आठ हजारका हवन होता है। जो साधक इस मन्त्रका जप करता है उसकी सांसारिक अभिलाषाएँ भी पूरी होती हैं और भगवान् तो मिलते ही हैं; परन्तु जहाँतक हो सके सांसारिक अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये इन मन्त्रोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

बालगोपालका एक दूसरा मन्त्र है—'ॐ क्लीं कृष्ण क्लीं'। इसके ऋषि आदि पूर्वोक्त मन्त्रके ही हैं और न्यास भी वैसे ही होता है। इसके ध्यानका वर्णन दूसरे प्रकारसे हुआ है—

श्रीमत्कल्पद्रुमूलोद्गतकमललसत्-
कर्णिकासंस्थितो य-
स्तच्छाखालम्बिपद्मोदरविशरदसं-
ख्यातरत्नाभिषिक्तः।
हेमाभः स्वप्रभाभिस्त्रिभुवनमखिलं
भासयन् वासुदेवः
पायाद् वः पायसादोऽनवरतमवनी-
तामृताशीरसीमः॥

'कल्पवृक्षके मूलसे निकले हुए कमलकी सुन्दर कर्णिकापर श्रीगोपाल विराजमान हैं। इस कल्पवृक्षकी शाखाओंसे निकले हुए कमलोंसे असंख्यों रत्न झर रहे हैं और उनसे बालगोपालका अभिषेक हो रहा है। गोपालके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान है और उनकी अंगकान्तिसे तीनों लोक प्रकाशित हो रहे हैं।

ये गोपालरूपो वासुदेव निरन्तर पायस और मक्खनका रस लेते रहते हैं और इनका श्रीविग्रह अनन्त है। ये सर्वदा हमलोगोंकी रक्षा करें।' इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रका जप करना चाहिये। इस मन्त्रका अनुष्ठान चार लाखका होता है। चवालीस हजार हवन होता है। इस मन्त्रके दोनों 'क्ली' में यदि रेफ जोड़ दिया जाय तो यह मन्त्रचूडामणि बन जाता है। उस मन्त्रका स्वरूप होगा—'ॐ क्रीं कृष्ण क्रीं' इसके ऋषि, देवता आदि भी पूर्वोक्त मन्त्रके समान हैं। इसका न्यास 'क्रीं' बीजसे होता है—यथा ॐ क्रीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, ॐ क्रीं हृदयाय नमः इत्यादि। इसके ध्यानका प्रकार निम्नलिखित है—

> आरक्तोद्यानकल्पद्रुमतलविलसत्-
> स्वर्णदोलाधिरूढं
> गोपीभ्यां प्रेक्ष्यमाणं विकसितनवब-
> न्धूकसिन्दूरभासम्।
> बालं लोलालकान्तं कटितटविलसत्-
> क्षुद्रघण्टाघटाढ्यं
> वन्दे शार्दूलकामाङ्कुशललितगणा-
> कल्पदीप्तं मुकुन्दम्॥

'अनुरागके रागसे रञ्जित लाल उद्यानमें कल्पद्रुमके नीचे सोनेके झूलनेपर भगवान् बालगोपाल झूल रहे हैं। दो गोपियाँ दोनों ओर खड़ी होकर धीरे-धीरे उन्हें झुला रही हैं और प्रेमभरी चितवनसे देख रही हैं। उनके शरीरकी कान्ति खिले हुए बन्धूकपुष्पके समान सिन्दूरवर्णकी है। उनकी घुँघराली अलकें शीतल मन्द सुगन्ध वायुके झकोरोंसे कपोलोंपर लहरा रही हैं। कमरमें बँधे हुए घुँघरू पालनेके हिलनेसे झुनझुन कर रहे हैं। बघनहे आदिसे उनका गला बड़ा ही सुन्दर मालूम हो रहा है। ऐसे भगवान् बालगोपालकी हम बार-बार वन्दना करते हैं।'

ध्यानके पश्चात् मानसपूजा करके उपर्युक्त मन्त्रका जप करना चाहिये। इसके सब विधि-विधान पहले मन्त्रके समान हैं। अनुष्ठान भी उतनेका ही होता है।

(११)

भगवान् विष्णु, राम और कृष्णकी ही भाँति भगवान् शिवके भी अनेकों मन्त्र हैं। वास्तवमें विष्णु और शिवमें कोई भेद नहीं है। शिवके हृदय विष्णु हैं और विष्णुके हृदय शिव हैं। यदि शिव दिन-रात भगवान् विष्णुके नामका जप किया करते हैं तो भगवान् विष्णु भी शिवकी पूजा करते समय नियमित कमलोंकी संख्या पूर्ण न होनेपर अपना नेत्रतक चढ़ा देते हैं। एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न साधकोंकी रुचि भगवान्‌के भिन्न-भिन्न रूपोंकी ओर होती है। जिनकी रुचि विष्णुमें हो वे विष्णुका मन्त्र जपें, जिनकी रुचि शिवमें हो वे शिवके मन्त्र जपें। दोनोंके फल समान हैं, दोनोंसे ही कामनाएँ पूर्ण होती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होता है, परमज्ञान अथवा परमप्रेमका उदय होता है। यहाँ एक-दो प्रधान मन्त्रोंकी ही चर्चा की जायगी। जो इन मन्त्रोंसे दीक्षित हों वे अथवा जिन्हें ये मन्त्र प्रिय हों वे दीक्षा लेकर अनुष्ठान कर सकते हैं।

'ॐ ह्रौं' यह श्रीशिवजीका एकाक्षर मन्त्र है। इसे शास्त्रोंमें प्रासादबीज कहा गया है। प्रातःकृत्यसे प्राणायामतकके कृत्य करके मातृकान्यासकी भाँति श्रीकण्ठाक्षिन्यास करना चाहिये।

ॐ अं श्रीकण्ठपूर्णोदरीभ्यां नमः।
ॐ आं अनन्तविरजाभ्यां नमः।
ॐ इं सूक्ष्मशाल्मलीभ्यां नमः।
ॐ ईं त्रिमूर्तिलोलाक्षीभ्यां नमः।
ॐ उं अमरेश्वरवर्तुलाक्षीभ्यां नमः।
ॐ ऊं अर्घीशदीर्घघोणाभ्यां नमः।
ॐ ऋं भारभूतिसुदीर्घमुखीभ्यां नमः।
ॐ ॠं अतिथीशगोमुखीभ्यां नमः।

ॐ लृं स्थाणुकदीर्घजिह्वाभ्यां नमः ।
ॐ लॄं हरकुण्डोदरीभ्यां नमः ।
ॐ एं झिंटीशोर्द्ध्वमुखीभ्यां नमः ।
ॐ ऐं भूतिकेशविकृतमुखीभ्यां नमः ।
ॐ ओं सद्योजातज्वालामुखीभ्यां नमः ।
ॐ औं अनुग्रहेश्वरोल्कामुखीभ्यां नमः ।
ॐ अं अक्रूरसुश्रीमुखीभ्यां नमः ।
ॐ अः महासेनविद्यामुखीभ्यां नमः । *
ॐ कं क्रोधीशसर्वसिद्धिमहाकालीभ्यां नमः ।
ॐ खं चण्डेशसर्वसिद्धिसरस्वतीभ्यां नमः ।
ॐ गं पञ्चान्तकगौरीभ्यां नमः ।
ॐ घं शिवोत्तमत्रैलोक्यविद्याभ्यां नमः ।
ॐ ङं एकरुद्रमन्त्रशक्तिभ्यां नमः ।
ॐ चं कूर्मात्मशक्तिभ्यां नमः ।
ॐ छं एकनेत्रभूतमातृकाभ्यां नमः ।
ॐ जं चतुराननलम्बोदरीभ्यां नमः ।
ॐ झं अजेशद्राविणीभ्यां नमः ।
ॐ ञं सर्वनागरीभ्यां नमः ।
ॐ टं सोमेशखेचरीभ्यां नमः ।
ॐ ठं लाङ्गलिमञ्जरीभ्यां नमः । †
ॐ डं दारुकरूपिणीभ्यां नमः ।
ॐ ढं अर्धनारीश्वरवीरणीभ्यां नमः ।
ॐ णं उमाकान्तकाकोदरीभ्यां नमः ।
ॐ तं आपाढिपूतनाभ्यां नमः ।
ॐ थं दण्डिभद्रकालीभ्यां नमः ।
ॐ दं अद्रियोगिनीभ्यां नमः ।
ॐ धं मीनशङ्खिनीभ्यां नमः ।
ॐ नं मेषगर्जिनीभ्यां नमः ।
ॐ पं लोहितकालरात्रिभ्यां नमः ।
ॐ फं शिखिकुब्जिकाभ्यां नमः । ‡
ॐ बं छगलण्डकपर्दिनीभ्यां नमः ।
ॐ भं द्विरण्डेशवज्राभ्यां नमः ।
ॐ मं महाकालजयाभ्यां नमः ।
ॐ यं त्वगात्मबालिसुमुखेश्वरीभ्यां नमः ।
ॐ रं असृगात्मभुजङ्गेशरेवतीभ्यां नमः ।
ॐ लं मांसात्मपिनाकीशमाधवीभ्यां नमः ।
ॐ वं मेदात्मखड्गीशवारुणीभ्यां नमः । §
ॐ शं अस्थ्यात्मवकेशवायवीभ्यां नमः ।
ॐ षं मज्जात्मश्वेतरक्षोविदारिणीभ्यां नमः ।
ॐ सं शुक्रात्मभृग्वीशसहजाभ्यां नमः । ×
ॐ हं प्राणात्मनकुलीशलक्ष्मीभ्यां नमः ।
ॐ ळं बीजात्मशिवव्यापिनीभ्यां नमः ।
ॐ क्षं क्रोधात्मसंवर्तकमायाभ्यां नमः । +

न्यास, पूजा आदिसे पवित्र होकर मन्त्रके ऋषि आदिका यथास्थान न्यास करना चाहिये । इस मन्त्रके ऋषि वामदेव हैं, पंक्ति छन्द है और सदाशिव देवता हैं । इसके करांगन्यास 'ॐ हां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' इत्यादि छः दीर्घ मात्राओंसे युक्त हकारपर बिन्दु लगाकर होते हैं । इस मन्त्रका ध्यान निम्नलिखित है—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।

---

* अकारसे लेकर षोडश स्वरोंका न्यास कण्ठमें स्थित षोडशदल कमलपर करना चाहिये ।

† कसे लेकर ठतकके बारह वर्णोंका न्यास हृदयके द्वादशदल कमलपर करना चाहिये ।

‡ डसे लेकर फतकके दस वर्णोंका न्यास नाभिके दशदल कमलपर करना चाहिये ।

§ बसे लेकर लतकके छः वर्णोंका न्यास लिंगमूलमें स्थित षट्दल कमलपर करना चाहिये ।

× वसे लेकर सतकके वर्णोंका न्यास मूलाधारके चतुर्दल कमलपर करना चाहिये ।

+ हसे लेकर क्षतकके वर्णोंका न्यास आज्ञाचक्रमें करना चाहिये । (कोई-कोई इस चक्रको तीन दलका मानते हैं ।)

**शूलं टङ्कृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥**

श्रीमहादेवजीके पाँचों मुख पाँच वर्णके हैं। एक मुक्तावर्ण है, दूसरा पीतवर्ण है, तीसरा मेघवर्ण है, चौथा शुक्लवर्ण है और पाँचवाँ जवाकुसुमके समान (रक्तवर्ण) है। पाँचों मुखोंमें तीन-तीन नेत्र हैं और सबके ललाटमें अर्ध चन्द्रमा शोभायमान हैं। शरीरसे करोड़ों पूर्ण चन्द्रमाओंके समान कान्ति निकलती रहती है। नौ हाथोंमें शूल, टङ्क (पत्थर तोड़नेकी टाँकी), खड्ग, वज्र, अग्नि, सर्प, घंटा, अंकुश और पाश धारण किये हुए हैं तथा दसवें हाथमें अभयमुद्रा शोभायमान है। इनके शरीरपर नाना प्रकारकी विचित्र वस्तुएँ हैं और बड़ा ही दिव्य कर्पूरके समान उज्ज्वल अंग है। मैं प्रेमसे ऐसे भगवान् शंकरका ध्यान करता हूँ। इस प्रकार ध्यान करनेके पश्चात् मानसपूजा करनी चाहिये और अर्घ्यस्थापन करना चाहिये। शिवके अर्घ्यस्थापनमें यह विशेषता है कि शंखका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस मन्त्रका अनुष्ठान पाँच लाखका होता है, दशांश हवन होता है। इससे भगवान् शंकरकी प्रसन्नता सम्पन्न होती है।

(१२)

भगवान् शिवका दूसरा प्रसिद्ध मन्त्र है 'ॐ नमः शिवाय।' यह ॐकारके बिना पञ्चाक्षर है और ओंकार जोड़नेपर षडक्षर कहा जाता है। इसके वामदेव ऋषि हैं, पंक्ति छन्द है और ईशान देवता हैं। इनका यथास्थान न्यास कर लेना चाहिये। इसका मूर्तिन्यास निम्न प्रकारका है—

दोनों तर्जनीमें—**ॐ नं तत्पुरुषाय नमः।**

दोनों मध्यमामें—**ॐ मं अघोराय नमः।**

दोनों कनिष्ठिकामें—**ॐ शिं सद्योजाताय नमः।**

दोनों अनामिकामें—**ॐ वां वामदेवाय नमः।**

दोनों अँगूठोंमें—**ॐ यं ईशानाय नमः।**

इसके बाद मन्त्रके प्रत्येक वर्णसे करन्यास और अंगन्यास कर लेना चाहिये। श्रीशिवमन्त्रका व्यापक न्यास निम्नलिखित है—

**ॐ नमोऽस्तु भूताय ज्योतिर्लिङ्गामृतात्मने।
चतुर्मूर्तिवपुश्छायाभासिताङ्गाय शम्भवे॥**

ध्यान इस प्रकार कहा गया है—

**ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥**

भगवान् शिवके शरीरकी कान्ति चाँदीके पर्वतके समान उज्ज्वल है। ललाटपर अर्ध चन्द्रमा शोभायमान है एवं रत्नराशिके समान निर्मल अंग है। दो हाथोंमें परशु और मृगचर्म धारण किये हुए हैं। एक हाथमें वरकी मुद्रा है और दूसरे हाथमें अभयकी। मुखसे प्रसन्नता टपक रही है। बाघंबर पहने हुए कमलपर बैठे हुए हैं, पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुखमें तीन आँखें हैं। सबका भय दूर करनेके लिये उद्यत हैं और यही विश्वके बीज एवं मूल कारण हैं। देवतालोग चारों ओरसे स्तुति कर रहे हैं। ऐसे भगवान् शंकरका ध्यान करना चाहिये। मानसपूजाके पश्चात् मन्त्रका जप करना चाहिये। इस मन्त्रका अनुष्ठान छत्तीस लाखका होता है। साधक इसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र भगवान् शंकरका कृपा-प्रसाद प्राप्त करता है।

अभ्यास और वैराग्य

(एक संतके विचार)

(प्रेषक—पं० श्रीअक्षयवटजी शास्त्री)

संसारके जितने कार्य हैं, सभीमें प्रवृत्ति एक ही उद्देश्यसे होती है—जिसे हम सुखकी प्राप्तिके नामसे व्यक्त कर सकते हैं। सभी सुखकी अभिलाषा रखते हैं; दुःखका दर्शन भी किसीको अभीष्ट नहीं है; किन्तु बाध्य होकर प्राणिजगत्के असंख्य प्राणियोंको भौतिक जगत्की उन नारकीय यातनाओंको सहनेके लिये लाचार होना पड़ रहा है, जिसका वर्णन भी कष्ट-प्रद जान पड़ता है। संसारके अनेक आश्चर्योंमेंसे एक यह भी है कि कार्य तो किये जायँ सुखकी प्राप्तिके लिये, किन्तु इसके फलमें मिलें दुःख! यह विषय प्राणिजगत्के विशाल क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है; इसलिये अनादिकालसे लेकर अबतक इसपर विभिन्न प्रकारके मत-मतान्तर अपने सिद्धान्त स्पष्ट कर चुके हैं और भविष्यमें भी करते रहेंगे, ऐसा विश्वास है। अवलोकनीय विषय यह है कि सुखार्थ कार्य करते हुए कैसे उससे दुःखकी प्राप्ति हो रही है।

एक शक्तिसम्पन्न पुरुष किसी धन-जन-परिपूर्ण राष्ट्रकी स्वाधीनताका संहार करके उसे अपने शासनाधीन कर लेता है और उसकी प्राकृतिक सम्पत्तियोंको लूट-लूटकर अपने आत्मीय राष्ट्रके पुत्रों-को आर्थिक चिन्ताओंको मिटाकर उनके द्वारा वन्दित होता है और साथ-ही-साथ नाना प्रकारके भौतिक सुखोंको भोगता हुआ चैनकी वंशी बजाने लगता है; किन्तु मनुष्यका ईर्ष्यालु स्वभाव उसके इस सुखको तुरंत ही क्षीणता हुआ दिखायी पड़ता है। पूर्वोक्त शक्तिसम्पन्न विजेताके ऊपर कोई दूसरा शक्तिसम्पन्न आकर मँडराने लगता है, अथवा उसके स्वजनोंका आन्तरिक विद्रोह ही उसकी नींद-भूख हराम कर देता है और उसे लेनेके देने पड़ जाते हैं। पहले प्राप्त की हुई विजयसे जो सुख प्राप्त हुआ रहता है वह मय सूदके चुका देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बादमें वही उक्त पुरुष राग-द्वेषसे जकड़ा हुआ मृत्युको प्राप्त होता है और बार-बार राग-द्वेषमय भावनाओंसे जकड़े रहनेके कारण जन्म-मरणकी नारकीय यातनाओंको सहनेके लिये बाध्य होता है। कुछ अपवादस्वरूप महापुरुषोंको छोड़कर प्रायः सभी प्राणियोंकी यही दशा है, जो सुखके हेतु कार्य करते हैं और उलटे उनके दुःखके बन्धन मजबूत होते जाते हैं। यद्यपि पुरुषार्थकी भी आवश्यकता है और परमार्थकी भी!

सुख और दुःखका विषय ऐसा दुरूह है कि अनादिकालसे प्राणिजगत् इसके लिये प्रयत्नशील होते हुए भी—सुखकी प्राप्तिके साधनको जानते हुए भी—अनजान जैसा बना हुआ है। यही कारण है कि वह दुःखदायक कार्योंका प्रारम्भ करता है सुखार्थ! लगाता है बबूरका वृक्ष और चाहता है उससे आम्रफल! प्रकारान्तरसे उपर्युक्त कथनका यही आशय है। विचारणीय बात यहाँ यह है कि आखिर सुख कैसे मिले!

लोकोत्तर महापुरुषोंके वचनोंपर विचार करनेके पश्चात् इसी निर्णयपर पहुँचना पड़ता है कि जबतक वासनाका क्षय नहीं होता तबतक वास्तविक सुखका दर्शन भी दुर्लभ है। संसारके व्यवहारानुसार जैसा कि हम अक्सर कहा करते हैं—हम सुखी हैं; हम दुखी हैं; यह कथन भी

केवल सुखाभासका ही द्योतक है । वस्तुतः यह सुख भी दुःखके डोरोंसे ही बँधा हुआ है । क्योंकि अपनेको सुखी कहनेके कुछ देर बाद ही दुःखका अनुभव होता है, फिर भी हम टकटकी लगाकर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि इस दुःखके बाद फिर कोई ऐसा समय आवेगा जिसमें हमारे ऊपर सुखकी वर्षा होने लगेगी ! उस समय जब कि हम अपनेको दुखी अनुभव करते हैं, तत्कालीन वेदनासे निवृत्ति पानेके लिये प्रभुका गुणानुवाद करते हैं, देवार्चन करते हैं या दानादि धार्मिक कार्य करते हैं; इन सब सत्कर्मोंमें भी हमारी यही आन्तरिक भावना कार्य करती रहती है कि इनके पुण्यसे हमें सुख मिलेगा । अपने विश्वास या निष्ठानुसार इन सत्क्रियाओंसे हमारे पूर्वोक्त दुःखकी निवृत्ति कुछ कालके लिये हो जाती है और हम सुखका अनुभव करने लगते हैं, किन्तु यह स्थायी नहीं होता है । इसका कारण यही है कि हमारी फलाकांक्षा, वह चाहे भौतिक सुखके लिये हो अथवा पारलौकिक सुखके लिये, जबतक बनी हुई है तबतक इस भूलभुलैयाका अन्त कहाँ ? हाँ, सत्कर्मोंका फल, चाहे उन्हें आकांक्षासे ही किया जाय, इतना तो अवश्य ही होता है कि यदि जन्मान्तरके पाप अन्तराय होकर न बैठे हों तो, चाहे हमारी वृत्ति सात्त्विक हो, राजस हो या तामस हो, हम पुण्यके फलस्वरूप सुखका अनुभव करते हैं । संसारकी दृष्टिमें चाहे यह सुख कैसा भी हो—यह सुख चाहे कीट-पतङ्गोंका सुख हो अथवा सम्मानित विद्वान् या धनाढ्यका सुख हो—भोक्ताके लिये तो यह वाञ्छनीय है ही । यह सुख परमानन्दकी ओर ले जानेवाला हो अथवा पतनका अग्रदूत हो, हमारी चञ्चल प्रवृत्ति यह समझती हुई उसके ऊपर सहसा टूट ही पड़ती है कि राम न सही, आराम ही सही ! यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि सुखका अनुभव हमें चाहे जहाँ कहीं भी हो, चाहे सात्त्विक कार्यों या वस्तुओं अथवा विचारणाओंमें हो अथवा राजस या तामसमें हो, यही समझना चाहिये कि यह सुख हमारे पुण्यकर्मका फल है । यह कहनेमें कि संसारकी दृष्टिमें भोक्ता सुखका किसी भी वस्तुमें, हेय या उपादेयमें, अनुभव करता है तो यही समझना चाहिये कि यह भोक्ताके पुण्यके फलके रूपमें उसे प्राप्त हो रहा है—हमें जरा भी संकोच नहीं होना चाहिये । यहाँ वक्तव्य यह है कि राजस, तामस तथा सात्त्विक सुखों, उनके भोगों एवं उनके भोक्ताओंमें अन्तर हुआ करता है । हाँ, उतना ही अन्तर होता है जितना आकाश और पातालमें अन्तर है । सात्त्विक प्रवृत्तिके सभी कार्य अथवा व्यापार प्राणीको बन्धनके हेतु होते हुए भी सच्चिदानन्दके अव्यय स्वरूपकी ओर आकर्षित करनेके साक्षात् या परम्परया साधन हैं, किन्तु इसके विपरीत राजस एवं तामस प्रवृत्तिके भोग प्राणीको अधोगतिकी ओर ले जानेवाले हैं । यही प्रधान कारण है कि मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्तियोंके प्रत्यक्षदर्शी संतजन इसे जानते हुए कि मनुष्यकी राजस एवं तामस व्यापारोंकी ओर बलात् प्रवृत्ति होती है, उसे उसके भविष्यका खयाल करते हुए सात्त्विक कर्तव्योंकी ओर आकर्षित करते हैं। जैसे हरिकीर्तनको ही ले लीजिये । अपने स्वरूपको प्राप्त हुए महापुरुष भी प्रभुका नाम जपते हैं, किन्तु उनका यह स्मरण या जप आत्मस्वरूपका चिन्तन है । इनके अतिरिक्त कोई साधारण मनुष्य अपनी किसी सांसारिक इष्टकी सिद्धिके लिये प्रभुका नाम जपता है । इस नामके जपमें भी यद्यपि बाँधनेवाले सुखकी अभिलाषा कार्य कर रही है, तथापि इसकी राजस अथवा तामस कार्योंके साथ समता नहीं हो सकती । सच्ची बात तो यह है कि स्वार्थसिद्धिके लिये किया गया भगवान्‌का नामस्मरण भी शनैः-शनैः हमारी

आन्तरिक प्रवृत्तियोंमें सात्त्विक भावनाओंकी वृद्धि करता है। इनकी वृद्धिके साथ-ही-साथ राजस और तामस गुणोंकी न्यूनता होने लगती है। मानवजीवनकी यही अवस्था होती है जिसमें अभ्यास और वैराग्यका उदय होता है और वे उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। यही अवस्था हमारे अभ्युदयकी वास्तविक अवस्थाकी पद्धति है।

कुछ सज्जनोंकी ऐसी धारणा है कि संसारमें अनेक ऐसे प्राणी हैं जो पुत्र-कलत्र आदि कुटुम्बियोंसे प्राप्त मानसिक या शारीरिक कष्टोंसे ऊब-कर संसारकी वासनाओंसे विरक्त हो जाते हैं और कुछ कालतक इस प्रकारके मन्द वैराग्यमें अपना जीवन यापनकर फिर सांसारिक भोगोंमें जाकर लिप्त हो जाते हैं। अथवा ऊपरसे विरक्त बने रहकर भी उनका अन्तराल भौतिक वासनाओंसे ज्वालामुखी पर्वतकी अन्तर्निलीन वह्निके समान दहकता रहता है। ऐसे विषयवैराग्यसे वैराग्यका न होना ही अच्छा है, क्योंकि व्यक्तिगतरूपसे व्यक्तिविशेषके लिये श्रेयस्कर होते हुए भी इस प्रकारका विराग समाजके लिये घातक हो सकता है। लेकिन यदि विचार करके देखा जाय तो यह बात ठीक नहीं जँचती। मन्द वैराग्य अथवा वैराग्या-भास भी वास्तविक वैराग्यके आविर्भावमें शनैः-शनैः सहायक ही होता है; समाज और जातिके लिये घातक नहीं! इसका एक प्रबल कारण यह है कि विषय-वैराग्य और अभ्यास (ईश्वरके प्रति एकान्त अनुराग) दोनों साथ-साथ रहनेवाली वस्तुएँ हैं, अतः एकके बिना दूसरी नहीं रह सकती। अतः वैराग्याभास भी अभ्यासाभासके साथ ही रहनेवाला है, और यदि अभ्यास, या इसीको भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग कहें, एक बार छायारूपमें हृदयमें प्रविष्ट हो जाता है तो यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही है, घटता नहीं। संसारकी कोई शक्ति नहीं जो इसे अपने स्थानसे हटाकर इसका स्थान ले सके! यहाँ विशेष वक्तव्य यह है कि अभ्यास और वैराग्य आभासरूपमें होते हुए भी नष्ट न होकर जन्म-जन्मान्तरके अपने एकत्रित किये हुए स्वरूपोंमें मिलते जाते हैं। बात यह है कि इस जीवनमें अथवा जन्मान्तरोंमें जितनी बार भी अभ्यास और वैराग्य—वे चाहे आभास-रूपमें ही क्यों न हों—किये जाते हैं वे हृदयमें संस्काररूपसे एकत्रित होते रहते हैं और उनका यही चय हमारे हृदयमें सात्त्विक गुणोंकी वृद्धि करके वास्तविक वैराग्य तथा अभ्यासका प्रत्यक्षीकरण करता है और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण होता है। भगवान्‌के निम्नाङ्कित वचनोंसे भी इस कथनकी ध्वनि निकलती है, यथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
...
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

भगवान् गौतमबुद्धने कहा है कि 'किये हुए कर्मोंका नाश नहीं होता।' इसके अतिरिक्त कर्मकी नित्यतापर विश्वास रखनेवाले तत्त्ववेत्ताओंकी उक्तियों-पर विश्वास किया जाय, तो यह बात निर्विवाद है कि जीवनभरमें एक बार भी लिया गया हरिनाम, चाहे वह स्वार्थ-सिद्धिके लिये लिया गया हो अथवा परमार्थकी दृष्टिसे, स्थायी हो जाता है और उसके फलस्वरूप ही, जब कभी भी सही, उद्धार करनेवाली सद्भावनाओंका आविर्भाव होता है। अभ्यास और वैराग्यकी छायाके विषयमें भी यही कहा जा सकता है। सच तो यह है कि संसारकी स्थूल चीजें भी पहले अपने सूक्ष्मरूपमें उत्पन्न होती हैं। फोटोग्राफर पहले क्या पाता है? किसी व्यक्तिकी अस्पष्ट छायामात्र! किन्तु यही छाया उसे उस व्यक्तिकी सुन्दर तस्वीर बनानेमें भित्ति या आधारके समान सहायता देती है। सच्ची बात तो यह है कि कागजपर अंकित हुई यह अस्पष्ट छाया ही अनेक आवश्यक उपकरणोंको पाकर मनोहर

तस्वीरके रूपमें परिणत हो जाती है। अब यदि इसी बातपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह बात समझमें आ जाती है कि सात्त्विक गुणोंके आविर्भावके बाद जो हृदय अभ्यास और वैराग्यकी ओर झुकता हुआ दिखायी पड़ता है, यह दृश्य भी पूर्वोक्त उदाहरण-में कागजपर प्रारम्भमें छायारूपमें अंकित हुई किसी मनुष्यकी प्रतिकृतिके समान आत्माके प्रतिबिम्बकी अस्पष्ट छायाके समान है और बादमें शनैः-शनैः आवश्यक उपकरणोंसे परिपोषित एवं परिवर्धित होता हुआ यही आत्माका प्रतिबिम्ब अन्तमें उस अवस्थाको प्राप्त होकर स्थित हो जाता है जिसकी आज हम इस अवस्थामें कल्पना करनेमें भी असमर्थ हैं। विषयके स्पष्टीकरणके लिये एक मकानका उदाहरण उचित प्रतीत होता है। प्रारम्भमें किसीके मनमें अपने लिये या समाजके लिये एक मकान बनानेकी भावना होती है। उस पुरुषको यदि इस कार्यके निष्पन्न करनेके लिये आवश्यक सामग्रियाँ मिल जाती हैं, तो वह इस निर्माणकार्यको प्रारम्भ कर देता है और उस पुरुषकी भावनामें स्थित गृह मूर्तस्वरूप धारण करने लगता है, किन्तु अन्तमें जाकर साधनोंको पाकर वही उसके हृदयमें पहले स्थित गृह भली या बुरी उस स्थितिमें व्यक्त होता है जिसकी पहले उसके मनमें कल्पना भी नहीं हुई रहती; किन्तु कहना न होगा कि इस गृहके इस स्वरूपकी जननी वही भावना है जो पहले-पहले अस्पष्टरूपसे उक्त व्यक्तिके अन्तरालमें उदित हुई थी। मन्द वैराग्यके विषयमें भी यही बात है; अन्तमें यही अभ्याससे दृढ होता हुआ हमारे विचारोंमें उन प्रवृत्तियोंका समावेश करानेमें—उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होता हुआ—समर्थ होता है, जिनकी आज हम कल्पना करनेमें भी असमर्थ हैं। संसारकी दृष्टिमें अनेक हेय व्यक्तियोंके जीवनमें पहले वैराग्याभास हुआ है, किन्तु अन्तमें जाते-जाते वही जाकर इतना दृढ हो गया है कि उसने उनको संसारकी दृष्टिमें नारायणके समान बना दिया है। यह सच्ची बात है कि महर्षि वाल्मीकि तथा गोस्वामी तुलसीदास-जीके जीवनके उत्तरार्ध उनके अनेक जन्मोंके अभ्यास और वैराग्यकी पूर्णाहुतिस्वरूप हैं; किन्तु कहना न होगा कि इस पूर्णाहुतिके चरुके आविर्भावमें भी सांसारिक वासनाओंसे इन्हें विरक्त बनानेके समय भी मन्द वैराग्यका चित्र ही इनके सम्मुख झूलता रहा होगा। सम्भवतः बिल्वमंगलजीका जीवन तो इस विषय-को उक्त महापुरुषोंके जीवनसे भी अधिक स्पष्ट करने-वाला होगा। बिल्वमंगल तबतक बिल्वमंगल ही रहते हैं जबतक उनके सामने भौतिकताका वह चित्र नहीं आ उपस्थित होता जिसके कारण उन्हें वास्तविक अर्थोंमें सूर नहीं बन जाना पड़ता, और यह कहना अनुचित नहीं प्रतीत होगा कि इसके बाद ही बिल्वमंगल सूरदास होते हैं; किन्तु प्रारम्भमें इस महापुरुषके अन्दर कौन-सी प्रेरणा कार्य कर रही है? वही मन्द वैराग्यके आभासकी भावना, जो बिल्वमंगल-को विलासमय जीवनको परित्यागकर साधु बननेके लिये बाध्य करती है। यहाँ यह कहना उचित जान पड़ता है कि बिल्वमंगलके साधु बननेका समय वैराग्याभाससे ही युक्त था, नहीं तो बादमें उनके अन्तरालमें वे विकार उठते ही नहीं जिनके कारण उन्हें वास्तविक अर्थोंमें सूरदास बननेके लिये बाध्य होना पड़ा। हाँ, यह बात अवश्य है कि सूरदास बननेके क्षणमें उनका मन्द वैराग्य पककर पूर्ण वैराग्य-का रूप धारण कर चुका था, यही प्रधान कारण है जिससे फिर लौटकर उन्हें भौतिक न होना पड़ा।

यद्यपि उक्त तीनों महापुरुषोंके विरक्त होनेकी एक साधारण मनुष्यके समान चर्चा करना उचित नहीं है, क्योंकि उक्त संतोंकी महिमाएँ एवं गुण और कर्म भी परमपिता प्रभुके समान ही साधारण बुद्धिवाले व्यक्तियोंके ज्ञानसे परे हैं, तथापि भारतीय जीवनमें

इनके वैराग्यकी चर्चाका विश्रुत होना ही यहाँ प्रमाणके रूपमें उद्धृत करनेमें कारणीभूत है। वास्तविक बात तो यह है कि सुखनिधान भगवान्‌को वही जान सकता है—अभ्यास और वैराग्यके द्वारा हो अथवा जिस किसी भी प्रकारसे—जिसे वह जना देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—

केशव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
(विनयपत्रिका)

सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
(रामायण)

और यही वह अवस्था होती है, जहाँ पहुँचकर प्राणी संसारकी सभी वेदनाओंसे मुक्त हो जाता है क्या, सच्चिदानन्दस्वरूप ही हो जाता है और कल्पित सुखोंसे विरक्ति इसीमें लीन होनेके लिये आवश्यक है।

ऊपर कहा गया है कि कर्म नित्य हैं; किन्तु यहाँ यह शंका होती है कि जब कर्मफलका भोग हो जाता है तब तो यही समझा जाता है कि उसका इसके बाद क्षय हो गया। इसी प्रकार प्राणी पाप या पुण्य-प्रद जितने भी कर्म करता है, उनके फलके भोग लेनेके बाद वे क्षीण हो गये, फिर उनकी नित्यता कैसे स्थिर हो सकती है? यद्यपि इसकी विस्तृतरूपसे चर्चा करना प्रसंगसे बहिर्गत है, तथापि इस विषयका पूर्वोक्त कथनसे सम्बन्ध होनेके कारण इस सिलसिलेमें यही कहा जा सकता है कि फलभोगके बाद भी कर्मोंके संस्कार या उनकी वासनाएँ तबतक स्थिर रहती हैं जबतक कर्म जल नहीं जाते। इसीको यदि स्पष्ट शब्दोंमें कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि कर्मोंका नाश मुक्तावस्थासे पूर्व होता ही नहीं। और इनका वासनारूपमें भी रहना इनकी नित्यताका द्योतक है, जो सुख-दुःखके कारण हैं। अस्तु, इस अभ्यास और वैराग्यके विषयमें हम आगे बढ़कर जितना ही अधिक विचार करते हैं, यही जान पड़ता है कि यही वह स्थान है जहाँसे मोक्षके द्वारका विस्तृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि इनके भी मूलमें सात्त्विक गुण स्थित हैं और श्रद्धा और विश्वास इसके प्रारम्भिक अंकुर हैं तो भी उक्त दोनों तत्त्व प्राणीके विकासके वे स्थान या दर्जे हैं जहाँ पहुँचकर प्राणीका पतन नहीं हो सकता, क्योंकि तब भगवान् उसे अपनेमें मिला लेनेके लिये हाथ बढ़ाये हुए दीख पड़ते हैं। यही उस ब्राह्मी स्थितिकी वह चित्रित मूर्ति है जिसके विषयमें भगवान् वासुदेव कहते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(गीता)

यही वह स्थिति है जहाँ पहुँचकर फिर मनुष्यको सांसारिक वेदनाएँ नहीं सता सकतीं; अतः यही काम्य है।

विश्वके विभिन्न मत-मतान्तर देश, काल एवं पात्रानुसार इसी सच्चिदानन्दके स्वरूपमें लीन हो जाने अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप हो जानेके उद्देश्य साधन वैराग्य एवं अभ्यासके विभिन्न रूपोंकी व्याख्या करते हुए दीख पड़ते हैं। जरा ध्यानसे देखनेके पश्चात् यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि चाहे कोई अनीश्वरवादी बने अथवा ईश्वरवादी कहलानेका दावा करे, नास्तिक बने या आस्तिक, यदि उसे अनित्य भौतिक सुख एवं दुःखोंसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा होगी तो उसे सांसारिक भोगोंका त्याग करना ही पड़ेगा और उसे अन्तर्मुखी प्रवृत्तियोंकी ओर झुकना ही पड़ेगा। बात भी यह कुछ ऐसी ही है; जो जितनी ही बड़ी वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है उसे उसके बदलेमें उतने ही अधिक मूल्यकी वस्तु देनी पड़ती है। यदि कोई चाहे कि हमें प्रभुका

प्यार मिले तो उसे कृत्रिम सुखोंका मोह त्यागना ही होगा, इसके अतिरिक्त इस भगवान्के प्यारकी प्राप्तिका कोई दूसरा साधन है ही नहीं। इसी बातको घुमा-फिराकर अनेक मतमतान्तर अपने-अपने ढंगोंपर अनीश्वरवादी या ईश्वरवादी—अपनेको जो कहा करें—व्यक्त करते हैं। अतः यदि इस विषयकी एकतापर ध्यान दिया जाय तो यही निश्चित होता है कि संसारमें कोई अनीश्वरवादी नहीं, नास्तिक नहीं; अपितु संसारके व्यापारों, क्रियाओं, सिद्धान्तों या विचारणाओं-का केन्द्रविन्दु एक ही है—जिसे हम 'नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये' कहकर नमस्कार करते हैं और समाधिलीन योगीजन जिसे—

आत्मवन्तो विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।

—महाकवि कालिदासकी इस उक्त्यनुसार आत्म-स्वरूप ही देखते हैं, जो योगीजन संसारके सभी धर्मों, सम्प्रदायों, तथा जात्युपजातियोंसे परे हैं; किन्तु इस अवस्थातक प्राणीको पहुँचानेमें सबसे बड़ा हाथ इसी विषयवैराग्यका है। भगवान् गौतमबुद्ध संसारकी नारकीय यातनाओंसे उद्धार पानेका प्राणियोंको एक ही मार्ग बताते हैं; वह है मनोनाश, अथवा वासनाओंका सर्वतोभावेन क्षय! किन्तु यह तबतक नहीं हो सकता जबतक हमारेमें सात्त्विकताकी, एवं आप्तवचनोंमें श्रद्धाकी वृद्धिके द्वारा तथा सांसारिक भोगोंसे विरक्तिके द्वारा वैराग्यकी तीव्र ज्योतिको प्रज्वलित नहीं कर दिया जाता। जहाँतक हम समझ सके हैं, बौद्धधर्मके अनित्य, अनात्म और दुःखमय संसारसे मुक्ति दिलानेवाले सम्यक् दृष्टि, सम्यक् समाधि इत्यादि आठों प्रमुख मार्गोंकी भूमिकामें यही वैराग्य कार्य कर रहा है। भगवान् महावीर जो अपने अनुयायियोंको शरीरको घोर-से-घोर तपस्याओंद्वारा तपानेका उपदेश देते हैं, उसमें क्या रहस्य भरा है? यही कि विषय-वैराग्यके द्वारा मन-पर एकाधिकार करके समाधिके द्वारा वेदनामय संसारके बन्धनोंसे विमुक्त हो जाओ, और अपनेको प्राप्त करो! इस मनको वशीभूत करनेका उपाय क्या है, इसे भगवती गीता हमें भक्तराज अर्जुन और भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्णके आप्तवाक्योंद्वारा इस प्रकार बताती है। अर्जुन भगवान्से व्यथित होकर कहते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(६।३४)

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(६।३५)

आशा है कि भगवान्के इस कथनके द्वारा यह भलीभाँति व्यक्त हो गया होगा कि मनको वशमें करनेके लिये क्या, नाशके लिये आवश्यकता है उत्कट वैराग्यकी तथा अभ्यासकी—सांसारिक कर्म करते हुए भी पुष्करपलाशवन्निर्लेप होनेकी; और यही वेदनाओंसे मुक्तिप्रदकी ओर जानेका प्रधान द्वार है, जहाँ पहुँचकर सभी सांसारिक पहेलियोंका समाधान स्वयं हो जाता है।

अभ्यास और वैराग्यका विषय इतना गूढ़ है कि प्रयत्न करनेपर भी शब्दोंद्वारा इसका वर्णन नहीं हो सकता। इसे जाननेका बस एक ही साधन है, वह यह कि स्वयं भगवद्भक्त बन जाय। अथवा उनके प्रिय पुत्रोंके जीवनचित्रोंका चित्रण अपने हृदयपर करे। अभ्यास और वैराग्यकी मूर्ति कहाँ है? सूली चढ़ते हुए ईसाकी प्रेमभरी एक दृष्टिमें, ज़हरका प्याला पीते हुए सुकरातके आनन्दमें और प्रेमभरी मीराके रोम-रोममें, जिसका वर्णन कल्पनातीत है।

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≈) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६।।=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी अगस्त माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' प्रतिमास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। कल्याणके सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

काल करे सो आज कर

जैसे कोई मनुष्य वनमें बेधड़क फूल तोड़ रहा हो और उसी समय कोई हिंसक जानवर उसपर आक्रमण कर दे वैसे ही विषयभोगोंमें लगे हुए मनुष्यको, उसकी कामना पूरी होनेके पहले ही मौत अचानक आकर दबोच डालती है। जिस कामको कल करना हो उसे आज ही करो और जिसे दूसरे पहर करना हो उसे इसी पहर कर डालो, क्योंकि मृत्यु तुम्हारा काम पूरा हुआ या नहीं, इसकी बाट नहीं देखती। कोई नहीं जानता कि किस समय किसकी मृत्यु होगी। कार्य पूरा होनेके पहले ही मौत आ जाती है, अतएव जो कुछ करना हो उसे आज ही कर डालो। बुढ़ापेकी प्रतीक्षा न करके जवानीमें ही धर्मका आचरण करो। धर्म करनेसे दोनों लोकोंमें सुख मिलता है। मनुष्य मोहके वश होकर, उचित-अनुचित सब तरहके काम करके, स्त्री और पुत्रोंको सन्तुष्ट रखता है; किन्तु जैसे सोये हुए बाघको नदी अपने प्रवाहमें बहा ले जाती है और जैसे भेड़िया भेड़को ले भागता है वैसे ही मृत्यु स्त्री-पुत्र आदिसे सम्पन्न मनुष्यको सहसा उठा ले जाती है। 'यह काम हो गया, अब यह करना है और यह काम अधूरा पड़ा है' इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए मनुष्यपर मृत्युका आक्रमण अचानक हो जाता है। काल किसी कामके पूरे होने और उसका फल मिलनेकी प्रतीक्षा नहीं करता। खेत, दूकान और घरके कामोंमें लगे हुए दुर्बल, बलवान, बुद्धिमान्, शूर-वीर, मूर्ख और पण्डित, किसीको काल नहीं छोड़ता। जब मरना निश्चित है तब धन, परिवार, प्रतिष्ठा और स्त्री-पुत्रकी इच्छा क्यों करते हो? इस शरीरमें ही स्थित परमात्माका ही ध्यान करो! (महाभारत)
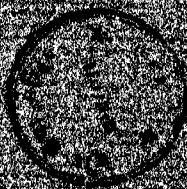
त्य और सांतपन और पराक चांद्रायण और ब्रह्मकूर्च इत्यादि है होरजो व्रतहैं सो ... आदिके अंतर्गत क्या मध्य विषे हिहोणेते ॥ इस्थे जो कृच्छ्र शब्दहै सो द्विजादिशब्द ... जैसें एक द्विज शब्द ब्राह्मणवर्णविषे है और ब्राह्मणक्षत्रि वैश्य तिनांवर्णांविषे भी ... कृच्छ्रशब्द सामान्यकर्केव्रत मात्रविषे किहाहै और विशेषकर्के प्राजापत्यविषे कहा ... शूलपाणिका असा बचनहै जो दूसरे पदतें रहित केवलकृच्छ्रहै सो प्राजापत्यका हि ... दूसरे शब्दके साथ है जैसे पर्णकृच्छ्र आदि ... तिस तिस व्रतका वाचकहै इसके ... और भेद अगे कहांगे ॥ किंचेति कुछक होर कहिदे कवि ... विषे जैसें हथकोयां गुलीयां ... और पंच ... तिसको फल और ... व्रत और पंच पांडुके पुत्र और पंच इंद्रि इत्यादिक पंचादि की गिणती ... करणे वाले प्रसंग विषे गिणतीहैं पंच हि व्रत हैं

तानितु॥ प्राजापत्य सांतपन पराकचांद्रायण ब्रह्मकूर्चाख्यानि व्रतांतराणा मेतदंतः पातित्वात् कृच्छ्रशब्दोहिद्विजादिशब्दवत्सामान्यविशेषवचनः॥ शूलपाणिस्तु निरुपपदःकृच्छ्रःप्राजापत्यापरपर्यायः। सोपपदस्तु तत्तद्वा चक इत्याह एतल्लक्षणानि भेदाश्चवक्ष्यंते किंच कविसंप्रदाये करांगुलि महाकाव्यव्रतपांडुसुतेंद्रियमित्यादिपंचसंख्यावोधकप्रस्तावे गणनात्पं चैव व्रतानिभवंति तानि एकभक्तनक्तायाचितोपवासनिषेधपालनरूपा णिज्ञेयानि सर्वेषां तदंतर्गतत्वात् ॥ अथादौकृच्छ्रादिव्रतप्रत्याम्नायाद्युप योगितया मानपरिभाषाल्लिख्यते। तथाचयाज्ञवल्क्यः। जालसूर्यमरीचि स्थंत्रसरेणुरजः स्मृतम् तेऽष्टौलिक्षास्तुतास्तिस्त्रोराजसर्षपउच्यते १

सो दिन विषे एक वार भोजन करणा १ और नक्त भोजन २ और अयाचित भोजन ३ और उपवास ४ क्या कुछनां भक्षण करणा और निषेध का पालना ५ जैसे श्रावण मा सविषे शाककों त्यागे असे जानणे॥ होर संपूर्ण व्रतांकों तिनांकेहि मध्यविषे प्राप्तहोंणेते ॥ अथे ति इसतें उपरंत आदविषे कृच्छ्र आदिव्रतकेहि पुण्य फलके देण बाला होर उपयादि तिसके उपकारी होंणेते मान परिभाषा लिखीदी है॥ तांते याज्ञवल्क्याजी का वचनहै झरोखेके रस्ते सो सूर्यकीआं किरणा विषे धूलिका किणका प्रतीतहै तिसका नाम त्रसरेणु कहीदाहै और त्रसरेणु अठ ८ होण तिसका नाम लिक्षाहै लिक्षा त्रय होण तो राज सर्षप कहीदाहै तिनां की गणना करीदी है १

राज सर्षप त्रय होण तिसका नाम गौर सर्षप है गौर छे होण तिसका नाम यवहै सो त्रय होण तिसका नाम कृष्णल होताहै क्या रत्ती कहीदीहै सो पंच होण तिसका नाम मासा है सोलां होण तां तिसका नाम सुवर्णह सो चार होण वा पंच होण तिसका नामपल क्या क होताहै २ जो यवमध्य कहाहै सो छोटा और वडा जो यव तिसके दूर करण वास्ते कहे अब होर मतकर्के कहतेहैं स्मृत्यंतरविषे नौं मासे १ परिमाणहै जिसका ऐसा जो स्वर्ण तिस नाम वराह है ऐसेभी जानणा ॥ दो वराह होण तिसका नाम निष्कहै ॥ मार्कंडेय ऐसे क है झरोखेके रस्ते सूर्यकी किरणों विषे जो पर ब्रह्मस्वरूप वायुकर्के प्रतीत होताहै तिसका न

गौरस्तुतेत्रयः षट्तेयवोमध्यस्तुतेत्रयः कृष्णलःपंचतेमाषस्तेसुवर्णश्चषो डश २ पलंसुवर्णाश्चत्वारःपंचवापिप्रकीर्त्तितम् यवोमध्यइतिलघुगुरुद्वय वनिरासार्थम् ॥ नवमाषमितंस्वर्णंवराहइतिकीर्त्तितइतिस्मृत्यंतरे। द्विवरा हस्तुनिष्कःस्यादित्यपिवोध्यम् मार्कंडेयस्तु गवाक्षांतर्गतोयत्रवायुनासं प्रदृश्यते परब्रह्मस्वरूपंयत्त्रसरेणुउदाहृतं १ त्रसरेणवष्टकंलिक्षातत्त्रयंय वउच्यते तत्त्रयंगुंजमात्रंस्याद्रक्तंवाश्वेतमेववा २ पंचगुंजात्मकोमाषोरूप कंतदुदाहृतम् रूपकाणांनवानांतुवराहइतिगद्यते स्वर्णंकृच्छ्रंवराहःस्याद्ब्र ह्महत्यादिपावनमित्याह ॥ शब्दकल्पद्रुमेराजवल्लभः यवपरिमाणमाह यवःपरिमाणविशेषः सतु चतुर्धान्यमानरूपइति ॥ शुभंकरः षट्सर्षपप रिमाणात्मकश्च

त्रसरेणु कहाहै ॥ १ ॥ त्रसरेणु अठ होण तिसका नाम लिक्षाहै सो त्रय होणतो यव कहीदाहै सो त्रय होण तिसका नाम गुंजा क्या रत्तीहै रक्त वाश्वेत तुल्यहै ॥ २ ॥ पंचरत्तीयांका नाम मासा तिसीका नाम रूपक भी कहीदाहै नवां १ रूपकांका नाम वराह कहीदाहै ॥ अब इसको फल परतासे कहतेहैं स्वर्णमिति स्वर्ण दान और कृच्छ्र व्रत और वराह परिमाण स्वर्णका दान करणा एह तीन ब्रह्महत्यादिपापके नाशकरणे वालेहै ३ शब्दकल्पद्रुम विषे राजवल्लभजीका वचनहै यवपरिमाण विशेष चारधान्यका तोलरूपहै ॥ अब शुभं करका वचनहै छे ६ सरोंका तोल जो है तिसका नाम यवपरिमान कहाहै

जेसे झरोखे कर्के अंदर प्राप्त होई जो सूर्य की किरण तिस विषे देखीदी जो धूलि तिस की अणु संज्ञा है ॥ चार अणु होण तिसका नाम लिख्याहै लिख्या छे६ करके एक १ सर्षप होताहै ॥ छे ६ सर्षप करके एक यव होताहै ॥ तीन यव होण तिसका नाम रत्तीहै १ ॥ एहवाक्य शब्द चंद्रिका विषे किहा है इस विषे जो परिमाण भेद है सो समर्थ और असमर्थ मनुष्यकों देख कर जोडना ॥ एह स्वर्णका उन्मान किहा है ॥ अब रजतके उन्मान कों कहता हुं ॥ दो रत्तीका नाम रूप्य माष है यह सोळां १६ होण तिसका नाम धरणहै और दश धरणहोण तिसको पल कहतेहैं ॥ १ ॥ और चार सुवर्ण होण तिसका नाम निष्कहै

यथा जालांतर्गतेभानौयत्ख्याणुदृश्यतेरजः तैश्चतुर्भिर्भवेल्लिख्यालिख्याषड्भिश्चसर्षपः षट्सर्षपैर्यवस्त्वेकोगुंजैकातुयवैस्त्रिभिः १ इतिशब्दचंद्रिका अत्रपरिमाणभेदोहिशक्ताशक्तादिव्यवस्थयायोज्यः ॥ इतिस्वर्णोन्मानम् अथरजतोन्मानम् ॥ द्वेकृष्णलेरूप्यमाषोधरणंषोडशैववते शतमानंतुदशभिर्धरणैःपलमेवतु ॥ १ ॥ निष्कंसुवर्णाश्चत्वारः कार्षिकस्ताम्रिकःपणः २ शतमानपलशब्दौपर्यायौ ॥ निष्कंसुवर्णाश्चत्वारइति अस्यार्थमाहविज्ञानेश्वरः पूर्वोक्ताश्चत्वारःसुवर्णारौप्यनिष्कइति तथाच सुवर्णचतुष्टयसमानं रजतनिष्कमित्यर्थः ॥ ज्योतिश्शास्त्रेप्रकारांतरेणनिष्कमुक्तम् वराटकानांदशकद्वयंयत्साकाकिनीताश्चपणश्चतस्रः तेषोडशद्रम्मइहावगम्योद्रम्मैस्तथाषोडशभिश्चनिष्कइति ॥ १ ॥

और तांबेका जो पणहै सो कार्षिक कहीदाहै ॥ २ ॥ और पलका दूसरा नाम शतमान भी कहीदाहै ॥ निष्कामिति इसके अर्थनुं विज्ञानेश्वर कहता है पूर्व कहे जो चार सुवर्ण तिस चार सुवर्णके परिमाण जो रजतहै तिसका नाम रौप्यनिष्क कहिदाहै ॥ ज्योतिःशास्त्रविषे प्रकारांतर करके निष्क किहाहै वराटेति वराटकाके जो दश दो हैं क्या वीस २० वराटका होण तिसका नाम काकिनीहै चार काकिनी होण तिसका नाम पण है सोळां १६ पणका नाम द्रम्म है और सोळां द्रम्म होण तिसका नाम निष्क किहाहै और वराटिका नाम कउडीकाहै ॥ १

धेनुका मूल शूलपाणि कृतग्रंथविषे संग्रह कीता जो षट्त्रिंशन्मत तिसविषे किहाहै ॥ जो पुरुषधन वाले हैं तिनांकों धेनुका मूल्य पंचकार्षापण किहाहै जो मध्यम पुरुष हैं तिनांकों त्रय पुराणक किहाहै और पवित्र पुरुषांकों एक कार्षापण कहाहै ॥ १ ॥ किसे स्थानविषे पवित्राणां इस जगा दरिद्राणां ऐसा भी पाठहै ॥ पुराणमिति बत्ती रत्तीयांके तुल्य जो तोल होवे चांदी तिसका नाम पुराणक किहाहै और दो रत्तीके सम जो तोल है तिसका नाम रूप्य मासा किहाहै ऐसे सोलां मासे होवे तिसका नाम धरण किहाहै २ जो पुराणक किहाहै सो रुप्ये विषे जानणा एहै विज्ञानेश्वरजीके ग्रंथ विषे और स्मृति वचन विषे है ॥ बत्ती रत्तीयां करके जो सम तोल रुप्यहै तिसका नाम कार्षापण किहाहै । अब भट्ट सोमेश्वरका वचन है ॥ पू

धेनुमूल्यमानंशूलपाणौ षट्त्रिंशन्मते । धेनुः पंचभिराढ्यानांमध्यानांत्रि पुराणिका कार्षापणैकमूल्याहिपवित्राणांप्रकीर्त्तितेति १ दरिद्राणामि त्यपिक्वचित्पाठः ॥ पुराणंनामद्वात्रिंशत्कृष्णलसमतोलिरूप्यम् ॥ द्विकृष्ण लेसमधृतेविज्ञेयोरूप्यमाषकः तेषोडशस्याद्धरणंपुराणंचैवराजतमिति विज्ञानेश्वरपरधृतस्मृतेः कार्षापणोनामद्वात्रिंशत्कृष्णलपरिमितंराजतमि ति भट्टसोमेश्वरः ॥ कर्षकृत आपणो व्यवहारःकार्षापणः अन्येषामपीति दीर्घतायां कार्षापणःकार्षः षोडशमाषकः ॥ तेषोडशास्याकर्षइतिकोशात् तथाच धरणपुराणकार्षापणशब्दाअन्योन्यपर्यायाभासंते यत्तु हेमाद्या दिलिखितनारदवचनम् ॥ कार्षापणोदक्षिणस्यांदिशिरौप्यः प्रवर्त्तते पणै र्निबद्धःपूर्वस्यांषोडशैवपणाःसत्विति १ तत्राप्येतावदेवराजतंबोध्यम् ॥

र्व किहा जो कर्ष तिस करके कीया जो व्यवहार है तिसका नाम कार्षापण किहाहै ॥ अन्ये षामपि इस सूत्र करके दीर्घके होयां होयां कार्ष किहाहै सोलां माषका नाम कोश विषे कर्ष है इस बचनतें ॥ तांते धरण और पुराण और कार्षापण यह जो शब्द तोल वाचक हैं सो आपस विषे पर्याय यथा एक रूप हैं जो फेर हेमाद्र्यादि लिखित नारद वचन है सो कहते हां दक्षिण दिशा विषे कार्षापण व्यवहार रुप्येके व्यवहार विषे है और पूर्व दिशा विषे पणां करके व्यवहार विषे जानणा सो फेर पण सोलां जानणें ॥ १ ॥ तिस वचन विषे भी इतनाहिपरिमाणक (राजत) है यथा पूर्वोक्त रजतका भी इतनाहि परिमाण है ॥

अब प्रायश्चित्तेंदुशेखर विषें कहते हैं गुंजेति गुंजा क्या रत्तीके प्रमाण है कृष्णल और पंच कृष्णल क्या पंच रत्ती प्रमाण स्वर्णका मासा जानणा इस जगा ८ चावलके परिमाणकी रत्ती जानणी ॥ और अक्षशब्द कर्के सुवर्ण शब्द कर्के और कर्ष शब्द कर्के और निष्क शब्द कर्के एक हि अर्थ कहाहै क्या सोलां १६ मासयांका हि नाम है ॥ और चार ४ सुवर्ण का नाम पल है और दश १० पल का नाम धरण किहाहै ॥ अब मनुस्मृति विषे कहतेहैं निष्क जो शब्द है सो एकसौ अठ १०८ जो सुवर्ण तोल कर्के है तिस विषें और छातीके भूषण विषें और छटांकविषें और मोहरविषे किहाहै यह अमरका वाक्य है । और राजत जो पुराणहै तिसीका नाम धरण कहीदा है और दश १० धरणका नाम राजतहै और इसीका

प्रायश्चित्तेंदुशेखरे। गुंजापरिमितकृष्णलपंचकंस्वर्णमाषः। षोडशमाषा अक्षशब्देन सुवर्णशब्देन कर्षशब्देन निष्कशब्देन प्रोच्यंते सुवर्णाश्चत्वारः पलम् दशपलानिधरणमिति। मनुस्मृतौ। साष्टेशतेसुवर्णानांहेम्न्युरोभूषणेपलेदीनारेपिचानिष्कोऽस्त्रीत्यमरः राजतःपुराणोधरणइत्युच्यते। दशभिर्धरणैराजतंशतमानमित्युच्यते तदेवराजतंपलमप्युच्यत इति पलशतं तुला तुलाविंशतिकंभारआचितोदशभाराः स एव शाकट इत्युच्यते। मूल्याध्यायेकात्यायनः ॥ द्वात्रिंशत्पणिकागावश्चतुःकार्षापणोऽवरः। वृषेषट्कार्षापणका अष्टावनडुहिस्मृताः दशकार्षापणाधेनुरश्वेपंचदशैवत्विति १ ॥

दूसरा नाम शतमान भी है सोइ राजत पलभी कहीदाहै ॥ और पल १००होवें तिसका नाम तुला है और वीस २० तुलाका भार होताहै और दस १० भारका आचित होता है तिसीका नाम शाकट भी जानणा ॥ अब मूल्याध्यायविषें कात्यायनजीका वचन है जिसमें गोदानका प्रत्याम्नाय दिखाया है बत्तीस ३२ पणिकके दान कर्के एक गोदान होताहै और इसीतरां छोटे वच्छेके स्थान चार ४ कार्षापण दान किहा है और बलद विषे छे ६ कार्षापण दान किहा है और गाडीवाले बलद विषें अठ ८ कार्षापण दान किहा है और वच्छेके साथ जो गौ है तिस विषें दश १० कार्षापण दान कहा है और घोडें विषें पंदरां १५ कार्षापण दान कहा है १ ॥

एह जो मूल्यविषे भेदहैं तिनांकी मर्य्यादा समर्थ और असमर्थ पुरुषकों देखकर्के कहणी ॥ अब व्रतार्कविषे अन्नका मान भविष्य पुराणके वचनसें कहतेहां पलोंतें दो २ छटांकका नाम प्रसृतहै और दो २ प्रसृतका कुडव होता है और चार ४ कुडव का प्रस्थ होता है और चार ४ प्रस्थका आढक होताहै ॥ १ ॥ और चार ४ आढकका बुद्धिमानोंनें द्रोण किहाहै और दो २ द्रोणका कुंभ किहा है और इसी का दूसरा नाम सूर्प भी है ॥ २ ॥ पल और कुडव और प्रस्थ आढक और द्रोण एह संज्ञा धान्यमान विषे क्रम कर्के चार चार ४ गुणां अधिक जानणी ॥ ३ ॥ और सोलां १६ द्रोणकी खारी कही है और वीस २०खारीका कुंभ होता है और दश १०कुंभ का वाह होताहै असें धान्यकी संख्या कथन कीतीहै ॥ ४ ॥

एतेषांचमूल्यपक्षाणांशक्ताशक्तभेदेनव्यवस्था। अथव्रतार्के धान्यमानं। भविष्ये पलद्वयंतुप्रसृतंद्विगुणंकुडवंस्मृतं चतुर्भिःकुडवैःप्रस्थःप्रस्थाश्चत्वार-आढकाः १ आढकैस्तैश्चतुर्भिश्चद्रोणस्तुकथितोवुधैः कुंभोद्रोणद्वयंसूर्प्पः खारीद्रोणास्तुषोडश २ द्रोणद्वयस्यैव सूर्प्पइतिसंज्ञा। पलंचकुडवःप्रस्थ आढकोद्रोणएवच धान्यमानेषुवोद्धव्याःक्रमशोऽमीचतुर्गुणाः ३ द्रोणैःषोडशभिःखारीविंशत्याकुंभउच्यते कुंभैस्तुदशभिर्वाहोधान्यसंख्याप्रकीर्त्तिता ४ विंशत्येत्यत्रापिद्रोणैरितिसंवध्यते तथाच कुंभोद्रोणद्वयमितिपक्षाद्विंशतिद्रोणमितः कुंभइतिपक्षांतरम् एतेषांन्यूनाधिकपक्षयोः परिमानांतरमुक्तंपराशरेण। पुस्तकांतरेतुश्लोकद्वयमुपलभ्यते पादोनगद्यानकतुल्यटंकैर्द्विसप्त ७२ तुल्यैःकथितोऽत्रसेरः। मणाभिधानंखयुगैं ४० श्चसेरैर्धान्यादितौल्येषुतुरुष्कसंज्ञा १ द्व्यंकेंदु १९२ संख्यैर्धटकैश्चसेरस्तैःपंचभिःस्याद्धटिकाचताभिः मणोऽष्टभिस्त्वालमगीरशाहकृतात्रसंज्ञानिजराज्यपूर्षु २

इस विषे विंशति द्रोणकर्के कुंभ संख्या ग्रहण कीती है तिसतें (कुंभोद्रोणद्वयं) इस पक्षमें वीस २० द्रोण कर्के कुंभ किहा है एह दूसरा भेद जानणा ॥ इनांविषे न्यून और अधिक जो पक्षहैं तिनांविषे परिमाणका भेद पराशरने किहाहै ॥ इसमें औरभी दो २ श्लोक देखीदेहैं पादोन जो गद्यानक क्या १६ रत्तीयां इनके तुल्य जो टंक क्या परिमाण विशेष तिनां ७२ वहत्तरां कर्के १ सेर होता है और ४० चाली सेर मण होता है एह धान्यादितोल विषे तुरकोंकी कीतीहोई संज्ञाहै ॥ १ ॥ अब और मत कहते हैं धटक नाम ४२ रत्तीयां का है और १९२ एकसउ वानवें धटकां कर्के १ सेर होता है और पांच ५ सेरकी १ धड़ी होती है और ८ अठ धड़ी का १ मण होता है एह आलम गीरशाहकी मान परिभाषा अपने राज्य मे नगरोंके लिए बनाई होई जानणी ॥ २ ॥

पराशरजीने वेद और वेदांगोंके जानणेवाले और धर्म शास्त्रके पालक जो ब्राह्मण तिनोंने बाई २२प्रस्थका द्रोण किहाहै दो२ प्रस्थहोणा तिसका नाम आढक किहाहै ॥ १ ॥ यह जो पूर्वोक्त न्यून और अधिकपक्षहै तिनोंका ग्रहण पुरुषांकी शक्ति और हिमालयादि देश और वसंत ऋतु आदि समयको देख करके किहाहै ॥ विष्णु धर्म्मोत्तरविषेभी किहाहै कि किसे जगा मान करके व्यवहार और किसे जगा उन्मान करके व्यवहार किसे जगा परिमाण करके किसे जगा संख्या करके किसेजगा सभनाकरके व्यवहारहोताहै ॥ १ ॥ इसको स्पष्टकरके कहतेहैं ॥ अंगुलाद्यमिति २ ॥ अब शब्दकल्प द्रुमविषे कहतेहैं अठमुष्टि अन्नहोवे तिसका नाम कुंचिहै अठ कुंचि होणा तिसका नाम पुष्कलहै इति ॥ और कोई २॥ मुष्टि मानकरके जो अन्न है तिसको अन्नमात्र कह

पराशरमतेन वेदवेदांगाविद्भिर्विप्रैर्धर्मशास्त्रानुपालकैः प्रस्थाद्वाविंशतिर्द्रोणः स्मृतोद्विप्रस्थआढकः । १ । इत्येषांच न्यूनाधिकपक्षाणां शक्तिदेशकालाद्य पेक्षया व्यवस्थाज्ञेया । विष्णुधर्म्मोत्तरे । क्वचित्संख्याक्वचिन्मानमुन्मान परिमाणकम् ॥ समाहारः क्वचिच्चेष्टोव्यवहारायताद्विदाम् ॥ १ ॥ अंगुलाद्यं स्मृतंमानमुन्मानंतुतुलास्मृता परिमाणंपात्रमानंसंख्यैषाद्यादिसंज्ञिका २ । शब्दकल्पद्रुमेतु ॥ अष्टमुष्टिर्भवेत्कुंचिःकुंचयोष्टौचपुष्कलइति ॥ सार्द्धमुष्टि द्वयमितमन्नमन्नमात्रमुच्यते इतिकेचित् । अथ मानवीयप्राजापत्यलक्षणो पयोगितयादौ याज्ञवल्क्यीयपादकृच्छ्रमुच्यते ॥ एकभक्तेननक्तेनतथैवाया चितेनच उपवासेनचैवायंपादकृच्छ्रःप्रकीर्त्तितः ॥ १ ॥ अत्रच ग्राससंख्या नियमः पराशरेणदर्शितः । सायंतुद्वादशग्रासाः प्रातर्द्वाविंशतिःस्मृताः चतुर्विंशतिरायाच्याः परंनिरशनंस्मृतम् ॥ १ ॥

तेहैं ॥ इसतें उपरंतमानवीय जो प्राजापत्यलक्षण तिसका उपकारी होणेतें आदविषे याज्ञवल्क्य श्लोक जो पाद कृच्छ्र सो कहिदा है चार दिनका जो व्रत सो पाद कृच्छ्र किहा है सो कहताहूं एक दिन दिन विषे एक वार भोजन खाणा दूसरे दिन रात्रि विषे भोजन खाणा और तीसरे दिन याचनातें विना भोजन खाणा । और चौथे दिन उपवास करणा क्या कुछनहिखाणा ऐसे पाद कृच्छ्र किहाहै ॥ १ ॥ इसविषे ग्रासांकी संख्याका नियम पराशरजीने दखायाहै । संध्या काळविषे बारां १२ ग्रास भक्षण करे और प्रातःकालविषे बत्ती२२ ग्रास भक्षण करे और चौथी२४ ग्रास याचनातें विना भोजनमें भक्षण करे तिसते परे चौथे दिनविषे कुछ न भक्षण करे ॥ १ ॥

अब ग्रासका प्रमाण कहताहुं कुकड़के अंडेके प्रमाण यथा इतनाहि स्थूलग्रास कहाहै अथवा जो ग्रास सुख करके मुख विषे भक्षणकों प्राप्त होवे इतना वाहां २ प्रमानोका सामर्थ्यादि देख कर भेद है ॥ अब ग्रास संख्या का दूसरा भेद चतुर्विंशति २४ मतविषे किहाहै ॥ प्रातःकाल विषे १२ बारां ग्रास और संध्या कालविषे पंद्रां १५ ग्रास और अयाचितविषे सोळां १६ ग्रासभक्षण करे तिसतें आगें वायु भक्षण करे अर्थात् निराहारव्रत करे । १ । यह प्रकार अतिसमर्थ पुरुषविषे जानणा ॥ अब आपस्तंब ने ॥ प्राजापत्य प्रायश्चित्तनूं चार प्रकारका विभाग करके चार पाद कृच्छ्रांकों दसा कर ब्राह्मणादि वर्णोंकी योग्यता करके मर्यादा दखाई है ॥ त्र्यहमिति त्रय दिन

कुक्कुटांडप्रमाणस्तु यथावास्यंविशेत्सुखमिति तयोश्चकल्पयोः शक्त्याद्यपेक्षया विकल्पः ॥ ग्राससंख्यायाः प्रकारांतरं चतुर्विंशतिमते ॥ प्रातस्तु द्वादश ग्रासाःसायंपंचदशैवतु अयाचितेषोडशावष्टौपरंवैमारुताशनं इत्यतिशक्तविषयमेतत् । आपस्तंबेनतु । प्राजापत्यप्रायश्चित्तंचतुर्धाविभज्य चतुरः पाद कृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेणव्यवस्थादर्शिता ॥ त्र्यहंनिरशनंपादःपादश्चायाचितंत्र्यहम् सायंत्र्यहंतथापादःपादःप्रातस्तथात्र्यहम् ॥ १ ॥ प्रातः पादंचरेच्छूद्रःसायंवैश्यस्यदापयेत् अयाचितंतुराजन्येनिरन्नंब्राह्मणेस्मृतमिति ॥ २ ॥

कुछ न खावे एक पाद कहा है और त्रय दिन मंगणेते विना भोजन करणा एभी पादहै और त्रयदिन संध्या कालमें भोजन करणा एक एभी पादहै और त्रयादिन प्रातःकाल विषे भोजन करणा इह चार प्रकारके पाद कहेहैं ॥ १ ॥ अब इनकों वर्णोंके क्रम करके कहतेहां शूद्रवर्ण प्रातः काल के पादकों करे और वैश्य संध्या कालके पादकों करे और क्षत्री अयाचित पादकों करे ॥ और ब्राह्मण निराहार पादको करे यथा कुछ न भक्षण करे ॥ २ ॥

यदेति जेकर तु पुनः मंगणेतें विना त्रय दिन भोजन करे और त्रय दिन उपवास करे तां अर्द्ध कृच्छ्र व्रत होताहै ॥ और सायं कालके दिन त्रय तें विना अगले त्रय त्रय दिनां विषे जो अनुष्ठान करणा तिसका नाम पादोन कृच्छ्र जानणा । इसमे वचन कहते हैं सायमिति एह तिसी आपस्तंब ऋषि कर्के कथन होणेते । और अर्द्ध कृच्छ्रका दूसरा भेदभी आपस्तंबने दखाया है एक दिन संध्या काल विषे भोजन करे और एक दिन प्रातः काल विषे और दो दिन अयाचित क्या कहणेतें बिना कोई पुरुष भोजन ले आवे तां भक्षण करे और दो दिन कुछ न भक्षण करे सो दूसरा भेदवाला कृच्छ्रार्द्ध कहाहै १ अबकुक्कुटांडप्रमाण ग्रासविषे शंकाहै(प्रश्न)

यदात्वयाचितोपवासात्मकत्र्यहद्वयानुष्ठानं तदार्द्धकृच्छ्रः सायंव्यतिरिक्तापरत्र्यहानुष्ठानंतुपादोनमितिविज्ञेयम् । सायंप्रातर्विनार्द्धस्यात्पादोनंनक्तवर्जितमितिनोक्तत्वात् । अर्द्धकृच्छ्रस्यप्रकारांतरमपि तेनैव दर्शितम् । सायंप्रातस्तथैकैकंदिनद्वयमयाचितम् दिनद्वयंचनाश्नीयात्कृच्छ्रार्द्धंतद्विधीयते १ नन्वार्द्रामलकाम्रफलादीनां ग्रासोपमानतासंभवे किमर्थं मुनिभिः कुक्कुटमयूरांडीयवीभत्सोपमानं ग्रासस्य स्वीकृतमिति चेदेवंप्रतिभाति क्रमशः प्रवर्द्धमानानांफलानामुत्पत्तिसमकालग्रासाकारभाक्कुक्कुटांडाद्यपेक्षयोपमानता न युक्ता ॥

हरे जो आंवले और अंबर्थी लेकर फल हैं तिनांकों ग्रासकी उपमा देणे योग्यथी किस कारण वास्ते मुनियांने कुक्कुड और मोरके आंडेकी निंदित उपमा दित्ताहै ग्रासके ग्रहण करण विषे (उत्तर) तांते ऐसे जाणीदाहै कि फल जो हैं सो क्रम कर्के वृद्धिकों प्राप्त होते हैं और कुक्कुडके आंडेको उत्पत्तिके समकालहि स्थूल होणेतें ग्रासकी उपमा बण सकती है फलांकों वडा छोटा होणेतें उपमा विषे योग्यता नाहि है एह तात्पर्य्य होवेगा आगे विचार बुद्धि मान् करें ॥

किंतु भक्ष्यत्व करके गिणे जो वनके कुक्कुड और मोर तिनांके अंडेयोंकी न्याईं ग्रासकी उपमाहै सो ग्लानिकों नहि प्राप्त करती ॥ जैसे भगिनी शब्द और भगवती शब्द और शिवालिंग आदि शब्द और गोधूम आदि शब्द लज्जादिके देणेवाले भी हैं तथापि जगत्‌ने प्रसिद्ध होणे कर्के लज्जाकों नहि देते जैसे भगिनी उसको कहते हैं कि जिसको भग क्या योनिहोवे इस अर्थसे लज्जा आउतीहै परंतु कोइं नहि करता तैसे कुक्कुटांडादिकी तुल्यता दिखाणेतें बीभत्सा नहि करणेयोग्य ॥ अब प्राजापत्य व्रत मनुजीनेभी कहाहै त्र्यहमिति त्रयदिन प्रातःकाल विषे भोजन खावे और त्रय दिन सायंकाल और त्रयदिन मांगणेतें विना क्या कोइं पुरुष अन्न

किंतुभक्ष्यत्वेन गणितानावनकुक्कुटमयूरादीनामंडस्य ग्रासोपमानता भगिनीभगवतीशिवालिंगादिगोधूमादिशब्दवन्नाश्लीलतामावहतीतिसर्वमनवद्यम् ॥ अथप्राजापत्यं । मनौ । त्र्यहंप्रातस्त्र्यहंसायंत्र्यहमद्यादयाचितम् त्र्यहंपरंचनाश्णीयात्प्राजापत्यंचरेद्द्विजः १ याज्ञवल्क्यः ॥ यथाकथंचित् त्रिगुणः प्राजापत्योयमुच्यते ॥ देवलः ॥ त्रिदिनंचदिवाश्णीयात्त्रिदिनंरात्रिभोजनम् अयाचितंस्यात्त्रिदिनंनिराहारोदिनत्रयम् १ कृच्छ्रमेतद्द्विजानीयाद्गोदानंगव्यभक्षणम् ब्रह्महत्यादिपापानामेतत्कृच्छ्रंविशोधनम् २ ॥

देजावे तां भक्षण करे और त्रय दिन कुछ न भक्षण करे ऐसा जो प्राजापत्य तिसकों ब्राह्मणादि वर्ण करें ॥ १ ॥ अब याज्ञवल्क्यजीका वचन है जिसकिसे उपाय कर्के लघु कृच्छ्र जेकर त्रिगुण होवे तां प्राजापत्य कृच्छ्र किहाइ़ै ॥ अब देवलजीका वचन है त्रीति त्रयदिन दिन विषे अन्न भक्षण करे और त्रय दिन रात्रि विषे भोजन करें और त्रय दिन अयाचित भोजन करे और त्रय दिन निराहार करे ॥ १ ॥ तो इसकों कृच्छ्र जाने और पीछे पंचगव्य भक्षण कर्के गोदान करे एह ब्रह्महत्यादि पापांके दूर करणे वाला कृच्छ्र है ॥ २ ॥

इस विषे जो निवृत्तिवास्ते ब्रह्महत्या शब्द कहाहै सो आतिदेशिक ब्रह्महत्याके दूरकरणें वास्तें है आतिदेशिक हत्या क्या है जैसे ब्राह्मणकी निंदा और अधीत विद्याका विसारदेणा एह ब्रह्म हत्याके तुल्य है और पारिभाषिक हत्या क्या है जैसे गुरां विषे द्रोह करण वालेको ब्रह्महत्या का प्रायश्चित देणा और रहस्यानुष्ठानहत्या रहस्याऽनुष्ठान प्रकरण विषे कहीहै तिस हत्याकी निवृत्ति विषे प्राजापत्यका विधानहै क्योंकि यथार्थहत्या विषे प्रायश्चित्त कों अधिकहोणेतें ॥ और निराहार जो कहाहै सो उपवास जानणा केवल भोजनका निषेध नहि है तिसका स्वरूप दिखातेहैं उपेति दोषांतें रहितकों और गुणांकर्के युक्त होकर्के संपूर्ण विषयभोगतें वर्जितहोणेका नाम उपवासकहाहै ॥एह होरस्मृतिविषे लक्षणवाला जानणा ॥ १ ॥और जैसे कैसे इत्यादिवचन की व्याख्या ऋषियोंनें कहीहै सो कहतेहैं अयमिति एही पादकृच्छ्र जिसकिसे उपायकर्के दंडका

अत्र ब्रह्महत्याऽऽतिदेशिकपारिभाषिकरहस्यानुष्ठानादिविषया बोध्या।तात्त्विकायां प्रायश्चित्ताधिक्यश्रवणात्। निराहारोऽत्रोपवासएव नतु भोजन निवृत्तिमात्रम्। सच उपारतस्यदोषेभ्योयस्तुवासोगुणैःसह उपवासःसविज्ञेयःसर्वभोगविवर्जितइति स्मृत्यन्तरलक्षणोबोध्यः १ यथाकथंचिदित्यादिव्याख्यातमभियुक्तैः ॥ अयमेवपादकृच्छ्रोयथाकथंचिद्दंडकालितवदावृत्त्या स्वस्थानविवृद्ध्यावाज्ञेयः ॥ अत्राप्यानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा तथा वक्ष्यमाणजपादियुक्तं तद्रहितंवात्रिरभ्यस्तः प्राजापत्यंविधीयते ॥ तत्र दंडकालितवदावृत्तिपक्षोवशिष्ठेनदर्शितः। अहःप्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् अहःपराकंतत्रैकमेवंचतुरहौपरौ १ अनुग्रहार्थंविप्राणांमनुर्धर्मभृतांवरः बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाचहेति २ ॥

लितकी न्याई आवृत्तिकर्के अथवा स्वस्थानकी विवृद्धिकर्के जानणा ॥ इसविषे भी रात्रि और दिन ऐसे अनुलोम और प्रतिलोमकर्के जानणा ॥ और तांतें आगे कहणें जो जप आदिक तिनांकर्के युक्त वा रहित त्रयवार अभ्यासकिया जो लघु कृच्छ्रव्रत सो प्राजापत्यकहाहै एह अर्थ है तत्रेति तिसविषे दंडकालितवत् जो आवृत्तिपक्षहै सो वशिष्ठजीने दखाया है एकदिनप्रातःकाल और एक दिन संध्याकाल विषे और एकदिन अयाचित और एकदिन पराक एह चारदिनएक वार होए ऐसेंहि दो२वार चारदिन फेर करणे ॥ १ ॥ जैसे दंडेकर्के इकठियां गौयांलिजाईदीयां हैं और लेआवीदीयां हैं इसतरां एह ब्राह्मणांके उपर अनुग्रह करणवास्तें धर्म धारणवालयां विषे श्रेष्ट जो मनुजीहैं सो बालक और वृद्ध और आतुर एनां विषे शिशुकृच्छ्र व्रतकों कहतेभये २

अनुलोम क्रम कर्के स्वस्थान वृद्धिका अर्थ जैसे त्रय दिन प्रातः काल विषे अन्न भक्षण करणा इत्यादि मनुने दिखायाहै सो पूर्व कहदियाहै ॥ प्रातिलोम्या वृत्ति भी वशिष्ट जीने दखाईहै प्रातीति चांद्रायण पीछे जो कृच्छ्र है सो प्रातिलोम्यहै तिसव्रतकों ब्राह्मण करे और कृच्छ्र है पहले जिसके ऐसा चांद्रायण अनुलोम क्रम कर्के होताहै ॥ जद चांद्रायण है पीछे जिसके ऐसा कृच्छ्र होवे तां प्रतिलोम कर्के जानणा एह अर्थ है ॥ जप आदिकांते रहित जो पक्षहै सो स्त्री शूद्र आदियोंविषे अंगिराऋषिनें दस्याहै तस्मादिति तिसकारणतें सदाँहि धर्ममार्गविषें स्थित जो शूद्र तिसकों प्राप्त होकर जपहोमादितें रहित प्रायश्चित्तदेणे योग्यहै १ और जपादियोंकर्के युक्त जो पक्षहै सो शूद्रतें भिन्न ब्राह्मण क्षत्रि वैश्य इन्हां

आनुलोम्येन स्वस्थानवृद्धिपक्षस्तु मनुनादर्शितः ॥ सतुप्रागभिहितः । प्रातिलोम्यावृत्तिरपि वशिष्ठेनदर्शिता ॥ प्रातिलोम्यंचरेद्विप्रःकृच्छ्रंचांद्रायणोत्तरमिति कृच्छ्रोत्तरं चांद्रायणमानुलोम्येनभवति ॥ यदातु चांद्रायणोत्तरंकृच्छ्रंक्रियते तदा प्रातिलोम्येन ज्ञेयमित्यर्थः ॥ जपादिरहितपक्षस्तु स्त्रीशूद्रादिविषयेंगिरसादर्शितः तस्माच्छूद्रंसमासाद्यसदाधर्मपदे स्थितम् प्रायश्चित्तंप्रदातव्यंजपहोमादिवर्जितमिति ॥ १ ॥ जपादियुक्तपक्षस्तु परिशेषाद्योग्यतयाच त्रैवर्णिकविषयः सच गौत्तमादिभिर्दर्शितः ॥ तथाचगौतमः ॥ हविष्यान्प्रातराशान् भुक्त्वा तिस्रोरात्रीर्नाश्णीयादथापरम् त्र्यहंनक्तंभुंजीत अपरंत्र्यहमुपवसेत्तिष्ठेदहनिरात्रावासीतक्षिप्रकामः सत्यंवदेदनार्यैः सह न भाषेत रौरवयोधाजयेनित्यंप्रयुंजीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनमापोहिष्ठेतितिसृभिःपवित्रवतीभिर्मार्जयेत ॥

तिन्हा वर्णां विषे योग्यता कर्के गौतमादि ऋषियांने दखायाहै ॥ तैसें गौतमजीका वचनहै ॥ प्रातःकालविषें हविष्यअन्न कणक चावल मुंगीआदि त्रयदिन भक्षण करे फेर त्रय रात्रिविषें(नाश्णीयात्)क्या भोजन न करे त्रयदिन रात्रिमे खावे दिने नहि खावे और तिसके आगें किसेतें याचना न करे याचना विना मिले तां भक्षणकरे और त्रयदिन कुछ न भक्षण करे और दिनविषे खलोवे रात्रिविषे वैठा रहे क्षिप्रकामना वाला हुआ २ और सत्य वचन कहे और दुष्टांके साथ संभाषण न करे और रौरव योधाजय जो साम हैं तिनां कों नित्य जपे और त्रयकाल स्नान करे और आचमन करे और आपोहिष्ठातें लेकर त्रय जो ऋचाहैं पवित्र तिनां कर्के पुरुष मार्जन करे तो तिसका पाप शीघ्रहिदूर होताहै ॥

और हिरण्य वर्णा इसथीं आद लेके अठां पवित्रवतियां ऋचां कर्के मार्जन करे ॥ अथेति इस तें उपरंत जलकर्के तर्पण करे तर्प्पण के मंत्रोंकों कहतेहैं नमोहमाय इत्यादि और इहां हि मंत्रोंकर्के सूर्य्य भगवान् जीका उपस्थान भी करतेहैं इस मंत्रका अर्थ वहुत है तथापि विशेषा कोई उपयोग नहि इसकर्के कुछक दिखाइदा हैं (अहमाय) क्या अहंकारके अभिमानी क्या प्रवर्त्तक जो शिवजी तिनके ताईं नमस्कार होवे कैसे शिवजी हैं (मोहमाय) मोहके स्थापक हैं अथवा नाशक हैं फेर कैसे हैं मंहमाय कामकेनाशक हैं

हिरण्यवर्णाः शुचयःपावकाइत्यष्टाभिः। अथोदकतर्पणम् नमोहमायमोह मायमंहमायधन्वने तापनाय पुनर्वसवेनमो मौंज्याय उौर्म्याय वसुविंदाय सर्ववर्णविंदायनमः पाराय महापाराय पारदाय पारयिष्णवे नमोरुद्राय पशुपतयेमहते देवायत्र्यंबकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायईशानाय उग्रायवज्रिणेघृणिने कपर्दिनेनमःसूर्य्यायादित्यायनमो नीलग्रीवायशिति कंठायनमःकृष्णायपिंगलायनमः ज्येष्ठायश्रेष्ठायवृद्धायेंद्रियायहरिकेशाय ऊर्द्धरेतसेनमःसत्यायपावकाय पावकवर्णायैकवर्णायकामायकामरूपिणेन मोदीप्तायदीप्तरूपिणेनमः तीक्ष्णायतीक्ष्णरूपिणेनमःसौम्यायपुरुषायम हापुरुषायनमो मध्यमपुरुषाय नमउत्तमपुरुषाय नमो ब्रह्मचारिणेनमः चंद्रललाटायनमःकृत्तिवाससेनमइति एतदेवादित्योपस्थानमेताएवा ज्याहुतयोद्वादशरात्रस्यांते चरुं श्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् अग्नयेस्वाहा सोमायस्वाहाअग्नीषोमाभ्यां इंद्राग्निभ्यां इंद्राय विश्वेभ्यो देवेभ्योब्रह्मणे प्रजापतये अग्नयेस्विष्टकृते इति

फेर कैसेहैं कि (धन्वने) त्रिपुर दैत्यके विनाश वास्ते तैसे वडे विलक्षण धनुषके धारणवाले हैं और जो तापनाय क्या तापक हैं और जो पुनर्वसु हैं इनके ताईं नमस्कार होवे इत्यादि नमोहमाय इसथीं आदलेके एनां कर्के सूर्यका उपस्थान करणा और इतनियांहि घृतकी यां आहुतियां करणीयां और बारां दिनांके अंत विषे चरुकों पका कर इनां देवतयांके ताईं आहुतियां देवे (ॐअग्नयेस्वाहा इसतें आदलेके अग्नये स्विष्टकृते इस तक) नउ ९ आहुतियां देवे १

ओर अंत विषे ब्राह्मणोंके ताईं भोजनदेवे ॥ कुछ और कहतेहैं तत्रेति जो पुरुष मन कर्के कीया जो पाप तिसके शीघ्रहि एक कृच्छ्र कर्के दूर करणेकी इच्छा करे तिसका नाम क्षिप्रकाम है सो क्षिप्रकामना वाला पुरुष दिन विषे खलोवे और रात्रि विषे वैठा रहे ॥ एही अर्थ विशद कर्के कहीदाहै सो एह पुरुष दिन विषे कर्मांके नहि जो विरोधि उक्था खलोणे कर्के कार्य दूर न होवे तिस विषे स्थित होवे क्या खलोवे और रात्रि विषे वैठे इसी प्रकार रौरव और योधा जय नाम कर्के जो २ सामवेदकीयां ऋचा तिनांका जप करं नमोहमाय इत्यादिकां कर्के तर्पण और सूर्य्यका उपस्थान और चरुका पकाणा आदि

अंतेब्राह्मण भोजनम्। तत्रतिष्ठेदहनि रात्रावासीतक्षिप्रकामइति अस्यार्थः यस्तुमनसोप्येनसःक्षिप्रमेकेनैवकृच्छ्रेणमुच्येयमित्येवंकामयते सक्षिप्रकामः असावहनि कर्माविरुद्धेषुकालेषु तिष्ठेद्रात्रावासीत एवंरौरवयोधाजयाख्यसामजपं नमोहमायेत्यादिभिस्तर्पणादित्योपस्थानादिकं चरुश्रपणादिकंच योगीश्वराद्यनुक्तमपि क्षिप्रकामःकुर्वीत अतश्च योगीश्वराद्युक्तप्राजापत्यद्वयस्थाने गौत्तमीयमनेकेतिकर्त्तव्यतासहितमेकमेवप्राजापत्यंद्रष्टव्यम् ॥ एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि व्रतविशेषणान्यन्वेषणीयानि ॥ मार्कंडेयः एकभक्तेननक्तेनतथैवायाचितेनच उपवासेनचैकेनगोदानंगव्यभक्षणम् ब्रह्महत्यादिपापानामितरेषांविशोधनम् १ ॥

जो कत्य इसनूं योगीश्वरआदिकर्के न कहें होयेनूं भी शीघ्रकामना वाला करे ॥ इसकारणतें योगीश्वर कर्के पापके दूर करणे वास्ते कहे जो प्राजापत्य दो २ हैं तिनां दोनोंके स्थान विषे गौत्तम ऋषि ने अनेक ऐसी कर्त्तव्यताके साथ एकहि प्राजापत्य दखायाहै ॥ एवमिति ऐसेहि होर भी स्मृतियांकर्के कहे जो विशेष व्रत सो देखणे योग्यहैं ॥ अव मार्कंडेयजीका वचनहै एक दिन एक वार भोजन करणा और दूसरे दिन संध्याकाल विषे और तीसरे दिन विषे मांगणेतें विना और चौथे दिन विषे उपवास करणा और पीछे पंचगव्यकों भक्षण करके गोदान करणा एह व्रत संपूर्ण जो ब्रह्महत्यादिक पापहैं तिनांके दूर करणे वालाहै १ ॥

अब गौतमजीकावचन है एह जो प्राजापत्य कृच्छ्र है सो संपूर्णपापांको दूरकरणे वाला है तिसका स्वरूप एह है कि त्रय दिन दिनाविषे और त्रय दिन रात्रि विषे अन्न खाणा ॥ १ ॥ और त्रय दिन याचनातें विना और त्रय दिन वायुभक्षण करणा और पीछे पंचगव्यको क्या दुग्धादिकों भक्षणकर्के गोदानकरे तो अनुत्तमशुद्धि क्या जिससे उत्तम और कोई शुद्धिनहि तिसको प्राप्त होताहै ॥ २ ॥ अब आपस्तंब ऋषिका वचनहै त्रय दिन न संध्या कालविषे भक्षण करणा अर्थात् दिनविषे भक्षण करणा और त्रयदिन रात्रि विषे और त्रयदिन मांगणे तें विना भोजन करणा और त्रय दिन कुछ न भक्षणकरणा इति ॥ १ ॥ अब इसीविषे जावालि ऋषिका वचनहै प्रेति

गौतमः। प्राजापत्यंकृच्छ्रमिदंसर्वपापप्रणाशनम् त्रिदिनंस्याद्दिवाभुक्तिस्त्रि दिनंरात्रिभोजनम् १ अयाचितंचत्रिदिनंत्रिदिनंवायुभक्षणम् गोदानंपंच गव्यांतेशुद्धिमाप्नोत्यनुत्तमाम् २ आपस्तंबः। त्र्यहमनाक्काशनं त्र्यहंरात्रि भोजनम् त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहंनाश्नातिकिंचनेति १ जावालिः ॥ प्रजाप तिरिदंसाक्षात्सृष्टवान्देवसन्निधौ सर्वलोकोपकारायसर्वपापापनुत्तये १ ॥ दिनत्रयंदिवाभुक्तेतथारात्र्यांदिनत्रयम् अयाचितंस्यात्त्रिदिनंनिराहारोदि नत्रयम् २ पंचगव्यंततःपश्चाद्गौरेकाचविशोधने एवंकुर्याद्द्विजोयस्तुसर्व पापविमुक्तिमान् ३ कृच्छ्राणांनामान्याहमार्कंडेयः ॥ यवमध्यंचमंदंस्याद्य तिशिश्वोर्महद्व्रतम् महाचान्द्रमितिप्रोक्तंपंचधापरिकीर्त्तितम् ॥ १ ॥

प्रजापति जो ब्रह्मा सो साक्षात् विष्णुके समीपविषे इस प्राजापत्य व्रतको सबलोकांके उपकार वास्ते और सबपापांके दूर करणेवास्ते रचिताभया सोकहतेहैं १ ॥ त्रय दिन दिनविषे अन्नको भक्षण करे और त्रय दिन रात्रि विषे और त्रय दिन याचनातें विना और त्रय दिन निराहार रहे २ ॥ और पीछे पंचगव्यको भक्षणकर्के एक गोदानकरे शुद्धिवास्ते इसप्रकार जो द्विजव्रतकरता है सो संपूर्ण पापातें रहित होताहै ॥ ३ ॥ अब कृच्छ्रांके नामोको मार्कंडेयजी कहतेहैं एक यव मध्य १ और मंद क्या पिपीलिका मध्य २ और यति महद्व्रत ३ और शिशुमहद्व्रत ४ और महा चांद्र ५ एहपंच प्रकारका चांद्रायण व्रत कहाहै ॥ १ ॥

और तेरां १३ प्रकारका कृच्छ्र व्रत कहाहै सो कहतेहां ॥ प्राजापत्य १ और तप्त कृच्छ्र २ और पराक ३ और यावक ४ और सांतपन कृच्छ्र ५ और महासांतपन ६ और औदुम्बर ७ और पर्ण कृच्छ्र ८ और फलकृच्छ्र ९ और माहेश्वर कृच्छ्र १० और ब्रह्म कृच्छ्र ११ और धान्य कृच्छ्र १२ और स्वर्णमय कृच्छ्र १३ एह तेरां प्रकारका कृच्छ्र कहाहै ॥ ३ ॥ अथेति अथक्या इसतें अनंतर याज्ञवल्क्यजो करके कही जो कृच्छ्र चांद्रायण की साधारण इति कर्त्तव्यता क्या सामान्य विधि करणेकी योग्यता एहहि है ॥ इस विषे कोईक पदार्थ पीछे दूसरे और तीसरे प्रकरण विषे कहेहैं फेर इहां प्रसंगतें कहीदेहैं। तिस विषे भी पूर्व कहा जो पाठ तिसतें भिन्न होरी ग्रंथका है सो बाहुल्यता करके जिनांपाठां विषे लोकांकी श्रद्धा है तिसके वधाणे वास्ते स्थापन कीताहै इसतें नवीन करण विषे वैकल्य दोषकी संभा

प्राजापत्यंतप्तकृच्छ्रंपराकंयावकंतथा। ततःसांतपनंकृच्छ्रं महासांतपनंतथा २ औदुम्बरंचपर्णंचफलकृच्छ्रमतःपरं कृच्छ्रंमाहेश्वरंचैवब्रह्मकृच्छ्रंतथैवच धान्यंस्वर्णमयंकृच्छ्रंदशत्रेधाप्रकीर्तितम् ३ दशत्रेधा त्रयोदशधाइत्यर्थः अथयाज्ञवल्क्योक्ताकृच्छ्रचांद्रायणसाधारणीतिकर्त्तव्यता अत्रकानिचित्पदार्थानिप्राग्द्वितीयतृतीयप्रकरणयोरभिहितान्यपि पुनरत्र प्रसंगादुच्यंते तत्रापिग्रंथांतरीयएवात्रपाठः प्रायेण प्रचरितश्रद्दधानार्थंस्थापित इति न नवीकरणवैकल्यसंभावनाविधेया। कुर्यात्त्रिषवणस्नायीकृच्छ्रंचांद्रायणंतथा पवित्राणिजपेत्पिंडान्गायत्र्याचाभिमंत्रयेत् १ एतच्चतप्तकृच्छ्रव्यतिरेकेण। तत्रसकृत्स्नायीसमाहितइति मनुना विशेषाभिधानात्। यत्तु। पुनःस्मृत्यन्तरे। तप्तकृच्छ्रेषु अहोरात्रं त्रिषवणस्नानमभिहितम्। त्रिरन्हित्रिर्निशायांतुसवासाजलमाविशेदिति तदतिशक्तविषयम् ॥ यत्पुनर्वैशंपायनेन द्वैकालिकंस्नानमुक्तम् स्नानंद्विकालमेवस्यात्त्रिकालंवाद्विजन्मनइति

वना नहि करणे योग्य है ॥ कुर्यादिति त्रयकाल स्नानकरता हुया कृच्छ्र चांद्रायण व्रतकों करे और पवित्र जो मंत्र हैं तिनांकों पडे और पिंड जो ग्रासहैं तिनांकों गायत्री करके अभिमंत्रण करे ॥ १ ॥ एह विधि तप्त कृच्छ्रतें भिन्न करके जानणी तिस विषे एक वार स्नान इंद्रियांकों रोक करके स्थित होया २ करे एह मनुजीकरके विशेष कहणेतें ॥ यत्त्विति जो फेर और स्मृति विषे तप्त कृच्छ्र व्रत विषे दिन विषे त्रय स्नान और रात्रि विषे भी त्रय स्नान कहेहैं सो स्मृति दिखाईहै ॥ त्रिरिति त्रय स्नान दिनविषे और त्रय स्नान रात्रिविषे सहितवस्त्रांदे जल विषे करे सो बहुत समर्थ पुरुषकेविषे जानणी। फेर जो वैशंपायन ऋषिनें दिनविषे दो काल हि स्नान कहाहै स्नानमिति ब्राह्मण आदिवर्णकों स्नान दोकाल अथवा त्रय कालकरणा चाहिए

एह विधि तिस पुरुषकों कहीहै जो दिन रात्र त्राय कालके स्नान विषे सामर्थ्यतें रहित है ऐसे जानणे योग्यहै ॥ जो फेर गार्ग्यजीनें कहाहै कि एक वस्त्र धार कर्के स्नान करे और वस्त्रका निपीडन न करे क्या भिज्जेहोये वस्त्र कर्के युक्त होया होया भिक्षाकों मांगे और थोडाखावे और पृथिवी विषे शयन करे एह एक वस्त्रता जो कहीहै सो शंखजीने एक पक्ष विषे कहणेंते अर्थात् शंखने विकल्पकर्के एक वस्त्र धारण किहाहै तिसी के मतकर्के इसनेंभी किहाहै एभी सामर्थ्य विषे जानणे योग्यहै ॥ स्नान विषे हारीत ऋषिनें विशेष किहाहै त्राय स्नानतें पीछे शुद्धवती ऋचां कर्के स्नान करके जल विषे स्थित होयाहोया अघमर्षणकों जपे और पीछे शुद्ध वस्त्रकों धारके सामवेदके विषे सोमहै देवता जिसका

तत्त्रिषवणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्ग्येण ॥ एकवासा श्चरेद्भैक्ष्यंस्नात्वावासोनपीडयेत् ॥ तदपिशक्तस्यैव ॥ एकवासात्र्आर्द्र वासा लघ्वाशी स्थंडिलेशयः ॥इत्येकवस्त्रताया अपि शंखेन पाक्षिकत्वा भिधानात् । स्नानेचहारीतेनाविशेषउक्तः ॥ त्र्यवरंशुद्धवतीभिःस्नात्वाऽघमर्ष णमंतर्जले जपित्वा धौतमहतंवासःपरिधाय साम्नासौम्येनादित्यमुपतिष्ठे दिति ॥ त्र्यवरंत्रिभ्यःपरमित्यर्थः ॥ स्नानानंतरं पवित्राणिचजपेत् । पवित्राणिच अघमर्षणंदेवकृतःशुद्धवत्यस्तरत्समाइत्यादिवाशिष्ठादिप्रति- पादितानामन्यतमामर्थाविरुद्धेषु कालेषु जपेत् सावित्रीं वा ॥ सावित्रीं वाजपेन्नित्यं पवित्राणिचशक्तित इति मनुस्मरणात् ॥

तिस मंत्र कर्के सूर्य्यके उपस्थानकों करे त्र्यवर शब्दका अर्थ कहतेहैं कि त्रयते आगे जो है सो त्र्यवर किहाहै चार वार स्नान करे एह अर्थ है ॥ स्नानतें पीछे पवित्र मंत्रांकों जपे सो कहतेहां ॥ अघमर्षण मंत्र और देवकृत और शुद्धवत्यः और तरत्समा इसतें आद लेके वसिष्ठआदिकोंने कथन कीते जो मंत्र तिनांकों पढे ॥ और कर्मके नहि दूर करणे वाला जो समा तिस विषे जपे अर्थात् जिस जिस काल विषे प्रातः संध्यादिके विषे जपने योग्य जो मंत्र है तिस विषे हि जपे अथवा सावित्रीको जपे ॥ सो मनुजी कहतेहैं गायत्री कों जपे नित्य वा कर्म करणेके बेलेमें पवित्र जो मंत्र तिनांको जपे ॥

जो फेर गोतमजीने कहाहै रौरवयोधा जय ऋचा कों जपविषे नित्यहि ग्रहण करे सो पवित्रादि इस कहणें कर्के हिकथन किया गया कोई फेर नियमके वास्ते नहि किहा तैसें होंयां होंयां श्रुति मूलकी कल्पनाका प्रसंग होणेतें क्या औसी कोई श्रुति नहि जिस विषे नियम कहाहै होर श्रुतिकों मूल विषें कल्पना करणी चाहिये तां कल्पना दोषका प्रसंग होवेगा ॥ इसीकारणतें नही पठनकीया सामवेद जिसनें तिस पुरुषनें गायत्री आदक हि जपनें योग्यहै और जो नमो हमाय मोहमाय एह पठन करे घृत कियां आहुतियां देवे औसे कहाहै एभी नियम नहि जानणा क्या अवश्य करणे योग्य नहिहै किंतु महाव्याहृतियां कर्के ब्राह्मणक्षत्री वैश्यने तिलांका हवन करणे योग्यहै एह मनुने महा व्याहृतियांकर्केभी हवनका विधान कहणेतें ॥ इसविषें घृतकर्के हवन और दूसरे स्थान विषें तिलां कर्के हवन इन दोनों

यत्तु गौतमेनोक्तम् रौरवयोधाजयेनित्यंप्रयुंजीतेति तदपि पवित्रादेवोक्तम् न पुनर्नियमाय तथासति श्रुत्यंतरमूलत्वकल्पनाप्रसंगात् अतोनधीतसामवेदेन गायत्र्यादिकमेवजप्तव्यम् ॥ यदपिनमोहमाय मोहमाय इत्यादिपठित्वा एताएवाज्याहुतय इत्युक्तं तदपि न नैयमिकंकिंतु महाव्याहृतिभिर्होमास्तिलैःकार्योद्विजन्मनेति मनुनामहाव्याहृतिभिर्होमविधानात् ॥ तथापड्विंशतिमतेप्युक्तम् ॥ जपहोमादियत्किंचित्कृच्छ्रोक्तंसंभवोनचेत् सर्वंव्याहृतिभिःकुर्याद् गायत्र्याप्रणवेनचेति १ आदिग्रहणादुदकतर्पणादित्योपस्थानादेर्ग्रहणम् ॥ अतएववैशंपायनः॥स्नात्वोपतिष्ठेदादित्यंसौरैर्मंत्रैस्तुकृतांजलिरिति एवमन्येष्वपि पदार्थविरोधिषु विकल्प आश्रयणीयः ॥

पक्षोंते जाणीदा है कि नियम नहि किंतु विकल्पहै ॥ तैसेंहि षड्विंशति मतविषेभी कहाहै ॥ जो कृच्छ्र व्रत विषे कहाहै जप होमादि तिसके करणेका संभव न होवे तां संपूर्ण व्याहृतियां कर्के करे अथवा गायत्रीकर्के वा ओंकारकर्के करे १ इस श्लोक विषे जो आदिग्रहण कीताहै तिसतें जलतर्पण और सूर्यके उपस्थानादिका ग्रहणहोताहै इसी कारणते वैशंपायन ऋषिका वचनहै स्नानकरणेते पीछे हथ जोडकर्के सूर्य जीके मंत्रांकर्के सूर्यका उपस्थान करे इति ॥ इसी प्रकार होर जो पदार्थ विरोधि हैं जैसे कहाहै व्याहृतियां कर्के वा गायत्री वा ओंकारकर्के करे तिनां पदार्थ विरोधियां विषे विकल्पहै भांवें जिस किस कर्के कीता होया आश्रय करणे योग्यहै

और जो नहि विरोधी तिनांविषे संपूर्ण करणे योग्य है शाखांतराधिकरण न्याय कर्के ॥ कर्मको संपूर्ण स्मृतियांकर्के प्रतीतहोणेतें ॥ न्यायनाम युक्तिकाहै तिसको दिखाते हैं न्यायइति जो अपणी शाखाविषे नहि कहा सो दूसरी शाखासे लेलेणा और वो अपणी शाखाका विरोधि नहि हो इत्यादिक कहाहूया जानणे योग्यहै ॥ जपकी संख्या विषे विशेष तिसी वैशंपायननें हि दिखायाहै ऋषभ मंत्र और विरजमंत्र और अघमर्षणमंत्र एनांको जपे अथवा गायत्री जो पवित्रवेदांकी मातातिसकों जपे १ ॥ एकशत१००वा अठसौ८००अथवा अठांते अधिक सौ१०८वा इकहजार१०००जपकरे वा अधिककरे और उपांशुक्या मंत्रको अप्रकट उच्चारणकरे और मनकर्के पितरोंका और देवतोंको और मनुष्य जो सनकादि और भूतोंका तर्पणकरे तिसते उपरंत शिरकर्के नमस्कारकरे ॥ २ ॥ एह जो कृच्छ्रादि व्रतहैं जद पापांके दूर करणे वास्ते अनुष्ठान

अविरोधिषुसमुच्चयः शाखान्तराधिकरणन्यायेन ॥ कर्मणःसर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात् ॥ न्यायस्तु यन्नाम्नातंस्वशाखायां पारक्यमविरोधियदित्यादुक्तोवोध्यः ॥ जपसंख्यायांचविशेषस्तेनैवदर्शितः ॥ ऋषभंविरजंचैवतथाचैवाघमर्षणं गायत्रींवाजपेद्देवीं पवित्रांवेदमातरम् ॥ १ ॥ शतमष्टशतंवापिसहस्रमथवापरं उपांशुमनसाचापितर्पयेत्पितृदेवताः ॥ मनुष्यांश्चैवभूतानि प्रणम्यशिरसाततइति ॥ २ ॥ एतानिच कृच्छ्रादिव्रतानि यदा प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठीयंते तदा केशादिवपनपूर्वकं परिगृहीतव्यानि । वपनाच्च व्रतंचरेदिति गौतमस्मरणात् ॥ अभ्युदयार्थेतु नैववपनम् । वशिष्ठेनाप्यत्र विशेषउक्तः । कृच्छ्राणांव्रतरूपाणां श्मश्रुकेशादिवापयेत् अक्षिरोमशिखावर्जमिति कृच्छ्राणांव्रतरूपाणां व्रतरूपाणि वपनादीन्यंगानिवक्ष्यंत इति ॥ शेषः ॥ अक्षिरोमेत्यादि कक्षोपस्थरोमोपलक्षणम् ॥ पर्षदुपदिष्टव्रतग्रहणंमुंडनादिकंच व्रतानुष्ठानदिवसात् पूर्वेद्युःसायाह्निकार्यम् ॥

करणेहोण तां केशआदिकांके मुंडनको करवाकर ग्रहणकरणे योग्यहैं(वपनाच्चव्रतंचरेत्)इस गौतमजीकेस्मरणतें ॥ और ऐश्वर्य आदिकी वृद्धिके निमित्त प्रायश्चित्तविषे मुंडन नहिकहा ॥ वशिष्ठजीनेभी इस विषे विशेष कहाहै । कृच्छ्र जो व्रतरूप हैं तिनांके ग्रहण विषे दाडी और केश आदिका मुंडन करे परंतु अक्षिरोम और शिखातें विना इति ॥ इसको स्पष्ट कर्त्तेहैं कृच्छ्रेति कृच्छ्र जो व्रत रूपहैं तिनांके व्रतरूप जो मुंडन करवाणे योग्य जो अंगहैं सो कहैंगे इतना इसजगा लगालेणा कि अक्षिरोम इत्यादि कहणकरके कच्छके और लिंगके रोमोंकाभी मुंडन न करवाये ॥ इसमे और विशेषहै पर्षदिति पर्षद् क्या सभा कर्के उपदेश कीया जो व्रतका ग्रहण और मुंडनादि व्रतके ग्रहण करण वाले दिनतें पहले दिन संध्या कालविषेकरणे योग्यहै

जैसें वशिष्ठजी कहतेहै सर्वेति संपूर्ण पापांविषे संपूर्ण व्रतांके ग्रहणकों विधिपूर्वक कहताहां प्राय श्चित्तके करणकी इच्छाहोवाहोयां ॥ १ ॥ दिनके अंतविषे नख और रोमादिकोंकों कटाकर स्नान करे और जो स्नान कहाहै सो इसप्रकार जानणा कि प्रथम मुखकी शुद्धि वास्ते दातन करे पीछे भस्मकर्के और गौके गोहे कर्के और मृत्तिका कर्के और जल कर्के और पंचगव्या दिक जो रचेहोये हैं तिनों कर्के स्नानकरे ॥ २ ॥ अभिप्राय कहतेहैं मलेति बाह्यदेहकी शुद्धि वास्ते देहकी मल दूर करणे योग्यहै और पंचगव्यकर्केयुक्त व्रत करे एह व्रतका विशेषणहै ३ ॥ ऐसे स्नानतें पीछे पंचगव्यको पीकर्के संध्याकालविषे नगरतें वाहर नक्षत्रांके दर्शनहोयां २ व्रत ग्रहणकरणे योग्यहै और पीछे आचमनकों करके मौनधारण करे अपने पापका अंतष्करण विषे ध्यानकरता होआ मनकों क्लेशदेणेवाला वडा जो शोकहै तिसकों संपूर्णता कर्के करे४ ॥

यथाहवसिष्ठः ॥ सर्वपापेषु सर्वेषांव्रतानांविधिपूर्वकम् ग्रहणंसंप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तेचिकीर्षिते ॥ १ ॥ दिनांतेनखरोमादीन्प्रवाप्यस्नानमाचरेत् । भस्मगोमयमृद्वारिपंचगव्यादिकल्पितैः ॥ २ ॥ मलापकर्षणंकार्य्यंवाह्य शौचोपसिद्धये दंतधावनपूर्वेणपंचगव्येनसंयुतम् ॥ ३ ॥व्रतंनिशामुखे ग्राह्यंवहिस्तारकदर्शने आचम्यांतःपरंमौनीध्यायन्दुष्कृतमात्मनः मन स्संतापनंतीव्रमुद्वहेच्छोकमंततइति ॥ ४ ॥ वहिरितिग्रामाद्वहिर्निष्क्रम्य ॥ स्त्रियाअप्येवमेवपरिग्रहःकार्य्यः ॥ केशश्मश्रुलोमनखवपनंतुनास्ति चांद्रायणादिषु ॥ एतदेव स्त्रियाः ॥ श्मश्रुकेशवपनवर्जमिति वौधायनस्म रणात् ॥ एतदेवेति मलापकर्षणाद्येव नतु केशवपनादित्यर्थः ॥ वपनादि ष्वत्रहारीतेनविशेषउक्तः॥ राजावाराजपुत्रोवाब्राह्मणोवावहुश्रुतः केशानां वपनंकृत्वाप्रायश्चित्तंसमाचरेत् १ ॥ केशानांरक्षणार्थंहिद्विगुणंव्रतमाचरेत्

अब स्त्रियोंके व्रत विषे कुछक विलक्षणता कहतेहां स्त्रियाइति स्त्रीनेंभी ऐसेहि व्रत ग्रहण करणे योग्यहे ॥ और चांद्रायणादि व्रत विषें केश और श्मश्रु और रोम और नख एनांका कटाणा नाहि कहा ॥ वचन कहतेहैं एतादिति एतदेव इस कहने कर्के एह जानणा क्या श्मश्रु केशादिके मुंडनतें विना जो व्रतविधि पुरुषोंकों कहीहै सोई स्त्रीकों भी कराणी चाहिए एह बौधायनजीके कथनतें ॥ इसीका अर्थ स्पष्टकर्के दिखातेहैं एतदेवेति ॥ मुंडनादिकां विषे इहां हारीतनें विशेष कहाहै ॥ राजेति राजा अथवा राजाका पुत्र राजपुत्र इस जगा और जातिकों स्त्री विषे राजासे उत्पन्न होआ जानणा अथवा ब्राह्मण विद्वान् एह सब केशांके मुंडनकों करवाके प्रायश्चित्तकों करें ॥ १ ॥ और केशांकी रक्षावास्ते दूणे व्रतकों करें ॥ एह विचार पिच्छे भी होचुका है प्रसंगतें फेर इस जगा किहा है

दूणे व्रतके कीतयां होयां दक्षिणाभी दूणी कहीहै ॥ २ ॥ राजा आदिक जेकर प्रायश्चित्त करणेंकों उद्यतहोवे तां मुंडनकों करवा कर प्रायश्चित्तकों करे अन्यथा न करे ॥ एह मुंडनादि विधि महापातकआदि दोषके होयांहीयां राजा आदिको विषे कहीहै ॥ होरणां दोषां विषे पंडित और ब्राह्मण और राजा और स्त्री एनांकों केशांका मुंडन नहि कहा और जेकर एह विद्वान् विप्र आदिक महापापीहोवें और गोहत्यारा होवे और ब्रह्मचारीका वीर्य्य स्खलित होवे तिनकों प्रायश्चित्तके करण विषे मुंडन कहाहै ॥ १ ॥ ऐसे मनुजीके स्मरणतें ॥ (प्रश्ण) नन्विति गौकीहत्या करणे वाला उत्तम जो प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत तिसकों करे और पहले सहित शिखाके मुंडनकों करे और त्रयकाल स्नान करे इत्यादिक पराशर आदिकों के वचनां विषे सहित शिखाके मुंडन कहाहै ॥ १ ॥ और दूसरे स्थान विषे कहाहै कि सदा

द्विगुणेतुव्रतेचीर्णेदक्षिणाद्विगुणाभवेदिति ॥ २ ॥ राजादिर्यदाप्रायश्चित्तंकर्तुमुद्यतोभवेत्तदा वपनंकृत्वैवसमाचरेत् नान्यथेत्यर्थः ॥ एतच्च महापातकादिदोषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ॥ विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणांनेष्यतेकेशवापनम् ॥ ऋतेमहापातकिनोगोहंतुश्चावकीर्णिनइतिमनुस्मरणात् ॥ ननु)प्राजापत्यंचरेत्कृच्छ्रंगोघातीव्रतमुत्तमम् सशिखंवपनंकुर्य्यात्त्रिसंध्यमवगाहनमित्यादिपराशरादिवचने सशिखवपनं विहितम्॥ सदापर्वातिनाभाव्यं सदाबद्धशिखेनहीत्यादिना निषिद्धंतदिति चेदेवंनिर्णयः ॥ अस्यनैमित्तिकत्वेन वलवत्वान्नविरोधः संभाव्यः। अत्रविशेषोद्वितीयप्रकरणेद्रष्टव्यः ॥ जावालिनाप्यत्रविशेषउक्तः ॥ आरंभेसर्वकृच्छ्राणांसमाप्तौच विशेषतः॥आज्यंनैवहिशालाग्नौजुहुयाद्व्याहृतीःपृथक् ॥ श्राद्धंकुर्य्याद्व्रतांतेतुगोगोहिरण्यादिदक्षिणाइति ॥ श्राद्धमत्रवैष्णवंबोध्यम् ॥

हि यज्ञोपवीत धारे सदाहि शिखाकों वन्ध करके रहे इस जगा मुंडनका निषेध कहाहै कैसे करणा चाहिए (उत्तर) इस विषे ऐसे निर्णय है ॥ इसपूर्वोक्त पराशरादि वचनकों नैमित्तिक होणेकरके वल वाला होणेते विरोधकी संभावना नहि करणी अर्थात् जिसमे सदा शिखा धारणी कहीहै सो नित्यहै और नित्यसे नैमित्तिक वलवान है ॥ इसविषे विशेष दूसरे प्रकरण विषे देखणे योग्यहै ॥ जावालऋषिनेंभी इसविषे विशेष कहाहै ॥ संपूर्ण कृच्छ्रव्रतांके आरंभविषे और समाप्ति विषे शालाग्निविषे क्या जिस अग्निमें सदाहि हवनहोतारहताहै तिसमे अथवा शाल वृक्षकियां समिधांकरके जो अग्नि तिसविषे भिन्नभिन्नव्याहृतीनूं पठनकरके घृतकरके हवनकरे । श्राद्धमिति व्रतके अंतविषे श्राद्धकों करे और गौ सुवर्ण आदिक दक्षिणा देवे और श्राद्ध इहां वैष्णव जानणा

विधा येति ॥ विष्णु निमित्त श्राद्धकों विधान करके प्रायश्चित्त करे इस वाक्य कहणे करके वैष्णव श्राद्धको हि व्रत के अंग करके विधान होणेतें ॥ यमनेभी इसविषें विशेष कहाहै पश्चात्ताप करके पापांतें हटरहणा और स्नान करणा इह व्रतके अंग कहेहैं और निमित्तिक जो पाप हैं तिनां संपूर्णांकों कथन करदयां रहणाएभी अंगहै इति ॥ १ ॥ अब निषेधको कहतेहां अंगांविषें बुटनामलणा और शिरधोणा और तांबूल भक्षण करणा और सुगंधि वाले तिलक आदिक जो हैं चपुनःहारवल क्या पुष्टिके देण वाली वस्तु और प्रीतिके दणेवालि वस्तु इस संपूर्णको व्रत विषें स्थित जो पुरुषहै सो त्यागे । १ । इसतें आदलेके जो कर्त्तव्यताक्या कर्म सो और हिस्मृतितें देखणे योग्यहै ॥ निमित्तिकानामिति इसका अर्थ प्रायश्चित्तके निमित्त जो पापतिनांको दूर करणे वास्ते उच्चारण करता रहे एहहै इति इसप्रकार इसविधि करके व्रतको ग्रहण करके अवश्य

विधायवैष्णवंश्राद्धमित्यादिना वैष्णवश्राद्धस्यैव व्रतांगत्वेन विधानात्। यमेनाप्यत्रविशेषउक्तः। पश्चात्तापान्निवृत्तिश्चस्नानंचांगतयोदितं निमित्तिकानां सर्वेषांतथाचैवानुकीर्त्तनमिति १ तथा गात्राभ्यंगंशिरोभ्यंगंतांबूलमनुलेपनम् व्रतस्थोवर्जयेत्सर्वंयच्चान्यद्बलरागकृदिति १ ॥ एवमादिकर्त्तव्यताजातंस्मृत्यंतरादद्रष्टव्यम्। निमित्तिकानांप्रायश्चित्तनिमितानांपापानामित्यर्थः एवमनेनविधिनाव्रतंगृहीत्वावश्यंपरिसमापनीयम्॥ अन्यथातु प्रत्यवायः पूर्वंव्रतंगृहीत्वातुनाचरेत्काममोहितः जीवन्भवतिचांडालोमृतः श्वाचैवजायते इति छागलेयस्मरणात्॥ प्रारब्धेप्रायश्चित्तादिव्रतेऽसमाप्तेपिमृतेफलमाह यमः प्रायश्चित्तमयूखे ॥ प्रायश्चित्तेव्यवसितकर्त्तायदिविपद्यते शुद्धस्तदहरेवासाविहलोकेपरत्रचेति ॥ १ ॥ अंगिराअपि ॥ यदर्थमाचरेद्धर्ममप्राप्यम्रियतेयदि ॥ सतत्पुण्यफलंप्रेत्यप्राप्नुयान्मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥ त्यक्तस्यपुनर्ग्रहणार्थंप्रायश्चित्तम् ॥

समाप्त करणे योग्यहै नकरे तांदोषहै ॥ पूर्वमिति ॥ पहले व्रतको ग्रहणकरके फेर अपणी इच्छातें हि न ग्रहण करे क्या व्रतकों न करे तां जीवता हि चांडालहै और मृतहोकरके कुत्तेके जन्मको प्रतहोता है ॥ १ ॥ एह छागलेय ऋषिके स्मरणतें कहाहै ॥ प्रारंभ जिसका कीता ऐसा जो प्रायश्चित्तादि व्रत तिसके असमाप्त होयां होयां मृत्युकों प्राप्तहोवे तिसके फलको धर्मराज प्रायश्चित्त मयूख विषें कहताहै ॥ प्रायश्चित्तके करदयां होयां करणे वाला जेकर मृत होवे तां तिस दिनविषेंहि शुद्धहोजाताहै इस लोकविषे और परलोक विषेभी १ ॥ अब अंगिरस ऋषिका वचनहै जिसवास्ते धर्मको कर्ता है तिस धर्मके पूर्ण करणेते पहलें मृत्युकों प्राप्त होवे सो पुरुष परलोक विषें तिस धर्मके संपूर्ण फलको प्राप्त होताहै एहमनु कहता भया ॥ १ ॥ और जेकर व्रतको ग्रहण करके त्यागया जो व्रत तिसके फेर ग्रहण वास्ते प्रायश्चित्त है ॥

सोऊं प्रायश्चित्त वायुपुराणविषे कहाहै लोभादिति लोभतें वा मोहतें वा प्रमादतें व्रतका भंग होवे क्या व्रत जेकर पूर्ण न होवे तां त्रय उपवास करे अथवा केशांका मुंडन करे इस प्रायश्चित्तको करके फेर व्रतकों धारणकरे तां शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अब कृच्छ्र व्रतां कर्केदूर होणे वाले और न दूर होणे वाले पापां कों देवल जी कहतेहैं ब्रह्मेति ब्राह्मणके मारणे वाला और मदिराके पीणे वाला और सुवर्णके चुराणेवाला और गुरांकी स्त्रीविषे गमन करणे वाला और इनां चारोंका संयोगी एह पंच महापापी कहेहैं इन पांचोका प्रायश्चित्त मरण है अंत जिसके असा कहाहै और इनां के दूर करणे विषे कृच्छ्रादिव्रत नहि कहे ॥ १ ॥ और

वायवीये लोभान्मोहात्प्रमादाद्वाव्रतभंगोभवेद्यदि उपवासत्रयंकुर्यात्कुर्याद्वाकेशमुंडनम् प्रायश्चित्तमिदंकृत्वापुनरेवव्रतीभवेत् १ कृच्छ्राणांसाध्यासाध्यानिपापान्याह देवलः ॥ ब्रह्महत्यासुरापानंस्तेयंगुर्वंगनागमः तत्संयोगीचपंचैते महापातकिनस्त्विमे १ एतेषांपंचानां मरणान्तं प्रायश्चित्तं न कृच्छ्रादिकम् ॥ गोवधोगुर्वधिक्षेपोभृतकाध्यापनादिकम् कृच्छ्रचांद्रायणाद्यैस्तुपरिशुद्धंप्रकीर्त्तितम् २ तिलानांधान्यराशीनांविक्रयस्त्वन्यवस्तुनः एतत्संकरीकरणं कृच्छ्रसाध्यंवदंतिहि ॥ ३ ॥ कन्यापहरणंचैवधेनुभूहरणादिकम् मलिनीकरणंत्वेतत्कृच्छ्रसाध्यंप्रयत्नतः ॥ ४ ॥ चाडालीगमनादीनि अपात्रीकरणानिच ॥ कृच्छ्रैर्विशोधनीयानिविप्रैर्दोषपराङ्मुखैः ५ ॥

जो पुरुष गौका वध करणे वाला और गुरोंका निरादर करणे वाला और मजूरी लेके विद्यार्थियांको पढाणे वाला है इनकी शुद्धि कृच्छ्रचांद्रायणादिव्रतों कर्के कहीहै ॥ २ ॥ और तिलांके वेचणे वाला और धान्यराशिके क्या मुंजीआदिके वेचणेवाला और रस आदिके वेचणे वाला है इनांके जो पापहै सो संकरीकरण नाम कर्के कहाहै तिसकी कृच्छ्र व्रत कर्के शुद्धि कहीहै ॥ ३ ॥ कन्याका हरणा और गौ और पृथ्वीआदि का हरणा एह मलिनी करण पाप हैं इनांकी भी कृच्छ्रव्रतकर्के वडे यत्नसें शुद्धि कहीहै ॥ ४ ॥ चांडाली गमनआदिक जो अपात्रीकरण पाप हैं सो दोषतें रहित जों ब्राह्मण तिनांने कृच्छ्र व्रतांकर्के शुद्ध करणे योग्यहैं ॥ ५ ॥

दुरिति श्रीर निंदित अन्न कुया मसर आदिका भक्षणकरणा और दुष्टपुरुषके अन्नका भक्षणकरणा और जिस अन्नविषे ऐसी शंकाहोवे कि एह अन्न पातकी पुरुषकर्के छोतादाहै तिसका भक्षण करणा एह जाति सें भ्रष्ट करणे वाला वडा पाप कहाहै एह भी कृच्छ्र व्रत कर्के शुद्ध होताहै ६ ॥ और पंचक आदि दोष कर्के जो मृत होवे तिसकी दुर्गतिके दूर करणे वास्ते एह प्रकीर्ण पाप पुत्रोंने कृच्छ्र व्रत कर्के दूर करणे योग्यहै ॥ और गर्भाधानादिकके अभाव होयां होयां व्रात्यतादि दोष होताहै तिसके दूरकरणे वास्ते कृच्छ्र व्रत करणे योग्यहै ॥ और तुला आदिक प्रतिग्रहके लणे वाले जो पुरुष हैं तिनां को ब्रह्मराक्षस जो गति है तिसका कृच्छ्र व्रतां कर्के किसे स्थान विषे निवारण कहा है ॥ पूर्वोक्तफलासें औरभी संपूर्ण कृच्छ्रोंके फल हैं सोई व्यासजी कहतेहैं श्रीति जो पुरुष लक्ष्मीकी इच्छा वाला और देहकी

दुरन्नभोजनंचैवदुष्टभक्षणमेवच दुष्टशंकादिकंचैवजातिभ्रंशकरंमहत् ६ ॥ एतदपिकृच्छ्रसाध्यम् ॥ दुर्मरणादिकंप्रकीर्णं कृच्छ्रसाध्यम् ॥ गर्भाधानादिकर्मणां तत्कालातिक्रमे व्रात्यतादिकं कृच्छ्रैः साध्यम् ॥ तुलादिप्रतिगृहीतॄणां ब्रह्मराक्षसत्वस्य कृच्छ्रैः कुत्रचिन्निवारणम् ॥ सर्वेषां कृच्छ्राणां फलार्थत्वमप्याह । व्यासः । श्रीकामःपुष्टिकामश्चस्वर्गकामस्तथैवच देवताराधनपरस्तथाकृच्छ्रंसमाचरेत् ॥ १ ॥ रसायनानिमंत्राश्चतथाचैवौषधानिच तस्यसर्वाणिसिध्यंतियोनरःकृच्छ्रकृद्भवेत् ॥ २ ॥ वैदिकानिचसर्वाणि यानिकाम्यानिकानिचित् सिद्ध्यंतिसर्वदानानिकृच्छ्रकर्तुर्नसंशयइति ३ ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तुमहतींश्रियमाप्नुयात् तथागुरुक्रतुफलमाप्नोतिसुसमाहितः ॥ १ ॥ अत्रमिताक्षरा ॥ यस्त्वभ्युदयकामःप्राजापत्यादिकृच्छ्राननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणांश्रियमनुभवति ॥

पुष्टिकी कामनावाला और स्वर्गकी कामनावाला और तैसे जो देवताके पूजन विषे युक्त पुरुषहै सो कृच्छ्र व्रतको करे ॥ १ ॥ और रसायन सब और मंत्र और औषधीयां एह सब तिसके सिद्धहोतेहैं जो कृच्छ्र व्रतको कर्ताहै ॥ २ ॥ और वेदकर्के कथनकीये जो संपूर्ण कर्म और जो काम्य कर्म और संपूर्णदान एह सब कृच्छ्र व्रतके करणे वालेको सिद्धहोतेहैं इसविषे संशय नाहि है ॥ ३ ॥ याज्ञवल्क्यजीकावचनहै कृच्छ्रेति धर्मकी इच्छा वाला जो पुरुष है सो समाधानहुआ २ कृच्छ्र व्रतको करे तो वडीश्रीको प्राप्त होताहै तैसे वडे यज्ञके फलको प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ इस विषे मिताक्षराका वचन है जो पुरुष ऐश्वर्यकी इच्छाकर्के प्राजापत्य आदिकृच्छ्रोंको कर्ताहै सो महाराज्य आदि लक्षण वाली लक्ष्मीको प्राप्त होताहै ॥

यथेति जैसेवडे जो यज्ञहैं राजसूय आदितिनांके करणेवाला तिनायज्ञांका जो फलहै स्वाराज्य आदि क्या स्वर्गराज्यादिलक्षण महाफल तिसको प्राप्तहोताहै तैसे एह पुरुषभी इंद्रियांको रोक के संपूर्ण अंगाके क्या विधिके साथ कृच्छ्र व्रतको करताहोया राज्य आदि लक्षण महाफलको प्राप्त होताहै ❀ अथेति इसते उपरंत प्राजापत्य कृच्छ्र व्रतके प्रत्याम्नाय कहतेहां प्रत्याम्नाय क्या वदलाजैसे प्राजापत्य व्रतकी सामर्थ्य न होवे तिस प्राजापत्य फलकी प्राप्ति वास्ते वदला धेनुदानादि कहाहै तिस विषे देवलजीकहतेहैं ॥ धेनुरिति एक धेनु क्या नवी प्रसूतहुई गौ और महानदी क्या जो समुद्रमे गमन करणें वाला है अथवा गंगाआदि तिस विषे स्नान और बारां ब्राह्मणांका पूजन और संहिताका सारा पाठ करणा और दो सउ २०० प्राणायाम

यथा गुरुक्रतूनां राजसूयादीनां कर्त्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते तथायमपि समाहितः सकलांगकलापमविकलमनुतिष्ठन्निति ॥ अथ प्राजापत्यकृच्छ्रप्रत्याम्नायाः ❀ तत्राह देवलः धेनुर्महानदीस्नानंद्वाद शब्राह्मणार्चनम् संहितामात्रपठनंद्विशतंवायुरोधनम् ॥ १ ॥ तिलहोमस हस्त्रस्यादयुतंजपउच्यतेइति ॥ द्विशतंवायुरोधनंप्राणायामशतद्वयम् ॥ लिंगपुराणे ईश्वरः ॥ प्राजापत्येतुगौरिकाद्वादशब्राह्मणार्चनम् समुद्रगन दीस्नानंसंहितापाठउच्यते प्राणायामश्चद्विशतमयुतंजपउच्यते ॥ १ ॥ पराशरः ॥ अकामतःकृतंपापंवेदाभ्यासेनशुध्यति कामतस्तुकृतेपापेप्रा जापत्यंसमाचरेत् ॥ १ ॥

गायत्री मंत्र कर्के करणा और हजार आहुति तिलांकी व्याहृति कर्के और दशहजार१०००० गायत्रीका जप करणा एह प्राजापत्यके फलदेणवालेहैं ॥ १ ॥ इसीको प्रत्याम्नाय कहतेहैं। अब लिंगपुराणविषे शिवांका वचनहै प्रेति प्राजापत्य कृच्छ्रविषे एक गौ दान करणी और बारांब्राह्म णांकी पूजा करणी और समुद्र विषे प्राप्त होंणे वाली नदी विषे स्नान करणा और संहिताका सारा पाठ करणा और दो सउ २०० प्राणायाम करणा गायत्री मंत्र कर्के और दश हजार १०००० जप करणा गायत्रीका एह प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत विषे प्रत्याम्नायहै १ ॥ अब पराशरजी कहतेहैं अकामतइति इच्छातें विना कीया जो पाप सो संहिताके पाठ करणे करके दूरहोताहै और जो इच्छासें कीयाहै पाप सो प्राजापत्य व्रतकर्के दूर होवाहै ॥ १ ॥

अब इसके प्रत्याम्नायकों क्या वदली करणेकी विधिकों देवलऋषि कहताहै विप्रइति ब्राह्मण मध्याह्नतें पहलेनदी विषे स्नानकरे वा होरी उत्तम जलाशयबिषे करे अथवा और किसे जल विषे करे पीछे शुद्ध वस्त्रकों धारके त्रिपुंड्रक तिलककोंकरे फेर नित्यकर्म जो संध्या वंदनादि तिसकों समाप्तकरे ॥ १ ॥ फेर देवताकी उपासना आदि कर्म कों करे अर्थात् ध्यान करे और उपासनातें पीछे देवताका पूजन इच्छी तरहसें करे तिसतें उपरंत चार ब्राह्मणांकेसाथ स्वस्त्ययनको वाचे २ ॥ और संकल्प इसतरह करे कि जिसदेश और काल विषे प्रत्याम्नायको करताहै तिस देश कालका उच्चारण करके अपणे नामका भी उच्चारण करे कि जो पाप मैंने इच्छातें विना कीताहै तिसकी शुद्धि वास्ते ॥ ३ ॥ मैं प्राजापत्य कृच्छ्रके करणे विषे सामर्थ्यतें रहित हां

प्रत्याम्नायसमाचरणमाह देवलः ॥ विप्रःस्नात्वातुपूर्वाह्णेनद्यांवान्यत्रवाजले वस्त्रादिपुंड्रकंकृत्वानित्यकर्मसमापयेत् ॥ १ ॥ औपासनादिकंकृत्वा ततोदेवार्चनंपरम् चतुर्भिर्ब्राह्मणैःसाकं पुण्याहंवाचयेत्ततः ॥ २ ॥ देशकालौचसंकीर्त्यस्वनामाप्यनुसंवदेत् एतत्पापविशुद्ध्यर्थंमयाकृतमकामतः ॥ ३ ॥ प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यसाक्षात्कर्त्तुमशक्नुवन् प्रत्याम्नायमहंकुर्य्यां भवंतः क्षंतुमर्हथ ॥ ४ ॥ इत्युक्त्वागांसवत्सांचसुशीलांचपयस्विनीं पूजयित्वाविधानेनब्राह्मणांचयथार्थतः ॥ ५ ॥हेहेगौःसर्वलोकानांत्वंमातापरिकीर्त्तिता अतस्त्वांपूजयिष्यामि सर्वपापापनुत्तये ॥ ६ ॥ इतिसर्वप्रत्याम्नायकृच्छ्रगोदानेषुपूजामंत्रः ॥ वेदाध्यायिन्सदापूज्योदानेष्वेतेषुपावन अतस्त्वांपूजयिष्यामिसर्वपापापनुत्तये । १ । इतिविप्रपूजामंत्रः।

इस कारणतें प्राजापत्यके वदलेकों कर्त्ताहां हे ऋषियांहो तुसीं क्षमा करो ॥ ४ ॥ ऐसे कहके सहित वच्छेके जो गौ है चंगे स्वभाव वाली और दुग्ध देणे वाली तिसकों विधि करके तैसे पूजे फेर ब्राह्मण के ताईं देवे ॥ ५ ॥ अव पूजनके मंत्र कहतेहां हेइति हे गौ तूं संपूर्ण लोकांकी माता कही हैं इस कारणतें संपूर्ण पापांके दूरकरणे वास्ते तेरेकों मैं पूजतांहां ॥ ६ ॥ एह मंत्र संपूर्ण प्रत्याम्नाय और कृच्छ्र व्रत और गोदान विषे गौकी पूजा विषे पढनेयोग्यहै अव उपदेश करणे वाले ब्राह्मणकी प्रार्थनाकों कहतेहैं वेदेति हे वेदके पढने विषे युक्त हे पवित्र एनां दानां विषे तूं सदाहि पूजने योग्यहैं इसकारणतें संपूर्ण पापांके दूरकरणे वास्ते तेरेकों मैं पूजताहां एह ब्राह्मण की पूजा का मंत्र कहाहै ॥ १ ॥

गवामिति गौयांके अंगां विषे चौदां भुवन स्थित हैं जिसकारणों तिस कारण तें मेरेकों कल्याण होवे और इसकारण तें मेरे ताईं शांतिकों देवो ॥ २ ॥ यज्ञेति और जो यज्ञका साधन रूप और जगत् के पाप दूर करणे वाली है तांते इस गौ करके मेरे उपर विश्वरूपके धारणे वाला देवता प्रसन्नहोवे ॥ ३ ॥ एह मंत्र संपूर्ण गोदान विषें और प्रत्याम्नाय गोदानो विषे पढने योग्यहैं ॥ अब और कहतेहैं तत्रेति तिसविषेभी दक्षिणादेणेयोग्यहै जेसें धनहोवे तिसके अनुसारतें करे इस प्रकार प्राजापत्य कृच्छ्रके प्रत्याम्नायकों भली प्रकार करणे करके प्राजापत्यका जो संपूर्ण फलहै तिसकों प्राप्तहोताहै ॥ १ ॥ और प्राजापत्यकृच्छ्रके प्रत्याम्नाय क्या वदलेकर्के कही जो गौहै तिसके अभाव विषें तिसके मुल्लकों देवल ऋषि कहता है गवामिति गौयांके

गवामंगेषुतिष्ठंतिभुवनानिचतुर्दश यस्मात्तस्माच्छिवंमेस्यादतःशांतिंप्रयच्छमे ॥ २ ॥ यज्ञसाधनभूतायाविश्वस्याघप्रणाशिनी विश्वरूपधरोदेवः प्रीयतामनयागवा ॥ ३ ॥ इतिसर्वगोदाने प्रत्याम्नायगोदानेषुचमंत्रौ ॥ तत्रापिदक्षिणादेयायथावित्तानुसारतः एवंकृत्वानरःसम्यक् प्रत्याम्नायमनुत्तमम् । संपूर्णफलमाप्नोतिप्राजापत्यस्यकृच्छ्रतः । १ । प्राजापत्यकृच्छ्रप्रत्याम्नायत्वेन गोरभावे तन्मूल्यमाह देवलः ॥ गवामभावेनिष्कंस्यात्तदर्द्धपादमेववा दरिद्रःकुरुतेपादंधनिकः पूर्णमाचरेत् अन्यथातत्फलंनास्तिप्राजापत्यंनसिध्यति ॥ १ ॥ निष्कशब्दोद्विवराहस्तदर्द्धमेकवराहपक्षोमध्यः वराहार्द्धपक्षः कनीयान् तत्त्रयमप्यंगीकृतमस्माभिः ॥

अभाव विषें क्या गौ न होवे तिस एक गौका मुल्ल एक निष्क देवे वा निष्कका अर्द्ध देवे वा तिसका अर्द्ध पाद अर्थात् चौथा हिस्सा देवे परंतु धनतें रहित जो पुरुषहै सो निष्कका चौथा हिस्सा देवे और धनवाला होवे तां संपूर्ण निष्कदेवे जेकर ऐसें न करे तिसको फल नहि होता और प्राजापत्यभी सिद्ध नहि होता ॥ १ ॥ और इस जगा निष्क नाम दो वराहका है और एक वराहका नाम जो निष्कहै सो मध्यम पक्ष कहाहै और वराहका अर्द्ध जो निष्क कहाहै सो कनीयान् पक्ष है क्या लघुपक्षहै असांनें त्रयहि पक्ष अंगी कार कीतेहैं इसमे शक्ति के अनुसार व्यवस्था जानणी और वराह शब्दका अर्थ मान परिभाषा सें जानणा ॥

सोई कहताहै मार्कंडेय ऋषि प्रेति प्रभुओंको अर्थात् जो धन करके युक्त हैं तिनांकों निष्क सुवर्णका दान करणा योग्यहै एह उत्तम पक्ष कहाहै निष्कका अर्द्ध जो एक बराह रूप है सो सामर्थ्य वालेकों नहि क्योंकि उत्तम पुरुषको मध्यम दानका फल नहि होता ॥ १ ॥ मध्यमेति ॥ मध्यम जो पुरुष हैं तिनांकों सर्वदा काल मध्यम पक्ष निष्कका अर्द्ध बराह परिमाण दान करणा श्रेष्ठहै तां मध्यम पुरुष मध्यम पक्षकों करे उत्तम पक्षकों त्यागके जेकर मध्यम पक्षकों करे तिसको भी फल नहि होता और इस करके उत्तम जो धनि पुरुष है सो मध्यम जो बराह परिमाण तिसका दान न करे ॥ २ ॥ और कनीयान् जो बराहका अर्द्धहै सो पक्ष निर्धन

तदाह मार्कंडेयः ॥ प्रभूणां पूर्वपक्षः स्यादुत्तमः परिकीर्तितः ॥ मध्यमाचरणंनास्तिप्रभूणांतत्फलंनवा ॥ १ ॥ मध्यमानांवराहःस्यात्पक्षः सर्वत्रशोभनः ॥ उत्तमंयःपरित्यज्यमध्यमंचेदुपाश्रितः ॥ नदानफलमस्यास्तिनोत्तमोमध्यमंचरेत् ॥ २ ॥ कनीयांस्तुवराहार्द्धमुत्तमंसंप्रकीर्तितं तदस्यमध्यमंनास्तिनतत्कृच्छ्रफलंलभेत् ॥ ३ ॥ आकिंचनानांसर्वेषांधरणंगौरुदाहृता अतोहीनंनकर्त्तव्यंगोमूल्येष्विहसर्वदा एवंकुर्युर्हितेदानंचोत्तमाधममध्यमाः ॥ ४ ॥ किंचिद्धनाढ्योपि कनीयांसंकुर्य्यात् ॥ आकिंचनस्य कनीयान्पक्षएवोत्तमः ॥

को उत्तम कहाहै निर्धनको मध्यम पक्ष नहि कहा जेकर करे तिसको कृच्छ्रका फल नहि होता अथवा जिसको उत्तम पक्ष किहा है तिसने मध्यम नहि करणा एह अर्थ है ॥ ३ ॥ आकिंचेति ॥ निर्धन जो सबहैं तिनांको धरण परिमाण सुवर्णका दान गोदान कहा है इस कारणते गौयांके मुल्लविषे थोड़ा दान न करे ॥ ४ ॥ इसप्रकार अपने २ अधिकारकरके उत्तम और मध्यम और अधम पुरुष दानको करे एहि शास्त्रकी आज्ञा है एहि अर्थ स्पष्ट करके किहा है ॥ कुछक धनकरके युक्त जो पुरुष है सोभी अल्पदानकों करे और निर्धन पुरुष उत्तम दानकों न करे तिसको कनीयान् पक्ष हि उत्तम है ॥

अतइति इस कारणतें अपणी सामर्थ्य कर्के पुरुष प्राजापत्यके प्रत्याम्नायकों करे जेकर सामर्थ्य कों लंघ कर्के करे तां तिसकों फल नहि होता ॥ एवमिति असे महापापांविषे भी कयाहे कि महापापके करणे वाला पुरुष बारां वर्षके व्रतकों करे कि बारां दिनां कर्के साध्य जो प्राजापत्य व्रत सो त्रय सौ सठ ३६० करणे योग्यहैं तदिति और जेकर तिनां व्रतांके करणेविषे सामर्थ्य न होवे तां त्रय सौ ३६० सहित बछयांके गौयां देवे ॥ और गौयांका भी अभावहोवे तां त्रय सौ सठ ३६० मोहर देणे योग्यहै ॥ तैसे हारीस्मृतिका वाक्यहै प्राजापत्यव्रतके करणे विषे सामर्थ्य न होवे तां बुद्धिमान् पुरुष प्रसूत होई जो गौ तिसका दान करे और गौ दानकी भी सामर्थ्य न होवे तां तिसके तुल्य मुल्लकोंदेवे इसमे संशयनहि है ॥ १ ॥ मुल्लकी व्यवस्था करतेहैं

अतः स्वशक्तिपुरःसरतया प्रत्याम्नायं कुर्यादन्यथा निष्फलत्वमवाप्नोतीत्यर्थः ॥ एवंमहापातकेऽपि द्वादशवार्षिकव्रतस्य द्वादश दिनसाध्यतया प्राजापत्यानि ॥ ३६० ॥ पञ्चाधिकशतत्रयं कल्पयित्वा कार्याणि ॥ तदशक्तौच तावत्योवा धेनवोदातव्याः । तदसंभवेनिष्काणांषष्ठ्याधिकशतत्रयं दातव्यम् ॥ तथास्मृत्यंतरम् ॥ प्राजापत्यक्रियाऽशक्तौधेनुंदद्याद्विचक्षणः धेनोरभावेदातव्यंमूल्यंतुल्यमसंशयम् १ निष्कंवा तदर्द्धं पादं वा शक्त्यपेक्षयादातव्यम् ॥ गवामभावेनिष्कंस्यात्तदर्द्धंपादमेवचेतिस्मरणात् ॥ मूल्यदानस्याप्यशक्तौ तावंतोवोपवासाःकर्त्तव्याः ॥ कृच्छ्रउपवासोऽहोरात्रमितिमहार्णवे

निष्कमिति अपणी सामर्थ्यकरके निष्कदानकरे वा तिसका अर्द्धदान करे वा तिसका चौथा हिस्सादान करे ॥ गवामिति गौयांके दानकी सामर्थ्य न होवे तां निष्कका दान करे वा अर्द्धाकरे वा चौथा हिस्सा करे इसवाक्यतें ॥ और मुल्लदेणकीभी सामर्थ्य न होवे तां तिसपापीकों जितने कृच्छ्र व्रत करणे योग्यहैं तिस संख्या कर्के उपवास व्रतांकों करवावे परंतु इसमे ऐसा अभिप्रायहै कि निरंतर उपवास नहि होसके एक उपवास कर्के दूसरे दिन भोजन करे और फेर उपवास करे इस रीतिसे जो दिन रात्र उपवास व्रत करणाहै तिसका नाम कृच्छ्रहै एह महार्णव विषे कहाहै ।

तत्रेति तिस त्रय सो सठ १६० उपवास व्रत विषे भी जो सामर्थ्यतें रहितहै तिस पुरुषनें छत्ती लक्ष १६०००० गिणती करके गायत्रीका जप करणे योग्यहै एह प्रत्याम्नाय कहाहै इसमें वचन कहतेहैं कृच्छ्रइति कृच्छ्रव्रत और गायत्रीका दश हजार १०००० जप और उपवास व्रत और ब्राह्मणके तांई प्रसूत होईहोई गौका दान देणा एह चारे सम हैं इनां उपायां विषे पापके दूर करणे वास्तेकिसे उपायकों करे इस पराशरजीके वचनतें १ ॥ फेर जो चतुर्विंशतिके मत विषे कहाहै जो पुरुष गायत्रीका एक कोड जप१०००००० कर्ताहै सो ब्रह्महत्या पापतें रहित क्या शुद्धिकों प्राप्तहोताहै और अस्सी लक्ष ८०००००० गायत्रीके जपकों कर्ताहै सो पुरुष मदिरा पीणेका जो पापहै तिसतें शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ और सत्तर लक्ष७००००००जो गायत्रीका जपहै सो सुवर्णके चुराणे वालेकों शुद्ध कर्ताहै और गुरांकी स्त्री साथ जो गम

तत्राप्यशक्तौगायत्रीजपः पट्त्रिंशल्लक्षसंख्याकःकार्य्यः ॥ कृच्छ्रोयुतंतुगायत्र्याउपवासस्तथैवच ॥ धेनुप्रदानंविप्रायसममेतच्चतुष्टयमितिपराशरस्मरणात् । यत्तुचतुर्विंशतिमतेभिहितम् ॥ गायत्र्यास्तुजपन्कोटिंब्रह्महत्यांव्यपोहति लक्षाशीतिंजपेद्यस्तुसुरापानाद्विमुच्यते॥ १ ॥ पुनातिहेमहर्तारंगायत्र्यालक्षसप्ततिः गायत्र्याःषष्टिकैर्लक्षैर्मुच्यतेगुरुतल्पगइति २ ।तद्द्वादशवार्षिकतुल्यविधानतयोक्तं न पुनरुक्तविषयमिति न विरोधः।कृच्छ्रोदेव्ययुतंचैवप्राणायामशतद्वयम् ॥ तिलहोमसहस्रंतुवेदपारायणंतथेत्यादयः प्रत्याम्नायाश्चतुर्विंशति मन्वादिशास्त्रेऽभिहिताः षष्ट्यधिकशतत्रयगुणितामहापातकेषु बोद्धव्याः ॥

न करणे वालाहै सो पुरुष गायत्रीके सठ लक्ष ६००००००जपकरके शुद्ध होताहै ॥ २ ॥ एह वाक्य बारां वर्षका जो व्रतहै तिसके तुल्य फलकों प्रतिपादन कर्ताहै प्राजापत्यको प्रत्याम्नाय विधि विषे नहि जानणा तां कहा जो विषय प्रत्याम्नाय तिसतें भिन्न होणेते एह कोई विरोधी वाक्य नाहि है ॥ और वाक्य कहतेहैं कृच्छ्रइति कृच्छ्र व्रत और देवी गायत्रीका दश हजार १००००जप और दो सो २००प्राणायाम गायत्री करके और एक हजार १०००तिलांका हवन मृत्युंजय मंत्र करके वा व्याहृति करके और सारी संहिताका पाठ एह कृच्छ्र व्रतके प्रत्याम्नाय क्या एक एकके अभाव विषे दूसरा दूसरा करणा ॥ सो चतुर्विंशति और मनु आदि करके कथन कीते होए एक सौ सठ १६० संख्या करके महापातकपापां विषे जानने योग्यहैं ॥

तीति अतिपातक पापों विषे प्राजापत्य व्रतां की संख्या दो सौ सत्तर २७० कहीहै सो करणे योग्यहै वा तिसका प्रत्याम्नाय दोसौ सत्तर २७० धेनुदानतें लेकर होरभी जानणें ॥ पातकेष्विति पातक जो पाप हैं तिनां विषे एकसौ अस्सी १८० प्राजापत्य व्रत कहेहैं तिस विषे प्रत्याम्नाय प्रसू होई गौयांते आदिलेके एक सौ अस्सी संख्याहि कही है ॥ तैसे चतुर्विंशातिके मतविषे कहाहै जन्मेति जन्मतें लेके ब्रह्महत्या तें विना जो वहुत अनेक तरांके पाप कीतेहैं तिनांके दूर करणे वास्ते छे ६ वर्ष के प्राजापत्य व्रत को करे और ब्रह्महत्या पापके दूर करणे विषे वारां वर्ष का व्रतहि कहाहै ॥ १ ॥ तिस छे वर्ष के प्रत्याम्नाय विषे धनवाले पुरुषकों एक सौ अस्सी गो

अतिपातकेषु सप्तत्यधिकशतद्वयं प्राजापत्यानांकर्त्तव्यंतावंतोवाधेन्वादयः प्रत्याम्नायाः ॥ पातकेषुसाशीतिशतंप्राजापत्याः प्रत्याम्नायाधेन्वादय स्तावंतएववा ॥ तथाचतुर्विंशतिमतेऽभिहितम् । जन्मप्रभृतिपापानिवहूनि विविधानिच कृत्वार्वाग्ब्रह्महत्यायाः षडब्दंव्रतमाचरेत् ॥ १ ॥ प्रत्या म्नायेगवांदेयं साशीतिधनिनांशतम् ॥ तथाष्टादशलक्षाणिगायत्र्यावा जपेद्बुध इति ॥ २ ॥ इदमेवचद्वादशवार्षिकेव्रतेद्वादशद्वादशदिनैरेकै कप्राजापत्यकल्पनायां लिंगम् ॥ एवमुपपातकेषु त्रैवार्षिक प्रायश्चित्त विषयभूतेषु नवतिःप्राजापत्यास्तावंतएवप्रत्याम्नायाः ॥

यांकादान करणे योग्यहै तिसकी सामर्थ्य न होवे तां बुद्धिमान् पुरुष अठारांलक्ष १८००००० गायत्री का जप करे ॥ २ ॥ एहजो पूर्व कथन कीताहै प्रायश्चित्त सो बारां वर्ष केव्रत विषे वारां वारां दिनां कर्के एक एक प्राजापत्यकी कल्पना विषेचिन्ह जानणा ॥ जैसे पूर्व कहा है इसी प्रकार उपपातक जो पाप हैं त्रय ३ वर्षके प्रायश्चित्त व्रत कर्के दूर होणे वाले तिनां विषे नव्वे ९० प्राजापत्य व्रत कहेहैं वारां दिनांकर्के एक प्राजापत्य व्रतहोताहै तांते त्रय ३ वर्षों विषे नव्वे ९० होतेहैं जेकर उपपातक पापांके दूर करणे वाले जो नव्वे ९० प्राजापत्य व्रत तिनांके करणे विषे सामर्थ्य न होवे तां तिसकों प्रत्याम्नाय नव्वे ९० कहनें ।

त्रैमासिकेति त्रय ३ महीने कर्के हुंदा जो प्रायश्चित्त तिसविषे साडे सत्त ७॥ प्राजापत्य व्रत कहेहैं तिसके प्रत्याम्नाय जप और गौ और उपवास व्रत आदि साडे सत्त ७॥हि कहेहैं परंतु इसजगा अर्द्धके स्थानमुल्ल देवे जो गौका कहाहै तिसते अर्द्ध व्रत हो जावेगा ॥ मासिकेति महीनेके व्रत विषे ढाई२॥ प्राजापत्य व्रत कहेहैं तिसकी असामर्थ्य विषे प्रत्याम्नाय भी ढाई २॥ कहेहैं चांद्रायणेति और एक चांद्रायण व्रत कर्के दूर होंनेवाले जो उपपातक पाप तिनांके दूर करणे वास्ते प्राजापत्यव्रत त्रय ३ कहेहैं ॥ तिस प्राजापत्य त्रय ३ के करणे विषे जो असमर्थ पुरुष है तिसकों प्रत्याम्नायभी तावान् कहाहै ॥ जो फेर चतुर्विंशति मत विषे कहाहै कि चांद्रायण व्रतके प्रत्याम्नायके करण विषे अठ धेनु ८ का दान कहाहै सो एह धन वाले पुरुष विषे पिपीलिका मध्यादि नाम चांद्रायण व्रत के प्रत्याम्नाय क्या वदले विषे जानणा ॥

त्रैमासिकविषये पुनः सार्द्ध सप्त प्राजापत्याः प्रत्याम्नायाश्च धेनूपवासादयस्तावंतएव ॥ मासिकव्रतविषये तु सार्द्धं प्राजापत्यद्वयम् ॥ तावानेवप्रत्याम्नायः॥ चांद्रायणविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु प्राजापत्यत्रयम् ॥ तदशक्तस्यप्रत्याम्नायस्तावानेव ॥ यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम् ॥ अष्टौचांद्रायणेदेयाः प्रत्याम्नायविधौसदेति अष्टौधेनवइत्यर्थः तदपि धानिनः पिपीलिकामध्यादिचांद्रायणप्रत्याम्नायविषयम् ॥ एतच्चैकैकंग्रासमश्नीयादित्यामलकपरिमितैकैकग्रासपक्षे वेदितव्यम् ॥ पाणिपूरान्नपक्षेतु पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यस्य षडुपवासतुल्यत्वात् । द्विगुणत्वाच्चातिकृच्छ्रस्य

एतदिति एह जो पूर्वोक्त विधि है सो (एकैकं) इत्यादि वचनकर्के कही जो प्रतिदिन एक एक ग्रास के भक्षण वाली चांद्रायण विधि तिस विषे जानणे योग्यहै और इस विधि विषे ग्रासभी आमलेके तुल्यहै इसकर्के कठिन चांद्रायणहै और तिसका प्रात्यम्नायभी अधिकहै॥ और जिसपक्ष विषे पाणि पूरान्न भोजन किहाहै क्या जितने अन्न कर्के एक हत्थ पूरण होवे तितना अन्न प्रतिदिन भक्षण करे इसपक्षविषे कष्ट थोडाहै इसकर्के दो२ धेनु प्रत्याम्नायहै॥ अब फेर पूर्वोक्त मै अभिप्राय कहतेहैं कि प्राजापत्यकों ६ छे उपवासकी तुल्यताहै ॥ और अति कृच्छ्र कों इससे द्विगुण होणेतें अर्थात् अति कृच्छ्र इससे दूणाहै

अब और विचार कर्ते हैं यद्यपीति जों पाणि पूरान्न भोजन किहाहै सो ९ नौ दिनमे हि हुंदाहै वारां १२ दिनमे नहि तथापि निरंतर जो १२ वारांदिनका व्रत करणा सो बहुत क्लेशदेणे वाला है इसकर्के ६ छे उपवासके तुल्य जो प्राजापत्य दो २ तिसकी तुल्यता पाणि पूरान्न वाले व्रतको है ॥ अब प्राजापत्यको जिस तरहां ६ छे उपवासकी तुल्यताहै सो कहते हैं तथाहीति पहले त्रय दिनविषे सायं कालके भोजनकी निवृत्ति होयां एक १ उपवास होआ और दूसरे त्रय दिनविषे प्रातः काल भोजनकी निवृत्ति होयां एक १ उपवास होर होया ॥ और अगले दिन त्रय विषे अयाचित व्रत विषे भी सायं कालके भोजन की निवृत्ति करणेतें एक उपवास हुंदाहै इसरीतिसें नो ९ दिनोंकर्के ३ त्रय उपवास होए ॥ और इसते

॥ यद्यपि नवसु दिवसेषु पाणिपूरान्नभोजनम् तथापि नैरंतर्य्येण द्वादशदिवसानुष्ठाने क्लेशातिशयेन षड्होपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुल्यत्वमेव ॥ प्राजापत्यस्यषडुपवासतुल्यत्वंयुक्तमेव ॥ तथाहि प्रथमेत्र्यहेसायंतनभोजनत्रयनिवृत्तावेकोपवासस्यसंपत्तिः । द्वितीयेत्र्यहेप्रातः कालभोजन त्रयवर्जनेऽपरस्य तथाऽयाचित त्र्यहेपि सायंतनभोजनवर्जनेऽन्यस्यैवंनवभिर्दिनैरुपवासत्रयम् ॥ तत श्चांत्यत्र्यहोपवासत्रयमितियुक्तं षडुपवासतुल्यत्वम् ॥ ऋषभैकादशगोदानसहितत्रिरात्रोपवासात्मक गोव्रतेतु सार्द्धैकादशप्राजापत्यास्तावत्संख्याकाश्चोपवासादयः प्रत्याम्नायाः मासपयोव्रतेतु सार्द्धं प्राजापत्यद्वयम् ॥ पराकात्मकेतूपपातकव्रतेप्राजापत्यत्रयम् ।

आगे त्रय उपवास करणे ने ६ उपवासकी तुल्यता प्राजा पत्य कों उचितहै ऋषभेति बैलहै यारवां जिनां विषे ऐसीयां दशां १० गौयांके दानके साथ जो त्रय ३ उपवास व्रत है ऐसे गोव्रतविषे प्रत्याम्नाय कहतेहां ॥ सार्द्धइति साढे यारां प्राजापत्य व्रत अथवा साढे यार ११ ॥ उपवास अर्थात् साढे यारां दिन ११॥ निराहार स्थित रहणा इत्यादिजानणे ॥ मासेति एक मास तक जो दुग्धका व्रत तिस विषें प्रत्याम्नाय दाई २॥ प्राजापत्य कहनें ॥ पराक व्रत कर्के दूर होता जो उपपातक पाप तिस व्रत विषें प्राजापत्य त्रय ३ करणे चाहिए एह प्रत्या म्नाय है ॥

श्रोर कहतेहैं पराकेति श्रोर पराक व्रत श्रोर तप्तकृच्छ्र श्रोर श्रतिकृच्छ्र इनां विषे एक एक की जगा त्रय ३ प्राजापत्य व्रत करे श्रोर १ प्राजापत्य व्रतां विषे जो श्रसमर्थ है सो सांतपन व्रत के श्र द्धनूं करे ऐसे षड्त्रिंशन् मत विषे कथन करणेतें ॥ चांद्रायणेति चांद्रायण श्रोर पराक कृच्छ्र श्रोर श्रतिकृच्छ्र एह व्रत एक एक त्रय ३ प्राजापत्य व्रतांके तुल्यहै तातें बारांवर्षके व्रत विषे एक सौ बीस १२० श्रनुष्ठान करणे योग्य हैं ॥ तदिति श्रोर तिनां चांद्रायणादि व्रतांके प्रत्याम्नाय धेनु श्रादिक श्रर्थात् धेनु उपवास श्रोर गायत्रीका १०००० जप एह सब त्रय गुणां श्रधिक जानणे तातें प्राजापत्य व्रत त्रय सौ सठ ३६० कहने तिस विषे चांद्रायण एकसौ बीस १२० तिस एक सौ बीस विषे धेनु श्रादिक त्रय सौ सठ ३६० कहनें ॥ श्रवेति श्रतिपातक पापविषे नव्वे ९० संख्याकर्के चांद्रायण श्रादि कहने ॥ श्रोर श्रति पातक पापांके तुल्य जो पातक संज्ञाकर्के पापहैं तिनां विषे सठ ६०चांद्रायणादि कहने ॥ श्रोर त्रय

पराकतप्तातिकृच्छ्रस्थाने कृच्छ्रत्रयंचरेत् सांतपनस्यतत्त्वार्द्धमशक्तौव्रतमा चरेदिति षड्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् ॥ चांद्रायण पराककृच्छ्रातिकृच्छ्रास्तुप्रा जापत्यत्रयात्मकाद्वादशवार्षिकव्रतस्थाने विंशत्युत्तरंशतसंख्याश्रनुष्ठेयाः तत्प्रत्याम्नायास्तुधेन्वादयस्त्रिगुणाः । श्रतिपातके नवतिसंख्याकाश्चांद्राय णादयःातत्समेषुपुनःपातकपदाभिधेयेषु षाष्टिसंख्याः । उपपातकेषु त्रैवा र्षिकविषयेषु त्रिंशत्संख्याः। त्रैमासिकेषुव्रतस्थानेषु गोमूत्रस्नानादीतिकर्त्त व्यतावाहुल्याश्चांद्रायणादित्रयम् मासिकव्रतेषु योगीश्वरोक्तमेकमेवचांद्रा यणम् धेनूपवासादिप्रत्याम्नायस्तु सर्वत्र त्रिगुणएव। प्रकीर्णकेषु पुनःप्रति पदोक्तप्रायश्चित्तानुसारेण प्राजापत्यं पादादिकं वा योजनीयम्। श्रावृत्तौ पुनश्चांद्रायणादिकमिति । एतद्दिगवलम्बनेनान्यत्रापि कल्पनाकार्य्या ॥

वर्षांके प्राजापत्यकर्के दुर होणे वाले जो उपपातक पाप तिनांविषे चांद्रायणादितीस ३० कहनें ॥ त्रैमासिकेष्विति त्रय३ महीनेंके व्रतांविषे गोमूत्र स्नान श्रादि कर्मकी वाहुल्यतासें करणा काठि नहै इसकर्के यथायोग्यताकों जाणकर्के चांद्रायण श्रादिव्रत त्रय ३ कहेहैं ॥ श्रोर एकमहीनेंके व्रतां विषे योगीश्वरनें एकहि चांद्रायण कहाहै सो करणा ॥ श्रोर धेनु श्रोर उपवास श्रोर जप इत्यादि प्रत्याम्नाय संपूर्ण चांद्रायणादि स्थानविषे त्रय गुणां जानणा । प्रकीर्णेति प्रकीर्ण नामकर्के जो पाप तिनांविषे एकएक पापके दूरकरणे वास्ते प्रायश्चित्तके श्रनुसार कर्के प्राजा पत्यव्रत करणा वा पादादिक जानणा ॥ श्रोर प्राजापत्यकी श्रावृत्ति विषे श्रर्थात् जिसजगा वहुत प्राजापत्य करणे होण तिसजगा चांद्रायण श्रादि कहाहै इसरस्तेके श्रनुसार कर्के होर स्थानविषे भी व्यवस्था जानणी ॥

जो फेर बृहस्पतिनें कहाहै ॥ जन्मतें लेकर जो कुछक पातक वा उपपातक है तिनांके दूर करणे विषे संख्या कर्के एकतें लेके १ ॥ ६० ताईं प्राजापत्य करणा ॥ १ ॥ सो परस्त्रीके संभोगके पाप बिषे दो वर्षतक व्रत करे एह गौतम जीके कहेहोए वचनतें दो वर्षके व्रतकी तुल्यताकों विषय करताहै ॥ तैसेंहि ३ त्रय महीनेके जो उपपातकके व्रत तिनकी आवृत्तिको क्या बहुत वार करणेकों विषय करताहै जो परस्त्रीका अभ्यास तिस विषे जानणा वा और फेर पातक नाम कर्के जो चांडालादि स्त्रीके विषे दो २ वार अभ्यास करणा तिसविषे जानणा वचन कहतेहैं तत्रेति इच्छा कर्के संभोग करे तां तिस पुरुषकों पापके दूर करणे वास्ते एक वर्षका प्राजापत्य व्रत कहाहै और इच्छातें विना परस्त्री विषे संभोगका अभ्यास होवे तिस पापके दूर करणे वास्ते दो चांद्रायण व्रत कहेहैं इति ॥ इसका तात्पर्य्य कहतेहैं सकृदिति एकवार इच्छा कर्के चांडालादि स्त्रीके संभोग विषे पापके दूर करणे वास्ते एक वर्षके प्राजापत्य कृच्छ्रके विधान होणेतें ॥ और बहुत वार अभ्यास विषे दो वर्षके तुल्य सठां प्राजापत्य व्रतांका विधान युक्तहै ॥ जो फेर सुमंतुऋषिनें कहाहै कि जो वारंवार इच्छा कर्के बहुत पाप कीयाहै सो एक वर्षके प्राजापत्य व्रत कर्के दूर होताहै परंतु महापातकतें विना ॥ १ ॥ सोभी उपपातक आदिके अभ्यास विषे जानणा ॥

यत्पुनर्बृहस्पतिनोक्तम् जन्मप्रभृतियत्किंचित्पातकंचोपपातकम् तावदावर्त्तयेत्कृच्छ्रंयावत्षष्टिगुणंभवेत् ॥ १ ॥ तद्द्वेपरदारइति गौतमोक्तद्वैवार्षिकसमानाविषयम् ॥ तथा त्रैमासिकादिविषयभूतोपपातकावृत्तिविषयं वा पातकपदाभिधेयेचांडालादिस्त्रीगमे द्विरभ्यासविषयंच ॥ तत्र ज्ञानात् कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयमिति सकृद्बुद्धिपूर्वगमे कृच्छ्राब्दविधानात् ॥ तदभ्यासे द्विवर्षतुल्यषष्टिकृच्छ्रविधानंयुक्तमेव । यत्तु सुमंतुनोक्तम् ॥ यदप्यसकृदभ्यस्तंबुद्धिपूर्वमघंमहत् तच्छुध्यत्यब्दकृच्छ्रेणमहतः पातकादृतइति ॥ १ ॥ तदप्युपपातकाद्यावृत्तिविषयम् ॥

थे.ति तैसे अज्ञानतें चांडाली गमनरूप पापकों करे तां दो चांद्रायण व्रत करे एह धर्मराजन कहे जो चांद्रायण व्रत दो २ तिनां करकें दूरकरी दे जो पातकतिनकी आवृत्ति विषे अथवा जानणा ॥ यइति जो पुरुष तप करणेविषे सामर्थ्यते रहित है और अन्नकरकें समृद्धहै सो कृच्छ्र आदि व्रतांनू उत्तम ब्राह्मणों तांई भोजनदानसें संपादन करे अर्थात् भोजनकों देवे॥ तैसें हारी स्मृतिका वाक्य है इस भोजनके प्रकार विषे कृच्छ्रइति प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत जो बारां दिनाका है तिसके एक एक दिनविषे पंच पंच विद्वान् ब्राह्मणांके तांई भोजनदेवे तिस पुरुषकों प्राजापत्य व्रतका फल होताहै तैसें अति कृच्छ्रके अर्थ एक एक दिन विषे पंदरां १५ ब्राह्मणांके तांई भोजन देवे और तृतीय जो कृच्छ्रातिकृच्छ्रहै तिस विषे तीस ३० ब्राह्मण और तप्त

तथाऽज्ञानादैन्दवद्वयमिति यमोक्तैन्दवद्वयविषयभूतपातकावृत्तिविषयं वा यस्तु तपस्यसमर्थो धान्यसमृद्धश्च सकृच्छ्रादिव्रतानि द्विजाग्र्येभ्योभोजन दानेन संपादयेत्। तथास्मृत्यंतरम्। कृच्छ्रेपंचातिकृच्छ्रेत्रिगुणमहरहस्त्रिंश देवतृतीये चत्वारिंशत्तप्तेत्रिगुणितगुणिताविंशतिःस्यात्पराके कृच्छ्रेसांता पनाख्येभवतिषडधिकाविंशतिः सैवहीना द्वाभ्यांचांद्रायणेस्यात्तपसिकृश वलोभोजयेद्विप्रमुख्यानिति ॥ १ ॥ अहरहरिति सर्वत्र संबंधर्नायम् ॥ तृती यःकृच्छ्रातिकृच्छ्रः त्रिगुणितेनएकेनगुणिताविंशतिःषष्टिः ॥ अत्र प्राजा पत्यदिवसकल्पनया षष्टिविद्वद्विप्राणांभोजनंभवति ॥ यत्तु चतुर्विंशतिम तेऽभिहितम् विप्राद्वादशवाभोज्यापावकेष्टिस्तथैवच अन्यावापावनीका चित्समान्याहुर्मनीषिणइति ॥ १ ॥

कृच्छ्र विषे चाली ४० और पराक कृच्छ्र विषे सठ ६० ब्राह्मण और सांतपन कृच्छ्र व्रत विषे छव्वी २६ ब्राह्मण और चांद्रायण व्रत विषे वाई २२ ब्राह्मण इस विधि करकें तप करणे विषे जेकर असमर्थ होवे तां भोजन देवे इति ॥ १ ॥ दिन दिन इस पदका संपूर्ण स्थानविषे संबंध करलेणा ॥ इस विषे प्राजापत्य व्रतके दिनांकी कल्पना करकें सठां बुद्धिमानां ब्राह्मणां तांई भोजन कहाहै ॥ जो फेर चतुर्विंशति मत विषे कहाहै कि बारां ब्राह्मणांके तांई भोजन देणा तैसे पावकेष्टि यज्ञकरणा अथवा को इक पावनीऽइष्टि करणी इनांकों बुद्धिमान् सम कहतेहैं इति अर्थात् इहां सभनोंका तुल्यहि फलहै ॥ १ ॥

एह जो प्राजापत्य व्रतके स्थान प्रत्याम्नाय वारां ब्राह्मणांकों भोजन कहाहै सो निर्धन पुरुषके विषे जानणा ॥ और जो चांद्रायण व्रतके प्रत्याम्नाय कर्के कहाहै कि चांद्रायण और मृगारेष्टिः और पावनेष्टि और मित्रविंदा और पशुयाग और मास त्रय कृच्छ्र व्रत ॥ १ ॥ और नित्य कर्म और नैमित्तिक और काम्य कर्म और पशु बंध इष्टि इनांके अभाव विषे क्या करणे विषे असामर्थ्यके होयां होयां इनों विषे जिस प्रत्याम्नाय करणे विषे सामर्थ्य होवे सोहि अनुष्ठाने करणे योग्यहै ॥ २ ॥ एहि अर्थ स्पष्ट कर्के किहाहै एतदिति ॥ सोभी चांद्रायण व्रत करणे विषे जो असमर्थ है तिसपुरुषनें मृगारेष्टि आदि विच्चों एक करणा चाहिये ॥ अब चतुर्थ पादका अर्थ कहतेहैं कृच्छ्रमिति इसका एह अर्थ है कि त्रय ३ प्राजापत्य

प्राजापत्यस्थाने द्वादश विप्राणां भोजनमुक्तं तन्निर्धनविषयम् ॥ यच्चां द्रायणस्यापि तत्रैव प्रत्याम्नायेनोक्तम् ॥ चांद्रायणंमृगारेष्टिः पावने ष्टिस्तथैवच ॥ मित्रविंदापशुश्चैवकृच्छ्रंमासत्रयंतथा १ ॥ नित्यनैमित्तिका नांचकाम्यानांचैवकर्मणां इष्टीनांपशुबंधानामभावेचवरः स्मृतइति ॥ २ ॥ एतदभावे कर्तुमशक्येवरोऽभीष्टः प्रत्याम्नायः कर्तुंशक्यएवानुष्ठेयइत्यर्थः तदपि चांद्रायणाशक्तस्य कृच्छ्रंमासत्रयं एकैकस्मिन्मासेएकैकंकृच्छ्रमित्य र्थः ॥ यत्तु कृच्छ्रंमासत्रयंतथेति कृच्छ्राष्टकंप्रत्याम्नातं तदतिजरठमूर्खवि षयम् ॥ चांद्रायणंत्रिभिःकृच्छ्रैरितिदार्शितत्वादलमतिप्रसंगेन । अपरार्के । अथातोऽनुग्रहान्वक्ष्येदुर्बलस्यात्मशालिनः ॥ यत्कृत्वामुच्यतेपापादुरगः कंचुकाद्यथा ॥ १ ॥

कृच्छ्र व्रत तीन महीनयां विषे एक एक महीने विषे एक एक व्रत करणा ॥ जो फेर किसेका मतहै कि कृच्छ्रंमासत्रयं इसका अर्थ प्राजापत्य व्रत त्रयमास तक जानणा तां तिनां तीन महीनयां विषे साढे सत्त ७॥ प्राजापत्यहै सो अतिशयकर्के वृद्ध और मूर्ख पुरुषकों कहतेहैं अर्थात् ऐसा कहण वाला मूर्ख है अर्थको नाह जानदा क्योंकि तीन प्राजापत्यव्रतांके करणे करके चांद्रायण व्रतका फलप्राप्त होताहै ऐसें दखाणेते ॥ इसमे बहुत प्रसंग करणेकर्के प्रयोजन नहि और मूलमे जो ८ कृच्छ्र कहेहैं सोइ महीनेतें ६ दिन अधिकको संभावनाते ॥ अब अपरार्क विषे कहतेहैं अथेति बलते रहित जो पुरुष और अपनी शुद्धिकी इच्छा वाला तिसकों उपाय कहताहां जिनां उपायांके करणे करके पुरुष पापांते रहित होताहै जैसे सर्प सबकुंजते रहित होताहै ॥ १ ॥

तिस विषे पराशरजी कहतेहैं कृच्छ्र इति कृच्छ्र प्राजापत्य और दश हजार १०००० गायत्रीका
जप और भोजन विना जलविषे दिन रात्र स्थित रहणा और ब्राह्मणके ताईं नवीनप्रसूत होई
होई गौकादान देणा एहचारे सम हैं अर्थात् इनमेसें कोईभी उपाय करे तौभी शुद्ध होजाताहै
॥ १ ॥ समिधा औरघृत और हविःऔर धान्य और तिल इनांमेसें किसे वस्तुकर्के गायत्री मंत्रसें
एक हजार बारां अधिक १०१२ आहुतियांदेवे और उपवास व्रतकी करे तां प्राजापत्य कृच्छ्रके
फलकों प्राप्तहोताहै बारांते अधिक जो सहस्र सो कहिये द्वादश सहस्र ॥ २ ॥ पाराशर जी
कहतेहैं ॥ कृच्छ्रइति प्राजापत्य और गायत्रीका दशहजार १०००० जप और दो सौ २००

पराशरः ॥ कृच्छ्रोयुतंतुगायत्र्याउपवासस्तथैवच ॥ धेनुप्रदानंविप्राय
सममेतच्चतुष्टयम् ॥ १ ॥ समिद्घृतंहविर्धान्यंतिलान्वामरुताशनः हुत्वा
द्वादशसाहस्रंगायत्र्याकृच्छ्रमाप्नुयात् २ ॥ द्वादशभिराधिकंसाहस्रंद्वादश
साहस्रम् ॥ पाराशरः ॥ कृच्छ्रोदेव्ययुतंचैवप्राणायामशतद्वयम् पुण्यतीर्थे
नार्द्रशिरःस्नानंद्वादशसंख्यया ॥ १ ॥ यत्त्वपरार्के ॥ द्वादशैवसहस्राणिज
पेद्देवीमुपोषितः जलांतेविधिवन्मौनीप्राजापत्योयमुच्यते इति ॥ १ ॥
जलांते जलसमीपे ॥ तथा तत्रैवचतुर्विंशतिमते अतिकृच्छ्रेपराकेचाशक्तः
प्राजापत्यत्रयं कुर्य्यात् कृच्छ्रेगोमिथुनमिति ॥

प्राणायाम और पुण्य तीर्थ विषे बारां बार १२ सहित शिरके स्नान करणा अर्थात् जलमे
निमग्न होकर स्नान करणा इह चारभी प्राजापत्य के सम हैं १ ॥ जो अपरार्क विषे कहाहै ॥
बारां हजार १२००० गायत्रीके जपकों उपवास व्रत कर्के जलके समीप विधि कर्के मौन
व्रतको धारके करे तां प्राजापत्य कहतेहैं ॥ १ ॥ तैसेंहि प्रसंग विषे चतुर्विंशति मत विषे
कहाहै अति कृच्छ्र व्रत विषे और पराक विषे जेकर असमर्थ होवे तां तिसका बदला त्रय
प्राजापत्यव्रत करे और कृच्छ्र व्रतविषे भी असमर्थ होवे तां तिसका बदला एक बलदके
सहित एक गौका दान करे ॥

अत्रेति इस विषेहि बारांहजार १२००० गायत्रीके जप विषे वदला एक गौ और एक बलद दानकरें एह गौतम आदिक ऋषियांकर्के कहा जो प्राजापत्य व्रत तिसविषे जानणा ॥ अथवा समर्थ पुरुषविषे जानणा ॥ तिसी स्थानमे एह वाक्यहै अन्नेति सुवर्णके साथ अन्नदेकर्के शुद्ध जो वेदपाठी वारां ब्राह्मण तिनांको तृप्त करे और आप निराहारव्रत करे सो ऐसा व्रत प्राजापत्य कृच्छ्र कहा है ॥ १ ॥ और भी कहाहै कि उपवासव्रत कर्के पीछे श्रद्धा कर्के युक्त होयाहोया धर्मतें वारां १२ वेदपाठी ब्राह्मणोंकेतांई तिलांके पात्रदेवे सो प्राजापत्यव्रतके सम फलकों प्राप्तहोताहै ॥ २ ॥ प्रायश्चित्तेंदु शेखरविषे विशेष कहाहै प्राजापत्यकृच्छ्रके स्थानविषे दश हजार१०००० गायत्रीकाजप प्रत्याम्नाय कहाहै अथवा समिदाघृत और हविःऔर धान्य एनांवि

अत्र द्वादशसहस्रगायत्रीजपे गोमिथुनंच गौतमाद्युक्तप्राजापत्यविषयं शक्तविषयंवा। तत्रैव। अन्नंदत्त्वाहिरण्येनद्वादशब्राह्मणान्शुचीन्। तर्पयेन्मारुताशीचश्रोत्रियान्कृच्छ्रउच्यते १ उपोष्यश्रद्धयायुक्तस्तिलपात्राणिधर्मतः द्वादशब्रह्मवादिभ्यःप्राजापत्येनतत्समम् ॥ २ ॥ प्रायश्चित्तेंदुशेखरेविशेषः गायत्र्ययुतजपोवा प्राजापत्यकृच्छ्रस्थानेप्रत्याम्नायः ॥ गायत्र्याद्वादशाधिकसहस्रसंख्याकः समिद्घृतहविर्धान्यानामन्यतमस्यहोमोवा। तिलहोमस्तुसाहस्रएवेतिकेचित्। घृताहुतिशतद्वयंवा वेदसंहितापारायणंवा प्राणायामशतद्वयंवा एकोपवासपूर्वकद्वादशतिलपात्रदानंवा तीर्थोद्देशेन योजनगमनंवा शिरःशोषणपूर्वकंद्वादशसांगस्नानानिवा प्राजापत्यमेवकृच्छ्रम् ॥

चोंकिसे वस्तुका हवन करे गायत्रीके मंत्र कर्के एक हजार और वारां अधिक १०१२ गिणती कर्के। केक ऋषि कहते हैं एक हजार १००० तिलांका हवन करे व्याहृतियां कर्के ॥ अथवा घृतकीयां दो सौ २००आहुतियां देवें अथवा सारीवेदसंहिताका पारायणवाचे। अथवा दो सौ२००प्राणायाम करे गायत्रीमंत्रकर्के। अथवा एक उपवास व्रतकर्के वारां १२ तिलांके पात्रांका दान करे ॥ अथवा तीर्थयात्राके निमित्त चारकोश अपणे चरणांकर्के यात्राकरे॥ शिरके साथ स्नान करे और फेर शिरकों सुकाके फेर शिरके साथ स्नान करे ऐसे वारां स्नान करे सो प्राजापत्य व्रत होताहै ॥

अब तिलांके पात्रका परिमाण कूर्म पुराण विषे कहाहै तिलेति तिलांके पात्रका परिमाण त्रयतरांका है एक कनिष्ठ दूसरा उत्तम तीसरा मध्यम तिसकों दिखाते हैं ताम्रेति तांमेका पात्र दश १० छटांकका कनिष्ट कहाहै और २० छटांकका मध्यम कहाहै और तीस ३० छटांकका उत्तम कहाहै इति ॥ १ ॥ कृच्छ्रका भेद कहतेहैं गोमूत्रेणेति गोमूत्र करके भिज्जे होये यवांको पीवे एह एकदिनका कृच्छ्र व्रत आप अंगिरस ऋषिने दखायाहै। १। तिसी प्रकार उपवासव्रतकों रखके घासके बारां १२ भारांकों आप थिरकर्के चुकलेआवे और गांयां केतांई देवे परंतु सो गौवां बहुत होण तां कृच्छ्र व्रतका फल प्राप्तहोताहै इसविषे संशय नहि है

तिलपात्रपरिमाणंतु कूर्मपुराणेउक्तम्। तिलपात्रंत्रिधाप्रोक्तंकनिष्ठोत्तममध्यमम् ताम्रपात्रंदशपलंजघन्यंपरिकीर्त्तितम् ॥ १ ॥ द्विगुणंमध्यमंप्रोक्तंत्रिगुणंचोत्तमंस्मृतमिति ॥ गोमूत्रेणसमायुक्तंयावकंचोपयोजयेत् कृच्छ्रमेकाहिकंप्रोक्तंदृष्टमंगिरसास्वयम् १ ॥ तथा ॥ स्वयमाहृत्ययोमूर्ध्ना तृणभारानुपोषितः दद्याद्गोमंडलेकृच्छ्रंद्वादशैवनसंशयः २ ॥ प्राणायामशतंकृत्वाद्वात्रिंशोत्तरमार्त्तिषु अहोरात्रोषितस्तिष्ठत्प्राङ्मुखःकृच्छ्रउच्यते ॥ ३ ॥ नमस्कारसहस्राणिद्वादशैवदृढव्रतः ॥ गोविप्रपितृदेवेषुकुर्यात्कृच्छ्रत्रयंभवेत् ४ ॥ वशिष्ठः ॥ अपिचेच्चरितंकर्तुंदिवसंमारुताशनः । रात्रौस्थित्वाजलेव्युष्टः प्राजापत्येनतत्सममिति ॥ १ ॥

२ ॥ प्राणेति रोग आदि कर्के पीडाके होयां १ एक सौ बत्ती १३२ प्राणायामकोंकर्के दिनरात्र उपवास व्रतकों करे और पूर्व मुख कर्के स्थित होवे तां प्राजापत्य कृच्छ्रका फल होताहै ॥ ३ ॥ नमस्कारेति ॥ व्रतविषे दृढ व्रत होकर जो पुरुष गौ और ब्राह्मण और पितर और देवता इनांकों बारांहजार नमस्कार करे तां त्रय कृच्छ्र व्रतोंका फल तिसकों होताहै ॥ ४ ॥ अब वशिष्ठजी कहतेहैं ॥ निश्चय कर्के जेकर व्रत करणे मे स्थित होवे तां दिने वायु भक्षण करे और रात्रिविषे जल विषे स्थितहोवे और व्युष्टः क्या प्रातः कालविषे बाहर होवे असे एक दिनका व्रत प्राजापत्य व्रतके तुल्य होताहै ॥ १ ॥

इसतें उपरंत प्राजापत्य कृच्छ्र का समुद्र विषे प्राप्त होणे वालीयां नदीयां विषे जो स्नान करणा है सो प्रत्याम्नायकहाहै ॥ इसविषे देवलऋषिका वचनहै एह समुद्र विषे जाणे वालीयां नदीयां हैं भागीरथी गंगा १ यमुना २ नर्मदा ३ सरस्वती ४ गोदावरी ५ कृष्णवेणी ६ तुंगभद्रा ७ पिनाकिनी ८ (१) वलापहारी ९ भीमरथी १० वंजुला ११ भवनाशिनी १२ अखंडा १० कावेरी १४ ताम्रपर्णी १५ महानदी १६ (२) धनुःकोटी १७ प्रयाग १८ गंगासागरसंगम १९ एह पुण्य नदीयां हैं जिनांके दर्शन सें मनुष्योंके पाप नाशकों प्राप्त होतेहैं और स्पर्श करणेतें मोक्षकों देतीयां हैं और स्नान करणे तें मुक्ति कों देतीयांहैं ॥ ३ ॥ और जो सदावीस २० योजनतक

अथ प्राजापत्य कृच्छ्रस्य समुद्रगनदीस्नानं प्रत्याम्नायः ॥ देवलः। समुद्र गनद्यः ॥भागीरथीचयमुनानर्मदाचसरस्वती गोदावरी कृष्णवेणी तुंगभ द्रापिनाकिनी ॥ १ ॥ वलापहारीभीमरथी वंजुलाभवनाशिनी अखंडाचै वकावेरीताम्रपर्णीमहानदी ॥ २ ॥ धनुःकोटिः प्रयागंचगंगासागरसंगमः ताएताः पुण्यनद्यस्तुदर्शनात्पापनाशनाः ॥ स्पर्शनान्मोक्षदान्दणांस्नाना न्मुक्तिप्रदायिकाः ॥ ३ ॥ सदाविंशद्योजनगा महानदी समुद्रगाच। एता सुस्नानमात्रेण मनुजः पूतोभवति प्राजापत्यकृच्छ्राचरणेऽसमर्थस्य तत्प्र त्याम्नायेगोदानाचरणेचाशक्तस्य नदीस्नानरूपमेव कलौयुगेसमीचीनम्। अतोनदीस्नानमेववर्ययंब्रूमः ॥ गंगायांमौशलंस्नानंप्राजापत्यसमंविदुरि तिभविष्योत्तरोक्तत्वात् गंगास्नानं विशुद्धिदमिति ॥

नगदी है अथवा समुद्र विषे प्राप्तहोती है सो महानदी कहीहै इनां विषे स्नान करणे कर्के मनुष्य पवित्र होताहै एही अर्थ विशद कर्के कहीदाहै ॥ प्राजापत्य कृच्छ्रके करणे विषे असमर्थ जो पुरुष है तिसकों गौका दान करणा एह प्रत्याम्नाय हैं तिसके करणे विषे भी जो असमर्थ है तिसकों कलि युगाविषे नदीका स्नान रूप हि प्रत्याम्नाय युक्तहै इस कारणतें नदी स्नानकों हि असी कहतेहां गंगाविषे मुसलकी न्यांई जो स्नानहै तिसका प्राजापत्यके तुल्य कहतेहैं ॥ एह भविष्योत्तर पुराण विषे कहणेतें ॥ और गंगा स्नान शुद्धिके देणे वाला है एभी वचन है ॥

पंच प्रकारकी गंगा स्कंदपुराण विषे कहीहै भागीति भागीरथी और गौतमी और कृष्णवेणी और पिनाकिनी और अखंडा कावेरी एह पंच गंगा कहीयांहैं होर जो समुद्र विषे प्राप्तहोण वालेयां नदीयां सो पुरुषांके पापांके दूर करणे वालीयां कहीयां हैं ॥ १ ॥ जो पुरुष इनांविषे स्नानवास्ते यात्रा करतेहैं तिनांके पाप निश्चयकर्के दूर होतेहैं ॥ और तिनां नदीयांकों जो यात्रा करतेहैं तिनां विषे भिन्न फलकों गौत्तम ऋषि कहताहै स्वग्रामेति अपणे ग्रामके समीप जो नदीहै जो होर योजनमात्र विषे क्या चौंहकोंहां विषे नदी है तिस विषे स्नान करणे वास्ते अथवा दर्शन वास्ते जो प्राप्त होताहै तिस पुरुषकों इतना फल होताहै जितनयां योजनांकी यात्रा होवे अर्थात् दर्शनते स्नानका स्वल्प फल और स्नानतें जितने योजन दूर होण तितनें

पंचविधागंगास्कंदपुराणे। भागीरथीगौत्तमीचकृष्णवेणीपिनाकिनी अखंडाचैवकावेरीपंचगंगाःप्रकीर्तिताः ॥ १ ॥ अन्याः समुद्रगानद्योनृणांपापहारिण्यः ॥ एतासु महानदीषुयात्नृणा मवश्यं पापनाशोभवति । एताः प्रतियात्नृणांपृथक्फलमाहगौत्तमः ॥ स्वग्रामस्यचयासिंधुर्यान्यायोजनमात्रगा तामुद्दिश्ययदागंतुःस्नानार्थंदर्शनायवा ॥ यावंतियोजनानीह फलंतावल्लभेत्तुसः ॥ १ ॥ परार्थंयोऽनुगच्छेद्वास्नानमात्रंफलंलभेत् मूल्यं गृहीत्वायोगच्छेन्नतस्योभयमस्तिहि ॥ २ ॥ विष्णुपादोद्भवागंगादशकृच्छ्रफलप्रदा यमुनाचतथान्नृणामष्टकृच्छ्रफलप्रदा ॥ ३ ॥

कृच्छ्रोंका फल होताहै तांते एकयोजन पर जाणे वालेको एककृच्छ्रका फलहोवेगा ॥ १ ॥ पर पुरुषके अर्थ वास्ते जो पुरुष स्नान करणे जाताहै तिसकों स्नान मात्रका फल प्राप्त होताहै अर्थात् यात्राका फल जो प्रतियोजन वृद्धिसे प्राजापत्यकी तुल्य ताको देणे वालाहै सो तिसीको हुंदाहै जिसने उसको भेजयाथा और अल्प फल जाणेवाले को भीहै और मुल्लकों ग्रहणकरके जाताहै तिसकों न जाणेका फल न स्नानका फल प्राप्त होताहै ॥ २ ॥ विष्णुवति विष्णुके चरणांतें उत्पन्न होई जो गंगा सो स्नानकरणेतें दश १० कृच्छ्रव्रतके फलकों देतीहै तिसी प्रकार यमुना स्नानतें पुरुषांकों अष्ठ ८ कृच्छ्र व्रतके फल कों देतीहै ३ ॥

और गौतमी और कृष्णवेणी स्नान करणेते नौ९ कृच्छ्र व्रतके फलकों देतीहै और दाक्षायणी और कावेरी अठ ८ कृच्छ्र व्रतके फलकों देणे वालीहै ॥ ४ ॥ और तुंगभद्रा भीमरथी पुरु षांकों सप्त ७ कृच्छ्र फलके देणेवालीयां हैं और वंजुला भवनाशी स्नानतें छे ६ जो कृच्छ्र व्रत तिनके फलकों देणे वालीयांहैं ॥ ५ ॥ और फाल्गुणी और ताम्रपर्णी पंचकृच्छ्र फलके देणेवालीहैं चापाग्र जो धनुःकोटीहै तिसविषे स्नानमात्र कर्के अठां ८ कृच्छ्रांका फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ श्रीशैलविषे और संगमविषे अर्थात् श्रीशैलमेजो पूर्वोक्त नदीयांका संगमहै तिस विषे और गंगासागरके संगमविषे स्नान करे वीस २० कृच्छ्र व्रतके फलकों प्राप्त होताहै इस कारणतें नदीयां वडीयां पवित्रहें ॥ ७ ॥ प्राजापत्य कृच्छ्रका

गौतमीकृष्णवेणीचनवकृच्छ्रफलप्रदा दाक्षायणीचकावेरीह्यष्टकृच्छ्रफल प्रदा ॥ ४ ॥ तुंगभद्राभीमरथीसप्तकृच्छ्रफलप्रदा वंजुलाभवनाशीचषट् कृच्छ्रफलप्रदा ॥ ५ ॥ फाल्गुणीताम्रपर्णीविपंचकृच्छ्रफलप्रदा चापाग्रेस्नान मात्रेणह्यष्टकृच्छ्रफलप्रदम् ॥ ६ ॥ श्रीशैलेसंगमेचैवगंगासागरसंगमे विंश कृच्छ्रफलंस्नानमतोनद्यश्चपावनाः ॥ ७ ॥ प्राजापत्याम्नायनदीस्नानप्रकार माह सएव पूर्ववत्पुण्याहवाचनसंकल्पादिकमृत्विजश्चकृत्वा नदीस्नाना भिमुखोभूयात् नदींगत्वा कर्त्ता पूर्ववत्स्नात्वागंधपुष्पाक्षतैरभ्यर्च्य मयाप रिषत्संनिधौसंकल्पितस्यसर्वप्रायश्चित्तस्यसमग्रफलावाप्त्यर्थं परिषन्निर्णी तंप्राजापत्यकृच्छ्रप्रत्याम्नायभूतमब्दादिसंख्यया अहं ब्राह्मणैर्वा महानदी स्नानरूपमाचरिष्ये इतिसंकल्प्य ब्राह्मणान्प्रेषयेत् ॥

प्रत्याम्नाय जो नदीस्नान तिस का प्रकार गौतमही कहताहै पूर्वकीन्यांई पवित्र दिनविषे संकल्प कों करके ऋत्विजांकों साथ लेकर नदीविषे स्नानके वास्ते प्राप्तहोवे नदीकों प्राप्तहोकर पूर्वकी न्यांई स्नानकर्के गंध और पुष्प और अक्षतोंकर्के ऋत्विजांकों पूजके संकल्प करे कि मैंनें सभा के समीप विषे संकल्प कीयाजो पूर्ण प्रायश्चित्त तिसके संपूर्ण फलकी प्राप्तिवास्ते सभा विषे निश्चय कीयाजो प्राजापत्य कृच्छ्रका प्रत्याम्नायरूप वर्षआदिकी संख्याकर्के तिसके अर्थमें महानदी विषे स्नानकों करताहां अथवा ब्राह्मणा द्वारा कर्त्ताहां ऐसेसंकल्पकर्के ब्राह्मणांकोंभेजे।

श्रौर ऋत्विज जो हैं यजमानके गोत्र श्रौर नक्षत्र श्रौर राशि श्रौर शाखा श्रौर नामका उच्चारणकर्के इस यजमानने अमुक गोत्रनें अमुक राशिविषे उत्पन्न होवे होयेनें अमुक शाखा ध्यायी नें अमुक नाम वालेने सभाके समीप विषे संकल्प कीया जो संपूर्ण प्रायश्चित्त तिसको सभा विषे निर्णीत जो कीयाहूया प्राजापत्य कृच्छ्रका प्रत्याम्नाय जो महा नदीयां विषे स्नान तिनां नूं मुशलकीन्याईं सहित शिरके असीं करतेहां ऐसे ऋत्विज संकल्प कर के महा नदी विषे नदी वल मुख कर्के मंत्रांतें रहित मूसलेकी न्याईं सहित शिरके स्नान को करके फेर तटकों प्राप्त होकें दो वार आचमन करे श्रौर शुद्ध वस्त्रको धार कर्के शुद्ध वस्त्रके न होयां होयां तिसी वस्त्रको बारां वार छंडके धारे श्रौर दो वार आच

ऋत्विजस्तुयजमानगोत्रनक्षत्रराशिशाखानामधेयानि समुच्चार्य्य एतनय जमानेनामुकगोत्रेणामुकराशौजातेनामुकशाखाध्यायिनामुकनामधेयेनप रिषत्संनिधौसंकल्पितस्यसर्वप्रायश्चित्तस्यपरिषन्निर्णीतस्यप्राजापत्यकृच्छ्र प्रत्याम्नायपरिकल्पितानि महानदीस्नानानि मौशल्यवदाचरिष्यामः ॥ इतिसंकल्प्य महानद्यां नदीमुखा स्तन्मंत्रवर्जमौशलमज्जनवत्स्नानं कृत्वा तटमागत्य पुनर्द्विराचम्यधौतवस्त्रं परिधाय तदभावेद्वादशसंख्य या वस्त्रावधूननंकृत्वा परिधायद्विराचम्य पूर्ववत् स्नायुः । एवंसंकल्पि ताब्दादिसंख्या भवति तदा यजमानः स्नातृभ्य ऋत्विग्भ्योनिष्कंवा तद र्धंवापादंस्नानफलस्वीकारार्थंदद्यात् निष्कशब्दोदेवमानेन वराहद्वयम् ऋषिमानेन तदर्द्धम् मानुषमानेनापितदेवग्राह्यम् प्रभूणामुत्तमप्रकारमेव समर्थस्य मध्यममाकिंचनस्य तदर्द्धं सुवर्णप्रमाणम् ।

मन करे फेर पूर्वकी न्याईं स्नानकरे ऐसें संकल्प कीयाजो व्रतके अर्थ वर्षादि काल तिसकी संख्या होतीहै अर्थात् जितने वर्षोका व्रतहै तितने दिनांके स्नान पूरे करणेहैं तिसवास्ते एक एक दिनाविषे वहुत स्नान कीते चाहिए अपनी शक्तिकी अनुसार रोज रोज १० वा २० आदि कर्के संख्या पूरी होगी ॥ तद यजमान जो हैं स्नान करणे वाले जो ऋत्विज् तिनां तांई स्नानके फलकी प्राप्ति वास्ते निष्क देवे निष्कका अर्द्ध देवे वा चौथाहिस्सा देवे निष्क शब्द देवमान कर्केदो २ वराहका अर्थात् १८ मासे स्वर्णकाहै ॥ ऋषियांके मानकर्के अर्द्ध कहाहै मानुषके मानकर्के सोहीवराहग्रहण करणा व्यवस्था कहतेहैं प्रतिराजालोकोंको उत्तम प्रकारहै श्रौर समर्थ क्या धनवालेकों मध्यम प्रमाण सुवर्णकानिष्क कहाहै श्रौर इससे अद्यानिधनकों कहाहै

गौतम जी का वाक्य है ॥ गंगा विषें मूसलेकी न्यांई जो सहित शिरके स्नानहै तिसको प्राजापत्य व्रत के सम कहतेहैं एह वाक्य पंजप्रकारकी गंगाके स्नानविषें जानणा इतरेति ॥ इतर जो समुद्रविषें प्राप्त होवे वालियां नदियां तिनांविषें स्नानका संकल्प भिन्न भिन्न करणा और कूल्लां विषें और तलाय विषें और पुष्करिणी क्या तलाईआं इनां विषें भिन्न संकल्प करणा ॥ और खंडानुवाक ऋचांका पठन करणा और सूर्यके सन्मुख स्थित होकर शुद्धि तें पीछें प्राप्तहोके शुद्ध वस्त्रको धारके और एक सौ अठ १०८ वार गायत्रीके जप करणे करके प्राजापत्य रूप व्रत होताहै ॥ अत्रेति ॥ इसी प्रसंग विषे स्मृति संग्रह और स्मृत्य र्थसार आदि शास्त्र विषे कहा जो प्रकार तिसके अनुसार प्रकार दखाईदाहै ब्रह्महत्याको प्रसंग

गौत्तमः ॥ गंगायांमैःसलंस्नानंप्राजापत्यसमंविदुः एतत्पंचगंगास्नानविषयम् ॥ इतरासु समुद्रगनदीषु प्रतिस्नानं संकल्पः कुल्यायां तटाकपुष्करिण्यादिषुच पृथक्संकल्पःखंडानुवाकपठनंच। सूर्य्याभिमुखःसंमार्जनानंतरं गत्वा धौतवस्त्रादिकं धृत्वाष्टोत्तरशतंगायत्रीं जप्त्वा कृच्छ्रात्मकंभवति ॥ अत्र स्मृतिसंग्रहस्मृत्यर्थसाराद्युक्तप्रकारानुसारीप्रकारःप्रदर्श्यते ब्रह्महत्यामुपक्रम्यभविष्यत्पुराणे॥विंध्यादुत्तरतोयस्यनिवासःपरिकीर्त्तितः पराशरमतंतस्यसेतुबंधनिदर्शनमितिविंध्योत्तरवर्त्तिनमुक्त्वातत्रैव चतुर्विद्योपपन्नस्तुविधिवद्ब्रह्मघातके समुद्रसेतुगमनंप्रायश्चित्तंविनिर्दिशेत् ॥ १ ॥ स्मृत्यर्थसारे तत्रसंकल्पपूर्वकं पद्भ्यां षष्टियोजनागतस्य भागीरथ्यां स्नानं षडब्दकृच्छ्रसमम् ॥

विषे ल्याके। भविष्यत्पुराणविषे कहाहै विंध्येति विंध्याचल पर्वतते उत्तर पासे निवास करणेवाला जो पुरुषहै तिसको पराशर जीके मतके अनुसार करके ब्रह्महत्या पाप के दूर करणे निमित्त सेतुबंध रामेश्वरका दर्शन कहाहै ॥ १ ॥ ऐसे विंध्याचलके उत्तर वर्त्ति पुरुषके प्रायश्चित्तको कथन करके तिसीविषे वाक्यहै चार विद्याविषे युक्त जो पुरुषहै सो ब्राह्मणके वधकरणे वाले विषे वि. धि करके समुद्र सेतुके दर्शन वास्ते यात्राको कहे एहि पापके दूरकरणेके निमित्त प्रायश्चित्तहै ॥ १ ॥ और स्मृत्यर्थ सारविषे कहाहै कि पूर्वसंकल्प को करके चरणां करके सठ ६० योजनां की यात्रा करके गंगा विषें जो स्नानहै सो छे वर्षके ६ प्राजापत्य कृच्छ्र के तुल्य है

अथेति इहां यात्राविषे जैसें योजनोंकी वृद्धि है योजन चारकोशका नाम है तैसे हि कृच्छ्र व्रतकी
वृद्धि कल्पना करणें योग्यहै ॥ और एक योजनकी यात्राकों लेके नदीके स्नान वास्ते आयाजो
पुरुष तिसकों रस्ते विषे पर्वतादिका व्यवधान होवे तां त्रय३ कृच्छ्र व्रतांका फल प्राप्त होताहै
और तीसरा हिस्सा अधिक एक कोशकी यात्राको करके भागीरथी गंगा विषे विधि कर्के स्ना
नकरे तां एक कृच्छ्र व्रतका फल प्राप्त होताहै । और सठ ६० योजनकी यात्राकों करके प्रयाग
विषे क्या तीर्थ राज विषे विधि कर्के जो स्नान करताहै सो पुरुष वारां वर्ष पर्यंत जो कृच्छ्र
व्रत करणाहै तिसके तुल्य फलकों प्राप्त होताहै । ऐसे गंगाद्वार जो हरिद्वारहै तिस विषे और
गंगासागर संगम विषे जानणा । और गंगाके स्नान वास्ते सठ योजनतें जो आयाहै तिसकों

अत्र यात्रायांयोजनवृद्धौ कृच्छ्रवृद्धिःपरिकल्पनीया ॥ एकयोजनागतस्यम
ध्ये पर्वतादिव्यवधाने कृच्छ्रत्रयम् ॥ तृतीयांशाधिकक्रोशादागतस्य भागी
रथ्यां विध्युक्तस्नानमेककृच्छ्रः ॥ षष्टियोजनादागतस्य प्रयागस्नानं द्वाद
शाब्दकृच्छ्रसमम् ॥ गंगाद्वारे गंगासागरसंगमेचैवम् ॥ गंगास्नानार्थंष
ष्टियोजनादागतस्य षडब्दत्वाद्दशयोजनागतस्याब्दप्रायश्चित्तं भवतीत्या
दिकमूहनीयम् ॥ वाराणस्यामगणितं फलं यतोवाराणस्यां पातकं न
प्रविशति विंशतियोजनागतस्ययामुनंस्नानं द्व्यब्दकृच्छ्रतुल्यम् ॥ तदेवम
थुरायांद्विगुणम् ॥ चत्वारिंशद्योजनागतस्य सरस्वतीमज्जनंचतुरब्दकृच्छ्र
तुल्यम् ॥ प्रभासेद्वारवत्यांचाद्विगुणम् । यमुनासरस्वत्योर्यात्रायोजनवृद्धौ
पादकृच्छ्रवृद्धिःपरिकल्पनीया

छे६ वर्षके कृच्छ्र व्रतका फल प्राप्त होताहै इसीहिसाबसे जो गंगाके स्नान वास्ते दश योजनते आया
है तिसको एक वर्षके कृच्छ्र व्रतका फल प्राप्त होताहै इत्यादिक जानलेणा ॥ और काशी विषे
अगणित फल है क्योंकि तिसविषे पापका प्रवेश नहिहोता ॥ और वीस२० योजनतें जो यमु
नाकों प्राप्त होयाहै स्नानवास्ते तिसको दोवर्षके कृच्छ्रव्रतका फल होताहै । और यमुनातें मथु
रा विषे दूणा फल जानणा । और सरस्वतीविषे स्नान वास्ते चाली ४०योजनतें जो आयाहै
तिसकों चारवर्षके कृच्छ्र व्रतका फल प्राप्त होताहै ॥ और प्रभासविषे और द्वारकाविषे सरस्व
तीतें दूणा फल जानणा । और यमुनाते सरस्वतीके स्नान विषे जैसे जैसे यात्रा विषे योजन
अधिक होवे तैसे तैसे पाद कृच्छ्र व्रतकी वृद्धि कल्पना करणी ॥

दृषेति दृषद्वती और शतद्रु और विपाशा वितस्ता शरावती मरुद्वधा असिक्री मधुमती पयस्विनी घृतवती आदिक देवनदीयां विषे त्रिंशत् ३० योजनकी यात्रा कर्के जो स्नानहै सो वर्षके कृच्छ्र व्रतके तुल्यहै ॥ और पंदरां १५ योजनांकी यात्राकर्के जो स्नानहै सो पंदरां १५ प्राजापत्यके तुल्यहै । चंद्रभागेति चंद्रभागा वेत्रवती सरयू गोमती देविका कौशिकी नित्यजला मंदाकिनी सहस्रका पौनः पुन्या पूर्णपुण्या वाहुदा गंडकी वारुणी आदिक देवनदीयां विषे वारां १२ योजनोंकी यात्राकर्के जो स्नानहै सो सोलां १६ कृच्छ्रके तुल्यहै और पंदरां योजनांकी यात्रा कर्के इनां महानदीयांके आपस विषे संगम विषे जो स्नानहै सो पूर्वतें त्रय गुणा अधिक फलहै और होर जो समुद्र विषे प्राप्त होणे वालीयां नदीयां हैं तिनां विषे वारां १२ योजनकी यात्रा कर्के जो स्नान कर्ताहै तिसकों छे ६ प्राजापत्यका फल होताहै ॥ और

दृषद्वतीशतद्रुविपाशावितस्ताशरावतीमरुद्वधाअसिक्नीमधुमतीपयस्विनी घृतवत्यादि देवनदीषु स्नानं त्रिंशद्योजनागतस्याब्दकृच्छ्रसमम् ॥ पंचदशयोजनागतस्य मज्जनं पंचदशकृच्छ्रसमम्॥चंद्रभागावेत्रवतीसरयू गोमती देविका कौशिकी नित्यजला मंदाकिनी सहस्रका पौनःपुन्या पूर्णपुण्या वाहुदा गंडकी वारुण्यादि देवनदीषु द्वादशयोजनागतस्य स्नानं षोडशकृच्छ्रसमम् ॥ पंचदशयोजनागतस्य एतासु महानदीष्वन्योन्यसंगमे त्रिगुणम् ॥ अन्यासु समुद्रगासु द्वादशयोजनागतस्य कृच्छ्रषट्कतुल्यम् अनुक्तस्थलेषुयात्रायोजनसंख्यया कृच्छ्रसंख्या ज्ञेया नदेषु नद्यर्द्धं महानदेषुमहानद्यर्द्धं फलं विज्ञेयम् शोणाख्यमहानदे गंगार्द्धफलम् पुष्करेप्रयागसमम्

अनुक्तेति नहि कहे जो तीर्थ और क्षेत्र आदिस्थान तिनांकी यात्रा विषे योजनांकी संख्या कर्के प्राजापत्यकृच्छ्र व्रतांकी संख्या जानणी और नदोंविषें स्नानका फल नदीसे अद्दा जानणा और महानदां विषें स्नानका फल महानदी के स्नानतें अद्धा जानणा ॥ और शोण नाम कर्के जो महानद तिस विषे स्नानका फल गंगाजीके स्नानतें अद्धाजानणा और पुष्कर विषे स्नानका जो फल है सो प्रयागके तुल्य जानणा।

योजनकी यात्रा कर्के नर्मदा विषे जो स्नानहै तिसका
चतुरिति चब्बी २४ योजनकी यात्रा कर्के नर्मदा विषे जो स्नानहै तिसका फल अर्द्ध
फल चब्बी २४ कृच्छ्रके तुल्य जानणा और पूर्णा नदी विषे स्नानका फल अर्द्ध
योजनकी यात्रा विषे एक कृच्छ्र होता है और कृष्णवेणी और तुंगभद्रा विषे एक
योजनकी यात्रा विषे कृच्छ्र व्रतका फल जानणा और पंपासरोवर विषे स्नान करणेतें एकयो
जनकी यात्रा विषे दो २ कृच्छ्रांका फलजानणा और हरिहर तीर्थ विषे स्नानका फल एक
एकयोजनके प्रति तीन ३ कृच्छ्रांका फल जानणा और कुब्जिकासंगम विषे योजन प्रति दो २ कृ
कृच्छ्रजानणे और शुक्रतीर्थ विषे एकयोजन प्रति चार ४ कृच्छ्रांका फल जानणा और
तापीविषे दश योजनयात्रासें स्नानका फल दश १० कृच्छ्रके तुल्य जानणा और पयो
ष्णीविषे स्नानका फल अष्ठ ८ योजनकी यात्रा विषे अष्ठ कृच्छ्र जानणे तिस तिस संगमविषे

चतुर्विंशतियोजनागतस्य नर्मदावगहनं चतुर्विंशतिकृच्छ्रतुल्यम् पूर्णायांयो
जनार्द्धे कृच्छ्रः कृष्णवेणीतुंगभद्रयोः प्रतियोजनंकृच्छ्रसमम् पंपायांत्रिगुणम्
हरिहरेत्रिगुणम् कुब्जिकासंगमेत्रिगुणम् शुक्रतीर्थे चतुर्गुणम् ताप्यां
दशयोजनागतस्य दशकृच्छ्रसमम् पयोष्ण्यामष्ठयोजनागतस्याष्टकृच्छ्र
समम् तत्रतत्रसंगमेत्रिगुणम् गोदावर्य्यां षष्टियोजनागतस्य त्र्यब्दसमम्
त्रिंशद्योजनागतस्यैकाब्दम् ॥ सुतीर्थेषुप्रतिलोमानुलोमस्नानं षष्टिकृच्छ्र
समम् वंजरासंगमे प्रयागेद्विगुणम् सप्तगोदावरीभीमेश्वरेत्रिगुणम् कुश
तर्पणेवंजरायां द्वादशयोजनागतस्य द्वादशकृच्छ्रसमम् गोदावर्य्यां वि
श्लेषे समुद्रांतंषड्गुणम् ॥ प्रणीतायांचतुः कृच्छ्रसमम्

योजनकी यात्रा विषे तीन ३ वर्षांके प्राजापत्य
व्रीणा फल जानणा और गोदावरीविषे सठ ६० योजनकी यात्रा विषे तीन ३ वर्षांके प्राजापत्य
का फल होताहै और तीस ३० योजनकीयात्रा कर्के एक वर्षके कृच्छ्रका फल होताहै
और सुतीर्थों विषे यात्रा कर्के और यात्राकी निवृत्तिकर्केअर्थात् जांदीवार और आउंदीवार मध्यवर्ती
थंके स्नान विषे स्नानका फल सठां ६० कृच्छ्रांके तुल्य जानणा और वंजरासंगम प्रयाग विषे
दूणा फल जानणा और सप्तगोदावरी भीमेश्वर विषे स्नानका त्रयगुणां फल अधिक जानणा
और कुशतर्पण वंजराविषे बारां १२ योजनकी यात्रा कर्के स्नानका फल बारां १२ कृच्छ्रके तुल्य
जानणा और गोदावरी विश्लेष विषे समुद्रपर्यंत स्नानविषे योजन प्रति छे ६ गुणा फल
जानणा और प्रणीताविषें एक योजनकी यात्रा विषे चार ४ कृच्छ्रका फल जानणा

तुंगेति और तुंगभद्राविषें बीस २० योजनकी यात्रा कर्के स्नानका फल बीस २० कृच्छ्रके तुल्य होताहै और मलापहारिणी विषे अष्ट ८ योजनकी यात्राका फल अष्ट ८ प्राजापत्य कृच्छ्रके तुल्यहै और निवृत्ति विषे छे ६ योजनकी यात्रा कर्के छे ६ कृच्छ्रका फल होताहै और गोदावरी विषे एक एक योजनकी वृद्धि विषे पादकृच्छ्र जानणा और सिंहराशि विषे सूर्यके स्थित होयां होयां संपूर्ण तीर्थविषें स्नानका फल गंगा स्नानके तुल्य जानणे योग्यहै कन्या राशिविषे वृहस्पतिके स्थित होयां होयां कृष्णवेणी और मलापहारिणीके संगमविषे जो स्नानका फल है सो सदा गंगा स्नानतें अर्द्ध जानणा ॥ और तुलराशिविषे सूर्यके स्थित होयांहोयां तुंगभद्रा विषे स्नानका फल गंगाके स्नानतें अर्द्ध जानणा ॥ और कर्क राशिविषे सूर्यके स्थितहोयां कृष्णवेणी और मलापहारिणीके संगम विषे असे प्रयागविषे तीस ३० योजनकी यात्राकर्के

तुंगभद्रायांविंशतियोजनागतस्य विंशतिकृच्छ्रसमम् मलापहारिण्याम ष्टयोजनागतस्याष्टकृच्छ्रसमम् निवृत्त्यां षड् योजनागतस्य षट्कृच्छ्रसमम् गोदावर्य्यां यात्रायोजनवृद्धौयोजनेपादकृच्छ्रः सिंहस्थेरवौसर्वत्रजान्हवी समम् कन्यास्थेगुरौ कृष्णवेण्यांमलापहारिणीसंगमे सर्वत्र जाह्नव्यर्द्धम् ॥ तुंगभद्रायां तुलास्थेरवौजान्हव्यर्द्धम् ॥ कर्कटे कृष्णवेलायांमलापहारिणी संगमेप्रयागे त्रिंशद्योजनागतस्य त्रिंशत्कृच्छ्रसमम् ब्रह्मेश्वरेपंचगुणम् भी मरथ्याःसंगमे प्रयागे द्विगुणम् ॥ निवृत्तिसंगमे चतुर्गुणम् ॥ पाताल गंगायां मल्लिकार्जुनेचषड्गुणम् ॥ ततः पूर्वे षष्टिकृच्छ्रसमम् ॥ लिंगालये द्विगुणम् ॥ समुद्रगमनेचैवम् ॥ अत्र सर्वत्र त्रिंशद्योजनागतस्येतिसंबंधः ॥ दशयोजनागतस्य कावेर्य्यां महानद्यां पंचदशकृच्छ्रसमम् ॥

प्राप्त होया जो पुरुष तिसकों स्नानकाफल तीस ३० कृच्छ्रके तुल्य जानणा ॥ भीमेति और भीमरथीके संगम रूप प्रयागविषे एक एक योजनप्रति दूणा फल जानणा ॥ और निवृत्ति संगम विषे पूर्वोक्त चार ४ गुणां फल जानणा ॥ और ब्रह्मेश्वर विषे पंच ५ गुणां अधिकपूर्वोक्त फल एकएक योजनविषें जानणा । और पाताल गंगाविषे और मल्लिकार्जुनविषे योजनप्रति छे ६ गुणा अधिक फल जानणा तिस पूर्वतीर्थ विषे सठां ६० कृच्छ्रांके तुल्य जानणा । और लिंगालय तीर्थ विषे दो २ गुणां अधिक कृच्छ्र जानणा । और समुद्रयात्राविषे भी दूणा फल जानणा इहां संपूर्ण स्थानांविषेतीस ३० योजनकी यात्राका संबंध कर लेणा ॥ और कावेरी महानदीविषे दश १० योजनकी यात्राकर्के प्राप्त होया जो पुरुष तिसको पंदरां १५ कृच्छ्रके तुल्य स्नानकाफल होताहै

ताम्रेति ताम्रपर्णी और कृतमाला और पयस्विनी इनांविषे बारां १२ योजनकी यात्रा करकें प्राप्त होया जो पुरुष तिसकों स्नानकर्के बारां १२ प्राजापत्य कृच्छ्रके तुल्य फल होताहै ॥ और सह्यपर्वतके पादांतें उत्पन्न होइयां जो नदीयां और वेंकटपर्वततें उत्पन्न होइयां जो न दीयां सो अपणी अपणी दीर्घताके अनुसारकर्के यात्राविषे योजनांकी वृद्धि कर्के एक १ दो २ त्रय ३ कृच्छ्रव्रतांके फलकोंदेणे वालीयांहैं और विंध्यपर्वततें उत्पन्न होइयां जो नदीयां सोपूर्वोक्तसेंदो गुणां अधिक फलकों देणेवालीहैं और हिमालयपर्वततें उत्पन्न होइयां जो नदीयां सो पूर्वोक्तसह्यपादजातनदीयांसें त्रयगुणांअधिक फलकों देणेवालीयांहैं और पिच्छे सह्यपाद वेंकटाद्रितें उत्पन्न हेईयां नदीयांके पुण्यका विवेककरतेहैं स्मृताविति स्मृतिविषे और पुराणविषे जैसे कैसे नहि कथन कीयां, जोकूल्हां सो त्रयरात्र निवास कर्के कृच्छ्र आदि फलके देणेवालीयां हैं और अल्पनदीयां एक कृच्छ्र फलके देणेवालीयां हैं ॥ और नदीयां दो २ कृच्छ्र फलकेंदेणें वालीयां हैं और महानदीयां त्रय कृच्छ्र फलके देणेवालीयां हैं

ताम्रपर्णी कृतमाला पयस्विनीषु द्वादशयोजने द्वादशकृच्छ्रसमम् ॥ सह्यपादोद्भूतावेंकटाद्रिपादोद्भूताश्च नद्यः स्वस्वदैर्घ्यानुसारेणैकद्वित्रि कृच्छ्रफलप्रदाः ॥ विंध्यशैलोद्भवाद्विगुणाः ॥ हिमोद्भूतास्त्रिगुणाः ॥ स्मृतौ पुराणेच यथाकथंचिदनुक्ताःकुल्यास्त्रिरात्रिफलदाः॥ अल्पनद्यःकृच्छ्रशः॥ नद्योद्विगुणकृच्छ्रशः महानद्यस्त्रिकृच्छ्रशः। सर्वत्र यात्रानुक्तौकृच्छ्रसंख्या योजनसंख्यया स्यात् ॥ एकयोजननादिषड्योजनान्ताः स्रवंत्यःकुल्याः ततोद्वादशयोजनगाअल्पनद्यः। चतुर्विंशतियोजनगानद्यः चतुर्विंशतियो जनाधिकानिवर्त्मानियासांताश्चमहानद्यः ॥उपवाससहितंनदीस्नानं। यो जनादर्वागपि। कृच्छ्रसमम्

जिसजगा यात्रा नहि कही तिस संपूर्ण स्थान विषे कृच्छ्र व्रतांकी संख्या योजनकी संख्या कर्के जानणी ॥ अब कूलका लक्षण कहतेहैं एकेति एक योजनतें लेकें छे ६ योजन पर्यंत जो बगतीयांहैं तिनांका नाम कुल्याहै ॥ और बारां योजन पर्यंत जो पर्वाह वालीहैं सो अल्पनदीयां कहीयां हैं और चव्वी २४ योजन तक पर्वाह वालीयां हैं तिनकानाम नदी है और चव्वी २४ योजनतें अधिकहै मार्ग जिनांका सो महानदीयांकहीयां हैं और एक उपवास व्रतकों कर्के जो नदी विषें स्नानहै सो कृच्छ्र व्रतके तुल्यहै ॥ योजनतें न्यूनभी यात्रा होवे तदभी उपवासकर्के जो स्नानहैसो कृच्छ्र व्रतके तुल्यकहाहै ॥

शुनीति जिसनदीके प्रवाहते ऊपर और अधोभागके दोनों कनारयां विषे निवास करतेहैं श्वा क्या कुत्ते ऐसी नदीका नाम शुनीकहाहै तिसकी म्लेच्छ देशविषे संभावना करतेहैं कि कोई होवेगी ऐसे गर्दभी आदिकजानणी गधयांकर्के सेव्यमान नदी गर्दभी और चांडालांकर्के सेव्यमान नदी चांडाली और शूद्रांकर्के सेव्यमाननदी शूद्रीहै कष्टप्रवाहकर्के जो चलतीयांहैं अर्थात् अल्प है जल जिनांविषे ऐसीं जो नदीयांहैं और कर्मनाशा और करतोया और गंडकीतें आद लेके जो हैं एह सभ पापनदीयां हैं सो कहतेहां स्मृत्यंतर विषे कर्मेति कर्मनाशाके जल स्पर्श करणे कर्के धर्मका क्षय होताहै और करतोया नदीके लंघणे कर्के और गंडकी नदीविषे भुजाकर्के तरणेतें और जो शुभ कर्म आपकीताहै सो अन्य पुरुषके तांई कहणेतें नष्ट होताहै ॥ १ ॥ पपानद्यःएह कथन भी पूर्व संबंधी है ऐसा कैयोंका मत है सर्वत्र समुद्र विषे स्नान

शुनीगर्दभीचांडालीशूद्रीकष्टगानद्यःपापनद्यश्चवर्जनीयाः। शुनीश्वभिःसेव्या यस्याऊर्ध्वाधोभागीयोभयतटवासिनः श्वानःसाशुनीत्यर्थः। एवंभूता पियावनादिदेशे काचित्संभाव्यते। एवंगर्दभैश्चांडालैःशूद्रैस्सेव्यासासाभिधेया कष्टेनकार्श्यभावाद्गच्छतीतिकष्टगा अल्पजलेत्यर्थः पापनद्यःकर्मनाशाकरतोयागंडकीप्रभृतयः ॥ कर्मनाशाजलस्पर्शात्करतोयाविलंघनात् गंडकीवाहुतरणाद्धर्मःक्षरतिकीर्त्तनादितिस्मृत्यंतरवचनात् इदमपिपूर्वसंवंधीतिकेचित् ॥ सर्वत्रसमुद्रस्नानंदर्शकार्य्यम्। देवतासमीपेद्विगुणम् तत्र स्नात्वातद्देवतादर्शनेत्रिगुणंसेतौगमनंत्रिंशद्योजनागतस्यात्रिंशत्कृच्छ्रसमम् ॥ तत्रस्नात्वारामेश्वरदर्शनेषष्टिकृच्छ्रसमम् विंध्यदेशीयानांरामेश्वरसेतुदर्शनेजाह्नव्यांचत्रिगुणफलम्। जाह्नवीकेदारयोश्च तथैव।

अमावस्यामे कहाहै ॥ और समुद्रके समीप देवताका स्थान होवे तां तिसविषे तीस ३० योजनतें प्राप्तहोया जो पुरुष तिसकों स्नानकरणेतें दूणा क्या ६०कृच्छ्रका फलप्राप्त होताहै तिससमुद्रविषे स्नानकर्के देवताका क्या जगन्नाथआदिका दर्शन करे तां त्रय गुणां अधिक फल क्या नब्बे ९० कृच्छ्रकाफल प्राप्तहोताहै और तीस३०योजनकी यात्राकर्के सेतु बंधकों प्राप्त होणेतें तीस ३० कृच्छ्रके तुल्य फलप्राप्त होताहै ॥ तिस सेतुबंध विषे स्नान कर्के रामेश्वरके दर्शन विषे सठ्ठां६० कृच्छ्रांकाफल प्राप्त होताहै और विंध्य देशविषे निवासकरणवाले जो पुरुष तिनांको रामेश्वर सेतुके दर्शन विषे और गंगाकेस्नान विषे पूर्वोकतें त्रयगुणां अधिक कृच्छ्रका फलप्राप्त होंताहै गंगा और केदारेश्वर विषे भी त्रयगुणां अधिक फल होताहै

दक्षीति दक्षिणदेश निवासीयांको गंगाविषे योजनयात्रातें छे६ गुणांअधिक फलहोताहै और गंगा देश निवासीयांको यात्रा योजनतें सेतुरामेश्वरके दर्शनतें छ ६ गुणाअधिकफल होताहे और तीस ३० योजनकी यात्रातें स्वामिकार्तिकके दर्शनविषे वीस २० कृच्छ्रके तुल्य फल होताहै ॥ जिस स्थान विषे गंगा संज्ञा है तिसी स्थान विषे श्रीरंग और पद्मनाभ और पुरुषोत्तम और चक्रकोट इनांका दर्शन होवे और लोणारस्थान विषे तीस ३० योजनकी यात्राकर्के दर्शनक निमित्त प्राप्त होया जो पुरुष तिसकों तीस३० कृच्छ्रके तुल्यफल प्राप्त होताहै और केदार विषे तीस३० योजनकी यात्राकर्के नब्बे ९० कृच्छ्रका फल प्राप्त होताहै और संपूर्ण जो वैष्णव स्थान और माहेश्वर स्थान और सूर्यजीके स्थान और शक्तिआदिक जो स्थान इनांपीठांके दर्शन कर्के तीस ३० योजनकी यात्रा विषे पंदरां १५ कृच्छ्रका फल प्राप्त होताहै और प्रख्यात

दक्षिणदेशीयानांचजाह्नव्यांषड्गुणम् गंगादेशीयानांचसेतुरामेश्वरेषड्गुणं स्कंददर्शनेत्रिंशद्योजनागतस्याविंशतिकृच्छ्रम् यत्रगंगासंज्ञास्ति तत्रैव श्रीरंगपद्मनाभपुरुषोत्तमचक्रकोटदर्शने लोणारस्थाने त्रिंशद्योजनागतस्य त्रिंशत्कृच्छ्रम् केदारेत्रिगुणम्। सर्ववैष्णवमाहेश्वरसौरशक्त्यादिपीठदर्शने पंचदशकृच्छ्रम् प्रख्यातेद्विगुणम् अहोविलेपितथा श्रीशैलप्रदक्षिणेषष्टिकृच्छ्रम् श्रीशैलेप्येकैकशृंगदर्शने द्वादशकृच्छ्रसमम् ॥ अन्येषुप्रख्याततीर्थेष्वदशस्वपि षट्कृच्छ्रसमम् सिद्धक्षेत्रेऽन्यक्षेत्रेचस्वयंविभुदर्शने त्रिंशत्कृच्छ्रसमम्। त्रिंशद्योजनागतस्य सर्वत्र कृच्छ्रसंख्या योजनसंख्यया ज्ञेया

पीठ विषे तीस ३० योजनकी यात्रा कर्के सठ ६० कृच्छ्रका फल प्राप्त होताहै और अहोवल पीठ विषेभी सठ ६० कृच्छ्रका फल प्राप्त होताहै तैसे श्रीशैल पर्वतकी प्रदक्षिणाका फल तीस ३० योजनकी यात्रा कर्के सठां ६० कृच्छ्रांके तुल्य होताहै और श्रीशैलविषेभी एक एक शृंगके दर्शन करणेकर्के बारां १२ कृच्छ्रांके तुल्यफल प्राप्त होताहै होर जो प्रकट तीर्थहैं और देवता इनांके दर्शनविषे तीस३० योजनकी यात्राकर्के छे६कृच्छ्रकेतुल्य फल प्राप्त होताहै और सिद्ध क्षेत्र विषे और अन्य क्षेत्र विषे और अपणे अपणे इष्ट देवताके दर्शनविषे तीस ३० योजनकी यात्रा कर्के तीस ३० कृच्छ्रके तुल्यफल प्राप्त होताहै तीस योजनकी यात्रा कर्के इहां संपूर्ण स्थान विषे कृच्छ्रव्रतांकी संख्या योजन संख्या कर्के जानणे योग्यहै

अब देवलजी कहतेहैं अतीति तीर्थोंको प्राप्त होके और जो पवित्र स्थान तिनांकों प्राप्त होके और ब्राह्मण जो तपस्वी तिनांके स्थानकों प्राप्तहोके जो पुरुष कर्मोंकों करताहै सो पापसें रहित होताहै ॥ १ ॥ समुद्रविषे प्राप्तहोणे वालियां सब नदियांपुण्यके देणेवालियांहैं और संपूर्ण जो उत्तम पर्वत हैं सोभी पुण्यके देणे वाले कहेहैं और संपूर्ण उत्तम स्थान पवित्रहै अर्थात् इनां सम जगा मुनियोंके निवासहैं और जो बनकेआश्रय जो जलस्थानहैं सो संपूर्ण पवित्र कहेहैं २ अबजामदग्न्यका वचनहै ॥ तीर्थविषे स्नान करणेतें पादकृच्छ्रके फलकों प्राप्तहोताहै और नदी विषे स्नानसें अर्द्ध कृच्छ्रके फलको प्राप्त होताहै और महानदीविषे स्नानतें दूणे फलको प्राप्त हो

देवलः । अतिगम्यचतीर्थानिपुण्यान्यायतनानिच नरःपापात्प्रमुच्येतब्राह्मणानांतपस्विनाम् १ सर्वास्समुद्रगाः पुण्याः सर्वेपुण्यानगोत्तमाः सर्वमायतनंपुण्यंसर्वेपुण्यावनाश्रयाइति २ ॥ जामदग्न्यः॥तीर्थेतुपादकृच्छ्रःस्यान्नद्यांत्वर्द्धफलंभवेत् द्विगुणंतुमहानद्यांसंगमेत्रिगुणंभवेदिति ॥ १ ॥ अथपरार्थं तीर्थगमनेफलम् परार्थगंता तीर्थे षोडशांशफलं लभते प्रसंगेनगंतार्द्धफलंलभते अन्योद्देशेनकृतकर्मणान्यस्यसिद्धिरूपोऽवांतरकार्यनिर्वाहः प्रसंगः ॥ अनुषंगेण तीर्थे प्राप्य स्नानेस्नानफलमेव॥ अन्योद्देशनप्रवृत्तौतत्क्रियानांतरीयकतयान्यस्यासिद्धिरनुषंगः ॥

ताहै और संगम विषे स्नानते त्रिगुणअधिक फलकों प्राप्त होताहै इति ॥ १ ॥ इसते उपरंत होरी पुरुष वास्ते जो तीर्थकों जाताहै तिसके फलकों कहते हैं ॥ परपुरुषके वास्ते जो तीर्थकों जाता है सो पुरुष पुण्यके सोलवें हिस्सेकों प्राप्तहोताहै जो किसेके प्रसंग अर्थात् अन्य पुरुषके निमित्त कर्के यात्रा करणी और उसकी यात्रा विषे अपणी यात्राके निर्वाहकों कर्के जाताहै सो अर्द्ध फलको लभताहै और जो किसेके संग कर्के अर्थात् अन्य पुरुषके निमित्त कर्के जो स्नानकों जाताहै अंतरीय कर्के नहि जाता तिसको तीर्थ विषे प्राप्त होके यात्रा फलतें विना स्नानका हि फल होताहै

मातेति मातामह क्या नाना और मतरेर भ्राताका मातामह क्या नाना और पिताका भ्राता और माताका भ्राता और श्वशुर क्या अपणी स्त्रीका पिता इनांके वास्ते जो स्नान करता है और गुरु और आचार्य जो कर्मांके करवाणे वाला और शास्त्रके पढाणे वाला इनांके वास्ते जो स्नानहै और इनां कियां स्त्रीयांवास्ते जो स्नान कर्ताहै और पिताकी भयण और माताकी भयण इनांवास्ते जो स्नानकर्ताहै सो आप अठवें ८ हिस्से फलकों प्राप्तहोताहै ॥ और माता पिताके वास्ते पुत्र स्नानकरे तां चौथे हिस्से फलकों प्राप्तहोंताहै स्त्री और भर्ता और सपत्नीक्या साकणां इहसब आपसविषे स्नान करें तां अर्द्ध फलकों प्राप्तहोतेहैं ॥ और धनको लेंके जो पुरुष तीर्थ कों जाताहै तिसको अल्प फलहै ॥ अब और विशेष कहते हैं कर्केति श्रावण और भाद्रो इनां

मातामहभ्रातृमातामहपितृव्यमातुलश्वशुरेशेषकार्थम् ॥ गुर्वाचार्य्यो पाध्यायार्थं ततृपत्न्यर्थंपितृष्वसृमातृष्वस्त्रर्थंच स्नात्वा स्वयमष्टमांशंलभते पित्रोरर्थेकुर्वन्पुत्रश्चतुर्थांशम् । दम्पतीचसपत्न्यश्चलभंतेर्द्धंमिथः फलम् अ र्थिनांचतत्फलह्रासः ॥ कर्कादिमासद्वये रजस्वलानद्य स्तास्वपि गोमती चंद्रभागासिंधुर्नर्मदासरयूश्चात्रिरात्रं वापीकूपतडागादिषु स्थितपुराणोदके षुत्रिरात्रम् ॥ सरस्वतीगंगायमुनागयादयोनकदापि रजस्वलाः ॥ इति प्राजापत्यकृच्छ्रस्यनदीस्नानप्रत्याम्नायः * । प्राजापत्यस्य ब्राह्मणभोजन रूपप्रत्याम्नायमाहदेवलः ॥ प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायमंमुंशृणु यत्कृत्वामुच्यतेपापैर्महद्भिरपिनारद ॥ १ ॥ पूर्ववत्संकल्पादिकं कृत्वा द्वादश ब्राह्मणान्निमंत्रयेत् ॥

दोनों महीनयां विषे नदियां रजस्वला होतीयांहैं तिनां संपूर्ण नदियां विषे गोमती नदी और चंद्रभागा और सिंधु और नर्मदा और सरयू एह त्रय रातीं अशुद्ध होतियांहैं और जिनांविषे चिर काल जल रहता है तिनां बाउलियां और कूप क्या खूह और तला विषें त्रय रात्र अशुद्धि कहीहै । सरस्वती और गंगा और यमुना और गयाते आद लेंके जो नदियां हैं सो कदीभी रजस्वला नहि होतियां एह प्राजापत्यकृच्छ्रकें स्थान वदला नदियां विषे स्नानकहाहै * अब प्राजापत्य कृच्छ्रके बिषे जो प्रत्याम्नायहै ब्राह्मणोंकेतांई भोजनदेणा तिसकों देवलऋषि कह ताहै प्रेति प्राजापत्य कृच्छ्रकें प्रत्याम्नाय क्या वदलेकों हेनारद श्रवण कर जिसके करणेसें पापी महा पापांतें रहित होताहै ॥ १ ॥ पूर्वकी न्यांई संकल्पकों करकेबारां ब्राह्मणाकों निमंत्रणकरें

अब पराशरजीकहतेहैं प्राजापत्य कृच्छ्रके प्रत्याम्नायविषे ब्राह्मणांका पूजनकहाहै जिसके करणे कर्के पापी पुरुष पापांतें शुद्धिकों प्राप्त होताहै और प्राजापत्यके फलकों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ पूजनकीविधि कहतेहैं ब्राह्मणाकों निमंत्रण करे कैसे ब्राह्मणहैं जो मनकर्के शांत और सहित स्त्रीयाके और वेदके पढने विषे युक्त और शुभ कर्मांके करणे कर्के शुद्ध हैं असयां ब्राह्मणांकों कृच्छ्र व्रतके फलकी प्राप्ति वास्ते पूजे ॥ २ ॥ अब आपस्तंबऋषिका वचनहै वीति ब्राह्मण मंत्रों कर्के युक्त और देशतें और कालतें और शौचतें और शुभ दान ग्रहणकरणेतें जो शुद्ध हैं तिनांकों संपूर्ण कृत्यविषे जोडे ॥ १ ॥ असें ब्राह्मणांकों निमंत्रण कर्के बहुत विस्तार वालेयां अन्नांकर्के भोजन खवाये और तिनांके तांई अपने धनके अनुसार दक्षिणा देणे योग्यहै २ ॥ इसतरह जो भली प्रकार कर्त्ताहै सो प्राजापत्यके फलकों प्राप्त होताहै ॥ ३ ॥ अब प्राजापत्यके

पराशरः ॥ प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायंद्विजार्चनं कृत्वाशुद्धिमवाप्नोतिप्राजापत्यफलंलभेत् १ विप्रान्शांतान्सपत्नीकान्वेदशीलपरिष्कृतान् सदाचारशुचीन्नित्यंकृच्छ्रार्थंतान्नियोजयेत् २ आपस्तंबोपि विप्रान्शुचीन्मंत्रवतःसर्वकृत्येषुयोजयेत् देशतः कालतः शौचात्सम्यक्प्रतिगृहीतृतः १ ॥ एवंविप्रान्निमंत्र्याथभोजयेद्बहुविस्तरैः तेभ्यश्चदक्षिणादेयायथावित्तानुसारतः २ ॥ एवंयःकुरुतेसम्यक्प्राजापत्यफलंलभेत् ३ ॥ अथप्राजापत्यस्य प्रत्याम्नायंवेदपारायणमाहदेवलः ॥ प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यवेदपारायणं महत् प्रत्याम्नायंप्रशंसन्तिशाखामात्रंप्रहारणम् ॥ १ ॥ पारायणेनभगवान्कृतकृत्योभवेत्तदा फलंसंपूर्णकृच्छ्रस्यप्रददातिनसंशयः ॥ २ ॥ प्रातःकालेशुचिर्भूत्वास्नात्वानित्यंसमाप्यच ॥ स्वगृहेदेवतागारेनद्यांवादेवतालये ॥ ३ ॥ प्राङ्मुखोदङ्मुखोवापिसंकल्पंपूर्ववच्चरेत् ॥

वदले विषे संहिताके पाठकों देवलऋषि कहताहै प्रेति प्राजापत्यकृच्छ्रविषे संपूर्ण संहिताका उच्चारणकरणा तिसकों श्रेष्ट कहतेहैं ॥ शाखामात्र क्या अपनी अपनी एकशाखाकाहि पारायण करणा सारे वेदका नहि सो पारायण (प्रहारण) है क्या सर्व पाप नाशकहै १ ॥ इसपारायणकर्के भगवान् कृत कृत्य हुंदाहै अर्थात् प्रसन्न हुंदाहै और कृच्छ्रके संपूर्ण फलकों तिसताई देताहै इसविषे संशय नहि है ॥ २ ॥ और प्रातःकालविषे शुद्धहोके स्नान करे और संध्यावंदनादि नित्य कर्मको करके अपणे गृह विषे वा देवताके मंदिर विषे वा नदी विषे वा देवताके स्थान विषे जावें और इसमें एह अभिप्रायहै कि जिस जगा देवतापहलेथा सो देवतागार किहाहै और जिस जगा देवता विद्यमानहि है सो देवता लयजानणा ॥ ३ ॥ पूर्वपासे मुखकर्के वा उत्तर पासे मुखकर्के फेर संकल्पकों पूर्वकीन्याई करे

पारायण करणविषे एह विधिहै कि आदविषे ओंकारकोपडके पारायणकापाठकरे ॥ ४ ॥ और पूर्वादि दिशा पासे न देखे और पापियां पुरुषांके साथ संभाषण त्यागे और मौन व्रतकथा पाठते विनाहोर कुछ न कहे मौनको धारके हौली हौली वेदकोंपडे ॥ ५ ॥ अब पारायणविषे दोष कहतेहैं शीघ्रोत जो शीघ्र पाठ करणेवाला और पाठ करदयां शिरको हलाणेवाला और आपही लिखके पडणेवाला गद्गद क्या जिसकीवाणी स्पष्ट न होवे ऐसा जो है और स्वरतेहीन पठने वाला ॥ एह पंज पाठ करणे वालयांविषे अधम कहेहैं ॥ ६ ॥ इस कारणते हौली हौली विद्याका अभ्यासकरे क्या पाठकरे आत्माकी शुद्धिवास्ते सो पारायणकी समाप्तिके होयां होयां

पारायणेतुप्रणवंकृत्वापारायणंपठेत् ॥ ४ ॥ दिशस्त्वनलोकयैवह्यसंभा षैवत्रपापिनः मौनव्रतंसमागम्यपठेद्वेदंशनैःशनैः ॥ ५ ॥ शीघ्रपाठीशिरः कंपीस्वयंलिखितपाठकः । गद्गदस्स्वरहीनश्चपंचैतेपाठकाधमाः ॥ ६ ॥ अतःशनैःशनैर्विद्यामभ्यसेदात्मशुद्धये यावत्समाप्तिर्भवतितावत्कृच्छ्रफलंल भेत् ॥ ७ ॥ स्वयमेवपठेद्वेदमुत्तमंपरिकीर्त्तितम् प्रमामापोमध्यमः स्याद्भूत केनिष्फलंभवेत् ॥ ८ ॥ प्रमयाययार्थज्ञानेन मापयतिअहंयथार्थपाठीति वोधयतीति प्रमामापअन्यार्थपाठकः । सतु प्रयोजकस्य फलंदातुं प्रवृत्त त्वात् मध्यमः यद्वा प्रमांप्रकृष्टलक्ष्मींमापयति तुभ्यं वहुधनंदास्यामी तिविश्वासयति प्रमामापःप्रयोजकः ॥ भूतकेअनध्यायेइति

कृच्छ्र के फलको प्राप्त होताहै ॥ ७ ॥ अब और रीतिसे पाठककी उत्तमादि व्यवस्था कहतेहैं स्वयमेवति आप वेदको पडे तां उत्तम कहाहै प्रमामापजोहै ॥ यथार्थ ज्ञानकरके जो अन्य पुरुष ताईं वोधन करवाए क्या में यथार्थ पाठ करताहां ऐसें अन्यपुरुषके ताईं फलके देणेनूं जो पाठ करताहै सो मध्यम पाठक कहाहै। यद्वा दूसरा अर्थहै वहुत धनको जो वोधन करवाताहै क्या में तेरेताईं वहुत धन देवांगा ऐसें प्रेरणा कर्त्ताहै ऐसा पाठ वेदका करवाणे वाला मध्यम फल भागी कहाहै और अनध्याय विषे पाठ करे तां निष्फल होताहै ॥ ८ ॥

अथ क्या इस पुराण प्रत्याम्नायकों कहकर्के अब प्राजापत्य कृच्छ्रके प्रत्याम्नायविषें गायत्रीके जपकी विधि कहीहै अयुतमिति वेदकी माता जो गायत्री तिसके दश हजार १०००० जपके करणेतें पुरुष संपूर्ण पापांते रहित होताहै अब जप करणेकी विधि कहतेहैं प्रातरिति जपकरता ऐसा करे कि पहले प्रातःकालविषें यथा चार क्या जिस २ वर्ण कों जो विधानहै जैसें ब्राह्मणकों १३ तेरां क्षत्रियकों १२ वैश्यकों ११ शूद्रकों १० स्त्री कों ४ अंगुलकीदातन कही है इत्यादि विधि कर्के दातनकोकरे फेर स्नान करे ॥ १ ॥ और अग्नि होत्र वाले स्थान विषें स्थित होके अथवा देवताके मंदिर विषें वा नदीके कनारे विषें वागौवांके स्थान विषें वावृंदावन देश विषें इनां मेसें भांवें किसे स्थान विषें जपे १०००० ॥ २ ॥ अब जप माला कों दस्सते है पर्वभिरिति हत्थके पर्वांकर्के वा जपकी माला कर्के वा

अथ प्राजापत्यकृच्छ्रप्रत्याम्नायेगायत्रीजपविधिः ॥ अयुतंवेदमातुश्चसर्वपापैःप्रमुच्यते प्रातःस्नात्वायथाचारंदंतधावनपूर्वकम् ॥ १ ॥ अग्निहोत्रालयेदेवगृहेवापिनदीतटे गोष्टेवृंदावनेदेशेजपेदयुतसंख्यया ॥ २ ॥ पर्वभिर्जपमालाभिः कुशग्रंथिभिरेवच स्वयंमौनमुपस्थायदिशश्चानवलोकयन् ॥ ३ ॥जपेन्महापापजालहननार्थंदिनेदिने अव्यग्रचित्तःप्रजपेदन्यथादोषमश्नुते ॥ ४ ॥ मार्कंडेयः ॥ संदिग्धस्तुहतोमंत्रोव्यग्रचित्तोहतोजपः अब्राह्मण्यंहतंक्षात्रमनाचारंहतंकुलम् ॥ १ ॥

कुशाकियां गंडां कर्के आप मौनकों धारके परंतु और किसे दिशा विषेंभी दृष्टि न करे क्या एकाग्र चित्त कर्के ॥ ३ ॥ महा पापके समूहके नाश वास्ते दिन दिनविषें सावधानहोकर जपे दश हजार संख्यातक और ऐसें न जपे तां दोषकों प्राप्त होताहै ॥ ४ ॥ अब जपविषे मार्कंडेय जी कहतेहैं संदिग्ध इति संशय वाला मंत्र हत है क्या नहि सिद्धिके देणे वालाहै और एकाग्र चित्तते विना जपभी हतहै क्या नहिसिद्धिके देणे वाला और जो क्षत्री ब्राह्मणको नहि मानता सो क्षत्रीभी नष्ट है और आचार ते हीन कुलभी नष्टहै ॥ १ ॥ इसमें एह अभिप्रायहै कि किसे पुस्तकमें क्षात्रकी जगा (शास्त्र) एह पाठहै तिसका अर्थ एह है कि जिस शास्त्रमें ब्राह्मणकी निंदा हैसो शास्त्र हत है ॥

इस कारणतें मन विषे जप करणे योग्यहै मन कर्के जो जप कीताहै सो कोड १०००००० गुणां अधिक फलके देणे वालाहै और दश हजार जप करे तां पूर्ण प्राजापत्य कृच्छ्रके फलकों प्राप्तहोताहै ॥ २ ॥ कुछ और कहतेहैं अंगुलीति जो जप अंगुलीयांके अग्रकर्के जप याहै और जो मेरुके मणकेकों लंघकर्के जपयाहै और दो प्रकारके चित्तकर्के जपयाहैभ्या एकाग्र चित्तकर्के नहि सो संपूर्ण निष्फल होताहै ३ पराशरजीकावचनहै हस्थकीयां पंजां अंगुलीयां विषे अंगुष्ठतें जो चोथी अंगुलिहै तिस कर्के विसकारले पर्वतें लेके दोपर्व हथवाले पासयों लेके ग्रहण करे और अंगुष्ठतें पंजवी अंगुलि जो कनिष्ठिकाहै तिसके त्रय पर्व हथवाले पासयों लेके अग्रतक क्रमसें लये ॥ १ ॥ फेर चोथी अंगुली और तीसरी बिनां दोनोंके अगलयां

अतोमनसिजप्तव्यंमानसंकोटिरुच्यते अयुतंचजपेत्पूर्णप्राजापत्यफलंलभेत् ॥ २ ॥ अंगुल्यग्रेणयज्जप्तंयज्जप्तंमेरुलंघने द्विधाचित्तेनयज्जप्तंतत्सर्वं निष्फलंभवेत् ॥ ३ ॥ पराशरः ॥ हस्तस्यानामिकामध्यपर्वादारभ्ययत्नतः तद्द्वितीयंकनिष्ठायाःपर्वत्रयमनुक्रमात् ॥ १ ॥ अनामिकोर्ध्वपर्वादेर्मध्यमाद्यस्तुतर्जनी पर्वत्रयंतदाकृत्वातदेवाक्रम्यपूर्ववत् ॥ २ ॥ मेरोर्यावदंगुष्ठं तस्यनातिक्रमंचरेत् पर्वाभिर्गणयेत्सोपिगायत्रीमन्यमेववा ॥ ३ ॥ एकैकस्यशतंप्रोक्तंगणनंमुनिभिस्सदा अयुतेनजपेनाशुजप्तातत्फलंलभेत् ॥ ४ ॥ गौत्तमः ॥ कृषितोनास्तिदुर्भिक्षंजपतोनास्तिपातकं मौनेनकलहोनास्तिनास्तिजागरतोभयम् ॥ १ ॥

पर्वांकों ग्रहण करे फेर अंगुष्टतें दूसरी अंगुली जो तर्जनी है तिसके तीन पर्व ग्रहण करे क्रमतें । २ । और मेरुके स्थान विषे जो अंगुष्टहै तिसकों न उलंघे इसतें एक आवृत्तिकों दश १० संख्या होजाती है इसप्रकार पर्वां कर्के जप करे गायत्रीका अथवा होर किसे मंत्रका ॥ ३ ॥ एक एक आवृत्तिके अंगुलिके जपतें मुनियांने सौ गुणां अधिक फल कहाहै इसी कर्के दश हजार १०००० जप करणेतें तत्काल कृच्छ्रके फलकों प्राप्त होताहै ॥ ४ ॥ इसमे गौत्तमजी कहतेहैं खेती कर्मके करणेते काल नहि होता और जपकरणेतें पाप नाहि होता और मौनधारणेतें लडाई नहि होती और जागरण करणेतें भय नहि होता ॥ १ ॥

जपतें पाप नाशकों प्राप्त होताहै इस कहणेतें कृच्छ्र व्रतका प्रत्याम्नाय गायत्री कहीहै ॥ इससें उपरंत प्राजापत्य कृच्छ्रका प्रत्याम्नाय तिलांका होम कहाहै होमइति कीडयांते रहित जो तिल घृत कर्के युक्त तिनांकर्के जो होमहै मृत्युंजय मंत्रकर्के अंगन्यास और ध्यानकों पूर्व करके सो पापांके नाश करणे वाला कहाहै ॥ १ ॥ इसमे और विधि कहतेहें संत्रस्तइति भय कर्के संयुक्त होया होया अग्नि विषे हवन न करे अर्थात् सावधान होकरके करे और उं हौं जूंसः उं भूर्भुवः स्वः इनाबीजां कर्के तिलांका हवन करे संपूर्ण होम करणेकर्के तिसी क्षणमें पवित्र होताहै २ इसमे कुच्छ होरकहतेहै किआप हवनकरे वा ब्राह्मणांपासो करवाये तिलांकी हजार

जपतोनास्तिपातकमितिस्मरणादयंप्रत्याम्नायः ॥ अथप्राजापत्यकृच्छ्रप्रत्याम्नायेतिलहोमविधिः ॥ होमस्तिलैरकीटैश्चघृतैःपापप्रणाशकृत् मृत्युंजयेनमंत्रेणन्यासध्यानपुरःसरः ॥ १ ॥ संत्रस्तोनहुनेद्वह्नावाहुतीर्बीजपूरणैः सहोमंसकलंकृत्वापूतोभवतितत्क्षणात् ॥ २ ॥ संत्रस्तोनहुनेत्किंतुसमाहितएवजुहुयादित्यर्थः। तत्रापि बीजपूरणैः उंहौंजूंसःउंभूर्भुवःस्वरितिबीजपूरणायुक्तैः। स्वयंवाऋत्विजोथोवातिलहोमसहस्रकम् कुर्यान्मासिनमेधावीप्राजापत्यफलंलभेत् ॥ ३ ॥ अथ प्राजापत्यकृच्छ्रस्यशतद्वयप्राणायामरूपप्रत्याम्नायमाहदेवलः प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायोमहत्तरः धर्मशास्त्रोक्तमार्गेणप्राणायामशतद्वयम् ॥ १ ॥ जपसंकल्पहोमेषुसंध्यावंदनकर्मसु प्राणायामांश्चरेद्विप्रस्तदानंत्यायकल्प्यते ॥ २ ॥

ऐसे दिन दिनाविषे आहुतिए कमासके ब्राकर्के बुद्धि मान् प्राजापत्यके फलको प्राप्त होताहै ३ अब प्राजापत्य कृच्छ्रका और प्रत्याम्नायहै क्या दो सो २०० प्राणायाम तिसकों देवलऋषि कहताहै प्रेति प्राजापत्यकृच्छ्रका प्रत्याम्नाय एह बडा श्रेष्ठ कहाहै क्या धर्मशास्त्रकर्के कही जो विधिहै तिस विधिकर्के प्राणा यामदो सौ २०० वार करे गायत्रीके मंत्रकर्के ॥ १ ॥ जपेति जप और संकल्प और हवन इनांके प्रारंभविषे और संध्या वंदनादि कर्मांविषे जो ब्राह्मण प्राणायामांकों करताहै सो अनंतफलकों प्राप्तहोताहै इसका सो पुण्यअक्षय कल्पना करिदाहै ॥ २ ॥

इस विषे मार्कंडेयजी कहतेहैं वामेति वाम क्या खब्बेपासेकी नासिकाकर्के वायुकों पूर्णकरे पूर्णकरणें तें तिसका नाम पूरक कहाहै और सज्जेपासेकी नासिकाकर्के वायुकों त्यागे वायुके त्यागणेंतें तिसका नाम रेचककहाहै ॥ १ और वायुकों रोके दोनों नासिकां कर्के तिसका नाम कुंभक है और गायत्रीके स्वरूपका मनकर्के ध्यान करे और पूरकविषे कुंभक विषे रेचक विषे त्रयवार जपे २ इसप्रकार त्रयवार जपीहोई संख्याके अभावमे होतीहै अर्थात् अनंत फलके देणे वालीहोतीहै ३ अबपराशरजीकहतेहैं वामेति खब्बी नासिकाकर्के वायुकों ग्रहणकरे मन कर्के उच्चारण गायत्रीका कर्ताहोया जलकर्के पूर्णहोए कुंभकीन्याई ब्रह्मविषे ध्यानलगाके स्थित होवे वायुकोंरोककर्केगायत्रीका मनकर्के उच्चारण कर्ता होआ ॥ १ ॥ ऐसे पूरक और कुंभककों

मार्कंडेयः ॥ वामेनपूरयेद्वायुंपूरणात्पूरकःस्मृतः सव्येनरेचयेद्वायुंरेचनाद्रेचकःस्मृतः ॥ १ ॥ वायुनापूरयेद्रंध्रान्गायत्रींमनसास्मरन् पूरणे कुंभकेचैवरेचनेतांजपेत्त्रिधा ॥ २ ॥ एवंत्रिवारंयाजप्तासंख्याभावेभवेदियम् ॥ ३ ॥ पराशरः । वामेन वायुनापूर्य्यगायत्रींमनसास्मरन् संपूर्णकुंभवत्तिष्ठेत्पुनस्तामनुवर्त्तयन् ॥ १ ॥ रेचयन्सप्तरंध्रेणपुनस्तामेवसंस्मरन् ॥ एवंपूरककुंभाभ्यांरेचकेनसहामुना योवर्त्तयेत्त्रिधाब्रह्मन्प्राणायामइतीरितः ॥ २ ॥ श्राद्धेजपेचहोमेचसंध्याकर्मसुसर्वदा योवर्त्ततेप्रतिदिनंपरंब्रह्मतदुच्यते ३ एवंशतद्वयंकृत्वापूर्वोक्तविधिनाद्विजः प्राजापत्यस्य कृच्छ्रस्य प्रत्याम्नायोनिगद्यते सर्वपापविनिर्मुक्तः सयातिपरमंपदम् ॥ ४ ॥

कर्के रेचककोंकरे गायत्रीका स्मरणकर्ता होया वायुकों सप्तरंध्राके रस्ते त्यागे सप्तरंध्र नाम दक्षभागका है अथवा दक्षरंध्रेण ऐसाहि पाठ है ॥ २ ॥ ऐसे हे ब्रह्मन् पूरक और कुंभक और रेचक इसविधिकर्के जो त्रयवार गायत्रीका उच्चारण करणाहै तिसका नाम प्राणायाम कहाहै २ श्राद्धेति श्राद्धविषे और जपविषे और हवन विषे और संध्या वंदनादि कर्म विषे जो प्राणायाम कर्ताहै सो परंब्रह्म स्वरूप कहाहै ॥ ३ ॥ ऐसे पूर्व विधि कर्के जो ब्राह्मण दोसौ २०० प्राणायामकर्ताहै तिसकों प्राजापत्यके तुल्यफल देणे वाला बदला कहाहै तिसकेकरणेंते संपूर्ण पापोंतें रहित होके परम पद वैकुंठकों प्राप्त होताहै ॥ ४ ॥

अब सांतपन कृच्छ्र व्रतकों मनुजी कहतेहैं गविति गौका मूत्र और गोमय और दुग्ध और दधि और घृत और कुशाके पत्रां करके मिलया होयाजल एह मिला करके एक दिनपीवे और दूसरे दिन उपवास व्रत करे तिस व्रतका नाम कृच्छ्र सांतपन कहाहै ॥ १ ॥ अब याज्ञवल्क्य जी का बचनहै गौकामूत्र और गुवा और दुग्ध और दधि और गौकाघृत और कुशाकाजल इनां कों एक दिन खाकर दूसरे दिन उपवास व्रत करे एह कृच्छ्र सांतपनकहतेहैं एह दो दिनका व्रत है कृच्छ्रसांतपन १ अब सांतपनके लक्षणकों देवलऋषि कहताहै कृच्छ्र सांतपनकालक्षण जोहै सोसं

अथसांतपनकृच्छ्रमाह मनुः ॥ गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकं एक रात्रोपवासश्चकृच्छ्रं सांतपनंस्मृतम् ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् जग्ध्वापरेद्युरुपवसेत्कृच्छ्रंसांतपनंस्मृतमिति ॥ द्वैरात्रःसांतपनकृच्छ्रः । तल्लक्षणमाह देवलः कृच्छ्रसांतपनस्यास्यलक्षणं सर्वपापहम् श्रीशैलं १ काशिकाक्षेत्रं २ गयाक्षेत्रंमहत्तरं ३ प्रयागं ४ यमुनां ५ सिंधुं ६ गंगासागरसंगमम् ७ कृष्णवेणीं ८ तुंगभद्रां ९ हेमकूपं १० त्रिलोचनम् ११ मार्कंडेयं १२ सिंहगिरिं १३ ततोधर्म्मपुरीश्वरं १४ द्राक्षारामं १५ जपावार्टीं १६ मल्लिकार्जुनमेवच १७ अहोवलं १८ नृसिंहंच १९ तथैवभवनाशिनीम् २०

पूर्णपापांके नाश करणे वालाहै श्रीशैलमिति श्रीशैल १ और काशिका क्षेत्र २ और गयाक्षेत्र बहुत श्रेष्टहै ३ और प्रयाग ४ और यमुना ५ और सिंधु ६ और गंगासागरकासंगम ७ और कृष्णावेणी ८ तुंगभद्रा ९ और हेमकूप १० और त्रिलोचन ११ और मार्कंडेय १२ और सिंहगिरि १३ और धर्मपुरीश्वर १४ और द्राक्षाराम १५ और जपावाटी १६ और मल्लिकार्जुन १७ और अहोवल ॥ १८ ॥ और नृसिंह ॥ १९ ॥ और तैसे भवनाशिनी २०

और पिनाकिनी नदीके तीरविषे वैद्यनाथहरि नामकर्के प्रसिद्ध जो स्थान है २१ तैसे और वेंकटाद्रि २२ और स्वर्णमुखी २३ और कालहस्तीश्वर २४ और तैसे साक्षात् वरदराजहैं जोस्वयंभू ब्रह्माकावरस्वरूपहैं २५ और तैसे एकाम्रनामकर्के लिंग संपूर्णतीर्थों विषे श्रेष्ठ २६ और मध्यार्जुनेश पापोंके नाश करणे वाला २७ और कुंभकोण बडाआश्चर्य २८ और श्रीरंग महाक्षेत्र २९ और इससे परे जंबू नाममहाक्षेत्र ३० और कावेरी पापोंके नाश करणे वाली ३१ अब मथुरा विषयविषे जो तीर्थहैं तिनको श्रवणकर ॥ सुंदरेश १ और सुंदरेशकी पत्नीका स्थान २ और तैसे उग्रवती नदी ३ और तिसीस्थान आग्निकोण विषे गंधमादनपर्वत ४ और रामलिंग ५ और धनुःकोटी संपूर्ण तीर्थोंकर्के युक्त ६ और तैसे दर्भशमन ७ और तिसीस्था

पिनाकिनीनदी तीरेवैद्यनाथंहरिंतथा २१ वेंकटाद्रिं २२ स्वर्णमुखीं २३ कालहस्तीश्वरं तथा २४ साक्षाद्वरदराजंचवरभूतंस्वयंभुवः २५ एकाम्रंचतथालिंगं सर्वतीर्थमहत्तरम् २६ मध्यार्जुनेशंपापघ्नं २७ कुंभकोणंतदद्भुतम् २८ श्रीरंगं वामहाक्षेत्रं २९ जंबूनामह्यतःपरम् ३० कावेरींपापजालघ्नीं ३१ मथुराविषये शृणु। सुंदरेशंच १ तत्पत्नीं २ तथैवोग्रवतींनदीम् ३ तत्राग्नेयदिग्भागेपर्वतोगंधमादनः ४ रामलिंगं ५ धनुःकोटीं सर्वतीर्थपरिष्कृतां ६ तथैवदर्भशमनं ७ तत्रपपामहत्सरः ८ ताम्रपर्णीमहाक्षेत्रं ९ तत्रत्याविष्णुदेवता १० अनंताख्यंरामक्षेत्रं ११ कौंडिन्योयत्रभाग्यवान् जनार्दनंमहाक्षेत्रं १२ गोकर्णंपापनाशनम् १३ तथाहरिहरक्षेत्रं सुब्रह्मण्यंमहत्तरम् १४ एतानिपुन्यक्षेत्राणिदृष्ट्वापापहराणिच नारोगीमुखजोयस्तु एतेषामेकमेववा नस्नायाद्वानपश्येद्वाकोन्यस्तस्मादचेतनः ॥

न पंपामहासर ८ और ताम्रपर्णी महाक्षेत्र ९ और तिसी स्थान विषे विष्णुमूर्त्ति १० और अनंतहै नाम जिसका ऐसा रामक्षेत्र ११ जिसस्थान विषे कौडन्यऋषि भाग्यको प्राप्त होता भया और जनार्दन महाक्षेत्र १२ और गोकर्णतीर्थहै पापोंके नाशकरणे वाला १३ और तैसे हरिहरक्षेत्र जो अतिशय कर्के सुब्रह्मण्यहै बहुत श्रेष्ठ १४ एह जो पुण्यक्षेत्रहैं सो दृष्टि विषये प्राप्त होणेंसेहि पापोंके नाश करणे वाले हैं जो ब्राह्मण रोगसें रहितहै और इनां तीर्थों और क्षेत्रोंके मध्य विषे एक तीर्थ विषे भीस्नान नहि कर्ता और दर्शन नहि कर्त्ता तिससें परे कोण अचेतनहै अर्थात् सोई ब्राह्मण पत्थरके तुल्य है

धर्मेति धर्मतें रहित जो पुरुषहै और कर्मातें हीन जो पापीपुरुषहै तिसका जन्म अजा क्या बकरीके गलविषे जो स्तन तिसकी न्याईं व्यर्थहै ॥ १ ॥ जो पुरुष जन्म दिनतें लेके सठ ६० वर्षकी आयुपर्यंत वर्त्तताहै और तिनां वर्षांके मध्य विषे श्रीशैल कहणे कर्के श्रीशैल और चापाग्र और वेंकटाचल और वदरी और श्रीरंगनाथ तें आद लेके जो हैं इनांका ग्रहण करणा इनांका जो नास्तिकता कर्के दर्शन नहि कर्त्ता सो पुरुष संपूर्ण पापांको भोगके पीछे गर्दभ योनिकों प्राप्त होताहै एह वाक्य वामन पुराण विषे कहाहै ॥ २ ॥ तिसीको मरीचिऋषि कहताहै ॥ श्रीति श्रीशैल और वेंकटाद्रि और कांची और

स्मृत्यंतरे। धर्महीनस्यमर्त्यस्यकर्महीनस्यपापिनः अजागलस्तनमिवतस्य जन्मनिरर्थकम्॥ १ ॥ योमर्त्योजन्मादिवसात्षाष्टिवर्षाणिवर्त्तते नपश्येद्यदि श्रीशैलंतन्मध्येसतुगर्दभः॥ २ जन्मेति स्वजन्मादिवसादारभ्यषष्टिवर्षमध्ये श्रीशैलचापाग्रवेंकटाचलवरदराजश्रीरंगनाथादिकं नास्तिकतया न पश्येत् नदर्शनार्थंतिष्ठेत्ससर्वपापभोगानन्तरंगर्दभोभवेदिति वामनपुराणेश्रवणात् तदाहमरीचिः ॥ श्रीशैलवेंकटाद्रिंचकांचींश्रीरंगनायकम् रामेशंचधनुःकोटिंस्वभावात्षाष्टिवर्षगः ॥ १ ॥ नपश्येन्नास्तिकतयागर्दभोभुविजायते तस्यैवनिष्कृतिर्नास्तिकृच्छ्रात्सांतपनादृते ॥ २ ॥ बृहस्पतिः ॥ पुण्यालयान्पुण्यनदीर्नपश्येत्षष्टिवर्षगः महांतंनरकंगत्वापश्चाद्रासभतांव्रजेत्॥ १॥

श्रीरंगनायक रामेश और धनुःकोटि इनांका जो पुरुष अपनेजन्मतें लेके सठ ६० वर्षकी आयुतकनहि दर्शन कर्त्ता नास्तिक स्वभाव कर्के सो भोगतें अनंतर पृथ्वी विषे गर्दभ जन्मको प्राप्तहोताहै तिसके पापकी निवृत्ति कृच्छ्र सांतपन व्रततें विना नहि होती क्या कृच्छ्रसांतपन व्रतकर्के पापतें शुद्ध होताहै ॥ २ ॥ अब बृहस्पतिजीका वचनहै ॥ पुण्येति दर्शन करणे कर्के पापांके दूर करणे वाले जो पुण्य देवतांके स्थान और पवित्र जो नदीयां तिनांको जन्मतें लेकर सट्ठां ६० वर्षांकी आयुतक न देखे सो पुरुष बडे नरकको भोगकर पीछे गधेके जन्मको प्राप्त होताहै ॥ १ ॥

तस्येति तिसदोषके दूरकरणे वास्ते कृच्छ्र सांतपन व्रतकों करे पीछे पंचगव्यकों पीवे तो इस दोषतें रहित होताहै ॥ २ ॥ तिसके विधानकों देवल ऋषि कहताहै ॥ दिन दिन प्रति मांहकादाणा जिसविषे छपजावे इतने दुग्धकों वारां १२ दिनतक पीवे तां योगियांकोंभी दुर्लभ जो सिद्धि है तिसकों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ प्रजापतिका वचनहै ॥ पूर्वेति पूर्वकी न्यांई प्रातःकाल तें लेके स्नानकों कर्के और संकल्पकों कर्के नित्यकर्म जाणकर पूर्व कहा जो विभूत्यादिहै तिसका मनकर्के स्मरण करे ॥ १ ॥ और जिसकाल सूर्यका तेज मंदहोवे तिस समयविषे आदर रूपा भक्ति कर्के विष्णुके तांई नैवेद्यदे कर्के मांहकादाणा जिस विषे डूबे एतने मात्र दूधकोंव्रती

तस्यदोषोपशांत्यर्थंकृच्छ्रंसांतपनंचरेत् पंचगव्यंपिबेत्पश्चाद्दोषादस्मात्प्र मुच्यते ॥ २ ॥ तद्विधानमाहदेवलः ॥ प्रत्यहंमाषमग्नंचद्वादशाहंपयः पिबेत् शुद्धिमाप्नोतिराजेन्द्रयोगिनामपिदुर्लभाम् ॥ १ ॥ प्रजापतिः ॥ पूर्वव त्प्रातरारभ्यस्नानंसंकल्पमेवच नित्यंकर्मतयाकृत्वापूर्वोक्तंमनसास्मरन् ॥ १ ॥ विभूत्यादिकमित्यर्थः ॥ यावन्मंदायतेभानुस्तावद्योदुग्धमादरात् विष्णवेतन्निवेद्याथमाषमग्नंपिबेद्व्रती २ स्वपेद्देवसमीपेतुगंधतांबूलवर्जितः ततःप्रभातवेलायामेकंकृत्वामहद्व्रतम् ॥ ३ ॥ द्वादशाहोभिरेतैश्चशुद्धो भवतिपूर्वजः पंचगव्यंपिबेत्पश्चात्सांतपनंमुनिसंमतम् ॥ ४ ॥ अथसां तपनकृच्छ्रप्रत्याम्नायमाह देवलः ॥ प्रत्याम्नायंप्रवक्ष्यामिकृच्छ्रस्यैत स्यपापहम् सर्वपापोपशमनं सर्वकृच्छ्रफलप्रदम् ॥ १ ॥

पुरुष पीवे ॥ २ ॥ और देवताके समीप विषे शयन करे और सुगंधी और तांबूलका ग्रहण न करे तिस कारणतें प्रभात समय विषे वारां दिनां कर्के होणेवाला जो वडा पवित्रव्रत तिस एकहि व्रतके करणे करके ब्राह्मण शुद्ध होताहै और पीछे पंचगव्यकों पीवे एह सांतपन व्रत मुनियां विषे संमतहै ॥ ४ ॥ इसतें अनंतर सांतपन कृच्छ्र व्रतके स्थान जो वदला तिसकों देवल ऋषि कहताहै ॥ इस कृच्छ्र व्रतके वदलेको कहताहां कैसा वदला है पापके दूरकरणे वाला और सब पापांके नाश करणे वाला और संपूर्ण कृच्छ्र व्रतांके फल देणेवाला ॥ १ ॥

और फेर कैसाहै महापापांके नाश करणे वाला और धर्म कामअर्थकी सिद्धि देणे वाला और एह कृच्छ्र सांतपनका प्रत्याम्नाय वडाहै तेजजिनांका ऐसे जो व्यास तिनांने पूर्व कृष्ण देवकेताईं कहाहै ॥ ॥ २ ॥ ॥ जो पुरुष पर धनके चुराणे वाले और परस्त्री यां विषे प्रीति करणे वाले और जो मदिराके पीणे वाले और जो नहि भोगणे योग्य भगिनी आदि स्त्री तिनां विषे गमन करणे वाले ॥ ३ ॥ और जो पुरुष नास्तिक शास्त्र विषे प्रीति वाले और दुष्ट दानके ग्रहण करणे वाले और असत्यवाणी कहणे वाले और मित्रांका आपस विषे विरोध पाणेवाले ॥ ४ ॥ और दीपके बुझाणे वाले और शीशेके तोडन वाले अथवा व्यत्यय करण वाले क्या एकको उठायके दूसरे को वहांण वाले जो

महापापप्रशमनंधर्मकामार्थसिद्धिदं व्यासेनकथितंपूर्वंकृष्णायामिततेजसा २ परस्वहारिणोयेचपरदाररताश्चये मद्यपानरतायेच अगम्यागमनाश्चये ३ असच्छास्त्ररतायेचयेचदुष्टप्रतिग्रहाः मिथ्याभिभाषिणोयेचयेचमित्रविभेदिनः ॥ ४ ॥ दीपनिर्वापिनोयेचयेचमंडलभेदकाः मंडलेतिआदर्शभंजकाः स्थानव्यत्ययकारकाश्चेत्यर्थः ॥ दिवाकपित्थछायासुरात्रौचलदलेषुच ॥ ५ ॥ तमालवृक्षछायासुरात्रौवायदिवादिवा गच्छतांपापनाशायप्रत्याम्नायोमहत्तरः ॥ ६ ॥ सदानिष्ठुरवक्तारःसदायाञ्चापरायणाः परान्ननिरतायेच नित्यकर्मविरोधिनः ७ एषांचैवंविशुद्धिःस्यात्प्रत्याम्नायःपरात्परः ॥ गौतमः ॥ सांतपनस्यैवकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायोमहत्तरः सर्वालंकारसंयुक्तागवांदशमहोन्नतइति ॥ १ महोन्नतअतिपुष्टागोदशकगणः

पुरुष दिनविषे कपित्थ वृक्षकी छाया विषे और रात्रि विषे पिप्पलकी छाया विषे जाणेवाले ॥ ५ ॥ और रात्रि विषे अथवा दिन विषे तमाल वृक्षकी छाया विषे प्राप्त होणेवाले जो पुरुष तिनांके पाप दूर करणे वास्ते वहुतश्रेष्ठ प्रत्याम्नाय कहाहै ॥ ६ ॥ और जो पुरुष सदा कठोर वाणीके कहण वालेहैं और सदा याचना विषे तुत्परहैं और जो सदा पराये अन्नके भक्षण करणे विषे तुत्परहैं और जो नित्य कर्म जो संध्या वंदनादि तिसके त्यागकों करतेहैं इनांकी इस प्रकार प्रत्याम्नाय करके शुद्धि होतीहै एह प्रत्याम्नाय श्रेष्ठतेंभी श्रेष्ट कहाहै ॥ ७ ॥ गौतम जीका वाक्यहै सांतपन कृच्छ्र व्रतका प्रत्याम्नाय श्रेष्ठ कहाहै और अतिशय करके पुष्ट और संपूर्ण भूषणों करके युक्त संख्या करके दश १० गौवां ब्राह्मणाके ताईं देवे इति । १ ।

अथेति इसतें अनंतर महासांतपनव्रतकों याज्ञवल्क्यऋषि कहताहै पृथगिति पंचगव्य और कुशा काजलएह जो छे६ द्रव्यहैं गोमूत्र और गोमय और दधि और दुग्ध और घृत और कुशोदक इनां कों क्रमकर्के छे६ दिनभक्षणकरे और अंतविषें उपवासव्रतकरे तां सत्तां७ दिनांकर्के महासांतपन कृच्छ्रव्रतकहाहै १ और यमजोने पंदरां १५ दिनांकर्के करणेयोग्य महासांतपनकहाहै सो दखाईदाहै त्र्यहमिति त्रय दिन गोमूत्र पीवे और त्रय दिन गोमयपीवे और त्रय दिनदधि पीवे और त्रय दिन दुग्ध पीवे और त्रय दिन घृत पीवे ईहां कुशोदक नही कहा इस करणे कर्के शुद्ध होताहै

अथमहासांतपनाख्यंव्रतमाहयाज्ञवल्क्यः पृथक्सांतपनंद्रव्यैःषडहःसोपवासकः सप्ताहेनतुकृच्छ्रोयंमहासांतपनःस्मृतः॥ १ ॥ द्रव्यैःपंचगव्यकुशोदकैःपृथक्प्रतिदिनंसेवितैः महासांतपनं भवति अस्यदिवसमर्यादांदर्शयतिसोपवासकःषडहइतिसप्ताहसाध्यइत्यर्थः ॥ १ ॥ यमेनतुपंचदशाहसाध्योमहासांतपनोऽभिहितः ॥ त्र्यहंपिबेत्तुगोमूत्रंत्र्यहंवैगोमयंपिबेत् त्र्यहंदधित्र्यहंक्षीरंत्र्यहंसर्पिस्ततःशुचिः महासांतपनंह्येतत्सर्वपापप्रणाशनमिति जाबालेनतु एकविंशतिरात्रनिर्वर्त्यो महासांतपनउक्तः षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् त्र्यहंचोपवसेदंत्यंमहासांतपनंविदुरिति ॥ १ ॥ यदातु षण्णांसांतपनद्रव्याणामेकैकस्यद्व्यहमुपयोगस्तदाऽतिसांतपनम् ॥

एह महासांतपन संपूर्ण पापांके नाशकरणे वालाहै इति १ जाबालऋषिनें इकीस २१ दिनकर्के महा सांतपन कहाहै छे ६ जो द्रव्यहैं गोमूत्रतें आदलेके तिनां विचों एक एक द्रव्यकों त्रय त्रय दिन भक्षण करे और अंत विषे त्रय दिन उपवास व्रत करे इसकों महासांतपन कहतेहैं इति ॥ १ ॥ जद फेर छे ६ जो महासांतपन विषे द्रव्य कहेहैं गोमूत्रते आदलेके कुशोदकतक तिनां विषे एक एक द्रव्यको दो दो दिन भक्षण करे तां अतिसांतपन व्रत होताहै ॥

जैसे धर्मराजजी कहते हैं एह जो गोमूत्रयीं आदलेके पंचगव्यके द्रव्यहैं तिनां विषे एक एककों दो दो दिन पीवे तिस व्रतका नाम अतिसांतपन कहाहै पाप कर्के चांडालके तुल्य भी जो पुरुषहै तिसको भी शुद्ध करताहै ॥ १ ॥ अव देवलजीका वचनहै महासांतपन नाम कर्के जो कृच्छ्र व्रत है सो संपूर्ण फलके देणे वालाहै इस विषे प्रसंगहै पूर्व आप इंद्र गौतमजीकी स्त्रीकों प्राप्त होता भया ॥ १ ॥ तिस महापापकर्के सो दोषकों प्राप्त होया होया वृक्षके मूल क्या मुढपास वडी भावना कर्के स्थित होया अर्थात् वडी चिंता कर्के युक्त हूआ अथवा वृद्धभाव नाम वृद्धावस्थाका है पाप कर्के वुड्ढाहोगया एह अर्थ है ॥ २ ॥ तद वरके देणे वाले गरुडके ऊपर असवार होए होए भक्तांके प्यारे विष्णु इंद्रकों देखकर दया

यथाहयमः। एतान्येवयथापेयादेकैकंतुद्व्यहंद्व्यहं अतिसांतपनंनामश्वपाकमपिशोधयेदिति ॥ १ ॥ देवलः । महासांतपनंनामकृच्छ्रंसर्वफलप्रदं पुरापुरंदरःसाक्षाद्गौतमस्यसतींव्रजन् ॥ १ ॥ तेनपापेनमहतासपापफलदूषितः वृक्षमूलमुपागम्यवृद्धभावमुपाश्रितः ॥ २ ॥ तदाप्रसन्नोंवरदश्चक्रपाणिःसवाहनः दृष्ट्वापुरंदरंप्राहदययाभक्तवत्सलः ॥ ३ ॥ एतत्पापविशुद्ध्यर्थंमहासांतपनंचर गुरुदाराभिगामीचचंडालीगमनंचरन् ॥ ४ ॥ स्वसारंतुसमागम्यभगिनींयःप्रधर्षयन् ॥ ४ ॥ स्वसृभगिन्योस्स्वोदरभिन्नोदरत्वेनभेदइत्यर्थः प्रधर्षयन्निति कामुकत्वेनवलादभिगच्छन्नित्यर्थः । चरेद्वारजकीगामी ग्रामचंडालदारगः ॥ विप्रश्चांडालदारेषुचरेत्तास्मिन्द्विजाधमः ॥ ५ ॥

कर्के कहते भये ॥ ३ ॥ हे इंद्र इस पापको शुद्धि वास्ते महा सांतपन व्रतकों तूंकर जो पुरुष गुरांकी स्त्रीके साथ गमन कर्ताहै और चांडाली साथ गमन कर्ताहै ॥ ४ ॥ और भागिनीके साथ गमन कर्ताहै और अपणी दूसरी माताकी कन्याके साथ गमन कर्ताहै (प्रधर्षयन्) इसका अर्थ एह है कि कामनातें वलकर्के जो भोगताहै ॥ वा छींवेकी स्त्रीके साथ गमन करे और ग्राम विषे रहणे वाला जो चंडाल तिसकी स्त्रीके साथ जो गमन करताहै और ब्राह्मण होकर चंडालकी स्त्री विषे जो गमन कर्ताहै असा पापी भी तिस महा सांतपन व्रत कर्के शुद्ध होताहै ॥ ५ ॥

ओर इनां पापांकी शुद्धि करणे वाला महासांतपन व्रतहि है हेराम एह देवलजी का वचन है और असत्यवाणी कहणे विषे जो पाप है और पापी पुरुषके साथ बोलणे विषे जो पाप है ॥ ६ ॥ और किसे पुरुष कर्के दिची होई कोई वस्तु तिसके खोलवणे विषे जो पाप और आप ही देणी आपही लय लेणी तिस विषे और जो रु धिरके पीणे वाला है रुधिरपान इसजगा मंत्रसाधनादिविषे जानणा और जो सदा औषधोंके करणे वाला है अर्थात् द्रव्यके लोभकर्के नीरोगकोंभी औषधिकर्के रोग वाला कर देताहै ॥ ७ ॥ और सदाहि प्रातःकालविषे और संध्याकालविषे और तैसे देवताके पूजने विषे जो पाखं डहि कर्ताहै ऐसेहि जो व्रात्यहै और तुलादानकों लेके जिसने प्रायश्चित्त नहि कीता ॥ ८ ॥ ऐसे को कर्म्म काल विषे स्मरण न करे और नादेखे पतितजाण कर्के अथवा और

तस्मिन्सांतपनेचरेत्प्रवर्त्तेतइत्यर्थः एतेषांनिष्कृतीराममहासांतपनंपरम् असत्यभाषणेपापमसत्यानांचभाषणे ॥ ६ ॥ परदत्तापहारेचस्वदत्ता पहरेतथा ॥ असृक्पानरतेचैवसदाभैषज्यवर्त्तिनि ॥ ७ ॥ प्रातःकाले सांध्यकालेतथादेवार्चनेयदि पाखंडयतितंव्रात्यंतुलास्वकृतनिष्कृतिम् ॥ ८ ॥ नस्मरेत्कर्मकालेषुनपश्येद्दैकदाचन एतेषांपापराशीनांमहासांतप नंपरम् ॥ ९ ॥ तुलास्वकृतनिष्कृतिम् तुलादानंगृहीत्वाऽकृतप्रायश्चित्त मित्यर्थः। गालवः॥ द्विदिनंसमुपोष्यैवद्विदिनंपूर्ववत्पयः पूर्ववन्नियमंकृत्वा द्वादशाहेनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ पराशरः। माषमग्नंपिबेत्क्षीरंद्विदिनंसमुपोषये त् एवंकुर्याद्द्वादशाहंपूर्ववन्नियमाश्रितः ॥ १ ॥

शुभ कर्मके करणे योग्यकाल विषे विष्णुकों जो नहि स्मरण करदा और कदोभी देव मूर्त्तिकों नहि देखता ऐसे जो महापापी हैं तिनां पापांके समूहकों दूरकरणे वाला महासांतपन व्रतहि कहाहै । ९ ॥ अब गालवऋषिका वचनहै द्विति दो २ दिन उपवास व्रत करे और दो २ दिन दुग्धपीवे पूर्ववत् यथा गोमूत्र और गोमय और दुग्ध और दधि और घृत इनांकों दोदोदिन पीवे पीछेकी न्यांई नियमकरे इस प्रकार बारां १२ दिनांके व्रत कर्के शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अब पराशर जीका वचनहै माषेति मांहका दाणा जिस विषे छपे ऐसे दुग्धको दो २ दिन पीवे पूर्वकी न्यांई गोमूत्र आदिक पीकर दोदिनउपवासव्रत करे सो पूर्वकी न्यांई नियमकों आश्रयकर्ता होया बारां १२ दिनांके व्रतकों करे ॥ १ ॥

अब मनुजीका वचनहै पूर्वेति पूर्वकी न्यांईं प्रातः कालतें लेकेस्नान आदि नियमकों करे और सो द्विज जद सूर्य्यकीयां किरणां मंदतेजवालीयां होण तिसकाल विषे नियमकों त्यागता हुआ ॥ १ ॥ दो २ दो दिनकें क्रमकर्के गोमूत्र आदिकों पींदा होया माषमन्न दुग्धकों विष्णुके तांईं नैवेद्य लाकर्के दोदिन पीवे और दो दिन उपवास व्रत करे ॥ २ ॥ और देवताके समीप विषे शयन करे इस प्रकार बारां १२ दिनांके व्रत कर्के शुद्धिकों प्राप्त होताहै दो दिन है उपवास जिस विषे और दो दिन है दुग्ध पान जिस विषे ऐसा महासांतपन व्रत है ॥ ३ ॥ इसतें उपरंत महासांतपन कृच्छ्रव्रतके प्रत्याम्नायकों देवलऋषि कहताहै महासांतपन कृच्छ्रके प्र

मनुः ॥ पूर्ववत्प्रातरारभ्यद्विजोनियमपूर्वकम् यदामंदायतेभानुस्तदानियममुत्सृजन् ॥ १ ॥ माषमन्नंपिवेत्क्षीरंविष्णवेतुनिवेदितम् दिनद्वयंपयः पीत्वाद्विदिनंसमुपोषयेत् ॥ २ ॥ स्वपेच्चपूर्ववद्देवसमीपेव्रतमाचरन् एवंद्वादशरात्रंचकृत्वाशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ३ ॥ दिनद्वयमुपोषणंदिनद्वयंपयोभक्षः एवंक्रमेण द्वादशाहसाध्यंमहासांतपनम् ॥ अथ महासांतपनकृच्छ्रप्रत्याम्नायमाहदेवलः । महासांतपनकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायंशृणुष्वमे यदाचरणमात्रेणविप्रःपापात्प्रमुच्यते ॥ १ ॥ महाराजविजये । महासांतपनस्यास्यप्रत्याम्नायोमहानयम् कृच्छ्रस्यैतस्यविहितंकर्तुंसर्वमशक्तिमान् ॥ १ ॥ मानवोऽयंप्रकुर्वीत सर्वकृच्छ्रफलाप्तये गावोदेयाःप्रयत्नेन विप्रेभ्यःषोडशामलाः ॥ २ ॥ अलंकृताःसुपुष्पाद्यैर्वस्त्राभरणभूषिताः सुशीलाश्चपयास्विन्यःसवत्साःपापहारिणीः ॥ ३ ॥

त्याम्नायकों मेरेथों श्रवणकर जिसके करणेनैंहि ब्राह्मणपापतें रहित होताहै ॥ १ ॥ महाराज विजय ग्रंथ विषे कहाहै महासांतपनका प्रत्याम्नाय एह महाफलके देणे वालाहि इस कृच्छ्रके करणे विषे सामर्थ्यतें रहित जो पुरुष है सो संपूर्ण कृच्छ्र व्रतके फलकी प्राप्ति वास्ते सोला १६ गौवां यत्नकर्के ब्राह्मणांकेतांईं देवे ॥ २ ॥ कैसीयां गौयां जो पुष्पांकर्के और वस्त्रांकर्के और भूषणां कर्के युक्त हैं और सुशीलाहैं और सहित बच्छयांके हैं और दुग्ध देणे वालीयां हैं और पापांके नाश करणे वालीयांहैं ॥ ३ ॥

पराशरजीका वचन है महेति बुद्धिमान् जो ऋषि हैं सो महासांतपन व्रतके स्थान तुल्य फलके देणे वाले प्रत्याम्नायकों कहतेहैं सोलां १६ गौयां वस्त्रां करके और भूषणां करके युक्त दुग्धदेणे वालीयां सहित वछयांके साधु स्वभाववालीयां उत्कष्ट सुखकी प्राप्ति वास्ते ब्राह्मणांके तांई देवे एह प्रत्याम्नाय तुल्य फलके देणे वाला कहाहै ॥ २ ॥ इसते उपरंत अतिकृच्छ्रव्रतकों मनुजी कहतेहैं एकैकमिति एक एक ग्रासकों पूर्वकीन्यांई ऽयहानि श्रीणि क्या नौ ९ दिन खावे और अंत्य विषे त्रय दिन उपवास करे ऐसे द्विज अतिकृच्छ्र व्रतकों करे ॥ १ ॥ अब देवलजीका वचनहै अतीति अतिकृच्छ्रव्रतकों कहताहां कैसा व्रतहै संपूर्णपापांके दूरकरणे

पराशरः । महासांतपनस्यास्यप्रत्याम्नायंविदुर्बुधाः गावःषोडशविप्रेभ्यो देयाः सम्यक् सुखाप्तये ॥ १ ॥ अलंकृताश्चवस्त्राद्यैः पयस्विन्यः पृथक्पृथक् ॥ सवत्साःसाधुशीलिन्यः प्रत्याम्नायउदीरितः ॥ २ ॥ अथातिकृच्छ्रमाह मनुः ॥ एकैकंग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणित्रीणिपूर्ववत् ॥ त्र्यहंचोपवसेदंत्यमतिकृच्छ्रंचरन्द्विजः ॥ १ ॥ देवलः ॥ अतिकृच्छ्रंप्रवक्ष्यामि सर्वपापोपशांतिदम् सर्वकृच्छ्रप्रदंन्दृणांशृणुराजन्प्रयत्नतः ॥ १ ॥ अतिकृच्छ्रस्यमाहात्म्यंवर्णितुंकेनशक्यते पुराहिकौशिकोनामऋषिर्धर्मपरायणः २ ॥ वसिष्ठात्मजघातीस्यात्तस्मात्कारणतःप्रभो तेषांहत्याविनाशार्थंकृच्छ्रमाहप्रजापतिः ॥ ३ ब्रह्महत्यागुरोर्हत्याभ्रूणहत्यामहत्तरा कन्याहत्याशिशोर्हत्यातथातेषांमहत्यपि ॥ ४ ॥ वीरहत्याधेनुहत्यागजाश्वमहिषीवधः ॥

वाला और पुरुषांकों संपूर्ण कृच्छ्र फलकेदेणे वालाहै हेराजन् इसकों यत्नतें श्रवणकर ॥ १ ॥ अतिकृच्छ्रमाहात्म्यके कहणेकों कौण समर्थ होताहै इस विषे प्रसंगहै पूर्व धर्मात्मा विश्वामित्र नाम ऋषि वशिष्ठके पुत्रांकों मारताभया तिस कारणतें हेप्रभो तिनां बालकांकी हत्याके दूरकरणे वास्ते तिसकों प्रजापति ब्रह्मा अतिकृच्छ्र व्रत कहता भया ३॥ ब्रह्महत्याका पाप और गुरांकी हत्या और गर्भकी हत्या जो वडीहै और कन्याकी हत्या और बालककी हत्या तिनांकी जो वडी हत्या ॥ ४ ॥ और वीरकी हत्या क्या शूरेंमकी हत्या और प्रसूत होई होई गौकी हत्या और हाथी और घोडा और महिषी इनांका मारणा ॥

घास और काष्ठ और वृक्षांकाकटणा और खेत्ती और बाग इनांकाकटणा ५ और तला खूआ और जलके स्थान तिनांका और वेदशालाका नाशकरणा और गृहकादाहकरणा और ब्राह्मणके क्षेत्रविषे किसे शूकरादिको मारणा ऐसा जो पाप तिसको वधाणा ६ और अन्नकेस्थानांका दाहकरणा और महिषी और गौ इनांका दाहकरणा और शृंगकाभञ्जणा और पुच्छका कटणा तैसे तिनांको विमर्दन क्या खस्सीकरणा ७ और तोता और विवींया और सर्प और मच्छ और हंस और कुत्ता और कुकुड और काक तिनांका मारणा और वनके मृगांका मारणा ८ और गृहके दरवाजेको भञ्जणा और पात्थरांका भञ्जणा और वनके पत्रांका साडना जो गिले पत्रहैं हेराजन्

तृणकाष्ठद्रुमच्छेदःसस्यारामादिछेदनम् ॥ ५ ॥ तटाककूपकासारभेदनंवेदवेश्मनाम् गृहदाहोद्विजक्षेत्रेमारणंपापवर्द्धनम् ॥ ६ ॥ धान्यारामादिदहनंदाहनंमहिषीगवाम् शृंगलांगूलविच्छेदस्तथातेषांविमर्दनम्॥ ७ शुकचाषभुजंगानांमीनहंसशुनामपि कुक्कुटानांचकाकानांहिंसनंमृगमारणम् ८॥ दारुच्छेदः कपाटस्य पाषाणानांविभेदनम् दाहनंवनपर्णानामार्द्राणामिहभूमिप ॥ ९ ॥ सर्वासामेवहिंसानामतिकृच्छ्रंविशोधनं सर्वकृच्छ्रप्रदंचैवसर्वोपद्रवनाशनम् ॥ १० ॥ गालवः ॥ अतिकृच्छ्रस्यमहतःप्रकारमिहचोच्यते व्रतमात्रेयवान् शुभ्रान्श्यामाकांस्तंडुलानपि १ एकद्रव्यंसमादायव्रतादौपूर्ववच्चरेत् भागत्रयंतदाकृत्वातंडुलाःपूर्वमानतः ॥ २ ॥

॥ ९ ॥ संपूर्ण हिंसाके जो पापहैं तिनांके शुद्धिके देणे वाला अतिकृच्छ्र व्रत कहाहै और एही संपूर्णकृच्छ्र व्रतांके फलको देणेवाला और संपूर्ण उपद्रवांके नाश करणे वाला है ॥ १० ॥ अब गालव ऋषिका वचनहै ॥ अर्थ ति अतिकृच्छ्र जो बडा व्रत तिसका प्रकार इहां कहाहै व्रत मात्राविषे कहे जो यव सो श्वेत जानणे अथवा श्यामाकों क्या सांक अन्नविशेषहै तंडुलसो प्रसिद्ध हैं १ इनांविषेएकद्रव्यको ग्रहण करे इतके आद विषे पूर्वकी न्याई स्नान संध्यादि और व्रत चर्य्य करे और पीछे कथन कीया जो प्रमाण तिसी प्रमाण करके तंडुलादिकों ग्रहण करे और तिसकेतीन ३ भाग करे ॥ २ ॥

एक भागकों व्रतके आद विषे और दूसरे भागकों व्रतके मध्य दिनां विषे और तीसरे भागको व्रतके अंत विषे ग्रहण करे आद मध्य अंत विषे त्रय त्रय दिन जानणे तां प्रथम भाग के तीन ग्रास करे तां आदके तीन ३ दिन एक एक ग्रास भक्षण करे पूर्वरीतिसे और स्नान आदि व्रतके नियमपूर्वकी न्याई करे ॥ ३ ॥ और संपूर्ण दिनांके चतुर्थ कालविषे हस्तपादोंको शुद्धकर्के अंगांकों जलसे स्पर्शकेर और नारायण विषे मनको लगाकर देवताके समीप शयन करे ॥ ४ ॥ और प्रातः कालविषे पूर्वकी न्यांई निर्मलहोकर संध्यादिकर्म करे इसीतरां तीन ३ दिनांकेपीछे त्रय दिन निराहार रहे ॥ ५ ॥ जैसे छे ६ दिन व्रतका आद कहाहै इसीतरां छे६ दिन मध्यके और छे दिन व्रतके अंतके तां अठारां १८ दिन व्रतके सिद्ध होये ६ और व्रतके अंतविषे एक गौब्राह्म

व्रतादौमध्यदिवसेव्रतान्तेचदिनत्रयम् व्रतादौभक्षयेद्ग्रासंपूर्ववद्व्रतमाचरेत् ३ ॥ चतुर्थकालआयातिप्रक्षाल्यांगानिपूर्ववत् स्वपेद्देवसमीपेतुनारायणपरायणः ४ ॥ ततःप्रभातेविमलःसंध्यादीन्पूर्ववच्चरेत् निराहारस्तथाभूत्वा यावत्प्राप्तंदिनत्रयम् ॥ ५ ॥ तत्रैवभक्षयेद्ग्रासंद्वितीयार्द्धेविचक्षणः तत्रापिपूर्ववत्कृत्वा द्वादशेदिवसेशुभम् ॥ ६ ॥ तृतीयेत्र्यंतथाभुक्त्वागौरेकाविप्रसात्कृत्वा ब्रह्मकूर्चंततःपश्चात्शुद्धिमाप्नोतिपूर्वजः ॥ ७ ॥ अतिकृच्छ्रमिदंसर्वंमुक्तंमुनिभिरादरात् एतस्याचरणेनैवसर्वदोषात्प्रमुच्यते ॥ ८ ॥ अत्रायमभिप्रायः ॥ पूर्वमानत एकैकंग्रासमश्नीयादित्युक्तमानतोभागत्रयम् षट्कत्रयंकुर्यात् ततश्चाष्टादशदिनसाध्यताजाता

णके तांई देवे इसको मूलकार फेर प्रकट कर कहतेहैं टीकाकारने इहांई स्पष्टकह दियाहै और पीछे ब्रह्म कूर्च कर तां ब्राह्मण शुद्धिकों प्राप्त होताहै ॥ ७ ॥ एह अतिकृच्छ्र संपूर्ण मुनियांनें आदरतें कहाहै इसके करणेंतें पुरुष संपूर्ण दोषांतें रहित होताहै ॥ ८ ॥ इस विषे एह अभिप्राय है पूर्वप्रमाणों (एक एक ग्रासकों भक्षण करे त्रय दिन तक और चौथे दिन उपवास करे इस रीतिसे तीन आवृत्ति करणे कर्के १२ दिन साध्यता व्रतकोंहोईथी और इस विषे ग्रासका मानआमलेके बराबरहै एह पीछे किहाहै ॥ इस उक्त मानतें जो भागत्रयहै चार दिनां कर्के सो छे दिनके करे तां इसका नियम अठारां दिनांकर्के सिद्ध होया ॥

तिसका प्रकार बतादो इत्यादि करके कहाहै पूर्व त्रयः दिनां विषे त्रय ग्रास भक्षण करे । और त्रय दिन उपवास करे फेर । ऐसेहि त्रय दिनां विषे त्रय ग्रास भक्षण करे और त्रय दिन उपवास करे ऐसे समाप्ति तक करे इस विषे अतिकष्ट होणेते महा अतिकृच्छ्र नाम इसका है और अगले श्लोकसे जाणीदाहै कि सर्वाति कृच्छ्र भी इसकानाम होवैगा द्वितीया द्वै दूसरे छकेविषे तृतीये वचा तीसरेछके विषे तृतीयेत्थं इस विषे संधि आर्षहै क्या ऋषिके मुखसे इस वचाका उद्गम है सो सर्वज्ञ थे इतकर्के एह निर्दोषहै जो याज्ञवल्क्यजीका वचनहै एहहि प्राजापत्य कृच्छ्र एक भक्त क्या दूसरे पहर विषे २२ ग्रास भक्षण करणे और दूसरे दिन नक्त व्रत विषे १२ बारां ग्रास भक्षण करणे और तीसरे दिन अयाचित दिनके २४ ग्रास

तत्प्रकारोब्रतादावित्यादिना पूर्वं त्रिदिनं ग्रासत्रयंभुक्त्वा त्रिदिनमुपवासः पुनरेवंयावत्समाप्तित्यतिकष्टदायित्वान्महातिकृच्छ्रसंज्ञा । द्वितीयाद्वैद्वितीयषट्के तृतीयेतृतीयषट्केइत्यर्थः ॥ तृतीयेत्थमित्यत्रसंधिरार्षः ॥ यत्तु याज्ञवल्क्यः अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूरान्नभोजनइति अयमेवप्राजापत्यकृच्छ्रएकभक्तनक्तायाचितादिवसेषु पाणिपूरान्नभोजनयुक्तोऽतिकृच्छ्रइत्यर्थः तदेतदशक्तविषयम् पाणिपूरान्नस्यग्रासान्नापेक्षयाधिकत्वात् ॥

❀ अथातिकृच्छ्रप्रत्याम्नायमाहदेवलः अतिकृच्छ्रस्यसर्वस्यप्रत्याम्नायोमनीषिभिः प्रोक्तःसर्वहितार्थायसर्वपापप्रणाशनः ॥ १ ॥ संकलीकरणानां चकन्याधेन्वादिविक्रये तिलतंडुलधान्यानांफलानांरसविक्रये महापातकभीतानांशोधनंपापनाशनम् ॥ २ ॥

भक्षण करणे इनांकी जगा एक हाथका प्रकृति परिमाण अन्न जो भक्षण करणाहै अतिकृच्छ्र व्रत कहाहै एह असमर्थ विषे जानणा क्योंके पाणिपूरान्न भोजनकों ग्राससें अधिकहोणेतें

● इससें अनंतर अतिकृच्छ्रके प्रत्याम्नायकों देवलऋषि कहताहे अतिकृच्छ्र संपूर्ण व्रतका प्रत्याम्नाय बुद्धि मानानें कहाहै संपूर्ण पुरुषांकेहितवास्ते जो वदला संपूर्ण पापांके नाशकरणे वालाहै ॥ १ ॥ संकली करणपाप और कन्या धेनुआदिके वेचणेविषे जो पाप और तिल और चावल और अन्न और फल और रस इनांके वेचणें विषे जो पाप है तिनां पापांके नाशकरणे वालाहै और महापापतें जो भयकरके युक्त हैं तिनांके भयकों दूर करणे वालाहै ॥ २ ॥

अब मार्कंडेयजीकावचनहै हेराजन् तूं श्रवणकर इस प्रत्याम्नायकों मैं कहताहां जिसप्रत्याम्नायके करणे कर्के अतिकृच्छ्र व्रतके फलकों पुरुष प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ वस्त्रांकर्के अलंकृत दश १० गौयां ब्राह्मणांकेतांई भिन्न भिन्नकर्के देणेयोग्यहैं कैसी गौयांहैं जो सुशील स्वभाव वालीयां और दुग्ध देणेवालीयां ॥ २ ॥ अब इसीविषे मनुजीका वचनहै अतिकृच्छ्र जो वडाव्रतहै तिसके बदलेकों मेरेतें श्रवणकर ब्राह्मणांकेतांई दश १० गौयां देणेयोग्यहैं सहित वछयांके पूर्वकी न्यांई पूजाकों प्राप्त होयीं होयीं ॥ १ ॥ सुवर्ण शृंगां कर्के युक्त और भली प्रकार शोभाकर्के युक्त तिसविषे भी आपशुद्ध होकर्के भिन्न भिन्न देणे योग्यहैं वेदांके जानणे वालयांने असे कही जो विधिहै तिस कर्के अतिकृच्छ्र व्रतके फल नूं प्राप्त होताहै ॥ २ ॥ ❀ अब इसतें उपरंत कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत

मार्कंडेयः॥ प्रत्याम्नायमिमंराजन्वक्ष्यामिशृणुपार्थिव यदाचरणमात्रेण अतिकृच्छ्रफलंलभेत् ॥ १ ॥ दशगावःप्रदातव्यावस्त्राद्यैःसमलंकृताः ॥ साधुवृताःपयस्विन्योविप्रेभ्यश्च पृथक्पृथक् ॥ २ ॥ मनुः। अतिकृच्छ्रस्यमहतः प्रत्याम्नायंशृणुष्वमे विप्रेभ्योदशगावत्साः पूर्ववत्पूजिताअमूःवत्सावत्सवत्यइत्यर्थः । १ । स्वर्णशृंगादिभिःसम्यग्भूषयित्वापृथक्पृथक् शुचिभिस्तुप्रदातव्याविप्रेभ्योवेदवित्तमैः इत्थमुक्तेनमार्गेणकृत्वाकृच्छ्रफलंलभेत् ॥ २ ॥ ❀ अथकृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रतमाहयाज्ञवल्क्यः ॥ कृच्छ्रातिकृच्छ्रःपयसा दिवसानेकविंशतिम् गौतमेनतु द्वादशाहमुदकेनवर्त्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्र इत्युक्तम्अतश्चशक्त्यपेक्षया तयोर्व्यवस्था।तयोरेकविंशत्यहद्वादशाहयोः ❀॥ अथ तप्तकृच्छ्रमाह मनुः ॥ तप्तकृच्छ्रंचरन्विप्रोजलक्षीरघृतानिलान् प्रतित्र्यहंपिबेदुष्णान्सकृत्स्नायीसमाहितः ॥ १ ॥ अयमपिद्वादशदिनसाध्यः

नूं याज्ञवल्क्य ऋषि कहताहै कृच्छ्रेति दुग्ध कर्के इको २१ दिनका जो व्रत है तिसकों कृच्छ्रातिकृच्छ्र कहतेहैं गौतम ऋषिने कहाहै कि जल कर्के बारां दिन वर्त्तन करणा अर्थात् जल पान विना होर कुछ नाहैं भक्षण करणा सो कृच्छ्रातिकृच्छ्र कहाहै इसकारणतें समर्थ और असमर्थ पुरुषकों देखकर तिनां इक्कीस दिन २१ और बारां दिन २१ के व्रतांकी व्यवस्था जानणी ॥ ❀ इसतें अनंतर तप्तकृच्छ्र व्रतनूं मनुजी कहतेहैं तप्तेति त्रयदिन गरम जल पान करे त्रयदिन गरम दुग्ध पान करे और त्रयदिन गरम घृतपान करे और त्रय दिन गरम वायु कथा हवा लेवे असे एक काल स्नान कों कर्के और निश्चलमन कर्के तप्तकृच्छ्र व्रतके करणेतें शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ एभी १२ दिनका व्रत साध्यहै

अब याज्ञवल्क्य जी का वचन है तप्तेति तप्तदुग्ध और तप्तघृत और तप्तजल इनांकों क्रम कर्के एक एक दिन पानकरे और एक दिन उपवास व्रत करे तां तप्त कृच्छ्र व्रत कहाहै १ एइहि व्रत चार दिनका चार गुणां होवे क्या दुग्ध और घृत और जल और उपवास इनांकों क्रम कर्के चार चार दिन पानकरे तां महातप्त कृच्छ्र व्रत सोलां १६ दिनांका होताहै ॥ एभिरिति इनां तप्तक्षीर आदि संपूर्णका एक दिन पान करे और एक दिन उपवास करे ऐसे दो २ रात्रां कर्के सांतपनकी न्यांई तप्तकृच्छ्र भी द्विरात्रनाम व्रत होताहै ॥ मनुजीने तप्तकृच्छ्रं चरन्नित्यादि कर्के पूर्व कहा जो श्लोक तिसकर्के बारां दिनांका व्रत हुंदाहै

याज्ञवल्क्यः तप्तक्षीरघृतांबूनामेकैकंप्रत्यहंपिवेत् एकरात्रोपवासश्चतप्तकृच्छ्रउदाहृतः ॥ १ ॥ एषएवप्रत्येकंदिवसचतुष्टयसंपाद्योमहातप्तकृच्छ्रः तथाचायंषोडशादिनसाध्य एभिरेवसमस्तैः सोपवासैर्द्विरात्रसंपाद्यःसांतपनवत्तप्तकृच्छ्रः मनुनातु पूर्वोक्तश्लोकेनद्वादशाहनिर्वर्त्योभिहितः ।क्षीरादिपरिमाणंतु पराशरेणोक्तम् । अपांपिवेत्तुत्रिपलंद्विपलंतुपयःपिवेत् पलमेकंपिवेत्सर्पिस्त्रिरात्रंचोष्णमारुतमिति ॥ १ ॥ त्रिरात्रंचोष्णमारुतमिति त्रिरात्रस्यपूर्णउष्णोदकवाष्पंपिवेदित्यर्थः ॥ प्रकारांतरेण तप्तकृच्छ्रस्वरूपं पुनरेवाह पराशरः ॥ षट्पलंतुपिवेदंभस्त्रिपलंतुपयःपिवेत् पलमेकंपिवेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रोविधीयतइति । १ । अत्र जलादिकमुष्णमेवग्राह्यम् । यदातु शीतंक्षीरादिकंपीयते तदा शीतकृच्छ्रः

तिसविषें दुग्धादिकांका परिमाण पराशरने कहाहै त्रय ३ छटांक जलपीवे और दो छटांक दुग्ध पीवे और एक छटांक घृत पीवे और त्रय रात्रीके अंत विषें गरम जलकी हवाडको भक्षण करे ॥ १ ॥ अब होरी प्रकार कर्के तप्त कृच्छ्र व्रतके स्वरूपकों फेर पराशरजी कहतेहैं छे ६ पल परिमाण गरम जल पीवे और त्रय पलकंपरिमाण गरम दुग्ध पीवे और एक पल परिमाण गरम घृत पीवे तिसका नाम तप्त कृच्छ्र कहाहै इहां पल कर्के छटांक लैणी इसमे जलादिक सभगर्मेहि ग्रहण करणे ॥ १ ॥ पूर्वोक और जद जल आदिक शीत वस्तु शीत क्या ठंडीयां होण और तिनांकों पीवे तां तिसका नाम शीत कृच्छ्र कहाहै

सो दिखाई दाहै त्र्यह मिति त्रय ३ दिन शीत जल पीवे और त्रय दिन शीतल दुग्ध पीवे और त्रयदिन शीतलघृतपीवे और त्रयदिन वायु भक्षण करे इस कहणेंतें २ अब देवलऋषिका वचनहै त्रय दिन तक गर्म कीताजो जल तिस विषें वायुकी हवाड लये और त्रयदिन तक गरम जल और त्रयदिन गरम घृत इनांकों पीकेकर्के ब्राह्मण शुद्धिकोंप्राप्त होताहै इसके मतमे नौ दिनका एह व्रतहै १ अब इसीविषें मार्कंडेयजीका बचनहै त्रयदिन वायुगरम और त्रयदिन दुग्ध गरम और त्रयदिन घृत गरम तिनांके पीके कर्केहि ब्रह्महत्याराभी शुद्धि को प्राप्त होताहै द्विजर्षभ कया ब्राह्मणां विषे श्रेष्ठ होताहै ॥ १ ॥ अब इसी विषे गौतमजीका व

त्र्यहंशीतंपिबेत्तोयंत्र्यहंशीतंपयःपिबेत् ॥ त्र्यहंशीतंघृतंपीत्वावायुभक्ष्यः परंत्र्यहमितिस्मरणात् ॥ २ ॥ देवलः ॥वायूष्णंत्रिदिनंविप्रःपयउष्णंदिनत्रयम् त्रिदिनंघृतमुष्णंचपीत्वाशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ १ ॥ मार्कंडेयः ॥ वायुमुष्णंपयस्तप्तंघृतमुष्णंदिनत्रयम् पीत्वाशुद्धिमवाप्नोतिब्रह्महापिद्विजर्षभः १ गौतमः । उष्णंपयःपयस्तप्तमुष्णंघृतमनंतरम् चतुर्णामपिपापानांपावनंमुनिभिःस्मृतम् । १। अत्रचतुःसंख्यास्थापनार्थमनंतरंत्र्यहमुष्णवायुपानं बोध्यम् ॥ आपस्तम्बः ॥ त्र्यहमुष्णंपिबेद्वारित्र्यहमुष्णंपिबेत्पयः त्र्यहमुष्णंपिबेत्सर्पिर्वायुभक्ष्योदिनत्रयम् ॥ १ ॥ ग्रंथांतरे त्र्यहमुष्णंपिबेद्वारि त्र्यहमुष्णंपिबेत्पयः त्र्यहमुष्णंपिबेत्सर्पिर्वायुभक्ष्योदिनत्रयम् ॥ १ ॥

चनहै गरम जल और गरम दुग्ध और गरम घृत और अनंतर कर्के गरम वायु जानणा इसप्रकार चारोंको ४ त्रयत्रय दिन पीवे तां संपूर्ण पापांके दूरकरणेवाला मुनियांने एहव्रत कहाहै १ ॥ अब इसी विषे आपस्तंब ऋषिका वचनहै त्रयदिन गरम जल पीवे और त्रय दिन गरम दुग्ध पीवे और त्रय दिन गर्मघृत पीवे और त्रयदिनगर्म पवनकाआहारकरे तां तप्तकृच्छ्रव्रत कहाहै एहबारांदिनकर्केसाध्यजाणणा । १ । होरी ग्रंथविषे ऐसा कहाहै त्रय दिन गरम जल और त्रय दिन गरम दुग्ध और त्रय दिन गरम घृतपीवे और त्रयदिन गरम वायु पान करे ॥ १ ॥

श्रौर वायुका भक्षण गरम रात्रि विषें करे श्रौर जेकर शीतल वायु पान करे तां दिन विषें करे श्रौर एह त्रय दिन वायुभक्षणभी वारांदिनांके पूर्णकरणे वास्ते कहाहै इसमे अभिप्राय कहतेहैं यत्रेति ॥ जिस जिस स्थान विषें मुनियांनें कृच्छ्र व्रत कहाहै तिस तिस श्लोक विषें वारां दिनांका जानणे योग्यहै ॥ सो बृहस्पतिजी कहतेहैं हेद्विजर्षभ मुनियांने जो शास्त्रां विषें कृच्छ्रव्रत कहाहै सो वारां दिनांकर्केहि साध्य है श्रौर देहकोशुद्धिके देणे वालाहै ॥ १ ॥ श्रौर जिस विषें अब्द कया वर्षदिनका कृच्छ्रव्रतांविषें कहाहै सो वर्षविषें वारां वारां दिनांके हिसावसें तीस ३० व्रत जानणे सोबृहस्पतिजी कहतेहैं प्रेति प्राजापत्य जोकृच्छ्रव्रत कहेहें तिनांविषें वुद्धिमानोनें जोवर्ष दिनकहाहै तिसकी गिणती कर्के तीस ३० व्रत जानणे १ एह प्राजापत्य कृच्छ्रकाहि लक्षणहै होरी

वायुभक्षणंतुउष्णमनक्तंवा द्वादशदिनपरिपूर्त्यर्थंकर्त्तव्यम् ॥ यत्रयत्रकृच्छ्रं मुनिभिरुपदिष्टंतत्रतत्रद्वादशदिनकंवेदितव्यम् तदाह बृहस्पतिः मुनिभिःकृच्छ्रमित्युक्तंशास्त्रेषुचाद्विजर्षभ तत्कृच्छ्रं द्वादशाहोभिः साध्यं देहविशुद्धिदम् १ यत्राब्दमित्युक्तंकृच्छ्रेषुतत्तुत्रिंशत्संख्याकंतदेवाह प्राजापत्येषुकृच्छ्रेषुअब्दमित्युच्यतेवुधैः त्रिंशत्संख्यांविजानीयात्प्राजापत्यस्यलक्षणम् १ प्राजापत्यस्यकृच्छ्रस्यैव नान्यस्य। विष्णुः। सर्वेषामेवपापानां तप्तकृच्छ्रंविशोधनम् ततःपरममित्युक्तंमुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः १ तप्तकृच्छ्रमाधिकृत्याहहारीतः एषकृच्छ्रोद्विरभ्यस्तः पातकेभ्यःप्रमोचयेत् त्रिरभ्यस्तोयथान्यायंशूद्रहत्यांव्यपोहति ॥ १ ॥ कृच्छ्रसामान्यविधिमाह विष्णुः ॥ कृच्छ्राण्येतानिसर्वाणिकुर्वीतकृतवापनः नित्यंत्रिषवणस्नायी चाधःशायीजितेंद्रियः ॥ १ ॥

व्रतका नहि ॥ अव विष्णुजीकावचनहै संपूर्ण पापांके दूरकरणेवास्ते यथार्थदेखणवाले मुनियांने परम हितजाणकर्के तप्तकृच्छ्र व्रत शुद्धिकरणवाला कहाहै १ अव तप्तकृच्छ्रकों अंगीकारकर्के हारीतऋषिका वचनहै एह तप्त कृच्छ्र व्रत दो वार कीता होया पापांतें शुद्धिकों करताहै श्रौर त्रायवार कीता होया यथा योग्य शूद्र हत्याके पापको दूरकरताहै॥ १॥ अव कृच्छ्र व्रतकी सामान्य विधिको विष्णुजी कहतेहैं इनां संपूर्णा कृच्छ्र व्रतांको पुरुष करे तिनां विषे एह विधिहै मुंडन करवाये श्रौर नित्य त्रयकाल स्नान करे श्रौर पृथ्वी पर शयन करे श्रौर इंद्रियांको विषयांते रोककर राखे ॥ १ ॥

और स्त्रीयां और शूद्र और पापीएनांके साथ संभाषणत्यागे और पवित्र जो मंत्र तिनांकोनित्य जपे और अपनी समर्थातें हवन करे ॥ २ ॥ इसतें उपरंत तप्त कृच्छ्र ब्रतके स्थान प्रत्याम्नाय जो बदलाहै जिस बदलेके कीतयां होयां तप्त कृच्छ्र ब्रतका फल प्राप्त होताहै तिसको देवल ऋषिजी कहतेहैं तप्तेति तप्त कृच्छ्र संपूर्ण ब्रतका प्रत्याम्नाय मनुने कहाहै जो पुरुष तप्त कृच्छ्र ब्रतके करण विषे समर्था वाले नहि हैं तिनां उपर कृपा करके पुरा कथा पिच्छे हे अनघ हे पापांतें रहित तप्त कृच्छ्रका बदला कहाहै तिसको अब मैं कहताहां श्रवणकरो हे ब्राह्मणां विषें श्रेष्ठांहो ॥ १ ॥ कलि युग विषे विशेष करके अन्नके त्यागतें पुरुष मृत्युकों प्राप्त होताहै तिसविषे पराशर जीका वचनहै कृतइति सत्ययुग विषे प्राणांकी स्थिति देहके चर्म विषें रहतीहै और त्रेतायुग विषे प्रा

स्त्रीशूद्रपतितानांचवर्जयेदभिभाषणम् पवित्राणिजपेन्नित्यंजुहुयाच्चापिशक्तितः ॥ २ ॥ अथतप्तकृच्छ्रप्रत्याम्नायमाह ॥ देवलः ॥ तप्तकृच्छ्रस्यसर्वस्यप्रत्याम्नायोमनोःकृतः अशक्तानांचकृपयाकर्त्तुमुक्तःपुरानघ ॥ तमेवाहंब्रवीम्यद्यशृण्वंतुद्विजसत्तमाः ॥ १ ॥कलौयुगेविशेषेणह्यन्नत्यागान्मृत्युंगच्छति ॥ पराशरः ॥ कृतेचर्माश्रितः प्राणः त्रेतायांकीकसाश्रयः द्वापरेरक्तमाश्रित्यकलावन्नंसमाश्रितइति ॥ १ ॥ कलौयुगेद्वादशरात्रसाध्यकृच्छ्राणांकर्त्तुमशक्तान् निरीक्ष्य ऋषयः प्रत्याम्नायमुक्तवंतस्तमेवाहात्रैव गौतमः महतस्तप्तकृच्छ्रस्यब्रह्महत्यानिवारिणः तुलाप्रतिग्रहीतॄणांशोधकः स्यान्महामुने ॥ १ ॥ प्रत्याम्नायस्तदाप्रोक्तोयदाचसुसमागमः ॥ स्वयंभूःकृपयान्दृणांगवांविंशतिमादरात् सवत्सावहुदुग्धाश्चसाधुशीलाद्विजातये २ ॥ द्विजातिभ्यइतिवक्तव्ये जातावेकवचनम्

णांकी स्थिति अस्थियांविषे रहतीहै और द्वापरयुगविषे रुधिरके आश्रय प्राणस्थितिहै और कलियुगविषे अन्नकेआश्रय प्राणांकी स्थितिहै १ इसकारणतें कलियुगविषे बारां १२ दिनांकर्के ब्रत करणें विषे पुरुषसामर्था बाले नहि ऐसेविचार कर ऋषि प्रत्याम्नायकों कहते भये तां तिस तप्तकृच्छ्रकों गौतम ऋषि कहताहै हेमहामुने तुला दानके प्रति ग्रहकों लयणें बाले जो पुरुष हैं तिनांके पापांकों दूर करणे वाला बडा जो तप्तकृच्छ्र ब्रत सो कहाहै कैसा ब्रत है जो ब्रह्महत्याके भी दूर करणे वालाहै १ प्रत्याम्नाय तद कहाहै जद महात्माका संगमहोवे तो ब्रह्मा पुरुषां उपर कृपाकरके कहताहूया गौयांसहितबछयांके दुग्ध देणे वालीयां और भले स्वभाववालीयां वीस २० आदर करके ब्राह्मणांकेतांई देणे योग्यहै द्विजातये एह जाति विषे एक वचनहै । २ ।

अब इसीविषे मरीचिऋपिका वचनहैं पापांके नाश करणे वाला जो तप्तकृच्छ्रहै वडा ब्रह्मरूप तिसका वदला एहहै वीस २० गौवां आदर करकें ब्रह्मणांके तांई देवे ॥ १ ॥ अब पराशरजी कावचनहै वडा जो तप्तकृच्छ्र तिसका वदला वस्त्र और भूषणांके साथ सहित बछयांके ॥ २० गौवां आत्मज्ञानके विचार करकें युक्त जो ब्राह्मण तिनांके तांई देता हुवा ॥ १ ॥ शुद्धिकों प्राप्त होताहै हेराजेंद्र औंर तप्त कृच्छ्रके फलकों प्राप्तहोताहै तिस कारणतें तिनांवर्णां विर्चां जो तप्तकृच्छ्र व्रतके करणे विषे नहि समर्थांवाले तिनांनें प्रत्याम्नाय करणे यो ग्यहैं औंर पीछे पंचगव्यका पान करणा ऐसा किहाहै ॥ २ ॥ औंर तुला आदिक दानके ग्रहण करणे वाले जो पुरुष हैं तिनांकों तिस प्रतिग्रहदोषके दूरकरणे वाले प्रायश्चित्त करण विषे एहि

मरीचिः पापनाशककृच्छ्रस्यतप्तस्यब्रह्मरूपिणः दद्याद्द्विजातयेसम्यग्ग वांविंशतिमादरात् १ पराशरः॥ महतस्तप्तकृच्छ्रस्याविप्रायाध्यात्मवेदिने सालंकारांसवत्सांचधेनुर्विंशातिकांददन् ॥ १ ॥ शुद्धिमाप्नोतिराजेंद्रतप्तकृ च्छ्रफलंलभेत् ततोद्विजातिभिःकार्य्यास्त्वशक्तैस्तप्तरूपिणः पंचगव्यंपिवे त्पश्चात्प्रत्याम्नायइतीरितः ॥ २ ॥ तुलादिप्रतिग्रहीतृणामपीयमेवगति स्तत्प्रायश्चित्तकरणविषये ॥ अपरार्के ॥ अतिकृच्छ्रेपराकेचतप्तकृच्छ्रेतथै वच प्राजापत्यत्रयंकुर्यात् कृच्छ्रेगोमिथुनंभवेत् ॥ १ ॥ स्मृत्यर्थसारे। मासो पवासस्थाने पंचदशप्राजापत्याइति चतुर्विंशतिमते धर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः कदाचित्पापमागताः जपहोमादिकंतेभ्योविशेषेणाभिधीयते ॥ १ ॥

तप्तकृच्छ्रव्रत कहाहै ॥ अब अपरार्क विषे कहाहै क्या अतिकृच्छ्रव्रत विषे औंर पराक व्रत विषे और तप्त कृच्छ्र व्रत विषे तिस प्रकार प्राजापत्यत्रय करे औंर कृच्छ्रव्रतविषे एक गौ औंर बलद दानकरे ॥ १॥ अब स्मृत्यर्थसारविषे कहाहै जो एक मासका उपवास व्रत कहाहै तिसका वदला पंद्रां १५ प्राजापत्यव्रत कहने इसमे एह अभिप्रायहै कि प्राजापत्य ६ उपवासके तुल्य हैं ऐसा अगेस्थापनहोणाहै तिसकेहिसावसे ५ पंच प्राजापत्यमासोपवासकी जगा आउतेहै परंतु इसकों अति कष्टदायी जाणकर इसकी जगा १५ पंद्राकहेहैं ॥ औंर चतुर्विंशति मत विषे कहाहै धर्मात जो पुरषधर्म विषे युक्त हैं औंर तप विषे युक्तहैं कदाचित् पापकों प्राप्तहोवैं अर्थात् पापकरें तो तिनां तांई विशेषकरकें जप औंर हवन आदिक कहाहै ॥ १ ॥

औेर जो पुरुष केवल नाम करकेहि ब्राह्मणहैं संस्कारतें रहित औेर मूर्ख औेर धर्मतेंरहितहैं तिनां तांई विशेष कर्के कृच्छ्र चांद्रायणादि व्रत देणे योग्य हैं ॥ २ ॥ औेर धन कर्के युक्त जो पुरुष तिसनें पूर्वोक्त धेनु विंशतिकादिरूप दक्षिणा देणे योग्यहै जो दक्षिणा यत्न कर्के वि धान कीतीहै इस प्रकार नर विशेषकर्के क्या जिसकों जैसा उचितहोवे तैसा मनुष्यकों विशेष कर्के प्रायाश्चित्तकों पापके दूर करणेवास्ते देवे ॥ ३ ॥ ❀ इसतें अनंतर पर्ण कृच्छ्र कों याज्ञवल्क्य कहताहै पर्णोवित्ति ॥ १ ॥ इसकाअर्थ अपरार्क विषे कहाहै पर्णो दीति पलाह औेर गूलर औेर कमल औेरबिल्व औेर कुशा इनांके भिन्न भिन्न पत्रांकोंलैंकर

नामधारकविप्रायेमूर्खाधर्मविवर्जिताः कृच्छ्रचांद्रायणादीनितेभ्योदद्याद्वि शेषतः ॥ २ ॥ धनिनादक्षिणादेयाप्रयत्नविहितातुया एवंनरविशेषेणप्रा याश्चित्तानिदापयेदिति ॥ ३ ॥ ❀ अथपर्णकृच्छ्रमाह याज्ञवल्क्यः ॥ पर्णो दुम्वरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः प्रत्येकंप्रत्यहंपीतैःपर्णकृच्छ्रउदाहृतः ॥ १ ॥ अत्रापरार्कः ॥ पर्णादिपत्रान्तानांकुशानां चैकैकस्यक्काथो दकमेकैकस्मिन्नहनिपीयते इत्येषपंचरात्रसाध्यःपर्णकृच्छ्रः । अत्रापि प्राशनमाहारांतरनिवर्त्तकम् ॥ पर्णः पलाशःराजीवंपद्मंप्रसिद्धमन्यत् विष्णुस्तुपर्णकृच्छ्रमन्यथाह कुशपलाशोदुम्वरपद्मशंखपुष्पीवटब्रह्मसुव चलापत्रैः ७ क्वथितस्यांभसःप्रत्यहंपानेपर्णकृच्छ्र इति

क्वाथकरें औेर तिसक्वाथके जलकों दिन दिन विषे क्रम कर्के पानकरे तांतें एहपर्ण कृच्छ्र व्रत पंजां दिनां कर्के सिद्धहोताहै १ इसविषे प्राशन कहणे कर्के अन्य वस्तुके भक्षण कानिषेधहै ॥ विष्णुजी पर्ण कृच्छ्रकों औेर ही प्रकार कर्के कहतेहैं कुशा औेर पलाह औेर उदुंबर क्या गूलर औेर पद्म औेर शंखपुष्पी बूटी औेर बोड और ब्रह्मसुवर्चला बूटी इनांसत्तां ७के पत्रांकर्के जलकों भिन्न भिन्न काहडे औेर तिनांके क्वाथके जलको दिन दिन विषे क्रमकर्के पानकरे तां पर्ण कृच्छ्र होताहै इति

जावालऋषि औरही प्रकार करके कहताहै ॥ पलाह और विल्व और पद्म इनांके पत्र और गूलरके पत्र और पिप्पलके पत्र इनांपत्रांको दिन दिन विषे क्रम करके पीवे ॥ १ और पीछे दिन रात्र उपवास करे एह उपवास सहित छे ६ दिनका व्रतहै पूर्वजन्मके पापको और इस जन्मके पापोंको दूरकरणे वालाहै इति २ ॥ शंख और लिखितजीभी इसमें कहतेहैं पद्म और विल्व और पलाह और गूलर और कुशोदक इनांकों भिन्न भिन्न क्रमकर्के भक्षण करे तां पर्णकृच्छ्र होताहै ॥ और इनां संपूर्णांकों त्रयदिन भक्षणकरे तांभी पर्णकृच्छ्रहोताहै ॥ पहला पांच दिनका दूसरा तीन दिनका ॥ अवयमजीकावचनहै पलेति पलाह और विल्वके पत्र और कुशाऔर पद्म इनांके पृथक पृथक पत्रांको ग्रहण करे और एक एक वृक्षके पत्रांकों त्रय त्रय

॥ जावालस्त्वन्यथाह ॥ पलाशबिल्वपद्मानांपत्राण्यौदुम्बराणिच अश्वत्थस्यचपत्राणिअशेञ्चैकैकशस्तथा ॥ १ ॥ अहोरात्रोपवासश्चपर्णकृच्छ्रःप्रकीर्त्तितः अन्यजन्मकृतंचैवपापंनाशयतेतुस इति ॥ २ ॥ शंखलिखितौ पद्मविल्वपलाशोदुम्बरकुशोदकान्येकैकमभ्यस्तानि पर्णकृच्छ्रः ॥ समस्तान्येतानित्रिरात्रेणोपभुक्तानि वापर्णकृच्छ्रः । यमः । पलाशविल्वपर्णानिकुशान्पद्मानिवान्यतःएकैकंत्र्यहमश्नीयात्पर्णकृच्छ्रोविधीयतइति १ अन्यतइति पृथगित्यर्थः । अत्र द्विजानांमध्यमानिपत्राणि शूद्रस्येतराणीतिवोध्यमिति यदातु पर्णादीनामेकीकृतानांक्काथ स्त्रिरात्रोपवासांते पीयतेतदापर्णकूर्चः ॥ यथाहयमः ॥ एतान्येवसमस्तानित्रिरात्रोपोषितःशुचिः क्काथयित्वापिवेदद्भिःपर्णकूर्चोभिधीयतइति ॥ १ ॥

दिन भक्षण करे एह बारां १२दिनांकर्के पर्णकृच्छ्र कहाहै ॥ १ ॥ इसविषे ब्राह्मण आदि तीनव र्णांकों पलाहके मध्यम पत्रे कहे अर्थात् ब्राह्मणपलाशके विचले पत्र ग्रहणकरे और शूद्र इतर कया आसपासके पत्रकों ग्रहकरणे ऐसें जानणा इति यदेति जद फेर पलाह और गूलर और कमल और विल्व इनांके पत्रांकों एकत्र कर्के कुशाके जलकर्के काहडे और त्रय दिन उपवासकों कर्के पीछे पीवे तां पर्णकूर्च कहाहै जैसे यमजी कहतेहैं त्रय रात्रके उपवास व्रत कर्के शुद्ध होया होया इनां ाह और गूलर और कमल और विल्वके पत्रांकों जलके साथ क्काथकर्के पीवे तां पर्णकूर्च कहीदाहै इति १

यदैतिजद फेर विल्व आदि फल जलकर्के काहडे होये दिनांदिनीवेषु क्रमकर्के पीवे एक मास पर्यंत तां फल कृच्छ्रतें आदलेके नामकों प्राप्त होतेहैं ॥ जैसे मार्कंडेयजी कहते हैं फलांके काथकों एकमास पर्यंत पीवे तां बुद्धिमानोंनें फलकृच्छ्र कहाहै ॥ और श्रीफल क्या विल्वफल इनांके काथकों एक मास पर्यंतपीवे तां तिसका नाम श्रीकृच्छ्र कहाहै ॥ तैंसे पद्मांकेकाथकों एक मास पर्यंत पीवे तिसका नाम पद्मकृच्छ्र कहा है ॥ १ ॥ ऐसे एक मास पर्यंत आमलेके काथ कों पीवे तां एह दूसरा श्रीकृच्छ्र कहाहै ॥ और विशेष कहतेहैं पत्रैरिति पत्रांके काथ क्यां काहडेकों पीवे तां पत्रकृच्छ्र हुंदाहै ॥ और पुष्पां कर्के पुष्पकृच्छ्र होताहै ॥ २ ॥ और मूल कर्के मूल कृच्छ्र और केवल जलके काथकों पीवे तां तोय कृच्छ्र कहा है ॥ २ ॥ इसमें एह विचारहै कि

यदातुविल्वादिफलानि प्रत्येकं कथितानि मासंपीयंते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशंलभंते । यथाहमार्कंण्डेयः ॥ फलैर्मासेनकथितःफलकृच्छ्रोमनीषिभिः श्रीकृच्छ्रःश्रीफलैःप्रोक्तःपद्मास्थैरपरस्तथा ॥ १ ॥ मासेनामलकैरेवंश्रीकृच्छ्रमपरंस्मृतम् पत्रैर्मतःपत्रकृच्छ्रःपुष्पैस्तत्कृच्छ्रउच्यते ॥ २ ॥ मूलकृच्छ्रःस्मृतोमूलैस्तोयकृच्छ्रोजलेनत्विति ॥ पत्रकृच्छ्रोत्रउदुम्वरपद्मविल्वपत्रभेदात्त्रिधा। तोयकृच्छ्रोपिकेवलजलकुशोदकभेदाद्द्विधा ॥ इत्येवमेकादशधापर्णकृच्छ्रइतिमिताक्षराशयः पुष्पकृच्छ्रस्तुपद्मपुष्पजोवोध्यः। मासशब्देनात्रसावनोमासोग्राह्यः तदुक्तंकालनिर्णये ॥ आयुर्दायविभागश्चप्रायश्चित्तक्रियातथा सावनेनैवकर्त्तव्याशत्रूणांवाप्युपासनेति १

अठप्रकारके कृच्छ्र जों दिखाएहैं तिनांविचों पत्रकृच्छ्र त्रय तरहांकाहै ॥ और जल कृच्छ्र दो प्रकारकाहै इसतें ११ प्रकार कृच्छ्रके होए एह मिताक्षरा ग्रंथका आशयहै और मूलमे अर्थ स्पष्टहै ॥ और विशेषकहतेहैं मासेति मासशब्दके कथन करणे कर्के तीस ३० दिनांका महीना इसजगा ग्रहण करणे योग्यहै और चांद्रमास नहि जानणा इसका निर्णय कहा है कालनिर्णय ज्योतिश्शास्त्र विषे ग्रहांके अनुसार कहा जो आयुर्दाय विभाग सो तीस ३० दिनकें मासते जानणा तैंसे प्रायश्चित्तका करणा और शत्रुयांकी उपासना कैदी आदिक अथवा तिनांकी हानि वास्ते अनुष्ठानादि भी तीस दिनके मास कर्के जानणे योग्यहै ॥ १ ॥

अब देवलऋषिका वचनहै हेब्राह्मणा विषे श्रेष्ठांहो पर्णकृच्छ्र नाम कर्केजो व्रतहै तिसकोंश्रवण करो जो अतिशय कर्के श्रेष्ठ है और संपूर्ण पापोंके दूर करणे वाला और संपूर्ण दोषांके नाश करणे वाला है ॥ १ ॥ अब दोषां कर्के युक्त जो पाप हैं अर्थात् जिनां पापा देभोगते पीच्छे क्षयादि रोग हुंदेहै तिनको कहतेहां तिनांकों हि पर्णकृच्छ्र व्रत दूर कर्त्ताहै ब्रह्मेति ब्राह्मणके मारणे वाला पुरुष क्षय जो श्वासकास रोग तिस कर्के युक्त होताहै और मदिरा के पीणे वाला जो है तिसके काले दांत होतेहैं और जो सुवर्णकी चोरी कर्त्ताहै तिसके कुनख क्या निंदितनख होतेहैं और गुरुकी स्त्री साथ जो विषय भोगताहै सो कुष्टी होताहै ॥ २ ॥ अन्नेति और अन्नकों चुराणे वाला उदर विषे रोग युक्त होताहै ॥ और शाकके चुराणे वाला दर्दुर क्या डड्डू होताहै और धान्य क्या धाड्यां चुराणे वालयांकों हे ब्राह्मणां खुरक रोग होताहै ॥ ३ ॥ ताम्रेति तांबेके

देवलः ॥ पर्णकृच्छ्रंद्विजश्रेष्ठाःशृण्वन्तुपरमंशुभम् ॥ सर्वपापप्रशमनं सर्वदोषोपशान्तिदम् ॥ १ ॥ ब्रह्महाक्षयरोगीस्यात्सुरापःश्यावदंतकः स्वर्णस्तेयीचकुनखीदुश्चर्मागुरुतल्पगः ॥ २ ॥ अन्नहर्त्ताभवेद्गुल्मी शाकस्तेयीतुदर्दुरः स्तेयिनांधान्यहारीणांकंडूतिःसंततंद्विजाः ॥ ३ ॥ ताम्रस्तेयीदीर्घवृषणःप्रमेहीपर्वमैथुनी शिरोव्रणीस्नानहीनःपित्तवांस्त्रपुसीसहा ॥ ४ ॥ गजचर्मानागहन्ताश्वहन्तामहाव्रणी कंठभूषणहारी स्याद्गंडमालीभवेद्ध्रुवि ॥ ५ ॥ रक्तप्रमेहीमनुजोपुष्पवत्यंगनागमः भगिनीगमनोभूमौमधुमेहीभवेन्नरः ॥ ६ ॥ मातुःसपत्नींभगिनींजभत्कामातुरोनरः सपापमनुभूयाशुरोगीभूयाद्भगंदरी ॥ ७ ॥

चुराणे वालेके पताल लंबे होतेहैं और संक्रांति आदिक पर्व विषे जो मैथुन कर्त्ताहै सो प्रमेहरोग कर्के युक्त होताहै ॥ और स्नानतें रहित जो है सो शिर विषे व्रणवाला होताहै और लाख और सिक्के चुराणे वाला पित्त रोग युक्त होताहै ॥ ४ ॥ गजेति हाथीके वध करणे कर्के हाथीकी न्याई चर्म वाला होताहै ॥ और घोडेके वध करणे वाला देह विषे वहुत व्रण युक्त होताहै ॥ और कंठके भूषण हरण वालेकों हजीरांरोग होताहै ॥ ५ ॥ रक्तेति ऋतुमती स्त्री के साथ जो गमन कर्त्ताहै सो रक्तप्रमेहरोग कर्के युक्त होताहै ॥ और जो भगिनी विषे गमन कर्त्ताहै सो मधुप्रमेहरोग कर्के युक्त होताहै ॥ ६ ॥ मातुरिति दूसरी माताके साथ और माताकी भैणके साथ जो गमन कर्ता हे सो तात्काल भगंदररोगकर्के युक्त होताहै ॥ ७ ॥

स्वसारमिति जो पुरुष भैणविषे गमन कर्ताहै सो मूत्र कृच्छ्र रोगकर्के युक्त होताहै। और गौके मारणेवाला महापापी पुरुष सदा पृथ्वीविषे रोगी होताहै ॥ ८॥ गविति गौकेवच्छेके मारणेतें गुदाविषे ममेसी रोगकर्के युक्त होताहै। और शिवजीके निर्माल्यकों जो भक्षण कर्ताहै सो कफ रोगकर्के युक्त होताहै ॥ ९ ॥ अजीति जो पुरुषां विषे कठोरताकों अथवाछलको कर्ताहै सो उदर विषे अजीर्ण रोगी होताहै शठ छद् इस जगा (छलकृत्) ऐसा भी पाठ है और गृहकों दाहकरणे वाला शूलरोग युक्तहोताहै और वंदि ग्रहणजदोषसें अर्थात् जो बिना अपराध किसीकों कैदकर्ताहै सो श्वासकासरोगवाला होताहै १० ॥ जो स्त्री विषांकर्के बालककों मारतीहै तिसका गर्भ सदाहि स्रव जाताहै ॥ और जो स्त्री अन्यपुरुषके साथगमन कर्तीहै सो स्तनांविषे फोडेवालीहोतीहै ११ क्षीरमिति जास्त्री दुग्धकों चुरातीहै सो दूसरेजन्मविषे स्तनां

स्वसारंयःपुमान्गच्छेज्जायतेमूत्रकृच्छ्रवान् धेनुहन्तामहापापीसदारोगी भवेद्भुवि ८ गोवत्सहननान्मर्त्यःसभूयादर्शवान्भुवि शिवनिर्माल्यभुक्पापी जायतेकफवान्नरः ॥ ९ ॥ अजीर्णरोगीशठकृद्गृहदाहीचशूलवान् वंदिग्रहणजाद्दोषाज्जायतेश्वासकासवान् ॥ १० ॥ स्रवद्गर्भाभवेत्सातुबालकंहन्ति याविषैः अन्यमालिंगतेनारीसावैस्फोटस्तनीभवेत् ॥ ११ ॥ क्षीरंमुष्णातियानारीस्तन्यहीनान्यजन्मनि पतिव्रतापहारीचवृषणव्रणरोगवान् १२ विधवासंगजाद्दोषाच्छिश्नदेशव्रणीभवेत् पुष्पस्तेयीविकृनासःकोशस्तेयीतुपेटवान् ॥ १३ ॥ गन्धस्तेयीचदुर्गंधःक्रमुकेसततज्वरी विवाहविघ्नकृन्मर्त्योजायतेहीनदारवान् ॥ १४ मयूरहननान्मर्त्योजायतेकृष्णबिंदुकःतडागारामविच्छेदीसदादुःखीभवेन्नरः ॥ १५ ॥ इत्येवमादयोदोषामहानरकदानृणाम् एतेषांशोधनार्थायपर्णकृच्छ्रंसमाचरेत् ॥ १६ ॥

मे दुग्ध रहितहोतीहै और जो पुरुष पतिव्रतास्त्रीकों हरताहै सो पतालूयांविषे छिद्रवाला होताहै १२ ॥ विधवेति बिधवास्त्रीविषे संग करणेतें लिंगविषे छिद्रकर्केयुक्त होताहै। और पुष्पांके चुराणे वाला फीना होताहै और खजाने चुराणेवाला जलोदर रोग वाला होताहै १३ गंधेति सुगंधिवाली वस्तुके चुराणे वालः बगन्ध गंधवाला होताहै और सुपारीके हरणेवाला सदाज्वर रोगयुक्त होताहै और किसेके विवाह विषे जो विघ्न कर्ताहै सो स्त्रीतें रहित होताहै १४ मयूरेति मोरके मारणे वाला जोहै तिसके देह विषे कालीयां बिंदु होतीयांहैं और तला और बाग इनांके नाश करणेतें सदादुःखी होताहै १५ इसतें आदलेके जो दोष हैं सो पुरुषांकों महानरकदेणे वाले कहेहैं इनांदोषांके दूर करणे वास्ते पर्ण कृच्छ्र व्रत कों करे ॥ १६ ॥

अवमार्कंडेयजीका वचनहै ॥ महेति महांपापांके जो समूहहैं और लघु जो पापहैं पृथ्वीविषे आर्द्र क्या इच्छा कर्के जो पापकीतेहैं और इच्छातें विनाकीतेहैं अथवा आर्द्रक्या तत्कालके किनेहोए पाप और शुष्क क्या चिरकालके कीते होय पाप एह अर्थहै तिनां संपूर्णाकों शुद्ध करणे वाला पर्ण कृच्छ्र व्रत कहाहै ॥ १ ॥ अब पराशरजीका वचनहै ॥ पर्णेति ब्राह्मण पर्ण कृच्छ्रके करण विषे मध्यम पत्र ग्रहण करे बारां दिन पर्यंत नित्यशुद्धहोकर तिलककों धारणकर्के ॥ १ ॥ पूर्वकी न्यांई गंध पुष्प आदिकां कर्के विष्णुकों पूजे जद सूर्य अस्त होवे तां पलाहके तीन पत्रांकर्के तीन डूनेंवनावे ॥ २ ॥ और वेदके पठनकरणेविषे युक्त जो ब्राह्मण तिनांके तीन गृहांविषे जाकर तीनडूनयांविषे भिक्षात्रयकों ग्रहणकरे ॥ ३ ॥ एक भिक्षाका डूना विष्णुकेतांई अर्पणकरे और एक

॥ मार्कण्डेयः ॥ महापातकजालानांल्पूनभुविजन्मनाम् आर्द्राणांचै वशुष्काणांपर्णकृच्छ्रंविशोधनम् ॥ १ ॥ पराशरः ॥ पर्णकृच्छ्रस्यपर्णानिम ध्यमानिद्विजोत्तमः द्वादशाहानिपर्यन्तंनित्यंशुचिरलंकृतः ॥ १ ॥ पूर्ववद्वि ष्णुमभ्यर्च्यरविरस्तंगतोयदा त्रिभिःपत्रैर्ब्रह्मभूतैःकृत्वाचैवपुटत्रयम् ॥ २ त्रीणिवेश्मानिविप्राणांवेदाध्ययनशीलिनाम् भिक्षात्रयंसमानीयात्रिषुप त्रपुटेष्विह ॥ ३ ॥ एकंपुटंतुदेवायविप्रायैकंसमर्पयेत् अवशिष्टंतदाश्नी याद्धरिनामपरायणः ॥ ४ ॥ स्वपेद्देवसमीपेतुसंचितंमनसास्मरन् ततः प्रभातवेलायांपूर्ववत्सकलंचरेत् ॥ संचितंपापमित्यर्थः ॥ ५ ॥ विप्राय दद्याद्गोरिकापंचगव्यंपिवेत्ततः पर्णकृच्छ्रमिदंभूपशोधनंपापकर्मणाम् आचरणमात्रेणचान्द्रायणफलंलभेत् ॥ ६ ॥

तिसका डूनाब्राह्मण तांई अर्पणकरे और तीसरे डूनेंको आप भक्षण करे और विष्णुके नामका युक्तहै करे ॥ ४ ॥ और विष्णुकीमूर्त्तिके समीपशयनकरे संचित जो पापहै तिसका मनकर्के स्मर महांतने एह पापकीताहै ॥ ५ ॥ ऐसे बारां दिनके व्रततें अनंतर प्रातःसमयविषे पूर्वकी न्यांई ये होयकर्मकों कर्के ब्राह्मणके तांई एक गौ देवे और तिसतें अनंतर पंचगव्यका पानकरे ए और कृच्छ्र हेराजन पापकर्मांके शुद्ध करणे वालाहै जिसके करणे कर्के पुरुष चांद्रायणके इसफलां प्राप्त होताहै ॥ ६ ॥

इसतें उपरंत पर्णकृच्छ्र व्रतका बदला देवलऋषि कहताहै पर्णेति हेराजर्षे तेरे तांई पर्ण कृच्छ्र व्रतके बदले नूं कहताहां कैसा बदलाहै संपूर्ण पापांके दूर करणे वाला और संपूर्ण उपद्रवांके नाशकरणे वालाहै ॥ १ ॥ और मनुष्योंकों संपूर्ण कामना फलकें देणेवाला और संपूर्ण कृच्छ्र व्रतांकेफल देणे वाला सो कहतेहां पांच ५ गौयां पंजां ब्राह्मणांके तांई भिन्न भिन्नदेवे कैसीयां गौयांहैं वस्त्र आदि शोभाकर्के युक्त और बछयांके सहित हैं ॥ २ ॥ और सुवर्णके हैं शृंगजिनां के और रुप्येकेखुरां कर्के युक्त और दोहनकरणेके लिये कांसपात्रकर्के युक्त और सुशीला और जुवाण ऐसीयांबिप्रांकोंदेणेयोग्यहैं एह प्रत्याम्नाय पर्णकृच्छ्रका बहुतश्रेष्ठ कहाहै ३ ● इसतें उपरंत

अथपर्णकृच्छ्रप्रत्याम्नायमाहदेवलः ॥ पर्णकृच्छ्रस्यराजर्षेप्रत्याम्नायंवदामि ते सर्वपापस्यशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् । १ । सर्वकामप्रदंन्दणांसर्वकृच्छ्रे फलप्रदम् पंचगावः प्रदातव्याः सालंकाराः सवत्सकाः ॥ २ ॥ हेमशृं ग्योरौप्यखुराः कांस्यदोहनसंयुताः ॥ साधुशीलाःसुवत्यश्च विप्रेभ्यश्च पृथक्पृथक् ॥ पर्णकृच्छ्रस्यविप्रर्षेप्रत्याम्नायोमहत्तरः ॥ ३ ॥ ● अथफल कृच्छ्रलक्षणम् । तत्रदेवलः ॥ फलकृच्छ्रस्यदेवर्षे लक्षणंकथितंमया शृणु ब्रह्ममुनेचित्रंसर्वपापप्रणाशनम् ॥ १ ॥ येमातृघातिनोलोकेतथैवपितृ घातकाः येवास्युर्भ्रातृहंतारस्तेषामेषाविनिष्कृतिः ॥ २ ॥ येवागर्भविभे त्तारोयेवास्युर्गरदायिनः येवाग्रामविभेत्तारोयेवाकुलजभेदिनः ३ ॥ येपीहपिशुनालोकेयेवास्युःस्तेयिनः सदा येवाबालविभेत्तारस्तेषां ॥ निष्कृतिः ॥ ४ ॥

फलकृच्छ्रके लक्षणनूं कहतेहां तिसविषे देवलजीका वचनहै फलेति हेदेवर्षे फलकृच्छ्रका लक्षण मैनेकथनकरीदाहै हेब्रह्ममुने तूं श्रवणकर वडाआश्चर्यहै और संपूर्ण पापांके नाशकरणे वालाहै १ ॥ इसकर्के दूर होणेवाले पापोंकों कहतेहां यइति जो पुरुषमाताका और पिताका और भ्राताका बधकर्त्तेहैं तिनोंकी शुद्धिकर्त्ताहै ॥ २ ॥ और जो गर्भपात करतेहैं और विषदेतेहैं और नगरांको लूटतेहैं और कुलविषें संबधीयांका नाशकरतेहैं ॥ ३ ॥ और जो लोकविषे चुगली करतेहैं और सदा चोरीकरतेहैं औरबालकांकों मारतेहैं तिनांसपूर्णांकी शुद्धि देणेवाला एह व्रत है ॥ ४ ॥

याइति जो स्त्रीयां भर्ताकों त्यागके अन्य पुरुषां विषे गमन करतीयां हैं तिनां स्त्रीयांकी शुद्धि वास्ते पूर्व ब्रह्माजीने फलकृच्छ्र व्रत रचीदाहोया ॥ ५ ॥ ब्रह्मस्वेति ब्राह्मणांके धनकों जो नाशक रतेहैं अथवा होरीपासों नाशकरवातेहैं और जोलोकविषे खेतीयांकोंचुरातेहैं तिनांकी फल कृच्छ्र व्रत करके शुद्धि कहीहै ॥ ६ ॥ उच्छिष्टेति जो पुरुष किसके जूठे अन्नकोंभक्षणकरतेहैं और झूठा वाद करतेहैं और मुडदेकों उठाकर हरतेहैं इसमे शवका हरणा मंत्रसिद्धि वास्ते अथवा चिकित्साके जानणे वास्तेहै तिनांकी कृच्छ्रव्रतकरके शुद्धि कहीहै ॥ ७ ॥ मद्येति जो मदिराके पीनेविषे नित्ययुक्तहैं और नित्यकर्म जो संध्यावंदनादि तिनांका नाशकरतेहैं और पितरांके निमित्त जो श्राद्ध

याश्चनार्य्यः पतिंत्यक्त्वारमंतेऽन्यान्नरान्यादि तासामपिविशुद्ध्यर्थंपुरासृष्टं स्वयंभुवा ॥ ५ ॥ ब्रह्मस्वघातिनोनित्यंब्रह्मस्वानांचघातकाः क्षेत्राणांहारिणोलोकेतेषामेतद्धिनिष्कृतिः॥ ६॥ उच्छिष्टभोजनायेचयेचमिथ्यापवादिनः येवैकुणपहर्त्तारस्तेषामेतद्धिनिष्कृतिः ॥ ७ ॥ मद्यपानरतानित्यंनित्यकर्मविभेदिनः पितृश्राद्धविभेत्तारस्तेषामेतद्धिनिष्कृतिः ॥ ८ ॥ महापातकयुक्तोवायुक्तोवासर्वपातकैः कृच्छ्रेणैतेनमहतासर्वपापैःप्रमुच्यते॥९॥ महांतः पापकर्म्माणोमहापापहताःसदा एतेनकृच्छ्रराजेनपुनंतिसततंद्विजाः फलकृच्छ्रंमहापापहारिसंपत्प्रवर्धनम् ॥ १० ॥ दिनादिनेमुनींद्राश्चकृत्वैतच्छुद्धिमाप्नुयुः ॥ ११ ॥

तिसका खंडनकरतेहैं तिनां पुरुषांकी फलकृच्छ्रव्रतकरके शुद्धि कहीहै ॥ ८ ॥ महेति जो महापापकरके युक्तहै वा संपूर्ण होरना पापांकरके युक्तहै इस वडे फल कृच्छ्र व्रतके करणेंकरके शुद्धहोंताहैं ॥ ९ ॥ महांतइति जो ब्राह्मण आदि वर्ण हैं महापापांके करण वाले हैं और महापापां करके हत होये होये इसकृच्छ्र राज करके पवित्र होतेहैं एह फल कृच्छ्र व्रत महापापांके नाशकरणे वालाहै और संपदाके वधाणे वालाहै ॥ १० ॥ इसमे संप्रदाय कहतेहैं दिन इति दिन दिनविषे मुनींद्र इसफल कृच्छ्रके करणे करके शुद्धहोंते होये । ११ ।

कायेति एह फलकृच्छ्र देहको शुद्धकर्त्ताहै और संपूर्ण कृच्छ्र फलांकोदेताहै और संपूर्णपापांका नाशकर्त्ताहै एहफलकृच्छ्रवडा श्रेष्ठहै १२ प्रातरिति प्रातःकालविषे स्नानकर्के देहकी शुद्धिवास्ते पूर्वकीन्याई मृत्तिकादिसें स्नानकर्के शुद्धहोया गायत्रीका जप सूर्यके अस्तताई सारादिन करे ॥ १३ ॥ तावदिति तां व्रती पुरुष मनकों स्थिरकर्के नित्यकर्मकों समाप्तकरे विधि कहतेहैं कि केलेका एक फल विष्णुकेताई अर्पण करे ॥ १४ ॥ और तिस फलकों पूर्व भक्षणकरे मौनकों धारके व्रत विषे स्थित होया होया वीर्यसंपूर्ण अर्थात् पकेहोये फल भक्षण करे जो शुष्क न होण और कचे और चिरकालके त्रुटित न होण ऐसे त्रय फल भक्षणकरे ॥ १५ ॥ और

कायशुद्धिप्रदंकृच्छ्रंसर्वकृच्छ्रफलप्रदम् सर्वपापहरंचेदंफलकृच्छ्रमहत्तरम् ॥ १२ ॥ प्रातःस्नात्वाशुचिर्भूत्वापूर्ववच्छुद्धिहेतवे तावज्जपन्सदातिष्ठेद्यावदस्तंगतोरविः ॥ १३ ॥ तावद्व्रतीस्थिरमनानित्यकर्मसमापयेत् कदलीफलमेकंचविष्णवेतन्निवेदयेत् ॥ १४ ॥ तदेवभक्षयेत्पूर्वंव्रतस्थोमौनपूर्वकम् एकैकवीर्यसंपूर्णंभक्षयित्वाफलत्रयम् ॥ १५ ॥ एतच्चवनफलैर्विना ॥ एवंद्वादशरात्राणिस्वपेन्नारायणाग्रतः गौर्देयाविप्रवर्य्याय ब्रह्मकूर्चंपिबेत्ततः ॥ १६ ॥ फलकृच्छ्रमिदंसर्वंकथितंब्रह्मणोदितम् ॥ कृच्छ्रस्यैतस्यमाहात्म्यान्नश्यत्येवमहद्भयम् ॥ १७ ॥ अथफलकृच्छ्रप्रत्याम्नायः ॥ देवलः कृच्छ्रस्यैतस्यमुनयःप्रत्याम्नायंमहोन्नतम् शृण्वंतुसर्वपापघ्नंसर्वश्रेयःप्रदंनृणाम् ॥ १ ॥

वनकेफलाको न ग्रहणकरे इसप्रकार वारांदिन १२ व्रतकरे और नारायणके समीप शयनकरे और श्रेष्ठ ब्राह्मणके तांई एक गौ देणेयोग्यहै तिसतें पीछेब्रह्मकूर्च पीवे ॥ १६ ॥ एह फलकृच्छ्र व्रत ब्रह्माजी कर्के कथित क्या किहाहोयाथा सो मैने तुमकों कहाहै इस कृच्छ्रके माहात्म्यतें महाभय नष्टहोताहै ॥ १७ ॥ इसतें उपरंत फल कृच्छ्रका प्रत्याम्नायहै तिसके वदले विषे देवलजीकावाक्यहै कृच्छ्रेति हेमुनींद्राहो इस कृच्छ्रके उत्तम वदलेकों श्रवण करो जो पुरुषांके संपूर्ण पापांके दूरकरणे वाला और संपूर्ण कल्याणांके देणेवालाहै ॥ १ ॥

पुरेति पूर्व गालवनामे ऋषि ब्रह्महत्याके भय कर्के युक्त होया होया संपूर्ण लोकांके हितकी इच्छावाले जो विष्णु तिनांकी शरणकों प्राप्तहोताभया ॥ २ ॥ हे भगवन् लोकांके हित की इच्छावाला जो तूंहैं तेरेकर्के मै अनुग्रह करणे योग्यहां हे देवतयांके देव हे इंद्र आदिकांके स्वामी तुसांके चरणांकी शरणकों प्राप्त होयाँ जो मैं मेरी रक्षाकरो ॥ ३ ॥ कैसे होंतुसी जो पुरुष तुसांके नामकों स्मरण कर्त्ताहै तिसके जो ब्रह्महत्या आदि पापहैं तिनांके नाशकरणेवाले हो इसकारणतें हेपुरुषोत्तम मैंनें तुसांके चरण देखेहैं ॥ ४ ॥ ब्राह्मणकी हत्या जो बडी मेरेदेह विषे हे प्रभो स्थितहै सो तूं दूरकर मेरे देहको जलातीहै जैसे शुष्क लकडीको अग्नि शीघ्रता

पुराहिगालवोनामब्रह्महत्याभयातुरः विष्णुंशरणमापेदेसर्वलोकहितैषि णम् ॥ २ ॥ अनुग्राह्योस्मिभगवंस्त्वयालोकहितैषिणा रक्षमांदेवदे वेशत्वदंघ्रिशरणागतम्॥ ३ ॥ ब्रह्महत्यादिपापानांस्मरणान्नाशहेतुकम् अतस्त्वत्पादयुगलंदृष्टंमेपुरुषोत्तम ॥ ४ ॥ विप्रहत्यामहत्यासीन्मयितांनुद हेप्रभो जरयत्याशुसादेहंवह्निःशुष्कंधनंयथा ॥ ५ ॥ नास्तिनिंदासमंपापं नास्तिक्रोधसमोरिपुः नास्तिमोहसमःपाशोनदेवंकेशवात्परम् ॥ ६ ॥ विष्णुः ॥ नास्तिक्रोधसमोमृत्युर्नास्त्यकीर्त्तिसमाक्षतिः नास्तिकीर्त्तिस मोधर्म्मस्तपोनाऽनशनात्परम् ॥ १ ॥ प्रत्यहंत्रिषवणंस्नानंकृत्वामांमन सिस्मरन् फलकृच्छ्रंपुराकृत्वाह्यशक्तोयदिगालव ॥ २ ॥

से जला देतीहै ५ सभ देवतां सें अधिकता विष्णुजीको है एह कहतेहैं नास्तीति निंदाके तुल्य होरकोई पूर्णफलदाता पाप नहिहै और क्रोधके समशत्रु नहि और मोहके तुल्य फाई नहि और विष्णुतें परे देवता नहि ६ विष्णुजीकावचनहै नेति क्रोधके तुल्य होरकोई मृत्यु नहि किसे जगा (क्रोधके तुल्य होर कोई शत्रु नहि ऐसापाठहै) और अयशतें और कोई हानि नहि कही क्या अपयशहि हानि है और यशके तुल्य होर धर्म नहि और निराहारतें परे तप नहि १ अब फेरप्रसंगकोकहतेहैं प्रेति दिन दिन विषे त्रय कालस्नान करें मेरे को स्मरणकर्त्ताहोया ऐसे फल कृच्छ्रको करके पुरुष शुद्धहोताहै एहअगेसाथ संबंधहै और हेगालव जोपुरुष फलकृ च्छ्रके करणे विषें सामर्थ्यतें रहितहै सोजिसकों अगे करणाहै तिसको करे एहअर्थहै

सोपुरुष इसप्रत्याम्नायनूं करणेकर्के पापतें शुद्धहोताहै और गोकीपूजा भली प्रकारकरे धूप दीप कनैवेद्यकर्के युक्त ॥ ३ ॥ और पूजनतें पीछे प्रदक्षिणाकर्के और नमस्कारकोंकर्के श्रेष्ठ ब्राह्मण तांई गौदेवे कैसीगौ है जो सहित बछेके है और दुग्धदेणे वाली और फलकृच्छ्रके वदलेकर्के फलके देणेवालीहै ॥ ४ ॥ ऐसे दानकर्के फलकृच्छ्रके संपूर्णफलकों प्राप्तहोताहै तां हे ब्राह्मणां विषे श्रेष्ठ ऐसे व्रतनूं कर तिसीक्षणमें तूं पवित्रहोवेंगा ५ ऐसेविष्णुकर्के आज्ञाकों प्राप्तहोयाहोया और प्रत्याम्नायनूं करताहोया योगीयांकोंभी दुर्लभ जो सिद्धि है तिसनूं प्राप्तहोया ॥ ६ ॥ ॐ अवपराक कृच्छ्रकहीदाहै तिसविषे मनुजीका वाक्यहे यतेति मनकों रोकके और प्रमादतें रहित

प्रत्याम्नायमिमंकृत्वाशुद्धोभवतिपातकात् गोपूजासाधुसंयुक्ताधूपदीपनिवेदनैः । ३ ॥ परिक्रम्यनमस्कृत्यसवत्सांपयसावृताम् योदद्याद्विप्रवर्य्यायप्रत्याम्नायफलप्रदाम् ॥ ४ ॥ सम्पूर्णफलकृच्छ्रस्यह्यखंडंलभतेनरः एवंकुरुष्वविप्रर्षेपूतोभवसितत्क्षणात् ॥ ५ ॥ इत्याज्ञप्तस्तदातेनप्रत्याम्नायंतदाचरन् सिद्धिमाप्नोतिमहतींयोगिनामपिदुर्लभाम् ॥ ६ ॥ॐ अथपराककृच्छ्रम् तत्रमनुः ॥ यतात्मनोऽप्रमत्तस्यद्वादशाहमभोजनम् पराकोनामकृच्छ्रोयं सर्वपापप्रणोदनः ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ द्वादशाहोपवासेनपराकःपरिकीर्तितः । देवलः । अथवक्ष्यामिकृच्छ्रस्यपराकस्यमहात्मनः सर्वदोषनिवृत्तिःस्यात्सर्वशास्त्रानुवर्तिनः ॥ १ ॥ पराकःकृच्छ्रइत्युक्तोविष्णुनाप्रभविष्णुना यदाचरणमात्रेणसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ २ ॥

होके जोवारां १२ दिन भोजनका त्याग करणा एह संपूर्ण पापांके नाशकरणे वाला पराकनाम कर्केकृच्छ्रकहाहे ॥ १ ॥ तिसविषे याज्ञवल्क्य जीकावचनहै इतिवारां १२ दिनांके उपवास व्रतकर्के पराक कृच्छ्रकहाहै ॥ अव देवलजीकावाक्यहै इसतें उपरंत पराक कृच्छ्रकों कहताहां संपूर्ण शास्त्रोंकर्के वर्त्तनवाला जो पुरुष है तिसके संपूर्ण पापांकी निवृत्ति होतीहे पराक व्रतकर्के १ ॥ ऐसेविष्णु जो प्रभविष्णु हैं तिनानें पराक कृच्छ्र कहाहे जिसके करणेकरके संपूर्ण पापातें रहितहोताहै ॥ २ ॥

जेडेपाप इसकर्के दूर हुंदेहैं तिनको कहतेहैं ब्रह्मेति ब्रह्महत्यापाप और मदिराके पीणे का पाप और सुवर्णके चुराणेका पाप और गुरोंकी स्त्री विषे गमन करणेका पाप और तिनांका संसर्ग और तिनाके तुल्यपाप ॥ ३ ॥ और संकलीकरणपाप और मलिनी करण और उपपातक एह नौ ९ प्रकारकापाप कहाहै ॥ ४ ॥ तुलेति तुलादान और हिरण्यगर्भ और ब्रह्मांड और घटदान और पंचलांगलक और पृथ्वीदान ॥ ५ ॥ और विश्वचक्र और कल्पलता और सप्तसागर और चर्म धेनु महती और महाभूतघट तैसे हि एह दान ॥ ६ ॥ और कालचक्र और राशिचक्र और इसतें अनंतर विश्वचक्र और लक्षकोड तिलांकर्के हवन करणा

ब्रह्महत्यासुरापानंस्तेयंगुर्वङ्गनागमः तत्संसर्गोपिपंचैतेह्यनुपातकनामकम्
३ संकलीकरणंचैवमालिनीकरणंतथा उपपातकमित्येतन्नवधापरिकीर्तितम्
४ तुलाहिरण्यगर्भश्चब्रह्माण्डोयंघटस्तथा पंचलांगलकंचैवधरादानमतःपरम्
५ विश्वचक्रंकल्पलतासप्तसागरमेवच चर्मधेनुश्चमहतीमहाभूतघटस्तथा
६ कालचक्रंराशिचक्रंविश्वचक्रमनन्तरम् कोटिलक्षतिलैर्होमोद्विमुखीसुर
भिस्तथा ७ आर्द्रकृष्णाजिनंचैववेंकटेपर्वसंगमे छागादिपंचकंचैवतथैवदश
धेनवः ८। तथादशमहादानान्यचलाःसप्तनामकाःरहस्यकृतपापानिब्रह्म
हत्यादिकानिच ९॥ पापानांनवविधानामितरेषांमुनीश्वराः तुलादिसंग्रहा
त्हणांपराकःकृच्छ्रनामकः ॥ १० ॥ सर्वपापहरोन्हणांदेवानांचप्रियंकरः
सर्वेष्वेतेषुकृच्छ्रेषुमहान्प्रोक्तःस्वयंभुवा ॥ ११ ॥

और प्रसूत समयविषे गौका दान ॥ ७ ॥ और कृष्णहरिणका आर्द्र चर्म और वेंकट तीर्थविषे पर्वके होयां २ वकरेतें आदिलेकरके पंच अर्थात् वकरा १ भेडा २ गौ ३ महिषी ४ घोडा ५ इनका दान और दश धेनु दान ॥ ८ ॥ और सप्त ७ पर्वतदान और गुप्तपाप और ब्रह्महत्यादि पाप ॥ ९ ॥ तुलाआदि दानांको जो ग्रहण कर्तेहैं तिनांके पापनूं और नौ प्रकारके जो पापहै इसतें इतर जो पापहैं तिनां संपूर्णांकों शुद्ध करणेवाला पराक कृच्छ्र नामकर्के व्रतहै ॥ १० ॥ और पुरुषांके संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला और देवतयांकी प्रीति करणे वाला ब्रह्माजीनें संपूर्ण कृच्छ्र व्रतांविषे एह पराककृच्छ्र व्रत श्रेष्ठ कहाहै ॥ ११ ॥

अब गौतमजीका वाक्य है प्रत्यहमिति वारां १२दिनपर्यंत दिन दिनविषे एक छटांकपरिमाण गौके घृतमात्रकों पीणेकर्के ब्राह्मण शुद्धिकों प्राप्त होवाहै एह पराक नामक व्रतसंपूर्ण पापांके नाश करणे वाला प्रसिद्ध है ॥ १ ॥ और संपूर्ण पापांके और उपद्रवांके नाश करणे वाला और संपूर्ण स्वर्गादि लोकगतिके देणे वालाहै एह निश्चयकर्के विश्वके धारणे वाले हरि जी भगवान् सो आप कहते भये ॥ २ ॥ और स्मृतिविषेभी कहाहै दिन दिनविषे वारां १२ दिन पर्यंत एक २ छटांकी परिमाण गोघृतके पीणेकर्के ब्राह्मण संपूर्ण पापांतें शुद्धिकों प्राप्तहोताहै हे द्विज इसतें विना शुद्धि नहि ॥ ३ ॥ लौगाक्षिऋषिनेंभी कहाहै इति वारां १२ दिन एक छटांकी गौकेघृतकों अग्निमे तपाकर पीवे तां पुरुषसंपूर्ण पापांतें रहितहोताहै और शुद्धिकों प्राप्तहोताहै ॥ १ ॥ अवप

गौतमः॥ प्रत्यहंघृतमात्रंचद्वादशाहंगवोद्भवम् पीत्वापलंद्विजःशुध्येत्पराक इतिविश्रुतः १ ॥ सर्वपापप्रशमनः सर्वोपद्रवनाशनः सर्वलोकप्रदोह्या हभगवान्हरिविश्वधृक् ॥ २ ॥ स्मृत्यंतरे ॥ प्रत्यहंगोघृतंविप्रोद्वादशाहं पलंमुदा पीत्वाशुद्धिमवाप्नोतिपापेभ्योनान्यथाद्विजइति ॥ ३ ॥ लौगाक्षि णाप्युक्तम् । द्वादशाहंघृतंतप्तंपलमात्रंगवामिव पीत्वाशुद्धिमवाप्नोतिसर्व पापैःप्रमुच्यते ॥ १ ॥ अत्रेवशब्दएवकारार्थः अयमेवपराकः ॥ अथ पराककृच्छ्रप्रत्याम्नायः ॥ देवलः ॥ प्रत्याम्नायंपराकस्यवक्ष्याम्यह मनुत्तमम् सर्वपापोपशमनंसर्वपापनिकृंतनम् ॥ १ ॥ व्यासः ॥ परा कंनामयत्कृच्छ्रंतत्कर्तुंमनुजोत्तमः अशक्तस्तस्यकृच्छ्रस्य प्रत्याम्नायंसमा चरेत् ॥ १ ॥ यस्याचरणमात्रेणपराकस्यफलंलभेत् प्रत्याम्नायंगवांदद्या द्दशपंचसवत्सकम् सर्वपापविनिर्मुक्तःप्रयातिपरमंपदम् ॥ २ ॥

राककृच्छ्रका वदलाहै तिसविषे देवलऋषिका वाक्यहै प्रेति पराककृच्छ्रके उत्तमप्रत्याम्नायकों कहताहां कैसा प्रत्याम्नाय जो संपूर्णपापांके नाश करणे वाला और संपूर्ण पापांके छेदन करणे वालाहै इसमे एह अभिप्रायहै कि लघुपापोंका नाश और महापापोंका एक कर्के घाटा होताहै और बहुतयोंकर्के सभकानाश होजावेगा ॥ १ ॥ अब व्यासजीकावचनहै पराकमिति पराक नाम कर्के जो कृच्छ्र है तिसके करणेविषे पुरुष असमर्थ होवे तां तिसके प्रत्याम्नायनूं करे जिसके करणे कर्के पराक कृच्छ्रके फलनूं प्राप्तहोताहै ॥ १ ॥ सो कहतेहां ॥ प्रत्याम्नायमिति पंदरां १५ गौयां सहित वछयांके दान करे इस वदले कर्के संपूर्ण पापांतें रहित होताहै और परम पदकों प्राप्त होताहै ॥ २ ॥

क्या कर्के महापापांके समूहांकों तैसें उपपातकांकों शीघ्रहि नाशकर्के शुद्धिकों देता है जैसेंअग्नि रूईकेसमूहकों दाह करताहै ॥ ३ ॥ अब मरीचिजीका वाक्यहै प्रेति पराकव्रतका जो वदलाहै पंदरां १५ गौयां तिनांका ब्राह्मण आदि वर्ण दान करे संपूर्ण पापांकी शुद्धि वास्ते और संपूर्ण कल्याणकी प्राप्तिवास्ते ॥ १ ॥ हेराजन् महापापांकर्के युक्तभी जो पुरुष है सो पराकके वदलें कर्के पापांतें रहित होताहै ॥ २ ॥ और संपूर्ण कृच्छ्र व्रतांके फलकों प्राप्त होके परम पद जो विष्णुका लोक तिसनूं प्राप्तहोताहै एह तेरेतांई मैंने पराक व्रतकी विधि कहीहै ॥ ३ ॥ पूर्वोक्तहि अर्थको स्पष्टकर्तेहैं पराकेति पराककृच्छ्रव्रतके करणे विषें जो असमर्थ है तिस पुरुषके पाप दूरकरणे वास्ते प्रत्याम्नाय कहाहै ब्राह्मणांके तांई भिन्न २ पंदरां १५ गौयांके देणेकर्के शुद्धि कों प्राप्तहोताहै एहि अर्थहै ॥ अपरार्कविषें चतुर्विंशति मतविषें कहाहै प्रेति पराककृच्छ्रव्रत और

महापातकजालानिह्युपपातकमेवच तत्सर्वंनाशयित्वाशुतूलराशिमिवानलः
३ मरीचिः प्रत्याम्नायंपराकस्यदशपंचगवांद्विजः दद्यात्पापविशुद्ध्यर्थंसर्वश्रेयोभिवृद्धये १ महापातकयुक्तोपिसर्वपापैःप्रमुच्यते प्रत्याम्नायेनकृच्छ्रस्यपराकस्यजनाधिप २ सर्वकृच्छ्रफलंलब्ध्वाप्रयातिपरमंपदम् इतितेहिसमाख्यातःपाराकोविधिरुत्तमः ३ पराककृच्छ्राचरणासमर्थस्य प्रत्याम्नायंपंचदशगवांविप्रेभ्यःपृथग्दत्वाशुद्ध्यतीतिवाक्यार्थः ॥ अपरार्के चतुर्विंशतिमते ॥ पराकतप्तातिकृच्छ्रस्थानेकृच्छ्रत्रयंचरेत् सांतपनस्यवार्द्धमशक्तोव्रतमाचरेत् १ स्मृत्यर्थसारेतु तप्तकृच्छ्रेषट्पराकेपंचेति। असौप्रत्याम्नायोमहत्तप्तकृच्छ्रे ।तप्तकृच्छ्रेतु अपरार्के मार्कंडेयः प्राजापत्यसमाधेनुस्तद्द्वयंहिपराकके । विशेषमाहसएव पराकेतुसुवर्णस्याद्धेमशृंगीतथैवचेति॥हेमशृंगीग्रहणेन कांस्यदोहाद्युपस्करवतींधेनुं लक्षयति ॥

तप्तकृच्छ्र और अतिकृच्छ्र इनांविषें एक एक व्रतका त्रयत्रय प्राजापत्य व्रत बदला कहाहै जेकर इनांतीनां विषे भी असमर्थहोवे तां सांतपन व्रतका जो आदका अर्द्धहै तिसकों करे ॥ १ जो स्मृत्यर्थसारविषें फेर कहाहै कि तप्तकृच्छ्र व्रतविषे छे६प्राजापत्यव्रतवदलाकरे और पराकव्रतविषे पंच५ प्राजापत्यवदला करे सो एहप्रत्याम्नायमहातप्तकृच्छ्र विषे जानणा ॥ तप्तकृच्छ्रविषे अपरार्कविषे मार्कंडेयजीका वचनहै प्राजापत्यके तुल्य फलदेणवाली प्रसूता गौ १ कहीहै सो धेनु पराक व्रत विषे दोकहीयांहैं ॥ इस विषे मार्कंडेयहि विशेष कहताहै पराकव्रत विषें सुवर्ण दानकरे तैसे सुवर्णके शृंग और रूप्पेके खुर और कांस्यपात्रतें आदलेके समग्रीकर्के युक्त धेनु का दान करे ॥

इसतें अनंतर मासोपवास कृच्छ्रकों जाबाल ऋषि कहताहै अनेति एकमासपर्यंत उपवास ब्रत महापापांके नाशकरणेवाला कहाहे ॥ अब इसकाप्रत्याम्नायकहतेहां बारां १२ दिनके उपवासकर्के युक्त पराक व्रतहै अथवा दिन दिन प्रति सठ ६० ब्राह्मणकहणे तिसकारणतें मासकेउपवास ब्रत विषें भी फलकी प्राप्तिवास्ते वदला सठ ६० ब्राह्मणाहि कहने एह षक्ष ऐश्वर्य युक्तपुरुष विषें जानणा ॥ और निर्धनपुरुष तीस ३० ब्रह्मणांके तांई भोजन देवे दिनविषें ॥ इसतें उपरंत यावककृच्छ्र व्रतकहाहै तिसविषें शंखजीकावाक्यहै गविति गौकेंगोयेतें यवांकों चुगके एक मासपर्यं जो भक्षणहै सो संपूर्णपापांके दूरकरणेवास्ते यावककृच्छ्र किहाहै १ देवलजीका वाक्यहै

अथ मासोपवासकृच्छ्रम् ॥ जावालः । अनशनंमासमेकंतुमहापातकनाशन मिति अस्यप्रत्याम्नायोद्वादशाहोपवासरूपपराकः षष्टिमितब्राह्मणभोजनं प्रतिदिनंवाविहितम् ॥ तथात्रापि षष्टि ६० मिताब्राह्मणामासंयावत् प्रतिदिनंमासोपवासफलकामनयाभोज्याः इदंचधान्यसमृद्धिपरमितरस्यार्द्धादि व्यवस्थयायोज्यम् ॥ अथयावककृच्छ्रम् तत्रशंखः। गोपुरीषाद्यवानश्नन्मासमेकंसमाहितःव्रतंतुयावकंकुर्य्यात्सर्वपापापनुत्तये १ देवलः । अथातः संप्रवक्ष्यामिकृच्छ्रंयावकसंज्ञकम् यस्याचरणमात्रेणमुच्यतेब्रह्महत्यया १ ॥ शृणुध्वंमुनयःसर्वेयावकंकृच्छ्रमीरितम् विषदानेचयत्पापंयत्पापंगृहदाहके २ शस्त्रधारेणयत्पापंयत्पापंविप्रनाशनात् विधवाव्रतलोपेचयातिसंन्यासिनोरपि ३ गृहस्थस्यसदाचारत्यागेयत्पापमुच्यते प्रकृतेनापियत्पापंतेषां विस्मयतस्तथा ॥ ४ ॥

अर्थेति यावकनामकर्के जो कृच्छ्रव्रतहै तिसनूं कहतेहां जिसके करणेकर्के पुरुष ब्रह्महत्यापापतें रहितहोताहै ॥ १ ॥ अबमरीचिका वचनहै श्रिति हेसंपूर्णमुनीश्वरो श्रवणकरो मैंनें यावककृच्छ्र नामव्रतकहोदाहै विषकेदेणेकर्के जोपापहै और गृहविषें अग्निलाणेकर्के जोपापहै ॥ २ ॥ और शस्त्रके धारणेतें जो पापहै और ब्राह्मणके मारणेतें जो पापहै और विधवा स्त्री विषे गमन करणेका जो पापहै और ब्रह्मचारीके और संन्यासीके व्रतके दूरकरणेविषें जोपापहै ॥ ३ ॥ और गृहस्थोंकों कर्मांके त्यागविषें जो पापहै और स्वभावकर्के जो पापहै और तिनां विधवा स्त्री आदिकांकों भय देणेका जो पापहै ॥ ४ ॥

और अपणेमानवास्ते ब्राह्मणतांई दानदेकर जो कहणाहै मैंनेंदानकीया तिसकहणेंतें टोर ब्राह्मण के अवमानतें जोपाप और ब्राह्मणकी निंदाकरणे विषे और माताका निरादरकरणेंतें जो पाप ॥ ५ ॥ और धेनुकी निंदाविषे औरशिवांकी निंदाविषें और विष्णुकी निंदाविषे और यज्ञांकी निंदाविषे जो पाप ॥ ६ ॥ और विना बुलाय परगृहभोजनविषे और अनध्याय दिनांविषें पड नेका जो पाप है और दुष्टपुरुषके साथ संगतिकरणेंतें जो पाप है और धनके मदतें जो पाप है ७ ॥ और दुग्धकर्के स्नानकरणेंतें जो पापहै और स्त्रीके निरपराध त्यागणें कर्के जो पापहै यज्ञके त्यागविषे और भांडयांके वेचणेविषे जो पापहै ॥ ८ ॥ और विधवानें जो केशातें रहितस्नानक

दानस्यकीर्तनात्पापंयथाविप्रावमानतः यत्पापंविप्रानिंदायांयत्पापंमातृभ र्त्सनात् ॥ ५ ॥ यत्पापंधेनुनिंदायांयत्पापंशिवभर्त्सने यत्पापंविष्णुनिंदा यांयत्पापंक्रतुकुत्सने ॥ ६ ॥ अमानभोजनेपापमनध्यायेपुपाठने दुःसंगते श्चयत्पापंयत्पापंधनगर्वतः ॥ ७ ॥ यत्पापंपयसास्नानेयत्पापंदारमोचने यत्पापंक्रतुसंत्यागेयत्पापंभांडविक्रये ॥ ८ ॥ सकेशस्नानराहिता विधवा कांस्यभोजना पुनर्भुक्तासताम्बूलासदानिन्दापरायणा ॥ ९ ॥ सदाभ्रमति यःनारीपतिद्वेषपरायणा पुत्रःपितॄणांविद्वेषीसदाविप्रापराधकृत् ॥ १० ॥ कुचैलः सर्वदातिष्ठन्यथातत्क्षालनाद्विसः बह्वाशीनिष्ठुरंवक्ताविप्रदाने षुविघ्नकृत् ॥ ११ ॥

रणाहै और तिसकों जो कांस्यपात्रविषे भोजन करणेका पापहै और विधवाकों दूसरी वार भो जन करणे विषे और तांबूलके भक्षण करणे विषे जो पापहै और जो स्त्री सदानिंदाविषे टुकहै तिसकों जो पापहै ॥ ९ ॥ और जो सदाघरघरविषे भ्रमतीहै और पतिविषे द्वेषकर्के टुकहै तिसकों जो पाप और पुत्रकों पिताकें साथविरोध करणेका जो पापहै और ब्राह्मणाविषे अपराधकरणे काजोपापहै ॥ १० ॥ और सर्वदामलिन वस्त्रधारणका जो पाप और हच्छीतरहवस्त्रके अप्रक्षाल णेका जो पाप और बहुत जगा भोजन खाणेविषे जो पाप और जो कठोरवचनकों कहताहै तिसका जो पाप और ब्राह्मणांके तांई दान देणे विषे विघ्न करणे वालेकों जो पापहै ११ ॥

इनां संपूर्ण पापांके दूरकरणे वास्ते यावक कृच्छ्रव्रतकों करे ॥ पराशरजीका वचनहैं सर्वेति संपूर्ण पापांके दूर करणे वास्ते यावक कृच्छ्र व्रतकहाहै तिसके करणे कर्के ब्राह्मण शुद्धिकों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ इसकी विधि कहतेहैं व्रतेति जिवांके भक्षण करणेते व्रत न दूर होवे असयां यवांकों अर्थात् गोमयतें निकालके यवांकों आप ग्रहण कर्ताहोई जो अग्नि तिस विषे छे गुणा अधिक जल कर्के पकाके व्रती जो पुरुषहै शुद्धिकों स्नान पूर्वक करे तिन पके होये यवागूकों पलाशपत्रांके डूने विषे रक्षकर ॥ २ ॥ और यव न होण तां व्रीहि ग्रहण करवा श्यामाक क्या सवांक ग्रहणकरे इसके मानतें दिन दिनविषे प्रथम ब्राह्मणके ताईं देकर विष्णुनाईं सो अन्नअर्पण करे ॥ ३ ॥ और नित्यकर्मकों कर्केसूर्यके अस्त

एतेषांपावनार्थाययावकंकृच्छ्रमाचरेत् ॥ पराशरः ॥ सर्वपापविशुद्ध्यर्थं यावकंकृच्छ्रमीरितम् तदाचरणमात्रेण विप्रोभवतिशुद्धिमान् ॥ १ ॥ अव्रतघ्नयवान्पक्त्वास्वगृह्याग्नौव्रतीशुचिः तद्यवागूंसमाधायब्रह्मपत्रपुटे वशी ॥ २ ॥ यवाभावेव्रीहयोवाश्यामाकाद्यस्यमानतः ॥ तदन्नंप्रत्यहं दत्वायवागूंविष्णवेऽर्पयेत् ॥ नित्यकर्मादिकंकृत्वायावन्मंदायते रविः ॥ ३ ॥ तावत्पर्य्यतंपूर्वविभूतिं विश्वरूपादिकं पठन्। स्थित्वा नारायणमनुस्मरन् यवागूं पिवेत् ॥ तदाहगौतमः ॥ ब्रह्मपत्रपुटेराज न्धृत्वासायमतंद्रितः तावतामनसाविष्णुंस्मरन्मंदायतेरविः। १। यवागूं विष्णवेदत्वापश्चात्पीत्वास्वयंमुदा पूर्ववत्क्षालनंकृत्वापादपाण्योर्यथाक्र मम् ॥ २ द्विराचम्यशुचिर्भूत्वास्वपेन्नारायणाग्रतः अजस्रंधारयेदग्निंयाव त्कृच्छ्रंसमाप्यते ॥ ३ ॥ परेद्युरेवंकुर्वीतद्वादशाहोभिरीरितम् तदंतेगौः प्रदातव्यापंचगव्यंपिवेत्तदा ४ ॥ एवंकृत्वाद्विजोयस्तुसद्यः पापात्प्रमुच्यते

पर्यंत विभूति विश्वरूपादिका पाठकरे और नारायणका स्मरणकरेपीछे तिसयवागूका पानकरे ॥ तिसी नूं गौतम ऋषि कहताहै हेराजन् आलसतें रहित होंके सायं काल विषे भक्षण करणे यो ग्य जो यवागू तिसकों पलाशपत्रांके डूनेविषे रक्षके मनकर्के बिष्णुकास्मरणकरे सूर्यके अस्ततक १॥ फेर विष्णुनांईदेके आप पानकरे हर्षकर्के पीछेपूर्वकी न्यांईहस्थ और पैरोंकोंक्रमसें शुद्धकर्के २॥ दो वार आचमन करे और नारायणके आगे शयन करे और निरंतर अग्निका धारण करे जितनापर्यंत कृच्छ्रव्रत नहि समाप्त होवे ॥ ३ ॥ तितना कालकरताहैं ऐसे संपूर्ण विधि दूसरे दिनसें लेके बारांदिनतककर्के अंतविषे पंचगव्यकों पीवे और गौ दानकरे ऐसे करणे तें तात्काल द्विजपापतें रहितहोताहै ॥ ४ ॥

इसतें उपरंत यावक कृच्छ्रका वदलाहै तिसविषे देवलजीका वाक्यहै कृच्छ्रस्यंयति इसयावककृच्छ्रके प्रत्याम्नायनूं श्रवणकर जिसके एकवार करणेकर्के ब्राह्मणादि तात्कालंहिपापतें रहितहोंताहै । १ । योगीश्वरका वाक्यहै प्रेति यावककृच्छ्रके वदलेनूं कहतेहां जों वदला संपूर्णपापांके नाश करणे वाला औंर पुरुषांकों संपूर्ण कृच्छ्र फलकेदेणे वालाहै ॥ १ ॥ यावक कृच्छ्रकावदलेमें दश १० गौयांसहित वछयांके दुग्धदेणे वालीयां औंर हछे स्वभाववालीयां वस्त्रभूषणांकर्के संयुक्त ॥ २ ॥ भिन्न भिन्न ब्राह्मणांके तांइं देणें योग्यहैं जो ब्राह्मण जीविकासें रहितहैं ॥ पीछे देहकी शुद्धि वास्ते पंचगव्यकों पीवे एह वदला यावक कृच्छ्रके फल देणें वाला सेवणे योग्यहै

अथयावककृच्छ्रप्रत्याम्नायः॥ तत्रदेवलः ॥ कृच्छ्रस्ययावकस्यास्यप्रत्याम्नायमिमंशृणु सकृत्कृत्वाद्विजोयस्तुसद्यः पापात्प्रमुच्यते १ योगीश्वरः प्रत्याम्नायंप्रवक्ष्यामियावकस्यमहात्मनः सर्वपापप्रशमनं सर्वकृच्छ्रफलंनृणाम् १ ॥ गावोदशप्रदातव्याः प्रत्याम्नायेप्रकल्पिताः सवत्सादुग्धसंयुक्ताः सुशीलास्समलंकृताः २ विप्रेभ्यःप्रतिदातव्या अवृत्तिभ्यःपृथक्पृथक् पंचगव्यंततःपश्चात्पिबेद्देहविशुद्धये ३ एतत्कृच्छ्रस्यफलदंयावकस्यसुखाप्तये ॥ गौतमः ॥ यावकस्यमहापापहारिणःफलदायकम् सर्वपापोपशमनंमहत्पुण्यप्रदायकम् ॥ १ ॥ सम्पूर्णवस्त्राभरणखुरशृंगोपशोभिताः सवत्सायुवतीःसाध्वीर्गवांसंख्यादशस्मृताः ॥ २ ॥ पयस्विनीर्द्विजाग्र्येभ्यः प्रदातव्याःफलाप्तये पंचगव्यंपिबेत्पश्चाच्छुद्धोभवतिमानवः ॥ ३ ॥

सुखकी प्राप्तिवास्ते ॥ ३ ॥ गौतमजी कावाक्य है येति यावककृच्छ्र जों व्रतमहापापांके नाश करणे वाला तिसका वदला फलके देणे वाला औंर संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला औंर महत्पुण्यकेदेणें वालाहैं ॥ १ ॥ तिसमें संपूर्ण वस्त्र औंर भूषण औंर रुप्पेकें खुर औंर सुवर्णके शृंगतिनां कर्के शोभायमान सहित वछयांके औंर जुवाण सुशीला दश गौयां १० देणे वास्ते कथनकीतयांहैं ॥ २ ॥ दुग्धदेणेवालीयां फलकी प्राप्ति वास्ते श्रेष्ठ ब्राह्मणांकेतांइं देवे औंर पीछे पंचगव्यका पानकरे तां मनुष्य शुद्धिकों प्राप्त होताहै ॥ ३ ॥

जो पुरुष इस प्रकार करताहै सोयावकव्रतके फलको प्राप्त होके शुद्धहोताहै ॥ ४ ॥ अवसौम्यकृच्छ्र कहतेहैं तिसविषे याज्ञवल्क्यकावचनहै पिण्येति प्रथम दिनाविषे तिलांकों कुटकरभक्षण करे और दूसरे दिन चावलांकी पिछका पान करे और तीसरे दिन तक्र क्या छाहका पानकरे और चौथे दिन केवलजलका पानकरे और पांचमे ५ दिन यवांकेसतुयांकापानकरे और एक रात्रका उपवास करे एह छे दिनका सौम्यकृच्छ्रव्रत कहाहै । १ । इहां द्रव्यका परिमाण प्राणां के निर्वाह मात्राजानणा ॥ जाबालऋषिनें तो चार दिनांका सौम्यकृच्छ्र कहाहै एक दिन विषे तिलांकों कुटकर भक्षण करे और दूसरे दिन सक्तु पान करे और तीसरे दिन छाहका पानकरे

एवंकृतेनरोयस्तुयावकस्यस्वरूपिणीम् गवांसंख्यांद्विजाग्र्यायदत्वाफलमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥ अथसौम्यकृच्छ्रम् ॥ तत्रयाज्ञवल्क्यः ॥ पिण्याकाचाम तक्राम्बुसक्तूनांप्रतित्र्यहम् एकरात्रोपवासश्चकृच्छ्रःसौम्योयमुच्यते १ ॥ द्रव्यपरिमाणंतुप्राणयात्रामात्रनिवन्धनमधिगंतव्यम् ॥ जाबालेनतुचतुरहव्यापीसौम्यकृच्छ्रउक्तः । पिण्याकंसक्तवस्तक्रंचतुर्थेहन्यभोजनम् वासोवैदक्षिणांदद्यात्सौम्योयंकृच्छ्रउच्यते ॥ १ ॥ प्रायश्चित्तेन्दुशेखरे ॥ वारणकृच्छ्रउक्तः ॥ मासंपरिमितसक्तूदकपाने वारणकृच्छ्रः ॥ श्रीकृच्छ्रस्तु ॥ त्र्यहंपिवेत्तुगोमूत्रंत्र्यहंवैगोमयंपिवेत् त्र्यहंयावकमेषश्रीकृच्छ्रः परमपावनः ॥ १ ॥ अथ यावकृच्छ्रः ॥ यवानांपयःसाधितानां सप्तरात्रं पक्षंमासंवा प्राशने यावकृच्छ्रः ॥

और चौथे दिन विषे उपवासकरे और वस्त्र दक्षिणा देवे एह सौम्यकृच्छ्र कहाहै ॥ १ ॥ प्रायश्चित्तेंदुशेखरविषे वारण कृच्छ्रव्रत कहाहै एकमासपर्य्यंत जलकर्के युक्त जो सत्तु तिनांके पान करणेविषे वारण कृच्छ्रव्रतहोताहै । अव श्रीकृच्छ्रकहीदाहै त्र्यहमिति त्रय दिन गोमूत्रपीवे और त्रय दिन गौका गोयापानकरे और त्रय दिन जवांका काडा पीवे एह श्रीकृच्छ्रव्रत कहाहै ॥ १ ॥ अवयावकृच्छ्र कहीदाहै जलकर्के सिद्धकीते जो यव तिनांका सप्त दिन पानकरे वा पंदरांदिन वा एक मास भक्षण करण विषे यावकृच्छ्र कहाहै ॥ एह पूर्वोक्त यावक कृच्छ्रतें विलक्षण होणे कर्के उसते भिन्नहै

अब जलकृच्छ्रहै ॥ भोजनकों त्यागके जल विषे स्थितहोवे दिन रात्रा तां जलकृच्छ्र होताहै ॥ अब वज्रकृच्छ्रहै ॥ गोमूत्र कर्के युक्त जो यव तिनांकों एक दिन भक्षण करे तां वज्रकृच्छ्र व्रत होताहै इसजगाभी कालकानियम अहोरात्रहि जानणा और पापपुरुषको वज्रकी न्याईहै इस कर्के वज्रकृच्छ्रनामहै ॥ अब तुला पुरुष नाम कर्के कृच्छ्रकहीदाहै तिस विषे याज्ञवल्क्यजी का वचन है एषामिति तिल कुट्टे होये और चावलांकी पिछ और छाह और जल और सत्तुयांकों क्रमकर्के एक एककों त्रय त्रय दिन भक्षण करे तां पंदरां १५दिनांकर्के तुलापुरुषनाम कृच्छ्रव्रत होताहै ॥ १ ॥ इसतुलापुरुषका पंदरा दिनांकर्के विधान होणेतें उपवास नहि कहा ॥ यमजीनें इकीयां दिनांका तुलापुरुष व्रत कहाहै आचाममिति चावलांकी पिछ और तिलकुट्टेहोये

अनाशनोजलस्थोहोरात्रंक्षिपेदितिजलकृच्छ्रः ॥ वज्रकृच्छ्रस्तु गोमूत्रयावकपानेएकोवज्राख्यःकृच्छ्रः ॥ अथतुलापुरुषाख्यकृच्छ्रः ॥ तत्रयाज्ञवल्क्यः ॥ एषांत्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्ययथाक्रमम् तुलापुरुषइत्येषज्ञेयःपंचदशाहकः १ ॥ एषांपिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनामित्यर्थः ॥ १ ॥ अत्रपंचदशाहकत्वविधानादुपवासस्यनिवृत्तिः । यमनत्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुषउक्तः ॥ आचाममथपिण्याकंतक्रंचोदकसक्तुकान् त्र्यहंत्र्यहंप्रयुंजानोवायुभक्ष्यस्त्र्यहंद्वयम् एकविंशतिरात्रस्तुतुलापुरुषउच्यते ॥ १ ॥ ॥ अथकायकृच्छ्रम् ॥ तत्रदेवलः ॥ प्राजापत्यंततकृच्छ्रंपराकंयावकंतथा ततःसांतपनंकृच्छ्रंमहासांतपनंतथा ॥ १ ॥ कायकृच्छ्रंतथाप्रोक्तमतिकृच्छ्रंविशुद्धिदम् ॥ औदुम्बरंचपर्णंचफलकृच्छ्रमतःपरम् ॥ २ ॥

और छाह और जल और सत्तु इनांकों क्रम कर्के त्रय त्रय दिन भक्षण करे और छे ६ दिन वायु भक्षण करें ऐसे इकीस २१ दिनांका तुलापुरुष कहा है इसका नामभी तुलापुरुषदानके तुल्यफल देणे कर्के है तिसके तुल्यहै ॥ १ ॥ ॥ इसतें उपरंत कायकृच्छ्रहै तिस विषे देवल जीका वाक्यहै प्रेति प्राजापत्यकृच्छ्र १ और तप्त कृच्छ्र २ पराककृच्छ्र ३ यावककृच्छ्र ४ सांतपनकृच्छ्र ५ महासांतपन ६ कायकृच्छ्र ७ अतिकृच्छ्र विशेष कर्के शुद्धिके देणे वालाहै और ८ औदुम्बरकृच्छ्र ९ पर्णकृच्छ्र १० और इसके अगे फलकृच्छ्र ॥ ११ ॥ २

माहेश्वरकृच्छ्र १२ ब्रह्मकृच्छ्र १३ धान्यकृच्छ्र १४ स्वर्णमयकृच्छ्र १५ पिच्छे कृच्छ्र व्रत तेरां १३ कथन कीतेहैं अब लिंगपुराण विषे कथन कीते जो अतिकृच्छ्र और काय कृच्छ्र तिनां कर्के पंदरां कृच्छ्र होतेहैं संपूर्णलोकांके उपकारवास्ते लिखेहैं ॥ कायकृच्छ्र और अतिकृच्छ्रका लक्षण जो लिंगपुराण विषे कहाहै तिसनूं कहतेहां कायेति कायकृच्छ्रनूं कहतेहां जो महापापांकी शुद्धकरणे वास्ते और उपपातकांकी शुद्धिकरणे वास्ते मुनियांनें कथन कीताहै १ ॥ अब जो पाप कायकृच्छ्र कर्के दूर होतेहैं तिनको लिखतेहैं भविष्यत्पुराण विषे ॥ कायकृच्छ्रकर्के दूरहोणवाले पाप कहेहैं तुलेति एक हजारका जो दान कर्ताहै और हजार

एवंमाहेश्वरंचैवब्रह्मकृच्छ्रंतथैवच धान्यंस्वर्णमयंचैवदशपंचैवकीर्तितम् ३ पूर्वंत्रयोदशकृच्छ्राणीत्युक्तम् ।इदानींलिंगपुराणोक्तत्वादतिकृच्छ्रकायकृच्छ्राभ्यांसहपंचदशभवंतिसर्वेषामुपकारकत्वाल्लिखितम् ॥ कायकृच्छ्रातिकृच्छ्रलक्षणंलिंगपुराणोक्तंविशिनष्टि ॥ कायकृच्छ्रंप्रवक्ष्यामिमहापातकशुद्धये उपपातकशुद्ध्यर्थंमुनिभिःपरिकीर्तितम् ॥ १ ॥ भविष्यत्पुराणे ॥ तुलाधेनुसहस्राणिअष्टाब्दानिद्विजोत्तम दाताप्रतिग्रहीताचअन्योन्यंनावलोकयेत् ॥ १ । तुलाधेनुसहस्रदानानंतरमष्टवर्षपर्य्यन्तं दातृप्रतिग्रहीत्रोरवलोकनादिनिषिद्धमित्यर्थः ॥ यदिदैवादनप्राप्तंतीर्थेषुचमहोत्सवे तदातद्दोषशांत्यर्थंकायकृच्छ्रंसमाचरेत् ॥ २ ॥ द्वितीयोजपकृल्लक्षःसहस्रंविधिपूर्वकम् द्वितीयःप्रतिग्रहीता उभयोर्दानयोराजातथाब्रह्मसदस्ययोः ॥ ३ ॥
सत्वाब्देवहिवर्पाणितन्मुखंनावलोकयेत् ।

धेनुका जो दान कर्ताहै और तिनांदानांको जो ग्रहण कर्ताहै इसमे दाता और प्रति ग्रहीताकों अष्ठ वर्ष ८ पर्यंत आपसमें देखणेका निषेध है क्या आपस विषे दर्शन न करें ॥ १ ॥ जेकर तीर्थां विषे फेर महोत्सव विषे दैवकर्के इनां दूनोंकांका मिलाप होवे तां तिसदोषकी शांतिवास्ते काय कृच्छ्र व्रतकों करे दाताकों एह प्रायश्चित्तहै ॥ २ ॥ और दानके ग्रहण करणे वाला विधि पूर्वक एक हजार १००० गायत्रीके जप कर्के शुद्ध होताहै तुलादान हजार और धेनुदान हजार इन दोनों दानों विषे राजा ब्रह्मा और सदस्यके मुखकों चारवर्ष पर्यंत न देखे ॥ ३ ॥

ब्रह्म और सदस्यका अर्थ शब्द कल्प द्रुम विषे कहाहै एकइति एक कर्मविषे नियुक्त होताहै और दूसरा कर्मका धारक होताहै और तीसरा प्रष्णकों कर्ताहै और चौथापुरुष कर्मकों कर्ताहै ॥ १ ॥ जोकर्मविषे निरंतर युक्तहै तिसका नाम आचार्य और सोहि पुरुष ब्रह्मांग जो होम कर्महै तिस विषे युक्त होवे सो ब्रह्मा कहीदाहै और सोहि मह्लाआप हवन करे तिसका नाम होताहै और जो (विधिके दखाणे वालाहै तिसका नाम सदस्य कहाहै इसअरमकोशके वाक्यतें) कदाचित् राजा ब्रह्मसदस्पके मुखकों देखे तां तिसकों पापदूरकरणवास्ते कायकृच्छ्रव्रतहै ब्रह्मा और सदस्य कों एक हजार१०००गायत्रीका जप शुद्धिवास्ते कहाहै ॥ ऐसे न करे तां दोषनूं वृहस्पति जी

ब्रह्मसदस्ययोःसंज्ञा शब्दकल्पद्रुमे एकःकर्मनियुक्तःस्याद् द्वितीयस्तत्र धारकः तृतीयःप्रष्णकंकुर्य्यात्ततःकर्मसमाचरेत् १ कर्मनियुक्तआचार्यः सच ब्रह्मांगके होमकर्मणिब्रह्मा स्वयंहोमकरोहोतापीत्यादि सदस्याविधि दर्शिनइत्यमरात्सदस्योविधिदर्शीवोध्यस्तत्परिहाराय दातुःकायकृच्छ्रमि तरयोर्ब्रह्मसदस्ययोश्चसहस्रगायत्रीजपः। अन्यथादोषमाहवृहस्पतिः। दातुःप्रतिग्रहीतुश्चकायकृच्छ्रोजपोमहान् अन्योन्यालोकनेनोचेत्तद्दानंनि ष्फलंभवेत् १ महान्सचसहस्रावच्छिन्नोनोचेत् तन्निष्क्रियमकृत्वाचेदित्य र्थः॥ सर्वमहादानप्रतिग्रहेषुदातृप्रतिग्रहीत्रोःब्रह्मसदस्ययोश्चैवमुक्तं प्राय श्चित्तंसर्वत्र वेदितव्यम् लांगलपंचसंज्ञेचविश्वचक्रेमहत्तरे सप्ताब्दंचत थाराजातन्मुखंनावलोकयेत् ॥ २ ॥

कहतेहैं॥ दातुरिति दाता और प्रतिग्रहीता आपसविषें देखण तो दाता कायकृच्छ्रव्रत न करे और प्रतिग्रहीतामहान् क्या एकहजार गायत्रीका जप न करे तां सोदान निष्फल होताहै १ तिसकी शुद्धिकों लेकर नकरे संपूर्ण महादान प्रतिग्रहां विषे दाता और प्रतिग्रहीताकों और ब्रह्मा और सदस्यकों प्रायश्चित्त जैसे कहाहै सो संपूर्ण स्थानांविषे जानणेयोग्यहै ॥ और पंच लांगल दान विषे और विश्वचक्र महा दानविषे राजा तिनांदानांके ग्रहण करण वाळयां पुरुषांके मुखनूं सत ७ वर्ष न देखे २ ॥

सतेति सप्तसागर दानां विषें और चर्मधेनुकें प्रतिग्रह विषें और महाभूत घट दान विषें और तुला दानविषें कहे जो सप्त प्रतिग्रह तिनां दानां विषें आचार्य और ब्रह्मा कयाहोना और विधि के दखाणे वाला इनांके मुखकों राजा नदेखे कदाचित् देखेता पूर्वकी न्यांई कायकृच्छ्र आ, दिकों करे तांशुद्धहोंताहै ॥ ३ ॥ और हिरण्य गर्भ दानविषें और ब्रह्मांड दानविषे दाता जेकर आपसविषें मुखदेखे तां दानके फलको नहि प्राप्तहोता इसजगाभी प्रायश्चित्त आचार्य और ब्रह्मासदस्यको पूर्वकी न्यांईहै ॥ ४ ॥ और सम्यक् कल्पवृक्षके दानविषे और तैसे कल्पलतादान विषे राजा छे६वर्षतक ब्राह्मणके मुखको नदेखे और ब्राह्मण राजाकों नदेखे १ कदाचित् आपसविषे देखें तां कायकृच्छ्र और गायत्रीका जपकरें तिसविषे संख्या क्रमकर्के जानणे योग्यहै

सप्तसागरदानेषुचर्मधेनोःप्रतिग्रहे महाभूतघटेचैवतुलायांनावलोकयेत् ३ ॥ उक्तेषुसप्तप्रतिग्रहेषु तदाचार्य्यब्रह्मसदस्यानां प्राग्वत्कायकृच्छ्रादिकं वेदितव्यम् ॥ हिरण्यगर्भेब्रह्माण्डेदातायदिहिपूर्ववत् अन्योन्यालोकनेराजन्नदामफलमश्नुते ॥ ४ ॥ आचार्य्यब्रह्मसदस्यानांपूर्ववत् ॥ संकल्पपादपादानेतथाकल्पलताग्रहे ॥ षडब्दंतन्मुखंराजाविप्रोवानावलोकयेत् ॥ ५ ॥ कायकृच्छ्रेगायत्त्रीजपंच तत्रसंख्याक्रमेणवेदितव्यम् ॥ हिरण्यधेनुदानेचहिरण्याश्वप्रतिग्रहे ॥ पूर्ववत्सप्तसंख्याब्दमन्योन्यंनावलोकयेत् ॥ ६ ॥ कृच्छ्रादिकंपूर्ववत् ॥ हिरण्याश्वरथेचैवहेमहस्तिरथेतथा धरादानेकालपुरुषेकालचक्रेतथैवच ॥ ७ ॥ तिलधेनौराशिचक्रेपंचाब्दंनावलोकयेत् यदिदैवात्समालोकोह्यतिकृच्छ्रंचरेद्व्रती ॥ ८ ॥

॥ ५ ॥ अर्थात् राजाकायकृच्छ्रकरे और ब्राह्मणजप करे और सुवर्ण धेनुके दान विषे और सुवर्णके अश्व दानविषे पूर्वकी न्यांई सत्त ७ वर्षतक आपस विषे न देखें इसमेभी जेकर देखे तो कृच्छ्रादि व्रतपूर्वकी न्यांई जानणा ॥ ६ ॥ सुवर्णके अश्व कर्के युक्त जो रथ है तिस विषें और सुवर्णके हस्ति कर्के युक्त जो रथ है तिस दान विषें और पृथ्वी दान विषें और काल पुरुष दान विषे और कालचक्र दान विषे ॥ ७ ॥ तैसें और तिल धेनु दानविषें और राशि चक्र दानविषे दाता और प्रतिग्रहीता आपस विषे पंच वर्ष पर्यंत नदेखें जेकर दैवकर्के आपस विषें देखणतां दाता अतिकृच्छ्रव्रतकों करे ॥ ८ ॥

पुनरिति ब्राह्मणपटगर्भ विधानते फेर संस्कारके करणेतें शुद्धिकों प्राप्तहोंताहै ऐसें न करे तां दोषकों प्राप्तहोताहै और दाताका दान निष्फलहोताहै ९ और कहतेहैं कोटीति कोटि होमविषे और लक्ष होमविषें औ र पाप पुरुषके प्रतिग्रहविषें दाता आचार्यके मुखको न देखें १० जेकर दैवतें दर्शनकरे तिसविषेंभी दाताकों अतिकृच्छ्रव्रतकहाहै और इतर क्या आचार्यआदिकांकों फेर संस्कार शुद्धिके निमित्त कहाहै इसमें वाशब्दसें पूर्वोक्त ५ वर्ष तक निषेध जानणा ॥ श्वेत अश्व दानकों जो ग्रहण कर्त्ताहै और मृतपुरुषके निमित्त जो शय्या दान तिसको जो ग्रहण कर्त्ताहै और हाथि दानको जो ग्रहण कर्त्ताहै तिसके मुखकों त्रय ३ वर्ष पर्यंत दाता न देखे ॥ ११ ॥ और जेकर दैवतें तीर्थआदिविषें देखे तां दाता अतिकृच्छ्र व्रतकरे और ब्राह्मण पटगर्भ विधितें संस्कार करणेते शुद्धिको प्राप्तहोताहै ॥ १२ ॥ और

पुनस्संस्कारभृद्विप्रःपटगर्भविधानतः अन्यथादोषमाप्नोतिदाताविफलमश्नुते ॥ ९ ॥ कोटिहोमेलक्षहोमेपापपुरुषप्रतिग्रहे आचार्य्यस्यमुखंदातादैवाद्वानावलोकयेत् ॥ १० ॥ तत्राप्यतिकृच्छ्रंदातुरितरेषांपुनःसंस्कारः श्वेताश्वमृतशय्यायांगजदानप्रतिग्रहे त्र्यब्दंहितन्मुखंदातादैवाद्वानावलोकयेत् ॥ ११ ॥ अतिकृच्छ्रीचदातास्याद्ब्राह्मणःपटगर्भतः १२ आर्द्रकृष्णाजिनेचैवसप्तशैलप्रतिग्रहे द्वित्र्यब्दंतन्मुखंदातापूर्ववन्नावलोकयेत् ॥ १३ ॥ ब्रह्मकृच्छ्रंचरेद्दाताइतरेपटगर्भतः शुद्ध्यंतिसततंविप्राःशातातपवचो यथा ॥ १४ ॥ ब्रह्मकृच्छ्रंप्राजापत्यमित्यर्थः ॥ कपिलाद्विमुखीदानेदासीगृहपरिग्रहे अब्दमेकंद्विजदातापूर्ववन्नावलोकयेत् ॥ १५ द्विमुखीउभयमुखीत्यर्थः ॥ पर्णकृच्छ्रंततःप्रोक्तमितरेषांहिपूर्ववत् तुलादिसप्तदानेषु ऋत्विजोहोतृकानपि द्वारस्थान्नावलोकेद्वाफलकृच्छ्रमुदाहृतम् १६ मासत्रयमित्यर्थः

कृष्ण मृगके आर्द्र क्या गिल्लेचर्मके दानविषे दोवर्ष और सप्त७पर्वत दानकें ग्रहणविषे त्रयवर्ष पर्यंत दाता दानकें ग्रहण करणवालेके मुखकों न देखे १३ जेकर दैवतें देखे तां दाता प्राजापत्यकृच्छ्र व्रतकों करे और इतर जो आचार्य्यआदि सो पटगर्भ विधिते शुद्धहोतेहैं एह शातातपका वचनसत्यहै १४ और कपिलागोके दानविषें और उभयमुखी गोके दानविषें और दासी और गृहदानविषे दाता एकवर्षपर्यंत दानग्रहीताके मुखको पूर्वकीन्यांई नदेखे १५ जेकर दैवतें देखे तां दाता पर्णकृच्छ्र व्रतकों करे और आचार्य्य आदिकांकी शुद्धि पूर्वकी न्यांई पटगर्भ विधानतें होतीहै और तुला आदिसप्त७दानां विषें दाता द्वारविषे स्थित जो ऋचांको पठनवाले तिनांकों न देखे त्रयमास ३ पर्यंत जेकर देखे तां फल कृच्छ्र करके शुद्ध होताहै ॥ १६ ॥

सर्वेषामिति संपूर्ण ऋत्विजजोहैं तिनांकेदर्शनविषे दाता आदरकर्के गायत्रीका एक हजारज पकरे और आज्य और भूषण और धेनुइनांके दानविषे और बळद आदिके दानविषे १७ ॥ और महिषी और बकरी और भेड इनांके दान विषे एकमासपर्यंत निरंतरदर्शन न करे जेकर करे तां ऋत्विजांको एकशत१००गायत्रीकाजपकहाहै और जोदानकरणे वालाहै सो तिसदोष केदूर करणे वास्ते धेनुदान करे १८अब इसमे विशेषकहतेहैं सात्विकेति सात्विक क्या चवी यां२४ अवतारांकीयांमूर्त्तियांके दान ग्रहण करणेवाला जो पुरुष है तिसके दर्शनकरणेमे दोष नहिजानणा ॥ अब इसीविषे गाळवजीकावचनहै हेब्राह्मणांके प्यारे चवीयां अवतारांकीयांमूर्त्ती आदिकके दानविषे और दशां १०अवतारांके मूर्त्तिदानविषे और हेप्रभो लक्ष्मीनारायण प्रतिमा आदि दानविषे दाता और दानके ग्रहण करणवालेकों परस्परमुखके देखणेविषे दोषनहि १ ॥ और अर्द्धनारीश्वर शब्दका अर्थ कहतेहैं क्या पार्वती शिवांकी प्रतिमादिकके दान विषे और

सर्वेषामृत्विजांप्रोक्तंसहस्रजपमादरात् आज्यालंकारधेनूनामनड्वाहादिसंग्रहे ॥ १७ ॥ महिषीछागवस्तानांमासमेकंनिरंतरम् ऋत्विजां शतगायत्रींदाताधेनुंसमाचरेत् ॥ १८ ॥ सात्विकदानेषुचतुर्विंशति मूर्त्यादिदानावलोकने न दोषः ॥ गालवः चतुर्विंशतिमूर्त्यादिदानेषुद्विजवल्लभ दशावतारदानेषु अर्द्धनार्य्यादिषुप्रभो मुखावलोकनंदातृग्रहीत्रो नेतुदोषभाक् ॥ १ ॥ अर्द्धनारीश्वरं लक्ष्मीनारायणप्रतिमा ॥ उमामहेश्वरप्रतिमादानेषु कृष्णाजिनतिलविरहितेषु दातृप्रतिग्रहीत्रोर्मुखावलोकनं न दोषहेतुः ॥

कृष्ण हारिणका चर्म और तिल इनांते रहित जो दानहैं तिनांविषे दाता और ग्रहीताकों परस्पर देखणेमे पूर्वोक्तदोष नहि ॥ जेडीयां २४ मूर्त्तियां दानवास्ते वनाईआंजातीयांहैं सो पांचतांत्रविषे लिखतेहैं सशक्तिकाय केशवायनमः १ नारायणायनमः २ माधवायनमः ३ गोविंदायनमः ४ विष्णवेनमः ५ मधुसूदनायनमः ६ त्रिविक्रमायनमः ७ वामनायनमः ८ श्रीधराय नमः ९ हृषीकेशायनमः १० पद्मनाभायनमः ११ दामोदरायनमः १२इत्यादिमंत्रोंकर्के जो बारां मूर्त्ति हैं सो शक्तिके साथ गिणनेतें २४ जाणनीयां और दशावतारोंके दानमे मत्स्य १ कूर्म्म २ वराह ३ नरसिंह ४ वामन ५ रामचंद्र ६ पर्शुराम ७ बलदेव ८ बुद्ध ९ कल्की १० इसनामकीयां स्वर्णादिमयमूर्त्तियां जाणनीयां ॥ और जो पिछे पटगर्भ विधि कहीहै सो वस्त्रका गर्भ वनाके तिसकीयोनिसे निकालना एह संस्कार विशेष गोमुखप्रसवकी न्याई जानणा

कृष्णेतिश्रीर काले हरिणका चर्म और तिल इनातैं रहित श्रेष्ठ प्रतिमाआदिदानके ग्रहणकरणे विषे विशेष जाबालिऋषिकहताहै दशेति इनांदसां १० अवतारांके दानके योगांविषें तिल चर्म्मादिदानांविषे चाहे पूर्वोक्तमूर्त्तिभी साथहोवे तांभी तिसजगाभोजनकरणें वाले ब्राह्मणकों दाता छे६महीने तक न देखे ॥ १ ॥ उत्क्रांतिरिति मरणसमयविषे आतुरदानकों और बैतरिणी दान कों और पुतलादाह विषे जो ब्राह्मण दानकों ग्रहण कर्त्ताहै और प्रेतके निमित्त जो दान है तिसकों जो ग्रहण कर्त्ताहै और प्राणिके मरणेतें यारमें ११ दिन विषे जो तिसके गृहविषे अन्नकों भक्षण कर्त्ताहै ॥ २ ॥ उग्रशांतियां क्या बालकांके जन्म विषे अभुक्तमूलादि

कृष्णाजिनतिलरहितेप्रधानप्रतिमाप्रतिग्रहे विशेषमाह जावालिः ॥ दश स्वेतेषुयोगेषुभुक्तवत्सुद्विजोत्तमान् तिलाजिनप्रधानेषुषण्मासंनाऽवलोकयेत् १ उत्क्रांतिवैतरण्योश्चतथाप्रतिकृतौनृप अन्नप्रतिग्रहेतातएकाहभोजनेतथा २ । उग्रशान्तिषुसर्वत्रतथामाहिषसंग्रहे कर्त्तानालोकयेद्विप्रंकायकृच्छ्रमथाचरेत् ३ ॥ उत्क्रांतिर्मरणोपयोगिसमयः। प्रतिकृतिः पर्णशरदाहसमयः ॥ अन्नप्रतिग्रहः प्रेतान्नग्रहः ॥ एकाहभोजनं एकादशाहभोजनम् ॥ उग्रशान्तयः शिशूनांजनने अभुक्तमूलादयःस्पष्टमन्यत् । * कायकृच्छ्रंलक्षयतिमरीचिः ॥ चत्वार्य्यहानिग्रासाःस्युरेकैकंप्रत्यहंप्रति निराहारस्तथातेषुचतुर्ष्वासायभोजनम् ॥ १ ॥ तदंतेव्रतिभिर्देयागौरेकाचान्द्रभूषणा कायकृच्छ्रमिदंप्रोक्तंमुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २ ॥ चतुर्षुदिवसेषु प्रत्यहमेकैकग्रासभोजनम् ततश्चतुर्षूपवासः ततश्चतुर्षुसायंभोजनमिति द्वादशाहनिर्वर्त्योयं कायकृच्छ्र इत्यर्थः ॥

तिनांविषे जो दानकों ग्रहण कर्त्ताहै और तैसे माहिषदानको जो ब्राह्मण ग्रहण कर्त्ताहै तिसकों विधिके करणे वाला न देखे जेकर देखे तां कायकृच्छ्रव्रतकों शुद्धिवास्ते करे ३ * अवकायकृच्छ्र व्रतकों मरीचि ऋषिजीदखातैंहै चेति चारदिन पर्यंत दिन दिनविषे एक एक ग्रास भक्षणकरे और तिसतें पीछे चार दिन कुछ न भक्षणकरे और तिसतें पीछे चार दिन रात्रि विषे भोजनकरे ऐसे बारां दिनांकर्के कायकृच्छ्रव्रतकों करे ॥ १ ॥ और व्रतकी समाप्तिविषे व्रतिपुरुषांनें रजत भूषण युक्त एक गौ देणेयोग्यहै एह काय कृच्छ्र व्रत यथार्थधर्मके देखणवालयां मुनियांनें कहाहै ॥ २ ॥

अबप्रजापतिका वचनहै चार ४ दिनां विषें चारहि ग्रास दिनविषें भक्षणकरे और चारदिन कुछ न भक्षण करे और चार ४ दिन रात्रिविषे भक्षणकरे एह बारांदिनांका परम श्रेष्ठ कायकृच्छ्रनाम व्रतहोताहै १ विधिवास्ते मरीचिऋषिकावाक्यहै प्रातःकालतेंलेके संध्याकालपर्यंत जैसेविधिहै तैसे ब्राह्मण स्नानकों करे गंधपुष्पआदिककें विष्णुका पूजनकरे जद सूर्यअस्तहोवे तांबुद्धिमान् १ विष्णुतांई निवेद्य देककें ग्रासका भक्षणकरे और पीछे हथपादशुद्धकर्के दोआचमनकरे और नारायणकों स्मरणकर्त्ता होया समीपहि शयनकरे फेर दूसरे दिन प्रातःसमय उठके पूर्वकीन्यांई नियमकरे ३ तिस दिनविषेभी ग्रासभक्षणकरे ऐसे चारदिन ग्रास भक्षण कर्के तिसतें परे चार दिन

प्रजापतिः । चतुर्ष्वहस्सुग्रासाःस्युर्निराहारस्तथापुनः चतुर्ष्वासायभक्ष्यः स्यात्कायकृच्छ्रमिदंपरम् १ तद्विधिमाह मरीचिः। ग्रासायंप्रातरारभ्यस्नात्वाविप्रोयथाविधि अभ्यर्च्यगन्धपुष्पाद्यैरविरस्तंगतेयदा १ तदाग्रासंसमश्नीयाद्विष्णवार्पितममुंसुधीःप्रक्षाल्यपूर्ववत्सर्वंद्विराचम्यशुचिस्तथा २ ॥ स्वपेद्देवसमीपेतुनारायणमनुस्मरन् पुनःप्रातःसमुत्थायकृत्वानियमपूर्वकम् ॥ ३ ॥ तत्रापिभक्षयेद्ग्रासमेवंचतुरहंप्रति ततःपरंनिराहारस्तथा चतुर्ष्वभोजनम् ॥ ४ ॥ अभोजनमेकाहारइत्यर्थः॥ गोदानंव्रतपूर्त्यर्थं पंचगव्यंपिवेत्ततः कायकृच्छ्रमिदंदेवाद्द्विजानांपावनंस्मृतम् ॥ ५ ॥ अथकायकृच्छ्रप्रत्याम्नायः ॥ तत्रदेवलः ॥ शृणुरामप्रवक्ष्यामिकायकृच्छ्रस्यधीमतः प्रत्याम्नायंमहापुण्यंशृण्वतांपापनाशनम् ॥ १ ॥ दशगावःप्रदातव्याः सवत्साभूषिताअपि पयस्विन्यःसुशीलाश्चस्वर्णशृंग्योमहत्तराः ॥ २ ॥

उपवासकरे तैसे चार दिनां विषे रात्रिविषें एक आहारकरे ४ और व्रतकेपूर्णफलकी प्राप्तिवास्ते गोदानकरे और पंचगव्यका पानकरे एहकायकृच्छ्र ब्राह्मण आदि वर्णांकों पवित्रकरणेवाला कहाहै ५ ॥ अबकायकृच्छ्रका प्रत्याम्नायहै तिसविषे देवलजीका वाक्यहै हेराम कायकृच्छ्रकें बुद्धिके देणें वाले बदलेंनू श्रवणकर कैसा बदलाहै महापुण्यहै क्या बहुतपवित्रहै और जो श्रवण कर्तेहैं तिनांके पापकों दूरकरणे वालाहै १ दश १० गौवां सहित वच्छयांके दुग्धकर्केयुक्त सुशीला स्वर्णके शृंगांकर्के युक्त और पूजित देणे योग्यहैं बदले विषे ॥ २ ॥

इसी विषयमे गालवजीका वचन है सर्वेति संपूर्ण पापांके दूर करणे वाला जो कायकृच्छ्र व्रत है हेराजन् तिसका प्रत्याम्नाय एह है कि सहित बच्छयांके दश १० गौयां तिनांके दानकरणे करके साधुस्वभाववाला पुरुष कायकृच्छ्र व्रतके फल कों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ अव कण्वऋषिका वचन है कायेति संपूर्ण पापांके नाशकरणे वाला कायकृच्छ्र जो संपूर्ण व्रत है तिसका वदला राजयांके संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला और महा दानके ग्रहणकरणे वाले जो पुरुषहै तिनांके संपूर्ण पापांके नाशकरणे वाला कहाहै अथवा राजयांते प्रति ग्रहउठाणें वालयांके पापको दूर कर्चाहै ॥ १ ॥ स्नात्वेति पुण्यदिन विषे ब्राह्मण पूर्वकी न्याईं संकल्पकों करके तिलक और पुष्प आदिकांकर्के दशां ब्राह्मणांकों

॥ गालवः ॥ सर्वपापहरस्यास्यकायकृच्छ्रस्यवैनृप प्रत्याम्नायोदशगवांसवत्साः साधुवृत्तिमान् एतदाचरणेनैवकायकृच्छ्रफलंलभेत् ॥ १ ॥ कण्वः ॥ कायकृच्छ्रस्यसर्वस्यसर्वपापहरस्यच राज्ञांप्रतिग्रहीतॄणां सर्वपापहरंपरम् ॥ १ ॥ स्नात्वापुण्यदिनेविप्रः सुसंकल्प्यैवपूर्ववत् विप्रानभ्यर्च्यगन्धाद्यैर्दशधेनूःपृथक्पृथक् ॥ २ ॥ दद्यात्प्रत्याम्नायभूताः सर्वपापापनुत्तये एतस्याचरणेपूर्णेकायकृच्छ्रफलंलभेत् ॥ ३ ॥ ❀ अथौदुम्बरकृच्छ्रम् ॥ तत्रदेवलः ॥ औदुम्बरस्यकृच्छ्रस्यलक्षणंवच्मितत्त्वतः कृच्छ्रं महत्तरंभूपसर्वपापहरंपरम् ॥ १ ॥ पितृमातृपरित्यागःस्वदाराणांह्यनागसाम् भगिनीभागिनेयार्थिगर्भिण्यातुरकन्यका ॥ २ ॥ वालश्चकुलवृद्धश्च अतिथिश्चागतःप्रभो सामर्थ्येसतिवन्धूनांत्यागेदोषोमहत्तरः ॥ ३ ॥ ब्रह्महत्यामवाप्नोतियदुपेक्षापरायणः ॥

१० पूजके भिन्न भिन्न एक एककों प्रसूतहोई गौदेवे ऐसे दश १० गौयां दानकरे ॥ २ ॥ एह प्रत्याम्नाय संपूर्णपापांके नाशकरणेवास्ते कहाहै इसके करणेकरके कायकृच्छ्रके फलनूं प्राप्तहोताहै ॥ ३ ॥ ❀ इसतें उपरंत औदुम्बरकृच्छ्रहै तिसविषे देवलजीका वाक्यहै औदिति औदुम्बरकृच्छ्रके लक्षणनूं यथार्थकर्के कहताहां एह कृच्छ्र वहुत श्रेष्ठहै हेराजन् संपूर्ण पापांकेनाशकरणे वालाहै ॥ १ ॥ अव इसकर्के दूरहोणेवाले पापांको कहतेहां पीति पिता और माता और अपराधतें विना स्त्रीयां इनांका जो त्यागहै और भैण और भनेवां और अर्थी और गर्भिणी और रोगी और कन्या ॥ २ ॥ और वालक और कुलमे वृद्ध और अतिथि इनांसंवंधियांके कदाचित् त्याग विषे सामर्थ्यके होयां २ महा दोषहै ॥ ३ ॥ इनांकों सर्वदा त्यागणे वाला पुरुष ब्रह्महत्या पापकों प्राप्त होताहै ॥

भेति भैण और दूसरीमाताकीकन्या और सर्वपितेरहितजो स्त्रीहै और जिसकाभर्त्ता विदेशगियाहै और अनाथ जो कन्याहै और विधवास्त्री इनांकों जो पुरुषकारणतें विनात्यागताहै ।१। और पिताकी भैण और माताकी भैण और विदेश गियाभर्त्ता जिसका ऐसी पुत्रतें रहित जो स्त्री है और पूजने योग्य जो स्त्री अर्थात् गुरुआदिकीस्त्री तिनांकों त्यागणे करके पुरुषनरककों प्राप्तहोताहै अथवा(अधनीयां)कयाधनतें रहितजो स्त्रीहै ॥ २ ॥ और महाभारतविषेंभी एहविषयकहाहै पितेति कौमार अवस्थाविषे पितारक्षाकरे और भर्त्ताजुवानी अवस्थाविषेरक्षाकरे और पुत्रवृद्ध अवस्थाविषें रक्षाकरे स्त्री अपने अधीन कदाचित् होणेकों योग्यनहिहै ॥ १ ॥ और उन्मत्त और पतित और नपुंसक और काण और बधिर ऐसें पिताकी पुत्र आदिअन्न वस्त्र आदिकांकर्के रक्षाकरे ॥ २ ॥ अथगोतमजीकावाक्यहै अरक्षेति रक्षणेयोग्यजोस्त्री नाहि तिसकीरक्षाकरताहै और जो रक्षणेयोग्यहै

भगिनींचस्वसारंह्यनाथांगतभर्तृकाम् पुत्रीमनाथांविधवांयस्त्यजेत्कारणं विना ॥ १ ॥ पितृभगिनींमातृभगिनीमपुत्रांगतभर्तृकाम् अर्चनीयांपरित्यज्यसर्वैनरकमश्नुते यद्वाअधनीयामियमधनाइत्येवंज्ञाताम् २ महाभारते पितारक्षतिकौमारेभर्त्तारक्षतियौवने पुत्रस्तुस्थविरेभावेनस्त्रीस्वातंत्र्यमर्हति ॥ १ ॥ उन्मत्तपतितंक्लीबंकाणंबधिरमेवच पुत्रादिर्यत्नतोरक्षेदन्नवस्त्रादिभिःशनैः ॥ २ ॥ गौतमः ॥ अरक्षणीयांयोरक्षेद्रक्षणीयांपरित्यजेत् सवै नरकमाप्नोतितिर्य्यग्योनिषुजन्यते ॥ १ ॥ किंचवेश्यादासीतन्मातरस्तत्पुत्राःकुण्डगोलकनटविट्गायकचार्वाकास्त्वरक्षणीयाः ॥ अनाथगतभर्तृकानिष्पुत्राःस्त्रियः पितृव्यज्येष्ठभ्रात्रादयोनिष्पुत्रानिर्धनिनः काणकुब्जादयो यत्नतोरक्ष्याः एतेषांपरित्यागेदोषः ॥

तिसकी रक्षा नहि करता सो पुरुषनरककों प्राप्तहोताहै और पशुआदिकजन्मकों प्राप्तहोताहै १ । और विशेषकहतेहै वैश्येति वेश्या और दासी और तिनांकीयांमाता और तिनांकेपुत्र और भर्त्ताके जीवतयांजो जारतें जन्मयाहै ऐसा कुंडपुत्र भर्त्ताके मृतहोयां होयां जो जारतेंजन्मयाहै गोलकपुत्र और नट और विट क्या व्यभिचारी पुरुषका नौकर और गायक और चार्वाक क्या नास्तिक एह रक्षाकरणे योग्यनहिहैं ॥ और विशेषकहतेंहै अनेति संबंधियांते रहित और जिसका भर्त्ता विदेश गियाहै और पुत्रांतें रहित जो स्त्री है और पिताका भ्राता और पुत्रतें रहित अपणा वडा भ्राता धनतें रहित भी पूर्वोक्त और काणा अक्षि करकें और कुबतें आदलेके जो पुरुष वा स्त्रीहोवे सो एह यत्नतें रक्षाकरणे योग्यहैं इनांके त्यागविषे दोषहै ॥

तदिति तिस दोषके दूरकरणे वास्तें प्रायश्चित्तकों मार्कंडेयऋषि कहताहै सामर्थ्यके होयां २ जो पुरुष इनां अपणे संबंधियांकों त्यागताहै सोकाकजन्मकों प्राप्तहोकर वारंवारदुःखी होताहै १ ॥ एकमास पर्यंत जो त्यागताहै सो पंचगव्यके पीणेकर्के शुद्ध होताहै और जोर पुरुष छे६ मास पर्यंत संबंधीयांकों त्यागताहै सो स्वर्णकृच्छ्रव्रतकर्के शुद्ध होताहै और वर्ष पर्यंत संबंधियांके त्यागविषे औदुम्बर कृच्छ्र कहाहै और वर्षतें अधिक त्यागविषे चांद्रायण व्रतकहाहै ॥ २ ॥ अबपराशरजीकावचनहै औविति औदुंबर व्रतविषे चावलांकों वासांकीकों जैसे विधिहै कि वारां१२

तत्प्रायश्चित्तमाहमार्कण्डेयः ॥ सतिसामर्थ्येत्यजेद्यस्तुएतान्वन्धुजनान्स्वकान् सकाकयोनिमासाद्यदुःखीभूयात्पुनःपुनः १ ॥ मासंत्यक्त्वापंचगव्यं षण्मासान्स्वर्णकृच्छ्रकृत् वत्सरऔदुम्वरंप्रोक्तमर्वाकूचान्द्रायणंपरम् २ ॥ पराशरः औदुम्वरेतंडुलानांश्यामाकान्वायथाविधि दशद्वेधाविभज्यैवप्रत्यहंपाचयेद्व्रती ॥ १ ॥ दशद्वेधाद्वादशधेत्यर्थः ॥ औदुम्वरैःशुष्कपर्णैःपाचयेन्नान्यदारुभिः औदुम्वरैश्चपर्णैश्चआर्द्रैःपात्रमुदाहृतम् ॥ २ ॥ तत्रनिक्षिप्यतंग्रासंविष्णवेपूर्वमादिशेत् चतुर्थकालआयातेपूर्ववन्नियमंचरेत् ॥ ३ ॥ ग्रासवचननियमादिकमित्यर्थः॥ एवंग्रासाद्वादशस्युर्द्वादशाहानिभक्षयेत् अत्रापिगौःप्रदातव्यापंचगव्यंपिवेत्ततः ॥ ४ ॥

विभागकर्के दिन दिनविषे वारां दिन पर्यंतव्रतीपकावे दशद्वेधा क्या वारां१२ हिस्से करे ॥ १ ॥ गूलरवृक्षके शुष्कपत्रां कर्के पकावे होरी काष्ट कर्के न पकावे और गूलरपत्रां कर्के मिश्रित जो पलाहके पत्रा तिनां कर्के पात्रा वनावे ॥ २ ॥ तिस पात्रविषे तिसग्रासकों रक्षके विष्णु तांई पहले अर्पण करे और पीछे चौथे पहर विषे पूर्वकी न्यांई नियम करे क्या भक्षण करे नियम कर्के ग्रासादिके भक्षणका विधान जानणा ॥ ३ ॥ इस प्रकार वारां ग्रासहैं वारां १२ दिन वास्तें और इस विषे भी पंचगव्यका पान करे और एक गौदान करणे योग्यहै ॥ ४ ॥

एवमिति एह औदुम्बर नाम कृच्छ्र व्रतकहाहै सो विशेषकर्के करणे योग्यहै मौनव्रतविषेयुक्तहोके उत्तमग्रासका भक्षण करे ॥ ५ ॥ और हत्थां पादांकोंधोके दोवार आचमन करे विधिकर्के फेर सायंकालविषे कर्मकों करे तिसतें पीछे नारायणके आगे शयन करे ॥ ६ ॥ फेर प्रातःकालविषे निर्मलहोकर दूसरे दिनकीकृत्यकों पूर्वकीन्याईकरें ऐसें शास्त्रकर्के कहीजो विधि तिसकेकरणेकर्के शुद्धिकों प्राप्त होताहै ॥ ७ ॥ इसतें उपरंत औदुम्बरकृच्छ्रका प्रत्याम्नायकहाहै तिसविषे देवलजी का वचनहै औदुम्बरेति औदुम्बर कृच्छ्रका प्रत्याम्नायपुरुषांकों श्रेष्ठकहाहै तिसके करणेकर्के संपूर्ण फलकोंप्राप्तहोताहै । १। अब मार्कंडेयजीकावाक्यहै प्रत्येति हेरामपूर्व औदुम्बरकृच्छ्रकाप्रत्याम्नाय

एवमौदुम्बरंकृच्छ्रंकर्त्तव्यंचविशेषतःभक्षयेदुत्तमंग्रासंमौनव्रतपरायणः५॥ पादौप्रक्षाल्यपाणीचद्विराचम्यविधानतः सायाह्निकंततःकृत्वास्वपेन्नारायणाग्रतः ॥ ६ ॥ पुनःप्रभातेविमलोद्वितीयंपूर्ववच्चरेत् एवंशास्त्रोक्तविधिनाकृत्वाशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥ अथौदुम्बरकृच्छ्रप्रत्याम्नायः॥ तत्रदेवलः ॥ औदुम्बरस्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायःपरंनृणाम् तस्याचरणमात्रेणसंपूर्णफलमश्नुते ॥ १ ॥ मार्कंडेयः ॥ प्रत्याम्नायःपुरारामजामदग्न्येनभाषितः मातृहत्याविशुद्ध्यर्थंकिमुतान्यस्यपापिनः ॥ १ ॥ राजविजये ॥ कृच्छ्रस्यौदुम्बरस्यास्यप्रत्याम्नायोमहानयम् सर्वपापविशुद्ध्यर्थंसृष्टवान्पद्मभूः पुरा १ ॥ चतुर्विंशतिमते ॥ औदुम्बरस्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायस्यलक्षणम् अष्टगावःप्रदातव्याःसालंकाराःसुलक्षणाः १ ॥ हेमशृंग्योरौप्यखुराःकांस्यदोहनसंयुताः सर्वपापविनिर्मुक्तःसंपूर्णफलमाप्नुयात् ॥ २ ॥

मातृहत्याकीशुद्धिवास्ते परशुरामनेंकथनकीताहै अन्यपापीकाक्या कहणाहै । १ । राजविजयग्रंथ विषे कहाहै कृच्छ्रेति इसऔदुम्बरकृच्छ्रकाएहप्रत्याम्नाय श्रेष्ठहै संपूर्णपापांकी शुद्धि वास्ते इसकों पूर्वब्रह्मा उत्पन्न करताभया ॥ १ ॥ चतुर्विंशति मतविषे कहाहै औदुंवरकृच्छ्रके प्रत्याम्नायकेलक्षण कों कहतेहैं अठ ८ गौयां देणेयोग्यहैं कैसीयां गौयां जो शोभाकर्के युक्तहैं और श्रेष्ठ लक्षणा वालियांहैं ॥ १ ॥ और सुवर्णके शृंगों कर्के युक्त और रजत खुरां कर्के युक्त कांस्यके दोहन पात्र कर्के युक्त तिनां गौयांके देणे कर्के संपूर्ण फलकों प्राप्त होता है ॥ २ ॥

इसतें उपरांत माहेश्वरकृच्छ्रका लक्षणकहाहै कृच्छ्रमिति माहेश्वरनामककें जो कृच्छ्रव्रतहैं सो संपूर्ण पापांके नाशकरणेवालाहै इसमे गाथाकहतेहैं पूर्वशिवजीक्रोधकरकें कामदेवकों यद दाहकरते भये तां शिवजीमे वडादोषहोताभया ॥ १ ॥ तिसदोषके दूरकरणेवास्तेंब्रह्माकों पुछताभयाहेदेव कामके दाहकरणेंतें मेरेविषें बहुतदोषस्थितहै तिसदोषकेदूरकरणेवास्तेउपायकहो । २ । ब्रह्माजीकहतेभये सर्वेति संपूर्ण दोषांके दूरकरणे वाला और संपूर्ण उपद्रवांके नाशकरणेवाला और पुरुषांकों संपूर्ण पुण्यके देणेवाला और संपूर्ण स्नानका फलदेणे वाला और बहुत श्रेष्ठहै ॥ ३ ॥ प्रातरिति प्रातः काल विषें दंतधावनकों करकें स्नानको करे और जैसें योग्यहै तैसें संध्या वंदनआदिक

* अथमाहेश्वरकृच्छ्रलक्षणम् ॥ कृच्छ्रंमाहेश्वरंनामसर्वपापप्रणाशनम् पुराकंदर्पदहनेमहान्दोषोभवेद्यदा ॥ १ ॥ तद्दोषपरिहारार्थंब्रह्माणंपर्य्यपृच्छत पंचबाणस्यदहनान्महान्दोषोमयिस्थितः ॥ २ ॥ तद्दोषपरिहारार्थंनिष्कृतिर्देवकथ्यताम् ॥ ब्रह्मा ॥ सर्वदोषप्रशमनंसर्वोपद्रवनाशनम् सर्वपुण्यप्रदंन्दृणांसर्वस्नानफलंमहत् ॥ ३ ॥ प्रातःस्नात्वायथाचारंदंतधावनपूर्वकम् तावन्नारायणस्मृत्वापूर्ववत्पापमोचनम् ॥ ४ ॥ यदामंदायतेभानुस्तदाकापालमुद्वहन् श्रोत्रियाणांचविप्राणांगृहेपुत्रिपुसंस्थया ॥ ५ ॥ शाकंभक्ष्यंफलंवापियथासंभवमादरात् आनयित्वार्थदेवायसमर्प्यविधिपूर्वकम् ॥ ६ ॥ भक्षयेत्तानिसर्वाणिवाग्यतोन्नमकुत्सयन् हस्तौपादौतुप्रक्षाल्यद्विराचम्यशुचिःस्ततः ॥ ७ ॥ सायंकालेस्वपेन्नाथसमीपेनियतावसेत् ततःप्रातःसमुत्थायपूर्ववत्सर्वमाचरेत् ॥ ८ ॥

कर्मांकों करे तां फेर पापांके नाशकरणे वालेजो बिष्णु तिनांकों पूर्वकीन्याईं स्मरण करे ४ ॥ और यद सूर्यका तेज मंददोवे तद कापालको ग्रहणकरकें वेदपाठी जो ब्राह्मणतिनांके तीनगृहां विषें स्थाकरकें ॥ ५ ॥ भक्षण करणेकेयोग्य जो शाकबाथुआदिक और फलकदली आदिकहै जैसें प्राप्तहोवे भिक्षा तिसकों आदरतेंल्यावे और विधि पूर्वक विष्णुके तांई अर्पणकरकें ॥ ६ ॥ भक्षणकरें संपूर्णांनूं मौनधारके अन्न निंदा न करे हस्थ और पादांको शुद्धकरकें दोवार आचमन करे ऐसें शुद्ध होके ॥ ७ ॥ रात्रिविषे विष्णुके समीप शयन करे इंद्रियांकों रोकके तिसते उपरंत दूसरे दिनविषे प्रातःकाल उठके पूर्वकी न्याईं संपूर्ण नियम करे ॥ ८ ॥

गौरिति एकगौ श्रेष्ठब्राह्मणकेतांई देवे कर्माके फलकी प्राप्तिवास्ते पीछे पंचगव्यनूं पीवे एह माहेश्वर कृच्छ्रकहाहै । ९ । हेभगवन् इसव्रतकों कर संपूर्णदोषांकी शांतिवास्ते श्रीर संपूर्ण पापांके दूरकर णेवास्ते श्रौर संपूर्णकल्याणांकी प्राप्तिवास्ते । १० । श्रैसे श्रवणकर्के महादेव व्रतकों करता भया इसी कर्के इसका नाम माहेश्वर व्रत है महेश्वर जीने प्रकाशित कीताहै श्रौर इस माहेश्वर कृच्छ्रके करणेकर्के ब्राह्मण श्रादि वर्ण पापतें रहितहोताहै । ११ ❀ अब माहेश्वरकृच्छ्रकाप्रत्या म्नायहै तिसाविषे देवलजीका वाक्यहै मेति माहेश्वर नामकर्के जो कृच्छ्रव्रत तिसके बदलेनूं श्रवण कर कैसा वदलाहै संपूर्ण पापांके दूर करणे वाला श्रौर संपूर्ण कृच्छ्र फलकेदेणे वालाहै १ ॥

गौरेकाद्विजवर्य्यायदेयाकर्म्मफलाप्तये पंचगव्यंपिबेत्पश्चात्कृच्छ्रंमाहेश्वरं त्विदम् ॥ ९ ॥ कुरुष्वचैनंभगवन्सर्वदोषोपशांतये सर्वपापविनिर्मुक्तैचस र्वश्रेयोभिवृद्धये ॥ १० ॥ एवंकृत्वातदादेवोमहेशानस्तथाकरोत् एतस्याचर णेनैवद्विजः पापात्प्रमुच्यते ॥ ११ ॥ ❀ अथमाहेश्वरकृच्छ्रप्रत्याम्नायः ॥ तत्रदेवलः ॥ माहेश्वराख्यकृच्छ्रस्यप्रत्याम्नायमिमंशृणु सर्वपापोपशम नंसर्वकृच्छ्रफलप्रदम् ॥ १ ॥ ब्रह्महत्यादिशमनंसर्वग्रहनिवारणम् तुलाप्र तिग्रहीतॄणांपापनाशनहेतुकम् ॥ २ ॥ संध्यादिनित्यकर्म्माणिपरित्यक्ता निसूरिभिः तेषांविशोधनेदक्षंसर्वपापहरंनृणाम् ॥ ३ ॥ गावोदेयाद्विजा तिभ्योह्यर्चितावस्त्रभूषणैः हेमघंटादिभिःशुभ्रैरलंकारैरलंकृताः ॥ ४ ॥ स्वर्णशृंग्योरौप्यखुराःकांस्यदोहनसंयुताः रुद्रसंख्याःसवत्साश्चपयस्वि न्यःपृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

श्रौर ब्रह्महत्यादि पापके दूर करणेवाला श्रौर संपूर्ण ग्रह बलके दूर करणेवाला श्रौर तुलादान केग्रहण करणे वाले जो पुरुष हैं तिनांके पापके नाशका हेतुहै ॥ २ ॥ श्रौर जिनों बुद्धिमानोंनें संध्यावंदनादि कर्मत्यागेहैं तिनांके शुद्धकरणेविषे दक्षहै श्रौर पुरुषांके संपूर्णपापांका नाशकहै सो प्रयाम्नाय कहतेहां ॥ ३ ॥ गेति गोयां याग ११ देणे योग्यहैं ब्राह्मणांकेतांई भिन्नभिन्न कैसीयां गोयां वस्त्रभूषणां कर्के युक श्रौर सुवर्णके घंटे श्रादि जो श्वेत श्रलंकार तिनां कर्के युक ४ ॥ श्रौर सुवर्णके शृंग श्रौर रूपेके खुर श्रौर कांस्यका दोहनपात्र तिनांकर्के युक्तसहित वछ्यां के श्रौर दुग्ध देणे वालीयां ॥ ५ ॥

ऋति प्रत्याम्नाय विधिविषे गौयां ११ बहुत श्रेष्ठहैं रुद्रसंज्ञाक्यारुद्रहै देवता जिनांकाऐसयांहैं कि सवास्तेरुद्रकृच्छ्रके फलकी प्राप्तिवास्ते और संपूर्णपापांके दूरकरणेवास्तेहै ६ एवमिति ऐसें जो द्विज प्रत्याम्नायनूं यथाविधिकर्के कर्त्ताहै तिसकों संपूर्णकृच्छ्रका फलप्राप्तहोताहै जो फलमुनियांनें कहाहै ॥ ७ ॥ ❀ अब ब्रह्मकृच्छ्रका लक्षणहै तिसविषे देवलजीका वाक्यहै हेसंपूर्णमुनीश्वरो अब सु करो ब्रह्मकृच्छ्रके लक्षणनूं निंदित अन्नके भक्षण करणे विषे जो पापहै और दुष्ट दानके ग्रहण करणेविषे जो पापहै ॥ १ ॥ और नहिपीणेयोग्य जो विनावच्छेके गौकादूधआदिवस्तु तिसके पीणेविषे जो पापहै और पूर्वकहि जो उग्रशांति तिसविषे जो अन्न और शूद्रकाअन्न ॥ २ ॥ और मठका स्वामी जो संन्यासी तिसका अन्न और छींबेका अन्न और वृषलीक्याशूद्रीकाव नायडीया अन्न और ऋतुमतीस्त्रीकावनायाहोया अन्न । ३ । और विधवास्त्रीकर्के पकाअन्न और

प्रत्याम्नायविधौशस्तारुद्रसंज्ञामहत्तराः रुद्रकृच्छ्रफलप्राप्त्यैसर्वपापापनुत्तये ॥ ६ ॥ एवंकृत्वाद्विजोयस्तु प्रत्याम्नायंयथार्हतः तस्यसम्पूर्णकृच्छ्रस्यफलंमुनिभिरीरितम् ॥ ७ ॥ ❀ अथब्रह्मकृच्छ्रलक्षणम् ॥ तत्रदेवलः ॥ शृणुध्वंमुनयस्सर्वेब्रह्मकृच्छ्रस्यलक्षणम् दुरन्नेनैवयत्पापंपापंदुष्टप्रतिग्रहे ॥ १ ॥ अपेयपानेयत्पापंयत्पापंदुष्टभोजने शांत्यन्नेषुचयत्पापंयत्पापंशूद्रभोजने ॥ २ ॥ संन्यासिनोमठपतेर्भोजनेयद्भवेन्नृणाम् यत्पापंरजकस्यान्नेयत्पापंवृषलीकृते ॥ ३ ॥ यत्पापंपुष्पवत्यन्नेयत्पापंविधवाकृते अमंत्रकेपैतृकान्नेयदनारायणीकृते ॥ ४ ॥ चौलेचपैतृकेचैवदीक्षितस्यैवभोजने सूतकद्वितयेचैवतथादुःपंक्तिभोजने ॥ ५ ॥ तथैवदुष्टसंघान्नेतथाक्रीतान्नभोजने पापपर्य्युषितचान्नेतथातद्रसकस्यच ॥ ६ ॥ यत्पापमनृते प्रोक्तमौपासनविवर्जिते एवमादीनिपापानिलघूनिचमहांतिच सर्वपांहिविनाशायब्रह्मकृच्छ्रंविकात्थितम् ॥ ७ ॥ शान्त्यन्नमत्रपूर्वोक्तोग्रशान्तिभवंवोध्यम् यदनाराणीकृते नारायणाग्रेऽनिवेदितइत्यर्थः

मंत्रतें रहितपितरांका अन्न और नारायणकेताईं जो नहिअर्पणकीता अन्न । ४ । और चौलकर्मका अन्न और पितरांके निमित्त जो पहलोक्रियातिसका अन्न और यज्ञकी दीक्षा विषे युक्तका अन्न और सूतक मृतसूतकका अन्न और दुष्टपुरुषांकी पंक्ति विषे भोजन कीताजो अन्न ५ ब्राह्मण और दुष्टांके समूहका अन्न और अन्नके वेचण वालेका अन्न और वासी अन्न और रसके वेचण वालेका अन्न ॥ ६ ॥ इनां संपूर्णके सिद्धहोय होये अन्नकों भक्षण करणे विषे जो पाप है और जो असत्यवाणी विषे पाप है और जो पाप देवताकी उपासनाते रहित पुरुष विषे कहाहै इसते आदिके जो पापहैं थोडे वा बहुत तिनां पापांके दूर करणे वास्ते ब्रह्मकृच्छ्र व्रत कहाहै ॥ ७ ॥

अब मार्कंडेयजीका वचनहै गविति गोमूत्र और गोमय और दुग्ध और दधि और घृत और कुशा का जल इनांकों पूर्वमानकर्के एकत्र करे शुद्धि कों कर्के सो शुद्धि इस जगा पंचगव्यके मंत्रां कर्के जानणी इसीरीतिसैं दिनदिनविषे पानकरे ॥ १ ॥ ऐसे पूर्वकीन्याईं स्नानादिको कर्ताहुआ बारां दिनां १२ का कृच्छ्र व्रत करे तिसी विधिको कहतेहैं प्रातरिति प्रातः काल विषे स्नानको कर्के जैसे समाहै तैसें नित्यकर्मकों समाप्तकर्के ॥ २ ॥ देवताके मंदिर विषे तैसे गौयांके स्थान विषे व्रती पंचगव्यका पान करे इसका परिमाण कहतेहैं गविति अठ ८ मासे गोमूत्र और सोलां १६ मासे गोमय ॥ ३ ॥ और अठ ८ मासे दुग्ध और त्रय ३ मासे दधि और त्रय ३ मासेघृत और कुशाका जल ॥ ४ ॥ तिस तिस मंत्र कर्के

मार्कण्डेयः। गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् संपाद्यपूर्वमानेनप्रत्यहंशुचिपूर्वकम् ॥ १ ॥ द्वादशाहंचरेत्कृच्छ्रंपूर्ववत्स्नानमादितः प्रातःस्नात्वा यथाकालंनित्यकर्मसमाप्यच ॥ २ ॥ देवागारेतथागोष्ठेपंचगव्यंपिबेद्व्रती गोमूत्रंमाषकान्यष्टौगोमयस्यतुषोडश ३ ॥ क्षीरंमाषाष्टकंज्ञेयंदधिमाषत्रयं तथा घृतंमाषत्रयंप्रोक्तंतथैवचकुशोदकम् ४ तत्तन्मंत्रेणसंयोज्यंतत्तन्मंत्रेणहावयेत् होमशेषंपिबेत्पश्चाद्रवौमध्याह्नगेसति ५ आसायंमनसाविष्णुं स्मरन्सर्वेश्वरंप्रभुम् स्वपेद्देवसमीपेतुगन्धताम्बूलवर्जितः ६ ततःप्रातःसमुत्थायपूर्ववद्व्रतमाचरेत् एवंद्वादशरात्राणिचरेद्व्रतमनुत्तमम् ७ महापापंचोपपापंमद्यपानसमंतथा तत्सर्वंविलयंयातिहरिनाम्नोऽसुरायथा ॥ ८ ॥

तिनांकों इकठया करे और तिस तिस पंचगव्यके मंत्रांकर्के हवनकरे और हवनशेषकों पीवे सूर्य के मध्यान्हग होयां २ ॥ ५ ॥ और सायंकालपर्यंत सर्वेश्वर जो विष्णु तिनांकों स्मरणकरे और देवताके समीपविषे शयनकरे और सुगंधि वस्तु और तांबूल इनांकोंत्यागे ॥ ६ ॥ तिसतें उपरंत प्रातः काल विषे उठ कर्के पूर्वकी न्याईं व्रत नूं करे ऐसे उत्तम व्रतकों बारां दिनकरे ॥ ७ ॥ और महापाप और उपपाप और मदिराके पीने के पापके तुल्य जो पाप एह संपूर्ण पाप ब्रह्मकृच्छ्र व्रत कर्केनष्ट होतेहैं जैसे हरिके नामतें दैत्य दूर होतेहैं ॥ ८ ॥

इसतें उपरांत ब्रह्म कृच्छ्रका प्रत्याम्नायहै तिस विषे देवल जीका वाक्य है हेब्रह्मनुने तूं ब्रह्मकृच्छ्रके आश्चर्य प्रत्याम्नायनूं श्रवणकर जिसके करणे करके महापापां तें और उपपातकां तें रहित होताहै ॥ १ ॥ ब्रह्म कृच्छ्र है नाम जिसका सो महा पापांके दूर करणे वाला है तिसकों करे तिस विषे असमर्थ होवे तां फलकी प्राप्ति वास्ते प्रत्याम्नायनूं करे ॥ २ ॥ प्रत्याम्नाय विषे भी पुरुष महाकृच्छ्रकेफलनूं प्राप्तहोताहै अठ ८ गौयां देणयां ग्यहैं पूर्वकी न्यांई स्वर्णके शृंगादिकर्के अलंकृत ॥ ३ ॥ वेदके पठनकरणेविषे युक्त जो ब्राह्मण

* अथब्रह्मकृच्छ्रप्रत्याम्नायः ॥ तत्रदेवलः ॥ शृणुब्रह्ममुनेचित्रंप्रत्याम्नायं प्रजापतेः यत्कृत्वामुच्यतेपापैर्महद्भिरुपपातकैः १। प्रजापतेर्ब्रह्मकृच्छ्रस्य आचरेद्ब्रह्मकृच्छ्राख्यंमहापातकशोधनम् असमर्थःप्रकुर्वीतप्रत्याम्नायंफलाप्तये ॥ २ ॥ प्रत्याम्नायेमहाकृच्छ्रफलंप्राप्नोतिमानवः अष्टौगावःप्रदातव्या.पूर्ववत्स्वर्णभूषिताः ॥ ३ ॥ विप्रेभ्योवेदविद्भ्यश्चपृथक्पृथगलंकृताःपयस्विन्यःशीलवत्यःसर्वदोषविमुक्तये ॥ ४ ॥ मार्कंडेयः ॥ प्रत्याम्नायंतदाकुर्याद्यथशक्तःप्रजापतेः अष्टौगावःप्रदातव्याःस्वर्णशृंग्यःपयोमुचः ॥ १ ॥ विप्रेभ्योवेदविद्भ्यश्चसर्वकृच्छ्रफलाप्तये एवंकृत्वाद्विजःसम्यक्फलमाप्नोतिकृत्स्नशः ॥ २ ॥

तिनांके तांई भिन्न भिन्न शोभाकर्के युक्त और दुग्धदेणे वालियां और शीलस्वभाव वालियां संपूर्ण दोषांके दूर करणे वास्ते ॥ ४ ॥ अब मार्कंडेयजी का वचनहै प्रति प्रत्याम्नायनूं तां करे जेकर ब्रह्मकृच्छ्रके करणे विषे असामर्थ्य होवे स्वर्णके शृंगांकर्के युक्त दुग्ध देण वालियां अठ ८ गौयां देणे योग्यहैं ॥ १ ॥ वेदके जानणे वाले जो ब्राह्मण तिनांके तांई संपूर्ण कृच्छ्र व्रत के फलकी प्राप्ति वास्ते असे करणे करके ब्राह्मणआदि वर्ण संपूर्ण फलकों प्राप्त होताहै ॥ २ ॥

अथेति इसते अनंतरधान्यकृच्छ्रका लक्षणहै तिसविषे देवलजीका वाक्यहै धान्येति तुसांताई धान्य कृच्छ्रका स्वरूप और लक्षण कहताहां संपूर्णकृच्छ्र व्रतांके करणविषे जो असमर्थहै सो पुरुषधान्यकृच्छ्रव्रतकों करे ॥ १ ॥ इसविषे मार्कंडेयकावचनहै तत्तेति तत कृच्छ्रव्रतते आदि लेके जो संपूर्ण कृच्छ्र व्रत हैं तिनांके करणेकी इच्छावाला जेकर कोई धनवाला होवे वा राजाहोवे तां धान्य कृच्छ्रव्रतकों करे जोजो मैंनें कृच्छ्रव्रत कहाहै तिनां संपूर्णांके करणेकी इच्छावाला जेकर होवेतां ॥ १ ॥ खारीति खारी परिमित जो महाधान्यहै तिसके पांचमें ५ हिस्सेकों ग्रहण करे जो सारेका एक भी भाग है तिसका नाम कृच्छ्र धान्य कहाहै । २ । तिसधान्यकों हिस्सेकर्के देवे

अथ धान्यकृच्छ्रलक्षणम् ॥ तत्रदेवलः ॥ धान्यकृच्छ्रस्वरूपंचलक्षणंप्रवदामिवः सर्वेषामेवकृच्छ्राणामशक्तोधान्यमाचरेत् ॥ १ ॥ मार्कण्डेयः ॥ तप्तादिसर्वकृच्छ्राणांकर्तुंयदिमहान्प्रभुः धान्यकृच्छ्रंतदाकुर्याद्यद्यत्कृच्छ्रंमयोदितम् ॥ १ ॥ यद्यद्यत्कृच्छ्रंमयाकथितंतेषांसर्वेषांस्थानेइदमेवकुर्यादित्यर्थः ॥ कश्चिन्महान्धनीवाप्रभूराजाकर्तुमिच्छेद्व्रतंतदाधान्यकृच्छ्रंकुर्यादित्यर्थः । खारीधान्यस्यमहतःपंचधाभागमाहरेत् कृत्स्नस्यैकस्तुयोभागःस कृच्छ्रंधान्यमीरितम् ॥ २ ॥ तद्धान्यंभागशोदद्यात्तत्कृच्छ्रंमुनिभिःस्मृतम् तत्कृच्छ्रमाचरेद्विप्रःसंपूर्णफलमश्नुते धान्यवृद्धेर्महाराज्ञःकृच्छ्रंपापापनुत्तये ॥ ३ ॥ मरीचिः ॥ खारीधान्यस्यपंचांशोधान्यकृच्छ्रमुदाहृतम् अतोन्यूनंनकर्तव्यमन्यथादानमीरितम् ॥ १ ॥

सो मुनियांनें कृच्छ्र व्रत कहाहै इसमें एह अभिप्रायहै कि पंचभागकर्के क्रमते दान करणा जद समग्र दान हो जावेगा तद कृच्छ्रभी पूरा होवेगा अथवा एक खारीके पंच कृच्छ्र होतेहैं तिस कृच्छ्र धान्यनूं ब्राह्मण करे तां संपूर्ण फलकों प्राप्त होताहै धान्यकी वृद्धि कर्के युक्त जो महाराजाहै तिसकों पापांके दूर करण वास्ते एह धान्य कृच्छ्र व्रत कहाहै ॥ ३ ॥ अब निर्धन पुरुष वास्ते मरीचिऋषिका वचनहै खारीति खारी परिमाण धान्यका पांचमां हिस्सा धान्य कृच्छ्र कहाहै इसतें न्यून क्या घट नहि करणे योग्य जेकर घट होवे तिसका नाम दान कहाहै ॥ १ ॥

अत्र इसीमें लौगाक्षिऋषिकावचनहै पंचेति खारी प्रमाण महाधान्यका पंचमां५हिस्साधान्य कृच्छ्रकहाहै इसप्रमाणतें घटहोवे तां धान्यदानकहाहै सो पुण्यके देणेवालाहै और कृच्छ्रधान्यकेफल वालानहिहोता ॥ १ ॥ और इसीकारणतेंएहहै संपूर्ण धान्य कृच्छ्रका पंचमां हिस्सा नहि करणा चाहिए जेकर तिस धान्यतें हीन होवे तां कृच्छ्रकाफल नहि होता ॥ २ ॥ इसमें ऐसा अर्थ है कि राजादिको सारी खारीके देणेसे धान्यकृच्छ्र हुंदाहै और निर्धनको तिसके पांचमे हिस्सेके देणेसे एह होता अब कहतेहै कि राजा खारीसे न्यून न करे और दूसरा पांचमांसे थोडा न देवे हे ब्राह्मणांविषे श्रेष्ठ इस धान्य कृच्छ्रका वदला नहि कहा स्वर्णकृच्छ्र व्रत और धान्य कृच्छ्र व्रत एह

लौगाक्षिः ॥ पंचमांशोधान्यकृच्छ्रंखारीधान्यस्यभूयसः अन्यथाधान्यदानंस्यात्कृच्छ्रशब्दोनपुण्यभाक् ॥ १ ॥ संपूर्णधान्यकृच्छ्रस्यपंचमांशोनाविद्यते तेनहीनंधान्यदानंनकृच्छ्रफलमश्नुते ॥ २ ॥ कृच्छ्रस्यैतस्यविप्रर्षे प्रत्याम्नायोनविद्यते स्वर्णकृच्छ्रस्यधान्यस्यसमर्थस्यमहात्मनः ॥ ३ ॥ प्रत्याम्नायोनगदितोमुनिभिर्धर्मवत्सलैः धान्यशब्दोव्रीहाएवकृच्छ्राणां न धान्यांतरम् । केचिच्छ्यामाकधान्यमितिवदंति ॥ मनुः ॥ नीवाराव्रीहयो धान्यंश्यामाकाःकृच्छ्रसाधनम् नधान्यांतरमस्तीहप्रभूतकृच्छ्रसाधनमिति १ ॥ ॥ अथसुवर्णकृच्छ्रम् ॥ तत्रदेवलः ॥ ब्रह्महत्यादिपापानामितरेषांमुनीश्वराः तुलादिष्विहदानेषुग्रहीतॄणांविशोधनम् ॥ १ ।

दोंव्रत समर्थ पुरुषकों कहने । ३ । इनांकाधर्म वत्सल जो मुनि तिनांने वदला नाहे कहा धान्य शब्द करके व्रीहि कहने कृच्छ्र विषे होर धान्य नाहि कहे कै एक ऋषि श्यामाक धान्यकों कहतेहैं कि धान्य कृच्छ्रमे सामर्थ्य न होवे तां श्यामाक उसकी जगादेणे इसी विषे मनुजीका वाक्यहै नीति सवांक और चावल और सांकी एह कृच्छ्र व्रत विषे कहेहैं होर धान्य कृच्छ्रके सिद्ध करणे विषे नहि कहे ॥ १ ॥ ॥ इसतें अनंतर सुवर्ण कृच्छ्र कहाहै तिस विषे देवल जीका वाक्य है ब्रह्मेति ब्रह्महत्या आदिक जो पापहैं और इतर जो पापहैं और तुलाआदि दानांकों जो ग्रहण करण वालेहैं तिनां संपूर्णांकों शुद्ध करणे वाला एह स्वर्ण कृच्छ्र कहाहै १ ॥

महेति महाप्रभुकों वराहपरिमाणसुवर्णकहाहै और मध्यमपुरुषकों वराह परिमाणतें अर्द्धा सुवर्ण देणाकहाहै और जोनिर्धनहैं तिनांकों वराहपरिमाणतें चौथाहिस्साकहाहै तिसतेंन्यून न करे २ ॥ क्योंकि तिसतें जो न्यूनहै सो सुवर्ण दानकहाहै तिसकेदेणेवालेकों सुवर्णकच्छ्रकाफलनाहिहोता ३ । इसमें मरीचिऋषिकावचनहै वेति राजाधनीनिर्धनकों इसक्रमस्यासे वराहपरिमाणसुवर्णहोवे तां सुवर्ण कृच्छ्रकहाहै और तिसतें अर्द्धभी सुवर्ण कृच्छ्रकहाहै वराहपरिमाणतें चौथाहिस्साभी कृच्छ्र है तिसते न्यून होवे तां सुवर्णदान कहाहै उसमें कृच्छ्रशब्दनहि कहा इहां वराहशब्दका अर्थ मानपरिभाषा विषे देखलेना ॥ १ ॥ और धनी पुरुष वराह परिमाणतें अर्द्ध सुवर्ण का कृच्छ्र करे जो असमर्थ इसके प्रत्याम्नायकी इच्छा करे तिस वास्ते कहतेहैं प्रत्येति इसकाप्रत्या

महाप्रभोर्वराहः स्यात्तदर्धंमध्यमस्यहि तदर्धमितरेषाचततोन्यूनंनकारयेत् २ ॥ ततोन्यूनंसुवर्णदानमात्रं न कृच्छ्रशब्दः। मरीचिः। वराहस्यतदर्धंचतदर्द्धंकृच्छ्रमीरितम् ततोन्यूनंदानमात्रंकृच्छ्रशब्दोनगद्यते ॥ १ ॥ वराहशब्दार्थोमानपरिभाषायांद्रष्टव्यः ॥ प्रभुमात्रेतदर्धंस्यात्प्रत्याम्नायोनविद्यते मरणांतप्रायश्चित्तानां ब्रह्महंत्दृणामकृतनिष्कृतीनामितरेषांरहस्यकृतपापानामकृतनिष्कृतीनां तुलादिसंग्रहीत्दृणां यागादिकरहितानां चतुर्भागव्ययाद्यकृतानां कालपुरुषादिप्रतिग्रहीत्दृणांतत्तदुक्तसुवर्णकृच्छ्राचरणेन तत्पापक्षयोभवति ॥ राजविजये ॥ प्रमाद ब्रह्महंत्दृणामितरेषांप्रभूयसा प्रायश्चित्तेनहीनानां सुवर्णकृच्छ्रमीरितम् ॥ १ ॥

म्राय नहि मरण पर्यंतहै प्रायश्चित्त जिनांका ऐसे जो ब्राह्मणके मारणवाले और इतर जो पापोहैं नहि कीती शुद्धि जिनानें ऐसे जो गुप्त पापके करण वाले और तुलाआदि दानके ग्रहण करण वाले और पंचयज्ञ आदि कर्मतें जो रहित हैं और दानकों ग्रहणकर्के जो चतुर्थांश ब्राह्मणके तांई नहि देते और काल पुरुष आदि दानांके जो ग्रहण करण वाले तिनां संपूर्णांका पाप दूर होताहै सुवर्ण कृच्छ्र व्रतके करणेकर्के ॥ अब राज विजय ग्रंथ विषे कहाहै प्रेति प्रमादतें जो पुरुष ब्राह्मणका बध कर्तेहैं और इतर जो पापी हैं और जो बडे प्रायश्चित्त कर्के रहित हैं तिनांकों स्वर्ण कृच्छ्र व्रतकर्के शुद्धि कहीहै ॥ १ ॥

तुलेति तुलाआदिदानांके ग्रहणकरणवाले जो पुरुषहैं और दानके चतुर्थांश देणेकर्के जो शुद्धि है तिसते रहितहैं तिनांकी शुद्धिवास्ते ब्रह्माने स्वर्णकृच्छ्र प्रायश्चित्त रचयाहै ॥ २ ॥ सुवर्णकी प्रशंसा करतेहैं स्वर्णमिति सुवर्ण ब्रह्मस्वरूपकर्के ब्रह्माजीने रचयाहोयाहै पुरुषोंके स्वर्णकृच्छ्र व्रतके करणेकर्के कौणपापहै जो नहि दूरहोता अर्थात् संपूर्णपाप दूरहोंतेहैं ॥ ३ ॥ अब गौतमजीका वाक्यहै रहेति एकांतविषे ब्रह्महत्याके करणवाले जो पुरुष हैं हेराजन् श्रवणकर तिनांकी दशहजार१००००स्वर्णकृच्छ्र दानकर्के शुद्धिहोंतीहै ॥ १ ॥ और प्रत्यक्ष जो ब्रह्महत्याके करण वालेहैं तिनकीशुद्धि मरणपर्यंत प्रायश्चित्तकर्के होंतीहै परंतु इसजगा अयुतभी चार ४ गुणा जानणा अगले वचनते सो ४००००चालीहजार होवेगा एह स्वर्णकृच्छ्र राजाके योग्यहै होरकोई नहि

तुलादिसंग्रहीतॄणांरहितानांविशुद्धिभिः प्रायश्चित्तमिदंकृच्छ्रंब्रह्मणापरिकल्पितम् २ ॥ स्वर्णंब्रह्ममयंप्रोक्तंब्रह्मणानिर्मितंपुरासुवर्णकृच्छ्राचरणैःकिमसाध्यंशरीरिणाम् ३ ॥ गौतमः। रहस्यकृतविप्रस्यहत्यायांशृणुपार्थिव अयुतस्वर्णकृच्छ्राणांदानैशुद्धिरवाप्यते ॥ १ ॥ रहस्यकृतपापस्यपापिभिःपरमार्थतः अयुतंपूर्ववज्ज्ञेयमन्यथामरणान्तिकम् २ ॥ प्रकाशकृतब्रह्महत्यानांमरणान्तिकंप्रायश्चित्तम् ॥ तद्रहितानांचतुर्भिरयुतकृच्छ्रैर्विशुद्धिरिति ॥ तदाहमनुः । प्रकाश्यविप्रहंतॄणांचतुष्कंपापनाशनम् निमित्ताकृतशुद्धीनांजपयागाभिषेचनैः ॥ १ ॥ निमित्तैः प्रायश्चित्तैरकृताशुद्धिर्येषांते तेषांचतुष्कंचतुर्गुणमयुतमित्यर्थः स्मृत्यन्तरम् ॥ तुल.प्रतिग्रहीतृविषये ॥ नदीस्नानादिनाराजंश्चतुर्भागव्ययेन वा ब्रह्मराक्षसमुक्त्यर्थंचत्वार्य्ययुतमाचरेत् १ ॥ चत्वार्ययुतकृच्छ्राणीत्यर्थः ॥

करसक्ता इसके रुपैए पूर्वोक्त वराहपरिमाणवाले स्वर्णके मुद्ध ४८०००० के हुंदेहैं मरणांतक प्रायश्चित्तको जो नहि कर्त्ते सो राजादि चालीहजार४००००स्वर्णकृच्छ्र कर्के शुद्ध होंतेहै २ । तैसे मनुजीकहतेहैं प्रतिप्रकाश्य क्या नहि प्रत्यक्ष जो ब्राह्मणके वधको कर्त्तेहैं और गायत्रीजपादि प्रायश्चित्तांकर्के नहि होई शुद्धिजिनांकी तिनांके पापनाश वास्ते चाली हजार पूर्वोक्तस्वर्णकृच्छ्र किहाहै ॥ १ ॥ औरहीस्मृति विषे तुला दानके ग्रहण करणे विषे एहवाक्यहै नदीति हेराजन् नदीविषे स्नानादिकर्के और दानके चौथे हिस्सेके देणेकर्के वा दोष दूर करे अथवा ब्रह्मराक्षसगतिके दूरकरणे वास्ते चाली हजार ४०००० कृच्छ्र व्रतकोंकरे परंतु एह अनेक तुलाग्रहणविषे जानणा प्रायश्चित्तको वहुत होणेते ॥ १ ॥

प्रेति प्रभुकों उत्तमप्रकारकहाहे श्रोर मध्यमकों मध्यम श्रोर कनीयसकोंक्या छोटेकों पादप्रमाण कहाहै श्रोर नहि कीताउकप्रायश्चित्त जिनांनेंतिनांकी शुद्धिस्वर्णकृच्छ्रव्रतांके करणेकर्के होतीहै श्रोर उपपातकांके मध्यविषे जिस जिसपातकके दूरकरणेवास्ते जो जो कृच्छ्रव्रत कहेहैं तिनांके करण विषे सामर्थ्य न होवे तां तितनेस्वर्णकृच्छ्रव्रतांकर्के शुद्धिहोतीहै। श्रवयाज्ञवल्क्यजीकावचनहै उपेति उपपातकांकेसमूहके दूरकरणेवास्तेमुनियांनें जो जो प्रायश्चित्तकहाहै तिसकेकरणविषे समर्थ नहि होवेतां तितनेहि स्वर्ण कृच्छ्रव्रतकरे ॥ १ ॥ अब मरीचिकावाक्यहै समिति संकली करण पाप

प्रभोरुत्तमप्रकारोमध्यमस्यमध्यमप्रकारःकनीयसःपादप्रमाणतः। कृच्छ्राणिकृत्वात्वकृतप्रायश्चित्तानांशुद्धिर्भवति । उपपातकानांयस्ययस्यचपातकस्य यानियानिकृच्छ्राणि प्रतिपदोक्तानि तेषामाचरणाशक्ततया तावद्भिः सुवर्णकृच्छ्रैःकृतैःशुद्धोभवति । याज्ञवल्क्यः । उपपातकजालानांमुनिभिर्यद्युदीरितम् तत्तदाचरणाशक्तःतावत्कृच्छ्रंसमाचरेत् ॥ १ ॥ मरीचिः संकलीकरणेराजन्यस्ययस्ययथोदितम् तदाचरणशक्तस्तुफलमानंत्यमश्नुते ॥ १ ॥ अशक्तस्यद्विजस्यार्थसुवर्णकृच्छ्रमीरितम् यद्यत्पापस्ययत्कृच्छ्रंमुनिभिःपरिभाषितम् ॥ २ ॥ तदाचरणाशक्तानां तावन्तिहिरण्यकृच्छ्राणि प्रभुत्वदारिद्र्यतारतम्येन कृत्वाशुद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ एवंचाण्डालादिगमनेषु कृच्छ्रसंख्यया हिरण्यकृच्छ्राचरणैस्तत्प्रतिपदोक्तैः पूर्वोक्तैः शुद्धोभवति ॥

विषे हेराजन् जिस जिस पापका जो जो प्रायश्चित्त कहाहै तिसके करण विषे जो युक्तहै सो अनंत फलकों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ श्रोर जो ब्राह्मणादि असमर्थ है तिसकों सुवर्ण कृच्छ्र व्रत कहाहै ॥ २ ॥ इसी अर्थकों स्पष्टकर्के कहतेहैं यदिति श्रोर धनी पुरुष श्रोर निर्धन पुरुष सुवर्ण कृच्छ्र विषे अधिक श्रोर न्यून परिमाण कर्के शुद्धिकों प्राप्त होवेहैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार चांडाल आदिकोयां स्त्रीयांके गमनकरणे विषे शुद्धिके निमित्त कृच्छ्रव्रतांकी संख्याकर्के कहे जो व्रत तिनांके प्रत्याम्नाय वास्ते उतनेहि स्वर्ण कृच्छ्र व्रतांकर्के शुद्ध होताहै ॥

एवामिति इसी प्रकार निंदित अन्नके भक्षण विषे और उद्बंधन और मरणादिकर्के होयां २ उपनयनादि कर्म्मांके मुख्यकालके त्याग विषे जो प्रायश्चित्त निरूपण कीताहै तिसर्के वदले विषे तावत्संख्या कर्के स्वर्ण कृच्छ्र व्रतके करणे कर्के शुद्ध होताहै ऐसे संपूर्ण स्थान विषे जानणे योग्यहै ॥ तुला आदिक दानांके ग्रहण करण वाल्यां पुरुषांकों विशेष पैठीनसि कहताहै तुलेति तुलादान विषे जो धनकों ग्रहण कर्त्ताहै और तिस दानके चौथेहि स्सेकों जो ब्राह्मणकेताईं नहि देता और लोकविषे निंदाके भयकर्के अभिषेक और जपभी नहि कर्त्ता तिसकों ब्रह्मराक्षसगतिहोणीहै ब्रह्मराक्षस उसकों कहतेहैं जो ब्राह्मणोके मारण वाला राक्षस होवे इसमें एह अर्थ है कि राक्षसभावमें भी ब्राह्मणको मारेगा तो तिसहत्या

एवं दुरन्नभक्षणोद्बन्धनमरणादिषूपनयनकर्मणां मुख्यकालातिक्रमे प्रायश्चित्तंयन्निरूपितम् तावन्ति हिरण्यकृच्छ्राणि कृत्वा शुद्धोभवतीति सर्व त्रयोजनीयम् । तुलादिप्रतिग्रहीतॄणांविशेषमाह पैठीनसिः । तुलायांधन संधातायागंभागचतुष्टयम् अभिषेकंजपंवापिह्यकृत्वालोकनिंदया ॥ १ ॥ ब्रह्मराक्षसमुक्त्यर्थंकृच्छ्राण्येतानिसर्वशः चतुरयुतंप्रकुर्वीतधर्मशास्त्रोक्तमा र्गतः ॥ २ ॥ पिशाचत्वविमुक्तिःस्यादिहलोकेपरत्रच सुवर्णकृच्छ्ररूपेणस र्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ३ ॥ हिरण्यगर्भसंधानेयोधर्मनिष्कृतिंविना चत्वारि कृच्छ्रसाहस्रंकृत्वाशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

कर्के वहुत काल राक्षस हिरहेगा ॥ १ ॥ तिसके दूर करणे वास्ते इतनेंहि कृच्छ्र व्रत कहने संपूर्णताकर्के और धर्मशास्त्रकर्के कथनतें चालीहजार४००००सुवर्ण कृच्छ्रव्रतकरे २ ॥ तां पिशाच गति दूर होतीहै इसलोकविषे और परलोक विषे सुवर्ण कृच्छ्रके करणेकर्के संपूर्ण पापांते रहितहोताहै ॥ ३ ॥ और हिरण्य गर्भके प्रतिग्रहविषे जिसने शुद्धिका उपाय नहि कीता सो चारहजार कृच्छ्र व्रत कर्के शुद्ध होताहै । ४ । इसमें ऐसा अर्थहै कि जिसका लिया हुया तुलादान थोडे मुल्लकाहोवे तां ४०००० हजार स्वर्ण कृच्छ्र किसतरह करे गा तो ऐसा करणा चाहिए कि लक्षसे अधिक जिसने तुलादान लियाहोवे उसको इतना प्रायश्चित्तहै और थोडे दान वालेकों लयेहोए दानके चौथे हिस्से अनुसार करणा चाहिए ऐसे आगेभी जानणा

प्रेति जो पुरुष ब्रह्मांड कुंभको ग्रहणकर्त्ताहै और तिसकी शुद्धिनिमित्त प्रायश्चित्तसें रहितहै सो त्रय ३०००हजार कृच्छ्रव्रत करे तां पूर्वकीन्याई शुद्धिकों प्राप्तहोताहै ॥ ५ ॥ और कल्पवृक्षके दानकों ग्रहण करे तिस दोषकी शुद्धिकों न करे तां पंजा५००००हजार स्वर्ण कृच्छ्र व्रतांकर्के शुद्धहोताहै ॥ ६ ॥ और सुवर्णकी धेनुके दानकों जो ग्रहणकर्त्ता है और शास्त्रकी विधिकर्के जिसनें अपणी शुद्धि नाहि कीती सोभी पंजा हजार कृच्छ्र व्रतां कर्के पूर्वकीन्याई शुद्ध होताहै ७ ॥ और सुवर्णके अश्व दानकों जो ग्रहण कर्त्ताहै और पूर्व नहि कीती शुद्धिजिसनें सो पंज सउ५००सुवर्णकृच्छ्रव्रतकर्के पूर्वकीन्याई शुद्धहोताहै ॥ ८ ॥ और सुवर्णके घोडेकर्के युक्त जो रथतिसनूं ग्रहणकर्त्ताहै और रथके ग्रहणकरणेसें अशुद्ध जो पुरुषहै सो छे सउ ६०० सुवर्ण

ब्रह्मांडकुंभसंधातातन्निष्कृतिपराङ्मुखः त्रिसहस्रंचरेत्कृच्छ्रंशुद्धिमाप्नोति पौर्विकीम् ॥ ५ ॥ कल्पवृक्षस्यसंधानेत्यजन्तंनिष्कृतिंपुरा पंचायुतै श्चकृच्छ्रैश्चसुवर्णाख्यैर्विशुध्यति ॥ ६ ॥ हिरण्यधेनुसंधाताशास्त्रैरकृतनि ष्कृतिः पंचायुतैश्चकृच्छ्रैश्चशुद्धिमाप्नोतिपौर्विकीम् ॥ ७ ॥ हिरण्याश्वस्य संग्राहीपुरात्वकृतशुद्धिमान् पंचशतैःस्वर्णकृच्छ्रैःशुद्धिमाप्नोतिपूर्ववत् ८ ॥ हिरण्याश्वरथीराजन्नशुचीरथसंग्रहात् षट्शतैःस्वर्णकृच्छ्रैश्चशुद्धोभवतिपू र्ववत् ॥ ९ ॥ हेमहस्तिरथंविप्रःप्रतिगृह्यधनातुरः अकृत्वानिष्कृतिंशा स्त्रमार्गेणाज्ञानपूरितः ॥ १० ॥ षट्शतैर्हेमकृच्छ्रैश्चशुद्धिमानुभयोर्द्विजः पंचलांगलसंग्राहीह्यकृत्वाधर्मनिष्कृतिम् ॥ ११ ॥ अयुतैस्स्वर्णकृच्छ्रैश्चशु द्धोभवतिपूर्वजः अन्यथानिष्कृतिर्नास्तिब्रह्मराक्षसशंकयेति ॥ १२ ॥

कृच्छ्र व्रतकर्के पूर्वकीन्याई शुद्धहोताहै ॥ ९ ॥ और सुवर्णके हाथी और रथनूं ग्रहणकर्के और शास्त्रके द्वारा तिसकी शुद्धिकों न कर्के धनके ग्रहण करण विषे युक्तहै अज्ञान कर्के पूरित होया २ दोषकर्के युक्त सो ब्राह्मण ॥ १० ॥ छे सउ ६००स्वर्ण कृच्छ्रव्रत कर्के दोनोंदोषोंसें रहित होताहै अथवा सुवर्ण के हाथिआं कर्के युक्त सुवर्णका जो रथ है तिसको ग्रहण कर्के ऐसा अर्थ करणा और (उभयोः) क्या इस लोक विषे और परलोक विषे शुद्ध होताहै ॥ और पंचलांगल दानकों जो ग्रहणकर्त्ताहै और तिसकी शुद्धिकों नाहि कर्त्ता ११ ॥ सो दश हजार १०००० स्वर्ण कृच्छ्र कर्के ब्राह्मण शुद्ध होताहै ब्राह्मणकी शुद्धि अन्यथा नाहि कही एह ब्रह्मराक्षसगतिकेदेणेवाले प्रति ग्रह हैं ॥ १२ ॥

● अथेति इसतें अनंतर अघमर्षण कृच्छ्रव्रतमाधवनें कहाहै तिसविषे विष्णुजीका वाक्यहै अत्र कृच्छ्र व्रतहैं त्रय३दिन उपवास करे और दिन दिन विषे त्रय३काल स्नान करे और जल विषे डुब्बी लाके त्रयवार अघमर्षण मंत्रका उच्चारण करे ॥ और दिन विषे खलोवे रात्रि विषे स्थित होवे और कर्मके अंतविषे दुग्ध देण वाली गौका दान करे एह अघमर्षण कृच्छ्रहै ॥ अब शंखऋषि औरहि प्रकारकर्के अघमर्षणकृच्छ्रनूं कहताहै त्र्यहमिति त्रयदिन त्रयकाल स्नानकों कर्के मुनि मनकर्के जलविषे त्रयवार अघमर्षणमंत्रकोंजपे और त्रयादिन कुछ न भक्षण करे एह अघ

* अथाऽघमर्षणकृच्छ्रं माधवेनोक्तम् ॥ तत्रविष्णुः ॥ अथकृच्छ्राणिभवन्ति त्र्यहंनाश्णीयात् प्रत्यहंचत्रिषवणंस्नानमाचरेत् जलेमग्नस्त्रिरघमर्षणं जपेत् दिवातिष्ठेद्रात्रावासीत कर्मणोन्ते पयस्विनींगांदद्यादित्यघमर्षणम् शंखस्तु ॥ प्रकारान्तरेणाघमर्षणकृच्छ्रमाह ॥ त्र्यहंत्रिषवणस्नायीमुनिस्स्नात्वाघमर्षणम् मनसात्रिःपठेदप्सुनभुंजीतदिनत्रयम् अघमर्षणमित्येद्व्रतंसर्वाघसूदनमिति ॥ १ * अथयज्ञकृच्छ्रः । तत्रांगिराः ॥ युक्तस्त्रिषवणस्नायीसंयतोमौनमास्थितः प्रातःस्नानसमारंभंकुर्य्याज्जप्यंचनित्यशः । १ । सावित्रींव्याहृतिंचैवजपेदष्टसहस्रकम् ओंकारमादितःकृत्वारूपेरूपेतथां ततः । २ । भूमौवीरासनेयुक्तःकुर्याज्जप्यंसुसंयतः आसीनश्चस्थितोवापि पिबेद्गव्यंपयःसकृत् ॥ ३ ॥

मर्षण कृच्छ्र संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला कहाहै ॥ १ ॥ * इसतें अनंतर यज्ञकृच्छ्रहै तिसविषे अंगिराऋषिकावचनहै युक्तइति मौन विषे स्थित होके इंद्रियांकोंरोकके विषयांतें निवृत्त होवे त्रय दिन त्रय काल स्नान करे और प्रातःकाल विषे स्नानके समय प्रतिदिन जलविषे अघमर्षणकों जपे । १ । और ओंकारका आदविषे उच्चारण कर्के सहित व्याहृतियांके गायत्रीका अष्ठ ८००० हजार जप करे २ पृथ्वी विषे वीरासन विषे स्थित होके और इंद्रियांको रोककर जपकरे बैठकर्के वा उठ कर्के और गौके दुग्धका एकवार पान करे ॥ ३ ॥

गौंति दुग्धप्राप्तनहोवे तां गौंका दधिपानकरे औंर दधिकेअभावविषे छाहपीवे और छाहकेअभाव विषे यवांकेकाडेकोंपीवे ४ ॥ इनांविषे जो२ प्राप्तहोवे तिसकापानकरे यवांकापान गोमूत्रकर्के युक्तकरे ॥ ५ ॥ अंगिराजीनें एकदिनकेकृच्छ्रकर्के संपूर्णपापांके नाशकरणेवालायज्ञनामकर्के व्रत बहुतश्रेष्ठकहाहै ॥ ६ ॥ एह यज्ञकृच्छ्रव्रत जो पुरुष पातककर्के युक्तहैं और उपपातकांकर्के युक्त और महापापां कर्के युक्त हैं तिनांके शुद्धकरणे वालाहै ॥ ७ ● अब देवकृत कृच्छ्रव्रतनूं यमक हताहैं यति छे ६ गुणा अधिक जल कर्के पके जो यव तिनांकों और शाककों और दुग्धको और दधिकों और घृतकों त्रय त्रय दिनभक्षणकरे और तिसतें परे त्रयदिन वायु भक्षणकरे १ ॥

गव्यस्यपयसोऽलाभेगव्यमेवभवेद्दधि दध्नोभावेभवेत्तक्रंतक्राभावेतुयावकम् ॥ ४ ॥ एषामन्यतमंयद्यदुपपद्येततत्पिवेत् गोमूत्रेणसमायुक्तंयावकंचोपयोजयेत् ५ ॥ एकाहेनतुकृच्छ्रेणउक्तस्त्वांगिरसास्वयम् सर्वपापहरोदिव्योनाम्नायज्ञइतिस्मृतः॥ ६ ॥ एतत्पातकयुक्तानांतथाचाप्युपपातकैः महद्भिश्चापियुक्तानांप्रायश्चित्तमिदंशुभमिति ॥ ७● देवकृतकृच्छ्रंदर्शयति यमः॥ यवागूयावकंशाकंक्षीरंदधिघृतंतथा त्र्यहंत्र्यहंतुप्राश्नीयाद्वायुभक्ष्यःपरंत्र्यहम् १ ॥ कृच्छ्रंदेवकृतंनामसर्वकल्मषनाशनम् मरुद्भिर्वसुभीरुद्रैरादित्यैश्चरितंव्रतम् व्रतस्यास्यप्रभावेनविरजस्काहितेभवन्निति २ ● अथ प्रसृतयावकम् ॥ तत्रहारीतः ॥ अयमात्मकृतैःकर्मकृतैर्गुरुमात्मानंपश्येत् आत्मार्थं प्रसृतयावकंश्रपयेत् ॥

एह देवकृत नामकर्के कृच्छ्र व्रत संपूर्ण पापांके नाशकरणे वालाकहाहै मरुत्‌देवता और वसुदेवता और रुद्र और आदित्य इनांनें पिच्छे एह व्रत कीतादा भया सो इस व्रतके करणे कर्के शुद्धहोतेभये ॥ २ ● अथेति अब प्रसृतयावक व्रत अर्थात् एकहाथके परमाणके अन्न खाणेका व्रत कहाहै तिसविषे हारीत ऋषिकावचन है अयमिति एह व्रत करणे वाला पुरुष ब्राह्मणां कर्के कहा जो कर्म तिनांकों आपकरे और तिनां आपकीते होये कर्मां कर्के अपणे आपकों गुरु क्या पूज्यदेखे अर्थात् शुद्धदेखे और अपणे व्रतवास्ते एकमुष्टिप्रमाणयव पकावै

और तिसतें अनंतर हवन करे और तिसीकर्के वैश्व देव बलिकरे और पके होये यवों कों अभिमंत्रण करे वक्ष्यमाण मंत्रां कर्के पूर्वोकहि अर्थ स्पष्टकर्के किहाहै अयंमिति यवोसि इत्यादि हेयव तूंयवहै क्या पापांके नाश करणें वालाहैं और अन्नांका राजा हैं वरुण तुजका देवताहै मधुकर्के युक्त होया २ संपूर्ण पापांके दूर करणें वालाहैं और संपूर्ण ऋषियांकर्के तूं पवित्र कहाहै ॥१॥ घृतमिति हेयवातुसीं घृतहो और तुसींहि मधुहो और आपोहिष्ठा क्या परमशुद्धकरणे वाले हो और अमृत हो मेरेसंपूर्ण पापकों दूरकरो जो मेनें दुष्कृतकीयाहै ॥ २ ॥ और वाणी और कर्म और मनकर्के दुर्विचिंतन कीयाहै और अलक्ष्मीकों और काल

ततोऽग्नौजुहुयात् तदेववलिकर्मशृतंवाभिमंत्रयेत् (अयंपुरुषः आत्म कृतैःस्वयंसंपादितैः कर्मकृतैः कर्मणा प्रयोजकद्वारा कृतैः कर्मभिरि तिशेषः आत्मानंगुरुंपूज्यंपश्येदित्यर्थः) यवोसिधान्यराजोवावा रुणोमधुसंयुतः ॥ निर्णोदःसर्वपापानांपवित्रमृषिभिःस्मृतम् ॥ १ ॥ घृतंयवामधुयवाआपोहिष्ठामृतंयवाः सर्वंपुनंतुमेपापंयन्मयादुष्कृतंकृतम् ॥ २ ॥ वाचाकृतंकर्म्मकृतंमनसादुर्विचिंतितम् अलक्ष्मींकालकर्णींच सर्वं पुनीतमेयवाः ॥ ३ ॥ मातापित्रोरशुश्रूषांयौवनेकारितंतथा श्वशूक रावलीढंच उच्छिष्टोपहतंचयत् ॥ ४ ॥ सुवर्णस्तेयंव्रात्यत्वंवालत्वा दात्मजंतथा ब्राह्मणानांपरीवादंसर्वंपुनीतमेयवाः ॥ ५ ॥ वक्ष्यमाणां रक्षां कुर्यात् ॥

कर्णीकों जो मृत्युदाराक्षसीहै इससंपूर्णांको यवपवित्र करे ॥ ३ ॥ और मातापिताकी अशुश्रूषा रूपपाप और युवावस्थाकर्के जो व्यभिचारादिरूप पाप और कुत्ते कर्के और शूकर कर्के जो उच्छिष्ट भक्षण का पाप और उच्छिष्ट कर्के युक्त के भक्षण का जो पाप ४ ॥ और सुवर्णस्तेयकापाप और संस्काररहित होणेका जो पाप और बाल्यावस्थाकर्के और ब्राह्मणकी निंदा कर्के उत्पन्न जो पाप तिनां संपूर्णां कों दूरकरो ॥ ५ ॥ और आगे कथन करणी जो रक्षा तिसकों करे

नमोरुद्राय इत्यादि मंत्रांकर्के पात्रविषे स्थापनकरे ॥ श्रोर यद्देवा इत्यादि मंत्रांकर्के अग्निके विषे हवनकरे क्या पानकरे अन्य पुरुषांके अर्थवास्ते त्रय रात्रां पीवै श्रोर जिसने पाप कीता है सो छे६ रात्र पीवे तां शुद्ध होताहै श्रोर महापापी सप्तरात्रपर्यंतपीवे श्रोर बारां १२रात्रपर्यंत पीणेकर्के संपूर्ण पापदूर होवाहै ॥ श्रोर गोमयतें क्या गोहेतें निकाले जो यव हैं तिनांको इकी दिन पर्यंत पीणे कर्के गणांको देखताहै श्रोर गणाधिपतिका दर्शन करताहै श्रोर विद्याकों देखताहै श्रोर विद्याके पतिकों देखताहै श्रोर स्मृति कहतेहैं पूर्णायामिति जो पुरुष गोमूत्र विषे पकेहोये यवांकों वा गोमूत्र श्रोर गोमय श्रोर दधि श्रोर दुग्ध श्रोर घृतइनांकों पान कर्ताहै सो

नमोरुद्रायभूताधिपतयेद्यौःसावित्रीमानस्तोकेति पात्रेनिषिच्ययद्देवानमो यातामनोजवाः सुदक्षोंदहंपितरस्तेनःपांतुतेनोवंतुतेभ्योनमस्तेभ्यः स्वाहे त्यात्मनिजुहुयात् । त्रिरात्रमेवार्थीपापकृत् षड्रात्रंपीत्वापूतोभवतिसप्तरात्रं महापातकीद्वादशरात्रंपीत्वासर्वम्पुरुषकृतंपापंनिर्दहति निःसृतानांयवाना मेकविंशतिरात्रंपीत्वागणान्पश्यति गणाधिपतिंपश्यति विद्यांपश्यतिवि द्याधिपतिंपश्यति । पूर्णायांयावकंपक्कंगोमूत्रंवासकृद्दधिक्षीरंसर्पिःप्रगेभु क्तामुच्यतेसोंहसःक्षणादित्याह भगवान् मैत्रावरुणिरिति । अर्थीलौकि ककार्य्यसाधकःत्रिरात्रमेवपिवेत् ॥ पापकृत्तुषड्रात्रमितिसंबन्धः ॥ ※ ॥ अथब्रह्मकूर्चव्रतमाहजावालः ॥ अहोरात्रोषितोभूत्वापौर्णमास्यांविशेष तः ॥ पंचगव्यंपिवेत्प्रातर्ब्रह्मकूर्चविधिःस्मृतः ॥ १ ॥ यथाह पराशरः ॥ गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् ॥ निर्दिष्टंपंचगव्यंतुप्रत्येकंकाय शोधनम् । १

क्षणतें हिपापतें रहित होताहै ऐसें भगवान् मैत्रावरुणि कहते भये एह अर्थ स्पष्ट कर्के किहाहै अर्थीति लौकिककार्य्य करणे वालेकानाम अर्थीहै ॥ ● ॥ इसतें अनंतर ब्रह्मकूर्च व्रतकों जावालऋषि कहताहै एक दिन रात्र उपवास करे चाहे किसे दिनहोवे परंतु पूर्णमासी विषे विशेष कर्के कहाहै प्राताकाल विषे पंचगव्य पानकरे एहब्रह्म कूर्चकी विधि कहीहै १ ॥ जैसें पराशर कहता भया गावित्ति गोमूत्र श्रोर गोमय श्रोर दुग्ध श्रोर दधि श्रोर घृत कुशोदक एह पंच गव्य कहाहै एक एकगोमूत्र आदि देहके शुद्धकरणे वाले कहेहैं ॥ १ ॥

इसमें विशेष कहतेहैं गवीति तांबे की न्यांई है वर्ण जिसका ऐसी गौका गोमूत्र ग्रहण करे और श्वेत वर्ण वाली गौका गोमय ग्रहण करे और सुवर्ण की न्यांई वर्णवाली गौका दुग्ध और नीलवर्ण गौका दधि ॥ २ ॥ और कृष्णवर्ण गौका घृत जेकर पूर्वोक्त रंगा वालियां गौयां न प्राप्तहोवें तां कपिलागौका हि संपूर्ण ग्रहण करे पंचगव्यविषे एहविधिहै ॥ ३ ॥ अब पंचगव्यका परिमाणहै गवीति गोहेतें दूणा गोमूत्र और चारगुणा घृत और अठगुणा दुग्ध और तैसे अठगुणा दधि पंचगव्यविषे एहपरिमाणहै ॥ ४ ॥ इस जगा एह प्राचीनोंका मत किहाहै ॥ अब नवीनोंका मत दिखाईदा है गावेति गोमूत्र

गोमूत्रंताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापिगोमयम् पयःकांचनवर्णायानीला याश्चतथादधि ॥ २ ॥ घृतंचकृष्णवर्णायाःसर्वंकापिलमेववा अला भेसर्ववर्णानांपंचगव्येष्वयंविधिः ॥ ३ ॥ पंचगव्यपरिमाणंतु ॥ गो शकृद्द्विगुणंमूत्रंघृतंविद्याच्चतुर्गुणम् क्षीरमष्टगुणंप्रोक्तंपंचगव्येतथादधि ॥ ४ ॥ तथाष्टगुणमितिप्रांचः ॥ गोमूत्रेमाषकास्त्वष्टौगोमयस्यतुषोडश क्षीरस्यद्वादशप्रोक्तादध्नस्तुदशकीर्तिताः ॥ ५ ॥ गोमूत्रवद्घृतस्याष्टौतद र्द्धंतुकुशोदकम् अर्वाचीनैश्चऋषिभिःपरिमाणमुदाहृतम् ॥ ६ ॥ गायत्र्यादायगोमूत्रंगन्धद्वारेतिगोमयम् आप्यायस्वेतिचक्षीरंदाधिक्रा व्णेतिवैदधि ॥ ७ ॥

विषे अठ ८ मासे परिमाण और गोहा सोला माषपरिमाण और दुग्धबारां १२ मासे परिमाण और दधिदश १० मासेपरिमाण ॥ ५ ॥ और गोमूत्रकी न्यांई घृतका भी अठ ८ मासे परि माण और तिससें अद्ध कया चार४मासें कुशाका जल इहां माषकहणे कर्के मासयांका ग्रहणहै ॥ ६ ॥ अब इनके मंत्रोंका कहते हैं गायेति गायत्री मंत्र कर्के गोमूत्रको ग्रहणकरे और गंध द्वारा इस मंत्र कर्के गोमयको ग्रहणकरे और आप्यायस्व इस मंत्र कर्के दुग्धको ग्रहण करे और दधि क्राव्णा इस मंत्रकर्के दधिको ग्रहण करे ७ ॥

तथिति और तेजोसिशुक इस मंत्र कर्के घृतकों ग्रहण करे और देवस्यत्वा इस मंत्र कर्के कुशाके जलकूं ग्रहण करे इस रीतिसें ऋचां कर्के पवित्र जो पंचगव्य है तिसकं अग्नि विषे हवन करे ॥ ८ ॥ सप्तहैं पत्र जिनांके और नहि छेदया है अग्र जिनां का और तोतेकी स्याईहै वर्ण जिनांका असीयां कुशा कर्के जैसे विधिहै तैसे पंचगव्यका हवन करे ॥ ९ ॥ और इरावती इदं विष्णु मानस्तोकेतिशंवती एनां चार ऋचां कर्के हवनकरणे योग्यहै और हवनकेशेषनूं पिच्छों ब्राह्मण पीवे ॥ १० ॥ और ओंकारकर्के पंचगव्यविषे अंगुष्ट और अनामिकाकों फेरे और ओंकारकों पढकर्के शुद्धकरे और ओंकार मंत्र के उच्चारण कर्के

तेजोसिशुक्रमित्याज्यंदेवस्यत्वाकुशोदकम् पंचगव्यमृचापूतंहोमयेदग्नि सन्निधौ ॥ ८॥ सप्तपत्राश्चयेदर्भाअच्छिन्नाग्राःशुकत्विषः एतैरुद्धृत्यहोतव्यंपंचगव्यंयथाविधि ॥ ९ ॥ इरावतीइदंविष्णुर्मानस्तोकेतिशंवती एताभिश्चैवहोतव्यंहुतशेषंपिवेद्द्विजः ॥ १० ॥ प्रणवेनसमालोड्यप्रणवेनाभिमंत्र्यच प्रणवेनसमुद्धृत्यपिवेत्तत्प्रणवेनतु ॥ ११ ॥ मध्यमेनपलाशस्यपद्मपत्रेणवापिवेत् स्वर्णपात्रेणताम्रेणब्रह्मतीर्थेनवापुनः ॥ १२ ॥ यत्त्वगस्थिगतंपापंदेहेतिष्ठतिमामकम् ब्रह्मकूर्चोपवासस्तुदहत्यग्निरिवेन्धनमिति ॥ १३ ॥ इदंपंचगव्यपरिमाणंद्वितीयतृतीयप्रकरणयोरुक्तमपिप्रसंगादत्राप्युक्तमिति न पौनरुक्त्यम्

अंगुष्ट और तर्जनीके साथ त्रयवार उर्द्धत्यागे क्या उप्परले पासे सुटे और ओंकार कर्के पीवे ११ ॥ पलाहके मध्यम पत्रकर्के वा कमलपत्रकर्के वा सुवर्णके पात्रकर्के अथवा तांबेके पात्र कर्के वा ब्रह्मतीर्थकर्के पंचगव्यकों पीवे ॥ १२ ॥ अब प्रार्थनाकरतेहैं यदिति जो पाप मेरीयां अस्थियांविषे स्थितहै और देहविषे स्थितहै तिसको एह ब्रह्म कूर्च उपवास व्रत दाह करे जैसे अग्निकाष्टकों दाहकर्ताहै १३ ॥ एह पंचगव्य परिमाणदूसरे तीसरे प्रकरणविषे कहाहोयाभीथा तथापि इस स्थान प्रसंगनें कहाहै पुनरुक्ति दोष नहि जानणा ॥

यदेति जद फेर एह पंचगव्य मिलया होया त्रय रात्रां विषे पीवै तां तिस ऋषिनें व्रत का नाम यतिसांतपन कहाहै इस शंख जीके स्मरणतेंहै ॥ जावालनेतो फेर सप्तां ७ दिनांका सांतपन व्रत कहा है गवितिं गोमूत्र और गोमय और दुग्ध और दधि और घृत और कुशोदक इनांमिसें दिन दिन विषे क्रम कर्के एक एकका पान कर्के दिन रात्रउपवास करे तां इसका नाम कृच्छ्र सांतपन कहाहै एह संपूर्ण पापांके नाश करणे वालाहै ॥ १ ॥ इनां गुरु लघुकृच्छ्र व्रतोंकी व्यवस्था सामर्थ्यको देखके जानणे योग्यहै। ऐसे आगेभी व्यवस्था

यदा त्वेतदेवपंचगव्यमिश्रितंत्रिरात्रमभ्यस्यते तदा यतिसांतपनसंज्ञां लभते एतदेवत्र्यहाभ्यस्तंयतिसांतपनंस्मृतमिति शंखस्मरणात् ॥ जावालेनतु सप्ताहसाध्यंसांतपनमुक्तम् गोमूत्रगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् एकैकंप्रत्यहंपीत्वात्वहोरात्रमभोजनम् कृच्छ्रंसांतपनंनामसर्वपापप्रणाशनमिति १ ॥ एषांच गुरुलघुकृच्छ्राणां शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया एवमुत्तरत्रापिव्यवस्थाबोद्धव्येति ॥ ❀ अथचाद्रायणं वक्तुंतावत्तस्यकार्य्यविशेषोपयोगिता प्रदर्श्यते तत्र याज्ञवल्क्यः ॥ अनादिष्टेषुपापेषुशुद्धिश्चांद्रायणेनतु धर्मार्थयश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैतिसलोकतामिति ॥ १ ॥ तथाचषट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम् यानिकानिचपापानिगुरोर्गुरुतराणिच कृच्छ्रातिकृच्छ्रचांद्रैस्तुशोध्यन्तेमनुरब्रवीदिति ॥ १ ॥

जानणे योग्यहै ❀ इसतें अनंतर चांद्रायणव्रतकथन करणे तां आदविषे तिस चांद्रायणके कार्य विषे उपयोगिता दखाईदीहै तिस विषे याज्ञवल्क्यजीका वचन है अनेति अनादिष्ट पापांके होयां २ चांद्रायण व्रत कर्के शुद्धि कहीहै जो धर्मके वास्ते चांद्रायणको करताहै सो चंद्रमाके लोकको प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ तैसे षट् त्रिंशन्मत विषे कहाहै येति जो कुछक पापहैं वडे तों वडे सो कृच्छ्र और चांद्रायण व्रत कर्के शुद्ध होतेहैं एह मनुजी कहते भये ॥ १ ॥

अत्रैति इहां कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र और चांद्रायण इन तीन व्रतोंकाहि करणा कहाहै और शुक्रजी नेंदोनोंका समुच्चयकहाहै तिसकोकहतेंहैं दुरीति दुरित जो उपपातकहै और दुरिष्ट जो पातकहैं इनके और महापापांके और चपुनःसंपूर्ण पापांके नाश करणेवाले कृच्छ्र चांद्रायणव्रत कहेहैं १ गौतमजीनें कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र एह दोनोंव्रत चांद्रायणकेतुल्यहैं ऐसाकिहाहै संपूर्णप्रायश्चित्त के संक्षेपकर्के करणेंविषे कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रतके करणेंविषे चांद्रायण व्रतकी निरपेक्षताहै यथा कुछ इच्छानहि सूचनकीहै ॥ अथवा इतिशब्दकर्के तीनोंकाहि समुच्चय जानणा(वा समुच्चय इतिकोर्थः द्विव्यादीनां राशो परस्पर निरपेक्षाणामेकास्मिन्क्रियादा वन्वयः यथा देवदत्तो यज्ञदत्तश्च

अत्र त्रयाणांसमुच्चयःप्रतिपादितः उशनसाच द्वयोःसमुच्चयउक्तः ॥ दुरितानांदुरिष्टानांपापानांमहतामपि कृच्छ्रंचान्द्रायणंचैवसर्वपापप्रणाशनमिति १ ॥ दुरितमुपपातकम् ॥ दुरिष्टंपातकम् ॥ गौतमेनतु ॥ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौचान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्राति कृच्छ्रयोःसूचिता ॥ चान्द्रायणस्य तन्निरपेक्षता ॥ इतिशब्देन त्रयाणांसमुच्चयोवाकेवलप्राजापत्यस्यतुनैरपेक्ष्यं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम् ॥ लघुदोषेत्वनादिष्टेप्राजापत्यंसमाचरेदिति॥ गौतमेनापि प्राजापत्यनैरपेक्ष्यमुक्तम् प्रथमंचरित्वाशुचिःपूतः कर्मण्योभवति द्वितीयंचरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापंकुरुते तस्मान्मुच्यते तृतीयंचरित्वा सर्वस्मादेनसोमुच्यत इतिमहापातकादपीत्यभिप्रेतम् ॥

गच्छतीति) जैसे देवदत्त और यज्ञदत्तका आपसविषे निरपेक्षता कर्के एक गमन विषे अन्वयहै तैसेंहि तीनोंकी आपसविषे निरपेक्षता कर्के पापके दूरकरणे विषे अन्वयहै ॥ केवल प्राजापत्यको दूसरेकी नैरपेक्षता चतुर्विंशति मतविषे कहीहै सो कहतेहां लघ्विति जिसका थोडादोषहै ऐसा जो अनादिष्टपापहै तिसविषे प्राजापत्यकोकरे ॥ गौतमजीनेंभी प्राजापत्य नैरपेक्ष्यकहाहै ॥ एक प्राजापत्य करणेकर्के देह और अंतष्करणकी शुद्धि और कर्म करणेकी योग्यता वाला होताहै ॥ और दूसरी बार करणे कर्के महापापातें जो अन्यपापहैं तिनांते शुद्ध होताहै ॥ और तीसरेके करणे कर्के संपूर्ण पापतें रहित होताहै महापापतेंभी एह अभिप्रायहै

मनुनेभी कहाहै पेति पराकनाम करके जो एह कृच्छ्रहै सो संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला कहाहै ॥ हारीतऋषिनेंभी कहाहै चांद्रेति चांद्रायणव्रत और पराकव्रत और तुलापुरुष दान और गौयांको घास चुगाणा वनविषे पीछे जाणा एह चार संपूर्ण पापांके नाश करणे वाले कहेहैं १ ॥ तैसे गोमूत्र और गोमय और दुग्ध और दधि और घृत और कुशोदकइनांको भक्षणकरके उपवास व्रतको करे एह व्रत पापकरके चांडाल तुल्यको भी शुद्ध कर्ताहै २ ॥ ❀ इससे अनंतर चांद्रायण व्रतका प्रकारहै ॥ तिसविषे मनुजीका वाक्यहै अथेति एक एक ग्रासनूं कृष्णपक्षविषे घटावे और शुक्लपक्ष विषे वधावे कृष्णपक्षकी एकमते लेके शुक्लपक्षकी पूर्णमासी तक व्रत करे और त्रयकालस्नान करे एह चांद्रायणव्रतकी विधिहै ॥ १ ॥ अब याज्ञवल्क्यजीकावचनहै

मनुनाप्युक्तम् ॥ पराकोनामकृच्छ्रोयंसर्वपापप्रणोदनइति ॥ हारीतेनाप्युक्तम् ॥ चान्द्रायणंपराकश्चतुलापुरुषएववा गवांचैवानुगमनंसर्वपापप्रणाशनम् १ ॥ तथा गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् एकरात्रोपवासश्चश्वपाकमपिशोधयेत् २ ❀ अथचान्द्रायणव्रतप्रकारः ॥ तत्रमनुः ॥ एकैकंह्रासयेत्पिंडंकृष्णेशुक्लेचवर्द्धयेत् उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणंस्मृतम् १ ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ तिथिवृद्ध्याचरेत्पिंडान्शुक्लेशिख्यंडसंमितान् एकैकंह्रासयेत्कृष्णेपिंडंचान्द्रायणंचरन् ॥ १ ॥ वशिष्ठः ॥ एकैकंवर्द्धयेत्पिंडंशुक्लेकृष्णेचह्रासयेत् इन्दुक्षयेनभुंजीतएषचान्द्रायणोविधिरिति ॥ १ ॥ चन्द्रस्यायनमिवायनंचरणंयस्मिन्कर्मणिह्रासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम् संज्ञायांदीर्घः । यमः वर्द्धयेत्पिंडमेकैकंशुक्लेकृष्णेचह्रासयेत् एतच्चान्द्रायणं नामयवमध्यंप्रकीर्त्तितम् ॥ १ ॥

तिथ्येति शुक्लपक्षविषे जैसे एकम और द्वितीयानें आदलेके तिथीयांकी वृद्धि होतीहै तैसे मोरके आंडे प्रमाण ग्रासांकी वृद्धि करे और कृष्णपक्ष विषे ग्रासांको घटावे और अमावस्या विषे उपवासकरे चांद्रायण व्रतको कर्ताहोया १ ॥ वसिष्ठजीके वाक्यकाभी एहि अर्थहै ॥ चांद्रायण शब्दका अर्थ कहतेहां कि चंद्रमा जैसे शुक्लपक्षविषे किरणां करके वृद्ध होताहै और कृष्ण पक्ष विषे किरणांके कम होणे करके कम होताहै ऐसे ग्रासां करके वधाणा और घटाणा तिस विषे चांद्रायण कहाहै संज्ञा होणे करके चकारको दीर्घ होया यमनें ॥ १ ॥ इसीका नाम यवमध्यचांद्रायण कहाहै एहि कहतेहैं वर्द्धयेदिति ॥ १ ॥

अब पराशरजीकावाक्यहै यवेति यवमध्यकृच्छ्रके स्वरूपकों कहतेहां जिसके करणेकर्के पापीपुरुष संपूर्णपापांतें रहित होताहै इसविषे संशयनहिहै ॥ १ ॥ शुक्लपक्षकी प्रतिपदातें लेके व्रतकरणेवाला पुरुष नियमकरेप्रातःकाल उठकर दातनकोंकर्के जैसेआचारहै तैसें स्नानकरे ॥ २ ॥ और दो शुद्धवस्त्र धारणकरे और नित्यकर्मकोंसमाप्तकर्के सूर्यकेअस्ततकमौनधारके गायत्रीकाजपकरे । ३ । और तिसी समय गंध पुष्प आदिकां कर्के विष्णुकी पूजा करे और मयूरके आंडे परिमाण ग्रासकों कर्के । ४ । विष्णुतांई नैवेद्यदेकर्के भक्षणकरे एकवार भक्षण करणाविषे असमर्थहोवेतो दो भाग

पराशरः। यवमध्यस्यकृच्छ्रस्यस्वरूपंप्रवदाम्यहम् यत्कृत्वासर्वपापेभ्योमुच्यतेनात्रसंशयः ॥ १ ॥ शुक्लप्रतिपदारभ्यव्रतीनियमपूर्वकम् प्रातःस्नात्वायथाचारंदंतधावनपूर्वकम् ॥ २ ॥ तथावस्त्रेपरीधायनित्यकर्मसमाप्यच जपेत्तावन्महामौनीयावन्मंत्रायतेरविः ॥ ३ ॥ तदाहरिंसमाराध्यगन्धपुष्पादिभिःशनैः मयूराण्डप्रमाणेनग्रासंकृत्वाकृतीतथा ॥ ४ ॥ विष्णवेतन्निवेद्याशुतंग्रासंभक्षयेत्ततः एकवारमशक्तत्वाद्द्विधाकृत्वैवभक्षयेत् ॥ ५ ॥ उत्तरापोशानंकृत्वाबाहिर्जेरंधाथवाग्यतः प्रक्षाल्यपाणीतोयेनगंडूषैर्द्वादशात्मकैः ॥ ६ ॥ पादौप्रक्षाल्यचाचम्यपुनर्गत्वास्वमालयम् स्वयमेवपुनःकृत्वाशुद्धंगोमयवारिभिः ॥ ७ ॥ पुनःप्रक्षाल्यतंपाणिंदेवंनत्वाथसंविशेत् पापंडादीन्नपश्यतनसंभाषेत्कदाचन ॥ ८ ॥ सायंसन्ध्यामुपासीतत्वासायंहोममथाचरेत् ॥

कर्के भक्षणकरे ॥ ५ ॥ देवस्थानतें बाहरजाकर अमृतोपस्तरणमसि इसकर्के आचमनकरके ग्रासकों भक्षणकर्के अपृतापिधानमसि इसकर्के आचमनकरे और मौनधारकरहथांको शुद्धकर्के जलकर्के मुखकी शुद्धिवास्ते बारां १२ चुलीयांकरे ॥ ६ ॥ फेर पादांकों जलकर्के शुद्धकरे और आचमन करे पीछे अपणे स्थानकों प्राप्तहोकर गोमय और जलकर्के स्थानको शुद्धकरे ॥ ७ ॥ फेर हथांकोधोके देवताको नमस्कार करे पाषंडियांको न देखे और तिनके साथ संभाषणाकदीभी ॥ न करे ८ ॥ और सायंकाल संध्या उपासे और पीछे सायंकाल तक होम करे ॥

नियतकर्केहै व्रत जिसका सो पुरुष देवताके समीप स्थंडिलमे शयन करे ॥ ९ ॥ फेर प्रातः समय दूसरे दिन उठके स्नानकरे और पूर्वकी न्यांई नियमकों करके ग्रासकों भक्षण करे एक एक ग्रास वधायके ॥ १०॥ बुद्धिमान् दिन दिन विषे एक एक ग्रासकी वृद्धिकरे पूर्णमासी तक दिव्य जो ग्रासहैं अर्थात् मंत्रकरके शुद्धहैं ॥ ११ ॥ और पूर्णमासीविषे पंदरां १५ ग्रास भक्षण करे और क्रमसें कृष्ण पक्षविषे एक एक ग्रासको घटावे हर्षकरके ॥ १२ ॥ पूर्वकीन्यांई एक मास पर्यंत स्थित होवे तां मासके अंत विषे एक ग्रासकों भक्षण करे परमेश्वरके ध्यान विषे युक्त

स्वपेच्चस्थंडिलेदेवसमीपेनियतव्रती ॥ ९ ॥ ततःप्रातःसमुत्थायपरेद्युःस्नानमादिशेत् पूर्ववन्नियमंकृत्वाभक्षयेदेकवृद्धितः ॥ १० ॥ एकोत्तरतयाराजन्वृद्ध्याप्रतिदिनंबुधः भक्षयेत्कवलान्दिव्यान्यावत्पौर्णिमादिनम् ॥ ११ ॥ दशपंचैवकवलान्भुक्त्वातत्रव्रतेक्रमात् एकैकंह्रासयेद्ग्रासं कृष्णपक्षेव्रतीमुदा ॥ १२ ॥ पूर्ववन्नियमंकृत्वामासंयावत्प्रवर्त्तते तत्रापि भक्षयेदेकंहरिध्यानपरायणः ॥ १३ ॥ व्रतांतेगौःप्रदातव्याव्रतस्यपरिपूर्त्तये पंचगव्यंपिबेत्पश्चाद्यवमध्यमुदाहृतम् ॥ १४ ॥ एतदाचरणेनैवब्रह्महत्यांव्यपोहति इतराणिचपापानिनश्यंतीतिकिमद्भुतम् १५ ॥ देवलः ॥ अन्नमात्रतृतीयांशैस्तण्डुलैःपाचयेद्धविः तावदन्नंमयूराण्डमितिसन्तोवदंतिहि ॥ १ ॥ अन्नमात्रंसार्द्धमुष्टिद्वयमितंतत्तृतीयांशैरित्यर्थः

होया होया १२ और व्रतके अंत विषे पूर्ण फलकी प्राप्ति वास्ते एक गौका दान करे और पीछे पंचगव्यकों पानकरे एह यव मध्य चांद्रायण व्रत कहाहै ॥ १४ ॥ इसके करणे करकेहि ब्रह्महत्यादिपापांकों दूरकर्त्ताहै इतरपापांके दूरकरणेविषे क्या आश्चर्यहै ॥ १५ ॥ देवलजीकावाक्य है अन्नेति द्वाई २॥ मुठ चावलांका जो तीसरा भागहै तिस करके युक्त दुग्धकों पकावे तितने प्रमाण अन्नकों मोरके आंडेके तुल्य बुद्धिमान कहतेहैं १ ॥

इतीति ऐसे यवमध्य पवित्रचांद्रायण व्रतकों करके पुरुष तिसी क्षणतें ब्रह्महत्यादि पापतेंरहित होताहै ॥ २ ॥ इस यवमध्य चांद्रायणव्रतकरणेकों जो प्रारंभकर्त्ताहै तिसके पापनष्ट होतेहैं और जो कोई इसव्रतको करचुकाहै उसकी क्या बात कहणीहै। ३ । विष्णुकी प्रीतिके करणे वालाहै और स्त्रीयां और विधवा और यती और ब्रह्मचारी ॥ ४ ॥ और गृहस्थोइनांके महापापांके नाशक रणेवाला विशेषकर्के एहकहाहै चंद्रमाकी वृद्धि और क्षय किरणाकर्के जैसे होताहै तिसकी न्याई वृद्धि और क्षय चांद्रायणव्रतका ग्रासोंकरके जानणा जदशुक्ल पक्षसें प्रारंभ होवे तां यवमध्यहै एहअर्थहै चंद्रमाकीन्यांई वृद्धिक्षयहोणेतें इस यवकृच्छ्रका नाम यवमध्य चांद्रायण कहाहै धमेरा

इतिचांद्रायणंकृत्वायवमध्यंसुपावनम् ब्रह्महत्यादिभिःपापैर्मुक्तोभवतितत्क्षणात् ॥ २ ॥ यवमध्यमिदंचान्द्रंकर्तुंयस्तदुपक्रमेत् ॥ तस्यपापानिनश्यन्तिकिंपुनर्व्रतचारिणः ॥ ३ ॥ विष्णुप्रियकरंचैवसर्वपापप्रणाशनम् नारीणांविधवानांचयतीनांब्रह्मचारिणाम् ४ गृहस्थानांविशेषेणमहापातकनाशकम् वृद्धिःक्षयश्चचन्द्रस्यवर्त्ततेतद्वदिदमपि एतद्व्रतनामधेयचांद्रस्य शुक्लपक्षेवृद्धिः कृष्णपक्षेक्षयस्तन्नामधेय एष यवकृच्छ्रःएतच्चयववत्प्रांतयोरणीयः मध्येस्थवीयइतियवमध्यमितिकथ्यते एतदेवव्रतं यदाकृष्णपक्षप्रतिपदिप्रक्रम्यपूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदापिपीलिकामध्यमितिकथ्यते ॥ यमः ॥ एकैकंह्रासयेत्पिंडंकृष्णेशुक्लेचवर्द्धयेत् एतत्पिपीलिकामध्यंचान्द्रायणमुदाहृतम् ॥ १ ॥

जका वाकयहै अर्थिति कृष्णपक्षविषें पूर्वग्रासांकों घटावे और पीछेशुक्लपक्षविषे वृद्धिकरे इसका नाम पिपीलिका मध्य चांद्रायण कहाहै १ जैसे कीटीका मध्य सूक्ष्महोताहै तैसेहि इसव्रतकाभी मध्य सूक्ष्महै क्या अमावास्याके दिन कुछभोजन नहि सो व्रतकामध्य दिनहै और जैसे यवमध्य विषे स्थूलहै दोनोंपासयां विषे सूक्ष्महै इसप्रकार मध्यविषे स्थूलहोणेतें तिसका नाम यवमध्य चांद्रायणहै अर्थात् पूर्णिमाके दिन १५ पंदराग्रासका भोजन है सो व्रतका मध्य है एहि व्रत कृष्णपक्षकी १ एकमते ग्रहणकरिये तां तिसका नाम पिपीलिकामध्यहै १ ॥

क्योंकि जैसे पूर्वकहा जो क्रम तिसकर्के कृष्णपक्षकी प्रतिपदाविषे चौदां १४ ग्रासांको भक्षणकरे एकएक ग्रासघटावे चतुर्दशीतक तां चतुर्दशीविषे एक ग्रास रिहा तिसको भक्षणकरे और अमावास्याविषे उपवास करे और शुक्लपक्षकी प्रतिपदा विषे एकहि ग्रास भक्षण करे तिसते पीछे एकएक ग्रासको वधाये पक्षके अंतविषेंजो दिनहै पूर्णमासी तिसविषें पंदरां १५ग्रास भक्षणकरे ऐसे पिपीलिकामध्य युक्है ॥ अब वसिष्ठजीकावचनहै मेति मासविषे कृष्णपक्षके आदविषे चौदां १४ ग्रासांको भक्षणकरे आगे दिनदिनविषे घटावे और पक्षके अंतविषे उपवासकरे ॥ १ ॥

तथाहि पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णपक्षप्रतिपदि चतुर्दश ग्रासान्भुक्त्वा एकैक ग्रासापचयेनचतुर्दशींयावद्भुंजीत ततश्चतुर्दश्यामेकंग्रासंग्रासित्वा अमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपादिएकमेवग्रासंप्राश्नीयात् ततएकोपचयभोजनेन पक्षशेषेनिर्वर्त्यमानेपौर्णमास्यांपंचदशग्रासाःसंपाद्यंतइति युक्तैव पिपीलिकामध्यता । वशिष्ठः मासस्यकृष्णपक्षादौग्रासानद्याच्चतुर्दश ग्रासाऽपचयभोजीसन् पक्षशेषंसमापयेत्॥ १ ॥ तथैवशुक्लपक्षादौग्रासंभुंजीतचापरम् ग्रासोपचयभोजीसन्पक्षशेषंसमापयेत् ॥ २ ॥ यदात्वेकस्मिन्पक्षेतिथिवृद्धिह्रासवशाद्दिनानिषोडश भवन्ति चतुर्दश वा तदा ग्रासानामपिवृद्धिह्रासौज्ञातव्यौ तिथिवृद्ध्यापिंडांश्चरेदितिनियमात् ॥ चान्द्रायणान्तरमाह याज्ञवल्क्यः ॥ यथाकथंचित्पिंडानांचत्वारिंशच्छतद्वयम् मासेनैवोपभुंजीतचान्द्रायणमथापरम् ॥ १ ॥

वैसे शुक्लपक्षके आदविषें एकग्रासको भक्षणकरे आगे दिनदिन विषें ग्रासको वधाये ऐसे समाप्त करे । २ । जदपक्षविषे सोलां १६ तिथियां होण वा चौदां १४ होण तां ग्रासांकोभी वधावै घटावे इसमे वचनकहाहै तिथिके वृद्धिक्रमकर्के ग्रासांको भक्षणकरे इसनियमते जानणा ॥ और भीचांद्रायणका भेदहै तिसको याज्ञवल्क्यकहताहै यथेति जिसकिसे तरह अर्थात् मध्यान्ह कालविषे नित्य आठ ८ ग्रास भक्षण करे अथवा चार ग्रास दिन विषे और चार रात्रिविषे भक्षणकरे ऐसे एक मासकर्के दोसउचाली २४० ग्रासभक्षणकरे एहचांद्रायणका भेद कहाहै १

अर्थेति एक दिनविषे चारग्रासांकों और दूसरे दिनबारां १२ ग्रासांकों भक्षणकरे तैसें एक रात्र उपवासकरे और दूसरे दिन सोळां ग्रास भक्षणकरे इत्यादि प्रकारांविषे किसे प्रकारकर्के अपणी सामर्थ्यतेंकरे एह पूर्व कथनकीते जो दो चांद्रायण तिसतें एह भिन्नचांद्रायणकहाहै॥इसकारणतें इनदोनों विषे ग्रासांकी संख्याका दोसउ चाळी २४० एहनियमनाहि क्यानियमहै दो सउ पंजी २२५ग्रासहैं सो कहतेंहैं शुक्लेति शुक्ल प्रतिपदातें लेकर पूर्णिमा पर्य्यंत एक एक वृद्धि कर्के एक सो बीस १२० ग्रासहैं कृष्णपक्षकी प्रतिपदासें लेकर चतुर्दशीतक एक एक ग्रासकें ह्रासकर्कें

पिंडानांचत्वारिंशदधिकंशतद्वयंमासेनभुंजीत ॥ यथाकथंचित्प्रतिदिनंमध्याह्नेष्टौग्रासान्यथानक्तंदिनयोश्चतुरश्चतुरोवा ॥ अथैकस्मिंश्चतुरोऽपरस्मिन्द्वादशतथैकरात्रमुपोष्यापरस्मिन्षोडशवेत्यादिप्रकाराणामन्यतमेमशक्त्याद्यपेक्षयाभुंजीतित्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयादपरंचान्द्रायणम् अतस्तयोर्नायंग्राससंख्यानियमःकिंतुपंचविंशत्यधिकशतद्वयसंख्यैव॥तद्यथा शुक्लप्रतिपदमारभ्यपूर्णिमापर्य्यन्तमेकैकवृद्ध्या १२० ग्रासाः॥ कृष्णप्रतिपदमारभ्यचतुर्दशी १४ प्रभृत्येकैकग्रासह्रासेन १०५ ग्रासाभवंतीत्यनयारीत्या २२५ मनुरप्याह ॥ अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिंडान्मध्यदिनेऽस्थिते नियतात्माहविष्याशीयतिचान्द्रायणंपरम्॥ १ ॥ यतिचान्द्रायणमितिसंज्ञामात्रम्॥ तेन न यतिमात्रस्यैवाधिकारःकिन्तुसर्वेषाम्॥

एक सउपांचग्रास १०५ हुए इसरीति कर्के दो सौ पंचीस २२५ ग्रासहैं ॥ मनुजीभी कहतेंहैं अष्टाविति मध्याह्नदिन विषे अठ अठ ग्रासभक्षणकरे मनकों एकाग्र करे परंतु हविष्यकों भक्षण करे एह वडा श्रेष्ट यति चांद्रायणहै ॥ १ ॥ परन्तु यति चांद्रायण केवल इसका नामहिहै तिसकों यतिचांद्रायणनाम होणे कर्के केवल यतिकों हि नहि अधिकर किंतु संपूर्णांकोंहि अधिकारहै

तेसैहिं कहतेहैं चेति चार ४ ग्रासां नूं प्रातः कहणे कर्के दिनविषे भक्षणकरे इंद्रियांकों विषयांतें रोकर्के स्थितरहे ब्राह्मण और चारग्रास रात्रिविषे भक्षणकरे एक मासतक ऐसे नियमकरे तिसका नाम शिशुचांद्रायणहै ॥ १ ॥ इस व्रत विषे भी संपूर्णांका अधिकारहै केवल बालककों नहि इसीको स्पष्ट कर्के कहतेहैं यथेति जिसाकिसे तरह हविष्य अन्न के दोसउचाली २४० ग्रास भक्षण करे एक मासपर्यंत तां चंद्रके लोककों प्राप्तहोताहै २ ॥ तैसे दोसउचाली २४० ग्रासतें घट ग्रासांकेभक्षण करणे विषे औरहि चांद्रायणकहाहै ● ॥ अवऋषिचांद्रायणको कहतेहैं तिसविषे यमजीका वाक्यहै त्रीनिति दृढ है व्रत जिसका

तथाच चतुरःप्रातरश्नीयात्पिंडान्विप्रःसमाहितः चतुरोस्तमयेसूर्य्येशिशुचान्द्रायणंचरन् ॥ १ ॥ अत्रापिचसर्वेषामधिकारोःन शिशुमात्रस्य ॥ यथाकथंचित्पिंडानांतिस्रोशीतीःसमाहितः मासेनाश्नन्हविष्यान्नंचन्द्रस्यैतिसलोकताम् ॥ २ ॥ तथाच चत्वारिंशच्छतद्वयन्यूनसंख्याग्राससंपाद्यस्यापिसंग्रहार्थमपरग्रहणम् ● अथऋषिचान्द्रायणम् ॥ तत्रयमः ॥ त्रीं स्त्रीन्पिंडान्समश्नीयान्नियतात्मादृढव्रतः हविष्यान्नस्यवैमासमृषिचान्द्रायणंस्मृतमिति ॥ १ ॥ एषुच यतिचान्द्रायणप्रभृतिषु न चन्द्रगत्यनुसरणमपेक्षितम् ॥ अतास्त्रिंशद्दिनात्मकं साधारणेन मासेन नैरंतर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्तिथिवृद्धिह्रासवशात् पंचम्यादिष्वारंभोभवति तथापि न दोषः ॥

और निश्चलहै मन जिसका सो पुरुष हविष्य अन्नके त्रय३ग्रासदिने और त्रयग्रास रात्रि विषे भक्षण करे एकमास पर्यंत तां तिसका नाम ऋषिचांद्रायणकहाहै ॥ १ ॥ एह जो यतिचांद्रायणतें आदेलेके व्रत हैं तिनां विषे चंद्रमाकी गति कर्के शुक्ल कृष्ण पक्षका नियम नहि इसकहणेतें त्रीहां ३० दिनांका ग्रहणहै साधारण एक मास निरंतर चांद्रायणविषे जानणा ॥ जेकर कदी एकम आदि तिथितें पोछें वा आगें पंचमी आदि तिथि ओहि है इस विषे प्रारंभ करे तद करणेका भी नहिदोष त्रीह दिन ३० का साबन नाम कर्के मास पूर्णकरे ॥

● इसतें अनंतर चांद्रायण व्रतकी विधिहै कृच्छ्र व्रत विषे मुंडनकों करवाके व्रतकों करे दूसरे दिन [illegible] विषे उपवास करे और आप्यायस्वसंते पयांसि नमो नम इति इनां मंत्रां करके तर्पण और आज्य होम और हविकों अभिमंत्रण करणा और चंद्रमाका उपस्थान करणा इनां मंत्रांको तर्पणादि कर्म्मांमें प्रत्येक विषे पढे सबकों पढकर तर्पणकरे और सभकों पढकर होम करे एह अर्थ आगे स्पष्ट होणाहै यद्देवा देव हेडन मिति चारों मंत्रों करके आज्य होम करे (देवकृतस्य इस करके अंत विषे समिधाकरके हवनकरे और ओंभूःइसतें आदि लेकर

● अथ चान्द्रायणव्रतविधिः ॥ कृच्छ्रेवपनव्रतंचरेत् श्वोभूतांपौर्णमासीमुपवसेत् आप्यायस्वसंतेपयांसिनमोनमइति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमोहविषश्चानुमंत्रणम् ॥ उपस्थानंचन्द्रमसः ॥ यद्देवादेवहेडनमिति चतसृभिराज्यंजुहुयाद्देवकृतस्येतिचांतेसमिद्भिः ॥ ओंभूः ओंभुवः ओंस्वः ओंमहः ओंजनः ओंतपः ओंसत्यम् ओंयशः ओंश्रीः ओंऊर्कः ओंइट् ओंओजः ओंतेजः ओंपुरुषः ओंधर्मः १५ शिव इत्येतैर्ग्रासानुमंत्रणम् ॥ प्रतिमंत्रंमनसानमःस्वाहेति वा सर्वानेतैरेवग्रासान्भुंजीत ॥ चरुभैक्ष्यसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींषि उत्तरोत्तरप्रशस्तानि पौर्णमास्यांपंचदशग्रासान्भुक्त्वा एकैकापचयेनअपरपक्षमश्नीयात् अमावस्यामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षंविपरीतमेकेषामेषचान्द्रायणोमासइति

शिवःतकइनांकरके ग्रासांको अभिमंत्रणकरे और मंत्र मंत्र प्रतिमनकरके नमःस्वाहा उच्चारणकरे अथवा संपूर्णग्रासांनूं इनांकरकेहि भक्षणकरे। और कुछ कहतेहैं चविति चरुभैक्ष्य क्या भिक्षान्न सत्तु शिलाअन्न और जवांका पाक और शाक दुग्ध दधि घृत और मूल शकरकंदी और फल आम्रादि और जल एह हवींषि जानणे एह सब उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं पूर्णमासीविषे पंदरां१५ ग्रासांनूं भक्षण करके एकैकह्रासकरके दूसरे पक्षविषे भक्षणकरे। अमावस्या विषे उपवास करके एक एक की वृद्धि करके पूर्व पक्ष विषे करे और कोई इसतें विपरीत चांद्रायण कहतेहैं १

अथेति इस विषे ग्रासका परिमाण असे जानणा जो मुख विषे सुख करके प्रविष्ट होवे एह कहाहै सो वालकाविषे जानणा ॥ हेतुकहतेहैं शिखीति मयूरअंडके परिमाण पंचग्रास भोजन करणाविषे सामर्थ्य नाहि होवेंते ॥ इसमें एभी विचार जानणा कि दुग्धादिक ग्रास कैसे होणगे तिसवास्ते ग्रासोंकी कल्पना करलेणी क्षीरादि द्रवहविके ग्रास जो मयूर अंडका प्रमाण सो दूनिकर्के वनाकरजानणा ॥ और विशेषकहतेहैं तथेति कुकुड अंडकेप्रमाण और गिल्लेआंवलेके प्रमाण ग्रास समर्थताकों देखकर अन्य स्मृतियां कर्के कहे होये शक्ति विशेषको देखकर जानणे मयूर अंडप्रमाणतें तिनांकों लघु होवेतें । अब चांद्रायण व्रतके प्रसंगविषे पराशरजीका वचनहै

अत्रग्रासप्रमाणमास्याविकारेणेति यदुक्तंतद्बालाभिप्रायम् शिख्यण्डप रिमितपंचग्रासभोजनाशक्तेः क्षीरादिद्रवहविषां ग्रासाःकल्पनीयाः शि ख्यण्डपरिमितत्वंतु पर्णपुटकादिनासंपादनीयम् ॥ तथा कुक्कुटाण्डार्द्राम लकादिपरिमितानिकवलानि स्मृत्यंतरोक्तानिशक्तिविशेषविषयाणि । शि ख्यण्डपरिमाणाल्लघुत्वात्तेषां ॥ चान्द्रायणप्रकरणे पराशरस्तु ॥ कुक्कु टाण्डप्रमाणंतुग्रासंवैपरिकल्पयेत् ॥ शंखस्तु ॥ आर्द्रामलकमात्रास्तुग्रा साइन्दुव्रतेस्मृताइति ॥ एतेषांपरिमाणानांविकल्पोवोध्यः ॥ अथव्रतांत तरसंपातेनिर्णयः ॥ एकादश्यादौनित्यप्राप्तउपवासस्तावच्चान्द्रायणवि धिनावाध्यते एतस्यचचरेदेतच्चन्द्रस्यैतिसलोकतामिति काम्यत्वात्

कुक्किति कुकुड अंडके प्रमाण ग्रासकी कल्पनाकरे । शंखजीकातो एह वचनहै जो गिल्लाआंवलाहै तिसप्रमाण ग्रासचांद्रायण व्रतविषेकहेहैं इन्हांपरिमाणांका यथाशक्तिसें विकल्पजानलेणा ● इसतें अनंतर व्रतांतर संपात विषे निर्णयहै अर्थात् चांद्रायणके वीच कोई और व्रत आजावे तिसका निर्णयहै एकादशी आदिक विषे नियम कर्के जो उपवासहै सो चांद्रायण विधि कर्के वाधया जावेगा क्योंकि जो चांद्रायणकोंकरताहै सो चंद्रलोककों प्राप्तहोताहै इसफलके सुणनेसे काम्य होवेतें ॥

लैंति और लसुनके भक्षण आदिक निमित्तके होयां होयां विधान करणेकर्के चांद्रायणकों ग्राह्यताहै और निमित्तविषेभी ग्राह्यताहै इस कारणतें एह सिद्ध होया कि निमित्ततें नैमित्तिक बलवान् है का म्य इति और काम्य जो चांद्रायणहै और एकादशीव्रत जो काम्यहै सों अन्य पुरुष द्वारा क रवाणा होरी कर्के कीतयां होयांभी फलकी प्राप्ति होतीहै ऐसे कात्यायनादि ऋषियां कर्के कथन करणेतें और एह एकादशी व्रतके बाधका अभाव अर्थात् एकादशीके व्रतका बाधा कदे भी नहि होता किंतु और व्रत तिस विषे आवे तां एकादशी कर्के तिसकाहि बाधा हुंदाहै सों चांद्रायणतें भिन्न व्रतां विषे हि जानणा क्योंकि तिस विषे दिन दिन प्रति ग्रास ग्रहण विषे

लशुनभक्षणादिनिमित्ते विहितत्वेन नैमित्तिकत्वाच्च काम्यस्त्वेकादश्या द्युपवासोऽन्यद्वाराकरणीयः प्रातिनिधिना कृतेपि फलप्राप्तेः कात्या यनादिभिरुक्तत्वात् ॥ अयंचैकादश्युपवासबाधाभावः सामान्यश्चांद्रा यणभिन्नेष्वेव तत्रप्रतिदिनंग्रासग्रहणेनियमाभावात् ॥ यत्पुनरुक्तंश्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेदित्यत्र चतुर्दश्यामुपवासमभिधाय पौर्णमास्यां पंचदश ग्रासान्भुक्त्वेत्यादिना द्वात्रिंशदहरात्मकं चान्द्रायणमुक्तंतत्पक्षान्तरप्र दर्शनार्थं नसार्वत्रिकम् योगीश्वरवचनानुरोधेनत्रिंशदहरात्मकस्यैवदार्शि तत्वात् ॥ यद्येतत्सार्वत्रिकंस्यात्तदा नैरंतर्येण संवत्सरे चांद्रायणानुष्ठाना नुपपत्तिश्चन्द्रगत्यनुवर्त्तनानुपपत्तिश्च स्यात् ॥

नियमका अभाव होताहै ॥ जो होर कहाहै कि अगलेदिनहै पूर्णमासी जिसके ऐसी चतुर्दशी कों उपवास करे और पूर्णमासी विषे पंदरां १५ ग्रास भक्षण करे इस कर्के बत्ती ३२ दिनका चांद्रायण कहा सो अन्य पक्षर्के दखाणे वास्ते जानणा संपूर्ण स्थान विषे नहि योगीश्वरवच नकें अनुसार कर्के तीहां ३० दिनाकोंहि दखाणेंते । जेकर एह संपूर्ण स्थान विषे होवे तां नि रंतर कर्के वर्षके चांद्रायणकी सिद्धि नहि होगी और चंद्रमाकी गतिके अनुसार वर्त्तनेकी भी सिद्धि नहि होती

॥ * अथेति इसतें अनंतर विशेषता करकें चांद्रायण कल्पका व्याख्यान करेंहां शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी विषे उपवास व्रत करे वा कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी विषे उपवासकरे केश औंर श्मश्रु औंर नख औंर लोम इनांकों मुंडन करवाके वा श्मश्रूकाही मुंडन करवाके व्रत करे अब यमजीकाबचनहैं आयेति लोहेंका पात्र औंर तैजस क्या सुवर्ण पात्र औंर घट शराव क्या प्याला आदिपात्रांकों त्यागे एह पात्र असुरांकें कहेहैं औंर देवपात्र अचक्रक है ॥ १ ॥ यमजीकहतेहैं अंगुलीयांके अग्र विषे स्थित जो ग्रास तिसका सावित्रीकर्कें मंत्रण करे इस विषे ग्रासां करकें प्राणरूप जो अग्नि तिस विषे हवन करे ॥ ऐसे वौधायन ऋषि कहता है प्रथम ग्रासकों

* अथातोविशेषतयाचान्द्रायणकल्पंव्याख्यास्यामः ॥ शुक्लचतुर्दशीमुपवसेत्कृष्णचतुर्दशींवाकेशश्मश्रुनखलोमानि वापयित्वा श्मश्रूणिवेत्यादि यमः ॥ आयसंतैजसंपात्रंचक्रोत्पन्नंविवर्जयेत् असुराणांहितत्पात्रंदेवपात्रमचक्रकम् १ चक्रोत्पन्नंघटशरावादि सएव ॥ अंगुल्यग्रस्थितंग्रासंसावित्र्याचाभिमंत्रयेत् अत्रग्रासैरेवप्राणाग्निहोत्रमाह ॥ वौधायनः ॥ अश्नीयात्प्राणायेतिग्रासंप्रथमम् १ अपानायेतिद्वितीयम् २ व्यानायेतितृतीयम् ३ उदानायेतिचतुर्थम् ४ समानायेतिपंचमम् ५ यदाचत्वारस्तदाद्वाभ्यांग्रासंपूर्वम् यत्रत्रयस्तदाद्वाभ्यांद्वाभ्यांपूर्वौ यदाद्वौतदात्रिभिःपूर्वंद्वाभ्यामेवोत्तरम् एकंतुसर्वैरिति ग्रासद्वयपक्षे प्रथममाद्यैस्त्रिभिरंतंद्वाभ्याम् एकपक्षेसर्वैरेकामित्यर्थः

प्राणाय स्वाहा इस करकें भक्षण करे १ औंर अपानाय स्वाहा इसकरकें दूसरे ग्रासनूं २ औंर व्यानाय स्वाहा इस करकें तीसरेनूं ३ औंर उदानाय स्वाहा इस करकें चोथेनूं ४ ओर समानाय स्वहा इस करकें पंचम ५ ग्रासनूं भक्षणकरे जेकर चार ग्रास होणतां दोनों मंत्रां करकें प्रथम ग्रासकों भक्षण करे औंर जां त्रय ग्रासहोण ता दुंह दुंह मंत्रांकरकें प्रथम दो २ ग्रास भक्षण करे । औंर जद दो २ ग्रास होंण तांतीन मंत्रां करकें प्रथम एक ग्रासकों भक्षण करे ओर अंतके ग्रासकों दोनो मंत्रो करकें भक्षण करे औंर जां एक हिग्रास होवे तां पांचो मंत्रों करकें एकग्रासका भक्षण करे दुंह मंत्रां करकें दूसरेग्रास का भक्षण करें

अब स्पष्ट करके प्रयोग कहतेहां चतुर्दशीविषे कीताहै नित्यकर्म जिसने पूर्वाह्नकालविषे प्राणाया मकों करके उँमय मासपक्षआदिका उच्चारण करके अमुक पापके दूर करणे वास्ते श्रीकी कामना देवताकी प्रीतिकी इच्छाकरके थारसा यनादिके सिद्धिकी कामना करके इस चांद्रायण व्रत कों करांहां असे संकलपकरे ॥ ओं अग्ने व्रत पते व्रतं चरिष्यामि इत्यादि मंत्रां करके व्रतनूं सूर्यके तांई अर्पण करके ॥ केश और श्मश्रुकाहि मुंडन करवाके अथवा केवल श्मश्रुका हि मुंडन कर वाके तिस दिन विषे उपवासकरके और तिसी दिन विषे जेकर अमावस्या होवे तां तिस विषे भी उपवास करके और जेकर पूर्णमासी होवे

• अथ स्पष्टप्रयोगः ॥ चतुर्दश्यांकृतनित्यक्रियः पूर्वाह्णे प्राणानायम्य मास पक्षाद्युल्लिख्यामुकपापक्षयकामः श्रीकामोदेवताप्रीतिकामोरसायनादि सिद्धिकामोवा अमुकचान्द्रायणंकरिष्य इतिसंकल्पः ॥ ओंअग्नेव्रतपतेव्र तं चरिष्यामीत्यादिमंत्रैर्व्रतमादित्यायनिवेद्य केशश्मश्रुलोमनखानिश्म श्रूण्येव वा वापयित्वातद्दिनमुपोष्य तद्दिनेऽमाचेत्तत्राप्युपोष्य पौर्णिमाचे त्पंचदशग्रासान्भुंजीत ॥ तत अमोत्तरपक्षे उपचयः ॥ पौर्णिमोत्तरपक्षेऽ पचयोग्रासानाम् ॥ प्रतिदिनमुदितेचन्द्रे आप्यायस्वसोमंतर्पयामि संते पयांसि सोमंतर्पयामि नमोनमश्चन्द्रमसंतर्पयामीतितर्पयित्वा आज्येनै तैरेवमंत्रैर्लौकिकेग्नौहुत्वैतैरेवपात्रस्थंहविरनुमंत्र्यैतैरेवचन्द्रमुपस्थाय ॥ य द्देवादेवहेडनमितिचतसृभिश्चप्रत्यृचमाज्यंजहुयात् ॥ सर्वत्राग्नये नममे तित्यागः

तां पंदरां १५ ग्रास भक्षण करे और अमावस्यातें उत्तर शुक्लपक्ष विषे ग्रहण करे तांक्रम करके ग्रासां कों वधावे और पूर्णमासीते पीछे कृष्ण पक्ष विषे ग्रासांकों घटावे ॥ और दिन दिन विषे चंद्रमाके उदयहोयां होयां आप्यायस्व सोमंतर्पयामि ॥ संते-नमोनमश्चंद्रमसंतर्पयामि इनां मं त्रां करके तर्पणकरे और इनांमंत्रांकरकेहि लौकिक अग्निविषे घृतका हवन करे और एनांहि मंत्रां करके पात्र विषे हविका अनुमंत्रण करे और इनां मंत्रां करके चंद्रमाकी पूजा करे ॥ और य द्देवादेवहेडन मितिचार ऋचां करके ऋचा ऋचा प्रतिघृतका हवन करे और सभजगा न मम असे सा कहके अग्निने त्याग करे

व्याहृति लिसतें उपरंत देवकृतस्य इनतीन ऋचांकर्के ३पत्समिधांका हवनकरे ओंभूः १ ओंभुवः २ ओंस्वः ३ ओंमहः ४ ओंजनः ५ ओंतपः ६ ओंसत्यं ७ ओंयशः ८ ओंश्रीः ९ ओंऊर्क् १० ओंइट् ११ ओंतेजः १२ ओंपुरुषः १३ ओंधर्मः १४ ओंशिवः इनांपंदरां १५मंत्रां कर्के पात्रमे स्थितएकएक ग्रासका एकएक मंत्र कर्के अनुमंत्रण करे मनकर्के(नमःस्वाहा) असे मंत्रके अंत विषे कहकरे संपूर्ण ग्रासांका अनुमंत्रण कर्के और अंगुलीयांसाथ एकएक ग्रासनूं ग्रहण कर्के गायत्री मंत्रकों पढकर भक्षण करे ॥ तां प्रथमदिन के ग्रासके भक्षण विषे प्राणायस्वाहा इत्यादिक पूर्व क्रम कर्के पंचमंत्रां कर्के पंचग्रास भोजन करे पंजांते अधिक जेकर ग्रास होण तां तूष्णीं होके

ततोदेवकृतस्येतित्रिभिःसमित्त्रयंहुत्वा ओंभूः १ ओंभुवः २ ओंस्वः ३ ओं महः ४ओंजनः५ ओंतपः६ ओंसत्यम् ७ ओंयशः ८ ओंश्रीः ९ ओंऊर्क् १० ओंइट् ११ ओंतेजः १२ ओंपुरुषः १३ ओंधर्मः १४ ओंशिवः १५ इत्येतैः पंचदशभिरेकैकंक्रमेणपात्रस्थंग्रासमनुमंत्र्य मनसानमः स्वाहा इत्युक्त्वा सर्वाननुमंत्र्यैकैकमंगुल्यग्रैर्गृहीत्वा सावित्र्याऽनुमंत्र्यभक्षयेत् ॥ तत्रप्रथम दिन एकग्रासभक्षणे प्राणायस्वाहा इत्यादयः पूर्वोक्तप्रकारेण पंचापिमं त्रायोज्याः ॥ पंचभ्योऽधिकाग्रासास्तूष्णीमेवभक्षणीयाः ॥ समाप्तौत्र्यव रान्विप्रान्भोजयित्वागांदक्षिणांदद्यात् ॥ आसमाप्तिप्रत्यहं त्रिषवण स्नानम् सौरमंत्रैः कृतांजलेरादित्योपस्थानम् गायत्र्याव्याहृतिभिः कूष्मांडैर्वाज्यहोमः ॥ दिवास्थितिः ॥ रात्रावुपवेशनम् ॥ अशक्तौश यनंयथाशक्ति ॥ आपोहिष्ठेतिसूक्तम् ॥ यतोत्विन्द्रः ऋचंचेति

क्या मौनधार कर भक्षण करणे योग्यहैं ॥ और समाप्ति विषे तीनतें अधिक ब्राह्मणांके तांइ भोजन देकर एक गौदक्षिणा देवे ॥ और व्रतकी समाप्तिपर्य्यंत त्रिकाल स्नान करे और सूर्यके मंत्रां कर्के हाथ जोडकर सूर्यके उपस्थानकों करे और गायत्री कर्के व्याहृतियांकर्के अथवा कूष्मांड मंत्रों कर्के घृत कर्के हवन करे ॥ और दिन विषे खलोतारहे और रात्रि विषे स्थित होवे और जेकरसामर्थ्यं न होवे तां जैसे शक्तिहै तैसे शयन करे आपोहिष्ठा इति सूक्तं यतोत्विन्द्रः ऋचंचेति इनकोजपे

ऋचंबत्र इन्द्राग्नीस्वस्तिनामिति इनकों जपे और पुनंतुमादेवजना: इनकी ॥ और ऋषभं
विरजं रौरवयोधाजये सामोकों जपन क्या इनांऋचांकों जपे इनांके अभाव विषे गायत्रीकों
जपे और व्याहृतियांकों जपे वा ओंकारकों ८ जपे ॥ एह किहाहै इसजगा परन्तु ब्राह्मण भो
जन और दक्षिणादान आदि और जप एह संपूर्ण प्राजापत्यआदि व्रतांविषेभी जानणे ● इसदें
अनंतर सोमायन व्रतका वर्णन है तिसविषे मार्कंडेयजी का वचन है गविति सप्त रात्र ७ पर्यंत
गोके चार ४ स्तनांते दुग्धपीवे और सप्तरात्र ७ तीन ३ स्तनांतें दुग्धपीवे और सप्तरात्र ७ दुंह २
स्तनांका दुग्धपीवे ॥ १ ॥ और छे६ रात्र गौके एक स्तनका दुग्ध पीवे और त्रय ३ रात्रां कुछ

ऋचंशत्रइन्द्राग्नी स्वस्तिनामिति ॥ पुनंतुमादेवजना: ॥ ऋषभं विरजं
रौरवयोधाजयेसामनीचजपन् एतेषामसंभवेगायत्रींव्याहृतिंप्रणवं वा ज
पेत् एतत्रविप्रभोजनदक्षिणादानादिजपांतं सर्वेष्वपि प्राजापत्यादिव्रतेषु
कल्प्यम् ॥ ● अथसोमायन व्रतवर्णनम् ॥ तत्रमार्कण्डेय: ॥ गोक्षीरंसप्त
रात्रंतुपिबेत्स्तनचतुष्टयात् स्तनत्रयात्सप्तरात्रंसप्तरात्रंस्तनद्वयात् ॥ १
स्तनेनैकेनषड्रात्रंत्रिरात्रंवायुभुग्भवेत् एतत्सोमायनंनाममहाकल्मषना
शनमिति २ ॥ अत्रेदंबोध्यम् ॥ यस्यागो:स्तनचतुष्टयेनव्रतानुष्ठातुस्तृ
प्ति:स्यात्साविड्भोजनादिदोषशून्याऽत्रार्थेप्रयोज्येति ॥ स्मृत्यंतरे सप्ता
हंचेत्पिबेद्गोस्तनमखिलमथत्रीन्स्तनान्द्वौतथैकं कुर्यात्त्रींश्चोपवासान्यदि
भवतितदामासिसोमायनंतत् ॥ १ ॥ एतदपिचान्द्रायणधर्मकमेव

नभक्षण करे एह त्रीह ३० दिनका सोमायन नामकर्के व्रत कहाहै महापापांके नाशकरणेवाला
है ॥ २ ॥ इस विषे एह जानणा कि जिस गौकें चार स्तनांके दुग्धकर्के व्रत करण वालेकी
तृप्ति होवें सो गौ विट भोजन आदि दोषतें रहित होवे तां तिसका दुग्ध ग्रहण करणा ॥ होरी
स्मृति विषे भी कहाहै सप्तेति जेकर सत्त दिन गौके चारस्तनांतें संपूर्ण दुग्धपीवे और सत्त दिन
त्रुंहस्तनांतें और सत्तदिन दुहस्तनांतें और छे६दिन एक स्तनतें पीवे और त्रय दिन उपवासकरे
तां महीने कर्के सोमायन व्रत होताहै ॥ १ ॥ एह सोमायन व्रतभी चांद्रायण रूपहि है

क्योंकि हारीत ऋषिनें इसतें आगें चांद्रायणकों कहतेहां इस कर्के सहित कर्त्तव्यताके चांद्रायणव्रतकों कहके पीछे ऐसे सोमायनभी जानणा इक कर्के सोमायनको भी कहणेतें ॥ जो फेर तिसनें कृष्ण चतुर्थीतें लेकेशुक्ल द्वादशी पर्य्यंत सोमायन व्रत कहाहै सो कहतेहां चतुर्थीतें लेके त्रयदिन चार स्तनांकेदुग्धकोंपीवे और तिसतें पीछे त्रयदिन तीन स्तनांके दुग्धकों पीवे और त्रयदिन दुंह स्तनांके दुग्धकों पीवे और त्रय दिन एक स्तनके दुग्धकों पीवे ऐसे वारां १२ दिन कर्के फेर त्रयदिन एक स्तनके दुग्धकों पीवे और त्रयदिन दुंहस्तनां के और त्रयदिन त्रयस्तनां

हारीतेन अथातश्चान्द्रायणमनुक्रमिष्यामइत्यादिना सेतिकर्त्तव्यतांकंचान्द्रायणमभिधायैवं सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात् ॥ यत्पुनस्तेनकृष्णाचतुर्थीमारभ्यशुक्लद्वादशीपर्यंतंसोमायनमुक्तम् ॥ चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेनत्रिरात्रम् ॥ ततस्त्रिस्तनेनत्रिरात्रम् ।। द्विस्तनेनत्रिरात्रम् एकस्तनेनत्रिरात्रम् १२ एवमेकस्तनप्रभृतिपुनश्चतुःस्तनान्तम् ॥ १२ ॥ यातेसोमचतुर्थीतनूस्तयानः पाहितस्यैनमः स्वाहा ॥ यातेसोम पंचमी षष्ठीत्येवं यथार्थास्तिथिहोमाःएकमासं एनोभ्यःपूतश्चन्द्रमसःसमानतां सलोकतां सायुज्यंच गच्छतीति ॥ चतुर्विंशतिदिनात्मकसोमायनमुक्तम् ॥ तदशक्तविषयम् ॥ ❋ अथयतिचान्द्रायणमाह गौतमः ॥ मासस्यादौयतिर्विप्रोव्रतंकुर्य्याद्यथाशृणु कृत्वामूत्रपुरीषेतुशौचंकुर्य्याद्यथाविधि ॥ १ ॥ दन्तान्संशोध्ययत्नेनह्यपामार्गस्यशाखया स्नानंकृत्वानदीतोयेतडागेवाहूदेपिवा ॥ २ ॥

के और त्रयदिन चौंहस्तनांके दुग्धकों पीवे ऐसे चव्वी २४ दिनका सोमायन व्रत कहाहै इस विषे (यातें सोमतुर्थी) इति(यातेंसोम पंचमी)इति और एक मासं एनोभ्यः इत्यादि ऋचांका पाठ करे एह चौवी २४ दिनका व्रत असामर्थ्य विषे जानणा ॥ ❋ इसतें अनंतर यति चांद्रायणनूं गौतम ऋषि कहताहै मासेति मासके आदविषे यति ब्राह्मण जैसं व्रतनूं कर्त्ताहै तैसे श्रवण कर मूत्र पुरीषके त्यागकोंकर्के जैसे विधिहै तैसे शौचकों करे॥ १ ॥ पीछेपुटकंडेकी बीडी कर्के यत्न कर्के दंतांकों शुद्धकरे फेर स्नानकरे नदी विषे वा तलाय विषे वा हूद विषे २ ॥

धुलेति शुद्धदुह वस्त्रोंको धारके नित्यकर्मोंकोंसमाप्त करे ३ पीछे उपासनाकों। क्यान्यासादिकोकर्के देवताका पूजनकरे और मंत्रको स्मरण करके संकल्प करे और फेर विष्णुका ध्यानकरे हस्त पादोंकी शुद्धिपर्यंत ४ हस्तपाद शुद्ध करके दोवार आचमनकरे ऐसे शुद्ध होकर संध्या काल विषे संध्या उपासे और नारायणकीमूर्ति आगेशयनकरे ५ तिसतें अनंतर प्रातःकालविषे उठकर पूर्वदिनकी न्याई संपूर्णकर्मकरे और उपवासव्रतकोकरे शुक्लपक्षकीअष्टमीतक ६ और तिस शुक्लाष्टमीविषे पूर्वकी न्याई पंचग्रासभक्षणकरे और तैसे पूर्णमासी और कृष्णाष्टमी और अमावस्या जैसे क्रमहै ७ पंच पंच ग्रास भक्षण करे और भक्ति युक्त होके पृथ्वी विषे नित्य शयन करे और सुगंधिताम्बू

धृत्वाचोद्गमनीयंतुनित्यकर्म्मसमापयेत् ॥ औपासनादिकंकृत्वादेवपूजामथाचरेत् ॥ ३ ॥ उद्गमनीयं धौतवस्त्रद्वयमित्यर्थः ॥ संकल्पमेवंकुर्वीतपूर्वमंत्रमनुस्मरन् तावद्ध्यायेन्महाविष्णुंयावत्क्षालयेत्करौ ४ ॥ पादौचक्षालयेत्पश्चाद्द्विराचम्यशुचिर्भवेत् सायंसंध्यामुपासीतस्वपेन्नारायणाग्रतः ॥ ५ ॥ ततःप्रातःसमुत्थायसर्वंपूर्ववदाचरेत् तावदुपोषणंकृत्वायावच्छुक्लाष्टमीभवेत् ॥ ६ ॥तत्रैवपूर्ववत्पिंडान्भक्षयेत्पंचसंख्यया पूर्णायांवकुलाष्टम्यांतद्मायांयथाक्रमम् ७ ॥ भक्षयेत्पंचपंचैवकवलान्भक्तिपूर्वतः अधः शायीभवेन्नित्यंगन्धताम्बूलवर्जितः ॥ ८ ॥ मासान्तेगोःप्रदातव्याव्रतस्यपरिपूर्त्तये पंचगव्यंपिबेत्पश्चाद्यतिचान्द्रायणंचरेत् ॥ ९ ॥ अनेनविधिनायस्तुयतिचान्द्रायणंपरम् कृत्वापापविशुद्धात्माप्राप्नुयात्परमांगतिम् ॥ १० ॥ विधवावायतिर्वापिव्रतीवापापनाशनम् गृहेवाकुरुतेसम्यक्सर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ११ ॥* अथशिशुचान्द्रायणलक्षणांतरमाह देवलः ॥ शृणुराममहावाहोसर्वपापहरंपरम् शिशुचान्द्रायणंनाम सुरर्षिगणसेवितम् ॥ १ ॥

लको त्यागे ॥ ८ ॥ मासके अंत विषे व्रतके पूर्णफलकी प्राप्ति वास्ते गौदान करे पीछेसें पंचगव्यका पान करे ऐसे यति चांद्रायण व्रतकों करे ९ इस विधिकर्के जो यतिचांद्रायणव्रतकों कर्ताहै सो संपूर्णपापोंतें शुद्धहोकर परमगतिकों प्राप्तहोताहै १० इसपापोंके नाशकरण वाले व्रतको विधवास्त्री वा यति वा व्रती वनविषे वागृहविषे करे संपूर्ण पापोंतें रहित होताहै ११ * अब शिशुचांद्रायणके लक्षणनूं देवलऋषि कहताहै भिति हे परशुराम हे महावाहो शिशु चांद्रायणनाम करके संपूर्ण पापके नाश करण वाले व्रतनूं श्रवणाकर जो सुरर्षियोंके गण करके सेव्यमानहै १

पूर्व कालमें उद्दालक नाम कर्के ऋषि जद माताके गर्भतें जन्मकों धारताहोया तद अंजलि विषे नाभि नालनूं ग्रहण कर्के पृथ्वीमें भ्रमताभया नाभिनाल इसपदकर्केजणाया कि जन्मकालतेहि उठकर्केचलागिया नालछेद तक भीनहिरिहा एह ऋषि लोकोंका प्रभावहै २ ॥ और गर्भतें अष्टमवर्ष के होयां होयां उद्दालक ऋषि गोत्र नाम कर्के अर्थात् शिशु नाम कर्के व्रतनूं कर्ता भया यद्वा गोत्रेण कथा कुलकी स्थिति वास्ते व्रत कर्त्ताभया ॥ इस कारणते शिश्वर्थक्रियमाण होणेतें अर्थात् बालकके अर्थ होणेतें शिशुचांद्रायण नाम व्रत है अथवा गोत्र व्रतकर्के संततिव्रत जानणा अथवा गोत्रशब्द छत्रका वाचीहै अर्थात् छत्र

पुरातूद्दालकोनाममातृगर्भाद्विनिर्गतः नाभिनालमुपादायस्वांजलौपर्य्यटन्महीम् ॥ २ ॥ गर्भाष्टमेसमायातेसगोत्रेणव्रतंचरेत् ॥ गर्भेति ॥ गर्भाधानादष्टमेऽब्देसउद्दालकोगोत्रेण नाम्ना अर्थात् शिशुनाम्नाव्रतं चरेदचरदित्यर्थः ॥ यद्वा गोत्रेण कुलेन हेतुनाकुलस्थित्यर्थं व्रतमकरोदित्यर्थः ॥ अतएवाशिश्वर्थंक्रियमाणत्वाच्छिशुचान्द्रायणंनाम ॥ यद्वा गोत्रेणेति नामार्थेतृतीया गोत्रव्रतंसंततिव्रतमित्यर्थः ॥ अथवा गोत्रशब्दोऽत्रछत्रवाची ॥ छत्रव्रतंछत्राकारंव्रतम् सर्वोत्तममित्यर्थः ॥ तदाप्रभृत्यसौयोगीसायान्हेभैक्ष्यमाचरन् ॥ ३ ॥ श्रोत्रियाणांद्विजातीनांत्रिषुवेश्मसुसंचरन् कवलत्रयमानीयप्रक्षाल्यशुचिभिर्जलैः ॥ ४ ॥ भागत्रयंतदाकृत्वा भागमेकंहरेर्ददौ द्वितीयमग्नौनिक्षिप्यतृतीयंचात्मनिन्यसेत् ॥ ५ ॥ रात्रौस्वपेत्स्थंडिलेषुगन्धपुष्पादिवर्जितः ॥ एवंवैप्रत्यहंकुर्व्वन् यावत्पुत्रसमागमः ६ ॥ नासिकेतोत्पत्तिपर्य्यन्तामित्यर्थः तदाप्रभृतिलोकेस्मिन्नाशिशुचान्द्रायणंस्मृतम् कलौयुगेविशेषेणमहापातकनाशनम् ॥ ७ ॥

आकार व्रत संपूर्ण व्रतांविषे उत्तमहै एह अर्थहै तिसदिनतें लेकें योगी सायंकालविषें भिक्षाकों जाताभया ॥ ३ ॥ और वेदपाठियांब्राह्मणांके तीन घरांसे भिक्षाकोंलयकें तीन ग्रासांकों शुद्धजलसाथ धोकर ॥ ४ ॥ त्रयभागकर्के एकभागविष्णुकेतांई अर्पणकर्त्ताभया औरदूसराभागअग्निविषें हवनकर्के औरतीसरा आपभक्षणकर्त्ताभया ॥ ५ ॥ रात्रिविषें गंधपुष्पआदिकों त्यागकरस्थंडिलविषें शयनकर फेर प्रातःकाल उठकर इसी विधि मैं प्रवृत्त हुंदा होया इसप्रकार उद्दालकऋषि नासकेतुंपुत्रकी उत्पत्ति पर्यंत दिनदिनविषें विधिकर्त्ताभया ॥ ६ ॥ तिसदिन तेलें के लोक विषे शिशुचांद्रायणनाम व्रत प्रसिद्ध होया कलियुगविषें विशेष कर्के महापापांके नाशकरणे वाला कहाहै ७ ॥

इस उत्तम व्रतके करणे कर्के महापापीभी शुद्ध होताभया ॥ अब गौतमजीका वचनहै शीति शिशुचांद्रायण जो व्रतहै तिसविषे प्रतिदिन एकाहि ग्रास भक्षण करणेयोग्यहै तिसकोकर्के महापा पियांके मध्यविषे वर्तमानभीहोवे तथापि तिस महापापते शुद्धहोताहै ॥ १ ॥ अब जाबालिऋ षिका वचनहै शीति जो ब्राह्मणपापां के दूरकरणेवास्ते शिशुचांद्रायण व्रतकोकर्चाहै सो तात्काल पापतेशुद्धिको प्राप्तहोकर परमगतिको प्राप्तहोताहै १ तिसशिशुचांद्रायणके प्रकारको देवलऋषि कहताहै मेति मासके आद विषे प्रतिपद्दिनाविषे पूर्वकीन्याई स्नानकरे पूर्व दंतधावनकोकर्के धो तवस्त्र कों धारके और त्रयकाल संध्याबंदनादि कर्मको करके १ ॥ चौथे पहर पत्रांके डूणेविषे

महापापीविशुद्धोभूत्कृत्वैतद्व्रतमुत्तममिति ॥ गौतमः ॥ शिशुचान्द्रायणं सम्यग्ग्रासमेकंनिरंतरम् कृत्वाशुद्धिमवाप्नोतिमहापातकिनामपि ॥ १ ॥ महापातकिनांमध्येवर्त्तमानोपियःकश्चिदेतत्कृत्वाशुद्धिमाप्नो तीत्यर्थः ॥ जावालिः ॥ सिशुचान्द्रायणंकृत्वाद्विजोयःपापमुक्तयेससद्यः पापनिर्मुक्तःप्रपेदेपरमांगतिम् ॥ १ ॥ अवश्यंभाविनिभूतवन्निर्दे शात्प्रपेदेप्रपत्स्यतइत्यर्थः ॥ तत्प्रकारमाहदेवलः ॥ मासादौप्रति पद्दिवसेपूर्ववत्स्नानमाचरेत् दंतधावनधौतवस्त्रत्रिसन्ध्यावन्दनादि कम् ॥ १ ॥ चतुर्थयामेपर्णपुटेह्यपश्यन्पापिनःखलान् श्रोत्रियाणां द्विजातीनांत्रिषुवेश्मसुसंचरेत् २ कवलत्रयमानीयप्रक्षाल्यशुचिभिर्जलैः भागत्रयंतथाकृत्वाभागमेकंहरौक्षिपेत् ३ प्रक्षाल्यपूर्ववद्धस्तौद्विराचम्यशु चिर्भवेत् रात्रौस्वपेद्धरेरग्रेस्थंडिलेगन्धवर्जितः ॥ ४ ॥पुनःपरे द्युरेवंहि कुर्यात्पापविशुद्धये

वेदपाठी ब्राह्मणांके गृहांविषे भ्रमे और नीच और जो पापी हैं तिनांको न देखे ॥ २ ॥ और ग्रास कों ल्यावे पवित्र जलकर्के शुद्ध करे और त्रयभागकर्के एकभाग विष्णुके तांई अर्पणकरे॥३ ॥ एकग्रासका अग्निविषे हवनकरे और एक ग्रास भक्षण करे और पूर्वकी न्यांई हस्तपाद शुद्ध कर्के दोवार आचमन करे तांशुद्ध होताहै और रात्रिविषे विष्णुके आगे स्थंडिल विषे शयन करे गंधपुष्प आदिको त्यागे ॥ ४ ॥ फेर दूसरे दिन ऐसेहि वि धिको करे पापकेदुरकरणे वास्ते

ऐसें एकमासके व्रतकोंकर्के अंतविषें ब्राह्मणकेतांई गौदेणेयोग्यहै ५ पीछे पंचगव्यकापानकरे ऐसें जो पुरुष कर्ताहै सो संपूर्णपापांतेंरहितहोताहै ६ ॥ अथमहाचांद्रायणकहीदाहैतिसाविषेंदेवलजीका वाक्यहै हेराम हेमहाभुजाकर्के युक्तमहाचांद्रायणव्रतकों तूं श्रवणकरजो श्रेष्ठ औरहै ब्रह्महत्यादिपापो के दूरकरणेंवाला और संपूर्ण मंगलरूपहै १ इसकर्के दूरहोणवाले पापाकों कहतेहैं गुर्वेति गुरोंके द्रोहविषें जो पाप है और जो पाप पापीयांकी संगतिविषें और चांडालीकेगमनविषे और विधवा स्त्रीके संग विषे २ और श्रेष्ठ स्त्रीके संगम विषें और परअन्नके भक्षण विषें और नीचस्त्रीके संगमविषें और भर्त्ताके जीवतयां जो जारतें उत्पन्न होयाहै और भर्त्ताके मृतहोयांहोयां जो जारतें

एवंमासव्रतंकृत्वामासांतेगौर्यथार्थवत् ५ देयाविप्रायसहसापंचगव्यंपि वेत्ततः एवंकृत्वानरोयस्तुसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ६ ॥ ॥ अथमहाचान्द्राय णम् ॥ तत्रदेवलः । शृणुराममहाबाहोमहाचान्द्रायणंपरम् ब्रह्महत्यादि पापानांशोधनंसर्वमंगलम् १ गुरुद्रोहेचयत्पापंयत्पापंपापिसंगमे चाण्डा लीगमनेपापंयत्पापंविधवागमे २ परस्त्रीषुचयत्पापंयत्पापंपरभोजने य त्पापंवृषलीसंगेयत्पापंकुण्डगोलयोः ३ शूद्रवृत्त्याश्रयत्पापंयत्पापंर सविक्रये पुरोहितस्ययत्पापंयत्पापंपरदारगे ४ यत्पापंसर्वसंगेचयत्पा पंधनुविक्रये यत्पापंरजकीसंगेयत्पापंपतिनिन्दया ५ यत्पापंविप्रनिंदायांक न्यासंदूषणेपिच एवमादीनिपापानिगुरूणिचलघूनिच ६ आर्द्राणि चाथशुष्कानियानिपापान्यनेकशः तेषांनाशकरंचेदंमहाचान्द्रायणंव्रतम् यत्कृत्वामुच्यतेपापैर्गुरुभिर्लघुभिस्तथा ॥ ७ ॥

जन्मयाहै तिनांके संबंधविषे जो पापहै ३ और शूद्रकीजीविकाविषे जो पाप और रसांकेवेचने विषें और पुरोहितकों और परस्त्रीके संगमकरणे वाले पुरुषके साथ संबंधविषें जो पापहै ४ और संपूर्णांकी संगतिविषें अर्थात्सर्वसंगीवणनविषें और धेनु कथा सूईहोई गौकेवेचणेविषे और धो वणके संगम विषें और भर्त्ताकी निंदाविषें ५ और ब्राह्मणकी निंदाविषें और कन्याके दूषणविषे जो पापहै इसतें आदलेके जो वडे और छोटेपापहैं ॥ ६ ॥ और इच्छा कर्के और जो नहि इच्छा कर्के कीतेहोए अनेक पाप हैं तिनांसंपूर्ण पापांके नाशकरणे वाला महाचंद्रायण व्रत कहाहै जिसकेकरणेकर्के वडयांछोटयांपापांते रहित होताहै ॥ ७ ॥

तिसके प्रकारको गौतम ऋषि कहताहै शुक्लेति शुक्लपक्षकी प्रतिपदा विषें शुद्धजलकर्के स्नानको ओर पूर्वकी न्यांई संध्या वंदन आदि नियमको कर्के चौथे पहर विषें ॥ १ ॥ विष्णुकी पूजाको करता होया पहले संकल्प करे ओर पूर्वकी न्यांई मंत्रका उच्चारण करे ओर उपवास कर्के शयनको करे ॥ २ ॥ तिसते उपरंत प्रातःकालविषे उठकर स्नान करे ओर जैसे विधि है तैसे आचमन करे ओर पूर्वको न्यांई नित्यकर्माकों समाप्तकरे ॥ ३ ॥ ओर चौथे पहरविषें देवताकी पूजाकरे तिसतें उपरंत सो पूर्वकीन्यांई इंद्रियांकों रोकके शयनकरे ४ ऐसें दिनदिन विषें करणें योग्यहै ओर जितना कालव्रतविषें स्थितहै ओर पक्षके अंत विषें पूर्णमासीके दिन पूर्वकी न्यांई नित्यकर्माकों कर्के समाहित क्या निश्चल मत होयाहोया दशग्रा

तत्प्रकारमाह गौतमः । शुक्लप्रतिपदिस्नात्वापूर्ववच्छुद्धतोयतः पूर्ववन्निय मंकृत्वाचतुर्थेकालआगते ॥ १ विष्णुपूजापरोभूत्वापूर्वंसंकल्पमाचरेत् पूर्ववन्मंत्रमुच्चार्य्यनिराहारःस्वपेत्तदा ॥ २ ॥ ततःप्रभातउत्थायस्नात्वाच म्यययथाविधि पूर्ववन्नित्यकर्म्माणिसमाप्यविधिपूर्वकम् ॥ ३ ॥ चतुर्थ कालआयातेपूर्ववद्देवमर्चयेत् ततोप्येषयथापूर्वंपूर्ववन्नियतःस्वपेत् ॥ ४ एवंप्रतिदिनंकार्य्ययावत्तत्रप्रवर्त्तते तत्रापिपूर्ववत्कृत्वानित्यकर्म्माणिसर्वशः ५ तत्रैवभक्षयेत्पश्चाद्दशग्रासान्समाहितः तत्रापिहरिसांनिध्येस्वपेद्ग न्धादिवर्जितः ६ उपोषणंप्रकर्त्तव्यममायावत्प्रवर्त्तते तत्रापिभक्षयेत् पिंडान् पूर्ववत्पूर्वसंख्यया ७ शुद्धप्रतिपदिस्नात्वागौर्देयाव्रतपूर्त्तये ॥ शुद्धप्रतिपदिशुक्लप्रतिपदि ॥

स भक्षणकरे तिस दिनविषेंभी विष्णुके समीप शयनकरे पुष्पादि सुगंधिकों त्यागकर्के ५ ओर अमावास्या तक उपवासव्रतकरे तिसअमावास्याके दिन पूर्वकीन्यांई संख्याकर्के दशग्रासभक्षण करे ६ ओर व्रतके अंतविषें शुक्लपक्षकी प्रतिपदा विषें स्नान कर्के गोदानकरे पूर्ण फलकी प्राप्ति वास्ते ७ एहमत शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाते लेके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा तक कहाहै इसमे एह अभिप्रायहै कि पहली अमावास्याके दिन दशग्रास खाकर्के शुक्ल प्रतिपदाके दिन व्रतका आरंभकरे

पीछे पंचगव्यका पान करे तां महा चांद्रायण व्रत होताहै ॥८॥ एह व्रत संपूर्ण लोकां कर्के अशक्य क्या नहि होसकता क्योंकि अन्नके त्याग विषे बहुत क्लेशहै ॥ सो कहतेहां कृतइति सत्ययुग विषे प्राण चर्म विषे स्थितथे और त्रेतायुगविषे अस्थियां विषे स्थित और द्वापर विषे रक्त विषे स्थित रहे और कलियुग विषे अन्नविषे स्थित हैं ॥ ९ ॥ चांद्रायण व्रतकी महिमा मैंनेहै अनघ क्या निष्पाप कहीहै जिसके करणे कर्के महापातकतें और उपपातकांतें रहित होताहै १० ॥ इसते अनंतर पंचप्रकारके चांद्रायणांके वदलेनूं देवल ऋषि कहताहै अथेति इसतें अनंतर हेराजेंद्र चांद्रायण व्रतका जो प्रत्याम्नाय महापापांके नाश करणे वाला और विष्णुलोक केदेणे

पंचगव्यंपिबेत्पश्चान्महाचान्द्रायणंभवेत् ॥८॥ अशक्यंसर्वलोकानामन्नत्यागोमहत्तरः ॥ कृतेचर्माश्रिताःप्राणास्त्रेतायामस्थिसंश्रयाः द्वापरेरक्तमाश्रित्यकलावन्नगताः सदा॥९॥महाचान्द्रस्यमहिमा कथितोऽयंमयाऽनघ यत्कृत्वामुच्यतेपापैर्महाद्भिरुपपातकैः १० ॥ अथ पंचविधानां चान्द्रायणानांप्रत्याम्नायमाहदेवलः ॥ अथवक्ष्यामिराजेन्द्रमहापातकनाशनम् ॥ प्रत्याम्नायंहिचान्द्रस्यविष्णुलोकप्रदायकम् ॥ १ ॥ अशक्तत्वा दुर्बलत्वादायुर्नाशस्यहेतुतः भक्तिश्रद्धाविहीनत्वादालस्यान्नास्तिकादपि ॥ २ ॥ चान्द्रायणेप्यशक्तश्चेत्प्रत्याम्नायंकुरुष्वतत् शुक्लप्रतिपदिस्नात्वा नित्यकर्मसमाप्यच ॥ ३ ॥

वाला है ॥१॥ असामर्थ्यते और बलते रहित होणेतें और जेकर हठकर्के करे तो आयु नाश होंताहै इसहेतुतें और भक्तिश्रद्धाते रहित होणे तें और आलसते और नास्तिकतातें नास्तिक शब्द इसजगा अधर्ममंपर समझणा इसते और शक्ति कर्के मनकाउत्साह १ बल कर्के देहपुष्टि २ इनके ना होनेते आलस कर्के इन्द्रिय शैथिल्य ॥ २ ॥ चांद्रायण व्रतके करण विषे असमर्थ होवे तां तिसकेवदलेको करेसोकहतेहां ॥ शुक्लपक्षकी प्रतिपदा विषे स्नान कों कर्के और नित्यकर्मको समाप्त करे ॥ ३ ॥

सनिमि पूर्वकीन्याई संकलपकोंकर्के कहे मैं उत्तम व्रतको करांहि श्रैसेविधिपूर्वकपूर्वकी न्याई सै कृष्णकोमनकर्के करे ॥४॥ स्वर्णांके शृंगो कर्के युक्त गौयां पंजाह ५० सहितवछ्यांके दुग्धके दे ते वाळीयां ब्राह्मणांकेताइं देणे योग्यहैं श्रैसे शास्त्रकी विधि कर्के चांद्रायण व्रतका यत्नलाव स्वायाहै ॥ ५ ॥ अब गौतमजीका वाक्यहै यामिति एह ब्राह्मण चांद्रायणव्रतके प्रत्याम्नायनूं करेगंध पुष्पादि कर्के पूजीयांहोइयां श्रौर सुवर्ण भूषणां कर्के भूषितकीतियांहोइयां ॥ १ ॥ गौयांपरम कर्के पंजा ५० ब्राह्मणांके ताइं देणे योग्यहैं इस प्रत्याम्नायकर्के हरि साक्षात् प्रसन्न होताहै इस

संकल्पंपूर्ववत्कृत्वा करिष्येव्रतमुत्तमम् इतिसंकल्प्यमनसापूर्ववाद्विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥ गावोदेयाःप्रयत्नेन पंचाशत्स्वर्णभूषिताः सवत्सावहुक्षीरिण्योविप्रेभ्योजलपूर्वकम् ॥ ५ ॥ अनेनकृतवांश्चान्द्रं शास्त्रमार्गेणदर्शितम् ॥ गौतमः । चान्द्रायणस्यविप्रोसौप्रत्याम्नायंसमाचरेत् अर्चितागन्धपुष्पाद्यैर्भूषिताः स्वर्णभूषणैः १ पंचाशद्गाः प्रयत्नेन विप्रेभ्यश्च पृथक् पृथक् प्रत्याम्नायैर्हरिः साक्षात्सतुष्टोभून्नसंशयः ॥ २ ॥ अशक्तश्चान्द्रविषयेप्रत्याम्नायंतदाचरेत् एतेनशुद्धिमाप्नोतिचान्द्रायणफलंलभेत् ॥ ३ पिपीलिकायवमध्यचान्द्रायणविषयेऽतिधानिनः ॥ चतुर्विंशतिमते ॥ अष्टौ चान्द्रायणेदेयाः प्रत्याम्नायविधौसदेति ॥ धेनवइतिशेषः ॥ अल्पधनविषयकमिदम् ॥ निर्धनविषयेतूक्तंप्राक् ॥

विषे संशय नहि । २ । जेकर चांद्रायणव्रतकरणे विषे असमर्थ होवे तां प्रत्याम्नाय कों करेश्रैसे करणेकर्के शुद्धिको प्राप्तहोताहै श्रौर चांद्रायणके फलको प्राप्त होताहै ३ । श्रौर पिपीलिकामध्य श्रौर यवमध्य चांद्रायणके विषे अति धनवाले को हए प्रत्याम्नाय कहाहै ॥ अब चतुर्विंशति मत विषे कहतेहां चांद्रायण के प्रत्याम्नाय विषेश्रठ ८ प्रसूत होइयां होयां गौयां देणेयोग्यहैं परंतु एहप्रत्याम्नाय जिसके पास धन थोडाहै तिसके योग्यहै श्रौर जिसके पास कुछभी धननहि तिसके अर्थ प्रत्याम्नाय पछि प्राजापत्य व्रत न्यायरूप कियाहै सो १ जानणा ॥

यतिचांद्रायण व्रत विषे वृहद्विष्णुका वाक्यहै चामिति जो पुरुष यतिचांद्रायणव्रतको अशक्ति आदि हेतुतेंनहि करे सो तिसका वदला चार प्राजापत्यकृच्छ्रकरे १ ऋषि चांद्रायण विषयविषे भी वृहद्विष्णु काहि वाक्यहै चामिति चांद्रायण और पराककर्के प्रायश्चित्तके करणविषे असमर्थ होवे तो अपणी शुद्धि वास्ते पंच प्राजापत्य व्रत करे १ अव शिशु चांद्रायण के अर्थमदनरत्नग्रंथविषे संगृहीत स्मृतिविषे कहाहै प्रेति प्राजापत्य विषे एक गोदान करे और अतिकृच्छ्र विषे दोगौयां दान करे और चांद्रायण और पराक विषे त्रय गौयांदानकरे १ ॥ इसतें अनंतर व्रतके अंग भूतयम और नियम

यतिचान्द्रयणविषये वृहद्विष्णुः ॥ चान्द्रायणमकुर्व्वाणाःकुर्युःकृच्छ्रचतुष्टय मिति। ऋषिचान्द्रायणविषयेसएवाह चान्द्रायणपराकाभ्यांनिष्कृतियोनश क्नुयात् सकरोत्यात्मशुद्ध्यर्थंप्राजापत्यस्यपंचकमिति १ शिशुचान्द्रायणविष येमदनरत्नेस्मृतौ ॥प्राजापत्येतुगामेकामतिकृच्छ्रेद्वयंस्मृतम् चान्द्रायणेप राकेचतिस्रोगादक्षिणास्तथेति १ ॥ अथव्रतांगभूतव्रतायमानियमाश्चयाज्ञ वल्क्ये । ब्रह्मचर्य्यंदयाक्षान्तिर्दानंसत्यमकल्कता अहिंसास्तेयमाधुर्य्येदम श्चतियमाःस्मृताः ॥ १ ॥ स्नानंमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः विधिवद्गुरुशुश्रूषाशौचक्रोधाप्रमादता ॥ २ ॥ इतिदशनियमाः ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्यविषे कहेहैं प्रेति ब्रह्मचर्य और दया और क्षांति क्या सहिष्णुता और अभयदान और वाणीकर्के सत्यकहना और क्रोधका त्यागणा और हिंसातें रहितहोणा और चौरीकात्याग और माधुर्य्य क्या सौम्यवाक्य और विषयातें इंद्रियांकों रोकणा एह १० यमकहेहैं १ अवनियमक तेहां स्नानमिति स्नान और मौनता क्या वृथावाक्यसेंनिवृत्ति और मानकर्के अन्नकों भक्षणकरणा और यज्ञ और वेद पाठ करणा और जितेंद्रियहोणा और गुरांकी सेवा और शौचता और क्रोधका त्याग और प्रमादतें रहित होणा क्या सत्कर्म्म विषे नाहि भुलणा एह दश १० नियम कहेहैं २

इसमें ब्रह्मचर्य्यहे संपूर्ण इंद्रियांकारोकणा उपस्थनिग्रह क्या लिंगमात्रका रोकणा इतनाभेदहैं अब इसीमें मनुजीका वाक्यहे आहिंसेति किसेजीवकी हिंसा न करे और सत्यकहे और क्रोधकों त्यागे और कुटिलताकों त्यागे त्रय वार दिनविषे और त्रय वार रात्रिविषे सहित वस्त्रांके स्नान करे १ ॥ ओति स्त्री और शूद्र और पतित इनांकि साथसंभाषण कदीभी न करे और स्थान आसनकों ना त्यागें असमर्थ होवे तां और जेकर समर्थ होवे तां भिक्षाटनादिके लियें दूरभी जावे और पृथ्वी विषे शयन करे ॥ २ ॥ व्रती पुरुष ब्रह्मचर्यकों धारके गुरु और देवता और ब्राह्मणांका पूजन करे और गायत्रीका नित्य जप करे और पवित्र ऋचा जो सहस्रशीर्षादि आशुशिशानइत्या

अत्र ब्रह्मचर्य्यंसर्वेन्द्रियनिग्रहः उपस्थनिग्रहोलिंगमात्रनिरोधइतिभेदः ॥
मनुः ॥ अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवंचसमाचरेत् त्रिरह्निस्त्रिर्निशायांचस
वासाजलमाविसेत् १ स्त्रीशूद्रपतितांश्चैवनाभिभाषेतकर्हिचित् स्थानास
नाभ्यांविहरेदशक्तोधःशयीतवा २ ब्रह्मचारीव्रतीचस्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः
सावित्रींचजपेन्नित्यंपवित्राणिचशक्तितः ३ सर्वेष्वेवव्रतेष्वेवंप्रायश्चित्तार्थ
माहृतइति ॥ इतिश्रीमन्महाराजाधिराजजम्बूकश्मीराद्यनेकदेशाधीशप्र
भुवररणवीरसिंहाज्ञप्तश्रीसारस्वतपण्डितोपनामदेवीदत्तसुतपण्डितगंगा
राम संगृहीते धर्म्मशास्त्रमहानिबन्धे प्रायश्चित्तभागे व्रतप्रकरणंपंचमम्
॥ ५ ॥ ●●●●●●●●●●

दि तिनांकों पढे जैसे सामर्थ्यांहे ॥ ३ ॥ संपूर्ण व्रतां विषे ऐसे प्रायश्चित्तके वास्ते आदर कर्के कहाहे ❋ इसप्रकार श्रीकर्केयुक जो महाराजयांके अधिराज और जंम्बू काश्मीर आदि अनेक देशके स्वामी प्रभुवर रणवीरसिंह जीतिनाकर्के आज्ञप्त पंडित गंगाराम कर्के संगृहीत जो धर्मशास्त्रका महानिबंध तिसके प्रायश्चित्त भागविषे व्रत प्रकरण पंचम समाप्तहोया ॥ ५ ॥ एह व्रतप्रकरण सभ तहांके प्रायश्चित्तके उपयोगी व्रतांकर्के संपूर्णहै और इसमे अपने अपणे विषयमैं जोजो पाप दूरहोण वालेहै सोलिखेहैं और प्रकरणांतरमै भी इसका उपयोगहे ॥ व्रत विधान मनु आदका जानो धर्म्मनिधान सर्वपाप नसजातहै नो इसपढे सुजान ॥ १ ॥

स्वतइति इसकाअर्थ पीछेसें जानलेणा अथेति विशेष प्रायश्चित्त कथनतें उपरंत अब ऐवें प्रकरणमें संपूर्ण पापोंका सांझा प्रायश्चित्त कथन करते हैं तिसके विषें पहलें मनुका वाक्य है यतात्मनइति रोक लिआ है चित्त जिसने और सावधान है तिसकों बारां १२ दिनका उपवास करणा लिखा है एहि पराक नाम करके कृच्छ्र संपूर्ण पापां के नाश करणे वाला है ॥ १ ॥ विगतेति इसमें पूर्व श्लोककाहि अर्थ है सकृदिति इसका एह तात्पर्य है कि जेकर वहुत पाप होवे तां एह पराक कृच्छ्र एक वार संपूर्ण करणा जेकर पाप थोडा होवे तां एक पाद न्यून नौं९दिन करणा जेकर इसतें भी पाप न्यून होवे तां अर्द्धक्याछे६दिनकरणा जेकर इसतेंभी पाप न्यून होवे तां एक पाद तीन३दिन करणा १ ॥ अब वेद पाठ पंच यज्ञ इनांका फल कथन करते हैं वेदाभ्यास इति दिन दिन प्रति वेद पाठ करणा १ शक्तिकरके पाठ होम अभ्यागतका पूजन तर्पण वैश्वदेव वलि एह पंच महा

ॐनमः स्वतोमित्वातत्त्वमित्यादि अथसर्वपापसाधारणप्रायश्चित्तम् तत्र मनुः यतात्मनोऽप्रमत्तस्यद्वादशाहमभोजनम् पराकोनामकृच्छ्रोयंसर्व पापापनोदनः ॥ १ ॥ विगतानवधानस्यसंयतेंद्रियस्य द्वादशाहमभोजन मेव पराकाख्यःकृच्छ्रः सकृदावृत्तितारतम्येनगुरुलघुसमफलपापनाशकः ॥ तथा वेदाभ्यासोऽन्वहंशक्त्यामहायज्ञक्रियाक्षमा नाशयन्त्याशुपापा निमहापातकजान्यपि ॥ १ ॥ क्षमाअपराधसहिष्णुता साचाकस्मिकसदृ वृत्तापराधे नतु चौराद्युपद्रवीये यथैधांस्तेजसावन्हिःप्राप्तान्निर्दहतिक्षणात् तथाज्ञानकृतंपापंविप्रोदहतिवेदवित् ॥ १ ॥ अत्र वन्हिदृष्टान्तेन ज्ञानकृ तमज्ञानकृतं च पापंवेदविद्विप्रोदहतीत्यर्थः

यज्ञ २ कीते होए अर क्षमा ३ एभी ब्रह्महत्यादि महापापका नाश करदेते हैं ॥ १ ॥ अब क्षमा पदका अर्थ करतेहैं क्षमेति परकरकें कीते होए अपराधका सहारणा इसका नाम क्षमाहै अर सो क्षमा एक वार स्वाभाविक महात्मा करके होआ जो अपराधहै तिसके विषे युक्तहै अर चौरादिकां करके कीताहोआ जो अपराधहै तिस विषयमे क्षमा युक्त नहि अब वेद पाठका विशेष फल कथन करतेहैं यथेति जिस प्रकार प्राप्त होआं काष्टांनूं तेज करकें क्षणमात्रतें अग्नि दग्ध कर देताहै तिस प्रकार वेदके जानने वाला ब्राह्मण अज्ञान क रके कीते होए पापकों दग्ध करदेताहै ॥ १ ॥ इसमे वन्हि दृष्टांत करके अग्नि क्या लेणा जिस प्रकार अग्नि स्वाभाविक लग पवे तां भी दग्ध कर देताहै अर जेकर कोई लादेवे तांभी दग्ध कर देताहै तिस प्रकार ज्ञान करके और अज्ञान करकें कीते होए पापकों वेदके जानने वाला ब्राह्मण दग्ध कर देता है ॥१

अब प्राणायाम करके पापकी शुद्धि कथन करतेहैं सव्याहृतीति ओंभूः ओंभुवः ओंस्वः ओंमहः ओंजनः ओंतपः ओंसत्यं तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेव स्यधीमहिधियोयोनः प्रचोदयात् ओंआपोज्योतीरसोमृतंब्रह्मभूर्भुवःस्वरों इह जो सप्त व्याहृतिआं अर गायत्री अर ओंकार इनां के सहित जो सोलां १६ प्राणायाम हैं सो दिन दिन प्रति मास पर्यंत कीते होए गर्भके हत करण वालेनूं भी पवित्र करदेतेहैं ।२। इस श्लोकमें व्याहृति अर प्रणव तिनों दोनों करके गायत्री अर शिरस् एभि जानलैने क्योंकि गायत्री शिरसा सार्द्ध इत्यादि जो आगे संवर्त्तका वाक्यहै तिसमें अन्वहं एह जो पूर्व पद कथन कीता है तिस करके भी मास पर्यंत लैणा ॥ अब संवर्त्त ऋषिका वाक्य कथन करतेहैं अनादिष्टेष्विति अज्ञान करके कीते होए जो पाप हैं तिनके विषे प्रायश्चित्त कथन करते हैं दानों कर

सव्याहृतिप्रणवकाःप्राणायामास्तुषोडश अपिभ्रूणहनंमासात्पुनंत्यहरहःकृताः ॥ २ ॥ अत्रव्याहृतिप्रणवौगायत्रीशिरसोरुपलक्षकौ गायत्रींशिरसासार्द्धमित्यादिवक्ष्यमाणसंवर्त्तवाक्यात् अन्वहमित्यत्रापिकालाकांक्षायांमासादित्यन्वेति ॥ संवर्त्तः ॥अनादिष्टेषुपापेषुप्रायश्चित्तमथोच्यते दानैर्होमैर्जपैर्नित्यंप्राणायामैर्द्विजोत्तमः पातकेभ्यःप्रमुच्येतवेदाभ्यासान्नसंशयः ॥ १ ॥ सुवर्णदानंगोदानंभूमिदानंतथैवच नाशयंत्याशुपापानिह्यन्यजन्मकृतान्यपि।२।तिलधेनुंचयोदद्यात्संयतायद्विजन्मने ब्रह्महत्यादिभिःपापैर्मुच्यतेनात्रसंशयः ॥ ३ ॥ संयतायजितात्मने द्विजन्मनेविप्राय

के १ अर होमों करके २ अर जपों करके ३ अर नित्य प्राणायाम करणे करके ४ अर वेद पाठ करणे करके ५ श्रेष्ठ ब्राह्मण पापांतें रहित होजाताहै इसमें संदेह नहिंहै ॥ १ ॥ अब सुवर्णादि दान करके पाप की शुद्धि कथन करतेहैं सुवर्णेति स्वर्णदान १ अर गोदान २ अर पृथ्वी दान ३ एह पूर्व जन्म के विषे कीते होए जो पापहैं तिनांका भी नाश करदेतेहैं ॥ २ ॥ अब तिल दान करके पापांकी शुद्धि कथन करतेहैं तिलधेनुमिति तिलांकी गौकों रचकर जो जितेंद्रिय ब्राह्मणके तांई देताहै सो ब्रह्महत्यादि पापांतें रहित हो जाता है इसमें संदेह नहिंहैं ३ ॥ तिल धेनु का प्रकार लिखतेहैं पद्मपुराणमें क्या सोलां १६ आढककी धेनु बनानी अर चार ४ आढक का वछा अर इक्षुओंके पाद अर पुष्पोंके दांत अर नासां चंदनकीआं अर जिन्हा गुडकी अर आसन काले हरिणके चर्मका अर वस्त्र रत्न एनां करकेयुक्त इसप्रकारकी धेनु बनावे

अब पौर्णमासी के विषे तिलदानका विशेष फल कथन करतेहैं ॥ मासइति मास मासके विषे पौर्णमासीके दिन उपवास कों रखकर ब्राह्मणके तांई तिलांकों देकरके पापांते रहित होजाताहै ॥ ४ ॥ अब कार्त्तिक मासकी पौर्णमासीका अधिक फल कथन करते हैं ॥ उपवासीति उपवासकों रखकर कार्त्तिक मासकी पौर्णमासीके दिन स्वर्ण १ अर वस्त्र २ अर अन्न ३ इनांके दान करके संपूर्ण पापांते रहितहोताहै ॥ ५ ॥ अब दानके विषे श्रेष्ठ तिथिआंकों कथन करते हैं ॥ अमावास्येति अमावास्या १ अर द्वादशी २ अर विशेष करके सूर्य संक्रांति ३ एह तिथीआं श्रेष्ठ कथन कीतिआं हैं अर तिस प्रकार आदित्यवार भी

मासेमासेचसंप्राप्तेपौर्णमास्यामुपोषितः ॥ ब्राह्मणेभ्यस्तिलान्दत्त्वासर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ४ ॥ उपवासीनरोभूत्वापौर्णमास्यांचकार्तिके हिरण्यंवस्त्रमन्नंवादत्त्वामुच्येतदुष्कृतैः ॥ ५ ॥ अमावास्याद्वादशीचसंक्रान्तिश्चविशेषतः एताःप्रशस्तास्तिथयोभानुवारस्तथैवच ॥ ६ ॥ तत्रस्नानंजपोहोमोब्राह्मणानांचभोजनं उपवासस्तथादानमेकैकंपावयेन्नरम् ॥ ७ ॥ स्नातःशुचिर्धौतवासाःशुद्धात्माविजितेन्द्रियः सात्त्विकंभावमाश्रित्यदानंदद्याद्विचक्षणः ॥ ८ ॥ सप्तव्याहृतिभिर्होमोद्विजैःकार्योहितात्मभिः उपपातकशुद्ध्यर्थंसहस्रपरिसंख्यया ॥ ९ ॥

श्रेष्ठहै ॥ ६ ॥ इनांके विषे स्नान १ अर जप २ अर होम ३ अर ब्राह्मणांको भोजन खुआणा ४ अर उपवास ५ अर दान ६ इनांके विचों एकभी कीताहोआ मनुष्यकों पवित्र करदेताहै ७ अब दानका प्रकार कथन करते हैं ॥ स्नातइति कीताहै स्नान जिसने अर पवित्र है अर धोतेहैं वस्त्र जिसने अर शुद्ध है अंतः करण जिसका अर जीतेहैं इंद्रिय जिसने सो बुद्धिमान् सतो गुणकेआश्रय होकर दानको देवे ॥ ८ ॥ अबहोमका फल कहतेहैं सप्तेति हितकी इच्छा वाले जो ब्राह्मण और वैश्य तिनोंने पापकी शुद्धिके वास्ते ओंभूः ओंभुवःइत्यादि सप्त व्याहृतिआं करके हजार १००० संख्या करके होम करणा चाहिए अर्थात् हजार आहुति करणी चाहिए ॥ ९ ॥

अब ब्राह्मणांको भोजन खुलाणेका फल कथन करतेहैं ॥ महापातकइति ब्रह्महत्यादि पाप करके संयुक्त भी ब्राह्मण क्षत्रि वा वैश्य होवे जीवन पर्यंत मास मासके विषे अथवा वर्ष वर्षके विषे लक्ष १००००० ब्राह्मणां को भोजन खुलाकर ब्रह्महत्यादि जो संपूर्ण पाप हैं तिनांते रहित होजाताहै अर तिसप्रकार गायत्रीके जपकरणे वाला भी ब्रह्महत्यादि संपूर्ण पापांते रहित होजाताहै ॥ १० ॥ अब गायत्रीके जपका विशेष फलकहतेहैं अभ्यसेदिति वनको जाकर नदीके कनारे उपर संपूर्ण पापांकी शुद्धिके वास्ते अतिशय करके पवित्र और वेदांके उत्पन्न करणेवाली जो गायत्रीहै तिसनूं जपे ॥ ११ ॥ अब गायत्रीके जपका प्रकार कथन करतेहैं ॥ स्नात्वेति ब्राह्मण क्षत्रि वा वैश्य नदीके विषें विधिसें स्नानको करके प्राणात्माको पवित्रकरे अर्थात् तीन ३ प्राणायाम करे फेर तीन ३ प्राणायाम करके शुद्ध

महापातकसंयुक्तोलक्षभोजंसदाद्विजः मुच्यतेसर्वपापेभ्योगायत्र्याश्चैव जापवान् ॥ १० ॥ अभ्यसेन्नमहापुण्यांगायत्रींवेदमातरं ॥ गत्वारण्यंन दीतीरेसर्वपापविशुद्धये ॥ ११ ॥ स्नात्वाचविधिवत्तत्रप्राणात्मानमपावयत् प्राणायामैस्त्रिभिःपूतोगायत्रींतुजपेद्द्विजः १२ अक्लिन्नवासाःस्थलगःशुचौ देशेसमाहितः पवित्रपाणिराचांतोगायत्र्याजपमारभेत् १३ ऐहिकामुष्मि कंपापंपापंसर्वंविशेषतःपंचरात्रेणगायत्रींजपमानोव्यपोहति ऐहिकामु ष्मिकं ऐहिकफलकमामुष्मिकफलक मित्यर्थः ॥ १४ ॥ गायत्र्यास्तुपरंना स्तिशोधनंपापकर्मणाम् महाव्याहृतिसंयुक्तांप्राणायामेनसंयुताम् ॥ १५ ॥

होआ होआ गायत्रीको जपे ॥ १२ ॥ अक्लिन्नवासा इति सुके हैं वस्त्र जिसके अर्थात् और शुद्ध वस्त्रांको लयकर नदीदे कनारेको प्राप्तहोआ होआ शुद्ध देशविषे स्थित होकर रोकलयेहैं इंद्रियजिसने अर पवित्रहस्तवाला और कीताहै आचमन जिसने ऐसाहोकर गायत्रीके जपका आरंभ करे ॥ १३ ॥ ऐहिकेति इसलोक विषे फल देणवाले जो पापहैं अरपरलोक विषे फल देणवाले जोसंपूर्ण पापहैं तिनांकोंभी गायत्रीके जपकरण वाला पंच ५ रात्रि करके नष्टकर देताहै १४ ॥ अब गायत्रीकी संपूर्णतें श्रेष्ठताकथनकरतेहैं गायत्र्याइति गायत्रीतें परे औरकोई दूसरा पापकर्मके नाशकरणे वाला नहि अर्थात् गायत्रीहि संपूर्ण पापांके नाशकरणे वाली है। और ओंभूः ओंभुवः इत्यादि सप्त महाव्याहृतिआं करके युक्त और प्राणायाम करके जो संयुक्तहै ऐसी गायत्रीको जपने वाला पुरुष संपूर्ण पापांतें रहित होजाता है ॥ १५ ॥

अब और प्रकार कथन करतेहैं ब्रह्मचारीति ॥ ब्रह्म आचार वाला जोहै अर्थात् अष्ट प्रकार के मैथुनतें रहितहै अर थोडे भोजन के खाने वाला अर संपूर्ण जीवोंके हितकी इच्छाकरता है ऐसा पुरुष गायत्री के लक्ष १०००० जप कर्के संपूर्ण पापांतें रहित हो जाताहै ॥ १ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं ॥ अयाज्येति पतितादिकों यज्ञ करवा कर और चंडालादिके अन्न नूं खाकर गायत्रीके अष्ट हजार ८००० जप कर्के संपूर्ण पापांतें रहित होजाताहै २ अब और प्रकार कथन करतेहैं अहनीति दिन दिन प्रति निश्चय कर्के ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इनांके मध्यमें श्रेष्ट जो गायत्रीनूं पड़ताहै अर्थात् जो जप करता है सो पुरुष एक मास करके संपूर्ण पापतें रहित हो जाताहै इसमें दृष्टांत है क्या कि जिस प्रकार सर्प कुंजतें रहित होजाताहै इस दृष्टांत करके क्या लेना कि जिस प्रकार सर्प सुखसें कुंजकों

ब्रह्मचारीमिताहारःसर्वभूतहितेरतः गायत्र्यालक्षजप्येनसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥१॥ अयाज्ययाजनंकृत्वाभुक्त्वाचान्नंविगर्हितं गायत्र्यष्टसहस्रंतुजाप्यंकृत्वाविमुच्यते ॥ २ ॥ अहन्यहनियोऽधीतेगायत्रींवैद्विजोत्तमः मासेनमुच्यतेपापादुरगः कंचुकाद्यथा ३ ॥ गायत्रींयःसदाविप्रोजपतेनियतःशुचिः सयातिपरमंस्थानंवायुभूतःखमूर्त्तिमान् ४ ॥ प्रणवेनतुसंयुक्ताव्याहृतीस्सप्तानित्यशः गायत्रींशिरसासार्द्धमनसात्रिःपठेद्द्विजः निगृह्यचात्मनःप्राणान्प्राणायामोविधीयते ॥ ५ ॥

उतार देताहै तिस प्रकार गायत्री के जप करके सुखसें हि पापतें रहित होजाताहै ॥ ३॥ अब गायत्री के जप कर्के मोक्ष कथन करतेहैं गायत्रीमिति नियम वाला अर शुद्ध जो ब्राह्मण सदा काल गायत्री नूं जपताहै सो वायुस्वरूप होकर आकाशके स्वरूप वाला अर्थात् सर्वव्यापी होआ होआ वैकुंठको प्राप्त होवाहै ॥ ४ ॥ अब प्राणायामका स्वरूप कथन करते हैं प्रणवेनेति अपणेआं प्राणांनूं रोक कर ओंकारके सहित सप्त व्याहृतिआं नूं और शिरके साथ गायत्री नू मन कर्के तीन ३ वार पडे अर्थात् ओंभूः ओंभुवः ओंस्वः ओंमहः ओंजनः ओं तपः ओंसत्यं तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्यधीमहिधियोयोनःप्रचोदयात् ओंआपोज्योतीरसोमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरों इह तीन३ वार मनविषे पडे इसका नाम प्राणायामहै ॥ ५ ॥

अब उसीका प्रकार कथन करतेहैं प्राणायामेति दिन दिन प्रति समाधि लगा कर पुरुष पूरक कुंभक रेचक करके तीन ३ वार प्राणायाम करे ॥ अब प्राणायामका फल कथन करते हैं मानसमिति तीन ३ वार प्राणायामके करणे करके मन करके कीता जो पाप और वाणी करके कीता जो पाप और देहकरके कीता जो पाप एह संपूर्ण पाप नष्ट होजातेहैं ॥ ६ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं ऋग्वेदमिति जो ऋग्वेद नूं और यजुर्वेदकी शाखाकों पडताहै अर सहित रहस्यके सामवेदकों जो पडताहै सो पुरुष संपूर्ण पापांते रहित होजाता है ॥ ७ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं पावमानीमिति पावमानी ऋचानूं अर कौत्ससंज्ञिक मंत्रां कों जप कर और सहस्रशीर्षापुरुष इत्यादि २२ मंत्रां कों जप कर संपूर्ण पापांतें रहित होजाताहै अर पितृभ्यः स्वधा इत्यादि ५० मंत्रां नूं जप कर संपूर्ण पापांतें रहि

प्राणायामत्रयंकुर्यान्नित्यमेवसमाहितः मानसंवाचिकंपापंकायेनैवतुयत्कृतं
तत्सर्वंनश्यतेतूर्णंप्राणायामत्रयेकृते॥६॥ऋग्वेदमभ्यसेद्यस्तुयजुःशाखाम
थापिवा सामानिसरहस्यानिसर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७॥ पावमानींतथाकौ
त्संसपौरुषंसूक्तमेवच जप्त्वापापैःप्रमुच्येतपित्र्यंचमधुछांदसम् ॥८॥ मंडलं
ब्राह्मणंरुद्रंसूतोक्ताश्चबृहत्कथाः वामदेव्यंबृहत्सामजप्त्वापापैःप्रमुच्यते
॥ ९ ॥ चांद्रायणंतुसर्वेषांपापानांपावनंपरं कृत्वाशुद्धिमवाप्नोतिपर
मंस्थानमेवचेति ॥ १० ॥

त होताहै अर मधुवाताऋतायतेमधुक्षरंतिसिंधवःमाध्वीर्नःसंत्वोषधीःमधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवंरजःमधुद्यौरस्तुनःपितामधुमान्नोवनस्पतिर्मधुमानस्तुसूर्य्योमाध्वीर्गावोभवंतुनः मधुमधुमधु इति इस मंत्रनूं भी जप कर संपूर्ण पापां तें रहित होताहै ॥ ८ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं मंडलमिति यदेतन्मण्डलंतपति इत्यादि जो ब्राह्मण मंडलके २२ मंत्र हैं अर ॐनमस्ते रुद्रमन्यवेइत्यादि जो रुद्रसूक्तके ६६ मंत्रहैं अर सूतप्रोक्तकथा अर ब्राह्मण जो है और वामदेव्य संज्ञिक जो मंत्र १ है और बृहत्साम संज्ञिक जो मंत्र हैं इनां मंत्रांके जपकरणे करके भी संपूर्ण पापांतें रहित होजाताहै ॥ ९ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं चांद्रायणमिति संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला जो चांद्रायण व्रतहै तिसके करणे वाला जो पुरुष है सो भी पापांते रहित होजाताहै अर स्वर्गादि स्थान को प्राप्त होताहै ॥ १० ॥

अव इसीविषय में माधवीय ग्रंथके विषें कथन कीता जो यम ऋषि का वाक्य सो कथन करतेहैं सहस्त्रेति हजार १०००जप गायत्री का उत्तम कथन कीता है अर सउ १०० जप मध्यमहै अर दश १०वार जप न्यून कथन कीताहै अर्थात् ब्रह्महत्यादि पापां के नाश करणे वाली गायत्री कों हजार १०००अर शत १००अरदश१०वार जो जपताहै सोसंपूर्ण पापांते रहित होताहै१ अब और प्रकार कथन करतेहैं विरुजमिति विरुजसंज्ञिक मंत्रां कों दो २ वार जप कर्के तिस दिनमें हि शुद्ध होताहै और वाम देव्य संज्ञिक पूर्व लिखाजो मंत्रहै इसकों भीदो२ वार जप कर्के तिसदिनमें हि शुद्धहोताहै ॥ २ ॥ अव और प्रकार कथन करतेहैं पौरुषमिति और सहस्त्र शीर्षाकों एक १ वार जपकर संपूर्ण पापांतें रहित होताहै ॥ अव और प्रकार कथनकरतेहैं वृषभमिति वृषभसंज्ञिक मंत्रांनूं सौ १००वार पड कर तिस दिनमेंहि शुद्ध होजाताहै ॥ ३ ॥

माधवीयेयमः सहस्त्रपरमांदेवींशतमध्यांदशावराम् गायत्रींसंजपेन्नित्यं महापातकनाशिनीम् ॥ १ ॥ विरुजंद्विगुणंजप्त्वातदह्नैवविशुध्यति वामदेव्यंद्विरावर्त्यतदह्नैवविशुध्यति ॥ २ ॥ पौरुषंसूक्तमावर्त्यमुच्यते सर्वकिल्विषात् वृषभंशतशोजप्त्वातदह्नैवविशुध्यति ॥ ३ ॥ वेदमेकगुणंकृत्वातदह्नैवविशुध्यति रुद्रैकादशकंजप्त्वातदह्नैवविशुध्यति ४ ॥ आथर्वणाश्चयेकेचिन्मंत्राःकामविवर्जिताः तेसर्वेपापहंतारोयाज्ञवल्क्य वचोयथा ॥ ५ ॥ ब्राह्मणानिचकल्पांश्चषडंगानितथैवच आख्यानानि तथान्यानिजप्त्वापापैःप्रमुच्यते ॥ ६ ॥ इतिहासपुराणानिदेवतास्तवनानिच जप्त्वापापैःप्रमुच्यंतेधर्मख्यानैस्तथापरैरिति ॥ ७ ॥

और वेदनूं एक १ वार जप कर तिस दिनमें हिं शुद्धहोजाताहै ॥ अब और प्रकारकथनकरतेहैं रुद्रैकादशकमिति रुद्रियके यारां ११ अध्यायां नूं जप कर तिस दिनमें हि शुद्धहो जाताहै ४ ॥ अव और प्रकार कथन करते हैं आथर्वणाइति अथर्वणवेदके जेडे मंत्र निष्काम हैं अर्थात् मारण मोहन स्तंभन इत्यादि कामनातें रहित हैं सो संपूर्ण पापांके नाश करण वालेहैं एह याज्ञवल्क्य ऋषिका वचनसत्यहै । ५ । अव और प्रकार कथन करतेहैं ब्राह्मणानीति ब्राह्मण मंत्र औपनिषदः और शिक्षादि जो वेदके अंगहैं और जो ऋषिओं के वाक्य हैं इनां नूं जप कर संपूर्ण पापांते रहित होजाताहै ॥ ६ ॥ अव और प्रकार कथन करते हैं इतिहासेति महा भारतादि जो इतिहास हैं और भागवतादि जो पुराणहैं और जो देवताके स्तोत्रहैं और मनुस्मृत्यादि जो हैं इहनां के पाठ करणें कर्के भी संपूर्ण पापांते रहित होजाताहै ॥ ७ ॥

इसी विषयमें बौधायन जीका वाक्यहै विधिनेति शास्त्र कर्के देखी जो विधि तिस विधि क
र्के दिन दिन प्रति मासपर्यंत प्राणायाम नूं करे लिंग कर्के कीता जो पाप श्रौर चरणों कर्के
श्रौर बाहुं श्रां कर्के श्रौर मन कर्के श्रौर वाणी कर्के श्रौर कर्णों कर्के श्रौर त्वचा कर्के श्रौर
नासां कर्के श्रौर नेत्रों कर्के कीता जो पाप एह संपूर्ण पाप प्राणायाम के करणे कर्के शीघ्रहि
नष्ट हो जातेहैं ॥ १ ॥ चतुर्विंशतिका वाक्यहै मृगारेष्टिरिति मृगारेष्टि श्रौर पवित्रेष्टि श्रौर त्रिर्हा
वि श्रौर पावमानी एह संपूर्ण इष्टिश्रां वैश्वानर इष्टि कर्के युक्त होइयां होइयां पापांके नाश क

बौधायनः ॥ विधिनाशास्त्रदृष्टेनप्राणायामान्समाचरेत् यदुपस्थकृतंपापं
पद्भ्यांबायत्कृतंभवेत् ॥ बाहुभ्यांमनसावाचाश्रोत्रत्वग्घ्राणचक्षुषेति ॥ १ ॥
प्राणायामाःमासपर्यन्तंप्रातिदिनम् ॥ चतुर्विंशतिमते ॥ मृगारेष्टिःपवित्रे
ष्टिस्त्रिर्हविःपावमान्यपि इष्टयःपापनाशिन्योवैश्वानर्यासमन्विताः १ कौ
र्मे ॥ जपस्तपस्तर्थिसेवादेवब्राह्मणपूजनम् ग्रहणादिषुकालेषुमहापात
कशोधनम् ॥ १ ॥ पुण्यक्षेत्राभिगमनंसर्वपापप्रणाशनम् देवताभ्यर्चनंपुं
सामशेषाघविनाशनम् ॥ २ ॥ श्रमावास्यांतिथिंप्राप्यमासमाराधयेद्भवम्
ब्राह्मणान्भोजयित्वातुसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

रणे वालीश्रां हैं ॥१॥ कूर्म पुराणमें भी लिखयाहै जपइति जप श्रौर तप श्रौर तीर्थ सेवन श्रौर
देवताका पूजन श्रौर ब्राह्मणोंका पूजन एह संपूर्ण ग्रहणादि काल विषे कीतेहोए ब्रह्महत्यादि
पापों के नाश करणे वाले हैं १ श्रौर पवित्र स्थान का सेवनभी संपूर्ण पापांका नाश कर देताहै
श्रौर देवताका जो पूजनहै सो पुरुषां के संपूर्ण पापांके नाश करणे वाला है ॥ २ ॥ श्रब श्रौर
प्रकार कथन करतेहैं श्रमेति श्रमावास्या तिथितें लेकर एक मास पर्यंत शिवजी का पूजन करे
पीछे ब्राह्मणा नूं भोजन देकर संपूर्ण पापांते रहित होजाताहै ॥ ३ ॥

अब और प्रकार कथन करतेहैं कृष्णेति कृष्णपक्षकी अष्टमीके विषे तिसप्रकार कृष्णपक्षकी चतुर्दशी के विषे शिवजीकों पूजकर्के और वहुतिऋों ब्राह्मणानूं पूज कर्के संपूर्ण पापातें रहित होताहै ॥ ४ ॥ ब्राह्मणान् इसस्थानमें सुज्ञान् एभी पाठ होताहै ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं त्रयोदश्यामिति तिसप्रकार त्रयोदशीकेदिन रात्रिके पहले पहरके विषे साहित भेटादे शिवजीनूं पूजकर्के संपूर्ण पापांते रहित होताहै ॥ ५ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं एकादश्यामिति शुक्लपक्षकी एकादशीके विषे उपवास व्रत रक्खकर द्वादशीकेदिन विष्णुकों पूज कर्के संपूर्ण पापांतें रहितहोताहै । ६ । अब और प्रकार कथनकरतेहैं उपोषितइति कृष्णपक्षकी

कृष्णाष्टम्यांमहादेवंतथाकृष्णचतुर्दशीं संपूज्यब्राह्मणान्सर्वान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ४ ब्राह्मणान्सुज्ञानितिपाठः सर्वान्वहूनित्यर्थोवा ॥ त्रयोदश्यांतथारात्रौसोपहारंत्रिलोचनं इष्ट्वेशंप्रथमेयामेमुच्यतेसर्वपातकैः ५ एकादश्यांनिराहारः समभ्यर्च्यजनार्दनम् द्वादश्यांशुक्लपक्षस्यसर्वपापैःप्रमुच्यते ६ उपोषितश्चतुर्दश्यांकृष्णपक्षेसमाहितः यमायधर्मराजायमृत्यवेचांतकाय च ७ वैवस्वतायकालायसर्वभूतक्षयायच प्रत्येकंतिलसंयुक्तान्दद्यात्सप्तोदकांजलीन् ८ स्नात्वानद्यांतुपूर्वाह्णेमुच्यतेसर्वपातकैः॥ तत्रैव नान्यत्पश्यामिजंतूनांमुक्त्वावाराणसींपुरीं सर्वपापप्रशमनंप्रायश्चित्तंकलौयुगे ॥ १ ॥

चतुर्दशीके दिन उपवास व्रत रक्षकर दिनके प्रथमपहरमें नदीके विषे स्नान कर्के और इंद्रियां कों रोककर्के यम धर्मराज मृत्यु अंतक वैवस्वत काल सर्वभूतक्षय एहजो धर्मराजके सप्तनामहैं इनांसत्तांकेताईं भिन्न भिन्न तिलांकर्के संयुक्त सप्त जलकीअंजलियांदेवै तद संपूर्ण पापांतें रहित होताहै ८ कूर्मपुराणमेंहि किसे ऋषिका किसेके प्रति वाक्य है नान्यदिति काशीपुरीकों त्याग कर्के कलियुगमें पुरुषोंके संपूर्ण पापांके नाश करणे वाले और प्रायश्चित्तनूं नहि देखताहुं अर्थात् कलियुगमें संपूर्ण पापांके नाशकरणे वाली काशीहै ॥ १ ॥

यमजीका वाक्यहै जप्येदिति इस वामदेवकी वामीय ऋचानूंपडे और पावमानीऋचानूं पड कर्के और कुताढ्य ऋचानूं पड कर्के और वालखिल्यजो ऋचा हैं तिनानूं पड कर्के और निवृत्प्रैषा ऋचानूं पड कर्के और वृषाकपिनूं पड कर्के और होता यक्षत इत्यादि जो ऋचा हैं तिनांनूं पड कर्के और नमस्तेरुद्रमन्यवे इत्यादि जो ऋचा हैं तिनांनूं एकवार जप कर्के संपूर्ण पापांतें रहित होताहै ॥ १ ॥ मनुजीकाभी वाक्यहै एनसामिति वहुत और थोडे जो पाप हैं तिनके नाशकी इच्छावाला अवतेहेलो वरुण नमोभिरित्यादि जो अवेत्यृक् ऋचाहै इसनूं और यत्किंचेदमित्यादि ऋचानूं एक वर्ष जपे और जपके मध्यमे होर कार्य्य न करे

यमः ॥ जप्येद्वाप्यस्यवामीयंपावमानीरथापिवा कुंताढयंवालखिल्यांश्चनि वृत्प्रैषांवृषाकपिम् होतॄन्रुद्रान्सकृज्जप्त्वामुच्यतेसर्वपातकैः १ मनुः। एन सांस्थूलसूक्ष्माणांचिकीर्षन्नपनोदनं अवेत्यृचंजपेदब्दंयत्किंचेदमितीतिच १ अवेत्यृक् अवतेहेलोवरुणनमोभिरित्यादिका। जपस्त्वर्थांतराविरुद्धेकाले॥ प्रायश्चित्तमयूखे हिरण्यदानंगोदानंभूमिदानंतथैवच नाशयंत्याशुपापा निमहापातकजान्यपि १ गौतमः ॥ संवत्सरःषण्मासाश्चत्वारोमासास्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहोद्वादशाहःषडहस्त्र्यहोऽहोरात्रइतिकालाः एतान्यना देशेविकल्पेनक्रियेरन् एतानिपूर्वोक्तकालपरिच्छिन्नानिगायत्र्याद्यनुष्ठाना नि एनसिगुरुणिगुरूणिलघुनिलघूनिकृच्छ्रचांद्रायणादीनि ॥

॥ १ ॥ प्रायश्चित्तमयूखमें भी लिखाहै ॥ हिरण्येति स्वर्णदान और गोदान और तिस प्रकार पृथिवी दान एह ब्रह्महत्यादितें उत्पन्नहोएजो पापहैं तिनानूंभी तात्काल नष्ट करदेतेहैं ॥ १ ॥ गौतमजीकावाक्यहै संवत्सरइति एक वर्ष और छे ६ मास और चार ४ मास और तीन ३ मास दो २ मास और एक १ मास और चौवी २४ दिन और वारां १२ दिन छे ६ दिन और तीन ३ दिन और एक १ दिन एह काल जपके कथन कीतेहैं ॥ जिस स्थानमें जपका काल नहि लिखा तिसस्थानमें पापकों देख कर्के काल कथन करणा ॥ और वहुते पापमें व हुत और थोडे पापमें थोडे करणे कृच्छ्र और चांद्रायणादि प्रायश्चित्त करणे

चतुर्विंशतिका मतहै अथेति इसवे अनंतर संपूर्ण यत्न कर्के संपूर्ण पापांके विषे ब्रह्महत्यादि पापोंके नाशकरणे वाले जप होमादिकों करे आदिशब्दतें चांद्रायणादि व्रत ग्रहण करणे १ ॥ जपेति इस लोककेविषे फलदेने वाला जो पापहै और परलोकविषे फलदेने वाला जो पाप है तिनांका जप और होमां कर्के नाश करे जप और होम कर्के हि मोक्षकों प्राप्त होताहै एहगर्गजीका वचन यथार्थहै ॥ २ ॥ इहां जप होमकर्के हजार १०००गायत्रीकेमंत्रकर्के ग्रहण करणें जितने पर्यंत शरीर भी इच्छारहै इसपूर्वोक्तयमजीकेवचनतें क्षत्रियइति क्षत्री अपनी भुजा दे बळ कर्के आपद तरे। वैश्य और शूद्र धन कर्के तरें और ब्राह्मण जप और होमांकर्के तरें ३ ॥ विष्णुधर्मोत्तरमें भी लिखाहै सायमिति सायं कालके विषे और तिस प्रकार प्रभात

चतुर्विंशतिमते। अथवासर्वयत्नेनसर्वेष्वपिचपाप्मसु जपहोमादिकंकुर्याद्ब्रह्महत्यादिनाशनम् १ जपहोमैर्दहेत्पापमैहिकामुष्मिकंचयत् ताभ्यांपरमवाप्नोतिगर्गस्यवचनंयथा २ जपहोमौचाऽत्रसहस्रावच्छिन्नगायत्रीमंत्रेण यावच्छरीरस्वास्थ्यमितिपूर्वोक्तयमवाक्यात् ताभ्यांजपहोमाभ्यांपरंमोक्षमवाप्नोतीति॥ क्षत्रियोबाहुवीर्येणतरेदापदमात्मनः धनेनवैश्यशूद्रौतुजपहोमैर्द्विजोत्तमः ३ विष्णुधर्मोत्तरे ॥ सायंप्रातस्तथाकृत्वावासुदेवस्यकीर्त्तनम् सर्वपापविनिर्मुक्तःस्वर्गलोकेमहीयते १ प्रभासखंडेश्रीभगवद्वाक्यम् ॥ नाम्नांमुख्यतरंनामकृष्णाख्यंहेपरंतप ॥ प्रायश्चित्तमशेषाणांपापानांमोचकंपरम् १ वाराहे ॥ वासुदेवस्यसंकीर्त्यासुरापोव्याधितोपिवा मुक्तोजायेत नियतंमहाविष्णुःप्रसीदति ॥ १ ॥

कालके विषे विष्णुके कीर्त्तनकर्के संपूर्ण पापांते रहित होकर स्वर्गके विषे पूजीदाहै ॥ १ ॥ प्रभासखंडके विषे भी श्रीभगवान् जी का किसेके प्रति वाक्यहै नाम्नामिति हे परंतप मेरे नामांके मध्यमे मुख्य कृष्ण एह जो नाम है सो संपूर्ण पापांके नाश करणे वालाहै और प्रायश्चित रूप है अर पवित्रहै ॥ १ । वाराह पुराणमेंभी लिखा है वासुदेवेति विष्णुके कीर्त्तन कर्के मदिराके पीने वाला और रोगी भी निश्चय कर्के पापांतें रहित होताहै अर विष्ण्वादि संपूर्ण अवतारांका मूल रूप जो महाविष्णु हैं सो भी तिस पुरुषके उपर प्रसन्न होताहै अर्थात् मोक्षकों देताहै ॥ १ ॥

व्याधित इस पद करके पूर्वजन्म के विषे भी मदिरा आदि पान करण वाला ग्रहण करणा ॥ जो विंदेति भक्ति करके संयुक्त जो पुरुष हैं अथवा भक्ति रहित जो पुरुष हैं तिनां करके हे गोविंदहे से कथन कीता होत्रा संपूर्ण पापांको भस्म करदेताहै जिस प्रकार प्रलय कालके विषे उठित्रा होत्रा अग्निजगतनूं भस्म करदेताहै । २ । विश्वामित्रजीका वाक्यहै कृच्छ्रेति कृच्छ्र और चांद्रायणा आदि जो प्रायश्चित्त हैं सो सब शुद्धि और मुक्तिके कारणहैं प्रत्यक्ष जो पाप कीता है और एकांत विषे जो पाप कीता है और जिस पापका प्रायश्चित्त नहि और जिस पाप मे संदेहहै और वि

व्याधितः पूर्वजन्मन्यपि सुरादिपानकर्ता विष्णवाद्यवतारमूलभूतोमहाविष्णुः ॥ गोविन्देतितथाप्रोक्तंभक्त्यावाभक्तिवर्जितैःदहतेसर्वपापानियुगांताग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥ विश्वामित्रः ॥ कृच्छ्रचांद्रायणादीनिशुध्यभ्युदयकारणं प्रकाशेचरहस्येचअनुक्तेसंशयेस्फुटे ॥ १ ॥ प्राजापत्यःसांतपनःशिशुकृच्छ्रः पराककः अतिकृच्छ्रःपर्णकृच्छ्रःसौम्यकृच्छ्रोऽतिकृच्छ्रकः॥ २ ॥ महासांतपनःसिद्धश्चतप्तकृच्छ्रस्तुपावकः जपोपवासकृच्छ्रास्तुब्रह्मकूर्चस्तुशोधकः ॥ ३ ॥ एतेव्यस्ताःसमस्तावाप्रत्येकंह्येकशोपिवा पातकादिषुसर्वेषुउपवासेषुयत्नतः ॥ ४ ॥

श्चित कीता जो पाप है इनां संपूर्ण पापांकी शुद्धिके कारण कृच्छ्र चांद्रायणादि हैं ॥ १ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं प्राजापत्य इति प्राजापत्य १ और सांतपन २ और शिशु कृच्छ्र ३ और पराकक ४ और अतिकृच्छ्र ५ और पर्णकृच्छ्र ६ सौम्यकृच्छ्र ७ अतिकृच्छ्रक ८ महासांतपन ९ और पवित्र जो तप्त कृच्छ्र १० और जप ११ और उपवास १२ और कृच्छ्र १३ और शुद्ध जो ब्रह्म कूर्च ॥ १४ ॥ एह संपूर्ण मिले होए अथवा भिन्न भिन्न अथवा एक एक भी संपूर्ण पापोंके विषे और उपवासों के विषे शुद्धिके वास्ते यत्न करके करणे चाहिदेहैं ॥ ४ ॥

कार्य्याइति प्राजापत्यादि संपूर्ण प्रायश्चित्त चांद्रायणों कर्के संयुक्त अथवा भिन्न भिन्न पापकी शुद्धि वास्ते करणे चाई देहैं ॥ अब चांद्रायण व्रतके भेद कथन करते हैं ॥ शिशिवति एक शिशु चांद्रायण एक यतिचांद्रायण ॥ ५ ॥ एक यवमध्यचांद्रायण अर एक पैपीलिकाकृति चांद्रायण कथन कीताहै इनके स्वरूप व्रत प्रकरणमें देखलैने ॥ तीन ३ दिनका उपवास १ और मास उपवास २ और पंद्रां १५ दिनका उपवास ३ और आठ ८ दिनका उपवास ॥ ६ ॥ और छे ६ दिनका और बारां १२ दिनका उपवास पापांकी शुद्धि दी इच्छा करदा जो पुरुषहै तिसने करणे चाईदेहैं उपपातकां कर्के युक्त जो पुरुष हैं तिनां नें अनादिष्ट

कार्य्याश्चांद्रायणैर्युक्ताःकेवलावापिशुद्धये शिशुचान्द्रायणंप्रोक्तंयतिचांद्रायणंतथा ॥ ५ ॥ यवमध्यंतथाप्रोक्तंतथापैपीलिकाकृति ॥ उपवासस्त्रिरात्रंवामासःपक्षस्तदर्द्धकम् ॥ ६ ॥ षडहोद्वादशाहानिकार्य्यंशुद्धिफलार्थिना उपपातकयुक्तानामनादिष्टेषुचैवहि ॥ ७ ॥ प्रकाशेवाऽप्रकाशेवाअभिसंध्याद्यपेक्षया जातिशक्तिगुणान्दृष्ट्वानुसकृद्द्विःकृतंतथा ॥ ८ ॥ अनुवंधादिकंदृष्ट्वासर्वंकार्य्यंयथाक्रमम् ॥ अनुवंधःप्रकृतस्यानिवर्त्तनम् ॥ प्रकाशउक्तंयत्किंचिद्विंशभागोरहस्यके त्रिंशद्भागःषष्टिभागःकल्प्योजात्याद्यपेक्षया ॥ ९ ॥

पापां के विषे चांद्रायणादि व्रत करणे चाईदेहै ॥ ७ ॥ प्रकाशइति प्रकट पापके विषे और गुप्त पापके विषे प्रायश्चित्तीकी प्रतिज्ञा आदिकी अपेक्षा कर्के जाति और शक्ति और गुण इनां नूं देख कर्के अर तिस प्रकार एक बार कीते होए पाप कों अर दो वार कीते होए पाप को भी देखकर्के ॥ ८ ॥ अर प्रायश्चित्ती के हठकों भी देखकर्के संपूर्ण प्रायश्चित्त क्रमसें करणा चाईदाहै ॥ प्रकट पापके विषें जितना प्रायश्चित्त कथन कीताहै तिसतें वीवां २० हिस्सा गुप्त पाप के विषे ब्राह्मण कों कथन कीताहै अर क्षत्रीको त्रीवां ३० हिस्सा कथन कीताहै अर वैश्य को सठवां ६० हिस्सा कथन कीताहै ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्यजी का वाक्यहै ॥ अनादीति अनादिष्ट पापां की चांद्रायण व्रत कर्के हि शुद्धि है
और धर्मके अर्थ भी चांद्रायण व्रत कों करे सो चांद्रायण व्रतका कर्त्ता चंद्रमाके लोककों
प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ षड्त्रिंशत्के मतमें कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र और चांद्रायण इन
तीनों ३ का समुदाय कथन कियाहै ॥ यानीति जो कोई पाप ब्रह्महत्यादितें बडे हैं
सो कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र और चांद्रायण कर्के नष्ट होजाते हैं एह मनु कथन करता
भया ॥ १ ॥ चतुर्विंशतिके मतमें केवल प्राजापत्य हिं पापांको नष्ट करताहै ॥ लघ्विति थोडें अनादिष्ट पापके विषे प्राजापत्यकों हिकरे इति ॥ शुक्र जी कृच्छ्र और चांद्रायण

॥ याज्ञवल्क्यः ॥ अनादिष्टेषुपापेषुशुद्धिश्चांद्रायणेनच धर्म्मार्थंयश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैतिसलोकताम् ॥ १ ॥ षड्त्रिंशन्मते त्रयाणांसमुच्चयःप्रतिपादितः ॥ यानिकानिचपापानिगुरोर्गुरुतराणिच ॥ कृच्छ्रातिकृच्छ्रचांद्रैस्तुशोध्यंतेमनुरब्रवीत् ॥ १ ॥ निरपेक्षोहिप्राजापत्यश्चतुर्विंशतिमते ॥ लघुदोषेत्वनादिष्टेप्राजापत्यंसमाचरेदिति ॥ द्वयोः समुच्चयमाहोशनाः ॥ दुरितानांदुरिष्टानांपापानांमहतामपि कृच्छ्रंचांद्रायणंचैवसर्वपापप्रणाशनमिति ॥ १ ॥ दुरितमुपपातकम् ॥ दुरिष्टंपातकम् ॥ कृच्छ्रानुवृत्तौ गौतमः ॥ प्रथमंचरित्वाशुचिःकर्म्मण्यःपूतोभवति द्वितीयंचरित्वायदन्यन्महापातकेभ्यःपापंकुरुते तस्मात्प्रमुच्यते तृतीयंचरित्वा सर्वस्मादेनसोमुच्यत इति ॥ प्रथमादिपदैः कृच्छ्रोऽतिकृच्छ्रःकृच्छ्रातिकृच्छ्रश्चोच्यते ॥

कर्के हि पापांके नाशकों कथन करतेभये ॥ दुरितानामिति बडे जो उपपातक पाप हैं और
बडे जो पातक पाप हैं इनां संपूर्णांके नाश करणे वाले कृच्छ्र और चांद्रायण हि हैं इति
॥ १ ॥ गौत्तमजी वारंवार कृच्छ्रकेहि करणे करके पापका नाश कथन करते हैं ॥ प्रथममिति
कृच्छ्र कों कर्के कर्म करणे वाला शुद्ध होताहै अतिकृच्छ्रकों कर्के ब्रह्महत्यादि महापातकतें
और जिस पाप कों करताहै तिसतें रहित हो जाताहै कृच्छ्रातिकृच्छ्रकों कर्के संपूर्ण
पापातें रहित होजाताहै ॥ इनां तीनों ३ का स्वरूप रहस्य प्रकरण मे देख लेणा ॥

हारीतजीका वाक्यहै चांद्रायणमिति चांद्रायण व्रत और पराकव्रत और तुला दान और गौओंके पीछे चलना एह संपूर्ण पापांके नाश करणे वालेहैं ॥ १ ॥ अब और प्रकार कथन करतेहैं तथेति तिसप्रकार गोमूत्र और गौका गुहा और गौकादुग्ध और दधि और घृत और कुशाका जल और एक १ रात्रका उपवास एह संपूर्ण चंडालतुल्यपुरुषकोंभी शुद्धकरदेतेहैं ॥ २ ॥ इनांसंपूर्णाकी व्यवस्था विष्णु पुराणमें कथन कीतीहै पापइति ॥ मैत्रेयके प्रति किसे ऋषिका वाक्यहै हे मैत्रेय प्रायश्चित्तांके जानणें वाले मन्वादि वडे पापकेविषें बडे प्रायश्चित्तकों करें अर थोडेपापके विषें थोडे प्रायश्चित्तकों करे एह कथन करते भए ॥ १ ॥भविष्य पुराणमें भी लिखाहै एवमिति पुत्रके प्रति किसेका वाक्यहै हे पुत्र इसतरह पापके भेदकर्के बडे और थोडे संपूर्ण प्रायश्चित्त करणे

हारीतः चांद्रायणंपराकंचतुलापुरुषएवच गवांचैवानुगमनंसर्वपापप्रणाशनमिति ॥ १ ॥ तथा। गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् एकरात्रोपवासश्चश्वपाकमपिशोधयेत्। २ एतेषांसर्वेषांव्यवस्थोक्ताविष्णुपुराणे पापेगुरूणिगुरुणिस्वल्पान्यल्पेचतद्विदः प्रायश्चित्तानिमैत्रेयजगुस्स्वायंभुवादयः १। भविष्ये॥ एवंविषयभेदेनव्यवस्थाप्यानिपुत्रक प्रायश्चित्तानिसर्वाणि गुरूणिचलघूनिच ॥ १ ॥ अन्यथाहिमहावाहोलघूनामुपदेशतःगुरूणामुपदेशोहिनिष्प्रयोजनतांव्रजेत् ॥ २ ॥ गौत्तमः ॥ एनसिगुरुणिगुरूणिलघुनिलघूनि ॥ हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वातिस्रोरात्रीर्नाश्नीयात् अथापरं त्र्यहंनक्तंभुंजीत अथापरंत्र्यहं न कंचन याचेत अथापरं त्र्यहमुपवसेत्

योग्यहैं अर्थात् वडे पापके विषे बडा प्रायश्चित्त करणा अर थोडे पापके विषे थोडा प्रायश्चित्त करणा ॥ १ ॥ हे महावाहो इसते जव व्यत्यय करे तो थोडे प्रायश्चित्तके कहनेसें बडे जो प्रायश्चित्तहैं सो निष्फलहि होवेंगे ॥ २ ॥ गौतम जीका वाक्य है एनसीति बडे पापमें बडा प्रायश्चित्त करे और थोडे पापमे थोडा प्रायश्चित्त करे इति ॥ हविष्यानिति प्रातःकाल तीन दिन ३ घृत और तिल और यव इत्यादि जो हविष्य हैं तिनांका भक्षण करें अर रात्रिके विषे कुछ न भक्षण करे इसतें उपरंत तीन ३ दिन रात्रिके विषे भक्षण करे इसते उपरंत तीन ३ दिन किसेसें नहि मांगे जेकर कोई देजावे तब भक्षण कर लेवे इसतें उपरंत तीन ३ दिन उपवास करे इस व्रतके दिन दिनकी कृत्य कहतेहैं

तिष्ठेदिति शीघ्राहि फलकी कामना वाला दिनविषे खडा रहे अर रात्रि विषे बैठा रहे अर सत्य कथन करे और नीचोंकेसाथबातां नकरे और रौरवयोधा संज्ञिक और जयसंज्ञिक मंत्रांकानित्य पठन करे और तीन ३ दिन त्रिकाल स्नान करे और ओंआपोहिष्ठा मयो भुवः १ ओंतानऊर्जे दधात नर ओंमहेरणाय चक्षसे ३ एह पवित्र जो तीन ऋचा हैं इनों करके मार्जन करे और हिरण्य वर्णाः शुचयः पावका इत्यादि अष्ट ८ ऋचां करके भी मार्जन करे इसते उपरंत ओंनमो हमा यइत्यादि मंत्रों करके जलके विषे तर्पण करे और ओं अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षणऋषिर नुष्टुप् छंदः भावभृतं दैवतं अश्वमेधावभृथेविनियोगः ओंऋतंच सत्यं चाभीद्धा तपसोऽध्य जायत ततो रात्रिरजायत ततः समुद्रो ऽर्णवः समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरोऽजायत अहोरात्राणि

तिष्ठेदहनिरात्रावासीताक्षिप्रकामः सत्यंवदेदनार्य्यैर्नसंभाषेत रौरवयो धाजयेनित्यंप्रयुंजीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनम् आपोहिष्ठेतितिसृभिः पवित्रवतीभिश्चमार्जयेत् हिरण्यवर्णाःशुचयःपावकाइत्यष्टाभिः ॥ अथोद कतर्प्पणम् ओंनमोहमायेत्यंतर्जलेवाघमर्षणं त्रिरावर्त्तयन्सर्वपापेभ्यो मुच्यतेइति ॥ वृहन्नारदीये ॥ प्रायश्चित्तानियःकुर्यान्नारायणपरायणः तस्यपापानिनश्यंतिअन्यथापतितोभवेत् ॥ १ ॥ यस्तुरागादिनिर्मुक्तअनु तापसमन्वितः सर्वभूतदयायुक्तोविष्णुस्मरणतत्परः ॥ २ ॥

विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचंद्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवंच पृथि वींचांतरिक्ष मथो स्वः इति इस मंत्रका तीन ३ वार पाठ करे तो संपूर्ण पापातें रहित होताहै इति ॥ वृहन्नारदीय पुराणमें भी लिखाहै प्रायश्चित्तानीति जो प्रायश्चित्तां नूं करता होआ ईश्वरपरायणहै अर्थात् ईश्वरका स्मरण करताहैं तिसके संपूर्ण पाप नष्ट होतें हैं जेकर इसते व्यत्यय करे तब पापी होताहै ॥ १ ॥ यइति जो पुरुष राग द्वेषादितें रहितहै और पश्चात्ताप करके युक्त है और संपूर्ण जीवांके उपर दया करणे वाला अर विष्णुके स्मरण विषे तत्परहै ॥ २ ॥

महेति महाहत्यादिपापांकर्के अथवा होरना संपूर्ण पापांकर्के युक्त होवे तदभी संपूर्णपापांतें तात्काल रहित होताहै जिस कारणतें तिसका चित्त विष्णुके विषेस्थितहै ॥३॥ नारायणमिति आद और अंततें रहित और जगत्स्वरूप और अविनाशी ऐसा जो विष्णुहै तिसका जो पुरुष निस स्मरण करता है सो संपूर्ण पापांते रहित होजाता है ॥ ४ ॥ विष्णुके विस्मरणविषे दोष कहते हैं विष्णिवति विष्णुका स्मरण न करणा पापहै अर उसकास्मरण पापांके छेदन करणे वाला है इसमे दृष्टांत है कि जिस प्रकार वडे दीपकदे जगां नेसें गुफाके मध्यमें जो अंधकारहै तिसके वलका नाश होजाताहै ॥५॥ और प्रकार कहतेहैं स्मृतइति स्मरणकीताहोआ अर पूजन कीता होआ अर चिंतन कीताहोआ अर नमस्कार विषय कीता होआ जो सनातन विष्णु

महापातकयुक्तोवायुक्तोवासर्वपातकैः सर्वैःप्रमुच्यतेसद्योयतोविष्णुपरंमनः ३ नारायणमनाद्यंतंविश्वाकारमनामयम् यस्तुसंस्मरतेनित्यंसर्वपापैःप्रमुच्यते ४ विष्णुविस्मरणंपापंस्मरणंपापकृंतनम् गुहांतर्ध्वांतबलभिन्महादीपोदयोयथा५स्मृतोवापूजितोवापिध्यातोवानमितोपिवा नाशयत्येवपापानिविष्णुरेवसनातनः६संपर्काद्यदिवामोहाद्यस्तुपूजयतेहरिम् सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयातिपरमंपदम् ७ सकृत्संस्मरणाद्विष्णोर्नश्यतिक्लेशसंचयःस्वर्गादिभोगप्राप्तिस्तुसुलभापरिकीर्तिता ८ तस्मात्तडिल्लतालोलंमानुष्यंप्राप्यदुर्लभम् हरिंसंपूजयेद्भक्त्यासर्वपापविमोचकम् ९ सर्वेन्तरायानश्यंतिमनःशुद्धिश्चजायते परंमोक्षंलभेच्चैवपूज्यमानेजनार्दने ॥ १०

है सो निश्चयकर्के पापांकानाश करदेताहै ॥६॥ संपर्केति किसेदे संगते अथवा मोहतें जो पुरुष विष्णुनूंपूजताहै सो संपूर्ण पापां तें रहित होकर विष्णुके लोकनूंप्राप्त होताहै ॥ ७ ॥ सकृदिति विष्णुके एकवार स्मरणकरणेतें दुःखांके समूहका नाशहोजाताहै अर स्वर्गादि भोगां की प्राप्ति सुखाली प्राप्त होतीहै ॥८॥ तस्मादिति तिस कारणते विजलीकी न्यांई चंचल अर दुर्लभ मनुष्यजन्मकों प्राप्त होकर्के संपूर्णपापांके नाशकरणेवाले विष्णुकों भक्तिकर्के पूजे ॥९॥ इसका फलकहतेहैं सर्वइति तद संपूर्ण विघ्न नष्ट होजाते हैं अर चित्तकी शुद्धि होतीहै अर विष्णुके पूजया होआं निश्चयकर्के मुक्तिकों भी प्राप्त होताहै ॥१०॥

धर्मेति धर्म अर अर्थ और काम और मुक्ति एह सब पुरुषोंके अर्थ विष्णुकी पूजाकरण वालिओंके निश्चयकर्के सिद्धहोतेहैं इसमें संदेह नाहिहै ॥ ११ ॥ अग्निपुराणमें औरभी अग्निपुष्करसंवादके विषे एक विष्णुजीका स्तोत्र सर्वपापहर लिखाहै परेति परस्त्री और परधन और परका मारणा इत्यादिओं विषे जद पुरुषांका मन प्रवृत्त होवे तब विष्णुको स्तुति प्रायश्चित्तहै ॥ १ ॥ विष्णुकी स्तुति कथन करतेहैं विष्णवइति विष्णुके तांई वारंवार ४ नित्य नमस्कारहोवे मनकेविषे स्थित अर अहंकारकास्थान जो विष्णुहै तिसनूंमै नमस्कार करताहां २ ॥ चित्तस्थमिति जो विष्णुमनकेविषे स्थितहै अर एकहै अर नहिप्रकटहै अर नहि नाश जिसका अरनहि किसेकर्के जितयाजांदा

धर्मार्थकाममोक्षाख्याःपुरुषार्थाःसनातनाः हरिपूजापराणांतुसिद्ध्यंतेऽत्र नसंशयः११● अग्निपुराणेअग्निपुष्करसम्वादे परदारपरद्रव्यपरहिंसादिके यदाप्रवर्द्धतेनृणांचित्तंप्रायश्चित्तंस्तुतिस्तदा १ विष्णवेविष्णवेनित्यंविष्णवे विष्णवेनमः नमामिविष्णुंचित्तस्थमहंकारगतंहरिम् २ ॥ चित्तस्थमेकमव्य क्तमच्युतंह्यपराजितम् विष्णुमीशमशेषेणअनादिनिधनंविभुम् ३ ॥ विष्णुं चित्तगतंजानन्विष्णुंबुद्धिगतंचयः यश्चाहंकारगांविष्णुंसाविष्ण्वार्पितसंस्थि तिः ४ करोतिकर्तृभूतोसौस्थावरस्यचरस्यच तत्पापंनाशमायातितास्मिन्ने वतुचिंतिते ५ ॥ ध्यातोहरतियःपापंस्वप्नेदृष्टस्तुभावतः तमुपेंद्रमहंविष्णुंप्रण तार्त्तिहरंहरिम् ॥ ६ ॥

अर संपूर्णांका स्वामी अर जन्म मरणतें रहित अर सर्वव्यापी ऐसा जो विष्णुहै तिसनूं मै नमस्कार करताहां । ३ ।विष्णुमिति जो पुरुष मनके विषे अर वुद्धिके विषे अर अहंकारके विषे प्राप्त होए होए विष्णुनूं जानताहै सो बिष्णुकेविषेहि स्थित है ॥ ४ ॥ करोतीति जेडा एह बिष्णु कर्त्तारूपहोकर पर्वतादि अर मनुष्यादिआंनूं करताहै तिस विष्णुके स्मरण कीतिआं होआं तिस पुरुषकापाप निश्चयकर्के नाशको प्राप्त होताहै ॥ ५ ॥ ध्यातइति जेडाविष्णु भक्तिकर्के चिंतितकीता होआ अर स्वप्नेके विषे देखिआ होआ पापका नाश करदेताहै तिस शरणागतकी पीडाहरण वाले विष्णु नूं मै नमस्कार करताहों ॥ ६ ॥

जगतीति ॥ आश्रयते रहित जो एह जगत् है इसके नरकके विषे हिठा पाँदिआं होआं हस्त का आश्रयदेणवाला और परतें भी परे जो विष्णुहै तिस नूं मैनमस्कारकरता हां॥७॥सर्वेति हेसं पूर्णांके ईश्वर हेसर्वव्यापक हेपरमात्मन् हे अधोक्षज हे इंद्रियोंके ईशर हेकृष्ण वर्ण केशा वाले तेरे ताईं नमस्कार होवे ॥ ८ ॥ नृसिंहेति हेनृसिंह हेअंततें रहित हेगोंआंके पालन कर णे वाले हेजीवांके उत्पन्न करणे वाले हे सुंदरकेशां वाले मुझका खोटा कथन और कर्म और चिंतन और मानस दुःख का नाशकर अर्थात् वाणी कर्के और शरीर कर्के और मन कर्के कीता जो पापहै तिसकों दूरकर तुझकों नमस्कार होवे।९ ।ब्रह्मण्येति हे ब्राह्मणोंके पूजने वाले हे गोविंद हेपरात्पर हेपरायण हे जगत्के ईश्वर हे जगत्के पालन करण वाले हे अच्युत मुझके पापका

जगत्यस्मिन्निराधारेमज्यमानेतमस्यधः हस्तावलंबनंविष्णुंप्रणमामिपरा त्परम् ॥ ७॥ सर्वेश्वरेश्वरविभोपरमात्मन्नधोक्षज हृषीकेशहृषीकेशकृष्णके शनमोस्तुते ॥ ८॥ नृसिंहानंतगोविंदभूतभावनकेशव दुरुक्तंदुष्कृतंध्यातंश मयाघिंनमोस्तुते ॥ ९ ॥ ब्रह्मण्यदेवगोविंदपरात्परपरायण जगन्नाथज गन्नातःपापंप्रशमयाच्युत॥१०॥यच्चापराह्णेसायाह्णेमध्याह्णेचतथानिशि कायेनमनसावाचाकृतंपापमजानता ॥ ११ ॥ जानताचहृषीकेशपुंडरीकाक्ष माधव पापंप्रशमयाद्यत्वंवाक्कृतंममम‍ाधव ॥ १२ ॥ यदश्नन्यत्स्वपंस्ति ष्ठन्यद्गच्छन्स्वेच्छयास्थितः कृतवान्पापमद्याहंकायेनमनसापिवा ॥ १३ ॥ यत्सूक्ष्ममपियत्स्थूलंकुयोनिनरकावहम् तद्यातुप्रलयंसर्वंवासुदेवादिकी र्तनात् ॥ १४ ॥

नाशकर ॥१०॥ यच्चेति प्रातः काल और सायंकाल और मध्याह्नकाल और रात्रि इनों विषे शरीर कर्के और मन कर्के और वाणी कर्के और अज्ञान कर्के॥११॥ और ज्ञान कर्के मैंनें कीतों जो पाप है तिसका हेहृषीकेश हे पुंडरीकाक्ष हेमाधवतूं नाशकर॥ १२ ॥ यदिति भक्षण करदा होआ और शयन करदा होआ और खडा हुंदा होआ और गमनकरदा होआ और अपनी इच्छा सें स्थित हुंदा होआ मैं शरीर कर्के और मन कर्के आदिशब्दने वाणीकर्केभी जो पाप कर्त्ता भया हे माधव तिस का तूं नाशकर॥ १३ ॥ यदिति खोटीयोनि और जोगर्भादि योंकीहै नरककों प्राप्तकरणे वाला थोडाऔर वहुत जो मुझका पापहै सो संपूर्ण वासुदेवादि नामके कथन करणे तें नाशकोंप्राप्त होवे एह मेरी प्रार्थना आपकोंस्वीकृतहोवे ॥१४

परामिति परमब्रह्म श्रौर परम तेजरूप श्रौर परमपवित्र ऐसा जो विष्णुहै तिसके कीर्त्तन कीतिश्रां होश्रां संपूर्ण पाप नाशकों प्राप्तहोवे ॥ १५ ॥यदिति बुद्धिमान्पुरुष जिस स्थानकों प्राप्तहोकर्के फेर जन्मकों नहि प्राप्त हुंदे श्रौर गंध स्पर्शादि विषय सुखतें रहित उौर श्रपूर्वक जो विष्णुका स्थानहै सो मेरे पापका नाश करे ! १६ । इस स्तोत्रका फल कथन करतेहैं पापेति पापकेनाशकरणे वाले इस स्तोत्रका जो पाठकरताहै श्रौर जोसुणताहै सो पुरुष शरीरकर्के श्रौर चित्तकर्के श्रौर वाणी कर्के कीते होए जो पापहै तिनांते रहित होजाताहै १७ सर्वेति उौर संपूर्ण पापी सूर्यादि ग्रहांसे मुक्तहोताहै श्रर्थात् सूर्यादिपापग्रह उसको पीडा नहि देतें श्रौर विष्णुके परमपदकों प्राप्तहोताहै तिस कारणाते पापदेकीतिश्रां होश्रां संपूर्णपापोंके नाशकरणे वाला एह स्तोत्रजपना चाहिए १८ प्रायश्चित

परंब्रह्मपरंधामपवित्रंपरमंतुयत् तस्मिन्प्रकीर्त्तितेविष्णौपापंसर्वंप्रणश्यतु १५ यत्प्राप्यननिवर्त्तन्तेगंधस्पर्शादिवर्जितम् सूरयस्तत्पदंविष्णोस्त्वपूर्वं शमयत्वघम् १६ पापप्रशमनंस्तोत्रंयःपठेच्छृणुयादपि शरीरैर्मानसैः कायैःकृतैःपापैःप्रमुच्यते १७ सर्वपापग्रहादिभ्योयातिविष्णोःपरंपदम् तस्मात्पापेकृतेजप्यंस्तोत्रंसर्वाघमर्दनम् १८ प्रायश्चित्तमघौघानांस्तोत्रं व्रतकृतेवरम् प्रायश्चित्तैःस्तोत्रजापैर्व्रतैर्नश्यतिपातकम् १९ प्रायश्चित्तेंदुशेखरेपि ❀ तत्रमहापातकादर्वाचीनेषु बहुविधेष्वज्ञानकृतेषुप्रतिनिमित्तकर्तुमशक्तौसर्वप्रायश्चित्तंषडब्दम् ॥ अत्यंतगुणवतोविरक्तस्याऽभ्यासेद्विगुणम् ॥ मत्यात्रिगुणम् ॥ मत्याऽभ्यासेचतुर्गुणम् ॥ अत्यंताभ्यासेनिरंतराभ्यासे वा पंचगुणम् ॥

मिति व्रतांकीकृत्यकेविषे एह स्तोत्र पापांके समूहोंका श्रेष्ट प्रायश्चित्तहै प्रायश्चित्तोंकर्के श्रौर स्तोत्रों कर्केजपों कर्के श्रौर व्रतां कर्के पाप दूर होताहै १९॥ ❀प्रायश्चित्तेंदुशेखर में भी लिखाहै तत्रेति पापोंके मध्यमें ब्रह्महत्यातें विना बहुत प्रकारके श्रज्ञान कर्के कीते होए जो पापहैं तिनांके विषे कहा जो प्रायश्चित्तहै तिसके करणेविषे जद सामर्थ्य न होवे तद छे६वर्षका संपूर्ण प्रायश्चित्त करणा चाहिए ॥ श्रतिशयतकर्के गुणवाला श्रौर विरक्तहोवे तिसके पापके श्रभ्यासमें वारां१२ वर्षका प्रायश्चित्त लिखाहै श्रौर बुद्धिकर्केकीते होए पापके विषे चौवी२४वर्षका व्रत श्रौर श्रतिशय कर्के श्रभ्यासके विषे श्रथवा सर्वदाकाल पापांके श्रभ्यासमें पंचगुणक्यातीस३०वर्षका व्रत करणा चाहिए प्रतिदिन बहुवारकरणेमे श्रत्यंताभ्यासहै श्रौर विच्छेदसे प्रतिदिन करणेमे निरंतराभ्यास कहीदाहै

अर इसमेंभीवहुतकालके अभ्यासमें छत्ती१ ६ वर्षकाप्रायश्चितलिखाहै और गोहत्यादितेंलेकरके उरेहोणेवाले अज्ञानकर्कैकीतेहोएजो जातिभ्रंशादि पापहैं तिनमे कथन कीता जो प्रायश्चित्तहै तिसकेकरणेमे जब सामर्थ्यनहोवेतवदो२ वर्षकाप्रायश्चित्तलिखाहै । अभ्यासादिउंओंमें पूर्वकीन्याईकरणा जैसेगुणवालेविरक्तके अभ्यासमेंचार ४ वर्षका अरबुद्धिकर्के कीते होएमें छे ६ वर्षकाअर बुद्धि के अभ्यासमें आठ८ वर्षका अर अतिशय उौर निरंतरअभ्यासमे दश१०वर्षका अर वहुतकाल के अभ्यासमे वारां१२ वर्षका प्रायश्चित्त लिखाहै और तिउंओंजोए प्रकीर्णक जोपापहैं तिनकेविषे उक्त प्रायश्चित्तकरणे असमर्थहोवे तद एक १ वर्षका प्रायश्चित्तकरे उौर गुणवाले विरक्तकों दो २ वर्षकाअर बुद्धिकर्के कीतेमेंतीन३ वर्षकालिखाहै उौरसबपूर्वकीन्याई जानलैंनें । क्षुद्रेति अर थोडे

वहुकालाभ्यासेषड्गुणम् उपपातकमारभ्यार्वाचीनेषु पापेष्वज्ञानकृतेषु प्रतिनिमित्तंकर्तुमशक्तौद्व्यब्दंप्रायाश्चित्तम् अभ्यासादौप्राग्वत् प्रकीर्णकेषु तादृशेषुतादृशस्यैकाब्दम् अभ्यासादौप्राग्वत् क्षुद्रपापेषु तादृशेषु तादृशस्य कृच्छ्रातिकृच्छ्रचांद्रायणानि तत्स्थाने द्वादश कायानिवा अभ्यासादौप्राग्वत् चतुष्टयमिदं चोत्तमस्य मध्यमस्यद्विगुणम् उत्तममध्यमादिविषये द्विगुणादिव्यवस्थातु वर्णाश्रमसाधारणीबोध्या यथोत्तमब्राह्मणस्योक्तमेव मध्यमब्राह्मणस्यद्विगुणमेवमग्रेपि अधमस्यत्रिगुणम्

जो पापहैं तिनके विषे लिखा जो प्रायश्चित्तहै तिसके विषे जब सामर्थ्य न होवे तब कृच्छ्र उौर अतिकृच्छ्र उौर चांद्रायणकों करे अथवा वारां१२ प्राजापत्य करे ॥ अभ्यासादिउंओंमें पूर्वकीन्याई जानलैना एह चारे ४ प्रायश्चित्त महांपातकांके उरले १ और उपपातकांके उरले २ और प्रकीर्णक ३ और अनस्थिजीववध और अस्थिवाले कहेहोए ते विलक्षण जो जीवतिनांकावध ४ एह सभ व्यवस्था जैसी वर्णोंमेंहै तैसी आश्रमोमे भीजानणी उत्तम ब्राह्मणकों एक वार करणा चाहिए अर गुणांकर्के मध्यमजो ब्राह्मणहै तिसकों दो२ वार करणा चाहिए उौर नीच ब्राह्मणकों तीन३ वार करणा चाहिए

अर इसतेंभी जो नीच ब्राह्मणहै तिसको चवींस २४ वर्षका करणा चाहिए इस प्रकार क्षत्री औंर वैश्य औंर शूद्र इनकों भी क्रम करकें प्रायश्चित्त जान लैना ब्रह्म हत्यादि जो संपूर्ण पापहैं तिनोंका एह प्रायश्चित्तहै अर जिनो पापोंका प्रायश्चित्त नहि लिखा तिनके विषे प्रायश्चित्तकी सामर्थ्य देख करकें एकठे अथवा भिन्न भिन्न कृच्छ्र औंर चांद्रायणादि व्रत दसने चाहिए अर थोंडिओं पापोंके विषे एक दिनका उपवास औंर तीन ३ रात्र उपवास औंर प्राजापत्य योग्यता करकें दसने चाहिए औंर बहुत थोंडे जो पापहैं तिनकें विषे वारां १२ अथवा छे ६ अथवा तीस ३० प्राणा याम करणे चाहिए ॥ स्त्रीआं को औंर शूद्रांको मंत्रांतें विना प्राणायाम करणे चाहिए अथवा जितने अन्नसें एक पुरुष तृप्त होजावे अथवा गिआसन

ततोप्यधमस्यद्वादशाब्दद्विगुणं महापातकावधिसकलपापप्रायश्चित्तमिति सर्वत्रानुक्तनिष्कृतौ कृच्छ्रचांद्रायणादीनि समस्तव्यस्तरूपेण योग्यतयायोज्यानि ॥ क्षुद्रेषुपापेषुउपवासत्रिरात्रप्राजापत्यानि अतिक्षुद्रेषु द्वादशषट्त्रिंशद्वाप्राणायामाःकार्य्याःस्त्रीशूद्राणाममंत्रकास्तेपुरुषाहारहंतकाराग्रदानानिवा मौनलोपेविष्णुस्मरणम् ॥ इतिश्रीमन्महाराजाधिराजजंम्बूकाश्मीराद्यनेकदेशाधीश प्रभुवररणवीरसिंहाज्ञप्तसारस्वतश्रीदेविकोपकण्ठवासिदेवीदत्तसुतपण्डितगंगारामसंगृहीते पंचविषयात्मप्रातिरूपकेधर्म्मशास्त्रमहानिवन्धप्रायश्चित्तभागेसाधारणप्रकरणं षष्ठम् ॥ ६ ॥ ❋ ❋

इत्यादि अन्न दानकरणा चाहिए और मौनव्रतके लोपके विषे विष्णुका स्मरण करणा (इति) एह पद प्रकरण की समाप्तिके विषे जानणा लक्ष्मीकर्के युक्त जो बडे राजेहैं तिनोंकाभी राजा अर जंवू औंर काश्मीर आदि पद कर्के गिलगिचादि जो अनेक देशहैं तिनोंका स्वामी श्रेष्ठ जो राजा रणवीर सिंह तिस कर्के आज्ञप्त कीते होंए सारस्वत ब्राह्मण संज्ञा वाले और श्रीदेविका जीके कनारे पर रहण वाले और पंडित देवी दत्तके पुत्रपंडित गंगा रामजी तीनों कर्के संग्रह कीतेहोए धर्मशास्त्र महानिवंधके प्रायश्चित्त भागमे छेमां साधारण प्रकरण समाप्त होया ॥ ६ ॥ ●

साधारणप्रकरणतें उपरंत अब विधान कीता जोंकर्म तिसका नकरणा १ अर वर्जित कर्मका करणा २ अर इन्द्रियों का रोकणा एह जो कारण तीन ३ हैं इनातें उत्पन्न हुए जो जातिभ्रंशकरतें आदलेकर नौं ९ प्रकारके पापहैं सो ब्रह्महत्या प्रायश्चित्त प्रकरणमें कथन करेहैं ॥ तिनां नवांके मध्यमे जातिभ्रंशकर पापां कों मनुजी कहतेहैं ॥ ब्राह्मेति ब्राह्मणकों दंडादि करके दुःखदेणा १ और अति शय करके दुर्गंध वाला जो थोम अर विष्ठादिहै इसका अर मदिराका सिंघणा २ ॥

॥ ॐश्रीगणेशायनमः ॥ अथविहिताकरणादिहेतुत्रयोत्पन्नजातिभ्रंशक रादिनवविधानि पापानि ब्रह्महत्थाप्रायश्चित्तप्रकरणउक्तानि तत्र जाति भ्रंशकराण्याह मनुः । ब्राह्मणस्यरुजःकृत्वाघ्रातिरघ्रेयमद्ययोः जैह्म्यंच मैथुनंपुंसिजातिभ्रंशकरंस्मृतम् ॥ १ ॥ ब्राह्मणस्यदंडादिनापीडाकरणं १ अतिशयदुर्गंधियल्लशुनपुरीषादि तस्य मद्यस्यचघ्रातिराघ्राणं २ जैह्म्यंमित्रे ३ पुंसिमुखादौचमैथुनं ४ प्रत्येकंजातिभ्रंशकरंनतु समस्तम् याज्ञवल्क्येनात्र पशुमैथुनमप्युक्तम् ॥ इमान्येव प्रायश्चित्तप्रकरण प्राय श्चित्तरत्न प्रायश्चित्तमुक्तावली प्रायश्चित्तशेखर प्रायश्चित्तमयूख प्राय श्चित्तकदंवादौ प्रोक्तानि २

और मित्रके साथ द्रोह करणा ३ और पुरुषके साथ अर स्त्रीके मुखमें मैथुन करणा ४ एह एकभीपाप कीता होआ जातितें भ्रष्ट करदेताहै ॥ १ ॥ ब्राह्मणस्य इत्यादि पदों करकें इसी श्लोकका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै ॥ अर याज्ञवल्क्यजीनें पशुके साथ जो मैथुनहै सोभी जातितें पतित करण वाला कथनकीताहै अर प्रायश्चित्त प्रकरण अर प्रायश्चित्तरत्न अर प्रायश्चित्तमुक्तावली अर प्रायश्चित्तशेखर अर प्रायश्चित्तमयूख अर प्रायश्चित्त कदंव इत्या दि ग्रंथोंमें भी एही चार ४ पाप जातितें गिडा देणवाले लिखे है ॥

तिनांके मध्यमें जातिभ्रंशकर पापके प्रायश्चित्तकों मनुजी कहतें हैं जातीति ब्राह्मणस्यरुज इसतें आदलेकर जो जातिभ्रंशकर कर्म कथन कीतेहैं तिनकें मध्यमें इच्छासें किसी कर्म्मनूं करकें सत्त ७ दिनका जो सांतपन कृच्छ्र व्रतहै तिसकों करे जेकर जातिभ्रं शकरादिकर्म इच्छासें न करें तद प्राजापत्य व्रत करे इसमें एह (प्रश्ण) है कि जो पाप इच्छासे होताहै तिसका प्रायश्चित्त वहुतहै और जो विनाइच्छा से कीताहो आ पापहै तिसका थोडा प्रायश्चित्त होणा चाहिए और इस जगा विपरीतक्योंहैं सांतपन ७ दिनका और प्राजापत्य १२ दिनकाहै (उत्तर) इसजगा सांतपनशब्द कर्के महासांतपन जानणा सो २१ दिन कर्के होताहै इसतें विरोध नहि अथवा अर्थ से विपरीत कर लेणा इच्छामें प्राजापत्य और अनिच्छामें सांतपन तदभी विरोध नहि आंउदा ॥ १ ॥ व्राह्मणस्य इत्यादि

तत्रजातिभ्रंशकरपापप्रायश्चित्तमाह मनुः ॥ जातिभ्रंशकरंकर्म्मकृत्वान्य तममिच्छया चरेत्सांतपनंकृच्छ्रंप्राजापत्यमनिच्छया ॥ १ ॥ व्राह्मण स्यरुजइत्याद्युक्तजातिभ्रंशकरकर्म्मोक्तं तन्मध्यादन्यतममपि कर्म कृत्वा सांतपनंसप्ताहसाध्यंकृच्छ्रंव्रतंचरेत् इदमिच्छयाकामेन अनिच्छयातु प्राजापत्यंकुर्य्यात् केचित्तु इच्छयैतत्कर्म्मकृत्वाप्राजापत्यमनिच्छयातुसांतपनंचरेदित्याहुः वृहस्पतिनात्रविशेषउक्तोयथा व्राह्मणस्यरुजःकृत्वारासभादिप्रमापणम् निंदितेभ्योधनादानंकृच्छ्रार्द्धव्रतमाचरेदिति ॥ १ ॥ इदमेवप्रायश्चित्तंप्रायश्चित्तेन्दुशेखरे प्रायश्चित्ताशक्तौ धेनुदानं तदशक्तौ चूर्णीदानंयथाशक्तिदक्षिणा ॥

पद करके इसी श्लोककाहि अर्थ दिखायाहै ॥ वृहस्पतिजीनें इसमें विशेष कहाहै ॥ व्राह्मेति ॥ व्राह्मणकों दंडादि करके दुःख देकरके और गर्दभादिकोंकों मार करके और निषिद्ध पुरुषोंतें धनका ग्रहण करकें अर्द्धा कृच्छ्र व्रत करे ॥ १ ॥ एही प्रायश्चित्त प्रायश्चित्तेंदुशेखरमेंभी लिखाहै प्रायेति॥जव कृच्छ्रादि व्रत करणेमें सामर्थ्य ना होवे तव प्रसूतहुइ गौका दान करे अर जव गौके दानमें भी सामर्थ्य ना होवे तव चूर्णीदानकरे अर्थात् एक सौ १०० कोडीदानकरे अर जैसी सामर्थ्य होवे तैसी दक्षिणा देवे (प्रश्ण) जिसने १००, कपर्दिका मात्र दान कीता उसकी शक्तितो प्रतीत होगई फेर यथाशक्ति क्योंकिहा (उत्तर) चूर्णीदान इसजगा गोदानकी जगाहै तिसके पीछे यथाशक्ति मुद्रिकादि दक्षिणा देवें एह अभिप्रायहै ॥ ऐसे आगेभी जानणा ॥

जेकर ब्राह्मणकों इच्छा करके पीडा देवे तद सांतपन व्रतकों करे ॥ अर जव व्रत करणे मैं शक्ति न होवे तव गोदानकरे जव गौदानकी भी समर्था न होवे तव षट्कार्षापणादेवे अर्थात् सत्त हजार ७०० अर आठ ८०० सौ अर अस्सी ८०कौडिआंका दानकरे अर यथा शक्ति दक्षिणा देवे ॥ इसप्रकार जव थोमादि अर विष्टा और मदिरा इनांकों इच्छासें न सिंघे तव प्राजापत्य व्रतकरे। जव व्रतकरणमें सामर्थ्य नहोवें तव एक प्रसूत गौकादानकरे जव गौ दानमेंभी सामर्थ्य ना होवे तद तीन ३ कार्षापणाका दानकरे जदमित्रके विषें इच्छा करके द्रोहकरे तव प्राजापत्य व्रतकरे ॥ जद व्रतकरणेकी समर्था ना होवे तदगो दानकरें ॥ जद गोदानकी भी समर्था ना होवे तद तीन ३ कार्षापणका दानकरे ब्राह्मणाकों पाषाणादि के उग्रणेंमें अर्थात् प्रहार करणेकी इच्छा विषे प्राजापत्य व्रतकरे जद व्रतकरणकी समर्था ना होवे तद एक गौदानकरे गौदानकी भी समर्था ना होवे तद तीन ३ कार्षापण दान करे और

ब्राह्मणपीडाकरणेकामतः सान्तपनंतदभावेधेनुदानं तदभाविषट्कार्षापणाः यथाशक्तिदक्षिणा एवंलशुनादिमद्ययोराघ्राणेऽकामतः प्राजापत्यम् तदशक्तौ १ धेनुःतदभावेकार्षापणाः३ मित्रकौटिल्येसाभ्यासेचैवम् ॥ ब्राह्मणावगूरणेप्राजापत्यंतदशक्तौधेनुः १ तदभावित्रयःकार्षापणाःपुंसिमैथुने ब्राह्मणेदंडादिपातनेच अतिकृच्छ्रम् तद. धेनुः तद. कार्षा- ३ यथाशक्तिदक्षणा ॥ब्राह्मणशोणितोत्पादनेकृच्छ्रातिकृच्छ्रंतद.५ धेनवःतद. १० कार्षापणाःयथाश- ब्राह्मणांगच्छेदनेप्येवम् ॥ अत्यंताभ्यासेचान्द्रम् दशगोदानंच ॥ तद.७ धेनवःतदभावे २१ यथाशक्तिदक्षिणा ॥

जद पुरुषके साथ मैथुनकरे अर ब्राह्मणकों दंडादिऊँ करके पीडादेवे तद अति कृच्छ्र व्रतकरे जद व्रतमें समर्था ना होवे तदगोदान करे गोदानकी भी समर्था ना होवे तद तीन ३ कार्षापण दान करे अर शक्तिके अनुसार दक्षिणादेवे अर जव ब्राह्मणकों रुधिर वगादेवे तवकृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रतकरे अर व्रतकरणेमें समर्था नाहोवे तद पांच ५ गौकादानकरे जवतिसमेंभी सामर्थां नाहोवे तव दश १०कार्षापणदानकरे अर यथाशक्तिसें दक्षिणादेवे ॥ अर जव ब्राह्मणका अंग कट्ट देवे तदभी इसीप्रकार व्रतादिकरे जव इसमें वहुत अभ्यास होवे तव चांद्रयणाव्रत करे ॥ जदइसमें सामर्था नाहोवे तद दस १० गौकादान करे इसमेंभी सामर्थां ना होवे तद नवीन सूईआं हाईआं सत्त ७ गौआंका दानकरे इसमेंभी सामर्था ना होवे तव २१ कार्षापण का दानकरे अर यथाशक्तिसेंदक्षिणादेवे ॥ एह जातिभ्रंश करपापसमाप्तभये ॥ ॥

इतिजातिभ्रंशकराणि

अथेति जातिभ्रंशकरां पापांते उपरंत संकरीकरण संज्ञिक पापांकों कहतेहैं ॥ तिन कि विषे मनुजी का वाक्य है खरेति गधा और घोडा और ऊट और हरिण और हस्ती और बकरा भिड्डू और मच्छी और सर्प और महिषी इनांमिसें एकका भी मारणा संकरी करण पाप जानना चाहिए ॥ १ ॥ गर्द्दभइत्यादि पदों कर्के इसीका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै याज्ञवल्क्य जीनें इसमें भेद कथन कीताहै ॥ ग्राम्येति ग्रामके और वनके पशुआंका मारणा हि संकरीकरण कथन कीताहै । तिस विषे देवताके निमित्त मारिया जो पशुहै तिसका पाप नहिहै ॥ प्रायश्चित्त प्रकरण आदि ओंमें मनुने कहा जो संकरी करण है सोई लिखाहै अर

ओंश्रीगणेशायनमः ॥ अथसंकरीकरणानि ॥ तत्रमनुः ॥खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा संकरीकरणंज्ञेयंमीनाहिमहिषस्यच ॥ १ ॥ अस्यार्थःखरेति गर्दभतुरगोष्ट्रमृगहास्तिछागमेषमत्स्यसर्पमाहिषाणां प्रत्येकं वधः संकरीकरणंज्ञेयम् १ याज्ञवल्क्येनतु ग्राम्यारण्यपशूनां हिंसनमेवसंकरीकरणमुक्तम् तत्रदेवतोद्देशेनवधेकृते न दोषः ॥प्रायश्चित्तप्रकरणे प्रायश्चित्तरत्ने प्रायश्चित्तमुक्तावल्यां प्रायश्चित्तेन्दुशेखरे प्रायश्चित्तमयूखेप्रायश्चित्तकदंबादौमनूक्तमेवसंकरीकरणम् संकरीकरणा पात्रीकरणमलिनीकरणीयेषु पापेषु प्रायश्चित्तमाह मनुः ॥ संकरापात्रकृत्यासुमासंशोधनमैन्दवम् मलिनीकरणीयेषुतप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १ ॥ खराश्वोष्ट्रेत्यादिनासंकरीकरणान्युक्तानि तेषां मध्यादन्यतममिच्छातः कृत्वाचांद्रायणं मासंशुद्ध्यैकुर्यात्

याज्ञवल्क्य वाला नहि लिखा ॥ संकरीकरण अपात्रीकरण अर मलिनीकरण एह जो पाप हैं इनके विषे प्रायश्चित्त नूं मनुजी कहतेहैं ॥ संकरेति संकरीकरण और अपात्रीकरण एह जो पाप हैं इनके करण विषे एक १ मास तक चांद्रायण व्रत करे अर मालिनी करण जो पाप हैं इनांमें जवां कर्के तीन ३ दिन तप्तकृच्छ्र व्रत करे १ एहि अर्थ प्रकट कर्के कहतेहैं खरेति खराश्वोष्ट्र इत्यादि कर्के जो संकरीकरण पाप कहेहै तिनके मध्यमें इच्छासें एक पापकों कर्के शुद्धिके वास्ते एक मास पर्य्यंत चांद्रायण व्रत कों करे ॥ इन व्रतोंका स्वरूप व्रत प्रकरणमे देख लेणा ॥ १ ॥

तिस प्रकार प्रायश्चित्तमयूखमें भी विष्णुजीं का वाक्यहै ॥ संकेति संकरीकरण पापनूं कर्के एक मास पर्यंत जवां का भक्षणकरे अथवा कृच्छ्रातिकृच्छ्र प्रायश्चित्त नूं करे ॥ १ ॥ इस विषमें अज्ञानतें कीता जो संकरीकरण पापहै तिसके अनुष्ठानमें एक मास पर्यंत जवांका भक्षण करे और जब ज्ञान कर्के संकरी करण पाप नूं करे तब कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे और अज्ञानाभ्यासमें चांद्रायण व्रत करें और ज्ञानाभ्यासमें दो २ चांद्रायण व्रत करे और याज्ञवल्क्यजीने भी इसमे कुछ कहाहै गजके हत कीतियांहोयां पांच ५ नीलवृष देणे और खर बकरा

तथाच प्रायश्चित्तमयूखेविष्णुः ॥ संकरीकरणंकृत्वामासमश्नीतयावकम् कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवाप्रायश्चित्तंतुकारयेदिति॥ १ ॥अत्राज्ञानात्संकरीकरणानुष्ठाने मासंयावकाशनम् ज्ञानात्कृच्छ्रातिकृच्छ्रम् अज्ञानाभ्यासेतु चान्द्रायणम् ज्ञानाभ्यासेतुचान्द्रायणद्वयंकल्प्यम् ॥ याज्ञवल्क्येनतु गजेनीलवृषाःपंचखराजमेषेषुवृषोदेयःहयेंशुकम् उरगेआयसोदंडः॥ उष्ट्रेगुञ्जाअक्रव्यान्मृगे वस्तिका जलचरे गौः ॥ यमेनापीदमेवोक्तम् ॥ प्रायश्चित्तेंदुशेखरे अज्ञानतःसंकरीकरणानुष्ठाने मासंयावकाशनम् ॥ ज्ञानतःकृच्छ्रातिकृच्छ्रः अज्ञानतोऽभ्यासेचांद्रम् ज्ञानतस्तथात्वेचान्द्रायणद्वयम् प्रायश्चित्ताशक्तौ धेनुदानम्

भेढा इनके हतकीतियां होयांएक १ वृषदान करणा और घोडेके वधमे वस्त्र और सर्पके वधमै लोहदंड और ऊटके वधमे गुंजाफलभूषण और अमांसाशी मृगके वधमै वस्तिकाक्या वस्त्रविशेष और जलचरके वधमे गोदानकरे ॥ यमजीनेंभी एहि कहाहै अर प्रायश्चित्तें दुशेखरमेंभी लिखाहै अज्ञेति जान कर्केनहिकीता जो संकरी करण पाप तिसके अनुष्ठानमें एकमास जवांकाभक्षण करे और ज्ञान कर्के कीता जो है तिसकें विषे कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे।अज्ञानते अभ्यासमें चांद्रायण व्रत करे।ज्ञानते अभ्यासमे दो२ चांद्रायण व्रत करे॥ और जद प्रायश्चित्तकरणेकी ना समर्थी होवे तद धेनु दानकरे

तिसमें भी ना शक्तिहोवे तद सौ १०० कौडीका दान करे अर यथाशक्तिदक्षिणा देवें गधा और घोडा और ऊठ और हरिण और हस्ती और बकरा और भिडु और मछ और सर्प और महिष इनके मध्यमें एककोंभी एक वार मारकर्के एक मास जवांकापान करे जद इसमेंना सामर्था होवे तद दो २ धेनु दानकरे अर तिसमें भी ना सामर्था होवे तब छे ६ कार्षापण दान करे अरशक्तिके अनुसार दक्षिणा देवे अर अभ्यासमें कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे इसमे ना सामर्था होवे

तदशक्तौचूर्णीदानम् कपर्दिकाशतं १०० चूर्णी दक्षिणायथाशक्ति खराश्वोष्ट्रमृगहस्तिच्छागमेषमीनाहिमहिषाणांवधरूपेषुसकृत्करणेमासं यावकपानम् तदशक्तौद्वेधेनू ० तदभावे षट्कार्षापणाः यथाशक्ति दक्षिणा अभ्यासेकृच्छ्रातिकृच्छ्रम् तदशक्तौ पंचधेनवः तदभावेपंचदश कार्षापणाः दक्षिणायथाशक्ति अत्यंताभ्यासे चान्द्रायणम् तदशक्तौसार्द्धसप्तधेनवः तदभावेसार्द्धद्वाविंशतिकार्षापणाः दक्षिणायथाशक्ति ॥

इतिसंकरीकरणानि ॥ २ ॥ ❀ ❀

तव पंच ५ धेनु दानकरे तिसमे भी ना सामर्था होवे तव पंदरां १५ कार्षापण दानकरे और शक्तिसें दक्षिणा देवे अर अतिशय कर्के अभ्यासमें चांद्रायण व्रतकरे तिसमें ना सामर्था होवे तव साडिआं सत्त ७ धेनु दानकरे इसमें भी ना सामर्था होवे तव साडेबाईस २२ कार्षापण दान करे अर शक्तिसें दक्षिणा देवे धेनुका अर्द्ध पूर्वोक्त मुल्ल कर्के हिजानणा एह संकरी करण

॥ पाप समाप्त भया ॥ ❀❀
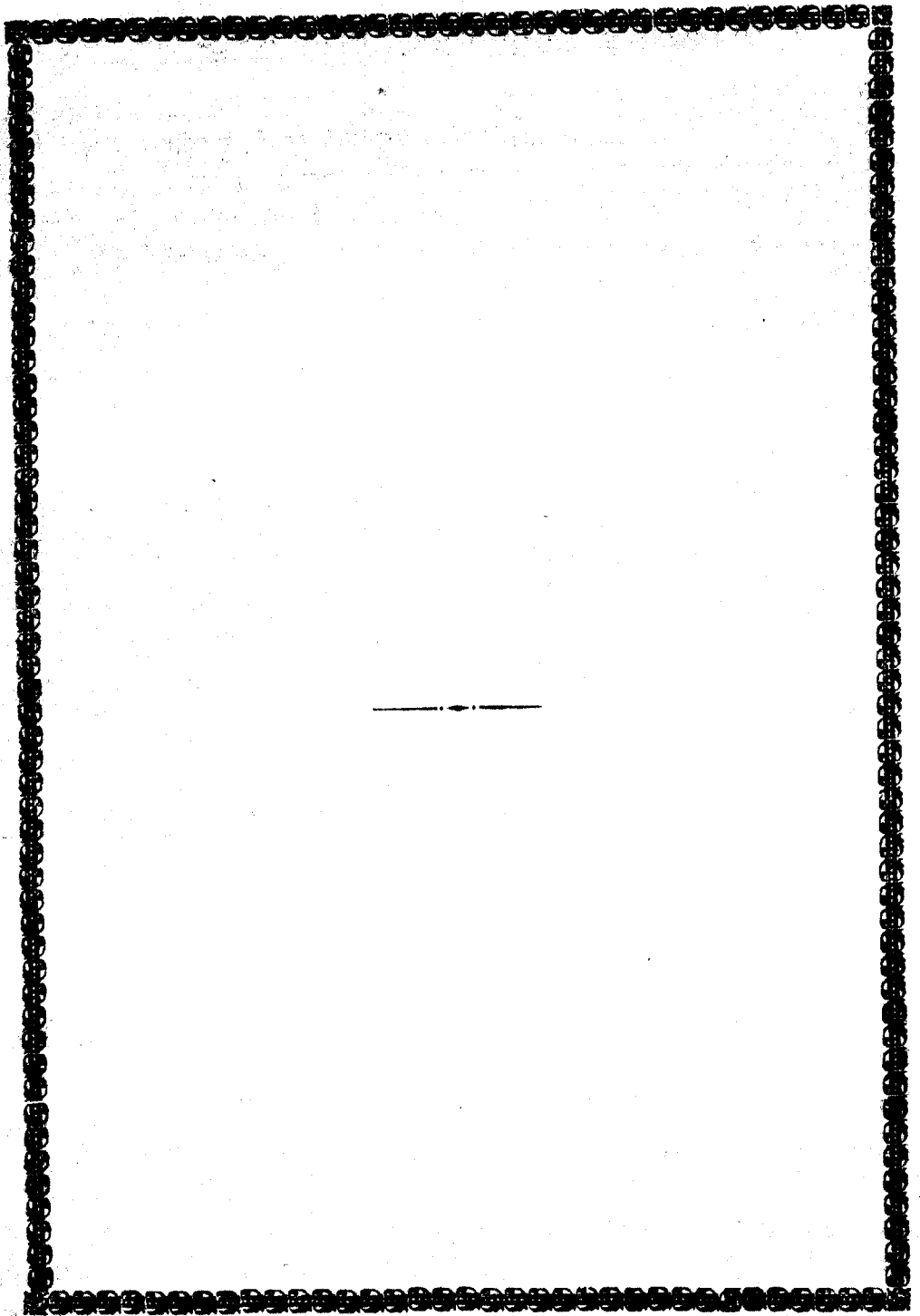
अथेति संकरीकरणतें उपरंत अपात्री करणपाप कहतेहैं ॥ इसकेविषें मनुजीकावाक्यहै ॥ निंदि तेति शूद्र और पापी इत्यादिउँतें दानलैणा और शूद्रका कर्म करणा और शूद्रकी सेवा करणी और झूठ बोलना एह एक भी कर्म कीता होआ अपात्री करण पाप होताहै ॥ अप्रति इत्या दिपदोंकर्के इसी श्लोककाहि अर्थ कीताहै ॥ १ ॥ और याज्ञवल्क्यजीनें इसमें भेद कहाहै ॥ निंदीति ॥ निंदितादिउँतें दान लैणा और शूद्रका कर्म करणा और व्याज कर्के जीवि का करणी और झूठ बोलना और शूद्रकी सेवाकरणी एह अपात्री करण पाप कहेहैयन और इसमै पूर्वोक्तसे वृद्धि जीवन अधिकहै प्रायश्चित्त रत्नादिग्रंथोंमें मनु वालाहि अपात्री

अथापात्रीकरणम् तत्रमनुः ॥ निंदितेभ्योधनादानंवाणिज्यंशूद्रसेवनम् अपात्रीकरणंज्ञेयमसत्यस्यचभाषणम् । १ । अस्यार्थःअप्रतिग्राह्यधनेभ्यः प्रतिग्रहो वाणिज्यं शूद्रस्यपरिचर्य्या अनृताभिधानं इत्येतत्प्रत्येकमपात्री करणंज्ञेयम् ॥ याज्ञवल्क्येनतु निंदितेभ्योधनादानं वाणिज्यं कुसीदजीवन मसत्यभाषणंशूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणान्युक्तानि प्रायश्चित्तरत्नादौमनू क्तमेवापात्रीकरणलक्षणम् ॥ विष्णुस्मृतौतु याज्ञवल्क्यसमानम् ॥ अपा त्रीकरणपापापायप्रायश्चित्तमाहमनुः। संकरापात्रकृत्यासुमासंशोधनमैन्द वमिति ॥ निन्दितेभ्योधनादानामित्यादिनाचापात्रीकरणान्युक्तानि तेषांम ध्यादन्यतमामिच्छातः कृत्वा चान्द्रायणंमासंशुद्धयेकुर्यादिति ॥ प्रायश्चित्त मयूखेविष्णुः अपात्रीकरणंकृत्वातप्तकृच्छ्रेणशुद्धयति

करण कथन कीताहै और विष्णुस्मृतिमें याज्ञवल्क्य वाला अपात्री करण कहाहै । अपात्रीकरण पापके दूर करण वास्ते प्रायश्चित्तकों मनुजी कहतेहैं संकरेति संकरी करण और अपात्री करण पापों के विषें एक मासपर्यंत चांद्रायण व्रत करे तदशुद्धिहोतीहै इसीके अभिप्रायको कहतेहै निन्दि तेभ्य इति निंदितेभ्य इत्यादि कर्के कहे जो अपात्री करण पापहै तिनके मध्यमे एक किसीनें इच्छानालकीताहोवे तां तिसकी शुद्धि वास्ते एक मासपर्यंत चांद्रायण व्रतकों करे ॥ प्रायश्चित्त मयूख विषें विष्णुजीने कहाहै ॥ अपेति अपात्री करणपापनू करनवाला तप्तकृच्छ्रनालशुद्ध होताहै

श्रौर शीतकृच्छ्र करके अथवा वारंवार महासांतपन व्रत करणेकरके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अज्ञानतें अपात्री करण पापके विषे तप्त कृच्छ्र अथवा शीत कृच्छ्रकरे ॥ ज्ञानके विषेमें पूर्व की न्याईं म हासांतपन अथवा चांद्रायण व्रत नूं करे ॥ प्रायश्चित्त मयूखमें कहाहै कि आपदाकेविषे श्रेष्ठ शूद्रकी सेवादे करतिआं भी प्रायश्चित्तके योग्य नहि होता ॥ एह भेद दिखायाहै श्रौर प्रायश्चित्तें दुशेखरमें भी लिखाहै ॥ अज्ञेति ॥ अज्ञानतें अपात्री करण पापकेविषे तप्तकृच्छ्र अथवा शीतकृ च्छ्र नूं करे ॥ जब जानकरके करे तब महासांतपन अथवा चांद्रायण व्रत पूर्वकी न्याईं करे जब व्रतों मे ना सामर्थ्या होवे तब नवीन सूई होई गौकादान करे इसमें भी ना समर्थाहोवे तब सौ १०० कौडीका दानकरे श्रौर शक्ति नाल दक्षिणा देवे ॥ श्रौर कहतेहैं निंदितेभ्य इति पतितादिउंतें दान लेणा श्रौर शूद्रका कर्म करणा श्रौर शूद्रकी

शीतकृच्छ्रेणवाभूयोमहासांतपनेनवा १ अज्ञानादपात्रीकरणेतप्तकृच्छ्रम् शीतकृच्छ्रंवा ज्ञानतोमहासांतपनं चांद्रायणंवापूर्ववत्। प्रायश्चित्तमयूखेए वापदिसच्छूद्रस्यकृतेऽपिसेवने प्रायश्चित्ताधिकारी न भवतीतिभेदोदार्शितः। प्रायश्चित्तेन्दुशेखरे अज्ञानादपात्रीकरणे तप्तकृच्छ्रम् शीतकृच्छ्रंवा ॥ ज्ञानतोमहासांतपनंचान्द्रंपूर्ववत् तदशक्तौधेनुदानम् तदशक्तौचूर्णीदानं दक्षिणायथाशक्ति ॥ निंदितेभ्योधनादानेवाणिज्येशूद्रसेवने असत्यभाषणेच सकृत्करणे चतुरहःसाध्यंतप्तकृच्छ्रंशीतकृच्छ्रं वा तदशक्तौसपाद धेनुः तदभावेएकोनचत्वारिंशत्कार्षापणाः अभ्यासेमहासांतपनम् तदशक्तौषड्धेनवः तदभावे अष्टादशकार्षापणाः यथाशक्तिदक्षिणा अत्यन्ताभ्यासेचान्द्रायणम् तदशक्तौसार्द्धसप्तधेनवः तदभावेसार्द्धद्वाविंशति कार्षापणाः। यथाशक्तिदक्षिणा ॥ इत्यपात्रीकरणानि ॥ ३ ॥ ❀

सेवाकरणी श्रौर झूठ बोलना इनके एक वार करणे में चार ४ दिनका तप्त कृच्छ्र अथवा शीत कृच्छ्र करे इसमें ना समर्था होवे तद एक धेनुका चौथाईमुल्लऔर एक धेनुका दान करे इसमेंभी ना समर्था होवे तब उनताली ३९ कार्षापण दानदेवे अभ्यासके विषे महासांतपन व्रत करे इसमें ना सामर्था होवे तब छे ६ धेनु दानकरे ॥ एभी ना होसके तव अठारां १८ कार्षापणदानकरे श्रौर शक्तिनाल दक्षिणा देवे ॥ श्रौर अत्यंतअभ्यासमें चांद्रायण व्रत करे ॥ एभी ना होसके तद एक धेनु का आधा मुल्ल श्रौर सत्त ७ धेनु दान करे श्रौर एभी ना होसके तब साढे बाईस २२ कर्षापण दान करे श्रौर सामर्था नाल दक्षिणा दान देवे एह अपात्री करण पाप समाप्त भये ॥ ३ ॥ ● ❀

क्रम करके प्राप्त होआ जो मलावह पाप तिसकों मनुजी कहतेहैं ॥ कृमीति कीडिआं और कीडे और पक्षी इनांका मारणा और जो मदिराके साथ लिआंदा शाकादिहै तिसका भक्षण करणा और फल और लकडीआं और पुष्प इनां का चुराणा और थो ढी जहि हानि दे होआं होआं वहुत व्याकुलता होणी एह एक भी कर्म मलिनी करण पाप है॥ १ ॥ कृमि पद करके छोटे कीडे ग्रहण करणे ॥ तिनांति कुछक वडे जोहयन सों कीट पद करके ग्रहण करणे(वयः) इसपद करके पक्षिग्रहणाकरणे इनांका मारणा अर एहि अर्थ स्पष्ट

क्रमप्राप्तंमलावहमाहमनुः ॥ कृमिकीटवयोहत्यामद्यानुगतभोजनम् फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्य्यंचमलावहम् ॥ १ ॥ कृमयःक्षुद्रजंतवःतेभ्यईषत्स्थूलाःकीटाः । वयांसिपक्षिणःतेषांहत्यावधः मद्यानुगतं शाकाद्येकत्रपिण्कादौकृत्वामद्येनसहानीतंयद्भोज्यंतस्यभोजनम् केचित्तु मद्यानुगतंमद्यसंस्पृष्टमित्याहुः प्रायाश्चित्तगौरवात्तदुपेक्ष्यम् ॥ फलकाष्ठपुष्पाणांचौर्य्यं देवतार्थंपुष्पचौर्य्येनदोषः ॥ अल्पेऽपचयेप्यत्यंतवैक्लव्यं एतत्प्रत्येकंमलिनीकरणम् याज्ञवल्क्येनतु जलचरपक्षिघातनमपिमलावहमुक्तम् इदमेवप्रायश्चित्तप्रकरणप्रायश्चित्तकदंवादौ वर्त्तते विष्णुस्मृत्यांच ॥

..र ॥
करी दाहै मद्येति मद्यानुगतं इस पद करके क्या लयणा कि मदिराके साथ एक टोकरे दाक्षि आंदाजो शाकादि भक्ष्यहै तिसका भक्षण करणा ॥ कईक मद्यानुगतं इसपद की न्यूनता रा करके स्पर्श कीते होए कों ग्रहण करते हैं सो यथार्थ नहि क्योंकि उप्रश्चित्त किहाहो वहुतहै ॥ इसमे इतनाभी अर्थ प्रकरणांतरका किहा होआ जानणा कि पुष्प चुराणे का दोष नहि ॥ अर याज्ञवल्क्यजीने जल चर पक्षिका भ नी करणा पाप कहाहै ॥ एहि प्रायश्चित्त प्रकरण अर प्रायश्चित्तकदंव अर इत्यादिउोंमें भी लिखाहै ॥

मलावह पाप के प्रायश्चित्तको मनुजी कथन करतेहैं ॥ मलिनीति मालिनी करण पापों के विषे जवां के काडे करके तीन ३ दिन तप्त कृच्छ्र करे इति ॥ इसीका अर्थ स्पष्ट करके कहतेहैं कृमीति कृमिकीट वयोहत्या इत्यादि करके कथन कीते जो मलिनी करण पाप हैं तिनके मध्यमें इच्छा नाल एक कों भी करके तीन ३ दिन जवांके कोटेकों काहड करके भक्षण करे ॥ प्रायश्चित्त मयूख अर विष्णु स्मृति इनमें भी विष्णु जीका वाक्य है ॥ मलिनीति मलिनी करण पापोंके दूरकरणे वास्ते तप्त कृच्छ्र व्रत है अथवा कृच्छ्रातिकृच्छ्र प्रायश्चित्त पापका शोधन वाला है ॥ १ ॥ इसमें अज्ञानतें मलि

मलावहप्रायश्चित्तमाहमनुः ॥ मलिनीकरणीयेषुतप्तःस्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ कृमिकीटवयोहत्येत्यादिनामलिनीकरणान्युक्तानि तन्मध्यादेकमपीच्छातः कृत्वात्रिरात्रंयवागूक्कथितामश्नीयात् ॥ प्रायश्चित्तमयूखे विष्णुस्मृत्यांच विष्णुः ॥ मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रंविशोधनम् कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवाप्रायश्चित्तंविशोधनम् १ अत्राज्ञानात्त्र्यहंयावकम् ज्ञानात्तप्तकृच्छ्रं अज्ञानतोऽभ्यासे कृच्छ्रातिकृच्छ्रम्॥ प्रायश्चित्तेन्दुशेखरे अज्ञानतोमलिनीकरणानुष्ठाने त्र्यहंतप्तयावकपानम् ज्ञानात्तप्तकृच्छ्रः महासांतपनंवा अज्ञानतोऽभ्यासे कृच्छ्रातिकृच्छ्रः ज्ञानतोऽभ्यासेद्विगुणम् ॥

सेव ण बिषे तीन ३ दिन जवां को भक्षण करें । जब जान करके पाप करै तब तप्त कृच्छ्र कृच्छ्र पर अज्ञानते अभ्यासमें कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे ॥ प्रायश्चित्तेंदुशेखरमें भी लिखा नुका दान ति ॥ अज्ञानतें कीता जो मलिनी करणहै तिसके प्रायश्चित्ताऽनुष्ठानके विषे तीन महासांतपन ा काहड करके पानकरे ॥ अर ज्ञानके विषे में तप्त कृच्छ्र अथवा महा सांतपन ठारां १८ के अज्ञानतें अभ्यासके विषेमें कृच्छ्राति कृच्छ्र व्रत करे ॥ अर ज्ञानते अभ्या व्रत करें ॥ ए २ कृच्छ्रातिकृच्छ्र करणे चाहिए ॥
एभी ना हीं
देवे एह क

अर जब व्रत करणमें ना सामर्था होवे तब नवप्रसूता गौका दान करे ॥ इसमें भी ना सामर्था होवे तद सौ १०० कौडीका दान करे ॥ अर शक्ति नाल दक्षिणा देवे ॥ कृमि और कीडे और पक्षि इनके एक वार मारणेमें तीन ३ दिन जवांका जल भक्षण करे अर मद्यानुगत द्रव्यके भोजनमे अर्थात् जिसवस्तुके साथ मदिराकापात्र ल्यांदाहै तिसवस्तुके भोजनमें अर फल और काष्ट और पुष्प इनके चुराणके अभ्यासमें तप्तकृच्छ्र व्रत करे ॥ इसमें ना सामर्था होवे तब चार ४ नव प्रसूता गौआंका दानकरे इसमें भी ना शक्ति होवे तद बारां

प्रायश्चित्ताशक्तौधेनुदानम् तदशक्तौचूर्णीदानम् यथाशक्तिदक्षिणा ॥ कृमिकीटपक्षिणांहननेसकृदाचरणे त्र्यहंयावकम् मद्यानुगतद्रव्यभोजने फलकाष्ठपुष्पाणांस्तेयेऽभ्यासेतप्तकृच्छ्रम् तदशक्तौचतस्त्रोधेनवः तदभावे द्वादशकार्षापणाः ॥ अधैर्येऽत्यंताभ्यासे कृच्छ्रातिकृच्छ्रम् तदशक्तौपंच धेनवः तदभावेपंचदशकार्षापणाः यथाशक्ति दक्षिणा ॥ एतच्चतुष्टये प्रायश्चित्तानुक्तौ तारतम्यंस्वयमूह्यम् ॥ इतिमलावहानि ॥ ४ ॥ *

१२ कार्षापण दानकरे अर अधैर्यंता जो पीच्छेकहीहैं तिसके अत्यंताभ्यासमे क्या बहुवारकरणेमे कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे ॥ अर व्रतमें ना शक्ति होवे तब पांच ५ धेनुका दान करे ॥ अर एभी ना कर सके तब पंदरां १५ कार्षापणका दान करे ॥ अर शक्ति नाल दक्षिणा देवे ॥ इन चारों पापांमें जहां प्रायश्चित्त नहि कहा तिस स्थानमें पापकी न्यूनता अधिकता देख करके प्रायश्चित्त करणा ॥ एहमलावहनाम वाले पापोंका प्रायश्चित्त किहाहोआ समाप्तहोया ॥ ४ ॥ ⊛ ॥

अथेति मलिनीकरण पापसें उपरंत क्रम करके प्राप्त होए जो प्रकीर्णक पापोंके प्रायश्चित्तहैं तिनांको कहतेहैं तिनके विषे मनुजी का वाक्यहै अन्येति पूर्व कथन कीते जो पापहैं तिनां ते भिन्न संपूर्ण प्रकीर्णक पापहैं तिसनू कथन करतेहैं ॥ सो कहाहै प्रायश्चित्त मुक्तावली के वि षे नारदजीने राज्ञामिति राजओं की आज्ञाका अर तिस प्रकार तिनकेकाथित कर्म का न करणा ऊंर एकवार संकल्प कीती होई वस्तु का फेर संकल्प करणा ऊंर स्वामी ऊंर वजीर ऊंर मित्र ऊंर तोशे खाना ऊंर राज्य ऊंर किला ऊंर सेना ऊंर पुरके लोकोंकीआं पंक्तिआं इन की बुद्धिकी विपरीत ता होणी अर्थात् स्वोचित धर्म्म का परित्याग १ ऊंर वेदके प्रमाणनूना मनन वाला ऊंर नास्तिक ऊंर तरखाण अर लुहारादि दश संस्कार रहित ४ इनके संगते अधर्म

अथ क्रमोपस्थितानि प्रकीर्णकपापप्रायश्चित्तानि तत्रमनुः अन्यत्सर्वंप्रकीर्णकमिति पूर्वेभ्योऽन्यत् तत्तुवक्ष्यते तदुक्तं प्रायश्चित्तमुक्तावल्यां नारदेन राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्माकरणंतथा पुनःप्रदानंसंभेदःप्रकृतीनांतथैवच ॥ १ ॥ पाषण्डिनैगमश्रेणिगणधर्म्मविपर्य्ययाः पितापुत्रविवादश्चप्रायश्चित्तावपर्य्ययः ॥२॥ प्रतिग्रहविलोपश्चकोपश्चाश्रमिणामपि वर्णसंकरदोषश्चतद्वृत्तिनियमस्तथा नदृष्टंयत्तुपूर्वेषुसर्वंतत्स्यात्प्रकीर्णकम् ॥३॥ पुनः प्रदानं दत्तस्यैवदानम् संभेदोवैमत्यम् प्रकृतीनामित्यर्थः पाषण्डिनोवेदस्यप्रामाण्यमेवनमन्यमानाःसौगतादयः नैगमावेदस्यान्यप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यवादिनः श्रेणयएकाशिल्पोपजीविनः गणोव्रात्यःएषांसंबंधाद्धर्मविपर्ययोऽधर्मः ॥

होणा ऊंर पिता पुत्रका झगडा ऊंर प्रायश्चित्त का विपर्य्यय करणा अर्थात् चांद्रायण व्र के विषे कृच्छ्र करणा अर कृच्छ्रके विषे तप्त कृच्छ्र करणा इत्यादि विपर्य्ययकरणाहै । २। ऊंर दाननू चुककर फेर उसकों छपालैणा ऊंर ब्रह्मचारी १ ऊंर गृहस्थी २ ऊंर बानप्रस्थी ३ ऊंर संन्यासी ४ इनके उप्परवृथाक्रोधकरणा ऊंर वर्ण संकर दोष ऊंर ब्राह्मणनेक्षत्रियादिऊंके कर्म करके उपजीविका करणी ऊंर वडऊंके विषे नही देखिआ जो कर्महै तिसका करणा एह संपूर्ण प्रकीर्णक पाप कहाहै ॥३॥ पुनः प्रदानं इत्यादि पदों करके इनां श्लोकोंकाहि अर्थ स्पष्ट कीताहै इन संपूर्णोंका प्रायश्चित्त साधारण प्रकरणमें देखलैणा ॥ और जो इसमें विशेष आवेगा सो किहाजावेगा ॥

औरं प्रकार कथन करतेहैं ॥ तिसकें विषे याज्ञवल्क्य जीका वाक्यहै ॥ प्राणेति गर्दभ १ और ऊट २ इन करके युक्त जो बग्गी आदिक है तिसके उपर चढ करके जो पुरुष जाताहै और नंगा जो स्नान करताहै और धोती ना लाकर जो पुरुष अन्न खांदाहै और दिने अपणी स्त्रीके साथ मैथुन करताहै सो पुरुष तला और नदी आदि ओंकेविषे स्नान नूं करके पश्चात् प्राणायामकों करे तों शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ एह इच्छाके विषयमें जानना इसी विषयमे मनुजी का वाक्यहै उष्ट्रेति ऊट और गर्दभ करके युक्त जो असवारीहै तिस उपर इच्छा सें जो आरूढ होताहै सो पुरुष सहित बस्त्रोंके जलविषे स्नान करके पश्चात्

प्रायश्चित्तविपर्ययो व्यत्ययेन चांद्रेकृच्छ्रकरणं कृच्छ्रे तप्तकृच्छ्रमित्यादि प्रतिग्रहविलोपोगृहीतप्रतिग्रहसंगोपनम् तद्वृत्तिनियमोवर्णसंकरवृत्तिः क्षत्रियादिवृत्तिस्तयानापद्यपिजीवनम् ॥ एषांप्रायाश्चित्तं साधारणप्रकरणे द्रष्टव्यम् विशेषस्तूच्यते) * तत्रयाज्ञवल्क्यः प्राणायामीजलेस्नात्वाखर यानोष्ट्रयानगः नग्नःस्नात्वाचभुक्त्वाचगत्वाचैवादिवास्त्रियम् १ ॥ अस्यार्थः खरयुक्तंयानंखरयानम् उष्ट्रयुक्तंयानमुष्ट्रयानम् रथगंत्र्यादि तेनाध्वगम नंकृत्वादिगंवरः स्नात्वाऽभ्यवहृत्यवा वासरेच निजांगनासंभोगं कृत्वाच तडागतरंगिण्यादाववगाह्यकृतप्राणायामःशुद्ध्यति ॥ इदंच कामकारविषय म् उष्ट्रयानंसमारुह्यखरयानंतुकामतः सवासाजलमाप्लुत्यप्राणायामेनशु द्ध्यतीति मनुस्मरणात् अकामतःस्नानमात्रंकल्प्यम् साक्षात्खरारोहणे तुद्विगुणावृत्तिः कल्पनीया तस्य गुरुत्वात् ॥१॥ विष्णुरपि ॥ उष्ट्रेणवाग त्वानग्नःस्नात्वाभुक्त्वाच प्राणायामंकुर्य्यादिति ॥ साक्षात्खरोष्ट्रारोहणेयमः खरयानमुष्ट्रयानंवाधिरोहेद्द्विजोत्तमः अपोवाप्रविशेन्नग्नस्त्रिरात्रंक्षप णंस्मृतमितिप्रायश्चित्तमयूखः ॥ १ ॥

प्राणायामके करणे करके शुद्ध होताहै और अकामके विषयमे केवल स्नानहीं कहाहै साक्षात् गर्द भउपर आरूढ होणेमें दो २ बार स्नान और प्राणायाम करणा चाहिए क्यों कि इसको बडा पाप होणेतें ॥ १ ॥ विष्णु जीका भी कथन है ऊटके उपर चडकर और नग्न होकर स्नान करके और नग्न होकर अन्न खा करके प्राणायाम नूं करे इति ॥ साक्षात् ऊट और गर्दभके विषे प्रायश्चित्त मयूखमें यमजीने कहाहै खरेति गर्दभ और ऊट इनकरके युक्त जो असवारीहै तिस उपर अथवा साक्षात् गर्दभ और ऊट उपर जो आरूढ होताहै और नग्न जो स्नान करताहै तिस पुरुषकी शुद्धिके वास्ते तीन रात्रि उपवास लिखाहै ॥ १ ॥

गुरुमिति पिता और ताउ और चाचू इत्यादिओं कों झिडक करके अर्थात् तुंहि कैंदाथा अर तैनैंहि एह कीता इस प्रकार एक वचन उच्चारण करणे करके झिडक करके और ब्राह्मण और बडाभ्राता और छोटाभ्राता इनानूंभी क्रोधसें झिडक करके अर्थात् तूंचुप करके बैठ मत बोल इसप्रकार झिडक करके और झगडे सें अथवा हासेसें ब्राह्मणनूं जित करके अर वस्त्र करके थोडा जिआभी गलकैं विषे बांधे तब उसके चरणानूं पकडकर क्रोधनूं त्यागकरा करके एकदिन उपवासकरे १ । गुरुं जनकादिकं इत्यादि पदोंमें इसकाहि अर्थहै ॥ जो यमजीनेकहाहै वादेनेजि ब्राह्मणनूं झगडेसें जित करके प्रायश्चित्तकी इच्छा

गुरुंहुंकृत्यतुंकृत्यविप्रंनिर्जित्यवादतः वद्ध्वावावाससाक्षिप्रंप्रसाद्योपवसेद्दिनम्॥१॥ गुरुंजनकादिकंतुंकृत्यत्वमेवमात्थ त्वयैव कृतमित्येकवचनांतयुष्मच्छब्दोच्चारणेन निर्भर्त्स्यविप्रं वा ज्यायांसं समंकनीयांसं वा सक्रोधंहुंतूष्णीं मास्वहुंमावहुवादीरित्येवमाक्षिप्य जल्पवितंडाभ्यां जयफलाभ्यांविप्रंनिर्जित्यकंठे वाससा मृदुस्पर्शेनापि वद्ध्वा क्षिप्रंपादप्रणिपातादिनाप्रसाद्य क्रोधंत्याजयित्वादिनमुपवसेत् अनश्नन्कृत्स्नंवासरंनयेत् । यत्तुयमेनोक्तम् वादेनब्राह्मणंजित्वाप्रायश्चित्तविधित्सया त्रिरात्रोपोषितःस्नात्वाप्रणिपत्यप्रसादयेदिति ॥ १ ॥ तदभ्यासविषम्॥मनुः ॥ हुंकारंब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारंचगरीयसः स्नात्वानश्नन्नहःशेषमभिवाद्यप्रसादयेत् १ ताडयित्वा तृणेनापिकण्ठेचावध्यवाससा विवादेवाविनिर्जित्यप्रणिपत्यप्रसादयेत् २ अर्थः हुंतूष्णींस्थीयतामित्याक्षेपंब्राह्मणस्यकृत्वा विद्यादिनाधिकस्य त्वंकारंचोक्त्वा अभिवादनकालादारभ्याहःशेषं यावत्स्नात्वा भोजनानिवृत्तः पादोपग्रहणेनापगतकोपं कुर्य्यादिति ॥

करके तीन ३ रात्रि उपवास रखकर स्नान करके ब्राह्मणके चरणांनूं पगड करके प्रसन्नकरे १ ॥ एह अभ्यासका विषयहै अर्थात् बहुतवार पाप करणेमे प्रायश्चित्तहै ॥ मनुजीका भी वाक्यहै हुमिति तूं चुप करके बैठ इसप्रकार ब्राह्मणकों झिडककर कहे अर तुंहि कैंहदाहैं तैनैंहि कीताहै इसप्रकार विद्या करके अधिकनूं झिडक करके अर नमस्कार और स्नान इनांनूं करकें तिससें लैकर रैंदा जेडा दिनहै तिसके विषे ब्राह्मणके चरणोंकों पगड करकें प्रसन्नकरे । १ । अर जब तृणभी ब्राह्मणको मारे अर गल विषें बस्त्रपाए अर झगडे करकें जिचे तौभी चरणों पगड करकें प्रसन्नकरे अर्थः इत्यादि पदोंसें इसीका अर्थ स्पष्टकीताहै ॥ २ ॥

॥ कुत्रक और कहतेहैं ॥ विप्रेति ॥ ब्राह्मणकों मारणदी इच्छा करके सोटा उगणे में कृच्छ्र व्रत अर डंडा मारणेमें अति कृच्छ्र अर रुधिर निकालनेमें कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत शुद्धिका कारणहै ॥ अर मारणे करके अंदर रुधिर पाणेमें भी कृच्छ्र व्रत शुद्धिका कारणहै ॥ १ ॥ विप्रजिघांसया इत्यादि पदोंमे इसीश्लोककाहि अर्थहै ॥ बृहस्पतिजोने इसमें विशेष कहाहै ॥ काष्ठेति काष्ठादिके मारणें करके त्वचा छेदन करे तब कृच्छ्र व्रतनूं शुद्धिके वास्ते करे अर जब पाषाणादि मार करके हड्डी भग्न देवे तब अतिकृच्छ्र व्रतनूं करे अर अंग छेदनमें पराकव्रत शुद्धिका कारणहै ॥ १ ॥ यमजीकाकथनहै॥ पादेनेति चरणकरके ब्राह्मणनूं स्पर्शकरे तब प्रायश्चित्तके विधानकी इच्छा करके दिनके विषे उपवास करे अर स्नान करे ब्राह्मणनूं चरणातें पकड कर प्रसन्नकरे ॥ १ ॥ एह सानुबंध विषयमेंहे अर्थात् अनुबंध साथजो

किंच विप्रदंडोद्यमेकृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रोनिपातने कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोभ्यंतरशोणितइति १ विप्रजिघांसयादंडोद्यमेकृच्छ्रःशुद्धिहेतुः निपातनेताडनेअतिकृच्छ्रः रुधिरस्रवणेकृच्छ्रातिकृच्छ्रः ताडनादिनाअभ्यंतरशोणितेपिकृच्छ्रःशुद्धिहेतुः॥ बृहस्पतिनाप्यत्रविशेषउक्तः॥ काष्ठादिना ताडयित्वात्वग्भेदेकृच्छ्रमाचरेत् अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रःस्यात्पराकस्त्वंगकर्तने १ यमः॥ पादेनब्राह्मणंस्पृष्ट्वाप्रायश्चित्तविधित्सया दिवसोपोषितः स्नात्वाप्रणिपत्यप्रसादयेत् १ सानुबंधेएतत्अनुबंधश्चवाचाधर्षणम् इच्छापूर्वकदोषकरणमनुबंधइतिशब्दार्थचिंतामणिः॥ तथा॥ अवाच्यंब्राह्मणस्योक्त्वाप्रायश्चित्तंविधीयते कृच्छ्रातिकृच्छ्रंकृत्वातुप्रणिपत्यप्रसादयेत् १ ॥ एतत्तुपीडातिशयऽनुबंधातिशयेच आक्रोशमनृतंहिंसामनुबंधंसमाचरेत् एकरात्रंत्रिरात्रंवाषड्रात्रंवाविधीयते ॥ २ ॥

पाद स्पर्शहै तिस विषे जानणा अनुबंध क्या वाणी करके जो निरादर करणा तिसका नामहै. इच्छा सें जो दोष करणाहै तिसका नाम अनुबंधहै एह शब्दार्थ चिंतामणिमें लिखा है॥ तिस प्रकार औरभी कहतेहैं अवेति ब्राह्मणकों खोटा वचन कहके प्रायश्चित्तनूं करे क्या कृच्छ्राति कृच्छ्र व्रतनूं करके चरणोंतें पकड कर ब्राह्मणकों प्रसन्न करे॥ १ ॥ एहअतिशयकरके पीडा अर अतिशय कर्के अनुबंधके विषे जानणा॥ अब और कथन करतेहैं आक्रोशमिति ब्राह्मण और गुरु और वृद्ध और सिद्ध इनको झूठी चोरी लगाणी और झूठा कथन करणा और हिंसा और इच्छा सें व्यभिचारादि अपराध करणा इनांनूं आचरण करके एकरात्र अथवा तीन ३ रात्र अथवा छे६ रात्र उपवासकरे ॥ २

मनुजीका वाक्यहै ॥ विनेति जलतेंविना अथवाजलकेमध्यमें जो पुरुष मूत्रऊेर विष्ठा नूं करताहै सो ग्रामतेवाहर जाकर सहितवस्त्रोंके नद्यादिमें स्नानकरके पीछेसें गौनूंस्पर्शकरके शुद्ध होताहै १ ॥ एह विनाकामनासें जो पापहै तिसकाविषयहै । असन्निहित इत्यादिपदोंमें इसश्लोककाहि अर्थहै अबकामनाके विषयमेंकहतेहैं आपेति आपदाकेविषें जोपुरुषजलतें विनामूत्र ऊेर पुरीष कों करदाहै अर्थात् जलतें बिना पिशाव ऊेर दिशा वैठदाहै सो एक दिन उपवास नूं करके पश्चात् समेत वस्त्रांदे जल विषे स्नानकरे एह यमजीका कथन जानना ॥ १ ॥ अनापदा केविषें इसतें दूणाकरे ॥ जो सुमंतुजीकावाक्यहै कि जलांके मध्यमें ऊेर अग्नि के विषें मूत्र ऊेर पुरीषकों जो पुरुष त्यागता है तिसको तप्तकृच्छ्र व्रत करणा चाहिए ॥ एह सुखवालेपुरुषका ऊेर अभ्यासकाविषयहै । अनभ्यासके विषे शंख ओर लिखितजो कहतेहैं रेत इति

मनुः ॥ विनाद्भिरप्सुवाप्यन्तः शारीरंसन्निषेव्यतु सचैलोवहिराप्लुत्यगामा लभ्यविशुद्ध्यति।१ असन्निहितजलोजलमध्येवाशारीरंमूत्रपुरीषादिकंकृत्वा सवासावहिर्ग्रामाद्नद्यादौ स्नात्वा गां च स्पृष्ट्वाशुद्ध्यति।इदमकामतः का मतस्तु आपद्गतोविनातोयंशारीरंयोनिषेवते एकाहंक्षपणंकृत्वासचैलो जलमाविशेदितियमोक्तंवेदितव्यम् अनापदितु द्विगुणम् यत्तु सुमंतुवचन म् अप्स्वग्नौ वामि हतस्तप्तकृच्छ्रमिति तदनार्त्तविषयमभ्यासविषयंवा अ नभ्यासेतु शंखलिखितौ रेतोमूत्रपुरीषाण्युदकेकृत्वात्रिरात्रोपोषितइदमा पः प्रवहतेत्यृचंजपेत् यमः अटव्यामटमानस्यब्राह्मणस्यविशेषतः प्रणष्टस लिलेदेशेकथंशुद्धिर्विधीयते॥१॥अपोदृष्ट्वैवविप्रस्तुकुर्य्याच्छौचंसचैलकम्॥ गायत्र्यष्टशतंजप्यंस्नानमेतत्परंभवेत् ॥ २॥ देशंकालंसमासाद्यानावस्था मात्मनस्तथा धर्म्मंशौचंचसंतिष्ठेन्नकुर्य्यान्वेगधारणम् ॥३॥ वेगोमलवेगः

जोपुरुष वीर्य ओर मूत्र ओर पुरीष इनांनू जलके विषें त्यागताहै सो पुरुष तीन ३ रात्र उपवासनू रखकर इद माप प्रवहतइस ऋचांकों एकवार अथवा १० वार जपे यमजीका वाक्यहै (प्रश्न) अटव्यामिति वनके विषे गमन करदा होआ सुचेतहोणेकी इच्छावालाजो ब्राह्मणहै जलतें रहित देशके विषें तिसकी किसप्रकार शुद्धि विधानकीतिहैं ॥ १ ॥ (उत्तर) तिसकी शुद्धि कहतेहैं ॥ अपइतिसो ब्राह्मणजलनूं देख करके सहित वस्त्रांदे शुद्धि नूं करेपश्चात् एक सौ आठ १०८ वारगायत्रीको जपे एह परम स्नानहोताहै ॥२॥ देशमिति देश ओर काल ओर अपनी अनवस्थाकों प्राप्तहोकरके धर्म ओर शुद्धि नू जैसादेखेतैसा कर लेवे ओर मलके वेग नू कदेभी ना धारण करे क्यों किमलकावेग सहारणे सेरोगकी उत्पत्ति होजातीहै॥३

नित्यकर्मोंके नाशके विषे मनु जी प्रायश्चित्त कथन करतेहैं ॥ वेदवितेति वेदके विषें विधान कीते जो संध्यावंदन अग्नि हवनादि नित्य कर्महैं तिनके और मनुस्मृतिके चौथे ४ अध्यायमें कथन कीते जो स्नातक व्रतहैं तिनके नाशहोआं होआं एक १ उपवास व्रत कोंकरे ॥१॥ वेद विहित इत्यादिपदोंकरकेंइसी श्लोककाहि अर्थस्पष्ट कीताहै ॥इसी विषे में वृहस्पतिजीका भी वाक्यहै ॥ अनीति पाठ १ और होम २ अतिथि पूजन ३ और तर्पण ४ और वैश्वदेववलि ५ इनापंचमहायज्ञांको न कर्के रोगादितें रहित होआ होआ और धनके भी होआं होआं जो गृहस्थी पुरुष अन्नका भक्षण करदाहै सो आधे कृच्छ व्रत कर्के शुद्ध होताहै ॥१॥ आहितेति अग्नि होत्री जो पुरुष अष्टमी १ और द्वादशी २ और अमावास्या ३ और पौर्णमासी ४ और सूर्य्य संक्रांति ५ इन पंचपर्वोंके विषे होमनूं नहि करदा

नित्यकर्म्मलोपेतुमनुः ॥ वेदोदितानांनित्यानांकर्म्मणांसमातिक्रमे स्नातकव्रतलोपेचप्रायश्चित्तमभोजनम् ॥१॥ वेदविहितकर्म्मणामग्निहोत्रादीनामनुपदिष्टप्रायश्चित्तविशेषाणांचपरिलोपे मनुचतुर्थाध्यायोक्तानांस्नातकव्रतानांच लोप जाते एकाहोपवासंव्रतंकुर्य्यात् ॥ वृहस्पतिः ॥ अनिर्वर्त्यमहायज्ञान्योभुंक्तेप्रत्यहंगृही अनातुरः सतिधनेकृच्छ्रार्द्धेनसशुद्ध्यति॥१॥आहिताग्निरुपस्थानंनकुर्य्याद्यस्तुपर्वाणि ऋतौनगच्छेद्भार्य्यांयः सोपिकृच्छ्रार्द्धमाचरेदिति॥२॥स्नातकव्रतमधिकृत्यक्रतुनाप्युक्तम्॥एतेषामाचाराणामेकैकस्यव्यतिक्रमेगायत्र्यष्टशतंजप्त्वापूतोभवति॥ अत्रविशेषोऽग्रेवोध्यः । ऋष्यशृंगः ॥ इन्द्रचापपलाशाग्निंयद्यन्यस्यप्रदर्शयेत् प्रायश्चित्तमहोरात्रंधनुर्दंडश्चदक्षिणेति ॥१ ॥इन्द्रचापोमेघांतरीयःअकस्मात्पलाशेषुपत्रेषुजातोयोऽग्निःसपलाशाग्निः इंद्रचापप्रदर्शनेधनुर्दक्षिणा पलाशाग्निप्रदर्शनेदंडइति

और जो पुरुष ऋतुकालके विषे अपणी स्त्रीमेंगमन नहि करदा सोभी अर्द्धकृच्छ्र व्रत नूं करे ॥ २ स्नातक व्रतकों अधिकार करके क्रतुजीनेभी कहाहै ॥ एतइति इनां कर्म्मां के मध्यमें एकके भी व्यतिक्रमके विषय अर्थात् नाशदे होआंहोआं गायत्रीको एकसौ आठ वार १०८ जप करके पवित्रहोता है ॥ इसके विषय अधिक कहणाहै सो आगे जाणलैणा ऋष्यशृंग जीका वाक्यहै मेघ वर्षणतें पीछे जो आकाशके विषें इंद्रका धनुष पडताहै तिसकों और पत्रांके विषस्वभावक उत्पन्न होआ जो अग्नि है तिसकों जद औरी पुरुषकों दखावे तब एक दिन रात्र उपवास करे अर धनुष और दंड एह दक्षिणा देवे अर्थात् इंद्रचाप दखाणेमें धनुष दक्षिणा अर पलाशअग्नि दखाणेमें दंडा दक्षिणा ॥ १ ॥

शंखऋषिका वचनहे अध्येति ॥ पलाशवृक्षकी खड और गाडी और पौये और दातन इनांकों प्राप्तहोकरके ब्राह्मण और क्षत्रि और वैश्य तीन ३ रात्र उपवास व्रतकरे। १। अब क्षत्रीकों युद्ध के विषय नसनेका दोष कहतेहैं क्षत्रीति क्षत्रीजो युद्धके विषय मृत्युतें डरता होआ नससआवे अर फलवाले वृक्षकों जो काटताहै सो पुरुष एक वर्षपर्यंत व्रतकोंकरे इसमें यावक व्रतग्रहण करणा अर्थात् यव भक्षणकरणे पूर्वोक्त शंखजीके वाक्यतें ।२। दो ब्राह्मणआदिके वीचलंघणे का दोष कहतेहैं ॥ द्वाविति दो ब्राह्मण १ ब्राह्मण और अग्नि २ अर स्त्री और पति ३ अर गो और बैल ४ इनके मध्यमे जवपुरुष लंघे तव सांतपन कृच्छ्र व्रतकों करे ॥ ३॥ इसी विषयमें जो अंगिरा ऋषिका वाक्यहै ॥ दंपती स्त्री और भर्त्ता अर दो ब्राह्मण

शंखः ॥ अध्यास्यशयनंयानंपादुकांदन्तधावनम् द्विजःपलाशवृक्षस्यात्रि रात्रंतुव्रतीभवेत् । १ ।क्षत्रियस्तुरणेपृष्ठंदत्त्वाप्राणपरायणः। संवत्सरंव्रतंकुर्य्या च्छित्त्वावृक्षंफलप्रदम् । २ । व्रतमत्रयावकंशंखोक्तत्वात् ।॥।द्वौविप्रौब्राह्मणा ग्नीचदंपतीगोवृषौतथा अन्तरेणयदागच्छेत्कृच्छ्रंसांतपनंचरेत् ॥ ३ ॥ यत्त्वं गिराः दंपत्योर्विप्रयोरग्न्योर्विप्राग्न्योर्वाद्विजातिषु अंतरंयोऽवगच्छेत्तुद्विज श्चान्द्रायणंचरेदित्येतत्कामकारविषयमभ्यासविषयंच॥होमकालेतथादोहे स्वाध्यायेदारसंग्रहे। अन्तरेणयदागच्छेद्द्विजश्चान्द्रायणंचरेत् ।२ । एतच्च मार्गान्तरसंभवेसतिद्रष्टव्यम् दोहे सान्नाय्यांगभूते ॥

२ दो अग्निआं ३ अर ब्राह्मण और अग्नि ४ इनकेमध्यमे ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य जो लंघता है सो पुरुष शुद्धिके वास्ते चांद्रायण व्रतकोंकरे । १ । एहकाम और अभ्यास का विषयहै ॥ अब और कथन करतेहैं । होमेति होम कालके विषय तिसप्रकार गौके दोहन स- मयमें अर अध्ययन समयमें अर विवाह समयमें ब्राह्मण अर क्षत्रि अथवा वैश्य जद मध्यमें लंघताहै सो शुद्धिके वास्ते चांद्रायण व्रतकोंकरे एहदोष दूसरे मार्गके होआहोआ जानणा जेकर और मार्ग नहोवे तव इसका दोषनहि जानणा इसजगा जो दोहनहै सो सान्ना य्यांग रूप जो यज्ञ कर्म्म तिसके अर्थवाले दोहनमे जानणा ॥ २ ॥

जलतें बिना मूत्र और पुरीष करणमें सुमंतुका भी वाक्यहै अनुदेति जलतें बिना मूत्र और पुरीषह नके त्यागनेके विषय अर नख और वाल और रुधिर इनके भक्षण करणेमें तात्काल स्नान करे अर घृत और कुशा और स्वर्ण इनका जल पानकरे इसमें घृतादि पानकों प्रायश्चित्तके अर्थ हो नेतें भोजन भक्षण न करणा किंतु उसीको भोजनके स्थानसमझणा यत्त्विति जो मूत्रऊर पुरीष इनके कीतिआं जद जल न होवे तब जलकोंप्राप्त हो करके सहित वस्त्रांदे स्नान करके पी छेते शुद्ध होताहै इहवाक्यहै ॥ १ ॥ और जो शातातपका वाक्यहै अनुदेति जलतें बिना मूत्र और पुरीष करणेमें सहित वस्त्रांके स्नानकरे और सप्त महाव्याहृतिआं करके हवन करे एह

अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सुमंतुरपि अनुदकमूत्रपुरीषकरणेनखकेशरुधिरप्राशने सद्यःस्नानं घृतकुशहिरण्योदकपानंचेति अत्र घृतादिपानस्य प्रायश्चित्तार्थत्वाद्भोजननिषेधः यत्तुकृतेमूत्रेपुरीषेवायदानैवोदकंभवेत् स्नात्वालब्ध्वोदकंपश्चात्सचैलस्तुविशुद्ध्यतीति १ यच्च शातातपः अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलंस्नानंमहाव्याहृतिहोमश्चेति तदकामतः तथा नोदन्वतोंभासिस्नायान्नचश्मश्र्वादिकर्त्तयेत् अंतर्वत्न्याः पतिःकुर्वन्नप्रजोभवतिध्रुवम् ॥ १ ॥ अयंचनिषेधःसप्तममासादूर्ध्वम् तथाच त्रिस्थलीसेतौवचनम् वपनंमैथुनंतीर्थंवर्जयेद्गुर्विणीपतिः श्राद्धंचसप्तमान्मासादूर्ध्वंनाऽन्यत्रवेदविदिति ॥ १

वाक्य अकामके विषयमे जानने॥तिस प्रकार गर्भवाली स्त्रीके पतिको समुद्र स्नानादिका निषेध करतेहैं नविति गर्भवाली स्त्रीका पति समुद्रके जलविषय स्नान न करे अर दाडीआदिके वालांनू भी न कटावे जो कदाचित् एह काम करे तब निश्चय करके संतानतें रहित होताहै एह निषेध सप्तम मासतें उपरंत जानना सप्तम मासतें उरे इनका दोष नहि जानना १ ॥ तिस प्रकार त्रिस्थली सेतुमें भी किसेका वचन लिखाहै वपनमिति गर्भवाली स्त्रीकापति वेदके जानने वाला सप्तम मासतें उपरंत मुंडन और मैथुनऊर तीर्थयात्रा औरश्राद्धका भोजन इनानूं नसेवे१

इस विषय साधारण प्रायश्चित्त जोडनें योग्यहै तैसै दखाते हैं ॥ प्राणेति इसजगा श्रे सा अर्थ करणाकि उपपातक जिनोंतें उत्पन्न होतेहैं जैसे अवगूरणादितें गोवध रूप उपापतक उत्पन्न होताहै ऐसे सभपापांके दूरकरणे वास्ते और अनादिष्टजोपाप हैं (नोदन्वतोंभ सिस्नायात्) इत्यादिश्लोकांकर्के कहेहोए तिना सबनां पापांके दूरकरणे वास्ते १०० प्राणा यामकिहाहै सर्व शब्दका अन्यइस रीतिसें लगाणा यथा भुत नहि लगाणा क्योंकि १०० प्राणायामसे सारे पाप नहि दूरहो सके ॥१॥ याज्ञवल्क्यजी का वाक्य कथनक रतेहैं देशमिति देश

श्राद्धंश्राद्धभोजनमित्यर्थः अत्र सामान्यप्रायश्चित्तंयोज्यम् तद्यथाप्राणा यामशतंकार्य्यंसर्वपापापनुत्तये उपपातकजातानामनादिष्टस्यचैवहीति ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्यः देशंकालंवयःशक्तिंपापंचावेक्ष्ययत्नतःप्रायश्चित्तंप्र कल्प्यंस्याद्यस्यचोक्तानानिष्कृतिरिति १ ॥ मनुः॥शरणागतंपरित्यज्यवेदंवि प्लाव्यचद्विजः संवत्सरंयवाहारस्तत्पापमपसेधति॥१॥अर्थः॥परित्राणार्थमु पगतं शरणागतं शक्तःसन्नुपेक्षतेयोद्विजःअनध्याप्यंवेदमध्याप्य एतज्ज नितंपापं संवत्सरं निरंतरं यवाहारोऽपनुदति उपपातकानिगोवधादीनि जातानियेभ्योऽवगूरणादिभ्यस्तानितेषांचपुनरनादिष्टस्यनोदन्वतोंभासि स्नायादित्यादिनाकथितसर्वपापापनुत्तये प्राणायामशतंकार्य्यमित्यर्थः

और कालऔर आयुषा और वल और पाप इनांनू देखकरके यत्ननाल प्रायश्चित्त कल्पना कर ना चाहिए अरजिसपापका प्रायश्चित्त नहिकहा तिसका भी यथा योग्य प्रायश्चित्त कल्पना कर णा चाहिए ।१।आगे मनुजीका वाक्यहै॥ शरेति रक्षाके अर्थ वास्ते शरणी आनपडा जोपुरुषहै तिसनू जो समर्थ होआ पुरुष त्याग देताहै और वेदनू आप ना पढ करके जो पुरुष दूसरे नू भढाताहै सो पुरुष एक १ वर्ष पर्यंत यवांनू भक्षण करदा होआ तिस पापनूं दूर कर ताहै अर्थः इत्यादि पदों कर्के इसी श्लोक का हि अर्थ कीताहै ॥ १॥

षट्त्रिंशत्के मतविषय यमजीका वाक्यहै ॥ चांडालेति वेदऔर मन्वादिस्मृति इनके पाठनूं चांडाल श्रवण कर लेवे तब पाठ करणेवाला पुरुष एकरात्र उपवास व्रत करे ॥ वसिष्ठजी कहतेहैं ॥ पतितेति ॥ पापी और चंडाल और धूर्त इनके समीप जानकरके जो वेद पढे तब तीन ३ रात्र उपवास करें वाणनूंरोक करके स्थितहोणा भोजन नूं न भक्षण करदेहोए स्थित होणा अथवा जितनाक पाठ चांडालादियोंने श्रवण कीताहै तितने पाठ नूं हजार १००० वार जपें तद पवित्र होतेहैं ॥ शठश्रावणं इत्यादिपदोंमें एहि अर्थहै ॥ सर्पादिकेमध्यमें गमन करणेमें यमजी

षट्त्रिंशन्मते ॥ यमः ॥ चांडालश्रोत्रावकाशे श्रुतिस्मृतिपाठे एकरात्रमभोजनमिति वुद्धिकृते तु वासिष्ठश्चाः ॥ पतितचांडालशठश्रावणे त्रिरात्रम् वाग्यता अनश्नंत आसीरन् सहस्रपरंवा तदभ्यस्यन्तःपूताभवंतीति विज्ञायते शठश्रावणं शठसांन्निधावध्ययनम् सहस्रपरमितियावान्भागश्चांडालादिभिःश्रुतस्तावंतंभागंसहस्रकृत्वोजपेदित्यर्थः ॥ सर्पादेरंतरागमनेतुयमआह ॥ सर्पस्यनकुलस्याथअजमार्जारयोस्तथा मूपकस्यतथोष्ट्रस्यमंडूकस्यचयोपितः १ पुरुषस्यैडकस्यापिशुनोऽश्वस्यखरस्यच अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तमिदंशृणु त्रिरात्रंह्युपवासश्चात्रिरहश्चाभिषेचनामिति २

किसेके प्रति कहतेहैं ॥ सर्पेति सर्प और नेउल ॥ और बकरा और बिल्ला ॥ और तिसी प्रकार चूहे और तिसी प्रकार ऊठ ॥ और डिड्डू और स्त्री ॥ १ ॥ और पुरुष और भिड्डू और कुत्ता और घोडा अथवा गधा इनके मध्यमें लंघनके विषय तात्काल प्रायश्चित्तनूं श्रवण कर क्याकि तीन रात्र उपवास अर तीन दिन तिन्नां कालांके विषय स्नान करणा २ ॥ इस विषयमें भी दोष और किसी मार्गके विद्यमान होआं जानना जेकर होर मार्ग न होवे तां इनके मध्यमें लंघने का दोष नहि ॥

प्रकीर्णेति प्रकीर्णक प्रायश्चित्त करणमें जद समर्थ न होवे तद नवीन सूई होई एक गौका दानकरे जब इसमें भी समर्था न होवे तब एक सौ १०० कौडी दान करे अर शक्तिके अनुसार दक्षिणा देवे ॥ अपणी स्त्रीको मिथ्यादोषारोपणके विषय यम जीका वाक्यहै स्वभार्यामिति तूं नहि मैथुन करणेके योग्य ऐसें जद पुरुष अपणी स्त्रीको क्रोधतें कथन करे तद ब्राह्मण प्राजापत्य व्रत कों करे अर क्षत्री नौ ९ दिन व्रत करे अर वैश्य छे ६ रात्र व्रत करे अर शूद्र तीन ३ रात्र व्रत करे ॥ १ ॥ स्नानतें विना भोजनादिके विषय हारीतजी कथन

एतदपिमार्गीतेरसंभवेसतिज्ञेयम्) प्रकीर्णकप्रायश्चित्ताशक्तौ धेनुदानम् ॥ तदशक्तौचूर्णीदानम् ॥ कपर्दिकाशतंचूर्णी यथाशक्ति दक्षिणा स्वभार्याभिशंसनेतुयमः ॥ स्वभार्यांतुयदाक्रोधादगम्येतिनरोवदेत् प्राजापत्यंचरेद्विप्रःक्षत्रियोदिवसान्नव षड्रात्रंतुचरेद्वैश्यस्त्रिरात्रंशूद्रआचरेत् ॥ १ ॥ अस्नातिभोजनादौ हारीतआह ॥ वहन्कमंडलुं रिक्तमस्नातोऽश्नंश्चभोजनम् अहोरात्रेणशुद्धःस्याद्दिनजप्येनचैवहीति ॥ १ ॥ एतच्चा रोगिस्नाने क्लेशदायिस्थानविशेषादिस्नानव्यतिरिक्तेद्रष्टव्यम् एकपंक्त्युपविष्टानांस्नेहादिना वैषम्येण दानादौ यमआह ॥

करतेहैं वहेति ॥ सखणे लोटे नू धारदाहोआ और स्नानतें विना जो पुरुष भोजन भक्षण करदाहै सो एक दिनरात्र उपवास करणे करके अर दिनके विषय जप करणे करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ एह प्रायश्चित्त अरोगि स्नान विषें और कष्टदे देणे वालाजो पर्वतादिहै तिसतें विनाग्रहण करणा अर्थात् रोगी पुरुषकों और बरफादि करके युक्तजो स्थानहै उसके विषय दोष नहि ॥ एक पंक्तिके विषें वैठे होए जो पुरुष हैं तिनकों न्यून अधिक घृतादि देणके विषय यमजी दोष कहतेहै ॥

नेति एकपंक्तिके विषे भेदकरके न देवे अर न मांगे अर नकिसीको दुवाए क्यों कि मांगने वाला अर दुवाणेवाला अर देणे वाला एह स्वर्गको नहि प्राप्तहोते अर्थात् नरकको प्राप्त होते हैं और प्राजापत्य अथवा कृच्छ्र व्रतकोंकरके तिसकर्मतें शुद्धहोतेहैं ॥१॥ इसस्थानमें विषम क्या न्यूनताअधिकता भोजनखानवालिआंकी इच्छादे होआं होआं जाननी अर्थात् भोजन खाण वालेकी इच्छाहोवे अर वो न देवे तद दोषहै जेकर तृप्त होरएहोण एक न तृप्त होवे तदभी दोष नहि इसीविषयमें शंखजीका वाक्यहै एकेति एकपंक्तिकेविषे भोजन करदे जो पुरुषहैं तिनाको जोभेद सें देताहै अर्थात् एकको बहुत एकको थोडा देताहै और जो भेदकरके मांगता है सो पुरुष ब्रह्महत्यारेके व्रत नूं एकपक्ष १५ पर्यंत करे ॥ १ ॥ यमजीका वाक्य है ॥ नदीति

नपंक्त्यांविषमंदद्यान्नयाचेतनदापयेत् याचकोदापकोदातानवैस्वर्गस्य गामिनः प्राजापत्येनकृच्छ्रेणमुच्यंतेकर्मणस्ततः १ विषममत्रसहोपविष्टभोजकांतराकांक्षानिरासे सति बोध्यम् ॥ शंखः ॥ एकपंक्त्युपविष्टानांविषमंयःप्रयच्छति यश्चयाचत्यसौपक्षंकुर्याद्ब्रह्महणिव्रतम् १ याचति याचते ॥ यमः ॥ नदीसंक्रमहंतुश्चकन्याविघ्नकरस्यच समेविषमकर्तुश्च निष्कृतिर्नोपपद्यते ॥ १ ॥ त्रयाणामपिचैतेषांप्रत्यापत्तिंतुमार्गताम् भैक्ष्यलब्धेनचान्नेनद्विजश्चांद्रायणंचरेदिति ॥ २ ॥ संक्रम उदकावरणमार्गः समे पूजादौ ॥ पतितादिसंभाषणे तु गौतमआह ॥ नम्लेच्छाशुद्धाधार्मिकैः सहसंभाषेत संभाष्यपुण्यकृतोमनसाध्यायेद्ब्राह्मणेन वासहसंभाषेत

नदीके घाटको जो ढादेताहै अर कन्याके विवाहादिके विषय विघ्नको करदा है अर पूजादिके विषयमें विषमता करदा है इनकी शुद्धि नहि होती ॥ १ ॥ इनतीनोंकीशुद्धिदेखणी चाहिए किभिक्षादे अन्नकरके ब्राह्मण अर क्षत्रि अथवा वैश्य चांद्रायणव्रतनूंकरे । २ संक्रमइत्यादिपदोंमें इसीका अर्थस्पष्टकीताहै और पतितादिके संभाषणके विषय गौतमजीका वाक्यहै नेति म्लेच्छ और अशुद्ध औरअधार्मिक इनके साथ धार्मिक पुरुष संभाषण न करे जेकर संभाषण करेतांपुण्यदेकरण वालिआं पुरुषांनू राजा नल और युधिष्ठिरादिकाको मनकरके स्मरणकरे अथवा ब्राह्मणके साथ संभाषण करे तो शुद्ध होताहै

म्लेच्छ नाम उसकाहै जो गौका मांसभक्षण करणवाला यवनजाति विशेष होवे श्रौर अशुद्ध उसका नामहै जो रजस्वलागमनादिवालाहोवे भार्य्या श्रौर धनके लाभके विघ्न विषय भि न्न भिन्न वर्षांकों कहतेहैं ॥ इसी स्मृति का अर्थ लिखतेहैं भार्य्येति स्त्री अर अन्न अर धन एह किसीकों प्राप्त होने लगें तिस विषय जो विघ्न करणाहै तिसके विषयमें एक एक वर्ष सामान्य ब्रह्मचर्य लिखाहै अर्थात् इस ब्रह्मचर्य्यमे स्त्री संभोगते विना श्रौर कोई विधान नहि चोरादिके दंड त्यागके विषय वसिष्ठजी का वाक्यहै दंडाविति राजा चोरादिको जब दंड न देवे तव एक रात्र उपवासकरे अर राजाका पुरोहित तीन ३ रात्र उपवासकरे अर दंडके योग्य नहि जो पुरुष तिसको जब राजा दंडदेवे तव पुरोहित कृच्छ्र व्रत करे अर राजा तीन ३ रात्र उपवासकरे ॥ कुनेति कुनखी क्या खोटे नखां वाला अर स्वभाव

म्लेच्छा गौमांसभक्षका यवनविशेषाः अशुद्धाउदक्यादिगामिनः तल्पान्न धनलाभवधे पृथग्वर्षाणीति ॥ भार्यान्नधनानांलाभस्यवधे विघ्नकरणेप्रत्ये कंसंवत्सरंप्राकृतंब्रह्मचर्य्यमित्यर्थः प्राकृतंसामान्य मष्टविधस्त्रीसंभोग त्यागरूपं नतु साविधानम् ॥ चौराद्युत्सर्गादौवसिष्ठः ॥ दंडोत्सर्गेराजैकरात्र मुपवसेत्त्रिरात्रंपुरोहितः कृच्छ्रमदंड्यदंडे पुरोहितास्त्रिरात्रंराजा कुनखी श्यावदंतश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रंचारित्वोद्धरेयातामिति ॥ दंतान्नखांश्चेत्य भिप्रेतम् ॥ स्तेनपतितादिपंक्तिभोजनेतु मार्कण्डेयः ॥ अपांक्तेयस्ययःक श्चित्पंक्तौभुंक्तेद्विजोत्तमः ॥ अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यतीति १

तोंहि कालिआं दंदां वाला एह दोनों बारां १२ दिन कृच्छ्र व्रत कों करके खोटिआं नखां की अर दंतांकी कृष्णता कों त्यागदेते हैं अर्थात् तिसरोगतें रहित होतेहैं क्योंकि लिखाहै कि स्वर्णके चुराणे वाला कुनखी होताहै अर मदिराके पान करणे वाला श्यावदंतक होताहै इस वास्ते तिनकों प्रायश्चित्त करणा चाहिए ॥ चोर श्रौर स्वधर्म त्यागी इत्यादियों की पंक्तिके भोजन विषयमें मार्कंडेयजीका वचनहै ॥ अपामिति पंक्तिके अधिकारतें रहित जो चोरादि हैं तिनके साथ एक पंक्तिके विषय बैठ करके ब्राह्मण श्रौर क्षत्री अथवा वैश्य इनके मध्यमें श्रेष्ठ जो पुरुष भोजन करताहै सो एक १ दिन रात्र उपवास रख कर पश्चात् पंचगव्य करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥

भविष्य पुराणमें नीलका दोष लिखाहै ॥ नीलीति नीलके क्षेत्रके विचों जद अज्ञानतें कदाचित् ब्राह्मण लंघजावे तद एक दिन रात्र उपवासकों करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अब नीलकी दातनका दोष कहतेहैं ॥ कुर्य्येति जो पुरुष अज्ञानतें नीलके काष्टकी दातन करताहै तद सो पुरुष एक दिन रात्र उपवासकों करके पश्चात् पंचगव्य करके शुद्ध होताहै २ ॥ नीलीरसके अंदर जानेमे आप स्तंवजी दोष कहतेहैं रोमेति जव तीनो वर्णों मेंसें किसीपुरुष के रोमकूपोमें नीलीका रस चला जावे तो सामान्य से तप्तकृच्छ्र व्रत प्रायश्चित्त कहाहै ॥ १ और ब्राह्मणका पाप तीन ३ कृच्छ्रों कर्कें शुद्ध होताहै औरनीलीकी दातनादिकरनेसें ब्राह्मणके

भविष्ये नीलीमध्येयदागच्छेत्प्रमादाद्ब्राह्मणःक्वचित् अहोरात्रोषितोभूत्वा पंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ कुर्य्यादज्ञानतोयस्तुनीलीजंदंतधावनम् एक रात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ २ ॥ आपस्तंवः॥ रोमकूपेयदागच्छे द्रसोनील्यास्तुकस्यचित् त्रिवर्णेषुचसामान्यंतप्तकृच्छ्रंविशोधनम् ॥ १ ॥ पातनंचभवेद्विप्रेत्रिभिःकृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारुयदाभिंद्याद्ब्राह्मणस्यश रीरतः शोणितंदृश्यतेयत्रद्विजश्चांद्रायणंचरेत् ॥ २ ॥ नीलीरक्तंयदावस्त्रं ब्राह्मणोंगेषुधारयेत् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ ३ ॥ भृगुः स्त्रीधृताशयनेनीलीब्राह्मणस्यनदुष्यति नृपस्यवृद्धवैश्यस्यपर्ववर्जंविधारण म् ॥ १ ॥ विधिनाधारणंविधारणं नसाक्षात् तदपिपर्वसु संक्रांत्यादिषु न धार्य्यमित्यर्थः ॥

शरीरतेंजब रुधिर निकले तब द्विज अर्थात् ब्रह्मण क्षत्री वैश्यएह चांद्रायणव्रतकों करे तो शुद्धहोताहै २ नीलीति जद नील करके रंगे होए वस्त्रकों ब्राह्मण शरीरके विषय धारण करे तब एक १ दिन रात्र उपवास व्रत कों करके पश्चात् पंचगव्य कर्के शुद्ध होता है ॥ ३ ॥ इसीमें भृगुजीका भी वचन है ॥ स्त्रीति स्त्रीनें धारिआ होआ जो नीला वस्त्रहै स्त्रीकी क्रीडा समयके विषय ब्राह्मणकों तिसका दोष नहि क्षत्री अर वृद्धवैश्यइनकों पंच पर्वोतें विना विधिकरके नीले वस्त्रका धारणा लिखाहै अर्थात् संक्रांति अर अष्टमी और द्वादशी और अमावस्या और पौर्णमासी इनपंचपर्वोमें विधि करके भी नहि धारणा लिखा १

वस्त्रके भेद करके इसका दोष नहि सो दखातेहैं ॥ कंवेति कंवलके विषय अर पट्टके वस्त्रके विषें नीलके रंगका दोष नहि अर्थात् नीली लोई अर नीला पट्टका वस्त्र इनके धारणेका दोष नहि ॥ भविष्य पुराणके विषये और भेद कहाहै ॥ शृणुष्वेति किसे ऋषिका किसे राजाके प्रति कथनहै ॥ हे वडीआं भुजांवाले हेगणांके मध्यमे श्रेष्ट संपूर्णतासें कथन करदा जो मै हां ऐसे मेरेतें नीले वस्त्रके धारणेतें दोषकों श्रवण कर ॥ १ ॥ पालेति नीलका पालना अर नील करके उपजीविका करणी इनोंकर्मो करके व्राह्मण अर क्षत्री अथवा वैश्य पतितहोताहै अर तीन ३ वर्षा कर्के अर्थात् तीनवर्षतक कृच्छ्र व्रतकरणे कर्के शुद्ध होताहै ॥ २ ॥ और प्रकार कथन करतेहैं नीलेति नीले वस्त्रकों धार कर्के जिस कर्म कों

वस्त्रविशेषकृतोपिकचित्प्रतिप्रसवो यथा ॥ कंवलेपट्टसूत्रेचनीलीरागो नदुष्यतीति ॥ भविष्येऽपरोविशेषः ॥ शृणुष्वेतिमहावाहोनीलरक्त स्यधारणात् वाससोगणशार्दूलगदतोममकृत्स्नशः ॥ १ ॥ पालना द्विक्रयाच्चैवतद्वृत्तेरुपजीवनात् पतितस्तुभवेद्विप्रस्त्रिभिर्वर्षैर्विशुद्ध्यति २ ॥ नीलरक्तेनवस्त्रेण यत्कर्म्मकुरुतेद्विजःस्नानंदानंतपोहोमःस्वाध्यायः पितृ तर्प्पणम् ॥ ३ ॥ वृथातस्यमहायज्ञोनीलवस्त्रस्यधारणात् नीलरक्तंयदाव स्त्रंकश्चिद्विप्रस्तुधारयेत् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यतीति ॥ ४ एवमेव केशनिर्म्मितवस्त्रपरिधारणेचोपवासः पंगचव्यंहिरण्योदकंचाधि कमिति केशाश्चात्रोर्णाव्यतिरिक्ताः स्थूलावोध्याः ॥स्त्रीणांक्रीडार्थसंभो गेशयनीयेनदुष्यतीति ॥

करताहै और स्नान और दान और तप और होंम और पाठ और पितृतर्पण ॥ ३ ॥ और पंच पूर्व लिखे जो पंच महायज्ञ एह संपूर्ण नीलवस्त्रके धारणेतें तिस पुरुषके वृथाहि होतेहैं और प्रकार कहतेहैं नीलेति नीलेवस्त्रकों जदकोई व्राह्मण धारदाहै तद एक दिन रात्र उप वासकों करके पश्चात् पंचगव्यकेपीने करके शुद्ध होताहै ॥ ४ ॥ इसी प्रकारवालांका जो वस्त्र तिसके धारणेमे उपवास और पंच गव्य और स्वर्णका जल इन करके शुद्धि होतीहै ॥ केश पद करके इहां उन्नकें वस्त्रतें विना वकरे आदिके केश ग्रहण करणे स्त्रीयोंकी क्री डाके अर्थ शय्याके विषय नीले वस्त्रका दोष नहि ॥

सहित छेकके सूर्य और चंद्रादि और अशुभ शिवारुतादि इनके दर्शनके विषय शंख जीका वा कयहै ॥ दुरिति खोटास्वप्न और उत्पात इनके दर्शनादिके विषय घृत और स्वर्णदान करे यमजीका बचन है प्रत्येति सूर्यके सन्मुख होकर लघी न करे क्या न मूत्रे अर दिशा वे ढाहोआ अपणे विष्टनूं न देखे जबदेखे तद पश्चात् सूर्य और ब्राह्मण अथवा गौ इनका दर्शनकरे । १ । शंखजीका वाक्यहै ॥ पादेति अग्निके विषय पयरांनूं सेक करके अर पयर सें अग्नि नू हिठां दबाकरके अर कुशानाल पयरां नू पूंजकरके एक दिनउपवास व्रत करे॥ १ वृद्धपराशरकाभीएही कथनहै ॥ क्षत्रियादिकों नमस्कारकरणके विषय हारीतजीका वचनहै क्षत्रीति क्षत्रीकों जद ब्राह्मण नमस्कार करे तव एक दिनरात्र उपवास करे अर वैश्यकों नमस्कार करेतद

सच्छिद्रादित्याद्यरिष्टदर्शनादौ शंखः दुःस्वप्नारिष्टदर्शनादौ घृतंहिरण्यंच दद्यादिति ॥ यमः ॥ प्रत्यादित्यंनमेहेतनपश्येदात्मनःशकृत् दृष्ट्वासूर्यं निरीक्षेतब्राह्मणंगामथापिवा ॥ १ ॥ शंखः ॥ पादप्रतपनंकृत्वाकृत्वावाह्नि मधस्तथा कुशैःप्रमृज्यपादौतुदिनमेकंव्रतीभवेदिति ॥ १ ॥ वृद्धपराश रोक्तिरपीयम् ॥ क्षत्रियाद्यभिवादने हारीतः ॥ क्षत्रियाभिवादनेऽहोरा त्रमुपवसेत् ॥ वैश्यस्याभिवादनेद्वौशूद्रस्याभिवादनेत्रिरात्रमुपवासः॥तथा॥ शय्यारूढपादुकोपानदारोपितपादोच्छिष्टांधकारस्थश्राद्धकृज्जपदेवपूजादि रताभिवादने त्रिरात्रमुपवासःस्यादन्यत्रनिमंत्रितेनान्यत्र भोजनेऽपि त्रिरात्रमिति ॥

दो २ दिन उपवास करे अर शूद्रकों नमस्कार करे तब तीन ३ रात्र उपवास करे तिस प्रकार शय्यादिकोंके ऊपर आरूढ पुरुषकों नमस्कार करणेका दोष कथन करतेहैं शय्येति खट ऊपर जो स्थित होआ होआहै और पौए और जोडा एह जिसने पयरोंमेंलाए होए हैं और जूठाजो है और अंधकारविषे जो स्थित है और श्राद्ध नूं जो करता है और जप और देव ताको पूजा इत्यादियोंमें जो लगाहुआ है इनके नमस्कार करणेमें तीन ३ रात्र उपवास लि खाहै।और निमंत्रण कीता होआ और स्थानमें भी जो भोजन करताहै अर्थात् एकस्थानमें भोज न करके और स्थानमेंभी जो खाताहै तिसकोंभीनमस्कार करणेमें तीन ३ रात्रहीं उपवासलिखाहै

समीति समिधां और पुष्प इत्यादि जिसके हाथमेंहैं तिसकोंभी नमस्कार करणेमें तीन ३ रात्रहि उपवास लिखाहैं ॥ आपस्तंवस्मृतिमें भी एही लिखाहै ॥ समीति समिधां और पुष्प और कुशा और घृत और जल और मृत्तिका और अन्न और अक्षत एह हैं हाथमें जिसके अर जप और होम नूं करदा जो ब्राह्मण अर क्षत्री अथवा वैश्यहै तिसनूं नमस्कार न करे ॥ १ ॥ जेकर जप आदिकां नूं करदा होआ जो पुरुष नमस्कार नू करदा है तिस पुरुष कों भी एहि प्रायश्चित्त करणा लिखाहै॥जिस प्रकार शंखजी कहतेहैं ॥ नोदेति जलका कुंभहैहाथमें जिसके और मलोत्सर्गादिकर्के अशुद्ध जो है जप और देवताकार्य्य उर पितृकार्य्य इनानूं करता होआ उर खट्ट उपर आरूढ होआ होआ नमस्कारको नकरे ॥ यज्ञोपवीततें विना विष्ठा और मूत्रके त्यागआदिकांके विषय किसे स्मृतिमें प्रायश्चित्त कहाहै ॥ जैसे ॥ विनेति यज्ञोप

समित्पुष्पादिहस्तस्याभिवादनेऽप्येतदेव समित्पुष्पकुशाज्यांबुमृदन्नाक्षतपाणिकम् जपहोमंचकुर्वाणंनाभिवादेतवैद्विजमित्यापस्तंवीये ॥ जपादिभिःसमभिव्याहारादभिवादकस्यापीदमेवप्रायश्चित्तम् ॥ यथाह शंखः नोदकुंभहस्तोऽभिवादयेन्नाशुचिर्नजपन्नदेवपितृकार्य्यंकुर्वन्नशयानइति ब्रह्मसूत्रंविनाविण्मूत्रोत्सर्गादौस्मृत्यंतरे प्रायश्चित्तमुक्तम् ।यथा। विनायज्ञोपवीतेनयद्युच्छिष्टोभवेद्द्विजः प्रायश्चित्तमहोरात्रंगायत्र्यष्टशतंतुवा १। तत्रऊर्द्ध्वोच्छिष्टे उपवासअधउच्छिष्टेऽन्नभक्षणउदकपानेचगायत्रीजपइति व्यवस्था ।भोजनेनोर्ध्वोच्छिष्टोविण्मूत्रोत्सर्गेणाधउच्छिष्टोभवतीत्यर्थः । अकामतस्तु ॥ पिवतोमेहतश्चैवभुंजतोऽनुपवीतिनः प्राणायामत्रिकंषट्कं नक्तंचत्रितयंक्रमादिति स्मृत्यंतरे ॥

वीततें रहित ब्राह्मण अर क्षत्री अथवा वैश्य उच्छिष्ट जद होवे अर्थात् भोजनादि कर्के अपवित्र होवे तद एक १ दिन रात्र उपवास अथवा एक १ सौ१००अठ ८ वार गायत्री नूं जपे ॥ १ तिसके विषय एह व्यवस्थाहै कि जब भोजनकर्के उच्छिष्ट होवे तब एक दिनरात्र उपवासकरेअर जब विष्ठा और मूत्रकों त्यागकर और विनाशौचते अन्न भक्षण और जलकापान करे तब गायत्रीका जप करे इति ॥ भोजनखाकर ऊर्द्ध्वोच्छिष्ट होताहै और विष्ठा और मूत्रकों त्यागकर अधउच्छिष्ट होताहै॥ जब इच्छा सें न करे तिस विषय कहतेहैं ॥ पिवेति यज्ञोपवीतेंरहित जो जलादिकापान करदाहै तिसकों तीन ३ प्राणायाम करणे लिखेहैं अर विष्ठा और मूत्र नूं जो त्यागताहै तिसको छे६ प्राणायाम लिखेहैं अर भोजननूं जो करदाहै तिसको नक्त व्रत त्रय लिखेहैं एह भी किसीस्मृतिमें कहाहै ॥ १ ॥

जो वृद्धपराशर जीने कहाहै सो इच्छा सें कीता जो अभ्यास तिसविषयमें है क्योंकि यज्ञोपे ति ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य यज्ञोपवीततें विना भोजन करताहैं अथवा मूत्र और पुरीष और वीर्य इनानूं त्यागताहै ॥ १ ॥तव ब्राह्मण तीन ३ रात्र उपवास करे अर क्षत्री कृच्छ्र व्रत का एक १ पाद करे अर्थात् चौथाहिस्सा कृच्छ्रव्रतका करे अर वैश्य एक १ दिनरात्र उपवासकरे इहशुद्धि सनातनीहै सो एहकामनातेवहुवारकरणेमेहै ।२ । अन्नखाकर्कें शुद्धिके वास्ते आचमननूं नकरके उठणेके विषय पराशरजीहि कहतेहैं यदिति जदभोजननूं खाकर अर आचमन नूं नकर्के जोपुरुष आसनतें उठबैंदाहै तिसतें उपरंत सो पुरुष शुद्धिकें अर्थ तात्काल स्नाननूं करें जेकर स्नान न करे तद प्रायश्चित्ती होताहै ३॥ नित्ययज्ञादिके न करणेमें आचारमाधवीयमें प्रजापतिने

यत्तु वृद्धपराशरः।यज्ञोपवीतेनविनाभोजनंकुरुतेद्विजः।अथमूत्रपुरीषेवारेतः सेचनमेववा १ ॥त्रिरात्रोपोषितोविप्रःपादकृच्छ्रंतुभूमिपः अहोरात्रोषितोवैश्यःशुद्धिरेषासनातनीति। २। तत्कामतोऽभ्यासे ॥ भुक्त्वाशौचार्थाचमनमकृत्वोत्थानेतुसएव ॥ यद्युत्तिष्ठेदनाचांतोभुक्तवानासनात्ततः सद्यःस्नानं प्रकुर्वीतसोऽन्यथाप्रयतीभवेदिति। ३ प्रयतीप्रायश्चित्ती। नित्ययज्ञाद्यकरणेतुआचारमाधवीयेप्रजापतिः ॥ दर्शंचपौर्णमासंचलुप्त्वाथोभयमेवच एकस्मिन्कृच्छ्रपादेनद्वयोरर्द्धेनशोधनम् १ ॥ हविर्यज्ञेप्यशक्तस्यलुप्तमप्येकमादितः प्राजापत्येनशुद्ध्येतपाकसंस्थासुचैवहि २ विधानपारिजातेएकविंशतिसंस्थागणनायां अष्टकापार्वणश्राद्धश्रावण्याग्रहायणीप्रोष्ठपदीचैत्र्याश्वयुजीतिसप्तपाकयज्ञसंस्थाः अग्न्याधेयाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासाग्रयणचातुर्मास्यनिरूढपशुबंधसौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः ॥ अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमोक्थषोडशीवाजपेयातिरात्राप्तोर्यामेति सप्त सोमसंस्थाः।

कहाहै दर्शमिति दर्श अथवा पौर्णमास यज्ञ नूं जो नहि करदा तिसकों कृच्छ्रव्रतका एक पाद करणा लिखाहै जो पुरुष दोनों कों नहि करदा तिसको आधा कृच्छ्र करणा लिखाहै ॥ १ ॥ जो पुरुष हविर्यज्ञके विषय असमर्थहै अर आदतेंलेकर एकभी हविर्यज्ञ जिसका लोपहोगिआहै सो पुरुष प्राजापत्य व्रतकर्के शुद्ध होताहै इसी प्रकारपाक संस्थाके विषय जान लैणा॥ २ ॥ इसमे विधानपारिजातका वचनहै विषेति अग्न्याधेय १ और अग्निहोत्र २ और दर्शपौर्णमास ३ और आग्रयण ४ और चातुर्मास्य ५ और निरूढपशुबंध ६ और सौत्रामणी ७ एह सप्त हविर्यज्ञसंज्ञिकहैं पाकसंस्था क्याहै कि अष्टकाश्राद्ध १ और पार्वण श्राद्ध २ और श्रावणी ३ और आग्रहायणी ४ और प्रोष्ठपदी५ और चैत्री ६ और आश्वयुजी७ एहसप्तपाकयज्ञसंस्थाहैं

संध्येति संध्योपासन और नित्यस्नान और होम और नित्यकर्म इनके भी नाश होआं होआं शुद्धि के वास्ते अठहजार ८००० गायत्रीका जप करे ॥ ३ ॥ सेति अग्निष्टोम १ और अत्यग्निष्टोम २ और उक्थ ३ षोडशी ४ और वाजपेय ५ और अतिरात्र ६ और आप्तोर्याम ७ एहसत्त यज्ञ सोमसंस्था हैं वर्षके अंतमे सोमयज्ञांके नाशदे होआं होआं चांद्रायण व्रत नूं करे और अधिकारहोणेतें इन यज्ञांके मध्यमे एक किसी नूं भी न कर्के उपवास व्रत करके शुद्ध होताहै पाकसंस्थाके विषय भी इसी प्रकार जाण लैणा ॥ ४ ॥ कात्यायनजीका वचनहै पित्रिति पितृ यज्ञके नाशके विषय अर्थात् पितृतर्पणके नकीतिआं होआं और वैश्वदेव बलिके नकीतिआं होआं और नवें अन्नके भक्षण समयके विषय नवयज्ञ कर्के नपूजन कर्के और तिसी प्रकार पतितके अन्न का भक्षण कर्के शुद्धिके वास्ते चातुर्वैश्वानरी इष्टि नूं करे ॥ १ ॥ बोधायनजीका वाक्यहै यस्येति जिस पुरुषके

संध्योपासनहानौतुनित्यस्नानंप्रलोप्यच होमंचनैत्यकंशुद्ध्यैगायत्र्यष्टसहस्रकम् ३ समांतेसोमयज्ञानांहानौचान्द्रायणंचरेत् अकृत्वान्यतमंयज्ञंयज्ञानामधिकारतःउपवासेनशुद्ध्येतपाकसंस्थासुचैवहीति ४ कात्यायनः। पितृयज्ञात्ययेचैववैश्वदेवात्ययेपिच अनिष्ट्वानवयज्ञेननवान्नप्राशनेतथाभोजनेपतितान्नस्यचातुर्वैश्वानरोभवेत् १ चातुर्वैश्वानरीमिष्टिंकुर्यादित्यर्थः ॥ बौधायनः ॥ यस्यानित्यानिलुप्तानितथैवागंतुकानिच विपद्यपिनसस्वर्गंगच्छेताऽऽपतितोहिसः १ तस्मात्कंदैःफलैर्मूलैर्मधुनाज्यरसेनवा नित्यंनित्यानिकुर्वीतनचनित्यानिलोपयेदिति २ ऋतौस्वपत्न्यगमनेतुविष्णुः। पर्वाऽनारोग्यवर्जंऋतावगच्छन्पत्नींत्रिरात्रमुपवसेदिति अत्र पर्वपदं ब्रह्मचर्यादिलोपोपलक्षकम् ऋतूरजःस्नानदिनादारभ्यद्वादशादिनानि

आपदा काल विषय भी नित्यकर्म अर्थात् पंचयज्ञ और आगंतुककर्म नष्ट होगयेहैं सो पुरुष स्वर्ग नूं नहि प्राप्त होता किंतुचारे और तें पतित होताहै ॥ १ ॥ तिस कारणतें कंद और फल और मूल और मधु और घृत और रस इनों कर्के दिन दिन प्रति अवश्यनित्यकर्मों नूं करे कदे भी नित्यकर्मोंका नाश न करे ॥ २ ॥ ऋतुसमयके विषय अपणी स्त्रीके अगमनके विषय विष्णुजी का वचनहै पर्वेति संक्रांत्यादि पंच पर्व और रोग इना नूं वर्जित कर्के ऋतुसमयके विषय जो पुरुष अपणी स्त्रीके साथ मैथुन नहि करदा सो तीन ३ रात्र उपवास करे अर्थात् पंचपर्व और रोग इनके विषय ऋतुकालमें भी न गमन करे इस स्थानमे पर्व पद कर्के ब्रह्मचर्य और व्रतादि इनाके लोपकाभी ग्रहण करणा अर ऋतुपद कर्के क्या लैणा कि स्नानदिनतें आद लैकर बारां १२ दिनपर्यंत ग्रहण करणा ॥

जो संवर्त्तजीने कहाहै सो अकामके विषयमेहै अर्थात् उसकों कामनाथी परंतु किसे कार्य्यवशथे गमन नहिहोया इसवास्ते थोडा प्रायश्चित्तकहाहै ऋताविति जो पुरुष ऋतुकालके विषय व्रतके आचरण करणवाली अपणी स्त्रीमे गमन नहिकरदा नियमके अतिक्रमकेभयतें तिस पुरुषकों एकसौ १००प्राणायाम कथनकीताहै । १ । एह वाक्य निकट देशकेविषय रहणे वालेपर ग्रहण करणा अर दूर देशके विषय स्थित होवे तव दोष नहि क्योंकि मिताक्षरामें कहाहै ऋत्विति समीपकेविषये निवास करदा होआ जो पुरुष ऋतु स्नात अपणी स्त्रीमेगमन नहि करदा सो पितरांके सहित वडी जो गर्भकी हत्याहै अर्थात् गर्भ हत्या वाला जो नरक है तिसमें डूवताहै ।२। इसवचनतें स्त्रीकोंभी ऋतुकालके विषयमें भर्त्ताके समीप न प्राप्तहोणका एहि प्राय

यत्तुसंवर्त्तः।ऋतौनोपैतियोभार्यांनियतांव्रतचारिणीं नियमातिक्रमात्तस्यप्राणायामशतंस्मृतमिति तदकामतः १ ॥ एतच्चसमानदेशविषयम् ॥ ऋतुस्नातांतुयोभार्यांसन्निधौनोपगच्छति घोरायांभ्रूणहत्यायांपितृभिःसह मज्जतीतिमिताक्षरावचनात् २ ऋतौभर्त्तुरनुपसर्पणेस्त्रिय अपि एतदेव प्रायश्चित्तम् ॥ तस्याअपिनारदीयेदोषश्रवणात् ॥ आहूतायातुवैभर्त्रानोपयातित्वरान्विता साध्वांक्षीजायतेपुत्रदशवर्षाणिपंचचेति ॥ १ ॥ तासुतुस्त्रीत्वादर्द्धम् ॥ अंगिराः ॥ अनापदिचरेद्यस्तुसिद्धांभिक्षांगृहेवसन् दशरात्रंपिवेद्वज्रमापत्कालेत्र्यहंद्विजः ॥ १ ॥ वज्रंवज्रकृच्छ्रसंवंधिद्रव्यमित्यर्थः देवादीनामाभिमुख्येनिष्ठीवनादौ सुमंतुः ॥

श्चित्त लिखाहै१तिसकोंभी नारदीयपुराणकेविषय दोषकेश्रवण करणेतें सोकहतेहैं आहूतेति ऋतुकालके विषय भर्ता करके बुलाई होई जो स्त्री शीघ्र नहि प्राप्तहोती हैपुत्र सोस्त्रीपंदरां १५ वर्षतकका कयोनिमेंप्रात होतीहै ।१। परंतुस्त्रीभावहोणेतें तिनांके विषय अद्धा प्रायश्चित्त लिखाहै अंगिराजीकावाक्यहै अनेति आपदाकालतें विनागृहके विषय निवास करदाहोआ जोपुरुष सिद्धभिक्षाका आचरण करदाहै सो दश १० रात्र वज्रकृच्छ्र व्रतके विषय लिखीजो वस्तुहै तिसकापानकरे जव आपदाकालके विषय व्राह्मण और क्षत्रीअथवा वैश्यभिक्षाका आचरणकरे तव तीन ३ दिनपीवे १ । देवादियोंके सन्मुख थुकणादिआंके विषयमें सुमंतुजीका वचनहै

देवेति देवता और ऋषि और गो और ब्राह्मण और गुरु और माता और पिता और राजाइ नके सन्मुखजोथुकेऊंरझूठकहे सोअग्निकर्के जिह्वानूं साडदेवे औरस्वर्णदानकरे परंतु तिनना जिह्वानूंसिकदेवे जितने करके जीवतारहे एह जानलेणा। जनांका निवास स्थान और बाग और देवताका मंदिर इत्यादिके ढाणके विषयमें काश्यपजीका वचनहै वापीति बावली और खूआ और बाग और पुल और वेल और तला और नदी आदिकोंका कनारा और देवताका स्थान इनके ढाणके विषयमें ब्राह्मणांके तांई प्रायश्चित्त दस करके अर्थात् तिनांते पुछकर्के पश्चात्चार ४ घृतकीआं आहुतीआंका हवन करे आहुतीआं दखावतेहैं इदमिति(इदं विष्णु) इसमंत्र करके पहली आहुति करे (मानस्तोक)इसकरके दूसरी आहुति करणी अर (विष्णोःकर्माणि)इस कर

देवर्षिगोब्राह्मणाचार्य्यमातृपितृनरेंद्राणां प्रतिष्ठीवने आक्रोशने च जिह्वांदहेद्धिरण्यंदद्यादिति ॥ दाहोजीवनाविरोधेन ॥ मंडपोद्यानदेवतागारादिभेदे ॥ काश्यपः ॥ वापीकूपारामसेतुलतातडागवप्रदेवतायतनभेदनेप्रायश्चित्तंब्राह्मणेभ्योनिवेद्य ततश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयात् इदंविष्णुरितिप्रथमाम् मानस्तोक इतिद्वितीयाम् पादोस्यांत्यामितिचतुर्थीम् ॥ देवतामुच्छेदयति तस्यैदेवतायै ब्राह्मणान्भोजयेदिति ॥ एतच्चाल्पोपघाते ॥ महत्युपघातेऽभ्यासेच प्राजापत्यादि कल्पनीयम् देवताचात्रमृण्मयीपूजिताऽपूजिता वा ग्राह्या प्रायश्चित्तस्याल्पत्वात् अन्यत्रतु दंडगौरवदर्शनेन प्रायश्चित्तं कल्प्यम्

के तीसरी अर(पादोस्यांत्यां) इस करके चौथीआहुति करणी जो पुरुष देवताकी मूर्त्तिकों छेदताहै सो तिस देवताके वास्ते ब्राह्मणानूं भोजन खुवाए एह प्रायश्चित्त थोडे नाशके विषय जानना अर जब बहुत छेदनकरे अर तिसीमें बहुत अभ्यासकरे तब प्राजापत्यादि व्रतकों करे। इस स्थानमें देवता मृत्तिकाकी पूजी होई अथवा न पूजी होई ग्रहण करणी प्रायश्चित्तकों थोडा होणेतें ऊंरजगां दंडको बडा देखणे करके प्रायश्चित्त बडा कल्पनाकरणा क्योंकि दंडकी न्याईप्रायश्चित्त होताहै इसवचनतें अर्थात् थोडा पापहोवेतां थोडा प्रायश्चित्त अर बहुतपापहोवें तां बहुत प्रायश्चित्त दस्सणा ॥

तिसप्रकार इसके विषय दंडकीगौरबताकों कात्यायनजी कहतेहैं हरेदिति जोदेवताकी प्रतिमाकों जद चुरालये अर खंडित करदेवे अर दग्धकरदेवे अर देवताके स्थानका भेदन करदेवे तद सो पुरुष उत्तम दंड कों प्राप्तहोवे ॥ १ तीन ३ प्रकारका दंड याज्ञवल्क्यजीने लिखाहै उत्तमदंड १ औंर मध्यमदंड २ औंर अधमदंड ३ जों एक हजार १००० औंर अस्सी ८० पैसे चढा हैं सों उत्तमदंडहै अर इसते आधा मध्यमदंड है अर इसतेंभी आधा अधम दंड है ॥ इति ॥ विष्णुजीका वाक्यहै अभेति थोमादि औंर नहि वेचने योग्य जों वस्तु इनके वेचने वाला औंर

दंडवत्प्रायश्चित्तंभवतीतिवचनात्) तथाऽत्रदंडगौरवमाहकात्यायनः हरेंच्छिद्याद्दहेद्वापिदेवानांप्रतिमांयदि तद्गृहंचैवयोभिंद्यात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् १ विष्णुरपि ॥ अभक्ष्यस्याविक्रेयस्यचविक्रयी प्रतिमाभेदकश्चोत्तमसाहसंदंडनीयः॥शंखलिखितौ॥ प्रतिमारामसंक्रमध्वजसेतुनिपातनभंगेषु तत्समुत्थापनंप्रतिसंस्कारोऽष्टशतंचेति कूपादिसमीपेऽल्पजलाशयोनिपातनम् यद्वाप्रतिमादीनांनिपातनेभंगेचसति ॥ निपातनेतत्समुत्थापनंभंगेप्रतिसंस्कारइत्यर्थः ॥ मनुः ॥ संक्रमध्वजयष्टीनांप्रतिमानांचभेदकः ॥ प्रतिकुर्य्याच्चतत्सर्वंपंचदद्याच्छतानिच ॥ १ ॥

देवताकी मूर्त्तिके छेदने वाला एहदोनों उत्तम दंडके योग्यहैं इसी विषयमें शंख औंर लिखितका भी वचनहै प्रतीति देवताकी मूर्त्ति औंर बाग नदी तला आदिक पत्तन औंरपुल औंर कूपदिके समीप थोंटा जिआ जलका स्थान इनके भेदन करणे वाला तिनानूं फेर नवीन वणावे अथवा पांचसौ ५०० पयसा दान करें ॥ इसीवाक्यमे मनुजीने भी लिखाहै ॥ संक्रेति जलका घाट औंर धजा औंर लाठो औंर देवताकी छोटी जैसी मृत्तिकादि मूर्त्ति इनके छेदन करणे वाला इनां संपूर्णां नूं नवीन वणावे अथवा पांचसौ ५०० पण दान करें ॥ १ ॥

सामितिसंक्रम इत्यादि पदोंमें इसी श्लोककाहि अर्थ स्पष्ट कीताहै इसस्थानमें प्रतिमाके छोटे बड़े भेद करकेअर प्रतिमाके छोटे बडे छेदनके भेद करके दंड औंर प्रायश्चित्तकाभी भेद जानना अर्थात् थोडा छेदन करे तां थोडा दंड अथवा प्रायश्चित्तकरे जेकर बहुता छेदनकरे तां बहुत दंड अथवा प्रायश्चित्त करे एह व्यवस्थाहै ॥ दारिद्यादिकरके भर्ताके निरादरके विषय आपस्तंवजीका वाक्यहै भर्तु रिति निर्धनता औंर क्रोध औंर चुगली इत्यादि करके भर्ताका जवस्त्री निरादर करे तव कृच्छ्र व्रत करे इति ॥ पर्वके विषय मैथुन करणेका दोष विष्णु पुराणमें लिखाहै ॥ किसे ऋषिका किसे राजाके प्रतिबचनहै हे राजन् चतुर्दशी १ औंर अष्टमी २ औंर अमाव

संक्रमोजलोपरिगमनार्थंकाष्ठशिलादिरूपःध्वजश्चिह्नंराजद्वारादौ यष्टिः पुष्करिण्यादौ प्रतिमाश्च क्षुद्राश्मएमय्यादयः एतद्भेदकःपुनर्नवंकुर्य्यात् पणानांपंचशतानिचदद्यात् ॥ अत्रच प्रतिमातारतम्येन तद्भेदतारतम्येन दंडप्रायश्चित्तयोर्व्यवस्था ॥ दारिद्यादिना भर्तुरतिक्रमे आपस्तंवः भर्तुरतिक्रमेकृच्छ्रइति ॥ अतिक्रमोदारिद्यक्रोधमात्सर्य्यादिनाऽवमाननम् पर्वणिमैथुनेविष्णुपुराणे।चतुर्दश्यष्टमीचैवअमावास्याचपूर्णिमा पर्वाण्येतानिराजेन्द्ररवेः संक्रांतिरेवच १ स्त्रीतैलमांससंभोगीपर्वस्वेतेषुयोनरः विण्मूत्रभोजनंनामप्रयातिनरकंमृतः २ अस्यप्रतिप्रसवः ॥ शनिषष्ठ्यांस्मृतं तैलंमहाष्टम्यांपलाशनम् तीर्थेक्षौरंचतुर्दश्यांदीपावल्यांचमैथुनम् ॥ १ ॥ महाष्टमी आश्विनशुक्लाष्टमी ॥

स्या ३ औंर पूर्णमासी ४ औंर सूर्यकी संक्रांति ५ एह पंच पर्वहैं ॥ १ ॥ इनोंके विषय जो पुरुष स्त्री औंर तेल औंर मांस इनानूं भोगताहै सो मरकरके विष्टा औंर मूत्रहैं भोजन जिसके विषय ऐसे नरकको प्राप्त होताहै ॥ २ ॥ इसका भिन्न भिन्न दोष निवारणकहतेहैं शनीति ॥ शनिवार षष्ठीके विषय तेल मले अर आश्विनके शुक्ल पक्षकी अष्टमीके विषय मांस भक्षणकरे अर तीर्थके विषय चतुर्दशीके दिन क्षौर कराए अर दिवालीके विषय मैथुन करे तौभी इसी नरकको प्राप्तहोताहै ॥ १ ॥

और किसे स्मृतिकाभी वाक्य है अष्टेति अष्टमी ८ और चतुर्दशी १४ और दिन और पर्व इनके विषय मैथुन कों करके सहित वस्त्रांके स्नान नूं करके पश्चात् वरुण है देवता जिनां का तिनां मंत्रों करके मार्जन करे ॥ १ ॥ उलटीके विषय शातातप जीका वाक्य है त्रिच्छेति ब्राह्मण और क्षत्री और वैश्य इनकी उलटीके विषय और भन्ने होए पात्रक विषय भोजन करणेके विषय पंच गव्य करके शुद्धि होतीहै ॥ १ ॥ मांसादिके वमनके विषय यमजी विशेष कहतेहैं ॥ मसूरेति जो ब्राह्मण अर क्षत्री अथवा वैश्य मसर और मांह और मांसको भक्षण करके उलटी करताहै तिसकों तीन ३ रात्र उपवास प्रायश्चित्त करणा लिखाहै अर स्नान करके अर तीन ३ प्राणायामों करके अर घृतका भक्षण करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ यज्ञोपवीतादियोंके नाशके विषय भी यम

स्मृत्यंतरे अष्टम्यांचचतुर्दश्यांदिवापर्वणिमैथुनम् कृत्वासचैलंस्नात्वाचवारुणी भिश्चमार्जयेदिति १ वारुणीभिर्वरुणदेवताकैर्ऋग्भिरित्यर्थः ।वमनेशातातपः विच्छर्दनेद्विजातीनांभिन्नभांडेचभोजने पंचगव्येनशुद्धिःस्यादितिशातातपो ऽब्रवीत् १ मांसादिवमनेतुविशेषमाह यमः ॥ मसूरमाषमांसानिभुक्त्वावावम तिद्विजः त्रिरात्रमुपवासोऽस्यप्रायश्चित्तंविधीयतेप्राणायामैस्त्रिभिः स्नात्वा घृतंप्राश्यविशुद्ध्यति १ यज्ञोपवीतादिनाशेपि सएव मेखलादंडाजिनयज्ञोप वीतावपातेषु मनोव्रतवतीभिःसप्तआज्याहुतीर्जुहुयात्पुनर्यथार्थंप्रतीयात् असकृद्भैक्ष्यभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्तेवांतेदिवास्वप्नेनग्नस्त्रीदर्शनेनग्नस्वापे श्मशानमाक्रम्यहयादींश्चारुह्यपूज्यातिक्रमेचैताभिरेवजुहुयादग्निसामिंधने

जीनेहि प्रायश्चित्त लिखाहै ॥ मेखेति तडागी और दंड और चर्म और यज्ञोपवीत इनके नाशके विषय मनोव्रतवती इत्यादि मंत्रों करके घृतकीआं सत ७ आहुतीआं करके पश्चात् मेखलादिकों धारणकरे अर अनेकवार भिक्षाकों भोजन करणा और जिसके सुतिआं होआं सूर्य उदय होताहै अर जिसके सुतिआं होआं अस्त होताहै उलटी होणी और दिनके विषय सौना और नमस्त्रीकों देखणा और नग्न सौणा और श्मशान भूमिके विचों लंघना और घोडे आदिकोंके उपर चडकर और महात्माकों उलंघन करणा अर्थात् तिनकी आज्ञाकों नहि मनणा अथवा विना नमस्कारके चलेजाणा इन संपूर्णांके विषयमें बलदी अग्निके विषय मनोव्रतवती इत्यादि सत मंत्रों करके आहुतीआं करे॥ ॥

स्थेति वृक्षादि और महिष्यादिकी हिंसाकरणेकेविषें (यद्देवादेवहेडनं) इत्यादि जो कूष्मांड संज्ञिकमंत्रहैं इनोंकरके घृतका होमकरे ॥ मणि और वस्त्र और गौ और स्वर्ण इत्यादियोंका दानलेकरके गायत्रीका अठ हजार ८००० जपकरे इति ॥ अर्थः (मनोजूतिर्जुषतां) इत्यादि मंत्रों करके अर (त्वमग्नेव्रतपाअसि) इत्यादिमंत्रोंकरके होमकरे अर यथार्थक्या उपनयन विधि करके सहितमंत्रांके यज्ञोपवीतका ग्रहणकरे ॥ अभ्युदितादिके स्वरूप नूं यमजी कथन करतेहैं ॥ सूर्य्येति जो पुरुष सूर्यके उदयहोआं होआं सुत्तारहिताहै तिसको अभ्युदित कहतेहैं अर जोपुरुष सूर्यके अस्त होआं होआं सुत्ता रहिताहै तिसको निर्मुक्त कहतेहैं ॥ १ ॥ अभ्युदितके विषय प्रायश्चित नूं भी यमजी कहतेहैं ॥ अजीति अन्नका नपचना और अभ्यु

स्थावरसरीसृपादीनांवधे यद्देवादेवहेडनमितिकूष्मांडाभिस्त्रिरात्रमाज्यंजुहुयान्मणिवासोगवादीनांचप्रतिग्रहे गायत्र्यष्टसहस्त्रंजपेदिति मनोजूतिर्जुषतामितिमनोलिंगाभिः त्वमग्नेव्रतपाअसीतिव्रतलिंगाभिश्च यथार्थमुपनयनोक्तेनविधिनासमंत्रकं प्रतीयाद्ग्रहणायात् । अभ्युदितादिस्वरूपमाहयमः। सूर्योदयेतुयश्शेते ससूर्योदितउच्यते अस्तंगतेतुयःशेतेसूर्येनिर्मुक्त एवसः १ अभ्युदितेप्रायश्चित्तमाहसएव अजीर्णेऽभ्युदिते वांतिश्मश्रुकर्मणि मैथुनेदुःस्वप्नेदुर्जनस्पर्शेस्नानमात्रंविधीयते ॥ २ ॥ अत्रैवकामतोगौतमः सूर्याभ्युदितेब्रह्मचारीतिष्ठदहन्यभुंजानोऽस्तमितेरात्रौसावित्रींजपेत् । अभ्यासेत्वावृत्तिरूह्या । गर्भाधानादिसंस्कारातिपत्तौतु आश्वलायनः। आरभ्याधानमाचौलात्कालातीतेतुकर्मणाम् व्याहृत्याज्यंसुसंस्कृत्यहुत्वाकर्म यथाक्रमम् ॥ १ ॥ एतेष्वेकैकलोपेपि पादकृच्छ्रंसमाचरेत् ॥

दित और उद्वमन और थोडा क्षौर कर्म और मैथुनकरणा और खोटास्वप्न और दुष्ट पुरुषके साथ स्पर्शकरणा इनकेविषयस्नानहि विधानकीताहै ॥ २ ॥ इसकेविषयहि कामनाकेविषयमेंगौतमजी कावाक्यहै सूर्य्येति अभ्युदितके विषय दिनके विषय अन्नकों न भक्षण करदाहोआ अष्टांगमैथुन तेंरहितहोकर स्थितहोवे सूर्यकेअस्तहोआंहोआं रात्रिके विषय गायत्री नूं जपे इसोंके अभ्यास केंविषयमें एहीप्रायश्चित्त दोवारकरे इति ॥ गर्भाधानादिसंस्कारके नाशके विषय आश्वलायनजीका वाक्यहै आरेति गर्भाधान कर्मतें लेकर चौलकर्म पर्यंत कर्मांका कथनकीता जो काल है तिसके वीतिआंहोआं व्याहृतीआं करके हछी तरां संस्कारको करके क्रमसें घृत करके होमनूं करे १ इनकर्मोके मध्यमे एककर्मकेभी नाश होआं होआं एक पाद कृच्छ्र व्रतको करे ॥

चूडेति चूडा कर्मके नाशके विषय आधा कृच्छ्रव्रतकरे आपदासमय मैंभीएहि करणा अर जब आपदा न होवे अर संस्कार कर्मका नाशहो जावे तब संपूर्णस्थानके विषय दूणा प्रायश्चित्त करे ॥ २ ॥ इसीमें कात्यायन जी भी कहतेहैं ॥ लुप्त इति संस्कार कर्मके नाशके विषय संपूर्णस्थानके विषय प्रायश्चित्त करे अर प्रायश्चित्तके कीतिआंहोआं पाछेसें नाश होए कर्म नूं करे ॥ १ ॥ त्वन्नइति(त्वन्नःसत्वन्न)इनांमंत्रांकरके और तिसप्रकार(इमंमे)इसमंत्रकरके आहुतीआंनूं करे अर(येतेशतमयाश्चाभ्यामुदुत्तममृचा)इत्यादिऋचा करकेहोम नूंकरे २ ॥ हुत्वेति भिन्न भिन्न हवन नूं करे पश्चात् कृच्छ्रव्रत का एकपादकरे अर चौल कर्मके विषय आधो कृच्छ्रव्रतकरे स्त्रीआंकां भी इसीप्रकार मंत्रांकर्के जातादि कर्म करणा ॥ ३ ॥ गर्भाधान कर्मके न करणे के विषय

चूडाया अर्द्धकृच्छ्रः स्यादापदीत्येवमीरितम् ॥ अनापदितुलुप्तेतुसर्वत्रद्विगुणंचरेत् २ ॥ कात्यायनोपि ॥ लुप्तेकर्मणिसर्वत्रप्रायश्चित्तंविधीयते । प्रायश्चित्तेकृतेपश्चाल्लुप्तंकर्मसमाचरेत् ॥ १ ॥ त्वन्नःसत्वन्नइत्याभ्यां इमंमेतुतथाहुतीः येतेशतमयाश्चाभ्यामुदुत्तममृचाहुतीः ॥२॥ हुत्वापृथक् पृथक्पादमर्द्धचौलेसमाचरेत् स्त्रीणामप्येवमेवस्याज्जाताद्यामंत्रिकाक्रियेति ॥३ ॥ गर्भाधानाकरणआश्वलायनः ॥ गर्भाधानस्याकरणेतस्यांजातस्तुदुष्यति अकृत्वागांततोदत्वाकुर्यात्पुंसवनंपतिरिति ॥ १ ॥ क्षुताद्यौवृद्धपराशरः विप्रः क्षुत्कृत्यनिष्ठीव्यकृत्वाचानृतभाषणम् वचनंपतितैःकृत्वादक्षिणंश्रवणंस्पृशेत् प्रेक्षणंशशिनोऽर्कस्यब्रह्मेशहरिसंस्मृतिः ॥१॥ एतच्चजलाभावेकर्मणिव्यापृतेवा अतएव वृद्धशातातपः ॥

आश्वलायनजी का वाक्यहै । गर्भेति ॥ जिस स्त्रीका गर्भाधानसंस्कार नहि कीआ तिस केविचों उत्पन्न होआ बालक दुष्ट होताहै अर गर्भाधान संस्कार नू नकरके तिसतें उपरंत गोदान करके पश्चात्- भर्त्ता पुंसवन संस्कारको करे ।१। छिक्यादिकांकेविषय वृद्धपराशरजी का वचनहै विप्रइति छिक और थुक और झूठ वचन और पतितांके साथ वार्त्ताइनां नू-करके ब्राह्मण सज्जे कांन नू हाथ लगावे और चंद्रमा अर सूर्यका दर्शन करे और ब्रह्मा और शिवजी और विष्णु इनका स्मरण करे ।१।एह वार्ता कबकरे जब पासजल नहोवे अथवा किसी काममे लगा होआ होवे ॥ इसी कारणतें वृद्धशातातपनें कहा है ॥ ॥

क्षुत्वेतिं छिकमार करके और थूक करकें और वस्त्र कों पहिर कर बुद्धिमान् पुरुष आचमन करे अथवाब्राह्मणकों स्पर्श करे अथवा गौकी पिठका दर्शन करे॥१॥यथेति जिस प्रकार एह कथन कीतेहैं तिस प्रकार प्रथमके अभावमें अगले कों ग्रहण करे प्रथमके नाशमें दूसरेकी प्राप्ति इच्छित है अर्थात् जलके अभावमें ब्राह्मण कों स्पर्श करे अर ब्राह्मणके अभावमें गौका दर्शन करे ॥ २ ॥ संवत्सर कर्मके नाशके विषय विष्णु पुराणमें किसे ऋषिनें किसीके प्रति कहाहै । संवेति एक वर्ष पर्य्यंत जिस पुरुष के कर्मका नाश होआहै अर्थात् जिस पुरुषने एक वर्ष नित्य कर्म नहि कीता तिसके दर्शन करणेतें श्रेष्ठ पुरुषानें सर्वदा काल सूर्यका दर्शन करणा योग्यहै॥१॥हे महामते तिसके स्पर्शमें सहित वस्त्रां के स्नान करणा एही

क्षुत्वानिष्ठीव्यवासस्तुपरिधायाचमेद्बुधः कुर्याद्वाब्राह्मणस्पर्शंगोपृष्ठस्यचदर्शनम् ॥ १ ॥ यथाविभवतोह्येतत्पूर्वाभावेततःपरम् अविद्यमानेपूर्वोक्तेउत्तरप्राप्तिरिष्यत इति ॥ २ ॥ संवत्सरक्रियातिपाते विष्णुपुराणे ॥ संवत्सरंक्रियाहानिर्यस्यपुंसःप्रजायते तस्यावलोकनात्सूर्य्योनिरीक्ष्यःसाधुभिः सदा ॥ १ ॥ स्पृष्टेस्नानं सचैलंतुशुद्धिहेतुर्महामते पुंसोभवति तस्योक्तानशुद्धिःपापकर्मणइति ॥२॥अत्रच प्रायश्चित्तविशेषाश्रवणादेकाहातिक्रमेचैकाहमभोजनेनतस्योक्तत्वात्तदनुसारेणच षष्ट्यधिकशतत्रयदिनापचारे तावदुपवासकरणाशक्तेस्तत्प्रत्याम्नायत्वेन षडुपवासैरेकैकप्राजापत्यकल्पनयायोज्यम् ॥ निमंत्रणत्यागेतुयमः

शुद्धिका कारणहै अर जिसके दर्शनादिते एह सूर्य्य निरीक्षणादि प्रायश्चित्तहै तिस पापी पुरुषकी शुद्धि नहि कथन कीती ॥ २ ॥ इसके विषयप्रायश्चित्तके वहुत भेदके देखणेतें क्योंकि एक दिन कर्मके न करणेमें एक उपवास तिसकोंकथन कीताहै तिसके अनुसार करके अर्थात् जिस हसाब करके तीन सौ अर साठ ३६० दिन के वीतिआं होआं तिस उपवास करणेके विषय समर्थाके न होणेतें तब तिस प्रायश्चित्तके बदले करके छिआं ६ उपवासां करके एक एक प्राजापत्य व्रत की कल्पना करके जोडने योग्यहै निमंत्रण कों ग्रहण करके तिस के त्यागके विषयें यमजीका वचनहै ॥

केतेति जो ब्राह्मण श्राद्धादिके निमंत्रण कों करवाके अर्थात् भोजनकों मान करके पश्चात् नहिं खांदा सो ब्राह्महत्याके पाप कों प्राप्त होताहै अर मर करके शूद्र योनिकों प्राप्त होताहै ॥ १ ॥ इस पापके प्राप्त होआं होआं ब्रह्मण नियम कों धार करके यति चांद्रायण व्रत कों करके तिस पापतें रहित होताहै ॥ २ ॥ निमंत्रित कीते होए ब्राह्मण के न बुलाणेमें भी एही प्रायश्चित्त जानना ॥ एह वाक्य कामके अभ्यासमेहै ॥ झूठे वचना दिके विषयमें शंख और लिखितका वाक्य है आक्रोशेति तुमने स्वर्ण चुराआहै इस मिथ्याका नाम आक्रोश है आक्रोशनऔरझूठ कथन करणा इनके विषयमें एक १ रात्र अथवा तीन ३ रात्र उपवास करणा इति अर कामतें अभ्यासके विषयमें असत्यभाषण

केतनंकारयित्वातुयोनिपातयतिद्विजः ब्रह्महत्यामवाप्नोतिशूद्रयोनौच जायते ॥ १ ॥ एतस्मिन्नेनसिप्राप्तेब्राह्मणोनियतव्रतः यतिचांद्रायणंचीर्त्वा ततःपापात्प्रमुच्यते इति २ श्राद्धादौनिमंत्रणंकेतनम् ॥ निमंत्रितस्याऽना हूवानेप्येतदेव एतच्चकामाभ्यासे ॥ अनृतवचनादौ शंखलिखितौ ॥ आक्रोशनानृतवादे एकरात्रंत्रिरात्रं चोपवास इति ॥ कामतोभ्यासेतु असत्यभाषणं शूद्रसेवनम् इत्यपात्रीकरणंकृत्वा तप्तकृच्छ्रंकृत्वा शुद्ध्यती ति विष्णूक्तंज्ञेयम् ॥ वधफलकेऽनृते तुव्यसनप्रायश्चित्तप्रसंगेनोपपातके षूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ व्रणमध्ये कृमिपाते गरुडपुराणे ॥ जायंतेयस्यशिरसि कृमयोविनतात्मज कृच्छ्रंतदाचरेत्प्राज्ञःशुद्ध्येकश्यपात्मज इति १ य त्तुच्यवनः ॥ कृमिदर्शने सांतपनम् ॥ वृषभोदक्षिणेति ॥

और शूद्रसेवन इस अपात्री करण संज्ञिकपापकों करके तप्त कृच्छ्र व्रत करके शुद्ध होताहै एह विष्णुजीका कहाहोया वचन जानना हिंसा है फल जिसका ऐसा जो झू ठ है तिसके विषय प्रायश्चित्त व्यसन प्रायश्चित्तके प्रसंग करके उपपातकांके मध्यमें कथन की ताहै सो तिस स्थानमें देख लेणा इति जखमके मध्यमे कीटों के पौणेमें गरुड पुराणमें कहा है ॥ जायमिति । हे गुरुड जिस पुरुषके शिरके विषये कीडे उत्पन्न होतेहैं हे कश्य पके पुत्र सो बुद्धिमान् पुरुष शुद्धिके वास्ते कृच्छ्र व्रतकों आचरण करे ॥ १ ॥ जो च्यवनजीनें कहाहै कि कृमिओंके पौणेमें सांतपन व्रत करै और एक बैल दक्षिणा देवे

एह वाक्य जब एकसमयके विषय अनेकों जखमोंके विषय तीक्ष्णकी डेउत्पन्न होवें तिस विषय विषे जानना इसस्थानमे क्षत्री आदिओंकों एह प्रायश्चित्त एक एक पाद न्यूनजानना अर्थात् क्षत्रीकों तीन ३ पाद सांतपन व्रत अर वैश्यकों आधा अर शूद्रकों एकपाद जानना ॥ दिनमे मैथुनादिके विषयमे शंखजीने कहाहै दिवेति दिनके विषय मैथुननूं कर्के और तिसी प्रकार जळके विषय नग्न होंकर स्नान करके और नंगी बगानी स्त्रीनूं देखके एक दिन भोजन न करे इति ॥ १ ॥ नग्न शब्दका अर्थ दिखातेहैं नग्न इति एकवस्त्र वाला पुरुष नग्न होताहै इस वचनतें दो २ वस्त्र लय करके अर्थात् धोती और एक उपरणा

तद्युगपदनेकव्रणेषु खरकृम्युत्पत्तौज्ञेयम् ॥ अत्रक्षत्रियादीनांपादपादन्यूनम् ॥ दिवामैथुनादौतुशंखः ॥ दिवाचमैथुनंकृत्वानग्नःस्नात्वातथांभसि नग्नांपरस्त्रियंदृष्ट्वादिनमेकमभोजनमिति ॥ १ ॥ नग्नस्त्वेकवासाःस्यादितिवचनाद्वस्त्रद्वयवान्स्नायादित्यर्थः अत्रनग्नस्नानादावेकरात्रत्रिरात्रयोरभ्यासाद्यपेक्षयाव्यवस्था द्रष्टव्या निषिद्धकाष्ठदंतधावने वृद्धपाराशरःप्राह ॥ पलाशशिंशपाकाष्ठदंतधावनकृन्नरः दिवाकीर्त्तिसमस्तावद्यावद्गांनैवपश्यतीति ॥ १ ॥ एतच्चनिषिद्धकाष्ठांतराणामप्युपलक्षणम् ॥

इनानूं धार करके स्नान करे ॥ इस स्थानमें नग्न स्नानादियोंके विषय एक रात्र और तीन ३ रात्र इनकी व्यवस्था अभ्यासादियोंकी इच्छा करके जाननी अर्थात् कामतें अभ्यासके विषय तीन ३ रात्र उपवास जानना ॥ निषिद्ध काष्ठकी दातनके विषय वृद्धपाराशरजी कहतेहैं पलेति पलाह और टाली इनके काष्टांकी दातन करणे वाला पुरुष तितना पर्यंत नाईके तुल्य होवाहै जितना पर्यंत गौकों न देखे ॥ १ ॥ पलाशशिंशपा इस पद करके खजूर उीर केउडा और नारकेल इत्यादि जौं निषद्ध काष्ट हि इनकाभी ग्रहणकरणा

ब्रह्मचारीके धर्मके नाशके विषय बोधायनजीका वाक्यहै शौचेति शौच और आचमन और संध्यावंदन और कुशा और भिक्षा और होम इनका त्याग और शूद्रादिके साथ स्पर्श और कौपीन और कटिसूत्र और यज्ञोपवीत और तडागी और दंड और मृगाष इनका त्याग और दिने सौणा और छतडीका धारणा और पैये पाणे और पुष्पादि मालाका धारण करणा और वुटना मलना और चंदनादि सुगंधि वाले द्रव्यका मलना और सुरमा पाणा और जलक्रीडा और जूवाखेलणा और नृत्य अर गायन अर वाजा इन के विषय प्रीति करणी और पाखंडी अर चंडाल इत्यादियोंके साथ संभाषण करणा

ब्रह्मचारिधर्मलोपेबौधायनः॥ शौचाचमनसंध्यावंदन दर्भभिक्षाग्निकार्यराहित्यशूद्रादिस्पर्शन कौपीनकटिसूत्रयज्ञोपवीतमेखलादंडाजिनवर्जन दिवास्वाप छत्रधारण पादुकाध्यारोहण मालाधारणोद्वर्तनानुलेपनांजनजलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्याद्यभिरति पाषंडिचंडालादिसंभाषण पर्युषितभोजनादि ब्रह्मचारिव्रतलोपसकलनिर्हारार्थं ब्रह्मचारी कृच्छ्रत्रयंचरेत् महाव्याहृतिहोमं चकुर्यात् प्रथमंव्यस्तसमस्तव्याहृतिभिश्चतस्रआज्याहुतीर्हुत्वा ॥ ॐभूरग्नयेपृथिव्यै महतेचस्वाहा ॐभुवोवायवे चांतरिक्षायमहतेचस्वाहा ॐस्वआदित्यायचदिवेचमहतेचस्वाहा ॐभूर्भुवःस्वश्चंद्रमसेचनक्षत्रेभ्यश्चमहतेचस्वाहा ॐपाहिनोअग्नएनसेस्वाहा

और वेहे अन्नका भक्षण करणा इन संपूर्णोंके विषय और ब्रह्मचर्य व्रतके नाशके विषय संपूर्णपापके त्यागणके अर्थ ब्रह्मचारी तीन ३ कृच्छ्र व्रत करे अर महाव्याहृतिआं करके हवन करे अर प्रथम एक एक महाव्याहृति करके तीन ३ आहुतिआं करे पश्चात् सभना महाव्याहृतिआं करके क्या ॐभूः स्वाहा १ ॐभुवःस्वाहा २ ॐस्वःस्वाहा ३ ॐभूर्भुवःस्वःस्वाहा ४ इसरीतिसे तीनके पीछे एक आहुति करे इस प्रकार व्याहृतिआं करके चार घृतकीआं आहुतिआं करके पश्चात् ॐपाहिनो अग्न एनसेस्वाहा इत्यादि कर के हवन करे सो मूलमेंहि स्पष्टकीता होआहै ॥

असे तउ १ आहुति करके पुनारेति फेर महाव्याहृतिआंकर्के हवनकरे इति एह प्रायश्चित्त थोडे धर्मके नाशके विषय करणा॥ अर बहुते धर्मकेनाशके विषय अधिक प्रायश्चित्तनूं ऋग् विधान ग्रंथ विषय शौनकजी कहतेहैं तमिति श्मशानके शिवालयके विषय बैठकरके(तंवोधिया)इत्यादि मंत्रकाएक लक्ष १०००००जपकरे ब्रह्मचारिका धर्म शून्यभी होवे तदभी इसजपकरके पूर्ण हो ताहै इति॥ ग्रहण कीता होआ जो व्रत तिसके भंगके विषय वायुपुराणमें लिखाहै लोभेति लो भ उौर मोह और प्रमाद इनसें कदाचित् व्रतभंग होवे तब तीन १ उपवास व्रत करे अथवा

ॐपाहिनोऽग्नेविश्ववेदसेस्वाहा ॥ ॐयज्ञंपाहिविभावसोस्वाहा ॥ ॐसर्वं पाहिशतक्रतोस्वाहा ॥ ॐपुनरूर्जानिवर्त्तस्वपुनरग्नइषायुषा पुनर्नःपाह्यं हसः सहरय्यानिवर्त्तस्वाग्नेपिवस्वधारयाविश्वशियाविश्वतस्परिस्वाहा पुनर्व्याहृतिभिर्जुहुयादिति ॥ एतदल्पधर्मलोपे ॥ वाहुल्येतु प्रायश्चित्तवि शेषमाह ऋग्विधानेशौनकः॥ तंवोधियाजपेन्मंत्रंलक्षंप्रेत्याशिवालये ब्रह्म चारिणोहिधर्मशून्यंचेत्पूर्णमेवहीति प्रेतानांयोग्यंस्थानंप्रेत्यंश्मशानमित्य र्थः॥ गृहीतव्रतभंगेवायुपुराणे॥ लोभान्मोहात्प्रमादाद्वाव्रतभंगोयदाभवेत् उपवासत्रयंकुर्यात्कुर्याद्वाकेशमुंडनम् प्रायश्चित्तमिदंकृत्वापुनरेवव्रतीभवेत् अत्र वाशब्दः॥ समुच्चयेमिथ्याशपथे यमः ॥ विप्रस्यवधसंयुक्तंकृत्वातुशप थंमृषा ब्रह्महायावकान्निनव्रतंचांद्रायणंचरेत् ॥ १ ॥ एतच्चशपथांतर स्याप्युपलक्षकम् ॥

केशांकामुंडनकरावे ॥ इस प्रायश्चित्तनूं करके पश्चात्व्रतकाधारणकरे १ झूठीसुगंदके विषय यमजी का वचनहै विप्रेति ॥ मैंने ब्रह्महत्याकीतीहै जेकरएह कामकीताहै ऐसे ब्राह्मणकी झूठी सुगंद चु ककें ब्रह्मघाती होताहै सो यवांके अन्नकरके चांद्रायण व्रतनूं करे॥ १ ॥ उौर सुगंदकाभी एही प्रायश्चित्त जानना अर्थात् उौर तरहांसेभी जेकर कोई शपथकरेगा कि मेरेकोंगौकी शपथ है जैमें वेश्या द्वारपरभीगयाहोयांइत्यादि तौभी यावकान्न करके चान्द्रायण व्रत करे ॥

सुकृतमिति जेडे पुरुष संपूर्ण आयुषाके विषय कीते होए पुण्य नू किसेके तांई देदेतेहैं सो धर्मराज जीकी आज्ञासे शिलाकर्के पेषणकरीदेहैं जिस प्रकारतैसे पापी पुरुष पेषण करीदेहै १ एहमार्कंडेयपुराणकेवाक्यतें जानना ॥ असे स्थानों विषेप्रायश्चित्तकी व्यवस्था करदेहैं यत्रेति जिस स्थानमें प्रायश्चित्त कथन कीताहै अथवा जिस स्थानमें नहि कथन कीताहै इस उशानसजीके वाक्यतें तिस स्थानके विषय प्राजापत्य व्रत कल्पन करणा ॥ ब्राह्मणकों क्षत्रियादि वृत्ति करके धनके संचयकरणेमें प्रचेतसजीने कहाहै ॥ ब्राह्मणेति पिता और माता और बहु भृत्य इनके नाशके विषय आपदसमयमें क्षत्रीके धर्मनूं ब्राह्मण जद अंगीकार करे अर तिसके विषय एक वर्ष

सुकृतंयेप्रयच्छंति यावज्जीवकृतंनराः तेंपिष्यंतेशिलापेषैर्यथैतेपापकारिण इतिमार्कण्डेयपुराणवाक्यात् यत्रोक्तंयत्रवानोक्तमित्यौशनसवाक्यात्तत्र प्राजापत्यः ॥ कल्पनीयःब्राह्मणस्यक्षत्रियादिवृत्त्याधनार्जने प्रचेताः । ब्राह्मणस्यापत्कालेपितृमातृबहुभृत्यस्यानंतरंक्षत्रोपनिवेशःआपत्कालमेवदर्शयति पित्रिति पित्राद्यभावेक्षत्रोपनिवेशः क्षत्रधर्म्मस्वीकारश्चेत्तदा तत्रेत्यादि तत्रसंवत्सरमर्थप्राप्तौ ॥ चांद्रायणंचरेदिति वैश्यवृत्तिजीवने तत्र वर्षाभ्यंतरे मासादौचांद्रायणभागहारःकल्पनीयः संवत्सरादूर्ध्वंद्वैगुण्यत्रैगुण्यादिकल्पनीयम् शूद्रवृत्त्याधनार्जने मनुः ॥ नकथंचनकुर्वीतब्राह्मणः कर्मवार्षलम् वृषलःकर्मवाब्राह्मंपतनीयेहितेतयोः ॥ १ ॥ वार्षलंकर्म सेवा

व्यतीतहोजावे तव चांद्रायणव्रतकरे । अर जब वैश्यवृत्ति करके उपजीविकाकरे अर तिसस्थानके विषय वर्षके मध्यमेंहि मासादिके व्यतीतहोनेमें चंद्रायणव्रतके तीन ३ भाग अर्थात् तीनपाद कल्पन करणे योग्यहैं अर जेकदाचित् वर्षतें उपरंतहोजाए तव कालके अनुसारदूणा अथवा त्रिणाइत्यादि चांद्रायणव्रत कल्पना करणे योग्यहै ॥ शूद्रवृत्ति करके धनके एकत्रकरणेमे मनुजीने कहाहै नेति ब्राह्मण शूद्रके कर्म नूं कदाचित् भी न करे अर्थात् सेवा न करे अर शूद्र ब्राह्मणके कर्मनूं न करे क्योंकि ब्राह्मण और शूद्र इनोको परस्पर कीतेहोये कर्म्म पातित कर देते हैं ॥ १ ॥

इसप्रकार उपक्रम कर्के फेर उपनयन कर्मके साथ कृच्छ्रादि व्रतकी पश्चात् प्रवृत्तिके विषय मनुजीकावाक्यहै प्रेति परकर्मके विषये स्थित होकर जेडे ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य प्रायश्चित्त नूं करतेहैं और अपणी जातितें भ्रष्ट होए होएजो ब्राह्मणहैं तिनांकोंभी एही प्रायश्चित्त कथन करे १ ॥ शूद्रकोंभी ब्राह्मण औरक्षत्री अथवा वैश्यके कर्मकरणेके विषय एहि प्रायश्चित्तहै क्योंकि शूद्रकों भी पर कर्म होनेसें अर्थात् निंदित कर्म होनेसें परंतुंपरवृत्तिकर्के एकत्र कीता होया जो धनहै तिस त्यागके सहित एह प्रायश्चित्त है क्योंकि जिस कारणतें निंदित कर्म केधन नूं संचितकरतेहैं सो तिसधनके त्यागणेते पिछे प्रायश्चित्त से शुद्ध होतेहैं इस मनुके वचनतें जानना ॥ स्त्रीके धन कर्के उपजीविका करणेमे कहते हैं चांद्रेति एक चांद्रायण व्रत कर्के संपूर्ण पापांका नाश होताहै सोधन स्त्रीके ताई दे करके चांद्रा

एवमुपक्रम्य पुनरुपनयनसहितकृच्छ्राद्यनुवृत्तौ सएव ॥ प्रायश्चित्तंप्रकुर्वंतिविकर्मस्थास्तुयेद्विजाःब्राह्मण्याच्चपरित्यक्तास्तेपामप्येतमादिशेत् १ ॥ शूद्रस्यापिद्विजकर्मकरणेऽप्येतदेव ॥तस्यापि तद्विकर्मत्वात् अर्जितधनत्यागपूर्वकंचैतत् ॥ यद्गर्हितेनार्जयंतीति मनूक्तेः ॥ स्त्रीधनोपजीवनेतु सएव चांद्रायणेनचैकेन सर्वपापक्षयोभवेत् ॥ चान्द्रायणंस्त्रियैतद्धनंदत्वाकार्य्यम् ॥ भार्यायामुखमैथुनेतूशनाः ॥ यस्तुब्राह्मणोधर्मपत्नीमुखेमैथुनंसेवेतसदुष्यतीति वैवस्वतः ॥ प्राजापत्येनशुद्ध्यतीति ॥ गोयुक्तयानस्थस्यमैथुनेयमः ॥ यदिगोभिःसमायुक्तंयानमारुह्यवैद्विजः मैथुनंसेवतेचैवमनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ १ ॥ त्रिरात्रंक्षपणंकृत्वासचैलस्नानमाचरेत् गोभ्योथवसंदद्याद्घृतंप्राश्यविशुद्ध्यतीति ॥ २ ॥ यत्तु स्मरणम्

यण व्रत करणा स्त्री धन इस जगाउंहै जो विवाह विषे पित्रादियोंने दित्ताथा और श्वशुरके घर पाद वंदनके समय दित्ताहै ॥ स्त्रीके मुखके विषय मैथुन करणेमें उशनसका बचन है यहति जो ब्राह्मण अपणी धर्म पत्नीके अर्थात् विवाहिता स्त्रीके मुखमे मैथुन करताहै सो पतित होताहै अर्थात् पापी होताहै इसका प्रायश्चित्त वैवस्वत मनुजीने कहाहै कि प्राजापत्य व्रत कर्के सो शुद्ध होताहै इति ॥ बैल कर्के युक्त जो गाडी तिसके विषय स्थित पुरुषके मैथुनमें यमजीका वचनहै यदीति जद ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य बैल कर्के युक्त जो गाडी किसके विषय स्थित होकर्के मैथुन करताहै इसमे स्वायं भुव मनुजी कहते भये ॥ १ ॥ तीन ३ रात्र उपवास कों कर्के सहित वस्त्रांदे स्नान करे अर बैलांके ताई घासदेदेवे अर्थात् बैलांनू चारे पश्चात् घृतका भक्षणकरे तो शुद्धहोताहै ॥ २ ॥ जो कथनहै

मैथुनमिति ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य बैलां कर्के संयुक्त जो गाडी तिसके विषयस्थित होकर्के स्त्रीके अथवा पुरुषके साथ दिनमे मैथुनकों करताहै सो सहित वस्त्रांके स्नानकरे । १ । एह अकामतें एक वारकरणेके विषय जानना ॥ अर काम कर्के पुरुषके साथ मैथुन करणेका प्रायश्चित्त जाति अंशादिके बिषय कहाहै । तूं मेरीमाताके समानहै ऐसे जो पुरुष क्रोधतें अपणी स्त्रीकों कह कर्के फेर मैथुनके वास्ते इच्छा करताहै तिसके विषय पराशरजीने कहाहै यइति जो पुरुष क्रुद्धहो कर्के अपणी स्त्रीकों मैथुनके अयोग्यनूं कहताहै अर्थात् तूं मेरी माताहैं ऐसें वचन कहताहै अर फेर मैथुनके वास्ते इच्छा करताहै सो पुरुष ब्राह्मणांके मध्यमें अपणे प्रायश्चित्त कों कथन करवाए । १ । इसीमैं औरवचन है आर्तइति आर्त क्या दुःखी अथवा क्रोध अथवा अज्ञान अथवा क्षुधा अथवा तृषा अथवा भय इनां कर्के पीडित होआ होआ

मैथुनंतुसमासाद्य पुंसियोषितिवाद्विजः गोयानेषुदिवाचैवंसवासाःस्नानमाचरेत्१ तदकामतः सकृत्करणेज्ञेयम् क्रोधाद्भार्यात्वंमेमाआसदृशीत्युकत्वा पुनःसंभोगेपराशरः । यस्तुक्रुद्धःपुमान्ब्रूयाज्जायायास्तुअगम्यताम् पुनरिच्छतिभर्यांचविप्रमध्येतुवाचयेत् १ आर्तःक्रुद्धस्तमोघोवाक्षुत्पिपासाभयर्दितःदानंपुण्यमकृत्वावा प्रायश्चित्तंदिनत्रयम् २ उपस्पर्शेत्रिषवणंमहानद्युपसंगमे स्नानांतेचैवगांदद्याद्ब्राह्मणान्भोजयेद्दशेति ३ वाचयेत्स्वस्यप्रायश्चित्तस्योपदेशंकारयेत् पुण्यंयागादिसंकल्पितंदानयागाद्यकृत्वेत्यर्थः वस्तिकर्मणियमः । वस्तिकर्मणिरूढैश्चप्रच्छर्दनविरेचनैः शिशुकृच्छ्रेणशुद्ध्येततस्मात्पापान्नसंशयः १ प्रच्छर्दनविरेचनयोरभ्यासएवाशिशुकृच्छ्रः अन्यत्रतुस्नानमात्रम्

दान और यज्ञादि नूं न कर्के तिसस्त्रीनूं गमन करे तां प्रायश्चित्त तीन ३ दिन करे । २ । और जेकर दानादि होण तो व्रतका प्रयोजन नहि तिसके विना कहतेहैं उपेति अर तीन काल महानदीके संगमके विषय स्नान करे और स्नानके अंतमें गौसंकल्प करे और दश १० ब्राह्मणां नूं भोजन खुलावे ॥ ३ ॥ वस्तिकर्मके विषय यमजीका वचनहै वस्तीति मूत्राशयकी चिकित्साकानाम वस्तिकर्महै मूत्राशयके शोधन करणके वास्ते उलटी अथवा जिलाब करवाए तिस पापतें पुरुष शिशु कृच्छ्र व्रतकर्के शुद्ध होताहै इसमें संदेह नहि । १ उलटी और जलाबके अभ्यासके विषय शिशुकृच्छ्र व्रत नूं करे जेकरकदाचित् करवाए तद स्नान कर्के हि शुद्ध होजाताहै अर वस्तिकर्मका स्वरूपदेखणा होवे तब भाव प्रकाशमें देखलेणा

तिस प्रकार अजीर्णादिकेविषयभी यमजीका कथनहै । अजीति अन्नकान पचना और पूर्वकहा जो अभ्युदित और उद्वमन और क्षौर कर्म और मैथुन और खोटा स्वप्न और दुष्ट पुरुषके साथ स्पर्श इनके विषयमें स्नान मात्र अर्थात् केवल स्नानहि कहाहै । २ । देवताके मंदिरके शिलादि करके अपने गृहके बनानेमेंयमजो निंदाकरतेहैं इष्टेति देवताके मंदिरमें लगिआंहोआं जो पकिआं इटां और काष्ट और लोहा और पाषाण इनानूं ल्या करके लोभतें अपणे गृहके विषय जो पुरुष जोडतें हैं अर्थात् इनां करके अपणे गृहनूं बनातेहैं । १ । सो एकले और भयभीत और क्षुधातृषा करके दुःखी होए होए जितना पर्यंत पापका नाश नहि होता तितना पर्यंत बंधनमें

तथाच सएव ॥ अजीर्णेऽभ्युदितेवान्तेश्मश्रुकर्मणिमैथुने दुःस्वप्नेदुर्जनस्पर्शेस्नानमात्रंविधीयते ॥ २ ॥ देवागारशिलादिना स्वगृहकरणंनिंदति यमः इष्टकाकाष्ठलोहाश्मदेवालयसमन्वितम् गृहीत्वात्मगृहेचैवलोभाद्येयोजयंतिये १ ॥ एकाकिनस्तथोद्विग्नाः क्षुत्तृषापरिपीडिताःबंधनेतेतुतिष्ठंतियावत्पापस्यसंक्षयः २ ॥ अत्र प्राजापत्यचान्द्रायणादिकल्प्यम् ॥ वानप्रस्थयत्योर्व्रतभंगे सएव वानप्रस्थोदीक्षाभेदेकृच्छ्रंद्वादशरात्रंचरित्वामहाकक्षंवर्द्धयेत् ॥ भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवृद्धिवर्जंस्वशास्त्रसंस्कारंचेति दीक्षाभेदोयमनियमातिक्रमः महाकक्षमौषधवनप्रदेशमुदकसेचनादिना वर्द्धयेत सोमशब्देनौषधिसामान्यंलक्ष्यते ॥ तद्वृद्धिःपरंभिक्षोर्निवर्ततेपरंतु समित्यर्थः स्वशास्त्रसंस्कारः प्राणायामाभ्यासः ॥

अर्थात् नरकमें स्थित होतेहैं ॥ २ ॥ इसके विषय प्रायश्चित्त प्राजापत्य और चांद्रायणादिव्रत कल्पन करणा ॥ वानप्रस्थ और यति के व्रत भंगमेंभी यमजीका वचनहै ॥ वानेति वानप्रस्थी जब यम और नियम कर्मांका उल्लंघन करे तब द्वादश १२ रात्रके कृच्छ्र व्रत नूं करके पश्चात् औषधिके बन नूं जलके संचन करणे करके बधावे ॥ और संन्यासी भी जब यम और नियमादि कर्मांका उल्लंघन करे तब औषधिकी वृद्धितें बिना अपणे शास्त्रके संस्कारनूं करे अर्थात् प्राणायामके अभ्यास नूं करे अर औषधिआंकी वृद्धिका संन्यासीको निषेधकिताहै (दीक्षाभेदोयमनियमातिक्रमः) इत्यादि पदों करके पूर्वले वाक्यका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै ॥

हारीतजीका वाक्यहै झूठ और चुगली इनके वचनमे अर्थात् झूठ और चुगली कथन करके संन्यासी तप्त कृच्छ्र व्रत नू करे॥ क्रोध और अहंकार और चुगली इनके विषय छागलेय जीका कथनहै व्रतेति संन्यासियोंके जो व्रत अर तिसी प्रकार जो उपव्रत हैं इनां मेसें एक एकके भी उल्लंघनके विषय प्रायश्चित्त विधानकरीदाहै कि एक १ दिन रात्र उपवासनूं रक्षकरके पश्चात् कृच्छ्र व्रतके सहित चांद्रायण व्रत नूं करे॥ १ ॥ व्रत और उपव्रतां नूं बौधायनजी कहतेहैं आदिके विषय मौनिके व्रतांनूं कहतेहैं॥ अहिंसेति जीवोंको न मारणा और सत्य कहणा और चोरी न करणी और मैथुन नकरणा एह संन्यासीके व्रत कहे हैं॥ इसतें उपरंत उपव्रतांनूं कहतेहैं अक्रोध इति क्रोध न करणा और गुरुकी शुश्रूषा करणी और सर्वदा काल प्रसन्न

हारीतः अनृतपिशुनवचने भिक्षूणांतप्तकृच्छ्रः॥ क्रोधाहंकारपिशुनेषुच छागलेयः॥ व्रतानियानिभिक्षूणांतथैवोपव्रतानिच एकैकातिक्रमेतेषांप्रायश्चित्तंविधीयते अहोरात्रोपिवोभूत्वाकृच्छ्रचांद्रायणंचरेत् १। कृच्छ्रपदंचांद्रायणविशेषणम् व्रतोपव्रतान्याह बौधायनः अथ मौनिव्रतानि। अहिंसा सत्यवचनमस्तेयंमैथुनस्यचवर्जनम्॥ अथोपव्रतानि॥ अक्रोधोगुरुशुश्रूषाप्रसादशौचमाहारशुद्धिश्चेति जलप्रतिविंवदर्शनादौयाज्ञवल्क्यः॥ मयितेजइतिच्छायांस्वांदृष्ट्वांवुनिवैजपेत् सावित्रीमशुचौदृष्टेचापलेचानृतेपिच॥ १ मयितेज इतिमंत्रोवाजसनेयिप्रसिद्धः

रहणा और शौच करणी और शुद्ध भोजन करणा एह उपव्रत कथन कीते हैं॥ जलके विषय छायाके दर्शनादिमें अर्थात् जलमें अपना स्वरूपदेखनेमे याज्ञवल्क्यजीने कहाहै मयीति जलके विषय अपणी छायानूं देखकरके (मयितेजः) इत्यादि वाजसनेयिके मंत्र नूं जपे और अशुद्धवस्तुके दर्शनमें अर चित्तकीअनवस्थिति औरझूठवचन इनके विषयमें सावित्रीनूं जपे अर्थात् गायत्रीका जप करे॥ १ ॥ इसजगा मयितेज इसमंत्रका और गायत्रीका जप एकवारहि करणा चाहिए और जेकर बहुतवार प्रतिविंवादि दर्शनहोवे तों बहुवार करणा

अशुचिस्थान और मूत्र और पुरीषादि और अनवस्थिति और निरर्थक शरीरकी क्रिया और अंगीकार करके पश्चात् झूठ कथन करणा इनके विषय हारीतजीका वाक्यहै ॥ प्रतीति जोपुरुष प्रथम अंगीकार करके पश्चात् झूठ अथवा मिथ्याकों सत्य कथन करे सो तप्तकृच्छ्रके सहित चांद्रायण व्रतकों करे ॥ १ ॥ एहवाक्य गुरुकों प्रथम कथन कीता जो है क्याकि मैं तुसाडा एह काम करांगा अथवामैं तुसानूं एह वस्तु दिआंगा इतना वचन कहकर पश्चात् न करणा तिसके विषय जानना क्योंकि प्रायश्चित्तकों बडाहोणेते । भोजन कालके विषय जो मौनव्रतहै तिसके नाशके विषय पराशरजीका वचनहै मौनेति मौन व्रतकों अंगीकार करके ब्राह्मण और क्षत्री अथवा शूद्र स्थित होआ होआ न कथन करे अर्थात् भोजनतें पहले बोल णाथा तिस विषय न बोले अर भोजन भक्षण करदा होआ जो बोले सो पुरुष शेष अन्ननूं त्यागदेवे क्या बोलणेतें पीछे भोजन न करे ॥ १ ॥ केवल मुखकर्के

अशुचौ मूत्रपुरीषादौचापले वृथाचेष्टायांप्रतिश्रुत्यानृतोक्तौहारीतः॥ प्रति श्रुत्यानृतंब्रूयान्मिथ्यासत्यमथापिवा सतप्तकृच्छ्रसहितंचरेच्चान्द्रायणव्रत मिति।१।गुरुवस्तुविषयकप्रतिश्रुताकरणपरमेतत् प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात् भोजनकालीनमौनव्रतलोपे पराशरः मौनव्रतंसमाश्रित्यआसीनोनवदेद् द्विजः भुंजानोहिवदेद्यस्तुतदन्नंपरिवर्जयेत् ॥१॥ केवलमुखेन जलपानेस एव । विद्यमानेषुहस्तेषुब्राह्मणोज्ञानदुर्बलः तोयंपिबतिवक्त्रेणश्वयोनौजाय तेध्रुवम् ।२। असपिंडैःसहरोदने पारस्करः। मृतस्यबांधवैःसार्द्धंकृत्वातुपारि देवनम् वर्जयेत्तदहोरात्रंदानंश्राद्धादिकर्मचेत्यनेनैकाहः॥१॥एतच्च कामतः अकामतस्तुस्नानमेव ॥ प्रेतालंकरणेशंखः॥कृच्छ्रपादःसपिंडस्यप्रेतालंकर णेकृतेअज्ञानादुपवासःस्यादशक्तौस्नानमिष्यतइति ॥ १ ॥ कामतोद्विगुणम्

जल पीणेके विषयभी पराशरनेहि कहाहै विद्येति हत्थांके हुंदिआं जो ज्ञानदुर्बल अर्थात् मूर्ख ब्राह्मण जलकों केवल मुख करकें पीवताहै अर्थात् लंम्मा पैकर मुखके साथ पान करता है सो निश्चय करके कुत्तेकी योनिकों प्राप्त होताहै ॥ २ ॥ असपिंडांके साथ रुदन करणाके विषय पारस्करजीका कथनहै मृतेति मृत होआ जो कोई असंबंधी पुरुषहै तिस के संबंधिआंके साथ रुदननूं करके तिस दिन रात्रके विषय दान और श्राद्ध अर आदिपद करके तर्पणादि इनानूं न करे क्योंकि तिसतें वोह अशुद्धहै १ सो एह इच्छा करके जब करे तब एक दिन वर्जन करे अर जब इच्छासें न करे तब स्नान करकेहि शुद्ध होताहै॥ १ ॥ प्रेतके भूषण करणे विषय शंखजीका वचनहै कृच्छ्रेति भिन्न पिंड वाला जो प्रेतहै तिसके भूषण करणेमें अर्थात् स्नानादि कराणेमें कृच्छ्र व्रतका एक पाद करे अर जब अज्ञानतें करवाए तब एक दिन उपवास करे अर जब इसमे शक्ति न होवे तब स्नानमात्रहि इच्छितहै ॥ १ ॥ अर कामके विषयमें दूणा प्रायश्चित्त करे ॥

जो तप्त कृच्छ्रकी प्रवृत्तिके विषय अंगिराजी का वाक्यहै कि आत्मत्याग करणवाले प्रेतांके संस्कार करणके विषय अर्थात् शवांके स्नानादि करवाणेमें पातकी होंताहै अर्थात् तब कृच्छ्र व्रत कर्के शुद्ध होताहै सो एह वाक्य अभ्यासके विषयमें जानना ॥ सजाति और भिन्न जाति के शवके पीछे गमनके विषयमें मनुजीका वचनहै अन्विति सजाति और भिन्नजाति वाला जो शवहै तिसके पीछे इच्छासें जो पुरुष जाताहै अर्थात् मुरदेके दाह करण वास्तें जो साथ जाताहै सो सहित वस्त्रांके स्नान करके और अग्निनूं स्पर्श करके अर घृतका भक्षण करे तो शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ इस स्थानमें इच्छया इस पदके ग्रहण करणेसें एह कामके विषयमें जानना ॥ अर अकामके विषयमें केवल स्नानहि कथन कीताहै ॥ फेर याज्ञवल्क्यने जो कहाहै कि ब्राह्मेति भिन्न पिंड वाले ब्राह्मणने ब्राह्मण और क्षत्री

यत्तु तप्तकृच्छ्रानुवृत्तौ अंगिराः ॥ आत्मत्यागिनांच संस्कृतौ तदस्तुपातककारीचेति तदभ्यासे ॥समानेतरजातिप्रेतानुगमने मनुः। अनुगम्येच्छयाप्रेतंज्ञातिमज्ञातिमेवच स्नात्वासचैलःस्पृष्ट्वाग्निंघृतंप्राश्यविशुध्यतीति १ अत्रेच्छयेतिग्रहणादेतत्कामतः अकामतस्तुस्नानमेव यत्तुयाज्ञवल्क्यः ब्राह्मणेनानुगंतव्योनशूद्रोनद्विजःक्वचित् अनुगम्यांभसिस्नात्वास्पृष्ट्वाग्निं घृतभुक्छुचिः ॥१॥ ब्राह्मणेनासपिंडेन द्विजोविप्रादिः ॥ अस्यचघृतप्राशनस्यभोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावान्नभोजननिवृत्तिरितिमिताक्षरायाम् तन्मानवसमानविषयम् ॥ वस्तुतोघृतस्यप्रायश्चित्तार्थत्वादभोजनमेवयुक्तम् अतएववासिष्ठेन मनुष्यास्थिस्निग्धंस्पृष्ट्वात्रिरात्रमस्निग्धेत्वहोरात्रं शवानुगमनेचैवमिति ॥

और वैश्य अथवा शूद्र इनके मृत होयां पीछे गमन नहि करणे योग्य जे कदाचित् जाएभी तब जलके विषय स्नान करके अर अग्निनूं स्पर्श करके और घृतका भक्षण करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ इस घृतभक्षणकों भोजन कार्यकी विधिके विषयमें अप्रमाण होणेतें और भोजन की निवृत्ति नहि जाननी एह मिताक्षरामें लिखाहै सो मनुजीके वचनकें तुल्यहि जानना वास्तवतें घृत भक्षणकों प्रायश्चित्तके अर्थ होणेतें भोजन नहि भक्षण करणे योग्य ॥ इसी कारणसें वसिष्टजीने कहाहै मनुष्येति पुरुषकी नवीन हड्डीका स्पर्श करके तीन ३ रात्र उपवास करे अर पुराणी हड्डीका स्पर्श करके एक १ दिन रात्र उपवास करे इसी प्रकार शवके पीछे गमनके विषय जानना चाहिए ॥

विप्रेति ब्राह्मण प्रेतके पीछे गमनके विषय एक दिन कथन करणेतें क्षत्री प्रेत और वैश्य प्रेत के पीछे गमनके विषय कुछक अधिक प्रायश्चित्त कल्पन करणा चाहिए ॥ ब्राह्मणकों शूद्रके पीछे गमनके विषय पराशरजीका वाक्यहै । प्रेतीति लेजाईदे होए शूद्र शवके पीछे जो मूर्ख ब्राह्मण जाताहै सो तीन ३ रात्र व्रत करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ तीन रात्र व्रतके कीतिआं होआं पश्चात् समुद्रमे प्रवेश करण वाली जो नदी है तिसकों प्राप्त हो करके अर्थात् वडी नदीके विषय स्नान करके अर सौ १०० प्राणायाम कों करके और घृतका भक्षण करके शुद्ध होताहै ॥ २ ॥ इस स्थानमें घृत भक्षणकों शुद्धिके अर्थ कथन करणेतें भोजनका निषेध नहि एह वाक्य कामका विषयहै ॥ अकामके विषयमें इसतें आधा प्रायश्चित्त करणा ॥ इसी प्रकार क्षत्रीकों वैश्य और शूद्रप्रेतके पीछे गमनमें अर वैश्यकों शूद्र प्रेतके पीछे गमन करणेंमें प्रायश्चित्त कल्पन करणा ॥ अग्निहोत्रादि कर्म और वा

विप्रानुगमने एकाहस्योक्तत्वात् क्षत्रियवैश्यानुगमने त्वधिकं कल्प्यम् ब्राह्मणस्य शूद्रानुगमने पराशरः ॥ प्रेतीभूतंतुयःशूद्रंब्राह्मणोज्ञानदुर्बलःअनुगच्छेन्नीयमानंसत्रिरात्रेणशुद्ध्यति १ त्रिरात्रेतुततश्चीर्णेनदींगत्वासमुद्रगाम् प्राणायामशतंकृत्वाघृतंप्राश्यविशुद्ध्यतीति २ अत्र घृतप्राशनस्य शुद्ध्यर्थाभिधानान्नभोजननिवृत्तिः॥ एतच्चकामतःअकामतस्त्वर्द्धम् ॥ एवं क्षत्रियस्यवैश्यशूद्रानुगमने वैश्यस्य शूद्रानुगमनेकल्प्यम् ॥ इष्टापूर्त्तशुभाशुभमहाकर्म्मस्वनुपहतानामपिऋत्विगाचार्यादीनांत्रीणि कृच्छ्राणि चांद्रायणाख्यसर्वप्रायश्चित्तमाह प्रयोगपारिजाते आचार्यः॥ सएवरजस्वलाकन्यारक्षणे प्रायश्चित्तमाह॥कन्यामृतुमतींशुद्धांकृत्वानिष्कृतिमात्मवान्तथातुकारयित्वातामुद्वहेतान्नृशंसधीः १ दद्यात्तद्दतुसंख्यागाःशक्तःकन्यापिता यदि दातव्यैकापिनिःस्वेनदानेतस्याययथाविधि ॥ २ ॥ तस्यागोर्दानेयथाविधि ऋतुसंख्याकाविधि यथास्यात्तथाऽचरणीयमित्यर्थः

पी कूपादि और शुभ और अशुभ एह जो महाकर्म हैं इनके विषयमे चतुर भी हैं ऋत्विक् और आचार्यादि इनकों भी त्रय कृच्छ्र और चांद्रायण संपूर्ण प्रायश्चित्तकों प्रयोग पारिजातमें आचार्यजी कथन करते भये ॥ सोई आचार्यजी रजस्वला कन्याके रक्षणमें प्रायश्चित्त कों कहते हैं । कन्यामिति ज्ञानवाला और नहि निंदाके योग्य बुद्धि जिसकी ऐसा पुरुष प्रथम प्रायश्चित्तकों करके अर कन्याकों भी प्रायश्चित्त करवाके पश्चात् ऋतुवाली कन्याकों विवाह लये ॥ १ ॥ दद्येति अर कन्याका पिता जद समर्थ होवे तब कन्याकी ऋतुके समान गौआं देवे अर्थात् जितनीयां ऋतु लंघीयां होण विवाहतक तितनीयां गौयांका दान करे एह अर्थ है अर कन्याके विधि पूर्वक दानके विषय निर्धननें भी एक गौ देणी योग्यहै परंतु तिस गौके दान विषय ऋतु संख्याके नाम करके संकल्प करणा ॥ २ ॥

सो गौआं जामाता को देखियां अथवा ब्राह्मणको इसका उत्तर कहतेहैं ॥ गा इति अर कन्याका पिता धनी होवे तव ब्राह्मणांकों गौआं देवे अर जव निर्धन होवे तव दक्षिणा मात्रदेवे तिस कारणतें ऋतुकी संख्याके समान ब्राह्मणांकों गौआं देवे अथवा कन्या पासों दुवाए ॥ ३ ॥ उपोष्येति अर कन्या तीन ३ दिन उपवास रक्खकर पश्चात् रात्रिके विषय गौआंके दुग्धकों पीवें जव ऋतुतें रहित कन्या होवे तिस कालके विषय कन्याके नां ई भूषण देवे और तिस कन्याकों विवाहन वाला वर भी कूष्मांड संज्ञिक मंत्रों करके घृतका हवन करे ॥ ४ ॥ श्राद्ध और उपवासके दिनमें दातन करणके विषय विष्णु रहस्यमें लिखाहै । श्राद्धविति श्राद्ध और उपवासके दिनमें दातनकों करके गायत्रीके सौ १०० मंत्र करके पवित्र होआ जो जलहै तिसका आचमन करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ और

गादद्याद्ब्राह्मणेष्वेवानिःस्वोनिःस्वस्तुदक्षिणाम् तस्मात्तद्दतुसंख्येषुब्राह्मणेषुप्रदापयेत् ॥ ३ ॥ उपोष्यत्रिदिनंकन्यारात्रौपीत्वागवांपयः अदृष्टरजसेदद्यात्कन्यायैतत्रभूषणम् तामुद्वहन्वरश्चापिकूष्मांडैर्जुहुयाद्घृतमिति४ श्राद्धोपवासदिने दंतधावने विष्णुरहस्ये ॥ श्राद्धोपवासदिवसेखादित्वादंतधावनम् गायत्र्याःशतसंपूतमंवुप्राश्यविशुध्यतीति ॥ १ ॥ अन्यान्यपिप्रकीर्णकान्यपरार्के शंखः ॥ प्रेतस्यप्रेतकार्याणिअकृत्वाधनहारकः वर्णानांयद्वधेप्रोक्तंतदर्धंप्रयतश्चरेत्॥१॥ अतिमानादतिक्रोधाद्भयादज्ञानतोपिवा उद्बध्नीयात्स्त्रीपुमान्वापिगतिरेषांनविद्यते ॥ २ ॥ पूयशोणितसंपूर्णेतमस्यंधेसुदारुणे षष्टिवर्षसहस्राणिनरकेयद्दुपासते ॥ ३ ॥ गोभिर्हतंतथोद्बद्धंब्राह्मणेनचघातितम् संस्पृशंनेतुयेविप्रागरदाश्चाग्निदाश्चये ॥ ४

भी प्रकीर्णक प्रायश्चित अपरार्कमें शंखजीने कथन कीते हैं ॥ प्रेतेति ॥ प्रेतके धनकों ग्रहण करणे वाला जव प्रेतके कर्मांकों न करे तव वर्णांके हत करणेके विषय जो प्रायश्चित कहाहै तिसतें आधा प्रायश्चित इंद्रियोंकोंरोककरकरे १ अव और कहतेहैं अतीति वहुत मान और वहुत क्रोध और भय अथवा अज्ञान इनतें स्त्री अथवा पुरुष किसीकों फांसी दे देवे तिनकी गति नहि होती । २ । तिनकी व्यवस्था कहतेहैं पूयेति पाक और रुधिर करके पूर्ण होआ होआ और अंधकार करके युक्त और भयानक जो नरक है तिसके विषय सठ हजार ६०००० वर्ष रहतेहैं ॥ ३ ॥ और कथन करतेहै ॥ गोभिरिति गौआंने जो मारिआ है और तिस प्रकार फांसी ले करके जो मृत होआं है और ब्राह्मणने जो मारिआ है इनाकों जेडे ब्राह्मण स्पर्श करते हैं और जेडे विषके देणे वाले हैं और जेडे अग्निके देणे वालेहैं ॥ ४ ॥

अन्विति और जेडे फांसी कर्के मृतहोयेके पीछे जातेहैं और जेडे पाशके छेदने वाले हैं सो संपूर्ण पापकर्के संयुक्तहोतेहैं तिनांकी शुद्धिनूं मैं कहताहुं । ५ । तप्तेति सो सब तप्तकृच्छ्र व्रतकर्के शुद्धहोतेहैं और ब्राह्मणांकोंभोजन खुलावें अर ब्राह्मणाकेताईं बैलकेसहित गौ दक्षिणादेवें ६ ॥ इहां एकवचन बहुवचनके स्थानजानना इसी विषयमें संवर्त्तजीका वाक्यहै गविति गौआंने जो ब्राह्मणने हतकीताहैं और आप पाशादिकर्के मृतहोआहै कल्याणकी इच्छा करदे जो सत्पुरुषहैं तिनांनें इनके विषय रोदन न करणा चाहिए। १ । और कथन करतेहैं एषामिति इनांके मध्यमें एक किसी प्रेतनूं जो पुरुष आच्छादनकरताहै अथवा चुकताहै अथवाकटोदक क्रियानूं करताहै

अनुयातारोऽपियेचान्येयेचान्येपाशछेदकाः सर्वेतेपापसंयुक्तास्तेषांवक्ष्यामिनिष्कृतिम्॥ ५॥ तप्तकृच्छ्रेणशुद्ध्यंतिकुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् अनडुत्सहितां गांचदद्याद्विप्रायदक्षिणाम् ॥ ६ संवर्त्तः॥ गोभिर्हतेतथाविप्रेतथाचैवात्मघातिनि नैवाश्रुपातनंकार्यंसद्भिःश्रेयोऽभिकांक्षिभिः ॥ १ ॥ एषामन्यतमंप्रेतं योवहेतवहेतवा कटोदकक्रियांकृत्वातप्तकृच्छ्रंसमाचरेत् ॥ २ ॥ तच्छवंकेवलंस्पृष्टमश्रुवापातितंयदि पूर्वोक्तानामकर्त्ताचेदेकरात्रमभोजनम् ॥ ३ ॥ पूर्वोक्तानांकटोदकक्रियादीनामकर्त्ता केवलं तच्छवस्पर्शाश्रुपातकर्त्ताचेत्तदेदमल्पप्रायश्चित्तमिति ॥ तथा ॥ यआत्मत्यागिनःकुर्यात्स्नेहात्प्रेतक्रियां नरःसतप्तकृच्छ्रसहितंचरेच्चांद्रायणव्रतम् ॥ १ ॥ बुद्धिपूर्वकएतत् ॥

अर्थात् उठाणे वास्ते किडा बनाकर लेजाताहै और जल देताहै सो पुरुष तप्त कृच्छ्र नूं करे । २ । और कहतेहैं तदिति अर जिसने केवल शवकेसाथस्पर्श कीताहै अथवा रोदन कीताहै अर कटोदकादि क्रिया जिसने नहिकीती तिसको एक रात्र उपवास कहाहै॥३॥पूर्वोक्तानांइत्यादि पदों कर्के इसी श्लोकका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै ॥ तिस प्रकार औरभी कहतेहैं यइति जो पुरुष आत्मत्यागीहै अर्थात् पाशादि कर्के जो आप मृत होआहै तिसकी प्रेतक्रिया नूं जो पुरुष स्नेहतें करताहै सो तप्त कृच्छ्रके सहित चांद्रायण व्रतनूं करे॥१॥एह ज्ञानके बिषयमें जानना

इसी विषयमें यमजीका वाक्यहै नेति ब्राह्मणांके दंड कर्के हतहोए जो पुरुषहैं तिनके अ शौच और उदक और रोदन और निंदा और दया और तखतेका चुकणा इनां नूं नकरे।१। ब्रह्म दंड नाम शापकाहै परंतु किसे नहीं ब्राह्मणांतें मृतहोवे सो सभ ब्रह्मदंडहत जानणा और कहतेहैं ॥ स्नेहेति स्नेह और अपना कोई कार्य तिसको सिद्धि वास्ते और भय इत्यादितें जो पुरुष आत्मत्यागीके अशौचादि नूं करताहै सो गौआंके मूत्रकर्के यवांके आहार नूं करदा होआ तप्तकृच्छ्र व्रत कर्के शुद्ध होताहै।२।एतानि इत्यादि पदोंमेंइसी श्लोककाहि अर्थस्पष्टकीताहै और कथन करतेहैं कृत्वेति आत्मात्यागीकों अग्नि और उदक और स्नान करवाणा और स्पर्श

यमः ॥ नाशौचंनोदकंचाश्रुनापवादानुकंपने ब्रह्मदंडहतानांतुनकार्य्यंकट धारणम्॥१॥स्नेहकार्य्यभयादिभ्योयस्त्वेतानिसमाचरेत् गोमूत्रयावकाहारैः सतुकृच्छ्रेणशुद्ध्यति॥२॥एतानिआत्मत्याग्याद्यशौचादीनि कटःशवखट्वा कृत्वाग्निमुदकंस्नानंस्पर्शंवहनमेवच रज्जुच्छेदाश्रुपातेच तप्तकृच्छ्रेणशुद्ध्य ति॥३॥एतत्समुदितानां कर्म्मणां मतिपूर्वके संवर्त्तः वोढ्ऋणामग्निदातृणांसं विधानविधायिनाम् तप्तकृच्छ्रद्वयाच्छुद्धिरेकमेवानुयायिनाम् १संविधानवि धायिनःप्रेतालंकारकारिणः एतदपिसमुदितकरणे

और चुकणा और पाथका छेदन और रोदन इना नूं जो पुरुष करदाहै सो तप्त कृच्छ्र व्रत कर्के शुद्ध होताहै ॥३॥ कथन कीते जो आत्मत्यागीके कर्महैं सभना इनकों ज्ञान कर्के जब करे तब एह प्रायश्चित्त जानना॥संवर्त्तजीका भी इसी विषयमें वाक्यहै वोढृऋणामिति चुकणे वाले और अग्निके देणे वाले और प्रेतकों भूषण करणे वाले इन संपूर्णोंकी दो २ तप्त कृच्छ्रतें शुद्धि होतीहै और पीछे जान वाल्यांकी एक तप्त कृच्छ्र कर्के शुद्धि होतीहै ॥ १ संविधान इस पदका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै कथन कीते जो कर्महैं इनके विषय भीएभी जानना इति

उशनसजीका वचनहै प्रायेति ॥ अतिशयकरके लंघनलेणे और शस्त्र और अग्नि और विष और पाश और पर्वतके शृंग उपरों गिड कर और जल और काष्टादि इनों करके जो पुरुष अपणे आपनू हत करताहै और राजा और ब्राह्मण और वडे वडे सर्प ॥ १ ॥ और शृंगांवाले और दाडांवाले और नखांवाले और सर्प विजली इनों करके जो हत होआ है और तिसी प्रकार संकर जातितें उत्पन्नजो होआहै इनकों अशौच और जल और अग्नि इह न देवे २ ॥ तिनके स्पर्श अथवा रोदन इनके विषयमें एक १ दिन उपवास करे अर अज्ञानसें उद्वहनादिके विषयमें अर्थात् शवादिके उठाणे विषे सांतपन कृच्छ्रव्रतका आचरण करे ३ अर जान करकेकरे तेबगौके मूत्रके सहित यवांनूं भक्षणकरदा होआ कृच्छ्रव्रत करे अथवा तप्तकृच्छ्र व्रत करे व्रतमें शक्ति न होवे तव एक मास भिक्षा अन्न खावे ।४। कृत्वेति आपेमृत होयेके चुक

उशनाः ॥ प्रायानशनशस्त्राग्निविषोद्बंधभृगूदकैः काष्ठाद्यैश्चात्मनोहंतुर्नृपब्रह्मसरीसृपैः ॥ १ ॥ शृंगिदंष्ट्रिनखिव्यालविद्युताभिहतस्यच तथासंकरजातस्यनाशौचोदकवह्नयः ॥ २ ॥ तत्स्पर्शेयदिवाक्रोशेदिनमेकमभोजनम् अज्ञानोद्वहनादौतुकृच्छ्रंसांतपनंचरेत् ॥ ३ ॥ बुद्धिपूर्वेपुनस्तस्मिन्कृच्छ्रोगोमूत्रयावकः तप्तकृच्छ्रोप्यशक्तौतुमासंभिक्षाशनोपिवा ॥ ४ ॥ कृत्वातुवाहनादीनिप्रायश्चित्तमकुर्वताम् तप्तकृच्छ्रद्वयाच्छुद्धिरेकमेवानुयायिनाम् ॥५॥यस्त्वशेषाःक्रियाःकुर्यात्स्नेहान्मूल्येनवापुनः।भवेत्तस्यपुनस्तप्तकृच्छ्रंचांद्रायणोत्तमः ॥६ ॥ बृहस्पतिः । विषोद्बंधनशस्त्रेणयस्त्वात्मानंप्रमापयेत् मृतोमेध्येनलिप्तोयोनान्यंसंस्कारमर्हति १ ॥ पाशंछित्त्वातुयस्तस्यवोढावह्निप्रदस्तथा सोपिकृच्छ्रेणशुद्ध्येतघातकोपिनराधमः २ ॥

णादि कर्म नूं करके जेडे पुरुष प्रायश्चित्त नूं नहि करदे तिनकीशुद्धि दो २ तप्तकृच्छ्रसें होतीहै अर साथजान वाल्यांकी शुद्धि एक तप्तकृच्छ्रसें होतीहै ॥ ५ ॥ यइति स्नेहतें अथवा मजूरी करके जेडा पुरुष आत्मघातीकी संपूर्ण क्रिया कों करताहै तिसकी शुद्धिके वास्ते तप्तकृच्छ्र और चांद्रायण श्रेष्ठहै ॥ ६ ॥ इसी विषयमें बृहस्पतिजीने कहाहै ॥ विषेति विष और पाश और शस्त्र इनों करके जो पुरुष अपणे आपनूं हत करता है अर अपवित्र वस्तु करके लिप्त होआ होआ जो मृत होआहै सोपुरुष और संस्कारके योग्य नहि अर्थात् मरणानंतर दाहादिसंस्कार उसका नहि करणा किंतुइसीनूं ह्वा जलविषें प्रवाहदेणा १। पाशमिति तिसके पाश का छेदन करके जो पुरुष तिसनूं चुकणे वाला और अग्निके देणे वालाहै सोभी कृच्छ्रव्रत करके शुद्ध होताहै अर तिसके मारणे वाला भी नरांके मध्यमे नीच कृच्छ्रव्रत करके शुद्धहोवाहै२

दक्षजीकावाक्यहै ॥ आरूढेति संन्यास मार्गको प्रथम धारण करके पश्चात् विषयांकी अभिलाषा करके तिसतें पतित होआ जो ब्राह्मण है अर चंडालांके दोष करके अपणी जातितें बाहर कीताजो पुरुष है और पाशकरके जो पुरुष मृत होआहै इनांनूं स्पर्श करके चांद्रायण व्रत नूं करे ॥ १ ॥ इसी का अर्थ स्पष्ट कीता है चांडालैरिति चांडालोंने पकड कर जेडा बंधनमै जोडया है सोचांडाल विनिःसृत है अथवा चांडालांके साथ रहकर जो आया है तिसका एह नाम है ॥ और स्मृतिमे इसकी जगा मंडलतें जो बाहर होया ऐसा अर्थ कीता है सुमंतु जीने कहाहै उद्बंधेति अपरा धी कों फांसी देणा

दक्षः ॥ आरूढपतितंविप्रंचांडालाच्चविनिःसृतम् उद्बंधनमृतंचैवस्पृष्ट्वाचांद्रायणंचरेत्१।चांडालैर्गृहीत्वोद्बंधने योजितं चांडालैःसहोषित्वापरावृत्तंवा स्मृत्यंतरेतु मंडलाच्चविनिःसृतमितिपाठः तत्र सजातीयसमूहेनदूषयित्वाबहिष्कृतमित्यर्थः सुमंतुः। उद्बंधनपाशच्छेदनवहनेषु मासं भैक्षभक्षणंत्रिषवणंच स्नायात्। च्यवनः॥ आत्मघातकस्यस्पर्शनेवहने तप्तकृच्छ्रंचरेत्॥ विंशतिर्गावोदक्षिणा ब्राह्मणेषु दद्यात्॥ तथा ॥ शृंगिदंष्ट्रिनखिव्यालविषवह्निमहाजलैः सदूरात्परिहर्त्तव्यः कुर्वन्क्रीडांमृतस्तुयः॥ १ ॥ नागानांविप्रियंकुर्वन्दग्धश्चाप्यथविद्युता निगृहीताश्चयेराज्ञाचौरदोषेणकुत्रचित्॥ २ ॥

और पाशका छेदनकरणा और तिसको चुकणा इस विषयमें एक १ मास तक भिक्षाका अन्न भक्षण करे और तीन ३ काल स्नान करे ॥ च्यवन जीका वाक्य है आत्मेति आत्मघातीके स्पर्श और चुकणेके विषयमें तप्तकृच्छ्र व्रत का आचरण करे और बीस २० गीआं ब्राह्मणों को दक्षिणादेवे तैसे और कहतेहैं शृंगीति शृगांबाले अर्थात् गोमाहिष्यादि और सिंहादि औरनखां वाले और सर्प और अग्नि और वडाजल इनोंकके और क्रीडा करदा होआ जो पुरुष मृत होआहै सो दूरतें हि त्याग करणे योग्यहै ॥ १ ॥ नागेति और सर्पांनू पगडदा होआ जो पुरुष मृत होआहै अथवा विजलीनें जो दग्ध कीता हैऔर चोरीके दोषकरके राजाने जेडे पुरुष पकडे हैं ॥ २ ॥

परेति परस्त्रीके हरणवाले अर क्रोधतें तिनां स्त्रीआंके पतिआंनें जो हत कीतेहैं अर भिन्न जातिवालेंनें अर संकीर्णजातिवालेंनें अर चांडालादियोंनें हत कीते जो पुरुष हैं ३ ॥ चौरेति चोर और अग्नि और विषइनके देणे वाले जोहैं और पाषंडी और खोटिआंबुद्धिआं वालेजो पुरुषहैं उोर क्रोधतें अतिशयकरके विषउोर अग्नि और शस्त्र और पाश और जल। ४। और पर्वत और वृक्ष इनांके गिडानेवाले नरांके मध्यमें नीच जेडेपुरुष तिनांकर्मानू करदेहैं अर्थात् विषआदि करके जेहेपुरुष मृतहोवेहैं वा मारतेहैं और जेडे निंदित चित्राकारि करके उपजीविका करतेहैं और जेडे स्थानांकों भूषण करतेहैं अर्थात् स्थान भूषण करणे करके उपजीविका करतेहैं ॥ ५ मुखइति जेडे कोईक पुरुष मुखे भग हैं अर्थात् जिनांके मुखसें दुर्गंध आवतीहै उोर जेडे नमर्दहैं उोर जेडे नपुंसकहैं अर्थात् जिनांका कीताहोआ कार्य्य नाहि सिद्धहुंदा असे जो हैं

परदाराह्लरंतश्चरोषात्तत्पतिभिर्हताः असमानैस्तुसंकीर्णैश्चांडालाद्यैस्तथाहताः ॥ ३ ॥ चौराग्निविषदाश्चैवपाषण्डाःक्रूरबुद्धयः क्रोधात्प्रायोविषंवह्निंशस्त्रमुद्बंधनंजलम् ॥ ४ ॥ गिरिवृक्षप्रपातांश्च येकुर्वन्तिनराधमाः कुशिल्पजीविनोयेचस्थानालंकारकारिणः ॥ ५ ॥ मुखेभगास्तुयेकेचित्क्लीवप्रायानपुंसकाः ब्रह्मदंडहतायेचयेचवाब्राह्मणै र्हताः ॥ ६ ॥ महापातकिनोयेचपतितास्तेप्रकीर्त्तिताः पतितानांनदाहःस्यान्नांत्येष्टिर्नास्थिसंचयः ॥ ७ ॥ नचाश्रुपातःपिंडोवाकार्यंश्राद्धादिकं क्वचित् एतानिपतितानांतुयःकरोतिविमोहितः तप्तकृच्छ्रद्वयेनैवतस्यशुद्धि र्नचान्यथा ॥ ८ ॥ पराशरः ॥ चांडालेनश्वपाकेनगोभिर्विप्रैर्हतोयदा आहिताग्निर्मृतोविप्रोविषेणात्महतोपिवा लोकाग्निनाप्रदग्धव्योमंत्रसंस्कारवर्जितः ॥ १ ॥

उोर जेडे ब्राह्मणांके शापकरके हतहोएहैं उोर जेडे ब्राह्मणांने हतकीतेहैं। ६। महेति उोर जेडे महापातकीहैं एह संपूर्णपतितकथन कीतेहैं और इनांपतितांका दाह उोर अंत्येष्टिकर्म उोर अस्थिआंका चुणना ७ ॥ उोर रोदन उोर पिंडदान उोर श्राद्धादिकर्म इनांनूंनकरे पतितांके इना कर्मांको जो पुरुष मोहित होया होया करताहै तिसकी शुद्धि दो २ तप्त कृच्छ्रव्रतकरके होतीहै उोर प्रकार करके नहि होती ॥ पराशरजीका वाक्यहै ॥ ८ चंडेति चंडाल और श्वपाक अर्थात् चंडाल भेद उोर गौ उोर ब्राह्मण इनांने जो हतकीताहै और विषकरके मृत होआजो अग्निहोत्री ब्राह्मणहै और आपजो हत होआहै अर्थात् आप पाशादि ले करकेजो हतहोआ है मंत्रांकरके संस्कारतें रहित लोककी अग्निकरके इनका दाह करणा हवन वालीअग्नि करके नहिकरणा १

स्प्रष्टेति सजातियोंके मध्यमें इसकों जो स्पर्श करणे वाला और चुकणे वाला है सो प्राजापत्य व्रतनूंकरे अर पश्चात् ब्राह्मणांकी शिक्षानूं ग्रहण करे अर्थात् ब्राह्मण जो आज्ञा करें तिसनूंकरे ॥ २ ॥ दग्ध्वेति दाहकरके तिसकी अस्थिआंनूं ग्रहण करके पश्चात् बुद्धिमान् पुरुष तिनाको दुग्धकरके धोवेवे अर पश्चात् हवनवाली अग्नि करके अपणे मंत्रकों पडकर भिन्न २ दाहकरे ॥ ३ ॥ वशिष्ठजीका वचनहै जीवेति जो पुरुष पाश और विष आदिकरके मृत होनेलगे अर मृत नहि होआ जीवतारहाहै सो वारां १२ रात्रकृच्छ्रव्रतनूं करे और तीन ३ रात्र उपवास करे और नित्य हि गिल्ले वस्त्रनूं धारणकरके ॥ १ ॥ अर प्राणांनूं आत्माके विषय रोककरके तीन ३ वार अघमर्षण मंत्रका पठनकरे इसतें उपरंत तिसीविधिकरके गायत्रीकों जपे २

स्प्रष्टादग्धाचवोढाचसपिंडेषुचसर्वशः ॥ प्राजापत्यंचरेत्पश्चाद्विप्राणामनुशासनम् ॥ २ ॥ दग्ध्वास्थीनिपुनर्गृह्यक्षीरेणक्षालयेद्बुधः ॥ स्वेनाग्निनापुनर्दाहःस्वमंत्रेणपृथक्पृथक् ॥ ३ ॥ वसिष्ठः ॥ जीवन्नात्मपरित्यागात्कृच्छ्रंद्वादशरात्रकम् ॥ चरेत्त्रिरात्रंचोपवसेन्नित्यंक्लिन्नेनवाससा ॥ १ ॥ प्राणानात्मनिचायम्यत्रिःपठेदघमर्षणम् अथवैतेनकल्पेनगायत्रींपरिवर्त्तयेत् ॥ २ ॥ अपिवाग्निंसमाधायकूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् यदन्यन्महापातकेभ्यस्सर्वमेतेनपूयते ॥ ३ ॥ अथवाचामेत् अग्निश्चमामन्युश्चमन्युपतयश्चमन्युकृतेभ्यःपापेभ्यो रक्षंतांयदह्नापापमकार्षंमनसावाचाहस्ताभ्यांपद्भ्यामुदरेण शिश्नाअहस्तदवलुम्पतुयत्किंचिदुरितंमयीदमहमापोऽमृतयोनौसत्येज्योतिषिजुहोमिस्वाहेति ॥ विष्णुः ॥ उद्बंधनमृतस्ययःपाशंछिंद्यात्सप्तरात्रेणकृच्छ्रेण शुद्ध्यति तप्तकृच्छ्रेणशुद्ध्यतीति पाठांतरम्

अथवाअग्निनूं समाधानकरके कूष्मांड संज्ञिक मंत्रोंकरके घृतका हवनकरे अर औरभी महापातकातें जो पाप होआहै सोभी संपूर्ण इसअनुष्ठान करके नष्टहोताहै ३। अथवा आचमनकरके अग्निश्चमेति इस मंत्रकरके होमकरे इति ॥ इसमंत्रका अर्थ संध्याके व्याख्यानमे स्पष्टकरके लिखाहै सो उसीजगासें देखलेना। पापांतेंरक्षाहोणी तिसमे प्रार्थनाहै इसमंत्रमे। विष्णुजीकावचन है उद्बंधन करके अर्थात् फांसी लेकरके जोमृतहोआहै तिसके पाशकों जोपुरुष छेदताहै सो सप्तरात्रके कृच्छ्रव्रत करके शुद्ध होताहै। १। और किसेजगा तप्त कृच्छ्र करके शुद्ध हुंदाहै ऐसा लिखाहै

आत्मेति पाशादिकरके जेडेदेहकों त्यागतेहैं अर्थात् फांसी और विष इत्यादिकरके जो मृत होएहैं तिनाकों स्नानादि पूर्वकभूषण करणे वाला और तिनाके निमित्तरोदनकरणे वाला और संपूर्ण प्रेतके बांधवांके साथरोदन करणे वाला स्नान करके शुद्धहोताहै और प्रेतकेबांधवांके साथ अस्थिसंचयनकों करके सहितवस्त्रांके स्नानकरे तो शुद्धहोताहै जो ब्राह्मणक्षत्री अथवा वैश्य शूद्र शवकेसाथ जावे तब नदीकों प्राप्त होकरके आठ सें अधिक हजार १००८ गायत्रीका जप करे (अर्थ) केवल ब्राह्मण शवके साथ जावे तव आठ से अधिक हजार १००८ गायत्रीका जप करे अर शूद्र किसे शवके साथ गमन करके स्नानकों करे ॥ अर प्रेतके संबंधिआंके साथ रोदन कों करके भी स्नान करके शुद्ध होताहै अर प्रेतके बांधवांके साथ अस्थिसंचयनकों करे तब समेत वस्त्रांके स्नानकों करके शुद्ध होताहै ॥ अथेति इसतें उपरंत अनाशका दि जो व्रत कुरुक्षेत्रादि विषे धारण कीते होए तिनांसें यो हट जाए

आत्मत्यागिनांच संस्कर्त्ता तदश्रुपातकारीच सर्वस्यैवप्रेतस्य तद्बान्धवैःसहाश्रुपातंकृत्वास्नानेवाकृतेऽस्थिसंचयने सचैलस्नानाद्द्विजःशूद्रःप्रेतानुगमनंकृत्वा स्रवन्तीमासाद्यगायत्र्यष्टसहस्रंजपेत्। द्विजःप्रेतानुगमनेष्टाधिकसहस्रम् शूद्रःप्रेतानुगमनंकृत्वास्नानमाचरेत् । तद्बांधवैःसहाश्रुपातंकृत्वास्नानेनशुद्ध्यति। तद्बांधवैःसहास्थिसंचयने कृते सचै लस्नानाच्छुद्ध्यतीत्यन्वयः ॥ अथानाशकादिप्रच्युतप्रायाश्चित्तानि ॥ तत्रमार्कण्डेयः ॥ येप्रत्यवसिता विप्राः प्रव्रज्यादिजलाग्नितः अनाशकान्निवृत्तायेवांछंतिगृहमेधिताम् १ ॥ तांश्चारयित्वात्रीन्कृच्छ्रांस्त्रीणिचान्द्रायणानिवा जातकर्मादिसंस्कारैः संस्कृताः शुद्धिभाजनाः ॥ २ ॥ पराशरः ॥ अनाशनान्निवृत्तस्तुचातुर्वर्ण्येव्यवस्थितः चांडालस्सतुविज्ञेयोवर्जनीयःप्रयत्नतः ॥ १ ॥

तिनके प्रायाश्चित्तांकों कहतेहैं। तिनांके विषय प्रथम मार्कंडेयजीका वाक्यहै। यइति जो ब्राह्मण संन्यासकर्म और जल और अग्नि इनके विषय मरणके वास्ते प्रथम उद्यत होए हैं अर फेर हट गये हैं और जिनांने इच्छा सें अन्नका त्याग कीता है तिसतें जेडे हट गये हे अर फेर गृहस्थ की इच्छा करतेहैं ॥ १ ॥ तानिति तिनां कों तीन ३ कृच्छ्र व्रत अथवा तीन ३ चांद्रायण व्रत करवाके पश्चात् जात कर्मतें आद लेकर संस्कारां करके संस्कृत कीते होए शुद्ध होतेहैं ॥ २ ॥ पराशर जीका वाक्यहै अनेति अनाशक तें जो हटिआ है और ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य अथवा शूद्र जलादिके विषय मरणके वास्ते प्रथम निश्चय करके फेर जो हट गयाहै सो पुरुष चंडाल कथन कीताहै अर सो यत्न करके दूरतें हि त्यागना चाहिए ॥ १ ॥

एह उनको कथन कीताहै जेडे पुरुष चिर काल पिछे प्रायश्चित्तकों करतेहैं अर जेडे तात्काल प्रायश्चित्तकों करतेहैं तिनको फेर संस्कार नहि करवाणा ॥ पूर्वोक्त हि अर्थ स्पष्ट कर्के किहाहैं इसमे एह अभिप्रायहै कि मरणेवास्ते पिछले कहेहोए हेतुयोंकर्के प्रवृत्ती कहीहै सो जेकरधर्म्म के वास्ते होवे तां पूर्वोक्त दोष जानणा सो किहाहै कि गंगा प्रवाहलेणे कर्के जो मृत होए हैं और कुरुक्षेत्रादिविषे अनशन कर्के और बदरिकाश्रमादिस्थानके समीपजो स्थान तिसमे पर्वतपर आरूढ होकर डिगणेकर्के और उसी स्थानविषे कोइ स्थानहे जिसमे उद्बंधनकी विधिहै तिस कर्केऔर उसी स्थानविषेकोई अग्निकास्थानहै तिस कर्के जो मरणहै सो सुगतिकाहेतुहै इस प्रसिद्दिसें॥और जेकर क्रोध आदिकर्के मरण वास्ते प्रवृत्ति होवे तदतिसते हटणेंहि दोष नहि जानना

चिरकालंप्रायचिश्त्तमकुर्वतोऽवस्थानेएतत् ॥ जलेऽग्न्यादौ वा मरणायनिश्चित्यप्रवृत्तःप्रत्यवसितः इयंचपूर्वोक्तहेतुभिर्मरणायप्रवृत्तिर्धर्म्मायचेत्तदोक्तं वोध्यम् ॥ गंगाप्रवाहस्वीकारेण कुरुक्षेत्रादावनशनेन वदरिकाश्रमादिसामीप्यभृगुपातेन तत्रैव स्थानविशेषिणो द्बंधनेन तत्रैवस्थानविशेषिणाग्निना मरणं सुगतिहेतुकमितिप्रसिद्धेः।क्रोधादिनाप्रवृत्तिश्चेत्तदानदोषः आपस्तम्वः।चितिभ्रष्टातुयानारीमोहाद्विचलिताततः प्राजापत्येनशुद्ध्येत्तुतस्माद्वैपापकर्मणः ॥ १ ॥भविष्यत्पुराणम् ॥ आरूढोनैष्ठिकंधर्मं प्रत्यावृत्तिंव्रजेत्तुयः चांद्रायणंचरेन्मासामितिविद्धिखगाधिप ॥ १ ॥ मानस्यांप्रत्यापत्तावेतत् ॥ ⊛ अथस्पर्शप्रायाश्चित्तानिदक्षः॥पानेमैथुनसंसर्गेतथामूत्रपुरीषयोः। संस्पर्शंयदिगच्छेत्तुशवोदक्यांत्यजैस्सह ॥ १ ॥

आपस्तंवजीका वचन है चितीति चिखा उपर चड करके जो स्त्री पीछेसें मोहतें हट गईहै सो तिस पापकर्मतें प्राजापत्यव्रत करकें शुद्ध होतीहै ॥ १ ॥ विष्णुजीने भविष्यत्पुराणमें गरुडजीके प्रति कहाहै आरूढइति जो पुरुष संन्यास मार्गके विषय स्थित हो करके पीछेसें गृहस्थ धर्मकों प्राप्तहुआहै सो एक मास पर्यंत चांद्रयण व्रतकोंकरे हे गरुड ऐसेतूं जान । १ । एह प्रायश्चित्त तव जानना जवमन करके निवृत्त होवे ।⊛ अथेति इसतें उपरांतदक्षजी स्पर्शके प्रायश्चित्तांनूं कथन करते हैं पानइति जलादिका पान और मैथुन और मूत्र और पुरीष इनके करणेतें पिछे जद मनुष्य शव और रजस्वला स्त्री और चंडाल इनके साथ स्पर्शनूं करे १ ॥

संवर्त जीने कहाहे संन्येति जो खोटी बुद्धि वाला पुरुष संन्यासकों प्रथम धार कर के पश्चात् निवृत्त होताहे सो श्रमतें रहित होकर अर्थात् श्रमकों न मानकर के ६ मास निरंतर कृच्छ्र व्रतकों करे ॥ १ ॥ पराशरजीका वचन है जलेति जल और अग्नि इनके पतनके विषय और संन्यास और अन्न जलके त्याग व्रतके विषय मरणके वास्ते निश्चयनूं करके पश्चात् निवृत्त होए जो पुरुष हैं तिनकी शुद्धि किस प्रकार होवे ॥ १ ॥ तिनकी शुद्धि नूं आपहिं पराशरजी कहतेहैं ब्राह्मेति ब्राह्मणांकी प्रसन्नता करके और तीर्थीके सेवन करणे करके और सेकडे गौआंके दान करके तीनों ३ वर्ण शुद्धहोते हैं ॥ २ ॥ इसीमें यमजीकहतेहैं जलेति जल और अग्नि और पाश और संन्यास और अनाशक अर्थात् अन्न जल

संवर्त्तः ॥ संन्यस्यदुर्मतिःकश्चित्प्रत्यापत्तिंभजेत्तुयः सकुर्यात्कृच्छ्रम श्रांतः षण्मासान्प्रत्यनंतरम् ॥ १ ॥ अश्रांतः श्रममन्यमानोनिरालसो वा प्रत्यनंतरंकृच्छ्रोत्तरकृच्छ्रंयथा ॥ पराशरः ॥ जलाग्निपतनेचैवप्रव्रज्या नशनेतथा अध्यवस्यनिवृत्तानांप्रायश्चित्तंकथंभवेत्॥ ॥ १ ॥ ब्राह्मणानां प्रसादेनतीर्थानुगमनेनचगवांचशतदानेनवर्णाःशुद्धयंतिवैत्रयः ॥ २ ॥ यमः ॥ जलाग्न्युद्बंधनभ्रष्टाःप्रव्रज्यानाशकच्युताः विषप्रपतनप्रायशस्त्र घाताश्चयेच्युताः ॥ १ ॥ सर्वेतेप्रत्यवसिताः सर्वलोकविगर्हिताः चान्द्राय णेनशुद्धयेयुस्तप्तकृच्छ्रद्वयेनवा ॥ २ ॥ असमर्थविषयमेतत् । अंगिराः । यः प्रत्यवसितोविप्रःप्रव्रज्याग्निजलादितः अनाशननिवृत्तस्तुगृहस्थत्वंचिकी र्षति ॥ १ ॥ चारयेत्त्रीणिकृच्छ्राणित्रीणिचांद्रायणानितु जातकर्मादिभिः प्रोक्तंपुनःसंस्कारमर्हति ॥ २ ॥

का त्याग और विषभक्षण और पर्वतादितें पतन और शस्त्र इनके बिषय मरणके वास्ते निश्चय करके फेर तिनातें निवृत्त होएहैं ॥ १ ॥ एह संपूर्ण प्रत्यवसित हैं और संपूर्ण लोकके विषय निंदितहैं और चांद्रायणव्रत अथवा दो २ तप्त कृच्छ्र व्रत करके शुद्ध होतेहैं ॥ २ ॥ एह असमर्थताका बिषयहै २ इसी विषयमें अंगिराजीकाभी वचनहै यइति संन्यास और जल और अग्नि इनके विषय मरणके वास्ते निश्चय करके फेर जो ब्राह्मण निवृत्त होआहे और अनाशनव्रततें जो निवृत्त होआहे अरतिनातें हट कर फेर गृहस्थकी इच्छा करता है ॥ १ ॥ तिस पुरुषकों तीन ३ कृच्छ्र अथवा तीन ३ चांद्रायण कर वाके फेर जातकर्मादि संस्कार कर्मकरवाणे योग्यहै ॥ २ ॥

मूत्रेतितवमूत्रकरणेतंअनंतर स्पर्शके विषयमें एक१दिन उपवास करे और पुरीषके विषयमें दो२दिन और मैथुनके विषयमे तीन३दिन और पानके विषयमे चार४दिन उपवास करे॥२॥चंडालके ष्ठी वनादिके स्पर्शके विषय तात्काल स्नान नूं आपस्तंबजी कथन करेंगे ॥ भुक्तेति भक्षण करके उच्छिष्ट होआ होआ आचमननूं नकरके प्रमादते जद चंडाल अथवा श्वपचके साथ स्पर्शनूंक रे तब तात्काल स्नान नूं करे।३। पश्चात् गायत्रीका आठसआधिक हजार १०८ तिसप्रकार द्रुपदादि वइत्यादिमंत्रोंका एकसौ १०० जपकरे और तीन ३ रात्र उपवास नूं रक्ष कर पीछेंसे पंचगव्यके पानेकरके शुद्ध होताहै॥४॥शातातपने भी कहाहै उच्छिष्टइति उच्छिष्ट होआ होआ ब्राह्मण जद

दिनमेकंचरेन्मूत्रेपुरीषेतुदिनद्वयम् दिनत्रयंमैथुनेस्यात्पानेतुस्याच्चतुष्टयम् ॥ २ ॥ चांडालष्ठीवनादिस्पर्शे सद्यःस्नानंवक्ष्यत्यापस्तंबः भुक्तोच्छिष्टस्त्व नाचांतश्चांडालैःश्वपचेनवा प्रमादात्स्पर्शनंगच्छेत्तत्रकुर्याद्विशोधनम् ॥ ३ ॥ गायत्र्यष्टसहस्रंतुद्रुपदानांशतंतथा ॥ त्रिरात्रोपोषितोभूत्वापंचगव्येनशु द्ध्यति ॥ ४ ॥ शातातपः ॥ उच्छिष्टस्तुस्पृशेद्विप्रश्चांडालंचेत्कथंचन ॥ ऊर्ध्वोच्छिष्टस्तु संस्पृश्यद्विजस्सांतपनंचरेत् ॥ अधोच्छिष्टस्त्रिरात्रांतेपंचग व्येनशुध्यति ॥ १ ॥ भुक्तोच्छिष्ट ऊर्ध्वोच्छिष्टः उत्सृष्टमूत्रपुरीषःअधउ च्छिष्टः ॥ उशनाः ॥ चांडालश्वपचैःस्पृष्टोविण्मूत्रेकुरुतेद्विजः त्रिरात्रेणवि शुद्ध्येत्तुभुक्तोच्छिष्टः षडाचरेत् ॥ १ ॥

कदाचित् चंडाल नूं स्पर्शकरे॥ ऊर्ध्वोच्छिष्ट होआ होआ ब्राह्मण चंडाल नूं स्पर्श करे तब सांत पन व्रतका आचरण करे अर जब अधोच्छिष्ट होकर चंडालनूं स्पर्श करे तब पंचगव्यकेपान करके और तीन ३ आचमन करेतो शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अन्ननू भक्षण करके ऊर्ध्वोच्छिष्ट होताहै अर मूत्र और पुरीष नूं त्याग करके अध उच्छिष्ट होताहै एह इनका भेद है । उशनसजी का वचन है चांडेति चांडाल और श्वपच इनकरके स्पर्श कीता होआ ब्राह्मण अथवा क्षत्री अथवा वैश्य जब विष्टा और मूत्रकों त्यागता है तब तीन ३ रात्रकरके शुद्ध होता है अरभुक्तो च्छिष्ट कयाभोजनकेपीछे जेकर इनके साथ स्पर्शकरे तां छे ६ रात्र करके शुद्ध होवा है॥ १

व्याघ्रजीका वाक्य है चंडेति जो पुरुष चंडालके जल करके स्पर्श करताहै सो स्नान करके शुद्ध होताहै उच्छिष्ट जब चंडालके जलकरके स्पर्शवालाहोवै तव तीन३ रात्र व्रत करके शुद्ध होताहै १ ॥ कश्यपजीने कहाहै श्वेति कुत्ता और सूर और निंदित और चंडाल और मदिराका भांडा और ऋतुवाली स्त्री इनांकों जब उच्छिष्ट होआ होआ स्पर्श करे तब कृच्छ्रसांतपनव्रत नूं करे ॥ १ ॥ एह प्रायश्चित्त कामतें अभ्यासके विषयमे जानना क्योंकि अकामकें विषयमें थोडा प्रायश्चित्त कथन करयेंहैं ॥ तिस प्रकार वृद्धशातातपजीने कहाहै उच्छिष्टेति ॥ १ ॥ उच्छिष्ट होआ ब्राह्मण मदिरा और शूद्र और कुत्ता और जो अपवित्रवस्तु हैं इनांनूं

व्याघ्रः॥ चंडालोदकसंस्पृष्टः स्नानेनसविशुद्धयति उच्छिष्टस्तेनसंस्पृष्टास्त्रि रात्रेणविशुद्धति १ कश्यपः श्वसूकरांत्यचंडालमद्यभांडरजस्वलाः बद्युच्छिष्टः स्पृशेत्तष्टकृच्छ्रसांतपनंचरेत्१ एतत्कामतोभ्यासे मद्यंसुराअन्यत्राल्पप्राय श्चित्तस्योक्तत्वात् तथाचवृद्धशातातपः।उच्छिष्टः संस्पृशेद्विप्रोमद्यंशूद्रंशुनो ऽशुचीन्अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येन शुद्धयति १ आपस्तम्वः।भुक्तोच्छि ष्टास्त्यजैःस्पृष्टःप्राजापत्यंसमाचरेत् अधोच्छिष्टेस्मृतः पादःपादआचमनेत था १ अधोच्छिष्टोवर्त्तमानभोजनः भोजनसमयेआचमनसमयेवायदाऽधो च्छिष्टोभवेत्तदेदंप्रा एकवृक्षेसमारूढौचांडालब्राह्मणौयदि फलंभक्षयतस्त त्रप्रायश्चित्तंकथंभवेत् ॥ २ ॥

जब स्पर्श करे तब एक दिनरात्र उपवास को रक्षकरके पश्चात् पंचगव्य के पीनेसें शुद्ध होता है ॥ १ ॥ आपस्तंवकावाक्यहै भुक्तेति अन्ननूं भक्षणकरके उच्छिष्टहोआ चंडालां केसाथ स्पर्श करे तब प्राजापत्यव्रतनूं करे अर भोजनकालविषय और आचमन काल विषय जब अधोच्छिष्ट होवे तब प्राजापत्यव्रतका एक १ पाद करे अर्थात् चौथाहि स्सा करे ॥ १ ॥ और कथनकरतेंहैं(प्रश्न)एकेति एक वृक्षके विषय स्थित होए होए चांडाल और ब्राह्मण जब फल कों भक्षण करें तब तिसकी शुद्धि किस प्रकार होवे २ (उत्तर)इसकी शुद्धिनूं आपहि आपस्तं बजी कहतेहैं

ब्राह्मेति अपने पापनूं ब्राह्मणांनूं द सकरके सहित वस्त्रांके स्नान करे और एक दिन रात्र उपवासनू करके पश्चात् पंचगव्य करके शुद्ध होताहै ॥ ३ ॥ इसमें व्यवधान करके अर्थात् दूरकर्के और अव्यवधानकर्के अर्थात् समीपकर्के त्रयरात्र अर एक रात्रका व्रतग्रहण करणा बुद्धिकेविषयमें एह प्रायश्चित्त जानना ॥ अर अज्ञानके विषयमें ब्रह्म पुराणमें कहाहै विप्रइति ब्राह्मण चंडालके सहित एक जिस वृक्षके विषय अज्ञानतें फलनूं भक्षण करे तब अघमर्षण नूं जपे १ ॥ सो जप पूर्वोक्त वचनसे तीनवार जलविषे निमग्न होकर करणाचाहिए॥ एकेति जद ब्राह्मण चंडालके साथ वृक्षकी एक शाखाके विषें स्थित होआ होआ फलांनू भक्षणकरे तब तीन ३ रात्र प्रायश्चित्तहै अर पश्चात् पंचगव्य कर्के शुद्ध होताहै इसमे समीपताके

ब्राह्मणान्समनुज्ञाप्यसवासाःस्नानमाचरेत् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्ये नशुद्ध्यति ॥ ३ ॥ अत्राग्रिमश्लोकेच व्यवधानसंनिधानाभ्यामेकरात्र त्रिरात्रे ॥ मतिपूर्वेचैतत् अमतिपूर्वेतु ब्रह्मपुराणे विप्रश्चांडालसहितोयत्र कस्मिन्वनस्पतौ ॥ अज्ञानात्तुफलंभुक्त्वेचेरत्तत्राघमर्षणम् ॥ १ ॥ एकशाखांसमारूढःफलान्यश्नात्यसौयदि प्रायश्चित्तंत्रिरात्रंस्यात्पंचगव्येनशुध्यति ॥ २ ॥ चांडालेनगृहीतंयस्त्वज्ञानादुदकंपिवेत् तत्रशुद्धिंविजानीयात्प्राजापत्येननित्यशः ॥ ३ ॥ भुक्तोच्छिष्टस्त्वनाचांतोह्यमेध्यंयदिसंस्पृशेत् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ ४ ॥ वृहस्पतिः॥ उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टःशुनाशूद्रेणवाद्विजः कृत्वोपवासंनक्तंचपंचगव्येनशुद्ध्यति १ ॥

विषय तीन ३ रात्र प्रायश्चित्त जानना ॥ २ ॥ और कहतेहैं चांडेति जो पुरुष चंडाल कर्के ग्रहण कीते होए जलनू अज्ञानसें पानकरे तिसकी शुद्धि प्राजापत्य व्रत करके जाननी चाहिए । ३ । भुक्तेति भुक्तोच्छिष्ट अथवा अनाचांत अर्थात् आचमन नूं न करके अपवित्र वस्तुनू जद स्पर्शकरे तब एक दिनरात्र उपवासनू रक्ष करके पश्चात् पंचगव्य करके शुद्ध होताहै ॥ ४ ॥ वृहस्पतिजीने कहा है । उच्छिष्टेति ॥ ब्राह्मण अथवा क्षत्री अथवा वैश्य उच्छिष्ट करके उच्छिष्ट स्पर्शकीताहोआ अर्थात् जूठे कर्के जूठाछोताहोया पश्चात् कुत्ता अथवाशूद्र इनके साथ स्पर्श नू करे तब उपवास अथवा नक्त व्रत नू करके पश्चात् पंचगव्य कर्के शुद्ध होता है ॥ १ ॥

एहप्रायश्चित्त इच्छाके विषयमें है ॥ अकामके विषयमें छागलेयजीने कहाहै ॥ उच्छीति उच्छिष्टकर्के उच्छिष्ट स्पर्शकीता होस्रा स्नाननू करे अर जब स्नानकर रहे अर फेर उच्छिष्ट करके स्पर्श करे तब प्राजापत्य व्रतनू करे ॥ १ ॥ संवर्त जीका वाक्यहै ॥ कृतेति त्यागया है मूत्र और पुरीष जिसने अर्थात् अथ उच्छिष्ट अथवाभुक्तोच्छिष्ट ब्राह्मण अथवाक्षत्री अथवा वैश्यजद कुत्ता और चंडाल इन करके स्पर्श करे तब प्रथम स्नान करके देवीका एकहजार १०००जप करे अर्थात् गायत्रीका जप करे१कर्मेति लुहार और धोबा और घुमार और झीवर और नट इनांकरके उच्छिष्ट जद स्पर्श करे तब एक रात्रजल पानकरे अर जब लुहारादि उ

कामकारविषयमेतत् ॥ अकामतस्तुछागलेयोदितम्। उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टंस्नानंयेषुविधीयते तेनैवोच्छिष्टसंस्पृष्टःप्राजापत्यंसमाचरेत् १ संवर्त्तः कृतमूत्रपुरीषोवाभुक्तोच्छिष्टोथवाद्विजः श्वादिस्पर्शेजपेद्देव्याःसहस्रंस्नानपूर्वकमिति १ तेनस्नातेनपुनरुच्छिष्टःसंस्पृष्टश्चेत्तदाप्राजापत्यमित्यर्थः कर्मारंरजकंवेनंधीवरंनटमेवच एभिःस्पृष्टस्तथोच्छिष्टएकरात्रंपयःपिबेत् १ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायांजातोम्बष्ठः ब्राह्मण्यांविशोजातोवैदेहकः वैदेहकादम्बष्ठायांजातोवेनः संकरजातीयः ॥ तैरुच्छिष्टैस्त्रिरात्रंस्याद्घृतं प्राश्यविशुद्ध्यति ॥१ ॥ भुंजानेनतुविप्रेणस्पृष्टायदिरजस्वला ॥ शिशुकृच्छ्रेणशुद्ध्येत्तुप्राणायामशतेनच ॥ २ ॥ आपस्तंबः ॥ उच्छिष्टेनतुसंस्पृष्टोविशोचंस्तुद्विजोत्तमः ॥ उपोष्यरजनीमेकांपंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ १॥ चांडालादिविषयमेतत् ॥

च्छिष्टहोन तिनकरके स्पर्शकरे तबतीन३रात्रजलपान करे पश्चात् घृत नू भक्षणकरके शुद्धहोताहै १ भुंजेति ॥ भोजनकरदे होए ब्राह्मणने रजस्वला स्त्री जद स्पर्श करी तब शिशुकृच्छ्र व्रत अथवा सौ १०प्राणायाम करके शुद्धहोता है ॥ २ ॥ आपस्तंबजीका बचनहै ॥ उच्छिष्टइति विशोचनूक्या विशेष कर्के शोक कर्त्ताहोया ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य इनकेमध्यमें श्रेष्ठ उच्छिष्ट चंडालनें जद स्पर्श करिए तबएक १ रात्र उपवास रक्ष कर्के पश्चात् पंचगव्य करके शुद्ध होताहै १ चंडालादिका एहविषयहै

हारीत जीका वाक्यहै ॥ महेति ब्रह्महत्यादि पाप नू करण वालेके साथ स्पर्श होवे तब स्नानमात्र करे जब चंडालादिके साथ स्पर्श कीता होआ फेर चंडालादिके साथस्पर्श करे तव ब्रह्मकूर्च करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ और कहते हैं त्रीति तीन ३ रात्र अथवा एक १ रात्र जो पुरुष अन्न नू न भक्षण करदा होआ अर पंच गव्य नू भक्षण करदा होआ हच्छीतरां ऊँकार नू जपे सो भी शुद्धि नू प्राप्तहोताहै अर्थात् शुद्ध होताहै ॥ २ ॥ कृतेति मूत्र अथवा पुरीष इनके त्यागयां होआं अथवा भुक्तोच्छिष्ट ब्राह्मण और क्षत्री अथवा वैश्य जब कुत्ता और चंडाल इत्यादि कर्के स्पर्श करे तव स्नान नू करके पश्चात् हजार गायत्री काजपकरे ॥ ३ ॥ आपस्तंबजीनेकहाहै विप्रइति जब उच्छिष्ट ब्राह्मणकेसाथ कदाचित् ब्राह्मण स्पर्श करे तव आचमनकर्के शुद्ध होताहै एह आंगिरसजीने कहाहै ॥ १ ॥ और कथन करतेहैं

हारीतः महापातकिसंस्पर्शेस्नानमेवविधीयते संस्पृष्टस्तुयदास्पृष्टोब्रह्मकूर्चेनशुद्ध्यति १ स्पर्शानंतरंपुनः स्पृष्टइत्यर्थः त्रिरात्रमेकरात्रंवायोनश्नन्पंचगव्यभुक् जपेच्चप्रणवंसम्यगेवंशुद्धिमवाप्नुयात् २ कृतमूत्रपुरीषोवाभुक्तोच्छिष्टोथवाद्विजः श्वादिस्पृष्टोजपेद्देव्याः सहस्रंस्नानपूर्वकम् ३ देव्यागायत्र्याः आपस्तंवः विप्रोविप्रेणसंस्पृष्टउच्छिष्टेनकथंचन आचम्यवैतुशुद्धःस्यादित्यांगिरसभाषितम् १ उदक्यास्पृष्टउच्छिष्टोविड्वराहश्वकुक्कुटैःकाकमार्जारकृत्याद्भिरुपवासेनशुद्ध्यति २ येनकेनचिदुच्छिष्टोह्यमेध्यंयदिसंस्पृशेत् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यति ३ छागलेयः ॥ उच्छिष्टःसंस्पृशेद्विप्रोमद्यशूद्रशुनोशुचीन् अहोरात्रोषितःस्नात्वापंचगव्येनशुद्ध्यति १ उच्छिष्टःस्पृष्टआचामेदुच्छिष्टेनस्वजातिना नक्तेनचोपवासेनक्षत्रविट्स्पर्शनेक्रमात् ॥ २ ॥

उदेति रजस्वलास्त्री और वैश्य और ग्राम्य सूकर और कुत्ता और कुक्कुड और काक और बिल्ला और गिरजादि इनकरके जद उच्छिष्ट स्पर्श करे तव एक १ उपवासकर्के शुद्ध होताहै २ ॥ येनेति जिस किसे वस्तु करके उच्छिष्ट होआ पुरुष अपवित्र वस्तु नू जद स्पर्श करे तव एक १दिन रात्र उपवास रक्षकर्के पश्चात् पंचगव्य कर्के शुद्ध होताहै ॥ ३ ॥ छागलेयजीकावाक्यहै उच्छिष्टइति उच्छिष्ट ब्राह्मण मदिरा और शूद्र और कुत्ताऔर अपवित्र वस्तु इनांनू जद स्पर्श करे तवएक दिनरात्र उपवास नू रक्षकर्के पश्चात् स्नान करे फेर पंचगव्यका पान करे तो शुद्ध होजाताहै ॥ १ ॥ उच्छिष्टइति उच्छिष्ट सजातिकरके उच्छिष्ट पुरुष जब स्पर्शकरिए तव आचमन कर्के शुद्ध होताहै अर जब उच्छिष्ट क्षत्री कर्के ब्राह्मण स्पर्शकरे तव नक्तव्रतकर्केशुद्ध होताहै अर जद उच्छिष्ट वैश्य कर्के ब्राह्मण स्पर्श करे तव उपवास करके शुद्धहोताहै ॥ २ ॥

इसीमे शातातपजीका वाक्यहै जो ब्राह्मण जेकर चांडालकी छाया विषे आजावे तद तिसकी शुद्धिवास्तेस्नान और घृतप्राशन किहाहै । १ । और जब ब्राह्मण चांडालादिने हस्थलए काष्ठ कंक अथवा वस्त्रकर्के स्पृष्ट क्या छोता होवे तद अंगांनु धो कर्के आचमनकरे और जेकर उह जूठा भीया तद रात्रि भोजनका त्यागभी करे । २ । औपकायन ऋषिका वाक्यहै अस्पृश्य जो चांडालादि तिनांके साथ व्यवधानसे वेडी आदिकर्के तरणेकी इच्छावाला होया होया जावेतद हस्थ और पाद जलविषपारक्षे परंतु साक्षात् स्पर्श नकरे तां उसको दोष नहि ॥ १ ॥ शातातपजी का वचनहै कापालिक जो है पाषंडी तिनके साथ जब ब्राह्मणादि स्पर्श करे तद विधि पूर्वक स्नानकर्के १०० इकसउ प्राणायामकरे और तप्तघृतकापानकरे तां शुद्ध हुंदाहै। १ । षट्त्रिंशन्मत

शातातपः । यस्तुछायांश्वपाकस्यब्राह्मणोप्यधिगच्छति तत्रस्नानंतुतस्यैवघृतप्राशश्वशोधनम् ॥ १ ॥ अंत्यजैर्हस्तकाष्ठेनवाससास्पृष्टएवच प्रक्षाल्यांगंतदाचामेदुच्छिष्टस्तुनिशांक्षिपेत् ॥ २ ॥ औपकायनः । अस्पृश्येनसहैकांतेतरन्नौसंक्रमादिभिः निदध्यादप्सुपाण्यादीनूनदुष्येत्तेनचास्पृशन् ॥ १ ॥ शातातपः ॥ कापालिकानांसंस्पर्शेस्नानंःकृत्वायथाविधि प्राणायामशतंकृत्वाघृतंप्राश्यविशुद्ध्यति ॥ १ ॥ षट्त्रिंशन्मते ॥ बौद्धान्पाशुपतांश्चैवलोकायतिकनास्तिकान् विकर्म्मस्थान्द्विजान्स्पृष्ट्वासचैलोजलमाविशेत् ॥ १ ॥ मनुः ॥ दिवाकीर्त्तिमुदक्यांचपतितंसूतिकांतथा शवंतत्स्पर्शिनंचैव स्पृष्ट्वास्नानंसमाचरेत् ॥ १ ॥ दिवाकीर्त्तिश्चाण्डालः ॥ एतदकामतः तथाचबृहस्पतिः ॥ दिवाकीर्त्तिंचितियूपंपतितंचरजस्वलां स्पृष्ट्वाप्रमादतोविप्रः स्नानंकृत्वाविशुद्ध्यति ॥ १ ॥

जो ३६ छत्री ऋषियों ने कठे होकर्के बनायाहै तिसमे लिखयाहे । बाविति बौद्ध नास्तिक लोक और पाशुपत पशुपतिजीकेमतवाले और लोकायतिकएभी तिन्हांकेमतमेमिलतेहैं और नास्तिक और विरुद्ध कर्म्मवाले जो त्रयवर्ण इनको स्पर्शकर्के सहित वस्त्रांके जलमे प्रवेशकरे। १ । मनुजी कहतेहैं दिवाकीर्त्ति इसजगा चांडालजानणा और रजस्वलास्त्री और पतित और सूतिकाक्या प्रसूतास्त्री और शव क्या मृतदेह और तिसके स्पर्श करणे वाला इनका स्पर्शकर्के स्नानकरे १ ॥ एह प्रायश्चित्त अकामते कीते होए पापविषे जानणा। सोई बृहस्पति जी कहतेहैं दिवेति चांडाल और चिता शवस्थान्वा और यूप जिसस्तंभके साथ पशुको बांध कर्के मारतेहैं और पतित और रजस्वला इनांको जेकर प्रमादसे ब्राह्मण स्पर्श करे तां स्नान कर्के शुद्ध होताहै ॥ १ ॥

और कामनाकर्के इसकोंजो कर्त्ताहै तिसवास्तेभी वृहस्पतिजी कहतेहैं पतोति पतित और सूतिका और नीच उोर शव इनका कामनाते दर्शनकरे तां स्नानकर्के उोर पवित्रवस्तुस्पर्शते अनंतर घृतको प्राशनकरे तो शुद्धहोताहै ॥ १ ॥ और शव इसजगा मृत मनुष्यका जानणा जेकर कुत्ते आदि मृत होए के साथ स्पर्शादि होवे तां अधिककल्पना करणी अर्थात् गायत्रीका जपभी साथ करणा और मृत चांडालके स्पर्शविषे आगे प्रायश्चित्त आवेगा ॥ और मोल लेकर मुडदा उठाणे वाले जो पुरुषहैं तिनांको प्राजापत्य कराणा परंतु तिसके स्पर्श विषे गायत्रीका जपभीकराणा ॥ आगेकहणा जो वाक्य तिसतेंइहबहुतवार करणेमें जानना ॥ और एकवारकरणेमें मार्कण्डेयपुराण विषे वचनहै अभोज्येति अभोज्य और सूतिका और खंडक्या नपुंसक और मा

कामतोपिसएव पतितंसूतिकामंत्यंशवंस्पृष्ट्वातुकामतःस्नात्वाचैवशुभंस्पृष्ट्वा घृतंप्राश्याविशुद्ध्यति ॥ १ ॥ शवेति मृतमनुष्यशवस्पर्शे मृतश्वादिस्पर्शेत्वधिकंकल्प्यम् मृतचांडालस्पर्शेवक्ष्यते मूल्येनशवहारकाणां प्राजापत्यं । तत्स्पर्शेगायत्रीजपोपिवक्ष्यमाणवाक्यात् ॥ एतच्चाभ्यासेसकृद्विषये मार्कण्डेयपुराणे अभोज्यसूतिकाखण्डुमार्जाराखुश्वकुक्कुटान् पतितापविद्धचांडालमृतहारांश्चधर्म्मवित् संस्पृश्यशुद्ध्यति स्नानादुदक्याग्रामसूकरौ ॥ १ ॥ कापालिकानांस्वरूपं यथा नरास्थिमालाकृतभूरिभूषणः श्मशानवासीन्नृकपालभोजनः पश्यामियोगांजनशुद्धदर्शनोजगन्मिथोभिन्नमभिन्नमीश्वरादिति॥१॥अभोज्यारजकादयः अपविद्धोवाहिष्कृतः मृतहारोमूल्येनशवहारकः मार्जारोवनमार्जारःस्नानेविशेषमाहगार्ग्यः

जार क्या बिल्ला और चूहा औरकुत्ता औरकुक्कुट और पतित और अपविद्ध और चांडाल और मृतके उठाणेवाला और रजस्वला औरग्रामशूकरइनांके साथधर्म्मवित्तापुरुष स्पर्शकरेतां स्नानतें शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ कापालिकादियोंका स्वरूपकहतेहैं नरेति मनुष्यकी हड्डिओंकीमालाकर्के जो भूषित होवे और श्मशानवासी और नृकपाल जो मनुष्यके मस्तककी हड्डी तिसविषे भोजन करे उोर कहे किजगत् ईश्वरसें भिन्नहै और अभिन्नभी है ऐसे मैं देखताहुं ऐसे योगरूपी अंजन कर्के शुद्धहै दर्शन जिसका ऐसे का नाम कापालिकहै ॥ १ ॥ अभोज्यनाम रजकादिका है अपविद्ध नाम उसका है जो लोकसे बाहरनिकालयाहै और मृतहार वोहै जो मोल लेके मुडदेकों उठाताहै और मार्ज्जार इसजगा बनका बिल्ला ग्रहण करणा ॥ स्नानमे विशेष गार्ग्यजी कहतेहैं ॥

क्रव्येति कच्चे मांसनूं भक्षणे वाला जीव अर्थात् गिरझ काकादि घोडा और गधा और ऊट इनके साथ जद व्यवधान करके स्पर्श करे तब वस्त्रांतें रहित अथवा वस्त्रांके सहित स्नाननूं करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ जब जानके स्पर्श करे तबसहित वस्त्रांके स्नानकरे अर जब जानके न करे तब वस्त्रांतेंरहित स्नान करे ॥ और कथन करते हैं । शूद्रमिति शूद्र और मलाह इनांनूं स्पर्श करके ब्राह्मण अथवा क्षत्री अथवा वैश्य आचमनहि करके शुद्ध होजाताहै अर सूर्यका दर्शन अथवा स्नान अथवा प्राणायाम अथवा तपका बल अथवा गायत्र्यादिका जप इनकरके भी सो प्रायश्चित्तहो जाताहै ॥ २ ॥ जो पुरुष स्नानमें अशक्त है तिसकों शूद्रके स्पर्शमें आचमनही कहाहै अर समर्थकों स्नानहि कहाहै इस कारणतें और किसे स्मृतिकाभी वाक्यहै ॥ एडेति ग्रामका सूर और कुकड और काक और कुत्ता और शूद्र और चांडालइनांनू

क्रव्यादश्वखरोष्ट्रैश्चस्पर्शेऽव्यवहितेद्विजः ॥ अचैलंवासचैलंवास्नानंकृत्वाविशुद्ध्यति ।१ । सचैलंमतिपूर्वेऽन्यत्राचैलम् शूद्रंस्पृष्ट्वानिषादंचशुद्ध्येदाचमनाद्द्विजः तद्वानिदर्शनस्नानप्राणायामतपोवलात् । २ । तत्प्रायश्चित्तं हि इनस्यसूर्य्यस्यदर्शनेनस्नानेनप्राणायामेनतपोवलेन गायत्र्यादिनावा भवति स्नानासमर्थस्यशूद्रस्पर्शनेआचमनम् समर्थस्यतु स्नानमेव अतएवस्मृत्यन्तरम् । एडकंकुकुटंकाकंश्वशूद्रांत्यावसायिनःदृष्ट्वैतान्नाचरेत्कर्म्म स्पृष्ट्वैतान्स्नानमाचरेदिति १ एतान्दृष्ट्वाकर्म्मनाचरेत्किंतुआचम्याचरेदित्यर्थः॥ यद्वा दृष्ट्वैतानाचमेत्प्राज्ञइतिपाठान्तरम् यद्वा सच्छूद्रस्पर्शेआचमनमसच्छूद्रस्पर्शेस्नानम् ॥ एडकोग्राम्यशूकरः॥ वृद्धयाज्ञवल्क्यः॥चांडालपुस्कसम्लेच्छभिल्लकापालिपारदान् उपपातकिनश्चैवस्पृष्ट्वास्नानंसमाचरेत् ॥ संवर्त्तः ॥ कैवर्त्तमृगयुव्याधसौरशाकुनकानपिरजकंचतथास्पृष्ट्वास्नात्वैवाशनमाचरेत् ॥ १ ॥

देख करके कर्मनूं न करे क्या करे आचमन नूं करके कर्मनूं करे अर इनांनूं स्पर्श करके स्नाननूं करे॥ १ ॥ एतान् इत्यादि पद करके इसीका हि अर्थ स्पष्ट कीताहै और भीहै क्या श्रेष्ठशूद्रके स्पर्शमें आचमन करे असत् शूद्रके स्पर्शमें स्नान करे इति ॥ वृद्धयाज्ञवल्क्यजीनं कहा है ॥ चांडेति । चंडाल और चांडाल भेद और म्लेछ और भील और सर्वगी और परस्त्रीके गमन करणे वाला पुरुष (पारदान्) इसजगा (रा) कालोपसमझणा अथवा पारलघाणे वाला और गोवधादि पापके करणवाला पुरुष इनांनूं स्पर्श करके स्नाननूं करे ॥ १ ॥संवर्त्तजींका वचनहै । कैवेति झीवर और मृगोंके मारण वाला पुरुष और फंधक और वावुरीआ और पक्षिहंता अर्थात् माछी और धोबा इनांनूं स्पर्शकरके पश्चात्स्नानकरके भोजनकरे १ ॥

वृद्धशातातपजी विशेषकहतेहैं चांडालमिति चांडाल और पतित और व्यंगक्या काणादि और उन्मत्त मदिरापानादि कर्के औरशव और अंत्यज और प्रसव करवाणे वाली और प्रसूता स्त्री और रजस्वला ॥ १ ॥ और कुत्तेतें आदलेके जो पशु हैं इनांको जेकर कोई स्पर्शकरे तां वस्त्रांके साथ शिर तक स्नान कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ २ ॥ जेडी प्रसूतिकों करावे सोभी सूतिका कहीदी है॥ जेकर अशुद्धांको आपभी अशुद्ध होकर स्पर्श करे तद एक उपवास कर्के शुद्ध हुंदाहै और जेकर भोजनतें उपरंत स्पर्श करे तां त्रिरात्र व्रत कर्के शुद्ध हुंदाहै॥ ३ ॥ हारीतजीके मतमें विशेषहै चांडालोंके साथ संयोगके होयां २ प्राजापत्य व्रतकर्के शुद्ध होताहै परंतु क्या कर्के १०

वृद्धशातातपः ॥ चांडालंपतितंव्यंगमुन्मत्तंशवमंत्यजम् ॥ सूतिकांसूतिकां नारीं रजसाचपरिप्लुताम् १ श्वकुक्कुटवराहांश्चग्राम्यान्संस्पृश्यमानवःसचै लः साशिरःस्नात्वातदानीमेवशुध्यति २ प्रसवंयाकारयतिसासूतिका॥ अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धश्चयदिस्पृशेत् विशुद्ध्यत्युपवासेनत्रिरात्रेणोत्तरे णतु उत्तरेणभुक्तोच्छिष्टेनेत्यर्थः हारीतः ॥ चांडालैःसहसंयोगेप्राजापत्येन शुध्यति विप्रान्दशवरान् कृत्वातैरनुज्ञाप्यशासनात् दशविप्रान् वरान्स भ्यान्कृत्वा शासनात्शास्त्राद्धेतोःतैर्दशभिरनुज्ञाप्यआत्मानमनु शास्येत्य र्थःअथवा आढकस्यप्रमाणंतु कुर्याद्गोमयकर्दमम् तत्रास्थित्वात्वहोरात्रं वायुभक्षःसमाहितः ॥ १ ॥ वालकृच्छ्रंततः कुर्य्याद्गोष्ठेवसतुसर्वथा सकेश वपनं कुर्य्यात्परमां शुद्धिमृच्छतीत्येषवालकृच्छ्रम् ॥ २ ॥

दस्सां ब्राह्मणांको सभामें ल्याकर्के और शासन जो शास्त्र तिसतें तिनांकर्के बोधकरवा कर्के १ ॥ अथवा प्राजापत्य विषे समर्था न होवे तां आढक जो द्रोणका चौथा हिस्सा तितने प्रमाणके गोमयका क्यागोएका कर्दम चिकड करे तिस विषे एकदिनरात्र स्थित होकर्के परंतु वायुके वि ना और कुछ भक्षण नकरे और समाहित क्यासमाधानहोकर रहे ॥ १ ॥ इस व्रतका नामवाल कृच्छ्रहैं । इसको करे और सर्वथा गोष्टी विषे क्या गौआंके स्थानविषे वसे और सहित केशांके मुंडन करावे अर्थात् सारे देहके वाल दूर करे जोपरम शुद्धिको इच्छा करदाहै। एह वाल कृच्छ्र काभी स्वरूप दिखायाहै ॥ २ ॥

श्रौर जो वृद्धहारीत जीने किहा है कि चांडालादि के साथ यद सवंध होवे तद एक दिन रात्र अथवा २ दोरात्रां अथवा तीनरात्र अथवा ६ छेदिनका व्रत करे ॥ १ ॥ श्रौर ना जाणया होश्रा चांडाल सत्तरोजतक जव किसे ब्राह्मणादिके घरमे रहे तां तिस चांडालादि संसर्गि पर जिसका वृत्तांत अच्छीतरहसे जाणचुकेहैं सो ब्राह्मण धर्म्मशास्त्री अनुग्रह करें ॥ २ ॥ दाधिक्षीर घृत कर्के युक्त गोमूत्रविषे पकाहोश्रा जवांदा काहडा तिसकों सहित सेवकादि के एक महीना निरंतर भक्षण करदा रहे विनातृप्तिसे जिसकर्के एह व्रतहैं ॥ ३ ॥ सो एह वचन जिसका बहुत संवंधहो चुकाहै तिसपरजानणा ॥ इसीमे पराशरजीका वचन है । रजकीश्रादिक्या

यत्तुवृद्धहारीतः ॥ चंडालश्वपचानांचसंकरेसमुपस्थिते अहोरात्रंद्विरात्रंवा त्रिरात्रंषडहंस्मृतम् ॥ १ ॥ अविज्ञातस्तुचंडालःसप्ताहंनिवसेद्यदि तस्य ज्ञानोपपन्नस्यविप्राःकुर्य्युरनुग्रहम् ॥ २॥ दधिक्षीरघृतैर्युक्तैःकृच्छ्रगोमूत्र यावकं प्राशयेत्सहभृत्यैस्तुमासमेकंनिरंतरमिति ॥ ३ ॥ तस्यचांडाल संसर्गिणोद्विजस्य ज्ञानोपपन्नस्य ज्ञाततत्संसर्गस्य तदतिसंकरेज्ञेयम् ॥ पराशरः । रजकीचर्म्मकारीचलुब्धकीवेणुजीविनी चतुर्वर्णस्यगेहेतुअज्ञाता ह्यधितिष्ठति । १ । ज्ञात्वातुनिष्कृतिंकुर्य्यात्पूर्वोक्तस्यार्द्धमेवतु गृहदाहंनकुर्वीतशेषंसर्वंसमाचरेदिति । २ । अत्रयादृशसंसर्गेयादृशप्रायश्चित्तमुक्तंतदर्द्धमित्यर्थःस्नात्वैवभुंजीतेत्यर्थः । एवंचयद्रजकादिस्पर्शेष्वाचमनं तद्व्याधितादिविषयेद्रष्टव्यम् ॥ षड्त्रिंशन्मते ॥ चांडालशवसंस्पर्शनेकृच्छ्रंकुर्यात् यानशय्यासनेषुचात्रिरात्रेण चांडालशवस्पर्शनइति ॥ चांडालस्यशवत्वमापन्नस्यस्पर्शने इत्यर्थः ॥

धोवण आदिस्त्री चारवर्णाके घरविषे नजाणीहोईरहे ॥ १ ॥ तां जवप्रतीतहोवे तव तिस दोषके दूर करणे वास्ते पूर्वोक्त प्रायश्चित्तका अर्द्ध करे श्रौर घर दाह नाहि करणा होर सभकृत्य करणी २ ॥ परंतु इसमे ऐसा अभिप्रायहै किजैसा जैसा पिच्छे संसर्गकाप्रायश्चित्त किहाहै तिसीका अर्द्ध करणा एह अर्थहै । स्नान कर्के भोजनकरे एह अर्थहै । एवमिति इसीतहाँजो रजकादियोंका स्पर्शकरे सों आचमनकरे एह वचन व्याधिकर्के ग्रसे होएपर जानणा श्रौर षट्त्रिंशन्मत विषें कहाहै मृतहोए चांडालके स्पर्शविषें कृच्छ्र करे अर्थात् प्राजापत्यकरे श्रौर यान क्या इकठे चांडालसाथ घोडे आदिपर चढना श्रौर शय्याविषें श्रौर आसनविषें तिससाथ इकठा होवेतां त्रिरात्र व्रत कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥

मृत चांडाल विषें कहकर जीवित चांडाल विषें कहतेहैं कि जीवते चांडालके साथ स्पर्श करे यानादि विषें तां त्रिरात्र व्रतकरकेहि शुद्ध हुंदाहै तथेति तैसें हि व्रणाक्या किसे कारणतें देहविषे शस्त्र लगाणा चांडाल ब्राह्मणादिकों लगावे वा ब्राह्मणादि चांडालकोंलगावे एह अर्थ आगेभी जानणा और बंधन करणा और तैलादिका मलना और विस्रावण क्या दस्तां आदिका कराणा और रुधिरोत्पादन क्या रोग निवृत्ति वास्ते लहु छुडाणा इनां ५ पंजांके होयां होयां १२ वारां रात्रिका प्रायश्चित्त कराणा इसोंमें आपस्तंवजी कहतेहैं येनेतिजिस किसे कर्के तैलादिके मर्द्दन कर्के स्पृष्ट होया चांडाल द्विजातिकों स्पर्शकरे और तैलादि कर्के संस्कृत द्विजादि चांडालकों स्पर्श करे तां १ उपवास कर्के और पंचगव्य कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥ तैलकों मलायाहै जिसने सो और वमन जिसको होयासो और दाडीकों स्पष्ट कराणवाला और मैथुन

जीवताचांडालेन सह यानादिषुत्रिरात्रमिति ॥ तथा व्रणबंधनाभ्यंजनाविस्रावणरुधिरोत्पादनेषुकृच्छ्रंद्वादशरात्रंचरेत् ॥ व्रणबंधनादीनांचंडालंप्रतिकरणेचंडालेनात्मानिकरणेएतत् ॥ आपस्तम्वः ॥ येनकेनचिदभ्यक्तश्चंडालंयदिसंस्पृशेत् उपवासेनचैकेनपंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ येनकेनेति तैलोद्वर्त्तनादिनाऽभ्यक्तः कृतमर्दनइत्यर्थः ॥ तैलाभ्यक्तस्तथावांतःश्मश्रुकर्मणिमैथुने मूत्रोच्चारंयदाकुर्यादहोरात्रेणशुद्ध्यति ॥ २ ॥ प्रचेताः ॥ स्वकायेचंडालकायादिस्पर्शेनद्विरात्राभोजनाच्छुद्धिः ॥ इदंपरिष्वंगविषयम् ॥ चंडालोयदिकायस्यरक्तमुत्पादयेत्क्वचित् त्रिरात्रेणविशुद्धिःस्यादेकह्रासेनचोत्तरे ॥ १ ॥ उत्तरेक्षत्रियादौत्रिरात्रादेकैकस्याहोरात्रस्यह्रासः ॥ क्रतुः ॥ चंडालस्योच्छिष्टदानेचंडालनृत्यदर्शने गीतवादित्रश्रवणे भैषज्यक्रियायांच त्रिरात्राभोजनेन शुद्धिः ॥

करणवाला जब स्नानादि शुद्धि विना मूत्रऔर विष्टकोत्यागेतां अहोरात्र कर्के क्या दिनरातकेव्रत कर्के शुद्धहुंदाहै । २ । प्रचेताजीकावचनहै अपणे देहविषें चांडालके देहका स्पर्शहोवे तां दोरात्र तक भोजनकी निवृत्ति कर्के शुद्ध हुंदाहै परंतु एह स्पर्श गलविषें वाहुलगाकर होवे तां द्विरात्र व्रत जानणा ॥ और कहतेहैं कि चांडाल किसे ब्राह्मणके देहतें रक्त निकाले तां तिसकी शुद्धि तिन्ना रातांके व्रत कर्के हुंदीहै और क्षत्रियादिके देहतें निकाले तां एक एक रात्रके घटाणे कर्के जानणा १ जैसें क्षत्रियके देह विषें रक्तनिकाले तां दो२ रात्र औरवैश्यके देहतें निकाले तां एक रात्र और शूद्रके देहतें निकाले तां स्नान कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ क्रतुजीकहते हैं चांडाल तांई उच्छिष्ट देणविषे और चांडालकी नृत्य देखणे विषें और तिसके गीतवादित्रके सुणने विषें और तिसकी औषध करणे विषें तिन्नांरात्रांके भोजनके त्याग कर्के शुद्धि हुंदीहै

श्रौर कहतेहैं कि श्रशुचिकों क्या चांडालको देखकके सूर्य्यको देखकर श्रौर पंदरां १५ प्राणयाम करके शुद्ध हुंदाहे । श्रव पराश्ररजी कथनकरतेहैं श्वेति चूडा डूम चंडाल इनांके साथ संभाषणकरे तद ब्राह्मणोंके साथ संभाषण करके श्रथवा गायत्रीका एकवार जप करके शुद्ध होताहे । १ । उोर चांडालके साथ शयन करके त्रय ३ रात्रि व्रत करके शुद्ध होताहै श्रौर चंडालैकमयीकों प्राप्त होकरके गायत्रीके स्मरणतें शुद्ध होताहै । २ । श्रव इसीका श्रर्थ स्पष्ट करके कहतेहैं यत्रेति जिस सभाविषेंश्रथवा पंकिविषें चंडालहि एक क्या केवल होवें सो चंडालैकमयीकहीहै एह सभाका नामहै श्रथवा चंडालहै एक प्रधान जिस विषे एह श्रर्थहै श्रव श्रौर प्रकार प्रचेताजी कथन करतेहैं चंडालेति जो चंडालके घरमे प्रवेश करणे विषें श्रौर चंडालके साथ घर विषें श्रथवा

श्रशुचिंदृष्ट्वाश्रादित्यमीक्षेत प्राणायामंकृत्वापंचदशमात्रकम् श्रशुचिश्चां डालादिः । पराशरः । श्वपाकडोम्वचंडालान्मिथःसंभाषतेयदि द्विजसंभाष णंकुर्यात्सावित्रींवासकृज्जपेत् १ चंडालेनसमंसुप्त्वात्रिरात्रेणविशुद्ध्यति चंडालैकमयींगत्वासावित्रीस्मरणाच्छुचिः ॥ २ ॥ यत्रसभायांपंक्तौवा एकेकेवलाश्चंडालाः सा चंडालैकमयी चंडालएकःप्रधानंयत्रेतिवेत्यर्थः प्रचेताः । चंडालगृहप्रवेशने चंडालेनैवगृहेवृक्षच्छायायांवा सहावस्थानेचं डालएवस्यात् ब्राह्मणानुद्दिष्टंषाण्मासिकंप्रायश्चित्तंकृच्छ्रंवा ब्राह्मणस्य चतु स्त्रिद्व्येकमासाः शेषाणाम् । शेषाःक्षत्रियोवैश्यःशूद्रःकैवर्त्तादिश्च एषां यथासंख्यंचतुस्त्रिद्व्येकमासाःकृच्छ्राः

वृक्षच्छाया विषें साथस्थित होणेतें चंडालहि होजाताहै इस विषें ब्राह्मणांको दिखायाहे कि छे ६ महीनें कावत श्रथवा छे ६ महीने तक कृच्छ्र करे परंतु एह व्रत वो हैकि जो ब्रा ह्मणोंकों उद्दिष्ट न होवे श्रर्थात् उपवास न होवे किंतु एकभक्तादिविधि होवे सो छे महीने तक करणा किहाहै ॥ श्रौर शेषां को चार ४ त्रय ३ दो२ एक १ महीनेका पूर्वोक्त व्रत क्रम करके करें शेष शब्दका श्रर्थ कहतेहैं शेष जो हैं क्षत्री वैश्य शूद्र झीवरादि श्रर्थात् शूद्रोकी श्रधम जाति एह संपूर्ण क्रम करके चार ४ त्रय ३ दो२ एक १ महीनें का कृच्छ्र व्रत करें ॥ क्षत्री चार ४ महीनेका वैश्य त्रय ३ महीनेका शूद्र दो२ महीनेका झीवरादि एक १ महीनेका व्रत करें तो शुद्ध होते हैं ॥

उशनाजी कहतेहैं अनिष्टगंध जो विष्टादिकी है तिसके आघ्राण विषे क्या सिंघण विषे और अनिष्ट शब्द जो किसेका किहाहोआ विष्टा मूत्रादिका शब्द तिसके श्रवण विषे और अनिष्टरूप जो गर्द्दभादिका स्वरूप तिसके दर्शन विषे और अनिष्टवाक्य जो तूंबि छादि भक्षण कर असा वाक्य इसकें उदाहरणदेणे विषे सूर्य्यजीके दर्शनते शुद्धि होतीहै देवलजीका वचनहै चांडालके उपदेश लेणवाला पुरुष प्राजापत्य करे तद शुद्ध हुंदाहै और चांडालों कर्के वनाया होआ और चांडालों कर्के सेव्यमान जो कूपहै तिसके सेव नवें द्विजादि त्रिरात्र व्रत करे १ और कहतेहैं दृष्ट्वेति चांडालकों और पतितकों देख कर्के संध्या काल विषे संध्या वंदनते अनंतर सूर्य्यजीका दर्शन करे तां शुद्ध हुंदाहै तैसेहि रजस्वला कों देखकर्के और विष्टा मूत्रादिको देख कर्केभी सूर्य्यका दर्शन करे । २ । इसमे मनुजीकहतेहैं

उशनाः अनिष्टगंधाद्युपाघ्राणश्रवणदर्शनोदाहरणे आदित्यदर्शनाच्छौचम् अनिष्टानां गंधशब्दरूपवाक्यानामुपाघ्राणश्रवणदर्शनोदाहरणेष्वादित्यदर्शनाच्छुद्धिरित्यर्थः देवलः। चंडालधर्मसंयोगप्राजापत्यंसमाचरेत् चरेत्रिरात्रंचंडालकूपतीर्थनिषेवणात् १ धर्मस्यसंयोगउपदेशः दृष्ट्वाचंडालपतितौसंध्याकालउपस्थिते ईक्षेतादित्यमुद्यंतंतथोदक्यांमलानिच २ उदक्यां रजस्वलां.मलानिविण्मूत्रादीनिदृष्ट्वाप्यादित्यमीक्षेतेत्यर्थः मनुः। आचम्य प्रयतोनित्यंजपेदशुचिदर्शने सौरान्मंत्रान्यथोत्साहंपावमानीश्चशक्तितः १ अशुचीनां चंडालश्वपचविण्मूत्रादीनांदर्शने आचमनानंतमाकृष्णेत्यादिसूर्यमंत्रान् जपेत् ॥ पराशरः अविज्ञातस्तुचांडालोनिवसेद्यस्यवेश्मनि विज्ञातेतूपसन्नस्याद्द्विजाःकुर्युरनुग्रहम् १ उपसन्नस्येति विज्ञातेसत्युपसन्नस्यपरिषदुपासत्तिंविधायास्थितस्योपरिद्विजाःपरिषदुपसन्नाअनुग्रहं वक्ष्यमाणश्लोकोक्तरीत्याकुर्युरित्यर्थः ॥

आचम्येति जेकर अशुचि वस्तु जो है पूर्वोक्त तिसके दर्शन विषे इंद्रियोंको रोकता होआआचमन कर्के नित्यहि सूर्य्यजीके मंत्रांकोंपढे और पावमानीजो ऋग्वेदके मंत्र तिनांकोभी यथाशक्तिसें जपें ऐहि अर्थ स्पष्टकर्के कहीदाहै अशुचीनामिति अशुचि जोहै चांडाल और श्वपच तिसीका भेद और विष्टामूत्रादि इनांके दर्शन होआं होआं आचमनकरे पीच्छे (आकृष्णेनरजसा) इत्यादि मंत्रांका जपकरे उौर (उद्वयंतमसस्परिस्वः) इत्यादि उपस्थानके मंत्रांका जपकरे इसमे पराशरजी कहते हैं अवीति अविज्ञात चांडाल क्या नहि जाणयाथाकि एह चांडालहै सो जिसके घरविषे रहे उौर जद जाणयाजावे कि एह चांडालहि साडेघरमो रैंहदाथा तद उस ऊपर धर्मशास्त्री ब्राह्मण अनुग्रह करें ॥ १ ॥

(उपसन्नस्य) इसका अर्थ कहतेहैं ज्ञानते पीछे सभाकी सेवा करके जेडा स्थित होरिहाहै तिसपर प्रायश्चित्तका उपदेशकरें वक्ष्यमाण रीतिसें ⊛ (प्रश्न) सभजगा पापके होआं होआं सभामे जाणा वणदाहै इसजगा वकरवरा करके क्यों लिखाहै (उत्तर) रहस्य प्रायश्चित्त विषे सभाकी आज्ञा नहि इसकरके किहाहै कि इसजगा रहस्यभी करणा होवे तांभी प्रकाश करणा इस अभिप्रायसे लिखाहै उपसन्नस्येति उपदेशका प्रकार कहतेहैं ऋषीति सो धर्म्मशास्त्रके पाठक ब्राह्मण ऋषियोंके मुखते निकले होए धर्म्मोंकोगायनकरदेहोए तिस पतितका उद्धार करें शास्त्रकरके कहेहोए कर्म्म करके ॥ २ ॥ दहीं करके और घृतकरके और दुग्ध करके गोमूत्र विच्चों निकालकर यवांके काढेको भक्षणकरे जितने घरके लोकहैं सेवकादि तिनके साथ और त्रयकाल स्नानकरे ॥ ३ ॥ पूर्वोक्तकीहि व्यवस्था

अत्र परिषदुपसत्त्यर्थमुपसन्नस्येत्युक्तम् यद्यपि सर्वत्र पापे परिषदुपसत्तिरभिहिता तथापि रहस्ये परिषदुपसत्तेरननुज्ञानादत्र रहस्यमपिप्रकाशनीयमित्येतदर्थमिदमिति ॥ ऋषिवक्त्रच्युतान्धर्मान्गायंतोधर्मपाठकाः पतंतमुद्धरेयुस्तंशास्त्रदृष्टेनकर्मणा ॥ २ ॥ दध्नाघृतेनक्षीरेणकृच्छ्रगोमूत्रयावकं भुंजीतसहितोभृत्यैस्त्रिसंध्यमवगाहनम् ॥ ३ ॥ त्र्यहंतुदध्नाभुंजीत सर्पिषात्र्यहंततः क्षीरेणतुत्र्यहंभोज्यमेकैकेनपुनस्त्र्यहम् । ४ भावदुष्टंनभुंजीतभोक्तव्यंगोरसप्लुतं तिष्ठेद्दिनानियावंतितावंत्येवसमाचरेत् ५ त्रिपलंतुदधिक्षीरंपलमेकंतुसर्पिषः आकरेतुभवेच्छुद्धिरारकूटसकांस्यके ६ आकरउत्पत्तिस्थानं सजातिसमूहोमह्यांखननंवा आरकूटोरीतिकम्

करेहैं त्र्यहमिति तिन्नदिन दहींकेसाथ गोमूत्र यावकका भोजनकरे और त्रयदिन घृतकरके खावे और त्रयदिनदुग्धकरके खावे और इसी प्रकार पीछे इनांहि वस्तुयोंके साथ एक २ दिन खावें तो एभीद्वादश दिनका व्रतहोआ। ४। और भावदुष्ट जो वस्तुहै जैसे तक्रपाकमे पतले दस्तर्की भावनाहै तिसको न भोजनकरे और गोरस जो दहीं तिसकरके मिले होएका हि भोजन करे परंतु जितने दिन सो चांडाल घरविषे रहाहै तितने दिन इसव्रतको करे ॥ ५ ॥ तिनका परिमाणकहतेहैं त्रीति तिन्न ३ पा दहीं और दुग्ध और १ एकपा घृत इसमर्य्यादासें लए और उसघरमे जितने भांडेहैं पित्तलके और कांस्यके तिनांकी शुद्धि आकरमे रक्षणेकरके जानणी ६। आकरनाम उत्पत्ति स्थानकाहै तिसविषे अथवा सजातिकासमूह तिसविषे स्थापन करणा अथवापृथ्वीविषे दब्बदेणा और आरकूटनाम पित्तलकाहै

अंगिराजी कहतेहैं ॥ कांस्यके भांडेविच चुली नहि करणी और पैर नहि धोणे जेकर ऐसा करे तां पृथ्वी विच छे ६ महीने तिस कांस्यभाजनकों रक्षकर पीछे वहुते भांडे विच रखे तां शुद्ध हुंदा है ॥ १ ॥ वस्त्रजेडे उस घर विषे हैं सो जल कर्के शुद्धकरणे और जे डे मृत्तिकादे भांडेहैं सो सभत्यागदेणे और कुसुंभा १ गुड २ कपाह ३ लून ४ मधु ५ घृत ६ इनाकों दरवाजेविच ल्या रक्षणा वायुकर्के शुद्ध होणगे इसी तर्हां धान्यभी शुद्ध करणे और घर विषे अग्नि लगाणी तिसके सेक लगणे कर्के घर पवित्र हुंदाहै एह मनुजीका वाक्यहै ॥ ३ और सहित पुत्रके और सहित सेवकांके ब्राह्मणांकों भोजनदेवे और २० गौआं और १ वैल दक्षिणा देवे ॥ ४ ॥ पीछे लेपन और किसेजगा खातकरणे कर्के और होम और जप

अंगिराः ॥ गंडूषंपादशौचंतुनकुर्यात्कांस्यभाजने भूमौनिक्षिप्यषण्मासा न्पुनराकरमादिशेदिति ॥ १ ॥ जलशौचेनवस्त्राणिपरित्यागे नमृण्मयम् कुसुंभगुडकर्पासलवणंमधुसर्पिषी ॥ २ ॥ द्वारिकुर्वी तधान्यानिदद्याद्वेश्मनिपावकम् हुताशज्वालासंस्पृष्टंशुचितन्मनुरब्रवी त् ॥ ३ ॥ सपुत्रःसहभृत्यैश्च कुर्याद्ब्राह्मणभोजनं गोविंशतिंवृषंचैकंदद्या द्विप्रेषुदाक्षिणाम् ४ पुनर्लेपनखातेनहोमजप्येनचैवहि अवधारणेनविप्रा णांतत्रदोषोनविद्यते ॥ ५ ॥ स्वल्पकालसंपर्केएतत् संवर्त्तः ॥ अंत्यजः पतितोवापिनिगूढोयत्रातिष्ठति सम्यग्ज्ञात्वातुकालेनततःकुर्याद्विशोधनम ॥ १ ॥ चांद्रायणपराकोवाद्विजातीनांविशोधनम् प्राजापत्यंतुशूद्राणां शेषाणामिदमुच्यते ॥ २ ॥ यैस्तत्रभुक्तंपक्वान्नंतेषामुक्तोविधिक्रमः ॥ प्राजापत्यइत्यर्थः ॥ तेषामपिचयैर्भुक्तंकृच्छ्रपादोविधीयते ३ ॥

कर्के ब्राह्मणां के अनुग्रह कर्के तिसविषे दोष नाहि ॥ ५ ॥ परंतु एह प्रायश्चित्त थोडे संवंध विषे है तिसचांडालका संवंध उसमे वहुतहोवे तां तिस वास्ते प्रायश्चित्त होर है ॥ संवर्त्तजी कहतेहैं ॥ अंत्यज क्या चांडाल अथवा पतित जिसके घर छपकर्के रहे और पिच्छे जद मलूम होवे तां इसतर्हां शुद्धि करे। १। चांद्रायण अथवा पराककर्के ब्राह्मणादिकी शुद्धि और शूद्रांकी शुद्धि प्राजापत्य करके है और इनांतेंजो होर हैं आश्रमी लोक तिनके अर्थ भी एहहै ॥ २ ॥ जेडे होर दूसरे घरवाले हैं तिनांकोंभी कहतेहैं कि जिनांने तिस घर विषे पक्का न्न भक्षण कीताहै तिनां वास्ते प्राजापत्य किहाहै और जिनांनें इनके घर अर्थात् चांडलवाले घर खाणा वालेके घर खादाहै तिनकी शुद्धि पादकृच्छ्र कर्केहै ॥ ३ ॥

श्रौर कहतेहैं कूपैकेति जेडे एक खूएकें जल पान कर्के दोष वालेहैं अर्थात् जिस खूए विषे चांडालपींदेहैं तिसी खूये विषे जलपान करणवाले । श्रौर संसर्ग जो परंपरा संसर्गहै तिसकर्के दोष वाले जो हैं इनसभनांकों उपवास कर्के श्रौर पिच्छे पंचगव्य के पान कर्के शुद्ध करे ॥ ४ ॥ जिस स्त्रीका वालक छोटाहोवे श्रौर रोगी श्रौर गर्भिणी श्रौर वृद्ध इनांकों नक्त कथा नक्त देणा चाहिए श्रौर वालकांकों २ पहरका व्रतदेणा चाहिए ॥ ५ ॥ अथवा जिनांकों व्रतकरणेसें पीडा वहुत होवे तिनांकों थोडा व्रतदेणा उचितहै जिसतें व्रतिकी मृत्यु न होवे ॥ ६

कूपैकपानदुष्टायेतथासंसर्गदूषिताः सर्वानेवोपवासेनपंचगव्येनशोधयेत् ॥ ४ ॥ बालापत्यातथारोगीगर्भिणीवृद्धएववा तेषांनक्तंप्रदातव्यंबालानांप्रहरद्वयम् ॥ ५ ॥ अथवाक्रियमाणेषुयेषामार्त्तिःप्रदृश्यते ॥ शेषंसंपादयेत्तेषांविपत्तिर्नभवेद्यथा ॥ ६ ॥ अंत्यजोऽत्रचंडालः ॥ वसिष्ठः ॥ चंडालोनिवसेद्यत्रगृहेत्वज्ञातएवतु तस्यान्नंतुद्विजोभुक्त्वाप्राजापत्यंसमाचरेत् ॥ १ ॥ अकामतःसकृद्भुक्त्वाकुर्य्यादितद्द्विजोत्तमः कामाच्छुद्धिः पराकेणमहासांतपनेनवा॥२॥चांद्रायणंपराकोवाद्विजातीनां विशोधनम् प्राजापत्यंतुशूद्राणांशेषाणामिदमुच्यते॥३॥योन्योपिभुंक्तेपक्वान्नंकृच्छ्रंस्यात्तस्यशोधनम् शुष्कान्नभोजनेपादमित्याहभगवान्मनुः ॥ ४ ॥

अंत्यज नाम इसजगा चंडालकाहै ॥ इसमे वसिष्टजी कहतेहैं ॥ चांडाल जिसके घर अज्ञात हो या २ वसे तिसका अन्न द्विजक्या ब्राह्मणादि जेकर खावे तां प्राजापत्य व्रतकरे ॥ १ ॥ परंतु अकामते एक वार खाणेमें एह प्रायश्चित्तहै कामनातें खावे तां पराक कर्के शुद्ध हुंदाहै अथवा महासांतपन कर्के ॥ २ ॥ चान्द्रायण अथवा पराक द्विजातियोंका शोधकहै श्रौर प्राजापत्य शूद्रों का शोधकहै श्रौर जो दूसरे घरवालेहैं तिनांवास्ते कहतेहैं ॥ ३ ॥ जो होर तिस घरविषे पकान्न खावे तिसके शोधन करणे वाला कृच्छ्रहै श्रौर जो सुका अन्न खावे तिसके वास्ते लघुकृच्छ्रहै एह भगवान् मनुजी कहतेहैं ॥ ४ ॥

तैसेंहि जेकर तिनां चांडालघरवालयींनें स्पर्श कीतेहोए अन्नको जद भोजनकरे श्रौर विधिवाले स्नानतें विना जो भोजन करदाहै तां भोजनमे कृच्छ्र किहाहै श्रौर पानाविषें तिसका चौथा हि स्साकिहाहै ॥ ५ ॥ श्रौर चांडालकर्के जद संस्पृष्टहोवे कांसका भांडा अथवा मृत्तिकाका श्रौर अज्ञानतें जो कांस्यके भांडेमें भोजन करता है श्रौर मृत्तिकाके भांडेमें जलपान करताहै तिनांमें कांस्यभोजीकृच्छ्र व्रतकरे श्रौर जलपानवाला कृच्छ्रका पादव्रतकरे ६कांस्यभाजन इसजगा भज्ञा दा समझणा ।६। अब च्यवन ऋषिजी श्रौर प्रकार कहतेहैं चंडाल घरविषे प्रवेश करे तो घर कों फूक देवे संपूर्ण मृत्तिकाके भांडे भन्न देवे श्रौर लकडीको छिला देवे श्रौर शंखसिप्पी सो

तथा ॥ तैःस्पृष्टोयदिभुंक्तेन्नमस्नात्वाविधिवज्जले विहितांभोजनेकृच्छ्रंपाने स्यात्पादएवतु ॥ ५ ॥ चंडालेनतुसंस्पृष्टंकांस्यभांडंसमृण्मयं ॥ अज्ञा नात्कांस्यभोजीतुमृण्मयेजलपानकृत् कांस्यभुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रंजलपानेतुकृ च्छ्रकम् ६ ॥ कृच्छ्रकः कृच्छ्रपादः ॥ च्यवनः ॥ चंडालसंकरेस्वभवनदहनं सर्वमृद्भांडभेदनं दारवाणांतुतक्षणं शंखशुक्तिसुवर्णरजतवैदलानामद्भिः क्षालनं कांस्यताम्राणामाकरेशुद्धिः ॥ आकरशब्दार्थस्तूक्तः पूर्वम् ॥ सौवी रपयोदधितक्राणापरित्यागः ॥ सौवीरं वदरं ॥ गोमूत्रयावकाहारोमासं क्षिपेत् वालवृद्धस्त्रीणामर्द्धप्रायश्चित्तम् ॥ आषोडशाद्बालःअशीत्यूर्ध्वंतुवृद्धः चीर्णेप्रायश्चित्तेब्राह्मणभोजनं गोशतंदद्यात्तदभावेसर्वस्वम् ॥

ना चांदी वंझ इनके जो पात्र हैं तिनां पर जल सिंचन करे श्रौर कांस ताम्रकी आकर विषे शुद्धि कहीहै आकर शब्दका अर्थ पिच्छे कहाहै ॥ श्रौर वेर दुग्ध दधि छाह इनांको त्यागे देवे श्रौर गोमूत्र युक्त यवोंका भक्षण करदा होया महीना रोज व्यतीत करे श्रौर वालक वृ द्ध स्त्री इनको अर्द्ध प्रायश्चित देणा अर्थात् पंदरां १५ दिन । श्रौर सोलां १६ वर्षतें उरें वालक होता है श्रौर अस्सी ८० वर्ष तें उपरंत वृद्ध होताहै उरि प्रायश्चित्तके कीते होयां ब्राह्मणोंको भोजन देवे श्रौर सो १०० गौ देवे जेकर एह न मिले तां सर्वस्व दे देवे ॥

अब बोधायन जी और विशेष कहतेहैं चंडालके देखणें विषें तारयोंका दर्शन करे तो शुद्ध होताहै और चंडालके साथ संभाषण क्या बोले तो ब्राह्मणके साथ संभाषण करे और स्पर्श करे तो स्नान करके शुद्ध होताहै और जूठा होकर चंडालका दर्शन करे तो एक रात्र उपवास व्रत करे और संभाषण करे तो दो २ रात्र उपवास करे और स्पर्श करे तो त्रय रात्रि उपवास करे और जूठे चंडालके दर्शन संभाषण स्पर्श करणे में भी एही व्रत करणे ॥ और चंडालके साथ मार्ग चले तो सवस्त्र स्नान करे ॥ अब प्रायश्चित्त मयूख विषें कहतेहैं द्रव्येति द्रव्यहै हस्थ विषें जिसके सो जूठेका स्पर्श करे तिसमे मनुका वचन है द्रव्यहस्तवाला होया १ जूठेके साथ स्पर्श करे तो तिस द्रव्यको हस्थमें हि रख कर आचमन करे तो शुद्ध होता है

वौधायनः। चंडालदर्शनेज्योतिषांदर्शनं संभाषणेब्राह्मणसंभाषणम् स्पर्शनेस्नानम् उच्छिष्टदर्शन एकरात्रमुपवसेत् संभाषणे द्विरात्रं स्पर्शने त्रिरात्रम् चंडालिनसहाध्वगमनेसचैलस्नानम्। प्रायश्चित्तमयूखे द्रव्यहस्तस्योच्छिष्टस्पर्शे। मनुः। उच्छिष्टेनसमंस्पृष्टवाद्रव्यहस्तः कथंचन अनिधायैव तद्द्रव्यमाचांतः शुचितामियात् १ एतच्चामान्नविषयम्। भोज्यविषयेतु वसिष्ठः। प्रचरन्नन्नपानेषुयदुच्छिष्टमुपस्पृशेत् भूमौनिधायतद्द्रव्यमाचांतः प्रचरेत्ततः ॥ १ ॥ तद्द्रव्यस्यह्यभ्युक्षणं कार्य्यमित्याहतुः शंखलिखितौ॥ द्रव्यहस्तोच्छिष्टोनिधायाभ्युक्षयेद्द्रव्यमिति उच्छिष्टउच्छिष्टस्पृष्टः। एतच्चानुच्छिष्टहस्तादिनास्पर्शे ॥ साक्षादुच्छिष्टहस्तादिस्पर्शेत्वभोज्यमेव

एह कचे अन्नके विषयमें जानणा। १। और भोज्यअन्नके विषयमे वसिष्ठजीकहतेहैं प्रेति प्रचरन्‌क्या अन्न वरतांदा होया जूठेका स्पर्श करे तो तिसद्रव्यको भूमि पर स्थापन करके आचमन करे फेर तिस अन्न नूं वरतावे। १। परंतु तिसद्रव्यको सेचन करणा एह किहाहै शंख और लिखितजी ने द्रव्येति अपूपादि भक्ष्य द्रव्य जिसके हाथ मे है और जूठेके साथ स्पर्श वाला होवे तां उस वस्तु को हेठ रक्षकर जल साथ सिंचे पीच्छे ग्रहण करके वर्तां देवे तां दोष नाहि परंतु एहप्रायश्चित्त जेडा हस्थ नहि जूठा तिसके स्पर्शविषे जानणा जेकर साक्षात् जूठे हस्थनाल स्पर्श होवे तां नाहि भोजन करणा

सोई वासिष्ठजी कहतेहैं उच्छिष्टमिति गुरुका उच्छिष्ठ होवे तां भोजन करलेणा और किसेका होवे तां नहि भोजन करणा और अपणां जूठा और जूठेके साथ जेडा मिलया होआहै तिसका भी भोजन नहि करणा ॥ जेकर भोजन करे तां स्नानतें पीच्छे १०० प्राणायाम करे एह जान लेणा ॥ जूठे मनुष्यको सूर्य्यादिका दर्शन करणेमे मार्कंडयपुराणमैं दोष कहाहै सूर्येंदिति सूर्य्य और चंद्रमा और तारे जिसजूठे ने दिक्खे होण कदाचित् तिहां पुरुषांदे अक्षिपर अग्निको रक्षकर यमदूतांने फूकां लगाईदीआंहैं ॥ १ ॥ उच्छिष्टने पलांडुआ दिके स्पर्शविषे बृहस्पतिजीका वचनहै सुरेति मदिरा १ गंडा २ लस्सन ३ इनांके कामनाकर्के

यथाहवसिष्ठः.उच्छिष्टमगुरोरभोज्यंस्वमुच्छिष्टोपहतंचेति उच्छिष्टस्यसूर्या दिदर्शनेदोषउक्तोमार्कंडेयपुराणे ॥ सूर्येंदुतारकादृष्टायैरुच्छिष्टैः कदाचन तेषांयाम्यैर्नरैरक्षिन्यस्तोवह्निःसामिध्यते ॥ १ ॥ उच्छिष्टस्यपलांड्वादिस्प र्शे बृहस्पतिः ॥ सुरापलांडुलशुनस्पर्शेकामकृतेद्विजः त्र्यहंपिबेत्कुशजलं सावित्रींचजपेत्तथा ॥ १ ॥ इदमूर्ध्वोच्छिष्टस्येति शूलपाणिः ॥ यत्तु सएव पलांडुलशुनस्पर्शेस्नात्वानक्तंसमाचरेत् कृताचारस्त्वहोरात्रमुच्छि ष्टाद्व्यहमाचरेदिति १ तदधोच्छिष्टविषयमूर्ध्वोच्छिष्टेऽकामविषयंवा नक्तं शूद्रोच्छिष्टविषयं द्व्यहमूर्ध्वोच्छिष्टद्विजविषयमितिकेचित् ॥

स्पर्श कीतिआं होआं द्विजक्या ब्राह्मणादि त्रयदिन कुशाकाजलपीवे और गायत्रीको १० दशा दिकीसंख्यासेंजपे ॥ १ ॥ परंतुएह ऊर्ध्वोच्छिष्टजोपुरुषहै तिसपर जानणा एह शूलपाणिजी कह तेहैं । और जो सोईशूल पाणि कहतेहैं पलेति पलांडुक्या और लशुन इनके स्पर्शविषे स्नानतें पिछे नक्त व्रत करे क्या एकाहारकरे और कृताचार क्या जिसने दिशा होकर दिनरात्र तक शौच नहि कीता और भोजन करचुकाहै सो दो २ दिन उपवासकरे तां शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥ सो एहअधोच्छिष्टका विषयहै अथवा ऊर्ध्वोच्छिष्टमे अकामका विषयहै और कोई कहतेहैं किनक्त व्रत शूद्रोंके लियेहै और दो दिनका व्रत ऊर्ध्वोच्छिष्ट ब्राह्मणादिको विषयकरताहै ॥

एह पूर्वोक्त व्रत त्रय अकामके विषयहै और साविवीके जपसाथ तीन रात्र कुश जलको पानकी अशक्ति होयां २४ चौवी पण मुल्लवाला सुबर्ण देणा चाहिए । और जो उच्छिष्ट नहि है और लशुनादिको स्पर्श करे तिसको स्नानमात्रहि किहाहै ॥ और शूलपाणि जांके वनाएहोए ग्रंथमै वृद्धशातातपजीका वचनहै ॥ उच्छिष्ट होआ होआ विप्र मदिराको और कुत्तेको लशुनादिको स्पर्शकरे सो दिनरात्रके व्रत करके पीछे पंचगव्यके पीणे करके शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥ सोएह ऊर्ध्वोच्छिष्टके काम करके कीते होये स्पर्श विषे जानणा ॥ अब इसीका अर्थ स्पष्ट करके कहतेहैं मद्यमिति मद्य क्या सुरातें पृथक् जानणा क्यों कि सुराके स्पर्शमे अधिक प्रायश्चित्त होणेते और शूद्रक्या शूद्रकाजूठा अशुचि क्या लस्सनादि

तथात्रयमिदमकामतः सावित्रीजपान्वितत्रिरात्रकुशवारिपानाशक्तौ चतुर्विंशतिपणलभ्यं कांचनंदेयम् अनुच्छिष्टस्पर्शेकेवलस्नानमेव ॥ शूलपाणौ वृद्धशातातपः ॥ उच्छिष्टःसंस्पृशेद्विप्रोमद्यंशूद्रंशुनोऽशुचीन् अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्येनशुध्यति १ एतदूर्ध्वोच्छिष्टस्यकामतः ॥ मद्यंसुरेतरं शूद्रंशूद्रोच्छिष्टं अशुचीन्लशुनादीन् ॥ सुरानुवृत्तौ यमः ॥ दर्शनात्स्पर्शनाद् घ्राणात् प्रायश्चित्तंविधीयते प्राणायामैस्त्रिभिःस्नात्वा घृतं प्राश्यविशुद्ध्यति १ दर्शने कामतः स्पर्शनेऽकामतः घ्राणेवाकामतः कामतोजातिभ्रंशकरत्वं तथा ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ आघ्रायरसगंधंच सुरागंधंचसोमपाःस्नात्वाऽपःस्पृश्यकृत्वात्रीन् प्राणायामान्विशुद्ध्यति १ ॥

सुराकी अनुवृत्ति विषे यमजी कहतेहै देति सुराके दर्शनतें स्पर्शतें सिंघणतें प्रायश्चित्त होताहै कि तीन ३ प्राणायाम करके स्नानकरे और घृतका भक्षणकरे तो शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ और इसमे ऐसी व्यवस्थाहै कि देखणेमें इच्छा विषे जानणा और न इच्छातें स्पर्श विषे और सिंघण विषे इच्छातें जानणा ॥ और इच्छातें करणे विषे जातिभ्रंशकर पाप होताहै ॥ तैसेंहि इसीमें याज्ञवल्क्य जी कहतेहैं आघ्रायेति रसगंध क्या विष्टा दि और सुरागंध क्या मदिरादि इनांनू सोमपा पुरुष सिंघे तो स्नान करके जलका स्पर्श करेऔर त्रय ३ प्राणायाम करे तो शुद्ध होताहै १ ॥

जो सुमंतुजीने किहाहै सो कहतेहैं मद्येति मदिराके साथ स्पर्श करणेमें ऋषभ मंत्रका जप करे और मदिराके सिंघण विषें प्राणायाम करे सो एह न इच्छातें करण विषें जानणा और इच्छातें करणेमें विष्णुजी कहतेहैं सुरामिति सोमपा पुरुष मदिराका गंध सिंघकर्के जल विषें डुब्बा होया त्रय ३ अघमर्षण जपे फेर घृत प्राशनकरे तो शुद्धहोताहै ॥ अब जूठे पुरुषकों नरादिकी विष्टा स्पर्श विषें लघुहारीतजीकहतेहैं श्वेति कुत्तेकी विष्टा और काक विष्टा और कंक गिरज पक्षिकी विष्टा और पुरुषकी विष्टाका और अधोच्छिष्टका स्पर्श करे तो सवस्त्र जलमें स्नान करे ॥ १ ॥ और जूठे पुरुषको स्पर्श करणेमे एह प्रायश्चित्त करे कि एकरात्रि उपवासकर्के पंचगव्य पान करे तो शुद्ध होताहै २ इस जगा अधोच्छिष्ट क्या विष्टाके

यत्तुसुमंतुनोक्तम् मद्यसंकरेऋषभंजपेत् सुराघ्राणेप्राणायामइति तदकामतः ॥ कामतस्तु विष्णुः ॥ सुरामाघ्रायगंधंसोमपउदकेमज्जमा नस्त्रिरघमर्षणंजप्त्वाघृतप्राशनमाचरेदिति अथोच्छिष्टस्यनरादिपुरीष स्पर्शेलघुहारीतः । श्वविष्टांकाकविष्टांवाकंकगृध्रनरस्यच अधोच्छिष्टंतुसं स्पृश्यसचैलोजलमाविशेत् ॥ १ ॥ ऊर्ध्वोच्छिष्टंतुसंस्पृश्यप्रायश्चित्तमि दंचरेत् उपोष्यरजनीमेकांपंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ २ ॥ अत्राधोच्छिष्टस्यपु रीषस्यस्पर्शेस्नानम् ऊर्ध्वोच्छिष्टस्यतूपवासःपंचगव्यंचपेयम् । अथानुच्छि ष्टस्यमलस्यस्पर्शे तत्रांगिराः ॥ ऊर्ध्वंनाभेःकरौमुक्त्वायदंगमुपहन्यते तत्र स्नानमधस्तातुक्षालनेनैवशुद्ध्यति ॥ १ ॥

स्पर्श विषें स्नान करे तो शुद्ध होताहै एह अर्थ है इस जगा प्रायश्चित्त वहुत होणेतें जानणा कि उच्छिष्टहि जद उच्छिष्टको स्पर्श करे तां ऐसा करे एह अभिप्रायहै और जेडा आप जूठा होवे और जूठेको अथवा मनुष्यादिमलको छोए सो उपवास कर्के पंचगव्यकों पीवे । अब जो जूठा नहि तिसको मलके स्पर्शविषे अंगिराजी कहतेहैं ऊर्ध्वमिति इत्यादि विना नाभिते उपर जेकर कोई अंग मलादि कर्के (उपहन्यते) क्या स्पृष्ट होवे तां तिस विषे स्नान करणा किहाहै और उसके हेठ स्पर्शहोवे तां तिस जगाके धोणेकर्के हि शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥

एह प्रायश्चित्त विष्टादि स्पर्श विषे है तिसमें भी गाढा अंगमै जद लगे तां है इसी मै शंखजी कहतेहैं ॥ रथ्येति गली कूचेके जल कर्के और थुक कर्के श्लेष्मादि कर्के नाभिते उपर पुरुष स्पृष्ट होवे तां शीघ्र स्नान कर्के शुद्धहुंदाहै ॥ १ ॥ और अंगिराजीने किहा कि धोणा जो है नाभिके हेठले अंगका सो मृत्तिका करके और जल करके करणा विष्णुजीभीकहतेहैं नाभेरिति नाभिके हेठले अंगांविषे देहदीमलकर्के और सुराकर्के मद्यकर्के जो युक्त होवे सो निरालस होआ होआ मृत्तिका और जलकर्के धोवे तां शुद्ध हुंदाहै ॥ जेकर और जगा अर्थात् नाभितें उपर मलादि कर्के युक्त होवे तां मृत्तिका जल कर्के तिस

अमेध्यादिस्पर्शविषयमिदम् निविडांगादिस्पर्शविषयमपि ॥ तथाह शंखः रथ्याकर्दमतोयेनष्ठीवनाद्येनवापुनःनाभेरूर्ध्वंनरःस्पृष्टःसद्यः स्नानेनशुध्यति १ अंगिरसोक्तंक्षालनंमृदंभसाकार्य्यमित्यत्र विष्णुः ॥ नाभेरधस्तात्प्रवाहेषुचकायिभिर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वोपहतोमृत्तोयैस्तदंगप्रक्षाल्यातंद्रितः शुद्ध्येत् अन्यत्रोपहतोमृत्तोयैस्तदंगं प्रक्षाल्य स्नानेन चक्षुष्युपहत उपोष्य पंचगव्येनदशनच्छदोपहतः प्रवाहेषु करयोः ॥ अत्रमृत्तोयपदमुपलक्षणं अन्यदपिगंधलेपक्षयकरंज्ञेयम् ॥ तथाचदेवलः ॥ प्रलेपगंधस्नेहाणामशुद्धौ व्यपकर्षणम् शौचलक्षणमित्याहुर्मृदंभोगोमयादिभिः ॥ १ ॥ लेपन स्नेहगंधेषुव्यपकृष्टेषुदूरतः पश्चादाचमनंवापिशौचार्थंवक्ष्यतेवुधैः २

अंगनु धो कर्के और पिच्छे स्नान कर्के और नेत्रां विषे मलादि कर्के युक्त होवे तां उपवास ते पिच्छे पंचगव्य पान कर्के और जेकर ओठां विषे युक्त होवे और कपोलादिविषे हत्थां विषे युक्त होवे तांभी स्नानादि कर्के हि शुद्ध हुंदाहै परंतु सभनांके पिच्छे पंचगव्यका पान हि करणा ॥ सोई देवलजी कहतेहैं प्रलेपेति प्रलेप गंध स्नेह इनांकी अशुद्धि विषें मृत्तिका जल गोमयादि करके इनोंका दूरकरणा हि शुद्धिका लक्षण कहाहै इस जगा आदिशब्द कर्के आटा तोआंका ग्रहण करणा १ और लेप स्नेह गंध इनांको दूरतेंहि हटा देवे पीछेतें आचमन करे एहि बुद्धिमानों नें शुद्धि कहीहै ॥ २ ॥

जो फेर व्यासजीने कहाहै सो कहते हैं मांसमिति वानर बिल्ला गधा ऊट कुत्ता इनांका मांस और शूकरोंकी मिंज इनांका स्पर्श करके सवस्त्र स्नान करें ॥ १ ॥ सो एह भी न जूठे को नाभि तें उपर लेपके दूर करणे के विषय में जानणा अर्थात् जो झूठा नहि होवे तिसको प्रायश्चित्त थोढाहै ॥ अथवा लघुहारीत का किहा होया अधोच्छिष्ट के विषय में जानणा । इसी वास्ते आपस्तंवजी कहतेहैं यदिति जो काक और वगुले करके वेष्टित वस्तु और मिंज करके लिप्त शरीर होवें और मुख कर्ण विषें लगीहोई न शुके तिस जगाहै और स्नेह करके लेप दूरकरणकी शुद्धि पूर्वोक्त गोमयादि करके हि जानणी ॥ १ ॥ अव इसीका अर्थ मूल में स्पष्ट करके किहाहै

यत्पुनर्व्यासेनोक्तम् । मांसंवानरमार्जारखरोष्ट्राणांशुनांतथा सूकराणाममेध्यंवैस्पृष्ट्वास्नायात्सचैलकमिति १ तदप्यनुच्छिष्टस्यनाभ्यूर्ध्वलेपोपहतविषयम् लघुहारीतोक्ताधउच्छिष्टविषयंवा अतएवाहापस्तंवः यद्वेष्टितंकाकवलाकिकाभ्याममेध्यलिप्तंचभवेच्छरीरं श्रोत्रेमुखेनप्रतिशेतसम्यक्स्नेहेनलेपोपहतस्यशुद्धिः ॥ १ अमेध्यादिलिप्तशरीरंमुखेश्रोत्रेवानप्रतिशेतनशुष्कंभवेदित्यर्थः ॥ मलमाहमनुः वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविएनखाः श्लेष्माश्रुदूषिकास्विदोद्वादशैतेनृणांमलाः १ अमेध्यमाहदेवलः ॥ मानुषास्थिशवोविष्टारेतोमूत्रार्त्तवंवसा ॥ स्वेदोश्रुदूषिकाश्लेष्मामलंवामेध्यमुच्यते १ एषांदेहात्प्रच्युतानामेवामेध्यत्वम् ॥ देहाच्चैवच्युतामला इतिमनुवचनात् ॥

अमेध्येति ॥ अव मनुजी मलां कों कहतेहैं वसेति मिंज १ वीर्य २ रुधिर ३ मज्जा ४ मूत्र ५ विष्टा ६ कर्ण मल ७ नख ८ श्लेष्म ९ अश्रु १० नेत्र मल ११ परसीना १२ एह वारां पुरुषको मल होतेहैं ॥ १ ॥ अमेध्य को देवल जी कहते हैं मानुषेति मनुष्यकी हड्डी शव विष्टा वीर्य मूत्र ऋतुकाल मे स्त्री का रुधिर मिंज परसीना अश्रु नेत्रमल श्लेष्म मल एह अमेध्य कहींदे हैं परंतु इनांकों देहतें वगकर वाहर होयां कों हि अमेध्यत्व किहाहै देहादिति देहतें जो वगे सो मल कहाहै इसमनुजी के वचन तें ॥

अब ऋष्य शृंगजी कहतेहैं मद्येति मदिरा विष्टा मूत्रके किणके करके मुख जिसका स्पर्शवाला होवे सो मृतिका और गोए करके लेपकरे फेर पंचगव्यपानकरके शुद्धहोताहै । १ । इसको स्पष्ट करके कहतेहैं स्नात्वेति स्नानकरके उपवास करे फेर पंचगव्यपान करके शुद्ध होताहै इसपूर्वोक्त विष्णुके वचनतें । इस विषय देवलजी विशेष कहतेहैं मनुष्यकीयां हड्डीयां चरबी विष्टा और रजस्वलाका रुधिर मूत्र वीर्य मिंज रुधिर एह संपूर्ण जेकर दूसरेके होवें इनांका स्पर्श करे । १ । तां स्नान करके लेपादियोंकों दूर करके आचमन करे तो शुद्धहोताहै सो एह अपणे होवें तद इनांका स्पर्श करे तो मार्जन करणे करके शुद्ध होताहै । २ । और इसीका तात्पर्य

ऋष्यशृंगः ॥ मद्यविण्मूत्रविप्रुड्भिःसंस्पृष्टंमुखमंडलं मृत्तिकागोमयैर्लेपात्पंचगव्येनशुद्ध्यति १ स्नात्वोपोष्यपंचगव्येनशुद्ध्यतीत्यर्थः पूर्वोक्तविष्णुवचनात् ॥ अत्रविशेषमाह देवलः ॥ मानुषास्थिवसांविष्ठामार्तवंमूत्ररेतसी मज्जानंशोणितंवापिपरस्ययदिसंस्पृशेत् १ स्नात्वापमृज्यलेपादीनाचम्यसशुचिर्भवेत् तान्येवस्वानिसंस्पृश्यपूतःस्यात्परिमार्जनात् ॥ २ ॥ अतःपरमलस्पर्शेस्नानमात्ममलस्पर्शे प्रक्षालनमाचमनंच ॥ सुमंतुः ॥ चंडालंपतितंवापितथानारींरजस्वलां उच्छिष्टस्तुद्विजःस्पृष्ट्वाप्राजापत्यसमाचरेत् ॥ १ ॥ एतत्कामतः ॥ यस्त्वापस्तंवः ॥ भुक्तोच्छिष्टोंत्यजैःस्पृष्टःप्राजापत्यंसमाचरेत् ॥ अर्द्धोच्छिष्टेस्मृतः पादः पाद आस्याशनेतथा ॥ १ ॥

कहतेहैं इसतें दूसरेकी मल स्पर्श विषे स्नानमात्र है और अपणी मल क्या विष्ठादिके स्पर्श विषे सिंचन और आचमन करणा । अब सुमंतु जी कहते हैं चंडालमिति चंडाल और पतित तैसेंहि रजस्वला कों जूठा होया २ ब्राह्मणादि स्पर्श करे तो प्राजापत्य व्रत करके शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ सो एह इच्छातें करण में जानणा । जो आपस्तंव जीने कहाहै सो कहतेहैं भ्विति भक्षणकरके जूठेकों हि चंडाल स्पर्श करे तो सो ब्राह्मणादि प्राजापत्य व्रत करके शुद्ध होताहै और अर्द्धोच्छिष्टविषें एह पाद व्रत कहाहै और एक पाद मुख स्पर्श मात्रविषे जानणा । १ ।

इस विषें अर्द्धोच्छिष्ट मुख विषें ग्रास पाणे मात्रमें जानणा निंगलने में नहिं है। और न इच्छातें करण में सोई आपस्तंव जी कहतेहैं ॥ भोजन करके जूठा होया २ आचमनतें रहित हि प्रमादतें चंडाल अथवा नीच करके स्पर्श वाला होवे ॥ १ ॥ तिसकी शुद्धि इस तहीं करे गायत्रीका आठ सें अधिक १००८ हजार जप और सौ १०० (द्रुपदादिव) इसमंत्रका जप करे और त्रय ३ रात्रि उपवास करके पंचगव्यका पान करे तो शुद्ध होताहै। २। जो सोई आपस्तंव जी कहतेहैं चमिति चंडाल करके स्पर्श वाला ब्राह्मण विशेष करके शोककरताहुआ शुद्धिकों करे क्या एक रात्रि उपवासव्रत करके पंचगव्यका पान करे तो शुद्ध होताहै। ३। सो एह आपत्ति विषें इच्छातें विना करण विषें जानणा लघुहारीतस्मृति मे लिखाहै ॥ जूठा मनुष्य जेकर स्पर्श करे नटुएकों ललारीकों

अत्रार्द्धोच्छिष्टो मुखेग्रासप्रक्षेपमात्रिकृते नतु निगीर्णे आस्याशनेमुख स्पर्शमात्रे अकामतः सएव भुक्तोच्छिष्टस्त्वनाचांतः चांडालैःश्वपचेनवाप्र मादात्स्पर्शनंगच्छेत्तत्रकुर्याद्विशोधनम् १ गायत्र्यष्टसहस्रंतुद्रुपदानांशतंत था त्रिरात्रोपोषितोभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यतीति २ यत्तुसएव ॥चंडालेनतुसं स्पृष्टोविशेषेचस्तुद्विजोत्तमः उपोष्यरजनीमेकांपंचगव्येनशुद्ध्यतीति ॥ ३ तदापद्यकामतः। लघुहारीतः। उच्छिष्टः संस्पृशेद्यस्तुनटरंजकमोचकान् अधोच्छिष्टोयदासस्यादेकरात्रमभोजनम् १ ऊर्ध्वोच्छिष्टोयदासस्यात्प्राय श्चित्तंभवेदिदम् उपवासस्त्रिरात्रंस्याद् घृतंप्राश्यविशुद्ध्यतीति२अतश्चऊ र्ध्वोच्छिष्टस्यतैरुच्छिष्टैः स्पर्शेषड्रात्रम् एवमेव यत्रोर्ध्वोच्छिष्टस्यचांडालादि स्पर्शेषड्रात्रम् तत्राधोच्छिष्टस्यतदर्द्धंत्रिरात्रम् कालिकापुराणे स्पृष्ट्वारुद्रस्य निर्माल्यंसवासाआप्लुतःशुचिरिति मलादिदूषितकूपादिजलपाने संवर्त्तः चंडालभांडसंस्पृष्टंपिवेत्कूपगतंजलम् गोमूत्रयावकाहारास्त्रिरात्रेणाविशुद्ध्यति१

मोचीकों सो जेकर दिशा फिरकर आयाहै इसतहींका जूठा होवे तां एकरात्र भोजन न करे ॥ १ ॥ और जेकर भोजन करणेतें पिच्छे इनांको छोवे तां इस प्रायश्चित्तनुं करे किं तीनरातां उपवासकरकेपिच्छे घृतपानकरे तोशुद्धहुंदाहै ॥ २ ॥ इसीकारणतें और जिनांके साथ स्पर्श होया है जेकर सोभी जूठे होण तां ६ छेरात्रका व्रत करे इसी तहीं जित्थे ऊर्ध्वो च्छिष्टका चांडालादिके स्पर्श विषे छे ६ रात्रिका व्रतहै तिस जगा अधोच्छिष्टका तिसी के स्पर्शमें तीन ३ रात्रिका व्रत जानणा ॥ और विशेष कालिका पुराणविषे किहा है। शिवके निर्माल्यकों स्पर्श करके सहित वस्त्रांके स्नानकरे तां शुद्ध हुंदा है ॥ मलमूत्रादि जि सखूएमे पडे होण तिसके जलपानविषें संवर्त्तजी कहेतेहैं चांडालके भांडे करके स्पर्श वाला जो खूयांहै तिसके जलको पीवेसो गोमूत्रयावकके आहारकरके तीन३रात्र व्यतीतकरेतो शुद्ध हुंदाहै१

और कहतेहैं अंत्यजैरिति चांडालों कर्के सेवितभो तडागक्यातला और नदिआं तिस विषे ज लपीके अकामनाते पंचगव्य पीणे कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ २ मदिरा वाला घडा और धर्म्मशाला का जल और पनालेका जल इनको पीके दिनरात्रका उपवास रक्षकर पंचगव्य पीवे तां दिजक्याब्राह्मणादि शुद्ध हुंदाहै ॥ ३ ॥ जेकर खुया विष्टामूत्र कर्के युक्त होवे तिस विचों ब्राह्मणादि जलपान करे तां तीनरात्रके व्रत कर्के शुद्ध हुंदाहै और जेकर ऐसा घडाहि होवे क्या विष्टा मूत्र वाला होवे और तिसके जलको पीवेतांसांतपनव्रतकरे ॥ ४ ॥ और बाउलीं १ खूया २ तलाओ ३ एह जेकर दूषितहोण तां इनकी शुद्धि इसतर्हा जानणी जलका १०० सउघडा

अंत्यजैःस्वीकृतेष्वेवतडागेषुनदीषुच शुद्ध्यतेपंचगव्येनपीत्वातोयमकामतः २ सुराघटप्रपातोयंपीत्वाकाशजलंतथा अहोरात्रोषितोभूत्वापंचगव्यंपिबेद्द्विजः ३ कूपेविण्मूत्रसंस्पृष्टेप्राश्यचापोद्विजातयः त्रिरात्रेणैवशुद्ध्यंतिकुंभेसांतपनंस्मृतम् ४ वापीकूपतडागानांदूषितानांविशोधनम् अपांघटशतोद्धारःपंचगव्यंचनिःक्षिपेत् ५ प्रसंगाज्जलशुद्धिरप्युच्यते तत्रपराशरमाधवः वापीकूपतडागेषुदूषितेषुकथंचन उद्धृत्यवैघटशतंपंचगव्येनशुद्ध्यतीति १ कूपादिदूषणंद्विधा श्वमार्जारादीनांतत्रपततंमरणात् मृतशरीराणांतत्रैव चिरंजरणाच्च तत्र मरणविषयमिदंविशोधनम्

निकाल कर पंचगव्य उसमे पावे तां शुद्धहुंदाहै ॥ ५ ॥ प्रसंगतें जलशुद्धिभी कहिदीहै तिसमे पराशर माधवजीका वचनहै बाउली १ खूया २ तलाओं कदाचित् दूषितहो जाए तां जलका सउ १०० घढा कडा कर पंचगव्य तिस विचपाणा तिसकर्के शुद्ध हुंदेहै ॥ १ ॥ पिछलाहि अर्थहै।कूपादियोंका सो दूषण दोतर्हाकाहै कुत्ते बिल्ले आदिका तिनमैपै कर्के मरणा और मृतहोयांका चिरकाल कर्के जीर्ण होणा इनमेसे पहलेकी क्या जो मृतहोआ और जिसते शीघ्रनिकाललिआ तिसकी एह सउ १०० घड़े वाली शुद्धिहै

इसी कों हारीत जी भी कहतेहैं वाउली खूश्रा तला एह किसे करकें दूषित होवें तो इनांकी शुद्धि करे क्यासौ १०० घडा जल कडा करकें पंचगव्य तिसमे पादेवे। १। संवर्त्त जी भी इसी मे कहतेहैं वापीति वाउली खूश्रा तलाश्रो एह कदाचित् मलादि करकें दूषित होवें इनांकी शुद्धि वास्ते जलका सौ १०० घडा निकाल करकें पंचगव्य तिसमें पादेवे। १। एही शुद्धि जोडे श्रादिकें दूषण विषें भी देखणे योग्यहै। सोंई श्रापस्तंब जी कहतेहैं उपेति जोडा श्रौर पुराणे जोडेका एक भाग छिप्य किहाँहि श्रौर विष्टा मूत्र स्त्रीका रज मदिरा इनांके पैने करकें दूषित जो खूश्रा तिसतें सौ १०० घडा जलका निकाल देवे। १। श्रव इसीमे श्रौर विचार करतेहैं उच्छीति(प्रश्ण)जूठा श्रौर श्रपवित्र श्रौर जो विष्टा करकें लिप्त होवे एह संपूर्ण जल करकें शुद्ध होते

एतदेवहारीतोप्याह वापीकूपतडागेषुदूषितेषुविशोधनम् घटानांशतमुद्धृत्यपंचगव्यंक्षिपेत्ततइति १ संवर्त्तोपि वापीकूपतडागानांदूषितानांचशुद्धये श्रपांघटशतोद्धारः पंचगव्यंचशोधनमिति १ इयमेवशुद्धिरुपानहादिदूषतोपिद्रष्टव्या तदाहापस्तंबः उपानच्छिष्यविण्मत्रस्त्रीरजोमद्यमेवच पतितैर्दूषितकूपेकुंभानांशतमुद्धरेदिति ॥ १ ॥ पुरातनोपानदेकभागश्छिप्यम्। उच्छिष्टमशुचित्वंचयच्चविष्ठानुलेपनम् सर्वंशुद्ध्यतितोयेनतत्तोयंकेन शुद्ध्यति ॥ २ ॥ सूर्यरश्मिनिपातेनमारुतस्पर्शनेनच गवांमूत्रपुरीषेणतत्तोयंतेनशुद्ध्यति ॥ ३ ॥ अस्थिचर्मादियुक्तंतुखरश्वानोपदूषितं उद्धरेदुदकंसर्वंशोधनंपरिमार्जनम् ॥ ४॥ कूपोमूत्रपुरीषेणयवनेनापिदूषितः श्वसृगालखरोष्ट्रैश्चक्रव्यादैश्चजुगुप्सितः ॥ ५ ॥

हैंश्रौर सो जल किस करकें शुद्ध होताहे २ (उत्तर)सूर्यकी किरणांके डिगणें करकें श्रौर वायुके स्पर्श करणें करकें सो जल शुद्ध होताहै श्रौर गौश्रांके मूत्र करकें श्रौर गोए करकें सो जल शुद्ध हुंदाहै। ३। श्रव छोटे जलाशयके वास्ते कहतेहैं श्रस्थीति हड्डीश्रां करकें श्रौर चम्म करकें श्रादि शब्दते मलमूत्र करकें युक्त होवे श्रौर गधा कुत्ता इन करकें दूषित होवे तां तिस जलाशयते-साराजल निकाल कर उसके तलकों पूंज देवे तां शुद्ध होवेगा ॥ ४ खूश्रा मूत्र पुरीष करकें श्रर यवन जो नीचजाति तिस करकें दूषित होवे श्रथवा कुत्तेकरकें गिद्दडकरकें गधे करकें ऊट करकें व्याघ्रादि करकें दोषवाला होवे ॥ ५ ॥

तां तिसके सारे जलको निकाल करके सब टोकरिआं मिट्टीकिआं काढे, और ऋचा करके पवित्र होआ २ पंचगव्य उस खूये विषे पावे ॥ ६ ॥ इसीमे विशेष कहतेहैं कि जिस खूएका जल शुक न सके तिस विचों १०० सउघडाजलदा निकालके पंचगव्य पावे एह पिछलाहि अर्थहे ॥ ७ ॥ अब प्रासंगिकको कहतेहैं यत्रेति जेडा ब्राह्मण दुष्ट खूए का जल पीवे खूया कैसाहैं कि मुडदे करके दोषवालाहै तां किसतहीं तिसकी शुद्धि होतीहै एह मेरेको संशयहै ८ (उत्तर)जेकर मुडदा तिसविषे गलया नहि औरटुट्टा नहि केवल दूषण मात्र हि होआहै तां तिसके जल पीणे करके जो दोषहै सो पंचगव्य करके दूरहुंदाहै ९ और जेकर जल विषे मुडदा गलगया होवे तो तिस जल कों पान करण वाला चांद्रायण अथवा तप्त कृ

उद्धृत्यैवचतत्तोयंसप्तपिंडान्समुद्धरेत् पंचगव्यमृचापूतंकूपेतच्छोधनंस्मृतम् ६ वापीकूपतडागानांदूषितानांचशोधनम् कुंभानांशतमुद्धृत्यपंचगव्यंततःक्षिपेत् ॥ ७ यत्रकूपात्पिवेत्तोयंब्राह्मणःशवदूषितात् कथंतत्रविशुद्धिःस्यादितिमेसंशयोभवेत् ८ ॥ अक्लिन्नेनाप्यभिन्नेनकेवलंदूषिताद्वहि पीत्वा कूपादहोरात्रंपंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ ९ ॥ क्लिन्नेभिन्नेशवेचैवतत्रस्थंयदिततिपिवेत् शुद्धिश्चांद्रायणंतस्यतप्तकृच्छ्रमथापिवा ॥ १० ॥ अत्रकामतश्चांद्रायणमकामतस्तप्तकृच्छ्रमितिव्यवस्था ऽपरार्के ॥ पराशरः ॥ कूपेतुपतितंदृष्ट्वाश्वसृगालंचमर्कटं अस्थिचर्मादिपतनात्पीत्वामेध्याह्यपोद्विजः १ नारंतुकुणपंकाकंविड्वराहंखरोष्ट्रयोः गावयंसौप्रतीकंचवाभ्रवंत्वाखुजंतथा ॥ २ ॥ वैयाघ्रमार्गसैंहंवाकूपेयद्यस्थिमज्जति तडागस्यैवदुष्टस्यपीतंस्यादुदकंयदि ॥ ३ ॥ प्रायश्चित्तंभवेत्तस्यक्रमेणैतेनसर्वशः ॥ ४ ॥

च्छ्र व्रत करके शुद्ध होताहै ॥ १० ॥ इस विषे इच्छातें करणे में चांद्रायण और न इच्छातें करणें विषें तप्त कृच्छ्र व्रतकरे एह व्यवस्था अपरार्कमें कहीहै अब पराशर जी कहतेहैं कूपेति कुत्ता गिद्दड वानर इनांनु खूए विषे डिगे होआं नूं देख करके औरहड्डी चर्मादिके डिगणे तें अपवित्र जो जल तिसनूं ब्राह्मण पान करके ॥ १ और पुरुषका मुडदा काक विट् भक्षक शूकर गधा ऊट गोइंद हस्ती नील चूआ ॥ २ ॥ व्याघ्र मृग शेर इनका मुडदा खूए विषें डिगया होवे और हड्डि डिगे खूए विषें अथवा तलाओ विषें इनका जेकर जल पान करे ३ तो इसका प्रायश्चित्त संपूर्ण इस क्रम करके करणे योग्यहै ॥ ४ ॥

विप्र इति ब्राह्मण त्रय ३ रात्रि करके और क्षत्रि दो २ दिनतें वैश्य एक दिन करके शूद्र उपवास करके शुद्ध होताहै ॥ ५ ॥ एह तलाओंके जल पानमें जानणा ॥ और खूएके जल पान में अधिक प्रायश्चित्त कल्पना करणा । मृत शरीर जिस विषें गल गया होवे तिस जल के पान में विष्णु जी कहतेहैं मृतेति मृत होए पंचनख जिस खूएमें डिगें तैसें मुडदा जिसमे गल जावे तो तिस संपूर्ण जलकों निकाल देवे बाकी दे जल कों शास्त्र करके शुद्ध करे ॥ १ ॥ और अग्नि जगा करके पीछे पक्का वणाजो खूआ तिस विषें पंचगव्य पा देवे फेर नवीन जल उत्पन्न होवे तो जानणा शुद्ध भया ॥ २ ॥ और कुष्ठ्यादि मनुष्यके शा

विप्रः शुद्ध्येत्त्रिरात्रेण क्षत्रियश्चदिनद्वयात् ॥ एकाहेनचवैश्यस्तु शूद्रो नक्तेनशुद्ध्यति ॥ ५ ॥ सुप्रतीकोगजःतस्येदंसौप्रतीकम् ॥ तडागोदकोपयोगविषयमेतत् कूपोदकोपयोगेत्वधिकंकल्प्यम् ॥ मृतशरीरजरणकृतायामत्यंतोपहतौ विष्णुराह मृतपंचनखात्कूपादत्यंतोपहतात्तथा ॥ अपस्तदुद्धरेत्सर्वाः शेषंशास्त्रेणशोधयेत् १ वह्निप्रज्वालनंकृत्वाकूपेपक्केष्टिकाचिते पंचगव्यंन्यसेत्तत्रनवतोयसमुद्भव इति ॥ २ ॥ कुष्ठ्यादिमनुष्यशरीरजरणेप्येषैवशुद्धिः ॥ तदाहहारीतः ॥ वापीकूपतडागेषु मानुषं शीर्य्यतेयदि अस्थिचर्मविनिर्मुक्तैर्दूषितंश्वखरादिभिः उद्धृत्यतज्जलंसर्वंशोधनंपरिमार्जनम् १ ॥ मानुषंशवम् ॥ अत्रसर्वजलोद्धारप्रकारोजलोद्धारकयंत्रविशेषेण वा तावन्मृदापूर्य्यपश्चात्सर्वमृदुद्धरणेनभवतीतियौक्तिकोऽर्थः

रीर गलनें में भी एही शुद्धि जानणी । सोई हारीत जी भी कहतेहैं वापीति वाउली खूआ तलाओ इनां विषें जेकर पुरुषका मुडदा अर्थात् किसें कुष्टी आदिका मुडदा गल जावे और हड्डी चर्म इन करके रहित कुत्ता गधादि करके दूषित जो जल तिस सारे जलकों हि निकाल देवे और परिमार्जन करके क्या यच्छा सोत देवे तां शुद्ध होताहै ॥ १ ॥ अत्रेति इस विषें संपूर्ण जल निकालनेंका प्रकार एहहै जलोद्धारक यंत्र विशेष करके निकाल देवे अथवा जितना जल होवे तितनी मृत्तिका पाकर पूर्ण कर देवे पीछेतें संपूर्ण मृत्तिका निकालनें करके शुद्ध होताहै एह युक्ति सिद्ध अर्थहै वचन करके नाहीं है ॥

और बडे तला आदिविषें दोष नाहिं है सो विष्णुजीकहतेहैं जलेति छोटे जो जलस्थान और बडे जो पृथ्वी विषें जल स्थान जेडे स्थावरहैं क्या वगदे नहि तिनांकी शुद्धि खूए की त्यां ई कही है और बडे जल स्थानों में दोष नहिहै ।१।इसी में देवलजी भी कहते हैं बडे जो जल स्थान हैं तिनांमें दोष नाहिं है और जिनां में सें जल वगता है तिनांमें भी दोष नाहिं है और छोटे की जल निकालनें सें शुद्धि कही है क्योंकि जिस करके मल विषें हि दोष होताहै। १। अल्प जल स्थानों विषें भी पूर्व कथन कीता होया जो दोष तिसतें अल्प दोष विषें विष्णु जी कहते हैं अन्यात्समिति अपवित्र वस्तु थोडी जगामें जिस जल में पडी हो और तैसें हि जिस में पत्थर लगे हों तिनकी शुद्धि चंद्रमा सूर्यकी किरणां करके और वायु

प्रौढेषुतडागादिषुनास्तिदोषस्तदाहविष्णुः ॥ जलाशयेषुस्वल्पेषुस्थाव रेषुमहीतले कूपवत्कथिताशुद्धिर्महत्सुचनदूषणमिति ॥ १ ॥ देवलोपि अक्षुद्राणामपांनास्तिप्रस्रुतानांचदूषणम् ॥ स्तोकानामुद्धृतानांचकश्मलेदूषणंभवेदिति १ अल्पोदकेष्वपिपूर्वोदाहृतादोषादल्पेदोषेविष्णुराह अव्या सेचदमेध्येनतद्वदेवशिलागतम् सोमसूर्यांशुपातेनमारुतस्पर्शनेनच गवां मूत्रपुरीषेणशुद्ध्यंत्यापइतिस्मृताइति ॥ जानुदघ्नाधिकजलेकूपेऽन्त्यजैस्स हजलोद्धरणे न दोषस्ततोऽल्पेतु दोषएव। तथाचापरार्केऽत्रिः॥ म्लेच्छादीनांजलंपीत्वापुष्कराणांह्रदेपिवा जानुदघ्नंशुचिज्ञेयमधस्तादशुचिस्मृतम् ॥ १ ॥ म्लेच्छादीनांसंबंधिनांपुष्कराणां तडागादिजलाशयानांवाह्रदेतादृशह्रदेजलंपीत्वातृप्तस्यशुद्ध्यर्थंजानुदघ्नंशुचि ततोऽल्पमशुचीत्यर्थः

स्पर्श करकें और गौआं के मूत्र पुरीष करके होतीहै एह स्मृतिकार कहते हैं अब इसीमे और विशेषकहतेहैं जान्विति जानुतक अर्थात् गोडेतक जिसखूएमे जलहोवे और उसीसे ब्राह्मणादि और नीचादि जलपीतेहोण तां ब्राह्मणादिको कोई दोष नहि और जेकर इससे जलबहुतहोवे तां क्याकहणा और जेकर गोडेसें थोडा जल होवे तां पूर्वोकमे दोषहि है एहअर्थ अपरार्क विषें अत्रिजीने किहाहै म्लेच्छे ति म्लेच्छादिकांके संबंधिजोतडागादि वा ह्रद तिनांका जलपीके तृप्तहोया जो द्विजादि तिसको जानुके बरावर जलपवित्रहै हेठहोवेतां अपवित्रहै ॥ १ ॥

तिस जलको जेडा ब्राह्मण कामनातें अथवा अकामते पीवे तां अकामके पान विषे नक्तभोजी होवे क्या रात्रिमे भोजन करे और कामनाते पीवे तां दिनरात्रके व्रतकर्के शुद्धहुंदा है ॥ २ ॥ और शातातपजी कहते हैं चांडेति चांडालके जलपात्रतें तृषातुर पुरुष जलपीवे तां तत्क्षणाहि उसको त्यागकर प्राजापत्यसे शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥ जेकर सो जल तिसके उदर विषेहि जीर्ण होजावे तां शुद्धिवास्ते प्राजापत्य और सांतपनभीकरे ॥ २ ॥ इसीमें और विशेषकहते हैं कि जूठे आदिवस्तुका संयोग जिसजलमै नहि और गौओंके पीणेते क्षय नाहि होआ असा जो पृथ्वीविषे स्थित जलहै सोई शुद्धहै और तिसतें थोडा होवे तां शुद्ध नहि सोई देवलजी कहतेहैं अवीति दुर्गंधिसे जो रहित और रसवाले क्या स्वादु और निर्म्मल

तत्तोयंयः पिबेद्विप्रः कामतोऽकामतोपिवा अकामान्नक्तभोजीस्या दहोरात्रंतुकामतः ॥ २ ॥ शातातपः ॥ चंडालोदकभांडेषुयः पिबे त्तृषितोजलम् ॥ तत्क्षणात्क्षिपतेतच्चप्राजापत्येनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ यदिनक्षि पतेतोयंचिरेणैवास्यजीर्यते प्राजापत्यंतुकर्त्तव्यंकृच्छ्रंसांतपनंचरेत् ॥ २ ॥ उच्छिष्टाद्युपघाताभावेपि गवांपानाद्यदुदकंनक्षीयतेतदेवशुद्धंनतुततोल्पम् तदाहदेवलः अविगंधारसोपेतानिर्मलाः पृथिवीगताः अक्षीणाश्चैवगोपा नादापः शुद्धिकराः स्मृताइति १ मनुरपि ॥ आपः शुद्धाभूमिगताबैतृष्ण्यं यासुगोर्भवेत् अव्याप्ताश्चेदमेध्येनगंधवर्णरसान्विताइति १ नवोदकेकाला च्छुद्धिमाहयमः अजागावोमहिष्यश्चनार्य्यश्चैवप्रसूतिकाःदशरात्रेणशुद्ध्यंति भूमिष्ठंचनवोदकमिति १ उद्धृतोदकंप्रतिदेवलआह । उद्धृताश्चापिशुद्ध्यंति शुद्धैः पात्रैःसमुद्धृताः एकरात्रोषिताश्चापस्त्याज्याः शुद्धाअपिस्वयमिति १

और पृथिवीविषे स्थित और गौओंके पीणेते नष्ट नहिहोए सोजल शुद्धिके करणेवाले हैं। १। मनुजोभीकहतेहैं ॥ जो जल पृथ्वीविषे स्थितहैं जिनां विषे गौ तृप्तहोजावे और विष्टा आदि कर्के युक्त नहि और अपणा गुण जो है मधुर रसादि तिसकर्के युक्त हैं सो जल शुद्धजानणे। १। नवीन जलविषे कालते शुद्धि यमजीकहते हैं ॥ अजाइति बकरी १ गौ २ महिषी ३ स्त्री ४ एह प्रसूत होइआं होइआं १०दरसां दिनां कर्के शुद्ध हुंदीआंहैं और पृथ्वीविषे नवीनजो जल है सोभी १०रात्रकर्केहि शुद्धहुंदाहै। १। और जोजल खूए आदिते निकालयाहोवे सोजल जेकरशुद्धपात्रसाथ निकालयाहोवे तां शुद्धहै एहदेवलजी कहते हैं जेकर सो निकालयाहोआ जल एक १ रात्र उसपात्रमै रहे तां अशुद्धहुंदाहै उसको त्यागदेणा चाहिए चाहे प्रथमशुद्धभीपा। १।

इसमे यमजी कहतेहैं अपइति जलको रात्रिमै नहिभरणा अर्थात् खूएआदिसे नहिनिकालना जेकर किसेकार्य्यवशतें निकाले तां अग्निउपररक्खे और धाम्रो धाम्न इसमंत्रका उच्चारणकरे तां शुद्ध होतेहैं * १ अब रजस्वला स्त्रियोंके आपसमे स्पर्श विषे प्रायश्चित्तमयूखविषे किहाहै तिस विषे सपत्नी आंजिडीआं रजस्वलाहैं और एक कुलदीआंहैं तिनके आपसमे स्पर्शविषे वसिष्ठजी कहते हैं स्पृष्ट इति कदाचित् दोए रजस्वला एक कुलदीआं एक पति वालियां आप समे जाण कर्के अथवा नजाणकर्के छोणतां शीघ्रहि स्नान करणे कर्के शुद्ध हुंदिआंहैं। १। और जेकर भिन्न पति वालिआं और इक कुल दिआंहोण तां मार्कंडेयजी कहतेहैं उदक्येति ॥ इककुलदिआं रजस्वला साथ जेकर तैसी दूसरी स्पर्श करे तां तिसीदिनाविषे स्नानकर्केशुद्ध

यमोपि अपोनिशिनगृह्णीयाद्गृह्णीतापिकदाचन निधायाग्निमुपर्यासांधाम्नोधाम्नइतीरयन् ॥ १ ॥ ततश्चशुद्धाभवेयुरित्यर्थः ॥ * अथ रजस्वलायाअस्पृश्यस्पर्शे प्रायश्चित्तमयूखे तत्ररजस्वलयोः सपत्न्योरेकगोत्रयोः स्पर्शेवसिष्ठः स्पृष्टरजस्वलेन्योन्यंसगोत्रेत्वेकभर्तृके कामादकामतोवापिसद्यःस्नानेनशुध्यतः १ असपत्न्योस्तुसवर्णयोर्मार्कण्डेयः उदक्यातुसवर्णायास्पृष्टाचेत्स्यादुदक्यया तस्मिन्नेवाहनिस्नाताशुद्धिमाप्नोत्यसंशयः १ इदंचाकामतः ॥ कामतस्तु काश्यपः । रजस्वलातुसंस्पृष्टाब्राह्मण्याब्राह्मणीयदि एकरात्रंनिराहारापंचगव्येनशुद्ध्यति १ यत्तुपराशरः ॥ स्पृष्ट्वारजस्वलान्योन्यं ब्राह्मणीब्राह्मणींतथा तावत्तिष्ठेन्निराहारात्रिरात्रेणैव शुद्ध्यतीति १ तत्कामतोभ्यासे सहशयनादिचिरस्पर्शेवा ॥असवर्णास्पर्शे पुनः सएव ! रजस्वलातुसंस्पृष्टाराजन्याब्राह्मणीचया त्रिरात्रेणविशुद्धिःस्याद्व्याघ्रस्यवचनंयथा १

हुंदीहै इसमै संशयनहिहै ॥ १ ॥ एह अकामकृत स्पर्शमे है जेकर कामकृतमै होवें तां कश्यप जीकहतेहैं रजइतिरजस्वलाब्राह्मणीजेकर रजस्वला ब्राह्मणीके साथ छोजावे तां एकरात्र निराहार रहकर पंच गव्य कर्के शुद्ध होतीहै । १ । और जो पराशर जीने किहाहै कि आपसमे ब्राह्मणीआं रजस्वला स्पर्श करें तां तिन्न रात्र तक निराहार स्थित रहें तां शुद्ध हुंदीआंहैं एह प्रायश्चित्त कामनाते बहुत वारकरणे मैहै अथवा एकठीआंदे शयनादि स्पर्श विषे है ॥ जो एक वर्णकीआं नहि तिनाके आपसमै छोणे विषे सोई पराशरजी कहतेहैं जेकर ब्राह्मणी रजस्वला क्षत्रियाणी रजस्वलाके साथ स्पर्शवाली होवे तां तिन्नांरात्रांकर्के शुद्ध हुंदीहै एह व्याघ्रजीका वचनहै ॥ १

और रजस्वला ब्राह्मणी वैश्या रजस्वला करके स्पर्श वाली होवे तां पंज रातां निराहार रहकर पीछे पंचगव्यके पान करके शुद्ध हुंदीहै ॥ २ ॥ और रजस्वला ब्राह्मणी शूद्रा रजस्वला करके स्पर्शवाली होवे तां छे ६ रात्र करके शुद्ध हुंदीहै एह सभकामनाके स्पर्शविषे है ॥ ३ ॥ अकाम ते स्पर्श विषे ब्राह्मणी सभजाति विषे अर्द्ध प्रायश्चित्त करे ॥ ४ ॥ इसमैं ऐसा जानणा कि जि सतर्हांब्राह्मणीआं रजस्वला आपसमैं स्पर्श वालिआं होण तां तिनांकों उपवास और पंचग व्यपान किहाहै तिसतर्हां होरणांको समान कुल वालि आंके स्पर्श विषे भी उपवास

रजस्वलातुसंस्पृष्टावैश्ययाब्राह्मणीचया पंचरात्रंनिराहारापंचगव्येनशु द्ध्यति ॥ २ ॥ रजस्वलातुसंस्पृष्टाशूद्रयाब्राह्मणीचया षड्रात्रेणविशुद्धिः स्याद्ब्राह्मण्याः कामकारतः ॥ ३ ॥ अज्ञानतश्चरेदर्धंब्राह्मणी सर्वजातिषु ॥ ४ ॥ अत्र यथा ब्राह्मणी रजस्वलयोःस्पर्शेउपवासः पंचगव्याशनंच तथाऽन्यासामपि सवर्णरजस्वलास्पर्शेपि तदेव ॥ असवर्णेतु यथाब्राह्म ण्याःक्षत्रियास्पर्शेत्रिरात्रम् ॥ तथाक्षत्रियायावैश्यास्पर्शे ॥ वैश्यायाःशूद्रा स्पर्शेपितदेव ॥ तथाचभवदेवनिबंधस्मृतिः ॥ रजस्वलातुयानारी अन्यो न्यमुभयंस्पृशेत् सवर्णेपंचगव्येनत्रिरात्रमसवर्णके ॥ १ ॥ पंचगव्येनउपवा ससाहितेनेतिभवदेवः ॥ तथाशातातपः रजस्वलेउभेनार्यावन्योन्यंस्पृश तोयदि सवर्णेपंचगव्येनब्रह्मकूर्चमतःपरमिति १ ब्रह्मकूर्चप्रकारोव्रतप्र करणेद्रष्टव्यः ॥

और पंचगव्यपानहै और असमानवर्णविषे जैसे ब्राह्मणीको क्षत्रियाणीके स्पर्शविषे त्रिरात्रहै इत नाहि क्षत्रियाणीको वैश्याकेस्पर्शविषेहै और वैश्याको शूद्राके स्पर्श विषेभी सोई है तैसे हि भवदेवके निबंधमैं स्मृतिहै रजइाति रजस्वलाजो स्त्रीहै सो दो आपसमै स्पर्शकरें अपणे वर्ण मै तां उपवाससहित पंचगव्यकर्के और भिन्नवर्ण विषे त्रिरात्र व्रत करके शुद्धहुंदीआंहैं । १ । तैसे हि शातातपजी कहतेहैं दोस्त्रीयां रजस्वला आपसमै स्पर्शकरें तां सवर्णविषे पंचगव्यके पीछे ब्रह्मकूर्च करने करके शुद्ध हुंदिआंहैं ॥ १ ॥ सो ब्रह्मकूर्चका प्रकार व्रतप्रकरणमैं देखलेना

जो वृद्ध वसिष्टजीने किहाहै स्पृष्टेति ब्राह्मणी और शूद्रा एह दोनो रजस्वलाहोवें और आपसमै स्पर्श करें तां ब्राह्मणी प्राजापत्य कर्के और शूद्रा गोदान कर्के शुद्ध हुंदीहै ॥ १ ॥ और ब्राह्मणी वैश्या एह दोनो रजस्वलाहोण और परस्पर स्पर्श करें तां पूर्वा क्या ब्राह्मणी पादोन प्राजापत्य करे क्या ९ दिनका व्रत करे और उत्तरा क्या वैश्या तिसका इकपाद व्रत करे ॥ २ ॥ और ब्राह्मणी तथा क्षत्रियाणी एह आपसमे रजस्वला होकर स्पर्श करें तां पहली अर्द्ध कृच्छ्र कर्के शुद्ध हुंदीहै और दूसरी लघु कृच्छ्र कर्के शुद्ध हुंदीहै ॥ ३ ॥ और क्षत्रि

यत्तुवृद्धवसिष्ठः ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंब्राह्मणीशूद्रजापिवा कृच्छ्रेणशुध्यतेपूर्वाशूद्रादानेनशुध्यति ॥ १ ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंब्राह्मणीवैश्यजापिवा पादहीनंचरेत्पूर्वाकृच्छ्रपादंतथोत्तरा ॥ २ ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंब्राह्मणीक्षत्रियातथा कृच्छ्रार्धात् शुध्यतेपूर्वाइतरातुतदर्द्धतः ॥ ३ ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंक्षत्रियाशूद्रजापिवा उपवासैस्त्रिभिःपूर्वात्वहोरात्रेणचोत्तरा ॥ ४ ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंक्षत्रियावैश्यजापिवा त्रिरात्राच्छुध्यतेपूर्वात्वहोरात्रेणचोत्तरा ॥ ५ ॥ स्पृष्टारजस्वलान्योन्यंवैश्याशूद्रातथैवच त्रिरात्राच्छुध्यतेपूर्वा उत्तरातुदिनद्वयात् ॥ ६ ॥ वर्णानांकामतःस्पर्शेशुद्धिरेषासनातनीति ❀ ❀ ❀

याणी तथा शूद्रा एह रजस्वला होयां होयां आपसमै स्पर्श करें तां पहली क्या क्षत्रियाणीतिन्नां उपवासां कर्के शुद्ध हुंदीहै और दूसरीक्याशूद्रा अहोरात्रके अर्थात् दिनरात्रके व्रत कर्के शुद्ध हुंदीहै ॥ ४ ॥ और क्षत्रियाणी तथा वैश्या एह रजस्वलाहोइयांदीआं आपसमे स्पर्श करें तां तिन्नारातां कर्के क्षत्रिया और दिनरातके व्रत कर्के वैश्या शुद्ध हुंदीहै ॥ ५ ॥ और वैश्या और शूद्रा एह दोनो रजवालिआं होकर स्पर्श करें तां तिन्नारातां कर्के वैश्या और दोदिन कर्के शूद्रा शुद्ध हुंदीहै ॥ ६ ॥ एह वर्णकी कामकृत स्पर्श विषे शुद्धि कहीहै सो सनातनीहै ●

एह व्रत कामनासें वहुतवार करणेमे जानणा दान कर्के पादकृच्छ्रके प्रत्याम्नाय विषे
श्रौर पतित चांडालादिके स्पर्श विषे वृद्धवसिष्ठ और वृद्धवृहस्पतिजीका वचन है ॥
पतीति पतित १ अंत्यक्याडूम २ श्वपाक चांडाल ३ इनांकर्के कदाचित् रजस्वला
स्त्री स्पर्श वाली होवे तां तिनां दिनानूं लंघकर्के प्रायश्चित्त करे ॥ १ ॥ पहले दिनहि पतिता
दिके साथ स्पर्श होवे तां तिन्न ३ रातां व्रत करे परंतु स्नान दिनतें पीछे इसीतरहांदूसरें
दिन स्पर्श होवे तां दो २ दिन श्रौर तीसरे दिन दिनरात्रका व्रतकरे श्रौर चौथे दि
न स्पर्श करे तां नक्त करे तां शुद्धहुंदीहै ॥ २ ॥ श्रौर जूठीशूद्रा कर्के श्रौर कुचे कर्के
स्पर्श वाली रजस्वला होवे तां भी दो २ दिनका हि व्रतकरे इस स्मृतिका अर्थ

एतच्चकामतोऽभ्यासे ॥ दानेनपादकृच्छ्रप्रत्याम्नाये ॥ पतितचांडालादिस्प
र्शे वृद्धवसिष्टवृद्धवृहस्पती ॥ पतितांत्यश्वपाकेन संस्पृष्टाचेद्रजस्वला ता
न्यहानिव्यतिक्रम्यप्रायश्चित्तंसमाचरेत् ॥ १ ॥ प्रथमेह्नित्रिरात्रंस्याद्द्विती
येद्व्यहमेवतु अहोरात्रंतृतीयेह्निचतुर्थेनक्तमेवच ॥ २ ॥ शूद्रयोच्छिष्ट
यास्पृष्टाशुनावाद्व्यहमाचरेदिति चत्वारिदिनान्यस्पृश्यानि रजस्वलायाय
स्मिन्दिनेस्पर्शोजातस्तदाग्रिमाणिदिनानि व्यतिक्रम्यानाशकेन नीत्वेत्य
र्थः।अत्रसर्वत्रपंचगव्यप्राशनमपिकर्त्तव्यमिति चतुर्थेनक्तमिति विशुद्धिस्ना
नात्पूर्वम् ॥ तथाचविष्णुः। रजस्वलाचतुर्थेह्निस्नात्वाशुद्ध्येत् ॥ त्रिरात्राशक्तौ
पणचतुर्विंशतिलभ्यंकांचनंदेयम् उपवासद्वये पुराणैकमूल्यं कांचनं देयम्

स्पष्ट कर्के कहीदा है ॥ चार दिन रजस्वला स्त्रीके हैं जिनोमे स्पर्श नहि करणा ति
नां विचों जिस दिन स्पर्श होवे तिसके अगले दिन व्यतीत कर्के क्या निराहार कर्के
लंघकर एह अर्थ है परंतु इसजगा पंचगव्यका पान अंत्यमे अवश्य कर्के है
श्रौर जो चौथे दिनमै नक्त किहा है सो स्नानते पहले स्पर्श होवे तां जानणा। सोई
विष्णुजी कहते हैं रजइति रजस्वला चौथे दिन विषे शुद्ध हुंदीहै श्रौर जो पि
च्छे त्रिरात्र व्रत किहा है तिस विषे सामर्थ्य न होवे तां २४ चौवी पैसेके मुल्लका सुवर्ण दान
करे श्रौर जो दो २ उपवास किहेहैं तिनांविषे सामर्थ्य न होवे तां इक पुराणके मुल्लका सु
वर्ण दानकरे ॥ श्रौर पुराणादिमान व्रत प्रकरणविषे कहीहोई मानपरिभाषासें जानणा

इसमें भवदेव जी का वचन है रजइति जेकर रजस्वला चांडाल १ गर्दभादि २ काक ३ इनां कर्के छोजावे तां तितने दिन निराहार रहे जितने दिनां कर्के सो शुद्ध होवे एह वौधायन जीका वचन असमर्थ रजस्वला विषे और अकाम स्पर्शविषे जानणा ॥ १ ॥ और कामना विषे वृद्ध शातातप जी कहते हैं रजइति रजस्वला स्त्री जद चांडाल १ अंत्यक्या नीच २ कुत्ता ३ काक ४ इनांकर्के स्पर्श वाली होवे तितना काल निराहार रहेजितने काल कर्के स्नानसें शुद्ध हुंदीहैं ॥ १ ॥ इसका अर्थ कहते हैं रजस्वला स्त्री चांडालादि स्पर्श वाली जिसकालमें होवे तिस कालतें लेकर जितने दिनों कर्के शुद्धि होवे

भवदेवः।रजस्वलातुसंस्पृष्टाचांडालाऽपशुवायसैः तावत्तिष्ठेन्निराहारायावत्कालेनशुद्ध्यतीति ॥ १ ॥ वौधायनीयमशक्ताया मकामिवावोध्यम् ॥ अपशवोगर्दभादयः॥यावत्कालेन रजस्वलीयास्पृश्यदिनावच्छिन्नेन ॥ कामतस्तुवृद्धशातातपः ॥ रजस्वलायदास्पृष्टाचांडालांत्यश्ववायसैः तावत्तिष्ठेन्निराहारा स्नात्वाकालेनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ अस्यार्थः ॥ रजस्वलाचांडालस्पर्शकालादूर्ध्वं यावद्दिनैः शुद्ध्यति तावत्संख्यंदिनं चतुर्थदिनेविशुद्धिस्नानं कृत्वापंचमदिनात्प्रभृतिनिहारातिष्ठेदिति॥ यत्तु ॥ शातातपः ॥ उदक्यासूतिकावापिशवांगंसंस्पृशेद्यदि त्रिरात्रेणैवशुद्ध्येत इतिशातातपोऽब्रवीत् ॥ १ ॥ तथा चांडालैः श्वपचैर्वापिआत्रेयीस्पृशतेयदि त्रिरात्रोपोषिताभूत्वापंचगव्येनशुद्ध्यति ॥ १ ॥ तथा काश्यपः ॥ चांडालेनतुसंस्पृष्टा कदाचित्स्त्रीरजस्वला तान्यहानिव्यतिक्रम्यप्रायश्चित्तंसमाचरेत् ॥ १ ॥

तितने दिनोंकी संख्याकर्के चौथे दिनशुद्ध स्नान कर्के पंचम दिनतें लेकर निराहार रहे ॥ जो शातातपजी कहतेहैं उदेति रजस्वला और प्रसूति वालीस्त्री शवांगक्यामुडदेदेअंगको जद स्पर्श करे तां तिन्नांरातांकर्केशुद्धहोतीहैं एह शातातपजीका वचनहै ॥ १ तैसेहिऔरवचनहै चांडालैरिति चांडालोंकेसाथ और श्वपचांकेसाथ जोतिनकेतुल्यहै आत्रेयीक्या रजस्वला जदस्पर्शकरेतां त्रिरात्रउपवासकेअनंतर पंचगव्यपानकर्के शुद्ध हुंदीहै ॥ १ ॥ तैसेंहिकश्यपजीकावाक्यहै चांडालके साथ कदाचित् रजस्वलास्त्री स्पर्शवालीहोवे तांतिन्नांदिनानुलंघकर प्रायश्चित्तकरे ॥ १

त्रिरात्रउपवासकर्के पंचगव्यपानकर्केशुद्धहुंदीहै और तिन्हारातांकोव्यतीतकरकेवकरीसेअपणेदेह कोंसिंहणदेवे ॥ २ ॥ एहपहलेदिनके स्पर्शमेंहै एह कैंक कहतेहैं और शूलपाणिजी ने कश्यपजीकेवचनमें प्रथमदिनकी व्यवस्था नहि है किंतु वृद्धशातातपजीके वचन ते कामनाके स्पर्शको विषय करताहै एह कहाहै ॥ और पहलेदिनकेविषयकरणवाला(प्रथमेह्नित्रिरात्रंस्यात्) इत्यादि बृहस्पतिजीका वचनहै एहियुक्तहै ॥ उपवासमे असमर्थ जोस्त्रीतिसमे अंगिराजीकह तेहैं चंडालइति ॥ चंडाल और श्वपच जेकर रजस्वलाकोंस्पर्शकरें तांअपक्ककृष्टकों सोस्त्रीखावे तितनेदिन और स्नानतेपीछे पंचगव्यकापानकरेतांशुद्धहोतीहै ॥ १ ॥ अपक्केति जो वस्तु अग्नि

त्रिरात्रमुपवासःस्यात्पंचगव्येनशोधनम् तानिशास्तुव्यतिक्रम्यअजाघ्राणं तुकारयेत् २ इत्येतत्प्रथमदिनविषयमितिकेचित् शूलपाणिस्तुकाश्यपवा क्येप्रथमदिनव्यवस्थानास्ति त्रिरात्रेणैवेतिवृद्धशातातपवचनात्कामविषय मेवैतादित्याह प्रथमदिनविषयंतुप्रथमेऽह्नित्रिरात्रंस्यादित्यादिवार्हस्पत्यमे वन्याय्यम् ॥ उपवासासमर्थायांत्वंगिराः। चंडालःश्वपचोवापियद्यात्रेयींस्पृ शेत्तदा अपक्ककृष्टंवर्तेतपंचगव्येनशुद्ध्यति १ पंचगव्यपानंस्नानानंतरंकार्य्य म्। अपक्ककृष्टमग्निपक्कहलकृष्टोत्पन्नव्यतिरिक्तम् चंडालेनसहैकवृक्षाद्यारोह णे पराशरः॥ एकवृक्षसमारूढौ चंडालोथरजस्वला अहोरात्रोषिताभूत्वा पंचगव्येनशुद्ध्यति १॥ एकशब्द एकावयव्युपलक्षणएतच्चविशुद्धिस्नानानं तरमित्यापस्तंवीयमग्रे श्वादिस्पर्शेविशेषमाह यमः॥ रजस्वलातुसंस्पृष्टा शुनाजंबुकवायसैः निराहाराभवेत्तावद्यावत्कालेनशुद्ध्यति ॥ १ ॥

कर्केनहिपकी औरहलकर्के नहिपैदेहोईतिसकानामहै । औरचांडालकेसाथएकवृक्षपरआरूढ रज स्वलाविषे पराशरजीकहतेहैं एकेति एकवृक्षमेंआरूढहोणचांडालऔररजस्वला तां सो स्त्रीदिनरा तकेव्रतपीछेपंचगव्यकर्केशुद्धहुंदीहै ।१। इसजगाएकशब्दएकअवयविकावाचकहै एहविशुद्धिस्नान तेपीछेपीणा ऐसावचनआगेआवेगा । कुत्तेआदिकेस्पर्शमेंयमजीविशेषकहतेहैं रजइति रजस्वला जद कुत्ता १ गिदड २ काक ३ इनांकर्केस्पर्शवालीहोवेतां तितने दिन निराहाररहेजितनेकाल कर्के शुद्ध हुंदी है ॥ १ ॥

एह विना कामनातें स्पर्शविषे जानणा और कामनाकर्के स्पर्शविषे रजस्वलापदकी अनुवृत्ति विषे वृहस्पति जीका वचनहै शुनेति कुत्तेकर्के और जूठीस्त्री कर्के और शूद्राकर्के स्पर्शवालीहोवे तां दोरात्रकाव्रतरक्षे परंतुजदतीसरेदिनस्पर्शहोवेतां एकदिनरात्रकाव्रतकरे और चउथेदिनस्पर्शकरे तां नक्तकरे । १ । और पहलेदूसरेदिनके स्पर्शविषे दोदिनकाव्रतजानणा और इसजगाभीसो दिनव्यतीतकर्के ऐसाअर्थकरलेना ॥ जोवौधायनजी कहतेहैं रजइति रजवालीस्त्री ग्राम्यकुक्कुट और काक कुत्ता इनांकर्के स्पर्शवाली होवे तां जवतकचंद्रदर्शन नहि होयाहै तांतक निराहाररहे अर्थात् नक्तव्रतकरे ॥ १ ॥ एह चौथे दिनके स्पर्शविषे अशक्त स्त्री विषे जानणा ॥

एतदकामतः॥ कामतस्तुरजस्वलानुवृत्तौ वृहस्पतिः। शुनावोच्छिष्टयाशूद्रासंस्पृष्टाह्यहमाचरेत् अहोरात्रंतृतीयेह्निपरतोनक्तमाचरेत् १ प्रथमद्वितीयदिनेश्वादिस्पर्शेद्व्यहम् परतश्चतुर्थे अत्रापितान्यहानिव्यतिक्रम्येतियोज्यम् यत्तुवौधायनः रजस्वलातुसंस्पृष्टाग्राम्यकुक्कुटवायसैःश्वभिःस्नात्वापिवेत्तावद्यावच्चन्द्रस्यदर्शनमिति १ चंद्रदर्शनंनक्तमित्यर्थः एतदशक्तायाश्चतुर्थदिनविषयम्। रजकादिस्पर्शेतु चंडालस्पर्शसमानमेव तयोः समानत्वादितिशूलपाणिः ॥ यत्तुप्रचेताः ॥ रजस्वलातुसंस्पृष्टाशुनाचंडालरासभैः पंचरात्रंनिराहारापंचगव्येनशुद्ध्यति १ तत्कामतोभ्यासे ॥ भोजनकालेश्वांत्यजादिस्पर्शेतु । वौधायनः । रजस्वलांतुभुंजानांश्वांत्यजोयदिसंस्पृशेत् गोमूत्रयावकाहाराषड्रात्रेणविशुद्ध्यति ॥ अशक्तौकांचनंदद्याद्विप्रेभ्योवापिभोजनमिति ॥ १ ॥

और धोवे आदि के स्पर्श में तुपुनः चंडाल स्पर्शके समान है तिना दोआंको तुल्य होणेतें एह शूलपाणिने किहा है ॥ जो तुपुनः प्रचेताने किहाहै कि कुत्ता और चंडाल और गर्दभ इनां कर्के स्पर्श होइहोइ रजस्वला स्त्री पंच दिन निराहार व्रतकरणेकर्के पीछेतें पंच गव्यपानक कें शुद्ध हुंदी है ॥ १ ॥ एह इच्छा तें अभ्यास विषे जानणा ॥ और भोजन समय विषेकुत्ते चांडाल आदिके स्पर्शमे वौधायन जी कहते हैं भोजनकों कर्दी होइ रजस्वलाकों जेकर कुत्ता और चंडाल स्पर्शकरे तां छे ६ दिन गोमूत्र कर्के यावक भक्षण करणेंते शुद्ध हुंदीहै और न समर्थाहोवे तां सुवर्ण वा भोजन ब्राह्मणांके तांई देवे ॥ १ ॥

जेकर दोए रजस्वला जूठीआं होण तां तिना उच्छिष्टोंमे स्पर्श विषे तुपुनः अत्रिजीका वाक्यहै ॥ कदाचित् रजस्वला स्त्री जूठी होवे और दूसरी जूठी रजस्वलाके साथ स्पर्श वाली होवे तां पूर्वा क्याब्राह्मणी क्षत्रियाणी वैश्या एह प्राजापत्य कर्के और शूद्री दानकर्के और उपवासकर्के शुद्ध हुंदीहै १ परंतु एकहि जातिकीआं दोए होण तिनांविषे एह है जेकर भिन्नजातिकियां होण तां ब्राह्मणी क्षत्रियाणीके स्पर्श मे २ दो प्राजापत्य और वैश्या रजस्वलाके स्पर्शमें ३ त्रय इत्यादि जानणा। और शूद्रीआं रजस्वलाके परस्पर स्पर्शमें २ दो उपवास सहितप्राजापत्यके प्रत्याम्नाय दानकर्के शुद्धिहुंदीहै एहकामनातें करणेमेहै अकामकृतमे अद्धा है शूलपाणि जी ने इसतर्हां पाठ लिखाहै जूठे कर्के कदाचित् रजस्वला स्त्रीछोजावे तां

उच्छिष्टयोःपरस्परंस्पर्शे त्वत्रिः । उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टाकदाचित्स्त्रीरजस्वला कृच्छ्रेणशुध्यतेपूर्वाशूद्रादानैरुपोषितेति १ अत्रपूर्वाशब्देनब्राह्मणक्षत्रियवैश्यस्त्रियोभिधीयंते॥तेनरजस्वलयो;समानजातीययोरुच्छिष्टयोःब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानांपरस्परस्पर्शेप्राजापत्यम् ॥ स्वस्वानंतरस्पर्शेत्वेकैकवृद्धिरूहनीया ॥ तादृशशूद्र्योःस्पर्शेपरस्परंतूपवाससहितप्राजापत्यप्रत्याम्नायदानेनशुद्धिः । एतच्च कामतः । अकामतस्तदर्द्धम्॥ शूलपाणिस्तु उच्छिष्टेनतुसंस्पृष्टाकदाचित्स्त्रीरजस्वला कृच्छ्रेणशुध्यतेपूर्वाशूद्रादानेनशुध्यतीतिपपाठ १ तत्रोच्छिष्टेन चांडालादिना। दानेन कृच्छ्रप्रत्याम्नायेन एषुरजस्वलात्वमेव निमित्तमतोनक्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मण्यादिभ्यो विशेषइत्याह । उच्छिष्टद्विजसंस्पर्शेतुमार्कण्डेयः ॥ द्विजान्कथंचिदुच्छिष्टानूरजःस्त्रीयदिसंस्पृशेत्, अधोच्छिष्टेत्वहोरात्रमूर्ध्वोच्छिष्टेत्र्यहंक्षिपेदिति १

पूर्वा क्या ब्राह्मणी आदि प्राजापत्य कर्के शुद्ध हुंदीहै और शूद्रा दान कर्के १ इस जगा उच्छिष्ट चांडाल समझणा और दान कृच्छ्रका प्रत्याम्नाय जानणा। और इसमें रजस्वलात्व धर्म हि उक्त प्रायश्चित्तका निमित्त है कोई ब्राह्मणत्वादि जाति नहि इस कर्के समना वर्णा कीआं स्त्रीयां का तुल्यहि प्रायश्चित्त है किसेमे विशेष नहि ऐसा किहाहै ॥ जूठे द्विजके क्या ब्राह्मणादिके स्पर्शाविषे मार्कण्डेय जी कहते हैं ॥ द्विजानिति कदाचित् ब्राह्मणादिको जूठआं कों रजस्वला स्त्री स्पर्श करे जेकर अधोच्छिष्टांको स्पर्श करे तां दिनरात्रव्रत करे और ऊर्ध्वोच्छिष्टांको स्पर्श करे तां त्रय दिन व्रत करे ॥ १ ॥

इस विषे यद्यपि विशेष नहिसुणीदाहै तथापि ब्राह्मणादिकी अपेक्षा करके उच्छिष्टक्षत्रियादि स्पर्श विषे ब्राह्मणीको अधिक कल्पना करणी । इसी तर्हां हीनजाति की रजस्वला ते अधिकजातिवालीके स्पर्श विषेहै जैसे क्षत्रियाणीकों ब्राह्मणी के स्पर्श विषे कुछ न्यून क्या थोडा कल्पना करणा ॥ भोजनकालमें रजस्वला दूसरी रजस्वलाकों देखे तां तिसमे आप स्तंवजी कहते हैं उदे ति। जेकर रजस्वला भोजन करदी होई दूसरी रजस्वला कों देखे तां स्ना नके दिन तक भोजन न खावे और पीछे ब्रह्मकूर्च पीवे ॥ १ ॥ एह कामनाके दर्शन विषे जानना । और चांडालादि के दर्शनमें अत्रिजी कहतेहैं रजस्वलेति भोजन कों करदीहोई रजस्वलास्त्रीचंडालकों देखे तां त्रय उपवास व्रत करे उैार इच्छातें देखे तां

अत्रयद्यपि नविशेषः श्रूयते तथापिब्राह्मण्यपेक्षया उच्छिष्टक्षत्रियादिस्पर्शे ब्राह्मण्या अधिकंकल्प्यम्।एवंहीनायाउच्छिष्टस्पर्शेन्यूनम्। भोजनकालेरज स्वलांतरंदृष्ट्वापुनर्भोजनेत्वापस्तंवः उदक्यायदिवाभुंक्तेदृष्ट्वान्यांतुरजस्व लाम् आस्नानकालंनाश्नीयाद्ब्रह्मकूर्चंततःपिवेत् १ एतच्चकामतः चांडालादिदर्श नेत्वत्रिः रजस्वलातुभुंजानाचंडालंयदिपश्यति उपवासत्रयंकुर्यात्प्राजापत्यं तुकामत इति १ रजस्वलायाः श्वादिदंशनेव्यासः रजस्वलायदादष्टाशुना जंवुकरासभैः पंचरात्रंनिराहारापंचगव्येनशुद्ध्यतीति ॥ रजस्वलायाआ शौचिस्पर्शेशातातपः ॥ आर्त्तवाभिप्लुतानारीस्पृशेच्चशवसूतकम् ऊर्ध्वं त्रिरात्रंस्नातांतांत्रिरात्रमुपवासयेत् १ स्पृष्ट्वाभोजनादौत्वत्रिः आर्त्तवाभि प्लुतानारीमृतसूतकयोःस्पृशेत् भुक्त्वापीत्वाचरेत्कृच्छ्रंस्पृष्ट्वातुत्र्यहमेवच १

प्राजापत्यकरे ॥ १ ॥ रजस्वलाकोंकुत्ते आदिके डंगनमेंव्यासजीकहतेहैं कुत्ता उैार गिद्दड उैार गर्दभ रजस्वलाकों दंश करें क्या वडण तां पांच दिन निराहार व्रतकर्के पंच गव्यकापानकरे तां शुद्धहोतीहै ॥ १ रजस्वलाकों सूतकीके स्पर्शमें शातातपजीकावचनहै ॥ ऋतुकर्के युक्तस्त्री मरणके सूतकी पुरुषकों स्पर्श करे उैार त्रयदिनतें उपरंत स्नातहोवेतां त्रयदिन उपवास व्रतकरे। १। स्पर्शकर्के भोजनके खाणेमें अत्रिजीका वाक्यहै रजस्वला स्त्री जन्म सूतक उैार मृतसूत कियोंके साथ स्पर्शकरे उैार पीछे अन्न जलकों भक्षणकरे तां कृच्छ्र व्रतकों करे उैार केवल स्पर्शमें त्रयदिन व्रतकरे १

सूतकी के साथ स्पर्श में स्नानतें पूर्व ऋतुके देख एोमें मार्कंडेयजी का वाक्य है मृत सूतक के स्पर्श होयां होयां जेकर स्त्री ऋतुकों देखे तां क्या करे सो कहते हां चारदिन पर्य्यंत न भक्षण करे जेकर भक्षण करे तां चांद्रायणव्रतकों करे ॥ १ ॥ मदन रत्नमें स्मृत्यंतरविषेंकहाहै मृत सूतकके होयां होयां जेकर रजस्वला होवेतां अभिषेक कर्के शुद्धि हो तीहै और तात्काल स्नान कर्के भोजनकर्के एहअसमर्थ स्त्रीमें जानणावा बालक संतानवालीमेंजान णा। १। इनांतें अन्य स्त्रीकोंत्रयदिन उपवासकिहाहै। संबंधीकेमरणआदिके सुणनेविषे व्यास

स्पर्शानंतरंभोजनादौकृच्छ्रंकेवलस्पर्शेतुत्र्यहम् आशौचिस्पर्शेस्नानात्प्राग्र जोदर्शनेमार्कण्डेयः ॥ मृतसूतकसंस्पर्शेऋतुंदृष्ट्वाकथंभवेत् नास्नानका लमश्नीयाद्भुक्त्वाचांद्रायणंचरेदिति १ आस्नानकालपर्यंतंचतुर्थदिनपर्यंतम् मदनरत्नेस्मृत्यंतरे ॥ अप्रायत्येसमुत्पन्नेमलवद्वाससीयदि अभिषेकेण शुद्धिः स्यात्सद्यःस्नानेनभोजनम् १ इदमशक्तायावालापत्याविषयंवा॥अ न्यस्यास्तुत्रिरात्रोपवासः अप्रायत्यंमृतसूतकम्। मलवद्वाससीरजस्वलाशु द्धिःस्पर्शयोग्यता ॥ बंधुमरणश्रवणादौव्यासः॥ मलवद्वसनायास्तुअप्राय त्यंभवेद्यदि अभिषेकेणशुद्धिःस्यान्नाशनंवादिनत्रयमिति १ अत्रापिपूर्ववद् व्यवस्थादिनत्रयमित्यवशिष्टकालोपलक्षणम् ॥ अप्रायत्यंबंधुमरणादिना सएव आर्त्तवाभिप्लुतानारीनावगाहेत्कदाचन उद्धृतेनजलेनैवस्नात्वाशेषंस मापयेत् २ सिक्तगात्राभवेदद्भिःसांगोपांगमलैर्युता नवस्त्रपीडनंकुर्यान्ना न्यवासाभवेत्पुनरिति ३ तत्रपराशरः ॥ स्नानेनैमित्तिकेप्राप्तेनारीयदिरज स्वला पात्रांतरिततोयेनस्नानंकृत्वाव्रतंचरेत् ॥ १ ॥

जीका वाक्यहै ऋतुके होयां होयां मरण सूतक होवे तांअभिषेक कर्के शुद्धि कहीहै आगेपू र्वकीन्याईं अर्थजानणा ॥ १ ॥ सोई व्यासजीकहतेहैं ऋतुयुक्त स्त्रीतलाआदिमें स्नानकरे जल को वाहर निकासकर स्नानकरे शेषकर्म्मसोहै जिसका आरंभ कीता होआहै तिसकों पूराकरे।२ पक्षांतर कहतेहैं सिक्तेति अथवा जलकर्के अंगाकों सिंचन करावे और सांगोपांगमल कर्के युक्तहै और वस्त्रकों निष्पीडनन करे और दूसरे वस्त्रकों नधारनकरे।३। तिसमें पराशरजीका वाक्यहै रजस्वलास्त्री नैमित्तिक स्नानके प्राप्तहोयांहोयां पात्रकेजलकर्के स्नानकरे और व्रतकरे १

● अब परंपरा स्पर्श विषे तिसविषे भी अचेतन दंडादि व्यवधान विषे याज्ञवल्क्यजी कहतेहैं उदेति रजस्वला अशुचि पतितादि तिनांकर्के स्पर्श वाला पुरुष स्नान करे और आपः पुनंत्वित्यादि मंत्र और गायत्रीका एकवार मनकर्के जपकरे और जेडा रजस्वला दिकर्के स्पर्श वालाहै तिसकर्के जिसको स्पर्श होवे सो आचमन कर्के शुद्धहुंदाहै क्योंकि इसको साक्षात् स्पर्श नहि किंतु परंपरा स्पर्श है १ ॥ और चेतनके व्यवधान विषे मनुजी कावचनहै ॥ मुडदेका और तिसके स्पर्शवालेका तृणादि व्यवधान कर्के जो स्पर्श वाला है सो स्नान कर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ पहलेश्लोकमेजो (अशुचिभिः) एहपदहै सो कुतेआदिका वाचकहै ॥ परंपराकेंहि स्पर्श मै शातातपजीका वचनहै जेडा अशुचिजो मलमूत्रादि तिसको

● अथपरंपरास्पर्शे तत्राप्यचेतनदंडादिव्यवधानेयाज्ञवल्क्यः उदक्याशुचिभिःस्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् अब्लिंगानिजपेच्चैवगायत्रींमनसासकृदिति १ तैरुदक्याशुचिसंस्पृष्टैःसंस्पृष्टउपस्पृशेदाचामेदित्यर्थः अशुचिरत्र शुनकादिःचेतनव्यवधानेतुमानवं शवंतत्स्पर्शिनंचैवस्पृष्ट्वास्नानेनशुद्ध्यतीति ॥ स्पृष्टस्पर्शनेतुशातातपः । अशुचिंसंस्पृशेद्यस्तुएकएवसदुष्यति तंस्पृष्ट्वान्योनदुष्येतसर्वद्रव्येष्वयंविधिरिति ॥ १ तथासंहतानांतुपात्राणांयद्येकमुपहन्यते तस्यतच्छोधनंप्रोक्तंनतुतत्स्पर्शिनामपि २ क्वचिदचेतनव्यवधानेपिवचनात्प्रायश्चित्ताधिक्यम् यथाहापस्तंवः ॥ एकशाखासमारूढश्चांडालादिर्यदाभवेत् ब्राह्मणस्तत्रनिवसन्स्नानेनशुचितामियात् १ ॥ आदिशब्दादुदक्यादीनांग्रहणम् ॥ शाखाग्रहणमवयव्युपलक्षणमिति

स्पर्शकरे सोई अपवित्र हुंदाहै और इसकेसाथ जो दूसरा स्पर्शकरे उसको दोष नहि सभना वस्तुयों विषे एहि विधि जानणी। १। तैसेहि जेडेपात्र इकठे हैं तिनां विचों एकपात्र मलादि कर्के दूषित होवे तां तिसीकी शुद्धि करणी होर सभ पवित्रहैं। २ । और किसे जगा अचेतनके व्यवधान विषे भी वचनते प्रायश्चित्त वहुतहै जैसे आ।पस्तंवजी कहते हैं एकशाखामे क्या वृक्षमें चंडाल आदि जद स्थित होवे और तिसमे वाह्मण भी स्थित होवे तां स्नानकर्के शुद्ध हुंदा है । १ ।इसजगा आदि शब्दतें रजस्वला पतितादिका ग्रहणहै और शाखाग्रहणते सभना अंगांवालेवस्तुयोंका ग्रहण है ॥

इसमे परंपरास्पर्शमे स्पर्शशब्दगौणहै तिसमै वचनते प्रायश्चित्तहै इसमे अपवादकों पराशरजीक हतेहैं ॥ गलीका चिकड और जल और वेडीऔर मार्गऔर तृणघास और पकीयांइटांकीकंध एह स्पर्शतें दोष वालियां नहि १ स्पर्श प्रायश्चित्तके अपवादकों बृहस्पतिजीकहतेहैं तीर्थ और विवाह और यात्रा और युद्ध और भाजड और नगर ग्राम आदिकादाहतिन्हांमें स्पर्शास्पर्शि दोष नहि अर्थात् परंपरास्पर्शका दोष नहिहै १॥ ऐसेहि होर वाक्यभीहैं और ब्राह्मणकों चैत्यवृक्ष आ दिके स्पर्शमें पराशरजी कहतेहैं चैत्यवृक्ष क्या मार्गादि विषे साधारण वृक्ष साधारण पुरुषां करकें जो नमस्कार करीदाहै और श्मशानकाष्ट और पशुयांके मारणे वास्ते जो बंधने वाला काष्ट

अत्रपरंपरास्पर्शेपि स्पर्शशब्दोगौणस्तत्रवचनात्प्रायश्चित्तम् अत्रापवाद माहपराशरः ॥ रथ्याकर्दमतोयानिनावः पंथास्तृणानिवा स्पर्शनान्नप्र दुष्येतपक्केष्टकचितानिच १ स्पर्शप्रायश्चित्तापवादमाह बृहस्पतिः ॥ तीर्थे विवाहेयात्रायांसंग्रामेदेशविप्लवे नगरग्रामदाहेपुस्पृष्टास्पृष्टिर्नदुष्यति ए वमन्यान्यप्यपवादवचनानिव्यवस्थापनीयानि ॥ ब्राह्मणस्यचैत्यवृक्षादि स्पर्शे पराशरः॥ चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चंडालःसोमविक्रयी एतांस्तुब्राह्मणः स्पृष्ट्वासवासाजलमावसेदिति १ क्षत्रियादीनांन्यूनंकल्पनीयम् चैत्यवृक्षो ग्रामादौसाधारणजनवंद्यः चितिःश्मशानकाष्ठम्। यूपःपशुमारणार्थवन्ध नकाष्ठम् उपरिभागस्पर्शेशंखः॥ रथ्याकर्दमतोयेनष्ठीवनाद्येनवात्वथ ना भेरूर्ध्वंनरःस्पृष्टःसद्यःस्नानेनशुध्यतीति १ अधोभागस्पर्शेयमः सकर्दमंतु वर्षासुप्रविश्यग्रामसंकरम् जंघयोर्मृत्तिकास्तिस्रः पादयोःषण्मृदः स्मृता इति इत्यस्पृश्यस्पर्शप्रायश्चित्तानि॥

और चांडाल और सोमविक्रयी इनांके साथ ब्राह्मण स्पर्श करे तो सहित वस्त्रांके जलमें स्ना नकरे १ क्षत्रियादिकों थोडा किहाहै ऊपर भागमें स्पर्शविषे शंखजीकावाक्यहै गलीका चिकड और थुक इनांकर्कें नाभितें ऊर्ध्व स्पर्शमे तात्काल स्नान कर्के शुद्ध होताहै १ और नाभितें अधो भाग स्पर्शमें यमजी कहतेहैं वर्षामें नगरके कूडेके साथ जो चिकड जंघामें स्पर्शहोवे तां त्रय बार मृत्तिका लगांणे कर्कें और पैरांविषे ६ बार लगाणे कर्कें शुद्धि होतीहै ॥ १ ॥ एह जिनका स्पर्श नहि करणा तिनांके स्पर्शका प्रायश्चित्त समाप्त हुया ॥ ॥

अब कुत्ते आदिके डंगमें मनुजी कहतेहैं श्वेति कुत्ता और गिदड और खोता और जोमांसके भक्षणकरणेवाले नगरमें जोवेहैं और घोडा और ऊट और सूकर इनांकर्के वड या होया जो पुरुष है सो प्राणायामकर्के शुद्ध हुंदाहै ॥ १ ॥ प्राणायाममें विशेषघृतभक्षणकों याज्ञवल्क्यजी कहतेहैं ॥ पुंश्चली और वानर और खोता और ऊट आदिक और काक इ नांकर्के वडया होया पुरुष जलमें प्राणायाम कर्के और घृतभक्षण कर्के शुद्धहुंदाहै २ एह ना भितें हिठां थोडे वडणेमें जानणा ॥ जोतुपुनः सुमंतुने किहाहै ॥ कुत्ता और गिदड और मृ ग और महिष और बकरा और भेड और खोता और करभक्याऊट और नेवल और

अथश्वादिदंशे मनुः ॥ श्वसृगालखरैर्दष्टोग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेवच ॥ नराश्वोष्ट्रवराहैश्चप्राणायामेनशुध्यतीति १ प्राणायामेविशेषंघृतप्राशनंचाह याज्ञवल्क्यः ॥ पुंश्चलीवनरखरैर्दष्टश्चोष्ट्रादिवायसैः प्राणायामंजलेकृत्वाघृतंप्राश्यविशुध्यति २ एतच्चनाभेरधस्तादीषद्दष्टस्य। यत्तुसुमंतुः ॥ श्वसृगालमृगाज महिषाजाविखरकरभनकुलमार्जारमूषकाप्लवकाकपुरुषदष्टानामापोहिष्ठेयाभिः स्नानंप्राणायामत्रयंचेति ॥ एतच्चपादयोःकिंचिदधिकदंशे नाभेरूर्ध्वंदंशेतु बौधायनः॥ शुनादष्टस्तुयोविप्रोनदींगत्वासमुद्रगां प्राणायामशतंकृत्वाघृतंप्राश्यविशुध्यतीति १ नाभेरधस्तादतिगाढदंशविषयं ॥ एतस्मिन्नेवविषयेदेवलः ॥ श्वदष्टःसागरगायांनद्यांस्नातोनिराहारः प्राणायामशतमावर्त्तयंस्त्रिरात्रादपगतपाप्माभवति ॥ तन्नाभेरूर्ध्वे गाढदंशे ॥

बिल्लाऔर चूहा और डडूडू और काक और पुरुष इनांकर्के डंगेहोये जोपुरुषहैं सो आपोहिष्ठा आदिक ऋचाकर्के स्नानकरे और त्रय ३ प्राणायामकरे एह पादोंमें वहुत डंगणेमें प्रायश्चित्तहै नाभितें ऊपर डंगणेमे बौधायनजीकहतेहैं कुत्तेकर्के डंगया होया ब्राह्मण समुद्रमें प्राप्त होणवालीनदीकों प्राप्त होकर सउ१००प्राणायामकर्के और घृतभक्षणकर्के शुद्धहुंदाहै १ ॥ एहनाभितें अधःक्याहिठवहुत डंगणेमें जानणा ॥ इसीविषयमे देवलजीकहतेहैं ॥ कुत्तेकर्के वडया होया पुरुष समुद्रमें जाणेवाली नदीमें स्नानकोंकरे और निराहारव्रतकरे सउ १०० प्राणायामकरे त्रयदिनतें उपरंत शुद्ध हुंदाहै एह नाभितें उपरवहुते डंगमें जानणा ॥

इसीमें शंखजीकावाक्यहै वसमेंकेकाष्ठकर्के क्षतहोयाहोया औंर तैसेकुत्तेकर्के डंगयाहोया और व्यभिचारिणोस्त्रीके दंदांकर्के डंगयाहोयात्रयदिनके व्रतकर्केशुद्धहुंदाहै १ इसीवाक्यकोंयमजीकहते हैं ॥ गिदड और सूर और खोता और ऊठ और कुत्ता और वानर और हाथी इनांकर्के डंगयाहोया ब्राह्मणदिनमें त्रयआचमनकरे तांशुद्धहुंदाहै और पंजवासत्त ब्राह्मणाकेतांई हविष्यभोजन देवें १ ब्रह्मचारीमें हारीतजीकहतेहैं कुत्तेकर्के डंगयाहोयादिनमें एकवारभोजनकरे और समुद्रपर्यंत नदीमें प्राप्तहोकर सौप्राणायामकरे और घृतभक्षणकरे तां शुद्धहुंदाहै ॥ इसीप्रकार गिदड और बिल्ला और नेवल और चूहा इनांकर्के डंगयां होयांकों भीजानणा ॥ अब ब्रह्मचारीके अधिकारमें पैठीनसीजीकहतेहैं ॥ कुत्तेकर्के वडेहोयेको त्रयदिनउपवासव्रत और ब्राह्मणकेगृहमेंनि

अत्रैवशंखः। नीलीकाष्ठक्षतोविप्रः शुनादष्टस्तथैवच त्रिरात्रंतुव्रतंकुर्यात्पुंश्चलीदशनक्षतइति १ यमोपि सृगालसूकरखरोष्ट्रश्ववानरकुंजरैः एतैस्तुब्राह्मणोदष्टस्त्रिरह्नःसमुपस्पृशेत् १ हविष्यंभोजयेदन्नंब्राह्मणान्सप्तपंचचेति १ ब्रह्मचार्यधिकारेहारीतः॥ शुनादष्टस्त्वहन्येकाहारः समुद्रगांनदींगत्वाप्राणायामशतंकृत्वाघृतंप्राश्यततःशुचिरेवंगोमायुमार्जारनकुलमूषकैर्दष्टानाम् ॥ ब्रह्मचार्यधिकारे पैठीनसिः शुनादष्टस्यत्रिरात्रमुपवासोविप्रगृहेवासश्च ॥ यत्तुशातातपः ॥ गवांशृंगोदकस्नातः शुनादष्टस्तुब्राह्मणः समुद्रदर्शनाद्वापिशुनादष्टःशुचिर्भवेत् ॥ १ ॥ अत्रसुमुद्रेत्यादिसाक्षाद्धेतुप्रदर्शनेनपूर्ववाक्यवैलक्षण्यात्पुनःशुनादष्टइत्युपात्तम् ॥ १ ॥ वेदविद्याव्रतस्नातः शुनादष्टस्तुब्राह्मणः हिरण्योदकमिश्रंचघृतंप्राश्यविशुद्ध्यति ॥ २ ॥ तन्नाभेरधस्तादीषद्दष्टविषयम् वचनाद्विशिष्टब्राह्मणमात्रविषयं वा समुद्रदर्शनंतुतत्तीरवासिनाम्॥ व्रतस्थस्यविशेषमाह बौधायनः। व्रतस्थस्तुशुनादष्टस्त्रिरात्रमुपवासयेत् सघृतंयावकंपीत्वाव्रतशेषंसमापयेत् ॥ १ ॥ यत्तुशातातपः॥ अव्रतःसव्रतोवापिशुनादष्टोभवेद्द्विजः॥

वासशुद्धिकेदेणवालाकिहाहै जोतुपुनःशातातपनेंकिहाहै कुत्तेकर्के डंगयाहोया गौयांके शृंगांके जलकर्के स्नानकीतयां होयां शुद्धहोताहै और समुद्रके दर्शनकर्केभी शुद्ध होताहै १ वेदविद्याव्रतमें जिसनें स्नानकीताहै अर्थात् वेदविद्यामे चतुरहै तिसकों जेकर कुत्तावढे तां सुवर्णके जलकर्के रलयाहोया जोघृत तिसकों भक्षणकर्के शुद्ध हुंदाहै २ सोनाभिकेहेठां थोडे डंगमेंजानणा इसवचनतें अथवाविशिष्टगोत्री ब्राह्मणके विषय जानणा और समुद्रदेखणा तिसके कनारेमें रहणबालयांविषें जानणा ॥ जो व्रतमे स्थितहै तिसकोविशेष बौधायनजीकहतेहैं व्रतमेंस्थित पुरुषको कुत्ताडंगें तां त्रयदिनउपवासव्रतकरे सहितघृतके यावककोंपीकरशेषव्रतकों समाप्तकरे १ जोतुपुनःशातातपनें किहाहै अव्रतइति व्रततें रहितहोवे वा युक्तहोवें कुत्तेकर्के डंगयाहोवे

सो सुवर्णके जलकर्के मिश्रितजोघृत तिसकों पीकरशुद्धहुंदाहै १ सोभ्रतिअसमर्थमेंजानणा ब्राह्मणांते रहित ग्राममें पराशरजी कहतेहैं ब्राह्मणतें रहित ग्राममें कुत्ते कर्के डंगया होया पुरुष बैलकी प्रदक्षिणा और शीघ्रहि स्नानकर्के शुद्धहुंदाहै ॥ १ ॥ स्त्रीयांकों विशेष पराशरजीक हतेहैं ॥ ब्रह्मणी कों जेकर कुत्ता वा गिद्दड वाविगहाड वडे तां उदय होयेग्रहनक्षत्रकों देख कर तात्काल शुद्धहुंदीहै १ वैधायनजी कहतेहैं ब्राह्मणी कुत्ते कर्के डंगीहोवे तां चंद्रमाकेदे खणेकर्के वानक्षत्रांकेदेखणेकर्के शुद्धहुंदीहै १ जेकर कृष्णपक्षमें चंद्रमानदिस्से तद जिसदिशामें चंद्रमास्थितहै तिसादिशापासेदेखे २ अंगिरसऋषिनें पंचगव्यकाभीभक्षण किहाहै ब्राह्मणीति इ सका अर्थपूर्वकहीदत्ताहै कुछ विशेष कहतेहां १ सोममार्गकर्के क्या तिसके देखणे कर्के पवित्र होई २पंचगव्यकर्केशुद्धहुंदीहै २ ब्राह्मणीकाग्रहण उपलक्षणमात्रहै॥ व्रतमें स्थितजो स्त्रीतिसवि

हिरण्योदकमिश्रंतुघृतंप्राश्यविशुद्ध्यति ॥ १ ॥ तदत्यंताशक्तविषयम् ब्राह्मणरहितग्रामेतुपराशरः॥ असद्ब्राह्मणकेग्रामेशुनादष्टोद्विजोत्तमः वृषं प्रदक्षिणीकृत्यसद्यःस्नात्वाशुचिर्भवेत् ॥ १ ॥ स्त्रीणांविशेषमाहपराशरः ॥ ब्राह्मणीतुशुनादष्टाजंबुकेनवृकेणवा उदितंग्रहनक्षत्रंदृष्ट्वासद्यःशुचिर्भवे त् १ वैधायनोपि ॥ ब्राह्मणीतुशुनादष्टासोमेदृष्टिंनिपातयेत् नक्षत्रदर्शना द्वापिशुनादष्टाशुचिर्भवेत् १ कृष्णपक्षेयदासोमोनदृश्येतकदाचन यांदिशं व्रजतेसोमस्तांदिशंत्ववलोकयेदिति २ अंगिरसा त्वत्र पंचगव्यप्राशन मप्युक्तम् ब्राह्मणीतुशुनादष्टासोमेदृष्टिंनिपातयेत् यदानदृश्यतेसोमःप्रा यश्चित्तंकथंभवेत् १ यांदिशंतुगतःसोमस्तांदिशंचावलोकयेत् सोममार्गेण सापूतापंचगव्येनशुद्ध्यतीति २ ब्राह्मणीग्रहणमुपलक्षणम् व्रतस्थस्त्रीवि षयेपराशरः॥ त्रिरात्रमेकोपवसेच्छुनादष्टातुसव्रता सघृतंयावकंभुक्त्वाव्रत शेषंसमापयेत् १ रजस्वलायाविशेषमाह पुलस्त्यः रजस्वलायदादष्टाशु नाजंबुकरासभैः पंचरात्रंनिराहारापंचगव्येनशुद्ध्यति १ ऊर्ध्वंतुद्विगुणंना भेर्वक्रेतुत्रिगुणंतथा चतुर्गुणंस्मृतंमूर्द्ध्निदष्टेन्यत्राशुचिर्भवेत् ॥ २ ॥ अन्यत्ररजस्वलावस्थाया इतिशेषः

अब पराशरजी कहतेहैं व्रतकर्के युक्त जोस्त्री तिसकों कुत्तावड्डे तां त्रयदिन उपवासव्रतकोंकरे और सहितघृतके यावककों भक्षण कर्के व्रतकी न्यूनताकों पूर्णकरे१ रजस्वला स्त्रीमें विशेष पुलस्त्य जी कहतेहैं रजस्वलाकों कुत्ता गिदड खोत्ता जेकर वडे तां पंच ५ दिन निराहार व्रतकों करे पीछे पंचगव्य कर्के शुद्ध हुंदीहै १ नाभितें ऊपरडंगहोवेतां दूणा व्रत किहाहै और मुखमें त्री गुणव्रत किहाहै शिरमें चारगुणा अधिक किहाहै ॥ २ ॥ और जोरजस्वला नहिंहै तिसकों व्रत नहिं किहाहै किंतुअशुद्धि कहीहै सो पूर्वोक्त प्रकार कर्के हि दूरहोवेगी ॥

कुत्तेके सिंघणे श्रादे मे शातातपजी कहतेहैं जिस पुरुषकों कुत्तेने सिंघयाहै वा चटयाहै वा नखां कर्के विलुंद्रया है तिसकी शुद्धि जल कर्के धांणेतें श्रौर श्रग्नि कर्के तपाणेतें हुंदीहै ॥१ श्रौर व्रणमे काडेकी उत्पत्तिमें वौधायनजी कहतेहैं(प्रश्न)जिस ब्राह्मणके फटमें पाक ऊर रुधिरके होयांहोयां कीडे उत्पन्न होण तिसका प्रायश्चित्त कैसे हुंदा है ॥ १ ॥ (उत्तर) गोमूत्र गोमय श्रौर दुध दधि घृत कुशाका जल इनां द्वारा त्रय दिन स्नान करके श्रौर पान कर्के कृमिदष्ट होया होया शुद्ध हुंदाहै। २। एह नाभितें हिठां जानणा॥ मनुजीभी कहतेहैं ब्राह्मणस्येति इ

शुनाघ्रातादिषुशातातपः॥ शुनाघ्रातावलीढस्यनखैर्विदालितस्यच अद्भिः प्रक्षालनंशौचमग्निनाचोपचूलनमिति १ उपचूलनंतापनम् ॥ व्रणेकृम्युत्पत्तौतु वौधायनः ॥ ब्राह्मणस्यव्रणद्वारेपूयशोणितसंभवे कृमिरुत्पद्यतेयस्यप्रायश्चित्तंकथंभवेत् १ ॥ गोमूत्रंगोमयक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् त्र्यहंस्नात्वाचपीत्वाचकृमिदष्टःशुचिर्भवेदिति २ एतच्चनाभेरधस्ताद्ज्ञेयम्। मनुरपि ॥ ब्राह्मणस्यव्रणद्वारेपूयशोणितसंभवे कृमिरुत्पद्यतेयस्यप्रायश्चित्तंकथंभवेत् ॥ १ गवांमूत्रपुरीषेणत्रिसंध्यंस्नानमाचरेत् त्रिरात्रंपंचगव्याशीत्वधोनाभ्याविशुद्ध्यति ॥ २ ॥ नाभिकंठांतरोद्भूतेव्रणेचोत्पद्यतेकृमिः षड्रात्रंतुतदाप्रोक्तंप्राजापत्यंशिरोव्रणइति ॥ ३ यत्तुशातातपः। ब्राह्मणस्यव्रणद्वारेयदासंपद्यतेकृमिः प्रायश्चित्तंतदाकार्यमितिशातातपोऽब्रवीत् १ गोमूत्रंगोमयंक्षीरंदधिसर्पिःकुशोदकम् त्र्यहंस्नात्वापीत्वाचकृमिदष्टःशुचिर्भवेदिति ॥ २ ॥ तदीषदष्टविषयम् ॥

सके पूर्व श्लोकका ओहि अर्थ कथन कीताहै ॥ १ ॥ श्रौर गौवांके गोहे श्रौर मुत्र कर्के त्रय काल स्नान करे त्रयदिन पंच गव्य भक्षण करे नाभितें हिठां कृमि डंगणेसें शुद्ध होताहै ॥ २ श्रौर नाभि कंठके मध्यमे फट विषे कीडयांकी उत्पत्ति होवे तां छे ६ दिनका व्रत किहाहै श्रौर शिरके फटमें कृमि होण तां प्राजापत्य किहाहै ॥ ३ जो तुपुनः शातातपजीने किहाहै सो वौधायन जीके वाक्यके तुल्य अर्थ जानणा परंतु एकदिन करणा॥ १ ॥ एह थोडे दंशमें जानणा ॥ २ ॥

वर्णभेद करके तिसीनें क्या मनु जीने प्रायश्चित्तकहाहै ब्राह्मणस्येति ब्राह्मणके व्रणमे क्या फट विषे रक पाक वालेविषे कृमि उत्पन्न होण तां तिसका प्रायश्चित्त किस तरहीं होवे ॥ १ ॥ इस प्रश्नका उत्तर ॥ गौआंके मूत्रादि पंचगव्य करके स्नान करे त्रय दिन और पीवेतां कृमिदष्ट पवित्र होवेगा ॥ २ ॥ और ऐसा जेकर क्षत्री होवेतां पंजमासे सोना दान करे और वैश्य जेकर ऐसा होवे तां उपवासके पीछे गोदान करे ३ ॥ और शूद्र जेकर ऐसा होवे तां गोदान हि केवल करे उपवास नकरे तां शुद्ध होवाहै ॥ एभि नाभितें हेठ कृमि होणा तां जानणा ॥ तिस

वर्णभेदेनप्रायश्चित्तविशेषउक्तस्तेनैव ब्राह्मणस्यव्रणद्वारेपूयशोणितसंभवे कृमिरुत्पद्यतेयस्यप्रायश्चित्तंकथंभवेत् ॥ १ गवांमूत्रपुरीषेणदधिक्षीरेणसर्पिषा त्र्यहंस्नात्वाचपीत्वाचकृमिदष्टःशुचिर्भवेत् २ क्षत्रियोपिसुवर्णस्यपंचमाषान्प्रदापयेत् गोदक्षिणातुवैश्यस्याप्युपवासंविनिर्दिशेत् ३ शूद्राणांनोपवासःस्याच्छूद्रोदानेनशुद्ध्यतीति स्नानंपानंचपंचगव्येनैव दानंगोदानम् ॥ एतदपिनाभेरधस्तात्क्रिम्युत्पत्तौज्ञेयम् नाभेरुपरिविशेषउक्तोभविष्यत्पुराणे ॥ ब्राह्मणस्यव्रणद्वारेपूयशोणितसंभवे कृमिरुत्पद्यतेयस्यनिष्कृतिंतस्यवच्मितु १ गवांमूत्रपुरीषेणत्रिसंध्यंस्नानमाचरेत् दधिक्षीरंघृतंप्राश्यपंचगव्येनशुद्ध्यतीति २ ॥ अधोनाभेःप्रदष्टस्यआपादाद्विनतात्मज एतद्विनिर्दिशेत्प्राज्ञःप्रायश्चित्तंयथाभवेत् ३ नाभिकंठांतरेवीरयदाचोत्पद्यतेकृमिः षड्रात्रंतुतदाप्रोक्तंप्रायश्चित्तंमनीषिभिरिति ॥ ४ ॥

जगार्ते उपर जेकर होण तां तिस विषे विशेष किहाहै भविष्यत्पुराणमे ब्राह्मेति ब्राह्मणके व्रण विषे कृमि होजाण तां तिसकी निष्कृतिकों क्या प्रायश्चित्तकों कहताहुं ॥ १ ॥ गौआंके मूत्र करके और गोहे करके त्रय काल स्नान करे और दाहिं १ दुध २ घृत ३ इनकों खा करके पीछे पंचगव्य पान करके शुद्ध हुंदाहै एह विधि त्रय दिन तकहै ॥ २ ॥ नाभिके हेठ पैरों तक जेकर दष्ट होण हेविनताके पुत्र इसप्रायश्चित्तकों बुद्धिमान् कहे ॥ ३ और नाभि और कंठके ; मध्यमें कृमि होण तां छे ६ रात्रिकेपरिमाणवाला व्रत मुनियोंने शुद्धि वास्ते किहाहै ४ ॥

आपस्तंब जी कहते हैं बलादिति बलते क्या जोरावरीते जो दास बना लये हैं म्लछोने क्या मुसलमानोने और चांडालोने दस्यु जो नीच जाति तिनोने और अशुभ कर्म्म गौ वधादि जिनांते कराया है १ तिनांका जूठा उठाणा और जूठाहि खाणा और गधा १ ऊट ग्राम्य बराह १ इनका मांस भक्षण करणा ॥ २ ॥ और तिनांकिआं स्त्रीआंका संग और तिनां स्त्रीयां साथ भोजन करणा जेकर महीना रोज द्विजाति असा करे तां तिसका शोधन प्राजापत्यसे हुंदा है ॥ ३ ॥ और अग्निहोत्री जेकर अैसा कर्म करे तां चांद्रायण कर्के अथवा पराक कर्के शुद्ध होवे और जो आहिताग्नि नहि है परंतु वर्ष रोज तक तिनके साथ रिहा होवे सो जैसा कैसा हो चांद्रायण वा पराक करे ॥ ४ ॥ और जेकर शूद्र वर्ष रोज रहे तां अद्धा महीना यावक पीवे और जेकर महीना रोज पूर्वोक्त व्यवस्था

आपस्तंबः । बलाद्दासीकृतायेतुम्लेच्छचंडालदस्युभिः अशुभंकारिताःकर्मगवादिप्राणिहिंसनम् ॥ १ ॥ उच्छिष्टमार्जनंचैवतथातस्यैवभोजनम् खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्यचभक्षणम् ॥ २ ॥ तत्स्त्रीणांचतथासंगस्ताभिश्चसहभोजनम् मासोषितेद्विजातौतुप्राजापत्यंविशोधनम् ॥ ३ ॥ चांद्रायणंत्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवाभवेत् चांद्रायणंपराकंचचरेत्संवत्सरोषितः ॥ ४ ॥ संवत्सरोषितःशूद्रोमासार्द्धंयावकंपिवेत् मासमात्रोषितःशूद्रः कृच्छ्रपादेनशुद्ध्यति ॥ ५ ॥ ऊर्ध्वंसंवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तंद्विजोत्तमैः त्रिभिःसंवत्सरैश्चापितद्भावमनुगच्छतीति ॥ ६ ॥ हीनवर्णस्तुयःकश्चिदंत्यजैःसहसंवसेत् सशिखंवपनंकृत्वामासमेकं यवान्पिबेत् ॥ ७ ॥ सर्वाण्येतानि प्रायश्चित्तानि यथाशक्तियथानुबंधप्रत्ययाभ्यासापेक्षया व्यवस्थापनीयानीत्यपरार्के ॥ इदंचमहापातकिसंसर्गिप्रायश्चित्तानंतरं देवलस्मरणेनाप्युद्घाटितं तत्र द्रष्टव्यम् ॥

से तिनां साथ रहे तां लघु कृच्छ्र कर्के शुद्ध हुंदा है ॥ ५ ॥ वर्षते उपरंत तिनांके साथ रहे तां प्रायश्चित्त विद्वानोने कल्पना करणे योग्य है और त्रय वर्ष पर्यंत तिनांके साथ रहणे कर्के तिनांके हि स्वरूपको प्राप्त हुंदा हैं ॥ ६ ॥ जो कोई हीनवर्णदा नीचांदे साथ वासकरे तां सहित शिखादे मुंडन करावे और महीना रोज जवानू पींदा रहे अर्थात् जवानू बनाकर खांदा होया महीना व्यतीत करे ॥ ७ ॥ संपूर्ण एह प्रायश्चित्त यथाशक्ति और पाप करणे मैं दृढतासें और एक वार बहुवार के ज्ञान सें जोड लेनें एह अपरार्क मैं लिखया है ॥ और एह म्लेच्छ संसर्ग प्रायश्चित्त महापातकि संसर्गि प्रकरण में देवल स्मृति के दिखाणे कर्के प्रकट कीता है सो तिस जगाहि देखलेना इस जगा प्रसंगसें किहा है और उपपातक प्रकरण विषे भी किहा है प्रसंग वशाते

● अब जो लोक केदरह कर पीछे अपणेघरआवतेहैं तिनके अर्थ प्रायश्चित्त कहीदाहै जेडे मनुष्य राजाने अपराध जाण कर जोरसे दास बनाए हैं और तिनांतें स्नानादि नित्य कर्म्मभी छुडाआ है सो उसजगाते छुटेहोए वर्षादि कालके उचित जो चांद्रायणादि तिनांका संकोच कर्के प्राजापत्य कर्के शुद्धकर लेने उसमेभी तिनके निवासकी अल्पता और बाहुल्यताको देख कर द्विकृच्छ्र लघु कृच्छ्रादि व्यवस्था कर लेणी ॥ धर्म्म शास्त्रके योग्य जेडा न्याया।धि कारीराजा है तिसने बंदीघरविषें जोडे हैं ये लोक सो केवल नित्य कर्म्मके लोप करणे वि षेहि हैं तिनांका प्रायश्चित्त केवल नित्यकर्म्म लोपनिमित्त हि कहणा ॥ सो कहतेहे

● अथबंदीगृहनिवासपरावृत्तप्रायश्चित्तम् येतुराज्ञाऽपराधपूर्वबलाद्दासी कृताअशुभंकारिताश्चतन्मुक्तास्तेपूर्वोक्तसंवत्सरोचितचान्द्रायणादिह्रासा पेक्षयाप्राजापत्यं कुर्य्यु स्तत्रापि वासतारतम्येन द्विकृच्छ्रलघुकृच्छ्रा दिव्यवस्थोह्या ॥ येतुधर्म्मशास्त्रोचितन्यायाधिकारिणा क्षत्रियादिराज्ञाबं दीगृहेनियुक्तानित्यकर्म्ममात्रलोपिनस्तेषांनित्यकर्म्महानिनिमित्तम् ॥सं ध्योपासनहानौतुनित्यस्नानंप्रलोप्यच होमंचनित्यकंशुद्ध्यैगायत्र्यष्टसहस्र कमित्यादि पूर्वोक्तंप्रायश्चित्तंज्ञेयम् स्वयं परेण वा कारयेत् ॥ अ त्रान्यत्रवानुक्तविषये देशकालौचित्यं संभावनीयम् ॥

संध्योपेति संध्योपासन की हानि होयां क्या किसे कारण ते लोप होयां सपुना नित्य स्नानको लोप कर्के और नित्य करीदा जो हवन है तिसका लोप कर्के शुद्धिवास्ते आठसे अधिक हजार १००८ गायत्री जपे एह पीछे कहा होआ जानणा १ सो जप आपकरे अ थवा दूसरेते करावे ॥ इस जगा वा और जगा जो विषय कहणेमे नहि आया जैसे जिनां कोडयांतें पट्टकी उत्पत्ति है तिनांके मारणेका प्रायश्चित्त जुदे नहि लिखया तां इ त्यादियांमे देशकालोचितकी भावना करणी तां इनका प्रायश्चित्त (किंचित्सास्थिवधेदे यंप्राणायामस्त्वनस्थिके) इत्यादि वचनते एकके वधमे १ प्राणायाम है तिना बहुतयांके वधमे तिस द्रव्यका यथांशदान कल्पना मे आवेगा ॥

लोई याज्ञवल्क्य जीने किहाहै । देशमिति देश १ काल २ और अवस्था ३ शक्ति ४ पाप ५ इनाकों यत्नतें देख कर प्रायश्चित्तकी कल्पना करे ॥ जिस जगा प्रायश्चि त इस पापका एहहै ऐसा नहि किहा १ इसका अर्थ कहतेहैं जद निमित्त क्या पाप बहुत होवे तां तिसका नैमित्तिक प्रायश्चित्त बहुत हि होणा चाहिए जैसें वस्त्रांके भांडेआंकि चुरा णेका प्रायश्चित्त एक एकका बक्खरा कर्के नहि हो सका इसवास्ते व्यवस्था करदे हैं कि जि स्थे प्रायश्चित्तका उपदेश करणाहै उस जगा देशादिकों देख कर कहे जैसे करण वाले का प्राणवियोग न होवे तिस तहाँ करे जैसे प्रायश्चित्तहै ॥ वाय्विति वायु भक्षण करदा होया दि ने खलोता रहे और रात्रिमें जलोंमें वास करे और सूर्य्यके सामणे दृष्टि रक्खे रात्रिमें सूर्य्य

तथाचयाज्ञवल्क्यः । देशंकालंवयःशक्तिंपापंचावेक्ष्ययत्नतः प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यंस्याद्यत्रचोक्तानिष्कृतिः १ अर्थः । निमित्तबाहुल्येन प्रतिव्यक्तिनै मित्तिकस्यवक्तुमशक्यत्वादुक्तानुक्ताविषये व्यवस्थोच्यते । यत्रप्रायश्चि त्तमादिश्यते तद्देशादिकमपेक्ष्य यथाकर्त्तुः प्राणवियोगोनस्यात् तथा विषयविशेषोविधेयः॥ तथा वायुभक्षोदिवातिष्ठेद्रात्रिंनीत्वाप्सुसूर्य्यदृगि त्यत्रयदिहिमवद्गिरिनिकटवर्त्तिनामुदकवासउपादिश्यतेअतिशीताकुलिते वाशिशिरादिकालेतदाप्राणवियोगोभवेदिततद्देशकालपरिहारेणोदवासः कल्पनीयः तथावयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपरिपूर्णद्वादश वार्षिकस्यवाद्वादशाब्दिकं प्रायश्चित्तमुपदिश्यते तदाप्राणाविपद्येरन् ततो वयोविशेषादपि अन्यवयस्केतत्प्रायश्चित्तंकल्प्यम् ॥ अतएवस्मृत्यंतरे क्वचिदर्द्धंक्वचित्पादइति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य ह्रासोदर्शितः तच्च प्राक् प्रपंचितम् ॥

न देखण मे आवे तां तिस की दिशाको देखतारहे ॥ एह प्रायश्चित्त जद हिमालय वासियोंकों अथवा पौषमाघमें दित्ता जावे तां प्राणवियोगकी भावना होवेगी तां तिसके परिहार करके उसके जल वासकी कल्पना करणी तैसेहि अवस्थाके देखणेतेहै । जैसे ९० नबे वर्ष की आयु वालेकों अथवा १२ वारां वर्षकी आयु वालेको जेकर वारां वर्षका प्रा यश्चित्त किहाजावे तां तिसके प्राण दूर हो जाणगे इस करके उनको ऐसा नहि कहणा किंतु जुयानकों देखकर कहणा इसी कर्के और स्मृतिमें किहाहै । कि किस जगा अद्धा और कि से जगा चौथा हिस्सा प्रायश्चित्त वाल वृद्धादि विषे कहणा इसका प्रपंच पिच्छे भी होचुकाहै

एवं मिति इसीप्रकार निर्धन पुरुषविषे गजदानकी आज्ञा और आतुर जो रोगादि करके पीडितहै तिसने बारांदिनके उपवासवाले पराक व्रतकी आज्ञा और स्त्री शूद्रादिके विषय गायत्री जपा दिकी आज्ञा और बालादिविषय समग्रकी आज्ञा नहि होणीचाहिए किंतु कृच्छ्रकी जगा लघु कृच्छ्रादि हि उपदिशकरणे ॥ इसतें एह वार्त्ता सिद्ध होई कि प्रायश्चित्तदेणके समयमे सारे धर्म्म शास्त्रके देखणेका आवश्यकहै । इसी करके पहले १ दूसरे २ तीसरे ३ प्रकरणोंमे कामाकामा दि एकबार बहुवारादिका निर्णय विस्तरसे किहाहै ॥ इसजगा मिताक्षराकी व्यवस्था श्री

एवंनिर्धने गजदानादि आतुरादौ पराकादि स्त्रीशूद्रादौजपादिकं बाला दौ समग्रं नोपदिश्यते किंतु कृच्छ्रोपवासपादाद्येवोपदिश्यते एवंच प्राय श्चित्तदाने सकलधर्म्मशास्त्रावलोकनमपेक्षितंभवति अतएव प्रथमद्वितीय तृतीयप्रकरणेषु कामाकामसकृदभ्यासादिनिमित्तता प्रपंचिता अत्रमिताक्ष रा तथा महापापोपपापाभ्यांयोभिशंसेन्मृषापरम् अब्भक्षोमासमासोतेत्यु क्तम् तत्रमहापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्याप्युक्तत्वात्पापापेक्षयोपपात के मासिकव्रतस्यह्रासःकल्पनीयः तत्रच हसितजृंभितास्फोटनानि नाक स्मात्कुर्य्यात् तथा नोदन्वतोंभसिस्नायान्नचश्मश्रुवादिकर्त्तयेत् अंतर्वत्न्याः पतिः कुर्वन्नप्रजोभवतिध्रुवमित्यादौ प्रायश्चित्तंनोपादिष्टम् ।

सोहे महेति महापापकरके और उपपाप करके जो झूठा दोष किसेको लगावे सो महीना रोज जल पानमात्र करदा होआ व्यतीतकरे एह महापाप और उपपापाक तुल्यकप्रायश्चित्त किहाहै परंतु पूर्वोक्त वचनते उपपातकमे पूरामहीना नहि कहणा किंतु १० दिनकहणाचाहिए ॥ हासि तेति और हस्सणा १ उवासी लयणी २ बाहु ठोकणे ३ इनको कारणते बिना नकरे तैसेहि समुद्रके जलविषे स्नान १ और दाढीका कटाणा गर्भिणीकापति नकरे जेकर करे तां संतानतें रहित होताहै १ इत्यादि स्थानों मे प्रायश्चित्त नहि किहा ॥

तिसजगाभी देशादिकी अपेक्षाकर्के प्रायश्चित्त कल्पनाकरणी (प्रश्न) जितने निमित्त क्या पाप मनुजीके कहे होएहैं सो सभ प्रायश्चित्त कर्के युक्तहिहैं जैसे (प्राणेति) १०० सउप्राणायाम करणा चाहिए सभना पापांकेदूर करणे वास्ते उपपातकांदे समूहां वास्ते और अनादिष्ठ क्या जिनका प्रायश्चित्त विशेषकर्के नाहि किहा तिनां वास्ते इसकर्के सभका प्रायश्चित्त होचुका है किसकर्के कहतेहोकि आप कल्प लयना ॥ और गौतमजीने भीकिहाहै कि एही एकाहादि व्रतरूप प्रायश्चित्त आदेश विना जो स्थानहैं तिसजगा विकल्प कर्के कीत्तेजाण (उत्तर) यद्यपि सभजगा प्रायश्चित्तोपदेश है परंतु सामान्यकर्केहै विशेष कर्के नाहि तिसवास्ते देशकालादिकी

तत्रापिदेशाद्यपेक्षयाप्रायश्चित्तंकल्प्यम् ननुकिंचिदपिनिमित्तजातंमनूक्तं निष्कृतिकमुपलभ्यते प्राणायामशतंकार्य्यं सर्वपापापनुत्तये उपपातकजातानामनादिष्टस्यचैवहीत्यनुक्तनिष्कृतिष्वपिप्रायश्चित्तस्यविद्यमानत्वात् गौतमेनाप्येतान्येवानादेशेविकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहादयः प्रतिपादिताः उच्यते । सत्यमस्त्येव सामान्यतःप्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वदेशकालादीनामपेक्षितत्वादस्त्येवकल्पनावसरः नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणायामशतंयुक्तंनिमित्तस्यलघुत्वादतःपापापेक्षया ह्रासः कल्पनीयः प्रायश्चित्तांतरंवा ॥ ननु कथंपापस्यलघुत्वं येनप्रायश्चित्तस्य ह्रासस्यवाकल्पनास्यात् नचप्रायश्चित्तालपत्वादितिवाच्यम् अनुक्तनिष्कृतित्वादितिचेत्

अपेक्षाहोणेते कल्पनाकरणीआवश्यकहै एहिअर्थ स्पष्टकरीदाहै नचेति जेडे पिच्छे हसितादिपाप कहेहैं तिनां सभनांविषे १०० प्राणायाम उचित नहि क्योंकि निमित्तको लघुहोणेतें इसकारणते पापकी अपेक्षाकर्के १०० सउप्राणायामको थोडा करणा होगा अथवा कोई और प्रायश्चित्त कल्पनाकरणाहोगा (प्रश्न)किसतर्हां पाप छोटाजानणा जिसकर्के १००सउका और प्रायश्चित्त का ह्रास क्या अल्पत्वकीकल्पनाहोवे जेकर कहो कि थोडा प्रायश्चित्तदेखणेकर्के मलूमहुंदाहै ऐसा मत कहणा कि इसजगा प्रायश्चित्तका नहि कथनहोणेते ॥ जिसजगा प्रायश्चित्तका उपदेश हि नाहि उसजगा किसतर्हां जाणोगे ॥

सत्यमिति (उत्तर) एहआपने सच्च किहाहै तथापि कुछक अर्थवाद क्या प्रशंसाके पहले कहणेते पीछे जाणकर करना और नजाण कर करना और हठकर करणा और विनाहठसे करना इत्यादि विचारसे पापका थोडा वहुत होनेका ज्ञान सुखालाहिहै और तहाँसेभी थोडे वहुतेका ज्ञान हुंदाहै इसको कहहैंते तथेति जिसजगा राजदंडका प्रसंगहै तिससेभी एह प्रतीत होवेगा सो दंड विधान विधि विषे देख लेना जैसे ब्राह्मणको दुर्वचन पूर्वक दंड उठाणे आदि अपराध विषे अपणी जाति विषे प्राजापत्यादिक कहेहैं तिसमै जद आनुलोम्य कर्के क्या ब्राह्मणादिसे क्षत्रियाणी आदिसे उत्पन्न होयां विषे तिस ब्राह्मणावगूरणादि पापका पूर्वोकसे थोडा देखणेते और मूर्द्धावसिकादियोंने ब्राह्मणां विषे पूर्वोक्त अपराध

सत्यं किंचिदर्थवादसंकीर्त्तनाद्बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वानुबंधाद्यपेक्षया चसुबोधएव दोषस्यगुरुलघुभावः तथादंडह्रासवृद्ध्यपेक्षयाच प्रायश्चित्तस्यगुरुलघुभावः सतु दण्डप्रणयनविधौद्रष्टव्यइति यथा ब्राह्मणावगूरणादौ सजातिविषयेप्राजापत्यादिकमुक्तम् तत्र यदानुलोम्येनप्रातिलोम्येन वाऽवगूरणादिक्रियते यदावामूर्द्धावसिक्तादिभिस्तदादंडस्यतारतम्यदर्शनाद्दोषाल्पत्व महत्त्वावगमात् प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः । दर्शितश्चदण्डस्यगुरुलघुभावः प्रातिलोम्यापवादेषुद्विगुणास्त्रिगुणोदमइत्यादिनेति ॥ अथप्रायश्चित्तविवेके ॥ प्रायश्चित्तीयतेनर इत्यत्र नरपदोपादानात्सर्वेषां चांडालादीनामपि तद्धर्मप्रदर्शनपूर्वं प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥

विषे वहुत दंडहै इसीसे प्रायश्चित्तमेभी ऐसा देखणेते विचार सुगमहै सो तिसजगा दिखायाहिहै (प्रातिलोम्यापवादेषु) इत्यादि श्लोकों कर्के शूद्रादिसे क्षत्रियाणी आदि विषे उत्पन्न होए अपणेते उच्चीजाति वाले विषे अपराधकरें तां तिनांको दूणादंड करणा एह अर्थहै । अब प्रायश्चित्त विवेक ग्रंथमै और विचार लिखाहै सो कहीदाहै विहितके नकरणेसे १ और निंदितके सेवनेसे २ इन्द्रियोंके नरोकणेसे ३ नर प्रायश्चित्तीहुंदाहै इसजगा (नर) ऐसा किहाहै ॥ द्विज ॥ ऐसा नहि किहा इसतें प्रतीत होया कि चांडालादिकोभी कोई अपना धर्म्महै और तिसके त्यागणेते तिनोंकोभी प्रायश्चित्त है ॥

सो देवलजीने किहाहै कि अपणी जातिका पोषण करणा १ और सभको प्रणाम करणी २ शीतोष्णादिका सहारणा ३ व्यवहारशुद्ध रक्षणा ४ और किसेका अनादर नहि करना ५ और अपणे सेवककों पालना ६ प्रधानकर्म्मपरिवर्ज्जन क्या उत्तम जातिके योग्य जो कर्म्म तिसका त्यागणा ७ एह चांडालोंके धर्म्मकी हानिहोयां मनुजी प्रायश्चित्त कहतेहैं ब्राह्मणके अर्थ और गौआंके अर्थ जो देह त्यागहै और जेकर चांडाल किसेकी स्त्रीको वावालकको मारे तां शस्त्रादिके विना अर्थात् अनशनादि कर्के देह त्यागहै एह वाह्य क्या जो वर्णाश्रमते हीन तिनांकी शुद्धिका हेतुहै परंतु इसमे एभी अर्थहै कि जद थोडा अपराधहै तां गो ब्राह्मणके अर्थ देह त्याग करणा क्या देहको समर्प्पण करणा तिनांकी सेवा वास्ते जद सेवा

तद्यथा देवलः॥ स्वजातिपोषणंसर्वप्रणामस्तितिक्षाव्यवहारशुद्धिरपरानवमाननंस्वभृत्यपोषणंप्रधानकर्म्मपरिवर्ज्जनमितिचांडालधर्म्मःएतदादिधर्म्मप्रच्युतौ स्वजातिवैमुख्ये प्रायश्चित्तमाहमनुः ॥ ब्राह्मणार्थेगवार्थेवादेहत्यागोऽनुपस्कृतः स्त्रीवालाभ्युपपत्तौचवाह्यानांशुद्धिकारणम् ॥ १ ॥ चाण्डालादिकर्त्तृकस्त्रीवालादिविपत्तौजायमानायामनुपस्कृतः शस्त्रादिसंभारशून्योदेहत्यागोगोब्राह्मणरक्षार्थेवाह्यानांवर्णाश्रमहीनानां शुद्धिहेतुः ॥ अत्राल्पेऽपराधे गोब्राह्मणकार्य्यार्थे देहत्यागोदेहसमर्पणम् तत्प्रीतौसत्यां तच्छुद्धिरित्यर्थोवसेयः ॥ स्त्रीवालेतिपदंगवादिहिंसोपलक्षणपरम् ॥ अत्रसाधारणप्रकरणोक्ततीर्थसेवापि पापतारतम्येन योज्या प्रायश्चित्तानंतरंसजातिभोजनमपि॥इतिवर्णाश्रमवाह्यशुद्धिहेतुप्रायश्चित्तम्॥ ❀ किंतुकालमवेक्ष्यप्रायश्चित्तंदातव्यमित्यत्रेदमपिचिन्तनीयम् पूर्वोक्तसंसर्गादिप्रायश्चित्तं प्रायोयुगान्तरयोग्यमेव तस्याधुनाकलौसंकोचःकर्त्तव्यः ॥

कर्के सो प्रसन्न होणगे तां शुद्ध होवेगा ऐसा जानणा १ और स्त्रीवाल पद गवादिके मारणेका उपलक्षणहै अर्थात् तिनांके मारणेमेभी पूर्वोक्त प्रायश्चित्त करणा इसजगा साधारण प्रकरणमे किहा जो तीर्थ सेवनादि सोभी पापकी न्यूनता वा अधिकता देखकर जोडने और जद प्रायश्चित्त हो जावे तां पीछे सजातियोंको भोजन देणा एह वर्णाश्रमते हीन जो लोकहैं तिनकी शुद्धि करने वाला प्रायश्चित्त पूराहोआ ❀ अब और विचार करतेहैं किंचेति कालको देखकर प्रायश्चित्तदेणा इसमे एभीविचार है कि जेडा पिच्छे छोणे का और परंपरा छोणेका प्रायश्चित्त किहाहै सोसभ और युगोंमेहै कलियुगमे नहि

क्योंकि जिनके साथ छोकर प्रायश्चित्त करणा है सोई कलियुगमें राजा हैं किसप्रकार अथवा कितने वार एकवृक्षकी छाया विषे बैठ कर अथवा लकडी पर किसे शाखापर एकफरसवाली सभामें और संभाषण करणा क्या तिनके साथ वार्ता करणीया तिसमें संबंधवालाहोकर प्रायश्चित्तकरे इसते ऐसा करणा चाहिए कि साथभोजनमें जलपीणेमें तिनकी स्त्रीके भोगमें और तिनको पढाणेमें और तिनसे पढनेमेंहि प्रायश्चित्त कल्प नाकरना और इनसे हीरना छोटे पापमें सूर्यादि दर्शन और मध्यममे १०० सदु गायत्रीका जप और उससे जो वडेहैं तिनमें नक्त और स्नान रूप प्रायश्चित्त किहाहै सोमहापातकिके संसर्गि प्रकरणमे देखलिना क्योंकि इससमयविषें तिसतरहींके संसर्गको अव श्यहोणे तें तैसे प्रायश्चित्तको कदेभी नहिं होणेतें देशकालके देखणेंसे और अनुग्रह

यैःसंसृज्यप्रायश्चित्तीयते तएव यत्र राजानः कथंकतिवारान्वातत्रैकवृक्ष च्छायादौ एकशाखादावेकवस्त्रास्तृतसभादौ संभाषणादिप्रवृत्तौ संसर्गी भूत्वा प्रायश्चित्तंकुर्य्यादतस्तत्र सहभोजनपानयौनादौ सत्येव प्रायश्चि त्तंकल्प्यम् एतदतिरिक्तसंसर्गेलघौ सूर्य्यादिदर्शनंमध्यमे शतंगायत्रीजपः १००उत्तमेनक्तं स्नानं चेति महापातकिसंसर्गिप्रकरणेपि द्रष्टव्यम्॥ सा म्प्रतंतेषांतथाविधस्यन्यूनस्यापिसंसर्गस्यनाप्राप्तत्वात् तथाविधप्रायश्चि त्तस्यकर्त्तुमशक्यतयादेशकालावेक्षणेनानुग्रहस्यशास्त्रानुमतत्वेनाल्पतर प्रायश्चित्तोपदेशस्ययुक्तत्वादेवंचांडालादिधूमयंत्रेण ॥ द्विजात्यादिना धू मपाने उच्छिष्टभक्षणादौसाक्षात्तच्छब्दानुपादानात्तदुपलक्षणेनैवतत्प्राय श्चित्तोपलंभोभवति यथा अंत्यानांभुक्तशेषंतुभक्षयित्वाद्विजातयःचान्द्रंकृ च्छ्रंतदर्द्धंचब्रह्मक्षत्रविशांविधिरित्यापस्तंबीयेभुक्तशेषंधूमयंत्रोपभुक्तिशेषो पलक्षणम् अत्रक्षत्रियविशोःकृच्छ्रतदर्धविधानंतदापदिवलात्कारादन्नेतर ताम्बूलाद्युच्छिष्टपरमितिप्रायश्चित्तकदंबः अत्रादिनातदुच्छिष्टधूमोगृह्यते

करणेसें शास्त्रकी संमतिसें प्रायश्चित्तोपदेशको युक्तहोणेतें ॥ इसी प्रकार चांडालादिके धूमयंत्र करके द्विजात्यादिके धूमपानविषें अर्थात् तमाकूके पीणे विषें उच्छिष्ट भक्षणादि विषें साक्षात् कोईतिसका वाचकपद नहि लभदा तथापि उपलक्षण विधानसेक्या चांडालादिका जूठाजा णकरके प्रायश्चित्त देणाचाहिए ॥ जैसे नीचोंके भुक्तशेष को क्या जूठेको द्विजाति खाकर ब्रा ह्मण चांद्रायण करे क्षत्री प्राजापत्यकरे वैश्य अर्द्धकृच्छ्रकरेतां शुद्ध हुंदाहै एहआपस्तंवजीका वचनहै भुक्तशेषपद झारी नरेले आदिका बोधकहै अत्रेति इसजगा क्षत्रिय वैश्यका कृच्छ्रका और तिसके अर्द्धका जो विधानहै सो आपत्ति विषेक्या किसेक्लेशविषे अथवा वलत्कारतो अन्नते विना तांबूलादि जूठेके भक्षणके विधान विषे जानणा एह प्रायश्चित्तकदंबविषेलिख याहै इसमें आदिशब्दतें जूठे धूमकाभी ग्रहण करना

और जगानकहणेते एहकामनामेहै विनाकामनाते अहाजानणा सोई अंगिराजीने किहाहै चांडाल पतितादिओंके जूठेखाणेविषे ब्राह्मण चांद्रायणकरे और क्षत्रीसांतपनकरे औरवैश्यको६रात्रका और शूद्रको तिन्ना३रातांका व्रतकिहाहै १ इसमे सांतपनकर्के महासांतपन समझणा बहुत पाप होणेते इहांभी अन्नपद धूमका उपलक्षणहै भोजनभी जोउदरमे चलाजावे सोजानणा मुखप्रवेश मात्रनहि जानणा तिसविषेमी वहुतवार करणेमे जानणा एकवार करणेमे लघुकृच्छ्रकी विधिहै यत्रोक्तं) इस उशनाजीके वचनसे १ इसका अर्थ पीछे होचुकाहै इसमे कुछ और पराशरजी कहतेहैं भांडेति नीचांके भांडे विषे जो जल १ दही २ दुध ३ है इसको ब्राह्मण क्षत्री वैश्य

अन्यत्रानुक्तत्वादिदंकामतःअकामतस्त्वर्द्धम् तथांगिराअपि चांडालपतितादीनामुच्छिष्टान्नस्यभोजने चांद्रायणंचरेद्विप्रःक्षत्रःसांतपनंचरेत् षड्रात्रंच त्रिरात्रंचवर्णयोरनुपूर्वशइति१सांतपनमत्रमहासांतपनंद्रष्टव्यम् अत्राप्यन्नपदंधूमोपलक्षणम् भोजनंचगलाधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारएव इदमभ्यासविषयम् सकृद्विषयेतुलघुकृच्छ्रं यत्रोक्तंयत्रवानोक्तमिहपातकनाशनम् प्राजापत्येनशुद्ध्येतेत्युशनस्सामान्यप्रायश्चित्तस्मरणात् किंच पराशरः भांडस्थमंत्यजानांतुजलंदधिपयःपिवेत् ब्राह्मणःक्षत्रियोवैश्यःशूद्रश्चैवप्रमादतः १ब्रह्मकूर्चोपवासेनद्विजातीनांतुनिष्कृतिः शूद्रस्यचोपवासेनतथादानेनशक्तितः २ इत्यत्रापिभांडपदंधूमयंत्रोपलक्षणम् ॥ जलंधूमोपलक्षणंवोध्यम् ॥ प्रायश्चित्तस्योचितत्वादन्यत्रानुक्तत्वाच्च ॥ किंच साधारणप्रकरणे विश्वामित्रः कृच्छ्रचान्द्रायणादीनिशुच्यभ्युदयकारणम् प्रकाशेचरहस्येचअनुक्तेसंशयेस्फुटे १

शूद्र भुल्लकरपीवे १ तांतिन्नावर्णांकी ब्रह्मकूर्चके साथ उपवासकर्के शुद्धिहुंदीहै औरशूद्रकादानके साथ उपवास कर्के हुंदीहै ॥ २ ॥ इसजगाभी भांडपद धूमयंत्रका उपलक्षणहै और जल धूमका उपलक्षण क्यावोधकहै क्योंकिप्रायश्चित्तको उचितहोणेतें और दूसरी जगा नाहि कथनतें ॥ कुछ होर कहते हैं किंचेति साधारण प्रकरणमे विश्वामित्रजीका वचनहै कृच्छ्र चांद्रायणते लेकर जोवतहैं सोसभ पवित्रताके और अभ्युदयके क्यावृद्धिके कारणहैं प्रकाशविषे क्या जोसभकों विदितहोवे तिसके प्रायश्चित्त विषे और रहस्य विषे और अनुक्त प्रायश्चित्तविषे और जिसमें संशयहै तिसमे और स्फुटक्या जिसपापका निर्णय होचुकाहै ॥ १

तिसमें प्राजापत्य इत्यादि १२ बारां व्रतहैं एहसभ इकठे अथवा जुदे जुदे इकपापमें० इकप्रा० अथ वा दो तिन आदिपापमें इकप्रा०सवनांपातकांविषे और उपपापांविषे ॥ ४ ॥ चांद्रायणकर्के युक होएहोए करनेयोग्यहैं अथवा विना चांद्रायणके करनेयोग्यहैं चांद्रायणके भेदकहतेहैं शिशिचांति शिशुचां.१ यति.२यव.३ पिपीलका. ४ और उपवासादि ७ एहसभ शुद्धि फलकी इच्छावालेने करनेचाहिए उपघातकादि सभना पापांके दूरकरणेकी इच्छावालयोंने ७ प्रकाशविषे अप्रकाशविषे पापिके आभिप्रायको जाणकरके और जाति शक्ति गुणानुं देखकर्के एकवार दोवारको जाण कर्के ॥ ८ ॥ और अनुबंधादिको देखकर्के सभएह प्रायश्चित्त यथाक्रम कर्के करे ॥

प्राजापत्यः सांतपनः शिशुकृच्छ्रःपराककः अतिकृच्छ्रः पर्णकृच्छ्रः सौम्यकृच्छ्रोऽतिकृच्छ्रकः २ महासांतपनःसिद्धैतप्तकृच्छ्रस्तुयावकः जपोपवासकृच्छ्रस्तुब्रह्मकूर्चस्तुशोधकः ३ एतेव्यस्ताःसमस्तावाप्रत्येकद्व्येकशोऽपिवा पातकादिषुसर्वेषुउपवासेषुयत्नतः ॥ ४ ॥ कार्याश्चान्द्रायणैर्युक्ताःकेवलावाविशुद्धये शिशुचान्द्रायणंप्रोक्तंयतिचान्द्रायणंतथा ॥ ५ ॥ यवमध्यंतथाप्रोक्तं तथापैपीलिकाकृतिः उपवासस्त्रिरात्रंवामासः पक्षस्तदर्द्धकम् ६ षडहोद्वादशाहानिकार्य्यंशुद्धिफलार्थिना उपपातकयुक्तानामनादिष्टस्यचैवहि ७ प्रकाशेवाऽप्रकाशेवाअभिसंध्याद्यपेक्षया जातिशक्तिगुणान्दृष्ट्वाअसकृद्द्विः कृतंतथा८अनुबंधादिकंदृष्ट्वासर्वंकार्य्यं यथाक्रममिति एषुपक्षेषुजातिशक्तिगुणावस्थाद्यपेक्षयाविषयविभागोवसेयः ॥ इतिचंडालाद्युच्छिष्टधूमपानप्रायश्चित्तम् ❀ क्षुद्रजन्तुवधप्रा- उपपातकप्रकरणेहिंसाप्रसंगेऽवगंतव्यम् ॥ इतिश्रीमन्महाराजाधिराजजम्बूकाश्मीराद्यनेकदेशाधीशप्रभुवररणवीरसिंहाज्ञप्तसारस्वतपंडितदेवीदत्तसुतपण्डितगंगारामसंगृहीतेपञ्चविषयात्मकप्रतिरूपके धर्म्मशास्त्रमहानिवन्धे प्रायश्चित्तभागेजातिभ्रंशकर. संकरीकरण.अपात्रीकरण ❀ मलिनीकरण. प्रकीर्णकानिपंचप्रकरणानि ७ ८ ९ १० ११ ॥❀॥

एह चांडालादिकर्के जूठा धूआं तिसके पीणेका प्रायश्चित्त पूराहोया ❀। होर निक्के जीवांके मारणेका प्रा० उपपातक प्रकरणमें हिंसाके प्रसंगविषे देखलेना ॥ ❀ ॥ एहश्रीराजाधि राज रणवीर सिंह जीकी आज्ञासे पंडितवरसारस्वत देवीदत्तजीके पुत्र पंडित गंगारामने संग्रहकी तेहोएधर्म्मशास्त्रके ग्रंथके प्रायश्चित्त भागविषे जातिभ्रंशादि ४ और प्रकीर्णक प्रकरण पूराहोआ ॥ ४ ॥ शुभं भूयात् ॥ ॥ ७ । ८ । ९ । ०१ ११ ॥

तिसमें प्राजापत्य इत्यादि १२ बारां व्रतहैं एहसभ इकठे अथवा जुदे जुदे इकपापमें • इकप्रा • अथवा दो तिन आदिपापमें एकप्रा • सवनांपातकांविषे और उपपापांविषे ॥ ४ ॥ चांद्रायणकर्के युक होएहोए करनेयोग्यहैं अथवा विना चांद्रायणके करनेयोग्यहैं चांद्रायणके भेदकहतेहैं शिशिवाति शिशुचां. १ यति. २ यव. ३ पिपीलका. ४ और उपवासादि ७ एहसभ शुद्धि फलकी इच्छावालेने करनेचाहिए उपघातकादि सभना पापांके दूरकरणेकी इच्छावालयोंने ७ प्रकाशविषे अप्रकाशविषे पापिके आभिप्रायको जाणकरके और जाति शक्ति गुणानुं देखकर्के एकवार दोवारको जाणकर्के ॥ ८ ॥ और अनुवंधादिको देखकर्के सभएह प्रायश्चित्त यथाक्रम कर्के करे ॥

प्राजापत्यः सांतपनः शिशुकृच्छ्रःपराककः अतिकृच्छ्रः पर्णकृच्छ्रः सौम्यकृच्छ्रोऽतिकृच्छ्रकः २ महासांतपनःसिद्धैतप्तकृच्छ्रस्तुयावकः जपोपवासकृच्छ्रस्तुब्रह्मकूर्चस्तुशोधकः ३ एतेव्यस्ताःसमस्तावाप्रत्येकद्वेकशोऽपिवा पातकादिषुसर्वेषुउपवासेषुयत्नतः ॥ ४ ॥ कार्याश्चान्द्रायणैर्युक्ताःकेवलावाविशुद्धये शिशुचान्द्रायणंप्रोक्तंयतिचान्द्रायणंतथा ॥ ५ ॥ यवमध्यंतथाप्रोक्तं तथापैपीलिकाकृतिः उपवासस्त्रिरात्रंवामासः पक्षस्तदर्द्धकम् ६ षडहोद्वादशाहानिकार्य्यंशुद्धिफलार्थिना उपपातकयुक्तानामनादिष्टस्यचैवहि ७ प्रकाशेवाऽप्रकाशेवाअभिसंध्याद्यपेक्षया जातिशक्तिगुणान्दृष्ट्वाअसकृद्द्विः कृतंतथा ८ अनुवंधादिकंदृष्ट्वासर्वंकार्य्यंयथाक्रममिति एषुपक्षेषुजातिशक्तिगुणावस्थाद्यपेक्षयाविषयविभागोवसेयः ॥ इतिचंडालाद्युच्छिष्टधूमपानप्रायश्चित्तम् ❀ क्षुद्रजन्तुवधप्रा- उपपातकप्रकरणेहिंसाप्रसंगेऽवगंतव्यम् ॥ इतिश्रीमन्महाराजाधिराजजम्बूकाश्मीराद्यनेकदेशाधीशप्रभुवररणवीरसिंहाज्ञप्तसारस्वतपंडितदेवीदत्तसुतपण्डितगंगारामसंगृहीतिपञ्चविषयात्मकप्रतिरूपके धर्म्मशास्त्रमहानिवन्धे प्रायश्चित्तभागेजातिभ्रंशकर. संकरीकरण. अपात्रीकरण ❀ मलिनीकरण. प्रकीर्णकानिपंचप्रकरणानि ७ ८ ९ १० ११ ॥❀॥

एह चांडालादिकर्के जूठा धूआं तिसके पीणेका प्रायश्चित्त पूराहोया ❀ । होर निके जीवांके मारणेका प्रा० उपपातक प्रकरणमें हिंसाके प्रसंगविषे देखलेना ॥ ❀ ॥ एहश्रीराजाधि राज रणवीर सिंह जीकी आज्ञासे पंडितवरसारस्वत देवीदत्तजीके पुत्र पंडित गंगारामने संग्रहकीतेहोए धर्म्मशास्त्रके ग्रंथके प्रायश्चित्त भागविषे जातिभ्रंशादि ४ और प्रकीर्णक प्रकरण पूराहोआ ॥ ४ ॥ शुभं भूयात् ॥ ॥ ७ । ८ । ९ । १० ११ ॥

॥ पंचमप्रकरणसूचीपत्रमिदम् ॥

॥ पंचमप्रकरणसूचीपत्रमिदम् ॥

॥ पंचमप्रकरणसूचीपत्रमिदम् ॥

॥ पंचमप्रकरणसूचीपत्रमिदम् ॥

॥ प्रकीर्णकप्रकरणसूचीपत्रम् ॥

षष्टप्रकरणशुद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१६४	मू०५	स्तार्थ्यं	स्तीर्थ
१६४	टी०५	त्रिर्हावि	त्रिर्हवि
१६७	मू० १	ष्वंपि	ष्वपि
१६८	मू०२	हहते	दहते
१७०	टी०३	आति	अति
१७२	मू०३	तिष्ठद	तिष्टेद

पृ०	प	अशुद्ध	शुद्ध
१७३	मू०६	नृश्यति	नश्यति
१७३	मू०७	ष्णोन्	ष्णोर्न
१७३	टी०७	पजया	पूजया
१७४	टी०२	मनकं	मनके
१७४	टी०५	नमस्कर	नमस्कार
१७५	टी०५	आदिशब्दने	अपिशब्दतें
१७५	मू०१	निमज्य	निमज्ज्य
१७६	टी०७	वर्प	वर्ष
१७६	टी०८	औरविच्छेद	औरविनाविच्छेदसे
१७७	टी०६	तियोजोए	तियोजेए
१७८	टी०७	तासि	तीस
१७८	टी०५	तीनों	तिनों
१७८	म०५	जंम्बू	जम्बू
१८४	टी०१	देवें	देवे
१९०	टी०१	ब्रके	ब्रतके
१९०	टी०७	वेगा	वेगासो
१९२	मू०८	विपम्	विषयम्
१९७	मू०१	कशे	कश
१९९	मू०२	आः	आह
२००	मू०१	तेर	तर
२१०	मू०५	तीयामग्रेत्रुटी०	विष्णोःकर्माणीतितृतीयां
२१४	मू०८	तिष्ट	तिष्ठे
२१७	मू०९	तत्मज	तात्मज
२१७	टी०२	ब्राह्म	ब्रह्म
२२०	मू०१०	ततर	तरे
२३३	मू०८	कूत्र	कुत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२३७	मू १	चिशत्त	श्चित्त
२५६	मू ४	स्पृष्टवा	स्पृष्ट्वा

॥ व्रतादिप्रकरणेयत्रयत्रमंत्रप्रतीकानिकृतानितत्पूर्त्यर्थंमंत्रसंग्रहोलिख्यते ॥

पृ० पं० प्रतीक

१५ १ हिरण्येति हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकायासुयातः सवितायास्वग्निया अग्निंगर्भंदधिरे सुवर्णास्तानआपःसंस्योनाभवंतु ॥ १ ॥

१९ ७ देवकृतस्येति देवकृतस्यैनसोवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोवयजनमसिपितृकृतस्यैनसोवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोवयजनमस्येनसऽएनसोवयजनमसि यच्चाहमेनोविद्वांश्चकारयच्चाविद्वांस्तस्यसर्वस्यैनसोवयजनमसि य० सं० अ०८

१९ ७ तरत्समिति तरत्समंदीधावतिधारासुतस्यांधसः तरत्समंदीधावति

६१ २ त्र्यंबकइति त्र्यंबकंयजामहेसुगंधिंपुष्टिवर्धनम् उर्वारुकमिवबंधनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥

१३० ३ मानस्तोकेति मानस्तोकेतनयेमानऽआयुषिमानोगोषुमानोऽअश्वेपुरीरिषः मानोवीरानूरुद्रभामिनोवधीर्हविष्मंतःसदमित्वाहवामहे ॥

॥ व्रतादि प्रकरणेयत्रयत्रमंत्रप्रतीकानिकृतानितत्पूर्त्यर्थंमंत्रसंग्रहोलिख्यते ॥१९

१४०	२	संतेपयांसि	संतेपयांसिसमुयंतुवाजाःसंवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः आप्यायमानोअमृतायसोमदिविश्रवांस्युत्तमानिधिष्व
१४५	११	यतइति	यतऽइंद्रभयामहेततोनोअभयंकृधि मघवंछग्धितवतन्नऊतिभि र्विद्विषोविमृधोजहि ॥
१४६	१	शन्नइति	शन्नइंद्राग्नीभवतामवोभिःशन्नइंद्रावरुणारातहव्या शमिंद्रासोमासुवितायसंयोःशन्नइंद्रापूषणावाजसातौ ॥
१४६	१	पुनंतुमामिति	पुनंतुमादेवजनाःपुनंतुमनसाधियः पुनंतुव्विश्वाभूतानिजातवेदःपुनाहिमां
१६६	४	अवतइति	अवतेहेडोवरुणनमोभिरवयज्ञेभिरीमहेहविर्भिःक्षयंनस्मभ्यमसुरप्रचेताराजन्नेनांसिशिश्रथःकृतानि
२१०	५	विष्णोरिति	विष्णोःकर्माणिपश्यतयतोव्रतानिपस्पशे इंद्रस्ययुज्यःसखा ॥
२१५	३	इमंमेति	इमंमेवरुणश्रुधीहवमद्याचमृडय त्वामस्युराचके ॥
	३	उदुत्तममिति	उदुत्तमंवरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमश्रथायाअधावयमादित्यव्रतेतवानागसोवयमादितयेस्याम ॥
२७०	२	धाम्नोधाम्नइति	धाम्नोधाम्नोराजंनितोवरुणमुंचनयथास्मते विरोदतोभितप्तमिवानति

॥ दोहा ॥

रामचंद्रकरुणानिधिभक्तलोकउरधार
महाराजरणवीरके सभकारजसुधपार
॥ १ महाराजरणवीरसिंहदूसरोहै हर
नाम्म इसवलसे शो धनकरे जुपंडत गं
गाराम ॥ २ ॥

OBJECTS OF THE INSTITUTE.

: products of Ancient Indian Literature in critical and moderately priced .tions and critical and explanatory notes in English, Hindi and Bengali ·s.

› scholars to make researches in Ancient Indian Literature under proper body their results in periodicals in English and Vernaculars.

(c) To maintain a suitable library, museum etc.

(d) To open cultural centres in different parts of India and in other countries.

(e) To take steps to spread the knowledge of Ancient Indian Culture and Civilization.

(f) Te be associated with other institutions with similar objects and to work for harmonious federation of all such institutions.

(g) To organise educational institutions on the lines of ancient Gurukula with up-to-date resources for scientific and technical education.

Scheme of Work

1. The following Series of Literature may be published simultaneously :–

   (a) Vedic Series (consisting of the whole Vedic Literature).

   (b) Philosophical Series (consisting of the best products of all the systems.)

   (c) Smṛti Series (including Purānas, Dharmaśastras, etc.),

   (d) Buddhistic Series,

   (e) Jaina Series,

   (f) Indian Positive Sciences Series (consisting of Indian Chemistry, Physics, Mathematics, Astronomy etc.)

   (g) Ayurveda Series.

   (h) Indian Sociology series (consisting of Indian Law, History, Economics etc.)

   (i) Fine Arts Series,

   (j) Miscellaneous (Exegetic works on Indian Culture.)

INDIAN RESEARCH INSTITUTE PUBLICATIONS

FINE ARTS SERIES—No. 1

BARHUT

BOOK I

JĀTAKA-SCENES
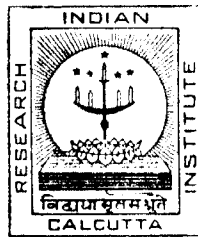
BY

BENIMADHAB BARUA, M.A., D. LIT. (LOND.)

Professor, Department of Pali, Lecturer, Departments of Sanskrit and Ancient Indian History and Culture, University of Calcutta, formerly a Government of India Scholar, and author of "Gayā and Buddha-Gayā." "A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy", "Barhut Inscriptions", "Old Brāhmi Inscriptions", etc.

CALCUTTA

1934
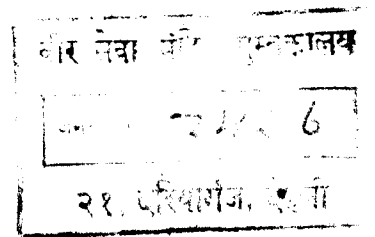
IN MEMORY OF

RADHARANI

THE ONLY LITTLE DAUGHTER

OF

Dr. B. C. LAW

—a distinguished Scholar and Patron of Buddhistic
Studies in India at whose instance this work
was undertaken and under whose
genial care it developed.

PREFACE

In offering Barhut Book II—Jātaka Scenes to the reading public, I take the opportunity of correcting a mistake (Bk. I. P. 3) in the naming "Outer Railing" for which Cunningham is responsible. According to Sir John Marshall, the remains are not of any outer but of a Berm Railing of the same pattern as one finds at the base of the Sanchi Stūpas. The term "outer" being inappropriate, the term "inner", used in contradistinction to "outer", loses its significance. Consequently, the Barhut Railing is the simple term by which the main enclosure should be denoted.

The publication of this Book brings my prolonged study of the monument of Barhut with its central mound, railings, gateways, inscriptions and sculptures to an end. The Book III, however, will contain the illustrations serially numbered for reference in both the books.

Calcutta University,
October, 15, 1934.

B. M. BARUA

PUBLISHER'S NOTE

The Indian Research Institute is now in a position to publish Book II of Professor Barua's monograph—Barhut as the second number of its Fine Arts Series publications.

The Institute is grateful to its Vice-President Dr. B. C. Law, M.A., B.L., Ph.D., for his kind patronage and generous help in enabling the Institute to undertake these costly publications.

The Indian Research Institute
October, 15, 1934.

SATIS CHANDRA SEAL

CONTENTS

BARHUT

BOOK II

JĀTAKA-SCENES

SECTION I

SCENES OF BODHI-TREES IN INCULCATION OF THE MAHĀPADĀNA DOCTRINE OF BUDDHOTPĀDA-DHARMATĀ

1. Pl. XXIX. 1 [Scene 26] :—Bhagavato Vipasino Bodhi[1].
"The Bodhi-Tree of the Divine Master Vipaśchit."

This is the label of a medallion-carving depicting the scene of Bodhi-Tree of Buddha Vipaśchit. The tree, according to Buddhist tradition, is no other than Pāṭali, Bignonia Suoveolens or the famous Trumpet-Flower. What we here have, as Cunningham observes[2], is a full front-view of the tree in flower preventing its identification from its representation. The throne of the Buddha at the foot and in front of the tree is an elevated platform of solid structure, apparently a cubical jewel-seat, bearing some auspicious leaf and flower marks, the leaves and flowers appearing to be no other than those of the Bodhi-Tree. The trunk and upper part of the tree are seemingly of the same height. The sculptor has delightfully represented its wealth of flowers blossoming in bunches, distributed harmoniously over the balloon-shaped foliage. The scene presents on two opposite sides of the tree and throne two groups of worshippers, one group of five on the right side, and the other one of six on the left. All the worshippers appear to be male deities, one of whom, on each side, is bowing down, one is offering a garland, two on the right side are making demonstrations of the wealth of flowers of the tree, while the remaining worshippers are in a standing attitude of devotion[3].

The Bodhi-Tree of Vipaśchit symbolical of his life-history.

None need be surprised if the motif is meant to represent really a group of five or six worshippers performing an act of circumambulation, making offerings and

1 Barua Sinha, No. 135. 2 Stūpa of Bharhut, p. 46. 3 Stūpa of Bharhut, p. 113.

bowing down by turns, one after another, the offerings consisting of garlands and bunches of flowers. So far as the representation of the Bodhi-Tree is concerned, it has reference to the subject-matter of such a Discourse as the Mahāpadāna, while the act of devotion cannot be explained by any other Canonical Discourse than the Āṭānāṭiya.

Compared with Buddhaghosha's description, the Barhut picture of the Bodhi-Tree is rather a simple representation. According to his description, the trunk of Pāṭali, the Bodhi-Tree of Vipaśchit, rose aloft to a height of 50 ratnas (cubits), while its branches towered 50 ratnas high, giving the tree a total height of 100 ratnas. It was uniformly decked with bunches of flowers from its bottom to its top, looking like dome-shaped earrings. All the Pāṭali trees in the ten thousand world-systems were at the same time adorned with flowers, nay, all the trees and plants shared this glorious fortune. The earth and oceans were covered with varieties of lotuses of all colours. The flags and banners were hoisted in rows. Here and there one might see the sights of celestial groves, the Chitralatā, the Nandana, and the rest. It is indeed in a very charming way that the quarters and the world-systems participated in the eclat of festive decoration.

The Bodhi-Tree of Śkhi symbolical of his life-history.

2 :—The scene of the Bodhi-Tree of Buddha Śikhī and the label attached to it are probably missing. The label, if it was there, must have been worded—Bhagavato Sikhino Bodhi[1].

"The Bodhi-Tree of the Divine Master Śikhī."

The Bodhi-Trees of all the Buddhas were, according to Buddhaghosha's description, of equal height, The Bodhi-Tree of Śikhī was Puṇḍarīka, Magnifera Indica or the White-Mango. It was adorned with fragrant flowers. It was rich in its wealth of fruits. Its fruits in the same stage of development hung together from the same stalk. The ripe fruits were all juicy and delicious, as if celestial delicacy was put into them[2].

The Bodhi-Tree of Viśvabhṛit symbolical of his life-history.

3. Pl. XXIX. 2 [Scene 28] :—Bhagavato Vesabhuno Bodhi Sālo[3].

"Sāla or Shorea Robusta—the Bodhi-Tree of the Divine Master Viśvabhṛit."

The representation of the scene of the Bodhi-Tree of Buddha Viśvabhṛit is similar to that of the Bodhi-Tree of Vipaśchit, with this difference that it presents a

1 Barua Sinha, No. 136. 2 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. II, P. 13. 3 Barua Sinha, No. 137.

more elaborate ornamentation and a smaller group of worshippers, just a pair of male and female deities. The bunches of flowers and fruits of the tree are abundant and many garlands are hanging from different branches and joints. The pair of worshippers is so represented that, on each side, if the male worshipper is standing up, the female worshipper is bowing down, *i. e.*, kneeling beside the Bodhimaṇḍa, and vice versa. The offering made by the male worshipper is a basket of flowers,[1] and that by the female worshipper is a long piece of garland. Here we find a double artistic device for representing kinds of offering made and act of adoration by turns. The act of circumambulation is an essential part of Bodhi-vandanā. The upper part of the trunk is adorned with ornamented Dharmachakra and Triratna symbols, both of which are crowned by umbrellas with hanging garlands. There is in front the throne of the Buddha which is a solid structure, similar to that of Vipaschit, and is enriched with impressions of the fruit and garland offerings placed upon it. The frieze on the front side of the throne contains a double chain-work design with three parallel rows of lotuses, set up or suspended like bells.

4. Pl. XXIX 3 [Scene 29] :—Bhagavato Kakusadhasa Bodhi.[2]
"The Bodhi-Tree of the Divine Master Kakutsandha."

The Bodhi-Tree of Kakutsandha symbolical of his life-history.

The Bodhi-Tree of Buddha Kakutsandha is, according to tradition, Śirīsha or Acacia. Like the Puṇḍarīka and the Sāla, the Śirīsha abounded, as Buddhaghosha describes it[3], in fruits and flowers. The lower portion of the throne in front of the tree is lost, while the upper part presenting the full view of the tree and the scene of worship is in good preservation. The small leaves and large bunches of flowers are characteristic, says Cunningham[4], of the tree Acacia Sirisa. But the bunches of fruits and hanging garlands are also among its notable features. The throne usually bears the leaf and flower marks. The trunk of the tree is not adorned with any auspicious symbol. Here, too, one has just one pair of worshippers, the male kneeling beside the throne as an act of devotion, while the female standing beside the tree is making a demonstration of the length and size of the garlands, precisely as, on the opposite side, the female is bowing down in a kneeling posture, while the male standing up is demonstrating the abundance of flowers and fruits. Excepting the inverted order of groupings, the scene of worship and circumambulation is similar to that in the preceding representation.

---

1 Cunningham says it is a bowl. Stūpa of Bharhut, p. 114.
2 Barua Sinha, No. 158.
3 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed., p. 13.
4 Stūpa of Bharhut, pp. 46, 114.

5. Pl. XXIX. 1 [Scene 30] :—Bhagavato Konāgamanasa Bodhi.[1]

The Bodhi-Tree of Koṇāgamana symbolical of his life-history.

"The Bodhi-Tree of the Divine Master Koṇāgamana."

The Bodhi-Tree of Buddha Koṇāgamana is Udumbara, Ficus Glomereta or the Fig. According to Buddhaghosha's description,[2] it cannot have flowers. This well accords with old Indian belief as expressed in the saying—"He who sees the flower of the Fig-tree, becomes a monarch." The Barhut representation faithfully adheres to this Indian tradition. Cunningham says that the leaves of the tree are well-marked,[3] He finds the garlands hanging from its branches. But its bunches of fruits also are clearly visible. No one can mistake that the tree is the well-known Ficus. It has, as usual, a Bodhimaṇḍa in front. In this instance, the throne is supported upon pillars with octagonal shafts. Though the worshippers, as in the preceding two scenes, are just a pair of male and female deities, it is only the female who, on both sides, is actually making the offering of figs and bowing down in a kneeling attitude, while the male remains standing, either holding in one hand the fruits of the tree put into a receptacle for offering, or drawing attention to the garland. In spite of these alterations, the same device for representing the scene of worship and circumambulation is there.

6. Pl. XXX. 1 [Scene 31] :—Bhagavato Kasapasa Bodhi.[4]

The Bodhi-Tree of Kāśyapa symbolical of his life-history

"The Bodhi-Tree of the Divine Master Kāśyapa."

Though the label does not mention the name, the general form and visibly drawn leaves and fruits leave no room for doubt that it is the traditional Bodhi-Tree of Buddha Kāśyapa; we mean Nyagrodha, Ficus Indica or the Banyan. It does not bear flowers.[5] Like the Fig-tree, it is adorned with hanging garlands. The Bodhimaṇḍa in front is a solid structure. Here, too, we meet with one pair of worshippers, the male deity remaining, on both sides, in a standing position, either simply showing a piece of garland or holding it with joined hands. On the right side, the female worshipper sitting on a morhā, is eagerly and amazedly looking up and watching how beautifully the garlands are hanging down as these are being set up by the male. She, on the left side, is kneeling before the tree as an act of homage touching its trunk with her hands.[6] Can it be doubted that also, in this instance, we have a slightly altered design of the same scene of worship and circumambulation ?

---

1 Barua Sinha, No. 139.
2 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. II, p. 13.
3 Stūpa of Bharhut, pp. 46, 114.
4 Barua Sinha, No. 140.
5 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. II, p. 13.
6 Cf. Stūpa of Bharhut, pp. 46, 114.

7. Pls. XXX. 3, XIII.—S. Gate. Prasenajit Pillar. Outer Face. Upper Bas-Relief [Scene 32] :—Bhagavato Sākamunino Bodho.[1]

"The Bodhi-Tree of the Divine Master Śākyamuni."

The Bodhi-Tree of Śākyamuni symbolical of his life-history.

The Bodhi-Tree of Buddha Śākyamuni, the last of the Mahāpadāna list of seven Buddhas, i. e., of the Buddha who is a truly historical personage, has naturally received the most elaborate treatment. Two umbrellas are placed, one above the other, in its top. Some garlands are suspended from its branches. Its upspreading branches, well-shaped leaves and small round fruits without any flowers, all having distinct effects in the composition of its charming foliage, clearly show that it is Aśvattha, Ficus Religiosa or the Holy Pippala. The heights of its trunk and foliage are, as represented, disproportionate, in disregard of the received tradition of equality.[2] But the observed disproportionateness is more an appearance than a reality. The apparent longer height is accounted for by the fact that here the sculptor is required to represent, within the limited space at his disposal, the tallness of the trunk prominently behind the gate-chamber of a circular edifice, which serves as a wall surrounding the tree and provided with a barrel-shaped vaulted roof. This roof, even in its highest elevation or altitude, i.e., the portion of it covering the gate-chamber, remains below the foliage. The circular edifice is a two-storeyed building, the upper storey of which is a superstructure upon an open-pillared circumambulation-hall presenting a colonnade of two rows of pillars with octagonal shafts and bell-capitals. The upper storey is provided, on both sides, with corridors and large bands of Buddhist railings. There are many arched windows or niches, each containing an umbrella with hanging garlands and set up, to all intents and purposes, over a Bodhimaṇḍa or Vajrāsana representation, technically known as ratna-vedikā or elevated square platform, the jewel-seat. Several of these are to be seen on two sides, while the wing niches have, on each side, the standing figure of a female worshipper with some kind of offerings in her hands. It is apparent that the corridors with protecting railings are intended to be used as passages for perambulation and worship of vedikās at regular intervals. The gate-chamber presents, in its lower storey, an open-pillared square hall. Its roof is rounded at the ends and appears to be a barrel vault surmounted by three pinnacles, the top of it just reaching the lowermost branches of the tree. The upper storey of the chamber has two arched

1 Barua & Sinha, No. 141.

2 Fausböll, Jātaka, IV, p. 229 : The standard height of the lower half and the upper half is 50 cubits, the total height of the tree being 100 cubits.

windows on each side, without having any female figures in the wing niches. Its dimension cannot be very large, the whole of it resting on four pillars.[1]

The large square Bodhimaṇḍa in the lower storey of the gate-chamber bears numerous auspicious leaf and flower marks, symbolical of offerings made on it. The front side of the throne has designs of plain arched doors or windows. The tree itself is ornamented with two Triratna symbols that stand majestically, on two sides, behind the throne and surmounting it. Though the tree is actually situated behind the gate-chamber, it appears, at first sight, to break through the domed roof. In the Bodhimaṇḍa or Vajrāsana courtyard one can notice the familiar device of representing a pair of male and female deities circumambulating and worshipping by turns. On the right, the female is kneeling on the throne, while the male is standing with joined hands held on his breast. On the left, the male is kneeling on the throne, while the female stands behind the male looking outward and holding some flowers in her hands. It is by suggestio falsi that one, with Cunningham,[2] can take the male worshipper to the right to be a Dragon-chief distinguished by a triple serpent-crest.

At a little distance, in front of the Vajrāsana-hall and almost in line with its front pillar on the right, there stands an isolated pillar with a bell-capital, surmounted by a full-size standing elephant, holding a large hanging garland. This pillar has a round shaft, retaining the vestige of the round shaft and glistening surface of isolated Aśokan monoliths.[3] What adds charm to the majesty of the scene is the appearance of two flying angels, approaching the upper foliage of the tree from two sides, one, on the right, carrying a piece of garland, the other, on the left, carrying a receptacle of fruit or flower offerings, both making their way through clouds ; they remain poised in the air or hover round as an act of perambulation. Two angels, on two sides of the tree and the upper storey of the gate-chamber, stand on the outside balcony of the circular edifice, one, on each side, holding in the right hand in a very characteristic manner, a long piece of overhanging folded robe, long enough to connect the flying angel with the one standing below and pass round the back through two elbows or arm-pits of the standing figure. Obviously the artistic purpose is to represent the standing figures as flying angels who have descended from the sky. Each of them, as Cunningham observes,[4] holds the tip of his tongue and forefinger of the left hand, apparently giving whistles. Whether one

1 Stūpa of Bharhut, pp. 45-46, 119-122.
2 Stūpa of Bharhut, pp. 114-115.
3 Stūpa of Bharhut, p. 122.
4 Ibid, p. 114.

counts these angels two or four, they are probably the guardian spirits of the Bodhi-tree (Bodhi-vṛiksha-devatā), four of whom, Veṇu, Valgu, Sumana and Ojopati, are mentioned in the Lalita-Vistara by name.[1] The Barhut scene has nothing of the grandeur described in the Jātaka-Nīdāna-Kathā.[2] Though it points to an earlier and simpler description, it is certainly in keeping with the tradition in the Lalita-Vistara.[3]

1 Lalita-Vistara, ch. XIX. P. 347.

2 Fausböll, Jātaka, I, pp. 75-76. Here the description is rather conventional and hackneyed, being the same as that of Budhhaghosha's account of the Bodhi-Tree of Vipaśchit.

3 Lalita-Vistara, ch. XIX. cf. Kāliṅgabodhi-Jātaka (F. 479).

SECTION II

SCENES FROM BUDDHA ŚĀKYAMUNI'S LIFE IN ILLUSTRATION OF MAHĀPADĀNA DOCTRINE

i. FROM AVIDŪRE-NIDĀNA—— 'NOT-FAR-REMOTE SECTION'

1. Pl. XIV.—S. Gate. Prasenajit Pillar. Middle Bas-Relief. Outer Face [Scene 33]:—Purathima-disaṁ Sudhāvāsa-devatā.[1]

[Pachimaṁ disaṁ.....................[2]

Utaraṁ disa[ṁ] tini savata-nisisāni[3]

Dakhinaṁ disaṁ chha Kāmāvachara-sahasāni.[4]

"On the eastern side—the Pure-Abode [Rūpa-Brahma] deities."

"On the western side........................".

"On the northern side—three classes of all-pervading [Rūpa-Brahmas]".

"On the southern side—six thousand Kāmāvacharas of six Heavens of Lust."

Deities' supplication. Bodhisattva's great observations.

This interesting scene, laid in a celestial grove, presents, in an apparent view, four groups of deities or male gods, each of which is placed between two trees and two groups in a row, each group generally consisting of five deities. It is possible as well to represent the deities as standing in four parallel rows, one behind the other. To each group or row is attached an appropriate label naming the class of deities and the quarter assigned to it. Four labels, of which one is broken off, mention the different classes of deities, the first three referring to sixteen classes of Rūpa-Brahmas (5+8+3) and the fourth one to six classes of Kāmāvacharas. All the deities but one are in a standing posture, with joined hands, held across their breasts. One in the left-hand extremity of the lower row is seated on a piece of rock under a tree, with the left leg laid across the right kept erect, pressing the right knee towards the breast. His head rests on the palm of his left hand in a slightly reclining position, while he holds a small aṅkuśa or elephant-goad in his outstretched right hand. Solemnity prevails over the entire scene. The deity seated under the tree really stands apart from the rest. He is lost in serious thoughts, while

1—4 Barua & Sinha, Nos. 142—145.

others stand with joined hands. On his left side stand two Dragon-chiefs, with serpent-crests on their turbans. In the right-hand extremity of the upper rows is an isolated figure of a big-bellied and fat-bodied god, probably Dhṛitarāshṭra, the guardian angel of the eastern quarter, standing in a comic fashion, placing his right hand on the upper edge of his turban. The peculiarity of his head-dress should not pass unnoticed. It is the single fold of a robe so tied round his head as to present a circular ring on the top, keeping the crown exposed to view without a diadem above the forehead. The place assigned to him is precisely that of a warden of the convocation. According to the literary description, this is exactly the position of a Lokapāla during a Durbar of the gods[1].

What is this scene? It is obviously that of supplication of various deities, Rūpa-Brahmas and Kāmāvacharas, who assembled in the Tushita Heaven to exhort the Bodhisattva to be born in the womb for salvation of the suffering world. According to Pāli legends, he, as Santushita, was then a dweller and lord of the Tushitapura. The Lalita-Vistara[2] contains certain important details about the life of this god, destined to become a supremely enlightened Buddha. We are told that the Bodhisattva, then born as the god Śvetaketu, was 'dwelling in the noble mansion of Tushita, in all the glory of the place and his own godliness, praised, eulogized, extolled and glorified by a hundred thousand devas.' While he was calmly seated in this noble mansion, adorned with gateways, windows, buildings, one-peaked houses and gate-chambers, bedecked with Atimuktaka, Champaka, Pāṭali and other trees, and moved by the music of innumerable heavenly dancers, a hundred thousand millions and crores of deities gathered together, with their faces and eyes turned towards him. The Bodhisattva before giving his word to the gods made certain great observations about the time, the place, the land, the race, the environment and the rest. Here the Barhut scene is evidently based upon a simpler description similar to that in Pāli.

2. Pl. XV.—S. Gate. Prasenajit Pillar. Lower Bas-Relief. Outer Face [Scene 34]:—Sāḍika-saṁmadaṁ turaṁ devānaṁ.[3]

Alaṁbusā achharā.[4]
Misakesi achharā.[5]
Padumāvati achharā[6]
Subhadā achharā.[7]

---

1 See Mahā-Govinda-Suttanta, Digha, II. 2 Lalita-Vistara, Ch. II.
3—7 Barua & Sinha, Nos. 146-150

"The jovial ravishing music of the gods, gay with dramatic acting."
"Alambushā—the heavenly dancer."
"Miśrakeśī—the heavenly dancer."
"Padmāvatī—the heavenly dancer."
"Subhadrā—the heavenly dancer."

Deities' exhaltations over their success. Forecast of Bodhisattva's birth.

As a supplement to deities' supplication, there is to be noticed, in the lower relief on the same outer face of the Prasenajit Pillar, a joyous celestial scene of a grove or paradise, where twelve nymphs or heavenly damsels (apsaras, deva-kanyā) are distinctly arranged in three groups of four each, one of four dancers occupying the right half, one of four singers in the centre and upper portion of the left half, and the third one of four players on musical instruments in the outer zone and lower corner of the left half. The singers and players are all seated cross-legged under a tree behind them in the upper corner to the left, while the dancers are all in a standing posture. Four labels, separately attached to four dancers, mention their mames as Alambushā, Miśrakeśī, Padmāvatī and Subhadrā. The label below the players clearly describes the jovial character of the musical scene. The damsels represent ideal Indian beauties as conceived by the Buddhists. They tastefully wear heavenly apparels, gorgeous head coverings and ornaments over their intertwined hair-locks, earrings suspended from their ear-holes, tattoo marks on their foreheads or on their faces, necklaces of four strings, hip-belts or girdles of five strings, and layers of anklets. One of the players wears armlets and three of the dancers wear bracelets, either suspended like a sacred thread or tied together in a locket. They have tall figures, well-formed limbs, prominent hips, lean waists, dingified busts, bold facial expressions, well-shaped noses, and piercing eyes. All the players are handling two varieties of stringed instruments, one of which is viṇā or harp and the other is covered with skin. All the singers, sitting face to ace, show clapping hands. The lithesome figures and uniform movements of the dancers have a dramatic effect. They dance in two rows of two each, Alambushā and Miśrakeśī in the front and Padmāvatī and Subhadrā in the back row. The chief figures among the dancers, nay, among all the damsels, is Alambushā, distinguished from the rest by her turban-like head-dress, generally worn by a male. Just in front of her and midway between herself and Miśrakeśī we see a little boy dancing with head-coverings, bracelets and hip-belts like those of a female. The prominence given to Alambushā is quite in keeping with the Buddhist description of her beauty, charm and position in the Alambusā-Jātaka (F. 523), where she is said to have been selected from among two and half crores of heavenly courtezans as one capable of

tempting and testing the virtue of Ṛishyaśriṅga of the great ascetic vow. All the nymphs, introduced in the scene, belong, according to classifications in the Purāṇas, to (1) Laukikī or Anthropomorphic class, and to (2) Mauneyā representing a class of temptresses of the saintly ascetics. The Lalita-Vistara and the Mahāvastu[1] versions of the Āṭānāṭiya Discourse allocate thirty-two damsels to four quarters, eight to each quarter. According to this arrangement, Alambushā and Miśrakeśī have their place in the west and Padmāvatī belongs to the north. The Barhut scene does not seem to follow any such rule. The Barhut figures of twelve damsels rather remind us of twelve chief nymphs of the older Vimāna-Vatthu list,[2] whose functions consisted in dancing, singing, music, comic acting, display of apparels, and other pleasing arts. Their manner of dressing, toileting, personal charms and other details also tally with descriptions in the Buddhist Book of Stories of Heaven.[3]

The subject of the scene cannot be other than that of a sequel of the deities' exhortation to the Bodhisattva to be born in the womb. The mysterious presence of the little boy indicates that the Bodhisattva could be induced to give his consent after due deliberations. We mean that here we have a forecast of the Bodhisattva's birth. The lively scene is expressive of great rejoicings of the deities. The presence of the nymphs and their participation in the action are rather unusual. It is only in the sublime poetic account of the Lalita-Vistara that we have a grand description of the scenes where the deities expressed their exhortation and felicity through the symphony of music, songs and dances of millions of the nymphs[4].

3. Pl. XXVIII. 2 [Scene 35] :—Bhagavato ūkraṁti.[5]
"The Divine Being's Descent."

Garbhāvakrānti : Bodhisattva's descent in the shape of six-tusked white elephant into mother's womb.

Here Cunningham sees Queen Mahāmāyā sleeping quietly on her couch, in the centre of the medallion, with her right hand under her head, and her left hand by her side. The position leaves her right side exposed. The time is night, as a lamp is burning at the foot of the bed, on an ornamental stand. Three women are seated in attendance by the bed, one of whom is waiving the cow-tail chauri to keep off insects. The second has her arms extended, but for what purpose is not clear. The third with joined hands sits in an attitude of devotion. The queen is in full costume, with earrings, necklace, bracelets, anklets, and numerous girdles, all complete. The

1 Mahāvastu, III, pp. 308 foll.
2 Vimāna-Vatthu, p. 47.
3 Ibid, pp. 61-62.
4 Lalita-Vistara, Ch. II, p. 12; Ch. V, p. 58.
5 Barua & Sinha, No. 151.

elephant has an ornamental cloth, covering the top of his head, but he carries no flower in his trunk as in the Burmese account of his appearance before the queen. He has only two tusks, which are marked to represent three tusks each. In none of the representations of a similar scene found elsewhere in India has the elephant got more than two tusks, nor does he carry a flower. The medallion represents a scene of the Dream of Māyā Devî which has a parallel in the Jaina account of the first object seen by queen Triśalā in her dream[1]. This is described as an elephant with four tusks, looking like radiant drops of dew, or a heap of pearls, or the sea of milk, possessing a radiance like the moon, huge as the silvery mountain Vaitādhya, while from his temples oozed out the sweet liquid that attracts the swarms of bees. Such was the incomparably stately elephant, equal to Airāvata himself, which Queen Triśalā saw, while uttering a deep sound like thunder with his trunk filled with water. The Barhut sculpture is in a very fine state of preservation, but the workmanship is coarse, and the position of Māyā Devī is stiff and formal.[2]

It is not clear from this description whether the scene is laid in Śuddhodana's palace or elsewhere. The representation is befitting the traditional description of a person sleeping on a splendid couch in a magnificent royal bed-chamber, where perfumed oil-lamps are kept burning during the whole of the night.[3] But it is rather unusual that the queen's head is adorned with garlands instead of ornamental head-coverings. In fact, all the apparels and ornaments that she wears go to show that she is no longer an ordinary human being but the very goddess with some heavenly maidens in attendance. The stiffness of her body is quite natural and artistic at the sight of such an unusual phenomenon as an elephant descending from high to enter her womb by penetrating her right side. This also explains why one of the maidens extends her arms, her right hand pressing upon the upper end of a leg of the couch. She does so apparently to prevent the queen rolling down or the couch being unbalanced under the pressure of the descending elephant.[4] The leg held by her hand is represented as though slipping off. The attitude of the elephant reminds one of the slow descent of a piece of cloud in the horizon and the gentle turning of the developed fœtus in the womb when the pain begins. According to the Lalita-Vistara description, the elephant was of the noblest breed, having six tusks, white as snow and silver, beetle-headed, white rows of teeth, reddish crown, and all the parts of his body complete, proportionate, fully developed and compact, and characterised by

---

1 Stevenson's Kalpa-Sūtra, p. 42. 2 Stūpa of Bharhut, pp. 83-84. 3 Fausböll, Jātaka, I, p. 61.

4 Dr. Kramrisch would take the maid to be dozing at night.

a gentle movement. The details of the scene presuppose a story similar to one in the Jātaka-Nidāna-Kathā as will appear from the following narration :—

"The people of Kapilavāstu were all busy celebrating a festival in the month of Āshāḍha from the seventh day previous to the full-moon. The queen Mahāmāyā enjoyed this festival for seven days in the purity of heart and external conduct. On the last day when the full-moon set in, she bathed in fragrant water, arrayed herself with flowers and ornaments, and taking upon herself the five vows, she retired into her bed-chamber, where she lay herself on a royal couch, and while she was sleeping upon it, she had a dream. In her dream she saw that the regents of the four quarters took up the couch upon which she lay, and conveyed it to the Himalayan region, where they placed it upon a rock under the shade of a tall Śāla-tree, remaining respectfully at a distance. The queens of these four guardian angels then bathed her with water fetched from the lake Anavatapta to take away from her all human contaminations. The guardian angels then took her to a rock of silver, upon which was a palace of gold. They laid out a divine couch, placed her upon it, with her head towards the east. When she reposed there, the Bodhisattva appeared to her in the shape of a white elephant, like a cloud in the moonlight, coming from the north, descending from the rock of gold and climbing up the rock of silver, making a trumpet-sound, and carrying a white lotus in his trunk. After ascending the rock, he entered the palace of gold, and thrice circumambulated the queen's couch before he made his way into her womb by her right side. She felt as though the Bodhisattva got into her body. Thus her maternity began, enabling her to become the genetrix of the Divine Being."

4. Pl. XXIX. 5 [Scene 36].—Here we have, says Cunningham, only a fragment of one of the broken statues in which the hand of a female is grasping the flower and leaf of a Śāla tree, a portion of the fruit being also visible in its upper part. He also observes that the representation of the flowers, though somewhat conventional, is sufficiently true to the general form and appearance to be easily recognised.

Bodhisattva's birth at Lumbinī (?)

It is true that the surviving fragment presents a drooping branch of a tree in flower, there being several bunches of flowers blossoming on an oval-shaped foliage, one of which is held on the palm of the right hand of a female figure to the right. Is the tree really a Śāla ? If it were so, there is no reason why its leaves and flowers should be different from those of the Śāla trees so distinctly represented in three other scenes ? Why should we not take it to be Plaksha ? Further question arises. Can

we regard the fragment as a remnant of a broken statue of a Yakhsiṇî or Devatā ? Had it been so, it would have been placed according to the general Barhut convention under a tree with its top naturally bending and hanging over its head. But in this scene a particular branch of the tree, instead of its top, bends so far down as to be within the easy reach of the human hand kept in its natural position. We think it more cogent to get hold of a Buddhist legend which has a specific reference to such a phenomenon as this. The legend of the birth of the Buddha, or more accurately, of Prince Siddhārtha, is the one that underlies the scene. There are principally three versions of this legend, the Pāli version[1] describing the tree as Śāla, and the Lalita-Vistara and Mahāvastu versions[2] as Plaksha.

According to the Mahāvastu version, Queen Māyā stood supporting her arm on a branch of the Plaksha. The Lalita-Vistara version tells us that the Plaksha tree lowered its top to salute her. It is the Pāli version which says that only a branch of the noble Śāla tree bent down so low as to be within her easy reach. But for the difference of the tree which we take to be Plaksha, the scene seems to have represented a version similar to the Pāli. According to the Pāli legend, when Queen Mahāmāyā's time of confinement drew nigh, she desired to see her people in Devadaha. On the way she wished to have a walk in the delightful forest-grove of Lumbinī, where all the trees bore flower out of season. On reaching the foot of an imposing Śāla tree, she playfully tried to catch hold of one of its branches and it bent itself, to the amazement of all, so far down as to be well within the grasp of her hand. Hardly she held it when her pain began. What followed is too well-known to be recounted here.

5. Pls. LIV, XVI : Middle Bas-Relief. Ajātaśatru-Pillar. Left side [Scene 37] :—

Mahāsāmāyikāya Arahaguto devaputo vokato bhagavato sāsani paṭisaṁdhi.[3] "In the great assembly of the gods the Angel Arhadgupta announces the inception of the Divine Being's system."

This inscription serves as a label for the Jātaka-scene gorgeously sculptured on the left side of a corner pillar of the Western Gateway. The bas-relief, as noticed by Cunningham, represents the footprints of Buddha placed on a throne or altar which is canopied by an umbrella hung with garlands, while a royal personage is kneeling before the altar, and reverentially touching the foot-prints with his hands.[4] One might see in it the

Announcement of inception of Buddha's Law by Angel Arhadgupta.

1 Fausböll, Jātaka, I, p. 52. 2 Lalita-Vistara, Ch. VII ; Mahāvastu, II, p. 19.
3 Barua & Sinha, No. 152. 4 Stūpa of Bharhut, p. 112.

depiction of an interesting scene from the Lalita-Vistara story of the Buddha, where the angels of the Pure-Abodes were predicting, in the disguise of Brahmins, the Bodhisattva's descent into the womb.[1] But this particular episode singled out for identification does not explain the points noticed by Cunningham. The scene represents, as stated in the label, a Mahāsamaya or large congregation of the great angels, who are found seated with joined hands as an act of devotion, round a square-shaped jewelled throne canopied by an umbrella, the modern pattern of which is afforded by the Burmese sunshades. The throne bears on its surface imprints of hands. Its front side shows two flying birds carrying an ornamental chain-work from which a few lotuses are suspended. In the middle of the lower step we see two foot-prints, each bearing a wheel-mark.[2] One of the angels kneels before these foot-prints, touching one to the left with his left hand and the other to the right with the turban covering his head. He must be the angel Arhadgupta, referred to in the label. The angel and his comrades are clad in jewels and drapery. But he alone performs the act of devotion technically called 'vandanā,' while others are doing the 'añjalikarma'. Though the throne has been placed in the middle of the bas-relief, it stands, exactly as in a few other scenes, without the Bodhi-tree, and this is what must be when the scene is laid inside a hall. We dare-say that here we have an artistic counterpart of an episode similar to one in the 7th chapter of the Lalita-Vistara, recording the visit of the angels of the Pure-Abodes with Maheśvara at their head. This episode contains expressions corresponding to the label of the bas-relief.

The story relates that not long after the brith of the Bodhisattva Maheśvara, the lordly angel, announced the fact to the angels of the Pure-Abodes, saying that the great saviour was already born among men, destined to attain ere long the supreme beatitude. He also proposed that they should lose no time to visit Kapilavāstu to pay the proper homage to the Bodhisattva, to congratulate King Śuddhodana and return after duly predicting the Bodhisattva's future achievement. The angels readily accepted his proposal. Forthwith the lordly angel, surrounded by a retinue of twelve thousand angels, making everything in the noble city of Kapilavāstu resplendent by their light, came to the royal residence of Śuddhodana. They were all adorned with jewelled crowns (maṇi-ratna-chūḍā) and noble behaviour. They carried in their hands excellent flowers, garlands, unguents and silken robes. They came

---

1 Lalita-Vistara, Ch. III.

2 The wheel-symbol, as Cunningham rightly points out, is one of the 32 birth-marks of a child destined to become a Buddha.

indeed, full of respect, anxious to see and worship the princely Babe, who was the god of gods. He bowed down before the Bodhisattva, touching the Great Being's feet with his head. Wearing his upper garment or scarf on one shoulder, he sat on one side, respectfully keeping the Lordly Child on his right side. He took the Prince of men on his lap, and joyfully congratulated Śuddhodana that the Prince born was destined to attain Sambodhi, of which there was nothing beyond.

6. Pl. XLII. 5 [Scene 38] :—The scene occupies an upper triangular transverse section on the left side of the original bas-relief, more than half of which is broken and missing, there being nothing but a fire-altar left of the lower part of the composition. The portion which now survives presents, as noticed by Cunningham, three Ṛishis or Tāpasas of the Jaṭila class, who are flying through the air.[1] They stand poised or motionless in mid-air on their way over the fire-altar beneath. Their matted hair is coiled and knotted on the top of their heads in one of the two fashions adopted by the Barhut artists. They are clad in the garments of bark or similar stuff just covering up their loins and thighs. Their upper garment is worn like a badge, and it transversely passes round their left shoulders and the right sides of their breasts below their arm-pits. They are carrying kamaṇḍalus or some kind of alms-bowls in their left hands. It is very likely that there were five of them. It is certain, as Cunningham says, there was room in the bas-relief, when it was complete, for two more on the right.

Flight of five Rishis during Śākyan plough-Festival.

There are only two Buddhist stories which can be brought forward to explain these details. The one suggested by Cunningham is the Lalita-Vistara story of the arrest of progress of five Ṛishis when flying above the hallowed spot, where Prince Siddhārtha, the Bodhisattva, then a mere boy, remained, lost in ecstasy under a rose-apple tree during the Śākyan festival, annually celebrated in connection with the ploughing match.[2] The other that we may suggest is the Pāniya-Jātaka (F. 459), giving a description of the flght of five Pratyeka-Buddhas from their distant Himalayan abode towards the City of Benares and back. But comparing them, we cannot but prefer the one selected by Cunningham. The Pāniya-Jātaka has nothing to tell us about the presence of the fire-altar and motionless standing of the ascetics over it, and what is more, its description of the hair and other characteristics of the Pratyeka-Buddhas does not fit in with the Barhut representation of the ascetics. According to the Jātaka description, the hair of a Pratyeka-Buddha is two fingers long, a pair of red garments are

1 Stūpa of Bharhut, p. 99. 2 Lalita-Vistara, Ch. XI.

wrapt round him, a waist-band of yellow colour is tied about him, the upper robe of red colour is thrown over one shoulder, another paṁsukula garment lies on his shoulder, and a bee-brown earthen bowl dangles from over his left shoulder when he flies or stands poised in mid-air. Most of these details are done justice to by the Barhut ascetics. But they, unlike the Pratyeka-Buddhas of the Jātaka, wear two garments instead of three, and their alms-bowls or kamaṇḍalus are carried in their left hands instead of dangling from over their left shoulders. The five Ṛishis of Cunningham's story are typically the ascetics as they are represented in the Barhut sculpture. It explains the cause of the sudden arrest of the progress of the ascetics when they were journeying through the air from the south towards the north. On enquiry, they came to know that their power of miraculous force was counteracted by the overpowering majesty of the Bodhisattva meditating in the forest-grove beneath. The story relates that the Bodhisattva appeared to the ascetics as a luminary shining with light emitted from his body, and to Śuddhodana his father, as a fire issuing from a mountain-peak and glorious like a lamp.

7. **Pl. XX.** Piece of Gateway Pillar. Found at Pataora. Face (half cut away) [Scene 18] :—Arahaguto devaputo.[1]

"Angel Arhadgupta—the protector of the Arhats."

Mahābhiniṣkramaṇa: Bodhisattva's Great Renunciation

This bas-relief depicts a continuous scene of the Great Renunciation of the Bodhisattva, Prince Siddhārtha. The scene is divided into three stages, represented one below the other. In the first stage, the Bodhisattva is stepping out by the main doorway of the royal palace of King Śuddhodana; in the second, passing out on horseback through the city-gate of Kapilavāstu, and in the third, riding on ahead. We have just a front view of the palace which is a strong and magnificent building. Its roof is completely broken off. The surviving fragment shows three pillars in front. It appears that there were four pillars in all when the scene was complete. Each of these is an ashṭapada,—a pillar with an octagonal shaft. It has a bell-shaped capital with a full-blown lotus at the top. Its abacus, which is usually a square stone-slab, is surmounted by a big mongoose-like animal. Its pedestal (padasthāna) bears a vase and lotus design. Two female deities stand between the three pillars, one in the left with joined hands, the other in the right placing the right hand below her breast and keeping the left hand suspended at full length. The deities, among other notable points, stand each upon a stone-seat of lotus-leaf with a

1 Barua & Sinha, No. 153.

gracefully curved stalk, springing from the bottom of the middle slab of the plinth of the pillar in the left. This is unmistakably an outer detail of the lotus-design in the pedestal. The representation of the palace is far below the literary description. Its doorway is represented by a slanting path between two pillars, while two outgoing footprints with the usual wheel-marks represent the Bodhisattva's stepping out of the palace. It is possible that one deity has been shown twice, in two different attitudes, in one doing honour to the Bodhisattva and in the other expressing her sorrow at the Prince's departure from his father's palace, leaving it in darkness and utter gloom. She is the Rājalakshmī who stands with a sad face (dīnamanā) before the Prince when he is going away. According to the Lalita-Vistara description,[1] she is the Daivata-lakshmī, and according to the Mahāvastu story,[2] she is the presiding deity of the city (nagara-devatā), who stood thus before the Prince when he was leaving the city, and not the palace. There must have been something in the palace to indicate the dead of night. Numerous small flowers are scattered over the ground both within and outside the city. This is precisely what it should be according to literary descriptions, where the deities and demi-gods are said to have freely scattered showers of flowers (muktapushpa-varshāṇi), of such celestial blossoms as mandāraka and the rest. Within the city we see three deities standing on the ground, one in the left holding a yaksha's tail by the upraised right hand, two with joined hands, and all watching with interest the cautious leading of the horse Kaṇṭaka by the attendant Chhandaka, or it may be, a deity, who walks ahead of and along with the noble charger, holding the hanging loose outer end of the reins with his right hand. According to the Pāli description, the horse was 18 cubits in length, from his neck to his tail, of proportionate height, white as the purest conch, and strong and fleet. Further, according to this description, the horse was properly caparisoned, and Chhandaka accompanied the Prince, holding the horse by the tail.[3] There is no other point of agreement between this description and the Barhut representation except that the horse is tastefully caparisoned. The Prince's seat on the horse-back is canopied by an umbrella with a hanging garland, while two chauris rest upon it, tail to tail on two sides of the umbrella-stick, the face of one lying slantingly towards the head, and that of the other lying erect towards the tail, of the horse. Instead of walking on the ground, the horse is being led along the pillared city-wall which looks like a parapet of stone, composed of projections and receding posts tied together. The horse went out ultimately through the city-gate which is indicated by a slanting

1 Lalita-Vistara, Ch. XV. 2 Mahāvastu, II, p. 164. 3 Hardy's Manual of Buddhism, p. 162.

path in the left, presumably with outgoing hoof-marks of the horse. In the Pāli account[1] we find it stated that Chhandaka resolved to take the Prince on his right shoulder and the horse on his left and leap over the ramparts of the city, if the gate were not open, while the horse resolved in view of the same obstacle to leap over the barrier with the Prince on his back and Chhandaka holding his tail. But this was unnecessary as they found the gate thrown open by the deities. The leading of the horse by a deity is quite compatible with the Lalita-Vistara story, in which Chhandaka is asked to make over the charge of the horse to Śakra and Brahmā, who went ahead, along with the noble charger. None of the deities is seen carrying torches. It is difficult to make out who the deities are. The part played by Māra does not find its place in the scene.

In the third stage outside the city we see the Angel Arhadgupta standing, with joined hands and dignified appearance, in the left, having on his left side two other deities, the deity in the right extremity standing with joined hands and the second deity in the middle expressing by the significant attitude of his right hand the imperceptible progress of the horse with the Bodhisattva on his back, as he is moving on before their eyes. There stand, below the horse, one deity in the left with joined hands and two on his left side, playing on Indian drums with two hands. All these serve to indicate a triumphal procession. The crossing of the river Anomā is not at all represented. The sight of the sleeping dancing women in the bed-chamber of the Prince, the Prince's lingering looks, as he still stood at the doorway, at his newly born son sleeping in his mother's bosom, and the letting off of Chhandaka and Kaṇṭaka on the bank of the Anomā are some of the important details that pass unrecognised.

8. Pl. XVI.—West Gate. Corner. Ajātaśatru Pillar. Left Side. Upper Bas-Relief [Scene 39] :—

Bhagavato chūḍāmaho.[2]
Sudhaṁmā devasabhā.[3]
Vejayaṁta-pāsāde.[4]
"The Festival in honour of the Divine Being's dressed hair-lock."
"The Council-Hall of the gods."
"In the Palace of Victory."

In this square panel we see charming representations of the Palace of Victory and Council-Hall of the gods, which occupy its upper part and larger half. The strip

1 Nidāna-Kathā. 2-4. Barua & Sinha, Nos. 154—156.

below represents an open ground or a courtyard in front of the Palace and the Hall. The scene, as described in one of the incised labels, is that of a grand Festival, held for commemorating the incident of cutting the dressed hair-lock by the Bodhisattva, Prince Siddhārtha, leading to his self-initiation into asceticism (pravrajyā). The Palace which stands in the right is a three-storeyed building, each storey of which is separated from the other by a Buddhist railing, with two rail-bars instead of three. In its front view, the lowest storey appears to be an open-pillared hall, with two plain octagonal pillars at two corners. The upper storeys present two projecting halls with wings on either side. The second storey has three arched doors or windows with semi-circular hood-mouldings, through each of which a goddess peeps out, watching the festival that is going on below. A roof-like profile rests over these openings. The third storey is provided with a solid roof with semi-circular ends and two arched doors or windows, through which two goddesses are looking out. In the open-pillared hall Śakra or Indra, the king of the gods, is seated in his throne in the middle, attended by two goddesses on each side, those on his right hand side holding up chauris, one with her right hand and the other with her left. Vaijayanta is mentioned in the Jātaka-Commentary as Śakra's palace, which received the name 'Palace of Victory' because it arose in the hour of victory in a battle which the gods fought with the demons. In the light of the Kulāvaka-Jātaka (F. 31,) the four attending goddesses can be identified with Sudharmā, Chitrā, Nandā and Sujātā. According to the Sudhābhojana-Jātaka, Śakra's palace Vaijayanta was a thousand leagues high and his throne was made of yellow marble, sixty leagues in extent. Śakra himself is said to have been accompanied by a glorious array of twentyfive millions of heavenly nymphs. All these details are not fully represented in the Barhut scene. The lower part of the Council-Hall in the left, like that of the Palace of Victory, is surmounted with a Buddhist railing. The Hall itself consists of two open-pillared square courts, one within the other, the outer court supplying the inner one with a verandah on each side. The inner court, composed of four plain octagonal pillars,[1] is covered with a domed roof, adorned with a single pinnacle at the top. The verandahs are covered with a continuous sloping roof. The verandah on the front side, which is actually represented, shows a high arched doorway with hood-moulding

The gods of the Heaven of the Thirty-Three hold a Festival in enshrining the Bodhisattva's dressed hairlock.

1 Fausboll, Jātaka. No. 541 (translation) :
"This is Sudhammā, where the gods assemble,
Supported by fair columns, finely wrought,
Eight-sided, made of gems and jewels rare".

This doorway opens into a projected square and an ornamented staircase with several steps leads to it, dividing the railing. Inside this hall we see a cubical seat and a tray placed upon it. The seat bears on its sides the garland and hand-designs. The tray contains flower-wreaths and other precious things, and over them it shows the Bodhisattva's dressed hair-lock. A god, probably Śakra himself, stands on the right, doing honour to the jewel-crest with joined hands, while another god standing on the left is making religious offering with his right hand. A parasol with two hanging garlands stands as canopy over the seat, tray and head-dress. The Kulāvaka-Jātaka says that the gods' Goodness-Hall was named after the pious lady Sudharmā who was born as a handmaiden of Śakra and by virtue of whose gift of a pinnacle (karṇikāra) there arose for her this mansion, studded with heavenly jewels, five hundred leagues high. It is in this mansion that Śakra, ruling men and the gods, sat under a white canopy of royal state. According to the Divyāvadāna description, this is the Hall where the gods of the Thirty-three and four regents of the quarters held deliberations over mundane and celestial affairs. This is the ideal construction to which all grand halls or courts built by the human hand, have been likened in Indian literature[1]. The great festivity has been represented by a sectional device, as though in the open courtyard below, where four heavenly maidens are characteristically dancing on the left, and three are singing on the right, clapping their hands, in the midst of four musician gods, one, standing up, striking a round bell-metal with a small stick, one, sitting cross-legged, playing with his two hands on the right-hand-drum, leaving aside for a moment the left-hand-drum, and the remaining two, seated cross-legged, playing on harps. The subject of illustration is a scene of the festival, known as Chūḍāmaha, held in the Heaven of the Thirty-three, when Śakra enshrined the jewel-crest or dressed hair-lock, cut off by the Bodhisattva with a sharp sword and thrown up into the air. Buddhist literature contains a very simple description of this incident, which is as follows :—

After letting off Chhandaka and Kaṇṭaka from the bank of the Anomā, the Bodhisattva, as a prelude to his adoption of ascetic life, cut off his hair and threw it upwards, saying, "If I am to be a Buddha, let my hair remain in the sky. and if I am not to become a Buddha, let it fall to the ground." But it remained suspended in the air, at a great height, like the beautiful bird kālahaṁsa, the black duck. To preserve it Śakra brought a large golden casket, which he deposited in a mound,

1 Mahāummagga-Jātaka (F. 546) ; Khila Harivaṃśa, Vishṇuparva, Ch. LVIII.

placing the hair in it. This is what we are told in the Pāli Nidāna-Kathā.[1] Other descriptions[2] expressly refer to the great festival which we find well represented in the Barhut scene.

Festive decoration on Bodhisattva's way towards the Bodhi-Tree.

9. Pl. XXX. 4 [Scene 40] :—This is apparently a decorative design carved in a medallion, which is slightly broken in the middle. It presents two tāla or fan-palm trees standing in a row, at some distance from each other, before an open-pillared building with an upper storey supported upon a railing-like structure. As Cunningham observed, the spreading pointed leaves of the trees are successfully represented, and the peculiar appearance of the trunks of the trees is also happily shown.[3] The shafts of the pillars, as usual, are octagonal. The bell-capital of each pillar bears over it a big lotus-design. The abacus is made of two interesting cross-bars. The railing is made up of uprights joined by three rail-bars and covered by a coping. The edifice above has two ornamented arched windows or niches, where two human figures can be seen seated cross-legged, with their hands bent at right angles, their right hands being placed on the palms of their left hands. Their heads are covered with turbans. The peculiar earrings worn by them go to show that they are not ordinary human beings but some gods or demi-gods. Their appearance shows a calm demeanour. The dome-shaped roof is surmounted by three small pinnacles between which there are two large birds on the roof, sitting in opposite directions, the tail of one to the right touching the back of the other to the left, the bird to the left turning back towards the one to the right. The gods or demi-gods are evidently watching from their mansions some spectacle below. If so, we have reasons to believe that here we have a representation of ratna-vyomakas or jewelled-ærial mansions set up, as described in the 19th chapter of the Lalita-Vistara, by the gods of the Kāmāvachara heavens as part of decorations of the road by which the Bodhisattva proceeded from the Nairañjanā to the Bodhi-tree. It is said that the carrolling of śuka, śārikā, kokila, kalaviṅka, jīvañjīvaka, haṁsa, krauñcha, mayūra and chakravāka added much to the loveliness of the scene.

1 Hardy's Manual of Buddhism, p. 165. The Tibetan story says that the stūpa was built on the spot, where the Prince cut off his hair and beard, by the faithful Brahmins and householders, See Rockhill's Life of the Buddha, pp. 25-26.

2 Lalita-Vistara, Ch. XV, Mahāvastu, II, p. 166.

3 Stūpa of Bharhut, p, 47.

ii. FROM SANTIKE-NIDĀNA—
NEAR-AT-HAND SECTION—

1. Pl. XIX. N. Gate.—Corner Pillar [Scene 41] :—
Brahmadevo mānavako.
"The youthful Rūpabrahma deity."

Māra-Vijaya :— Victory over Māra : Congratulation by the Rūpabrahma deities on the eve of Buddha's attainment of Buddhahood.

This important scene has been executed in two square panels on the same face of a corner pillar. The upper panel presents a two-storeyed celestial mansion, the upper story being apparently supported upon four tall pillars, with octagonal shafts and bell-capitals ornamented with festoons, touching each other. This storey is usually provided in front with a uniform Buddhist railing, and two arched doors or windows on either side, containing three small pillars between them. It is, moreover, covered by a long barrel-vault roof, with seven or presumably nine small pinnacles. Six deities, whose heads and faces can only be seen, are peeping out through the arched openings and the intervening spaces of these openings and three pillars, evidently watching some interesting occurrence below. Looking at the open-pillard hall below, surrounded by a railing, our attention is at once drawn to a male deity majestically passing out through the high-arched opening of a gate-chamber at the left corner, mounted on a mighty elephant, while four other male deities are slowly and cautiously walking one behind the other, towards the gate-chamber, behind the narrow railing-wall. The deity in front of all carries a small ball-like thing in his left hand, while with the out stretched palm of his upraised right hand, he is pointing out the deity who is going out or asking others who are following him to halt or proceed cautiously. The second deity, coming behind him carries a tray, full of numerous small objects, probably articles of food or various kinds of precious gems. The upper edge of the tray is tilted against his breast, while its lower edge is held, in the middle, by his left hand, bent to form a right angle. The third deity similarly carries a tray with several pieces of square coins, arranged in two rows, while the fourth deity bears another tray, containing a diadem or crown. These four deities, like the one on the elephant's shoulder, wear beautiful earrings, necklaces, breastlets, bracelets and armlets. The purpose in their walking towards the gate-chamber is either to mount the elephants or to hand over certain articles to the deities, passing out through the gateway. The attitude of right hand of the deity on the elephant clearly indicates that some other deities are coming behind him, whom he is asking to proceed slowly. Anyway, we see in the upper half of the lower panel, placed between two tall octagonal pillars,

five deities mounted, with a fixed gaze, on five elephants, four of whom remain standing, side by side, in a line, and the fifth in the middle is kept in the background for want of space. Each of these elephants is a magnificent animal, nicely caparisoned. A piece of garland is put round the crown of the head, and two bells hang down to the knees of the forelegs. The upper part of the trunk is tastefully painted. It may be that an ornamental front-covering is hanging upon the forehead. These elephants are all quarter-rangers (disāgajas, diggajas)[1]. The rider in the middle of the five has a label incised below him, giving his name as 'Brahmā, the youthful angel'. This angelic deity holds the goad by the left hand, and holds up a chauri or yak's tail fan by the right. The deity on his right hand side holds the goad by the left hand, and bears up a garlanded parasol by the right. What the second deity on his right hand side holds up by the right hand cannot be ascertained, as this part of the panel is completely broken off. The deity on his left hand side holds the goad by the right hand, and holds up a tray, held up by a second deity on this side by the right hand. In the third position we see that Brahmā has alighted from the elephant's shoulder, and stands, holding the goad, in front of the elephant, directing the animal to stand raising his joined forelegs, in an attitude of reverent supplication, before Aśvattha, the Bodhi-Tree of Buddha Śākyamuni. The fourth position clearly shows that all the five deities have alighted on the gronnd. Four of them stand in a line, with joined hands, while Brahmā, their leader, is kneeling on the ground in paying reverence to the Diamond Throne. It is usually canopied by a garlanded parasol. Further below, a human figure stands at the lower corner of the left hand side of the Vajrāsana, and tries to raise and overthrow it by his back. He is no other than Māra, the vanquisher of a man following the noblest pursuit.

The scene represents the concluding part of Siddhārtha's battle with Māra. According to later Buddhist legends, Siddhārtha and Māra were contesting the superiority, in both quantity and quality, of the gifts each had made. Māra called his hosts to witness, while Siddhārtha invoked the benign Earth-deity to give evidence. The Earth-deity, in giving evidence, caused a mighty stream to flow, which served to sweep away the battalions of Māra. As soon as the battle was over, the Nāgas cried out to the Nāgas, the Suparṇas to the Suparṇas, the Devas to the Devas, and the Brahmas to the Brahmas: "Māra

1 Barua Sinha, No. 157.

2 The descent of a deity from the heaven mounted on this kind of elephant is described in the Vimānavatthu (No. 60).

is overcome, Prince Siddhārtha is the conqueror, let us make a celebration of his victory (jayapūjā)". Thus all of them came, perfumes and garlands in their hands, from the ten thousand spheres, and assembling on all sides of the Bodhi-terrace where the Prince was seated cross-legged, made offerings by way of doing honour, and respectfully stood, uttering praises. The 23rd. chapter of the Lalitavistara beautifully describes how each class of angels and deities came down to praise the Prince, taking with them flowers, wreaths, frankincense, perfumes, garments, umbrellas, flags, banners, nets of gems, and various other objects of worship.

The Barhut scene seems to illustrate only the visit of the Brahmakāyika deities, with Subrahmā at the head. It is likely that in the Barhut story these deities also play the part of the Earth-deity in bearing witness to the gifts, made by the Bodhisattva during his many previous births.

Buddha Gautama's Jewel-Walk.

2. Pl. XXXI. 4 [Secne 42] :—This bas-relief, as studied by Cunningham, gives a view of a large building, containing four seats, with garlands hanging over them, the seats being no other than the thrones of the four Buddhas. He suggests that the human hands sculptured on the side of each throne may be taken to be a symbolical representation of a crowd of human worshippers. The main features of the building, according to his observations, are a large open hall supported on octagonal pillars with bell capital and an upper storey with three arched windows, the whole being covered by a long dome-shaped roof, surmounted by ten small pinnacles.

If it was the intention of the sculptors to represent here the Vajrāsanas or Thrones of the Buddhas, they would have also depicted the Bodhi-Trees. Further, the Barhut convention decisively shows that no other scene except one connected with Buddha Gautama is canopied by umbrellas, whether represented in full or indicated by the garlands hanging therefrom. Applying this as a test, we cannot think of connecting the scene with any other Buddha than Śākyamuni. What we actually have are not four seats but a long platform between two rows of pillars. The absence of the Bodhi-trees indicates that the scene is other than that of the Bodhimaṇḍa. Indeed, we cannot resist the temptation of thinking with Dr. Kramrisch that here we have an artistic representation of the famous Ratana-Chaṁkama or Jewel-Walk where the Buddha is said to have spent the second week following his enlightenment. And we may here point out that Cunningham himself corrected his mistake and took the platform to be a representation of the jewel-walk or promenade, the flowers carved on the top being intended, according to him, "to mark the spots of Buddha's foot-prints".[2]

1 Stūpa of Bharhut, p. 121.

2 Mahābodhi, p. 10.
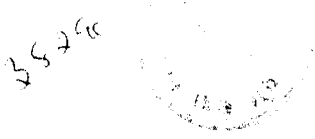
3. Bhagavato paṁchasanaṁ. (?)[1]
"The five seats of the Divine Being." (?)

Buddha spends five weeks on five spots around the sacred Bo Tree.

After the attainment of Buddhahood, the Buddha spent full seven weeks in Uruvilvā, on the bank of the Nairañjanā. In the first week he remained sitting cross-legged upon the Bodhimaṇḍa, feeling the great joy of victory and success. During the second week he remained in a sitting posture on a spot to the north-east of the Bo-Tree, gazing at it, keeping his eyes always fixed upon it and meditating. He spent the third week in walking upon the Jewel-walk, from end to end. During the whole of the fourth week, he resided in the Jewel-house, developing the chain of reasoning and reflecting on its effects and possibilities. In the fifth week, he enjoyed the bliss of Nirvāṇa under the banyan tree called Ajapāla. In the sixth week, he remained near the Muchalinda-lake, guarded by the Dragon-chief Muchalinda who coiled himself round his person, spreading his great hood over his head, as a means of protection during storm and rain. In the seventh week, he went to a forest of Kshīrapāla-trees, where he remained at the foot of the Rājāyatana-tree upon a seat of stone, and after passing the 49th day, accepted a gift of food from the trader brothers Trapusha and Bhalluka. In the preceding two scenes we have seen how he spent the first and third weeks. The surviving fragment of the inscription indicates that there was another bas-relief representing the scenes of the five places where he spent the remaining five weeks.

Dharmachakrapravartī Bodhisattva presents a Symbol of Wheel.

4. Pl. XXXIV. 4. [Scene 44] :—This carving in a rail-medallion contains the representation of a massive wheel set in the mortice of an octagonal pillar with a bell-capital bearing at its top the design of a full-blown lotus, while its abacus bears the figures of two antelopes, which are crouching in opposite directions. The antelopes serve unquestionably the purpose of a symbol of the Deer-Park, where the Buddha proclaimed his Dharmachakra. The wheel is beautifully fitted with the navel, the axle, the spokes and other paraphernalia. Its rim is bedecked with a continuous decorative design, while two large garlands are hanging down on its upper sides. The symbol is worshipped, on each side, by one man and one woman, the man standing up and the woman kneeling down. It appears that the man to the left was the person who put up the two garlands. This specimen of the Dharmachakra-symbol was, according to Cunningham, a favourite design with the ancient Buddhists, since a similar representation could be found at Buddha-Gayā and at Sānchi, while Fa-Hian also saw the same kind of symbol at Śrāvastī when he visited the place. This observation

is very fruitful. But Cunningham has missed two very important points : (1) that this particular specimen has been studiously kept distinct by the Barhut artist from the wheel-symbol of the Dharmachakra as proclaimed by the Buddha ; (2) that the bas-relief depicts a distinct scene from the life of the Buddha. In the Barhut representation of the symbol of Buddha's Dharmachakra, the wheel has a totally different shape, bears a most ornate finish, and is canopied. The symbol in the bas-relief does not stand for the real Dharmachakra. It is designed only as a previous suggestion.

The distinction here contemplated can be laid bare in the light of a story in the Lalita-vistara. The 26th chapter of the Lalia-vistara relates that previous to the proclamation of the Dharmachakra by the Buddha, a symbol in the form of a wheel was held before him as a suggestion. No sooner the Buddha, on his arrival at the Deer-Park in Rishipattana, sat thinking to give out to the world the immortal truths than the Bodhisattva whose mission was to suggest the way of proclaiming the Dharmachakra caused a symbol of wheel to be brought down. The wheel was resplendent with the colours of all kinds of gems, beautified with all gems, bedecked with an array of ornaments made up of all manner of precious stones, decorated with a thousand lotus-petals emitting a thousand rays, fitted with a navel and an axle, provided with the flower-garlands, the network of gold and the tinkling bells, perfumed with sweet scents, sanctified with waterpots filled to the brim, bearing the auspicious symbols Nandyāvarta and Svastika, painted with all manner of colours, set with superfine clothes, anointed with the highly fragrant floral scents, frankincense, wreaths and cosmetics, made, in short, the very paragon of excellence. Having the wheel brought down, the Bodhisattva standing with folded hands, extolled the Tathāgata by the hymns of praise.

5. Pls. XXVIII. 3. LVIII. Medallion Carving [Scene 45] :—

Jetavana Anādhapeḍiko deti koṭisaṁthatena keto.[1]
"Anāthapiṇḍika dedicates Prince Jeta's Garden after purchasing it with a layer of crores."

Gaṁdhakuṭi.[2]
"The Fragrant Cottage"

Kosaṁbakuṭi.[3]
"The Perfumed Cottage."

1-3. Barua Sinha, Nos. 161-163.

Here, in the foreground, Cunningham sees a bullock-cart, with the unyoked bullocks sitting beside it, and with the yoke tilted up in the air to show that the cart has been unloaded. In front are two men, each holding a very small object between his thumb and forefinger. These two may be taken to be Anāthapiṇḍika himself and his treasurer, counting out the gold pieces brought in the cart. Above them are two other figures seated, and busily engaged in covering the surface of the garden with the gold coins, which are here represented as square pieces touching one another. These square pieces are surely intended for representing the gold coins with which Anāthapiṇḍika was to cover the whole area of the garden as its price.

Dedication of the Jetavana monastery, built in Prince Jeta's Garden, purchased by Anāthapiṇḍika.

To the left are six other figures, who seem to be Prince Jeta and his friends, while in the very middle of the composition there is Anāthapiṇḍika himself carrying a vessel, just like a tea-kettle, in both hands, for the purpose of pouring water over the Buddha's hands as a proof of the completion of his gift. Two temples and four trees represent the garden. The temples are respectively labelled Gaṁdhakuṭi and Kosaṁbakuṭi, which did not from any part of the original garden of Prince Jeta. To the right of the Kosaṁbakuṭi and below the Gaṁdhakuṭi there is a single mango-tree surrounded by a railing, which is, without doubt, intended for the holy mango-tree, the stone of which was planted by Ānanda according to Buddha's instruction. The remaining three are the sandal trees which were left standing, while the rest of the scene illustrates the famous story of the purchase of the garden with as many gold pieces us would suffice to cover its surface. The story is sufficiently well told by the sculptor who has wisely limited his work to a few of its leading features, such as the largeness of the sum of money which required a cart for its conveyance, the counting of the coins, and the spreading of the gold pieces over the whole surface of the garden. The chief interest of the scene lies in the two temples, which are actual representations of two buildings. Their insertion is an anachronism, as the temples could not have been built until after the purchase of the garden. If they had been buildings without names, they might perhaps have been looked upon as simple garden houses. The sculptor has apparently aimed at giving a view of the great Buddhist vihāra of Jetavana, in illustrating the story of its erection by Anāthapiṇḍika. The Kuṭi, in the two specimens, is a single-storeyed building, enclosing an altar or throne, with a garland hanging over it. It has an arched doorway, which is surmounted by a second arch-like hood-moulding. The roof of the Kosaṁbakuṭi is a dome, with a small pinnacle on the top ; but that of the Gaṁdhakuṭi has gable ends with a pinnacle at each end.

We appreciate the suggestion that the scene illustrates not merely the story of dedication of Prince Jeta's Garden after it was purchased from its owner but that of dedication of the garden after it had been converted into a Buddhist monastic residence with all new additions of cottages, houses and sheds, made by Anāthapiṇḍika and Prince Jeta. The clean surface of the plot of land and the four trees represent the condition of the garden after all the useful trees but the sandal and mango were cut down and the ground was made perfectly level as a proof of the fact of possession. Of the four trees shown in the bas-relief, three in the upper part of the right half are sandal trees and one on the right side of the the Kosaṁbakuṭi is a mango-plant with hanging bunches of fruits. The latter is not the mango-tree planted by Ānanda according to Buddha's instruction. The mango-tree referred to by Cunningham was planted by Gaṇḍa, the gardener, on a spot lying midway between Jetavana and the city-gate of Śrāvastī. We nowhere see the presence of Anāthapiṇḍika's treasurer in the scene. In the right half of the medallion where the sculptor represents the story of the gold pieces, brought in a bullock-cart, we encounter in the lower part just a scene of unloading after the bullocks were unyoked, and the conveyance was tilted up to facilitate the work. The carter himself, characteristically sitting on the ground before the lower end of the cart, is carefully counting the loads of gold pieces, layer after layer, block after block, and handing them over to Anāthapiṇḍika who is seen standing before him, on the left side of the cart, as much at a time as the banker could conveniently hold in the fold of his hands. The carter, whilst the forefingers of his two hands are yet resting on two gold pieces, is inquisitively looking at the banker to be assured that his counting is not incorrect. One of the hired labourers, who appears to be an old idiot, is carrying, at an unusually slow pace, a heavy load of gold pieces in an open cylindrical holder, held over the back of his shoulder, bent under its weight, grasping its circular edges with his two hands from two sides, while two clever men, who are engaged, face to face, in symmetrically covering the ground are awating his arrival, in a significant attitude of forbearance, as they have no work to do for want of material. It is clear that the banker himself is busy passing the gold pieces to the hands of the carrier, who takes them finally to the place of work after tightly setting them inside the holder. The pieces are of irregular shape and size, and a fortiori of varying weight. Most of them are four-sided and a few are round, but none is perfectly circular, square or rectangular. Many of them bear punch and Svastika marks, and none is without an imprint. It seems that a melted bullion with different imprints has been cut into several pieces, each retaining an imprint on it. According to the Jātakanidāna-kathā. these are hiraṇya-

kārshāpaṇas, the stamped or imprinted gold coins, as distinguished from the brick-shaped or tortoise-shaped gold-bullions, used by former bankers in covering the ancient site of Jetavana[1]. The two men, who are covering the ground, are not using any tools, because the pieces are sufficiently handy and strong to be used. when necessary, as hammer. Though the suggestion is somewhat remote, from their action we may also infer that the banker and the carter are considering whether the last cartload, which is being exhausted, would suffice to cover the remaning part. In the left half, there are representations of two private chambers of the Buddha, the Gandhakuṭi and the Kosambakuṭi, and these are well described by Cunningham.

These two cottages with the cubical seats and overhanging garlands symbolise Buddha's arrival, presence and acceptance of the monastic residence as a permanent gift. According to Buddhist literary tradition, the Gandhakuṭi was built in the middle or interior of Jetavana,[1] and the Kosambakuṭi on the border.[2] The Sutta-nipāta-Commentary mentions Gandhakuṭi, Karerimaṇḍalamāla, Kosambakuṭi and Chandanamāla as the four main cottages used by Buddha as his private chambers (nivāsāgāra).[3] To the right and a little below the Kosambakuṭi, we see a small shed or cell with a railing-like wall. We cannot say what it is ; it may be intended to represent the foundation of a new building. But it is certainly not a railing surrounding the mango-tree which stands just on a side of it, with a high square mound of earth at its foot. The banker Anāthapiṇḍika stands before the Gandhakuṭi, keeping its doorway on his right hand side, with a big ornamented water-jug, for pouring water out of it as an act of merit and a formality in making the religious gift. He gently stands, with his dignified mien, the jug held in his hands and the loose upper garment passing over his left shoulder. On the left side of the Gandhakuṭi, and just behind the Kosamba, Prince Jeta stands, with joined hands and princely majesty, at the head of a number of men, who accompanied him and participated in the function.

These details lie scattered in several stories, and are put together in the Ceylonese version based upon some older Indian legend which the Barhut sculptor had before him. All the versions say that after inviting the Buddha to visit Śrāvastī and spend the rainy season there, the banker Sudatta, the Supporter of the Destitute, looked for a suitable site for the erection of a monastic residence in the suburb of Śrāvastī, and his choice fell upon the garden of Prince Jeta, a son of King Prasenajit's. In

1 Fausboll's Jātaka, I. p. 94.

1 Fausboll's Jātaka, I. p. 92.

2 Sāratthа-Pakāsini, Siamese Ed., I. p. 361.

3 Paramatthajotikā, II. p. 403.

agreeing to sell the garden the prince made a bargain with the banker that he must pay him as many gold pieces as would be required to cover the whole site. Accepting this bargain, the banker ordered his men to cut down the trees and level the ground. Meanwhile the prince changed his mind and was unwilling to sell his garden. As the banker would not give up his right, the matter was referred to the minister in charge of the admistration of justice, and the case was decided against the prince[1]. But was the bargain really accepted ? The Ceylonese version says that the prince and the banker went together to the garden, and saw that all the useful trees but the mango and sandal were cut down, and the whole place was made perfectly level. The banker commanded his treasurer to bring out from his stores of wealth as many gold pieces as would be necessary. He emptied seven stores in sending 18 crores, which sufficed to cover the whole of the site minus the entrance. The prince prevented the banker ordering for any more pieces, as he thought the amount brought in was sufficient, The money was brought in the cart, in a thousand bundles, while a thousand men, each taking up a bundle, covered the garden. This transaction being completed, the banker began new building-operations, the erection of the monastic residence, costing him 18 crores. over and above the donations received from his friends. He spent another 18 crores in celebrating a feast and in daily alms set up for nine months from the time of dedication of the monastic residence to the Buddhist order, whether present or absent. According to some stories, the prince built with the whole of the 18 crores he had received a vestibule on that part of the garden, not covered with gold.[2] The Ceylonese version says that he built a seven-storeyed place at each of the four sides of the garden.[3] On the approach of the Master to the city, he was received with great honour, and met by a splendid procession, composed of different companies of men, women, boys and girls with 500 persons in each, carrying vessels and emblems, headed by different members of the banker's family. The banker himself escorted the Master to the monastie residence, and poured water from a golden jug upon the hands of the Teacher in offering the residence to the whole Buddhist order. In the Khuddaka-Pāṭha-Commentary on the Maṅgala-Sutta we read that the residence was named Jetavana after prince Jeta, and Anāthapiṇḍikassa ārāma after the banker. The Tibetan story says that the Buddha himself, in honour of the two donors, called the place Jeta's Park and Anāthapiṇḍika's Grove.[4]

1 Vinaya Chullavagga, VI. 4, 9 ; Rockhill's Life of the Buddha, p. 48 ; Fausbell's Jātaka, I. p. 92 ; Spence Hardy's Manual of Buddhism, p. 224.

2 Chullavagga, VI. 4. 9 ; Rockhill's Life of the Buddha, p. 48 ; Commentry on the Maṅgala-Sutta.

3 Spence Hardy's Manual of Buddhism, p. 225.

4 Rockhill's Life of the Buddha, p. 49.

6. Pl. XXXI. 3 [Scene 50] :—Here Cunningham finds a fine specimen of a Bodhi-Tree on a long Rail-bar. There is no label attached to it ; but the foliage is so distinct from that of the Bodhi-Trees of the last three Buddhas that one can feel certain that it is intended for Śirisha, the Bodhi-Tree of Krakuchchhanda. The trunk is surmounted by a two-storeyed building, and in the courtyard there is an isolated pillar surmounted by an elephant. The details are quite different from those of the Bodhi-Tree of Śākyamuni. The building has three arched openings in front. It is probably a square building, with the same number of openings on all sides, somewhat similar to the present Bāradāri or Twelvedoor summer-house. The trunk of the Bodhi-Tree with the Vajrāsana is seen in the middle opening, and pendent garlands in the side openings. The two storeys are separated by an ornamental railing. In the centre appears the upper part of the Bodhi-Tree breaking through the roof, and on each side a small arched window or niche, with a garland hanging inside. Garlands are also pendent from the branches of the tree. The style of roof is uncertain, but as it has rounded ends, it must be covered by a dome.[1]

Stories of royal personages doing honour to the Bodhi-Tree.

The isolated pillar, surmounted by an elephant facing the Bodhi-Tree in the centre, has a round shaft. The Bodhi-Tree is not Śirisha or Acacia ; it is Aśvattha or holy Pippala. The foliage, leaves and small round fruits confirm this identification. The trees standing on three sides of the Bodhi-Tree and turned towards it are also Aśvattha. The hanging garlands in the side openings presuppose royal umbrellas over the small Jewel seats of the Buddha. These are, according to Barhut convention, a distinctive feature of a scene connected with the present life of Śākyamuni. It is no less important that two royal personages are seen perambulating the Bodhi-Tree and shrine, with joined hands, held in front. It is very probable that the scene is based upon stories similar to those of the Kāliṅga-bodhi-Jātaka and its Introductory Discourse (F. 479).

The citizens of Śrāvastī wanted a place in Jetavana for worship of the Buddha in his absence. When the Master was away from the city, the people once came, bringing fragrant wreaths and flowers as offerings, which they laid by the gateway of the Perfumed chamber (Gandhakuṭi). Anāthapiṇḍika brought the matter to the notice of Ānanda, who well understood the people's need. He was told by the Master himself that the Bodhi-Tree used by a Buddha was the fittest shrine to pay reverence to during his life. With the Master's permission he made up his mind to plant a seed of the great Bo Tree before the gateway of Jetavana. He did all that

1 Stūpa of Bharhut, pp. 115-116, 119, 121.

was necessary to make it a great function. He procured a seed, fixed a fine evening and placed on the selected site a golden jar, with a hole in the bottom, filled with earth moistened with fragrant water. He informed King Prasenajit, the banker Anāthapiṇḍika, the lady Viśākhā, and others who were faithful and interested. They all came. He requested the king to plant the seed, handing it to him. The king passed it to Anāthapiṇḍika, commanding him to do the work. The banker stirred up the soil and dropt it in. In an instant there sprang up a Bo-sapling, fifty cubits high ; on the four sides and upwards shot forth five great branches of fifty cubits in length. "So stood the tree, a very lord of the forest already ; a mighty miracle. The king......caused to be set there a long line of vessels all full, and a seat he had made of the seven precious things, golden dust he had sprinkled about it, a wall was built round the precincts, he erected a gate chamber of the seven precious things. Great was the honour paid to it." The elder then humbly approached the compassionate Master and prayed that he might be pleased, for the people's good, to use this tree and sit beneath it for the rapture of Attainment. The Master did so during one night, granting the prayer. The function was celebrated as a Bo Festival (Bodhimaha) and the tree was known as Ānanda's Bo (Ānanda-Bodhi). This very Ānanda was, in one of his former births, born as Kāliṅga, the monarch of Kaliṅga, gifted with supernatural powers. He could fly through the air. One day, he and his learned Brahmin chaplain, mounted on an elephant all white, were travelling in the sky. The elephant came all on a sudden to a dead stop. He was urged to go on, but pass he could not. The chaplain descending from the air, beheld the throne of victory of all Buddhas, the navel of the earth, and the circuit around the great Bo Tree beyond which none could pass. But the king would pierce the elephant with goad again and again, urging him on. The elephant was unable to bear the pain, and ultimetely he died. The king being told he was dead, created another beast of good breed by his magical power. The king now sat on his back, and at that very moment the dead elephant fell upon the earth. He understood the quality of the Bo circuit and terrace. He and his Brahmin chaplain humbly worshipped the great Bo Tree, with melodious sound of music and fragrant wreaths, and set a wall round it. The commentator adds, among other details, that he caused a gold-pillar to be set in the ground, eighteen cubits high. It was a wonder indeed to see grass, creepers and trees all as though standing in reverence all about with their faces turned towards the throne of the Bo Tree.

We hold that the Barhut sculptor has sought to represent by the same bas-relief the introductory episode as well as the past anecdote of the Kāliṅgabodhi-Jātaka, with the result that the two royal personages doing reverence to the Bo Tree and

shrine can be identified with King Prasenajit and Banker Anāthapiṇḍika in one instance, and with King Kāliṅga and Brahmin chaplain in the other.

7. Pl. XVII. W. Gate. Corner. Ajātaśatru Pillar. Right Side. Lower Bas-Relief [Scene 46] :—This bas-relief presents in the centre a jewel-seat, no doubt, of Buddha Śākyamuni, usually canopied by a royal umbrella with hanging garlands, at the foot of a full-grown mango-tree with five main branches and many bunches of flowers and fruits. The cubical seat bears upon it numerous leaf and flower marks, which may be impressions of the offerings made. The frieze of the front side shows a continuous rope, chain and pot design. Nine men stand in front of the seat, and six on two opposite sides, three on each side, all eagerly witnessing and watching some unusual phenomenon before them, with hands placed below their chins either joined in an act of supplication or clasped in an act of clapping. In fact, from their manner of standing, general behaviour and attitude it is clear that an orderly crowd of men has gathered round the terrace, struck with awe, adoring and admiring. Five men, who stand behind the seat, in line with the tree, three on the right and two on the left, are distinguished from the rest by their superior dignity, necklaces and drapery. There is nothing particular to note in the mode of expression of three of these men, who stand behind on two sides, two on the right and one on the left. The man on the right, who stands by the tree, holds his lower lip, gently pressing it between the first two fingers of his left hand, while with his upraised right hand he holds a folded loose upper garment, worn on shoulders, i.e., a uttarāsaṅga, evidently waiving its upper end. This is certainly a mark of distinction of the individual, as well as of the man who stands just opposite to him as the chief figure in the whole gathering, similarly waiving the upper end of his folded garment, which is much longer as it passes round his back, over his upraised right arm and suspended left palm, leaving yet sufficient length for the hanging lower end. He wears, as an additional mark of distinction, also a breast-piece, hanging below his necklace. The presence of the mango-tree and jewel-seat in an episode of Śākyamuni's present life forms the real crux of identification, and this can be removed by explaining the details as relating to the famous scene of the Twin-miracle (Yamaka-prātihārya), lying far beyond common human powers, performed by the great Buddha in Śrāvastī, at the foot of Gaṇḍambarukkha, Gaṇḍa's Mango-tree. Buddhist literature contains, upon the whole, two different accounts, one in the Pāli[1] and the other in the Sanskrit Buddhist works[2],

The Buddha performs the Twin-miracle in Śrāvastī at the foot of Gaṇḍa's Mango-tree.

1 Introductory episodes of the Sarabhamiga and Jayaddisa Jātakas (F. 483, 513) ; Yamakapāṭihāriyavatthu in the Dhammapada-Comy : Sinhalese version quoted in Hardy's Manual of Buddhism, pp. 300-308 ; etc.

2 Divyāvadāna, pp. 143-166 ; Tibetan version in Rockhill's Life of the Buddha, pp. 79-80 ; etc.

which agree in their general outline and underlying purpose, but differ in certain important details. In the former, the site of miracle is near the city-gate of Śrāvastī; in the latter, the spot is located between Śrāvastī and Jetavana. In the former, King Prasenajit attends with his retinue as a witness, as one of the onlookers and audience; in the latter, he acts as referee. In the former, the supporters of the six heretics make a pavilion for them and Śakra sends down Viśvakarmā to build a jewelled pavilion for the Buddha; in the latter, Prasenajit causes pavilions to be made for the Buddha and the heretics. In the former, the miracle is performed under Gaṇḍa's Mango-tree; in the latter, under the Karṇikāra-tree, fetched by the gardener Gaṇḍaka from Uttarakuru and planted before the Miracle-pavilion, and the Aśoka-tree, fetched by the gardener Ratnaka from Mt. Gandhamādana and planted behind this pavilion. In the former, Prasenajit waits on the Buddha, taking Anāthapiṇḍika with him; in the latter, Anāthapiṇḍika finds no mention. In the former, the seats of the gods and angels present in the gathering are not specified; in the latter, Brahmā and other angels attend, taking their seats, on the right hand side of the Exalted One, and Śakra and other gods attend, taking their seats on the left hand side. In the former, the Buddha walks up and down a jewelled walk which he had caused to be made; in the latter, he sits on a high lotus-seat which the Dragon-chiefs Nanda and Upananda had brought down. The two human figures standing on the right hand side of the tree may be taken to represent Brahmā and other angels, and the three figures on the left hand side to represent Śakra and other gods. Leaving this point aside, the Barhut artist seems to have followed a tradition more in line with the Pāli as will appear from the following summary :—

Taking advantage of the Buddha's injunction prohibiting his followers to perform miracles, the six Heretics sought favour with the people by their boasted claims to superhuman powers and feats. The Buddha taking up a suggestion from King Bimbisāra, resolved to perform the Twin-miracle in Śrāvastī to humble their pride. In the month of Āshāḍha the Buddha arrived in Śrāvastī, where near the city-gate the six Heretics induced their supporters to erect a magnificent pavilion with pillars of acacia or khadira wood. covered with blue lotus flowers. King Prasenajit offered to erect a pavilion for the Buddha. But the Buddha prevented him saying that Śakra would make the pavilion. Hearing that the Buddha would perform the miracle at the foot of a mango-tree, the Heretics took care to destroy all mango-trees for a league around and monopolise all mango-seeds. On the full-moon day of Āshāḍha, Gaṇḍa, the king's gardener, found out a ripe mango in a basket of leaves made by red ants, and offered it to the Buddha, who handed over the stone to the gardener, asking him to plant it in the ground. He did as he was told. The very

moment he washed his hands, a mango-tree sprang up, with a stalk as thick as a plough-handle, fifty cubits in height. Five great branches shot forth, each fifty cubits in length, four to the four cardinal points, and one to the heavens above. Instantly the tree was covered with flowers and fruits ; indeed on one side it bore a cluster of ripe mangoes. The king gave orders to post a guard. The tree being planted by Gaṇḍa, became known as Gaṇḍa's Mango-tree. Śakra, the king of the gods, sent Viśvakarmā to make a pavilion of the seven precious things, twelve leagues in compass covered all over with blue lotus. The gods of ten thousand spheres were gathered together. According to the Sinhalese version, the gods assembled around, unseen by all but the gardener. The deity Wind-cloud uprooted the pavilion of the Heretics. The Sun-deity checked the course of the suns to scorch them. The elements conspired to render their stay impossible. They fled helter-skelter. In the Dhammapada-Commentary we read that the Teacher erected a jewelled walk in the air, walking up and down which he performed the promised miracle. At the approach of evening, there assembled a large crowd of men, who sent up shouts of praise,—clapping their hands and waiving their loose upper garments, as the Sinhalese version says. Some of the Buddha's disciples and adherents, male and female, old and young, offered to perform miracle, far beyond the power of the Heretics. The teacher refused permission to all. In performing the miracle, the Teacher preached the Law to the admiring multitude from time to time. Even he created a reflex or double (abhinirmita) to ask him questions. When he was seated, his double walked up and down, and vice versa.

Evidently the Barhut bas-relief follows a simpler story, known at the time.

7. **Pl. VXII. W. Gate.** Corner. Ajātaśatru Pillar. Right Side.

Upper Bas-Relief [Scene 47] :—This square panel, like the rest that adorn the Ajātśatru Pillar, is placed between two tall pillars with octagonal shafts and bell-capitals composed evidently of Aśvattha-leaves of the holy Bodhi-Tree of Śākyamuni.

Devārohaṇa : Buddha's Ascent to the World of the gods of the Thirty-three and preaching of Abhidharma.

It shows a magnificent two-storeyed celestial mansion, the upper storey of which is usually provided with a Buddhist railing at the base, and covered by a long vaulted roof, with some nine small pinnacles on the top. The storey contains not less than five square halls with outward projections and return wings, each of which is provided in front with an arched door or window and a garland hanging therefrom. In the midst of the lower open hall we see a cubical altar throne of Buddha Śākyamuni, covered up with some flower designs between three leaf-stripes or

garland marks. It is canopied by a royal umbrella, with garlands hanging from its rim, and it stands at the foot of a full-grown tree with green verdure and peculiar majesty, six smaller branches spreading out uniformly from the central branch. Two flying angels approach and hover round the tree, showering flowers by the right hand out of a flower-shaped vase or receptacle, carried by the left. The gods have assembled together on four sides of the jewel-throne, all seated cross-legged in four rows, with their bodies covered by the upper garment donned on the left shoulder, and right shoulders left uncovered. Those in the front row face the throne, some sit behind, others in compass, with joined hands and solemnly gaze at it. As all are dressed alike, it is difficult to distinguish one from another. But it can be seen that the joined hands of two of the deities on the left, who are seated on the right hand side of the tree, touch the upper edge of the throne. The same holds true of a deity on the right, who sits on the left hand side of the tree. The depicted scene is obviously that of the Buddha's preaching of Abhidharma to his mother, now a god of the Thirty-three, in the midst of an assembly of the dwellers of this heaven. The tradition catalogues this incident by a cogent label, Devārohaṇa, Ascent of the Buddha to the World of the gods.

In all[1] but the Yamakapāṭihāriyavatthu of the Dhammapada-Commentary and its Sinhalese[2] or Burmese[3] version, we have u much shorter account which may be summed up in these few words : After he had done the Twin-miracle, the Buddha went up to the Heaven of the Thirty-three, where he began the season of rains, and seated upon the yellow-stone throne (pāṇḍukambala-silāsana),[4] under the great Coral-tree, Erythmia Indica (Pāricchatra, Pārijāta),[5] discoursed for the space of three months upon the higher method and doctrine of Abhidharma, to his mother and other gods of the Thirty-three, in the manner of all previous Buddhas."

The story of the Dhammapada-Commentary narrates, among other details, that when the Teacher seated himself on the yellow-stone throne to expound the Abhidharma to his mother, the deities of ten thousand worlds surrounded and waited upon him. As he sat there, outshining by his glory all the other deities, his mother (now a male deity) approached from the Palace of Tushita, and took her seat on his

1 Atthasālini, prologue ; Sarabhamiga-Jātaka, Introduction (F. 483) ; Divyavādāna, pp. 349, 401 ; Rockhill's Life of the Buddha, pp. 80-8).

2 Hardy's Manual of Buddhism, p, 300.

3 Bigandet's Life or Legend of Guadama, I p. 224.

4 Rockhill's rendering from the Tibetan is—'the slab of white stone.'

5. According to Rockhill's rendering of the Tibetan account, "in a beautiful grove of Pārijātaka and Kobidāraka trees, he instructed his mother and a host of devas."

right hand side ; the god Indra likewise approached and sat down on his right hand, while the god Aṅkuśa sat down on his left side, twelve leagues apart. Thus seated in the midst of the assembly of the gods, for the sake of his mother, he began the teaching of the Abhidharma-Piṭaka for the space of three months without interruption. When it was time for him to go on his round for alms, he would create a double to do the work. During this time he was visited only by the Elder Sāriputta. When his discourse had been over, his mother was established in the Fruit of Conversion.

The Barhut has-relief takes no cognizance of details of the Ascent. Although the allotment of seats according to ranks of the deities on the right-hand and left-hand sides is probably a notable point of agreement with the above Commentary-story, beyond a doubt it follows a simpler scheme which agrees with the shorter accounts.

8. Pl. XVII. W. Gate. Corner. Ajātaśatru Pillar. Right Side.

Devāvatarana : Buddha's Descent by a Triple ladder at Saṁkāśya from the World of the Trayastrimsa gods and proclamation of Śāriputra's great power of comprehension of the Law.

Middle Bas-Relief [Scene 48] :—Here Cunningham observes a triple ladder that occupies the middle of the scene with a Bodhi-Tree and a Vajrāsana at its foot. The ladder is a triple flight of solid stone steps, similar in all respects to the single flight of steps which was found at W. Gateway of the Barhut Stūpa. There is one footprint on the top step, and a second footprint on the bottom step of the middle ladder. These are the footprints of the Buddha (with wheel-marks) forming in his absence the invisible objects of reverence. A number of spectators on all sides are intended to represent the crowd of kings, ministers, and people, who, according to Fa Hian, flocked to Saṁkāśya to await the return of the Buddha. Three flying figures, who represent, no doubt, the crowd of deities, carry flowers and garlands. The scene truly represents the Buddha's Descent by the great Ladder from the Trayastriṁśa Heaven[1].

This, treated as a general description, is well and good. We welcome Cunningham's identification. But we are not convinced that the tree on the right hand side of the triple ladder is a Bodhi-Tree or the cubical seat at its foot, covered over with the lotus marks and canopied by the royal umbrella and hanging garlands, is a Vajrāsana. The tree under which a Buddha attains Buddhahood or any of its offshoots is technically the Bodhi-tree. Similarly the seat upon which a Buddha remains seated when he penetrates Sambodhi, or any seat built in its exact imitation and sanctified

1 Stūpa of Bharhut, pp. 91-93.

by the Buddha by sitting upon it as he sat when he attained Sambodhi, is technically the Vajrāsana. As the tree is not Aśvattha, it cannot be the Bodhi-tree of Śākyamuni. It appears to be the heavenly tree Kovidāra, Bauhinia Variegata, though, according to the Tibetan account[1], we might have expected to find here a representation of the Udumbara or Fig Tree. All the persons who have gathered together on two sides of the ladder are not represented as mere spectators, awaiting the Buddha's return. Anyway, the persons seated cross-legged and with joined hands, in front and on the right hand side of the jewel seat, represent a congregation of hearers, listening to the words of the Master, who must be discoursing on the Law, while a flying angel, hovering over the tree, is scattering flowers by the right hand out of the familiar receptacle, carried by the left. Twelve persons, who stand with joined hands in three rows, on the left hand side of the ladder, truly represent the crowd of spectators, watching the Buddha's Descent. From their apparels they appear to be deities rather than human beings. None of the two flying angels, hovering above on this side, brings garlands and carries flowers. One flying by the ladder is seen holding up the outer end of his loose upper garment by the right hand, while he puts the first two fingers of his left hand between his lips as if whistling. The second angel flying behind him, scatters a shower of flowers in the usual manner, a fact noticed in Hwen Thsang's short description[2]. The representation of the triple ladder is not without its significance. It is so long and steep that the steps rather look like flutters of a window.

The legend of the Buddha's Descent at Saṁkāśya by a ladder has been variously told in different Buddhist works. The fact that its main points are the same in all the accounts does not minimise the importance of difference in respect of the details. The common point in all the accounts is that the Buddha descended by the middle one of the three ladders, escorted by Brahmā and Śakra, the former walking down by the ladder on the right hand side, and the latter by the ladder on the left hand side, of the Divine Teacher. As regards the details, the Tibetan account, quoted by Rockhill, is an elaboration of short notices in the Divyāvadāna,[3] and Fa Hian's notice is nothing but an elaboration of the Tibetan account. In these three accounts we are told that the Buddha on his return to the earth was first greeted by the nun Utpalavarṇā, transformed by the Teacher's divine power into a Chakravarti-rājā. Another common point is that the Master was

1 Rockhill's Life of the Buddha p. 81
2 Quoted in the Stūpaa of Bharhut, pp. 22-93
3 Divyāvadāna, pp, 384, 401.

accompanied by innumerable gods. Regarding the details, the Tibetan account adds that being informed by Maudgalyāyana that the people were anxious to see him the Buddha desired to get down to the path of men. He visited many abodes of the gods, teaching them the truth, after which he descended to the earth by a ladder of lapis lazuli, while Brahmā, bearing a jewelled yak tail, descended by a ladder of gold on the right hand side, together with all the angels of the Rūpaloka, and Śakra or Indra, bearing a hundred-ribbed parasol over him, descended by ladder of crystal on the left hand side, accompanied by all the gods of the Kāmaloka. A new point in this account is that while in the Trayastriṁśa world, the Teacher was seated in the heavenly grove of the Pārijāta and Kovidāra trees, and when he came down, he seated himself at the foot of the Udumbara-tree in Añjanavana of Saṁkāśya. Fa Hian says : it is the ruling princes, ministers and people who assembled to await the Buddha's return, and not indefinitely the crowd of men. He also adds that Brahmā caused a silver ladder to appear on the right hand side, while Śakra caused a bright golden ladder to appear on the left. A totally new point in Fa Hian's notice is that after the Buddha had returned, the three ladders all disappeared in the earth except seven steps. Hwen Thsang differing from Fa Hian, records that it is Indra who set up all the three precious ladders, the middle one of gold, that on the right hand side, of silver, and that on the left hand side, of crystal. He also records that the three original ladders completely disappeared, while the people set up three other ladders similar to them, made of stone and brick. A new point in his record is that the crowd of deities, who accompanied the Teacher, rose aloft into the air and scattered a shower of flowers. In the Introductory episode of the Sarabhamiga-Jātaka (F. 483), we read that after the Terminal Festival of the Lent had been over, Śakra ordered Viśvakarmā to make a stairway to descend into the world of men. He placed the head of the stairway upon the peak of Mt. Sumeru, the Indian Olympus, and the foot of it by the gate of Samkāśya, between which he made three descents, side by side, one of gems, one of silver, and one of gold, the balustrade and cornice being made of the seven precious things. The Master having performed a miracle, descended by the middle descent made out of gems. Śakra carried the bowl and robe, Suyāma a yak's tail fan, Brahmā a sunshade, while the deities of ten thousand spheres worshipped him with garlands and perfumes. The Buddha was first greeted by the Elder Śāriputra at the foot of the staircase. Amid the assembly that gathered round him, the Master went on asking questions, the most difficult one being answered by Śāriputra. Thus his chief disciple's great wisdom was made known to all. A much longer and almost an independent account is contained in the Yamakapāṭihāriyavatthu of the Dhamma-

pada-Commentary, where we read, among other details, that the deities headed by Śakra, descended upon the ladder of gold on the left hand side, and Mahābrahmā and his retinue upon that of silver on the right hand side, while the Master himself walked down by the middle ladder of seven precious Jewels. Śakra had caused these ladders to be created. Mahābrahmā accompanied the Master, bearing a parasol, and Suyāma, carrying a yak's tail fan, Pañcaśikha, the celestial musician, descending on the right hand side, did honour to the Buddha with the notes of his sweet celestial lute of vilva wood, and Mātali, the charioteer, descending on the left hand side, paid honour with celestial scents, garlands and flowers. On all sides round there was a vast congregation of gods and men, who stood on the ground in an attitude of supplication. A parmanent shrine (acalacetiyaṭṭhāna) appeared on the spot where the Teacher set his right foot on the ground.

The Barhut scene has nothing to do with the details about Brahmā, Sakra and other deities accompanying the Teacher. The ladders are represented alike. The crowd of onlookers and that of hearers are composed of deities. A shrine is represented on the right hand side of the ladder, though the tree is not the Fig as it should have been according to the Tibetan account. The appearance of flying angels scattering flowers and of the crowd of deities is completely in accord with Hwen Thsang's description.

9. [Missing] Vanacaṁkamo Pārireyo. [1]

"The woodland resort Pārileya."

Buddha spends a rainy season in a forest, being waited upon by the Pārileya elephant.

A serious misundurstanding broke out among the Buddha's disciples, the Bhikshus of Kauśāmbī, dividing them into two camps. The Teacher advised and entreated them not to quarrel over a small matter and amicably settle their dispute. But they would not listen. Seeing that he appealed to them in vain, the Teacher went alone, leaving them to quarrel, to a solitary woodland, where he spent one rainy season, being waited upon by the Pārileya elephant. Meanwhile the pressure which the lay supporters of the Order brought to bear upon the Bhikshus compelled them to come to terms. They sent a deputation to the Teacher, with Ānanda as the leader to beg pardon and persuade him to come away from the forest. The elephant saw him off till he passed out of the forest and died on the spot when he passed out of his sight, to be reborn into a blissful state in heaven.

1. Barua Sinha, No. 166.

II. **Pl. XVI. W. Gate. Corner.** Ajatasatru Piller. Left Side. Lower Bas-Relief [Scene 51] :—"Ajātaśatru bows down in obeisance to the Divine Master."

Ajātasatru Bhagavato vaṁdate.[1]

Cunningham rightly observes that within the narrow limits of the small bas-relief the sculptor has contrived to represent three different phases of the story of King Ajātaśatru's visit to the Buddha. First, we have the king's procession to the garden ; then, his dismounting from the elephant near the dwelling place of the Buddha ; and lastly, his devotion at the Bodhimaṇḍa, or Throne of Buddha, which is the symbol of the Buddha. After the murder of his father, the king Ajātaśatru being unable to sleep, sought the presence of the Buddha, by the advice of his physician Jīvaka, in the hope that the great Teacher might ease his troubled mind. The king left his palace at night by torchlight, mounted on an elephant, and accompanied by 500 women, also on elephants, and a still greater number on foot. This part of the scene is represented in the lower part of the bas-relief, where the king, driving his elephant with his own hand, is followed by several women on elephants, while an attendant carries an umbrella over his head. There is no room for the representation of the city-gates of Rājagṛha. Of the garden of Jīvaka under the Vulture's Peak, there is only one trace. In the Ceylonese version the women, who were mounted on elephants, are said to have carried weapons in their hands. Here they carry only elephants' goads, and these were perhaps the only arms of the original story, which were afterwards converted into weapons. In the second portion of the scene, the dismounted king stands with his right hand raised in the attitude of addressing his followers. No doubt this is intended to represent Ajātaśatru putting the question to Jīvaka, "Where is the Buddha ?" or "Which is the Buddha ?" In both the Indian and the Ceylonese versions the Buddha is described as being seated near the middle pillar of the vihāra. Here the Buddha himself is not represented at all ; only his footprints are seen on the step or footstool in front of the Bodhimaṇḍa throne. The inscription shows that Ajātaśatru is worshipping the Buddha's footprints.[1]

King Ajātaśatru enters Jīvaka's Mango-grove to wait upon the Buddha.

There is indeed some distinction between the Canonical and Commentary versions of the story. But this distinction lies only in the matter of detail, without involving any serious disparity. The Commentary version, whereupon the Ceylonese account is based, serves to give a fuller description of the pompous royal procession within the city of Rājagṛha and till the king entered Jīvaka's Mango-grove, which

1 Barua Sinha, No. 107. 1 Stupa of Bharhut, pp. 89-90

was situated, according to Buddhaghosha, between the outer wall of the city and the Mt. Gṛdhrakūṭa. It does so without any prejudice to the Canonical version. The Barhut scene has nothing to do with this part of the story. The simplicity in the entry of the king and his female attendants (not to say guards) into Jīvaka's garden is what really adds charm to the story and the scene. The fact that the female guards, now acting as mere female companions, are dressed no longer as men, and do not carry any weapons in their hands, is precisely in keeping with the spirit of the underlying story. We do not see any Bodhimaṇḍa or Buddha's Throne in the scene, nor do we see the king Ajātaśatru worshipping the Buddha's footprints. The construction shown in the bas-relief is not strictly speaking, a vihāra or monastery. What we do see is a maṇḍala-māla, an open-pillared and covered platform, on the right end of which is the cubical jewel-seat of the Buddha, usually canopied by a royal umbrella, from the rim of which five garlands or flower-wreaths are hanging. The ornamented seat bears upon it the familiar garland and flower designs, and shows on its front side a garland design, having below it the undulating folds, and having above it the full-blown lotuses and human hands alternating with each other. The two footprints, placed side by side on the platform below, just in front of the cubical seat, are intended to represent the quarter, facing which the Buddha sat upon the seat, resting his feet on the floor. According to the Canonical story, the Buddha was at the time sitting, leaning against a middle pillar, facing east; and conforting the congregation of the Bhikkhus. The Maṇḍala-māla is here represented as an open-pillared shed, with two rows of octagonal pillars, supporting a flat rectangular roof, composed of beams and rafters and adorned with a line of a small crenellated battlements. The name maṇḍala-māla was generally applied to two kinds of building construction : (1) in some instances, to a circular one-peaked house, thatched, round a single peak, in the duck-and-quail style ; and (2) in some instances, to a circular waiting-hall, surrounded by a set of pillars. But in this instance, as Buddhaghosha points out, it means a sitting-hall, put up in a park or garden, accessible to the public.[1] A burning oil-lamp is seen hanging from the ceiling of the roof on the left side of the jewel-seat. King Ajātaśatru kneeling down on the ground, bends his head low, touching the seat

---

1 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. II. p. 256 : "Idha maṇḍalamālo vihāro ti adhippeto."

1 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. I. p. 58:
"Katthachid eva kannika gahetva hamsa-vattaka-channena kata kutagarasalapi mandala-malo ti vuccati. Katthaci ekam kannikam gahetva thambhapantim parikkhipitva kata upatthana-sala pi mandala-malo ti vuchchati.
Idha pana nisidina-sala mandala-malo veditabbo."

with his forehead and hands, while in an earlier phase, shown on the left, the king is seen gently advancing with joined hands towards the Master's seat, followed by his four female companions, also with joined hands. In this this king stands beside one of the octagonal pillars. The lower half of the bas-relief presents a good view of Jīvaka's Mango-grove, showing two mango-trees with hanging bunches of fruits. Here the king, who has dismounted from the elephant, stands on the right, between the trees, holding the breastlet between the forefingers of his left hand, while with his right hand raised before him he asks others to proceed very cautiously, making no noise. His attitude shows that he is seriously thinking of something. The elephant on whom the king had mounted still remains kneeling down upon the four legs, while the female attendant sitting on the elephant's back, just above the tail, holds the goad, restraining the violent movement of the animal. In the left we have a still earlier phase, showing the peaceful entry and arival of the royal procession in the garden, with the king at the head. The four elephant majestically stand side by side and one behind the other, the one ahead bearing the king on his shoulder, and each of the three standing behind bearing a female attendant. The attitude of the king and his female attendants, each holding the goad and pulling the elephant's head by means of two hands to restrain the motion of the animal as a preparation for dismounting is interesting. But we also notice that some one holds a garlanded parasol over the king's head from behind. The scene of dismounting clearly shows that the umbrella-bearer is a female attendant, sitting on the same elephant, behind the king. Each of the elephants is nicely caprisoned. Thus we can make out four phases in place of three suggested by Cunningham : (I) Arrival of the king in Jīvaka's garden and preparation for dismounting, (2) Dismounting, (3) Advance towards the Master's seat, and (4) Obeisance to the Master. Nothing would be more curious than that Jīvaka should be absent from the scene or that his Mango-grove should indicate his invisible presence. If the man who stands with joined hands, ahead of the female attendants, by a middle pillar of the maṇḍala-māla, be Jīvaka, we can presume that he came on the same elephant with the king, his seat having been between the king in front and the female attendant behind. If he be Jīvaka, the phases must be counted as three, and not as four. The background of the scene is in the Cononical story of which the Pāli[1] and Sanskrit versions (the latter preserved in Tibetan translations[2]) show almost a complete agreement. The Pāli Commentry version[3] is important in places where it serves to fill the lacuna. The story is as follows :—

1 Sāmaññaphala-Sutta of the Dīgha-Nikāya, I.

2 Rockhill's Life of the Buddha, pp. 95-97 ; Burnouf's Le Lotus de la bonne Loi, p. 451.

3 Buddhaghosa's Commentary on the Pali Sutta ; Spence Hardy's Manual of Buddhism, pp. 333-337.

It was a seasonal Fast-day and Festival, a glorious Full-moon night, when Ajātaśatru, the king of Magadha, was seated upon the terrace of his magnificent palace, surrounded by his courtiers. Since he caused his father's death, he was unable to sleep quietly. It was a beautiful night, but he was not at ease. He turned to his courtiers and asked them to suggest the name of a teacher whom he might wait upon for a religious conversation, and who might ease his troubled mind. They suggested the name of this teacher or that teacher, whom they knew to be the best. When all talked out, Jīvaka, the royal physician, remained silent. The king turned to him for a suggestion. He suggested the name of the Buddha who resided at the time in his mango-grove, with 1250 disciples. "Sire, there is the Blessed One, who is a teacher of many, who is honoured by many, who is revered by many, and who is passing the summer here at Rājagṛiha in my Mango-grove". "Go, good Jīvaka, and have the elephant got ready." He had the king's elephant got ready, and five hundred female ones on which rode five hundred women of the palace; bearing torches. The king majestically mounted his great elephant, and went forth from Rājagṛiha, accompained by five hundred female attendants with torches in their hands. Buddhaghosha adds that the king passing out by the eastern gate of the city, entered Jīvaka's garden, under the cover of Mt. Gṛidhrakūṭa the peak which kept the moon out of view and shades of the trees made the path appear dark and gloomy. "Friend Jīvaka", said the king, "do you not want to kill me, ensnare me, or do you not wish to deceive me, or deliver me over to the executioner, to my adversaries, or to my enemies? How is it that though, as you said, there were 1250 disciples with the Master, no voice can be heard, and a dead stillness prevails?" "Sire, the Blessed One likes a low voice, and as he extols a low voice, his disciples speak softly. Have no suspicion, Great King. Be not afraid. Gently push your elephant on. The oil-lamps are burning in the younder resting shed". Going as far as the path permitted in the interior of the garden, the king dismounted from the elephant and walked on foot, and on reaching the doorway of the resting-shed, inquired: "Where is the Blessed One? What is his appearance? "Sire, the Blessed One is he who is seated in the midst of the congregation of the Bhikshus, near the middle pillar, facing east." He cast a glance at the Bhikshus who remained quiet and silent, the Master appearing as if it were that he was seated in the midst of a calm and placid lake." "Would it be," wished the king, "that my son Udayabhadra will have this calmness of spirit!" He went up to the Master, and putting his upper garment over one shoulder, touched the ground with his bended knee, and with clasped

hands discussed some points concerning the visible reward of religious life. "What think you, Great King, have I not shown that there is a visible reward for a life of virtue ?" "Of a truth, you have, my Lord", said the king, approving the words of the Great Teacher.

10. Pl. XIII. Railing-Pillar. S. Gate. Inner Face. [Scene 52] :—

Rājā Pasenaji Kosalo.[1]

"King Prasenajit of Kosala."

Bhagavato Dhamachakaṁ.[2]

"The Dharmachakra of the Divine Master."

This is a fine piece of sculpture representing a scene of the visit of King Prasenajit of Kosala to Buddha, the Enlightened Teacher. Here Cunningham notices a two-storeyed building enshrining the Dharmachakra or the Wheel of the Law as a symbol of the Buddha and occupying all the upper portion of the bas-relief save a narrow strip on each side. In these strips, as he observes, one can see the head and tail of the procession, the whole of the lower half being occupied with the main body and the gateway of the palace through which the king has just passed. He finds the leader of the procession to be a footman, closely followed by a horseman, whose back only is represented together with the hind part of his horse. Next comes, to continue his observations, another footman, all of them who have turned upwards to the left being closely followed by the king in a chariot drawn by four horses abreast. The horses are gaily caparisoned with lofty plumes and plaited manes. The king is attended by a man holding the chauri, and a second holds an umbrella over his head. The third is the charioteer behind the chariot is the palace gateway, through which three followers are passing. Their heads only now remain, as the whole of the lower right corner of the sculpture, including the horses' legs and the greater portion of the chariot wheels, has been broken off. Behind the gateway, and advancing towards it, are two other followers mounted on elephants who close the procession. The interest of this remarkable scene is naturally divided between the great King Prasenajit and the famous Buddhist symbol of the Dharmachakra which here takes the place of the Buddha himself. This symbol is probably intended as a type of the advancement of the Buddhist faith by preaching, and thus becomes an emblem of Buddha the Teacher, in the same way that the Bodhimaṇḍa is used as a symbol of Buddha the

Dhammachetiya-Sutta. King Prasenajit's last interview with the Buddha.

[1], [2], Barua Sinha, Nos. 168—169.

Ascetic. The Wheel, has a garland hanging from its axle, and is surmounted by an umbrella figured with garlands, having on each side a worshipper standing with joined hands upon his breast in an attitude of devotion. The lower storey of the Dharmachakra-shrine is an open-pillared hall standing on a plinth or basement ornamented with Buddhist railing. The upper storey has two projecting rooms pierced with arched windows covered with semi-circular hood-mouldings, while the wall in the centre and beyond the projecting rooms is ornamented with a line of Buddhist railing. Above it springs the barrel vault roof with two gable ends, and a line of eight small pinnacles on the ridge. This edifice is no other than the Puṇyaśālā erected by King Prasenajit in honour of the Buddha in the city of Śrāvastī, his royal capital. The large Wheel-symbol occupies the middle of the front part of this building.[1]

Such is the graphic description of the scene quoted above, almost verbatim, from Cunningham. Here we have nothing else to do than clear up certain points. Is the edifice with an open-pillared hall, containing the Dharmachakra-symbol, the Puṇyaśālā erected by King Prasenajit near Śrāvastī ? Who is the man standing within this hall in an attitude of devotion on two sides of the symbol ? Is the gateway noticed by Cunningham really the palace-gateway ? These questions cannot be answered until the subject of the sculpture is ascertained. But this is certain that the bas-relief represents a grand royal procession, as well as a solemn scene of King Prasenajit's interview with the Buddha. The personnel of the procession includes, besides the king, the four divisions of his army, classically known as the Elephant, the Horse, the Chariot and the Infantry. In this particular representation, the procession is headed by the Horse and closed by the Elephant, in between the two are placed the Infantary and the Chariot, the Infantry or Footmen coming next to the Horsemen. The progress of the procession is shown by a double representation of each unit, one behind the other. We wonder how Cunningham is led to think that the footmen closely followed by one horseman, is the leader of the procession. Apparently there are two horsemen closely followed by two footmen ; in reality one horseman and one footman are shown twice as an artistic device for representing their onward march. Similarly the chariot is represented twice, first under gateway just at a point where one could see the heads of the horses and the head probably of the king. The elephant, too, is shown twice moving on towards the gateway. There are really not two worshippers inside the Dharmachakra-hall but only one in two attitudes, and he is no other than the king himself. In the first

1. Stūpa of Bharhut, pp. 90-91, 119.

attitude to the left he seems to wait upon the Master, and in the second attitude to the right, he is retiring, keeping the Master in his front as a mark of respect. Several visits of King Prasenajit are recorded in Buddhist literature. Here only his last visit seems to have been represented. Here is a scene not only of his last visit but that of the entire Dhammachetiya-Sutta which describes it. The Dharmachaitya or the eloquent edifice of tribute from the king, which was construed to be an imperishable memorial to the glory of the law. In this sculpture M. Foucher finds a scene of the great miracle performed by the Buddha at Śrāvastī. This is not at all convincing. We must select a story which can account for the royal procession as well as the Dharmachakra-hall and the king's presence within. The Dhammachetiya-Sutta alone can explain these details.[1] It tells us that at one time King Prasenajit came to inspect Naṅgaraka, which was a town bordering the Śākya-territory. One day, the king went out for a walk in the beautiful woodland in the suburb, with the magnificent pomp befitting his high position as the monarch of Kosala. A grand procession was organised with his army and all the best Vehicles and equipages. The Chauri, the Umbrella, and other royai insignia bore out his dignity. From this woodland he drove as far as Ulumpa or Medalumpa, which was the nearest Śākya town. He went to the ārāma where the Master was then sojourning. According to the Majjhima-Nikāya-Commentary, he ordered to keep the elephants waiting outside the town, that is, outside the city-gate. His chariots and other vehicles proceeded as far as the road permitted. On his arrival at the ārāma, he left his diadem, sword and shoes in the custody of his Commander-in-Chief, who accompanied him. He saw the Bhikshus walking and resting peacefully under an open sky round about the place. The Master was then in his private chamber—gandhakuṭi, the door of which was shut from within. He knocked at it from outside and it was opened from within, letting the king in. His heart was at the time very much troubled. He compared and contrasted his care-worn life as king with the peaceful life of the Master. He soon took leave, retired and came out only to find himself deposed, forlorn and overtaken by a tragic end.

13. Pl. XXXI. 2. [Scene 53] :—Atanā maramtā [pi],[1]

"Even if they be dying."

This is the second square panel which is largely occupied in the middle by a Dharmachakra-shirne. The shirne, as in the preceding scene, is a two-storeyed

---

1 Other Versions of the story in the Bhaddasāla-Jātaka (F. 465), Viḍūḍabha-Vatthu in the Dhammapada-Commentary, Hwen Thsang's Travels in Beal's Records.

Viḍūḍabha's march on Kapilavāstu. Non-violent attitude of the Śākyas. Buddha's intervention and its effect.

building, of which we have jnst a front view. The upper storey is usually separated from the lower by a Buddhist railing and provided with two arched windows or doorways, each showing a hanging garland. Four small pillars of an octagonal form can be seen between these arched openings, and these support a solid roof with semi-circular ends and five small pinnacles. The lower storey is, to all appearance, a square open-pillared hall; two front pillars have each an octagonal shaft and a bell-capital, a lotus shape for its pedestal, an ornamental bracket for its abacus, and a plinth of three square slabs of stone, maintaining symmetry with the shaft and other details. A highly ornamented wheel is set up inside the hall, with an ornamented square seat below, over which it can revolve. A large piece of flower-wreath is hanging from its navel, which, too, is beautifully ornamented. The wheel is canopied by a parasol, with two garlands hanging from its rim. On each side of the square seat a woman is bowing down in a kneeling posture, while a man with dignified appearance is standing with joined hands, in an attitude of reverent supplication. It is possible that just a couple of man and woman is doing the worship and perambulation. Under the tree on the right we see the front part of a chariot, drawn by two high-mattled horses, whose bodies are covered all over with nets. A king is majestically seated in the chariot, with a royal umbrella, held over his head from behind by a man, whose head remains concealed behind that of the charioteer, who is seated beside the king, holding the reins. The king with his right hand upraised in front seems to ask the charioteer to restrain the motion of the chariot. It is manifest from the attitude of the heads and forelegs of the horses that he has done what he was asked to do. In the left a richly caparisoned elephant is passing through the arched doorway of a gate-chamber. It is curious that the same elephant going as far as the tree in the upper corner, is unable to advance further. The mahut who sits down on the shoulder of the elephant is violently piercing the animal's head with a goad, causing an excruciating pain, which the elephant finds himself unable to bear. He grasps an outer branch of the tree with his trunk, while his body shrinks down and shrivels up. A comparison with the preceding scene will at once show that the present scene is nothing but a sequel thereof. The presence of the Dharmachakra-shrine, combined with the superior style of sculpture and other details, leaves no room for doubt that what we here have is only a sequel of the Pāli Dhammachetiya-story which, in its Majjhima-Nikāya version, ends with a reference to King Prasenajit's tragic fate after his last interview with the Buddha. His aide-de-camp Dīrghachārāyaṇa, who had grudge against him, helped Prince Viḍūḍabha or

Virūḍhaka to usurp the throne of Kosala, taking advantage of his mental worries and absence from the capital. Prince Viḍūḍabha was a son of Prasenajit by a queen, who was the daughter of Mahānāma, the Śākya chief, and a slave-woman. He was treated with contempt by the Śākyas when he visited Kapilavāstu. He did not forget the disgrace to which he was put by a people whom he approached as his kinsmen. What he did to satisfy his grudge is not narrated in the Dhammachetiya-story of the Pāli Nikāya. There are these four main versions of the legend : (1) Pāli version in the present story of the Bhaddasāla-Jātaka (F. 465) and the Viḍūḍabha-vatthu of the Dhammapada-Commentary, (2) Sanskrit Buddhist version in the Virūḍhaka-story of the Avadānakalpalatā, (3) Tibetan version reproduced by Rockhill[1], and (4) Chinese version in Hwen Thsang's Travels.[2] The common point in all these versions is that in order to feed fat his ancient grudge, King Viḍūḍabha or Virūḍhaka advanced with a large army against the Śākyas, and as he reached the boundary of his kingdom, he found the Master seated beneath a tree that gave scanty shade and stood on the boundary of Kapilavāstu. Hard by that place, a shady tree stood on the boundary of Kosala. According to the Pāli verson, the latter tree was a banyan. Viḍūḍabha seeing the Master thus seated, alighted from his chariot, and said, respectfully approaching him, "Why, Sir, are you sitting there under so thin a tree in all this heat ? Why do you not sit here under this umbrageous tree, Sir ?" He replied, "Let it be, O King ! the shade of my kindred keeps me cool." The other thinking the all-powerful Master had come to protect his clansmen, returned to his capital, saluting him. In the Pāli story we read that three times he marched and returned on account of the Master's intervention. The fourth time he set out, but the Master did not go, seeing it was impossible to save the Śākyas who sinned against each other. The label refers to the non-violent attitude of the Śākyas, taking advantage of which Viḍūḍabha, according to the Viḍūḍabha-vatthu and Virūḍhakāvadāna, slew all the Śākyas except Mahānāma and his family, and those who fled away. There is no allusion to this in the Jātaka-story or in Hwen Thsang's account. The Viḍūḍabhavatthu and Virūḍhakāvadāna tell us that all the Śākyas took a strong vow to remain non-violent to the last, even if they died. The latter goes a step further and says that they expelled their clansman Sampāka who gave battle, not previously knowing their decision. The very wording of the Barhut label, atanā maraṁtā pi, occurs in the Viḍūḍabhavatthu. The Tibetan account agreeing in all points with the Avadāna story, adds that when Virūḍhaka marched with his troops to Kapilavāstu, those among the Śākyas who were not Buddhists brought

---

1 Rockhill's Life of the Buddha, pp. 77-78 ; 116-122.

2 Beal's Buddhist Records of the Western World, II. p. 11.

together their men to repulse him, and those who were Buddhists and averse to killing anything carried cudgels and goads to cut the bow-strings and strappings, though at last they with a united resolve issued a proclamation prohibiting all from attacking Virūḍhaka or his army.

The Barhut scene represents just the first episode where the Master's timely intervention compels Viḍūḍabha to go back to his capital. The tree on the Śākyan boundary is other than the banyan. The royal personage inside the Dharmachakra-hall may be King Viḍūḍabha himself, though the presence of the female worshipper remains unexplained. It is equally possible that the worshippers are Śākyas, men and women, who are taking a strong vow to remain non-violent to the last.

14. Pl. XIII. S. Gate. Prasenajit Pillar. Side. Upper Bas-Relief [Scene 54] :—In this bas-relief and the following one Cunningham finds two highly decorated representations of Buddhist stūpas. These stūpas are not mere mounds of earth or piles of stones, heaped up over dead bodies as memorial monuments, such as the great barrows at Lauriya to the north of Bettiah. These are structural monuments of stone or brick, raised to enshrine the bodily relics of a Buddha, or of some holy Arhat, or of a powerful king. These, as represented in the Barhut sculptures, are masonry structures of the same form, and are adorned with the same amount of umbrellas and garlands, as those in the bas-relief of the Sanchi Tope. The main feature in these structures is the dome which is hemispherical, standing on a cylindrical base, ornamented with small recesses for lights, arranged in patterns. On the top of the hemisphere there is a square platform, decorated with a Buddhist railing, supporting the crowning umbrella. Two streamers are shown hanging from the edge of the umbrella. Two large flowers spring from the top of the square pedestal on which the umbrella rests, and two other flowers from its base. The dome itself is ornamented with a long undulated garland suspended in loops from pegs. These garlands are still used in Burma, where they are made of coarse flowered or figured muslins, in the shape of long cylinders or pipes extended by rings of bamboo. The stūpas are here represented as objects of worship[1].

Mahāparinirvāṇa : Buddha's Great Decease. Cremation of his body. Building of the memorial mound. Erection of the stone-pillar.

The masonry structures in these two bas-reliefs are not to be treated as mere objects of worship. They have a distinct bearing on a scene from Buddha Śākyamuni's life. Although these two bas-reliefs deal with the same theme, namely, the legend of Buddha's Great Decease, and have many points in common, such as the Stūpa, two pairs of the twin Sāla-trees,

1 Stūpa of Bharhut, pp. 6, 110.

the groups of worshippers, and the pair of flying angels, each has a peculiar artistic distinction of its own. In the Bas-relief concerned, the stūpa stands prominently in front, with one worshipper on each side, a male worshipper on the right and a female worshipper on the left, both kneeling on the ground, sitting on the heels, and honouring the sacred memorial mound lovingly embracing it. The stūpa, as shown in the bas-relief and described by M. Foucher, is 'a chief Buddhist sanctuary which is the tumulus, its principal role being to cover up a deposit of relics. It is a stereotyped edifice of brick or stone, presupposing the art of the architect and utilizing that of the sculptor. Its chief feature is a full hemispherical dome, usually raised on a terrace. The dome (aṇḍa) supports a sort of kiosk (harmika), itself surmounted by one or several parasols, and emblem of honorific signification in the east.'[1] The terrace or cylindrical base is composed of a high Buddhist railing with four cross-bars and a garland between three circular bands, and shows a remarkable masonry work of two ornamented flags, each of which is a long strip, attached to a pliant flagstaff, borne upon it, and bent in the middle so as to form a flat curve on the top. The harmika or crowning construction, supporting two parasols, one above the other, is a shrine in the shape of a broad-headed pillar. Behind the stūpa there are two pairs of the twin Śāla-trees in flower, each pair of trees standing in a line, at some distance from each other, and all forming a court. Two flying angels, coming from two sides, remain poised in the air, one of them letting a flower-wreath fall from the two hands, and the other scattering flowers with the right hand out of a vase carried by the left, The lower Śāla-tree on the left is hidden from view behind a group of three high personages, standing together with joined hands. In front of these worshippers there stands an isolated pillar which is set up aside, behind the stūpa, and has, like the Asokan monoliths, a bell-capital, below a bracket ornamented with a lotus-shrub, while four lions manfully stand on the ornamented abacus, facing the four cardinal points. Here the high bracket and the octagonal shaft are the points of distinction from the Aśokan monoliths. We see a second group of worshidpers on the right in front of the lower Śāla-tree, standing, one behind the other, with joined hands. The underlying legend, as narrated in different Buddhist works, is in the main as follows :—

During his last tour in Northern India, which had commenced from Rājagṛiha, the Buddha reached at last the Śāla-grove of the Mallas, within the outer extension of Kuśinagara, on the further side of the river Hiraṇyavatī. He was weary, and

1 The Beginnings of Buddhist Art, p. 13.

liked to lie down. Ānanda spread a covering over the couch with its head to the north, between the twin Śāla-trees. He laid himself down on his right side resting one leg on the other, and remaining mindful and self-possessed. The twin Śāla-trees were all one mass of bloom with flowers out of season, these dropping, sprinkling and scattering all over his body. The heavenly Mandāraka flowers and sandal-wood powder were showered down from the sky. The heavenly music was sounded in the sky, and the heavenly songs came wafted from the skies. Buddhaghosa records an old tradition which says that there was a row of śāla-trees at the head of the couch, and another at its foot, one young śāla-tree being close to its head, and another close to its foot. The twin Śāla-trees were so called because the two trees were equally grown in respect of the roots, trunks, branches and leaves.[2] The gods of the ten thousand world-systems gathered together to behold him. For twelve leagues around the Śāla-grove there was no spot which was not pervaded by the powerful spirits. The Mallas, with their young men, maidens and wives, came grieved, sad and afflicted at heart, came to the Śāla-grove, to see him for the last time. They stood in groups, each family in a group, and each group was presented to him. They humbly bowed down at his feet. He gave instructions to Ānanda as to the true mode of worship, as to the persons worthy of a memorial mound, as to the manner of dealing with women and as to the method of disposal of his body. The Wanderer Subhadda was converted to his faith. He recounted the former glory of the present town of Kusinārā. He urged his disciples to be earnest, zealous and intent on their own good. In the third watch of the night he passed away, extinguishing the light of the world. The Mallas spent seven days in making preparations for the funeral. On the seventh day his body was carried across the Hiraṇyavatī, in a golden coffin-box to the site of the Mukuṭabandhana shrine of the Mallas, where it was cremated with all the pomp, grandeur and demonstration that a man can conceive of. The bones collected from the funeral pyre were kept in the Mallas' Council-hall with a lattice work of spears and a rampart of bows, where these were worshipped for seven days. Droṇa, the wise Brahmin, divided the relics into seven equal portions, distributing them among seven royal claimants, the ashes forming an extra portion which he took for himself. The Mallas put up a sacred cairn over their share of the bodily remains, celebrating a feast in their honour.

---

1 Cf. Rochhill's Life of the Buddha, P. 135.

2 Rhys Davids' translation of the Buddhist Suttas, S. B. E. Vol. XI, p. 85, f.n. 1. Fa Hian says, "The Buddha lay with his head to the north and a Śāla-tree on either side of him." Hwen Thsang refers to four Śāla-trees of an unusual height, indicating the place where the Buddha passed away.

Fa Hian says that the Lichchhavis, who had not obtained a share, erected a stone-pillar twelve leagues to the south-east of Kusinārā. In the Divyāvadāna (p. 394) we read that when King Aśoka came to Kuśinagara on pilgrimage, he spent a hundred thousand pieces in erecting a shrine. Hwen Thsang says that on the spot, where the Buddha lay between the twin Śāla-trees, King Aśoka built a stūpa, erected a stone-pillar before it, with an inscription recording the fact of the Great Decease, without mentioning the date of the event. Buddhaghosa, at the end of his commentary on the Mahāparinibbāna-Suttanta, records an apostolic tradition, according to which King Aśoka built here a great stūpa to enshrine a portion of the relics in exact imitation of the mound, formerly built by King Ajātaśatru and the heavenly architect Viśvakarmā.

The Barhut scene depicts a bare symbolical outline of the Buddhist legend, referring to such facts as the Buddha's passing away between the twin Śāla-trees, the building of the memorial mound, the erection of the stone-pillar by Aśoka, and the worship by the gods and men. Here the stūpa indicates the invisible presence of the Buddha.

Mahāparinirvāṇa : Buddha's Great Decease at Kuśinagara. Building of the Stūpa. Worship by gods and men.

14 (a). Pl. XXXI. I. Long Rail. [Scene 55] :—This is the second bas-relief which represents a scene of the Buddha's Great Decease at Kuśinagara, followed by the erection of the memorial mound. This sets forth all the details noticed in the preceding bas-relief, omitting the fact of erection of the stone-pillar by King Aśoka. Here the base of the stūpa is ornamented with a railing with three cross-bars and human hands, and not with a railing with four cross-bars and a garland. In the place of two flags we have here two lotus-like wheels, the Dharma-chakra-symbols, with hanging garlands, attached to two sides of the shrine in the crowning construction. Instead of a male or a female worshipper bowing down on each side, here we see one pair bowing down by turns, and perambulating the stūpa, the male figure standing up with joined hands and the female worshipper bowing down on the right, the female figure standing up in a similar attitude and the male bowing down on the left. In the right, behind the stūpa, a high personage is seen standing up with joined hands, and in the act of circumambulation. In this scene the stūpa is placed between a pair of twin Śāla-trees in flower, and these between another pair of much taller twin Śāla-trees. If the stūpa be taken as a mere symbol of the Buddha's presence, the scene is neither more nor less than that of the Buddha's final passing away on a couch laid between the twin Śāla-trees, in the Śāla-grove of the Mallas.

ii (a) SOME INTERMEDIATE SCENES
FROM SANTIKE-NIDĀNA

I. Pl. XXVIII. 4 [Scene 56] :—Iṁdasāla-guhā[1].
"The Indraśāla-cave".

This base-relief has been injured by the cutting away of both sides of the circular medallion to fit the pillar as an architrave in one of the cenotaphs at Batanmara. In the middle part which now remains with the inscribed label above it, Cunningham notices Indra's harper, the god Pañcaśikha, represented on the left side with a large harp in his hands. The seated figures in the middle are Indra and his companions. The Buddha's invisible presence is indicated by the throne canopied by an umbrella. The rocky nature of the mountain is shown by piles of rock above the cave.[2]

At the Indraśāla-cave the Buddha offers replies to the questions of Śakra.

Among other details, the cubical seat of Buddha bears some flower and garland marks, and two garlands are hanging from the rim of the umbrella. Śakra and other gods are seated cross-legged, with joined hands, in an attitude of reverent supplication, Pañcaśikha grasping the narrow upper part of the harp within the fold of his joined hands. The cave shows a rocky floor and a polished inside. A small Indraśāla-tree is shown on the upper ridge of a cave, growing among the piles of rock. Two monkeys are seen sitting on cubical rocks, facing each other, while two bears peep out through the holes beneath the piled up rocks. The artistic purpose is simply to represent the climbing up and down of the monkeys and the going in and coming out of the bears. According to Cunningham's interpretation of the incised label, the bas-relief contains a scene of "Indra's Hall Cave". Fa Hian and Hwen Thsang name the cave Indraśaila-guhā (In-to-lo-shi-lo-kia-ho), "The cavern of Indra", or, as Beal would take it to mean, "The mountain cave sacred to Indra." The name Indrasila-guhā occurs in an Indian Buddhist inscription found in Ghosrawa in Behar. The Pāli Indasāla-guhā which exactly corresponds to the Barhut form is interpreted by Buddhaghosa as a upanidhāpaññatti, i.e., a name derived from an object standing near at hand, say, as here, an Indraśāla-tree marking the entrance of the cave. We read in the Sakkapañhasuttanta of the Dīgha-Nikāya that the cave belonged to Mt. Vediyaka, the Altar-hill, lying to the north of a Brahmin-village called Āmrashaṇḍa, the Mango tract, and to the west of Rājagṛiha. Buddhaghosa says that the cave was situated between two hills, and that the range was called Vediyaka because it was surrounded on all

1 Barua Sinha, No. 164. 2 Stūpa of Bharhut, pp. 88,89.

sides by grassy and flowery woodlands, looking like so many maiṇvedikās, grown at its foot. Fa Hian locates it nine leagues to the south-east of Pāṭaliputra, and Hwen Thsang locates it about 30 li to the east of the town Kālapiṇāka. The latter gives the following description of the mountain and the cave : "The precipices and valleys of this mountain are dark and gloomy. Flowering trees grow thickly together like forests. The summit has two peaks, which rise up sharply and by themselves. On the south side of the western peak between the crags is a great stone house, wide but not high. Here Tathāgata in old time was stopping when Śakra, king of devas, wrote on the stone matters relating to forty-two doubts which he had, and asked Buddha respecting them. Then Buddha explained the matters. Persons now try to imitate by comparison these ancient holy figures. Those who enter the cave to worship are seized with a sort of religious trepidation."[1] According to description in the Pāli Suttanta, "At the time when the Blessed One entered it, the Indraśāla-cave which was uneven became even, which was narrow became wide, which was dark became lighted, as if by the superhuman powers of the gods.[2]" Buddhaghosa says that after having been surrounded with kuṇḍas, fitted with doors and windows, done up into a cave-dwelling with the finest chunam plaster, and adorned with the garland and creeper designs, the cave was given to the Blessed One."[3] The Buddhist legend underlying the scene is as follows : —

The Blessed One was then residing in the Indraśāla-cave when Śakra, long desirous of paying him a visit, sent his harper, the god Pañcaśikha, to arrange for an interview. Pañcaśikha, on entering the cave, began to sing certain stanzas, admitting of a twofold interpretation, setting forth the glory of the Buddha and speaking in praise of the heavenly maiden, Sūryavarchasā, with whom he fell in love. The praises of the pure being and the praises of evil were thus mingled together in the same strain. His voice was accompanied by the tune of his harp, twelve leagues in length. Śakra and his companions, as they entered the cave, made due obeisance to the Master, and respectfully sat on one side. By the merit of this salutation the term of his life, which had nearly ended, was considerably extended. With the Teacher's permission he stated his doubts which he wished to have solved. He asked some thirteen questions (forty-two, according to Hwen Thsang), which were answered by the Master. He and his companions listened to the answers, and obtained light. As a reward for Pañcaśikha's service, he gave him Sūryavarchasā.[4]

---

1 Beal's Buddhist Records of the Western World, II. pp. 180-1 : Introd. p. lviii.
2 Digha, II : pp. 269-270.
3 Sumaṅgala-Vilāsinī, Siamese Ed. II. p. 392.
4 Spence Hardy's Manual of Buddhism. pp. 298-300.

2. [Missing] :—Dhataraṭho Yakho.[1]
"Dhṛitarashṭra, Yaksha."

Dhṛitarāshṭra Yaksha guards the eastern quarter paying homage to the Buddha.

Dhṛitarāshṭra, the guardian of the eastern quarter, finds mention along with his three compeers in several Buddhist legends as a benefactor of the divine dispensation of the Buddha. At all important junctures of the life of Buddha Śākyamuni, he is said to have come with his retinue to ward off the dangers and pay homage to the Bodhisattva and Buddha now and again. He by his epithet is a holder of the royal sceptre, a mahārāja who is the supreme lord of the Gandharvas. He rules the eastern quarter of the lowest Kāmāvachara heaven. His queen is said to have attended Queen Mahāmāyā during the whole period of her maternity, from conception to delivery. In the Mahāsamaya and Āṭānāṭiya Suttas he is represented as having many powerful sons bearing the same name Indra. According to the Āṭānāṭiya Discourse, he guards the eastern quarter with the help of Sūryya, seven constellations, eight heavenly maidens and the Chāpāla (Pāvāla, Pravāla, Coral) shrine. He figures on the Barhut Railing-pillar as the Warden of the Eastern Entrance. This representation accords most with the description in the Āṭānāṭiya Discourse.[2]

3. **Pl. XXI. 1, 3** [Scene 58] :—Viruḍako Yakho.[3]
"Virūḍhaka Yaksha."

Virūḍhaka Yaksha guards the southern quarter, paying homage to the Buddha.

The under life-size figure of Virūḍhaka Yaksha is sculptured on the outer side of the southern terminus pillar of the S. E. Quadrant. The upper part of this side, above the head of the Yaksha, is ornamented with a Buddhist stūpa. The figure is standing on a high rocky ground where some brooks and a sandal-wood tree can be seen. Like other Yakshas, Virūḍhaka wears various ornaments and stands with joined hands directed towards the invisible presence of the Buddha. In the Buddhist legends he figures as a terrible warrior god who is the supreme lord and leader of the Kumbhāṇḍas or Dānava-rākshasas, that is, of the demons and goblins inhabiting the southern region. He rules the southern quarter of the lowest Kāmāvachara heaven. According to the Āṭānāṭiya legend, he guards the southern quarter with the help of Yama, his general, seven constellations and eight heavenly maidens. The part played by him, his queen, many powerful sons and large retinue is similar to that of Dhṛitarāshṭra and his men. Though the picture is based upon the Āiānāṭiya

1 Barua Sinha, No. 171.

2 Mahā-āṭānāṭiya-suttanta in the Digha III, Aṭānāṭiya-Sutta ia the Suttasaṅgaha, Lalita-Vistara, Ch. XXIV; Mahāvastu, III. pp. 306-309.

3 Barua Sinha, No. 172.

legend, he really appears at Barhut as a Warden of the south entrance of the Buddhist Stūpa and Railing. The notable feature of his figure is a five-fold scarf passing over his arms and round his back through his arm-pits.

4. [Missing] :—Virupakho Yakho.[1]

"Virūpāksha Yaksha."

Virūpāksha Yaksha guards the western quarter, paying homage to the Buddha.

Virūpāksha is the evil-eyed warrior-god who is honoured throughout Buddhist literature as the supreme lord and leader of the Nāgas or dragons. He rules the western quarter of the lowest Kāmāvachara heaven. He guards the western region with the help of Varuṇa, his general, seven constellations and eight heavenly maidens. He with his queen, many powerful sons and large retinue played the same part in the life of the Buddha as Dhṛitarāshṭra and Virūḍhaka. He must have figured at Barhut as a Warden of the west entrance of the Buddhist Stūpa and Railing.

5. Pl. XXII. 1 [Scene 50] :—**Kupiro Yakho.**[2]

"Kuvera Yaksha."

Kuvera Yaksha guards the northern quarter, paying homage to the Buddha.

The figure of Kuvera Yaksha is sculptured on the inner face of one of the pillars with the above inscription recording his name. He remains standing with joined hands held on his breast and directed to the invisible presence of the Buddha. His apparel and ornaments are similar to those of other Yakshas. His feet rest on the shoulder of a fat-bodied and big-bellied man who sits on all fours, in a crawling attitude. This representation of him answers to his description in the Lalita-Vistara,[3] the Bṛihatsaṁhitā[4] and the Khila-Harivaṁśa[5] as a Naravāhana, 'One with a man for one's vehicle', and not to his description in the Suttanipāta-Commentary[6] as a Nārivāhana, 'One with a woman for one's vehicle'. His weapon of war which is a club (gadā) is not here represented. In the Buddhist and Indian works, he is well-known as Vaiśravaṇa Kuvera, the god of riches, the giver of wealth (Dhanakuvera, Dhanada). In the Pāli Āṭānāṭiya-Suttanta, he is described as the sole monarch of Uttarakuru, with Vishāṇā, Alakamandā or Alakā as its capital. Āṭānāṭā, Kusināṭā, Parakusināṭā, Naṭapuriyā and Parakusitanāṭā are the various cities, built in the firmament. The land of Uttarakuru is situated about the Mahāmeru of glorious sight. Here men are

---

1 Supplied. Barua Sinha, No. 173.
2 Barua Sinha, No. 174.
3 Lalita-Vistara, C8. XXIV.
4 Bṛihatsaṃhitā, X. 57 : Naravāhanaḥ Kubero vāmākiriṭī bṛihatkukshi.
5 Khila-Harivaṃśa, Harivaṃśaparva, XLIV. 16-19.
6 Paramatthajotikā, II. p. 370. Also Mahāvaṃsa.

free from the idea of private ownership, the crops grow of themselves and rice grows without husk, the birds sing with a sweet voice, and the people go hither and thither using men, women, boys, girls, elephants, horses, chariots and palanquins as conveyances. There is, in the capital city of unsurpassed glory, a lake, called Dharaṇī. from which the clouds pour down rain. Bhāgalavatī is the Council-hall where the Yakshas meet for deliberations. Kuvera is said to have many powerful sons, bearing the same name. Iudra, Soma, Varuṇa, Bharadvāja, Prajāpati, Maṇibhadra, and the like are mentioned as the great Yaksha-generals. In the Lalita-Vistara version of the Āṭānāṭiya-Suttanta we read that Kuvera, the suprme lord of the Yakshas, guards the northern region with the help of Maṇibhadra, his general, eight constellations of stars, and eight heavenly maidens. A similar account is also met with in the Mahāvastu. His queen was one of the atrending maids of Queen Mahāmāyā during her dream. Pūrṇaka is mentioned in the Vidhūrapaṇḍita-Jātaka as the nephew of Kuvera. In the Buddhist cosmography, Kuvera appears to be one of the four guardian gods who ruled the northern quarter of the lowest Kāmāvachara heaven. At Barhut he is represented as the Warden of the northern entrance of the Buddhist Stūpa and Railing, According to Pauranic etymology, Kuvera means Kutsita or 'deformed' and this meaning refers to the malformation of his three legs. In modern representations he appears as three-legged. But, as Cunningham points out, there is no allusion to any deformity in the Buddhist books, while there is a distinct testimony to the contrary. From the Pauranic description of Vaiśravaṇa Kuvera as the son of Viśravas and Irāvira, and the grandson of Pulastya, he is led to think that Kuvera corresponds with the Greek Ploutos, the god of wealth, who, according to Hesiod, is the son of Iasion by Demeter.[1]

6. Pl. Indian Museum. Corner-Pillar Statue. No. 38 (5) a[Scene 61] **:—**

Ajakālako Yakho.[2]
"Ajakālaka Yaksha."

Taming of Ajakālaka or Ajakalāpaka Yaksha.

This is the label inscribed above the figure of the Yaksha, named Ajakālaka, clearly distinguished from ordinary human figures. His dress, drapery and ornaments are similar to those of Sūchiloma. He stands holding a blossoming lotus-bud between the first two fingers of his right hand placed across the right side of his breast. The peculiar mudrā of these two fingers are also shown on his left hand suspended lengthwise touching his left thigh. He stands keeping his right leg erect and so bending his left leg that its heel rests across his right leg and toes touch the vehicle beneath his feet. The upper part of

1 Stūpa of Bharhut, p. 21. 2 Barua Sinha, No. 175.

the vehicle is broken off. The portion that remains shows that it has the tail of a makara and the forelegs of a lion or tiger. A Yaksha by the name of Ajakalāpaka appears as interlocutor of a Buddhist Dialogue in the Udāna, which briefly states the result of his unexpected and undesired interview with the Buddha, the teacher of gods and men. This Dialogue lays its scene in Pāṭali, on a spot where the Yaksha's temple and palace stood. According to the Udāna-Commentary, his temple and mansion were situated in Pāvā. The Dialogue says that the Yaksha grew furious to see the Master seated in his throne inside his guarded mansion. "Akkula-Bakkula" he cried, and produced various terrific sights to frighten the fearless and strange trespasser who ventured to enter his sanctuary. But the Master remained firm in his seat and invincible. The purity of his heart overcame the fury of the Yaksha. Overpowered by his bold calmness, the frightful demoniac deity gently stood, in all humility, before him, confessing his faith, with his joined hands, as a lay believer. What did he mean by his strange cry 'Akkula-Bakkula.' and what are the terrific sights caused to be produced by him ? The Udāna-Commentary answers these questions. He shook the mighty earth, covered it with impenetrable darkness, raised violent storms, accompanied by heavy pourings of rain, thunder-claps, lightning-flashes, breaking of mountain-peaks, uprooting of trees, and roarings of the ocean-waves, as if the final dissolution overtook the world-system, producing a great commotion (kolāhala) in the whole of the Jambudvīpa. The noise of this commotion reached the ears of men in the onomatopoetic sound 'Akkula-Bakkula'. According to some, this jargon was but a Prakrit form of 'ākula-vyākula,' expressive of a fearful restlessness. Some suggest that by 'akkula' or 'ākula' the Yaksha meant he was a ferocious destroyer like a lion, a tiger or such other womb-born wild beast, and by 'bakkula' he compared himself with a venomous snake or reptile. Others suggest, on the contrary, that the correct form of the threat was 'akkhula-bhakkhula', by the first of which he signified his desire to kill and by the second, to devour in the manner of a demon, a goblin, a blood-sucker, a lion or a tiger.

This description is interesting as being suggestive of the frightful nature of the demi-god. There is no doubt that the Pāli Ajakalāpaka is the Ajakālaka of the inscription. Dr. Hultzsch rightly suggests that Ajakālaka is but the Sanskrit Ādyakāla, whom we might take to be a terrible embodiment of the ruthless unborn Time, destroying living beings whose essence is immortality. The Barhut sculpture, coupled with the evidence of the Udāna-Dialogue and its commentary, goes to show that in both the mythic cult and popular art, the all-devouring figure of Time or Death came to assume a stereotyped human form. In connection with the origin and significance of the name Ajakalāpaka, the Udāna-Commentary records that the

Yaksha loved to receive offerings along with the group of goats brought to him for sacrifice, that he caused living beings to be killed like goats, as well as that he felt appeased when men brought him offerings with the cry of the goat, the symbol of of the unborn(aja). The Yakshas was a hard-hearted and cruel personality, capable of supernatural powers. But so potent was the miracle of the Buddha's presence and instruction that it soon subdued the Yaksha into a gentle listener to the noblest message of the man.

7. Pl. XXI. 1. [Scene 62] :—"Gāṅgeya Yaksha
Gaṁgito Yakho.[1]

Taming of Gāṅgeya Yaksha.

This scene presents the figure of a demigod who stands with joined hands held on his breast and directed presumably towards the invisible presence of the Buddha. He wears six pieces of bracelets instead of four. His feet rest on the head of an elephant and on the top of a tree, the elephant and the tree standing side by side. His drapery, the rest of his ornaments and other details are similar to those of Sūchiloma, described in the following scene, No description of Gāṅgeya can be traced in Buddhist or Indian literature. His name shows that his abode and the temple dedicated to him were somewhere on the bank of the Ganges, that he was a dweller of the Gangetic region. There must have been a distinct Buddhist Discourse, the Gaṅgeya-Sutta, giving an account of the demi-god, as well as of the circumstances that led to his conversion to Buddhism, This Sutta must have contained a description of the terrors caused by him before he was tamed by the Buddha.

8. Pl. XXII. 2. [Scene 63] :—Suchilomo Yakho.[2]
"Sūchiloma Yaksha—the needle-haired demi-god."

Taming of theneedle-haired Yaksha.

The Barhut sculpture represents this demigod in the shape of a man standing on a straight roof, consisting of a massive stone-slab. This roof covers a railing-like wall in which a set of pillars are joined by three rail-bars. A neatly bound turban with a ball-shaped crown is worn on his head. He stands with his bare feet, decently clad in a garment covering up to his knees, with beautifully done up foldings in the front, reaching down to his feet. His waist-band is a fashionable girdle with the finest embroidery. The bangles adorn his wrists. His arms are decked with armlets. He also wears splendid necklaces over his neck and breast. A fine drapery hangs down over his back at full length. His skin is glossy rather than needle-haired. He appears indeed as a prince of India in the grandeur of his joined hands placed slantingly across the

1 Barua Sinha, No. 176. 2 Barua Sinha, No. 177.

left side of his breast. He is doing an act of salutation to some body, left to be imagined. To whom are his joined hands directed ? This question cannot be answered unless we presume that here is not only a representation of the Yaksha but that of a Buddhist Dialogue where he is an interlocutor. We come across two versions of a discourse of the Buddha answering questions put to him by the Yaksha, one in the Saṁyutta-Nikāya and the other in the Sutta-Nipāta.[2] These supply the context and go to show that here the Yaksha is earnestly listening to an edifying discourse from the Buddha, the tamer of a person amenable to discipline (purisa-damma-sārathi). The texts describe him as a powerful and ferocious dweller of Ṭamkitaṁañcha, a Ṭaṁ-house-platform near a village of Gayā, and an associate of another Yaksha, named Khara. The commentaries supply some additional information about the Yaksha, his dwelling house and associate. The information is as follows :—

"The Ṭamkitaṁañcha was a Ṭaṁ-shaped elongated platform. It was really a cell looking from a distance like a mound constructed of four stone slabs supporting a larger piece covering them like a roof, These were similarly covered by another slab below. These covering slabs were so strongly rivetted to the four supporters, forced into the tenons, that when turned upside down, the house remained the same. Adjoining it was a famous bathing tank where many pilgrims came to bathe. But the place was dirty on account of spitting, nose-secretion and throwing of filthy matters by the persons coming from various directions. The body of the Yaksha was covered with prickle-like hair, which served as a means of offence and defence. Whenever he wanted to frighten other beings he did so by raising his hair erect. This description reduces him to the position of a porcupine. He was associated with another Yaksha, Khara, the roughskinned, of the Kumbhīra or crocodile species, covered with rugged skin, marked by bony plates or bricks, set side by side. He, too, victimised other beings by frightening them with his scales suddenly raised erect. In the Ramayanic association Khara and Sūchiloma appear as two hideous looking human-shaped goblins Khara and Dūshaṇa, the two brothers and generals of Rāvaṇa or Airāvaṇa, guarding the Godāvarī forest region. Sūchiloma is represented in the Barhut bas-relief in the shape of a man, distinguished from ordinary human figures by the pendent earrings and conspicuous ear-holes. The Yaksha stands in a subdued manner, gentle and affable. Thus the Barhut sculpture illustrates the marvellous miraculous effect of the Buddha's presence and instruction. Sūchiloma, the needle-haired porcupine, is now a sūchiloma, the handsome human being.

---

1 Saṃyutta, I. P. 207. 2 Sutta-Nipāta, II. Sutta No. 5.

9. Pl. Indian Museum. 43 (10) b [Scene 64] :—

Supāvaso Yakho.[1]

"Supravāsa, the dreadful demigod."

Taming of the Yaksha Supravāsa.

Here we see the representation of a figure of the demigod Supravāsa, standing with joined hands, directed towards some invisible presence, no doubt of the Buddha. His vehicle is represented as a caparisoned elephant with the trunk turned upwards, its back side touching the crown, and kept erect in a reverential attitude. He wears in each hand six bracelets, instead of four. In other respects his figure is exactly similar to that of Sūchiloma. The incised label records his name as Supāvasa or Supāvāsa Yakha. If Supāvāsa can be equated with Supravāsa or Suprāvṛiṭ, as has been done by Dr. Hultzsch, we may expect to see in the Barhut figure a later stereotyped human form of the Vedic rain-god Parjanya. But the name of the demigod may be supposed to have been derived from a locality called Supravāsa. A Dragon-chief by the name of Suvarṇaprabhāsa is mentioned, along with Elāpatra, in a Buddhist legend.[2] There is a Sanskrit Buddhist work bearing the title Suvarṇaprabhāsa-Sūtra. There must have been an earlier Suppavāsa-Sutta containing a story of the taming of the dreadful demigod by the Buddha. He must have been very much annoyed when he saw the powerful Master in his abode as a fearless trespasser who ultimately subdued him transforming a dreadful demigod into a gentle human listener.

Some unknown Yaksha

10. Pl. Cunningham's Original Photograph. [Scene 7] :—The inner face of a right terminus pillar, recently brought into the Indian Museum, Calcutta, presents a broken figure of a demigod who, in the absence of a cobra-hood characterising the figure of a Dragon-chief, must be taken to be a Yaksha. In this instance the demigod stands manfully on the ground, keeping together his two feet. The attitude of the remnant of his right hand indicates that he was intended to stand with joined hands, in an attitude of respect. The high-bound turban is a notable point in his livery.

Some unknown Yaksha.

11. Pl. Indian Museum. Right Terminus Pillar. Inner Face. [Scene 64a]. :—The inner face of this pillar, recently brought into the Indian Museum, bears the figure of a demigod who stands with joined hands and without any canopy of cobra-hood, resting his feet on a bearded and human-faced quadruped. The fragment of the inscription incised on this pillar retains the word Yasika which is either the name of the donor or that

1 Barua Sinha No. 178.

2 Rockhill's Life of the Buddha.

of the demigod. Like other Yakshas and Nāgarājas, this demigod is represented as a Warden of the Buddhist shrine.

12. Pl. Indian Museum. [Scene 64b] :—The lower half of the figure of a demigod still lingers on the outer side of one of the right terminus pillars. The upper half has completely disappeared. The lower half which remains shows that the figure was standing on a rocky ground. In the absence of the head-dress it is impossible to say whether this figure represented the statue of a Yaksha or that of a Dragon chief. But when the figure was complete, it must have stood with joined hands, in an attitude of respect, and the part assigned to the demigod must have been that of a custodian of the Buddhist shrine.

Some unknown Yaksha or Nāga.

13. Pl. Indian Museum. 26 (21). [Scene 64c] :—The small fragment of a Railing-pillar bears yet the middle portion of a statue that was figured on a face or side. The statue, as it originally stood, was evidently a standing male figure. The right hand has disappeared without leaving any trace. The palm of the left hand is broken off. The attitude of the remaining part of the left hand shows that the figure stood with joined hands. The head and the upper part of the neck are cut away. The lower extremities below the thighs are lost for ever. The position of the pillar is unknown. There is no inscription recording the name of the demigod.

Broken statue of a Yaksha or Nāga.

14. Pl. Indian Museum. Intermediate Pillar. Side. [Scene 64d] :—Only the pedestal of this pillar survives presenting two even feet resting on the back of three lions standing side by side. In the absence of anklets characterising the figures of female deities we cannot identify the figure with a Yakshiṇī or Devatā, and in the absence of the cobra-hood we cannot say whether the figure represented a Yaksha or a Dragon-chief. If the feet represent the lower extremities of a female figure of which the bust without the right hand survives, the whole figure can be treated as a statue of some demigoddess.

Some unknown Yaksha, Yakshiṇī, Nāga or Devatā.

15. Pl. XIV. S. Gate. Prasenajit Pillar. Inner Face. Middle Bas-Relief [Scene 67]. :—

Erapato Nāgarājā.[1]

Erāpato Nāgarājā Bhagavato vaṁdate.[2]

1, 2 Barua Sinha, Nos. 179-180.

"Erāpata (Erāpatha, Erakapatta, Elāpatra or Ailapatra)—the Dragon-chief."

"The Dragon-king Erāpata bows down to the Divine Master."

This bas-relief, as Cunningham observes, is a square panel, on the left of which is kneeling a Dragon-chief in complete human form, with a five-hooded snake canopy over his head. Behind him to the right are the half figures of a male dragon and two female dragons, also in human form, and with snake-hoods over their heads, but with their lower extremities concealed. In the midst of the piece is a five-hooded snake rising apparently from the ground, who can be taken to be the Dragon-king in his first appearance from below in his true snake-form amongst the trees and rocks. Above, there are two small trees, and two half Nāginīs. One of the short labels refers to the scene as one of worship of the Blessed Saviour by the Dragon-king Erāpata[1].

The Dragon-king Erāpata pays reverence to the Buddha as a means of escape from his snaky existence.

This description is defective in spite of its suggestiveness. The square panel obviously presents a romantic scene on land and in water. In the left we see a flat strip of land, and in the right an expanse of water, divided as though into two lakes or pools by a narrow strip, proceeding from the main land and looking like an island, washed by the overflowing currents of water. On the outer end of the narrow strip one can see a water-plant growing up and two crane-like birds flying over or hopping about, as is natural when they catch fishes or eat sea-weeds. It may be that one bird is shown twice to indicate its movement. This plainly shows that this portion of the strip is muddy, and overflooded when it is high tide, or there is a heavy gale or some such cause. The pools or streams of water are thickly covered all over with lotus-shrubs, with leaves, shoots and flowers in different stages of growth. To all appearance, these represent a large river flowing between two banks, visible on the upper and lower sides of the panel. The currents are well represented by the curled and wavy lines of water. On the lower corner of the main strip in the left, the Dragon-king Erāpata kneels on the ground and bows down, touching with his forehead the left hand side of a cubical jewel-seat of Buddha Śākyamuni from a corner, grasping the upper edge with his left hand and placing his right palm against the side itself. He appears indeed in the form of a royal personage, with a five-hooded crest over his turban. The square altar is covered over with lotus leaves and flowers, while the frieze on its front side shows a continuous leaf-design. This is erected at the foot of a delightfully tall and well-grown Śirīsha tree, two pieces of

1 Stūpa of Bharhut, pp. 26-27.

garland hanging from its lower branches. Its foliage is adorned throughout with flowers. A lower portion of its trunk, just above the square seat, is encircled by a belt with flower-designs. It is possible that this portion is thus fashioned with chisel.

The tree reigns indeed on the spot as the lord of its kind, the biggest of the six Śirīsha-trees, two growing on the outer end of the middle strip and three on the middle of the lower bank. The longer label is incised just behind the Dragon-chief, describing his action and attitude. Just above it, in the midst of the upper pool, we notice a beautifully adorned maiden in human form, standing characteristically as though turning round and round, while she is dancing and singing, upon the five-headed hood of the Dragon-king, raised aloft from water. She holds a lotus-bud in her upraised left hand, while her right hand is pointed towards a man before her with whom she is conversing with her charming face. The man stands, his body above water and wrapped by an upper garment, donned on his left shoulder, holding a lotus-bud in his right hand stretched towards her, evidently making advances of love. His face is broken off. But it is certain that he has no head-dress, nay, his head is shaven. In the midst of the lower pool we see the same Dragon-king, now in a royal human form, walking on towards the jewel-seat, carrying a lotus in his folded hands, and followed by two female dragons, also in human form, with single serpent-crests over their heads, one behind him appearing to be his wife, and one behind her his daughter. The two females are distinguished by the different head-dresses, here the head-dress of the daughter behind the queen being the same as that of the maiden on the hood of the Dragon-king. The shorter label giving the Dragon-king's name is incised just below his figure lest the observer may mistake his identity, now that he has assumed the human form. The labels give his name as Erapata or Erāpata, while in literature it is found to be Erakapatta, Erāpatha, Elāpatra and Ailapatra. These suggest different etymological explanations. See how Erakapatta, equating well with all the forms but Erāpatha, is explained in the Dhammapada-Commantary : He came to be known as Erakapatta because he felt as though an Eraka-leaf had seized him by the neck. Erāpatha, corresponding to Meṇḍapatha in the Mahāniddesa, signifies a country abounding in eḷakas or rams, through which the north-western branches of the Indian caravan route (uttarāpatha) passed. This must have been situated within Takshaśilā, since it is expressly stated in the Mahāvastu that his abode was a tank or lake in Takshaśilā. None need be surprised if this place was Ilāprasta or Ailaprastha, an ancient Iranian settlement. The Mahāvastu mentions Elāpatra as one of the four richest persons in India. Why should he, despite his riches, be anxious to pay homage to the Buddha ? The reply

is given in the Erakapatta-nāgarāja-vatthu of the Dhammapada-Commentary, of which a counterpart may be found in the Mahāvastu. As hinted at by Cunningham, our bas-relief faithfully illustrates a story similar in many points to that in the Dhammapada-Commentary, which will be manifest from the following narration.

In the dispensation of Buddha Kāśyapa, Erakapatta was a young monk, who, while going in a boat along the Ganges, passed a jungle of Eraka-trees. He grasped an Eraka-leaf. Though the boat was moving rapidly, he did not let it go. The result was that the leaf was completely torn off. He thought it to be a mere trifle. But when he was about to die, he felt as though an Eraka-leaf hang about his neck like an alabaster of sin. His mistake was that he did not confess his fault. He died to be reborn to his shame as a Dragon-king, the measure of whose body was that of a dug-out canoe. "What a pity that after performing meditations for so long a time, I find myself in a feeding-place for frogs !"

He had a daughter. Lying on the surface of the water in the middle of the Ganges, he raised his great hood, placed his daughter therein, and caused her to dance and sing, which he practised as a device of attracting persons from whom he might gather information about the Buddha's advent. He had it proclaimed that if any one could sing a reply to his song, he would give him his daughter, and the power and wealth of a dragon king as a gift. Every fortnight, on Fastday, he placed his daughter in his hood, and she, poised there, danced, and sang this song :

"What manner of ruler is a king ?
What manner of king is under the dominion of passion ?
How may he free himself from the bondage of passion ?
Why is he called a simpleton ?"

Many suitors came with replies which were all rejected. At last came a wooer, the Brahmin youth Uttara, coached by the merciful Buddha, who felt pity for the Dragon-king. As the daughter of the Dragon-king sang her song, Uttara sang a counter-song in reply. "What a grand song and reply this must be, which none but a Buddha can suggest !" His heart was filled with joy at the very thought. With his tail he lashed the surface of the water, whereupon great waves arose, washing away both banks. "Master, where is the Teacher ?" he asked Uttara, approaching him. "He is sitting under one of the seven Śirīsha-trees near Benares." "Come, master, let us go." He, on their arrival at the place, bowed down to the Teacher and stood on one side weeping. "Great king, human estate is indeed

1 Mahāvastu, III. p. 384.

difficult to attain; it is likewise difficult to gain the privilege of listening to the Law; so also is the rise of a Buddha is difficult. For this latter is brought about with toil and trouble." As he listened to these words, he gained the fruit of conversion, and recovered the power of going about in human form.

The Barhut scene illustrates this story in three stages of its progress: (1) the Dragon-king looking out for information about the Buddha's appearance, (2) going to the place where the Buddha was, and (3) interviewing the Teacher. The surviving fragment of the panel presents six instead of seven Śirīsha-ttees. It is not in the Commentary-story that the Dragon queen and princess accompanied the king. In this point the scene has rather an agreement with the Mahāvastu-story.

16. Pl. XXI. 3 [Scene 70] :—Chakavāko Nāgarājā.[1]
"Chakravāka, the Dragon-chief."

The Dragon-chief Chakravāka adores the Buddha for the release from his piteous condition

This label is attached to the under life-size figure of a human demi-god, who is seen standing, with joined hands and comely mien, on a high rock showing the faces of two tigers, peeping out from their dens, beside a lotus-lake, where a swan is swimming, a few cranes stand in a significant attitude, and a crocodile stands in water with a gaping mouth, apparently with the intention of attacking some of the birds. His gracefully bound turban is canopied by a five-headed cobra-hood, which is characteristic of the figure of a Nāgarāja. His joined hands, held across his breast, are evidently directed towards the invisible presence of the Buddha. There must have been some Buddhist legend giving an account of Chakravāka's interview with the compassionate Master, paying respects to whom the Dragon-chief, like Ailapatra, regained the human form and speech.

A soldier-like figure. A sun-god or a demon?

17. Pl. XXXII. 1 [Scene 71] :—Here Cunningham notices the figure of a soldier nearly of life size, whose head is bare, and whose short curly hair is bound with a broad band or ribbon, which is fastened at the back of the head in a bow, with its long ends streaming in the wind. His dress consists of a tunic with long sleeves, and reaching nearly to the mid-thigh. It is tied in two places by cords; at the throat by a cord with two tassels, and across the stomach by a double-looped bow. The loins and thighs are covered with a dhoti which reaches below the knees, with the ends hanging down to the ground in front in a series of extremely stiff and formal folds. On the feet are boots, which reach high up the legs, and are either fastened or finished by a

1 Barua Sinha, No. 181.

cord with two tassels, like those on the neck of the tunic. In his left hand he carries a flower, and in his right a monstrously broad straight sword, sheathed in a scabbard, which is suspended from the left shoulder by a long flat belt. The extreme breadth of the sword exceeds the thickness of the man's arm, while its length may be about 2½ feet. The belt of the sword is straight, and without a guard. The face of the scabbard is ornamented with the favourite Buddhist Symbol of Triratna or the Triple Gem. The sword belt, after being passed through a ring attached to the side of the scabbard, appears to be crossed over the scabbard downwards, and then fastened to a ring at the tip, below which the broad ends hang down like the ends of a scarf.[1] We cannot but accept this graphic description in extenso. From the study of the costume Cunningham is led to take the figure to be a representation of a soldier in the service of the Mauryan kings. Rai Bahadur R. P. Chanda is inclined to identify it with the Demon Viprachitti. The wearing of boots aṭaliyo (upāhanā, gaṇaṅgaṇa-upāhanā) and 139 moving about being armed with a dagger (khagga) are mentioned indeed in the Saṁyutta-Nikāya (I, p. 226) as personal characteristics of the Demon Viprachitti. But these by themselves are not sufficient to justify the identification, There is no special label recording the name of the figure. The Votive Label shows that the figure is carved on a pillar which was a gift from a Buddhist monk Mahila.[2] If Mahila can be rightly equated with Mihila or Mihira, it is not impossible that here we have a second instance where the figure itself has the most intimate connexion with the name or epithet of the donor of the pillar gift. We mean that the figure itself is a representation of Mihira, the Sun-god. In the first instance we have the figure of a trooper sculptured on a pillar which was a gift from a donor who himself was a trooper (asavārika)[3]. The scabbard of the sword bears the Triratna symbol which indicates a connexion with Buddhism not so much of the figure as of the donor of the pillar, the Gentle Mahila. The figure itself holds in the hand a bunch of grapes which is indicative of the fact that it had something to do with a grape-growing country, namely, the north-western region of India, the border land of Persia. The identity of the Barhut figure with the Persian Sun-god will be evident from the following observations of late Professor R. G. Bhandarkar : "The form of the idol of the sun worshipped in sun temples is described by Varāhamihira (Bṛihatsaṁhitā, Chap. 58), but the features mentioned by him which have a significance for our present purpose are that his feet and legs should be enclosed or covered up to the knees and he should be dressed in the fashion prevalent in the North (v. 46), and that he should be encircled by an

1 Stūpa of Bharhut, pp. 32-33. 2 Barua Sinha. No. 26. 3 Barua Sinha Nos. 15.

avyaṅga (v. 47). Accordingly the images of the sun that are found in the sun temples have boots reaching up to knees and a girdle round the waist with one and hanging downwards."[1] The sun-god is represented at Barhut as a sword-bearer guarding the sanctity of the Buddhist shrine.

18. Pl. XXI. 2 [Scene 72] :—Here is an under life-size female figure, bedecked all over with the apparels and ornaments, made of pearls and gems. The net of pearls and jewels hanging over and covering her forehead cannot be passed unnoticed. She stands in a calm attitude, bending her left hand at right angles, and placing the palm on her body in front, while in her upraised right hand she gracefully holds a śaṅkha-padma,—a jewel in the form of a lotus-bud and conch-shell, provided with a stalk-like handle. Her feet, or better, her toes rest upon the palm of upraised hands of a strong man who is raising her up and standing up from a kneeling position. Thus she uses a man for her conveyance (purisavāhana) and he displays a muscular gymnastical feat. Her apparel and conveyance go to show that she is associated with Kuvera's capital Alakamandā, and even with Kuvera himself as his queen or daughter. His queen is mentioned in the Buddhist legends of queen Māyā's dream, while in one of the stories of the Vimānavatthu we have mention of Kuvera's four daughters, Latā, Sajjā, Rāji and Mati, all described as goddesses, with long locks of hair, golden complexion of skin, blue and red mango-like eyes, wearing the lotus-wreaths, and bathing in the cool water of a river covered with lotus.[2]

Alakamandā-Yakshiṇī ?

19. Pl. XXII 3 [Scene 73] :—Chaṁdā Yakhi.[3]
"Chandrā Yakshiṇī."

The figure of Chandrā Yakshiṇī is sculptured on the outer side of a left terminus pillar where we see her stand calmly under a tall flower-tree, holding one of the lower branches with her right hand and embracing the trunk with her left. Her left leg, which is entwined round the trunk, rests on the head of a horse-faced makara, while her right foot rests on the curled tail. She holds between the first two fingers of her left hand a hanging bunch of flowers, which is evidently plucked from the tree. One small bunch is also worn as an ornament over the hanging lock of hair on her right side. Among the rich apparel and ornaments that she wears, the most notable is a scarf-like ornament, which passes round her right side and over her left shoulder.

Chandrā Yakshiṇī.

1 Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems, pp. 154-155. By udichyaveśa is meant the fashion prevalent in the uttarāpatha (Commentary).

2 Vimānavatthu, No. 2.

3 Barua Sinha, No. 182.

20. Pl. XXIII. 2 [Scene 74] :—Yakhini Sudasanā.[1]
"Yakshiṇī Sudarśanā".

This label is attached to the sculptured figure of Yakshiṇī, called Sudarśanā or Beautiful, who is seen standing artfully on the head of an elephant-faced or rhinoceros-faced winged makara, the forepart of her right foot touching the head of the creature. She maintains her balance by resting her left foot across her right leg, bending up her right hand and placing her left hand upon her girdle of six strings. The four fingers of her right hand are bent towards her palm, while the thumb remains stretched out. She is evidently being carried aloft through the air.

Sudarśanā Yakshiṇi

21. Pl. XXXIII. 3 [Scene 73] :—Chulakokā Devatā.[2]
"The little hunter-goddess"

Here we have a representation of the goddess Kshudrakokā as an under life-size figure of short stature, mounted on a quickly moving elephant, in a standing attitude, with her right leg resting on the back and her left leg on the head of the animal. She wears on over her gracefully combed hair a finely woven ornamental head-covering, hanging on her back. She wears a heavenly apparel, heavy pendent earrings, several pieces of bracelets, a necklace having six rows of beads, a girdle with six strings, high entwined anklets, and a bangle-shaped additional foot-ornament in each leg. The elephant's motion is arrested on coming against a fairly tall tree which she embraces with her left hand, grasping its lower branch above her head with her right hand to pluck or plunder its fruits, and entwining its trunk with her left leg. The elephant uses its proboscis to embrace the tree. The tree has small compound leaves, and a clean, round, and tall trunk, while its bunches of flowers or small fruits adorning all of its small branches seem to connect it with the Aśoka tree. A goddess of her name is nowhere met with in Indian literature. The significance of her name is also not quite clear. The inscription has been found out at Dinajpur naming the image of a Hindu temple as Kokāmukhasvāmi. Some of the epigraphists conjecture that here is a definite reference to a deity, who is the husband of a goddess Kokāmukhi or the Barhut Kokā. But there is a great difference in meaning between a Kokā and a Kokāmukha. Kokāmukhasvāmi is just another name of the Boar Incarnation of Vishṇu, the word Kokāmukha signifying a dog-faced beast, i.e., a boar. In the Dhammapada-Commentary, Kokā is distinctly used

Kshudrakoka, the goddess of the hunters taking stand on the back of elephants.

1 Barua Sinha, No. 183. 2 Barua Sinha, No. 184.

as the name of a hunter, who used to hunt by setting dogs upon the victim (see Koka-Sunakha-Vatthu). If it could have been construed as an adjective qualifying the dogs, Koka would perhaps mean Koñka-'crying', 'bemoaning', and the goddess might be associated with the habit of screaming at night. But seeing that Koka occurs as the name of the hunter, one might be led to surmise that it was a tribal name, that the Kokas were an aboriginal tribe of hunters, whose tutelary deities were known after it as Koka's. On the other hand, in the Vessantara-Jātaka, the term kokā signify sunakhā or dogs, employed by a hunter to surround a game. This goes to show that Kshudrakokā was the tutelary goddess of the special class of hunters ranging the wood on the back of elephants.

Madhyamakokā, the goddess of the hunters taking stand on the back of horses.

22. Pl. Indian Museum. 6 (29) a [Scene 76] :—This is apparently a life-size figure of another class of the Kokā goddesses, with middle stature, mounted upon a high-mettled and nicely caparisoned horse. She stands on the back of the horse, embracing a tall tree to her left, exactly as Kshudra-kokā stands on the back of the elephant. Among the notable points of difference, we see that her necklace contains seven strings instead of six, seven hip-belts instead of six, and ornamental tinkling bells in the place of bangle-shaped foot-ornament. Although the foliage of the tree is broken off and there is no inscription recording her name, we may be fully justified in classing her as Majhimakokā, the midling hunter-goddess and describing her as a tutelary deity of the middle class of hunters ranging the wood on horse-back.

23. Pl. XX. Gateway Pillar. Piece found At Pataora.

Side [Scene 19] : — Mahākokā Devatā.
"The great hunter-goddess"

Mahākokā, the goddess of the hunters taking stand on earrh.

This inscription serves as a label for the under life-size figure of a third class of Kokā goddesses, standing on earth under a tree to her right. She looks much fatter and appears to be heavy-built. But this is due to the treatment of the relief. She wears two pieces of necklace instead of one, and wears no additional foot-ornament below the entwined anklets. The tree is the same as one under which Kshudrakokā stands. She holds with her right hand the lower branch, while her left hand rests on her left thigh, with the forefinger manfully pointed towards some object. She appears to be the tutelary goddess of the general class of hunters taking stand on earth under a tree.

1 Barua Sinha, No. 185.

24. Pl. XXXVI. 7 [Scene 77] :— Here we see a goddess, evidently Gaṅgā Devatā, riding on the back of an elephant-faced makara on the surface of a river where a lotus-shrub lifts up its head above water. She is urging the makara to move fast with a goad held by her in her right hand. The makara swims by upraising its trunk. In the Machchhuddāna-Jātaka (F.288), the goddess is represented as the presiding deity of the river and custodian of the fishes.

Gaṅgā the goddess.

25. (a) Pl. XXIII. 2 [Scene 74] :—Sirimā devatā.[1]

"Śrīmatī, the goddess."

This label is attached to the figure of a female deity characterised by a protuberant hip and a prominent bust which are probably indicative of the power of production and feeding. The goddess remains standing with even feet on a level roof of a railing-like structure with her left hand suspended at full length along her left side, while with her right hand she holds out a flower that appears to be a datura. She wears apparel and ornaments which characterise other female deities. In the Lalita-Vistara[2] and the Mahāvastu[3] versions of the Āṭānāṭiya-Sutta, the four varieties of the goddess of luck are associated with Virūḍhaka, the regent of the southern quarter, and they bear the appellations of Śirimatī or Śriyāmatī, Yaśamatī, Yaśaḥprāptā or Lakshimatī, and Yaśodharā. The name of the goddess as recorded in the Barhut label seems to correspond to Śrīmatī. This Barhut representation of Sirimā has, as shown by Professor Rhys Davids, a faithful correspondence in the images of her found in the temples of South India.[4] The Siri-Kālakaṇṇi-Jātaka (F. 383) introduces us to a Siridevi or Lakkhi, who is described as the daughter of Dhataraṭṭha, the regent of the eastern quarter. In this Jātaka, precisely as in the Indian stories of Nala and and Śrīvatsa, Śrī or Luck is compared and contrasted with Kālakarṇī or Misfortune, the latter being described as the daughter of Virūpakkha, the regent of the western quarter. Siri the goddess is said to have come with raiment and ointment of golden hue and ornament of golden brightness to the door of the presence-chamber of a wise banker, diffusing yellow light, resting with even feet on level ground (samehi pādehi samaṁ paṭhaviyaṁ) standing respectful, and introducing herself as Fortune and Luck (Siri ca Lakkhi ca), the daughter of Dhataraṭṭha the fortunate (sirima), whom men admired as Wisdom. But the reader is to decide whether this Jātaka descrip-

Goddess of lucky grace.

1 Barua Sinha, No. 156.
2 Lalita-Vistara, Chap. XXIV.
3 Mahāvastu. III. p. 307.
4 Buddhist India, pp. 217-221.

tion of the goddess is applicable to this figure af Sirimā or to another figure which is described below.

(b) **Pl. Cunningham's Original Photograph** [Scene 7] :—The outer side of a right terminus pillar, recently brought into the Indian Museum, Calcutta, bears the sculptured figure of a female deity which bears a general likeness to the figure of Sirimā. Comparing the two figures we cannot but admit that instead of one we have at Barhut two different representations of the goddess of luck. In the present instance the goddess stands in the same attitude of feet on level ground, holding a hanging lotus-bundle in her left hand suspended at full length along her left side, and placing her right hand just below her chest. The palm being broken off we cannot say if anything was held in the right hand. There is nothing very special to note in her apparel and ornaments except that she wears two single anklets one on each foot.

Another goddess of lucky grace.

26. (a) Pl. XXXVI. 1 [Scene 79] :—This is a decorative design which offers an example of sculptural representation, where Śrī the goddess of glory is seated cross-legged, the soles of her feet touching each other. She sits with joined hands, held just below her breast, and indicating a respectful attitude. She sits on a full-blown lotus blossoming out of a large ornamented jar, the neck of which bears a lotus-design. The jar itself rests upon a lotus-stand. The lotus-shrub shows two other flowers blossoming on two sides of the lotus in the middle, and standing artfully upon these outer flowers two elephants pour water over the head of the goddess from two sides from two jars, held over her head by the elephants with the help of their trunks. In this example the jars do not touch each other, and these are held up a little above the head of the goddess. Of the apparel and ornaments worn by her, no traces now remain except those of anklets.

Śrī the goddess of glory.

(b) Indian Museum [Scene 80] :—Here we have a second example of representation of the same goddess, which shows a more ornamental finish. In this example the goddess, instead of sitting cross-legged, remains standing, holding up with her left hand one end of the girdle which hangs on her left side, and placing her right hand upon her breast. The apparel and ornaments that she wears are precisely those which characterise the figures of other female deities. In this representation the elephants stand closer to the goddess, and the jars touch each other and are held up just over the head of the goddess. In none of these two instances the goddess holds a lotus in her hand as she should according to the Brahmanical description—padmasthā padmahastā cha ghaṭotkshiptajalaplutā. But she is seated on

a lotus, and water is poured over her head from the jars. Śrī or Glory and three other cognate deities, Āśā (Hope), Śraddhā (Faith) and Hrī or Hirī in the Lalita-Vistara and Mahāvastu versions are mentioned in the Āṭānāṭiya-Sutta as heavenly damsels guarding the northern quarter, and as it should be, the figures of the goddess Śrī, exactly in the form met with at Barhut are sold now-a-days in the bazars of northern India. The four deities, Śrī and the rest, are mentioned in the Sudhābhojana-Jātaka (F. 535) as the four daughters of Śakra or Indra. As shown elsewhere[1], these were results of poetic personification of four abstract ideas or principles, and the process can be traced from the Vedic hymns.

27. Pl. Indian Museum. 45 (10) a [Scene 81] :—Here we see a handsome female figure standing gracefully on a large full-blown lotus growing in a lotus-lake. She shows a tattoo-mark on her forehead just below her ornamental head-covering, and usually wears earrings, a necklace with a medal suspended from it, a flat chain falling over her breast, and bracelets and anklets adorning her hands and legs. She stands in a waiting attitude, with a large harp, held up in front, across her body, between the palm of her left hand and the back of her right, and balanced by tilting up its upper part under her left arm, almost forgetting herself before a grand sight that has engaged her attention. There is no label to help us to recognise her identity. But there can be no doubt that she represents a heavenly maiden, described in Buddhist literature as a Lotus-nymph, playing on a harp. Some of the stories in the Vimānavatthu give a poetical description of this class of maidens, well-trained in the art of dancing, singing and playing on musical instruments. The scenic effect of the representation of this class of maidens will be evident from the following quotation from the Sutta-Nipāta-Commentary[2] : "When Śakra, king of heaven, goes to his pleasaunce for amusement, the god Airāvaṇa transforms himself into a mighty elephant-king, assuming a body, 150 leagues in extent, and having 33 trunks, each trunk showing two tusks, each tusk bearing up seven tanks, each tank containing seven lotus-shrubs, each shrub presenting seven flowers, each flower comprising seven petals, each petal showing seven nymphs, dancing in it. These maidens, who are Śakra's dancing women, are well-known as Lotus-nymphs." The Vimānavatthu description goes to show that their function was not confined to dancing but included singing as well as playing on the harp and other musical instruments. Here we may trace an early iconic form of the Hindu deity Sarasvatī.

Padumachchharā : Lotus-nymph.

---

1 Barua Sinha, No. 186, Notes. 2 Paramatthajotikā, II. pp. 368-369.

28. Pl. Indian Museum [Scene 81a] :—The statue of a female deity figures on the inner face of a right terminus pillar. She is seen standing on the back of a makara with the head and face of ā leonine animal, holding out in her uplifted left hand something which is broken off. There is no label recording her name. Her apparel and ornaments are certainly those characterising the figures of other female deities. The figure is evidently that of a Yakshiṇī or a goddess.

Some unknown Yakṣiṇi or goddess.

29. [Missing] :—Bahuhathika-asana Bhagavato Mahadevasa.[1]—

"The Bahuhastika seat of the Divine and Mighty Lord."

The scene to which this inscription referred is missing. Cunningham says that he found the inscription engraved on a pillar above a medallion filled with a lotus-design, and as such it does not appear to have referred to any carving on the pillar itself. He seems to think that the point of reference was a representation within a distinct stone-enclosure to which the pillar itself belonged, and that the representation itself was that of a throne with a number of human hands carved on the front, the hands being intended as symbols of worshippers[1].

Buddha's seat frequented and guarded by a herd of wild elephants.

It is rather unusual that the inscription referring to a throne should be incised on a pillar in the enclosure, and not on the throne itself. We think that the pillar itself was sculptured with a scene in which the Buddha's seat or throne was frequented and guarded by a herd of wild elephants, and if it be that the scene had no place in a full medallion, it must have filled the half-medallion at the top. There are two other inscriptions engraved in a scene in which the expression bahuhathika occurs and distinctly signifies something characterised by the presence of many elephants. The following representation of Triangular Resort affords a good example of this scene.

29. Pl. XXVIII. 1 [Scene 83] :—Tikoṭiko chakmo.[2]

"The Triangular resort."

Here in the upper left quarter of the medallion Cunningham sees a highly ornamented triangular recess, in which is seated a three-headed serpent apparently on a lotus throne. In the lower left quarter he sees two lions. The whole of the right half is filled with elephants in various attitudes of eating and drinking. There are altogether seven elephants. The one at the bottom is shown in the act of plucking sheaf of corn ; the next above

The scene of a Chaṅkrama or of a Jātaka.

1 Stupa of Bharhut, pp. 14, 143. 2 Burma Sinha. No.

him is throwing his trunk backwards over his head; the third is filling his trunk with water from a stone bowl; below him the head only of the fourth elephant appears; the fifth is pouring the water from his trunk down his throat; the sixth has thrown his trunk back over his head like the second; and the seventh, a large tusker, stands full to the front, his ears extended. The attitudes of some of these figures are well conceived and fairly executed, and the scene is both natural and animated. As the word nāga means an elephant as well as a snake, the scene may be taken to be a representation of the Nāgaloka which, according to Buddhist cosmogony, was placed in the waters under the Trikūṭa-parvata or three-peaked mountain that supported Mt. Meru, the triangle of scene being the triangular base of the Trikūṭa mountain.[1]

The scene is well described by Cunningham as it may appear at first sight. The presence of two trees indicates that the scene is laid in a forest or mountainous region. The triangular resort, referred to in the inscription, is a triangular lake or pool which is guarded by its three-headed dragon dweller (triśīrsha-nāgarājā). The three banks represent three uniform sides of the triangle bearing various auspicious marks of leaves and flowers on their ornamented surface. The dragon-chief is evidently lying on his back at the bottom of the lake jealously keeping watch over the surface of water from below. The two lions below the lake stand facing each other, one looking towards the front, the other looking towards the back, and the both of them showing an attitude of alertness in making attacks, with their gaze fixed in the same outward direction. As regards the herd of wild elephants, the various attitudes of eating and drinking are not so important as those of keeping watch and guard. The one at the bottom who stands close to one of the lions, keeping the front legs erect and the gaze fixed in the outward direction, is posted as a sentinel. Two powerful elephants besides the sentinel stand vigorously on the right, facing the same direction as is faced by the sentinel and the lions. They are apparently stationed as generals, while the leader of the herd stands majestically beside them, in the upper part of the medallion, watching the whole situation before his eyes. This leader, the two generals and sentinel encircle the younger elephants, among whom the bigger ones stand face to face, and the smallest one drinks water from a stone bowl. What is the subject of this scene? One might be tempted to think that the subject is a Birth-story in which the Bodhisat, then born as a powerful elephant, lived as the lord of a herd in a forest reigion infested with lions, near a triangular lake which was the dwelling place of a

1 Stupa os Barhut, pp. 23, 25-29, 41-42.

fearful dragon-chief, vigilantly guarding his followers against all dangers. But this interpretation cannot stand in view of the fact that the elephants and the lions are apprehending the danger from one and the same direction. There is no sign of an attempt on the part of the lions to attack the elephants. The representation is rather of a scene in which they have a common cause to serve. The inscription characterises the representation as the scene of a triangular resort. The resort itself is a triangular lake which is the meeting place of a dragon-chief, a pack of lions and a herd of wild elephants. If the resort were a simple lake, we cannot understand why its banks should be highly ornamented. The resort must be associated in some way with the Buddha or Buddhas. It may be a triangular lake in a forest region, on the bank of which the Buddha or Buddhas washed the robes, and which was guarded by the dragon-chief, the lions and the elephants. Hwen Thsang's description ot a lake in Benares may throw some light on the meaning of the scene. In one of the lakes, says Hwen Thsang, the Buddha used to wash his robes, and a dragon dwelt in it. "The water is deep and its taste sweet ; it is pure and resplendent in appearance, and neither increases nor decreases. When men of a bad character bathe here, the crocodiles come forth and kill many of them ; but in case of the reverential who wash here, they need fear nothing. By the side of the pool where Tathāgata washed his garments in a great square stone, on which are yet to be seen the trace-marks of his kashāya robe. The bright lines of the tissue are of a minute and distinct character, as if carved on the stone. The faithful and pure come to make their offerings here ; but when the heretics and men of evil mind speak lightly of or insult the stone, the dragon-king inhabiting the pool causes the winds to rise and rain to fall."[1] In taking the scene to be a representation of the Nāgaloka under the three-peaked mountain Cunningham himself admits that he cannot explain the presence of the lions[2].

30. Pl. XXXIV. 2 [Scene 85] :—Tiram[h]i timigila-kuchimha

Vasugupo mochito mahādevānaṁ.[3]

Vasugupta is brought ashore, being rescued from Tiniṅgila's belly by the power of the name of the mighty lord."

---

1 Beal's Buddhist Records of the Western World, II, p. 49.

2 Mr. Gokuldas De of the Calcutta University has shown (Calcutta Review, 1929, pp. 367—72) that the description of the Trikūta mountain in the Bhāgavata-Purāṇa is of such a nature that one may explain many of the details of the Barhut scene.

3 Barua Sinha, No. 165.

Overpowered by the Lord's glorious name, the sea-monster leviathan lets out from his jaw' Vasugupta, who finds himself secure on sea-shore with his followers.

This is a fine medallion-carving which still lies buried under the walls of the palace at Uchahara. The bas-relief presents a very curious scene, where Cunningham observes two boats on a rough sea, each containing three men. A huge fish with open mouth is swallowing one of the boats with its crew, while the crew of the second boat, who have stopped rowing, are evidently anticipating the same fate. The boats afford two examples. They are of exactly the same build as the boat in the Sanchi sculptures. The planks are fastened together by iron clamps. The oars are shaped somewhat like large spoons, each having a long bamboo handle, with a flat piece of wood at the end to hold the water. In India the very same pattern of boat and the same oars are still in use at the present day, which is a proof of the unchanging habits of the Hindus.[1]

Judged apart from any reference to the explanatory inscription and literary tradition, Cunningham's reading would have been accurate and correct. The sea is rough, boats there are two, the huge fish with open mouth is swallowing one of the boats with its crew, and the crew of the other boat having stopped pulling the oars, are anticipating the same tragic fate, True. But the accompanying label compels us to look for the rich merchant Vasugupta and make out the sea-shore where he was at last brought. The monster fish swallowing the boat with its crew is, according to the label, Timiṅgila, a larger species of the Leviathan, the swallower of Timi. We read in literature that there is a still larger species, Timiṅgila-gila, the swallower of the swallower. Vasugupta of the label is the man who sits in front, heroically facing the danger, among the crew of the longer boat within Timiṅgila's jaws. He is at once diatinguished from the rest by his dignified appearance, prominent earrings and ring-shaped diadem over his forehead. we can easily point out the sea-shore, represented in the upper part, beside the second boat. Going by the description in the label, the boat and crew within Timiṅgila's grasp may be taken as both going in and coming out. The label gives also the reason for Vasugupta's bold calmness before the impending danger and release, which is the deep concentration of his mind and sweet recollection of

1 Stūpa of Bharhut, p. 124.

1. Khila-Harivaṃśa, Vishṇuparva, Ch. XXXIII, 15-16:
   Samudraḥ cratyuvāchedaṃ daityaḥ pañchajano mahūn,
   Timirūpeṇa taṃ bālaṃ grastavāñ iti Mahava ?
   Unmathya salilād asmād gtastavān iti Bhārata-

2. Hardy's Manual of Buddhism, d, 209 :
   The dewas......requested Buddha......to agitate the sea of the Abhidharmma as the fish-king Timiṅgala agitates the ocean."

the name of the mighty saviour, his Lord. Is it sufficient to say that the sea is rough ? Is the sea really rough, or is it merely a case of commotion in sea-water caused, according to an old Indian saying, by a Timi or Timiṅgila ? We see a big whirlpool, with a deep depression in sea-water, proceeding from the Timiṅgila's mouth, causing all sorts of fishes to fall into. The jaws of the monster are adorned with a curved row of sharp teeth, like those of a saw. In the Mahāsutasoma-Jātaka (F. 537), Timiṅgala or Timiṅgila is counted among the six monster-fishes (chha mahāmachchhā) in the ocean, one thousand leagues in extent. These fishes, as the Jātaka would fondly have us believe, fed on rock śaivāla, i.e., kept to a vegetarian diet, before they came by accident to taste with relish the fishes under their care. We read in the Divyāvadāna[1] that living creatures live in three layers of water in the ocean. Those who live in the first layer vary from one to three hundred leagues in extent, those that live in the second layer from eight to fourteen, and those that live in the third from fifteen to twenty-one. The fishes eat one another, those of the first layer serving as food to those of the second, and those of the second to those of the third. The Timiṅgila, who lives in the third layer, rising up, moves about as if carrying before him the whole volume of water in the first layer. When he opens his mouth after forcing out air, the water of the ocean is thrown out in streams and rushes back, compelling all fishes, turtles, crocodiles, alligators, sharks, and the rest to fall within his grasp. From a distance he appears like a high mountain, while his eyes shine forth as though they were two great suns. These phenomena can be clearly discerned in our bas-relief, where we also see that all but Vasugupta look, in fear of life, to this or that direction for help. The cause of this cannot be unveiled till we make out the story itself. We are indeed much indebted to Mr. N. G. Majumdar, for drawing our attention to the introductory episode of the story of Dharmaruchi in the Divyāvadāna[2] and Avadānakalpalatā[3], which fits in with the same.

The Blessed One was once staying up in Jetavana, when five hundred merchants of Śrāvastī were returning home from the high seas. While they were yet in the ocean, they saw from a distance a curious sight of a being appearing like a high mountain, with eyes shining like two suns. They fell thinking what it might be, when the ship began already to move with great speed towards the jaws of the monster. Was the world-order coming to an end ? They all turned to the pilot to tell them what it was. "Friends" he said, "you must have heard of the danger arising from Timi-Timiṅgilas. Now we are faced with this very danger. Look how the

1 Divyāvadāna, p. 230. 2 Divyāvadāna, pp. 228 foll. 3 Avadānakalpalatā, No. 89,

monster fish rising up from water, appears like a mountain. The red lines that you mark are his two lips. That which looks like a string of white beads is the row of his teeth. Note how his eye-balls shine like the sun. There is no way out of it, our death is an inevitable fact. The utmost you can do is to call each upon his own god to grant you safety." In fear of their lives, they called upon Śiva, Varuṇa, Kuvera, Mahendra, Upendra, and the rest. But this failed to prevent the vessel rushing into the monster's grasp. Fortunately, there was amongst them a faithful Buddhist lay-devotee, who said, "I see that die we must, let us all say in one voice 'Namo Buddhāya', 'Glory be to the Lord', for even if we die with our mind fixed upon a sweet recollection of qualities of the Buddha, it will help us to attain a happier lot," They humbly bowed down in obeisance to the Lord, crying out in one voice 'Namo Buddhāya'. This set the Timiṅgila athinking. How to save the vessel and its crew ? If he violently closes his mouth, they go into destruction. He gently closed and opend his jaws to control the commotion, to enable the ship to recede back and reach the shore, moving by a favourable wind. The merchants safely got ashore, and on returning home, they did all they could to show proper honour to the Blessed Lord, by the glory of whose name they were saved.

Instead of the sailing ship, we find in the Barhut relief the boat with oars.

iii. (a). FROM DŪRE-NIDĀNA—
REMOTE SECTION.

Caravan in distress.

1. Pl. XXXIV. 1 [Scene 86] :—This bas-relief is carved in a rail-medallion. It presents, as noticed by Cunningham,[1] a large cart, which is a costly vehicle, fitted with two wheels, straight wooden sides and a straight wooden back. Cunningham also notices a square-shaped roof, placed on the ground, beside the cart. The driver, according to his description, is seated on the ground with a cloth passed round his knees and loins, confronting two bullocks that are sitting in the usual drowsy fashion. He has no suggestion for the identification. Mr. Rama Prasad Chanda identifies the scene with the Buddhist story of Trapusha and Bhalluka, the two trader brothers who waited upon the Buddha shortly after his attainment of Buddhahood. But if it had been really a scene of this story, why is it that there is to be seen only one man instead of two ? Why again, it may be asked, is the man sitting despondently on the ground behind or beneath the cart, or the situation is so dismal as indicated by the unyoked bullocks drowsily lying down upon their legs in an opposite direction beside the cart ? It is too bold a presumption to maintain that the square-shaped object, taken by Cunningham to be

1 Stūpa of Bharhut, p. 125.

the roof of the cart, is a folded robe, which the trader brothers carried as a worthy present for a Buddha. It rather looks like the surface of something overhead, divided into four square blocks, one within another. Close to it, there is a small circular pavement with a circular hole, presenting a swollen face. The story of Trapusha-Bhalluka cannot explain these details. It is the story of the Vaṇṇupatha or Jaṇṇupatha[1] Jātaka (F. 2) which alone tallies with the subject of the bas-relief[2].

The Bodhisat was then born, according to this Jātaka, into a trader's family in the realm of Kāśī. On coming of age, he began to travel about trading with 500 carts. Once he was journeying over a sandy desert, sixty leagues across, with his carts and retinue, conveyed by a pilot. Thinking that a night's journey was enough to see them out of the wilderness, he ordered his men to throw away their wood and water. The pilot sat in the front cart upon a coach, observing the motion of the stars and directing the course of a caravan. Going some distance he became tired and fell asleep. The result was that he failed to notice when the oxen had turned round and retraced their steps, bringing the carts, at dawn, back to the very place from which they started. "We are where we camped yesterday !" cried the people of the caravan. "All our wood and water is gone !" They unyoked their carts, made a laager and spread awning overhead, each man flinging himself down in despair beneath his cart. But the Bodhisat soon found out a grassy spot where water could be obtained. Digging some sixty cubits down, the spade struck on a rock, yet no water came out. The Bodhisat did not lose confidence. Feeling sure there must be water under the rock, he ordered his young assistant to go down into the hole with an iron sledge-hammer and strike the rock that dammed the stream. He forthwith carried out his master's order. The rock was struck, split asunder and fell in. Water rushed up through the hole to the joy of all. Thus the wise being managed to save the situation.

2. Pl. XLVIII. 2 [Scene 87] :—Maghādeviya-Jātakaṁ.[3]

"The Jatāka-scene relating to Mahādeva."

In this small Coping-panel Cunningham notices a Jātaka-scene where a king is seated between two attendants, with his left hand resting on his

---

1 Mahāniddesa, p. 155.

2 Cf. a similar scene at Amarāvati, identified by Stela Kramrisch (Indian Sculpture, Fig. 40) evidently accepting our identification of the Barhut bas-relief.

3 Barua Sinha, No. 189.

On being shown grey hair King Mahādeva of Videha resigns his kingdom in favour of the crown prince and renounces the world.

knees and his right hand raised before his face, holding something small between his forefinger and thumb. The attendant on his right is leaning forward, and apparently drawing the king's attention to a similar object, which he also holds up between the forefinger and thumb of his right hand. The pensive appearance of the king might lead one to think that the small thing on his hand was a pill, and that this attendant was a physician who held up another pill. Mr. Beglar thought that this figure was a physician, whose action seemed to be that of feeling the finger of the king. But the two hands do not actually touch, although they are placed very close together, and may perhaps be holding the same grey hair. The third person is merely an attendant, who stands to the left of the king, with his hands joined upon his breast in an attitude of respect. When once the name of the subject, Maghādeviya-Jātaka, is known, the spirit of the scene is evident, and the story is perhaps as well told as such a subject could be in sculpture.[1]

Here we see indeed in the middle a king seated in the throne consisting of a high-back and wall-side modern office chair. He, instead of leaning against the back side of the throne, rather sits drawing himself towards his front, touching the ground with his bare feet, so bending his left hand that it rests alongside of his body and rests as well on his left thigh reaching up to his knee, and so turning him a little aside that he, keeping up his usual dignity, can raise his right hand before his face and spread his palm, allowing a man on his right to put in it something very small with the help of a pincer-like instrument. The king is gravely and at the same time wistfully looking at the thing as it is being put in his hand by the second man who is standing behind his throne and now leans forward over the back of the throne and proceeds towards its right corner and side so as to enable himself to reach the king's right hand without coming too near. The king, as usual, wears earrings, necklaces and bracelets. His unlocked long hair gracefully hangs down on two sides of his head, being parted in the middle, and it seems as though he is wearing a wig. There can be little doubt that the second man is an Indian barber or hair-dresser who appears with a turban on his head and a large linen waist-band tightly wrapping up his body over his dhoti. We see before him and on the right side of the king's throne his canoe-shaped shaving-pot holding in it a broom-shaped shaving-brush and resting on the narrow mouth of a vault-shaped basket-work of small flat and thin bamboo-splints, interwoven with

1 Stūpa of Bharhut, pp. 78-79.

bands of split rattan cane, a mechanism serving as a stand and as a means of entrapping and encaging fishes and such other creatures. The razor which is the barber's main instrument unfortunately is not shown. The second attendant stands, as observed by Cunningham, on the king's left, in an attitude of respect. His appearance and general posture show that he is a younger member of the royal family, who has been called into the king's presence and is expectantly waiting to hear what the king has got to say, but the king is so busy with his barber that he has no leisure as yet to speak to him. The inscription labels the scene as Maghādeviya-Jātaka. We trace in the Commentary-collection a Birth-story with the Pāli title Makhādeva-Jātaka or Maghādeva-Jātaka (F. 9).[1] An earlier and more interesting version of this Birth-story is embodied in the Makhādeva-Sutta of the Majjhima-Nikāya (No. 83), and this version is mentioned as a Suttanta example of Jātaka in the Chulla-Niddesa (p. 80). The Niddesa title Maghādeviya-Suttanta stands midway between the Nikāya and the Barhut names. The Suttanta story of Makhādeva or Maghādeva contains also the story of Nimi, treated as a separate Jātaka in the Jātaka-Commentary. The Chariyā-Piṭaka story of Makhādeva is a much simpler narration, emphasizing his particular practice. These stories in literature attest that the Barhut label names the scene after the Bodhisat, King Makhādeva, Maghādeva or Mahādeva, the founder of the kingdom of Videha with Mithilā as its capital. The Ceylonese version, based upon the commentaries, describes Makhādeva as the first mortal whose hair turned gray.[2] According to an old legend in the Śatapatha-Brāhmaṇa, Māthava Videgha or Mādhava Videha was the founder of the Videha kingdom, and it is not unlikely that this Māthava or Mādhava is the Makhādeva or Mahādeva of the Buddhist legend and genealogy. The Suttanta-story extols the whole Videha line of kings, from Makhādeva to Nimi for withdrawal from the world on being shown a grey hair by the barber. Besides the Makhādeva and the Nimi there are two other Jātakas, viz. the Susima (F. 411) and the Chulla-Sutasoma (F. 525), which exemplify the Bodhisat's renunciation at the sight of a grey hair. The Suttanta story which is the basis of the commentary version is as follows :—

Formerly in the city of Mithilā there was a king, Makhādeva by name, who was righteous and ruled righteously, faithfully observing fast and other religious duties. This king, after many years, many hundreds and thousands of years had passed away, asked his barber to let him know when he detected any grey hair on his

1 Bigandet calls it Devadūta-Jātaka.

2 Hardy's Manual of Buddhism, pp. 129 foll.

head. After many, many hundreds and thousands of years had passed away, the barber saw grey hair on his head and called his attention to this fact, a single grey hair according to the Commentary story. "Pull them out, my friend, and lay them in my palm." The barber plucked them out with his tongs, golden tongs as the commentary would say, and laid them one by one in his hand. At this point we read in the Commentary : "The king had at that time still eighty-four thousand years more to live ; but nevertheless at the sight of that one grey hair he was filled with deep emotion. He seemed to see the King of Death standing over him, or to be cooped within a blazing hut of leaves. Foolish Makhādeva ! he cried ; grey hairs have come upon you before you have been able to rid yourself of depravities. And as he thought the sweat rolled down from his body ; whilst his raiment oppressed him and seemed intolerable." After giving the grant of a village to his barber he called his eldest son into his presence and said to him : "Noble prince, my son, grey hairs are come upon me, and I am become old. I have had my fill of human joys, and fain would taste the joys divine ; the time for my renunciation has come. Take the sovereignty upon yourself ; as for me, I will take up my abode in the pleasaunce, the mango-grove bearing my name, and there tread the ascetic's path. But see my son, noble prince, that when you see grey hairs on your head you make the grant of a village to your barber, resign the kingdom to your eldest son, and tread the ascetic's path. This good round of duty set up by me, you must keep going on, see that you are not become my annihilator by ending this line of action so long as the present line of kings continues to rule." The king did what he said, and the prince did what he was told. Makhādeva amused himself as prince for eighty-four thousand years, ruled as viceroy for the same number of years, for the same number of years he reigned as king, and the same number of years he passed as ascetic. The tradition was kept up by his son, grandson, and his worthy later descendants, eighty-four thousand in number, the last of whom was the illustrious king Nimi. King Kaḷāra Janaka of his line became his annihilator by giving up the tradition for the first time.

The Commentary story says that the king also took leave of his ministers explaining to them the reason of his retirement in the most stirring words. But the Barhut scene rather follows the earlier version, representing the king, as it does, as taking leave only of his eldest son, the prince and viceroy.

3. Pl. XLIII. 2 [Scene 88] :—Isimiga-Jātakaṁ.[1]

"Bodhisat's part in saintly deer birth."

---

1 Barua Sinha, No. 190.

In this scene Cunningham sees two figures, one a man, apparently a royal huntsman by his costume, and a deer, with a tree in the background.[1]

This description is hardly sufficient for the identification of the scene. Here, on the left, we see a deer standing beside a tree, the presence of which indicates that the scene has been laid in a garden. The forelegs of the deer rest upon a block which shows an arch to put the head of the deer under it. On the right is a man who stands with an axe, held on his left shoulder. He stands facing the deer and holding the upper lip of the latter. Dr. Hultzsch has ably identified the scene with the Nigrodhamiga-Jātaka (F. 12), narrating how a deer-king offered himself as a substitute at the execution-block in the royal park to save the life of a doe.[2] The Jātaka relates :—

The saintly deer himself appears in the execution block as a substitute for a doe during her maternity.

The Bodhisat was then born as a golden deer. His eyes were like round jewels. His horns were silvery white. His mouth was red as a bunch of scarlet cloth. His hoofs were as though lacquered. His tail was like the yak's. He was as big as a young foal. He dwelt in the forest as King Banyan Deer with a herd of five hundred deer under him. Hard by him lived another golden deer, Branch Deer by name, with an attendant of five hundred deer. In those days the king of Benares was passionately fond of hunting, and every day went hunting, taking with him the whole of his subjects, stopping all their work. Seeing that they were disturbed in their daily work, the subjects of this king managed by a well-planned device to drive the herds of deer with their leaders, the Banyan and Branch Deer, from their forest haunt into the royal park, and imprison them there. The king being informed that his pleasaunce was filled with the deer driven from the forest, went there, and in looking over the herds saw among them two golden deer, to whom he granted immunity. Sometimes he would go of his own accord and shoot a deer to bring home ; sometimes his cook would go, and shoot one. In shooting one deer they struck terror into the heart of the rest, causing them to dash off trembling for their lives. The Banyan Deer discussed the matter with Branch, and decided that one deer should go to the block (dhammagaṇḍika) by turns, one day one from one herd, and that the deer on whom the lot would fall should go to the place of execution and lie down with its head on the block. Now one day the lot fell on a pregnant doe of the herd of Branch. She went to Branch, and said, "Lord, I am with young.

1 Stūpa of Bharhut, p. 75.
2 JRAS, 1912.

When I have brought forth my little one, there will be two of us to take our turn." Order me to be passed over this turn." "No, I cannot make you turn another's", said he. Finding no favour with him, she went to Banyan, and told him her story. He granted her her prayer, but chose to lay down his own life for her, taking her doom on himself. He forthwith came up to the place of execution where he lay down with his head on the block. The cook of the royal household came as usual to the park, and was much surprised to see the golden deer-king lying on the block. "Why here's the king of the deer who was granted immunity! What does this mean?" He ran off to the king to tell him what he saw. Therewithal the king personally came to the park to inquire into the matter. My friend the king of the deer, "he said, "did I not promise you your life? How comes it that you are lying here?" The noble deer-king frankly related the whole story to him. "If so, arise," answered the king, speaking feelingly, "I spare the lives both of you and of her." "Though two be spared, what shall the rest of deer here and elsewhere and other beasts and birds do, O king of men?" "I spare their lives too, my lord." Thus interceding with the king for the lives of all creatures, the Bodhisat arose, and teaching the truth to the king, passed into the forest with his attendant herd.

The Barhut representation of the Banyan is life-like, and faithful to the literary description. It is difficult to understand whether the man who stands conversing with the deer, with an axe on his shoulder, is the cook or the king himself.

4. Pl. XLIV. 8 [Scene 81a] :—The subject of this bas-relief, as suggested by Cunningham, is the reverence paid by a herd of spotted deer to a Bodhi-tree, with the Bodhimaṇḍa, or Throne of the Buddha, placed beneath it[1]. In the absence of a canopy or parasol standing as a distinctive artistic symbol for a Bodhimaṇḍa connected with Buddha Gautama or an express reference to it as a Bodhimaṇḍa in the inscription, one must take it to be an ordinary woodland shrine. We do not quite appreciate why stress should be laid on the reverential attitude of the deer. To make out the story, we should rather notice how the woodland-shrine presents on its two sides two different situations, where three spotted deer (chitramṛiga) appear as the actors. In the situation to the left, we see three deer, standing side by side, before the chaitya. The one standing in the middle is a stag or grown up male deer, with antlers nicely curved in front. The one standing on his right side is a young deer

Trained young deer stands the test in ruses.

1 Stūpa of Bharhut, p. 102,

without antlers. The third one on his left side can be easily marked out as a hind or grown up doe. The stage in the middle stands, with his masterful personality, gracefully stretching out his body on his forelegs, while the forepart of his body, together with his neck, artfully bent upward enabling him to place his mouth on his back. The scene to the right clearly shows that now the young deer has become grown up with antlers, peculiar to the male species. He is either crouching on his four legs, or lying down, at full length, on one side, bending his neck backward making his mouth touch his outstretched back, and straightening out his tail, his total posture being one of stiffness. It is clear that he is trying to manipulate or reproduce, in a different form the artful posture displayed by the senior stag, who, also in this scene, stands in the middle, gravely watching the situation. The female deer, too, reappears on his right side, standing a little behind him, and looking out over his back. If our study of these details be correct, here we have undoubtedly a sculptural representation of Buddhist Birth-story, the Tipallatthamiga-Jātaka (F. 16), which relates how a hind entrusted her son to the care of her brother, asking him to teach her son the ruses or tricks of deer (miga-māyā), and became happy that her boy stood the test. Thus this story illustrates the beneficent effect of mindfulness and disciplined habit on the part of an intelligent pupil receiving training from an expert teacher with fatherly affection, in contrast to another story in the Kharādiya-Jātaka (F. 15), which brings out evil effects of the unruly conduct and heedlessness on the part of a pupil under training.

The Bodhisat was then born, says the Jātaka, as a stag, who lived in the forest at the head of the herd of deer. His sister left her son in his care for training in ruses. Following instructions of his teacher and uncle, her son, the young stag soon mastered the ruses. Now came the trial. One day, while ranging the woods, he was caught in a snare. The herd hearing his plaintive cry, fled away in fear to inform his mother of his capture. Anxiously she came to her brother, who assured her of her son's dexterity and safe return :—

> "In all three postures—on his back or sides—
> Your son is versed ; he is trained to use eight hoofs—
> And save at midnight never slakes his thirst ;
> And he lies couched on earth, he lifeless seems,
> And only with his under-nostril breathes.
> Six tricks my nephew knows to cheat his foes."

The clever young stag lay down at full length on his side, with his legs stretched out taut and rigid, in short, successfully tried the sixth trick. The hunter came to the spot. Thinking the young stag was exhausted and powerless to escape, he released him from his bonds, and leaving him there, went to see his way to making a fire to roast him. The young captive seizing the opportunity rose to his feet, shook himself, stretched out his neck, and quickly came back to his mother to her great joy.

In the light of this story, the two situations can be explained as one being that of training of the young stag and the other that of his trial, both hallowed by the mother's solicitation for her son's welfare. The ruse displayed by him in the second situation is certainly the sixth trick enabling him to appear as if he was dead already.

5. Pl. XLVI [Scene 90] :—This scene survives only in a small fragment, presenting the front view of a high-mettled and caparisoned horse which stands lifting up his left foreleg. From the attitude of the horse it is clear that he has been made to halt on arrival at a certain place. Though the other details are missing, it seems probable that the scene is no other than that of the Bhojājānīya-Jātaka (F. 23), and that it bore, when it was complete, a label containing the above title.[1] The Jātaka relates :—

The noble charger, though wounded, enables the Knight to break down all the enemies' camps and return victorious to the king's gate.

The Bodhisat was then born as a thoroughbred Sindh horse, and was made the royal charger by the king of Benares. Once the city of Benares was encompassed by seven hostile kings. The Knight who was commanded to go alone to fight them wanted the king's charger. His desire being readily granted, he led out the noble charger, sheathed in mail, arming himself cap-ā-pie and girding on his sword. Mounted on this noble steed, he passed out of the city-gate, and with a lightning charge broke down six camps, one after another, taking six kings captives. In breaking down the sixth camp the horse was wounded, and was made to lie down at the king's gate. The Knight set about arming another horse, when the Bodhisat opened his eyes and saw what the Knight was doing. He called the Knight, and asked him to set him upon his feet arming him again in proof. The Knight did what he was told. Mounted again on the noble charger, he destroyed the seventh camp, carrying alive the seventh king as captive. The Bodhisat was led back to the king's gate. The king came out to look upon him. The noble being exhorted

1 Barua Sinha, No. 191.

the king to let off the seven captive kings after binding them by an oath, and passed away as the mail was being taken off piecemeal.

6. Pl. XXVII. 11 [Scene 91] :—Haṁsa-Jātaka.[1]
"The Bodhisat's birth as a Mallard."

This scene, which was evidently sculptured in one of the Coping-panels, survives in a fragment retaining the greater portion of the upper part of the original.[2] The inscription which, too, fortunately survives, lead us to observe in it the Bodhisat's watchfulness in one of his Haṁsa-births. The fragment shows on the right a peacock with his outspread tail and upraised head, who appears in the glory of his plumage and is being watched by the gentle Haṁsa standing on the left. They are standing on a bare rocky height situated close by a lake or water-pool with lotuses, adding much to the loveliness and serenity of the place. The literary counterpart of the illustration has been traced by Cunningham in the Nachcha-Jātaka (F. 32), which we sum up below :—

Peacock's shameless dance.

The Bodhisat was then born as a Survarṇa-haṁsa, the Golden Mallard, chosen as the king of birds. He had a lovely young daughter whom he granted the right to choose her husband. Desiring to settle her marriage, he invited all the birds to assemble together in the Himalayan country. All species of birds came, swans, peacocks, and the rest. They flocked together on a great plateau of bare rock. The princess duly came out to choose a husband after her liking. Her choice naturally fell upon the peacock who outshone other birds with his neck of jewelled sheen and tail of varied hue. On this being communicated to him, the peacock began to dance with joy, in defiance of all rules of decency,in the open assembly, out-spreading his wings ; in dancing he exposed himself. Seeing the fellow was devoid of modesty within and decorum without, King Golden Mallard, gave his daughter to a young mallard, who was a nephew of his.

The Haṁsa watching the peacock shamelessly dancing in the bas-relief, must be the Bodhisat, King Golden Mallard.

7. Pl. INDIAN MUSEUM. 60 [Scene 92] :—In this scene, carved in a Coping-panel, a mighty bull with large and well-shaped horns is seen defiantly crouching on the ground behind a man who stands, catching hold of the left side of his waist with his left hand and pointing at the action of the bull with his outstretched right hand, his forefingers

The bull compels the merchant to pay his wages.

1 Barua Sinha, No. 190.
2 Stūpa of Bharhut, p. 69.

touching the top of a tall shrubby plant. The forepart of the bull's body being broken and considerably damaged, it is difficult to ascertain if anything was tied round his neck or horns. But it seems likely that the subject is a story similar to that of the Kanha-Jātaka (F. 29) which is summarised below.

The Bodhisat then came to life as a bull. A poor old woman reared him like her own child. He was a jet-black and was known by the name of Granny's Blackie. He was always looking out for a job to help his mother. A young caravan merchant badly needed the service of a strong bull for pulling five hundred heavy-laden carts across a ford. His eye fell on Granny's Blackie. He enquired about his owner and was told that he had got no master. But he would not budge till his pay was fixed. The merchant promised to pay one thousand coins in all. He did his duty manfully and well. The merchant tied round his neck a bundle of five hundred coins only, i.e., just half of the stipulated amount. He would not let him move on. He stood across the path of the caravan and blocked the way. Try as they would, they could not get him out of the way. "I suppose he knows I've paid him short," thought the merchant. He tied the bundle of a thousand coins round his neck, and away he went with these pieces of money to his mother. The blockade caused by the bull and the merchant's thought at it seem to form the subject of Barhut illustration.

8. Pl. XXVII 15 [Scene 93] :—This is a small fragment of a medallion-carving, presenting a flock of birds, looking like quails. Five of these birds in a flying attitude are placed in one direction, their bodily motion indicating that they are preparing themselves to fly in a body, carrying snares or nets under their feet. Another quail, apparently of a larger species, stands in the opposite direction without any attempt for flying. This bird is seen standing on a rod of the snare or net, one end of which is caught hold of by a human hand. It is very likely that this bas-relief was intended to illustrate a scene from the story of the Fowler and the Birds, of which the Buddhist version is contained in the Sammodamāna-Jātaka (F. 33.). The Pañchatantra or the Hitopadeśa version describes the birds as pigeons.

Quails quarrelling are caught in the fowler's net.

According to the Buddhist version, the Bodhisat was then born as a quail who lived in a forest with a large number of followers. So long as they lived in concord and acted with united resolve, obeying their leader, they were able to frustrate the repeated attempts of a fowler to catch them. One day, one of the quails, in alighting on their feeding ground, trod by accident on the head of another. He asked the other not to be angry, saying that he did it unintentionally. But the other

remained as angry as before. They fell quarrelling with each other. Some of their comrades also took part in their quarrel and some remained neutral. The Bodhisat tried to pacify them. Seeing it was a hopeless business, he went away with those who liked to follow him. A few days later, the fowler came. He imitated the quail's cry as a device to collect them and cast his net over them. They could have easily saved themselves, if they in a body flew up with the net. But instead of doing so, they were asking one another to lift it away. Thus they lost their time. They did not lift up the net. The fowler got the time to lift the same for them and bag them all.

9. Pl. XLV. 7 [Scene 94] :—A pair of birds are the only actors in this scene and these, as Cunningham makes out, look like doves, sitting on two different walls and conversing, there being between them the round gable end of a house, to the right of which is a lower house, with a door in the outer wall, and in the background a row of houses with a second round gable end.[1]

Greedy crow perishes acting contrary to the counsel of its friend, the wise pigeon.

We fail to understand how the birds look like doves. So far as we can make out, the bird perching on a log attached to the side wall of the lower house noticed by Cunningham is a big pigeon, and the second bird standing in a basket hung up from the roof against the side wall of another house is distinctly a crow. This distinction in the representation of the two birds has enabled Professor Rhys Davids and other scholars to identify the scene with the Kapota-Jātaka (F. 42) three other versions of which are entitled Lola-Jātaka (F. 274), Kapota-Jātaka (F. 375), and Kāka-Jātaka (F. 395). This Jātaka illustrates by the story of the Pigeon and the Crow the moral that a headstrong person acting contrary to the kindly counsel of a friend perishes altogether.

The Bodhisat was, says the Jātaka, born a pigeon. The cook of a rich man hang up, as an act of piety, a straw basket in the kitchen. A greedy crow made friendship with the Bodhisat. He wanted to taste the delicacy of the dishes of meat and fish prepared by the cook. The pigeon warning him not to fall a prey to greed flew away to find his daily food. The cook went outside the door of the kitchen to wipe the sweat of his brow, putting a colander on the top of the sauce-pan containing a dish of fish. The crow thinking the time was opportune, entered the kitchen and alighted on the colander with a desire to carry off a large piece of fish. But 'click' went the colander, the cook ran inside, and seeing the crow meant a

1 Stūpa of Bharhut, p. 103.

mischief, caught hold of him, and rudely torturing him, flang him back into the nest-basket where he lay groaning till his friend, the wise pigeon, came back in the evening to see him die a painful death.

10. Pl. XLV. 5 [Scene 95] :—This bas-relief occupies one of the small Coping-panels, presenting, as observed by Cunningham, a man and two monkeys in the midst of a forest, one of the monkeys carrying away a pair of water vessels slung from the ends of banghi pole, the other monkey sitting on the ground, holding some indistinct object, perhaps like a net, is his hands in front of the man who is standing and apparently addressing him.[1]

Bodhisat remonstrates with monkeys destroying pleasaunce.

We cannot dispute that the scene is that of a forest or a park, which is here represented by five clearly visible young trees grown in a row. The carrying of water-vessels by one of the monkeys shows that he is busy watering the plants. The other monkey, seated on the ground in the middle holds up in his hands an uprooted plant, the roots and branches of which can clearly be seen. He is sitting before the man on the left, the experience of whose gate indicates that he has just arrived on the spot to take the monkeys to task for some mischief done by them. The monkey in the middle is explaining the matter to him. These details go to show that the scene is invaritably that of the story of the Ārāmadūsaka-Jātaka, of which there are two verisons (F. 46 & 268).[2]

The Birth-story relates that the Bodhisat was at the time a citizen of Benares. The gardener in charge of a royal park went to enjoy a holiday leaving it in the custody of the monkeys who dwelt there enjoying the benefits of the pleasaunce—the flowers, fruits, and young shoots. The monkeys, as requested, began to water the growing trees with the water-skins and wooden watering pots which the gardener entrusted to them. Being anxious to prevent the waste of water, their chief commanded to pluck up each young tree to examine the size of its roots. They did their chief's bidding. At their juncture, the Bodhisat happened to be in the park to see what they were doing. "What are you about" he said, charging the monkeys, "Why are you uprooting these plants in watering them ?" The monkeys tried to explain that they were not to blame for they did what they were asked to do by their chief. The Bodhisat rebuked them for their thoughtlessness, though, as he then reflected, their concerted action bore this golden lesson that the ignorant and foolish, with their best intention, succeed only in doing harm.

1 Stūpa of Bharhut, p. 102.

2 Identified by T. W. Rhys Davids.

The man standing in the scene in dignified manner and reproaching the monkeys, is certainly the Bodhisat of the Birth-story.

11. Pl. XXX. 8 [Scene 95a] :—Yaṁ-bramhano-avāyesi-Jātakaṁ[1].

"The Jātaka (with the verse)—As the Brahmin played."

The sides of this medallion-carving are cut away, leaving only the middle portion with the above inscription, The scene of action is evidently laid in an inner apartment of the Brahmin's private residenee [2], which is here represented as a two-storeyed mansion of the usual Barhut style. The mansion is indicative of its owner's high social or official position. The Brahmin of the inscription is seated to the left on a high morhā, resting his two feet evenly on a cubical footstool in front and holding out a harp with his hands, held up below his chin. He is blindfolded with a piece of cloth. A youthful woman, richly dressed, stands before him, slightly kneeling forward and stretching forth her right hand and holding the same before him as if asking him to feel it, while a much stronger hand with a closed fist is raised from her behind, ready to deal a blow on the left face of the Brahmin, turned towards it. The attitude of the Brafimin's face clearly shows that the blow dealt is far other than what was expected from the tender hand of a woman, particularly from one who was so youthful and beloved a wife. The same woman is shown in another position behind, and that in a dancing attitude. Between her two positions are shown one hand and one leg, much bigger than those of hers, and these seem to indicate the presence of a second man concealed behind her. It is apparent that she danced and her hushand played upon the harp and after dancing for a while, she, under the pretence of expressing her fondness, played a womanly trick, creating an opportunity for a wicked man in intrigue to practise a strangely fatal practical joke. Cunningham has rightly identified the scene with the story of the Aṇḍabhūta-Jātaka (F. 62), narrating how a Brahmin chaplain failed to prevent his youthful wife doing mischief, though she was brought up in strict seclusion from her very birth. It relates :—

Scene of the Birth-story in which a Brahmin chaplain is said to have failed to protect his youthful wife, bringing her up in strict seclusion from her very birth.

The Bodhisat was then the intelligent king of Benares. He used to play at dice with his Brahmin chaplain. In making the throw he chanted a verse harping on the depravity of woman's nature, working iniquity when there was an opportunity, as a catch for luck, and each time won the game by its power. The chaplain

1 Barua Ssnha No. 193.

2 Stūpa of Bharhut, p. 66.

desiring to make out an exception and use it as a counter catch, married a young girl after bringing her up in strict seclusion, since he secured her while she was in her mother's womb (aṇḍabhūta). She was shut up in the inner apartment of an isolated and well-guarded seven-storeyed mansion. Confident of her unsullied purity and unparalleled virtue, he challenged the king to a fresh game. The king, as usual, sang the catch on throwing the dice. The Brahmin pointed out the exception with referencs to his wife and this time won the game. The king employed a clever rogue to try his skill as a scamp. He got hold of the old woman who daily suppplied flowers in the Brahmin's house and had a free access into the inner apartment, and through her instrumentality he came to be known to the Brahmin's wife and smuggled at last into his house. A day or two passed, before he left her company, he desired to make an impression on the Brahmin as a proof of the strange happening in his house. He wanted to cuff the innocent Brahmin. "I shall see it done", said she, and he remained hiding himself and waiting for the opportunity. When the Brahmin came home, she said, she would like to dance, if he would play the lute for her. He agreed, "But I must hide your handsome face first with a cloth and then I will dance". "All right, if you're too modest to dance otherwise". After dancing awhile, she desired to hit him once on his head. "Hit away", said the unsuspecting dotard. Then she made a sign to the man in intrigue and he softly stole up behind the Brahmin and smote him on the head, causing his eyes almost to start out. "Give me your hand, my dear girl", said he, smarting with pain. She placed it in his, asking if it was not soft." "Ah! it is a soft hand, but it hits hard!" Now the king proposed a game with the dice. As he made the throw, he sang his old catch and the Brahmin pointed out his wife as an exception, still fondly believing that she was a paragon of virtue. But lo! the Brahmin lost the game and knew not why. The king reminded him of blindfolding and smiting by a soft hand and then he understood what the matter was.

12. Pl. XLV. 9 [Scene 96] :—Chitupāda-sila.[1]

"The gambler fond of the square-board game,"

The sharper's sad plight in playing tricks.

This label is inscribed above the bas-relief representing the scene which, according to Cunningham, shows two parties of two men, each seated on a broad-faced rock, and playing at some game like draughts. He notices on the surface of the rock a square space divided into 36 small squares, beside which there are several small square pieces,

1 Barua Sinha, No. 194.

with marks on the top, evidently used in playing the game. He further observes how the rock has suddenly split between the two parties, and the two men on the right side are sinking downwards with the smaller half of the rock, which is already in a very slanting position. He thinks the Chetiya-Jātaka (F. 422) narrating how King Chetiya, for having told a lie and persisted in the untruth, went alive to hell, the earth opening to embosom him, illustrates the chief point in the Barhut scene.[1]

We cannot quite agree with Cunningham in thinking the game was played between two parties of two men. It seems more likely that each party consisted of one man on each side, shown, of course, in two different positions and attitudes. Counting the smaller pieces beside the game-board, we find that there are just six, one of which is shown separately and placed before the man on the left side, sitting cross-legged and pointing at the piece with the forefinger of his right hand.

The same man is shown behind with a threatening attitude as indicated by the movement of the uplifted forefinger of his right hand. The man on the right side, as shown in one position, kneels before the other man on the opposite side, with his joined hands, stretched out in front. The same man in another position is seated, holding something in his right hand and looking towards the other man. The dignified appearance of the man on the left at once marks him out as Bodhisat. The square board with 36 squares appears to have been formed by incising the surface of the stone-slab. There is to be seen near the man to the left a box, evidently used for putting in the small pieces. A tree stands behind the party seated on the right side. The splitting of the rock need not be taken to symbolise the opening of the earth referred to in the Chetiya-Jātaka. This Birth-story tells us nothing about the playing of any game. The apparent splitting of the rock can as well be explained as a result of certain dislocation of two separate stone-pieces joined together to form the complete board. The dislocation may have been due to some accident befalling the man on the right, who seems to be in some sort of danger. We mean that what Cunningham interprets as a case of splitting is really a case of overriding of one slab upon the other, due to sudden pressure of weight and loss of balance. The sculptor seems to be anxious to indicate not only that the two slabs being placed face to face, in confrontation, completed the square board with spaces for the players to sit but that these were set upon some small pieces of stone, several of which are distinctly shown below the slab to the left, and on the right side of the piece on the right. If this canjecture be allowed, we may proceed, as

1 Stūpa of Bharhut, pp. 94-95.

directed by Hoernle, to look for a story representing the Bodhisat as a player of games. There is only one Birth-story which specifically represents the Bodhisat as a professional dice-player. It is the Litta-Jātaka (F. 91).

It is said that the Bodhisat in one of his births, became a professional dice-player. With him used to play a sharper (Kūṭakkhadhutta) who kept on playing while he was winning and when there were chances of defeat, broke up the game (kelimaṇḍalaṁ bhindi) by putting one of the dice in his mouth and pretending it was lost. But the Bodhisat was a good match for him. He took some dice, anointed them at home with poison, dried them carefully, and used them when playing another day with the sharper, challenged to a game. The dice-board was got ready and play began. As the sharper began to lose, he popped one of the dice into his mouth, not knowing what it was. "Swallow away, my dear fellow !" the Bodhisat sternly remarked, "you will soon find out what it really is, what burning poison lurks unseen." Hardly the Bodhisat had finished his remarks, the man grew faint, rolled his eyes, and bending double with pain fell to the ground. But the Bodhisat must not let him die, a rascal though he was. He saved him by an emetic. Then he exhorted him not to play such tricks again.

The Birth-story certainly explains many details of the scene, though the game played seems to have been other than dice. The Bodhisat represented in one attitude may be understood as making up his mind to teach the sharper a lesson, and in the second attitude, as giving exhortation to which the other man is listening eagerly.

13. Pl. XLVII. 9. [Scene 97] :—Asaḍā vadhu susāne sigāla ñati.[1]
"Woman Āshāḍhā, jackals on the funeral ground, her kinsman."

The scene, as may be expected, presents a funeral ground, literally a ground for the lying in of corpses, where the youthful aud intelligent woman Āshāḍhā is seen hurriedly climbing up a large tree to the right, chased by a pack of three jackals from the foot of a smaller tree to the left, while a man is lying at full length on the ground, pretending to be dead, with his head towards the smaller tree and feet touching the larger one. His head rests on the palm of his left hand. The woman holds herself tight between two branches on the right, leaning forward her body and watching the approaching jackals below. It is a narrow escape on her part, for the space between the upraised mouth of the forward jackal and her left knee is hardly a

Lovers are at last brought together in a jackal-haunted charnel-grove.

1 Barua Sinha, No. 195.

hair-breadth.[1] These details may be explained by a story similar to that of the Asilakkhaṇa-Jātaka (F. 126). The relevant portion of the Jātaka is narrated below :—

King Brahmadatta of Benares had no son, only a daughter and a nephew (sister's son) who were brought up together under his own eye. As they grew up, they loved each other. The nephew was heir to the throne. The king thought at first of giving him his daughter to wife ; later on he changed his mind, and ordered them to dwell apart, desiring to separate the two. Their love grew intense. The young prince wishing to take away the princess from her father's place, got hold of a wise woman, who promised him success. She went and told the king that as his daughter was under the influence of Kālakarṇī, in possession of a Black-omen, she would take her, under a strong armed escort, to the corpse's lying-in-ground, where in a magic circle she would lay her on a bed with a dead man under it, and wash the evil out of her. On this pretext she brought her to the cemetery-grove (susānavana), where the prince, as pre-arranged, lay down as though dead within the magic circle, taking some ground pepper with him. The crony woman led the princess off and laid her upon the bed, whispering to her not to be afraid if she really wished to meet the prince she loved. At once the prince snuffed at the pepper and sneezed. The old woman fled away in fear, leaving the princess. Not a man stood his ground, one and all bolted for dear life. Now the prince got up and triumphantly brought her to his home. When the wise king, the Bodhisat heard the news, he did not mind it, as he always intended them to be man and wife.

The details of the Barhut story[3] can be consistently made out thus : When the princess was brought into the charnel-grove, the jackals haunting the place rushed forth, when the old woman screaming out that demons were coming, fled away, and ran off all who came with the princess, leaving her alone on the spot, who, in her helplessness. climbed the tree, and the prince feigning to be dead, taking the opportunity, rose up and came to her rescue.

---

1 Cf. Stūpa of Bharhut, p. 36 : "In the foreground a man is lying down apparently either dead or asleep, and quite unnoticed by three jackals who are watching a female sitting in a tree, to which she is clinging with both hands. The man lying on the ground is probably a corpse."

2 Cf. Sigāla-Jātaka (F. 142), where a clever rogue lies down as if dead in a charnel-grove, club in hand, meaning to kill a jackal prowling about to eat the corpses, but is outwitted by a pack of jackals under the Bodhisat, their expert leader.

3 Cunningham suggests that the story agrees pretty closely with Rāma, the king of Benares and the Princess Priyā, the eldest sister of four Śākya brothers who founded Kapilavāstu. See Hardy's Manual of Buddhism, pp. 266-271.

14. Pl. Indian Museum. 114. Two Fragments Of A Coping Panel In Cunningham's Original Photograph [Scene 98] :—

Jaṭila-sabhā.[1]

"Matted-hair ascetics' dwelling-hall."

Regarding one of the two fragments, preserved in the Indian Museum, Cunningham observes that the quoted label is incised above a Coping-panel which is badly broken, leaving the only portion where one can see a tree with rocks, and half of the head and upper part of the body of a man. He believes that the original scene represented the Assembly of the Jaṭilas, who were the followers of Uruvilva-Kāśyapa. This Kāśyapa and his two brothers were fire-worshippers, and as such they are represented in the Sanchi and Gandhāra sculptures. The Barhut sculpture must have contained a still earlier representation of the Assembly of the Jaṭila fire-worshippers.[2]

In spite of the Bodhisat's warning, one ascetic keeps an elephant only to be trampled to death.

Examining Cunningham's original photographs of several fragments of the Coping we discover two which serve to complete the Barhut scene with the label— Jaṭila-sabhā. The scene presents the view of a rocky mountain where a growing tree can be seen in the left, a cave-dwelling in the middle and a standing elephant in the right. A matted-hair ascetic is seated cross-legged inside the cave-dwelling which is approached by an elephant on the right, while some blazing fire-altars can be seen on the open ground below the elephant. We are aware that the Buddhist legends introduce us to a scene of the meeting of Uruvilva-Kāśyapa and the Buddha, resulting in the conversion of the former, followed by the conversion of his two brothers. These legends record that there were three separate colonies or bands of the Jaṭilas who settled in three places of the Gayā District, under three Kaśyapa leaders. They were, like the Vedic Keśis and the Ṛishis of the Vānaprastha order, wearers of matted hair and worshippers of fire. They neither lived alone nor kept to a family life in the forest. They developed a sort of corporate life under a distinct leadership. They formed, nevertheless, a sect of Vedic ascetics, worshipping fire and performing sacrificial rites. They stood for the ideal of external purity, and strove for supernatural powers and mystical experiences. The Jaṭilas of the Barhut scene seem to answer to this class of Vedic ascetics. But we find no cogent reason to connect the scene with a legend of the Buddha's present life. Had it been intended to represent the story of conversion of the Kāśyapa brothers and their followers, we

1 Barua Sinha, No. 160. See also Addenda & Corrigenda.

2 Stūpa of Bharhut, pp. 93-94.

might have noticed the presence of the Buddha indicated by some appropriate symbol. There is no such symbol. Further, the Buddhist story of the conversion of the Kāśyapa brothers cannot explain why the cave-dwelling is approached by an elephant. The scene is evidenily intended to illustrate a Birth-story, and this story is perhaps no other than that of the Indasamānagotta-Jātaka (F. 161), or that of the Mittāmitta-Jātaka (F. 197), in which one ascetic is said to have kept a pet elephant only to be trampled to death, in spite of the Bodhisat's warning. The story relates :—

The Bodhisat then lived as an ascetic in the Himalayan region, with a company of five hundred ascetics, of whom he was the leader. One of his followers had a pet elephant. When the teacher had found this out, he sent for the ascetic, and advised him not to keep the young elephant any longer. But he would still rear the animal, and did so till it grew to an immense size. Once the ascetics had all gone far afield to gather roots and fruits in the forest, absenting themselves from their dwelling-place for several days. In the meantime the elephant fell in a frenzy at the first breath of the south wind. He forthwith proceeded to destroy this hut, smash this water-jar, overturn this stone-bench, and tear up this pallet. Not satisfied with this, he sped into the jungle, where he waited watching for the return of the ascetic who reared him up. The ascetic came first, carrying food for his pet. As the elephant saw him coming, he rushed from the jungle, seized him in his trunk, dashed him to the ground, and crushing the life out of him, scampered into the forest madly trumpeting. When the other ascetics had brought this news to the Bodhisat, he exhorted them by the sad fate of the elephant-keeper to be obedient and not obstinate, and to be clever enough to be able to distinguish a friend from a foe.

15. Pl. XLVI. 8.—Sechha-Jātaka.[1] [Scene 99]
"The Jataka-episode of water-drawing."

The kind-hearted Brahmin draws water for a thirsty monkey only to get grimace and insult in return.

The heading is inscribed above the bas-relief where Cunningham observes four actors, two man and two monkeys. The monkey standing in a tree is being addressed, he says, by one of the men who carries a pair of water vessels on a pole, while the other monkey who is standing on the ground is receiving in his hands a drink of water poured from the vessel by the other man. Seeing that the right shoulders of both the men are bare and their heads are unshaved, he is led to think that they are monks.[2]

1 Barua Sinha, No. 196. 2 Stūpa of Bharhut, p. 76.

What we actually see is a scene of two actors, a man and a monkey, placed in two different situations. In the first situation, shown on the left, a thirsty monkey standing on the ground is having, with the help of his two hands a drink of water poured out in streams from a water-jug, taken out of the net-frame of hanger-cords and held up at a height by the man who stands to the left. The hair of the man's head is certainly all shaven except a tuft or lock which is clearly visible on the crown. He appears in a simple dress without any ornaments. In the second situation, the same monkey stands on an outgoing branch of a tree, beside another tree with a similar foliage to the right. He stands on all-fours, like a cat, making a peculiar gesture of his face and gazing at the man carrying, beneath the tree, two water-vessels on a wooden pole, placed on his left shoulder. The man seems to reproach the monkey with his frowning eyes and upraising the fore-finger of his right hand. The scene thus depicted has rightly been identified by Professor Rhys Davids and others with the story of the Dūbhiya-Makkaṭa-Jātaka (F. 174), illustrating how a compassionate Brahmin drew water from a well for a thirsty monkey only to receive grimace and insult in return.

The Bodhisat, says the Jātaka, was, in one of his births, a Brahmin inhabitant of a place in Kāśī. One day, in going on some errand along a high way, he came to a place, having a deep well, adjoining a big forest, where troops of monkeys dwelt. There being no other source of water than this well in the neighbourhood, people believed it to be an act of merit to fill a trough with water drawn therefrom for the denizens of the forest. When the tender-hearted Brahmin came to the spot, he saw a thirsty monkey walking up and down by the well, looking for water. He drew water from the well by means of a long rope and a bucket, and filled the trough out of compassion for the monkey. He sat down under a tree, to see what the creature would do. The monkey after drinking water to his heart's content, sat down upon a branch of this tree just above the head of the Brahmin making faces to frighten his benefactor. "Ah, thou rascally beast !" the Brahmin said, reproaching the monkey, "is this the return of the service I have done thee ?" "That's not all I can do", replied the monkey, "there is something more yet to be done." The Brahmin thought it was already more than enough, but the monkey was clever enough to spoil his purity and go away shrieking.

This is the only instance where a Brahmin of the time is distinctly represented. The well and the trough mentioned in the Jātaka are not depicted.

16. Pls. Two Coping Panels. [Scene 100] :—The first of these two broken panels presents in the middle of its upper part, an arched doorway with

hood-mouldings, before which two royal personages are seriously conversing with each other, the one on the left sitting cross-legged, and the other on the right remaining at a respectful distance and probably standing. The same two men reappear in the second panel where one of them, standing under a tall mango-tree, manfully twangs his bow to discharge an arrow, apparently aiming at the tree-top. There is a second mango-tree with hanging bunches of fruits to the right of the one under which he takes his stand. The archer stands behind the other man who leans forward over something which is broken off. Cunningham rightly suggests[1] that here we have a clear representation of the story of the Asadisa-Jātaka (F. 181), another version of which is narrated very briefly in the Śarakshepaṇa-Jātaka of the Mahāvastu.[2] The details of the scenes can be rendered intelligible by the following narration :—

Prince Peerless is brought into the presence of a king, who gets him into his service. He justifies the royal favour by his feat of archery.

King Brahmadatta of Benares had two sons, Prince Asadṛiśa and Prince Brahmadatta. Prince Asadṛiśa was peerless in the science of archery. After the king's death the elder prince offered the throne to the younger and chose to live as heir-apparent. But his younger brother took him to be a rebel, and would have imprisoned him. Without any resentment he went away into another country. Arriving at the gate of a city he sent in word to the king that an archer was come and awaited. He was brought into the king's presence, and stood waiting. "Are you the archer ?" asked the king. "Yes, Sire," he replied. "The wages you ask, I am told, are a hundred thousand a year." "Yes, Sire". "Very well, I take you into my service." "Too much", the old archers grumbled. One day the king went into his park, accompanied by his archers. There at the foot of a mango-tree he lay reclined upon a couch. Right at the tree-top he saw a cluster of mango-fruits, and asked his archers if they could cut it off with an arrow and bring it down for him. They desired that the new-comer should try. The king asked Peerless if he could do it. Oh yes, your Majesty, if I take my stand where your couch stands". The king had the couch removed to give him place. He doffed the white cloth which he wore over all, and put on a red cloth next his skin ; then he fastened his girdle, and donned a red waist-cloth. From bag he took out a sword in pieces, which he put together and girt on his left side. Next he put on a mailcoat of gold, fastened his bow-case over his back, and took out his ramshorn bow, made in several pieces, which he firted together, fixed the bowstring, red as coral ; put a turban on his head." He took his place where

1 Stūpa of Bharhut, pp. 70-71. 2 Mahāvastu II. pp. 82-13.

the couch stood, arrow set to bow, He let off the first arrow which went up, piercing the exact centre of the mango-stalk on its way into the sky. Then he discharged another arrow which flew higher up, striking the feather of the first arrow and turning it back. The sound of the falling arrow as it cleft the air was like a thunder-clap, frightening all the bystanders. Down came the arrow, neatly cutting through the stalk of the mango-cluster. The archer caught the arrow in one hand and the fruits in the other, without letring them fall on the ground. All praised him for this marvellous feat. The king and his courtiers showered gifts and honours like rain.

The Barhut sculptor appears to have illustrated a simpler story than one in the Jātaka-Commentary.

The king makes a triumphal entry into the conquered city.

17. Pl. XXXII. 4. [Scene 101] **:**—In this medallion we see a caparisoned state elephant cautiously walking ahead on a bridge over a ditch, carrying a Jayadhvaja in his trunk. The Jayadhvaja consists of a shield of garlands, suspended from the bent top of a wooden post. The driver, putting on a coat, is mounted on his back, holding a goad in his left hand, and a standard of garlands in his right. Another man similarly dressed, probably the king himself, is seated behind the driver, holding with his left hand the rope that is tied round the elephant's body, and holding up with his right the standard consisting of a flag, suspended from a wooden post, crowned by a Triratna symbol. The state elephant is followed by a smaller elephant carrying a driver who appears to be the royal umbrella bearer. The representation is evidently a scene of triumphal entry of a king into a conquered city, and if this supposition is correct, the scene may satisfactorily be identified with the Saṅgāmā-vachara-Jātaka (F. 182), narrating how a well-trained state elephant obeyed the word of command. We read :—

The Bodhisat was then an expert elephant-trainer in the service of a king who bore hostility to the king of Benares. He trained the state elephant of this king to perfection. This king being determined to capture the city of Benares, mounted on his state elephant and led a mighty host against Benares, and laying siege to the city, challenged its king by a letter, asking him to fight or yield. The king chose to fight, and resisted the enemy, guarding the walls and gates, the towers and battle-ments with a great host. The hostile king drove his armed state elephant towards the city, being clad himself in armour and taking a sharp goad in his hand. But at the sight of the strong defence set up by the king of the city, the elephant did not venture to come near the place. Thereupon the trainer himself came up, and urged

the elephant to have courage to tear up the pillars, beat against the gateway, and break down the bars. He did what he was told, and thereby forced his way through and entered the city, winning it for the king.

18. Pl. Indian Museum. 9 (26) B [Scene 22 (g)] :—

Bibikānadikaṭa-Suladhasa Asavārikasa dānaṁ.[1]
"The gift (of a Scene of Trooper) by the trooper
Sulabdha of Bimbikānadikaṭa."

The Scene of Trooper, referred to in the accompanying Votive label, occupies a half-medallion in the upper portion of a Railing pillar, where we see a good-looking horse, beautifully harnessed in the usual Barhut fashion. The attitude of the horse's back part shows that he is flying through the air, carrying a man, who hangs on one side of his tail, and swings to and fro, his waist tied, as it were, to the tail's root, holding with his left hand an arrow-shaped object with its head pointed to the sky, and extending his right hand towards the outer end of the slantingly outstretched tail. On the other hand, the attitude of the horse's forepart indicates that he has halted on the ground, as though restrained by a man, who stands in front, keeping the reins before him, and holding them with his hands, kept wide apart. If this represents a Jātaka-scene at all, there can be little doubt that it presupposes a Buddhist tale similar to the story of Flying Horse, of which two versions are now extant, one in the Pali Valāhassa-Jātaka (F. 96) and one in the Divyāvadāna-story of Supriya. In the Pāli version the horse is described as white all over, beaked like a crow, with hair-like muñja grass, possessed of supernatural power, gifted with the power of human speech, who flew through the air from Himālaya to an island in or to the south of India, safely conveying, as an act of mercy, distressed persons wanting to go home. The Supriya-story in the Divyāvadāna (pp. 120-121) describes the horse as the very king of his kind, happy, healthy, strong, with the senses fully developed, and capable of uttering human speech to the top of his voice, raising the forepart of his body, who volunteered to do service to mankind on the Sabbath. In the Pali version the horse himself is the Bodhisat, the merciful hero ; in the Avadāna version the hero is Supriya, the head of the merchants. In the former the horse safely conveys home two hundred and fifty shipwrecked merchants, including their head, from a goblin city ; in the latter he conveys only the head merchant. In the former some of the passengers mount on his back, and some hold by his tail ; in the latter the passenger is asked to sit on his back, closing his eyes.

The flying horse carries a merchant.

?

In the Barhut scene the passenger hangs by the horse's tail. In respect of other details the illustration agrees with the Avadāna-story. The artist has represented the horse's gift of human speech by the human figure in front.

19. Pl. XLIV. 4. [Scene 102] :—In this bas-relief Cunningham notices two men, one standing and one seated, both of whom are holding an earnest conversation, to which a woman is listening from a circular hole or opening in the roof of an adjacent house, both speaking together and enforcing their arguments with their upraised forefingers. He takes the scene to be that of the story of Rāma, Sītā and Lakshmaṇa. This conjecture of his seems to be due to a misreading of the actions and attitudes of the men and the women. The bas-relief lays the scene of the story in a homestead, and creates a dramatic situation by a clever device. There are really not two dwelling houses but only one shown in two different positions. The homestead thus appears to have consisted of a long rectangular-shaped dwelling house covered with two roofs butting against each other and forming a graceful cone. Inside this house, and attached to it, there is another house with a circular opening, through which a woman is peeping out and calmly watching the embarrasing situation before her eyes. She is much concerned about the pitiful condition of a man thrown on the ground, kept bound within a spacious noose of folded pieces of cloth or ropes, which passes round his loins and upraised knees. With downcast eyes he is pleading his innocence by referring to the woman with the forefingers of his two hands directed towards her, before another man who found him inside the house. The second man, who is undoubtedly the owner of the house, stands, with his superior dignity and intelligence as a terror before the first man. He manfully stands with the upper part of his body leaning forward and resting on his right leg bent at right angles on his toes as is the case with a man walking up a high place with halting steps. The ring-shaped noose with which the trespasser was entrapped is held in his left hand, bent at right angles to rest on the front part of his body, while he is angrily asking the accused to explain his conduct threatening him with the forefinger of his upraised right hand. His dramatic entry and other details may be well understood in the light of the Gahapati-Jātaka (F. 199).

Bodhisat detects his wife's intrigue.

The Bodhisat was then born, says the Jātaka, as a householder's son in the kingdom of Kāśī. When grown up, he married and settled down. His wife was a wicked woman. She intrigued with the village headman. There broke out a famine in consequence of a flood that swept over the village. The villagers, including the Bodhisat, besought in a body the help of their headman, and got from him an old ox. They promised to pay its price in two months' time. Even nor half a month

had passed when, one day, the headman taking advantage of the absence of the Bodhisat, entered the latter's house. As bad luck would have it, the headman's prospects of happiness blighted soon into the fear of discomfiture. The Bodhisat returned in no time by the village gate, setting his face towards home. It was difficult for the headman to escape. He trembled in terror. The Bodhisat advanced so far as to reach the threshhold. The wilful woman had her plan ready. She climbed up into the granary, standing at the door of which she began to cry 'No corn here' ! while the headman standing in the middle of the room, called out insisting on payment of the price of the meat. The Bodhisat entered the house. He understood what they were about. He said to the headman :—

"I like not this, I like not that ; I like not her, I say,
Who stands beside the granary, and cries 'I cannot pay !'
"Nor you, nor you, Sir ! listen now : my means and store are small ;
You gave me once a skinny cow, and two months' grace withal ;
Now, ere the day, you bid me pay ! I like it not at all."

Saying this, he caught hold of the trespasser, dragged him out into the courtyard, threw him down, and put him to disgrace, casting him ultimately out of his house. He also befittingly punished the woman and corrected her.

A woodpecker a tortoise and antelope from a hunter's trap.

20 Pl. XXVII. 9. [Scene 103] :—This medallion-carving on a Rail-bar presents in the middle a large tree growing in a thicket near a lake. Here the thicket is represented in the left half, to the left of the lake and the tree. The tree itself is shown in the upper part as growing by the side of the lake. A smaller tree is seen growing on the right, at some distance from the larger tree to the left. The thicket is a grassy woodland where a few isolated small plants can be seen. The surface of the triangular lake is ruffled with numerous small ripples, and several large fishes are moving about in the water. At the top of the larger tree and on its right side there is open and circular nest with a bird in it. A big antelope stands in the grassy woodland facing the larger tree. The right hind leg of the animal is tightly bound within the noose of the thong of a hunter's trap, carefully laid on the ground a little below to the left. The antelope, anxious to escape in fear of life, cries out and looks forward for help from the bird, and the bird in its nest is startled by the unusual cry of the antelope, and it is skilfully represented, in the first position, as eagerly listening to the cry to ascertain its meaning. In its second position we see that the bird, perching on a branch of the larger tree and coming nearer, is discussing some matters with the antelope. In a third position the bird appears in the lake below, in two places, as though looking

for and calling out some one there. Standing near the lower bank it fails to get any response. So it goes to the upper corner where a tortoise comes out, lifting its head above water. The bird is evidently conversing with the tortoise. While the tortoise has, in its second position, come up with its huge body and is busy gnawing the thong of the trap, the bird in its fourth position is seen again on the larger tree, perching in front of the antelope and turning its back upon the antelope's face. The same bird in its fifth or last position, is seen perching on the smaller tree, boldly facing the hunter who is advancing with a strong bow in the left hand and a bundle of arrows in his right. The bird must have gone there to prevent the hunter coming as a means of allowing the tortoise time enough to finish its task. Anyhow, the hunter seems to be much annoyed. Cunningham has correctly identified the scene with the story of the Kuruṅgamiga-Jātaka (F. 206), the leading features of which are here vividly represented.

The Bodhisat became an antelope, who lived within a forest, in a thicket near a certain lake. Not far from the same lake was a tree, at the top of which lived a woodpecker. In the lake itself dwelt a tortoise. These three became friends, and lived together in amity. A hunter set a strong trap of leather for the antelope. As he went down into the water to drink in the first watch of the night, he got caught in the noose. He cried loud and long. Hearing his plaintive cry, the woodpecker flew down from the tree-top, and the tortoise came out of the water, and consulted what was to be done. At the advice of the woodpecker, the tortoise began to gnaw thong, while the bird itself went to watch the hunter coming out of his dwelling. When at dawn of day the hunter came out, knife in hand, the bird, uttering a cry and flapping its wings, struck him in the face. Thinking this to be a bad omen, the hunter went in to wait till sunrise. In the meantime the woodpecker flew back to its friends. The tortoise had hardly finished gnawing through the thong when the hunter appeared on the spot. The antelope, seeing him coming, fled into the woods, the woodpecker flew away from the tree, while the tortoise, being tired, lay where it was. The hunter threw it into his bag, and tied it to a tree. The antelope, desiring to save his friend, appeared before the hunter, at some distance, pretending to be weak, too weak to run far off. The hunter began to pursue him, and the antelope, leading him into the forest, gave him the slip, and ran swift as the wind to rescue the tortoise. He lifted the bag with his horns and letting the tortoise out, disappeared into the forest, and the tortoise dived into the lake.

---

1 Stūpa of Bharhut, pp, 67-68.

The sculptured story is a simpler legend with a greater dramatic ending, and in this, the important part is played by the woodpecker. It is likely that in the story known to the Barhut sculptor the woodpecker was the Bodhisat, and not the antelope.

21. Pl. XLVIII. 4. [Scene 104] :—Dighatapasi sise anusāsati.[1]
"The venerable ascetic instructs his pupils."

The bas-relief, with the above inscriptional heading, depicts an interesting scene, where an experienced and venerable hermit or ascetic teacher is imparting instructions to a class of pupils, only four of whom are actually represented. The great teacher is seated, as Cunningham observes, on a raised platform, with his long matted hair and scanty clothing."[2] He is really seen sitting cross-legged on a skin spread over the elevated circular seat. His abundant matted hair is graphically fastened in a bushy knot. He, like other Barhut ascetics, is clad in a garment covering his loins and thighs. His commanding appearance is coupled with a heavy-built and stout body, which bears an expression of strength and vigour. With a calm and grave look, he tries with the upraised forefinger of his right hand, to impress a lesson on the mind of his pupils, who are sitting side by side in a row, forming a semicircle, beneath a tree. Cunningham wrongly takes them all to be females, and he has been partly misled by his imagined reading isise, meaning female ṛishis. So far as we can make out, none but one sitting cross-legged near the great ascetic, with ornaments worn on her arms, combed hair hanging behind and the chain-shaped double belt adorning her hip, is a female pupil. The remaining three figures, whom we take to be males, are distinguished by their sitting on their heels and knees, and no less by their waist-band of rope and hair fastened in knots. Each of these male pupils holds two small stick-like things in his hands.

Teacher mans a class of pupils arrogant and haughty.

They are not looking at one another. Each one of them is looking downwards, with his body slightly bent forward, and minding his own business. The forehead of the student beside the female pupil touches a twig shooting forth from the trunk of the tree, and it bears on it two small swellings with a deep depression between them. The significance of this is not easy to ascertain. The tree, too, cannot be identified. The great ascetic himself has been identified by Cunningham with the Jaina recluse Dīghatapassi, mentioned in the Buddhist Upāli-Sutta (Majjhima-Nikāya), though he confesses that the Sutta story has no connexion with

1 Barua Sinha, No. 198.
2 Stūpa of Bharhut, p. 97.

the subject of the Barhut sculpture. If the Sutta account of Dīgnatapassi cannot explain the main details of the scene, we must look for some other story which can. But we must disabuse our mind of the fact of Dignatapassi of the label being a name of the Jaina recluse. As our rendering seeks to establish, it is an epithet signifying that the ascetic of the bas-relief was a long-experienced, and hence highly venerated teacher. Now we have a choice between these two Birth-stories, the Mūlapariyāya-Jātaka (F. 245) and the Tittira (F. 438), both giving an account of a far-famed ascetic teacher instructing his pupils. We naturally give preference to the former in the absence of such important details as the presence of the partridge, who is the main character in the Tittira-story. The latter story also does not explain why the famous professor should be found seated beneath a tree. The Mūlapariyāya-story explains this, as well as the tapping mark on the twig that stretches forth in a horizontal and slightly slanting manner.

This story relates that the Bodhisat was, in one of his births, a far-famed hermit teacher, who instructed in his hermitage five hundred pupils in sacred verses and Vedic lore. His pupils became puffed up with pride. They fancied they knew as much as their teacher, and there was no difference. They would not even appear before their teacher, nor do their round of duty. One day, they saw their master seated beneath a jujube tree. They thought it was the fine occasion to mock at him. They tapped upon the tree with their fingers, remarking it was hollow within and good for nothing. The wise teacher understood what they meant. He took the situation calmly. To tame them, he put to them a problem, which they at first thought was easy to solve, that its solution was in their Vedas. He even gave them seven days to think over it. They retired each into his own leaf-hut. But they were puzzled, they could make neither head nor tail of it. They were thus humbled down. On the seventh day, they came to their teacher and sat down in a class, respectfully greeting their master. "Well, ye of auspicious speech", said the teacher, "have you solved the question ?" "No, we have not," said they. "Fools are ye", he remarked, rebuking the youths." "Here, my dear children," he went on, "is the answer. Listen ye all". They listened to and were enlightened and well advised.

22. Pl. XXXIII. 7. [Scene 105] :—This is the small fragment of a medallion-carving where, as noticed by Cunningham, a monkey who has turned ascetic is seen sitting on a stool outside his hermitage. Here he finds a respresentation of the Ramayanic story of Sugrīva.[1] There is nothing of the kind. But it is true that

1 Stupa of Bharhut, p. 106.

the cottage is a hermit's leaf-hut, with an enclosure of bamboo-palisade, supporting a well-thatched dome-shaped roof with one pinnacle. The bamboo-posts are nicely bound in rows. The cottage has a door in front, showing a round plate inside. The plate contains several globular objects. The monkey in ascetic garb is seated on a small stool clasping his hands in a shivering mood, wistfully looking towards the door of the cottage from a corner. A long ladle-like object, or better, a stick with a ring on its top, is lying close to him. The motive of the monkey's action cannot fully be ascertained in the absence of other details. Regarding the subject we have a choice between stories of these three Jātakas—the Tinduka (F. 177), the Makkaṭa (F. 173) and the Kapi (F. 250). If the cottage was other than a hermitage, we would have preferred the first. If there was a fan-palm tree, our choice would have fallen on the second. Although the second and the third are essentially one and the same story, we prefer the third because it has no reference to the fan-palm tree or to any such additional detail. The story is as follows :—

The monkey in ascetic garb is detected when on the look out for fire.

During the rainy season, when the heaven poured down heavy showers of rain, a monkey wandered about, tormented with cold, chattering and rattling his teeth. He saw a leaf-hut where fire was burning. The fact is that the ascetic fetched a great log, lit a fire, and lay down upon his pallet, while his son sat by him, chafing his feet. How to get into the hut ? The monkey feared detection. To appear in disguise, he procured a dress from a dead anchorite. He clad himself in the upper and lower garment, threw the skin over one shoulder, took the pole and waterpot, and in this dress he approached the leaf-hut for the fire. The lad seeing him coming and taking him to be an ascetic, asked his father to call him inside to warm himself. The ascetic rose up and looked. He knew it was a monkey. He with a fire-brand scared away the monkey who left the wood for good. The ascetic was the Bodhisat, our Wise Being.

23. Pl. XLII. 1. [Scene 106] :—This scene occupies a Coping-panel where Cunningham notices a Ṛishi or hermit, seated in front of his hut and engaged in addressing a five-headed snake who is coiled up in front of him.[1] Not knowing the story forming its subject, he has missed all its characteristic features. The hermit is not seated in front of his cottage, but on one side of it and apparently leaning against it. He appears with ascetic garments and matted hair bound in a particular fashion. He

Hermit misses serpent's friendly visits for asking for a jewel.

1 Stūpa of Bharhut, p. 99.

sits cross-legged under a tree and on a log of wood or bundle of sticks, with a basket placed in front of his cottage which is a four-sided square leaf-hut, covered by a circular dome-shaped roof, with one pinnacle. The cottage represents a type of kūṭāgāra or one-peaked house. The hermit is asking with his right hand for something from a five-hooded serpent, with his head lifted up from his coils and still remaining stationery under another tree to the right. He wears a small square object on his throat. The close contact of the hermit's limbs with the serpent's coils indicates their familiarity and friendship. The hermit with his smiling lips is entreating the serpent who is in a retreating mood. The former must be asking for something, no doubt, for the square object on the throat, which the latter could not part with. Dr. Hultzsch is right in suggesting the Maṇikaṇṭha-Jātaka (F. 253),[1] in preference to the Paṇḍara (F. 518)[2], as furnishing the theme of the artistic illustration.

The Bodhisat was then born into a rich Brahmin family. He had a younger brother. They became anchorites after their parents' death. The elder had his hermitage by the upper Ganges, and the younger by the lower river. A serpent-king, Maṇikaṇṭha or Jewel-throat by name, made friendship with the younger ascetic. He visited his friend's hermitage often and often, and waited talking and chatting. When he left, he encircled his friend with snaky folds, and embraced him, with his great hood upon his head, and did not let go his friend's body until his affection was satisfied. From fear of his friend's embrace, the ascetic grew day by day thin, squalid, emaciated and yellow. "What makes you thin ?" his elder brother inquired. "The fear of the serpent's embrace." "Do you really like him to come or not ?" "I don't", he replied, without knowing his own mind. "Does he wear any ornament ?" "Yes". "What is it ?" "A precious jewel (maṇi)." "Very well, ask him to give it to you." He promised so to do. The first day when the serpent entered the hut, before he had time to sit down, the ascetic asked him for jewel, and he hurried away without embracing him. The second day as the serpent stood at his door, he again entreated him for the thing. The serpent slipt off without entering the hut. On the third day, he pressed the same request just as the serpent was emerging from water, and the latter plunged beneath the water and went home, never to return. In vain the ascetic craved for his friend's return and warm affection.

The Barhut scene evidently represents the occurrence of the second day's meeting. The square object on the serpent's throat is the gem or jewel of the story.

1 JRAS, 1912.
2 Buddhist India, p. 209.

24. Pl. XXV. 2. [Scene 107] :—Nāga-Jātakaṁ.[1]

"Bodhisat's achievement in elephant-birth."

This is the scene where Cunningham finds an elephant and a crab to be the principal actors. The crab seizes the elephant by the right hind leg. Two other elephants appear behind, and there is a pond full of fishes from which the crab has just issued.[2] Here we see a lake beside a rock leading into the water. The lake, represented in the lower part of the medallion, presents a few big fishes moving about, a crane or a swan swimming in water, and a huge crab emerging out of water, being dragged by a big elephant and powerful tusker, whose right hind leg it holds tight in its grip. We see the elephant successfully trying to walk up, dragging out the giant crab which catches his right hind leg tight in its claw and prevents him moving up and on. On the left side of the great elephant, a smaller elephant, evidently a she-elephant, walks down, reaching as far as the lower edge of the rock to be able to step into the water. Cunningham has rightly pointed out that the Pali counterpart of the sculptured story bears the title Kakkaṭa-Jātaka (F. 267). That is to say, the Jātaka-Commentary names the Birth-story after the Crab and not after the Elephant. The Pāli story is as follows :—

The great elephant assisted by his faithful mate, drags out the monster crab for its destruction.

There was a great lake in Himālaya, where lived a great golden crab. The crab was very large, as big and round as a threshing floor. It proved to be a terror to the elephants whom it caught, and killed and ate, if they happened to come down to the lake. The Bodhisat who came to life in the Himālaya as an elephant made up his mind to catch and destroy the monster in the water. He was full of youth, great and mighty, and looked like a purple mountain of collyrium. With his parents' permission he proceeded to the Crab Tarn with his mate and a large body of elephants. He was told that the crab would not catch the elephants as they went down or browsed there, but just when they came up again. The Bodhisat conceived his plan. He ordered the other elephants to go down, eat and come up first, saying that he would follow last behind them. As the Bodhisat, going down, was coming up last, the monster caught his feet tight in his claw, like a smith seizing a lump of iron in a pair of tongs. His mate did not leave him, but stood there close by him. He pulled the crab, but could not make him budge. The crab, pulled drawing him towards itself. In deadly terror all the other elephants ran off trumpeting and dropping excrement. Even his mate could not stand, but began to make off. In response

1 Barua Sinha, No. 199.

2 Stūpa of Bharhut, pp. 52-53.

to a loud appeal of love which he made to her, she turned round, resolving not to leave him and to do all that she could to rescue him. She went down to the water and talked to the crab, flattering it, saying that of all the crabs in the world it was the best and chief. The sound of the female voice caught its fancy. The crab unwittingly loosened its claws from the elephant's leg, and the elephant, lifting his feet, stepped upon the crab's back. Its eyes started out. He shouted the joy-cry. The other elephants came back all, pulled the crab along, set it upon the ground, and trampled it under their feet.

The Barhut sculptor has, by a single device, sought to represent the Bodhisat's mate and the procession of the elephants, going down into the lake.

25. Pl. XLIII. 4. [Scene 108] :—Miga-samadaka chetaya.[1]

"The shrine in a woodland where the deer were eaten."

In the middle of the bas-relief, says Cunningham, there is a tree, which must be the chaitya mentioned in the label, while seated around are two lions and six deer living most amicably together.

The tree-spirits lose abodes for their hasty action.

It is difficult to ascertain whether the two uplifted animal heads to the left of the six deer around the tree in the middle of the scene are those of two lions, or of two tigers, or of a lion and a tiger. But it seems certain that the sculpture depicts a scene of the Vyaggha-Jātaka (F. 272) narrating how the tree-spirits had to suffer for driving away the tigers from a woodland.

The Bodhisat was once born as a tree-spirit in a grassy woodland. Not far away was a flowerless big tree (vanashpati), where another spirit took his abode. There the lions and the tigers lived, killing and devouring the deer, who found there a pleasant grazing ground. In fear of the lions and the tigers men did not venture to enter the woodland. But it became so full of offensive smell that it was unfit for a spirit to dwell in. Seeing that the lions and the tigers were the cause of such a state of things, the spirit living afar conceived a plan to drive them away and actually did so in spite of the Budhisat's wise counsel that such a hasty step should not be taken, as that would ultimately serve to drive themselves away. Now as the woodland was no longer visited by the lions and the tigers, men came in a body to cut down the trees and clear the jungles with the result that the abodes of the tree-spirits themselves lay open to danger. The spirit who acted so rashly tried to avert the danger by bringing back the lions

1 Barua Sinha, No. 290.
2 The Stūpa of Barhut, p. 94.

and the tigers who flatly declined to return. Within a few days the trees were cut down and the jungles cleared up, compelling the spirits to shift elsewhere. Here closes the commentary or later prose version of the story. The supplication of the spirit asking the animals driven away to come back is embodied in a verse, quoted from the Canonical Jātaka-Book. The verse itself contains no reference to the lions.[1] In all likelihood, the sculpture follows a prose-version.

26. Pl. XXVII. 10. [Scene 109] :—In this scene Cunningham sees only three actors a humped bull standing in a pond of water, and two wolves, one of which is seated on the bank of the pond, while the other has been caught in a snare and is hanging by one of the hind legs from the top of a pole. The animals are wolves, and not tigers, as the one seated on the bank seems to be afraid of entering the water, which is a trait of a wolf, and not of a tiger, who takes to the water freely. The shortness of their tails is also in favour of this identification. The snare represented is one well-known in India, where it is used for catching any large beasts of prey including tigers.[2]

The wolf fails to seize the bull.

Whether the wolves are one or two is a crucial point. Apparently they are two, one, standing upon a high ground, draws together the four legs as though preparing to jump upon a mighty bull, who stands manfully with his long and well-shaped horns, facing him, near the rock, on a marshy ground, covered over with lotus-shrubs, and the other hanging, his head downward, being caught in a snare, from a noose tied to the bent top of a standing post. The subject of the scene is identified by Mr. Rama Prasad Chanda with the Vṛishabha-Jātaka of the Mahāvastu.[3] But the story is so badly told in the Mahāvastu that nothing can be definitely made out of it. The Bodhisat was then a bull, who lived in a forest-region. He was strong, powerful, and armed with the well-formed big horns. A girikaśṛigāla or wolfish jackal followed him, his body trembling in fear. Another jackal, a comrade of his, remarked that in vain he followed the bull for a long time without being able to do him any harm. The Mahāvastu-story well accounts for the presence of the bull and two wolves of wolfish jackals, but it does not explain why one of the wolves is hanging down, being caught in a snare, from the top of a pole, or why the bull is standing in water, on a marshy ground, covered over with lotus-shrubs.

---

1 Fausboll's Jātaka. II, p. 358 :—
Etha vyaggha nivattavho paccametha mahavanam,

2 Stūpa of Barhut p. 69.

3 Mahāvastu, III.

Let us examine how far the details of the scene square with the Pāli Vaka-Jātaka (F. 300), containing the following story :—

The Bodhisat then came to life as Śakra, king of the gods. At that time a wolf lived on a rock by the bank of the Ganges. The winter-floods came up, surrounding the rock. The wolf lay upon the rock, with no food and no way of getting it. As water rose higher and higher, the wolf pondered : "Here I lie, with nothing to do. I may as well keep a sabbath feast." Thus he made up his mind to observe the fast and keep the religious precepts. Śakra, in order to test him, assumed the shape of a wild goat, and stood near, letting the wolf see him. "Let go the sabbath this time" ! thought the wolf, as he espied the goat. Up he got, and leapt at the creature. The goat jumped about so that the wolf could not catch him. The wolf saw that he could not catch him. He came to a standstill, and went back, thinking to himself as he lay down again, "Well, the sabbath is not broken after all !"

This story accounts for the presence of the high ground, wolf standing upon it. It makes no difference if a bull be substituted for the goat. The point that remains unexplained as the hanging of the same wolf or of a second wolf from the top of a pole, caught in a pendent noose (vāḷa-saṃghāta-yanta). We must necessarily presume a different version of the Vaka or the Vṛishabha-Jātaka, in which the wolf was decoyed into a spot, where, as the bull knew, a hunter laid a snare.

27. [Missing] :—Dusito giri dadati na.[1]

Queen read well her husband's feeling when she asked him to offer her the hill of gold, if he found any, and was flatly refused.

The Jātaka-scene to which this inscription referred is missing. The inscription itself admits of a twofold rendering according as the first word be read dusita or dukhita. Essentially the meaning is the same. The text seems to have been based upon some expressions in the Suchchaja-Jātaka (F. 320) in which the good queen of Benares is said to have taken her husband's indifference to her to be a foregone conclusion as he had refused to share with her the hill of gold, if he had chanced upon any, even by a word of mouth, when she accompanied him into the forest where he was bound to go by command of his father, the reigning king, in order that he as crown-prince might not have caused trouble.

28. Pl. XLI. 1. 3. [Scene III.] :—These two scenes evidently complete each

1 Barua Sinha No. 201.

other. On the left side of the first scene Cunningham sees an ascetic approaching a full-grown ram, who has already begun to incline his head downwards as if intending to butt. The ascetic is carrying two basket-like bowls slung from the ends of a banghi pole[1]. He is typically a khārībhāra-parivrājaka. He is clad in a thick raiment tightly covering up his loins and thighs. A man (Cunningham's shepherd) standing on the right, at some distance, is warning the ascetic not to trust the beast, and he has a dignified appearance befitting a Bodhisat. The second scene leads us to think that the foolish ascetic, heedless of the wise man's words, stood on the spot and the result was disastrous. He is now seen kneeling down on the ground, with his right knee raised to receive the ram's butt, his banghi load lying behind him, while the wise man is telling him, with his forefinger raised, that the fate he met was due to his foolish expectation from a beast. The story thus sculptured has rightly been identified by Professor Rhys Davids and others with the Chammasāṭaka-Jātaka (F. 324), narrating how an ascetic came to sore regret on being rudely handled by a ram whose butting he mistook for an act of salutation. The Bodhisat was in one of his births a trader before whose shop was the rams' fighting ground. One day a wandering mendicant, clad in a skin-garment, in going his round for alms, came there. He was a khāribhāra, carrying as he did his load of bowls by means of a banghi pole. As he came near a ram, he saw the beast falling back before him. He fancied the beast did this to show him respect. He thought the ram alone in the whole world recognised his worth. In spite of the timely warning from the Bodhisat who was then sitting in his shop, he still stood there with loined hands in respectful salutation to the beast, in expectation of the same in return. He was well repaid. The ram came at full speed. He struck him on the thigh and knocked him down. The Bodhisat ran out to his rescue. He was then maddened with pain, his leg was broken, his load was upset, his fortune was damaged, his pain became unbearable. He lamented as he explained how by showing respect to an unworthy fellow and expecting the same in return, he came to grief.

Ram's respectful salutation and foolish mendicant's fate.

According to this Birth-story, the ascetic ought to have been standing with joined hands and the Bodhisat sitting in his shop in the first scene. The Barhut sculptures, as contrasted with the Commentary-version of the Birth-story, seem to have been designed to illustrate the moral that the ascetic rather met his fate not so much by showing honour to as expecting respect from a beast.

---

1 Stupa of Barhut, p. 99.

29. Pl. XIV. S. Gate. Prasenajit Piller. Middle Bas-Relief. Side—
[Scene 112] :—Kaḍariki[1]

"Kaṇḍari and Ki [nnarā]."

This scene, with the above incomplete heading, presents a man and a woman quietly standing beside each other, the woman being placed on the left hand of the man. One can see an earring on her left ear, while her right ear shows no such ornament. She places her right hand on the left shoulder of the man, and holds in her upraised left hand a bird looking like a pigeon[2]. He holds in his left hand a bird looking like a hawk. He holds in his right hand a small object between his fingers, and one need not be surprised if it is an earring. She holds a pigeon or dove, and he holds a hawk on his breast. What can be the meaning of this ? Does it not mean that like a hawk he swooped upon her turtle-heart given away to another man ? The Buddhist story of Kaṇḍari and Kinnarā contained in the Kuṇāla-Jātaka (F. 523), and also counted as a separate Jātaka (F. 341), shows that its meaning is nothing but this.

Episode of Kaṇḍari and Kinnarā.

There was a king of Benares named Kaṇḍari. He was a very handsome man. His wife Kinnarā was a lovely woman. He was so fond and proud of her that he could not imagine that she could think of any other man in the world. But she fell in love with an ugly and deformed cripple, who dwelt under a rose-apple tree that grew near the king's palace. The Bodhisat was then his chaplain, Pañchāla-chaṇḍa by name. One day the queen was very late in coming to meet the cripple at night. He being angry struck her, which caused one of her 'lion's head ear-ornaments to fall from her ear. As advised by his chaplain, the king closely followed her. The ornament fell upon his feet. They did not know that he was there in the shade of the rose-apple tree, their usual meeting place. He came back to his bed-chamber taking the ornament with him. He did not disturb her during the night, when she returned The next day he ordered her to come into his presence wearing every ornament he gave her. She refused to come, excusing herself that her lion's head jewel was with the goldsmith. He sent another message asking her to come with the single ear-ornament. She came in. "Where is your other earring ?" he asked. "With the goldsmith," she replied. The goldsmith was immediately sent for. He said he had not had it. The king being enraged, threw the picked up earring down before

1 Barua Sinha, No, 202.

2 Divyāvadāna, p. 300 : In Buddhist art, the figure of the pigeon is an emblem of passion (rāgo kapotākāreṇa kartavyah.

her and bade her go. The vileness of the woman was no longer a secret to him, and he found no words to praise his wise chaplain.

The Barhut artist may be congratulated for his skilful execution of the details. By the symbols of the hawk and the pigeon he has suggested the nature of the affair.

30. Pl. XLIV. 6 [Scene 113] :—This bas-relief depicts a Jātaka-scene wrongly identified by Cunningham with the well-known Buddhist story of the building of the city of Kapilavāstu, named after the sage Kapila, who gave up his residence to the four exiled Ikshvāku princes who appeared before him. Cunningham's description of the bas-relief is far from being perfect and accurate. It takes note of a sage seated with his right shoulder bare, and his long hair twisted and coiled into a massive jaṭā behind his head in the usual manner of an ascetic, while four princes stand and kneel before him with their hands joined in an attitude of respect.[1]

Ascetic tests innocence by oaths.

At the left extremity of the panel there is to be seen behind an ascetic, a small tree with fruits grown in abundance. The ascetic is seated cross-legged at the foot of this tree keeping his kamaṇḍalu to his right. Close to the kamaṇḍalu and just in front of it, there is a basketful of fruits apparently gathered from the tree behind the ascetic. He is holding in his hands and on soles of his feet turned upwards a small pot-like object, which appears to be an earthen lamp with flames uniformly rising up, forming a gradually widened circular zone, while with the two fingers of his right hand, pointed towards the flames of the lamp, he seems to draw attention of four persons before him, all with joined hands placed towards him, two in front standing and two behind sitting cross-legged. The action of these four men does not seem to be mere showing respect to the ascetic. They appear to perform some solemn act before fire, perhaps as a means of absolving them from charges of iniquity brought against them with reference to the fruits of the tree. If these conjectures be correct, the details of the scene can be explained in the light of the Commentary-version of the Ambachora-Jātaka (F. 344) which is narrated below :—

There was a tricky ascetic (kūṭa-jaṭila) who lived in a leaf-hut built in a mango-grove on a river bank near Benares. He kept watch over the mangoes, —the ripe fruits that fell from the mango-trees, occasionally sharing the fruits with his kinsfolk. He gained his livelihood by various false practices quite unworthy of a man of ascetic vow. In order to chastise him, the Bodhisat, then born as Śakra,

1 Stūpa of Bharhut, p. 191.

knocked down the mangoes when the ascetic went to village for alms, and so created a situation by his supernatural power as to make the orchard appear as if it were plundered by thieves. It so happened that at this inopportune moment, four daughters of a merchant came to the orchard, whom the ascetic, on his return, met on the spot and suspecting them to be the wrong-doer, openly accused them of theft. They frankly declined it, but he would not believe them. He had not allowed them to leave the hermitage until they were able to prove their innocence, taking separately an oath, which none but an innocent individual could venture to take. Next came the turn of the Śakra to appear before the ascetic in a terrible form and drive him away from the place.

The bas-relief omits altogether Śakra's part in the story. The scene actually depicted is that of oath-taking by four persons who ought to have been represented as women according to the story. That Barhut sculptor has had evidently followed a different version of the story in which the oaths were taken by men instead of women. The representation of four persons as males may as well have been due to the sculptor's oversight.

31. Pl. Indian Museum. Bhārhut Gallery. 29 (2) b[Scene 22 (3)]:— This curious bas-relief, carved, apparently with a decorative motive, in a half-medallion at the top of a Railing-pillar, represents a scene, where an elephant madly runs at full speed towards a tree, trampling a tortoise on the way and crushing the creature under his feet. His gaping mouth, panting breath, out-stretched tail, falling dung, galloping strides and bodily movements are expressive of the quick motion. The tree and the elephant are approached by another tortoise from the opposite side, the creature moving at full speed and dashing on. Here the second tortoise seems to have provoked the elephant to such an extent that the latter, unmindful of what was across his path, dashed forward only to dash his head against the tree and break and shatter it. This tortoise must be the Bodhisat, wiser of the two creatures, who succeeded in defeating and destroying the elephant by his tact, while the other was trampled and crushed. His wisdom lay in fighting under the cover of a tree, and the folly of the other creature in setting an open fight. The Barhut scene is based upon a Buddhist story, different in character from the story of fight between an elephant and a tortoise (gaja-kacchapa-yuddha) which has become classical through the Brahmanical collections of fables. Unfortunately, the Buddhist story cannot be traced in the existing Buddhist literature. We wonder if this was the earlier form of the Gaja-Kumbha, or better, Gaja-Kumma-Jātaka (F. 345)

Fight between elephant and tortoises.

illustrating the following double moral by the fate of two tortoises in a fight with an elephant :

"Whose doth hurry when ought to rest,
And tarries long when utmost speed is best,
Destroys the slender fabric of his weal,
As withered leaf is crushed beneath the heel.
But they who wait betimes nor haste too soon,
Fulfil their purpose, as her orb the moon.'

The Commentary form of the Jātaka is not quite suited to this moral.

32. Pl. XLVII. 3 [Scene 114] :—Sujāto gahuto Jataka.[1]

"The Bodhisat's birth as Sujāta, the cow-feeder."

The bas-relief with the above label offers no difficulty of interpretation or identification. It presents on the left a well-drawn humped bull on the ground. A young man, with his long hair combed behind, is sitting on his left heel and leg, before the bull, maintaining his balance by holding his left knee with his left hand and keeping his right leg erect at a right angle with his thigh. He holds up to the mouth of the bull, a bunch of grass or fodder in his right hand stretched out in front. He is engaged in the act of feeding the bull which appears as if it is alive. According to the label, he is no other than Sujāta, the cow-feeder. One elderly man stands behind him, placing his left hand accross his breast and his right hand on Sujāta's head, and enquiring what the young man was about. Cunningham has rightly identified the scene with Sujāta's story in the Sujāta-Jātaka (F. 352)[2], though we cannot agree with him when he says that this Birth-story substitutes a buffalo for the bull or ox. It expressly refers to the beast as an ox. The Sujāta-story impresses this moral by the argument of the familiar popular maxim—'a dead cow does not eat grass'.

Bodhisat invokes a dead cow to eat grass.

Sujāta was a Bodhisat. His father, it is said, became afflicted with sorrow from the day of his father's death. He deposited the old man's bodily remains in a stūpa or mound of earth, which he erected in his garden. Whenever he visited this place, he adorned the mound with flowers and bitterly lamented, neglecting his business and even forgetting the need of bathing and eating. Determined to cure him of his inordinate grief, his son Sujāta went outside the city of Benares, and

1 Barua Sinha, No 203.
2 Stūpa of Bherhut, pp. 76-77.

seeing a dead ox, began to ask it repeatedly to eat and drink the grass and water he procured for it. People informed this to his father who was then lamenting over his grandsire's ashes. "What's the fellow doing ! I must stop it at once." Thus he ceased to grieve for his father and began to grieve for his son. "My dear Sujāta, my son, are you so thoughtless as to believe your feeding can raise to life this ox which is dead ! Can a carcass eat grass or drink water ?" "Father, I am thoughtless indeed. But if this dead ox, though its body still exists, cannot come back to life, why then so much weeping over the ashes of one whose body has been consumed by fire. !" Now he saw what his son meant. He abandoned his grief. He acknowledged Sujāta's wisdom.

33. [Missing] : Naḍodapāde dhenachhako.[1] :—

"Trim-boughed banian tree at the foot of Mt. Naḍoda ?"

Scene of cold-blooded murder of captive kings under the shade of a banian tree.

The Jātaka-scene to which this inscription was attached is missing. The inscription itself seems to have referred to a trim-boughed banian tree mentioned in the Dhonasākha-Jātaka (F. 353) in which the ruthless king of Benares is said to have killed in cold blood one thousand kings whom he took captives under this sacred tree, being killed in turn by a Yaksha.

34. Pl. XLVII. 7 [Scene 116] :—Daḍanikamo chakamo.[2]

"The walk wherefrom escape is difficult."

No weeping for the dear one whose dead body is being burnt in a cremation-ground.

Cunningham observes in this curious scene an altar or throne occupying the middle place, behind which are four lions with gaping mouths, and on the right, five men standing in front of a sixth, who sits on the ground to the left in a contemplative attitude, with his head leaning on his left hand, while in the front are two gigantic human heads with a human hand between them and towards the throne or altar a bundle of faggots burning. He conjectures that this scene represents one of the 16 Buddhist hells, or places of punishment.[3]

We take it that the scene is not that of a Buddhist hell, but that of burning or cremation. The faggots burning represent a funeral pyre, while two human heads with hideous looks are symbols representing two ogres, or more accurately, one

1 Barua Sinha, No. 204.
2 Barua Sinha, No. 205.
3 The Stūpa of Bharhut, p. 04.

ogre eating a dead body, of which only the head is left yet untouched. Thus the place is a śmaśāna used both as a cremation ground,[1] where dead bodies were burnt and as a 'charnel-field,[2] where dead bodies were thrown away unburnt. On one side of burning faggots we see a cobra-like snake turning back towards it, and on the other side of it, a youngman lying as though dead on the ground. If these conjectures are sound, the scene can be rendered intelligible and the ramaining figures explained by the Pāli Uraga-Jātaka (F. 354).[3] The story as narrated in Fausboll's edition of the Jātaka-Commentary, the Jātakatthavaṇṇanā, may be summarised as follows :—

The Bodhisat was at the time a Brahmin. who lived happily in a village, near Benares, with his wife, son, daughter-in-law and two daughters. One day, he went with his son to work in his plough-land. While his son was burning the weeds heaped up in one place, he was bitten by a poisonous snake, and died then and there. The Bodhisat did neither cry nor lament, although this mishap occurred before his eyes, knowing such was an inevitable end of the body. When the news reached the female members of his house, none of them wept. The dead body was duly carried to the cremation-ground and consigned to fire. It was a great wonder that while the body was being cremated, none of the Bodhisat's family, including himself, was seen to shed tear. This wonderful power of self-restraint made the throne of Śakra glow. Forthwith Śakra, king of the gods, came down to the cremation ground, and after uttering the lion's roar stood on one side. He interrogated the Bodhisat and the four female members of his family, asking each of them to tell him why it was that they had not wept. It is said that the replies received from them satisfied Śakra, who was so pleased with their attitude that he filled their house with riches beyond measure, and departed. Here the story ends.

We can well understand that the five human figures to the right of the funeral pyre are the five members of the Bodhisat's family, including himself. The human figure to the left is Śakra, while the four lions with gaping mouths behind the altar symbolise the lions' roar preceding Śakra's appearance. The man standing just opposite Śakra is the Bodhisat, behind him stands his wife, the figure behind her is his daughter-in-law, and two human figures behind the altar in the same line

---

1 dagdha-chitā, ālāhana or ādāhana,

2 anagnidagdha-chitā, sivathikā, āmaka-suśāna.

3 The Canonical or poetic version of the story is contained in the Petavatthu. See Uraga-Peta-vatthu.

with the lions, are his two daughters.[1] The altar is designed as a protection of fire against the wind and signifies symbolically, as explained in a Vedic hymn, a dividing line between the living and the dead. The correctness of the identification cannot at all be doubted when both the snake and the young man bitten by it are distinctly represented. But we must note that here the sculptor has used the same device of a bundle of burning faggots to serve a double purpose, namely, to represent (1) the burning of piled up weeds by the Brahmin's son, and (2) the burning of his dead body on a funeral pyre.

35. Pl. XXVI. 5 [Scene 117] :—Laṭuvā-Jātakaṁ. [2].

"Jātaka-episode of a quail."

This medallion presents a rocky mountain with a tree growing on one side. In the lower left corner is a bird's nest, and inside the nest is a young bird, yet too young to fly. The nest is partly broken. There were probably more birds than one when the nest was complete. In the lower phase we see a herd of elephants cautiously moving forward, following the footsteps of the leader, along a track down the hill and below the tree. In the upper phase the young birds are about to be crushed by an isolated elephant beneath his feet. The young birds are shown just beneath the right leg of the beast. The elephant rushes forward trumpeting along a track up the hill, leading to a precipice. A quail, the laṭuvā of the inscription, perches on a branch of the tree, and watches the elephant walking up the hill. A crow sitting on the head of the elephant, is pecking out the beast's left eye after pecking out his right. A cataract-like thing lies across the pecked out right eye, while a frog is seated on the top of a rock in front of the elephant, and at some distance. The second position on the right shows that the elephant has fallen headlong down the rocky cliff, to the great joy of the quail whose young ones he trampled and crushed down. Cunningham has rightly remarked that here is a close agreement between the scenes of the Barhut sculpture and the Pāli version of the legend, and these are the six points noticed by him : (1) the bird's nest with the young ones lying on the ground beneath the elephant's foot ; (2) the bird sitting on the tree and brooding over the misdeed ; (3) the attack of the crow and the flesh-fly, the former on the

The resourceful quail teaches a tragic lesson to the roguish elephant that crushed young birds with impunity.

1 The only serious objection that can be raised is that all the human figures wear turbans, which, according to the general Barhut convention, is the characteristic of males. But this may be due to the sculptor's oversight, or there may have been some very special reason for providing even the female figures with a headgear in the shape of turbans. Such instances, though rare, are not fewer than half-a-dozen.

2 Barua Sinha, No. 206.

elephant's head and the latter on his eye ; (4) the elephant running away frightened with his tail between his legs ; (5) the frog seated on the rocky mount ; and (6) the fall of the elephant down the rocky cliff.[1] By the Pāli version of the legend he means the story of the Laṭukikā-Jātaka (F. 357), in the Pañchatantra version of which a pair of sparrows (chaṭaka) is the principal actors. The Buddhist story relates :—

The Bodhisat was then born as an elephant. He became the leader of a herd consisting of 80,000 elephants, and dwelt in the Himalayas. A quail laid her eggs on the feeding-ground of the elephants. Her young ones were still unable to fly when the Bodhisat with his attendant herd, in ranging about for food, came to this spot. The bird implored his righteous protection for the defence of her brood. The Bodhisat himself and his followers cautiously passed off without doing any harm to the young birds. Behind them came a solitary roguish elephant. The quail also sought his protection, paying him homage uplifting her wings. In spite of her pathetic appeal, he crushed the young birds to atoms and went out loudly trumpeting. The quail sitting down on a bough of a tree, brooded over the atrocious crime committed by the elephant. She making up her mind to teach him a lesson, went first to a crow who happened to be a friend of hers, and asked to peck out the eyes of the beast by striking with his beak. Next she went to a blue fly whom she asked to drop its eggs upon the eyes put out by the crow. Last of all, she saw a frog whom she asked to take his stand and croak on the top of the mountain to attract the blind elephant thither to seek for water to drink, and then to come down to croak again at the bottom of the precipice to make him fall down the rocky cliff. One day the crow pecked out both the eyes of the elephant, the fly dropped its eggs upon them and the elephant being maddened by the pain and overcome with thirst, wandered about seeking for water to drink. The frog standing on the top of a mountain uttered a croak. The elephant climbed up the mountain thinking he might find water there. Then the frog descending to the bottom, croaked. The elephant moved forward towards the precipice, and rolling over, fell to the bottom of the mountain and died again. When the tragic act was enacted, the quail with delightful heart strutted over that elephant's body.

The hermit laments over the death of his pet deer and the Bodhisat remonstrates with him.

36. Pl. XLIII. 8 [Scene 118] :—In this scene Cunningham finds three actors, a Ṛishi, a hunter or shepherd, and an antelope in a forest near the Ṛishi's hermitage., The antelope is lying down with its head stretched out and resting on the ground, apparently as if bound, while the Ṛishi is about to drive knife into the back of its neck. The

[1] Stūpa of Bharhut, pp. 59.

hunter, or whoever the other figure may be, has both his forefingers raised as if expostulating with the ascetic, who from his dress, appears to be a fire worshipper.[1]

We find that the main action of the scene is shown outside the hermit's cottage which represents a distinct type of one-peaked house, covered by a four blocked-vaulted roof. The hermit himself stands on the right side of his cottage leaning forward over a young deer. Although the deer is lying down on his four legs, no one can mistake, observing how his head rests helplessly on the ground and how dim are his eyes, that he is a dead animal. The hermit apparently laments over the death of his pet deer, grasping his right horn with his right hand. He is clad in a garment of birch bark and has his matted hair bound up into a knot in one of the Barhut fashions. A second man with bright appearance and superior dignity stands before him on the right, expostulating, no doubt, with him, and apparently reprimanding him for his folly and inordinate grief. In the upper side of the panel there are two trees, the presence of which adds much charm to the scene. We must welcome Dr. Hultzsch's suggestion as to the identification of the scene with the story of the Migapotaka-Jātaka (F. 372), narrating how the wise Bodhisat admonished a hermit against excessive grief at the loss of his pet deer. The story is as follows :—

A hermit found in the forest a young deer who had lost his dam. He took him to his hermitage. The deer who grew up a handsome and comely beast under his fatherly care died one day of indigestion from a surfeit of grass. The hermit began to lament as if he had lost his own son. The Bodhisat who was then born as Śakra, king of heaven, came down to admonish the hermit. He taking his stand in the air, took the hermit to task and ultimately cured him of his madness in weeping like a child for a cause like this.

37. Pl. XLVII. 5. [Scene 119] :—Viḍala-Jātaka Kukuṭa-Jātaka.[2]

"The Jātaka-episode of the Cat and the Cock".

The inscription clearly indicates that the bas-relief illustrates a Jātaka-scene where a cat and a cock are the two actors. The cat, as noticed by Cunningham, is looking up at the cock seated in a tree on the left. They are evidently conversing with each other. Cunningham has, with the friendly aid of Revd. Subhuti, rightly identified the scene with the story of the Kukkuṭa-Jātaka (F. 383), which may be taken as an

The cock baffles the cat's attempt to deceive.

1 Stūpa of Bharhut, p. 101.
2 Barua Sinha, No. 207.

32

Indian prototype of the story of the Dog, the Cock and the Fox in Æsop's Fables.

The Bodhisat was once born as a cock, who dwelt in the forest with a large number of followers. Not far away lived a she-cat who cleverly deceived, killed and ate all the cocks but the Bodhisat. Determined at last to catch hold of him the she-cat planned a device. Seeing the wise cock on a tree, she went to its foot and tried to cajole him by offering herself to be his wife. "Beasts and birds can never marry," the cock remarked, to get rid of her, "thou must sue some other husband." The pleadings of the cat were all in vain. "After killing all my kinsfolk, thou pleasest me with courtesy." Thus he baffled her plan and she went away disappointed.

38. Pl. XLI. 5 [Scene 120] :—This bas-relief represents, according to Cunningham, one man and one woman in a standing posture beside a house. They are engaged in earnest conversation, while another man is seated behind the house. He finds nothing in it indicating the nature of the story, though he suspects that the seated figure is Rāma and the other two are Sitā and Lakshmaṇa.[1]

Needle-hawking to win the hand of headsmith's daughter.

It is difficult to relish Cunningham's bias for the story of Rāma, Sītā and Lakshmaṇa without overtaxing our patience. The scene really shows a man seated inside a homestead consisting of a house or houses provided with thatched roof of two blocks, joined together in such a manner that these form with the upper edge of each side-wall a semi-circle with a small window in the middle. The man inside is sitting on a seat that looks like a stool, wherefrom he hangs down his legs, placed towards the entrance of the outer house in his front. The fore-finger of his right hand is pointed to an outward direction and his general attitude clearly indicates that he is eagerly overhearing the conversation of a woman and a man outside. The woman stands close to the house, keeping it behind her back. She is apparently discussing some matter with a man whose gait shows as if he has halted on coming from outside. He carries in his left hand, placed on his left breast, a small bundle in a case or wrapper of cloth raised towards his neck. He lifting up his right hand and upraising his forefinger, is trying to explain something to the woman before him. If these observations be sound, it is not at all unnatural to think that here we have a representation of the story of the Sūchi-Jātaka (F. 387)[2], narrating how

1 Stūpa of Barhut, p. 99.

2 Cf. Mahāvastu II. pp. 87-89 Amatā-karmāradutā Jātaka.

a skilled young smith managed to marry the handsome daughter of the head smith by a successful demonstration of some marvellous needle made by him.

The Bodhisat was then born, says the Jātaka, in a smith's family. He was a clever craftsman. His parents were poor. But he wanted to win the hand of a rich man's daughter in his caste. Her father was the head smith of a neighbouring village, and her beauty was praised by all her castemen who saw her. How to make her his wife, poor that the young smith was ? He devised the means. He made the delicate strong needle which pierced dice and floated in water. He made a suitable sheath for it, and enclosed this one sheath within six other sheathes of the same pattern. Now putting the sheath-encased needle in a tube and placing it in a wrapper, he went to sell it in the village where the head smith lived. In consummation of his hawking errand, he came up to the street near the head smith's house, standing at the door of which he cried for a buyer, describing the needle and praising it. His sweet voice captivated the heart of the head smith's daughter, who was at the time fanning her father with a palm-leaf as he lay on a little bed to allay discomfort after his early meal. She was impelled to come out and speak with him outside, standing in the verandah or under the eaves, as one may say. "Is it not folly", she said, "that you wish to sell needles in a village of smiths ? However praise you may declare of your needle all day, who will take it from your hand ? If you wish to get a price, why don't you go to another village ?" The young smith intelligently replied and said :

"Lady, if once your father know
This needle made by me ;
On me your hand he would bestow
And all his property".

His words were not uttered in vain. The head smith hearing all their talk, called them into his presence. He and other smiths who were shown the needle, could not help admiring the young smith's skill in invention. The reward followed, the most coveted one, the hand of the fair lady he loved.

The Barhut scene represents only the central and dramatic episode of this Jātaka.

39. Pl. XLVI. 2. [Scene 121] :—Uda-Jātaka [m̐][1].

"The otter in a Jātaka-Scene."

Here Cunningham notices a Ṛishi seated on the ground with his water bowl

1 Barua Sinha, No. 208.

and a basket of food near him, before him a pool of water stocked with fish, on the bank of which a pair of cats are quarrelling over the head and tail of a fish, and beyond them two dogs, one trotting joyfully off with a bone, and the other sitting down disappointed, with his back turned to his luckier rival.[1]

Two otters quarrel over the shares of a red fish only to part with the lion's share which goes to a clever jackal.

We indeed see a hermit seated in his hermitage, at the foot of a tree, a seat of antelope-skin, spread on the ground. The hermitage shows behind the hermit a cluster of banana or plantain trees in flower and three other trees, while a river or a lake in front. The hermit sits partly cross-legged, facing the waters, placing his right hand on the knee of his left leg drawn towards him, holding the handle of a water-jug with his left hand, and keeping a basket of fruits beyond his kamaṇḍalu in front. He sits in a reflective mood, as if moralising upon the strange incident which happened before his eyes. What is this strange occurrence ? There is a river or a lake with three big fishes moving about in it, and two otters are seen quarrelling on its bank over the shares of one of the fishes caught by them, dragged up, and placed lengthwise between them. The fish's body is divided into three parts, comprising the head, the tail and the middle portion, the last-named part being placed crosswise, while a jackal manfully stands beside the otters, pretending to be a benevolent peace-maker. The same jackal is seen, in the upper corner on the right, trotting off with the middle portion seized in his mouth, leaving the head to the one who is sitting by the head, and the tail to the other who is sitting by the tail. The scene has been accurately identified by professor Rhys Davids[2] and others[3] with the instructive story of the Dabbhapuppha-Jātaka (F. 400), narrating how two otters quarrelling over the shares of a fish they had caught, were cheated by a jackal.

The Bodhisat was then a tree-spirit by a river-bank. A jackal, named Trickester, lived with his mate in a place by that river-bank. She desired to eat a fresh rohita fish. He promised to bring it to her. Going by the river he wrapped his feet in creepers, and went along the bank, when he saw two otters, Deep-diver and Shore-ranger, standing on the bank, looking out for fishes. As he saw a great rohita fish, the Deep-diver plunged into water with a bound, and took it by its tail, calling the otter to his aid. The two together took out the fish, killed it, laid it on the ground. The question arose—how to divide it. One asked the other to divide it, but none could divide. They sat down quarrelling, leaving the fish as it was. At the moment the

1 Stūpa of Bharhut, P. 75. 2 Buddhist India, p. 209. 3 J R A S, 1912.

jackal of grey grass-colour (dabbhapuppha) appeared on the spot. They besought him saluting, to make an equal division and distribute the shares. The jackal dividing it into three shares, left the head for one and the tail for the other, and ran away before their eyes, seizing the middle portion in his mouth. The jackal was pleased, the otters sat downcast, and the wise tree-spirit found a fitting occasion to moralise upon.

The Barhut scene is evidently based upon a Birth-story, in which a hermit instead of a tree-spirit, was the wise being to watch the incident and moralise upon it.

40. Pl. XXXIII. 4 [scene 122] :—In this scene Cunningham sees a tree filled with monkeys. A man and a monkey are seated below on stools facing each other. The man is evidently speaking, as his right hand is raised towards the monkey, who sits all attention, leaning slightly forward with both hands resting on his knees. Behind them stand two men who are holding out a rectangular object between them, which may perhaps be a net to catch fruits falling from the tree. The monkeys are represented in various ways, as climbing, sitting, jumping, and eating the fruit of the tree. The bust of a man appears between two seated figures, with his hands crossed on his breast.[1] Here we see a flowing river that divides the medallion-carving crosswise into two portions. In the river itself we see some fishes moving down along the current and a tortoise moving up against the current. On its two sides there are two banian trees, one much larger and taller than the other, both showing several branches and a great wealth of foliage and verdure. The smaller tree stands just on the upper bank of the river, and the larger one at a little distance from the lower bank. The trees stand facing each other. A great monkey succeeds in effecting a bridge-connexion between the two trees by fastening one end of a long piece of cane to the top of the smaller tree and the other end to the knee of his right leg, and himself grasping two smaller upper branches of the larger tree with his hands and outstretching his body in the air to complete the link. It seems that somehow or other he managed to reach the smaller tree from the larger one and procure a long cane on the other side of the river. He must have fastened one end of the cane to the top of the smaller tree and the other end to his leg before he jumped high up in the air to reach the larger tree across the river. The movement of the long-tailed monkeys apparently belonging to the retinue of the great monkey, is represented by showing them at various height of the larger tree. One of the older monkeys is seen waiting on the head of its trunk, turning his face backward as if apprehending some danger from

Monkey-king risks his life to save his followers.

1 Stūpa of Bharhut, pp. 105 106. Cf. Tawney's explanation of the scene in J. A. S. B. for August, 1891.

that quarter and ascertaining what it is. One of the younger monkeys sits between two branches, just above the trunk and below the feet of the great monkey who in this position stands on that branch of the tree which has grown over the river. He looks over his back, turning his face towards two monkeys, one younger and one older, who, sitting one behind the other, are looking up to their leader for advice and help. It is likely that the same two monkeys are now shown a little higher up in a second position. Still higher up we see a bigger monkey sitting on an upper branch, facing the great monkey in the position in which he makes a bridge, for the troop of monkeys to pass through. It may be that here we have a third position where the older monkey has moved higher up, followed by the younger monkey who appears behind and a little below him. A bigger monkey appears on the tree-top just above the great monkey's head, feeling his way, observing how he should proceed, with readiness to jump out. The same monkey is again shown as cautiously walking on all fours along the cane. He appears at last walking down along the main branch of the smaller tree. Thus we have a clear indication as to how the monkeys passed from the larger tree to the smaller by treading on the back of the great monkey and along the cane, and finally got down to the other side of the river in safety. In the lower portion of the medallion we see the great monkey brought down by two men with the help of a net or screen like object, sits calmly on a morha on the left, while the two men remain still standing, holding out the net or screen. The monkey sits in the usual monkey-fashion, placing his hands on the knees of his legs , and facing a man who, too, sits on a morha on the right. The great monkey is seen at last kneeling on the ground with joined hands held on his breast, in an attitude of respect, and addressing himself to the man on the morha who waves his right hand, asking others not to make noise. The scene has been rightly identified with the Mahākapi-Jātaka (F. 407), narrating how a great monkey boldly risked his life to make a way of escape for his followers. There are altogether three versions of this Birth-story, viz., two in Pāli and one in Sanskrit. The Pāli Canonical version is a short and simple narration which does not suffice to supply the Barhut sculptor with the required details. The Pāli Commentary version has, on the contrary, many details not required by the Barhut sculptor, and in many points it shows a disparity with the Barhut scene. The Barhut story was based upon a version similar to the Sanskrit story of Mahākapi in the Jātakamālā (No. 27). The story relevant to the Barhut scene, is as follows :—

The Bodhisat was then born as a monkey-king. He was strong and vigorous,

and lived in a beautiful Himalayan forest with a large retinue of monkeys.[1] Near the Ganges bank there was a huge banyan tree which, with its branches deep shade and thick leaves, looked like a mountain peak. Its fruits were even larger than palmyra, and possessed divine fragrance and flavour. From one branch the fruits fell on the ground, from one into the Ganges water, and from two into the main trunk of the tree. The great being and the troop of monkeys took care that no fruit either grew on or fell from the branch that stretched towards the Ganges. But as ill luck would have it, one ripe fruit, which remained concealed in an ant's nest, fell into the river, and stuck in a net. When the fruit was shown to the king of Benares by the fishermen who were in charge of the net, he sent for the foresters from whom he learnt that it was a delicious and rare fruit. He asked the foresters where it grew, and hearing it grew on a river bank in the Himalaya quarter, he started in rafts for the place with a great retinue. Coming to the place where the tree stood he ordered his archers to guard the tree. When they had all fallen asleep, the Bodhisat came at midnight with his retinue. The monkeys moving from branch to branch, ate the fruits. The king waking and seeing their doings, ordered his archers to surround the monkeys with arrows ready. The monkeys seeing them and fearing death, as they could not escape, approached the Bodhisat, their leader, and stood shivering as he informed him of the matter, saying, "Sire, the king's archers stand round the tree, meaning to shoot us with arrows. What are we to do now ?" Do not fear," said the Bodhisat comforting them, "I will give you life." He forthwith ascended a branch that rose up straight, went along another branch that stretched towards the Ganges, springing from the end of it, passed a hundred bow-lengths and alighted on a bush on the bank and cutting a cane at the root fastened one end of it to the tree and the other to his own waist. In measuring the length of the cane to cover the distance he forgot to reckon the part to be fastened to his waist. The result was that he could reach the tree only by seizing a branch of it with his hands. Thus he made a bridge for his followers. The Jātakamālā story says that the monkey king fastened one end of the cane to his leg. Here the Commentary story adds that the troop of monkeys finding this means of escape, passed out of the tree, treading on the back of the Bodhisat and along the cane. The king of Benares was filled with deep emotion to see how the Bodhisat endangered his own life for the safety of his troop, and became anxious to bring him down by some means and take care of him. He had the raft turned down the Ganges and a platform built there,

1 A mango tree according to the Pali Commentary story, though the commentator says that some authority knew it to be a banyan.

and made the Bodhisat come down gently. He made the monkey-king lie on a bed covered with an oiled skin, and sitting on a low seat, asked him to say what led him to make himself a bridge for other monkeys. The Bodhisat explained the matter to the king, and instructing and teaching him, died, and the king honoured the great monkey with obsequies befitting a king. Here the Sanskrit version relates altogether a different tale. It adds that the king, calling his men, said to them : "His body is ulcered and afflicted by the hurried movement of the feet of the troop of monkeys, terrified by the fear of death, and remaining for a long time in the same position and tension, he is so much tired out and exhausted that the monkey-king is unable even to move himself by his own exertion. You must be quick to bring him down by holding out a screen and cutting the cane along with the branch of the banyan tree by means of arrows." They carried out the king's order. The king made the Bodhisat lie down on a soft bed as he was brought down, and went to him when he began to feel better, and gently inquired as to what he was to the monkeys and what they were to him that he did so much for them. The Bodhisat, showing due respect to the king, answered his inquiry and said many sound words of wisdom.

In the Barhut scene the great tree is represented as a banyan and the great monkey appears with one end of the cane fastened to his leg as well as in an attitude of respect. It has nothing to do with the obsequies. The Barhut story ends precisely where the Sanskrit story ends. The position of one of the monkeys, passing to the other tree, shows that he fell from an unusual height on the Bodhisat's back. This artistic representation seems to have suggested a new point in the Commentary version that wicked Devadatta, then born as one of the monkeys, intentionally jumped from high and with force to break the heart of the Bodhisat.

41. Pl. XV.—S. Gate. Prasenajit Pillar. Lower Bas-relief. Side. [Scene 123] :—

Vijapi Vijādharo.[1]

"The spell-muttering Vidyādhara."

The Vidyādhara or artful magician demigod, referred to in the label, is standing on a rocky ground, strewn over with several small stones of varying shapes and sizes.

Demon's wife in intrigue with a Vidyādhara.

He stands beside a woman with blooming youth, who is seated on the lid of a big rectangular box, hanging down her right leg on one side of the box and holding a heart-shaped bunch of three ball-shaped flowers, her right hand lifted up towards her arm. It is not impossible that here the

1 Barua Sinha, No. 209.

bunch of flowers actually symbolises the human heart. The Vidyādhara is unwinding the cloth of his head-dress, which is an Indian turban. His armour bound up with his dagger, put in a sheath, is pendant from a tree behind him. The bas-relief with these details seems to illustrate a scene from the Samugga-Jātaka (F. 436), marrating how a demon (dānava-rakkhasa) was outwitted by a tricky Vidyādhara.

It is said that a man-eating demon was devoted to the Bodhisat, who, on the adoption of hermit-life, was living in a Himalayan forest, not far from the dwelling-cave of the former. The demon seized a lovely woman, with whom he fell in love. He carried her off to his cave and made her his wife. He arrayed her in robes and ornaments, and tried to please her by all possible means. In order to protect her, he took her with him wherever he went. He used to put her in a box which he swallowed, and so guarded her in his belly. One day he went to bathe carrying her in the box inside belly. Coming to a tank he threw up the box and taking her out of it, bathed and anointed her. After dressing her, he allowed her to enjoy herself in the open air. Without suspecting any harm, he went a little distance to bathe. Meanwhile the woman saw a Vāyu's son, a Vidyādhara, who was girt about with a dagger and was than walking through the air. She by a certain gesticulation of her hand, put in a certain position, signed to him, indicating her affection. Then and there the Vidyādhara descended to the ground. She placed him immediately in the box, and sat down upon it, waiting the approach of the demon. As the demon came near, she opened the box, and getting inside, lay over the Vidyādhara, wrapping her garment about him. The demon thinking it was only the woman inside the box, swallowed it, as usual, and set out for his cave. He came to see on his way the Bodhisat who skilfully acquainted him with the fact of presence of a dangerous rival within. He was greatly alarmed. Vidyādharas surely are full of tricks : supposing his sword should be in his hand, he will rip open my belly and make his escape." He forthwith threw up the box and placed it before him. As soon as the box was opened, the Vidyādhara muttering a spell (vijjaṁ parijapitvā) and seizing his dagger, sprang into the air and went away.

The bas-relief illustrates, among other details, the descent of the Vidyādhara on a sign being made by the woman. It represents his armour and dagger. It shows his preparations for getting inside the box, was awaiting the approach of the demon, who is unfortunately absent from the depicted scene.

42. Pl. XLIII. 6.—Plate XLVIII. 6 [Scen 124]:—Abode chātiyaṁ[1].

"At the water-pool."

This is the inscriptional heading of the second of the two scenes apparently

1 Barua Sinha, No. 210.

representing a single story. It is rather unusual that two scenes of the same story are distantly placed. The first scene, as noticed by Cunningham, consists of two elephants moving in opposite directions, the animal going to the right carrying a garland to deposit either at the foot of a Bodhi-tree or at the base of a stūpa, his open mouth showing his fat tongue in a very natural manner.[1] In the centre of the second scene he sees a tree to which three elephants are paying reverence, the tree being no other than amba or mango and the chaitya mentioned in the label being no other than the Chaitya-mango-tree.[2] Dr. Hoernle would have us interpret the label as referring to Arvuda-chaitya, the woodland-shrine on Mount Abu. But our rendering will show that the reference is only to a spot marked by a water-canal or water-pool.

Son returns with victuals to comfort his helpless mother.

We fail to understand how Cunningham makes out three elephants in the second scene, which, like the first scene, presents just two elephants, of whom the bigger one with long tusks is evidently male and the other of smaller size and shorter tusks is female. We need not suppose that in the first scene both the elephants are moving or that the male elephant going to the right is carrying a garland. It is difficult to ascertain the thing carried by him until we come to the second scene which represents in more prominently. It shows that the thing is no other than a bundle of lotus-fibres with lotuses at the top. The first scene presents the elephants in a standing position and places them in opposite directions. In the second scene, the elephants are placed in the same direction. The male elephant appears to have just arrived on the spot graced by the presence of a woodland-shrine, at the foot of which is a long water-canal or water-pool. He stands still holding within the fold of his trunk the bundle which he has carried, while the female elephant is seated on her legs facing the canal, with her trunk turned on her right side towards her back. If this be a correct study of details of the two scenes, we cannot resist the temptation of interpreting the bas-reliefs as representations of two situations of the Mātiposaka-Jātaka (F. 455), narrating how a virtuous elephant fulfilled under trying circumstances his filial duty towards his mother.

The Bodhisat was once born as an elephant in the Himalayan region. A magnificent beast he was, his body all white, with lordship over a herd of eighty thousand elephants and he was endowed with all qualities and virtues befitting a royal elephant. He had to look after his blind old mother. For her sake he did not even mind to forsake his lordship over the herd. Seeing that he was unable to

1 Stūpa of Bharhut, p. 101. 2 Ibid, p. 94.

pay proper attention to his mother and the elephants of his herd were concerned only about their own interest, he went oway with her without the knowledge of others. He came to Mount Chaṇḍoraṇa, where he placed his mother in a cave of the hills, hard by a lotus-pool, and served her with wild-grown delicious fruits and roots. He happened to save a forester who lost his way only to pave the way for his capture by the latter later on. He was brought captive to Benares to be trained as a state-elephant. Though by the king's order he was given all fine food to eat, he did not take a morsel, tormented that he was by the thought of the wretched condition of his poor blind mother, having none to look after her in his absence. The king coming to know the fact, sympathised and released him immediately. Being free he hastened off to Mount Chaṇḍoraṇa, carrying cool water in the hole of his trunk to sprinkle over the body of his mother to refresh her in her starvation, and many lotus stalks and roots to feed her. On his arrival at the cave, he found his mother sleeping and fatigued. He took her by surprise. When water was sprinkled over her, she thought some wicked god was causing rain to trouble her. But soon she knew to her delight that her dear son was by her side to comfort her. "Rise mother!" said the son, "why should you there lie when your own, your son, has come!

So far as the Barhut scenes are concerned, the first one seems to represent the situation in which the Bodhisat is going out to procure food for his mother, while the second illustrates the return of the son to his mother with water and victuals.

43. Pl. XXVII. 12. [Scene 125]:—Ki[ṁ]nara-Jātakaṁ.[1]
"A Jātaka-episode of the Kinnaras."

In this small bas-relief, of which the lower portion and lower halves of the three actors are broken, a king is seen seated in his throne to the left, intimidating a pair of Kinnaras, who stand before him to the right. The movement of the king's right hand and rolling of his eyes are expressive of his anger and sternness. The poor Kinnaras stand on the left-hand side of the king in their utter helplessness, the male standing next to the king, holding his necklace with his right hand bent upwards, and the female standing on the left hand with her right. There is nothing to indicate that feathers grow round their bodies. They simply put on big leaves to cover their shame. They are at a loss as to what to say to the king, at whose mercy they now are. Serge d' Oldenburg and

Wisdom of the Kinnaras compels the king to release them.

1 Barua Sinha, No. 211. 2 Stūpa of Bharhut.

Professor Rhys Davids took it to be a scene from the Bhallāṭiya-Jātaka (F. 504)[1]. The objection to this identification is that the Bhallāṭiya-story does not lay the scene in a place where the king can be expected to be sitting in his throne. Indeed we cannot but agree with Dr. Hultzsch in identifying the scene with the episode of Kinnars in the Takkāriya-Jātaka (F. 481)[2] which is being narrated below :—

A hunter being once in the region of Himālaya captured a pair of Kinnaras, a Kinnara and his wife, whom he took and presented to the king of Benares, saying that they were experts in singing and dancing. The king who had never seen such beings before, was very pleased to have them. He rewarded the hunter and commanded the Kinnaras to sing and dance. Apprehending that they would not be able to convey the full sense of their song and that their song was bound to be a failure, they neither sang nor danced. The kings entreated them repeatedly. At last he grew angry and ordered to kill these creatures and cook them as food for him. Seeing the king was angry and determined to kill them, they humbly explained, one by one, the cause justifying their action. The king was so much pleased that he at once sent for the hunter, whom he commanded to set them free in the same place where they were captured.

44. Pl. XXV. 1 [Scene 126] :—Miga-Jātakaṁ.[3]

"Bodhisat's greatness in the deer-birth."

In the lower right corner of this medallion we see a large flooded river, flowing with a current that is unusually strong, and in the upper portion and the lower left corner is a charming deer-forest, where one can see three flowering trees, growing side by side, of which one to the right is covered with blossoms. A deer appears to have gone to the bank of the river from the lower left corner, looking out in the direction of the river and calling out some one in the water. This is the first phase. In the second phase we see this great deer swimming in the river, cleaving the current, lifting up his head far above water, and carrying a man on his back apparently with the intention of bringing him ashore. In the third phase we see in the lower left corner the great deer among his herd, roaming in the forest. He has suddenly halted to look back and ascertain the nature of something unusual that has reached his ears or attracted his attention. He wistfully looks back to find himself confronted with an impending danger of life. He finds two men at some distance behind him, the one in front fully stringing the bow, intending to shoot him

The deer-king frustrates the aim of the ungrateful man who betrays him and secures the boon of safety for himself and for his herd.

1 Buddhist India, p. 209. 2 JRAS, 1912. 3 Barua. Sinha, No. 212.

with an arrow which is put to the string, following the direction of the traitor-like man who stands a little behind him, pointing at the deer with the forefinger of his right hand. The first man in front has a sword put in a sheath and tied to the right side of his waist, and a bundle of arrows held up in front. In the fourth or last phase the great deer is to be seen seated majestically on his four legs, in an open ground, in the midst of the forest, with the tail stretched out behind and the head resting gently upon the uplifted neck. The full-grown and well-shaped body, the branching horns, and the delightfully prominent and bright eyes and dignified looks contribute all to the building up of his lofty personality. He sits with his noble demeanour facing the two men who, coming to him from the upper right corner, now stand before him, with joined hands, listening to the words of the deer-king. Dr. Hultzsch has ably pointed out that the details of this scene can be explained only by the Ruru-Jātaka (F. 482) and not by the Nigrodhamiga (F. 12) as suggested by Professor Rhys Davids. The Sanskrit version of the Ruru story in the Jātakamālā (No. 26) is substantially the same as that in Pāli. The two versions differ in some of the details forming the conclusion which is left to the imagination by the Barhut artist. The story in the main is as follows :—

The Bodhisat was then born as a deer of Ruru species. Having abandoned the herd, he was dwelling alone near a bend of the river, in a grove of Śāla trees mixed with fair-flowering mangoes. The skin of his body was of the colour of a well-varnishsd gold plate, his feet seemed as it were covered with lac. His tail was like the tail of a wild ox, his horns were as silver spirals, his eyes appeared like bright polished gems and his mouth looked like a ball of red cloth. The son of a merchant, oppressed by his creditors, threw himself into the Ganges, the torrent of which bore him away. At about midnight the deer-king heard a pitiful cry which seemed to be the voice of a man. From his resting place in the bush, he went down to the river bank and called out conveying a message of hope to the helpless man. He forthwith jumped into the river, swam to him cleaving the current, bore him to the bank placing him upon his back ; nay, he gave shelter to the man in his own dwelling-place for some days, entertaining him with wild fruits. When the man took leave of him, the good deer-king told him not to betray him to any king or great man. The man gave his word of honour that he would never tell any one anything about the deer-king's dwelling-place. But he soon proved to be an ungrateful traitor. Led away by greed of gain, he soon disclosed the secret of the golden deer to the king of Benares. With a great following, the king started, taking the treacherous man as guide to the dwelling-place of the Ruru-deer. The

traitor-guide led the king on, pointing with his hand. "There is the golden deer in that place yonder." The men who accompanied the king encircled the grove and made an outcry. The king with a certain number of others stood apart, and the traitor-guide also stood not far off. The deer-king heard the sound which appeared to be an outcry of a great host. He thought that in order to be safe, he must anyhow go where the king stood. So he rose and ran towards the king. As the king saw him coming, he put arrow to string, and stringing his bow, stood facing the Bodhisat. As he beheld the king, the great deer called out from distance, beseeching him to stand still and not to wound. Charmed by his honey-voice, the king let fall his bow and stood still in reverence. Now the Bodhisat came up to the king and talked pleasantly with him, standing on one side. All the host also dropped their weapons and came up, surrounding the king. "Who informed you of my dwelling-place here" ? the Bodhisat asked the king with a sweet voice. Just then the wicked man came closer and stood within hearing. The king pointed him out, saying, "There is he that informed me." "O mighty king," said the Bodhisat, "men say one thing with their lips and do another." But do not suppose that I am one of that kind," answered the king, "Please ask the boon of me, I will not deny it once I have promised you. Trust me." The king gave him the choice of a boon. The Bodhisat asked for a boon of safety for all creatures including himself. This boon the king granted, and fulfilled it at all costs.

45. Pl. XX. Gateway Pillar at Pataora. Side. Lower Relief [Scene 19] :—

This represents a scenne of a helpless kinnarī turning a little aside to stare at a man, who is trying amorously to catch hold of her from behind. The absence of prominent pendant earrings and big ear-openings distinguishes the male figure as a human being from the Kinnara and other demigods, and angels. If these observations hold good, there can hardly be any doubt that the subject of the sculpture is a scene of the Chanda-Kinnara-Jātaka (F. 485), narrating how an amorous king miserably failed to force into his embrace a Kinnarī, whose husband he had shemelessly killed.

Kinnarī resents the king's cowardly and shameless offer of love.

The Bodhisat was at the time a Kinnara by the name of Chandra, whose wife was Chandrā. The happy pair dwelt on Chandraparvata, the silver-mountain in the Himalayan region. The king of Benares came to this mountain, all alone, dressed in two yellow robes, and armed with five weapons, for hunting. It was then a hot season, during which the pair of Kinnaras came down from the mountain and wandered about by a stream. One day, they went down into the stream at a certain halting place and scattered flowers, the husband played upon it and sang with a

honey voice, which the wife waving her soft hands danced hard by, singing withal. The king startled by the sweet sound, descended from the hill to watch the playful music of the Kinnara pair. But he soon fell in love with the Kinnarī, and intending to have her as his wife, stealthily shot her husband, who passed away on the spot with a heavy sigh of grief. She soon come to know the tragic fate that befell the Kinnara, her lord. She suddenly cried out aloud, which was natural to a person overtaken by a rude shock of pain. The king knowing her husband was dead, came out and showed himself. At she beheld him, she trembled in fear and took to flight. Standing upon the hill-top, she condemned the king's cowardly sin. The king going up to her, tried to comfort her, tempting her at the same time with the future joy of her as his queen. "No, thou must not come near me !" she cried in the lion-roar, declaiming the king, I will rather slay myself than yield myself to thy passion." The king found her unyielding. He let her alone, and went away. As he left the spot, she came down from the hill to mourn over the body of her husband, whom she brought back to life by virtue of the power of her love and innocence.

The Barhut sculpture just depicts the scene of the king comforting the Kinnarī, who is naramukhī, in spite of the fact that she is described in the Birth-story as a brute[1].

46. Pl. XLVIII. 7 [Scene 127] :—Bhisaharaṇīya-Jātakaṁ.[2]
"The Jātaka-episode of lotus-fibre-stealing."

In this coping-panel Cunningham sees five actors : a Ṛishi or male ascetic, a female ascetic, a layman, an elephant, and a monkey. The Ṛishi and the monkey are both seated and are both speaking. The female ascetic, whose right shoulder is bare, is addressing the Ṛishi and the layman is making an offering of a bundle of lotus-stalks. Behind the Ṛishi is his hut.[3]

Śakra appears before the noble ascetic and confesses that it was he who concealed the bundle of lotus-stalks.

Here we see an ascetic, seated cross-legged on a skin spread over a flat stone, facing a female ascetic, a monkey, a high personage and an elephant. Behind him are his leaf-hut and some plantain or benana trees. The ascetic remains sitting, raising his right hand before his eyes, placing his thumb upon his held out palm. The ascetic is evidently making an oath in the presence of others. The monkey in a kneeling posture and in a similar attitude of right-hand, is making an oath before the ascetic. The female ascetic, holding out the palm of her right hand, is also trying to convince the ascetic of some truth. The elephant, standing

1 See Indian Historical Quarterly, Vol. X. No. 2, June, 1934, for a full explanatory note by Jitendra Nath Banerjee on the Gandhāra sculpture differently illustrating the same Birth-story. The connexion of the Gandhāra sculpture with the Pāli Jātaka in question was suggested to Mr. Banerjee by the author.

2 Barua Sinha, No. 213. 3 Stūpa of Bharhut, p. 79.

behind all, speaks out to prove his innocence. The high personage standing behind the monkey, holds out a bundle of lotus-fibres, as it were to assure the ascetic and his followers that they were doing much ado for nothing. Behind this man is a beautiful full-bloom lotus which serves as an ornamentation as well as an indication for the existence of a lake. The inscription leads us to look here for the illustration of an incident of lotus-fibre stealing. There was a great mystery over the disappearance of a bundle of lotus-stalks, and this was removed when the high personage produced it before all. The scene as pointed out by Professor Rhys Davids and other scholars, is no other than that of the Bhisa-Jātaka (F. 488). The Sanskrit version in the Jātakamālā (No. 19) bears the title Bisa-Jātaka. It relates :—

The Bodhisat was then born as the eldest son of a wealthy Brahmin. After his parents' death he renounced the world, he retired into the Himālaya region taking with him his six brothers, his sister, two servants—one male, one female, and one companion. An elephant, a monkey and the deity that dwelt in the tree of his hermitage became his devotees. His hermitage was built in a delightsome spot near a lotus-lake. Every day some one among his brothers and male servant and companion, went by turns to gather fruits and roots. He whose turn it was would bring in the provender, and laying on a flat stone would make eleven portions of it; then making the gong sound he would take his own portion and depart to his own place of dwelling. At the gong sound others would come up to take his or her allotted portion of the find. After a time they gathered lotus-fibres and ate them, apportioning them as usual. In order to test their virtue, Śakra caused the great ascetic's share to disappear on three successive days. The Bodhisat failing to understand the cause, sounded upon the gong at evening, when all the inmates came together. He was told by each of the three brothers who brought in the food on those three days that he took care to set aside the share of the eldest. He could suspect none. So the disappearance of the ascetic's share of lotus-fibres became a great problem. The deity came out and sat down in their midst. The elephant, too, came and stood on one side. The monkey also came and stood on one side. They all decided to prove their innocence by solemn oath. Each of them made an oath. The Bodhisat also made an oath on his part to assure others that he had not said that the food was not there when it was. When they had finished making their oath thus, Śakra appeared in their midst to assure them that it was he who made the lotus-fibres disappear, and return to his heaven, praising them for their sincerity.

The ascetic's brothers, servants, and companion do not appear in the Barhut scene, and that evidently for want of space.

47. Pl. XXVI. 6 [Scene 128] :—Chadaṁtiya-Jātakaṁ.[1]

"Bodhisat's suffering in his birth as six-tusked elephant."

The noble elephant suffers the pain of death to yield his tusks to a hunter employed by a queen.

Here is a tall and large banyan tree that divides the medallion into two halves. The tree shows several hanging roots and four main branches that spread in four main branches that spread in four directions. In the upper right corner we see an elephant who alertly looks out, holding out his trunk in front. Two other positions lower below go to show that the same elephant has now come up to the foot of the tree and approached a hunter who is seen standing in the left half, under the cover of the tree. From the lower positions it is clear that the elephant is a six-tusked beast with a lotus ornament on his forehead. In the fourth position the elephant appears in the left half and slightly bends down his body to enable the hunter to seize his tusks and saw them off. The hunter appears in an ordinary human dress, with a turban on his head. There is nothing unusual in the height or size of the elephant. The bow and pointed arrows are lying on the ground before the hunter. The illustrated scene, as appears from its label, is one of the Chaddanta-Jātaka (F. 514) which is a favourite theme of early Buddhist art, and reaches us in several versions. We need not here institute a comparison of different literary versions[2] and artistic representations.[3] But we must observe that here, as perceived by Cunningham,[4] we have a simple representation of a simpler story, much simpler than the Pali Commentary version, even simpler than the Pali Canonical legend as we find it reproduced in the Commentary in the form of an exquisite ballad. The earlier Canonical legend here contemplated can be easily gleaned from its later recast, and it relates :—

The Bodhisat was then born as a six-tusked mighty elephant, all white, and guarded by a large herd of windswift elephants with tusks as big as chariot-poles. He lived with his attendant herd on a golden cliff beyond seven long mountain ranges in the north. Beneath this cliff was a royal banyan tree whose roots supported eight thousand spreading shoots. Hard by was a deep pool where the royal beast used to bathe and swim. A queen saw this elephant in a dream, and would have his tusks at all costs. A bold royal hunter was sent to the golden cliff who marked the place where the elephant dwelt and the pool where he bathed

---

1 Barua Sinha, No. 217.

2 See M. L. Feer's comparative study of five literary versions in JA for 1895, Tome V., N.S.

3 See M. Foucher's comparative study of artistic representations in his Beginnings of Early Buddhist Art.

4 Stūpa of Bharhut, p. 64.

and swam. The hunter sank a pit near the pool, and as the elephant passed by, discharged a mighty shaft. Though wounded, the noble being remained unruffled in spirit, and approaching the man, asked him what his object was in slaying him thus. On being told that he came there for his tusks, the elephant said :—

"Rich store of goodly tusks have I,
Relics of my dead ancestry,
And this well knows that cursed dame,
'Tis at my life the wretch doth aim.
Rise, hunter, and or ere I die,
Saw off these tusks of ivory :
Go bid the shrew be of good cheer,
The beast is slain ; his tusks are here."

Forthwith the hunter began to saw off the shining tusks from the noble creature's jaw, and hastened back home with the matchless prize, and handed it over to the queen, saying :

"Here are his tusks : the beast is dead."

The Vāyu-Purāṇa (LXIX. 222) represents the Shaḍdanta as a hybrid, the ākulika or nervous class of elephants, characterised by elongated lower lips, charming looks, black colour, handsomeness, august shape and broad face. In the Jātaka descriptions these elephants appear to be all white in colour. The Canonical description makes it clear that the elephant-king was called Chaddanta because he possessed six tusks (kuñjaro chabbisāṇo). In the Barhut sculpture the elephant is decidedly six-tusked. In all the Sanskrit Buddhist versions Shaḍdanta or Six-tusked is the substitute for Chaddanta. But the Pali Commentary version shows a grand ingenuity in explaining Chaddanta as meaning a denizen of a place near the Chaddanta lake, forgetting the fact that the lake itself derived its name from the six-tusked elephants that dwelt near it. The Barhut artist represents the royal banyan as a tree with four main branches, and this is a point of agreement with the Commentary story. But it is a problem whether the art influenced the literature or vice versa.

48. Pl. XXIII. 5. [Scene 129] :—This is a spirited scene where Cunningham sees on the right a man hurling a large stone at a monkey who clasps him by his legs. In the middle he sees a monkey trying to escape up a tree from a man who clings tenaciously to his back. The third monkey is lying along the branch of a tree with his head.

A good monkey saves the life of a man who threw a stone to break his head.

It is not correct to say that there are three monkeys and two men, for in truth one monkey and one man have been represented in three successive phases of the same sculptured story. In the first phase the long-tailed monkey seated on the left on a branch of a fruit-tree, growing upon a rocky mountain, is gazing downwards at the man who is lying helpless far below. In the second phase, shown in the middle, the monkey is climbing up a creeping plant or a hanging branch of a tree, carrying on his back the man who holds him fast, clasping his neck by his hands. In the third phase on the right the man is about to throw a stone, aiming at the head of the monkey who appears to rest, being tired and exhausted. Dr. Hultzsch has rightly identified the scene with the Mahākapi-Jātaka (F. 516),[2] of which the Sanskrit version is to be found in the Jātakamālā (No. 24). This, as will appear from the following narration, is a simple but pathetic story of a compassionate monkey suffering brutally at the hands of an ungrateful man, whose life he saved :—

The Bodhisat then came to birth as a monkey, a long-tailed ape, who lived alone in the cavity of a rocky precipice. A Brahmin husbandman roamed through the pathless jungle tracts to seek his oxen, and was lost in the maze of a vast wilderness. Full seven days passed away, and he had nothing to eat or drink. He seeing at last a Tinduka tree that had grown over that rocky precipice, climbed upon it to eat the fruits that were hanging from its hanging branches. The branch upon which his body rested suddenly broke, and he fell into a hell-like abyss where he lay utterly helpless for ten days. While going from bough to bough in search of fruits, the good monkey caught sight of the unfortunate man who was lying far below. The Brahmin eagerly looked up to him for help, and said that he would pour all blessings upon him if he could find a way of saving him The monkey tried his strength, and coming down, asked the Brahmin to climb upon his back, cast his arms upon his neck and hold him fast, while he unlifted him from the rocky fastness. The Brahmin did as he was advised. The monkey having thus hauled the man out, felt tired and wanted to sleep. He requested the man to stand as guard by his side while he slept. As he was sleeping, an evil thought arose in the heart of the Brahmin, and led by it, he picked up a stone which he hurled at the monkey, his benefactor, meaning to break his head. Though the stone hit the monkey's head, failed to kill him. The monkey knowing the man's cruel intention, quickly bounded up a tree, and sitting upon a branch, reproached and cursed the ungrateful sinner.

1 Stūpa of Bharhut, p. 105. 2 JRAS, 1912.

49. Pl. XLVI. 4. [Scene 130] :—Here Cunningham sees two men and one woman, who are standing before a seated ascetic. Behind the Ṛishi is his hermitage. The men are standing in a respectful attitude with their hands crossed on their breasts, while the woman is eagerly listening to the words of the sage, who is addressing them with his forefinger raised. The present scene may perhaps be intended to picture the arrival of Rāma, Sītā and Lakshmaṇa at the hermitage of the sage Bharadvāja.[1]

At a suggestion from a superstitious woman, the Brahmin minister, and subsequently the king spat on the matted hair of a guileless ascetic to get rid of sin.

This description and identification are far from being correct. The ascetic with his matted hair, gracefully fastened into a knot directly on the back of his head, is seated on one side of his cottage, keeping his legs erect in front within a noose passing round his body. Like his garment, his seat seems to be made of bark. It may be that he is sitting upon his upper garment, spread on the ground. He sits with his head slightly reclined to his left side, and attention fixed upon a ring-like object, say, a mystic-circle (kasiṇa-maṇḍala), grasped with two hands from two sides, and held up. His cottage is a four-sided hut, with a roof of four blocks, joined together and meeting in a point at the top. It is typically a kūṭāgāra or one-peaked house, showing a kamaṇḍalu near the door in front. Of the two men, one on the left hand side of the ascetic and a tree, calmly stands, placing his left hand upon his breast, while the second man stands in a slightly kneeling posture, holding his hands across his breast, the palm of his right hand placed on the back of his left hand. Both appear to be royal personages. But the attitude of the hands of the second man is not that of reverent supplication. The robust woman who stands behind the second man, holding the hip-belt with her left hand, looks like a courtezan rather than a wife or a queen. The underlying story is no other than an episode of the Sarabhaṅga-Jātaka (F. 522), in which a courtezan, a Brahmin minister and a king are found guilty of having subjected an innocent ascetic to humiliation.

One of Ṛishi Śarabhaṅga's disciples, Kṛiśavatsa by name, lived in a park, in the city of Kumbhavatī in the dominion of King Daṇḍaki. A royal courtezan, who was deposed from her position, took him to be an Ill Luck. The king, calling her to mind, restored her to her position. She fondly believed that she got back her former position because she had got rid of her sin on the person of the Ill Luck. Not long after the king deposed his Brahmin chaplain and minister from his office,

1 Stūpa of Bharhut, p. 103.

and reinstated him. He, too, believed that he recovered his honour because he had got rid of his sin in the same way, following the advice of the courtezan. Now came the turn of the king. A disturbance broke out on his frontier, and he went forth with a division of his army to fight. At the advice of his chaplain and minister, he went into the park. He first of all nibbled his tooth-stick and let his spittle and the stick fall on the ascetic's matted hair, and bathed his head. The ascetic patiently endured this humiliation, bearing no evil thought. But the gods were angry enough to destroy the king on the seventh day with all his subjects and kingdom. Ṛishi Śarabhaṅga was then the Great Being.

The Barhut bas-relief represents a scene where the king is seen getting rid of his sin, after his Brahmin minister and courtezan had done it already.

50. Pl. XXVI. 7. [Scene 131] :—Isisiṁgiya-Jātakaṁ.[1]

"Ṛishyaśṛiñga-Jātaka".

"The scene of Ṛishyaśṛiñga's birth".

Ṛishyaśṛiñga takes his birth in the womb of a doe.

Here in the upper half we see an aged hermit seated on his legs in the right, and his cottage in the left. Between the hermit and his cottage is a fire-place where the sacred fire is kept burning. A little higher up, between the hermit and the fire, there is to be seen on the ground an earthen pot covered with an earthen lid, and between the fire and the cottage, one can see two earthen bowls with handled earthen lids hanging in nets of cords from a horizontally fixed up bamboo pole or wooden bar. The locks of matted hair are coiled, piled up and knotted on the hermit's head. The hermit shows long board and mustache on his face, and wears two garments of bhūrja leaves, the upper garment tied round his body as a covering for his breast. He represents indeed a typical Vedic ascetic and fire-worshipper. His cottage is a one-peaked house, the vaulted roof of which is thatched with bhūrja leaves in a distinct style, where we see the roof is divided into some layers, each layer consisting of several square slices. While the hermit is engaged in attending to the sacred fire, his curiosity is aroused by a strange sight below, namely, the struggle of a fully developed and healthy human child to come out of the womb of a doe. The second position shows that the hermit has come to rescue the child, apparently crawling on the ground or walking on his knees and stretching out his hands. The strangest way in which the doe attained maternity and the hermit became instrumental in bringing it about is naively represented in the lower right corner where the hermit is found sitting on

1 Barua Sinha, No. 218.

his legs, and the doe is seen drinking water from his mingeing place. The ground outside the cottage appears to be a grassy woodland. Cunningham has identified the scene with the Nalinikā-Jātaka (F. 526)[1], and Prof. Rhys Davids with the Alambusā (F. 523)[2]. The Sanskrit counterparts with the very same titles are to be found in the Mahāvastu. Such counterparts can also be traced in the Avadānakalpalatā, where the Alambusā story is entitled Ekaśṛṅgāvadāna. We identify the scene with the story of Ṛishyaśṛiṅga's birth from a doe which is common to the two Jātakas, and suspect that the Alambusā and the Nalinikā Jātakas represent just two phases of one and the same original legend of Ṛishyaśṛiṅga, corresponding to the Ṛishyaśṛiṅga story in the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa, preferably to that in the former. In the Buddhist treatment the Nalinikā-Jātaka remains a counterpart of the Great Epic legend, and it is possible that the phase represented in the Alambusā-Jātaka resulted from a purely Buddhist manipulation. Taking the two Jātakas together, the story of Ṛishyaśṛiṅga can be summarised thus :—

The Bodhisat was then born in Benares as a noble and learned Brahmin who adopted the ascetic life, and lived in a forest home in the Himalayas. His pretty leaf-hut could be seen in the midst of plantain and bhūrja trees, and smoke could be seen rising from the flame of fire nursed by him. A certain doe in the hermit's mingeing place attained maternity as a result of eating grass and drinking water mingled with his semen. Henceforth the doe became enamoured of him and always resorted to the spot near his hermitage. The wise hermit examining into the matter learned the facts of the case. In due course of time the doe gave birth to a male child, whom the Bodhisat watched over with a father's affection. The child was named Isisiṅga or Ṛishyaśṛiṅga. When the lad reached years of discretion, he was admitted to holy orders. His father kept him far out of the reach of women and fairies, and strongly advised him not to be tempted by them. But so earnest the young ascetic was in his practice that Śakra trembled in his throne, and soon sent down Alambushṣā, the most accomplished among the heavenly nymphs, to tempt him while his father was absent from the hermitage, and failing thereby to achieve his aim, instigated the king of Benares in a dream to send his daughter to seduce the innocent youth as a means of compelling the gods to pour down rain. Ṛishyaśṛiṅga of the Buddhist story was tempted without being overcome by temptation. Neither the princess nor the nymph was successful by all their wiles and guiles and pleasing arts to lead him astray from his path.

---

1 Stūpa of Bharhut, pp. 64-65. 2 Buddhist India, p. 209.

The Barhut title Isisiṁgiya-Jātaka[1] indicates that Ṛishyaśṛiṅga himself was the hero of the sculptured story, and not his father. The fact that the hermitage was marked by the growth of bhūrja plants is brought out by the hermit's garments and the material with which the roof of his cottage has been thatched.

51. Pl. XXVII. 14. [Scene 132] :—Cunningham has read the details of this scene with his strong bias for the Ramayanic story of Rāma and his wanderings. He sees in it Bharata standing in front of Rāma and Sītā, holding an umbrella and a pair of shoes in his right hand, and a pole in his left. The pole rests on Bharata's shoulder, while in mid-front a dog, apparently belonging to Rāma, sits at his feet facing Bharata.[2]
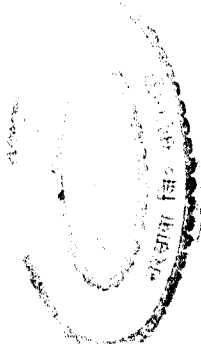
The good ascetic does not enter the palace, being warned by a dog.

The upper left and the lower right corners of this Coping-panel are slightly injured. The uninjured portion presents the front view of a building with its long roof. In the left half we see a man and a woman in front of this building, either walking on, the latter behind the former, or standing together, the latter holding with her left hand the right hand of the former. The closed fist of the man's left hand and the general attitude of the upraised forefingers of their right hands are clearly expressive of a grim-determination to teach a proper lesson to some one. In the middle we see a big dog guarding the entrance or the way leading to the palatial residence. This dog seeing an ascetic coming, sits on its haunches or leans forward on its forelegs, and loudly barks uplifting its head, apparently meaning to stop the stranger on the way. The ascetic, knowing not the cause, pauses to understand the dog's intention. He solemnly stands, with his genial presence, looking at the dog. It is he who carries a sunshade and a pair of shoes in his right hand, and a single or a triple staff in his left. The staff rests over his left shoulder, and his bowl is suspended from it in a net of cord which is fastened to its upper end. Dr. Hultzsch has rightly identified the scene with the Mahābodhi-Jātaka (F. 528,) the Sanskrit version of which is to be found in the Jātakamālā (No. 33). Instead of one, we must count two versions in Pali, viz., the Canonical and the Commentary. The Canonical ballad itself, as reproduced in the Commentary, shows two stages in its growth, it appearing in its second or final stage to be a combination of two distinct legends or dialogues in verse, the one of which supplies us with a literary counterpart of the Barhut story, and the other represents a Buddhist fabrication exposing the pernicious moral consequences of the doctrines of some of the Indian teachers who were contemporaries of Buddha and figure in Buddhist literature as Heretics. The very title Mahābodhi-

1 Buddhaghosa refers to it as Migasiṅgi-Jātaka.
2 Stūpa of Bharhut, p. 74.

Jātaka betrays the smuggling hand of the Buddhist. The sculptured scene represents a simple episode which is common to all the versions of the Jātaka, and the one to which the title Mahâbodhi is inapplicable. Unfortunately, there is no inscription to guide us in our decision as to whether the Jātaka, as known to the Barhut sculptor, bore the title Mahâbodhi or a title other than Mahābodhi. The Birth-story, represented by the Canonical ballad in its earlier form, fully explains the details of the Barhut scene as will appear from the following narration :—

The Bodhisat was then a holy ascetic of wandering mendicant vow, a Parivrājaka of ripe wisdom and calm demeanour, equipped with such requisites as the antelope's skin, the staff, the umbrella, the shoes, the hook, the bowl and the cloak. He lived for twelve years in the royal park near the city of Benares, coming to the palace to beg his daily food, being entertained and honoured by the king, sitting on the royal couch and sharing the royal food. The king, who was so long his devotee and admirer, began to suspect a great harm from him, and wanted to get rid of him and drive him away by means of diminishing the honours paid to him day after day. On the first day after this he was served with royal food but offered a bare couch to sit upon. The next day when he came, he was offered the bare couch but served with mixed food, the food prepared for the king along with that prepared for others. On the third day he was let off with a quantity of mixed food from the head of the stairs. On the fourth day he was offered some broth made of rice dust, and that on the terrace below. "How is it", the king thought, "that this ascetic had not gone away though he knew that the honours paid to him diminished day after day ? His motive must be something else than honours." Thus taking him to be a mischievous visitor and a dangerous enemy, the king employed some men to kill him when he came and stood inside the door. As the king after his evening meal lay on the royal couch, he felt the pang of a guilty conscience. Getting no comfort in his bed he rolled about from side to side, without exchanging a single word with the chief queen who lay beside him. "How is it, Sire, that you do not say a word to me ? Have I in any way offended you ?" "No, lady," he said, "but they tell me the mendicant has become an enemy of ours, and I have ordered my men to cutt off his head when he comes to the palace to-morrow." She comforted him, saying, "If, Sire, he is your enemy, why do you grieve at killing him ? Your own safety must be attended to, even if the enemy you slay is your own son." Their conversation was overheard by the dog who guarded the palace door. Early next morning the dog lay with his head on the threshhold, watching the road by which the Bodhisat came. The holy ascetic came at the usual hour from the royal park and approached the palace door. The dog seeing him opened his

mouth and showed his white teeth and gave a loud bark to warm him of the danger inside. The ascetic understood what the dog meat to say. He noticed the change in treatment day after day, and knew at once that some one had slandered him to the king. So he was prepared beforehand to go away, and waited a few days only to ascertain what the matter was. The friendly service of the dog proved to be a sufficient warning for him to depart. As he was going away, the king standing at the door, with the queen beside him, inquired :

What mean these things, umbrella, shoes, skin-robe and staff in hand ?
What of this cloak and bowl and hook ? I fain would understand
Why in hot haste thou wouldst depart and to what far-off land."

The ascetic replied :

"These twelve long years I've dwelt, O king, within thy royal park;
And never once before to-day this hound was known to bark.
To-day he shows his teeth so white, defiant now and proud,
And hearing what thou toldst the queen, to warm me, barks aloud."

The king confessed :

"The sin was mine : thee, holy sir, my purpose was to slay ;
But now I favour thee once more, and fain would have thee stay."

The ascetic said :

"My food of old was pure and white, next motely 'twas in hue,
Now it is brown as brown can be. 'Tis time that I withdrew.
First on the dais, then upstairs and last below I dine ;
Before I'm thrust out neck and crop my place I will resign.
Who stay too long find oftentimes that friend is changed to foe ,
So ere I lose thy friendship I will take my leave and go."

The king said :

"Though I with folded hands beseech, thou will not lend an ear,
Thou hast no word for us to whom thy service would be dear,
I crave one favour : come again and pay a visit here."

The ascetic said :

"If nothing comes to snap our life, O king, if thou and I
Still live, O fosterer of thy realm, perhaps I'll hither fly,
And we may see each other yet, as days and nights go by."

Thus the ascetic took leave of the king and went away, exhorting the king to be good, vigilant and righteous in discharging his duties. Here ends the Canonical

ballad in its earlier form, and here also ends the story of the sculptured scene. The hope held out to the king by the ascestic that he might revisit the place and they might see each other served as a peg for the second episode, developed somewhat differently in the three versions.

51. Pl. XLV. 3 [Scene 133] :—The scene is thus described by Cunningham :

"A sage, with his right shoulder bare, is seated on a morha, with his right leg raised, in the Indian fashion, and his left foot resting on a footstool. In the middle stands a female, who is apparently arguing with the sage, as both have their right forefingers raised as if addressing each other. To the right a female is leaving the scene. There is nothing to attract special attention in this sculpture, save perhaps the simple dressing of the women's hair, which is merely combed down the back of the head and fastened in a knot behind the neck."[1]

The queen convinces the king of her maternity.

The departing figure may not be a female.[2] The male figure in front of the female in the middle is not perhaps seated on a morha but on a seat looking like a bedstead or a couch. The female has her left hand placed on her waist-cloth covering the lower part of her abdomen, which is very prominent. She looks as if eager to explain with the upraised forefinger of her right hand some important matter to him, but he does not care even to look at her and the expression of his right hand suggests that he is not convinced of the truth of her story, or that he is not willing to believe her. If all these conjectures be right, the scene can be rendered thoroughly explicable in the light of the first part of the Kuśa-Jātaka (No. 531), describing the circumstances of the birth of Prince Kuśa.

The story relates that, long ago, the subjects of king Okkāka or Ikshvāku of the Malla country, were very anxious to see him leave at his death a descendant to continue his line. Happy and prosperous that they all were under his rule, they could not be satisfied with the idea that he should not have a son born to him before his death. The king who was always bent upon doing all that he could to please his subjects, gladly consented to try all rightful means, in accordance with the rules of ancient morality, to obtain the birth of a son even sending out his chief queen Sīlavatī[3] into the streets for a week as a solemn act under religious sanction (dharma-

1 Stūpa of Bharhut. p. 102.

2 The mere representation of hair combed down the back of the head and fastened in a knot behind the neck cannot be regarded, according to the Barhut convention, as the characteristic of a female figure. Such a way of dressing the hair is not peculiar to women.

3 Alindadevi, according to the Mahāvastu-story.

nāṭaka)[1]. By the power of the queen's virtue the abode of Śakra, king of the gods, began to glow, and Śakra, determined not to allow the virtuous queen to be molested by the mob appeared in the disguise of an aged Brahmin carrying her off as she was let out.[2] Śakra transported the queen in an unconscious state to his abode, the heaven of the Thirty-three, where he granted her a boon of two sons, one of whom would be ugly but wise, and the other handsome but a fool. The queen preferred to have the ugly son first. Śakra presented her with a piece of kuśa grass, a heavenly robe and sandal wood, the flower of the coral tree and a Kokanada lute. Thereafter she was transported back to the king's bed-chamber and laid down on the same couch with the king. Śakra, disguised of course as the aged Brahmin touched her person with his thumb and at that moment a god from the heaven of the Thirty-three descended and took birth in her womb. He then straightway went back to his heaven. The wise queen knew that she had conceived. The king on waking was surprised to see her and asked who had brought her there. He could not believe when she told him that she was brought there by Śakra. "With my own eyes," he exclaimed, "I saw an aged Brahmin carry you off. Why do you try to deceive me ?" She first showed him the kuśa grass as a proof, which failed to convince him. But on being shown her heavenly robes, he believed her. But he was really concerned about her motherhood and was exceedingly glad when the queen assured him of her maternity.[3]

Now, examined in the light of this story, the bas-relief can be explained thus : the departing figure, a male or a female, is Śakra in disguise, quickly returning to his heaven ; the male figure seated on a couch is King Ikshvāku in an attitude suggestive of disbelief in what the woman before him is telling him ; this woman is no other than his chief queen Silavatī or Alindadevī.

There is a Sanskrit version of the story of Kuśa in the Mahāvastu,[4] which differs in many important details from the Pāli. It is difficult to ascertain whether the Barhut sculpture follows the Pāli or the Sanskrit version.

---

1 The story records three successive attempts. First the dancing girls were turned out ; then the court-ladies, lastly the chief queen herself. The details are extraordinary but difficult to render with grace or even the original nāivety.

2 With ribald details in the original after the style of Shakespeare's witticisms.

3 The immorality of the story as a conte drolatique need not prejudice the reader. In most of the Barhut sculptures, the Buddhist Birth-stories represented by the sculptor are not necessarily moral ones. For instance, the story of Isisiṃgiya or Ṛishyasriṅga is depicted only by the representation of the first part relating to the birth of the ascetic from a doe.

4 Mahāvastu, Senart's Ed, II. pp. 420 ff. See Rajendra Lāla Mitra's 'Sanskrit Buddhist Literature of Nepal, 'pp. 142 ff ; also pp. 110 and 316.

52. Pl. XXV. 4 [Scene 134] :—Mugapakaya-Jātakaṁ.[1]

"The Jātaka where wisdom ripens in silence."

In the upper left corner of this medallion is a palace or a palace gate, in front of which are two men standing, either facing each other or both facing a chariot kept standing in the lower left corner. Four caparisoned horses are yoked to the chariot in which a man is seen seated cross-legged with a grown up boy held up on his hands. In the lower right corner a man, say the charrioteer, stands on the ground in a reflective mood, placing his right hand upon his breast, while an ascetic is seen departing on his left side. In the last phase the ascetic is found seated cross-legged with his matted hair and bark garments, the upper and the lower, between two trees in a forest, addressing a royal personage who stands before him in the left in the upper right corner, with joined hands and a number of men standing behind him. The Barhut sculpture evidently represents the central episode of the Mūgapakkha or Temiya Jātaka (F. 540), as well appear from the following narration :—

The prince, pretending to be cripple, deaf and dumb, moves his limbs, opens his mouth when he is about to be buried, being carried to a forest in a chariot and becomes an ascetic after his release from the custody of the charioteer.

The Bodhisat was then born as Prince Temiya into the family of the king of Benares. Recollecting the torments he suffered in hells in his previous births, he pretended to be dumb, deaf and incapable idiot. His birth filled the heart of the king and of the people with joy, while his incapacity and dumbness caused them much sorrow and shame. When he was born, the foretellers declared him to be a prince of fortunate and auspicious marks. But when they were again consulted after sixteen years, they altered their verdict and advised the king to bury him as an ill-luck in a charnel-field, conveying him there in an unlucky chariot drawn by some unlucky horses. The king summoning his charioteer, ordered him to take the prince to a charnel-field, as advised by the fortune-tellers, and bury him after breaking his head. In the early morning, the charioteer yoked the chariot, made it stand at the gate, and entered the royal bedchamber where the queen lay embracing her dear son. He came down from the palace, lifting the prince up like a bundle of flowers, and mounted the chariot. He thought of driving the chariot, as ordered by the king, to the western gate, but being confounded by the unseen power of the god, he led his chariot by a wrong way and passed out of the city by the eastern gate and reached the end of a forest which appeared to him to be the channel-field. He, leaving the prince in the chariot, alighted from it to dig the hole with a

1 Barua Sinha No. 221.

spade. The prince who had hitherto never moved his hands nor feet, moved about and alighting from the chariot, went up to the hole which the charioteer was digging. The charioteer looked up and was astonished to behold a glorious human form. He found forthwith that the prince so long pretended to be what he was not. The prince told him many words of wisdom which opened his eyes. He tried in vain to persuade the prince to go back to the palace, for he had already made up his mind to become an acestic. Śakra sent down Viśvakarmā to build a hermitage in a grove of trees. The prince entered the leaf-hut to put on the red bark garments, the upper and under, throwing the black antelope skin on his shoulder, tying up his matted hair, and carrying a pole on his shoulder and a staff in his hand. As a full-dressed ascetic he went out and returned to the hut, and sitting on a rugged mat, he became lost in meditation. The charioteer returning to the palace, informed the king of all that he had seen. The king in a large procession hastened to the spot. The story relates that the queen, too, came there, surrounded by the royal ladies. The king walked on foot into the hermitage, and respectfully greeted the ascetic who came out of his hut to greet the king with courtesy. In vain the king persuaded the ascetic to revert to the prince life. The ascetic, on the contrary, made such an appeal that the king could not but adopt ascetic life with all of his household and kingdom. In the Barhut scene the queen's part is dispensed with. Here the king alone appears in the hermitage with the people behind him.

53. Pl. XLIV. 2 [Scene 135] :—Usukāro Janako rājā Sivalādevi.[1]

"The arrow-maker, King Janaka, Queen Sīvalī."

The instruction from the arrow-maker's explanation of his method of work enables King Janaka to get rid of Queen Sivalī pursuing him.

In this scene Cunningham notices three figures, each with a label overhead giving the name. The chief figure is of a royal personage seated to the left, and before him stand two others, a male and a female. The name of the seated figure in the left is lost, leaving the trace of the first letter which can be read as 'U' or 'B'. The name in the middle is 'Janako rājā', and that to the right 'Sivalā devi', The bas-relief apparently represents a scene of the Mahājanaka-Jātaka (F. 539), where Prince Janaka performed the required feats of bending and unbending the great bow to be united to the beautiful and youthful Princess Sīvalī.[2]

We fail to understand how the man seated to the left can be a royal personage. He is apparently a person whose business it is to make and test arrows. The two missing letters of the first name, as restored by Dr. Hultzsch, go to show that he is

1 Barua Sinha No. 219. 2 Stūpa of Bharhut, p. 95.

an arrow-maker (usukāra). He sits before a fire-pan, resting his feet on a piece of stone, looking like a foot-stool at the door of a house. He is deeply engaged in his work, baking an arrow in the fire-pan and straitening it, and carefully looking at it, with his right eye opened and left eye closed, the arrow being slantingly held up, grasping it with his two hands from two sides. King Janaka eagerly stands before him, with his great personality upraising his right hand, bending his left hand and raising its forefinger. His gait indicates that he has just reached the spot and halted, and chanced upon a curious sight, while Queen Sīvalī is still pursuing and following him, with the tressy folds of her beautiful head-dress hanging hehind and flapping, which is expressive of her quick movements. We cannot but agree with Dr. Hultzsch in identifying the scene with an episode of the Mahājanaka-Jātaka, in which King Janaka, Queen Sīvali and an arrow-maker are the three actors. A similar episode, fetching the same moral, occurs in the Śāntiparva of the Great Epic, Ch. 178.[1] The Jātaka-episode is as follows :—

King Janaka left the world to adopt the life of an ascetic. Queen Sīvalī followed him as he was retiring. They entered a city, where the king going on his begging round, reached the door of the house of an arrow-maker, while the queen stood on one side. The arrow-maker was busy with his work. He heating an arrow in a coal pan, melted it with some rice-gruel, and closing one eye, was looking with other while he made the arrow straight. The King inquired, going up to him :

"One eye thou closest and dost gaze
with the other sideways.—is this right ?
I pray, exptain thy attitude ;
thinkest thou, it improves thy sight ?"

The arrow-maker replied :

"The wide horizon of both eyes serves
only to distract the view ;
But if you get a single line, your aim
is fixed, your vision true."

After these words of advice, he was silent. minding his business, unmindful of surroundings. The king got at last a true warning to be strong-minded. He said, asking the queen to turn back :

"Here are two paths : do thou take one, the other by myself take I ;
Call me not husband from henceforth, thou art no more my wife ; goodbye."

---

1 Jacob's Laukika-nyāyāñjali, Part II. 11. p. 11, under Ishukārauyāya.

54. Pl. XVIII. N. Gate. Corner Pillar [Scene 136] :—

Vitura-Punakiya-Jātakaṁ.[1]

"The Jātaka-episodes of Vidūra and Pūrṇaka."

The sculpture illustrating the Jātaka-episo... s of Vidūra and Pūrṇaka fills three square panels, into which the whole outer side or face of a Return Corner pillar is divided. The upper panel is subdivided by a Buddhist railing into two halves, each of which appears as a separate panel containing the representation of a distinct episode. We can say that the episodes are distributed into four quadrangular panels of unequal size which can be named as the uppermost, the middle upper, the middle lower, and the lowermost. Cunningham could well perceive that the panels are not put below one another to synchronise with the succession of the episodes as we find them narrated in the Pāli Vidhūra-Paṇḍita-Jātaka (F. 545). He has tried to establish the synchronism by putting the middle upper panel after the uppermost and the lowermost panel before the middle lower. But our description will convince the reader that this is possible only if we consider the four panels in this order : (1) the uppermost, (2) the lowermost, (3) the middle lower, and (4) the middle upper.

Pūrṇaka Yaksha getting possession of the wise Vidūra as a prize of victory in in a play at dice with the Kuru-king, carries him into the presence of the Nāga king and the Nāga queen whose daughter he is anxious to marry.

(1) Uppermost Panel—Here, in the left half, there is a rocky mountain top, where we see just three growing and two bears peeping out of the caves or holes. A handsome Nāga maiden stands in a dancing attitude on the right, singing out a song which is listened and responded to by a young man. Though one of the trees stands between them, there is no clear indication that the young man had concealed himself under its cover before he came within the view of the young woman. But he is represented as holding with his left hand a long scarf, suspended from the air, which is clearly indicative of his descent from the high. The upper part of the single snake-canopy that was over the head of the Nāga maiden is broken off. She appears to be female figure shown under the palace gateway. Here, in the left half, Cunningham rightly sees a representation of the Kālagiri mountain on which the two lovers, the Nāga princess Irandatī or Arundhatī and the youthful Yaksha Pūrṇaka met each other for the first time.

(2) Lowermost Panel—Here is a royal palace of the Kuru-king Dhanañjaya which shows small pinnacles on its roof and is provided in front with an outer gateway opening out through a Buddhist railing. Two large garlands are hanging

1 Barua Sinha, No. 220. 2 Stūpa of Bharhut, p. 82.

from its upper storey, and six ladies are seen peeping out through its two doorways and through spaces between its pillars. The ladies are evidently watching some situation before their eyes. The wise Vidūra with his dignified appearance is gently stepping out through the outer gateway, while Pūrṇaka Yaksha is soberly waiting outside with a caparisoned horse. About one third of this panel on the right is missing, and it may be, as Cunningham suspects, that here was represented a scene of the Kuru-king and the Yaksha playing with dice, the latter defeating the former and winning the possession of the Kuru-councillor Vidūra as a prize.

(3) Middle Lower Panel—Here Cunningham finds several portions of the story represented in continuous action. In the lower right corner he sees the Yaksha just beginning his aerial journey, which is continued further to the left where Vidūra is holding on by the tail of the flying steed, which is rapidly approaching the rocks and forest of the Himālaya. In the upper right corner he sees the Yaksha has seized Vidūra by the feet and is dashing his head on the rocks, while in the upper left corner Vidūra is standing by the side of the Yaksha, and teaching him the Excellent Law of Buddha, the precepts of which he enforces with his upraised hand.[1]

The action is misunderstood. The four continuous phases of the story seem to have been represented thus : (a) in the right lower corner the Yaksha Pūrṇaka has come so far away in his aerial journey from Indraprastha, the Kuru-capital, carrying the wise Vidūra holding on by the tail of his flying horse, that he now appears by the side of Kālagiri, the Black mountain, presenting the three growing trees on its summit ; (b) in the upper right corner the Yaksha remains holding the invincible Kuru-councillor with his head downwards in the sky ; (c) in the upper left corner the wise Vidūra, standing on the right and instructing the Yaksha who is standing before him on the left, strongly advises the latter to carry him to the residence of the Nāga-king ; (d) finally, in the lower left corner the Yaksha continues his aerial journey, carrying the wise man.

(4) Middle Upper Panel—Cunningham vainly seeks to find here a scene of the Yaksha Pūrṇaka coming into the presence of the king and queen of the Nāgas to ask their permission to marry their daughter Arundhatī. What we can actually see in the left half are the outer gateway of the Nāga-palace and the entry of Vidūra evidently walking in behind Pūrṇaka. In the right half we see Pūrṇaka standing, with Vidūra behind him, in the presence of the Nāga-king Varuṇa and the Nāga-queen Vimalā who are seated on the left, side by side, on a couch, the queen on the left hand side of the king. Cunningham rightly observes that the king has a five-

1 Stūpa of Bharhut, p. 82.

headed snake-canopy and the queen has only one snake over her head. The king with his upraised hand, is conversing with Pūrṇaka Yaksha who is addressing him with his hands crossed over his breast in an attitude of respect. The place of this meeting of the four is certainly the interior of the royal residence of Varuṇa. We must say with Cunningham that with this scene the sculptured illustrations of the Vidhūra-Paṇḍita-Jātaka come to an end, as with the conversion of the Yaksha the real story of the Jātaka also ends, the marriage of the Nāga princess to Pūrṇaka and the safe return of Vidūra to Indraprastha being only the natural sequence of the previous incidents, all of which have been clearly, although somewhat rudely, represented.[1] The commentary version of the Vidhūra-Paṇḍita-Jātaka has many details which do not find place in the Barhut carving. The sculptor has evidently followed a simpler story, which was even simpler than the Canonical version as we have it reproduced in the commentary. The story may be narrated, in a relevant form, as follows :—

The Bodhisat was then born as Vidūra, the wise Kuru-councillor. There was a Nāga-king, named Varuṇa. The Nāga-queen Vimalā desired to have Vidūra's heart brought to her. "I shall die", she exclaimed, "If I do not get it." The Nāga-king employed his daughter, the Nāga-princess Arundhatī to seek out some husband who could bring Vidūra. She went forth in the night to the top of the Black Mountain in the Himālaya where she, having danced a pleasant dance, sang a sweet song. "What Gandharva or demon, Nāga, Kimpurusa or man, or what sage, able, to grant all desires, will be my husband the livelong night ?" At that time the Yaksha-general Pūrṇaka, the nephew of Vaiśravaṇa Kuvera, as he was riding on a magic Sindh horse, and hastening over the Black Mountain, heard that song of hers, and being fascinated by it, turned back, and alighting on the mountain-top, addressed her, comforting her, "I will be thy husband, I will be thy husband, O thou of faultless eyes : verily my knowledge is such that I can bring you what thy heart desires." "Come then, let us go to my father," she said, "he will explain this matter to thee." The Nāga-king told him that if he could bring the heart of Vidūra, the far-farmed minister of the Kuru-king Dhanañjaya, Arundhatī would surely be his lawful wife. Hearing these words, the yaksha ordered his attendant to bring him his horse harnessed with gear of ruby, and mail-armour of molten gold. He forthwith mounted the god-bearing steed himself richly adorned and with his hair and beard well-trimmed, and went through the sky. Thus having gone to Indraprastha, the Kuru-capital, the Yaksha engaged the Kuru-king Dhanañjaya in gambling with dice, claiming the possession of Vidūra as a prize of victory. He defeated the Kuru-king in the play which was played in the

1 Stūpa of Bharhut, p. 82.

royal gaming-hall. Pūrṇaka, addressing Vidūra, said, "Come, I will now depart, you are given to me by the king." "I know it, O youth," said the wise man, "let me lodge thee just for three days in my home while I exhort my sons." Gladly assenting and eagerly longing,the Yaksha went with Vidūra came to take leave of the king, taking the Yakhsa with him. The king's wives and many other women burst into a bitter cry as he walked out the place to go with Purṇaka who was waiting for him. The Yaksha asked him to take hold, without fear, of the tail of the noble horse, who went up into the sky, carrying the seer, and soon reached the Black Mountain. The king knew that the seer, wise, learned and skilful that he was, would safely return, setting himself free. The Yaksha, setting him on the top of the Black Mountain, held him with his head downwards into the sky, meaning to kill him and take his heart. "Hold me up quickly" exclaimed the wise man, "if thou really needest my heart. I will tell thee this day all the laws of the good man." Pūrṇaka, holding him forthwith, set him upon the summit of the mountain, and hearing the incomparable teaching of wisdom, made up his mind to carry him back to Indraprastha. But Vidūra insisted that he must not be sent away to his own home but be carried to the residence of the Nāga-king. The yaksha obeyed him most reluctantly, and carried him to the place of the Naga-king. When they reached there, the sage stood behind the Yaksha, and the Naga-king, beholding the concord between them, inquired of Pūrṇaka as to how he successfully returned, bringing the sage of unequalled wisdom. Pūrṇaka gently replied, "As he himself is come, won by righteous means, it is better for you to hear as he speaks before thee" Thus he introduced the wise man to the Nāga-king. The king turning to his wife Vimalā, said, "He for whom, O Vimalā, you grew pale, the sage, for the sake of whose heart this trouble came upon you,—listen well to his words. you will never see him again." They listened to the words of the wise man, and felt that the heart of sages was their wisdom. The king and his queen gladly offered Arundhatī to Pūrṇaka as his bride, and he carried her as well as the sage, went back to his home, dropping the wise man in the city of Indraprastha.

55. Pl. XXV. 3. [Scene 137] :—Yavamajhakiyaṁ Jātakaṁ.[1]
"The Yavamadhyaka Jātaka-scene."

In the upper half of this medallion carving we see a pavilion which is ornamented. In the middle there is a throne-like seat, in which a strong-built man is seated with his commanding personality, placing his left hand on the knee of his left leg, bending his right hand upward in front, and resting the first four fingers on his precious necklace. His feet rest in his

Mahaushadha displays his ready wit and power of judgment.

1 Brua sinha No. 221. (a)

front on the carpet, the knees wide open, six men stand behind the great man and on his two sides, three on each side. In the lower right corner one elderly woman is forcing another woman to come into the presence of the great man and the assembly. The other woman, whose face bears a clear indication of her reluctance, is holding in her left hand a bunch of thread-like substance. The first woman reappears in a second position on the right side of the great man, raising up her left hand, meaning to strike her with a chauri-lie thing, and at the same time rudely accusing her before the judge. At the bottom we see three human heads peeping out through three basket holes. It seems that two human heads have been artfully shown twice, in two positions, one by the side of the other in the first position, and one behind the other in the second. In the lower left corner two men are carrying a cylindrical load in a net of cords, hung from a banghi pole, which is here a strong log of wood, carefully held up on the right shoulder of the first man who walks ahead, and on the hands of the second man behind. A third man carries a basket. These are the three tricky situations with which the great man is confronted. The Pāli Mahā-ummagga-Jātaka (F. 546), of which the Yavamadhyaka incidents form only one of the many episodes, contains an account of several tricky situations which Mahaushadha, the wise son of the Banker Śrīvarddhaka, successfully dealt with. The story of Mahaushadha, relevant to the Barhut scene, is as follows :—

At the four gates of Mithilā, the capital of Videha, there were four wheat-shaped market towns, called the East town, the South town, the West town, and the North town. There lived a rich banker Śrīvarddhaka, whose wife was Lady Sumanā. It is in their family that the Bodhisat was born as a son with a medicinal plant in his hand. It is for this reason that he was named Mahaushadha or 'Great Medicine Man.' He who was as strong as an elephant built a magnificent hall, where he used to sit and discuss the right and wrong of the good or evil circumstances of all the petitioners who resorted there and gave his judgment on each. It became like the happy time when the world is blessed with the advent of a Buddha. Now it happened that one day a certain woman went to bathe in the great sage's tank, placing the ball of fine thread spun by him. Another woman who came there put it in her lap, and walked off with it. The elder woman seeing it, came quickly out of the water, seized hold of her dress, crying," You are running away with the ball of cotton thread made by me." The other replied that she was not taking anything of hers ; it was the ball which she made herself. The sage hearing them quarrelling as they passed by the door of his hall, asked what the noise was about. He sent for them both, and knew at once by her

countenance who the thief was. He asked the thief, "When you made the ball, what did you put inside"? "A cotton seed." Then he asked the other, and her reply was, "A timbaru seed." He untwisted the ball of cotton and found a timbaru seed inside and forced the thief to confess her guilt. The crowd that gathered round him praised him for the way in which he decided the case.

In order to test his merit the king of Videha sent two heads, one of a man and one of a woman, to be distinguished by the people of the East town with a fine of a thousand pieces in case of failure. The villagers failing to decide, asked the great being. He recognised them at once, and told which was which. He knew it well that the sutures in a man's head are straight, those in a woman's head are crooked. On a third occasion, the massage from the king was, "You must send me a new tank covered with water lilies of all five kinds. The sage saw that a counter-question was wanted. He sent for several men clever at speaking and directed them to go and play in the water till their eyes were red, and wait upon the king with wet hair and garments and bodies covered all over with mud, holding in your hands ropes, staves and clods, and then say to him: "We have brought a great tank to suit your majesty's taste. She being used to a life in the forest, no sooner saw the town with its walls, moats and watch-towers, than she took fright and broke the ropes and went off into the forest. We tried but could not make her come back. If you could give us the old tank which is said to have been brought in from the forest, we would yoke them together and bring the other back." The king being asked, replied that he never had a tank brought in from the forest. The men, as instructed by the sage, said, "Sire, if that is so, how can the people of East Town send you a tank ?"

56 (a). Pl. Indian Museum. 116 [Scene 138]:—This presents the scene of a royal park where a royal personage is giving away a royal elephant as a gift to an ascetic who stands in the left holding a staff in his left hand. The existence of the park is indicated by the presence of a tree. The royal elephant stands characteristically under this tree, with a precious rug spread over his body and a precious net of jewels encircling his forehead and hanging over his eyes. The royal personage stands in the middle, holding out the trunk of the elephant with his left hand and pouring water with his right, out of a jug, upon the palm of the right hand of the ascetic, as a formal act of signifying the gift. M. Foucher and Rai Bahadur Rama Prasad Chanda identify the scene with one of the introductory episodes of the Vessantara-Jātaka (F. 547), in which Prince Viśvantara, is said to have given away the royal elephant

The Bodhisat gives away the royal elephant as a gift to the Brahmin from Kalinga.

of the Śivi kingdom as a gift to the Brahmins from Kaliṅga. But we find that the subject of the sculpture is an episode which is common to two distinct Jātakas, viz. the Kurudhamma (F. 276) and the Vessantara) (F. 547), and there is no inscription to guide us in deciding as to which one of these two Jātakas is here meant. We must, therefore, separately narrate the episode as it occurs in each of the two Jātakas.

First, as to the episode in the Kurudhamma-Jātaka. The Bodhisat then became the righteous Kuru king who was famous throughout India for his piety and charitable institutions. He possessed a state elephant that had the virtue of causing the rain to fall during drought and famine. At this period a famine broke out in Kaliṅga on account of drought and failure of crops. The king of Kaliṅga sent, in compliance with the request of all the people in his kingdom, eight Brahmins to the righteous Kuru king to ask for his state elephant. The Brahmins went, donning travelling garb, and in due course reached the Kuru capital Indraprastha. On the full-moon day the king of the city came out to inspect the six Almstalls which he built, one at each of the four city-gates, one in the midst of the city and one at his own door. Washed and anointed, all adorned and rarely arrayed, the king of the city mounted upon a fine elephant richly caparisoned. When he inspected the Almstall at the eastern gate, the Brahmins had had no chance of asking for the elephant. As the king departed to the south gate and reached a rising ground not far from the gate, they raised their hands, and hailed the king victorious. "Well, Brahmins, what is your wish ?" asked the king, guiding his elephant to the place where they were. They told him what their mission was. The king, dismounting, said to them, "If there is a spot on him unadorned, I will adorn it and then give him to you." After satisfying himself about adornment, the king put the trunk into the Brahmins' hands, besprinkled him with water from a fine golden vase, and made him over to them. The Brahmins accepted the elephant with his belongings, and returning to the capital, handed him over to the king of Kaliṅga.

Secondly, as to the episode in the Vessantara-Jātaka. The Bodhisat was then born in the Śivi kingdom as Prince Viśvantara and the son of King Sañjaya. He built six Almstalls which he used to visit six times in each month, mounted upon his magnificent elephant. At that time there was drought in Kaliṅga, the crops failed, and a great famine ensued. The king of this kingdom pledged himself to virtue and kept the holiday vow, but he could not make the rain come. The citizens came and said, "O lord, Prince in the kingdom of Śivi has a glorious elephant all white, and wherever he goes the rain falls. Send brahmins to ask for that elephant, and bring

him hither." The king sent eight brahmins who started in the ascetic guise. As in the preceding episode, the Brahmins received the Bodhisat's elephant at the southern gate of the city, mounted upon his back, and amidst a thronging multitude passed through the city. The citizens were so very angry with the Prince for giving away the elephant that they in a body waited upon the king, and compelled him to banish his son from his kingdom to the Vakra mountain.

In the Barhut sculpture only one Brahmin in the ascetic guise is to be seen. In it neither the citygate nor the Almstall is represented.

57 (b) Unphotographed Jātaka-Scene [Mining] :—On the remains of a Corner Pillar of one of the missing Gateways Cunningham was able to trace the remaining portion of a Jātaka-scene presenting a four-horse chariot with a boy and a girl being led by the hand.[1] The episode of the Jātaka with which he would identify this scene relates :—

Prince Viśvantara departs to Vakra mountain, with his wife and boy and girl, in a four-horse chariot.

King Sañjaya passed the order of banishment upon his son, the noble Prince Viśvantara. A gorgeous chariot with a team of four Sindh horses stood at his door. His wife Mādrī with her boy and girl went before him and took her place in the chariot. On his way the Vakra mountain, the Bodhisat gave away the four horses to four Brahmins who asked for them. The chariot was then being drawn by four red deer, As he drove on, came another Brahmin, asking for his chariot. He gave him the chariot, and dismounting his wife and children therefrom, went on foot. They took up the two children, and carried them on their hips, he took the boy and his wife took the girl.

57 (c) Pl. XLVIII 11 [Scene 140] :—Jabū Noḍode pavate.[2]

"Rose-apple trees on Mt. Nārada."

Here Cunningham sees a man receiving both meat and drink from the two hands which project from the trunk of a tree. In one hand is a bowl filled with solid food, and in the other a water-vessel with handle and in the other a water-vessel with handle and spout like a tea-kettle.[3]

The faithful couple live on Mt. Nārada; the wife gathers fruits from the wood and feeds the husband.

The incised label leads us to look here for a scene of rose-apple trees on Mt. Nārada, and we actually see one rose-apple tree represented in the left. A man sits down in the middle on a bowl-holder, put upside down, facing this tree. Two human hands are

1 Stūpa of Bharhut, Preface, p. vi. 2 Barua Sinho, No. 222. 3 Stūpa of Bharhut, p. 98.

stretched forth from the back side of the tree, the right hand holding out a water-jug provided with a handle and a spout, and the left hand holding out bowl filled with edibles. One may suspect that some invisible tree-spirit mysteriously projects the hands to wash the hand of the man in front with water poured out of the jug and gives him the edibles to eat. But the fact seems to be that the body of the human being remains hidden behind the tree, and cannot, therefore, be seen. This human being is evidently no other than one seen behind the man, walking down the mountain with a fruit-basket, held up in the right hand. Though a turban is worn on the head, this human figure appears to be a woman whose breast is tightly wrapped, as that of a hill woman, by the folds of her cloth. She casts lingering books as she goes into the forest to gather fruits. We differ from both Cunningham and Hoernle[1] in thinking that this scene has no connexion with the one with the label—Vaḍuko katha dohati Naḍode pavate. Though about one third in the right side of the Coping-panel containing this scene is missing, there is little doubt that the illustrated story is an episode of the Sambūla Jātaka (F. 519), or that of the Vessantara-Jātaka (F. 547) preferably that of the latter. The episode as it occurs in the two Jātakas is as follows :—

First, as in the Sambūla-Jātaka. Prince Svastisena, the son of the king of Benares, being attacked with an incurable leprosy, retired into a wild forest to perish there. His wife Sambūlā accompanied him. They built a leaf-hut, and took up their abode in a shady and well-watered spot, where wild fruit abounded. The royal lady kept watch over him, carefully attending and nursing him. After finishing her morning duties, furnishing him with a tooth-stick and water to wash his mouth, anointing his sores with various simples she prepared, and giving him luscious fruits to eat, she used to go into the forest, saluting him and asking him to be earnest in well-doing. She would go putting on her bark garment, taking a basket, a spade and a hook to gather wild fruits and set the basket of fruits on one side when she returned. She would then offer him water in a jar to wash, and wild fruit to eat. When he had finished his meal, she would bring him scented water and herself partake of fruit. Thus she watched over her husband till he was completely cured, and returned to Benares when her husband became the king and she his queen consort. But after gaining the sovereignty, he began to neglect her, forgetting that she stood by him alone when his condition was miserable. She well anticipated her fate when, on returning from the forest and seeing a mountain of gold, she

1 Hoernle's Readings, No. 8 in IV, Vol. X. and XI.

asked him if he would share it with her and he bluntly refused to do so. She afterwards expressed this fact in words that probably form the text of one of the Barhut labels—Dusito giri dadati na.

Secondly, as in the Vessantara-Jātaka. On coming to the Vakra range with his wife Mādrī and two children, he took up his abode in a hermitage which he found there. He putting off his bow and sword, put on the ascetic garments. Mādrī, and her children likewise donned the ascetic dress. Mādrī watched over them in the manner of Sambūlā. Thus they lived for seven months in the recesses of the mountain. One day, as she was going into the forest with her basket and tools to gather fruits and roots, she embraced and kissed her children and said, "Last night I had bad dream; be careful, dears!" Before she had left the hermitage, she begged her husband to take care of her children. Now taking advantage of her absence, the wicked Brahmin, Jūjaka by name, came to Viśvantara, and asked him for his children. The children he gave him, and with them he quickly went away. Mādrī returned to the hermitage with her basket and edibles, and was thunderstruck not to see her children there. She inquired about them from her husband who remaind silent. She looked about, and searched for them under the rose-apple and other trees, in all places where they used to play. As she was looking for them, she lamented, saying—

"These clusters of nose-apple trees, that droop
around the mere,
And all the fruitage of the woods, my children
are not here!"

But when she was told that he gave away their children as a gift to a Brahmin during her absence, she rejoiced and approved of the gift, whereupon the mighty earth shook and trembled, and it is said—

"Then Nārada and Pabbata both greatly did rejoice,
Yea, all the Three and Thirty Gods with Indra, at that voice."

58. Pl. Indian Museum. Coping Panel. Fragment [Scene 141] :—

Scene of an unknown Jātaka

Here we see a hermitage where a hermit is seated cross-legged on a seat appearing to be a square slab of stone, confronting a tree, of which the bare outline now remains. In the absense of other particulars the scene cannot be identified with any known Jātaka.

iii (b). EPISODES OUTSIDE THE SCOPE OF FAUSBOL'S JĀTAKA.—

1. Pls. XV. S. Gate. Prasenajit Pillar. Lower Bas releif. Inner Face. XXX. 2 [Scene 142] :—

Bahuhathiko.[1]

Bahuhathiko Nigodho Naḍode.[2]

Susupālo Koḍāyo, Veḍuko arāmako.[3]

"Bahuhastika—the scene of many elephants."

"The holy Banyan with many elephants on Mt. Nārada."

"Śiśupāla—the fort-keeper (forest-owner), Veṇuka—the gardener (forester)."

Śiśupāla and Veṇuka at a Banyan shrine worshipped by a herd of elephants on Mt. Nārada.

Here Cunningham notices a very curious scene of a herd of wild elephants paying their devotions to a Bodhi-tree. The tree, he says, is easily recognisable as a Banyan by its long pendent shoots. This identification is confirmed by the name of the tree, Nyagrodha, occuring in the accompaying incised label. In front of the tree is the usual throne, Bodhimaṇḍa, before which elephants, old and young, are kneeling. To the right and left other elephants are bringing garlands to hang on the branches of the tree. In the upper left corner there is a second tree, and to the right, where the stone is broken, a male figure with joined hands overlooks the whole scene. If this tree represents a Bodhi-tree, it must be that ot the Buddha Kāśyapa. Though the object of reverence is a Bodhi-tree. the whole scene appears to be exactly the same as that of worship of the deserted Stūpa of Rāmagrāma by a herd of elephants, described by Fa-Hian and Hwen Thsang, particularly by the elder Chinese pilgrim. "Ever and anon", to quote Fa-Hian," a herd of elephants, carrying water in their trunks, piously watered the ground, and also brought all sorts of flowers and perfumes to pay religious worship at the Tower. Buddhist pilgrims from all countries come here to pay their vows, and worship at the shrine. On one occasion, some of these met the elephants, and being very much frightened, concealed themselves amongst the trees. They then saw the elephants perform their services according to the Law." Cunninghan thinks that the single man concealing himself amongst the trees is intended to represent the frightened pilgrim, who watches the spontaneous offerings made by the wild elephants.[4]

We are not convinced that the tree is a Bodhi-tree or the throne is a Bodhimaṇḍa. The elephants are not certainly bringing garlands. The hanging objects which two of the elephants, on two sides, have grasped with their trunks are two

1—3 Barua Sinha, Nos. 214-216. 4 Stūpa of Bharhut, p. 115.

aerial roots, branching off and forming bunches at their lower extremities. There is no tree in the upper left corner ; it is only a bamboo cluster. The scene presents not one human figure but two, one of whom, no doubt the man in front, is Śiśupāla, the forest-owner, and the other behind him is Veṇuka the forester. The latter name, Veṇuka or Bamboo-man, is quite appropriate to a scene marked by a cluster of bamboos. In fact, the scene is that of a royal forest on Mt. Nārada, where bamboos grew up in large numbers. It was in this forest-region that the sacred Banyan shrine, frequented, worshipped and guarded by a herd of wild elephants, was situated. If the shrine was a Bodhi-tree with a Bodhimaṇḍa, we would have seen garlands either hanging from the tree or at least offered on the throne. The head of the man in front is completely broken off and missing, and only the turban of the second man now remains. The first man appears with joined hands, held before his eyes. The action of the second man cannot be ascertained. But it is certain that here the representation is one of pre-Buddhistic Indian Tree-worship, replaced in Buddhism by the worship of the Bodhi-tree. The story presupposed seems to have been a different version of the Mahāvāṇija-Jātaka (F. 493), in which the forest-owner and forester were substituted for the caravan merchants, and nāgas in the sense of elephants for nāgas in the sense of dragons or serpents. The Mahāvānija-story contains the full description of a wonderful huge Banyan tree, which grew up in a wild forest and was haunted and guarded by dragons—nāgapariggahita-nigrodha-rukkha, an expression squaring with bahuhathikanigrodha of the Barhut label. The leaves of this tree, as described in the Jātaka, were all glossy as though wet with water. Its branches were full of water. Water could be seen running through it. Cutting off a branch of it facing the east, one could get an ample supply of drinking water. Cutting a branch on the southern side, one could obtain all manner of choice food. Cutting a branch on the west side, one could enjoy the company of fair and beautiously adorned women. And lastly, cutting one of the northern branches, one could procure five hundred cartloads of the seven things of price. These were all gifts of favour from the rich Dragon-chief. Those whose greed led them to cut the tree to the root were violently attacked by the furious dragon-army and utterly destroyed. According to the Jātaka, this Banyan tree graced a wild forest near Benares. In by-gone times some caravan merchants under the guidance of the Bodhisat, their chief, losing their way, aimlessly traversed this forest, without food and drink, till they came to the spot where the Banyan tree was. They were lucky to obtain all precious and enjoyable things in the dreary and waterless region. They thought they could get more by cutting the tree by the root. The Bodhisat, their wise chief, dissuaded them from this cruel wanton deed. But they being many, and

he being one, his voice proved to be feeble. They struck the whetted axes in to fell the tree by the root, with the consequence that armed dragon soldiers rushed forth to decimate them. The dragon-army took care to save the caravan chief, who was safely conveyed to his house with all the precious goods.

Going by the analogy of this Jātaka, we can attempt this twofold construction of the Barhut story : either (I) that of the two men, one refraining from harming the life of the tree, was saved, and the other meaning to cut it by the root, was attacked and trampled by the wild elephants guarding it ; or (2) that both of them enjoyed the gifts, keeping themselves above greed. But it may also be that the representation is of a simple story in which Śiśupāla, the forest owner, was very pleased to be led by Veṇuka, the forester, who knew the way, to this sacred spot, where he might watch the herd of wild elephants paying worship at the Banyan shrine, and fill his own heart with deep devotional feelings.

2. Pl. XLII. 7. [Scene 143] :—Here Cunningham notices one man and one woman standing together in a courtyard surrounded on three sides by houses, the woman holding out a flat basket or tray, into which the man is emptying the contents of a round basket, while a second man is standing outside the house to the right with his banghi-load of two baskets placed on the ground. He thinks the arragement of the houses agrees with Vālmīki's description of Rāma's dwelling place at Pañchavaṭi,[1]

Honey-seller's offering to a Pratyeka-Buddha.

We really cannot forgive Cunningham for his Ramayanic bias, and still less for his mistake of a man for a woman. But this is not to deny that the man standing apparently on the courtyard is emptying the contents of a receptacle of cylinderical shape into a flat-basket-like tray or pot held out by another man to the left, who is sitting cross-legged and at ease, in erect posture, with his dignified and calm appearance. The peculiarity of his garments cannot be discerned. It is certain that he wears no ornaments on his person, and no head-dress. He is evidently an ascetic of a brilliant type, of which there is no parallel in the Barhut representation. His distinctive feature is the absence of matted hair. In an apparent view, his hair, which is not very long, is parted in two and gracefully arranged on two sides of his head. The first man seems to make an offering to the holy man within the homestead and his action is being grimly watched from outside by another, apparently related to him, He is seen standing outside to the right, holding up with his left hand one extremity of the banghi-pole, on which he carried a load of two open-mouthed large pots covered by two lids and laid at rest. The expression of the upraised forefinger

1 Stūpa of Bharhut, p. 100.

of his right hand signifies an attitude of resentment or disapproval. The pots are seemingly fit receptacles for some liquid substance. What is the story illustrated in this scene?

If the attitude of the man standing outside be one of resentment or disapproval, the scene cannot be taken to be an artistic counterpart of the well-known Buddhist story of Trapusha and Bhalluka, or of an older prototype of it. Had it been the representation of a scene from this story, it would have shown both the men offering the gift jointly. Further, this story has no indication that the lumpy honey-cakes offered had to be carried as a banghi-load. Thus we are compelled to find out a different Buddhist story which can explain the observed points. In looking for it we chance upon just one story in Pāli describing an incident of the previous birth of King Aśoka, his nephew Nigrodha and his preceptor Tissa.

The story relates that these three were born in a former birth as three brothers, who became dealers in honey. They put up a shop in a city-market. The elder brothers used to procure honey, while the youngest brother did the work of sale-man. One Pratyeka Buddha or Egotistic Seer or Truth became ill with boils. For him another Pratyeka Buddha, who was his comrade, entered the city for honey in the usual manner of going the round for alms. He came to the honey-shop belonging to the trader brothers. The brother whose business it was to do the duty of a sale-man was pleased to make an offering of honey, pouring it into the alms-bowl of the Buddha. The honey offered not only filled the bowl but overflowed and fell on the ground. Rejoicing over this, he made a solemn resolve to become a sovereign lord of India in this future birth. At this moment his elder brothers arrived on the spot carrying with them honey which they went to procure. He asked them to approve of the gift made by him saying that the honey given away was really due to them. His eldest brother being displeased, remarked : "The man to whom you have offered our honey must surely be a chaṇḍāla or outcast, for the chaṇḍālas usually put on such yellow robes." His second brother even went a step further in his invective : "Better cast him on the other shore of the ocean !" But his solemn utterance to the effect of making over the merit induced them at last to give their approval. This youngest brother was reborn as King Aśoka.[1]

It is not easy to ascertain if the story as known to the Barhut sculptor was then connected with King Aśoka, though some such story must be at the back of the illustrated scene.[2]

1 Dīpavaṃsa, Chap. V ; Mahāvaṃsa, Chap. V ; etc.

2 The Pāli Apadāna story of Madhupiṇḍika (No. 97) introduces only one character, the honey-seller who made the offering.

3. Pl. XLVIII. 9. [Scene 144] :—Vaḍuko katha dohati Naḍode pavate.[1]
"Vaḍuka is extracting the juicy balm on Mt. Nārada."

Juicy balm on Mt. Nārada.

This is the basrelief in which Cunningham notices some large rocks to the right, to the left an ornamental bag or a skin suspended from two pegs, and in the middle a man seated in front of the bag, the ends of which he holds as if he is in the act of milking.[2]

This description can hardly suffice to make out the story explaining the details. On the right side, we see a tree, which is fairly tall, consisting of several stems, clustered together, looking like a creeping plant, with a big foliage of bushy growth at the top. It appears that the two outer stems in front have been cut to form two pegs connected by a piece of carpet-shaped linen, long enough to reach down the hands of a man sitting on his heels on the ground, at the foot of the tree. The lower part of the linen shows two ends resembling the pennons or streamers of a flag. The man is simply holding the two ends and drawing them together as a device of compelling the juice to tickle down and flow in one stream so as to fill the skin bag or vase below. The large pieces of rock referred to by Cunningham, bear some auspicious marks symbolising the sacredness of Mt. Naḍoda or Nārada, where the scene has been laid. Here, perhaps, we have an artistic representation of the scene from the story, similar to that of Vaḍika in the Avadāna-Śataka.

Vaḍika, the Bodhisat, then born as a banker's son, became a long sufferer from a skin disease. He tried in vain all available remedies. Seeing that all the best physicians could not give him any relief, he despaired of cure and became dejected in spirit. But there was a compassionate Buddha who took pity on him and came to his rescue. The Buddha came to see him of his own accord and thought of having a juicy balm procured for him from Mt. Gandhamādana. Śakra, the thunder-bearer, proceeded forthwith towards the distant mountain and fetched the balm extracted from a medicinal plant, called Kshīrikāviksha, and handed it to the great healer of mankind. The balm was applied as a remedy for his physical malady. As for his mental malady, the ready-made balm was found in the gentle instruction of the Buddha, who took leave of his patient after having predicted his future greatness as Buddha Śākyamuni.

Coming back to the scene itself, we find that Vaḍuka or Vaḍiuka himself is in the act of extracting the balm.

---

1 Barua Sinha, No. 223. 2 Stūpa of Bharhut, p. 98.

4. Pl. XLII. [Scene 145] :— Here Cunningham sees four men, two seated and two standing. Two of them are dressed in the usual costume of most of the Barhut figures. The other two have peculiar flat caps on their heads, apparently ornamented with feathers and broad collars of leaves round their necks, and they may be taken to be foreign merchants who have to deal with the two home merchants that are seated, In front of the latter are two baskets and a number of objects which look like elephant's tusks and the chauri tails of the yak. The two foreign merchants are engaged in close conversation, the subject of which is the price of the tusks and chauri tails.[1]

The Jātaka-scene of bargaining in purchasing plantain or banana from a shop.

In the upper part of the middle portion of this Coping panel we see two well-covered cylinderical baskets, of which the contents, as shown in the lower part, are bunches of plantain or banana, separated from the main stalk. The dealer or shop-keeper, seated cross-legged to the right, is directing his assistant to show the things to the customer or customers who stand before the shop. His assistant, standing behind him, is seen to be busy taking the bunches of plantain or banana out of one of the two baskets before him. It is likely that the same two baskets have been shown twice ; and the same one man has been represented in two places and postures. The customer, who is apparently a man of high social position, stands with his superior dignity at a little distance from the shop, conversing with another man who stands to the right, facing him and turning his back upon the bananas and baskets. Both are dressed alike. The flat caps and costume distinguish them from the remaining Barhut male figures. They put on, over the dhoti, a thin cloak with sleeves that show a fine embroidery work in the part over the arm. The cloak is closely tied to the body by means of a twisted string, passing crosswise over the shoulders. The distinguished customer, holding up a bunch of banana in his left hand is asking, as indicated by the attitude of his right hand and forefinger, the other man to tell him its price, and the other man, holding up the bunch in his right hand, is telling its price, the demanded price being shown up in the shape of coins in the palm of his left hand. If the second man be the seller, the sculptured story would seem to be one like the Chullakaseṭṭhi-Jātaka (F, 4) in which a poor man's son is said to have amassed a great fortune by working up a small capital, getting all the producers of suppliers to concentrate their things in one place and sell them to him, thus enabling him to monopolise and sell at a high price. If the second man be the customer's companion, the story may be one like the Gaṇḍatindu-Jātaka (F. 520) in

1 Stūpa of Bharhut, p. 100.

which a king is said to have gone out on a tour of inspection. taking his minister with him, and ascertained the condition of the people within his realm.

5. Pl. XXXIV. 3. [Scene 146] :—The scene is carved in a half-medallion at the top of a railing-pillar apparently serving a decorative purpose. It presents, as noticed by Cunningham, two dogs that look like the present hill dogs, with straight ears and bushy tails that curl over on to their backs.[1] They are set upon a boar by a hunter who stands in the middle holding a spear in his left hand and placing his right hand on the back of the dog in his front. The hunter appears as a heavy-built and short-statured savage. His head-dress differs from that of other male figures. It looks more like a cap than a turban or tiara. The boar is attacked by the dogs from two sides, front and rear, while the hunter taking advantage of the position, pierces it on the back of its neck with his spear. He appears to encourage the dog in his front by patting its back with his right hand.

Hunter kills boar with the help of his dogs.

The bas-relief, as it is, does not convey a complete story. It depicts at most a hunting scene, the killing of boars by setting dogs upon them. But here we have certainly an artistic illustration of the hunting method of a 'savage-dog-hunter', as he is described in the Koka-sunakha-luddaka-Vatthu of the Dhammapada-Commentary.

6. Pl. XXXV. 2. [Scene 147] :—Himāni[2]

This is an interesting medallion-carving, of which the right half is badly damaged. The left half bears a heading, of which just three letters now survive. This portion presents a curious scene, where two men with the same handsome appearance and calm facial expression are lying on the ground, embracing each other, placing neck upon neck, and intertwining their upper legs. Behind the back of each, there is a row of small flower-like objects, which, if these be snow-flakes, would signify that the men are sleeping on a snowy ground and embracing each other as a means of putting off the cold. The scene, as it is, betrays only a decorative purpose.

Two men lying in close embrace in snow.

7. Pl. XXXIII. 1-3. [Scene 148] :—This is just another instance, where scenes belonging to one continuous story are placed not contiguously, but wide apart. The scenes are three in number, all of which are depicted in medallions, with an element of humour or comic about them. In all of them an elephant and a troop of monkeys are the actors, and this common feature suffices to establish their identity as integral parts of the same story. The scheme is worked out progressively, the culmination being reached

Monkeys capture and triumphantly drag an elephant to extract the giant's teeth.

1 Stūpa of Bharhut, p. 44. 2 Barua Sinha No. 221.

in the third scene, with a gaint as an added character. The first two scenes, as noticed by Cunningham. represent the capture of an elephant by the monkeys, who lead him along in a sort of triumphal procession. They ocupy the two opposite faces of the same Rail-bar in S. W. quadrant. Both the designs, to continue Cunningham's observations, are conceived with much spirit, though workmanship is not equal to the intention. The left hind leg of each elephant is faulty, and there is too much sameness in the attitudes of the monkeys in the first scene. In the second scene, all the five monkeys are in different attitudes, each of which is a natural one. This attention to nature aswellas to art in varrying the attitudes shows that the old Indian sculptor had at least some of the instincts of a true artist. These two scenes seem to be undoubtedly the work of the same sculptor. There is much less spirit in the third scene found in a different quadrant. The same monkeys figure over again, but with less action, and the general effect is comparatively tame. The best figure is that of the monkey who is putting on the palm of the giant's right hand a tooth, extracted by a forceps. We cannot agree with Cunningham in thinking that the monkey is piercing or cutting the the gaint's hand. But it is undisputable that his fixed and grave expression is good, and that his attitude, with the legs drawn in and resting on the toes, marks his eager attention to the work in hand. In Cunningham's opinion, the figure of the giant is badly drawn, and his supine listlessness is suggestive rather of having his nose tickled than of having a tooth violently tugged by a forceps worked by the elephant. The stiff position of the giant must not lead one to conclude that he is bound to his seat. The band round his stomach certainly looks like a girdle of rope. The loose thick band round his neck is apparently a necklace, and not a rope. Leaving aside these small points of difference, the scenes can be well described as follows, in the words of Cunningham, whose classic on the Barhut Stūpa shall ever remain a grand exhibition of the success and failure of a great pioneer :—

In the first scene four monkeys are employed in dragging along a captive elephant, who is carefully secured by strong ropes from doing any mischief. A billet of wood is fastened along the back of his trunk to restrain its action, while a rope tied to his tail is carried between his legs and passed round the root of his trunk. The leading monkey in front of the elephant has the end of the rope over his right arm, while he shoulders the aṅkuśa or elephant-goad, which is grasped with both hands. Three other monkeys drag separate ropes which are passed over their shoulders after the fashion of boatmen in towing a boat. From the end of the last monkey's rope hang the two bells, which had formerly dangled from the elephant's sides. In front of all are two monkey musicians, one playing a drum which is suspended from his neck, and the other sounding a shell which is attached to the end of a long rope.

The second scene represents the same story in a more advanced stage. The elephant is still seen marching along, but he is no longer dragged by his monkey captors, who, with the exception of the musicians, have all mounted on his back. The leading monkey with the aṅkuśa is now seated on the animal's back, and is driving the goad with both hands into his head. A second monkey stands on one of the elephant's tusks, facing the driver, whom he is energetically addressing. Two other monkeys are seated behind the driver, while a fifth holds on by his hands to the rope passing under the elephant's tail and fixes his feet on the animal's rump after the very common fashion of an elephant coolie. The drummer still trudges in front and the shell-blower alongside, but a third monkey has joined the musicians as a player of cymbals.

The third scene is another circular medallion representing an elephant and with the addition of a gaint, who is the principal figure in the composition. He is just twice the height of the elephant. He is seated on a low-backed chair (better, stone-seat), with his feet on a foot-stool. He has the usual royal head-dress, earrings, bracelets, and necklace, and is naked as far as the waist. His right arm hangs straight down his side, but his left arm is extended towards a monkey steated a a low stool in front, with the palm of the hand turned upwards, upon which the monkey is placing an extracted tooth with a pincer. A second monkey is pulling out one of the giant's teeth with a large forceps, which is secured to an elephant by a long rope. A third monkey is driving the goad into the back of the elephant's head to make him go quickly, whilst a fourth monkey is biting the animal's tail and beating him with a stick for the same purpose. Above there is a fifth monkey playing a drum, and below them is a sixth blowing a very large shell.

Such is the most charming and graphic description of the scenes attempted by Cunningham.[1] The story presupposed is a simple one. The Bodhisat being once born as a monkey-king, lived with a large number of followers in a forest region. In roaming about, they entered a woodland which was in possession of a giant, who was troubled with the pain of tooth-ache. He expressed his desire to masticate and devour the monkeys, and would let them off if they could relieve him immediately of the pain by pulling his teeth. It was no easy task for the monkeys. They under the guidance of their wise leader managed to get hold of an elephant, whom they led out from a royal stable, and leading him along in a triumphant procession, brought him to work the forceps, whereby they pulled the giant's teeth.

---

1 Stūpa of Bharhut, pp. 104—105.

8. Pl. XL. 2-5 [Scene 10] :—These four bas-reliefs occupy four contiguous panels on the coping, apparently contrary to the usual arrangement of alternate scenes and ornaments. Whether these present one story or more is a disputed point. Apparently these present one story. At all events, as Cunningham holds, they do not represent more than two stories. In the first scene on the left he notices a tall tree between two women, one of whom, the woman to the left, apparently a servant, is cutting some standing corn, while the other to the right, presumably the mistress, is seated on the ground beside a large vessel, which is a common earthen chulā or fireplace. The scene, as he interprets it, is that of a woman cutting corn for another woman to cook. In the next scene to the right he sees the mistress of the former scene seated on the ground beside a man, both engaged in eating some broad flat cakes, which are being presented to them by the female servant. He suggests that these two scenes may have belonged to one story. In the third scene to the right he finds four actors, a man and a woman, a boy and a girl, beneath a tree, which stands in the middle with large garlands hanging on all sides of it, the boy and the girl lying on mattresses spread on the ground, the man and the woman standing and bending forward, the former towards the girl and the latter towards the boy, administering poison to them with long spoons. The fourth scene on the right hand shows, according to his description, two gigantic birds carrying off the dead bodies of the man and the woman of the previous scene, by the hair of their heads, in a charnel-field, where their dead bodies were exposed, as a punishement for having tortured the children.[1]

Man and woman suffer torments in the Bird-Hell for the sin of poisoning innocent people.

Cunningham's explanations of the details of the four scenes, in spite of their suggestiveness, are defective. There is no reason to suspect that the four scenes occupying the four continuous panels belong to one continuous story. This fact of singleness of the story may be ascertained from the occurrence of the same tree-like construction in the first three scenes. The human figure to the left of the man in the middle could not be mistaken for a woman. The tree-like thing is certainly not a tree. It is a shed on a wooden post supporting a well-thatched and umbrella-shaped roof. The first scene does not represent two women but only one woman doing a twofold work. In the first instance, she is extracting the juice of a poisonous shrub before her. Next she is waiting to put that juice into the pot in which she is cooling rice or something like it on an oven to the right. This twofold action of hers is presented on two sides of the wooden post of the shed. Coming to the next scene

1 Stūpa of Bharhut, pp. 98—99.

to the right we at once notice the woman of the former scene engaged in serving food from the dangerous pot to a man, presumably her husband, while another man to his left, is holding a dish lifted up towards the man in the middle. The purpose of his action is apparently to convince the other man of the harmlessness of the food served by the woman. One dish is placed on his lap from which he was to eat. But he is not actually eating. His right hand is held above the dish. It seems that he has come to apprehend something fatal in the food. The third scene clearly shows that the woman has got rid of her husband with the help of the second man, who must have been a trusted servant or friend in intrigue with her. He was a wicked man. He was not satisfied by having got rid of the woman's husband but prevailed so far upon her as to make her agree to put her two children, one boy and one girl, to death by means of poison. The scene under notice exhibits actual performance of the inhuman cruelty. It intensifies the horror of the tragedy by the device of representing the woman as instrumental to the death of the boy, and the man as instrumental to the death of the girl. Then follows the fourth or last scene representing the nemesis of the whole act. The scene gives a picture of sufferings of the sinners in the region of the crow-infested-hell (Kākola-niraya) as it is called, where two ravenous birds of prey, resembling two wild crows, kites or hawks, are eating them away, beginning from the head downwards. The whole scene is a reduplication of an Indian charnel-field, thereby showjng that the whole conception was of an anthropomorphic origin.[1]

The literary counterpart of the complete story as made out above cannot be traced. There is only one Jātaka containing a suggestive approach to the second scene, and there is another Jātaka-story with a similar approach to the two middle scenes. The approach to the second scene is to be found in the Uchchhiṭṭha-bhatta-Jātaka (F. 212), which narrates how the iniquitous wife of a man tried in a hurry to

1 This may be made clear by the close resemblance as shown below, between the description of a charnel-field and a Bird-hell :—

(a) Fate of a man lying dead in a Charnel-field—

Khādanti naṃ supāṇā cha sigālā cha vakā kimi, kākā gijjhā cha khādanti ye ca aññā santi pāṇoyo.

(Sutta-Nipāta, Vijaya-Sutta).

(b) Fate of a sinner suffering in a Bird-Hell—

Ito gato dakkhasi tattha rāja
Kākolasaṅghehi pi kaḍḍhamanaṃ,
Taṃ khajjamānaṃ niraye vasantaṃ,
Kākehi gijjhehi cha senakehi
Samchinnagattaṃ ruhiraṃ savantaṃ.

(F. Jātka, V. p, 246).

conceal the fact of another man hiding himself in the store-room after having been served, at meal-time, with fresh-boiled rice, by setting before her husband the same dish with cold leavings of the other man, covered up with some hot rice, but her husband could detect the wrongfulness of her act by testing the rice with his hand and feeling how the hot was above the cold, while a tumbler, who was waiting at the door for a morsel, revealed the secrets to him. The second story containing suggestive details corresponding to the two middle scenes forms a sort of interlude in the Commentary-version of the Mahāummagga-Jātaka (F. 546), narrating how a queen intriguing with the Brahmin Purohita, killed her husband by poison, and was afterwards instigated by the Purohit, installed in the throne even to put her son to death. She, unlike the woman of the bas-relief, could not carry it into practice, as her affection for her son was too strong for her.

SECTION III

SYMBOLICAL OUTLINE OF BUDDHA'S LIFE

1. Pl. VI. E. Gateway. [Scene 13] :—Quite apart from the general Railing scheme, there is to be noticed a rough outline of Buddha Śākyamuni's life on the ornamented arch of E. Gateway, where symbolism plays the most important part. This outline is placed between the gaping mouths of three pairs of crocodiles on the outer ends of three architraves, and this symbolism is designed to represent the world as a fearful state of things, the safest way out of which is refuge in the Buddhist Holy Triad, the Buddha, the Law and the Order. Of the Triad, there are two similar symbols, of three arms each, somewhat different from those of a trident, each of the symbols crowning the upper pillar of the gateway and set upon a full-blown lotus and an abacus of square altars below it. The mechanism of the symbols is very simple. Each of them is made up of two upward tails of the makara forming two small semi-circles and joined together with an upward pointed elevation at the base. The outline itself comprises the following incidents : the Advent, the Renunciation, the Enlightenment, the First Sermon and the Great Decease.

1. The Advent is represented by two magnificent palaces or mansions, one above the other, the upper one being the Tushita and the lower one the palace of Śuddhodhana, with a throne in the centre, usually canopied by an umbrella with hanging garlands.

2. The Renunciation is represented by two horses on two extremities of the upper edge of the upper architrave, saddled with empty seats, canopied by umbrellas with hanging garlands.

3. The Enlightenment is represented, in the middle of the lower, and ex hypothesi in the middle of the upper architrave, by a Bodhi-tree with a Bodhimaṇḍa at its foot, approached by two elephants, one behind the other. On the middle architrave, too, one can notice a fictitious representation of a Bodhi-tree of a creeping plant of bushy growth, similarly approached on each side by two leonine animals.

4. The First Sermon, the Dharmachakra-Pravarttana-Sūtra, is represented by a kind of water-plant in the middle of the upper edge of the upper architrave, springing from behind a full-blown lotus, with eight shooting leaves, four on each side, resembling those of a fern, topping on one another and ultimately on two lotus-shaped circular petals or small flowers on the central stalk crowned by a majestic wheel.

5. The Great Decease is represented by a stūpa-model on each of the three architraves.

Hony. Fellows :—

Dr. Rabindra Nath Tagore, N. L.
Dr. Sir Brajendra Nath Seal, Kt., M.A., Ph.D., D.Sc.
Dr. Sir S. Radhakrishnan, Kt., M.A., D. Litt.

President :—

1. Sir Deva Prasad Sarvadhikary, Kt. M.A., LL.D., C.I.E., C.B.E., O.B.E. Suri-Ratna etc.

Vice-Presidents :—

2. The Hon'ble Justice Mr. Manmatha Nath Mukerjee, M.A., B.L., (High Court, Calcutta).
3. M.M. Pandit Pramatha Nath Tarkabhusan, (Principal, Oriental Sec. Hindu University, Benares).
4. Dr. Surendra Nath Das Gupta M.A., Ph.D. (Cal.), Ph.D. (Cantab.), Principal, Sanskrit College, Calcutta.
5. Dr. Bimala Churn Law, M. A., B. L., Ph. D.
6. Dr. Mahendra Nath Sircar, M.A., Ph.D., Professor, Presidency College, Calcutta.

Treasurer :—

7. Sir Hari Sanker Paul, Kt.

Members of the Committee :—

8. Acharya Sir Prafulla Chandra Roy, Kt., C.I.E., D.Sc., etc.
9. Mr. Jatindra Nath Basu, M.A., M.L.C., Attorney-at-law.
10. Mr. Hirendra Nath Datta, M.A., B.L., P.R.S., Vedanta-Ratna, Solicitor (Bengal Theosophical Society).
11. Mr. Santosh Kumar Basu, M.A., B.L.,
12. Mahamahopadhyaya Kaviraj Gananath Sen, Saraswati, M.A., L.M.S.
13. Mr. Syama Prasad Mookherjee, M.A., B.L., M.L.C., Bar-at-law. (Vice-Chancellor, Univ. of Cal.).
14. Prof. Benoy Kumar Sarkar, M.A.. University of Calcutta.
15. Dr. Kalidas Nag, M.A., D. Litt. (Paris), Do
16. Dr. Beni Madhav Barua, M
17. Dr. Satkari Mookerjee,
18. Prof. Amulya Charan
19. Mr. Kshitindra Nath T
20. Swami Kamaleswaran
21. Swami Satyananda, P
22. Mr. Kiran Chandra D
23. Mr. Padamraj Jain, S
24. Pandit Ayodhya Prasa
25. Mr. Puran Chand Na
26. Mr. Maneckjee C. H
27. Mr. Tusar Kanti Gho
28. Mr. Satis Chandra Se
29. Dr. Aurabinda Barua,
30. Dr. Sukumar Chakrav

Mr. K. S. Mittra, B. A

RULES

1. Each fasciculus of every Series containing the Text, (v ... or v... ut commentaries), English and Vernacular translations and notes will be issued ...ally

2. Each fasciculus containing not less than 112 pages and no ...han 1. ... of the Vedic Series is expected to be published every month.

3. Inland subscribers of the Vedic series shall have to pay R ... (excluding ... per annum or Rs. 6/- (excluding postage) half-yearly in advance, and an admission fee of Re. 1/-. only.

4. Any person paying Rs. 500/- at a time will be registered as a patron and will get all the publications of every series throughout his life.

5. Any person paying Rs. 100/- at a time will be registered as a life-subscriber for any particular series which he desires, and will get monthly publications of that series throughout his life.

6. Subscribers and Life-subscribers are entitled to certain other privileges as contained in the Rules and Regulations which will be supplied to them after enrolment.

7. Foreign subscribers of the Vedic Series shall have to pay 25s. per annum (including postage) in advance.

8. Prices for buyers (other than subscribers) will vary according to the bulk of the fasciculus.

9. The Text and commentaries, the English, and the Vernacular portions will be printed in separate formes; and inland subscribers are entitled to get the original Text, English and any of the Vernacular portions, while foreign subscribers are entitled to get the original Text and the English portions.

10. Works of other series are expected to be published in book-forms whenever they will be ready and their prices will vary according to nature of the books.

11. Subscriptions for the Research Journal "Indian Culture" are Rs. 6/- (inland) and Sh. 10/- (foreign), inclusive of postage.

For further particulars, please refer to—

The Hony. General Secretary,

INDIAN RESEARCH INSTITUTE,

55, Upper Chitpore Road, Calcutta (India)

Cover printed by J. N. Dey at the Sreekrishna Printing Works
259, Upper Chitpore Road, Calcutta.